

प्राकथन

श्री कौशाभ आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति की ओर से प्रकाशित बृहदारण्यकोपनिषत् का द्वितीयभाग वेदान्त विज्ञानसुध्रा के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें गौरव अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व के प्रथम भाग में बृहदारण्यकोपनिषत् के प्रथम दो अध्याय ही रखे गए थे। मधुकाण्ड में वर्णित दुर्लभ विद्वानों को टिप्पणी, क्रोडपत्र, 'मिताक्षरा' एवं "कुमुदतोपिणी" टीका के माध्यम से समझाकर जहाँ हम अपनी सत्सृष्टि के प्रामाणिक स्रोतभूत ग्रन्थों की सुरक्षा कर पाये हैं, वहाँ पाठकों को भी इससे पर्याप्त सतुष्टि हुई है। द्वितीय भाग के लिए हमारे पास बहुत से पाठकों की माँग प्रती रही। भगवान् विश्वनाथ की अहैतुकी कृपा से सब कठिनाइयों को पार कर अब यह भाग भी प्रकाशित हो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

इस द्वितीय भाग में बृहदारण्यकोपनिषत् के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ अध्याय इन चार अध्यायों का समावेश किया गया है। तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय का नाम याज्ञवल्कीय काण्ड है तथा पञ्चम एवं षष्ठ अध्याय का नाम खिलकाण्ड भी है। यद्यपि प्रथम एवं द्वितीय अध्याय अर्थात् मधुकाण्ड आगम प्रधान है तो भी वहाँ दुर्बुध्यादि दृष्टान्त द्वारा घन-तत्र उपपत्ति मार्ग से तत्त्वनिर्णय किया है, जबकि याज्ञवल्कीय काण्ड उपपत्ति प्रधान है। जल्पकरुणारूप तृतीय अध्याय में प्रथम से नवम ब्राह्मण पर्यन्त अधिकारी भेद से सगुण एवं निर्गुणब्रह्म का निरूपण किया गया है। आदिशङ्कराचार्य सोपाधिवा ब्रह्म निरूपण प्रसङ्ग में भी बीच-बीच में मुख्य मोक्ष के लिए उद्बोध कराने रहते हैं किन्तु स्वमयंशुद्धि के लिए उसके विधान का भी अपना महत्त्व है। क्योंकि मुनिकाण्ड में प्रमाणानुब्राह्मक तर्कपूर्ण युक्तियों द्वारा सिद्धान्त पक्ष को बारम्बार स्थापित करना है, इसलिए भगवान् शङ्कराचार्य उस समय के बहुचर्चित मत मतान्तरो को प्रस्तुत मार्मिक युक्तियों द्वारा उसका निराकरण कर स्वपक्ष स्थापन करते हैं। मोक्षविषयक चर्चा में उन्हें अनास्त्रीय बात बिल्कुल पसन्द नहीं है। एक स्थल पर वे लिखते हैं—

“सर्वमेतदेवमबाह्वेदारण्यकम्। ननु सर्वैकत्वं मोक्ष “तस्मात्सर्वमभदत्” इति श्रुतेः। वाद भवत्येतदपि, न तु “ग्रामकामो यजेत पशुकामो यजेत” इत्यादिश्रुतीनां तादर्थ्यम्। यदि ह्यहं तादर्थ्यमेवाऽऽप्ता ग्रामपशुस्वर्गाद्यर्थस्य नास्त्येति ग्रामपशुस्वर्गादयो न गृह्यं रंगृह्यते तु कर्मफलवैविध्यविशेषा। यदि च वैदिकानां कर्मणा तादर्थ्यमेव सत्तार एक नाभविष्यत्”।

(बृ उ शा भा ३।२।१ पृ ६०८)

टिप्पणीकार एवं क्रोडपत्रपरिष्कर्ता स्वामी विष्णुदेवानन्द जी महाराज ने अधिवाश प्रकरणों का बहसूत्र वार्तिक एवं अन्य उपनिषदादि ग्रन्थों का उद्धरण देकर विशदता से समझाने का विद्वत्तापूर्ण प्रयास किया है। इनके अर्थों का मनन करने से एवं अलौकिक आनन्दानुभूति होती है एवं ग्रन्थ ग्रन्थि-भेदन सहज होता चला जाता है।

चतुर्थ ब्राह्मण में उपरत चक्रावण मुनि याज्ञवल्क्य को बहते हैं कि आप ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन कराने की कृपा कीजिए। उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम अन्त करणादि की भृत्तिरूप दृष्टि के द्रष्टा को घटादि के समान नहीं देख सकते। शङ्कराचार्य इस प्रसङ्ग में द्विविध दृष्टियों की कल्पना करते हैं, लौकिकी एवं पारमार्थिकी। लौकिकी दृष्टि बनाई जाती है, इसलिए उसकी उत्पत्ति एवं विनष्टि

होती रहती है, स्वरूपभूता दृष्टि पारमार्थिकी है। लौकिक दृष्टि अपने को प्रकाशित करने वाले प्रत्यगात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकती। इसलिए उस दृष्टि के प्रकाशयिता प्रत्यगात्मा को तुम नहीं देख सकते। छट्यादिसाक्षी स्वभाव होने के कारण उमें गो प्रादि के समान प्रत्यक्ष नहीं दिखलाया नहीं जा सकता। इसका वार्तिककार ने वाइय वार्तिकों द्वारा विशद विवेचन किया है (पृ. ७३-७६)।

पञ्चम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य कुपीतक के पुत्र कहोल के प्रति ब्रह्मतत्त्व की मीमासा करते हैं। यह आत्मा क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह, जरा और मरण में रहित है। उस आत्मा को अपरोक्ष रूप से जानकर ब्राह्मण लोग एणनाश्रय को त्यागकर भिक्षाचर्या करते हैं। इस प्रकरण में शङ्कराचार्य जी ने भर्तृ प्रपञ्च व मीमासकों के दुराग्रहों को प्रस्तुत कर शास्त्रीय समन्वयात्मक दृष्टि इस प्रकार प्रतिपादित की है—

“न च विद्याविद्ये एकस्य पुरुषस्य सह भवतो विरोधात्मकः प्रकाशाविव। तस्मात्वात्मविदो-
ऽविद्याविययोऽधिकारो न द्रष्टव्यः क्रियाकारककपभेदरूपः। ‘मृत्योः स मृत्युमाप्नोति’ इत्यादि निन्दित-
त्वात्।...यानि पारिव्राज्येऽभिहितानि वचनानि यज्ञोपवीत्येवाधोमीतेत्यादीनि तान्यविद्वत्पारिव्राज्य-
मात्रविषयाणीति परिहृतानि”।

(श्रु. उ. शा. भा. ३-५-१)

अष्टम ब्राह्मण में अक्षरतत्त्व की मीमासा की गई है। इसमें परिमाण, महाभूत, प्राण, नाम, अन्वय कारकादि का निषेध कर ब्रह्म की पूर्णता एवं कृत्स्नता प्रदर्शित की है। श्रुति से सिद्ध होने पर भी अनुमान प्रमाण द्वारा इसे निरूपित किया जाता है। शङ्कराचार्य जी के शब्दों में—

“यथा राजः प्रशासने राज्यमस्फुटितं नित्यं वर्तते एवमेतस्याक्षरस्य प्रशासने हे गार्गि...
सूर्याचन्द्रमसाहोरात्रयोर्लोकप्रदीपो तावर्ष्येन प्रशासित्वा तान्यां निर्वर्त्यमानलोकप्रयोजनविज्ञानवत्ता
निमित्तो विद्युतो च स्याता साधारणसर्वे प्राणिप्रकाशोपकारकत्वात्लौकिकप्रदीपवत्”।

(श्रु. उ. शा. भा. ३-२-६ पृ० ८६४)

तृतीय अध्याय के अन्त में “विज्ञानमानन्द ब्रह्म” श्रुति की व्याख्या करते हुए ‘आनन्द’ शब्द पर विस्तृत विचार किया गया है। देह और इन्द्रियों का अभाव होने पर (आगन्तुक ज्ञान के अयोग के कारण विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि कहो कि नित्य, अविलुप्त स्वरूप होने के कारण परब्रह्म अपने आनन्दात्मक स्वरूप को सभी अवस्थायामें जानता रहता है; तो ऐसा कहना नहीं बनता क्योंकि ससारी जीव भी ससार से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। इसलिए “विज्ञानमानन्दम्” यह श्रुतिवाक्य यथास्थित वस्तु के स्वरूपबोधन में तत्पर है, आत्मानन्द का संवेद्यत्व बतलाने में इसका तात्पर्य नहीं है।

चतुर्थ अध्याय में छह ब्राह्मण हैं। प्रथम ब्राह्मण क्रममुक्ति, द्वितीय ब्राह्मण जाग्रदादि युक्ति द्वारा प्रत्यगात्मनिर्णय, तृतीय ब्राह्मण परलोक एवं मोक्ष का निर्वाण, चतुर्थ ब्राह्मण दार्ष्टान्तिक वस्तु प्रतिपादन, पञ्चम ब्राह्मण बोध के साधन, षष्ठ ब्राह्मण वंश निरूपण विषय को प्रद्योतित करता है। यह अध्याय राजा जनक एवं मुनि याज्ञवल्क्य के संवाद से प्रारम्भ होता है। इसी प्रकरण में षड्चार्य-प्रोक्त वागादि के उपासना ज्ञान के साधन के रूप में वर्णित है।

तृतीय ब्राह्मण में एक स्थल पर जनक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं—वाणी शान्त होने पर कौन सी ज्योति रहती है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—आत्मा ही रहता है। वह ज्योति कार्य और कारण से व्यतिरिक्त है, वह आत्मज्योति आदित्यादि ज्योति की तरह चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहण नहीं की जा सकती। इसी ब्राह्मण में प्रसङ्गवश भर्तृ प्रपञ्च मत, वाह्यार्थवाद, क्षणभङ्गवाद, विज्ञानवाद आदि मतों का युक्ति-रूपयुक्तियों द्वारा खण्डन किया गया है। इसमें टिप्पणकार एवं क्रोडपत्र परिष्कर्ता

स्वामी जी महाराज की व्याख्या विशेषरूप से मनन करने योग्य है भाष्य के जिन मूल्यों को प्रानन्दन्दगिरि टीका सविस्तर नहीं कह पाती, उमें यहाँ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थाध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में मरणामन्न जीव की दशा बनलाकर गरीरान्तर गमन को दृष्टान्तों के द्वारा समझाते हुए 'तत्त्वज्ञानी का उत्क्रान्त नदी होता'—यह स्पष्ट किया गया है। इस ब्राह्मण में सुरेश्वराचार्य जी के वातिको का पर्याप्त उपयोग किया है। माथ में टिप्पणकार ने शास्त्र-प्रकाशिका टीका को भी लेकर वेदान्त तत्त्व के जिज्ञासुओं एवं शोधकर्ताओं के लिए महान् उपकार किया है। प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की तरह चतुर्थाध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण भी सम्पूर्ण बृहदारण्यकौपनिषत् का प्राण है। इसमें शङ्कराचार्य जी ने अद्वैत वेदान्त के ज्वलन्त विषयों को, जिन पर अन्य द्वैतमतावलम्बी सदा प्रहार करते रहे हैं, शास्त्र एवं तर्क द्वारा सूक्ष्मेक्षिकया सविस्तर विशद विवेचन किया है। एक स्थल पर अद्वैत के प्रति मुद्व निष्ठा की अभिव्यक्ति करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—

“यस्मात्कामयमान एवंच सत्तरत्यय तस्मादकामयमानो न षडचित्संस्तरति । यस्य सर्वमात्मैवाभूत्तस्केन क पश्येच्छुष्यान्मन्वोत विजानीयाद्द्वैत विजानन्कं कामयेत । ज्ञायमानो ह्यन्यत्वेन पदायंः कामयितव्यो भवति । न चासाधन्यो ब्रह्मविदः प्राप्तकामस्यास्ति ।..... न हि यस्याऽऽत्मैव सर्वं भवति तस्मानात्मा कामयितव्योऽस्ति । अनात्मा चान्यं कामयितव्यं । सर्वं चाऽऽत्मैवाभूदिति विप्रतिषिद्धम् । सर्वैर्मदज्ञिनः कामयितव्याभावात्कामानुपपत्तिः” ।

(बृ. उ. शा. भा. ४-४-६ पृ. १२१३-१४)

‘द्वैतदर्शी की स्थिति कल्याणकारक नहीं’ इस प्रसङ्ग में शङ्कराचार्य जी दृढतापूर्वक कहते हैं कि अविद्याजनित अध्यारोप से भिन्न परमार्थत द्वैत नहीं है, क्योंकि ब्रह्म में द्रष्टृद्रष्टव्यादि भाव से नानात्व भेद नहीं है—

“तत्र च दर्शनविषये यद्वास्ति नेह नानास्ति किंचन किंचिदपि । असति नानात्वे नानात्वमध्या-
रोपसत्यविद्यया । स मृत्योर्मरणान्मृत्युं मरणमाप्नोति । कोऽसौ । य इह नानैव पश्यति । अविद्या-
ध्यारोपणव्यतिरेकेण नास्ति परमार्थतो द्वैतमित्यर्थं” ।

(बृ. उ. शा. भा. १० पृ. १२६१-६२)

प्रकरणवशात् शङ्कराचार्य जी एक स्थल पर आग्रहपूर्वक स्पष्ट करते हैं कि सोपाधिक ब्रह्म ध्यान से मात्र अम्युदय प्राप्ति होती है, केवल्य पद तो निरुपाधिक ब्रह्मज्ञान से ही मिलता है। वह ब्रह्म महान् अजन्मा है, जीर्णता या विपरिणाम को नहीं प्राप्त होता है जन्मादि विकारों से वञ्चित है, सब ओर व्याप्त है एवं अभयस्वरूप है।

बृहदारण्यक उपनिषत् के पञ्चम एवं षष्ठाध्याय का खिलकाण्ड की सञ्ज्ञा दी गई है। पूर्व अनुक्त परिशिष्ट खिलशब्दाध्याय है, वस्तुतः निरुपाधिक किन्तु अविद्या द्वारा सोपाधिक आत्मा की उन (त्रिविध) उपासनाओं, का जो पहले वर्णन नहीं की गई है जो कर्म की समृद्धि के लिए है, प्रकृष्ट अम्युदय को साधन तथा क्रम मुक्ति की प्राप्ति है, उनका इसमें वर्णन है। क्योंकि प्राणा की द्वैत में प्रारम्भ से ही मिथ्यात्व बुद्धि नहीं होती, इसलिए ऐसे पुरुष को शास्त्र पहले कर्मकाण्ड रूप साधन का उपदेश करता है। उसके पश्चात् केवल्य स्थिति के इच्छुक मुमुक्षु के लिए श्रुति ब्रह्मविद्या का उपदेश करती है। दान्त, निर्तोभी और दयालु हाने पर ही साधक का सब उपासनाओं में अधिकार होता है। सोपाधिक ब्रह्म की उपासनाएँ अम्युदयफलक हैं।

पष्ठाध्याय प्रथम ब्राह्मण में प्राणविषयक उपासना का वर्णन है। वागादिको से प्राण ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है, इसे एक रोचक आख्यायिका द्वारा सुन्दर ढंग से समझाया गया है।

बृहदारण्यकोपनिषत् पष्ठाध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में पञ्चाग्निविद्या का निरूपण है। पञ्चाग्नि नवम मन्त्र में इस प्रकार वर्णित है—

“असौ वै लोकोऽग्निर्गोतम तस्याऽऽश्रित्य एव समिद्धमयो धूमोऽहर्चर्चिदोऽङ्गारा भवान्तर-
दिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः अद्वां जुह्वति तस्या आहुत्यं सोमो राजा संभयति”।

सर्ग के आरम्भ में प्रलयवास्या में भी अत्यन्त सूक्ष्मरूप से अग्नि अग्नित्व रूप से, समिध् समित्व रूप से, धूम धूमत्व रूप से, अङ्गार पङ्गारत्व रूप से, विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्गत्व रूप से, आहुतिद्रव्य आहुतिद्रव्यत्व रूप से स्थित रहते हैं। शङ्कराचार्य जी के अनुसार—

“एवमग्निर्होत्राहुत्यपूर्वविपरिणामात्मकं जगत्सर्वम्...इह तु कर्तुः कर्मविषाकविवक्षायां द्युलोक-
ाग्न्याधारस्य पञ्चाग्निवर्शनमुत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विशिष्टकर्मकलोपभोगाय विधिहितम्”।

पञ्चाग्निविद्या में यजमान के शरीरवर्ती जो वागादि प्राण हैं, जाग्रदवस्था में अग्निहोत्र के ऋत्विक्स्थानीय होते हैं, वही आध्यात्मिक रूप से परिणत होकर इन्द्रादि होते हैं, वे ही द्युलोकानि में हवन करने वाले हैं। अग्निहोत्र क्रिया का आश्रयभूत दुग्धरूपद्रव्य अपूर्व सूक्ष्म रूप में परिणत हो धूमादिक्रम में उस अन्नरिक्षलोच में और फिर द्युलोक में प्रवेश करता है। अद्वा शब्द वाच्य ‘आप’ (जल) द्युलोक में प्रविष्ट होकर सोम मण्डल में कर्ता का शरीर आरम्भ करते हैं। जो इस पञ्चाग्नि-विद्या को जानता है, वह अतिशय दीप्ति युक्त होता है। इसी पञ्चाग्निविद्या का वर्णन छान्दोग्य उपनिषत् के पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थ, पञ्चम एवं अष्टम ब्राह्मण में किया गया है।

बृहदारण्यकोपनिषत् के पष्ठाध्यायस्य तृतीय एवं चतुर्थ ब्राह्मण में वित्तमन्य एवं पुनमन्यविद्या का वर्णन है। लौकिक अम्युदय के लिए इन शास्त्रीय प्रयोगों का सावधानीपूर्वक अनुष्ठान करने से अभीष्ट मनोकामना की पूर्ति हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं। इनकी एवं पञ्चाग्निविद्या की समुचित जान-कारी के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों एवं गृह्यसूत्रों का अवलोकन करना आवश्यक है। इस पर स्वतन्त्र रूप से शोध निबन्ध लिखे जाने की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का श्रेय श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति के अध्यक्ष एवं कैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री विभूषित स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज को है, जिनके सत्यसरण्य में एवं प्रकाशन कार्य को सर्वोच्च वरीयता देने के कारण ही यह दुर्लभ ग्रन्थ प्रकाश में लाया जा सका। इस ग्रन्थ के सम्पादन में एक वर्ष का समय लगा। इतने अल्प समय में इस बृहत् कार्य की पूर्ति भगवती मन्दारकिरी की कृपा एवं गुरुजनो के आशीर्वाद से संभव हो पाई। जिन महापुरोहित, विद्वानों ने अपने धर्मूल्य समय में से कुछ समय निकालकर इस ग्रन्थ के लिए शुभाशंसा सम्मतियाँ आदि लेख लिखे हैं, श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महा-समिति उनके लिए हृदय से आभार अभिव्यक्त करती है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन एवं मनन से वेदान्तप्रेमियों को तत्त्वावबोध एवं ब्रह्मात्मव्यवधान की दिशा में समुचित प्रेरणा मिलेगी। इससे निश्चित ही अद्भुत गरिमा की रक्षा होगी एवं इसका उत्तरात्तर विवास होगा। ॐ शम् । श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

श्रीसद्गुरुधाम
षादिनी जालीन (३० प्र०)

२७-१२-१९७६

भगवदीय

डा० उमेशानन्द शास्त्री

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ निरञ्जनपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की शुभाशंसा

भारतीय सस्कृति का उद्गम वेदों से है एव दर्शन भाग का उद्गम वेदों के उपनिषद् भाग से है। उपनिषद् को ही ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। यद्यपि उपनिषदों की संख्या अनिर्णीत है परन्तु ब्रह्मसूत्र के अन्दर भगवान् वेदव्यास ने जिन उपनिषदों का विचार किया, है उनकी संख्या पंद्रह या सोलह है। अतः दार्शनिक दृष्टि में यही प्रामाणिक उपनिषद स्वीकार की जाती है। दूसरे शब्दों में इनको श्रौत-प्रस्थान कहा जाता है जबकि अन्य उपनिषदों को स्मार्त-प्रस्थान के अन्तर्गत माना जाता है। उपनिषदों में न केवल शब्दों वरन् अर्थगाम्भीर्य की दृष्टि से भी बृहदारण्यक उपनिषद् सबसे बड़ी है। इसके प्रधान षड्धा याज्ञवल्क्य हैं। भगवान् सुरेश्वराचार्य वे शब्दों में यह उपनिषद् "सकलाम्नायार्थसशोधनीय" है। अर्थात् इसमें सारे ही वेदों के तात्पर्य का सम्यक् रूपेण निरूपण किया गया है। इसीलिये इस उपनिषद् का अत्यधिक माहात्म्य है।

प्रस्तुत सस्करण में उपादेय स्थलों पर तत्तद् वातिकों का संग्रह करके पाठक को अत्यन्त सहूलियत कर दी गई है कि वह भाष्य के उन अंशों को भली प्रकार वातिक के प्रकाश में अवगत कर सके। कई स्थलों पर व्याकरण इत्यादि की दृष्टि से भी टिप्पणी में सहायक संकेत मिलते हैं जिनसे दुर्गम वाक्यों की रचना भी सुस्पष्ट हो जाती है। कई स्थलों में टिप्पणी में अति आवश्यक और अन्यत्र सुविधा से अनुपलब्ध संकेत भी इस का वैशिष्ट्य है।

हमारे परम प्रिय महामण्डलेश्वर श्री १००८ स्वामी विद्यानन्द गिरि जी ने इस प्रकाशन कार्य को हाथ में लेकर अद्वैत वेदान्त के ऊपर अत्यन्त कृपा की है। तथा हमें आशा है कि वह, अन्य जितने ग्रंथ हैं, उनकी भी श्री १००८ महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज द्वारा लिखित टिप्पणियों का प्रकाशन करके इस कार्य को पूरा करेंगे। भगवाद् विश्वनाथ से प्रार्थना है कि वह इन उद्भट विद्वाद् की प्रतिभा का अतिदीर्घ काल तक प्रास्तिक समाज को लाभ देते रहें।

हरिद्वारस्थगुरुमण्डलपीठाधीश्वर श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महामण्डलेश्वर श्री १०८ श्री स्वामी रामस्वरूप जी महाराज वेदान्ताचार्य की शुभाशंसा

बृहदारण्यकवेदात्मा दण्डकारण्यचारिता प्राप्य वृन्दाटवी रेमे स्तुम आरण्यकी श्रियम् ॥

कैलाशक्रोडसम्भूता क्रोडपत्रसुरापगा । विष्णुदेवकृपापूर्णा तूष्णमभ्यर्णतामिमात् ॥

परा विद्या परे क्षेत्रे कैलाशाधित्यकामये । विद्यानन्दमयानन्दमन्द विन्दते जगत् ॥

क्रियाप्रधान यजुर्वेद के काण्वशाखा शतपथ ब्राह्मण के परिशिष्ट पडध्यायी स्वरूप बृहदारण्यक उपनिषत् (जो ऋषीकेशस्थ कैलाश आश्रम से प्रकाशित है) में सम्मुख है।

विद्वद्धीरेय कैलाश के वर्तमान पीठाधीश्वर एव उन से पूर्व विद्वद्वर पुण्यश्लोक महाराज श्री विष्णुदेवानन्द जी की वेदान्तिण्डा तथा नित्य स्वाध्यायाध्यापन प्रणाली का स्मरण कर हृदय-गद्गद हो जाता है। "नयेद्वदान्ताचन्त्या" का अक्षरशः पालन इस पुनीत प्रतिष्ठान का कीर्तिध्वज है।

कर्म, उपासना, ज्ञान के बृहद् वन में भ्रान्त एव क्लान्त पथिक को सानुवाद एव सटिप्पण बृहदारण्यकोपनिषत् की उपलब्धि ऋषि गोमुख से गङ्गा की उपलब्धि उसके पुरातन पुण्य की परिचायिका है ।

“महायज्ञं श्र यज्ञं श्र ब्राह्मीय क्रियते तनु” इस प्राक्तन वयनानुसार भस्वमेधादि कर्मानुष्ठान परिनिष्ठित विचारवान् व्यक्ति “प्रात्मन्यग्नीन् समारोप्य” के क्रमानुसार उच्च मनोभूमिका में प्राध्यात्मिक अश्वमेधानुष्ठान द्वारा ब्राह्मी भाव की अधिगत करता है । ऋषिकाण्ड में पवित्र वक्ता के रूप में आचार पूत याज्ञवल्क्य महर्षि की भूमिका एव श्रोता के रूप में ज्ञात ज्ञेय विदेह जनक की भूमिका बृहदोपलब्धि में “आश्रयोऽस्य वचना कुशलोऽस्य लव्या” का सिंहावलोकन कराती है ।

कैलाश की निध्वज के त्रिणाण्डचन्द्रनदण्डस्वरूप विद्वन्मूर्धन्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द जी महाराज द्वारा कैलाश शताब्दी महोत्सव के दिव्य प्रमाद रूप इस ग्रन्थरत्न का हिन्दी संस्करण सहित प्रकाशन वास्तव में स्तुत्य एव श्लाघनीय है । मुन्दरे किं न सुन्दरम् ।



सम्प्रतिवचांसि

तत्राखिलानर्थमूनमूलाविद्याविनिवर्तकालण्डब्रह्मसाक्षात्कारसाक्षात्कारणोपनिषद्रूपप्रमाणमिति सामानन्ति मनोपिण । किन्तु तादृशीनामप्युपनिषदामतिगभीराणामापाततोऽन्यथायं ग्रहणेनानर्थं नाप्नुयाद्धोक् श्रेयसश्च न प्रतिहृन्तेति धिया व्यासशङ्करमण्डनमिश्रवाचस्पतिमिश्रकल्पतरुत्परिमल-कृच्छ्रीमधुसूदनसरस्वतीश्रीब्रह्मानन्दस्वामिचरणप्रभृतिभिराचार्यैरुपनिषदा परम तात्पर्यं भाविष्यत्तम् । 'यावन्नोपपन्न तावत्सर्वं कल्प्यमिति' न्यायमाश्रित्य तात्पर्यनिवबोधविजृम्भितानामवबोधेऽपि “वादी भद्रं न पश्यतीति” न्यायेन वा परप्रदत्तदोषाणा निराकरणपूर्वकपरमतात्पर्यप्रकाशनतात्पर्येणोत्तरोत्तराचार्यैः परिष्काराविष्कारैर्वेदान्तशास्त्रस्य परम प्रामाण्य प्रतिष्ठापितम् ।

तस्यामेव परम्पराया महामण्डलेश्वरा विद्यावाचस्पतय श्रीमन्तोविष्णुदेवानन्दगिरिमहाराजा वेदान्तसिद्धान्तप्रचारका उपदेशका अध्यापनचणाश्चासन्निति जानन्ति विज्ञा । पूर्वं मया तेषा परिष्कारा क्रोडपत्रापराम्भिवेया आसन् माण्डूक्योपनिषदि दृष्टा । तत्र च मया कानिचिद्वचसि सम्प्रतिरूपेण प्रदाय पावितानि । साम्प्रत बृहदारण्यकोपनिषदुपरि तेषा परिष्कारानवेक्ष्य नितरा मोदते मन । श्रीमद्भगवत्पादीय भाष्य तदुपरि वातिक भाष्यभावाभिप्रायप्रकाशकमानन्दगिरिव्याख्यान-ञ्चेति सर्वमतिगभीरमित्यत्र न सशय । तेषु सर्वेषु व्याख्यानेषु सत्स्वपि परिष्कारा न वैयर्थ्यं सरणि माश्रयन्ते, यतो हि 'सता प्रज्ञोन्मेष पुनरयमसीमा विजयते' इति न्यायेन तत्र तत्र जायमानान् गङ्गाना ममाधानाय परिष्काराश्रयणमन्तरा कोऽपि नावेक्ष्यनेऽपर उपाय । अतो निररामपेक्षिताना ममाधानानामाधानाय श्रीमद्भि श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठैर्विष्णुदेवानन्दगिरिमहाराजैर्महानुपकारो विहित परिष्कारान् विलिख्य ।

वेदान्तसर्वदर्शनाचार्ययतोन्द्रकुलतिलकश्रीकैलासपीठाधीश्वरमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरि-महाराजैः कृता “विद्यानन्दीमिनाक्षरा” यथानामगुणा कस्य न मोदमाद्यते तत्रैव डॉ० उमेशानन्द-शास्त्रिणा कृता “कुमुदतोपिणी” कथञ्चित्तोपमासादयति ।

विश्वविश्रुत नैयायिकवर्य पण्डितराज श्रीराजेश्वर शास्त्रीजी द्रविड के वरिष्ठ शिष्य
नैयायिकप्रवर श्री हेव्वार शास्त्रीजी की विलक्षण दृष्टि पूर्ण

❀ शुभ सम्मति ❀

बृहदारण्यकोपनिषत् एक बहुत ही विस्तृत उपनिषद् है। उसमें कौन सा विषय आलोचित नहीं है, केवल आधिदैविक आध्यात्मिक ही नहीं, आधिभौतिक का भी सम्यगालोचन है। भाष्यकार लिखते हैं कि — 'एतेनाशास्त्रीयप्रज्ञातपोभ्या स्वाभाविकाम्या जगत्स्रष्टृत्वमुक्तमेव भवति। स्यावरास्तस्य चानिष्टफलास्य कर्मविज्ञानमित्तत्वात्' (पृ० ३३७)। इससे आधुनिक सृष्ट वैज्ञानिक जगत् का स्थान और मूल्य स्पष्ट हो जाता है कैसे? देखें—

यह भाग "सप्तान्नब्राह्मण" नाम से प्रसिद्ध है। इसमें जिस प्रकार सूत्रात्मा "यत्सप्तान्नि मेघया तपसाऽजनयत्पिता" कहा गया है। उसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा भी पूर्वकल्पीय (किसी न किसी पूर्वजन्मीय विहित-प्रतिपिद्ध ज्ञानकर्मानुष्ठान के द्वारा सर्व जन्तु अपने-अपने उत्तर-जन्म के ससार के लिये पिता ही होता है—कहा है। अर्थात् उसी के कर्मविज्ञान से तदनु रूप उसका ससार सृष्ट होता है। यही बात "यथा च स्वकर्मभिरैकेन सर्वभूतैरसौ लोको भोज्यत्वेन सृष्ट एवमसावपि जुहोत्यादिपाङ्क्तकर्मभि सर्वाणि भूतानि सर्वं च जगदात्मभोज्यत्वेनासृजत। एवमेकैकं स्वकर्म-विद्यानुरूप्येण सर्वस्य जगतो भोक्ता भोज्य च सर्वस्य सर्वं कर्ता वायं चेत्यर्थं" पृ० ३३३ में निरूपित है।

मैं विज्ञान शब्द से यहाँ भ्रान्ति प्रतिपादन नहीं कर रहा हूँ। अन्यत्र 'धी विज्ञान शिल्प-शास्त्रयो' कोशानुसार ही कर रहा हूँ। इस पर यदि प्रश्न हो कि वेद को आधुनिक वैज्ञानिक जगत् की सृष्टि मालूम कहाँ थी? यदि थी तो क्यों नहीं सृष्टि कर दिखलाई? तो यही बात यहाँ पर समझायी गयी है कि 'एवमसावपि' इत्यादि। अर्थात् सूत्रात्मा प्रजापति (उसका भी खड़ा सर्वेश्वर) सदा सृष्टि, स्थिति, लयकर्ता पिता सबका ही है। उनके सृजन से ही प्रत्येक जीवात्मा अपने-अपने हिसाब से अपने अपने ससार की सृष्टि और भोग पुन-पुन करता जन्मता-मरता है। इस प्रकार सर्व सृष्टिर्ता को सब कर्मविज्ञान सिद्ध कहा है सदा उसका सृष्टि, स्थिति सहार चक्र चलाता रहता है। यही बात यहाँ पर कही गयी है। उस सृष्टिर्ता परमेश्वर का ज्ञान ही वेद है। 'यो ब्रह्माण विदधामि पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति यस्मै। त ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश भुमुक्षुर्वै शरणमह प्रपद्ये' अन्यत्र वेद कहता है। "शब्द इति चेन्नात प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाम्याम्" ब्रह्मसूत्र देवताधिकरण में भी यह बात आलोचित है। प्रजापति या परमेश्वर सब सृष्टि का प्रतिक्षण कर्ता पिता है। "सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् सम्याश्च निर्ममे"—मनु बहते हैं। यदि पूछो कैसे, तो यह ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड सर्व वैज्ञानिक सृष्टि का प्रत्यक्ष उदाहरण है। कौन वैज्ञानिक यन्त्र उसमें कार्य कर नहीं रहा है। उसको थोड़ा बहुत अपने सकारानुरूप निरीक्षण अवलोकन कर काई कुछ कर पाता है। इतने से क्या वह असिद्ध हो जायगा। इस प्रकार सृष्टिर्ता को प्रत्यक्ष सृष्टि होते हुये भी तुम को नहीं दीखती हो तो कहना पड़ता है कि "नेप स्याणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराध स भवति"।

विज्ञान-विज्ञान कहकर विभीषिवा क्या है। कार्य-कारणभाव के ज्ञान ही को विज्ञान कहते हैं। वे भिन्न-भिन्न स्तर के भिन्न-भिन्न हैं, सात्त्विक, राजस, तामस। उदाहरणतया बछड़े के द्वारा पेन्हाकर दूध दुहा जाता है। वह दुहने का सात्त्विक विज्ञान है। वही बन्देया को तथा वेद का प्रिय मान्य है। स्नेह और स्तन को कुछ लगाकर यो हाथ से मलते-मलते पेन्हाना राजस है। जुलाब की दवा की तरह दूध के जुलाब की सुई टोचकर, या बछड़े के चमड़े में भूसा-घास आदि भरकर पेन्हाना तामस विज्ञान है। तीनों में दुग्ध के गुणों में महदन्तर है। इसलिये इष्टानिष्ट फलस्वरूप राजस तामस है। वेद और वैदिक कर्मों में सात्त्विक विज्ञान ही देव मान्य है। यद्यपि उनमें भी तारतम्य भाव है। आध्यात्मिक विज्ञान ही शुद्ध सात्त्विक है जो प्रकृत उपनिषत् में प्रस्तुत है। इस प्रकार वेद सर्व कर्म-विज्ञान का भी आलोचक है, जगली गीत नहीं है। शास्त्रीय अशास्त्रीय इष्टफल अनिष्टफल सब का आलोचक प्रधान सृष्टिकर्ता का ज्ञान ही वेद विषय करता है, अधूरा वैज्ञानिक जगत् चालक नहीं है।

बहुत क्यों? मन्वादिकों ने भी अशास्त्रीय कर्मविज्ञान के सबन्ध में निषेध कर हानिकरत्व बतलाया है। अत एव "महायन्त्रप्रवतन, सर्वाकारेण्वधीकार, असच्छास्याधिगमनम्," इत्यादि को पातकों में गिनाया है। यदि पूछो कि मन्वादिकों ने आधुनिक कर्मविज्ञान को भी जानते हुए निषेध किया है तो कर दिखायें क्यों नहीं, कर दिखलाना चाहिये था। तो जड़ मृष्टि और स्यावरान्त सृष्टि कर ही रहे हैं, अलग करने की क्या आवश्यकता है। उसी स्तर के जीवों को दीखता ही है। टीपात्र से बाष्प यन्त्र की और फल गिरने से न्यूटन की रष्टि बनी, इत्यादि इतिहास ही है। अनेक अद्भुत यन्त्र रचना ब्रह्माण्डादि-रचना एव शरीर-रचनाओं में गर्भित दृश्य हैं। बायोनिक्स जो आधुनिक विज्ञान की एक (राडार आदि आविष्कारक) शाखा है वह पशु आदि स्यावरान्त के निरीक्षण में ही सिद्ध होती है। इन्हीं लोकाव्यवहारों के निरीक्षण से दत्तात्रेय ने चौबीस गुरुओं के नाम से इन्हीं व्यवहारों से अध्यात्मिक क्षेत्र के विज्ञानसबन्धी शिक्षा ली कही है। जो जीव जैसे कर्मविज्ञान सस्कारों से वासित है, उसको वही दीखता सूझता है। तिस पर भी सर्वब्रह्माण्ड, पिण्डाण्ड कर्ता के अतिरिक्त मन्वादिकों को भी कर दिखलाना चाहिये तो क्या निषेध करने वाले को कर दिखलाना चाहिये, चोरी मत करो, डकैती मत करो, व्यभिचार मत करो, किसी की बृथा हिंसा मत करो, पर पीडा न करो इत्यादि कहा तो क्या उसे कर दिखाना चाहिये, नहीं तो अज्ञान है, यही आप का विज्ञान है। इसीलिये ही क्या सारे ससार में स्वीकृति से आधुनिक वैज्ञानिक सृष्टि के द्वारा अनर्थ और अशान्ति फैला रहे हैं। मैं पूछता हूँ कि तुम को क्या मालूम कि मन्वादिकों ने कर नहीं देखा। तुम को कर दिखाने पर तुम्हारा सटिकिकेट लेने के लिये तुम कौन होते हो। धारेश्वर राजा भोज अपने समराज्जसूत्रधार के यन्त्राध्याय में कहते हैं—

‘यन्त्राणा घटना नोक्ता गुप्यर्थं नाज्ञतावशात् ।
तत्र हेतुरय ज्ञेयो व्यक्ता नन्ते फलप्रदा ॥
यन्त्राणि यानि दृष्टानि कीर्तितान्यत्र तान्यपि ।
एतस्त्वबुद्ध्यवास्माभि समयमपि कल्पितम् ॥
अप्रतद्वच पुनर्भूम कथित यत्पुरातनं ॥

इत्यादि न्याय से मन्वादिको ने करके भी दोष देकर वेदोक्त निषेध का अनुस्मरण किया न होगा तुम कैसे कहते हो ? उन वैदिकों को "जन्मोपधिमन्त्रतप समाधिजा सिद्धय" इत्यादि स्वल्पसाधन-साध्य निरुपद्रव देवानुग्रहानुक्ल विज्ञान ही मान्य था, उसी में वे तत्पर थे। कभी सुरो ने असुरो के साथ अमृतार्थ समुद्रमथन कार्य किया, जब उनके कर्मविज्ञान से हालाहल विष सारे जगत् में फैलने लगा, तब उन लोगों ने भगवान् शङ्कर के अनुग्रह को प्राप्त कर निवारण कर लिया। "देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व । परस्पर भावयन्त श्रेयः परमवाप्स्यथ"—गीता में बहा है। ऐसा कोई प्रकार आधुनिक वैज्ञानिकों के सृजन में नहीं है। आज कल सुनते हैं कि कुछ नव्य शिक्षित व उनके गुरु पाश्चात्यो को सिखला रहे हैं कि धी जलाने से परिवरणद्रूपण शुद्ध हो जाता है। कितनी हँसी की बात है। कितनी हीन-दीन उस नव्य शिक्षित बुद्धि की दशा है। श्रद्धा भक्तिभाव से ही देवतानुग्रह तथा ईश्वरानुग्रह से होता है कि बस धी जलाने मात्र से। तब सुरासुर शङ्करजी की शरण में क्यो जाते।

मन्वादिको को शास्त्रीय विज्ञान मान्य था। उसी में निरातङ्क तथा अल्पायास साध्यता होने से वे लगे रहते थे। देवतानुग्रह तथा ईश्वरानुग्रह उनके साधनों में प्राण था। उनके शास्त्रीय विज्ञान का यो दिग्दर्शन है—“जन्मोपधिमन्त्रतप समाधिजा सिद्धय” नाना विहितकर्मानुष्ठान, नानाविध तत्तच्छास्त्रोक्त प्रयोग, योगविभूति, प्रयोग, व्रत, नियम और सिद्धियाँ हैं। जैसे—

“अणिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य महिमा तथा ।
 ईशित्व च वशित्व च तथा कामावसायिता ॥
 दूरध्वजमेवेति परकायप्रवेशनम् ।
 मनोयागित्वमेवेति सर्वज्ञत्वमभीप्सितम् ॥
 वह्निस्तम्भ क्षुत्पिपासानिद्रास्तम्भनमेव च ।
 कायव्यूह च वाक्सिद्धि मृतानयनमीप्सितम् ॥
 शृष्टीना करण चैव प्राणावर्षणमेव च ।
 प्राणाना च प्रदान च लोभादीना च स्तम्भनम् ।
 इन्द्रियाणा स्तम्भन च बुद्धिस्तम्भनमेव च” ॥

(—ब्रह्मवैवर्त भागवतादी च)

एव नाना विचार्यो भी हैं—

“एव शपति देवर्षो विद्यामास्थाय फाल्गुन ।
 ययौ सयमिनीमाशु यत्रास्ते भगवान् यम ॥
 विप्रापत्यमक्षारस्तत ऐन्द्रीमगात्पुरीम् ॥
 धाम्नेयो नैर्हंती सौम्या वायव्या वारुणीमथ ॥
 रसातल नाकपृष्ठ घिष्णवान्यन्यानुदायुधः ।
 ततोऽलब्धद्विजमुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः” ॥ इत्यादि ।

(—भागवते ।)

इस प्रकार शास्त्रीय एव देवतानुग्रह तथा ईश्वरानुग्रह से प्राप्य निरुपद्रव विज्ञान अल्पधम-साध्य में वे लगे रहने वाले मन्वादिक देवताओं के व्यवहार में स्थित विज्ञान को छोड़कर स्यावरान्ता-शास्त्रीय शोध वाले आधुनिक विज्ञान में क्यो लगेंगे ?

बुद्ध भी हो, प्रकृत में इसी शास्त्रीय कर्मविज्ञान की ही निन्दा में वेद का तात्पर्य है। भाष्यटीकाकार लिखते हैं कि “विवक्षितमिदं शास्त्रपरवशम्य शास्त्रवशादेव साध्यसाधनभावाद-शास्त्रीयाद्वैमुख्यसम्भवात् तस्यात्र विवक्षितत्वमित्यर्थं”। अर्थात् शास्त्र ने स्वाभाविक साध्यसाधनभाव वैमुख्य उत्पन्न कर शास्त्रपरवश बनाया। तब उक्त शास्त्रीय पाठकर्म में स्थापन किया। अब उससे शुद्ध-चित्त हुए को आगे ब्रह्मविद्या में अधिकारी देखकर उस शास्त्रीय साध्यसाधनभाव से वैमुख्य उत्पन्न कर ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में प्रेरणा की जाती है, न कि पूर्व में त्यक्त का अथवा त्याजित वा पुनरुपादान कराने के लिये यह वैमुख्य है। इस विवेक को आधुनिक कर्मविज्ञान की सृष्टि में मग्न देश-विदेश के नव्यशिक्षित वर्ग कोई भी परवाह नहीं करता। तदनुसार सारा ससार अनर्थ अशान्ति में बन्ध भोग रहा है। जैसे करें वैसे करें। कौन क्या करें।

प्रसङ्ग से भाष्यकार लिखते हैं—“ब्रह्मविद्याविषये च सर्वैकत्वात् कामानुपपत्ते” अर्थात् शास्त्रीय हो चाहे अशास्त्रीय सारे समार म नाम व्यप्राप्त है। ब्रह्मविद्या में सर्वैकत्वदर्शन होने से काम की उपपत्ति नहीं रहती। इस पर आनन्दगिरि लिखते हैं—“तस्या (ब्रह्मविद्याया) विषयो मोक्षः। तस्मिन् द्वितीयत्वाद्वागादिपरिपन्थिनि कामापरपर्यायो रागो नावकल्पते। न हि मिथ्याज्ञाननिदानो रागः सम्यग्ज्ञानाधिगम्ये मोक्षो सम्भवति। श्रद्धा तु तत्र भवति तत्त्वबोधोघाधीनतया ससारविरोधिनी, तत्र ससारानुपत्तिर्मुक्तावित्यर्थं” इस टीका पर क्रोडपत्रकार प्रश्न करते हैं कि मोक्षेच्छा तो है। (इच्छा राग न्यायशास्त्र में व्याख्यात है) उनकी पङ्क्ति है—“नन्वेव मुमुक्षाया पभावेनाधिकार्य-भावान्मोक्षसाधने ज्ञानेऽधिकारिण प्रयत्नस्य तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभगच्छेदित्यादिशास्त्रस्या-ऽऽनर्थक्य स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—श्रद्धा त्विति तुशब्दो। यथोक्तचोद्यव्यावृत्त्यथ। मुमुक्षास्यानीया श्रद्धत्वर्थं। अस्मिन्मते विवेकादीनि त्रीष्येवाधिकारिविशेषणानि इति न। कश्चिदवद्यमिनि भावः। ननु कामवत् श्रद्धापि तत्र ससार जनयेदेव श्रद्धाकामयोर्मन परिणामत्वाविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह—तत्त्व-बोधेति। अविद्याससारविरोधितत्त्वज्ञानानुकूलतया ससारविरोधिनीत्यर्थं। तयोर्मन परिणामत्वा-विशेषेऽपि यथोक्तश्रद्धाया सात्त्विकपरिणामत्वात्ससारविरोधित्वमिति भावः। इसीलिये प्रह्लाद ने भागवत में कहा है कि “वैशारदीयी श्रद्धात् स्त्रीवालाना च मे यथा”।

यद्यपि शङ्का कुशङ्का की धारा और भी साधक की शिथिलावस्था में हो सकती है, तथापि इस पक्ष का अन्तिम परिष्कार भाष्यकार ने “तत्तु समन्वयात्” के भाष्य में स्वयं बतलाया है—‘तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं ससारित्वं यस्य तु यथापूर्वं ससारित्वं नासाववगतब्रह्मात्म-भाव इत्यनवद्यम्’।

इस प्रकार बड़ी जवाबदारी के विचार स्थल-स्थल पर क्रोडपत्र में पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए क्रोडपत्रकार ने विवेकपूर्वक लिखा है। इससे तत्त्वनिर्णय में बहुत ही उत्कार होगा। इतिशम्।

विषयानुक्रमिका

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
तृतीयोऽध्यायः			
मधुकाण्ड से याज्ञवल्क्य काण्ड का संबन्ध	६७३	भर्तृ प्रपञ्च मत—इन्द्रियों के विलीन होने पर विदेह को आत्मसाक्षात्कार कैसे होता है	७२५
परीक्षापूर्वक आगमार्थ निर्धारण के लिए उपपत्तिप्रधान याज्ञवल्क्य काण्ड का प्रारम्भ	६७३	श्रुति द्वारा उक्त सिद्धान्त का विरोध ब्रह्मसूत्र एव वातिक द्वारा इसकी पुष्टि	७२६
तत्त्ववेत्ताओं का सत्संग एव सभापण विद्याप्राप्ति का उपाय है	६७५	वादियों के एक-एक पक्ष पर विचार एव तत्त्व निर्णय	७३१
सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता के निर्णय के लिए राजा जनक द्वारा बहुदक्षिणा याग का आरम्भ	६७७	कर्म की सामान्य व्यवस्था	७३६
गीत्रों को ले जाने के लिए ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य का अपने शिष्य को आदेश एव क्रुद्ध ब्राह्मणों में से भ्रमर का प्रश्न कर्मसंज्ञक मृत्यु को अतिक्रमण करने का उपाय	६७९	याथात्म्यविज्ञानवादियों का मत निरूपण एव सिद्धान्त मत का प्रतिपादन	७३८
कर्मनिरपेक्ष काल से अतिमुक्ति का उपाय	६८२	भर्तृ प्रपञ्चमत के ज्ञानकर्मसमुच्चय-वाद का स्पष्टन	७४०
तिथ्यादिसंज्ञक काल से अतिमुक्ति का वर्णन	६८६	याज्ञवल्क्य-सुजयु सवाद का समारम्भ पारिक्षितो वी गति का वर्णन	७६४
सपदनिरूपण	६९३	आख्यायिका वा सारभूत अर्थ	७७३
त्वमर्थ बुद्धि विधान के अनन्तर प्रहातिग्रहलक्षण मृत्यु से अतिमुक्ति का वर्णन	७०४	याज्ञवल्क्य-उपस्त सवाद का प्रारम्भ घटादि के समान आत्मा का दर्शन होना क्या संभव है	७७४
प्रवृत्ति का प्रयोजक बन्ध की निवृत्ति का प्रयोजक नहीं हो सकता	७०६	लौकिकी और पारमार्थिकी दृष्टि का निरूपण	७८१
मुख्य मुक्ति एव गौणी मुक्ति का निरूपण	७०७	याज्ञवल्क्य-बहोल सवाद का आरम्भ बन्धध्वंस में हेतु सन्यास एव सम्यग्ज्ञान का निरूपण	७८७
याज्ञवल्क्य-भार्तभाग सवाद का आरम्भ प्रहातिग्रह लक्षण बन्धन के नाश होने पर ससार से मुक्ति संभव	७११	आत्मा की एकरूपता होने से भिन्नार्थक बचन अयुक्त है	७९०
तत्त्वनिष्ठ की देहोत्क्रान्ति का क्रम निरूपण	७१७	उपस्त ब्राह्मण के प्रश्नों से कहोल ब्राह्मण के प्रश्नों की तुलना	७९३
		नाम और रूप की उपाधि सत्ता	७९५
		स्वीकार करने में दोष निरूपण	७९७
		'शोक' एव 'मोहादि' पदों की धृत्यनु-	
		सारि व्याख्या	८००
		एषणात्रयव्युत्थान पर भर्तृ प्रपञ्च का सिद्धान्त एव उसका निराकरण	८०४

विद्या प्रीर भविद्या एक साथ नहीं रह सकती	८११	हृदय प्रीर देह का अन्योन्याश्रयत्व प्राणादि सहित शरीरादि की प्रतिष्ठा,	६१२
मन्यास में विधान वाक्य ग्रथिद्वत्संन्यास मात्र से सबन्ध रखने वाले हैं	८१६	आत्मस्वरूप का निरूपण एव शाकल्य का शिरपात	६१३
ब्रह्मदेता किन किन लक्षणों से युक्त होता है	८२१	'आनन्द शब्द ब्रह्म का विशेषण है मोक्षवादियों में 'मुख्य विषयक भीमासा में	६२८
याज्ञवल्क्य गार्गी सवाद का प्रारम्भ ब्रह्मलोक किसमें प्रतिष्ठित है, यह पूछने पर याज्ञवल्क्य द्वारा गार्गी को प्रताडना अन्तर्यामी के विषय में आरुणि का प्रश्न	८२४	मतभेद एव सिद्धान्त निरूपण ब्रह्मानन्द को ब्रह्म, मुक्त श्रयवा ससारी	६३०
याज्ञवल्क्य द्वारा अन्तर्यामी निरूपण दो प्रश्न पूछने के लिए गार्गी द्वारा ऋषियों से अनुमति माँगना	८३०	इन तीनों में से कौन अनुभव करता है	६३३
द्वैतवग अव्याकृत आकाश में श्रोत प्रोक्त है	८३१		
आकाश सर्व विशेषणों से रहित अद्वितीय तत्त्व अक्षर में श्रोत प्रोक्त है	८३८	चतुर्थोऽध्याय	
अनुमान प्रमाण से अक्षर तत्त्व का निरूपण	८४८	तृतीय अध्याय से चतुर्थ अध्याय के प्रथम दो ब्राह्मणों का उपाय उपेय	
अपूर्ववादी एव ईश्वर द्वयी के मत का खण्डन	८५२	भावात्मक सवन्ध	६३८
ईश्वर के अस्तित्व में हेत्वन्तर निरूपण प्रधानवादा साख्य की शङ्का एव उसका निरास	८५७	जनक-याज्ञवल्क्य सवाद का प्रारम्भ याज्ञवल्क्य द्वारा पशुधन तथा सूक्ष्म निणयान्त प्रश्न श्रवण की इच्छा से	६३६
याज्ञवल्क्य के ब्रह्मिष्ठ होने की उद्घोषणा	८६१	अपना आगमन यताना	६४०
वेदान्त्यैकदशी के मत में ब्रह्म की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण एव उसका निरास	८६८	शिव्य को उपदेश से कृतार्थ किए बिना उसकी दा दक्षिणा ग्रहण का निषेध	६४३
याज्ञवल्क्य शाकल्य सवाद का प्रारम्भ नैतीस दवताओं का निरूपण	८७१	ज्ञान के साधना (पडाचाय प्रोक्त)	
अष्ट वसुधों का वर्णन	८७३	वागादि उपासनाओं का वर्णन	६४३
एकादश रुद्रों का निरूपण	८७३	शरणापन्न हो राजा जनक का याज्ञवल्क्य से प्रश्न करना	६४३
भादित्यादि दवताओं का विवरण	८७५	विश्व तैजस एव प्राज्ञ का अनुवाद करके तुरीय ब्रह्म का उपदेश करना	६५५
शिवदैवतात्मक प्राण ब्रह्म के अष्ट भेद दवता एव आभयसहित दिशाओं के आन की प्रतिज्ञा	८८०	जाग्रत्स्वप्नादि द्वारा तर्क से ब्रह्मन्तत्त्व निरूपण	६६०
	८८२	आत्मा का देहादिव्यतिरिक्त होने में अनुमान प्रमाण का निरूपण	६७४
	८८३	आत्मस्वरूप का निरूपण	६८६
	८८३	भृंगु प्रपञ्च मत वर्णन एव उसका निराकरण	१००१
	८८४	आभास द्वारा बुद्धितावात्म्य ही दोनो लोकों में सचरण का हेतु है	१००५
	८८५	बौद्ध मत (वाह्यार्थवाद) निरूपण एव उसमें दोष कल्पना	१०१५
	८८६		१०२०

विज्ञानवादी का प्रत्याक्षेप एव उसका खण्डन	१०२८	भर्तृ प्रपञ्च के मत को प्रस्तुत कर स्वमत स्थापन एव वैशेषिकों का खण्डन	११०६
क्षणभङ्गवाद का सिद्धावलोकन एव उसका दूषण	१०३४	सुषुप्तावस्था में आत्मा का स्वय-ज्योतिष् प्रतिपादन	११२५
जन्म-मरण के साथ देहेन्द्रिय सघात रूप पाप का ग्रहण और त्याग	१०४२	निरवयव आत्मा में नानात्व	११४१
आत्मा के दो स्थान	१०४६	वल्पना असम्भव है	११४१
पाप फलो के अतीन्द्रिय होने के कारण उनका साक्षात् दर्शन सम्भव नहीं है	१०४६	जाग्रत् एव स्वप्न में विशेष ज्ञान का कारण	११४३
वासना उपादान विषयभूत होने से पुरुष स्वयज्योति है	१०४६	कर्मफलाश्रय लोक क्षयिष्णु हैं	११४६
स्वप्न में रथादि के न होने से आत्मा स्वयप्रकाश है	१०५५	तत्त्वज्ञानी के आनन्द की भीमासा	११५१
स्वप्नावस्था में स्वयज्योति आत्मा अत्यन्त ससमंशून्य हो जाता है	१०५७	ससाररूप जाग्रत् में लौटकर आना	११६१
स्वप्न के विषय में विभिन्न विचारकों के मत का प्रतिपादन कर स्वमत निरूपण	१०६५	ऊर्ध्वं श्वास क्व, वयो और कैसे होता है	११६८
मृत्यु आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसे उत्क्रमण करने का उपाय निरूपण	१०६८	शरीरान्तर में जाने का प्रकार	११७३
स्वप्न भोगों से आत्मा असङ्ग है	१०७२	प्राणों के देहान्तर में जाने की विधि	११७५
जागरित भोगों से भी आत्मा असङ्ग है	१०८०	मरणासन्न जीव की दशा का निरूपण	११७७
महामत्स्य दृष्टान्त के द्वारा इसका स्पष्टीकरण	१०८२	लिङ्ग देह में इन्द्रियों के लय और उत्क्रमण	११८५
शयन वाक्य के द्वारा आत्मा का सौषुप्त रूप प्रतिपादन	१०८६	वासना ही अपूर्व कर्मारम्भ एव कर्मफल में प्रयोजिका है	११८२
नाडीखण्ड द्वारा सब अनर्थों की बीजभूता अविद्या का स्वरूप निर्धारण	१०८८	शरीरान्तरगमन में जोक का दृष्टान्त	११८६
अविद्या का तिरोधान एव विद्या की काष्ठा प्राप्ति रूप सर्वरतिभाव ही मोक्ष है	१०९३	देहान्तर की प्राप्ति में स्वर्णकार का दृष्टान्त	११८८
स्त्री-पुरुष समिलन सुख के दृष्टान्त से मोक्ष के स्वरूप का उपपादन	११०१	आत्मा विज्ञानमय है	१२०१
सुषुप्ति में पुरुष सङ्ग एव शाकरहित होता है	१११२	कर्मनुसार शुभाशुभ गति और निष्काम को ब्रह्मा की प्राप्ति	१२११
		तत्त्वज्ञानी का अनुत्क्रमण	१२३१
		ब्रह्मज्ञानी की मोक्षप्राप्ति में प्रमाण	१२४०
		मोक्षसाधनमार्ग में मत-मतान्तर निरूपण	१२४३
		अविद्या और प्रथी विद्या की उपासना	१२४६
		आत्मविद्या की दुर्लभता	१२४१
		आत्मविद्यारसिक् बायवनेश रहित एव शून्य होता है	१२५२
		अद्वैतदर्शा का भय नहीं होता	१२५६

द्वैतदर्शी की दुर्गति	१२५६	शास्त्र कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड का उपदेश	
विज्ञानघन रूप से ब्रह्म का दर्शन करे	१२६३	अधिकार भेद से करता है	१३६६
अधिक शब्दों का अनुचिन्तन		ब्रह्म का प्रियतम नाम ॐ है	१३७५
ब्रह्मनिष्ठा के लिए बाधक	१२६७	दमादि साधनत्रय का उपदेश	१३७८
एषणात्रय से उठकर संन्यास ग्रहण		सोपाधिक हृदय ब्रह्म की उपासना	१३८५
मोक्ष का साधन है	१२६६	सत्य ब्रह्म की उपासना	१३८८
भर्तृ प्रपञ्च मत का निरूपण		'सत्य' नाम के अक्षरों की उपासना	१३९०
एवं स्वमत स्थापन	१२८१	आदित्य मण्डलस्य श्रीर चाक्षुष पुरुष भी	
वासनाशून्य राग-द्वेषरहित होना		सत्य नाम वाला है	१३९४
कामानशन है; भोजन निवृत्ति नहीं।	१२८५	आदित्य मण्डलस्य पुरुष के अवयव	१३९६
ब्रह्मवेत्ता के लिए कर्म का		मनोमय पुरुष की उपासना	१३९६
विधान नहीं	१२९६	विद्युद् ब्रह्म की उपासना	१४००
ब्रह्मनिष्ठा की नित्य महिमा एवं		धेनु रूप से वाणी की उपासना	१४०१
जनक का समर्पण	१३०४	वैश्वानराग्नि की उपासना	१४०३
सोपाधिक ब्रह्म ध्यान से		उपासनाओं से प्राप्त होने योग्य गति	१४०४
अभ्युदय प्राप्ति	१३१५	प्राण और अन्नरूप ब्रह्म की उपासना	१४०८
निरूपाधिक ब्रह्मज्ञान से मुक्ति	१३१६	उक्थदृष्टि में प्राण की उपासना	१४१२
संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान का उपक्रम	१३२०	यजु, साम व क्षत्र दृष्टि से उपासना	१४१३
याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सवाद का		चतुष्पाद गायत्री की उपासना	१४१५
धारम्भ	१३२२	गायत्री के मुख विधान के लिए	
आत्मा में सर्वाधिक प्रेम	१३२५	अर्थवाद	१४३२
भेददृष्टि की निन्दा कर अभिन्न		ज्ञानकर्मसमुच्चयकारी की मार्ग याचना	१४३४
आत्मतत्त्व का उपदेश	१३२७		
मर्वात्मदर्शन में दृष्टान्त	१३२७	पशुोऽध्यायः	
ब्रह्मतत्त्व उपदेश के बाद याज्ञवल्क्य		ज्येष्ठादि दृष्टि से प्राणोपासना	१४४०
द्वारा संन्यास ग्रहण	१३३५	वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि की वसिष्ठादि	
याज्ञवल्क्य अग्निहोत्र विधानपरक एवं		दृष्टि से उपासना	१४४४
शंराग्यपरक श्रुतियों में सिद्धान्त पक्ष		उत्कृष्टता निर्धारण के लिए वाणी	
स्थापन	१३३७	आदि की परीक्षा	१४४८
याज्ञवल्क्यीय काण्ड का वश		प्राण की श्रेष्ठता सभी इन्द्रियों द्वारा	
निरूपण	१३५१	स्वीकार करना	१४५२
		पञ्चाग्नि विद्या निरूपण	१४६२
पञ्चमोऽध्याय		वित्तमन्यविद्या निरूपण	१५१०
ॐ षं ब्रह्म की उपासना	१३५५	पुत्रमन्यविद्या निरूपण	१५२५
पूर्ण कारण से पूर्ण कार्य होता है—द्वैताद्वैतमत		काण्डत्रयात्मक वशपरम्परा निरूपण	१५५१
प्रस्तुत कर सिद्धान्तपक्ष की स्थापना	१३६०	व्याख्यापेत शुक्लपृष्ठकम्	१५५८
		अकारादि क्रम से मन्त्रों की सूची	१५६४

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

जनको ह वैदेह इत्यादि 'याज्ञवल्कीयं' काण्डमारम्भते । उपपत्तिप्रधानत्वादति-
क्रान्तेन 'मधुकाण्डेन समानार्थत्वेऽपि सति न पुनरुक्तता । मधुकाण्डे 'ह्यागमप्रधानम् ।
'आगमोपपत्तो ह्यात्मैकत्वप्रकाशनाय प्रवृत्ते शक्नुतः करतलगतविल्वमिव दर्शयितुम्' ।
'श्रोतव्यो मन्तव्य इति ह्युक्तम्' । 'तस्मादागमार्थस्यैव 'परीक्षापूर्वकं निर्धारणाय याज्ञ-

मधुकाण्डे त्वाष्ट्रं' कथं चेति मधुद्वयं व्याख्यात सप्रति काण्डांतरारम्भ प्रतिजानीते—
जनक इति । ननु पूर्वस्मिन्नध्यायद्वये व्याख्यातमेव तत्त्वमुत्तरत्रापि वक्ष्यते 'तथा च पुनरुक्तेरलं मुनि-
काण्डेनेति तत्राऽह—उपपत्तीति । तुल्यमुपपत्तिप्रधानत्व मधुकाण्डस्यापीति चेन्नेत्याह—मधुकाण्ड
हीति । ननु 'प्रमाणादागमादेव तत्त्वज्ञानमुत्पत्स्यते किमुपपत्त्या तत्प्रधानेन काण्डेन चेति तत्राऽह—
आगमेति । 'करणत्वेनाऽऽगमस्तत्त्वज्ञानहेतुश्चक्षुष्यपत्तिरूपकरणतया' पदार्थपरिशोधनद्वारा तद्धेतुरित्यत्र
गमकमाह—श्रोतव्य इति । करणोपकरणयोरागमोपपत्त्योस्तत्त्वज्ञानहेतुत्वे सिद्धे फलितमुपसहरति—

(उपदेशप्रधान मधुकाण्ड की समाप्ति के पश्चात्) अथ "जनको ह वैदेह" इत्यादि श्रुतिमन्त्र
से (उपपत्तिप्रधान) याज्ञवल्ककाण्ड का आरम्भ किया जाता है । पूर्वोक्त मधुकाण्ड से (याज्ञवल्ककाण्ड
की) समानार्थकता होने पर भी उपपत्तिप्रधान होते हुए भी इसम पुनरुक्ति दाप नहीं है क्योंकि (प्रधान-
उपपादक भेद से पुनरुक्ति प्रसिद्ध न होने से) मधुकाण्ड आगमशास्त्रप्रधान है । यदि युक्ति और शास्त्र
दोनों ही आत्मैकत्व प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त हो जाएँ तो आत्मैकत्व को करतलगत विल्वफल
के समान दिखा सकते हैं । श्रुति पहले ही ऐसा कह चुकी है कि 'श्रवण करना चाहिये, मनन करना

१ याज्ञवल्कीयमिति । "समाप्तो मधुकाण्डोऽयमुपदेशप्रधानक । उपपत्तिप्रधानोऽय याज्ञवल्काख्य उच्यते ॥
पदार्थविषया युक्तिर्वाक्यार्थे तूपदेशगो । अतो न पुनरुक्तत्वं काण्डया शेषोपयोगे ॥ काण्डोऽय याज्ञवल्काख्य
स्यादध्यायद्वयात्मक । जल्पवादकथाभेदादध्यायापी ध्यवस्यते ॥ तत्र जल्पवधाख्यपिप्यध्याये पञ्चमे नव ।
ब्राह्मणान्यर्थ एतेषा ऋणेणोपवर्ण्यते ॥ बाणं मृत्योरतिक्रान्तिद्वितीये मृत्युनिर्णय । तृतीये समृत्तिध्यातिस्तुयं
प्रत्यग्विनिर्णय ॥ पञ्चमे ब्रह्मता तस्य पठे तु ब्रह्मकायगो । सप्तमे कारणावस्था ब्रह्मतत्त्वमथाष्टमे ॥ नवमे
देवकिंस्तार सखेपद्धारत्न पुन । सगुण निर्गुण चोक्तं ब्रह्म स्रवाधिवागिरिगामिति ॥ उच्यते इति । प्रमाणोप-
न्तरमाविनी हि तदनुप्राहवतर्कोत्तिस्तत्त्वमगमयुक्तिप्रधानयोरनया पौर्वापर्यमिति । मुनिकाण्डस्य पादचाप्य
हेतुमाह—उपदेशेति । आगमप्रधान इत्यर्थं । अत्र याज्ञवल्क, याज्ञवल्कीयमित्युभयत्रापि 'आपत्यस्य च
तद्धितेऽपति' इति सूत्रेण यतोप । २ मुनिकाण्डस्य । ३ प्रधानोपपादकभेदादप्यनरक्य प्रसिद्धमिति हि ।
४ आगमेति । तथा च वार्तिके—'युक्त्यागमो हि सभूय करस्थानमलवादिबद्ध । मुमु'ममपि सद्गुण धाक्ती आप-
वितु यत' ॥ १४ ॥ आगमिनेऽर्थे विपरीतभावनादिभञ्जकत्वेन युक्तीनामुपयोगाद्युक्ता तत्प्रकृतिरित्युभयत्र
(भा० वा०) हिमन्दायं । ५ आत्मैकत्वमिति शेषः । ६ वृ० उ० २।४।५ । ७ अवतरणात्तार्थम् । ८
उद्भावितदोषापावरणपुर सरम् । ९ काण्डयो समानार्थत्वे च । १० प्रमाणभूतादागमादेरत्यर्थं । ११
प्रमाणत्वेन । १२ करणासहकारितया प्रमाणानुप्राहवत्वेनति यावत् । उपपत्तिर्हि तत्र स च प्रमाणानुप्राहव ।

ॐ उपपत्तिरूपव रणतवत्यादि । ब्रह्माहुवाविवाचार्थो — 'न चाऽगमस्य स्वातन्त्र्यं युक्त्युत्तरपनुचत । अर्थान्तर-

वत्कीयं काण्डमुपपत्तिप्रधानमारभ्यते । आख्यायिका तु विज्ञानस्तुत्यर्थोपायविधिपरा वा । प्रसिद्धो ह्युपायो विद्वद्भिः शास्त्रेषु च दृष्टो दानम् । दानेन ह्युपनमन्ते प्राणिनः ।

तस्मादिति । यद्योक्तरीत्या काण्डारम्भेऽपि किमित्याख्यायिका प्रणोयते तत्राऽऽह—आख्यायिका त्विति । विज्ञानवतां पूजाऽत्र प्रयुज्यमाना दृश्यते । तथा च विज्ञानं महाभागधेयमिति स्तुतिरत्र विवक्षिते-
त्यर्थः । विद्याग्रहणे दानाख्यपायप्रकारज्ञापनपरा वाऽऽख्यायिकेत्यर्थान्तरमाह—उपायेति । कथं पुनर्दानस्य विद्याग्रहणोपायत्वं तत्राऽऽह—प्रसिद्धो हीति ।

“गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन घनेन वा”

इत्यादीं दानाख्यो विद्याग्रहणोपायो यस्मात्प्रसिद्धस्तस्मात्तस्य तदुपायत्वे नास्ति वक्तव्य-
मित्यर्थः । ‘दाने सर्वं प्रतिष्ठितम्’ इत्यादिश्रुतिषु विद्वद्भिरेव विद्याग्रहणोपायो दृष्टस्तस्मात्प्र तस्योपायत्वे
विवक्षितव्यमित्याह—विद्वद्भिरेति । ‘उपपन्नं च दानस्य विद्याग्रहणोपायत्वमित्याह—दानेनेति । भवतु

चाहिये” । इसलिये शास्त्रतात्पर्यं को ही (उद्धावित दोषो का परिहार करते हुए) परीक्षापूर्वक
निर्धारण के लिए उपपत्तिप्रधान याज्ञवल्ककाण्ड का प्रारम्भ किया जाता है । यहाँ जो आख्यायिका
है, वह विज्ञान की स्तुति के लिए उपायप्रकार ज्ञापनपरक है । लोक में दान प्रसिद्ध उपाय है और विद्वानों

१ प्रकारेति यावत् । २ लोके । ३. आर्जवं यन्ति । ४. नमो वयं ब्रह्मिण्याय कुर्म इत्यादिष्वा
(उत्सर्पविशेष) । ५. अध्याये, ब्राह्मणे, आख्यायिकाया वा पूजा (वृ० उ० ३।१।२) । ६. “अथवा
विद्यया विद्या चतुर्थं नैव कारणमिति” परचाट्टम् । ७ लोके । ८ दृष्टप्रायणोपनिषदि कं० ७६ । ९.
युक्त चेत्यर्थः ।

त्वाद्युक्तीना प्रमाणेभ्यो यतस्ततः ॥ सर्वप्रमाणशेषत्वं युक्तीनामुपवर्णितम् ॥ शास्त्रान्तरेष्वपि तथा नातः
स्वातन्त्र्यखण्डनम् ॥ पदार्थविषया चैव मुक्तिस्तर्कोऽभिधीयते । वाक्यार्थस्त्वागमादेव निरपेक्षमतो वचः ॥
पीरप्येववच स्वेव युक्ते प्राधान्यमित्यते । अनरोक्ती तु तात्पर्यं युक्तेरर्थो न मुक्तिः ॥ प्रत्यक्षाद्यतिवर्तित्वाद्युक्त्य-
पक्षा न विद्यते । आगमार्थे यथैव स्यादुक्त्यर्थे नाऽऽगमेक्षणम् ॥ पुत्रभावावुरोषेन मुक्तिर्वेदोऽभिधीयते । आगमस्य
प्रवृत्तिस्तु मेयवृत्तव्यपेक्षया ॥ ननुक्ता मधुकाण्डेऽपि दुन्दुम्याद्युपपत्तयः । आगमैकप्रधानत्व वच तस्येति भ्रम्यते ॥
नैव दावो यतस्तत्र युक्तीनामप्रधानता । प्राधान्य याज्ञवल्कीये युक्तीनामभिधीयते ॥ युक्त्यागमो हि सभूय
करस्यामलकादिवत् । सुमूढममपि सद्दस्तु शक्ती ज्ञापयितुं यत ॥ युक्त्योऽतोऽभिधीयन्ते पूर्वपक्षादिस्रया ।
याज्ञवल्कीय एतस्मिन्काण्डे जल्पोक्तिवर्त्मना ॥ उदगीयप्रमुखा येषां मधुकाण्डे पुरोदिताः । तेषामेव विद्युद्धर्षं
विचारः । क्रियतेऽपुना ॥ दर्शनस्यास्य तेनात एववाक्यत्वमित्यते । तथैवान्यपदार्थेषु तद्द्वयोरपि काण्डयोः”
॥६-१०॥ इति । ननु मुख्यपेक्षत्वादागमस्यानपेक्षत्वपक्षप्रामाण्यक्षतिस्तत्राऽऽह—न चेति । यतस्ततो निरुच्य-
मानयुक्तीनाममानत्वादागमस्य तदपेक्षत्वेऽपि न स्वातन्त्र्यहानिरित्यर्थः ॥ कथं तासांममानत्वमत आह—सर्वेति ।
उक्तं हि—अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तकं इति । न्यायभाष्यकारोऽप्याह—तत्त्वविषया-
भ्यनुज्ञालक्षणाद्गृह्यद्भूतिताऽप्रसन्नानन्तर प्रमाणसामर्थ्यात्तत्त्वज्ञानमुपपद्यत इति । तद्वातिकाररश्च प्रमाणानि पुनः
प्रवर्तमानानि तर्कवित्तमर्थं यथाभूतमधिगमयन्तीति । अन्योऽप्याह—तथा प्रमाणोपपत्त्येति न तस्येतया प्रमाण-
विषयमभ्यनुज्ञानत्वा विद्योषिते विषये प्रमाणप्रत्यह प्रवर्तत इति । युक्तीना प्रमाणशेषत्वे तदपेक्षागमस्य न
स्वातन्त्र्यहानिरिति फलितमाह—तथेति । अतः सापेक्षत्वादित्येत्त् ॥ अस्तु वाऽनुमानान्तमविन मुक्तिर्मान

प्रभूतं हिरण्यं गोसहस्रदानं 'वेहोपलभ्यते । तस्मादन्यपरेणपि शास्त्रेण विद्याप्राप्त्युपाय-
दानप्रदर्शनार्थाऽऽख्यायिकाऽऽरब्धा । अपि च तद्विद्यसंयोगस्तैश्च सह वादकरणं- विद्याप्रा-

दानं विद्याग्रहणोपायस्तथाऽपीयमाख्यायिका कथं तत्प्रदर्शनपरेत्याशङ्क्याऽऽह—प्रभूतमिति । ननु
समुदितेषु ब्राह्मणेषु ब्रह्मिष्ठमतं निर्धारयितुं राजा प्रवृत्तस्तत्कल्पमन्यपरेण ग्रन्थेन विद्याग्रहणोपायविद्या-
नायाऽऽख्यायिकाऽऽरभ्यते तत्राऽऽह—तस्मादिति । उपलभ्यो यथोक्तस्तच्छब्दार्थः । इतश्चाऽऽख्यायिका
विद्याप्राप्त्युपायप्रदर्शनपरेत्याह—अपि चेति । तस्मिन्वेद्येऽर्थे 'विद्या येषां ते तद्विद्यास्तैः सह संबन्धश्च

द्वारा एवं शास्त्रों में भी इसे देखा गया है । दान से प्राणी विनष्ट हो जाते हैं । इस आख्यायिका में
बहुत सा सोना और हजारों गोशों का दान पाया जाता है । इसलिए शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय ग्रन्थ
होने पर भी यह आख्यायिका विद्याप्राप्ति के उपायप्रकार दान को प्रदर्शित करने के लिए प्रारम्भ की
जाती है । इसके अतिरिक्त वेद्य अर्थ का जिन्हे विज्ञान है, ऐसे पुरुषों का सत्सङ्ग, उनके साथ
तत्त्वनिर्णय फल वाला सभाषण करना; विद्याप्राप्ति का उपाय न्यायशास्त्र में देखा गया है, उसका इस

१. आख्यायिकायाम् । २. निरुक्तज्ञानोपलभ्यात् । ३. विज्ञानम् ।

तथाऽपि नाऽऽगमस्य स्वातन्त्र्यभङ्गो विषयभेदादित्याह—पदाथेति ॥ वेदवाक्यस्य स्वातन्त्र्ये हेतुत्तरमाह—
पीहपेयेति । लौकिकवाक्येष्वप्याप्तानाप्तोक्तत्वादिदशनायनिरासित्वेन युक्ति प्रधानीकृत्य प्रामाण्य वेदवाक्येषु तु
युक्त्या तात्पर्यनिश्चये तदनपेक्षेनातः श्रुतिलिङ्गादियुक्तत्वगततात्पर्यस्य प्रत्यक्षादिविरोधनिराशङ्क्या दृष्टीकरण
वाचारम्भणत्वादियुक्तिकृतमिति नाऽऽगमार्थं युक्ते स्वतन्त्रतैरर्थं ॥ किं च विमत न युक्त्यपेक्षं प्रत्यक्षाद्योग-
त्वाद्धर्मवदित्यनुमानादिव्यागमस्यानपेक्षतेत्याह—प्रत्यक्षाथेति । स्वविषये युक्तेष्वपि शास्त्रेषु तस्यापि स्वविषये
युक्त्यपेक्षार्थं किं न स्यात्तत्राऽऽह—अथेति । न हि साकसिद्धेऽर्थे वेदापेक्षेति भावः ॥ वेदः स्वाप्यं युक्त्यनपेक्षश्चेत्तद्य
तर्हि तत्र सोप्यते तत्राऽऽह—युक्त्यभावेति । अयं हि युक्त्यभावं यद्ब्रह्मात्मयुक्तेऽप्यमत्रावनादिताराऽऽरोपितवृ-
त्वादिममानित्वं तन्निरासानुसारेण वेदे युक्तिरिष्टेत्यर्थः । ननु वदस्यापि पुरुषयुद्धधनुरोर्ध्वेन प्रवृत्तेस्तर्कादविरोध-
स्तत्राऽऽह—आगमस्येति । न हि वस्तु पुरुषोत्तरेणानुसरति क्षणिकत्वादरेपि चतुर्विधप्रसङ्गादतः सिद्धमर्थमागमः
स्वतोऽन्यत्रपेक्षसादिविदित्यर्थः ॥ आगमप्रधानं यद्युक्ताच्छिदं तु युक्तिप्रधानमिति ध्येयस्यैव पुनरक्तिमाधिरुक्तः
संप्रति व्यवस्थामाक्षिपन्वीनरुक्त्येतादवस्थं शङ्कते—तन्विति । पूर्वनाऽऽगमप्राधान्याद्युक्त्यनुगुणत्वात्तत्र च
वैपरीत्याद्युक्त्यनुगुणत्वात्तस्येति न पीनरुक्त्यामित्याह—नेत्यादिना ॥ नन्वेव पुनरक्तिपरिहारोऽपि विमामगम्येऽर्थे
युक्त्यनुगुणत्वेन न हि तामनुगुणत्वाऽऽगमः स्वार्थं प्रमापयेदत आह—युक्तीति । आगमिष्येऽर्थे विपरीतभावनादिमञ्ज-
कत्वेन युक्तोनामुपयोगाद्युक्तं सत्सगतिरिति हिचिन्त्यर्थः ॥ काण्वारम्भमुपसहृति—मुत्तम इति । द्विविधा कथा
जल्पो वादश्च तत्र जल्पद्वारा युक्तीरुक्त्वा तदनुसारेण तत्त्व निर्णयते पञ्चमेनेत्यभ्यापार्यमाह—जल्पेति ॥
काण्डाध्यापारम्भमुक्त्वा भाष्योक्तमाख्यायिकासंबन्धं सिद्धवत्त्वं ब्राह्मणस्य सगतिमाह—उद्दीपेति ।
उद्दीपयित्वा ब्राह्मणोक्तवागादिस्वरूपनिरूपणार्थत्वादस्य ब्राह्मणस्याप्रत्यदर्शनस्य तत्रत्योपारितशेषोपलानयोर्ब्राह्मणयो-
रेकवाक्यतेति फलितमाह—दर्शनस्येति । न वेदलभाच्चब्राह्मणस्यैव पूर्वसगतिरपि कश्चेवावसीरयाह—तर्क्येति ।
अप्येब्राह्मणेऽस्त्वार्थेषु तर्क्येषु मधुवाणोक्तत्वमाद्यर्थनिर्णयदृष्टेयुक्तं तेषां पूर्वैर्नैकवाक्यत्वमित्यर्थः । वाग्दयो-
र्द्वयोरेकवाक्यत्वं निगमयति—तदिति । तदा परामुष्टमेकवाक्यत्वम् ॥

प्युपायो न्यायविद्यायां दृष्टः । तच्चास्मिन्नध्याये प्राबल्येन प्रदर्शयते । प्रत्यक्षा च विद्वत्संयोगे प्रज्ञावृद्धिः । 'तस्माद्विद्याप्राप्त्युपायप्रदर्शनार्थेवाऽऽख्यायिका ।

तेरेव प्रश्नप्रतिवचनद्वारा 'वादकररुं च विद्याप्राप्तायुपाय इत्यत्र गमकमाह-न्यायविद्यायामिति । ऋतत्व-निर्णयफलां हि 'वीतरागकयामिच्छन्ति । तद्विद्यसंयोगादेविद्याप्राप्त्युपायत्वेऽपि कथं प्रकृते 'तत्प्र-दर्शनपरत्वमत आह-तच्चेति । तद्विद्यसंयोगादीति यावत् । न केवलं 'तर्कशास्त्रवशादेव तद्विद्यसंयोगे प्रज्ञावृद्धिः किंतु स्वानुभववशादपीत्याह-प्रत्यक्षा चेति । आख्यायिकातात्पर्यमुपसहरति-तस्मादिति ।

अध्याय मे दृढतापूर्वक प्रतिपादन किया गया है । विद्वानो के सम्पर्क मे प्रज्ञावृद्धि अनुभवसिद्ध है । इसलिए यह आख्यायिका विद्याप्राप्ति का उपाय प्रदर्शित करने के लिए ही है ।

१. उक्तयुक्तिकलापात् । २ तत्त्वनिर्णयफलक सभाषणम् । ३ वीतरागेति-वीतो रागो जयादिविषयो येषा तेषा कथा वादाख्या तत्त्वनिर्णयफलमिच्छन्ति मन्यन्ते इत्यर्थः । तदिदमुक्त तार्किकरक्षायाम्-"तत्र प्रमाणतर्कान्या साधनाक्षेपसयुता । वीतरागकथावादस्तत्फल तत्त्वनिर्णय इति" ॥ ७७ ॥ ४. तस्य तत्प्राप्त्यु-पायत्वप्रदर्शनपरत्वमिति भाव । ५ तर्कशास्त्रोक्ते ।

ऋतत्वनिर्णयफला हि वीतरागकयामिच्छन्तीति । तत्त्वनिर्णयफलमित्युक्त्या तद्विद्यसंयोगादेविद्याप्राप्त्युपायत्व ध्वनित तत्त्वनिर्णयस्यैव विद्यात्वादस्यैव तद्भेदुत्पत्तात्स्य च तद्विद्यसंयोगमन्तराऽप्योगात् । वीता विनिवृत्तो रागो जयादिविषयोऽभिलाषो येषा शिष्याचार्यसंबन्धुचारिणा त तथा तदीया कथा विचाररोचराथविषयो नानावक्तुको वाक्यविस्तर कथति लक्षणलक्षिता तामिच्छन्ति वादलक्षणत्वेनाभ्युपगम्येत्यर्थः । तथा चोक्त श्रीवरदगजविरचित-तार्किकरक्षायाम् वादिनिरूपणे-"तत्र प्रमाणतर्कान्या साधनाक्षेपसयुता । वीतरागकथावादस्तत्फल तत्त्वनिर्णये" ॥ ७७ ॥ इति । प्रमाणतर्कान्यामेव स्वपक्षसाधनपरपक्षपालम्भो करणीयाविरथभिमानमात्रमत्र विवक्षित न तु वस्तुत उभयोरपि तथा कर्तृमहाक्यत्वात् । यथाह-प्रामाणिकवचनमात्राभिप्रायपूर्विका कथा वाद इति तत्त्वा-ध्यवसायफलत्वादस्या वीतरागानामेव शिष्याचार्यसंबन्धुचारिणामधिकार न तु विजिगीषुणामिति उक्त वीतराग-कथेति । तदुक्त त शिष्यगुरुसंबन्धुचारिणश्चैवोर्ध्वभिरननुसूयुभिरभ्युपेयादिति । अज्ञातज्ञानेन ज्ञानस्य स्थिरीकरण सशयनिवर्तनमिति त्रिधियस्तत्त्वनिर्णय । तदुक्त प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ सिद्धान्ताधिकरुद्ध पञ्चावयवोपपन्न-पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इति । तत्रैवोक्त कथालक्षणम्-"विचारविषयो नानावक्तुको वाक्यविस्तर । कथा तस्या पङ्क्तानि प्राहुश्चत्वारि केचन" ॥ ७६ ॥ विचारोचराथविषयो नानावक्तुको वाक्यविस्तर । कथा । तस्या कथाया निरूप्यनिरूपकनियम, कथाविशेषव्यवस्था वादिप्रतिवादिनियम, सदस्यानुविधेयसवरणम्, निग्रहस्थान-सामस्त्यासामस्त्योद्भावनप्रतिज्ञानम्, कथापयवसानसवित्तिरिति पङ्क्तानि । अपरे तु चत्वारि प्राहु वादिप्रतिवादि-नियमो सदस्यानुविधेयसवरणे च । वादजल्पवितण्डामु मध्ये वादस्य लक्षण फल च दर्शयति-तत्रेति । ननु जल्पवितण्डयोरपि प्रमाणतर्कसम्बाल्लक्षणमतिव्याप्तमित्यासाङ्गुधावधारणस्य विवक्षितत्वात्प्राय दोष इति व्याचष्टे-प्रमाणतर्कान्यामेवेति । तत्र च्छलादिनिवृत्तिस्तथा च ताम्यामेव स्वपक्षसाधनपरपक्षोपालम्भवती कथा वाद इति लक्षण द्रष्टव्यम् । ननु पक्षद्वयऽपि कथ प्रमाणतर्कसंभव इत्यत उक्तमभिमानमात्रमिति । अवास्त-वत्वे हेतुमाह-उभयोरपीति । वस्तुनो द्वैरूप्यासंभवादिति भाव । प्रामाणिकमात्र प्रामाणिकमेवेद वचनमित्य-भिप्रायोऽभिमान पूर्वो यस्या हेत्यर्थः । नन्वेव सहाणे वीतरागपद वृथेत्यासाङ्गुधसत्य क्विधिवारिनिरूपणार्थमिह तत्त्वाध्यवसायति वादस्य वीतरागमात्राधिकारित्वे सूत्रसमतिमाह-तदुत्समिति । त वादमित्यर्थः । अत्राधिकारि-

ॐ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र
ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य
ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां

विदेहदेश मे रहने वाले राजा जनक ने एक बहुत बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ से यजन किया, उस यज्ञ मे निमन्त्रित हो या स्वेच्छा से कुरु और पञ्चाल देशों के विद्वान् ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस विदेह-हाराज यजमान जनक को यह जिज्ञासा हुई कि इन ब्राह्मणों मे प्रवचन करने मे सबसे बड़-चढ़कर प्रवक्ता

जनको नाम ह किल 'सम्राट् राजा बभूव विदेहानां तत्र भवो' वैदेहः । स च बहुदक्षिणेन यज्ञेन शाखान्तरप्रसिद्धो वा बहुदक्षिणो नाम यज्ञोऽश्वमेधो वा दक्षिणा-

'राजसूयाभिविक्तः सार्वभौमो राजा सम्राडित्युच्यते । बहुदक्षिणेन यज्ञेनायजदिति संबन्धः । अश्वमेधे दक्षिणावाहुत्यमश्वमेधप्रकरणे स्थितम् । ब्राह्मणा अभिसंगता बभूवुरिति संबन्धः । कुरुपञ्चा-

जनक नाम का सम्राट् (जिसकी आज्ञा मे अन्य राजा रहते थे) विदेह देश का राजा था; अथवा विदेह देश मे होने के कारण उसका वैदेह नाम पडा। उसने बहुदक्षिणा वाले किमी एक यज्ञ से "एजे" यानी यजन किया। अथवा शाखान्तर मे प्रसिद्ध बहुदक्षिणा नाम वाला यज्ञ यहाँ विवक्षित है,

१. सम्राडिति । "शेनेष्ट राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च य । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडित्यमरः ॥" २.
- वा । ३. येन केनचिद् । ४. राजसूयकाले कृताभिषेकः । ५. निश्चितम् ।

त्रैविध्यत्पक्षत्रैविध्यमाह—अज्ञातस्यादिना । गुरुष्विष्यवादेऽज्ञातज्ञापन फल सन्नद्धाचारिवादे ज्ञातस्थिरीवरणम् शिष्टमुभूतवादे सशयनिवर्तनमिति यथासख्य द्रष्टव्यम् । एव वादस्य लक्षणाधिकारिणो निरूप्यवादलक्षणे सूत्रसमतिमाह—तदुक्तमिति । प्रमाणतर्कान्यामेव साधनोपलम्भो यस्मिन्स पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इति लक्षणम् सिद्धान्ताविरुद्ध इति अनेन तद्विरोधेऽसिद्धान्तेन निराह्य इति सूचितम् । स्वपक्षस्थापन, तत्समर्थन, परपक्षदूषण, तत्समर्थन शब्ददोषवर्जनं चेति पञ्चावयवास्तदुपपादका अन्यथा अङ्गैकलपात्कयामासत्वप्रसङ्ग इति भावः । ननु विचारो विमर्शस्तद्विषयस्य कथाया न सम्बन्धीत्यस्य भविलक्षणमित्यादाङ्ग्य इत्येते विचार-शब्दस्य विचार्यत इति कर्मसाधनव्युत्पत्त्या विचार्यायंपरत्वाप्रायः दोष इति व्याचष्टे—विचारणोच्यते । क्रमात्पदप्रयोगे कलहवाक्यपञ्चावयवप्रयोगकथावाक्यस्वपदानां व्युदासः तत्राङ्गानि दर्शयति—निरूप्येत्यादिना । निरूप्य प्रतिपाद्यमात्मतत्त्वादिकं निरूपकं तत्प्रतिपादकं प्रमाणमनुमानादि तपोनियमोज्जेनेद साधयामीति प्रतिज्ञानम् । कथा विशेषो वादादिस्तस्य व्यवस्थानेन कथयिष्यामीति नियमकरणम् । तथाऽन्योरस्य वादी प्रतिवाद्यमिति नियमन नियमः ॥ अनुपपञ्चाद्विषय निष्पन्नकथाफलप्रतिपादनरूपमस्यान्तीत्यनुविषेयः सभापति-स्तस्य सम्माना च सवरणमेते सम्भ्या अयमनुविषेय इति सपरिग्रहं निग्रहामास्य जल्पवितण्डयोर्वादे त्वसामस्त्यमिति स्फुटमेतन्निरग्रहान्ते भविष्यति । कथापर्यवमानस्य कथासमाप्ते सविति' पदादौ कश्चिदेवत्र समाप्तिरिति समयबन्धः । अथ चतुरङ्गानि दर्शयति—वादीति । वादिनिषमः प्रतिवादिनिषमः सम्बन्धवरणमनु-विषेयसचरणं चेति अन्तर्ज्ञानि तदन्यत्सर्वं तद्विद्यन्तरीयत्वात् पृथग्वाच्यमिति भावः ।

ब्राह्मणानामनूचानतम इति सह गवाः सहस्रमवरुधो दश दश पादा एकंकस्याः शृङ्गयोरावद्धा वभूवुः ॥१॥

कौन है ? इसलिए उसने एक हजार गौएँ गोशाला में रुकवा दी। उन रोकੀ हुई गौओं में प्रत्येक के सींगों में दश-दश पाद सुवर्ण बँधा हुआ था अर्थात् एक-एक मीग में पाँच-पाँच पाद (पल के चतुर्थ भाग) सुवर्ण बँधा था ॥१॥

बाहुल्याद्बहुदक्षिण इहोच्यते तेनेजेऽयजत् । तत्र तस्मिन्यज्ञे 'निमन्त्रिता दर्शनकामा' वा कुरूणां देशानां पञ्चालानां च ब्राह्मणास्तेषु हि विदुषां बाहुल्यं प्रसिद्धमभिसमेता अभिसंगता वभूवुः । तत्र महान्तं विद्वत्समुदायं दृष्ट्वा तस्य ह किल जनकस्य वैदेहस्य यजमानस्य को न खल्वत्र ब्रह्मिष्ठ इति विशेषेण ज्ञातुमिच्छा विजिज्ञासा वभूव । कथं, कःस्वित्को नु खल्वेषां ब्राह्मणानामनूचानतमः सर्व इमेऽनूचानाः कः स्वित्पामतिशयेनानूचान इति । स हानूचानतमविषयोत्पन्नजिज्ञासः संस्तद्विज्ञानोपायार्थं गवा सहस्रं प्रथमवयसामवरुधो गोष्ठेऽवरोधं कारयामास । किंविशिष्टास्ता गावोऽवरुद्धा इत्युच्यते ।

लानामिति कुतो विशेषणं तत्राऽऽह—तेषु हीति । तत्र यज्ञशालायामिति यावत् । विजिज्ञासामेवाऽऽकाङ्क्षापूर्विकां व्युत्पादयति—कथमित्यादिना । अनूचानत्वमनुवचनसमर्थत्वम् । एषां मध्येऽतिशयेनानूचानोऽनूचानतमः स कः स्यादिति योजना । एकस्य पलस्य चत्वारो भागास्तेषामेको भागः पाद

या अधिक दक्षिणा दी जाने के कारण अश्वमेध यज्ञ को यहाँ बहुदक्षिण यज्ञ कहा जाता है। “तत्र” अर्थात् उस यज्ञ में कुछ निमन्त्रित और कुछ दर्शन के लिए आए हुए कुरु और पञ्चाल देशों के ब्राह्मण “अभिसमेताः” अर्थात् एकत्रित हुए। उन (कुरुपञ्चाल देश के ब्राह्मणों) में विद्वान् अधिक प्रसिद्ध हैं। उस यज्ञ में विद्वानों का महान् समुदाय देख कर उम विदेहराज यजमान जनक की “विजिज्ञासा” यानी विशेषरूप से जानने की इच्छा हुई कि इस विद्वत्समुदाय में कौन ब्रह्मिष्ठ है। कौसी इच्छा हुई ? इन ब्राह्मणों में साङ्गवेद का प्रवचन करने में सबसे विचक्षण कौन है ? ये सभी ता मङ्गा सहित वेदों का प्रवचन करते ही हैं परन्तु इनमें प्रतिशय प्रवचन की मारुर्थ्य वाला कौन है ? “स.” अर्थात् साङ्गवेद प्रवचन करने में सबसे विचक्षण कौन है, ऐसी उत्पन्न हुई जिज्ञासा वाले वैदेह ने उस विज्ञान के उपाय के लिए नयी अवस्था की एक हजार गौएँ “अवरुधो” अर्थात् गोशाला में रुकवा ली। किस प्रकार की गौओं को रुकवा लिया—इस पर कहा जाता है। कर्प भर सुवर्ण का नाम पाद है,

१. केचन निमन्त्रिताः केचिच्च दर्शनार्थमागताः । २. चार्थो वाशब्द । ३. अनूचाना इति । “अनूचानः प्रवचने (वेदे) साङ्गोऽधीतीति । अनूचानो विनीत स्यात् साङ्गवेदविचक्षणं” इत्यमरविश्वो । ४. वन-प्रचारतः । ५. प्रवचनसमर्थत्वमिति यावत् । ६. मध्ये ।

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता
गा उदजतामिति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह
याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज
सामश्रवा३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चक्रुधुः
कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वंदेहस्य

राजा जनक ने उन ब्राह्मणों से कहा—हे पूज्य ब्राह्मणगण ! आप में से जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता
हो, वह उन गौत्रों को ले जाय, किन्तु उन ब्राह्मणों में से किसी का साहस न हुआ । ब्राह्मणों को साहस-
हीन देखकर याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी से कहा—हे सोम्य सामश्रवा ! तू इन गौत्रों को हमारे घर
ले जा । तब वह उन गौत्रों को ले चला, इससे वे ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये कि यह याज्ञवल्क्य हममें से अपने
आपको ही ब्रह्मनिष्ठ कैसे कहता है ? अतः उन क्रुद्ध ब्राह्मणों में से विदेहराज जनक का होता अश्रवत्

'पलचतुर्थभागः पादः सुवर्णस्य । दश दश पादा एकंकस्या गोः शृङ्गयोरारवद्धा वभूधुः ।
पञ्च पञ्च पादा एकंकस्मिञ्शृङ्गे ॥१॥

गा एवमवहृद्य ब्राह्मणांस्तान्होवाच । हे ब्राह्मणा 'भगवन्त इत्यामन्त्र्य यो वो
युष्माकं ब्रह्मिष्ठः सर्वे यूयं 'ब्रह्मणोऽतिशयेन युष्माकं ब्रह्मा यः स एता गा उदजतामु'त्का-
लयतु स्वगृहं प्रति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः । ते ह किलेवमुक्ता ब्राह्मणा ब्रह्मिष्ठता-

इत्युच्यते । प्रत्येकं शृङ्गपौर्दश दश पादाः संबन्धेरन्निति शङ्गां निराकर्तुं विनजते—पञ्चेति । एकंक-
स्मिञ्शृङ्गे आरवद्धा वभूधुरिति पूर्वैरेण संबन्धः ॥१॥

ब्रह्मणो वेदाध्ययनसंप्रदास्तदर्थनिष्ठा इति यावत् । उत्कालयतुद्गमयतु । यतो याज्ञवल्क्यार-

ऐसे सुवर्ण के दश-दश पाद एक-एक गौ के सींगों में बंधे हुए थे अर्थात् एक-एक सींग में पाच-पाच पाद
मौना था ॥१॥

गौत्रों को इस प्रकार रुकवा कर 'तान्' अर्थात् उन ब्राह्मणों को जनक "होवाच" इस प्रकार
ग्रामन्त्रित करते हुए बोले—हे पूज्य ब्राह्मणों ! "यो वो ब्रह्मिष्ठः" अर्थात् तुम सब में जिसकी
वेदाध्ययन में अधिक निष्ठा हो, ब्रह्मसहित वेदों का प्रवचन करने वाले आप सब में जो सर्वश्रेष्ठ
अनुचान हो;—वह इन (सुवर्ण से विभूषित) सभी गौत्रों को "उदजताम्" अर्थात् अपने घर ले
जाय । "ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः" अर्थात् इस प्रकार पूर्वोक्त-चेतावनी दिए जाने पर उन ब्राह्मणों को
अपनी ब्रह्मिष्ठता के विषय में प्रतिज्ञा करने की सामर्थ्य नहीं हुई । उन ब्राह्मणों को असमर्थ पाने के

१. प्लेति । "युञ्जाः पञ्चाक्षमायनस्ते षोडशाक्ष. वर्षोऽग्नी पत्त कर्षचतुष्टयम्" इत्यमरः ॥ आचरत्सो
मायक इति शास्त्रीयो मापो नत्वयुनातनो लोकिरो प्राणः । पत्तं तु लोकिर्वर्मानं. साष्टरत्कि द्विमायवम्
तोलकत्रितय प्राण ज्योतिर्भः स्मृतिसमतमित्यपि कश्चित् । २. पूजार्हाः । ३. ब्राह्मणा अनुचाना इत्यर्थः ।

होताऽश्वलो वभूव स ह्येनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो
याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं
ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं७ स्म इति तं७ ह
तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥ २ ॥

या । उसने याज्ञवल्क्य से पूछा—हे याज्ञवल्क्य । क्या यह सत्य है कि हमसे तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मनिष्ठ को तो हम नमस्कार करते हैं, इस समय तो हम गौत्रो की इच्छा वाले हैं । इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ की प्रतिज्ञा वाले उस याज्ञवल्क्य से होता अश्वल ने मन ही मन प्रश्न करने का निश्चय किया ॥२॥

मात्मनः प्रतिज्ञातुं न दधुषुनं 'प्रगल्भा. सद्युक्ताः । अप्रगल्भभूतेषु ब्राह्मणेष्वयं ह याज्ञ-
वल्क्यः स्वमात्मीयमेव ब्रह्मचारिणमन्तेवासिनमुवाचता गा हे सोम्योदजोद्गमयास्मद्गु-
हान्प्रति हे सामश्रवः सामविधि हि शृणोतीत्यतोऽर्थाच्चतुर्वेदो याज्ञवल्क्यः । ता गा होदाच-
कारोत्कालितवानाचार्यगृहं प्रति । याज्ञवल्क्येन ब्रह्मिष्ठपरस्वीकरणेनाऽऽत्मनो ब्रह्मिष्ठता
प्रतिज्ञातेति ते ह चुक्रुधु. क्रुद्धवन्तो ब्राह्मणाः । तेषा क्रोधामिप्रायमाचष्टे । कथं
नोऽस्माकमेकंप्रधानानां ब्रह्मिष्ठोऽस्मीति ब्रुवीतेति । अथ हैव क्रुद्धेषु ब्राह्मणेषु जनकस्य

जुर्वेदविद सकाशाद्ब्रह्मचारी सामविधि शृणोति 'श्रुक्षु चाध्यारूढ "साम गीयते त्रिष्वेव च वेदे-
ष्वन्तर्भूतोऽयं वेदस्तस्मादर्याह जुर्वेदिनो मुने शिष्यस्य सामवेदाध्ययनानुपपत्तेर्वेदचतुष्टयविशिष्टो
मुनिरित्याह—अत इति । "निमित्तनिवेदनपूर्वकं ब्राह्मणानां सम्यानां क्रोधप्राप्तिं दर्शयति—
याज्ञवल्क्येनेति । क्रोधानन्तरं मयशब्दाद्यं कथयति—क्रुद्धेष्विति । अश्वलप्रश्नस्य प्राथम्ये हेतु —राजेति ।

पश्चात् याज्ञवल्क्य ने 'स्वमेव' अपने ही "ब्रह्मचारिणम्" यानी अन्तेवासी को कहा—हे सोम्य । "उदज"
इन गौत्रो को हमारे घर ले जाओ । 'सामश्रवा' पद संबोधन है, सामविधि को श्रवण करने से "साम-
श्रवा" नाम पडा । इससे याज्ञवल्क्य का वेदचतुष्टय का ज्ञाता होना सिद्ध होता है । "ता होदाचकार"
अर्थात् तब वह शिष्य उन गौत्रो को अपने आचार्य याज्ञवल्क्य के घर की ओर ले गया । याज्ञवल्क्य ने
ब्रह्मिष्ठ होने की शर्त का धन स्वीकार कर अपने को ब्रह्मिष्ठ माना है, इससे वे ब्राह्मण 'चुक्रुधु'
अर्थात् क्रोधित हो गये । उनके क्रोध का अभिप्राय कहा जाता है । "कथं न" यानी किसलिए यह

१ शक्ता । २ अनन्तरम् । ३ नीतवान् । ४ धनस्वीकरणेनेति भाव । ५ इतीति—ब्रह्मिष्ठाय
निदिष्टानां गवामपहरणाद्याज्ञवल्क्ये न स्वात्मनो ब्रह्मिष्ठत्वस्वीकरणेनादस्माकमब्रह्मिष्ठता प्रतिज्ञाता यत इति
मन्वाना इति यावत् । ६ अयम् । ७ अग्रे । ८ अभिप्राय । ९ ऋग्नेदीयमन्त्र समेत्येति यावत् ।
१० तेन मन्त्रजातम् । ११ क्रोधप्राप्तिनिमित्तमिति यावत् ।

याज्ञवल्क्येति होवाच यद्विद^१ सर्वं मृत्युनाऽऽप्यत^२
सर्वं मृत्युनाऽभिमन्त्रं केन यजमानो मृत्योराप्तिमति-
मुच्यत इति होत्रत्विजाऽग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—यह सब जो मृत्यु के बश में किया हुआ है और मृत्यु से व्याप्त है, उस मृत्यु को व्याप्ति को यजमान किन साधनों के द्वारा पार करता है ? (इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—) वह यजमान होता ऋत्विक् रूप अग्नि से और वाक् से उसे पार कर सकता है । वाक् ही यज्ञ

यजमानस्य होतृत्विगश्वलोः नाम बभूवाऽऽसीत् । स एनं याज्ञवल्क्यं ब्रह्मिष्ठाभिमानो राजाश्रयत्वाच्च धृष्टो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ पृष्टवान् । कथं, त्वं नु खलु 'नो, याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसीः इति प्लुतिभर्त्सनायां । स होवाच याज्ञवल्क्यो नमस्कुर्मो वयं ब्रह्मिष्ठाय । इदानीं गोकामाः स्मो वयमिति तं ब्रह्मिष्ठप्रतिज्ञं सन्तं तत एव ब्रह्मिष्ठपणस्वीकरणात्प्रष्टुं दध्ने धृतवान्मनो होताऽश्वल । ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच 'तत्र मधुकाण्डे पाङ्क्ततेन कर्मणा दर्शनसमुच्चितेन यजमानस्य

याज्ञवल्क्यमित्यनुवादोऽन्वयप्रदर्शनार्थः । प्रश्नमेव प्रश्नपूर्वकं विशदयति—कथमित्यादिना । अनौद्धत्यं ब्रह्मविदो लिङ्गमिति सूचयति—स हेति । किमिति 'तोह स्वगृह प्रति गावो ब्रह्मिष्ठपणमूता 'नीतास्तत्राऽऽह—इदानीमिति । न तस्य तादृशी प्रतिज्ञा प्रतिभातीत्याशङ्क्याऽऽह—तत एवेति ॥२॥

'तत्र प्रथमं मुनेराभिमुख्यमापादयितुं संबोधयति—याज्ञवल्क्येति । उक्तरीत्याऽश्वलप्रश्ने प्रस्तुते 'तस्योवृणीयाधिकारेण सगतिमाह—तत्रेति । मधुकाण्डे पूर्वत्र व्याख्याते यदुद्गीयप्रकरणं

याज्ञवल्क्य हम सभी प्रधान ब्रह्मिष्ठों के सामने "मैं ब्रह्मिष्ठ हूँ" ऐसा अपने को कहता है ? इस प्रकार क्रुद्ध हुए ब्राह्मणों में यजमान राजा जनक का "होता" यानी ऋत्विक् अश्वल नाम का ब्राह्मण 'बभूव' अर्थात् था । ब्रह्मिष्ठाभिमानो और राजाश्रय होने से धृष्ट उम अश्वल ने एनम् अर्थात् याज्ञवल्क्य को 'पप्रच्छ' यानी पूछा । हे याज्ञवल्क्य ! हम लोगों के उपस्थित रहते हुए तुम किस प्रकार बड़े ब्रह्मिष्ठ हो गये हो । 'ब्रह्मिष्ठोऽसीः' यहाँ प्लुतप्रयोग भर्त्सनासूचक है । वह याज्ञवल्क्य वाला—हम ब्रह्मिष्ठों को नमस्कार करते हैं । वास्तव में अभी तो हम गोमो को इच्छा वाले हैं । इसी से अपने का ब्रह्मिष्ठ मानने वाले और ब्रह्मिष्ठ होने की शत वाला गोधन स्वाकार करने वाले याज्ञवल्क्य स हाता अश्वल ने उसको ब्रह्मिष्ठता पर सन्देह कर "प्रष्टुं दध्ने, अर्थात् पूछने का निरक्षय किया ॥२॥

हे याज्ञवल्क्य' ऐसा उसने सम्प्राधन करके कहा । वही मधुकाण्ड में पाङ्क्तकर्म के द्वारा दर्शनसमुच्चित यजमान की मृत्यु का नाश होता है, यह उदगायप्रकरण में सक्षप में व्याख्यान कर दिया

- १ अस्माकमत्रे । २ वयमिति—वयं गोकामा एव स्माग्नी गार्गह्य इत्यन्त इत्युक्तवन्तमित्यर्थः । ३ अक्षतरणोक्तार्थम् । ४. सूचयन्ती—सूचयन्ती श्रुतिर्याज्ञवल्क्यवृत्तमुत्तर दर्शयतीत्यर्थम् । ५ ब्रह्मिष्ठस्य नमस्कारार्थम् । ६. प्रस्थापिता । ७ प्रष्टव्ये मनसि धृते सति । ८ भवत्तत्प्रत्ययः । ९ वृ० उ०

होता तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः
साऽतिमुक्तिः ॥ ३ ॥

का होता है, यह जो वाणी है; वही यही प्रसिद्ध अधिदेव अग्नि है। वह होतारूप अग्नि मुक्ति है अर्थात् होता को अग्निरूप देखना ही उस मृत्यु से छूटना है। इसीलिये वही अतिमुक्ति है ॥३॥

मृत्योरत्ययो व्याख्यात उद्गीथप्रकरणे संक्षेपतस्तस्यैव परीक्षाविषयोऽयमिति तद्गतदर्शनविशेषार्थोऽयं विस्तर आरभ्यते । यदिदं साधनजातमस्य कर्मण ऋत्विगग्न्यादि मृत्युना कर्मलक्षणेन स्वाभाविकासङ्गसहितेनाऽऽप्तं व्याप्तं न केवलं व्याप्तमनिपन्नं च मृत्युना

तस्मिन्नासङ्गपाप्मनो मृत्योरत्ययः समुच्चितेन कर्मणा संक्षेपतो व्याख्यात इति संबन्धः । तस्यैवोद्गीथदर्शनस्येति यावत् । परीक्षाविषयो विचारभूमिरयं प्रश्नप्रतिवचनरूपो ग्रन्थ इत्यर्थः । तच्छब्दः समनन्तरं निदिष्टग्रन्थविषयः । दर्शनमुद्गीथोपासनं तस्य विशेषो वागादेरग्न्याद्यात्मन्त्वविज्ञानं तस्मिन्निद्वेषार्थोऽयं प्रक्रमः । एवमथान्तरसंगतिमुक्त्वा प्रश्नाक्षरणि स्याचष्टे—यदिदमिति । मृत्युनाऽऽप्तमित्यनेन मृत्युनाऽभिपन्नमित्यस्य गतार्थत्वमाशङ्क्याऽह—न केवलमिति । 'कर्मणो मृत्युत्वात्तेन मृत्योरत्यया-

गया । उसी प्राणोपासनरूप उद्गीथदर्शन की यह विचारभूमि है, इससे उस मधुकाण्ड में प्राये हुए दर्शन विशेष अर्थ का यहाँ विस्तार से आरम्भ किया जाता है। 'यदिदम्' अर्थात् इस पाङ्क्तकर्म का ऋत्विक् और अग्न्यादि जो साधनसमूह है, वह स्वाभाविक आसक्तिसहित (ज्ञानहीन केवल) कर्मलक्षण मृत्यु से "आप्तम्" अर्थात् ससृष्ट है। केवल ससृष्ट ही नहीं है, बल्कि मृत्यु के द्वारा "अभिपन्नम्"

१. नाशः । २. पाङ्क्तस्य । ३. कर्मणि—ज्ञानहीनेन केवलेन पारमिधितेन वा पुण्यनेत्यर्थः । ४. स्वाभाविकेति—अविद्याजनितफलासक्तिप्रयुक्तेनेत्यर्थः । ५. ससृष्टम् । ६. मुख्यप्राणदर्शनसहितेन । ७. प्राणोपासनस्य । ८. मधुकाण्डग्रन्थविषयः । ९. यदि कर्मणोवात्येति मृत्युमिति यदि प्राप्तवत्यो ब्रूयात्तत्राह—कर्मण इति ।

ऋमृत्युना कर्मलक्षणोनेति । अत्राहुर्वातिकाचार्यस्तथाहि—'परिच्छेदकृदज्ञानं सासङ्गं मृत्युसञ्जितम् । केनायं यजमानोऽतो मृत्योराप्तेविमुच्यते ॥ यन्मत्संसाधन साध्य मत्स्यं तदपि जायते । साधनानुमित साध्य मुक्तिः केनात उच्यते ॥ होत्रत्वित्राग्निना वाचा मृत्योराप्तेविमुच्यते । इति प्रश्नप्रतिवचो याज्ञवल्क्योऽमुवाच तम् ॥ प्रवक्ता याज्ञवल्क्योऽत्र तं पृच्छत्यश्वलादेव । साराजके समाजेषु विचारः त्रियते महान् ॥ यजमानस्य देवं वाग्धोता चैतद्द्वयं यदा । अधिदेवात्मना वेति स होतैर्विषयो भवेत् ॥ अनन्तविग्रहः सोऽग्निहोता मृत्योर्धर्षोदितात् । यजमानस्य मुक्तिः स्यादतिमुक्तिस्तर्षव च ॥ आसुरारसाधनादेवप्राप्तिर्भूक्तिरिहोच्यते । साध्यादप्यासुरादेवसाध्यान्वितिमुक्तिता" ॥ १६-२५ ॥ इति । को मृत्युर्धनं ससाधनं कर्म ससृष्टं वशीकृतं च यस्य वाऽऽप्तेर्भुङ्क्षेत्यत आह—परिच्छेदेति । ब्रह्मादेरादिभेदकारण भ्रान्तिज्ञान रागादिसहित मृत्युरित्यर्थः । केनेत्यादिवाक्यमादत्ते—नेनेति । ययोत्समृत्युनायो ससाधनं सर्वमेव कर्म स्यत स्यात् प्राणतिसयपुत्रर्षेहेतुकर्मत्यागो युक्तततो नाय

वशीकृतं च । केन दर्शनलक्षणेन साधनेन 'यजमानो मृत्योराप्तिमतीत्य मृत्युगोचरत्वमति-
क्रम्य मुच्यते स्वतन्त्रो मृत्योरवशो भवतीत्यर्थः । ननुद्गीथ' एवाभिहितं येनातिमुच्यते
'मुख्यप्राणात्मदर्शनेनेति । बाहमुक्त योऽनुक्तो विशेषस्तत्र' तदर्थोऽयमारम्भ इत्यदोषः ।

योगात्तदव्ययसाधनं किञ्चिद्दर्शनमेव वाच्यमित्याशयेन पृच्छति—केनेति । दर्शनविषयं प्रश्नमाक्षिपति—
नन्विति । येन मुख्यप्राणात्मदर्शनेनातिमुच्यते तदुद्गीथप्रक्रियायामेवोक्तं 'तथाच मृत्योरव्ययोपायस्य
विज्ञानस्य निश्चितत्वात्केनेतिप्रश्नानुपपत्तिरिति योजना । तस्यैव परीक्षाविषयोऽयमित्यादावुक्तमादाय
परिहरति—बाहमिति । उद्गीथप्रकरणे वागादेरग्न्याद्यात्मत्वदर्शनरूपो यो विशेषो वक्तव्योऽपि
नोक्तस्तदुक्त्यर्थोऽयं प्रश्नप्रतिबन्धनरूपो ग्रन्थ 'इति कृत्वा केनेत्यादिप्रश्नोपपत्तिरित्यर्थः ।

यानी वश मे किया गया है । "केन" यानी किस दर्शनलक्षण साधन से (साधनसहित कर्म का कर्ता)
यजमान "मृत्योराप्तिमतीत्यमुच्यते" अर्थात् मृत्युगोचरता का अतिक्रमण करके स्वतन्त्र यानी मृत्यु के
अधीन नहीं रहता । (इस पर पूर्ववादी दर्शनविषयक आक्षेप करता है—) किन्तु जिस मुख्यप्राणो-
पासन से मुक्त हो जाता है, उसका व्याख्यान तो उद्गीथब्राह्मण में ही कर दिया गया है । (शङ्का का
समाधान किया जाता है—) ठीक ही है । वहाँ वर्णन तो अवश्य है, किन्तु जिस विशेष का वहाँ वर्णन
नहीं किया, उसके लिए इस ग्रन्थ का प्रारम्भ हो जाने में कोई दोष नहीं है ।

१ ससाधनस्य कर्मण कर्ता । २ ब्राह्मणे । ३ तन्मुख्यप्राणोपासनमिति इतिशब्दार्थं । ४ उद्गीथ-
ब्राह्मणे । ५ उक्तत्वे च । ६ इति मनसि निघायेत्यर्थं ।

प्रश्नो युज्यत तत्राऽऽह—यन्मर्त्येति । हेतुनाशिर्येऽपि फलरथानागतत्वं मोक्षवदित्याशङ्क्याऽऽह—साधनेति ।
कारणानुसारित्वात्कार्यस्य मुक्तेश्चाकार्यत्वात्साशित्वं साध्यस्यावश्यभावीति भावः । सहेतुफलस्य कर्मणो नाशित्वेन
त्याज्यत्वात्तदभ्यासकस्य मृत्योरव्ययोपायो वाच्य इति प्रश्न निश्चयति—मुक्तिरिति ॥ परिहारमवतारयति—
होत्रति । तमित्यश्वत्थस्य निर्देश ॥ अथाश्वतो याज्ञवल्क्य जेतु जल्पेन प्रवृत्तस्तत्र तेनापि तनैव षडलादि
प्रयोक्तुं युक्तमहृदयवाचानहृदया एव प्रतिवाची भवन्तीति व्यापारतो यथातत्त्वं प्रतिबन्धनमनुचितं जल्पस्य
तत्त्वनिर्णयफलत्वानुपपत्तेश्चाऽऽह—प्रवर्तेति । अत्रेति जल्पकथोक्तिः । विचारस्य महत्त्वं तत्त्वनिर्णयफलत्वम् ।
ज्ञानवत्तमेवाश्वलादीना जयादिविबन्धना प्रश्नदर्शनादुत्तरत्र निग्रहोद्भवनाच्च भवत्ययः जल्पकथा सांप्रिं कदाचि-
न्महाजनपरिरुहीता तत्त्वनिर्णय फलति । उक्तं हि—तत्त्वार्थव्यवसायरक्षणार्थं जल्पवित्तण्डे बीजप्ररोहस्तरक्षणार्थं
कण्टकशालाविरणविति । वास्तव्यायनश्चाऽऽह—तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविधानं स्वपक्ष रक्षन्तीति ।
अयोऽप्याह—तत्त्वस्तरक्षणार्थत्वात्साशित्वात् इति । अतो वादवज्जल्पोऽपि कदाचित्तत्त्वनिर्णयिक इति भावः ॥
वाग्वै यज्ञस्यत्यादेर्यमाह—यजमानस्येति । अभ्यासं यजमानस्य वागपि यज्ञ होता चेति द्वयमग्निरूपं यदा
होता ध्यायति तदा स यजमानस्याऽऽजमश्च मृत्युनाशे हेतु स्यादित्यर्थः ॥ स मुक्तिरियमाद्यवतारयति—अनन्तेति ॥
मुक्तिपदार्थमाह—आगुरादिति । ज्ञानहीनात्केवलत्वात्पापमिश्रताया पुण्यात्कर्मण नूनाद्यादितिहोती । समुच्चयस्या-
ऽऽप्तिरत्र मुक्तिरित्यर्थः । अतिमुक्तिशब्दार्थमाह—साध्यादिति । आगुरसाधनकलात्सर्गादिर्देवसाधनकमस्य
सूरादेरप्यस्तिरत्रातिमुक्तिरित्यर्थः ॥

होत्रत्विजाऽग्निना वाचेत्याह याज्ञवल्क्यः । 'एतस्यार्थं व्याचष्टे । कः पुनर्होता येन मृत्युमतिक्रामतीति । उच्यते—वाग्बं यज्ञस्य यजमानस्य "यज्ञो वै यजमानः" इति श्रुतेः । यज्ञस्य यजमानस्य याऽध्यात्मं वाक्सैव होताऽधियज्ञे । कथं तत्तत्र येयं वाग्यज्ञस्य यजमानस्य सोऽयं प्रसिद्धोऽग्निरधिदैवतम् । तदेतत्त्र्यम्नप्रकरणे व्याख्यातम् । 'स चाग्निर्होता "अग्निवै होता" इति श्रुतेः । यदेतद्यज्ञस्य साधनद्वयं होता चत्विगधियज्ञमध्यात्मं च वागेतदुभयं साधनद्वयं परिच्छिन्नं मृत्युनाऽऽप्तं स्वामाविकानानासङ्गप्रयुक्तेन कर्मणा मृत्युना प्रतिक्षणमन्यथात्वमापाद्यमानं वशीकृतम् । तदनेनाधिदैवतरूपेणाग्निना "दृश्यमानं यजमानस्य यज्ञस्य मृत्योरतिमुक्तये भवति । तदेतदाह—स मुक्तिः स"; होताऽग्निर्मुक्ति-

। कीदृक्पुनर्दशनं मृत्युजयसाधनं होत्रे"त्यादायुक्तमित्याशङ्क्याऽह—एतस्येति । व्याचष्टे वाग्बं यज्ञस्येत्यादिनेति शेषः । व्याख्यायानमेव विशदयितुं पृच्छति—कः पुनरिति । "दशनंविषयं दशंयन्मुत्तरमाह—उच्यत इति । यज्ञशब्दस्य यजमाने वृद्धप्रयोगो नास्तौत्याशङ्क्याऽह—यज्ञ इति । यजमानस्य या वागध्यात्मं संवाधियज्ञे होताऽस्तु "तयाऽपि कथं तयो"दैवतात्मना दशनमित्याह—कथमिति । तयोरन्यात्तमना दशनमुत्तरवाक्यावष्टम्भेन व्याचष्टे—तत्तत्रेति । कथं पुनर्वाग्योरेकत्वं तदाह—तदेतदिति । तयोरेकत्वेऽपि कुतो हेतु"स्तद्वक्ष्यमित्याशङ्क्याऽह—स चेति । स मुक्तिरित्येतदवतारयितुं भूमिकां करोति—यदेतदिति । न केवलमेतदुभयं मृत्युना संस्पृष्टमेव किन्तु तेन वशीकृतं चेत्याह—स्वामाविकेति । मृत्युनाऽऽप्तं मृत्युनाऽभिपन्नमित्यनयोरेकमनूद्य होत्रेत्यादेरर्थमनुवदति—तदनेनेति । साधनद्वयं तच्छब्दार्थः । यजमानग्रहणं हेतुरूपलक्षणम् । "उच्यतेऽयं समनन्तरवाक्यमवतार्यं" व्याकरोति

याज्ञवल्क्य बोला—होता ऋत्विक् रूपेण अग्निं और वाक् से उसका अतिश्रमण किया जा सकता है । इसी वाक्य का अर्थ स्पष्ट किया जाता है—परन्तु वह होता कौन है, जिसके द्वारा मृत्यु का अतिश्रमण करना है ? इस पर श्रुति कहती है—वाक् ही "यज्ञस्य" अर्थात् यजमान की होता है । "यज्ञ ही यजमान है" ऐसी श्रुति भी (यज्ञ के यजमानार्थक होने में) प्रमाण है । यज्ञ अथवा यजमान की जो वाणी होती है, वही यज्ञ के समीप होती है । ऐमा कंमे कहते हो ? (वाक् और होता के एकरूप होने पर) वहाँ जो यह यज्ञ अथवा यजमान की वाणी है, वही प्रसिद्ध अधिदैव अग्नि है । वह (वाक् और अग्नि का एकरूप) त्र्यम्नप्रकरण में पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है । वाक् से एकता को प्राप्त वह अग्नि ही होता है, "अग्नि ही होता है" इत्यादि श्रुतिवाक्य इसमें प्रमाण है । इस प्रकार यज्ञ के जो दो साधन हैं, होता और ऋत्विक्; अधियज्ञ एव अधिदैवत वाक् है; ये दोनों साधनपरिच्छिन्न, मृत्यु से व्याप्त एव अनादि

१. वाक्यस्य । २. यज्ञे इति अधियज्ञ तस्मिन् यज्ञे इत्यर्थः । ३. वाग्बोऽप्येकत्वे सति । ४. वाग्यो-
रेकत्वम् । ५. वृ० उ० १११३ । ६. वृ० उ० ११११० । ७. वागैक्यमापन्नः । ८. अनाद्यज्ञान-
जन्यकलासक्तिप्रयुक्तेनेत्यर्थः । ९. अद्यात्साधियज्ञोयवाग्योतृलक्षण साधनद्वयम् । १०. अन्यात्मनोपास्यमानम् ।
११. भूमिकोक्तमर्थजातम् । १२. स होताऽग्निरिति—स हाताऽग्निरूपेण दृष्टो मुक्तिः । १३. वाक्ये ।
१४. उपास्तेविषयम् । १५. वाग्बोऽप्येकत्वेऽपि । १६. अग्निरूपेण । १७. अग्न्यैक्यम् । १८. भूमिकोक्तेऽर्थे ।
१९. सयोग्यः ।

‘रग्निस्वरूपदर्शनमेव मुक्तिः’ । यदेव साधनद्वयमग्निरूपेण ‘पश्यति’ तदानीमेव हि स्वाभाविकादासङ्गान्मृत्योर्विमुच्यत आध्यात्मिकात्परिच्छिन्नरूपादाधिभौतिकाच्च । ‘तस्मात्त होताग्निरूपेण दृष्टो मुक्तिर्मुक्तिसाधन यजमानस्य ।’

साऽतिमुक्ति । ‘यैव च मुक्ति साऽतिमुक्तिरतिमुक्तिसाधनमित्यर्थ । साधनद्वयस्य परिच्छिन्नस्य याऽधिदेवतारूपेणापरिच्छिन्नेनाग्निरूपेण दृष्टि सा मुक्तिः । याऽऽति मुक्तिरधिदेवतादृष्टि संवाच्यात्माधिभूतपरिच्छेदविषयासङ्गास्पद मृत्युमतिक्रम्याधिदेवतात्वस्याग्निभावस्य, प्राप्तिर्या फलभूता साऽतिमुक्तिरित्युच्यते । ‘तस्या अतिमुक्तेर्मुक्तिरेव

—तदेतदाहेति । मुक्तिशब्दस्तत्साधनविषय । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—अग्निस्वरूपेति । याचो होतुश्चाग्निस्वरूपेण दर्शनमेव मुक्तिहेतुरिति यावत् । ‘उक्तमर्थं प्रपञ्चयति—यदैवेति । स मुक्तिरित्यस्यार्थमुपसहरति—तस्मादिति ।

वाक्यान्तर समुत्पाप्य व्याचष्टे—साऽतिमुक्तिरिति । मुक्त्यतिमुक्त्योरसकीर्णत्व दर्शयति—साधनद्वयस्येति । प्राप्तिरतिमुक्तिरिति सबन्ध । तामेव सगृह्णाति—या फलभूतेति । फलभूतायामग्न्याधिदेवताप्राप्ती कथमतिमुक्तिशब्दोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तस्या इति । ननु, वागादीनामग्न्यादि-

अज्ञानजन्य फलासक्ति से प्रेरित कर्मरूप मृत्यु से प्रतिक्षण अन्यथात्व को प्राप्त हो वशीकृत हो रहे हैं । ये साधनद्वय (अग्न्यात्मकरूप से) उपासित होने पर होता यजमान के यज्ञ के इस अधिदेवतरूप अग्नि के द्वारा मृत्यु का अतिक्रमण करने के लिए होत है । इसी प्रसंग म श्रुति कहती है—“स मुक्ति” अर्थात् वह मुक्ति है । वह हातारूप अग्नि मुक्ति है अर्थात् होता की अग्निरूप से उपासना करना ही मुक्ति है । जिस समय भी यजमान साधनद्वय की अग्निरूप से उपासना करता है उसी समय ही वह स्वाभाविक आसक्तिरूप मृत्यु से आध्यात्मिक और आधिभौतिक परिच्छिन्नरूप से मुक्त हो जाता है । इसलिए अग्निरूप से उपासित हुआ वह होता यजमान की मुक्ति अर्थात् मुक्ति का साधन है ।

जो मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है, उक्तरूपा मुक्ति ही (वागादिफलरूपा अग्न्यादिभावापत्तिरूपा) अतिमुक्ति का साधन है । वाक और होतृलक्षण साधनद्वय परिच्छिन्न की अधिदेवरूप अपरिच्छिन्न अग्निरूप से जो दृष्टि है वही मुक्ति है । यह जो अधिदेवता दृष्टिरूपा मुक्ति है, वही अध्यात्म व अधिभूत परिच्छिन्नविषयासङ्गरूप मृत्यु को अतिक्रमण करके फलभूता अधिदेवतात्व (देवान्तर उपलक्षण वाले वागादिको) की अग्निभावप्राप्ति है, वही अतिमुक्ति कही जाती है । उस (फलभूता) अतिमुक्ति का साधन मुक्ति ही है, ऐसी व्युत्पत्ति से वह अतिमुक्ति है—ऐसा कहा गया है ।

- १ मृत्योरतिक्रमणरूपमुक्ते साधनमित्यभिप्रेत्याह—अग्निस्वरूपेति । २ होता । ३ तस्मादिति—स मुक्तिरिति वाक्ये सम्यग्दस्याग्निरूपेण दृष्टहोतृविषयत्वात् । मुक्तिशब्दस्य च तत्साधनविषयत्वाच्चेत्यर्थ ।
- ४ संदेयत्वम् । ५ उक्तरूपा मुक्तिरेव । ६ अतीति—वागादीना फलरूपाग्नादिभावापत्तिरूपातिमुक्ते साधनमित्यर्थ । ७ वाग्योतृलक्षणस्य । ८ परिच्छिन्नविषयासङ्गरूपमित्यर्थ । ९ देवान्तर उपलक्षणसाधनमित्यर्थ । १० वागादीनाम् । ११ फलभूताया । १२ स मुक्तिरित्येतस्यार्थम् । १३ विभक्तत्वम् ।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमहोरात्राभ्या-
 'माप्तं सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यज-
 मानोऽहोरात्रयो'राप्तिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युर्णात्विजा

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा यह जो कुछ दृश्यमान जगत् है, सभी दिन और रात्रि से ध्यात है । अतएव सभी दिन और रात्रि के अधीन है, ऐसी दशा में किस साधन से यजमान अहोरात्र के परिच्छेद को पार कर सकता है । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—अध्वर्यु, ऋत्विक् और नेत्ररूप आदित्य

साधनमिति कृत्वा साऽतिमुक्तिरित्याह । 'यजमानस्य ह्यतिमुक्तिर्वागादीनामग्न्यादिभाव इत्युद्गीयप्रकरणे' व्याख्यातम् । "तत्र सामान्येन मुख्यप्राणदर्शनमात्रं मुक्तिसाधनमुक्तं न "तद्विशेषो, "वागादीनामग्न्यादिदर्शनमिह तद्विशेषो वर्ण्यते । मृत्युप्राप्यतिमुक्तिस्तु संव फलभूता योद्गीयब्राह्मणेन व्याख्याता मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत" इत्याद्या ॥३॥

याज्ञवल्क्येति होवाच । "स्वाभाविकादज्ञानासङ्गप्रयुक्तात्मकर्मलक्षणान्मृत्योरति-

भावोऽत्र ध्रूयते यजमानस्य तु न किंचिदुच्यते तत्राऽह—यजमानस्येति । तर्हि तेनैव गतार्थत्वादनर्थ-
 कर्मिदं ब्राह्मणमित्याशङ्क्य "ब्राह्मणमित्यादिनोक्तं स्मारयति—तत्रेति । दर्शनवत्फलेऽपि विशेषः स्या-
 दित्याशङ्क्याऽह—मृत्युप्राप्तीति ॥३॥

प्रदान्तरभवतार्य तात्पर्यमाह—याज्ञवल्क्येति । आश्रयभूतानि कानि तानीत्याशङ्क्याऽह—

"वागादि का अग्न्यादिभाव यजमान की अतिमुक्ति है"—इसका व्याख्यान पहले ही उद्गीयप्रकरण मे

१. व्याप्तम् । २. न केवलमाप्तमपि तु वशीकृतम् । ३. दर्शनात्मकसाधनेन । ४. अहोरात्ररूपमृत्योः ।
५. आप्तमिति—प्राप्तिमतीत्य उक्तमृत्युगोचरतामतिक्रम्य मुच्यते स्वतन्त्रो भवतीत्यर्थं । ६. यजमानचक्षुर-
 ध्वर्यु'रादित्यात्मनाऽध्वर्युकृत् क ध्यान मृत्यवतिक्रमसाधनमित्युत्तरमाह—अध्वर्युर्णेति । यजमानस्याध्यात्मचक्षुर-
 धियज्ञमध्वर्युश्चेत्यभयमनवच्छिन्नसंस्कारितेति साक्षादप्रायप्रध्वर्यु स्वमहोरात्राभ्यान्मृत्योर्मुच्यते यजमान च
 मोचयतीत्युत्तरत्वात्पर्यं श्रुति । स्वयमेव व्याचष्टे—चक्षुर्वा इत्यादिना । यज्ञस्य यजमानस्य यदध्यात्म चक्षुस्त-
 देवाधियज्ञेऽध्वर्युः । तत् तत्रैवं सति यदिदं यजमानस्य चक्षुः स प्रसिद्धोऽसावधिदैवतरूप आदित्य । स एव
 चक्षुर्ध्वयमापन्न आदित्योऽध्वर्युः सोऽध्वर्यु'रादित्यरूपेण दृष्टो मुक्तिमृत्योरतिक्रमरूपमुक्तेः साधनम् । सोऽत्ररूपा
 मुक्तिरतिमुक्तिफलरूपादित्यादिभावापत्तिरूपातिमुक्तेः साधनमित्यर्थं । ७. मुक्तेरधिकेति व्युत्पत्त्या फल हि
 साधनतो ज्ञायः । ८. यजमानस्येति—तथा चाध्यात्मसाधयज्ञीयसाधनद्वयस्य बाह्योत्पलक्षणस्य परिच्छिन्नस्या-
 परिच्छिन्नप्राधिदैवताग्निरूपेण, अहमपरिच्छिन्नान्यात्मकयजमानवापूपोऽग्निरित्येतादृशी यज्ञसमये होत्रा क्रियमाणा
 दृष्टियजमानस्याध्यात्मपरिच्छेदरूपमृत्युमतिक्रम्य फलभूताग्न्यादिभावापत्तिरूपातिमुक्तिमाधनमित्यर्थः सम्पन्न ।
९. वृ० उ० १।३।१६ । १०. उद्गीयब्राह्मणे । ११. वागादेरग्न्याद्यात्मरवदर्शनराहित्येन । १२. तस्य
 प्राणदर्शनस्य विशेष इति भाव । १३. विशेषमेवाह—वागादीनामिति । १४ वृ० उ० १।३।१२ । १५.
 अनाद्यविद्याजनितात् । १६. अज्ञानप्रयुक्तो य आसङ्ग फलाभिलाषस्तत्प्रयुक्तादिति । १७. वृ० उ०
 ३।१।१ ।

चक्षुषाऽऽदित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिवं चक्षुः
सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽति-
मुक्तिः ॥ ४ ॥

के द्वारा अधिभूत परिच्छेद को पार कर सबता है। नेत्र ही यज्ञ का अध्वर्यु है। अतः यह जो नेत्र है, वह यह आदित्य है तथा वह अध्वर्यु है, वह मुक्ति है अर्थात् आदित्य रूप से देखा हुआ वह अध्वर्यु मुक्ति है और वही अतिमुक्ति भी है ॥४॥

मुक्तिव्याख्याता । तस्य कर्मणः सासङ्गस्य मृत्योराश्रयभूताना दर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनानां यो विपरिणामहेतुः कालस्तस्मात्कालात्पृथगतिमुक्तिर्वक्तव्येतीदमारभ्यते । 'क्रियानुष्ठान-
व्यतिरेकेणापि प्रागूर्ध्वं च क्रियायाः साधनविपरिणामहेतुत्वेन व्यापारदर्शनात्कालस्य ।
'तस्मात्पृथक्कालादतिमुक्तिर्वक्तव्येत्यत आह—यदिवं सर्वमहोरात्रान्भ्यामाप्तं स च कालो

दर्शपूर्णमासादीति । प्रतिक्षणमन्यथात्वं विपरिणामः । अग्न्यादिसाधनान्याश्रित्य काम्यं कर्म मृत्यु-
शब्दितमृत्युपद्यते तेषां साधनानां विपरिणामहेतुत्वात्कालो मृत्युस्ततोऽतिमुक्तिर्वक्तव्येत्युत्तरप्रत्यारम्भ
इत्यर्थः । कर्मणो मुक्तिरुक्ता चेत्कालादपि सोवत्वं 'तस्य 'कर्मन्तिभ्येन मृत्युत्थावित्याशङ्क्याऽह—
—पृथगिति । कर्मनिरपेक्षतया कालस्य मृत्युत्व व्युत्पादयति—क्रियेति । कालस्य पृथङ्मृत्युत्वे सिद्धे

हो चुका है। वहाँ मुख्य प्राणदर्शनमात्र को ही (वागादि के अग्न्याद्यात्मत्व दर्शनराहित्य) सामान्य से मुक्ति का साधन कहा गया है, उस प्राणदर्शन का विशेष नहीं है। वागादि का अग्न्यादिदर्शन करना ही यहाँ विशेष का लक्षण किया गया है। किन्तु उसकी फलभूता मृत्युप्राप्ति से जो अतिमुक्ति है, वह वही है, जिसकी उद्गीथब्राह्मण के द्वारा "वह यह अग्नि परिच्छिन्न मृत्यु से परे परिच्छिन्नत्व मृत्यु को पार कर देदीप्यमान है" इस प्रकार व्याख्या की गई है ॥३॥

हे याज्ञवल्क्य ।' ऐसा अश्वल ने कहा। अनादि अविद्याजनित फलाभिलाषा से प्रेरित कर्मरूप मृत्यु से अतिमुक्ति की व्याख्या कर दी गई। उस फलाभिलाषा सहित कर्मरूप मृत्यु के आश्रयभूत दर्श और पूर्णमास आदि कर्मों के साधनों के प्रतिक्षण अन्यथाभाव का जा हेतु काल है, उस काल स कर्म-
निरपेक्ष अतिमुक्ति कहनी चाहिये, इसलिए प्राण्ये का अन्य आरम्भ किया जाता है। कर्मानुष्ठान के अभाव होने पर भी कर्म के पूर्व-पश्चात् उसके साधना के प्रतिक्षण अन्यथाभाव के हेतुरूप से काल का व्यापार देखा जाता है। इसलिये काल से पृथक् अतिमुक्ति का वर्णन करना आवश्यक है। इसपर श्रुति

- १ कर्मोति । कर्मणा साधनानि—यत्किञ्चिद्विचारादिकारकाणि तेषां यो विपरिणाम प्रतिक्षणमन्यथाभावस्त-
द्वेतुस्त्वित्यर्थः । २ कर्मनैरपेक्षेण । ३ क्रियेति—कर्मानुष्ठानाभावेऽपि तदनुष्ठानाभावसमयेऽपीति यावत् ।
तदेव विशदयति—प्राणित्यादिना । तदनुष्ठानसमय दृष्टान्तमित्युक्तिशब्द । प्रागूर्ध्वं चेति अकारोऽपि तत्तद्युक्त-
यार्थः । ४ तस्मादिति—कालस्य सर्वकर्मसाधनदायकितृत्वेन कर्मनिरपेक्षामृत्युत्वादित्यर्थः । ५ कालानुष्ठानो ।
६ कालस्य । ७ कर्मद्वारा ।

द्विरूपोऽहोरात्रादिलक्षणस्तिय्यादिलक्षणश्च । तत्राहोरात्रादिलक्षणात्तावदतिमुक्तिमाह—
 अहोरात्राम्यां हि सर्वं जायते वर्धते विनश्यति च । तथा यज्ञसाधनं च । यज्ञस्य
 यजमानस्य चक्षुरध्वर्युश्च शिष्टान्यक्षराणि पूर्ववन्नेयानि । यजमानस्य चक्षुरध्वर्युश्च
 साधनद्वयमध्यात्माधिभूतपरिच्छेदं हित्वाऽधिदैवतात्मना दृष्टं यत्स मुक्तिः सोऽध्वर्युरा-
 दित्यभावेन दृष्टो मुक्तिः संव मुक्तिरेवातिमुक्तिरिति पूर्ववदादित्यात्मभावमापन्नस्य हि
 नाहोरात्रे संभवतः ॥४॥

फलितमाह—तस्मादिति । 'उत्तरग्रन्थस्यप्रश्नयोर्विषयं भेत्तुं काल भिनत्ति—ग चेति । आदित्य-
 श्वन्नश्चेति कर्तुं भेदाद्द्वैविध्यमुन्नेयम्" । कालस्य द्वैरूप्ये सत्याद्यकण्डिकाविषयमाह—तत्रेति । अहोरा-
 त्रयोर्मृत्युत्वे सिद्धे तान्यामितिमुक्तिर्वक्तव्या "तदेव कथमित्याशङ्क्याऽह—अहोरात्राम्यामिति ।
 यज्ञसाधनं च तथा ताम्या जायते वर्धते नश्यति चेति संबन्धः । "प्रतिवचनव्याख्याने यज्ञशब्दाद्यंमाह—
 यजमानस्येति । स मुक्तिरित्यस्य तात्पर्यायंमाह—यजमानस्येत्यादिना । "तस्यंवाक्षरायं कथयति—
 सोऽध्वर्युरिति । यथोक्त"रीत्याऽऽदित्या"स्मत्वेऽपि कथमहोरात्रलक्षणान्मृत्योरतिमुक्तिरत आह—
 आदित्येति । 'नोदेता "नास्तमेता" इत्यादिश्रुतेरादित्ये वस्तुतो नाहोरात्रे स्तः । तथा च" तदात्मनि
 विदुष्यपि न ते सभवत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

कहती है—“यह जो कुछ दृश्यमान जगत् है, सभी कुछ दिन और रात्रि से व्याप्त है” । उस काल के दो
 रूप हैं, अहोरात्रादिसज्ञक और तिथ्यादिसज्ञक । उन दोनों में अहोरात्रादिसज्ञक (कालरूप मृत्यु) से
 अतिमुक्ति बतलायी जाती है—अहोरात्र से यज्ञादिकर्म की उत्पत्ति, वृद्धि और विनाश होता है । उसी
 प्रकार यज्ञ के साधन भी अहोरात्र से उत्पत्ति एव वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा विनष्ट हो जाते हैं । चक्षु
 यज्ञ अथवा यजमान के अध्वर्यु हैं, शेष अक्षरों की पूर्ववत् योजना कर लेनी चाहिये । यजमान के नेत्र
 और अध्वर्यु ये दोनों साधन अध्यात्म और अधिभूत परिच्छिन्न को त्याग कर अधिदैव (आदित्य) रूप में
 अध्वर्यु के द्वारा देखे जाते हैं, वह मुक्ति है । आदित्यभाव से देखा गया वह अध्वर्यु मुक्ति ही है । पूर्वमन्त्र
 के समान वह मुक्ति ही अतिमुक्ति है, क्योंकि आदित्यभाव को प्राप्त हुए पुरुष के लिए अहोरात्र
 सम्भव नहीं है ॥४॥

- १ द्वयोर्मध्ये । २ कालरूपमृत्यो । ३ यज्ञादिकर्म । ४ विनश्यतीति वार्तिके स्पष्टम्—“उपस्थापयत
 कर्म तथा क्षपयतो यत । अहोरात्रे ततो मृत्युस्ताम्या मुक्तिं कुता भवदिति” ॥ ३२ ॥ ५ पूर्ववदिति—
 ममाध्वर्यो सम्बन्धी योग्यात्मा यजमानस्तदवयवश्चक्षुरह चाध्वर्युरित्युभयमशुमानेवेति साक्षादपान कृत्वा
 यदाऽध्वर्युस्तिष्ठति तदा यजमानोऽध्वर्युश्चाहोरात्राख्यमृत्योमुच्यत इति योग्यानीत्यर्थं । वार्तिके यथा—
 “आत्माऽवयव एवाऽव्य सूर्यश्चक्षुःप्रमाशुमान् । अध्वर्युरहमेवेति साक्षात्कृत्वा विमुच्यत” ॥ ३५ ॥ इति । ६
 आदित्यरूपेण । ७, अध्वर्युणा । ८ उत्तरग्रन्थति—चतुस्रश्चमकण्डिकारूपोत्तरग्रन्थेत्यर्थं । ९ भेत्तु
 कण्डिकाद्वयमादत्त इति पाठान्तरम् । १० आरोपित शेषम् । ११ तदेवेति—अहोरात्रयोर्मृत्युत्वमेवेत्यर्थं ।
 १२ प्रतिवचनेति—श्रुतो यद् अध्वर्युणत्यादि याज्ञवल्कीयोत्तरवानय तद्व्याख्यानरूप यच्चक्षुर्वा इत्यादिवाक्य
 तत्स्ययज्ञशब्देत्यर्थं । १३ स मुक्तिरिति वाक्यस्य । १४ उपास्त्या । १५ विदुषः । १६ छा० उ०
 ३।१।१ । १७ आदित्ये तयोर्वस्तुतोऽभावे च ।

**याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं - पूर्वपक्षापरपक्षा-
भ्यामाप्तं सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन**

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—यह जो कुछ जगत है, सब चन्द्र के पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से व्याप्त है । सब पूर्वपक्ष तथा अपरपक्ष के वश से किया हुआ है । इस पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की व्याप्ति को

इदानीं तिथ्यादिलक्षणादतिमुक्तिरच्यते—यदिदं सर्वमहोरात्रयोरविशिष्टयोरा-
दित्यः कर्ता न प्रतिपदादीनां तिथीनाम् । तासां तु वृद्धिभयोपगमनेन प्रतिपत्प्रभृतीनां
चन्द्रमाः कर्ता । अतस्तदापत्या पूर्वपक्षापरपक्षात्यय आदित्यापत्याऽहोरात्रात्ययवत् ।
अत्र यजमानस्य प्राणो वायुः । स एवोद्गातेत्युद्गीथब्राह्मणेऽवगतं वाचा च ह्येव

कण्डिकान्तरस्य तात्पर्यमाह—इदानीमिति । नन्वहोरात्रादिलक्षणे काले तिथ्यादिलक्षणस्य
कालस्यान्तर्भावोऽतिमुक्त्यायुक्त्यायां तिथ्यादिलक्षणादपि कालादसायुक्तंवेति कृतं पृथगारम्भेणेति
तत्राऽह—अहोरात्रयोरिति । अविशिष्टयोर्द्विलक्षयन्न्ययोरिति यावत् । कथं "तर्हि तिथ्यादिलक्षणा-
त्कालादतिमुक्तिरत आह—अतस्तदापत्येति । चन्द्रप्राप्त्या "तिथ्याद्यत्ययो माध्यदिनश्रुत्येच्यते
काण्वश्रुत्या तु वायुभावापत्या तदत्यय उच्यते । तथाच श्रुत्योर्विरोधे कः समापिरित्याशङ्क्याऽह—
तत्रेति । काण्वश्रुताविति यावत् । उद्गातुरपि प्राणात्मकवायुपुरुषत्वं "श्रुतिद्वयानुसारेण दर्शयति—
स एवेति । न केवलमुद्गातुः प्राणत्वं प्रतिजामात्रेण प्रतिपन्नं किंतु विचायं निर्धारितं चेत्याह—

यत्र तिथ्यादिसंज्ञक काल से (मृत्यु की) अतिमुक्ति का वर्णन श्रुति करती है—यह जो कुछ
दृश्यमान जगत है, ये जो वृद्धि और क्षयशून्य अविशिष्ट अहोरात्र है, उन सब का कर्ता आदित्य है,
प्रतिपदादि तिथियों का कर्ता नहीं है । उनके वृद्धि व क्षय होने से प्रतिपदादि तिथियों का कर्ता चन्द्रमा
है । इसलिए आदित्यभाव की प्राप्ति से जैसे अहोरात्र का अतिप्रमण हो जाता है, उसी प्रकार चन्द्रभाव
की प्राप्ति से पूर्वपक्ष और अपरपक्ष का अतिप्रमण हो जाता है । वहाँ यजमान की वायु प्राण है ।

१ कालान्मृत्यो । २ सत्त्वेन । ३ चन्द्रमसि वृद्धिहासयोर्भावातिथीनामपि तयो मत्वात् माहृशवात्स
तत्कतैत्याह—चन्द्रमा इति । ४ वृद्धिहासभावत्वात्सादृश्यादिति भावः । ५ यदिदं सर्वं पूर्वपक्षेत्वादिप्रश्ने
ब्रह्मणोर्निजा मनसा चन्द्रेणेति माध्यदिनश्रुत्या तावदुत्तरमाह—अतस्तदापत्येति । चन्द्रात्मना ब्रह्मणा मनसश्च
ध्यानातिथ्यात्प्रमणपक्षाद्व्यपमृत्योर्धर्मजमानो ब्रह्मा च मुच्यते इत्यर्थः । अत तिथीनां चन्द्रवृत्त्वत्वात् । तदापत्या
—चन्द्रप्राप्त्या । ६ तत्रेति—उद्गातवर्तिजा वायुना प्राणेनेति प्रवृत्तकाण्वश्रुती । वायुराचरेन यजमानस्य
प्राण उच्यते इत्यर्थं इत्याह । बन्तुतस्तु यजमानप्राणो वाचविभक्तो विराशित इत्यर्थो भाति । ७ वाय्वात्मक
प्राण एव । ८ वृ० उ० १।३।७ । ९ ब्रह्मणोर्भावात्—तेभ्य एव प्राण उद्गातवर्दिन श्रुतिरिति शेषः ।
श्रुतिरित्येव वृ० उ० १।३।७ । १०. वाचा चेति—त उद्गाता अपास्यापासनया तद्रूपभूना वाचा प्राणप्रधानया
प्राणेन च स्वात्मभूतेन ह्येवाद्यावदित्यय । ११ वृ० उ० १।३।२४ । १२ तिथीनां चन्द्रवृत्त्वत्त्वर्थः ।
१३ तिथ्याद्यत्ययो माध्यदिनश्रुत्येति—अत्र यजमानप्राणोद्गीथोर्वायुहृत्वाऽन्तरेणऽहोरात्रप्रमणात्प्रमण
ब्रह्मणोर्प्राणोर्भावात्त्वादिति भावः । १४ उक्तरीत्या । १५ तभ्य एव इत्यर्थः, वाचस्यायुद्गीथोर्वायु-
श्रुतिद्वयानुसारेणेति ।

यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्लिप्तमतिमुच्यत इत्युद्गा-
त्रत्विजा वायुनां प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं
प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः साऽति-
मुक्तिः ॥ ५ ॥

यजमान किस साधन से पारकर मुक्त होता है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—उद्गाता, ऋत्विक् से श्रीर वायुरूप प्राण से उसका अतिक्रमण होता है क्योंकि निश्चित ही उद्गाता यज्ञ का प्राण है और यह जो प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है, वही मुक्ति और वही प्रतिमुक्ति भी है ॥५॥

स प्राणेन चोदगायदिति च निर्धारितम् । अर्थतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्र इति च । प्राणवायुचन्द्रमसामेकत्वाच्चन्द्रमसा वायुना चोपसंहारे न कश्चिद्विशेष एवमन्यमाना श्रुतिर्वायुनाऽधिदैवतरूपेणोपसंहरति । अपि च वायुनिमित्तो हि वृद्धिक्षयो

वाचेति । प्राणचन्द्रमसोश्चैकत्वं सप्ताध्याधिकारे निर्धारितमित्याह— अथेति । उक्त्या रीत्या प्राणादीनामेकत्वे श्रुत्योरविरोधं फलितमाह—प्राणति । मनोब्रह्मणोश्चन्द्रमसा प्राणोद्गात्रोश्च वायुनोपास्यत्वेनोपसंग्रहे मृत्युतरणो विशेषो नास्तीति श्रुत्योर्विकल्पेनोपपत्तिरित्यर्थः । उपसंहरति प्राणमुद्गातात् च तद्रूपेणोपास्यतया संगृह्णाति काण्वश्रुतिरित्यर्थः । इतश्च काण्वश्रुतिरुपपन्नेत्याह— अपि चेति । “वायुः सूत्रात्मा तन्नमित्तो श्वावयवस्य चन्द्रमसो वृद्धिह्रासो । सूत्राधीना हि चन्द्रादेर्ज-

वाय्वात्मक प्राण ही उद्गाता है, यह उद्गोथब्राह्मण में अवगत करा दिया गया । “अतः उस ब्रह्मदत्त ने प्राण और वाक् के ही द्वारा उद्गान किया था, यही अर्थ इस श्लोक से निश्चित होता है” यह निर्णय भी किया गया । “और इस प्राण का जल शरीर (आधार) है, वह चन्द्रमा ज्योतिरूप है” ऐसी भी इसमें श्रुति है । वायु, प्राण और चन्द्रमा की एकता होने के कारण माध्यमिन श्रुति द्वारा चन्द्रमा से और काण्व श्रुति द्वारा वायु से संग्रह करने में कोई विशिष्टता नहीं है । उक्त रीति से विशिष्टता का अभाव मानकर ही श्रुति अधिदैव वायुरूप से उद्गाता प्राण का संग्रह करती है । इसके अतिरिक्त चन्द्रमा की वृद्धि-क्षय भी वायु के कारण हैं । इसलिए वायु ति थ्यादिरूप काल के कर्ता का

१. अथेति—आधिदैविकयोर्ब्रह्मनस्याविभूतिनिर्देशानन्तरम्, एतस्य—अप्रत्वेन प्रकृतस्य प्राणस्य अप, शरीरम् आधार, ज्योतीरूप—प्रकाशात्मक करणभूतमाधेयरूपमसौ चन्द्र इत्यर्थः । २ वृ० उ० १।५।१३ । ३. माध्यमिनश्रुत्या । ४. काण्वश्रुत्या । ५ संग्रहे । ६ उक्तरीत्या विरोधाभाव मन्यमानेति भाव । ७. प्राणमुद्गातात् च । ८ शाखाभेदेनोदितानुदितहोमवद्विकल्पेन । ९. वायुनाऽधिदैवतरूपेण । १०. “हासवृद्धयोर्धेतु कर्ता वायुश्चन्द्रमसस्तत् । वायुर्नोपसंहार प्राणोद्गात्रोरप्य कृत ” ॥ ३६ ॥ इति वातिकमभि-
प्रेत्याह—वायुरिति । सूत्रात्मा वायु श्वावयवस्य चन्द्रमसो वृद्ध्यादौ कारयिता तदयजमानप्राणस्योद्गातुश्च वाय्वात्मनोपसंग्रहे काण्वश्रुती कृतोऽतो वाय्वात्मनोवोद्गात्रादेर्ध्यानात्पक्षाद्यत्मात्मकमृत्योरुद्गाता यजमानपद मुच्यत इति वातिकार्थः । ११. स्व सूत्रम् ।

याज्ञवल्क्येति; होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्ब्वणमिव,
केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति
ब्रह्मणत्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा

१ हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा प्रश्नवले ने कहा—यह जो प्रसिद्ध आकाश है वह निरालम्ब सा है । फिर भला यजमान किस आलम्बन से स्वर्गलोक में जायगा । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मा श्रुतिवक्त्र के द्वारा और मनरूप चन्द्रमा के द्वारा स्वर्गलोक में आरूढ होता है । मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है तथा यह जो

चन्द्रमस । तेन तिथ्यादिलक्षणस्य कालस्य कर्तुरपि कारयिता वायु । अतो वायु-
रूपापन्नस्तिथ्यादिकालादतीतो भवतीत्युपपन्नतर भवति । तेन श्रुत्यन्तरे चन्द्ररूपेण
दृष्टिर्मुक्तिरतिमुक्तिश्च । इह तु काण्वाना साधनद्वयस्य तत्कारणरूपेण वाय्वात्मना
दृष्टिर्मुक्तिरतिमुक्तिश्चेति न श्रुत्योविरोध ॥५॥

मृत्यो कालादतिमुक्तिर्व्याख्याता यजमानस्य । सोऽतिमुच्यमानः केनावष्टम्भेन

गतश्चेष्टेत्यर्थ । वृद्ध्यादिहेतुस्त्वे कलितमाह—तेनेति । कर्तुश्चन्द्रस्येत्यर्थं । वायोश्चन्द्रमसि कारयि-
तृत्वेऽपि प्रकृते किमायास तदाह—अत इति । उदितानुदितहोमवद्विकल्पमुपेत्याविरोधमुपसहरति—
तेनेति । श्रुत्यन्तर माध्यदिनश्रुति । साधनद्वयस्यैवुभयत्र सवध्यते । तत्राऽऽदौ मनसो ब्रह्मण-
श्चेत्यर्थं । उत्तरत्र प्राणस्योद्गतानुश्चेत्यर्थं । तच्छन्दश्चन्द्रविषय ॥५॥

यदिदमन्तरिक्षमित्यादि प्रश्नान्तर घृत्तानुवादपूर्वकमुपावत्ते—मृत्योरिति । व्याख्यानव्याख्येय

कारयिता है । इसलिए वायुरूप को प्राप्त हुआ पुरुष तिथ्यान्तरूप बाल का प्रतिनिधन कर जाता है—
यह कथन ज्यादा उपयुक्त लगता है । विकल्प के सभब हाने पर अय श्रुति में चन्द्ररूप से जो दृष्टि है
वह मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है । यहाँ काण्व श्रुति में प्राण और उदगातारूप साधनद्वय के चन्द्रकारण-
भूत वायुभाव से जो दृष्टि है वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है इस प्रकार श्रुतियाँ में कोई
विराध नहीं है ॥ ५ ॥

१ मनो वा इति । यज्ञस्य—यज्ञमानस्य यदध्यात्म मनस्तदवाधियज्ञ ब्रह्मत्विक् तत् तन्वैव सति यदिदं याज
मानिक मन स प्रसिद्धोऽसावधिदैवतह्यश्चन्द्र स एव मनमैक्यमापन्नश्चन्द्रो ब्रह्मा न ब्रह्मा चन्द्ररूपेण दृष्टो
मुक्ति साजतिमुक्ति याजमानिकमनोब्रह्मणान्न ब्राह्मणा ब्रह्मत्विक्कश्च मन्मथ्यान्मन्वन्मन् तेनावष्टम्भेन यजमानो
ब्रह्मा च ब्रह्मलोक (स्वर्गम्) प्राप्नोतीति भावः । २ वायोश्चन्द्रवद्विह्वासहस्रत्वन । ३ मूत्रात्मवायोश्चन्द्र-
वृद्ध्यादिवह्नुत्वादिति । ४ वायुरूपेति—वाय्वात्मनैव स्वस्य ध्यानाबुद्ध्याता यजमानश्च वायुरूपापन्न
पञ्चपातनसमृत्यामुच्यत इत्यर्थः । ५ विकल्पस्य सभवन । ६ चन्द्ररूपेणति—उत्तरत्र निर्दिष्ट साधन
द्वयस्यति पदमश्रापहृष्यत तथा च मनसो ब्रह्मणश्च चन्द्ररूपेणति योग्यम् । ७ प्राणस्याद्वातुश्च । ८
चन्द्रकारणरूपेण । ९ मन्मथश्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । १० कालादित । ११ आश्रयण साधननति भावत् । १२
वायो । १३ माध्यदिनश्रुतो काण्वश्रुतो च । १४ द्वयो । १५ माध्यदिनश्रुतो । १६ काण्वश्रुतो ।

तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः
साऽतिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ संपदः ॥ ६ ॥

मन है, वही यह चन्द्रमा है, वही चन्द्रमा श्रुतिवक् ब्रह्मा है, वह मुक्ति है एव वही अनिमुक्ति है। इस प्रकार परिच्छेद से अतिमुक्तियों का उपायसहित वर्णन किया। अथ संपदो का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है (भावना द्वारा अन्य वस्तु में अन्यदृष्टि के आरोप को संपद कहते हैं। उस द्रव्यसाध्य राजसूयादि यज्ञ का फल धनहीन व्यक्ति भी संपद द्वारा प्राप्त कर सकता है। अतः संपदो का वर्णन आवश्यक है) ॥६॥

'परिच्छेदविषयं मृत्युमतीत्य 'फलं प्राप्नोत्यतिमुच्यते' इत्युच्यते। यदिदं प्रसिद्धमन्तरिक्षमाकाशोऽनारम्बणमनालम्बनमि'वशब्दादस्त्येव तत्राऽलम्बनं तत्तु न ज्ञायते इत्यभिप्रायः। यत्तु न ज्ञायमानमालम्बनं तत्सर्वनाम्ना केनेति पृच्छ्यते। अन्यथा फलप्राप्तेरसंभवात्। येना'घट्टम्भेनाऽऽक्रमेण यजमानः 'कर्मफल प्रतिपद्यमानोऽतिमुच्यते किं तदिति प्रश्नविषयः। केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति स्वर्गं लोकं फलं प्राप्नोत्यतिमुच्यते इत्यर्थः। 'ब्रह्मणत्वजा मनसा चन्द्रेणेत्यक्षरन्यासः पूर्ववत्।

भावेन 'क्रियापदे नेतव्ये। इत्येतत्प्रश्नरूपमुच्यते समन्तरवाक्येने(शे)ति यावत्। तद्व्याचष्टे—यदिदमिति। केनेतिप्रश्नस्य विषयमाह—यत्त्विति। प्रश्नविषय प्रपञ्चयति—अन्ययेति। आलम्बनमन्तरेणेति यावत्। प्रश्नार्थं संक्षिप्योपसहरति—केनेति। अक्षरन्यासोऽक्षराणामर्थेषु वृत्तिरिति यावत्।

मृत्युरूप काल (और कर्म) से यजमान की अतिमुक्ति का व्याख्यान हो चुका। वह कालादि से अतिमुक्ति हुआ किस साधन से परिच्छिन्न पदार्थरूप मृत्यु का अतिक्रमण कर इस व्याख्यानफल को प्राप्त होता है (और) अतिमुक्त होता है (यह व्याख्येय है)। इस पर श्रुति कहती है—यह जो प्रसिद्ध "अन्तरिक्ष" यानी आकाश है, वह "अनारम्बणम्" अर्थात् प्रायः आलम्बनरहित है। (तन्त्रोच्चरित) 'इव' शब्द से यह तात्पर्य है कि इसमें आलम्बन तो है ही, पर उसका प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता। जो ज्ञात न होने वाला आलम्बन है, वही (श्रुतिमन्त्र में) 'केन' इस सर्वनाम के द्वारा पूछा जाता है, अन्यथा फल की प्राप्ति होना संभव नहीं है। जिस साधन के द्वारा यजमान कर्मफल स्वर्ग को प्राप्त कर अतिमुक्ति हो जाता है, वह क्या है, यहाँ प्रश्न का विषय यह है। 'केन' यानी किस आश्रय से यजमान "स्वर्गं लोकमाक्रमत" अर्थात् स्वर्गलोक के फल को प्राप्त करता है अथवा अतिमुक्त हो जाता

१ परिच्छिन्नपदार्थरूपम्। २ इव व्याख्यानम्। ३ इदं व्याख्येयम्। ४, नि श्रेणीस्थानीयारोहसाधनरहितमिव भाति। ५ इवशब्दस्त नोच्चरित। ६ साधनेन। ७ स्वर्गम्। ८ आश्रयण। ९ यदध्यात्म यजमानस्य मनः। तदधियज्ञमृत्विश्रहं व स चाधिदैवमचन्द्राऽन्यच्च द्राष्टव्यं द्राष्टव्येन मनसा ब्रह्मणाऽवष्टम्भेन ब्रह्मलोक यजमानो ब्रह्मा व प्राप्स्यतीत्युत्तरमाह—ब्रह्मणत्वजेति। १०, प्राप्तिमुक्ती।

तत्राध्यात्मं यज्ञस्य यजमानस्य यदिदं प्रसिद्धं मनः सोऽसौ चन्द्रोऽधिदैवम् । मनोऽध्यात्मं चन्द्रमा अधिदैवतमिति हि प्रसिद्धम् । स एव चन्द्रमा ब्रह्मत्विकतेनाधिभूतं ब्रह्मणः परिच्छिन्न रूपमध्यात्म च मनस एतद्ब्रह्मणमपरिच्छिन्नेन चन्द्रमसो रूपेण पश्यति । तेन चन्द्रमसा मनसाऽवलम्बनेन कर्मफल स्वर्गं लोकं प्राप्नोत्यतिमुच्यत इत्यभिप्रायः । 'इतीत्युपसंहारार्थं वचनम् । 'इत्येवप्रकारा मृत्योरतिमोक्षा' । 'सर्वाणि हि दर्शनप्रकाराणि यज्ञाद्ब्रह्मविषयाण्यस्मिन्नवसर उक्तानीति कृत्वोपसंहार इत्यतिमोक्षा । 'एवप्रकारा' 'अतिमोक्षा इत्यर्थं ।

मनो वं यज्ञस्येत्यादेरर्थमाह—तत्रेति । व्यवहारभूमि सप्रभ्यर्थं । वाषयार्थमाह—तेनेति । "तृतीया तृतीयाभ्यां सवधत्ते । दर्शनफलमाह—तेनेति । "वागादीनामग्यादिभावेन दर्शनमुक्तं त्वगादीनां तु वाग्यादिभावेन दर्शनं वक्तव्यं तत्कथं वक्तव्यशोभे सत्युपसंहारोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽह—सर्वाणीति । "वागादावुक्तन्यायस्य त्वगादावतिदेशोऽत्र विवक्षित इत्याह—एवप्रकारा इति ।

हे । ब्रह्मरूप ऋत्विक् से एव मनरूप चन्द्रमा से—इस प्रकार मन्त्र के अक्षरों की पूर्वमन्त्रों के समान योजना कर लेनी चाहिए । यहा 'यज्ञस्य' अर्थात् यजमान का यदिदं यानी जो यह प्रसिद्ध अध्यात्म मन है, वही यह अधिदैव चन्द्रमा है । मन का अध्यात्म और चन्द्रमा का अधिदैवत होना प्रसिद्ध ही है । वही चन्द्रमा ब्रह्मा ऋत्विक् है इसी (शास्त्र प्रसिद्ध) ऋत्विक् से अधिभूत ब्रह्मा एव अध्यात्म मन के जो परिच्छिन्न रूप है—इन दोनों को (ब्रह्मत्विक्) चन्द्रमा क अपरिच्छिन्नरूप से देखता है । उस चन्द्रात्मक दृष्ट मन के द्वारा ब्रह्मा को आश्रय करके कर्मफलरूप स्वर्गलाक का प्राप्त कर लेता है अर्थात् अतिमुक्त हो जाता है । मन्त्रस्य 'इत्यतिमोक्षा' म इति' पद उपसंहार अर्थ के लिए प्रयुक्त है । इस प्रकार के हेतुओं से मृत्यु के अतिमोक्ष है । यागाद्ब्रह्म त्वगादिके विषय इस अवसर पर सभी दर्शनों का वर्णन कर दिया है—ऐसा मन म विचार कर यह उपसंहार विद्या है, "इत्यतिमोक्षा' यानी इतने प्रकार के अतिमोक्ष है ।

अथ सपदं यानी अथ सपदो का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है । किसी भी सार्वभ्य से

१ शास्त्रप्रसिद्धन । २ अधियज्ञमित्यथ तथैव वा पाठघम् । ३ ब्रह्मत्विक् । ४ चन्द्रात्मना दृष्टेन मनसा ब्रह्मणावष्टम्भेनेत्यथ । ५ उत्तरधाक्यस्थेतिशब्दाद्यमाह—इतीति । भाष्यसमाप्यथ इतिशब्द इत्यर्थं । ६ शक्याथमुच्यन्वा विवक्षितमतिदेशाख्यमथमभिप्रत्यातिदशप्रकारमाह—इत्यवमिति । ७ सर्वाणीत्यादि । वागादेरग्यादिरूपेण दर्शनोपन्याससमयं त्वगादिव्यादिरूपेण दर्शनप्रकाराणि (प्रकारा) सर्वाण्यवोक्तानीति हृदि निधायत्यथ । उक्तदर्शनस्यानुक्तदर्शनोपलक्षणत्वादिति भावः । ८ यनाङ्गति—यागाद्ब्रह्मभूतानि यानि यजमान त्वगादीनि तद्विषयाणि, यद्वा यज्ञा यजमान एव । ९ मनसि निधायः । १० एवप्रकारा इति—यथा वागादयोऽयाद्यात्मना दृष्टा मृत्योरति मोक्षहृतवस्तथाऽनुत्तारत्वगादयाऽपि वाग्याद्यात्मना दृष्टास्तद्वदो द्रष्टव्या इत्यथ । ११ अतिमोक्षा इति—अतिमाक्षा विद्यत आसामित्यतिमोक्षा दृष्टय । वागादिष्वग्यादिदृष्टीनां मृत्युमतीत्य माक्षहृतत्वादित्यथ । १२ तृतीयानथ समानाधिकरणमित्यथ । १३ वाषयार्थमादाय यादूने—वागिति । १४ अभिप्रतद्विधीय पदा स्फुटयितुं तद्विषय भाष्यमन्त्रतारयति—वागादाविति ।

अथ संपदः । अर्थाद्युना संपद उच्यन्ते । संपन्नाम केनचित्सामान्येनाग्निहोत्रादीनां कर्मणां फलवतां तत्फलाय संपादनं संपत्फलस्यैव वा सर्वोत्साहेन फलसाधनानुष्ठाने प्रयततां केनचिद्वैगुण्येनासंभवः । तद्विदानीमाहिताग्निः सन्त्यक्तचित्कर्माग्निहोत्रादीनां यथासंभवमादायाऽऽलम्बनीकृत्य कर्मफलविद्वत्तायां सत्यां यत्कर्मफलकामो भवति तदेव संपादयति । अन्यथा राजसूयाश्रमेधंपुरुषमेधसर्वमेधलक्षणानामधिकृतानां त्रैवर्णिकानांम-

अथशब्दो दर्शनप्रभेदकथनानन्तर्यायः । केयं संपन्नामेति पृच्छति—संपन्नामेति । उत्तरमाह— केनचिदिति । महतां फलवतामश्रमेधादिकर्मणां कर्मत्वादिना सामान्येनात्पीयस्सु कर्मसु विवक्षितफलसिद्धयर्थं संपत्तिः संपदुच्यते । यथाशक्त्याग्निहोत्रादिनिर्वर्तनेनाश्रमेधादि मया निर्वर्त्यत इति ध्यानं संपदित्यर्थः । यद्वा फलस्यैव देवलोकादेवस्त्वलत्वादिसामान्येनाऽऽज्याद्याहृतियु संपादनं संपदित्याह—फलस्येति । संपदनुष्ठानावसरमादशयति—सर्वोत्साहेनेति । असंभवोऽनुष्ठानस्य यदेति शेषः । कर्मिणामेव संपदनुष्ठानेऽधिकार इति दर्शयितुमाहिताग्निः सन्नित्युक्तम् । अग्निहोत्रादीनामिति निर्धारणे पृष्टी । यथासंभवं वर्णाश्रमानुरूपमिति यावत् । आदायेत्यस्य व्याख्यानमालम्बनीकृत्येति । न केवलं कर्मत्वमेव संपदनुष्ठानुरपेक्ष्यते किन्तु तत्फलविद्यावत्त्वमपीत्याह—कर्मति । तदेव कर्मफलमेवेत्यर्थः । कर्माण्येव फलवन्ति न संपदस्तत्कथं तासां कार्यतेत्याशङ्क्याऽऽह—प्रन्यथेति । विहिताध्ययनस्यायंज्ञानानुष्ठानाद्विपरम्परया फलवत्त्वमिष्टम् । न चाश्रमेधादियु सर्वेषामनुष्ठानसंभवः कर्मस्वधिकृतानामपि त्रैवर्णिकानां केषांचिदनुष्ठानासंभवादत्स्तेषां तदध्ययनार्थवत्त्वानुपपत्त्या

अग्निहोत्रादि महान् फलपुक्त कर्मो का अग्निहोत्रादि कर्मफल को सिद्धि के लिए संपादन करने का अथवा संपद के फल का ही नाम संपद है, जो पूर्णोत्साह से किसी फल के साधन के अनुष्ठानार्थं प्रयत्न करते हैं, उन कर्मकाण्डियों को किमी भी विघ्न के कारण अनुष्ठान असंभव हो जाता है । इसीलिए पूर्वोक्त अवसर में आहिताग्नि होकर अग्निहोत्रादि कर्मों के मध्य जिस कर्म का अनुष्ठान करना सम्भव हो, उसी कर्म को करके, उसके आलम्बन से, कर्मफल का ज्ञान होने पर जिस कर्मफल की कामना

१. साहस्येन । २. महताम् । ३. फलवतामिति—अल्पीयं सुसुप्तादिकर्मस्त्विति शेषः । ४. तत्फलाय—अग्निहोत्रादिकर्मफलसिद्धये । ५. संपादनम्—अधिकारिक्तकम् । संपन्नाम कर्मोच्यत इत्यर्थः । ६. फलस्यैवेति—यथाशक्त्याज्याद्याहृतिनिर्वर्तनेन देवलोकादि मया निर्वर्त्यत इति ध्यानं फल संपदित्यर्थः । ७. पूर्णोत्साहेन । ८. कर्मिणाम् । ९. त्रुष्टया विघ्नेनेति वा । १०. पूर्वोक्तेऽवसरे । ११. मध्ये । १२. संपदं साधयति । १३. संपदा फलवत्त्वानुपपत्तये । १४. लक्षणं रूपम् कर्मणामनुष्ठानस्येति शेषः । १५. वागादीनामग्यादिभावेनोपासनविशेषः । १६. अभिमताश्रमेधादीयफलेत्यर्थः । १७. संपदिति—गयाभूतार्त्ताणो विष्णुत्वं ब्रह्मिणि संपदा । आद्रे फलस्य बाहुल्यं मत्वा संपादयन्ति हि ॥ इत्येवं आदादावपि प्रसिद्धा संपत् । गयाभू—गयादेशोद्भवः । १८. न तूपासितादीनामित्येवकारार्थः । १९. ज्ञानवत्त्वमिति भावः । २०. स्वाध्यायोऽप्येतस्य इति विहितस्येति भावः । २१. वेदाध्ययनस्य । २२. आदिनाऽनुष्ठानवान्तस्त्वेदं । २३. तत्तदात्मवदृष्टफलवत्त्वम् । २४. इष्टं सिद्धयेति । २५. अधिवृत्तानधिकृतानाम् । २६. सत्र बंमुख्यगर्भं हेतुमाह—वर्मस्त्विति । २७. मध्ये । २८. निर्धनादीनाम् । २९. त्रैवर्णिकानाम् । ३०. अध्ययनस्य । ३१. साधनानुपपत्त्या ।

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यभिर्होताऽस्मिन्यज्ञे
करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिल इति

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—आज कितनी ऋचाओं द्वारा इस यज्ञ में होता संसन करेगा ? (इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—) तीन ऋक् जातियों द्वारा । फिर 'अश्वल' ने पूछा—वे तीन

संपदामपि फलवत्त्वमेष्ट्वयमित्यर्थः । महतोऽश्वमेधादिकलस्य क्वमल्पीयस्या संपदा प्राप्तिरित्या-
शङ्क्य शास्त्रप्रामाण्यादित्यभिप्रत्याऽह—यदीति । तदा तत्पाठः स्वाध्यायार्थ एवेति पूर्वेण संबन्धः ।
अध्ययनस्य फलवत्त्वे वक्तव्ये फलितमाह—तस्मादिति । तेषां राजसूयादीनामिति यावत् । ब्राह्मणादीनां
राजसूयाध्ययनं सामर्थ्यात्तेषां संपदं तत्फलप्राप्तावपि किं सिध्यति तदाह—तस्मात्संपदामिति ।
कर्मणांमिधेतिदृष्टान्तार्थोऽपिशब्दः । तासां फलवत्त्वे फलितमाह—अत इति ॥ ६ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाचाभिमुखीकरणाय । कतिभिरयमद्यभिर्होताऽस्मिन्यज्ञे कतिभिः

संपदामपि फलवत्त्वमेष्ट्वयमित्यर्थः । महतोऽश्वमेधादिकलस्य क्वमल्पीयस्या संपदा प्राप्तिरित्या-
शङ्क्य शास्त्रप्रामाण्यादित्यभिप्रत्याऽह—यदीति । तदा तत्पाठः स्वाध्यायार्थ एवेति पूर्वेण संबन्धः ।
अध्ययनस्य फलवत्त्वे वक्तव्ये फलितमाह—तस्मादिति । तेषां राजसूयादीनामिति यावत् । ब्राह्मणादीनां
राजसूयाध्ययनं सामर्थ्यात्तेषां संपदं तत्फलप्राप्तावपि किं सिध्यति तदाह—तस्मात्संपदामिति ।
कर्मणांमिधेतिदृष्टान्तार्थोऽपिशब्दः । तासां फलवत्त्वे फलितमाह—अत इति ॥ ६ ॥

संपदामारम्भमुपपाद्य" प्रश्नवाक्यमुत्थापयति—याज्ञवल्क्येतीति । प्रतीकमादाय व्याचष्टे—

वाला होता है, उसी को संपद से सिद्ध करता है । अन्यथा (संपदों की फलवत्ता स्वीकार न करने पर)
राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेधरूप कर्मों के अनुष्ठान से अधिष्ठित त्रैवर्णिकों को भी उनका फल
मिलना असम्भव है । यदि उन राजसूयादि कर्मों के फल की प्राप्ति का कोई उपाय नहीं होगा तो उन
अधिष्ठित त्रैवर्णिकों के लिए राजसूयादि यागों का अध्ययन केवल जपार्थ के लिए ही हो जायगा ।
इसलिए उन्हें उनकी संपद से ही राजसूयादि कर्मफल की प्राप्ति हो जायगी । अतः संपदों के फलयुक्त
होने से उन का वर्णन आरम्भ किया जाता है ॥ ६ ॥

अश्वल ने मुनि याज्ञवल्क्य का आभिमुख्य सम्पादन के लिए "हे याज्ञवल्क्य !" ऐसा संबोधन

१. असाभ्र इत्यनन्तरगत इत्यग्राह्यतय योजयम् । तेषाम् अधिष्ठितत्रैवर्णिकानाम्, तत्पाठ तेषा राजसूयादीनां
पाठः पठनमध्ययनमिति यावत् । स्वाध्यायार्थो जपार्थः पारायणार्थोऽदृष्टपक्षक एवेति यावत् । एवेति निपात-
द्योषं दृष्टफलत्वाभावं स्फुटयितुं केवल इति । २. राजसूयादिकर्मफलमिति यावत् । ३. अध्ययनस्य
फलवत्त्वात् । ४. तेषां राजसूयादीनां संपदा संपत्तिकरणेनेति यावत् । ५. राजसूयादिर्बर्मफलमिति भावः ।
६. प्राप्यन्तावतरणोक्तार्थवत् । ७. तासां फलवत्त्वात् । ८. मुनेराभिमुख्यं संपदमित्यु भो याज्ञवल्क्येति
संबोधोवाचेत्यर्थः । ९. ब्रह्मलोकादिरुपरय । १०. शास्त्रेति । अत्र वातिकम्—"नातिमारोऽस्ति नो बुद्धेः
शास्त्रं चेत्तत्परं भवेत् । विदुषां श्रेयसेऽतोऽश्वा न क्वचित्प्रतिहन्यते" ॥५०॥ इति संपच्छास्त्रं संपदाऽश्वमेधादि-
फलप्राप्तिरित्यत्र तात्पर्यवत्त्वेतदा प्रतिपत्तुं शास्त्रार्थप्रतिपत्तो न मनः सेदो युक्तः शास्त्रस्थानतिशङ्क्यत्वा-
दित्यर्थः । अनुष्ठानसंपदोऽपि फलवत्त्वे फलितमाह—विदुषामिति । क्वचिदिति—ब्राह्मणादीनामश्वमेधादिपाठो
विवक्षितः । अनतिशङ्क्यत्वं तु पुरुषमत्युत्थनिर्भूताप्रतिष्ठिततरुनास्पर्दत्वमिति ॥ ११. सामर्थ्यम्—अध्ययानु-
पपत्तिः । १२. संपदाश्चकर्म प्रकटयितुमश्वमेधेति मध्ये दोषनिवेदः ।

पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्ज-
यतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति ॥ ७ ॥

कौन-सी है ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—याग से पहले प्रयुक्त होने वाली ऋचाएँ) पुरोनुवाक्या हैं, (याग के समय प्रयुक्त हुई ऋचाएँ) याज्या है और (जो ऋचाएँ शसन के लिये प्रयुक्त होती हैं वह) तीसरी शस्या कही जाती हैं। (इस पर अश्वल ने पूछा—) इन ऋचाओं से, यजमान किसको जीतता है ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया)—जितना भी प्राणी समुदाय है (उस सभी की सख्यादि में समानता होने कारण) वह समस्त फल समूह का सपादन कर लेता है ॥७॥

कतिसंख्याभिर्ऋग्भिर्ऋग्जातिभिरयं होतृत्वगस्मिन्यज्ञे 'करिष्यति' शस्त्रं शंसत्याहेतर-
स्तिसृभिर्ऋग्जातिभिरित्युक्तवन्तं प्रत्याहेतरः कतमास्तास्तिस्र इति । 'संख्येयविषयोऽयं
प्रश्नः पूर्वस्तु संख्याविषयः । पुरोनुवाक्या च प्रागयागकालाद्याः प्रयुज्यन्त ऋचः सर्जातिः
पुरोनुवाक्येयुच्यते । यागार्थं याः प्रयुज्यन्त ऋचः सर्जातिर्याज्या । 'शस्त्रार्थं याः प्रयुज्यन्त
ऋचः सर्जातिः शस्या । 'सर्वास्तु याः काश्चनचंस्ताः स्तोत्रिया वा अन्यया वा सर्वा एता-

कतिभिरित्यादिना । कतिभिः कतमा इति प्रश्नयोर्विषयभेदं दर्शयति—संख्येयति—स्तोत्रिया
नामान्याऽपि काचिदृग्जातिरस्तोत्रियाशङ्कायाऽह—सर्वास्त्विति । अन्या वेति 'शस्त्रजातिप्रहः ।
'विधेयभेदात्सर्वशब्दापुनरुक्ति' । अतश्च 'संपत्तिकरणादित्यर्थं । संख्यासामान्यात्स्त्रत्वाविशेषादिति

करके कहा—आज कितनी ऋचाओं द्वारा होता इस यज्ञ में शसन करेगा, "कतिभि" अर्थात् कितनी
सख्या वाले "ऋग्भि" अर्थात् ऋग्जानीय मन्त्रों से यह "होता" अर्थात् ऋत्विक् इस यज्ञ में
"करिष्यति" यानी स्तवन करेगा ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—"तिसृभि" अर्थात् तीन ऋग्जाति
विशिष्ट मन्त्रों से स्तवन करेगा । ऐसा कहने पर फिर अश्वल ने पूछा—वह तीन ऋचाएँ कौन सी हैं ?
पहला प्रश्न संख्याविषयक था, दूसरा प्रश्न संख्येय के स्वरूप के विषय पर पूछा गया है । होता द्वारा
याग से पहले प्रयुक्त होने वाली ऋग्जातिविशिष्ट ऋचाएँ 'पुरोनुवाक्या' कही जाती हैं । याग के लिए
जो ऋग्जातिविशिष्ट ऋचाएँ प्रयोग में लाई जाती हैं, वह 'याज्या' कहलाती हैं । स्तवन के लिए जो
ऋग्जातिविशिष्ट ऋचाएँ प्रयोग में आती हैं, उन्हें 'शस्या' नाम की ऋचाएँ कहा जाता है । इसके
अतिरिक्त और भी जो ऋचाएँ 'स्तोत्रिया' नाम वाला हा अथवा अन्य नामों से भी विख्यात हों, वह

१ करिष्यतीति—शसनमित्यादि । तस्यैव व्याख्यानं दास्य शसतीति । अग्रणीतमन्त्रसाध्यगुणित्पुणाभिधान
इन्द्रम् । प्रगीततसाध्यं तु तत् स्तत्रमिति याज्ञिकानां व्यवहारः । २ करोति । ३ स्तवनं करोति । ४
स्वरूपविषय इति यावत् । ५ हृषेति षप । ६ स्तवनाथम् । ७ अत्र शस्त्रादीनि युक्तं प्रतिभाति ।
८ विधेयति—विधीयत बोध्यत इति बोध्याऽर्थं तथा च ऋक्पदवाच्यभेदादित्यर्थं इत्याह । यस्तुतस्तु
विधेयस्योद्देश्यस्यैवाद्भेदादित्यर्थं । तथा च प्रथमस्याद्देश्यकाटिस्वादिस्वरस्य च विधयकाटिगत्वाद्देश्यविधेय-
भावेन भेदात् शोनस्वरस्यम् । यथा ये सर्वे माधनसाम्प्रास्त सर्वे विचाराधिकारिण इत्यत्र सङ्घदिति ध्ययम् । ९-
सख्या साम्यात्लाङ्गत्रयस्य पुरोनुवाक्यादौ सपादनात् ।

'याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युं रस्मिन्यज्ञ
आहुतीर्होष्यतीति तिल इति कतमास्तास्तिल इति या
हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते
किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—इस यज्ञ मे यह अध्वर्युं आज कितनी आहुतियों का हवन करेगा ? याज्ञवल्क्य ने कहा—तीन आहुतियां । (अश्वल ने पूछा—) वे तीन कौन कौन सी हैं ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) जो घृत और समिधा की आहुतियां होम की जाने पर प्रज्वलित होती है जो पूर्वोक्त होम की जाने पर अत्यन्त शब्द करती है और जो होम के बाद पृथिवी पर जाकर लीन हो जाती है ।

स्वेव तिसृषु ऋज्जातिष्वन्तर्भवन्ति । किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति । 'अतश्च सख्यासामान्याद्यत्किंचित्प्राणभृज्जात तत्सर्वं जयति तत्सर्वं 'फलजात सपादयति सख्या-
'दिसामान्येन ॥७॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति 'पूर्ववत् । कत्ययमद्याध्वर्युं रस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति
'कत्याहुतिप्रकारास्तिल इति कतमास्तास्तिल इति पूर्ववत् । इतर आह या हुता उज्ज्व-
यायत् । प्राणभृज्जात लोकत्रय 'विवक्षितम् ॥७॥

प्रथम सख्याविषयो द्वितीयस्तु सख्येयविषय प्रश्न इति विभाग 'लक्षयति—पूर्ववदिति ।

सभी उक्त तीन ऋज्जातिविशिष्ट ऋचाग्रो के ही अन्तगत प्रा जाती है । (इस पर अश्वल ने पूछा—) इन ऋचाग्रो से यजमान किसको जीतता है ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—) मनी प्राणियों को जीत लेता है । सख्यादि म समानता होने के कारण सख्यासामान्य से तीनों लोको म जितने भी प्राणी हैं उन सब को जीत लेता है अर्थात् पुरोनुवाक्यादि साधन म लगाता है ॥ ७ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा 'इस श्रुतिवाक्य का अर्थ पूर्वमन्त्र की तरह करना चाहिये । इस यज्ञ म यह अध्वर्युं आज कितनी आहुतियों का हवन करेगा अर्थात् कितनी आहुतिविशेष हैं ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) तीन आहुतियां । (अश्वल ने पूछा—) वे तीन आहुतियां कौन-कौन सी हैं ? इत्यादि प्रश्न पूर्वमन्त्र के समान है । इस प्रकार याज्ञवल्क्य कहता है—जो घृत और समिधा की आहुतियां

१ अथाध्वर्युं हुताहुतिषु फलसपादनजिज्ञासया पृच्छति—याज्ञवल्क्यति । २ अतश्चेत्यादि । अथमायाय, भूरादिलोकत्रयेऽस्ति तावन्नित्वसख्या पुरोऽनुवाक्यादौ चाप्यस्ति सा । अतो लोकत्रयस्य सत्य च सख्या साम्यात् पुरोऽनुवाक्यादौ लोकत्रय सम्पाद्य सर्वं प्राणिजात जयतीति । ३ लोकत्रयामन्त्रम् । ४ पुरोऽनुवाक्यादौ साधन । ५ आदिनाऽऽकृत्वमध्यत्वग्रह । ६ आभिमुख्यापेक्षय । ७ कत्याहुतिप्रकार इति—किं सख्याका आहुतिविशेष इत्यर्थ । प्रकारो भेदसादृश्ये प्रकारस्तुल्यभेदयोस्तिर्यमरभेदित्यौ । भेदश्च विशेष, यथा पलाण्डभेदा गुञ्जनादयः । सादृश्य यथा मकटप्रकारं कराति—मकटसादृश्यं करोतीत्यर्थ इति । ८ कलस्पोकात्स्यनुसारित्वादिति भावः । ९ बोधयति ।

ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता
अतिनेदन्ते पितृलो'कमेव ताभिर्जयत्यतीव^१ हि पितृ-
लोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध
इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

वे आहुतियाँ उक्त तीन सख्या वाली हैं। (फिर अश्वल ने पूछा—) इन आहुतियों से यजमान किसको जीतता है? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) जो होम की जाने पर घृत और समिधा की आहुतियाँ प्रज्वलित होती हैं, उनसे यजमान देवलोक को ही जीतता है क्योंकि देवलोक देदीप्यमान-सा हो रहा है और जो आहुतियाँ होम की जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं, उनसे वह यजमान पितृलोक को ही प्राप्त करता है, क्योंकि पितृलोकसम्बन्धी समयनीपुरी में (यमराज के द्वारा यातना भोगते समय जीवों का ह्यम रे! मरे! छोड़ दो, छोड़ दो! ऐसा भयानक) अत्यन्त कोलाहलपूर्ण शब्द सा होता है। जो दुग्ध और सोम की आहुतियाँ होम के बादे पृथिवी पर लीन हो जाती हैं, उनसे यजमान मनुष्यलोक को ही जीतता है क्योंकि मनुष्यलोक अधोवर्ती सा है ॥८॥

लन्ति सन्निदाज्याहुतयः । या हुता अतिनेदन्तेऽतीव शब्दं कुर्वन्ति मासाद्याहुतयः । या हुता अधिशेरतेऽप्यधो गत्वा भूमेरधः शेरते पयःसोमाहुतयः । किं ताभिर्जयतीति ताभिरेवं निर्वर्तिताभिराहुतिभिः किं जयतीति । या आहुतयो हुता उज्ज्वलन्त्युज्ज्वलनयुक्ता^२ आहुतयो निर्वर्तिताः फल च देवलोकाख्यमुज्ज्वलमेव तेन सामान्येन या मयता उज्ज्वलन्त्य आहुतयो निर्वर्त्यमानास्ता एताः साक्षाद्देवलोकस्य कर्मफलस्य रूपं देवलोकाख्यं फलमेव मया निर्वर्त्यत इत्येवं संपादयति । या हुता अतिनेदन्त आहुतयः पितृलोकमेव ताभिर्जयति

तेन सामान्येनोज्ज्वलत्वेनेति यावत् । उक्तमर्थं सक्षिप्याऽऽह—देवलोकाख्यमिति । कथं मासाद्याहुतीना

होम की जाने पर प्रज्वलित होती हैं। “या” अर्थात् जो मासादि की आहुतियाँ होम की जाने पर “अतिनेदन्ते” अर्थात् बहुत जोर से शब्द करती हैं। एव “या” अर्थात् जो दूध और सोमादि की आहुतियाँ होम की जाने पर “अधिशेरते” अर्थात् पृथ्वी के नीचे नीचे जाकर विलीन हो जाती हैं। (फिर अश्वल ने पूछा—) इससे यजमान किसको जीतता है? “ताभि” अर्थात् इस प्रकार सम्पादित आहुतियों के द्वारा किसको जीतना है? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) जो “हुता” अर्थात् होम की जाने पर घृत और समिधा की आहुतियाँ “उज्ज्वलन्ति” अर्थात् प्रज्वलित होती हैं, उनका देवलोकसजक फल भी उज्ज्वल है। उनमें समानता होने के कारण यजमान इस प्रकार भावना करता है कि मेरे द्वारा जो यह प्रज्वलनशील आहुतियाँ सम्पादित की जा रही हैं, वे साक्षात् इस कर्मफल के स्वरूप देवलोक का रूप हैं, अतः इन आहुतियों के द्वारा मैं देवलोकसजक फल का प्राप्त कर रहा हूँ। जो आहु-

^१ अतीवे—अतिवृत्तितर्कान्वातिव । ^२ हि—यस्मात् । ^३ या आहुतयो हुता इति—या आहुतयो हुता निर्वर्तिता सत्य उज्ज्वलनयुक्ता भवन्ति ताभिराहुतिभिर्देवलोकमेव जयतीत्यर्थः । ^४ भवन्ति ।

याज्ञवल्क्येति होवाच - कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं
दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—यह ब्रह्मा नामक ऋत्विक् दक्षिण की ओर निश्चित आसन पर बैठकर आज कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—एक ही

कुत्सितशब्दकर्तृत्वसामान्येन । पितृलोकसंबद्धायां हि संयमन्यां पुर्यां वैवस्वतेन यात्य-
मानानां हा हताः स्मो मुञ्चव मुञ्चेति शब्दो भवति । तथा ऽवदानाहुतयस्तेन पितृलोकसा-
मान्यात्पितृलोक एव मया निर्वर्त्यत इति संपादयति । या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव
ताभिर्जयति भूम्युपरिसंबन्धसामान्यादथ इव ह्यथ एव हि मनुष्यलोक उपरितनासाध्या-
ह्लोकानपेक्षयायाऽधोगमनमपेक्षयातो मनुष्यलोक एव मया निर्वर्त्यत इति संपादयति पय-
सोमाहुतिनिर्वर्तनकाले ॥८॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत् । अयमृत्विग्ब्रह्मा दक्षिणतो ब्रह्मासने स्थित्वा

पितृलोकेन सह यथोक्तं सामान्यमत आह—पितृलोकेति । अधोगमनमपेक्ष्येति । अस्ति हि सोमाद्याह-
तीनामधस्ताद्गमनमस्ति च मनुष्यलोकस्य पापशत्रुरस्य तादृग्गमनं तदपेक्ष्येत्यर्थः । अतः सामान्या-
दिति यावत् ॥८॥

दक्षिणं ब्राह्मणोपस्थेति शेषः । प्रातर्द्धिकं बहुवचनमित्युक्तं प्रकटयति—एकया हीति ।

तियां होम की जाने पर अतिशय शब्द करती है, उनसे यजमान पितृलोक को ही प्राप्त करता है क्योंकि कुत्सितशब्दकर्तृक होने से दोनों की समानता है । इसका यह भी कारण है कि पितृलोकसम्बन्धी सयम-
नीपुरी म यम के द्वारा यातना भोगते समय जीवों का 'हाय रे ! मरे ! छोड़ दो ! छोड़ दो' ऐसा (मयानक अत्यन्त कोलाहलपूर्ण) शब्द होता है । इस प्रकार मामादि की आहुतियाँ भी शब्द करने वाली हैं । अतः पितृलोक से समानता होने के कारण, "इन से मेरे द्वारा पितृलोक की प्राप्ति की जाती है" ऐसी भावना करता है । जो दुग्ध और सोम की आहुतियाँ होम के बाद पृथिवी में लीन हो जाती हैं, उनसे यजमान मनुष्यलोक को ही प्राप्त करता है क्योंकि पृथिवी के ऊपर क भाग से सम्बन्ध होने से दोनों की समानता है । "अथ इव" अर्थात् मनुष्यलोक अन्तरिक्षादि ऊपरी साध्यलोकों की अपेक्षा नीचे ही स्थिर है अथवा अधोगमन की अपेक्षा से वह मनुष्यलोक को प्राप्त करता है । इसलिए दूध या सोम की आहुति देते समय यजमान ऐसी भावना करता है कि इससे द्वारा मैं मनुष्यलोक की प्राप्ति करूँगा ॥८॥

अश्वल ने मुनि के आभिर्मुहूर्ध-सम्पादन के लिए पूर्ववत् 'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा सम्बोधन कर कहा—'अथ ब्रह्मा' अर्थात् यह ब्रह्मा नामक ऋत्विक् "दक्षिणतो" अर्थात् दक्षिण की ओर निश्चित

मन एवेत्यनन्तं व मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव
स तेन लोकं जयति ॥ ६ ॥

देवता से । (अश्वल ने कहा—) वह एक देवता कौन है ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—) वह देवता मन ही है । (वृत्तिके भेद से) मन अनन्त है और विश्वदेव भी अनन्त लोक को जीत लेता है क्योंकि साध्य-साधन में सख्या की समानता है ॥६॥

यज्ञं गोपायति । कतिभिर्देवताभिर्गोपयतीति प्रासङ्गिकमेतद्बहुवचनम् । एकया हि देवतया गोपायत्यसौ । एवं ज्ञाते बहुवचनेन प्रश्नो नोपपद्यते स्वयं जानतस्तस्मात्पूर्वयोः कण्डि-कयोः प्रश्नप्रतिवचनेषु कतिभिः कति तिसृभिस्तिस्र इति 'प्रसङ्ग' दृष्ट्वेहापि बहुवचनेनैव प्रश्नोपक्रमः क्रियते । अथवा प्रतिवादिव्यामोहार्यं बहुवचनम् । इतर आहैकपैत्येका सा देवता यया दक्षिणतः स्थित्वा ब्रह्माऽऽसने यज्ञं गोपायति । कतमा संकेति । मन एवेति मनः सा देवता । 'मनसा हि ब्रह्मा व्याप्रियते' ध्यानेनैव । "तस्य यज्ञस्य मनश्च वाक्च

'जल्पकया प्रस्तुतेति हृदि निधाय बहुक्तेर्गन्तरमाह—अथवेति । मनसो देयताख साध्यति-मनसेति ।

आसन पर बैठ कर यज्ञ की रक्षा करता है । कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है ? यहाँ श्रुतिवाक्य में देवताशब्द में प्रासङ्गिक बहुवचन का प्रयोग है । (याज्ञवल्क्य ने कहा—) वह ब्रह्मा एक ही देवता से यज्ञ की रक्षा करता है । ऐसा निश्चय होने पर स्वयं जानते हुए भी इस प्रकार बहुवचन से प्रश्न करना उचित नहीं है । इसलिए पूर्व के दो मन्त्रों में प्रश्न और उत्तर प्रतिपादकवाक्यों में "कतिभिः" "कति" "तिसृभिः" "तिस्र" इत्यादि बहुवचनप्रवाह को देखकर यहाँ भी बहुवचनान्त विभक्ति से प्रश्न का प्रारम्भ किया जाता है । अथवा प्रतिवादी को मोह में डालने के लिए बहुवचनान्त प्रयोग है । याज्ञवल्क्य ने कहा— 'एकया इति' अर्थात् वह एक ही देवता है, जिसके द्वारा दक्षिण की ओर ब्रह्मा के आसन पर बैठकर यज्ञ की रक्षा करता है । (अश्वल ने कहा—) वह एक देवता कौन है ? "मन एवेति" अर्थात् वह देवता मन ही है । मन के द्वारा ध्यान करके ही ब्रह्मा अपने कार्य में प्रवृत्त होता है । "यज्ञं क मन्त्रोच्चारण करने में प्रवृत्त" घाणी और (यथाथ वस्तु के ज्ञान में प्रवृत्त) मन, ये दोनों मार्ग हैं । उन दोनों मार्गों में से एक मार्ग का ब्रह्मा नामक ऋत्विक् विवेकयुक्त मन से संस्कार

- १ अनुपपत्तत्वात् । २ बहुवचनप्रवाहम् । ३ मनसैव करणेन । ४ ध्यानाभिध्यानापारवान् भवतीत्यर्थं । ५ ब्रह्मण उक्तव्यापारवखे श्रुति प्रमाणयति—तस्येति । तस्य उक्तविशेषणकस्य यज्ञस्य । मनश्च मयाभूतार्थज्ञान व्यापृतम् । वाक् च मन्त्रोच्चारण व्यापृता । वतनी मागो (छा० उ० ४।१६।१) । ६ जल्पकयति—जल्पस्थायि वचिसत्त्वनिर्णयफलकत्वादिति भाव । तथा चोक्त गीतमसुत्र—'तत्त्वाभ्यवसायसंस्थानार्थं जल्पवितन्त्रे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं षष्ठशशास्त्रावरणवदिति' (४।२।४७) । वात्स्यायनप्रवाह—'तानि हि प्रयुज्यमानानि परस्परविघातेन स्वयं रक्षन्तीति' । अन्वोऽप्याह—'तत्त्वसंरक्षणायत्वात्प्रासदाचार' इति । अतो वादवज्र-स्पोर्षि वचिसत्त्वनिर्णायक इति ।

याज्ञवल्क्येति होवाच कथ्यमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञे
स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिल्ल इति केतमास्तास्तिल्ल
इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा, इस यज्ञ में उद्गाता आज कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं का स्तवन करेगा (प्रगीत ऋचाएँ स्तोत्रशब्द से और अप्रगीत ऋचाएँ शस्त्रशब्द से कही जानी हैं। इनमें स्तोत्र को स्तोत्रिया और शस्त्र को शस्या भी कहते हैं, याज्ञवल्क्य ने कहा—) तीन ऋचाओं का। (अश्वल ने पूछा—) वे तीन कौन-कौन सी हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या ।

वर्तनी तयो रन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा” इति श्रुत्यन्तरात् । तेन मन एव देवता तया मनसा हि गोपायति ब्रह्मा यज्ञम् । तन्न मनो वृत्तिभेदेनानन्तम् । वैशब्दः प्रसिद्धा-
वद्योतनार्थः । प्रसिद्धं मनस आनन्त्यम् । तदानन्त्याभिमानिनो देवाः । अनन्ता वै विश्वे देवाः । सर्वे देवा यत्रैकं भवन्तीत्यादिश्रुत्यन्तरात् । तेनाऽऽनन्त्यसामान्यादनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥६॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत् । कति स्तोत्रियाः ‘स्तोष्यतीत्यमुद्राता ।

वर्तनी वर्तनी तयोर्वाङ्मनसयोर्वर्तमनोरन्यतरां वाचं मनसा मोनेन ब्रह्मा संस्करोति वाग्विसर्गं प्रायश्चित्तविधानादिति श्रुत्यन्तरस्यार्थः । “तथाऽपि कथं संपदः सिद्धिस्तत्राऽऽत्तु—तच्छेति । देवाः सर्वे यस्मिन्मनस्येकं भवन्त्यभिन्नत्वं प्रतिपद्यन्ते तस्मिन्विश्वदेवहृष्ट्या भवत्यनन्तलोकप्राप्तिरिति श्रुत्यन्तर-
स्यार्थः । अनन्तमेवेत्यादि ध्याचष्टे—तेनेति । उवतेन प्रकारेणेति यावत् । तेन मनसि विश्वदेवहृष्ट्या-
ध्यासेनेत्यर्थः । स इत्युपासकोक्तिः ॥६॥

पूर्ववदित्यभिमुखीकरणापेक्ष्यर्थः । प्रतिवचनमुपावृत्ते—स्तोत्रिया वेति । प्रगीतमृजातं

करता है” ऐसी अन्य श्रुति भी प्रमाण है । अतः मन ही देवता है । उम मन के द्वारा ब्रह्मा यज्ञ की रक्षा करता है । इसके प्रतिरिक्त वह मन वृत्तिभेद से अनन्त है । मन्त्र में वैशब्द प्रसिद्धार्थ का चोत्तन करने के लिए है । मन का आनन्त्य तो प्रसिद्ध ही है । उस अनन्त मन के अधिष्ठातृदेवता भी अनन्त हैं । वे विश्वदेव अनन्त हैं (इस वाक्य से भी ऐसे ही कहे जाते हैं) । अन्य श्रुति भी इसका समर्थन करती है, जैसे कि “जिम में सब देवता एक हो जाते हैं” । इस प्रकार अनन्तता में समानता होने के कारण यह उसके द्वारा अनन्तलोक को प्राप्त कर लेता है ॥६॥

अश्वल ने ‘हे याज्ञवल्क्य !’ इस प्रकार अभिमुख करने के लिए मन्वोधन कर कहा—इत्यादि

१. छा० उ० ४।१६।२ । २. तेन—उद्देश्यतया देवताया यज्ञसपादरत्ववत् वर्तमनया मनसो यज्ञसंपादनत्वेन ।
३. वृत्तिभेदे शब्दादिविषयभेदो हेतुः । ४. अनन्तमनोऽधिष्ठाताः । ५. इति वाच्येनान्यन्त इति शेषः ।
६. तेषामानन्त्ये श्रुत्यन्तरं सवाद्यति—सर्वं इति । ७. फलम् । ८. स्तोत्रियार्थः । ९. मध्ये ।
१०. तथापि—मनसा देवेन ब्रह्मणो यज्ञरक्षास्वैर्वापि ।

या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या
व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव
पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोक याज्यया द्युलोकः

अश्वत्थ ने कहा—इनमे से जो शरीरान्तर्वर्ती हैं, वे कौन सी हैं? यानत्रय्य ने कहा—(पकार एव प्रथमत्व की समानता से) प्राण ही पुरोनुवाक्या है। (द्वितीयत्व की समानता से) अपान याज्या है और (ऊर्ध्वत्व की समानता से) व्यान शस्या है। (अश्वत्थ ने कहा—) इनमे यजमान किन नोको को जीनता है? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) प्रथमत्व की समानता से पुरानुवाक्या द्वारा पृथिवीलोक वा ही जीनता है।

स्तोत्रिया नाम ऋक्सामसमुदाय कतिपयानामृचाम् । स्तोत्रिया वा शस्या वा या काश्चन
ऋचस्ता. सर्वास्तिस्र एवेत्याह' । ताश्च व्याख्याता पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यं च
तृतीयेति । 'तत्र पूर्वमुक्त यत्किंचेद प्राणभूत्सर्वं जयतीति 'तत्केन 'सामान्येनेत्यु'च्यते
कतमास्तास्तिस्र ऋचो 'या अध्यात्म भवन्तीति । 'प्राण एव पुगेनुवाक्या । पशवद-

'स्तोत्रमप्रगीत शब्दम् । कतमास्तास्तिस्र इत्यादेस्तात्यर्थमाह—ताश्चेति । प्रदान्तर वृत्तमनूद्योपादत्ते
—तत्रति । यज्ञाधिकार सम्प्रथम् । पुरोनुवाक्यादिना लोकत्रयजयलक्षण फल केन सामान्येनेत्य-
पेक्षया 'सख्याविशेषेणैत्युक्त स्मारयति—तदिति । अधियज्ञ 'प्रथमुक्त स्मारयित्वाऽध्यात्मविशेष
दर्शयितुमुत्तरो प्रथ इत्याह—उच्यत इति । प्राणो पुरोनुवाक्यादौ च पृथिव्यादिलोकहृष्टिरिति प्रश्न-

अर्थ पूर्वग्रन्थ के समान समझलेना चाहिए । यह उदगाता किनको स्तोत्रिया ऋचाया से स्तुति करता है? गीतिविशिष्ट अनिर्धारित सख्या वाली ऋचाओं का नाम स्तोत्रिया है । स्तोत्रिया हा अथवा शस्या, जो कुछ भी ऋचाएँ हैं वे सभी तीन प्रकार का हा हैं—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा । उन ताना को व्याख्या पहले की जा चुका है । वे हैं—पुरानुवाक्या याज्या और शस्या । इम यज्ञ प्रकरण म पहन कह दिया है कि यह जो कुछ भी दृश्यमान जगत है, उस सभी को वह प्राप्त कर लेता है । वह किसमे प्राप्त कर लेता है? सामान्य से प्राप्त कर लेता है, ऐसा कहा जाता है । वह कौन सी तीन ऋचाएँ हैं जो

- १ एव प्राणादिषु पुरोनुवाक्यादिदृष्टिकरणस्य तत्र च (प्राणाद्यभिप्रपुरोनुवाक्यादौ) भूरादिलोकदृष्टश्च फल पृच्छति—किं ताभिरिति । त्रिवसाम्यादादित्वमध्यतान्यत्वसाम्यैश्च भूरादीन्पुरोनुवाक्यादौ मपाह तथा सपदा भूरादिलोकजय इत्यभिप्रत्याह—पृथिवीति । २ सामममुदाय इत्यादि । कतिपयानाम् अनिर्धारित-सख्याकानामृचाम् सामममुदाय गीतिविशिष्ट समुदाय इत्यर्थे । गीतिविशिष्टा पूर्वोक्ता एवर्जाय इति यावत् । तथा च वातिके—'तिस्र पुरोनुवाक्याद्या ऋच पूवमुदीरिता' । यास्ता एवात्र विजया स्तोत्रिया अपि नापरा ॥ ५७ ॥ इति । ३ याज्ञवल्क्य । ४ अस्मिन् यज्ञप्रकरणे । ५ पूर्वम्—सप्तमकण्डिकायाम् । ६ प्रश्न । ७ उत्तर । ८ उच्यत इति—अध्यात्म विषये उच्यत उत्तरेण प्रथेनेत्यर्थे । ९ या इति—पूर्वोक्ता पुरोनुवाक्यादयो गीतरूपेण वतमाना अधियज्ञसजिका इति पूर्वमवगत परन्तु केन रूपेणैता पुनरध्यात्म भवन्तीत्यर्थे । १० या अध्यात्म स्तोत्रियास्तिस्र ऋच कास्ता इति पृष्टे उत्तरमाह—प्राण इति । ११ स्तोत्रियास्तोत्रयोर्भेदाभिप्रायणदम् । १२ त्रिवससख्यासादृश्येन । १३ गीतिविशिष्ट पुरानुवाक्यादिक सप्तमकण्डिकायामुक्तम् ।

शस्यैया ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥ १० ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य

प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

मध्यमत्व की समानता से याज्या द्वारा अन्तरिक्षलोक को और ऊर्ध्वत्व की समानता से शस्या द्वारा द्युलोक पर विजय प्राप्त करता है। इसके बाद याज्ञवल्क्य हमारे कावू मे नहीं आयेगा, ऐसा समझ कर होता अश्वल चुप हो गया ॥१०॥

॥ इति प्रथम ब्राह्मणम् ॥

सामान्यात् । अपानो याज्या । आनन्तर्यात् । अपानेन हि प्रत्तं हृदिद्वैवता प्रसन्ति । यागश्च प्रवानम् । व्यानः शस्या “अप्राणन्नपानन्नृचमभिव्याहरति” इति श्रुत्यन्तरात् । किं ताभिर्जेयतीति व्याख्यातम् । तत्र विशेषसंबन्धसामान्यमनुक्तमिहोच्यते सर्वमन्यद्व्या-

पूर्वकमाह—कतमा इति । अपाने याज्यादृष्टौ हेत्यन्तरमाह—अपानेन हीति । हस्ताद्यादानव्यापारेणोति यावत् । प्राणापानव्यापारव्यतिरेकेण शस्त्रप्रयोगस्य श्रुत्यन्तरे सिद्धत्वाद्द्व्याने शस्या दृष्टिरित्याह—अप्राणमिति । तत्र पुरोनुवाक्यादियु चेति यावत् । इहेत्यन्तरवाक्योक्तिः । सर्वमन्यदिति, संख्या-

अध्यात्मविशिष्ट है ? (इसका उत्तर दिया जाता है—) प्राण ही पुरोवाक्या है क्योंकि दोनों मे पकार की समानता है । अपान याज्या है क्योंकि अपान और याज्या की प्राण और पुरोवाक्या के अनन्तर होना रूप साम्यता है । इसके अतिरिक्त देवता अपान से ही दी गई आहुतियों को ग्रहण करते है । याग प्रदान है । व्यान शस्या है । “(पुरुष जो मुख और नामिका द्वारा वायु का वहिर्गमन करता है; वह प्राण है, जो मुख एव नासिका द्वारा ही वायु को भीतर खींचता है, वह अपान है तथा प्राणायाम की जो सृष्टि है; वह व्यान है, जो व्यान है, वही वाक है) अतएव पुरुष प्राण और अपान की क्रियाएँ न करता हुआ ही जीलता है” ऐसा अन्य श्रुति मे भी कहा गया है । उनसे क्या जीतता है” इसकी व्याख्या हो लुकी । वहाँ जो इनका विशेष सम्बन्धसामान्य नहीं कहा गया, उसे यहाँ कहा जाता है । अन्य सब शस्या सामान्यादि का तो पहले ही निरूपण कर दिया गया है । (याज्ञवल्क्य ने कहा—)

१ आनन्तर्यादिति—उभयो प्राणपुरोनुवाक्याभ्यामानन्तसामान्यादित्यर्थ । २ प्राणापानव्यापारमुकुर्वन् (छा० उ० १।३।३) । ३ एतत्तु यत्किंचेद् प्राणभूदिति सामान्यनोक्तस्यैव विरोधत कथनमित्यभिप्रेत्याऽऽह । ४ व्याख्यातमिति । ५ व्याख्यात चेत् किमिति पुनरुच्यते तथाऽऽह—तत्रेति । ६ हस्तोदीति । हस्ता-दीनामादानादिरूपव्यापारण्यर्थ (आदानादावपानचेष्टामभिप्रेत्यदम्) । तथा च यागप्रयोजकत्वं याज्यापानयो सादृश्यमिति भावः । ७ प्राणेत्यादि—तथा च प्राणापानव्यापारनिरपेक्षत्वं शस्याव्यानयो सामान्यमित्यभि-प्राय । ८ निरपेक्षेण । ९ अप्रवीतर्जात्प्रयोगस्यैति यावत् ।

ख्यातम् । लोकसंबन्धसामान्येन पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया मध्यमत्वसामान्यात् । द्यूलोकं शस्ययोर्ध्वत्वसामान्यात् । ततो ह तस्मादात्मनः प्रश्ननिर्ण-
यादसौ होताश्चल उपरराम 'नायमस्मद्गोचर इति ॥१०॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथममश्वलब्राह्मणम् ॥१॥

अथ तृतीयध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

'आख्यायिकासंबन्धः प्रसिद्ध एव । 'मृत्योरितिमुक्तिर्व्याख्याता काललक्षणा-

सामान्योक्तिः । किं तद्विशेषसंबन्धसामान्यं तदाह—लोकेति । पृथिवीलक्षणेन लोकेन सह 'प्रथमत्वेन
'संबन्धसामान्यं पुरोनुवाक्यायामस्ति 'तेन तया पृथिवीलोकमेव प्राप्नोतीत्यर्थः । अश्वलस्य
तूष्णींभावं भजतोऽभिप्रायमाह—नायमिति ॥ १० ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य प्रथममश्वलब्राह्मणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणान्तरम'वतारयन्नाख्यायिका किमर्थेति शङ्कमानं प्रत्याह—आख्यायिकेति । याज्ञवल्क्यो
हि विद्याप्रकर्षवशादत्र 'पूजाभागी' लक्ष्यते नाऽऽतं भागस्तथा विद्यामान्द्यादतो विद्यास्तुत्यर्थेयमाख्यायि-
केत्यर्थः । इदानीं ब्राह्मणार्थं वक्तुं वृत्तं कीलयति—मृत्योरिति । मृत्युस्वरूपं पृच्छति—कः पुनर-

प्रथमत्व लोकसंबन्धी समानता से पुरोनुवाक्या द्वारा पृथिवीलोक को ही जीतता है, मध्यमत्व की समानता से याज्या द्वारा अन्तरिक्षलोक को जीतता है और ऊर्ध्वत्व की समानता से शस्यया द्वारा द्यूलोक पर विजय प्राप्त करता है । "ततो ह" अर्थात् उसके पश्चात् होता अश्वल याज्ञवल्क्य से अपने प्रश्नों के निश्चित उत्तर सुनकर "यह हमारे द्वारा जीता नहीं जा सकता" ऐसा विचार कर चुप हो गया ॥१०॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् तृतीय अध्याय के प्रथम अश्वल ब्राह्मण में शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥१॥

आख्यायिका का प्रयोजन तो प्रसिद्ध ही है । काल और कर्मसंज्ञक मृत्यु से अतिमुक्ति की व्याख्या हो गयी । किन्तु जिससे अतिमुक्ति की व्याख्या की गयी है, वह मृत्यु क्या है । वह मृत्यु

१. अथ याज्ञवल्क्यः गोचरो जन्म इति यावत् । २. आख्यायिकाप्रयोजनमिति यावत् । ३. मृत्योरित्यादि—ब्रह्म धात्रादिपरिच्छेदेदेतो रागादिसहिताग्निभ्याजानात् कर्म, तस्मादुपायोपेतात् (यजमानादिसापनसहितात् कर्मणः) कालाच्च मृत्योर्मुक्तिं व्याकुर्वता त्वमर्थशुद्धिर्बिहितेति भावः । ४. प्रथमत्वेनेत्यादि—प्रथमत्वेन सह योऽस्ति सबन्धस्तद्रूप सामान्य प्रथमत्वप्रतियोगिकसंबन्धरूप सामान्यमित्यर्थः । यद्वा पृथिवीलोकैव सह तादात्म्यसंबन्धप्रयोजकं प्रथमत्वरूप सामान्यमिति । ५. प्रथमत्वेन सबन्धसामान्यमिति—प्रथमत्वेनेति षष्ठ्यर्थे तृतीया । तथा च पृथिवीलक्षणैः लोकेन सह प्रथमत्वस्य यः सबन्धः प्रथमत्वप्रतियोगिक आधेयतास्यः तद्रूपं सामान्य साधारणधर्मरूप यत्तदस्ति पुरोऽनुवाक्यायामित्यर्थः । प्रतियोगित्वे त्वाधिक्यम् तृतीया तु चर्तोरिदं शब्धेति । ६. तेन तथेति—उक्तसामान्येन पुरोऽनुवाक्यायां भूलोकं संपाद्य तया सपदेत्यर्थः । ७. व्याख्यातुं पुरस्कुर्वन् । ८. ब्राह्मणे आख्यायिकायां वा । ९. प्रतीयते ।

'कर्मलक्षणान् । फः पुनरसी मृत्युयंस्मादतिमुक्तिर्व्याख्याता । स च स्वाभाविकाना-
सङ्गास्पदोऽध्यात्माधिभूतविषयपरिच्छिन्नो 'ग्रहातिग्रहलक्षणो मृत्युः । 'तस्मात्परिच्छिन्न-
रूपान्मृत्योरतिमुक्तस्य रूपाण्यग्न्यादित्यादीन्पुद्गीयप्रकरणे व्याख्यातानि । अश्वत्प्रश्ने च
तद्गतो विशेषः कश्चित् । 'तच्चैतत्कर्मणा ज्ञानसहितानां फलम् । 'एतस्मात्साध्यसाधन-
रूपात्संसारान्मोक्षः कर्तव्य' इत्यतो बन्धनरूपस्य मृत्योः स्वरूपमुच्यते । बद्धस्य हि मोक्षः
कर्तव्यः ।

साविति । तत्स्वरूपनिर्धारणार्थं ब्राह्मणमुत्थापयति—स चेति । मृत्युरिति तन्न्य । स्वाभाविकं
नेसर्गिकमनादिसिद्धमज्ञानं 'तस्मादा'सङ्ग स "आस्पदमिवाऽऽस्पद यस्य स तथेति विग्रहः । "तस्य
"विषयमुक्त्वा "व्याप्तिमाह—अध्यात्मेति । तस्य स्वरूपमाह—ग्रहेति । यथोक्तमृत्युव्याप्तिं "अग्न्यादीनां
कथयति—तस्मादिति । तान्यपि ग्रहातिग्रहगृहीतान्येवार्थेन्द्रियसंसर्गित्वादित्यर्थः । तद्गतो विशेषो-
ऽग्न्यादिवगतो दृष्टिभेद इति यावत् । कश्चिद्व्याख्यात इति संबन्धः । सूत्रस्यापि मृत्युप्रस्तत्वमभिप्रेत्याऽऽह
—तच्चेति । अग्न्यादित्याद्यात्मकं सूत्र पदमिति यावत् । फलं यथोक्तमृत्युप्रस्तमिति शेषः । किमिति
मृत्यो' बन्धनरूपस्य स्वरूपमुच्यते तत्राऽऽह—एतस्मादिति । ननु मोक्षे कर्तव्ये बन्धनरूपोपवर्णनमनुप-
युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—बद्धस्य हीति ।

ग्रहादि भविद्याजनिता आसक्ति का स्थान, अध्यात्म और अधिभूत विषय से परिच्छिन्न, इन्द्रिय विषयरूप
है। अत उच्यते (आसङ्ग-यापरूप परिच्छेदाभिमान) से परिच्छिन्नरूप मृत्यु से अतिमुक्त हुए पुरुष के
अग्नि-आदित्यादि रूपों की व्याख्या उद्गीयप्रकरण में की जा चुकी है। अश्वत् के प्रश्न में अग्न्यादि-
गत दृष्टिभेद है। वह यह अग्न्यादित्यात्मक विशेष उपासनासहित कर्मों का फल है। मुमुक्षु का इस
साध्यसाधनरूप सत्तार से मोक्ष करना है इसलिए यहाँ से बन्धनरूप मृत्यु का स्वरूप वर्णन किया जाता
है क्योंकि बन्धनयुक्त पुरुष की मुक्ति करनी चाहिए।

इस के अतिरिक्त 'अतिमुक्त' का जो स्वरूप बतलाया गया है, वहाँ भी वह (स्वरूप में स्थित
मृत्यु से मुक्त विद्वान्) मृत्युरूप ग्रह और अतिग्रह से पूर्णत मुक्ति नहीं पाता। इसका श्रुति समर्थन

१ कर्मेति—वर्जमानमन्त्रत्वमग्न्यादिसाधनोपेतादिति ध्येयम् । २ अध्यात्मेत्यादि—अधिदैवाधियज्ञोरूप-
पलक्षणम् । तपु विषयेषु व्याप्तस्तं परिच्छिन्न इति । ३ इन्द्रियविषयरूप इत्यर्थं । ४ उक्तमृत्युग्रहप्रस्तत्व
प्रागेव देवताप्राप्तेरित्याशङ्क्याग्न्यादीनामृत्युस्यादिसम्बन्धावुक्तमृत्युप्रस्ततास्तीति मरवोक्ष स्मारयति—तस्मादिति ।
आसङ्गापमरूपात्परिच्छेदाभिमानादित्यर्थं । ५ अग्न्यादिभावस्य मृत्युप्रस्तत्वेऽपि समुच्चयफलस्य सूत्रस्य
सदृशस्त्वत्तत्प्राप्तिरेव मुक्तिरिति व्यर्थं मय्यज्ञानार्थं अत्र इत्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेति । यद्धि समुच्चयफलमित्य-
मेतच्च धटादिवदतिथ्य अन्मादिसत्त्वात्तस्मात् सूत्रप्रान्तिर्मुक्तिरिति भावः । ६ एतस्मादिति—अग्न्यादेस्तदा-
त्मकमृत्युस्य च जगदात्मनो जन्माद्यन्वयान्मृत्युप्रस्तत्वे ज्ञानादज्ञाननिरासेन ततो मुक्ति कार्या इत्यतदर्थमिद
ब्राह्मणमिति भावः । ७ मुमुक्षोः । ८ तत्रिमिति । ९ रागादि । १० आस्पदम् आश्रय प्रयोजक
इति यावत् । यस्य इन्द्रियविषयरूपग्रहातिग्रहलक्षणस्येत्यर्थं । इन्द्रियादीं यद्वादे रागादिप्रयोज्यत्वेन तद्द्वारा
सयोरपि तत्प्रयोज्यत्वादिति भावः । ११ मृत्योः । १२ रागादिरूपमास्पद प्रयोजकम् । १३ व्याप्तिम्
अनुपतिम् । सम्बन्धसोपानमिति यावत् । १४ अग्न्यादिवेपुः । १५ ब्रह्मादिरूपस्य

यद'प्यतिमुक्तस्य स्वरूपमुद्यतं 'तत्रापि ग्रहातिग्रहाम्यामविनिर्मुक्त एव मृत्युरूपा-
म्याम् । तथाचोक्तम'शनाया हि मृत्युरेव एव मृत्युरिति' । आदित्यस्य 'पुरुषमङ्गीकृत्या-
ऽऽहैको' मृत्युर्वहवा इति च । 'तदात्मभावापन्नो हि मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इत्युच्यते । न
च 'तत्र ग्रहातिग्रहो मृत्युरूपो न स्त । 'अयंतस्य मनसो द्यौ शरीर 'ज्योतीरूपमसावा-
दित्य । मनश्च ग्रह. स 'कामेना'तिग्राहेण "गृहीत इति "वक्ष्यति 'प्राणो वं ग्रह सो"ऽपाने-

अग्न्यादीना यथोक्तमृत्युव्याप्तिमुक्तां व्यक्ती करोति—यदपीति । अविनिर्मुक्त एवातिमुक्तोऽपीति
शेष । "तथाऽपि कथं सूत्रस्य यथोक्तमृत्युव्याप्तिस्तत्राऽऽह—तथा चति । "तथाऽपि कथमग्न्यादीनां
मृत्युव्याप्तिर्न हि तत्र प्रमाणमस्ति तत्राऽऽह—एक इति । वहवा इति च्छान्दसम् । "तथाऽपि विदुषो
मृत्योरतिमुक्तस्य न "तदाप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तदात्मेति । सौत्रे पदे मृत्युव्याप्ति प्रकारान्तरेण प्रकटयति
—न चेति । मनसि कायकरणरूपेण दिवश्चाऽऽदित्यस्य चक्षयमस्तु "तथाऽपि कथं ग्रहातिग्रहगृहीतत्व
सूत्रस्येत्याशङ्क्याऽऽह—मनश्चति । वागादेवंक्तव्यादेश्च ग्रहत्वेऽतिग्रहत्वे च हिरण्यगर्भे किमायातमित्या-

करते हुए कहती है—“अशनाया ही मृत्यु है, यही मृत्यु है” इत्यादि । आदित्य म विद्यमान सूत्रात्मा पुरुष
को स्वीकृत कर अति वहती है—“सूत्रात्मा एक हा है, मृत्यु बहुरूपा है” । फलभूता अग्न्यादिरूपत्व
को प्राप्त हुआ मनुष्य मृत्यु की प्राप्ति से अतिमुक्त हो जाता है—ऐसा कहा जाता है । किन्तु वहाँ
(सौत्रपद म) ग्रह और अतिग्रह मृत्युरूप न हो, ऐसा कहना उचित नहीं है । तथा प्राजापत्य अन्नरूप
से कहे हुए इस मन का बुलोक शरीर आधार है ज्योतिरूप वह आदित्य है”, “मन ही ग्रह है, वह
कामरूप अतिग्रह से गृहीत है”, “वायुसहित घ्राण ही ग्रह है वह गन्धरूप अतिग्रह से गृहीत है,
(अपान गन्ध का साथी है, इसीलिये यहाँ पर अपानशब्द से गन्ध को कहा गया है)”, वाक् ही ग्रह
है, वह नामरूप अतिग्रह से गृहीत है, (वयोक्ति प्राणी वाक् स ही नाम का उच्चारण करता है)” ऐसा
श्रुतिमन्त्रो द्वारा आगे प्रतिपादित किया जायगा । इसके अतिरिक्त श्यन्नप्रकरण म हमारे द्वारा
व्याख्या की जा चुकी है । वहा यह अच्छी तरह विचार किया जा चुका है कि जो ससारबन्ध म प्रवृत्ति
का प्रयोजक है, वही उस बन्ध की निवृत्ति का प्रयोजक नहीं हो सकता ।

१ अतिमुक्तस्यत्यादिपरिच्छेदाभिमानादासङ्गपाप्मरूपा मृत्योरतिमुक्तस्य पुन स्वरूपमग्न्यादिरूपमुदगीयब्राह्मणे
उक्तम् । २ तत्रापि—उक्तस्वरूपे स्थित उक्तरूपा मृत्योमुक्तोऽपि विद्वान् मृत्युरूपाभ्यां ग्रहातिग्रहाम्यामविनिर्मुक्त
एवेत्यथ । ३ वृ० उ० १।२।१ । ४ वचनांतरमपि । ५ सूत्रात्मानम् । ६ सूत्रात्मेव बहुरूप ।
७ तदात्मेति—फलभूताग्न्यादिरूपत्वमपनो हि मृत्यो प्राप्तिमतीत्य मृत्युगोचरतामतिक्रम्य मुच्यते स्वतन्त्रो
मृत्योरवश्यो भवती युच्यत इत्यथ । यदा त्वन्यादीनामपि मृत्युपारवश्यं तदा तत्प्राप्तानां तदधीनत्वमिति किमु
वक्तव्यम् । न चातिमुच्यत इत्युक्तिविरोध मृत्युरूपाभ्यां ग्रहातिग्रहाम्याममुक्तत्वेऽपि परिच्छेदाभिमानादासङ्गपाप्म-
मृत्योमुक्तत्वादिति । ८ सौत्र पदे । ९ अथेत—आधिदैविकवाग्बुधित्व्याख्यानानन्तरम् । एतस्य—
प्रजापतिरश्वत्थं प्रकृतस्य आधिदैविकस्य मनसो द्यौ बुलोक शरीर कायमाधार । ज्योतिरूप प्रकाशरामकम्
करणरूपमाधयभूतमसावादित्य इत्यर्थ । १० वृ० उ० १।५।१२ । ११ काम्यमानविषयेण । १२
अतिग्रहसंकेन । १३ अस्त । १४ वृ० उ० ३।२।७ । १५ वायुसहित घ्राण । १६ गन्धन ।
१७ अग्न्यादी मृत्युव्याप्तौ । १८ सूत्र मृत्युव्याप्तौ । १९ सूत्राग्न्यादीनां मृत्युव्याप्तौ । २० मृत्यु-
व्याप्तौ । २१ तत्र तेन तयोर्विषयिण्यपि ।

नातिप्राहेणेति वाग्वं ग्रहः स 'नाम्नाऽतिप्राहेणेति च । तथा 'अथन्नविभागे' व्याख्यातम'-
स्माभिः । सुविचारितं चैतद्यदेव प्रवृत्तिकारणं तदेव निवृत्तिकारणं न भवतीति ।

केचित्तु सर्वमेव निवृत्तिकारणं मन्यन्ते । अतः कारणात्पूर्वंस्मात्पूर्वंस्मात्'मृत्योर्मु'-
च्यत उत्तरमुत्तर' प्रतिपद्यमानो 'व्यावृह्यर्थमेव प्रतिपद्यते न तु 'तादर्थ्यमित्यत आ
द्वैतक्षयात्सर्वं मृत्युद्वैतक्षये तु परमार्थतो मृत्योराप्तिमित्युच्यते । "अतश्चाऽऽपेक्षिकी गौणी
मुक्तिरन्तराले ।

शङ्खाऽऽह—तथेति । कर्मफलस्य ससारत्वाच्च "तत्फल सौत्र पद मृत्युपस्तमेवेत्याह—सुविचारित
चेति । यदेव कर्म "बन्धप्रवृत्तिप्रयोजकं तदेव बन्धनिवृत्तेन कारणमत कर्मफलं हैरण्यगर्भं पद
बन्धनमेवेत्यर्थं ।

"स्वमतमुक्त्वा मतान्तरमाह—केचित्त्विति । सर्वमेव कर्मति शेष । स्वर्गकर्मवाक्ये "देहात्म
त्वनिवृत्तिर्गोदोहनवाक्ये "स्वतन्त्राधिकारनिवृत्तिरित्यनंमित्तिक"विधिष्वयान्तरापदेशेन स्वाभाविक
प्रवृत्तिनिरोधो निषेधेण "साक्षादेव नंसर्गिकप्रवृत्तयो निरुध्यन्ते तदेव सर्वमेव कर्मकाण्ड निवृत्तिद्वारेण
मोक्षपरमित्यर्थं । ननु शास्त्रीयात्कर्मलो" हेतोरुत्तरमुत्तर कार्यकरणसघातम् "तिशयवन्तमा"ऽप्राजात्प्र-
तिपद्यमान सघातात्पूर्वंस्मान्मुच्यते "तत्कुतो निवृत्तिपरत्व कर्मकाण्डस्येत्याशङ्खाऽऽह—अत
कारणादिति । यद्वैदमुत्तरमुत्तर सातिशय फल प्राजापत्य पद तदपि प्रासादा"रोहणक्रमेण व्यावृत्तिद्वारा
मोक्षम"यतारयितुमेव न तु तत्रैव प्राजापत्ये पदे श्रुतेस्तात्पर्यं तस्यापि निरतिशयफलत्वाभावादित्यर्थं ।
फलितमाह—इत्यत इति । यस्मात्पूर्वं पूर्वं परित्यज्योत्तरमुत्तर प्रतिपद्यमानस्तत्तन्निवृत्तिद्वारा

कुछ दार्शनिक तो ऐसा मानते हैं कि सभी कर्म निवृत्ति के प्रयोजक हैं । इसी से उत्तरोत्तर
कार्यकरणसघात को प्राप्त होने वाला पूर्व-पूर्वं कार्यकरणसघातरूप कर्म मृत्यु से मुक्त हो जाता है, निवृत्ति
के लिए ही प्राप्त हो जाता है, उस-उस पद को प्राप्त करने के लिए नहीं होता । इस प्रकार द्वैत के क्षय होने
तक सब मृत्यु ही है, एव द्वैत के क्षय होने पर तो वह परमार्थत मृत्यु की प्राप्ति से अतिमुक्त हो जाता
है । द्वैतक्षय के बिना मुख्य मोक्ष अराभव होने के कारण मध्य में आपेक्षिकी गौणी मुक्ति बतलायी
जाती है ।

इस प्रकार यह सब कुछ कहना बृहदारण्यक में अप्रतिपाद्य होने से बाह्य है । (इस पर पूर्ववादी

- १ वक्तव्येन विषयेण । २ अन्वेति । सविषयाणा वाडमन प्राणाना सूत्रात्मनि सत्त्वेन पहादिरूपबन्धन तस्य
बद्धत्वमिति व्याख्यातमित्यर्थ । तथा चोक्तं वार्तिके—'वाडमन प्राणरूपाणा अन्नात्मान्यपि सभवात् । पहाति-
ग्रहरूपाणा नातो मुक्त प्रजापतिरिति' ॥ ८ ॥ ३ प्रकरण । ४ वृ० उ० १।५।१८ भाष्ये । ५ यतो
निवृत्तिपर कम । ६ कार्यकरणसघातरूपम् । ७ कार्यकरणसघातम् । ८ निवृह्यर्थमेव । ९ तत्त-
त्पदप्राप्त्यर्थम् । १० द्वैतक्षय विना मुख्यमोक्षात्सम्भवात् । ११ समुच्चितकर्मफलम् । १२ बन्धस्य
ससारस्य प्रवृत्ति जनन तत्प्रयोजकमित्यर्थ । १३ कर्म बन्धनिवृत्त्युत्प्रेषकमिति स्वमतम् । १४ न हि
देह स्वगमातीति । १५ पञ्चभिलाप विना । १६ स्वाभाविकप्रवृत्तितो भिन्नापीति यावत् । १७
शब्दत । १८ कर्मरूपहेतोरिति । १९ जात्याद्युत्कपवन्तम् । २० सूत्रपर्यन्तम् । २१ उत्तरोत्तरो-
त्कर्षप्राप्तिकृतत्वात् प्रवृत्तिकरत्वादिति भाव । २२ सोपानक्रमेण । २३ प्रापयितुम् ।

सर्वमेतदेवम'वाहृंदारण्यकम् । ननु सर्वैकत्वं मोक्षः "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति श्रुतेः । वाढं भवत्येतदपि, न तु "ग्रामकापो यजेत पशुकामो यजेत" इत्यादिश्रुतीनां तादर्थ्यम् । यदि हृद्दंतायंतवमेवाऽऽसां ग्रामपशुस्वर्गाद्यर्थत्वं नास्तीति ग्रामपशुस्वर्गादयो न गृह्येरन्गृह्यन्ते तु कर्मफलवैचित्र्यविशेषाः । यदि च वैदिकानां कर्मणा तादर्थ्यमेव संसार एव नामविष्यत् ।

मुक्त्यर्थमेव तत्तत्प्रतिपाद्यते न तु तत्तत्पदप्राप्त्यर्थमेव 'वाक्यं' "पर्यवसितं" "तस्यान्तद्वचनेना" फलत्वात् । तस्माद्द्वैतक्षयपर्यन्तं सर्वोऽपि फलविशेषो मृत्युग्रस्तत्वात्प्रासादा"रोहणन्यायेन "मोक्षार्थो"ऽवतिष्ठते हिरण्यगर्भपदप्राप्त्या द्वैतक्षये तु वस्तुतो मृत्योरान्तिमतीत्य परमात्मरूपेण स्थितो मुक्तो भवति । तथा च मनुष्यभावाद्ब्रह्मवर्मावच परमात्मभावान्मध्ये या तत्तत्पदप्राप्तिः सा एतत्वापेक्षिकी सती गौणी मुक्तिर्मुह्या तु पूर्वोवर्ततेत्यर्थः ।

"सर्वमेतदुत्प्रेक्षामात्रेणाऽऽरचित न तु बृहदारण्यकस्य श्रुत्यन्तरस्य वाऽयं इति दूषयति—सर्वमेतदिति । "सर्वैकत्वलक्षणो मोक्षो बृहदारण्यकायं एवास्माभिरुच्यते तत्कथमस्मदुक्तमवाहृंदारण्यकमिति शङ्कते—नन्विति । अङ्गी करोति—वाढमिति । अङ्गीकृतमंशं विशदयति—भवतीति । एतत्सर्वैकत्वमारण्यकार्यो भवत्यपीति योजना । कथं तर्हि सर्वमेतदवाहृंदारण्यकमित्यर्थं तत्राऽह—न त्विति । त्वदुक्त्या रीत्या कर्मश्रुतीना यथोक्त"मोक्षार्थत्वं न" घटते "तेन सर्वमेतदौत्प्रेक्षिकं न श्रौतमित्युक्तमित्यर्थः । कर्मश्रुतीना मोक्षार्थत्वाभावं समर्थयते—यदि हीति । तस्मात्तासां न मोक्षार्थतेति शेषः । किंच ससारस्तावद्ब्रह्मार्थमहेतुस्ती" च विधिनिषेधाद्यो नो "तद्योदचेत्ब्रह्मदुपतरीत्या मोक्षार्थत्वं तदा हेत्वभावात्संसार" एव न स्यादित्याह—यदि चेति ।

शङ्का करता है—) किन्तु सब की एकता होना मोक्ष है, क्योंकि 'वह सर्वरूप हो गया'—ऐसी श्रुति भी है । (इस पर सिद्धान्ती पूणत सहमत न होते हुए भी कहता है—) हाँ ठीक तो है कि यह बृहदारण्यक का विषय है, किन्तु "ग्राम की कामना वाला याग करे, पशु की कामना वाला याग करे" इत्यादि श्रुतियाँ उन-उन विषयों की प्राप्ति के लिए हैं, मोक्षप्राप्ति के लिए नहीं । यदि इन का प्रयोजन भी अद्वैत में हो तो इनका ग्राम, पशु अथवा स्वर्गादि फल के लिए होना सम्भव नहीं है । इसलिए ग्राम, पशु और स्वर्गादि फल को भी श्रुति में ग्रहण नहीं-कहना चाहिये, परन्तु कर्मफल वैचित्र्यरूप विशेषों का ग्रहण किया जाता ही है । एवं यदि वेदप्रतिपादित कर्म मोक्ष के लिए होते, तो (कर्म ही संसार का हेतु होने से) संसार ही न होता ।

१ त्वदुक्तम् । २ बृहदारण्यके अप्रतिपाद्यत्वेन तदवाह्यम् । ३ तस्मात्—'अहं ब्रह्मास्मि' इति ज्ञानात् मत्प्रमाणान्दिभाक्षितया स्वपदबोधयम् । सर्वम्—अब्रह्मत्वाध्यारोपणाप्रविद्यापगमात् तत्कार्यस्यासर्वत्वस्य निवृत्तौ स्वाभाविकसवत्वमभवत्प्राप्तयत् । ४ वृ० उ० १।४।१० । ५ तत्फलकत्वम् । ६ तर्हि । ७ श्रुताङ्कुरम् । ८ मोक्षार्थत्वम् । ९ विधिवाक्यमिति यावत् । १० सात्ययवत् । ११ तत्तत्पदव्य । १२ नवत्पशुकम् । १३ सोपानन्यायेन । १४ मोक्षफलक । १५ भवति । १६ श्रुत्यननुसारिक-स्पर्शान्मात्रेणैति । १७ सर्वव्यत्यसन्नान्तेत्यर्थः । १८ कर्ममोक्षार्थत्वमिति । १९ संभवति । २० तासां तदपत्त्याभावेन । २१ धर्माधमी । २२ विधिनियेधयो । २३ कर्मैव हि संसारहेतुः ।

अथ तादर्थ्येऽप्यनुनिष्पादितपदार्थस्वभावः संसार इति चेत् । यथा च रूपदर्शनार्थं आलोके सर्वोऽपि तत्रस्थः प्रकाश्यत एव । न प्रमाणाऽनुपपत्तेः । अद्वैतार्थत्वे वैदिकानां कर्मणा विद्यासहितानामन्यस्यानुनिष्पादितत्वे प्रमाणानुपपत्तिः । न प्रत्यक्षं नानुमानमत एव च नाऽऽगमः । उभयमेकेन वाक्येन प्रदर्श्यत इति चेत्कुल्याप्रणयनालोकादिवत् । तन्नैवं वाक्यधर्मानुपपत्तेः । न चैकवाक्यगतस्यार्थस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिसाधनत्वमवगन्तुं

विधिनिषेधोनिवृत्तिद्वारा मुक्त्यर्थत्वेऽपि विद्यादिज्ञानादनुनिष्पादितो यः कर्मपदार्थस्तस्यायं स्वभावो यदुत कर्तारमनर्थेन संयुक्तोति चोदयति—प्रयेति । मोक्षार्थमपि कर्मकाण्ड संसारार्थं भवतीति सहृष्टान्तमाह—यथेति । प्रमाणाभावेन परिहरति—नेति । तदेव व्यनक्ति—ग्रहैतार्थत्व इति । अन्यस्य बन्धत्वेति यावत् । अनुपपत्ति स्फोरयति—न प्रत्यक्षमिति । कर्मश्रुतिवाक्यस्यावाप्तिरतात्पर्यं यथाश्रुतेऽयं गृह्यते निवृत्तिद्वारा मुक्तौ तु महातात्पर्यमित्यङ्गीकृत्य शङ्कते—उभयमिति । कृत्रिमाः क्षुद्राः सरित कुल्यास्तासा प्रणयनं शाल्यर्थं पानीयार्थमाचमनीयाद्यर्थं च प्रदोषश्च प्रासादशोभायं कृतो गमनादिहेतुरपि भवति वृक्षमूले च सेचनमनेकार्थं तथा कर्मकाण्डमनेकार्थमित्युपपादयति—कुल्येति । एकस्य वाक्यस्य यथाश्रुतेनार्थेनार्थवत्त्वे संभवति नान्यत्र तात्पर्यं कल्प्यं कल्पकाभावाच्च च त्वदुक्तया रोत्याऽनेकार्थत्वलक्षणौ धर्मो वाक्यस्यैकस्योपपत्तौऽयं कत्वादेक वाक्यमिति न्यायादिति परिहरति—तन्नैवमिति । वाक्यस्यानेकार्थत्वाभावेऽपि तदर्थस्य कर्मणो बन्धमोक्षाख्यानेकार्थत्वं स्यादित्या-

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) यद्यपि वेदोक्त कर्म मोक्षार्थक है, तथापि इष्टसाधनत्वाद्विज्ञान का अनन्तर सम्पादित होना ही संसार का धर्म है । जिस तरह प्रकाश रूपदर्शन के लिए प्रयोजक होने पर प्रकाश में स्थित सभी वस्तु प्रकाशित हो जाती है । (सिद्धान्तो आक्षेप परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इसमें प्रमाण का अभाव है । यदि विद्यासहित वैदिक कर्मों को मुक्तिरूप महातात्पर्य वाला माना जाय तो उनसे किसी अन्यपदार्थ के अवाप्तिर तात्पर्यविषयत्व होने में प्रमाण का ही अभाव है । इसमें न तो प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है और इसीलिए आगम प्रमाण भी नहीं हो सकता । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) नहर निकालने एव प्रकाश करने के समान एक ही वाक्य से दोनों का प्रदर्शन हो जाता है । (नहरो से आचमन और सिंचन, प्रकाश से उजाला और घर की शोभा दो-दो कार्यों का होना प्रसिद्ध है) ऐसा कहना भी उचित नहीं है । ऐसे में तो वाक्य का एकार्थबोधकत्वं धर्म ही जिनष्ट हो जायगा । एक ही वाक्य में आए हुए कर्म का प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में साधन होना सम्भूता संभव नहीं है । नहर निकालने और प्रकाश करने आदि में कार्य की

१ सति । २ आलोकस्य । ३ अभावात् । ४ निवृत्तिद्वारा मुक्तौ महातात्पर्यवत्त्वे । ५ अवान्तर-तात्पर्यमिष्यत्व । ६ अभाव । ७ एवमिति—कुल्याप्रणयनादि त्वदुक्तरीत्या वाक्यस्यैकस्यानेकार्थत्वे । ८ वाक्यस्यैकस्य धर्म एकार्थबोधकरव तदनुपपत्तेरित्यर्थ । ९ कर्मण । १० इष्टसाधनत्वादिज्ञानानन्तर संपादितो यो धर्मादित्यस्य । १० संसारस्य । ११ अनेकार्थमिति—मूले सित्तमपि फलपत्राद्यर्थमपि भवतीति । यद्वा—आलवालस्यत्वेन पश्यादिपानायाऽपि भवतीत्यर्थं । १२ प्रमाणाभावात् । १३ अनेकार्थ-जनकत्वाख्यो धर्म । १४ अर्थेति—अर्थकत्वादेक वाक्य साकाङ्क्ष चैद्विभागे स्यादिति जै० सू० २।१।५६ । अर्थकत्वादिति—एकवाक्यत्वस्य अर्थव्यप्रयुक्तत्वादानेकार्थत्वे वाक्यभेदापत्तिरिति भाव । विस्तरस्तु ५।१।१७८ टिप्पणतो द्रष्टव्य । १५ वाक्यार्थस्य ।

शक्यते । कुल्याप्रणयनालोकादावर्थस्य प्रत्यक्षत्वाद'दोषः ।

यदप्युच्यते मन्त्रा अस्मिन्नर्थे दृष्टा इति । 'अयमेव तु तावदर्थः प्रमाणगम्यः । मन्त्राः पुनः किमस्मिन्नर्थे आहोस्विदन्यस्मिन्नर्थे इति मृग्यमेतत् । 'तस्माद्ग्रहातिग्रहलक्षणो मृत्युबन्ध'स्तस्मान्मोक्षो वक्तव्य इत्यत' 'इदमारम्यते ।

न च जानीमो विषयसधाविवान्तरालेऽवस्थानमर्धजरतीयं कौशलम् । यत्तु मृत्यो-
रतिमुच्यत इत्युक्त्वा प्रहातिग्रहाद्युच्यते तत्त्वर्थसंबन्धात्सर्वोऽयं साध्यसाधनलक्षणो

शङ्क्याऽऽह—न चेति । परोक्षत दृष्टान्त विप्रत्ययति—कुल्येति ।

त्रिधा चाविद्या चेत्यादयो मन्त्रा समुच्चयपरा दृष्टा समुच्चयश्च कर्मकाण्डस्य निवृत्तिद्वारा मोक्षार्थत्वमित्यस्मिन्नर्थे' सिद्धतीति शङ्कते—यदपीति । कर्मकाण्डस्योक्तरीत्या मोक्षार्थत्वे नास्ति प्रमाणमिति परिहरन्—अयमेवेति । मन्त्राणां समुच्चयपरत्वात्तस्य च यद्योषतार्थाक्षेपकत्वात्कुतोऽन्या-
र्थस्य प्रमाणागम्यतेत्याशङ्क्याऽऽह—मन्त्रा पुनरिति । तेषां न समुच्चयपरत्वेत्यग्रे' व्यवनो भविष्यती-
त्यर्थ । 'परमनासभवे स्वमतमुपसहरति—तस्मादिति । बन्धनिरूपणमनुपयोगीत्याशङ्क्याऽऽह—तस्मा-
न्मोक्ष इति ।

यत्तु कर्मकाण्ड बन्धाय मुक्तये वा न भवति कित्वन्तरावस्थानकारणमिति तद्दूययनि—न
चेति । यथा न जायति न स्वपितीति "विषयग्रहणच्छिद्रेऽन्तरालेऽवस्थानं दुष्टं यथा चाधं कुक्कुटपा
पाकार्यमर्धं च प्रसवायेति कौशल नोपलभ्यते तथा कर्मकाण्ड न बन्धाय नापि साक्षान्मोक्षायेति
ध्यात्पानं कर्तुं न जानीम इत्यर्थ । यत्तु "श्रुतिरेवोत्तरोत्तरपदप्राप्त्यभिधानव्याजेन मोक्षे पुरुष"भवता-
रयतीति तत्राऽऽह—यत्त्विति । मृत्योरपिमतोत्य मुच्यत इत्युक्त्वा यदेतद्ग्रहातिग्रहबन्धन "तदय सर्व
"साध्यसाधनलक्षणो बध इत्यनेनाभिप्रायेणोच्यते "तस्यायं मृत्युपदार्थना"न्वयदर्शनादिति योजना

द्विरूपता स्पष्ट देखी जाती है । (बह विषय दृष्टान्त है) इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है ।

एव जो ऐसा कहा जाता है कि इस अर्थ में मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ है । सो कर्मकाण्ड से मोक्षार्थत्वरूप प्रयोजन किसी भी प्रमाण से सिद्ध होने वाला नहीं है । फिर क्या मन्त्र इसी अर्थ में है, अथवा किसी दूसरे अर्थ में है ? यह बात शोध करने योग्य है । परमत के असंभव होने से प्रहातिग्रहलक्षण मृत्यु बन्धन है, इसलिये मोक्ष का प्रतिपादन करना चाहिये (क्योंकि बन्ध ही मुक्त होता है) अतः इस ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है ।

जिस प्रकार (जाग्रत् और स्वप्नरूप) दो विषयों की सधि में स्थित होना नहीं देखा जाता,

- १ अदोष इति—न हि दृष्टेऽनुपपन्न नामांत न्यायात् । तथा च विषयोऽपि दृष्टान्त इति भावः । २ कर्मकाण्डस्य मोक्षार्थत्वरूपः । ३ परमतासंभवात् । ४ उपरोक्तनानागम्यात् । ५ अत इति—बन्धो हि मुच्यत इति न्यायात् । ६ इदमिति—प्रहातिग्रहलक्षणबधरूपस्य मृत्योः । स्वरूपनिरूपणायैदं ब्राह्मणमारम्यत इत्यर्थः । ७ स्वीकृते सति । ८ वृ० उ० ४।४।६ टीकायात् । ९ सर्वं कर्मनिवृत्तिपरमिति परमतम् । १०, ग्रहणाग्रहणति पाठः । ११ प्रहातिग्रहप्रतिपादिका प्रवृत्ता श्रुतिः । १२, सनिषापयति मोक्षानिकट करोतीति यावत् । १३ बचनम् । १४ प्रहादिरूपः । १५ उच्यमानसाध्यसाधनलक्षणस्य । १६ मृत्युप्रस्तत्वादिति यावत् ।

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति
होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति । अष्टौ ग्रहा
अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः
कतमे त इति ॥ १ ॥

तदनन्तर उस याज्ञवल्क्य से जरत्कार गोत्र वाले ऋतभाग के पुत्र ने पूछा । हे याज्ञवल्क्य !
ऐसा आर्तभाग ने कहा — ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—)
आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं । (आर्तभाग ने कहा—) वे जो आठ ग्रह तथा आठ अतिग्रह हैं, वे
कौन से हैं ? (पहले 'अतिमुच्यते' कहा गया है, ग्रहगृहीत से ही भुवि और अतिभुवि हुआ करती
है । अतएव ग्रह तथा अतिग्रह की प्राप्ति सामान्य रीति से होती है । इसीलिए उनकी सत्या के विषय
में प्रश्न भी बनता है और सत्येय के विषय में विशेष जिज्ञासा भी सम्व है) ॥ १ ॥

'ग्रहातिग्रहाविनिर्भोकात् । निगडे हि निजति 'निगडितस्य मोक्षाय यत्नः कर्तव्यो
भवति । 'तस्मात्तादर्थ्येनाऽऽरम्भः ।

अथ हैनं हशब्द 'ऐतिहास्यः' । अथानन्तरमश्वल उपरते प्रकृतं याज्ञवल्क्यं जरत्का-
रगोत्रो जारत्कारव ऋतभागस्यापत्यमार्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाचेत्यभिमुखी-

अर्थसन्धादित्युक्त स्फुटयति—ग्रहानिग्रहाविनिर्भोकादिति । 'एषा हि श्रुतिर्वन्धनेव प्रतिपादयति न
तु मोक्षे पुरुषमवसारयतीति भावः । ननु पुरुषस्यापक्षितो मोक्ष प्रतिपाद्यता किमित्यनर्थत्वा बन्धः
प्रतिपाद्यते तत्राऽऽह—निगडे हीति । बन्धज्ञान विना 'ततो' 'दिश्लेपायोगान्मुमुक्षोः । "सप्रयोजकबन्ध-
ज्ञानार्थत्वेनानन्तरब्राह्मणप्रवृत्तिरत्युपसहरति—तस्मादिति ।

उसी प्रकार (वैदिक कर्मों से बन्ध-मोक्ष कुछ भी न हाकर कोई मध्यम वस्तु प्राप्त होती है) यह अर्थ-
जरतीय ध्याख्यानकोशल ठीक नहीं है । तथा जो "मृत्यु से अतिमुक्त हो जाता है" ऐसा कहकर ग्रह
और अतिग्रह का वर्णन किया जाता है, वह तो अर्थ के प्रयोजन से है । यह सब साध्य-साधनरूप बन्धन
है क्योंकि निरुक्त ससार का ग्रह और अतिग्रह से सम्बद्ध होने के कारण बन्धत्व है । बन्ध का ज्ञान होने
पर बद्ध पुरुष के मोक्ष के लिए प्रयत्न करना आवश्यक हो जाता है । इसलिए बन्ध का स्वरूप जानने
के लिए इमका आरम्भ किया जाता है ।

"अथ हैन" इत्यादि मन्त्र में 'ह' शब्द परम्परागत उपदेशार्थक है । "अथ" यानी अश्वल के

१ ग्रहातीति—निरुक्तसारस्य ग्रहादिसंबद्धत्वात् बन्धत्वमित्यर्थ । २ बद्धस्य । ३ बन्धज्ञानस्य
तन्निवृत्तिप्रयोजकत्वात् । ४ बन्ध ज्ञानम्—जापयितुम् । ५ तादर्थ्येनारम्भ इति । "बन्धाख्यमृत्युस्तन्मृ-
त्युविदुषोऽनुत्क्रमस्तथा । प्रयोजकत्वो मृत्योः प्रेरकश्चापि पृच्छथत" ॥ १ ॥ इति वार्तिकसारे समाहितम् ।
अत्र—ब्राह्मणे । मृत्युप्रयोजक—विहितनिषिद्धकम् । प्रेरक प्रयोजकम् । ६ ऐतिह्येति—ऐतिह्य परम्परा-
गतोपदेश । इयमाख्यायिका जाचार्यपरम्परया श्रूयत इति यावत् । परम्परोपदेशे स्यादैतिह्यमिति हाव्यमित्य-
र्थः । ७ समन्तरयावद्ब्राह्मणरूपा । ८ बन्धात् । ९ भोक्षितभावात् । १० सप्रयोजकैति—प्रयोजकम्
विहितप्रतिषिद्धम् । बन्ध ययोरुत्तग्रहातिग्रहलक्षणो मृत्यु ।

करणाय । पूर्ववत्प्रश्नः कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति । इतिशब्दो 'वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः ।
'तत्र निज्ञतिषु वा ग्रहातिग्रहेषु प्रश्नः स्यादनिज्ञतिषु वा । यदि तावद्ग्रहा अतिग्रहाश्च
निज्ञातास्तदा तद्गतस्यापि गुणस्य संख्याया निज्ञातत्वात्कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति
संख्याविषयः प्रश्नो नोपपद्यते । अथानिज्ञातास्तदा संख्येयविषयः प्रश्नः इति के ग्रहाः
केऽतिग्रहा इति प्रष्टव्यं न तु कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति प्रश्नः । अपि च निज्ञातसामा-
न्यकेषु विशेषविज्ञानाय प्रश्नो भवति यथा कतमेऽत्र कठाः कतमेऽत्र कालापा इति । न
चात्र ग्रहातिग्रहा नाम पदार्थाः केचन लोके प्रसिद्धाः । येन विशेषार्थः प्रश्नः स्यात् । ननु
चातिमुच्यते इत्युक्तं ग्रहगृहीतस्य हि मोक्षः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरिति हि द्विरुक्तम् ।

कति ग्रहा इत्यादिः प्रथमः संख्याविषयः प्रश्नः कतमे त इति द्वितीयः संख्येयविषय इत्याह—
पूर्ववदिति । 'संप्रति प्रश्नमाक्षिपति—तत्रेत्यादिना । अद्यं प्रश्नमाक्षिप्य द्वितीयमाक्षिपति—अपि चेति ।
विशेषतश्चाज्ञातेष्विति चशब्दार्थः । मुक्त्यतिमुक्तिपदार्थद्वयप्रतियोगिनो बन्धनाहयो ग्रहातिग्रहौ
सामान्येन प्राप्ते प्रश्नस्तु विशेषबुभुत्सायामिति प्रष्टा चोदयति—ननु चेति । "तथाऽपि "प्रश्नद्वयमनुप-

उपराम हो जाने पर उस प्रकरणस्य याज्ञवल्क्य से "जारत्कारव" अर्थात् जरत्कारु गोत्र मे उत्पन्न
"आर्तभाग." ऋतभाग के पुत्र आर्तभाग ने पूछा । अभिमुख सम्पादन के लिए "हे याज्ञवल्क्य" इस सम्बो-
धन से (पुकार कर) कहा । कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं—ये प्रश्न पूर्वमन्त्र के समान ही किये
गये हैं । "इति" शब्द प्रश्नवाक्य की परिसमाप्ति के लिए है । उन दोनों प्रश्नों मे क्या यह प्रश्न सम्यक्-
ज्ञात ग्रह और अतिग्रह के विषय मे है अथवा अनिज्ञात ग्रह और अतिग्रह के विषय मे है ? यह ग्रह और
अतिग्रह सम्यक् रूप से ज्ञात हों, तो उनमे रहने वाली गुणरूप सख्या भी ज्ञात हो जाने से कितने ग्रह हैं
और कितने अतिग्रह हैं, इस प्रकार संख्याविषयक प्रश्न नहीं बनता । तथा यदि उन्हें अनिज्ञात माना
जाय तो संख्येयविषयक प्रश्न करना आवश्यक हो जाता है । ऐसे मे ग्रह कौन से है और अतिग्रह कौन से
है—यह पूछना चाहिये । कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं—यह प्रश्न पूछना संभव नहीं है । इसके
अतिरिक्त सामान्यस्वरूप के निज्ञात होने पर विशेषस्वरूप ज्ञान के लिए प्रश्न द्रष्टा करता है, जैसे
सामान्य पाठको मे कौन से कठशाखा के हैं एवं कौन से कलापशाखा के हैं । परन्तु यहाँ लोक मे ग्रह
और अतिग्रह वाले कोई पदार्थ प्रसिद्ध नहीं हैं; जिनमे (कौन से ग्रह है, कौन से अतिग्रह हैं) विशेष
अर्थ के लिए प्रश्न पूछा जाय । किन्तु पूर्वब्राह्मण मे तो कहा गया है "वह अतिमुक्त हो जाता है और
ग्रहगृहीत ही मोक्ष है । वह मुक्ति है, वह अतिमुक्ति है; इस प्रकार मोक्ष को दो प्रकार से कहा है ।
इससे ग्रह और अतिग्रह दोनों ही की प्राप्ति हो जाती है । (पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु यहाँ तो

१. प्रश्नवाक्येत्यर्थः । २ तत्र ग्रहातिग्रहेष्विति सबन्ध. यद्वा प्रश्नद्वयमध्ये । ३. कतम्भ्यो भवति । ४.
संभवति । ५. अध्येतृणां मध्ये, अध्येतृगामान्य इति यावत् । ६. अत्र लोव इत्यन्वयः । ७ मनेति—
ग्रहातिग्रहस्वरूपसामान्यतः प्रसिद्धत्वेनेत्यर्थः । विशेषार्थः प्रश्न—ग्रहातिग्रहत्वेन प्रसिद्धानां मध्ये कतमे ग्रहाः
कतमे चातिग्रहा इति प्रश्न इत्यर्थः । ८ ३० ३० १।१३-६ । ९. मोक्षण द्विधोक्तमित्यर्थः । १०. अस्याः
न्यायाया वादेकरूपत्वेनात्रानान एव सदित्यर्थं निर्णो पृच्छतीत्याशयेनाह—संप्रतीति । ११ तेषां सामान्यतः
प्राप्तत्वेऽपि । १२. संख्याविषय प्रश्न यद्वा संख्यासंख्येयविषय प्रश्नमिति ।

'तस्मात्प्राप्ता ग्रहा अतिग्रहाश्च । ननु तत्रापि चत्वारो ग्रहा अतिग्रहाश्च 'निर्जाता वाक्चक्षुः-
प्राणमनांसि 'तत्र कतीति प्रश्नो नोपपद्यते निर्जातत्वात् । न, 'अनवधारणार्थत्वात् । न
हि चतुष्ट्वं तत्र विवक्षितमिह' तु 'ग्रहातिग्रहदर्शने'ऽष्टत्वं गुणविवक्षया कतीति प्रश्न उप-
पद्यत एव । तस्मात्सं मुक्तिः साऽतिमुक्तिरिति 'मुक्त्यतिमुक्ती द्विरुक्ते ग्रहातिग्रहा अपि
'सिद्धाः । "अतः कतिसंख्याका ग्रहाः कति वाऽतिग्रहा इति पृच्छति । इतर ग्राह—
अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति । "ये तेऽष्टौ ग्रहा अभिहिताः कतमे ते "नियमेन प्रहीतव्या
इति ॥ १ ॥

पश्चमित्याक्षेप्ता द्युते—ननु तत्रेति । वाग्वं यज्ञस्य होते'त्यादाविति यावत् । निर्जातत्वाद्विशेष्येति शेषः ।
'अतिमोक्षातिदेशेन त्वगादेरपि सूचितत्वा' 'तेषु चतुष्ट्वस्या' 'निर्धारणादविशेषेण प्रतिप्रश्नेषु वागादिषु
विशेषबुभुत्सायां संख्यादिविषयत्वेन प्रश्नस्यो' 'पपप्रायर्थत्वाद्वाऽऽक्षेपोपपत्तिरिति समाधत्ते—नानाव-
धारणार्थत्वादिति । तदेव स्पष्टयति—न हीति । तत्र पूर्वब्राह्मणे वागादिष्विति यावत् । "कलितां
प्रथमप्रश्नोपपत्तिं कथयति—इह त्विति । ननु ग्रहाणामेव "पूर्वत्रोपदेशातिदेशाभ्यां "प्रतिपश्नत्वातेषु
विशेषबुभुत्सायां कति ग्रहा इति प्रश्नेऽप्यतिग्रहाणामप्रतिपश्नत्वाकथं कल्पयतिग्रहा इति प्रश्नः स्यादत
आह—तस्मादिति । पूर्वस्माद्ब्राह्मणादिति यावत् । वागादयो "चक्षुष्यादयश्च चत्वारो ग्रहाश्चाति-
ग्रहाश्च यद्यपि "विशेषतो निर्जातास्तथाऽप्यतिदेशप्राप्ता"श्चत्वारो विशेषतो न ज्ञायन्ते तेन तेषु विशेषतो
ज्ञानसिद्धये प्रश्न इत्यभिप्रेत्य विद्मिनष्टि—नियमेनेति ।

वाक्, चक्षुः, प्राण और मन इन चार ग्रहों और (नाम, रूप, गन्ध काम) अतिग्रहों का ज्ञान होता ही
है । निर्जात ग्रहों और अतिग्रहों में "वे कितने हैं" ऐसा प्रश्न नहीं बनता । (सिद्धान्ती समाधान
देता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वहाँ अवधारणार्थ का अभाव है अर्थात् वहाँ यह बतलाना
इष्ट नहीं है कि वे चार ही हैं । इस ब्राह्मण में ग्रह-अतिग्रह दर्शन में (पूर्वब्राह्मण से) अष्टसंख्या
विवक्षा द्वारा वे कितने हैं—ऐसा प्रश्न पूछा ही जा सकता है । इसलिए "वह मुक्ति है, वह अतिमुक्ति
है" इस प्रकार मुक्ति और अतिमुक्ति के दो बार कहे जाने पर ग्रह और अतिग्रह को भी सिद्धि की जा

१. मुक्तेः प्रतियोगिनिरूप्यत्वात् । २. निर्जाता इति—'वाग्वं यज्ञस्य होत'त्यादिना वाक्चक्षुःप्राणमनसा
ग्रहाणाम् नामरूपगन्धकामाना चातिग्रहाणा तदवतचतुष्ट्वस्य च प्रागेव प्राप्तेः कति ग्रहाः कल्पयतिग्रहा इतिप्रश्न-
द्वयानुपपत्तिरिति भावः । ३. निर्जातग्रहातिग्रहेषु । ४. अनवधारणेति—पूर्वब्राह्मणस्यवागादिषु चतुष्ट्व-
स्याविवक्षितत्वेनावधारणार्थत्वाभावादित्यर्थः । ५. ब्राह्मणे । ६. ग्रहेति—ग्रहादिप्रतिपत्तो सत्या तत्राष्टत्व-
गुण (संख्या) विवक्षयेति । यद्वा विषयसप्तमी । ७. पूर्वब्राह्मणत । ८. संख्याविवक्षया । ९.
मुक्त्यतिमुक्ती इति—अत्र मुक्त्यतिमुक्तिद्विरुक्तेरिति पुस्तकान्तरपाठः । १०. सिद्धाः मुक्त्यतिमुक्तिप्रतियोगि-
त्वेनेति शेषः । ११. तयोनि.शेषं सिद्धत्वात् । १२. संख्येयान्पृच्छति—ये त इति । १३. नियमेन—
निश्चितस्वरूपत्वेन । १४. इत्यादौः निर्जाता इत्यर्थः । १५. अतिमोक्षातिदेशेनेति—श्रु० उ० ३।१।६ ।
इत्यतिमोक्षा इति वागादावुक्त्याप्यस्य त्वगादावतिदेशेन तेषु चतुष्ट्वस्याविवक्षितत्वादित्यर्थः । १६. वागादिषु ।
१७. अनिश्चितसंख्याकत्वेन । १८. संभावितविषयत्वात् । १९. सिद्धम् । २०. चक्षुरादिचतुष्ट्वस्यो-
पदेशः त्वगादि चातिदेशः । २१. ज्ञातत्वात् । २२. पूर्वत्र ब्राह्मणनिदिष्टाः । २३. निर्धारितरूपतया ।
२४. त्वगादयः स्पष्टादिमश्च ।

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण^१ गृहीतोऽपानेन
हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥ २ ॥

प्राण ही ग्रह है, वह गन्धरूप प्रतिग्रह से गृहीत है (अपान गंध का साथी है, इसीलिये यहाँ पर अपानशब्द से गन्ध को कहा गया है) क्योंकि अपान द्वारा लाये गये गन्धों को ही सम्पूर्ण लोक सूंघता है ॥२॥

तत्राऽऽह^१ । प्राणो वै ग्रहः प्राण इति घ्राणमुच्यते । प्रकरणात् । वायुसहितः सः । अपानेनेति गन्धेनेत्येतत् । अपानसचिद्यत्वादपानो गन्ध उच्यते । अपानोपहृतं हि गन्धं घ्राणेन सर्वो लोको जिघ्रति । तदेतदुच्यतेऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रतीति ॥२॥

*द्वितीये प्रश्ने परिहारमुत्थापयति—‘तत्राऽऽहेति । प्राणशब्दस्य घ्राणविषयत्वे पूर्वोत्तरप्रत्ययोर्वागादीनां प्रकृतत्वं हेतुमाह—प्रकरणादिति । ‘तस्य गन्धेन गृहीतत्वसिद्धयर्थं विशिनष्टि—वायुसहित इति । अपानशब्दस्य गन्धविषयत्वे गन्धस्यापानेना’विनाभावं हेतुमाह—अपानेति । ‘तत्रैवं हेत्वन्तरमाह—अपानोपहृत हीति । ‘अपश्वासोऽपानशब्दाद्यर्थः । उच्यतेऽर्थे वाक्यं ‘पातयति—तदेतदिति ॥२॥

सकती है । इसलिये कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह है—ऐसा प्रश्न पूछा जाता है । इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—आठ ग्रह हैं और आठ ही अतिग्रह है । (आतंभाग पूछता है—) वे जो सख्येय आठ ग्रह बतलाये गये, उनमें निश्चितस्वरूप से किन-किन को ग्रहण करना चाहिये ॥१॥

याज्ञवल्क्य इसका समाधान देते हैं । प्राण ही ग्रह है । प्राणशब्द से यहाँ घ्राणेन्द्रिय को लिया गया है क्योंकि उसी का प्रकरण भी चल रहा है । (अजहल्लक्षणा से) वह वायु के सहित है । ‘अपानेन’ अर्थात् गन्ध से क्योंकि अपान का सहायक होने से अपान को गन्ध कहा जाता है । यह सारा ससार अपान से लाये गये गन्ध को ही घ्राणेन्द्रिय के द्वारा सूंघता है । इसी अर्थ को लेकर कहा है कि वह अपान से गन्ध को सूंघता है ॥२॥

१. अपानेनातिग्राहेणेति । इन्द्रियाणां ग्रहत्व तु गृह्णतीति व्युत्पत्त्या विषयाणामतिग्रहत्वमुक्तं वार्तिके । तथाहि—‘गन्धादिविषया धीस्थाः कमंसबोधिता यतः । प्रयुज्यते हि घ्राणादीस्ततस्ते स्युरतिग्रहाः’ ॥ १२ ॥ इति । बुद्धी लक्षणादिवासनाह्वादा विषया. सुमाशुभेन कर्मणा प्रेरिताः स्वाकारधीसमुत्पन्नासार्थं प्रेरयन्ति तथा च ते प्रधानतिश्रम्य स्ववशमानयन्तीत्यतिग्रहा इति तदर्थं । विषयाणामिन्द्रियप्रेरकत्वमनुभवसिद्धमिति हिंसाब्दाद्यर्थः ।
२. अतिग्राहेणेति—द्वैच्यं छान्दसम् । ३. समाधानमिति दोषः । ४. अजहल्लक्षणाभिप्रायकमिदम् । ५. अपानसहायकत्वात् । ६. उक्तमर्थंजातम् । ७. सख्येयविषये । ८. द्वितीये प्रश्ने । ९. घ्राणस्य ।
१०. अविनाभावमिति—नित्यसंबद्धत्वमित्यर्थः । मिथो बद्धत्वमिति यावत् । ग्रहीतुरप्युपलक्षणमेतत् । तदुक्तं वार्तिके—‘ग्रहैरंग्यादयो प्रस्ता ग्रहापचाऽऽरमा च गोचरं.’ ॥ १० ॥ इति । ११. अपानशब्दस्य गन्धविषयत्व एव । १२. अपश्वासः अन्तर्मुखश्वासः । १३. योजयति ।

वाग्वं ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतो वाचा हि
नामान्यभिवदति ॥ ३ ॥

जिह्वा वं ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि
रसान्विजानाति ॥ ४ ॥

चक्षुर्वं ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि
रूपाणि पश्यति ॥ ५ ॥

श्रोत्रं वं ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि
शब्दाञ्छृणोति ॥ ३ ॥

वाक् ही ग्रह है, वह नामरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि प्राणी वाक् से ही नामो का उच्चारण करता है ॥३॥

जिह्वा ही ग्रह है, वह रसरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि प्राणी जिह्वा से ही रसो का पृथक्-पृथक् विशेषरूप से जानता है ॥४॥

नेत्र ही ग्रह है, वह रूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि चक्षु से ही रूपो को देखना है ॥५॥

श्रोत्र ही ग्रह है, वह शब्दरूप अतिग्रह से पकडा हुआ है क्योंकि प्राणी श्रोत्र से ही शब्दो को सुनता है ॥ ६ ॥

वाग्वं ग्रहः । वाचा ह्याध्यात्मपरिच्छिन्नयाऽऽसङ्गविषयास्पदयाऽस्त्यानृतासभ्य-
'बोमत्साविवचनेषु व्यापृतया गृहीतो लोकोऽपहतस्तेन वाग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण
गृहीतः स वागाख्यो ग्रहो नाम्ना वक्तव्येन विषयेणातिग्राहेणातिग्राहेणोति दैर्घ्यं छान्दसं

वाचो ग्रहस्वमुपपादयति—वाचा हीति । आसङ्गस्य विषय शब्दादिरेवाऽऽस्पद यस्या
वाचस्तयेति विग्रह । तस्मिन्मध्यममध्यात्मपरिच्छिन्नयेति विशेषणम् । असत्य परपीडाकर मिथ्या-
वचन तदेव स्पष्टम्—मात्रविरोधनृत विपरीतं वा । आदिपदेनेष्टानिष्टोक्तिग्रहः । वाचि प्रकृताया स
'नाम्नेति' कथमुच्यते तत्राऽह—स वागाख्य इति । वक्तव्येन वाचो वशीकृतत्व साधयति—वक्त-

वाक् ही ग्रह है । असत्य, अनृत, सभा के अयोग्य, घृणास्पद वचना मे लगी हुई आर्माक्ति विषय
की स्थानभूता शरीर के एक देश मे रहने वाली वाक् से ही ससार आकर्षित होता है । इसलिए (लोक
को आकर्षित कर लेने से) वाक् ग्रह है । वह नामरूप अतिग्रह से आकर्षित होता है । वह वाक् नामक
ग्रह "नाम्ना" अर्थात् वक्तव्य विषयरूप अतिग्रह से गृहीत है । "अतिग्राहेण" मे दीर्घ आकार का प्रयोग

१ वक्तव्येन विषयण । २ हि यस्माल्लोको नामध्यात्मविषयावच्छिन्नया वाचा शब्दानुच्चारयति ।

३ शरीरैकदेशवर्तिन्या । ४ सभानहं । ५ घृणाकर । ६ आकर्षित । ७ लोकाकर्षकत्वेन ।

८ विषय । ९ आसङ्गविषयास्पदत्वस्मिन्नवयम् । १० मात्रेति—परपीडाव्यावृत्ता । ११ परेत्याद्युक्त-

मनृतम् स्वेत्याद्युक्तमसत्यमित्यथ । १२ पुस्त्येनेति शेष ।

मनो वं ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि
कामान्कामयते ॥ ७ ॥

हस्तौ वं ग्रहः स कर्मणाऽतिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां
हि कर्म करोति ॥८ ॥

त्वग्रं ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि
स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥ ९ ॥

मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि प्राणी मन से ही भोगो की कामना करता है ॥ ७ ॥

हस्त ही ग्रह है, वह कर्मरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि हाथो से ही प्राणी कर्म करता है ॥८॥
त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि त्वचा से ही स्पर्शो को प्राणी जानता है। इस प्रकार त्वक्पर्यन्त ये आठ ग्रह हैं और स्पर्शपर्यन्त ये आठ अतिग्रह हैं। उक्त मन्त्रो मे "अतिग्राहेण" यहाँ पर छान्दस दीर्घ समझना चाहिये ॥ ९ ॥

'वक्तव्यार्था' हि वाक्तेन वक्तव्येनार्थेन तादर्थ्येन प्रयुक्ता वाक्तेन वशीकृता तेन तत्कार्यम-
कृत्वा नैव तस्या मोक्षः । 'अतो नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीता वागित्युच्यते । वक्तव्यासङ्गेन
हि प्रवृत्ता सर्वानर्थयुज्यते । समानमन्यत् । इत्येते त्वक्पर्यन्ता अष्टौ ग्रहाः स्पर्शपर्यन्ताश्चैते-

व्यार्थेति । तादर्थ्येन वचनकरणत्वेनेति यावत् । वचनार्थं वाचो वक्तव्येन वशीकृतत्वे फलितमाह—
तेनेति । तत्कार्यं वचनं मोक्षश्चासाधारण्ये 'देवतात्मनि पर्यवसानम् । वक्तव्यार्थोक्तिं विना वाचोऽपर्य-
वसाने सिद्धमर्थमाह—अत इति । वाचोऽतिग्रहगृहीतत्वमनुभवेन साधयति--वक्तव्येति । वाचा
हीत्यादेरपानेन हीत्यादिना तुल्यार्थत्वाद्वाक्यव्यवहारेण समासमिति । प्राण वाग्निह्वा चक्षुः श्रोत्रं
मनो हस्तौ त्वगित्युक्तान्ग्रहास्त्रिगमयति—इत्येत इति । गन्धो नाम रसो रूप शब्दः कामः कर्म स्पर्शं

छान्दस है। क्योंकि वाक् वक्तव्य विषय के लिए होती है; इसलिये उस वक्तव्य अर्थ से उसी के लिए प्रयुक्त की जाने वाली वाक् उसी के वशीभूत है, इसलिये उस कार्य को किये विना उसका मोक्ष सम्भव नहीं है। इसी से श्रुति कहती है—वाक् नामरूप अतिग्रह से गृहीत है। वक्तव्य की आसक्ति से प्रयुक्त होने पर ही वह समस्त अनर्थों से युक्त होती है। यहाँ से आगे के नवम मन्त्र तक का अर्थ इसी प्रकार है।

१. वक्तव्यार्थेति—वक्तव्याय वाच्यार्थयिष्यमिति विग्रह । यद्वा वक्तव्यो वचनाहोऽर्थो विषयो यस्याः सा । वक्तव्येन विषयेण अर्थ्येते करणविषयाऽपेक्ष्यत इति वा । २. यत । ३. अत—तत्कार्यकरणमन्तरा मोक्षसम्भवात् । ४. असाधारण इत्यादि—अध्यात्मपरिच्छेदपरिस्वागपुर सर स्वीयाऽन्यात्मकाधिदैवस्वरूपे तादात्म्यमित्यर्थः । ५. देवतात्मनि पर्यवसानमिति—तथा च देवतात्मनि पर्यवसितापि करोत्येव वचनमेव च देवतात्मनोऽपि न ग्रहातिग्रहमुक्तत्वमिति भावः ।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं का
स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः
सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति ॥ १० ॥

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अर्तभाग ने कहा—यह जो कुछ भी व्याकृत जगत् है, वह सब मृत्यु का अन्न है । पर जिसका अन्न मृत्यु भी है, ऐसा देवता कौन है ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) अग्नि ही मृत्यु है, वह अग्निरूप मृत्यु जल का खाद्य है (वह जल मृत्यु का भी मृत्यु है, इस प्रकार के ज्ञान से) पुरुष पुनर्मृत्यु को जीत लेता है ॥१०॥

ऽष्टावतिग्रहा इति ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

'उपसंहृतेषु ग्रहातिग्रहेष्वह पुनः—याज्ञवल्क्येति होवाच । यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं यदिदं व्याकृतं सर्वं मृत्योरन्नं सर्वं जायते विपद्यते च ग्रहातिग्रहलक्षणेन मृत्युना ग्रस्तम् । का स्वित्सा नु स्यात्सा देवता यस्या देवताया मृत्युरप्यन्नं भवेत् "मृत्युर्यस्योपसेचनम्" इति श्रुत्यन्तरात् । अयमभिप्रायः प्रष्टुर्यदि मृत्योर्मृत्युं वक्ष्यत्यनवस्था स्यात् । अथ न वक्ष्यत्यस्माद्ग्रहातिग्रहलक्षणान्मृत्योर्मोक्षो नोपपद्यते । ग्रहातिग्रहमृत्युविनाशे हि मोक्षः

इत्यतिग्रहानपि निगमयति—स्पर्शपर्यन्तादचेति ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

प्रतीकमावाय व्याचष्टे—यदिदमिति । यदिदं व्याकृत जगत्सर्वं मृत्योरन्नमिति योजना । तस्य तदन्नत्वं साधयति—सर्वमिति । मृत्योरन्नत्वसंभावनाया श्रुत्यन्तरं सवाद्यति—मृत्युरिति । मृत्योर्मृत्युं मधिकृत्य प्रश्नस्य करटदन्तनिरूपणवदप्रयोजनत्वमाशङ्क्याऽह—अयमिति । सत्येव ग्रहातिग्रहलक्षणे मृत्यो मोक्षो भविष्यतीति चेन्नेत्याह—ग्रहेति । अस्तु तर्हि ग्रहातिग्रहनाशे मुक्तिरित्यत आह

इस प्रकार से स्वकपर्यन्त आठ ग्रह हैं और स्पर्शपर्यन्त आठ अतिग्रह हैं ॥३॥४॥५॥६॥७॥८॥९॥

ग्रह और अतिग्रहों का निष्कर्ष हो जाने पर अर्तभाग ने फिर पूछा । "हे याज्ञवल्क्य" इस प्रकार सम्बोधन कर बहा—"यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं" यह जो कुछ भी दृश्यमान कार्यात्मक जगत् है, सभी मृत्यु का भोजन है क्योंकि ग्रह-अतिग्रहरूप मृत्यु से ग्रस्त होकर उत्पत्ति और नाश को प्राप्त होता रहता है । वह देवता कौन है, जिस देवता का मृत्यु भी भोजन है ? "(जिस आत्मा को ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दोनों भात हैं) तथा मृत्यु जिसके शाकादि हैं, (वह जहाँ है, उसे कौन इस प्रकार जान सकता है) ऐसा कठश्रुति में भी प्रतिपादित किया गया है । पूछने वाले का अभिप्राय यह है—यदि मृत्यु का भी मृत्यु बतलाते हो तो फिर अनवस्था दोष हो जायगा और यदि ऐसा नहीं बतलाओगे तो ग्रहाति-

१. एव ग्रहातिग्रहान् मुक्तयतिमुक्तिप्रतियोगिभूतान् बन्धनाख्यानभिधावदानीमितिमुक्तित्वे नोक्तस्य ज्ञानकर्म-फलभूतस्यापि सूत्रपदस्य पूर्वोक्तरीत्या वागाद्यात्मकान्याद्यभिन्नत्वेन ग्रहातिग्रहरूपमृत्य्वात्मवत्वात्ततोऽयतिमुक्तस्यै तन्मारक मृत्यन्तर पृच्छतीत्यभिप्रायेणाह—उपसहृतेष्विति । २ कार्यम् । ३ स्मादिति—अत्र वातिकम् —"योऽयं मृत्युरहं प्रोक्तो मृत्युस्तस्यापि चापर । अस्ति नास्तीति वा ब्रूहि याज्ञवल्क्य यथावयम्" ॥ १३ ॥ इति । ४. निरूपणीयत्वेनोद्दिश्य ।

स्यात् । 'स यदि मृत्योरपि मृत्युः स्या'द्वेदग्रहातिग्रहलक्षणस्य मृत्योर्विनाशः । अतो 'दुर्वचनं प्रश्नं मन्वानः पृच्छति का स्वित्सा देवतेति । अस्ति तावन्मृत्योर्मृत्युः । नन्वनवस्या स्यात्तस्याप्यन्यो मृत्युरिति । नानवस्या । सर्वमृत्योर्मृत्यवन्तरानुपपत्तेः । कथं पुनरवगम्यतेऽस्ति मृत्योर्मृत्युरिति । दृष्टव्यात् । अग्निस्तावत्सर्वस्य दृष्टो मृत्युर्विनाशकत्वात् । सोऽग्निर्भक्ष्यते ॥ सोऽग्निरपामन्नम् । गृहाण तर्ह्यस्ति मृत्योर्मृत्युरिति । तेन सर्वं

—स यदीति । न च मृत्योर्मृत्युरस्त्यनवस्थानादित्युक्तमिति भावः । पक्षेऽनवस्थानात्पक्षे चामुक्तेरित्यतःशब्दार्थः । अस्तिपक्षं परिगृह्णाति—अस्ति तावदिति । मृत्योर्मृत्युर्ब्रह्मात्मसाक्षात्कारो विवक्षितस्तस्याप्यन्यो मृत्युरस्ति चेदनवस्था नास्ति चेत्तद्वेत्त्वज्ञानस्यापि स्थितेरश्रुक्तिरिति शाङ्कते—नन्विति । तत्रास्तिपक्षं परिगृह्य परिहरति—नानवस्थेति । 'यथोक्तस्य मृत्योः स्वपरविरोधित्वान्न किञ्चिदवद्यमित्यर्थः । 'उक्तं पक्षं प्रश्नद्वारा प्रमाणाख्यं करोति—कथमिति । दृष्टव्य स्पष्टयति—अग्निस्तावदिति । दृष्टत्वफलमाचष्टे—गृहाणेति । 'तस्य कार्यं कथयति—तेनेति । अप पुनर्मृत्युं जयतीत्यस्य पातनिकां

ग्रहलक्षण मृत्यु से मुक्ति होनी संभव नहीं होगी । ग्रह और अतिग्रहरूप मृत्यु का नाश होने पर ही तो मोक्ष होगा । उस लोकप्रसिद्ध मृत्यु की भी यदि मृत्यु होगी तो ग्रहातिग्रहरूप मृत्यु का भी विनाश होगा, इसलिए इसका उत्तर मिलना कठिन संभव कर अतःभाग प्रश्न पूछता है कि वह देवता कौन है । तो ऐसा मान लें कि मृत्यु का मृत्यु है । (पूर्ववादी आक्षेप करता है—) किन्तु ऐसा मानने पर फिर 'उस मृत्यु का भी मृत्यु होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष ही जायगा । (सिद्धान्ती समाधान करता है—) अनवस्था दोष होना संभव नहीं है क्योंकि जो सब का मृत्यु है, उसके लिए किसी दूसरी मृत्यु का होना संभव नहीं है । (इस पर पूर्ववादो कहता है—) तो फिर यह कैसे संभवते हो कि मृत्यु का मृत्यु भी

१. प्रसिद्ध. कश्चित् । २. तर्हि । ३. दुष्प्रतिवचनम् । ४. सोऽग्निरपामन्नमिति । यदा अग्निर्हित्यगर्भः आपस्तु तत्कारणमाभ्याकृतम् । अग्निर्वा सर्वो देवता, आपो वा इदम् (अग्ने) आतन्निति च श्रुतेः एवं मृत्योरपि मृत्युर्दृष्टः । तद्वत्सर्वमृत्युः ब्रह्मसाक्षात्कारश्चरमान्तं वरणवृत्तिरूपः कतकरेणुवत् स्वपरविरोधिभूतो वर्ततेऽतो नानवस्थेति भावः । ५. नाशकत्वमाभ्यात् । ६. परम्परया । ७. साक्षात्कारलक्षणस्य । ८. स्वपरविरोधित्वादिति—उक्तसाक्षात्कारः सर्वं द्वैतजातं दग्ध्वा निरिच्छनाग्निवत् स्वयमेव दाहकान्तरनिरपेक्षः शास्त्रातीति नानवस्थेति भावः । ९. अस्तिपक्षम् । १०. साक्षात्कारलक्षणस्य मृत्योः ।

॥ सोऽग्निरपामन्नमिति । अस्य वाच्यस्यार्थान्तरमाहर्वातिकाचार्याः—“अग्निर्हित्यगर्भो वा ह्यापस्तत्कारणं मताः । कार्याणां कारणान्मृत्युः कारणं प्रथितं भूवि ॥ प्रत्यगयाथात्म्यविज्ञानं मृत्युरज्ञानरूपिणः । ससारहेतोर्मृत्योः स्यान्नापीहास्त्यनवस्थितिः ॥ निरुणादि यथा जन्म तत्राशमपि तत्तथा । प्रत्यगयाथात्म्यविज्ञानं नानवस्थाऽप्यतो भवेत् ॥ अन्येऽनो मृत्यवो गीणान्तंमृती स्यात्पुनर्जनिः । प्राक्तनायपि जन्मानि सम्यग्ज्ञानं तु हन्ति नः ॥ यथोक्त एव व्याख्याने सूत्रेण स्यात्कनश्चुति । न तु नि दोषसमाप्तवृत्तिविसंन्यासबोधने” ॥ १८-२२ ॥ इति । अपां हिरण्यगर्भं प्रति कारणत्वमप एव सद्यर्जऽऽरी तामु वीर्यंमवावृजदित्यादौ प्रसिद्धमिति हिचब्दार्थः । सूत्राभ्याकृतयोर्मृत्युस्त्वे हेतुमाह—कार्याणामिति । यदा भवेत्त्वभ्याकृताख्यानामपि सूत्राभ्याहिरण्यगर्भं प्रति कारणत्व तदापि बध तन्मृत्युत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—कार्याणामिति ॥ अभ्याहृतस्य मृत्युरस्ति चेदनवस्था नास्ति चेद-

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो मृत्युत उदस्मा-

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा घातभाग ने कहा—जब वह मृत्यु मरता है, तब उस ब्रह्मवेत्ता के

ग्रहातिग्रहजातं भक्षयते मृत्योर्मृत्युना । तस्मिन्बन्धने नाशिते मृत्युना भक्षिते संसारान्मोक्ष उपपन्नो भवति । बन्धनं हि ग्रहातिग्रहलक्षणमुक्तं तस्मान्न मोक्ष उपपद्यत इत्येतत्प्रसाधितम् । अतो बन्धमोक्षाय पुरुषप्रयासः सफलो भवत्यतोऽपजयति पुनर्मृत्युम् ॥ १० ॥

'परेण मृत्युना 'मृत्यो भक्षिते परमात्मदर्शनेन योऽसौ मुक्तो विद्वान्सोऽयं पुरुषो

करोति—तस्मिन्निति । उक्तमेव व्यक्ती करोति—बन्धन हीति । प्रसाधितं मृत्योरपि मृत्युरस्तीति प्रदर्शनेनेति शेषः । मोक्षोपपत्तो फलितमाह—अत इति । पुरुषप्रयासः शमादिपूर्वकध्वषणादिः । तत्फलस्य ज्ञानस्य फलं दर्शयन्वापयं योजयति—अत इति । ज्ञानं पञ्चम्यर्थः ॥१०॥

सम्यग्ज्ञानस्याप पुनर्मृत्युं जयतीत्युदत्तं फल विशदीकर्तुं प्रश्नान्तरमुत्थापयति—परेणेति ।

हे । (उक्त आक्षेप का परिहार किया जाता है—) क्योंकि ऐसे देखा जाता है । बिनाशकारी स्वभाव वाला होने के कारण अग्नि को सत्रका मृत्युरूप देखा जाता है । उस अग्नि को जल खा जाता है, इसलिए वह अग्नि जल का खाद्य है । इसलिए स्वीकार कर लो कि मृत्यु का भी मृत्यु है । इसलिए मृत्यु के मृत्यु द्वारा यह सभी ग्रहातिग्रहसमूह भक्षण कर लिया जाता है । उस ग्रहातिग्रहलक्षण बन्धन के नाश होने पर, मृत्यु द्वारा उसको भक्षण कर लिए जाने पर संसार से मोक्ष सिद्ध हो जाता है । बन्धन तो ग्रहातिग्रहसजक कहा गया है, उससे मोक्ष होना संभव है; इस बात की निष्पत्ति हो गयी है । इसलिए (मोक्ष के संभव होने से) उस बन्धन की मुक्ति के लिए पुरुष का प्रयास सफल होता है । अतः यह मरण को निरस्कृत कर देता है (उसके लिए पुनः उत्पन्न नहीं होता) ॥१०॥

परमात्मदर्शन से मुख्य मृत्यु द्वारा ग्रहातिग्रहरूप बन्ध के नष्ट हो जाने पर जो "अय पुरुषः"

१. ग्रहातिग्रहलक्षणे । २. मोक्षस्य संभवत् । ३. अपजयतीति—ग्रहसाक्षात्करणे मृत्युना ग्रहादिविलास-सहितानाद्यज्ञानमृत्यो विनाशिते सति विद्वान् पुनर्मृत्यु मरणमपजयति तिरस्कृत्य तदर्थं पुनर्नोत्पद्यत इत्यर्थः ।
४. मुख्येन । ५. ग्रहातिग्रहलक्षणे बन्धे विनाशिते सति ।

निर्मुक्तिरिति बोधतादवस्थमाशङ्क्याऽह—प्रत्यगिति ॥ यद्यपि ज्ञानमज्ञान तत्कार्यं स्वारमान च निवर्तयति तथापि निवृत्तेरारम्भोऽर्थात्तरत्वाभिभवतं कान्त रापेक्षेति तदवस्थाऽनवस्थेत्याशङ्क्याऽह—निरुणद्धीति । तद्विज्ञानं सर्वजन्मनाशादि सनिदान बन्धनमात्मतया निवर्तयन्निवृत्तिभिर्निवृत्तमापाद्यतीति नानवस्थेत्यर्थः ॥ सूत्रमव्याकृतं तत्त्वधीर्मादयद्वेति मृत्युना भेदादेव तस्य रावदस्थाने कार्यत्वमन्याम्यमित्याशङ्क्याऽह—अन्य इति । तेषां गीण-मृत्युत्वे हेतुमाह—तरिति । सम्यग्धिषो मुख्यमृत्युत्वे युक्तिमाह—प्राक्तनानीति । कालत्रयवर्तिनामपि जन्मना तद्विदाननिरासेन निरासाद्युक्त नम्यधिषो मुख्यमृत्युत्वमित्यर्थः ॥ ज्ञानपदमध्याहृत्य कुनो व्याख्यायतेऽध्याहार-प्रापकभावादिख्यामाशङ्क्याऽह पुनरित्यादिफलश्रुतिस्तप्रापिकेत्याह—यथेति । ज्ञानपदमध्याहृत्य व्याख्यायामेव सा युक्तेत्यत्र हेतुमाह—न तिरजि । एवविधात्मबोधे सति यतो नास्ति मृत्युरतो युक्ता फलश्रुतिरित्यर्थः । यद्वा यथाश्रुतव्याख्याने ज्ञानपदाभावादयुक्तेर फलश्रुतिः स्यादिति पूर्वाशयः । त्वपक्षे वा कथं तदुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽह—न त्विति । उक्तात्मबोधेऽध्याहृते फलश्रुतिर्नियुक्ता सति तस्मिन्मृत्यवन्तराभावादित्यर्थः ॥

त्प्राणाः क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो-
ऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो
मृतः शेते ॥ ११ ॥

वांगादि प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं ? याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं, ऐसा सर्वथा नहीं होता । तत्त्वज्ञानी के प्राण इस परमात्मा में ही एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं । जैसे—समुद्र में तरंगों, (सर्व साधारण प्राणी के समान वह भी मरता तो है किन्तु उसका पुनर्जन्म नहीं होता है । श्रतएव सर्व-सामान्य मृत प्राणी के समान) वह फूल जाता है, धौंकनी के समान अर्थात् वायु को भीतर खींचता है और वायु से पूर्ण हुआ ही मरकर पड़ा रहता है ॥११॥

यत्र 'यस्मिन्काले त्रियत उद्ध्वंसस्माद्ब्रह्माविदो त्रियमाणात्प्राणा वागादयो ग्रहा नामादयश्चातिग्रहा वासनारूपा अन्तस्थाः प्रयोजकाः क्रामन्त्युद्ध्वंसमुत्क्रामन्त्या'होस्विन्नेति । नेति होवाच याज्ञवल्क्यो 'नोत्क्रामन्त्यत्रैवास्मिन्नेव परेणाऽऽत्मना'ऽत्रिभागं 'गच्छन्ति विदुषि कार्याणि करणानि च स्वयोनौ परब्रह्म'सत्त्वे समवनीयन्त एकीभावेन समव-

परेण मृत्युना परमात्मदशनेनेति संबन्धः । प्रहातिग्रहलक्षणो बन्धः सप्तम्यर्थः । ग्रहशब्देन 'प्रयोज्य-राशिर्गृहीतः । नामादीनां स्थूलानां बहिष्कृत्येन 'स्वरसतस्त्यक्तत्वात्कथं तदुत्क्रान्तिः पृच्छयते तत्राऽऽह—वासनारूपा इति । तेषामनुत्क्रान्तौ मुक्त्यसम्भवं सूचयति—प्रयोजका इति । "उत्क्रान्तिपक्षे ध्रुवं जन्म मृतस्य चेति न्यायात्पुनरुत्पत्तिः स्यादनुत्क्रान्तिपक्षे मरणप्रसिद्धिर्वह्येतेति" भावः । द्वितीयं पक्षं परिहरति—नेति होवाचेत्यादिना । कार्याणि करणानि च सर्वाणि परेणाऽऽत्मना सहाविभागं गच्छन्ति सन्त्यस्मिन्नेव विदुषि समवनीयन्त इति संबन्धः । तेषां विदुषि विलये हेतुमाह—स्वयोनौ-

अर्थात् यह मुक्त हुआ विद्वान् है, वह "यत्र" अर्थात् प्रारब्धकर्म के अवसान होने के अवसर पर जब मरता है; उस समय "अस्मात्" इस त्रियमाण ब्रह्मवेत्ता के 'प्राणाः' अर्थात् वांगादि ग्रह और नामादि अतिग्रह वासनारूप अन्त स्थित इन्द्रियों के प्रेरयिता प्राण "उत् क्रामन्ति" अर्थात् ऊर्ध्वं उत्क्रमण करते

१. प्रारब्धकर्मवासनावसरे । २. प्रयोजका इति—इन्द्रियाणां प्रेरयितार इत्यर्थः । प्रयोजकं सद्भावे प्रयो-ज्योत्क्रामासम्भवात् (सत्सम्भवेऽपि) अतिग्रहाणां सत्त्वाच्च मुक्त्यसम्भवं इति भावः । ३. आहो३स्विन्नेति । 'विचार्यमाणानाम्' पा० आ० ८।२।१७ वाक्यानां हेः प्लुत इति प्लुत इति प्लुतिद्वन्द्व्या । ४. नोत्क्रामन्तीति—याज्ञवल्क्य उवाचेति संबन्धः । ५. अभेदम् । ६. सन्ति । ७. स्वरूपे । ८. प्रयोज्येति—विषयैः प्रयोज्यः प्रेरयमाणो नियोज्य इति यावत् तादृशो यः करणराशिरित्यर्थः । ९. स्वभावतः । १०. प्रष्टुराश-यमाह—उदिति । ११. इति भाव इति । अत्र वातिके यथा—"उत्क्रान्तौ स्यादनिर्भासो जन्मार्थं मरणं यतः । अमृतिश्चाप्यनुत्क्रान्तौ सत्यु प्राणेषु वा मृतिरिति" ॥२५॥ उत्क्रान्ताविति—जातस्य हीत्यादिस्मृतेरिति भावः । द्वितीये मृतिप्रतीतिविरोधमाह—अमृतिश्चेति ॥ "दु शकोत्तरमित्येव प्रश्नं मत्वाऽप्यपृच्छन् । आतंभागे मुनि-विद्वान् स नेति समब्रवीत्" ॥२६॥ अल्पवृत्तिं सूचयितुं विद्वानिति प्रष्टुर्विरोधणम् । प्रतिबन्धनमवतारयति—स चेति ॥ १२. परिप्लुह ।

सृज्यन्ते प्रलीयन्त इत्यर्थः । ऊर्मय इव समुद्रे । तथा च श्रुत्यन्तरं कलाशब्दवाच्यानां प्राणानां परस्मिन्नात्मनि प्रलयं वशयति—'एवमेवास्य परिद्वन्दुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्तीति । 'इति परेणाऽऽत्मनाऽविभागं गच्छन्तीति' दर्शितम् । 'न तर्हि मृतो 'नहि मृतश्चायं' यस्मात्स' उच्छ्वयत्युच्छ्व्यन्तां प्रतिपद्यत आध्मायति बाह्येन वायुना पूर्यते इतिवदाध्मातो 'मृतः शेते निश्चेष्टः' 'बन्धननाशे' 'मुक्तस्य न क्वचिद्गमनमिति वाक्यार्थः ॥ ११ ॥

विति । विद्वानेव हि 'पूर्वमविद्यया तेनां योनिरासोत्स्मिन्विद्यावशायां तद्बलावविद्यायामपनीतायां परिपूर्णं तत्त्वे तेनां 'पर्यवसानं संभवतीत्यर्थः । कारणे कार्याणां प्रविलये दृष्टान्तमाह—ऊर्मय इति । प्राणादीनां 'कारणसंसर्गाद्यो लयश्चेत्पुनरुत्पत्तिः स्यादित्याशङ्क्य ज्ञाने सत्यज्ञानध्वंसान्नेवमित्यभिप्रेत्याऽऽह—तथा चेति । सविषयाप्येकादशेन्द्रियाणि धाववश्च पञ्चेति षोडश कलास्तासां 'स्वातन्त्र्यमाध्यान्तरं च धारयति—पुरुषायणा इति । तासां निवृत्तिश्च पुरुषस्यतिरेकेण नास्तीति सूचयति—पुरुषं प्राप्येति । प्राणाश्चेत्प्रोक्तामन्ति तर्हि मृतो न भवतीति" "प्रतीतिविरोधं शङ्कित्वा 'परिहरति—न तर्हीत्यादिना । इतिशब्दो भस्त्राविवयः । प्रकृतं वाक्यं प्रत्यक्षसिद्धदेहभरणानुवादकमित्यभिप्रेत्याऽऽह—बन्धनेति ॥११॥

है अथवा नहीं । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—(उस विद्वान् के प्राण) उत्क्रमण नहीं करते । "अत्रैव" अर्थात् कार्यं श्रौर करण समी परब्रह्म से अभेद को प्राप्त हो जाते हैं एवं इसी विद्वान् की स्वप्रकृति परब्रह्मस्वरूप मे "समवनीयन्ते" एकीभाव से समपित या प्रलीन ही जाते हैं; जिस प्रकार समुद्र में तरङ्ग उठकर उसी मे लीन हो जाती हैं । तथा अन्य श्रुति भी कलाशब्दवाच्य प्राणों का परब्रह्मस्वरूप में लय होना प्रदर्शित करती है—"(जैसे समुद्र की श्रौर प्रवाहित होने वाली ये नदियां समुद्र में पहुँचकर लीन हो जाती हैं अर्थात् उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं श्रौर वे "समुद्र" ऐसा कहकर पुकारी जाती है) इसी प्रकार इस सर्वद्रष्टा को, पुरुष के आश्रित रहने वाली एकादशेन्द्रिय एव मनसहित ये सोलह कलाएँ उस पुरुष को प्राप्त कर विलीन हो जाती हैं" । इस प्रकार प्राण परब्रह्म से अभेद को प्राप्त हो जाते हैं—ऐसा कहा गया । विद्वान् के प्राणों के उत्क्रमण न होने से वह मरता ही न हो—ऐसी बात नहीं है । यह शरीर प्राणसंसर्गशून्य होता है क्योंकि वह मुक्तदेह "उच्छ्वयति", अर्थात् फूल जाता है, "आध्मायति" अर्थात् वह धोकनी के समान शरीर को बाहरी वायु से आपूरित करता है, प्राणसंसर्गशून्य होकर यह शरीर निश्चेष्ट सो जाता है (इससे देह का ही मरण सिद्ध होता है) । करणसंघात लिङ्ग के नाश होने पर करणसंघातशून्य मुक्त पुरुष का कही गमन बनता नहीं—यही इस श्रुतिवाक्य का अर्थ है ॥११॥

१. प्रलयमेव । २. पुरुषायधिष्ठानकाः । ३. इति प्रलयदर्शनाद्वेतो । ४. उत्क्रमम् । ५. न तर्हि मृत इति शङ्का परिहरति । ६. नहि इति यदुक्तं तन्नेःपर्यः । ७. देहः । ८. मुक्तदेहः । ९. मृगः प्राणसंसर्गशून्यः अतएव निश्चेष्टः शेते अतो देहस्यैव मरणमित्यर्थः । १०. करणसंघातलिङ्गनाशे । ११. करणसंघातशून्यत्वम् । १२. विघातः । १३. प्रलयः । १४. कारणे सस्कारात्मनाऽवस्थानरूपम् । १५. आश्रयनिरपेक्षत्वम् । १६. इति मरणाभावात् । १७. मरणप्रतीतिरिति यावत् । १८. मरणप्रतीतेर्देहवियप्यत्वेन ।

तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागाऽऽवामे-
 वंतस्य वेदिष्यावो न नावेतत्सजन इति । तौ होतृक्रम्य
 मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म ह्येव तदूचतुरथ

शुक्र-शोणित जल में स्थित हो जाते हैं, तब वह पुरुष कहीं रहता है ? याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मा—हे प्रिय-
 दर्शन आतंभाग ! तुम मुझे अपना हाथ पकड़ाओ, हम दोनों ही इस प्रश्न का उत्तर समझेंगे ।
 यह प्रश्न जनसमुदाय में निर्णय करने योग्य नहीं है । उसके बाद उन दोनों ने उठकर एकान्त में

मृत्पूरुषं तस्य यत्प्रयोजकं तत्स्वरूपनिर्धारणार्थमिदमारभ्यते । याज्ञवल्क्येति होवाच ।
 अत्र केचिद्वरायन्ति प्रहातिग्रहस्य सप्रयोजकस्य विनाशेऽपि किल न मुच्यते । नामाव-
 शिष्टोऽविद्ययोपरस्थानीयया स्वात्मप्रभवया परमात्मनः परिच्छिन्नो भोज्याच्च जगतो
 ध्यावृत् उच्छिन्नकामकर्मन्तराले व्यवतिष्ठते । तस्य परमात्मैकत्वदर्शनेन द्वैतदर्शनमपने-

वाक्ष्यस्य स्वव्याख्यामुक्त्वा यत्रेत्यादेस्तात्पर्यं चोक्तम् । इदानीं भर्तृप्रपञ्चप्रस्थानमुत्पापयति—
 अत्रेति । किमेनमित्यादाविति यावत् । समुच्चयानुष्ठानाद्देहयोः सप्रयोजकयोर्निशेषि पुंसो मुक्तिर्न
 चेत्तर्हि तस्य ब्रह्मत्वायोगात्कामसो दशामवलम्बतामित्याशाङ्क्याऽह—नामावशिष्ट इति । क्षितेरुपर-
 वदवस्थितात्माविद्यया परस्मात्परिच्छिन्नदेहात्मा तर्हि बन्धपक्षस्यैव स्यान्नतु भोज्याद्भगवतो व्या-
 वृत्तिरित्याशाङ्क्याऽह—उच्छिन्नेति । सर्वस्य कर्मादिकत्वस्य सूत्रात्मनः समुच्चयासावितस्य भोगाद-
 प्राप्ताभ्यांभावात्कामासिद्धया कर्माभावात्प्रयोजकराशेरच्छित्तिरित्यर्थः । किमेनमित्यादावन्तराला-
 वस्थस्य विद्याधिकारिणो निर्धारणात्तदपेक्षतविद्याशेषत्वेनोपस्तप्रश्नादेरारम्भं संभावयति—तस्येति ।

प्रहातिग्रहरूप बन्धनों की यही जीव दशा में ही प्रलीन होने का नाम है । वह जो प्रहातिग्रहसजक
 मृत्पूरुष बन्धन है, उसके प्रापक का स्वरूप निश्चय करने के लिए यह अग्रिम मन्त्र “याज्ञवल्क्य होवाच”
 प्रारम्भ किया जाता है । यहाँ (ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी भर्तृप्रपञ्च आदि) कुछ दार्शनिक इस प्रकार भी
 कहते हैं कि अविद्याकामकर्मादि प्रयोजको सहित प्रहातिग्रहरूप बन्धन का नाश हो जाने पर भी विद्वान्
 की सत्ता से मुक्ति नहीं होती । आत्मोत्पन्न ऊपरस्थानीया अविद्या के द्वारा परमात्मा से परिच्छिन्न
 और भोज्य जगत् से रहित नाममात्र अवशिष्ट वह विद्वान् अविद्या काम-कर्मों के नाश हो जाने पर
 अन्तराल अवस्था में ही रहता है । उस विद्याधिकारी की द्वैत बुद्धि को ब्रह्मात्मैकत्वदर्शन से दूर करना

१. प्रापकम् । २. कामकर्मादिसहितस्य । ३. विद्वान् सत्तादिति शेषः । ४. नामविशिष्टोऽन्तराले । ५.
 व्यवतिष्ठत इति सम्बन्धः । अन्तरालावस्था स्पष्टयति । ६. अविद्येति (आत्मोत्पन्नेति यावत्) । अत्रत्यं
 रहस्यम् ५५५पृष्ठे द्रष्टव्यम् । ७. सकारात् । ८. व्यावृत्तः पृथक्कृतः । ९. रहित इति यावत् । १०.
 विद्याधिकारिणः । ११. अत व्याख्यानमिति यावत् । १२. स्पूलमूर्धमदेहयोः । १३. बन्धप्रयोजक-
 देहादिनासादिति भावः । १४. बन्धाश्रयसमुदायान्तर्गतः बन्ध इति यावत् । १५. भूतपदस्येति यावत् । १६.
 कर्म—उपासना पूर्वप्रज्ञा(वासेना)वेति प्रयोजकराशिः । १७. वाक्ये । १८. ब्रह्मविद्येति भावः ।
 १९. अन्तरालावस्थस्य ।

यत्प्रशशंसतुः कर्म ह वै तत्प्रशशंसतुः पुण्यो वै
पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जार-
त्कारव आर्तभाग उपरराम ॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्याये
द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

विचार किया । उन्होने निर्णय में जो कुछ भी कहा; वह सबका तात्पर्यरूप कर्म को ही कहा तथा (काल, कर्म, देवादि हेतुओं में भी) जिसकी प्रशंसा की है, वह वस्तुतः कर्म की ही प्रशंसा की । वह यह है कि पुरुष पुण्यकर्म से धर्मात्मा होता है और पापकर्म से पापात्मा होता है । इस प्रकार अपने प्रश्न के उत्तर हो जाने पर जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया ॥ १३ ॥

तन्वमित्यतः परं परमात्मदर्शनमारब्धव्यमित्येवमपवर्गाख्यामन्तरालावस्थां परिकल्प्यो-
त्तरग्रन्थसंबन्धं कुर्वन्ति ।

'तत्र 'वक्तव्यं 'विशीर्णेषु करणेषु 'विदेहस्य परमात्मदर्शनश्रवणमनननिदिध्या-
सनानि कथमिति । 'समवनीतप्राणस्य हि नाममात्रावशिष्टस्येति तैरुच्यते । मृतः शेत इति

इतिशब्दो वर्णयन्तीत्यनेन संबध्यते । 'तर्हि यत्रोपस्तप्रदनादो ब्रह्मविद्योच्यते 'तस्यैवाऽऽरम्भो युक्तो
यत्रास्येत्या' 'द्विस्तु वृथेत्याशङ्क्य फलवद्विद्याप्राप्तिशेषत्वेन निवर्त्यंमृत्युप्रयोजकनिर्धारणार्थो यत्रेत्या-
'दिरित्यभिप्रेत्याऽह—एवमिति ।

हिरण्यगर्भद्विन्योऽनन्यो वा विद्याधिकारी प्रथमेऽपि मृतस्य जीवतो वा विद्याधिकारो विवक्षित-
स्त्वप्येति पृच्छति—तत्रेति । तत्राऽऽद्यमाक्षिपति—विशीर्णेष्विति । आक्षेप स्फुटयितुं तदीयामुक्तिमनु-
वदति—समवनीतेति । नाममात्रावशिष्टस्याधिकारो विद्यायामिति शेषः । समवनीतप्राणस्येत्यत्र श्रुति

है । इसलिए अग्रिमग्रन्थ से ब्रह्मात्मदर्शन का प्रतिपादन करना चाहिये । इस प्रकार वे अपवर्गसंज्ञक
अन्तराल अवस्था की कल्पना करके पूर्वग्रन्थ की उत्तर ग्रन्थ से सङ्गति प्रदर्शित करते हैं ।

भर्तृप्रपञ्च के प्रस्थान मे यह विवेचना करनी है कि इन्द्रियों के विलीन होने पर मृत पुरुष को
ब्रह्मात्मसाक्षात्कार, तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासन किस प्रकार हो सकते हैं । उनके द्वारा युक्ति प्रस्तुत की
जाती है कि उपसंहृत प्राण वाले एव नाममात्र अवशिष्ट पुरुष का ही विद्या मे अधिकार है । इसी को

१. पूर्वग्रन्थेनोत्तरग्रन्थस्य सङ्गतिं दर्शयन्तीत्यर्थः । २. भर्तृप्रपञ्चप्रस्थाने । ३. विवेक्तव्यम् । ४. विली-
नेषु सत्सु । ५. मृतस्य । ६. उपसंहृतप्राणस्य । ७. अविकार्यपेक्षितपरविद्याशेषत्वेनोत्तरग्रन्थस्यारब्धव्यत्वे ।
८. द. उ. ३।४।३ । ९. ग्रन्थस्य । १०. ग्रन्थः । ११. ग्रन्थः ।

ह्युक्तम् । न मनोरथेनाप्येतदुपपादयितुं शक्यते । अथ जीवन्नेवाविद्यामात्राविष्टो भोज्यादपावृत्त इति परिकल्प्यते 'तत्तु किंनिमित्तमिति वक्तव्यम् । 'समस्तद्वैतैकत्वात्मप्राप्तिनिमित्तमिति यद्युच्येत तत्पूर्वमेव निराकृतम् । कर्मसहितेन द्वैतैकत्वात्मदर्शनेन संपन्नो विद्वान्मृतः समवनीतप्राणो जगदात्मत्वं हिरण्यगर्भस्वरूपं वा प्राप्नुयादसमवनीतप्राणो भोज्याज्जीवनेव व्यावृत्तो विरक्तः परमात्मदर्शनाभिमुखः स्यात् ।

न चोभयमेकप्रयत्ननिष्पाद्येन साधनेन लभ्यम् । हिरण्यगर्भप्राप्तिसाधनं चेन्न ततो व्यावृत्तिसाधनम् । परमात्माभिमुखीकरणस्य भोज्याद्व्यावृत्तः साधनं चेन्न हिरण्यगर्भ-

संवादयति—मृत इति । 'कथमेतावता यथोक्ताक्षेपसिद्धिस्तत्राऽऽह—न मनोरथेनेति । उपसंहृतप्राणस्य श्रवणाद्यधिकारित्यमेतच्छब्दायः । द्वितीयं शङ्कते—अथेति । अपावृत्तो विद्याधिकातीति शेषः । जीवतो भोज्याद्व्यावृत्तं सम्मग्ध्यं विना दुःशक्यमिति मत्वा पृच्छति—तत्त्विति । अप्राप्ते कामो भवति प्राप्ते निवर्तते इति प्रसिद्धेत्परविद्यया कर्मसमुच्चितया हिरण्यगर्भपदप्राप्तिरेव 'तन्निवृत्तिकारणमिति शङ्कते—समस्तेति । 'अपरविद्यासमुच्चितं कर्म हिरण्यगर्भभोगप्राप्तं न भोज्याद्विवृत्तिसाधनमिति "तृतीये व्युत्पादितमिति परिहरति—तत्पूर्वमेवेति । "उक्तमेव व्यक्तीकुर्वन्विभजते—कर्मसहितेनेति ।

अथैकमेव समुच्चितं कर्मोभयार्थं किं न स्यादत आह—न चेति । उभयार्थत्वाभावं समर्पयते—

श्रुति में भी कहा गया है—“वह मृतक होकर पड़ा रहता है” । किन्तु मनोरथमात्र से भी इस बात को सिद्ध नहीं किया जा सकता । एव यदि ऐसी कल्पना की जाय कि विषयानुभवरहित विद्यामात्र श्रवण-शिष्ट जीवितपुरुष ही इस विद्या का अधिकारी है, तो फिर विषयानुभवरहित किस कारण से होता है, यह बतलाना चाहिये । यदि कही कि समस्त द्वैत हिरण्यगर्भ की उपासना से एकत्वरूप आत्मसाक्षात्कार प्राप्ति ही इसका निमित्त है तो इसका निराकरण पहले ही किया जा चुका है । कर्मसहित द्वैतैकत्वरूप हिरण्यगर्भ की उपासना से आत्मसाक्षात्कारयुक्त विद्वान् मरने पर, प्राणों के प्रलीन होने पर या तो जगदात्मभाव को प्राप्त होगा अथवा हिरण्यगर्भ के स्वरूप को प्राप्त होगा, अप्रलीन प्राण वाला जीवित रहता हुआ विषयानुभव से रहित, विरक्त रहकर परमात्मसाक्षात्कार के अभिमुख होगा ।

दोनों फल एक ही प्रयत्न से निष्पन्न होने वाले साधन से प्राप्त नहीं हो सकते । यदि विद्यासमुच्चित कर्म हिरण्यगर्भप्राप्ति का साधन होगा; तब उससे रहित होने का साधन नहीं हो सकता और यदि वह परमात्मा के अभिमुखीकरण विषयानुभवराहित्य का साधन होगा, तो हिरण्यगर्भप्राप्ति का

१. विषयीकर्तृमिति यावत् । २. विषयानुभवरहितः । ३. भोज्याद्व्यावृत्तं नम् । ४. समस्तेत्यादि—समस्तद्वैतैकत्वं तादात्म्यं यस्यात्मनो हिरण्यगर्भस्य तस्य प्राप्तिस्तद्गुणवृत्तिसन्निमित्तमित्यर्थः । ५. हिरण्यगर्भोपासनेन । ६. विद्यासमुच्चितं कर्म । ७. समानाधिकरणे बुद्धयो । ८. तदीयोक्तिप्रदर्शनमात्रेण । ९. भोज्यनिवृत्तिरिति भावः । १०. अररेत्यादि—हिरण्यगर्भपदप्राप्तिः स्वविषयककामं निवर्तयतु नाम स्यात्तत्कालीनभोगकामं तु निवर्तयितुं सा नात् तस्यास्तद्विषयत्वाभावाद्दोषरविद्यासमुच्चितं कर्मैव तन्निवर्तकं वाच्यमिति समाधानभाष्यतात्पर्यमाविष्कुर्वन्प्रवृत्तारयति—अपरेति । ११. प्रथमेः । १२. तृतीये व्युत्पादितमेव ।

प्राप्तिसाधनम् । न हि यद्गतिसाधनं तद्गतनिवृत्तरपि । अथ मृत्वा हिरण्यगर्भं प्राप्य ततः समवनीतप्राणो नामावशिष्टः परमात्मज्ञानेऽधिक्लिपते । 'ततोऽस्मदाद्यर्थं परमात्मज्ञानोपदेशोऽनर्थकः स्यात् । सर्वेषां हि ब्रह्मविद्या 'पुरुषार्थायोपदिश्यते 'तद्यो यो देवानाम्' इत्याद्यथा श्रुत्या । 'तस्मादत्यन्तनिवृष्टा शास्त्रबाह्यैवेय कल्पना । 'प्रकृत तु वर्तयिष्यामः ।

तत्र केन 'प्रयुक्तं ग्रहातिग्रहलक्षणं बन्धनमित्येतन्निर्दिधारयिष्याऽह—यत्रास्य

हिरण्यगर्भेत्यादिना । समुच्चित्तं कर्म नोभयायमित्यत्र दृष्टान्तमाह—न हीति । हिरण्यगर्भो विद्याधिकारीति पक्षं निक्षिपति—प्रयेति । दूषयति—तत इति । नेतुं महानुभावानाम् 'स्मद्विशिष्टानामेव ग्रहविद्योपदिश्यमाना मोक्ष फलयति नास्माकमित्याशङ्क्याऽह—सर्वेषामिति । न च त्वन्मतेऽपि 'यद्ब्रह्म श्रवणादि कृत्वा विद्योदयस्तद्द्वारं च विद्यात्मनो मुक्तिंसिद्धौ कृतमितरत्र श्रवणादिनेति वाच्यम् । द्वारभेदस्या 'नुष्ठातृविभागाधीनप्रयुक्तिप्रयुक्तप्रयोजनवद्विद्योदयस्य च काल्पनिकत्वेन 'यथाप्रतीतिं व्यवस्थोपपत्ते । नस्तुतो निर्विशेषे दिग्नात्रे नाविद्याधिष्ठे बन्धमुवती चेत्यभिप्रेत्य परपक्षनिराकरणमुपसहृत्यश्रुतिद्वयाख्यानं प्रस्तौति—तस्मादिति ।

कतं च धृतिव्याख्यानं यत्रेत्याद्याकाङ्क्षापूर्वकमवतारयति—तत्रति । "तत्र पुरुषशब्देन विद्वानु-

साधनं नहीं हो सकता । क्योंकि जो गति का साधन होता है वह गतिनिवृत्ति का भी साधन होता है, ऐसा नहीं होता । यदि कहो कि विदेह हाकर हिरण्यगर्भप्राप्ति करने के पश्चात् तीन प्राण और नाममान श्रवशिष्ट रहकर परमात्मज्ञान का अधिकारी होता है । हिरण्यगर्भ का ही विद्याधिकारी स्वीकार करने पर हम जैसे लोगों के लिए परमात्मज्ञान का उपदेश अनर्थक होगा । उसे देवताओं में से जिस-जिस ने जाना वही तद्रूप हो गया" इत्यादि श्रुतिवाक्य से ब्रह्मविद्या सभी की मुक्ति के लिए होती है ऐसा उपदेश किया जाता है । अतः यह कल्पना (किमी भी तरह सिद्ध न हो सकन क कारण) अत्यन्त निकृष्ट और शास्त्रविरुद्ध है । इसलिए हम इस श्रुति का ग्यारयान करते ।

वह ग्रहातिग्रहरूपबन्धन किसकी प्रेरणा से प्राप्त हुआ है, यहाँ यह निणय करने की इच्छा से

१ हिरण्यगर्भस्यैव विद्याधिकारित्वसंबीकारात् । २ मुक्त्य भवतीति श्रुत्योपदिश्यत इति सर्वथा । ३ वृ० उ० १।४।१० । ४ उत्कल्पनायाः, बन्धमप्युपपन्नत्वासम्भवात् । ५ धृतिव्याख्यानम् । ६ कतिप्याम् । ७ टीकोक्तान्यम् । ८ प्रापितम् । ९ काले । १० अस्मदादिभ्य उत्कृष्टानाम् । ११ यद्द्वारोति—त्वन्मते सद्यत्र (देहे) आत्मन एकत्वात् कुत्रचिच्छरीरे श्रवणादिना विद्योदय तय तस्यैवस्यात्मनो मुक्तिंसिद्धावात्मातरस्य ब्रह्मस्याभावाद्वाहातरे श्रवणादिना विद्योदयस्य वैयर्थ्यं न चैकशरीरावच्छेदनैव विद्योदयस्य स्पष्टत्वात् वैयर्थ्यशङ्कावकाश इति वाच्यम् । विद्योदयाना यो यो देवानामिति श्रुती बहुषु श्रवणादिति भावः । १२ अनुष्ठातिरिति—यथा कर्मानुष्ठाता वा काल्पनिक भया नैकप्रवत्याऽन्यप्रवृत्तवैयर्थ्यम् । नापि चैकप्रयोजनेन सर्वेषां प्रयोजनवत्त्वम् । तथा नैकत्र श्रवणादिनाऽन्यत्र तथा वैयर्थ्यमित्यर्थः । १३ यथाप्रतीतिरिति—देवादिदेहोपाधिभेदोपहिताना भेदप्रतीतस्तेषां च तत्र तत्रोपपन्नविद्यया मोक्षप्रतीतरत्र नोक्तवैयर्थ्यशङ्कावत् इति भावः । १४ प्रकृतवाक्यम् ।

पुरुषस्यासम्यग्दर्शनः शिरःपाण्यादिमतो मृतस्य 'वाग्निमप्येति वातं' 'प्राणोऽप्येति चक्षुरादित्यमप्येतीति सर्वत्र संबध्यते । मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मेत्यत्राऽऽत्माधिष्ठानं हृदयाकाशमुच्यते । स 'आकाशमप्येति । श्रोत्रधीरपियन्ति लोमानि । वनस्पतीनपियन्ति केशाः । अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयत इति पुनरादानलिङ्गम् । सर्वत्र हि वागादिशब्देन 'देवताः परिगृह्यन्ते न तु करणान्येवापक्रामन्ति

क्तोऽनन्तरवाक्ये तत्संनिधेरित्याशङ्क्य षड्यमाणकर्माश्रयत्वलिङ्गनेन बाध्यः संनिधिरित्यभिप्रेत्याऽऽह असम्यग्दर्शन इति । संनिधिवाधे लिङ्गान्तरमाह—निधीयत इति । 'तस्य हि पुनरादानयोग्यद्रव्य-निधाने प्रयोगदर्शनादि'हापि पुनरादानं लोहितादेराभात्यतः प्रसिद्धसंसारिगोचर एवाप्यं प्रश्न इत्यर्थः । अविद्युपो वागादिलयाभावात् 'द्वाङ्मनसि दर्शनादिति न्यायात्तस्य' चात्र श्रुतेर्विद्वानेव पुरुषस्तदीयकलाविलस्य "श्रुतिप्रसिद्धत्वादित्याशङ्क्याह—सर्वत्र हीति । अग्न्याद्यंशानां वागादिशब्दितानामप-

श्रुति कहती है—जिस समय इस सम्यग्दर्शनशून्य शिर एव हाथ आदि षड्यवधो वाले मृतक के वाक् का अधिष्ठातृदेवता अग्नि में लीन हो जाता है, प्राण का अधिष्ठातृदेवता वायु में लीन हो जाता है और चक्षु का अधिष्ठातृदेवता आदित्य में लीन हो जाता है—इस तरह "लीन हो जाता है" इस क्रिया-

१. अधिष्ठातृदेवता । २. प्राणः । ३. आकाशमात्मेति प्रतीकमादायाऽऽत्मशब्दाप्यंमाह—अनेति । तथा च वातिके—“हृद्याकाश इहाऽऽत्मेति स्यादाकाशाप्ययत्नतः । प्रश्नस्य विषयत्वेन विज्ञानात्मोपयोगतः” ॥ १२८ ॥ इति ॥ मुख्यमार्यात्वं हिवाऽऽत्मशब्देन हार्दाकाशप्रदे हेतुमाह—आकाशेति । आत्यनो भूताकाशे लयश्रुतेर्मुख्यस्य वातत्प्रकृतित्वेन तदयोगादित्यर्थः । किंच क्वायमिति प्रश्नविषयत्वेनात्मन उपयोगात् तस्यानाऽऽत्मशब्दत्वेत्याह—प्रश्नस्येति । ४. अधिष्ठानमिति, आत्माभिन्नव्यक्तिस्थानमित्यर्थः । ५. महाकाशम् । ६. देवता इति । तथा च वातिके—“अग्न्यादिदेवताशा ये भोगार्थं कर्मणाऽर्जिताः । वागादिशब्दैरुच्यन्ते त एवात्र न पौरुषाः” ॥ १२५ ॥ इति । पुरुषेण भोक्त्राधिष्ठिताः करणात्मानां भावा वागादिशब्दितान् न भवन्तीत्येवकार्यमाह—नेति । नन्वग्न्याद्यशा वागादिशब्दैरुच्यन्ता तेषामपि भोगार्थं कर्माजिताना तदर्थं कर्मणि सति कथमप्ययः को वा तदप्ययकर्ता कश्चाशानामर्थयभिन्नानामप्यय इत्याशङ्क्य वातिके समाहितम्—“पुस. कर्मक्षये स्वाशांसहरन्ति यथाययम् । अग्न्यादिदेवताः सोऽयमुपसहार उच्यते” ॥ १२६ ॥ अर्तमानदेहपाते देवताशानामुपसहारेच्छेद्देहान्तरश्चे करणाग्यधिष्ठातृदेवताशून्यानि भोगस्य घनानि न स्फुरित्याशङ्क्य वातिके समाहितम्—“पुसो देहयहे भूयो देहस्थानेषु देवताः । अंसं निदधति स्वं स्वं कर्मभोगप्रसिद्धये” ॥ १२७ ॥ इति । ७. विलीयन्ते । ८. निपूर्यस्य घात्रः । ९. स्थापने । १०. प्रकृतवाक्येऽपि । ११. “वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्चेति” ब्र० सू० ४।२।१ । “अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रवतो वाङ्मनसि सपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतापामिति” छा० उ० ६।८।६ । अत्र सशय किं वृत्तिमत्स्या वाच एव मनसि लयात्मकसर्पितिरुच्यते उत वाग्भूत्ते (वचनारि-कायाः) रेवेति । तत्र श्रुतिबलाद्वाच एव मनसि लय इति प्राप्ते ब्रूमः, उक्तिर्वीरिगति भावभ्युत्पत्त्या वाचच्छब्देन वाग्भूतिरुच्यते मनो वृत्ती सत्यामेव लाके वाग्भूतिचयस्य दर्शनात् । तर्हि वाङ्मनसीनि श्रुतेः का गतिरित्यत आह—शब्दाच्च स्वोपादाने स्वस्य लय इत्यवधिगत्यायानुसारेण वाचच्छब्दो वृत्तिवृत्तिमत्तोरेभेदोपचारेण भावभ्युत्पत्त्या वा नेयः । नन्वनुपादाने वृत्तिलवोऽपि कथमिति चेन्न, अग्निवृत्तिलयस्यानुपादानेऽप्यु दर्शनादिति । १२. वागादित्यस्य । १३. “गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा” इत्यादि श्रुतिरिति भावः ।

प्राङ्मोक्षात् । तत्र देवताभिरनधिष्ठितानि करणानि न्यस्तदात्राद्युपमानानि विदेहश्च कर्ता पुरुषोऽस्वतन्त्रः किमाश्रितो भवतीति पृच्छ्यते—क्यायं तदा पुरुषो भवतीति । किमाश्रितस्तदा पुरुषो भवतीति । यमाश्रयमाश्रित्य पुनः कार्यकरणसंघातमुपादत्ते येन ग्रहातिग्रहलक्षणं बन्धनं प्रयुज्यते तत्किमिति प्रश्नः ।

क्रमेणैव करणानां तदभावे तदधिष्ठानस्य देहस्यापि भावेन भोगसंभवाच्च प्रश्नावकाशोऽस्तीत्या-
शङ्क्याऽऽह—तत्रेति । देवताशेषसंहृतेष्विति यावत् । 'तेषां' ताभिरनधिष्ठितत्वे सत्ययक्रियाऽक्षमत्वं
फलतोऽत्याह—न्यस्तेति । करणानामधिष्ठातृहीनानां भोगहेतुत्वाभावेऽपि कथमाश्रयप्रश्नो भोक्तुः
स्यादिति शङ्क्याह—विदेहश्चेति । प्रश्नं विवृणोति—यमाश्रयमिति ।

पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है । इसी प्रकार मन चन्द्रमा मे श्रोत्र दिशा मे, शरीर पृथिवी मे, आत्मा
आकाश मे लीन हो जाता है । 'आत्मा' शब्द से यहाँ आत्मनिव्यक्ति का स्थान हृदय/आकाश कहा जाता
है । वह महाकाश मे लीन हो जाता है । लोम श्रोत्रमे लीन हो जाते है, केश वनस्पति मे लीन होते
हैं । रक्त तथा वीर्य जल में प्रविष्ट हो जाते हैं । 'निधीयते' यह शब्द रक्त और वीर्य के पुनर्ग्रहण को
सूचित करता है । यहाँ वागादि शब्दों से सभी जगह देवताओं का ग्रहण होता है । मोक्ष होने से पूर्व
इन्द्रियो का विलय नहीं होता । उस समय देवताओं से अनधिष्ठित इन्द्रियां कर्ता के हाथ से छूटे हुए
दंरात आदि ओजारो के समान हो जाती है । अतः स्वतन्त्र कर्ता पुरुष विदेह होने पर किसके आश्रित
रहता है—यह पूछा जाता है । 'उस समय वह पुरुष कहीं रहता है और किसके आश्रित होकर रहता
है, जिसे आश्रित करके यह पुनः कार्य-करण-संघात को ग्रहण करता है, जिससे ग्रहातिग्रहरूप बन्धन प्राप्त
होता है, वह क्या है—ऐसा प्रश्न है ।

१ भवन्तीति शेष । २ विदेहश्चेति—तनु स्थूलदेहविषयेऽपि माक्षादवीर्यशोवस्य लिङ्गाश्रयत्वात्कथामिति-
प्रश्नानुपपत्तिरिति चेत्सत्यम् । यद्यपि जीवा लिङ्गमाश्रितस्तथापि स्थूलदेहाभावेऽधिष्ठातृहीन तत्र भागप्रदमिति
सतोऽपि तस्यासत्सम्भवाद्भोगहेत्व्याश्रयप्रश्नो युक्त एव । तथा च वारित्वे—'अधिष्ठातृवियुक्तानि न्यस्तदात्रापमानानि
हि । वागादिकरणानीति नाल पुभोगसिद्धये' ॥ १२६ ॥ इति । चेन्नस्याधिष्ठातु सत्त्वेऽपि स्थूलदेह विना
लिङ्गस्य भोगोपयिक्तत्वं नास्तीति हिशब्दार्थः । ३ यमाश्रयमिति—'किं कारणतमतामेति किंवा केन-
चिदात्मना । अत्रतिष्ठत एवायं किंवा कर्मैव सश्रितः ॥ गुणान्वा यदि वेशान काल वा दैवमेव वा । यहच्छा
सन्ति सूक्ष्म विनाश वेति भयतामिति' ॥ १३१-१३२ ॥ वारित्वद्वयमत्र द्रष्टव्यम् । स्थूलदेह हित्वा स्थितो जीव,
साभामप्रत्यग्विद्यमानलक्षणकारणरूपतामेतीति जीवस्यापि कार्यत्वमिच्छन् स्वयूथ्या वदन्ति त्यक्ते म्युले देहे
प्रतिबन्धकाभावादसाधारणेन स्वेन रूपैव स तिष्ठन्तीत्येक एव सप्रसादोऽस्माच्छरीरादित्यादिच्छान्दोऽप्यश्रुत-
रित्यर्थः । भीमासकक्षाव्युत्ताकिंकमताम्याह—किं वेति । ज्योतिर्विदा प्रक्रियामाह—काल वेति । देवतान्वाभाभि-
प्रायमाह—दैवमिति । लोकायतयोगाचारभाष्यमिकमताम्याह—यच्छामित्यादिना । प्राक्सतो जीवस्य ध्वसो
विनाशस्त स यातीति जीवकार्यत्ववादिनो मतान्तरमाह—विनाशमिति । उक्ताधिकरणेषु विवक्षित वाच्यमिति
प्रश्न निगमयति—इति भयतामिति । ४ प्राप्यते । ५ लयेऽपि । ६ लयाभावे । ७ करणा-
श्रयस्य । ८ क्याय तदा पुरुषो भवतीति प्रश्नः । ९ देहे एव सभवादिति भावः । १०. करणानाम् ।
११. देवताभिः । १२. भोक्तुराश्रयस्य देहस्य विद्यमानत्वादिति शेष ।

'अत्रोच्यते'—'स्वभावयदृच्छाकालकर्मदेवविज्ञानमात्रशून्यानि वादिभिः परिकल्पितानि । 'अतोऽनेकविप्रतिपत्तिस्थानत्वान्नेव जल्पन्यायेन वस्तुनिर्णयः । अत्र वस्तुनिर्णयं चेद्विच्छेद्याहर' सोम्य हस्तमार्तभाग हे ऋगवावामेवैतस्य' त्वत्पृष्टस्य वेदितव्यं'

आहरेत्यादिपरिहारमवतारयति—अत्रेति । 'मीमांसका लोकायता ज्योतिर्विदो 'वेदिका "देवताकाण्डोया विज्ञानवादिनो माध्यमिकाश्चेत्यनेके विप्रतिपत्तार' । जल्पन्यायेन "परस्परप्रचलित मात्रपर्यन्तेन विचारेणोति यावत् । अत्रेति प्रश्नोक्ति ।

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है । इस विषय में यह कहा जाता है कि वादियों ने स्वभाव, यदृच्छा, काल, कर्म, देव, विज्ञानमात्र और शून्य ऐसे अनेक आश्रयस्थाना की कल्पना की है । इसलिए अनेक विरोधा का स्थान होने से केवल जल्पन्याय से वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता । इसलिए यदि तुम वस्तु का निर्णय सुनना चाहते हो—तो हे सोम्य अर्तभाग । (दूसरी स असाधारण प्रश्न पूछने के कारण तुमने मुझ वश में कर लिया है, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ इसलिए) हाथ मिलाओ । तुम्हारे प्रश्न का जो वेदितव्य

१ प्रश्ने । २ प्रतिवचनम् । ३ स्वेति—अत्र स्वभावयदृच्छाशब्दो पर्वाथो । तदुक्तं वातिके—“हृदो यदृच्छा नियति कारणत्वेन नाऽऽश्रिता” ॥ १५० ॥ इति । एत शब्दा स्वभाववाचिन स च (स्वभाव) न प्रवक्तो नियतहेतुपादानानयक्यादिति तदय । ४ अत इत्यादे—वादिप्रतिपत्तेर्जीवाश्रयस्यानेन विप्रतिपत्तिविषयत्वादित्यथ । ५ तर्हि । ६ आहरेति । अत्र वातिकम्—“प्रश्नेन भाविनस्तुष्ट पाणिमस्याग्रहीहृदि ४ अन्यासाधारण प्रश्नमप्राक्षीदिति विस्मित” ॥ १३३ ॥ भावितो वशीकृत । तुष्टव पाणिग्रहणे हतुमुक्त्वा हेतवन्तरमाह—अन्येति । ७ एकान्ते गत्वेति शेष । ८ तत्त्वम् । ९ भूतानि मीमांसन् इति मीमांसका लोकायतविशेषणम् । १० कर्मकाण्डोया । ११ देवतोपासका । १२ परस्पर प्रचलितमात्र पर्यन्त समाप्तिर्यस्य वस्तुनिर्णयपर्यन्तत्वं व्यवच्छेत्तु मात्रति ।

ऋगवावामेवैतस्यनि । अत्राहृवातिकचाचार्या तथाहि—'असाधारण्यमिद्व्यवधानमावामेवेत्यतोऽवदत् । विद्यागुप्तिश्च बहुश श्रुतावधि समोक्ष्यत ॥ आवाचारेव विज्ञान यथद प्रागभूदिति । आवामेव तथैवोर्ध्वं वदिष्यावो यथोदितम् ॥ सजने प्रश्न एतस्मिन्काश्यापमाने त्वयोदित । न सिष्यदाववास्वक्त प्रयाजनामिद ध्रुवम् ॥ १ त्वयोक्तिपरिप्रासाद्याज्ञवल्कयाऽऽनवीदितम् । जल्पे वाद्यतिरन्वेण नान्यो वक्ति यतस्तत ॥ परिशिष्टानां प्रश्नानुत्क्रम्य व्याकरोदसी । नजनादिति नात स्यादव्याक्तिभयकारणम् ॥ साध्वेतदिनि सभाव्य सजनादुत्समपतु । याज्ञवल्क्यातभागो तावत्क्रम्य च जजल्पतु ॥ सजनात्तावद्योत्क्रम्य मिथस्तत्र तदूचतु । तत्सव श्रुतिरावल्क्यावस्मत्प्रियविधीपया ॥ १३४ १४० ॥ इति । आवामित्यादस्तापयमाह—असाधारण्यति । प्रश्नप्रत्युक्तयज्ञानस्य प्रष्टप्रतिवक्तुमात्रनिष्ठत्वापमिति यावत् । अत पाणिग्रहानन्तरमित्यथ । किमर्थं ज्ञानस्यासाधारण्यं न हि तद्गोप्य मानाभावादत आह—विद्यति । विद्या ह वै ब्राह्मणमात्रगाम तवाहमस्मि त्व मां पालयस्व न हत मानिने नैव माऽदा । पापाय मा धर्यसी तऽहमस्मि विद्यया साधं भ्रजन्त न विद्यामूपरे वपेत । ब्रह्मचारी धनदावो मेधावो श्रोत्रिय प्रियो विद्यया वा विद्या य प्राह तानि तीर्थानि पणम इति श्रुति । 'आचार्यपुत्र शुश्रूयुर्मानो धार्मिक शुचि । शक्तोऽप्यदोर्था स्व सापुरव्याप्यादेशपमत ॥ विद्ययव सम काम मतव्य ब्रह्मवादिना । आपद्यति च घोराय न त्वेनामोर्षेण वपेत ॥ विद्या ब्राह्मणमेत्याऽह् शेवधिस्तर्भिरक्षा माम् । अनुपकाय मा मा दाम्तया स्या शीयवत्तमा ॥' इति स्मृतिरप्यथ । आवामित्यादिवाक्याक्षराणि योजयति—आवयोरिति । इद विज्ञानमिति

यत्तद्वेदिष्यावो निरूपयिष्यावः । 'कस्मान् । 'न नावाचयोरे'तद्वस्तु सजने जनसमुदाये निर्णेतुं शक्यते । अत एकान्तं गमिष्यावो विचारणाय' ।

तौ हेत्यादि श्रुतिवचनम् । तौ याज्ञवल्क्यार्तभागवेकान्तं गत्वा किं चक्रतुरित्युच्यते—तौ होत्क्रम्य सजनाद्देशान्मन्त्रयांचक्रते । आदौ लौकिकवादिपक्षाणामेकैकं परिगृह्य विचारितवन्तौ । तौ ह्ये विचार्य यद्वचतुरपोह्य* पूर्वपक्षान्सवनेिव तच्छृणु ।

ननु प्रष्टाऽऽर्तभागो याज्ञवल्क्यश्च प्रतिववतेति 'द्वाविहोपलभ्येते । तथाच तौ हेत्यादि'वचनमयुक्तं तृतीयस्याप्रभावादत आह—तौ हेत्यादिति । तत्रैतेकान्ते स्थित्वा विचारावस्यायामिति यावत् । न केवलं

तत्त्व है, उसे हम दोनो एकान्त मे जाकर 'वेदिष्याव' अर्थात् निरूपण करेगे । ऐसा क्यों ? क्योंकि तुम्हारे द्वारा पूछी हुई वस्तु का हम दोनो 'संजने' अर्थात् जनसमुदाय मे निर्णय नहीं कर सकते । अत विचार के लिए एकान्त मे (इस भीड से) निकल चलें (यही ठीक है) ।

'तौ हे' इत्यादि श्रुतिवाक्य है । उन याज्ञवल्क्य और आर्तभाग दोनो ने एकान्त' मे जाकर क्या किया—इस पर श्रुति कहती है । उन्होंने भीड वाले स्थान से निकल कर आपस मे विचार किया । प्रारम्भ मे लौकिक वादियो के पक्षो मे से एक-एक को लेकर ब्याख्या की । दोनो ने इस प्रकार विचार कर सभी पूर्वपक्षो का निराकरण कर जो कुछ कहा, उसे सुनो । वहाँ उन्होंने कर्म को ही बार-बार भोक्ता

१ गमनकारणात्कावाकाङ्क्षासामुत्थायपति—कस्मादिति । २ यत । ३ त्वत्पृष्टम् । ४ साध्वेतदिति सम्भाव्य सजनादुत्सप्ततुरिति शेष । ५ निर्गत्य । ६ प्रश्नप्रतिवचनयो । ७ किकर्तुं कर्मिति यावत् ।

प्रयोजकगोचरमुच्यते । एतस्य प्रयोजकविज्ञानस्य यथोदित स्वरूपमित्यर्थं ॥ न नाविद्यादेस्तात्पर्यमाह—सजन इति । नानाजनसमूहसहितसम्मन्दिरो त्वत्प्रश्ने व्याख्यायमाने बन्धनिबन्धन ज्ञान ताऽऽव्यवरोसाधारण स्यादिति सजनाभिगन्तव्यमित्यर्थ ॥ प्रयोजकज्ञानस्यासाधारण्यार्थं न ततो निर्गमन कित्वन्वयेऽपि मध्ये प्रथयन्ति तथाचाशक्यो निगम स्यादिति भयादित्याशङ्क्याऽह—न त्विति । इदमिति प्रकृतवाक्योक्ति । अन्यप्रश्नप्रयुक्तत्रासाभावे द्वुत्तमाह—जल्प इति । विजिगीषुस्तत्राभिनिश्चयते । यथाऽह—विजिगीषुणा सह जल्पवित्पठ इति । तथाच तदीयशक्तिनिगमय त नात्यप्रवृत्तिरित्यर्थ ॥ सजनाभिगमन ताभ्यास्तत्रियादित्यत्र हस्वन्तरमाह—परिशिष्टानिति । सजनाद्देशादुत्क्रम्य निगत्याऽर्तभागप्रश्न व्याकारोद्भविरिति यत्तत्रान्योक्तिभयकारण यतस्तमेव देशमेत्य शिष्टान्मज्जुप्रभृतिप्रश्नानस्मै स्यात्कृतवागतौ भयाद्वबहिर्गतौ प्रयोजकज्ञानासाधारण्यार्थमेव गमनमिष्टमन्यथा तस्माद्देशादुत्क्रम्य परिशिष्टानपि प्रदत्तान्न व्याकरिष्यन्न चैव व्याकराति च तस्मान्नान्योक्तिभयकृत गमनमित्यर्थ ॥ तौ ह्यादेरर्थमाह—साध्विति । तौ ह्यदित्यादेरर्थमाह—सजनादिति । श्रोतृगामनुजिपक्षानन्तयमवशब्दाद्य । तत्रैतवान्तदेशात्कि । न हि तौ हात्कर्म्यत्यादि प्रष्टुर्वक्तुर्वा वाक्य किनु श्रुते श्रोत्रनुप्रहार्थमित्यर्थं ॥

ऋजपोह्य पूर्वपक्षान्सवनेिवति । एतद्वाप्यार्थाविव्कारकानि वार्तिकानि प्राहु—“कर्मादिपरतन्त्रत्वात्स्वाश्रयो-नायमित्यते । सतारभूमिर्वातित्वात्त्र चाऽऽत्मा कारणार्थय ॥ अचिक्त्वात्त्रयातादि पुंसो न स्थानमित्यते । न कर्म तत्फल वेत्ति न च बर्मेति सम्यगिति ॥ न चेश्वर स्थितिस्तस्य शास्त्रानारभमसित्त । कृतनाशाहृतप्रपत्ती प्राप्नुतो नुत्नथा सति ॥ देवाधिष्ठित एवाय बर्मेकालवशानुग । प्रवर्तता चैत्पुरुषो नैवमन्युपपद्यते ॥ जडत्वा-दिति पूर्वोक्तो दोषोऽप्रापि च विद्यते । सदेवताक पूर्वोक्त सम्यगिति भेद्यतम् ॥ प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वा देवतैश्चर्यत

कर्म हेवाऽऽश्रयं पुनः पुनः कार्यंकरणोपादानहेतुं तत्तत्रोचतुरक्तवन्ती । न केवलं

कर्म कारणमूचतुः कितु 'तदेव कालाविपु हेतुष्वभ्युपगतयेषु सत्सु प्रशंसंतुः । भूतः प्रशंसावचनात्कर्मणः प्राधान्यं गम्यते न तु कालादीनामहेतुत्वं तेषां कर्मस्वरूपनिष्पत्तौ कारकतया गुणभावदर्शनात्फलका-

का प्राथय एव कार्यंकरण वा उपादानहेतु बतलाया । उन्होने कथनमात्र ही नहीं किया; बल्कि स्वीकृत किये हुए काल, कर्म, देव और ईश्वर आदि हेतुओं की भी जो प्रशंसा की; वह कर्म की ही (अपरो-

१. भोक्तु । २. उक्तवन्तावपितु । ३. नभौ । ४. अत.—अस्मात् प्रशंसावचनादिति समानाधिकरणे पञ्चम्यौ ।

सदा । नियमे हेत्वसद्भावात् स्यान्नैयमिकी स्थितिः ॥ न चापि केवल कर्म पुंसः स्यादाश्रयो यतः । अचेतनत्वनित्यत्वदोषदुष्ट पुरोदितम् ॥ भयाऽभ्यमनुयातस्य कर्ता चाय भयाभवत् । कालादिविषय ज्ञान स्वसिनः कर्मणः कुत ॥ यत एवमत सर्वे कालदैवश्वरादयः । कर्मप्रधाना पुंसः स्यादाश्रयोऽभ्यमनुत्तमः ॥ ह्यो यदृच्छा नियतिः कारणत्वेन नाऽऽभिज्ञता । सततो चानवस्थानाऽऽश्रयत्व प्रमाणतः ॥ न कर्म पूर्वस्कारणेषु नष्टत्वाद्दु-पपद्यते । न चेह परिणाम स्यादुत्तरस्कारणसंगतो ॥ अनिष्ठित न कर्मापि फलायाल भवेत्कवचित् । न चैकत्रैवसा स्थान विरोधाज्जन्मानाशयो ॥ न च स्वकृपातिरेकेण स्पिरः कश्चिदपीप्सते । भोगमोक्षाभिसम्बन्धी य प्रत्येत-प्रवर्तते ॥ अनारम्भञ्च द्यून्नेऽपि यथाऽभ्यमुपलभ्यते । मितेऽचासमवाच्यस्य सर्वथा नोपपद्यते ॥ यत एवमतो ग्याम्य कर्मवास्य समाश्रय । ससारभूमौ पुंसः स्यात्कालादेस्तत्प्रधानतः ॥ कमप्राधान्यमेवात् स्वयमेवाद्ब्रवीच्छ्रुति । कालदैवश्वरादिभ्यः कालादेस्तत्प्रमुक्तिः ॥ सति कर्मणि वैचिष्य भूतानामुपपद्यते । कर्मशब्देन विद्या च भावना कम चोच्यते ॥ देहारम्भे न शुद्धस्य कमण शक्तिरिष्यते । तस्मात्त्रितयमप्यत्कर्मशब्देन भण्यते ॥ एव तो सप्रधार्यतदुक्तदोषानभिप्लुतम् । यियासो परलाकाय कर्मवास्यश्रयभूचतु ॥ कारणानां यथोक्ताना यच्च तो प्रशंसंतु । कर्मवोक्तेषु सर्वेषु प्रशंसंतुरादरात् ॥ कारणत्वाविरोधेऽपि किं प्रधानमितीक्षणे । कर्मणः स्यात्प्रशंसं तत्प्राधान्योपपत्तितः ॥ वशीकृत्येश्वरादीनि कारणानि स्वतन्त्रवत् । कर्म सिध्यद्यतो दृष्ट प्रधान कम तेन तत् ॥ क्रिया प्रत्ययुष्णीभूत नेश्वराद्यपि सिध्यति । कर्मातस्तपु सर्वेषु प्रधानमिति भण्यते ॥ यस्मादेवमत प्रेतो दवताविरहऽपि ना । देहादेस्मात्परिभ्रष्ट कमप्राधान्यसंश्रयात् ॥ पुण्य पुण्यन भवति पाप पापेन कर्मणा । इति श्रौत यथा जेयमागमेकप्रमाणतः ॥ १४१-१६५ ॥ इति । स्वमतमुद्घोष्यं केनचिदात्मनत्यादिपक्ष दूषयति —कर्मादीति । यत्तु कारणात्मतामेतीति तत्राऽऽह—ससारिति । भागभूमिच्छ्रुत्वेन भावतृत्वादित्यर्थः ॥ यत्तु गुणान्वा काल वा दैवेव वेति तत्राऽऽह—अचिरकत्वादिति । न हि जड स्वातन्त्र्यण भोक्तुर्भोगायतनमित्यर्थः । यदपि कर्मैव सश्रित इति तत्राऽऽह—न कर्मैति । किञ्च कस्यद फलमिति फलकतिसम्बन्धमपि कर्म न दुष्यतेऽतो न तदाश्रयो भोक्तुरित्याह—न चेति । यद्वा कमफलवेत्ता हिरण्यगर्भो भोक्तुराश्रय इत्यावाङ्मुखाऽऽह—न चेति । विदेहदवतो जीव भूषमाश्रय देहान्तरमाप्नोतीत्यत्र मानाभावादिति भावः ॥ यत्तु यदि वद्यानमिति तत्राऽऽह—न चेति । ईशस्य बन्धप्रयाजकत्व हवर्गापवगयोभ्तदधीमत्वात्सस्य च स्वातन्त्र्यादानुपयागिशास्त्रमतारम्भ स्यादित्यर्थः । तत्रैव दोषान्तरमाह—वृत्तति । भाग्तुरीश्वराश्रयत्व सति तद्भावादेव भागसिद्धदोषद्वय दुर्बल-मित्यर्थः ॥ ईशार्थिष्ठिताः भाक्ता कालकर्मश्रय ससरत्यता न कृतहानादीति वाङ्मत्—दैवति । केवयदोर्वा सर्वयोस्तयोरश्रयत्वभीशप्रधानयोर्वेति विकल्पाऽऽद्य दूषयति—नैवमिति । अन्यादिदवताना चैतन्त्यऽपि स्वातन्त्र्याभावात्तदुक्तस्य कालादेर्न भोवप्राश्रयत्वमित्यर्थः ॥ द्वितीयमनुभाषत—सदवताकमिति । काल-

कालकर्मदेवेश्वरेष्वभ्युपगतेषु हेतुषु यत्प्रशशंसतुस्तौ कर्म हव तत्प्रशशंसतुः । यस्मान्निर्घा-
रितमेतत्कर्मप्रयुक्तं प्रहातिप्रहादिकार्यकरणोपादानं पुनः पुनस्तस्मात्पुण्यो वै शास्त्रविहितेन

लेऽपि तत्प्राधान्येनैव तद्धेतुत्वसंभवादित्याह—न केवलमिति । पुण्यो वै पुण्येनेत्यादि व्याचष्टे—
यस्मादित्यादिना ॥ १३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां तृतीयाध्याये द्वितीयोऽंशभागब्राह्मणम् ॥२॥

सतया) प्रशंसा थी क्योंकि बार-बार यही निर्णय लिया गया है कि प्रहातिप्रहादिरूप कार्यकरणसंघात
की कर्म से प्राप्ति होती है, इसलिए पुरुष "पुण्येन कर्मणा" अर्थात् शास्त्रविहित पुण्यकर्म के करने से

१. देवेषु जायमानः पुण्यामेव भवति । २. कर्मप्राधान्येनैव कालादीनां फलहेतुत्वसम्भवादित्यर्थः ।

कर्माख्यद्वयमन्यादिदेवतासहितमौरप्रधान पुस्त्रवृत्ती शक्तमित्यर्थः ॥ अतिप्रसक्तयोत्तरमाह—प्रवृत्तिरिति ।
ईशो देवताशब्दार्थः । कदाचित्प्रवृत्तिः कदाचित्प्रवृत्तिरिति व्यवस्था तत्सत्वात्तन्मेषुपि किं न स्यादत आह—
निग्रम इति ॥ मा भूदीशप्रधान कर्मादि प्रयोजक केवल तु स्यादित्याशङ्क्य न फलैवप्रयत्ने स्मारयति—न
चेति ॥ न च कस्येत्यादिनो नत हेतुवन्तर स्फोरयति—मपेति ॥ एकैकस्य समुदितस्य च प्रयोजकत्वायोगे कथं
सन्निर्घारणमित्याशङ्क्य स्वमतमाह—यत इति । यदृच्छासततितिशून्यपक्षेष्वाद्रूपितेषु कथं स्वपक्षसिद्धिरित्याशङ्क्य
यदृच्छापक्ष प्रत्याह—हृत् इति । एते दाग्दा, स्वभाववाचिन स च न प्रवर्तके नियतेहेतूपादानानर्पक्यादित्यर्थः ।
योगात्कार प्रत्याह—सततो चेति । न हि ज्ञानसतानो बन्धप्रयोजको मानाभावात्सत्यावस्तुत्वेन च स्थित्ययोगादि-
त्यर्थः ॥ सतानोऽपि ज्ञानस्कन्धो वस्तुत्वात्कर्मद्वारा प्रयोजक स्यादिति चेत्तत्र कर्म साश्रय निराश्रय वा प्रयमेऽपि
क्षणिकस्कन्धाश्रय तादितरस्थिराश्रय वाऽऽद्ये पूर्वोत्तरत्वेन वर्तमानस्कन्धमध्ये पूर्वस्कन्धेषु कर्मात्तरस्कन्धेषु वेति
विकल्प्याऽऽद्य दूषयति—न कर्मेति । न हि वर्तमान कर्म देहृत्यागात्पूर्वभावेषु स्कन्धेषु सिध्यतीति तेषा
नष्टत्वादाश्रयत्वमपीगादित्यर्थः । द्वितीय प्रत्याह—न चेति । उत्तरस्कन्धेष्वश्रितत्वेन कर्मण सगती वर्तमानक्षणे
तस्य नीत्यति स्वाश्रितश्रयबभौत्वर्थयोगात्तदेवाऽऽश्रयसत्त्वे च क्षणिकतासतिरित्यर्थं ॥ निराश्रयत्वपथा निराह
—अनिच्छितमिति । कश्चिदनाश्रित कर्मैव न विध्यति नित्यपारतन्त्र्यस्वाभाव्याऽसिध्यदपि न फलवत्स्यादित्यर्थः ।
विज्ञानस्कन्धाना क्षणिकत्वमाश्रित्य कर्माश्रयत्वायोगमुक्त्वा क्षणिकत्वमेवायुक्तमित्याह—न चेति । तथा च
क्षणभेदेन जन्मनाशयोरेकभावस्थानावश्यभागात्तदाश्रयस्य क्षणद्वयसंबन्धात् विवक्षितक्षणिकत्वसिद्धिरित्यर्थं ॥
क्षणिकस्कन्धाश्रयमनाश्रय वा कर्मेति पक्षी प्रनिक्षिप्य पक्षान्तर प्रत्याह—न चेति । गतदिति कर्मादिति क्षणभङ्ग-
भङ्गे नापरादान्तादिति भावः ॥ शून्यनाशापक्षो दूषयति—अनारम्भश्चेति । शून्ये नाथे वा प्रयोजके शास्त्रारम्भो
न युक्त इत्यपामावादित्यर्थः । दोषान्तरमाह—यथेति । यथाऽप्य प्रपञ्चो दृश्यते न तथा शून्य जीवनाशब्ध न
चोभयत्र मानान्तरमस्तीति जीवनाश्रयत्वोपाधिकी व्याख्याता तत्र शून्यनाशो प्रयोजकावित्यर्थः । शून्यग्रहणं
जीवनाशापक्षक्षणम् । सर्वथा प्रमाणात् युक्तित्वेत्थेत्थं ॥ बालपक्षान्प्रतिक्षिप्य स्वपक्षमुपसहरति—यत इति ।
क्रियापदाबुपरिष्ठादिति शब्दमप्याहृत्यान्वयो द्रष्टव्यः । कालादेरपि सत्त्वादेवधारणायोगमाशङ्क्याऽऽह—
कालादेरिति ॥ उक्तं यत् तौ हृत्यादिश्रुतिमवतारयति—कर्मेति । अत शब्दार्थ स्पष्टयति—कालादेरिति ॥
कर्मप्रयुक्तत्वे कालादेर्युक्तमाह—सतीति । कालादीनां प्रवर्तकत्वादिविचित्र्य विचित्रे कर्मणि सत्येव प्रयोजके
युक्तमन्यथा प्रवृत्तिप्रवृत्तिवैयुक्त्याऽऽव्यवस्था स्यादित्यर्थः । कर्म ह्येत्यत्र कर्मशब्दार्थमाह—कर्मेति ॥ केवलमेव

तत्रा'पुण्येन स्यावरजङ्गमेषु स्वभावदुःखबहुलेषु नरकतियं वप्रेतादिषु च दुःखमनु-
भवति पुनः पुनर्जायमानो म्रियमाणश्चेत्येतद्भाजव'त्मवत्सर्वलोकप्रसिद्धम् । यत्तु शास्त्रीयः
पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' तत्रैवाऽऽदरः क्रियत इह श्रुत्या । पुण्यमेव च कर्म

पुण्यपापयोरुभयोरपि संसारफलत्वाविशेषात्पुण्यफलवत्पापफलमप्यत्र' वक्षतव्यमन्यथा ततो
विरागायोगादित्याशङ्क्य 'वर्तितव्यमाणास्य तात्पर्यं वक्तुं भूमिकां करोति—तत्रेति । पुण्येऽप्यपुण्येषु च
निर्धारणार्था सप्तमी । स्वभावदुःखबहुलेष्वित्युभयतः संबध्यते । 'तर्हि पुण्यफलमपि सर्वलोकप्रसिद्ध-
त्वान्नात्र वक्षतव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यत्त्विति । शास्त्रीयः सुखानुभव इति शेषः । इहेति ब्राह्म-
णोक्तिः । ॐशास्त्रीयं कर्म सर्वमपि संसारफलमेवेति वक्तुं 'ब्राह्मणमित्युक्त्वा शङ्कोत्तरत्वेनापि 'तद-

उनमे पापकर्म से स्वाभाविक दुःख बहुल नरक, तियक् और प्रेतादि स्यावर और जगम योनियो
मे पुन-पुन जन्म और मरण को प्राप्त हुआ दुःख अनुभव करता है—यह बात लोकव्यवहार मे राजपथ
के समान प्रसिद्ध है । एव जो शास्त्रीय सुख का अनुभव है, उसका "पुण्यकर्म करने से पुण्यात्मा होता
है" इस प्रकार श्रुति निरूपण करती है । उसी का श्रुति द्वारा यहाँ आदर किया जाता है । 'पुण्य कर्म

१ पापेन कर्मणा । २ सर्वलोकप्रसिद्धमिति—यथादिषु प्रेतादिषु च नानादुःखानुभवाख्यपापफलस्य लोक-
प्रसिद्धत्वेनापूर्वत्वाभावात् तत्रिरूपणमित्यर्थः । पुरुषार्थं श्रुत्या आद्रियते पापफलस्य चाधिकानर्थत्वात् तत्राऽऽदर
श्रुतेरिति भावः । अधर्मोऽपि जिज्ञास्य परिहारायेति न्यायादनर्थस्यापि तस्य जिहासया निरूपणमुचितमित्या-
शङ्क्याऽऽह—'स्वतश्च तज्जिहासाया सिद्धत्वान्नह वीर्यं' ॥ वा० ६ ॥ इति । तर्हि कर्मफलत्वाविशेषाद-
श्वमेधफलेऽप्यनादर श्रुतेरचितो नेत्याह—'परमोदागफलता त्ववमेधाख्यकर्मणः' ॥ वा० ६ ॥ इति । अश्वमेधा-
देरनतिशयफलत्वात्तत् स्वतोर्ब्राह्मणयोगात्तदर्थं तस्य संसारत्वेनानर्थक्येऽपि प्रविष्टत्वे प्रकटनीयमिति भावः । ३
इतिश्रुत्योक्त इति शेषः । ४ प्रस्तुतब्राह्मणे । ५ ब्राह्मणस्त्विति । ६ प्रसिद्धत्वेन पापफलस्यावक्तव्यत्वर ।
७ ब्राह्मणतात्पर्यंमुक्त्वत्यर्थः । ८ ब्राह्मणम् ।

ॐशास्त्रीयं कर्म सर्वमपि संसारफलमेवेति वक्तुं ब्राह्मणमिति । ननु वैदिककर्मफल संसारत्वं प्रागवाक्त तत्कि-
मनेन ब्राह्मणेनेत्याशङ्क्याऽऽह तात्पर्यात्पुनरुक्त विषय वक्तुं कर्मफलभेदानुवादात्तद्वैदिककार्या —साधारण्यविशेषाभ्यां कर्मणश्च
व्यवस्थिति । विशयावस्था प्रागुक्ता सामान्य स्वधुनाऽप्यन ॥ संसारे कियती व्याप्तिरभिव्यक्तस्य कर्मणः ।
सामान्यात्मविशेषाभ्यामित्येतद्भूयमुनाऽप्यन ॥ प्रत्यग्याप्तात्ममाहस्य वार्येत्तौह भव्यते । एतस्या सम्प्रमुक्ताया
नानुक्तमवशिष्यत ॥ भूणहृत्वाश्वमेधाभ्यां न पर पापपुण्यया । इत्येव धर्मकारणमपि वाक्यदानं कोटिश
॥ ४-७ ॥ इति । कर्मणः समष्टिरूपेण व्यष्टिरूपेण च द्विधा फलस्थितिरित्येव । व्यष्टिरूपेण तत्फलस्थिति-
रुद्गीयब्राह्मणे सोऽनिरभवदित्यादिनाकननि परिशेषार्थं स्मारयति—विशेषेति । अथास्यापुनश्चत विषयमाह—
सामान्यं त्विति । कर्मफल समष्टिरूपेण च निरूपयितुमनदित्येव ॥ ननु वैदिककर्मफलं च संसाररूपमिहाऽप्यन
तच्च समष्टिव्यष्टिधात्मकमिति नोक्ता व्यवस्था मुक्ता न च व्यष्टिधामुपदिश्य समष्टिधामुपदष्टुमिदमिति विलिख्य
तस्यापि मूल्युक्त्याऽऽह भवतीत्युक्तत्वादन आह—संसार इति । द्वयोर्वस्वयोस्तत्त्वेऽप्यात्त्वकर्मणः समष्टि-
व्यष्टिरूपेण कियती फलव्याप्तिरित्यागच्छाया तत्परिमाणं संसारत्वेनानर्थक्येऽपि तन्मात्रमेवेत्यतदनेन भूयुज्याह्यने-
नोच्यते तदर्थंविशेषसिद्धिरित्यर्थः ॥ ननु पूर्वमपि समारात्मकमेव कर्मफलमुक्तं तस्य मूलस्य मूल्योरज्ञानायादिभक्तव्यु-
त्तेरित्याशङ्क्य विवक्षितमर्थंविशेषमाह—प्रत्यगिति । साध्यं सर्वं स्वाविद्योत्पन्नेदेवस्मिन्ब्राह्मणे कथ्यतऽनोर्थभेदाद-

'सर्वपुरुषार्थसाधनमिति सर्वे श्रुतिस्मृतिवादाः' । मोक्षस्यापि पुरुषार्थत्वात्तत्साध्यता प्राप्ता । यावद्यावत्पुण्योत्कर्षस्तावत्तावत्फलोत्कर्षप्राप्तिः । तस्मादुत्तमेन पुण्योत्कर्षेण मोक्षो भविष्यतीत्याशङ्का स्यात् । सा निवर्तयितव्या । 'ज्ञानसहितस्य च प्रकृष्टस्य' कर्मण एतावती गतिः । व्याकृतनामरूपा स्पष्टवात्कर्मणस्तत्फलस्य च । न त्वकार्ये नित्येऽव्याकृतधर्मिण्यनामरूपात्मके क्रियाकारकफलस्वभाववर्जिते कर्मणो व्यापारोऽस्ति । यत्र च

वतारयति—पुण्यमेवेत्यादिना । मोक्षस्य पुण्यसाध्यत्वं विधान्तरेण साधयति—यावद्यावदिति । कथं तस्या निवर्तनमित्याशङ्क्याऽऽह—ज्ञानसहितस्येति । समुच्चितमपि कर्म संसारफलमेवेत्यत्र "हेतुमाह—व्याकृतेति । मोक्षेऽपि स्वर्गादाविव पुरुषार्थत्वाविशेषात्कर्मणो "व्यापारः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । अकार्यत्वमुत्पत्तिहीनत्वम् । नित्यत्वं नाशशून्यत्वम् । अर्थाकृतधर्मित्वं व्याकृतनामरूपराहित्यम् । 'अशब्दमस्पशंम्' इत्यादिश्रुतिमाधित्याऽऽह—अनामेति । 'निष्कलं निष्क्रियम्' इत्यादिश्रुतिमाधित्याऽऽह—क्रियेति । "चतुर्विधक्रियाफलविलक्षणे मोक्षे कर्मणो व्यापारो न संभवतीति भावः । नन्वास्थाणोरा च प्रजापतेः सर्वत्रः कमव्यापारात्कथं मोक्षे प्रजापतिभावलक्षणे तद्व्यापारो नास्ति

ही धर्म-अर्थ आदि सभी पुरुषार्थों का साधन है" इसमें श्रुति, स्मृति और उक्तियाँ प्रमाण हैं । अतः पुरुषार्थ होने के कारण मोक्ष का भी कर्मसाध्य होना प्राप्त है । जितना-जितना पुण्य अधिक होता है, उतनी-उतनी ही फल की उत्कृष्टता प्राप्त होती है । इसलिए उतम पुण्योत्कर्ष से मोक्ष प्राप्त होगा,

१ धर्मार्थविपुरुषार्थसाधनमिति । २ "स्वर्गकामो यजेत, विविदिपन्ति यज्ञेने"त्येवविधा. श्रुतयः, "धर्मात्सुखं च ज्ञानं च" "कर्मणैव हि ससिद्धिम्" "कर्मयोगो विशिष्यते" इत्याद्याश्च स्मृतयः । ३. उक्तयः । ४. कर्म । ५. पुण्यस्याखिलपुमर्थसाधनताया श्रुत्याद्यवपूतत्वात् । ६. उपासनसहितस्य । ७. अस्वमेधास्यस्य । ८. एतावती—एतत्परिमाणं द्विरण्यगर्भविसानेति यावत् । गतिर्भ्यांश्चि फलपरिणतिरिति यावत् । तत्राहुर्वातिकाचार्या—"ज्ञानोपवृत्तिरित्यादिप्रतुराजस्य कर्मणः । संसारविषयैवास्तिमुक्तौ सा न मनोगति ॥ प्रत्यन्याधात्मसमोहं क्रियाकारणरूपवान् । प्रभतेऽप्यास्तनि शेषक्रियावाररव्युत्ति" ॥१२-१३॥ इति । सा यद्योता ध्याप्तिः । ज्ञानसहितमपि कर्मसंसारफलमेवेत्यस्मिन्ब्राह्मणे व्यक्ती भविष्यति ॥ नन्वाविद्यसंसारस्तत्र तत्रोच्यते स चेदत्र कर्मफलत्वेन उच्यते इति कथं पूर्वापरविरोधो न स्यादत आह—प्रत्यगिति । निविद्येये चिदात्मनि तद्विद्या कर्मादात्मना विजृम्भते तथाच बन्धस्य कर्मजत्वेऽपि नाविद्याजत्वहानिरित्यर्थं । ९. आश्रयत्वात् । १०. सामर्थ्यम् । ११. उत्पतिरास्ति. विकृति सस्कृतिरिति चतस्रो विधाः ।

गतायंतेत्यर्थं । मोहकार्यं यत्नोक्तिफलमाह—एतस्यामिति । अनुवृत्तं द्वैतान्तं पातीति शेषः ॥ वैदिककर्मफल-स्याद्विद्योत्पन्नमध्यमपतिरत्वमेवेति वचनमेतद्ब्राह्मणमिःश्रुतं कथं सर्वमपि कर्मफल संसारत्वेनात्र विवक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—भूमेति । भवता पापानां पुण्यानां च मध्ये ब्रह्मबन्धोऽन्वमेधश्च महान्तो तथाऽपि कथं सर्वं कर्मफलं संसारस्तत्राऽऽह—इत्येवमिति । इतिशब्देनोक्तब्रह्मबन्धादिपरामर्शः । एवमन्वयेन तत्सद्ब्रह्मपुण्यापुण्यप्रकारोक्तिः । तथाच ब्रह्मबन्धेन तत्सद्ब्रह्मं च पापैरवमेधेन तत्तुल्यपुण्येन च संसारं क्रियते । यथाऽऽह—'धर्मसूकरसरोऽप्याणां गोजाविमृत्पक्षिणाम् । चण्डालपुलकसानां च ब्रह्महा योनिमुच्छति' इति । 'धर्मरज्ज्वा ब्रह्मदूषं पापरज्ज्वा ब्रजेध्व' इति च । अपिना तद्यद् ब्रह्म रमणीयचरणा इत्यादिश्रुतीनामपीत्यर्थः ।

'ध्यापारः' स संसार एवेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय ब्राह्मणमारभ्यते ।

'यत्तु कैश्चिदुच्यते' विद्यासहितं कर्म 'निरभिसंधि मन्त्रशंकरादियुक्तविपदध्यादिव-
त्कार्यान्तरमारभत इति । तत्र । 'अनारभ्यत्वान्मोक्षस्य । बन्धननाश एव हि मोक्षो न

तत्राऽऽह—यत्र चेति । कर्मफलस्य सर्वस्य ससारत्वमेवेति कुतः सिध्यति तत्राऽऽह—इत्यस्येति ।

'विद्यासहितमपि कर्म ससारफल विद्यैव मोक्षार्थतित्त्वपक्षमुद्यम्यं विचारयन्पूर्वपक्षयति—
यत्स्विति । यथा केवल विपदध्यादि मरणज्वरादिकरमपि मन्त्रशंकरादियुक्तं जीवनपुष्ट्याद्याधारभते तथा
स्वतो बन्धफलमपि कर्म फलामिलायमन्तरेणानुष्ठितं विद्यासमुच्चितं मोक्षाय क्षममित्यर्थः । मुक्ते
साध्यत्वाङ्गीकारे समुच्चितकर्मसाध्यत्वं स्यान्न तु तस्याः साध्यत्वं ॐ धीमात्रायत्तत्वादित्युत्तरमाह—तत्रेति ।

ऐसी प्राशङ्का हो सकती है । उस की निवृत्ति करनी चाहिये । उपासनासहित अद्वयमेधसंज्ञकर्म की
हिरण्यगर्भ मे अयसानरूप फलपरिणति है क्योंकि कर्म और उसके फल व्याकृत नाम और रूप के आश्रित
रहते हैं । अकार्य, नित्य अख्यावृत्तधर्मी, नामरूपात्मकविहीन, क्रियाकारकफलस्वभाववर्जित मोक्ष मे
कर्म का कोई व्यापार नहीं हो सकता । जहाँ कर्म का व्यापार है, वह ससार ही है । इसी अर्थ का
निरूपण करने के लिए इस तृतीय ब्राह्मण का प्रारम्भ किया जाता है ।

किन्ही याथात्म्यविज्ञान न मानने वालो का मत है कि तत्त्वज्ञानसहित निष्कामकर्म विप और
दधि आदि के समान कार्यान्तर-का आरम्भ करता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि मोक्ष का अका-
र्यत्व होना प्रसिद्ध ही है । बन्धन का नाश होना ही तो मोक्ष है, वह किसी का कार्य नहीं है एव बन्धन

१ कर्मण । २ स संसार एवति—तथाच प्रजापतिभावस्य मुख्यमोक्षपदार्थत्वाभावात् तत्र कर्मव्यापार
वारयाम इति भावः । ३ यत्स्विति—उक्तरीत्या ब्राह्मणारम्भे स्थित सति कैचिद्विद्विज्ञातात्मयायात्म्यैर्युच्यत
इत्यर्थः । ४ तत्त्वज्ञानसहितम् । ५ निष्कामम् । ६ अकार्यत्वात् । ७ प्रत्यग्यातात्म्यज्ञानमत्र विद्या ।
८ ज्ञानमात्राधीनत्वात् ।

ॐ धीमात्रायत्तत्वादि । ननु धीसाध्यत्ववत्क्रियासाध्यत्वमपि स्यादित्याशङ्क्याहुर्वीति कार्या—“ब्रह्म वा
इदमित्युक्ते प्रागपि ज्ञानजन्मत । जगद्ब्रह्मरामसंघिडेनातो मुक्ति त्रियोद्भवा ॥ यदि वस्तु स्वतो मुक्त परतो
बद्धमित्यते । मोक्षाय यत्न फलवांस्तदा स्यान्न विषयये ॥ विद्याऽभिव्यञ्जकंयेय स्वत सिद्धस्य वस्तुन ।
आरम्भकत्व जगति तस्या नैवोपपद्यते ॥ अज्ञानमात्रव्यवचो वस्तुनि व्यापृतिमिने । आरभ्यऽऽपन्न ज्ञान
व्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत् ॥ न चाविद्यातिरेकेण मुक्तबन्धोऽन्य इध्यते । निवृत्ति त्रियत यस्य विद्येतेनेह कर्मणा ॥
अविद्यानाशमात्रश्च मोक्ष आरमन इध्यते । यतस्ततोऽतिरेकेण मोक्षोऽनित्यो भवद्भूवम् ॥ सम्यग्ज्ञानातिरेकेण
न चान्येनास्ति निह्नुति । प्रतरह्मोहस्य नात स्याज्ज्ञानवमसमुच्चय ॥ १८-२४ ॥ इति । ज्ञानोत्पत्ते
प्रागपि जगत ससारिणो ब्रह्मत्व सिद्ध ब्रह्म वा इदमत्र आसीदित्यादि श्रुतेरतो न ज्ञानसाध्या मुक्तिस्तददृष्टा-
न्ताभावात् क्रियासाध्याऽनीत्यय ॥ किंच मुक्तिरसाध्या तथाहि किं प्रत्यग्वस्तु स्वता मुक्त परतो बद्ध किवा
स्वतो बद्ध परतो मुक्त तत्राऽऽद्यमनुवदति—यदीति । तत्र बन्धहेतो परस्वावस्तुत्व वस्तुत्व वा प्रथम
प्रत्याह—मोक्षायति । बन्धहेतोःवरवस्तुत्वे सहेतुबन्धवस्तुने मुक्तरत्वादानयासिद्धा मुक्तिर्न कर्मपिद्येत्यर्थः ।
बन्धहेतोर्बन्धुत्व प्रतीच स्वतोबद्धत्वे च मोक्षायप्रवृत्तरफलतति कल्पद्वय रूपयति—नति ॥ मुक्ताविद्यासाध्य-
त्वाभाव हृत्वन्तरमाह—विद्येति । किमिति व्यञ्जकत्व तस्या नियम्यत तत्राऽऽह—आरम्भकत्वमिति ।
कारकत्वे न प्रयागवर महोदिवदित्यर्थः ॥ स्वत सिद्धेव्यञ्जकत्वमप्यमुक्त व्यक्त सहजत्वादित्याशङ्क्याऽऽह

कार्यभूतः । वन्दनं चाधिद्योत्यद्योचाम । अविद्यायाश्च न कर्मणा नाश उपपद्यते । 'दृष्ट-
विषयत्वाच्च कर्मसामर्थ्यस्य । उत्पत्त्यापित्तविकारसंस्कारा हि कर्मसामर्थ्यस्य विषयाः ।
उत्पादयितुं प्रापयितुं विकर्तुं संस्कर्तुं च सामर्थ्यं कर्मणो नातो व्यतिरिक्तविषयोऽस्ति
कर्मसामर्थ्यस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात् । न च मोक्ष एवां पदार्थानामन्यतमः । अविद्यामात्र-
व्यवहित इत्यद्योचाम ।

वाढम् । भवतु केवलस्यैव कर्मण एवैवभावता । 'विद्यासंयुक्तस्य तु निरभिसं-

हेतुमेव साधयति—वन्दनेति । किं तद्वन्दनं तवाह—वन्दनं चेति । अविद्यानाशोऽपि कर्मरम्यो भविष्य-
तीति चेन्नेत्याह—अविद्यायाश्चेति । मोक्षो न कर्मसाध्योऽविद्यास्तमयत्वाद्ब्रह्मविद्यास्तमयवदित्यर्थः ।
'तत्रैव हेतुन्तरमाह—दृष्टविषयत्वाच्चेति । 'न कर्मसाध्या मुक्तिरिति शेषः । 'तत्रैव स्पष्टयति—
उत्पत्तीति । 'उक्तमेव कर्मसामर्थ्यं विषयमन्यव्यवतिरेकाभ्यां साधयति—उत्पादयितुमिति । अप्रसिद्ध-
त्वादिति द्येदः । उत्पत्त्यादीनामन्यतमत्वान्मोक्षस्यापि कर्मसामर्थ्यं विषयता स्यादिति चेन्नेत्याह—न
चेति । नित्यत्वादात्मत्वात्कूटस्थत्वात्त्रित्यशुद्धत्वात्त्रिगुणत्वाच्चेत्यर्थः । आत्मभूतो यथोक्तो मोक्षस्तहि
किमिति सर्वेषां न प्रयत इत्याद्याङ्ग्याऽऽह—अविद्योति ।

उभतं कर्मसामर्थ्यं पूर्ववाद्यङ्गी करोति—वाढमिति । अङ्गीकारमेव स्फोरयति—भवत्विति ।
एवंत्वभावतोत्पादनादौ समर्थता । का तर्हि विप्रतिपत्तिस्तत्राऽऽह—विद्यासंयुक्तस्येति । अन्यथा स्वभा-

अविद्या है—ऐसा हम पहले ही कह आये है । तथा अविद्या का कर्म से नाश होना सम्भव नहीं है क्योंकि
जिनमे कर्म की सामर्थ्य है, वे कार्य अथवा उसके विषय परिगणित ही हैं । उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और
संस्कार ये कर्म की सामर्थ्य के विषय देखे गये हैं । उत्पन्न करना, प्राप्त करना, विकारापन्न करना एव
संस्कारयुक्त करना ही कर्म की सामर्थ्य है, उत्पत्ति आदि से भिन्न कोई कार्य कर्मसामर्थ्य से होता हो,
ऐसा लोक मे प्रसिद्ध नहीं ही है । इनमे से कोई भी पदार्थ मोक्ष नहीं है, वह तो केवल अविद्यामात्र से
आवृत्त है—ऐसा हम कह आये है ।

(पूर्ववादी शङ्का करता है—) ठीक है । केवल कर्म का ऐसा स्वभाव भले ही हो किन्तु निरु-

- १ कार्यं यदा तद्विषया दृष्टा एव परिगणिता इति यावत् । २ उत्पत्त्यादित् । ३ मद्भ्रंशेपतश्चोद्यतमा-
धान इत्यादि विस्तरेण तत्कर्तुं तावच्चोद्य विवृणोति—विद्येति । ४ अविद्यानिवृत्तिरूपत्वात् । ५ मोक्षस्य
कर्मसाध्यत्वे । ६ मुक्तिं कर्मसाध्या अकार्यत्वादीन्वरादिविदिनि विवक्षितम् । ७ कर्मसामर्थ्यस्य
दृष्टविषयत्वम् । ८ उत्पाद्यादीनाम् । ९ मद्भ्रंशकर्मसामर्थ्याङ्गीकारदशायाभावो को विवाद ।

—अज्ञानेति । व्यक्ति स्वतः मिदाऽपि इत्यर्थं । मोक्षस्यामाध्यत्वे हेतुन्तरमाह—आरम्भ इति । मोक्षलक्षणो
फले साध्ये स्वीकृते तत्र ज्ञानस्वाप्रवेशात्तदनयक म्यात्तस्य हि शीघ्रद्वयञ्जकत्वाद्ब्रह्मज्ञं प्रवेशो न
साध्ये तस्मान्तरफलवसानुपपत्त्याऽपि न मुक्ते साध्यत्वार्थं ॥ सा भूद्वीमाध्या सा तत्सहितकर्ममाध्या तु
स्यादज्ञानान्यतद्व्यवधानस्य समुच्चयापास्यत्वादिस्थाशङ्क्याऽऽह—न चेति । वन्द प्रतिबन्धा व्यवधिरिति यावत् ।
विद्येतान विद्यामहितैत्यर्थं । इदंति प्रत्यगर्षोक्ति । भुवने समुच्चयमाध्यत्वे बुध्यन्तरमाह—अविद्येति ।
अविद्यानाशान्तिरेकेण मोक्ष साधनार्थिनो भवन्ध्रुवमनिरयो भवत्यत प्रतीचि स्वाविद्याव्यस्तितरेव मुक्तिरिति न
समुच्चयत्वाकाश इत्यर्थं ॥ सर्व समुच्चयमाध्यत्वाशङ्क्याऽऽह—सम्पत्तिमिति ॥

धेर्भवत्यन्यथा स्वभावः । दृष्टं ह्यन्यशक्तिवत्त्वेन निज्जातिनामपि पदार्थानां विषयदध्यादीनां विद्यामन्त्रशर्करादिसंयुक्तानामन्यविषये सामर्थ्यम् । तथा कर्मणोऽप्यस्त्विति चेत् । न । प्रमाणाभावात् । * तत्र हि कर्मण उक्तविषयव्यतिरेकेण विषयान्तरे सामर्थ्यास्तित्वे प्रमाणं

वअतुविषयक्रियाफलविलक्षणोऽपि मोक्षे समर्थतेति यावत् । उत्पत्त्यादौ समर्थस्य कर्मणो विद्यासंयुक्तस्य तद्विलक्षणोऽपि मोक्षे सामर्थ्यमस्तोत्यत्र दृष्टान्तमाह—दृष्टं हीति । उक्तदृष्टान्तवदात्मकर्मणोऽपि केवलस्य संसारफलस्य विद्यासंयोगान्मुक्तिफलत्वमपि स्यादित्याह—तथेति । समाधत्ते—नेत्यादिना ।

इस्य विद्यासहितं कर्म का उससे विलक्षण ही स्वभाव होता है । ऐसा देखा जाता है कि केवल अन्यशक्ति क जाने गये विषय और दधि ग्रादि पदार्थों का विद्या, मन्त्र एव शककर ग्रादि से युक्त होने पर अन्य विषय मे सामर्थ्य हो जाता है । इसी प्रकार विद्या से युक्त कर्म का भी दूसरा स्वभाव हो सकता है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । प्रमाणों मे कर्मों के

१ वेदज्ञानम् । २ विषयदध्यादीनामिति । ननु—कथमया व्यवस्थेति चेच्छृणु वातिषे—“पूर्वशक्तिनिरासेन शक्यन्तरसमुद्भव । वस्त्वन्तरसमायागाद्विषयादेहं द्यतयित ” ॥ ३० ॥ इति । अतः कर्मणोऽपि विद्यासम्बन्धीत्युक्तं शक्तिनिरासेन शक्यन्तरसमुद्भव स्यादिति ॥ ३. प्रमाणाभावादिति—विषयदध्यादेस्तु कार्यान्तरोत्पत्तौ सामर्थ्याऽस्तित्वे कार्यमेव मान दृष्टत्वादिति भावः । ४ प्रमाणानां मध्ये । ५ उत्पत्त्यादिरूपविषयैति बोध्यम् ।

शुद्धं हीत्यादि न शब्दोऽस्तीत्यन्तर्भाष्य आहुर्वादितास्तथाहि—“साध्यावृत्त्यात्मकं ज्ञानं कर्मैवावस्तुतन्त्रतः । ज्ञानं हि वस्तुतन्त्रं स्यात्तु तत्कारकाश्रितम् ” ॥ ३४ ॥ उपास्या ज्ञानेन वा कमसमुच्चयस्तत्राऽप्ये ज्ञानकर्म-समुच्चयाभाव वक्तुमुपास्तेर्जातत्वाभावमाह—साध्येति । साध्यं ध्येयं वस्तु तत्र प्रत्यक्षावृत्तिरूपोपास्तिरवस्तु-तन्त्रत्वात्कर्मैवेत्यर्थः । वस्तुतन्त्रत्वाभावेऽपि ज्ञानत्व शङ्कित्वाऽऽह—ज्ञानं हीति । मानवस्तुतन्त्रं हि ज्ञानं न कर्तृतन्त्रमुपास्तिस्तु कर्तृतन्त्रा तन्न ज्ञानमित्यर्थः ॥ “कर्मतः कर्म तेनेह ग्विद्येत न कथंचन । त्रियासमुच्चयोऽतोऽप्य न तु विद्यासमुच्चयः ” ॥ ३५ ॥ तस्या ज्ञानत्वाभावे फलितमाह—कर्मैति । ईदृगित्युपास्तिमुक्तं कर्मैवेत्येति । उक्तमेव फलितं स्फुटयति—क्रियेति । अतः शब्देनोपास्तमर्तसक्रियात्वमाह—न त्विति । “साध्यसाधनमन्वय आगमकप्रमाणकः । मुक्तेष्वेव साधनत्वेन कर्म नैव श्रुतं श्रुतौ ” ॥ ३६ ॥ किंच समुच्चितममुच्चितं वा कर्म मुक्तिहेतुरित्यत्राप्यध्यादि मानमागमो वा प्रथमं प्रत्याह—साध्येति । पारलौकिक इति शेषः । द्वितीयं दूषयति—मुक्तइवेति । अयाम सोममित्यादि तु कर्मैवावकत्वात् साध्यं मान मानान्तरविद्याघादिति भावः ॥ “अज्ञान-हानं ना मुक्तिस्तस्या कर्म न साधनम् । न हि कर्म तमो हन्ति तमसोवोधिद्यतं तम् ” ॥ ३७ ॥ मुक्तरवर्म-साध्यत्वे हेत्वन्तरमाह—अजातेति । त्रिमिति कर्मज्ञानहानेर्न हेतुरित्याद्युक्तं सम्यग्ज्ञानातिरेकेणत्यत्रोक्तं दृष्टान्तं स्पष्टयति—न हीति । तममि रज्ज्वज्ञाने समुत्पन्नं तमा मूत्रगादिकानमिति यावत् ॥ “अविद्यैकोद्भवत्व स्याद्यद्यपि ज्ञानकर्मणो । मेवेनात्म्यातुरोधिरेव तथाऽप्यनिशया धियः ” ॥ ३८ ॥ कर्मं नाज्ञानं निवृत्तस्यज्ञान-जत्वद्रज्जुमर्षीवदित्युक्तं ज्ञानेऽशीत्यमनुमानमभवादित्यासाद्युक्तं वस्त्वननुसारित्वमुपाधिरेत्याह—अविद्येति ॥ “नाऽऽत्माविद्यामतित्रयं कर्मैवात्म्यातुरोधि हि । तमाभावाभिजनतो नातोऽविद्यां निहन्ति तत् ” ॥ ३९ ॥ उपाधेरतत्त्वमागम्युपाऽऽह—नाऽऽत्मेति । हिशब्दापात्तं ह्युपाह—तमोमात्रेति । न हि कर्तृत्वाद्यनिमानं विना कर्मं ज्ञानं पुनस्तदुपमदीति विद्याशक्तिरित्यर्थः । कर्मणा वस्त्वननुसारित्वं फलितमाह—नात् इति ॥

न प्रत्यक्षं नानुमानं नोपमानं नार्थावत्तिर्न शब्दोऽस्ति ।

उक्त उपत्त्यादिरूप विषय से भिन्न किसी दूसरे विषय मे सामर्थ्य होने का न प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है, न उपमान प्रमाण है, न ही अर्थावत्ति घोर शब्द प्रमाण है ।

“एवमिन्द्रात्मयस्त्वेवमात्रोत्पानश्चकारणात् । ज्ञानं हन्ति तमाप्स्येव न तु कर्म तमोन्वयात् ॥” ४० ॥ उपाधेः साधनव्याप्तिमात्राद्ब्रह्माह— एवम इति । स्वप्रकाशमन्त्रिचदानन्दारमाकारासर्गपरसवस्तुकारेण आख्याज्ञान-मुत्पद्यते तदशेषे तमो नियतं ततोऽपरम् । उपाधिपत्त निगमयति— न त्विति । तमोऽनु । अतिरिक्त्वात्स्वतन्नुसारित्वात्प्र-कर्म तमोऽन्वमीति यावत् ॥ “अज्ञानादिभ्य प्रत्यगाभास यद्यपीष्यते । ज्ञानवद्ज्ञानसंगुतेनैव प्रागभ्युपेयते” ॥ ४१ ॥ ननु मद्ब्रह्मनुसारि तदज्ञानस्त्वमीति न व्यतिरेकोऽज्ञानादौ व्यभिचारात्ततो हरतिरेवानुदेनोपाधिस्त आह— अज्ञानादीति । अज्ञान निष्पानाज्ञान संतपज्ञानमिति त्रय ज्ञानवच्चैतन्यानुविद्यन्मि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः षडेतुवन्वध्वमहेतु-नेष्यते तस्य चैतन्याकारभासवैरूपे विषयीतप्रथाहनुत्पन्न वस्तयनुसारित्वाभासात्ततो न व्यतिरेकापुड्विभक्तमज्ञान-ध्वति वस्तयनुसारित्वाद्ब्रह्मज्ञानवदित्यनुमानादिरुपे ॥ “कर्मणि कारण मुच्यते न कथंचन युज्यते । सासाद-विद्याप्रच्छन्तो षारुपयन्तु पुज्यन्” ॥ ४२ ॥ उक्तोपाधिभवात्प्रयत्नानायोगात्पूर्वोक्तानुमान स्थितमिति पक्षितमाह— कर्मणि । कर्मणा सासादगोष्ठानुपयोगे कथं विरदितात्वाव्यादि निर्बहतीत्यावाङ्मूपाऽह— अविद्येति ॥ “मुक्तौ च कर्ममाध्यायी किमेतं क विमुक्तिदम् । रिषा सभूय सर्वाणि कर्माणि भ्रन्ति सगृतिम्” ॥ ४३ ॥ प्रयत्नमानाभावेऽप्यज्ञानकार्यैरहेतुज्ञानं व्यभिचरतीति । चेन्नैकप्रकारात्त्वस्य हेत्वर्थत्वादित्यभिप्रेत्य कर्मणां मुक्तिहेतुत्व विवक्ष्यति— मुक्तौ चेति ॥ “सकृद्भूय ष्योगाद्वा यावज्जीवप्रयोगतः । एवादिदक्षिणात्वेव विवक्ष्यन्तुत्य इत्यने” ॥ ४४ ॥ पशुद्वयेऽप्यनुष्ठाने विवक्ष्यन्तमाह— सकृदिति । मुक्तिरिति शेष । अनुष्ठान-वदक्षिणाभिप विवक्ष्यति— एवादीति । एकस्य वा बहूना वा सर्वस्य वा गवादेदक्षिणायां मुक्तिरिति विवक्ष्याथं ॥ “काम्येवां यदि वा नित्ये सर्वैर्वा मुक्तिरिष्यते । श्रोतवां यदि वा स्मार्तेर्पदि योभयकर्मभिः” ॥ ४५ ॥ अनुष्ठीयमानानसर्वेव विवक्ष्यान्तराणि करोति— काम्येवेति ॥ ‘तथा च ज्ञानसंयोगे प्रधानगुणभेदतः । त्रिधा विवक्ष्यो विज्ञेयो विमुक्तिरतिवद्वये” ॥ ४६ ॥ केवलानि कर्माणि विवक्ष्य समुच्चितानि विवक्ष्यति— तेषा चेति । मोक्षार्थं कर्मणा ज्ञानसमुच्चये उत्पुणयोः । तामप्रधानत्वेन गुणप्रधानत्वेन च भेदाद्विषयत्वय ते हि समप्रधाने वा कर्मप्रधाने तद्गुणो ज्ञानमिति वा वैपरीत्य वेत्यथ ॥ “एकैकं मुक्तिरुच्चैस्त्वयाद्यवब्रीह्याविहागवत् । एकेनैव वृत्तायेत्वाप्रानुतिच्छेत्ततोऽपरम्” ॥ ४७ ॥ एकैकं कर्म मुक्तिदमित्वाद्यनुवदति— एकैकमिति । सर्वैर्वाको श्रीहियवादिहामोऽभूयहेतुस्तथाऽग्निहोत्रादिवैर्क विवक्ष्येन मुक्तिहेतुरित्यर्थः । तत्र कर्मान्तरवैयर्थ्यमिति दूषयति— एवेनेति । न च प्रोक्षादिबद्धिवस्वेनार्थवत्त्व मोक्षमुदित्य कर्मसु तदश्रुतेऽप्या वा तदाश्रयणादिति भावः ॥ “प्रयोगे दक्षिणायां च समानोऽयं परिश्रमः । अथ सभूय सर्वाणि मुक्ति कर्माणि कुर्वते ॥ एकैकम्यं द्रुवं प्रापस्तस्यैषामपि कर्मणाम् । दर्शादिवत्सर्वैवत्वात्सञ्चानिष्ट प्रसज्यते” ॥ ४८-४९ ॥ सकृदप्रयोगादेकदक्षिणायां च मुक्तिरिति पदयोरेवत दोषमतिदियति— प्रयोग इति । न हि तत्र प्रयोगान्तर दक्षिणान्तर वा सार्थकमित्यर्थः । कल्पान्तरमनुद्य दूषयति— अथेति । ऐक्यम्यं हेतुमाह— पत्नैवत्वादिति । दृष्टान्तस्तु प्रागेव विवक्षतः । एकैकम्यं वा हानिस्तथाऽह— तच्चेति । न हि बृहस्पतिसवरात्रसूयादीनां भिन्नाभिकारिणांमैकैकम्यमिति भावः । असकृदा यावज्जीव वा प्रयोगाद्वहूना वा गवादीनां सर्वस्य वा दक्षिणाया मोक्षो न सेत्येत्येकस्यैवासकृदायज्जीव वा प्रयोगे मुक्तिरित्येवमिति प्रयोगवैयर्थ्यात्सर्वैकम्यप्रयोगस्त्वेकस्याश्रययो न च बहूनां सर्वस्य वा दक्षिणा मोक्षहेतु-रिति मानमस्ति न च हिरण्यदा अमृतव भजन्त इति श्रुतिर्मानं दानप्रजासापरत्वादन्यथा निषेधश्रुतिविरोधादिति

ननु 'फलान्तराभावे' 'चोदना' न्यथानुपपत्तिः प्रमाणमिति । न हि नित्यानां कर्मणां

'अतोन्द्रियत्वात्कर्मणो मुक्तिसाधनत्वे प्रत्यक्षाद्यसंभवेऽप्यर्थापत्तिरस्तीति' शाङ्कते—नन्विति । नित्येषु कर्मसु मोक्षातिरिक्तस्य फलस्य श्रुतस्याभावे सति 'तदुपलभ्यमान'चोदनाया मोक्षफलत्वं विनाऽनुपपत्तिस्तेषां तत्साधनत्वे मानमित्यर्थः । ननु विश्वजिता यजेतेत्यत्र यागकर्तव्यतात्पर्यो 'नियोगोऽवगम्यते तस्य 'नियोज्यसापेक्षत्वात्स' 'स्वर्गः स्यात्सर्वाप्रत्यविशिष्टत्वादिति न्यायेन स्वर्गकामो नियोज्योऽङ्गीकृतस्तथा नित्येष्वपि कर्मसु भविष्यति स्वर्गो नियोज्यविशेषणमत आह—न हीति । "जीवञ्जु-

(पुनः पूर्ववादी क्षुब्धा करता है—) परन्तु मोक्ष के अतिरिक्त फल के अभाव होने पर नित्य

१. मोक्षातिरिक्तफलाभावे । २. चोदनेति—न च नित्यकर्मविधिरूपत्वादिमदन्वयतमफलत्वेनापि स्यादित्यन्यथोपपत्तिरिति वाच्यम् नित्यचोदनायामुपलब्धत्वादिमत्फलत्वात् श्रवणात् कर्मणा पितृलोक इति फलश्रुतिस्तु न नित्यनर्मप्रकरणस्येति भावः । ३. नित्यकर्मविधेरनुपपत्तिः । ४. साध्यसाधनयोर्मुक्तिरूपमणोः । ५. तत्र नित्यकर्मणि उपलभ्यमानेत्यर्थः । ६. तदुपलभ्येति—यावज्जीवादिश्रुतो नित्य कर्म विधीयते न चान्दरेण फल तद्विधिर्नहि महायासेऽफले कर्मणि प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः । अतो नित्यचोदनाऽनुपपत्तिरित्येकमणो मोक्षार्थत्वे प्रमाणमिति भावः । ७. विधिः । ८. अधिकारीति यावत् । ९. जै० सू० ४।३।१५ । १०. स प्रसिद्धः स्वर्गो विद्वजित्फल स्यात् सर्वैर्भ्रस्यमाणत्वादिति सूत्रार्थः । ११. यथा विश्वजिति स्वर्गोद्भूतो सामर्थ्यमिति स्वर्गवामो नियोज्यो नैवं नित्यकर्मसूपलब्धत्वादिमत्फलतोत्पत्तावोपपत्ति सामर्थ्यमिति न स नियोज्य इत्यभिप्रेत्याह—जीविति । यावज्जीवमनिहोत्रमित्यर्थः ।

चार्यः ॥ "अन्यद्भि मुक्तिफलत काम्याना श्रूयते फलम् । तेषा मुक्तिफलत्व तु न श्रुतेर्नपि चान्यत्" ॥ ५० ॥ काम्यैर्वैति पक्षं प्रत्याह—अन्यदिति । काम्यानां स्वर्गादिफलत्वे श्रुतेऽपि मोक्षफलत्वं न विरध्यते दम्पादेर्नित्यायै काम्यार्थं च श्रवणादित्याशङ्क्याऽऽह—तेषामिति । अश्रुतमपि स्मृतैर्न्यायाद्वैष्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—नापीति । "सर्वं चाप्यप्रमाण स्याद्यदुक्त भेदलक्षणम् । मुक्ति सर्वाणि कर्माणि यदि सभूय कुवते" ॥ ५२ ॥ यदि वा नित्यैरिति पक्षमग्रे द्रूपयिष्यति सप्रति सर्वैर्वैष्यतादिपक्षचतुष्टय निराचष्टे—सर्वं चेति । अस्वार्थ—नित्यानां काम्याना श्रोताना स्मार्ताना सर्वेषा वा कर्मणा मोक्षफलत्वे प्राच्यां भीमासाया शब्दान्तराभ्यासप्रक्रियानामधेयादिभेदक यद्वक्तं सर्वं तदप्रमाण स्यात्फलत्वे कर्मभेदानुपपत्तेरनो मोक्षफलत्वे सर्वकर्मणामैककर्म्यादेर्भेदलक्षणविरोधः स्यादिति ॥ "साध्यसाधनवृद्धिर्नो चचनात्पारलौकिकी । न चाश्रय श्रुतेर्विषयात्कर्म मोक्षफल कर्वाचित्" ॥ ५३ ॥ एकैक कर्म मोक्षादमित्यादिमवैष्येषु माघारण दोषमाह—साध्येति ॥ "न तत्र दक्षिणा यन्ति विद्ययैव तदाप्यते । वेदाहमिति मन्त्रवच ज्ञानान्मार्गान्तरापनुत्" ॥ ५४ ॥ मानाभाव स्मारयित्वा नैवलकर्मणां मोक्षहेतुत्वे मानविरोधमाह—न तत्रेति । सप्तम्या प्रथमया च कैवल्य परामुषये । मन्त्रे तु तमेव विद्वानिति दोषोऽनुसंधेय ॥ "न कर्मणा कनीयस्ना वृद्धिर्वा नान्तरारमन । नित्योऽस्य महिभेदेवमुदकैऽपि प्रवहयते" ॥ ५५ ॥ प्रत्यग्भूते मोक्षे कर्मणोऽनिगम्यानाघायकत्वाच्च तदमाध्येत्याह—न कर्मणेति । वाक्यदोषादपि तदसाध्या मुक्तिरित्याह—नित्योऽप्येति ॥ "क्षयी कर्माजितो लोको नित्यो ज्ञानजितस्तु य । इति स्पष्ट श्रुतेर्वाक्यं कस्मात्प्राप्तिव्यते स्वया" ॥ ५६ ॥ अतश्च नित्या सा न साध्येत्याह—क्षयीति ॥ "समुच्चयसंचायमवृत्पुर्ब सुनिराश्रुत् । भूयोऽग्रीह प्रवधायाम प्रसङ्गाप्रतिविन्तरात्" ॥ ५७ ॥ नैवलकर्मणां मोक्षहेतुत्व निरस्य तेषां च ज्ञानमयोग इत्यत्रोक्त त्रेधाममुच्चय निरस्यति—समुच्चयश्चेति । पुरेति सर्वार्थोक्ति । उत्तरनापि प्रसङ्गात्प्रकारण

विश्वजिन्मयायेन फल कल्प्यते । नापि श्रुतं फलमस्ति । चोद्यन्ते च तानि । पारिशेष्या-

ह्यादिति जीवनविशिष्टस्य नियोज्यस्य लाभात् नित्येषु स्वर्गो नियोज्यविशेषणमित्यर्थः । ननु जीवन-
विशिष्टोऽपि फलाभावे न नियोज्यः स्यात्तया' च कर्मणा पितृलोक इति श्रुतं फलं तेषु कल्पयिष्यते
नेत्याह—नापीति । नित्यविधिप्रकरणे पितृलोकवाक्यस्याश्रयणादित्यर्थः । 'तर्हि फलाभावाद्भोदनेन मा
भूविति चेन्नेत्याह—चोद्यन्ते चेति । 'तथाऽपि फलान्तरं कल्प्यतामित्याशङ्क्य' कल्पकाभावान्मन्व-

वर्गविधि वी अनुपपत्ति मे घर्घापत्ति प्रमाण है । नित्यकर्मों वा विश्वजित न्याय से तो कोई फल कल्पित
नही किया जाता, न ही उनका कोई श्रुतफल है तथा न ही उनका विधान किया जाता है । अन्ततोगत्वा

१ फल विना नियोज्यत्वामभवे च । २ नित्येषु । ३ नित्यप्रकरणे फलानुकी । ४ फल विना
घोदनाया अनुपपत्तयेऽपि । ५ मोक्षोत्तरपनस्य ।

वक्ष्याम । इहापि नातिविस्तारप्रकारण सद्योपतरतु श्रूम इति योजना ॥ "सनिपत्य न च ज्ञान कर्माज्ञान
निरस्यति । साध्यमायनभावरवादेनकालानवस्थित" ॥ ५८ ॥ अत्रापि समुच्चय निरस्यामो नातिविस्तार-
दित्युक्तमेव दशमप्रमाणज्ञानस्य कर्मणश्चाङ्गाङ्गत्वेन समुच्चय निरस्यति—सनिपत्यति । कर्मणोऽङ्गत्वेन
सनिपत्यज्ञान भाविद्या निरस्यति तत्र हेतुमाह—साध्यति । शुद्धिद्वारा कर्म साधन ज्ञान साध्य तथाच पूर्वोत्तर-
कालयोरैककालारिथतर्नाङ्गाङ्गत्वे न च तत्साध्यस्य तदङ्गत्वमेकप्रयोगानारूढत्वात्कर्मन्तरीयस्यापि कर्मणो
ज्ञानोपायत्वाङ्गीकाराच्चेति भाव ॥ "बाध्यबाधकभावाच्च पञ्चास्योरणयोरिव । एकदेशानवस्थानात्
समुच्चयता तयो" ॥ ५९ ॥ समप्रधानतया समुच्चय प्रत्याह—बाध्यति । पञ्चास्य तिव । उरयो मेय ।
एकदेशानवस्थात्सादेकस्मिन्प्राथये सहास्थितेरित्यर्थ ॥ "बाध्यबाधकभावेन काममस्तु समुच्चयति । स्वदानत्यनप-
हारेण दाह्यदाहवयारिव ॥ ६० ॥ ननु ज्ञानकर्मणो सम्बन्धोऽस्ति न वाऽप्ये समुच्चयतिद्विद्वितीयो बाध्यबा-
धनत्वासिद्धिस्तत्राऽह—बाध्यति । ज्ञानगतबाध्यकल्पयते कर्मगतवाप्यत्वदाकृतत्वात्वायेन तयोर्बाध्यबाधकत्वेन
सद्यत समुच्चयितवत्तना वाष्ठाग्न्योरिवदृष्टवत् ॥ "अयथावत्स्वविद्या स्याद्विद्यैतस्या विरोधिनी । समुच्चय-
स्तयोरेव रविदाशंरयारिव' ॥ ६१ ॥ उक्त समुच्चय सापत्तिवमुदाहरणान्तरेण दशयति—अथयेति ॥
'वत्स्वधीना भवेद्विद्या कर्मघोना क्रिया तथा । कर्त्रादि चाऽऽजममोहाद्य स्ववोऽकारकताऽऽजमन' ॥ ६२ ॥
समुच्चयाभाव हृषन्तरमाह—वस्त्विति । अथमेतावता तदभावस्तत्राऽह—कर्त्रादीति । आत्मन कौटस्थेन
कर्तृत्वादावविद्यत्वात्तज्ज्ञाने सत्ययोगान्न समुच्चय इत्यर्थ ॥ "बृहस्पतिसव यदृक्षत्रयो न प्रवर्तते । ब्राह्मण-
त्वानहमानी विप्रो वा क्षत्रकर्मणि" ॥ ६३ ॥ किंच ज्ञानिनो न नियोगस्तदभिमानशून्यत्वात्तत्कृत समुच्चय
इति वक्तुं दृष्टान्तमाह—बृहस्पतीति । क्षत्रियत्वानहमानिन वक्तुं वागन्व । विदेहो वीतसदेहो नैन नैत्येव
वाधित । देहाद्यनात्मदृष्टत्वात्त्रया वीक्षतेऽपि न' ॥ ६४ ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—विदेह इति ।
स्थूलदेहाभिमानहीना विदेह सद्यमादिधमन्सूक्ष्मदेहाभिमानशून्य यश्च वीतसदेहस्तत्र हेतु—वेतीति ॥
'मूर्त्तनेत्रक यथभवं शिशुरध्यस्य वल्गति । अध्यस्याऽऽजमनि देहादीन्मूढस्तद्विचेष्टते" ॥ ६५ ॥
देहादौ मिथ्याभिमानवत् एव कर्मसु प्रवृत्तिर्न तद्वीनस्यति कुत, समुच्चय इत्येतमर्थं दृष्टान्ता-
न्तरेणाऽह—मूर्त्तेनेति । सस्त्वतमूर्त्तिमिते हस्तिनीति यावत् । वल्गति चेष्टते ॥ "स्याणु चोरघियाऽऽज्याय
भीतो यद्वत्पलायत । बुद्धघादिभित्तधारमान भ्रान्तोऽध्याप्य चेष्टते" ॥ ६६ ॥ कथं सनिपत्येत्यादिना समुच्चयो
निरस्यते यदेव विद्या करोति ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वतित्यादिना विरोधादित्याराङ्क्य यत्र निमित्तनैमित्तिक-
भावस्तत्र वा समुच्चय सद्यत वेति विकल्प्याऽऽज दृष्टान्तद्वारा स्वीकरोति—स्याणुमिति । बालायऽऽज्याय

न्मोक्षस्तेषां फलमिति गम्यते । 'अन्यथा हि पुरुषा ऋंन प्रवर्तन् ।

मित्यभिप्रेत्याऽऽह—पारिशेष्यादिति । मुक्तयेतकल्पकं तदेव फलान्तरस्यापि किं न स्वादित्याशङ्क्य
'तस्य' निरतिशयफलवियमस्यानुक्तिकल्पकरथमेवेत्यभिप्रेत्याऽऽह—अन्यथेति ।

मोक्ष ही उनका फल है—ऐसा जाना जाता है; अन्यथा मुक्ति के नित्यकर्मफलत्वाभाव होने पर पुरुषों को इसमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी ।

१. मुक्तेनित्यकर्मफलत्वाभावे । २ न प्रवर्तन्निति—ननु निरयाना श्रुतं फलं नाम्नि चेदफलान्येव तानि
स्युर्विहितत्वाच्चानुष्ठीयेरप्रित्याशङ्क्याऽऽह—'पुरुषार्थेऽमिति फले विद्यान नोपपत्तने । नित्याना कर्मणां
तस्मिन्सत्येव घटते यतः ॥ दुःखसमयेषु नित्येषु समीक्षापूर्वकारिण । पुरुषान प्रवर्तन्न चेत्येभ्य फलं भवेत्"
॥ वा० ७७-७८ ॥ फलं विना विध्यतामवे हतुमाह—तस्मिन्निति ॥ फले सत्येव कथं विधेयं तमानवत् तत्राऽऽह—
दुःखेति । प्रवृत्तिफलो विधिर्न च विना फलं प्रवृत्तिर्न च नित्येषु फलान्तरमतो मुक्तिस्तत्फलमित्यर्थः ॥ ३.
कल्पकस्य । ४. समवति महति फले निरुद्धकल्पनाया अन्याय्यत्वादिनि भावः ।

गृहीत्वा ॥ "स्थानोः सतस्त्वविज्ञानं यथा नाङ्गं फलायने । आत्मनस्तस्त्वविज्ञानं तदभ्राङ्गं क्रियाविधौ" ॥६७॥
कल्पान्तरं दृष्टान्तेन निराचष्टे—स्थानोरिति ॥ "यदि यस्याविरोधेन स्वभावमनुवर्तते । तत्तस्य गुणभूत
स्याद्य प्रधानादुपुणो यतः" ॥ ६८ ॥ प्रधानत्वेनेष्टमध्वसित्वादपि न ज्ञानं तदङ्गतया समुच्चोयत इत्याह—
यदीति । प्रधानमतीति प्रधानाद्यप्रधानविरोधि न तदङ्गतमते ज्ञानमपि कर्मविरोधित्वात् तदङ्गमित्यर्थः ॥
"अज्ञानमनिराकुर्वज्ज्ञानमेव न सिध्यति । विपन्नकारकप्रामं ज्ञानं कर्म न ढीकते" ॥ ६९ ॥ समुच्चयमिच्छताऽपि
ज्ञानस्य प्रमाणत्वात्स्वाभावज्ञानध्वंसित्वमेष्टव्यं तत्त्वुत. समुच्चय इत्याह—अज्ञानमिति । तथाऽपि समुच्चये
विभायात् तदाह—विपन्नेति । यस्य कर्मणो विपत्तिमापादितो ज्ञानेन कारकसमुदायस्तत्र ज्ञानं स्पृशति कारका-
भावेऽभावाप्रहि तन्निरपेक्षा त्रियाऽऽमानं विभर्तीत्यर्थः ॥ हेतुरस्वरूपकार्याणां प्रकाशतमसोरिव । मिथो विरोधतो
नातः सगतिज्ञानकर्मणो." ॥ ७० ॥ त्रिधासमुच्चयाभावे युक्त्यन्तरमाह—हेत्विति । ज्ञानस्य भान हेतुः स्वरूप
वस्तुप्रकाशकरव कार्यमविद्याध्वस्ति. कर्मणो हेतुरविद्यारागादि स्वरूपप्रकाशकत्वं कार्यमुत्पत्त्यादि तेषां मिथो
विरोधात्तम प्रकाशवप्रानयो सगतिरित्यर्थः ॥ "सङ्कल्पवृत्त्या मुद्गाति क्रियाकारकरूपम् । अज्ञानमागमज्ञान
सागत्य नास्त्यतोऽनयो." ॥ ७१ ॥ ज्ञानस्य स्वोत्पत्तिभावेणाज्ञानध्वंसित्वात्कर्मभिरसमुच्चय इत्ययुवत वाक्यो-
त्यज्ञानोत्तरभाविभाविनोत्कथंजन्यसाक्षात्काराख्यज्ञानान्तरेणाज्ञानध्वस्तेरभ्यासावस्थायां समुच्चयविदेरित्याश-
ङ्क्याऽऽह—सकृदिति । भावनायाश्चित्तंकाप्रपहेतुतया विशेषध्वसेन ज्ञानोत्पत्तावुपधायजानमात्रमागमिक ज्ञान
सकार्यमज्ञानं निवर्तयतीति नावसरं समुच्चयस्येत्यर्थः ॥ "सर्वेषां नैव घटते ज्ञानकर्मसमुच्चयः । विद्ययैव
तमोहानादकार्यैर्न किं फलम्" ॥ ७२ ॥ तदसंभवमुपसहरति—संबन्धेति । त्रैधाऽपीत्यर्थः । किंच ज्ञानोत्पत्ती
वा समुच्चयस्तत्फले वा नाऽऽद्योऽङ्गीकारादङ्गीतोऽप्यविद्याध्वस्तो स्वरूपरिधतो वा नाऽऽद्य इत्याह—विद्ययेति ।
न द्वितीय इत्याह—अकार्यं इति । "न मानं किंचिदप्यस्ति ज्ञानकर्मसमुच्चित्ते । प्रत्यक्कैवल्यससिद्धो ज्ञानादेव
तमोहते." ॥ ७३ ॥ समुच्चयाभावमुपसहस्य मानाभावमुपसहरति—न मानमिति । प्रतीचो मुक्तिप्राप्तो हेतुत्वेने-
ष्टसमुच्चित्तेमानमपि न किंचिदस्तीति योजना । अज्ञाननिवृत्त्यन्यायानुपपत्तिरत्र मानमित्याशङ्क्यान्वयोपपत्तिमाह
—ज्ञानादिति ॥ "उत्पत्त्याद्यतिरेकेण संसारविनिवृत्तयं । कर्मणोऽपि तथा भानं न किंचिदुपपद्यते" ॥ ७४ ॥ यदि
वा नित्यैरित्येतदतिरिक्तानो पक्षानां मुक्ततो निरासादवशिष्टं पक्षं मुक्ततो निराचष्टे—उत्पत्त्यादीति ॥
ऋणस्वत्वादि न प्रवर्तन्नित्यतभायोक्तचोद्युद्गाप्यमेव निराचष्टे भाति काचार्थाः । "नैवं वाक्यात्फलं यस्मात्

'ननु विश्वजिन्याय एवाऽऽयातो 'मोक्षस्य कल्पितत्वात् । मोक्षे वाऽन्यस्मिन्त्या फलेऽकल्पिते पुरुषा न प्रवर्तन्मिति मोक्षः फलं कल्प्यते श्रुतार्थापत्त्या यथा विश्वजिति । 'नन्वेवं सति कथमुच्यते विश्वजिन्यायो न भवतीति । फलं च कल्प्यते विश्वजिन्यायश्च

अनुपपत्त्या चेन्नियोज्यलाभाय नित्येषु फल कल्प्यते कथं 'तर्हि विश्वजिन्यायो न प्राप्नोतीति सिद्धान्तो प्रत्याह—नन्विति । 'उक्तमेव विवृणोति—मोक्षे वेति । अकल्पिते सतीति च्छेद । श्रुतार्थापत्त्या विधेः श्रुतस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्त्येति यावत् । विश्वजितोऽपि नित्येषु मोक्षे फले कल्प्यमाने सति फलितमाह—नन्वेवमिति । कथमित्युक्तानुपपत्तिमेव स्फुटयति—फलं चेति । 'फलकल्पनाया

तब तो यहाँ भी विश्वजित् न्याय ही न चाहते हुए भी मानना पड़ता है क्योंकि नित्यकर्मों से मोक्षरूप फल की कल्पना की गई है । मोक्ष अथवा अन्य किसी फल की कल्पना न करने पर पुरुषों की प्रवृत्ति ही नहीं होगी, इसी लिये विश्वजित् यज्ञ के समान श्रुतार्थापत्ति से मोक्षरूप फल की कल्पना की जाती है । ऐसा होने पर यह कैसे कहा जाता है कि यहाँ विश्वजित् न्याय नहीं है । फल की कल्पना भी की जाती है और विश्वजित् न्याय भी यहाँ नहीं है, यह तो परस्पर विरुद्ध बात कही जाती है । मोक्ष किसी का फल ही नहीं है—ऐसा कथन उचित नहीं क्योंकि इससे प्रतिज्ञाभङ्ग होती है । विप और दधि आदि के समान कर्म कार्यान्तर का प्रारम्भ करता है, इस दृष्टान्त से मुक्ति को आरंभमाण प्रति-

१ आक्षेपे ननुर्मवमित्यर्थ । २ अनिच्छतोऽपि गले पतित । ३ नित्यकर्मणाम् । ४. ननुपय वाक्या-
सङ्कृतिरेव । ५ नियोज्यलाभाय फलकल्पनाया आवश्यकत्वे सतीत्यर्थ । ६ द्रूपणमित्यर्थ । ७.
नित्येषु ।

विचिदपि लभ्यते । तस्मान्मर्ष्यश्रयाभावात्फले नातो मितिश्च न ॥ प्रमाणबलत प्राप्तमपि भूरि न वायते ।
अणुमात्रं न तदप्राह्य वस्तु यद्विषयमाणकम् ॥ पुमाशयवशाच्चेय फलकल्पितस्त्वयोच्यते । अन्यानपेक्षं सन्मान
प्रयोगार्थसमर्पणम् ॥ प्रत्यवायाद्यभावश्च फलं नित्यस्य कर्मणः । कल्पत सत्कल्प्यते कस्माद्विमुक्तिरित्यकर्मणः ॥
तावत्तैव कृतार्थत्वाद्भिर्धोऽनित्यस्य कर्मणः । विमुक्तिफलसम्बन्धे न मान विद्यत ततः ॥ ७६-८३ ॥ इति ।
यावज्जीवादिवाक्यवशाद्वा तदर्थसामर्थ्याद्वा नित्याना मुक्तिफलतेति विकल्प्याऽऽह दूययति—नैवमिति । न हि
यावज्जीवादिश्रुतिधामर्थ्यान्मोक्षोऽऽहदा नित्यकर्मफल लभ्यत तत्फलसब धर्षोऽसामर्थ्यवत पदस्याश्रुतेरर्थापु-
पत्तिश्च निरमित्यते तन्नित्याना मोक्षलक्षणे फले न मानमस्ति तस्य स्वरूपत्वेन स्वतन्त्रतिसिद्धस्तदव्यवध्यज्ञान-
वस्तुश्च धीमाश्रयीनत्वादित्यर्थः ॥ नित्याना मुक्तिफलत्वस्याप्रमाणत्वे फलितमाह—प्रमाणेति ॥ अथ
कान्धनिषिद्धवर्जनादुक्तमाश्रयोरप्रत्येनित्यनेमितिकानुष्ठानात्प्रत्यवायहेतुर्वतमानदेहपाते मुमुक्षादेहान्तरग्रहे
हेत्वभावात्तथासिद्धा मुक्तिरत आह—पुमाशयेति । मानाभावात्नेय कल्पना ग्राह्येत्यर्थः । अस्मदुत्प्रेक्षामपेक्ष्य
यावज्जीवादिवाक्येतेतमर्थमर्पयति सत्कुतो मानराहित्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अनेति । उपप्रेक्षानपेक्षमेव तन्नित्यकर्मणो
नित्यकर्मत्वदर्थं बोधयधोक्तकल्पनाया मानमित्यर्थः ॥ नित्यकर्मफल मुक्तिरित्यत्र वाक्याप्रामाण्यामुक्त्वा
तदर्थानुपपत्तिं प्रत्यानष्टे—प्रत्यवायादीति । आदिपद तत्फलार्थं न चोत्प्रेक्षादिमतिक्रिचिदित्याद्येतेन प्रत्युक्तम् ॥
ननु कल्प्यमानयो कल्पत बलवदिति न्यायविरोधमर्थापत्तेस्त्ववाऽन्यर्थापत्तेमाह—तावतेति । प्रत्यवायव्यस्त्या-
दिकल्पनेति यावत् । तत इति—न नित्यकर्मफल मुक्तिरिति शेषः ॥

न भवतीति विप्रतिपिद्धमभिधीयते । 'मोक्षः फलमेव न भवतीति चेत् । न । प्रतिज्ञा-
हानात् । कर्म कार्यान्तरं विपदध्यादिवदारभत 'इति हि प्रतिज्ञातम् । 'स चेन्मोक्षः कर्मणः
कार्यं फलमेव न भवतीति' सा प्रतिज्ञा हीयते । कर्मकार्यत्वे च मोक्षस्य स्वर्गादिफलेभ्यो
विशेषो वक्तव्यः ।

अथ कर्मकार्यं न भवति नित्यानां कर्मणां फलं मोक्ष इत्यस्या 'वचनव्यवहतेः' कोऽयं
इति वक्तव्यम् । न च कार्यफलशब्दभेदमात्रेण विशेषः शययः कल्पयितुम् । अफलं च मोक्षो

विश्वजिन्यायोऽयतरति मोक्षस्तु स्वरूपस्थितित्वेनानुत्पाद्यत्वात्फलमेव न भवतीति शङ्कते—मोक्ष इति ।
'निग्रहमुद्गावयन्नुत्तरमाह—नेति । प्रतिज्ञाहानिं प्रकटयति—कर्मत्यादिना । कर्मकार्यत्वं मुक्तेरपे-
त्योवत्" "तदेवायुक्तमित्याह—कर्मकार्यत्वे चति ।

फलत्वेऽपि कर्मकार्यत्वं न मुश्तेरस्तीत्युक्तं "दोषं परिहर्तुं चोदयति—अथेति । प्रतिज्ञाविरोधेन
'प्रतिविधत्ते—नित्यानामिति । फलत्वमङ्गीकृत्य कार्यत्वेऽनङ्गीकृते कथं व्याघात इत्याह—
चति । विशेषोऽयंगत इति शेषः । फलत्वमङ्गीकृत्य, कार्यत्वानङ्गीकारे व्याघातमुक्त्वा "वैपरीत्येऽपि तं

पादित किया था । यदि वह मोक्ष कर्म का कार्य यानी फल ही नहीं है, ऐसा कहते हो तो प्रतिज्ञा की
हानि होती है । यदि मोक्ष कर्म का कार्य है तो उसकी स्वर्गादिफलो से विशिष्टता बतलायी चाहिये ।

एव यदि वह कर्म कार्याय नहीं है तो "मोक्ष नित्यकर्मों का फल है" इस वाक्य के स्वरूप का
अर्थ ही क्या होगा, वह बतलाना चाहिये । "कार्यं" और 'फल शब्दों के भेदमात्र से ही किसी भेद की

१ अभिधीयत इति—यत्तु जीवञ्जुहुयादिति जीवनिविशेषस्य नियोज्यस्य साभान्न नित्याना कर्मणा विद्वजि-
न्यायेन स्वयं फलं कल्पत इति तत्र तेषां फलवत्त्वमङ्गीकृत्य न्यायाभावस्तदनङ्गीकृत्य बोध्यते नाऽऽयो
नित्यकाम्यवैषम्यासिद्धेरित्याह वाचित्ते—'काम्याग्निहोत्रवशित्य काम्य चापि प्रसज्यते । फलेनात्याभिसवन्धा-
भिष्कारं नित्यमुच्यते" ॥ ८५ ॥ इति । ननु फलसंबन्धेऽपि नित्यानित्यफलभेदाश्रित्यकाम्यवैषम्यं किं न
स्यादित्याशङ्क्य कामप्रयुक्तवैषमि विनाज्योतिष्ठीमवत्काम्यविशेषत्वात्पतेनित्यत्वानुपपत्तिरित्याह—निष्काम-
मिति । निष्येपु फलकल्पनाया विश्वजिन्यायोऽयतरति ॥ २ न च तपु तत्त्वल्पते मोक्षस्य स्वरूप-
स्थितित्वेनान्यानुत्पाद्यत्वात्फलत्वादिति द्वितीय शङ्कते—मोक्ष इति । इति वाचिकीय पचा । ३ इति
हि प्रतिज्ञातमिति—इति दृष्टान्तन मुक्तेरान्यमाणत्वं प्रतिज्ञातमित्यर्थः । ४ सत्यं मुक्तरारम्भमाणता
प्रतिज्ञाता न तु सा हीयते सस्या फलत्वमर्थेन निरासादन आह—स चेदिति । ५ उच्यते । ६ हीयत
इति—कर्मराम्यं हि तत्फल तस्मान्माक्षस्य कर्मफलत्वे निषिद्धे तदारम्भतैव निषिद्धा इति प्रतिज्ञाहानि
स्फुटैवेत्यर्थः । ७ वक्तव्य इति—कर्मकार्यत्वे मुक्ते स्वर्गादिभ्यो यतो विशेषो वक्तुं न शक्याऽस्तद्भेदनापि
नाशापकयादौ प्राप्ते ससात्त्वत्तं मुक्तं नेति न ते मुमुक्षा स्यादिति भावः । ८ वाक्यस्वरूपस्य । ९.
कोऽयं इति—किं क्षेपे, न कोऽपीत्यर्थः । तथा च फलस्य कार्यत्वाविशेषात् फलं च कार्यं नेति । व्याहृतम-
भिधानमिति भावः । १०. निग्रहस्यान वादिपरिभवप्रयोजक प्रतिज्ञाहानिरूपं दोषमिति यावत् । ११ प्रतिज्ञा
हानिरूपं दूषणमुत्तम् । १२ तदेव मुक्ते कर्मकार्यत्वमेव । १३ स्वर्गादिविशेषरूपम् । १४ निरस्यति ।
१५ कार्यत्वमङ्गीकृत्यफलत्वानङ्गीकारेऽपि ।

नित्यंश्च कर्मभिः क्रियते नित्यानां कर्मणां फलं न कार्यमिति चंपोऽर्थो विप्रतिषिद्धोऽभिधीयते यथाऽग्निं शीत इति ।

ज्ञानवदिति चेत् । यथा ज्ञानस्य 'कार्यं मोक्षो जानेना' क्रियमाणोऽप्युच्यते तद्वत्कर्म-कार्यत्वमिति चेत् । न । अज्ञाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य । अज्ञानव्यवधाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य मोक्षो ज्ञानकार्यमित्युपेक्ष्यते । न तु कर्मणा 'निवर्तयितव्यमज्ञानम् । न चाज्ञानव्यतिरेकेण मोक्षस्य व्यवधानान्तरं कल्पयितुं शक्यम् । नित्यत्वान्मोक्षस्य 'साधकस्वरूपाव्यतिरेकाच्च । यत्कर्मणा निवर्तयेत् ।

अज्ञानमेव 'निवर्तयतीति चेत् । न । विलक्षणत्वात् । 'अनभिव्यक्तिरज्ञानमभिव्य-

व्युत्पादयति—अफलं चति । आद्य व्याघातं दृष्ट्यातेन स्पष्टयति—नित्यानामिति ।

दृष्ट्यातेन व्याघातं परिहरप्राशङ्कते—ज्ञानवदिति चेदिति । 'तदेव स्फुटयति—यथेति । 'दृष्ट्यान्तं विघटयति—नेति । ज्ञानस्य मोक्षव्यवधानमज्ञाननिवर्तकत्वान्मोक्षस्तेनाक्रियमाणोऽपि 'तत्कार्यमिति व्यपदेशभाभवतीत्यर्थः । तदेव स्फुटयति—अज्ञानेति । "दार्ष्टान्तिकं निराचष्टे—न त्विति । यत्कर्मणा निवर्तयेत् तन्मोक्षस्य व्यवधानान्तरं कल्पयितुं न तु शक्यमिति सन्नयः । व्यवधानध्वसे कर्मणोऽप्रवेशोऽपि मुक्तावेव "तत्प्रवेशः स्यादिति चेनेत्याह—नित्यत्वादिति ।

नित्यकर्मनिवर्तयितव्यवधानान्तरं मा भूवज्ञानमेव तन्नित्यं अभिव्ययति "तथा च मोक्षस्य कर्म कार्यत्वं शक्यं मुपचरितुमिति शङ्कते—अज्ञानमेवेति । कर्मणा ज्ञानाद्विलक्षणत्वात्प्राज्ञाननिवर्तकत्वमित्युत्तरमाह—न विलक्षणत्वादिति । विलक्षणमेव प्रकटयति—अनभिव्यक्तिरिति । "इतश्च ज्ञाननिवर्तयं

कल्पना नहीं की जा सकती । मोक्ष किसी का फल नहीं है और वह नित्यकर्मों से होता है । वह नित्य कर्मों का फल है और कार्य नहीं है—यह सब बातें तो उसी प्रकार परस्पर विरुद्ध ही कही जाती हैं, जैसे कोई कहे अग्नि शीतल है ।

यदि कहो कि वह ज्ञान क समान है, जिस प्रकार ज्ञान का फल मोक्ष है ज्ञान द्वारा अनारभ्यमाण हाता हुआ भी मोक्ष ज्ञान का फल कहा जाता है उसी प्रकार वह कमफलत्व मोक्ष का भी हो सकता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान तो अज्ञान को निवृत्ति करता है । अज्ञानरूपी व्यवधान का निवर्तन होने से मोक्ष को ज्ञान का फल कहा जाता है । कम क द्वारा तो अज्ञान की निवृत्ति करना संभव नहीं है । जिसकी कम से निवृत्ति हो ऐसे अज्ञान को छाड़कर कोई दूसरा व्यवधान भी मोक्ष में हो सकता है—ऐसी कल्पना करनी असंभव है क्योंकि मोक्ष नित्य है और

- १ फलम् । २ अनारभ्यमाणं वनाय इति यावत् । ३ कमफलत्वं मोक्षस्य । ४ फलम् । ५ उच्यते । ६ निवर्तयितुं शक्यम् । ७ साधयेति—अधिशक्तिस्वरूपाव्यतिरेकात् कर्मणः प्रागेव सिद्धत्वेन मिदं तस्य नित्यत्वमिति भावः । ८ नित्यं कर्म । ९ अत्रकाण्डम् । १० दृष्ट्यान्तमेवेति यावत् । ११ दृष्ट्यान्तस्य दार्ष्टान्तिकानुगुण्यं निरस्यति । १२ फलम् । १३ कर्मणाऽपि व्यवधाननिरासित्वात्मुक्तिस्तत्कार्यत्वतोपचयतामित्याशङ्क्यावतारयति—दार्ष्टान्तिकमिति । १४ तस्य कर्मणः प्रवेशो जनकत्वम् । १५ नित्यकर्मणां ज्ञाननिवर्तकत्वं च । १६ कल्पयितुम् । १७ ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधादेव ।

क्ति'लक्षणेन ज्ञानेन विरुध्यते । कर्म तु नाज्ञानेन विरुध्यते 'तेन ज्ञानविलक्षणं कर्म । यदि ज्ञानाभावो यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञान योच्यतेऽज्ञानमिति सर्वं हि तज्ज्ञानेनैव निवर्त्यते । न तु कर्मणाऽन्यतमेनापि विरोधाभावात् ।

अथादृष्टमपि कर्मणामज्ञाननिवर्तकत्व कल्प्यमिति चेत् । न । ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ गम्यमानायामदृष्टनिवृत्तिकल्पनानुपपत्तेः । यथाऽवघातेन व्रीहीणां तुणनिवृत्तौ गम्यमानायामग्निहोत्रादि'नित्यकर्मकार्याऽदृष्टा न कल्प्यते तुणनिवृत्तिः । तद्वदज्ञाननिवृत्तिरपि नित्यकर्मकार्याऽदृष्टा न कल्प्यते । ज्ञानेन विरुद्धत्वं चासकृतकर्मणामवोचाम' । 'यदविरुद्धं

भेदाज्ञानमित्याह—यदीति । अन्यतमेन नित्यादिना 'व्यस्तेन 'समस्तेन वा श्रौतेन स्मार्तेन वेत्यर्थः । कर्माज्ञानयोरविरोधो हेत्वर्थः ।

अज्ञाननिवर्तकत्वं कर्मणो नान्वयव्यतिरेकसिद्धं कित्वादृष्टमेव कल्प्यमिति शङ्कते—अथेति । 'दृष्टे सत्यदृष्टकल्पना न न्याप्येति परिहरति—न ज्ञानेनेति । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन बुद्धाधारोहयति—ययेत्यादिना । अदृष्टेति च्छेदः । अस्तु ज्ञानाद्ज्ञानध्वस्ति' कित्तु कर्मसमुच्चितादित्याशङ्क्याऽह—ज्ञानेनेति । ननु कर्मभिरविरुद्धमपि हिरण्यगर्भादिविज्ञानमस्ति 'तथा च समुच्चितं ज्ञानमज्ञानध्वस्ति भविष्यति नेत्याह—यदविरुद्धमिति ।

साधक के स्वरूप से अभिन्न होने के कारण कर्म से पूर्व ही सिद्ध है ।

यदि कहो कि नित्यकर्म भी अज्ञान की निवृत्ति करता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्म ज्ञान से विलक्षण है । (क्या विलक्षणता है, इस पर कहते हैं—) अप्रकाशरूप अज्ञान का प्रकाशरूप ज्ञान से विरोध है । कर्म का अज्ञान से कोई विरोध नहीं है, इसलिए कर्म ज्ञान से विलक्षण है । यदि ज्ञान के अभाव, संशययुक्तज्ञान अथवा विपरीतज्ञान को अज्ञान कहा जाय, तो इन सभी की निवृत्ति ज्ञान से ही हो सकती है । किसी भी अन्य कर्म से नहीं हो सकती क्योंकि उसका इन तीनों प्रकार के अज्ञानों के साथ विरोध नहीं है ।

यदि कहो, अदृष्ट कर्मों का भी अज्ञाननिवर्तकत्व होना सिद्ध है, तो ऐसी कल्पना करना उचित नहीं है । ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति प्रत्यक्षसिद्ध होने पर निवृत्ति के लिये परोक्ष कल्पना करना युक्त नहीं है । जिस प्रकार मूसल से कूटने पर घान से तुणनिवृत्ति प्रत्यक्षसिद्ध होने पर अग्निहोत्रादि नित्यकर्म सामर्थ्य से अन्य तुणनिवृत्ति होती है—ऐसी परोक्ष कल्पना करना असंगत है, उसी प्रकार अज्ञाननिवृत्ति भी नित्यकर्म सामर्थ्य जन्मा है, ऐसी परोक्ष कल्पना करना उचित नहीं है । कर्मों का ज्ञान से विरोध होने के कारण उनका परस्पर समुच्चय नहीं हो सकता—ऐसा हम कई

१ प्रकाशरूपेण । २ कर्मणोऽज्ञानविरोधाभावेत्यर्थ । ३ प्रत्यक्षसिद्धायामित्यर्थ । ४ नित्यकर्म-सामर्थ्यजन्मा । ५ तथा च न समुच्चय इति भाव । ६ यदविरुद्धमिति—देवतादिज्ञानस्य कर्माविरोधि-त्वाद्युक्त समुच्चय । सत्त्वमस्यादिवाक्योत्पत्तिज्ञानस्य तु कर्मविरोधित्वात् समुच्चयोऽस्तत्कैवलमेवाज्ञानध्वसीत्यर्थ । ७ असमुच्चयत । ८ समुच्चयेन । ९ ज्ञानरूपे निवर्तके । १० उक्तज्ञानकर्मणोरविरोधे च ।

ज्ञानं कर्मभिस्तद्देवलोकप्राप्तिनिमित्तमित्युक्तम् "विद्यया देवलोकः" इति श्रुतेः ।

किंचान्यत्कल्प्ये' च फले नित्यानां कर्मणां श्रुतानां 'यत्कर्मभिविद्ध्यते' द्रव्यगुण-
कर्मणां कार्यमेव न भवति किं तत्कल्प्यताम् । 'यस्मिन्कर्मणः सामर्थ्यमेव न दृष्टम् । किं
वा 'यस्मिन्दृष्टं' 'सामर्थ्यं यच्च कर्मणां फलमविरुद्धं तत्कल्प्यतामिति । पुरुषप्रवृत्तिजनना-
यावश्यं चेत्कर्मफलं कल्पयितव्यम् । 'कर्माविरुद्धविषय' एव श्रुतार्थापत्तेः क्षीणत्वाश्रित्यो
मोक्षः फलं कल्पयितुं न शक्यस्तद्द्रव्यवधानाज्ञाननिवृत्तिर्वा । अविरुद्धत्वाद्दृष्टसामर्थ्यविष-

नित्यानां कर्मणां समुच्चिनानामसमुच्चितानां च स्वरूपस्थितौ मोक्षे तत्प्रतिबन्धकाज्ञानध्वस्तौ
वा नादृष्टं सामर्थ्यं कल्प्यमित्युक्तमिदानीं तत्कल्पनामङ्गीकृत्यापि दूषयति—किंचेति । कर्मणां नास्ति
मोक्षे सामर्थ्यमित्येतदुक्तादेव कारणान्न भवति किरण्यञ्च" कारणं "तत्रास्तौत्यर्थः । "तदेव दर्शयितुं
विचारयति—कल्प्ये चेति । विरोधमभिनयति—द्रव्येति । "कार्यत्वाभाव" समयंयते—यस्मिन्निति ।
पक्षान्तरमाह—किं वेति । सामर्थ्यंविषयं विशदयति—यच्चेति । कथमिह" निर्णय"स्तत्राऽह—पुरुषेति ।
कल्पयितव्यं फलमिति "संबन्धः । उत्पत्त्यादीनामन्यतमो हि कर्मभिरविरुद्धो "विषयः । तत्रैव नित्यकर्म-
चोदनानुपपत्तेरपज्ञानत्वाश्रित्यकर्मफलत्वेन मोक्षस्तद्द्रव्यवधानाज्ञाननिवृत्तिर्वा न शक्यते कल्पयितुम् ।
कर्मज्ञानयोर्विरोधाभावाद्दृष्टं सामर्थ्यं यस्मिन्नुत्पत्त्यादौ तद्विषयत्वाच्च कर्मण"स्तद्विलक्षणो मोक्षे न

वार पहले ही कह आये है । एवं जो देवताविज्ञान कर्म से अविरुद्ध है; उसे तो "ज्ञान से देवलोक की प्राप्ति होती है" इस बृहदारण्यकश्रुति में देवलोकप्राप्ति का कारण बतलाया गया है ।

इसके अतिरिक्त श्रुतिस्मृत नित्यकर्मों का फल अन्यकल्प्य होने पर (उत्पत्त्यादिविजित जो कार्यकरणरूप विलक्षण फल है) उसकी विरुद्धता हो जाती है। द्रव्य, गुण और कर्मों का कार्य नहीं होता, जिस मोक्षार्थ फल में कर्मों का सामर्थ्य ही नहीं देखा जाता, क्या उसकी कल्पना करनी चाहिये; अथवा जिस उत्पत्त्यादि वाले फल में कर्मों का सामर्थ्य देखा जाता है तथा जो कर्मों का अविरुद्ध फल है, क्या उसकी कल्पना करनी चाहिये । यदि पुरुषों की प्रवृत्ति कराने के लिये कर्मफल की कल्पना करनी आवश्यक हो, तो कर्मफल की कल्पना करनी चाहिये । तब तो श्रुतार्थापत्ति का पर्यवमान कर्म के विरोधी उत्पत्त्यादि वाले विषयों में ही होने के कारण मोक्षफल की नित्यता की कल्पना अथवा मोक्ष के व्यवधानस्वरूप अज्ञान की निवृत्ति की कल्पना करनी संभव नहीं है क्योंकि कर्म और अज्ञान का

१. वृ० उ० १।५।१६ । २. सति । ३. श्रुतानां यत्कर्मभिर्न विद्ध्यते तत्कल्प्यतां न मोक्षफल तन्मोक्षफल
- विद्ध्यते द्रव्येति पाठान्तरम् । ४. यत्फलमुत्पत्त्यादिविजितं कार्यकारणविलक्षणम् । ५. द्रव्येति—
यद्द्रव्यादिविलक्षणत्वात्जन्यत्वाभावाच्चाकार्यकारणमुत्पत्त्यादिविजितुष्येतिरिक्तं कर्मविरुद्धं मोक्षार्थं फल
किं तत्कल्प्यतामाहो इतरदिशि । ६. मोक्षार्थे फले । ७. उत्पत्त्यादिमिति फले । ८. कर्मणाम् । ९.
- तर्हि । १०. उत्पत्त्यादिमिति । ११. बन्धदपि । १२. कर्मणा मोक्षे सामर्थ्याभावे । १३. कारणान्तरम् ।
- १४. द्रव्यादि । १५. मोक्षे । १६. अस्मिन् विचारे । १७. विचारे न्यायानुसारिण निर्णयमाहेत्यर्थः ।
१८. एतदपेक्षया प्राप्ये कर्मफलमित्यधिकमिति भाति । १९. फलरूपः । २०. तद्विलक्षण इति—द्रव्यादि-
विलक्षणे तदजन्ये अकार्यकारणे उत्पत्त्यादिविजितुष्येतिरिक्ते इत्यर्थः ।

यत्वाच्चेति ।

पारिशेष्यन्यायान्मोक्ष एव कल्पयितव्य इति चेत् । सर्वेषां हि कर्मणा सर्वं फलम् । न चान्यदितरकर्मफलव्यतिरेकेण फल कल्पनायोग्यमस्ति । परिशिष्टञ्च मोक्ष । स चेशो वेदविदा फलम् । तस्मात्स एव कल्पयितव्य इति चेत् । न । कर्मफलव्यक्तीनामानन्त्यात्पारिशेष्यन्यायां नुपपत्तेः ।

न हि पुरुषेच्छाविषयाणां कर्मफलानामेतावत्त्वं नाम केनचिदसर्वज्ञेनावधृतं तत्सा-

व्यापारः । तथा च नित्यकर्मविधिवशात्पुरुषप्रवृत्तिसपादनाय फलं चेत्कल्पयितव्यं तर्हि तदुत्पत्त्यादीनामन्यतममेव तदविरुद्धं कल्पयितव्यं । इतिशब्द श्रुतार्थापत्तिपरिहारसमाप्त्यर्थं ।

"मोक्ष एव नित्यानां कर्मणा फलत्वेन कल्पयितव्यं पारिशेष्यन्यायादिति शङ्कते—पारिशेष्येति । पारिशेष्यन्यायमेव विशदयति—सर्वेषामिति । सर्वं स्वर्गपशुपुत्रादीति यावत् । "तथाऽपि मोक्षादन्यदेव नित्यकर्मफलं किं न स्यात्तत्राऽऽह—न चेति । मोक्षस्यापि"तरकर्मफलनिवेशमाशङ्क्याऽऽह—"परिशिष्टश्चेति । "तस्य फलत्वमेव कथं सिद्धं तत्राऽऽह—स चेति । परिशेष्यायातमर्थं निगमयति—तस्मादिति । पारिशेष्यासिद्ध्या "दूषयति—नेति ।

"कर्मफलव्यक्त्या नन्त्यमुक्तं ध्यनक्ति—न हीति । फलवत्फलसाधनानां फलविषयेच्छानां चाऽऽन-

प्रविरोधं हे श्रौतं जिनमे उनका सामर्थ्ये देखा जाता है , वे ही उन्ही वा विषय हैं ।

(इस पूर पूर्ववादी शङ्का करता है—) पारिशेष्यन्याय से मोक्ष ही नित्यकर्मों का फल है—ऐसी कल्पना कर ली जाय तो । नित्यातिरिक्त सभी कर्मों का स्वर्ग पशु पुत्रादि सभी फल है । नित्यकर्मों के सान्निध्य में जो दूसरे फल हैं, उनके फल से भिन्न मोक्ष से अन्य, फल की कल्पना करना संभव नहीं है । ऐसे में तो फिर मोक्ष ही अवशिष्ट रहता है । मोक्ष का वही फल वेदावज्ञाताओं को अभीष्ट है । मोक्ष के फलस्वरूप एव पारिशेष्य होने से उसकी ही कल्पना करनी चाहिये । (सिद्धान्तो उक्तं ब्राह्मणं का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्मफल की अभिव्यक्तियों तो अनन्त हैं इससे उनमें पारिशेष्यन्याय का प्रयोग करना असंभव है ।

१ सर्वेषामिति—नित्यातिरिक्तानामिति शेषः । तदुक्तं वातिने—माशात्पस्तान्तरैर्योगं काम्यानां स्याच्छ-
तत्त्वत् । नित्यकर्माभिसंबन्धो मुक्तं म्यात्पारिशेष्यत् । ॥ १०८ ॥ इति । विष्णुदशेफलाश्रुतरफलस्य च
विधेरयोगादिति हेतुमाह—पारिशेष्यत् इति । २ न चायदिति—नित्यकर्मण सकाशादितरफलकर्मं तरफला-
ङ्गिन् मोक्षाच्चात्मफल कल्पनायोग्यं न चास्तीत्यर्थः । ३ तस्मात्—मोक्षस्य फलत्वात्पारिशेष्याच्च । ४
असम्भवात् । ५ इयत्ता । ६ फलसाधनानामित्यर्थः । ७ निरक्तमोक्षे कर्मव्यापाराभावे च । ८
फलम् । ९ कर्माविरुद्धम् । १० मोक्ष इति—यद्यपि केवला नित्यकर्मसाधनाऽनुपपत्तिनित्यकर्मणां मुक्तिफलं
न कल्पयति तथापि पारिशेष्यसहिता कल्पयिष्यतीति तदाशयः । ११ सर्वकर्मणां सर्वफलत्वेऽपि । १२
नित्येतरकर्मैति यावत् । १३ परिशिष्टश्चेति—मोक्षस्यतरकर्मफलनिवेशस्तु कल्पयितुमशक्यस्तत्त्वत्पका-
भावादितरकर्मविष्णुदशे मोक्षतरत्तत्फलव्युत्पत्तेः काम्यकर्मसाधनाया अनुपपत्त्यभावात् । सद्रुक्तं—"मोक्षात्पस्तान्-
तरैर्योगं काम्यानां स्याच्छ-तत्त्वत् इति शेषो द्रष्टव्यः । १४ मोक्षस्य । १५ मुक्ते कर्मपत्त्ययुषपक्ष
परिद्वरतीति यावत् । १६ पारिशेष्यासम्भवात् ।

घनानां वा पुरुषेच्छाना वाऽनियतदेशकालनिमित्तत्वात्पुरषेच्छा विषयसाधनानां च पुरषेष्ट-
फलप्रयुक्तत्वात् । प्रतिप्राणि चेच्छा वैचित्र्यात्फलाना तत्साधनानां चाऽऽनन्त्यसिद्धिः ।
तदानन्त्याच्चाशक्यमेतावत्त्व पुरुषं ज्ञातुम् । अज्ञाते च साधनफलैतावत्त्वे कथं मोक्षस्य
परिशेषसिद्धिरिति ।

कर्मफलजातिपारिशेष्यमिति चेत् । सत्यपीच्छाविषयाणा तत्साधनाना चाऽऽनन्त्ये
'कर्मफलजातित्वं नाम सर्वेषां तुल्यम् । 'मोक्षस्त्वकर्मफलत्वात्परिशिष्टः स्यात् । तस्मात्परि-

न्त्यं कथयति—तत्साधनानामिति । 'तदानन्त्ये हेतुमाह—अनियतेति । इच्छाद्यानन्त्ये हेत्वन्तरमाह—
पुरुषेति । एतावत्त्व नाम नास्तीत्युभयत्र सन्धेयं । पुरुषस्येष्ट फलं शोभनाध्यासविषयभूतं तत्र 'विष-
यिणा शोभनाध्यासेन 'प्रयुक्तत्वादिति 'हेत्वर्थं । इच्छाद्यानन्त्यं 'प्राणिभेदेषु दर्शयित्वा तदानन्त्यमेकं-
कस्मिन्नपि प्राणिनि दर्शयति—प्रतिप्राणि चेति । इच्छाद्यानन्त्ये फलितमाह—तदानन्त्याच्चेति ।
साधनादिव्येतावत्त्वाज्ञानेऽपि 'किं स्यात्तदाह—अज्ञाते चेति । इतिशब्द पारिशेष्यानुपपत्तिसमाप्त्यर्थः ।

प्रकारान्तरेण पारिशेष्यं शङ्कते—कर्मिति । 'तामेधं शङ्का विशदयति—सत्यपीति । 'तथाऽपि
कथं मोक्षस्य परिशिष्टत्वं तदाह—मोक्षस्त्विति । परिशेषफलमाह—'तस्मादिति । शङ्कित परिशेषं

। पुरुष की इच्छा के विषयभूत कर्मफलो को इयत्ता का किसी भी अस्त्वेन जीव ने निर्धारण
नहीं किया क्योंकि उनके फल के साधन अथवा पुरुष की इच्छाओं के देश, काल और निमित्त अनियत
हैं, पुरुष की इच्छा, फल और उनके साधनों को उस (पुरुष) के इष्टफलो द्वारा प्ररणा मिलती
रहती है । अतः, प्रत्येक प्राणी की इच्छाओं में विचित्र शोभनाध्यास रहने के कारण फल और उनके
साधनों को आनन्त्यसिद्धि होती है । इच्छादि आनन्त्य से पुरुषों को उनके साधन, फल और इच्छा की
इयत्ता का ज्ञान होना सम्भव नहीं है, तथा साधन और फलो की इयत्ता का ज्ञान न होने पर मोक्ष की
परिशेषता कैसे सिद्ध हो सकती है ।

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) कर्मफलो की जाति को परिशेषता तो सिद्ध हो ही सकती है ।
इच्छा, फल और उनके साधनों का आनन्त्य सिद्ध होने पर भी उन सब में कर्मफलत्वरूप धर्म तो
समान ही है । किन्तु मोक्ष में तो कर्मफल का अभाव ही है, इसलिये वही परिशिष्ट होना चाहिये ।
इसलिये परिशेषता उसी को ही नित्यकर्मों का फल कल्पना करना उचित ही है । (इस पर सिद्धान्ती

१ फलमिति यावत् । २ विचित्रशोभनाध्यासहेतुकतया । ३ इच्छादि । ४ साधनफलयो इच्छायाश्च ।

५ कर्मफलत्वरूपो धर्मः । ६ मुक्ते कर्मफलत्वाभावात् । ७ फलादि । ८ शोभनमिदमित्यध्यास-

विषयभूतमिति बोध्यम् । ९ ययोक्तष्टफले । १० कामिनाम् । ११ प्रवृत्तत्वात् । १२ हेत्वर्थं

इति—प्रवृत्तिप्रयोजकानामिच्छाहेतूनां शोभनाध्यासानामानन्त्यात्तत्कार्येच्छामामानं त्य तदानन्त्यात्तद्विषयाणां

फलानामानन्त्यं तदानन्त्यात्साधनानामानन्त्यमिति भावः । १३ भिन्नभिन्नेषु प्राणिष्विति यावत् । १४

सर्वंप्राणिषु देशादिबशादिच्छादीनां वैचित्र्यादानन्त्येऽपि प्रकृतपारिशेष्ययायानुपपत्तौ किं लभ्यमित्यर्थः । १५

पारिशेष्यान्तरविषयम् । १६ सर्वेषां फलानां कर्मफलत्वेन तुल्यत्वेऽपि । १७ मोक्षस्य कर्मफलत्वाभावात् ।

शेषात्स एव युक्तः कल्पयितुमिति चेत् । न । 'तस्यापि नित्यकर्मफलत्वाम्युपगमे कर्मफल-
समानजातीयत्वोपपत्तेः परिशेषानुपपत्तिः । 'तस्मादन्यथाऽप्युपपत्तेः 'क्षीणा श्रुतार्थापत्तिः ।
उत्पत्त्यासिक्कारसंस्काराणामन्यतममपि नित्यानां कर्मणां फलमुपपद्यत इति 'क्षीणा
श्रुतार्थापत्तिः ।

चतुर्णामन्यतम एव मोक्ष इति चेत् । न तावदुत्पाद्यो 'नित्यत्वात् । अत एवावि-
कार्योऽसंस्कार्यश्चात एवासाधनद्रव्यात्मकत्वाच्च । साधनात्मकं हि द्रव्यं सरिक्रियते । यथा
पात्राज्यादि' प्रोक्षणै'क्षणादिना । न च संस्क्रियमाणः संस्कारनिर्वर्त्यो वा यूपार्दिवत् ।

दूषयति—नेत्यादिना । अर्थापत्तिपरिशेषो पराकृत्यार्थापत्तिपराकरणं प्रपञ्चयितुं प्रतीति—तस्मादिति
अन्यथाऽप्युपपत्तिं प्रकटयति—उत्पत्तीति ।

'नित्यानामुत्पत्त्यादिकलत्वेऽपि मोक्षस्य नत्फलत्वं सिध्यतीति शङ्कते—चतुर्णामिति । "तत्र
मोक्षस्योत्पाद्यत्व दूषयति—न तावदिति । उभयत्रात शब्दो नित्यत्वपरामर्शो । असंस्कार्यत्वे हेत्वन्तर-
साह—असाधनेति । "तदेव व्यतिरेकमुखेन(ण) विवृणोति—साधनात्मकं हीति । इतश्च मोक्षस्यासं-
स्क्रियमाणत्वमित्याह—न चेति । यथा यूपस्तक्षणाष्टास्त्रीकरणाभ्यञ्जनादिना" संस्क्रियते यथा चाऽऽह-
वनीयः "संस्कारेण निष्पाद्यते न तथा मोक्षो नित्यमुद्भत्वाभिर्गुणत्वाच्चेत्यर्थः । "यस्मान्तरमनुभाष्य दूष-

कहता है—) ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि यदि उसे भी नित्यकर्मों का फल माना जायगा, तो
उसमें भी कर्मफल की समानजातीयता की उपपत्ति होने से परिशेष की उपपत्ति का अभाव रहेगा ।
इससे भिन्न प्रकार से भी नित्यकर्मों का फल की उपपत्ति हो सकती है, इसलिये श्रुतार्थापत्ति निरस्त हो
जाती है । भावार्थ यह है कि उत्पत्ति, अति, विकार और संस्कार इन चारों से भिन्न कोई भी नित्य
कर्मों का फल हो सकता है, इसलिये श्रुतार्थापत्ति निरस्त हो जाती है ।

(इस पर पूर्ववादी आक्षेप करता है—) तो यदि इन चारों में से किसी एक को ही मोक्ष
कहा जाय, (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का परिहार करते हुए कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं ।
नित्य होने से मोक्ष उत्पाद्य नहीं है (उत्पाद्यत्व और नित्यत्व में विरोध तो स्फुट ही है । इसी कारण से
अविकार्य है तथा असंस्कार्य है क्योंकि मोक्ष साधनात्मक द्रव्य नहीं है । साधनात्मक द्रव्य या ही संस्कार

१. ननु मोक्षादन्यत्र काम्यकर्मफलत्वस्य सत्त्वान्मोक्षे तदभावात्परिशेष्यमित्याशङ्क्याऽह—तस्यापीति ।
मोक्षस्यापीत्यर्थं । तदुक्तं वातिके— 'नित्यकर्मफलत्व चेन्मुक्तेरप्यम्युपेयते । कर्मकार्यसजातिस्त्वात्परिशेष्यन्य'
कुत ॥ ११५ ॥ इति । २ तस्मादिति—परिशेष्यासभवे तत्सहकृता, नित्यकर्मचोदानुपपत्तिनित्यकर्मणो
मुक्तिफलत्व कल्पयतीति पक्षस्य निरस्तत्वादित्यर्थं । ३ निरस्ता । ४ क्षीणेति—उत्पत्त्यादीनां चतुर्णाम-
न्यतमफलत्वेनापि नित्यचोदनोपपत्तेर्न मुक्तेस्तत्फलत्वसाधिकाऽर्थापत्तिरिति भावः । ५ उत्पाद्यत्वनित्यत्वयोरेव
विरोध स्फुट एव । ६ आदिना श्रीहि । ७ पत्यवेक्षितमाज्य भवति । ८ आदिना आहवनीयादि ।
९ नित्यानामित्यादिस्थाने सत्य नित्यानामुत्पत्त्याद्यन्यतमफलत्व वि तु मोक्षोऽपि तेषामन्यतम इति शङ्कत इति
पाठान्तरम् । १० तत्र उत्पत्त्यादिचतुर्णां मध्ये । ११ असंस्कार्यत्वमेव । १२ आदिना प्रोक्षणम् ।
१३ संस्कारविशिष्ट उत्पाद्यते । १४ अवशिष्टमाप्यत्वपक्षम् ।

'पारिशेष्यादाप्यः स्यात् । नाऽऽप्योऽप्यात्मस्वभावत्वादेकत्वाच्च ।

'इतरैः कर्मभिर्वैलक्षण्याच्चित्तानां कर्मणां तत्फलनापि विलक्षणेन भवितव्यमिति चेत् । न । कर्मत्वसालक्षण्यात्सलक्षणं कस्मात्फलं न भवतीतरकर्मफलैः । निमित्तवैलक्षण्यादिति चेत् । न । क्षामवत्यदिभिः समानत्वात् ।

यथा हि गृहदाहाहौ निमित्ते क्षामवत्याद्येष्टिर्ध्यायाग्निने जुहोति स्कन्ने जुहोतीत्ये-

यति—पारिशेष्यादित्यादिना ।

एकत्वं पूर्णत्वम् । साधनवैलक्षण्यं फलवैलक्षण्यं कल्पयतीति शङ्कते—इतरैरिति । हेतुवैलक्षण्यासिद्धौ कल्पकाभावात्फलवैलक्षण्यासिद्धिरिति दूषयति—न कर्मत्वेति । 'निमित्त'कृतहेतुवैलक्षण्यवशात्फलवैलक्षण्यसिद्धिरिति शङ्कते—निमित्तेति । "निमित्तवैलक्षण्यं फलवैलक्षण्यस्यानिमित्तमिति परिहरति—न क्षामवत्यादिभिरिति ।

"तदेव प्रपञ्चयति—यथा हीति । "यस्याऽऽहिताग्नेरग्निगुं हान्वहेदग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाक-

किया जाता है । जिस प्रकार पात्र, आग्य, व्रीहि का प्रोक्षण और ईक्षणादि से सस्कार किया जाता है । मोक्ष न तो संस्कृत किया जाने वाला है और न धूपादि के समान सस्कार द्वारा निष्पन्न होने वाला है । परिशेषत' मोक्ष को प्राप्य ही माना जा सकता है, किन्तु आत्मस्वभाव एवं एकस्वरूप होने से प्राप्य भी नहीं हो सकता ।

(इस पर पूर्ववादी ब्राक्षेप करता है—) किन्तु नित्यकर्म ग्रन्थ काम्यकर्मां से विलक्षण है इसलिये उनका फल भी विलक्षण होना चाहिये । (सिद्धान्ती उक्त ब्राक्षेप का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्मत्व में समान लक्षण वाले होने के कारण नित्यकर्म के फल का ग्रन्थ काम्यकर्मफलों के समान लक्षण वाला होना सिद्ध नहीं होगा । यदि कहीं निमित्त में विलक्षणता होने

१. उत्पत्त्यादिप्रमाणसम्भवेन परिशेषात् । २. अभिन्नोत्रादिनित्यवर्मणा निरपत्यममाख्यया कर्मान्तर-वैलक्षण्यात् तत्फलेषु नित्यतेति समाशयेन शङ्कते—इतरैरिति । काम्यादिभिर्नित्यैः । ३. नित्यकर्मफलना-प्येत्यर्थः । ४. समाह्वयान्तरेण (कर्मणि समाह्वया) समापत्ते—नेति । ५. नित्यवर्मप्रपञ्चः । ६. काम्यकर्मफलैः । ७. नेति—न नित्याना मोक्षफलत्वे तथा नैमित्तिके क्षामवत्यादिभिरिष्टिभिस्तुल्यफलत्वा-दिवर्धः । ८. विधीयते । ९. निमित्तेति—यावज्जीवमित्यादि जीवनादिनिमित्तप्रयुक्तसाधनवैलक्षण्यव-शादित्यर्थः । १०. नाग्निहोत्रादिषु नित्यत्वसमाख्यया वैलक्षण्यं यन कर्मत्वसमाख्यान्तरेण तेषु फलसालक्ष-प्यमुच्येत किन्तु जीवनादिनिमित्तवशादित्याद्येनावतारयति—निमित्तकृतेति । ११. सरयपि निमित्तकृते वैलक्षण्यं न नित्याना मोक्षफलता नैमित्तिकैस्तुल्यफलत्वेनातत्फलत्वादित्यभिप्रायेण परिहारमवतारयति—निमित्तेति । १२. नित्यकर्मणा नैमित्तिकैरुत्पत्त्यम् । १३. यस्याहिताग्नेरित्यादि—अत्र क्षामवते कृशाय इति न्यायप्र० टि० न्यायप्रकाशे च पापक्षपरूपमस्या फलमुक्तम् । शेषजातिमरणनिवृत्त्यर्थं गृहदाहनिवृत्त्ये चैवमिष्टिरिति श्रौतपदार्थनिवृत्तेऽत्राचि । शब्दकल्पद्रुने च क्षामवतो इत्युट्छुप्य क्षाम दोषक्षय. साध्यतयाऽत्यस्या मतुषु यागविशेष । यथा भविष्ये—“क्षामवत्यादिना यद्दत्त कर्मणा पूतनापते । देवदोषादवरणे जाते दोषकदम्बके ॥ होमेनैवेन दोषाणा सर्वेषा क्षयमादिशेत्” ॥ एव च एकप्रायश्चित्तेन अनेकदोषक्षयाय क्षामधर्तापि. सर्वत्र दृष्टान्त इति प्रायश्चित्ततत्त्वमित्युक्तम् ।

यमादौ नैमित्तिकेषु कर्मसु न मोक्षः फलं फल्प्यते । तंत्रां विद्मोदानैमित्तिकत्वेन जीवना-
दिनिमित्ते च श्रवणात् । तथा नित्यानामपि न मोक्षः फलम् ।

श्रालोकस्य 'सर्वेषां रूपदर्शनसाधनस्य' उलूकादय आलोकेन एषं न पश्यन्तीत्युलू-

पालं निर्वपेदित्यत्र 'दहेदिति विधिविभक्त्या प्रमिद्धार्थपञ्चद्वोपहितया गृहदाहारस्यनिमित्तपरामर्शाना-
न्ये क्षामयते पुरोडाशमित्यादिना 'क्षामयती विधीयते । 'यस्योभयं हविरातिमाह्वैत ऐन्द्रं पञ्चशरा-
यमोदनं निर्वपेदित्यत्र चाऽऽह्वैदिति विधिविभक्त्या निर्वपेदिति विधास्यमाननिर्वापनिमित्तं हविरातिम-
नूद्य निर्वापो विधीयते । 'भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोत्यय 'यस्य 'पुरोडाशो क्षायतस्तं यज्ञं यदणो गृह्णाति
यदा तद्विधेः संतिष्ठेताय तदेव हविर्निर्वपेद्यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तमिति च भेदनादिनिमित्तं प्रायश्चि-
त्तमुक्तं न च तन्मुक्तिफलं तथा" निमित्तभेदेऽपि न नित्यं कर्म मुक्तिकलमित्यर्थः । क्षामयत्यादितुल्यत्वे
नित्यकर्मणां कुनो लब्धमित्यादाङ्गुषाऽह—तैश्चेति । क्षामयत्यादिभिरिति यावत् । प्रविद्येये हेतुर्नैमित्तिक-
कत्वेनेति । 'तदेव कथमिति चेत्प्राऽह—जीवनादिति । दार्ष्टान्तिकं स्पष्टयन्—तथेति ।

नित्यं कर्म "कर्मन्तराद्विलक्षणमपि न मोक्षफलमित्यत्र दृष्टान्तमाह—श्रालोकस्येति । चक्षुरन्त-

के कारण फल मे विलक्षणता होनी ही चाहिये तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि क्षामवत्यादि
इष्टियो से इसकी समानता है ।

जिस प्रकार गृहदाहादि निमित्त होने पर क्षामवत्यादि इष्टियो का विधान किया जाता है, जिस
प्रकार "कुम्भ्यादि पात्रभेद से हवन करे", "आज्यादि स्कन्दन को निमित्त कर के हवन करे" इत्यादि
विधियों मे भेदन और स्कन्दन के प्रायश्चित्तरूप से किये गये नैमित्तिककर्मों का फल मोक्ष नहीं हो
सकता । नित्यकर्मों से विलक्षण न होने के कारण ये नैमित्तिककर्म भी उनके समान ही हैं क्योंकि
अग्निहोत्रादि कर्मों को श्रुति जीवनादिनिमित्तक के रूप मे वर्णन करती है । इसी प्रकार क्षामवत्यादि
इष्टियो के समान नित्यकर्मों का फल भी मोक्ष नहीं हो सकता ।

उलूकादि से इतर सभी प्राणियों के लिए प्रकाश रूपदर्शन का साधन होने पर भी उलूकादि
प्रकाश से रूपादि की उपलब्धि नहीं कर पाते । इस प्रकार उल्लू के चक्षुधों की दूसरे लोगों के

१ नित्यकर्मणामवैतश्रवणात् । २ सति अग्निहोत्रादिनित्यकर्मणाम् । ३ क्षामवत्यादिवत् । ४ नित्या-
नामपीत्यपिना निमित्तभेदेऽपीति सूच्यते । ५ उलूकादिभ्य इतरेषाम् । ६ सत्यपि । ७ दहेदित्येत-
त्पदवत्कृतिर्दभिप्रप्रत्ययरूपविभक्तिसूच्येत्यय । ८ इष्टि । ९ यस्याभयमित्यादि—दर्शपूर्णमासयोर्दोहो
प्रकृत्येदमाप्नातम् । तथा च उभयम्—सायप्रातिकम् हविर्दोहरूपम् । आति विनाशम् । आह्वैदग्नेदित्यर्थः ।
१० भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोतीति—दत्तपूर्णमासयो कुम्भ्यादिपात्रभेदमाज्यादिस्कन्दन च निमित्तीकृत्य
होमावाप्तान्तो । कुम्भ्यादीत्यत्र आदिना कपालादि ग्राह्यम् । ११ यज्ञस्य । १२ अथ यस्य पुरोडाशो
क्षायत इत्यादरथमय । यस्य यज्ञस्य पुरोडाशावाप्त्याग्नीषोमीयो क्षायतोऽयन्तदाह्वेन भस्मीभवत त यज्ञ
वधो गृह्णाति नत्वय यज्ञो यजमानस्य फल प्रयच्छति । यदि तादृशहविष्यो यज्ञ आसमाह्वैरनुष्ठीयेत तदा
तत्प्रत्यवायपरिहाराय पुनस्तदेव हविर्निरूप्य यजमानो यज्ञमुत्तिष्ठेदिति जै० अधिवरणन्यायमालायाम् । १३-
जीवनादि । १४ नित्यकर्मणां नैमित्तिकत्वमेव । १५ काम्यादित् ।

कादिचक्षुषो वलक्षण्यादितरलोचक्षुभिर्न रसादिविषयत्वं परिकल्प्यते । रसादिविषये सामर्थ्यस्यादृष्टत्वात् । सुदूरमपि गत्वा षट्षिषये दृष्टं सामर्थ्यं तत्रैव कश्चिद्विशेषः कल्पयितव्यः ।

यत्पुनरुक्तं विद्यामन्त्रशर्करादिसंयुक्तविषयद्वयानि कर्माणि कार्यान्तरमारभन्त इति । आरभ्यतां विशिष्टं कार्यं तदिष्टत्वादविरोधः । निरभिसंधेः कर्मणो विद्यासंयुक्तस्य विशिष्टकार्यान्तरारम्भे न कश्चिद्विरोधः । देवयाज्यात्मयाजिनो रात्मयाजिनो

रंलूकादिचक्षुषो वलक्षण्यापि न रसादिविषयत्वमित्यत्र हेतुमाह—रसादीति । वलक्षणं तर्हि कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—सुदूरमपीति । मनुष्यान्विहायो लूकादौ गत्वाऽपीति यावत् । यद्विषये रूपादावित्यर्थः । विशेषो ब्रह्मसूत्रादिरतिशयः ।

“दाष्टान्तिकं पूर्ववादानुवादपूर्वकमाचष्टे—यत्पुनरित्यादिना । तत्रैवेति यावत् । “तदेव विवृणोति—निरभिसंधेरिति । विद्यासंयुक्तं कर्म विशिष्टकार्यकर्ममित्यत्र शतपथश्रुतिं प्रमाणयति—देवयाजीति । तदाहुरित्युपक्रम्य” देवयाजिनः श्रेयानित्यादौ काम्यकर्तृद्वेषयाजिन सकाशादात्मशुद्ध्यर्थं कर्म कुर्वन्नात्मयाजी श्रेयानित्यात्मात्मयाजिनो विशेषध्वषणात्सर्वक्रतुयाजिनामात्मयाजी विशिष्यत इति स्मृतेश्च “विशिष्टस्य कर्मणो” विशिष्टकार्यारम्भकत्वमिच्छमित्यर्थः । छान्दोग्येऽपि विद्यासंयुक्तस्य कर्मणो विशिष्ट

चक्षुषो से विलक्षणता होने पर भी उस चक्षु का (रूपादि को छोड़कर) रसादि विषय कल्पना नहीं किया जा सकता क्योंकि रसादि विषय को ग्रहण करने की शक्ति चक्षु में नहीं देखी जाती । (मनुष्यो को छोड़कर उलूकादि में) सुदूर जाकर भी जिन विषय में जिसकी ग्रहण करने की शक्ति देसी जाती है, उसी में कुछ विशेष योजना की कल्पना करनी चाहिये ।

एव जो पहले ऐसा कहा था कि विद्या, मन्त्र, शर्करादियुक्त विषय और दधि आदि के समान नित्य-कर्म किसी कार्यान्तर का प्रारम्भ करते हैं, सो वे भले ही (सत्त्वशुद्धि की एकाग्रताएव) किसी विशिष्ट कार्य का प्रारम्भ करते रहे, इष्ट होने के कारण उससे हमारा कोई विरोध नहीं है । निष्काम विद्यायुक्त कर्म का विशिष्ट कार्यान्तर के प्रारम्भ में कोई विरोध नहीं है । देवयाजी स आत्मयाजी श्रेष्ठ है ” , “जो भी विद्या, श्रद्धा, उपनिषत् से करता है, वही अधिक वीर्यवान् होता है ” इत्यादि

१. अदृष्टत्वादिति—“रसादिग्रहणे शक्तिर्लंकि दृष्टा न चक्षुः । सामर्थ्यस्याप्राज्ञात्सामान् विरुद्धा प्रकल्प्यते” ॥ वा० १२३ ॥ इति । विरुद्धा रसादिविषया शक्तिरिति शेषः । २ यदिनि—यस्य चक्षुषोऽर्षेद्विषये स्वगोचरे रूपादौ सामर्थ्यं दृष्ट तस्य तत्रैवेति शोध्यम् । ३ आलोक्यादिनिर्गेषामुलूकादिचक्षुषु रसमादिचक्षुषुत् न च कार्यं कुर्वन्ति आह—तत्रैवेति । आलोकानपेक्षयाप्युलूकादिचक्षुषु स्वगोचररूपादावेव शक्यतिशयो न रसादावित्यर्थः । ४ विशिष्टमिति—मत्त्वशुद्धिस्तदेवाग्रतास्यमिति सिद्धान्त्यभिप्रेतम् । आलोकानपेक्षो-लूकादिचक्षुर्वज्जानमयुक्तमपि कर्म स्वगोचरचतुर्गामन्यतमर्थ्यवारम्भकमिति भावः । ५ निष्कामस्य । ६. मध्ये । ७ समुचितं कर्म । ८ पूर्वपक्षानुवादेति बोध्यम् । ९ विशिष्टकार्यान्तरारम्भे । १०. संयुक्तयावयम् । ११. शतपथे । १२ विशिष्टस्य विद्यासहितस्य निरभिसन्धेरित्यर्थः । १३ सत्त्व-शुद्ध्यादिरूपः ।

विशेषश्च जगद्देवयाजिनः श्रेयानात्मयाजीत्यादौ यदेव विद्यया 'करोतीत्यादौ च ।

यस्तु परमात्मदर्शनविषये 'मनुनोक्त आत्मयाजिशब्दः समं पश्यन्नात्मयाजीत्यत्र ममं

पश्यन्नात्मयाजी भवतीत्यर्थः । अथवा भूतपूर्वगत्या ।

'आत्मयाज्यात्मसंस्कारार्थं नित्यानि कर्माणि करोति "इदं मे 'ज्जेनाङ्गं संस्क्रियते"

कार्यरम्भकत्वं दृष्टमित्याह—यदेवेति ।

नन्वात्मयाजिशब्दो नित्यकर्मानुष्ठायविषयो न भवति ।

'सर्वंभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वंभूतानि चाऽऽत्मनि' ।

सपश्यन्नात्मयाजी वं स्वाराज्यमधिगच्छति" ॥

इत्यत्र परमात्मदर्शनविषये तस्य 'प्रयुक्तत्वादत्त आह—यस्त्विति । यदि समं पश्यन्भवेत्तादौ परेणाऽऽत्मनंकीभूत स्वराड्भवतीत्यात्मज्ञानस्तुतिरत्र विवक्षिता । "महती हीमं ब्रह्मविद्या यद्ब्रह्मविदेवा"ऽऽत्मयाजी भवति । नहि तस्य "तदनुष्ठानं पृथगपेक्षते । ब्रह्मवित्युप्यकृदिति" च वक्ष्यतीत्यर्थः । "परदर्शनवत्यात्मयाजिशब्दस्य गत्यन्तरमाह—अथ वेति । भूता या "पूर्वस्थितस्तामपेक्षयाऽऽत्मयाजिशब्दो विदुषीत्यर्थः ।

"तदेव प्रपञ्चयति—आत्मेति । तेषा तत्संस्कारार्थत्वे प्रमाणमाह—इदमिति । तत्रैव स्मृतिं

श्रुतियो द्वारा देवयाजी और आत्मयाजी में आत्मयाजी की विशेषता सम्पादित की गयी है ।

"आत्मयाजी सर्वभूतप्रणियो मे एक सा देवता हुया स्वाराज्य को प्राप्त करता है" इत्यादि वाक्य से जो मनुजी ने आत्मयाजी शब्द का परमात्मदर्शन के विषय में प्रयोग किया है, उसका भावादाय यह है कि सब भूतप्रणियो मे ममदृष्टि स देखने वाला आत्मयाजी है अथवा यहाँ भूतपूर्व गति स इसका प्रयोग होता है ।

"मेरा यह अङ्ग अन्त करण इस नित्यकर्म के द्वारा सस्कारयुक्त किया जाता है" इस श्रुतिवाक्य के प्रमाण से आत्मयाजी अन्त करणशुद्धि के लिए नित्यकर्मों को करता है । "गभशुद्धि के लिए किए गये होमो से (बीजगत पाप निवृत्त हो जाते है) ' इत्यादि प्रकरण में मनु नित्यकर्मों का प्रयोजन देहेन्द्रियसघात का सस्कार दिखलाता है । जो आत्मयाजी उन कर्मों स सस्कारयुक्त हो गया है, वह

१. अद्वयोपनिषदा तदेव बीजवत्तर भवतीति श्रुतिशय । छा० उ० १।१।१० । २ मनुनेति । "नि श्रेयसकर कर्म विप्रस्यद निबोधत" । (१२ ८२) इत्यारम्भ "वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च समय । अहिंसा गुरुसेवा च नि श्रेयसकर परम्" ॥ १२-८३ ॥ इत्यादिना कर्मविशेषानुष्ठानत्वा "श्रेयस्करतर श्रेय सर्वदा कर्म वैदिवम्" ॥ १२-८६ ॥ इति चादिश्य सर्वभूतषु चात्मानमित्यादिवदन्तति शेष । ३ आत्मयाजीति—नित्यकर्मानुष्ठायीत्यर्थः । विद्याकृते सबफलान्तर्भावितयैव नित्यकर्मानुष्ठानाय सम्पन्नो न पृथक्कर्मानुष्ठानापेक्षाविद इति स्तुति । ४ आत्मयाजीति—आत्मसंस्कारार्थं या नित्यानि कर्माणि करोति स सम पश्यन्नात्मयाजीति वाक्ये मनुना आत्मयाजीत्युक्त इत्यर्थः । ५ अन्त करणशुद्धयम् । ६ अन्त करणम् । ७ नित्यकर्मणा । ८ म स्मृ १२।६१ । ९ प्रयुक्तत्वादिति—तथा च मनुकी विद्यासमुच्चितस्य कर्मणो मुक्तिफलत्वमिष्टमिति शेष । १० अधिकारी । ११ ता दामोदरि—महतीति । १२ नित्यकर्मानुष्ठायी । १३ विद आत्मयाजित्वम् । १४ वृ० उ० ४।४।६ । १५ परमात्मविदि । १६ नित्यकर्मानुष्ठायित्वरूपा १७. भूतपूर्वगति-त्वमेव ।

इति श्रुतेः । तथा 'गार्भो'र्होमैरित्यादिप्रकरणे कार्यकरणसंस्कारार्थत्वं नित्यानां कर्मणां दर्शयति । संस्कृतश्च य आत्मयाजी तैः कर्मभिः' समं द्रष्टुं समर्थो भवति । तस्येह वा जन्मान्तरे वा 'सममात्मदर्शनमुत्पद्यते । समं पश्यन्स्वाराज्यमधिगच्छतीत्येषोऽर्थः' । आत्मयाजिशब्दस्तु भूतपूर्वगत्या प्रयुज्यते । 'ज्ञानयुक्तानां नित्यानां कर्मणां ज्ञानोत्पत्तिसाधनत्व-

प्रमाणयति—तथेति । गर्भसंबन्धिभिर्होमैर्मौञ्जीनियन्धनादिभिश्च वैदिकमेवंन । शमयतीत्यस्मिन्प्रकरणे नित्यकर्मणां संस्कारार्थत्वं निश्चितमित्यर्थः । संस्कारोऽपि कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—संस्कृतश्चेति । यो हि नित्यकर्मानुष्ठायो स तदनुष्ठानजनितापूर्ववशात्परिमुद्धबुद्धिः सम्यग्योग्यो भवति ।

“महायज्ञंश्च यज्ञंश्च ब्राह्मीय क्रियते तनु.”

इति स्मृतेरित्यर्थः । कदा पुनरेया सम्यगधीरुत्पद्यते तत्राऽऽह—तस्येति । उत्पन्नस्य सम्यग्ज्ञानस्य फलमाह—सममिति । कथं पुनः” सम्यग्ज्ञानवत्यात्मयाजिशब्द” इत्याशङ्क्य पूर्वोक्तं स्मारयति—आत्मेति । किमीतीह” भूतपूर्वगतिराश्रितेति तत्राऽऽह—ज्ञानयुक्तानामिति । ऐहिकैरामुष्मिकैर्वा

सर्व जीवो मे समानरूप से एक ही तत्व देखने के लिए समर्थ हो जाता है । उसे ही इस जन्म या जन्मान्तर मे समानरूप से सर्वत्र विद्यमान आत्मा का दर्शन होता है । भावार्थ यह है कि समदर्शन करने वाला पुरुष सब प्राणियों मे स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है । यहाँ 'आत्मयाजी' शब्द का प्रयोग भूतपूर्व

१ “गार्भोमैर्जानकमचूडामौञ्जीनिधनं । वैदिकं भाभिकं पंचमो द्विजात्मानमपमुज्यत” ॥ म० स्म० २।२७ ॥

गर्भसम्बन्धाद्द्वीजगम्बन्धाच्च सभावित पापम् पुसवननादिकर्मभिनिवतत श्रैवणिकानामित्यर्थं । पौढेति पाठान्तरम् । २ गार्भोमैरित्यत्र द्वावे मुल्लूकभट्टास्तु—ये संस्कारा गममुद्धय त्रियन्ते ते गार्भा होमग्रहण

संस्कारोपनयण गर्भाधानादे संस्कारस्याहोमत्यात् । जातस्य यत्कर्म मन्त्रवत् सपि प्राशनादिरूप तज्जातकर्म

चौड चूडाकरणकर्म मौञ्जीवन्धनमुपनयनम् । एतैर्वैदिक प्रतिपिद्धमैधूनसंस्थादिना पैतृकरेतोदोषाद्यत्पापम् ।

गार्भिक च अचुचिमातृगर्भवासज तद्द्विजातीनामपमुज्यत इत्याह । ३ मनु । ४ संस्कृत इत्यवय ।

५ प्रत्यक्चनेन ब्रह्मविषयम् । ६ सर्वभूतैर्विद्यत्यादिमनूक्त । ७ उपामनयुक्तानामिति भाव । ८ कर्म

पापम् । ९ प्रकरणे इति—“वैदिकं कर्मभिः पुण्यैर्निषेवादिद्विजन्मनाम् । काय शरीरसंस्कारः पावन प्रेत्य

षेद च” ॥ २।१६ ॥ इति मानवे प्रकरणे । वैदिकं वेदमूलं, पुण्यं धुर्मं वमभिर्द्विजातीना पावन पापक्षय-

प्रयोजको गर्भाधानादिसंस्कार कर्तव्यं, प्रेत्य सरहृतस्य परलोके यज्ञादिफलसम्बन्धाद् अत्र वेदाध्ययनाद्यधिका-

रात् । १० “स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैश्चैविद्येनेज्यया मुतैरिति पूर्वोक्तम् । ११ महेति । महायज्ञारतु—

“ब्रह्मादेवमनुष्याणा पितृणा भूतसगिनाम् । यज्ञा सन्ति जपो होमो दान च तर्पण बलि ॥ अध्यापन ब्रह्मयज्ञ

पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमा देवी बलिर्भोतो न्यशोऽतिथिपूजनमिति” ॥ अत्र स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञश्चेत्यपि

नवचित्यात् यज्ञैर्दर्शादिभि ब्राह्मी ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्या, स्वाध्यायेन वेदाध्ययनेन, व्रतै मधुमासवजनादिरूपै-

नियमै, होमै सावित्रचरुहोमादिभि सायंप्रातर्होमैश्च, शैविद्येन तदाध्ययनेन अत्राधान्यादस्य पृथगुपन्यास,

इज्यया ब्रह्मचर्यादिस्याया देवपितृवृत्तर्पणरूपया गृहस्थावस्थाया पुत्रोत्पादनेन । महायज्ञं पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभि-

यज्ञै ज्योतिष्टोमादिभि ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्या इय तनु तव्यच्छ्रम आत्मा क्रियते इति कुल्लूकभट्ट । १२.

म० स्म० २।२८ । १३ नित्यकर्मनानुष्ठायिविषयत्वेन निर्णीत । १४. प्रयुक्त इति शेष । १५. सम्य-

ग्ज्ञानवति ।

प्रदर्शनार्थम् ।

किं चान्यत् ।

“ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।

उत्तमां सात्त्विकोमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः” ॥^१

इति च देवसाष्टिव्यतिरेकेण भूताप्ययं दर्शयति । भूतान्यप्येति पञ्च वै । भूतान्य-

‘कर्मभिः शुद्धबुद्धेः श्रयणादिवशादेक्यज्ञान मुक्तिफलमुदेति । ‘कर्मं तु विद्यासंपुक्तमपि ससारफलमेवेति भाव ।

‘तत्रैव हेत्वन्तरमाह—किंचेति । विद्यापुक्तमपि कर्म बन्धायवेत्यत्र न श्वेतमुक्तमेव ‘कारणं क्लेशव्यञ्ज तनुपपादकमस्तीत्यर्थः । ‘तदेव दर्शयति—ब्रह्मेति । सात्त्विकीं सत्त्वगुणप्रसूतज्ञानसमुच्चित्त-
कर्मफलभूतामिति यावत् । ‘अत्र हि विद्यापुक्तमपि कर्म ससारफलमेवेति सूच्यते ।

“एष सर्वः समुद्दिष्ट” त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।

त्रिविधस्त्रिविधः “कर्मसंसारः सावैभौतिक” ॥^२

इत्युपसंहारादिति चकारार्थः । किंच—

“प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति “साष्टिताम्”

इति कर्मफलभूतदेवतासदृशंभ्रप्राप्तिमुक्त्वा “तदतिरेकेण—

“निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यप्येति पञ्च वै”

इति “भूतेष्वप्यवघनान्न समुच्चयस्य मुक्तिफलतेत्याह— देवसाष्टीति ।

गति से होता है क्योंकि उपासनायुक्त नित्यकर्म ज्ञानोत्पत्ति की साधना प्रदर्शित करने के लिए है ।

इसके अलावा—“चतुर्मुख ब्रह्मा, मरीचि आदि सप्तपि, धर्म, महान् अव्यक्त, इन चारो गतियों को विचारवान् पुरुष उत्तम सात्त्विकी गति बतलाते हैं” । तथा “पांच भूतो मे लीन हो जाता है” यह स्मृति देवसाष्टि से भूतो मे लय को पृथक् दिखलाती है । जो यहाँ “भूतान्यप्येति” के स्थान

१ ब्रह्मा चतुर्वदन, विश्वसृजो मरीच्यादिसप्तपर्यय, धर्मो यम, महानव्यक्तमिति सात्त्विकप्रसूतत्वद्रव्यम्याधि-
ष्ठातृदेवताद्वयमचेतनमुपानयमात्रतत्त्वद्रव्यस्पीतेभसात्त्विकगतित्वानुपपत्ते । एता ब्रह्माद्यात्मिकाः । २ म० स्म०
१२।५० । ३ निरप्रसन्धिभि । ४ साप्रसन्धि । ५ यथोक्तकर्मण ससारफलत्व एव । ६ ७४०
पृष्ठभाष्ये न प्रमाणाभावादित्यादिनोक्तमेव मुक्तित्रातम् । ७ उपपादकम् । ८ उपपादकान्तरमेव । ९
ब्रह्मेत्याद्युक्तस्मृती । १० एष मनो वाक्कार्यरूपसाधनभेदेन त्रिप्रकारस्य कर्मण यत्पाविभेदेन त्रिविधः ।
११ पुन प्रथममध्यमोत्तमभेदेन त्रिविध सर्वप्राणिगत समग्रो गतिविशेष कात्स्न्येनोक्त इत्यर्थं । १२
वृत्तन ससार इति पाठान्तरम् । १३ म०स्म० १२।५१ । १४ “प्रवृत्तं च निवृत्तं च त्रिविध कर्म
वैदिकम् । इह वामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं च न कौतव्यं । निष्काम ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते” ॥ १२।८६ ॥
इह काम्य कर्म कारीर्षादि, अनुत्र तद् ज्यातिष्ठीमादि, यत्त्वामनया क्रियत तत्समारप्रवृत्तिहेतुत्वात् प्रवृत्तामित्युच्यते
इतरदुपासनायुक्तं निष्काम ससारनिवृत्तिहेतुत्वात्प्रवृत्तम् । १५ गाम्यम् । १६ तदतिरेकेण निस्वै-
श्वरीप्राप्त्यभावेन । १७ म०स्म० १२।६० । १८ भूतेषु व्यक्ताभ्यननु पञ्चनु समुच्चयानुष्ठापिनोऽप्य-
कथनात् ।

त्येतीति पाठं ये कुर्वन्ति तेषां वेदविषये परिच्छिन्नबुद्धित्वाददोषः ।

न चार्थवादात्त्वमध्यायस्य ब्रह्मान्तकर्मविपाकार्थस्य 'तद्व्यतिरिक्तत्वज्ञानार्थस्य च कर्मकाण्डोपनिषद्भ्यां तुल्यार्थत्वदर्शनात् । विहिताकरणप्रतिपिद्धकर्मणां च स्थावरश्वसूक-

‘निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै’

इति पाठान्मुक्तिरेव समुच्चयानुष्ठानाद्विवक्षितेति चेन्नेत्याह—भूतानीति । ज्ञानमेव मुक्तिहेतुरिति प्रतिपादकोपनिषद्द्विरोधान्नायं पाठः साधीयानित्यर्थः ।

ननु विग्रहयती देवतैव नास्ति मन्त्रमयी हि सा देवता शब्दप्रत्ययालम्बनमतो ब्रह्मा विश्वसृज इत्यादेरर्थवादत्वान्न तद्वलेन नित्यकर्मणां मुक्तिसाधनत्व निराकर्तुं शक्यमत आह—न चेति । ज्ञानार्थस्य सपश्यन्नात्मन्याजीत्यादेरिति शेषः । किञ्च—

“अनुर्वन्दिहितं कर्म निन्वितं च समाचरन् ।
प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति ॥’
‘शरीरजं कर्मदोषैर्योति स्यावरता नरः ।
धात्रिकं पक्षिमृगतां मानसंरन्त्यजातिताम् ॥’
श्वसूकरखरोष्ट्राणा गोजाविमृगपक्षिणाम् ।
चण्डालपुत्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति” ॥”

इत्यादिवाक्यं प्रतिपादितफलानो प्रत्यक्षेणा“वि दर्शनाद्यथा “तत्र नामूताथंवादेत्वं तथा “यथो-
क्ताध्यायस्यापि नामूताथंवादतेत्याह—विहितेति । किञ्च ब्रह्मादिदेशे “छदिताश्यादिप्रेताना प्रत्यक्ष-

पर “भूतान्यत्येति” ऐसा पाठ करते हैं, उनके पक्ष में उनकी बुद्धि ही वेद के विषय में संकुचित है, ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है ।

ब्रह्मलोकपर्यन्त कर्मविपाक जिसका विषय है, उस कर्मफल से भिन्न आत्मज्ञान प्रयोजन वाले इस अध्याय को अर्थवाद नहीं कहा जा सकता । क्योंकि कर्मकाण्ड और उपनिषत् से इसकी तुल्यार्थता

१ “नान्य पन्था विद्यते अयनाय”त्यादि श्रुत्यपरिभाषा सूत्रयति—परिच्छिन्नेति । निखिलवेदाद्यमवगन्तुम-
पर्याप्तधीत्वादित्यर्थः । किञ्च कर्मणा भूतात्ययस्तदविरोधित्वादातो ज्ञानादेव तसिद्ध समुच्चयायोगादुक्तपाठ
एव युक्त इति । २ ननुक्तद्वादशाध्यायस्य, षष्ठ्यर्थो षट्कत्वम् ब्रह्मोत्थादिवाक्यस्य हिरण्यगर्भान्तो य
कर्मविपाक (फलम्) तदर्थकस्य । ३ तद्व्यतिरिक्तेति—कर्मफलव्यतिरिक्तेत्यर्थः । ४ देवताविग्रहा-
भावात् । ५ पापम् । ६ म० स्म० ११।४४ । ७ शरीरजं कर्मदादेरिति—शरीरकर्मजपार्षित्यर्थः ।
८ म० स्म० १२।६ । ९ ब्राह्मणाच्छूद्रकन्यायामूढाया निपाद उत्पद्यत य सज्जान्तरेण पारशव इत्युच्यते
त्यादिवाक्येयु नादिद्यमानाथप्रतिपादकत्वम् । १३ उक्तद्वादशाध्यायषट्कब्रह्मोत्थादिवाक्यस्यापि । १४
छदिताश्यादीति—छदित वान्त तद्भूजो । आदिना यूकापूयशवपुरीपासिनो गृह्यन्त । तथा च मनु—
‘वान्ताश्च्युत्कामूख प्रेतो विप्रो धमास्त्वकाच्युत । अमेध्यकुणपासो च क्षत्रिय षट्पूतन ॥ नैनाक्षज्योतिक
प्रतो बंश्यो भवति पूयम्कृ । चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मास्त्वकाच्युत ॥’ १२।७१-७२ ॥ इति । अत्रोल्का-
मुक्तकटपूतनचैलाशकास्तत्तज्जातीयप्रज्ञाता सजा ।

रादिकल'दर्शनात् । वान्ताश्यादिप्रेतदर्शनाच्च ।

न च श्रुतिस्मृतिविहितप्रतिषिद्धव्यतिरेकेण विहितानि वा प्रतिषिद्धानि वा कर्माणि 'केनचिदवगन्तुं' शक्यन्ते । 'येषामकरणादनुष्ठानाच्च प्रेतश्वसूकरस्थावरादीनि कर्मफलानि प्रत्यक्षानुमानाम्यामुपलभ्यन्ते । न चेषामकर्मफलत्वं केनचिदभ्युपगम्यते । तस्माद्विहिताकरणप्रतिषिद्धसेविना यथैते कर्मविपाकाः प्रेततियंक्स्थावरादयस्तथोत्कृष्टेष्वपि ब्रह्मान्तेषु कर्मविपाकत्वं वेदितव्यम् । तस्मात्स आत्मनो वषामुद्विदत्सोऽरोदीदित्यादिव-

त्वाद'ध्ययनरहितानामपि स्त्रीशूद्रादीनां वेदोच्चारणदर्शनेन 'ब्रह्मग्रहसङ्गावावगमाच्च न ब्रह्मादिवाक्य-
स्यायंवादतेत्याह—वान्तेति ।

ननु स्थावरादीनां श्रौतस्मार्तकर्मफलत्वाभावात् तद्दर्शनेन 'वचनाना 'भूतायंत्वं शक्यं कल्पयि-
तुमत आह—न चेति । सेवादिविष्टकारण'साम्येऽपि 'फलव्यप्योपलम्भादवश्यमतीन्द्रिय 'कारणं
वाच्यम् । न च 'तत्र श्रुतिस्मृती विहायान्यन्मानमस्ति । 'तथा च श्रौतस्मार्तकर्मकृतान्येव 'स्थावरादीनि
फलानोत्पद्यं । सनिहितासंनिहितेषु स्थावरादिषु 'प्रत्यक्षानुमानयोर्यथायोग प्रवृत्तिरुन्नेया । स्थावराणां
जीवशून्यत्वादकर्मफलत्वमिति केचित्प्रत्याह—न चैपामिति । अस्मदादिवदेव वृक्षादीनां वृद्ध्यादिव-
शानात्सजीवत्वप्रसिद्धेस्तस्मात्प्रत्ययन्ति पादपा इत्यादिप्रयोगाच्च" तेवा कर्मफलत्वं"सिद्धिरित्यर्थः ।
स्थावरादीना कर्मफलत्वे सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति । ब्रह्मादीना पुण्यकर्मफलत्वेऽपि "प्रकृते किं
स्यात्तदाह—तस्मादिति ।

देखी जाती है । तथा शास्त्रविहित कर्मों के न करने और प्रतिषिद्ध कर्मों के करने से स्थावर, कुत्ता-
सूकरादि योनियों की प्राप्ति प्रत्यक्षसिद्ध है । वमनभक्षण करने वाले को प्रेत की योनि प्राप्त करते देखा
जाता है ।

इसके अतिरिक्त श्रुति स्मृति द्वारा जो विहित एवं प्रतिषिद्ध कर्म हैं, उनसे भिन्न दूसरे विहित
अथवा प्रतिषिद्ध कर्मों का किसी मनुष्य को भी ज्ञान नहीं हो सकता (जिनके अनुष्ठान न करने एवं
करने से प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा प्रेत, कुत्ता, सूकर और स्थावरादि कर्मफल प्राप्त होते हैं) उनके
कर्मफलों को कोई मनुष्य मान लेता हो—ऐसी बात नहीं है । अतः शास्त्रविहित कर्मों के न करने एवं
प्रतिषिद्ध कर्मों का सेवन करने में ये प्रेत तियंक् एवं स्थावरादि योनियाँ कर्मफल हैं, उसी प्रकार
ब्रह्मापर्यन्त उत्कृष्ट पदों को भी कर्मफल ही समझना चाहिये । इसलिये "उसने अपना वीर्यपात किया",

१ दर्शनादिति—स्थावरादियोनीना प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्यर्थ । २ पुसा । ३. श्रुतिस्मृत्यतिरिक्तमानसिद्धा-
नाम् । ४ फलानि । ५ अनधीनवेदानाम् । ६ ब्रह्मग्रहेति—ब्रह्मराक्षसादिप्रेतावेशेत्यर्थः । ७
यथाक्तानां मानवानाम् । ८ विद्यमानार्थप्रतिपादकत्वम् । ९ फलानुपुष्यऽपीत्यर्थः । १० फलवंगुण्येति
यावत् । ११ अदृष्टरूपम् । १२ उत्तानीन्द्रियकारणे । १३ श्रुत्याद्यतिरिक्तमानामत्वे च । १४
तत्र तेषामनुष्ठानद्वारा प्रयोजकत्वात् निषिद्धानां च हानार्थं श्रुत्याद्युक्ततया श्रौतत्वादिवम् । १५ प्रत्यक्षा-
नुमानयोरिति—इदं सबङ्गादिकल सकारणम् फलवत्त्वात् सम्प्रतिप्रवदित्याद्यनुमानमसनिहितस्थावरादि-
विषयभूनेत्यर्थः । १६ महाभारतः । १७ सिद्धिरिति—वृक्षादीनि कर्मफलानि सजीवत्वाद्भुक्तप्रयागाच्चेत्या-
द्यनुमानेनेत्यर्थः । अस्मदादिवदिति निदर्शनम् । १८ प्रकृतं मनुत्तदादशाध्यायस्य शाङ्कते अर्थवादत्वं ।

अभूतार्थवादत्वम् ।

'तत्राप्यभूतार्थवादत्वं मा भूदिति चेत् । भवत्वेवम् । न चेतावताऽस्य न्यायस्य बाधो भवति । न चास्मत्पक्षो वा दुष्यति । न च ब्रह्मा विश्वसृज इत्यादीनां काम्यकर्मफलत्वं शक्यं वक्तुम् । तेषां देवसाष्टितायाः फलस्योक्तत्वात् । तस्मात्तानिसंधीनां नित्यानां कर्मणां सर्वमेवाश्वमेधादीनां च ब्रह्मत्वादीनि फलानि ।

येषां पुनर्नित्यानि निरभिसंधीन्यात्मसंस्कारार्थानि तेषां ज्ञानोत्पत्त्यर्थानि तानि ।

'कर्मविपाकप्रकरणस्याभूतार्थवादत्वाभावे ह्युन्तेऽपि तत्र स्यादिति शङ्कते—तत्रापि । प्रज्ञो करोति—भवत्विति । कथं 'तहि वधम्यंहृष्टान्तिद्विरतं ब्राह्म—न चेति । वधम्यंहृष्टान्ताभावमात्रेण कर्मविपाकाध्यायस्य नाभूतार्थवादत्वेत्यस्य न्यायस्य नैव बाधः साधम्यंहृष्टान्तादीनि तद्विद्वेदिरित्यर्थः । ननु 'प्रजापतिरात्मनो वषामुदलिदत्' इत्यादीनामभूतार्थवादत्वाभावे कथमर्थवादाधिकरणं 'घटिष्यते तत्राऽऽह—न चेति । तदघटनायामपि नास्मत्पक्षस्तत्तत्तदर्थं तदभूतार्थवादत्वं त्यजतस्तद्विरोधादित्यर्थः । ननु कर्मविपाकप्रकरणस्यार्थवादत्वाभावेऽपि ब्रह्मादीनां काम्यकर्मफलत्वात् ज्ञानसंयुक्तनित्यकर्मफलत्वं 'ततो मोक्ष एव तत्फलमित्यत्र ब्राह्म—न चेति । तेषां काम्यानां कर्मणामिति यावत् । देवसाष्टिताया देवैरिन्द्रादिभिः समानैश्वर्यंप्राप्तेरित्यर्थः । उक्तत्वात् 'प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साष्टिताम्' इत्यत्रेति शेषः । ननु विद्यासंयुक्तानां नित्यानां कर्मणां फलं ब्रह्मादिभावश्चेत्कथं तानि ज्ञानोत्पत्त्यर्थान्यास्योच्यन्ते तत्राऽऽह—तस्मादिति । कर्मणां मुक्तिफलत्वाभावस्तच्छुद्धान्यर्थः । साभिसंधीनां देवताभावे फलेऽनुरागवतामिति यावत् ।

नित्यानि कर्माणि श्रौतानि स्मृतानि चाग्निहोत्रसंघोपासनप्रभृतीनि निरभिसंधीनि फलाभिलाषविकलानि परमेश्वरार्थानुबुद्ध्या क्रियमाणानि । आत्मशब्दो मनोविषयः । कर्मणां वित्त-

"बह राया" इत्यादि प्रकरणो के समान इस अध्याय का अभूतार्थवादत्व नहीं है ।

यदि कहो, वहाँ (प्रजापति ने वीर्यपात किया इत्यादि दृष्टान्तवाक्य में) भी अभूतार्थवादत्व नहीं मानना चाहिये । तो ऐसा ही होने दो, किन्तु इतने कहने मात्र से ही इस न्याय का बाध नहीं होता और न ही हमारे पक्ष में कोई दोष प्राता है । "ब्रह्मा विश्वसृज" इत्यादि को काम्यकर्मों का फल भी नहीं बतलाया जा सकता क्योंकि उन काम्यकर्मों का फल देवसाष्टिता बतलाया गया है । इसलिये (कर्मों के मुक्तिरूप फल के अभाव में) ये ब्रह्मत्वादि, सकाम नित्यकर्मों और सर्वमेध अश्वमेध आदि यज्ञों के फल हैं ।

किन्तु जिनके निष्काम नित्यकर्म मन की शुद्धि के लिये होते हैं, उनके लिए ये ज्ञान उत्पत्ति के निमित्तक होते हैं । जैसे शास्त्र का वचन है कि "यह शरीर ब्रह्मभाव की प्राप्ति के योग्य बनाया जाता

१. प्रजापतिरात्मनो वषामित्यादिदृष्टान्तवाक्येऽपि । २. संस्कार शुद्धिः । ३. द्वादशाध्यायस्य मनुस्मृतः ।

४. दृष्टान्तेऽपि तदनुपपत्तेः । ५. युक्ते । ६. अर्थवादाधिकरणमिति—"आन्त्यायस्य क्रियासंत्वादानवयव-

मत्तदर्शानां तस्मादनित्यमुच्यते" जै ० सू ० १।२।७ । इत्याद्यधिकरणमित्यर्थः । ७. सगत भविष्यति । ८.

तथा समुचितनित्यकर्मफलत्वाभावात् । ९. अचिन्तारिणामित्यर्थः । तथाच कर्त्तरि षष्ठी ।

“ब्राह्मीयं क्रियते तनुः” इति स्मरणात् । तेषामा'रादुपकारकत्वान्मोक्षसाधनान्यपि कर्माणि भवन्तीति न विरुध्यते । यथा, चायमर्थः पठे जनकाख्यायिकासमाप्तौ 'वक्ष्यामः । यत्तु विषदध्यादिवदित्युक्तं 'तत्र प्रत्यक्षांनुमानविषयत्वादविरोधः । यस्त्व'त्यन्तशब्दगम्योऽर्थस्तत्र वाक्यस्याभावे तदर्थप्रतिपादकस्य न शक्यं कल्पयितुं विषदध्यादिसाधर्म्यम् ।

न च प्रमाणान्तरविरुद्धार्थविषये श्रुतेः प्रामाण्यं कल्प्यते यथा शीतोऽग्निः श्लेदयतीति । श्रुते तु तादर्थ्यं वाक्यस्य प्रमाणान्तरस्याऽऽभासत्वम् । यथा लघोतोऽग्निरिति

शुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्त्यर्थत्वे प्रमाणमाह—ब्राह्मीति । कथं 'तर्हि कर्मणां मोक्षसाधनत्वं केचिदावक्षते तत्राऽऽह—तेषामिति । संस्कृतबुद्धीनामिति यावत् । कर्मणां परम्परया मोक्षसाधनत्वं कथं 'सिद्धवदुच्यते तत्राऽऽह—यथा चेति । 'अयमर्थस्तथेति शेषः । 'निरस्तमप्यधिकविषयव्यापुनरनुवदति—यस्त्विति । विषादेर्मन्त्रादिसहितस्य जीवनादिहेतुत्वं प्रत्यक्षादिसिद्धमतो 'दृष्टान्ते कार्यारम्भकत्वे विरोधो नास्तीत्याह—तत्रेति । कर्मणो, विद्यासंयुक्तस्य कार्यान्तरारम्भकत्वलक्षणोऽर्थः शब्देनैव गम्यते । 'न च' 'तत्र 'मानान्तरमस्ति । न च समुच्चितस्य कर्मणो मोक्षारम्भकत्वप्रतिपादकं वाक्यमुपलभ्यते तदभावे कर्मणि विद्यायुक्तेऽपि विषदध्यादिसाधर्म्यं कल्पयितुं न शक्यमित्याह—यस्त्विति । कर्मसाध्यत्वे च मोक्षस्यानित्यता स्यादिति भावः ।

“अपाम सोमममृता ग्रभूम' इत्यादिश्रुतेर्मोक्षस्य कर्मसाध्यस्यापि नित्यत्वमिति चेन्नेत्याह—न' चेति । यत्कृतकं तदनित्यमित्यनुमानानुगृहीतं 'तद्यथेहेत्यादिवाक्यं तद्विरोधेनार्थवादधृतेः स्वार्थोऽप्रामाण्यमित्यर्थः । प्रमाणान्तरविरुद्धोऽर्थे प्रामाण्यं श्रुतेर्नाच्यते चेदद्वैतश्रुतेरपि कथं प्रत्यक्षादिविरुद्धे स्वार्थे प्रामाण्यमित्याशङ्क्याऽह—श्रुते त्विति । तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य पङ्क्तिधत्तात्पर्यलिङ्गः 'सद्वैतपरत्वे निर्धारिते 'सद्भेदविषयस्य प्रत्यक्षादेरा'भासत्वं भवतीत्यर्थः । तदेव दृष्टान्तेन साधयति—यथेत्यादिना । यदविधेकिना यद्योक्तं प्रत्यक्षं तद्यद्यपि 'प्रथमभाविस्त्वेन प्रवर्त्तं निश्चिन्तायं

है” । परम्परा से मोक्षप्रयोजक होने से वे कर्म मोक्ष के भी साधन होते हैं, इसलिये इसमें कोई प्रमङ्गति नहीं है । जिससे यह मोक्ष में प्रयोजक है, उसे हम छोटे ग्रन्थाय (उपनिषत् के चौथे ग्रन्थाय) की जनक आख्यायिका के ग्रन्थ में कहेंगे । एव जो दृष्टान्त में विष-दधि आदि के समान ऐसा कहा गया है, वहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय होने के कारण विरोध नहीं है । तहाँ जो

१. आरादुपेति—कर्मणा पारम्पर्येण मोक्षप्रयाजकत्वादित्यर्थः । २. वक्ष्याम इति—वृ० उ० ४।४।२२ “तमेत वेदानुवचनेने'त्यादिवाक्यव्याख्यानावधरे तदभाष्य इति द्रष्टव्यम् । ३. दृष्टान्ते । ४. अनुमानेति । स्वद्वैतितमिद विषदध्यादि स्वज्जीवनपुष्ट्यादिप्रयोजक मन्त्रशर्करादिमस्मृतत्वान्मद्भूतविषदध्यादिवदिति परार्थानुमान द्रष्टव्यम् । ५. मानान्तरारम्भकत्वमन्तरम् । ६. समुच्चितस्य कर्मणो मोक्षारम्भकत्वरूपोऽर्थः । ७. सर्वथैव मोक्षस्य कर्मसाध्यत्वे । ८. उपपादनमन्तरेत्यर्थः । ९. कर्मणां पारम्पर्येण मोक्षसाधनत्वरूपोऽर्थः । १०. समुच्चितस्य कर्मणो मोक्षारम्भकत्वम् । ११. विषादो । १२. शब्देनैवेत्येवकारख्यायत्यर्थं दर्शयति—न वेति । १३. उच्यतेऽर्थः । १४. प्रत्यक्षादि । १५. पास्यामः । १६. “तद्यथे कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवात्र पुष्पचितो लोकः क्षीयत” इति वाक्यमित्यर्थः । १७. परमार्थाद्वैतपरत्वे । १८. पारमार्थिकभेदविषयस्येति बोध्यम् । १९. मिथ्यात्वम् । २०. प्रथमप्रवृत्ततायाऽसंजातविरोधित्वेन ।

तलमलिनमन्तरिक्षमिति वा बालानां यत्प्रत्यक्षमपि तद्विषयप्रमाणान्तरस्य यथायंत्वे निश्चिता निश्चितार्थमपि बालप्रत्यक्षमाभासी भवति ।

'तस्माद्देवप्रोमाण्यस्याव्यभिचारात्तादर्थ्ये सति वाक्यस्य तथात्वं स्यात् । 'न तु पुरुष-
मतिकौशलम् । न हि पुरुषमतिकौशलात्सविता रूपं न प्रकाशयति । तथा वेदवाक्यान्वयपि
नान्यार्थानि भवन्ति' । तस्मान्न मोक्षार्थानि कर्माणोति सिद्धम् । अतः कर्मफलानां संसार-

च तथाऽपि तस्मिन्नेवाऽऽकाशादौ विषये प्रवृत्तस्याऽऽप्रवाक्यादेर्मानान्तरस्य यथायंत्वे सति तद्विरुद्धं
पूर्वोक्तमचियेकप्रत्यक्षमप्याभासी भवति तथेदं द्वैतविषयं प्रत्यक्षाद्यद्वैतागमविरोधे भवत्याभास इत्यर्थः ।

ननु तात्पर्यं नाम पुरुषस्य मनोधर्मस्तद्दशाच्चेदद्वैतश्रुतेर्यथायंत्वं तर्हि प्रतिपुरुषमन्यथैव
तात्पर्यदर्शनात्तद्दशादन्यथैव श्रुत्यर्थः स्यादित्याशङ्क्य दाष्टान्तिकं निगमयन्नुत्तरमाह—तस्मादित्या-
दिना । तादर्थ्यमर्थपरत्वं तथात्वं यावद्यस्य शब्दधर्मस्तात्पर्यं तन्न पद्विधिलिङ्गगम्य तथा च शब्दस्य
पुरुषाभिप्रायवशान्नान्यथायंत्वमित्यर्थः । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीति । 'विचारार्थमुपसंहरति
—तस्मादिति । विद्यासंयुक्तस्यापि कर्मणो मोक्षारम्भकत्वात्सभवस्तच्छब्दार्थः । मा शूक्तमर्णा मोक्षार्थ-
त्वं किं तावतेत्याशङ्क्य ब्राह्मणारम्भं निगमयति—अत इति ।

मानान्तरगम्यत्व कर्मसमुच्चित मोक्षारम्भकत्वरूप अर्थ है, उसके विषय में, उसके अर्थप्रतिपादक वाक्य
के अभाव में, उसका विषय और दधि घादि से साधर्म्य कल्पित नहीं किया जा सकता ।

एव जो विषय प्रमाणान्तर से विरुद्ध है, उसमें श्रुति के प्रामाण्य की कल्पना भी नहीं की जा
सकती, जैसे कोई प्रमाण से विरुद्ध बात बहे कि अग्नि शीतल होती है और भिगो देती है । वाक्य का
वैसा अर्थ यदि श्रुतिसम्मत हो, तो अन्य प्रमाण प्रमाणाभास हो जाते हैं । जैसे मूर्खों को यह प्रत्यक्ष
होता है कि खद्योत अग्नि है, अन्तरिक्ष का तल मलिन होता है, तथापि उनके विषय में यथायंता का
प्रमाणान्तर से निश्चय हो जाने पर वह मूर्खों के द्वारा प्रत्यक्ष किया हुआ अर्थ भी मिथ्या हो जाता है ।

अत वेद के प्रामाण्य का सर्वदा अर्थविचार होने से उसका वैसा तात्पर्य होने पर ही वाक्य
की यथायंता होती है । पुरुषबुद्धि का धर्मरूप तात्पर्य वाक्य की यथायंता में प्रयोजक नहीं है ।
पुरुषबुद्धिधर्मरूप तात्पर्य से यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि सविता रूप को प्रकाशित नहीं
करता । पुरुषबुद्धिधर्मरूप तात्पर्य के कारण इसी प्रकार वेदवाक्य भी भिन्न अर्थ के बोधक नहीं हो
सकते । इसलिये कर्मों का फल मोक्ष नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ । अतः (कर्मों के माक्षार्थत्व अभाव

१ निर्धारिततात्पर्यकवाक्यविरुद्धस्याभासत्वादित्यर्थं । २ नत्विति—पुरुषबुद्धिधर्मरूप तात्पर्यं नैववाक्य-
याथाय्यप्रयोजकमित्यर्थः । ३ पुरुषमतिकौशलमप्यतत्प्रयवशात् । ४ अत—कर्मणा मोक्षार्थत्वाभावात् । ५
तथा वेति—पद्विधिलिङ्गगम्यतात्पर्यस्य शब्दधर्मत्वे सतीत्यर्थं । ६ उक्तमर्थम्—पुरुषाभिप्रायवशाद्दस्तुधर्म-
स्यान्यथायंत्वाभावस्वरूपमर्थम् । ७ अर्थ प्रयोजन फलम् । ८ किं तावता—तथा तदवत्त्वाभावमात्रोपपादनेन
किमायातम् । ९ सर्वस्य कर्मफलस्य संसारत्वप्रदर्शनायास्य ब्राह्मणस्यारम्भ इति प्रतिज्ञात ब्राह्मणारम्भमुपसं-
हरतीत्यर्थं ।

'अथ हंनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति
 होवाच । मद्रेषु चरकाः पर्यत्रजाम ते पतञ्चलस्य
 काप्यस्य गृहानेम तस्याऽऽसीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता
 तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽन्नवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति
 यदा लोकानामन्तानपृच्छामार्थंनमन्नम क्व पारि-
 क्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन्त्वा
 पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥१॥

उसके बाद याज्ञवल्क्य से लह्य के पुत्र भुज्यु ने पूछा—(हे याज्ञवल्क्य !) ऐसा उसने कहा ।
 ६५ मध्ययन के लिए श्रताचरण करते हुए मद्रदेश में विचर रहे थे कि कपि गोत्रोत्पन्न पतञ्चल। नामक
 पुरुष के घर घूमते घूमते पहुँच गये । उसकी पुत्री किसी गन्धर्व से आविष्ट थी । हमने उससे पूछा—तू
 कौन है ? अर्थात् तुम्हारा क्या काम और क्या स्वरूप है ? उसने कहा—मैं मात्र सोऽङ्गिरस और
 नाम से सुधन्वा हूँ । जब हमने उससे भुवनबोशो के अन्तःक विषय में पूछा और हमने अपनी प्रशंसा
 करते हुए उससे यह भी पूछा—परीक्षित कहाँ रहे ? (तब उस गन्धर्व ने हम सभी बात बता दी ।
 तात्पर्य यह कि हमने दिव्य प्राणी से ज्ञान प्राप्त किया है) वही हम तुमसे पूछते हैं कि परीक्षित
 कहाँ रहे ॥१॥

त्वप्रदर्शनायैव ब्राह्मणमारभ्यते ।

अथानन्तरमुपरते जारत्कारवे भुज्युरिति नामतो लह्यस्यापत्यं लाह्यस्तदपत्यं
 लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच । आदावुक्तमश्वमेधदर्शनं समष्टिव्यष्टिफलश्राश्व-

ब्राह्मणारम्भमेव प्रतिपाद्य 'तदक्षराणि ध्याकरोति—अथेति । याज्ञवल्क्यमभिमुखीकृत्य
 भुज्युः स्वस्य पूर्वनिवृत्ता कथामकथयत् 'तामवतारयितुमश्वमेधस्वरूपं तत्फलं च विभज्य दर्शयति—

(होने से) कर्मफलो को ससारित्व प्रदर्शित करने के लिए यह ब्राह्मण आरम्भ किया जाता है । ; ;

'अथ' यानी जारत्कारव श्रातंभाग के रूप हो जाने पर भुज्यु लाह्यायनि ने पूछा । लह्य की
 सन्तान लाह्य कही जाती है, उसकी सन्तान का 'लाह्यायनि' नाम पडा । उसने 'हे याज्ञवल्क्य' ऐसा
 सम्वाधन करके पूछा । आरम्भ में (अश्वमेधब्राह्मण म) अश्वमेधदर्शन को (उपा वा अश्वस्य शिर'
 इस ग्रन्थ से) प्रतिपादन किया गया है । अश्वमेध ऋतु समष्टि और व्यष्टि फल प्रदान करने वाला है ।
 अथ केवल ज्ञानसंपादित हो अथवा ज्ञानसमुच्चित हो, सब बर्णों वा उत्कृष्ट विश्रान्तिस्थान है ।

बढ़कर कोई पाप नहीं है, और अश्वमेध से श्रष्ट कोई पुण्य नहीं है—ऐसी स्मृति भी है ।

१ तृतीय ब्राह्मणे पुण्यफलनिर्दिष्टीयते । अश्वमेध पर पुण्य ब्रह्मलोक फलावधि ॥ इति वातिकसारे
 ३।३। २ 'उपा वा अश्वस्य' त्यादावश्वमेधब्राह्मणे । ३ ब्राह्मणेति बोध्यम् । ४ कथाम् ।

मेघकृतुः । ज्ञानसमुच्चित्तो वा केवलज्ञानसंपादितो वा सर्वकर्मणां परा काष्ठा । भूराहत्या-
श्वमेघाभ्यां न परं पुण्यपापयोरिति हि स्मरन्ति । तेन हि समष्टिं व्यष्टीश्च प्राप्नोति । तत्र
व्यष्टयो निज्ञाता अण्डान्तरविषया अश्वमेघयागफलभूताः । मृत्यु रस्याऽऽत्मा भवत्येतासां
देवतानामेको भवतीत्युक्तम् ।

मृत्युश्चाशनायालक्षणो बुद्ध्यात्मा समष्टिः प्रथमजो वायुः सूत्रं सत्यं हिरण्यगर्भः ।

आदाविति । क्रतुहक्त इति पूर्वेण संबन्धः । क्रतोर्द्वैविध्यमाह—ज्ञानेति । अश्वमेघस्य द्विधा विभक्तस्य
सर्वकर्मोत्कर्षमुद्गिरति—सर्वकर्मणामिति । तस्य पुण्यश्रेष्ठत्वे मानमाह—अणुहृत्येति । समष्टिव्यष्टि-
फलश्चेत्युक्तं स्पष्टयति—तेनेति । अश्वमेधेन सहकारिकामनाभेदेन समष्टिं समनुगतरूपां व्यष्टीश्च
व्यावृत्तरूपा देवताः प्राप्नोतीत्यर्थः । काः पुनर्व्यष्टयो विवक्ष्यन्ते तत्राऽह—तत्रेति । अग्निरादित्यो
वायुरित्याद्या व्यष्टयो देवताः सोऽग्निरभवदिति यादावण्डान्तर्वन्तिन्योऽश्वमेघफलभूताः वशिता इत्यर्थः ।
का तर्हि समष्टिर्देवतेत्युक्ते तत्रैवोक्तं स्मारयति—मृत्युरिति ।
तामेव समष्टिरूपां देवतां प्रपञ्चयितुमिदं ब्राह्मणमिति वस्तुं पातनिकां करोति—मृत्युश्चेति ।
प्राणात्मकबुद्धिधर्मोऽशनाया कथं मृत्योर्लक्षणं तत्राऽह—बुद्ध्यात्मेति । तर्हि बुद्धेर्व्यष्टित्वान्मृत्यु-
त्वे तथा स्यादित्याशङ्क्याऽह—समष्टिरिति । प्रागेव व्यष्ट्युत्पत्तेरुत्पन्नत्वेन समष्टित्वं साधयति—
प्रथमजं इति । सर्वश्रयत्वं दर्शयति—सूत्रमिति । तत्र वायुर्वै गीतमेत्यादि वायव्य प्रमाणमिति
सूत्रमिति—वायुरिति । तथाऽपि कथं प्रथमजत्वं भूतानां प्रथममुत्पत्तेरित्याशङ्क्याऽह—सत्यमिति ।
हिरण्यगर्भस्योक्तलक्षणत्वेऽपि किमायातं मृत्योरित्याशङ्क्याऽह—हिरण्यगर्भं इति । जगदेवै समष्टि-

इसलिये उस अश्वमेघ के द्वारा ही पुरुष समष्टि देवता और व्यष्टि देवता को प्राप्त करता है । व्यष्टि
और समष्टि के मध्य अश्वमेघ याग के फलभूत अण्ड के मध्य जिन देवताओं की आश्रय है; वे
व्यष्टिरूप से प्रदर्शित किये गये हैं । 'इसे मृत्यु प्राप्त नहीं करता, मृत्यु तो उसका आत्मा हो जाता है तथा
वह इन देवताओं में से ही कोई एक हो जाता है (उस उपासक को यही फल प्राप्त हो जाता
है)'"—ऐसा कहा है ।

१. उपासनासमुच्चित इति भावः । २. उत्कृष्टा विश्रान्तिभू । ३. श्रेष्ठब्रह्महत्या । ४. देवताम् । ५.
देवता । ६. व्यष्टिसंमष्टिमध्ये । ७. प्रदर्शिता । ८. अण्डान्तरेति—अण्डस्यान्तर मर्ध्य विषय आश्रयो
यासा नत्वण्डाद्वाहिरपीति परिच्छिन्नत्वमुक्तमासा हिरण्यगर्भविषया तत्पाण्डाद्वाहिरपि व्याप्तत्वादिति ध्येयम् ।
९. हिरण्यगर्भं । १०. उपासितु । ११. वृ० उ० १।२।७ । १२. सम्यग् अण्डाद्वाहिरन्तश्च अष्टि-
व्याप्तिरस्येति समष्टिः । १३. सत्यमिति—सच्च त्यञ्च सत्यम् तथा च न भूतसूत्रयोर्मेद इति भावः । १४.
मन्वेनेनाश्वमेघाभ्यासाधनेन कथं फलद्वय साध्यते इत्याशङ्क्याऽह—सहकारिणि । कामनाभेदस्य आश्वमेघसह-
कारित्व तदनुष्ठातृसमवेतत्वमिति अष्टव्यम् । १५. हिरण्यगर्भरूपां । १६. अग्न्यादीन् । १७. वृ०
उ० १।३।१२ । १८. व्यष्टीना प्रदर्शितत्वेऽपि । १९. प्रथमाध्यायेऽग्निब्राह्मणे । २०. प्राणे तत्त्वेन शरीरे
बुद्धेः सत्यदर्शनाद् "यो वै प्राणः सा प्रजा या वै प्रजा स प्राण" इति कौषीतकिश्रुतेश्च तयोरभेदाभ्यन्तरेणाह
—प्राणेति । २१. कुमुशा । २२. स्वरूपम् । २३. तर्हि—मृत्योर्बुद्ध्यात्मकत्वे । २४. व्यष्टिना तु
व्यष्टिभि शङ्खैवोत्पत्त्यमिति भावः । २५. सूत्रत्वे । २६. वृ० उ० ३।७।२ । २७. सर्वश्रयत्वेऽपि ।
२८. सूत्रविषया ।

'तस्य व्याकृतो विषयो यदात्मकं सर्वं द्वैतैकत्वं यः सर्वंभूतान्तरात्मा लिङ्गममूर्तरसो यदा-
श्रितानि सर्वंभूतकर्माणि यः कर्मणां कर्मसंबद्धानां च विज्ञानानां परा गतिः परं फलम् ।
'तस्य कियान्गोचरः क्रियतो व्याप्तिः सर्वतः परिमण्डलीभूता सा वक्तव्या । तस्यामुक्तायां
सर्वः संसारो बन्धगोचर' उक्तो भवति । तस्य च समष्टिव्यष्ट्यात्मदर्शनस्यालौकिकत्व-
प्रदर्शनार्थमाख्यायिकामात्मनो वृत्तां प्रकुरुते । तेन च प्रतिवादिबुद्धिं 'ध्यामोहयिष्या-
मीति मन्यते ।

व्यष्टिरूपं न सूत्रमित्याशङ्क्याऽऽह—यदात्मकमिति । द्वैतं व्यष्टिरूपमेकत्वं समष्टिरूपं "तत्सर्वं
यदात्मकं तस्येति संबन्धः । "तस्योक्तप्रमाणत्वं प्रकटयति—य. सर्वेति । "विज्ञानात्मानं ध्यावर्तयति
—लिङ्गमिति । "तस्य ह्येव रसः" इति श्रुतिमनुसृत्याऽऽह—अमूर्तेति । "तस्य साधनाश्रयत्वं दर्शयति
—यदाश्रितानीति । तस्यैव फलाश्रयत्वमाह—यः कर्मणामिति । परा गतिरित्यस्यैव ध्यावर्तनं परं
फलमिति । एवं भूमिकामारचम्यानन्तरब्राह्मणमवतारयति—तस्येति । प्रदनमेव प्रकटयति—कियेतीति ।
'सर्वतः परितो "मण्डलभावमासाद्य स्थितेति यावत् । ननु किमिति सा वक्तव्या तस्यामुक्तायामपि
वक्तव्यसंसारवशोपादाकाङ्क्षाविधान्त्यभावादत्त आह—तस्यामिति । इयान्बन्धो नाधिको न्यूनो
चेत्य"न्यव्यवच्छेदेन बन्धपरिमाणं परिच्छेदायं कर्मफलव्याप्ति"रत्रोच्यते "तत्परिच्छेदत्र मुक्तिहेतुरिति
भावः । ब्राह्मणस्यैवं प्रवृत्तावपि किमिति भुज्युः स्वस्य पूर्वनिवृत्तां कथामाहेत्याशङ्क्याऽऽह—तस्य
चेति । समष्टिव्यष्ट्यात्मदर्शनस्यालौकिकत्वप्रदर्शनेन वा किं" स्यात्सदाह—तेन चेति । इति मन्यते
भुज्युरिति शेषः । जल्पे परपराजयेनाऽऽत्मज्ञयस्येष्टवाचित्यर्थं ।

। 'यह मृत्यु क्षुधारूप बुद्ध्यात्मा और समष्टि है, वह प्रथम उत्पन्न वायु सूत्रात्मा सत् और रयत्
हिरण्यगर्भ है । जितना भी व्यष्टि और समष्टिरूप यह जगत् है, व्याकृत प्रपञ्च उसका कार्य है । जो
समस्त भूतो का अन्तरात्मा है, (विज्ञानात्मा का व्यावर्तक) लिङ्ग और अमूर्तरस है, सम्पूर्ण भूत
जिसके आश्रित हैं, जो कर्मों एवं उनसे सम्बद्ध विविध उपासनाओं की परागति या पराकाष्ठा है ।
उम (केवल विद्यासयुक्त कर्म के फलभूत समष्टि-व्यष्टिरूप हिरण्यगर्भ) का कितना कार्य है, सब और
मण्डलाकार फंली हुई कितनी व्याप्ति है, उसे बतलाना चाहिये । उसके प्रतिपादित कर दिये जाने पर
समस्त संसार ही बन्धनरूप प्रतिपादित हो जाता है । उम समष्टि-व्यष्टिरूप दर्शन का अलौकिकत्व

- १ तस्येति—सूत्रस्य । व्याकृतो नामादात्मनाभिभक्त्यत् प्रपञ्च । विषय कार्यमित्यर्थं । २ उपासनानाम् ।
३. पर फलमिति—तथा च समष्टिफलरूपत्वादस्य व्यष्टिफलानामाश्रयत्वमिति ध्येयम् । ४. तस्येति—
केवलस्य विद्यासयुक्तस्य च कर्मण फलभूतस्य हिरण्यगर्भस्य समष्टिव्यष्टिरूपिण इत्यर्थः । ५ रूप । ६
अलौकिकत्वप्रदर्शनार्थमिति—स्वविद्याया गुरूपदेशपूर्ववर्य ज्ञापयितुं चेदपि बोध्यम् । ७ उपादत्ते । ८
तेन—तस्यालौकिकत्वप्रदर्शनेन । ९ दिव्यज्ञानविषयोऽयं प्रदन कथमुनाग्यामीति व्यामोहो बोध्यः । १०
जगत् । ११ तस्योक्तप्रमाणत्वमिति—सूत्रस्य वायुर्वं गीतम तत्सूत्रमित्युक्त्यास्त्रीयत्वमित्यर्थः । १२
प्रपञ्चम् । १३ बन्धकाशयो मृ० उ० ३।१।२ । १४ सूत्रम्येति बोध्यम् । १५ सर्वतः—सर्वां परितः
—अण्वाद्बहिरन्तश्चेति यावत् । १६ चक्राकारताम् । १७ न्यूनाधिकपरिहारेण । १८. परिज्ञानार्थम् ।
१९. भुज्युप्रदने । २० बन्धपरिमाणपरिज्ञानञ्च । २१ फलम् ।

मद्रेषु मद्रा नाम 'जनपदास्तेषु चरका' अर्थात् 'अध्ययनार्थं' 'दत्तचरणा' चरका 'अध्वर्यवो वा पर्यव्रजाम् पर्यटितवन्तस्ते पतञ्चलस्य ते वयं पर्यटन्तः पतञ्चलस्य नामतः काप्यस्य कपिगोत्रस्य गृहानम गतवन्तः । तस्याऽऽसीद्बुहिता गन्धर्वगृहीता गन्धर्वेणा'मानुषेण सत्त्वेन केनचिदाविष्टा गन्धर्वो वा 'धिष्योऽग्निर्ऋत्विग्देवता विशिष्टविज्ञानत्वादवसीयते । न हि 'सत्त्वमात्रस्येदृशं विज्ञानमुपपद्यते । तं सर्वं वयं परिवारिताः सन्तोऽपृच्छाम कोऽसीति कस्त्वमसि किनामा' क्विसतत्त्वः । सोऽब्रवीद्गन्धर्वः सुधन्वा नामतः 'आङ्गिरसो गोत्रतः । तं यदा यस्मिन्काले "लोकानामन्तान्पर्यवसानान्यपृच्छामायंनं गन्धर्वमन्नम् भुवनकोशपरिमाणज्ञानाय प्रवृत्तेषु सर्वेष्व्वात्मानं" श्लाघयन्तः पृष्टवन्तो घयं कथं "व

धिष्यत्वमग्नेरुपास्यस्वम् । 'अग्निर्वं देवानां होता' इति श्रुतिमाश्रित्याऽह—'ऋत्विगिति । यथोक्तगन्धर्वशब्दायसंप्रहे "लिङ्गमाह—विशिष्टेति । "तस्यान्यथासिद्धिं वृषयति—न हीति । अर्थन-मित्यादेरर्थं विधृणोति—भुवनेति । भवत्वेवं गन्धर्वं प्रति "भवतः" प्रश्नस्तथाऽपि "किमायातं तवाह—

प्रदर्शन करने के लिए भुज्यु आपकीती आख्यायिका का उपादान करता है और सोचता है कि इससे मैं अपने प्रतिवादी की बुद्धि को व्यामोह में डाल दूँगा ।

"मद्रेषु" अर्थात् मद्र नाम वाले देश में "चरकाः" अर्थात् वेद अध्ययन के लिए, ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाले अध्वर्यु छात्र "पर्यव्रजाम्" विचर रहे थे, "ते पतञ्चलस्य काप्यस्य" अर्थात् विचरते-विचरते कपिगोत्रीय पतञ्चल नामक पुरुष के घर "एम्" अर्थात् पहुँचे । उसकी पुत्री "गन्धर्वगृहीता" अर्थात् गन्धर्वरूपी किसी अमानवीय जीव से आविष्ट थी । गन्धर्वशब्द से उपास्य अग्नि ऋत्विग्देवता का ग्रहण होता है क्योंकि केवल किसी प्राकृत प्राणीमात्र का ऐमा ज्ञान होना संभव नहीं है । हम सब ने चारों ओर से घेर कर "तमपृच्छाम" अर्थात् उस पतञ्चलबुहिता में आविष्ट गन्धर्व को पूछा— "कोऽसीति" अर्थात् तुम कौन हो, तुम्हारा नाम क्या है और तुम्हारा स्वरूप क्या है ? वह बोला—मैं सुधन्वा नाम का गन्धर्व हूँ और आङ्गिरस गोत्र में उत्पन्न हुआ हूँ । उसे 'यदा' यानी जिस समय,

१. देशविशेषः । २. वेदाध्ययनार्थम् । ३. ब्रह्मचर्यव्रतेति बोध्यम् । ४. छात्राः । ५. अध्वर्यव इति—यजु शाखाध्यायिन ऋत्विज इत्यर्थः । ६. अमानुषेणेति—पिशाचादिरूपेणेति यावत् । न तु गन्धर्वजाति-देवेनेत्यभिप्रायः । ७. उपास्यः । ८. प्राकृतस्य प्राणिमात्रस्य । ९. पतञ्चलबुहिताविष्ट गन्धर्वम् । १०. क्विस्वरूपः । ११. अनेन ब्रह्मराक्षसोऽहमित्यसूचि । १२. गोत्रेण । १३. भूरादीनाम् । १४. भुवन-कोशो ब्रह्माण्डम् । १५. श्लाघयन्त इति—"अहमेतद्ब्रह्महमेतद्वेधीति प्रत्येकमात्मशलाया घन्या वयं यदनुभवकोशपरिमाणं ज्ञातुमवसरमलप्समहि इति वा श्लाघा समुत्थेयः । १६. वव पारिक्षिता अभवन्निति । यातिके यथा—"अप्रसिद्धाभिमानोक्तया वादिभ्यामोहसिद्धये । अस्वमेधकृतो बन्ति भुज्युः पारिक्षिता इति" ॥१४०॥ इति । परितः श्लोयते सर्वं ब्रह्महत्यादिदुरितमनेनेति परिक्षितस्वमेधस्तथाजिनः पारिक्षिता इति द्रष्टव्यम् ॥ १७. ऋत्विगिति—तथा च ऋत्विक् षासी देवता ऋग्विना देवता, देवताना वा ऋत्विगिति विप्राहम् । १८. हेतुम् । १९. तस्यान्यथासिद्धिमिति—विशिष्टविज्ञान (स्व)स्य—यथोक्तगन्धर्वशब्दायमन्तरैव सिद्धि-मित्यर्थः । २०. भुज्योः । २१. तव प्रश्ने सत्यपि । २२. किमायातमिति—पृष्टेऽपि त्वया न किमप्यु-त्तरितं चेत्तेन किं तर्हि ते फल लब्धमित्यर्थः ।

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वं 'ते तद्यत्राश्व-
मेधयाजिनो' गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छ-
न्तीति द्वात्रिंशत् शतं वै देवरथाहनघान्ययं 'लोकस्तु
समन्तं पृथिवी 'द्विस्ताव'त्पर्येति तां समन्तं पृथिवीं

उस याज्ञवल्क्य ने कहा, नि सदेह उस गन्धर्व ने यही कहा था कि वे परीक्षित वहाँ चले गये, जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं। भुज्यु ने कहा—फिर अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं? (इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने भुवनकोश का वर्णन किया) यह लोक वत्तीस देवरयाहूय है, (आदित्य रथ की गति से

पारिक्षिता अभवन्निति' । स च गन्धर्वः सर्वमस्मभ्यमब्रवीत् । तेन दिव्येभ्यो मया लब्ध
ज्ञानं तत्तव नास्त्यतो' निगृहीतोऽज्ञीत्यभिप्रायः । सोऽहं विद्यासपन्नो 'लब्धागमो गन्धर्वोत्त्वा
त्वा पृच्छामि, याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभव'स्तत्त्वं किं जानासि हे याज्ञवल्क्य कथय
पृच्छामि क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्य उवाच वै "सः । वंशब्दः स्मरणार्थः । उवाच वै स गन्धर्व-

स चेति । "तेन गन्धर्ववचनेनेति यावत् । दिव्येभ्यो गन्धर्वेभ्य सकाशादित्येतत् । एतज्ज्ञानाभावे
त्वज्ञानमप्रतिभा ब्रह्मिष्टवप्रतिज्ञाहानिश्चे'त्याह—अत इति । प्रष्टुभिप्रायमुक्त्वा प्रश्नाक्षराणि
व्याचष्टे—सोऽहमिति । "प्रथमा तावदाश्व पारिक्षिता अभवन्नित्युक्ति'गन्धर्वप्रश्नार्था । द्वितीया तदनु-
रूपप्रतिवचनार्था । यो हि क्व पारिक्षिता अभवन्निति प्रश्नो गन्धर्वं प्रति कृतस्तस्य प्रत्युक्ति सर्वा
सोऽस्मभ्यमब्रवीदिति तत्र विवक्ष्यते । तृतीया तु मुनि प्रति प्रश्नार्थेति" विभाग ॥ १ ॥
अज्ञानादि'निग्रह परिहरन्नुत्तरमाह—स होवाचेति । स्मरणार्थो गन्धर्वो'ल्लव्यस्य ज्ञानस्येति

लोको का "अन्तानपृच्छाम" यानी पर्यवसानविषयक प्रश्न किया, फिर ब्रह्माण्ड का परिमाण जानने के लिए प्रवृत्त होने पर हम सबने अपने ज्ञान की प्रशंसा करते हुए उस गन्धर्व से पूछा। किस प्रकार पूछा, यह कि पारिक्षित कहाँ रहे। उस गन्धर्व ने हम सब कुछ बता दिया। इस प्रकार मैंने दिव्य जीवों से ज्ञान प्राप्त किया है, वह तुम्हें प्राप्त नहीं है उक्त ज्ञानाभाव के कारण तुम हरा दिये गये हो। गन्धर्व द्वारा विद्यामम्पन्न कर वेदार्यज्ञाता हो वही मैं तुमसे पूछता हूँ कि हे याज्ञवल्क्य । क्या तुम जानते हो कि वह गन्धर्वोक्त पारिक्षित कहाँ रहे। बताओ मैं तुम्हीं से पूछना हूँ कि वह पारिक्षित कहाँ रहे ॥१॥

१ ते—इदानीन्तना । २ प्राक्तना । ३ लोक ससामर, लोकवत सूर्यादिभि प्रकाश्यत इति लोक ।

४ द्विस्तावत्—लोकापेक्षया द्विगुणपरिमाणा । ५ पर्येति—परितो व्याप्य तिष्ठति । ६ इत्यश्वमेधया-
जिनो गतिं पृष्टवन्त इत्यर्थः । ७ उक्तज्ञानाभावात् । ८ लब्धवेद । ९ तत्—गन्धर्वोक्तम् । १०
गन्धर्वे । ११ हेतो तृतीया । १२ इति निग्रहस्थानत्रयमित्ययम् । १३ क्व पारिक्षिता अभवन्निति
त्रिरुक्तिरनौषिका पुनश्चपरिस्थानाङ्क्याऽह—प्रथमा तावदिति । १४ गन्धर्वं प्रति प्रश्नार्थेति पाठः । १५
इति विभाग इति । क्वचित् त्रिरुक्तेर्गतिमेधमाहूस्तथाहि—'प्रियाज्ञवल्क्यमुदिष्य प्रश्नोक्तिस्त्रासज्ज-यने । अत्रस्तो-
ऽतीन्द्रिपज्ञान दद्यात्प्रिदमुक्तवानिति" ॥ वा० सा० २८ । १६ आदिना अप्रतिभाप्रतिज्ञाहानी । १७ भुज्युना ।

द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा
सक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाऽऽकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो
भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागम-
यद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्ये'वमिव वै स वायुमेव

एक दिन में ससार के जितने भाग को मापा जाता है, उसे देवरथाह्वय कहते हैं) उसे चारों ओर से द्विगुणो पृथिवी ने घेर रक्खा है। पुनः उस पृथिवी को द्विगुण समुद्र ने घेर रक्खा है। अतः जितनी पतली छुरे की धार होती है या जितना छोटा मक्खी का पंख होता है, वस उतना ही अण्डकपालों के मध्य में आकाशछिद्र है। परमेश्वर ने पंख और पूँछ वाला पक्षी होकर उन परीक्षितों को वायु को दे दिया। उन्हें वायु ने अपना स्वरूपभूत बनाकर वहाँ पहुँचा दिया, जहाँ अश्वमेध यज्ञ करने वाले रहते हैं।

स्तुम्यम् । अगच्छन्वै ते पारिक्षितास्तत्र क्व यत्र यस्मिन्नश्वमेधयाजिनो' गच्छन्तीति
निर्णयति प्रश्न आह—क्व नु कस्मिन्नश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति । तेषां गतिविदक्षया
'भुवनकोशपरिमाणमाह—द्वात्रिंशत् वं द्वे अर्धे त्रिंशद्द्वात्रिंशत् वं देवरथाह्वयानि

शेषः । किमुवाचेत्यपेक्षायामाह—अगच्छन्निति । अहोरात्रमादित्यरयगत्या यावान्पन्था मितस्तावान्देशो
द्वात्रिंशद्गुणितस्तत्किरणव्याप्तः । स च चन्द्ररश्मिव्याप्तोऽपि 'देशेन साकं पृथिवीत्युच्यते ।

'रधिचन्द्रमसोर्यावान्मपूखंरवभास्यते ।

ससमुद्रसरिच्छंला तावती पृथिवी स्मृता' ॥

इति स्मृतेरित्याह—द्वात्रिंशत्मित्यादिना । अयं लोक इत्यस्याथंमाह—तावदिति । 'तत्र

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—नि सन्नेह उस गन्धर्व ने यही कहा था कि वे पारिक्षित कहाँ चले गये । मन्त्र मे "वं" शब्द स्मरण के लिये है । उस गन्धर्व ने निश्चय ही तुम से यह कहा था कि वे पारिक्षित "तत्" यानी वहाँ कहाँ चले गये । कहाँ ? "यत्र" यानी जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं । इस प्रकार प्रश्न का निर्णय होने पर श्रुति कहती है—"क्व नु" अर्थात् किस लोक में, अश्वमेध यज्ञ करने वाले जाते हैं । उन अश्वमेधयाजियों का मार्ग बतलाने की इच्छा से ब्रह्माण्ड का परिमाण बतलाया जाता है । "द्वात्रिंशत् वं देवरथाह्वयानि" अर्थात् यह ब्रह्माण्ड बत्तीस देवरथाह्वय है । देव आदित्य का नाम है, उसके

१. आख्यायिकया निर्णयार्थं मुनिरुपसहरत्यवमिति । हे भुजयो सगन्धर्वस्तुम्य पाक्षितगतिस्थान सूत्रमेव प्रकथयामासेति समाप्त मुनिवाक्यम् । यद्वाऽभवन्नित्यत्रत्येतिशब्द आख्यायिकयासमाप्त्यर्थं । ते पूर्वैरपि क्वेत्यादि प्रकृतप्रश्नस्यैव शेषभूत श्रुतिरेव स्वमुखात्—एवमिति । एवमेव स गन्धर्वो वायुमेव क्रियाशक्तिप्रधान सूत्रमेव प्रथमतः प्रथस्तमाचक्षते अग्निम् चराचरे जगत्स्यैव सामान्यनिशेधरूपेणान्तर्वेदित्वेन व्याप्यावन्थानात् देवतान्तराणां त्यक्त्वाङ्गहिनिरागमनासक्तेरिति । २ इदानीतथा । ३ प्राच्या । ४ स्थाने । ५ अयाजिनाम् । ६ अश्वविषयमेति भावः । ७ भुवनकोशेति—ब्रह्माण्डेत्यर्थः । तत्परिमाणान्तिस्त्वश्वमेधयाजिनामभ्वात्तावु-पशो गितया भुवान्तामसूत्रव्यापिना ध्यानविवक्षया वेति ध्ययम् । ८ अनन सूयपिक्षया चन्द्रप्रकाशव्याप्ति-रधिकेति प्रतिभाति । ९. म० स्म० ३-४ । १०. लोकालोकयोर्मध्ये ।

प्रशशंस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप
पुनर्मृत्युं जयति य एव वेद ततो ह भुज्युर्लाह्याय-
निरूपरराम ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य
तृतीय ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार उस गन्धर्व ने परीक्षिता की गतिरूप वायु की ही प्रशंसा की थी । अतः अघ्यात्मादि भाव से तीन प्रकार की वायु ही व्यष्टि है और सूत्र (हिरण्यगर्भ) रूप से वायु ही समष्टि है । ऐसा जो जानता है, वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् एक बार मर कर फिर नहीं मरता । तब अपने प्रश्न का उत्तर सुन कर लाह्यायनि भुज्यु चुप हो गया ॥ २ ॥

॥ इति तृतीय ब्राह्मणम् ॥

देव आदित्यस्तस्य रथो देवरथस्तस्य रथस्य गत्याऽह्ना' यावत्परिच्छिद्यते देशपरिमाण
'तद्देवरथाह्नय' तद्द्वान्निशद्गुणित देव'रथाह्नयानि तावत्परिमाणोऽप्य लोको लोकालोक-
गिरिणा 'परिक्षिप्त । 'यत्र वैराज शरीर' यत्र च कर्मफलोपभोग प्राणिना स एष लोक
'एतावांल्लोकोऽत' परमलोकस्त लोक समन्त समन्ततो लोकविस्ताराद्द्विगुणपरिमाण-

लोकभाग विभजते—यत्रति । उवत लोकमनूद्यावशिष्टस्यालोकत्वमाह—एतावानिति । तमिति प्रतीक-
मादाय व्याचष्टे—लोकमित्यादिना । अन्वय दशयितु त लोकमिति पुनरुक्ति । 'तत्र पौराणिकसमिति

'रथ को देवरथ कहते हैं । देवरथ की गति से एक दिन रात में सप्तर का जितना भाग मापा जाता है, उतना एक देवरथाह्नय कहलाता है, उसको वत्तीस से गुणा कर दिये जाने पर वत्तीस देवरथाह्नय हो जाते हैं । लाकानाक पर्वत से चारो ओर घिरा दुग्गा सागरसहित यह लोक इतने परिमाण वाला है । यह जो वैराजलोक शरीर है और जिसमें प्राणियों के कर्मफल का उपभोग होता है, वह यही लोक है । इतना मात्र ही लोक है, इससे परे ममस्त प्राणियों में शून्य निरालोक है । त समन्त' यानी उस लोक

- १ अह्नु रघुपलक्षणम् । अहोरात्रगत्येत्यय । २ एकम् । ३ देवरथा इति बोध्यम् । ४ परितो व्याप्त ।
५ यत्र वैराजमिति—सप्तम्यर्थोऽविवक्षित । यत्लाकशब्दित वैराज शरीरमित्यय । वार्तिके यथा—'शरीर-
मेतद्वैराज देवताकरण महदिति ॥ १४४ ॥ अग्निमूर्द्ध्व्यादिसृतिमाश्रित्य विगिनष्टि—देवतति । महत्त्व
स्थूलसमष्टित्वम् । ६ तस्यैव भागभूमित्व दणयति—यत्र चति । वार्तिके हि—'इयानेव तु देवाऽप्य प्राणिनां
भोगसिद्धिद्वत् । अग्नादिदेवतानां च व्याप्तिरेतावती मता ॥ १४५ ॥ इति । प्राणिनामिति विशेषणात्ततो-
ऽयत्रापि दवताव्याप्तिरित्यासाद्भूषोक्तमग्नादाति । अयमेव भाष्यस्पष्टाय । ७ अत परम्—प्रदक्षितसोका-
त्परमलोक- निरालोक । तदुक्त वार्तिके—लाकात्पर निरालोक सप्तप्राणिविवक्षित ॥ १४६ ॥ इति ।
तस्य भोगभूमित्व व्यावर्तयति—सर्वेति । ८ तत्रति—ता पृथिवी समन्त द्विस्तावत्समुद्र- पर्वतीति
भोतस्ये ।

विस्तारेण परिमाणेन तं लोकं 'परिक्षिप्ता पर्येति' पृथिवी । तां पृथिवीं 'तथैव समन्तं द्विस्तावद्द्विगुणेन परिमाणेन समुद्रः' पर्येति यं घनोदमाचक्षते पौराणिकाः ।

✽ तत्राण्डकपालयोर्विवरपरिमाणमुच्यते । येन विवरेण मार्गेण 'बहिर्निगच्छन्तो

माह—य घनोदमिति । उक्तं हि—

'अण्डस्यास्य समन्तात् संनिविष्टोऽमृनोदधिः ।

समन्ताद्घनतोयेन 'घार्थमाणः' स तिष्ठति' इति ॥

तद्यावत्तोत्यावेस्तात्पर्यमाह—तत्रेति । लोकादिपरिमाणे यथोक्तरीत्या स्थिते सतीति यावत् । कपालविवरस्यानुपयुक्तवारिक तत्परिमाणचिन्तयेत्याशङ्क्याऽह—येनेति । व्यवहारसूत्रिः सप्तमर्थः ।

को चारो श्रोत्र से लोकविस्तार से द्विगुण परिमाण विस्तार से पृथिवी "पर्येति" व्याप्त किये हुए है । इसी प्रकार (पृथ्वीलोक को तरह ही) द्विगुण परिमाण से पृथिवी को समुद्र घेरे हुए है, जिसे पौराणिक 'घनोद' कहते हैं ।

अब अण्डकपाली के छिद्रों का परिमाण बताया जाता है, जिस छिद्ररूपी मार्ग से

- १ परितो व्याप्ता भवति । २ साक पृथ्वीव । ३ परितो ध्याप्य तिष्ठति । ४ बहिर्भ्यांजुवन्तीत्यन्वय । ५ बहिरिति—प्रस्तुत समुद्रमतित्रम्य लावादारभ्य अण्डादबहि स्थित यद्गन्तव्य तद्गोपाजुवन्तीत्यर्थ । तथा च गन्तव्यप्राप्त्यनुपयुक्ताण्डकपालसन्धिच्छिद्रस्थोपमानमनेन वाक्यनाच्यमान नानुपयुक्तमिति । ६ पूर्णं । ७ अमृनोदधि ।

अण्डकपालयोर्विवरपरिमाणमुच्यते । येन विवरेण मार्गेण 'बहिर्निगच्छन्तो यदन्त्यपरतन्तत । गन्तव्यमुपमानोक्ति क्रियत तस्य साम्प्रतम् ॥ कपालसधिम व्योम सामर्थ्यात्परिमाणत । यावत्तोत्युपमोषतेह श्रुत्याऽऽविक्रियतेऽनया ॥ तन पारिक्षितान्खेन चित्पारतमत्वमुपागतान् । अन्त सस्याप्य नयति समन्टिष्यच्छिद्रासामु ॥ चित्पारतमाऽत्र सुपर्ण स्मादादित्यात्माऽवबोच्यते । इम देश यत प्राप्तानादित्याद्युक्तवर्त्मना ॥ एव पारिक्षितामर्वाग्निनिरन्दो वियत्पया । निर्गमय्याण्डत प्रादाद्वायवे मूढमरूपिणे ॥ अश्वमेधमखापूर्वं देवताग्निरिहोच्यते । वायुवेष्टनमेतच्च यदपूर्वंमिहोदितम् ॥ वायुरेव तताऽपूर्वमभिव्यक्ततनुमत । अनन्तरमपूर्वंस्य कार्यं निदिस्यतेऽमुना । पारिक्षितातानयाऽऽदाय वायु स्यात्तमगमाश्रयान् । आषाद्य गमयामाम तत्र प्रार्णकक्षिपिण ॥ अश्वमेधकृतो यत्र पूर्वं तस्युरितो गता । वाय्वारमा गमयामास समन्टिष्यच्छिद्रात्पते' ॥ १५४-१६२ ॥ तद्यावत्ती क्षुरस्येत्याद्यवतारयति—तमिति । प्रस्तुत समुद्रमतिक्रम्य लोकादेरन्यदण्डादबहि स्थित यद्गन्तव्य तद्गोपाजुपयुक्ताण्डकपालसन्धिच्छिद्रस्थोपमानमनेनोच्यत इत्यर्थ । तनु तावानित्याकाशान्तरमेवाच्यत न कपालच्छिद्र नियामकाभावाद्यतो न तस्येयमुपमेत्याशङ्क्याऽह—कपालेति । समुद्रात्परस्तादण्डकपालच्छिद्रातिरेकेणाति-सूक्ष्मार्वांनुपपत्तेरण्डकपालसधिस्यमेव व्योमतावानित्यादिनाच्यतऽत्र सपिस्थमव नभो हृष्टान्तश्रुत्या परिमाणविशिष्टतया स्फुटघते नाऽऽकाशान्तरमर्वापत्तिविरोधादित्यर्थ ॥ तानिन्द्र इत्यस्य विवक्षितमाह—तनिति ॥ सुपर्णशब्दार्थमाह—चित्पेति । अस्मिन्वाक्ये विराट्सूत्र वा सुपर्ण स्यादित्यत्र हनुमाह—इमिति । अर्वा-द्युक्तमार्गेण ब्रह्मलोक प्राप्याण्डकपालसमीपदेश प्राप्तानश्वमेधवता बहिर्नेतुं शक्तियत सूत्रविराजोत्वातस्तयोत्पत्तरस्यैव सुपर्णतत्यर्थ ॥ सूत्रस्मान्तरि बहिरपि श्वात्वेव हिर्नयनसामर्थ्येऽपि विराजाऽन्तरेव सत्वात्कथ तच्छक्तिरित्याशङ्क्येऽश्वशब्दार्थं वदन्वायवे प्रायच्छदित्यस्याधमाह—एवमिति । इन्द्रस्य चित्पारतनो विराट्सूत्र-

व्याप्नुवन्त्यश्वमेधयाजिनः । तत्तत्र यावती यावत्परिमाणा क्षुरस्य धाराऽन्नं यावद्वा
सौक्ष्म्येण युक्तं मक्षिकायाः पत्रं तावांस्तावत्परिमाणोऽन्तरेण मध्येऽण्डकपालयोराकाश-
'श्छिद्रं तेनाऽऽकाशेनेत्येतत् । तान्पारिक्षितानश्वमेधयाजिनः 'प्राप्तानिन्द्रः परमेश्वरो
योऽश्वमेधे'ऽग्निश्चितः' सुपर्णो यद्विषयं दर्शनमुक्तं तस्य प्राची दिक्षिर इत्यादिना सुपर्णः
पक्षी भूत्वा पक्षपुच्छाद्यात्मकः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छ'भ्रूतंत्वान्नास्त्यात्मनो गति-
स्तत्रेति । तान्पारिक्षितान्वायुरात्मनि धित्वा स्थापयित्वा स्वात्मभूतान्कृत्वा तत्र

परमात्मानं व्यावर्तयति—योऽश्वमेध इति । सुपर्णशब्दस्य श्येनसाहचर्यमाश्रित्य 'चित्येऽनो प्रवृत्ति
दर्शयति—यद्विषयमिति । उक्तार्थं 'पदमनुवदति—सुपर्ण इति । भ्रूत्वेत्यस्यार्थमाह—पक्षेति । ननु
चित्योऽग्निरण्डादहिरश्वमेधयाजिनो गृहोत्वा स्वयमेव गच्छतु किमिति तान्वायवे प्रयच्छति तत्राऽह
—भ्रूतंत्वादिति । आत्मनश्चित्यस्याग्नेरिति यावत् । तत्रेत्यण्डाद्वाह्यदेशोक्ति । इति युक्तं वायवे

निकलने वाले अश्वमेधयाजी बाहर व्याप्त होते हैं । वहाँ "यावती" अर्थात् जितने परिमाण वाला छुरे की
"धारा" यानी अन्नभाग होता है "यावद्वा मक्षिकाया पत्रम्" अर्थात् जितने सूक्ष्म मक्खी के पल्लू होते
हैं, "तावानन्तरेण" उतने परिमाण वाले अण्डकपालो के मध्य से आकाश का अवकाश होता है । उस
आकाश से वे जाते हैं । 'तान्' अर्थात् उन प्राप्त हुए पारिक्षित अश्वमेधयाजियो को 'इन्द्र' यानी परमे-
श्वर जो अश्वमेधयाग में उपासित विराट् अग्नि ही है, "सुपर्ण" जिसके विषय में "उसकी प्राची
दिशा क्षिर है" इत्यादि श्रुति प्रमाण है—'सुपर्णो भूत्वा' पक्ष पुच्छादिरूप सुपर्ण पक्षी होकर वायु
को दे दिया क्योंकि स्थूल होने के कारण उसकी वहाँ अपनी गति नहीं होती, वायु ने उन पारिक्षितो को
अपने में 'धित्वा' यानी स्थापित कर अथवा उन्हें स्वात्मभूत करके "तत्र" यानी वहाँ पर पहुँचा

१ अवकाश । २ इत्यतत्—इति शेष इति यावत् । ३ यदर्थमिद सर्वमुक्त तद्विदानी प्रदर्शयति—
तानिति । तानावाशद्वारेण । इन्द्रो विराडात्मभूताऽश्वमेध श्येनाकारेण चित (उपासित) अग्नि सुपर्ण
पक्षपुच्छाद्यात्मक । ४ स्वसमीपम् । ५ विराट् । ६ उपासित । ७. वृ० उ० १।२।३ । ८
स्थूलत्वात् । ९ उपास्य विराहग्नी । १० सुपर्णपदम् ।

रूपस्य बहिर्गमवित्युत्पत्त्याद्योगाद्वायवे न तानदादित्यर्थं । ननु सूत्रस्य वायोश्च वायुर्वै गीतम तत्सूत्रमित्येक्यधुते
सूत्रात्मा कुतो बहिरण्डतो निगमय्य तान्वायव प्रादादिति तत्राऽह—सूक्ष्मेति । ज्ञानशक्तिमत सूत्रस्य क्रिया-
शक्तिमन्त स्वात्मानमेव वायु प्रति क्रियाज्ञानवता नयनमुचितमिति भावः ॥ अथेन्द्रस्य यथोक्तस्यापि कथमश्व-
मेधयाजियु फलदातृत्वेत्याशङ्क्य प्रकृतमग्निशब्दार्थं विशदयति—अश्वमेधेति । इहेति प्रकृतवाक्योक्ति ।
अग्निरूपा देवता वेदश्वमेधजन्यापूर्वत्वात्तत्र तर्हि तदेव धर्मं जैमिनिरिति न्यायेन फलदमस्तु कृत वायुनेत्या-
शङ्क्याऽऽह—वायुवेदमिति । यदत्रापूर्वं तद्वामुशरीरमेवेति यावत् ॥ वायु शरीरी शरीरमपूर्वमिति
भेदादेव स्वैव फलदत्वमभवेति त्रिाभ्यामित्याशङ्क्याऽऽह—वायुरिति । अश्वमेधासिद्धुत्तमपूर्वफलदानायमभि-
व्यक्तप्रभावां वायुरेवति नानयोर्भेद इत्ययं । तानित्यादेस्तात्पर्यमाह—अनन्तरमिति । अश्वमेधवृत्तौ वायवे
प्रदानादिति शेषः । कार्यं फलम् ॥ अक्षराणि व्याचष्टे—पारिक्षितानिति । विराजा सूत्रेण वा प्रदानानन्तर्य-
मयशब्दार्थं । कुत्र गमितवानित्येषेतायामाह—तत्रति । प्राणैरुत्पिण इत्युपास्त्या देवभावमापन्नत्वं देवो
भूत्वेत्यादिश्रुतदर्शयति । तत्र गतिमनूय तत्फलमाह—याम्वाभेति ॥

तस्मिन्नगमयत् । अथ । यत्र पूर्वोऽतिक्रान्ताः पारिक्षिता अश्वमेधयाजिनोऽभवन्ति । एवमिव वा एवमेव स गन्धर्वो वायुमेव प्रशशंस पारिक्षितानां गतिम् ।

समाप्ताऽऽख्यायिका । आख्यायिकानिर्घृतं त्वर्थमाख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुतिः स्वमुखेनैवाऽऽचष्टेऽस्मभ्यम् । यस्माद्वायुः स्यावरजङ्गमानां भूतानामन्तरात्मा बहिश्च स एव तस्मादध्यात्माधिभूताधिदैवभावेन विविधा याऽऽष्टिव्याप्तिः स वायुरेव । तथा 'समष्टिः

प्रदानमिति शेषः । आख्यायिकासमाप्ताविति शब्दः । परितो दुरितं क्षोयते येन स परिक्षिदश्वमेधस्त-
द्याजिनः पारिक्षितास्तेषां गतिं वायुमिति संबन्धः ।

मुनिवचने वर्तमाने कथमाख्यायिकासमाप्तिस्तत्राऽऽह—समाप्तेति । 'वायुप्रशंसायां हेतुमाह—

दिया । कहाँ पर पहुँचा दिया ? "यत्र" अर्थात् जहाँ पहले अतिक्रमित पारिक्षित रहे । इस प्रकार "सः" अर्थात् उस गन्धर्व ने, पारिक्षितों की 'वायुमेव' अर्थात् गतिरूप वायु की ही प्रशंसा की ।

यहाँ आख्यायिका का व्याख्यान तो पूर्ण हुआ । आख्यायिका से निकलने वाला जो अर्थ है, उसे आख्यायिका से निकाल कर श्रुति स्वमुख से ही प्रतिपादित करती है क्योंकि वायु ही स्यावर जङ्गम प्राणियों की आत्मा है, वह आत्मा बाहर भी है, अतः अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवभाव से व्यावृत्त रूप के द्वारा जो भी "व्याप्तिः" यानी विविधा अष्टि या व्याप्ति है, वह वायुरूप गति ही । तथा "समष्टिः" यानी अनुगत रूप से व्याप्ति केवल सूत्रात्मा से वायुरूप गति ही है । "एव" यानी इस प्रकार जो

१. भूतानामिति—इदमुपलक्षणमण्डस्यापि । तदुक्तं वातिके—“वायुं मुक्त्वा बहिर्यस्मान्गान्यस्या विद्यतेऽव्हि । देवताया गतिस्तस्माद्वायुर्न्यायानिहैकलः ॥ यत एवमतो ज्ञेयो वायुरेव न चापरः । व्यष्टिः समष्टिरित्येवमण्डा-
दन्तर्बहिर्यस्य स ॥ व्याप्तिविशेषरूपेण व्यष्टिरित्यभिधीयते । सामान्येन समष्टिश्च वायुरेव द्विधा स्थित ॥ वस्तु यत्लक्ष्यं तं त्रिञ्चिज्जगत्यस्मिन्संचराचरे । सामान्येन विशेषेण वायुरेव तदीक्ष्यताम् ॥ न सामान्यविशेषान्या वायोरन्यस्य वस्तुनः । सद्गन्धो वायुरेवेति सावधारणवाक्यतः ॥ अन्ययोगव्यवच्छेदे प्रशसेयमसोर्भवेत् । न स्वयोगव्यवच्छेदे उक्तपंन्तादृगप्यते ॥ अश्वमेधकर्तुरेष समष्टिव्यष्टिलक्षणं । महिमाऽऽविष्कृतं श्रुत्या विद्या-
युक्तस्य स भ्रमादिति” ॥ १६६-१७२ ॥ अण्डाद्बहिरिहश्च वायुबह्वेवतान्तरस्य यतो न गतिः किन्त्वण्डान्तरैवातो देवाना मध्ये वायुरेव महानिति तत्प्रशंसेयमर्थः ॥ तस्मादित्यादेरर्थमाह—यत इति । वायोर्ण्यायस्त्वेन प्रशस्य-
मानत्वाद्वासावेव बहिर्व्याप्या समष्टिरन्तर्व्याप्या व्यष्टिश्चेत्यर्थः । अण्डादन्तर्बहिश्चेति व्यष्टिसमष्टिपदयो-
र्व्याख्यानम् ॥ वायुरेवेत्यादेरर्थमाह—व्याप्तिरिति । सामान्येन व्याप्तिरिति पूर्वोक्तं संबन्धः । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—वायुरेवेति ॥ अन्यस्याप्युभयामन संबन्धात्कुतोऽन्यधारणमित्यत आह—वस्तित्वेति ॥ कथमेतदव-
सिद्धिरित्याशङ्क्यावधारणवशादित्याह—नेति ॥ अयोगव्यवच्छेदेनापि तद्व्यष्टिप्यते नेत्याह—अन्येति । तादृमिति अन्ययोगव्यवच्छेदकृतोत्पत्तिर्बहिर्यस्यः ॥ वायोर्ण्यारूपत्वविशेषेण प्रकृतप्रदानप्रत्युक्तधनुपयुक्त तेन तत्प्रशंसाऽपि वृथेत्याशङ्क्य विशिष्टाश्वमेधफलस्यैव श्रुत्योच्यमानत्वात्त्वान्वेगमित्याह—अन्येति । आख्यायिकातोऽपसृत्य स्वेना-
ऽऽग्रमना श्रुतिर्न्योक्तमहिमानमाहेति तस्मात्सत्र तात्पर्यं सूचयति—स भ्रमादिति ॥ २. आत्मा । ३. भावेनेति—व्यावृत्तरूपतयेति शेषः । ४. अनुगततया व्याप्तिः । ५. गन्तव्यम् । ६. वायुप्रशंसापामिति—अन्या-
दिष्वपि विद्यमानेषु कुतो वायुरेव प्रशंसेत्याशङ्क्येत्यादि ।

केवलेन सूत्रात्मना वायुरेव । एवं वायुमात्मानं समष्टिव्यष्टिरूपात्मकत्वेनोपगच्छति य एवं वेद । तस्य किं फलमित्याह—अप पुनर्मृत्युं जयति सकृन्मृत्वा पुनर्न म्रियते । तत आत्मनः प्रश्ननिर्णयाद्भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

अथ हैनमुपस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ । पुण्यपापप्रयुक्तग्रंहातिग्रहैर्गृहीतः पुनः पुनर्ग्रंहा-
तिग्रहांस्त्यजन्नुपाददत्संसरतीमुक्तम् । पुण्यस्य च पर उत्कर्षो व्याख्यातो व्याकृतविषयः
समष्टिव्यष्टिरूपो द्वैतकत्वात्मप्राप्तिः । १ यस्तु ग्रहातिग्रहैर्ग्रस्तः संसरति सोऽस्ति वा

यस्मादिति । किं पुनर्ग्रंथोक्तवायुतस्त्रविज्ञानफलं तदाह—एवमिति ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य तृतीयं भुज्युर्ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणान्तरमवतारयति—अथेति । तस्यापुनरुक्तमर्थं बबतुमात्तंभागप्रश्ने वृत्तं कीर्तयति—
पुण्येति । "भुज्युप्रदान्ते सिद्धमर्थमनुदवति—पुण्यस्य चेति । नामरूपाभ्यां व्याकृत जगद्विरण्यगर्भात्मकं
"तद्विषयमुत्कर्षं विशिनष्टि—समष्टीति । कथं यथोक्तोत्कर्षस्य पुण्यकर्मफलत्वं तत्राऽह—द्वैतेति ।

समष्टिव्यष्टिरूप से स्वरूपभूत वायु को जानता है, वह वायु को उपासना करता है । उसका फल क्या है ? इस पर श्रुति कहती है "पुनर्मृत्युं" यानी अपमृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, एक बार मर कर फिर नहीं मरता (सापेक्ष अमृतत्व को प्राप्त करता है) । इसके पश्चात् अपने प्रश्न का समीचीन निर्णय सुनकर लाह का पुत्र भुज्यु चुप हो गया ॥२॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

फिर उस याज्ञवल्क्य से चक्र के पुत्र उपस्त ने पूछा । पुण्य-पाप में प्रेरित ग्रह-अतिग्रहो से गृहीत हुआ पुण्य पुन पुनः ग्रह और अतिग्रहो को त्यागता और ग्रहण करता हुआ समरण करता है, ऐसा आर्तभाग ब्राह्मण में कहा जा चुका है । इसके अतिरिक्त अश्वमेध पुण्य के चर्मोत्कर्ष का भी वर्णन कर दिया गया कि वह व्याकृतविषयक समष्टिव्यष्टिरूप द्वैत की समष्टिव्यष्टिरूपा प्राप्ति

१ उपास्ते । २ यावत्तत्रावस्थानमिति सापञ्चममृतत्वमधिगच्छति । ३ उपररामेति—ततश्च स एवा-
प्रतिभारूप निग्रह प्राप्त इत्यर्थं । ४ आनभागब्राह्मणे । ५ अश्वमेधस्य । ६ समष्टिव्यष्टिरूपाति ।
७ अधिकारी । ८ उपस्तब्राह्मणस्य । ९ द्वितीयब्राह्मणे । १० तृतीयब्राह्मणान्त । ११
तदाश्रितम् ।

ऋषिस्त्वित्यादि आरभ्यत' इत्यन्तभाष्यतात्पर्याविष्काराणि साधंसत्पवातिनानि प्रदस्यन्त तथाहि—“मुमुक्षुरस्ति चास्तीति परो ग्रन्थोऽवतायति ॥ देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभ्यतिरेकेत । अस्तित्वे तस्य ससिद्धं तन्मुक्त्यं यत्परो यत ॥ भविष्यत्सामन्वी यथाभागमतो मतः । न ताग्रति समारम्भ सिद्ध एव हि ताग्रति ॥ चर्त्तत्तम

नास्त्यस्तित्वे च क्लितक्षण इत्यात्मन एव विवेकाधिगमायोपस्तप्रदान आरभ्यते । तस्य च निरुपाधिस्वरूपस्य क्रियाकारकविनिर्मुक्तस्वभावस्याधिगमाद्योक्ताद्वन्धनाद्विमुच्यते

संप्रत्यनन्तरब्राह्मणस्य विषय दर्शयति—यस्त्विति । माध्यमिकानामध्येवा चाऽऽद्यो विवादः क्लितक्षणो देहादीनामन्यतमस्तेभ्यो क्लितक्षणो वेति यावत् । इत्येव विमृश्याऽऽत्मनो देहादिभ्यो विवेकेनाधिगमायेदं ब्राह्मणमित्याह—इत्यात्मन इति । विवेकाधिगमस्य भेदज्ञानत्वेनानयंकरत्वमाशङ्क्य 'कहोलप्रदान-

करना है । जो अधिकारी ब्रह्मो और अतिग्रहो से ग्रस्त होकर संसरण करता है, उसका अस्तित्व है प्रथया नहीं और यदि है तो किस लक्षण वाला है, इस प्रकार आत्मा का ही अनात्मदेहादि से विवेक प्राप्त करने के लिए उपस्य का प्रश्न आरम्भ किया जाता है । उस निरुपाधिकस्वरूप, क्रियाकारक-

१. अनात्मदेहादित । २. आत्मन । ३. प्रहातिग्रहस्थात् । ४. वृत्तमनूद्येत्यर्थ । ५. प्राचीनतम इति यावत् । ६. यद्वा आद्यो विवाद भाष्यनिदिष्टप्रथमो विवाद । नैरात्मवादिनो माध्यमिका नास्तीति वदन्त्ये त्वात्मवादिनोऽस्तीतीति तेषां परस्परमस्ति नास्तीनि भाष्योक्तप्रथमो विवाद इत्यर्थ । अस्तित्वे च क्लितक्षण इति द्वितीयस्तु माध्यमिकतिरिक्तानामिति ध्ययम् । ७. वक्ष्यमाणपञ्चमब्राह्मणेत्यर्थ ।

पुरा सिद्धेर्बुद्ध्याद्यव्यतिरेकत । कत्रदिदिह साक्षात्मा दृष्टेद्वष्टोव्यतेऽधुना ॥ विषयो ब्रह्मविषया योग्य क इति चिन्तयत । विषयज्ञधृते यस्मादुपदेशोऽर्थवान्भवत् ॥ ब्रह्मणो बोधदेश स्यादथवाऽब्रह्मणो भवेत् । ब्रह्मत्वस्य स्वतः सिद्धेर्ब्रह्मणि स्यादनयं क ॥ उपदेशशतानि ब्रह्मत्वं न वक्ष्यन् स्वतोऽब्रह्मत्वस्तस्य नातोऽब्रह्मण इष्यते ॥ सर्वस्यैकात्म्यमाप्तात्म्यात्त्र चाब्रह्मैह लभ्यते । अत्रनेत्रवरसभेदशङ्कानुत्पद्यमुच्यते” ॥ ३-१० ॥ इति । प्रमातृसाक्षी प्रमातृद्वारा स्वात्मन्यध्यस्तमसारी मुमुक्षुस्त्वमर्थोऽत्र निर्घायत इत्यर्थे ॥ मुमुक्षोरपेक्षितो मोक्षो वक्तव्यस्तवस्तित्व-निर्धारण त्वनिबन्धनमत आह—देहेति । वेदना दुःखाद्यात्मिका धीवृत्तम् । साक्षात्तिरेकेण साक्षिण सत्त्वे निश्चिते तस्य तस्मान्मुक्त्यर्थं पल्लसभवात्तदस्तिव वाच्यमित्यर्थे ॥ कस्य तर्हि देहातिरिक्तत्वमस्तिव चोच्यते मातुरन्वस्य वा नाऽऽस्तस्य कमकाण्डप्रामाण्यादेव सिद्धेर्नंतरस्तस्याप्रसिद्धस्य बुद्धिमनारोहेतोऽव्ययप्रतिपादन-त्वादित्यासाङ्क्याऽऽद्य दोषमङ्गी करोति—भविष्यदिति । स्थूलदेहाद्यतिरिक्त परलोकी कमकाण्डवशादेव देया सिद्धो न तान्प्रति प्रमातृसाधनाथमिदं ब्राह्मण तस्य तान्प्रति सिद्धत्वादित्यर्थं ॥ द्वितीयो दोष निरस्यति—कर्त्रिति । बुद्ध्यादिवैशिष्ट्येन कर्मकाण्डे मातु सिद्धेस्तसाक्षी समनन्तरब्राह्मणे विद्याधिकारित्वेन निरूप्यते न च तस्मात्प्रसिद्धत्वादन्यथ प्रतिपाद्यत्वं भाषादिभाषापात्रसाधकत्वेन सामान्यतो धर्मवत्प्रसिद्धस्य विशेषाकारेण प्रतिपादनादिरोधादिति भावः ॥ आब्रह्मस्तस्त्वप्य-तैरित्यादि वदन्निरानार्थं गुणभोग्रधिकारी दक्षितस्तथाप न्यायवातिकं क्षमाम् शास्त्र जगतो जगदादेति तत्र किमधिकारिचित्तत्वासाङ्क्याऽऽह—विषय इति । आब्रह्म-त्यादावधिकारित्वमात्र विवक्षितं न सर्वाधिकारित्वं न हि किमपि शास्त्र सर्वाधिकारमती ब्रह्मविद्याया योग्यमधिकारिण निरूपयितुं ब्राह्मणमिति भावः । विद्योपदेशे स्वयमेव श्रद्धावा प्रवर्तयते किमधिकारिचित्त-त्वे-त्याशङ्क्याऽऽह—विषय इति । अधिकारिण प्रत्येव तद्योगादयत्र तद्वैफल्यत्तच्चिन्ताऽर्थवतीत्यर्थं ॥ कस्तर्हीह योग्योधिकारीति निकल्पयति—ब्रह्मणो वेति । आद्य वैषम्यमुपदेशस्यत्याह—ब्रह्मत्वस्येति ॥ द्वितीय प्रत्याह—उपदेशेति ॥ पक्ष एवायमनुपपन्न इत्याह—सर्वस्येति । शास्त्र सप्तम्यथ । तस्माधिकारिण निरूपयितुं ब्राह्मणमारभ्यमिति प्राप्तं तत्राऽऽह—क्षेत्रज्ञति । प्रत्यब्रह्मणोर्वास्त्वभेदशङ्कानिरासेन ब्रह्मवाचिष्याव्यवहित विद्यायात्म्यमिति निश्चेतुं ब्राह्मणं न च ब्रह्मकण्ठिकया गताथत्वमस्य तद्विपर्ययत्वादित्यर्थं ॥

'अथ ह्येनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति
 होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं
 मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य
 सर्वान्तरो ऽयः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो
 योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन

फिर उस याज्ञवल्क्य से चक्र ने पुत्र उपस्त ने पूछा । हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा उपस्त ने कहा । जो
 ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है और जो सबका अन्तरात्मा है, उसकी व्याख्या तुम मेरे प्रति करो । याज्ञवल्क्य
 ने कहा—यह कार्यकरणसघात के भीतर तेरा आत्मा ही सबका अन्तर्वर्ती ब्रह्मस्वरूप है । उपस्त ने
 कहा—हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन सा है अर्थात् कार्यकरणसघात में से किसे सर्वान्तर आत्मा
 कहना चाहते हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो मुख नासिका द्वारा सचरण करने वाले प्राण से प्राणन-
 क्रिया करता है, वह विज्ञानमय ही तेरा आत्मा सर्वान्तर्वर्ती है । जो अपान से अपाननक्रिया करता

'सप्रयो जकात् । आख्यायिकासंबन्धस्तु प्रसिद्धः ।

अथ हैनं प्रकृतं याज्ञवल्क्यमुपस्तो नामतश्चक्रस्यापत्यं चाक्रायणः पप्रच्छ । यद्ब्रह्म

तात्पर्यं संगृह्णाति—तस्य चेति । आह्वयसंबन्धमुक्त्वाऽऽख्यायिकासंबन्धमाह—आख्यायिकेति ।
 विद्यास्तुत्यर्था सुखावबोधोपार्था चाऽऽख्यायिकेत्यर्थः । भृशुप्रभनिर्णयानन्तर्यमयशब्दाद्यः । संबोधनमभि-

विनिर्मुक्त-स्वभाव आत्मा का ज्ञान होने पर यथोक्त प्रहातिग्रह रूप बन्धन से कर्मों के सहित विमुक्ति हो
 जाती है, आख्यायिका का प्रयोजन तो प्रसिद्ध ही है ।

"अथ हैनम्" अर्थात् इसके अनन्तर इस प्रकरणस्थ याज्ञवल्क्य से "चाक्रायणः" यानी चक्र के
 पुत्र उपस्त नाम वाले ब्रह्मिष्ठ ने कहा । "यद्" अर्थात् जो ब्रह्म "साक्षात्" अर्थात् किसी भिन्न वस्तु से

१. "ऐकात्म्यानवबोधस्य कार्यमुक्तमरोपतः । तन्मूलव्यस्तयेऽप्याह्वं परो ग्रन्थोऽवतार्यते" ॥ वा० १ ॥ "चतुर्थं-
 आह्वणे मोहयोग्यः कर्तृत्ववर्जितः । विषया ब्रह्मविद्याया अस्त्यात्मेति निरूप्यते" ॥ आह्वणतात्पर्यं सक्षिप्या-
 नुवदति—ऐकात्म्येति । अनर्थमूलाज्ञानव्यसिजानार्थत्वेनोत्तरब्राह्मणपट्कारम्भ प्रतिजानीते—तन्मूलेति ।
 उक्तेऽनर्थं सहेतुतद्बसिहेत्वपेक्षाऽस्तीत्ययशब्दार्यः । ऊर्ध्वमित्यनन्तरब्राह्मणमात्रग्रहणव्यावृत्तिः ॥ २ यः
 प्राणेनेति—साक्षादित्यादिविशेषणकमालमान साक्षादबोधयितव्यमुपेक्ष्य किमिति लिङ्गं न बोधयितु प्रवर्तते सत्यम् ;
 अनुमानेन त्वमर्थं परिशोध्य तस्योक्तविशेषणब्रह्मरव वाक्येन विशदयिष्यामीति भगवानो यः प्राणेनेत्युक्तवान्
 इति । ननु पदार्थशुद्धिवद्वाक्यार्थधीरपि लिङ्गादेवास्तु न वाक्यैरगम्यत्वात्तस्या इति । ३ प्रयोजक कर्म
 तत्सहितात् । ४ सबन्धस्तु प्रसिद्ध इति—सबन्धः प्रयोजनम् । ५ यदिति परमात्मतत्त्व विशेष्य तस्या-
 परोक्षादित्यन्तं (ब्रह्मान्त वा) विशेषण परोक्षवादिभ्रमव्युदासार्थम् । तथा च यद्ब्रह्म बृहत्तम साक्षात् स्वरूपत
 एवापरोक्षम् न तु घटादिवद्वृत्तव्याप्यदेनेत्याभिप्रेत्याह—यद्ब्रह्म इति । यद्ब्रह्म इन्द्रः । साक्षादपरोक्षादित्यन्वयः ।
 ६. उत्पाम्योत्पापकत्वरूपम् ।

व्यानीति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति
स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

है, वही विज्ञानमय तेरा आत्मा सर्वान्तर्वर्ती है। जो व्यान से व्याननक्रिया करता है, वही विज्ञानमय आत्मा तेरा सर्वान्तर्वर्ती है। जो उदान से उदाननक्रिया करता है, वही विज्ञानमय तेरा आत्मा कार्य-करणसघात से बिलक्षण सर्वान्तर्वर्ती है।।१॥

'साक्षादव्यवहितं केनचिद्ब्रह्मरूपरोक्षादगौराम् । न श्रोत्रब्रह्मादिवत् । किं 'तत्' । ये आत्मा । आत्मशब्देन प्रत्यगात्मोच्यते । 'तत्राऽऽत्मशब्दस्य प्रसिद्धत्वात्' । सर्वस्याभ्यन्तरः सर्वान्तरः । यद्य.शब्दान्या प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्मेति । 'तमात्मान मे मह्यं व्याचक्ष्वेति विस्पष्ट शृङ्गे गृहीत्वा यथा गा दर्शयति तथाऽऽक्ष्व सोऽयमित्येव 'कथयस्वेत्यर्थः ।

मुखीकरणार्थम् । ब्रह्मरूपव्यवहितमित्युक्ते घटादिवदव्यवधानं यौगमिति शङ्क्येत तन्निराकर्तुमपरोक्षादित्युक्तम् । मुख्यमेव ब्रह्मरूपव्यवहितं स्वरूपं ब्रह्म । तथा च ब्रह्मणोत्पत्तिरिति भावात्स्वतोऽपरोक्षमित्यर्थः । श्रोत्रं ब्रह्म मनो ब्रह्मेत्यादि यथा गौरां न तथा गौरां ब्रह्मरूपव्यवहितं ब्रह्म"द्वितीयत्वावित्याह—न श्रोत्रेति । उक्तमव्यवधानमाकाङ्क्षाद्वाराऽनन्तरवाक्येन(शु) साधयति—किं तदित्यादिना । तस्य परिच्छिन्नत्वशङ्कां वारयति—सर्वस्येति । "सर्वनामभ्यां प्रत्यग्ब्रह्मविशेष्यं समप्यतं "इतरंस्तु शब्द-विशेषणानीति" विभागमभिप्रेत्याऽह—यद्य शब्दाभ्यामिति । इति रुच्यत इत्यनेन संबध्यते । इतिशब्दो द्वितीयः प्रश्नसमाप्त्यर्थः । तमेष प्रश्नं विवृणोति—विस्पष्टमिति ।

व्यवधान को न प्राप्त हुआ, घटा से "अपरोक्षात्" यानी अपरोक्ष या अगोण है। ("श्रोत्र ही ब्रह्म है" इस श्रुति से) श्रोत्र ब्रह्मादि के समान नहीं है। वह क्या है? "य आत्मा" इस श्रुतिवाक्य में आत्मा-शब्द प्रत्यगात्मा का वाचक है क्योंकि इसी अर्थ में आत्मा की प्रसिद्धि है। जो "सर्वान्तर" अर्थात् सब के अन्दर है। श्रुति में "यत्" और "य" इन शब्दों से यह प्रदर्शित किया जाता है कि यह प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्म है। उस ब्रह्म से अत्रिन्न आत्मा का "मे" अर्थात् मेरे प्रति 'व्याचक्ष्व' यानी व्याख्यान

- १ साक्षात्पदायमाह—अव्यवहित केनचिदिति केनचिद्वृत्तिविशेषण व्यवधानम् सहितं ब्रह्मण भवतीत्यर्थः ।
- २ अपरोक्षम् । ३ यद्वा साक्षादगौराम् न तु मनो ब्रह्मेत्यादिवदगोणमित्याशयनाह—अगोणमिति । ४ उक्तविशेषण ब्रह्मप्रत्यगभिन्नं तद्विन्नं वक्तव्यम् । ५ अभिप्रमेवेत्युत्तरमाह—य इति । अत्र य इति जीवरात्म विशेष्यस्तस्य सर्वान्तर इति विशेषण परिच्छिन्नत्वादिभ्रमव्यावृत्त्यर्थं तथा चाक्तविशेषणं शोधितयोस्तत्त्वपदार्थ-योग्यं इति शब्दान्या सामानाधिकरण्यादनुमानचिदानुप्रत्यगात्मत्व जीवम्य स्वाभाविक स्वरूपं पृष्टमिति ध्येयम् । ६ प्रतीचि । ७ यच्चान्तोतीत्यादिसंस्तुतश्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । ८ ब्रह्मान्नस्रमात्मानम् । ९ ब्रह्मात्मानं प्रत्यक्ष दर्शयति वाच्यम् । १० ब्रह्मरूपवत् । ११ सर्वनामभ्यामिति—तथा च ब्रह्मात्मेति-शब्दावपि विशेषणाद्यविवेकितं भावः । १२ साक्षादित्यादिभिः । १३ समप्यतम् ।

एवमुक्तः प्रत्याह, याज्ञवल्क्यः—एष ते तवाऽऽत्मा सर्वान्तरः सर्वस्याभ्यन्तरः । सर्वविशेषणोपलक्षणार्थं सर्वान्तरग्रहणम् । यत्साक्षादव्यवहितमपरोक्षादगीणं ब्रह्म बृहत्तममात्मा सर्वस्याभ्यन्तर एतेर्गुणः समस्तैरुक्त । एषः कोऽसौ, तवाऽऽत्मा । योऽयं कार्यकरणसंघातस्तव येनाऽऽत्मनाऽऽत्मवान्स एष तवाऽऽत्मा । तव कार्यकरणसंघातस्येत्यर्थः । तत्र पिण्डस्तस्याभ्यन्तरे लिङ्गात्मा करणसंघातस्तृतीयो यश्च सविद्यमानस्तेषु क्तमो ममाऽऽत्मा सर्वान्तरस्त्वया विवक्षित इत्युक्त इतर आह—'य. प्राणेनमुखनासिकासंचारिणा प्राणिति प्राणचेष्टा करोति येन प्राणः प्रणीयत इत्यर्थः । स ते तव कार्यकरणसंघा-

त्वमर्थे "वाक्यार्थान्वययोग्ये पृष्टे तत्प्रदर्शनार्थं प्रत्युक्तिमवतारयति—एवमुक्त इति । सर्वान्तर इति "विशेषोक्त्या प्रश्नस्य विशेषणान्तराणाम्"नास्थामाशङ्क्याऽऽह—सर्वविशेषणेति । एष सर्वान्तर इति भागस्यार्थं विवृणोति—यत्साक्षादिति । एषशब्दार्थं प्रश्नपूर्वकपाह—काऽसाविति । आत्मशब्दार्थं विवृणोति—योऽयमिति । येनेत्यत्र" सशब्दो द्रष्टव्य । पष्ठुत्यर्थं स्वप्नयति—तवति । प्रश्नान्तरमुत्थाप्य प्रतिवक्ति—तत्रेत्यादिना । सर्वान्तरस्तवाऽऽत्मेत्युक्ते सतीति यावत् । तृतीयो मातृणांक्षी प्रणीयते

करो । जिस प्रकार सोध ही मीगो को पकड़कर गो दिखलाते है, उसी प्रकार स्पष्ट दिखलाओ कि यह आत्मा है अर्थात् इस प्रकार ब्रह्मात्मा को प्रत्यक्ष दिखलाओ ।

इस प्रकार कहे जाने पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—यह "ते" यानी तुम्हारे सघात का आत्मा "सर्वान्तर" अर्थात् सब के भीतर है । 'सर्वान्तर' शब्द का ग्रहण सर्व विशेषण के उपलक्षण के लिए है जो साक्षात् अव्यवहित और अपरोक्ष अगीण ब्रह्म यानी बृहत्तम आत्मा सबके भीतर है, यह इन समस्त विशेषणों से युक्त है । वह कौन है ? वह तुम्हारा स्वरूप ही है । यह जो तुम्हारा प्रत्यक्ष कार्यकरण-सघात है, वह जिस आत्मा के द्वारा लब्ध स्वरूप है, वह (प्रमातादि के आगम और भ्रूपाय वा साक्षी) तुम्हारा आत्मा ही है यानी तुम्हारे कार्यकरणसघात का आत्मा है । भ्रूयु के यह कहने पर कि पहला वो पिण्ड है, दूसरा पिण्ड के भीतर इन्द्रियसघातरूप लिङ्गदेह है और तीसरा जिसके विषय में सन्देह है । (इस प्रकार अनेक आत्मा होने से) इनमें से किसे मेरा सर्वान्तर आत्मा बनलाना चाहते हो ? ऐसा पूछने पर याज्ञवल्क्य ने कहा—जो स्वयं अप्राण हाकर मुख नासिका द्वारा संचरण करने वाले प्राण से

- १ सघातस्य । २ विदोषणं । ३ स्वरूपम् । ४ प्रत्यक्ष । ५ आत्मा—आत्मरवनाभिमत । ६ लब्धस्वरूप । ७ प्रमात्रादितदागमापाय साक्षी अत्रात्मशब्दार्थं । ८ तत्र पिण्ड इति । अत्र वानिदे— "पिण्डानुत्पत्तावधारणेको लिङ्गानुत्पत्तौ तथा पर । बुद्धिसाक्षी तृतीय स्यादोऽय सदिसृते तथा" ॥ ६३ ॥ स्वल्पमूषमदेहमाक्षिभेदेनानेक आत्मान इत्यर्थं पिण्डात् पिण्डपयन्त पिण्डरूप इति यावत् । एष लिङ्गान्त । ९ क्तम इति—यस्मादनेकार्थमभवस्तस्मात्तयो मध्ये क्तम साक्षादित्यादिविदोषणस्त्वया विवक्षितस्तमन्वतो निष्पृथ्व गवादिब्रह्मप्रत्यक्षतया बदेत्यर्थं । १० स्वयमप्राण प्राणभिन्न इत्यर्थ । ११ अध्यानात्स्वयमपि प्राणनादिभियावानिब्र भवति । १२ अल्पदेवात्मयति बोध्यम् । १३ विशेषणविशेषोक्त्या । १४ अनादरम्—अविवक्षितत्वम् । १५ इत्यत प्राणिति यावत् ।

सं होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसा-
वश्व इत्येवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरो-

तव उस उपस्त चाक्रायण ने कहा (अन्य प्रकार से प्रतिज्ञा कर फिर -विपरीत भाषण करना अच्छा नहीं) जैसे कोई (चलनादि लिङ्ग में) कहे कि यह चलने वाला बैल है और दौड़ने वाला घोडा

तस्याऽऽत्मा 'विज्ञानमयः । समानमन्यत् । योऽपानेनापानीति यो व्यानेन व्यानीतीति
च्छान्दसं दर्शयम् । सर्वाः कार्यकरणसंघातगताः प्राणनादिचेष्टा दारुयन्त्रस्येव येन क्रियन्ते ।
न हि चेतनाचदनधिष्ठितस्य दारुयन्त्रस्येव प्राणनादिचेष्टाविद्यन्ते' । 'तस्माद्विज्ञानम-
येनाधिष्ठित' विलक्षणेन दारुयन्त्रवत्प्राणनादिचेष्टां प्रतिपद्यते । तस्मात्सोऽस्ति कार्यकरण-
संघातविलक्षणो यश्चेष्टयति ॥१॥

; स होवाचोपस्तश्चाक्रायणो यथा कश्चिदन्यथा प्रतिज्ञाय पूर्वं पुनर्विप्रतिपन्नो

प्राणनविशिष्टः क्रियत इति यावत् । कथमेतावता संवेहोऽपाकृत इत्याशङ्क्य विवक्षितमनुमानं यक्तुं
व्याप्तिमाह—सर्वा इति । या खल्वचेतनप्रवृत्तिः सा चेतनाधिष्ठानपूर्विका यथा रथादिप्रवृत्तिरित्यर्थः ।
येन क्रियन्ते सोऽस्तीति संबन्धः । दृष्टान्तस्य साध्ययं कल्पं 'परिहरति—न हीति । सप्रत्यनुमानमारचयति
—'तस्मादिति । विमता 'चेष्टा चेतनाधिष्ठानपूर्विकाऽचेतनप्रवृत्तिवत्प्राणादिचेष्टावदित्यर्थः' । प्रतिपद्यते
प्राणादीति शेषः । अनुमानफलमाह—'तस्मात्सोऽस्तीति । चेष्टयति कार्यकरणसंघातमिति शेषः ॥१॥

' १ १ १ प्रश्नप्रतिषेधनयोरननुस्त्वमाशङ्कते—स होवाचेति । दृष्टान्तमेव स्पष्टयति—प्रसाविस्वादिना ।

“प्राणिनि” यानी प्राणचेष्टा किया करता है अर्थात् जिसमें प्राणनादि क्रियावान् होता है । वह तुम्हारा
कार्यकरणसंघात आत्मा बुद्धघुपाधिक है, मन्त्र में अवशिष्ट वाक्य का अर्थ पूर्वोक्त के-समान है ।
“योऽपानेनापानीति”, “यो व्यानेन व्यानीति” अर्थात् इस उक्त श्रुति वाक्य में “अपानीति, व्यानीति”
इन पदों में दीर्घ प्रयोग छान्दस है । अर्थात् काष्ठयन्त्र के समान देहेन्द्रियसंघात में होने वाली सभी
प्राणनादि क्रियाएँ जिसके द्वारा की जाती है (वही तेरा आत्मा सर्वान्तर है) जैसे किसी चेतन
अधिष्ठाता की प्रेरणा के बिना लकड़ों का यन्त्र संचालित नहीं हो सकता । उमी प्रकार इस स्थूल की
प्राणनादि क्रियाएँ भी चेतन आत्मा के बिना नहीं हो सकती । इसलिए यह प्राणादि स भिन्न-विज्ञानमय
आत्मा से अधिष्ठित होकर काष्ठ के यन्त्र के समान प्राणनादि क्रिया करता है । इसलिए जो इससे
चेष्टा करता है ; वह कार्यकरणसंघात से विलक्षण सर्वान्तर आत्मा है ॥ १ ॥

उस चाक्रायण उपस्त ने कहा—जैसे पहले कोई अन्य प्रतिज्ञा कर के फिर उसके विपरीत

१ बुद्धघुपाधिक । २ चेष्टा उक्तसंघातस्येति शेषः । ३ प्राणादिति । ४ विप्रतिपन्न इति—
प्रतिज्ञातस्य प्रतिपत्तिविकल प्रतिज्ञापरिपाननाशक्त इति यावत् । ५ संघातचेष्टाप्राणाशक्तिसमाश्रयः । ६
परिहरतीति—परिहरन् पक्षे साध्य पर्यवसाययतीत्यर्थः । ७ तस्मादिति—अचेतनप्रवृत्तश्चेतनाधिष्ठानपूर्व-
वृत्तनियमादित्यर्थः । ८ प्राणादिजडसंघातप्रवृत्तिः । ९ तस्मादिति—कार्यकरणसंघातस्य चेष्टावत्त्वोप-
लम्भादित्यर्थः ।

एवमुक्तं प्रत्याह याज्ञवल्क्य—एष ते तवाऽऽत्मा सर्वान्तरं सर्वस्याभ्यन्तरः । सर्वविशेषणोपलक्षणार्थं सर्वान्तरग्रहणम् । यत्साक्षादव्यवहितमपरोक्षादगौणं ब्रह्म बृहत्तममात्मा सर्वस्याभ्यन्तर एतंगुणं समस्तैरुक्तं । एषः कोऽसौ, तवाऽऽत्मा । योऽयं कार्यकरणसंघातस्तव येनाऽऽत्मनाऽऽत्मवान्स एष तवाऽऽत्मा । तव कार्यकरणसंघातस्येत्यर्थः । तत्र पिण्डस्तस्याभ्यन्तरे लिङ्गात्मा करणसंघातस्तृतीयो यश्च सद्विद्यमानस्तेषु कतमो ममाऽऽत्मा सर्वान्तरस्त्वया विवक्षित इत्युक्त इतर ब्राह्मण-य. प्राणेनमुपनासिकासंचारिणा प्राणिति प्राणचेष्टा करोति येन प्राणं प्रणीयत इत्यर्थः । स ते तव कार्यकरणसंघा-

त्वमर्थे वाक्यार्थान्वययोगे पृष्ठे तत्प्रदर्शनाथं प्रत्युक्तिमवतारयति—एवमुक्त इति । सर्वान्तर इति विशेषोक्त्या प्रश्नस्य विशेषणान्तराणामनास्यामाशङ्क्याऽऽह—सर्वविशेषणेति । एष सर्वान्तर इति भागस्यार्थं विवृणोति—यत्साक्षादिति । एषशब्दार्थं प्रश्नपूर्वकपाह—वाऽसाविति । आत्मशब्दार्थं विवृणोति—योऽयमिति । येनेत्यत्र शब्दो द्रष्टव्य । पट्टुचर्थं स्पष्टयति—तवति । प्रश्नान्तरमुत्थाप्य प्रतिवक्ति—तत्रेत्यादिना । सर्वान्तरस्तवाऽऽत्मैत्युक्ते सतीति यावत् । तृतीयो मातृगणो प्रणीयते

करो । जिम् प्रकारं मीधं ही सीगा को पकडकर गो दिखलाते है, उसी प्रकार स्पष्ट दिखलाओ किं यह आत्मा है, अर्थात् इस प्रकार ब्रह्मात्मा का प्रत्यक्ष दिखलाओ ।

इस प्रकार कहे जाने पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—यह ते यानी तुम्हारे संघात का आत्मा "सर्वान्तर" अर्थात् सब के भीतर है । "सर्वान्तर" शब्द का ग्रहण सब विशेषण के उपलक्षण के लिए है जो साक्षात् अव्यवहित और अपरोक्ष अगौण ब्रह्म यानी बृहत्तम आत्मा सबके भीतर है, यह इन समस्त विशेषणों से युक्त है । वह कौन है ? वह तुम्हारा स्वरूप ही है । यह जो तुम्हारा प्रत्यक्ष कार्यकरण-संघात है वह जिस आत्मा के द्वारा लब्ध स्वरूप है, वह (प्रमातादि के आगम और अपाय का साक्षी) तुम्हारा आत्मा ही है यानी तुम्हारे कार्यकरणसंघात का आत्मा है । भुञ्जु के यह कहने पर कि पहला तो पिण्ड है, दूसरा पिण्ड के भीतर इन्द्रियसंघातरूप लिङ्गदेह है और तीसरा जिसके विषय में सन्देह है । (इस प्रकार अनेक आत्मा होने से) इनमें से किस मेरा सर्वान्तर आत्मा बनलाना चाहते हो ? ऐसा पूछने पर याज्ञवल्क्य ने कहा—जो स्वयं अप्राण हाकर मुख नासिका द्वारा संचरण करने वाले प्राण से

१ संघातस्य । २ विशेषणे । ३ स्वरूपम् । ४ प्रत्यक्ष । ५ आत्मा—आत्मत्वनाभिमत । ६ सत्यस्वरूप । ७ प्रमात्रादितदागमापाय साक्षी अप्रात्मशब्दार्थं । ८ तत्र पिण्ड इति । अत्र यानि—
"पिण्डान्तस्तावदार्यंके लिङ्गान्तस्त्व तथा पर । बुद्धिमाक्षी तृतीय स्याद्योग्य सद्विद्यते तथा" ॥ ६३ ॥
स्वूनसुखदेहसाक्षिभेदेनानेक आत्मान इत्यथ पिण्डान्त पिण्डपयस्त पिण्डरूप इति यावत् । एष लिङ्गात् ।
९ कतम इति—यस्मादनेकात्ममभवत्सत्मासया मध्ये कतम साक्षादित्यादिविषयस्त्वया विवक्षितस्तमन्यतो निष्कृष्य गवादिवत्प्रत्यक्षतया वदत्यथ । १० स्वयमप्राण प्राणभिन्न इत्यथ । ११ अध्यासात्स्वयमपि प्राणनादिक्रियावानिव भवति । १२ अल्पपिण्डवाक्यापि बोध्यम् । १३ विशेषणविशेषोक्त्या । १४ अनादरम्—अविवाधितस्वम् । १५ इत्यत प्राणिति यावत् ।

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसा-
वश्व इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरो-

तय उस उपस्त चाक्रायण ने कहा (अन्य प्रकार स प्रतिज्ञा कर फिर विपरीत भाषण करना अच्छा नहीं) जैसे कोई (चलनादि लिङ्ग म) कहे कि यह चलन वाला बेल है और दौड़ने वाला घोडा

तस्याऽऽत्मा 'विज्ञानमय । समानमन्यत् । योऽपानेनापानीति यो व्यानेन व्यानीतीति
च्छान्दस देर्ध्यम् । सर्वा कार्यकरणसघातगता प्राणनादिचेष्टा दारुयन्त्रस्येव येन क्रियन्ते ।
न हि चेतनावदनधिष्ठितस्य दारुयन्त्रस्येव प्राणनादिचेष्टाविद्यन्ते' । तस्माद्विज्ञानम-
येनाधिष्ठित' विलक्षणेन दारुयन्त्रवत्प्राणनादिचेष्टा प्रतिपद्यते । तस्मात्सोऽस्ति कार्यकरण-
सघातविलक्षणो यश्चेष्टयति ॥१॥

स होवाचोपन्तश्चाक्रायणो यथा कश्चिदन्यथा प्रतिज्ञाय पूर्वं पुनर्विप्रप्रतिपन्नो

प्राणनविशिष्ट क्रियत इति यावत् । कयमे'तावता सदैहोऽपाकृत इत्याशङ्क्य विवक्षितमनुमान वषत्
व्याप्तिमाह—सर्वा इति । या खल्वचेतनप्रवृत्ति सा चेतनाधिष्ठानपूर्विका यथा रथादिप्रवृत्तिरित्यर्थ ।
येन क्रियन्ते सोऽस्तीति सबन्ध । दृष्टान्तस्य साध्यव्यक्त्य 'परिहरति—न हीति । सप्रत्यनुमानमारचयति
—तस्मादिति । विमता 'चेष्टा चेतनाधिष्ठानपूर्विकाऽनेन प्रवृत्तिवात्रयादिचेष्टावदित्यर्थ । प्रतिपद्यते
प्राणादीति शेष । अनुमानफलमाह—'तस्मात्सोऽस्तीति । चेष्टयति कार्यकरणसघातमिति शेष ॥१॥

। १ । प्रश्नप्रतिबचनयोरननुरूपत्वमाशङ्कते—स होवाचेति । दृष्टान्तमेव स्पष्टयति—असावित्यादिना ।

'प्राणिनि यानो प्राणचेष्टा किया करता है अर्थात् जिम्मे प्राणनादि क्रियावान् होता है । वह तुम्हारा
कार्यकरणसघात आत्मा बुद्ध्युपाधिक है मन्त्र मे अवशिष्ट वाक्य का अर्थ पूर्वोक्त क समान है ।
"योऽपानेनापानीति", 'यो व्यानेन व्यानीति अर्थात् इस उक्त श्रुति वाक्य म अपानीति व्यानाति'
इन पदो मे दीर्घ प्रयोग छान्दस है । अर्थात् काष्ठपत्र के समान देहेन्द्रियसघात मे होने वाली सभी
प्राणनादि क्रियाएँ जिसके द्वारा की जाती है (वही तेरा आत्मा सर्वान्तर है) जैसे किसी चेतन
अधिष्ठाता की प्ररणा के बिना लकड़ी का मन्त्र संचालित नहीं हो सकता । उमा प्रकार इस स्थूल की
प्राणनादि क्रियाएँ भी चेतन आत्मा के बिना नहीं हा सकती । इसलिए यह प्राणादि स भिन्न विज्ञानमय
आत्मा से अधिष्ठित होकर काष्ठ के यन्त्र के समान प्राणनादि क्रिया करता है । इसलिए जा इससे
चेष्टा करता है , वह कार्यकरणसघात स विलक्षण सर्वान्तर आत्मा है ॥ १ ॥

उम चाक्रायण उपस्त ने कहा—जैसे पहले कोई अन्य प्रतिज्ञा कर क फिर उसने विपरीत

१ बुद्ध्युपाधिक । २ चेष्टा उक्तसघातस्यति शेष । ३ प्राणादिति । ४ विप्रतिपन्न इति—
प्रतिज्ञातेष्वं प्रतिपत्तिविकल प्रतिज्ञापरिपायनाशक्त इति यावत् । ५ सघातचेष्टाप्रयाज्जोक्तिमात्रण । ६
परिहरतीति—परिहरत् पक्षे साध्य पक्षसामयतीत्यर्थ । ७ तस्मादिति—अचतनप्रवृत्तश्चतनाधिष्ठानपूर्व
वत्त्वनियमादित्यर्थ । ८ प्राणादिजडसघातप्रवृत्ति । ९ तस्मादिनि—कार्यकरणसघातस्य चेष्टावत्त्वोप-
लम्भादित्यर्थ ।

क्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त
 आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः । न
 दृष्टेर्द्वंष्टारं पश्येनं श्रुतेः श्रोतार शृणुया न
 मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः ।

है, ऐसे ही यह तुम्हारा भी प्राणनादि लिङ्गों द्वारा ब्रह्म का व्यपदेश है। (अतः गौत्रो के लोभ से ब्रह्मवेत्ता होने के दावे को छोड़कर) जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है, उसे मेरे प्रति स्पष्ट रूप से बतलाओ। याज्ञवल्क्य ने कहा—यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर्वर्ती साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है। उपस्त ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन सा है अर्थात् घटादि के समान आत्मा को

ब्रूयादन्यथाऽसौ गौरसावश्वो यश्चलति घावतीति वा पूर्वं प्रत्यक्ष दर्शयामीति प्रतिज्ञाय
 पश्चाच्चलनादिलिङ्गं व्यपदिशत्येवमेवंतद्ब्रह्म प्राणनादिलिङ्गं व्यपदिष्टं भवति त्वया ।
 किं बहुना त्यक्त्वा गोतृष्णानिमित्तं व्याज यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वा-
 न्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति । इतर आह—यथा प्रथमं प्रतिज्ञातस्तवाऽऽत्मैवलक्षणं इति ता
 प्रतिज्ञामनुवर्तं एव । तत्तथैव यथोक्तं मया ।

प्रत्यक्ष गामश्व वा दर्शयामीति पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चाच्चलत्यसौ गौर्वो वा घावति सोऽथ इति चलना-
 दिलिङ्गं यथा गवादि व्यपदिशत्येवमेव ब्रह्म प्रत्यक्ष दर्शयामीति मत्प्रश्नानुसारेण प्रतिज्ञाय प्राणना-
 दिलिङ्गं स्तद्व्यपदिशतस्ते प्रतिज्ञाहानिरनवधेयवचनता च स्यादित्यर्थः । प्रतिज्ञाप्रश्नानुसृतं द्यौ
 बुद्धिपूर्वकारिणोति फलितमाह—किं बहुनेति । प्रत्युक्ततात्पर्यमाह—यथेति । प्रतिज्ञानुवर्तनमेवाभि-
 नयति—तत्तथेति ।

भाषण करे । तुम्हें प्रत्यक्ष दिखलाऊंगा—ऐसी प्रतिज्ञा करके फिर 'जो चलती है, वह गौ है, जो
 दौडता है, वह अश्व है' इस प्रकार चलनादि लिङ्गा से कहे—ऐसे ही इस ब्रह्म का तुम प्राणनादि
 लिङ्गों द्वारा व्यपदेश कर रहे हो। अधिक क्या कहा जाय, तुम गौत्रो को तृष्णा के कारण ब्रह्मवेत्ता
 होने के छल को छोड़कर जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सबके भीतर है, उसका उपदेश
 करो। याज्ञवल्क्य ने कहा—जिस प्रकार मैंने पहले ही प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हारा आत्मा ऐसे लक्षणों
 वाला है, उस आत्मविषयक प्रतिज्ञा का मैं अभी भा कह रहा हूँ। जिस प्रकार आत्मतत्त्व मैंने पहले
 कहा था उसको उसी प्रकार जानना चाहिये, अन्यथाभाव स नहीं।

१ गोतृष्णानिमित्तक छलवादमित्यर्थः । २ एवलक्षण इति—अविषयतयैव ज्ञातुं शक्यो नान्यथेत्येवमेष स
 आत्मा य प्राणनेत्यादिना प्रथमं प्रतिज्ञात इत्यर्थः । ३ ता प्रतिज्ञाम्—आत्मविषयाम् । ४ अनुवर्तं—
 इदानीमप्यमहद्ब्रवीमीत्यर्थः । ५ यथा मयाऽऽप्रमत्तत्वं प्रथममुक्तं तत्तथैव ज्ञातव्यं नान्यथेति श्रूते—तत्तथैवेति ।
 ६ ननु न तथा स्वमुखेन मया प्रतिज्ञातमित्याशङ्क्याऽऽह—मत्प्रश्नानुसारेणेति । मत्प्रश्नानुरूपोत्तरप्रदानप्रवर्त-
 नेनेति यावत् (प्रवर्तनम्—प्रवृत्तिः) । ७ अथद्वयवचनता । ८ व्यनक्ति ।

एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चा-

क्रायण उपरराम ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य
चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥४॥

भी स्पष्ट रूप से विषय करा दो । याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम अन्तःकरणादि के वृत्तिरूप दृष्टि के द्रष्टा को घटादि के समान नहीं देख सकते हो । बैसे ही श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते । मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते । बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते । तेरा यह आत्मा ही सर्वान्तर है । इससे भिन्न कार्य-करण देह नश्वर है । इसके बाद उपस्त चाक्रायण चुप हो गया ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

- यत्पुनरुक्तं तमात्मानं घटादिवद्विषयी कुर्वति 'तदशक्येवात्र विद्यते । कस्मात्पुनस्तदशक्यमिति । आह । वस्तुस्वाभाव्यात् । किं पुनस्तद्वस्तुस्वानाव्यम् । 'दृष्ट्यादि-द्रष्टृत्वम् । दृष्टेद्रष्टा ह्यात्मा । दृष्टिरिति द्विविधा भवति लौकिकी पारमार्थिकी चेति ।

कतमो याज्ञवल्क्येत्यादिप्रश्नस्य 'तात्पर्यमाह—यत्पुनरिति । न दृष्टेरित्यादिषाक्यस्य तात्पर्यं वदन्नुत्तरमाह—'तदशक्येवादिदिति । आत्मनो वस्तुत्वाद्घटादिवद्विषयीकरणं नाशक्यमिति शङ्कते—कस्मादिति । वस्तुस्वरूपमनुसृत्य परिहरति—आहेति । घटादेरपि 'तर्हि वस्तुस्वाभाव्यात्मा भूद्विषयीकरणमिति मन्वानः शङ्कते—किं पुनरिति । दृष्ट्यादिसाक्षित्वं वस्तुस्वाभाव्यं 'तत्राविषयत्वं न चैवं वस्तुस्वाभाव्यं घटादेरस्तौत्युत्तरमाह—दृष्ट्यादीति । दृष्ट्यादिसाक्षिणोऽपि दृष्टिविषयत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—दृष्टेरिति । यथा प्रदीपो 'लौकिकज्ञानेन प्रकाशयो न स्वप्रकाशकं ज्ञानं प्रकाशयति तथा दृष्टिसाक्षी दृष्ट्या न प्रकाशयत इत्यर्थः । दृष्टेद्रष्टेव नास्तीति सोपेतास्तान्प्रत्याह—

जो यह कहा कि इस आत्मा का घटादि के समान प्रत्यक्ष दर्शन करा दो । ऐसा असम्भव होने के कारण नहीं कराया जा सकता । ऐसा होना असम्भव क्यों है—इस पर कहते हैं । वस्तु का स्वभाव ही ऐसा होने के कारण वह असम्भव है । उम वस्तु का घटादि से विलक्षण क्या स्वभाव है ? वह दृष्ट्यादि का साक्षी है क्योंकि दृष्टि का द्रष्टा होने के कारण स्वभाव का विपरिलोप संभव नहीं है ।

१. प्रत्यक्षेण दर्शयित्वा । २. तदागतत्वं न प्रत्यक्षेण प्रदर्शयते तथा निर्देष्टुमशक्यत्वादित्याह—तदशक्य-त्वादिति । तदुक्तं वार्तिके—'उक्तवर्तमतिरेकेण नाऽऽत्मवस्तुषटादिवत् । शक्यते प्रतिनिर्देष्टु प्रमाणयोग्यवत्त्वम्' ॥ ७६ ॥ इति । उक्तं वर्तमं आत्मनः प्रत्यक्षत्वेनाविषयतया ज्ञानं तदतिरेकेणाऽऽत्मवस्तुविषयतया वक्तुमशक्य-मित्यत्र हेतुमाह—प्रमाणेति । ३. घटादितो वलक्षण्यमिति यावत् । ४. दृष्ट्यादिद्रष्टृत्वमिति । आदिना द्रष्टृदृश्ययोर्बहुः । तदुक्तं वार्तिके—'द्रष्टृदर्शनदृश्याना सहतानां परस्परम् । साक्षित्वमात्मनो नित्यं वस्तुस्वा-भाव्यमुच्यते' ॥ ८३ ॥ इति । ५. साक्षित्वम् । ६. स्वभावविपरिलोपात्संभवी हिंशब्दार्थः । ७. प्रश्नस्याप्यवधेयं पूर्वमुक्तत्वादिति भावः । ८. तत्—आत्मनो विषयतया प्रदर्शनम् । ९. वस्तुस्वरूपाश्रयणे न विषयत्वाभावे । १०. आत्मनो दृष्ट्यादिसाक्षित्वादेव । ११. चाक्षुषेणेति यावत् ।

तत्र लौकिकी 'चक्षुःसयुक्तान्तःकरणवृत्तिः । 'सा क्रियते' इति जायते विनश्यति च । या त्वात्मनो 'दृष्टिरन्युष्णप्रकाशादिवत्सा च द्रष्टुः स्वरूपत्वात् जायते न विनश्यति च । 'सा क्रियमाणयोपाधिभूतया' संसृष्टेवेति व्यपदिश्यते द्रष्टेति । 'भेदवच्च द्रष्टा दृष्टिरिति च । याऽसौ लौकिकी दृष्टिश्रक्षुर्द्वारा, रूपोपरक्ता जायमानैव नित्ययाऽऽत्मदृष्ट्या संसृष्टेव 'तत्प्रतिच्छाया तथा व्याप्तैव जायते तथा विनश्यति च 'तेनोपचर्यते द्रष्टा सदा पश्यन्नपि, पश्यति न पश्यति चेति । न तु पुनर्द्रष्टुर्द्रष्टे कदाचिदप्यन्यथात्वम् । तथा च वक्ष्यति पष्ठे—'ध्यायतीव लेलायतीव । 'न हि द्रष्टुर्द्रष्टेर्विपरिलोपो विद्यत इति च ।

दृष्टिरतीति । लौकिकी व्याचष्टे—तत्रेति । पारमार्थिकी दृष्टि व्याकरोति—या त्विति । नन्वात्मा नित्यदृष्टिस्वभावश्चेत्कथं द्रष्टेत्यादिव्यपदेश सिध्यति तत्राऽऽह—सा क्रियमाणयेति । साक्षयबुद्धितद्-वृत्तित्त "कर्तृत्व" "क्रियात्व" चाऽऽध्यात्मिक नित्यदृष्टये व्यवहियत इत्ययं । आत्मनो नित्यदृष्टिस्व-भावत्वे कथं पश्यति न पश्यति चेति कादाचित्तो व्यवहार इत्याशङ्क्याऽऽह—याऽसाविति । या बहुविशेषणा लौकिकी दृष्टिरसौ तत्प्रतिच्छायेति सवन्ध । तथा च मा तत्प्रतिच्छाया तथा व्याप्तैवेति यावत् । क्रिमित्योपचारिको व्यपदेशो मुख्यस्तु किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । द्रष्टेर्वस्तुतो न विक्रियावत्त्वमित्यत्र वाक्यशेषमनुकूचयति—तथा चेति ।

दृष्टि दो प्रकार की होती है, लौकिक और पारमार्थिकी । चक्षु आदि इन्द्रिय म रूपादि विषयाकार सामास बुद्धि परिणाम ही उनमें लौकिकी दृष्टि है । विक्रियमाण स्वभाव होने क कारण उसकी जन्म और नाश से अभिमङ्गति होनी है । एव आत्मा की स्वरूपभूता दृष्टि है वह अग्नि के उष्णत्व और प्रकाशादि के समान द्रष्टा का स्वरूप होने के कारण जन्म और नाश की अभिमङ्गति से रहित है । वह स्वरूप दृष्टि जन्मा उपाधिभूत दृष्टि के द्वारा संसृष्ट ही है, इसलिए द्रष्टा कहलाता है । तथा द्रष्टा और दृष्टि ऐसा भिन्नस्वरूप से व्यवहार होता है । एव जो लौकिक दृष्टि है वह चक्षु के द्वारा रूप स सदिलष्ट के समान उत्पन्न हाकर ही नित्या आत्मदृष्टि के द्वारा उसकी दृक्प्रतिबिम्बा संसृष्टा है, उससे व्याप्त होकर उत्पत्ति और विनाश का प्राप्त होनी है । स्वोपाधिभूत अनित्य दृष्टि योग के वियाग से ऐसा उपचार होना है कि द्रष्टा मदा देखते हुए भी नहीं देखना और देखता भी है । किन्तु द्रष्टा की दृष्टि में कभी विकृति नहीं हानी । ऐसा छठ (उपनिषत् के चौथे) अध्याय म भी कहेंगे । "वही बुद्धिवृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ सा ओम् प्राणवृत्ति के अनुसार चेष्टा करता हुआ सा जान पड़ता है", (वह जा सुषुप्ति म नहीं देखना है नि मन्देह उस अवस्था म देखता हुआ भी नहीं देखता है) श्योकि द्रष्टा की दृष्टि कभी साप नहीं होता ।"

१ सामासबुद्धिपरिणाम चक्षुःरादिकरणको रूपादिविषयो लौकिकी दृष्टि । २ तस्यास्य क्रियमाणत्वाज्ज-
नासाभिमङ्गतिरित्यर्थ । ३ स्वरूपभूता । ४ स्वरूपदृष्टि । ५ जयया । ६ दृष्ट्या । ७
भिन्नत्वेनेति यावत् । ८ दृक्प्रतिबिम्बा बहुव्रीहि । ९ स्वापाधिभूताऽनित्यदृष्टियोगवियोगेनेति यावत् ।
१० विक्रियावत्त्वम् । ११ वृ० उ० ४।३।७ । १२ वृ० उ० ४।३।२३ । १३ दृष्ट्वादि । १४
दृष्टित्वादि । १५ तत्पुण्य ।

'तमिममर्थमाह—लौकिकया दृष्टेः, कर्मभूताया द्रष्टारं स्वकीयया नित्यया दृष्टया व्याप्तारं न पश्येः । यास्तौ लौकिकी दृष्टिः कर्मभूता सा रूपोपरक्ता रूपाभिव्यञ्जिका नास्तमानं स्वात्मनो व्याप्तारं प्रत्यञ्च व्याप्नोति । तस्मात्तं प्रत्यगात्मानं दृष्टेर्द्रष्टारं न न पश्येः । तथा श्रुतेः श्रोतार न शृणुयाः । तथा मतेर्मनोवृत्तेः केवलाया व्याप्तारं न मन्वीयाः । तथा विज्ञातेः केवलाया बुद्धिवृत्तेर्व्याप्तारं न विजानीयाः । 'एष वस्तुनः स्वभावोऽतो' नैव दर्शयितुं शक्यते गवादिवत् ।

न दृष्टेर्द्रष्टारमित्यत्राक्षरारण्यन्यथा व्याचक्षते केचित् । ❀ न दृष्टेर्द्रष्टारं दृष्टेः

"उक्तेऽयं न दृष्टेरित्यादिश्रुतिमवतायं व्याचष्टे—तमिममित्यादिना । "उक्तमेव प्रपञ्चयति—यास्तौविति । न दृष्टेरित्यादिवाक्यार्थं निगमयति—"तस्मादिति । उक्तन्यायमुत्तरवाक्येष्वतिदिशति—तथेति । उक्त वस्तुस्वाभाव्यमुपसहृद्य फलितमाह—एष इति ।

न दृष्टेरित्यत्र स्वपक्षमुक्त्वा भर्तृप्रपञ्चपक्षमाह—न दृष्टेरिति । कथमक्षराणामन्यथा

इस प्रकार उपपादित इस सनिकृष्ट अर्थ को याज्ञवल्क्य कहता है । "दृष्टे " यानी विषयभूता अनित्या लौकिकी दर्शनवृत्ति के "द्रष्टारम्" यानी स्वरूपभूत नित्य दृष्टि के द्वारा प्रकाशयिता को तुम देख नहीं सकते । यह जो उसकी विषयभूता लौकिक दृष्टि है, वह रूप से सदिल्लट एव रूप की अभिव्यञ्जिका है, वह अपने को प्रकाशित करने वाले प्रत्यगात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकती । इसलिये उस दृष्टि के प्रकाशयिता प्रत्यगात्मा को तुम नहीं देख सकते । इसी श्रोत्रसयुक्त भ्रन्त करणवृत्ति के श्रोता को तुम नहीं सुन सकते एव "मते " यानी केवल मनोवृत्ति को प्रकाशित करने वाले का मनन नहीं कर सकते । एव "विज्ञाते " अर्थात् केवल बुद्धिवृत्ति के व्याप्त करने वाले विज्ञाता को नहीं जान सकते । यह वस्तु का दृष्ट्यादिसाक्षित्वरूप स्वभाव प्रदर्शित किया गया । उक्त स्वभाव होने के कारण उसे गौ आदि के समान प्रत्यक्ष दिखाया नहीं जा सकता ।

"द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता । इस श्रुतिवाक्य में श्रुतिमन्त्र के अक्षरो की कुछ

१ उपपादित सनिकृष्टमर्थम् । २ अनित्याया दर्शनवृत्ते । ३ विषयभूताया । ४ स्वरूपभूताया । ५ प्रकाशयितायम् । ६ विषयीकृतौ । ७ प्रकाशयतीति यावत् । ८ श्रोत्रसयुक्तान्त करणवृत्ते । ९ प्रदर्शितो दृष्ट्यादिसाक्षित्वरूप । १० उत्तस्वाभाव्यात् । ११ वाक्ये । १२ दृष्ट्यादिसिद्धत्वात्स्वमित्यादिना भाव्येणोक्तेऽयं । १३ अयम् । १४ आत्मनो निरुक्तदृष्टिविषयस्वाभावान् ।

❀ न दृष्टेर्द्रष्टारमित्यारम्भात्मस्वरूपनिर्धारणोद्येत्सभाष्यतात्पर्याविष्करणपरिणि वातिवान्युपन्यस्यन्ते । तथाहि—'दृष्टिभेदमदृष्टेव दृष्टेरित्यादिका श्रुतिम् । केचिद्ब्याचक्षते धीरा प्रसादात्प्रजातवेदस" ॥ १६७ ॥ न दृष्टेरित्यादि भाष्यानुसारेण व्याख्याय भर्तृप्रपञ्चव्याख्यामनुपदति—दृष्टीति ॥ "दृष्टे कर्तारमात्मानं न पश्ये क्रियमाणया । दृष्टया रूपानुपातिन्या न क्रिया कर्तृकमिका" ॥ १६८ ॥ कथं तद्ब्याख्येत्याशङ्क्य नेत्यादिश्रुत्यक्षरार्थं तदिष्टमाह—दृष्टेरिति । दृष्टिर्हि चक्षुर्द्वारा जाता धीवृत्ती रूप मोचयति तथा दृष्टया न शक्यो विषयीकृतमिति हेतुमाह—रूपेति । किंच म सा त विषयी करोति तद्विक्रमात्कादृगतिरिव गन्तारमित्याह—नेति ॥ "दृष्टेरिति च पृष्ठीय क्रियमाणत्वहेतुत् । कर्मण्येव तु विज्ञेया नासावर्षान्तिरे भत्" ॥ १६९ ॥ एव व्याकुर्व-

कर्तारं दृष्टिभेदमकृत्वा 'दृष्टिमात्रस्य कर्तारं' न पश्येरिति । दृष्टेरिति कर्मणि षष्ठी । सा दृष्टिः 'क्रियमाणा घटवत्कर्म भवति । द्रष्टारमिति तृजन्तेन द्रष्टुर्दृष्टिकर्तृत्वमाचष्टे । तेनासौ दृष्टेर्द्रष्टा दृष्टेः कर्तेति व्याख्यातृणामभिप्रायः ।

व्याख्येत्याशङ्क्य तद्विष्टमक्षरार्थमाह—दृष्टेरिति । इतिशब्दो ध्याचक्षत इत्यनेन सवध्यते । एवं व्याकुर्वतामभिप्रायमाह—दृष्टेरिति । कर्मणि षष्ठीमेव स्फुटयति—सा दृष्टिरिति । षष्ठीं व्याख्याय 'द्वितीयां व्याचष्टे—द्रष्टारमिति । पदार्थमुक्त्वा धाव्यायमाह—तेनेति ।

दार्शनिक दूसरी प्रकार से व्याख्या करते हैं । "दृष्टेर्द्रष्टारम्" अर्थात् दृष्टि के कर्ता आत्मा को नहीं देख सकते अर्थात् बिना दृष्टिभेद किये दर्शनक्रियामात्र के कर्ता को तुम नहीं देख सकते । मन्त्र के "दृष्टे" पद में कर्म में षष्ठी प्रयुक्त की गयी है । वह दृष्टि क्रियमाणत्व हेतु से घट के समान कर्म है और "द्रष्टारम्" इस पद के 'तृच्' प्रत्ययान्त होने से द्रष्टा का दृष्टिकर्तृत्व हाना बतलाया गया है । उक्त व्यवस्था के करने से दृष्टि का द्रष्टा यह, दृष्टि का कर्ता है—ऐसा उन व्याख्याकार दार्शनिकों का अभिप्राय है ।

१ शौकिकत्वादिना दर्शनक्रियाया । २ न पश्येरिति—“दृष्टे कर्तारमात्मान पश्ये क्रियमाणया । दृष्टया रूपानुपातिन्या न क्रिया कर्तृकर्मिका” ॥ १६८ ॥ इति वातिकोपन । दृष्टिर्हि चक्षुर्द्वारा जाता धीवृत्ती रूप गोचरयति तथा दृष्टया द्रष्टा न शक्यो विषयीकर्तृमिति हेतुमाह—रूपति । किं च न सा त विषयी करोति तत् क्रियात्वाद्गतिरिव गन्तारमित्याह—नेति । ३ क्रियमाणेति—“दृष्टेरिति च षष्ठीय क्रियमाणत्वहेतुत । कर्मण्येव तु विज्ञेया नासावर्षान्तरे यत” ॥ १६९ ॥ इति वातिकान्ते । नर्मण्येव षष्ठीत्यत्र दृष्टेरारम्भा निष्पाद्यत्व हेतुमाह—क्रियमाणत्वनि । सकर्मिकायां क्रियाया कर्मणोऽन्तरङ्गत्व गमयितुं तुशब्द । एवकाराद्यमाह—नासाविति । क्रियमाणया दृष्टे शेषरूपस्थान्तरस्य बहिरङ्गत्वादित्याह—यत इति । ४ तेन—उक्तव्यवस्थाकरणेन असावार्ता । ५ द्वितीयान्तम् ।

तामभिप्रायमाह—दृष्टेरिति वेति । कर्मण्येव षष्ठीत्यत्र दृष्टेरारम्भा निष्पाद्यत्व हेतुमाह—क्रियमाणत्वेति । सकर्मिकाया क्रियाया कर्मणोऽन्तरङ्गत्व गमयितुं तुशब्द । एवकाराद्यमाह—नेति । क्रियमाणया दृष्टे शेषरूपस्थान्तरस्य बहिरङ्गत्वादित्याह—यत इति ॥ “दृष्टिकर्तृत्वमाचष्टे तृजन्तेन तथाऽऽत्मान । यतोऽत्र शेषरूपस्थान्तरस्य बहिरङ्गत्वादित्याह—यत इति ॥ १७० ॥ षष्ठीं व्याख्याय द्वितीयां व्याचष्टे—दृष्टीति । उक्त षष्ठीषर्षं दृष्टान्तयितुं तथेत्युक्तम् । अस्तु कर्मदृष्टिर्द्रष्टा च कर्ता किं तता जात तदाह—यत इति ॥ “नर्मण्येव षष्ठीत्यत्र दृष्टेरारम्भा निष्पाद्यत्व हेतुमाह—क्रियमाणत्वनि । सकर्मिकायां क्रियाया कर्मणोऽन्तरङ्गत्व गमयितुं तुशब्द । एवकाराद्यमाह—नासाविति । क्रियमाणया दृष्टे शेषरूपस्थान्तरस्य बहिरङ्गत्वादित्याह—यत इति । ४ तेन—उक्तव्यवस्थाकरणेन असावार्ता । ५ द्वितीयान्तम् ।

तामभिप्रायमाह—दृष्टेरिति वेति । कर्मण्येव षष्ठीत्यत्र दृष्टेरारम्भा निष्पाद्यत्व हेतुमाह—क्रियमाणत्वेति । सकर्मिकाया क्रियाया कर्मणोऽन्तरङ्गत्व गमयितुं तुशब्द । एवकाराद्यमाह—नेति । क्रियमाणया दृष्टे शेषरूपस्थान्तरस्य बहिरङ्गत्वादित्याह—यत इति ॥ “दृष्टिकर्तृत्वमाचष्टे तृजन्तेन तथाऽऽत्मान । यतोऽत्र शेषरूपस्थान्तरस्य बहिरङ्गत्वादित्याह—यत इति ॥ १७० ॥ षष्ठीं व्याख्याय द्वितीयां व्याचष्टे—दृष्टीति । उक्त षष्ठीषर्षं दृष्टान्तयितुं तथेत्युक्तम् । अस्तु कर्मदृष्टिर्द्रष्टा च कर्ता किं तता जात तदाह—यत इति ॥ “नर्मण्येव षष्ठीत्यत्र दृष्टेरारम्भा निष्पाद्यत्व हेतुमाह—क्रियमाणत्वनि । सकर्मिकायां क्रियाया कर्मणोऽन्तरङ्गत्व गमयितुं तुशब्द । एवकाराद्यमाह—नासाविति । क्रियमाणया दृष्टे शेषरूपस्थान्तरस्य बहिरङ्गत्वादित्याह—यत इति । ४ तेन—उक्तव्यवस्थाकरणेन असावार्ता । ५ द्वितीयान्तम् ।

'तत्र दृष्टेरिति षष्ठ्यन्तेन दृष्टिग्रहणं निरर्थकमिति दोषं न पश्यन्ति । पश्यतां वा पुनरुक्तमसारं प्रमादपाठ इति वा नाऽऽदरः' । कथं पुनराधिक्यं' तृजन्तेनैव दृष्टिकर्तृ-

उक्तं परकीयव्याख्या द्रूपयति—तत्रेति । दृष्टिकर्तृत्वविवक्षायां 'तृजन्तेनैव तत्सिद्धेः' षष्ठी निरर्थकेत्यर्थः । कथं पुनर्यथाप्यतारो यथोक्त दोषं न पश्यन्ति तत्राऽऽह—पश्यता वेति । षष्ठीनिरर्थक्यं प्रागुक्तमाकाङ्क्षाद्वारा समर्थयते—कथमित्यादिना । 'कियत्तर्ह्यार्थवदित्याशङ्क्याऽऽह—तदेति ।

अपनी व्याख्या इम प्रकार करने मे "दृष्टे" इस पद मे षष्ठ्यन्त दृष्टिग्रहण निरर्थक हो जाता है, वे ऐसा दोष नहीं देखते है । यदि देखते भी होंगे तो यह पुनरुक्ति है, निरर्थक है, प्रमाद से ऐसा पाठ है—इस प्रकार मानकर उक्त दोषदर्शन का आदर नहीं करते । "दृष्टे" मे षष्ठी फिर क्यों

१. स्वकीयव्याख्यायाम् । २. उक्तवापावक्षणे । ३. दृष्टेरिति षष्ठ्या । ४. द्वारमित्यनेन । ५. दृष्टेरिति । ६. पदम् ।

प्राधान्यमाह—किरेति । उक्त हि—क्रियासिद्ध्युत्तरनात् फल कस्यापि भविष्यतीति ॥ "स्वामिनो यदि ब्राह्मणस्य कर्म प्रत्येव च क्रिया । कर्म दर्शयितव्यं स्याद्दृष्टया द्रष्टा न दृश्यते" ॥ १७५ ॥ किञ्चद्वार्यं प्रकटयति—स्वामिन इति । स्वामी जीवोऽन्यस्तदुपाधिर्माता मातासबुद्ध्यास्तत्तयोरन्वतरस्य रूपाद्युपेत्यि फलमित्यर्थं । फलवत्क्रियासिपि रूपस्याऽऽत्मनो वेति विकल्पतामित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मोति । क्रिया हीप्सिततम कर्म प्रत्यभि-मुशीभूतेत्युक्तत्वात्प्रमान सदेवफलक क्रिया सा रूपादिविषया नाऽऽत्मविषयत्वर्थं । तदेव स्फोर्यति—कर्मोति । यथाऽऽहुस्तद्द्वयमित्यर्थं न कर्तुंति ॥ "तत्रैव सति त दृष्टेर्द्वन्द्वार कर्मभूतया ; दृष्टया पश्ये स्वमात्मान न कथंचन कर्तुं त" ॥ १७५ ॥ उक्तरीत्या स्थित विनागे पश्चित्तुपसहरति—तत्रेति ॥ "व्याख्यानमेतन्नहता न साधु प्रतिभाति न । न्यायाक्षरानुपात्तत्वाद्यथा तदभिधीयते" ॥ १७६ ॥ उक्तं परव्याख्या प्रत्याख्यातु प्रक्रमते—व्याख्यानमिति ॥ "यथाप्रश्ननिब तावत्प्राप्त्युक्तिर्नोपपद्यते । यतो द्रष्टव्यं सभाव्यं कृत्स्नं प्रश्नविशेषणम्" ॥ १७७ ॥ तत्र श्रुत्पदारानुपात्तत्वमुपादयति—यथेति । दृष्टिकर्तारमधिकृत्य प्रवृत्ता न दृष्टेरित्यादिप्रत्युक्तिर्यत्साक्षादि-त्यादिप्रश्नानुसारिणी नेत्यत्र हेतुमाह—यत इति ॥ "साक्षादित्यादिक यस्मान्न मनागपि युज्यते । विशेषण यथोक्त तत्कारके दृष्टिकारिणी ॥ १७८ ॥ प्रश्नवाच्यस्थविशेषणजातस्य दृष्टिकर्तार कथमसम्भवस्तत्राऽऽह—साक्षादित्यादिकमिति । यथोक्त सर्वांतरत्व तस्मान्न प्रश्नानुसारि परमते प्रतिवचनमिति शय ॥ "क्षेत्रज्ञपर-मात्मानो नापि प्रश्ने विवक्षितौ । एकार्थयोगाद्वाच्यस्य नैकीकृतौ स्याद्द्वयार्थता" ॥ १७९ ॥ ननु प्रश्ने परापरौ विवक्षितौ तत्र यथायोग्य विज्ञापणोपपत्तिस्तत्राऽऽह—क्षेत्रज्ञेति । तत्र हतु—एकार्थेति । अर्थकत्वादेक वाक्यमिति न्यायादित्यर्थ ॥ 'न चैतिसततमाव स्याद्दृष्टदृष्टेरसम्भवात् । द्रष्टव्यतरस्य द्रष्टृत्व च ष द्रष्टृन्तर तथा' ॥ १८० ॥ यत्तु दृष्टेरिति षष्ठी कमपीत्यङ्गीकृत्य क्रियमाणत्वन कर्मत्व दृष्टेरादित् तस्मिन्नुप-परव्याख्याया न्यायानुपात्तत्वमाह—न चेति । द्रष्टृरिव दृष्टेरपि न कर्मत्व दृष्टिविषयदृष्टेरसम्भवादित्यर्थ । द्रष्टात साधयति—द्रष्टृत्वेति । तथात्ति दाट्यान्तिवाक्ति ॥ "तदभ्युपगम व स्यादनवस्थाप्रतिवारणा । दृष्टधन्तरैण सव्यापिनर्तातो दृष्टे च्यचन" ॥ १८१ ॥ उभयत्र दृष्टिद्रष्टृन्तराभ्युपगम का दावस्तत्राऽऽह—तदिनि । तस्या मूलक्षयकरीत्वेन द्रूपणत्र प्रकटयितुमनिवारणति विशेषण तत्कलमाह—दृष्टधन्तरणति । द्रष्टृन्तरैरेत्यपि द्रष्टव्य दृष्टेरित्यपि द्रष्टृत्वरूपक्षणम् ॥ "नया द्रष्टृत्वज्ञेत्वेव कामितापसमाप्तिस्त । निरर्थकमिदं च स्याद्दृष्टेरिति यदुच्यते" ॥ १८२ ॥ यत्तु दृष्टिकर्तृत्वमित्यादि तस्मिन्नाह—तथेति । यथा दृष्टेरिति षष्ठी न कमपीत्युक्त तथा द्रष्टेरपि कर्तारि न सम्भ-

ह्यात्मनो नित्यत्वमुपपद्यते विक्रियामावे विक्रियावच्च नित्यमिति च विप्रतिषिद्धम् ।
 “ध्यायतीव लेलायतीव” “न हि द्रष्टृदृष्टेर्वपरिलोपो विद्यते” “एष नित्यो महिमा
 ब्राह्मणस्य” इति च श्रुत्यक्षराण्यन्यथा न गच्छन्ति ।

ननु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञातेत्येवमादीन्यप्यक्षराण्यात्मनोऽविक्रियत्वे न गच्छ-
 न्तीति । न । यथाप्राप्तनौकिकवाक्यानुवादित्वात्तेषाम् । नाऽऽत्मतत्त्वनिर्धारणार्थानि
 तानि । न दृष्टेर्द्रष्टारमित्येवमादीनामन्यार्थासंभवाद्ययोक्तायं परत्वमगम्यते । तस्मादनबो-
 धादेव हि विशेषणं परित्यक्तं दृष्टेरिति । एष ते तवाऽऽत्मा सर्वैरुक्तैर्विशेषणैर्विशिष्टः ।

वच्चेति । इतश्चाऽऽत्मनो नास्ति विक्रियावत्त्वमित्याह—ध्यायतीवेति । अन्यथा विक्रियावत्त्वे सतीति
 यावत् ।

अविक्रियत्वेऽपि श्रुत्यक्षराण्यनुपपन्नानिति शङ्कते—नन्विति । न “तेषां विरोधो दृष्टं
 दृष्ट्यादिकर्तृत्वमनुसृत्य प्रवृत्तं लौकिके वाक्ये तदर्थानुवादित्वाद्दुक्तश्रुत्यक्षराणां स्वार्थं प्रामाण्या-
 भावादिति परिहरति—नेत्यादिना । न दृष्टेरित्यादीन्यपि “तर्हि श्रुत्यक्षराणां न स्वार्थं प्रमाणातीत्या-
 शङ्काऽऽह—न दृष्टेरिति । अन्योऽर्थो दृष्ट्यादिकर्ता । ययोक्तोऽर्थो दृष्ट्यादिसाक्षो । द्रष्टृपदस्य
 साक्षिविषयत्वे सिद्धे दृष्टेरिति साध्यसम्पन्ना “तदर्थवत्त्वोपपत्तिरित्युपसंहरति—तस्मादिति । पक्षा-
 न्तरं निराकृत्य स्वपक्षमुपपाद्यान्तरं वाक्यं विभजते—एष इति । अन्वयार्थमिति विशेषणं सामर्थ्य-

विक्रियारहित आत्मा की सिद्धि हो जाती है और विकारशील वस्तु नित्य हो—ऐसा होना परस्पर
 विप्रतिषिद्ध है । वही बुद्धिवृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ सा और प्राणवृत्ति के अनुसार चेष्टा
 करता हुआ सा जान पड़ता है”, “(वह जो सुपुति में नहीं देखता है, निःसन्देह उस अवस्था में देखता
 हुआ भी नहीं देखता है) क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का कभी नोप नहीं होना”, “नेति नेति” इत्यादि
 श्रुतिवाक्य द्वारा लक्षित यह ब्रह्मदर्शी की नित्य महिमा है” इस प्रकार श्रुति के अक्षर स्वार्थ में
 प्रामाण्य नहीं प्राप्त करते ।

यदि कहे कि आत्मा के विकाररहित होने पर तो द्रष्टा श्रोता, मन्ता, विज्ञाता इत्यादि शब्दों
 की कोई उपपत्ति नहीं हो सकती, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वे तो यथाप्राप्त लौकिक वाक्यों
 का अनुवाद करने वाले हैं, वे आत्मतत्त्व का निर्धारण के लिए नहीं हैं । “न दृष्टेर्द्रष्टार पदयोः”
 (तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते) इत्यादि श्रुतियों का अन्य अर्थ संभव न होने के कारण उनका
 पूर्वोक्त अर्थ में ही तात्पर्यबोध होता है । इसलिये (उक्तरीति से “दृष्टेः” इस पद के साथक सिद्ध होने
 से) अन्य व्याख्याना दार्शनिका ने बिना सोचे समझ ही “दृष्टेः” इस पद का परित्याग किया है ।
 तुम्हारा यह सघात आत्मा पूर्वोक्त सर्वान्तर धादि सभी विशेषणों से विशिष्ट है । इसलिये इस धात्मा

- १ वृ० उ० ४।३।७ । २ वृ० उ० ४।३।२३ । ३ वृ० उ० ४।४।२३ । ४ स्वार्थं प्रामाण्यं न
 मन्तव्य इत्यर्थः । ५ नोपपद्यन्त । ६ तस्मात्—उक्तरीत्या दृष्टेरितिपदस्यार्थवत्त्वोपपादानात् । ७
 सघातस्य । ८ सर्वविशेषणोपलक्षणार्थं सर्वान्तरग्रहणमित्यभिप्रेत्याह—सर्वैरिति । ९ श्रुत्यन्तरानुपपत्तेरिव ।
 १० आत्मनः । ११ श्रुत्यक्षराणाम् । १२ अविचारितसमिद्धम् । १३ तेषां स्वार्थं प्रामाण्याभावे ।
 १४ दृष्टेरितिपदस्य । १५ सामर्थ्यमनुपपत्तिः ।

अत एतस्मादात्मनोऽन्यदातं कार्यं वा शरीरं करणात्मकं वा लिङ्गम् । 'एतदेवैकमनात्मं-
विनाशि कूटस्थम् । 'ततो होपस्तश्चाक्रायण 'उपरराम ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे तृतीयाध्याये
चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

'बन्धनं सप्रयोजकमुक्तम् । 'यश्च बद्धस्तस्याप्यस्तित्वमधिगतं व्यतिरिक्तत्वं च ।
'तस्येदानीं बन्धनोक्षसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानं वक्तव्यमिति 'कहोलप्रद्वन 'आरम्यते—

सिद्धमर्थमाह—एतदेवेति ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकाया तृतीयाध्याये
चतुर्थमुपस्तब्राह्मणम् ॥४॥

ब्राह्मणप्रयायं संगतिं वक्तुं 'मनुवदति—बन्धनमिति । चतुर्थंब्राह्मणार्थं संक्षिपति—यश्चेति ।
'उत्तरब्राह्मणतात्पर्यमाह—तस्येति । उपस्तप्रश्नानन्तर्यंमशब्दायः । पूर्ववदित्यभिमुखीकरणार्थं सर्वो-

से भिन्न विनाशी कार्यं शरीरं अथवा करणात्मकं लिङ्गदेहं है । यह आत्मतत्त्व ही एक, विनाशरहित
स्वभाव वाला, अविनाशी एवं कूटस्थ है । अपने प्रद्वन के निर्णय से चाक्रायण उपस्त चुप हो गया ॥२॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीयाध्याय चतुर्थं
ब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

प्रयोजनसहित बन्धन का निरूपण कर दिया गया । जो बद्ध है, उसका अस्तित्व तथा
भिन्नत्व भी अवगत हो गया । अब उस मुमुक्षु के बन्धन से मुक्त होने के साधनस्वरूप सन्याससहित
आत्मज्ञान का प्रतिपादन करना है, इसलिये (पञ्चम ब्राह्मण में कहोल का प्रद्वन आरम्भ किया जाता है ।

१ विनाशि । २ आत्मतत्त्वम् । ३ स्वीयप्रश्ननिर्णयात् । ४ मनसाप्यचिन्तनीयपराजयोऽमित्यभि-
प्रायेणेति द्रष्टव्यम् । ५ बन्धनत्रयेण कर्मादिरूपप्रयोजकसहितं सत्त्वं उक्तं इत्यर्थः । ६ यश्चेति—
चतुर्थंब्राह्मणेन कूटस्थबोधे प्रत्यगात्मा मुमुक्षुनिश्चित इत्यर्थः । ७ मुमुक्षोः । ८ सहेतुबन्धवन्ति ससंन्यास
सम्यग्ज्ञानं वक्तुं पञ्चमं ब्राह्मणमित्यर्थः । ९ आरम्यते इति । ननु सम्यग्ज्ञानमेव वाच्यं तस्याज्ञानव्यतिराग्नौ
सन्यासस्तस्य ज्ञानात्प्रागूर्ध्वं चानुपयोगादित्यासाङ्ग्यं समाहितं वातिके तथाहि—'उत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य सन्यासो
लक्षणं यत् । साधनं च तदुत्पत्तौ सन्यासोऽज्ञानेऽत्र अभ्यते ॥ प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं सन्यासलक्षणम् । तस्मा-
ज्ज्ञानं पुरस्कृत्य सन्यसेद्विह बुद्धिमात्रं' ॥ ३-४ ॥ इति । साधनं चेति जिज्ञासोरिति शेषः । अत्र प्रकृतज्ञान-
प्रकरणे ॥ तस्य तत्साधनत्वे मानमाह—प्रवृत्तीति ॥ १० एतदध्यायस्यादितो ब्राह्मणप्रथमं सहास्यं ब्राह्मणस्य
संगतिं वक्तुं तदर्थंमनुवदति । ११ प्रकृतपञ्चमंब्राह्मणतात्पर्यमिति भावः ।

'अथ हैनं कहोलः' कौपीतकेयः । पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति
 होवाच 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्त-
 रस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष आत्मा सर्वान्तरः । कतमो
 याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो' योऽशनायापिपासे शोकं मोहं
 जरां मृत्युमत्येति ।* एतं वै तमात्मानं विदित्वा
 ब्राह्मणाः पुत्रं पणायश्च वित्तं पणायश्च लोकं पणा-

फिर उस याज्ञवल्क्य से कुपीतक के पुत्र कहोल ने पूछा—'हे याज्ञवल्क्य' ऐसा उसने सर्वोपन
 किया । जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है तुम मेरे प्रति उसनी व्याख्या
 करो । याज्ञवल्क्य ने कहा—यह तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर्वर्ती ब्रह्म है (यहाँ पर आत्मा के विषय
 में विशेष विवक्षा होने पर कहोल ने प्रश्न किया है, अतः कौपीतकेय और कहोल के प्रश्न को अभिन्न
 मानकर पुनरुक्ति की माशका नहीं करनी चाहिये) । कहोल ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर
 कौन-सा है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह जरा और मरण को पार किय हुए

अथ हैनं कहोलो नामतः कुपीतकस्यापत्यः कौपीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति
 होवाचेति पूर्ववत् । 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति ।

धितवानित्यर्थः । बन्धध्वंसिज्ञानप्रदो नात्र प्रतिभाति कित्वेनुवादमात्रमित्याशङ्क्याह—य विदि-

फिर उस याज्ञवल्क्य से "कौपीतकेयः कहोल" अर्थात् कुपीतक के पुत्र कहोल नामक ब्रह्मिष्ठ
 ने पूछा । 'हे याज्ञवल्क्य' इस प्रकार सम्बोधन अभिमुख करने के लिये किया ऐसा अर्थ पूर्ववत् समझना
 चाहिये । जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मुझे, व्याख्या करो,

१ अथेति—“पञ्चमब्राह्मणे ब्रह्मबोधसिद्धिसाधनम् । समुत्पन्न तत्त्वबोधे मुक्तलक्ष्म च वक्ष्यते” ॥ वा सा १ ॥
 २ यदेवेति । “उपस्तपृष्ठादयस्य निर्वर्तयितुमात्मनः । यदेव साक्षादित्युक्तविवेकर प्रयुज्यते ॥ उपदेसाम्य
 विषयस्त्वमर्थं शोधित पुरा । न ब्रह्मैव सम्प्रमुक्तमिति धृच्छनि तस्य नु ॥ अशनायादिरहित ब्रह्मताया अपादये ॥
 न स्यात्सर्वान्तरत्वादि चिद्धने प्रत्यगात्मनि ॥ इत्यभिप्रेत्य तनोक्त साक्षादित्यादिक पुन । अनूद्य सर्वं पप्रच्छ
 कहोलो ब्रह्मरूपतामिति” ॥ वा सा ६-१२ ॥ ३ यदेवेत्यकारप्रक्षेपस्तु य एवारमोपस्तन पृष्टस्तमेवाह
 पृच्छामीति विद्यैकत्वद्योतनार्थं इति धृतिः । ४ ब्राह्मणे । ५ उपस्तोक्तस्य ।

* एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः—“ब्रह्मप्रश्नेन पृष्टे त तद्बोधफलसाधन । इति मत्स्योत्तरत्वेन व्युत्थानद्वय-
 मुच्यते ॥ पूर्वं विदित्वा पश्चात् ध्युत्थायत्यन्वयान्छूनात् । विद्वन्व्यास आभाति ब्रह्मबोधफलस्य ॥ आरम्भ-
 क्षणपर्यन्तं तस्य देहं प्रवर्तते । फलसामकोशं सत्यासस्तत्त्वविद्यापुरमर ॥ ध्युत्थायाऽथ विदित्वेति व्यत्ययेना-
 र्थविधान्वयात् । सिद्धो विविदिद्यात्याग स्पष्ट श्रुत्यन्तरेऽप्यसौ ॥ “एतमेव प्रजाजिना लोकमिच्छन्त प्रवर्तन्ति”

याश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रंषणा
सा वित्तंषणा या वित्तंषणा सा लोकंषणोभे ह्येते
एषणे एव भवतः । तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निविद्य
बाल्येन तिष्ठासेत् । बाल्यं च पाण्डित्यं च निविद्याथ
मुनिरमौनं च मौनं च निविद्याथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः

है । इसी उस आत्मा को अपरोक्षरूप से जान कर ब्राह्मण नौग 'पुत्रंषणा, वित्तंषणा और लोकंषणा से दूर हटकर भिक्षाचर्या किया करते हैं । जो भी पुत्रंषणा है, वही वित्तंषणा है, और जो वित्तंषणा है, वह लोकंषणा है क्योंकि साध्य-साधन भेद स ये दानो एषणाएँ ही हैं । अत ब्राह्मण पूर्णरूप से आत्म-ज्ञान का संपादन कर आत्मज्ञानरूप बल से स्थिर रहने 'को इच्छा करे । पुन बाल्य और पाण्डित्य को पूर्णरूप से प्राप्त कर वह मुनि होता है तथा अमौन एव मौन का पूर्ण रूप से संपादन करके ब्राह्मणत्व

य विदित्वा बन्धनात्प्रमुच्यते । याज्ञवल्क्य आह—एष ते त्वाऽऽत्मा ।

किमुपस्तकहोलाभ्यामेक आत्मा पृष्टः किं वा भिन्नावात्मानौ तुल्यलक्षणाविति ।

त्वेति । त व्याचक्ष्वेति पूर्वेषु सवन्ध ।

'प्रश्नयोरवान्तरविशेषप्रदर्शनाय' परामुशानि—किमुपस्तेति । 'तत्र पूर्वेषु गृह्णाति—

जिस आत्मा को जानकर बन्धनमुक्त हो जाता है । याज्ञवल्क्य ने कहा—“यह तुम्हारा आत्मा है”

क्या उपस्त और कहोल ने एक ही आत्मा के विषय में पूछा अथवा समानस्वभाव वाली

१ तस्मादित्वादि । यस्मात्पूर्वं ब्राह्मणा ऋषेण तमेतमारमान विदित्वा व्युत्थानादि चक्रुस्तस्मादसत्तनोऽपि ब्राह्मण
—आपातदर्शी एषणाम्यो व्युत्थाय पाण्डित्यम्—शास्त्रोक्त्या बुद्धि पण्डा तद्वान् पण्डितस्तस्य वम वेदान्तवाक्य-
विचारलक्षण श्रवणापरपर्याय पाण्डित्य निविद्य—नि शेष कृत्वा अत्र तर बाल्येन श्रवणज्ञानोत्पन्नागेपानात्म-
दृष्टितिरस्करण बल तस्य भावो बाल्य तत्र ज्ञानबलभावेन विषयानाकृष्टचित्त सन् तिष्ठासेत् स्यातुमिच्छेत् ।
बाल्यशब्दाभिषय मनन कुर्पादिति यावत् । बाल्य च पाण्डित्य निविद्य नि गेय कृत्वा, अथानंतर मुनि मोनवान्
घारापौराहित्यात्मप्रत्ययप्रवाहवान् तिष्ठासदित्यनुपज्यते निदिष्यासन् कुर्पादिति यावत् । एवममौन च उक्ताय-
पाण्डित्यबाल्यशब्दाभिषेय श्रवणमननाख्य मौन चोक्ताय मुनिशब्दाख्य निदिष्यासनाख्य निविद्यात्पानंतर ब्राह्मणो
निरुपचरितब्राह्मण्यवान्—साक्षाद्ब्रह्मैव स्यात् घृतकृत्यो भवेदिति यावत् । २ आत्मानम् । ३ सर्वांतर-
त्यस्वप्रकाशात्वाशनायाशतीतरवादिषर्मे समानस्वभावावित्यय । ४ उपस्तकहोलकृत्युक्तयो । ५ विचार-
यति । ६ पूर्वोत्तरपक्षयो । ७ सिद्धान्तविरुद्धम् ।

वृ० उ० ४।५।२२ । “स्वात्मलोक स्वमिच्छत प्रज्जग तीति वक्ष्यति । त्यागेनैके चामृतत्व प्राप्ता इत्यपरा श्रुति ॥
ब्राह्मणग्रहणश्रुत्या ब्राह्मणानामिव भाष्यहत् । सन्यासेऽधिकृति प्राह चतुर्थार्थरूप्यसो । विद्याङ्गतत्फलारमान
नार्गोविदुरयारपि । स्त्रीशुद्रयोर्भाष्यकार सन्यासमनुमन्यत ॥३३३८॥ इति वार्तिकसारात्किरुच्यत्रोपयोगिनी ।

केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदातं ततो ह
कहोलः कौपीतकेय उपरराम ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य
पञ्चमं कहोलब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। वह किस आचरण से ब्राह्मण होता है? जिस आचरण से भी हो, वह ऐसे ही लक्षण वाला ब्राह्मण होता है। इससे भिन्न सब नद्वर है (स्वप्न, माया, महमरीचिका के समान असार है। केवल एक आत्मा ही नित्य मुक्त है)। इस पर कहोल चुप हो गया ॥१॥

॥ इति पञ्चम ब्राह्मणम् ॥

ॐ भिन्नाविति युक्तं प्रश्नयोरपुनरुक्तत्वोपपत्तेः । यदि ह्येके आत्मोपस्तकहोलप्रश्नयो-
विवक्षितस्तत्रैकेनेव प्रश्नेनाधिगतत्वात्तद्विषयो द्वितीयः प्रश्नोऽन्यकः स्यात् । न चार्थ-

भिन्नावितीति । 'उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा विवृणोति—यदि हीत्यादिना । अयं कं वाक्यं 'वस्तुपर
'तस्यायंवावो द्वितीयं वाक्यं नेत्याह—न चेति । द्वयोर्विषयो'स्तुत्यलक्षणत्वे फलितमाह—

विभिन्न आत्माओं के विषय में । (इस पर कहते हैं—) विभिन्न आत्माओं के विषय में ही मानना
गच्छा है क्योंकि प्रश्नों में पुनरुक्ति दोष न घाना ही युक्तिसंगत है। यदि उपस्त और कहोल दोनों के
प्रश्नों से एक ही आत्मा बतलाना अभीष्ट होता, तब तो एक ही प्रश्न से भ्रवगत हो जाने से उसके

१ तथा मति । २ स्तुतिरूपत्वम् । ३ भेदपक्षम् । ४ आत्मवस्तुपरम् । ५ वस्तुन । ६
स्तुत्यलक्षणत्वे—एकार्थविषयत्वेन समानरूपत्वम् ।

ॐ भिन्नाविति युक्तमित्यादि वेचिद्व्याचक्षत इत्यन्तभाष्य प्रकारान्तरेण विवृण्वन्ति वातिकाचार्यास्तथाहि—
“उपस्तप्रश्न एवाय कहोलैनापि पृच्छयत । तत्किमर्थं पुन प्रश्न न एव कृतनिर्णय ॥ प्रष्टुभेदाददोषत्वेनैव
प्रत्युक्तिभेदत । एकार्थप्रश्नवाक्यस्य ह्येका प्रत्युक्तिरिष्यते ॥ पुनरुक्त न च न्यायमेकप्रवचने क्वचित् । न
वेह लौकिको जल्प-प्रष्टुभेदो यतो भवेत् ॥ समानशब्दो तन्मो स्यातां भिन्नार्थवाचको । कहोलापस्तवक्त्रोक्ती
प्रश्नाविति विनिर्णय ॥ क्षेत्रज्ञमात्मानमप्राप्तीदुपस्तो न पर पदम् । अप्राप्तीत्परमात्मान कहोनीऽपि न
दु लिनम् ॥ एकदेश उपन्यासादकार्थ्यमनसीयते । निष्कलीणधर्मोक्ती यथायोग्य व्यवस्थिति ॥ यदन्तरतमव
प्रागुक्त तत्परमात्मनि । तदेकदेशाभिहितेविज्ञानात्मानमेध्यति ॥ शीवमोहाद्यतीतत्व प्रकाशात्मवत्ता तथा ।
विज्ञानात्मनि चोक्ताऽपि परमात्मानमेध्यति ॥ पञ्चमाध्यायशेषेण परमात्मविनिर्णय । वट्टे तु बहयतेऽप्याये
विज्ञानात्मविनिर्णय ॥ उपन्यासो द्वयोरत्र विज्ञानात्मपरारमनो । व्यञ्जाम्यपुनरुक्तत्व न्यायमार्गसमाश्रयात् ॥ इति
व्याचक्षते वेचित् प्रश्नावेतो यथादितो । न सम्पद्येतद्व्याख्यान यथा तरभिधीयते” ॥ ५-१५ ॥ इति ।
स्वाभिप्रेतो संपतिमुदत्वा भवत्प्रपञ्चाभिप्रेतो बहत् पूर्वपक्षयति—उपस्तेति । तत्तत्राप्यभेदाभावे सतीति वाच्यम् ॥

वादरपत्वं वाक्यस्य । तस्माद्ब्रह्माचेताऽऽत्मानो क्षेत्रज्ञपरमात्माह्येवाविति 'केचिद्ब्रह्मा-
चक्षते ।

तस्मादिति । तत्राऽऽद्य वाक्य 'क्षेत्रज्ञमधिकरोति द्वितीय 'परमात्मानमित्यभिप्रेत्याऽऽह—क्षेत्रज्ञेति ।

विषय मे दूसरा प्रश्न पूछना निरर्थक हा जाता है । तथा इस वाक्य का स्तुतिरूपत्व होना नहीं माना
जा सकता । इसलिए यह क्षेत्रज्ञ श्रीर परमात्मसंज्ञक भिन्न भिन्न आत्मा है—ऐसा कोई-कोई (भट्ट) प्रपञ्च
के अनुयायी) दार्शनिक मानते हैं ।

ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि मन्त्र मे तुम्हारा (यह आत्मा है) ' ऐसी प्रतिज्ञा की गई है ।
'यह तुम्हारा आत्मा है ' (उनकी एकरूपता होने पर भिन्नार्थक वचन प्रयुक्त हा जाने से) इस प्रकार

१ तस्मात्—प्रश्नपाराधापत्वं पुनस्त्वत्यापादात् । २ भट्ट प्रपञ्चानुयायिन । ३ त्वमर्थम् । ४
तदर्थम् ।

पुनरुक्तिपरिहार शक्यत—प्रष्टभेदादिति । वृषमति—सैवमिति । एकार्थस्य प्रश्नस्य भिन्नवर्तुं कस्यापि प्रति-
वचनमेकमेव युक्त प्रतिवक्तृभेदाभावादिह तु न दृष्टेयोर्यज्ञानायेत्यादिप्रयुक्तिभेदोऽस्त्यतो न प्रष्टभेद पुनरुक्ति
परिहरेदित्यथ ॥ अस्तु तर्हि पुनरुक्तिरव दृश्यत हि शास्त्राभेदे पुनर्वचन नेत्याह—पुनरुक्तिमिति । प्रवचनघट्ट-
शास्त्राविषय । प्रष्टभेदात्पुनरुक्तिपरिहारो नेत्याह हत्वन्तरमाह—न चेति । न हि श्रुती लोकप्रसिद्धो जस्योऽस्ति
येन प्रष्टभेद पुनरुक्तिपरिहाराय स्यादपीरुच्ययाया श्रुती वास्तवस्य प्रष्टभेदस्यातिपटवात्कल्पितस्याकल्पित-
पुनरुक्तिपरिहाराणुपयोगित्वादित्यथ ॥ सिद्धान्तमिति—समानेति । एकार्थत्वे पुनरुक्तिस्तच्छब्दार्थ ॥
कथ तयोरभिप्रायात् तत्राऽऽह—क्षेत्रज्ञेति । यथाऽऽहु पूर्व प्रश्न परमात्मविषयोऽय विज्ञानात्मविषय—इति ।
माव्यदिनशास्त्राया भाष्ये पीवापयमुन्नयम् ॥ अस्य हि विज्ञानात्मान परमात्मन्यप्यो वक्तव्य इति वदन्तिस्तयो-
रैक्यमिष्ट तत्र प्रश्नयोभिप्रायात्वे मुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—एकेति । एवस्मिन्प्रकरणे द्वयोर्हत्वा प्राकरणिक
सदृश्य तत्रोपस्तप्रकरणे वाक्यार्थविषयो विज्ञानात्मा निरुच्यते कहीलप्रकरणे तु तद्ब्रह्म परस्तायो संमानवेश
उप-वासात्समानकायतेत्युक्तत्वादित्यथ । वाक्यार्थभागे जीवपरी प्रश्नविषयाविर्युक्त प्रश्नयोधर्मव्यत्यामादेकार्थ-
त्वदृष्टेरित्याशङ्क्याऽऽह—मिथ इति ॥ यद्यपि जीवपरधर्म परस्परसंकीर्णानुच्यत तथाऽपि यथासंभव
व्यवस्थितत्वेनैदृश्याविर्यतदेव दशयति—यदिति । कहीलवाक्य परमात्मधर्मत्वतोक्त सर्वान्तरव विज्ञानात्मधम-
त्वात्तमेवापस्तपृष्टयत गमिष्यत्यकस्मि प्रकरणे द्वयान्तरन्तरतमत्वे परमात्म-युच्यमान विज्ञानात्मनि सिद्ध
भविष्यतीति तदुक्तविर्यथ ॥ परमात्मधर्म दशित प्रकार विज्ञानात्मधर्मस्य योऽर्थयति—शोकति । यद्यपि
शोकाद्यतीतत्वं स्वप्रकाशत्वं च ज्योतिर्ब्राह्मण जैवमुक्त तथाऽपि तत्पञ्चमिक पर गमिष्यति तस्य तद्गतयथा-
तनैव सबन्धाच्छोकमोहाद्यतीतता प्रकाशमात्ररूपता च विज्ञानात्मयुच्यमाना परमात्मनि सिद्धा भविष्यतीति
तदुक्तेरित्यथ ॥ प्रश्नपाराधिव्यभेदमुपत्वा पञ्चमशावस्य कहीलप्रकरणेनैकवाक्यतामाह—पञ्चमेति । उक्त हि
पञ्चमाध्यायशेषण परमात्मनो निगया वक्ष्यमाण इति । ज्योतिर्ब्राह्मणादास्वस्तप्रकरणेनैकवाक्यतामाह—यच्छे-
त्विति । यथाऽऽह—यच्छेद विज्ञानात्मन इति ॥ प्रश्नयोभिप्रायात्वे गमकमाह—उप-याम इति । तदुक्तपुनरुक्तेन
हि द्वितीयन प्रश्नन भवितव्यमिति ॥ परपक्षमुपमहरति—इति व्याचक्षत इति । ब्राह्मणद्वयेनाथद्वय विवक्षित-
मित्येतदुक्तमित्याह—न सम्मिति ॥

'तन्न । त इति प्रतिज्ञानात् । एष त आत्मेति 'हि प्रतिवचने प्रतिज्ञातम् । न चैकस्य कार्यकरणसंघातस्य द्वावात्मानावुपपद्येते । एको हि कार्यकरणसंघात एकेनाऽऽत्मनाऽऽत्मवान् । न चोपस्तस्यान्यः कहोलस्यान्यो जातितो भिन्न आत्मा भवति । द्वयोरगौणत्वात्मत्वसर्वान्तरत्वानुपपत्तेः । यद्येकमगौणं ब्रह्म द्वयोरितरेणावश्यं गौणेन भवितव्यं तथाऽऽत्मत्वं सर्वान्तरत्वं च । विरुद्धत्वात्पदार्थानाम् । यद्येकं सर्वान्तरं ब्रह्माऽऽत्मा मुख्य

ब्राह्मणद्वयेनाथं द्वयं विवक्षितमिति भर्तृ प्रपञ्चप्रस्थानं प्रत्याह—तन्नेति । प्रश्नप्रतिवचनयोरेकरूपत्वान्नाथं भेदोऽस्तीत्युक्तमुपादयति—एष त इति । 'तथाऽप्यथं भेदे काऽनुपपत्तिस्तत्राऽह—न चेति । 'तदेवोपादयति—एको हीति । कार्यकरणसंघातभेदावात्मभेदमाशङ्क्याऽह—न चेति । जातितः स्वभावतोऽहमहमित्येकाकारस्फुरणादित्यर्थः । इतश्च न तत्त्वभेद इत्याह—द्वयोरिति । 'तदेव स्फुटयति—यदीति । द्वयोर्मध्ये यद्येकं ब्रह्मागौणं तदेतरेण गौणेनावश्यं भवितव्यं तथाऽऽत्मत्वादि यद्येकस्येष्टं तदेतरेस्यानात्मत्वादीति कुतः स्यादिति चेत्तत्राऽह—विरुद्धत्वादिति । "उक्तोपादानपूर्वकं द्विःश्ववणस्याभिप्रायमाह—यदीत्यादिना । अनेकमुख्यत्वासंभवाद्ब्रह्मस्तुतः "परिच्छिन्नस्य घटवदब्रह्मत्वादानात्मत्वाच्चकमेव मुख्यं प्रत्यभूतं ब्रह्मेत्यर्थः । यदि जीवेश्वरभेदाभावात्प्रश्नयोर्नाथं भेदस्तर्हि पुन-

उत्तर मे प्रतिज्ञा की गयी है । एक कार्यकरणसंघात के दो आत्मा होने सभव नहीं हैं क्योंकि एक कार्यकरणसंघात एक ही आत्मा से आत्मवान् हुआ करना है । उपस्त का आत्मा जातित्वरूप से अन्य हो, कहोल का जातित्वरूप से अन्य हो; ऐसा होना सभव नहीं क्योंकि दोनों को अगौणत्व, आत्मत्व, सर्वान्तरत्व नहीं कहा जा सकता । यदि दो मे एक अगौण ब्रह्म है तो दूसरे को निश्चितरूप से गौण होना ही चाहिये; इसी प्रकार उनका आत्मत्व और सर्वान्तरत्व भी सभव नहीं है क्योंकि उन अनेकत्व और मुख्यत्वादि पदार्थों मे विरोध है । यदि एक सर्वान्तर ब्रह्म आत्मा अगौण होगा तो दूसरे

१ तन्नेति । नात्रात्मभेदेन क्षेत्रज्ञपरमात्मनो विवक्षितो उभयोरपि प्रश्नयो प्रत्युक्तो "एष त आत्मा सर्वान्तर" इति प्रतिज्ञानादित्यर्थः । २ हीति प्रश्नैकरूप्यसमुच्चयार्थो हिशब्द तयारेखरूपत्वे भिन्नार्थं वचसी इति कथनमपुस्तमिति भावः । ३ सभाव्यत । ४. अन्यत्वमेव विवृणोति—जातित इति । ५ अनेकरूप्यत्वादीनाम् । ६. तथापि—प्रश्नप्रतिवचनयोरेकरूपत्वेऽपीत्यर्थः । ७ अनुपपन्नत्वमेव । ८. आत्मेतिप्रत्ययस्तावदेकविययस्तस्य वस्तुतो भिन्नविययत्व मानाभावात् इत्यभिप्रेत्याह—अहमहमिति । "एको देवः सवभूतपु", "एक एव हि भूतरमा" इत्यादियुतिस्मृतिविरोधाच्च वस्तुतो नारमभेद इत्यपि ध्येयम् । ९. द्वयोस्तदनुपपन्नत्वमेव । १० पदायविरोधापदानपूर्वमिति बोध्यम् । ११ प्रश्नपुनरुचते । १२ वस्तुपरिच्छेदविशिष्टस्य ।

क्षेत्रभेदेति प्रश्नार्थभेद द्वावान्तरमाहूर्वातिवाच्यार्थान्स्याहि—"अथोपनिषदारविध्यंदि भेदो भवेत्तयो । अनिमोक्षप्रसक्तिश्च क्षेत्रज्ञपरमात्मना ॥ अहस्त्वनदृष्टिविषयो नियमोऽपि न युज्यते । प्रविष्टस्य न वेत्तासर्वं विज्ञानात्मन इत्यत ॥ वस्तुवृत्तानुरोधेन नामो भेदास्ति कुत्रचित् । वस्तुवृत्तानभिज्ञानाभेद स्वप्नेन्द्रजातवत् ॥ एक एव तत प्रश्न न प्रश्नद्वयमित्यत" ॥ २२-२५ ॥ ब्रह्मार्थमेव जानुमुपनिषदारम्भो वस्तुतस्तद्भेदे न साऽऽरम्भा भिन्नार्थवैयर्थ्यानागास्त्वित्यत भेद प्रश्नयानं भिन्नार्थतयस्य । किंच जीवस्वरयोर्वस्तुतो भेदे जीवस्य ब्रह्मत्वाख्या भावो न स्यात् आविद्यास्यस्तस्यापि स्वयमेव हृत्वभावादेवामागादताऽफल दारश्चमनारम्भमित्याह—

इतरेणासवन्तरेणानात्मनाऽमुख्येनावश्यं भवितव्यम् । 'तस्मादेकस्यैव 'द्विः श्रवणं' विशेष-
विवक्षया ।

यत्तु 'पूर्वोक्तेन 'समानं' द्वितीये 'प्रश्नान्तर उक्तं 'तावन्मात्रं पूर्वस्यैवानुवाद'स्त-
स्यैवानुक्तः कश्चिद्विशेषो वक्तव्य इति । कः पुनरसौ विशेष इति । उच्यते—पूर्वस्मि-
न्प्रश्नेऽस्ति "व्यतिरिक्त आत्मा यस्यायं" सप्रयोजको बन्ध उक्त इति । द्वितीये तु
तस्यैवाऽऽत्मनोऽज्ञानायादिसंसारधर्मातीतत्वं विशेष उच्यते । यहिशेषपरिज्ञानात्संन्याससहि-

स्किरनधिकेत्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ।

"तर्हि स एव विशेषो दर्शयितव्यो येन पुनरक्तिरबंधतीत्याशङ्क्याऽऽह—मत्स्विति । अनुक्त-
विशेषकथनार्थं "मुक्तपरिमाणं निर्णेतुमुक्तानुवादइवेदनुक्तो विशेषस्तर्हि प्रदर्शयतामिति पृच्छन्—कः
पुनरिति । बुभुत्सितं विशेषं दर्शयति—उच्यत इति । इतिशब्दः "क्रियापदेन संबध्यते । किमिदेष
विशेषो निर्दिश्यते तत्राऽऽह—यद्विशेषेति । "अयंभेदासंभवे फलितमाह—तस्मादिति । योऽज्ञानाये-
र्यादिना" तु विवक्षितविशेषोक्तिरिति शेषः ।

को निश्चितरूप से असर्वान्तर, अनात्म और गौण होना चाहिये । इसलिये एक का ही अनुक्तविशेष
कथन की इच्छा से पुनर्वचन दिया गया है ।

इसके अतिरिक्त जो बात उपस्तब्राह्मणोक्त प्रश्नोत्तर के तुल्य द्वितीय कहोलब्राह्मणस्य
प्रश्नोत्तर में कही गयी है, उक्त प्रश्न का परिमाण पूर्वप्रश्न का ही अनुवाद है, उसी अनूदित आत्मा
का ही विशेष कथन की इच्छा से कुछ कहना चाहिये । वह विशेष क्या है ? इस पर कहा जाता
है—पूर्वप्रश्न में यह बतलाया गया है कि प्रमाता आदि से भिन्न उसका साक्षी आत्मा है, जिसका
कर्मादि प्रयोजक बन्ध है । दूसरे प्रश्न में उसी आत्मा का क्षुधापिपासादि सासारिक धर्मों से अतीत
होना रूप विशेष कथन प्रतिपादित किया गया है । जिस विशेष के संन्यासपूर्वक ज्ञान हो जाने से
पुरुष पूर्वोक्त बन्धन से मुक्त हो जाता है । इसलिये "यह तुम्हारा आत्मा है" इस श्रुतिवाक्य तक प्रश्न
एव उत्तर दोनों का तुल्यायता ही है ।

१. तस्मात्—आत्मपरयोर्भेदाभावेन प्रश्नयोर्भेदाभावात् । २ पुनर्वचनम् । ३ विशेषविवक्षया—
अनुक्तविशेषकथनेच्छया । तदुक्तं वार्तिके—"कचिद्विशेषमापक्ष्य पृष्टा भूयोऽपि पृच्छत" इति ॥ २५ ॥
आत्मेति शेषः । ४. उपस्तब्राह्मणावतन प्रश्नोत्तरेण । ५ तुल्य कहोलब्राह्मणस्यप्रश्नोत्तरे उक्तम् । ६.
प्रश्नान्तर इत्यस्य स्थाने प्रश्नोत्तर इति पाठः । ७ उक्तप्रश्नपरिमाणम् । ८ अनुदितस्यात्मनः । ९.
इति विशेषविवक्षयति पूर्वब्रह्मण्य । १०. प्रमातादिव्यतिरिक्तस्तसाक्षी । ११ कर्मादिप्रयोजकम् । १२.
इति पूर्वस्मिन्प्रश्ने उच्यत इत्यन्वयः । १३ विशेषविवक्षापुनरक्तिरनेत् । १४. उक्तपरिमाणक प्रश्नम् ।
१५. उच्यत इत्यनेन । १६ प्रश्नयो । १७ बन्धनेन ।

अनिर्मोक्षिति ॥ वास्तवतः भेदाभाव हेतवन्तरमाह—अवृत्सनेति । स याज्ञ एकैकमुपास्त न स वदावृत्सना ह्येव
इत्यादि निषेध ॥ आत्मभेदं निरस्य प्रसङ्गादनात्मभेदमपनुदति—वस्त्विति । आत्मापरिच्छिन्नत्वमतःशब्दार्थः ।
वस्तु वैश्वपरिच्छिन्न कथ परिच्छेदमान तत्राऽऽह—मत्स्विति ॥ आत्माभेदे प्रश्नैक्य फलमाह—एक इति ।

तात्पूर्वोक्ताद्वयनाद्विमुच्यते । तस्मात्प्रश्नप्रतिवचनयोरेव त आत्मेत्येवमन्तयोस्तुत्यार्थतैव ।

ननु 'कथमेकस्यैवाऽऽत्मनोऽज्ञानायाद्यतीत्यं तद्वस्त्वं चेति विरुद्धधर्मसमवायित्वमिति । न । परिहृतत्वात् । नामरूपविकारकार्यकरणलक्षणसघातोपाधिभेदसंपर्कजनितभ्रान्तिमात्रं हि संसारित्वमित्यसकृदयोचाम । विरुद्धश्रुतित्याख्यानप्रसङ्गेन च । यथा रज्जुशुक्तिकागनादयः संपर्कजनितमलिना भवन्ति पराध्यारोपितधर्मविशिष्टाः स्वतश्च केवला एव

एकमेवाऽऽत्मतत्त्वमधिकृत्य प्रश्नावित्यत्र चोदयति—नन्विति । विरुद्धधर्मवत्त्वान्मयो भिन्नो 'प्रश्नार्थादित्येतद्द्रव्ययति—नेति । परिहृतत्वमेव प्रकटयति—नामरूपेति । 'तयोविकार कार्यकरणलक्षणः संघातः स एवोपाधिभेदस्तेन संपर्कस्तस्मिन्नहंममाध्यासस्तेन जनिता भ्रान्तिरहं कर्तव्याद्या तावन्मात्रं संसारित्वमित्येकेशो द्युत्पादितं तस्मान्नास्ति 'वस्तुतो विरुद्धधर्मवत्त्वमित्यर्थः । किंच सुविशेषत्वनिविशेषत्वश्रुत्योविषयविभागोक्तिप्रसङ्गेन संसारित्वस्य मिथ्यात्व 'मधुब्राह्मणान्तेऽवोचामेत्याह—विरुद्धेति । कथं तर्हि विरुद्धधर्मवत्त्वप्रतीतिरित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । परेण पुरोधेणाज्ञानेन वाऽध्यारोपितः संपर्कत्वादिभिर्धर्मैर्विशिष्टा इति यावत् । स्वतश्चाध्यारोपेण विनेत्यर्थं । 'प्रतिभासतो

(यहाँ पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु एक ही आत्मा का क्षुधापिपामादि से प्रतीत और उससे युक्त हाना (अन्धकार और प्रकाश व एकत्र सभवन होने व समान) यह विरुद्धधर्मसमवायित्व कैसे सम्भव है ? (इस आक्षेप का परिहार मिद्वान्ती करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उक्त शङ्का की निवृत्ति कर दी गई है । नाम-रूप का विकार जो कार्यकरणसंघात है, उस उपाधिभेद में अहं-ममादि अध्यास स जनिता 'मै कर्ता हूँ' इत्यादि रूप भ्रान्तिमात्र ही संसारित्व है—ऐसा हम अनेक बार कह चुके हैं तथा विरुद्धार्थवाची श्रुतिया व प्रसंग म भी यही बात कही जा चुकी है । जिस प्रकार रस्सी, सोप और आकाशादि हमरो के आरोपित किये हुए धर्मों से युक्त होकर संपर्कजनित और मनिनता को प्राप्त होने हैं वस्तुन वे स्वयं केवल रस्सी, सोप एव आकाश ही हैं । इस प्रकार

१ तस्मादिति—उपलब्धहालप्रश्नोत्तरयोरेवभेदात्तस्मात्प्रतिवचनं । विशेषज्ञासया प्रश्नानन्तरप्रवृत्तिमुक्त्वा प्रकृष्टान्तरैणापि तत्प्रवृत्तमाहूर्वात्मिकं तथाहि— यथाप्रश्न प्रतिवचनं न सम्मयुदितं पुरा । इति मत्वाऽध्यासप्रवृत्तपृष्टमर्थं पुनरुक्तम् ॥ साक्षादित्यादिना पृष्टं साक्षादित्यादिलक्षणम् । यथा मभाष्यते नेद्वप्रत्युक्तौ किंचिदीधमत् ॥ अमतोपात्कहानोऽन उच्यतेप्रश्नमेव तु । भूयोऽप्राक्षीन्मुनि विद्वान्नायाथात्म्यापावबुद्धये ॥ एष आत्मेति प्रत्युक्तियं प्राणेन चोपरा । तावन्नातोक्तिनो नामो प्रश्नार्थोऽव्युक्तो भवदिति ॥ २६-३२ ॥ कथं यथाप्रश्न प्रतिवचनो नावन तत्राऽऽह—साक्षादिति ॥ अमतोपहेतुमुक्त्वा तत्फलमाह—असतोपदिति । यथाप्रश्न प्रतिवचनो नोपत चतुष्टयतन्व प्रष्टव्यं कथमन्य पृच्छति तत्राऽऽह—विद्वानिति । बहोलाप्रश्नस्य प्रयोगनाह—याथात्म्यनि ॥ असकृत्प्रत्युक्त्याप्यन्तप्रश्नस्य निर्णतित्वात्प्रश्नात्पेतुरन्तोरित्याशङ्क्याऽऽह—एष इति । तथाच—पृष्टव्यास्य सम्पत्तिर्वागित्वात्तन्निदिधारणियया भूयस्त्रैव प्रश्नोपपत्तिरिति शेषः ॥ २ कथमिति—तम प्रकाशवदन् न तथावितमिति यावत् । ३ प्रश्नार्थाविति—तम प्रकाशवदिति दृष्टातोऽनुसंधेय । ४ नामरूपा । ५ कार्त्स्निकं तु तत्र विरुद्धमिति भावः । ६ ६४६पृष्ठभाष्ये । ७ प्रतिभासतो विरुद्धधर्मवत्त्वेऽपीति—प्रातिभासिकविरुद्धधर्मविशिष्टध्यारोपीति यावत् ।

रज्जुशुक्तिकागगनादयः । 'न चैवं विरुद्धधर्मसमवायित्वे पदार्थानां कश्चन विरोधः ।

नामरूपोपाध्यस्तित्वे "एकमेवाद्वितीयम्" "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इति श्रुतयो विरुद्धेरन्निति चेत् । न । सलिलफेनदृष्टान्तेन परिहृतत्वान्मृदादिदृष्टान्तेश्च । यदा तु परमार्थदृष्ट्या परमात्मतत्त्वाच्छ्रुत्यनुसारिभिरन्यत्वेन निरूप्यमाणे नामरूपे मृदादिविकारवद्वस्त्वन्तरे तत्त्वतो न स्तः । सलिलफेनघटादिविकारवदेव तदा तदपेक्ष्यकमेवाद्वितीयं नेह नानाऽस्ति किञ्चनेत्याद्विपरमार्थदर्शनगोचरत्वं प्रतिपद्यते ।

विरुद्धधर्मवस्त्वेषु क्षेत्रज्ञेश्वरयोर्भिन्नत्वाद्भिन्नायवेव प्रशनाविति चेन्नेत्याह—न चैवमिति ।

निरुपाधिकरूपेणाससारित्वे सोपाधिकरूपेण ससारित्वमित्यविरोध उक्तः । इदानोमुपाध्यभ्युपगमे सद्रूपत्वं 'सतश्चैव घटादिरुपाधित्वदृष्टेरिति श्रद्धुते—नामेति । सलिलान्तिरेकेण न सन्ति फेनादयो विकारा नापि मृदाद्यतिरेकेण तद्विकारा शरावादायः सन्तीतिदृष्टान्ताद्युक्तिबलादादिद्वानामरूपरचितकार्यकरणसंघातस्याविद्यामाप्रत्वात्तस्याश्च विद्याया निरासान्निध्यमिति परिहरति—नेत्यादिना । कार्यसत्त्वमभ्युपगम्योक्तमिदानीं 'तदपि निरूप्यमाणे नास्तीत्याह—यदा त्विति । नेह नानाऽस्ति किञ्चनेत्यादिविश्रुत्यनुसारिभिर्नानादृष्ट्या निरूप्यमाणे नामरूपे परमात्मतत्त्वाद्यत्वेनानन्यत्वेन वा निरूप्यमाणे तत्त्वतो वस्त्वन्तरे यदा तु न स्त इति संबन्धः । मृदादिविकारवदित्युक्तप्रकटयति—सलिलेति । तदा तत्परमात्मतत्त्वमपेक्ष्येति, योजनीयम् ।

प्रातिभासिक विरुद्धधर्मसम्बन्धी होने पर भी पदार्थों के विरुद्धधर्मसमवायी होने में कोई विरोध नहीं है ।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) नाम और रूप की उपाधि सत्ता स्वीकार करने पर तो "उत्पत्ति से पूर्व यह देखने वाला नामरूपात्मक जगत् सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य एकमात्र अद्वितीय मत ही था", "उस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं है" इन श्रुतियों से विरोध होने लगेगा । (समाधान में सिद्धान्ती कहना है—) ऐसा कहना उचित नहीं है । उक्त शङ्का का समाधान जल और फेन के दृष्टान्त से तथा मृत्तिकादि के दृष्टान्त से किया जा सका है, जिस समय श्रुति में आस्था रखने वाले पुरुषों के द्वारा ग्रन्थरूप से निरूप्यमाण नाम और रूप पारमार्थिक दृष्टि से मृत्तिका के विकार तथा जल, फेन और घटादि के विकार के समान परमात्मतत्त्व से वस्तुतः कोई भिन्न पदार्थ नहीं होते, तब परमात्मतत्त्व की अपेक्षा से ही "सजातीय-विजातीय स्वगतभेदशून्य एकमात्र अद्वितीय सत् ही था", "उस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं है" इस (नामरूपादि कार्यजात) परमार्थदृष्टि का बोध होता है ।

१ न चैवमित्यादि प्रातिभासिकविरुद्धधर्मसर्वाधत्वे इत्यर्थः । प्रातिभासिकविरुद्धधर्मत्वहेतुसाध्यो भेद कल्पितोऽल्पितो वा नाद्य सिद्धसाध्यत्वात् द्वितीय रज्ज्वादावर्नकान्त्यमिति भावः । तदुक्तं वातिके— 'रज्जुत्वाद्द्वितीयोयद्वेकस्मिन्नपि वस्तुनि । स्वतस्तन्मोहतदर्थेव सभवरतद्वद्वर्तनि ॥ मुक्तत्वं च सितत्वं च परस्परविरुद्धयोः । धर्मयोः समवाय म्यान्न तु नीलोत्पलादिवादिनि" ॥३६-३७॥ सितत्वं चेत्यस्मादनन्तरम् इति- शब्दाव्याहारं मुक्तत्वबद्धत्वयोरैकत्र वस्तुतो नाऽऽवशोऽस्तीत्यत्र वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—न त्विति । २. नामरूपादिकायजातमिति शेषः । ३ सत्यस्य । ४ सद्रूपत्वचोदयसमाधानमुक्तमित्यर्थः । ५ कार्य-सत्त्वमपि ।

यदा तु स्वाभाविक्याऽविद्यया ब्रह्मस्वरूपं रज्जुशुक्तिकागगनस्वरूपवदेव स्वेन रूपेण वर्तमानं केनचिदस्पृष्टस्वभावमपि सन्नामरूपकृतकार्यकरणोपाधिभ्यो विवेकेन नावर्धयते नामरूपोपाधिदृष्टिरेव च भवति 'स्वाभाविकी तदा सर्वोऽयं वस्त्वन्तरास्तित्वव्यवहारः । अस्ति चायं भेदकृतो मिथ्याव्यवहारो येषां ब्रह्मत्त्वादन्यत्वेन वस्तु विद्यते येषां च नास्ति ।

परमार्थवादिभिस्तु श्रुत्यनुसारेण निरूप्यमाणे वस्तुनि किं तत्त्वतोऽस्ति 'वस्तु किं वा नास्तीति ब्रह्मं कमेवाद्वितीयं सर्वसंव्यवहारशून्यमिति निर्धारयंते तेन न कश्चिद्विरोधः । न हि परमार्थविधारणनिष्ठया वस्त्वन्तरास्तित्वं 'प्रतिपद्यामहे "एकमेवाद्वितीयम्"

कदा 'तर्हि लौकिको व्यवहारस्तत्राऽह— यदा त्विति । अविद्यया स्वाभाविक्या ब्रह्म यदोपाधिभ्यो विवेकेन नावर्धयते तदा लौकिको व्यवहारश्चेत्तर्हि विवेकिना नास्तीत्याशङ्क्याह— अस्ति चेति । भेदभानप्रयुक्तो व्यवहारो विवेकिनामविवेकिना च तुल्य एवायं वस्त्वन्तरास्तित्वाभिनिवेशस्तु विवेकिनां नास्तीति विशेषः ।

ननु 'यथाप्रतिभासं वस्त्वन्तरं पारमार्थिकमेव किं न स्यात्तत्राऽह— परमार्थेति । किं द्वितीयं वस्तु तत्त्वतोऽस्ति किं वा नास्तीति वस्तुनि निरूप्यमाणे सति श्रुत्यनुसारेण तत्त्वदर्शिनिरुक्तमेवाद्वितीयं ब्रह्माव्यवहार्यमिति निर्धारयंते तेन व्यवहारदृष्ट्याभ्यस्येन भेदकृतो मिथ्याव्यवहारस्तत्त्वबृष्ट्याभ्यस्येन च 'तदभावविषय' शास्त्रीयो व्यवहार इत्युभयविषयव्यवहारसिद्धिरित्यर्थः । 'तत्र शास्त्रीयव्यवहारोपपत्तिं प्रपञ्चयति— न हीति । 'तथा च विद्यावस्थायाम् शास्त्रीयोऽभेदव्यवहारस्तदितर-

परन्तु जिस समय रज्जु, शुक्ति और गगन के स्वरूप के समान किसी से भी अस्पृष्ट स्वभाव वाला न होकर अपने निजरूप स विद्यमान रहते हुए भी ब्रह्म के स्वरूप वा स्वाभाविकी अविद्या के कारण नामरूपजनित कार्यकरणरूप उपाधि से भिन्नरूप से निश्चित नहीं किया जा सकता और शास्त्रानाधेय नाम रूप उपाधि की ही दृष्टि रहती है, उसी समय यह ब्रह्म से भिन्न वस्तु की सत्ता का व्यवहार होता है । इसके अतिरिक्त यह भेदबुद्धि वाला व्यवहार तो उन दोनों को ही होता है, जिनको ब्रह्म से भिन्न वस्तु की सत्ता स्वीकार है भयवा जिन्हे ऐसा स्वीकृत करना अभीष्ट नहीं भी है ।

तथा परमार्थवादियों की दृष्टि में श्रुति समर्थित निरूप्यमाण वस्तु में कौन सी वस्तु तत्त्वत द्वैतरूप है और कौन सी नहीं— इस प्रकार ही निश्चय होता है कि "ब्रह्म सर्वव्यवहार से प्रतीत, सजातीय विजातीय-स्वगतभेदान्य एकमात्र अद्वितीय सत् ही था" इसलिये उनका कोई विरोध नहीं है । परमार्थनिश्चय की निष्ठा में हम किसी अन्य वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं करते । "वह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था", "वह भीतर बाहररूप उपाधिभेद से शून्य है" इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है ।

१ शास्त्रानाधेया । २ द्वैतरूपम् । ३ अवगच्छाम । ४ सर्वमिदमहं च ब्रह्म वेति शास्त्रीयो व्यवहारः परमारमतत्त्वापेक्षश्चेत्तर्हीत्यर्थः । ५ प्रतीत्यनुसारेण । ६ मिथ्याव्यवहारभावविषयकः । ७ उभयविषयव्यवहारमध्ये । ८ परमार्थनिश्चयस्थित्यवस्थायाम् वस्त्वन्तरमस्त्वराप्रतिपन्नत्वे च ।

“अनन्तरमबाह्यम्” इति श्रुतेः । न च नामरूपव्यवहारकाले त्वविवेकिनां क्रियाकारक-
फलादिसंभव्यवहारः नास्तीति प्रतिषिध्यते । तस्माज्जानानांनाने अपेक्ष्य सर्वैः संब्यवहारः
शास्त्रीयो लौकिकश्च । अतो न काचन विरोधशङ्का । सर्ववादिनामप्यपरिहार्यैः परमार्थ-
संभव्यवहारकृतो व्यवहारः ।

तत्र परमार्थात्मस्वरूपमपेक्ष्य प्रश्नः पुनः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तर इति ।
'प्रत्याहेतरो योऽज्ञानायापिपासे । अशितुमिच्छ्याऽज्ञानाया । पातुमिच्छ्या पिपासा । ते
अज्ञानायापिपासे योऽप्येतीति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । अविबेकिभिस्तत्त्वमलवदिव गगनं

व्यवहारस्त्वाभासमात्रमिति शेषः । अविद्यावस्याया लौकिकव्यवहारोपपत्तिं विवृणोति—न च
नामेति । उभयविधव्यवहारोपपत्तिमुपसंहरति—तस्मादिति । उक्तरीत्या व्यवहारद्वयोपपत्तौ फलित-
माह—अत इति । प्रत्यक्षादिषु वेदान्तेषु चेति शेषः । ज्ञानानांनाने पुरस्कृत्य व्यवहारः शास्त्रीयो
लौकिकश्चेति नास्माभिरेवोच्यते किंतु सर्वेषामपि 'परीक्षकाणामेतरसंमतं सप्तरदशाभ्यां क्रियाकारक-
व्यवहारस्य मोक्षावस्थायां च तदभावस्येष्टत्वादित्याह—सववादिनामिति ।

निरुपाधिके परस्मात्प्रति चिद्धातावनाद्यविद्याकल्पितोपाधिकृतमज्ञानायादिमत्त्वं वस्तुतस्तु
तद्वाहित्यमित्युपपाद्यानन्तरप्रश्नमुत्थाप्य 'प्रतिवक्ति—तनेत्यादिना । कल्पिताकल्पितयोरात्मरूपयो-
निर्धारणार्थात्सप्तमी । 'योऽप्येति स सर्वान्तरत्वादि विशेषरूपस्तवाऽऽस्मेति शेषः । ननु परो नाज्ञानाया-
दिमानप्रसिद्धेर्नापि जीवस्तथा तस्य परस्मादव्यतिरेकादत' आह—अविबेकिभिरिति । परमार्थत

एव नाम-रूप व्यवहार काल मे तो अविबेकियो की दृष्टि मे क्रिया, कारक और फलादि का संभव्यवहार
नहीं होता—ऐसा प्रतिषेध भी नहीं किया जा सकता । इसलिये (दृष्टिद्वयप्रयुक्त व्यवहारद्वय की
सिद्धि हो जाने पर) शास्त्रीय और लौकिक समस्त व्यवहार ज्ञान और अज्ञान की अपेक्षा से ही होता
है । अतः (ज्ञान और अज्ञान मे द्विविध व्यवहारसिद्धि से) यहाँ किसी विरोध की शङ्का नहीं की जा
सकती । इसलिए ज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त शास्त्रीय और लौकिक व्यवहार सभी वादियो के लिए
अपरिहार्य है ।

अत्र परमार्थत आत्मस्वरूप की अपेक्षा से ही पुन प्रश्न किया जाता है—हे याज्ञवल्क्य ! वह
सर्वान्तर आत्मा कौन सा है । इस प्रकार अद्विष्ट कहेल द्वारा पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य उत्तर देता
है—जो अज्ञानाया-पिपासा से रहित है । भोजन करने की इच्छा का नाम 'अज्ञानाया' है । पीने की
इच्छा का नाम 'पिपासा' है । उस भूख और प्यास को जो पार कर चुका है—इस प्रकार इसका आगे

- १ दृष्टिद्वयप्रयुक्तव्यवहारद्वयोपपत्ति । २ ज्ञानाज्ञानाभ्यां द्विविधव्यवहारस्य । ३ ज्ञानाज्ञानप्रयुक्त । ४ शास्त्रीयो लौकिकश्च व्यवहार । ५ प्रत्याहेतरो' इति—हे याज्ञवल्क्य ! स्पृष्टसूक्ष्मवैहृद्युद्धिताक्षिषु (मध्य) क सर्वान्तरत्वादि विशेषतस्तवाभिमत इति कहेतिन पृष्टो याज्ञवल्क्यो यद्विशेषकथनाप्यायमनुवादस्त पूर्णानुक्त विशेषवद् प्रत्युत्तर वक्तव्यर्थ । ६ परीक्षकाणाम्—प्रमाणैरयमिच्छायकानाम् । ७ प्रत्युत्तरति । ८ म इति । अज्ञानायापिपासाशोकमोहजरातृण्य इत्युनिषद्कस्यासङ्गत्वाविश्रित्यादिसवरूपेण (स्वरूपभूतवर्ग) विरोधात् तेनैव स्वाभाव्येन तद्—ऊर्ध्वपट्टकमतिक्रम्य य स्वरूपेण स्थित सकारणसप्तररहित इत्यर्थ । ९ तथा चाप्रसक्तप्रतिषेध इति भाव ।

गम्यमानमेव तलमले अत्येति परमार्थतस्ताभ्यामससृष्टस्वभावत्वात् । तथा मूढैरशना-
यापिपासादिमद्ब्रह्म गम्यमानमपि क्षुधितोऽहं पिपासितोऽहमिति ते अत्येत्येव परमार्थत-
स्ताभ्यामससृष्टस्वभावत्वात् । "न लिप्यते लोकदु खेन बाह्य" इति श्रुते । अविद्वद्भोका-
ध्यारोपितदु खेनेत्यर्थः । 'प्राणं क' धमत्वात्समासकरणमशनायादिपासयो ।

शोक मोह शोक इति काम । इष्ट वस्तुद्विष्य चिन्तयतो यद् रमण तत्तृष्णा-

'इत्युभयतः सवध्यते । ब्रह्म वा लण्ड सञ्चिदानन्दमनाद्यविद्यातत्कायबुद्ध्यादिसबद्धमाभासद्वारा
'स्वानुभवादशनायादिमद्गम्यते 'तत्त्व वस्तुतोऽविद्याद्यसबन्धादशनायाद्यतीत नित्यमुक्त तिष्ठतीत्यर्थः ।
अशनायापिपासादिमद्ब्रह्म गम्यमानमिति वदन्नाचार्यो 'नानाजीववादस्यानिष्टत्व सूचयति । परमार्थतो
ब्रह्मण्यशनायाद्यसबन्धे मानमाह—न लिप्यत इति । 'बाह्यत्वमसङ्गत्वम् । लोकदु खेनेत्युक्त लोक
स्यानात्मनो" दु खसबन्धानस्युपगमादित्याशङ्क्याऽऽह—'अविद्वदिति । अशनायापिपासयो "समस्यो
पादाने हेतुमाह—प्राणैति ।

"अरतिवाची शोकशब्दो न "कामविषय इत्याशङ्क्याऽऽह—इष्टमिति । कामधीजत्वमरतेरनु-
भवेनान्निव्यनक्ति—तेन हीति । कामस्य "शोको बीजमिति स कामतया व्याख्यातः" । अनित्याशुचि-
दु खानात्मसु नित्यशुचिगुणात्मस्यातिविपरीतप्रत्ययस्तस्मान्मनसि प्रभवति कतव्याकर्तव्याविवेकः स

कहे जाने वाले वाक्य से सबन्ध है । अल्पज्ञ जीव आकाश म तलमलिनता दक्षत हैं । वस्तुतः आकाश तो
तलमलिनतादि से रहित है क्योंकि उसके स्वभाव से इसका मेल नहीं बैठता । उक्त दृष्टान्त के समान
विवेकशून्य मूढ लोगों के द्वारा ही ऐसा मान लिया जाता है कि मैं भूखा हूँ मैं प्यासा हूँ वह ब्रह्म भी
क्षुधा पिपासा से युक्त है, परमायत ता अशनाया और पिपासा का अतिभ्रमण हो जाता है क्योंकि
इन धर्मों से आत्मा का तालमेल नहीं बैठता । इसमें श्रुति भी प्रमाण है— सम्पूर्ण भूतो का अन्तरात्मा
एक ही (भ्रमजय) ससार के दु ख से लिप्त नहीं होता बल्कि (रज्जु आदि के समान भ्रमबुद्धिजन्य
अध्यास से) बाहर ही रहता है । 'भावाय यह है कि वह अल्पज्ञों द्वारा अध्यारोपित दु ख से
लिपायमान नहीं होता । एक प्राण के ही धर्म होने से (प्राणोपादानक होने से) अशनाया और पिपासा
म समस्त पद का प्रयोग मन्त्र म किया गया है ।

मन्त्र मे 'शोकम' और मोहम पद है इनम शोक यह काम है । इष्ट वस्तु के लिए चिन्तन करते

१ उक्तदृष्टान्तवद । २ अशनायापिपास । ३ प्राणकति—शोकमूलकत्वात्तत्त्वशब्दाय । तदुक्त
वातिके— शाकादासङ्गबीजादि जहात त यधोपित । इच्छाविरोधास्ताभ्यां च जज्ञिरेऽन्ये सहस्रश ॥ ५७ ॥
इति । सङ्गात्सजायते काम इति स्मृतरासङ्गकार्यान्छोबादिगणित्वात्कामादानायापिपासे जायत इति
योजना । (अत्रासङ्ग शोभनाध्यास) यधोतस्मृतिद्योती हिशब्द । तत्रापादान प्राणकामा निमित्तामेति विवकः ।
तयो काय प्रसङ्गादाह—इच्छेति । ४ प्राणोपादानकत्वात् । ५ अरमण चित्तानवस्थिति । ६
अस्वप्नासतगयोर्स्थय । ७ प्रमाणोक्तिरिष्यम् । ८ तच्चेति पाठ । ९ भाष्यदृष्टम् । १० सेपाभावे
ह्युपयम् । ११ सघातस्य । १२ अविद्वदिति—तथा च सावशब्दोऽविद्वज्जीव पर इति भावः । १३
समास इत्वाभिधाने । १४ अरतिचित्तानवस्थिति । १५ कामपर्याय । १६ अरतिपर्याय । १७
अनवस्थय अन्ये लक्षणमेति भावः ।

मिमूतस्य कामबीज तेन हि कामो दीप्यते । मोहस्तु विपरीतप्रत्ययप्रभवोऽविवेको भ्रमः ।
स चाविद्या सर्वस्यानर्थस्य प्रसवबीजम् । भिन्नकार्यत्वात्तयोः शोकमोहयोरसमासकरणम् ।
तौ मनोधकरणौ । तथा शरीराधिकरणौ जरा मृत्युं चात्येति । जरेति कार्यकरण-
संघातविपरिणामो बलीपलितादिलिङ्गः । मृत्युरिति तद्विच्छेदो विपरिणामावसानः ।
तौ जरामृत्युं शरीराधिकरणावत्येति ।

ये तेऽशनायादयः प्राणमनःशरीराधिकरणाः प्राणिष्वनवरत वर्तमाना अहोरात्रा-
दिवत्समुद्रोमिवच्च प्राणिषु ससार इत्युच्यते । योऽसौ दृष्टेर्दृष्टेत्यादिलक्षणः साक्षादव्यवहि-

'लौकिकः सम्पत्तानविरोधाद्भ्रमोऽविच्छेत्पुच्यते । तस्या सर्वानर्थोत्पत्तौ निमित्तत्व मूलाविद्यायास्तु-
पावान्त्व तथैतदाह—मोहस्त्विति । कामस्य 'शोको मोहो दुःखस्य हेतुरिति भिन्नकार्यत्व तद्विच्छेद
इत्यत्र कार्यकरणसंघातस्तत्तच्छब्दार्थः ।

ससाराद्विरक्तस्य पारिवाज्यं वक्तुमुत्तरं वाक्यमित्यभिप्रेत्य सक्षेपत संसारस्वरूपमाह—ये त
इत्यादिना । तेषामात्मधर्मत्वं व्यावर्तयितुं विशिनष्टि—प्राणेति । तेषां 'स्वरसतो विच्छेदशङ्का
'धारयति—प्राणिव्यति । प्रवाहरूपेण नैरन्तर्ग्यं दृष्टान्तमाह—अहोरात्रादिवदिति । तेषामतिचपलत्वे
दृष्टान्तः—समुद्रोमिवदिति । तेषां 'हेयत्वं द्योतयति—प्राणिव्यति । ये यथोक्ता प्राणिष्वशनायाद-
यस्ते तेषु ससार इत्युच्यत इति योजना । एतं यं तमित्यत्र तच्छब्दार्थमुपस्तप्रश्नोक्तं त्वपदार्थं कथयति

हुए चित्त स्थिर नहीं हुआ करता वही तृष्णाभिभूत पुरुष के काम का बीज होता है । विपरीतप्रतीति
से होने वाला अविवेकरूप भ्रम ही मोह है । वह कार्यविद्या सभी अनर्थों की उत्पत्ति कारण है । शोक
और मोह इन दोनों पदों में समास इसलिए नहीं किया क्योंकि उनके कार्य पृथक् पृथक् हैं । उन दोनों
का अधिकरण मन है । इसी प्रकार शरीराधिकरण वाले जरा और मृत्यु का भी अतिक्रमण कर लेता
है । यह जरा कार्यकरणसंघात का विपरिणाम है, भूरियाँ पडना, बाल पकना, इसके चिह्न हैं । यह
'मृत्यु' स्थूलसूक्ष्म कार्यकरण का परस्पर वियोग है, स्थूलदेह विनाशपर्यन्त उसका विपरिणाम है । उन
शरीररूप अधिकरण वाले जरा-मृत्यु का वह अतिक्रमण कर लेता है ।

ये जो अशनाया और पिपासादि हैं, वे प्राण, मन और शरीररूप अधिवरण वाले तथा
प्राणियों में दिन रात्रि के सदृश समुद्र की तरङ्गों के सदृश निरन्तर रहने वाले हैं, उसे ही लौक्यवहार

'१ कार्याविद्या । २ उत्पत्तिकारणम् । ३ मनोधकरणाविति वार्तिक— प्राणाधिकरण पूर्वं शोकमोहो
मनोपत्तौ । जरामृत्यु तु देहस्य धर्माविति विनिश्चय ॥ अशनायादिसवधो नाऽऽत्मना वास्तवो मत । अनिमोक्ष-
प्रसक्तिं स्यात्तस्य चासङ्गरूपत ॥ यत एवमत प्रत्यग्यायात्स्यानवधोषत । अशनायादिसवध सम्पन्धोषादतो
ह्युति ॥ ६६ ६८ ॥ इति । तनु सपामारमधमत्वात्त धीप्राणादिधनत्व न हि त चेतनादन्यथ प्राप्स्यत आह
—अशनायादीति । विपक्षे दोषमाह—अनिर्मोक्षति । इतस्वाऽऽत्मन्यशनायादिसवधो न वास्तवोऽस्तीत्याह—
तस्य चेति ॥ त्वन्मतेऽपि कथं मुक्तिस्तत्राऽऽह—यत इति । आगमिं बन्तुनोऽशनायाद्यथावात्तस्य मोहनत्वात्त-
न्निवृत्तौ मुक्तिं गुरुतेत्यय ॥ ४ तद्विच्छेद इति—तदा कायकरणया स्थूलसूक्ष्मया विच्छेद परस्पर-
वियोग इत्यर्थः । ५ स्थूलदेहविनाशपर्यन्त । ६ लोकाप्रसिद्धः । ७ अरति । ८ स्वत इति
यावत् । ९ अनवरतमित्युक्त्या । १० ससारो हि ह्यो भवति ।

'गवादेरुपादानमनेन कर्म कृत्वा पितृलोकं जेष्यामीति' विद्यासंयुक्तेन वा देवलोकं केवलया वा हिरण्यगर्भविद्यया देवेन वित्तेन देवलोकम् ।

देवाहित्ताद्ब्युत्थानमेव नास्तीति 'केचित् । यस्मात्तद्वलेन हि किल व्युत्थानमिति । तदसत् । 'एतावान्वे काम इति पठितत्वादेपणामध्ये देवस्य वित्तस्य । हिरण्यगर्भादि-
'देवताविषयैव विद्या वित्तमित्युच्यते । देवलोकहेतुत्वात् । न हि निरुपाधिकप्रज्ञानघन-
विषया ब्रह्मविद्या देवलोकप्राप्तिहेतुः । "तस्मात्तत्सर्वमभूदत्" "आत्मा ह्येषां स भवति"

मानुषं गवादि तस्य कर्मसाधनस्योपादानमुपाजंनं तेन कर्म कृत्वा केवलेन कर्मणा पितृलोकं जेष्यामि ।
देवं वित्तं विद्या तत्संयुक्तेन कर्मणा देवलोकं केवलया च' विद्यया तमेव जेष्यामीतीच्छां वित्तपणा
ततश्च व्युत्थानं कर्तव्यमिति व्याचष्टे—कर्मसाधनस्येति । 'एतेन लोकपणायाम् व्युत्थानमुत्तं
वेदितव्यम् ।

देवाहित्ताद्ब्युत्थानमाक्षिपति—देवादिति । तस्यापि कामत्वात्ततो व्युत्थानादव्यमिति परिहरति
—तदसदिति । 'तर्हि ब्रह्मविद्यायाः सकाशादपि व्युत्थानात्तन्मूलध्वसे तद्बुद्ध्यांघातः स्यादित्या-
शङ्क्याऽऽह—हिरण्यगर्भादीति । देवतोपासनाया वित्तप्राप्तित्वविद्यात्ये हेतुमाह—देवलोकेति ।
'तत्प्राप्तिहेतुत्वं ब्रह्मविद्यायामपि तुल्यमिति चेन्नेत्याह—न हीति । "तत्र फलान्तरश्रवणं हेतुं करोति—

निर्व्यापार द्वारा अग्रस्थान कर्मके, भिक्षाचर्या किया करते हैं । कहाँ से अग्रस्थिति करते हैं—इस पर
श्रुति कहती है । "पुत्रपणया" अर्थात् पुत्रविषयिणी इच्छा से यानी मैं पुत्रोत्पत्ति कर यह लोक
जोड़ूँगा, इसी लोकाजय के माधनभूत पुत्र की इच्छा के लिए विवाह होता है, उर्म पत्नीप्राप्तिरूप
विवाह का परित्याग करके भिक्षाचर्या करते हैं । इसी प्रकार "वित्तपणयाश्च" मे वित्तपद कर्म के
साधन गवादि का उपादान है, कर्म के माधन इस गवादिवित्त से कर्म करके मैं पितृलोक पर विजय प्राप्त
करूँगा इस बुद्धि से उनका उपादान करना अथवा विद्यासयुक्त कर्म मे देवलोक यानी केवल हिरण्यगर्भ
विद्यारूप देववित्त से देवलोक प्राप्त करूँगा, इसी का नाम वित्तपणा है ।

भर्तृप्रपञ्चादि किन्ही दार्शनिकों का मत है कि देववित्त से विपरीत अग्रस्थिति तो होती ही
नहीं क्योंकि उसी की शक्ति से तो व्युत्थान होता है । ऐसा कहना ठीक नहीं है—क्योंकि, "बस इतने
विषय से परिच्छिन्न ही काम है" इस श्रुति में देववित्त को भी एपणा के अन्तर्गत ही लिया गया है ।
तथा हिरण्यगर्भादि देवताविषयिणी विद्या को देववित्त कहा गया है क्योंकि वह देवलोकप्राप्ति की हेतु
है । निरुपाधिक प्रज्ञानघनविषयिणी ब्रह्मविद्या देवलोकप्राप्ति की हेतु नहीं हो सकती । " (उत्पत्ति से

१ कर्मसाधनगवादिवित्तं । २ इति धिया उपादानमिति पूर्वश्रवणम् । ३. भर्तृप्रपञ्चमज्ञानुयायिनः ।
४. वृ० उ० १।४।१७ । ५ वृ० उ० १।४।१० । ६. एतन्निति—साधनपणायतो व्युत्थाननिरूपणेन
फलपणायतो व्युत्थान निरूपितमव वदितव्यमित्यर्थ ॥ लार्कपणाग्रन्थार्थमाहुर्वातिके—"लार्कानुद्दिश्य यः
कामस्तस्मात्साधनगमाध्यय । लोकेष्वेति तामाहुः । काम्यकर्मार्थमुद्यमम्" ॥ ११७ ॥ इति । फलेच्छया तद्वेतुविषयो
य कामः । लार्कपणस्तुच्यते ता च काम्यकर्मार्थमात्ममाहुरिति याजना ॥ ७ तर्हीति—विद्यात्मकदेव-
वित्ताद्ब्युत्थानाम्मुपगम इत्यर्थ । विद्यात्वाविषयवदिति शेषः । ८ सत्यासारमकव्युत्थानमूलविद्याध्वसे
व्युत्थानव्याघात इत्यर्थ । ९. देवलोकप्राप्तिहेतुत्वम् । १०. ब्रह्मविद्याया देवला प्राप्तिहेतुत्वमर्थः ।

इति श्रुतेः । 'तद्वलेन हि व्युत्थानम् "एत वै तमात्मानं विदित्वा" इति विशेषवचनात् । तस्मात्त्रिम्योऽप्येतेभ्योऽनात्मलोकप्राप्तिसाधनेभ्य एषणाविषयेभ्यो व्युत्थाय^१ । एषणा कामः "एतावान् वै कामः" इति श्रुतेः । एतास्मिन्निविधेऽनात्मलोकप्राप्तिसाधने तृष्णामकृत्वेत्यर्थः ।

सर्वा हि साधनेच्छा फलेच्छैव । अतो व्याचष्टे श्रुतिरेकैवंपणेति । कथम् । 'या ह्येव पुत्रंपणा सा वित्तंपणा । दृष्टफलसाधनत्वतुल्यत्वात् । या वित्तंपणा सा लोकं-

तस्मादिति । इतश्च ब्रह्मविद्या देवाहित्वाद्बहिरेवेत्याह—तद्वलेनेति । प्रागेव वेदन सिद्ध धैरिक पुन-
व्युत्थानेनेत्याशङ्क्य 'प्रयोजकज्ञान-तत्प्रयोजकमुद्देश्य' तु तत्त्वसाक्षात्करणमिति विवक्षित्वाऽऽह—
तस्मादिति । प्रयोजकज्ञान 'पञ्चम्यय । व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीति सबन्ध । व्युत्थानस्वरूप-
प्रदर्शनार्थमेपणास्वरूपमाह—एषणति । "किमेतायतेत्याशङ्क्य व्युत्थानस्वरूपमाह—एतस्मिन्निति ।
"सबन्धस्तु पूर्ववत् ।-

या ह्येवेत्यादि श्रुतेस्तात्पर्यमाह—सर्वा हीति । फल नेच्छति साधन च चिकीर्षतीति व्या-
पातात्फलेच्छाभूतभूतैव साधनेच्छा तद्व्युक्तमेपर्यवपमित्यर्थः । श्रुतेस्तदर्थव्युत्पादकत्व प्रश्नपूर्वक

पूर्वं यह नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्मस्वरूप ही था, उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ इसी विज्ञान से वह स्वरूप हो गया ", "क्योंकि वह तत्त्वज्ञानी इन देवताओं का भी आत्मा ही हो जाता है" ऐसा श्रुति भी समर्थन करती है । आत्मबुद्धि के बल से ही व्युत्थान होता है । इसी से प्रकरणस्थ मन्त्र में "उस इस आत्मा को (मैं नित्यमुक्त नित्यतृप्त परब्रह्म हूँ, ऐसा) जानकर (भिक्षाटन करते हैं)"—ऐसा विशेष वचन है । इसलिए एषणा के विषयभूत अनात्मलोक के प्राप्ति कराने वाले इन तीनों ही साधनों से विपरीत व्यवस्थिति करके भिक्षावृत्ति का आश्रय लेते हैं । "इतना ही काम है" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार एषणा ही काम्य है । अर्थात् अनात्मलोकप्राप्ति के इन तीनों साधनों में तृष्णा न करके भिक्षाटन करते हैं ।

साधन की इच्छा चाहे किसी भी प्रकार की हो, सभी फल की इच्छा ही है । इसलिए (साधनेच्छा फलेच्छारूप होने से) श्रुति कहती है—एक ही एषणा है । ऐसा क्यों कहते हो ? क्योंकि जो पुत्रंपणा है, वही वित्तंपणा है क्योंकि उनका दृष्ट फल म साधन होना समान है, (पुत्रंपणा से

- १ जातमधीवलेन । २ काम्य । ३ वृ० उ० १५।१७ । ४ साधनेच्छाया फलेच्छारूपत्वात् । ५ या ह्येवेत्यादि मूलवाक्यमित्य योज्यम् तथाहि—फलेच्छासाधनमुपसदानमतीति न्यायार्थलोकैपणैवेकत्वाह—या हीति । हि प्रसिद्धा या पुत्रंपणा सैव वित्तंपणा दृष्टफलसाधनत्वादिनामान्यात् या पुत्रंपणया एकत्वमापन्ना वित्तंपणा सा लोकंपणैव साध्यलोकैपणाप्रयुक्तत्वात् (प्रयोज्यप्रयोजकैक्याभिप्रायात्) साधनंपणया एवमेकत्वेऽपि लोकैपणाया साधनम-तरेणासिद्धे साध्यसाधनभेदेन द्वैविध्यमाह—उभे इति । हि यस्मादुभे एते साध्यसाधनरूपे एषणे एव भवत इति । ६ दृष्टेत्यादि—पुनर्वित्तंपणयोमिषो हेतुहेतुमद्भावाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । विस्तरस्तु बर्तित्के । ७ पुत्रंपणयैवमापना । ८ आपातज्ञान परोक्षज्ञान वा । ९ व्युत्थानति यावत् । १० व्युत्थानोद्देश्यम् । ११ तथा च प्रयोजकज्ञानबलादित्यय । १२ एषणास्वरूपप्रदर्शनमात्रेण किमायातम् । १३ तृष्णामहत्वा भिक्षाचर्यं चरन्तीति सबन्ध इत्यय ।

पणा । फलार्थैव 'सा । सर्वः फलार्थप्रयुक्त एव हि सर्वं साधनमुपादत्ते । अत एकैवैपणा या लोकैपणा सा साधनमन्तरेण सपादयितुं न शक्यत इति । साध्यसाधनभेदेनोभे हि यस्मादेते एषणे एव भवतः । तस्माद्ग्रह्यादिदो नास्ति कर्म कर्मसाधनं वा ।

'अतो योऽतिक्रान्ता ब्राह्मणाः सर्वं कर्म कर्मसाधनं च सर्वं देवपितृमानुषनिमित्तं यज्ञोपवीतादि' । 'तेन हि देवं पित्र्यं मानुषं च कर्म क्रियते । "निवीतं मनुष्याणाम्"

द्व्युत्पादयति—कथमित्यादिना । फलैपणात्तर्भाव साधनं पणायाः समर्थयते—सर्व इति । उभे हीत्यादि-श्रुतियवसायं व्याचष्टे—या लोकैपणेति ।

प्रयोजकज्ञानवत् साध्यसाधनरूपात्साराद्विरक्तस्य कर्मतत्साधनयोरसंभवे साक्षात्कारमुद्दिश्य फलितं संन्यासं दर्शयति—अत इति । प्रतिक्रान्ता ब्राह्मणाः किं प्रजयेत्यादिप्रकाशितास्तेषां कर्म कर्मसाधनं च यज्ञोपवीतादि नास्त्येति पूर्वेण संबन्धः । देवपितृमानुषनिमित्तमिति विशेषणं विशदयति—तेन हीति । प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानामित्यादिशब्दाद्यं । यस्मात्पूर्वं विचारप्रयोजक-

अभिप्राता को प्राप्त हुई) जो वित्तपणा है, वही साधनपणा है क्योंकि वह पुत्रवित्तादिरूप साधनपणा फल के लिए ही है । लोकव्यवहार में फलरूप प्रयोजन में प्रेरित होकर ही सारे साधन सम्पादित किये जाते हैं । इसलिए एषणा एक ही है, और वह है— लोकैपणा । उसका साधन के बिना सम्पादन करना असम्भव है । क्योंकि साध्य और साधनभेद से ये दोनों ही एषणाएँ ही हैं, इसलिये ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् के लिए कर्म अथवा कर्म के साधन का विधान नहीं है ।

अत (विद्वान् के लिए कर्म का विधान सम्भव न होने के कारण) जो पूर्ववर्ती ब्राह्मण थे, वे सम्पूर्ण कर्म तथा देव, पितृ और मनुष्य लोक के निमित्त यज्ञोपवीत-शिखादि सम्पूर्ण साधनों की विपरीत प्रवृत्त्यति कर भिक्षावृत्ति स्वीकार करते थे क्योंकि यज्ञोपवीत-शिखादि से ही देव, पितृ और मनुष्य लोक प्राप्ति के लिए कर्म किए जाते हैं । जैसे श्रुति भी कहती है कि "मनुष्यलोक प्राप्ति के लिए दान-सम्बन्धी कर्मों में यज्ञोपवीत को माता की भाँति गले में धारण करे" । इसलिए पहले ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण

१ पुत्रवित्तादिरूपसाधनपणा । २ अत इति—सर्वैत्यादि फलार्थत्वेनैव साधनोपादानदर्शनादित्यर्थं । वार्तिके यथा—“साध्यैपणाप्रयुक्तत्वात्पुनर्नित्तपणात्ततः । एषा लोकैपणैवेव विधातो व्यपदिश्यत” ॥१३५॥ इति । या पुनैवमेत्यादिना त्रिधाक्ता सेपनेकैव लोकैपणोत्पत्त्यात्तत्प्रयुक्तत्वादिति योजना । ३ इतीति—न हि साध्यस्य साधनं विना स्वभावात्प्राप्तं स्वभाववादनिरासात् साध्यानुसारि साधनभेदेष्वमित्यभिप्रायमनुभे हीरप्राप्ति वाच्यमिति भावः । ४ विद्युया कर्मणिप्रवृत्त्यात् । ५ आदिना विषया ब्राह्मणाः । ६ तत्र हीत्यादि—यज्ञोपवीतादिना हि देव कर्म होमादि, पिप्प श्राद्धादि, मानुष च दानादीति विवेकः । ७ निवीतं मनुष्याणामिति—मनुष्योद्देश्यकदानादिकर्मसर्वथा ब्रह्मगूत्र (यज्ञगूत्र) निवीतं बुयादित्यर्थः । एवमुत्तरभाष्यार्थ-जुगुप्सेय ॥ अत्रामर—“उपवीतं ब्रह्मगूत्रं प्रोद्भूते दक्षिणे करे । प्राचीनावीतमन्यत्सिन्धु निवीतं कण्ठस्थितमिति” ॥ दक्षिण करे प्रोद्भूते बहिष्कृते सति यद्ब्रह्मगूत्रं सवुपवीतमित्युच्यते वामस्कन्धापरिमितं यावत् । वामकरे । समानमन्यत् । कण्ठस्थितमिति करदये बहिष्कृते कण्ठे मालेव श्च्युत्पायनापरिमित्यर्थः । ८ वृ० उ० ४।४।२२ ।

इत्यादिश्रुतेः । तस्मात्पूर्वं ब्राह्मणा ब्रह्मविदो व्युत्थाय कर्मभ्यः कर्मसाधनेभ्यश्च यज्ञोपवी-
तादिभ्यः परमहंसपारिव्राज्यं प्रतिपद्य 'भिक्षाचर्यं चरन्ति' भिक्षार्थं चरणं भिक्षाचर्यं
'चरन्ति' त्यक्त्वा 'स्मार्तं लिङ्गं' केवलमाश्रममात्रशरणानां जीवनसाधनं पारिव्राज्यव्य-
ञ्जकम् । विद्वान्छिङ्गवर्जितः । "तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञोऽव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः" इत्यादि-
स्मृतिभ्यः । "अथ परिव्राड्'धिवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः" इत्यादिश्रुतेः । सशिखान्केशा-
न्निष्कृत्य विसृज्य यज्ञोपवीतमिति च' ।

ननु व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति वर्तमानापदेशादर्थवादोऽयं न विधायकः

ज्ञानवन्तो ब्राह्मणा चिरक्ताः संन्यस्य 'तदप्रयुक्तं' धर्ममन्वतिष्ठंस्तस्मादधुनातनोऽपि प्रयोजकज्ञानो
विरक्तो ब्राह्मणस्तथा कुर्पादित्याह—तस्मादिति । "त्रिदण्डेन यतिश्चैव" इत्यादिस्मृतेन परमहंसपारि-
व्राज्यमत्र विवक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—त्यक्त्वेति । "तस्य दृष्टार्थत्वांनुमुमुक्षुभिस्त्याज्यत्वं सूचयति—
केवलमिति । अमुख्यत्वाच्च तस्य त्याज्यतेत्याह—पारिव्राज्येति । "तयाऽपि त्वद्विष्टः" संन्यासो न स्मृति-
कारनिबद्ध इति चेन्नेत्याह—विद्वानिति । "प्रत्यक्षश्रुतिविरोधाच्च स्मार्तसंन्यासो मुख्यो न भवतीत्याह
—अथेति ।

एतं वं तमित्यादिवाक्यस्य विधायकत्वमुपेत्य सर्वकर्मतत्साधनपरित्यागपरत्त्वमुक्तमाक्षिपति

कर्म और उसके साधन यज्ञोपवीत-शिखा का परित्याग करके परमहंस परिव्राजक भाव को प्राप्त कर
श्रवणादि से अवशिष्ट समय में देहस्थिति के लिए भिक्षाचरण करते हैं । भिक्षा के लिए जाने का नाम
भिक्षाचर्या है । स्मृतिप्रोक्त त्रिदण्डादिरूप लिङ्ग को छोड़कर केवल पारिव्राज्य आश्रममात्र में शरणार्थ
हुए देहयात्रा को चलाना संन्यास का अभिव्यञ्जक है । विद्वान् एव ब्राह्म चिह्नो से वर्जित (भिक्षा करते
हैं) " । "इसलिए संन्यासी लिङ्गरहित, धर्मज्ञ और अव्यक्तलिङ्ग एव अव्यक्त आचार वाला होकर
रहे" इत्यादि स्मृति प्रमाण है । श्रुति भी कहती है—"संन्यासी परिव्राट्, विना श्वेत वस्त्र यानी
कापायवस्त्रधारी मुण्डी और परिग्रहरहित होकर रहे" । "शिखासहित केशों का मुण्डन करके,
यज्ञोपवीत को त्याग कर भिक्षाचर्या करते हैं ।"

मन्त्र में " व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति" इस वाक्य में वर्तमान काल का प्रयोग होने से

- १ श्रवणादिशेषकाले देहस्थित्यर्थम् । २ कुर्वन्ति । ३ स्मृत्युक्तं त्रिदण्डादिरूपम् । ४ विगतश्वेत-
वर्णं कापायमित्यर्थं । ५ श्रुतेः । ६ भूतार्थवाद । ७ संन्यासप्रयुक्तम् । ८ धवणादिरूप
भिक्षादिरूप च । ९ इत्याशङ्क्येति—आश्रमान्तराणि सदाभित्वा त्रिदण्डेन यतिश्चैवेति भोगाश्रम लक्षयता
वक्षेण शिखायज्ञोपवीतादिपरित्यागरूप पारिव्राज्य निराकृतमत शिखादिशालिनस्त्रिदण्डिनः सर्वस्मृतिप्रसिद्धाः
संन्यासिनस्तेषामेव व्युत्थायेत्यादि वाक्ये ग्रहणमिति शङ्कितुराशयः । आहृति—स्मार्तसंन्यासस्य श्रुतिविरोधेन
मत्त्वमेव नास्तीत्याशयन द्रुत इत्यर्थः । उक्तं हि वार्तिके—"मुण्डोऽपरिग्रहश्चेति प्रत्यक्षश्रुतिवाक्यतः । तद्विरुद्धं
स्मृतेर्वैक्यं नापेक्ष्य दुर्बलत्वतः" ॥ १५८ ॥ इति । १०. स्मार्तलिङ्गस्य । ११. तयाऽपीति—श्रुतवदय-
माणसंन्यासापेक्षया स्मार्तसंन्यासस्य दुर्बलत्वेनामुख्यत्वात्प्राज्यात्वेऽपीत्यर्थः । १२. पारमहत्यास्यः । १३.
प्रत्यक्षश्रुतीति—स्मृत्या तन्मूलश्रुत्यनुमानेऽपि प्रत्यक्षापेक्षया दुर्बलत्वमेवानुमेयस्येत्यभिप्रायः । १४. उपेत्येति—
व्युत्थायेत्यस्य संन्यासविधायनत्वं भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यस्य तद्धर्मविधायकत्वं च प्रौढया त्वीकृत्येत्यर्थः ।

प्रत्ययः कश्चिच्छ्रूयते लिङ्लोटत्वानामन्यतमोऽपि । तस्मादर्थवादमात्रेण श्रुतिस्मृति-
विहितानां यज्ञोपवीतादीनां साधनानां न शक्यते परित्यागः कारयितुम् । यज्ञोपवीत्येवा-
धीयोत यज्येद्यजेत वा । पारिव्राज्ये तावदध्ययनं विहितम्—

—“वेदसंग्यसनाच्छुद्रस्तस्माद्देवं न संग्यसेत्” इति ।

७ ॥ “स्वाध्याय एवोत्सृज्यमानो वाचम्” इति चाऽऽपस्तम्बः ।

“ब्रह्मोज्जं वेदनिन्दा च कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।

गर्हितान्नाद्योज्जिग्धः सुरापानसमानि पट्”

इति वेदपरित्यागे दोषश्रवणात् । उपासने गुरुणां वृद्धानामतिथीनां होमे जप्य-
कर्मणि 'भोजन' आचमने स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यादिति परिव्राजकधर्मेषु च

—नन्विति । इतश्च यज्ञोपवीतमपरित्याज्यमित्याह—यज्ञोपवीत्येवेति । याजनादिसमभिध्याहाराद-
संग्यासिषियमेतदित्याशङ्क्याऽह—पारिव्राज्ये तावदिति । वेदत्यागे दोषंश्रुतेस्तदित्यागेऽपि कथं
पारिव्राज्ये यज्ञोपवीतित्वमित्याशङ्क्याऽह—उपासन इति । इत्यनेन वाक्येन युवाद्युपासनाद्भवेन
यज्ञोपवीतस्य विहितत्वात्परिव्राजकधर्मेषु गुरुपासनादीनां कर्तव्यतया श्रुतिस्मृतिषु चोदितत्वाद्यज्ञो-
पवीतपरित्यागोऽवगन्तुं नैव शक्यत इत्यन्वयः । संप्रति प्रौढिमारुढो व्युत्थाने विधिमङ्गीकृत्यापि

यह भूतार्थवाद ही है । विधानप्रतिपादक लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्ययों में से यहाँ एक का भी श्रवण
नहीं होता है । विधानप्रतिपादक प्रत्यय के अभाव में भूतार्थवाद से श्रुतिस्मृतिविहित यज्ञोपवीतादि
साधनों में से किसी का भी परित्याग नहीं कराया जा सकता । यज्ञोपवीतधारी वेदों का अध्ययन करे,
यज्ञ करे अथवा कराए । संग्यास में तो अध्ययन का विधान है ही ।

“वेदों के त्याग करने से शूद्र हो जाता है—इसलिये वेदों का त्याग न करे” ।

“वेदों का त्याग करने वाले को भी स्वाध्याय के लिए उचित समय निकालना चाहिये”
ऐसा आपस्तम्ब मुनि का मत है ।

“पढ़े हुए वेद को अनभ्यासवशात् भूल जाना, वेद की निन्दा करना, कूटसाक्ष्य, मित्र का वध,
गर्हित अन्न और पूर्व न खाने का सकल्प कर पुन उसी को खा लेना ये छ मुरापान के समान
पापकर्म हैं” । इस प्रकार वेद त्याग में दोष सुना गया है । “गुरु, वृद्ध और अतिथियों की उपासना, होम,
जपकर्म, भोजन, आचमन और स्वाध्याय में यज्ञोपवीत धारण किये होना चाहिये” इस प्रकार श्रुति

१ पिषयकाभावात् । २ वेदान् । ३ इवाव्याय एत्यादि—अत्र स्वाध्यायोऽध्ययनोचितसमय तत्रापि
वशाभ्यायनं गम्यसन् शूद्रो भवतीत्यर्थः । ४ त्यजन् । ५ वेदम् । ६ ब्रह्मोज्जिभता—अत्र ब्रह्मोज्जिभता
वेदनिन्देति चकाररहित पाठम् । अधीतवदस्यानभ्यासेन विस्मरणं ब्रह्मोज्जिभता । असन्ध्यास्त्रश्रवणं वेदकुरसत
वेदनिन्दा । साधये मृषामिधानं कौटसाक्ष्यम् । अत्राह्मणस्य मित्रस्य वधं सुहृद्वधः । गर्हितं निषिद्धं लघुनादि ।
अनाद्यं पुरीपादि । मेघातिथिस्तु न भोज्यं मया तदिति सवत्स्यं यद्गृह्यत तदनाद्यमिति व्याचष्टे—तमोज्जिग्ध-
भंधणम् इति मनुवचनार्थः । ७ म० स्म० ११।५७ । ८ यज्ञोपवीतकर्तृकाध्ययनवोधिव्याक्यम् । ९
पूर्वपत्नी ।

दाढ्योपपत्तिस्तथा भिक्षाचर्यस्य च । यत्पुनरुक्तं वर्तमानापदेशादर्थवादमात्रमिति । न ।
श्रोतुम्बरूपपादिविधिसमानत्वाददोषः ।

व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यनेन पारिव्राज्यं विधीयते । पारिव्राज्याश्रमे च
यज्ञोपवीताविसाधनानि विहितानि लिङ्गं च श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च । अतस्तद्वर्जयित्वा-
ज्यस्माद्व्युत्थानमेवणात्वेऽपीति चेत् । न । विज्ञानसमानकर्तृकात्पारिव्राज्यावेवणा-
व्युत्थानलक्षणात्पारिव्राज्यान्तरोपपत्तेः । यद्धि 'तदेवणाभ्यो व्युत्थानलक्षणं पारिव्राज्यं
तदात्मज्ञानाङ्गम् । आत्मज्ञानविरोधेवणापरित्यागरूपत्वात् । अविद्याविषयत्वाच्चैव-
णायाः । तद्व्यतिरेकेण चास्त्याश्रमरूपं पारिव्राज्यं ब्रह्मलोकादिफलप्राप्तिसाधनं यद्विषयं

स्वार्थवादत्वमुक्तमनूद्य दूषयति—यत्पुनरित्यादिना । श्रोतुम्बरो यूपो भवतीत्यादौ सेट्परिग्रहेण
विधिस्वीकारवदत्रापि पञ्चमलकारेण विधिसिद्धेर्नायंवादत्वशङ्केत्यर्थः ।

संप्रति प्रकृते वाक्ये पारिव्राज्यविधिमङ्गीकृत्य 'वयूष्यः शङ्कते—व्युत्थायेति । का 'तर्हि
विप्रतिपत्तिस्तत्राऽऽह—पारिव्राज्येति । लिङ्गं त्रिदण्डत्वादि । 'पुराणे यज्ञोपवीते विद्युज्य नवश्रुपार्वा-
याऽऽश्रमं प्रविशेत्' 'त्रिदण्डी कमण्डलुमान्' इत्याद्याः श्रुतयः स्मृतयश्च । एवणात्वाद्यज्ञोपवीतादीनामपि
त्याज्यत्वमुक्तमित्याशङ्क्य श्रुतिस्मृतिवशाद् व्युत्थाने । संकोचमभिप्रेत्येह—अत इति । उदाहृतश्रुति-
स्मृतीनां विषयान्तरं दर्शयन्पुनरुदाह—नेत्यादिना । 'तदेव विद्युरपीति—यद्वीत्यादिना । 'तस्याऽऽत्म-
ज्ञानाङ्गत्वे हेतुमाह—आत्मज्ञानेति । एवणाया'स्तद्विरोधित्वमेव कुतः सिद्धं तत्राऽऽह—प्रविद्येति ।
'तर्हि यथोक्तानां श्रुतिस्मृतीनां किमालम्बनं तदाह—तद्व्यतिरेकेणेति । आश्रमत्वेन रूप्यते वस्तुतस्तु

भी उचित नहीं । श्रोतुम्बर-यूपपादि विधान के समान होने से यह भी निर्दोष है ।

"एवणाश्रय से व्युत्थान करके भिक्षाटन करते हैं" इस श्रुतिवाक्य से सन्यास का ही विधान किया
जाता है । पारिव्राज्य आश्रम में श्रुति-स्मृतियों द्वारा यज्ञोपवीतादि साधन एवं लिङ्ग का विधान किया
गया है । इसलिए यज्ञोपवीतादि एवणात्मक होने पर भी उन्हें छोड़ कर अन्य एवणाश्रो से व्युत्थान
करना चाहिये । (इस पर सिद्धान्ती कहता है)—ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि विज्ञानकर्तृकसन्यास
और एवणाश्रयव्युत्थानरूप सन्यास में अन्तर प्रसिद्ध ही है । पुत्रादि एवणाश्रो से व्युत्थानरूप जो
सन्यास है, वह आत्मज्ञान का अङ्ग है क्योंकि उक्त सन्यास आत्मज्ञानविरोधी एवणापरित्यागरूप है ।
एवणाएँ अविद्या से उत्पन्न होती हैं । आत्मज्ञान के अङ्गरूप सन्यास से व्यतिरिक्त आश्रमरूप सन्यास
ब्रह्मलोकादि फलप्राप्ति का साधन है, जिसके विषय में यज्ञोपवीतादि साधन एवं लिङ्ग का विधान किया

१ व्युत्थानादिकावयम् । २ अत इति—यज्ञोपवीतादेरेवणात्वेऽपि श्रुत्याद्यनुरोपाद्यज्ञोपवीताद्यतिरिक्त-
वणापदवाच्याद्व्युत्थानान्मुपेयमित्यर्थः । ३ तद्—पुत्रादि । ४ उक्तपारिव्राज्यस्य । ५ जन्यत्वात् ।
६ तद्व्यतिरेकेण—निष्कालमज्ञानाङ्गात्पारिव्राज्यव्यतिरिक्तमित्यर्थः । ७ स्वस्येकदेशी । ८ तर्हीति—
प्रकृतवाक्ये पारिव्राज्यविध्यङ्गीकारे सतीत्यर्थः । का विप्रतिपत्ति—आवयोविवाद एव क । ९ तद्विरोधात् ।
१० सग्रहवाक्यमेव । ११ उक्तपारिव्राज्यस्य । १२ आत्मज्ञानविरोधित्वमेव । १३ तर्हि—उक्त-
पारिव्राज्यस्य आत्मज्ञानाङ्गत्वे ।

यज्ञोपवीतादिसाधनविधात् लिङ्गविधान च ।

न चैरणारूपसाधनोपादानस्याऽऽश्रमधर्ममात्रेण पारिव्राज्यान्तरे विषये सभवति सति सर्वोपनिषद्विहितस्याऽऽत्मज्ञानस्य बाधन युक्तम् । यज्ञोपवीताद्यविद्याविषयैषणा-
रूपसाधनोपादित्वाया 'चावश्यम' साधनफलरूपस्याशनायादिसारधर्मं वज्रितस्याह ब्रह्माः
स्मोति विज्ञानं बाध्यते । न च तद्बाधन युक्तम् । सर्वोपनिषदा 'तदथपरत्वात्' ।

मिक्षाचर्यं चरन्तीत्येषणा ग्राहयन्ती श्रुतिः स्वयमेव बाधत इति चेत् ।
अथाप्येषणाभ्यो व्युत्थान विधाय पुनरेषणकदेश भिक्षाचर्यं ग्राहयन्ती 'तत्सबद्धम' न्यदपि

नाऽऽश्रमस्तदाभास इति यावत् । तस्याऽऽत्मज्ञानाङ्गत्व वारयति—ब्रह्मेति ।

अथ व्युत्थानवाक्योक्तमुरयपारिव्राज्यविषयत्वमेव लिङ्गादिविधानस्य किं न स्यात्तत्राऽऽह—
न चेति । एषणारूपसि साधनानि यज्ञोपवीतादीनि तेषामुपादानमनुष्ठानं तस्याऽऽश्रमधर्ममात्रेणोक्तस्य
यथोक्ते सन्यासाभासे विषये सति "प्रधानबाधेन मुख्यपारिव्राज्यविषयत्वमयुक्तमित्यर्थः । कथं
पुनर्मुख्यपारिव्राज्यविषयत्वे यज्ञोपवीतादेरिष्टे प्रधानबाधेन तदाह—यज्ञोपवीतादीति । साध्यसाधन-
योरासङ्गः" "तद्विलक्षणस्याऽऽत्मनो ज्ञान बाध्यते चेत्का नो हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति ।

भिक्षाचर्यं तावद्विहितं विहितानुष्ठानं च यज्ञोपवीतादि विना न सभवतीति श्रुत्येवाऽऽत्मज्ञानं
यज्ञोपवीतादिविरोधि बाधितमिति शङ्कते—भिक्षाचर्यमिति । "शङ्कामेव विशदयति—अथापीत्यादिना ।

गम्य है ।

इसके अतिरिक्त अन्यविध सन्यास मे बाध्यमधर्ममात्र से एषणात्रयरूप साधनो का ग्रहण
सभव होने से समस्त उपनिषदो के तात्पर्यविषय आत्मज्ञान का बाध होना उचित है । यज्ञोपवीतादि
अविद्याजन्य एषणारूप साधनो को उपादान करने की इच्छा होने पर तो साध्यसाधनविलक्षण
फलरूप एव क्षुधादि सासारिक धर्मों से रहित आत्मा के 'मैं ब्रह्म हूँ' इस विज्ञान का अवश्य बाध हो
जाता है । और उसका बाध होना उचित नहीं है क्योंकि सभी उपनिषद आत्मज्ञानरूप धर्म में तात्पर्य
वाली हैं ।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है)—"एषणात्रय से ऊपर उठकर भिक्षाटन करते हैं" इस श्रुति
से एषणा को ग्रहण कराने वाली श्रुति का स्वयमेव बाध हो जाता है । यदि इस प्रकार मान भी लिया
जाय तो भी एषणात्रयो से व्युत्थान का विधान करके पुन एषणा के ही एकदेश भिक्षाटन का ग्रहण
कराने के कारण भिक्षाचरण से आक्षिप्त अन्य यज्ञोपवीतादि का भी ग्रहण कराती है । (इम पर सिद्धान्ती

- १ तात्पर्यविषयस्य । २ सत्याम् । ३ अवश्यमिति बाध्यतेत्यन्वयः । बाधनेच्छाऽविषयभूतमपि
बाध्यतेतिवैशेष्यम् । यज्ञोपवीती स्यामह ब्रह्मास्मीति चानयोज्ञानयोर्विरोधादिति प्रावः । ४ असाधनेति—
साध्यसाधनविलक्षणस्येव । ५ वज्रितस्यति—आत्मन इति शेषः । ६ तदर्थेति—आत्मज्ञानरूपेऽर्थे
तात्पर्यवत्त्वादित्यर्थः । ७ इति श्रुतिरित्यन्वयः । ८ बाधत—आत्मज्ञानमिति शेषः । ९ तत्सबद्ध
भिक्षाचरणाऽऽतिशयम् । १० अन्यत्—यज्ञोपवीतादि । ११ प्रधानमिति—सर्वोपनिषत्तात्पर्यविषयत्वेन
प्रधानमात्मज्ञानं । तद्बाधनेत्यर्थः । १२ आसङ्गः—आसक्तौ सत्याम् । १३ तद्विलक्षणस्य—साध्य-
साधनविलक्षणस्य । १४ सगृहीतशङ्काम् ।

प्राह्यतीति चेत् । न । भिक्षाचर्यस्याप्रयोजकत्वाद्बुद्धौत्तरकालभक्षणवत् । शेषप्रतिपत्ति-
कर्मत्वादप्रयोजकं हि तत् असंस्कारकत्वाच्च । भक्षणं पुरुषसंस्कारकमपि स्यान्न तु
भिक्षाचर्यम् । नियमदृष्टस्यापि ग्राह्यविदोऽनिष्टत्वात् ।

नियमादृष्टस्यानिष्टत्वे किं भिक्षाचर्येति चेत् । न । अन्यसाधनाद्व्युत्थानस्य

यथा हुतशेषस्य भक्षणं विहितमपि न द्रव्याक्षेपकं परिशिष्टद्रव्योपादानेन प्रवृत्तेस्तथा सर्वस्वत्यागे
विहिते परिशिष्टभिक्षोपादानेन विहितमपि भिक्षाचरणमुपवीताद्यनाक्षेपकमित्युत्तरमाह—नेत्यादिना ।
हृष्टान्तमेव स्पष्टयति—शेषेति । तद्भक्षणमिति संबन्धः । अप्रयोजकं द्रव्यविशेषस्यानाक्षेपकमिति
यावत् । यदा वाष्टान्तिकमेव स्फुटयति—शेषेति । सर्वस्वत्यागे विहिते शेषस्य कालस्य शरीरपातान्तस्य
प्रतिपत्तिकर्ममात्रं भिक्षाचर्यमतो न तदुपवीतादिप्रापकमित्यर्थः । किंच भिक्षाचर्यस्य शरीरस्थित्यंवा-
ऽऽक्षिप्तत्वाच्च । तत्रापि विधिद्वारे तद्दशादुपवीतादिति द्विरित्याह—असंस्कारकत्वाच्चेति । तदेव
स्फुटयति—भक्षणमिति । एककालं चरेद्भक्षणम् इत्यादि नियमवशाददृष्टं सित्यदुपवीतादिकमप्या-
पत्तीति चेत्नेत्याह—नियमेति । विविदियोस्तद्विष्टमपि नोपवीताद्याक्षेपकं ज्ञानोत्पादकश्रवणाद्युप-
योगि देहस्थित्यर्थत्वेनैव चरितार्थत्वादिति भावः ।

१० । तह यथाकथंचिदुपनतेनानेन शरीरस्थितिसंभवाद्भिक्षाचर्यं चरन्तीति वाक्यं व्यर्थमिति
शङ्कते—नियमादृष्टस्येति । भिक्षाचर्यानुवादेन प्रतिग्रहा विनिवृत्त्युपबन्धाद्वाक्यस्य नाऽऽन्यर्थमिति व्युत्तर-

कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि हवन करने के बाद हुतशेष भक्षण करने के समान
भिक्षाचर्या उपवीतादि को अनाक्षेपक है । हवन के पश्चात् हुतशेष भोजन करना भी शेषप्रतिपत्तिक
कर्म होने के कारण किसी फल का प्रयोजक नहीं है । इसके अतिरिक्त संस्कार न करने वाला होने से
भी भिक्षाचरण प्रयोजक नहीं है । हुतशेष का भक्षण तो पुरुष के संस्कार का हेतु भी होता है, किन्तु
भिक्षाचरण तो वैसा भी नहीं है क्योंकि नियमविधानजनित दृष्ट भी ब्रह्मवेत्ता को अनिप्सित है ।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) यदि उसी नियमविधिजनित दृष्ट इष्ट नहीं है, तो फिर

१. अप्रयोजकत्वात्—उपवीताद्यनाक्षेपकत्वात् ।
२. शेषेत्यादि—शेषस्य परिशिष्टस्य वस्तुनो यत्प्रतिपत्ति-
कर्म तत्त्वात् । अर्थप्राप्ते दस्तुनस्यैव शास्त्रानुमतपाने समर्पणत्व च प्रतिपत्तिकर्मत्वम् ।
३. भक्षणमिति—
अभिपुत्य हुत्वा भक्षणमतीति विहित हुतशेषस्य भक्षणमित्यर्थः । तस्य च धुरितयोपकल्पानुसंगसंस्कारकत्वमिति
ध्येयम् ।
४. अनिष्टत्वात्—अनिप्सितत्वात् ।
५. भिक्षाचर्यवाननेत्यर्थः ।
६. अन्येति—भिक्षाचर्य-
वाक्येन भिक्षाचर्यातिरिक्तशरीरस्थितिसाधनाभिपुत्तेरुपदिष्टत्वादित्यर्थः ।
७. अभिपुत्य हुत्वा भक्षणमतीति
वाक्यविहितम् ।
८. हवनपरिशिष्टद्रव्योपादानेन ।
९. जीवनाग्न्यानुपस्था परिशिष्टेत्यर्थः ।
१०.
ध्युत्थानवाक्येन ।
११. प्रतिपत्तिं निवर्हि करोतीति प्रतिपत्तिकर्म तन्मात्रम् अन्यासात् कालशेषप्रयोजकमिति
यावत् ।
१२. भिक्षाचर्यम् ।
१३. भिक्षाचर्येऽपि ।
१४. तद्दशादिति—भिक्षाचर्यविधिसादित्यर्थः ।
- विहितानुष्ठाने हि उपवीताद्यपेय इति भावः ।
१५. असंस्कारकत्वमेव ।
१६. नियमविधिवशात् ।
१७.
अपेक्षितेति ।
१८. अदृष्टजनकविहितानुष्ठानस्योपवीताद्यन्तरानुपपत्तेरिति भावः ।
१९. नियमादृष्टम् ।
२०.
अपेक्षितेति ।
२१. देहस्थितेति—निष्पन्न (निविष्ट) देहस्थितित्वेन ।
- नियमादृष्टं हि श्रवणाद्विधातक-
ज्वरौपवीतादिसंस्थितेति भावः ।
२२. सफलत्वात् ।
२३. नियमादृष्टस्यानिष्टत्वे ।
२४. आदिना
कृतिवागप्यादि प्राप्ताम् ।

विहितत्वात् । 'तथाऽपि किं तेनेति चेत् । यदि स्याद्वाढमभ्युपगम्यते हि तत् । यानि पारिव्राज्येऽभिहितानि वचनानि यज्ञोपवीत्येवाधीयीतेत्यादीनि तान्यविद्वत्पारिव्राज्यमात्र-
विषयाणोति परिहृतानि । 'इतरथाऽऽत्मज्ञानबाधः स्यादिति ह्युक्तम्' ।

“ निराशियमनारम्भं निरनंस्कारमस्तुतिम् ।

अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा 'ब्राह्मणं विदुः' ॥

माह—नान्येति । निवृत्त्युपदेशेन वाक्यस्यार्थवत्त्वेऽपि 'तदुपदेशस्य नायंश्वत्वं कूटस्थ्यात्मज्ञानेनैव सर्वनिवृत्ते सिद्धेरिति शङ्कते—तथाऽपीति । यदि निष्क्रियात्मज्ञानादशेषनिवृत्तिः स्यात्सिद्धे 'तदस्मा-
भिरपि स्वी क्रियते सत्यमित्यङ्गी करोति—यदीति । यदि तु क्षुदाविदोषप्रायव्यादात्मानं निष्क्रियमपि विस्मृत्य 'प्रायंनाविपरो भवति तदा निवृत्त्युपदेशोऽपि भवत्यर्थवानिति भावः । "प्रागुक्तवाक्यविरोधा-
न्निवृत्त्युपदेशोऽशक्य इति चेत्प्राऽऽह—यानीति । "मुख्यपरिव्राज्यविषयत्व उक्तं दोषं स्मारयति—
इतरथेति । निवृत्त्युपदेशानुप्राहकत्वेन स्मृतौरुदाहरति—निराशियमित्यादिना । अमुख्यसंग्यासिबिषय-

भिक्षाचरणादि श्रुतिवाक्य का क्या प्रयोजन है । (सिद्धान्ती समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । भिक्षाचरण से अतिरिक्त शरीरस्थिति साधन से निवृत्ति उपदिष्ट होने के कारण व्युत्थान करने का विधान किया गया है । इस पर भी यदि तुम उपदेश करो कि निवृत्ति का उपदेश क्यों करते हो । यदि आत्मज्ञान से अशेषता निवृत्ति होती है, तो उसे हम भी स्वीकार ही करते हैं । "यज्ञोपवीती होकर अध्ययन करे" इस प्रकार सन्यास में जो विहित वाक्य हैं, वे केवल अविद्वत्संग्यासमात्र से सबन्ध रखने वाले हैं, ऐसा कहकर उनका उत्तर दे दिया गया है । यह भी पहले कहा जा चुका है कि ऐसा न मानने से आत्मज्ञान का बाध हो जायगा ।

“जो आशीर्वाद देने से विमुख है, आरम्भ, नमस्कार और स्तुति करने आदि लोकपरम्पराओं से परे है । जो अदीन है, जिसके कर्म क्षीण हो चुके हैं, उसको देवता ब्रह्मज्ञानी कहते हैं” इस प्रकार

१. तथाऽपीत्यादि—निवृत्त्युपदेशेन वाक्यस्य सकलत्वेऽपि कूटस्थ्यात्मज्ञानेनैव तत्सिद्धे किं निवृत्त्युपदेशेनेत्यर्थं ।
२. दत्तोत्तराणि । ३. टीकोक्तार्थम् । ४. ८१४पृष्ठभाष्ये । ५. निराशियमिति । "प्रणमता नराणां शिष्टैराशीर्वादं प्रयुज्यते" । यस्य यदपेक्षितं तं प्रति तदभिबुद्धिप्रार्थनमाणी । तथा च नराणां भिन्नरुचिवात्तद-
भिमतान्वेषणे व्यग्रचित्तस्य लोभवासना बर्धते स च ज्ञानविरोधिनी लोकवासनया जन्तो शास्त्रवासनयापि च, देहवासनया ज्ञानं यया बन्धं जायत इति स्मरणात् एतच्चारम्भनमस्कारादिव्यपि द्रष्टव्यम् । आरम्भ स्वार्थं परोपकारार्थं वा गृह्येन्नादित्तपादनयत्नं तावेतावाशीर्वादारम्भौ विदुषा त्वाज्यौ । न आशीर्वादाभावे प्रणमतौ नराणां खेद-शङ्कनीय खेदलोकवासनयोः परिहाराय निखिलाशीर्वादप्रतिनिधित्वे न नारायणशब्दप्रयोगात् स्तुतिनमस्कारी मनुष्यविषयावेव प्रतिषिष्यतः न त्वीश्वरविषयो तयोरेव विशेषहेतुत्वादित्यन्यत्र विस्तृतः । अक्षीणत्वमदीनत्वम् । "अलम्ब्या न विधीदेत काले कालेऽज्ञानं क्वचित् । लक्ष्या न ह्युत्पेदधृतिमात् उग्रय दैवतन्त्रित"मिति स्मृतः । क्षीणकर्मत्वं विधिनिषेधानधीनत्वम् । नित्यं गुण्ये पथि विचरतामित्यादित्स्ते ॥ ६ ब्रह्मविदम् । ७ निवृत्त्युपदेशस्य । ८ प्रतिग्रहादिनिवृत्तेः । ९ अशेषतो निवर्तनम् । १०. वाचनादि-
पत् । ११ यज्ञोपवीत्येवाधीयीतेत्यादिवाक्येति भावः । १२. उक्तवाक्यानाम् ।

गुरुपासनस्वाध्यायभोजनाचमनादीना कर्मणां श्रुतिस्मृतिषु कर्तव्यता चोदितत्वाद्गुर्वा-
द्युपासनाङ्गत्वेन यज्ञोपवीतस्य विहितत्वात्तत्परित्यागो नैवावगन्तुं शक्यते । यद्यप्येव-
णाभ्यो व्युत्थानं विधीयत एव तथाऽपि पुत्राद्येपरणाम्भस्तिसृभ्य एव व्युत्थानं न तु
सर्वस्मात्कर्मणः कर्मसाधनाच्च व्युत्थानम् । सर्वपरित्यागे चाश्रुतं कृतं स्याच्छ्रुतं च
यज्ञोपवीतादि हापितं स्यात् । तथाच महानपराधो विहिताकरणप्रतिषिद्धाचरण-
निमित्तः कृतः स्यात् । तस्माद्यज्ञोपवीतादिलिङ्गपरित्यागोऽन्धपरम्परैव ।

न । “यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः” इति श्रुतेः । अपि चाऽऽत्मज्ञानपर-
त्वात्सर्वस्या उपनिषदः । आत्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यो, मन्तव्य इति हि प्रस्तुतं स चाऽऽत्मैव

द्वयमिति—यद्यपीत्यादिना । एषणाभ्यो व्युत्थाने सत्येषणात्वाविशेषात्कर्मणस्तत्साधनाच्च व्युत्थानं
सेत्स्यतीत्याशङ्क्य यज्ञोपवीतादेरेषणात्वमसिद्धमित्याशयेनाऽऽह—सर्वेति । अश्रुतकरणे श्रुतत्यागे च
‘अक्रुर्वन्विहितं कर्म’ इत्यादिस्मृतिमाश्रित्य द्रव्यणमाह—तथा चेति । ननु दृश्यते यज्ञोपवीतादिलिङ्ग-
त्यागः । स कस्माद्विराक्रियते तत्राऽऽह—तस्मादिति ।

। नेयमन्धपरम्परैति परिहरति—नेत्यादिना । ब्रह्मचर्यादेव प्रब्रजेदित्यादिविधिव्युपलम्भेऽपि
‘प्रोढवादेनाऽऽत्मज्ञानं विधिबलादेव संन्यासं साधयितुमाऽऽत्मज्ञानपरत्वं तावदुपनिषदाभ्युपन्यस्यति—
अपि चेति । “इतश्चास्ति संन्यासे विधिरिति यावत् । तद्विधिबलादेव संन्याससिद्धिरिति शेषः ।
कथं सर्वोपनिषदात्मज्ञानपरैष्यते कर्तुं स्तुतिद्वारा कर्मविधिशेषत्वेनायंवादेवादिप्याशङ्क्याऽऽह—

योग स्मृतियो मे परित्राजको के धर्मो मे भी गुरु उपासना, भोजन और ब्राह्ममनादि कर्मों का कर्तव्य-
रूप से प्रतिपादित किये जाने के कारण गुरु आदि की उपासना के अङ्गत्वरूप से यज्ञोपवीत का
विधान किया गया है, इसलिये उसका परित्याग उचित ठहराया नहीं जा सकता । यद्यपि एषणाओ से
ऊपर उठने का विधान है ही, तथापि पुत्रादि तीन एषणाओ से ही व्युत्थान करना चाहिये, समस्त कर्म
और कर्मसाधनो से व्युत्थान करने की आवश्यकता नहीं । सब का परित्याग करने पर अविहित
यज्ञोपवीतादि परित्याग की कल्पना ही जायगी और विहित यज्ञोपवीतादि का अभ्रहण ही जायगा ।
ऐसे मे विहितकर्मों के आचरण न करने से एव प्रतिषिद्धकर्मों के आचरण करने से महान् दोष ही
जायगा । इसलिए यज्ञोपवीतादि लिङ्गो को त्याग करना अन्धपरम्परा ही है ।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । “संन्यासो यज्ञोपवीत और वेद
सर्भो को छोड़ दे” ऐसा श्रुतिप्रमाण है । इसके अतिरिक्त सर्भो उपनिषदो का आत्मज्ञान विधिपरक

- १ अश्रुतम्—यज्ञोपवीतादे परित्यजन्म् । २ कृतम्—कल्पितम् । ३ तस्मात्—सबका यज्ञोपवीतादेः
परित्यागायोगात् । ४ आत्मज्ञानविधिपरत्वात् । ५ वृ० उ० ३।५।१ । ६ द्वयमिति—यज्ञोपवीतादे-
परित्याग द्वयमतीत्यर्थ । ७ संन्यासिनम् । ८ प्रब्रजेदिति—गृह्णादा वनादिति श्रुतिशेष । ९,
उपलम्भेऽपीति—सन्धासिद्धिवाक्ययतोत्तविधायन्यन्तरसत्त्वेऽपीत्यर्थ । १० प्रोढवादेनेति—तथा च वस्तुतो
व्युत्थायेति । न संन्यासविधायक प्रोढर्षेव सत्य विधिपरत्व साम्यत इति भाव । स्पष्ट चेतद्वातिके । ११
विधयन्यदानुपपत्ते । १२ आत्मज्ञानविधिपरत्वम् । १३ अपि चेत्पस्यार्यमाह—इत्येवेति । १४ आत्मज्ञान-
विधिबलादेव ।

साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तरोऽज्ञानायादिससारधर्मवर्जित इत्येवं विज्ञेय इति तावत्प्रसिद्धम् ।
 सर्वा हीयमुपनिषदेवपरेति विध्यन्तरशेषत्व तावन्नास्त्यतो नार्थवादः । आत्मज्ञानस्य
 कर्तव्यत्वात् । आत्मा चाज्ञानायादिधर्मवान्न भवतीति साधनफलविलक्षणो ज्ञातव्यः ।
 अतोऽव्यतिरेकेणाऽऽत्मनो ज्ञानमविद्या । "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति" "न स वेद" "मृत्योः
 स मृत्युमाप्नोति" "य इह नानेव पश्यति" "एकध्वानुद्रष्टव्यम्" "एकमेवाद्वितीयम्"
 "तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुतिभ्यः । क्रियाफलं साधनं चाज्ञानायादिसंसारधर्मतीतोदात्मनोऽन्य-
 देविद्याविषयम् । "यत्र हि द्वैतमिव भवति" "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति" "न स वेद"
 "अथ येऽन्यथाऽतो विदुः" इत्यादिवाक्यशतैः ।

आत्मेत्यादिना । अस्तु यथोक्त यस्तु विज्ञेयं तथाऽपि प्रस्तुते किं जातं तदाह—सर्वा हीति । ननु तस्य
 कर्तव्यत्वेऽपि कथं कर्मतत्साधनत्यागनिष्ठिरत आह—आत्मा चेति । 'विषयो दोषमाह—अत इति ।
 साधनफलान्तर्भूतत्वेनाऽऽत्मनो ज्ञानमविद्येत्यत्र प्रमाणमाह—अन्योऽसावित्यादिना । क्रियाकारकफल-
 विलक्षणस्याऽऽत्मनो ज्ञान कर्तव्यं "तत्सामर्थ्या माह्वयसाधनत्यागं सिध्यतीत्युक्तं सप्रत्यविद्याविषयत्वाच्च
 साध्यसाधनयोर्विद्यावता त्वाज्यतेत्याह—क्रियेति । "तस्याविद्याविषयत्वे श्रुतोऽहोहरति—यत्रेति ।

ज्ञानो प्रसिद्ध ही है । और आत्मा साक्षात्कार करने योग्य, श्रवण करने योग्य और मनन करन योग्य
 है " इस प्रकार आत्मस्वरूप प्रस्तुत किया गया है । उस आत्मा को ही साक्षात् अपरोक्ष, सर्वान्तर,
 क्षुधा-पिपासादि ससारी धर्मों से वर्जित जानना चाहिये—ऐसा प्रसिद्ध ही है । यह सम्पूर्ण बृहदारण्यक
 उपनिषत् भी आत्मज्ञानविधिपरक है यह किसी दूसरी विधि का शेषभूत नहीं है इससे अथवाद नहीं
 है क्योंकि यह आत्मज्ञान का सम्पादन करता है । आत्मा क्षुधा पिपासादि धर्मों वाला नहीं है, इनलिये
 उसे साधन और फल स विलक्षण ही समझना चाहिये । आत्मा का साधन फल के अन्धेरूप से जानना
 ही अविद्या है । यह आराध्यदेव भिन्न है और मैं उससे भिन्न है इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता
 की उपासना करता है, वह भजानी परमार्थतत्त्व को नहीं जानता", फिर भी जो इसमें नाना के समान
 देखता है वह मरण से मरण को प्राप्त करता है अर्थात् भजान के कारण ही उसे बार-बार मरना पड़ता
 है", आचार्योपदेश के बाद उस यज्ञ को (आराध के समान अन्तर-बाह्यशून्य) एकमात्र (विज्ञानधररूप
 से ही) देखना चाहिये", (मजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था", "(वह
 सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो ।) वही तू है" इत्यादि श्रुतियाँ इसम प्रमाण हैं । कमफल
 और उसके साधन तो क्षुधा पिपासादि सामारिक धर्मों से अतीत आत्मा से भिन्न अविद्या के कार्य हैं ।
 जिस अविद्याविस्थां म (परमायन द्द्वैत गृह्य म) द्वैत सा प्रतीत होता है", वह आराध्यदेव
 भिन्न है और मैं उससे भिन्न है, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है वह भजानी

१ प्रसिद्धमिति—आत्मनो वा अरे दानेन श्रवणन मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विदितमिति वाक्यशप प्रसिद्धमित्यर्थ ।
 २ आत्मज्ञानविधिपरा । ३ मपाद्यत्वात् । ४ साधनफलतोऽभेदेनत्यय । ५ वृ० उ० १।४।१० ।
 ६ कायम् । ७ वृ० उ० २।४।१५ । ८ सर्वोपनिषदात्मज्ञानपरेत्यत्र किमायातम् । ९ विपशा—
 साधनकेवन्तर्भूतत्वे नात्मनो ज्ञाने । १० तत्सामर्थ्यात्—आत्मज्ञानविधिबलात् । ११ तस्य—आत्मनो
 भिन्नस्य साध्यसाधनारमकस्य वस्तुन इत्यर्थ ।

। न च विद्याविद्ये एकस्य पुरुषस्य सह भवतो विरोधात्तमः प्रकाशाविव । तस्मादात्मविदोऽविद्याविषयोऽधिकारो न द्रष्टव्यः क्रियाकारकफलभेदरूपः । "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" इत्यादि निन्दितत्वात् । सर्वक्रियासाधनफलानां चाविद्याविषयाणां तद्विपरीतात्मविद्यया हातव्यत्वेनेष्टत्वात् । यज्ञोपवीतादिसाधनानां च तद्विषयत्वात् । तस्मादसाधनफलस्वभावादात्मनोऽन्यविषया विलक्षणपणा । उभे ह्येते साधनफले एषणे एव भवतः । यज्ञोपवीतादेस्तत्साध्यकर्मणां च साधनत्वात् । उभे ह्येते एषणे एवेति हेतुवचनेनावधारणात् । यज्ञोपवीतादिसाधनान्तत्साध्येभ्यश्च कर्मभ्योऽविद्याविषयत्वादेयणारूपत्वाच्च जिहासितव्यरूपत्वाच्च व्युत्थानं विधित्सितमेव ।

अविद्याविषयत्वेऽपि साधनादि 'विद्यावत् एव भविष्यति विद्याविद्ययोरेस्मदाविषु साहित्योपलम्भादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । विद्याविद्ययोः साहित्यासंभवे फलितमाह—तस्मादिति । इतश्च प्रयोजकज्ञानवताः साध्यसाधनभेदो न द्रष्टव्यो 'विवक्षिततत्त्वसाक्षात्कारविरोधित्वादित्याह—सर्वेति । भवत्वविद्याविषयाणां विद्यावत्स्यागस्तथाऽपि कुतो यज्ञोपवीतादीनां त्यागस्तत्राऽऽह—यज्ञोपवीतादीति । तद्विषयत्वादित्यत्र तच्छब्दोऽविद्याविषयः । एषणात्वाच्च यज्ञोपवीतादीनां त्यागस्तत्त्याह—तस्मादिति । ज्ञेयत्वेन प्रस्तुतादिति यावत् । साध्यसाधनविषया 'तदात्मिकपणा त्वाज्येत्यत्र हेतुमाह—विलक्षणेति । 'पुढवायोरूपाद्विपरीता सा हेतुत्यर्थः । साध्यसाधनयोरेषणात्वं साधयति—उभे हीति । तत्राऽपि यज्ञोपवीतादीनां कर्मणां च कयमेवणात्त्वमित्याशङ्क्या साधनान्तर्भावादित्याह—यज्ञोपवीतादेरिति । "तयोरेषणात्वं कथं प्रतिज्ञामात्रेण सेतस्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—उभे हीति । तयोरेषणात्वे सिद्धे फलितमाह—यज्ञोपवीतादिति ।

परमार्थतत्त्व को नहीं जानता", "पर जो इस प्रकार से नहीं जानते, वे अन्य शासकों के अधीन होने से अन्याय होते हैं" इत्यादि संकडों श्रुतिवाक्य इसमें प्रमाण हैं ।

इसके अतिरिक्त एक ही पुरुष में विद्या और अविद्या दोनों नहीं रह सकती क्योंकि अन्धकार और प्रकाश के समान उन दोनों में परस्पर विरोध है । विद्या और अविद्या का एकनाथ रहना असंभव होने से आत्मवेत्ता में क्रिया, कारक और फल का भेदरूप अविद्याविषयक फलाधिपत्याख्य अंधकार नहीं देखना चाहिये क्योंकि "वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है" इस श्रुति से उसकी निन्दा की गई है । तथा अविद्या के विषयभूत सम्पूर्ण क्रिया, साधन और फल उससे विपरीत आत्मविद्या द्वारा परित्याजरूप से अग्नीष्ट है । एवं यज्ञोपवीतादि साधन भी उसके विषय है । इसलिए जो साधन-फल स्वभाव रहित है; उस आत्मा से एषणा भिन्नविषयिणी एवं विलक्षण है । ये साधन और फल दोनों एषणाएँ ही हैं । यज्ञोपवीतादि और उनसे साध्य कर्म भी साधन ही हैं । "ये दोनों साध्य और साधन एषणाएँ ही हैं" इस हेतुसूत्रक वाक्य से यही निश्चित होता है । इसलिये यज्ञोपवीतादि साधन और

१. विद्याविद्ययोः साहित्यासंभवात् ।
२. फलाधिपत्याख्यः ।
३. तद्विपरीतेति—क्रियाकारकफलादिविपरीतो य आत्मा तद्विपरीतेति यावत् ।
४. हेतुवचनेनेति—शुद्धविदो नास्ति कर्म तत्साधनमित्यत्र हेतुप्रदसंकेन उभे हीति वाक्येनेत्यर्थः ।
५. कर्मभ्यो व्युत्थानमित्यन्वयः ।
६. विद्विद्विद्वेव ।
७. अभिमतेति भावः ।
८. साध्यसाधनात्मिका ।
९. आत्मनः ।
१०. साध्यसाधनयोः ।

ननुपनिषद 'आत्मज्ञानपरत्वाद्ब्रह्मव्युत्थानेश्रुतिस्तत्स्तुत्यर्थं न विधिः । न । विधित्सितविज्ञानेन समानकर्तृ कर्त्वश्रवणात् । न ह्यकर्तृव्येन कर्तव्यस्य समानकर्तृ कत्वेन वेदे कदाचिदपि 'श्रवणं संभवति । कर्तव्यानामेव ह्यभिषवहोमभक्षणानां यथा श्रवणम-
भिषुत्य हुत्वा 'भक्षयन्तीति' तद्वदात्मज्ञानैरण्यव्युत्थानभिक्षाचर्याणां कर्तव्यानामेव समानकर्तृ कर्त्वश्रवणं भवेत् ।

अविद्याविषयत्वादेयणात्वाच्चार्थप्राप्त आत्मज्ञानविधिरेव यज्ञोपवीतादिपरित्यागो न तु विधातव्य इति चेन्न । सुतरामात्मज्ञानविधिर्नैव 'विहितस्य समानकर्तृ कर्त्वश्रवणो'

'आत्मज्ञानविधिरेव सन्यासविधिरित्युक्तत्वाद्यव्युत्थायेत्यस्य नास्ति विधिरिति शङ्कते—
नन्विति । व्युत्थाय विदित्वेति' पाठक्रममतिक्रम्य व्याख्यानं भवत्येवाय विविदिषोविधिरिति परिहरति
—न विधिरिति । पाठक्रमेऽपि प्रयोजकज्ञानवतो विरक्तस्य भवत्येवाय विधिरित्यभिप्रेत्याह—न
हीति । 'उक्तमेवाश्रयमुखेनोदाहरणद्वारा विवृणोति—कर्तव्यानामिति । अभिषुत्य सोमस्य ऋण्डनं कृत्वा
रसमादायेत्यर्थः' ।

पाठक्रममेवाऽऽश्रित्य शङ्कते—अविद्येति । प्रयोजकज्ञानवतो विरक्तस्याऽऽत्मज्ञानविधिसा-
म्यत्वं लब्धस्य यज्ञोपवीतादिस्वागमस्य कर्तव्यात्मज्ञानेन समानकर्तृ कर्त्वश्रवणादतिशयेनाऽऽवश्यकर्त्व-
सिद्धिरित्युत्तरमाह—न सुतरामिति । व्युत्थाने 'दक्षितं न्याय भिक्षाचर्येऽप्यतिदिशति—त्येति ।
भिक्षाचर्यस्य चाऽऽत्मज्ञानविधिर्नैव कदाच्यस्य 'तयैव दाढ्योऽपत्तिरिति सबन्ध । व्युत्थानादिव्याप्य-

उससे साध्य कर्मों से व्युत्थान का विधान करना इच्छा ही है क्योंकि वे अविद्या के विषय एवं एषणारूप
हैं और इनका त्याग करना ही अभीष्ट है ।

(इम पर पूर्वपक्षी कहता है—) किन्तु उपनिषद्वाक्य तो आत्मज्ञान का विधान करने वाले
हैं, इसलिये व्युत्थान-श्रुतिवाक्य स्तुति के लिये है, विधान के लिए नहीं है । (इस पर सिद्धान्ती कहता
है—) विधान करने की इच्छा वाले विज्ञान का एक ही कर्ता है—ऐसा श्रुति में श्रवण होता है । वेद
में अकर्तव्य के साथ कर्तव्य का समानकर्तृत्व श्रवण होना किसी तरह भी संभव नहीं है । अभिषव
हुतशेष भक्षण कर्तव्यों का आत्मज्ञान, एषणाव्युत्थान व भिक्षाटनरूप कर्तव्यों की तरह ही समानकर्तृत्व
श्रवण होगा, जैसे अभिषव कर हुतशेष भक्षण करते हैं ।

यदि कहो कि अविद्या का विषय और एषणात्वरूप होने से यज्ञोपवीतादि का परित्याग तो
आत्मज्ञान की विधि से अर्थ ही प्राप्त है, उसके लिए विधान करने की आवश्यकता नहीं है—ऐसा
कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मज्ञानविधि से ही प्राप्त समानकर्तृ कर्त्व श्रवण से यज्ञोपवीतादि त्याग
की जिस प्रकार दृढतापूर्वक पुष्टि हो जाती है उसी प्रकार भिक्षाटन की भी पुष्टि हो जाती है । तथा
जो ऐसा कहा कि वर्तमानकालिक प्रयोग होने से व्युत्थानादिव्याप्य अर्थवाद मात्र ही है, ऐसा कहना

१. आत्मज्ञानविषयकत्वात् । २. भक्षयन्ति हुतशेषमिति भाव । ३. लब्धस्य । ४. यज्ञोपवीतादि-
त्यागस्य । ५. आत्मज्ञानविध्य-नवानुपपत्त्यति यावत् । ६. अपि चत्यादिभाष्येण । ७. इति व्याख्यानं
इत्यन्वय । ८. उक्तमेविति—वदे कर्तव्याश्रयव्ययः समानकर्तृ कत्वेन श्रवणाभावेमेवेत्यर्थः ।

इति सर्वकर्मभावं दर्शयति स्मृतिविद्युपः । विद्वान् लिङ्गवर्जितस्तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञ इति च । तस्मात्परमहंसपारिव्राज्यमेव व्युत्थानलक्षण प्रतिपद्येताऽऽत्मवित्सर्वकर्मसाधनपरित्यागरूपमिति ।

यस्मात्पूर्वं ब्राह्मणा एतमात्मानमसाधनफलस्वभावं विदित्वा सर्वस्मात्साधनफलस्वरूपपापेपणालक्षणाद्व्युत्थाय निष्काचर्यं चरन्ति स्म । दृष्टादृष्टार्थं कर्म तत्साधनं च हित्वा । तस्माद्दृष्ट्वेऽपि ब्राह्मणो ब्रह्मवित्पाण्डित्यं पण्डितभावमेतदात्मविज्ञानं पाण्डित्यं निर्विद्य निःशेषं विदित्वाऽऽत्मविज्ञानं निरवशेषं कृत्वेत्यर्थः । आचार्यतं प्राग-

स्वासभवाग्न्युत्पत्तिरब्राह्मणवियम् "व्युत्थानवाक्पमित्युपसंहरति—तस्मादिति । इतिशब्दो व्युत्थानवाक्प-व्याख्यानसमाप्त्यर्थः ।

तस्मादित्यादिवाक्यमवतार्यं व्याचष्टे—यस्मादित्यादिना । उक्तमेव व्युत्थानं स्पष्टयति—दृष्टेति । विवेकवराग्यान्यामेपणाम्यो व्युत्थाय श्रुत्याचार्याभ्यां "कर्तव्यं ज्ञान नि शेष कृत्वा बाल्येन

स्मृति विद्वान् के लिए सभी कर्मों का भ्रभाव दिखलाती है । इसी प्रकार "विद्वान् लिङ्गवर्जित होता है", "इसलिए वह लिङ्ग से रहित एक धर्मज्ञ होता है" इत्यादि वचन भी यही प्रवर्णित करते हैं । इसलिए ब्रह्मवित को सम्पूर्ण कर्मसाधनों के परित्यागरूप व्युत्थानलक्षण परमहंस पारिव्राज्य धर्म का ही आश्रय लेना चाहिये ।

क्योंकि पूर्ववर्ती ब्रह्मज्ञानी इस साध्य-साधनविलक्षणस्वरूप आत्मा को जानकर एपणाश्रयलक्षण साधन और फलरूप समस्त विषयों से व्युत्थान करके अर्थात् दृष्ट और द्रष्टव्य यानी ऐहलौकिक और पारलौकिक फल वाले समस्त कर्मों और उनके साधनों को छोड़कर भिक्षाचरण करते थे । इसलिये

- १ टीकोक्तार्थम् । २ साध्यसाधनविलक्षणस्वरूपम् । ३ कुवति । ४ दृष्टेस्वादि—ऐहलौकिक-पारलौकिकफलकमित्यर्थः । ५ वर्तमानकालेऽपि । ६ आपातब्रह्मदर्शी । ७ एतदात्मानविज्ञानमिति—एतस्य समीपतदवतिन प्रतीचो विशिष्ट ज्ञानमित्यर्थः । अधीतसाङ्गस्वाध्यायस्य तत्त्वमादिपदश्रवणे तच्छक्ति-प्रहे प्रथम पदाश्रयान तत समानाधिकृतपदाध्यायाना विशेषणविशेष्यत्वेन सन्नन्वततो विरोधस्फूर्तो विरुद्धाशय कर्तृत्वादेर्वेदस्तिरित्य पदसामर्थ्यादथत्रयज्ञानानन्तर वाक्यस्य स्वायभाधन तात्पर्यनिर्धारणमिति ब्रह्मदत्तनि वेदान्ताना शक्तितात्पर्यनिर्देशरूप चतुर्विध ज्ञान श्रवणास्य पाण्डित्यमिति यावत् । उदुक्त वार्तिके—'पदाधिपयति पूर्वं ततस्तदभिपसयति । विरुद्धार्थं ह्युति पश्चात्ततो ज्ञानपाश्रवोधनमिति" ॥ ११६ ॥ कथं चतुर्विध ज्ञान पाण्डित्यमप्राचिद्विरिवाशङ्क्य पाण्डित्यशब्दस्य प्रकृतिप्रत्ययभेदेनार्थश्चोक्तस्तथाहि वार्तिके—'पण्डति दुग्धिर्नामतेत्सा जाता यस्य मानत । त पण्डितमिति प्राहु साधन श्रुत्या नियुज्यते । यत्पण्डितस्य कम स्वात् तत्पाण्डित्य प्रथमतः" ॥ १७३-७४ ॥ इति । अधीतवदगतस्य मुमुक्षोरत्तस्माद्दुत्पन्न विनाश्रयोजक ज्ञान पण्डा साध्य जातेति पण्डितस्तस्य कम पाण्डित्य यथावत् चतुर्विध ज्ञान तत्र प्रयोजकज्ञानी तस्मादितिश्रुत्या नियुज्यते । अनेत्यस्वार्थमाह—यदिति । ८ यथोक्तं चतुर्विधज्ञानम् । ९ निरवशेषमिति वार्तिके—'एहिकथन नीत्वाञ्च निष्ठा पाण्डित्यलक्षणांमिति" ॥ १७० ॥ चतुर्विधज्ञानरूपां निरवशेषेन स्थिति क्रमेण कृत्वा स्थितस्थाधिकारिणोऽनन्तर बाल्य कर्तुं सामर्थ्यं भवतीति तदर्थः । १० प्रकृतव्युत्थानवाक्पमिति भावः । ११ कर्तव्यं ज्ञानम्—उक्तं चतुर्विध ज्ञान श्रवणाख्यम् ।

मतश्चैपराम्भो व्युत्थाय । 'एषणाव्युत्थानावसानमेव हि तत्पाण्डित्यम् । एषणातिर-
स्कारोद्भवत्वादेपणाविरुद्धत्वात् । 'एषणामतिरस्कृत्य न ह्यात्मविषयस्य पाण्डित्यस्योद्भव
'इत्यात्मज्ञानेनैव विहितमेपणाव्युत्थानम् । आत्मज्ञानसमानकर्तृ कवत्वाप्रत्ययोपादानलिङ्ग-
श्रुत्या दृढीकृतम् ।

तस्मादेपराम्भो व्युत्थाय 'ज्ञानबलभावेन बाल्येन तिष्ठासेत्स्यातुमिच्छेत् ।

तिष्ठासेदिति व्यवहितेन संबन्धः । पाण्डित्यं निविद्येत्यनेनैव व्युत्थानं विहितमित्याह—एषणेति । 'तद्धि
पाण्डित्यमेपणाम्भो व्युत्थानस्यावसाने' संभवति "तदत्र" व्युत्थानविधिरित्यर्थः । "तदेव स्फुटयति—
एषणेत्यादिना । "तासां तिरस्कारेण पाण्डित्यमुद्भवति "तस्यैपणाम्भो विरुद्धत्वात्तथा" च पाण्डित्यं
निविद्येत्यत्र" "ताम्भो व्युत्थानविधानमुचितमित्यर्थः । विनाऽपि व्युत्थान पाण्डित्यमुद्भवित्यतीति
चेन्नेत्याह—न हीति । पाण्डित्यं निविद्येत्यत्र व्युत्थानविधिमुक्तमुपसंहरति—इत्यात्मज्ञानेति । "तहि
किमिति विदित्वा व्युत्थायैतद्यत्र व्युत्थाने विधिरम्बुपगतस्तत्राऽऽह—आत्मज्ञानेति । "तेन व्युत्थानस्य
समानकर्तृ कत्वे क्त्वाप्रत्ययस्योपादानमेव "लिङ्गभूता" श्रुतिस्तथा दृढीकृतं नियमेन प्रापितं व्युत्थान-
मित्यर्थः ।

बाल्येनेत्यादि वाक्यमुत्थाप्य व्याकरोति—तस्मादिति । "विवेकादिवशादेपणाम्भो व्युत्थाय
पाण्डित्यं संपाद्य तस्मात्"शाण्डिल्याज्ज्ञानबलभावेन स्यातुमिच्छेदिति योजना । केयं ज्ञानबलभावेन

वर्तमानकाल मे भो "ब्राह्मण." अर्थात् आपात् ब्रह्मज्ञानी, "पाण्डित्य" यानो पण्डितभाव को "यह आत्म-
ज्ञान ही पाण्डित्य है" इसे "निविद्य" यानी निविशेषरूप मे जानकर चतुर्विध आत्मज्ञान को निश्चय-
पूर्वक स्थिति करके आचाय और शास्त्र से पूर्णतया आत्मज्ञान सम्पादन करके एषणाओ से व्युत्थान
कर, क्योंकि यथोक्त पाण्डित्य एषणाव्युत्थान के अनन्तर ही संभव है । वह एषणाओ के तिरस्कार से
उत्पन्न होता है और एषणा के विरुद्ध भी है । एषणाओ वा तिरस्कार किये बिना आत्मविषयक पाण्डित्य
का उदय ही नहीं हो सकता । इसलिये उक्त चतुर्विध आत्मज्ञान से ही एषणात्रय का व्युत्थान संभव
है । आत्मज्ञान और व्युत्थान का एक ही कर्ता है—यह "व्युत्थाय" पद मे "क्त्वा" प्रत्यय के प्रयोग से
लिङ्गभूता श्रुति से दृढ कर दिया है ।

इसलिये विवेकादि के वश से एषणाओ का उत्थान करके श्रवणाख्यजन्य मननबलरूप

१. एषणाव्युत्थानानन्तरभाष्येव । २ यथोक्तम् । ३ अत्र टीकापुरोधाद्य ह्येषणमित्यादि पाठ उचितो
भाति । ४ पाण्डित्यशब्दनीलकण्ठविद्यारम्भज्ञानेनाऽपीत्यर्थः । ५ विवेकादिवशात् । ६ ज्ञानबलभावेनेति
—यथोक्तपदार्थादिविषय ज्ञान श्रवणाख्य तज्जन्यबलेन मननेनेति यावत् । ७ अपि सत्यासः । ८ निरुक्त
चतुर्विधज्ञानरूप श्रवणाख्यम् । ९ समाप्तो पूर्तो परकाष्ठाप्राप्तो । १०. तस्मात् । ११. वाक्ये ।
१२ उक्तव्युत्थानविधानमेव । १३. एषणानाम् । १४. पाण्डित्यस्य । १५ तस्य ततो विरुद्धत्वे च ।
१६ वाक्य । १७ एषणाम् । १८. यथाश्रुतमेवकारण्यमादाय शङ्कते—तर्हीति । पाण्डित्य निविद्येत्यत्र
व्युत्थानविधानाभ्युपगम इत्यर्थः । १९. तत्र—पाण्डित्यशब्दितन निरुक्तचतुर्विधारम्भज्ञानेन । २०. जापक-
रूपा । २१. क्त्वाप्रत्ययरूपा श्रुति । २२. विवेकादिसाधनचतुष्टयबलात् । २३. यथोक्तपाण्डित्य-
संपत्तेरनन्तरम् ।

'साधनफलाश्रयणं हि बलमितरेषामनात्मविदाम् । तद्वलं हित्वा विद्वानसाधनफलस्वरूपा-
त्मविज्ञानमेव बलं तद्भावेन केवलमाश्रयेत् । तदाश्रयणे हि करणान्येषणा विषय 'एनं
हृत्वा स्थापयितुं नोत्सहन्ते । ज्ञानबलहीनं हि 'मूढं दृष्टादृष्टविषयायामेयणायामेवैवं
करणानि नियोजयन्ति । बल नामाऽऽत्मविद्ययाऽऽश्रयविषयदृष्टितिरस्करणम् । अतस्त-
द्भावेन बाल्येन तिष्ठासेत् । तथा "आत्मना विन्दते वीर्यम्" इति श्रुत्यन्तरात् ।
"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति च ।

स्त्यतिरित्याशङ्क्य तां व्युत्पादयति—साधनेत्यादिना । 'विद्वानिति विवेकित्वोक्तिः । यथोक्तबल-
भावावष्टम्भे करणानां विषयपारवश्यनिवृत्त्या पुरुषस्यापि तत्पारवश्यनिवृत्तिः फलतोत्याह—तदाश्रयणे
हीति । "उक्तमेवार्थं व्यतिरेकमुखेन(ए) विशदयति—ज्ञानबलेति । नन्वद्यापि ज्ञानस्य बलं कीदृगिति
न ज्ञायते तत्राऽऽह—बल नामेति । बाल्यवाक्यार्थमुपसंहरति—अत इति । यथा ज्ञानबलेन विषयाभि-
मुखी दृष्टिस्तिरस्क्रियते तथेति यावत् । आत्मना तद्विज्ञानातिशयेनेत्यर्थः । धीर्यं विषयदृष्टितिरस्करण-
सामर्थ्यमित्येतत् । बलहीनेन विषयदृष्टितिरस्करणसामर्थ्यरहितेनायमात्मा न लभ्यो न शक्यः
साक्षात्कर्तुमित्यर्थः ।

बाल्य से "तिष्ठासेत्" अर्थात् स्थित रहने की इच्छा करे । दूसरे जो अनात्मज्ञ हैं, उन का बल तो
कर्मादि साधन से पुत्र-स्वर्गादि फलो का आश्रयण करना ही है । उस बल को त्याग कर विद्वान् को जो
प्रसाधनफलस्वरूप आत्मविज्ञान ही बल है, उस बलभाव का ही केवल आश्रय लेना चाहिये । उसके
आश्रयण से इन्द्रियाँ इस पुरुष को मोहित करके एषणाओं के विषय में भुक्ताने का उत्साह नहीं कर
सकती । जो ज्ञानबल से युक्त नहीं है, उस अविवेकी को ही इन्द्रियाँ दृष्ट और अदृष्ट विषयों की एषणा
में लगा देती है । ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान द्वारा समस्त विषयदृष्टि का तिरस्कार कर देना ही बल है ।
इसलिये (बल के उक्तस्वरूप बाला होने से) पदार्थादिज्ञान बलभाव से बाल्यरूप में अवस्थित रहने की
इच्छा करे । "(अमरत्व नित्य आत्मस्वरूप से ही प्राप्त होता है) ब्रह्माकार वृत्तिरूप से तो आवरण
निवृत्त करने का सामर्थ्यमात्र मिलता है" ऐसा केनोपनिषत् में कहा है । इसी प्रकार मुण्डकश्रुति

१ साधनफलाश्रयणमिति—साधन कर्मादि फल पुत्रस्वर्गादि तदाश्रयणमित्यर्थ । २ विषय इति सप्तम्यन्तम् ।
३ पुरुषम् । ४ अविवेकिनम् । ५ अत इति—बलस्योक्तस्वरूपात् । तद्भावेन उत्तपदार्थादिज्ञानबल-
भावेनेत्यर्थः । ननु बाल्य हि बालस्य कर्म तिष्ठन्मुत्रत्वादि तत्कथं पदार्थादिज्ञानबलभावे बाल्यपद प्रयुक्तमित्याशङ्क्य
समाहितं वातिके—... कृत्स्नाऽनारमभियो ह्युति ॥ बाल्यशब्दाभिधेया स्यात्...॥१७५-७६॥ भवति हि
बलभावो बाल्यमती यथोक्तज्ञानबलरूपा सर्वानारमधीष्वस्तिर्मुक्त्यधीना बाल्यमुच्यते इत्यर्थः । आबिष्कुर्वदिति—
यथा बालोऽप्रकृष्टेन्द्रियतया न परेष्वत्मानमाविष्कर्तुमीहते तथा ज्ञानध्यानाध्ययनाभ्यापनपार्थक्यादिभिरप-
त्मानमविष्कृत्वापयन् दम्भपदादिदहितं स्यात्तुमिच्छेदिति बाल्येन तिष्ठासेदित्यस्यार्थः । कुतोऽन्वयात् अथ वाच्यस्य
विद्याज्ञानव्यस्यैव सम्भवादित्यर्थः । ६ ब्रह्मवित्वोक्तिभ्रान्तिमपनुदति—विद्वान्तीति । ७ ज्ञानबलातिशय
करणानियोग्यस्वरूपमर्थम् ।

बाल्यं च पाण्डित्यं च निविद्य निःशेषं कृत्वाऽय मननान्मुनिर्योगी भवति । एतावद्धि ब्राह्मणेन कर्तव्यं यदुत सर्वानात्मप्रत्ययैतिरस्करणमेतत्कृत्वा कृतकृत्यो योगी भवति । अमीनं चाऽऽत्मज्ञानानात्मप्रत्ययैतिरस्कारो पाण्डित्यबाल्यसंज्ञकौ निःशेषं कृत्वा मीनं नामानात्मप्रत्ययैतिरस्करणस्य पर्यवसानं फलं तच्च निविद्याथ ब्राह्मणः कृतकृत्यो भवति । ब्रह्मैव सर्वमिति प्रत्यय उपजायते । स ब्राह्मणः कृतकृत्योऽतो ब्राह्मणः ।

111

बाल्य चेत्यादि वाक्यमादाय व्याचष्टे—बाल्य चेति । 'पूर्वोक्तयोस्तत्र हेतुत्वद्योतनार्थोऽयंशब्द' । 'तदेवोपपादयति—एतावद्धेति । वाक्यान्तरमुत्पाप्य व्याकरोति—अमीनं चेत्यादिना । "मीनामीनयोर्ब्राह्मण्य प्रति सामप्रोत्थद्योतकोऽयंशब्द । ब्राह्मण्यमुपपादयति—ब्रह्मैवेति । आचार्यपरिचर्यापूर्वकं वेदान्तानां तात्पर्यावधारणं पाण्डित्यम् । मुक्तितोऽनात्मदृष्टितिरस्कारो बाल्यम् । 'ब्रह्मात्मा परं ब्रह्म न भक्तोऽन्यदस्ति किंचन' इति मनसंवाप्तुसंधानं मीनम् । 'महावाक्यार्थविगतिर्ब्राह्मण्यमिति विभाग ।

प्रतिपादन करती है 'यह आत्मा आत्मनिष्ठाजनिन शक्ति से हीन पुरुष द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है' इत्यादि ।

" इस प्रकार बाल्य और पाण्डित्य को "निविद्य" अर्थात् पूर्णरूप से प्राप्त कर के पुनः मनन करने से वह "मुनि" अर्थात् योगी होता है । सर्व अन्यात्मप्रत्ययो की उपेक्षा करना ही ब्रह्मज्ञानी का कर्तव्य है । ऐसा करके योगी कृताथ हो जाता है । "अमीनम्" अर्थात् श्रवणमननरूप आत्मज्ञान और अन्यात्मप्रत्ययपरित्याग जिनकी पाण्डित्य और बाल्य संज्ञा है, उसको पूर्णरूप से प्राप्त करके "मीनम्" अर्थात् अन्यात्मप्रत्यया की उपेक्षा का पर्यवसान जो फल है, उसका प्राप्त करके फिर वह ब्रह्मवेत्ता कृताथ हो जाता है । 'ब्रह्म ही यह सब कुछ है' ऐसा निश्चय जिसको हो जाता है, वही ब्राह्मण कृतकृत्य होता है, इसलिए वह ब्रह्मवेत्ता है ।

१ निविद्यासनशील । २ मननम् । ३ श्रवणमनने इत्यर्थं । ४ मननस्य । ५ निर्वर्त्यं । ६ अथ ब्राह्मण इत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाहुर्वातिने—'कथं ब्राह्मण इत्युक्त्या फलावस्थाऽस्य भण्यते । भेदसमर्प-हीनोऽयं स्वमहिम्नि व्यवस्थित ॥ साक्षादित्यादिरूपोऽयं ब्रह्म ब्राह्मण उच्यते । इमामवस्थां तत्राप्य सर्वो ब्राह्मण उच्यते ॥ ब्राह्मण्यं गौणमप्यत्र पूर्वं भूमिषु गच्छन्तः' ॥१६०-६१॥ इति । अस्य विदुषः । काऽपी फलावस्था सामाह—भेदेति । तत्त्वसाक्षात्कारानन्तरं फलावस्थाया अवतुमप्यशब्द । जातिविषयो ब्राह्मणशब्द । कथमस्यां फलावस्थायां प्रयुज्यतस्ति हि धर्तृयादेरपि ज्ञानिनो द्योत्ता फलावस्था तत्राऽऽह—इमामिति । ज्ञानवति भुवते तद्रहिते च बद्धे कथमको ब्राह्मणशब्द सत्या तदादेवस्यानेवायत्वायोगादित्याद्युक्त्वाऽऽह—ब्राह्मण्यमिति । ज्ञानहीनेषु ब्रह्मचर्यादियु स्थित ब्राह्मणत्व गौणा ब्राह्मणशब्द परमहसपरिभाजके ज्ञानिनि भुक्ते मुख्योऽतो नैकस्यानेकायता शक्तिभेदाभावादित्यर्थं । ७ यस्य । ८ अत इति—ब्राह्मण्यस्योत्पत्त्यवरूपत्वात् साह्य ब्राह्मण इत्यत्रयो भवतीति योजना । ९ पूर्वोक्तयो—पाण्डित्यबाल्ययो । उत्तरच—मीने । १० हेतुत्वमेव । ११ मीन निविद्यासनम् । अमीन श्रवणमनने । १२ अक्षेण्ड्रब्रह्मसाक्षात्कारेण तदात्मनाऽवस्थिति ।

निरूपचरित हि 'तदा 'तस्य ब्राह्मण्यं प्राप्तमत 'ब्राह्— ऋस ब्राह्मणः केन स्यात्केन' चरणेन भवेद्येन स्याद्येन चरणेन' भवेत्तेनेदृश एवायम् । येन केनचिन्नरणेन स्यात्तेनेदृश

'प्रागपि प्रसिद्ध ब्राह्मण्यमिति चेत्तत्राऽऽह—निरूपचरितमिति । ब्रह्मविव 'समाचार पृच्छति—स इति । अनियत तस्य चरणमित्युत्तरमाह—येनेति । उक्तलक्षणत्व कृतकृत्यत्वम् । अव्यवस्थित

वह विद्वान् फलावस्था म निरूपचरित ब्राह्मणत्व की प्राप्ति करता है । इसीलिए कहा जाता है—'स ब्राह्मण केन स्यात्' अर्थात् वह ब्राह्मण किस आचरण से युक्त होकर ब्राह्मण हो सकता है । 'येन' अर्थात् जिस आचरण से भी युक्त हो, 'तेनेदृश एव' अर्थात् वह इस प्रकार ही होगा । तात्पर्य

१ फलावस्थायाम् । २ विदुषु । ३ आहृत्यस्य अथ ब्राह्मण इति पूर्वत्र सबन्ध । ४ केन चरणेन भवेदिति—केन आचरणेन युक्त स ज्ञातो भवेदित्यर्थ । यस्मिन्सति ब्राह्मणे यस्मिन्सत्सति न तादृशतस्य लक्षण किमिति भावः । ५ युक्त । ६ ब्राह्मणव्यक्तावुक्तावगतित प्रागपीत्यर्थ । ७ आचारात्मकलक्षणम् ।

- ऋषिब्राह्मणवार्तिकाचार्यास्तथाहि—'केनाथ ब्राह्मण स स्यादिति प्रश्नमपृच्छत । उक्तोपायातिरेकेण पृच्छयते साधनान्तरम् ॥ मन्नादिलक्षण तावत्पारपर्येण साधनम् । निर्जातमागमात्समाप्तपृच्छयते साधनान्तरम् ॥ चतुर्णां कतमेनेति न तु प्रश्नोऽत्र युज्यते ॥ क्ववत्याश्रममादाय ब्राह्मणस्य समाप्तित ॥ न चाऽऽश्रमन्तरमुक्त मुनेर्व्युत्पायिन सत । कृताथस्याहृताथस्य तस्य नैवाऽऽश्रमन्तरम् ॥ प्रश्नोऽपि साधनज्ञप्यै ब्राह्मणस्येह पृच्छयते । किसाधनो ब्राह्मण स्यादिति साधनमुच्यताम् ॥ प्रश्नप्रतिवचस्तेन ब्राह्मण स्याद्यथोदित । येनाववाप्तज्ञानोऽपि भवेदीदृश एव ना ॥ उक्तब्राह्मणसादृश्य सर्वकमनिरासत । नैकम्यसाधनेनैव ब्राह्मण स्याद्यथोदित ॥ इत्येपोऽर्थो विधेयोऽत्र येनेति वचसा श्रुते । स्मृतयोऽपीममेवार्थे तत्र तत्र प्रचक्षते ॥ लोकेऽस्मिन्निविधा निष्ठा पुरा प्राप्ता मयाऽन्यथ । ज्ञानयोगेन साख्याना कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ इमौ द्वावेव पन्थावौ कमतरयागलक्षणौ ॥ सजातीयाद्भिर्नष्कान्नावनुक्रा ततराविमौ ॥ स यथा एव तान्या च विशेषेणातिवचते । तथा किं प्रजयेत्पदि पन्था कमत्वजा श्रुत ॥ ब्रह्मचर्याश्रमादेव प्रबजेदिति श्रूयते । स यासमेव ब्रुवत मुक्तये सवकर्मणाम् ॥ श्रुतय स्मृतयश्चोच्चै शुद्ध यायसमाश्रयात् । सर्वैरमनिगातन ब्राह्मण्य लभत तत । केनेति यदि वाऽऽक्षेप उत्पत्त्यादेर-सम्भवात् । साधनानामिदृशैकात्म्य तथाच प्रागवादिपम् ॥ साधनेनैतदकार्म्य धन येन चिकीर्ष्यते । तेन तनेदृशेवाऽऽत्मा नातिशीतिर्मनायपि ॥ अथवा लक्षणोक्ति स्याद्यथोक्तब्रह्मवदिन । यन्तरेव चिह्नं न ब्राह्मणस्तन लक्ष्यताम् ॥ देहेन्द्रियमनोबुद्धिधमनिर्बोऽश्रयवतत । प्रत्यर्गैकात्म्यसंबोधात्तदभैलक्ष्यते कथम् ॥ सबससारभावोऽस्य न यथा लक्षण तथा । सर्वभावावोऽपि नैव स्यात्त्वलक्षण ब्रह्मवेदिन ॥ वेदान्तुरोभतो यस्मात्तद्विवो न्यायलक्षणम् । भावाभावद्वयध्वसि ब्रह्म वेच च तद्विद ॥ येनेदृशेव तेनेति तस्मादाह श्रुति स्फुटम् । मुमुक्षोलक्षण तादृशधृद्धाना यच्चबुक्त् ॥ सुपुत्तेऽप्यतिमूढस्य सबससारनिहृति । गम्यते लक्षण तादृशेन चातो ब्रह्मविन्मत ॥ आत्मनो ब्रह्मतत्त्वोक्ता न त्वनात्मन ईरिता । यथोक्तज्ञानतो ध्वस्तिरातश्रुत्याऽत्र उच्यते ॥ अतो ब्राह्मण्यतोऽप्यधत्क्रिया-कारकत्वलक्षणम् । आसं विनासि तज्ज्ञेय ब्रह्मानातं यतस्तत' ॥ १६२-२१४ ॥ इति । स ब्राह्मण केन स्यादिति वाक्य प्रश्नपरत्वनावतारयति—केनेति । ज्ञानस्य ब्राह्मण्य प्रति साधनत्वस्य सिद्धत्वात्तद्विषयप्रश्नायोगादित्या-शङ्क्याऽऽह—उच्यते ॥ अस्तु तर्हि यथादि प्रश्नगोचरस्तत्राऽऽह—यज्ञादीति । आयमाद्विनिविधावावयादिति यावत् । साधन मुक्तारंरित शेष । अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यविधेत्यादिवायादित्यथ ॥ आश्रमस्ताहि मुक्ति प्रत्युपा-यातया पृच्छयते नेत्याह—चतुर्णामिति । मुक्ति सप्तम्यर्थ । कुतो विशेषणमाश्रमा-तरणापि मुक्तिसिद्धेरित्वा-

एवोक्तलक्षण एव ब्राह्मणो भवति । येन केनचिच्चरणेनेति स्तुत्यर्थं 'येयं ब्राह्मण्यावस्था
सेयं स्तूयते न तु 'चरणेऽनादरः' । अत एतस्माद्ब्राह्मण्यावस्थानादशनायाद्यतीतात्मस्व-

चरणमिच्छते' ब्रह्मविदो यथेष्टचेष्टाऽभीष्टा स्यात्तया' च 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इति स्मृतेरितरेषाम-
प्याचारेऽनादरः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह-येन कनचिदिति । 'विहितमाचरतो निषिद्धं च त्यजत- शुद्धबुद्धे-'
श्रुताद्वाक्यात्सम्यग्धीरुत्पद्यते तस्य च 'वासनावशाद्भवस्थितं चिष्टा नाध्यवस्थितेति न यथेष्टा-
चरणप्रयुक्तो 'दोष इत्यर्थः । अतोऽन्यदित्यादि व्याकरोति-अत इति । स्वप्नेत्यादि बहुदृष्टान्तोपादान

यह है कि जिस किसी भी आचरण से युक्त हो, ऐसा उक्त लक्षण वाला ही ब्राह्मण होता है । "जिस
किसी भी आचार से युक्त हो" ऐसा प्रतिपादन स्तुति के लिए है । भावाशय यह है कि जो यह ब्राह्मी
स्थिति है, उसकी स्तुति की जाती है, न कि श्रुति में शिष्टाचार के प्रति अन्यादर है । इसलिए इस
क्षुधा-पिपासादिरहित आत्मस्वरूप नित्यतृप्त ब्राह्मी अस्तित्वा में स्थिति होने से जो अविद्या की विषय-

१ स्तुत्यवत्वमेव विवादयति-यमिति । २ शिष्टाचार । ३ श्रुत । ४ तव । ५ तस्य तस्या
अभीष्टत्व । ६ अज्ञानाम् । ७ साधनावस्थायाम् । ८ मुमुक्षो । ९ पूर्वसस्कारवसाद्बिहिताचार
एव नियतो भवतीत्यर्थः । १० अज्ञानामाचारेऽनादरप्रसक्तिरूप पूर्वोक्त ।

शङ्क्याऽऽह-न चेति । कृतार्थं साक्षात्कृतब्रह्मा मुनिस्तस्य त्यक्तवर्णस्य नाऽऽश्रमान्तर मोक्षोपायो न
सत्त्वेषणाम्यो व्युत्थितेनाऽऽश्रमान्तरमाश्रयितुं शक्यम् । अकृतार्थस्तु प्रयोक्त्रज्ञानी तस्यापि नाऽऽश्रमान्तर
मुक्तिहेतुरन्यत्र श्रवणादिद्वारा ज्ञानायोगान्नाश्रित्वाय ससारादित्यादिन्यायादित्यर्थः ॥ तर्हि विषयाभावात्प्रश्नो मा
भूरीषेपस्तु स्यान्नेत्याह-प्रश्नोऽस्मिन्निति । इहेति वाक्योक्तिः । नाय क्षेपो हेत्वभावादिति मत्वा प्रश्नप्रकारमभिनयति
-किमिति ॥ सम्यग्ज्ञानाद्यज्ञादेराश्रमान्तराचचारित्कते मुक्तिहेतो पृष्टे येनेत्याद्युत्तरमाह-प्रश्नेति ।
अनुत्पन्नज्ञानोऽपि पुरुषो येन साधनेन निर्व्यापारो भवति तेन मुख्य ब्राह्मण्य लभ्यत इत्यर्थः ॥ कि तदिति तदाह
-उक्तेति । सर्वव्यापारोपरमात्मकनैष्कर्म्यं परमहंस्य ज्ञानादन्वत्तेनैव मुख्यो ब्राह्मणो भवति तच्च साधन
सर्वकर्मत्प्राप्तो लभ्यते तस्य ब्राह्मण्य प्रति साधनत्वं तेन सारूप्यत्वाद्बुभयोरपि निर्व्यापारत्वाविशेषाद्देतुपत्तयो-
रैकरूप्यस्य न्याय्यत्वादित्यर्थः ॥ नच नैष्कर्म्यमधिगत तदाह-इत्येव इति । अत्रत्युद्देश्यमोक्षोक्तिः । परमहंसा-
श्रमो नैष्कर्म्यं तस्य धीसमुच्चित्तस्य मोक्षोपायत्वे मानमाह-स्मृतयोऽपीति । अपिशब्द श्रुतिसग्रहार्थः ॥
तत्राऽऽती स्मृतीरुदाहरणमवद्वैवायमाह-सोषेऽस्मिन्निति । प्राणिनाकायो सोकः । पुरेति द्वितीयाध्यायोक्ति
मर्गादिशालो वा पुरेत्युक्तिः । के त निष्ते तत्राऽऽह-ज्ञानेति । साक्षा सम्मग्नोऽध्यानास्तेषां परमहंसानां
ज्ञानयोगो निर्व्यापाररूप नैष्कर्म्यं तेनैव निष्ठा भूमिणो ध्यागिनस्तथा नमंयोगस्तदनुष्ठापनं तन्नैव निष्ठीति
वदन्नमग्नान्नैष्कर्म्यस्य ज्ञानोपेतस्य मुक्तिसाधनत्वमभिप्रेतवानित्यर्थः ॥ तत्रैव व्यासवाक्यमाह-इमाविति ।
अन्ययोगव्यवच्छेदेनोक्तो पुम्यमार्गो विगिनष्टि-कर्मति । तपोमियो वैजात्यमाह-सजातीयोऽदिति । श्रुतिपु
तयोऽसङ्गुक्तत्वेन प्रामाणिकत्वमाह-अनुश्रान्तेति ॥ समभिध्याहारत्वात्पारैकरूप्यमाशङ्क्याऽऽह-सन्त्यास इति ।
सायासिनो स्मृताविव श्रुतावपि नैष्कर्म्यमार्गो दृष्ट इत्याह-तथेति ॥ ननु त्रमेण सन्त्यस्यतो यथोक्तो मार्गोऽत्र
विवक्षित प्रथमाश्रमे तु सन्त्यासमेव न मुध्यामस्तत्राऽऽह-ब्रह्मचर्येति । इतिशब्द पन्था श्रुत श्रुतावित्यनेन
सबध्यते । 'स्यानेनैकं भूमत्त्वमानुचुरिति' श्रुत बन्धचित्कर्म बन्धचित्कर्मो मुक्तिहेतुरिति विकल्पमाशङ्क्याऽऽह-

रूपान्नित्यतृप्तादन्यदविद्याविषयमेपरालक्षणं वस्त्वन्तरमातं विनाश्यातिपरिगृहीतं
स्वप्नमायामरीच्युदकसमसारात्मात्मैवैकः केवलो नित्यमुक्त इति । ततो ह कहोलः
कोपीतकेय 'उपरंराम ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

दार्ष्टान्तिकस्य बहुरूपत्वद्योतनार्थम् । अयोऽन्यदिति कुतो विशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मैवेति ॥१॥
इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं कहोलब्राह्मणम् ॥५॥

भूत एणारूप अन्य वस्तुएँ हैं, वे "प्रातंम्" अर्थात् विनाशी आति से परिगृहीत हैं, स्वप्न माया एवं
मरुमरीचिका के जल के समान असार हैं, आत्मा ही एक, केवल व नित्यमुक्त है । इस प्रकार (अपने
प्रश्न के निर्णय से) कोपीतकेय कहोल चुप हो गया ॥१॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीय अध्याय के पञ्चमं कहोल-
ब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ५ ॥

१. स्वोपप्रश्ननिर्णयार्थम् । २. मनसाऽन्यच्चित्त्यपराजयोऽन्यमित्यभिप्रायेणोपररामेत्यर्थः ।

संन्यासमिति । उच्चैरित्युक्ततात्पर्यद्योतनार्थमभ्यासार्थं लिङ्गं दर्शयति—भूरिश इति ॥ न च तासामन्यार्थ-
त्वमबाधितन्यायानुग्रहोदित्याऽऽह—युद्धेति । आत्मस्वरूपभूतमुक्तेरसाध्यत्वादि न्यायः । ज्ञानातिरिक्त
नैकम्याख्य मुक्तिहेतुमुपपाद्येनेत्यादेर्यमुपसहरति—सर्वेति ॥ स इत्यादेर्यान्तरमाह—वेनेति । आक्षेपं
स्फोरयति—उत्पत्यादेरिति । मोक्षे ज्ञानातिरिक्तकर्मादिहेतूनां वेनेत्याक्षेपस्तस्य चतुर्विधकर्मकार्यत्वायोगात्तद-
योगश्च सब्रह्मदायुक्त इत्यर्थः ॥ ज्ञानेतरसर्वहेत्वाक्षेपमुपेत्य वेनेत्यादेर्यमाह—साधनेनेति । अनिहोत्रानुष्ठाना-
सप्रागुर्ध्वं च मुक्तेरावागवर्देकरूप्यादज्ञानध्वस्तेऽच ज्ञानमात्रायतत्वान्नैकम्यस्य च ज्ञानाद्वा तत्फलाद्वा
तद्धेतोर्वाऽनतिरेकात् मुक्त्यर्थं हेत्वन्तर मृग्यमित्यर्थः ॥ स इत्यादेर्विधान्तरेण प्रश्नरूपमर्थमाह—अथवेति ।
विदुषो मुक्तस्य लक्षणं वेनेति पृच्छयत इत्यर्थः । उक्तिशब्द प्रश्नवचन । येनेत्यादेर्यमाह—वेनेति । मुक्तस्य
स्वरूपमेव लक्षणं न लक्षणान्तरमस्तीत्यर्थः ॥ ननु पृथिव्यादेर्गन्धस्वादि स्वातिरिक्त लक्षणं तत्त्वर्थं मुक्तस्य
न लक्षणान्तरं तत्र किं शमादिर्वा ससाराभावो वा तस्य लक्षणान्तरमिति विवरूप्याऽऽह प्रत्याह—वेहेति ।
देहादेस्तद्धर्माच्च तत्त्वज्ञानेनातीतो मुक्तो नास्य युद्धयादिधर्मः शमादिलक्षणं वैयधिकरण्यादित्यर्थः ॥ द्वितीयं
दूषयति—सर्वेति ॥ तत्र हेतुः—वेचेति ॥ अथ तद्यथाऽहित्वलंबयनी सचक्षुरक्षुद्रित्वेत्यादिभूते, स्थितप्रज्ञगुणा-
तीतलक्षणमस्मद्दृश्यं विदुषो मुक्तस्य लक्षणमुक्तं तत्कुतो न लक्षणान्तरं तत्राऽऽह—वेनेति । प्रतिबन्धो हि
लक्षणान्तराभावादेव प्रवृत्त श्रुतिस्मृती तु विदुषो व्यवहारदृष्ट्या लक्षणमाचक्षाते न वस्तुतो वस्तुतत्तद्ब्राह्मण्यमिह
विवक्षितमिति भावः । ननु शमादिर्शानात्पूर्वं साधनमूर्ध्वं ज्ञानिलक्षणमिति सप्रदायविदो न तदन्यथयितुं मुक्तमत्
वाह—मुमुक्षारिति । साप्रदायिका यदास्तिवाः सन्तः शमाविलक्षणमाचक्षिरे तत्सर्वं व्यवहारावस्थस्यैव न
तदतीतस्वेत्यर्थः ॥ ससाराभावस्य मुक्तलक्षणत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—सुमुप्तेऽपीति । अब्रह्मविदोऽपि ससारा-
भावानुभवात्तन्मुक्तलक्षणं न चाज्ञानाभावात्तलक्षणं तस्य स्वरूपत्वे लक्षणान्तरत्वायोगाद्देवरूपत्वे ससाराभावा-
दविशेषादिति, भावः ॥ मुक्तस्य लक्षणान्तराभावेऽपि कथमतोऽन्यदार्थमित्युक्तं मुक्तादग्न्यस्यैवाप्तत्वेन वायवस्य
निर्विषयत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मन इति । पाण्डित्यादिवाच्यमिहेति परामुष्टम् ॥ अतोऽन्यदित्यादिमुतेरर्था-
न्तरमाह—अत इति । अन्यस्य नाशत्वे हेतुमाह—ब्रह्मेति । यदा यतोऽन्यदार्थमतो ब्रह्मवानार्थमिति फलोक्तिः ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य पठं ब्राह्मणम् ।

'अथ ह्येनं गार्गी वाचकनवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच
यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप-
ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु

फिर उस याज्ञवल्क्य से बचकनु की पुत्री गार्गी ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा उसने कहा ! यह जो कुछ (पार्थिव घातुममुदाय) है सब जल में प्रोत-प्रोत है अर्थात् वस्त्र में तन्तु के मातान-वितान के समान प्रोत-प्रोत है । याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! वायु में (जलीय या पार्थिव घातु के आश्रय

यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर इत्युक्तं तस्य सर्वान्तरस्य स्वरूपा-

'पूर्वब्राह्मणयोरालम्बनः सर्वान्तरत्वमुक्तं तद्विस्तारं यान्मुत्तरं 'ब्राह्मणप्रथमिति 'संगतिमाह—

जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर आत्मा है—ऐसा पूर्वश्रुति में प्रतिपादित किया गया, उस

१. अथेति—'पठेऽस्मिन् ब्राह्मणे सर्वं ब्रह्मकार्यं विविच्यते । सर्वान्तररत्वं निर्णयं ब्रह्मणः सर्वनिर्णवादितां'
॥ वार्तिकसारे ३।६।१ ॥ २ सर्वान्तरस्येति । अत्र वार्तिके—'विशेषणस्य सर्वस्य साक्षादित्यादिकस्य च । सर्वान्तरविनिर्णीतो निर्णय स्यात्कथं न्विति ॥ अशानायाद्यतिशान्त्या प्रश्नार्थाविकृतिः कृता । न सम्मगिति मन्वाना गार्ग्यपृच्छदत पुनः ॥ शित्यादेर्वियदन्तस्य यावन्नैकात्म्यमुच्यते । निर्णीतार्थो न तावत्स्यात्प्रश्नः साक्षादितोरितः ॥ बुभुक्षाद्येकदेहस्यनियेषादनियेषतः । शित्यादेर्वियदन्तस्य नातः प्रश्नार्थनिर्णयः ॥ न एते पार्थिवा भावा लोष्टकुम्भादयो मता । तेषामन्तर्बहिर्व्याप्तिः पृथिव्येवेह लक्ष्यते ॥ यथैव पार्थिवा भावाः पृथिव्यैव परिश्रयि । अद्भिन्नन्तर्बहिश्चैव व्याप्तैवेह समीक्ष्यते ॥ एव दृष्ट यतस्तस्माद्गार्गी पप्रच्छ तिक्रुतः । प्रश्न यदिदमित्येव याज्ञवल्क्य महाधिपमिति ॥ २-८ ॥ ननु विशेषणान्तराण्यपि प्रवृत्तानि तानि विहाय किमिति सर्वान्तरत्व निर्णीयते तत्राऽऽह—विशेषणस्येति । आत्मनः सर्वान्तरत्वनिर्णये साक्षात्त्वादि यतो निर्णीतमेव भवत्यतस्तस्य कथं सर्वान्तरत्वमिति विशेषयो निरूप्यत इत्यर्थः ॥ तन्नियंयासदविनाभूतसाक्षात्त्वादि निर्णयेऽपि योज्ञानायेत्यादिना सर्वान्तरत्वादेर्निर्णीतत्वात्क पुनरारम्भेणेत्यादङ्कृषायेत्यादिप्रश्न प्रतीति—अशानायादीति ॥ यत्साक्षादित्यादि-प्रश्नार्थस्य योज्ञानायेत्यादिना कृताऽऽविकृतिः कथं न सम्मगिति तत्राऽऽह—शित्यादेरिति ॥ अशानायादिनिर्णयेनैव भूतपञ्चक्रमपि प्रतिविध्य प्रत्यङ्गमात्रस्य निर्णीतत्वात्कथं न प्रश्नार्थे निर्णयस्तत्राऽऽह—बुभुक्षादीति । प्रश्नस्य सम्मगनिर्णीतत्वबुद्ध्या गार्गी पृच्छतु सत्पृच्छा तु किमुत्तेत्याशङ्क्य व्याप्तिमूलेति वस्तु लोकप्रसिद्धा व्याप्तिमाह—य एत इति ॥ ननु पृथिव्या व्यापकत्वेऽपि । कीदृशी व्याप्तिस्त (स्त्व)दिष्टा तत्राऽऽह—यथैवेति ॥ यदनात्मत्वे सति व्यापक तदन्वयाप्य यथा पृथिवीति व्याप्तिमुक्त्वा तन्मूल प्रश्न दर्शयति—एवमिति ॥ ३. उपस्तकहोलसज्ञयोः । ४. ब्राह्मणप्रथमिति—शाकल्पब्राह्मणप्रश्नान्तर्गतं शार्यन्तर्गम्यक्षारस्य ब्राह्मणप्रथमित्यर्थः । ५. संगतिम्—उपस्तकहोलब्राह्मणयोर्हतरब्राह्मणप्रथमस्य च मिथो निर्णयनिर्णायकभावसंबन्धमित्यर्थः ।

वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु
 खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु
 गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोता-
 श्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वदित्य-
 लोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति
 कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्र-

लिये बिना अग्नि का स्वरूप मिट्ट नहीं होता । इसलिये अग्नि का ओत-प्रोत भाव सिद्ध नहीं होता । गार्गी ने कहा—) वायु किसमें ओत-प्रोत है ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—) हे गार्गी ! अन्तरिक्ष-लोक में । गार्गी बोली—अन्तरिक्षलोक किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! वह गन्धर्वलोक में ओत-प्रोत है । गार्गी बोली—गन्धर्वलोका किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! आदित्यलोक में । गार्गी ने कहा—आदित्यलोक किसमें ओत प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! चन्द्रलोक में । गार्गी बोली—चन्द्रलोक किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी !

धिगमायाऽऽ 'शाकल्यब्राह्मणादग्रथ्य आरभ्यते । पृथिव्यादीनि ह्याकाशान्तानि सूतान्यन्त-
 बंहिमविन , व्यवस्थितानि तेषां यद्वाह्य' 'बाह्यमधिगम्याधिगम्य 'निराकुर्वन्द्रष्टुः
 'साक्षात्सर्वान्तरोगोण आत्मा सर्वसत्तारधर्मविनिर्मुक्तो दशयित्तव्य इत्यारम्भः—अथ हैनं
 गार्गी नामतो वाचकनवी वचकनोर्द्विहिता पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति । 'होवाच' । यदिद सर्वं

यत्साक्षादिति । उक्तमेव सवन्ध द्विवृत्तीति—पृथिव्यादीनीति । अन्तर्बंहिमविन सूक्ष्मस्थूलतारतम्य-
 क्रमेणेत्यर्थ । बाह्य' बाह्यमिति दीप्सोपरिष्ठात्तच्छब्दो द्रष्टव्यो यत्तदोदित्यसङ्घात् ।
 'निराकुर्वन्त्यथा मुमुक्षु सर्वान्तरमात्मान प्रतिपद्यते तथा स यदोक्तविशेषणो दशयित्तव्य इत्युत्तर-
 ग्रन्थारम्भ इति याजना । कहोलप्रश्ननिर्णयानन्तर्यमथशब्दाद्यं । यत्पार्थिव धामुजात तदिद सवम-

सर्वान्तर आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शाकल्यब्राह्मणपथन्त अग्ने का ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है । पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त सम्पूर्ण महाभूत अन्तर्बहिभाव स व्यवस्थित है । उनमें से जो स्थूल-स्थूल भूत हैं, उनका ज्ञानपूर्वक निरास करते हुए, जो ममस्त सामारिक धर्मों से रहित द्रष्टा से व्यवहित, सर्वान्तर मुख्य आत्मा है, उसका दशन कराना है, इसलिए यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है । फिर उस याज्ञवल्क्य से 'वाचकनवी' अर्थात् वचकनु की गार्गीनामा पुत्री ने पूछा । उसने मुनि का प्राप्तिमुख्य प्राप्त करने के लिए हे याज्ञवल्क्य' इस प्रकार सम्बोधित करके कहा । यह जा भी सब

१ शाकल्यब्राह्मणात्प्राप्तो ग्रन्थ । २ स्थूलम् । ३ स्थूल भूतम् । ४ तदधिगमपूर्वकमित्यर्थ ।
 ५ जपोहयन् । ६ द्रष्टव्यवहित इत्युपगौरथ । ७ मुनेराभिमुख्यमापादवित्तु भो याज्ञवल्क्यति सबोध्योक्त-
 वतीत्यर्थ । ८ निराकुर्वन्ति—परित्यजन्तित्यर्थ । उत्तरोत्तरम् पूर्वपूर्वशान्तर्भावयन् उत्तरात्तरापेक्षया
 पूर्वपूर्वाऽऽन्तरत्वं विभावयन्ति यावत् ।

तत्र भूतानि पञ्च संहतान्येवोत्तरमुत्तर सूक्ष्मभावेन व्यापकेन 'कारणरूपेण च व्यवतिष्ठन्ते । न च परमात्मनोऽर्वाक्तद्वयतिरेकेण वस्त्वन्तरमस्ति "सत्यस्य सत्यम्"

ननु 'तथाऽपि भूतपञ्चक'यतिरिक्तानां गन्धर्वलोकादीनामप्यान्तरत्वेनोपदेशात्कथं भूत-
पञ्चकव्युदासेन 'सर्वान्तरप्रतिपत्तिविवक्षितेति तत्राऽऽह—तत्रेति । उक्तनोत्या प्रदानार्थं स्थिते सतीति
यावत् । 'भूतात्मस्थितिनिर्धारणे वा सप्तमी । 'अथ परमात्मभूतानन्तहितत्वात्पृथगेव गन्धर्व-

वहाँ पांच भूत है जो परस्पर सहत हाकर ही उत्तगोत्तर व्यापक सूक्ष्मभाव स और (गन्धर्व-
लोकादि) कारणरूप स विद्यमान रहते हैं । परमात्मा से परे उसस भिन्न कोई वस्तु नहीं है—इसमे

१ गन्धर्वादिलोकाद्यात्मनेत्यथ । २ भूतपञ्चकम् । - वृ० उ० २।१।२० । ४ आत्मन सर्वान्तरत्वस्य
विशेषतो निरूपणविवक्षया प्रश्नप्रवृत्तव्युपगमेऽपि । ५ यद्योवतलोकानामप्यान्तरत्वोक्त्या तदव्युदासे आत्मन
सर्वान्तरत्वात्तिद्धेरिति भावः । ६ भूतात्मस्थितिनिर्धारणे वा सप्तमीति । तथा च भाष्येऽन्तरेतिपदस्य
परिणाम्यपरिणामिभूतात्मस्थित्योर्मध्य इत्यर्थः । भाष्ये च भूतान्येवत्वकारस्य भिन्नमेणादय तथा चापरि-
णामस्थितिरात्मैवकारणवच्छेद्य यद्वा भूतान्येवमेव लक्षणे तु तेन व्ययच्छेद्यम् । अयमाशयः— भूतशशिरैव,
अपरस्परत्वरशशि, नृवास्वयाम्यासु यस्तृतीय, तत्राऽऽह परिणामित्यथ कृतरथनित्येव द्वितीय तत्राऽऽह राशे
परिणामभूतानि गन्धर्वलोकादीनि अतस्तत्रैवात्ममन्ति सती भूतपञ्चकव्युदासेन सर्वान्तरप्रतिपत्तिविवक्षितेति ।
७ उक्ताभिप्रायमजानतो यथाभूतप्राहिण पर्याचिच्छब्दानुव्यापयति—अर्थेति । सहतपञ्चभूतानामेवोत्तरोत्तर
सूक्ष्मादिरूपेणावस्थानेऽपीत्ययमन्वयः ।

१११११

तामेतामनतिप्रदन्वामतिप्रदानेन साहसात् । पृच्छत्या मूषपातस्ते श्यादेव स्वापराधत ॥ शृलान्यनुमया युवत
प्रष्टु तत्वानि कामत । इय तु न तथा शृना यां श्व पृच्छति देवताम् ॥ अचित्या चाप्रतयार प्रणभावेन
च सिधता । नागोऽग्नेन प्रमाणेन प्रष्टव्या देवताऽऽगमात् ॥ एतस्मादेव हतोस्ता सकशास्त्रेषु त किवा । नंबानु-
मि'वते प्रासात्पृथिव्यादी'यथा तथा ॥ प्राणोऽयमनिरुक्ती हि वस्तु निर्वेकनुमह्नि । मानास्तरेणाऽऽगमतो मा
प्राशोतिरयतो वच' ॥ १६ २६ ॥ इति । प्रदनातरार्थं भूमिनामाह—तदेनिति । पृथिव्यादीनाम'तवहि-
भ्यांलतदा यदेतद्रवस्थान पृष्ट नदुत्प्रकारेण ब्रह्मलोका त शृणीहीत न चाण्डादुपरिहादनुमानेन प्रष्टभ्यमित्यर्थः ॥
उक्ताभिप्रायज्ञानहृतप्रश्नविषयमाह—ममपटीति । पुरति भुजुप्रदोक्ति । सूत्रविषयस्य प्रश्नस्योक्त्या तदराणि
व्याचरोति—ओता इति । प्रस्तुतिमादते—इति पृष्ट इति ॥ तां व्याचष्टे—माऽनीत्यति । आनुमानिकप्रश्न-
विषयमि'द्रादिनमतिप्रश्न्य सूत्रमधिष्ठयानुमानेन तवर्थेव प्रश्न मा शार्थीरित्यथ । मा त मूर्धा व्यपत्तदित्यस्य
तात्पर्यमाह—मा न इति । व्यपत्तति व्यपत्तदित्यस्यांगितिसांख्योपादयो लोपेऽपि तदभावःछान्त ॥
अनतिप्रश्न्यामित्य'देत्ये' वक्तुमनिप्रश्नस्यार्थमाह—उचित इति । सूत्रस्याऽऽगमे'वगम्यत्वात्तन प्रश्नो योपरत-
मतिप्रश्नोऽतिप्रश्नोऽनुमेयस्य ॥ प्रस्यप्ये'माह—या तमिति । अण्डान्त्वतिनी देवता'तिप्रद'यत्यर्थः । साति-
प्रश्नैत्येननिप्रश्न्या सूत्रदेवता वेव'नागमगम्यत्वादित्याह—तद्व्यपत्तदिति ॥ अस्त्वन्तिप्रद'या सूत्रदेवता वि
तावतेत्यामदुष वाचयार्थमाह—तामिति ॥ इन्द्रादिषदनुमानेन सूत्रप्रश्ने बोऽपराधो देवतात्वाविदापादित्या-
मदुषाऽऽह—शृनातीति । शार्थीत्यादिनगमनस्य तात्पर्यमाह—अचित्यति । तदभावान्छुं शारयति—प्राणेति ।
अप्रश्नवर्षेव समथयठ—एतस्मादिति । प्राणामूर्धपातप्रयादिति यावत् ॥ प्राणस्य सूत्रामन श्रुतिष्पन्नित्यव-
प्रमिदेवक नानुमेवेत्याह—प्राणोऽयमिति । निगमनवाचयार्थमुपसहरति—माना'रणेति ॥

इति श्रुतेः । सत्यं च भूतपञ्चकं सत्यस्य सत्यं च पर आत्मा । कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति । तासामपि कार्यत्वात्स्थूलत्वात्परिच्छिन्नत्वाच्च क्वचिद्व्योतप्रोतभावेन भवितव्यम् । क्व तासामोतप्रोतभाव इत्येवमुत्तरोत्तरप्रश्नप्रसङ्गो योजयितव्यः । वायौ गार्गीति । नन्वनाप्रिति वक्तव्यम् । नैव दोषः । अग्नेः पार्थिवं वाऽऽप्यं वा धातुमनाश्रित्येतरभूतवत्स्वातन्त्र्येणाऽऽत्मलामो नास्तीति तस्मिन्प्रोतप्रोतभावो नोपदिश्यते ।

कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति । तान्येव भूतानि संहतान्यन्तरिक्षलोकास्तान्यपि गन्धर्वलोकेषु गन्धर्वलोका आदित्यलोकेष्वेवादित्यलोकाश्चन्द्रलोकेषु चन्द्रलोका नक्षत्रलोकेषु नक्षत्रलोका देवलोकेषु देवलोका इन्द्रलोकेष्विन्द्र-

लोकादीनि वस्त्वन्तराणि भविष्यन्ति नेत्याह—न चेति । गन्धर्वलोकादीन्यपि भूतानामेवावस्था-
विशेषास्ततः सत्यं भूतपञ्चकं तस्य सत्यं पर ब्रह्म नायदन्तराले प्रतिपत्तव्यमित्यन्यप्रतिषेधार्थं
चशब्दो । 'तात्पर्यमुक्त्या प्रश्नमुत्थाप्य तदक्षराणि व्याकरोति—कस्मिन्नित्यादिना । कस्मिन्नु खलु
वायुरित्यादावुक्त्यायमतिविशति—एवमिति । वायावित्यमुक्त्वा प्रत्युक्तिरपाम्निकार्यत्वादनभाविति
वक्तव्यत्वादिति शङ्कते—नन्विति । 'अग्नेरुदकव्यापकत्वेऽपि काष्ठविद्युदादिपारतन्त्र्यात्स्वतन्त्र्येण
केनचिदपा व्याप्तिवत्कथेत्यग्निं हित्या तत्कारणे वायाविद्युदत वायोश्च स्वकारणतन्त्रत्वेऽपि नोदक-
तन्त्र्येति 'तद्व्यापकत्वसिद्धिरित्युत्तरमाह—नैव दोष इत्यादिना ।

अन्तरिक्षलोकशब्दार्थमाह—तान्येवेति । प्रजापतिलोकशब्दार्थं कथयति—विराडिति । अन्त-

“वह सत्य का सत्य है” यह श्रुति प्रमाण है । सत्य तो भूतपञ्चक है, और परमात्मा “सत्य का सत्य” है । (इसी से प्रश्न होता है—) वह किसमे ओत प्रोत है । कायरूप स्थूल एव परिच्छिन्नरूप होने से जल को भी किसी में आत प्रोत भाव से रहना चाहिये । उसका ओतप्रोतभाव कहाँ है—इसी प्रकार उत्तरात्तर प्रश्ना के प्रसंग का लगा लेना चाहिये । ‘हे गार्गी ! वायु में ओतप्रोत है’ । (इस पर शङ्का होती है—) यहाँ तो याज्ञवल्क्य को अग्नि में आत प्रोत है—ऐसा कहना चाहिये था । (इस का परिहार करते हैं—) ऐसा कहने में कोई दाप नहीं है क्योंकि अन्य भूतों के समान अग्नि की स्वरूप-सिद्धि (काष्ठादि) पार्थिव अथवा विद्युदादि जलीय वस्तु का आश्रय लिए बिना नहीं होती, इसलिये उसमें ओतप्रोतभाव का उपदेश नहीं किया जाता ।

(गार्गी पूछती है—) वायु किसमें ओत-प्रोत है ? (याज्ञवल्क्य कहते हैं—) हे गार्गी ! अन्तरिक्षलोको में वायु आत प्रोत है । परस्पर सघातरूप में प्रतिष्ठित ये भूत ही अन्तरिक्षलोक हैं । अन्तरिक्षलोक में अवस्थित वे भूत भी गन्धर्वलोको में, गन्धर्वलोको आदित्यलोको में आदित्यलोक चन्द्रलोको में, चन्द्रलोका नक्षत्रलोको में, नक्षत्रलोक देवलोको में, देवलोक इन्द्रलोको में, इन्द्रलोक विराट् शरीर के आरम्भकभूतरूप प्रजापतिलाका में, प्रजापतिलोक ब्रह्मलोको में ओत-प्रोत है ।

सोऽब्रवीत्पतञ्चलं; काप्यं - याज्ञिकाऽश्च वेत्य नु त्वं
 काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि
 च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः
 काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं
 काप्यं याज्ञिकाऽश्च वेत्य नु त्वं काप्य 'तमन्तर्यामिणं
 य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि
 योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं

काप्य ! क्या तुम उस सूत्र को जानते हो, जिसके द्वारा यह जन्म, परजन्म और ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-
 पर्यन्त सम्पूर्ण भूत गुण्ये हुए हैं। उस पर उस काप्य पतञ्चल ने कहा—भगवन् ! मैं उस सूत्रात्मा को
 नहीं जानता। फिर उस गन्धर्व ने उस काप्य पतञ्चल से पूछा—हे काप्य ! क्या उस अन्तर्यामी को
 जानते हो, जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतों को काष्ठ यन्त्र के ममान भीतर रह कर उचित
 व्यापार कराता है ? इस पर पतञ्चल काप्य ने कहा—हे भगवन् ! मैं नहीं जानता। उस गन्धर्व ने
 पतञ्चल काप्य और उसके याज्ञिकों से पूछा—तुममें से जो कोई भी उस सूत्र और अन्तर्यामी को उक्त

प्रष्टव्यमिति तिहासेनाऽऽगमोपन्यासः त्रियते—अथ हैनमुद्दालको नामतोऽरुणस्यापत्यमारुणिः
 'प्रच्छ्र याज्ञवल्क्येति होवाच । मद्रेषु देशेष्ववसामोपितवन्तः पतञ्चलस्य पतञ्चलो
 नामतस्तस्यैव कपिगोत्रस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयाना यज्ञशास्त्राध्ययनं कुर्वाणाः ।

तच्चाऽऽगमेनैवेति । आचार्योपदेशोऽत्राऽऽगमशब्दार्थः । गार्गा भूर्धपातभयाकुपरत्तेरनन्तरमित्यय-
 शब्दार्थः ।

के प्रदर्शन के लिए हम ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है। उसे तो आगम प्रमाण के द्वारा ही पूछा
 जाना चाहिये इसलिए आख्यायिका के द्वारा श्रुति को प्रस्तुत किया जाता है। फिर उस याज्ञवल्क्य से
 "आरुणि" अर्थात् अरुण के पुत्र उद्दालक ने पूछा। वह बोला—हे याज्ञवल्क्य ! मद्रदेश में
 "पतञ्चलस्य काप्यस्य" अर्थात् कपिगोत्रीय पतञ्चल नामक ऋषि के घर "यज्ञमधीयाना" अर्थात्
 यज्ञशास्त्र का अध्ययन करते हुए छात्र रहते थे। उस पतञ्चल की पत्नी प्रमानुपसत्यविशेष गन्धर्व से

१. तमन्तर्यामिणं य इमं इत्यादि—अत्र प्रथमयच्छन्दस्तमित्यनुवादार्थं इति वृत्तिः । तथा च योऽन्तर्यामिणं
 त वेत्य न्विति प्रथमान्वयः । बोऽसाविति बोऽसाया तु याऽन्तर- सप्रिम च लोकं यमपति पर वेत्येव द्वितीयान्वय
 इति सदाशयः । द्वितीयान्वय इति तथा च द्वितीयो विशेषणप्रदर्शनाय इति भावः । २. आख्यायिकाद्वारेत्ययः ।
 ३. पश्च्छेति—ननु ज्ञातज्ञात वार्येन प्रदत्तो वैयम्पादिशक्यत्वाच्चेति चेन्न भाष्य परीक्षाय तदुपपत्तेरिति । ४.
 आनिभुक्त्वाय सबोभ्योक्तवान् । ५. छात्रा आत्म ।

तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाः^१श्च
 यो वै तत्काप्यं सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स
 ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स
 आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेदं तच्चेत्त्वं
 याज्ञवल्क्य सूत्रम^२विद्वा^३ःस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवी-
 रुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम
 तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति^४ यो वा इदं कश्चिद्-
 ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥१॥

रीति से जानता है, वही परमात्मा को जानने वाला है और वही भूरादि लोको को जानता है, एव वही वेदवेत्ता है, वह भूतवेत्ता है, वह ब्रह्म आत्मवेत्ता है, वह सर्ववेत्ता है । तत्पश्चात् गन्धर्व ने उन काप्य आदि से सूत्र और अन्तर्यामी को बतलाया । इस प्रकार गन्धर्व से उपदेश प्राप्त कर मैं उसे जानता हूँ । अतः हे याज्ञवल्क्य ! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामी को न जानकर ब्रह्मज्ञानियो की सम्पत्ति गौत्रो को अन्याय से ले जाओगे, तो मेरे ज्ञाप से तुम्हारा मस्तक गिर जायगा । याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गौतम ! मैं उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानता हूँ । उद्दालक ने कहा—अपनी प्रसामा के लिये ऐमा तो कोई साधारण पुरुष भी कह सकता है कि मैं उसे जानता हूँ, वास्तव मे यदि तुम्हें उसका ज्ञान है तो जैसा जानते हो, वैसे तुम कहो ॥ १ ॥

'तस्याऽऽसीद्भार्या' गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम' कोऽसीति । 'सोऽब्रवीत्कबन्धो नामतोऽथ-
 र्वणोऽपत्यमाथर्वण इति ।

सोऽब्रवीद्गन्धर्वः पतञ्चलं काप्यंया ज्ञिकांश्च तच्छिष्यानस्मान्वेत्थ नु त्वं
 हे काप्य जानीये तत्सूत्रम् । किं तत् । येन सूत्रेणाय च लोक इदं च जन्म परश्च

सोऽब्रवीदिति प्रतीकोपादानं "तस्य तात्पर्यमाह—सूत्रेति ।

आविष्ट थी । उससे हमने पूछा कि तू कौन है ? वह गन्धर्व बोला—मेरा नाम कबन्ध है, मैं "आथर्वण." अर्थात् अथर्वण का पुत्र हूँ ।

उस (मे आविष्ट) गन्धर्व ने कपिगोत्रीय पतञ्चल और उसके याज्ञिक शिष्यो से पूछा—हे काप्य ! क्या तुम उस सूत्र को जानते हो ? वह कौन सा सूत्र ? जिस सूत्र से यह लोक और वर्तमान

१. उक्तविरोपणक सूत्रमित्यन्वय । २. तथा चाब्रह्मवित्सन्निरयभिप्राय । ३. य कश्चिद्वेदे वा वेदाह-
 मित्तीदं ब्रूयादिति योजना । ४. पतञ्चलस्य । ५. अमानुषसत्त्वविशेषेणाविष्टा । ६. पतञ्चलमहिता
 वयम् । ७. गन्धर्व । ८. वर्तमानम् । ९. शरीरम् । १०. गन्धर्वबचनस्य ।

लोकः परं च प्रतिपत्तव्यं जन्म सर्वाणि च भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि संदृग्धानि संग्रहितानि खंगिव सूत्रेण विदृग्धानि भवन्ति येन तत्किं सूत्रं वेत्य । सोऽब्रवीदेवं पृष्ठः 'काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति तत्सूत्रं नाहं जाने हे भगवन्निति संपूजयन्नाह । सोऽब्रवीत्पुनर्गन्धवं उपाध्यायमस्मांश्च वेत्य नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणमन्तर्यामीति विशेष्यते— य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरोऽभ्यन्तरः संन्यमयति नियमयति दाख्यन्त्रमिव भ्रामयति स्वं स्वमुचितव्यापारं कारयतीति । सोऽब्रवीदेवमुक्तः पतञ्जलः काप्यो नाहं तं जाने भगवन्निति संपूजयन्नाह ।

सोऽब्रवीत्पुनर्गन्धवंः सूत्रतदन्तर्गतान्तर्यामिणोर्विज्ञानं स्तूयते । यः कश्चिद्द्वं तत्सूत्रं हे काप्य विद्याद्विजानीयात्तं चान्तर्यामिणं सूत्रान्तर्गतं तस्यैव सूत्रस्य नियन्तारं विद्याद्य इत्येवमुक्तेन प्रकारेण स हि ब्रह्मवित्परमात्मवित्स लोकांश्च भूरादीन्तर्यामिणा नियम्यमानांल्लोकान्वेत्ति स देवांश्चाग्न्यादींल्लोकानो जानाति वेदांश्च सर्वंप्रमाणभूतान्वेत्ति

इतिशब्दार्थमाह—एवमिति । येनायं चेत्यादिरक्तः प्रकारः स सर्वलोकंश्च वेत्तीति संबन्धः । विशेषणोक्तिपूर्वकं तानेव लोकाननुचदति—भूरादीनिति । स ब्रह्मवित्परादिनोक्तं संक्षिपति—सर्वं

शरीर, परलोक और आगे प्राप्त होने वाला शरीर ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणिसमुदाय 'संदृग्धानि' अर्थात् संग्रहित यानों सूत्र में माला के मगान अण्डों प्रकार से प्रतिबद्ध हुए हैं, क्या-तुम उस सूत्र को जानते हो ? इस प्रकार पूछे जाने पर उस पतञ्जल काप्य ने कहा—हे भगवन् ।-उसे तो मैं नहीं जानता । उसने घ्रादर पूर्वक कहा—हे भगवन्, उसे मैं नहीं जानता हूँ । इस पर वह गन्धवं उपाध्याय और हम लोगो से फिर बोला—हे पतञ्जल काप्य ! क्या तुम उस अन्तर्यामी को जानते हो ? सूत्र के अन्तर्गत होने से अन्तर्यामी विशेषण किया जाता है, जो इस लोक व परलोक के समस्त भूतप्राणियों के अन्दर रहकर "नियमित" अर्थात् नियमन करता है, दाख्योपित की तरह घुमाता है, अपना-अपना उचित व्यापार करवाता है । इस प्रकार कहे जाने पर (विनीत हुए) उस पतञ्जल काप्य ने "भगवन्" इस प्रकार सत्कार करते हुए कहा— उसे तो मैं नहीं जानता ।

वह गन्धवं पुनः बोला—यव सूत्र और उसके अन्तर्गत अन्तर्यामी के विज्ञान की स्तुति की जाती है । हे पतञ्जल काप्य ! जो कोई भी उस सूत्र को "विद्यात्" अर्थात् विस्पष्टरूप से जान लेता है । उस सूत्र के अन्तर्गत अन्तर्यामी एव उसी सूत्र के नियन्ता को उक्त प्रकार से जान लेता है, वही "ब्रह्मवित्" अर्थात् परमात्मतत्त्व का ज्ञाता है, वही अन्तर्यामी से नियम्यमान, भूरादि सभी लोकों को जानता है, सभी आस्तिकों के प्रमाणभूत वेदों को जानता है तथा सूत्र से धारण किये हुए और उसके अन्तर्गत अन्तर्यामी से नियमित होते हुए ब्रह्मादि भूतों को जानता है । वह उस अन्तर्यामी से नियमित

१. अग्रे प्राप्यम् । २. शरीरम् । ३. प्रतिबद्धानि । ४. पतञ्जलः । ५. सूत्रस्याप्यन्तर्गतम् । ६. अन्तर्यामीति विशेष्यते इति—अभिरव्यवहितानन्तरप्रदस्यमानविशेषणविशिष्टतया प्रदस्यते इत्यर्थः । ७. विनीतं सन् । ८. विनय दृष्ट्वा स्वस्थाचार्यत्वकामः पत्नेन प्रलोभयितुम् । ९. सर्वलोकान् । १०. सर्वेषामास्तिकानां प्रमाणभूतान् ।

भूतानि च ब्रह्मादीनि सूत्रेण ध्रियमाणानि तदन्तर्गतेनान्नर्यामिणा नियम्यमानानि वेत्ति स आत्मानं च कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टं तेनेवान्तर्यामिणा नियम्यमानं वेत्ति सर्वं च जगत्तथाभूतं वेत्तीत्येवं स्तुते सूत्रान्तर्यामिबिज्ञाने प्रलुब्धः काप्योऽभिमुखीभूतो वयं च, तेभ्यश्चास्मन्ममभिमुखीभूतेभ्योऽन्नवीद्गन्धर्वः सूत्रमन्तर्यामिणं च । तदहं सूत्रान्तर्यामिबिज्ञानं वेद गन्धर्वल्लब्धगमः सन् । तच्चेद्याज्ञवल्क्य सूत्र तं चान्तर्यामिणमविद्वांश्चेद-ग्रहवित्सन्यदि ब्रह्मगवीरुदजसे ब्रह्मविदां स्वभूता गा उदजस उन्नयसि त्वमन्यायेन ततो मच्छापदग्धस्य मूर्धा जिहस्ते तव विस्पष्टं पतिष्यति । एवमुक्तो याज्ञवल्क्य आह—वेद जानाम्यहं हे गौतमेति गोत्रतस्तत्सूत्र यद्गन्धर्वस्तुभ्यमुक्तवाग्यं गन्धर्वा-द्विदितवन्तो यूय तं चान्तर्यामिणं वेदाहमित्येवमुक्ते प्रत्याह गौतमो यः कश्चित्प्राकृत इदं यत्त्वयोक्तं यूयात्कथं वेद वेदेत्यात्मानं श्लाघयान्कि तेन गजितेन कार्येण दर्शय यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥१॥

चेति । तथाभूतं सूत्रेण विधृतमन्तर्यामिणा च नियम्यमानमिति यावत् । प्रस्तुतस्तुतिप्रयोजनमाह— इत्येवमिति । भयत्वेवं तव सूत्राविज्ञानं मम किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेदिति । किं तेनेत्यत्र तस्येत्यध्याहारः । कार्येण दर्शयेत्युक्तं विवृणोति—पर्याप्तं ॥१॥

होते हुए कर्तृत्व-भोक्तृत्वविशिष्ट जीवात्मा को जानता है और सम्पूर्ण जगत् को ऐसा ही जानता है । सूत्र और अन्तर्यामी विज्ञान की इस प्रकार स्तुति होने पर अत्यन्त प्रलुब्ध हुए पतञ्जल काप्य और हम उसके अभिमुख हुए । इस प्रकार अपने अभिमुख हुए हम लागा के प्रति उस गन्धर्व ने सूत्र और अन्तर्यामी का वर्णन किया । इस प्रकार मैं गन्धर्व से उपदेश प्राप्त करके उस सूत्र और अन्तर्यामी के विज्ञान को जानता हूँ । अतः हे याज्ञवल्क्य ! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामी को 'अविद्वान्' यानी अग्रहवित् होकर यदि 'ब्रह्मगवीरुदजसे' अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं की मध्यभूता गौत्रो का अन्वय से अपने घर ले जाओगे, तो मेरे शाप से दग्ध तुम्हारा मूर्धा बिल्कुल गिर जायगा । इस प्रकार कहे जाने पर याज्ञवल्क्य ने 'हे गौतम' इस प्रकार गोत्र से सम्बोधन करते हुए कहा, "तुम्हारे प्रति गन्धर्व ने जिस सूत्र का वर्णन किया है, उसे मैं जानता हूँ तथा तुम लोगो ने जिस अन्तर्यामी को गन्धर्व से जाना है, उस अन्तर्यामी को भी मैं जानता हूँ । इस प्रकार कहे जाने पर गौतम ने उत्तर दिया— 'जो कोई भी सामान्य आदमी तुम्हारे द्वारा प्रतिपादित उक्त तत्त्व को कहता है'—किस प्रकार कहता है, "मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ" इस प्रकार अपनी श्लाघा करते हुए कहता है । परन्तु उसके गर्जने से क्या होता है, कार्य के द्वारा उसे दिखाओ अर्थात् जैसा जानते हो, वैसा कहो ॥ १ ॥

१. जीवम् । २ सर्वं च जगदिति । तदुक्तं वातिके—“सूत्रान्तर्यामि रूपेण यो वेदितान्पुरोदितान् । स एव ब्रह्मलोकान्तान्वेदेत्ययोऽयसग्रहः ॥ ७ ॥ इति । सूत्रेण विधृतानन्तर्यामिणा च नियमितान्पूर्वब्राह्मणोक्तान्ब्रह्म-लोकान्ता-पृथिव्यादीन्यो वद स एवोक्त सर्वं ब्रह्मादि वेदेत्ययोऽयस स ब्रह्मविदित्यादे सदसंस्य सक्षेप सर्वविदित्युच्यत इति तदर्थः ॥ ३ स्वगृहान् प्रापयसि । ४ गौतम इति मात्र यस्य । ५ तथा च तस्य गजितु प्राकृतस्य तेन गजितेन किं फल स्यादिति योजना ।

स होवाच 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम
सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गौतम ! वह सूत्र वायु ही है और कुछ नहीं है । हे गौतम ! वायु-
रूप सूत्र के द्वारा ही यह लोक, परलोक और सम्पूर्ण भूत जुड़े हुए हैं । हे गौतम ! इसी से मृत पुरुष क

स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मलोका यस्मिन्नोताश्च प्रोताश्च वर्तमाने काले यथा
पृथिव्यप्सु तत्सूत्रमागमगम्यं वक्तव्यामिति 'तदर्थं प्रश्नान्तरमुत्त्यापितमिति 'तन्निर्णयायाऽऽह
—'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं नान्यद्वायुरिति सूक्ष्ममाकाशव'द्विष्टम्भक पृथिव्यादीनां यदात्मकं

याज्ञवल्क्योक्तेस्तात्पर्यमाह—ब्रह्मलोका इति । इत्यभीष्टमागमविदामित्यध्याहृत्याऽऽहस्येति-
शब्दस्य योजना । प्रश्नान्तर सूत्रविषय गौतमवाक्यम् । वंशब्दाद्यंमाह—नान्यदिति । सूक्ष्मत्वे दृष्टान्त-
माह—आकाशवदिति । वायुमेव विशिनष्टि—यदात्मकमिति । पञ्च भूतानि दश बाह्यानीन्द्रियाणि

वह याज्ञवल्क्य बोले । जिस प्रकार जल में पृथिवी भ्रूत-प्रोत है, उसी प्रकार अभी जिसमें
ब्रह्मलोक भ्रूत-प्रोत हैं, शास्त्र द्वारा जानने योग्य उस सूत्र का व्याख्यान करना है, इसलिये दूसरा प्रश्न
उठाया गया, उसका निर्णय करने के लिए याज्ञवल्क्य बोले—हे गौतम ! (समष्टि-व्यष्टिरूप से
सामान्यविशेषात्मक सर्वकर्माश्रित होने से) वायु ही वह सूत्र है, और कुछ नहीं । यहाँ यह वायु
आकाश के समान सूक्ष्मतत्त्व है और पृथिवी आदि भूतों का विधारक है; प्राणियों का यह

१ वायुर्वा इति । अत्र वातिके—“सर्वसाधारण कर्म यदभिव्यक्तमिष्यते । वाय्वात्मना परिच्छिन्नं तदास्ते
कारणमिति ॥ नाऽऽत्मानं लभत कर्म यतोऽसश्रित्य साधनम् । वाय्वाश्रितमतः कर्म स्वरूपं प्रतिपद्यते ॥ साधारणस्य
यो वायुविशिष्टस्य च धारकः । समष्टिव्यष्टिभावेन कर्मणं सर्वं देष्यते ॥ त वायु तच्च कर्महं य उपेत्य व्य-
स्थितः । वायुकर्माभिमानी सन्नुमान्वायु स उच्यते” ॥ ९-१२ ॥ इति । वायुर्वै गौतमेत्यत्र वायुशब्दाद्यं वक्तुं
स्पष्टशुद्धिं करोति—सर्वेति । यद्धि सर्वप्राणिसाधारण सूत्रेण यजमानावस्थायां निर्बतित सामान्यविशेषात्मक
कर्मापूर्वं यजमानदेहान्ते फलदानार्थमभिव्यक्त तत्प्रलयकाले सूत्रारमना परिच्छिन्न (परिणत) तद्रूपेण स्थित
मूलकारणे तिष्ठनीत्यर्थः ॥ किमिति प्रलये वाय्वात्मना परिच्छिन्नं कर्मेति विशेष्यत तत्राऽऽह—नात्मानमिति ।
कर्म हि कारणमनाश्रित्य स्वातन्त्र्येण नाऽऽत्मानं धारयति—साध्यमानरूपत्वावतो वायोस्तत्कारणत्वात्तदाश्रितं
तदात्मानं लभते न हि स्पन्दस्यासाधारण प्राणादृत कारणमस्ति तद् विशेषणमर्थवदित्यर्थः ॥ अस्त्वेव प्रकृते
किमात्मा तदाह—साधारणस्येति । यो वायु सामान्यविशेषात्मकस्य कर्मणस्तद्भावेनाऽऽश्रयं सदा मानादवगतो
न हि क्रियाशक्तिमन्त वायुमतित्रम्यान्यत्र क्रिया युक्ता ॥ त कर्माश्रयं वायु तच्चाऽऽश्रितं कर्म सर्वा घत्वेन प्राप्य
पुसा मध्ये य स्थित स तयोत्तरीयाभिमानी जीवोऽत्र फलरूपो वायुरित्यर्थः ॥ २ तदर्थमिति—आगमिक-
सूत्रपरिज्ञानार्थमिति भावः । ३ आगमिकसूत्रनिर्धारणार्थः । ४ वायुर्वा इति—समष्टिव्यष्टिरूपेण
सामान्यविशेषात्मकसर्वकर्माश्रयत्वाद्वायोत्तरीयाभिमानी लिङ्गतादात्म्यापन्नो जीवोऽत्र फलरूपो वायुरुच्यते न
पु वायुमात्रं तस्य विधारणेऽस्वातन्त्र्यादिति बोध्यम् । ५ विधारकम् । ६ आद्यस्यति—तथा च द्वितीयो
हेत्वर्थकः । सूत्रात्मन्यागमगम्यत्वस्यागमविदभीष्टत्वादिति तदर्थं इत्यभिप्रायः ।

संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्धै गौतम पुरुषं प्रेतमाहु-
र्व्यस्र^१सिपतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण
सदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं
ब्रहीति ॥२॥

विषय मे ऐसा कहते हैं कि इसके अग ब्रिखर गये हैं, क्योंकि हे गौतम ! वायुरूप सूत्र से ही भली प्रकार
गुधि हुए हैं । उदात्तक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ठीक ऐसा ही है । अब तुम उसके अन्तर्वर्ती और
अन्तर्यामी नियामक को बतलाओ ॥ २ ॥

सप्तदशविधं लिङ्गं कर्मवासनासमवायि प्राणिना यत्तत्समदृष्टव्यष्ट्यात्मक यस्य बाह्या
भेदाः सप्तसप्त मरुद्गणाः समुद्रस्येवोर्म्यस्तदेतद्वायव्य तत्त्वं सूत्रमित्यभिधीयते । वायुना वै
गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सदृब्धानि भवन्ति संग्रथितानि
भवन्तीति प्रसिद्धमेतत् । अस्ति च लोके प्रसिद्धिः । कथं, यस्माद्वायुः सूत्रं वायुना विधृतं
सर्वं तस्माद्धै गौतम 'पुरुषं' 'प्रेतमाहुः' 'कथयन्ति व्यस्र^२सिपत' 'व्यस्रस्तान्यस्य पुरुषस्या-
ङ्गानीति । सूत्रापगमे हि मण्यादीनां प्रोतानामवस्र^३सनं दृष्टमेवं वायुः सूत्रं तस्मिन्मणि-
वत्प्रोतानि यद्यस्याङ्गानि स्युस्ततो युक्तमेतद्वायवपगमेऽवस्र^४सनमङ्गानाम् । अतो वायुना

पञ्चवृत्तिः प्राणश्रतुविधमन्त.करणमिति सप्तदशविधत्वम् । कर्मणां वासनानां चोत्तरसृष्टिहेतुना
प्राणीभिरजितानामाश्रयत्वादेपेक्षितमेव लिङ्गमित्याहुः—कर्मैति । 'तस्यैव साभान्यविशेषात्मना
बहुरूपत्वमाह—यत्तदिति । 'तस्यैव लोकेपरीक्षकप्रसिद्धत्वमाह—यस्येति । "तस्य सूत्रत्व साधयति—
वायुनेति । प्रसिद्धमेतत्सूत्रविदामिति शेषः । लौकिकीं प्रसिद्धिमेव प्रश्नपूर्वकमन्तरश्रुत्यवष्टम्भेन
स्पष्टयति—कथमित्यादिना । उक्तमेव दृष्टाग्नेन व्यनक्ति—सूत्रेत्यादिना । बायो. सूत्रत्वे सिद्धे फलितमाह
—अथ इति ॥२॥

कर्मवासनासमवायी सूत्रहू अथयवो बाला लिङ्गदेह जिससे उत्पन्न हुआ है, जा समाष्टिव्यष्ट्यात्मक
रूप है तथा समुद्र की लहरों के समान उनचास मरुद्गण जिसके बाह्यभेद हैं, वह यह वायुनस्त्व सूत्र कहा
जाता है । हे गौतम ! वायुरूप सूत्र के द्वारा ही यह लोक, परलाक और समस्त भूतप्राणी "सदृब्धानि
भवन्ति" अर्थात् संग्रथित है—ऐसा प्रसिद्ध है । लोक मे वायु की सूत्रत्व प्रसिद्धि है । कैसे है ? क्योंकि
वायु सूत्र है, इसलिए वायु सब का विधारक है । इसी से हे गौतम ! (मृतलक्षण के जानने वाले)
मृतशरीर के विषय मे कहते है—“व्यस्रसिपत” अर्थात् उस शरीर के अङ्ग विशेषण हो जाते हैं । जिस
प्रकार धागे के न रहने पर उसमे संग्रथित मणि आदि बिखर जाती है, उसी प्रकार वायु सूत्र है और उस

१. बायो सूत्रत्वप्रामिदि । २ शरीरम् । ३ मृतम् । ४ मृतलक्षणज्ञा । ५ विशेषणन्यमवन् । ६.
शरीरस्य । ७ बायो सर्वाधारत्वेन सूत्रत्वात् । ८ बाया । ९ बायो । १० बायो ।

यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद
यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त
आत्मान्तर्याम्यमतः ॥३॥

जो पृथिवी में रहने वाला है, पृथिवी के भीतर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका शरीर पृथिवी है और जो भीतर रहकर पृथिवी को नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ३ ॥

हि गौतम सूत्रेण संहृद्धानि भवन्तीति निगमयति । एवमेवंतच्छाज्ञवल्क्य सम्यगुक्तं सूत्रं तदन्तर्गतं त्विदानीं तस्यैव सूत्रस्य नियन्तारमन्तर्यामिणां सूहीत्युक्तं ग्राह ॥२॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन्भवति सोऽन्तर्यामी । सर्वः पृथिव्यां तिष्ठतीति सर्वत्र प्रसङ्गो

मे उस शरीर के अङ्ग मणियों के समान विरोधे हुए हैं। इस प्रकार वायु के निबल जाने पर इसके अङ्गों का विशेषण होना ठीक ही कहा है। इसी से (वायु के सर्वाधाररूप सूत्र होने से) याज्ञवल्क्य निष्कर्ष निकालते हैं—हे गौतम! ये वायुरूप सूत्र से सग्रहित है। (ब्राह्मिण ने कहा—) 'हे याज्ञवल्क्य! यह ठीक ऐसा ही है, तुमने सूत्र का यथार्थ प्रतिपादन किया है। उसके अन्तर्गत एवं सूत्र के ही नियन्ता अन्तर्यामी का वर्णन करो—ऐसा गौतम के कहने पर याज्ञवल्क्य बोले ॥ २ ॥

जो पृथिवी में वर्तमान रहता है, वह अन्तर्यामी है। समस्त प्राणीसमूह पृथिवी में रहता है, इससे सर्वत्र अन्तर्यामित्व का प्रसङ्ग न हो जाय, इसलिये उसका विशेषण बतलाते हैं। पृथिवी के

१ य पृथिव्यामित्यादि सदनस्य तात्पर्यमाहुर्वार्तिके तथाहि—“सूत्रादप्यन्तरतमस्त्वन्तर्याम्ययुनोच्यते । कार्यकारणभावोऽयं यस्मिन्नुक्ते समाप्यते” ॥ २५ ॥ इति । तस्मिन्नुक्तेऽपि वक्तव्यशेषमाशङ्क्याऽऽह—कार्येण । योऽयमुच्यते इति पूर्वेण सन्न्य ॥ २ य पृथिवीमिति—भ्रत वार्तिके—“स्वकार्यभूता तामेव पृथिवी मोहवत्तमा । तत्र सन्धविशेष सस्तामेवायं नियच्छति ॥ अदाहक्याऽपि बह्वि सन्दाहद्रव्यसमाश्रयात् । तत्र सन्धात्मकस्तस्य दग्धा दाहस्य न स्वत ॥ यथा ज्ञातवमेवाऽऽत्मा देवताद्यात्मकार्यं ॥ देवतादिशरीराद्यैर्देवतादीभ्यश्छति ॥ स्वतस्त्वकरणोऽदेहो निर्गुणोऽभेद एव च । चिदाभासस्त्वमोहोत्थकार्यैस्तद्धानिवेक्ष्यते” ॥ ३४-३७ ॥ इति । परो हि पृथिवी स्वमोहद्वारैव करोति कृत्वा च तामेव प्रविश्य तत्र प्राप्तकार्यकरण. मन्त्रियच्छतीति योजना ॥ ननु परस्य स्वतो नियन्तृत्व न बाऽऽप्ये नियम्यकार्यकरणापेक्षाऽनुपूर्वात्तद्वितीये तदपेक्षयाऽपि तदसिद्धिरित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—अदाहकोऽपीति । तत्र काष्ठादौ । सन्धात्मक जागृत्यमान ॥ दाष्टान्तिकमाह—जातेति । उक्तदृष्टान्तानुसारेण चिदातुनियन्तव्यदेवताभूतादिस्वमोहकृतकार्यगतो देवतादीनि तदीयकार्यकरणैरेव नियच्छतीति योजना ॥ स्वर्गीयकरणादिभिर्नियन्तृत्वसंभव कि परापेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह—स्वतस्त्विति । स्वतः कार्यादिहीनस्वैव यथ तद्व्यवधीस्तत्राऽह—चिदिति ॥ ३ वर्तमान । ४ प्राणिसमूह. ५ अन्तर्यामित्वप्रसङ्ग ।

मा भूदिति विशिनष्टि—'पृथिव्या अन्तरोऽभ्यन्तरः । तत्रतत्स्यात्पृथिवी देवतैवान्तर्या-
मीत्यत आह—यमन्तर्यामिणं पृथिवी 'देवताऽपि न वेद मध्यम्यः' कश्चिद्व्रतं इति । यस्य
पृथिवी शरीरं यस्य च पृथिव्येव शरीरं नान्यत्पृथिवीदेवताया यच्छरीरं तदेव शरीरं
यस्य । शरीरग्रहणं चोपलक्षणार्थं करणं च पृथिव्यास्तस्य । स्वकर्मप्रयुक्तं हि कार्यं करणं
च पृथिवीदेवतायाः । तदस्य स्वकर्माभावादन्तर्यामिणो 'नित्यमुक्तत्वात् । परार्थकतंव्य-
तास्वभावत्वात्परस्य यत्कार्यं करणं च तदेवास्य न स्वतस्तदाह—यस्य पृथिवी शरीर-
मिति । देवताकार्यकरणस्येश्वरसाक्षिमात्रसांनिध्येन हि नियमेन प्रवृत्तिनिवृत्ती

नियन्तुरेश्वरस्य लौकिकनियन्तुवैकार्यकरणवत्त्वमाशङ्क्याऽऽह—यस्य चेति । 'पृथिव्याः
"शरीरत्वमेव न तु शरीरवत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—पृथिवीति । पृथिव्या यत्करणं तदेव तस्य करणं
चेति योजना । कर्म पृथिव्याः "शरीरेन्द्रियवत्त्व तदाह—स्वकर्मति । अन्तर्यामिणोऽपि तथा किं न
स्यात्त्राऽऽह—तदस्येति । अस्यान्तर्यामिणस्त्वेदे कार्यं करणं च नान्यदित्यत्र हेतुमाह—स्वकर्मति ।
"तदेव हेत्यन्तरेण स्फोरयति—परार्थेति । यः पृथिवीमित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—देवतेति । "तत्र

"अन्तरः" अर्थात् (अचेतन होने से नियन्ता की अपेक्षा होने से) भीतर है । पृथिवी के अन्तरत्व कहने
पर भी पृथिवी देवता ही अन्तर्यामी है । ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं—जिस अन्तर्यामी देवता को
पृथिवी भी नहीं जानती कि मेरे भीतर और भी कोई दूसरा रहता है । "यस्य पृथिवी शरीरम्"
अर्थात् पृथिवी ही जिसका शरीर है, दूसरा नहीं यानी जो पृथिवी देवता का शरीर है, वही उसका
शरीर है । यहाँ शरीरशब्द उपलक्षणार्थ है, पृथिवी देवता और उसका करण एक ही है क्योंकि
पृथिवी देवता का कार्य और करण स्वकर्म में प्रेरित है । वे हा इस अन्तर्यामी के है क्योंकि नित्यमुक्त
होने के कारण अन्तर्यामी में स्वकर्म का अभाव है । परप्रयोजन वाली कर्तव्यता के सपादकस्वरूप होने
से जो दूसरे के कार्य और करण है, वही इस के हैं; स्वतः इसके कोई कार्य और करण विद्यमान नहीं
हैं, इसी से यह कहते हैं—जिसका पृथिवी शरीर है । देवता के कार्य और करण की प्रवृत्ति-निवृत्ति
ईश्वररूप साक्षी मात्र के सांनिध्य से नियमानुसार हुआ करती है । जो ऐसा नारायणसज्ञक ईश्वर

१. तस्या अचेतनत्वेन नियन्त्रपेक्षत्वात् । २. तथाप्येतादृशपृथिव्यभिमानिदेवतायामितिप्रसंगस्तस्याश्च नियम्य-
मानसूत्रात्मकत्वात्प्रान्तर्यामित्वमित्याह—तत्रैतदिति । शिंतेरान्तरत्वे उक्तेऽपीत्यर्थः । ३. अहमेव पृथिव्यधिष्ठात्री
(धिष्ठिता) सर्वं जगद्विभर्मीत्यभिमाना । ४. स्वकर्माभावे इव हेतुः । ५. परार्थेत्यादि । परप्रयोजनस्य
या कर्तव्यता तत्सपादकस्वरूपात्वादित्यर्थः । तथा च परार्थकर्तुः कुतः स्वकर्म । अपि च स्वरूपत एव पराथ-
सपादनसमर्थस्य काऽपेक्षा कार्यकरणस्य यस्य त्वर्थः साध्यस्तस्य तदपेक्षित तत्सांनिध्यं च सांनिध्यमात्रादेव च
तदस्येत्युच्यते न तु तत्राभिमानादिति विभावनीयम् । ६. "न तस्य कार्यं करणं च विद्यत" इति मन्त्रवचनात् ।
७ तदाहेति—उक्तं सर्वमभिप्रेत्य श्रुतिराहेत्यर्थः । ८. ईश्वररूपसाक्षिमात्रेति भावः । ९. कार्येति—
तद्वत्त्वे त्वस्मदादिवदनीश्वरत्वमिति भावः । १०. देवतायाः । ११. पृथिव्याः शरीरत्वमेव न तु शरीरत्वमिति
लिखितपुस्तकपाठः । १२. कार्यकरणवत्त्वम् । १३. स्वीयकार्यकरणराहित्यमेव । १४. निरुक्ततात्पर्येऽर्थः ।

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्याऽऽपः
शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः ॥४॥

योऽग्नीं तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः
शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः ॥५॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद

जो जल में रहने वाला जल के भीतर है, जिसे जल नहीं जानता, जल जिसका शरीर है और जो जल के भीतर रहकर लज का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ४ ॥

जो अग्नि में रहने वाला अग्नि के भीतर है, जिसे अग्नि जानता नहीं, जिनका शरीर अग्नि है और जो अग्नि के भीतर रहकर उमका नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ५ ॥

जो अन्तरिक्ष में रहने वाला है, अन्तरिक्ष के भीतर है जिसे अन्तरिक्ष जानता नहीं, जिसका

स्याताम् । 'य ईदृगोश्वरो नारायणाख्यः पृथिवीं पृथिवीदेवतां यमयति नियमयति स्वव्यापारेऽन्तरोऽभ्यन्तरस्तिष्ठन्नेष त आत्मा ते 'तव मम च सर्वभूतानां चतुष्पलक्षणार्थ-
मेतदन्तर्यामी यस्त्वया पृष्टोऽमृतः सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत् ॥३॥

समानमन्यत् । योऽप्सु तिष्ठन्नग्नावन्तरिक्षे वायो दिव्यादित्ये दिक्षु चन्द्रतारक

वायवमवतार्यं व्याचष्टे—य ईदृगिति । नियम्यपृथिवीदेवताकार्यकरणाभ्यामेव कार्यकरणवस्वमी-
दृशत्वम् ॥३॥

“पृथिवीम्” अर्थात् पृथिवीदेवता को “यमयति” यानी नियम में प्रवृत्त करता है, स्वव्यापार में “अन्तरः” अर्थात् भीतर रहकर “एष त आत्मा” अर्थात् सघातसहित तुम्हारा, मेरा और सबभूत-
प्राणिया का आत्मा होकर नियमन करता है । “ते” यह कथन उपलक्षणाधिक्य है । यही अन्तर्यामी है, जिसके विषय में तुमने पूछा है, यह “अमृत” सम्पूर्ण संसारधर्मों से वर्जित है ॥ ३ ॥
(चतुर्थमन्त्र से चतुर्दशमन्त्र पर्यन्त) दोष व्याख्यान तृतीय मन्त्र के समान ही है । जो जल,

१ नन्वेतादृशोऽन्तर्यामी नास्त्येव तत्रतादा प्रमाणाभावादित्याशङ्क्य “भीषाऽमादात. पवत”, “एतस्य वा
अधारस्य प्रशामने गतिं चाग्रापृथिव्यादि” स्यादिति प्रमाणमभिप्रेत्याह—य इति । २. नियमेन प्रवर्तयति ।

३ सघातसहितस्य ।

यस्यान्तरिक्षं शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त
आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥६॥

यो वायो तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः
शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः ॥७॥

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः
शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः ॥८॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद

शरीर अन्तरिक्ष है और जो उसके भीतर रहकर अन्तरिक्ष का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ६ ॥

जो वायु में रहने वाला है, वायु के भीतर है, जिसे वायु जानता नहीं, जिसका शरीर वायु है और जो वायु के भीतर रहकर वायु का नियन्त्रण करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ७ ॥

जो धूलोक में रहने वाला है, धूलोक के भीतर है, जिसे धूलोक नहीं जानता, जिसका शरीर धूलोक है और जो धूलोक के भीतर रहकर धूलोक का नियन्त्रण करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ८ ॥

जो आदित्य में रहने वाला है एव आदित्य के भीतर है, जिसे आदित्य जानता नहीं, आदित्य

आकाशे यस्तमस्यावरणात्मके बाह्ये तमसि तेजसि तद्विपरीते प्रकाशसामान्य इत्येव-

पृथिवीपर्याये दशित न्यायं पर्यायान्तरेष्वतिदशति—समानमिति ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥
॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु धूलोक सूर्य, दिशा, चन्द्रमा, तारागण और आकाश में रहने वाला है। जो "तम" यानी आवरणआत्मक बाह्य तम में, "तेजसि" अर्थात् तम से भिन्न सामान्य प्रकाश में रहने

१ तमसि तेजसीति । अत्र वातिकम्—“तेज सामान्यमात्र स्यात्तदधिष्ठातृदेवता । एव तमस्यपि ज्ञेय क्षेत्रज्ञरचाऽऽत्मसजित” ॥ ४६ ॥ इति । यस्तेजसीत्यत्र तेज शब्दस्य प्रकाशसामान्यविषयत्वमाह—तेज इति । यस्तेजो न वेदेत्यत्र विवक्षितमाह—तदिति । यस्तमसीत्यत्र तमःशब्देन तेजोविपरीतमप्रकाशमात्र गृह्यते । यं तमो न वेदेति च तदधिष्ठातृदेवतेत्यभिप्रेत्याह—एवमिति । य आत्मनि तिष्ठन्निति माष्यदिनास्तत्राऽऽत्मशब्दार्थ-
माह—क्षेत्रज्ञश्चेति । जीव इत्यर्थं ।

यस्याऽऽदित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष
त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥६॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिशोऽन्तरो-यं दिशो न विदुर्यस्य
दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मा-
ऽन्तर्याम्यमृतः ॥१०॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठच्छचन्द्रतारकान्तरो यं चन्द्रतारकं
न वेद यस्य चन्द्रतारकं शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो
यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥११॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद
यस्याऽऽकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त
आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१२॥

यस्तमसि तिष्ठंस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य

जिसका शरीर है, जो आदित्य के भीतर रहकर आदित्य का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्त-
र्यामी प्रमृत है ॥ ६ ॥

जो दिशाओं में रहने वाला है, एव दिशाओं के भीतर है, जिसे दिशाएँ जानती नहीं, जिसका
शरीर दिशाएँ है, जो दिशाओं के भीतर रहकर दिशाओं का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्त-
र्यामी प्रमृत है ॥ १० ॥

जो चन्द्रमा तथा तारों के भीतर है, जिसे चन्द्रमा और ताराएँ जानती नहीं, जिसका शरीर
चन्द्रमा और ताराएँ है ॥ जो चन्द्रमा और ताराओं के भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओं का नियन्त्रण
करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी प्रमृत है ॥ ११ ॥

-जो आकाश में रहने वाला है, एव आकाश के भीतर है, जिसे आकाश जानता नहीं, जिसका
शरीर आकाश है, जो आकाश के भीतर रहकर आकाश का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्त-
र्यामी प्रमृत है ॥ १२ ॥

जो अंधेरे में रहने वाला है एव अंधेरे के भीतर है, जिसे अंधेरा जानता नहीं, जिसका शरीर

मधिदेवतमन्तर्यामिषियं दर्शनं देवतासु । अथाधिभूतं भूतेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेष्व-

वाला है । इत प्रकार यह अन्तर्यामीषियक अधिदेवत देवतातन्तं विज्ञान कहा गया । इसके
बाद अधिभूत विज्ञान कहा जाता है, ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी भूतों में जो अन्तर्यामी दर्शन

ऋतमः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः ॥१३॥

यस्तेजसि तिष्ठ^१स्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य
तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥१४॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो य^२
सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः
सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत
इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥१५॥

अधेरा है, जो अधेरे के भीतर रहकर अधेरे का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी
अमृत है ॥ १३ ॥

जो प्रकाश में रहने वाला है, एव प्रकाश के भीतर है, प्रकाश जिसे जानता नहीं, जिसका
शरीर प्रकाश है, जो प्रकाश के भीतर रहकर प्रकाश का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी
अमृत है । इस प्रकार यह अन्तर्यामीविषयक देवताओं के अन्तर्गत दर्शन कहा गया । अब ब्रह्मादिस्तम्ब-
पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों में अन्तर्यामीविषयक दर्शन कहा जाता है ॥ १४ ॥

जो सम्पूर्ण भूतों में रहने वाला है एव सम्पूर्ण भूतों के भीतर है, जिसे सम्पूर्ण भूत जानते नहीं
हैं, जिसके सम्पूर्ण भूत शरीर हैं और जो भीतर रहकर सभी भूतों का नियन्त्रण करता है, वह
तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । यह अधिभूत दर्शन है । अब आगे अध्यात्म दर्शन कहा
जाता है ॥ १५ ॥

न्तर्यामि^३दर्शनमधिभूतम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥
१३ ॥ १४ ॥

अथाध्यात्म यः प्राणे प्राणवायुसहिते प्राणे यो वाचि चक्षुषि श्रोत्रे मनसि त्वचि
सर्वत्र प्राणादो तिष्ठन्न्तर्यामी तवाऽऽत्मेति सबन्ध । वाक्यान्तर प्रश्नपूर्वकमुत्थाप्य व्याचष्टे

है—वही अधिभूतविज्ञान है ॥ ४-१४ ॥

अब अध्यात्मविज्ञान कहा जाता है । जो "प्राणे" प्राणवायुसहित प्राणेन्द्रिय मे, वाणी, नेत्र,

१ दर्शनमुच्यत इति शेष । २ अर्थात्—अनन्तर शरीरमधिकृत्य वर्तमानप्राणादिष्वन्तर्यामिदर्शनमुच्यत-
इत्यर्थ । ३ प्राण इति—प्राणशब्देन कारणवद्देवतास्थानयोरपि ग्रहण इष्टव्यम् । तदुक्तं वातिके—“देवता-
स्थानकरणत्रय प्राणगिरोच्यते । नियच्छति यतो गन्धे प्रथमप्येतदीश्वर” ॥४७॥ इति । देवता इन्द्रियाभिमानवती ।
स्थान गोलकम् । करणमिन्द्रियम् । नियच्छति नियुङ्क्ते । एतेन यो वाचीत्यादि व्याख्यातम् ।

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य
प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्त-
र्याम्यमृतः ॥१६॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ्मन वेद यस्य
वाक्शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मा-
ऽन्तर्याम्यमृतः ॥१७॥

यश्चक्षुषि तिष्ठच्छक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य
चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः ॥१८॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यश्च श्रोत्रं न वेद यस्य
श्रोत्रं शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मा-
ऽन्तर्याम्यमृतः ॥१९॥

जो प्राण मे स्थित है एवं प्राण के भीतर है । जिसे प्राण जानता नहीं, जिसका शरीर प्राण है और जो भीतर रहकर प्राण का नियन्त्रण करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १६ ॥

जो वाणी मे स्थित है, और वाणी के भीतर है, जिसे वाणी जानती नहीं, वाणी जिसका शरीर है और जो वाणी के भीतर रहकर वाणी का नियन्त्रण करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमरण-धर्मा है ॥ १७ ॥

जो नेत्र मे स्थित है और नेत्र के भीतर है, जिसे नेत्र जानता नहीं, नेत्र जिसका शरीर है, और जो नेत्र के भीतर रहकर नेत्र का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमरण-धर्मा है ॥ १८ ॥

जो श्रोत्र के भीतर श्रोत्र मे रहने वाला है, जिसे श्रोत्र जानता नहीं, श्रोत्र जिसका शरीर है और जो श्रोत्र के भीतर रहकर श्रोत्र का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १९ ॥

विज्ञाने बुद्धौ रेतसि प्रजनने । कस्मात्पुनः कारणात्पृथिव्यादिवेदेवता महाभागाः सत्यो

—करमादिभ्यादिना । यथा मनसि तथा बुद्धावपि सनिधानाज्जातृतेति यावत् । तत्रेति पूर्वसदर्भोक्तिः ।

श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान, बुद्धि, वीर्य, जननेन्द्रिय मे रहने वाला है । तो फिर किसलिए पृथिवी आदि देवता निरङ्कुश ज्ञान-ऐश्वर्य-शक्ति वाले होने पर भी मनुष्यादि के समान भीतर रहने वाले अपनी

१. कस्मादिति—य पृथिवी न वेदेत्यादिना पृथिव्यादिक्षेत्रज्ञो नान्तर्यामिण जानातीत्युक्तमित्यादि । २. महाभागाः निरङ्कुशज्ञानैश्वर्यशक्तिमत्त्व ।

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य
मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः ॥२०॥

यस्त्वचि तिष्ठत्स्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ्गं वेद यस्य
त्वक्शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः ॥२१॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद
यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष
त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२२॥

जो मन के भीतर मन में स्थित है, जिसे मन जानता नहीं, जिसका शरीर मन है, जो मन के भीतर रहकर मन का नियमन करता है यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २० ॥

जो त्वचा के भीतर त्वचा में रहने वाला है, जिसे त्वचा नहीं जानती, जिसका शरीर त्वचा है, जो त्वचा के भीतर रहकर त्वचा का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २१ ॥

जो बुद्धि में रहने वाला बुद्धि के भीतर है, बुद्धि जिसे जानती नहीं, जिसका शरीर बुद्धि है, जो बुद्धि के भीतर रहकर बुद्धि का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २२ ॥

मनुष्यादिवदात्मनि तिष्ठन्तमात्मनो' नियन्तारमन्तर्यामिणं न विदुरित्यतः^१ ब्राह्—अदृष्टो न दृष्टो न विषयीभूत^२ अक्षुर्दशनस्य^३ कस्यचित्स्वयं^४ तु चक्षुषि संनिहितत्वाद्दृशिस्वरूप

आत्मा के नियन्ता अन्तर्यामी को नहीं जानते । इस पर कहा जाता है—“अदृष्टः” अर्थात् वह दिखायी नहीं देता यानी चक्षुर्वृत्ति दर्शन का विषयभूत नहीं है, तो भी स्वयं मनुष्य के चक्षु में साक्षीरूप से

१. स्वयं । २. आहेति—तस्य विषयत्वमनन्तरश्रुतिवृत्ते विनापि विषयत्व तत्स्वरूपं ज्ञातुं शक्यमिति ज्ञापयितुमित्यर्थः । ३. विषयत्वमनापन्नं । ४. चाक्षुषवृत्ते । ५. पुनः । ६. साक्षितया स्थितत्वात् ।

छ्दःआहेत्यादि—मन्वस्मदादिषदन्तर्गामी कुतो न विषय इत्याशङ्क्य समाहितं वार्तिके । तद्यथा—“द्रष्टुर्दर्शनदृश्यामी प्रत्यष्टिदृष्टिसमीक्षणे । जाड्यपाराध्वंहेतुभ्या शक्तिर्नास्ति मनागपि ॥ न द्रष्टोर्दृश्ययोर्नापि तथा दर्शनयोर्मियः । ब्राह्मप्राहृकसम्बन्धस्तत्साक्षी न च वीक्ष्यते ॥ रूपादिदर्शान्तस्व भागमापावसाध्यसौ । नित्यात्मदृष्टिश्चिन्मात्रः पश्येत् पृथिवी वथम् ॥ मागोचरतिवर्तित्वादसाधारणदृष्टितः । द्रष्टोरुच्यस्य चाभावाच्च तं पश्यन्ति देवता ।” ॥४६-५२॥ इति । किंच द्रष्टादेरन्योन्याप्राहृत्येनान्तर्गामिप्राहृत्यात् तस्य तैर्प्राहृत्येत्याह—नेत्यादिना । द्रष्टोर्वा दृश्ययोर्वा दर्शनयोर्वा न मियो ब्राह्मप्राहृकत्व समत्वात्तेषां द्रष्टादीनां साध्यत्वयोर्वा तैश्च विषयैर्न दृश्यत इत्यर्थः ॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह—रूपादीति । स्वीयरूपादिज्ञानसाक्षित्वात्तदागमापायसाक्षित्वादान्तरत्वाच्चिन्मात्रतया

यो रेतसि तिष्ठन्रेतसोऽन्तरो यः^१रेतो न वेद
 यस्य रेतः शरीर यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मा-
 ऽन्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमृतो मन्ता-
 ऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति

जो प्रजनन इन्द्रिय में रहने वाला प्रजनन के भीतर रहता है, जिसे वीर्य जानता नहीं, वीर्य जिसका शरीर है जो वीर्य के भीतर रहकर वीर्य का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। वह दिखायी नहीं देता, किन्तु देवता है। गुनायी नहीं देता, किन्तु सुनता है। मनन का विषय नहीं होता, किन्तु मनन करने वाला है। जो विशेषरूप से ज्ञात नहीं होता, किन्तु विशेषरूप से जानता

इति द्रष्टा । तथाऽश्रुतः श्रोत्रगोचरत्वमनापन्नः कस्यचित्स्वयं त्वलुप्तश्रवणशक्तिः सर्वश्रोत्रेषु
 संनिहितत्वाच्छ्रोता । तथाऽमृतो मनःसंकल्पविषयतामनापन्नः । दृष्टश्रुते एव हि सर्वः
 संकल्पयत्यदृष्टत्वादश्रुतत्वादेवामृतोऽलुप्तमननशक्तित्वात्सर्वमनःसु संनिहितत्वाच्च मन्ता ।
 तथाऽविज्ञातो निश्चयगोचरतामनापन्नो रूपादिवत्सुखादिवद्वा स्वयं त्वलुप्तविज्ञानशक्ति-
 त्वात्सन्निधानाच्च विज्ञाता । तत्र यं पृथिवी न वेद य सर्वाणि भूतानि न विदुरिति

विराजमान होकर दर्शनरूप होने के कारण द्रष्टा अर्थात् देखता है। इसी प्रकार वह "अश्रुतः" अर्थात् किसी के श्रोत्र की विषयता को अप्राप्त है किन्तु स्वयं जिसकी श्रवणशक्ति लुप्त नहीं होती, समस्त श्रोत्रों में साक्षीरूप में स्थित होने के कारण जो सुनता है। ऐसे ही जो "अमृत" यानी मन के संकल्पविषय को अप्राप्त है। क्योंकि सब देखे और सुने गये पदार्थों का संकल्प करते हैं, अतः अदृष्ट और अश्रुत होने के कारण ही वह मनन का विषय नहीं होता। तथा मननशक्ति अलुप्त होने से सभी मनो में साक्षीरूप से विद्यमान रहने के कारण वह मन्ता है। इसी प्रकार "अविज्ञात" अर्थात् रूपादि या सुखादि के समान निश्चयगोचरता को अप्राप्त है, किन्तु स्वयं जिसकी विज्ञानशक्ति अलुप्त होने के कारण साक्षीरूप में स्थित होने के कारण विज्ञाता है। यहाँ "जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसे समस्त भूत प्राणी नहीं जानते" इस उक्ति से पृथिवी क्षेत्रज्ञ आदि नियन्त्रण ग्रन्थ हैं और विज्ञाता ग्रन्थ हैं। नियन्ता अन्तर्यामी

१ हेतो । २ अनयोक्त्या ।

नित्यारमदृष्टत्वाच्चान्तर्यामिण पृथिव्यादिक्षेत्रज्ञो न क्षमो बीक्षितुमित्यर्थं ॥ इतश्चास्याविषयतेत्याह—
 भागोचरेति । शब्दादिहीनत्वात्स्वप्रकाशात्त्वादद्रष्टृन्तराभावाच्च न साक्षिणो द्राह्यतत्त्वर्थं ॥ अत्र टीकायां
 स्वोपरूपादित्यादि । स्व देवतासन्निष्ठरूपादिज्ञानानामपि साक्षित्वात्साक्षित्तु शक्यते साक्षी देवताभिरपीत्यर्थं ।
 अयमाशय — अरमदादिभिस्तावत्साक्षी नावेदयते तत्कस्य हेतो, अस्मज्ज्ञानानां साक्ष्यवेक्ष्यत्वात् । स हि ज्ञान-
 वावेक्षणोप, ज्ञान च तेनैव पुरस्तादवतोर्मितामिति न समबलोक्येज्ज्ञान स्वभासकाऽभासकत्वाद् भास्यस्य । न
 हि भानुमातो घटो भानु भासयति । न च जाड्यादिना घटज्ञानयोर्बैजात्यम् । एव च देवतानामपि ज्ञान साक्षिणा-
 श्रेष्ठित सन्न समबलोक्यमित्युच्यते इति । देवतानामप्यस्मदादिवद्रूपादिविषयगोचरमेव ज्ञानमित्यावेदित्युक्तं
 रूपादीति ।

श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातंष
त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदातं ततो होद्दालकः
आरुणिरुपरराम ॥२३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य
सप्तमं ब्राह्मणम् ॥७॥

है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सभी नद्वर है। इसके बाद आरुणि उद्दालक
चुप हो गया ॥ २३ ॥

॥ इति सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

चान्ये' नियन्तग्या विज्ञातारोऽन्यो नियन्ताऽन्तर्यामोति' प्राप्त तदन्यत्वाशङ्कानिवृत्त्यर्थं—
मुच्यते—'नान्योऽतो नान्यः । श्रोतोऽस्मादन्तर्यामिणो नान्योऽस्ति द्रष्टा तथा नान्योऽतोऽस्ति'
श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता । यस्मात्परो नास्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता
विज्ञाता योऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुत श्रोताऽमृतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाताऽमृतः सर्वसंसारधर्मवर्जितः
सर्वसंसारिणां कर्मफलविभागकर्तेषु त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽस्मादीश्वरादात्मनोऽन्यदातं
ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥
॥ २२ ॥ २३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

अन्यमनुपलक्षयितुमतो नान्य इत्युक्तम् । पदार्थान्वयाकरोति—अत इति । अन्यो द्रष्टा नास्तीति
वन्ध । एष त इत्यादिवाक्यस्यार्थमाह—यस्मादित्यादिना ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥
॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां तृतीयाध्यायस्य सप्तममन्तर्यामिब्राह्मणम् ॥७॥

जि सब से भिन्न है। ऐसा सिद्ध होने पर उनमें अन्यत्वाशङ्का की निवृत्ति के लिए यह कहा जाता है।
नान्योऽतं यह प्रतीक है। "अत" अर्थात् इस अन्तर्यामी से भिन्न कोई और द्रष्टा नहीं है। इसी
कार इससे भिन्न कोई और श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई और मन्ता नहीं है इससे भिन्न कोई और
विज्ञाता नहीं है। जिससे परे कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है, जो दिखायी न देने वाला
हन्तु देखने वाला है, जो सुनायी नहीं देता किन्तु सुनता है। मनन का विषय नहीं होता किन्तु मनन
रने वाला है। जो विशेषरूप से ज्ञात नहीं होता, किन्तु विशेषरूप से जानता है "अमृत" यानी सम्पूर्ण

१ पृथिवीक्षेत्रज्ञादयः । २ इति प्राप्त तदयत्वेत्यादि । यत्प्राप्त संवाग्यत्वाशङ्का तन्निवृत्त्यर्थम् । अनुस्वार-
रहितो वा पाठ प्राप्त तदयत्वेति तत्र इति—उक्तविषया प्राप्ताया तयोविज्ञानन्तर्यामिणोऽन्यमन्यामक्यो
मिथोभिन्नत्वाशङ्का तन्निवृत्त्यर्थमिति विग्रहः । ३ प्रतीकोऽयम् । ४ अन्यदातंम्—आत्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तर
विज्ञाताद्वस्त स्वप्नमायामरीच्युदकादिवदसारमित्यर्थः । ५ स्वप्नप्रवृत्तिर्भयात् । ६ नान्य इत्यस्य अत
इत्यनेनात्वय प्रदर्शयितुम् ।

अथ तृतीयाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ।

'अथ ह वाचकनव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो 'हन्ताहमिमं
द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे' वक्ष्यति न वं जातु
युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ
गार्गीति ॥१॥

तत्पश्चात् वाचकनु की पुत्री गार्गी ने कहा—हे पूज्य ब्राह्मणगण ! यदि आप लोगो की अनुमति हो तो मैं इस याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूंगी, मेरे उन प्रश्नो का उत्तर यदि याज्ञवल्क्य ने दे दिया तो आप मे से कोई इन्हे ब्रह्मसम्बन्धी वाद विवाद में नहीं जीत सकते । इस पर ब्राह्मणो ने अनुमति दी ।
हे गार्गी ! पूछ ॥ १ ॥

'अतः परमशानायादिविनिर्भुवंतं निरुपाधिकं साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तरं ब्रह्म
वक्तव्यमित्यत आरम्भ —

अथ ह वाचकनव्युवाच पूर्वं याज्ञवल्क्येन निषिद्धा भूधंपातभयादुपरता सती पुनः

पूर्वस्मिन्ब्राह्मणो सूत्रान्तर्यामिणो प्रश्नप्रत्युक्तिव्या 'निर्धारितो सप्रत्युत्तरब्राह्मणतात्पर्यमाह—
अत परमिति । सोपाधिकवस्तुनिर्धारणानन्तर्यमथशब्दार्थं । ननु यस्माद्भ्याङ्गाङ्गार्गो पूर्वमुपरता 'तस्य
'तदवस्थत्वात्क्य पुन सा प्रष्टु प्रवर्तते तत्राऽह—पूर्वमिति । हन्तेस्पस्यायमाह—'यदीति । 'न वं

सासारिक धर्मों से रहित एव समस्त समारी मनुष्यों के कर्मफलो का विभाग करने वाला है, यह तुम्हारा
आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, इस ईश्वर आत्मा से अन्य है और सब विनाशप्रस्त (स्वप्न, मृत्युतृष्णा के
समान असार) है । इस प्रकार अपने प्रश्न के निर्णय से आरुणि उद्दालक चुप हो गया ।

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीया अध्याय के सप्तमब्राह्मण
का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ७ ॥

(सोपाधिकब्रह्म के स्वरूप को निरूपण कर) अब क्षुधादिरहित निरुपाधिक साक्षात् अपरोक्ष
सर्वान्तर ब्रह्म का व्याख्यान करना है, इसलिए आगे का ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है ।

१ अथति—'अष्टमब्राह्मण ब्रह्मतत्त्व सम्यङ्निरूप्यते । सूत्रत्वमन्तर्यामित्वा यत्रोत्प्रोतता ब्रजेत् ॥ शीतमेन
पुरा पृष्टे सूत्रान्त्यामिद्वस्तुनी । शीतप्रोतारमता गार्गी तयोरेवान्वपृच्छत ॥ १ २ ॥—इति वार्तिकसारे ।
तथा च सूत्रादिस्वरूपमेव प्राङ्निर्णीतं न तत्र व्याप्यव्यापकभाव उक्त सम्प्रति सूत्रस्याव्याकृतम् । तदन्तस्य चाक्षर
व्यापकमिति निर्णीयत इति न पूर्वोत्तरस्य गताथत्वमिति द्रष्टव्यम् ॥ २ हन्तिति निपातोऽनुमतो । ३
मे—मह्यम् । ४ अत परमिति—सोपाधिकब्रह्मस्वरूपनिर्धारणान्तरमित्यथ । सोपाधिकत्वेना तयानिरूप्य
हेयत्वात्तज्ज्ञानात्पुमर्थतामाप्तनिरुपाध्यक्षरज्ञानादेव तरसमाप्तरप्रपञ्चमक्षर साक्षात्वादिविशेषण वाक्यार्थरूप
वाच्यमित्यक्षरब्राह्मणोत्पानमिति । ५ निर्धारिताविति—तदुभयमप्यारभन सोपाधिक रूपमिति शेष । ६
भवस्य । ७ तथैव विद्यमानत्वात् । ८ तथा च हन्तेति निपातोऽनुमतो ।

सा होवाचाहं वं त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा

गार्गी ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जैसे लोक मे काशी या विदेहदेश का रहने वाला राजा वीरवश

प्रष्टुं ब्राह्मणानुजां प्रार्थयते । हे ब्राह्मणा भगवन्तः पूजां वन्तः शृणुत मम वचो हन्ताहमिमं याज्ञवल्क्यं पुनर्द्वां प्रश्नो प्रक्ष्यामि यद्यनुमतिर्भवतामस्ति । तौ प्रश्नो चेद्यदि वक्ष्यति कथयिष्यति मे कथंचिन्न वै जातु कदाचिद्युष्मकं मध्य इमं याज्ञवल्क्यं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं ब्रह्मवदनं प्रति जेता न वं कश्चिद्भवेदित्येवमुक्त्वा ब्राह्मणा अनुजां प्रददुः पृच्छ गार्गीति ॥ १ ॥

लब्धानुजा ह याज्ञवल्क्यं सा होवाचाहं वं त्वा त्वां द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामीत्यनुपपज्यते ।

जात्विति प्रतीकमादाय व्याचष्टे—कदाचिदित्यादिना । अन्वयं दर्शयितुं कश्चिदिति पुनरुक्तिः ॥१॥

“अथ ह वाचकन्व्युवाच” अर्थात् पहले याज्ञवल्क्य से रोकी गई हुई शिर गिरने के भय से चुप हुई वाचकनवी पुनः प्रश्न करने के लिए ब्राह्मणों से प्रार्थना करती है। ‘भगवन्तः’ यानी हे पूज्य ब्राह्मणों ! मेरी बात सुनिये। (वही मेरा मूँघपात न हो) इसलिए यदि आप की आज्ञा हो तो मैं इन याज्ञवल्क्यजी से दो प्रश्न पूछना चाहती हूँ। “तौ चेन्मे वक्ष्यति” यदि मेरे इन दोनों प्रश्नों का उत्तर दे देंगे, तो आप मे से काई भी इन याज्ञवल्क्य को “ब्रह्मोद्यम्” अर्थात् ब्रह्मवाद में “जातु” यानी कभी किसी प्रकार भी जीतने वाला नहीं हो सकेगा। इस प्रकार वाचकनवी द्वारा कहे जाने पर ब्राह्मणों ने “अथ मत करो, हे गार्गी। प्रश्न पूछो” ऐसी आज्ञा दे दी।

आज्ञा प्राप्त कर लेने पर उसने याज्ञवल्क्य से कहा—मैं “त्वा” अर्थात् तुम्हे दो प्रश्न

१ प्रष्टुमिच्छामीति यावत् । २ भवदनुमत्या हि मे मूघपातो न भवेदिति भावः । ३ मह्यम् । ४ न जेतैत्यन्वयः । ५ ब्रह्माद्येति—भावक्यवन्तम् ‘मुवो भावः’ इत्यतो भावे इत्यपकृष्य ‘बद सुपि वयम् च’ इत्यनेन सुष्पुपपदे वदेर्भावं वयस्विघ्नानादित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—ब्रह्मवदनमिति । द्वितीयानुपपादयितुं प्रतीत्यव्याहृत तथा च ब्रह्मवादे नैन कश्चन जेतैत्यर्थः । जेतानि तु वृत्रन्तम् । अतएव “न लोकेति” निषेधात्कर्मणि द्वितीया अन्यथा (तस्य वृजन्तत्वं) ‘कतृ कर्मणो कृतीति’ षष्ठ्यापत्तरिति । तद्यथा—जेतैत्यस्य तिङन्तत्वं तु न सभाव्य तथा मति भवदिति भाष्य पीड्यते । परन्तु तस्य तिङन्तत्वाभ्युपगमेऽप्यनुपपत्त्यभावाद्भवेदित्यहोऽभाष्य चिन्त्यप्रयोजनम् अथवा तिङन्तत्वे तस्यानद्यतनप्रविध्यर्थकत्वेन इव प्रपृति नैन कश्चिज्जेत्यतीति संयात्तया चाद्यतनजयस्थानुमतत्वं भवत्तन्मा भूदिति । तथा कृतमिति समाधेयम् । यद्यपि जातुपदेन सार्वैकिकजय प्रतिषिष्यते तथापि जेतैत्यस्य तिङन्तत्वाभ्युपगमे तदनुरोधाज्जातुपदमध्यद्यतनातिरिक्तकाले सकुचेदित्यभिप्रायः । न तु जातुपद वा सकुचतु तदनुरोधाज्जेतैत्येव वा विकसत्त्वित्प्र विनिगमनाविरह इति चेद् अतएव चिन्त्यप्रयोजनत्वमुक्तम् । अथवा अव्ययाना तावदनेकार्थत्वं प्रसिद्धतरमिति तत्रैव तत्रोच्यते किंसावहतो न तु तदनुरोधिन नियत प्रत्ययार्थे तावित्येवैव विनिगमना । ननु बसन्ददर्श इत्यादौ -कथ तत्रोच्यते इत्येव समबलत्वाद्द्व्याकर्त्रेव तथाभ्युपगमात् तदुक्त—‘घातुसबन्धे प्रत्यया’ इतीति ध्येयम् । ६ मा ते मूँघपातप्रयमित्यभिप्रायाः । ७ मा मेवो कुह प्रश्नम् ।

वेदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनु रधिज्यं कृत्वा द्वौ वाणवन्तौ
सपत्नातिव्याधिनी हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा
द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ
गार्गीति ॥२॥

मे उत्पन्न प्रत्यञ्चारहित धनुष पर पुन प्रत्यञ्चा चढाकर दानुओं को अत्यन्त पीडित करने वाले दो वाणो से युक्त शर हाथ में लेकर उपस्थित हो, वैसे ही दो प्रश्न लेकर मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ तो है । (यदि तुम ब्रह्मज्ञानी हो तो) मुझे उनका उत्तर दो । तब याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! पूछ ॥ २ ॥

कौ ताविति ; जिज्ञासाया तयोर्दुस्तरत्व द्योतयितुं दृष्टान्तपूर्वकं तावाह—हे याज्ञवल्क्य यथा लोके काश्यः काशीषु भवः काश्यः प्रसिद्ध शौर्य काश्ये वेदेहो वा विदेहाना वा राजोग्रपुत्रः शूरान्वय इत्यर्थः । उज्ज्यमवतारितज्याकं धनुः पुनरधिज्यमारोपितज्याकं कृत्वा द्वौ वाणवन्तौ वाणशब्देन शराभ्रे यो वंशखण्डः सधीयते । तेन विनाऽपि शरो भवतीत्यतो विशिनष्टि वाणवन्ताविति । द्वौ वाणवन्तौ शरो तयोरेव विशेषणं सपत्ना-तिव्याधिनी शत्रोः पीडाकरावतिशयेन हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेत्समीपत आत्मानं दर्शयेदेव-मेवाहं त्वा त्वा शरस्थानीयान्या प्रश्नाभ्यां द्वान्यामुपोदस्थामुत्थितवत्यस्मि त्वत्समीपे । 'तौ मे ब्रूहीति ब्रह्मविच्चेत् । आहेतरः पृच्छ गार्गीति ॥ २ ॥

संधीयते स उच्यत इति शेष । प्रश्नयोरवश्यप्रत्युत्तरणीयत्वे ब्रह्मिष्ठत्वाङ्गीकारो हेतुरित्याह—
ब्रह्मविच्चेदिति ॥२॥

पूर्वङ्गी—इस प्रकार सगति हो जाती है । वह दो प्रश्न कौन से है—ऐसी जिज्ञासा होने पर उनका दुस्तरत्व प्रदर्शित करने के लिए गार्गी दृष्टान्त देकर बतलाती है । जिस प्रकार लोक में “काश्य” अर्थात् काशी प्रान्त में उत्पन्न होने वालों की वीरता प्रसिद्ध है अथवा “वेदेह” यानी विदेह देश का राजा “उग्रपुत्र” यानी वीरवश में उत्पन्न हुआ है । “उज्ज्यम्” अर्थात् जिसकी डोरी उतार ली गई है, ऐसे धनुष को “अधिज्यम्” अर्थात् पुन डोरी चढाकर दो वाणों से युक्त हो “सपत्नातिव्याधिनी” अर्थात् दानु को पीडित करने वाले शर हाथ में लेकर उपस्थित हो । यहाँ वाणशब्द से शर के अगले हिस्से में लगे बाँस के टुकड़े से तात्पर्य है । वाण के बिना भी शर होता है इसी से “बाणवाला” यह विशेषण दिया गया है । इसी प्रकार मैं ‘त्वा उपोदस्थाम’ अर्थात् शरस्थानीय दो प्रश्नों को लेकर तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूँ । यदि तुम ब्रह्मवेत्ता हो तो इनका मुझ उत्तर दो । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! पूछ ॥ २ ॥

१ उज्ज्यं धनु रधिज्यं कृत्विति—पूर्व प्रष्टुकामाणि मूषपातभयादुपरताऽऽसीदित्युज्ज्यत्वसाम्यं सन्धानुज्ञा तु पुन प्रष्टुमुद्यतेत्यधिज्यत्वतीत्यमिति विभायनीयम् । अथवा प्रश्नयोरत्यर्थं दुरुत्तरत्व द्योतयितुं तथा दृष्टान्तोक्ति उज्ज्यस्याधिज्यीकरणे हि कोपोज्ज्वलनमेव हेतुर्भवति प्रोज्ज्वलितकोपश्चातीव दुःसहं मुष्तेति भावः । २ शार्गेति । ३ तौ—तयोस्तत्परिचयार्थं । ४ मस्यम् ।

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य 'दिवो यदवाकपृथिव्या'
'यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च
भविष्यच्चेत्याचक्षते' ॥१॥ १॥ १॥ १॥ १॥
चेति ॥३॥

गार्गी ने कहा—हे याज्ञवल्क्य । जो ध्रुलोक से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो द्यावा-पृथिवीरूप इन अण्डकपालो के बीच में है और स्वयं भी जो ये ध्रुलोक और पृथिवी हैं, एवं जिन्हे भूत, वर्तमान और भविष्यत् ऐसा कहते हैं, वे सम्पूर्ण द्वैतवर्ग किसमें ओत-प्रोत है ॥ ६ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वमुपरि दिवोऽण्डकपालाद्यज्ञावागधः पृथिव्या अधोऽण्डकपाला-
द्यज्ञान्तरा मध्ये द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्योरण्डकपालयोरिमे च द्यावापृथिवी यद्भूतं
यज्ञातीतं भवच्च वर्तमानं स्वव्यापारस्थं भविष्यच्च वर्तमानादूर्ध्वकालभाविलिङ्गम्यं

वह बोली "यदूर्ध्वम्" अर्थात् जा ध्रुलोक रूप उपरितन अण्डकपाल से ऊपर है, जो "पृथिव्या" यानी अधस्तन अण्डकपाल से नीचे है तथा जो "द्यावापृथिवी" अर्थात् ध्रुलोक और पृथिवीलोक के अण्डकपालो के मध्य में है । एवं ये प्रसिद्ध ध्रुलोक और पृथिवीलोक है तथा जो "भूतम्" यानी अतीत "भवच्च" यानी अपने व्यापार में अवस्थित वर्तमान, "भविष्यच्च" अर्थात् वर्तमान के परवर्ती समय में

१ दिवः—उपरितनादण्डकपालाद्यज्ञावागधस्तूर्ध्वमुपर्यस्तीत्यन्वयः । द्वे तावद्ब्रह्माण्डस्य कपाले भवतस्तत्र दिव इत्यनेन उपरितन कपालमुच्यते पृथिवीशब्देन चाधस्तनमिति । २ अधः । ३ अधस्तनाण्डकपालात् । ४ यच्च तयोर्मध्ये । ५ ये चेमे द्यावापृथिव्यौ । ६ आगमविदः । ७ उक्तद्वैतजातारमसूत्रम् । ८ उपरितनाण्डकपालात् । ९ प्रसिद्धे ।

क्ष्मिस्तदोत च प्रोत चेति अत्राहुवातिकाचार्यास्तथाहि—“सूत्रे तावद्विद सर्वमोत च प्रोनमेव च । वर्तमाने जगत्काल इति तावत्सुनिश्चितम् ॥ जगत्चाप्यनभिव्यक्तमाविर्भवति साप्रतम् । व्यक्तिस्येय सतो युक्ता नासतो घटते यतः ॥ अभिव्यक्त च सदिद पुनरभ्यक्ततामिताम् । वायुना विभूत तस्य रूप यद्वातमानिकम् ॥ अतीतानागतयोस्तु कालयोजगदात्मनः । सत्ता यनाऽऽत्मना कस्मिन्नोता प्रातर्ति भयताम्” ॥ ६-१२ ॥ इति । समूत्रस्य जगतोऽत्राऽऽश्रय पृच्छयते स च प्रश्नो वर्तमानकाले वाऽतीतानागतयोर्बेति सशये द्वितीयमादातुमाद्य दूषयति—सूत्र इति । प्राणाख्यसूत्रस्य देहादपसर्पणे देहाङ्गाना विश्व सनदृष्टेरन्वयव्यतिरेकाभ्या ततोऽर्वाक्तनस्य तदाश्रयत्व द्वितीयस्तावच्छब्दः ॥ कालान्तरेऽपि जगदाश्रयो न प्रष्टव्यो नाशादूर्ध्वं प्रागुत्पत्तेश्च तस्यासत्त्वादित्याशाङ्क्याऽऽह—जगच्चेति । प्रागुत्पत्तेः सदिपि जगदभ्यक्त जन्मकाले नामरूपाभ्या त्यज्यतऽतो न भूतकाले तदसत्त्वस्य । असदेव ध्वज्यतामिति चेन्नेत्याह—व्यक्तिरचेति ॥ प्रागुत्पत्तेरत्यन्तासत्त्वासाङ्क्या जगतो निरस्य नाशादूर्ध्वमपि तां निरस्यति—अभिव्यक्त चेति । अतीतानागतकालयोजगत सत्त्वमुक्त्वा फलित प्रश्न वक्तु पूर्वोक्तमनुवदति—वायुनेति ॥ कालद्वयेऽपि जगदाश्रयप्रश्नः परिशिष्टमाचष्टे—अतीतमुत् । वर्तमानकाले जगत सत्ता येन सूत्रात्मना विहिता सा तेन सहावर्तमानकाले कस्मिन्नोतप्रोतत्वेन स्थितति प्रश्नार्थं ॥

'स होवाच यदूर्ध्वं गार्गी दिवो यदवाक्पृथिव्या
यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्य-
चत्त्याचक्षत आकाशं तदोतं च प्रोतं चिति । ४ ।

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और जो द्युलोक पृथिवी के बीच में है एव स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, भविष्य, वर्तमान ऐसा कहते हैं, वे सभी अग्राहृत आकाश में प्रोत-प्रोत हैं ॥ ४ ॥

'यत्सर्वमेतदाचक्षते कथयन्त्या'गमत'स्तत्सर्वं द्वैतजातं यस्मिन्नेकी भवतीत्यर्थः । तत्सूत्रसंज्ञं पूर्वोक्तं कस्मिन्नोतं च प्रोतं च पृथिवीघातुरिवाप्सु ॥ ३ ॥

- स होवाचेतरो हे गार्गी यत्त्वयोक्तमूर्ध्वं दिव इत्यादि 'तत्सर्वं यत्सूत्रमा'चक्षते तत्सूत्रमाकाशे तदोतं च प्रोतं च ॐयदेतद्व्याकृतं सूत्रात्मकं जगदव्याकृताकाशोऽस्तिव

सूत्रस्यास्याऽऽधारे प्रष्टुष्ये किमिति सर्वं जगदनुद्यते तत्राऽऽह—तत्सर्वमिति । पूर्वोक्तं सर्व-
जगदात्मकमिति यावत् ॥३॥

यथाप्रद्वनमनुद्य' प्रत्युक्तिमादत्ते—स होवाचेति । ता व्याचष्टे—यदेतदिति । यज्जगद्व्याकृतं

हीने धाला अनुमानगम्य भविष्यत् को जब आगमवेत्ता सूत्रात्मक कहते हैं—वह सम्पूर्ण द्वैत जगत् जिसमें एक ही जाता है । उक्त द्वैतजातात्मक जल में पृथिवी के समान किसमें प्रोत और प्रोत है ॥ ३ ॥

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! तूने जिसे 'द्युलोक से भी ऊपर' इत्यादि कहकर बतलाया है, वह सब द्वैतजात जिसे आगमवेत्ता सूत्रात्मा कहते हैं, वह आकाश में प्रोत और प्रोत है ।

१ स होवाचेत्यादि । यत्त्वयोक्त दिव ऊर्ध्वादि तत्सूत्र व्याकृततदात्मक आकाशे अभ्याहृत अविद्यावतितेऽन्त-
र्यामिणीशब्दे नारायणाख्ये त्रिष्वपि कालेष्वोतं प्रोतं चेत्यर्थं । अत्र वातिवम्—'यावद्वि जनिर्मत्किंचिन्नामादि-
प्रविभागवत् । आकाशस्तस्य सर्वस्य तत्त्वमत्र विवक्षितमिति" ॥ १५ ॥ नामरूपकर्मात्मनो जनिमतो
जगतोऽतिरिक्त कार्यमप्रसिद्धमिति हिद्यभ्यायं । अज्ञातं ब्रह्मं जगत्तत्त्व कल्पितस्याधिष्ठानानतिरेकादित्यर्थं ।

२ यत्सर्वमेतदाचक्षते इति—एतत्सर्वं यदाचक्षते (यत्सूत्रारमकमाचक्षते) इत्यन्वयः । सदेतद्व्याख्याति तत्सर्वं
द्वैतेत्यादिना । एव च मूलस्या यच्छब्दा यदात्मकमित्यर्थका आचक्षते इत्यनेनानुवृत्तीति सूचितम् । ३ आग-
मैकगम्यस्य सूत्रस्यानुभवेव प्रजापतिलोकादिवदपुक्तमिति शङ्कितदोषनिरासायमाह—आगमत इति आचार्यो-
पदेशादित्यर्थं । ४ आगमविदः । ५ श्रुत्युक्तं दिव ऊर्ध्वादिरूपं यद्द्वैतजातं तेन तदाश्रयं सूत्रमेव
विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह—सर्वमित्यादि । एकीभवतीत्यनेन सूत्रे द्वैतस्यान्तर्भावोक्त्या द्वैतं दशयन्त्या श्रुत्या
सूत्रं विवक्षितमिति सूचयति । ६ द्वैतजातम् । ७ यत् सूत्रात्मकं कथयन्त्यागमविद इत्यर्थः ।
८ अनुद्यति—अनुवादाभावे निग्रहप्रसक्तैस्तदावयवत्वम् ।

ॐयदेतद्व्याकृतमित्यादि वर्तते ह्यन्तर्भाव्यतात्पर्यमाहुर्वातिकाचार्यास्तथाह—'हमाद्यतसूत्रपर्यन्तं नाशाङ्गं
जने बुरा । आकाशे तदविज्ञातं सत्तामात्रं विद्यते ॥ यावद्वि जनिर्मत्किंचिन्नामादिप्रविभागवत् । आकाशस्तस्य
सर्वस्य तत्त्वमत्र विवक्षितम् ॥ अतिरेकं सती नेदं सभवेऽनात्मकत्वत् । नाप्यन्वयं तदव्याप्तोर्नप्यभावः सतीत्यतः ॥

पृथिवीधातुस्त्रिष्वपि कालेषु वर्तत उत्पत्तौ स्थितौ लये च ॥ ४ ॥

सूत्रात्मकमेतदव्याकृताकाशे धर्तत इति संबन्धः । त्रिष्वपि कालेष्वपि यदुक्तं तद्व्यपनक्ति—
उत्पत्ताविति ॥४॥

यह जो सूत्रात्मक व्याकृत जगत् है, वह जल में पृथिवी तत्त्व के समान उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप
तीनों कालों में अव्याकृत प्राकाश में विद्यमान है ॥ ४ ॥

१ एतच्छब्दस्तन्तन्तर्थाद्येन ।

सदा अनिमित्तस्य संपाद रचना यथा । सत्तत्त्वव्यतिरेकण नाम्ना अनिमित्तो गति ॥ सदेवमसत् सर्वमुद्भूति-
स्थितिर्हानिषु । सदेवति तथा स्पष्ट छान्दास्योपनिषद्वच ॥ अविवाहादृशज्जेषा सत्तय जगतो निधि ।
बायोर्वारणनिमुक्तमधार षट्यत यत ॥ सर्वगतिकरिय शक्तिर्वा सत्तयभिधीयत । न च सत्तेति सामान्य
प्रत्ययार्थसमीक्षणत्वात् ॥ न सतो व्यतिरेकेण सतोऽप्या भाव ईष्यत । अप्यभावे न सभत किमु भावोऽतिरेकताम् ॥
सदस्यभुक्तिगम्यस्य श्रुतिस्तस्मादनेकत्र । अत्रोद्भूतान्तिमात्रत्व मुक्तिवादिनिदर्शनं ॥ आवाशवचसाऽऽनैव
शेषो नाप्योऽत्र कश्चन । सर्वान्तरस्य नान्यस्य युज्यतऽनात्मना यत् ॥ आकाशा वा इति तथा वद्वैव श्रुतिर-
ब्रवीत् । वारण षाऽऽत्मनो नाम्नात्प्रत्ययन्तपुलक्यते ॥ जगज्जनिमित्तव्यतिरेकव्यतिरेकमाद्यकार्याणि । नाऽऽत्मन
कारणादप्य क्वचित्समाभ्यते श्रुते ॥ एषोऽन्तर्याम्यस्य योनि सर्वस्य प्रभवोऽप्येषु । माण्डूकेयश्रुतिवच इति
स्पष्टमधीयते ॥ नातोऽन्तर्यामिण कल्पमग्यदव्यावृत्त युषे । अक्षरान्त्युप तत्त्वेषु नाव्याकृतवचो यत् ॥
तद्देवमिति चात्रापि जगदेवाभिधीयते । अव्याकृतगिरा तत्त्व व्याकृताव्याकृतत्वत् ॥ सर्वस्यैव वशीत्युक्तत्वा
यतस्तत्त्वैव वेद्यताम् । यत्नात्प्राह श्रुतिस्तस्माद्यन्ताऽव्याकृतमुच्यते ॥ १४-२६ ॥ मुयुक्ति विवृणोति—
दमादीनि । तस्या विवक्षितमर्थमाह—यावद्वीति । नामरूपकर्मात्मनो अनिमित्तो जगनोऽतिरिक्तकार्यप्रसिद्ध-
मिति द्विचान्दार्थ्यं ॥ अज्ञातब्रह्मैव जगत्सत्त्वमित्येतदुपपादयितु कल्पितस्य तस्य साधयति—व्यतिरेकमिति ।
अनात्मनत्वतो निस्वरूपप्रसङ्गादिति यावत् । तदव्याप्तजहस्याजडेन तादात्म्यायोगान्मिषो विरोधादित्यर्थ ।
अनुच्छेदे दृश्यस्य हेतु ॥ अन्वयव्यतिरेकमावपरिहारेण सदेव जगत्सत्त्वमिति फलितमाह—सदिति ।
अत चान्दार्थ्यं स्पष्टयति—सत्त्वैवेति ॥ स्थितिकाले जगत सद्द्रव्यैरपि कानान्तर नैवमिदमात्राद्द्रव्याऽह—सदेवेति ।
वस्यन्तरामावोऽत्र शब्दार्थ । कालत्रयेऽपि जगत सदेव तत्त्वमित्यत्र नाममाह—सदिनि ॥ अज्ञात सदेव
जगत्सत्त्वद वेतस्मात्स्य तत्त्व नास्तित्याहद्रव्याऽह—अर्वागिति । निधिनितानम् ॥ न सत्ता जगतो निधित्त-
स्यास्तद्देवत्व मानाभावादित्याहद्रव्याऽह—सर्वशक्तिरिति । सदय नाप्यव्यतिरेकस्य या शक्ति सच्छब्दवाच्या
तजोब्रह्मासमीक्षणपूर्वं सप्टत्य नोच्यत ता सर्वस्य जगत शक्तिरुपादानमात्रमात्रमात्रादित्यर्थ । सतो भाव
सतति व्युत्पत्ते सत्तया सामान्यातमावतनोपादानतत्त्वायोगादागमस्यान्यपरतत्याशङ्क्याऽह—न वेति ॥ प्रत्ययार्थो
भावस्तस्य सदतिरिक्तव्यासमीक्षण कथमिति तत्राऽह—नति । सदस्यभावाभावजुभवाभाव हतुमुक्त्वा मुक्तिमाह
—अप्यभावा इति ॥ तदनुपाह्य मान सूचयति—सदिति । घटादमु दाद्यतिरेकेणाभाववज्जगतो मूलकारणाद्भेदे-
नाभाव वदन्ती वाचारभगश्रुतिर्भावाभावात्मकस्य सदतिरवाद्यसत्त्वाद्भ्रान्तिमात्रत्वमाहृत्यस्य ॥ आकाशे तदोत
केत्यत्राऽऽकाशाशब्देनाभावात् अत्र विवक्षितमित्युक्तमन्य त्वाकाशाशब्देनाव्याकृतमादाय तत्राऽऽत्मन्यतन्तन्तर्थादिमिण
कल्पयन्तस्ताव्यामन्यत्त्वान्तर परमात्मनानाहुस्तात्प्रत्याह—आकाशति । जगत समुत्पत्त्याऽऽन्तरवचन श्रुतमाकाश
नाज्ञाताद्ब्रह्मणोऽनान्तर सर्वान्तरत्वस्यान्यत्रायागादित्यर्थ ॥ अथ प्रुताकाशे कदाकाशश्रुत्या सर्वान्तरत्वनिष्क-
र्षयित्वा तस्यैवेह प्रहो मुक्तत्राऽह—आकाश इति । आकाशा च नाम नामरूपयोर्निर्वेहितेत्यत्रापि प्रुता-

'सा होवाच नमस्तेऽतु याज्ञवल्क्य 'यो 'म 'एतं - -

'व्यवोचोऽपरस्मं धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥५॥

उस गार्गी ने फिर कहा—हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार है जो कि आपने मेरे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया । अब आप दूसरे प्रश्न के लिये तैयार हो जावें । याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गांगि ! पूछ ॥ ५ ॥

पुनः सा होवाच नमस्तेऽस्त्वित्यादि प्रश्नस्य 'दुर्वचत्प्रदर्शनार्थम् । यो मे ममैतं प्रश्नं व्यवोचो विशेषेणां पाकृतवानसि । एतस्य दुर्वचत्वे कारणं सूत्रमेव तावदगम्यमित- र्दुर्वच्यं किमुत तद्यस्मिन्नोतं च प्रोत चेत्यतो नमोऽस्तु ते तुभ्यमपरस्मं द्वितीयाय

उसने पुन कहा—'आपको नमस्कार है (जिन्होंने मुझे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया)' इत्यादि मन्त्र यह प्रदर्शित करने के लिए है कि प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त कठिन था । जिन्होंने मेरे प्रश्न का 'व्यवोच' यानी विशेषरूप से उत्तर दिया है । प्रथम तो प्रश्न की कठिनता का कारण यह है कि सूत्रात्मा ही आगमातिरिक्त प्रमाण से अगोचर है इसलिए (याज्ञवल्क्यादि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के अतिरिक्त) दूसरो से इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता फिर जिम (अन्तर्यामी आकाश) मे वह द्योत

१. एवमुत्तरितप्रथमप्रश्ना गार्गी । २ यस्मत् । ३ मम । ४ दुर्वच प्रश्नम् । ५ विशेषेणोत्ति त-
- वानसि अतस्ते नमोऽस्त्वित्यव्यव । ६ दुर्गतमुत्तन् हि नमस्कार्यो भवति । ७ उत्तरितवानसि । ८.
- आगमातिरिक्तप्रमाणागोचरमत एव याज्ञवल्क्यातिरिक्तैर्दुस्तरम् । ९ अन्तर्यामिण्याकाशे । १० यथोक्त-
- प्रश्नसमाधानात् ।

काशविषयत्वमाकाशाशब्दस्य कि न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—कारण चेति । अत्र हि कारणत्वमाकाश-
 स्थोच्यत आरम्भवाजातस्तथेति च वेदान्तस्थितिस्तथाच सर्वकारणत्वनामरूपात्पृष्टत्वलिङ्गाम्यां तद्बहुति
 श्रुतेश्चाऽऽनाशशब्दस्य श्रुत्यन्तरे बहुविपरवस्याऽऽनाशोऽर्थान्तरत्वादित्यप्यदेशादित्यनोक्तत्वात्प्रकृतोऽपि सटिपयता
 न हि सति सन्न सर्वान्तरत्वं वाधितुमुचितमाकाशाशब्दस्तु प्रयोगबाहुल्याद्ब्रह्मण्यपि सभवतीति दहाराधिरणे
 विनित्तमाकाशान्तरिङ्गादिति शाक्तमिति भावः ॥ आकाशाशब्दोऽज्ञानब्रह्मविषयोऽपि नान्तर्यामिणिविषयस्तस्य
 ततोऽव्यवर्थादित्याशङ्क्याऽऽह—जगदिति ॥ कारणान्तर्यामिणोर्भेदे मानाभावमुक्त्वा तद्भेदे श्रुति प्रमाणमिति
 —एव इति ॥ एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एयोऽन्तर्याम्यय योनि सर्वस्य प्रभवाप्यथो हि भूतानामितिभूतिप्रसिद्ध
 फलमाह—नात इति । भेदे मानाभावाद्भेदे तद्भावाच्चेत्यत शब्दार्थः । अन्तर्यामिणाऽप्यप्राव्याहृतमित्यत्र
 युक्त्यंतरमाह—अक्षरान्तरत्वेति । ब्राह्मणत्रयेऽपि पृथिव्याद्यक्षरान्तेष्वव्याहृतशब्दाश्रवणात्समूत्रजगदधिष्ठान-
 स्वेनाऽऽनाश निदिष्ट नान्तर्यामिणोऽर्थान्तरमव्याहृतमिति शक्यं बल्पयितुमित्यर्थः ॥ अत्राप्रावृत्तशब्दाभावेऽपि
 तद्भेदमित्यत्र श्रुतमव्याहृतमिहाकाशाशब्देनाऽऽहृत्यात्पयम्यव्याहृतशब्दभेदमिदिरित्याशङ्क्याऽऽह—तद्वेति । न
 त्वदिष्टमन्तर्याम्यक्षरानिबल तत्त्वमित्यवार्थो जगत्तस्य व्याहृतशब्दस्यैव नाव्याहृतशब्दत्वमित्याशङ्क्याऽऽह
 —तस्म्यति ॥ तद्वेदेष्वप्राव्याहृतशब्दान् कारणवत्त्व जगदुक्त वेदत्रयिणः तदेवाऽऽनाशशब्देनोक्तत्वात् तत्र कार्यावस्थं
 जगदान् प्रोत चास्तु तयाऽपि ततोऽर्थान्तरमन्तर्यामिणोऽप्याशङ्क्याऽऽह—मर्षेदेति । सर्वस्य वशी सर्वस्येतिान स
 न साधुरेत्यादिना नियंतास्त्वता तस्मैव विविदिपावाभयं वेदरवं श्रूयते न च तदभासत्वं विना युक्तमभास-
 मव्याहृतमिति च पक्षांशोऽन्योऽन्तर्याम्यव्याहृतमित्यर्थः ॥

'सा होवाच यद्दूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो-यदवाकपृथिव्या
यदन्तरा छावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्य-
च्येत्याचक्षते कस्मिँस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥६॥

उसने बड़ा—हे याज्ञवल्क्य । जो धूलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे, तथा धूलोक और पृथिवी के बीच में है, एव जो यह स्वयं धूलोक और पृथिवी लोक है जिन्हे 'भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्' ऐसे शब्दों से कहते हैं, वे मय किममे श्रोत-प्रोत है ॥ ६ ॥

प्रश्नाय धारयस्य दृढो कुर्वात्मानमित्यथः । पृच्छ गार्गीतीतरं ब्राह्म ॥ ५ ॥

व्याख्यातमन्यत् । सा होवाच यद्दूर्ध्वं याज्ञवल्क्येत्यादिप्रश्नः प्रतिवचनं चोक्तस्यै-
वार्यस्यावधारणार्थं पुनरुच्यते । न किंचिदपूर्वमर्थान्तरमुच्यते ॥ ६ ॥

'वक्ष्यमाणं चाद्यमन्यदित्युच्यते । 'तदेव प्रश्नप्रतिवचनरूपमनुवदति—सा हेति । पुनरुक्तेर-
'किंचित्करत्वं गवावतंयति—उत्तरस्यैवेति ॥६॥

और प्रोत है, उसका तो बहना ही क्या है इसलिए (यद्योक्त प्रश्न के समाधान हो जाने से) आपका नमस्कार है । अब "अपरस्मै" अर्थात् द्वितीय प्रश्न के लिए "धारयस्वेति" अर्थात् अपने को तैयार कर लीजिए । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! पूछ लो ॥ ५ ॥

('सा होवाच' से 'श्रोत च प्रोत चेति' में) इसकी व्याख्या पहले ही कर दी गई है । मन्त्र में "यद्दूर्ध्वं याज्ञवल्क्य" इत्यादि प्रश्न और इसका उत्तर पहले ही कहा जा चुका है । उक्तार्थ का पुनः निश्चय करने के लिए यह कहा जाता है । यहाँ कोई अपूर्व अन्य अर्थ नहीं कहा गया ॥ ६ ॥

१. एवमुक्तस्यैवार्यस्यावधारणार्थं पूर्वोक्त एव प्रश्नस्तदनुवादपूर्वकमुक्तमेव प्रतिवचनं चोपाम्ना क्रमेणानुवृत्ते सा होवाचेत्यारभ्य कस्मिन्नु खल्वित्यतः प्राक्तनेन प्रबन्धेन । २ याज्ञवल्क्य । ३ उक्तस्यैवार्यस्यावधारणार्थमिति—मां प्रत्युत्तरित एवायं याज्ञवल्क्यस्यापि निश्चयोऽस्ति न वेत्येव तदीयनिश्चय निश्चेतुमित्यथ । न हि सकृदुक्तिमात्रेण तदर्थं तन्निश्चयोऽवगन्तुं शक्यते यतोऽविद्वानपि भूतप्रेताद्यावद्भवत्सकृच्छास्त्रं धत्ति न च तावन्मात्रेण तदर्थं तन्निश्चयं शक्यते निश्चेतुम् । तदुक्तं वार्तिके—'पृष्ट भूयांसि चापृच्छदुक्तधीदृढनिश्चितौ । परायत्तप्रबोधोऽपि धत्तो वक्तुं यतस्ततः' ॥ ५५ ॥ इति । परायतेति—भूताद्यावन्नाधीनत्वात्प्रादिबोधोऽपि यथा वक्तुं शक्तं सकृद्वनृत्वसंपादकस्ततः पृष्टमेवोक्तार्थं दृढनिश्चयनिश्चयमायापृच्छदित्यथ । याज्ञवल्क्योऽपि उक्त एवायं स्वनिश्चय निश्चयान्वितमुक्तमेव प्रतिवचनमेवकारण्येन पुनरुक्तवान् आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति । अथवा, पृथिव्या-दयोऽप्यवादिद्वाराऽऽकाश एव लीयन्तं यथा तद्वत्सूत्रमपि परम्पर्येव तत्र लीयत उत साक्षादिति प्रष्टुं मुक्तस्यैव प्रश्नस्य पुनर्वचनम् । साक्षादेवेत्युत्तरितमुत्तरस्यैवात्तरस्य एवकारण्येन पुनरुक्तिः । अथ पक्षे एवकारः साक्षादर्थकः । तथा च पूर्वप्रश्नप्रतिवचनयोरेवंतच्छेषभूतमिति न त्वित्यप्रसक्तिरिति ध्येयम् । स्पष्टं चैतद्वार्तिके । ४. न किंचिदपूर्वमिति । एतेन यद्दूर्ध्वमित्यादि द्वितीय वाक्य प्रश्नान्तरमित्यपारत द्वौ प्रश्नौ प्रश्नार्थि द्वाम्पो प्रश्नाभ्यामुपोदस्यामित्युपक्रमादिति ध्येयम् । ५. सा होवाचेत्यारभ्य कस्मिन्निवृत्त्यतः प्राक्तनम् । ६. उक्तमेव—वक्ष्यमाणवाक्यमेव । ७. अप्रयोजकत्वं निरर्थकत्वमिति यावत् ।

स होवाच यद्दूर्ध्वं गार्गी दिवो यदवाकपृथिव्या
यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्य-
च्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति
कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । ७॥

तब उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! जो धूलोक में ऊपर, पृथिवी से नीचे और द्युनोक तथा पृथिवी के बीच में हैं एव जा स्वयं धूलोक तथा पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, भविष्यत् और वर्तमान ऐसे शब्दों से कहते हैं, वे सब आकाश में ही अतः प्रोत हैं (पूर्वोक्तवाक्य से प्रथम प्रश्नोत्तर को ही पुष्ट किया गया है, जिसे अग्रिम प्रश्न के उपक्रमरूप स गार्गी ने कहा है) । किन्तु आकाश किसमें ओत-प्रोत है ? (गार्गी समझती है जब आकाशतत्त्व का बतलाना कठिन है, फिर भला आकाश के अतः-प्रोत के स्थान को बतलाना कठिन होगा । अतः प्रश्न के उत्तर न माने पर याज्ञवल्क्य स्वयं ही निगूहीत हो जायगा) ॥ ७ ॥

सर्वं यथोक्त गार्ग्या प्रत्युच्चयं तमेव पूर्वोक्तमर्थमवधारितवानाकाश एवेति याज्ञवल्क्य । 'गार्ग्याह—कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । आकाशमेव तावत्कालत्रयातीतत्वाद्दुर्वाच्यम् । ततोऽपि कष्टतरमक्षर यस्मिन्नाकाशमोतं च प्रोत चातोऽवाच्यमिति कृत्वा न प्रतिपद्यत साऽप्रतिपत्तिर्नाम निग्रहस्थान तार्किकसमये । अथावाच्यमपि वक्ष्यति तथाऽपि विप्रतिपत्तिर्नाम निग्रहस्थान विरुद्धा प्रतिपत्तिर्हि सा

'प्रतिवचनानुवादतात्पर्यमाह—'गार्ग्येति । प्रश्नाभिप्राय प्रकटयति—आकाशमेवेति ॥ ७ ॥

गार्गी के पूर्वोक्त मन्त्र को पुन उच्चारण कर याज्ञवल्क्य ने "आकाश एव" ऐसा कहकर पूर्वोक्तायं का ही निश्चय किया है । (अब) गार्गी द्वितीय प्रश्न करती है—किन्तु वह आकाश किसमें ओत-प्रोत है ? कालत्रय से सस्पृष्ट न होने के कारण दुर्बोधना से पहले तो आकाश का ही प्रतिपादन करना कठिन है । अक्षर तो उसमें भी क्लिष्ट है जिसमें कि आकाश ओत-प्रोत है, अतः यह अनिर्देश्य है, ऐसा मन में सोचते हुए उसे कोई नहीं प्राप्त कर सकता । एव वक्तव्य की अस्फूर्ति को नैयायिकों के मत में निग्रहस्थान माना जाता है । तथा यदि याज्ञवल्क्य ने इस अनिर्देश्य तत्त्व का निर्देश किया तो यह विप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान होगा क्योंकि अनिर्देश्य को कहना यह विरुद्ध प्रतिपत्ति ही है,

१ गार्गी द्वितीय प्रश्न करोति । २ आकाशमेवत्यादि—अन्तर्ध्यापरपर्यायमव्याहृतमेव तावत् कालत्रया-सस्पृष्टत्वाद्दुर्ज्ञानत्वन वचनमशक्यम् उक्ताकाशादप्यक्षरमितिदुर्वाच्यम् । ३ अतः—अमेपरवैकत्वप्रत्यक्षिदा-त्मकरवाभ्यावृत्ताननुगतस्वज्ञाताज्ञातभिन्नत्वादिहेतुनोऽनिर्देश्यमिति मनसि निधाय अक्षरविषयां प्रतिपत्तिं न लभतेऽप्य याज्ञवल्क्य । ४ वक्तव्यमस्फूर्तिरिति यावत् । ५ प्रतिवचनस्य योजुवादस्तत्तात्पर्यम् । ६ गार्ग्यायथोक्तं सवमित्यव्याभिप्रायेण प्रतीकमादत्ते—गार्ग्येतीति ।

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्त्य-

ॐ स्थूलमनष्वहृस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमो-

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! आकाश के प्रोत-प्रोत स्थानरूप उस इस तत्त्व को तो ग्रहवेत्ता पुरुष 'अक्षर' कहते हैं । वह अक्षर न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न जल का गुण द्रवरूप है, न छाया है, न अंधेरा है, न वायु है, न आकाश है, न लाक्षादि के समान सगवाला है,

यदवाच्यस्य वदनमतो दुर्वचनं प्रशनं मन्यते गार्गी ॥ ७ ॥

तद्दोषद्वयमपि परिजिहीर्षेन्नाह—स होवाच याज्ञवल्क्य 'एतद्वै तद्यत्पृष्टवत्यसि कस्मिन्नु खल्वाकाश प्रोतश्च प्रोतश्चेति । किं तदक्षरं यन्न क्षीयते न क्षरतीति वाऽक्षरं

अप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिश्चेति दोषद्वयं 'सामान्येनोक्तं विशेषतो ज्ञातुं पृच्छति—किं तदिति ।

इसलिए (बोलने से विप्रतिपत्ति एव न बोलने से पराजय के कारण दोनों मोर मुसीबत दीखने से) गार्गी इस प्रश्न को दुर्बोध मान रही है ॥ ७ ॥

उक्त दोषद्वय की निवृत्ति करने की इच्छा से याज्ञवल्क्य कहते हैं । उस याज्ञवल्क्य ने कहा— (उपस्त एवं कहोल द्वारा प्रोक्त) तूने जिसके विषय में पूछा था, "किं वह आकाश किसमें प्रोत-प्रोत है" वह यही है । वह क्या है ? "अक्षरम्" यानी क्षीण और क्षरित न होने वाला अक्षर है । हे गार्गी !

१ अत इति—वदने विप्रतिपत्तिरवदने पराजय इत्युभयतः पाशदशनादित्यर्थ । २ एतद्वै तदित्यत्र—उपस्तप्रश्नोक्त साक्षाच्चैतन्व्यर्थं पदनइयमेतत्पदेन विवक्षितम् । कहोलप्रश्नोक्त तत्पदार्थोऽप्य तच्छब्दार्थं । कार्य-कारणविनिर्मुक्तमद्वय स्वप्रधानमसङ्ग वस्तु द्योतयितुं वशब्द इति वदन्ति । ३ प्रत्यगभिन्न ब्रह्मैव तदक्षरमिति ब्राह्मणा अभिवदन्ति । ४ एतद्वै तदित्येव सामान्येनोक्तम् ।

ॐअस्थूलमनष्वहृस्वमदीर्घमित्यादि । अत्राहुर्वाङ्मिकाचार्यास्तथाहि—'परिमाणमहामृतप्राणानामान्वादाय । कारणाद्या निषिध्यन्ते क्रमेण प्राप्यपेक्षया ॥ प्रसज्यपर्यदासाम्या नत्रयं कोऽत्र गृह्णते । स्थूलापह्नूतिरेक्य पर्युदासै तदन्यता ॥ स्थूलापह्नूतिरत्र स्यादस्तु यत्पारमार्थिकम् । नाभावनिष्ठीऽन्यत्रापि निषेध किमुताक्षरे ॥ पर्युदासैऽपि क्लृप्तानां न पृथक्त्वेन सन्निधिति । रज्जुसर्पादिवत्तस्मात्प्रोभयत्रापि दोषता ॥ दृष्टोऽपवादे लोकेऽस्मिन्नुत्सर्गविषये सति । स्थूलादेरपवादोऽप्य निर्वृत्ते घटते कथम् ॥ उत्सर्गस्यास्ति विषयो योऽनिर्ज्ञातात्मतत्त्वक । अपवादस्य विषयो ज्ञातात्मैकसतत्त्वक ॥ अर्घ्यस्तदिदंनिषेधश्च व्योमन्येकस्मिन्मया तथा । उत्सर्गापवादविधिनियेषा एकसात्मनि ॥ यदि वाऽक्षरत्यायात्स्य स्थूलादेरिह भ्रम्यते । सम्यायात्म्यमहेयंइतथाऽस्याक्षरमात्रत । स्थूलादि-हेनोर्वाहोवा ध्वान्तस्य प्रत्यगात्मनि । अस्थूलोक्तिसमुत्पात्मयाथात्म्यज्ञानबहिर्ना ॥ क्षित्यादौ विषयदन्तेऽस्मिन्स्थूलादे समवो ननु । तदोत्प्रोतवाक्येन तच्च सर्वं निराकृतम् ॥ तस्याक्षरे क प्रसङ्गो यतस्तत्प्रतिषिध्यते । अपि चे तदसमाप्य किमु तत्प्रत्यगात्मनि ॥ समस्तव्यस्तता केचिदब्रह्मण प्रतिजानते । यतोऽस्तस्तात्रियेषाद्यं निषिद्ध सन्निषिध्यते ॥ व्यक्तावस्थाऽन्यवैतेषा निषिद्धा कारणात्मनि । शक्यवस्थानियेषोऽप्य त्रियते त्वक्षरात्मनि ॥ एव च सति तत्पूर्णं ब्रह्म कृत्स्न च युज्यते । अन्यथाऽकृत्स्नमेव स्यादनिर्मोक्षदश्च सज्यते ॥ न वा निषेध स्थूलादेस्तस्य प्रागेव सिद्धित । तत्रियेषानुवादेन प्रतीचि ब्रह्म बोध्यते ॥ स्थूलादिमेयमामातुनिषेधफलं स्वयम् । विद्धि

ऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवाग-
मनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तद-
श्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन ॥८॥

न रस है, न गन्ध है, न नेत्रवाला है, न श्रोत्रवाला है, न मनवाला है, न तेजवाला है, न प्राणवाला है, न मुखवाला है, न मापवाला है, उसमें न अन्दर है, न बाहर है, किंवहुना न वह स्वयं कुछ खाता है, न उसे कोई खाता है (तात्पर्य यह है कि न वह विशेषणरूप है और न विशेषणवाला है। वह तो ममत्व विशेषणों से रहित, एक अद्वितीय तत्त्व है) ॥ ८ ॥

तदक्षरं हे. गार्गी ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽभिवदन्ति । ब्राह्मणामिवदनकथनेन नाहमवाच्यं
वक्ष्यामि न च न प्रतिपद्येयमित्येवं दोषद्वयं परिहरति । एवमपाकृते प्रश्ने पुनर्गार्गीः
प्रतिवचनं द्रष्टव्यं ब्रूहि किं तदक्षरं यद्ब्राह्मणा अभिवदन्तीत्युक्तं आह—अस्यूतं तत्स्यू-

‘अस्यूलादिवाक्यमवतायं श्याकरोति—एवमित्यादिना । ‘यदग्ने रोहितं रूपम्’ इत्यादिभृतिमाधि-

“ब्राह्मणाः” अर्थात् ब्रह्मवेत्ता उसे (प्रत्यगभिन्न ब्रह्म की ही) अक्षर कहते हैं । ब्रह्मवेत्तोक्ति कथन से “मैं अनिर्देश्य का वर्णन नहीं करूँगा, न ही मैं अक्षरविषयिणी प्रतिपत्ति से रहित हूँ” इस प्रकार दो दोषों का परिहार करते हैं । इस प्रकार प्रश्न का निराकरण हो जाने पर पुनः गार्गी के इस प्रतिवचन का स्वरूप समझना चाहिये । वह अक्षर बताइये, जिसे ब्रह्मवेत्ता कहा करते हैं—ऐसा कहे जाने पह यज्ञ-

१. न चाक्षरविषयप्रतिपत्तिविषुगोऽहम् । २ प्रतिवचनस्वरूपमाह—ब्रूहीत्यादि । ३. स्यूलादम्यदिति—
तथा त्रास्यूतत्वात् तच्छक्यं षटादिविद्वेष्टुमिति भावः । ४. अस्यूनेति—ब्राह्मणानां चेतस्त्वसवेद्यं तर्हि
षटादिविद्विर्देश्यं स्यादित्याशङ्क्येत्यादि ।

सर्वान्तरं ब्रह्म साक्षादित्यादिलक्षणम् ॥ सर्वेषामपि चोद्यानामेव सति न सम्यक् । नेति नेतीतिवद्व्याख्या
सर्वाऽपीह समीक्ष्यताम् ॥ ७२-८८ ॥ बह्वस्वमित्यादीनां तात्पर्यं समुल्लसति—परिमाणेति । आद्येनाऽऽदिपदेन
रसादिब्रह्मो द्वितीयेन तेजोमुखाद्युक्तिः । त्रमेण निषेधे हेतुमाह—प्राप्तीति । सर्वेषु विदोषणेषु पूर्ववादी नमर्थ
विकल्पयति—प्रसज्येति । प्रसज्यप्रतिषेधपक्षे वाक्यस्याभावनिष्कत्वमाह—स्यूनेति । द्वितीये स्वद्वैतहानिः
स्यूलादीनामक्षरादन्वयत्वादित्याह—पर्युदास इति ॥ सिद्धान्ती प्रथमपक्ष समाधत्ते—स्यूनेति । सप्तम्यर्थं स्फुटयति
—वस्त्विति । तर्हि वाक्यस्याभावनिष्कत्वमेत्याह—नाभावेति ॥ द्वितीये समाधिमाह—पर्युदास इति ।
वाक्यस्याभावनिष्कत्वमद्वैतहानिर्वा नेति नियमयति—तस्मादिति ॥ प्रथमपक्षमालिपति—दृष्ट इति । न
हित्यादित्युक्तं विषये सत्यानीयोमीय पशुमालभेतेत्यपवादा इष्टो न च तद्विषयभेदोऽद्वयेऽस्त्यतः स्यूलादेर्नापवादा
इत्यर्थः ॥ वस्तुनोऽद्वयत्वेऽपि तत्रोत्सर्गापवादव्यवस्था युक्तेति परिच्छरति—उत्सर्गस्येति । प्रतीच्यज्ञाते प्राप्यं
स्यूलादि तस्मिन्नेव ज्ञात निषिध्यत इत्यतः च रज्ज्वामजातायां प्राप्तस्य सपदिस्तस्यां ज्ञातायां निषेधस्तत्प्रसज्य-
प्रतिषेधः साधोयानित्यर्थः ॥ एकत्रैवाऽऽमनि प्राप्तप्रतिषेधो स्यूलादेरित्येतद्दृष्ट्यान्तेन स्पष्टयति—अध्यस्तेति ॥
प्रसज्यप्रतिषेधानुत्तरेण नास्यूलादिवाक्यस्यार्थमुक्त्वा पर्युदासमनुष्ठुर्याधर्तव्यमाह—यदि चेति । तदेव दृष्ट्यान्तेनाऽह—
अपिति । स्यूलादित्रयलोऽयत्वावेदनपरं वाक्यं न नियमपरमित्यर्थः ॥ प्रतीचि स्यूलादिहेत्वबोधस्य वाक्योत्पबोधेन

लादन्यत् । एवं तह्यणु नानणु । अस्तु तर्हि ह्रस्वमह्रस्वम् । एवं तर्हि दीर्घं नापि दीर्घमदीर्घम् । 'एवमेतेश्चतुभिः परिणामप्रतिषेधद्रव्यधमः प्रतिषिद्धो न द्रव्यं तदक्षर-मित्यर्थः । अस्तु तर्हि लोहितो गुणस्ततोऽप्यन्यदलोहितम् । आग्नेयो गुणो लोहितः । नवतु तह्यपां स्नेहनं नास्नेहम् । अस्तु तर्हि च्याया सर्वथाऽप्यनिर्देश्यत्वोच्छ्रयाया'

स्याऽह—आग्नेय इति । अवायुविशेषणेनाप्राणविशेषणस्य पुनरुक्तिमाशङ्क्याह—आध्यात्मिक इति ।

वत्व्य कहते हैं—“अस्थूलम्” स्थूल से भिन्न है (क्योंकि अस्थूल होने से घटादि के समान निर्देश्य नहीं है) । तो फिर क्या अणु है, नहीं; अणु से भिन्न है । तो फिर उसे ह्रस्व कह लें, नहीं, ह्रस्व भी नहीं है । तो उसे फिर दीर्घ कह लीजिए, नहीं; वह “अदीर्घम्” यानी दीर्घ भी नहीं है । इस प्रकार विशेषण-चतुष्टय द्वारा परिमाण का प्रतिषेध करने वाले इन चार पदों के द्वारा द्रव्यधम का निषेध किया गया है । अतः अक्षर में परिमाण का निषेध हो जाने पर (नैयायिकों को अशोषित) अक्षर द्रव्य नहीं है । तो फिर वह लोहित गुण वाला हो सकता है । नहीं, नहीं; वह उससे भी भिन्न अलोहित है (लोहित सभी रूपों का उपलक्षण है, अतः सर्वरूपविवर्जित है) । लोहित अग्नि का गुण है । तो फिर उसे जल का गुण स्नेहन मान लो, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि वह अस्नेह (मूर्तद्रव्यभिन्न) है । तो उसे छायारूप

१. विशेषणचतुष्टयस्य तात्पर्यमाह—एवमिति । २. न द्रव्यमिति—अत्र वातिके—“स्थूलादिपरिमाण हि द्रव्यमात्रमप्राप्यम् । तस्माद्द्रव्यनिषेधोऽयं परिमाणनिषेधतः ॥ सर्वथाऽपि तु यत्किंचिद्वाचो भोचरता गतम् । प्रमाणस्य च तत्सर्वमक्षरे प्रतिषिध्यते” ॥ ८६-९० ॥ इति । सर्वथाऽपीति—उक्तविशेषनिषेधोऽनुक्तविशेष-निषेधोपलक्षणमिति भावः । ३. अलोहितमिति—उपलक्षणविधया सर्वरूपवर्जितमिति यावत् । ४. स्नेहशब्देन रागविशेष वारयति—अयामिति । ५. अलोहितमस्नेहमिति मूर्तद्रव्यत्वनिषेधः । ६. छायादि-रूपेणापि वक्तुमशक्यत्वात् ।

बाधपर वा वाक्यमित्याद्यमेव कल्पमात्रप्रत्ययान्तरमाह—स्थूलादीति ॥ निषेधपक्षे पुनरर्थान्तर वक्तुं पूर्वपक्षयति—क्षित्यादाविति । अस्तु तर्हि पृथिव्यादावव्याकृतान्ते स्थूलादिनिषेधो नेत्याह—तदिति । यदिदं सर्वमस्वित्या-दिना पृथिव्यादावव्याकृतान्तरप्रकाशितरेवेण नेत्यत्राचारान्न तत्र स्थूलादिनिषेधो धर्मभाववादित्यर्थः ॥ अक्षरे तर्हि तन्निषेध्यतामुक्तदोषाभावादित्याशङ्क्य प्राप्यभावान्मैवमित्याह—तस्येति । प्राप्यभाव कैमुतिकन्यायेनाऽह—अपीति । खमग्राह्यम् ॥ एवमाक्षेपे स्वयूयमतनिरामपरत्वेन वाक्यस्यार्थवत्त्वमाह—समस्तेति ॥ कारण-निषेधफलोक्त्यर्थं स्थूलादिहेतादीर्घो वस्तुक्तमनुवदति—व्यक्तति । यदिदं सर्वमित्यादिना व्यक्तावस्था स्थूलादीना कारणे निरस्ता तेषामेव शक्यवस्था कार्यकारणविलक्षणोऽन्ये निरस्त्या तदथमस्थूलादिवाक्यमित्यर्थः ॥ कारण-निषेधे किं फलति तदाह—एव चेति । कार्यकारणनिषेधे सति प्रतीचि श्रुत ब्रह्मादिपद मुखायं स्यात्तदनिषेधे वस्तुपरिच्छेदाद्गीर्णार्थमेवात्तण्डवस्त्वात्प्रमाणस्थानास्यो मोक्षदत्त न सिध्येत्ततो मोक्षसास्त्रबाध स्यादित्यर्थः ॥ तत्त्वमादिवद्विधिमुखेन बोधकमस्थूलादिवाक्यमित्यर्थान्तर वदन्निषेधपरत्वं त्यजति—न चेति । श्रोतश्रोतवाक्येन स्थूलादिनिषेधस्य सिद्धत्वादिति हेत्वर्थः । निषेधपरत्वाभावे किंपर वाक्य तदाह—तन्निषेधेति ॥ स्थूलादि-निषेधमनूय तत्साक्षिण स्वमर्थं ब्रह्मत्ववाधनप्रकारमभिनयति—स्थूलादीति । स हि त्रेधा स्थितस्तन्निषेधस्य फल स्फुरण तदात्मना गम्यमान स्वप्रकाश त्वपदलक्ष्यमात्मनमुक्तविशेषणं ब्रह्म विधीति योजना ॥ विधिमुखेन बोधकत्वे वाक्यस्याभावनिष्ठत्वमक्षरस्य सद्ब्रह्मत्वमित्यादि बोधमनवकाशमिति लाभ दर्शयति—सर्वेयामिति । कथं नञ्जति वाक्य विधिमुखेन वाक्यत्वं तत्राऽह—नेत्यादिना ॥

अप्यन्यदच्छायम् । अस्तु तर्हि तमोऽतमः । भवतु वायुस्तर्ह्यवायुः । भवेत्तर्ह्यकाशम-
नाकाशम् । भवतु तर्हि सङ्गात्मकं जतुवदसङ्गम् । रसोऽस्तु तर्ह्यरसम् । तथा
गन्धोऽस्त्वगन्धम् । अस्तु तर्हि चक्षुरचक्षुष्कं न हि चक्षुरस्य । करणं
विद्यतेऽतोऽचक्षुष्कम् । “पश्यत्यचक्षुः” इति मन्त्रवर्णात् । तथाऽश्रोत्रं स शृणोत्यकर्णं
इति । भवतु तर्हि वागवाक् । तथाऽमनः । तथाऽतेजस्कमविद्यमानं तेजोऽस्य तद-
तेजस्कम् । न हि तेजोऽग्न्यादित्यादिप्रकाशवदस्य विद्यते । अप्राणमाध्यात्मिको वायुः
प्रतिपिध्यतेऽप्राणमिति । मुखं तर्हि द्वारं तदमुखम् । अमात्र मीयते येन तन्मात्रममात्रं

अमात्रमिति “मानमेवायन्वयो निराक्रियते । तस्येत्यात्मोक्तिः । “सपिण्डतमयंमाह—सर्वेति । “तदुप-

कहो, नहीं उसका छायारूप कथन सर्वथा अशक्य होने के कारण वह छायारहित है । अच्छा तो उसे
अन्धकाररूप द्रव्य मान लीजिए, नहीं, वह तमोभिन्न है । तो वायुरूप मान लो, नहीं; वह वायु भी नहीं
है । तो फिर आकाश मान लें, नहीं, वह आकाशभिन्न है । (सूक्ष्म राग तो आत्मा में देखा जाता है,
इसलिए) उसे फिर लाक्षा के समान सङ्गात्मक मान लें, नहीं, वह असङ्ग है (क्योंकि असङ्ग आत्मा
किसी में नहीं मिलता) । तो आत्मा रसस्वरूप कह लीजिये, नहीं, वह अरस है । उसे गन्धस्वरूप
मानना भी नहीं बनता क्योंकि वह अगन्ध है । तो फिर वह नेत्रस्वरूप होगा, नहीं, वह अचक्षुष्क है ।
इसके नेत्रेन्द्रिय नहीं है, इसलिए अचक्षुष्क है । श्रुति भी कहती है—“वह चक्षुरिन्द्रिय क बिना भी
देखता है” । इस प्रकार वह अश्रोत्र है । श्रुति भी कहती है—“वह कर्णेन्द्रिय के बिना भी सुनता है” ।
अच्छा तो उसे वाक्स्वरूप मान लो, नहीं, वह वाग् से भिन्न है । इसी प्रकार वह मन से परे है । इसी
प्रकार वह “अतेजस्कम्” अर्थात् तेजवृत्तिरूप विज्ञान से परे है क्योंकि अग्न्यादि प्रकाश के समान
प्रकाशकवृत्तिरूप तेज उसमें विद्यमान नहीं है । “अप्राणम्” अर्थात् आध्यात्मिक वायु का उसमें प्रति-

१ अच्छायमिति । छायाऽदीप्तिस्तमोऽध्वान्त तदुभयभिन्नमिति चिदतिरिक्त्वशङ्कानिराकृतेति वृत्तिकृतम् ।
भौतिकदीप्तीनामुपलक्षणतया विशेषणान्तरैर्ब्युदस्तत्त्वेनाप्राप्ततया चिदीतिरूपमित्यर्थकमच्छायमित्युक्तम् । तदापि
भावात्मकतया तम एवाभावात्मकाऽदीप्तितो भिन्न भवितुमर्हतीति मा स्म शङ्कीत्यतम इति । इत्य चानेक-
विशेषणाना सर्वनिषेधे तात्पर्येण धूम्यपयंबवामयितया चित्त्वमपिनिपिण्डमेव श्रुत्वेत्याशङ्कान्पनीता भवतीत्यभि-
प्रायेणाह—इति चिदतिरिक्त्वशङ्का निराकृतेति । इति—आम्नां विशेषणाम्नाम् । शङ्का—उक्तोत्पाना ।
निराकृता—उक्तविधया निरस्तैत्यर्थः । २ वाय्वाकाशमिषेष्णाम्नां भूतत्व निपिण्डम् । ३ सूक्ष्मरागादेरात्मनि
दृष्टेरिदमापादनम् । ४ “असङ्गो न हि सज्जत” इति श्रुतेः । ५ रसगन्धनिषेष्णाम्नां भूतगुणनिषेधो-
ऽभिप्रेतः । ६ अचक्षुष्कमिति—अत्र समासद्वयेनेन्द्रियसम्बन्धस्तत्तादात्म्य च प्रतिपिध्यते तदुक्तं वार्तिके—
“नेन्द्रियाण्यस्य विद्यन्त नापि तत्स्वयमिन्द्रियमिति” ॥ ६८ ॥ ७ अचक्षुष्कमित्यारभ्य मन इत्यन्त
सर्वेन्द्रियनिषेधोपलक्षणम् । ८ मन्त्रवर्णादित्यनुपपन्नम् । ९ अतजस्वमिति—तेजोऽत्र वृत्तिरूपविज्ञानमिति
वृत्तिः । १० अग्न्यादिप्रकाशवत्प्रकारात्क वृत्तिरूप तेजः । ११ द्वारमिति । अत्र वार्तिके—“द्वारं मुखं
प्रतीकं वा यदि वा जिह्वामुच्यते । निषेधोऽनुष्णामिषेव त्रयस्याप्यभिधीयते” ॥ १०५ ॥ इति । छिद्रालम्बनविह्वेषु
मुखसम्बन्धप्रयोगदर्शनादित्यर्थः । १२ अन्यत् सवन्ध मानरत्न मेयस्व चेति यावत् । १३ निष्कृष्टमिति
यावत् । १४ सर्वविशेषणराहित्यम् ।

१ एतस्य वा अक्षरस्य २ प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ
३ विधृतौ ४ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी
द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्य-चन्द्र विशेषरूप से धारण किये हुए स्थिर हैं । हे गार्गी ! इस अक्षर के ही प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और सबस्तर विशेषरूप

मात्रारूपं तन्न भवति न तेन किञ्चिन्मोयते । अस्तु तर्हि चिद्ब्रवदनन्तरं नास्यान्तरमस्ति । भवेत्तर्हि बहिस्तस्याबाह्यम् । अस्तु तर्हि भक्षयित् तन्न तदश्नाति किञ्चन । भवेत्तर्हि भक्ष्यं कस्यचिन्न तदश्नाति कश्चन । सर्वविशेषणरहितमित्यर्थः । एकमेवाद्वितीय हि तत्केन किं विशिष्यते ॥ ८ ॥

॥ अनेकविशेषणप्रतिषेधप्रयासादस्तित्वं तावदक्षरस्योपगमितं श्रुत्या तथाऽपि

पादयति—एकमिति ॥ ८ ॥

अथ ययोक्त्या नीत्या श्रुत्यंवाक्षरास्तित्वे ज्ञापिते वक्तव्याभावात्किमुत्तरेण ग्रन्थेनेति तत्राऽह

पेध हो जाने से वह अप्राण है । मुख शब्द का प्रयोग छिद्रालम्बन चिह्न में देखने से वह मुखस्वरूप है, नहीं, वह अमुख है । 'अमात्रम्' यानी जिससे मापा जाता है उसे मात्रा कहते हैं । वह मात्रारूप नहीं है क्योंकि उससे कुछ भी नहीं मापा जाता । ता फिर उसे अन्तरालयुक्त कहो, नहीं, क्योंकि इसमें छिद्र न होने से यह अनन्तर है । तो उसमें बाह्य की संभावना तो हो सकती है, नहीं, वह अबाह्य है । अच्छा तो उसे भक्षण करने वाला कह लीजिए, नहीं, क्योंकि वह तो कभी कुछ नहीं खाता । वह भक्ष्य भी नहीं हो सकता है, क्योंकि उसे कोई भी नहीं खाता । भावाशय यह है कि वह सर्व विशेषणों से रहित है । जब वह अद्वितीय अकेला ही है तो फिर किससे, किसको विशेषणयुक्त कहा जाय ॥ ८ ॥ श्रुति ने अनेक विशेषणों की अनुपपत्तिरूप प्रयास द्वारा अक्षर का अस्तित्व यहाँ तक ज्ञापित

१ उक्तरूपस्य । २ आज्ञायाम् । ३ नियमितौ । ४ वर्तते । ५ छिद्रम् । ६ अनात्मव्यक्तीना-
मानन्त्येन प्रत्येक निपेधाशक्तैर्भोक्तृभोग्यात्मनैकीकृत्य निपेधति—न तदिति । तदक्षर किञ्चिदपि विषय न
भुङ्क्ते कोऽपि लोकास्तदक्षर नाश्नातीत्यर्थः । धातिके तु व्याप्यबन्धकमशुषुतामुभ्युपगम्योक्तम्— व्याप्यव्यापक-
संबन्धो न चाप्यक्षरवस्तुनि । न तदश्नातिवाक्येन यतस्तद्वायते द्वयमिति" ॥ १०८ ॥ तथाचाऽऽद्यवाक्येन
व्यापकत्वस्य निपेधो द्वितीयेन व्याप्यत्वस्यति विवेकः । ७ प्रयामादिति—अनुपपत्तेरित्यर्थः । तथा च धातिके
—"स्युलाचनेकधर्माणा निपेधायासकारणात् । अस्तित्वमक्षरस्यह सिद्ध तावद्दृष्टात्मन " ॥ ११४ ॥ इति ।
निपेधकल्पनाऽनुपपत्त्या निपेधाऽनुपपत्त्या चाधिष्ठानत्वेनाधिष्ठान च स्वप्रकाशमक्षर सिद्धमित्यर्थः ॥ अत्र
भावाधिकरणमधिष्ठानमभावाधिकरण (भावकल्पनाधिकरणम्) धावधिष्ठित्युच्यते इति विवेकः । ८ ज्ञापितम् ।
६. ननुशब्दप्रतिनिधिरत्रायमप्यशब्दः । प्रश्नाथ आक्षेपायां वा ।

॥ अनेकविशेषणप्रतिषेधप्रयासादस्तित्वं तावदक्षरस्योपगमितं श्रुतेति । अत्राहुर्वर्तिकाचायास्तथाहि—“निपिद्ध-
मखिल वस्तु यत्किञ्चिज्जगतीदृश्यते । अवशिष्टं च यत्तच्च न प्रमाणोपपादितम् ॥ एव चेदक्षर तादृक्चयमस्तीति
गम्यते । न हि प्रमाणविस्वादादस्ति वस्तित्वं वीक्ष्यते ॥ सिद्धसाध्यत्वतो नैव तथाचोक्तोत्तरवत् । भावा-

प्रशासने गार्गी निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा
मासा ऋतवः सवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य
वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते

से धारण किये हुए नियन्त्रित होकर स्थित हैं। हे गार्गी। इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्वदिशा की ओर बहने वाली नदियाँ एवं अन्य नदियाँ श्वेत (हिमालय) पवनो में बहती हैं। तथा पश्चिम की ओर बहने वाली नदियाँ जिस-जिस दिशा की ओर अनुप्रवृत्त कर दी गयी हैं, उस दिशा का अनुसरण

लोकबुद्धिमपेक्षयाऽऽशङ्क्यते यतोऽनोऽस्तित्वायानुमानं प्रमाणमुपन्यस्यति—एतस्य वा

—अनेकेति । 'यदस्ति तत्सविशेषणमेवेति लौकिकी बुद्धि । आशङ्क्यते नास्त्यक्षर निर्दिशेषणमिति

कर दिया है तब भी क्योंकि लोकबुद्धि की अपेक्षा से उसके अस्तित्व की शङ्का होती है, इसलिए (अक्षरप्रतियोगिक कल्पितभेदधर्मी अन्नधर्मी का) प्रस्तित्व सिद्ध करने के लिए 'एतस्य वा अप्प-

१ अस्तित्वायेति—अक्षरप्रतियोगिककल्पितभेदधर्म्यनिर्गम्यस्तित्वसिद्धय इत्यथ । २ यदस्तीत्यादि—तथा चाक्षर नास्त्यव निष्कारकत्वाद्वापत्तिरकेण घटादिवदात्त भाव ।

भावातिरकित्वाद्यन्पुत्र स्वयोज्यते ॥ मानाभावे च तन्नेति व्यतिरेक कुतोऽवयवम् । मानाभाव किमद्राक्षी-
यैनेवमभिधीयते ॥ सर्वं हि मान लोकेऽस्मिन्वस्त्वभिव्यक्तिमाधनम् । तदभावजन्यभिव्यक्त्वं वस्तु नास्तीति दुवच ॥
स्युनाद्यनकधर्माणा निषधायामकारणात् । अस्तित्वमक्षरस्येह सिद्ध तावद्दृशात्मन ॥ स्वमहिम्ना त्वभ्रावोऽपि
सेदधु नैवाऽऽप्तमवत्क्षम । तत्प्राच्योऽद्वैतत्वाभ्या मित्यभावस्तथा सम । मामेयमात्रमद्भवातेभ्योऽप्यन्यनिवृत्ति ।
स्वमहिम्ना प्रसिद्धश्च कुतोऽभावस्य सभव ॥ स्वतो माफलरूपत्वात्प्र माकार्यं प्रमाणत । नास्तीति तु विना
मान न सिध्यत्कुम्भवत्स्वत ॥ कुम्भ आरोप्यते यद्दत्प्रकाशो भानुसगते । भानुप्रकाशसंबध भानानान्यदेषात् ॥
स्वतोऽवगतिमव धास्तथाऽभ्रावोऽवगम्यते । तथाऽवगतिसंबधे नापेक्षाऽवगते स्वत ॥ अतोऽवगत्यभावोऽपि न
स्वतोऽवगति विना । सिध्यतीह ततोऽस्तित्व स्वत एवाक्षरात्मन ॥ उक्तो निरवयोऽभावो न बौद्धादिसमाश्रयात् ।
तत्त्वमस्यादिवान्योत्पत्तिविज्ञानविरहात्स्वचित् ॥ नायदज्ञानतोऽस्तित्व द्वितीयस्याऽऽप्तमनो यथा । निवृत्तस्तद्देवात्स्य
नावगत्यात्मनोऽपरा ॥ अकार्यकारण साक्षात्पिथादिगुणलक्षणम् । कूटस्थमक्षर ध्वानघ्वस्तो स्यान्नो निरन्वयम् ॥
नास्यास्तित्व यथा मानमेवत्वादक्षरात्मन । तन्नास्तित्वऽपि च तथा तयोस्तस्मात्प्रसिद्धित ॥ सचच वा यदि
वाऽऽस्त्व कायकारणवस्तुन । अनद्वद्वोच एवेनस्मिन्व्यतीव न तु स्वत ॥ यत एवमतो नेह कश्चिद्विप्रतिपद्यते ।
अक्षरात्मनि नास्तिर तस्माद्वद्वोक्तिरिष्यते ॥ यनो विप्रतिपद्यन्ते त्वन्तर्गमिणि वादिन । तत्सिद्धयेऽनुमायल
क्रियतेऽत्र परोक्तिभि ॥ ईगितव्यायसंबधादन्वयाम्यतदक्षरम् । चैतन्याभासमोहात्स्ववर्त्मनेव न तु स्वत ॥
अनुमानश्रुतिसत्त्वादागात्तस्यैव सिद्धय । वारणात्मनि सिद्धि सर्वं सिद्ध भवेद्यत् ॥ १०६-१२६ ॥ इति । उक्त
निर्दिशेषत्वे सूयत्रापिण शङ्कत—निर्विद्वमिति । अक्षरस्य शिष्टत्वात्त ध्वन्येति चेन्नेत्याह—अवशिष्ट चेति ॥
कुड्यादिव्यवहितपटादिवदप्रमितमपि तदस्ती वाऽङ्क्याऽऽह—एव चेदिति । सयसंबधप्रमितस्यावस्तुत्वे हेतुमाह—
न हीति । किमक्षरस्याभेदस्यमेव माष्यत् किंवा नास्तित्वमपीति विकल्प्याऽऽप्तमज्ञोत्स्य सिद्धान्तप्रति—सिद्धेति ।
द्वितीय दूषयति—तथाचेति । अप्रमेयत्वऽपि नाक्षरस्यासत्त्व स्वप्रकागतया सिद्धरसङ्कटकृतेरित्यथ । सिद्धसाध्यत्व

श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वे-
तस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी ददतो मनुष्याः ।
प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ताः ॥६॥

भाज भी करती रहती हैं । हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में सुवर्णादि दान लेने वाले प्रमाणज मनुष्य दाता को प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमान का श्रौर पितृगण दर्वी होम का अनुवर्तन करते हैं (उक्त सभी लिङ्गों से उम अक्षरतत्त्व का अनुमान किया जाता है) ॥ ६ ॥

अक्षरस्य । 'यदेतदधिगतमक्षरं सर्वान्तर साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्माऽज्ञानायादिधर्मातीत

शेषः । 'अन्तर्गामिणि जगत्कारणे परिस्मन्ननुमानसिद्धे विवक्षितं निरुपाध्यक्षरं सेत्स्यति जगत्कारणत्व-
स्योपलक्षणतया जन्मादिसूत्रे स्थितत्वाद्दुपलक्षणद्वारा ब्रह्मणि स्वरूपलक्षणप्रवृत्तेरन्तर्यामिण्यनुमा
'प्रकृतोपयुक्तेति भावः । अनुमानश्रुत्यक्षराणि व्याकरोति—यदेतदिति । प्रशासने सूर्याचन्द्रमसो

रस्य" इस मन्त्र से अनुमान प्रमाण का उपक्रम किया जाता है । (कहोलब्राह्मणोक्त तत्पदार्थरूप) जो (उपस्तब्राह्मणोक्त त्वपदार्थरूप) यह (अस्यूलत्वादि) श्रुतिवाक्य से जाना गया है, वह सर्वान्तर,

१ यदेतदिति । यत्—कहोलब्राह्मणोक्तम् तत्पदार्थरूपम् । एतत्—उपस्तब्राह्मणोक्त त्वपदार्थरूपम् । अधि-
गतम्—अस्यूलादिवाक्येनावगमितमिति यावत् । २ नन्वक्षरास्तिस्वस्य साध्यत्वे किमित्यन्तर्यामिण्यस्तिस्व-
साधनायानुमानमुपन्यस्यते नन्वन्तर्यामिण्यनुमानसिद्धेश्चरमपि सेत्स्यतीति चेत् तत्कथमित्याशङ्क्याऽह—
अन्तर्यामिणीति । ३ तदस्वनक्षणद्वारा । ४ अक्षरसाधिका ।

साध्यमिति—भावेति ॥ इतश्च मानाभावादक्षराभावाक्तिरयुक्तेत्याह—मानेति । आक्षेप विहायमिति—मानाभाव-
मिति । स हि दृष्टोऽदृष्टो वा नाऽऽद्येश्वराभावो भावाभावसाध्यकस्यैव तत्त्वाद्द्वितीयोऽपि न तदभावस्तत्साध्यक-
मानाभावस्यादृष्टत्वादिति भावः ॥ मानाभावे मेयाभावमुपेत्योक्तवापेत्येव त्वजति—सर्वं हीति । न हि
दीपानभावे तदभिष्यङ्गश्च घटादि तमसाऽऽवृत नास्तीति सुवचनमिति हिशब्दार्थः ॥ अथ तदस्तीत्यपि दुर्बलं
निश्चायकाभावादत् आह—स्यूलादीति । नियेष्यकल्पनानुपपत्त्या तन्निषघानुपपत्त्या चाधिष्ठानत्वेनावधिनेन च
स्वप्रकाशमक्षरं सिद्धमित्यर्थः ॥ अक्षरस्य स्वप्रकाशत्वबन्मानमेयाभावशोरपि तद्योगान्मानाभावे चेत्याद्युक्तमिति
चेत्तत्राऽह—स्वमहिम्नेति । अभावो मेयस्यति शेषः । तथेति पारार्थ्याद्यनुक्रमः । समो मेयाभावेनेत्यर्थः ॥
अक्षरस्य मानाद्यभावस्य जाड्यादिनाऽगोषाक्षरसमासत्वाभावे युक्त्यन्तरमाह—मानेनेति । असङ्गोदासीनतया
मानादिभ्योऽतिशयेन निवृत्तत्वादक्षरे तेषामप्राप्तेस्तस्य स्वप्रकाशत्वाच्च नाद्यत्वाशङ्केत्यर्थः ॥ विमत मेय
यस्तुत्वादघटवदित्याशङ्क्य जडत्वोपाधिना निररयति—स्वत इति । सविद्रूपत्वाद्यन्तमनो मानेन सविदन्तरं तत्र
कार्यमिति न मानत शक्यं वक्तुमित्यर्थः । अक्षराभावोऽपि न मानाधीनप्रकाशोऽक्षरतदभावयोरन्यतरत्वाद्यदक्षर-
वदित्याशङ्क्याऽह—नेत्यादिना । विमत मेयं जडत्वादघटवदन्त्या स्वरूपहानिरिति भावः ॥ अक्षरास्तिस्व स्वत-
सिद्ध तदभावस्तु नैवमित्यत्र दृष्टान्तमाह—कुम्भ इति । कुम्भे हि भानुसन्ध्याप्रकाशतेऽसावित्पारोप्येते प्रकाशो
नैव भानोरेष प्रकाशत इति स्वप्रकाशसन्धे कुम्भाद्यपेक्षते यथेत्यर्थः ॥ दाष्टान्तिकमाह—एष्य इति । उक्त-

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने । यथा राज्ञः प्रशासने राज्यमस्फुटितं नियतं वर्तते
एवमेतस्याक्षरस्य प्रशासने हे गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसाव-
होरात्रयोर्लोकप्रदीपो तादर्थ्येन प्रशासित्रा ताम्यां निर्वर्त्यमानलोकप्रयोजनविज्ञानवता

विधूतो स्यातामिति संबन्धः । उक्तमयं दृष्टान्तेन स्फोरयति—यथेति । अप्रापि पूर्वबदन्वयः ।
'जगद्रूपवस्था प्रशासितृपूर्विका व्यवस्थात्वाद्वाज्यव्यवस्थादित्यर्थः । सूर्याचन्द्रमसावित्यादौ । विव-
क्षितमनुमानमाह—सूर्यश्चेत्यादिना । तादर्थ्येन लोकप्रकाशादर्थत्वेन । प्रशासित्रा निर्माताविति
संबन्धः । निर्मातुर्विशिष्टविज्ञानवत्त्वमाचष्टे—ताभ्यां निर्वर्त्यमानेति । सूर्याचन्द्रमसौ तच्छब्दवाच्यौ ।

साक्षात्, अपरोक्ष ब्रह्मरूप अक्षर है । जो अक्षरनायादि धर्मों से अतीत आत्मा है; हे गार्गी ! इसी के
प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा उसी प्रकार स्थित रहते हैं; जिस प्रकार राजा के प्रशासन में राज्य
अभिन्न मर्यादा वाला एव नियम में रहता है । सूर्य और चन्द्रमा दिन और रात के समय लोक के दीपक
हैं और जिन्हें उनके द्वारा सिद्ध होने वाले लोक के प्रयोजन के विज्ञाता प्रशासक ने उस उद्देश्य की पूर्ति

१ अस्फुटितम्—अभिन्नमर्यादम् । २. अहोरात्राधिकरणी । ३. प्रशासने इत्यत्र विवक्षितमनुमानमाह—
जगद्रूपवस्थेति । ४. सर्वज्ञत्वमिति यावत् ।

दृष्टान्तादभावो भावस्त्वावगतियोगादगम्यत न स्वतोऽवगतेस्त्ववगन्तव्यवदवगतिसंबन्धे नान्यापेक्षा किंतु स्वतः
एवावगतिरित्यर्थः । उत्तरार्धे स्थित नरूपद पूर्वार्धेऽपि सबध्यते ॥ अवगते, स्वतस्त्वे तदभावोऽपि स्वतः स्यात्-
द्भूत्वाभावयोरग्न्यतरत्वात्-द्भाववदित्याशङ्क्योपजीव्यभावविरोधान्तेत्याह—अत इति । विपक्षे स्ववगन्तव्यभावा-
ज्जगत्साध्यप्रसक्तिरित्याह—अवगतिमिति । फलित निगमयति—तत इति ॥ अक्षरस्य स्वतः सिद्धेस्तदभावस्य
दुर्बलत्वान्न स्युलादिनिपेयेऽपि द्यूयतेत्यापाद्य तत्रैव हेत्वन्तरमाह—उक्त इति । वाक्योपवत्त्वाकार ज्ञान
विना न क्वचिदपि स्थानादावात्यन्तिकोऽभावो बाह्यवदस्माभिरुच्यते तत्र श्रूयतेत्यर्थः ॥ स्युलाद्यभावस्याऽऽप्तत्वे
सैवशून्यताऽप्रारम्भे त्वद्वैतहानिरित्याशङ्क्याऽऽह—नान्यदिति ॥ अज्ञानस्याऽऽप्तमानतिरेके तस्याजाह्वयमतिरेके
तेनैव सद्व्यतेत्याशङ्क्याऽऽह—अकार्येति । सम्यग्ज्ञानान्निरोपतयाऽज्ञाननिवृत्तावद्वयमेव वस्तु स्यादित्यर्थः ॥
तस्य मानानतिरेके भेदसंबन्धादसंज्ञताहतिरतिरेके च सैवाद्वैतहानिरित्याशङ्क्याऽऽह—नास्त्वेति । अक्षरस्य सत्त्वे-
ऽस्तत्त्वे वा न मानमस्ति सर्वत्र सत्त्वात्सत्त्वयोरक्षरादेव सिद्धेन च तस्य प्रकाशत्वेऽपि दीपवन्मानापेक्षा सविदेकर-
क्षत्वादज्ञानस्त्वस्त्वेनापेक्षितमपि न द्वैतभावहृत्नि मृतमारणाल्लज्जन्ती सा भावमपि निद्वैहेदिति न्यायादित्यर्थः ॥
सर्वं स्थानात्मनोऽकार्यकारणे प्रतीचि चिद्धाती कल्पितत्वाच्च नाद्वैतहानिरित्याह—सत्त्व वेति ॥ उक्तरीत्या
प्रत्यगक्षरस्य यतोऽस्तित्वे सिद्धमतोऽस्मिन्वादिनामधिवादात्तदस्तित्वे वक्ष्यमाणहेतूक्तिसंबन्धे तथाचानुमानोपन्यास-
परोऽन्तरसदर्थो वृथेति शङ्कते—यत इति । निरुपाध्यक्षरविषयवचनानुमोक्तिवैधर्म्येऽपि सोपाधिकतद्विषयतया
तदर्थवर्त्तते समापत्ते—यत इत्यादिना ॥ अक्षरभेदान्तर्गामीत्युक्तत्वात्तयोऽनुमाविषयत्वं तदविषयत्वं वा मुख्य
व्यवस्थायां भेदात्पूर्वापरविरोध इत्याशङ्क्याऽऽह—ईशितस्येति ॥ काल्पनिको भेदो वस्तुतश्चाभेद इति स्थिते
कल्पितभेदमन्तर्यामिणमगमिदृश्यानुमानप्रवृत्तिरिति फलितमाह—अनुमानेति । अन्तर्यामिण्यनुमानसिद्धेऽपि
कथमनुमानादशरसिद्धिस्तत्राऽऽह—कारणेति । जगत्कारणस्वोपलक्षणतायां जगमादिसूत्रे स्थितत्वात्तत्सिद्धौ सर्वं
पूर्वमनोपाधिकमक्षरमिध्यतीति तदस्थलक्षणद्वारा ब्रह्मणि स्वरूपलक्षणसिद्धेरतोऽन्तर्यामिण्यनुमा प्रकृतौ-
पयोगिनीत्यर्थः ॥

निमित्तो, विधुतो च स्यातां साधारणसर्वप्राणिप्रकाशोपकारकत्वाद्धौकिकप्रदीपवत् ।

'तस्मादस्ति तद्येन विधूतावो'श्वरो स्वतन्त्रौ सन्तौ निमित्तौ तिष्ठतो 'नियतदेश-
कालनिमित्तोदयास्तमयवृद्धिक्षयाभ्यां च वर्तते [तदस्त्येवमेतयोः प्रशासित्रक्षरं प्रदीपकर्तृ-
विधारयितृवत् । एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्यावापृथिव्यौ द्यौश्च पृथिवी च
सावयवत्वात्स्फुटनस्वभावे, अपि सत्यो गुरुत्वात्पतनस्वभावे, संयुक्तत्वा द्वियोगस्वभावे

'विमतो विशिष्टविज्ञानवता निमित्तो प्रकाशत्वात्प्रदीपवदित्यर्थः । 'विमतो नियन्तृपूर्वको विशिष्टचेष्टा-
वत्त्वाद्गुप्त्यादिवदित्यभिप्रेत्याऽह—विधूताविति । प्रकाशोपकारकत्वं तज्जनकत्वं 'निर्मातृविशिष्ट-
विज्ञानसंभावनायं साधारणेति विशेषणं 'साधारणः सर्वेषां प्राणिनां यः प्रकाशस्तस्य जनकत्वादिति
यावत् । दृष्टान्ते लौकिकविशेषणं 'प्रासादाविशिष्टदेशनिविष्टत्वसिद्धयर्थम् ।

अनुमानफलपुपसंहरति—तस्मादिति । विशिष्टचेष्टावत्त्वादिभ्युपदिष्टं हेतुं स्पष्टयति—
नियतेति । नियतो देशकालो नियतं च निमित्तं प्राण्यदृष्टं तदन्तो सूर्याचन्द्रमसाद्युद्यन्तावस्तं यन्तो च
येन 'विधूताद्युदयास्तमयाभ्यां "वृद्धिक्षयाभ्यां च वर्तते । उदयश्चास्तमयश्चोदयास्तमयं वृद्धिश्च क्षयश्च
'वृद्धिक्षयमिति "द्वंद्वं गृहीत्वा द्विवचनम् । एवं कर्तृत्वेन विधारयितृत्वेन चेत्यर्थः । 'विमते प्रयत्नवता
विधुते सावयवत्वेऽप्यस्फुटितत्वाद्गुरुत्वेऽप्यपतितत्वात्संयुक्तत्वेऽप्यवियुक्तत्वाच्चेतनावत्त्वेऽप्यस्वतन्त्र-
त्वाच्च हस्तगन्तपापाणादिवदिति द्वितीयपर्यायस्य तात्पर्यमाह—सावयवत्वादित्यादिना ।

के लिए रचा है, सामान्यरूप से सभी प्राणियों का प्रकाशरूप उपकारक होने से लोकव्यवहारसिद्ध
दीपक के समान धारण किए हुए स्थित है ।

उक्त कारण से जिसके द्वारा ये दोनों स्वतन्त्र और चेतनावत्त्व होने से निमित्त और विधुत
होकर नियत देश, काल और निमित्त से युक्त उदय-अस्त एव वृद्धि-क्षय को प्राप्त हुए रहते हैं, वह
अक्षर है तथा इस प्रकार वह अक्षर प्रदीप के कर्ता एवं विधारक के समान दोनों का प्रशासक है । हे
गार्गी ! उस अक्षर के प्रशासन में "द्यावापृथिव्यौ" यानी द्युलोक और पृथिवी सावयव होने से स्फुटन-
स्वभाव वाले, गुरुत्व होने से पतनस्वभाव वाले, संयुक्त होने से (संयोग का वियोग में अवसान होने से)

१. तस्मात्—साधारणसर्वप्राणजनकत्वरूपाव्यभिचारिलिङ्गात् । २. अक्षरम् । ३. ईश्वरी—चेतनी
देवतात्वान्चेतनावत्त्वं स्वातन्त्र्यं च तयोरेस्तीत्यर्थः । ४. नियतदेशकालनिमित्ताविति—न्याम्बष्टीकानुरोधात्
स च पाठी लेखकप्रमादात्परिभ्रष्ट इति प्रतिभाति । ५. वियोगस्वभाव अपि सत्याविति—सयोगस्य वियोगा-
वसानत्वेऽपि द्यावापृथिव्योः संयुक्तवियोगावशंन नियन्तार विनाऽनुपपन्नमान तत्कल्पकमित्यर्थः । ६.
सूर्याचन्द्रमसौ । ७. सूर्याचन्द्रमसौ । ८. सर्वाग्रस्युक्त्यापकर्परहितः । ९. प्रासादादीति । एवं
च विद्रूपदीपकव्यन्धेद इति भावः इति वदन्ति । लोकप्रसिद्धत्वं लौकिकत्वमित्यभिप्रेत्याह—प्रासादादीति ।
प्रासादाद्युच्चप्रदेशस्थितो हि सर्वप्रकाशको भवति मान्तगृहकोणादित्यः । तथा च दृष्टान्ते हेत्वसिद्धिवारणाय
लौकिकविशेषणमिति भावः । १०. निमित्तौ । ११. वृद्धिक्षयाभ्यामिति—एतच्च चन्द्रमात्रान्वयि
'क्षिणोत्तरदिग्मातापकर्षोक्तयो' तद्वचनतया सूर्ये समारोप्य तद्रूपवृद्धिसौ सूर्येऽपि वा सम्भवत इति ध्येयम् ।
१२. द्वन्द्वमिति—उक्तरीत्या समाह्वारद्वन्द्वम् अथवा समाहारद्वन्द्वेन निष्पन्न युगलमित्यर्थः । १३. द्यावापृथिव्यो ।
१४. संयुक्तत्वेऽपीति संयुक्तत्वं स्वाधारदेशसश्लिष्टस्वम् प्रयत्नवताऽविधुतो हि पापाणादियत्र गिरिशिखरादौ
स्थितस्ततः कालान्तरे विचलन् विद्युव्य एव नेमे तथेति भावः ।

चेतनावदभिमानिदेवताधिष्ठितत्वात्स्वतन्त्रे ॥ अर्प्येतस्याक्षरस्य प्रशासने वर्तते ॥ विधृते तिष्ठतः ।

एतद्व्यक्षरं 'सर्वव्यवस्थासेतुः सर्वमर्थादाविधरणमतो' नास्याक्षरस्य प्रशासनं द्यावापृथिव्यावतिक्रामतं स्तस्मात्सिद्धमस्यास्तित्वमक्षरस्य ॥ अव्यभिचारि हि तल्लिङ्गं यद्द्यावापृथिव्यो नियते वर्तते । चेतनावन्तं प्रशासितारमसंसारिमन्तरेण नंतद्युक्तम् । "येन द्यौरप्रा पृथिवी च दृढा" इति मन्त्रवर्णात् ।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी निमेषा मुहूर्ता इत्येते कालावयवाः सर्वस्यातोतानागतवर्तमानस्य जनिमतः कल्पितारः । यथा लोके प्रभुणा नियतो गणकः सर्वमायं

'किमित्येतस्य प्रशासने द्यावापृथिव्यो वर्तते तत्राऽऽह—एतद्धीति । पृथिव्याविव्यवस्था नियन्तारं विनाऽनुपपन्ना तत्कल्पिकेत्यर्थः । 'तत्राऽपि किमित्येतेन विधृते द्यावापृथिव्याविति तत्राऽह—सर्वमर्थादिति । 'एष सेतुविधरण' इति श्रुत्यन्तरमाश्रित्य फलितमाह—अतो नास्येति । द्वितीयपर्यायाध-मुपसंहरति—तस्मादिति । तच्छब्दोपात्तमर्थं स्फोरयति—अव्यभिचारोति । अव्यभिचारित्वं प्रकटयति—चेतनावन्तमिति । पृथिव्यादेर्नियतत्वमेतच्छब्दायं । नियन्तृसिद्धावपि कथमोश्वरसिद्धिरित्या-शङ्क्याऽऽह—येनेति । उप्रत्वं पृथिव्यादेश्चेतनावदभिमानिदेवतावत्त्वेन स्वातन्त्र्यम् । 'येन स्वस्तभि-येन नाको यो अन्तरिक्षे' "रजसो" विमान "कर्म देवाय हविषा" विधेम" इत्यत्र "हिरण्यगर्भ-धिष्ठितेश्वरः पृथिव्यादेर्नियन्तोच्यते । न हिरण्यगर्भमात्रस्यास्मिन्प्रकरणे पूर्वापरप्रत्ययो ह्येवमानं निरङ्कुशं सर्वनियन्तृत्व सभवतीति भावः ।

एते कालावयवा विधृतास्तित्पुन्तीति सबन्ध । "तत्रानुमानं वक्तु हेतुमाह—सर्वस्येति । य'

वियुक्तस्वभाव वाले और चेतनावत्त्व अभिमानि देवता से अधिष्ठित होने के कारण स्वतन्त्र होने पर भी इस अक्षर के प्रशासन में नियमित होकर स्थित हैं ।

यह अक्षर ही सेतु के समान सर्वविध व्यवस्था का हेतु है, समस्त मर्थादायो का विधारक है, इसलिए द्युलोक और पृथिवी इसके प्रशासन का उल्लंघन नहीं करते । इसलिए (उक्त अव्यभिचारी हेतु में) इस अक्षर का अस्तित्व सिद्ध होता है । द्युलोक और पृथिवी जिसकी सत्ता से नियमित हो कर विद्यमान हैं, वह अव्यभिचारी लिङ्ग है । क्योंकि किसी चेतनावानु अससारी के बिना ऐसा होना सिद्ध नहीं होता । श्रुति भी इसी का मर्ममन करती है—"जिसके द्वारा द्युलोक उग्र और पृथिवी दृढ की गयी है" ।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में निमेष, मुहूर्त इत्यादि काल के अवयव समस्त अतीत, अनागत और वर्तमान उत्पन्न पदार्थों की (देवता होने के कारण) गणना करते हैं । जिस प्रकार लोक-

- १ सेतुरिव व्यवस्थाहेतुरित्यर्थः । २ विधारकम् । ३ सर्वमर्थादाविधारकत्वात् । ४ उक्ताव्यभिचारिहेतुजातात् । ५ देवतात्वाद्गणयितारः । ६ विमितोति—इति किमर्थं कल्प्यत इत्यर्थः । ७ अर्थापर्यायानियन्तृसिद्धावपि । ८ स्वस्तम्भितमिति पाठान्तरम् । ९ वर्तमानस्य । १०. लोकस्य । ११ विधारयिता । १२. ब्रह्मणे । १३ परिचरेम । १४. हिरण्यगर्भस्याव्यभिच्छितेश्वरः । १५ तृतीयपर्यायि विवक्षितम् ।

व्ययं चाप्रमत्तो गणयति तथा प्रभुस्थानीय एषा कालावयवानां नियन्ता । तथा प्राच्यः प्रागञ्चनाः पूर्वदिग्गमना नद्यः स्यन्दन्ते स्रवन्ति श्वेतेभ्यो हिमवदादिभ्यः पर्वतेभ्यो गिरिभ्यो गङ्गाद्या नद्यस्ताश्च यथा प्रवर्तिता एव नियताः प्रवर्तन्तेऽन्यथाऽपि प्रवर्तितुमुत्सहन्त्येस्तं देतलिङ्गं प्रशास्तुः । प्रतीच्योऽन्याः प्रतीचीं दिशमञ्चन्ति सिन्ध्वाद्या नद्यः । अन्याश्च पां या दिशमनुप्रवृत्तास्तां तां न व्यभिचरन्ति तच्च लिङ्गम् ।

किञ्च वदतो हिरण्यादीन्प्रयच्छत आत्मपोडा कुर्वतोऽपि प्रमाणज्ञा अपि मनुष्याः प्रशंसन्ति । तत्र यच्च दीयते ये च वदति ये च प्रतिगृह्णन्ति तेषामिहैव समागमो

कलयिता स नियन्तृपूर्वक इति व्यातिर्भूमिमाह—यथेति । दार्ष्टान्तिक दर्शयन्ननुमानमाह—तथेति । निमेयादयो नियन्तृपूर्वका कलयितृत्वात्सप्रतिपक्षवदित्यर्थं । कास्ता नद्य इत्यपेक्षायामाह—गङ्गाद्या इति । अन्यथा प्रवर्तितुमुत्सहमानत्य तत्तद्देयतानां चेतनत्वेन स्वातन्त्र्यम् । 'विमता नियन्तृपूर्विका नियतप्रवृत्तित्वाद्भ्रूत्यादिप्रवृत्तिवदिति चतुर्यर्थायाप्यं । नियतप्रवृत्तिमत्त्वं तदैतद्विद्युच्यते । तच्चेत्यभ्यभिचारित्थोक्तिः ।

'विमत विशिष्टज्ञानवद्वातृक कर्मफलत्वात्सेवाफलवदित्यभिप्रेत्य पञ्चम पर्यायमुत्थापयति—किञ्चेति । दाता प्रतिप्रहीता दान देय वा फल दास्यति किमोश्वरेणोत्थाशङ्क्याऽऽह—तत्रेति' । दानादीनामिहैव प्रत्यक्षो नाशो दृश्यते तेन तत्प्रयुक्तो दृष्ट पुरुषार्थो न कश्चिदस्तीत्यर्थः । अदृष्ट

व्यवहार मे स्वामी के द्वारा नियुक्त किया हुआ लेखाकार प्रमादशून्य होकर समस्त प्राय-व्यय का हिसाब रखता है, उमो प्रकार इन कालावयवा का नियन्ता भी प्रभुस्थानीय है । जिस प्रकार 'श्वेतेभ्य पर्वतेभ्य' यानी हिमालय आदि पर्वतो से "प्राच्य अर्थात् पूव दिशा की ओर गमन करने वाली अर्थात् बहने वाली गङ्गादि नदियों की, अन्य दिशा मे प्रवृत्त होने की सामर्थ्य होने पर भी जिस ओर नियमित कर दी जाती है, उसी ओर बहती रहती है, यह भी उस प्रशासक की सत्ता का ज्ञापक है । तथा अन्य पश्चिम दिशा की ओर बहने वाली सिन्धु आदि नदियाँ है । अन्य नदियाँ भी जिस-जिस दिशा की ओर बहने के लिए प्रवृत्त कर दी जाती है, उसी दिशा की ओर ही बहती है । यह भी उस अक्षर प्रशासक के अस्तित्व का ज्ञापक है ।

इसके अतिरिक्त (दु ख से उपाजित किये हुए) सुवर्णादि का, मन खेद होने पर भी दान करने वाले पुरुष की श्रुतिप्रमाणज्ञ जन प्रशंसा—करते है । उक्त प्रशंसा मे स्थित होने पर जो कुछ द्रव्यादि

१ प्रशास्तुरिति—प्रशाम्बुशब्दोऽप्यम् 'तृन्तृची शसिषदादिभ्य सजाया चानिटो उ० २।२।१६ इत्युणादि-सूत्रविहिततृत्तृज यतरास्त अनिटत्वमप्यत्रैवोच्यते चानिटविति । अत्र च शास्ते साक्षादथवणऽपि क्षदासीत्यादि-शब्दप्राप्तत्वं व्याख्यातुमिच्छम् । अत्रैव भाष्ये पूर्वमनेत्रश सेटप्रयोगास्तु "ब्रूवन्तुचाविति तृज्युत्पन्ना इति च्ययम् । २ पुरुषान् । ३ दु खोपाजितस्य दाने मन खेद प्रसिद्ध । ४ हिरण्यदा अमृतत्व भजन्त' इति श्रुतिप्रमाणज्ञा । ५ प्रशमतीति—तथा चैतस्य प्रशसनस्य फलसर्वधपूर्वकत्वेन तत्कत्रक्षर सिद्धम् । तदुक्त— "दु खोजितघनस्यागिनृतिश्च जगतीश्वरते । नय युक्ताऽप्रसिद्धमे तत्कमफलदायिनि ॥ वा० १४२ ॥ इति । ६ तत्र यथोक्तप्रशंसने स्थिते सति । ७ यत्—द्रव्यादि । ८ नदीना प्रवृत्तय । ९ कर्मफलम् ।

सेव्यात्फलप्राप्तिर्दृष्टा न त्वपूर्वात्तत्र चापूर्वं 'दृष्टम् । तत्रापूर्वंमदृष्टं कल्पयितव्यं तस्य च फलदातृत्वे सामर्थ्यं सामर्थ्यं च सति 'दानं चाभ्यधिकमिति । इह त्वीश्वरस्य सेव्यस्य सद्भावमात्रं कल्प्यं नतु फलदानसामर्थ्यं दातृत्वं च । सेव्यात्फलप्राप्तिदर्शनात् । अनुमानं च दर्शितं द्यावापृथिव्यो विधृते तिष्ठत इत्यादि' ।
 'तथा च यजमानं देवाः ईश्वराः सन्तो जीवनाथेऽनुगताश्चरपुरोडाशाद्युपजीवन-
 प्रयोजनेनाभ्यासापि जीवितुमुत्सहन्तः कृपणां हीना वृत्तिमाश्रित्य स्थितास्तच्च' प्रशास्तुः

भूमिकां कृत्वा कल्पनाधिक्यं स्फुटयति—तत्रेत्यादिना । 'अपूर्वंस्यादृष्टत्वे सतीति यावत् । इति कल्पना-
 धिक्यमिति शेषः । त्वन्मतेऽपि तुल्या कल्पनेत्याशङ्क्याऽह—इह त्विति । स्वपक्षे धर्मिमात्रं कल्प्यं
 परपक्षे धर्मो धर्मश्चेत्याधिक्यं 'तस्मात्फलमत उपपत्तिरिति' न्यायेन 'परस्यैव फलदातृतेति भावः ।
 धर्मिणोऽपि प्रामाणिकत्वात् कल्प्यत्वमित्यभिप्रेत्याह—अनुमानं चेति ।
 ईश्वरास्तित्वे हेत्वन्तरमाह—तथा चेति । देवा यजमानमन्वायत्ता इति संबन्धः । जीवनाथं
 जीवनं निमित्तीकृत्येति यावत् । देवानामोश्वराणामपि हृद्याश्रित्वेन मनुष्याधीनत्वात्पृथगेनवृत्तिमात्रत्वं

द्वारा ईश्वर की कल्पना करनी उचित है अथवा अपूर्व की । किन्तु लोकव्यवहार में तो सेव्य द्वारा फलप्राप्ति होना क्रिया का स्वभाव देखा गया है । अपूर्व से तो फलप्राप्ति होते नहीं देखी और अपूर्व लोक-वेद में प्रामाण्य भी नहीं है । इसलिए अपूर्व की कल्पना निष्प्रमाणिक है और उसमें फल प्रदान करने की सामर्थ्य भी निष्प्रमाणिक है । इस प्रकार सामर्थ्य स्वीकार करने पर दान की अधिक कल्पना की जाती है । हमारे पक्ष में तो केवल सेव्य ईश्वर के अस्तित्वमात्र की कल्पना की जाती है, उसके फलप्रदान के सामर्थ्य और दातृत्व की नहीं, क्योंकि सेव्य से फलप्राप्ति होते देखी जाती है । "इसके प्रशासन में द्यूलोक और पृथिवी धारण किये हुए स्थित हैं" इत्यादि रूप से अनुमान भी दिखाया गया है ।

ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी देवता समर्थ होते हुए भी जो जीवनधारण के लिए चरु-पुरोडाशादि के आश्रय यानी भक्षणरूप प्रयोजन से यजमान के अनुगत रहते हैं, अर्थात् अन्य प्रकार से जीवित रहने में समर्थ होते हुए भी वे जो इस कृपण निकृष्ट वृत्ति को आश्रित करके स्थित रहते हैं,

- १ अपूर्वमपि लोके वेदे प्रामाणिकं न दृष्टमिति कल्प्यमेव तदित्यर्थः । २ निष्प्रमाणमिति यावत् । ३ दातृत्वम् । ४ अभ्यधिक्यम्—सामर्थ्यं दानं चेति । धर्मद्वयकल्पनमधिकं धर्मिकल्पनायाः सिद्धांतेऽपि समत्वात् । ५ अस्मत्पक्षे । ६ ननु न वैदिकक्रियाफलदातेऽश्वर ईश्वरत्वात्सौकिकेश्वरवदिति चेन्न "मतं प्रवृत्तिर्नूतना यानं सवामिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यव्य सिद्धिं विदति मानव" इति स्मृतिविरोधादित्यभिप्रेत्याह—इत्या-
 दिति । ७ तथा च—तथैव ईश्वरास्तित्वे सत्यवैश्वर्यं । ८ जीवनाथेऽनुगता इत्येतदेव विवादयति—
 चावित्यादिना । ९ उपजीवनमाश्रयणं भक्षणमिति यावत् तदात्मकप्रयोजनेन—तत्प्रयुक्ता इति यावत् । १० अथयापि—प्रकारान्तरेणापि मनुष्याधीनतां विनाऽपीत्यर्थः । ११ निकृष्टात् । १२ देवतानामेतादधीन-
 वृत्त्याश्रयणमक्षरास्तित्वे तिङ्गमित्यभिप्रेत्याह—तत्रचेति । १३ लोकादावदर्शनादवलुप्तत्वे । १४ कल्पना-
 धिक्यात् । १५ फलमत इति—अतः परमात्मनः सकाशात् सर्वस्य लोकस्य फलं भवितुमर्हति । न तु
 कर्मणस्तस्य क्षणिकत्वात् फलदातृत्वात्तत्रैव ईश्वरस्यैव फलदातृत्वोपपत्तिरिति सूत्राय । १६ ३।२।३८ ।
 १७ परमात्मनः ।

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यं 'विदित्वाऽस्मिं'ल्लोकं 'जुहोति',
 'यजते 'तप'स्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्य'न्तवद्वेवास्य'
 'तद्भवति यो वा ततदक्षरं गार्ग्यं'विदित्वाऽ'स्माल्लो-
 का'त्प्रति 'स 'कृपणोऽय' य एतदक्षरं गार्गि 'विदित्वा-
 'ऽस्माल्लोकात्प्रति स 'ब्राह्मणः ॥१०॥

हे गार्गि ! इसलोक में जो कोई इस अक्षर को जाने बिना हवन करता है, यज्ञ करता है और अनेक महत्स्र वर्ष पर्यन्त तप भी करता है उसका वह सभी कर्म नाशवान ही होता है, क्योंकि भोग के पीछे उसका नाश होना अनिवार्य है। अतः जो कोई भी उस अक्षर को जाने बिना ही इस लोक से मर कर प्रयाण करना है, वह दीन और कृपण है। अर्थात् वह मर कर पुनः ससारबन्धन को प्राप्त हो जाता है। वह देवादिलोक में जाने पर भी पंमे से खरीदे हुए दाम के समान ही रहता है। पर हे गार्गि ! जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है, वह ससारबन्धन से मुक्त हुआ -पुरुष ब्राह्मण है ॥ १० ॥

प्रशासनात्स्यात् । तथा पितरोऽपि तदर्थं दर्वी दर्वीहोममन्वायत्ता अनुगता इत्यर्थः । समानं सर्वमन्यत् ॥ ६ ॥

इतश्चास्ति तदक्षर यस्मात्तदज्ञाने नियता "संसारो"पपत्तिर्भवितव्यं तु तेन

नियन्तृकल्पकमित्यर्थं । यो न "कस्यचित्प्रकृतित्वेन विकृतित्वेन वा वर्तते स दर्वीहोम ॥६॥

ईश्वरास्तित्वे हेत्वन्तरमाह—इतश्चेति । मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वेनापि "तदस्तीत्याह—भवितव्य-

वह भी प्रशासक ईश्वर के प्रशासन का ज्ञापक है। इसी प्रकार पितृगण भी जीवनधारण के लिए "दर्वीम्" अर्थात् पितृ-उद्देश्यक किये जाने वाले दर्वी होम के "मन्वायत्ता" यानी अनुगत है। (पितरो का भी हीनवृत्ति आश्रयण करना ईश्वर के प्रशासन का ज्ञापक है इसलिए) शेष सब इसी के समान कल्पना कर लेनी चाहिए ॥ ६ ॥

इसके अतिरिक्त इस अक्षर की सत्ता इसलिए भी है क्योंकि इसके अज्ञान से तीव्र अनर्थ

- १ पुमान् । २ आत्मतया अविज्ञाय । ३ कमभूमी । ४ देवतोद्देशेन सकल्पित द्रव्यमग्नी प्रक्षिपति ।
- ५ देवतोद्देशेन द्रव्य सकल्पयति । ६ चान्द्रायणादि । ७ आचरति । ८ तथाप्य'तवृत्फलकमेव भवति न नित्यमोक्षफलकम् । ९ कर्तुं । १० साङ्गमपि क्रियमाण कर्म । ११ अह ब्रह्मास्मीत्येवम् । १२ कर्मसोकात् । १३ नियते । १४ कर्म । १५ दीन यणीकृतदासवत् स्वकृतकर्मफलस्यैव भोक्तान मोक्षस्य । १६ अथ य—यस्तु । १७ भृत्याचार्यापिदशेनाह ब्रह्मेत्येवम् । १८ मरीरात् । १९ ब्रह्मी-भूतो मुक्त इत्यर्थं । २० पितृगामीश्वराणांमपि कस्याभित्वेन दर्वीहोमादिबतृ मनुष्याधोमत्वात्क्यहीनवृत्तिभाक्त्व नियन्तृकल्पकमित्यभिप्रेत्याह—अन्यदिति । २१ अक्षराज्ञान इति भावः । २२ तीव्रानयपरम्परप्राप्ति । २३ नियता ससारोपपत्तिरिति—तथा च ससारोपपत्तिर्नैतत्प्राप्त्याऽनुपपत्त्या तद्वीजाज्ञानविषयेणाक्षरेण साम्यामिति भावः । २४ यत्तस्य । २५ अक्षरम् ।

यद्विज्ञानात्तद्विच्छेदो न्यायोपपत्तेः । ननु - 'क्रियात् एव 'तद्विच्छित्तिः स्यादिति चेन्न । यो वा एतदक्षरं हे गार्ग्यंविदित्वाऽविज्ञायास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते यद्यपि बहूनि वयंसहस्राण्यन्तवदेवास्य' तत्फलं भवति तत्फलोपभोगान्ते 'क्षीयन्त एवास्य कर्माणि । अथि च यद्विज्ञानात्कार्पाण्यात्ययः "ससारविच्छेदो यद्विज्ञानामावाञ्च कर्मकृतकृपणः "कृतफलस्यैवोपभोक्ता जननमरणप्रबन्धारूढः संसरति । तदस्त्यक्षरं प्रशासितु "तदेतदुच्यते यो वा एतदक्षरं गार्ग्यंविदित्वाऽस्माँल्लोकात्प्रति स "कृपणः "पणक्रीत इव दासादिः । अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माँल्लोकात्प्रति "स ब्राह्मणः ॥१०॥

मिति । 'यदज्ञानात्प्रवृत्तिर्या तज्ज्ञानात्सा निवर्तते' इति न्याय । "कर्मवशादेव मोक्षसिद्धेस्तद्धेतुज्ञान-
विययत्वेनाक्षर नास्म्यपेयमिति शङ्कते—नन्विति । "उत्तरवाक्येनो(शो)"त्तरमाह—नेत्यादिना ।
यस्याज्ञानादसकृदनुष्ठितानि "विशिष्टफलान्यपि सर्वाणि कर्माणि ससारमेव फलयन्ति तदज्ञातमक्षरं
नास्तीत्ययुक्त ससाराभावप्रसङ्गादिति भावः । अक्षरास्तित्वे हेत्वन्तरमाह—अपि चेति । "पूर्ववाक्य
जीवदवस्यपुरुषविययमिदं" तु परलोकविययमिति विशेषं मत्वोत्तरवाक्यमवतार्यं व्याचष्टे—तदेतदि-
त्यादिना ॥ १० ॥

परम्पराप्राप्ति नियत है । जिसके जानने से ससार का विच्छेद हो सकता है, उसका होना युक्तिसंगत भी है । यदि कहो, उसका विच्छेद तो कर्म से हो जायगा तो ऐसा कहना उचित नहीं है । हे गार्गी ! जो भी कोई पुरुष इस लोक में इस अक्षर को "अविदित्वा" मानी भ्रातमत्तया न जानकर हवन, यज्ञ और अनेक सहस्रवर्षपर्यन्त तप भी करता है, उसके उस कर्मानुष्ठान का फल क्षयिष्णु ही होता है, उस फलभोग के पश्चात् इसके कर्म क्षीण हो ही जाते हैं । इसके अतिरिक्त जिसके जान लेने से कृपणता यानी अनात्म अध्यास का ध्वंस और ससार का विच्छेद होता है तथा जिसके न जानने से कर्मकाण्डी कृपण, किए हुए कर्म के फल का उपभोक्ता और जन्म-मृत्यु की परम्परा में आरूढ होकर ससार-बन्धन को प्राप्त होता है, वह अक्षर ही प्रशासक है । इसीलिये यह कहा जाता है—हे गार्गी ! जो कोई भी इस

१ ससारविच्छेद । २ युक्तिसङ्गात्वात् । ३ कर्मत् । ४ ससारविच्छित्तिः । ५ क्षयिष्णुः । ६ कर्मानुष्ठानु । ७ कर्मफलम् । ८ नश्यन्ति । ९ कार्पाण्यात्यय इति—य स्वल्पामपि विच्छेदति न क्षमते स कृपण इति लोके प्रसिद्धः । तद्विषयत्वादाखिलोऽप्यनात्मविदप्रप्तपुरुषार्थतया कृपणो भवति तस्य भाव कार्पाण्यम् अनात्माध्यासवत्त्वम् तस्यात्ययो ध्वंस इत्यर्थः ॥ १० एतदेव विवृणोति—ससारविच्छेदे इति । ११ स्वहृतकर्मफलस्येति । १२ तदेतदिति । तत्—अक्षराज्ञान कार्पाण्यप्रयोजकम् । एतत्—अक्षरज्ञानकार्पाण्यो-
च्छेदकम् । १३ कृपण पणक्रीत इति । तथा चामरः—"कदर्ये कृपणक्षुद्रकिपचानमितपचा" इति । १४ मूल्यक्रीत । १५ देहात् । १६ स ब्राह्मण इति । न यक्षरविदो युक्तमकार्पाण्य कार्पाण्यहृत्वज्ञानरत्याक्षर-
ज्ञानेनापनयात् ब्राह्मण्य खन्यस्यापि सुखमिति कथं तत्फलत्वेनोक्तमित्याद्यङ्कूप समाहितं यातिके—'यस्त्वक्षर-
परिज्ञानान्मृत्युमृत्यु प्रमीयते । स एव ब्राह्मणो नाग्यो जगत्पृथ्व्यवसीयताम् ॥ सर्वज्ञ सर्वशृङ्खासो निरस्तादोष-
सत्सृति । प्राप्ताज्ञोपपुमयर्षव ब्राह्मणोऽत्राभिधीयते" ॥ १६६-७० ॥ इति । तस्य मुख्य ब्राह्मण्य प्रकटयति—
सर्वज्ञ इति । १७ कर्माख्यसाधनादेव । १८ अनन्तरवाक्येन । १९ समाधानम् । २० ब्राह्मणोक्तान्तफलकानि ।
२१ पूर्ववाक्यम्—यो वा इत्यारभ्य सङ्गृह्यतिपर्यन्तम् । २२ इदं—यो वा इत्यारभ्य ब्राह्मण इत्यन्तम् ।

'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्र-
विज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति
श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्त्र- नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रे-
तस्मिन्नु खल्वक्षरं गार्ग्याकाश' ओतश्च प्रोतश्चेति ॥११॥

हे गार्गी ! यह अक्षर किसी की दृष्टि वा विषय नहीं होता, किन्तु स्वयं दृष्टिस्वरूप होने के कारण द्रष्टा है - वैसे ही श्रोत्र का विषय नहीं है, किन्तु स्वयं श्रुतिरूप होने से श्रोता है। मनन का विषय नहीं, किन्तु मतिरूप होने से मन्ता है। बुद्धि का अविषय होने से स्वयं अविज्ञाता होता हुआ भी विज्ञातस्वरूप होने से दूसरे का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई मननकर्ता नहीं, और न इससे भिन्न कोई विज्ञाता ही है। अतः हे गार्गी ! निःसन्देह इस अक्षर में ही आकाश प्रोत-प्रोत है ॥ ११ ॥

अग्नेर्दहनप्रकाशकत्ववत्स्वाभाविकमस्य प्रशास्तृत्वमचेतनस्यैवेत्यत आह—

तद्वा 'एतदक्षरं-गार्ग्यदृष्टं' न केनचिद्दृष्टमविषयत्वात्स्वयं तु द्रष्टृ दृष्टिस्वरूप-

'प्रधानवादिनः शङ्खामनूद्योत्तरवाक्येन(ण)निराकरोति—अग्नेरित्यादिना । इतश्चाक्षरस्य

अक्षर को आत्मतया, न जानकर इस कर्मलोक से जाता है वह कर्मों उसी प्रकार दीन है, जैसे धन देकर खरीदा हुआ कोई दास होता है। तथा हे गार्गी ! जो कोई इस अक्षर को आत्मतया जानकर इस देह को छोड़ जाता है, वह ब्राह्मण है ॥ १० ॥

(साख्यदर्शन के मत में) अग्नि के दहन और प्रकाशकत्व के समान यह प्रधान अचेतन ही स्वाभाविक शासन करने वाला है, इसी से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

हे गार्गी ! (अस्यूतादिवाक्य से अधिगमित) वह यह अक्षर अदृष्ट है, दृष्टि का विषय न होने के कारण वह किसी के द्वारा देखा नहीं गया है, किन्तु स्वयं दृष्टिस्वरूप होने के कारण द्रष्टा है। उसी

१. तद्वा इत्यादि वाक्य वातिककारास्तावत्प्रकारान्तरेणावतारयन्ति तथाहि—'जेमतेतसिद्धये प्राह यथोक्तेस्वर-
वरमना । अक्षरस्य श्रुति साक्षात्तद्वा इत्येवमादिना ॥ एतदस्य प्रशास्तृत्व स्वमोहाभासहेतुकम् । नेति
नेत्यादिवाक्येभ्यो दृष्टिमात्रान्तवस्तुन । इत्येतत्प्रतिपत्त्यर्थं तद्वा एतदिति श्रुति' ॥ १७१-७३ ॥ इति ।
सोपाधिकस्य सर्वज्ञत्वादिततोऽक्षरस्य ज्ञानान्गुक्तिश्चेत्त्रिरुपाध्यक्षर नास्त्येवेत्याशङ्क्यानन्तरवाक्यमोदते—
जेमत्वेति । अकार्यकारणप्रत्ययक्षरस्य स्वस्मिन्प्रारोपितेश्वरत्वादिनिरासद्वारेणापरोक्षतया प्रतिपत्त्यर्थं तद्वा
इत्यादिवाक्येन श्रुतिरनोपाधिक तदाहेत्यर्थं ॥ अग्नेरिव प्रकाशकत्व स्वाभाविकमक्षरस्येश्वरत्व तत्कथं तन्निरास-
द्वारा निरुपाध्यक्षरसिद्धिस्तथाऽऽह—एतदिति । ईश्वरत्वादेरापरोपितत्वे गमकमाह—नेतीति ॥ तस्याध्यस्तत्वे
सिद्धे तन्निरासेन निरुपाध्यक्षरदृष्टदर्थमनन्तरश्रुतिर्युक्ततयाह—इत्येतदिति । २ अत्येति—'क्षरतीति
व्युत्पत्त्या अक्षरमधिगम्यस्य प्रधानस्येत्यर्थं । ३ अस्यूतादिवाक्याधिगमितम् । ४ अविषयत्वात्—मा-
मोचरतिवर्तित्वाददृष्टं स्यात्तदक्षरम् । ५ अदृष्टमित्यमेवत्वादसत्त्वे प्राप्ते दृष्टपदमादत्ते—स्वयमिति । ६
साङ्ख्यस्य ।

त्वात् । तथाऽश्रुतं श्रोत्राविषयत्वात्स्वयं श्रोतृ श्रुतिस्वरूपत्वात् । तथाऽमृतं मनसोऽविषय-
त्वात् । स्वयं मन्तु मतिस्वरूपत्वात् । तथाऽविज्ञातं बुद्धेरविषयत्वात्स्वयं विज्ञातु विज्ञानस्व-
रूपत्वात् । किं च नान्यदतोऽस्मादक्षरादस्ति नास्ति किंचिद्द्रष्टुं दर्शनक्रियाकर्तुं । एतदेवा-
क्षरं दर्शनक्रियाकर्तुं सर्वत्र । तथा नान्यदतोऽस्ति श्रोतुं । तदेवाक्षरं श्रोतुं सर्वत्र । नान्य-
दतोऽस्ति मन्तु तदेवाक्षरं मन्तु सर्वत्र सर्वमनोद्वारेण । नान्यदतोऽस्ति विज्ञातु विज्ञानक्रिया-
कर्तुं तदेवाक्षरं सर्वबुद्धिद्वारेण विज्ञानक्रियाकर्तुं नाचेतनं प्रधानमन्यद्वा । एतस्मिन्नु-
क्तत्वक्षरे गार्ग्याकाश श्रोतश्च प्रोतश्चेति । यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरो-
ऽशनायादिसंसारधर्मातीतो यस्मिन्नाकाश श्रोतश्च प्रोतश्चंपा परा काष्ठंया परा गतिरेतत्परं

नाचेतनत्वमित्याह—किंचेति । 'नास्तीत्यन्वयप्रदर्शनम् । 'अतोऽन्यदिति विशेषणसिद्धमर्थमाह—एतदिति ।
अन्यद्वा 'पूर्वोक्तमव्याकृतादिपृथिव्यन्तं निगमनवाक्यमुदाहृत्य तस्य तात्पर्यमाह—एतस्मिन्निति । परा
काष्ठा परं पर्यवसानं नास्मादुपरिष्ठादधिष्ठानं किंचिदस्तीत्यर्थः । 'तस्यैव परमपुरुषायत्वमाह—एषेति ।
'पुरुषात् परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इति हि श्रुत्यन्तरम् । ब्रह्मास्मादक्षरादन्यदस्तीति
चेनेत्याह—एतदिति । ननु चतुर्यं सत्यस्य सत्यं ब्रह्म व्याख्यातमक्षरं तु नैवमिति चेत्त्राऽह—
एतत्पृथिव्यादेरिति ॥ ११ ॥

प्रकार वह श्रोत्र का विषय न होने के कारण सुना नहीं गया है किन्तु स्वयं श्रुतिरूप होने से श्रोता है ।
इसी प्रकार मन का अविषय होने के कारण यह मनन का विषय नहीं होता किन्तु स्वयं मतिरूप होने
मन्ता है । इसी प्रकार बुद्धि का अविषय होने से स्वयं अविज्ञात होता हुआ भी विज्ञानस्वरूप होने से
दूसरो का विज्ञाता है । इसके अतिरिक्त इस प्रकृत अक्षर से भिन्न "द्रष्टुं" अर्थात् कोई दर्शनक्रिया का
कर्ता नहीं है । यह अक्षर ही सर्वचक्षुभ्यो द्वारा दर्शनक्रिया का कर्ता है; इसी प्रकार इससे भिन्न कोई
श्रोता नहीं ; यह अक्षर ही सर्वश्रोत्रो के द्वारा श्रोता है । इससे भिन्न कोई मन्ता भी नहीं है, सर्वमनो
के द्वारा वह अक्षर ही मनन करने वाला है । और इससे भिन्न कोई "विज्ञातृ" यानी विज्ञानक्रिया
का कर्ता नहीं है, सर्वबुद्धियो के द्वारा वह अक्षर ही विज्ञानक्रिया का कर्ता है । अचेतन प्रधान अथवा
अन्य कोई नहीं है । हे गार्गी ! निश्चय ही इस अक्षर मे ही आकाश श्रोत-प्रोत है । जो कि साक्षात्
अपरोक्ष ब्रह्म है, क्षुधादि सासारिक धर्मों से अतीत सर्वान्तर आत्मा है, जिसमे आकाश श्रोत-प्रोत

१. प्रकृतात् । २. सर्वत्रेति—सर्वचक्षुर्दरिति यावत् । ३. नान्यदतोऽस्तीत्यादि वाक्यस्य तात्पर्यमाह—
अन्यदेति । तदुक्तं वालिके—'बहुद्रष्टुंनिषेधार्थं नान्यदित्याद्युदीरणम् । सजातीयविज्ञानोपवरत्वन्तरनिषेधतः ॥
कूटस्थमेक चैतन्यं सिद्धं श्रुत्यनुसारतः' ॥ १७६ ॥ इति । ४. प्रकरणार्थमुपसहरति—सजातीयेति । श्रोतप्रोतवाक्येन
प्रत्यगातिरिक्तं जड निरस्तं नान्यदित्यादिना चाजडं तस्मादक्षरं धस्तु श्रुतित्वात्पर्यगम्यं सिद्धमित्यर्थः । ५.
एषा अव्याकृताकाशाधिष्ठानभूता प्रत्यक्षचित्तिः । परा—उत्कृष्टा निरतिशया । काष्ठा—कार्यकारणस्वरूपस्य
जगत् पर्यवसानभूमिः । एषा—उक्तार्थम् । परा गतिः—सोऽम्बनः पारमाणीति तद्विष्णोः परमं पदमिति श्रुति-
प्रदशिता परा निरवधिः । गतिः गन्तव्यफलभूता । ६. यथोक्तमक्षरम् । ७. नतोऽस्ति पदेनान्वयप्रदर्शनार्थं
'नास्तीत्युक्तमित्यर्थः । ८. अक्षरातिरिक्तस्य द्रष्टुरभावमनुभावयितुमतोऽन्यदित्येतद्द्रष्टुंविशेषणमित्याह
—अतोऽन्यदितेति । ९. पूर्वोक्तम्—गार्ग्येक्षरब्राह्मणोक्तम् । १०. अक्षरस्यैव ।

'सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं
यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं
कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचकनव्युपरराम ॥१२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्याष्टम
ब्राह्मणम् ॥८॥

उस गार्गी ने कहा—हे पूजनीय ब्राह्मणो । आप लोग इसी को बहुत समझो, जो इनसे नमस्कार के द्वारा छुटकारा पा जाओ । आप में से कोई भी इन याज्ञवल्क्य को ब्रह्मवाद में जीत नहीं सकता, (क्योंकि पहले ही मैंने ऐसी प्रतिज्ञा की थी । आज भी मेरा यही निश्चय है कि ब्रह्मवाद में याज्ञवल्क्य के समान दूसरा कोई नहीं है) इसके बाद वचकनु की पुत्री गार्गी चुप हो गयी ॥ १२ ॥

॥ इत्यष्टम ब्राह्मणम् ॥

ब्रह्मं तत्पृथिव्यादेराकाशान्तस्य सत्यस्य सत्यम् ॥११॥

सा होवाच हे ब्राह्मणा भगवन्तः शृणुत मदीय वचस्तदेव बहु मन्येध्वम् मन्येध्वम् ।
किं तद्यदस्माद्याज्ञवल्क्यान्नमस्कारेण मुच्येध्व मुच्येध्वमस्मै नमस्कार कृत्वा तदेव बहु

किं तद्वचनं तदाह—तदेवेति । बहुमानविषयसूत वस्तु पृच्छति—किं तदिति । यदौ मदीय वचनं तदेव बहुमानयोग्यमित्याह—यदिति । तद्व्याकरोति—अस्मा इति । नमस्कारं कृत्वाऽस्मादनुज्ञा प्राप्येति शेष । तदेवेति प्राथमिकवचनोक्ति । किमिति त्वदीय पूर्व वचो बहु मन्यामहे जेतु पुनरिम-
माशास्महे नेत्याह—जयस्त्विति । 'तत्र प्रश्नपूर्वकं पूर्वोक्तमेव बहुमानविषयसूत वाक्यमवतार्य व्याचष्टे

है, यह अक्षर ही परा काष्ठा (कार्यकारणात्मक जगत् की उत्कृष्टा पर्यवसान भूमि) है, यह परा गति (निरवधिक गन्तव्यफलभूता) है, यह अक्षर ही परब्रह्म है और यही पृथिवी से लेकर आकाश तक सभी सत्य का सत्य है ॥११॥

गार्गी बोली—हे पूज्य ब्राह्मणो । मेरी बात सुनो और इसी को बहुत समझो । वह क्या है ? यह कि तुम इन याज्ञवल्क्य से नमस्कार के द्वारा ही मुक्त हो जाओ अर्थात् यदि इन्हें नमस्कार करके ही मुक्ति पा जाओ तो इसी को बहुत मानो । इनको जीतने की तो मन से भी आशा नहीं करनी

१ सा—स्वीयप्रश्नद्वयनिर्णयश्रोत्री गार्गी । तदेव—प्रश्नी चेन्मह्य वक्ष्यति तदा न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति युष्मान्प्रति पूर्वोक्तं यन्मम वचनं तदेव वचनं बहुमन्येध्वं बहुमानविषयं कुरुष्व प्रगापीकुरुष्वमिति यावत् । यद्यस्माद्दुर्वचो प्रश्नावनेनोत्तरितौ तस्मादस्माद्याज्ञवल्क्यान्नमस्कारेण मुच्येध्वम् अस्मै नमस्कार कृत्वाऽनुज्ञा प्राप्य यूयं मुच्येध्वम् । अस्य पराजयो मनसाऽपि न शङ्कनीय इत्यर्थः । २ अस्मादित्यादि—यद्यपि नैतत्पूर्वमुक्तं न वै जातिवत्याद्येवोक्तं च तथापि पूर्वोक्तस्य तात्पर्यंगत्याऽत्रैव पर्यवसानादिदमपि पूर्वोक्तमेवेति मन्यते श्रुतिरिति मन्तव्यम् । ३ उक्तेऽर्थे ।

मन्यध्वमित्यर्थः । जयस्त्वस्य मनसाऽपि नाऽऽशंसनीयः-किमुत कार्यतः । कस्मात् न वै युष्माकं मध्ये जातु कदाचिदपीमं याज्ञवल्क्यं ब्रह्मोद्यं प्रति जेता । प्रश्नो चेन्मह्यं वक्ष्यति न वै जेता भवितेति पूर्वमेव मया प्रतिज्ञातमद्यापि ममायमेव निश्चयो ब्रह्मोद्यं प्रत्येतत्सुल्यो न कश्चिद्विद्यत इति । ततो ह वाचयनव्युपरराम ।

अत्रान्तर्यामिब्राह्मण एतदुक्तम् । यं पृथिवी न वेद यं सर्वाणि भूतानि न विदुरिति च । यमन्तर्यामिण न विदुर्ये च न विदुर्यञ्च तदक्षरं दर्शनादिक्रियाकर्तृत्वेन सर्वेषां चेतनाधातुरित्युक्तम् । कस्त्वेषां विशेषः किं वा सामान्यमिति ।

तत्र केचिदावक्षते । परस्य महासमुद्रस्थानीयस्य ब्रह्मणोऽक्षरस्याप्रचलितस्वरूपस्येयत्प्रचलितावस्थाऽन्तर्यामी । अत्यन्तप्रचलितावस्था क्षेत्रज्ञो यस्तं न वेदान्तर्यामिणम् ।

कस्मादित्यादिना । पराजिताया गार्गी वचो नोपादेयमित्याशङ्काऽह—प्रश्नी चेदिति । ततः स्वप्रश्ननिर्णयाद्याज्ञवल्क्यस्याप्रकम्प्यत्वं प्रतिपद्य ब्राह्मणान्प्रति हित चोक्तवैत्यर्थः ।

अन्तर्यामी क्षेत्रज्ञोऽक्षरमित्येतेषामवगन्तरं विशेषप्रदर्शनायं "प्रकृतत्वं दर्शयति—अत्रान्तर्यामीति । "तत्रान्तर्यामिण प्रकृतत्वं प्रकटयति—यमिति । क्षेत्रज्ञस्य प्रकृतत्वं स्फुटयति—ये चेति । अक्षरस्य प्रस्तुतत्वं प्रत्याययति—यच्चेति । सर्वेषां विषयाणां दर्शनध्वरणादिक्रियाकर्तृत्वेन चेतनाधातुरिति यत्तदक्षरमुक्तमित्यन्वयः । "तेषु विचारमवतारयति—कस्त्विति ।

तस्मिन्विचारे "स्वयूध्यमन्तमुत्पापयति—तत्रेति । क्षेत्रज्ञस्याप्रस्तुतत्वशङ्कां वारयति—यस्त-

चाहिये, फिर वाणी से तो जीतने की बात, संभव ही नहीं है क्योंकि आपमे से कोई भी कभी-इन याज्ञवल्क्य जी से ब्रह्मसम्बन्धी वाद में विजयी होने वाला नहीं है । मैंने तो पहले ही प्रतिज्ञा की है कि यदि ये मेरे दो प्रश्नो का उत्तर दे दोगे तो आप मे से कोई भी विजेता नहीं होगा । आज भी मेरा तो यही निश्चय है कि ब्रह्मवाद मे इनके समान कोई नहीं है । इतना कहकर वचन की पुत्री गार्गी चुप हो गयी ।

यहाँ बुद्धिबल्लभ अन्तर्यामी ब्राह्मण मे यह कहा गया था—“जिसे पृथिवी नहीं जानती, तथा जिसे सम्पूर्ण प्राणी नहीं जानते”—इत्यादि । इस प्रकार “जिस अन्तर्यामी को नहीं जानते, जो नहीं जानते और जो वह अक्षर है, जिसको सभी विषयो की दर्शनादिक्रियाओ के कर्तारूप से चैतन्य धातु का अधिष्ठान कहा गया है” इन सब मे क्या विलक्षणता है और क्या साम्य है ?

प्रस्तुत विचार मे कुछ दार्शनिक कहते है—महासमुद्रस्थानीय निश्चलरूप अक्षर परब्रह्म की किञ्चित् विकृत अवस्था का नाम अन्तर्यामी है और उसकी अत्यन्त विकृत अवस्था क्षेत्रज्ञ है, जो कि अन्तर्यामी को नहीं जानता, इसवे अतिरिक्त वे उसकी पिण्ड, जाति, विराट्, सूत्र और देव—इन अन्त्य

- १ वाक्त इति, यावत् । २ ब्रह्मोद्यं प्रति—ब्रह्मवाद प्रति ब्रह्मवादे इति यावत् । ३ बुद्धिबल्लभे यद्वा प्रस्तुतेऽप्याये सर्वम् वा । प्रथमेश्यं समानाधिकरणे सप्तम्यो । ४ चैतन्य धातुरधिष्ठानम् । ५ वैलक्षण्यम् । ६ किं च साम्यमित्यर्थः । ७ प्रस्तुतविचारे । ८ विदुर्येति यावत् । ९ भेदप्रदर्शनार्थमिति । १० उक्तत्रयाणामपि प्रवृत्तत्वम् । ११ उक्तत्रयाणां मध्ये । १२ अन्तर्यामिक्षेत्रज्ञाक्षरेषु । १३ वेदान्त्येवदेशितम् ।

तथाऽन्या पञ्चावस्थाः परिवर्त्यन्ति । तथाऽष्टावस्था ब्रह्मणो भवन्तीति वदन्ति । अन्येऽक्षरस्य शक्तय एता इति वदन्त्यनन्तशक्तिमदक्षरमिति च । अन्ये त्वक्षरस्य विकारा इति वदन्ति ।

अवस्थाशक्तित्वे तावन्नोपपद्येते । अक्षरस्याशनायादिसारधर्मातीतत्वश्रुते । न ह्यशनायाद्यतीतत्वमशनायादिधर्मवदवस्थावत्त्व चैकस्य युगपदुपपद्येते । तथा शक्तिमत्त्वं च । विकारावयवत्वे च दोषा प्रदर्शिताः श्रुतयः । तस्मादेता असत्या सर्वा कल्पना ।

मिति । यथा परस्याऽऽत्मनोऽन्तर्यामी जीवश्चेत्यवस्थे द्व कल्प्येते तथा तस्यैवान्या पञ्चावस्था 'पिण्डो जातिविराट सूत्र दवमित्येवलक्षणं 'महाभूतसंस्थान'भेदेन कल्पयन्तीत्याह—तथेति । 'उत्करीत्या कल्पनाया पिण्डो जातिविराट सूत्र' 'दैवमव्याकृत' 'साक्षी क्षत्रज्ञश्चेत्यष्टावस्था ब्रह्मणो भवन्तीति 'वदन्त परिवर्त्यन्तीति सर्वथ । अवस्थापक्षमुक्त्वा शक्तिपक्षमाह—अन्य इति । 'तुशब्देनावयवपक्ष दशय विकारपक्ष निक्षिपति—अन्ये त्विति ।

'तत्र पक्षद्वय प्रत्याह—अवस्थेति । अन्तर्यामिप्रभृतीनामिति शेष । "तस्य सामारिकधर्मातीतत्वश्रुतावपि कथमवस्थावत्त्व शक्तिमत्त्व वान सिध्यतीत्याशङ्क्याऽह—न हीति । अवशिष्टपक्षद्वय निराकरणं 'प्रागेव प्रवृत् स्मारयति—विकारेति । परपक्षनिराकरणमुपसहरति—तस्मादिति ।

पाँच अवस्थाओं की भी कल्पना करते हैं । तथा ब्रह्म की षाठ अवस्थाएँ होती हैं—ऐसा वे कहते हैं । दूसरे विचारक कहते हैं कि ये षाठ अवस्थाएँ अक्षर की शक्तियाँ हैं और वह अक्षर अनन्तशक्तिसम्पन्न है । इसके अतिरिक्त दूसरे विचारक ऐसे भी कहते हैं कि ये अक्षर के विकार हैं ।

(उपरोक्त चारों पक्षों में पक्षद्वय कहते हैं—) अक्षर की अवस्था या शक्ति होना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि क्षुधा पिपासादि सासारिक धर्मों से वह परे है—ऐसा श्रुति कहती है । एक ही वस्तु का एक साथ क्षुधादिधर्मों से अतीत होना और अशनायादिधर्मविशिष्ट अन्तर्यामी आदि रूप अवस्थाओं से युक्त होना संभव नहीं है । इसी प्रकार अक्षर का शक्तिमान होना भी संभव नहीं है । उसके विकार या अवयव मानने में जो दोष हैं वे चतुष ब्राह्मण म प्रदर्शित किये जा चुके हैं । इसलिए (उक्त चारों पक्षों में दूषण होने से) ये सभी कल्पनाएँ असत्य हैं ।

१ निरुक्ता अष्टावस्था । २ अशनायादिधर्मविशिष्टान्तर्याम्यादिरूपावस्थावत्त्वम् । ३ उपनिषत्क्रमेण द्वितीये । ४ उक्तपक्षचतुष्टयस्यापि दुष्टत्वात् । ५ परस्य आत्मनः । ६ पिण्ड इत्यादि—सर्वविक्षया बाह्यो व्यष्टि—स्वूलयेह पिण्ड । जाति—तदभ्यन्तरब्राह्मण्यादिरूपा । विराट—ततोऽप्यांतर समष्टिस्फूलयेह । सूत्रम्—विराज प्रत्यभूत समष्टिसूत्रमक्षरीरम् । दैवम्—ईश्वरतत्त्वमिति द्रष्टव्यम् । ७ इत्येवलक्षणं—इत्यत्र इत्येवलक्षणं पाठान्तरम् । ८ महाभूतति—महाभूतशब्देन स्थूलसूक्ष्मभूतानि तत्कारणमव्याकृतं च इत्येवलक्षणं विज्ञेयम् । ९ यभूतलक्षणं तृतीया । तथा च ता अवस्था महाभूतसंस्थानविशेषा एवत्यथ । तत्र सूत्रात्तानां विज्ञेयम् । १० चतुर्णां तत्संस्थानविशेषाव व्यक्तमेव ईश्वरस्यप्यव्याकृतप्रयुक्तत्वात्तत्त्व द्रष्टव्यम् । ११ भेदेनेति—वस्तुतस्तु प्रयुक्तत्वं तृतीयाय तदभेदप्रयुक्ता उक्तकल्पनेत्यथ । १० भाष्यस्यद्वितीयतथाशब्दस्याप्यमाह—उत्करीत्येति । ११ ईश्वरतत्त्वस्य कारणम् । १२ अन्तर्यामी । १३ भाष्यस्यवदन्तीत्यस्य परिणामोऽयम् । १४ तुशब्देनेत्यादि । तुशब्दविकारशब्दाभ्यामवयवविकारपक्षी दशयतीत्यर्थः । १५ चतुषु पक्षेषु । १६ क्षरस्य । १७ ४६२ तमपृष्ठभाष्ये तत्रत्यादिना प्रकथनं वृत्तं प्रवृत्तम् ।

। 'कस्तर्हि' भेद एयाम् । उपाधिकृत इति ब्रूमो न स्वत एषां भेदाऽभेदो वा सन्धव-
घनवत्प्रज्ञानघनैकरसस्वाभाव्यात् । "अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" "अयमात्मा ब्रह्म"
इति च श्रुतेः । "सबाह्याम्यन्तरो ह्यज्ञः" इति चाऽऽयवर्णो । 'तस्मान्निरुपाधिकस्याऽऽत्मनो
निरुपाह्यत्वाच्चिद्विशेषत्वादेकत्वाच्च' नेति नेतीति व्यपदेशो भवति । अविद्याकामकर्म-
विशिष्टकार्यंकरणोपाधिरेवात्मा संसारी जीव उच्यते । नित्यनिरतिशयज्ञानशक्त्युपाधि-
रात्माऽन्तर्यामिश्चर उच्यते ।

'स एव निरुपाधिः केवलः शुद्धः स्वेन स्वभावेनाक्षरं पर उच्यते । तथा हिरण्य-

परकीयकल्पनाऽसंभवे पृच्छति—कस्तर्हीति । उत्तरमाह—उपाधीति । आत्मनि स्वतो
विशेषाभावे हेतुमाह—सन्धवेति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अपूर्वमिति । बाह्यं कार्यमम्यन्तरं कारणं
ताम्यां कल्पिताम्यां सहाधिष्ठानत्वेन सत्तास्फूर्तिप्रदतया वर्तते ब्रह्म स्वभावतस्तु जन्मादिसर्वविक्रिया-
शून्यं कूटस्थं तदित्यायवर्णनश्रुतेरर्थः । आत्मनि स्वतो विशेषानवगमे फलितमाह—तस्मादिति ।
निरुपाह्यत्वं वाचां मनसां चागोचरत्वम् । 'तत्र निर्विशेषत्वमेकत्वं च हेतुः । निरुपाधिकस्येति निर्वि-
शेषत्वं साधयितुमुक्तम् । 'तत्र च "बोत्सावाक्यं प्रमाणं कृतम् । कथं पुनरे"वविधस्य वस्तुनः संसारित्वं
तदाह—अविद्येति । तद्विशिष्टं यत्कार्यंकरणं तेनोपाधिनीपहितः परमात्मा जीवः संसारीति च
व्यपदेशभाभभवतीत्यर्थः । "तथाऽपि कथं तस्यान्तर्यामित्वं तदाह—नित्येति । नित्यं निरतिशयं सर्वत्रा-
प्रतिबद्धं ज्ञानं "तस्मिन्सत्त्वपरिणामे सत्त्वप्रधाना मायाशक्तिरु"पाधिस्तैन विशिष्टः सत्तात्मेश्वरोऽन्तर्या-
मीति चोच्यत इत्यर्थः ।

कथं "तर्हि तस्मिन्क्षरशब्दप्रयुक्तिस्तत्राऽह—स एवेति । निरुपाधित्वं शुद्धत्वे हेतुः । केवल-
त्वमद्वितीयत्वम् । "तथाऽपि कथं तत्र हिरण्यगर्भाविशब्दप्रत्ययावित्याशङ्क्याऽह—तथेति । ययैकस्मि-

तो फिर इनका भेद किसलिए प्रयुक्त किया गया है ? हमारे विचार से इनका भेद उपाधिकृत
है, स्वयं मे इनका न भेद है; न ही अभेद, क्योंकि आत्मा सन्धवघन के समान एकमात्र प्रज्ञानघन रस-
स्वरूप है । श्रुति भी कहती है—“वह कारण और कार्य से भिन्न, अन्तररहित और अबाह्य है”, “यह
आत्मा ब्रह्म है” । मुण्डकोपनिषत् भी कहती है—“(वह अक्षरब्रह्म स्वयंप्रकाश होने के कारण निश्चय ही
दिव्य आकाररहित, पुरुष) बाहर-भीतर सर्वत्र वर्तमान, अजन्मा (प्राणरहित, मनोरहित, परिशुद्ध
एवं श्रेष्ठ अक्षर से उत्कृष्ट) है” । अतः निरुपाधिक अनिर्वचनीय, निर्विशेष और एक होने के कारण
उस आत्मा का नेति-नेति इस प्रकार व्यपदेश किया जाता है । अविद्या, काम और कर्मविशिष्ट
देह एव इन्द्रियरूप उपाधि वाला आत्मा संसारी जीव कहलाता है । नित्य निरतिशय ज्ञान शक्तिरूप
उपाधिवाला आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर कहा जाता है ।

वह परब्रह्म ही निरुपाधिक केवल, शुद्ध अपने रूप से अक्षर कहा जाता है । तथा हिरण्य-

१. किप्रयुक्तः । २. अवतरणोक्तार्थम् । ३. आत्मनः । ४. मुण्डके । ५. आत्मनः स्वतो विशेषायोपात्तः ।
६. स एव पर इत्यन्वयो वा । ७. रूपेण । ८. निरुपाह्यत्वे । ९. निरुपाधिकत्वे । १०. नेति नेतीति
वाक्यम् । ११. निर्विशेषस्य । १२. उक्तोपाधिना जीवत्यादिव्यवहारमाकलेऽपि । १३. तद्वत्त्वम्पादन
इति भावत् । १४. कारणम् । १५. उक्तोपाधिना सत्त्वेश्वरत्वादिव्यवहारे सत्यपि । १६. स्वेन
रूपेणात्मनोऽन्तर्यामि ।

गर्भं व्याकृतदेवता जातिपिण्डमनुष्यतिर्यक्प्रेतादिकार्यकरणोपाधिभिर्विशिष्टस्तवाख्यस्तद्रूपो भवति । तथा तदेजति तन्नजतीति व्याख्यातम् । तथा “एष त आत्मा” “एष सर्वभूतान्तरात्मा” “एष सर्वेषु भूतेषु गूढः” “तत्त्वमसि” “ब्रह्मेवेदं सर्वम्” “आत्मैवेदं सर्वम्” “नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा” इत्यादिश्रुतयो न विरुद्ध्यन्ते । कल्पनान्तरेष्वेताः श्रुतयो न गच्छन्ति । तस्मादुपाधिभेदेनैवैषां भेदो नान्यथैकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात्सर्वोपनिषत्सु ॥ १२ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ।

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ । पृथिव्यादीनां सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण, पूर्वस्य

न्नेव परस्मिन्नात्मनि कल्पितोपाधिप्रयुक्तं नानात्वं तथा तदेजति तन्नजतीत्यादि धाष्यमाश्रित्य प्रागेयोक्तमित्याह—तथेति । कल्पनया परस्य नानात्वं वस्तुतस्त्वंकरस्यमित्यत्र श्रुतीरुदाहरति—तथेत्यादिना । अवस्थाशक्तिविकारावयवक्षेपविषयोक्तभूतानामुपपत्तिमाशङ्क्याऽह—कल्पनान्तरेष्विति । औपाधिकोऽन्तर्याम्यादिभेदो न स्वाभाविक इत्युपसंहरति—तस्मादिति । स्वतो वस्तुनि नास्ति भेदः किञ्चंकरस्यमेवेत्यत्र हेतुमाह—एकमिति ॥ १२ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां तृतीयाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणान्तरमुत्थापयति—प्रथेति । गागिप्रश्ने निर्णयति तथा ब्रह्मवदनं प्रत्येतत्तुल्यो नास्तीति सर्वान्प्रति कथनानन्तर्यमयशब्दाद्यर्थः । संगतिं वषतुं वृत्तं कीर्तयति—पृथिव्यादीनामिति । यस्मात्साक्षादित्यादि प्रस्तुत्य सर्वान्तरत्यनिरूपणद्वारा साक्षात्त्वादिकमाधिकं ब्राह्मणत्रये निर्धारितमित्यर्थः ।

गर्भं, व्याकृत विराट्, इन्द्रादि देवता, ब्राह्मण्यादि जाति, शरीर पिण्ड, मनुष्य, तिर्यक्, प्रेत एवं शरीर और इन्द्रियरूप उपाधियो से विशिष्ट होकर वह उन्ही नाम और रूपो वाला होता है । ईशोपनिषत् मे “वह चलता है और नहीं भी चलता” इस प्रकार व्याख्या की गयी है । तथा “यह तेरा आत्मा (अन्तर्यामी और अमृत) है”, “वही देव सम्पूर्ण भूतो का अन्तरात्मा है”, “यह समस्त भूतो मे अन्त-निहित है”, “वह तू है”, “मैं ही यह सब कुछ हूँ”, “यह सब आत्मा ही है”, “इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है” इत्यादि श्रुतियो से कोई विरोध नहीं रहता । दूसरी कल्पनाओ के करने मे श्रुतियाँ अपने स्वार्थ को प्राप्त नहीं करती । अतः (स्वभाव से ही एकरस होने के कारण) उपाधि के भेद से ही इनमे भेद है; अन्यथा नहीं क्योंकि “वह ब्रह्म एक ही अद्वितीय है” इस प्रकार श्रुतियो ने निर्णय किया है ॥१२॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य मे तृतीयाध्याय के अष्टम ब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

“इसके बाद उस याज्ञवल्क्य से शकल के पुत्र विदग्ध ने पूछा”—। पृथिव्यादि के सूक्ष्म

१. व्याकृत विराट् इन्द्रादिदेवतेत्यर्थः । २. ब्राह्मण्यादिशरीरेति बोध्यम् । ३. तन्नामां । ४. वृ० उ० २।२।१ । उपक्रमभाष्ये २।५।१५ भाष्ये च । ५. नोपपद्यन्ते स्वार्थं न लभन्त इति यावत् । ६. स्वत एकरस्यात् । ७. पृथिव्यादेः । ८. अविरोधम् । ९. वृ० उ० ३।५।१ । १०. यार्थान्तर्याम्यक्षराख्ये ।

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञ-
वल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्व-

इसके बाद इस याज्ञवल्क्य से शाकल्य के पुत्र विदग्ध ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! देवता कितने हैं ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—इस (प्रागे बतलाया जाने वाली निविद) देव संख्या सम्बन्धी मन्त्र पद से ही उन देवताओं की संख्या निविद में बतलायी गयी है। वे सभी तीन और तीन एव तीन मी और तीन

पूर्वस्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नोत्तरोत्तमावं कथयन्सर्वान्तरं ब्रह्म प्रकाशितवान् । तस्य च ब्रह्मणो व्याकृतविषये सूत्रभेदेषु नियन्तृत्वमुक्तम् । व्याकृतविषये व्यक्ततरं लिङ्गमिति । तस्यैव ब्रह्मणः साक्षादपरोक्षत्वे नियन्तृव्यदेवताभेदसंकोचविकासद्वारेणाधिगन्तव्ये इति तदर्थं शाकल्यब्राह्मणमारभ्यते । -

अथ हैनं विदग्ध इति नामतः शाकलस्यापत्यं शाकल्यः पप्रच्छ कति संख्याका देवा

अन्तर्यामिब्राह्मणे मुखतो निर्दिष्टमयं नुब्रवति—तस्य चेति । नामरूपाभ्यां व्याकृतो विषयो द्वैतप्रपञ्च-
स्तत्र सूत्रस्य भेदा ये पृथिव्यादयस्तेषु नियम्येषु नियन्तृत्वं तस्योक्तमिति योजना । किमिति व्याकृत-
विषये नियन्तृत्वमुक्तमिति तत्राऽह—व्याकृतेति । तत्र हि परतन्त्रस्य पृथिव्यादेः ग्रहणं नियम्यत्वे
स्पष्टतरं लिङ्गमिति तत्रैव नियन्तृत्वमुक्तमित्यर्थः । वृत्तमनुशोत्तरस्य ब्राह्मणस्य तात्पर्यमाह—तस्यैवेति ।
नियन्तृत्वानां देवताभेदानां प्राणान्तः संकोचो विकासश्चाऽऽनन्त्यपर्यन्तस्तद्द्वारा प्रकृतस्यैव ब्रह्मणः
साक्षात्परोक्षत्वे स एष नेति नेत्यामेत्यादिनाऽधिगन्तव्ये इति कृत्वा प्रथमं देवतासंकोचविकासो-
क्तिरनन्तरं वस्तु निर्देश इत्येतदर्थमेतद्ब्राह्मणमित्यर्थः ।

ब्राह्मणारम्भमेवमुक्त्वा तदक्षराणि व्याकरोति—अथेत्यादिना । निविदि श्रूयन्ते तावन्तो देवा

तारतम्यक्रम से पूर्व-पूर्व पृथिव्यादि पदार्थ का उत्तर-उत्तर अवादि पदार्थ में श्रोत-प्रोत भाव बतलाते हुए याज्ञवल्क्य ने सर्वान्तर ब्रह्म को प्रकाशित किया है। उस अक्षरब्रह्म का नामरूपात्मक द्वैतप्रपञ्च में पृथिव्यादि सूत्रभेदो में नियन्तृत्व बतलाया है। व्याकृत विषयो में ब्रह्म के नियन्ता होने में स्पष्टतर लिङ्ग है। उसी अक्षरारम्भा ब्रह्म का नियन्तव्य देवताभेद के संकोच और विकास, द्वारा साक्षात् एव अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना है, इसलिए शाकल्यब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है। -

इसके बाद इस याज्ञवल्क्य से विदग्ध नाम वाले "शाकल्य" यानी शाकल्य के पुत्र ने पूछा—हे

१. अथेति—“नवमब्राह्मणे देवनिर्णयस्तदुपासनम् । अष्टधा पञ्चधा चोपनिषदश्चोच्यते क्रमात्” ॥ वा सा ३.६.१॥
२. अवादी । ३. याज्ञवल्क्यो वेदो वा । ४. अक्षराभिषय । ५. प्रकृताक्षरात्मनः । ६. अनुवदती-
त्यर्थः । ७. द्विरण्यगमंस्य । ८. अवयवविशेषाः । ९. व्याकृतविषये । १०. कथनम् अन्तर्भाव इति
यावत् । ११. प्राण एव सर्वे देवा इति प्राणत्वेन संक्षेपे । १२. तत्तद्व्यक्तिमित्यन्तस्तास्त इति विकासो
विस्तारः । १३. वृ० उ० ३।६।२६ । १४. प्रतिपादनीये इति यावत् । १५. मनसि कृत्य । १६.
सायात्वादिरूपब्रह्मतत्त्वोपन्यासां स एव नेतीत्यादिना ।

देवस्य निविद्युच्यन्ते 'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री
च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति
त्रयस्त्रिंशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञ-
वल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञव-

हजार हैं, अर्थात् तीन हजार तीन सौ छ । तब शाकल्य ने कहा—ठीक है । उसने फिर पूछा—हे याज्ञ-
वल्क्य ! देवता कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—तैंतीस । (देवताओं के सकोचविषयक देवसंख्या को
सुनकर शाकल्य ने कहा—) ठीक है और फिर पूछा—याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—

हे याज्ञवल्क्येति । 'स याज्ञवल्क्यो ह किलैतयैव वक्ष्यमाणया निविदा 'प्रतिपेदे संख्यां
या संख्या पृष्ट्वाऽशाकल्यो यावन्तो यावत्संख्याका देवा वैश्वदेवस्य' शस्त्रस्य निविदि ।
निविद्नाम देवतासंख्यावाचकानि 'मन्त्रपदानि कानिचिद्वैश्वदेवे शस्त्रे 'शस्यन्ते तानि
निवित्संज्ञकानि । 'तस्यां निविदि यावन्तो देवाः श्रूयन्ते तावन्तो देवा इति । का पुनः

इत्युत्तरत्र सवन्धः । केयं निविदिति पृच्छति—निविद्नामेति । उत्तरमाह—देवतेति । पदार्थमुपस्था
वाक्यार्थं कथयति—तस्यामिति । यद्यपि भाष्ये निविद्ब्रह्माख्याता तथाऽपि प्रश्नद्वारा श्रुत्या तां
'व्याख्याति—का पुनरित्यादिता । 'अनुज्ञावाच्यं ध्याकरोति—एवमिति । 'मध्यमा संख्या षडधिक-

याज्ञवल्क्य ! देवता कितने हैं ? इस प्रकार पूछे जाने पर शाकल्य से पूछी जाने वाली संख्या का
आगे बतलायी जाने वाली निविद् से जानकर कहा—'यावन्तः' अर्थात् जितनी संख्या वाले देवता
वैश्वदेवाख्य स्तोत्र के निविद् में बतलाये गये हैं ! निविद् नाम देवता संख्यावाचक मन्त्रघटक पदो
का है, कुछ वैश्वदेवस्तोत्र में भी पठिन हैं, वे निविद्संज्ञक हैं । उस (देवतासंख्याज्ञापक मन्त्रपदरूप

- १ त्रयश्च देवा त्री च शता—त्रीणि च शतानि । पुनस्त्रयश्च त्री च सहस्रा त्रीणि च सहस्राणीत्यर्थं । इय
सु मध्यमा संख्या बहुवचनानुसमान्तसंख्याऽप्युक्ता वेदितव्या । अनन्ता वै विश्वदेवा इति श्रुते । उक्तसंख्यां
(षडधिकत्रिंशताधिकत्रिसहस्रात्मिका) शाकल्योऽप्यङ्गीकरोतीत्याह—ओमिति होवाचेति । पुनस्तेषामेव
देवानां सकोचविषयां संख्यां पृच्छति कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति पदप्रश्नान् प्रति क्रमेण त्रयस्त्रिंशत् षट् त्रयो
द्वावष्टयर्ष एक इति प्रतिबन्धने उक्ते सत्योमित्यङ्गीकारोक्तिरित्यर्थं । षडधिकत्रिंशताधिकत्रिसहस्रसंख्याकार्णां
देवानां त्रयस्त्रिंशद्वैश्वेपु (तानारम्य) तेषां षट्सु तेषां त्रिषु तथा द्वयोः, तयोरष्टयर्षं तस्यैकस्मिन् प्राणे षाडक्रमेणो-
पसह्यार । सद्भिपरीतक्रमेण (प्राणादारम्य) विस्तारोऽन्तदेवपर्यन्त इति भावः । २ एवपृष्ट । ३ ज्ञातवान्
ज्ञात्वा चोत्तरितवानिति यावत् । ४ वैश्वदेवाख्यस्तोत्रस्य । ५ मन्त्रघटकानि तद्ग्राह्येव वा पदानि ।
६ पठयन्त इति यावत् । ७ देवतासंख्याज्ञापिकायां मन्त्रपदरूपायां वाचि । ८ भाष्यकृदिति शेषः ।
९ ओमिति शाकल्यस्य स्वीकारवाक्यम् । १०. अनन्तसंख्यापेक्षयाऽप्य मध्यमत्वम् ।

वल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञव-
 वल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञव-
 ल्क्येत्यध्यर्धं इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञव-
 ल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री
 च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥१॥

छ । शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर पुन प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—तीन । शाकल्य ने कहा—'ठीक है' और ऐसा कहकर फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—दो । शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर पुन पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—डब । शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर पुन पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—एक । शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर सख्ये के विषय में पूछा—वे तीन हजार तीन सौ छ देव कौन से हैं ? ॥ १ ॥

सा निविदिति । तानि निवित्पदानि प्रदर्शयन्ते—त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च देवा देवाना
 त्री च त्रीणि च शतानि पुनरप्येव त्रयश्च त्री च सहस्रा सहस्राण्येतावन्तो देवा इति ।
 शाकल्योऽप्योमिति होवाच । 'एवमेवा' मध्यमा सख्या सम्यक्तया जाता । पुनस्तेयामेव
 देवाना सकोचविषया सख्या पृच्छति । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिंशत्पट्त्रयो
 द्वावध्यर्धं एक इति । देवतासकोचविकासविषया सख्या पृष्ट्वा पुन सख्येयस्वरूप पृच्छति
 —कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥ १ ॥

त्रिंशताधिकत्रिसहस्रलक्षणा । कत्येवेत्यादिप्रश्नाना पूर्वंप्रश्नेन पौनरुक्त्यमाज्ञाञ्च परिहरति—
 पुनरित्यादिना । कतमे ते त्रयश्चेत्यादिप्रश्नस्य विषयभेद दर्शयति—देवतेति ॥ १ ॥

स्तोत्र) निविद् म जितने देवता सुने जाते हैं, उतने ही देवता हैं । किन्तु फिर वह निविद् क्या है ?
 वे निविद् के पद दिखलाये जाते हैं । 'त्रयश्च त्री च शता' यानी देवगण तीन और तीन सौ हैं ।
 तथा इसी प्रकार वे तीन और तीन सहस्र हैं । अर्थात् इतने ही सभी देवता है इस पर शाकल्य ने भी
 कहा—'ठीक है' । उक्त रीति से इन देवताओं की मध्यमा सख्या का ठीक-ठीक ज्ञान हो गया । पुन
 उन्ही देवताओं की सकोचविषयिणी सख्या शाकल्य पूछता है । हे याज्ञवल्क्य ! देवता कितने हैं ?
 इस पर याज्ञवल्क्य क्रम से 'तींम, छ तीन दो, डब और एक' ऐसा कहते हैं । देवताओं की सकोच
 और विकासविषयक सख्या पूछकर पुन सख्येय के स्वरूप के विषय में पूछता है—'वे तीन सौ तीन
 और तीन सहस्र तीन देवता कौन से हैं' ॥ १ ॥

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा
इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा
द्वादशाऽऽदित्यास्त एकत्रिंशद्विन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च
त्रयस्त्रिंशाविति ॥२॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं
चाऽऽदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव

इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—(३६०६) इतनी सख्या तो इनकी महिमाएँ हैं, वस्तुतः देवगण तो तैत्तीस ही है । शाकल्य ने कहा—ये तैत्तीस देव कौन से हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—आठ वसु, एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य, ये एकतीस देवगण हैं तथा इन्द्र एव प्रजापति इनके सहित तैत्तीस हो जाते हैं ॥ २ ॥

शाकल्य ने पूछा—आठ वसु कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा तथा नक्षत्र ये आठ वसु हैं (क्योंकि प्राणियों के कर्मफल के आश्रय बनकर देहादिसघातरूप से परिणत होकर सम्पूर्ण जगत् को बसा रहे हैं और स्वयं भी वसते हैं) । इन्हीं में

स होवाचेतरो महिमानो विभूतय एषां त्रयस्त्रिंशतां देवानामेते त्रयश्च त्री च
शतेत्यादयः । परमार्थतस्तु त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्युच्यते । अष्टौ
वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्यास्त एकत्रिंशद्विन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशतां
पूरणौ ॥ २ ॥

कतमे वसव इति तेषां स्वरूपं प्रत्येकं पृच्छ्यते । अग्निश्च पृथिवी चेत्यग्न्याद्या

कति तर्हि देवा निविदि भवन्ति तत्राऽऽह—परमार्थतस्त्विति । त्रयस्त्रिंशतो देवानां स्वरूपं
प्रश्नद्वारा निर्धारयति—कतमे त इति ॥ २ ॥

उत्तरप्रश्नपञ्चकप्रतीकं गृहीत्वा 'तस्य तात्पर्यमाह—कतम इति । तेषां वस्वादीनां प्रत्येकं
वस्वादि'त्रये प्रतिगणमिन्द्रे प्रजापतौ चैकैकस्येत्यर्थः । 'तेषां वसुत्वमेतेषु हीत्यादिवाक्यावष्टम्भेन

वह याज्ञवल्क्य बोले—ये तीन सौ तीन आदि देवगण इन तैत्तीसो देवताओं की "महिमानः" अर्थात्
विभूति ही हैं । परमार्थतः तो तैत्तीस ही देवता हैं, ये तैत्तीस देवगण कौन से हैं ? उसे कहते हैं—आठ
वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य ये इकतीस तथा इन्द्र और प्रजापति मिलकर तैत्तीस की पूर्ति
करते हैं ॥ २ ॥

वसु कौन से हैं ? इस प्रकार सब में से प्रत्येक का स्वरूप पूछा जाता है—अग्नि-पृथिव्यादि

१. याज्ञवल्क्य । २. बहुवचनभेदमुद्भूताऽवयवभेदविवक्षयेति ध्येयम् । ३. पञ्चमिन्द्रशताधिकत्रिसहस्र-
सख्याकानां देवानां त्रयस्त्रिंशद्विभूतित्वे निविदि कति देवा निविदता भवन्तीत्यर्थः । ४. उत्तरत्रयप्रश्नपञ्च-
कस्य । ५. आदिना रुद्रादित्यौ । ६. अग्न्यादीनाम् ।

'एतेषु हीदं वसु सर्वं^७ हितमिति तस्माद्वासव इति ॥३॥
 कतमे रुद्रा इति दशमे^८ पुरुषे^९ प्राणा आत्मैकादशस्ते
 यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रो-
 दयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥४॥

यह सब जगत् निहित है, इसीलिये ये वसु हैं ॥ ३ ॥

शाकल्य ने कहा—रुद्र कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—इम पुरुष मे कर्मन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां ये दश प्राण और ग्यारहवां मन है। जिस समय प्राणियों के प्रारब्धकर्म समाप्त हो जाते हैं, उस समय यही एकादश रुद्र मरणशाल शरीर से उत्क्रमण करते हैं, तब ये उसके सबन्धियों को रुलाते हैं। इसलिए उत्क्रमणकाल मे अपने सबन्धियों को रुलाते हैं। इसी रोदन के निमित्त होने से ये रुद्र कहे जाते हैं ॥४॥

नक्षत्रान्ता 'एते वसवः । प्राणिनां कर्मफलाश्रयत्वेन कार्यकरणसंघातरूपेण तन्निवासत्वेन च विपरिणमन्तो जगदिदं सर्वं वासयन्ति वसन्ति च । ते यस्माद्वासयन्ति तस्माद्वासव इति ॥३॥

कतमे रुद्रा इति दशमे पुरुषे कर्मबुद्धीन्द्रियारिण प्राणा आत्मा मन एकादश एका-
 दशानां पूरणस्त एते प्राणा यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यात्प्राणिनां कर्मफलोपभोगक्षय उत्क्रा-

स्पष्टयति—प्राणिनामिति । 'तेषां कर्मणस्तत्फलस्य चाऽऽश्रयत्वेन तेषामेव निवासत्वेन च शरीरेन्द्रिय-
 समुदायाकारेण विपरिणमन्तोऽन्यादयो जगदेतद्वासयन्ति स्वयं च तत्र वसन्ति तस्माद्युक्तं तेषां
 वसुत्वमित्यर्थं । वसुत्वं निगमयति—ते यस्मादिति ॥ ३ ॥

प्राणशब्दायंमाह—कर्मैति । ते यदाऽस्मादित्यादि वाक्यमनुसृत्य तेषां रुद्रत्वमुपपादयति—त
 एते प्राणा इति । मरणकालः सप्तम्यर्थः ॥४॥

से लेकर नक्षत्रपर्यन्त नाम आठो वसुओं के हैं । प्राणियों के कर्मफल के आश्रय होकर उनके निवासस्थान देहेन्द्रियसंघातरूप से विपरिणति को प्राप्त हुए इस सम्पूर्ण ससार को वसाते हैं और स्वयं भी रहते हैं । क्योंकि वे वसाते हैं और वसते हैं, इसलिए वसु हैं ॥ ३ ॥

रुद्र कौन से हैं ? इस पुरुषाकार देह मे कर्मन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां ये दश प्राण और ग्यारहवां "आत्मा" यानी मन; ये ग्यारह सख्या की पूति करने वाले अर्थात् ग्यारह रुद्र हैं । वे ये प्राण जिस समय निगमण शरीर से उत्क्रमण करते हैं, उस समय ये उसके सबन्धियों को रुलाते हैं । क्योंकि उस समय

१ एतेष्विति—हि यस्मादेतेष्वग्न्यादियु कर्मफलसाधनात्मक सर्वं वसु हित स्थित तस्मात्ते वसव इत्यर्थं ।
 उदुक्त वातिके—“बसु कर्मफल चाऽऽहु कर्मण साधन वसु । यस्मात्तदेतु निहित तस्मात्ते वसव स्मृता ।”
 ॥ १३ ॥ इति । एतेषु हीत्यादौ वसुशब्दायंमाह—वस्विति । तस्मादित्यादि ध्याचष्टे—यस्मादिति ।
 तदधीनत्वात्कर्मदिरित्यर्थ । २ इमे—प्रसिद्धा । ३ पुरुषे—तदाकारदेहे । ४ एतन्नामान् । ५-
 वसन्ति केष्वपि द्रष्टव्यम् । ६- निगमणात् । ७ प्राणिनाम् । ८ प्राणिनामेव । ९- तत्रैति
 सप्तमी ।

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत
आदित्या एते हीदः सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदः
सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति । ५ ॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो

शाकल्य ने कहा—आदित्य कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—जो बारह मास संवत्सररूप काल के अवयव प्रसिद्ध हैं, यही आदित्य है । क्योंकि पुनः पुनः बदलते हुए इन सब प्राणियों की आयु एवं कर्मफल का ग्रहण करते हुए चलते हैं, इसीलिये ये आदित्य कहे जाते हैं ॥५॥

शाकल्य ने कहा—इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—विद्युत् ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है । शाकल्य ने पूछा—विद्युत् कौन है ? “अशनि” जो प्राणियों की

मन्ति । अथ तवा रोदयन्ति तत्संबन्धिनः । तत्तत्र यस्माद्बोदयन्ति ते तत्संबन्धिनस्तस्माद्बुद्रा इति ॥ ४ ॥

कतम आदित्या इति वै द्वादश 'मासाः' संवत्सरस्य कालस्यावयवाः 'प्रसिद्धा एत आदित्याः । कथम् । एते हि यस्मात्पुनः परिवर्तमानाः प्राणिनामायुषि 'कर्मफलं चाऽऽददाना गृह्णन्त उपाददतो यन्ति गच्छन्ति ते यद्यस्मादेवमिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः

तेषामादित्यत्वमप्रसिद्धमिति शङ्कते—कथमिति । एते हीत्यादिवाक्येनोत्तरमाह—एते हीति ॥ ५ ॥

संबन्धियों को रुलाते हैं, इसलिए वे उस रोदन में निमित्त होने के कारण रुद्र कहलाते हैं ॥ ४ ॥

आदित्य कौन से है ? संवत्सररूपक काल के अवयव तदभिमानी देवता बारह मास प्रसिद्ध हैं, वे ही आदित्य हैं । यह कैसे कहते हो ? क्योंकि ये मासाभिमानी देवता ही पुनः-पुनः परिवर्तित होते हुए प्राणियों की आयु और कर्मफल को “आददाना” अर्थात् ग्रहण या उपादान करते हुए चलते हैं । क्योंकि वे सब कुछ का इस प्रकार आददान करते हुए चलते हैं, इसलिए उनका आदित्य नाम पड़ गया ॥ ५ ॥

इन्द्र और प्रजापति कौन से है ? मेघनादाभिमानी देवता ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है ।

१. रोदयन्तीति—उपबक्षणमेतद्बुद्धिं चेत्यस्य । तदुक्तं वातिके—“रोदयन्तो ब्रह्मरथेते रुदन्ति च यतस्ततः । रुद्रा इत्यभिधीयन्ते प्राणा एकादशोदिनाः” ॥ १५ ॥ इति ॥ २. तदभिमानिर्देवाः । ३. संवत्सररूपकस्य । ४. मूलस्थवैशब्दाद्योऽयम् । ५. मासाभिमानिनः । ६. कर्मफलमिति—“आयुर्वीर्यं स्मृतिं प्रज्ञां शोकुमार्यं यपुश्चिद्यम्” ॥ १७ ॥ इत्येवमादिर्वातिकोक्तम् । ७. स्तनयित्नुरेवेन्द्र इति—स्तनयित्नुर्मघनादाभिमानिनी-देवतेवेन्द्र इत्यर्थः ।

यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्पुरित्यशनिरिति

कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥६॥

कतमे षडित्यग्निश्च च वायुश्चान्तरिक्ष चाऽऽदित्यश्च

द्यौश्चैते षडेते हीदु सर्वं षडिति ॥७॥

हिंसा करता है (यह इन्द्र का ही क्रूर कर्म है) । शाकल्य ने पूछा—यज्ञ कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—यज्ञ के साधन होने से पशुगण यज्ञ है (क्योंकि यज्ञ का स्वयं ग्रपना रूप नहीं है) ॥६॥

शाकल्य ने पूछा—छ देवगण कौन से हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य तथा द्यूलोक बस यहीं छ देवगण हैं (पहले बतलाए गये वसुधा में मे चन्द्रमा और नक्षत्र को छोड़ देने पर शेष देवता षट्संख्याविशिष्ट होते हैं), क्योंकि ये वसु आदि तैत्तीस देवताओं का रूप मे अग्नि आदि छ देवगण ही है । इन्हीं छ के विस्तार अन्य सभी देव हैं ॥७॥

स्तनयित्पुरित्यशनिरिति । 'अशनिवंञ्ज' वीर्यं बल यत्प्राणिनः प्रमापयति स इन्द्रः ।

इन्द्रस्य हि तत्कर्म । कतमो यज्ञ इति पशव इति । यज्ञस्य हि साधनानि पशवः ।

यज्ञस्यारूपत्वात्पशुसाधनाश्रयत्वाच्च पशवो यज्ञ इत्युच्यते ॥ ६ ॥

कतमे षडिति । त एवाग्न्यादयो वसुत्वेन पठिताश्चन्द्रमसं नक्षत्राणि च वर्जयित्वा षड्भवन्ति षट्संख्याविशिष्टाः । एते हि यस्मात्त्रयान्निशदादि यदुक्तमिदं सर्वमेत

प्रसिद्धं वञ्जं व्यावर्तयति—वीर्यमिति । तदेव संघातनिष्ठत्वेन स्फुटयति—बलमिति । किं तद्वलमिति चेत्तत्राऽह—यत्प्राणिन इति । प्रमापणं हिंसनम् । कथं तस्येन्द्रत्वमुपचारादित्याह—इन्द्रस्य हीति । पशूनां यज्ञत्वमप्रसिद्धमित्याशङ्क्याऽह—यज्ञस्य हीति । 'कारणे कार्यापचारं साधयति—यज्ञस्येति । 'अमूर्तत्वात्साधनव्यतिरिक्तरूपाभावाद्यज्ञस्य पश्चात्पशवो यज्ञ इत्युच्यते इत्यर्थं ॥ ६ ॥

एते हीति प्रतीकमादाय व्याचष्टे—यस्मादिति । यत्त्रयस्त्रिंशदाद्युक्तं तत्सर्वमेत एव

इस पर पूछते हैं—स्तनयित्पुरि कौन है ? अशनि है । अशनि वञ्ज का अपर पर्याय है, (उसका बल मेघनादाभिमानो इन्द्र मे होने के कारण इन्द्र का इन्द्रत्व है) जो प्राणियों मे अभिमान उत्पन्न कर कर युद्धादि मे प्रवृत्त कर हिंसा करता है, वह इन्द्र है, इन्द्र का ही वह कर्म है । यज्ञ कौन सा है ? पशुगण ही यज्ञ है क्योंकि यज्ञ के साधन पशु है । यज्ञ के रूपरहित एव पशुरूप साधन के आश्रित होने पशु यज्ञ हैं—ऐसा कहा जाता है ॥ ६ ॥

वे छ देवता कौन से हैं ? वे अष्टवसरूप से पूर्वमन्त्र मे पठित चन्द्रमा और नक्षत्रों को छोड़कर अग्नि आदि ही षट्संख्याविशिष्ट होते हैं क्योंकि ये तैत्तीस आदि जो कहे गये हैं, वे सभी

१ अशनिरिति—अशनिवञ्जापरपर्याय बल तस्य मेघनादाभिमानोन्द्रनिष्ठत्वादिन्द्रत्वमिति भावः । २ प्रमापयति—अभिमानमुत्पाद्य युद्धादौ प्रवर्त्य हिंस्तीत्यर्थः । ३ प्रमापणम् । ४ आरोपात् । ५ पशोः । ६ पशुरोपम् । ७ निरवयवत्वात् । ८ देवजातम् ।

कतमे ते त्रयो देवा इतीम' एव त्रयो लोका
एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव
प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति ऋयोऽयं पवत इति ॥८॥

शाकल्य ने पूछा—वे तीन देव कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—ये तीन लोक ही तीन देव हैं अर्थात् पृथिवी और अग्नि मिलाकर एक देव, अन्तरिक्ष और वायु मिलाकर दूसरे देव, एव द्युलोक और आदित्य मिलाकर तीसरे देव हैं। इन्हीं में ये सब देवगण अन्तर्भूत हैं। शाकल्य ने पूछा—वे दो देव कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—अन्न और प्राण (इन्हीं में पूर्वोक्त सभी देवताओं का अन्तर्भाव हो जाता है)। शाकल्य ने पूछा—डेढ़ देव कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो यह बहता है, वह वायु ही डेढ़ देव है ॥ ८ ॥

एव पड्भवन्ति । सर्वो हि वस्वादिविस्तार एतेष्वेव 'पट्स्वन्तर्भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

कतमे ते त्रयो देवा इति । इम एव 'त्रयो लोका इति । 'पृथिवीमग्निं चंकीकृत्यको

यस्मात्तस्मादेते पड्भवन्तीति योजना । अक्षरायंमुक्त्वा वाक्यार्थंमाह—सर्वो हीति ॥ ७ ॥

देवगण ये छ होते हैं। भाषाशय यह है कि वसु, रुद्र एव आदित्यादिरूप से सम्पूर्ण देवताओं का विस्तार इन अग्न्यादि छ में ही अन्तर्भूत हो जाता है ॥ ७ ॥

१ इमे—प्रसिद्धा । २ पट्स्विति—'अग्न्यादिषु यत् पटसु यद्योक्ता सर्वदेवता । पट्सख्यामेव स्यान्ति पड्ग्न्याद्यास्तत् स्मृता ॥ वा० २० ॥ इति पटसु अन्तर्भूता सत्य इति शेषः । ३ पृथिवी, अन्तरिक्ष, औरिति । ४ अत्र केयादिदेवनिर्बचनकर्तृणा मत दक्षयति—पृथिवीमित्यादिना ।

ऋयोऽयं पवत इत्यादि तेनाध्यर्ध इतीत्यन्तर्ग्रन्थे पट्वातिक्रान्ति प्रदर्शयन्ति ॥ "याऽयं पवत इत्युक्तिरध्यर्धस्य विनिर्णये । एवत्रात्पवमानस्य तदाहुरिति चोदना ॥ एकसख्यैव नान्याऽस्ति द्विसख्याया यतस्तत् । पृष्टोऽध्यर्ध इति प्राह मोषहासमुपि सुधी ॥ वायुर्वा देवता ब्रह्मणा तदग्न्यस्य तदारभत । अधत्वं स्यात्तनीयस्त्वाद्ब्याप्य-स्याग्न्यादिरूपिण ॥ ऋद्धिं प्रापद्यत सर्वं बाधो सति चराचरम् । तस्मादध्यर्ध इत्येव वायुमाचक्षते बुधा ॥ सख्याप्राधान्यमध्यर्धं विदग्धेन विवक्षितम् । सर्वंमुष्णोति यत्राण तनेति श्रुतिर्हृद्गतम् ॥ अन्नाशितृत्वसिद्धयर्थं यथा व्युत्पत्तिरुच्यते । अन्नेनाग्नौ तद्भवमध्यर्धस्यापि योजना" ॥ २३-२८ ॥ इति । याऽयमित्यादि व्याचष्टे—योऽयमिति । तदित्यादिस्तार्थ्यमाह—एवत्वाविति ॥ यदित्यादिप्रत्ययुक्तिमवतारयति—एकति । द्वितीयसख्याया सकाशादवगिकत्वसख्यैवास्ति न च सख्यान्तरमतोऽध्यर्धशब्दस्य सख्यात्रिप्रत्ययत्वाभावेऽपि तद्विधयत्त्वमुपेत्य कथमयमेक सन्नध्यर्धं स्यादिति पृष्ट एष मुनिरयोग्यविषयत्वं प्रदर्शय पश्यन्नुपहासपूर्वकं यदस्मिन्नित्यादि श्रुत्यक्षराणि व्याचष्टे अध्यर्धशब्दस्य सख्याविषयत्वमुपेत्य श्रुतेर्वैहि समाधिमाह—वायुर्वैहि । यदस्मिन्नित्यादि श्रुत्यक्षराणि व्याचष्टे—ऋद्धिमिति ॥ प्रकरणशब्दस्य सख्याविषयत्व कथमुपहासोक्तिरत आह—सख्यति । कथं तर्हि यौगिकता-शोक्तिस्तत्राऽऽह—सवमिति । शाकल्यस्य मिथ्यावादिनो मतमपास्य स्रग्भ्यः।निना मुनेर्मतमुपास्यमित्यर्थं । प्राणे सति सर्वं जगदृद्धिं यस्मादाप्नोति तेनाध्यर्धः । स इति श्रुतमतमिति याजना ॥ अध्यर्धशब्दस्य यौगिकत्व दृष्टान्तेनाऽऽह—अग्नेति । ऐतरेयके प्राणस्यान्नाशितृत्वमुक्तं तद्विस्तारार्थमग्नेन हीद सर्वमग्नौते प्राण इत्येवप्रकारेण व्युत्पत्तिर्वयोच्यते तथाऽध्यर्धशब्दस्यापि व्युत्पत्तिरित्यर्थं ॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यधं इति यद-

स्मिन्नद^७ सर्वमध्याधर्नात्तेनाध्यधं इति कतम एको

इस विषय मे ऐसा कहते हैं, यह जो वायु है, यह एक ही-सा बहता है, फिर यह अध्यधं यानी डेढ़ कैसे कहा जाता है। इसका उत्तर यह है क्योंकि इसी मे यह सब जगत् अग्नि-ऋद्धि को प्राप्त होता है, इनीलिये यह वायु अध्यधं है यानी डेढ़ है। शाकल्य ने कहा—एक देव

देवोऽन्तरिक्षं वायुं चैकीकृत्य द्वितीयो दिवमादित्यं चैकीकृत्य तृतीयस्त एव त्रयो देवा इति । एषु हि यस्मात्त्रिषु देवेषु सर्वे देवा अन्तर्भवन्ति तेनैत एव देवास्त्रय इत्येषान्-
क्तानां केषांचित्पक्षः । कतमौ तौ द्वौ देवाविति । अन्नं चैव प्राणश्चैतौ द्वौ देवाव'नयोः
सर्वेषामुक्तानामन्तर्भावः । कतमोऽध्यधं इति । योऽयं 'पवते 'वायुः ॥ ८ ॥

'तत्तत्राऽऽहुश्चोदयन्ति 'यदयं वायुरेक इवैवैक एव पवते । अथ कथमध्यधं इति ।
'यदस्मिन्नदं सर्वमध्याधर्नादस्मिन्वायो सतीदं सर्वमध्याधर्नादधि ऋद्धिं प्राप्नोति तेना-

प्रतिज्ञासमाप्तावितिशब्दः । तत्र हेतुः—एषु हीति । 'देवलक्षणकृतां केषांचिदेव पक्षो दर्शितो-
ऽप्येषां तु त्रयो लोका इत्यस्य 'यथाश्रुतोऽयं इत्याह—इत्येष इति ॥ ८ ॥
एकस्याध्यधंत्वमाक्षिपति—तत्तत्रेति । 'इवशब्दस्तु कथमित्यत्र संबध्यते । परिहरति—यद-

वे तीन देवता कौन से हैं ? (इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—) वे तीन लोक (पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक) ही तीन देवता हैं। पृथिवी और अग्नि मिलाकर एक देव हैं, अन्तरिक्ष और वायु को मिलाकर दूसरे देवता हो जाते हैं, तथा द्युलोक और आदित्य को मिलाकर तीसरे देवता हो जाते हैं। ये तीन देवता हैं क्योंकि इन तीन देवताओं मे सभी देवता अन्तर्भूत हैं। इसलिये ये ही तीन देवता हैं—ऐसा किन्ही निरुक्तिकारों का मत है। (अच्छा तो) वे दो देवता कौन से मानते हो ? अन्न और प्राण दो देवता हैं। इन्ही में पूर्वोक्त सभी देवता अन्तर्भूत हैं। डेढ़ देवता कौन से हैं ? जो यह बहता है, वह (वायु) वायु ही डेढ़ देवता है ॥ ८ ॥

अध्यधंशब्द के वायु विषय मे कहे जाने पर शाकल्य आदि वादी कहते हैं—यह जो वायु है

१. कथमेतावेव द्वौ देवाविति तत्राऽऽह—अनयोरिति । "एतावन्मानयायात्म्य सर्वस्य जगत्तत्ततः" ॥ २२ ॥ इति वार्तिके । भोक्तृभोग्यात्मकमेव सर्वं जगदित्यभिप्रेत्याह—एतावदिति । तत इति—द्रावेवैतो देवाविति शेषः ।
२. वार्ति । ३. बाह्यो वायुः । ४. तत्तत्रेति—अध्यधंशब्दस्य वायुविषयत्वे उक्ते सति शाकल्यादयो वार्तिन आहुरचोदयन्ति यद्यतोऽयं वायुरेक एव पवते वाति । ५. अथ—अतः कथमिव अध्यधं इति शङ्किते योगमाश्रित्य परिहरति—यदिति । ६. यस्मादस्मिन्वायो सति इद सर्वं चराचरारमकं जगद् व्यधि—अधिकम् आध्नात् बुद्धिं प्रापद् तेन हेतुनाऽध्यधं वायुरित्यर्थः ॥ ७. वेदलक्षणवृत्तामिति पाठः । ८. यथाश्रुतोऽयं इति भूर्भुवः स्वरिति त्रयो लोका एव त्रयो देवा इति यथाश्रुतोऽयं इत्यर्थः । ९. तथा च वायुपालशूराचार्य एव च इति भावः ।

इति प्राण इति 'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥६॥

कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—“प्राण” है, वह प्राण अक्षयस्वरूप है । उस ब्रह्म को ही परोक्षवाचक “त्वत्” इस शब्द से भी कहते हैं ॥ ६ ॥

ध्व्यं इति । कतम एको देव इति 'प्राण इति । स प्राणो ब्रह्म सर्वदेवात्मकत्वान्म-
हद्ब्रह्म 'तेन, 'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते त्यदिति 'तेद्ब्रह्माऽऽचक्षते' परोक्षाभिधायकेन
शब्देन । देवानामेतदेकत्वं नानात्वं च' । अनन्तानां देवानां 'निवित्संख्याविशिष्टेष्वन्तर्भावः ।
तेषामपि त्रयस्त्रिंशदाविप्लुत्तरोत्तरेषु यावदेकस्मिन्प्राणे प्राणस्यैव चैकस्य सर्वोऽनन्त-

स्मिन्निति । प्राणस्य ब्रह्मत्वं साधयति—सर्वेति । तेन महत्त्वेनेति यावत् । तस्य परोक्षत्वप्रतिपत्तो
“प्रयत्नगौरवार्थं कथयति—त्यदित्येति । “उक्तमर्थं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं” संगृह्णति—देवानामिति । एकत्वं
प्राणो पर्यवसानम् । नानात्वमानन्त्यम् । षडधिकत्रिंशताधिकत्रिसहस्रसंख्याकानामेव देवानामत्रोक्तत्वा-
त्कथं तदानन्त्यमित्याशङ्क्य शतसहस्रशब्दाम्यामनन्तताऽप्युक्तं वेत्याशयेनाऽऽह—अनन्तानामिति ।
एकस्मिन्प्राणे पर्यवसानं यावद्भूयति तावत्पर्यन्तमुत्तरोत्तरेषु त्रयस्त्रिंशदाविप्लु “तेषामप्यन्त-
र्भाव इत्याह—तेषामपीति । प्राणस्य कस्मिन्नन्तर्भावस्तत्राऽह—प्राणस्यैवेति । संगृहीतमर्थमुपसं-

वह “एक इवैव” एक ही तरह चलता है । तो फिर इसे डेढ़ क्यों कहते हो ? क्योंकि इसी में
यह सब “अध्याध्नोत्” अर्थात् अधिश्रद्धि को प्राप्त होता है यानी वायु के रहते हुए ही जगत्
अधिक वृद्धि को प्राप्त होता है, इसलिए अध्व्यं है । वह एक देव कौन सा है ? (इस पर याज्ञवल्क्य
कहते हैं—) वह एक देवता प्राण है । वह प्राण ब्रह्म है, सर्वदेवरूप होने के कारण वह महद्ब्रह्म है ।
इसलिए प्राणशब्द से कहा हुआ वह ब्रह्म त्यत् है—ऐसा कहते हैं अर्थात् उस ब्रह्म को ‘त्यत्’ इस
परोक्षवाचकशब्द से कहते हैं । इस प्रकार देवताओं का एकदेव और नानात्व कहा गया । अनन्त
देवताओं का निवित्संख्याविशिष्ट देवो में अन्तर्भाव है और उनका तैतीस आदि उत्तरोत्तर
देवताओं में एक प्राण ही अन्तर्भूत है । एक प्राण का ही यह सब अनन्त संख्या के रूप में विस्तार

१. कोश्याविरपेक्षायामाह—म इति । स प्राणो ब्रह्म मूत्रात्मरूपेण सर्वकार्याणां भरणत् कारणभूतो ब्रह्मति
भण्यते तं प्राण ब्रह्म त्यदिति परोक्षाभिधायकेन शब्देनाचक्षते प्राणविदः साक्षाद्विद्वत्प्रशङ्कयत्वादित्यर्थः । तथाच
वार्तिके—“साक्षाद्विदं श्रुत्यर्थं कारणत्वावबुद्धये । प्राण ब्रह्म त्यदित्याहुः पारोक्ष्येण महाधिपः” ॥ ३१ ॥ इति ।
२. प्राण इति । “जनिमत्सर्वं भूतानां प्राणान्तर्भावहेतुतः । प्राणो देवोऽत्र एवंकन्तस्यैव महिमाऽत्र” ॥ वा. २६ ॥
इति । अपरो देवगण इत्यर्थः । ३. तेन महत्त्वेन ब्रह्मोत्पन्त्यः । ४. प्राणशब्दोदितम् । ५. प्राणशब्दा-
भिधेयम् । ६. तद्विदः । ७. उक्तमिति शेषः । ८. निवित्ति—षडधिकत्रिंशताधिकत्रिसहस्रसंख्याके-
ष्वित्यर्थः । ९. प्राणे इति अन्तर्भाव इति पूर्वत्र संबन्धः । तथाहि—निवित्संख्याविशिष्टानां देवानां
त्रयस्त्रिंशदेवेषु तेषां षट्सु तेषां त्रिसु तेषां द्वयोः तयोरध्व्यं तस्य प्राणे इति । १०. तदवगतौ । ११. प्रयत्ना-
धिपयार्थम् । १२. उक्तमर्थमिति—वृ० उ० ३।६।१ उपक्रमभाष्ये ब्रह्मण इत्यादि प्रत्येनोक्तमित्यर्थः । १३.
सक्षिपति । १४. शब्दाम्यामिति—बहुवचनान्ताभ्यामिति शेषः । आनन्त्यस्यानिवित्संख्यात्वे त्रयस्य त्री च शतं
त्रयस्य त्री च सहस्रमित्येवमेव श्रूयदिति भावः । १५. निवित्संख्याविशिष्टानाम् ।

पृथिव्येव यस्याऽऽयतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं
पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता
स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं त पुरुषं सर्वस्या-

शाकल्य ने पूछा—पृथिवी ही जिस देव का आश्रय है, अग्नि जिसका लोक (देखने का साधन) है और मन जिसकी ज्योति (सबल्प विकल्प की साधन) है, जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय जानता है, वही पंडित है (हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का दम्भ कर रहे हो) । याज्ञवल्क्य ने कहा—जैसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय कहते हो उसे मैं जानता हूँ । यह जो भी शरीर पुरुष है, वही यह देव

'सख्यातो विस्तार । 'एवमेकश्चानन्तश्चा'वान्तरसह्याविशिष्टश्च प्राण एव । तत्र च
'देवस्यैकस्य नामरूपकर्मगुणशक्तिभेदोऽधिकारभेदात् ॥ ६ ॥

इदानीं तस्यैव प्राणस्य ब्रह्मणः पुनरष्टधा भेद उपदिश्यते—

पृथिव्येव यस्य 'देवस्याऽऽयतनमाश्रयोऽग्निर्लोको यस्य लोकयत्यनेनेति 'लोक

हरति—एवमिति । एकस्थानेकधाभावे किं निमित्तमित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रिति । उक्तरीत्या प्राणस्वरूपे स्थिते सतीति यावत् । देवस्यैकस्य प्रकृतस्य प्राणस्यैवेत्यर्थः । प्राणिना 'ज्ञाने कर्मणि चाधिकारस्य 'स्वामित्वस्य भेदोऽधिकारभेदस्तन्नमित्तत्वेन 'देवस्या'नेकस्ययानपरिणामसिद्धिः । प्राणिनो हि 'ज्ञान कर्म चानुष्ठाय सूत्राशमन्याविरूपमापद्यन्ते तद्युक्तो यथोक्तो भेद इत्यर्थः ॥ ६ ॥

सकोचविकासार्थं 'प्राणस्वरूपोत्पत्त्यनन्तरमवसरप्राप्तिरि'दानोमित्युच्यते । उपदिश्यते 'ध्यानार्थमिति शेषः । अयमवशो वाक्यं योजयति—पृथिवीति । सपिण्डित वाक्यत्रयाय कथयति—पृथिवी-

दुष्प्रा है । उक्त रीति से एक अनन्त और अन्यान्य (निविदुक्त मध्यम) सरया से विशिष्ट एक प्राण ही है । वहाँ अधिकारभेद स एक ही प्राणदेवता के नाम, रूप कर्म, गुण और शक्ति का भेद है ॥ ६ ॥

अब उसी (अनन्त भेदभिन्न सर्वदेवतात्मक) प्राण ब्रह्म के आठ प्रकार के भेद बतलाये जाते हैं ।

१ सख्यात इति पाठ 'देवप्रमादागत इति भाति । सख्यानं मरुयाव इत्येव वा पाठा न्याय्य प्रतिभाति यथाभूतपाठे त तृतीयात्तानमित्तवा च तत्प्रकृत्याप्रयुक्त इत्यर्थः । यद्वा आनन्त्येन सम्पत्क म्यात इत्यर्थः । २ उक्तरीत्या । ३ त्रिविदुक्तमध्यममरुया । ४ प्राणस्य । ५ अनन्तभेदाभिन्नस्य सर्वदेवतात्मकस्य । ६ पृथिव्यभिमानिनोऽग्निर्वस्य । ७ जनीरमिति यावत् । ८ भूमिष्ठ वाप्टाद्याकृतया रुदोऽग्निः । ९ चम् । १० उपासनी । ११ फलस्वामित्वस्येति बोध्यम् । १२ प्राणस्य । १३ अन्त्याद्यनेवव्यक्त्या स्वरूपपरिणामसिद्धिरिति यावत् । १४ उपासनम् । १५ प्राणस्य स्वरूपमेवमन्त च तत्स्थानानन्तरम् । १६ तथा चावसरप्राप्तौ स्यामित्यर्थः । अवसरे सतीति यावत् । १७ न्यनन्तभेदे प्राणे ब्यास्यते तस्याप्टया भेदोऽप्युक्त एवेति किं पुनरुक्त्या तत्राऽऽह—ध्यानार्थमिति । ध्यानसौकर्यार्थं सक्षयत पुनरुक्तिरिति भावः ।

ऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवाय^७ शारीरः पुरुषः
स एष 'वदं व शाकल्य 'तस्य का देवतेत्यमृतमिति
होवाच ॥ १० ॥

है । हे शाकल्य ! इस सवन्ध मे फिर से पूछो । शाकल्य ने कहा—उस शारीर पुरुष का देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वह अमृत है (शुक्र-शोणित से निष्पन्न पार्थिव शरीर को "शारीर पुरुष" शब्द से कहा गया है, जो अन्न के रस से निष्पन्न हाता है) ॥ १० ॥

'पश्यतीत्यग्निना पश्यतीत्यर्थः । मनोज्योतिर्मनसा ज्योतिषा संकल्पविकल्पादिकार्यं करोति यः सोऽयं मनोज्योतिः । पृथिवीशरीरोऽग्निदर्शनो मनसा 'संकल्पयिता पृथिव्य-भिमानो कार्यकरणसंघातवान्देव इत्यर्थः । य 'एवंविशिष्टं वै तं पुरुषं विद्याद्विजानी-यात्सर्वस्याऽऽत्मन 'आध्यात्मिकस्य कार्यकरणसंघातस्या'ऽऽत्मनः परमयनं पर आश्रयस्तं परायणम् । मातृजेन त्वङ्मांसरुधिररूपेण क्षेत्रस्थानीयेन बीजस्थानीयस्य पितृ-

त्यादिना । वैशब्दोऽवधारणार्थः । तं परायणं य एव विजानीयात्स एव वेदिता स्यादिति संबन्धः । अथ केन रूपेण पृथिवीदेवस्य कार्यकरणसंघातं प्रत्याश्रयत्वं तदाह—मातृजनेति । पृथिव्या 'मातृशब्दा-च्चत्वाद्य एव देवोऽहं पृथिव्यस्मीति मन्यते स एव शरीरारम्भकमातृजकोशत्रयाभिमानितया यतंते "तया च "तस्य 'तेन रूपेण पितृजत्रितयं कार्यं लिङ्गं च करणं प्रत्याश्रयत्वं सभवतीत्यर्थः । पृथिवी-

जिस देवता का पृथिवी ही "आयतनम्" अर्थात् शरीर है, अग्नि जिसका लोक है, जिससे देखा जाता है; उसे लोक यानी चक्षु कहते हैं । "देसता है" ऐसी व्युत्पत्ति करने से अग्नि के द्वारा देखता है, ऐसा अर्थ हो जाता है । मन ज्योति है क्योंकि मनरूप ज्योति से जो संकल्प-विकल्पादि कार्य करता है, वह यह मनोज्योति है । भावाशय यह है कि यह पृथिवी का अभिमानी कार्यकरण-संघातवान् देवता पृथिवीरूप शरीर वाला, अग्निरूप नयन वाला और मन से संकल्प करने वाला है । जो उक्त प्रदर्शित विशेषण वाले पृथिव्यभिमानो पुरुष को निखिल "आत्मनः" आत्मा मे अध्यारोपित

१. एतावता समाप्त दर्शनमिति मन्यमान तूष्णीं (भूतं) स्थित शाकल्य प्रति मुनिराह—वदंवेति । पूछ मचत्र प्रष्टव्य विशेषणान्तर जामासीत्यर्थः । २. तस्येति—मातृजकोशत्रयारम्भकशारीरस्य का देवता किमुत्पत्तिकारणम् । अत्र प्रकरणे देवताशब्देन सर्वत्रोत्पत्तिकारणस्यैव विवक्षितत्वादित्यर्थः । ३. लोकयतीत्यस्य व्याख्यान पश्यतीति । इतिशब्दो लोक इत्यन्तर व्युत्पत्तिसमाप्प्यर्थकः । ४. मनसेति—तया च मनोज्योतिः संकल्पादि साधन स्येति विग्रहो द्रष्टव्यः । ५. अग्निनयनः । ६. प्रदर्शितविशेषणकम् । ७. पृथिव्यभिमानिनम् । ८. निखिलस्य । ९. आत्मन्यध्यारोपितस्य । १०. अत एवाऽऽत्मन—आत्मत्वेनाभिमतस्येत्यर्थः । ११. मातृशब्देति । तया च कोश—"माता गौर्दुर्गाजननीमहीति" हेमः । "माता गोपीदिजननीगोब्रह्मण्य्यादिभूमिभ्यति" विश्वः । १२. उक्ताभिमानित्वे च । १३. देवस्य । १४. उक्तत्रयत्वेन तदभिमानित्वेन वा ।

जस्यास्थिमज्जाशुक्ररूपस्य' परमयनं 'करणात्मनश्च स वै वेदिता स्याद्य 'एतदेवं वेत्ति स वै वेदिता पण्डितः स्यादित्यभिप्रायः । याज्ञवल्क्य त्वं तमजानन्नेव पण्डिताभिमानो-
त्यभिप्रायः ।

यदि तद्विज्ञानेन पाण्डित्यं लभ्यते' वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्य यं कथयसि तमहं वेद' तत्र शाकल्यस्य 'वचनं द्रष्टव्यम् । यदि त्वं वेत्य तं पुरुषं ब्रूहि किंविशेषणोऽसौ' । शृणु यद्विशेषणः सः । य एवायं शारीरः 'पाथिवांशे शरीरे मवः शारीरो मातृजकोशत्रयरूप इत्यर्थः । स एव देवो 'यस्त्वया पृष्टो हे शाकल्य । कित्वस्ति' तत्र वक्तव्यं विशेषणान्तरं तद्वदेव पृच्छंवेत्यर्थो हे शाकल्य । 'स' एवं प्रक्षो-

देवस्य परायणत्वमुपपाद्यानन्तरवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—स वै वेदितेति । "तथाऽपि मम किमायात-
मित्याशङ्क्याऽऽह—याज्ञवल्क्येति ।

स पुरुषो येन विशेषणेन विशिष्टस्तद्विशेषणमुच्यमानं शृण्वित्युक्त्वा "तदेवाऽऽह—य एवेति । शरीरं हि पञ्चभूतात्मक "तत्र 'पाथिवांशे जनकत्वेन स्थितः शरीर इति यावत् । "तस्य जीवत्वं वारयति—मातृजेति । "पृथिवीदेवस्य निर्णोतत्वशङ्का वारयति—कित्विति । याज्ञवल्क्यो वक्ता संप्र-
ष्टारं शाकल्यं प्रति कथं वदंवेति कथयति तत्राऽऽह—पृच्छेति । क्षोभितस्यामर्षवशगत्वे दृष्टान्तः—

कार्यकरणसघातरूप आत्मा का "परायणम्" यानी परम ग्रयन या परम आश्रय जानता है । अर्थात् मातृज क्षत्रस्थानीय त्वचा मांस और हृदयरूप स पितृज बोजस्थानीय अग्नि-मज्जा, 'और वीर्यरूप कार्य का तथा सूक्ष्म शरीर का वह परम आश्रय है, उक्त रीति से जा जानता है, वही यथार्थ मे जानता है । भावार्थ यह है कि जा इस उक्त विधि स जानता है वही "वेदिता" अर्थात् पण्डित है । हे याज्ञवल्क्य । तुम तो पण्डितमम्य हो, उसे जानते नहीं हो । ऐसा इसका अभिप्राय है ।

११ यदि उसके विज्ञान से ही पाण्डित्यप्राप्ति होती है, तो मैं उस पुरुष को तो जानता हूँ, जिसे तुम निखिल आत्मा के आश्रित बतलाते हो । 'य एवाय' यहाँ यह वाक्य शाकल्य का प्रश्न समझना चाहिये । यदि तुम उस पुरुष को जानते हो, तो मुझ बताओ कि वह किस विशेषण वाला है । इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—वह जिन विशेषणो वाला है, उसे सुना । शारीरः' अर्थात् पाथिवांश शरीर मे होने वाला अर्थात् जा मातृज कोशत्रय रूप है, हे शाकल्य ! वही देव है, जिसके विषय मे

१ कार्यस्येति शेष । २ सूक्ष्मशरीरस्य च । ३ एतदेवमिति—गतत्, प्रदणित पुरुषवस्तु । एवम् उक्तविषया । एत दशमिनि पाठान्तरम् । ४ तर्हि । ५ तत्रेति—य एवायमिति वाक्यात्पूर्वत्रेत्यर्थ इत्याहु । याज्ञवल्करन नयोक्त मनीति वाच्य । ६ प्रश्नः । ७- तवीय वचन दर्शयति—यदीति । ८ अत्रेति शब्दो योग्य । ९ याज्ञवल्क्य आह—शृण्विति । १० शरीरशृतिपाथिवांशः । ११ यस्त्वया पृष्ट इति—तथा च पृथिव्यः सस्यायतनमिच्छादिना या वाभाः-पार्थिता शाकल्यपृष्टा पृथिव्यभिमानिनी देवता संव मातृजकोशत्रयवत्तमात्रस्थिता इति मुनिना विशेषाभिनोत्ताऽजा न प्रश्नप्रतिबन्धनमायैविकरन्व्यम् । १२ पृथिवीदेवे । १३ शाकल्य । १४ वदंवेत्यवम् । १५ तथाऽपीति—उक्तविशयकपृथिव्यभिमानिपुरुष-
वेदितु सत्यपि पाण्डित्य इत्यर्थः । १६ विशेषणमेव । १७ तत्रत्ये । १८ पाथिवांशे—मातृजे भांसादित्रय । स्थितः—तन्मय सन्ततमानः । १९ उक्तदेवस्य । २० उपास्यस्य ।

काम एव यस्याऽऽयतनं हृदयं 'लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै

शाकल्य ने पूछा—जिमका प्राश्रय दाम्पत्य मुखाभिलाषारूप काम ही है, हृदयस्थ बुद्धि लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुष को जो भी कोई सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का आश्रय

मितोऽमर्यवशाग ग्राह—'तोत्रादित इव गजस्तस्य देवस्य शरीरस्य का देवता 'यस्मान्निष्पद्यते 'यः स तस्य देवतेत्यस्मिन्प्रकरणे विवक्षितम् । अमृतमिति होवाचामृतमिति यो भुक्तस्यान्नस्य रसो मातृजस्य लोहितस्य निष्पत्तिहेतुस्तस्माद्ब्रह्मन्नरसाल्लोहित निष्पद्यते स्त्रिया श्रित 'ततश्च लोहितमयं 'शरीर बीजाश्रयम्' । समानमन्यत् ॥१०॥

काम एव "यस्याऽऽयतनम् । स्त्रीव्यतिकराभिलाष. कामः कामशरीर इत्यर्थः ।

ताव्रति । "प्राकरणिक देवताशब्दाश्रमाह—यस्मादिति । पुरुषो "निष्पत्तिकर्ता पठ्योच्यते । लोहित-निष्पत्ति हेतुत्वमन्नरसस्यानुभवेन साधयति—तस्माद्ब्रोति । "तस्य कार्यमाह—ततश्चति । लोहिताद्-द्वितीयपदार्थनिष्ठात्तत्कार्यं त्वद्मासहृदिरस्य बीजस्यास्थिमज्जाशुक्रात्मकस्याऽऽश्रयभूतं भवतीत्यर्थं । पर्यायनप्तकमाद्यपयिणे तु स्यार्थस्वात्र पृथग्व्याख्यानापेक्षमित्याह—समानमिति ॥ १० ॥

उत्तरपययिषु येषां 'पदानामर्थभेदस्तेषां तत्कथनार्थं "प्रतीक गृह्णाति—काम इति । वाक्या-

तुमने पूछा है किन्तु पृथिवीदेवता के सबन्ध में और भी एक विशेषण बतलाया जाना चाहिये, इसलिए हे शाकल्य ! बर्देव यानी उसा क विषय ममुझमें पूछो । शाकल्य का इस प्रकार क्षुभित किय जाने पर उसने अक्रुश स प्रताडित हाथा क समान अमहनशासता क बशोभूत हो पूछा— उस पाथिवाश शरीरदेव का देवता कौन सा है ? जिस वारण से जो विकार निष्पन्न होता है, वह उसका देवता है—वह इस प्रकरण में बताना इष्ट है । इस पर याज्ञरत्य ने कहा— वह अमृत है । स्त्री आ खाये हुए अन्न का जा रस मातृजलोहित की निष्पत्ति का कारण हाता है, वही अमृत है । उस प्रस के रस स ही स्त्रियो में लाहित की उत्पत्ति हाता है, उक्त लाहित स बीज का आश्रयभूत लोहितमय शरीर हाता है । अन्य अर्थ भी इसी क ममान कर लेना चाहिये ॥ १० ॥

काममयदेव का काम ही शरीर है, स्त्रीव्यवाय की इच्छा का नाम काम है अर्थात् जो

- १ अत्रापि यस्यत्यनुपउच्यते । २ अक्रुशताडित । ३ काण्णात् । ४ विकारः । ५ योयिज्जगद्यस्य । ६ उत्कलाहिततात् । ७ विकारे मयद् । ८ शरीरमिति—न-वबभूक्तामृतस्य शरीरहेतुत्वव्यति कथमिदममृत शरीरस्य हेतुत्वस्याशब्दस्य समारहित वाचिक— साञ्छान्तिनिष्पत्ति शान्तितादबीजसश्रयात् । शरीर जायते साक्षाद्यन शरीर उच्यते ॥ ४६ ॥ इति । साक्षादिति प्रत्यक्षयोग्यत्वमुच्यते । यन शरीरतादात्म्यनिति यावत् । ९ भवति । १० काममयस्य देवस्य । ११ आश्रय शीर्षम् । १२ अत्र प्रकरणे विवक्षितम् । १३-निष्पद्यमान । १४ लाहितस्य । १५ द्वितीयपदार्थनिष्ठादिति—शुश्रूषात् तन्मिथितादिति यावत् । तत्कार्यमिति—उत्कलाहितनकार्यमित्यर्थ । एतन् लाहितमयमिति पद व्याख्यातम् । शरीरमिति पद व्याख्याति—त्वमिति । बीजाश्रयमित्यतद्व्याचष्टे—बीजस्यति । १६ पूर्वपर्यायस्यपदार्थविक्षया । १७ अर्थभेद-रूपनफलक प्रतीकरूपहणमित्यर्थ ।

वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं
सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्य य एवायं काममयः
पुरुषः स एष वदेव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय
इति होवाच ॥ ११ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं

जानता है; वही ज्ञाता है (हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का दावा करते हो) । याज्ञवल्क्य ने कहा—जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणतंत्रांत का परम आश्रय कहते हो, उसे मैं जानता हूँ । जो भी यह काममय पुरुष है; वही यह देव है । हे शाकल्य ! इस विषय में और भी पूछो । शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—स्त्रियाँ हैं (क्योंकि स्त्री से ही उक्त काम का उद्दीपन होता है) ॥ ११ ॥

शाकल्य ने पूछा—शुक्लादिरूप ही जिमका आश्रयतन है, नेत्र लोक है और मन ज्योति है,

हृदयं लोको हृदयेन बुद्ध्या पश्यति । य एवायं काममयः पुरुषोऽध्यात्ममपि काममय
एव तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच । स्त्रीतो हि कामस्य दीप्तिर्जायते ॥ ११ ॥
रूपाण्येव यस्याऽऽयतनम् । रूपाणि शुक्लकृष्णादीनि । य एवासावादित्ये

यंमाह—कामशरीर इत्ययं इति । "स च हृदयदर्शनो मनसा संकल्पयितेति पूर्ववत् । तस्य विशेषणं दर्शयति—य एवेति । आध्यात्मिकस्य काममयस्य पुरुषस्य "कारणं पृच्छति—तस्येति । "तस्यास्त-स्कारणत्वमनुभवेन व्यनक्ति—स्त्रीतो हीति ॥ ११ ॥

रूपशरीरस्य चक्षुर्दर्शनस्य मनसा संकल्पयितुर्देवस्य कथमादित्ये" पुरुषो विशेषणमित्याशङ्क्या-

कामरूप शरीर वाला है । हृदयदेशस्था बुद्धि चक्षु है क्योंकि हृदय यानी बुद्धि से देखता है । जो भी यह काममय पुरुष है प्रयति वह कामवासनास्य विशेषायतनवान् ही है । (इस पर शाकल्य पूछता है—) इसका देवता (उत्पत्तिकारण) कौन है । स्त्रियाँ ही इसकी देवता हैं क्योंकि स्त्री से ही कामोद्दीपन होता है ॥ ११ ॥

१. रूपाणि शुक्लादीन्यभास्वरानि तं । स्वप्रकाशनाय आदित्ये रविमण्डले पुरुषो विशेषायतन आरब्धः तस्य सत्यशब्दितमध्यात्म चक्षुस्त्यादवक्त्वा ब्रह्मो सूर्योऽजायतेति श्रुतेः सामान्यायतनत्वेन विशेषायतनत्वेन कारणत्वेन चायमेव देवो रूपादिषु व्यवस्थित इति श्रुत्यर्थः । यथा पूर्वपथयिषु सामान्यायतनत्वादिना देवास्त्रिषोक्तस्तपा-ऽऽकाशादिपथयिष्वपि सामान्यायतनो विशेषायतनः कारण वेति त्रिधा । स द्रष्टव्य इति । २. लक्षणया हृदयदेशस्था बुद्धिः । ३. सोऽनुसंधानं चक्षुर्इत्यर्थः । ४. य एवेति—यस्त्वया कामायतनो देवः पृच्छः स कामवासनारूपविशेषायतनवानेय एवेत्यर्थः । तदुक्तं वातिके—“स च काममयो देवः कामभाववयवार्जुजतः” ॥ १० ॥ इति । ५. काममय एवेति—कामायतन एवेत्यर्थः । अवच्छेदा (च्छेदका) स्तराभावादिति । ६. उत्पत्तिकारणम् । ७. आदित्यदेवस्य । ८. आश्रय. शरीरम् । ९. अभास्वरानि । १०. काममयो देवः । ११. उत्पत्तिकारणम् । १२. स्त्रियाः । १३. आदित्यमण्डलस्य इत्यर्थः ।

पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं^१ स वै वेदिता
स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं^२ सर्वस्या-
ऽऽत्मनः परायणं यमात्य य एवासावादित्ये पुरुषः स
एष वदेव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति
होवाच ॥ १२ ॥

आकाश एव यस्याऽऽयतनं^३ श्रोत्रं लोको मनोज्यो-

जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण प्राध्यात्मिक कार्यकरणसघात वा परम आश्रय जानता है, वही पंडित है (हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो उस जाने बिना ही पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो) । याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे समस्त प्राध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय कह रहे हो, उसे मैं जानता हूँ । जा भो यह आदित्य म पुरुष है, वही यह है । हे शाकल्य ! इस सवन्ध म घोर भी पूछो । शाकल्य न रहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—सत्य है (क्योंकि अध्यात्म चक्षु से ही अविद्विष्व आदित्य भी निष्पत्ति होती है) ॥ १२ ॥

शाकल्य ने पूछा—आकाश हो जिसका आयतन है, श्रोत्र लोक है, और मन ज्योति है, जो भी

पुरुषः सर्वेषां हि रूपाणां विशिष्ट कार्यमादित्ये पुरुषस्तस्य का देवतेति । सत्यमिति होवाच । सत्यमिति चक्षुरुच्यते । चक्षुषो ह्यध्यात्मत आदित्यस्याधिदेवतस्य निष्पत्तिः ॥ १२ ॥

आकाश एव यस्याऽऽयतनम् । य एवाय श्रोत्रे भव श्रोत्रस्तत्रापि प्रतिश्रवण-

ऽऽह—सर्वेषां हीति । रूपमात्राभिमानिनो देवस्माऽऽदित्ये पुरुषो विशेषावच्छेदः । स च सर्वरूपप्रकाशकत्वात्सर्वेषु रूपेषु स्वप्रकाशनायाऽऽरब्धः । तस्माद्युक्तं यथोक्तं विशेषणमित्यर्थः । कथं चक्षुषु सकाशादादित्यस्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य “चक्षो सूर्यो अजायत” इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह—चक्षुषो हीति ॥ १२ ॥

तत्रापीति श्रोत्रोक्तिः । प्रतिश्रवणं सवादे प्रतिविषय श्रवणं वा सर्वाणि श्रवणानि वा तद्-

जिम आदित्यदेवता के रूप ही शरीर है । (अभास्वर) रूप शुक्ल कृष्ण आदि है । ‘य एवासावादित्ये पुरुष’ यानी मन्मूग रूपा का जा विलक्षण काय है उही आदित्य मे पुरुष है, उसका देवता

१ विलक्षणम् । २ उत्पत्तिवाच्यम् । ३ वायवरणस्थानितिः । ४ शिदेवम् । ५ आश्रय—शरीरम् । ६ प्रतिश्रवणवलाया विधापता भवतीति—आकाशायतनदेवस्य प्रतिश्रवणयुक्तं श्रोत्र विशेषायतनमिति भावः । ७ रूपसामायति भावः । ८ विशेषावच्छेद इति—विशेषाकार इत्यर्थः । विशेषस्वरूप इति यावत् । माधारणरूपायतनो (रूपसामायाश्रयो) देवो रविमण्डलरूपविशेषायतनावानिति तत्त्वम् । ९ आदित्यपुरुषः । १० विराट्चक्षुषः । ११ मवाद इति—प्रयोगोत्तराख्य सवाद इत्यर्थः । प्रतिविषय श्रवणमिति—तच्छ शतावधानादिसमय क्रियमाणं शतशो विभिन्नविभिन्नविषयाप्रतिश्रवणमित्यर्थः । सर्वाणि श्रवणानि यावच्छ्रवणानीत्यर्थः ।

तिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं
 स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं
 पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्य य एवायं
 'श्रीत्रः प्रातिश्रुतकः पुरुषः स एष वदंश्च शाकल्य तस्य
 का देवतेति दिश इति होवाच ॥ १३ ॥

तम एव यस्याऽऽयतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै

उस पुरुष को ममस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानना है, वही पंडित है (हे याज्ञ-
 वल्क्य ! तुम उसे न जानते हुए भी पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो) । याज्ञवल्क्य ने
 कहा—तुम जिसे ममस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को तो मैं
 जानता हूँ । जो भी यह श्रोत्र में रहने वाला प्रातिश्रुतक (प्रतिश्रवण के समय विशेषरूप से रहने वाला)
 पुरुष है; यही वह है । हे शाकल्य ! इस विषय में धीर पृच्छो ! शाकल्य ने कहा—उसका देवता
 कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—दिशाएँ हैं (क्योंकि दिशाओं से यह आध्यात्मिक पुरुष निष्पन्न
 होता है) ॥ १३ ॥

शाकल्य ने कहा—अथकार ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है, मन ज्योति है, जो भी कोई

वेलायां विशेषतो भवतीति प्रातिश्रुतकस्तस्य का देवतेति । दिश इति होवाच । दिग्भ्यो
 ह्यसावाध्यात्मिको निष्पद्यते ॥ १३ ॥

तम एव यस्याऽऽयतनम् । तम इति शार्बराद्यन्धकारः परिगृह्यते । 'अध्यात्मं

शायामिति यावत् । 'दिशस्तत्राधिदेवतमिति श्रुतिमाधित्याऽऽह—दिग्भ्यो हीति ॥ १३ ॥

(उत्पत्तिकारण) कौन है । सत्य ही है—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा । मत्स्य को ही चक्षु कहा जाता है
 क्योंकि कार्यकरणस्य चक्षु से ही अधिदेवत आदित्य की निष्पत्ति होती है ॥ १२ ॥

आकाश ही दिक् देवता का शरीर है । यह श्रोत्र में होने वाला 'श्रोत्र' है धीर उसमें जो
 भी (प्रश्नोत्तरसंवादरूप) प्रतिश्रवण के समय विशेषरूप से रहता है, वह 'प्रातिश्रुतक' है । उसका
 देवता कौन है ? दिशाएँ ही उसकी देवता हैं क्योंकि दिशाओं से ही यह आध्यात्मिक पुरुष निष्पन्न
 होता है ॥ १३ ॥

अज्ञानमम नाम देव का तम ही आश्रय है । तमशब्द से रात्रि-प्रहादिनिष्ठ अन्धकार का ग्रहण

१. श्रोत्रः प्रातिश्रुतक इति । तथा आकाशायतनस्य श्रोत्रदर्शनस्य मनसा सकल्पयितुर्देवस्य प्रतिश्रवणयुक्तं
 (प्रतिश्रवणकालीन) श्रोत्र विशेषायतनमिति भावः । २. अज्ञानमयाह्यदेवस्य । ३. आदिना गुहादिनिष्ठा-
 न्धकारग्रहः । ४. य एवायं छायायाम् इत्यादेर्यमाह—अध्यात्ममिति । तथा च शार्बराद्यन्धकारायतनस्य
 हृदयदर्शनस्य मनसा सकल्पयितुर्देवस्य विशेषायतनं छायायामज्ञानमित्यर्थः । ५. दिशस्तत्राधिदेवतमिति—
 मिद्वान्ते तावद्दिशाभावाद्येऽप्यस्तत्त्वाम्युपगमादाकाशान्तरेकादाकाशाच्छ्रोत्रोत्पत्तिप्रसिद्धापि न विरोध
 इति ध्येयम् ।

तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता
स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्या-
ऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स
एष वदेव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति
होवाच ॥ १४ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं
पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता

उस पुरुष को ममस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय जानना है। हे याज्ञवल्क्य ! वही पंडित है (तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह छायामय पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! इस विषय में घोर भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—अव्याकृत ईश्वररूप मृत्यु ही उसका देवता है ॥ १४ ॥

शाकल्य ने पूछा—प्रकाशक रूप ही जिसका आश्रय है, नेत्र लोक है, तथा मन ज्योति है, उस पुरुष को जो कोई भी ममस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य !

छायामयोऽज्ञानमयः पुरुषस्तस्य का देवतेति । मृत्युरिति होवाच । मृत्युरधिदेवत्वं तस्य निष्पत्तिकारणम् ॥ १४ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनम् । पूर्वं साधारणानि रूपाण्युक्तानीह तु प्रकाशकानि

अधिदेवत्वं मृत्युरीश्वरो मृत्युर्नवेदमावृत्तमासीदिति श्रुतेः । 'म च तस्याज्ञानमयस्याऽऽध्यात्मिकस्य पुरुषोत्थोत्पत्तिकारणमविवेकिप्रवृत्तरीश्वराधीनत्वादोश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा 'श्वभ्रमेव वेति हि पठन्ति तत्राह—मृत्युरिति ॥ १४ ॥

पुनर्हक्ति प्रत्याह—पूर्वमिति । आधारशब्दो भावप्रधानस्तथा च प्रतिबिम्बस्याऽऽधारत्वं यत्र

होता है। अध्यात्मपक्ष में 'छायामय' अर्थात् अज्ञानमय पुरुष ही तम है। उसका देवता कौन है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—मृत्यु उसका देवता है। अधिदेवत मृत्यु ही, उसकी निष्पत्ति का कारण है ॥ १४ ॥

रूप ही प्रतिबिम्बाख्य देव का आश्रय है। इससे पूर्व अभास्वर रूप के बारे में कहा गया था, यहाँ पूर्वोक्त विलक्षण भास्वरूपों का ग्रहण किया जाता है। भास्वरूपात्मक सामान्याश्रय देव

१ प्रतिबिम्बाख्यदेवस्य । २ तृतीयपर्याय । ३ अभास्वराणि । ४ भास्वराणि । ५ वृ० उ० । ६ मृत्युशब्दवाच्य ईश्वर । ७ नरकम् ।

स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं^१ सर्वस्या-
ऽऽत्मनः परायणं यमात्य एवायमादर्शं पुरुषः स एष
वदं शक्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥१५॥
आप एव यस्याऽऽयतनं^२ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो

वही पंडित है (तुम तो उसे न जानकर ही पंडित होने का दम्भ कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे ममस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह प्रतिबिम्ब के आश्रयभूत दर्पण में पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य^३! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उमका देवता कौन है? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—प्राण ही उसका देवता है (क्योंकि उम प्रतिबिम्ब नामक पुरुष की निष्पत्ति प्राण द्वारा दर्पण के दर्पण करने पर ही होती है) ॥ १५ ॥

शाकल्य ने कहा—नर्वमाधारण जल ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है, तथा मन ज्योतिर्यो,

'विशिष्टानि रूपाणि गृह्यन्ते । 'रूपायतनस्य देवस्य विशेषायतनं प्रतिबिम्बाधारमा-
दर्शादि तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच तस्य प्रतिबिम्बाह्यस्य पुरुषस्य निष्पत्तिरतोः
प्राणात् ॥ १५ ॥

आप एव यस्याऽऽयतनम् । साधारणाः सर्वा आप आयतन वापीकूपतडागाशाश्रया-

तद्विपुक्त भवति । आदिशब्देन स्वच्छस्यभाष खड्गादि गृह्यते । 'प्राणेन हि निष्पद्यमाणे दपपादो
प्रतिबिम्बाभि'यक्तयोग्ये' रूपविशेषो निष्पद्यते । 'ततो युक्तं प्राणस्य प्रतिबिम्बकारणत्वमित्यभि-
प्रेत्याऽह—तस्येति ॥१५ ॥

आप एव यस्याऽऽयतनं य एवायमणु पुरुष इत्युभयत्र सामान्यविशेषभावो न प्रतिभातीति

के प्रतिबिम्बोदय आश्रयभूत आदर्शादि उसके विशेष आयतन हैं । उमका देवता कौन है? इस पर याज्ञवल्क्य बोले—प्राण ही उसका देवता है क्योंकि उस प्रतिबिम्बसन्नक पुरुष की निष्पत्ति प्राण से होती है ॥ १५ ॥

जिस जलाभिमानि देवता का जल ही शरीर है । समस्त माधारण जल जिसका आयतन है ,

१ पूर्वोक्तविनशानि । २ रूपायतनस्यति—भास्वररूपात्मवसामान्याश्रयस्य (न्यायतनस्य) बक्षुर्देवीनस्य
मनसा सक्त्पयितुर्देवस्य प्रतिबिम्बोदयाश्रयभूतमादर्शादि विशेषायतनमित्यर्थ । ३ अबभिमानीदेवस्य ।
४ साधारणा इति—जलमात्रापननस्य हृदयदशनस्य मनसा सक्त्पयितुर्देवस्य वाप्यादिनिष्ठा आपा विशेषा-
ऽऽयतनानीति भाव । ५ प्राणेन—बलापरपर्यायण । ६ योग्य इत्यादि—मत्तम्यन्तपाठे निषघणेन
उक्तयोग्ये दर्पणादौ रूपविशेष प्रतिबिम्ब इत्यर्थः । प्रथमागतपाठे तु यथोक्तदर्पणादौ उक्तयोग्य शीकन्याद्यति-
व्ययविशेष इत्यर्थः । ७ तत इति—यथोक्तप्राणस्य यथोक्तरूपविशेषनिष्पत्तिकारणत्वादित्यर्थः । तद्द्वारेति
व शेषः ।

वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै
वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं
सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः
स एष वदंश्चाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति
होवाच ॥ १६ ॥

रेत एव यस्याऽऽयतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै

उम पुरुष को जो भी कोई ममस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञ-
वल्क्य ! वही विद्वान् है (तुम तो उसे जाने बिना ही विद्वान् होने का दावा कर रहे हो) । याज्ञवल्क्य
ने कहा—जिसे तुम ममस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ ।
जो भी यह तडागादि स्थित जल में विशेषरूप से पुरुष विद्यमान है; वही यह है । हे शाकल्य ! इस
विषय में और भी पूछो । शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—वरुण
उसका देवता है (क्योंकि वरुण के द्वारा सघातकर्ता आध्यात्मिक जल ही स्थूल जल की निष्पत्ति का
कारण है) ॥ १६ ॥

शाकल्य ने कहा—वीर्य ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है, और मन ज्योति है, जो भी कोई

स्वप्सु विशेषायस्थानम् । तस्य का 'देवतेति' वरुण इति । 'वरुणात्संघातकर्त्र्योऽध्यात्ममाप
एव वाप्याद्यपां निष्पत्तिकारणम् ॥ १६ ॥

रेत एव यस्याऽऽयतनं य एवाय पुत्रमयो विशेषायतनं 'रेत आयतनस्य' पुत्रमय

शङ्कमानं प्रत्याह—साधारणा इति । कथं पुनर्वापीकूपादिविशेषायतनस्य वरुणो 'देवता न हि देव-
तात्मनो वरुणस्य 'तदधिष्ठातु' स्तस्कारणत्वं तत्राऽऽह—वरुणादिनि । आपो वापीकूपाद्या पीताः सत्यो-
ऽध्यात्मं शरीरे भूया 'दिसघातं कुर्वन्ति । 'ताश्च वरुणाद्भवन्ति । वरुणशब्देनाऽऽय एव रश्मिद्वारा
भूमि पतन्त्योऽभिधेयन्ते । 'तथा च 'ता एव वरुणात्मिका वाप्याद्यपां पीयमानानामुत्पत्तिकारण-
मिति युक्तं वरुणस्य वापीतडागाद्यायतनं पुरुषं प्रति कारणत्वमित्यर्थः ॥ १६ ॥

'वाषयद्वयं गृहीत्वा तात्पर्यमाह—विशेषेति । पुत्रमयशब्दायं व्याचष्टे—पुत्रमय इति ॥ १७ ॥

वापी, कूप-तडागादि मे रहने वाले जल में जिसको विशेष अवस्थिति है । उसका देवता (उत्पत्ति-
कारण) कौन सा है ? वह वरुण ही है क्योंकि वरुण के द्वारा सघात करने वाला अध्यात्म जल ही

- १ उत्पत्तिकारणम् । २ वरुण इति—आयतनद्वयवत्तस्य वरुणशब्दितमुदक कारणमित्यर्थः ।
३ वरुणादुत्पद्यमाना अध्यात्म सघातकर्त्र्यं आर एवेति मन्त्रः । ४ पुत्रमयस्य
देवस्य । ५ रेत नामान्यायतनस्य विशेषायतनं पुत्रस्तस्य च कारणं प्रजापतिरिति वाह—रेत आयतनस्येति ।
६ देवस्य । ७ पुरुषस्य । ८ कारणम् । ९ उक्तपुरुषाधिष्ठातुरिति भावः । १० उक्तपुरुषकारण-
त्वमिति बोध्यम् । ११ आदिना लाहितादिग्रहः । १२ सघातकस्य आपः । १३ तथा चेति—
उक्तानामपामेव वरुणशब्दाभिधेयत्वे च । १४ ता एव—रश्मिद्वारा भूमिप्राप्ता एव । १५ वाक्य-
द्वयमिति—नामान्यायतनविशेषायतनप्रतिपादक वाक्यद्वयमित्यर्थः ।

तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता
 स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्या-
 ऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स
 एव वदेव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति
 होवाच ॥ १७ ॥

'शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिमे ब्राह्मणा

उस पुरुष को सभी आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य ! वही पंडित है (तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का दावा कर रहे हो) । याज्ञवल्क्य ने कहा—जिसे तुम सभी आध्यात्मिक वायकरणसघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ । जो भी वह पुत्ररूप पुरुष है, वही यह है । हे शाकल्य ! इस विषय में और भी पूछो । शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—प्रजापति देवता है (क्योंकि पितारूप प्रजापति से ही पुत्र की उत्पत्ति होती है) ॥ १७ ॥

हे शाकल्य ! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा—नि सन्देह इन ब्राह्मणों ने तुम्हें अगारे निकालने के

इति चास्थिमज्जाशुक्राणि पितुर्जातानि । तस्य का देवतेति । प्रजापतिरिति होवाच ।

'प्रजापति. पितोच्यते । 'पितृतो हि पुत्रस्योत्पत्ति' ॥ १७ ॥

'अष्टधा दवलोकपुरुषभेदेन त्रिधा त्रिधाऽऽत्मान प्रविभज्यावस्थित एकंको देव.

शाकल्येति होवाचेत्यादिप्रत्यय तात्पर्यं वक्तुं 'वृत्त' कर्तव्यति—अष्टधेति । लोक 'सामान्या

बावडी आदि के जन की निष्पत्ति का कारण है ॥ १६ ॥

जिस पुत्रमय देवता का रेतस् ही आश्रय है, जो भी यह शुन्नरूप आयतन वाले पुरुष का पुत्ररूप विशेष आयतन है, पुत्रमय का अर्थ है—पिता से उत्पन्न हुए अस्थि, मज्जा और शुक्र । फिर उसका देवता कौन है ? प्रजापति है—ऐसा याज्ञवल्क्य बोले । प्रजापति को पिता कहा जाता है क्योंकि पिता से पुत्र की उत्पत्ति होती है ॥ १७ ॥

एक-एक देवता का देवलोक और पुरुषभेद से तीन-तीन भागों में विभक्त करके आठ प्रकार से

१. शाकल्येत्यादेस्तात्पर्यं वक्तुं भूमिकामाहुर्वाग्निने—'यावत्किञ्चिद्भिज्जानानि शाकल्य सर्वमेव तत् । पर्यपुच्छघातानि मुक्त्वा दिग्ज्ञानमात्रकम्' ॥ ५८ ॥ भूमिकामुक्त्वा तस्य तात्पर्यमाह—'अवशिष्टं यदप्यस्य तन्मां पृच्छतु कामत । इति चेन्निति सधाय याज्ञवल्क्योऽभ्यभाषत' ॥ ५९ ॥ तात्पर्यान्तरमाह—'अति-निर्बन्धतो वाग्निं नियेज्याऽप्य प्रमादवान् । इत्येतद्पृष्टये वृत्त्वा कारुण्यात्समथाऽऽब्रवीदिति' ॥ ६० ॥ २ प्रजापतिरिति पितरिति । अत्र वाग्निने—'पुत्रस्नायवस्थिमज्जाजानो भवति पितृतो यन । प्रजापतिरिव पितरि तस्मादेनदिहोच्यते' ॥ ५७ ॥ इति । इह रेत पर्याय । ३ तस्य तस्कारणत्वमनुभवेन ध्यनक्ति—पितृत इति । ४ अष्टधा व्यपदिष्ट इत्यन्वय । ५. पृथिव्यादिरूप ।

अङ्गारावक्षणमक्रता'३ इति ॥ १८ ॥

लिए चिमटा बना रखा है (क्योंकि मेरे द्वारा तुम्हारा दाह तो हो रहा है, फिर भी तुम्हे इसका पता नहीं) ॥ १८ ॥

प्राणभेद एवोपासनार्थं 'व्यपदिष्टः । 'अधुना दिग्विभागेन पञ्चधा 'प्रविभक्तस्योऽऽत्मन्यु-
पसंहारार्थमाह' । तूष्णींभूतं शाकल्यं याज्ञवल्क्यो ग्रहेणोवाऽऽवेशयन्नाह' । 'शाकल्येति
होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिति वितर्कं । इमे तूनं ब्राह्मणा अङ्गारावक्षणमङ्गारा
'अवक्षीयन्ते यस्मिन्सदंशादौ तदङ्गारावक्षणं तन्नूनं त्वामक्रत कृतवन्तो ब्राह्मणा"स्त्व तु
तत्र बुध्यस आत्मानं "मया दह्यमानमित्यभिप्रायः ॥१८॥

कारः पुरुषो "विशोवावच्छेदो देव"स्तत्कारणमनेन प्रकारेण त्रिधा त्रिधाऽऽत्मानं प्रविभज्य स्थितो
य एर्णको "देव उक्तः स प्राण एव सूत्रात्मा "तद्भेदत्वात्पूर्वोक्तस्य" सर्वस्य "स चोपासनार्थम"ष्टधो-
पदिष्टो"ऽप्यस्तादित्यर्थः । "उत्तरस्य तात्पर्यं दर्शयति—अधुनेति । प्रविभक्तस्य जगतः सर्वस्येति शेषः ।
आत्मशब्दो हृदयविययः । याज्ञवल्क्यवाक्यस्य शाकल्ये प्रष्टयं बुद्धिपूर्वकारित्वापादकत्वं दर्शयति
—ग्रहेणेति ॥१८॥

उपदेश किया है, प्राण भेद ही वह देव है उपासना के लिए उसका विभागपूर्वक उपदेश किया गया है ।
अथ सूत्रात्मा प्राणदेवता का पाच प्रकार का पञ्चविंश विभाग प्रविभक्त समस्त जगत् का हृदयरूप
आत्मा में उपसंहार करने के लिए श्रुति कहती है । चुप हुए शाकल्य को ब्रह्मविष्ट सा करते हुए
याज्ञवल्क्य ने कहा । 'हे शाकल्य' ऐसा सम्बोधन करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा । "त्वांश्चिद्" इस
पद में 'चिद्' यह निपात वितर्क अर्थ में है । 'इमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षणमक्रता ३' इस मन्त्रवाक्य
में जिस चिमटे आदि में अङ्गारे निरुद्ध होते हैं, उसे अङ्गारावक्षण' कहते हैं । इसलिए निश्चय ही
इन ब्राह्मणों ने तुम्हे अङ्गारे निरुद्ध करने वाला चिमटा बना रखा है क्योंकि अङ्गारस्थानीय
मेरे द्वारा तुम्हारा दाह तो हो रहा है, फिर भी तुम्हे इसका पता नहीं है—यह इसका
भाव है ॥ १८ ॥

१ प्लुतिविचारार्थं । २ उपदिष्ट । ३ अधुनेति—यदा तस्यैव सूत्रात्मन प्राणदेवस्य पञ्चदिग्विभागेन
ध्यान वक्तव्यमित्यतदर्थं श्रुति प्रवृत्त इति श्रौती सङ्गतिरिति । ४ सर्वस्य जगत । ५ हृदये । ६
श्रुति । ७ ब्रह्मविष्टमित्युक्त्वां । ८ आहेति—अवशिष्टं यदप्यस्य तन्मा पृच्छतिस्वशासनं यदा अति-
प्रसन्नादनर्थं करणया मुनिराहेत्यर्थं । ९ इति संबोधयन् । १० निरुध्यन्त । ११ त्वं तु तत्र बुध्यस
— इति वार्तिके— "मय्यस्मि शिशुन्मोहात्प्रविशन्त न कञ्चन । त्वा वारयति यस्तेन साधुब्राह्मणससदि ॥ सर्वोपामपि
नूनं त्वं हन्तव्यस्तेन समत । अक्रत त्वा यता विप्रा सदस मयि पावके ॥ तस्मात्तदुच्यस्व शाकल्य महद्भय-
मुपस्थितम् । अतिनिर्मथनादग्निवचन्यनावपि जायत ॥ विषायतः प्रतमपि यथा पथ्यं मुमुक्षत । तथैव नाग्रहोत्सूक्ष्मत
शाकल्य" कालचादित् ॥ ६१-६४ ॥ इत्यभिप्रायः । १२ अङ्गारस्थानीयन । १३ विशेषाकार
शारीरादिरूप । १४ सामान्यविशेषाकारकारणमभूतादिरूपम् । १५ शारीरपुरुषादिरूप । १६
प्राणभेदत्वादित्यर्थः । १७ शारीरादिदेवत्वम् । १८ उक्तप्राण । १९ शारीरपुरुषादिप्रकारेण । २०
दशमत् आरभ्यम् । २१- शाकल्यत्यादे ।

'याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां
ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति' दिशो वेद
सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्विशो वेत्य सदेवाः
सप्रतिष्ठाः ॥ १६ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा शाकल्य ने कहा—जो यह तुमने कुरुपञ्चालदेशीय ब्राह्मणों का आक्षेप द्वारा तिरस्कार किया है, वह क्या तुम वस्तुतः ब्रह्मज्ञानी हो अर्थात् ऐसा समझ कर तिरस्कार करते हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरा ब्रह्मज्ञान यह है कि मैं देवता तथा आश्रय के सहित दिशाओं को जानता हूँ। शाकल्य ने कहा—यदि तुम देवता और आश्रय के सहित दिशाओं को जानते हो (अर्थात् फल-सहित विज्ञान की प्रतिज्ञा की है) तो ॥ १६ ॥

याज्ञवल्क्येति' होवाच शाकल्य' । यदिदं कुरुपञ्चालानां 'ब्राह्मणानत्यवादी-
'रत्युक्तवानसि स्वयं भीतास्त्वामङ्गारावक्ष्यणं क्रतवन्त इति' । 'किं ब्रह्म विद्वान्स्त्वेव-
'मधिक्षिपसि ब्राह्मणान्' । याज्ञवल्क्य 'आह ब्रह्मविज्ञान तावद्विद मम' 'किं तद्विशो
वेद दिग्बिषय विज्ञानं जाने । तन्न न केवलं दिश 'एव सदेवा देवै' सह दिग्घिष्ठातृभिः ।

सर्वेषामिति ब्राह्मणानां प्रायेण हन्तव्यत्वेन संनतो भवानिति मुनेर''भिसंहितं शाकल्यस्तु
कालचोदितत्वा''तदनुरोधिनीम''न्यथाप्रतिपत्तिमेवाऽऽदाय चोदयतीत्याह—यदिदमिति । दिग्बिषय
विज्ञानं जाने तन्मनास्तीत्यर्थं । 'तन्न विज्ञानं केवलं दिग्मात्रस्य न भवति किंतु देवै' प्रतिष्ठाभिश्च

शाकल्य ने 'हे याज्ञवल्क्य' ऐसा सम्बाधन करते हुए कहा—यदि तुम (अत्यन्त कल्याणरूप) कुरुपञ्चालदेशीय ब्राह्मणों को "अत्यवादी" यानी धिक्कारते हो अर्थात् यह कहते हो कि 'ये स्वयं भययुक्त होने के कारण तुम्हें अङ्गारे निकालने का चिमटा बनाये हुए हैं' तो क्या तुम ब्रह्मज्ञानी होने के कारण उन ब्राह्मणों का तिरस्कार करते हो ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरा ब्रह्मज्ञान ता इनना मात्र है। शाकल्य ने पूछा—वह क्या है ? "दिशो वेद" यानी मैं दिशामन्वन्धी विज्ञान को जानता हूँ। इसमें भी केवल दिशाज्ञान ही नहीं, बल्कि "सदेवा" अर्थात् दिग्घिष्ठातृ

१ याज्ञवल्क्यत्यादेस्तात्पर्यं मुक्तं वातिके—'ब्राह्मणैर्घातयिष्यामि मा जिघात्सन्माश्विमम् । इत्यर्थं कोपकृद्राक्यं शाकल्यो मुनिरब्रवीदिति" ॥ ६५ ॥ इति । जियोसन्त जिघासीयात् तन पापकृद्भवेदिति न्याय सूचयति—जियोसन्तमिति । आद्यु—'तापदानात् प्रागेवेत्यर्थं । कोपकृद्राक्यस्य ब्राह्मणानां वेति शेषः । ब्राह्मणद्वय अह घातयिष्यामि । ब्राह्मणै सह मां शापेन जिघासन्तमिति वा योजना । २ शाकल्यो होवाचेत्यन्वयः । ३ संबोधयन् । ४ अत्यन्तश्रेयोऽपान् । ५ अधिक्षिप्तवानसि धिक्कृतवानसि । ६ उक्त्या । ७ तत् । ८ निरस्फुर्य । ९ इति शाकल्य उवाच । १० आहेति—एव तनोक्तो याज्ञवल्क्यो मम दिग्बिषय ब्रह्मणानमस्तीत्याहेत्यर्थं । ११ किं तदिति शाकल्याक्तिः । १२ अपितु । १३ क्षभिप्रेतम् । १४ कासानुरोधिनीम् । १५ याज्ञवल्कीयदृष्टिदोषदेहा विपरीतार्थं युद्धवति यावत् । १६ दिग्बिषयम् ।

किं देवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति
स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठत इति चक्षुषीति
कस्मिन्नु चक्षु प्रतिष्ठितमिति रूपेऽपि चक्षुषा

इस पूर्वदिशा मे तुम किस देवता से युक्त होकर स्थित हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वहाँ पर मैं सूर्य देवता से युक्त हूँ । शाकल्य ने कहा—वह सूर्य किममे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—नेत्र मे । शाकल्य ने पूछा—नेत्र किममे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—रूपो मे, क्योंकि नेत्र से ही

किंच सप्रतिष्ठाः प्रतिष्ठामिश्च सह । इतर आह । यद्यदि दिशो वेत्य सदेवाः सप्रतिष्ठा इति । सफलं यदि विज्ञानं त्वया प्रतिज्ञातम् ॥ १६ ॥

'किं देवतः का देवताऽस्य तव दिग्भूतस्य' । 'असौ हि याज्ञवल्क्यो हृदयमात्मानं दिक्षु पञ्चधा विभक्तं दिगात्मभूतं तद्द्वारेण सर्वं जगदात्मत्वेनोपगम्याहमस्मि दिगात्मेति

सहिता दिशो वेदेत्याह—तच्चेति । श्रवतारितस्य वाक्यस्यार्थं संक्षिपति—सफलमिति ॥ १६ ॥

प्राच्यां दिशि का देवतेति वक्तव्ये कथनं न्यया पृच्छते तत्राऽऽह—असौ हीति । आत्मानात्मानोपमिति यावत् । "यथोक्त हृदयमात्मत्वेनोपगम्येति सबन्ध । "तथाऽपि प्रथमं प्राचीं दिशमधिकृत्य

देवतासो एव 'सप्रतिष्ठा' प्रतिष्ठासहित दिशासो का ज्ञान है । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा यदि तुम देवतासो और प्रतिष्ठासहित दिशासो का जानते हो, यदि तुमने फलसहित दिक्-विज्ञान की प्रतिज्ञा की है (ता पूर्वदिशा मे तुम किस दिशा से युक्त होकर स्थित हा—ऐसा अगले मन्त्र से सबन्ध है) ॥ १६ ॥

किस अधिष्ठातृदेवता के द्वारा तुम पूर्वदिक् रूप से सम्पन्न हो ? इसका देवता कौन है ?

१ चक्षुषा हि रूपाणि पश्यतीति—अतो रूपारब्ध चक्षुष्यञ्जकस्य व्यङ्ग्यसजातीयत्वादिति भावः । अत्र वातिवे—"रूपारब्धमिदं चक्षु रूपाणामिव तदपहृत् । अभिव्यङ्ग्यसजातीया व्यञ्जको रूपदीपवत् ॥ अशेषविषयात्मत्व मनोबुद्धघोषिनिदिशेत् । सर्वगोचरभासित्वात्तादात्म्य तच्च युज्यते" ॥ ७३ ७४ ॥ चक्षु रूपारब्ध रूपग्राहकत्वादित्यत्र व्याप्तिमाह—अभिव्यङ्ग्यति । व्याप्तिस्थल दद्याति—रूपति ॥ रूपादिप्राहिर्वेद्यं मनो बुद्धघोस्तदा-रब्धत्वाभावाद्दृष्यभिवार इति चेन्नेत्याह—अशेषति । रूपदीपयो साजात्यस्यारम्भकारभ्यत्यामावात्साध्यविकलतति नेत्याह—तादात्म्य इति । विषयविषयिणो साजात्य तादात्म्य सत्यव स्याद्विधान्तरेण तस्य दुर्वचत्वादित्यर्थः । तादात्म्य चारम्भारम्भकाराविति भावः । २ मुन्युक्तं शावल्पोऽनूद्य पृच्छतीत्याहतर इति । ३ तर्हि किं देवत इत्याद्यभिनेणान्वयः । ४ कयाधिष्ठातृदेवतया त्वं प्राचीदिग्पुण सम्पन्न इति यावत् । ५ असौ किं देवत । ६ प्राच्या दिश का देवतेति प्रष्टव्येऽप्यवप्रश्नकरणं तु मुनेदिग्वासनया तत्तादात्म्यापत्तिर्हि वै किं देवतोऽपीति मुनिविशेषणत्वेन देवता वच्यं पृच्छते इत्यर्थः । १० दिगात्मभूतम् । ११ तथाऽपीति—सदेवा सप्रतिष्ठाश्च दिशोऽहमेवेति यादिन प्रति प्राच्या किं देवतोऽपीति प्रश्न स्थितशीत्यर्थः ।

हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति
हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये
द्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवंतद्याज्ञ-
वल्क्य ॥२०॥

पुरुष नीलाशिरुषो को देखना है। शाकल्य ने कहा—रूप किममे प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय में, क्योंकि पुरुष वासनात्मक रूपो का हृदय में ही स्मरण करता है। अत्र. हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! ठीक है ॥ २० ॥

‘द्येवस्थितः । पूर्वाभिमुखः’ सप्रतिष्ठावचनाद्यथा याज्ञवल्क्यस्य ‘प्रतिज्ञा तथैव पृच्छति । किदेवतस्त्वमस्यां दिश्यसीति । सर्वत्र हि वेदे यां यां देवतामुपास्त इहैव तद्भूतस्तां तां प्रतिपद्यत इति’ । तथा च वक्ष्यति—‘देवो भूत्वा’ देवानप्येतीति । अस्यां प्राच्यां का देवता दिगात्मनस्तवाधिष्ठात्री कया देवतया त्वं प्राचीद्विपूषेण संपन्न इत्यर्थः । इतर आहाऽऽदित्यदेवत इति । प्राच्यां दिशि ममाऽऽदित्यो देवता सोऽहमादित्यदेवतः । सदेवा इत्येतदुक्तम् । सप्रतिष्ठा इति तु वक्तव्यमित्याह । स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति ।

प्रश्ने को हेतुरिति चेत्तत्राऽह—पूर्वाभिमुख इति । यद्यपि दिगात्माऽहमस्तीति स्थितस्तथाऽपि कथं सर्वं जगदात्मत्वेनोपगम्य तिष्ठतीत्यवगम्यते तत्राऽह—सप्रतिष्ठेति । सप्रतिष्ठा दिशो वेदेति वचनात्सर्व-मपि हृदयद्वारा जगदात्मत्वेनोपगम्य स्थितो मुनिरिति प्रतिभातीत्यर्थः । प्रतिज्ञानुसारित्वाच्चार्थं प्रश्नो युक्तिमानित्याह—यथेति । अहमस्मि दिगात्मेतिप्रतिज्ञानुसारिण्यपि प्रश्ने देहपातोत्तरभावी देवताभावः पृच्छयति सति देहे ‘ध्यातु’स्तद्भावायोगादियाशाङ्क्याऽह—सर्वत्र हीति । इति न भाविदेवताभावः प्रश्नगोचर इति शेषः । उक्तेऽयं वाक्यशेषमनुकूलयति—तथा चेति । प्रश्नार्थमुपसंहरति—अस्यामिति ।

यह प्रश्न इसलिए किया जाता है कि वे याज्ञवल्क्य दिशाओं में पाच प्रकार से विभक्त अपने हृदयात्मा को दिगात्मभूत मानकर यथोक्त हृदयद्वार से सम्पूर्ण कार्यकारणजगत् को आत्मभाव से जानकर ‘मैं दिगात्मा हूँ’ ऐसा निश्चय करते हैं। पूर्वाभिमुख एव प्रतिष्ठासहित दिशाओं के जान होने की जैसी याज्ञवल्क्य की प्रतिज्ञा थी, वैसा ही प्रश्न शाकल्य पूछना है—तुम इस पूर्वदिशा में कौन से देवता वाले हो? वेद में मभी जगह आता है कि पुरुष जिम-जिस देवता की उपासना करता है इस लोक में जीवदशा में तद्रूप हुआ ही वह उम-उस देवता को प्राप्त करता है। ऐसा ही श्रुति आगे कहेगी। “जीवदशा में देवता होकर देवतादात्म्य को प्राप्त होता है”। अतः दिगात्मरूप से स्थित तुम्हारा इस पूर्वदिशा में अधिष्ठातृदेवता कौन है? किम देवता के साथ तुम पूर्वदिशा के रूप में सम्पन्न हुए हो? (इस पर) याज्ञवल्क्य ने कहा—पूर्वदिशा में आदित्य मेरा देवता है, इसलिए मैं आदित्य देवता वाला

१ निश्चित । २ अहमस्मि दिगात्मेत्येवरूपः । ३ जीवद्दशावामेव । ४ प्रोद्गुण्यत इति शेषः । ५ मू० उ० ४।१।२ । ६ जीवद्दशावामेव देवतातादात्म्यमापद्य । ७ तृतीयेवमुपलक्षणे साहित्ये वा । ८. शाकल्येन । ९. उपासितु । १०. देवनेति भावः ।

'चक्षुषीति । 'अध्यात्मतश्चक्षुष आदित्यो निष्पन्न इति हि मन्त्रब्राह्मणवादाः "चक्षोः सूर्यो अजायत" "चक्षुष आदित्य" इत्यादयः । कार्यं हि कारणे प्रतिष्ठितं भवति । 'कस्मिन् चक्षुः प्रतिष्ठितमिति । रूपेष्ठिति । 'रूपग्रहणाय हि रूपात्मकं चक्षू रूपेण प्रयुक्तम् । यैहि रूपः प्रयुक्तं तैरात्मग्रहणायाऽऽरब्धं चक्षुस्तस्मात्सादित्यं चक्षुः सह प्राच्या दिशा सह तत्स्थः सर्वे रूपेषु प्रतिष्ठितम् । चक्षुषा मह प्राची दिक्सर्वा रूपभूता तानि च कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच । 'हृदयारब्धानि रूपाणि रूपाकारेण हि हृदयं परिणतम् । यस्माद्बृहदेन हि रूपाणि सर्वो लोको जानाति । हृदयमिति बुद्धि-मनसो एकीकृत्य निर्देशः । 'तस्माद्बृहदे ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि । हृदयेन हि स्मरणं

ग्रादित्यस्य चक्षुषि प्रतिष्ठितत्वं प्रकटयितुं कार्यंकरणभावं तयोरादर्शयति—अध्यात्मतश्चक्षुष इति । 'चक्षोः सूर्यो अजायत' इत्यादयो मन्त्रवादास्तदनुसारिणश्च ब्राह्मणवादाः । भवतु कार्यंकारणभाव-स्तयाऽपि कथं चक्षुष्यादित्यस्य प्रतिष्ठितत्वं तत्राऽऽह—कार्यं हीति । कथं चक्षुषो रूपेषु प्रतिष्ठितत्वं तत्राऽऽह—रूपग्रहणायैनि । 'तयाऽपि कथं यथोक्तमाधाराधेयत्वमत आह—यैर्हीति । चक्षुषो रूपावस्थत्वे फलितमाह—तस्मादिति । उपसंहृतमयं "संगृह्णाति—चक्षुषेति । हृदयारब्धत्वं रूपाणां स्फुटयति—रूपाकारेणेति । हृदये रूपाणां प्रतिष्ठितत्वे हेत्वन्तरमाह—यस्मादिति । हृदयशब्दस्य मांसखण्डविषयत्वं ध्यावतंयति—हृदयमिति । कथं पुनर्बहिर्मुखानि(णि) रूपाण्यन्तर्हृदये स्यातुं पारयन्ति तत्राऽऽह—

है । इस प्रकार देवतामहित पूर्वदिशा कह दी, अब मप्रतिष्ठा को बताना है । इस पर शाकल्य पूछता है—वह आदित्य किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य उत्तर देता है—चक्षु मे प्रतिष्ठित है । शरीरस्थ चक्षु से आदित्य निष्पन्न हुआ है । इसी को मन्त्र और ब्राह्मणग्रन्थ भी कहते हैं—“चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ”, “चक्षु से आदित्य हुआ” इत्यादि । कार्यं कारण मे प्रनिष्ठित होता है । (चक्षु का उत्पादक कौन है, इसलिए शाकल्य पूछता है) चक्षु किसमे प्रतिष्ठित है ? रूपो मे, (ऐसा याज्ञवल्क्य कहता है—) क्योंकि अपने रूप को ग्रहण करने के लिए रूपात्मक चक्षुरूप से नियुक्त होता है । क्योंकि जिन रूपो के द्वारा वह नियुक्त होता है, उन्होने अपने को ग्रहण करने के लिए चक्षु को (आधाराधेय जिन भाव से) उत्पन्न किया है । अत आदित्य के सहित चक्षु प्राचीदिशा और उस दिशा मे स्थित समस्त प्राणी आदि के सहित रूपो मे प्रतिष्ठित है । (शाकल्य ने पूछा—) चक्षुमहित सम्पूर्ण पूर्व-दिशा रूपमात्र है, किन्तु वे रूप किसमे प्रनिष्ठित है ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) हृदय मे प्रतिष्ठित है । रूप बुद्धि से आरम्भ होने वाले है, बुद्धि ही रूपाकार मे परिणत होती है क्योंकि सभी लोग हृदय यानी बुद्धि से ही रूप को जानते है । “हृदयम्” ऐसा निर्देश मन और बुद्धि को एक करके किया गया है । रूपो के हृदयग्राह होने से हृदय मे ही रूप प्रतिष्ठित है । वासनामय रूपो का हृदय मे स्मरण

१. स्वोत्पत्ति कारण एव प्रतिष्ठितत्वमाह—चक्षुषीति । २ शरीरस्थात् । ३ चक्षुष उत्पादक पृच्छति—कस्मिन्त्विति । ४. स्वग्रहणायैत्यर्थः । ५ नियुक्तम् । ६ आरब्धमिति—आरब्ध्वारम्भिकवयोपेष्टमृदो-राधाराधेयत्वस्य दृष्टत्वादिद्वयं तयोराधाराधेयत्वमिति भाव । ७ चक्षुषो रूपावस्थत्वात् । ८ प्राणि-प्रभृतिभि । ९ बुद्धिरिति यावत् । १० रूपाणां हृदयग्राहत्वात् । ११ चक्षुषो रूपप्रयुक्तत्वेऽपि । १२. सक्षेपत. कथयति । १३. बहि स्थितानि ।

किं देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति 'यमदेवत इति
स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः
प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा
प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धतेऽथ दक्षिणां

इस दक्षिणादिशा में तुम किस देवता से युक्त होकर स्थित हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—यम देवता से युक्त है । शाकल्य ने पूछा—वह यम देवता किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—यज्ञ में । शाकल्य ने पूछा—यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—दक्षिणा में, क्योंकि यज्ञकर्ता ऋत्विज दक्षिणा से खरीदे हुए होते हैं । शाकल्य ने कहा—दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य

भवति रूपाणां 'वासनात्मनां' 'तस्माद्धृदये रूपाणि प्रतिष्ठितानीत्यर्थः । 'एवमेवंतद्याज्ञ-
वल्क्य ॥ २० ॥

किं देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति पूर्ववत् । दक्षिणायां विशि का देवता तव ।
यमदेवत इति । यमो देवता मम दक्षिणादिगभूतस्य । स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । यज्ञ
इति । यज्ञे कारणे प्रतिष्ठितो यमः सह दिशा । कथं पुनर्यज्ञस्य कार्यं यम इत्युच्यते
ऋत्विग्भिर्निष्पादितो यज्ञो दक्षिणया यजमानस्तेभ्यो यज्ञं निष्क्रीय तेन यज्ञेन दक्षिणां
दिशं सह यमेनाभिजयति । तेन यज्ञे यमः कार्यत्वात्प्रतिष्ठितः सह दक्षिणया दिशा ।

हृदयेन हीति । 'तथाऽपि कथं तेषां हृदयप्रतिष्ठितत्व तत्राऽह—वासनात्मनामिति ॥ २० ॥

पूर्ववदित्युक्तमेव उपनक्ति—दक्षिणायामिति । यमस्य यज्ञकार्यत्वमप्रसिद्धमिति शङ्कित्वा 'व्युत्पा-
पयति—कथमित्यादिना । 'तस्य यज्ञकार्यत्वे फलितमाह—तेनेति । यज्ञस्य दक्षिणायां प्रतिष्ठितत्वं

होता है । इसलिए (मनोमात्रकल्पितरूपों के हृदयाधीन होने में) हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित
है । शाकल्य कहता है—हे याज्ञवल्क्य ! मुझे भी ऐसा ही लगता है ॥ २० ॥

“इस दक्षिणदिशा में तुम किस देवता वाले हो” इस प्रकार मन्त्र का पूर्ववत् अर्थ करना
चाहिए । दक्षिणदिशा में तुम्हारा कौन सा देवता है ? (याज्ञवल्क्य बोले—) धर्मराज देवता है ।
अर्थात् दक्षिणदिशात्मस्वरूप मेरा देवता धर्मराज है । वह यम किसमें प्रतिष्ठित है ? (याज्ञवल्क्य
बोले—) यज्ञ में प्रतिष्ठित है । “यज्ञे” अर्थात् दिशागन्धित यम अपने कारणभूत यज्ञ में प्रतिष्ठित है ।
परन्तु यम यज्ञ का कार्य क्यों कहा जाता है—इस पर कहते हैं । ऋत्विजों द्वारा सम्पादित यज्ञ को
दक्षिणा द्वारा यजमान ऋत्विजों से यज्ञ खरीदकर उस के द्वारा यमसहित दक्षिणदिशा को जीत

- १ यमो धर्मराज । २ वासनात्मनामिति—अत्र वासनात्मनेति तृतीयात्पठ-भाषीवाग्प्रतिभाति ।
- ३ तथा नस्वात्मना तात्स्थम् । ४ तस्मादिति—मनामात्रकल्पितरूपाणां हृदयाधीनस्मरणात् । ५
मयाऽप्यभवेन ज्ञायत इति शाकल्योऽङ्गी वरति—एवमेवेति । ६ ऋत्विग्भ्यः । ७ तेन—उक्तविधया
यमस्य यज्ञकार्यत्वेन । ८ तस्मिन्प्रत्ययस्य 'हृदयमाह्वयेऽसि । ९ व्युत्पापयतीति—अत्र व्युत्पापयतीति
पाठान्तरतदेव च सम्पत् । १० यमस्य ।

ददाति श्रद्धाया^७ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु
श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां
जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येव-
मेवंतद्याज्ञवल्क्य ॥२१॥

ने कहा—भक्तिसहित आस्तिक्यबुद्धिरूप श्रद्धा मे, क्योंकि जब पुरुष श्रद्धा करता है; तभी दक्षिणा देता है। अतः श्रद्धा मे ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने पूछा—श्रद्धा किसमे प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय मे, क्योंकि हृदय मे ही पुरुष श्रद्धा को जानता है। अतः हृदय मे ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! यह बात भी ऐसी ही है ॥ २१ ॥

कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति । दक्षिणायामिति । दक्षिणया 'स निष्क्रीयते । तेन दक्षिणाकार्यं यज्ञः । कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति । श्रद्धायामिति । श्रद्धा नाम दिवसु-
त्वमास्तिक्यबुद्धिभक्तिसहिता । कथं तस्यां प्रतिष्ठिता दक्षिणा । यस्माद्यदा ह्येव श्रद्धत्ते^१य दक्षिणां ददाति नाश्रद्धदक्षिणां ददाति । तस्माच्छ्रद्धाया ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति । कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति । हृदय इति होवाच । हृदयस्य हि वृत्तिः श्रद्धा यस्माद्धृदयेन हि श्रद्धां जानाति । वृत्तिश्च वृत्तिमति प्रतिष्ठिता भवति । तस्मा-

साधयति—दक्षिणयेति । कार्यं च कारणे प्रतिष्ठितमिति शेषः । दक्षिणायाः श्रद्धायां प्रतिष्ठितत्वं प्रकटयति—यस्मादिति । हृदये 'सा प्रतिष्ठितेत्यत्र हेतुमाह—हृदयस्येति । हृदयं व्याप्यत्वाच्च श्रद्धायास्तत्प्रतिष्ठितत्वमित्याह—हृदयेन हीति । हृदयस्य श्रद्धा वृत्तिरस्तु तथाऽपि 'प्रकृते किमायातं तदाह—वृत्तिश्चेति ॥ २१ ॥

लेता है। इसलिए (यज्ञ को दक्षिणा द्वारा खरीद लिये जाने से) कार्य होने के कारण दक्षिणदिशा के महित यम यज्ञ मे प्रतिष्ठित है। यज्ञ किसमे प्रतिष्ठित है? दक्षिणा मे (—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा)। क्योंकि यज्ञ दक्षिणा के द्वारा खरीद लिया जाता है, इसलिये यज्ञ दक्षिणा का कार्य है। दक्षिणा किसमे प्रतिष्ठित है? दक्षिणा श्रद्धा मे प्रतिष्ठित है। दाता मे भक्तिसहित आस्तिक्यबुद्धि का नाम ही श्रद्धा है। उममे दक्षिणा किस तरह प्रतिष्ठित है? जब इसे श्रद्धा होती है, तभी पुरुष दान करता है, बिना श्रद्धा के दक्षिणा नहीं देता है। इसलिए श्रद्धा मे ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है। श्रद्धा किसमे प्रतिष्ठित है? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—श्रद्धा हृदय मे प्रतिष्ठित है। हृदय की वृत्ति श्रद्धा है क्योंकि हृदय से ही श्रद्धा जाना जाती है और वृत्ति वृत्तिमान् मे प्रतिष्ठित रहा करता है। इसलिए हृदय

१ यज्ञः । २ तेन—यज्ञस्य दक्षिणया निष्क्रीयते । ३ तदा । ४ श्रद्धा । ५ ज्ञाप्यत्वादिति यावत् ।
तथैव वा पाठ प्रमादाद्विपर्यस्तः । ६ प्रतिष्ठितरव ।

किं देवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति
 स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः
 प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति
 हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूप जातमाहुर्हृदयादिव

हे याज्ञवल्क्य ! इम पश्चिमदिशा मे तुम किस देवता के महित स्थित हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वरुण देवता से । शाकल्य ने कहा—वह वरुण किममे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जल मे । शाकल्य ने पूछा—वह जल किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वीर्य मे, क्योंकि वीर्य से ही जल की रचना हुई है । शाकल्य ने कहा—वीर्य किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय

द्दृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवंतद्याज्ञवल्क्य ॥ २१ ॥

किं देवतोऽस्या प्रतीच्या दिश्यसीति । तस्यां वरुणोऽधिदेवता मम । स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति । अपां हि वरुणः कार्यम् । “श्रद्धा वा आपः” “श्रद्धातो वरुणमसृजत” इति श्रुतेः । कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति । रेतसीति । “रेतसो ह्यापः सृष्टाः” इति श्रुतेः । कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति । हृदय इति । यस्माद् हृदयस्य कार्यं रेतः । कामो हृदयस्य वृत्तिः । कामिनो हि हृदयाद्रेतोऽधस्कादिति । तस्मादपि

रेतसो हृदयकार्यत्वं साधयति—काम इति । तथाऽपि कथं रेतो हृदयस्थेति । तदाह—कामिनो हीति । तत्रैव लोकप्रसिद्धिं प्रमाणयति—तस्मादिति । अपिशब्द सभावनाचोऽवधारणार्थो

मे ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है । (इस पर शाकल्य बोला—) हे याज्ञवल्क्य ! मुझे भी ऐसा ही लगता है ॥ २१ ॥

इस पश्चिमदिशा मे तुम किस देवता वाले हो ? पश्चिमदिशा मे मेरा अधिष्ठातृदेवता वरुण है । वह वरुण किसमे प्रतिष्ठित है ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) वह जल मे प्रतिष्ठित है क्योंकि वरुण जल का कार्य है । श्रुति भी कहती है—“श्रद्धा ही जल है”, ‘श्रद्धा से वरुण को उत्पन्न किया’ । जल किसमे प्रतिष्ठित है ? प्रजापति क वीर्य मे । श्रुति कहती है— वीर्य से जल की उत्पत्ति हुई । वीर्य किसमे प्रतिष्ठित है ? हृदय मे, क्योंकि वीर्य हृदय का ही कार्य है । काम हृदय की वृत्ति है क्योंकि कामो हृदय मे वीर्य रखलित होता है । इसी कारण पिता के ‘प्रतिरूप’ यानी अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्र

- १ कार्यं च कार्यं प्रतिष्ठित भवतीति भावः । २ अपा हि निमलानां दशनन स्नानाचमनादिश्रद्धा जायतीति श्रद्धाहनुस्वादाप श्रद्धाणस्वाद्या इत्यर्थः । ३ श्रद्धाणस्वाद्याचोऽङ्गुष्ठः । ४ प्रजापतिरेतसि । ५ वृत्तिश्च वृत्तिमिति तिष्ठत्येव । ६ कामिनो हृदयादिति पञ्चम्यो समानाधिकरणे । ७ रेतसो हृदयकार्यत्वसंभवात्कार्यत्वादेवेति वाचः । ८ कामस्य हृदयवृत्तिस्त्वेषि । ९ रेतसो हृदयकार्यत्वे ।

सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः
प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवंतद्याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥
किं देवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति
स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु
दीक्षा प्रतिष्ठतेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः

मे । अतएव पिता के अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्र को 'लोक' कहते हैं । यह मानो पिता के हृदय से ही निकला है क्योंकि हृदय मे ही वीर्य स्थित होता है । शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह बात भी ऐसी ही है ॥ २२ ॥

इम उत्तरदिशा मे तुम किम देवता मे युक्त हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—सोमदेवता से (सोम शब्द से सोमलता और सोमदेवता दोनों का वर्णन किया गया है) । शाकल्य ने पूछा—वह सोमदेवता किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—दीक्षा मे (क्योकि दीक्षित यजमान ही सोम को खरीदकर सोम से यजन करके सोम मे अधिष्ठित तत्सम्बन्धी उत्तरदिशा को प्राप्त हाता है) शाकल्य ने

प्रतिरूपमनुरूपं पुत्रं जातमाहुर्लोकिकाः । अस्य पितुर्हृदयादिवायं पुत्रः सृप्तो विनिःसृतो हृदयादिव निर्मितो यथा सुवर्णेन निर्मितः कुण्डलः । तस्माद्बृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवंतद्याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

किं देवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति । सोमदेवत इति । सोम इति लतां सोमदेवतां चैकीकृत्य निर्देशः । स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । दीक्षायामिति । दीक्षितो हि यजमानः सोमं क्रीणाति । क्रीतेन सोमेनेष्ट्वा 'जानवानुत्तरां दिशं प्रतिपद्यते सोमदेवता-

वा ॥ २२ ।

दीक्षायां सोमस्य प्रतिष्ठितत्वं साधयति—दीक्षितो हीत्यादिना । दीक्षायाः सत्ये प्रतिष्ठित-

के विषय मे लोकव्यवहार मे ऐसा कहा जाता है कि यह पुत्र माना अपने पिता के हृदय से ही निकला हुआ है । स्वर्ण से बने हुए कुण्डल के समान मानो यह उसके हृदय से ही बना है, इसलिए हृदय मे ही वीर्य प्रनिष्ठित है । शाकल्य बोला—हे याज्ञवल्क्य ! मुझे भी ऐसा ही प्रतीत होता है ॥ २२ ॥

“इस उत्तरदिशा मे तुम किस देवता वाले हो ?” उत्तरदिशा मे सोमदेवता वाला है । सोमलता और सोमदेवता को एक मानकर सोम' इस शब्द से प्रतिपादन किया गया है । वह सोम किसमे प्रतिष्ठित है ? सोम दीक्षा मे प्रतिष्ठित है क्योकि दीक्षित यजमान ही सोम को खरीदता है । खरीदे हुए सोम से याग करके वह उपासक सोमदेवता से अधिष्ठित सोमसबन्धी उत्तरदिशा को

१ कुण्डल इति—कुण्डल कर्णवेष्टनमित्यमर । अर्धर्चादित्वात्पुस्त्यमपि । २. तयोः कार्यकारणभावस्योप-
पन्नत्वात् । ३ उपासक ।

सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु
 सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि
 सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्ये-
 वमेवंतद्याज्ञवल्क्य ॥२३॥

किं देवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति
 सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु

पूछा—दीक्षा किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—मत्य मे । इमलिये दीक्षित पुरुष से कहते हैं कि 'सत्य बोलो', क्योंकि सत्य मे ही दीक्षा प्रतिष्ठित है (ग्रन्थया कारण के नाश होने मे दीक्षास्य कार्य का नाश होना सम्भव है) । शाकल्य ने पूछा—मत्य किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय मे, क्योंकि हृदय से ही पुरुष मत्य को जानता है । अतः हृदय मे ही मत्य प्रतिष्ठित है । शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है ॥ २३ ॥

शाकल्य ने पूछा—ध्रुवा (ऊर्ध्वं) दिशा मे तुम किस देवता वाले हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—मैं अग्नि देवता वाला हूँ, क्योंकि ऊर्ध्व दिशा मे प्रकाश बहुत है और प्रकाश ही अग्नि है । शाकल्य ने

धिप्रितां सौम्याम् । कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति । सत्य इति । कथम् । यस्मात्सत्ये दीक्षा प्रतिष्ठिता तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति कारणश्रेयो कार्यश्रेयो मा भूदिति । सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति । कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति । हृदय इति होवाच । हृदयेन हि सत्यं जानाति । तस्माद् हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवंतद्याज्ञवल्क्य ॥२३॥ किं देवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीति । मेरोः समन्ततो वसतामव्यभिचारादूर्ध्वा

त्वमप्रसिद्धमिति शङ्कित्वा समाधत्ते—कथमित्यादिना । अपिशब्दोऽवधारणार्थः । सत्यं वदेति वदतामभिप्रायमाहुः—कारणेति । श्रेयो श्रेयो नाश । इति तेषामभिप्राय इति शेषः । प्रकृतोपसंहारः—सत्ये हीति ॥२३॥

कथं पुनरूर्ध्वा दिगवस्थिता ध्रुवेऽप्युच्यते तत्राऽऽह—मेरोरिति । तत्राग्नेर्देवतात्वं प्रकटयति

प्राप्त करता है । वह दीक्षा किसमे प्रतिष्ठित है ? दीक्षा मत्य मे प्रतिष्ठित है । यह कैसे कहते हो ? क्योंकि दीक्षा सत्य मे प्रतिष्ठित है । तभी दीक्षित हुए को पंडित कहते हैं कि "मत्य बोलो" जिससे कि कारण का नाश न होने से कार्य का नाश न हो । इसलिए मत्य मे ही दीक्षा प्रतिष्ठित है, तो फिर सत्य किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य बोले—मत्य हृदय मे प्रतिष्ठित है । शाकल्य बोला—हे याज्ञवल्क्य ! मुझे भी ऐसा ही है ॥ २३ ॥

इम ध्रुवादिशः

बाने हो ? मे

। रो ओर रहने वाले ममस्त प्राणिये

वाक्प्रतिष्ठतेति 'हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठित-
मिति ॥२४॥

पूछा—वह अग्नि किममे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वाक् मे । शाकल्य ने पूछा—वाक् किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय मे (उस समय सम्पूर्ण दिशाओं मे फेले हुए हृदय के द्वारा याज्ञवल्क्य उन्हें आत्मभाव से प्राप्त था) । शाकल्य ने पूछा—हृदय किममे प्रतिष्ठित है ? (इस वाक्य से शाकल्य ने सर्वात्मक हृदय की प्रतिष्ठा के विषय मे प्रश्न किया) ॥ २४ ॥

दिग्ध्रुवेत्युच्यते । अग्निदेवत इति । ऊर्ध्वायां हि प्रकाशभूयस्त्वं प्रकाशआग्निः । सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति । कस्मिन्नु वाक्प्रतिष्ठितेति । 'हृदय इति । तत्र याज्ञवल्क्यः 'सर्वासु दिक्षु विप्रसृतेन हृदयेन' सर्वा दिश आत्मत्वेनाभिसंपन्नः । सदेवाः सप्रतिष्ठा दिश आत्मभूतास्तस्य नामरूपकर्मात्मभूतस्य याज्ञवल्क्यस्य । यद्रूपं तत्प्राच्यां दिशा सह हृदयभूतं याज्ञवल्क्यस्य । यत्केवलं कर्म पुत्रोत्पादनलक्षणं च ज्ञानसहितं च सह फलेनाधि-

—ऊर्ध्वाया हीति । 'दिशो वेद' इत्यादिश्रुत्या 'जगतो विभागेन' पञ्चधात्वं ध्यानायमुक्तमिदानी-
मुक्तविभागवादिन्याः श्रुतेरभिप्रायमाह—तत्रेति । यद्योक्ते विभागे सतीति यावत् । उक्तमर्थं संक्षिपति
—सदेवा इति । "तत्रावात्तरविभागमाह—यद्रूपमिति । "प्राद्ये पर्याये हृदये रूपप्रपञ्चोपसंहारो दाशितः
"हृदये ह्येव रूपाणि" इति श्रुतेरित्यर्थः । दक्षिणायामित्यादिवर्षायां "त्रयेण तत्रैव" कर्मोपसंहार उक्त
इत्याह—यत्केवलमिति । यद्दि "केवलं कर्म" तत्फलादिभिः सह दक्षिणादिगात्मकं हृद्युपसंहृत्यते यज्ञस्य
दक्षिणा "दिग्भारा हृदये प्रतिष्ठितोक्ते" दक्षिणस्या दिशन्तत्फलत्वात्पुत्रजन्माद्यं च कर्म प्रतोच्यत्कर्म
"तत्रैवोपसंहृतम् । "हृदये ह्येष रेतः प्रतिष्ठितम्" इति श्रुतेः । पुत्रजन्मनश्च "तत्कार्यत्वाज्ज्ञानसहितमपि

की दृष्टि में ऊर्ध्वदिशा का कर्मो व्यभिचार नहीं होता, इसलिए वह ध्रुवादिशा कही जाती है । (याज्ञवल्क्य बोले—) ऊर्ध्व दिशा में मैं अग्निदेवता गला हूँ क्योंकि ऊर्ध्वदिशा मे प्रकाशवाह्य है ग्रीर प्रकाश ही अग्नि है । वह अग्नि किममे प्रतिष्ठित है ? अग्नि वाक् मे प्रतिष्ठित है । ग्रीर वाक् किसमे प्रतिष्ठित है ? वाक् हृदय मे प्रतिष्ठित है । उस समय सभी पाँचों दिशाओं मे फेले हुए हृदय के द्वारा याज्ञवल्क्य सभी दिशाओं मे स्वस्वरूप से प्राप्त था अर्थात् नाम रूप ग्रीर कर्म के जगदात्मभूत

१. हृदय बुद्धिः । २ स्वकारणे एव तस्य प्रतिष्ठितत्वमाह—वाचीतीति । वाचाग्निर्जायतेति श्रुतस्तस्य तत्कार्यत्वमिति भावः । ३. हृदय इतीति—अत्रापि हृदयेन हि वाच जानातीति हेतुवाक्यमुदाहृत् । ४ पञ्चसु । ५. द्वारा । ६ स्वस्वरूपत्वेन प्राप्तः । ७ मकारणा । ८ जगदात्मनः । ९ वृ० उ० ३।६।१६ । हृदय इत्यन्तया । १० जगदात्मकदेवस्य दिग्भेदेन । ११ श्रुत्या दिग्दिशभागेन पञ्चधात्वं ध्यानाय देवस्योक्तमिति पाठान्तरम् । १२. तत्रेति—नामरूपकर्मात्मकस्य सर्वस्य जगता हृद्युपसंहारे सामान्योक्ते सतीत्यर्थः । १३ वृ० उ० ३।६।२० । १४ वृ० उ० ३।६।२१-२३ । १६ हृदये एव । १७ उपासितशून्य वैदिकम् । १८. आदिना श्रद्धाः । १९. केवलस्य कर्मणो दक्षिणदिगात्मत्वमुक्तं तत्र हेतुमाह—दक्षिणस्या इति । २० हृदये एव । २१ वृ० उ० ३।६।२२ । २२. रेतः ।

अहंल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रंतदन्यत्रास्मन्म-

हे प्रेत ! ऐसे शब्द से संबोधित करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—जिस समय तुम इस देह को हृदयरूप हमसे पृथक् मानते हो, यदि उस समय सन्मुख मे यह शरीर हमसे पृथक् हा जाय, तो इसे

प्राचीभिश्च देवताभिर्दक्षिणाप्रतीच्युदीच्यः कर्मफलात्मिका' हृदयमेवाऽऽपन्नास्तस्य' । ध्रुवया दिशा सह नाम सर्वं वाग्द्वारेण 'हृदयमेवाऽऽपन्नम् । एतावद्धीद सर्वं यदुक्त रूपं वा कर्म वा नाम वेति 'तत्सर्वं हृदयमेव तत्सर्वात्मिकं हृदयं पृच्छघते कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥ २४ ॥

'अहंल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो 'नामान्तरेण संबोधनं कृतवान् । यत्र यस्मिन्काल

कर्म फलप्रतिष्ठादेवताभिः सहोदीच्यात्मिकं तत्रैवोपसंहृतं सोमदेवताया दीक्षा'द्विद्वारा 'तत्प्रतिष्ठत्वश्रुतेरेव 'दिव्यवये सर्वं कर्म हृदि संहृतमित्यर्थः । पञ्चमपर्यायस्य तात्पर्यमाह—ध्रुवयेति । नामरूपकर्मसूपसंहृते-
ष्वपि किंचिदुपसंहृतं व्यान्तरमवशिष्टमस्तोत्याशङ्क्य निराकरोति—एतावद्धीति । प्रदानान्तरमुत्पापयति—तत्सर्वात्मिकमिति ॥ २४ ॥

हृदयपदेन नामाद्याधारवदहंल्लिकशब्देनापि हृदयाधिकरणं विवक्ष्यते "वाक्यच्छायासाम्या-

उस याज्ञवल्क्य की देवता और प्रतिष्ठा के सहित सभी दिशाएँ स्वस्वरूपभूत थीं । जो रूप था, वह पूर्वदिशा के सहित याज्ञवल्क्य का हृदयस्वरूप हा गया । इसी प्रकार जो केवल कर्म, पुत्रोत्पादनरूप कर्म और ज्ञानपूर्वक कर्म थे, वे अपने फल और अधिष्ठातृ देवताओं के साथ कर्मफलात्मिका दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं के साथ उस याज्ञवल्क्य का हृदय हो गये । तथा ध्रुवदिशा के सहित वाक् के द्वारा सम्पन्न नाम भी याज्ञवल्क्य के हृदय को प्राप्त हो गये । यह जो कुछ रूप, कर्म अथवा नाम है वह सब इनना ही है और (नाम-रूप कर्मात्मिक सर्वजगत् मन का विलास होने से मन द्वारा हृदय मे पर्यवमिन जाने मे) वह सब हृदय ही है, उस सर्वात्मिक हृदय के विषय मे प्रश्न किया जाता है कि "हृदय किममे प्रतिष्ठित है" ॥ २४ ॥

१ दिश । २ याज्ञवल्क्यस्य । ३ याज्ञवल्क्यस्य । ४ आपन्नमिति—अग्निर्गन्धिष्ठाया वाचो हृदये प्रतिष्ठितत्वोस्तेरिति शेष । एव नामरूपकर्ममात्मकस्य सर्वस्य जगनो हृदय सहति प्रस्तुतश्रुत्योक्तेति भावः । ५ तदिति—नामरूपकर्मात्मक सर्वं जगन्मनोविलासरूपत्वादर्थान्मनाद्वाग हृद्येवोपसंहृतमित्यर्थः । एतेन सर्वं जगदुपसंहृतं हृदीत्यमुक्तमत्र प्रकरणे मनसो हृद्युपसंहाराश्रुतिरित्यपास्तं वार्तिके । तथाहि—“सामर्थ्याच्च मनोऽप्यत्र विज्ञेयमुपसंहृतम् । रूपदिपञ्चकं यस्मात्तद्द्वारेणाऽऽश्रितं हृदीति” ॥ ७६ ॥ रूपरसादिपञ्चकं मनोविलासितं तद्द्वारा हृदि सहतं न हि मनसस्तत्र सहारं विना तद्विकल्पितस्य स युक्तोऽतो मनाऽपि हृदि सहतमित्यर्थः । ६ ब्रह्मादिस्तन्ब्रह्मान्तं सर्वं जगत्त्रस्मिन् सहस्य व्यवस्थितं हृदयं कस्मिन्प्रतिष्ठितमिति पृष्टो मुनिरहंल्लिकेति संबोधोत्तरमाहेत्याह—अहंल्लिकेति । अह्नि लीयत इति विश्वे “क्विप्” चेति क्विपि 'सजायां कनि'ति कनि 'केऽण' इति ह्रस्वरम् । ७ शाकल्यस्य विदग्धरदिदमपि नामान्तरमित्यर्थः । पिशाचवदसो वल्गतीति केनचिद्विदुषाऽप्य तादृशं नामकृतमिति शेषम् । ८ आदिना सरम् । ९ हृदयप्रतिष्ठत्वश्रुतेरिति यावत् १० दिक्पर्यायश्रमे । ११ प्रवृत्तवाक्यस्वरूपसादृश्यात् ।

न्यासं यद्धृत्तेतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्रानो वैनदद्युर्वंयासि
वैनद्विगन्धीरग्निति ॥२५॥

कस्मिन् त्व चाऽत्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति

कुत्ते खा जायें, या पक्षी इम चाव मारकर मथ; डालें अर्थात् शरीर, नाम, रूप वह कर्ममय होने के कारण हृदयरूप आत्मा मे ही प्रतिष्ठित है ॥ २५ ॥

तुम और तुम्हारा आत्मा (हृदय) किमम प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्यने कहा—देह और आत्मा

एतद्धृदयमात्माऽस्य शरीरस्यान्यत्र क्वचिद्देशान्तरेऽस्मदस्मत्तो वर्तते इति मन्यासं मन्यसे ।
यद्धि यदि ह्येतद्धृदयमन्यत्रास्मत्स्याद्भ्रूवेच्छ्रानो वैनच्छरीर तदाऽद्युर्वंयासि वा पक्षिणो
वैनद्विगन्धीरग्निलोडयेयुर्विकर्षेरन्निति तस्मान्मयि शरीरे हृदय प्रतिष्ठितमित्यर्थ । शरीरस्यापि
नामरूपकर्ममत्त्वत्वाद् हृदये प्रतिष्ठितत्वम् ॥२५॥

हृदयशरीरयोरेवमन्योन्यप्रतिष्ठोक्ता 'कार्यकरणयोर'तस्त्वा पृच्छामि । कस्मिन्नु

दित्याशङ्क्याऽऽह—नामान्तरेणिति । अहनि लीयत इति विगृह्य प्रेतवाचिनेति शेष । देहे हृदय प्रति-
ष्ठितमिति व्युत्पादयति—यत्रत्यादिना । तस्मिन्काले शरीर शरीर 'भूत स्यादिति शेष । शरीरस्य
हृदयाश्रयत्व विशदयति—यद्दीत्यादिना । देहादयत्र हृदयस्यावस्थाने यद्योक्त' दोषमिति शब्देन
परामृश्य फलितमाह—इतीत्यादिना । देहस्तहि कुत्र प्रतिष्ठित इत्यत आह—शरीरस्येति ॥२५॥
वृत्तमनूढ प्रश्नान्तरमुपावस्ते—हृदयेति । प्राणशब्दस्य सूत्रविषयत्व व्यवच्छेत्तु वृत्ति-

याज्ञवल्क्य ने 'अतल्लिक' ऐसा सम्बोधन करके कहा । शाकल्य को अन्य नाम से सम्बोधन
किया । 'यत्र' अर्थात् जिस समय 'एतद्' अर्थात् यह हृदय यानी आत्मभूत शरीर हमारे स्वरूपभूत
शरीर से किसी अन्य देश मे रहता है ' इति मन्यासं ऐसा मानते हो, 'यद्धि' यानी उस समय यदि
इम शरीर से यह आत्मभूत हृदय अन्यत्र चला जाय तो इस शरीर को या तो कुत्त खा जायें या
(गृध्रादि) पक्षी 'वैनद्विगन्धीरन्' इसे नोच नोच कर खा जायें । इसलिये (उक्त दोष से) हृदय
मुझ शरीर मे प्रतिष्ठित है । शरीर भी नाम रूप एव कर्ममय होने के कारण हृदय मे
प्रतिष्ठित है ॥ २५ ॥

१ आत्मभूतम् । २ अस्मत्स्वरूपशरीरात् । ३ गृध्रादय पक्षिण । ४ यद्योक्तदोषात् । ५ अयोयति ।
अत्र वातिके—वर्नासिंहवदेवैतद्वृत्तमन्योन्यस्यथयम् ॥ नतं लिङ्ग शरीरस्य स्थितिं काञ्चिदिहोप्यते । न शरीर
विना लिङ्ग कस्मैन्निकमण क्षमम् ॥ न ह्ययोऽन्यातिरकेण सहताना क्वचित्स्थिति । सहत च प्रतीचोऽन्यज्जग-
देतच्छराचरमिति ॥ ६६ ६८ ॥ ननु स्थूलस्य सूक्ष्मदेहमुपेक्ष्य स्थित्यभावेऽपि स्थूल विना यावमोक्षमेतत्
(सूक्ष्म)स्यास्यति इति नायोऽयाश्रयतेति तत्राऽऽह—न शरीरमिति ॥ किंच हृदयदेहावयोऽन्यप्रतिष्ठितो
सहतरत्वाप्रासादादिवदित्याह—न हीति । हेत्वसिद्धिं धुनीते—सहत चेति ॥ ६ हृदयशरीरयोरित्यन्वय ।
७ कार्यत्वेन तयो स्वातन्त्र्याभावात् । ८ भूत स्यादिति—एतेन शरीरस्य हृदयाश्रयत्वमर्थादुक्तमिति
ध्येयम् । ९ मरणामकम् ।

'नियतं यस्मिन्प्रतिष्ठितमाकाशान्तमोतं च प्रोतं च तस्य निरुपाधिकस्य साक्षादपरोक्षाद्-
ब्रह्मणो निर्देशः कर्तव्य इत्ययमारम्भः ।

स एषः । स यो नेति नेतीति निदिष्टो मधुकाण्ड एष स । 'सोऽयमात्माऽगृह्यो न
गृह्यः । कथम् । यस्मात्सर्वकार्यधर्मातीतस्तस्माद्गृह्यः । कुतो यस्मान्न हि गृह्यते ।
यद्धि करणगोचरं व्याकृत वस्तु तद्ग्रहणगोचरमिदं तु तद्विपरीतमात्मतत्त्वम् । तथा-
'ज्ञीर्यो यदि मूर्तं संहृत शरीरादि तच्छीर्यतेऽयं तु तद्विपरीतोऽतो न हि शीर्यते ।
तथाऽसङ्गो मूर्तो मूर्तान्तरेण सबध्यमानः सज्यतेऽयं च तद्विपरीतोऽतो न हि सज्यते ।
तथाऽसितोऽबद्धो यदि मूर्तं तद्बध्यतेऽयं तु तद्विपरीतत्वादसितोऽबद्धत्वात्न व्यथ्यतेऽतो न

यस्य कूटस्थहृष्टिमानस्यान्तर्भावित्वकल्पनाधिष्ठानस्याज्ञानदशात्प्रज्ञासने छायापृथिव्यादि
स्थित स परमात्मैव प्रत्यगात्मैवेतिपदयोरेयं विवक्षित्वाऽऽह—न एष इति । निषेधद्वय मूर्तमूर्तब्राह्मणे
'व्याख्यातमित्याह—स यो नेति । यो मधुकाण्डे चतुर्थे नेति नेतीति निषेधमुत्तेन निदिष्टे स एष कूट-
ब्राह्मणे" तन्मुखेनैव वक्ष्यते इति योजना । निषेधद्वारा निदिष्टमेव स्पष्टमिति—सोऽयमिति । कार्यधर्मा
शब्दादयोऽज्ञानायादयश्च । श्रुत्युक्त हेतुमवतार्य व्याचष्टे—कुत इत्यादिना । तद्विपरीतत्वं करणागोचरत्व
'न चक्षुषेत्यादिश्रुते । तद्विपरीतत्वादमूर्तत्वादिति यावत् । पूर्वत्राप्युभयत्र तद्विपरीतमेतदेव । अत

ऐसा कहा जाता है—शरीर हृदय और प्राण—ये परस्पर प्रतिष्ठित हैं और विज्ञानमय के लिए नियुक्त
होकर सहतरूप से नियमित रहते हैं । ये सब जिसके द्वारा नियम में बँधे रहते हैं, जिसमें प्रतिष्ठित हैं
और जिसमें आकाशपर्यन्त अंत प्रोत हैं उस निरुपाधिक साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म का व्याख्यान करना
चाहिये, इसलिए आगे का (स एष ' यह) ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है ।

"स एष" अर्थात् जिसका मधुकाण्ड में 'नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया है, वह यह है ।
(प्रकरणस्य बहु अक्षरब्रह्मरूप) आत्मा अगृह्य" ग्राह्य नहीं है । किस प्रकार ग्राह्य नहीं है ? क्योंकि यह
समस्त कार्यधर्मों से अतीत है, इसलिए इन्द्रिय से अगोचर है । यह अग्राह्य क्यों है ? क्योंकि यह ग्रहण
नहीं किया जा सकता । जो कार्य वस्तु इन्द्रियगोचर होती है, वही ग्रहण की जा सकती है किन्तु यह
आत्मतत्त्व तो (इन्द्रिय से अगोचर होने के कारण) उससे विपरीत है । तथा यह आत्मतत्त्व अपक्षय
में रहित है क्योंकि जो सावयव सहित शरीरादि हैं, वही अपक्षय (सैवित्य) में प्राप्त होता है,
आत्मतत्त्व (अमूर्त होने से) उससे विपरीत होने के कारण अपक्षय को प्राप्त नहीं होता । तथा यह सङ्गत्व-
धर्मशून्य है । सावयव पदार्थ ही किसी दूसरे सावयव पदार्थ से सम्बद्ध होने के कारण सल्लिख्य होता है ।

- १ नियमितम् । २ सोऽयमात्मेति—प्रकरणव्यवस्थाक्षरस्य ब्रह्मण आत्मशब्देनानुवाद बुवाणा तयोरभेद मन्वत्
श्रुतिरिति विभावनीयम् । ३ करणागोचर । ४ कार्यम् । ५ विचारण शीघ्रत्वमपक्षयस्तद्ब्रह्म इत्यर्थः ।
६ सावयवम् । ७ अमूर्त इत्यर्थः । ८ सङ्गत्वधर्मशून्य । ९ सल्लिख्यते । १० मूर्तविपरीत ।
११ व्याख्यान्तरशून्य इति यावत् । १२ अक्षरस्य । १३ वृ० उ० २।३।४-६ । १४ वृ० उ०
४।२।४ । १५ 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नायैर्देवैस्त्वपसा कर्मणा वा ।

रिष्यति । ग्रहणविशरणसङ्गबन्धकार्यधर्मरहितत्वान्न रिष्यति न हिंसामोपद्यते न विनश्यतीत्यर्थः ।

'क्रममतिक्रम्योपनिषदस्य पुरुषस्याऽऽख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुत्या स्वेन रूपेण त्वरया निर्देशः कृतः । ततः पुनराख्यायिकामेवाऽऽश्रित्याऽऽह । एतानि यान्युक्तान्येष्टावायत-

शब्दायं स्फुटपन्तुक्तमुपपादयति—ग्रहणेति । कार्यधर्माः शब्दादयोऽज्ञानपादयश्च प्रागुक्ताः ।

ननु शाकल्ययाज्ञवल्क्ययोः संवादात्मिकेयमाख्यायिका 'तत्र कथं शाकल्येनापृष्ठात्मानं याज्ञवल्क्यो घ्याचष्टे तत्राऽऽह—क्रममिति । 'विज्ञानादिवाक्ये षड्यमाणत्वात्किमित्यत्र तन्निर्देश इत्या-
शङ्क्याऽऽह—ततः पुनरिति । निश्चयेन गमयित्वेत्येतदेव स्पष्टयति—अष्टेति । प्रत्युहोपसंहृत्येति

मूर्तं से विपरीत होने के कारण यह सश्लिष्ट नहीं होता है । तथा यह "अमितः" अर्थात् अद्वय (बाह्याभ्यन्तर शून्य) है क्योंकि जो पदार्थ मूर्त (सावयव) होता है, वही बंधता है, यह उससे विपरीत अस्ति या अद्वय होने के कारण 'न व्यथते' यानी विनाश को प्राप्त नहीं होता । ग्रहण, विशरण, सङ्ग, बन्धरूप कार्यधर्मों से रहित होने के कारण "न रिष्यति" अर्थात् हिंसा यानी विनाश को नहीं प्राप्त होता ।

यहाँ श्रुति ने क्षीघ्रता से क्रम को अतिक्रमण कर आख्यायिका से हटकर अपने मुख से ओपनिषद पुरुष का निर्देश कर दिया है । श्रुति अथ आख्यायिका का आश्रय लेकर पुन कहती है । ये

१. क्रममिति—सावच्छाकल्यप्रश्नस्ततो मुनिवृत्तप्रतिबचनमित्येव तत्प्रश्नप्रतिबचनार्थमक्रममित्यर्थः । २. स्वमुखेनेति यावत् । ३ तत इति—समान इति एतानि इत्यनयोराख्यायिकावाक्ययोर्मध्ये औपनिषदपुरुष-निर्देशानन्तरमित्यर्थः । अथवा शाकल्यप्रश्ननिर्णयानन्तरमित्यर्थः । ४ पुनरित्यादि—पूर्वादिवाख्यायिकामनुसृत्य, अथ प्रतीभूताऽब्रह्मविस्तन्नव मां पृच्छतीति तस्य सापराधत्वं ज्ञापयितुं मुनिं पृच्छतीत्यर्थः । एतेन स एव इत्यादिश्रोतं वाक्यम्, एतानोत्यादि तु याज्ञवल्कीयप्रश्नवाक्यमिति विभाग उक्त इति ध्ययम् । ५ पूर्विकोऽयम-रूपाकाशतोऽरूपोदकरोति । ६ तस्यामाख्यायिकाम् । ७ वृ० उ० ३।१।२६ ।

कृततः पुनराख्यायिकामेवाश्रित्याहेति । अत्राहुर्वातिकाचार्यास्तथाहि—“श्रुति स्वेनैव वचसा साक्षादित्यादि-सक्षणम् । समापन्याऽऽयमविज्ञान भूयोऽप्याख्यानरूपकम् ॥ गृहीत्वा परिपप्रच्छ शाकल्यमभिमानिनम् । याज्ञवल्क्यात्मिका भूत्वा ह्यतिनिबन्धकारिणम् ॥ धनं निवृष्टं राज्ञं ब्रह्मिष्ठोद्देशतो यत । प्रष्टुं नैवाधिकारो-ऽतोऽब्रह्मिष्ठस्येदं विद्यते ॥ अब्रह्मिष्ठस्त्वसिद्धयर्थमतोऽप्राक्षीदुवाग्भित् । स याज्ञवल्क्य शाकल्य सापराधत्वसिद्धय ॥ स एव नेति नेत्याद्य प्रश्नो वाक्य समीक्यताम् । मध्यं वाक्याच्छेदोऽभावादिनिश्चयस्य पूर्ववत् ॥ समासव्यास-रूपेण शाकल्यो यदुपुच्छत् ॥ ततः परस्ताच्छाकल्य याज्ञवल्क्योऽप्युपुच्छत् ॥ ऐकारत्वे सर्वभेद कायकारणसक्षणम् । समापनीय नि शेष समासव्यासवर्जिते ॥ अपि शास्त्रांशसंबन्ध उत्तरस्या श्रुतेरयम् । तदनुक्तो यतः पूर्वं सर्वं स्यात्पुण्ड्रम्” ॥ १००-१०७ ॥ इति । एतान्ष्टाविंशत्यादिवाक्यस्य पूर्वणासागतिमाशङ्क्य परिहरति—श्रुतिरिति ॥ विद्याभिमानिस्वादिनिबन्धकारित्वाच्च शाकल्य प्रति प्रष्टुं युक्तमिति वक्तुं हिचन्द. ॥ शाकल्योऽत्र प्रष्टा कथं त प्रति प्रश्नोऽयस्येत्याशङ्क्य शाकल्यस्य प्रश्नाधिकार निराचष्टे—धर्ममिति । इहेति बहुवचन-यशोक्तिः । अब्रह्मिष्ठस्येति च्छेद । द्वितीयस्त्विहशब्दो ब्रह्मवित्समाधिषय ॥, ३ कथं शाकल्यस्याब्रह्मिष्ठत्व-सत्राऽऽह—अब्रह्मिष्ठत्वेति । अब्रह्मिष्ठस्य प्रश्नानधिकारोऽत शब्दायं । प्रश्नानधिकारिणोऽपि शाकल्यस्य प्रश्ने

संवादो निर्वृत्तः । 'तत्र याज्ञवल्क्येन शापो दत्तः । पुरेऽतिथ्ये मरिष्यसि न तेऽस्योनि-
चने गृहान्प्राप्स्यन्तीति' स ह तयं ममार । तस्य हाप्यन्यन्यमानाः परिमोषिणोऽस्यो-
न्यपजहूः । तस्मान्नोपवादी स्यादुत' ह्येवंवित्परो भवतीति । सैषांऽऽख्यायिकाऽऽचारायं
सूचिता विद्यास्तुतये चेह ॥२६॥

'यस्य नेति नेती'त्यन्यप्रतिषेधद्वारेण ब्रह्मणो निर्देशः कृतस्तस्य विधिमुखेन कथं
निर्देशः कर्तव्य इति पुनराख्यायिकामेवाऽऽश्रित्याऽऽह मूलं च जगतो वक्तव्यमिति ।
'आख्यायिकासंबन्धस्त्वब्रह्मविदो ब्राह्मणाञ्जित्वा गोधनं हर्तव्यमिति । न्यायं मत्वाऽऽह-

ऽऽख्यायिकामनुकामिति—अष्टाध्याय्यामिति । अष्टाध्यायो बृहदारण्यकात्प्राचीना कर्मविषया । पुरे
पुण्यक्षेत्रातिरिक्ते देशे । अतिथ्ये पुण्यतिथिशूये काले । अस्योनिचनेत्यत्र चनशब्दोऽप्यर्थः । उपवादी
परिभवकर्ता । तच्छब्दाद्यंमाह—उत इति । किमितीयमाख्यायिकाऽत्र विद्याप्रकरणे सूचितेत्याशङ्क्या-
ऽऽह—संवेति । ब्रह्मविदो विनोतेन भवितव्यमित्याचारः महती होयं ब्रह्मविद्या यत्तन्निगुप्यजगामार्हिका-
मुष्मिन् विरोधः स्यादिति विद्यास्तुतिः ॥२६॥

अथ हेत्याद्युत्तरग्रन्थमवतारयति—यस्येत्यादिना । जगतो मूलं च वक्तव्यमित्याख्यायिकामेवा-
ऽऽश्रित्याऽऽहेति संबन्धः । आख्यायिका किमर्थेत्यत आह—आख्यायिकेति । इतिशब्दः "संबन्धममाप्त्यर्थं" ।
ननु ब्राह्मणेषु सूक्तानामुनेषु प्रतिषेद्धुरभवाद्गोधनं हर्तव्यं किमिति तान्प्रति याज्ञवल्क्यो यवतीत्यत आह—
न्याय मत्वेति । "ब्रह्मस्वं हि ब्राह्मणानुमतिमनापाद्य नोयमानमनर्थाय स्यादिति न्यायः । संबोध्योवाचेति

अष्टाध्यायीनाम कर्मविषयक ग्रन्थ मे शाकल्य से याज्ञवल्क्य का समानान्त वार्तालाप हुआ है । वहाँ
अष्टाध्यायीस्य संवाद मे याज्ञवल्क्य ने शाकल्य को शाप दिया कि तुम पुण्यक्षेत्रभिन्न देश और पुण्य-
नियमन्य काल मे मरोगे और तुम्हारी अस्थिरता (संस्कार के लिए) घर तक भी नहीं पहुँचेंगी, इसलिये
वह उमो प्रकार भग गया । तस्कर उसकी अस्थिरता को दूसरे का धन समझकर ले गये । इसलिये
परिभवकर्ता नहीं होना चाहिये क्योंकि ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ होता है । यह आख्यायिका आचारार्थ और
विद्या को स्तुति के लिए यहाँ सूचित की गई है ॥ २६ ॥

जिम ब्रह्म का 'नेति नेति' इस प्रकार अनात्मपदार्थों के निषेध के द्वारा निर्देश किया गया है,
उसका विधिमुख मे किस प्रकार निर्देश करना चाहिये—ऐसी जिज्ञासा होने पर जगत का मूलकारण
बतलाने के लिए श्रुति पुन. आख्यायिका का आश्रय लेकर कहती है । आख्यायिका का प्रयोजन यह है
कि अत्रब्रह्मवित् ब्राह्मणो को जोतकर गोधन ले जाना चाहिये । इस न्याय को स्वीकार कर याज्ञवल्क्य
कहते हैं ।

१. तत्रस्य (अष्टाध्यायीस्य) संवादे । २ उत हीरवादि । यस्मादेवविदो ब्रह्मज्ञोऽपि । उपवादात् परः
यानुमंति तस्मान्नोपवादी स्यादिति । ३ यस्य ब्रह्मण इत्यन्वयः । ४ अनात्मप्रतिषेधद्वारेण । ५.
जिज्ञासायाम् । ६ श्रुति । ७ हेतोः । ८. आख्यायिकाप्रयोजनमिति यावत् । ९ विधातः । १०.
आख्यायिकाप्रयोजनबोधकवाक्यसमाप्त्यर्थं इति यावत् । ११. ब्रह्मविद्ब्राह्मणधनम् ।

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा
पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः
पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न
दधृषुः ॥ २७ ॥

तान्हैतः श्लोकैः पप्रच्छ—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव 'पुरुषोऽमृषा ॥ तस्य

इसके बाद ब्राह्मणों के मौन हो जाने पर याज्ञवल्क्य ने कहा—पूज्य ब्राह्मणगण ! आपमें से जिसकी इच्छा हो कि मैं याज्ञवल्क्य से प्रश्न करूँ, वह क्रमशः मुझसे पूछ सकता है अथवा आप सभी मिलकर मुझसे पूछ सकते हैं। ऐसे ही आपमें से जिसकी इच्छा हो कि याज्ञवल्क्य मुझसे प्रश्न करे तो उससे मैं पूछता हूँ या आप सभी से मैं पूछता हूँ। पर यह चुनीती सामना करने का साहस उन ब्राह्मणों को नहीं हुआ ॥ २७ ॥

याज्ञवल्क्य ने उन ब्राह्मणों से इन प्रागे कहे जाने वाले श्लोकों द्वारा पूछा—वनस्पति आदि पुराणों से युक्त वृक्ष जिन घनों से युक्त होता है जीव का शरीररूप पुरुष भी वंसा ही होता है, यह

अथ होवाच । 'प्रथानन्तरं तूष्णींभूतेषु ब्राह्मणेषु होवाच हे ब्राह्मणा भगवन्त इत्येव संबोध्य । यो वो युष्माकं मध्ये कामयत इच्छति याज्ञवल्क्यं पृच्छामीति स मा मामागत्य पृच्छतु । सर्वे वा मा पृच्छत । सर्वे वा यूयं मा मा पृच्छत । यो वः कामयते याज्ञवल्क्यो मां पृच्छतिविति त वः पृच्छामि सर्वान्वा वो युष्मानह पृच्छामि । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुस्ते ब्राह्मणा एवमुक्ता अपि न प्रगल्भाः संवृताः किञ्चिदपि प्रत्युत्तरं वक्तुम् ॥ २७ ॥

सबन्ध । यो व इति प्रतीकमादाय ध्याचष्टे—युष्माकमिति । ध्याख्यातं 'भागीभूतं ध्याख्येयमादाय ध्याकरोति—यो व इत्यादिना । यथोक्तप्रश्नानन्तरं ब्राह्मणानामप्रतिभां दर्शयति—ते हेति ॥ २७ ॥

“अथ होवाच” अर्थात् शाकल्य का शिर पात देखकर ब्राह्मणों के चुप हो जाने के पश्चात् याज्ञवल्क्य उन ब्राह्मणों ने 'हे प्रादरणीय ब्राह्मणों' इस प्रकार सम्बोधन करके बोले—“यो वो” अर्थात् तुम में से जो भी “कामयत” यानी चाहे कि मैं याज्ञवल्क्य से आकर प्रश्न करूँ, वह 'मा' यानी मेरे पास आकर प्रश्न पूछ सकता है। 'सर्वे वा' अर्थात् अथवा तुम सब 'मा' यानी मुझसे पूछ सकते हो। और आप म से यदि किसी की इच्छा हो कि याज्ञवल्क्य मुझसे प्रश्न करे, तो मैं उससे या सभी से प्रश्न पूछता हूँ। “ते ह ब्राह्मणा न दधृषु” अर्थात् ऐसा कहे जाने पर भी वे ब्राह्मण कुछ भी प्रत्युत्तर कहने में समर्थ नहीं हुए ॥ २७ ॥

लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥१॥

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ॥ तस्मात्त-

दातृष्णात्प्रति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात् ॥२॥

सर्वया सत्य है। वृक्ष के पत्ते हाते हैं और उस पुरुष के शरीर में रोएँ होते हैं। वृक्ष के बाहरी भाग में छाल होती है और पुरुष के शरीर में त्वचा ॥ १ ॥

इस पुरुष की त्वचा से ही रक्त चूता है और वृक्ष की छाल से गोंद निकलता है, इस प्रकार वृक्ष और पुरुष की समानता है। इस समानता के कारण ही जैसे चोट लाये हुए वृक्ष से रस चूता है, वैसे ही चोट खाये हुए पुरुष के शरीर से रक्त निकलता है ॥ २ ॥

तेष्वप्रगल्भभूतेषु ब्राह्मणेषु तान्मूर्तैर्वक्ष्यमाणं श्लोकं. पप्रच्छ पृष्टवान् । यथा लोके वृक्षो वनस्पतिः । वृक्षस्य विशेषणं वनस्पतिरिति । तथैव पुरुषोऽमृषा । अमृषा सत्यमेतत् । तस्य लोमानि । तस्य पुरुषस्य लोमानीतरस्य वनस्पते. 'पर्णानि । त्वगस्योत्पाटिका बहिस्त्वगस्य पुरुषस्येतरस्योत्पाटिका वनस्पते ॥१॥

त्वच एव सकाशादस्य पुरुषस्य रुधिरं 'प्रस्यन्दि वनस्पतेस्त्वच उत्पटस्त्वच एवोत्सफुटति 'यस्मादेव सर्वं समानमेव वनस्पतेः पुरुषस्य च तस्मादातृष्णाद्विसितात्प्रति तद्गुधिरं

स्वकीयज्ञानप्रकटनायमेव प्रदानान्तरमवतारयति—तेष्विति । वृक्षो वनस्पतिरिति पर्यायत्वात्पुनरुक्तिरित्यादाञ्चुयाऽऽह—वृक्षस्येति । 'तच्च 'तस्य महत्त्वमाहेत्यपुनरुक्तिः । पुरुषस्य वृक्षसाधर्म्यमेतदित्युच्यते । साधर्म्यमेव स्पष्टयति—तस्येत्यादिना । नीरसा त्वगुत्पाटिकेत्युच्यते ॥१॥

उत्पटो वृक्षनिर्मास ॥२॥

बोलने में प्रसमर्थ उन ब्राह्मणों से याज्ञवल्क्य ने आगे कहे जाने वाले श्लोकों से पूछा । लोकव्यवहार में जिस प्रकार वनस्पति वृक्ष जैसी होती है । वृक्ष का विशेषण वनस्पति है । उसी प्रकार पुरुष भी है । यह बात "अमृषा" यानी सत्य ही है । "तस्य लोमानि" यानी उस पुरुष के लोम हैं, उसी प्रकार उस वनस्पति के भी लोमस्थानीय पत्त हैं । "त्वगस्योत्पाटिका" यानी इस पुरुष के शरीर में जो त्वचा है, इसी प्रकार हम वनस्पति वृक्ष के बाहरी भाग में छाल है ॥ १ ॥

त्वचा के सम्पर्क से ही इस पुरुष का रुधिर नि सरणशील है, और वनस्पति की छाल से भी गोंद निकलता है क्योंकि वह छाल से फूट कर बहता है । इस प्रकार सादृश्य होने से पुरुष और

१ जयत कारण प्रष्टु पुरुषवृक्षयोस्तावच्छ्लोकत्रयेण साधर्म्यं दर्शयति—यथेति । शक्तिके यथा—“साधर्म्यं सति बंधर्म्यं शस्य प्रष्टु यतस्तत । साधर्म्यमुच्यते श्रुत्या तद्वनस्पतिमत्यंभो ॥ १३४ ॥ इति । अन्वयभाष्येण-त्वाद्वर्णितरेकस्याऽऽदौ साधर्म्यबंधनमुचितमित्यर्थ । २ लोमस्थानीयानि । ३ नि-सरणशीलम् । ४ एवमुक्त सादृश्यमनुभवेन नियमयति—यस्मादेवमिति । ५ पुरुषात् । ६ विशेषणम् । ७ वृक्षस्य ।

मांसान्यस्य शकराणि कीनाट^७ स्नाव तत्स्थिरम् ॥

अस्थीन्यन्तरतो दारुणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥३॥

पुरुष के शरीर में मांस होता है और वृक्ष के शकर (छाल के भीतर के अन्न) होते हैं, पुरुष की नसें होती हैं और वृक्ष में किनाट (नस के समान भीतरी अन्न) होते हैं। वह किनाट नसों की भाँति स्थिर होती है। पुरुष के स्नायुजाल के भीतर हड्डियाँ होती हैं वैसे ही वृक्ष के भीतर काष्ठ होता है। पुरुष की मज्जा तो वृक्ष के समान ही निश्चित की गई है ॥ ३ ॥

निर्गच्छति वृक्षादिवाऽऽहताच्छिन्नाद्रसः ॥२॥

एवं मांसान्यस्य पुरुषस्य वनस्पतेस्तानि शकराणि शकलानीत्यर्थः । किनाटं वृक्षस्य किनाटं नाम शकलेभ्योऽभ्यन्तरं बल्कलरूपं काष्ठसंलग्नं तत्स्नाव पुरुषस्य तत्स्थिरं तच्च किनाटं स्नाववद्बृहत् हि तत् । अस्थीनि पुरुषस्य स्नाच्चोऽन्तरतोऽस्थीनि भवन्ति । तथा किनाटस्याभ्यन्तरतो दारुणि काष्ठानि । मज्जा मज्जैव वनस्पतेः पुरुषस्य च मज्जोपमा कृता मज्जाया उपमा मज्जोपमा नान्यो विशेषोऽस्तीत्यर्थः । यथा वनस्पतेर्मज्जा तथा पुरुषस्य यथा पुरुषस्य तथा वनस्पतेः ॥३॥

विशेषाभावमेवाभिनयति—यथेति ॥३॥

वनस्पति में सब कुछ समान ही है। इसीलिए “ब्राह्मतात्” यानी कटे हुए वृक्ष से निकले हुए रस की भाँति “प्रातृष्णात्” यानी चोट लगे हुए पुरुष से रुधिर बहता है।

इसी प्रकार इस पुरुष के शरीर में मांस है और वनस्पति के तत्स्थानीय ‘शकराणि’ यानी शकल हैं। वृक्ष में किनाट होता है। शकलो के भीतर काष्ठ से लगी हुई छाल को किनाट कहते हैं। तत्स्थानीय पुरुष की शिराएँ हैं। ‘तत्स्थिर’ यानी वह किनाट शिराओं के समान दृढ़ हैं। ‘अस्थीनि पुरुषस्य’ यानी पुरुष की शिराओं के भीतर अस्थियाँ होती हैं। उसी प्रकार किनाट के भीतर “दारुणि” यानी काष्ठ होता है। “मज्जा मज्जोपमा कृता” यानी वनस्पति और पुरुष की मज्जा के उपमान में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जिस प्रकार वनस्पति की मज्जा होती है, उसी प्रकार पुरुष की मज्जा होती है। जैसे पुरुष की मज्जा होती है, वैसे ही मज्जा वनस्पति की होती है ॥ ३ ॥

१ स्नाव पुरुषस्थास्थिसल्लग्नो घातुविशेष । २ मज्जाशब्देनोभयत्रास्थिकाष्ठगतस्नेह उच्यते । ३ निर्वास । ४ तत्स्थानीयानि । ५ सरमाऽन्तस्त्वयत्र शकलशब्दवाच्या ‘शकल स्वचि खण्डे च ढगवस्तुनि बल्कले’ इति विद्व । ६ तत्स्थानीयम् । ७ स्नावम्य इति पाठान्तरम् । ८ तत्स्थानीयानि । ९ उपमानम् ।

यद्वक्षो वृक्षणो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ॥ मर्त्यः

स्विन्मृत्युना वृक्षणः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥४॥

रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते । धानारुह

वृक्ष को यदि काट लिया जाता है, तो वह पुन-पुन अपनी जड़ से पूर्व की अपेक्षा नूतनतर होकर प्रकट होता है । वैसे ही यदि मृत्यु मनुष्य को काट डाले, तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा अर्थात् मृत पुरुष की उत्पत्ति कहाँ में होगी ? ॥ ४ ॥

यदि तुम कहो कि वह वीर्य से उत्पन्न होता है, ता ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि वीर्य

'यद्यदि वृक्षो वृक्षपश्चिन्नो रोहति पुनः प्ररोहति प्रादुर्भवति मूलात्पुनर्नवतरः पूर्वस्मादभिनवतरः । यदेतस्माद्विशेषणात्प्राग्वनस्पतेः पुरुषस्य च सर्वं सामान्यमवगतम् । अयं तु वनस्पती विशेषो दृश्यते यच्चिन्नस्य प्ररोहणम् । न तु पुरुषस्य मृत्युना वृक्षणस्य वृक्षस्येव पुनः प्ररोहणं दृश्यते । भवितव्यं च कुतश्चित्प्ररोहणम् । तस्माद्दः पृच्छामि मर्त्यो मनुष्यः 'स्विन्मृत्युना वृक्षणः कस्मान्मूलात्प्ररोहति मृतस्य पुरुषस्य कुतः प्ररोहणमित्यर्थः ॥४॥

यदि चेदेव वदथ रेतसः' प्ररोहतीति मा वोचेत मयं वषतुमर्हथ । कस्मात् ।

साधर्म्यं सति बंधर्म्यं वषतुमशक्यमित्याशयेनाऽऽह—यद्यदीति । 'इदमपि साधर्म्यमेव किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—यदेतस्मादिति । एतस्माद्विशेषणात्प्राग्वद्विशेषणमुक्तं तत्सर्वमुभयोः 'सामान्यमवगतमिति' सवन्ध । वृक्षणस्याऽऽहस्येति 'शेषः' । मा भूतस्य प्ररोहणमिति चेन्नेत्याह—भवितव्यं चेति । 'ध्रुव जन्म मृतस्य च' इति स्मृतेरित्यर्थः ॥४॥

"यद् अर्थात् यदि वृक्ष को वृक्षण" यानी काट दिया जाय तो वह 'पुन रोहति' अर्थात् पुन निकल जाता है, 'मूलान्नवतर' अर्थात् जड़ में पहले से भी नवीनतर होकर निकलता है । इस विशेषण से पूर्व वनस्पति और पुरुष के विशेषणों में समानता ज्ञात हुई थी किन्तु वनस्पति में यह विशेषता देखी जाती है कि यह कट जाने पर भी पुन निकल जाती है । किन्तु मृत्यु द्वारा छित हो जाने पर पुरुष-शरीर (उपलक्षित जगत्) का पुन प्रस्फुटित होना नहीं दिखाई देता । किन्तु वह किमी से प्रस्फुटित तो होना ही चाहिये । इसलिये मैं आप से पूछता हूँ कि यम से बिनाश किया (मरा हुआ) मनुष्य किस कारण से उत्पन्न होता है यानी मरा हुआ पुरुष कहाँ से उत्पन्न होता है ? ॥ ४ ॥

१ अथ तयोर्वैधर्म्यं कथं पुनः स र जगत्कारणं पृच्छामि—यदिति । २ शरीरे तद्दुपलक्षिते वगतीत्यर्थः । ३ पुन । ४ यमेन । ५ बिनागित । ६ कारणात् । ७ पुरुष । ८ पुन प्ररोहणमपि । ९. समानो धर्मः । १० निश्चितम् । ११ शेष इति । अयं शेष न तु पुरुषे इत्यादि भाष्यीवाच प्रदर्शित-पठ्योपदिशतवाटान्तराभिप्रायकः । तत्र पुरुषस्य जीवस्य अज्ञस्य शरीरस्य व्यधिकरणपठ्यो चैते इति श्लेषम् । अथवा यथाभूतमाद्यवस्थवप्लभोपदिशतवाटोपि पुरुषे मृत्युना वृक्षणे सति वृक्षणस्याऽऽहस्य शरीरस्य पुन प्ररोहणं न दृश्यते इत्येव टीकोक्तपदद्वयमपि शेषात्मकमेव ।

इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य 'संभवः' ॥५॥

यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत् । मर्त्यः स्वित्न्मृ-

त्युना वृक्वणः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥६॥

जीवित पुरुष से ही उत्पन्न होता है; मृत से नहीं। वृक्ष भी केवल तने में नहीं निकलता, किन्तु बीज से भी उत्पन्न होता है। पर बीज से उत्पन्न होने वाला वृक्ष कट जाने के बाद अंकुरित होता हुआ प्रत्यक्ष देखा गया है ॥ ५ ॥

यदि वृक्ष को मूल से उखाड़ दिया जाय तो वह फिर कहीं से आकर उत्पन्न नहीं होगा। वैसे ही यदि मृत्यु मनुष्य का छेदन कर डाले तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा ? ॥ ६ ॥

यस्माच्च जीवतः पुरुषात्तद्वेतः प्रजायते न मृतात् । अपि च धानारुहो धाना बीज बीजरु-
होऽपि वृक्षो भवति न केवलं काण्डरुह एव । इवशब्दोऽनर्थकः । वै वृक्षोऽञ्जसा साक्षा-
त्प्रेत्य मृत्वा संभवो धानातोऽपि प्रेत्य संभवो भवेदञ्जसा पुनर्वनस्पतेः ॥५॥

यद्यदि सह मूलेन धानया वाऽऽवृहेयुरुद्यच्छेयुरुत्पाटयेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्पुनरागत्य-

जीवतो हि रेतो जायते 'स एव कुतो भवतीति विचार्यते न चा'सिद्धेनासिद्धस्य साधनं
न च पुरुषान्तरादिति वाच्यमे'कासिद्धावन्तरप्रयोगानुपपत्तेरिति मन्वानो हेतुमाह—यस्मादिति ।
वैधर्म्यन्तरमाह—अपि चेति । काण्डरुहोऽपीत्येपर्यर्थः । वंशब्दः प्रसिद्धिद्योतक इत्यभिप्रेत्याऽह—वै
वृक्ष इति । प्रञ्जसेत्यादेरर्थमुक्त्वा वाप्यार्थमाह—धानातोऽपीति ॥५॥

"तथाऽपि कथं वैधर्म्यमित्याशङ्क्याऽह—यद्यदीति । पुरुषस्यापि पुनरुत्पत्तिर्मा भूदित्याशङ्क्ये

यदि तुम कहो कि बीज से वह पुरुष पुनः उत्पन्न होता है तो ऐसा "मा बोधत" कहना उचित नहीं है। क्यों उचित नहीं है? क्योंकि बीज तो जीते हुए पुरुष में होता है, मृतक (पत्नी) शरीर में तो संभव नहीं। इसके अतिरिक्त "धानारुहो" वृक्ष बीज से उत्पन्न होने वाला भी होता है, केवल तने से ही उत्पन्न नहीं होता। 'इव' शब्द सादृश्यार्थक न होने से वैधर्म्य दृष्टान्त के लिए है। यह प्रसिद्ध है कि वृक्ष "प्रेत्य" यानी मरकर "अञ्जसा" साक्षात् उत्पन्न हो जाता है। बीज से उत्पन्न वनस्पति कटने के बाद पुनः ही जाती है ॥ ५ ॥

१ संभवतीति संभव । २ न मृतादिति—जीवन्तु कोऽपि नास्ति मृतशब्देन प्रतीतमवशरीरादिवज्जगतस्यै-
वोच्यमानत्वात् तस्माद्देतोऽभावात् तत्कारणमिति भावः । ३, अनर्थक इति—सादृश्यार्थे न भवति अपितु
वैधर्म्यदृष्टान्तार्थ इति भावः । ४, अव्यवधानतः । ५, यान्तातोऽपीति—धाना बीज तस्या सकाशादपिशब्देन
काण्डादपि वनस्पतेः प्रेत्य पुनरञ्जसाऽव्यवधानतः संभवो दृष्ट तया च यथा वृक्ष प्रेत्य मृत्वा काण्डरुहो धाना-
रुहश्चाञ्जसा भवतीति प्रसिद्धं न तथा मृतस्य पुरुषस्य पुनरुत्पत्तौ किंचिदपि कारण दृश्यत भवितव्यं च
तेनेत्यर्थः । ६ जीवन्मुमानेव । ७ रेतसा । ८ पुरुषस्य । ९ एवमसिद्धादिति—सर्वप्रलयात्पूर्वमधुना
जायमानस्यैकस्याप्यसिद्धौ पुरुषान्तरादित्यनरशब्दप्रयोगो नतरा मभवतीत्यर्थः । १० मनु मकारणकण्ट-
वृक्षवज्जगतोऽपि तथा नाशरुनरनुत्पत्तेर्न वैधर्म्यदृष्टान्त मभवतीति दृष्ट तत्कारणमित्येत्याशयनं वाक्या-
न्तरमवतारयति—तथाऽपीति । जगतः कारणाभावेऽपीत्यर्थः ।

जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः । विज्ञान-
मानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद
इति ॥ ७ ॥ २८ ।

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य
नवमं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

बृहदारण्यकक्रमेण पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया है, फिर वह उत्पन्न नहीं होता (तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मरकर पुनर्जन्म होता ही है) ऐसी स्थिति में मृत्यु के बाद पुनर्जन्म किससे होगा ? (इन प्रश्नों का उत्तर ब्राह्मणों से न 'दिये जाने पर श्रुति स्वयं देती है) विज्ञान मानन्दस्वरूप ब्रह्म है, वह स्वयं धर्म का देने वाला है, कर्म कर्ता यजमान की परम गति है और ब्रह्मज्ञानी का परम आश्रय है ॥ ७ ॥ २८ ॥

॥ इति नवम ब्राह्मणम् ॥

'न भवेत् । तस्माद्दः पृच्छामि सर्वस्यैव जगतो मूलं मर्त्यः त्विन्मृत्युना वृक्षः
कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥६॥

'जात एवेति 'मन्यध्वं' यदि 'किमत्र प्रष्टव्यमिति । जनिष्यमाणस्य हि 'संभवः

पूर्वोक्तं निगमयति—तस्मादिति ॥६॥

'स्वभाववादमुत्पाद्यति—जात इति । इतिशब्द'ओद्य'समाप्पयर्थः । "तदेव स्फुटयति—

"यद्" अर्थात् यदि वृक्ष को मूलसहित यानी बीजसहित "भावहेयुः" यानी खीच लें अथवा उखाड़ लें, तो वृक्ष "न पुनराभवेत्" पुन आकर उत्पन्न नहीं होगा । इसलिये (जगत् के अवाधित हो जाने से) मैं तुमसे समस्त ससार के मूल हेतु के संबन्ध में पूछ रहा हूँ कि यदि मृत्यु मनुष्य का विनाश कर दे तो वह किस मूल से पैदा होगा ? ॥ ६ ॥

यदि तुम पुरुष को उत्पन्न हुआ ही मानते हो तो उत्पन्न हुए पुरुष के विषय में क्या पूछना है ?

१. न भवेदिति—एव जगदपि यदि सकारण सम्यग्बोधबाधित न तर्हि भूयो भयति यदा त्वबाधितं तदा कारणमस्यावश्यमितिर्थः । २ जगतोऽबाधितत्वाद् । ३ जात एवेति—अस्तु मूलः स पुनर्नैव जायते जातत्वादेव जनिष्यमाणस्य हि कारणचिन्ता न जातस्यातोऽत्र प्रश्न एवाऽनुपपन्न इति स्वभाववादिवाक्यार्थः । ४. श्रमम् । ५. तर्हि । ६. जाते पुंसि । ७. सभव—सभवत्यस्मादिति श्युत्वत्वात्कारणम् । ८. पूर्वोक्ति—अनुपपन्नोत्पत्त्यर्थः । ९. स्वभाववाद सकृदुत्पन्न न पुनर्जायते इति स्वभाववाद । १०. स्वभाववादिशङ्कासमाप्पयर्थः । ११. कारणप्रश्ननिराकरणमेव ।

प्रष्टव्यो न जातस्यायं' तु जात एवातोऽस्मिन्विषये प्रश्न एव नोपपद्यत इति चेत् । न । किं तर्हि मृतः पुनरपि जायत एवान्यथाऽऽकृतान्म्यागमकृतानाशप्रसङ्गात् । अतो वः पृच्छामि को न्येनं मृतं पुनर्जनयेत् । तन्न विजनुर्ब्राह्मणा यतो मृतः पुनः प्ररोहति जगतो मूलं न विज्ञातं ब्राह्मणैः । अतो ब्रह्मिष्ठत्वाद्भूता गावो याज्ञवल्क्येन जिता ब्राह्मणाः । समाप्ताऽऽख्यायिका । यज्जगतो मूलं येन च शब्देन साक्षाद्ध्यपदिश्यते ब्रह्म यद्याज्ञवल्क्यो ब्राह्मणान्पृष्टवान्"स्तत्त्वेन "रूपेण श्रुतिरस्मभ्यमाह—विज्ञानं विज्ञप्ति-विज्ञानं" तच्चाऽऽनन्दं न "विषयविज्ञानवद्दुःखानुविद्धं किं तर्हि प्रसन्नं शिवम" तुलम" नायासं

जनिष्यमाणस्य हीति । न जायत इति भोगेनोत्तरमाह—नेत्यादिना । स्वभाववादे दोषमाह—अग्न्येति । स्वभाववादासंभवे फलितमाह—अत इति । "उक्तमेव स्फुटयन्—जगत इति । ब्रह्मविदां श्रेष्ठत्वे याज्ञवल्क्यस्य सिद्धे फलितमाह—अत इति । समाप्ताऽऽख्यायिकेति । ब्राह्मणाश्च सर्वे यथापथं जन्मु-रित्यर्थः । "विज्ञानादियाथापयति—यज्जगत इत्यादिना । विज्ञानशब्दस्य "करणादिविषयत्वं दारयति—विज्ञप्तिरिति । आनन्दविशेषणस्य कृत्यं दर्शयति—नेत्यादिना । प्रसन्नं दुःखहेतुना काम-

क्योकि उत्पन्न होने वाले का कारण पूछा जाना चाहिये, उत्पन्न हुए पुरुष का नहीं, यह पुरुष तो उत्पन्न हुआ है, इसलिए उत्पन्न जगत् के विषय में (स्वभाववादियों के मत में) प्रश्न करना ही युक्तिसंगत नहीं है । इस पर कहते हैं—ऐसा कहना ठीक नहीं । तो क्या कहना चाहिये ? मरने पर भी तो यह पुनः उत्पन्न होता है ; नहीं तो बिना कर्म के फलप्राप्ति और किये हुए कर्म के फलनाश का प्रसङ्ग आ जायगा । (स्वभाववाद के मत में दोष होने से) इसलिए मैं तुमसे पूछना हूँ कि मरने पर इस मृत पुरुष को पुनः कौन उत्पन्न करेगा । (जो मैंने पूछा) उसका ब्राह्मणी को विशेष ज्ञान नहीं था । जहाँ से मरने पर पुरुष पुनः उत्पन्न होता है, उस जगत् के मूलकारण का ज्ञान ब्राह्मणों को नहीं था । इसलिए ब्रह्मिष्ठ होने के कारण याज्ञवल्क्य ने उन गावों को प्राप्त कर लिया, (अज्ञ होने के कारण) वे ब्राह्मण जीत लिये गये । इस प्रकार यह आख्यायिका पूर्ण हुई । जो जगत् का मूल है और जिस

- १ पुमास्तु । २. जातत्वादेव । ३ जातजगद्विषये । ४. जायत एवेति—“मृतं जन्म मृतस्य चे”ति स्मृतेरिति भावः । तथापि कारणमन्तरैव जन्मनाशो स्वातामिति चेत् “सदेव सोम्येति” श्रुतेः “असदेवेद-मि”त्यादिमृतेदचानभिष्वक्तानामरूपकारणविषयत्वात् । अकारणयोश्च जन्मनाशयोर्व्यवस्थितेन स्वभाववादी युक्त इत्यर्थः । ५. अग्न्येति—स्वभाववादे जगतो निष्कारणतया मृतस्य पुनर्जन्मान्म्युपगम इत्यर्थः । ६. अतः—स्वभाववादस्य (दुष्टत्वात्) असंभवात् । ७ पुरुषम् । ८ तन्नेति । “तत्पुष्टं जगतो मूलं न विदुर्ब्राह्मणा यतः । अतो जिता हता गावो याताः सर्वे यथापथम्” ॥ वा० १५७ ॥ ९ अतः—ब्राह्मणानाम-शब्दात् । १०. येन च शब्देन—विधिमुख्यपदेशकशब्देन । ११. विधिमुषेन । १२. प्रह्ला । १३. स्वमुषेन । १४. विज्ञानम् । १५. आनन्दरूपम् । १६. न विषयत्वादि—लौकिकमुल्लिखणमित्यर्थः । १७. अतुलमिति—निरुपमम् अपरिमितं चेत्यर्थः । तुला सादृश्यमानयोरिति विद्वः । १८. अनायासमिति—असाधनसाध्यं परिनिष्ठिरूपमिति यावत् । १९. ब्राह्मणाना जगन्मूलज्ञानमेव । २०. विज्ञानमनन्द ब्रह्मत्यादिविषयम् । २१. करणादीति—आदिना कर्मादिभ्यो ह्यते । तदुक्तं वाचिके—“विज्ञानमिति चैतन्यं कूटस्थमभिधीयते । न कारकं न घातव्यं नापि यत्सर्वात्क्रियाफलमिति” ॥ १११ ॥

'नित्यतृप्तमेकरसमित्यर्थः । किं तद्ब्रह्मोभयविशेषणवद्वातो रातेः 'पष्टुष्यं प्रथमा धनस्येत्यर्थः । 'धनस्य दातुः कर्मकृता यजमानस्य परायणं परा गतिः कर्मफलस्य 'प्रदातृ । किञ्च श्रुत्याप्येषणाभ्यस्तस्मिन्नेव ब्रह्मणि तिष्ठत्येककर्मकृतद्ब्रह्म वेत्तीति तद्विज्ञ तस्य तिष्ठमानस्य च तद्विद्बो ब्रह्मविद इत्यर्थः । 'परायणमिति ।

'अत्रेदं विचार्यते । आनन्दशब्दो लोके सुखवाची प्रसिद्धः । अत्र च ब्रह्मणो

क्रोधादिना संबन्धरहितम् । शिवं कामादिकारणेनाज्ञानेनापि संबन्धशून्यम् । सातिशयत्वप्रयुक्तदुःख-
राहित्यमाह—अनुलमिति । साधनमाध्यवस्थाधीनदुःखबंधुष्यंमाह—अनायाममिति । 'दुःखनिवृत्तिमात्रं
सुखमिति पक्षं प्रतिक्षिपन्—नित्यतृप्तमिति । आनन्दो आनमिति ब्रह्मण्या"कारभेदमाशङ्क्य"पाऽऽह—
एकरसमिति । "फलमन उपपत्तेर"ति भ्याधेन ब्रह्मणो जगन्मूलत्वमाह—रातिरित्यादिना । "ब्रह्म-
संत्योऽमृतत्वमेति" इति श्रुत्यन्तरमाश्रित्य "तरयंश्च मुक्तोपसृप्यत्वमुपदिशति—विचेति । "अक्षरव्या-
ख्यानसमाप्तावितिशब्दः ।

सद्बिदानन्दात्मकं ब्रह्म विद्याविद्याभ्यां बन्धमोक्षास्पदमित्युक्तमिदानीं ब्रह्मानन्दे विचारमव-
तारयन्न"विगोतमर्थमाह—अत्रेति । "तथाऽपि प्रकृते षाष्ये किमायातमिति तदाह—अत्र चेति । न

विधिमुख्यपदेशक शब्दे न ब्रह्म नाभासात् कथन होता है और जिसके विषय में याज्ञवल्क्य ने
ब्रह्मणो को पूछा था, उम श्रुति स्वमुख से हमारे लिए स्वयं बतलाता है । 'विज्ञानम्' अर्थात् विज्ञप्ति
का नाम विज्ञान है, वही आनन्दरूप भी है, विषयविज्ञान के समान दुख से अनुविद्ध नहीं है । तो फिर
उसका स्वरूप कैसा है ? वह प्रसन्न, कल्याणस्वरूप, अपरिमित, असाधनसाध्य, सदैव अपने से इतर
सुख को धनपेक्षा वाला और एकरस है—यह इसका भाव है । वह उभय विशेषणो वाला ब्रह्म क्या है ?
"राति" यह पठो के अर्थ में प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति है अर्थात् धन के "दातु," यानी देने वाले
कर्मकाण्डी यजमान का "परायणम्" अर्थात् परा गति या कर्मफलप्रदान करने वाला है । इसी प्रकार
इच्छाधो से ऊपर उठकर जो उम ब्रह्म में परिनिष्ठित है, सन्यासी है, उस ब्रह्म को जानता है, "तद्विद."

१. नित्यतृप्तम्—सदैव स्पेतरमुखानपेक्षम् । २ पष्टुष्यं इति—यथाश्रुतपाठे यतिर्वन्युत्तरित्यर्थो द्रष्टव्य ।
३. धनस्य दातुरित्यादि । तदुक्तं वार्तिके—"ब्रह्मफलसंप्रेप्सोर्दृष्टकर्मफलस्यज. । रातिर्धनस्य दातुन्तद्ब्रह्मोद-
स्यात्परायणमिति" ॥ ११८ ॥ ४ प्रदानमिति—अपन उपादान चेत्यपि द्रष्टव्यम् । तदुक्तं वार्तिके—
"एव मत्सरतन्नामत्परं ब्रह्म परायणम् । अगतश्चाप्युपादानं स्वात्मार्जविद्यासमन्वयात्" ॥ ११९ ॥ इति ।
५. परिब्राह्म । ६ परायणमिति—परा गति परिममाप्तिर्नंधीनामिव समुद्र इत्यर्थः । तद्विदं ब्रह्म कर्मिणा
भेदेन परायणं तद्विदो स्वभेदेनेति स्पष्ट वार्तिक इति ध्ययम् । ७ अत्र—विज्ञानवाक्यं । इदम्—आनन्द-
पदवाच्यं वस्तु । ८ विज्ञानवान् । ९ दुःखनिवृत्तीति । दुःखामाव एव सुखमिति माहृस्यादिमनमित्यर्थः ।
१०. स्वरूपभेदम् । ११ फलमित्यादि—अन परमात्मन मकाशात्मवैस्य लोकास्य फल भवितुमर्हेति न तु
कर्मस्य तस्य क्षणस्वात्स्वनदातृत्वानभेदेनैश्वरस्वैव तदातृत्वोपपत्तेरित्यर्थः । १२. ब्र० सू० ३।२।३८ ।
१३. ब्रह्मोति—छा० उ० २।२३।१ । ब्रह्मणि मस्याऽभेदेन निष्ठा यस्य स परिवाहित्यर्थः । १४ ब्रह्मण ।
- १५ श्रुत्यस्त्यर्थः । १६ सोऽप्यमनमित्यर्थः । १७ तस्य तथात्वेऽपि ।

विशेषणत्वेनाऽऽनन्दशब्दः श्रूयत आनन्दं ब्रह्मेति । श्रुत्यन्तरे च । “आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्” “आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्” “यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्” “यो वै भूमा तत्सुखम्” इति च । “एष परम आनन्दः” इत्येवमाद्याः । संवेद्ये च सुख आनन्दशब्दः प्रसिद्धः । ब्रह्मानन्दश्च यदि संवेद्यः स्याद्युक्ता एते ब्रह्मण्यानन्दशब्दाः । ननु च श्रुतिप्रामाण्यात्संवेद्यानन्दस्वरूपमेव ब्रह्म किं तत्र विचार्यमिति । न । विरुद्धश्रुतिवाक्यदर्शनात् ।

च केवलमंत्राऽऽनन्दशब्दो ब्रह्मविशेषणार्थकत्वेन श्रुतः किंतु तंत्रिरीयकादावपीत्याह—श्रुत्यन्तरे चेति । ब्रह्मणो विशेषणत्वेनाऽऽनन्दशब्दः श्रूयत इति संबन्धः । अन्याः श्रुतीरेवोदाहरति—आनन्द इत्यादिना । एवमाद्याः श्रूयत इति शेषः । “तथाऽपि कथं विचारसिद्धिस्तत्राऽह—सवेद्य इति । लोकप्रसिद्धे “रद्वंतश्रुतेश्च ब्रह्मण्यानन्दः संवेद्योऽसंवेद्यो वेति विचारः कर्तव्य इत्यर्थः । “उभयत्र कलं दर्शयति—ब्रह्मानन्दश्चेति । “अन्यथा लोकवेदयोः शब्दार्थभेदात्” “विशिष्टस्तु वाक्यार्थं” इतिन्यायविरोधोऽसंवेद्यत्वे पुनरद्वंतश्रुतिरधिक्येति भावः । विचारमाक्षिपति—नन्विति । विरुद्धश्रुत्यर्थनिर्णयार्थं विचारकर्तव्यतां दर्शयति—नेति । संग्रहवाच्यं विष्णोति—सत्यमित्यादिना । “एकत्वे

धर्मात् उम ब्रह्मवेत्ता का भी परायण है ।

यहाँ यह विचारा जाता है । लोकव्यवहार में आनन्दशब्द सुववाची प्रसिद्ध है । यहाँ विज्ञान-वाक्य में आनन्दशब्द ब्रह्म के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, “आनन्द ब्रह्म है” । प्रत्यान्य श्रुतियों में भी ऐसे ही प्रयुक्त हुआ है । जैसे—“आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना”, “उम ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला विद्वान् पुरुष (कभी नहीं डरता)”, “यदि हृदयाकाश में स्थित यह आनन्दस्वरूप परमात्मा न होता (तो भला कौन व्यक्ति आपन धायु के द्वारा प्राणन करता)”, “(मनकुमार ने कहा—) निश्चय ही जो महान् है, वही सुखरूप है”, “यही परम उत्कृष्ट आनन्द है (जो आप तथा कामना से शून्य श्रोत्रिय विद्वान् का आनन्द है)” इत्यादि । अनुभूयमान सुख में आनन्दशब्द प्रसिद्ध है । यदि ब्रह्मानन्द भी अनुभूयमान हो, तभी ब्रह्म में ‘आनन्द’ शब्द का प्रयोग करना उचित है । (इस पर पूर्वपक्षी कहता है—) किन्तु ब्रह्म संवेद्य आनन्दस्वरूप है, ऐसा श्रुति कहती है, फिर उस आनन्द के विषय में क्या विचार करना है । (मिद्वान्ती उत्तर देता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस विषय में श्रुतिवाक्यों का विरोध देखा जाता है । आनन्दशब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होता है, यह ठीक है, किन्तु एक होने

१. तं० उ० ३-६ । २. तं० उ० २-४ । ३. तं० उ० २-७ । ४. छा० उ० ७-२४-१ । ५. बृ० उ० ४-३-३२ । ६. एष इति—अथेति श्रुतिशेषः । तथा च अस्य न्युपलस्य पुस एष. स्वरूपभूतः परमः सापनाऽमाष्यो निरतिशय आनन्द इत्यर्थः । ७. नन्वानन्दशब्दे ब्रह्मणि प्रयुक्त ब्रह्मणो विवक्षितमानन्दरूपत्व सिद्ध्यत्येवेति किं विचारेणैति चेन्न तस्य वेद्यविषयत्वाद्ब्रह्मणश्चावेद्यत्वात्त्याह—सवेद्य चेति । तदुक्तं—“सवेद्ये च सुखे लोक आनन्दाख्या प्रयुज्यते” ॥११६॥ इति । ८. आनन्दे । ९. विशेषणार्थकेति पाठान्तरम् । १०. तथाऽपीति—प्रकृतवाक्ये धारयान्तरे च ब्रह्मविशेषणत्वेनानन्दशब्दवचनोऽपीत्यर्थः । ११. वेद्यत्वस्य वेदितृसापेक्षत्वात्तद्वै ब्रह्मणि वेद्यानन्दत्व सम्भवतीति भावः । १२. संवेद्यासंबन्धपक्षयोः । १३. ब्रह्मानन्द-स्यासंवेद्यत्वस्वीकारे । १४. “विशिष्टस्तु वाक्यार्थं” इति । जं० सू० १।२।४० । लोके यानि पदानि ये च तेषामर्थास्तेभ्योऽविशिष्टोऽविलक्षणो वेदे पदसहितोऽयं इत्यर्थः ॥ १५. ब्रह्मणोऽयत्वे ।

सत्यमानन्दशब्दो ग्रहण्यि श्रूयते विज्ञानप्रतिषेध'इच्छत्वे । 'यत्र त्वस्य' सर्वमात्मंवा-
भूतत्केन कं पश्येत्तत्केन कं 'विजानोयाद्यत्र' नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति
स भूमा" "प्राज्ञोनाऽऽत्मना 'संपरिष्वक्तो न बाह्य' किंचन वेद" "इत्यादि । "विरुद्धश्रुति-
वाक्यदर्शना"त्तेन कर्तव्यो विचारः । "तस्माद्युक्तं वेदवाक्यार्थनिर्णयाय विचारयितुम् ।

मोक्षवादिविप्रतिपत्तेश्च । "सांख्या वैशेषिकाश्च मोक्षवादिनो नास्ति मोक्षे सुखं,
संवेद्यमित्येवं विप्रतिपत्ताः । अन्ये निरतिशयं सुखं स्वसंवेद्यमिति प्रतिपन्नाः । किं तावद्यु-

सति विज्ञानप्रतिषेधश्रुतिमेवोदाहरति—यत्रेत्यादिना । इत्यादि श्रवणमिति शेषः । फलितमाह—
विरुद्धश्रुतीति । "श्रुतिविप्रतिपत्तेर्विचारकनैर्ध्वतामुपसंहरति—तस्मादिति ।

"तत्रैव हेत्वन्तरमाह—मोक्षति । तामेव विप्रतिपत्तिं विवृणोति—मात्स्या इति ।
"विमर्शपूर्वकं पूर्वपक्षं गृह्णाति—किं तावदित्यादिना । भ्रानन्वादिश्रवणद्विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतेर्मोक्षे

के कारण उसके विज्ञान का प्रतिषेध भी श्रुत हाता है । जैसे "जहाँ इस ब्रह्मात्मवित् के लिए मव
घ्रात्मा ही हो गया है, उस विद्यावस्था में विमर्शे द्वारा किसको देने, किसके द्वारा किसको जाने",
"जिस भूमा तत्त्व में अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता और अन्य कुछ नहीं जानता; वह
भूमा तत्त्व है ", "वह पुरुष प्रजात्मा से अत्यन्त एकीभूत परमार्थदर्शनकाल में न कुछ बाह्य विषय
को जानता है (और न आभ्यन्तर को ही)" इत्यादि । इस प्रकार उससे विरुद्ध श्रुतिवाक्य देखे
जाते हैं, इसलिये विचार करना आवश्यक है । इसलिए वेद के वाक्यों का अर्थ निर्णय करने के लिए
विचार करना उचित ही है ।

विचारकर्तव्यता में यह भी हेतु है कि मोक्षवादियों में परस्पर मतभेद है । मोक्षवादी साख्य
और वैशेषिकों का ऐसा विपरीत विचार है कि मोक्ष में अनुभूयमान सुख ही नहीं, किन्तु दूसरे
मोक्षवादियों का मत है कि मोक्ष में निरतिशय स्वसंवेद्य सुख है । (इस पर पूर्वपक्षी कहता है—)
भ्रानन्दादि का श्रवण होने के कारण इनमें कौन सी बात ठीक है ? "विषयो का सेवन करता हुआ,
पितादि के साथ खेलता हुआ, स्त्री आदि के साथ रमण करता हुआ (सभी और घूमता रहता है)",

१ चञ्चल इति । चोऽप्यर्थे । एकत्वे विज्ञानप्रतिषेधोऽपि श्रूयत इति योजना । २. विद्यावस्थायाम् । ३.
विद्युष । ४ इ० उ० ४-२-१५ । ५ भूमनि तत्त्वे । ६ छो० उ० ७-२४-१ । ७. स्वाभाविके-
नात्मना । ८ अत्यन्तमेकीभूत । ९. वृ० उ० ४-३-२१ । १०. इत्यादीत्यादिना "न द्रष्टेद्रष्टार पश्येः" "अन्यदेव
तद्विदाति"दित्यादिवाक्ये ग्राह्यम् । ११. विरुद्धेति—अविषयत्वद्योतिना वेषत्वद्योतिना च वक्षसा ब्रह्मणि
प्रयोगादागमविप्रतिपत्तेर्विचारः कार्य इत्यर्थे । न चोदिताऽनुदितहोमवद्विकल्पोपपत्तेश्च विचारेणेति बाध्यम्,
"क्रियायां स्वाद्विकल्पस्य न तु वस्तुन्यसम्भवात्" ॥१७५॥ इति भातिकोशतः । अथभवो वस्तुनो व्यवस्थितत्वेन
(परिनिष्ठितत्वेन) विकल्पाऽशोभ्यत्वम् । १२. तेनेति—विरुद्धश्रुतिवाक्यार्थनिर्णयोद्देशेनेत्यर्थः । १३.
अवतरणोक्तार्थम् । १४ सांख्या इत्यादि—अथ नास्ति पक्षः सांख्यानाम् । सर्वेद्यमिति वैशेषिकाणांमिथ्याहुः ।
अत्रेद बोधयाम्—विप्रतिपत्तस्तावदुद्देशा । अस्ति नास्तीत्येका तत्र नास्तीति सांख्यवैशेषिकोभयेषा पक्षोऽस्तीति
मिद्वान्न सवेद्यमसवेद्यमिति द्वितीयाऽत्र चरम मिद्वान्नः प्रथमेऽपि सवेद्यमान स्वसंवेद्य वेति द्विविधमिति ।
१५. श्रुतीनां परस्पर विरोधात् । १६. विचारस्य कर्तव्यत्वे एव । १७. विमर्शेति—सप्रयोजक
विचार कार्यमुक्त्येत्यादि ।

क्तमानन्दादिश्रवणात् । "ज'क्ष'त्की'उन्रममाण'" "स यदि पितृलोककामो 'भवति" "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" "सर्वान्कामान्समश्नुते" इत्यादिश्रुतिभ्यो मोक्षे सुखं सवेद्यमिति । नन्वे-
'कत्वे 'कारकविभागानावाद्द्विज्ञानानुपपत्तिः । क्रियायाश्चानेककारकसाध्यत्वाद्द्विज्ञानस्य च
'क्रियात्वात् । नैप दोषः । शब्दप्रामाण्याद्भूवेद्द्विज्ञानमानन्दद्विषये । विज्ञानमानन्दमित्या-
दीन्यानन्दस्वरूपस्यासवेद्यत्वेऽनुपपन्नानि वचनानीत्यवोचाम ।

ननु वचनेनाप्यग्ने, शैत्यमुदकस्य चोप्य न कियन् एव ज्ञापकत्वाद्द्वचनानाम् । न च

सुखं सवेद्यमिति युक्तमिति सवन्धः । "तत्रैव वाक्यान्तराण्युदाहरति—जक्षदित्यादिना । पूर्वपक्षमाक्षि-
पति—नन्विति । मोक्षे चेदित्यते सुखज्ञानं तर्हि तदनेककारकनाथ्यं वाच्यं क्रियात्वात्प्राक्कालादिवत्सर्व-
"कत्वे च मोक्षे कारकविभागान्नाश्रयं सुखसवेदनं सन्वतीत्यर्थं । जग्यस्य कारकापेक्षायामपि
सुखज्ञानस्याजन्यत्वात् तदपेक्षत्याशङ्क्याऽऽह—क्रियायाश्चेति । या क्रिया साऽनेककारकसाध्येति
व्याप्तेर्गमनादाववगतत्वाज्ज्ञानस्यापि धात्वयत्येन क्रियात्वादानेककारकसाध्यता सिद्धवेत्यर्थं ।
श्रुतिप्रामाण्यमाश्रित्य पूर्ववादी परिहरति—नैप दाप इति । "तदेव स्फुटयति—विज्ञानमिति ।

ब्रह्मे ब्रह्मणि श्रुतिप्रामाण्यादा'नन्दज्ञानमु'क्तमाक्षिपति"—नन्विति । ब्रह्मं तश्च श्रुतिविरोधाद्-
ब्रह्मणि विज्ञानक्रियाकारकविभागपेक्षा नोपपद्यते । न हि विज्ञानमानन्दमित्यादिवचनानि मानान्तर-
विरोधेन विज्ञानक्रियां ब्रह्मण्युत्पादयन्ति तेषां ज्ञापकत्वाज्ज्ञापकस्य चाविरोधापेक्षत्वादन्यथाऽति-

'यदि वह पितृलोक की कामना वाला हो', "जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है", "समस्त कामो को प्राप्त करता है" इत्यादि श्रुतिया के अनुसार मोक्ष में अनुभूयमान सुख है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) किन्तु उस समय ब्रह्म के अद्वय होने के कारण कर्मादिविभाग का अभाव होने से विज्ञान होना संभव नहीं है क्योंकि क्रिया अनेक कारको द्वारा साध्य होती है, और विज्ञान भी तो एक क्रिया ही है । (पूर्वपक्षी फिर कहता है—) इसमें कोई दोष नहीं । शब्दप्रामाण्य होने के कारण उस समय आनन्द के सवन्ध में विज्ञान रहना चाहिये । यदि ब्रह्म का आनन्दस्वरूप असवेद्य होगा तो 'विज्ञानमानन्दम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य असिद्ध हो जाएंगे—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं ।

(पूर्वोक्त पूर्ववादी के मत में सिद्धान्ती आक्षेप करता है—) किन्तु अग्नि की शीतलता और

१ जक्षदिति—'एवमेवैष सप्रमादोऽस्माच्छरीरारसमुत्थाय पर ज्योतिरुपसपद्य स्वेन रूपेणाभिनियच्छते स उत्तमपुरुष' स तत्र पर्यति जक्षत्क्रीडन्रममाण एत्रीभिर्वा यानैर्वा जातिभिर्वा नोपजनः७स्मरन्निदः७ शरीरः७ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिच्छरीरे प्राणोयुक्त" छा० उ० ८।१।३ । २ विषयान् भक्षयन्नुत्सन्वा । ३ पित्रादिभि । ४ स्त्र्यादिभि । ५ छा० उ० ८।१। ६ भवतीति— "सकल्पादवाप्त्य पितर समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकं सपन्नो महीपत' इति श्रुतिदोष । ७ ब्रह्मणोऽद्वयत्वे । ८ कर्मादिकारकेति यावत् । ९ क्रियात्वादिति । तथा च वार्तिके—'नात सवेद्य आनन्दो ब्रह्मणी- ह्योपपद्यते" ॥१८०॥ इति ध्येयम् । १० आनन्दस्य वेद्यत्वे एव । ११ अद्वयत्वे । १२ तदेवेति—सब्रह्मणोक्त- मानन्दविषयक विज्ञानमेवेत्यर्थं । १३ आनन्दविषयकम् । १४ पूर्ववादिना । १५ सिद्धान्ती । १६ अन्यथेति—ज्ञापकस्याविरोधापेक्षत्वे इत्यर्थं । अतिप्रसङ्गादिति—अग्ने शैत्यमुदकस्योप्यमित्यादि- वाचयानामपि स्वार्थे प्रामाण्यं स्यादित्यर्थं ।

देशान्तरेऽग्निः शीत इति शक्यते ज्ञापयितुमगम्ये वा देशान्तर उष्णमुदकमिति । न, प्रत्यगात्मन्यानन्दविज्ञानदर्शनात् । न विज्ञानमानन्दमित्येवमादीनां वचनानां शीतोऽग्निरित्यादिवाक्यवत्प्रत्यक्षादिविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वम् ।

अनुभूयते त्वविरुद्धार्थता । मुख्यहमिति सुखात्मकमात्मानं स्वयमेव वेदयते । तस्मात्सुतरां प्रत्यक्षाद्विरुद्धार्थता । तस्मादानन्दं ब्रह्मविज्ञानात्मकं सत्स्वयमेव वेदयते । तथाऽऽनन्दप्रतिपादिकाः श्रुतयः समञ्जसाः स्युर्जक्षत्कीडन्रममाण इत्येवमाद्याः पूर्वोक्ताः ।

प्रसङ्गादित्यर्थः । लौकिकज्ञानस्य क्रियात्वेऽपि मोक्षे सुखज्ञानं क्रियैव न भवति तन्न विज्ञानादिवाक्य-स्याद्वैतश्च तिविरोधोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । पयःपावकयोः सर्वत्रैकरूप्यवद्विज्ञानस्यापि लोकवेदयोरेकरूपत्वमेवेति भावः । मानान्तरविरोधादात्मन्यानन्दज्ञानस्य सत्यमेव वा निदिध्यते तस्य क्रियात्वं वा निराक्रियते तत्राऽऽहं ब्रूयति—नेत्यादिना । तदेव स्पष्टयति—न विज्ञानमिति ।

सुखज्ञानस्य गुणत्वाङ्गीकारात्क्रियात्वनिराकरणमिष्टमेवेति मत्वाऽऽह—अनुभूयते त्विति । अनुभवमेवाभिनयति—मुख्यहमिति । तथाऽपि 'श्रुतिविरोध' स्यादित्याशङ्क्य 'प्रत्यक्षानुसारेण' साऽपि नैतद्व्येत्याशयेनाऽऽह—तस्मादिति । आत्मन्यानन्दज्ञानस्य क्रियात्वानङ्गीकारात्कारकमेवापेक्षाभावादित्यर्थः । 'गुणत्वपक्षे च 'प्रत्यक्षस्यानुगुणत्वादा'गमस्य विरोधिन'स्तदनुसारेण नेयत्वाद- 'विरुद्धागमस्य न्ययत्वादित्यतिशयः । अविरुद्धार्थता विज्ञानादिश्रुतेरिति शेषः । गुणगुणभावोऽपि नाद्वैतश्रुतिः शक्या 'नेतुमित्याशङ्क्य स्ववेद्यत्वपक्षमाश्रित्याऽऽह—तस्मादानन्दमिति । 'यथाकथं-विद्ब्रह्मण्यनन्दस्य वेद्यत्वे श्रुतीनामानुगुण्यमस्तीत्याह—तथेति ।

जल की उष्णता तो वाणी द्वारा भी नहीं कही जा सकती क्योंकि वचन ज्ञापक ही है । ऐसी बात भी नहीं बतलायी जा सकती कि किसी दूसरे देश में अग्नि शीतल है और किसी अगम्य देशान्तर में जल उष्ण है । (इम पर पूर्ववादी कहना है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यगात्मा में आनन्द का विज्ञान प्रत्यक्ष ही है । 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्य 'अग्नि शीतल है' इत्यादि (लौकिक) वाक्यों के समान प्रत्यक्षादि प्रमाणों में विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले नहीं हैं ।

इनकी अविरुद्धार्थता का तो अनुभव होना है । 'मैं सुखों हूँ' इस प्रकार मुखस्वरूप आत्मा को

१. प्रत्यक्षत्वात् । २. वेदयत इति—अनुभवतीत्यर्थः । नया च आनन्दस्य वेद्यतायाः स्वानुभवसिद्धेस्तद्वेद्यताया नाम्यक्षादिविरोधे शङ्कनीय । न हि स्वानुभवविरोधे मानान्तरमुद्भवतीति भावः । ३. तस्मादिति—गुण-गुणपक्षेऽद्वैतश्रुतिविरोधादिनि यावत् । ४. वेदयत—अनुभवति । ५. तथेति—ब्रह्मानन्दस्य वेद्यत्वे सतीत्यर्थः । ६. तन्निति—तत् तस्मात् यथाक्तज्ञानस्य क्रियात्वानङ्गीकारेण ब्रह्मणि कारकमेवानपेक्षणादित्यर्थः । ७. क्रियात्वम् । ८. दर्शनमेव । ९. तथाऽपीति—अध्यक्षादिविरोधाभावेऽपीत्यर्थः । १०. श्रुतिविरोधः—निर्गुणं नित्कवमस्थूलमन्यव्यादिश्रुतिविराध । ११. प्रत्यक्षानुसारेणिति—प्रत्यक्षासिद्धरूपादिगुण-प्रतिषेधपरत्वेनेति यावत् । १२. साऽपि—उक्तश्रुतिरपि । १३. गुणत्वपक्षे—आत्मन्यानन्दज्ञानस्य गुणत्वाङ्गीकारे । १४. प्रत्यक्षयति—मुख्यहमिति प्रत्यक्षस्यत्यर्थः इत्याहः । १५. आगमस्य निर्गुणमित्यादेः । १६. तदनुसारेण—प्रत्यक्षानुसारेण । १७. अविरुद्धागमस्य—य. सर्वत्र इत्यादेः । १८. नेतुमिति—स्वार्थं यो ब्रूयितुमित्यर्थः । १९. यथाकथंचिदिति—स्वन परेण वेति यावत् ।

न । 'कार्यकरणाभावेऽनुपपत्तौ विज्ञानस्य । 'शरीरवियोगो हि मोक्ष आत्यन्तिकः । 'शरीरानाभावे च 'करणानुपपत्तिराश्रयाभावात् । ततश्च विज्ञानानुपपत्तिरकार्यकरणत्वात् । देहाद्यभावे च विज्ञानोत्पत्तौ सर्वेषां कार्यकरणोपादानानर्थक्यप्रसङ्गः । एकत्वविरोधाच्च । परं चेद्ब्रह्माऽऽनन्दात्मकमात्मानं 'नित्यविज्ञानत्वा'न्नित्यमेव विजानीयात् । तन्न

आनन्दो वेद्यो ब्रह्मणीति चोदिते सिद्धान्तमाह—नेति । 'प्रागन्तुकम'नागन्तुकं वा ज्ञानं मुक्ता-
दानन्दं गोचरयति नाऽऽद्य इत्याह—कार्येति । अनुपपत्तिमेव स्फोरयति—शरीरेति । कार्यकरणयोर-
भावेऽपि मोक्षे ब्रह्मानन्दज्ञानं जनिष्यते संसारे हि हेत्वपेक्षेत्प्रागन्तुक्याऽऽह—देहादीति । द्वितीयं ब्रूयति
—एकत्वेति । न हि ब्रह्म स्वरूपज्ञानेनैव वेदानन्दरूपं भवितुम् 'सहते विषयविषयिणोरैकत्वविरोधा'-
त्ततश्चानागन्तुकमपि ज्ञानं मुक्तो नाऽऽनन्दम"धिकरोतीत्यर्थः ।

किंच ब्रह्म वा मुक्तो वा संसारी वा ब्रह्मानन्दं गोचरयेत्तत्राऽऽद्यमनुवदति—परं चेदिति ।
तस्मिन्पक्षे न ब्रह्म स्वरूपानन्दं वेति 'तेनैक्यादेकत्र विषयविषयित्वानुपपत्तेरुक्तत्वादिति ब्रूयति—
तन्नेति । नापि संसारी ब्रह्मानन्दं गोचरयति स खल्वनिवृत्ते संसारे संसारिण्यमात्मानमभिमन्यमानो न
ब्रह्मानन्दमाकलयितुमत्तं संसारे निवृत्ते तु 'ततो विनिर्मुक्तो ब्रह्मस्वाभाष्यं प्रतिपद्यमान'स्तदानन्दं

पुरुष स्वयं अनुभव करता है । इसलिए इनकी अविच्छाद्यता सुतरा प्रत्यक्ष है । ब्रह्मानन्द के वेद्य होने पर आनन्द का प्रतिपादन करने वाली पूर्वोक्त "जक्षत् श्रीरुद्रममाणः" इत्यादि श्रुतियों का सामञ्जस्य हो सकता है ।

(इस पर सिद्धान्तों कहता है—) ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि देह और इन्द्रिय का अभाव होने पर (प्रागन्तुक ज्ञान के प्रयोग के कारण) विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती । स्थूलदेह वियोग ही आत्यन्तिक मोक्ष है । स्थूलशरीर के न रहने पर आश्रय का अभाव हो जाने से सूक्ष्मशरीर का रहना भी संभव नहीं है । अतः स्थूल और सूक्ष्मशरीर का अभाव हो जाने से फिर विज्ञान नहीं हो सकता । यदि देहादि के अभाव में भी विज्ञान की उत्पत्ति मान ली जाय तो समस्त प्राणियों के स्थूल और सूक्ष्मशरीर को ग्रहण करने की व्यर्थता का प्रसङ्ग ही जायगा । इसके सिवा एकत्व से विरोध होने के कारण भी विज्ञान होना असम्भव है ।

(ब्रह्म, मुक्त अथवा संसारी इन तीनों में ब्रह्मानन्द को कौन अनुभव करता है—) यदि कहो कि नित्य प्रविलुप्त इब्रूय होने के कारण परब्रह्म अपने आनन्दात्मक स्वरूप को सभी अवस्थाओं में

- १ कार्यत्वादि—मोक्षे कार्यकरणयोः स्थूलसूक्ष्मशरीरयोर्भाव प्रागन्तुकज्ञानस्यायोपादित्यर्थः । २ शरीरवियोगः—स्थूलदेहवियोग । अस्वैव विशेषणम् आत्यन्तिक इति । ३ स्थूलशरीराभावः । ४ सूक्ष्मशरीरानुपपत्तिरिति बोध्यम् । ५ ततश्चेत्पुक्तमेव हेतु स्पष्टयति—अकारणत्वादिति । कार्यकरणयोरभावादित्यर्थः । अतो हेत्वभावात्मोक्षे कादाचित्कज्ञानाऽसिद्धिरिति भावः । ६ सर्वेषाम्—प्राणिनामित्यर्थः । प्राणिजातस्य हि कार्यकरणोपादानं मुक्तुं क्षाम्यतरविज्ञानात्मकभोगार्थमेव स च यद्यन्तरेणापि मघातोपादानं समवेत् कृतं तर्हि तदपहृणोति । ७ अविबुल्लुप्तपूरणशब्दः । ८ सर्वास्ववस्थासु । ९ आगन्तुकं जन्म कादाचित्क वृत्तिरूपम् । १० नित्यम् । ११ अर्हति । १२ विषयविषयिणोर्भावेदेव । १३ त्रिषयिकरोति । १४ तेन—स्वरूपानन्दैव ब्रह्मणाऽभेवादित्यर्थः । १५ संसारतः । १६ ब्रह्मानन्दम् ।

संसार्यपि संसारविनिर्मुक्तः स्वामाद्य प्रतिपद्यते । जलाशय इवोदकाञ्जलिः प्रक्षिप्तो न पृथ-
क्त्वेन व्यवतिष्ठत आनन्दात्मकग्रह्याविज्ञानाय । 'तदा 'मुक्त आनन्दात्मकमात्मानं वेदयत
इत्येतदनर्थक' वाच्यम् ।

अथ ग्रह्यानन्दमग्न्यः सन्मुक्तो 'वेदयते प्रत्यगात्मानमहमस्मानन्दस्वरूप इति ।
तर्दकत्वविरोधः । तथा च सति सबंश्रुतिविरोधः । तृतीया च कल्पना नोपपद्यते । किंचा-
न्यद्ब्रह्मणश्च - निरन्तरात्मानन्दविज्ञाने 'विज्ञानाविज्ञानकल्पनानर्थक्यम् । निरन्तरं
चेदात्मानन्दविषयं ग्रहणो 'विज्ञानं तदेव तस्य स्वभाव इत्यात्मानन्द विज्ञानातीति कल्प-
नाऽनुपपन्ना । 'अतद्विज्ञानप्रसङ्गे हि कल्पनाया अर्थवत्त्वं यथाऽऽत्मानं परं च वेत्तीति ।

'तद्देव विषयोक्तुं नाहंतीति तृतीयं प्रत्याह—समार्यपीति । मुक्तोऽपि ब्रह्मणोऽभिन्नो वेति विकल्प्या-
भेदपक्षमनुभावेत—जलति । ब्रह्माभिन्नस्य मुक्तस्य "तदानन्दविषयिकरणमु"क्त्याग्नेन निरस्यति—
तदेति ।

भेदपक्षमनुवदति—अथति । ब्रह्मानन्दं प्रत्यगात्मानमिति संबन्धः । वेदनप्रकारमभिनयति—
ग्रहमिति । तत्त्वमस्याद्विश्रुतिविरोधेन निराकरोति—तदेति । मुक्तो ब्रह्मणः सकाशाद्भिन्नोऽभिन्नो वा
मा नूद्भिन्नाभिन्नस्तु स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तृतीयेति । सर्वत्र भेदाभेदवादस्य दूषितत्वादित्यर्थः ।
'ब्रह्मण स्वानन्दस्यावेद्यत्वे हेत्वन्तरमाह—किंचान्यदिति । "तदेवोपपादयति—निरन्तरं चेदिति ।
आख्यातप्रयोगस्य "तर्हि कुत्रार्थवत्त्वं तत्राऽह—अतद्विज्ञानेति । देवस्तो हि "बुद्धिपूर्वकारित्वावस्थायाम्

जानता रहता है ; नो ऐसा कहना भी नहीं बनना, क्योंकि समारी जीव भी समार मे चिनिर्मुक्त होकर
ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है । जलाशय मे फेंकी हुई जल की अञ्जलि के समान वह भी आनन्दात्मक
ब्रह्मविज्ञान के लिए पृथक् रूप से स्थित नहीं हो सकता । मोक्षावस्था मे मुक्त (विद्वान्) आनन्दात्मक
आत्मा को जानता है—ऐसा कहना भ्रान्तिमूलक है ।

और यदि ऐसा कहो कि मुक्त (विद्वान्) पुरुष ब्रह्म से अलग रहकर ब्रह्मानन्द को और "मैं
आनन्दस्वरूप हूँ" इस प्रकार प्रत्यगात्मा को जानता है, ऐसा मानने पर ब्रह्म के अद्वयत्व मे विरोध

- १ भोक्षकाल । २ विद्वान् । ३ म्यात्मक भ्रान्तिमूलकमिति यावत् । ४ जानाति । ५ विषयविषय-
कल्पनेत्यर्थः । अथवा जानातीति प्रयोगकाले विज्ञानमग्न्यदात्वविज्ञानमिति । ६ आनन्दविज्ञानमेव ब्रह्मणः ।
७ अनुपपन्नेति—आनानन्दया सामानाधिकरण्यानुरोधेन ब्रह्माभेदाभिन्नोऽपि तयोर्भेदायोगादानन्दं ब्रह्म जानाती-
त्यानन्दज्ञानयोर्विषयविषयित्वकल्पना न मुक्ता न चाग्न्यकर्तृत्वमविरोधेऽपि सर्वज्ञे ब्रह्मणि तदभावात्प्राप्ति
दौ स्म्यमिति वाच्यम् । न हि क्वचिद्विरोधोऽप्यभाविरोधो भवति न हि सर्वज्ञ ब्रह्मासन्नं सन्त करोतीति भावः ।
८ अतद्विज्ञानप्रसङ्ग इति—अज्ञानान्यार्थविज्ञानप्रसक्तत्वेत्यर्थः । तदुक्तं वार्तिक—"अज्ञानान्यार्थविज्ञानप्रसक्त-
त्वेव मुच्यते । वक्ति ब्रह्ममुसमिति न तु ज्ञानपत्न्यात्मि" ॥१६७॥ ९ ब्रह्मवेदेव । १० ब्रह्मानन्देत्यर्थः ।
११ उक्तेति—न ब्रह्म स्वरूपानं द वक्ति तर्मेव्यदेकत्र विषयविषयित्वानुपपत्तेरित्युक्तौ न्यायः । १२ कर्तृ-
कर्मणो वष्टयो । १३ उक्तानर्थक्यमेव । १४ तर्हीति—स्वामानन्दं ब्रह्म जानातीति प्रयोग आख्यात-
प्रयोगस्यानर्थक्यव्यतीत्यर्थः । १५ समीक्ष्यकारित्वदशायाम् ।

न हीष्वाद्यासक्तमनसो नैरन्तर्येषु ज्ञानाज्ञानकल्पनाया अर्थवत्त्वम् ।

अथ विच्छिन्नमात्मानन्दं विजानाति । 'विज्ञानस्याऽऽत्मविज्ञानं चिच्छिद्रेऽन्यविषयत्व-
प्रसङ्गः । आत्मतश्च विक्रियावत्त्वं ततश्चानित्यत्वप्रसङ्गः । तस्माद्विज्ञानमानन्दमिति
'स्वरूपान्वाख्यापरैव श्रुतिर्नाऽऽत्मानन्दसंवेद्यत्वार्था । जक्षत्क्रीडन्नित्याद्विश्रुतिवि-

स्वात्मानमयं च विविच्य जानाति नान्यदेतुभयथात्वदर्शनात्तत्राऽऽख्यातप्रयोगो युज्यते नैवं ब्रह्मण्य-
ज्ञानप्रसङ्गोऽस्ति नित्यज्ञानस्वभावत्वात्तथा च 'तत्राऽऽख्यातप्रयोगो नार्थवानित्यर्थः । ब्रह्मण्याख्यात-
प्रयोगानर्थक्यं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीति ।

प्रत्यगात्मनि नित्यज्ञानत्वासिद्धिं शङ्कते—प्रयेति । दिष्टिं प्रमिति क्रियाविशेषणम् । परिहरति—
विज्ञानस्येति । आत्मनो विज्ञानस्य चिच्छिन्नन्तरालमत्सदावस्थः । तदाऽपि विज्ञानमस्ति चेत्स्यान्य-
विषयत्वप्रसङ्गस्तथा च "यत्रान्यत्पद्यति" इत्यादिश्रुतेरात्मनो मर्त्यत्वापत्तिर्न चेत्तदा विज्ञानं तदा
पापाणवदचेतनत्वं "विज्ञप्तिरूपत्वानङ्गीकारादित्यर्थः । आत्मनोऽनित्यज्ञानवत्त्वे दोषान्तरमाह—आत्म-
नश्चेति । "आनन्दज्ञाने ब्रह्मणि विषयविषयित्वाद्योगश्चेत्कथं विज्ञानादिवाक्यमित्याशङ्क्योपसंहरति—
तस्मादिति । ब्रह्मण्यानन्दस्यावेद्यत्वे श्रुतिविरोधमुक्तं स्मारयति—जक्षदिति । "सर्वत्राऽऽत्मनो मुक्तस्ये-

प्राता है । ऐसा हो जाने से सभी श्रुतियों में विरोध हो जाता है । उक्त दो पक्षों के अतिरिक्त तृतीय ।
पक्ष की कल्पना करनी असंभव है । एक पक्ष यह भी है कि ब्रह्म को आत्मानन्द का निरन्तरविज्ञान
मानने पर उसके विज्ञान और अविज्ञान अर्थात् विषयी-विषय कल्पना करनी भी व्यर्थ हो जाती है ।
यदि ब्रह्म को आत्मानन्दविषयक विज्ञान निरन्तर रहता है तो आनन्दविज्ञान ही उस ब्रह्म का स्वभाव
समझना चाहिये, इसलिए वह आत्मानन्द को जानता है—यह कल्पना करनी असंभव है । इस कल्पना
की अर्थवत्ता तो अज्ञान का अन्यायविज्ञान प्रसङ्ग होने पर ही हो सकती है, जैसे वह अपने को तथा
अन्य को जानता है; जिसका मन निरन्तर बाण में आसक्त है, उसके सबन्ध में बाण के ज्ञान और
अज्ञान की कल्पना सार्थक नहीं हो सकती ।

और यदि वह पृथक् रूप में आत्मानन्द को जानता है, तो आत्मविज्ञान की असत्त्वावस्था में विज्ञान-
घन ब्रह्म का अन्यविषयक विज्ञान प्रसङ्ग होगा । इससे आत्मा में विकारित्वभाव आ जायगा तथा इससे
आत्मा में अनित्यत्व प्रसङ्ग आ जायगा । इसलिए "विज्ञानमानन्दम्" यह श्रुतिवाक्य यथास्थित वस्तु के
स्वरूपबोधन में तत्पर है, आत्मानन्द का संवेद्यत्व बतलाने में इसका तात्पर्य नहीं है । (इस पर पूर्ववादी
कहता है—) किन्तु आत्मानन्द को असंवेद्य मानने पर "जक्षत् क्रीडन्" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से

१. इयुकारस्य । २. विज्ञानघनस्य ब्रह्मण । ३. टीकोक्तार्थम् । ४. यथास्थितवस्तुस्वरूपबोधनपरैव ।
५. ज्ञानस्य विषयित्वमानन्दस्य विषयत्व ब्रह्मणो गुणित्वमितरयोर्गुणत्वमित्यादेर्न बोधिकेत्येकारव्यापत्वंमाह—
नाऽऽत्मानन्देति । ६. ज्ञानाज्ञानवत्त्वदर्शनात् । ७. देवदत्तादी । ८. प्रज्ञानघनात्मके । ९. ब्रह्मणि ।
१०. अन्यविषयत्वप्रसक्तौ च । ११. छा० उ० ७-१५-१ । १२. "तदल्प तन्मर्त्यामि"ति शेषः । १३. कादा-
वित्कज्ञानाधिकरणात्म्युपगमादित्यर्थः । १४. आनन्दज्ञानात्मके । १५. योग्यादियु ।

रोधोऽसंबेद्यत्व इति चेन्न । सर्वात्मकत्वे यथाप्राप्तानुवादित्वात् । मुक्तस्य सर्वात्मभावे सति यत्र क्वचिद्योगिषु देवेषु वा जक्षणादि प्राप्त तद्यथाप्राप्तमेवानुद्यते । 'तत्तस्यैव सर्वात्मभावादिति सर्वात्मभावमोक्षस्तुतये ।

यथाप्राप्तानुवादित्वे दुःखित्वमपीति चेत् । योग्यादियु यथाप्राप्तजक्षणादिवत्स्थावरा-
'दियु यथाप्राप्तदुःखित्वमपीति चेत् । न । नामरूपकृतकार्यकरणोपाधि संपर्कजनितभ्रान्त्य-
ध्यारोपितत्वात्सुखित्वद्दुःखित्वादिविशेष्येति परिहृतमेतत्सर्वम् । विरुद्धश्रुतीनां च

क्ये सति योग्यादियु यथा जक्षणादि प्राप्तं तथैव तदनुवादित्वात्स्थावरा- श्रुतेर्न विरोधोऽस्तीति परिहरति—
नेत्यादिना । 'तदेव प्रपञ्चयति—मुक्तस्येति । किमनुवादे फलमिति चेत्तदाह—तत्तस्येति । मुक्तस्य
योग्यादियु सर्वत्राऽऽत्मभावादेव तत्र प्राप्त जक्षणाद्यत्र मुक्तिस्तुतयेऽनुद्यते तत्रानुवादव्यवर्ध्यामित्यर्थः ।

विदुषः सार्वत्स्येन योग्यादियु प्राप्तजक्षणाद्यनुवादे स्वादितिप्रसक्तिरिति शङ्कते—यथाप्राप्तेति ।
प्रतिप्रसङ्गमेव प्रकटयति—योग्यादित्विति । अविद्यारत्मकनामरूपविवरचितोपाधिद्वयसम्बन्धनिबन्धन-
'मिथ्याज्ञानाधीनत्वादात्मनि बुद्धित्वादिप्रतीतेर्न तत्र वस्तुतो दुःखित्वं न च जक्षणाद्यपि घास्तवमा-
विद्यस्यैव मुक्तिस्तुतयेऽनुवादाद्दुःखित्वस्य हि नानुवादोऽतिहोतव्यप्राप्तेरिति परिहरति—नेत्यादिना ।
यत्तु विरुद्धश्रुतिदृष्टान्ताऽऽगमार्थो निर्णानो भवतीति तत्राऽह—विरुद्धेति । "वेद्यत्वावेद्यत्वादिश्रुतीनां

विरोध हागा । (मिद्धान्तो कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यह सर्वात्मकत्व की अनुभूति होने पर यथाप्राप्त भक्षणादि का अनुवाद करने वाली है । मुक्त (विद्वान्) पुरुष का सर्वात्मकत्व की अनुभूति होने पर यत्र-तत्र यागियों और देवताओं से भक्षणादि की प्राप्ति होती है, इसलिए श्रुति द्वारा यथाप्राप्त का अनुवाद किया गया है । तात्पर्य यह है कि सर्वात्मभाव होने के कारण यागी आदि से भक्षणादि उम मुक्त विद्वान् पुरुष का ही है । इस प्रकार यह सर्वात्मभाव मोक्ष की स्तुति के लिए है ।

(इस पर पूर्वपक्षो शङ्का करता है—) यदि यह श्रुति यथाप्राप्त भक्षणादि का अनुवाद करने वाली है तब तो उसका दुःखित्व हागा भा प्राप्त हागा । योगो आदिको से यथाप्राप्त भक्षण (विषय-सर्वन) आदि क समान उम स्वावरादि जीवो म यथाप्राप्त दुःखित्व की भी प्राप्ति हागी । (इस पर सिद्धान्तो कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सुखित्व दुःखित्व आदि विशेषधर्म नामरूपजनित स्थूल और सूक्ष्मशरीररूप उपाधि क तादात्म्यसम्बन्ध से होने वाली भ्रान्ति स श्यारोपित है—इन् शङ्काओं का पहले ही निरास किया जा चुका है । विरुद्ध श्रुतियों का विषय भी हम पहले (मधुकाण्ड म) कह

१ अनुद्यत इति—यथा 'सर्वन पाणिपाद तत्सर्वताऽऽतिशयामुत्तमिति सधारमहात्त्व्यत । तथाऽत्रापि विदुषः सर्वात्मताया विवक्षितत्वादानन्दावच्छेदमविरुद्धमिति भावः । २ श्रुत्या । ३ तत्तस्येति । तत्—योग्यादियु प्राप्त जक्षणादि । तस्य—मुक्तस्य विदुषः । ४ आदिना नारायणो जीवा गृह्यन्ते । ५ तादात्म्या-त्त्वसम्बन्धति यावत् । ६ यथाप्राप्तानुवादित्वमेव । ७ मुच्यते विदुषि । ८ स्थूलसूक्ष्मशरीररूपभेदेति भावः । ९ भ्रान्तज्ञानाधीनत्वादिति बोध्यम् । १० मुक्तस्य । ११ आनन्दस्य

विषयमवोचाम । तस्मादे'पो'ऽस्य 'परम आनन्द इतिवत्सर्वाण्या'नन्दवाक्यानि द्रष्टव्यानि ॥७॥२८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य
नवमं ब्राह्मणम् ॥६॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे
तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

सोपाधिकनिरुपाधिकविषयत्वेन मधुकाण्डे व्यवस्थोक्तेःपर्ययः । ब्राह्मणार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । ब्रह्मण्यानन्दस्य वेद्यताया वुनिरूपत्वं तच्छब्दायः । पर्ययोऽप्येत्यत्र 'भेदो न विवक्षितः सर्वात्मभावस्य प्रकृतत्वात्तया विज्ञानादिवाक्येष्व्यानन्दस्य वेद्यता न विवक्षिता । उत्तरीत्या तद्वेद्यताया दुष्प्रतिपाद-त्वात्तस्मादनतिशयानन्दं 'चिदेकतानं यस्तु सिद्धमित्ययः ॥७॥ २८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां तृतीयाध्यायस्य
नवमं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यश्रीमदानन्द-
ज्ञानविरचितायां बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चुके हैं । इसलिए आनन्दपदघटित सभी वैदिक वाक्यों को "स्वरूपानुभवलक्षण सुपुत्र पुरुष का यह (साधनासाध्यत्वरूप से) निरतिशय आनन्द है" इस श्रुतिवाक्यके समान समझना चाहिये ॥७॥२८॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीयाध्याय नवम ब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थधियायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ।

जनको ह वैदेह आसाचक्रे । अस्य संबन्धः । शारीराद्यानष्टो 'पुरुषा' निरह्य प्रत्युह्य पुनर्हृदये दिग्भेदेन च पुनः पञ्चधा 'भ्यूह्य हृदये प्रत्युह्य हृदयं शरीरं च पुनरन्योन्यप्रतिष्ठ प्राणादिपञ्चवृत्त्यात्मके समानाख्ये जगदात्मनि सूत्र उपसंहृत्य जगदात्मान

पूर्वस्मिन्नध्याये 'जल्पन्यायेन सद्बिदानन्द ब्रह्म निर्धारितम् । इदानीं 'वाङ्मयायेन तदेव 'निर्धारयितुमध्यायान्तरमवतारयति—जनक इति । "तत्र ब्राह्मणद्वयस्यायान्तरसंबन्ध प्रतिजानीते—अस्येति । "तमव वक्तुं वृत्त कीर्तयति—शारीराद्यानिनि । निरह्य प्रत्युह्येति "विस्तार्यं" श्ववहारमापाद्येत्यर्थं । प्रत्युह्य हृदये पुनरुपसंहृत्येति यावत् । जगदात्मनोत्य"व्याकृतोक्तिः । सूत्रशब्देन "तत्कारण

"जनको ह वैदेह आसाचक्रे" इति वतिष्यमाण ब्राह्मणद्वय का इस प्रकार संबन्ध है । शारीरादि षाठ पुरुषो का निरूपण करके पुन दिग्भेद से हृदय मे पञ्चविध कल्पना करके पुन उसका हृदय मे उपसंहार कर तथा अन्योन्य प्रतिष्ठित हृदय और शरीर का प्राणादि पाँच वृत्तियो वाले समानाख्य जगदात्मक सूत्ररत्ना मे उपसंहार करके जो "नेति नेति" इस प्रकार बतलाया हुआ औपनिषद पुरुष

१ अस्य—वतिष्यमाणब्राह्मणद्वयस्य । २ संबन्ध—वृत्ताध्यायेन साकमुपायोपेयभावात्मक उच्यते इति शेष इत्याह । वस्तुन कार्यव्ययमेव स । अध्यायापेक्षया ब्राह्मणद्वयसंबन्धेऽयान्तरत्वोक्तिस्तु षाण्णार्थाध्यायान्तरमभिवेदितं स्पष्ट टीकायामिति ध्ययम् । ३ शारीराद्यानिनि । अत्रादिशब्देन काममयादित्यपुरुषो श्रीत्र प्राणिवृत्क-छायामयो दर्शनादिष्वप्रतिबिम्बो वापीकूपाद्यभिमानो पुत्रमयश्चेत्यवशिष्टा सन्नीता । ४ पुरुषानिनि । पुरुषशब्दस्य प्रथिष्यग्राह्यनान्यादितोऽस्मिन्नादिदेवतोऽपनक्षणत्वाच्चतुरोऽप्यष्टकानित्यर्थं । ५ निरह्य पुन प्रत्युह्य दिग्भेदेन च हृदय पञ्चधा भ्यूह्य पुनर्हृदये प्रत्युह्येत्यन्वय । अथवा निरह्य प्रत्युह्य हृदय च पुन दिग्भेदेन पञ्चधा भ्यूह्य पुनर्हृदये प्रत्युह्येत्येवम् । ६ कल्पयित्वा । ७ जल्पेति—चतुरङ्गनिर्वृत्यंजमपराजयप्रधान-न्यायेनेति यावत् । निर्धारितयम प्रनिर्वादिनियम मन्मन्वरण सभापतिसवरण चेति चत्वार्यं गानिकयाया । विशेषतो जल्पविशेष्यारेवेति तार्किकरक्षाया कथावृत्तवित्पञ्चानिरूपणप्रकरण विस्तरः । ८ शिष्याचार्यक्रमेण तद्विनियंनप्रधानन्यायेन । ९ षाण्णार्थाध्यायादिदेवतासु ब्रह्महृष्टिद्वारेति शेषः । १० कार्यव्ययध्याययो सङ्गनिमुत्तरवा वतिष्यमाणब्राह्मणद्वयस्य वृत्ताध्यायेन कार्यव्ययस्यंबोरायविशेषपठिततयाऽवात्तरसङ्गतित्वमभिप्रेत्याह—तत्रेति । अनन्तराध्याय इत्यर्थः । षट्कर्त्तव्य गन्तव्यय ब्राह्मणद्वयाऽर्थो । ११ संबन्धमेव । १२ विस्तार्येति—अविद्याभूतो स्थितेश्वर्यादि । १३ श्ववहारमापाद्येति—श्ववहारविषयोऽहृत्य लोकस्थितित्हेतुतामा-पाद्येत्यर्थः । १४ अनर्थमीत्त्वोक्तिः । १५ सूत्रस्य कारणम् ।

ॐ 'जनको ह वंदेह आसांचक्रऽथ ह याज्ञवल्क्य
 आब्रजाज । त^७ होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः

जब प्रसिद्ध विद्वान् विदेहाधिपति राजा जनक (स्वस्थचित हो अपने) राजसिंहासन पर
 भासते थे, तब महर्षि याज्ञवल्क्य उनके पास प्राये । याज्ञवल्क्य से जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ।

शरीरहृदयमूत्रावस्थमतिक्रान्तवान्य औपनिषदः पुरुषो 'नेति नेतीति व्यपदिष्टः स 'साक्षा-
 स्तो'पादानकारणस्वरूपेण च निर्दिष्टो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति । तस्यैव वागादिदेवता-
 द्वारेण पुनरधिगमः कर्तव्य इत्यधिगमोपायान्तरार्थोऽयमारम्भो ब्राह्मणद्वयस्य ।
 आख्यायिका स्वाचारप्रदर्शनाया—

जनको ह वंदेह आसांचक्र आसनं कृतवाना'स्यायिकां दत्तवानित्यर्थः । दर्शनका-
 मेभ्यो राज्ञः । अथ ह तस्मिन्नवसरे याज्ञवल्क्य आब्रजाजाऽऽगतवानात्मनो ऋयोगक्षेमाथं

गृह्यते । अतिक्रमणं तद्गुणदोषासंस्पृष्टस्वम् । अनन्तरब्राह्मणद्वयतात्पर्यमाह—तस्यैवेति । वागाद्यधि-
 ष्ठात्रोष्णग्यादिदेवतासु 'ब्रह्मदृष्टिद्वारेत्यर्थः । पूर्वोक्ता'न्यव्यतिरेका'दिनापनापेक्षयाऽन्तरशब्दः ।
 आचार्यवत्ता श्रद्धाविसंयत्नेन" विद्या तन्वयस्थेयाचारः । अप्राप्तप्राप्तिर्योगः, प्राप्तस्य रक्षणं धेम इति

शरीर, हृदय और सूत्र में स्थित जगदात्मा को अतिक्रान्त किये हुए है, उसी का "वह ब्रह्म विज्ञान
 और आनन्द स्वरूप है" इस प्रकार साक्षात् और उपादान कारणरूप से निर्देश किया गया है ।
 उसी औपनिषद पुरुष का वागादिदेवता द्वार से पुनः बोध कराना है । इसलिए बोध और उपायान्तर
 के लिए इस ब्राह्मणद्वय को प्रारम्भ किया जाता है । यहाँ यह आख्यायिका आचार प्रदर्शन करने
 के लिए है ।

विदेह देश का राजा जनक "आसाचके" अर्थात् दर्शनयोग्य (स्थानस्थिति सूचक)
 आसन पर स्थित था यानी राजदर्शनायियों के लिए ऐसा समय दे रखा था । "अथ ह" अर्थात्

१. जनको हेत्यादि । "कथित पञ्चमे जल्प पठे वाद उदीयत । वादिनामपि शिष्याणा बुद्धपारोहो द्विधोक्तिः" ॥
 अथिश्चार्थ ॥ "पह् ब्राह्मणानि तेष्वप्य उपास्ति श्रममुक्तये । द्विधये जाग्रदाद्युक्त्या प्रत्यगात्मनिविर्णय" ॥
 पद्ब्राह्मणानोति । अस्मिन्नभ्याय इत्यादि । "तृतीया परलोकास्य मोक्षस्वार्थिनिदशनम् । दार्ष्टिकान्त चतुर्थे तु
 पञ्चमे बोधसाधनम् ॥ पठे वस इति प्रोक्ता ब्राह्मणार्था अधोच्यते । प्रथमब्राह्मणे प्रोक्त चतुष्पात्त्वेन
 चिन्तनमिति" ॥ वा० भा० १-४ ॥ २. नेति नेतीत्यादि । नेति नेतीत्येव सकलोपाधिनिषेधेन मूर्तामूर्तब्राह्मणे
 निर्दिष्ट इत्यर्थः । ३. साक्षादिति । "विज्ञानमानन्दमिति स्वरूपप्रतिपादनेनेत्यर्थः । ४. "रातिर्दातुः
 परायणमि"त्युपादानस्वरूपेनेत्यर्थः । ५. तस्य—औपनिषदस्य पुरुषस्य । ६. आख्यायिकाम्—दर्शनयोग्य-
 स्थानस्थितिसूचनामित्यर्थः । ७. राजदर्शनयोग्यावसरे । ८. ब्रह्मोपासनद्वारा । ९. अन्वयेति ।
 आपतनसोऽदेवपुष्टपाणां चतुर्णामष्टकानामुत्पत्त्यादिमत्त्वेन व्यभिचारित्व व्यतिरेकस्तेन तेपात्मनात्मत्वम् ।
 औपनिषदब्रह्मणस्तु तद्ब्राह्मणमन्वयस्तेनात्मत्वम् । १०. आदिना वाक्यतात्पर्यालोचन साधनविशेषानुसन्धान
 फलविशेषानुचिन्तन च गृह्यते । ११. अधिकांशः ।

ऋयोगक्षेमाथं राज्ञो वा विविदिषा दृष्ट्वाऽनुग्रहार्थमिति । अत्र यातिकचतुष्टय वर्तते । तथाहि—"धनाथं

पशूनिच्छन्नप्वन्तानिति । उभयमेव सत्रार्डिति
होवाच ॥ १ ॥

प्राप किस प्रयोजन को लेकर यहाँ आये हैं ? क्या पशुरूपी घन की इच्छा से या सूक्ष्मातिसूक्ष्म अत्यन्त गोपनीय पदार्थ के प्रश्नों को सुनने के लिये आये हैं ? (पर्यात् विभिन्न आचार्यों से श्रवण किये हुए हमारे ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए आये हैं ?) इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट् ! मैं उक्त दोनो ही कार्यों के लिये आया हूँ ॥ १ ॥

राज्ञो वा विविदिषां दृष्ट्वाऽनुग्रहायम् । तमागत याज्ञवल्क्यं यथावत्पूजां कृत्वांवाच
होक्तवाञ्छनको हे याज्ञवल्क्य किमयंमन्त्रारोरागतोऽसि किं पशूनिच्छन्नपुनरप्याहोस्त्रिदश्व-
न्तान्सूक्ष्मान्तान्सूक्ष्मवस्तुनिर्णयान्तान्प्रश्नान्मतः श्रोतुमिच्छन्निति । उभयमेव पशून्प्रश्नांश्च

राजदर्शनयोग्य समय में याज्ञवल्क्य "यावन्नाज" अर्थात् आए । राजा क योगक्षेम के लिए अथवा उसकी विविदिषा देखकर उससे कल्याण के लिए आये । आए हुए याज्ञवल्क्य जी की विधिपूर्वक पूजा करके जनक "होवाच" यानी बोले—हे याज्ञवल्क्य ! किसलिए आप "अचारोः" अर्थात् आए हो ? पुनः क्या पशुघो की इच्छा से आये हो अथवा मुझसे "अश्वन्तान्" यानी सूक्ष्म वस्तु के निर्णय में पर्यवमान होने वाले प्रश्नों को सुनकर उनका उत्तर देने के लिए आये हो ? (याज्ञवल्क्य बोले—) हे सम्राट् ! मैं पशु और प्रदत्त दोनो के लिए आया हूँ । "सम्राट्" यह पद वाजपेय यज्ञ करने वाले

१. निगमयन्तान्वा निर्णयफलस्त्विति यावत् सूक्ष्म वस्तु ब्रह्म । २. श्रूत्वा तदुत्तरं वचुमिति यावत् ।

ब्राह्मणा यान्ति राजानमिति मुञ्चते । न त्वनापि विद्यार्थं तं यास्तोद् द्विभोत्तमा ॥ नात्यत्र क्षत्रियवाद्ब्रह्मा यत्र सभाष्यते वचिन्ति । उपधीदन्ति तत्रैव ब्राह्मणा क्षत्रियान्मदा ॥ याज्ञवल्क्यस्य शिष्यत्वे ग्रन्थच्छामार्जि नेष्यते । जनकस्यैव शिष्यत्वे ग्रन्थच्छापीपलक्ष्यते ॥ अश्वन्तानिति शब्दोऽयं न स्यात्पशुविशेषणम् । उभयं त्वित्यतः शेषाद्द्वय घट्टमतो भवेत् ॥ ५-८ ॥ इति । कैचिच्छाज्ञवल्क्यस्य योगशोभायं विद्यार्थं च राजगमनमिच्छन्तः सूक्ष्मार्थनिर्णयान्ताप्रश्नान्कृत्वा मतो निर्धारयितुं वा स्वदागमनमित्येवमश्वन्तानित्यस्वार्थमाहुस्तादृश्याह—यनायमिति । उपेयादीश्वर चैव योगशोभायंसिद्धय इति स्मृतेरित्यर्थः । ननु गार्ग्यप्रश्नतयो ब्राह्मणा राजानमपि विद्यार्थं गच्छन्तो ह्यन्ते नेत्याह—न त्विति । इह वास्तुभ्यव्यवहारभूमौ ॥ अनापदीतिविशेषतात्पर्यमाह—नाप्यनेति । यत्र क्षत्रियादभ्यन्तं वचिदपि विद्या सर्वैव न सभाष्यते तत्र ब्राह्मणा विद्यार्थिनः सन्तो विदुषु क्षत्रियानुपसहीदतीति योजना ॥ अथात्र कस्मिन्विशेषे गुणरपि मुनिर्जनकस्य शिष्यो भविष्यति । उक्तं चाऽऽचार्यैव हित्वेति, नेत्याह—याज्ञवल्क्यस्येति । न च तस्य शिष्यत्वे योग्यत्वं सर्वज्ञत्वादित्येपर्यः । उक्तं चानुपनेरपि शिष्याभाप्यत्वं भासते सभवति चाऽऽचार्यैस्वार्थि शिष्यवृद्धिगोचनार्थं त प्रति प्रश्नवाक्यमिति भावः ॥ पशून्प्वन्तानिति सामानाधिकरण्यादप्यन्तपदस्य पशुविशेषणार्थं रत्वाप्रात्र विकल्पधीरित्याशङ्क्याऽऽह—अश्वन्तानिति । तत्र वाच्यपदोप हेतुमाह—उभयमिति । राजवाच्ये विकल्पशोचितासत्ताभाववर्षि शेषान्मुनिवचनादत्र विकल्पहृष्टिः सदित्यस्योपपन्नमे शेषानिर्णयप्रसिद्धे-रित्यर्थः । अश्वन्तशब्दस्य पशुविशेषणानर्थक्ये फलितमाह—इयमिति ॥

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलि-
निर्वाग्वं ब्रह्मेति यथा मातृमात्पितृमानाचार्यवान्ब्रू-
यात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वं ब्रह्मेत्यवदतो हि किं
स्यादित्यब्रवीत्तु ते 'तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवी-
दित्येकपाद्वा एनत्सम्नाडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञ-

(याज्ञवल्क्य ने जनक ने कहा—हे राजन् !) जो कुछ किसी आचार्य ने आप से कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। तब जनक ने कहा कि शिलिन ऋषि के पुत्र जित्वा ने मुझसे कहा था कि निःसन्देह वाणी देवता ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—शैलिन ने बहुत ठीक कहा है, जैसे माता, पिता आचार्य द्वारा अच्छी प्रकार सुशिक्षित पुरुष शिष्य को उपदेश करें, वैसे ही शैलिनो ने आप से कहा है, निःसन्देह वाणी ही ब्रह्म है क्योंकि न बोलने वाले या गूंगे से लांगो वा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

हे सम्राट् । सम्नाडिति वाजपेययाजिनो लिङ्गं 'यश्चाऽऽजया 'राजः प्रशास्ति स सम्राट् तस्याऽऽमन्त्रणं हे सम्नाडिति समस्तस्य वा भारतस्य वर्षस्य राजा ॥१॥

किं तु यत्ते तुभ्यं कश्चिदब्रवीदाचार्योऽनेकाचार्यसेवो हि भवांस्तच्छृणवामेति ।
इतर ग्राह—अब्रवीदुक्तवान्मे ममाऽऽचार्यो जित्वा नामतः शिलिनस्यापत्यं शैलिनिरवाग्वं

विभागः । भारतस्य वर्षस्य 'हिमवत्सेतुपर्वन्तस्य देशस्येति यावत् ॥१॥

'तत्र राजानं प्रति प्रश्नमुत्थापयति—किंत्विति । कश्चिदिति विशेषणस्य तात्पर्यमाह—

का सूचक है। जो सब नृपतियो को अपनी आज्ञा द्वारा शासित करता है, वह सम्राट् है। "हे सम्राट्" यह उसी का संबोधन है। अथवा सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजा को सम्राट् कहा जाता है ॥ १ ॥

किन्तु तुमसे जो किसी आचार्य ने कहा है, उस उपदेश को सत्-असत् परीक्षण करने के लिए हम सुनें क्योंकि तुम अनेक आचार्यों की सेवा करने वाले हो। इस पर जनक ने कहा—मुझे "शैलिनः" अर्थात् शिलिन के अपत्य जित्वा नाम के आचार्य ने कहा था कि "वाग्वं ब्रह्म" अर्थात्

१. वाग्देवस्य ब्रह्मणः । २. यश्चाजयेति । "येनेष्ट राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाजया राज स सम्राडि"त्यमरः । एक सार्वभौमविशेषस्य अत्र विशेषणप्रथं मिलि चा सम्राट्त्वप्रयोजकं प्रत्येक वेति मतभेदः । मण्डल—द्वादशराजानः । राजः सर्वनृपतीतिर्याहुः । राजसूयेनेति वाजपेयस्याप्युपलक्षणमिति भाष्याविरोधः ।
३. द्वितीयान्तम् । ४. शृणवामेति । उपदेशस्य सदसत्परीक्षणमिति भावः । ५. हिमवदित्यादि । तदुक्तं— "उत्तर याममुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् । वर्षं नद्भारत नाम भारती यत्र सततिरिति" । "वर्षं स्थान विदुः प्राजाः । वर्षोऽश्वी भारताश्वी च जम्बूद्वीपाब्दवृष्टियु" इति मेदिनी । ६. तत्र—उक्तमन्त्रपादो वृत्ते सति । उत्थापयति—भाष्यकृत । प्रश्नम्—अज्ञातार्थमुपदिदिक्षुषा मुनिना कृतमिति शेषः ।

वल्क्य । वागेवोऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदु-
पासीत । कां प्रज्ञता याज्ञवल्क्य । वागेव समाडिति
होवाच । वाचा वै समाड्वन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या
उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानातिं व्याख्या-
नानीष्ट^७ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च

पर यह तो बतलाइये कि उसने उसके प्रायतन एव प्रतिष्ठा को भी आपसे कहा या नहीं । जनक ने कहा—नहीं । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन् ! तब तो ब्रह्म के एक पाद का ही यह उपदेश उसने किया । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य । कृपया उस अथर्वशिष्ट तत्त्व को आप बतलावें । याज्ञवल्क्य ने कहा—वाणी ही उस वागरूप ब्रह्म का प्रायतन है और अव्याकृत आकाश प्रतिष्ठा है । इसकी उपामना प्रज्ञारूप से करनी चाहिये क्योंकि प्रज्ञा उस ब्रह्म का चतुर्थ पाद है । इस पर जनक ने पूछा—प्रज्ञता क्या है अर्थात् प्रायतन और प्रतिष्ठा के समान क्या उससे भिन्न है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे

ब्रह्मेति 'वाग्देवता ब्रह्मेति । आहेतरो 'यथा' मातृमान्माता यस्य विद्यते पुत्रस्य सम्य-
गनुशास्त्रयनुशासनकर्त्री स मातृमान् । अत ऊर्ध्वं पिता यस्यानुशास्ता स पितृमान् ।
उपनयनादूर्ध्वंमा समावर्तनादाचार्यो यस्यानुशास्ता आचार्यवान् । एवं 'शुद्धिप्रपहेतुसंयुक्तः
स साक्षादाचार्यः स्वयं न कदाचिदपि प्रामाण्याद्व्यभिचरति । स यथा वृषाच्छिष्याय
अनेकेति । प्रामाण्यमाप्सत्वम् । यथोक्तार्थानुमोदने युक्तिमाह—न हीति ।

वाग् का अधिष्ठातृ देवता (अग्नि) ब्रह्म है । इस पर याज्ञवल्क्य जी बोले—जिस प्रकार "मातृमान्" यानी जिस पुत्र का ठीक प्रकार से अनुशासन करने वाली माता विद्यमान है, वह मातृमान् है । माता के अनुशासन के अनन्तर पिता जिसका अनुशासक है, वह पितृमान् कहा जाता है । इसी प्रकार उपनयन से समावर्तन सत्कारपर्यन्त आचार्य जिसका अनुशासक है, उसे आचार्यवान् कहा जाता है । इस प्रकार जो तीन प्रकार की शुद्धि के हेतुओं से संयुक्त है, वह साक्षादाचार्य कभी भी प्रमाण से

- १ ऋग्वेद इत्यादि व्याख्यानानीत्यन्त पूर्व मंत्रेषोत्राहणे च ७ उ० २।४।१० भाष्ये प्रोक्तार्थम् । २. वाग्धिष्ठात्राग्नि । ३ शैलिनितोऽभिष्टमर्थं स्तोत्रुकामो मुनिस्तस्याप्सत्वप्रयोजशीभूत शुद्धिप्रपहेतुः—दधेति । ४ मातृमानिति । "मातृमानिति हेतुक्ति सम्यक्वक्तृत्वसिद्धये" ॥ १३ ॥ इति वातिके । ५ माननुशासनादनन्तरम् । ६. अनुशासतेति । शास्ते "तृन्तुची दक्षिणादिभ्यः सजायां चानिी" ॥ २-६४ ॥ इत्युणादिसूत्रस्यादि-ध्वयपरिवृहीतात्तृन्तुव्वा । ननु सजायामिति । सत्यम् । कथं तर्हि । बह्वसम्यक्त्रेयुत्तरमूत्रे बाह्वलवात् । "शास्ता समन्तमद्रेतायासके पुनरन्ववदिति" च बोधः । ७ शुद्धिप्रपहेत्विति । मात्राशास्त्रव्य च्छुद्धिप्रपहेतुदेवोऽप्ये हेतुत्पियाहः । यस्तुतोऽत्र शुद्धिप्रपहेतुत्वमिति युक्तमुत्पद्यमानः । ८. य उक्तसंयुक्तः स साक्षादाचार्यः । ९. आप्सत्वम्—यथायं वक्तृत्वम् ।

लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचं च सम्राट् प्रजायन्ते 'वाग्ं
सम्राट् परमं ब्रह्म ॐ नैतं 'वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्य-
'भिक्षरन्ति 'देवो भूत्वा देवान'प्येति य एवं विद्वाने-
त्तदुपास्ते । हस्त्यूपभ^७ सहस्रं वदामीति होवाच
जनको चैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽम-
न्यत नाननुशिष्य हरतेति ॥२॥

महाराज ! वाणी ही प्रज्ञा है । हे सम्राट् ! वाणी से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वान्जिरमवेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषत्, श्लाक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित, पायित, यह लोक, परलोक, एव सम्पूर्ण प्राणी जाने जाते हैं । मत हे सम्राट् ! वाणी ही परब्रह्म है । जो पुरुष इस प्रकार जानकर इसको उपासना करता है, उस उपासक को वाणी नहीं छोड़ती, सभी भूत भेंट लेकर उसका अनुसरण करते हैं । वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है । इस पर विदेहराज ने कहा कि मैं इसके बदले आपको हाथी के समान बछड़ों को जन्म देने वाली एक हजार गीएँ देता हूँ । उस याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन् ! मेरे पिता यह मानते और कहते थे कि शिष्य को उपदेश से वृत्तार्थ किये बिना, उसकी दी हुई दक्षिणा नहीं लेनी चाहिये ॥ २ ॥

तथाऽसौ जित्वा शैलिनिरुक्तवान्वाग्ं ब्रह्मेति । 'अवदतो हि किं स्यादिति । न हि मूक-
स्ये^१ हार्थममुत्रार्थं वा किञ्चन स्यात् ।

किंत्वब्रवीदुक्तवास्ते तुभ्यं तस्य ब्रह्मण आयतनं प्रतिष्ठा च । आयतन नाम

यथोक्तब्रह्मविद्यया कृतकृत्यत्व मन्वान राजान प्रत्याह—किंत्विति । आयतनप्रतिष्ठयोरेकत्वा-

व्यभिचरित नहीं होता । वह जिस प्रकार अपने शिष्य को उपदेश करे, उसी प्रकार इस शिलिन के पुत्र जित्वा ने तुम्हें यह बतलाया है कि वाक् ही ब्रह्म है । वाक् के ब्रह्म न कहने में क्या हागा क्योंकि मूक को इहामुत्र फलक काई साधन नहीं ही सकता ।

किन्तु क्या उन्होंने तुम्हें उस ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलायी थी । आयतन

- १ वाग्वा इत्यादि । अत्र पठमु भवतिपु वागेवायतनमित्यादिना करणस्य स्वाधारेण देहेन सह परिग्रहाद्विराड्बलमा विवक्ष्यते । स हि स्थूलकार्यकरणात्मक । वाग्ं ब्रह्मोत्यादिना सूत्रात्मोच्यते । स हि सूक्ष्मोवाधिरग्यादिदेवतारूप । आकाश^२ प्रतिष्ठेत्यन्तर्यामिब्रह्म । इत्य आग्यादिदेवतापु ब्रह्मदृष्ट्या सर्वं जगदुपास्यत्वेनात्र प्रकरणे विवक्षित सर्वस्य देवतात्वे नोच्यमानत्वात्कार्यकरणादेर्जगत इति स्पष्टं वार्तिके ।
- २ कर्हिबिदधि वाग्ब्रह्मलो न भवति ।
- ३ वर्णन्ति । ४ उपसत्यहैषाविर्मृतदेवभाव स । ५ शरीरपतादुर्ध्वं देवान् पञ्चति । ६ वाचो ब्रह्मत्वे मुनिरथ स्वम हेतुमाह—अवदत इति । ७ इहामुत्रफलकम् । ८ साधनम् ।

ॐ नैतं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानित्यादि । अत्राहुर्वातिकाचार्यास्तथाहि—“एन

शरीरम् । प्रतिष्ठा त्रिष्वपि कालेषु य आश्रयः । आहेतरो न मेऽन्नवीदिति । इतर
 ग्राह—'यद्येवमेकपाद्वा एतदेकः पादो यस्य ब्रह्मणस्तद्विदमेकपाद्ब्रह्म त्रिभिः पादैः
 शून्यमुपास्यमानमपि न फलाय मयतीत्यर्थः । 'यद्येवं स 'त्वं' 'विद्वान्तन्नोऽस्मभ्यं ब्रूहि

त्युनश्क्तिमाशङ्क्य विभजते—प्रायतनं नामेति । एकपादत्वेऽपि ब्रह्मणस्तदुपासनादिष्टसिद्धिरिति
 चेन्नेत्याह—त्रिभिर्गिति । ब्रूहि प्रतिष्ठामायतनं चेति शेषः ।

शरीर का पर्याय है । जो तीनों कालों में आश्रय हो, वह प्रतिष्ठा है । जनक ने कहा—यह तो मुझे
 नहीं बतलाया । याज्ञवल्क्य बोले—यदि ऐसा है, (तो सुनो) वह "एकपाद्" यानी एक पाद वाला ब्रह्म
 है । भाव यह है कि वह तीन पादों से शून्य ब्रह्म उपासना किये जाने पर फलदायक नहीं होता । (जनक
 बोले—) यदि ऐसा है, हे याज्ञवल्क्यजी ! चतुष्पाद ब्रह्म को आप जानते हैं तो कुपया इसका

१ आयतनप्रतिष्ठं तेन नीक्ते चेत्तहि । २. तथा फलद नी चेत्तहि । ३. अनुग्रहशीलः । ४ चतुष्पा-
 दब्रह्म जानन् ।

भूतानि सर्वाणीत्युपासनफलाभिषया ॥ देवो भूत्वेति देवान् हि प्रधानफलकीर्तनम् । विद्वान्य एवमित्युक्त्वा साध्य-
 साधनसंगति ॥ देवो भूत्वेति जीवन्मन्भावनोपचयाश्रयः । वैलक्षण्यमुपास्तीना भण्यते ब्रह्मबोधत ॥ तथैव
 ब्रह्मसोक्तिः स्याद्देवो भूत्वेति सभवात् । प्रतिवाक्य बहूक्तिश्च पण्णामेकत्वंसिद्धये ॥ प्रागपि ब्रह्मविजानाद्ब्रह्म वा-
 भूद्यथा तथा । देवोपासनतः पूर्वं नाभूद्देव उपसक्तः ॥ भावनोपचयाद्देवो भूत्वा विद्वानिहैव तु । देवानप्येति
 भोऽन्यादीन्प्रागैरत्यागत परम् ॥ उत्पत्त्याद्यात्मक कार्यं साध्य मर्हस्य कर्मणः । उपासन च कर्मैव युक्तमुक्तमिद
 तत ॥ ब्रह्म वा इदमित्येव तथा ब्रह्मैव सन्निति । प्रागपि ब्रह्मविजानात्सिद्ध तादात्म्यमुच्छ्रुत् ॥ २२-२६ ॥
 इति । सर्वाणीत्यादेर्यथाह—एनमिति ॥ उपासनस्य द्विविध फल दृष्टमदृष्ट च दृष्टमुच्यतेऽदृष्टं व्याचष्टे—
 देव इति । भावनोपचयस्य देवताभावसंपादनसामर्थ्यस्योतनार्थो हिशब्दः । य एवमित्यादेस्तात्पर्यमाह—विद्वानिति ।
 ज्ञानफलयोगजन इति शेषः ॥ देवो भूत्वरथादेस्तात्पर्यान्तर वक्तुमश्रयं मनुवदति—देव इति । विवक्षित
 तात्पर्यमाह—वैलक्षण्यमिति । ब्रह्मधीवदनुपास्तिरन्मन्स्ता न फलवतीत्यर्थः ॥ अत्र श्रुत्यश्रयानुगुण्यमाह—तथेति ।
 अकृतात्पर्यानुमात्रण देवो भूत्वेति ब्रह्मसा देवभावफलस्योक्तिर्युक्ता तस्य साध्यत्वसभवादित्यर्थः । कथं प्रतिपर्याय
 देवानिति बहूक्तिरगत्यादेरैकैकत्वेनोपास्यत्वंदृष्टेरित्यानाङ्कपाऽऽह—प्रतिवाक्यमिति । पर्यायपदकसंबद्धोपास्तेरेवय-
 द्योतनार्थं सर्वत्र बहूवचन प्रतिपर्यायमुपास्तिभेदे देवमप्येतीति स्यादेकंकोपास्तेरनेकदेवतापर्ययोगादतः सर्वत्र
 देवानिति मृतरेकपर्यायस्योपास्तिरन्मन्पर्यायस्योपास्त्यभिन्नेत्यर्थं ॥ सर्वपर्यायस्योपास्तेरेवयस्यपि किमिति सा ब्रह्म-
 धीवत् फलदेवतासाङ्क्य त्पोरधिकारिद्वारा वैलक्षण्यमाह—प्रागपीति । मुमुक्षुर्ज्ञानात्पूर्वंमपि ब्रह्मैवाज्ञान तु
 ध्यवधानमुपासकस्तु प्रागुपास्तेर्देवो नाभूत्तद्भावस्य साम्यत्वादित्यर्थः ॥ फलद्वाराऽपि वैषम्यमाह—भावज्ञान तु
 जीवदवस्थायां देवभावस्यसादात्म्यसादात्करण मृतहृत्त्वं साध्यवस्तुदेवमिति विवेकतन्मम् । ध्यवहितफलोपास्तिरा-
 प्रागुपादानुपपेक्षात्वाद्ब्रह्मधीर्नैव ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति ज्ञानफलयोर्निरन्तर्यादिति भावः ॥ इतश्च फलवैषम्य
 तयोरित्याह—उत्पत्तीति । कर्मणो हि फलमुत्पत्त्याद्यन्तर्तमं साध्यं च ज्ञानस्य तद्विलक्षण निश्चयसिद्धमित्यर्थः ।
 स्वरूपनोऽपि वैषम्यमाह—उपासन चेति । मानसी क्रियोपास्तिर्नैव धीरपुस्तन्वत्त्वादित्यर्थः । भिन्नार्थविययो-
 पास्तिरेकरसविषया धीस्तद्विषयद्वाराऽपि वैषम्यमिति सर्ववैषत वैषम्यं निगमयति—युक्तमिति ॥ ज्ञानारप्रागपि
 मुमुक्षुर्ब्रह्मैव धैतिक तादात्म्योक्तरेवथासाङ्कपाऽऽह—ब्रह्मेति । अतो ज्ञानादज्ञाननिवृत्तिः फलतीति शेषः ॥

हे याज्ञवल्क्येति । स चाऽऽह—वागेवाऽऽयतनं वाग्देवस्य ब्रह्मणो वागेव करणमायतनं शरीरमाकाशोऽव्याकृताख्यः प्रतिष्ठाऽश्रय उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु । प्रज्ञेत्येनदुपासीत प्रज्ञेतोयमुपनिषद्ब्रह्मणश्चतुर्यः पादः प्रज्ञेति 'कृत्वेनद्ब्रह्मोपासीत ।

का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य किं स्वयमेव प्रज्ञोत प्रज्ञानिमित्ता । यथाऽऽयतनप्रतिष्ठे ब्रह्मणो व्यतिरिक्ते तद्वक्तिकम् । न, कथं तर्हि, वागेव सम्प्राडिति होवाच वागेव प्रज्ञेति होवाचोक्तवान्न व्यतिरिक्ता प्रज्ञेति । कथं पुनर्वागेव प्रज्ञेति, उच्यते—वाचा च सम्प्राड्वन्धुः प्रज्ञायतेऽस्माकं बन्धुरिरियुवते प्रज्ञायते बन्धुस्तथर्वेदादि । इष्टं याग-निमित्तं धर्मजातं हुतं होमनिमित्तं च । आशितमन्नदाननिमित्तं पापितं पानदाननिमित्तमयं च लोक इदं च जन्म परश्च लोकः प्रतिपत्तव्यं च जन्म सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्प्राट्प्रज्ञायन्तेऽतो वाग्धै सम्प्राट्परमं ब्रह्म नैनं यथोक्तब्रह्मविदं वाग्जहाति । सर्वाण्येनं भूतान्यभिर्क्षरन्ति बलिदानादिभिरिह देवो भूत्वा पुनः शरीरपातोत्तरकालं

प्रश्नमेव विवृणोति—किं स्वयमेवेति । प्रज्ञा निमित्तं यस्या वाचः सा तथा । द्वितीयपक्षं विशदयति—यथेति । व्यतिरेकपक्षं निवेदति—नेति । आकाङ्क्षापूर्वकं यक्षान्तरं गृह्णाति—कथं तर्हीति । बलिदानमुपहारसमर्पणम् । आदिशब्देन स्वचन्दनवस्त्रालंकारादिग्रहः । विद्यानिष्क्रया-

स्वरूप मुझे बतलाइये । ब्रह्म (याज्ञवल्क्य) बोले—“वागेवाऽऽयतनम्” यानी वाग्देवतारूप ब्रह्म का वाक् ही करण यानी शरीर है तथा उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय के समय (अन्तर्गामी) अव्याकृतसम्पन्नक आकाश ही उनकी प्रतिष्ठा है । “प्रज्ञेत्येनदुपासीत” अर्थात् प्रज्ञा यह नाम मन में धारण करके वाग्ब्रह्म की उपासना करे क्योंकि प्रज्ञा नाम की उपनिषत् उस ब्रह्म का चतुर्षपाद है ।

हे याज्ञवल्क्यजी ! प्रज्ञता क्या है ? क्या वाग्ब्रह्म स्वयं ही प्रज्ञा है अथवा उसमें भेद है ? जिस प्रकार आयतन और प्रतिष्ठा ब्रह्म से व्यतिरिक्त है, उसी प्रकार क्या प्रज्ञा भी व्यतिरिक्त है ? नहीं । ऐसा क्यों ? “वागेव सम्प्राडिति होवाच” यानी याज्ञवल्क्य बोले—हे सम्प्राट् ! वह वाक् ही प्रज्ञा है, प्रज्ञा उससे पृथक् नहीं है । वाक् ही प्रज्ञा किमलिये है ? इस पर कहा जाता है—हे सम्प्राट् ! वाणी से “बन्धुः प्रज्ञायते” यानी किसी के द्वारा “यह हमारा बन्धु है” ऐसा कहने पर बन्धु का ज्ञान होता है । इसी प्रकार ऋग्वेदादि वाक् से जाने जाते हैं । हे सम्प्राट् ! “इष्टम्” यानी यागनिमित्तक धर्म “हुतम्” यानी होमनिमित्तक धर्म, “आशितम्” यानी अन्नदाननिमित्तक धर्म, “पापितम्” पेयदाननिमित्तक धर्म, यह लोक, वर्तमान देह और परलोक, आगे प्राप्तव्य जन्म और ब्रह्मादि समस्त

- १ अन्तर्गामी । २. इदं नामधेयम् । ३. एतन्नाम मनसिकृतवाज्जेन नाम्ना वाग्ब्रह्मोपासीतेत्यर्थः । ४. विमित्ति—वाग्ब्रह्मैति शेषः । ब्रह्मयज्ञयोर्मदोऽभेदो वेति भावः । ५. व्यतिरिक्ता । ६. केनचिद्वयम् । ७. धर्मजातमित्यनुवृत्तं सर्वत्र । ८. पेयदानेति भावः । ९. वर्तमानो देहः । १०. ब्रह्मादीनि । ११. वाग्देवब्रह्मण्येव । १२. अतः—बन्धुत्वादिबिषयकप्रवृत्तज्ञानहेतुत्वात् । वाग्धै—वाग्देवर्तव्य परम ब्रह्मेति चिन्तयेदिति शेषः । १३. सद्योजयन्ति । १४. उपास्त्यतिशयेनारम्याविर्भूतदेवत्वाभिमानो भूत्वा । १५. अव्यतिरेकपक्षम् ।

यदेव ते 'कश्चिदब्रवीत्' च्छृण्वामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः
शौल्वायनः 'प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमा-
नाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्वायनोऽब्रवीत्प्राणो वै
ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किं७ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्या-

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन् !) जो भी आप से किसी ने कहा है; उसे मैं सुनना चाहता हूँ । जनक ने उत्तर दिया—हे याज्ञवल्क्य ! श्रुत्य ऋषि के पुत्र उदक ने मुझसे कहा था कि प्राण ही ब्रह्म है । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—शौल्वायन ने बहुत ठीक कहा है । जैसे माता, पिता और आचार्य द्वारा पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को शिक्षा देवे, वैसे ही शौल्वायन ने आप से कहा

देवानप्येत्यपि गच्छति य एव विद्वानेतदुपास्ते । ऋविद्यानिष्क्यार्यं हस्तितुल्य ऋष्यभो
हस्त्युपभो यस्मिन्नोसहस्रे तद्धस्त्युपभं सहस्रं वदामीति होवाच जनको वंदेहः ।
अ होवाच याज्ञवल्क्यः । अननुशिष्य शिष्यं कृतार्थमकृत्वा शिष्याद्धनं न हरेतेति मे मम
पिताऽमन्यत ममाप्ययमेवाभिप्रायः ॥ २ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीदुदङ्को नामतः शुल्बस्यापत्यं शौल्वायनोऽब्रवीत्प्राणो वै

यमुवाचेति संबन्ध । पितुरेतन्मतस्तु तव किमायत तदाह—ममापीति ॥२॥

प्राणी वाग्देवतारूप ब्रह्म से ही जाने जाते हैं । इसलिए हे सम्राट् ! वाग्देवता को ही परम ब्रह्म समझना चाहिये । पूर्वोक्तरूप से इस ब्रह्म को जानने वाले का वाक् त्याग नहीं करती । सभी प्राणी इस पर वलिदानादि की वर्षा करते हैं । जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह देवाभिमानो होकर पुन शरीर के विनष्ट हो जाने पर देवताओं को ही "अप्येति" यानी प्राप्त होता है । तब विदेहराज जनक ने कहा—इस ब्रह्मविद्या के बदले "हस्त्युपभ सहस्रम्" आपको हाथी के समान बछड़ों की जन्म देने वाली एक हजार गौएँ देता हूँ । (जनक द्वारा ऐसा कहे जाने पर) वे याज्ञवल्क्य बोले—मेरे पिताजी कहा करते थे कि "अननुशिष्य" यानी शिष्य को बिना शिक्षा दिये भयवा बिना कृतार्थ किये शिष्य से धन नहीं लेना चाहिए । मेरा भी ऐसा ही निदचय है ॥ २ ॥

"यदेव त कश्चिदब्रवीत्" जो किसी आचार्य ने तुम्हें कहा है, (वह सुनें) शुल्ब की सन्तान

१ आचार्य । २ उपदेशस्य सदसत्परीक्षापर्यम् । ३ वायुदेवतैव । ४ जनकेनैवमुक्त । ५ शिक्षामकृत्वा ।
६ कश्चित्तमाह—शिष्यमिति ।

ऋविद्यानिष्क्यार्यमिति । अत्राद्वैतिकाचार्यास्तयाहि—“हस्त्युपभमिति चोक्तया भण्यते गुरुदक्षिणा । स च तां नाग्रहीदतां पिता न इति हेतुगो ॥ नन्वनुशिष्य एवाय पूर्वोत्तरनुशासनं । पितुव्रतोपरोधोऽत्र नातः कश्चन विद्यते ॥ नाऽऽत्मविद्यातिरेकेण पितुर्वस्त्वन्तरे यत । असमाप्ते पुमर्थस्य मत् नास्यानुशासनम् ॥ यस्मिञ्जाते-
१ स्थित जात कृतमाप्त च कामितम् । तिर्यक्षित च सत्यवत पितुस्तदनुशासनम् ॥ यतो वस्त्वन्तरं नान्यदात्मनो विद्यते परम् । सम्यक्त्वज्ञानमेवातस्तदग्यत्र मुधा मति ॥ आत्मज्ञानोदयार्थं याज्ञवल्क्योऽप्यतोऽब्रवीत् ।

'ऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽन्नवीदित्येकपाद्वा एतत्समा-
डिति 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य 'प्राण एवाऽऽयतन-
'माकाशः प्रतिष्ठा प्रियमि'त्येनदुभासीत 'का प्रियता
याज्ञवल्क्य 'प्राण एव समाडिति होवाच प्राणस्य वै
समात्कामायायाज्यं याज्यत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृहणा-
त्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव

है । नि सन्देह प्राण ही ब्रह्म है, क्योंकि प्राणरहित पुरुष से लोक का क्या हित हो सकता है ? पर क्या उस शील्वायन ने प्राणरूप ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को बतलाया ? जनक ने कहा—नहीं । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन् ! तब तो एक पाद ब्रह्म का ही यह उपदेश है । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! कृपया उम अवशिष्ट तत्त्व को माप ही मुझे बतलावें कि प्राणब्रह्म का आयतन और प्रतिष्ठा क्या है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—प्राण ही उसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है (आयतन बतलाते समय प्राणादि शब्द करण ग्रथं मे प्रयोग किये गये हैं) । इसकी उपासना प्रियरूप से करनी चाहिये क्योंकि "प्रिय" यह उसका चतुर्थं पाद है । तब जनक ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! प्रियता क्या

ब्रह्मेति प्राणो वायुर्देवता पूर्ववत् । प्राण एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठोपनिषत्प्रियमि-

यथा वागग्निर्देवता तद्वदित्याह—पूर्ववदिति । प्राण एवाऽऽयतनमित्यत्र प्राणशब्द 'करणधिययः ।

शील्वायन उदङ्क्ल नाम आचार्यं ने कहा है कि प्राण ही ब्रह्म है । प्राण वायु देवता है ऐसा पूर्वमन्त्र की तरह समझना चाहिये । प्राण ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है । इसकी 'प्रिय' इस रूप से

१ शरीरम् । २ विष्वपि कालेष्वायमम् । ३ चतुष्पाद्ब्रह्म जानस्त्वम् । ४ अध्याय प्राण — वायुमहित ध्राणेन्द्रियम् । ५ ब्रह्माकृताहोऽन्तर्धामि । ६ अनयोपनिषदा नाम्ना । ७ आयतन-प्रतिष्ठावदुपनिषद्भिन्नोताभिन्नोपास्यादिति प्रश्न । ८ अभिप्रासेत्युत्तरम् । ९ वायुवृत्तिविशिष्टध्राणेन्द्रियपर ।

उपासनान्यशेषाणि तथा कर्माण्यशेषत् ॥ ३०-३५ ॥ इति । हस्तीत्यादि व्याचष्टे—हस्तीति । शिष्य कृतार्थम-
कृत्वा ततो दक्षिणा न ब्राह्मेति पितृमम चाभिप्रायो न च त्वमद्यापि कृतार्थं परधीविद्वादतस्त्वतो दक्षिणा न
प्राहोत्याह—पितरिति । राजदत्तगोपनादानेऽपि पितृव्रतमङ्गो नास्तीति सङ्कोते—नर्बिति ॥ तत्त्वज्ञानादन्यत्र
पुमर्थासमाप्तस्तस्मादेव भुक्तिमाभासदनुशासनं पितृविवक्षितं तन्नोक्तानुशासनात् कृतार्थं तति परिहरति—
नाऽऽमेति ॥ पितुरिष्टमनुशासनमेव स्पष्टयति—यस्मिन्निति ॥ न केवलं पितुरेवैतन्मतं किंतु ममापीत्याह—
यत् इति । आत्मनोऽन्यद्वस्तु स्वतन्त्रं परस्परं वा यतो नास्त्यतस्तद्धीरेव सन्त्यग्योस्तदन्वयं दृष्टिमिथ्या धीरिति
ममापि मतमतस्त्वनाऽऽश्चज्ञानवैकल्यात् कृतापत्तयम् ॥ तर्हि तदेवोपदेष्टव्यं किमित्युपासनाति मुनिरनुमोदते
तत्राऽह—आत्मज्ञानेति । यथा सर्वाणि कर्माणि विविदिषाभ्रुतेर्ज्ञानोदयार्थानि तथैवैतान्युपासनान्यतस्ता-
म्यनुमादितवानित्यर्थः ॥

समाप्तकामाय प्राणो वै समात्परमं ब्रह्म नैनं प्राणो
जहाति सर्वाण्येन भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवा-
नप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभ^७ सहस्रं
वदामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः
पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्यं हरेतेति ॥३॥

हे ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—प्राण ही प्रियता है क्योंकि हे राजन् ! प्राण के लिये अयाज्य (याग के अनधिकारी) पुरुष से भी यज्ञ कराते हैं तथा प्रतिग्रह के अयोग्य पुरुष से भी दान लेते हैं और जिस देश में जाने हैं, वहाँ पर चोरादि से वध की आशङ्का करते हैं। हे सम्राट् ! नि मन्देह यह सब प्राण के लिये ही होता है। अतः हे राजन् यह प्राण परब्रह्मरूप है। जो इस प्रकार जान कर उपामना करता है, उसे प्राण नहीं छोड़ता। सभी भूत उसका अनुसरण करते हैं। यह उपामक देव होकर देवों को प्राप्त होता है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! इस उपदेश के बदले हाथी के समान बछड़े जनने वाली एक हजार गौएँ देता है। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता की यह मान्यता रही है कि शिष्य को उपदेश से वृत्तार्थ किये बिना उनकी भेंट को स्वीकार नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

त्येनदुपासीत । कथ पुनः प्रियत्व, प्राणस्य वै हे सम्राट्कामाय प्राणस्यार्थायायाज्यं
याजयति पतितादिकमप्यप्रतिगृह्यास्याप्युपादेः प्रतिगृह्यात्यपि तत्र तस्या दिशि वधनि-
मित्तमाशङ्क वधाशङ्कृत्यर्थो या दिशमेति तस्कराद्याकोर्णा च तस्या दिशि वधाशङ्का
तच्चैतंसर्वं प्राणस्य प्रियत्वे भवति प्राणस्यैव सम्राट्कामाय । तस्मात्प्राणो वै
सम्राट्परम ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति । समानमन्यत् ॥ ३ ॥

पतितादिकमित्यादिपदम^१कुल्लोनग्रहायंम् । उपो 'जानिविशेष । आदिशब्देन स्तेच्छगणो गृह्यते ॥३॥

उपासना करे । किन्तु इसका "प्रियत्व" किस प्रकार है ? हे सम्राट् ! 'प्राणस्य कामाय' यानी प्राण-
रक्षा के लिए 'अयाज्यम्' यानी पतितादिकों से भी याग कराते हैं, 'अप्रतिगृह्यास्य' यानी उग्रदि जाति
से भी प्रतिग्रह लेते हैं। इसके सिवा जिस दिशा में जाते हैं, "वधाशङ्कम्" मारे जाने की आशङ्का रखते
हैं क्योंकि चार और लुटेरों से आक्रान्त उन दिशा में वध की आशङ्का है। यह सब (अयाज्य याजनादि)
प्राण की प्रियता के कारण ही हुआ करता है, प्राण की रक्षा के लिए ही होता है। इसलिए हे सम्राट् !
प्राण ही परम ब्रह्म है। (पूर्वोक्त रीति में जानने वाले) उस (विद्वान्) को प्राण नहीं छोड़ता। शेष
अर्थ पिछले मन्त्र के समान ही है ॥ ३ ॥

१ रक्षणार्थ । २ पतितादिकमित्यन्वय । ३ महापातकिनम् । ४ अयाज्ययाजनादिकम् । ५
शौकृत्य । ६ जातिविशेष इति । क्षत्रियाच्छूद्रकन्याया जात कृ नेष्ट क्रूरकपरतिषथ शतनशूद्रस्वभाव-
पुमानुष इत्यर्थः ।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे वक्तुं वाष्ण-
श्चक्षुर्वं ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवाङ्मू-
यात्तथा तद्वाष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वं ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किञ्चि-
स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवी-
दित्येकपाद्वा एतत्समाडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य
चक्षुरेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत
का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव समाडिति होवाच
चक्षुषा वै समाट्पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्ष-
मिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वं समाट्परमं ब्रह्म नैनं

(फिर याज्ञवल्क्य ने राजा से कहा—हे राजन् !) जो कुछ आप से किमी आचार्य ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने उत्तर दिया—हे याज्ञवल्क्य ! वृष्ण ऋषि के पुत्र वक्तुं ने मुझसे कहा था कि नेत्र ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—वृष्णपुत्र ने बहुत ठीक कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य के द्वारा शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को शिक्षा देवे, वैसे ही उस वाष्ण ने आप से कहा है। निःसन्देह नेत्र ही ब्रह्म है, क्योंकि न देखने वाले या नेत्रहीन पुरुष से क्या लाभ हो सकता है। पर यह तो बनलावे, क्या उसने उस नेत्रब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को भी बतलाया है ? जनक ने कहा—नहीं। इस पर याज्ञवल्क्य ! तो कृपया आप ही उस अवशिष्ट तत्त्व को बतलावें। नेत्र ही प्रायतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी उपामना सत्यरूप से करनी चाहिये क्योंकि सत्य उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! सत्यता क्या है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—नेत्र ही सत्यता है

यदेव ते कश्चिद्वक्तुंरिति नामतो वृष्णस्यापत्यं वाष्णश्चक्षुर्वं ब्रह्मेत्यादित्यो
देवता चक्षुष्पु'पनिषत्सत्यम् । यस्माच्छ्रोत्रेण श्रुतमनृतमपि स्यान्न तु चक्षुषा दृष्टम् ।
तस्माद्दं समाट्पश्यन्तमाहुर्लोकं द्राक्षीस्त्वं हस्तिनमिति स चेदद्राक्षमित्याह तत्सत्यमेव ।

चभ्रुंश्लेष सत्यत्वं साधयति—यस्मादिति । *उक्तमेवोपपादयति—यस्त्विति ॥४॥

तुमसे किसी आचार्य ने जो भी कहा है (वह हम सुने)। वृष्ण के पुत्र वाष्णवक्तुं नाम वाले आचार्य ने मुझसे कहा है कि आदित्य ही ब्रह्म है। चक्षु अधिकरण में अधिष्ठातृ देवता आदित्य है; आदित्य ब्रह्म की 'सत्य' यह उपनिषत् है क्योंकि कर्णेंद्रय से सुना हुआ मिथ्या हो सकता है, किन्तु आँखों से देखा हुआ मिथ्या नहीं हो सकता है। इसलिए हे समाट् ! देखने वाले से कहते हैं—क्या तुमने

चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा
 देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभ^७ सहस्रं
 ददामीति होवाच जनको वंदेहः स होवाच याज्ञ-
 वल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ४ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभी-
 विपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्म^७ इति यथा मातृमान्पितृ-
 मानाचार्यवान्भूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै
 ब्रह्म^७ इत्यशृण्वतो हि कि^७ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्या-
 ऽऽयतन प्रतिष्ठा न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्समाडिति

क्योंकि हे राजन् ! नेत्र से देखने वाले को जब पूछते हैं क्या तुमने देखा है, तब यदि वह कहे कि हाँ मैंने देखा है तो वह बात सत्य मानी जाती है । हे सम्भ्राट् ! नेत्र ही परब्रह्म है । जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है उसे नेत्र त्यागता नहीं । सभी प्राणी उसका धनुमरण करते हैं और वह देव होकर देवो को प्राप्त करता है । इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! इसके बदले मैं आपको हाथी के समान बछड़ों को उत्पन्न करने वाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ । याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह सिद्धान्त रहा है कि शिष्य को कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं लेना चाहिये ॥ ४ ॥

(तत्पश्चात् पुन याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन् !) आपसे जो कुछ किसी आचार्य ने कहा है, उसमें सुनना चाहता हूँ । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! भारद्वाज गोत्र मे उत्पन्न गर्दभीविपीत ने मुझसे कहा या कि श्रोत्र ही ब्रह्म है । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—उसने बहुत ठीक कहा है । जैसे माता, पिता और आचार्य से पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को बतलावे, वैसे ही गर्दभीविपीत ने आप से कहा है । नि सन्देह श्रोत्र ही ब्रह्म है क्योंकि न सुनने वाले या बधिर पुरुष से लोक का क्या हित हो सकता है । पर यह तो बतलावे कि उससे उस 'श्रोत्र' ब्रह्म के आयतन

भवति । यस्त्वन्यो ब्रूयादहमश्रोयमिति । तद्व्यभिचरति । यत् चक्षुषा दृष्टं तद्व्यभि-
 चारित्वात्सत्यमेव भवति ॥ ४ ॥

यदेव ते गर्दभीविपीत इति नामतो भारद्वाजो गोत्रतः श्रोत्रं वै ब्रह्म^७ इति । 'श्रोत्रे
 हाथी दखा है ? यदि इस पर वह कहे कि देखा है, तो वह सत्य होता है । यदि द्रष्टा से भिन्न कोई
 बहे—मैंने सुना है तो उसमें व्यभिचार या सकता है । किन्तु चक्षु द्वारा देखा हुआ व्यभिचरित होने
 के कारण वह सत्य ही होता है ॥ ४ ॥

स च नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवाऽऽयतनमाकाशः
 प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत काऽनन्तता याज्ञवल्क्य
 दिश एव समाडिति होवाच तस्माद्दं समाडपि यां कां
 च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि
 दिशो दिशो वं सन्नाट्श्रोत्रं श्रोत्रं वं सन्नाट्परमं
 ब्रह्म नैनं श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति
 देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यु-
 षभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स
 होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽनन्यत नाननुशिष्य
 हरेतेति ॥५॥

घोर प्रतिष्ठा को बतलाया है। जनक ने कहा—नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज ! यह उपदेश तो एक पाद ब्रह्म का है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! तब तो एक पाद ब्रह्म का है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! तब तो भ्रवशिष्ट तत्त्व का उपदेश प्राप्त ही मुझे करें। याज्ञवल्क्य ने कहा—श्रोत्र ही इसका आयतन है, आकाश ही इसकी प्रतिष्ठा है। इस श्रोत्र ब्रह्म की अनन्तरूप से उपासना करनी चाहिये क्योंकि “अनन्त” यह उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! अनन्तता क्या है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन् ! दिशाएँ ही अनन्तता हैं। हे राजन् ! इसलिए कोई भी जिस किमी दिशा में जाता है तो वह उसका अनन्त नहीं पाता क्योंकि दिशाएँ ही अनन्त हैं। हे राजन् ! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं और हे सन्नाट् ! श्रोत्र ही परब्रह्म है जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है, उसे श्रोत्र कभी नहीं छोड़ता। सभी भूत भेंट आदि लेकर उसका अनुसरण करते हैं तथा वह देव होकर देवों का अनुसरण करता है। इस रहस्यमय बात को सुनकर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! मैं इसके बदले में आपको हाथी के समान बछड़े जनने वाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। उस याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह सिद्धान्त था कि शिष्य के उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन न लेवे ॥ ५ ॥

द्विदेवताऽनन्त इत्येनदुपासीत । काऽनन्तता श्रोत्रस्य । दिश एव श्रोत्रस्याऽनन्त्यं
 यस्मात्सस्माद्दं सन्नाट्प्राचीमुदीचीं वा यां कांचिदपि दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं

तुमसे किसी आचार्य ने जो भी कहा है (वह हम सुनें) । (जनक बोले—) गोत्र से भारद्वाज, गर्दभीविपीतनाम के आचार्य ने मुझे बतलाया है—‘श्रोत्र ही ब्रह्म है। श्रोत्राधिकरण में श्रोत्राभिमानी दिग्देवता है, उसकी ‘अनन्त’ इस रूप से उपासना करनी चाहिये। श्रोत्र की अनन्तता क्या है ? हे सन्नाट् ! क्योंकि दिशाएँ ही श्रोत्र की अनन्तता हैं, इसलिए पूर्व या उत्तर किसी भी दिशा की ओर

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृण्वामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो
जावालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्य-
वान्ब्रूयात्तथा तज्जावालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो
हि किञ्च स्यादित्यब्रवीत् त्वे तस्याऽऽयतन प्रतिष्ठां न
मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्प्रतिष्ठति स वै नो ब्रूहि
याज्ञवल्क्य मन एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द
इत्येनदुपासीत काऽऽनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्प्र-
तिष्ठति होवाच मनसा वै सम्प्रतिष्ठतिस्त्रियमभिहार्यते तस्यां
प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्प्रतिष्ठति

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन् !) जो कुछ भी आपसे किसी आचार्य ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जवाला के पुत्र सत्यकाम ने मुझसे कहा था कि मन ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—उसने उचित कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य के द्वारा पूर्ण शिक्षा प्राप्त पुरुष अपने शिष्य से बड़े, वैसे ही सत्यकाम ने आपसे कहा है। निःसदेह मन ही ब्रह्म है, क्योंकि मन के बिना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। पर यह तो बतलावें, उस सत्यकाम ने क्या उस मनोब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को भी बतलाया है ? जनक ने कहा—नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज ! तब तो यह उपदेश एक पाद ब्रह्म का ही है। इस पर जनक ने प्रार्थना की—हे याज्ञवल्क्य ! उस अवशिष्ट तत्त्व का उपदेश आप ही करें। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्प्रतिष्ठति ! मन ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। यह मनोब्रह्म की उपासना आनन्दरूप

गच्छति कश्चिदपि । अतोऽनन्ता हि दिशः । दिशो वै सम्प्रतिष्ठोत्रम् । तस्माद्दिगानन्त्य-
मेव श्रोत्रस्याऽऽनन्दम् ॥ ५ ॥

सत्यकाम इति नामतो जबालाया अपत्य जावालः । चन्द्रमा मनसि देवता ।

दिशामानन्त्येऽपि श्रोत्रस्य किमाघातं तदाह—दिशो वा इति ॥५॥

जाते हुए उसका अन्त नहीं है। अतः दिशाया की अनन्तता सिद्ध हो जाती है। हे सम्प्रतिष्ठति ! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं, अतः दिशाया का आनन्द ही श्रोत्र का आनन्द है ॥ ५ ॥

जवाला के पुत्र जावाल सत्यकाम नामक आचार्य थे। (उन्होंने मुझ बतलाया) मन में चन्द्रमा

१ दिशो वा दान—कथमेतत् । शृणु आकाशमेव तत्तत्प्रदेशसम्बद्धं सत् तत्तद्दिशाया सभूतं तदभिरिक्तविक-
सङ्गत्वे प्रमत्ताभाववतो न कश्चिदनुपपत्तिरित्यर्थः । २ तस्माद्—दिशामेव श्रोत्रत्वात् । ३ मनस्य-
धिकरणे तदभिमानि चन्द्रदेवतास्य मनोब्रह्म ।

ब्रह्म ननं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो
भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्य-
षभ^७ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वंदेहः स
होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य
हरेतेति ॥ ६ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृण्वामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः

शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमाना-

से करनी चाहिये, क्योंकि 'भ्रानन्द' यह उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! भ्रानन्दता क्या है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन् ! मन ही भ्रानन्दता है क्योंकि पुरुष मन से ही स्त्री को चाहता है और उममे अपने अनुरूप पुत्र उत्पन्न करता है। वह भ्रानन्दप्रद है। अतः हे सम्राट् ! नि.सदेह मन ही परब्रह्म है। जो पुरुष ऐसा जानकर उस मनाब्रह्म की उपासना करता है, उसे मन कभा नहीं छोड़ता। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं और वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! मैं इसके बदले हाथी के समान बछड़ा को जन्म देने वाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह मत रहा है कि शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसकी भेट न सेवे ॥ ६ ॥

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन् !) जो कुछ भी किसी आचार्य ने आप से कहा है—उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने उत्तर दिया—हे याज्ञवल्क्य ! शाकल्युग्र विदग्ध ने मुझसे

भ्रानन्द इत्युपनिषत्^१ । यस्मान्मन एवाऽऽनन्दस्तस्मान्मनसा वै सम्राट्स्त्रियमभिकामय-
मानोऽभिहार्यते^२ प्रार्थयत इत्यर्थः । तस्माद्यां स्त्रियमभिकामयमानोऽभिहार्यते तस्यां
प्रतिरूपोऽनुरूपः पुत्रो जायते स 'भ्रानन्दहेतुः पुत्रः स येन मनसा 'निर्वर्त्यते तन्मन
भ्रानन्दः ॥ ६ ॥

विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति । 'हृदयं वै सम्राट्सर्वेषां भूतानामायतनम् ।

'तथाऽपि कथमानन्दत्वं मनसः संभवति तत्राऽह—स येनेति ॥६॥

देवता है। मानो ब्रह्म की 'भ्रानन्द' यह उपनिषत् है। क्योंकि मन ही भ्रानन्द है, इसलिए हे सम्राट् ! मन से स्त्री की कामना करते हुए 'अभिहार्यते' यानी उसकी प्राप्ति करता है। अतः जिस स्त्री की इच्छा करते हुए प्राप्ति करता है, उमीम "प्रतिरूपः" यानी अनुरूप पुत्र उत्पन्न करता है। पुत्र भ्रानन्द का हेतु है। वह जिस मन के द्वारा निष्पादित होता है; वह मन भ्रानन्द है ॥ ६ ॥

१. मनोब्रह्मण । २. प्रार्थयत इति—अस्य स्थाने प्रार्थयत इति पाठः साधीयात् प्रतिभाति । ३. भ्रानन्द-हेतुरिति—भ्रानन्दहेतुत्वाच्छ्रुत्यानन्द इत्युक्त इति भावः । ४. निष्पाद्यते । ५. हृदयाभिमानि प्रजापति-देवता हृदयम् । ६. हृदयस्थ स्थिततां साधयति—हृदयमिति । ७. उक्तनिषया पुत्रभ्रानन्दत्वेऽपि ।

चार्यवान्भूयात्तथा तच्छाकल्योऽन्नवीद्दयं वै ब्रह्म त्यहृ-
दयस्य हि किञ्च स्यादित्यन्नवीत्, ते तस्याऽऽयतन
प्रतिष्ठां न मेऽन्नवीदित्येकपाद्वा एतत्सञ्जाडिति स वै
नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवाऽऽयतनमाकाशः
प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञव-
ल्क्य हृदयमेव सञ्जाडिति होवाच हृदयं वै सञ्जाट्सर्वेषां
भूतानामायतनञ्च हृदयं वै सञ्जाट्सर्वेषां भूतानां
प्रतिष्ठा हृदये ह्येव समाट्सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि
भवन्ति हृदयं वै समाट्परमं ब्रह्म नैनञ्च हृदयं जहाति

कहा था, हृदय ही ब्रह्म है ! याज्ञवल्क्य ने कहा—शाकल्य का कहा हुआ ठीक ही है। जैसे माता, पिता और आचार्य से पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को उपदेश करे, वैसे ही शाकल्य ने किया है। नि.सन्द्देह हृदय ही ब्रह्म है क्योंकि हृदयशून्य पुरुष को क्या लाभ हो सकता है। पर आप यह बतलावें कि उस शाकल्य ने हृदयब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाए हैं? जनक ने कहा—नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज ! यह उपदेश एक पाद ब्रह्म का ही है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! तब तो उस अवशिष्ट तत्त्व को आप ही बतलावें। याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय ही आयतन है, और आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी उपासना स्थितिरूप से करनी चाहिये। जनक ने पूछा—स्थितता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन् ! हृदय ही स्थितता है। हे सम्राट् ! हृदय ही सम्पूर्ण भूतों का आयतन है और हृदय ही सबका आश्रय है क्योंकि सभी भूत हृदय में ही

नामरूपकर्मत्मकानि हि भूतानि हृदयाश्रयाणीत्यवोचाम शाकल्यब्राह्मणे हृदयप्रतिष्ठानि चेति । तस्माद्ब्रह्मये ह्येव सञ्जाट्सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति । तस्माद्ब्रह्मदयं

— कथं हृदयस्य सर्वभूतायतनत्वं तत्प्रतिष्ठातृत्वं च तदाह—नामरूपेति । तस्मादिति शाकल्य-
न्यायपरामर्शः । भूतानां हृदयप्रतिष्ठत्वे फलितमाह—तस्माद्ब्रह्मदयमिति ॥७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां चतुर्थाध्यायस्य —
प्रथमं ब्राह्मणम् ॥११॥

। विदग्धशाकल्य ने “हृदय ही ब्रह्म है” ऐसा मुझे उपदेश किया है। हे सम्राट् ! सभी भूत प्राणियों का आश्रय हृदय है। नाम, रूप और कर्मत्मक भूत प्राणी हृदय के आश्रित रहते हैं। और हृदय में प्रतिष्ठित हैं—ऐसा शाकल्यब्राह्मण में प्रतिपादन किया जा चुका है। इसलिए हे—

१. हृदयम् आध्यात्मिकमन्त्र करणम् तदाश्रयो बपुरवयवः पलनितयप्याहृ. २. शाकल्यब्राह्मणोक्तयुक्तेः । ३. अवतरणोक्तार्थम् ।

सर्वाण्येन भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य
एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति
होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता
मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य

प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

(अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम्)

'जनको ह - वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु

स्थित है। हे महाराज ! हृदय ही परब्रह्म है। इस प्रकार जानता हुआ जो कोई इस हृदयब्रह्म की उपासना करता है, उस मूर्ख को हृदयब्रह्म कभी छोड़ता नहीं और सभी प्राणी उसी के पास जाते हैं। वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है। तब जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! मैं आपको हाथी के समान बछड़े जनने वाली एक हजारा गौएँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह सिद्धान्त था, कि शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसके धन को स्वीकार करना उचित नहीं है ॥ ७ ॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

विदेहराज जनक ने राजसिंहासन से उठ याज्ञवल्क्य के समीप जाकर कहा—हे याज्ञवल्क्य !

स्थितिरित्युपासीत हृदये च प्रजापतिदेवता ॥७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे चतुर्थाध्यायस्य

प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

जनको ह वैदेहः । यस्मात्सविशेषणानि सर्वाणि ब्रह्माणि जानाति याज्ञवल्क्य-

'पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे' कानिचिदुपासनानि ज्ञानसाधनान्युक्तानि । इदानीं ब्रह्मणस्तेजस्य जागरा-

सम्राट् हृदय मे भी सभी प्राणी प्रतिष्ठित रहते हैं। इसलिए हृदय की "स्थिति" इस रूप से उपासना करे। हृदयाधिकरण मे हृदयाभिमानी प्रजापति देवता है ॥ ७ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् चतुर्थाध्याय मे प्रथम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १ ॥

१. जनको हेति । "द्वितीये ब्राह्मणे जाग्रत्स्वप्नसुप्तिमुखाभिन्नम् । आत्मानं शास्वतो राजा यथाविभ्युपसन्नवान्" ॥

वा० सा० १ ॥ इति । "उपासनानां सर्वेषामेकात्म्यज्ञाननिष्ठता । ब्रह्मविद्याधिकारत्वादित्येतदधुनोच्यते"

॥ वा० १ ॥ ब्रह्मविद्याप्रकरणस्योपासनां तद्द्वारा (ब्रह्मविद्याद्वारा) मुक्तिफलत्वं यत्तुमिदं ब्राह्मणमित्यर्थं ॥

२. हृदयाधिकरणे तदभिव्यानिप्रजापतिदेवता ब्रह्मत्वेन चिन्तनीया । ३. सविशेषणानि—आपत्तनादिविशेषण-

वहितानि । ४. ब्रह्माणि—वाक्प्राणबहु, श्रोत्रमनोहृदयास्पाणि । ५. पराचायं ब्राह्मणे । ६. वट् ।

याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण-
हान्तमध्वानमेष्ट्यन्त्यं वा नावं वा समाददीतैवमेवैता-
भिरुपनिषद्भिः समाहितात्मास्येवं* वृन्दारक आढ्यः

भाषको नमस्कार है, प्राप मुझे उपदेश करें । (ज्ञानित्वाभिमान त्यागकर शिष्यभाव से घाये हुए जनक के प्रति) याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन् ! जैसे लम्बे मार्ग से चलने वाला पुरुष रथ या नौका का आश्रय ले, वैसे ही पूर्वोक्त उपासनाओं (के अनुष्ठान) से तुम अत्यन्त समाहित चित्त हो गये हो,

स्तस्मादाचार्यकत्वं हित्वा जनकः कूर्चादासनविशेषाद्दृश्याद्योपसमीपमवसर्पन्पादयोनि-
पतन्नित्यर्थः । उवाचोक्तवान्मरुते तुभ्यमस्तु हे याज्ञवल्क्यानु मा शाध्यनुशाधि मामित्यर्थः ।

द्विद्वारा ज्ञानार्थं ब्राह्मणांतरभवतारयति—जनको हेति । राज्ञो ज्ञानित्वाभिमाने शिष्यत्वविरोधिन्य-
पनीते मुनि प्रति 'तस्य शिष्यत्वेनोपसर्पति दर्शयति—यस्मादिति । नमस्कारोक्तेर'दृश्यमुपगम्यस्यति—
अनु मेति । 'अभीष्टमनुशासनं कर्तुं' प्राचीनज्ञानस्य 'फलाभासहेतुत्वोक्तिद्वारा परमफलहेतुरात्मज्ञान-

“जनको ह वैदेहः” (इम मन्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ किया जाता है) । क्योंकि याज्ञवल्क्य
भाष्यतनादि विशेषणों के सहित (वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र मन हृदयास्यरूप) ब्रह्म को जानता है,
इसलिए कुरिस्त ज्ञानित्वाभिमान को छोड़कर जनक “कूर्चादुपावसर्पन्” यानी कूर्चासनविशेष से
ठठकर याज्ञवल्क्य के समीप जा करणों में गिरकर “उवाच” अर्थात् बोले—हे याज्ञवल्क्यजी !
भाषको नमस्कार हो । “अनु मा ध्यावि” अर्थात् मुझे शिक्षा यानी उपदेश दीजिए । “शाधीति” इसमें

१ आचार्यकत्वं—कुरिस्त ज्ञानित्वाभिमानित्वम् । २ कूर्चादिर्येषा त्यज्योपे पञ्चमीति सूचयति—
उत्पायति । समावितोपदेशलाभापमिति शेष । ३ पादयोनिपतन्निनि । त्रिजासुभिर्मंदमानादि श्ववत्वाऽऽचार्य-
तेषां कार्यं । “आचार्यवान् पुरुषो वेदः”, “आचार्योपासनं ऋषिभिरुपनिषत्” इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्य आचार्योपासनस्य
ज्ञानार्थत्वस्य मुषिबद्धत्वादित्यनेन सूचितम् । ४ अनुशाधीति—शिष्या येन विनाऽऽमृतार्थं इत्युक्तं स्वया तत्तत्त्व-
ज्ञानमुपदिशेति यावत् । ५ अपनीत इति—नाऽननुशिष्यं हरेतेऽप्युत्प्रेष्यादि । तदुक्तं वार्तिके—“अनुशिष्यापि
म नप धदा वैरुच्छन्तं नृपात् । अननुशिष्यहेतुत्वात् मतो राजस्तदाऽऽभवत् । यथांक्ता नानुशिष्यत्वेऽस्तीदृक्तदनु-
शासनम् । संभावितानुशिष्यार्थं सं राजोपसमाद ह” ॥ १-२ ॥ इति । गतिमेवानुवदति—यथोक्तेति ।
सर्वाविधमतिज्ञानान्तर राजा कि वृत्तवानिति बोधायनामाह—समावितेति । ६ राजः । ७ प्रयोजनम् ।
८ याज्ञवल्क्यः स्वाभीष्टमुपदेशम् । ९ पूर्वोक्तोपासनस्य । १० उपासनफलस्य नभवरतया फलाभासत्वोक्तिः ।

ऋषेव वृन्दारक इत्यादि । अत्र दशवार्तिकानि वर्तन्त—“एवं वृन्दारकः पूज्यः आढ्यो मानुषित्तयान् ॥
तथैवाधीतवेदस्य मुक्तः साधनसपदा । गतिसाधनवरवाच गन्तव्यमनुमीयते ॥ अध्यातमादिष्यवच्छेदाऽनुष्णमान
उपासते ॥ आविन्दिच्छादितो भूष यास्यति क्वेति मय्यताम् ॥ पञ्च य याज्ञवल्क्योऽज्ञ इतरस्यैव व गमिष्यति ।
सर्वस्यैवाऽऽश्रमभूतत्वात्गन्तव्यं न स पश्यति ॥ ननुक्तोपनिषद्भिर्हि गन्तव्यं प्रावप्रबोधितम् । देवो भूवेति वचसा
तत्स्वर्यादिह वृच्छयते ॥ नाह वैदेति च नृपो जानन्नप्यद्विवीक्ष्यम् । नैव दोषो मतोऽप्राचीष्टाऽभवत्यो नराधिपम् ।

सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व
गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ
वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु मे
भगवानिति ॥१॥

साय ही पूज्य, धनवान्, धधीतवेद तथा उक्त उपामना से युक्त भी हो। यह सब होने पर भी यह बतलाओ तो सही कि इतने साधनसम्पन्न हो, तुम इस देह से छूटकर कहाँ जाओगे? जनक ने कहा—हे भगवन्! जहाँ जाऊँगा, उसे मैं जानता नहीं। तब याज्ञवल्क्य ने कहा—अब मैं उस तत्त्व को तुम्हें अवश्य बतलाऊँगा, जहाँ तुम जाओगे। जनक ने कहा—भगवन् यदि मुझपर आप प्रसन्न हैं, तो उसे अवश्य बतलावें ॥ १ ॥

इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः । 'स होवाच याज्ञवल्क्यो यथा 'वै लोके हे सन्नाड्महान्तं
दोषमध्वानमेधयन्गमिष्यन्त्यर्थं वा स्थलेन गमिष्यन्नात्रं वा जलेन गमिष्यन्समाददीत।

मेवेति विवक्षित्वा 'तत्र राज्ञो जिज्ञासामापादयति—स हेत्यादिना । यथोक्तगुणसंपन्नश्चेदहं तर्हि

'इति' पद वाक्यपरिसमाप्ति के लिए है। उम याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सन्नाट्! लोकव्यवहार में जिस प्रकार 'महान्त' यानी लम्बे मार्ग को जाने वाला पुरुष स्थल मार्ग से जाने पर रथ और जलमार्ग से

१. मुमुक्षवे द्वय वाच्य ज्ञान तत्साधन च । तत्र ज्ञानसाधन राज्ञोऽस्तीति दृष्टान्तपूर्वक वक्ष्यतीत्याह—स होवाचेति । २. वै—प्रसिद्ध कश्चन । ३ अभिप्रेत्य आत्मज्ञाने ।

पूर्वभूमेर्मुच्यमान उक्तय का गमिष्यामि । दबतोपामनाद्यतज्जानोत्यर्थं विवक्षितम् ॥ उपासनानि सर्वाणि परविद्याधिधारत । क्रममुक्तिफलानीति क्व गमिष्यसिगीरत ॥ राजन्तु तदविजानान्नाह वेदेति पुत्रपते ॥६-१५॥ इति । एवमित्यादेरर्थमाह—एवमिति ॥ उक्तोपनिषत्क इत्यस्यार्थमाह—युक्त इति । आचार्येष्टकास्तुभ्यमुपनिषदोऽनो मुक्तिफलज्ञानपामरथा युक्तत्वात् स्व साधनमधिकृत्य प्रदृष्टव्योऽपीत्यर्थं । अस्तु तर्हि साध्यमधिकृत्य प्रश्नस्तथापि न तन्माने सोऽस्तीत्याह—गतीति ॥ पारिशेष्येण साध्यविशेषे प्रश्नं वदन्नन इत्यादेरर्थमाह—अन्यात्मेति ॥ स्वयं जानन्मुनी राजानमत्र किमिति पृच्छति तत्राऽऽह—पप्रच्छेति । गन्तव्य राजा न जानाति चेत् प्रति तद्व्याख्यातव्यमित्यभिप्रायोऽत्र शब्दार्थः । नाहमित्यादेस्तात्पर्यमाह—सर्वस्येति । उक्तोपास्तिकनस्यान्यादिभावस्य स्वरूपत्वादप्यस्य चाज्ञानादित्यर्थः ॥ गन्तव्यप्रश्नमाक्षिपति—नन्विति । गतिहेतुना गन्तव्यगन्तरेणाप्यवसानघातनार्थं हिशब्द ॥ न जानामीति प्रत्युक्तिरपि न युक्तत्याह—नाहमिति । प्रश्नप्रत्युक्त्याराक्षेप परिहरति—नैव इति । आक्षेपभावे वक्ष्यमाण हेतुमाह—एत इति । तत्र प्रश्नार्थे परिहृत्य प्रश्नस्वरूपमनुबधिति—अप्राक्षीदिति । उपास्तोना देवभावः साक्षात्फल तत्पूर्वमेवोक्तं ज्ञान च न च तत्र प्रश्नप्रत्युक्तौ ज्ञानद्वारा ब्रह्मभावोऽपि तासां फल तदिदानी पृच्छघते मुनिनेत्यर्थः ॥ वयं तासा धीद्वारा मुक्तिफलत्वं तदाह—देवतेति । आदिपदेन शुद्धिद्वारा धीसाधनं वयं गृह्यते ॥ प्रश्नोपपत्ति निगमयति—उपासनानीति ॥ प्रतिबन्धनोपपत्तिमाह—राज्ञस्त्विति । तदविज्ञानाद्ब्रह्मभावफलाज्ञानादित्यर्थः । इत् इत्यादेरर्थं स्वल्पे दशमित्वा भर्तुं प्रपञ्चमतमाह—“अन्ये गतिविवक्षां मुनेः प्रश्न प्रचक्षते ॥ साक्षाद्ब्रह्मविदप्येव नाऽऽत्माप्ती गतिविन्तुः । परमात्मैव गन्तव्यः परमात्मविदा ननु । अथ कः संशयो येन स तेनैव नियुज्यते ॥ गतिर्न विदिता तस्य तां स

एवमेवैतानि ब्रह्माण्येतामिह'पनिषद्भिर्द्युक्तान्युपासीनः समाहितात्माऽस्यत्यन्तमेतामिरुप-
निषद्भिः संयुक्तात्माऽसि । न केवलमुपनिषत्समाहित 'एवं घृन्दारक. पूज्यश्चाऽऽद्वयश्चे-
'श्वरो न दरिद्र इत्यर्थः । अर्धोतवेदोऽधीतो वेदो येन स त्वमधीतवेद उक्ताश्चोपनिषद्
'आचार्यैस्तुभ्यं स त्वमुक्तोपनिषत्क एवं सर्वविभूतिसंपन्नोऽपि सन्नभयमध्यम्य एव परमा-

कृतार्थत्वात्त मे कर्तव्यमस्तोत्याशाङ्क्याऽऽह—एवमिति । याज्ञवल्क्यो राज्ञो जिज्ञासामापाद्य 'पृच्छति—

जाने पर नीचा का आश्रय ले, उसी प्रकार तुम भी "एतामिरुपनिषद्भिः" इन उपामनाश्रो से युक्त
इन ब्रह्मो की उपासना करके "समाहितात्मा" यानी अत्यन्त समुत्तचित्त हो गया है, केवल उपासनाओं
से समुक्त नहीं है। इसी प्रकार "वृन्दारक" यानी पूज्य, "आदय" यानी लौकिकधनसम्पन्न है अर्थात्
दरिद्र नहीं है। तुम "अधीतवेद" वेद अध्ययन किये हुए हो, और "उक्तोपनिषत्कः" यानी छः
आचार्यों से उपनिषत् की शिक्षा प्राप्त किये हुए हो। इस प्रकार सम्पूर्ण विभूतियों से सम्पन्न होने पर

१ उपनिषद्भिः प्रजाप्रियसत्यानन्त्यानन्दस्थितानामभि । २ एवमिति—समाहितस्वदित्यर्थं इत्याह ।
वस्तुनो वर्तमानावस्याभिनायकोऽयमेवकारः । ३ लौकिकधनसंपन्न । ४ पदम् । ५ उक्तोपनिषत्क
इति । अनेन देववित्तवित्तोक्ता । तथा च मुक्तिकलकृत्मानमामया मुक्तत्वान् श्व साधनमधिकृत्य (साधनविषये)
प्रष्टव्योऽधीत भाव । ६ भयमध्यम्य—अविद्यातत्कार्यनिमग्न । ७ पृच्छतीति—ज्ञानसामर्थ्यात् सत्यामपि
प्रतिबन्धावशाद् राज्ञो ज्ञान चेन्न भविष्यति तद्दि तद्वश्यामीत्यानयवान् भुविस्तदस्ति न वेति बोद्धुं ज्ञानसाध्यां
प्रनादधोपामनकनभूतां मुक्तिं पृच्छतीत्यर्थः ।

तस्मै विवक्षति । एवमर्थमुपोद्धानमेव स कृतवान्मुनिः ॥ श्रुतो यद्यपि नैतस्यां श्रूयते गतिचोदना । तथाऽपि
गतिरेवेमुत्तरत्र स्फुटं हि तत् ॥ गतिविज्ञानवैकल्यात्परमात्मविद्विष्यति । न जाने क्व गमिष्यामि कथं वेत्य-
बधीनुप ॥ इति व्याचक्षते केचिदप्रत्ययेत महाविषय । श्रुत्यक्षरानुसारेण नापमर्शोऽत्र लभ्यते ॥ ब्रह्मवित्त्वे तु
राज्ञोऽप्य मिति नोपलभामहे । ग्रन्थे नानन्तरे यस्मादात्मज्ञानं लभोरितम् ॥ गत्यर्थो नापि च प्रदत्तं क्व
गमिष्यामिसिद्धयः । गन्तव्यं पृच्छत्येते यस्मात्तु पितृच्छिपिता गतिः ॥ यस्मात्सादित्युपक्रम्य य आत्मेत्युपसहृतः ।
सदन्त्यस्य सदात्मत्वाद्ब्रह्मणि स्यात् १६ गतिः ॥ गतिगन्तव्यगन्नादतोत्रप्रोत्तरमववत्या । ब्रह्मस्मिन् स्यात्तत्त्वाद्गति-
का परमात्मनि ॥ अन्देशो पृथिवी कृत्स्ना तेजोदेश तथा जलम् । यायुदेश तथा तेजो विद्यद्देशोऽग्निर्लोऽखिलः ॥
स्वायंदेशः परार्थोऽयं स्वप्नदक्षानववृत्तः । आत्ममात्रैकवायात्प्राप्तम् मुक्तौ स्याद्गतिस्तत्तत् । ब्रह्मैव सप्रदाप्नोति
ब्रह्मेति वचनं स्फुटम् । गन्तुगन्तव्ययोर्भेदे विद्विष्येत न सशयः ॥ क्रियाकारकभेदे हि गतिः सर्वत्र दृश्यते ।
गन्तव्य आत्मनि कुत क्रियाकारकसमव ॥ नैवात्र गतिरस्तीति स्पष्टमात्रमात्रसाधनम् । सर्वमात्मैव ब्रह्मैव तथाच
धृतिगामनम् ॥ तथोमात्रातिरेकेण व्यवधानान्तरं न च । यस्मादस्ति ततो मुक्तो नाऽऽत्मनो गतिरिष्यते ॥
मव्यात्मादिवरिष्येदाद्यथोक्तोपासनायथात् । विमुच्यमानं क्वेतस्व गमिष्यति वदात्तु मे ॥ नाहं तद्गुणवन्दे
यत्र माह्वाम्यत परम् । देवतावत्तना नाहं गन्तव्यं वेदि विचिन ॥ देवतावाचित्मात्रं हि स्वत् प्रायश्चित्तवानहम् ।
वक्तोऽगसाफलं नातो गन्तव्यं वेदि विचिन ॥ १५-३२ ॥ इति । गतिविषयार्थं जनक प्रति ब्रह्माप्तिमार्गं
वक्तुम् ॥ क्रिमिति उ प्रति गतिवैकल्यात् तत्र ब्रह्मवित्त्वात्प्राप्तिसामर्थ्यादित्येतरि सन्नवादिवाचक्याऽऽह—
सासादिति । परोत्रं प्रशनाद्येपमुपायमिति—परमात्मैवेति । अत्येव सतीत्यर्थः । सशब्दो राजविषयः । तेनेति
भुविनेत्येव ॥ तदीयं परिहारमाह—गतिरिति । उक्तं हि मयजन्तो वेद सर्वं न ह्यस्तिपती धार्यं छ पु

त्मज्ञानेन विनाऽऽकृतार्थं एव तावदित्यर्थः । यावत्परं ब्रह्म न वेत्सि । इतोऽस्माद्देहाद्विमुच्य-
मान एतामिनो रथस्थानीयामिः समाहितः क्व कस्मिन्गमिष्यसि किं वस्तु प्राप्स्यसीति ।
'नाहं तद्वस्तु भगवन्पूजावन्वेद जाने 'यत्र 'गमिष्यामीति । अथ यद्येवं न जानीये 'यत्र

इत इति । परवस्तुविषये गतेरयोगात्प्रश्नविषयं 'विवक्षितं संक्षिपति—किं वस्त्विति । राज्ञा स्वकीयम-
ज्ञत्वमुपेत्य शिष्यत्वे स्वीकृते प्रत्युक्तिमवतारयति—अथेति । 'तत्रापेक्षितमयशब्दसूचितं पूरयति—

भी परमात्मज्ञान के बिना तुम अविद्या और उसके कार्य में निमग्न हो अर्थात् तब तक तुम अकृतार्थ
ही हो, जब तक परब्रह्म के स्वरूप को नहीं जानते हो । तुम "इतः" अर्थात् इस देह से छूट कर इत

१. प्राप्स्यसीति । नित्यप्राप्तस्य ब्रह्मणः प्राप्तिस्त्वविद्याव्यवधानविषयेनोपचर्यते । औपघेन ज्वरादिविषये स्वरूपभूतस्वास्थ्यप्राप्तिवदिति ध्येयम् ।
२. नाहमिति—उक्तोपास्तिफलस्यागत्यादिभावस्य स्वरूपतया (संपन्नतया) प्राप्त्वभावादान्यस्य (फलस्य) चाज्ञानादिति भावः ।
३. यत्र गतः कृतार्थः ।
४. स्यामित्यर्थः ।
५. यत्रैर्यादि—यत्र गमिष्यमीति वक्ष्यमाणस्यैव विवरणमिदम् ।
६. अभिप्रेतम् ।
७. प्रतिवचनवाक्ये ।

तद्गंनेन परिज्ञोष्य इति गतिविवक्षिता चेतैवोच्यतां किं प्रवनेनेत्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । गतिकथनायं
क्व गमिष्यसीत्येवं पृष्ठवानित्यर्थः । मायं बक्तुमुपोदधातः प्रश्न इत्ययुक्तमिच्छो हेत्यादि प्रतिवचने गत्यनिर्देशा-
दित्याशङ्क्याऽऽह—श्रुताविति । सैव पृच्छधमानेत्यत्र हेतुमाह—उत्तरत्रेति । येषां हृदयादूर्वा नाशुच्चरतीत्यत्र
गतिवचनस्य स्पष्टत्वादित्यर्थः ॥ नाहमित्यादिवाक्यस्य परोक्षमर्थमाह—गतीति । यथाऽऽहुर्बर्जनापि परमात्मानं
दर्शनमागंस्त्य परोक्षत्वादाहेति ॥ परपक्षमुत्तरहरति—इति व्याचक्षत इति । श्रुतेरनुपपत्तेर्वा गतिप्रश्नकल्पना
नाऽऽह इत्याह—श्रुतीति । क्व गमिष्यामिवावयमत्रेति परामृश्यते ॥ ब्रह्मविदगन्तं ब्रह्म राजा जानात्यतस्त-
त्यदनानुपपत्तेर्गतिप्रश्न इति द्वितीयमाशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति । पूर्वब्राह्मणमेवात्र प्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह—ग्रन्थ
इति ॥ कथं श्रुत्यक्षरानुरोधेन गतिप्रश्नासिद्धिर्वाक्यशेषात्तदुपपत्तेरुक्तत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—गत्यर्थं इति ।
अपिचदाश्चावधारणे । उक्तमर्थमक्षरानुसारेण स्फोरयति—गन्तव्यमिति ॥ ब्रह्मात्मनोरैव श्रुतं तद्विरोधात्त-
द्विषयगत्यनुपपत्तेरच न गतिप्रश्नोपपत्तिरित्याह—गदिति ॥ ब्रह्मणोऽप्यच्येदस्ति तस्य तर्हि तादात्म्यं विषयं
नित्यतस्य गच्छस्य चाऽन्यस्यान्यत्वायोगात्तत्कर्म ब्रह्मणि गत्यनुपपत्तिस्तत्राऽऽह—गतीति ॥ अतःप्रोतरूपेण ब्रह्मणि
सर्वस्य समाप्तिं यदिदं सर्वमपिस्त्वित्यादिनोक्तं स्मारयति—अन्देशेति ॥ भूतानामोत्प्रोतभावेन नमसि पर्यवसानेऽपि
कर्म ब्रह्मणि गत्यभावस्तत्राऽऽह—स्वावैति । स्वप्नास्ये दर्शने दृश्यस्य इष्टुर्विद्योऽस्य तदतिरेकेणामाववचनो-
ऽनात्मा प्रतीच कल्पितोऽनोऽधिष्ठानात्ममात्रस्यैव तद्रूपत्वात्प्र नित्यमुक्ते परस्मिन्गतिर्भूतेत्यर्थः ॥ श्रुतिविरोधाच्च
तस्मिन्न गतिरित्याह—ब्रह्मैवेति ॥ प्रत्यग्ब्रह्मणि सत्ययोगे हेत्वन्तरमाह—क्रियेति । इष्टेर्विगानद्योतनार्थो
हिगब्दः ॥ न तस्येत्यादिना गतिनिषेधाच्च न तस्मिन्गतिरित्याह—नैवेति । इदं सर्वं यद्यमात्मा ब्रह्मैवेदं
सर्वमित्यादिश्रुतिविरोधाच्च न ब्रह्मात्मनि गतिरित्याह—सर्वमिति ॥ किंच ब्रह्मात्मनोरज्ञानमेव व्यवधानं तच्च
ज्ञानादपनीयते तत्कुलोऽत्र गतिरित्याह—तमोभावेति ॥ भवत्प्रपञ्चपक्षं निराकृत्य स्वपक्षमनुवर्तयति
इत्यादिवाक्यार्थमुक्तमनुवदति—अध्यात्मादीति । नि.संदिग्धमुत्तरं श्रोतुः सुखकरमिति दर्शयितुमाशुशब्दः ॥
प्रत्युक्तिमादत्ते—नाहमिति । तां व्याचष्टे—देवतेति । तदुपास्तिद्वारेत्यर्थः ॥ तदुक्तमपि कस्मात्त बुध्यते तथाऽऽह
—देवतावाप्तीति । भवता तावन्मात्रयोक्तत्वादिति हिशब्दार्थः । तदतिरिक्तमपि परंपरयोपास्तिफलं ब्रह्मत्वात्स्यं
मया विवक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—नाह इति । अभिप्रायमात्रेण विनोक्तमतिपश्मीर वस्तु दुर्ज्ञानमिति भावः ॥

'इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा
एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण'व परोक्ष-
प्रिया' इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥२॥

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा—यह जो दाहिनी आँख में पुरुष है । नि सन्देह यह इन्ध नाम वाला है, उसी प्रसिद्ध इम इन्धनामा सत्य पुरुष को "इन्द्र" ऐसे परोक्ष नाम से कहते हैं क्योंकि देवगण प्रायः परोक्षप्रिय होते हैं और प्रत्यक्ष वस्तु स ड्रेप करते हैं ॥ २ ॥

गतः कृतार्थः स्या अहं वै ते तुभ्यं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यस्यीति । ब्रवीतु मे भगवानिति,
यदि प्रसन्नो मां प्रति । शृणु ॥१॥

इन्धो ह वै नाम । इन्ध इत्येवंनामा । 'यश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति' पुरोक्तं श्राद्धित्यान्तर्गतः
पुरुषः स एष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्नक्षरिण' विशेषेण व्यपस्थितः । स च सत्यनामा । तं वा

यद्येवमिति । 'आज्ञापनमनुचितमिति शङ्का वारयति—यदीति । प्रस्तादाभिमुख्यमात्मनः सूचयति'—
शृण्विति ॥ १ ॥

'विश्वतंजसप्राज्ञानुवादेन तुरीयं ब्रह्म दशंयितुमादौ विश्वमनुवदति—इन्ध इति । कोऽसा-
विन्धनामेनि चेतमाह—यश्चक्षुर्गिति । अग्निदेवतं पुरुषमुपस्थाऽप्यात्मं तं दशंयति—योऽयमिति । "तस्य
'पूर्वेस्मिन्नपि ब्राह्मणे प्रस्तुतत्वमाह—म चेति । प्रकृते पुरुषे विद्युया संमतिमाह—तं वा एतमिति ।

नौका और रथस्थानीय उपानामाद्यो से समुत्तचित्त होकर "क्व गमिष्यसि" यानी किस वस्तु की प्राप्ति करोगे ? (इस पर जनक बोले—) 'भगवन्' यानी हे पूज्य । मैं उस वस्तु को नहीं जानता, जहाँ जाकर कृन्धार्थ हो जाऊँगा । (याज्ञवल्क्य बोले—) यदि तुम ऐसी वस्तु को नहीं जानते, जहाँ जाकर कृतार्थता लाभ करोगे, तो मैं "ते" यानी तुम्हें बतलाता हूँ, जहाँ जाओगे । (जनक बोले—) हे भगवन् ! यदि मुझ पर आप प्रसन्न हैं, तो मुझे उपदेश कीजिए । (याज्ञवल्क्य जनक से बोले—) सुनो ॥ १ ॥

१ इन्धे दीप्यते स्थानाभोक्तृत्वेन जायते सदा स्फुरणादिनीन्धो ह वै नाम प्रसिद्धं । एष श्राद्धित्यान्तर्गतः पक्षुर्वै ब्रह्मोत्पादावृक्त इत्यर्थः । २ इति तदर्थमारुपय तस्य स्वमपरविवक्षयाऽऽह—योऽयमिति । ३. इव श्रद्धाऽप्यारणे । ४. अयोभयत्र मिष्टो लोभो हृष्टान्त । ५ वृ० उ० ४।१।४ । ६ विशेषेणैति । तथा चाक्त वार्तिके—"यस्यह हृष्टोऽतिशय कश्चित्स्याद्दक्षिणेऽक्षणि । अङ्गु' वा धीर्यवद्दृष्ट पृष्ठा प्रायेण दक्षिणम् ॥ दक्षिणाक्षिप्रहस्तस्याद्भोक्तृत्वप्रतिपत्तये" ॥ ३०-३८ ॥ इति । विश्वस्य पुरस्तामिनो भोक्तृत्वं भोक्तिव्यामिक्तं कश्चिद्व्यक्तस्य व्यक्तस्य दक्षिणे पक्षुषि तद्व्यक्ति श्रुत्यनुभवसिद्धा तेन तद्भोक्तृत्वसिद्धये विशेषोक्तिरिति फलितमाह—भोक्तृत्वेति ॥ ७ अवीरिवति प्रार्थनायामधीष्टे वा लोभे तु विधाविर्याह—आज्ञापनमिति । शिष्यस्य गुरु प्रतीर्यादि । ८ मुनि । ९. विश्वेति—विस्वाद्यनुवादेन वक्तव्यतया प्रति-
ज्ञातं तुरीयं ब्रह्म प्रतिपादयितुमादौ वैश्वानरभिन्नं विश्वं जाग्रदभिमानिन दशंयतीत्यर्थः । अथेत्यादिना यन्त्योक्तिं प्रतिज्ञाय तां विना किमिति जागरिताद्युत्तरियाभाद्रूप तादर्थ्येनेति मत्वा जाग्रदभिमानिन विश्वं दशंयति—इन्ध इतीति पाठान्तरम् । १० विश्वस्य । ११. अत्यमित्येनदुपामीतेत्यत्र वृ० उ० ४।१.४ ।

'अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी विराट् तयोरेष
स^१स्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा—यह जो बायें नेत्र में पुरुषाकार पुरुष है, यह पूर्वोक्त पुरुष की विराट् नामा स्त्री है । जो यह हृदय में आकाश है, उन दोनों पति-पत्नी के मिलने का स्थान है ।

एत पुरुष दीप्तिगुणत्वात्प्रत्यक्ष नामास्येन्ध इति तमिन्ध सन्तमिन्द्र इत्या चक्षते 'परोक्षेण । यस्मात्परोक्षप्रिया इव हि देवा. प्रत्यक्षद्विपः प्रत्यक्षनामग्रहण द्विपन्ति । 'एष त्वं वैश्वानरमात्मानं संपन्नोऽसि' ॥२॥

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी यं त्वं वैश्वानरमात्मानं संपन्नोऽसि तस्यास्येन्द्रस्य भोक्तुर्भोग्येवा पत्नी विराडन्नं भोग्यत्वादेव । तदेतदन्नं चात्ता चैकं मिथुनं स्वप्ने । कथम् । तयोरेव इन्द्राण्या इन्द्रस्य चेष सस्तावः सभूय यत्र संस्तवं कुर्वति

इन्ध व साधयति—दीप्तिरिति । 'प्रत्यक्षस्य परोक्षेणाऽऽश्रयाने हेतुगाह—यस्मादिति ॥ २ ॥

'एकस्यैव वैश्वानरस्योपासनार्थं "प्रासङ्गिकमिन्द्रचेन्द्राणां चेति मिथुनं कल्पयति—अथेत्यादिना । प्रासङ्गिकरूपानाधिकारार्थोऽयमशब्दः । यदेतन्मिथुनं जागरिते विश्वशब्दितं तदेवैकं स्वप्ने तंजसशब्द-धाच्यमित्याह—तदेतदिति । "तच्छब्दितं संजसमधिकृत्य पृच्छति—कथमिति । किं तस्य स्थानं पृच्छयतेऽन्नं वा प्रावरणं वा मार्गं चेति विकल्पाऽऽद्यं प्रत्याह—तयोरिति । संस्तवं संगतिमिति

"इन्धो ह वै नाम" अर्थात् वह 'इन्ध' इस प्रकार नाम वाला है । "चक्षु ही ब्रह्म है" इस प्रकार जिस आदित्यान्तर्गत पुरुष का पूर्वोक्त प्रथम ब्राह्मण के चतुर्थ मन्त्र में वर्णन किया था, वह यही है, जो दक्षिण नेत्र में विशिष्टरूप से स्थित है । वह सत्य नाम वाला है । दीप्ति गुण वाला होने से इसका प्रत्यक्ष नाम 'इन्ध' है । उम इस पुरुष को इन्ध होते हुए भी विद्वान् लोग 'इन्द्र' इस परोक्ष नाम से कहते हैं क्योंकि देवतागण प्रायः परोक्षप्रिय हैं, "प्रत्यक्षद्विप" यानी प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं । हे मन्त्राट् । यानी विश्वात्मा तुम वैश्वानर आत्मा को प्राप्त हो गये हो ॥ ३ ॥

एव जो यह वाम नेत्र में पुरुष रूप है, यह इसकी पत्नी है, जिस वैश्वानर आत्मा से तुम युक्त हो, उम इस भोक्ता इन्द्र की यह भोग्या पत्नी है, भोग्य होने के कारण विराट् अन्न है, स्वप्न में वह यह अन्न शरीर अर्थात् एक मिथुन होते हैं । किस प्रकार ? उन इन्द्राणी और इन्द्र का यह सस्ताव है ।

- १ अथैतदिति । एतद् दक्षिणेऽश्रयुक्त पुरुषरूपमेव वामेऽक्षणि वर्तमानं मद् अन्धोक्तस्येन्द्रस्य भोक्तुर्वैश्वानरस्य एषा पत्नी विराट् भोग्यम् । २ विद्वांस । ३ नाम्ना । ४ परोक्षप्रिया इति । देवानां परोक्षनामप्रियत्वे प्रत्यक्षनामद्विद्वत्त्वे च हेतुवर्तिके न्यरूपि । तथाहि—"मा ज्ञासिष्ट कथं नाम नामतत्त्वं बहिर्जनं । परोक्षनामग्रहणं तेन देवस्य रोचते" ॥ ४२ ॥ इति । बहिर्जनोऽशिष्टजनं तेन नामतत्त्वे (प्रत्यक्षनामनि) ज्ञाते सति सतेनैव व्यवहरेदिति भावः । ५ विस्वात्मा । ६ हे मन्त्राट् । ७ विराट्-पदस्य विवक्षितमर्थमाह—अन्नमिति । भोग्यमित्यर्थः । ८, नाम्ना । ९ एकस्यैवेति । वातिके यथा— "एकस्यैव हि देवस्य विभागं स्थानभेदेत । अग्नीशोमात्मना यृत्या ध्यानार्थमिह भगवन्" ॥ ४१ ॥ इति । स्थानमवस्थापद्मं चक्षुर्द्वयं च । विभागेतिकफलमाह—अग्नीति । १० इन्द्रशब्दप्रमत्तज्ञानतमिति वदन्ति । ११ मिथुनशब्दितम् ।

एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽर्थनयोरेतत्प्रावरणं यदेत-
दन्तर्हृदये जालकमिवार्थनयोरेषा सृतिः संचरणी
यैषा हृदयादूर्वा नाड्युच्चरति यथा देशः सहस्रधा

जो यह हृदय के भीतर लालरग का मांसपिण्ड है, यही इन दोनों का ग्रन्थ है और जो यह हृदय जाल के समान है, यही इन दोनों का प्राच्छादन (चादर) है एव जो यह हृदय में ऊपर की ओर नाड़ी जाती है, यह इन दोनों (इन्द्र इन्द्राणी) के प्रस्थान का मार्ग है। जैसे सहस्र भागों में विभक्त हुआ

अन्योन्य स एष संस्तावः । कोऽसौ । य एषोऽन्तर्हृदये आकाशोऽन्तर्हृदये हृदयस्य मांसपिण्डस्य मध्ये । अर्थनयोरेतद्वयमाम्बुमन्न नोज्य स्थितिहेतुः । किं तत् । य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डो 'लोहित एव पिण्डाकाराम्नो लोहितपिण्डः । अन्नं जग्धं द्वेषा परिणमते यत्स्थूल तद्यथा गच्छति । यदन्यत्तत्पुनरग्निना पच्यमानं द्वेषा परिणमते । यो मध्यमो रसः स लोहितपिण्डादिक्रमेण पाञ्चभौतिकं पिण्डं शरीरमुपचिनोति । योऽग्निष्ठो रसः स एष लोहितपिण्ड इन्द्रस्य 'लिङ्गात्मनो हृदये मियुनीभूतस्य । 'य तंजसमाचक्षते 'स तपोरिन्द्रेन्द्राण्योर्हृदये मियुनीभूतयोः सूक्ष्मासु नाडीष्वनुप्रविष्टः स्थितिहेतुर्भवति । 'तदेत-

यावत् । द्वितीय प्रत्याह—अप्रेति । अत्रातिरेकेण स्थितेरसभवात्तस्य वक्तव्यत्वादित्यशब्दार्थः । लोहितपिण्डं सूक्ष्माभ्ररसं व्याख्यातुं भक्षितस्यान्नस्य तावद्विभागमाह—अन्नमिति । यदन्यत्पुनरिति योजनीयम् । तत्रैतदप्याहृत्य यो मध्यम इत्यादिग्रन्थो योज्य । 'उपाध्वुपहितयोरेकत्वमाश्रित्याऽह—य तंजममिति । 'तस्याप्रवमुपपादयति—स तयारिति । व्याख्यातेश्च 'वाक्यस्याभिव्यक्त्यावत्त्वमाह—

जहाँ दोनों मिलकर एक दूसरे को स्तुति करते हैं, उभे सस्ताव कहते हैं। वह सस्ताव क्या है ? 'एषो अन्तर्हृदये' अर्थात् जो यह अन्तर्हृदये यानी मांसपिण्डरूपा हृदय के भीतर है। 'अर्थनयोरेतदन्नम्' अर्थात् इन दोनों का यह वक्ष्यमाण भोज्य स्थिति का हेतु है। वह क्या है ? जो कि यह मांस पिण्डरूप हृदय के भीतर 'लोहितपिण्ड' यानी रक्त वर्ण ही पिण्डाकार से युक्त है। खाया हुआ अन्न दो प्रकार से विकारभाव को प्राप्त होता है। जो स्थूल है, वह नीचे जाता है। अग्नि से पचाया जाकर दूसरा अन्न पुन द्विप्रकारक है। जो मध्यम रस है, वह रक्तादिक्रम से पाञ्चभौतिक पिण्डरूप शरीर को विकसित करता है और जो अणुतम रस होता है, वह हृदय में मियुनीभाव को प्राप्त हुए लिङ्गशरीरात्मिनी इन्द्र का लोहितपिण्ड है। जिसे तंजस कहते हैं, वह लोहितपिण्ड सूक्ष्म नाडियों में अनुप्रविष्ट होकर हृदय में मियुनीभाव को प्राप्त हुए उन इन्द्र और इन्द्राणी की स्थिति का कारण बनता है। अक्त अर्थ का ही धृति 'अर्थनयोरेतदन्नम्' इस अर्थ से कहती है। इसके अतिरिक्त दूसरा प्रावरण कहा

- १ रक्तवण एव । २ लिङ्गशरीरात्मिनी । ३ यमिति । अक्षरार्थ उपाध्वुपहित लोहितपिण्ड विवक्षित्वा लोहितपिण्डमित्येव इत्याह । लिङ्गात्मपरामशकत्वमपि यच्छब्दस्य सम्भवति घुदात्मनस्तु न तंजसत्वमित्यभिप्राय-मवतरणमिति पश्यात् । ४ लोहितपिण्डः । ५ उक्तमयज्जातं धृत्या । ६ रसत्वेनाख्यातुमिति यावत् । ७ उपाध्वुपहितपिण्डरूप इत्याह । ८ लोहितपिण्डस्य । ९ व्याख्यातेश्च वाक्यस्यावयवाभिव्यक्ता इति यावत् । उक्तोऽर्थो वाक्याविच्छेद इति यावत् ।

भिन्न एवम'स्थैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रति-
ष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदात्मवदासूवति ॐ तस्मादेश'
प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादा-
त्मनः ॥ ३ ॥

केश अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वैसे ही हिता नाम की ये नाड़ियाँ हृदय देश में अत्यन्त सूक्ष्मरूप से स्थित हैं । इन्हीं नाड़ियों के द्वारा यह अन्न रसमय जाता हुआ शरीर में सब जगह पहुँचता है । इसीलिये इस स्थूल शरीराभिमानी वैश्वानर आत्मा से यह सूक्ष्म शरीराभिमानी तैजस आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म प्राहार ग्रहण करने वाले के समान ही होता है ॥ ३ ॥

दुचप्रतेऽयैनयोरेतदन्नमित्यादि । किचान्यत् । अर्थैनयोरेत'त्प्रावरणम् । भुक्तवतोः स्वपतोश्च प्रावरणं भवति लोके 'तत्सामान्यं हि कल्पयति श्रुतिः । किं तद्विह प्रावरणम् । यदेतद-

त्वेतदिति । यदि प्रावरणं पृच्छ्यते तत्राऽऽह—किचान्यदिति । "भोगस्वापानन्तर्मयज्ञद्वार्यः । प्रावरणप्रदर्शनस्य प्रयोजनमाह—भुक्तवतोरिति । इहेति भोक्तृभोग्ययोरिन्द्रेन्द्राप्योक्तः हृदयजालक-

जाता है । यही इन इन्द्र और इन्द्राणी दोनों का परिधान है । लोकव्यवहार में भोजन करने वाले और सोने वाले का परिधान होता है । कर्मांक श्रुति लोकसामान्य की कल्पना करती है । यहाँ वह प्रावरण

१. अस्थैता हिता नामेति । अत्र सवरूपीत्वेन यैवेत्येकया नाड्योपक्रमणं भूयसीनामभिवानं तु भोक्तृवंशमात्रप्रविविक्ताहारतरत्त्वोपपादकतमेति ध्येयम् । वार्तिके पुनः श्रोत्रादीन्प्रतिषब्दाद्यन्नं बाहुयन्ति नाड्य इति प्रपञ्जादावेदयितुं बहूक्तिरिति न्यरूपि । अस्थ—पुरुषस्य देहस्यन्धिन्य एता नाड्यः । २. तैजस । ३. इवैवेति । इमावुभावपि ऋदावुवमाशौ । तथाहि—यथा प्रविविक्ताहारा विस्वस्तार्थं तैजसो न प्रविविक्ताहार एव किंतु प्रविविक्ताहारतर इव यथा च कारणात्मा प्राज्ञः प्रविविक्ताहारतर एव न तथा तैजसात्मा किंतु प्रविविक्ताहारतर इवेति । ननु प्राज्ञात्मवत्तैजसस्य प्रविविक्ताहारतरत्वमेव किं न स्यात्-प्राहुर्वार्तिके—“लिङ्गाहाराद्यभोग्यान्वतः प्राज्ञात्मनस्ततः । उपमार्थमिवेत्येतत्पदमत्र प्रयुज्यत इति” ॥ ६६ ॥ प्राज्ञात्मन इति आहार इति शेषः । ४. अन्तरप्रावरणमुच्यते । ५. पूर्वोक्तयोरिन्द्रेन्द्राप्योर्वैश्वमात्र परिधानम् । ६. लोकसामान्यम् । ७. भोगस्वापेति—अन्नस्थानाम्यामानन्तर्मयज्ञद्वार्यः ।

ऋतस्मादित्यादि भवतोऽत्यन्तमातृतीयकर्णिकासमाप्तेः । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—“प्रविविक्ततरोऽशांस-
स्तर्पयन्प्राणदेवताः । प्राप्नोति लिङ्गमाहारः स तस्येत्यभिधीयते ॥ धीयमानादितो देहाद्ब्रह्माद्यन्नेन भीतिकात् ।
प्रविविक्ततराहारो लिङ्गात्मास्य पुरोदितात् ॥ रसादिः प्रविविक्तः स्वातृतीयोऽदिव्यपेक्षया । रसादेरपि सूक्ष्मोऽय-
न्माहरो लिङ्गतृप्तिः ॥ यत् एवमतः प्राह तल्लिङ्गं स्थूलदहतः । प्रविविक्ततराहार श्रुतिः सूक्ष्माप्रसत्पतेः ॥
यतोऽर्धिसूक्ष्मो लिङ्गात्मा नातोऽय स्थूलदेहवत् । देहाद्देहान्तरं यच्छन्नेनचित्प्रातहन्त्यते ॥ इत्यनर्थकं केचिदेवार्थेन
विरोधतः । एवार्थस्वोपमानस्य इवार्थं चावधारणम् ॥ लिङ्गाहाराद्यभोग्यान्वतः प्राज्ञात्मनस्ततः । उपमार्थ-
मिवेत्येतत्पदमत्र प्रयुज्यते । कदम्बपुष्पवत्संज्ञा देवता हृदयाश्रया । बहिर्गतासु नाडीषु विपक्ता हृदयादधि ॥

न्तर्हृदये 'जालकमिवानेकनाडीछिद्रबहुलत्वाज्जालकमिव ।

अथैनयोरेषा सृतिमार्गं सचरतोऽनयेति संचरणी स्वप्नाज्जागरितदेशागमनमार्गः ।

योराधाराधेयत्वमविवक्षित 'तस्यैव तद्भावात् ।

मार्गश्चेत्पृच्छयते तत्राऽऽह—प्रयेति । नाडीभि शरीर ध्याप्तस्याप्तस्य प्रयोजनमाह—

क्या है ? यह जो हृदय के भीतर 'जालकमिव' अर्थात् अनेक नाडीछिद्रों की बहुलता के कारण जाल के समान है ।

तथा यह इन दम्पतियों की 'सृति' यानी माग है । 'सचरणी' अर्थात् इसस संचार करते

१ जालकमिवेति—वायानयनित्येषु । हृदयस्य जालकबद्धाने हनुमाह—अनेकेति । अनेकाश्च ता नाड्योऽनकनाड्यः । छिद्राणि बहुलानि यस्मिंस्तच्छिद्रबहुलम् । अनकनाडीभिर्मुक्तमनेकनाडीयुक्तम् । १३ तच्छिद्रबहुल च तद्बुद्ध्य तस्य भावस्तत्त्व तस्माद् जालकमिव भासमान हृदयमित्यथ । २ दम्पत्यो । ३. हृदयस्यैव जालकत्वादित्यथ ।

। यथेय देवता सर्वास्तथाऽन्या अपि देवता ॥ माधारणत्वात्सवामा वायस्य करणस्य च ॥ तत्रैकस्या यदा कार्यं दृष्टयादि स्यादुपस्थितम् । गुणभाव तदा यान्ति सर्वास्ता प्रति देवता ॥ नाड्यन्तरेष्वपि तथा सर्वासां सहतत्त्वतः । एष एव क्रमो ज्ञेयः प्राधान्यगुणभावयोः ॥ एव च सति यावरयो नाड्यो हृदयबन्धना । सवत्सराश्च तावन्वस्ते प्रज्ञापतयोऽनयः ॥ प्रतिभाग सम्भात्त्वात्पूर्वोक्तस्येह वस्तुन । देवताऽतो यथाऽध्यात्ममभिभूत तस्यैव सा ॥ अधिदेव च विन्वीय द्वैतकत्वेन विच्छिन्ना । यथाऽप्य नाड्येषु स्युः स्युरव्ययम सर्वतो गता ॥ अधिभूत तथाऽप्यैव वायुमय्य समन्तमा । एतस्मादेव नि सृष्ट्य शरीरात्सर्वतो गता ॥ अधिभूतात्मनेवाय नाडीलक्षणवरमेना । आध्यात्मैव जपरसर्वं स्थित आध्यात्मिक पुमान् ॥ नाड्येषु आध्यात्मिकस्येव त्रिभिर्देवात्मनस्तथा । विराजो रसमयो ज्ञेया प्रत्यशावसिनास्तथा ॥ आध्यात्मिकस्येव पुन कृत्स्नाऽध्यात्ममभिभूतयोः । अनन्तमिन्द्रायैषु समाप्ति-देवतात्मनः ॥ आध्यात्मिक परिच्छेदमुक्तदशनव मना । देवतासूपसहृद्य विराज्यपि च देवता ॥ विराज्य चापसहृद्य प्राणविज्ञानविग्रहे । हिरण्यगर्भे त चापि सर्वकारण आत्मनि ॥ अध्यात्मदेवता सर्वा हृदि नीत्वाऽऽत्मनस्ततः । हृदयादुक्तनाडीभिः सद्यध्यात्मयुग्मविग्रह ॥ रविहृत्प्रमद्यग यायात्ततो रग्मिभिरावृतः । हिरण्यगर्भमात्मानं ततस्तरकारणं बुध ॥ वैश्वानरात्तदात्मानं प्राप्यस्य हृदि तैजसम् । हिरण्यगर्भं स चापि प्राणात्मयुगसहृद्य ॥ प्राणशब्देन चाप्यत्र कारणत्माऽभिधीयते । बीज कार्यस्य सवस्य प्राज्ञश्चेति निरुच्यते ॥ कार्याणां कारणं मुक्त्वा नाम्यन्नास्त्यप्यथो यतः । तस्मात्कारणसंप्राप्त्या यायान्तेतीत्यकारणम् ॥ साधर्म्यं करणंहीनो धर्माध्यात्मसाधिदेवतः । प्राणात्मा एक एवाऽस्ते प्रज्ञानधनविग्रहः ॥ ६० ८३ ॥ इति । तस्मादित्यादेर्यमाह—प्रविविक्तानि । यो ययोक्ताप्राज्ञ स प्राणदेवताः करणान्यन्तं कारणं च लिङ्गाख्यं यस्मात्प्राणयति तस्माद्यस्य प्रविविक्तरो भवत्प्राहार स लिङ्गात्मा वैजसस्येति बहुश्रीहिणा लिङ्गस्याऽऽहार स इति गम्यत इत्यर्थः ॥ अस्मादित्यादेर्यमाह—चीयमानादिति । रसाद्यनेन तद्धेतुना तेनेति यावत् ॥ कथमन्नस्य प्रविविक्तत्वं तदाह—रसादिरिति । तयाऽपि कथं प्रविविक्तंरसव तदाह—रसादिरिति ॥ तस्य प्रविविक्तंरसत्वे फलितमाह—यत इति । अत गम्यार्थं श्रुत्यति—सूक्ष्मेति ॥ लिङ्गस्यापि स्थूलबृहत्वात्प्र सूक्ष्मना तत्कृतोऽप्य प्रविविक्ताहारतरेत्याशाङ्क्य तस्मीधम्य गमकमाह—यत इति ॥ प्रकृतबाधस्थमिषाद्यद व्याख्यातुं पूर्वपक्षमाह—इवत्यनधकमिति । तत्र ऋतु प्रपञ्चोक्तं मिच्छात्माह—एवावस्थितिः । लिङ्गात्मा प्रविविक्ताहारतरे एवत्यवधायत तस्यावधामिषाद्यदार्थ-माहुरिति यावत् । उक्तं हि—यथा खलु बाह्यस्य पिण्डस्योपचयापैमाहारस्तथा तस्यापीत्यतस्मात्सामान्या-

का सा सृतिः । येषा हृदयाद्दृश्यदेशाद्ूर्ध्वाऽभिमुखी सत्युच्चरति 'नाडी' । तस्याः परिमाणमिदमुच्यते । यथा लोके केशः सहस्रधा भिन्नोऽत्यन्तसूक्ष्मो भवत्येवं सूक्ष्मा अस्य देहस्य संबन्धिभ्यो हिता नाम हिता इत्येवं ख्याता नाड्यस्ताश्चान्तर्हृदये मांसपिण्डे प्रतिष्ठिता भवन्ति हृदयाद्भिः प्ररूढास्ताः 'सर्वत्र कदम्बकेसरवदे'ताभिर्नाडीभिरत्यन्तसूक्ष्माभिरेतदग्नमास्रवद्गच्छदास्रवति गच्छति । तदेतद्देवताशरीरमनेनानेन "दामभूतेनोपचीय-

तदेतदिति । तस्मादित्यादिवाक्यमादाय व्याचष्टे—यस्मादिति । "तथाऽपि प्रविविक्ताहार इत्येष वक्तव्ये

है, इसलिये यह स्वप्न से जागरित देह मे आने का मार्ग है । यह 'सृति' क्या है ? जो यह "हृदयात्" अर्थात् हृदयदेश से 'ऊर्ध्वा' यानी अभिमुखी होकर सुपुम्नाख्या नाडी ऊपर जाती है । यह उसका परिणाम कहा जाता है । जिस प्रकार लोकव्यवहार में एक ही केश सहस्र भागो में बँटा हुआ अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, इसी प्रकार इस देह मे सबन्ध रखने वाली 'हिता नाम' यानी हिता नाम से विख्यात नाडियाँ सूक्ष्म होती है । तथा ये मांसपिण्डरूप हृदय के भीतर प्रतिष्ठित हैं; कदम्ब पुष्प की केसर के समान ये हृदय से देह मे सध प्रोर फली हुई है । इन सूक्ष्मतम नाडियो से जाता हुआ यह सूक्ष्मतम अन्न स्थूलदेह को व्याप्त करता हुआ लिङ्गशरीर को व्याप्त करता है । इसलिये यह लिङ्गाख्य

१. उद्गच्छति । २ सुपुम्नाख्या । ३. तस्या इति—जातावेकवचन सर्वासां नाडीनां परिमाण दृष्टान्त-पूर्वकमुच्यत इत्यर्थः । ४ यथेति—विरवतैजसयोर्भ्रान्तिभ्यो भोक्तुः सूक्ष्मता चेत्येतदुक्त्यर्थं सदृश्यान्त नाडीपरिमाणं यथेत्यादिभ्रुतिः प्रदर्शयतीति भावः । अथ च केशस्य महस्रधा भेदस्यासंभवेऽप्यभूतोपमैवेवम् । तथाविधस्य दृष्टान्तान्तरमसत्त्वादिति ध्येयम् । ५. एकः । ६. विप्ररूढाः प्ररूढा विप्रमुना इत्यर्थः । ७ देहे । ८. नाडीनामुपयोगकथनपूर्वकं सूक्ष्मतरवकथनप्रयोजनमाह—एताभिरिति । एतत् पूर्वोक्त सूक्ष्मतममभ्रम् । आस्रवद् गच्छत् स्थूलदेह व्याप्नुवत् । आस्रवति गच्छति लिङ्गशरीरं व्याप्नोतीत्यर्थः । ९ तदेतदिति—यथोक्ताभ्र-व्याप्त्याश्रयः प्रत्यक्षमपीपतरवति अर्थात्तमेदेवताना वागादिकरणाना शरीर लिङ्गाख्यमित्यर्थः । १०. इन्द्रेन्द्राण्योरग्नीषोमयोविश्वतैजसयोरग्न शिशुब्राह्मणेऽप्युक्तमिति सूचयति—दामभूतेनेति । "अग्नें दामेति यत्पूर्वं व्याख्यातं शिशुवचनमिति" ॥ वा० ५५ ॥ ११. लिङ्गस्य सूक्ष्माभ्रोपचितत्वेऽपि ।

प्रविविक्ताहारतर इवैवेति । इवैव भवतीत्यस्य स्वाभिप्रेतमर्थमाह—इवार्यं चेति । एवेत्यवधारणमित्यस्मिन्नर्थं द्रष्टव्यम् । तथाच यथा प्रविविक्ताहारो विश्वस्तयाऽप्यमपि तैजसो न प्रविविक्ताहार एव किंतु प्रविविक्ताहारतर इव यथाच कारणात्मा प्रविविक्ताहारतर एव न तथा लिङ्गात्मा किंतु प्रविविक्ताहारतर इवेति द्वयोरिवैव-शब्दयोरर्थः ॥ किमिति कारणात्प्रवर्तैजसस्य न प्रविविक्ताहारतरत्वमेव तत्राऽऽह—लिङ्गेति । प्राज्ञात्मन आहार इति शेषः । सता न लिङ्गस्य प्रविविक्ताहारतरत्वमेवेत्यर्थः । इवशब्दार्थवत्त्व निगमयति—उपमार्थमिति ॥ उक्तमूत्रस्य सर्वजगद्व्याप्ति भर्तृ प्रपञ्चप्रक्रिययाऽऽवधानः संपा सूक्ष्मा देवताःन्तर्हृदये रुदम्बगोलवचदधृदया-न्नाडीषु समन्तानि सृतासु विपक्नेति तद्भार्यं विभजते—कदम्बेति ॥ एवमेकैका देवतति भाष्यार्थमाह—यथेति । यथा हृदयादारम्य बहिर्निप्रमुतासु नाडीषु सूत्राख्यदेवता विपक्नोक्ता तथा सर्वा अप्यन्या देवतास्तासु विपक्ना भवन्तीत्यर्थः । सर्वेषा कार्यकरणस्य साधारणत्वादिति हेतुभाष्यार्थमाह—साधारणत्वादिति । करणशब्देन बोलकादिस्थानं देवताशब्देन्द्रियाण्युक्तानि ॥ सर्वेन्द्रियाणा सर्वदेहव्यापित्वे रूपादिज्ञानं सकीर्णं स्यादित्याशङ्क्य यस्या देवताया यदा यदर्शनादि कार्यं तथा सर्वासामितरासा तदङ्गत्वमिति भाष्यं व्याचष्टे—तथेति ॥ नाड्य-

मानं तिष्ठति । तस्माद्यस्मात्स्युत्पन्नान्नेनोपचितः पिण्ड इदं तु 'देवताशरीरं लिङ्गं'
'सूक्ष्मेणान्नेनोपचितं तिष्ठति । पिण्डोपचयकरमप्यन्नं प्रविविक्तमेव भूत्रपुरीपादिस्यूलम-
पेक्ष्य लिङ्गस्थितिकरं त्वन्नं ततोऽपि सूक्ष्मतरम् । अतः प्रविविक्ताहारः पिण्डः । तस्मा-

प्रविविक्ताहारतर इति कस्मादुच्यते तत्राऽह—पिण्डेति । 'यस्मादित्यस्यापेक्षितं कथयत—घत इति ।

देवताशरीर इति रज्जुस्वरूप अन्न से विकास को प्राप्त होता हुआ रहता है । "तस्मात्" अर्थात् यद्योकि
पिण्ड भूक्त अन्न के मध्यम रस से विवक्षित होता है, यह (देवता) करणसमुदायरूप शरीरात्मक
लिङ्गदेह अन्न के अणुगत रस से पुष्ट होता हुआ स्थिर रहता है । मूलमूत्रादि स्यूल भाग को प्रपेक्षा
तो पिण्ड की पुष्टि करने वाला अन्न अत्यन्त सूक्ष्म है । अतः पिण्ड सूक्ष्माहारी है; इसलिए उस शरीर

१. भूक्ताग्रस्य मध्यमेन रस्तेन । २. देवता करणानि तरणमुदाय एव तच्छरीरम् । ३. अणुच्छेदं रस्तेन ।
४. भूक्ताग्रस्य मध्यमरस्तेन मूत्राद्यपेक्षया प्रविविक्तेन पिण्डस्योपचिनत्वात् । ५. शरीरादित्यन्वयः । ६. पूर्व भाष्योक्तस्य ।

स्तेऽपि या यदा देवताऽपेक्षते सा तदा हृत्स्वदेवताविभवमङ्गीकृत्यापतिष्ठत इति भाष्यार्थमाह—
नाडयन्तरेष्विति । अनुवृत्तान्देष्विति यावत् ॥ अध्यात्मनाडीद्वारा देवताभ्याप्तिमुक्त्वा हृदयबन्धनतया
नाडीप्रसङ्गं प्रदेशान्तरस्याभ्याप्तौ स्मारयति—एव चेति । हृदयबन्धनत्वेन नाडीप्रसङ्गं तावद्द्वाराभ्यात्मना
दृष्ट्या प्रजापतिह्वाग्निनाड्येतेष्वन्तरेष्विति कार्या यावन्ता नाडीभेदास्तावन्त हृत्स्वना, मन्त्रमरा प्रजापतयोऽनय
इत्युक्तेरित्यर्थः ॥ आसङ्गीरुमुपास्ति ब्रह्मविद्यार्थं स्मारयित्वा पूर्वोक्तामध्यात्मदेवताभ्याप्तिं दृष्ट्याग्नीहृत्वाधि-
भूताधिदेवयोरपि तद्व्याप्तिमाह—प्रतिभारमिति । अरुनुन सूत्रस्येति शेषः ॥ उक्तां देवताभ्याप्तिं निगमयति
—विन्वीति । यथाऽह—प्रत्ययवयव हृत्स्वस्य परिसमाप्तत्वात्सेवा यथाऽध्यात्ममेवमधिभूतमधिदेव चेत्यादि ।
तदेव देवतायाः सर्वभाष्योक्तदेवता नाडीनामध्यात्ममुक्तभ्याप्तिदृष्टान्तेनाधिभूतनादावपि श्याप्तिमाह—यथेति ।
उक्तं हि—यथाऽध्यात्म नाडय. समन्ताच्छरीरवृत्तित्य एवमस्यैव पुष्पस्याऽऽध्यात्मिकस्याधिदेवतात्मना वध्यमाणस्य
प्राणनाडया वायुमय्य इति ॥ उत्तरार्थं प्रपञ्चयति—एतस्मादिति । उक्तं च एतस्मादेव शरीरादिति सूर्य
सर्वं जगदापूर्वीकस्थित्या इति ॥ नाडीनां देहादूर्ध्वश्याप्तिं किमर्थेत्याशङ्क्य तद्द्वारा क्षेत्रज्ञस्य व्याप्यर्थमित्याह—
अधिभूतति ॥ आध्यात्मिकस्य एवा नाडीवदाधिदेविकस्यापि नाडीस्थानीयस्मिन्नां श्याप्तिमाह—नाडय
इति । मुक्ता च विराजो रस्मीनां सर्वतो श्याप्तिरन्तर्दशादित्यत्समीनां श्याप्तिदत्तंकादिति हिचन्द्रार्थः । प्रत्येक
स्मिन्नु व्यष्टीषु वैराजस्मिन्ना मभास्तिरपि ज्ञेयेत्याह—प्रत्ययेति । आध्यात्मिकस्य पुनो नाडीद्वारा सर्वश्याप्ति-
वदाधिदेविकस्यापि सा रश्मिद्वारेत्युपसहृति—आध्यात्मिकस्येति । यथाऽह—यथेवाऽऽध्यात्मिकस्य प्रत्ययवयव
कारण्येन समाप्तिरेव वैराजस्याप्यारम्भ. प्रत्ययवयवाभ्यात्मिकाधिभूताधिदेविकेष्विति ॥ परप्रक्रियामादेया-
मुक्त्वा स्वमत विचाराद्युक्तेष्वन्तरेष्वनुताम्रं दर्शयति—आध्यात्मिकमिति । उक्तभ्याप्तिद्वारा शरीर परिच्छेद-
मण्णादिदेवतासु ताव च विराजि त च सूत्रे तत्र कारणे तदव्यय्ये प्रतीच्युपसहृत्य पूर्णात्मना तिष्ठेदित्यर्थः ॥
उक्तमेव प्रपञ्चयन्विवक्ष्य वैश्वानरादिशब्दितस्य विराजस्तेजसे सूत्रारमन्नुपसहृत्कारकमाह—अध्यात्मेति ।
बसुरादिमहितादिश्याधिदेवता हृदये प्रजापतिरूपे सहरूप ततो निर्गतनाडीभो रश्मिभिरन्वाभ्यात्मभूतं करणं
रश्मि हृदयस्य च लिङ्गमेवरेनानुमदव्याप्ततस्तात्पर्यवानुवृत्तनाडीरश्मिद्वारा विषेव बुद्ध्या मण्डलहृदयस्य
सुरमारमात यच्छरीरस्यैः । आध्यात्मो हृदवादिनि चरन्थः ॥ विरवस्य तेजसाभ्यान्वानुवृत्तानान्तर तत्कारणम-
भ्याहृतादिशब्द विवकी तच्छतीति संज्ञस्य प्राप्ते लयमाह—उत इति ॥ उक्तं क्रम बुद्धिरीकार्यं सतिपति—

ऋतस्य प्राची दिक्प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे
 प्राणाः प्रतीची दिक्प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिग्दक्षिणः
 प्राणा ऊर्ध्वा दिग्ऊर्ध्वाः प्राणा अवाची दिग्वाञ्चः

उस विद्वान् के पूर्वदिशागत प्राण पूर्व प्राण हैं, दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण हैं, पश्चिम दिशा पश्चिम प्राण हैं, उत्तर दिशा उत्तर प्राण हैं, ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व प्राण हैं, अघोदिशा नीचे के प्राण हैं ।

त्प्रविविक्ताहारादपि प्रविविक्ताहारतर एष लिङ्गात्मेवैव भवत्यस्माच्छरीराच्छरीरमेव शारीरं तस्माच्छरीरात् । आत्मनो वैश्वानरात्तैजसः सूक्ष्मान्नोपचितो भवति ॥३॥

स एष हृदयभूतस्तैजसः सूक्ष्मभूतेन प्राणेन विधियमाणः प्राण एव भवति ।

शारीरादिति श्रूयते कथं शरीरादित्युच्यते तत्राऽऽह—शरीरमेवेति । उक्तमर्थं संक्षिप्योपसंहरति—
 आत्मन इति ॥ ३ ॥

तस्य प्राची दिगित्याद्यवतारयितुं भूमिकां करोति—स एष इति । प्राणशब्देनाज्ञातः प्रत्य-

से सूक्ष्माहारी भी यह लिङ्गात्मा सूक्ष्मतर आहार करने वाला है । “प्रस्माच्छरीरात्” यानी इस शरीर से अर्थात् वैश्वानर आत्मा से तैजस सूक्ष्म अन्न द्वारा विकसित होता है ॥ ३ ॥

यह यह हृदयतादात्म्यापन्न तैजस अपनी अपेक्षा सूक्ष्मभूत स्वकारण प्राज्ञ प्राण से धारण किया हुआ होकर प्राज्ञ ही हो जाता है । क्रमशः (विश्वामित्र) वैश्वानर से (सूयामित्र) तैजस को

१. हृदयतादात्म्यापन्न । २. स्वापेक्षया । ३. स्वधारणेन प्राज्ञेन । ४. प्राज्ञः । ५. अज्ञानावृत्तः ।

वैश्वानरादिति । तच्छब्दो वैश्वानरवाची । प्राप्तात्वाभ्यासमादिपरिच्छेदो निवर्तत मुमुक्षोरिति शेषः । स च सूत्रस्य कारणे संहृतो द्रष्टव्यः ॥ प्राणात्मन्युपसहागोऽत्र सूत्रस्योच्यते न कारणात्मनोत्वाशङ्क्य प्राणशब्दायंमाह—
 प्राणशब्देनेति । तैजसस्य प्राज्ञे सयाङ्गीकारात्कथं कारणे तल्लयस्तत्राऽऽह—बीजमिति ॥ तुरीयस्य सुवर्णपन्न-
 षट्त्रिंशत्तन्मस्याऽऽग्नेरिष्टत्वात्तदेवोच्यतां कृत स्थूलसूक्ष्मजगद्रूपविश्वतैजसयो प्राज्ञे तयोक्तयेत्याशङ्क्याऽऽह—
 कार्याणामिति ॥ अकार्यकारण तुरीयं प्राप्तस्य विदुषः स्वरूप प्रपञ्चयति—साध्यमिति । प्राणस्य कारणस्याऽऽत्मना सत्तास्फुटित इति यावत् । छान्दसास्तु विसधिमपि स्वर्चिदच्छन्ति ॥

ऋतस्य प्राची दिगित्यादि । अत्राहुर्वातिकाचार्याः—“निर्विभागात्मनस्तस्य प्राञ्चः प्राणाः पुराऽस्य दे । प्राची दिगेव सब्रूतास्तदवच्छेदहानतः ॥ दक्षिणा दक्षिणे प्राणाः प्रत्यञ्चश्चापि पश्चिमाः । उदीची दिग्दक्षिणश्च सर्वे सर्वा दिग्गस्ता ॥ यस्साक्षिकी तम सिद्धिस्तत्कार्यस्य च सद्यते । तद्ग्रावाभावयोरत्मा न कार्य नापि कारणम् ॥ तेनैव आत्मनाऽप्येव दृष्ट्वाञ्चं ध्वान्तजं तथा । जाध्या नित्यात्मना विद्वान्पूर्वदृष्ट्याऽऽश्रियते ॥ एष मार्ग उपन्यस्त ऐकात्म्यज्ञानजनने । न स्वर्चिदिवत्तस्य प्राप्तेव गतिवत्पना ॥ अयमत्वादात्पत्त्वोऽयं न देशान्तरायवान् । ज्ञानं भुक्त्वा ततः प्राप्नो नान्वत्किंचिदपेसते” ॥ ८६-९१ ॥ इति । विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयाभ्युत्थानं तत्राऽऽधावेव भूत्युत्ती न प्राजादीत्याशङ्क्य तस्य प्राचीत्याद्यवतार्यं व्यकरोति—निर्विभागेति । अयमात्मादिपरिच्छिन्नाः प्राणाः सर्वांस्तु दिक्षु स्थिताः प्राणशब्दाः । विदुषो हि कारणरूपस्य परिच्छेदनाशासत्प्रारूपं तस्यैदं सर्वं

प्राणाः सर्वा दिशः 'सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्मा-
ऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो
न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं'
वै जनक 'प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः ।

किंवदुता, समस्त दिशाएँ उसके समस्त प्राण है। वह यह "नेति नेति" शब्द से बतलाया गया आत्मा
अप्राह्य है, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता। वह अशीर्य है क्योंकि उसका नाश नहीं होता।
असंग है क्योंकि वह कही ससक्त नहीं होता। बन्धनरहित है क्योंकि वह पांडित तथा हिंसित नहीं
किया जा सकता। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे जनक! तुम नि मन्देह प्रभय पद का प्राप्त कर चुके हो।

'तस्यास्य विदुषः क्रमेण 'वंशवानरा'त्तैजसं प्राप्तस्य हृदयात्मानमापन्नस्य हृदयात्मानश्च
'प्राणात्मानमापन्नस्य प्राची दिवप्राञ्चः प्राग्गताः प्राणाः । तथा दक्षिणा दिग्दक्षिरो

गात्मा प्राज्ञो गृह्यते । एवं भूमिका कृत्वा वाचयमादाय ष्वाकरोति—नस्येत्वादिना । तैजसं

उमसे हृदयात्मा को और हृदयात्मा से प्राणात्मभाव को प्राप्त हुए इस प्रश्न विद्वान् के प्राची दिशा

१. सर्वे प्राणा इति—यथा चोपाधिभूतानां प्राणानां कारणे न्य दलयन्ती श्रुतिरूपहितस्यापि सूत्राभिप्राय
तैजसस्य प्राणाभिप्रकारणात्मनीश्वरे उपसहारोऽर्थादुक्त एवेति मरवा तस्येश्वरात्मभूतस्योपासितुरीश्वरस्वी-
पाधिनिर्मुक्त स्वरूपाह—त एव इत्यादिना रिष्यतीत्यन्तेनोक्तार्थेन । २ एव द्वाद्याणाम्यामुक्तोपासनवशात्
उत्पन्ने शाल्म्यज्ञानकल मुनिरुक्तवानित्याह—अभयमिति । ससारनिर्मुक्त बन्तु प्रापयते ससारारिमिका गवाश्वदि-
रूपा दक्षिणा न ग्याम्येत्यालस्य राजाऽपि मुनयेऽभयदक्षिणाभिष प्रादादिति ध्ययम् । यद्यपि मुनिः पुरस्तादेव
प्राप्ताभयस्तथापि पूर्वोक्त ब्रह्मात्मनि ममाभुभवान्त जानमजनिष्टेति ज्ञाननायेव राभाऽभय मुनये प्रोवाचेति
बोध्यम् । ३. प्राप्तोऽसीति निर्देशस्य सारपर्यमाहुर्वैतिके—“प्राप्तोऽसीति निर्देशाज्ज्ञानमेवाऽऽत्मनो गतिः ।
ज्ञानादप्यद्गतिस्येत्स्यात्प्राप्यमीत्येव त वदेत्” ॥ ६५ ॥ इति । अचिरादिमतिपक्षेऽप्येव निर्देश स्यादिति
चेत्तत्राऽऽह—ज्ञानादिति । ४. प्रकृतस्य । ५. विदवाभिप्रात् । ६. सूत्राभिप्रायम् । ७. प्राणात्मानमिति
—तस्य विदुष प्राञ्च प्राग्भवन्ति गच्छन्तीति प्राञ्च प्राणा नामा द्वाराऽप्यन सवरस्त. प्राची दिनेव सर्वत्ता
कारणात्मन्येव सीना इति यावत् । विदुषो हि कारणरूपस्य परिच्छेदनाशात् तत्प्राणरूप तत्तद्दिङ्मात्र सवत्
तावत् शरमपर्यायोत्प्राणे मूलकारणे प्राज्ञे सीयन्ते कारण तुरीये प्रतीचीति भावः । सर्वा दिशः सर्वे प्राणा
इति शरमपर्यायम् ।

सादृश शरमपर्यायोत्प्राणे मूलकारणे प्राज्ञे सीयन्ते कारण तुरीये प्रतीचीत्यर्थः ॥ कारणस्य न प्रतीचि स्यस्तस्यैव
कारणरशास्त्वग्निमन्नेव स्वल्पयोगादित्याशङ्क्याऽऽह—यदिति ॥ अज्ञानतज्जयोस्तद्भावाभावयोश्च यतः मिद्धि-
स्तस्य प्रतीचस्तद्ग्लक्षणे सिद्धे फलितमाह—तेनैवेति । एतेन स एष नेति नेत्यादि व्याख्यातम् ॥ विश्वाद्युक्ति-
फलमुगमहरति—एष इति । तद्द्वारा मोक्षायैरुपेयः । मृश्रमार्गं व्यावर्तयति—न क्विति ॥ परविद्योऽपि
गदिरिचिराद्या बन्धनेति वैचित्तयाच तदनुगुणा नादी यान्तिरथागच्छयाऽऽह—आरमरवादिति । विद्वानत्र विद्येऽप्यते ।
तद्दि ज्ञानमप्यपि नापेक्षितव्यमित्याशङ्क्या व्यवधानभङ्गायै तदपेक्षेति विवभित्वाऽऽह—ज्ञानमिति ॥

'स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञ-
वत्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्वमे
विदेहा अयमहमस्मि ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य

द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

तव विदेहराज जनक ने कहा— हे भगवन् ! जो आपने मुझे भ्रमत्र पद का बोध कराया है, उन प्राप सद्गुरुदेव को भ्रमत्र पद प्राप्त हो (क्योंकि इस अमूल्य उपदेश के बदले अन्य कुछ भी नहीं है) । भ्रतः आपको नमस्कार है । यह विदेह देश एवं हम सब आपके अर्धीन हैं, कृपया इन सभी की वधायोग्य उपदेश करें ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

प्राणाः । तथा प्रतीचो दिक्प्रत्यञ्चः प्राणाः । उदीचो दिगुदञ्चः प्राणाः । ऊर्ध्वा दिगुर्ध्वाः प्राणाः । अवाचो दिगवाञ्चः प्राणाः । सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः । 'एवं विद्वान्क्रमेण सर्वा-
त्मकं प्राणमात्मत्वेनोपगतो भवति । तं सर्वात्मानं प्रत्यगात्मन्युपसंहृत्य द्रष्टुहि द्रष्टुमात्रं

प्राप्तस्येत्यस्य व्याख्यानं हृदयात्मानमापन्नस्येति । उक्तमर्थं संक्षिप्याऽह—एव विद्वानिति । विश्वस्य जागरिताभिमानिनस्तंजसे तस्य च स्वप्नाभिमानिनः सुषुप्त्यभिमानिनि प्राज्ञे क्रमेणान्तर्भवन् जान-
क्षित्यर्थः । स एष नेति नेत्यात्मेत्यादेर्भूमिकां करोति—त सर्वात्मानमिति । *तत्र धाययमवतार्य

पूर्वगत प्राण हैं, तथा दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण हैं, उत्तर दिशा उत्तर प्राण हैं, ऊर्ध्वं दिशा ऊर्ध्वं प्राण हैं, नीचे की दिशा नीचे के प्राण हैं और सम्पूर्ण देयता सम्पूर्ण प्राण हैं । इस प्रकार विद्वान् क्रमशः सर्वात्मक प्राज्ञमिन्न ईश्वराख्य प्राण को आत्मभाव से प्राप्त हो जाता है । उस सर्वात्मा प्राज्ञास्य प्राण को प्रत्यगात्मा मे उपसंहार कर प्रमाणा के साक्षिभूत 'नेति नेति' इस प्रकार निश्चिन्तनिषेधाधिभूत पुरीय आत्मा को प्राप्त हो जाता है । इस क्रम से यह विद्वान् जिमे प्राप्त होता है; वह यह 'नेति नेति'

१. एनामता अथर्वतह सद्रक्षामीति प्रतिज्ञातज्ञानसिद्धिमेषि जातेति बोधयन् पूर्वदक्षिणाया ज्ञानानुरूपत्वेन दक्षिणात्तर प्रतिज्जे इत्याह—स होवाचेति । २. इमे विदेहा इति । "मयानप्यहमेवेति यदा सायाद्विनिरचयः । विदेहादि तदा विश्व स्वतः कस्येति अभ्यताम् ॥ मनेत्र अत्रतोऽपीद न च किंचिदमणतम् ॥ ३७. १११-११२ ॥ स्वतोऽन्यस्येति शेषः ॥ दक्षिणात्तरान तावद्वचयद्दरदष्टथा वस्तुतरु—"जमावाच्य स्वदस्यस्य सर्वमात्मेति ज्ञासनात् । अह ममेवविद्यापी. सदेतुर्नादित्ता यदा । पूर्णात्मानि तथा दृष्टे क. कस्ये कि प्रजित्तरि" ॥ ३८. ११३ ॥ इति । ३. एवं क्रमेणेत्यस्यः । ४. प्राज्ञाभिगच्छयाम्यम् । ५. गच्छाम्य प्राणम् । ६. प्रनापुर्चि साक्षिभूतम् । ७. निरुत्तेर्ष्व ।

नेति 'नेतीत्यात्मानं तुरीयं प्रतिपद्यते । यमेप' विद्वाननेन' क्रमेण प्रतिपद्यते स एष नेति नेत्यात्मेत्यादि न रिष्यतीत्यन्तं' व्याख्यातमेतत् । अत्रय वं 'जन्ममरणादिनिमित्तमयमन्यं हे जनक प्राप्तोऽसीति' हेच किलोवाचोक्तवान्याजवत्वयः । तदेतदुक्तमय वं तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति' । स होवाच जनको वंदेहोऽनयमेव त्वा त्वामपि गच्छताद्गच्छतु यस्त्वं

'पूर्वोक्त व्याख्यानं स्मारयति—यमेप इति । तुरीयादपि प्राप्तव्यमन्यदभयमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—अभयमिति । गन्तव्यं वक्ष्यामीत्युपक्रम्यावस्थाप्रयातोतिं तुरीयमुपदिशन्नाभ्रान्पृष्ट 'कोविदारानाचष्ट इति-न्यायविषयता 'नातिवर्ततेत्याशङ्क्याऽऽह—तदेतदिति । विद्याया दक्षिणान्तराभावमभिप्रत्याऽऽह—स

इस प्रकार निखिलनिषेधावधिभूत आत्मा है । 'नेति नेति' से लेकर "रिष्यति" तक की व्याख्या (वृ ३ ६ २६ मे) पहले की जा चुकी है । हे जनक 'तुम "अभयम्" अर्थात् जन्म मरणादिनिमित्तक भय यानी अज्ञान से दूय ब्रह्म को प्राप्त हो चुके हो । इस प्रकार निदचयपूर्वक याज्ञवल्क्य "उवाच" यानी बोले । इस प्रकार इसका उपपादन कर दिया । अथ तुम्हे (जो प्रतिज्ञा की थी) उस बतलाऊंगा कि तुम्हे कहाँ जाना है । उस वंदेह जनक ने कहा—हे पूज्य याज्ञवल्क्यजी ! आप जो हमे ब्रह्मज्ञान करा रहे हैं चर्चात् उपाधिकृत अज्ञान के व्यवधान का श्रपनोदन कर रहे हैं, इसके लिए "त्वा गच्छतात्"

१ निखिलनिषेधविभूतम् । २ एष प्रवृत्त । विद्वान् विश्वादेस्तंजसादावन्तर्भाव जानन् । ३ प्रदर्शितेन । ४ वृ० उ० ३।६।२६ । ५ जन्मेति—जन्मादिनिमित्त मयम् अज्ञान तद्रहित ब्रह्मैव प्राप्तोऽसीत्यर्थं । ६ उपपादितम् । ७ यत्प्रतिज्ञातमासीत् । ८ वृ० उ० ३।६।२६ । ९ कचनाल इति ख्यातान् । १० मुनि ।

अभयस्वा गच्छतादित्यादि । 'अभयस्य प्रदातुत्वान्त्ववाप्ताभयो गुरु । अभय त्वामिति कच राजाऽऽसीत् प्रतीयते ॥ इत्यस्य परिहारोक्तिं केचिदाचक्षते बुधा । शब्दादवाप्तमभय न तु साक्षात्कार सत् ॥ साक्षात्करण-सिद्धपर्यन्ततो राजाऽब्रवीन्मुनिम् । अभय त्वामिति वचस्तद्वचस्याप्राप्तमुच्यते ॥ यदि वा द्विविधो मोक्षो जीवत्येव शरीरके । एक साक्षात्कृतब्रह्मा मूर्तेरुच्यते च तत्त्वम् ॥ एव परिजिहीर्षन्ति न तु न्यायोक्तिरिदृशी । प्राप्तोऽसीति मुनेस्वत् परिहारो न युज्यते ॥ तज्ज्ञानमात्रमेवोक्त्या प्राप्तोऽसीति यतोऽवदत् । तद्व्यापारकरणप्राप्त्यस्तस्मयो बाज इत्येते ॥ शान्दविज्ञानमात्रेण नाऽऽवायत्वे नियुज्यते । क्षीत्रिय ब्रह्मनिष्ठ च गुरु यायादिनि धृते ॥ अभय वेदयसीत्येतन्न साक्षात्कृते परे । शान्दमात्रपरिज्ञाने राज्ञो युक्त प्रभाषितुम् ॥ असाधारण्यधर्मोत्थ विज्ञान वस्तुनि प्रमा । शब्दमात्रप्रमोत्य तु न मान वस्तुवच्छयात् ॥ साक्षात्कृतैकतत्त्वस्वाप्यैकात्म्यप्रत्यय प्रति । किं समाशङ्क्यते येन तदामो सप्रयुज्यते ॥ ज्ञानानुरूपामेवाता दक्षिणा वित्सुरब्रवीत् । अभय त्वामिति नृपो यथोक्तज्ञानानिज्ञानम्" ॥ ६६-६७ ॥ इति । राजा प्रयुक्तमाशियमाक्षिपति—अभयस्येति ॥ भवत्प्रपञ्चोक्त परिहारमाह—इत्यस्येति । तामेव व्यनक्ति—शान्दादिति ॥ पर्योक्षज्ञानित्वे गुरो राजागो सफलति फलितमाह—साक्षादिति । त्वपि तेन प्राप्तेमाऽऽवायत्वात् "उपदेश्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानित्वस्तत्त्वदगिन" इति स्मृतेरित्याद्युक्त्याऽऽह—तद्वदिति । नास्याभय साक्षादाप्तमभया मुक्त्यानुयायनायोगात् । उक्त हि—प्राप्तमभय याज्ञवल्क्येन नाप्राप्त न तु साक्षात्कृतमिति । अतो राजागोर्लक्षितेत्यर्थं ॥ तैरेवोक्त परिहारान्तरमाह—यदि वेति । यथाऽऽहुर्द्विविधो मोक्षोऽस्मिन्नेव शरीरे साक्षात्कृतब्रह्मा मुक्त इत्युच्यते न ब्रह्मणि लीनस्तस्य शरीरपातोत्तरकाल ब्रह्मणि लभो

नोऽस्मान्हे धाञ्जवल्क्य भगवन्पूजावन्नभयं ब्रह्म 'वेदयसे ज्ञापयसि प्रापित्तवानुपाधिभूताज्ञानव्यवधानापनयनेनेत्यर्थः । किमन्यदहं विद्यानिष्कयार्थं प्रयच्छामि साक्षादात्मानमेव दत्तवते' । 'अतो नमस्तेऽस्त्वमे विदेहास्तव यथेष्टं भुञ्जन्तामयं चाहमस्मि दासभावे

होवाचेति । कथं पुनरन्यस्य स्थितस्य नष्टस्य धाञ्ज्यप्रापणमित्याशङ्क्याऽऽह—उपाधीति । पश्चादिकं दक्षिणान्तरं संभवतीत्याशङ्क्य तस्योक्तविद्यानुरूपत्वं नास्तीत्याह—किमन्यदिति । वस्तुतो दक्षिणान्तराभावमुक्त्वा 'प्रतीतिमाश्रत्याऽऽह—अत इति । अक्षरायमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—यथेष्टमिति ॥२॥ इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां चतुर्थ्याध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

अर्थात् आप भी अभय को प्राप्त करे । साक्षात् आत्मा का दान करने वाले आप गुहजी को मैं इस विद्या के बदले क्या दूँ ? इसलिये (अन्य किसी योग्य दक्षिणा के अभाव में) आपको नमस्कार है । यह विदेह

- १ वेदयस इति । वार्तिके यथा—“यच्चाभय वेदयस इति प्रत्युचिवाङ्मुप । तत्तमोश्चस्तिः कार्यं नान्यदस्तीति निष्कृतम्” ॥ ६८ ॥ इति । ज्ञानस्याज्ञाननिवृत्त्यतिरेकिकल देहान्तरप्राप्तथायत्त नास्ति ततो न गतिरिति वर्तमानव्यपदेशात्सिद्धमिति वार्तिकथाय । २. तुभ्य गुरवे इति शेष । ३ अतः—योग्यदक्षिणान्तराभावात् । ४ तथा चाप्यत्वमेव नामीदिति भावः । ५ उक्तविद्यानुरूपत्व नास्तीति । “ज्ञानतुल्यामभवानो दक्षिणा गुरवे नृपः । अथर्षं त्वामिति प्राहु याजवल्क्य स पापिष्वः” ॥ ६६ ॥ इति वार्तिकोक्तेः । ६. व्यवहारदृष्टिम् ।

द्वितीयो मोक्ष. स स्वाशासितव्य इति । आत्यन्तिके मोक्षे माधनान्तरेणाऽऽशीर्षादादिना भाव्यमिति मत्वा परोक्षं परिहारमुपसहरति—एवमिति । निराकरोति—न विवर्ति । कथं न्यायब्रह्मा द्धिषापरिहारोक्तिस्तत्राऽऽह—प्राप्तोऽस्तीति ॥ तथाऽपि कथ परिहारयोरेन्याप्यत्वं तत्राऽऽह—तज्जानेति । प्रतीचो ब्रह्मत्वस्य स्वतः सिद्धेस्तज्जानादज्ञानहानिव्यतिरेकेण ब्रह्मासाक्षात्कारमन्तत्त्वयो वा न संभवत्यतो नाऽऽशीर्षादाद्युपायान्तरापेक्षा मोक्षस्यास्तीत्यर्थः ॥ यत्तु मुनिना शब्दप्राप्तमेव पारोक्षेणाभय ब्रह्म न साक्षात्कृतमिति तत्राऽऽह—शाब्देति । परोक्षज्ञानमात्रेणाऽऽशयंस्वाभावे श्रुति प्रमाणयति—श्रोत्रियमिति ॥ इतश्च मुनिः साक्षात्कृतब्रह्म वेत्याह—अभयमिति । ब्रह्म वेदयसीत्युक्ते राजस्तावत्समाधारकारोऽवगम्यते वेदनस्यानुभवत्वात्तेनैव गुरोरपि सोऽनुमीयते भगवता तस्य तत्त्वदर्शित्वविशेषणादित्यर्थः ॥ वेदयमीति शब्द परोक्षज्ञानमेव ब्रह्मविषयं किं नोच्यते तत्राऽऽह—अपाधारणेति । एवमुत्सर्गोऽपि प्रस्तुते किं ज्ञातं तदाह—शाब्देति । न हि परोक्ष ज्ञान वस्तुनुररति तस्य साक्षात्परोक्षादित्यादित्यस्यैवाऽऽदित्यर्थः ॥ यत्तु देहपातोत्तरकाल ब्रह्मणि लये द्वितीयो मोक्षः स चाऽऽनिगम्य इति तत्राऽऽह—साक्षादिति । तदाशीर्षह्मणि लय प्रत्याशीरिति यावत् ॥ परंप्राप्तभयमुक्त्वा स्वपक्षमाह—ज्ञानेति । प्राप्ताभये मुनौ किमित्येव राजोक्तवान्दक्षिणान्तर तु देय तदपाव भौनमुचितमित्याशङ्क्याऽऽह—यथोक्तेति । पूर्वोक्ते ब्रह्मरामनि ममानुभवान्तं ज्ञान जातमिति ज्ञापनार्थं वस्तुतया नित्यर्थः ॥

अथय त्वा गच्छतादित्यादि । अत्र वार्तिककारस्तथाहि—“ज्ञाने सदशीमन्यामपश्यन्गुरुदक्षिणाम् । अभयं त्वेति वचता दक्षिणात्माशिय हवी ॥ वेति ब्रह्म मुनिःशब्दात्तु साक्षात्कार तत् । साक्षात्कृत प एषाशीरित्येवं केचिद्विचरे ॥ साक्षात्कृतब्रह्मवत्सो जीवमुक्ते) मुनि शिष्यः । आशीर्षवेदे मोक्षायत्याहुरप्ये द्वय न तत् ॥ शाब्ददक्षिणान्तरात्तेन नाचर्ये त्वे निमुच्यते । श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ च गुरु यावादिनि श्रुतेः ॥ श्रोत्रमुक्तस्य पठिते देहे मुक्तिः मुनिवचता । तत्राप्याशीरतो मा भूद्दक्षिणाप्येव सा ततः ॥ वचना दक्षिणयाशीर्षवत्तु नमस्त्रिया । स्वप्नमिष्वुषोर्दानं दितशाठ्यनिवृत्त्ये ॥ दक्षिणा त्रिविधाप्येवा व्यावहारिकदृष्टिः । वस्तुदृष्ट्या तु नैवास्ति दक्षिणा न प्रतिग्रहः” ॥ इति ।

स्थितो यथेष्टं मां राज्यं च प्रतिपद्यस्वेत्यर्थः ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य
द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ।

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगामेत्यस्याभिसंबन्धः । विज्ञानमय आत्मा साक्षात्-
क्षपरोक्षब्रह्म सर्वान्तरः पर एव । नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्यदेतोऽस्ति द्रष्टृत्यादि-
श्रुतिभ्यः । स एव ब्रह्म प्रविष्टो वदनादिलिङ्गोऽस्ति व्यतिरिक्त इति मधुकाण्डेऽजात-
शत्रुसंवादे प्राणादिकर्तृत्वभोक्तृत्वप्रत्याख्यानेनाधिगतोऽपि सन्पुनः प्राणनादिलिङ्गमुपन्य-
स्योपस्ते प्रश्ने प्राणनादिलिङ्गो यः सामान्येनाधिगतः प्राणेन प्राणितोत्यादिना दृष्टेर्द्रष्टे-

पुनश्चिन्वाह्यणो जागरादिहाग "तत्त्वं निर्धारितं संप्रति ब्राह्मणान्तरमवतार्यं तस्य पूर्वेण
संबन्धं प्रतिजानीते—जनकमिति । तमेव संबन्धं वक्तुं 'तृतीये वृत्तं कौतंयति—विज्ञानमय इति । यद्वयं
साक्षादपरोक्षान्तरं आत्मा स "पर एव "विज्ञानमय आत्मेत्यत्र हेतुमात्र—नान्य इति । विज्ञानमय
पर एवेत्यत्र वाक्यान्तरं पठति— स एव इति । "वदन्वागित्यादावुक्तमनुवदति—वदनादीति । तार्तीय-
मर्थमनूय "सातुयिकमर्थमनुवदति—प्रस्तीति । यदि मधुकाण्डे गार्ग्यकाश्यसंवादे प्राणादीनां कर्तृत्वा-
दिनिराकरणेन तेभ्यो व्यतिरिक्तोऽस्ति विज्ञानात्मेति "मोऽधिगतस्तहि किमिति 'पञ्चमे "तत्सद्भावो
धुत्पाद्यते तत्राऽऽह—पुनरिति । यद्यपि विज्ञानमयमद्भावश्चतुर्थे स्थितस्तथाऽपि पुनरौपस्ते प्रश्ने यः

राज्यं आपका ही है, इसे यथेष्ट उपभोग करें; अर्थात् भोग्यत्वरूप से राज्य को एवं दास्यभाव से मुक्त
को स्वीकार करें ॥ ४ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् चतुर्थाध्याय द्वितीय ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य
का हिन्दीभाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ २ ॥

"जनक ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम" इमं श्रुतिं का प्रतिज्ञानं ब्राह्मण से संबन्ध है ।
विज्ञानमय आत्मा साक्षात् क्षपरोक्ष सर्वान्तर परब्रह्म ही है । "इमं त्वंपदार्थं मे भिन्न कोई द्रष्टा
नहीं है, और इम तत्पदार्थ से भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है" इत्यादि श्रुतियाँ इममे प्रमाण है । "वह यह
व्याकर्ता पुरुष इम वर्तमान देह मे (नख मे शिखापर्यन्त) प्रवेश किये हुए है, वदनादिलिङ्ग वाला है,
प्राणादि से व्यतिरिक्त है", इस प्रकार प्राणादि के कर्तृत्वभोक्तृत्व के निराकरण द्वारा मधुकाण्ड अजात-
शत्रुसंवाद मे जात होने पर भी पुनः उपस्त के प्रश्न में 'जो प्राण से प्राणन करता है' इत्यादि श्रुति-
भाष्य द्वारा प्राणनादि लिङ्ग को प्रस्तुत करने सामान्य रूप से प्राणनादि लिङ्ग वाला जाना गया है ।

१. प्रतिपद्यस्व—स्वीकृत राज्य आरम्भन मां च उपभवेत्यर्थः । २. प्रतिज्ञानं ब्राह्मणेन । ३. अपराक्षम् ।
४. इह त्वपदार्थोपकामिप्रमाणम् । ५. इह तत्पदार्थोपकामिप्रमाणम् । ६. वृत् ७. १।४।७ । ७. प्राणादिव्यतिरिक्तः । ८. तृतीये वृत्तुः । ९. उपनिषत्त्वमेव तृतीयाध्यायः । १०. तत्पदार्थं एव । ११. वदन्वागः । १२. वृत् ३. १।४।७ । १३. यद्वदारण्यकत्वमेव । १४. विज्ञानात्मा । १५. तत्पदार्थ-
मनवे । १६. उपनिषत्त्वमेव तृतीये । १७. विज्ञानात्मा ।

त्यादिनाऽलुप्त'शक्तिस्वभावोऽधिगतः ।

तस्य च परोपाधिनिमित्तः संसारो यथा रज्जूपरशुक्तिकागगनादिषु सर्षोदकरज-
ततलमलिनत्वादि परा'ध्यारोपरानिमित्तमेव न स्वतस्तथा निरुपाधिको निरुपाख्यो
नेति नेतीति व्यपदेश्यः साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तर आत्मा ब्रह्माक्षरमन्तर्यामी प्रशास्तौ-
पनिषदः पुरुषो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मैत्यधिगतम् ।

तदेव पुनरिन्धसंज्ञः प्रविदिक्ताहारस्ततोऽन्तर्हृदये लिङ्गात्मा प्रविदिक्ताहारतर

'प्राग्नेन प्राणितोत्यादिना प्राणानादिलिङ्गमुपन्यस्य तल्लिङ्गगम्यः' सामान्येनाधिगतः स हृष्टेद्रष्टेत्या-
दिना 'कूटस्थहृष्टिस्वभावो विशेषतो निश्चिनन्तथा' च पञ्चमेऽपि तद्व्युत्पादनमुचितमित्यर्थः ।

आत्मा कूटस्थहृष्टिस्वभावश्चेत्यर्थं तस्य संसारस्तत्राऽऽह—तस्य चेति । 'अज्ञानं तत्कार्यं
चान्तःकरणादि परोपाधिशब्दार्थः । संसारस्याऽऽत्मन्यौपाधिकत्वे हृष्टान्तमाह—यथेति । 'दाष्टन्ति-
कस्यानेकरूपत्वाद्नेकहृष्टान्तापादानमित्यभिप्रेत्य दाष्टन्तिकमाह—तथेति । यथोक्तहृष्टान्तानुसारेणा-
ऽऽत्मन्यपि परोपाधिः संसार इति यावत् । सोपाधिकस्याऽऽत्मनः संसारित्वमुक्त्वा निरुपाधिकस्य
नित्यमुक्तंवाह—निरुपाधिक इति । निरुपात्स्य वाचां मनसां चागोचरत्वम् । कथं 'तहि तत्राऽऽत्म-
प्रामाण्यं तत्राऽऽह—नेति नेतीति 'व्यपदेश्य इति । कहोलप्रश्नोक्तमनुब्रूवति—साक्षादिति । अक्षरब्राह्म-
णोक्तं स्मारयति—अक्षरमिति । अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तं स्मारयति—अन्तर्यामीति । शाकल्यब्राह्मणोक्त-
मनुसंदधाति—श्रीपनिषद इति ।

पाञ्चनिकमर्थमित्यमनुद्यातीते" ब्राह्मणद्वये वृत्तमनुभाषते—तदेवेति । यत्साक्षादपरोक्षात्स-
र्यान्तरं ब्रह्म तदेवाधिगतमनो'पायविशेषोपदर्शनपुरःरं पुनरधिगतमिति संबन्धः । षडाचार्यब्राह्मणार्थं
संक्षिप्य कूर्चब्राह्मणार्थं संक्षिपति—इन्ध इत्यादिना । इन्धस्य विशेषणं प्रविदिक्ताहार इति । हृदये-
ऽन्तर्यामी 'लिङ्गात्मा स ततो वेश्वानरादिन्धात्प्रविदिक्ताहारतर इति योजना । विश्वतंजसायुक्तौ

"वही दृष्टि का द्रष्टा है" इत्यादि वाक्य से अलुप्त दृष्टि स्वभाव वाला जाना गया है ।

उमे अज्ञान और उसके कार्य अन्त करणादिरूप परोपाधि के कारण संसार प्राप्त होता है,
जिम प्रकार रज्जु, ऊमर, सुक्ति और प्राकाशादि में सर्प, जल, रजत और तलमलिनता आदि की
प्रतीति अज्ञानप्रयुक्त अध्यारोप के कारण होती है, स्वतः नहीं, इसी प्रकार निरुपाधिक, निरुपाख्य,
'नेति नेति' इस श्रुतिवाक्य से निदिष्ट, साक्षात्, अपरोक्ष, सर्वान्तर, आत्मा ब्रह्म, अक्षर,
अन्तर्यामी, प्रशास्ता, श्रीपनिषद पुरुष, विज्ञान आनन्दरूप ब्रह्म है—ऐसा जान लिया गया ।

वही फिर सूक्ष्म आहार करने वाला इन्धसञ्ज्ञक वेश्वानर, फिर उससे भी सूक्ष्मतर आहार

१. दृष्टिरित्यर्थः । २. अज्ञानप्रयुक्ताध्यारोपण निमित्तमेव । ३. प्राणोर्षिप येन सचेष्टः । ४. प्राणनादि-
प्रयोजकतया चेतनत्वेनेति यावत् । ५. निश्चिनन्तज्ञानस्वरूपः । ६. पञ्चमस्य तस्मिन् विशेषतो निश्चाय-
कत्वे । ७. ज्ञानस्वरूपो ह्यन्ता तस्माच्च पर भिन्नमज्ञानमेव भवतीत्यभिप्रेत्य परशब्दार्थमाह—अज्ञानमिति ।
८. संसारस्य । ९. तस्य निरुपाख्यत्वे । १०. तथा च नियंथमुद्येनैव तमागमा वाप्यन्ति न विधिनेत्यदोष
इति भावः । ११. प्रकृताप्यागतो षडाचार्यकूर्चसंज्ञके । १२. उपायविशेषो वाणादिदेवतासु ब्रह्महृष्टपास्यः ।
१३. संबन्धः ।

स्ततः परेण जगदात्मा प्राणोपाधिस्ततोऽपि प्रविलाप्य जगदात्मानमुपाधिभूतं रज्ज्वादा-
विव सर्पादिकं विद्याया स एय नेति नेतीति साक्षात्सर्वान्तर ब्रह्माधिगतम् । एवमभयं
परिप्रापितो जनको पाज्ञवत्त्वयेनाऽऽगमत संक्षेपत । 'अत्र च 'जाप्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयाण्यु-
पन्यस्तान्यन्यप्रसङ्गेने'न्ध' प्रविविक्ताहारतरः 'सर्वे प्राणाः' स एय नेति नेतीति ।

इदानीं जाप्रत्स्वप्नादिद्वारेणैव महता तर्केण विस्तरतोऽधिगमः कर्तव्यः । 'अभयं

प्राज्ञतुरीये प्रदशयति—तत परणेति । ततस्तस्माद्ब्रह्मात्तजसाञ्च "परेण व्यवस्थितो यो जगदात्मा
"प्राणोपाधिरव्याकृताश्च प्राज्ञस्तताऽपि "तमप्युपाधिभूत जगदात्मान केबले प्रतीच विद्याया प्रविलाप्य
स एय नेति नेतीति यत्तुरीय ब्रह्म तदधिगतमिति सबन्ध । विद्ययोपाधिबिलापने दृष्टान्तमाह—
रज्ज्वादाविति । अभय वं जनकेत्यादायुक्तमनुबदति—एवमिति । कूर्चब्राह्मणोक्तमयंमनुभाषित
साक्ष्याऽह—अत्र चति । अन्यप्रसङ्गेनोपासनाना । "कर्ममुक्तिफलत्वप्रदर्शनप्रसङ्गे नेति यावत् । तेषा-
मुपन्यासमेव"भिनयति—इन्ध इत्यादिना ।

वृत्तमनूद्योत्तराहाराण्य तात्पर्यमाह—इदानीमिति । प्रादिशब्द सुषुप्तितुरीयसंप्रहार्यं ।
ऋतकस्य महत्त्वं "चतुर्विधदोषराहित्येनावधितत्वम् । अधिगमस्तस्यैव प्रस्तुतस्य ब्रह्मण इति शेषः ।
कर्तव्य इदोदमिदानीमारभ्यत इति सबन्ध । किमिदं ब्रह्मणोऽधिगमस्य कर्तव्यत्व नाम तदाह—

करने वाला हृदयस्थ लिङ्गात्मा और पुन उससे भी सूक्ष्म प्राणापाधिक जगदात्मा जाना गया ।
फिर रज्जु आदि म सर्पादि के समान उपाधिभूत जगदात्मा का भी ज्ञान द्वारा लय करके 'स एय
नेति नेति' इस श्रुतिवाक्य द्वारा साक्षात् सर्वान्तर ब्रह्म जाना गया । इस प्रकार सक्षपत शास्त्र द्वारा
याज्ञवल्क्य से जनक अज्ञानरहित ब्रह्म को प्राप्त कराया गया है, तक के द्वारा नहीं । यहाँ अन्य
प्रसङ्ग से इन्ध, विश्व प्रविविक्ताहारतर से तैजम "सर्वे प्राणा" स प्राज्ञ, "स एय नेति नेति"
से तुरीय इत्यादि रूप से जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय का व्याख्यान किया गया है ।

मव जाग्रत स्वप्नादि के द्वारा ही महान तक से उनका विस्तारपूर्वक निश्चय कराना है ।

१ न तु युक्ति । २ टीकोक्तार्थम् । ३ वि'वर्जजप्राज्ञतुरीयाणि । ४ इन्धो विश्व । ५
प्रविविक्ताहारतरस्तेजस । ६ सर्वे प्राणा प्राज्ञ । ७ स एय नेति नेतीति तुरीय । ८ निश्चयः । ९
अभयम्—भयहृत्वविचारहित ब्रह्म । १० भिप्रत्वन । ११ प्राणागर्धरिति—प्राणज्वालावुपाधिभवेति स
तथा प्राणकारणत्वात्प्राण प्रतीकश्चोपाधिरव्याकृताश्च आनन्दमयनामधय इत्यर्थः । १२ तत इत्येतत्सर्व-
विभक्तिकतस्यन्तमित्याभिप्रेत्य तदर्थमाह—तमिति । १३ विश्वादिप्राप्तिभवेण । १४ स्पष्टयति । १५
चतुर्विधदोषेत्यादि । व्यभिचारात्साक्षात्स्याऽमिद्विद्याधानागभावेनावधितत्वमुद्वेगतमित्यर्थं इत्याह । वस्तुतस्तु
हेत्वाभावाच्चतुष्टयराहित्येन बाधाव्यपञ्चमेनापि तत्र राहित्यमित्यय ।

ऋग्याप्पारोपेण व्यावहारोपरतक । यथा यदि धूमो बह्निव्यभिचारी स्यात्तर्हि बह्निजन्मो न स्यादिति ।
चतुर्विधदोषरहितो हि तत्र साधुभवति । ते च दोषा प्रददय ते—आपादाः सत्त्वग्रह, आपादास्तत्त्वग्रह,
आनादापादकयोर्व्यभिचार अपरोक्षकत्व चेति । तत्त्व च कायकारणभावादिमूलकत्वात्माव । प्रकृते च तर्कान्तर-
न्वततोर्गैर दोषस्तथाहि आपादस्य बह्निव्यभिचारित्वस्य धूमे सत्त्वग्रहभावादापादास्य बह्निजन्मत्वाभावस्य
सत्त्वनिश्चयभावादापादापादकयोर्बह्निव्यभिचारित्वबह्निजन्मत्वाभावस्य व्यभिचारात्पादाद्विज्ञेयधूमो कायकारण-

प्रापयितव्यम् । सद्भावश्चाऽऽत्मनो विप्रनिपत्याशङ्कानिराकरणद्वारेण । व्यतिरिक्तत्वं शुद्धत्व स्वयंज्योतिष्ट्वमलुप्तशक्तिस्वरूपत्व निरतिशयानन्दस्वाभाव्यमद्वैतत्वं चाधिगन्तव्यमिति'दमारभ्यते ।

आर्यायिका तु विद्यासंप्रदानग्रहणविधिप्रकाशनार्था । विद्यास्तुतये च 'विशेषतः वरदानादिसूचनात् ।

अभयमिति । अधिगन्तव्यमर्थान्तरमाह—सद्भावश्चेति । 'प्रापयि सद्भावस्तस्याधिगतस्तत्किमर्थं पुनस्तादर्थ्येन प्रयत्नते तत्राऽह—विप्रतिपत्ताति । 'बाह्यानां विप्रतिपत्त्या 'नास्तित्वशङ्काया तन्निरासद्वाराऽऽत्मन सद्भावोऽधिगन्तव्य इत्यर्थे । आत्मनोऽस्तित्वेऽपि केचिद्देहाद्यो तदन्तर्भावमन्युपयन्ति ताग्रत्याह—व्यतिरिक्तं व्रमिति । देहादिव्यतिरिक्तोऽप्यात्मा कर्ता भोक्ता चेत्येके' भोक्तृत्वकेवलमि'यपरे' ताग्रत्युक्तम्—शुद्धत्वमिति । "तस्य जडत्वपक्ष प्रत्याचष्टे—स्वयंज्योतिष्ट्वमिति । "तत्र कूटस्थदृष्टिस्वभावत्व हेतुमाह—अनुपेतं । "एतेन विज्ञानस्य गुणत्वपक्षोऽपि प्रत्युक्तो वेदितव्य । ये त्वानन्दमात्मगुणमाहुस्ताग्रत्याह—निरतिशयेति । आत्मन संप्रपञ्चत्वपक्ष प्रत्यादिशति—अद्वैतत्वचेति ।

बाह्यगतात्पर्यमभिधायऽऽख्यायिकातात्पर्यमाह—आख्यायिका त्विति । विद्याया संप्रदानं शिष्यस्तस्य" ग्रहणविधि श्रद्धावि'प्रकारस्तस्य प्रकाशनार्थमाख्यायिकेति यावत् । प्रयोजनान्तर तस्या दशमति—विद्येति । कथं कमस्यो विशेषतो विद्यायाः स्तुनिरत्र लक्ष्यते तत्राऽह—वरेति । कामप्रदानस्य वरस्य याज्ञवल्क्येन राज्ञे "दत्तत्वात्तेन "बावसरे ब्रह्मज्ञानस्यैव पृष्टत्वात्तेन "विधिना विद्यास्तुते

अभय (भयहेतुक अविचारहित ब्रह्म) पद की प्राप्ति कराना है । तथा विपरीत ज्ञान की शङ्का को निराकरण द्वारा आत्मा के अस्तित्व को जानना चाहिये । देहादि से व्यतिरिक्तत्व, शुद्धत्व, स्वयंप्रकाशत्व, अलुप्तदृष्टिस्वरूपत्व, निरतिशयानन्दस्वाभाव्य और अद्वैतत्व का भी बोध कराना है, इसलिए अग्रिम ज्योतिर्ब्राह्मण ग्रन्थ का प्राग्भू किया जाता है ।

आख्यायिका तो विद्या के दान और ग्रहण की विधि प्रकाशित करने के लिए तथा कर्मों से श्रुष्ट होने के कारण विद्या की प्रशंसा करने के लिए है । विद्यादान का आदि कारण वरदान होने की सूचना से यही बात पुष्ट हाता है ।

- १ ज्योतिर्ब्राह्मणम् । २ विशेषतः—कर्मस्योऽधिकमिति यावत् । ३ वरदानादीति—आदिना विद्या-प्रदाना प्राप्तिनाम् । विद्यास्तुते सूचनादित्यर्थे । अथवा वरदानम् आदि कारणस्य विद्याप्रदानस्य तनेति पूर्ववत् ।
- ४ तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु । ५ आत्मसद्भावोऽधिगममायमिति यावत् । ६ वेदानास्तित्वानाम् । ७ विद्यातेन । ८ आत्मन । ९ काणादादयः । १० सांख्यादयः । ११ आत्मन । १२ स्वयंज्योतिष्ट्वे । १३ नित्यज्ञानस्वरूपत्वकथनेन । १४ तत्त्ववृत्तग्रहणेत्यर्थे । १५ आदिना समादि । १६ पुराऽग्निहोत्रसवादे । १७ इदानीम् । १८ प्रकारेण ।

भावमूलत्वेनोक्ता प्रयाजकत्वस्याभावाच्चेति । एतदप्यतो यदि बह्विध्यभिचारी स्यात्तर्हि बह्विसामानाधिकरण्यो न स्यात्तत्र अनुगमिष्य दापानां सत्त्वात् सत्त्वरूप स्यात्तर्हि आपादनस्य बह्विध्यभिचारित्वस्यैतदप्यतो सत्त्वनियन्तृत्वादापाद्यस्य बह्विसामानाधिकरण्यमावशोर्भविष्यात्तद्वद्वैतद्वययोः कार्यकारणभावोत्पत्तेरनुगतप्रयोक्तृत्वस्य सत्त्वाच्चेति ।

'जनकः ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम' स मने न
 वदिष्य इत्ययं' ह यज्जनकरश्च वैदेहो याज्ञवल्क्य-
 श्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ
 स ह कामप्रश्नमेव वद्रे तः हास्मै ददौ तः ह
 सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥ १ ॥

एक बार याज्ञवल्क्य विदेहाधिपति जनक के पास गये। उन्होंने ऐसा निरवयव किया था कि प्राज्ञ में कुछ भी नहीं बोलूँगा। पर पहले ही कभी विदेहराज जनक और याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र के विषय में संवाद किया था। उसी समय याज्ञवल्क्य ने जनक को वरदान दिया था और जनक की इच्छानुसार प्रश्न करना ही उम वरदान क रूप में माँगा था। यह वरदान याज्ञवल्क्य ने उस दे भी दिया था। अतएव याज्ञवल्क्य से जनक ने आज्ञा लेने के पूर्व हा प्रश्न करना प्रारम्भ कर दिया ॥ १ ॥

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम । स च गच्छन्नेवं मेने चिन्तितवाघ्न वदिष्ये
 किञ्चिदपि राज्ञे । गमनप्रयोजनं तु योगक्षेनार्थम् । न वदिष्य इत्येवंसंकल्पोऽपि
 याज्ञवल्क्यो यद्यज्जनकः पृष्ट्वास्तत्तत्प्रतिपेदे तत्र को हेतुः 'संकल्पितस्यान्ययाकरण

'सूचनात्साऽप्यत्र' विवक्षितेत्यर्थः ।

'तात्पर्यमेव भुक्त्वा व्याह्वयमारण्यमारभते—जनकमित्यादिना । संवादं न करोमीति व्रतं
 चेत्किमिति गच्छतीत्याशङ्कते—गमनेति । उत्तरमाह—योगेति । अथ हेत्याद्यवतारयति—नेत्यादिना ।

वैदेह जनक के पास याज्ञवल्क्य गये। उन्होंने जाते हुए ऐसा "मेने" भर्षान् सोचा कि मैं राजा को कुछ शिक्षा नहीं दूँगा। जनक के पास जाने का प्रयोजन तो योगक्षेम के लिए था। "शिक्षा नहीं दूँगा" ऐसा संकल्प करने पर भी जनक ने जो-जा पूछा, उसे याज्ञवल्क्य ने बतलाया, मन में प्रतिज्ञात में श्रय्य करने में यहाँ हेतु क्या था, इस विषय में श्रुति आख्यायिका बतलाती है। इससे पहले कभी

१ जनक इति—'तृतीये ब्राह्मणे स्वप्नसुषुप्त्योरतिरिक्तुतिः । क्रियते तो हि दृष्टान्तो परलोकविमोक्षयोः ॥ देहादिभ्यनिरिक्तत्व स्वप्नप्रत्ययस्य । स्वप्नप्रसङ्गतस्वैतन्त्रयमत्र प्रपञ्च्यते ॥ अद्वैतस्य दृष्टधरोप आनन्दक-
 स्वभावना । इदं नय सुषुप्तस्य प्रमङ्गो नोपपाद्यते ॥ इति भा० शा० ॥ २ स मेने न वदिष्य इति—एतेन
 राजा सदाह सवदिष्ये इत्याशयवान्याज्ञवल्क्यो वैदेह जनक जगामेति वातिकोवत व्याख्यान्तरम् । ३. सवदिष्ये
 राज्ञेति संकल्प्य स गतवानित्यत्र वरदानमेव हेतुरित्याशयत कर्मकाण्डनृत्तामाख्यायिका स्मारयति—अथ ह
 वदित्यादिना । ४. तु शङ्कामां किमित्यर्थः । ५ उक्तवान् । ६ मनसि प्रतिज्ञातस्य । ७. सूचनादिति
 —विद्यायाः कर्माद्यपेक्षया श्लेषधामावे कर्मादिविषयमेव प्रश्न कुर्यादिति भावः । ८ आख्यायिकायाम् । ९.
 पस्तुवद्वाह्यस्य ।

इत्यत्राऽऽख्यायिकामाचष्टे । पूर्वंत्र किल जनकयाज्ञवल्क्ययोः संवाद आसीदग्निहोत्रे
निमित्ते तत्र जनकस्याग्निहोत्रविषय 'विज्ञानमुपलभ्य परितुष्टो याज्ञवल्क्यस्तस्मै जन-
काय ह किल वर ददौ । स च जनको ह कामप्रश्नमेव वर वव्रे वृत्तवास्तं च वरं
हास्मै ददौ याज्ञवल्क्य' । तेन 'वरप्रदानसामर्थ्येनाद्याचिख्यासुमपि याज्ञवल्क्य तूष्णीं
स्थितमपि सभ्राडैव जनक पूर्वं पप्रच्छ । तत्रंयानुक्तिर्ब्रह्मविद्यायाः कर्मणा विरुद्धत्वात् ।
विद्यायाश्च स्वातन्त्र्यात् । स्वतन्त्रा हि ब्रह्मविद्या सहकारिसाधनान्तरनिरपेक्षा 'पुरुषार्थ-

अशो'त्तरत्वेनेति शेष । पूर्वत्रेति कर्मकाण्डोक्ति । नन्वग्निहोत्रप्रकरणे कामप्रश्नो वरो दत्तश्चेत्किमिति
'तत्रंवाऽऽख्यायिकायात्म्यप्रश्नप्रतिवचने नासूचिवाता तत्राऽऽह—तत्रैवेति । कर्मनिरपेक्षाया ब्रह्मविद्याया
मोक्षहेतुत्वादपि कर्मप्रकरणे तदनुक्तिरित्याह—विद्यायाश्चेति । 'सर्वपेक्षाधिकरणन्यायात्प्र तस्याः
स्वातन्त्र्यमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वतन्त्रा हीति । सा हि स्वोत्पत्तौ 'स्वफले वा कर्मार्थपेक्षते ।
नाऽऽद्योऽन्युपगमात् । न द्वितीय । 'अत एव चाग्नीधनाद्यनपेक्षेतिन्यायविरोधादित्यभिप्रेत्याऽऽह

जनकं चौर याज्ञवल्क्य मे अग्निहोत्रविषयक संवाद हुआ था, तब अग्निहोत्र क विषय मे जनक का ज्ञान
अधिक देखकर प्रसन्न याज्ञवल्क्य ने उस जनक को वर दिया था । उस समय जनक ने याज्ञवल्क्य से वर
मांगा था कि "मैं जो चाहूँ, वही प्रश्न आप से करूँ ।" याज्ञवल्क्य ने उसे यही वर दे दिया । उसी
वरप्रदान के सामर्थ्य से कुछ कहने की इच्छा न होने पर भी एव चुपचाप बैठे रहने पर भी पहले राजा
जनक ने ही प्रश्न किया । ब्रह्मविद्या का कर्म से विराध हान व कारण उसका कर्मकाण्ड प्रसङ्ग मे
वर्णन नहीं किया क्योंकि ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र है । सहकारी साधननिरपेक्ष होने के कारण स्वतन्त्र ब्रह्मविद्या

१ आख्यायिकामाचष्ट इति—वरदानमेव तत्र हेतुरित्यभिधातुमिति भावः । २ तदुद्दिश्य—तद्विषयक इति ।
यावत् । ३ विज्ञानातिशयम् । ४ कामप्रश्नेनेति—यथष्टमह भवते प्रश्न करवाणीत्यवविध वरमित्यर्थः ।
५ सामर्थ्येनेति—तथाच कामप्रश्नाख्य वर प्राप्य पृष्टवति राजनि दत्तवरस्य भुनेत्तूष्णीं भावो नाहति
मिथ्यावादिखापत्तेरतोऽप्य संकल्पितस्यान्यथाकरणमपि न गणयति मत्वन रक्षणायम् ऋतावभिति श्रुतेरिति
भावः । प्रतिज्ञात इत्य परिणालयितुमिच्छति । निदिष्टश्रुतिगदायं । अत्र च वातिकोत्ख्यास्यैवादेतैः ।
तदुक्तम्—'राजैव पूर्वं पप्रच्छेत्येवस्मादागम्यते शुभा । लिङ्गाद्व्याधयोत्तरा पूर्वा न साप्तीरप्रमापत् ॥ न
वदिष्येऽहमित्यत्र वन हेतुर्न कीदृश्यते । यतोऽस्ततोऽपस्तस्मात्कृता व्याख्यात्तरा शुभा' ॥ १३ । १४ ॥ इति ।
लिङ्गादिति । अनेन कामप्रश्नवरतामो विज्ञायत इति भावः । उत्तरा—वातिकोत्खा । पूर्वा—आप्योक्त ।
प्रमाणाभाव साधयति—नेति । न हि राजि कामप्रश्न दत्तवती न वदिष्य तनेति सकृत्पोऽवकल्पतऽनात्त्वापत्तरिति
भावः । ६ उक्तनिरपेक्षा सती पुत्र्यार्थस्य प्रत्यगात्मतमोष्यस्ते (मोक्षस्य) साधना—साधकैत्यर्थः । ७
समाधानतया । ८ अग्निहोत्रप्रकरणे एव । ९ न्यायादिति—युक्तेरित्यर्थः । तथाहि—'सर्वपेक्षा च
यज्ञादश्रुतेरववत् ३।४।२६ । विद्याया स्वोत्पत्तौ सर्वेषामाश्रमकर्मणामपलाऽऽस्त कृत यज्ञादिभूत । 'विप्रवि-
वन्ति यज्ञेन यज्ञेन 'त्वादिना यज्ञादिकमथा विविदिपाद्वारा ज्ञानसाधनत्वयवणादित्यर्थः । ननु परम्परया ज्ञानोत्पत्तौ
कर्मपेक्षाघनमोक्षोऽन्यस्तु तदपक्षेति तत्राऽऽह—अदवदिति । यथाऽवो योग्यताबलद्वयवर्षायां विनिपुत्रत न
माङ्गलारूपे तथा कर्मणा मोक्ष योग्यताभावात्प्राप्तव्यत्यर्थः । १० अविद्याभवती । ११ अत एवाद्यादि
४० सू० ३।४।२५ । स्वतन्त्रपुरुषार्थस्यैव ब्रह्मविद्याया न अग्नीधनाद्यनपेक्षाति । अग्नीधनाद्यनपेक्षात् स्वसाधन-
विहितानि कर्मणि सधयन्ते तथा च विद्याफले मोक्षे नास्ति कर्मपेक्षा रजतादभ्रमनिवृत्तौ शुक्तिर्नादान्तरमप्यर्थः ।

याज्ञवल्क्य 'किञ्ज्योतिरयं पुरुष इति । आदित्य-
ज्योतिः स आडिति होवाचाऽऽदित्येनैवायं ज्योति-
षाऽऽस्ते पत्ययते कर्म कुरुते विपत्येतीत्येवमेवैतद्या-
ज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किम ज्योति वाला है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सआद् ! यह पुरुष
आदित्य ज्योति वाला है क्योंकि यह आदित्यरूप ज्योति से बँटा है, सभी प्रार जाता है, कर्म करता
है और कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है । जनक न कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है ॥२॥

साधनेति च ॥ १ ॥

हे याज्ञवल्क्येत्येव संबोध्याभिमुखीकरणाय किञ्ज्योतिरयं पुरुष इति किमस्य
पुरुषस्य ज्योतियेन ज्योतिषा 'व्यवहरति सोऽयं किञ्ज्योतिरयं प्राकृतः कार्यकरणसघात-
रूपः शिरःपाण्यादिमानुपुरुषः पृच्छद्यते । किमयं 'स्वावयवसंघातबाह्येन ज्योतिरन्तरेण
व्यवहरत्याहोस्विवस्वावयवसंघातमध्यपातिना ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यमयं पुरुषो निर्वर्त-
यतीत्येतदभिप्रेत्य पृच्छति । किंचातो' यदि व्यतिरिक्तेन यदि वाऽव्यतिरिक्तेन ज्योतिषा

—सहकारोति । 'इत्यस्माच्च हेतोस्तत्रैवानुक्तिरिति सबन्ध ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्येयतभङ्गे हेतुमुख्या जनकस्य प्रदनमुत्पापयति—ह याज्ञवल्क्येति । अक्षरार्थमुख्या
प्रदनवाक्ये विवक्षितमर्थमाह—किमयमित्यादिना । स्वशब्दो यथोक्तपुरुषविषय । ज्योतिष्कार्यमित्या-
सनाविव्यवहारोक्ति । इत्येतदिति कल्पद्वय परामृश्यते । पक्षद्वयेऽपि फल पृच्छति—किंचात इति ।

मोक्षरूप पुर्यार्य की साधिका है ॥ १ ॥

जनक द्वारा 'हे याज्ञवल्क्य' यह संबोधन अभिमुख करने के लिए है । 'किञ्ज्योतिरयं पुरुष'
अर्थात् यह पुरुष किम ज्योति वाला है, जिमम अनुगृहीत आसनादि व्यवहार करता है । यह प्राकृत
स्थूलसूक्ष्मदारीरसंघातरूप शिर और हाथ आदि अवयवों वाला पुरुष किस ज्योतिवाला है—ऐसे पूछा
जाता है । क्या यह कार्यकरणसंघात अपने अवयवों में बाहर रहने वाली किसी अन्य ज्योति में व्यवहार
करता है अथवा कार्यकरणसंघात अपने अवयवों के बीच में रहने वाली ज्योति से ज्योति का कार्य
पूरा करता है । इस आशय ही से जनक पूछना है । इन पक्षद्वय में बाहर रहने वाली अथवा भीतर
रहने वाली किसी भी ज्योति से ज्योति का कार्य निष्पन्न होता है, इसका क्या कारण है ? इसमें
जो कारण है उसे मुने । यदि बाहर रहने वाली व्यतिरिक्त ज्योति से ज्योति का कार्य निष्पन्न

१ किञ्ज्योतिरिति । देह स्वता न व्यवहारक्षणेऽचेतनत्वान्मुत्पिण्डवत् । किंचाय पराधीनव्यवहारवान्
जहत्वाऽद्यादिविहिति भावः । २ अनुगृहीत । ३ आसनादिव्यवहारं करोति । ४ स्वेति । कार्यकरण-
संघातात् । तदवयवस्य तेषां समुदायाच्च बाह्यं तं रसं स्पृष्टमसहितं तत्तत्पर्यं इत्याहुः । ५ अतः—
अथ पक्षद्वयं विफलमित्यर्थः । ६ स्वातन्त्र्यात्मकात् । ७ 'राज्ञानं वदित्प्य' इति वतभङ्गे । ८. काम-
प्रयत्नवदत्तात्स्यम् ।

ज्योतिष्कार्यं निर्वर्तयति । शृणु तत्र कारणम् । यदि व्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यं निर्वर्तकत्वमस्य 'स्वभावो निर्धारितो भवति ततोऽदृष्टज्योतिःकार्यविषयेऽप्यनुमास्यामहे' व्यतिरिक्तज्योतिर्निमित्तमेवेदं कार्यमिति ।

'अथाव्यतिरिक्तेनैव स्वात्मना ज्योतिषा व्यवहरति ततोऽप्रत्यक्षेऽपि ज्योतिषि ज्योतिष्कार्यदर्शनेऽप्यतिरिक्तमेव ज्योतिरनुमेयम् । अथानियम एव व्यतिरिक्तमव्यतिरिक्तं वा ज्योतिः पुरुषस्य व्यवहारहेतुस्ततोऽनध्यवसाय एव ज्योतिर्विषय इत्येवं मन्वानः

सम्प्रत्यये तसिः । उत्तरमाह—शृण्विति । तत्रेति पक्षद्वयोक्तिः । कारणं फलमिति यावत् । प्रथमपक्षमनुक्ष स्वपक्षसिद्धिफलमाह—यद्येत्यादिना । "पृष्ठी पुरुषमधिकरोति । यत्र कारणमूर्तं ज्योतिर्न हृदये तत्कार्यं स्वात्मनाशुपलभ्यते तत्रापि विषये स्वप्नादादिति यावत् । अनुमानमेवाभिनयति—व्यतिरिक्तेति । "विमतमतिरिक्तज्योतिरिधोमं व्यवहारत्वात्संमतवदित्यर्थः ।

पक्षान्तरमनुक्ष लोकायतपक्ष"सिद्धिफलमाह—अयेत्यादिना । अप्रत्यक्षेऽपीत्यव्यतिरिक्तमिति ऋधे । "कल्पांतरमाह—अयेति । अनियमं व्याकरोति—अव्यतिरिक्तमिति । तस्मिन्पक्षे व्यवहारहेतौ ज्योतिष्य"निश्चयात्तद्विकारो व्यवहारोऽपि "न स्वर्धर्ममासन्धेतेत्याह—तत इति । व्याख्यातं प्रश्नमुप-

होना इसका स्वभाव व्याप्तग्रह के समय में निश्चित किया जाय तो जहाँ कारणभूत ज्योति नहीं देवी जाती, उस कार्य के विषय में भी हम अनुमान करेंगे कि यह कार्य किसी व्यतिरिक्त ज्योति से सम्पन्न हुआ है (इसलिए सिद्धान्त की सिद्धि हो जाती है) ।

और यदि यह अपने से अद्वितीय ज्योति द्वारा ही व्यवहार करता है, तो ज्योति का प्रत्यक्ष न होने पर भी ज्योति का कार्य देखने पर अव्यतिरिक्त ज्योति का ही अनुमान करना होगा । यदि कहीं कि पुरुष के व्यवहार के लिए बाह्य और मध्यस्थ ज्योति है तो इसका नियम ही नहीं है, इससे तो

१. शोभम् । २. व्याप्तिग्रहसमय निश्चित । ३. उक्तनिर्धारणात् । ४. अदृष्टेत्यादि । अदृष्ट कारणभूत ज्योतिर्त्यस्य तथाभूत कार्यं यस्मिन्तत्र विषय इति विग्रह । न च "अमुना, सामर्थ्ये" इति परब शब्दस्य तत्र व्यपेक्षारूपसामर्थ्यस्यैव व्याख्यानव्याप्तापि "नित्य समासज्जुतरपदस्यस्य"ति परब प्राप्नोत्युत्तरपदस्यत्वाद्युक्तं हि—अनुत्तरपदस्यस्यति किम् । परमसपि,जुङ्केति इति ज्येयम् । ५. अतो रादान्तिनिर्धारति शेषः । ६. अयेति । व्याप्तिग्रहकाले अयवहर्नुरव्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषाऽनुग्रहो गृह्यते चेत्ता स्वप्नादौ व्यवहाररहितज्ञानाव्यतिरिक्तमेव ज्योतिरनुमेय ततः सिद्धान्तधार्तिवहारेणात्मत्वप्राप्तेरित्यर्थः । ७. व्यवहर्तृस्वरूपेण । ८. निरुक्तव्यवहारात् । ९. अवतरणपरायणम् । १०. अनम्बवनाय इति बहुव्रीहिः । ११. ज्योतिर्विषय इति च षष्ठीतत्पुरुषः प्रथमान्तं पदम् । अथवा ज्योतिषो विषये व्यवहारेऽन्यथात्मनोऽप्यवसायाभाव इत्येव वारम् । १२. अयेति षष्ठी । १३. विमतमिति—प्राप्तत्वानीनातिरिक्तमासनादिकार्यमित्यर्थः । स्वप्नादिनासीन तदिति यावत् । १४. सिद्धिरूपं फलम् । १५. तृतीयम् । १६. अनिश्चितज्योतिःसामर्थ्यः । १७. न स्वर्धर्ममासन्धेतेति—व्यतिरिक्तज्योतिःसाध्योऽय व्यवहारोऽव्यतिरिक्तज्योतिःसाध्यो वाऽप्यनित्यत्वात्तरनिश्चयो न स्यात्तथा च ह्यवयवनिर्वर्त्येऽपि कर्माभि निग्राहनेन तमसि प्रवृत्तिर्न स्यादनिश्चयात्ता वचाच्चिदंशब्दं ज्योतिरनुग्राहयेत् प्रवर्तमाना वाऽप्येतव पतौशे निपतन् कण्टकादौ विसृज्यमिति व्यवहारो विव्यवेतेत्यर्थः ।

पृच्छति जनको याज्ञवल्क्यं किञ्चोतिरयं पुरय इति ।

नन्वेवमनुमानकोशले जनकस्य किं प्रश्नेन स्वयमेव कस्मात्प्र प्रतिपद्यत इति । सत्यमेतत् । तथाऽपि 'लिङ्गलिङ्गसंबन्धविशेषाणामत्यन्तसौक्ष्म्याद्दुरवबोध्यतां मन्यते बहूनामपि पण्डितानां किमुतंकस्य । अत एव हि सूक्ष्मधर्मनिर्णये परिपद्व्यापार इष्यते । पुरुषविशेषश्चापेक्ष्यते । दशावरा परिपत्त्रयो वंको वेति ।

संहरति—इत्येवमिति ।

प्रश्नमाक्षिपति—नन्विति । व्यतिरिक्तज्योतिर्व्यभुत्सया प्रश्नो भविष्यतीति चेत्तत्राऽऽह—स्वयमेवेति । राज्ञोऽनुमानकोशलमङ्गी करोति—मत्यमिति । किमिति तर्हि पृच्छतीत्याशङ्क्याऽऽह—तथाऽपीति । व्याप्यव्यापकयोस्तत्संबन्धस्य चा'तिसूक्ष्मत्वादेकेन दुर्ज्ञानत्वात्तज्ज्ञाने याज्ञवल्क्योऽप्यपेक्षित इत्यर्थः । कथं तेषामतिसूक्ष्मत्वं तत्राऽऽह—बहूनामपीति । लिङ्गादिष्वनेकेषामपि त्रिवेकिनां दुर्योधताऽस्ति किमुतंकस्य' तेषु दुर्योधता वाच्येत्यर्थः । तेषामत्यन्तसौक्ष्म्ये मानर्धो स्मृतिं प्रमाणायति—अत एवेति । कुशलस्यापि सूक्ष्मार्थनिर्णये पुरुषान्तरापेक्षायाः सत्त्वादेवेति यावत् । पुरुषविशेषो वेदविद्विद्यात्म-विदित्यादिः । तत्र स्मृत्यर्थं संक्षिपति—दद्योति । उक्तं 'हि—

'धर्मणाधिगतो यस्तु वेदः सपरिवृंहणः ।

ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥

ज्योति के विषय मे कोई निश्चय ही नही होगा । ऐसी मन मे चिन्ता करता हुआ जनक याज्ञवल्क्य से पूछता है—बहु पुरुष किस ज्योति वाला है ।

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु अनुमानकुशल राजा जनक को प्रश्न करना क्यों अनिर्वाय था, उन्होंने स्वयं ही क्यों नहीं इसे जान लिया । (समाधान मे कहते हैं—) यह ठीक है, तो भी हेतु साध्य-संबन्धविशेषो की अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण राजा उन्हें बहुत से विद्वान् पण्डितों के लिए अगम्य मानता है, एक पण्डित की तो बात ही क्या है । इसी से धर्म जैसे सूक्ष्म तत्त्व के निर्णय के लिए सगोष्ठी आयोजन की आवश्यकता होती है तथा अध्यात्मनस्त्ववेत्ता विशिष्ट पुरुष की भी आवश्यकता होती है । (वेद के जानने वाले) दस पुरुषों, (भाचाग्निष्ठ) तीन पुरुषों अथवा (तत्त्व-निष्ठ) एक पुरुष की परिपद् होना भी सम्भव है ।

१. हेतुमाध्यव्याप्तीनामित्यर्थः । २ राजा । ३ व्याप्ते । ४. व्यतिसूक्ष्मत्वादिति—पक्षतादिविचारणां गहनत्वादिति भावः । ५ जनकस्य । ६ कुशलस्यापि तत्र तत्सत्त्वे । ७ मनु० १२।१०६ । ८ धर्मणेत्यादि । धर्मो ब्रह्मचर्यादि । यदङ्गमीमांसा धर्मशास्त्रपुराणाद्युपबृंहणम् । श्रुतिप्रत्यक्षहेतव इति किं-विधास्ते स्वयं श्रुतितदर्थप्रत्यक्षीकरणे समर्थाः श्रुति पठित्वा तदर्थमुपदिशन्ति चान्येभ्य इत्यर्थः । दशावरेति—यदि बहव मनोऽज्ञेहिता न स भवति तदा दश अवरा न्यूना यक्ष्यमाणलक्षणा यस्यां सा परिपद् स्या तदभावे ऋद्धय वा सदाचार्य य धर्मो निश्चिन्नुयात् धर्मत्वेन स्वीकुर्यान्न विशवददित्यर्थः ॥ त्रैविध्य इति । वेदत्रयसंबन्ध-शास्त्रात्रयाद्येत्तरस्य । हेतुक श्रुतिस्मृत्यविरुद्ध न्यायशास्त्रज्ञ । तर्की भीमासारमकतर्कवित् । नैरुक्तो निरुक्ता-रूपवेदाङ्गज्ञ । धर्मपाठक मानवादिधर्मशास्त्रवेत्ता । त्रयश्चेति ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थश्चेत्येव दशावप परिपत्स्यादित्यर्थः ।

तस्माद्यद्यनुमानकौशल राजस्तथाऽपि तु युक्तो याज्ञवल्क्यः प्रष्टुम् । विज्ञान-
कौशलतारतम्योपपत्ते पुरुषाणाम् । अथवा श्रुति स्वयमेवाऽऽख्यायिकव्याजेनानुमान-
मार्गमुपन्यस्यास्मान्बोधयति 'पुरुषमतिमनुसरन्ती ।

याज्ञवल्क्योऽपि जनकामिप्रायाभिज्ञतया व्यतिरिक्तमात्मज्योतिर्बोधयिष्यन्नकं
व्यतिरिक्तप्रतिपादकमेव लिङ्गं प्रतिपेदे यथा प्रसिद्धमार्गदित्यज्योतिः सन्नाडिति होवाच ।

दशावरा वा परिपद्य घर्मं परिकल्पयेत् ।
अथवा चाऽपि वृत्तस्या त घर्मं न विचारयेत् ॥
त्रैविद्यो हेतुकस्तर्को नैरुक्तो घर्मपाठक ।
त्रयश्चाऽऽभ्रमिण्य पूर्वं परंपदेया दशावरा ॥
'ऋग्वेदविद्यजुर्विष्णु सामवेदविदेव च ।
अथवा परिपज्ज्ञेया घमसज्ञानिण्ये' इति ॥

'एको वेत्यध्यात्मविक्रुच्यते ।

कुशलस्यापि राज्ञो याज्ञवल्क्य प्रति प्रश्नोपपत्तिमुपसहरति—तस्मादिति । सूक्ष्मार्थनिर्णये
पुरुषान्तरापेक्षया बुद्धसमतत्वादिति यावत् । 'तत्रैव हेत्वन्तरमाह—विज्ञानेति । राज्ञो याज्ञवल्क्या-
पेक्षामुपपाद्य पक्षान्तरमाह—अथवेति । 'तथा चात्र राज्ञो मुनेर्वा विवक्षितत्वाभावात्किमिति राजा
मुनिमनुसरतीति चोद्य निरवकाशमिति शेष ।

प्रश्नोपपत्तो प्रतिवचनमुपपन्नमेवेति मन्वानंस्तदुत्थापयति—याज्ञवल्क्योऽपीति । अतिरिक्ते
ज्योतिषि प्रष्टुं राज्ञोऽभिप्रायस्तदभिज्ञतया तथाविध ज्योतीं राजानं बोधयिष्यमथाऽतिरिक्तज्योतिरा-
वेदक वक्ष्यमाणं लिङ्गं गृहीतव्याप्तिकं प्रसिद्धं भवति तथा 'तद्व्याप्तिग्रहणस्थलमार्गदित्यज्योतिरित्यादिना

इसलिए राजा यद्यपि अनुमान करने में कुशल है, तो भी याज्ञवल्क्य से पूछना उचित ही है
क्योंकि पुरुषों के विज्ञान और कौशल का तारतम्य होना संभव है । अथवा पुरुष की बुद्धि का
अनुसरण करने वाली श्रुति स्वयं आख्यायिका द्वारा याज्ञवल्क्य के बहाने अनुमानमार्ग को प्रस्तुत
करके हमें ज्योतिपदाय का बोध करा रही है ।

जनक के अभिप्राय को जान लेने पर याज्ञवल्क्य ने भी सघात से व्यतिरिक्त आत्मज्योति
का बोध कराने के लिए जनक को व्यतिरिक्त ज्योति का प्रतिपादक लिङ्ग ही बतलाया । यथा—हे

१ याज्ञवल्क्यविरूपेणेति यावत् । २ ज्योतिपदायम् । ३ पुरुषमतिमनुसरन्तीति—पुरुषमतिर्हि सदिग्यार्थं
पादकमेव समृद्धातीत्यभिप्रेक्षयानेत्यथ । ४ सघातति यावत् । ५ ऋग्वेदविदिति—ऋग्यजु सामवेद-
शास्त्रानां वेद्वेदोत्तरस्तदपश्चाच्च त्रयं स घमसदेहंनिरासार्थं अथवा परिपद्योभ्येत्यथ । ६ एको वेति ।
तदुक्तं—'एकोऽपि वेदविदो यं व्ययस्यो द्विजोत्तम । स विजयं परो घर्मो नाम्नातानुदितोऽनुत्तरिति ॥ मनु०
१२।१।३ । तदभावे एकोऽप्यध्यात्मविद्यं घर्मं निश्चिनुयात् स प्रष्टुं घर्मो विज्ञेयो न वेदरहत्यानिर्माणं
दशमिं सदृशं रप्नुक्त इत्यर्थं । ७ मन्वादिसमतत्वादिति । ८ कुशलस्यापि राज्ञो मुनिं प्रतिप्रश्ने । ९
तथा च—श्रुतिकृतं स्वयं ज्योतिष्वबोधनस्य प्रकृतवाक्ये विवक्षितत्वे च । १० प्रतिवचनम् । ११
व्यतिरिक्तज्योतिर्व्यवहारमोक्षोपनिषत्प्रहृष्टमिति ।

कथम्, आदित्येनेव ॐ स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेन चक्षुषोऽनुप्राहकेण ज्योतिषाऽयं प्राकृतः पुरुष आस्त उपविशति पत्ययते पर्येति क्षेत्रमरण्यं वा तत्र गत्वा कर्म कुरुते विपत्येति

मुनिरपि प्रतिपन्नवानित्यर्थः । व्याप्तिं बुभुत्समानः 'पृच्छति—कथमिति । 'यो व्यवहारः सोऽतिरिक्त-ज्योतिरधीनो यथा सवित्रधीनो जापदृश्यव्यवहार इति व्याप्तिं व्याकरोति—आदित्येनेति । एवकारं व्याचष्टे—स्वावयवेति । आदित्यापेक्षामन्तरेण चक्षुर्वंशादेवाय' व्यवहारः सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—चक्षुष इति । आसनाद्यन्तमध्यापार'व्यपदेशे व्याप्तिसिद्धेषु वा विशेषणचतुर्वित्याशङ्क्याऽऽह—

सत्राद् । वह प्रसिद्ध आदित्य ज्योति वाला है—ऐसा उन्होने कहा । ऐसा किम प्रकार है ? यह प्राकृत पुरुष आदित्य से ही अपने देहावयवसंघात से भिन्न नेत्रेन्द्रिय के अनुप्राहक ज्योति के द्वारा 'मास्ते' यानी बैठता है, 'पत्ययते' अर्थात् क्षेत्र या मरण्य में पर्यटन करता है, यहाँ जाकर कर्म

१ स्व देह । २ पर्यटति । ३ उक्तवान् । ४ राजा । ५ यो व्यवहार इति—जापदृश्यव्यवहारातिरिक्त-व्यवहारो व्यवहारकर्त्तारतिरिक्तज्योति साध्यो व्यवहारस्वात्मप्रदृश्यव्यवहारवदिरयुक्त मनुमानमनुसन्धेयम् । ६ आसनादिः । ७ व्यपदेश उपन्यास' ।

ॐ स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनेति । अत्राहुर्वातिकाधार्वास्तथाहि—'देहावयवसंघातज्जातिसम्मानन्ति क्रिया-देगाद्य-रथन्परिमत्तद्विपक्षणमास्तर-स्वप्रतिष्ठैकभान्वाभ्यज्योतिरेव पुमानयम् । आस्ते पत्ययते कर्म कृत्वा भूयो निवर्तते' ॥ ३४ ३५ ॥ देहश्च तदवयवाश्च तेषां संघातश्च देहगत्य जातिश्च स्थान च तस्यैव क्रिया च देशकालौ च तेषोऽप्यन्तर्निर्णयं तद्विमर्श प्रश्नप्रकाशामपरत्तत्र प्रकाशान्तरानपेक्ष्य यद्भ्रानुलक्षण ज्योतिस्तेनेति योजना ॥ चैतन्यस्य चिद्व्य प्रतिबिम्ब तदवस्थास्ति इति स तथा चैतन्याभाससमन्वित इत्यर्थः । 'बिम्ब तु प्रतिबिम्बे स्यात्प्रपञ्चे बिम्बिकाफल इति हैम । "मध्ये जहस्वभावोऽयं ज्योतिषोर्वर्तते पुमान् । बुद्ध्यादिविषयान्ो हि प्रत्यक्षचैतन्यबिम्बितः" ॥ ३६ ॥ यथोक्तादित्यज्योतिर्वंशादेव देहादिव्यवहारादत्वमात्मज्योतिरपेक्षायाश्चूपाऽऽह—मध्य इति । जहस्वभाव पुमास जहाजहज्योतिर्द्वेषमध्यस्य विशिनष्टि—बुद्ध्यादीति । चैतन्याभासानुरञ्जन विना बुद्ध्यादिसिद्धयनुपपत्तिद्योतको द्विगन्धः ॥ "प्रत्ययेकस्त्वज्योतिरिच्यरामहतनिष्कम-सद्विच्छदरबोन्डादि-ज्योतिषोर्भोहेतुकः ॥ मातृमातृप्रमेयतामा कर्तृसाधनवायवान् । अग्रनायादिसारथ्यमापायागमात्मकः" ॥ ३७ ३८ ॥ के त ज्योतिषो सत्राऽऽह—प्ररपगिति । सर्वान्तरस्य सर्वभेदरहितस्य चिदेकतानस्यासङ्गोदासीनस्य प्रतीच, स्थिरत्व कोटस्थस्य तत्र हेतुनिष्कमेति तद्विच्छद ततो यथोक्तज्योतिषो विपरीत परामभूतमनेक पराधीनप्रकाश प्रकाशवसमुष्ट परिणामीत्यर्थः । मध्ये वर्तते इति पूर्वेण संबन्ध । पुरुषमन्वितबुद्ध्यादेरादित्यादियज्योति-रतिरिक्तज्योतिरपेक्षत्वे को हेतुविच्छात इत्यपेक्षायामुक्तं पुरुष विशिनष्टि—भोहति । आत्माज्ञानजो बुद्ध्यादि-मातृमातृमेयवर्तु' कर्मकार्यभोक्तृभोगभोग्यात्मा जगन्नाशवानजहज्योतिरपक्षत स्वतोभानायोपादित्यर्थं ॥ "तद्विच्छदरमेकेनेव ज्योतिषोर्हीनितेक्षण । आदित्येन सर्वथाऽऽस्त यास्यायाति करोति च" ॥ ३९ ॥ अजहज्योतिरेव तद्दि बुद्ध्यादिव्यवहारार्थमिद्वेरलमित रेनेत्याशङ्क्य दृष्टस्वामैवमित्याह—उद्विच्छेति । बुद्ध्यादिसंघातादप्यवहर्तु-विपरीत यदादित्यास्य ज्योतिस्तेनात्पादितपरिणामविशेषो बुद्ध्यादिव्यवहारतीत्यर्थः ॥ "आदित्यात्परमेतत्त नाऽदित्यस्मावधारणे । पिच्छप्राणादियमेष्यो वैभन्धावधृती मतः" ॥ ४० ॥ आदित्येनेवायमित्यादित्यात्परस्ता-देवकारभुनेपासनादिहेतुत्व सत्यावधारणे सत्राऽऽदित्यज्योतिरतिरिक्तानुपादकज्योतिः सिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—आदित्यादिति ॥ तद्दि किमेवकारेण चिद्व्य तदाह—विच्छेति । अनुपाहादनुपादक ज्योतिरतिरिक्तत्वस्यमिति

अस्तमिति आदित्ये याज्ञवल्क्य किञ्ज्योतिरेवायं पुरुष

हे याज्ञवल्क्य ! पर यह तो बतलावें कि सूर्य अस्त हो जाने पर वह पुरुष किस ज्योति बाला

विपर्येति' च यथागतम् । अत्यन्तव्यतिरिक्तज्योतिष्ट्वप्रसिद्धताप्रदर्शनार्थमनेकविशेषणम् ।
'बाह्यानेकज्योतिःप्रदर्शनं च लिङ्गस्याव्यभिचारित्वप्रदर्शनार्थम् । 'एवमेवंतद्याज्ञवल्क्य
॥२॥

अत्यन्तेति । आसनादीनामेकैकव्यभिचारे देहस्यान्यथाभावेऽपि नानुप्राहकं ज्योतिरन्यथा भवति ।
'अतस्तदनुप्राह्यादत्यन्तविलक्षणमिति विवक्षित्वा व्यापारचतुष्टयमुपदिष्टमित्यर्थः । 'तथाऽपि किमर्थ-
मादित्याद्यनेकपर्यायोपादानमेकेनेव व्याप्तिग्रहसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—बाह्येति । देहेन्द्रियमनोग्यापार-
रूपं "कर्म चिद्गं" तस्य व्यतिरिक्त'ज्योतिरव्यभिचारसाधनार्थमनेकपर्यायोपन्यासो बहवो हि दृष्टान्ता
व्याप्तिं द्रढयन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

करता है, "विपल्येति" अर्थात् पृथिवी मे जैसे गया था, वैसे ही वापिस आ जाता है । पुरुष अत्यन्त
व्यतिरिक्त ज्योतिष्ट्व को प्रसिद्धि द्योतन के लिए यहाँ अनेक विशेषण दिए हैं । और संघात से बाह्य
अनेक ज्योतियों का प्रदर्शन लिङ्ग का अव्यभिचारित्व प्रदर्शित करने के लिए है । जनक बोले—
याज्ञवल्क्य ! (देहादि से व्यतिरिक्त ज्योति) यह ऐसी ही है ॥ २ ॥

तथा हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त होने पर यह पुरुष किस ज्योति बाला होता है ।

१. भूवस्ततो निवर्तते । २. संघानाद् । ३. उवर्तं देहादिव्यतिरिक्तं ज्योतिरङ्गी करोति—एवमेवेति । ४. एकैकेनि—एकैकस्यान्यतमस्याभावे सतीत्यर्थः । ५. अन्यथाभावेऽपि—विशिष्टस्य विशेषणाभावादभावेऽपि । तत्तद्विशेषणवत्तो विलक्षणत्वेऽपीति यावद् । ६. अन्यथा भवति—विलक्षणं भवति । ७. अतः—ज्योतियो-
जन्यथाभावात् । ८. ज्योतिः । ९. उक्तविषया व्यापारचतुष्टयोपदेशस्य सार्यक्येऽपि । १०. त्रिया । ११. ज्योतिषा सह व्यभिचाराभावः ।

निर्धारयितुमेवकारो नाऽऽदित्यमवधारयितुमित्यर्थः ॥ "आदित्यावधृतिस्त्वेतस्मान्देन्द्रादेः स्यादनुप्राहः ।
तस्मात्पिण्डादिवैश्वानरेवेतीहावधार्यते" ॥ ४१ ॥ विपक्षे दोषमाह—आदित्येति । विवक्षितभेदकारार्थं निगमयति
—तस्मादिति ॥ "नृपस्त्वेवेति संस्लेपादादित्यस्यावधारणम् । मत्वाऽस्तमित इत्येवं मुहुविप्रमचूचुदत्" ॥ ४२ ॥
न चेदादित्यमवधारयितुमेवकारस्तद्धि तस्मिन्पुस्तोऽपि ज्योतिरन्तरेणाऽऽसनादिसिद्धे स्तरप्रश्नानुपपत्तिरित्या-
शङ्क्याऽऽह—नृपस्त्विति ॥ भ्रान्तिप्रयुक्ता समनन्तरप्रवृत्तिरिति भावः ॥ "आरमेव ज्योतिरपवा
रविमोमान्गुपाधिगम् । अर्वाग्रयत एवेति तमेव इति च श्रुतेः" ॥ ४३ ॥ एवकारस्य पययिचतुष्टयनिष्कट-
स्याप्यन्तरमाह—आरमेवेति । आरमज्योतिषः सर्वावभासकरवाच्येऽऽदित्यादिऽपेणापि भासक मान्यदित्यत्र
'तमेव भ्रान्तमनुभाति सर्वमिति' श्रुति संवादपठित—तमिति ॥ "रवीन्द्रादिवदाथेभ्यो ह्यनुमानं च वरतं ना । स्वार्थं
विज्ञापयिष्यामि विभज्यातः परा श्रुतिः" ॥ ४४ ॥ आदित्याद्यात्मनाऽऽरमज्योतिरेव सर्वावभासक धेतृत्वं-
पर्यावेरेव प्रत्यग्भोतिः सिद्धेरारमेवत्येत्स्यादियुतिरन्येत्स्याशङ्क्याऽऽह—रवीति । आदित्यादिभ्यो विभज्य
स्वतन्त्रमात्मज्योतिर्ज्ञापयिष्यामीति मुनिमन्वतेऽतः श्रुतिरत्मेत्याद्या परा प्रवृत्तेति योजना ॥

इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं
ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमे-
वैतद्याज्ञवल्क्य ॥३॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किञ्ज्यो-
तिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निर्नवायं
ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येव-
मेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥४॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्ते-
ऽनौ किञ्ज्योतिरेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भ-

है अर्थात् किस ज्योति से उक्त व्यवहार करता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट ! उस समय यह पुरुष चन्द्ररूप ज्योति वाला होता है क्योंकि वह चन्द्र ज्योति से बँठता है, सभी भ्रोर जाता है, कर्म करता है एव कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है । इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है ॥ ३ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर तथा चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट ! उस समय यह पुरुष अग्निरूप ज्योति वाला ही पूर्वोक्त व्यवहार करता है क्योंकि वह अग्निरूप ज्योति से बँठता है, सभी भ्रार जाता है, कर्म करता है और कर्म करके फिर नियत स्थान पर लौट आता है । इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है ॥ ४ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर तथा अग्नि के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला हो उक्त व्यवहार करता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—

तयाऽस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किञ्ज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य
ज्योति, ॥ ३ ॥

अस्तमित आदित्ये चन्द्रमस्यस्तमितेऽग्निज्योतिः ॥ ४ ॥

शान्तेऽनौ चाग्ज्योतिः । वागिति शब्दः परिगृह्यते । शब्देन विपद्येण श्रीत्र-

इन्द्रिय व्यावर्तयति—वागितीति । शब्दस्य ज्योतिष्ट्व स्पष्टयितुं पातनिका करोति—

(याज्ञवल्क्य बोले—) चन्द्रमा ही इसकी ज्योति होता है ॥३॥

आदित्य के अस्त होने पर और चन्द्रमा के अस्त होने पर अग्नि ज्योति वाला होता है ॥ ४ ॥

शान्त अग्नि में वाक् ज्योति है । “वाक्” इस पद से वाक् शब्द वा परिग्रहण होता है । शब्द-
रूप विषय से आत्र इन्द्रिय में संस्कार होता है । आत्रिन्द्रिय के सन्निवृष्ट होने पर मन में विषयाकार से

वतीति वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पत्ययते कर्म कुरुते
विपत्येतीति तस्माद्धं सभ्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनि-
र्जायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्या-
ज्ञवल्क्य ॥५॥

हे सभ्राट् ! यह पुरुष वाणीरूप ज्योति वाला है क्योंकि (वर्षाकालीन निविड ग्रन्थकारयुक्त रात्रि में भ्रान्त पुरुष वाणीरूप ज्योति से बैठना है, सभी भोर जाता है तथा कर्म करके पुन नियत स्थान पर लौट आता है। भ्रत हे सभ्राट् ! जहाँ पर अपना हाथ भी नहीं दीखता किन्तु वाणी उच्चारण की जाती है, वहाँ अघरे मे भी पुरुष उस वाणी के सहारे चला जाता है। इस पर राजा ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है ॥ ५ ॥

मिन्द्रियं 'दीप्यते । श्रोत्रेन्द्रिये 'संप्रदीप्ये मनसि 'विवेक उपजायते । तेन मनसा 'वाह्यां चेष्टा प्रतिपद्यते । मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोतीति ब्राह्मणम् । कथं पुनर्वर्ण-
ज्योतिरिति वाचो ज्योतिष्टमप्रसिद्धमित्यत आह—तस्माद्धं सभ्राड्यस्माद्वाचा ज्योति-
षाऽनुगृहीतोऽयं पुरुषो व्यवहरति तस्मात्प्रसिद्धमेतद्वाचो ज्योतिष्टम् । कथमपि यत्र यस्मि-
न्काले 'प्रावृषि प्रायेण मेघान्धकारे सर्वज्योतिःप्रत्यस्तमये 'स्वोऽपि पाणिर्हस्तो न विस्पष्टं

शब्देनेति । "तद्दीपनकार्यमाह—श्रोत्रेति । मनसि विषयाकारपरिणामे सति किं स्यात्तवाह—तेनेति । "तत्र प्रमाणमाह—मनसा हीति । एव पातनिका कृत्वा वाचो ज्योतिष्ट्वमाधनायं पृच्छति—कथ-
मिति । का पुनरत्रा "नुपपत्तिस्तत्राऽऽह—वाच इति । "तत्रानन्तरवाक्यमुत्तरत्वेनोत्थाप्य ध्याकरोति—
भ्रत ग्राह्येत्यादिना । प्रसिद्धिमेवाऽऽकाङ्क्षापूर्वकं स्फुटयति—कथमित्यादिना । उपेक्षेत्यादि ध्याघट्टे—

परिणाम पैदा होता है, विषयाकारपरिणत मन से ब्राह्मण शब्दादिविषया श्रवणादिलक्षणा चेष्टा होती है। प्रथम अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में कहा है—'मन से देखता है, मन से सुनता है' तो फिर वाक् ज्योति किम प्रकार है ? वाक् का ज्योतिष्ट्व होना प्रसिद्ध नहीं है—इसलिये श्रुति कहती है । हे सभ्राट् ! क्योंकि यह पुरुष शब्दात्मिका वाणीरूप ज्योति में अनुग्रहीत होकर व्यवहार करता है, इसलिये इस वाणी का ज्योतिष्ट्व होना सर्वानुभवसिद्ध है। वह कैसे ? "यत्र" अर्थात् जिस समय वर्षाकालीन रात्रियों में मेघ के अन्धकार में प्रायः समस्त ज्योतियों के भ्रस्त होने पर अपना हाथ भी स्पष्टतया

- १ दीप्यते—सत्स्त्रियते सतिवृष्यत इति यावत् । २ संप्रदीप्ये—तनिकृष्टे । ३ निवेष्टा विषयाकारेण परिणाम । ४ विषयाकारपरिणतेन । ५ ब्राह्मणशब्दादिविषयाम् । ६ श्रवणादिमदार्णा करोति । ७ वृ० उ० १।५।३ । ८ शब्दात्मिकाया । ९ सर्वानुभवसिद्धम् । १० प्रावृष्टाभ्यादी । ११ स्वकीय । १२ विषयप्रवृत्तेन्द्रियदीपनकार्यामिति यावत् । १३ पत्यम् । १४ उक्तचेष्टायामुक्तमनसः प्रयोगकारणे । १५ वाचो ज्योतिष्ट्वे । १६ उक्ता प्रतिदिशोर्धे ।

'अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्नमिते शान्ते-
ऽग्नी शान्तायां वाचि किञ्ज्योतिरवायं पुरुष इत्यात्म-

हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर, अग्नि के युक्त जाने पर और वाणी के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किम ज्योति बाना हो उक्त व्यवहार करता है ?

निर्ज्ञायते । अथ तस्मिन्काले सर्ववेष्टानिरोधे प्राप्ते बाह्यज्योतिषोऽभावाद्यत्र वागुच्चरति 'श्वा
या भपति गर्दभो वा रीत्युपेय तत्र न्येति 'तेन शब्देन ज्योतिषा' श्रोत्रमनसोर्नरन्तर्यं
भवति तेन ज्योतिष्कार्यत्वं वाक्प्रतिपद्यते 'तेन वाचा ज्योतिषोपन्येत्येवोपगच्छत्येव 'तत्र
संनिहितो 'भवतीत्यर्थः । तत्र च कर्म कुरुते विपत्येति । तत्र वाग्ज्योतिषो ग्रहणं
गन्धादीनामुपलक्षणार्थम् । 'गन्धादिभिरपि हि घ्राणादिष्वनुग्रहीतेषु प्रवृत्तिनिवृत्त्यादयो
भवन्ति । 'तेन संरप्यनुग्रहो भवति कार्यकरणसंघातस्य । 'एवमेवंतद्याज्ञवल्क्य ॥५॥

तेन शब्देनेति । ज्योतिष्कार्यत्वं "तज्जन्यव्यपहाररूपकार्यत्वमिति यायत् । तत्र बाग्ज्योतिष इत्यत्र
चतुर्यपर्यायः सप्तम्यर्थः । किमिति गन्धादयः शब्देनोपलक्ष्यन्ते तत्राऽऽह—गन्धादिभिरिति । प्रश्नान्तर-
मुत्थापयति—एवमेवेति । "तथाऽपि "स्वप्नादी "तस्य प्रवृत्तिदर्शना"त्तत्कारणोभूतं ज्योति-
षंरूपमिति शेषः ॥५॥

दृष्टिगोचर नहीं होता । उम समय समस्त वेष्टामो का निरोध प्राप्त होने पर बाह्य ज्योतिषों के
प्रभाव होने पर जहाँ वाक् का उच्चारण होता है (जिम प्रदेश में पशु आदि में वाक् उत्पन्न होती है)
कुत्ता भौकता है अथवा गधा रेंकता है, उसी प्रदेश मार्ग गृह को चला जाता है; इवानादि की उस
शब्दात्मिका ज्योति से श्रोत्र और मन का निरन्तर सन्निवर्ष होता है, इससे ज्योतिष्कायत्व को वाक्
प्राप्त हो जाती है । भावार्थ यह है कि उस वाणीरूप ज्योति से पुरुष समीप चला जाता है, उम प्रदेश
में मार्ग या घर के निश्चयवर्ती हो जाता है । वहाँ वह कर्म करता है और पुन लौट जाता है । वहाँ
गन्ध आदि के उपलक्षण के लिए वाक् रूप ज्योति का ग्रहण है । गन्ध (स्पर्श) आदि के द्वारा प्राणादि
के अनुग्रहीत होने पर प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि होते हैं । इसलिए उनसे भी स्पूलसूक्ष्मशरीर
संघात का अनुग्रह होता है, (जनक ने कहा—) हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है ॥५॥

१. एतावता यो व्यवहारः स व्यवहृतृ देहेन्द्रियावतिरिक्तज्योतिः साधुो यथाऽऽदित्वादिसाधुो वा ग्रहणग्रहारा
द्वि व्याप्तो सिद्धाय स्वप्नादावपि बहुसमायमनादिकार्यदर्शनाद्भूतित्यस्य तथाप्यतिरिक्तेन केनचिज्ज्योतिषे-
ष्यनुमानतो ज्योतिषां प्रबुद्धेऽपि उपन्यस्तानां तत्रानुपसन्निवर्षाधितत्वात् किं तदिति विरोधे पृच्छति—अस्तमित
इति । २. अस्मिन्देशे पश्चादेवांगुल्लवति तदाह—न्येति । ३. वादेः । ४. छह । ५. सन्निकर्षः ।
१. धुनो गर्दभस्य वा । ७. तस्मिन्देशे । ८. मार्गं गृह वा प्रतिपद्यते । ९. आदिना स्पर्शादिः । १०.
पश्चादीनामपि प्रवृत्त्यादिप्रयोजकत्वेन । ११. उक्तं देहावतिरिक्त ज्योतिरङ्गी करोत्येवमिति । १२. तद्
—ज्यातिः । १३. तथापि—देहावतिरिक्ते ज्योतिषि सिद्धेऽपि । १४. स्वप्नादाविति—आदिना
पश्चान्मुष्यवस्थादयो गृह्यन्ते । १५. तस्य—कार्यकरणसंघातस्य । १६. प्रवृत्तिः ।

वास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनेवायं ज्योतिषाऽऽस्त पत्य-
यते कर्म कुरुने त्रिपत्येतीति ॥६॥

पाञ्चवल्क्य ने उत्तर दिया—हे सम्राट् ' उस समय इस पुरुष की ज्योति आत्मा ही रहता है, क्योंकि यह पात्मा ज्योति से बँडता है और सभी प्रार जाता है, कर्म करता है तथा कर्म करके नियत स्थान पर लोट आता है ॥ ६ ॥

शान्तायां पुनर्वाचि गन्धादिष्वपि च शान्तेषु बाह्येष्वनुप्राहकेषु सर्वप्रवृत्ति-
निरोधः प्राप्तोऽस्य पुरुषस्य । एतदुक्तं भवति । 'जाप्रद्विपये हि बहिर्मुखानि करणानि
चक्षुरादीन्यादित्यादियज्योतिर्भरनुगृह्यमाणानि' यदा तदा स्फुटतरः संव्यवहारोऽस्य

'कथं पुनरत्र पृच्छयते ज्योतिरन्तरमित्याशङ्क्य प्रष्टुरभिप्रायमाह—एतदुक्तं भवतीति ।

बाणी के शान्त हो जाने पर तथा गन्धादि बाह्य अनुप्राहको के भी निवृत्त हो जाने पर इस पुरुष को सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का निरोध होता है । यहाँ श्रुति यह कहती है । जिस समय जाप्रत्कालीन घटादि विषय में आदित्यादि ज्योतियो अनुगृहीत होने वाली पक्षु आदि इन्द्रियां बाह्यार्थप्रवण होती हैं, उन

१. किज्योतिरेवाय पुरुष इति सवग्यः । २. जाप्रत्कालीनघटादिबिषये । ३. बाह्यार्थप्रवणानि । ४. भवन्ति । ५. केवाभिप्रायेण । ६. पठ्यमगयति ।

शुभ्रवंप्रवृत्तिनिरोधः प्राप्तोऽस्य पुरुषस्येति । अत्राहुरीति का बायांस्तथाहि—“सर्वेष्वेष्टानिरोधोऽस्य पुष्टा प्राप्नस्तदाऽसति । यथोक्तज्योतिषि ततो न स्पृशेष्टा यथोदिता” ॥ १४ ॥ प्रसिद्धज्योतिरुपरमे किमिति ज्योतिरन्तरं पृच्छयते चेष्टा तु पुनः स्वतो भविष्यति तेत्याह—सर्वेति । जाप्रदवस्थायांमहासंयते ज्योतिष्प्राप्तताद्यभाव पुनः सिद्धस्ततः स्वप्नादावादित्यादि ज्योतिरुपरतो प्रत्यगर्थोनिष्यसति यथोक्तावनादिष्वेष्टापोमात्त-
द्वेतुत्वेन प्रष्टव्यं प्रत्यगर्थोतिरित्यर्थं ॥ “स्मृतिस्वप्नममाधाने पुरुषस्य समीप्यते । चेष्टाऽऽः पूर्ववत्तस्य ज्योतिस्तत्रानुगोच्यते” ॥ १५ ॥ प्रसिद्धज्योतिरुपादे प्रवृत्तिरेव शान्ति नातस्ताद्वेतुत्वेन ज्योतिरन्तरं प्रत्यगर्थो-
त्प्राशङ्क्याऽऽह—स्मृतीति । चेष्टादृष्टिपरामर्शाजःशब्दः । पूर्ववत्त्रायरादिवत् । स्वप्नादी प्रसिद्धज्योतिरुपादेऽपि पुरुषचेष्टाया दृष्टव्यस्तद्वेतुत्वेन ज्योतिरनुमाय पृच्छयत इत्याशङ्क्याऽऽह—तस्येति ॥ “बोदय कर्तुंश्च पुनोऽस्य प्रवृत्तियैश्च काचन । यथोक्तज्योतिर्बिष्टे नासी दृष्टा नदाचन” ॥१६॥ अनुमातुमावो व्याप्तिमाह—बोदयुरिति । वो व्यवहारः सोऽसहजज्योतिर्निमित्तो यथाऽऽदित्याद्यधीनश्चैत्रादिष्व्यवहार इत्यर्थः ॥ “भावाद्यधीनतायाः सप्रमातादिः प्रसिध्यति । ततः कर्त्रादितिसिद्धिः प्रमाकर्मकल ततः” ॥१७॥ व्याप्तिभूमिं प्रपञ्चयति—प्रान्वादीति । आदित्याद्यनुगृहीतेन्द्रियस्तद्विषयात्तुमनोवर्णित्यर्थः । सप्रमाता तदवस्था कारकाप्रयोगपर्ये सति तत्प्रयोगानुत्पत्ता कर्त्ता प्रमातृसिद्धौ प्रमातरकलयोः कर्तृसिद्धौ किवातत्कलयोरथ सिद्धिरतो मैत्रस्य ज्ञानगत्यादिव्यवहारोऽप्रतिरिक्तज्योति-
निमित्त इत्यर्थः । प्रत्येव्यारिदिरादिष्व्योत्तर्यं ॥ “कृत्स्वानित्ययोर्भासोमेष्ववर्ती पुमानयम् । बाह्यन कामकर्मणि सर्वदेव प्रपद्यते” ॥ १८ ॥ या प्रवृत्तिः सा बाह्यज्योतिर्निमित्ता यथा जाप्रत्प्रवृत्तिरिति विवरीतव्याप्तिमात्रशुच किं सा तन्निमित्तैव किं वा तन्निमित्ताऽपीति विकल्प्याऽऽहो बाध्यवैकल्प्यमाह—कृत्स्व्येति । द्वितीये व्यभिचारात् स्वप्नादिष्व्यवहारे तददृष्टेरिति प्रष्टव्यम् ॥ “स्वप्नादिविषयान्योर्जो अहत्वायाऽऽसत्सिद्धिः ॥ जाप्रत्प्रयोगपरि-
पादेशो नामात्रमपि चिदिति” ॥ १९ ॥ किञ्च भावाभावव्यवहारानुपपत्त्या प्रत्यगर्थोति सिद्धेरर्थापत्तिकिरोच

पुरुषस्य भवतीति । एवं तावज्जागरिते स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा ज्योति-
ष्कार्यसिद्धिरस्य पुरुषस्य दृष्टा । 'तस्मात्ते' वयं मन्यामहे सर्ववाह्यज्योति प्रत्यस्तमघेऽपि
स्वप्नसुषुप्तकाले जागरिते च तादृगवस्थायां स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा

यो व्यवहारः सोऽतिरिक्तज्योतिनिमित्तो यथाऽऽदित्यादिनिमित्तो जाग्रदव्यवहार इति व्याप्तिसुवता
निगमयति—एव तावदिति । व्याप्तिज्ञानकार्यमनुमानमाह—तस्मादिति । तादृगवस्थाया सर्वज्योतिः-
प्रत्यस्तमयदशायामिति यावत् । 'विमतो व्यवहारोऽतिरिक्तज्योतिरधीनो व्यवहारत्वा'संप्रतिपन्नव-

समय इम पुरुष का व्यवहार स्पष्टतर होता है इस प्रकार जाग्रत् अवस्था में तो इम पुरुष के अपने देहाव-
यवसंघात से व्यतिरिक्त ज्योति के द्वारा ही देखी गयी है, उक्त व्याप्तिग्रह के बल से व्याप्तिज्ञान वाले
हम यह समझते हैं कि स्वप्न और सुषुप्तिकाल में सम्पूर्ण बाह्य ज्योतियों के अस्त हो जाने पर तथा
जाग्रत्काल में भी ऐसी अवस्था माने पर अपने देहावयवसंघात व्यतिरिक्त ज्योति के द्वारा इस पुरुष

१. उक्तव्याप्तिग्रहवशात् । २. व्याप्तिज्ञानवन्तः । ३. विमत—जाग्रदव्यवहारातिरिक्तः स्वप्नसुषुप्त-
सामाधिक इत्यर्थः । ४. जाग्रदव्यवहारेत्यर्थः ।

इत्याद्ये दोषान्तरमाह—स्वान्नादीति । अतो जडत्वादिति सवन्धः । केमुक्तिकन्यायाथोऽपिशब्द ॥ “आयमापा-
यिज्योतिर्भिर्माषमनिबन्धना । सगति पुरुषस्यस्य निहेतु प्रत्यगात्मना” ॥ ६० ॥ नन्वादित्यादिज्योतिषो
पुरुषप्रवृत्तिहेतुश्च युक्त प्रवर्त्यसवन्धघ्राऽऽत्मज्योतिषस्तदभावात्तत्राऽह—आगमेति ॥ ‘कुम्भस्य विषता
यद्वनिहेतु सगति सदा । विनश्वरो सहेतुश्च जलस्योरादिमगति” ॥ ६१ ॥ बुद्ध्यादेजडप्रकाशस्यतः
स्वाभाविकीत्यत्र दृष्टान्तमाह—कुम्भस्येति । तस्य जडप्रकाशसवन्ध सहेतुरित्यत्र दृष्टान्तो विनश्वरोति ॥
“अपेहासहस्राण्येव भान्वादीनि प्रकुर्वते । अनुप्राह्येण पुमेह सदाऽनुपह मुह” ॥ ६२ ॥ विवक्षितज्योतिष-
स्वाभाविके कायकारणसवन्धे तदमतता स्यात्तदवयवविवादिवाशकृष्णऽह—येति । इहेति व्यवहारभूमिरुक्ता ।
इह प्रवर्त्ये पुषीत्यर्थः । अनहृतानि प्रवर्त्येधर्मत्वरहितानीत्यर्थः । मुहुरिति क्रियापदेन सर्वदेत्यसहस्राण्येन
सवन्धते । तद्वदजड ज्योतिरपीति शेषः । विमतो नानुप्राह्यधर्मश्चक्षुराद्यतिरिक्तस्ये सत्यनुप्राह्यत्वादादित्यादिवन्न च
स्वाभाविके तस्य सघातसवन्धेऽभ्यङ्गताहतिरविद्यया तदङ्गीकारादिति भावः ॥ “अकारकतमकान्येव पुस-
कारकरूपेण । नानुप्राह्यानि कुर्वन्ति प्रकाश गतिवद्यत्” ॥ ६३ ॥ प्रत्यज्ज्योतिर्नानुप्राह्ये सत्क्रियत्वापत्तेरिति
विशेष्यातिदृष्टमाशङ्क्याऽह—अकारकेति । व्यञ्जकान्येवाऽऽदित्यादीऽभङ्गत्वा क्रियामप्राप्य पुरुषस्य प्रकाश-
रूपमनुप्राह्य कुर्वन्ति न तु तिष्ठन्ती विकारद्वारा गतिवदेतान्यनुप्राह्यकाण्यतो विवक्षितज्योतिष्यनुप्राह्यकत्वमपि न
सत्प्रवर्त्येत्यर्थः ॥ “व्यञ्जकाना हि सर्वेषां न स्वरूपातिरेकतः । व्यञ्ज्येष्वतिरिक्तयो दृष्टस्तिष्ठतो नु गतिर्था”
॥ ६४ ॥ वैश्वान्तस्पष्टयनुक्त प्रपञ्चयति—व्यञ्जकानामिति । तिष्ठतो हि जन्तो स्वरूपातिरेकेणाति-
स्यमपेक्ष्य गतिर्दृष्टा नैवमभिगम्य ज्ञाप्यवभिभक्तिरभिभ्यञ्जकसन्निधानातिरिक्त विचारमेघत तत्सन्निधिसत्तामानेन
तदभिभ्यक्तिवशनादित्यर्थः ॥ “आत्मज्योतिरतथैवेद सदानस्तमितोदितम् । भान्वादिव्यपि सर्वेषु तदेव प्राग्विब-
धितम्” ॥ ६५ ॥ दार्ष्टान्तिक निगमयति—आमेति । किञ्चाऽऽदित्यादिवन्नघ्राऽऽत्मज्योतिष सत्क्रियत्वं तत्रापि
तदभिदेरात्मैव ज्योतिरयवत्यत्र तेजस्रि प्रत्यज्ज्योतिष एव भासकत्वेनावस्थानोक्तेरित्याह—भान्वादिव्यपि ॥
“पुरुषवृत्तियि निज्ज यकोऽज्योतिषो भवेत् । सर्वत्राप्यभिचारिरवानथा स्वप्नादिभूमिषु” ॥ ६६ ॥ पुष्या-
चारस्यातिरिक्तज्योतिषा व्याप्ति विपरीतव्याप्तिनिरासेनोक्त्वा व्याप्तिपसमाह—पुरुषवृत्तिरिति । सर्वत्र देशे

ज्योतिष्कार्यसिद्धिरस्येति । दृश्यते च स्वप्ने ज्योतिष्कार्यसिद्धिबन्धुसङ्गमनवियोगदर्शनं देशान्तरगमनादि च । सुषुप्ताञ्चोत्थानं सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदियमिति । तस्मादस्ति व्यतिरिक्तं किमपि ज्योतिः । क्विं पुनस्तच्छान्तायां वाचि ज्योतिर्भवतीति ।

दित्यथस्तादेवानुमानमायेदितमिति भावः । हेनोराश्रवासिद्धिमाशङ्क्य परिहरति—दृश्यते चेति । आदिशब्देन देशान्तरादौ कर्मकरणं गृह्यते । आश्रयंकदेशासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—सुषुप्ताचेति । ध्यान-दशायामिटदेवतादर्शनं चकारार्थः । अनुमानफलं निगमयति—तस्मादिति । यथोक्तानुमानाज्ज्योतिः सिद्धं चेति प्रश्नेनेत्याशङ्क्याऽऽह—किं पुनरिति । सर्वज्योतिरुपशमे दृश्यमानस्य व्यवहारस्य कारणतयाऽनुमानतो ज्योतिर्मात्रसिद्धावपि तद्विशेषबुभुस्तायां प्रश्नोपपत्तिरित्यर्थः ।

के ज्योतिसम्बन्धी कार्यं को सिद्धिं होती है, स्वप्न में बन्धुओं के संयोग-वियोग दिखायी देने और देशान्तर में जाने आदि ज्योति के कार्यों की सिद्धि देखी ही जाती है, इसी प्रकार सुषुप्ति से उठना और "मैं सुख से सोया, उस ममप कुछ भी नहीं जाना ।" (व्याप्त के हेतु का पक्षधर्मता बल से) इसलिये इससे व्यतिरिक्त कोई ज्योति है । किन्तु उस वाणी के शान्त होने पर कौन ज्योति होती है ।

१. उत्थानमिति—सुषुप्तिकालीन (उत्थानप्राक्कृष्णावच्छिन्न) उत्थानानुसङ्गप्रवृत्तास्यो व्यापार इत्यर्थः । २. सुखमित्यादि—एतत्स्मरणमूलभूत सोषुप्तोन्मुक्त इति भावः । ३. तस्मात्—व्याप्तस्य हेतुः पक्षधर्मतावन्नात् । ४. पक्षासिद्धिम् । ५. आश्रयस्य स्वानसोषुप्ततामाधिक्यव्यवहारस्य पक्षोभूतस्यैकदेशः सोषुप्ताभिप्राकृत्यो व्यवहार—तत्कालीना सत्त्वप्रधाना सुखाकारा वृत्तिरिति शब्दतस्यासिद्धिमित्यर्थः । ६. बसहसम् । ७. आदित्यादारम्भ वाक्पयन्तज्योति ।

काले पुमि चेत्यर्थं । व्याप्तस्य लिङ्गस्य पक्षधर्मतामाह—तथेति । पुम्प्रवृत्तिर्दृष्टेति शेषः ॥ "जाग्रत्काले नरस्यास्य भग्न्यादिज्योतिषा यदा । चक्षुराद्यनुगृह्येत स्फुटा व्यवहृतिस्तदा" ॥ ६७ ॥ उक्ता ध्याप्ति जाग्रद्विषये हीत्यादिभाष्यार्थतया स्फुटपति—जाग्रदिति ॥ "एव जागरिते तावदादित्याद्युत्पन्नक्षणम् । विभिन्नासहतज्योति-सुषुप्तपुरःसरः । पुव्यापार सदसोत्पन्नमाणप्रमित स्फुट" ॥ ६८ ॥ व्याप्तिमुपसहरति—एवमिति । उक्तलक्षण-त्वमेव स्फुटपति—विभिन्नैत्यादिना । सदक्षेति निर्दुष्टकरणजन्यतया यत्प्रमास्य ज्ञान तेन प्रमितत्वादितस्फुटो-ज्यमुक्तरूपो व्यापार इत्यर्थः ॥

क्विकं पुनस्तच्छान्तायां वाचि ज्योतिर्भवतीति । अत्राहुर्वातिकाचार्यास्तथाहि—"सर्वज्योतिरुपरतो मूरिव्या-पारकारणम् । स्वयज्योतिष्कमपि त राजा पप्रच्छ मोहत्" ॥ ७३ ॥ आत्मनः स्वप्रकाशत्वेन स्वतः स्फुरणात् तस्मिन्प्रश्नो न हि न ज्ञाते युक्ततदविश्रान्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—मर्तेति ॥ "यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिधम् । तमप्यपह्नुतविद्या नाज्ञानस्यास्ति दुष्करम्" ॥ ७४ ॥ अज्ञानादपि स्वप्रकाशे न प्रश्नस्तस्यैव स्वसाधके प्रतीच-सिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यत्प्रसादादिति । 'नुर्यामिरावणमुषियमणी मेच्छिय तथा । सर्वत्राप्रति-घात्येव प्रत्यग्नो महेश्वर' ॥ १ ३ ३३ ॥ इत्यादौ चाज्ञानस्य निरङ्कुशलत्वमादर्शितमिति भावः ॥ नुर्यादिति अघटमानघटनपटीयस्त्वेन प्रसिद्ध मायादिगन्धितमज्ञं तस्य साभासस्य न क्वचिदपि प्रतिहृतिरित्यर्थः । प्रत्यग्नो महेश्वर इति निर्देशस्त्वज्ञानमुपवर्जनीकृत्य विदारमप्राधान्येन निर्देशस्तदस्वातन्त्र्यज्ञानार्थमित्यर्थः ॥ "स्वतो बुद्ध स्वतः पुद्ग स्वतो मुक्त निरात्मिका । अविचारितसिद्धिरविद्या सिद्धते वपम्" ॥ ७५ ॥ तस्य पुष्करं नास्ति चेतप्रतीच स्वसंबन्धमपि वास्तव प्राप्येदित्याशङ्क्याऽऽह—स्वत इति । "नि सङ्गस्य ससङ्गे न कृतस्यस्य

उच्यते—'प्रात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीति । 'प्रात्मेति 'कार्यकरणस्वावयवसघातव्य-
तिरिक्तं कार्यकरणवभासकमादित्यादिबाह्यज्योतिर्वैतस्वयमन्येनानवभास्यमानमभिधीयते
ज्योतिरन्तःस्य 'च तत्पारिशेष्यात् । कार्यकरणव्यतिरिक्तं 'तदिति तावत्सिद्धम् । यच्च
कार्यकरणव्यतिरिक्तं कार्यकरणसंघातानुग्राहकं च 'ज्योतिस्तद्बाह्यं श्रक्षुरादिकरणरूपल-
भ्यमानं दृष्टं न तु तय 'तच्चक्षुरादिभिरुपलभ्यत प्रादित्यादिज्योतिः पूरतेषु । 'कार्यं तु
ज्योतिषो दृश्यते यस्मात्तस्मादात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते परलयते कर्म कुरुते विपल्येतीति ।
'तस्मान्मनन्तःस्य ज्योतिरित्यवगम्यते । किचाऽऽदित्यादिज्योतिर्विलक्षणं 'तदभौतिकं च

प्रतिबन्धनमवताय व्याकरोति—उच्यत इत्यादिना । अवभासकत्वे दृष्टान्तमाह—प्रादित्या-
दीति । "तत्र व्यतिरिक्तत्वं साधयति—कार्येति । अनुग्राहकत्वादादित्यादिवदिति शेषः । तच्छान्तं स्य
पारिशेष्यादित्युक्तमुपपादयति—यच्चेति । उपरतेष्व्वात्मज्योतिरिति शेषः । "तदेव "तर्हि मा भूदिति
चेन्नेत्याह—कार्यं विवति । स्वप्नादौ दृश्यमानं व्यवहारं हेतुकृत्य फलितमाह—यस्मादित्यादिना ।
विमतमन्तं स्वमतीन्द्रियत्वादादित्यादिवदिति व्यतिरेकीत्यर्थः । व्यतिरेकान्तरमाह— किञ्चेति ।

इमं परं श्रुतिं कहती है—वह आत्मा ही इसकी ज्योति होती है, आत्मा का शब्दाथ यह है कि
यह स्थूल सूक्ष्म शरीररूप अपने अवयवसघात से व्यतिरिक्त स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अवभासक
तथा आदित्य आदि बाह्य ज्योतियों के समान स्वयं किसी ग्रन्थ से न भासित होने वाली ज्योति कहा
जाता है । परिशेष्य वह ज्योति भन्तं स्थ है, वाय और करण से व्यतिरिक्त वह आत्मज्योति है, ऐसा तो
वैसे सिद्ध हो चुका है, और जो आदित्यरूप ज्योति स्थूल और सूक्ष्म शरीर से व्यतिरिक्त तथा स्थूल
और सूक्ष्म शरीर सघात की उपकारक होती है, वह चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से उपलब्ध होते हुए
देखी जाती है किन्तु प्रादित्यादि ज्योतियों के निवृत्त हो जाने पर यह आत्मज्योति उनकी तरह चक्षु
आदि से उपलब्ध नहीं होती । किन्तु तब भी क्योंकि ज्योति का स्वप्न व्यवहारात्मक कार्य देखा
जाता है, इसलिए यह सघात आत्मज्योति से ही बैठता, उधर-उधर जाता कर्म करता और फिर वापिस
आ जाता है । इसलिए (सफल होने और अतीन्द्रिय होने से) निश्चय ही यह आत्मज्योति भन्तं स्थ है,
ऐसा जाना जाता है । इसके प्रतिरिक्त वह प्रादित्यादिरूप ज्योति से विलक्षण और (अतीन्द्रिय होने

१ आत्मैवास्यति—स्वप्नादौ वासनारूपा धीरात्मज्योतिषा दीपिता; स्व व्यापार करोतीति भावः । कोऽपि
व्यापारो बुद्धेरित्यागच्छुष स्वप्नादिभावियं समुत्पन्नविद्युत्तय सर्वा इत्यादिना समाहितं यतिरिक्ते । २
प्रात्मशब्दाप्यभाह—प्रात्मेति । प्रथमं ज्योतिरभिधीयत इत्यनेन संबन्धः । ३ ज्योतिर्विहितमिन्द्रियं—कार्यकरणेति ।
४ तच्छान्तं न्ययः । ५ आत्मज्योतिः । ६ प्रादित्यादिरूपम् । ७ आत्मज्योतिः । ८ स्वप्नाव्यवहारा-
त्मकम् । ९ सघातः । १० सकलत्वे सत्यधीन्द्रियत्वात् । ११ तदभौतिकं चेति । आत्मज्योतिरभौतिकम्
अतीन्द्रियत्वादादित्यादिवदिति व्यतिरेक्यनुमानान्तरम् । प्रादित्यादिज्योतिर्विलक्षणमित्यभौतिकस्वरूपात्वात्मानम्
अभौतिकं चेति अत्राने निरुक्तव्यतिरेकसमुच्चयार्थः । १२ तत्रेति—व्यतिरिक्तत्वात् स्याद्ययोर्मध्य इत्यथ
इत्याह । आत्मज्योतित्येवार्थो वा । १३ तदेव—आत्मज्योतिरेव । १४ तर्हि—नैवोपलभ्यते चेदित्यर्थः ।

विचारिणा । पूजन्त्यानात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते ॥ ७६ ॥ अविद्यारतनोर्वास्तवाऽवयवपूर्वोक्ता मुक्ति
स्मारयति—नि सङ्गस्येति ॥

स एव हेतुर्यच्चक्षुराद्यग्राह्यत्वमादित्यादिवत् ।

'न, समानजातीयेनैवोपकारदशनात् । यदादित्यादिविलक्षणं ज्योतिरान्तरं सिद्धमित्येदं सत् । कस्मात् । उपक्रियमाणसमानजातीयेनैवाऽऽदित्यादिज्योतिषा कार्यकरणसंघातस्य भौतिकस्य भौतिकेनैवोपकारः क्रियमाणो दृश्यते । यथादृष्टं 'चेदमनुमेयम् । यदि नाम कार्यकरणार्थान्तरं तदुपकारकमादित्यादिवज्ज्योतिस्तथाऽपि कार्यकरणसंघातसमानजातीयमेवा'नुमेयं कार्यकरणसंघातोपकारकत्वादादित्यादिज्योतिर्वन्त् । 'यत्पुनरन्त स्थत्वावप्रत्यक्षत्वाच्च वलक्षण्यमुच्यते 'तच्चक्षुरादिज्योतिर्भिरनंकान्तिकम् ।

"न प्रति "लोकायतश्चोदयति—नेत्यादिना । "तत्र न जयं व्याचष्ट—यदिति । "उक्तं हेतुं प्रश्नपूर्वकं विभजते—कस्मादित्यादिना । यद्यपि देहादेवकार्मादुपकारकमादित्यादिसजातीयं दृष्टं तथाऽपि नाऽऽत्मज्योतिरुपकार्यसजानोदननुमेयमित्याशङ्क्याऽऽह—यथादृष्टं चेति । "तदेव स्पष्टयति—यदि नानेति । विमतमन्त स्थमतिरिक्तं चातीन्द्रियत्वादादित्यवदिति "परोक्षं व्यतिरेक्यनुमानमनूद्य

मे) अभौतिक भी है, यही कारण है कि वह आत्मज्याति आदित्यादिज्याति की तरह चक्षुरादि इन्द्रियो से ग्रहण नहीं की जा सकती ।

इस पर पूर्ववादी कहता है—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि लोकव्यवहार में उपकार तो समानजाति वाले से ही देखा जाता है । आदित्यादि से विलक्षण जो अन्त ज्योति सिद्ध की गयी है, वह मिथ्या है । क्यों मिथ्या है ? क्योंकि उपक्रियमाण भौतिक स्थूलसूक्ष्मशरीरसघात का अपने समानजाति वाले भौतिक आदित्यादि ज्योति से ही उपकार होते देखा जाता है । एव जैसा देखा गया है, वंसा ही आत्मज्योति का अनुमान भी करना चाहिये । यदि कार्यकरणसघात की उपकारक ज्योति आदित्यादि के समान उनसे कोई भिन्न है, तो भी उसे कार्यकरणसघात (स्थूल-सूक्ष्मशरीरसघात) के समानजाति वाली ही अनुमान करना चाहिये, क्योंकि आदित्यादि ज्योतियों के समान वह कार्यकरणसघात का उपकार करने वाली है । इसके प्रतिरिक्त अन्त स्थ और अतीन्द्रिय होने के कारण जो उसकी (देहादि से) विलक्षणता बतलायी जाती है । वह विरुद्ध होने से नेत्रादि

- १ नति —आत्मज्योतिरन्तरं स्थमतिरिक्तमभौतिकं च न भवितुमर्हतीत्यर्थं । तत्र हेतुमाह—समानेति । २ मिथ्या । ३ आत्मज्याति । ४ संघातोपकारत्वम् । ५ ज्योतिरिति । विमतो व्यवहारोऽतिरिक्तज्योतिरधीनो व्यवहारवत्त्वाप्रकालीनव्यवहारवदिति पूर्वोक्तानुमानेन सिद्धमिति शेषः । ६ अनुमेयमिति—आत्मज्योतिर्देहादिसजातीयं तदुपकारकत्वादादित्यादिज्योतिर्वदिति पलितम् । ७ उपकारकत्वादिति । यदुपकारकं तदुपकार्यसजातीयमित्यन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाहुर्वार्षिके—“शब्दादिभिर्हि घ्राणादेर्नोपकारं समीक्ष्यते । विजातीयेरतो ज्योतिर्नूतजातीयमित्यप्यतमिति” ॥ १३ ॥ ८. यत्पुनरिति । अतीन्द्रियत्वमिच्छेत्त्वात्मात्मज्योतिरन्तं स्थव प्रसाध्य तमपि हेतुं कृत्वा विमतं देहादिविलक्षणमन्तं स्थत्वावप्रत्यक्षत्वाच्च व्यतिरेकेणादित्यवदिति यत्तस्य देहादिवैलक्षण्यमुच्यते इत्यर्थः । ९ विरुद्धतया हेतुद्वयं निरस्यति—तदिति । हेतुद्वयं साध्याभाववद्बुद्धित्वेन साधारणानंकान्तिकमित्यर्थः । १०. सप्रतीति—आत्मवत्स्य ज्योतिर्मन्वतीत्यभारमा देहाद्यतिरिक्तं स्वयंज्योतिरक्षेपवृत्त्वादिदृष्टान्तो ब्रह्मैवेत्युक्ते इत्यादिः । ११. देहात्मवादी । १२ प्रतिज्ञादित्त्वोर्भ्ये । १३. समानेत्पादितोक्तम् । १४. इष्टानुरोध्यानुमानमेव । १५. सिद्धान्त्युक्तम् ।

यतोऽप्रत्यक्षात्प्रन्तःस्यानि च चक्षुराविज्योतींषि भौतिकान्येव । तस्मात्तव मनोरथमात्रं विलक्षणमात्मज्योतिः सिद्धमिति ।

कार्यकरणसंघातभावभावित्वान्न संघातधर्मत्वमनुमीयते ज्योतिषः । सामान्यतो दृष्टस्य चानुमानस्य व्यभिचारित्वात्प्रामाण्यम् । सामान्यतो दृष्टबलेन हि भवानादित्यादिवद्बुधतिरिक्तं ज्योतिः साधयति कार्यकरणेभ्यः । न च प्रत्यक्षमनुमानेन बाधितं शक्यते ।

दूषयति—यत्पुनरित्यादिना । अनेकान्तिकत्वं व्यनक्ति—यत इति । अन्तःस्यान्वयतिरिक्तानि च संघातादिति द्रष्टव्यम् । व्यभिचारकचमाह—तस्मादिति । विलक्षणमन्तःस्थं चेति 'मन्तव्यम् ।

किंच चेतन्यं शरीरधर्मस्तद्भावभाविताद्बुधादिवदित्याह—कार्यकरणेति । विमतं संघाताद्भ्रान्तं तद्भासकत्वादावित्यवदित्यनुमानान्न संघातधर्मत्वं चेतन्यस्येत्याशङ्क्याऽऽह—सामान्यतो दृष्टस्येति । लोकायतस्य हि देहावभासकमपि चक्षस्ततो न भिद्यते तथा च व्यभिचारात् त्वदनुमानप्रामाण्यमित्यर्थः । मनुष्योऽहं जानामोति प्रत्यक्षविरोधान्न त्वदनुमानममानमित्याह—सामान्यतो दृष्टेति । ननु 'तेन प्रत्यक्षमुत्सापंतामिति चेन्नेत्याह—न चेति । इतश्च देहस्यैव चेतन्यमित्याह—अयमेवेति ।

ज्योतिषां के द्वारा व्यभिचरित है क्योंकि (गोलक से विलक्षण होने के कारण) प्रतीन्द्रिय और अन्त स्थ होने पर भी नेत्रादि ज्योतिषां देह सजातीय (भौतिक) ही हैं । अतः (उमके साधक हेतु के अनैकान्तिक होने के कारण) "आत्मज्योति इनसे विलक्षण है" ऐसा कहना तुम्हारा मनोरथमात्र है ।

इसके प्रतिरिक्त देहेन्द्रियसंघात होने पर ही रहता है, इसलिये यह चेतन्यज्योति संघातधर्मरूप है—ऐसा अनुमान किया जाता है । (नित्य प्रतीन्द्रिय अर्थात्नुमापकरूप) सामान्यरूप से दृष्ट-प्रकारक अनुमान भी व्यभिचारी होने में प्रामाण्य है । सामान्यतः दृष्ट अनुमान के बल से प्राप प्रादित्यादि के समान ज्योति को स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से भिन्न सिद्ध करते हैं । किन्तु अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध नहीं हो सकता, यह कार्यकरणसंघात ही तो प्रत्यक्ष देखता, सुनता और मनन

१ गोलकविलक्षणयोगमात्रेणाम् । आत्मज्योति दृष्टान्तोऽत्र द्रष्टव्य । २. देहसजातीयान्येव । ३. तस्याहं देहोत्तरे अन्तःस्थत्वान् । ४ सामान्यता दृष्टस्येति । विशेषतो दृष्ट सामान्यतो दृष्टमिति च द्विविधमनुमान भवति । तत्र प्रत्यक्षयोग्यानुमापक विशेषतो दृष्ट यथा क्षुमादिरिति । नित्यातीन्द्रियार्थानुमापक सामान्यतो दृष्ट यथा चक्षुराद्यनुमापक रूपादिज्ञानमिति तदुक्तमाचार्यवरदराजप्रणीतायां तात्पर्यरक्षायाम् । दृष्ट सामान्यतो दृष्टमिति चास्य विधादयम् । पूर्वं प्रत्यक्षयोग्यार्थं तदयोग्यार्थमुत्तरमिति । सामान्यतो दृष्ट कार्यकरणभिन्नसिद्धक यथा पृथिवीत्वेन द्रव्यत्वानुमानमिति वैचिद् । सामान्यतो दृष्टमन्वयव्यतिरेकि यथा बह्विधान् क्षुमादित्यादीत्यपरे । १. विमतमन्त स्थमित्यादिटीकोक्तानुमानेज्ज.स्थत्वं कार्यकरणसंघाताधिष्ठानस्वरूप विवक्षित माद्ये स्वन्त.स्थत्वसामान्यमेव हेतुकृतं तत्र चेन्द्रियार्थं कारणतया तदन्तर्गतस्वरूपमेवान्त स्थत्वमादाय व्यभिचारप्रदोत्तमः । टीकोक्तानुमाने त्विन्द्रियाणामधिष्ठानत्वाभावादेव रफुटो व्यभिचार इत्यभिप्रेत्याह—मन्त स्यान्वयतिरिक्तानि चेति । अन्वयतिरिक्तानि अद्विलक्षणानोरथम् । १. मन्तव्यमिति । विमतं देहादिसजातीयं व्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत् अन्तःस्थत्वात्तीन्द्रियत्वाच्च चक्षुरादिवदिति प्रत्यनुमान च द्रष्टव्यम् । ३. तथा चेति । देहादवभासकस्यापि चक्षुषो देहप्रतियोगिकभेदराहित्ये चेत्यर्थः । ८ निश्चिदानुमानेन । ९. बाध्यताम् ।

'अयमेव तु कार्यकरणसंघातः प्रत्यक्षं पश्यति शृणोति मनुते विजानाति च । यदि नाम ज्योतिरन्तरमस्योपकारकं स्यादादित्यादिवन्न तदाऽऽत्मा स्याज्ज्योतिरन्तरमादित्यादिवदेव । य एव तु प्रत्यक्षं दर्शनादिक्रियां करोति स एवाऽऽत्मा स्यात्कार्यकरणसंघातो नान्यः । प्रत्यक्षविरोधेऽनुमानस्याप्रामाण्यात् ।

नन्वयमेव चेद्दर्शनादिक्रियाकर्ताऽऽत्मा संघातः कथमविकलस्यैवास्य दर्शनादिक्रियाकर्तृत्वं कदाचिद्भूवति 'कदाचिन्नेति । नैव दोषो 'दृष्टत्वात् । 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । न हि खद्योते' प्रकाशाप्रकाशत्वेन दृश्यमाने 'कारणान्तरमनुमेयम् । अनुमेयत्वे च 'केन-

ज्योतिषो देहव्यतिरेकमङ्गीकृत्यापि दूषयति—यदि नामेति । विमतं ज्योतिरनात्मा देहोपकारकत्वादादित्यवदित्यर्थः । आत्मत्वं 'तर्हि कस्येत्याशङ्क्याऽऽह—य एव द्विवि । अनुमानादात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वमुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यक्षेति । नान्य आत्मेति पूर्वेण संख्यः ।

देहस्याऽऽत्मत्वे कादाचित्क द्रष्टृत्वश्रोतृत्वाद्युक्तमिति शङ्कते—नन्विति । "स्वभाववादी परिहरति—नेप दोष इति । कादाचित्के दर्शनादर्शने सभवतो देहस्वाभाव्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—न हीति । "विमतं कारणान्तरपूर्वकं कादाचित्कत्वाद्दृष्टवदित्यनुमानं दृष्टान्ते भविष्यतीत्याशङ्क्याग्निरुण "इतिवदुष्णमुदकमित्यपि द्रष्टृत्वादिनाऽनुमीयेत्यतिप्रसङ्गमाह—अनुमेयत्वे चेति । ननु "पद्भूवति

करता श्रौर जानता है । यदि आदित्यादि के समान इसका उपकार करने वाली कोई अन्य ज्योति होगी, तो वह आत्मज्योति नहीं हो सकती, अपितु आदित्यादि के समान ही कोई अन्य ज्योति होगी । जो भी प्रत्यक्ष दर्शनादि कम करता है, वही आत्मा स्थूलसूक्ष्मशरीरसंघातरूप हाना चाहिये, दूसरा नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के विरोध होने पर अनुमान प्रमाण की प्रामाणिकता नहीं हो सकती ।

(इस पर मिद्वान्ती कहता है—) किन्तु यदि यह संघात ही दर्शनादि क्रियाओं का करने वाला आत्मा है, तो यह क्यों हाता है कि विक्रियारहित इसमें कभी तो दर्शनादिक्रिया या कर्तृत्व रहता है श्रौर कभी नहीं रहता । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) इसमें प्रत्यक्ष होने से कोई दोष नहीं है, क्योंकि कादाचित्कदर्शन श्रौर अदर्शन की देह में प्रत्यक्ष प्रमाण होता है । जुगनु को कालभेद में प्रकाशक श्रौर अप्रकाशकरूप से देखने के लिए किसी कारणान्तर का अनुमान नहीं करना चाहिये । किमी से समानता होने के कारण स्वभावातिरिक्त हेतु म अनुमेय होने पर ता सब जगह सभी विषयों

१. यत्तु ददो नात्मा श्रोतिकत्वात्कुम्भवत् तथा देह स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृका दृष्टत्वाद्दृष्टवदिति तथाऽऽह—वयमिति ।
२. प्रत्यक्षमिति—तथा चाप्यनुष्णानुमानवदक्यक्षाविरोधाद्देहाऽनात्मत्वानुमानानुत्पत्त्यनमिति भावः ।
३. कदाचिन्निति—स्वापमुच्छ्वासवस्थास्त्वर्थः । तथा च देहो नात्मा अंतन्व्यव्यभिचारिवाद्दृष्टवदिति भावः ।
४. दृष्टत्वादिता । कादाचित्कदर्शनादर्शनयाद्देह प्रत्यक्षप्रमितत्वादित्यर्थः ।
५. दृष्टमपि न्यायविरोधे त्याज्यमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । न हि दृष्ट समुल्लङ्घ्य ततोऽप्यद्वलवन्मममितिर्थः ।
६. कालभेदन ।
७. कारणान्तरमनुमेयमिति । खद्योतस्यापि भासुत्वादिद्वैत्वन्तरकृत कादाचित्कत्वाद्दृष्टवदित्यपि न सम्यक् प्रत्यक्षविरोधादेवैतं भावः ।
८. कर्त्तारसामान्यादिति । कादाचित्कत्वेन साधर्म्यात् स्वभावातिरिक्त हेतवानुमेयत्वोत्पत्त्यर्थः ।
९. ज्योतिषोऽनात्मत्वे ।
१०. लोभायतं कदेशी ।
११. खद्योतभासुत्वादिकम् ।
१२. यान्तिवदित्यर्थः ।
१३. कार्यमुपपद्यते ।

चित्तामान्यास्तव सर्वत्रानुमेयं स्यात् । तच्चानिष्टम् । न च पदार्थस्वभावो नास्ति न ह्यग्नेरुष्णस्वाभाव्यमन्यनिमित्तमुदकस्य वा शंत्यम् । प्राणिधर्मधर्माद्यपेक्षामिति चेत् । 'धर्माधर्मादिनिमित्तान्तरापेक्षस्वभाववत्प्रसङ्गः । अस्तित्वति चेन्न तदनवस्थाप्रसङ्गः । स चानिष्टः ।

न । स्वप्नस्मृत्योर्दृष्टस्यैव दर्शनात् । यदुक्तं 'स्वभाववादिना देहस्यैव दर्शनादिक्रिया न व्यतिरिक्तस्येति तन्न । यदि हि देहस्यैव दर्शनादिक्रिया स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनं न

तत्सनिमित्तमेव न स्वभावाद्भूयत्किंचिदस्माकं 'प्रतिद्व' तत्राऽऽह—न चेति । धामेरोष्णमुदकस्य शंत्यमित्याद्यपि न निनिमित्तं किंतु प्राण्यदृष्टापेक्षामिति शङ्कते—प्राणीति । आदिशब्देनेश्वरादि गृह्यते । गृह्याभिसंधिः स्वभाववाद्याह—धर्मोति । प्रसङ्गस्येष्टत्वं शङ्कित्वा स्वामिप्रायमाह—अस्तित्वादिना ।

सिद्धांती स्वप्ना"दिसिद्धयनुपपत्त्या देहातिरिक्तात्मानमभ्युपगमयन्नुत्तरमाह—नेत्यादिना । "तत्र नञर्थं विभजते—यदुक्तमिति । स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनाविति हेतुभागं व्यतिरेकद्वारा विधृणोति—यदि हीति । जाग्रद्देहस्य" द्रष्टुः स्वप्ने नष्टत्वात् "तोन्द्रियस्य संस्कारस्य घानिष्टत्वात्" न्यदृष्टे चान्यस्य स्वप्नायोगान्न स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनं देहात्मवादे संभवतोत्तर्यं । मा भूद्दृष्टस्यैव स्वप्ने दृष्टिरन्यस्यापि स्वप्नदृष्टेरित्याशङ्क्याऽऽह—अन्य इति । अपिशब्दोऽप्याहृतं व्यः । पूर्वदृष्टस्यैव स्वप्ने दृष्टस्येऽपि कुतो

के लिए अनुमान हो करना हीमा, ऐसा हमें इष्ट नहीं है क्योंकि पदार्थ का कुछ प्रपना स्वभाव होता ही है; प्रणि का उष्ण स्वभाव तथा जल का शीत स्वभाव होना किसी धन्य कारण से नहीं है। यदि कहो कि यह स्वभाव प्राणियों के धर्माधर्म साक्षेप है, तो धर्माधर्मादि का भी धन्य निमित्त की प्रपेक्षा रखने वाला स्वभाव मानने का प्रसङ्ग भा जायेगा। यदि कहो उसमें कोई हानि नहीं है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। इससे अनवस्था दोष का प्रसङ्ग भा जायेगा और ऐसा मानना हमें इष्ट नहीं है।

१. सर्वं सर्वत्रेति । यद्विरनुष्णो वरतुत्वाज्जलवदित्यपि स्यात्प्रत्यक्षविरोधस्य तुल्यत्वादित्यतिप्रसङ्गो दोषान्तरमिति भावः । २ न च बह्वेरेनुष्णत्व युक्तं षमितपदार्थव्यवस्था दौःस्व्यप्रसङ्गदित्याह—सत्त्वेति । ३. धर्मदिरोष्णवादि हेतुत्व स्वभावो न वा स्वभावश्चेदन्यादेरेव शोऽनु साधवास्य स्वभावश्चेत्तत्राऽऽह—धर्मोति । धर्मादावपि धर्मान्तरमापेक्षत्वेऽपि न क्षतिरिति शङ्कते—अस्तित्वति । तत्र दोषमाह—सदिति । तत्र धर्मदिर्धर्मान्तरमापेक्षत्वेऽपि प्रथमधर्मादावपि सापेक्षत्वसाम्यात् सत्यां धानवस्थायां त्वदर्धमतस्याग्योष्ण्यादिवारा मुखादेर्धर्मादित्त्वत्वात्सिद्धिरिति किंचन द्वि धर्मादिप्रत्यक्ष स्वयानभ्युपगमात् प्रापि प्रमाणात्तरमन्यमसम्भते तदभावात् । अतो धर्मस्यैवाभावे धर्मान्तरापेक्षत्वं दूरनिरस्तमिति गृह्याभिसंधिः । ४. नेति प्रतिज्ञा सिद्धो हेतुः । ५. देहात्मवादिना । ६. स्यात्तर्हि । ७. न स्यादिति । अतः तु तत्र दृष्टस्यैव दर्शनम् । तथा च वार्तिकम्—"बाह्यादित्यादिविरहे करणव्यापृति विना । जाग्रद्द्वीक्षते स्वप्ने दृष्टपूर्वं यतो नत्" ॥ २६४ ॥ इति । स्वप्ने दृष्टपुनरपत्तिर्देहाद्यतिरिक्तस्य द्रष्टृत्वादि कल्पयतीति भावः । ८. प्रतिद्वमिति—तथा च पदार्थानि स्वभावो नाम नास्ति तत्कथं कादाचित्कदर्शनादेः स्वभावेति भावः । ९. आदिना स्मृतिः । ११. प्रतिज्ञाहेत्वोर्मध्ये । १२. समानाधिकरणे यच्छेषी । १३. अतोन्द्रियस्य—अप्रत्यक्षस्य । १४. प्रत्यक्षकरणस्य देहात्मवादिनः ।

स्यात् । अन्धः स्वप्नं पश्यन् दृष्टपूर्वमेव पश्यति न शाकद्वीपादिगतमदृष्टपूर्वम् । 'ततश्चेतत्सिद्धं भवति यः स्वप्ने पश्यति दृष्टपूर्वं वस्तु स एव पूर्वं विद्यमाने चक्षुष्यद्राक्षोन्न देह इति । देहश्चेद्द्रष्टा' स येनाद्राक्षोत्तस्मिन्नुद्भूते चक्षुषि स्वप्ने तदेव दृष्टपूर्वं न पश्येत् । अस्ति च लोके प्रसिद्धिः पूर्वं दृष्टं मया हिमवतः शृङ्गमद्याहं स्वप्नेन्द्राक्षमित्युद्भूतचक्षुषामन्धानामपि । 'तस्मादनुद्भूतेऽपि चक्षुषि यः स्वप्नदृष्ट एव द्रष्टा न देह इत्यवगम्यते ।

तथा स्मृतौ द्रष्टृस्मर्रैकत्वे सति य एव द्रष्टा स एव स्मर्ता । यदा 'चंचं तदा निमीलितान्द्रोऽपि स्मरन् दृष्टपूर्वं यद्रूपं तद्दृष्टवदेव 'पश्यतीति । तस्माद्यन्निमीलितं तन्न द्रष्टृ

देहव्यतिरिक्तो द्रष्टा सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—ततश्चेति । अयोभयत्र देहस्यैव द्रष्टृत्वे का हानिरिति चेदत आह—देहश्चेदिति । "तत्र सहकारिचक्षुरभावाच्चक्षुस्तरस्य चोत्पत्तो देहान्तरस्यापि समुत्पत्ति-संभवादन्यदृष्टेऽप्यस्य न स्वप्नः स्यादित्यर्थः । मा भूत्पूर्वदृष्टे स्वप्नो हेत्वभावादित्याशङ्क्याऽऽह—प्रसिद्धि चेति । कथं ते जात्यन्यातामोहवर्शनमिति चेज्जमान्तरानुभववशादिति शूनः । अन्धस्य देहस्याद्रष्टृत्वेऽपि चक्षुष्यतस्तस्य स्यादेव द्रष्टृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ।

स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनादिति हेतुं व्याख्याय स्मृतौ दृष्टस्यैव दर्शनाविति हेतुं व्याचष्टे—तथेति । द्रष्टृस्मर्रैकत्वेऽपि कुतो देहातिरिक्तो द्रष्टृत्याशङ्क्याऽऽह—यदा चेति । देहातिरिक्तस्य स्मृतृत्वेऽपि कुतो द्रष्टृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति । द्रष्टृस्मर्रैकत्वस्योक्तत्वाद्देहातिरिक्तः स्मर्ता चेद्द्रष्टाऽपि

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) यह प्रतिज्ञा शिष्टसम्मत नहीं है क्योंकि स्वप्न और स्मृति में देखे हुए का ही दर्शन होता है । देहात्मवादी द्वारा जो यह कहा गया है कि दर्शनादिक्रिया देह की होती है, उससे भिन्न किसी की नहीं होती; ऐसा कहना भी नहीं बनता । यदि देह की ही दर्शनक्रिया हो, तो स्वप्न में देखे हुए का दर्शन ही नहीं होता । नेत्रविहीन व्यक्ति भी स्वप्न देखने के समय पूर्वदृष्ट पदार्थों को ही देखता है, शाकद्वीप आदि पूर्व अदृष्ट पदार्थों को नहीं देखता । इससे यह सिद्ध होता है, जो स्वप्न में पूर्वदृष्ट वस्तु देखता है उसीने जागरित में उन पदार्थों को चक्षु के विद्यमान रहते हुए देखा था; देह ने नहीं । यदि देह को द्रष्टा मानो, तो जिन नेत्रों से उसने पहले था, उन नेत्रों से दृष्ट हो जाने पर उसी पूर्वदृष्ट को स्वप्न में कभी न देखता । चक्षुविहीन अन्धों के विषय में भी लोक प्रसिद्ध है कि "आज स्वप्न में मैंने पूर्वदृष्ट हिमालय का शिखर देखा" । इसलिये स्वप्नद्रष्टा नेत्रों के विनष्ट न होने पर भी द्रष्टा है, देह द्रष्टा नहीं है, ऐसा जाना जाता है ।

इसी प्रकार स्मृति में भी समझना चाहिये । द्रष्टा और स्मर्ता की एकता होने पर जो द्रष्टा होता है; वही स्मर्ता होता है । जब इस प्रकार स्वीकार कर लिया जाता है, तभी तो प्राज्ञ मूढ कर स्मरण करने में बाला भी पूर्वदृष्ट रूप को उसी प्रकार देखे हुए के समान स्मरण करता है । अतः जिन्हें

१. स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनादेव । २. जागरिते । ३. स्यात् । ४. नष्टे । ५. प्रसिद्धिः—स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनमिति प्रसिद्धिः । ६. तस्मादिति—उद्भूते चक्षुषि देहातिरिक्तस्य द्रष्टृत्यानुगमात् अन्धस्य देहस्य तदननुपमाद्वैश्यात् । ७. एवं द्रष्टृस्मर्रैकत्वस्य यदाऽभ्युपेयते तदा । ८. स्मरति । ९. आपत्स्वप्नावस्थयोः ।

१०. स्वप्ने द्रष्टृः सहकारि ।

'यस्मिन्मौलिते चक्षुषि स्मरद्रूपं पश्यति तदेवानिमौलितेऽपि चक्षुषि द्रष्ट्रासीदित्यवगम्यते ।
'मृते च देहे'ऽविकलसंयं च रूपादिवर्शनाभावात् । देहसंयं द्रष्टृत्वे मृतेऽपि दर्शनादिक्रिया
स्यात् । 'तस्माद्यदपाये देहे दर्शनं न भवति यद्भावे च भवति तद्दर्शनादिक्रियाकर्तृ न देह
इत्यवगम्यते ।

अक्षरादीन्येव दर्शनादिक्रियाकर्तृगीति चेत् । न । यदहमद्राक्ष तत्स्पृशामीति
निन्नकर्तृ कत्वे प्रतिसंधानानुपपत्तेः । मनस्तर्हीति चेत् । न । मनसोऽपि विषयत्वाद्रूपादि-

तया सिध्यतीति भावः । देहस्याद्रष्टृत्वे हेत्वन्तरमाह—मृते चेति । न तस्य द्रष्टृतेति शेषः । 'तदेवोप-
पादयति—देहसंयंवेति । देहव्यतिरिक्तमात्मानमुपपादितमुपसहरति—तस्मादिति । चेतन्यं यत्तदोरयः ।

मा मूद्देहस्याऽऽहन्त्वमिन्द्रियाणां तु स्यादिति शङ्कते—चक्षुरादीनीति । अन्यद्रष्टृत्वेतरेणा-
प्रत्यभिज्ञानादिति न्यायेन परिहरति—नेत्यादिना । 'आत्मप्रतिपत्तिहेतूना मनसि संभवादिति न्यायेन
शङ्कते—मन इति । 'ज्ञानुक्तानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रमिति न्यायेन परिहरति—न मनसोऽपीति ।

मूद रखा है । वह नत्र द्रष्टा नहीं है, जो चेतन्य नेत्रा के मूद लेन पर भी स्मरण किये जाने वाले रूप की
देखता है, वही नेत्रो के न मूदने पर भी द्रष्टा था, ऐसा जान पड़ता है । प्राणशून्य शरीर में देह के
अविकृत होने पर भी रूपादि के दर्शन का अभाव हो जाता है । यदि देह ही द्रष्टा होता तो प्राणशून्य
होने पर उसमें दर्शनादिक्रिया होती । इसलिए जिसके देह से चले जाने पर दर्शन नहीं होता, जिसके
रहने में होता है, वही दर्शनादिक्रिया का कर्ता है, देह ऐसी मामध्यं बाला नहीं है—ऐसा सिद्ध हो
जाता है ।

यदि कही, नेत्रादि इन्द्रियां ही दर्शनादिक्रिया की कर्ता हैं, तो ऐसा कहना भी नहीं बनता ।

१. चेतन्यम् । २ प्राणशून्ये । ३ अविकृतसंयं देहस्य । ४ मृतदेहस्य दर्शनादिक्रियाऽभावात् । ५.
तर्हि—आत्मेति शेषः । ६ ज्ञानुक्त्यादिसूत्रस्य ज्ञानुक्तानसाधनानुपपत्तौ चक्षुषा पश्यति प्राणेन त्रिप्रति-
त्वचा स्पृशति एव मन्दु सर्वविषयस्य मतिमाधनमन्त करणभूत सर्वविषय विद्यत येनाज्य मन्यत इत्येव सति
ज्ञातिरि आत्मसज्ञा न मूढ्यते त्वया मन सज्ञाऽभ्यनुभावे मनसि च मन सज्ञा नाभ्युपगम्यत मतिमाधन
स्वप्नशुभ्रयते (स्वीकृत्ये) तदिदं सज्ञाभेदमात्र जायं विवाद इत्येतमर्थमभिप्रेत्याह—विषयत्वादिति । कथं
सत्ताहुर्वातिके—'साध्याविलक्षित साधारस्मृतिस्वप्नगत मन । कुम्भरदीपयते यस्मात्पान आत्मा मनोऽपि न "
॥ २७ ॥ इति । ७ देहद्रष्टृत्वमेव । ८. इति न्यायेनिति । न्यायसंघातम्—'सर्वद्रष्टृत्वेतरेण
प्रत्यभिज्ञानादिति' न्यायदर्शने ३।१।७ मूलके बोद्धव्यं । तत्स्पृशामीति यथा—सन्धेन सतु चक्षुषा दृष्टमर्थ-
मितरेणापि चक्षुषा दृष्ट्वा प्रत्यभिज्ञानाति यमद्राक्ष तमेवेति पश्यामि इति । इन्द्रियचेतन्ये च नात्र दृष्टमन्य-
प्रत्यभिज्ञानातीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिरिति । अन्यद्रष्टृत्वेत्यादिसूत्रे सर्वद्रष्टृत्वेत्यादिनिवृत्तसूत्रमेव टीकास्थ-
मित्यपि बहन्ति । ९ "नात्मप्रतिपत्तिहेतूना मनसि संभवादिति" न्यायदर्शने ३-१-१६ नञ्चर्जं पठति आत्मेति ।
न देहादिव्यतिरिक्त आत्मा कुन आत्मेति । दर्शनसंयंन्यायभेदाकार्षणका (द्रष्टृत्वप्रदृष्टत्वयोरेकाधिकरणत्व-
निरूपणा) इत्येवमादीनामात्मप्रतिपादकानां हेतूना मनसि संभवात् । मनस एवत्वात्पुनानुभोत्यसस्कारात्प्रत्य-
भिज्ञोपपत्तेरिति तल्लुकार्थः । १०. न्याय० सू० ३।१।७ ।

वद्ब्रह्मत्वाद्यनुपपत्तिः । तस्मादन्तःस्थं व्यतिरिक्तमादित्यादिवदिति सिद्धम् ।

यदुक्तं कार्यकरणसंघातसमानजातीयमेव ज्योतिरन्तरमनुमेयम् । आदित्यादिभिस्तत्समानजातीयैरेवोपक्रियमाणत्वादिति । तदसत् । उपकार्योपकारकभावस्यानियमदर्शनात् । कथं, पार्थिवैरिन्धनैः पार्थिवत्वसमानजातीयैस्तृणोपदिभिर्ऋग्नेः प्रज्वलनोपकारः क्रियमाणो दृश्यते । न च तावता तत्समानजातीयैरेवाग्नेः प्रज्वलनोपकारः सर्वत्रानुमेयः स्यात् । येनोदकेनापि प्रज्वलनोपकारो भिन्नजातीयेन वंद्युतस्यानेर्जाठरस्य च क्रियमाणो दृश्यते ।

तस्मादुपकार्योपकारकभावे समानजातीयासमानजातीयनियमो नास्ति । कदा-

देहादेरनात्मत्वे फलितमाह—तस्मादिति । आत्मज्योतिः संघातादिति शेषः ।

परोक्तमनुवदति—यदुक्तमिति । अनुप्राह्यसजातीयमनुप्राहकमित्यत्र हेतुमाह—प्रादित्यादिभिरिति । उपकार्योपकारकत्वसाजात्यनियमं दूषयति—तदसदिति । अनियमदर्शनमाकाङ्क्षापूर्वकमुदाहरति—कथं पार्थिवैरिति । उलपं बालतृणम् । पार्थिवस्यैवाग्निं प्रत्युपकारकत्वनियमं धारयति—न चेति । तावता पार्थिवेनाग्नेरुपक्रियमाणत्वदर्शनेनेति यावत् । तत्समानजातीयैरिति तच्चद्वन्द्वः पार्थिवत्वविषयः । तत्र हेतुमाह—येनेति ।

दर्शनफलं निगमयति—तस्मादिति । उपकार्योपकारकभावे साजात्यनियमव्ययकार्योपकारक-

क्योकि दर्शन और स्पष्ट भिन्नकर्तृक होने के कारण “जिसे मैंने देखा था, उसका स्पर्श करता हूँ” ऐसा अनुभव होना प्रसम्भव हो जाता । यदि कहो मन ही द्रष्टा है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि रूपादि की तरह विषय होने के कारण मन का द्रष्टा होना भी सिद्ध नहीं होता । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि चैतन्यज्योति अन्तःस्थ है, आदित्यादि के समान देह से पृथक् है ।

जो यह कहा गया कि शरीरेन्द्रियसंघात की समानजातीय ही किसी अन्य ज्योति का स्मरण करना चाहिये क्योंकि आदित्यादि एव उससे अनुप्राह्य समानजातीय ज्योतियो से ही मघात का उपकार होता है । ऐसा कहना मिथ्या है क्योंकि उपकार्य-उपकारकभाव का कोई (सार्वत्रिक) नियम ही—ऐसा नहीं देखा जाता । ऐसा किस प्रकार कहते हो ? (इसे स्पष्ट करते हैं—) पार्थिव इन्धन एव पार्थिवत्व समानजातीय तृण और घास आदि से पार्थिव अग्नि का प्रज्वलनरूप उपकार होते देखा जाता है । किन्तु यह सार्वत्रिक अनुमान नहीं समझ लेना चाहिये कि समानजातीय पदार्थों से ही अग्नि का प्रज्वलनात्मक उपकार होगा, क्योंकि भिन्नजातीय जल से भी विद्युत् रूप अग्नि का तथा उदरस्थ अग्नि का प्रज्वलनरूप उपकार होते देखा गया है ।

इसलिये उपकार्य-उपकारकभाव में समानजातीय पद्यवा असमानजातीय होने का नियम

१. देहादेरनात्मत्वात् । २. ६६।१पृष्ठभाष्ये । ३. अनुप्राहति भावः । ४. शोमस्याग्नेः । ५. पार्थिवोपेक्षया भिन्नेत्यर्थः । ६. शोमस्य जाठरस्य दिव्यस्यैव पावकस्य काष्ठेन्द्रिश्योपकारदर्शनात् । ७. उपकारकोपकार्यत्वयोः साजात्यव्याप्यत्वम् । ८. अनियमदर्शनात् ।

चित्तमानजातीया मनुष्या मनुष्यैरेवोपक्रियन्ते कदाचित्स्वायत्तपञ्चादिभिश्च भिन्न-
जातीयैः । तस्मादहेतुः कार्यकरणसंघातसमानजातीयैरेवाऽऽदित्यादिज्योतिर्भिरुपक्रिय-
माणत्वादिति ।

यत्पुनरत्य चक्षुरादिभिरेवादित्यादिज्योतिर्वदद्दृश्यत्वादि'त्ययं हेतुर्ज्योतिर'न्तर-
स्यान्तःस्थत्वं वैलक्षण्यं च न साधयति *चक्षुरादिभिरनेकान्तिकत्वादिति । तदसत् ।

भावेऽपि वैजात्यनियमो नास्तोत्ययं । 'तत्रोपकार्योपकारकत्वे साजात्यनियमाभावमुदाहरणान्तरेण
दर्शयति—कदाचिदिति । *अम्भसा'ऽग्निना वाऽग्नेरुपशान्त्युपलम्भादपकार्यापकारकत्वे वैजात्यनियमोऽपि
नास्तोति मत्वोपसंहरति—तस्मादिति । उक्तानियमदर्शनं तच्छब्दायं । अहेतुरात्मज्योतिषः संघातेन
समानजातीयतायामिति शेषः ।

अनुप्राहकमनुप्राहसजातीयमनुप्राहकत्वादादित्यदित्यपास्तम् । संप्रत्यतीन्द्रियत्वहेतोरनेकान्त्यं
परोक्तमनुभाष्य दूषयति—यत्पुनरित्यादिना । यिमत्तं 'ज्योतिः संघातधर्मस्तद्भावभावित्वाद्दूषादि-

नही है । कमो समानजातीय मनुष्य मनुष्यो से उपकृत होते हैं ; कमो भिन्नजातीय स्यावर एवं पशु
पादि से उपकृत होते हैं । अतः देहेन्द्रियसंघात के समानजातीय आदित्यादि ज्योतियों से उपकृत
होने के कारण ही आत्मज्योति संघात के समानजातीय ही होनी चाहिये—ऐसा कोई नियम नहीं है ।

और जो तुम (पूर्ववादी) ने कहा था कि आदित्यादि ज्योति के समान चक्षुरादि इन्द्रियो से
आत्मज्योति अदृश्य होने के कारण (व्यतिरेकी दृष्टान्त है) यह हेतु तो चक्षु आदि में व्यभिचरित
होने के कारण उस आत्मज्योति का अन्तःस्थ और विमक्षण होना सिद्ध नहीं करता । यह कहना भी

१ ६६१ पृष्ठभाष्ये । २. व्यतिरेकिदृष्टान्तः । ३. जात्मज्योतिषः । ४. आत्मरूपस्य । ५. वैजात्य-
नियमो नास्तोति । वैद्युतोऽग्निर्भौ माग्निर्गंपकान्दुपशान्त्यतीति प्रसिद्धम् । भीमदत्ताग्निर्द्विरुपशान्त्यनुपसम्पत्ते ।
तथा च सार्तिके—“अग्न्यम्बुभिश्च शमनं तथाऽग्नेरेव दृश्यत इति” । ६. उपकार्यापकार्यो साजात्यवैजात्य
नियमाभावयो । ७. भीमाग्नेरम्भसा । ८. दिव्याग्नेर्भौमाग्निः । ९. आत्मा ।

*चक्षुरादिभिरनेकान्तिकत्वादिति । अत्राहुर्वातिका वार्गास्तथाहि—“यथाप्यक्षरनेकान्त्य हेतोरभिहितं पुरा ।
तच्चत्पयस्त्वयाऽभाणि धर्मित्वेन परिग्रहात् ॥ सेन्द्रियस्यास्य देहस्य पुरुषोक्त्या परिग्रहात् । न ह्येकदेशे साध्यस्य
दृष्टान्तत्वाय कल्पने” । २३७ २३८ ॥ इति । जात्मज्योतिरनुप्राहसजातीयमिति निरस्तमिदानीमतीन्द्रिय-
त्वादनन्तरत्वेन चक्षुरादिभिरतीन्द्रियत्वात्प्राप्त्युपक्रिययो विवक्षितं चक्षुरादिभिरनेकान्त-
मिर्युक्तमनुबदति—यच्चेति । न तावदन्तस्त्वत्वे माघे चक्षुरादिभिरतीन्द्रियत्वमनेकान्त किज्योतिरिय पुरुष इत्यन
पुरुषशब्देन कार्यकरणसंघात 'मृहीत्वाऽऽत्मज्योतिषस्तदन्तस्त्वोक्तो सेन्द्रियस्य देहस्य धर्मित्वेन तदन्तरत्वरूप-
विसिद्धसाध्यकोटिनिविष्टत्वेनेष्टत्वादित्याह—तच्चेति । साध्यकोटिनिविष्टोऽपि साध्यस्य विना हेतुसत्त्वे क्व
न विद्वत्तेत्याद्य दूष्याऽह—न हीति । साध्यैकदेशो न व्यभिचारोदाहरणं सस्य पक्षान्वितस्य विपक्षत्वात्पुनरने-
कातीन्द्रिये परमात्मादावनेकान्त्ये विद्वत्तत्तादवश्यं ज्योतिष्ट्वेन हेतोर्विधेयणादित्ययं । यदाऽऽत्मज्योतिषोऽन्त-
स्त्वत्वातीन्द्रियत्वहेतुम्यामभीतिकत्वे साधे चक्षुरादिष्वनेकान्त्यमिति तत्रापि मान्तस्त्वत्वमनेकान्तमिर्याह—
तच्चेति । अनुप्राहान्तस्त्वत्वं हि हेतुस्तथाच चक्षुरादेरनुप्राहत्वधर्मित्वेन स्वीकारत्वात्तदन्तस्त्वत्वाभावात् तत्र
व्यभिचार इत्याह—धर्मित्वेनेति । रूपमनुप्राहत्वधर्मित्वेन चक्षुरादेर्वैहण पुरुषस्यैव सत्त्वात्त्वत्वेतित्याशादुप्राह

चक्षुरादिकरणोभ्योऽन्यत्वे सतीति हेतोर्विशेषणत्वोपपत्तेः । कार्यकरणसंघातधर्मत्वं ज्योतिष इति यदुक्तं तन्न । अनुमानविरोधात् । आदित्यादिज्योतिर्वत्कार्यकरणसंघातादर्थान्तरं ज्योतिरिति 'ह्यनुमानमुक्तं तेन विरुध्यत इय प्रतिज्ञा कार्यकरणसंघातधर्मत्वं ज्योतिष इति । तद्भावमावित्व त्वसिद्धं मृते देहे ज्योतिषोऽवशंनान्त् ।

'सामान्यतो दृष्टस्थानुमानस्याप्रामाण्ये सति 'पानभोजनादिसर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः ।

यदित्युक्तमनूद्य निराकरोति—कार्येति । अनुमानविरोधमेव साधयति—आदित्यादीति । कालात्ययापदेशमुक्त्वा हेत्वभिद्ध दोषान्तरमाह—तद्भावेति । अवशंनान्दिति च्छेदः ।

क्ष्यस्त्युनविशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यतेत्यनुमानदूषणमभिप्रेत्य सामान्यतो दृष्टस्य चेत्याद्युक्तं तद्दूषयति—सामान्यतो दृष्टस्येति । "विशेषतो दृष्टस्येतिपि "द्रष्टव्यम् । "किमित्यनुमाना-

मिथ्या है । 'चक्षुरादि इन्द्रिया से भिन्न होते हुए" ऐसा विशेषण लगा देने पर वह सिद्ध हो जाता है । इसके अतिरिक्त जो उम ज्योति को देहेन्द्रियसंघातधर्म बतलाया, वह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि हमारे अनुमान से उसमे विरोध आ जाता है । आदित्यादि ज्योति की भाँति यह ज्योति देहेन्द्रियसंघात से व्यतिरिक्त पदार्थ है—ऐसा अनुमान पहले कहा जा चुका है । उस अनुमान से "यह

१. ६६२ पृष्ठभाष्ये । २ अस्मदनुमानेन तदानुमानबाधाविति यावत् । ३. तत्रैव टीकायाम् । ४. अनुमानमुक्तमिति । विमत सघाताद्भिन्न तद्भावकरवादादित्यादिवदित्यनुमानमुक्तमित्यर्थः । तथा च तेन बाधितोऽयं ते हेतुरिति भावः । ५ तद्भाववैत्यादि । यद्यपि कार्यकरणसंघातप्रकारविषय सिद्ध मृते करणविगमात्तथापि देहात्मवादे करणविगमात्प्रवासाद्यधीनत्वमिति ध्येयम् । ६ सामान्यतो दृष्टस्य—निस्पातीन्द्रियार्थानुमापकस्य कृपादिज्ञानस्येत्यर्थः । ७ विशेषतो दृष्टस्थानुमानस्याप्रामाण्ये दोषमाह—पानभोजनेति । यद्वा अन्वयव्यतिरेक्यनुमानमपि सामान्यतो दृष्टमित्यभ्युपगम्यते तथा च तदप्रामाण्ये दोष वर्तते—गतेति । ८. बाधम् । ९. अनुमापकपक्षेऽस्मिन्निमग्नावादिदन्तिन इत्युत्तरार्थम् । विशेषेऽनुगमेति श्वंतीयादिबह्विधेषु साध्ये महानसे तदभावाद्दृष्टान्त साध्यविकलता बहिमान्ने (सामान्ये) साध्ये तस्य क्वापि सिद्धतया सिद्धताप्यता (तथा चाश्रयासिद्धि) इत्यर्थः । तथा च नानुमान मानमिति भावः । १०. ६६२ पृष्ठभाष्ये । ११. विशेषतो दृष्टस्य—प्रत्यक्षयोग्याद्यनुमापकस्य घृमादेः द्विविधस्वापि तस्याप्रामाण्ये सतीत्यर्थः । १२. द्रष्टव्यमिति भाष्योक्तसामान्यतो दृष्टस्य इत्यस्योपलक्षणत्वादिति भावः । १३. कथम् ।

—सेन्द्रियस्येति । विशिष्टातीन्द्रियत्वहेतोर्ब्यभिचार परिहरति—न हीति । कार्यकरणसंघाताद्वैलक्षण्ये साध्ये तदेकदेशचक्षुरादिर्न व्यभिचारोदाहरण न हि पक्षस्य विपक्षतेत्युक्तं न च सघातकदेशस्य सदन्तस्थत्वमास्यात् प्राक्यमतीन्द्रियत्वेन चाप्राप्तत्वस्य निवृत्तित्वाच्च विरुद्धतेति भावः । यद्वा मानस्यत्वे साध्येऽतीन्द्रियत्वमसोऽप्यनैकान्तं तेषां प्राप्त्वर्थमित्येतेष्वन्तत्वाद्वाप्राप्तत्वस्य चातीन्द्रियत्वादित्याह—यमित्येति । कुतस्तेषां प्राप्त्वमत आह—सेन्द्रियस्येति । पुरुषो हि प्रकाशत्वेन प्रकृतस्तदन्तभूतान्यकादीन्वपि तथा तन्न तेषु विरुद्धतेत्यर्थः । एतेनाभौतिकत्वे साध्येऽप्यतीन्द्रियत्वस्य विरुद्धतोद्भूता यत् सभिन्नान्वाप्यन्तस्यत्वं विरुद्धमिति तत्राऽह—न हीति । प्रत्यक्षज्योतिरभौतिकमिति पक्ष साध्यशक्यार्थः । तस्यान्तरत्वेमेकदेशस्तद्धि कार्यकरणसाधित्वेन तत्प्रत्ययत्वं न च तादृशो हेतुरस्यो व्यभिचारोदाहरणत्वात् योग्यस्तेषां तत्साक्षित्वाभावादित्यर्थः ॥

क्ष्यस्त्युनविशेषेऽनुगमाभाव इत्यादि । "विशेषेऽनुगमाभावा सामान्ये सिद्धसाध्यता । इत्यादिवोदुष्टत्वात् च

स चानिष्टः । पानभोजनादिषु हि क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिमुपलब्धवत्तत्सामान्यात्पान-
भोजनाद्युपादानं दृश्यमानं लोके न प्राप्नोति । दृश्यन्ते ह्युपाद्यपानभोजनाः सामान्यतः
पुनः पानभोजनान्तरैः क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिमनुमिन्वन्तस्तादर्थ्येन प्रवर्तमानाः ।

'यदुक्तमयमेव तु देहो दर्शनादिक्रियाकर्तेति तत्प्रथममेव परिहृतं स्वप्नस्मृत्यो-
र्वेहादर्थान्तरभूतो द्रष्टेति । अनेनैव ज्योतिरन्तरस्यानात्मत्वमपि प्रत्युक्तम् । यत्पुनः
सद्योतादेः कादाचित्क प्रकाशाप्रकाशात्मकत्वं तदसत् । पक्षाद्यवयवसंकोचविकासनिमित्त-

प्रामाण्ये सर्वव्यवहारहानिरित्याशङ्क्याऽऽह—पानेति । तत्सामान्यात्पानत्वभोजनत्वादिसादृश्यादिति
यावत् । पानभोजनाद्युपादानं दृश्यमानमित्युक्तं विशदयति—दृश्यन्ते हीति । तादर्थ्येन क्षुत्पिपासादि-
निवृत्तुपायभोजनपानाद्यर्थत्वेनेति यावत् ।

देहस्यैव द्रष्टृत्वमित्युक्तमनूय पूर्वोक्तं परिहार स्मारयति—यदुक्तमित्यादिना । ज्योतिरन्तर-
मादित्यादिवदनात्मेर्युक्तं प्रत्याह—अनेनेति । सघातादेर्वृत्त्वनिराकरणेनेति यावत् । 'देहस्य
कादाचित्कं दर्शनादिमत्त्वं स्वाभाविकमित्यत्र 'परोक्तं दृष्टान्तमनुभाष्य निराचष्टे—यत्पुनरित्यादिना ।

ज्योति देहेन्द्रियसघाताधर्मी है' इस प्रसिद्धा का विरोध आ जाता है । 'देह के रहने पर चैतन्यज्योति
रहती है' यह हेतु तो अस्मिद्ध है क्योंकि मृत देह में उम ज्योति का दर्शन नहीं होता ।

सामान्यतः द्रष्टृप्रकारक अनुमान की अप्रामाणिकता मानने पर तो भोजन और जलपानादि
सभी व्यवहारों का लोप प्रसङ्ग आ जायगा और वह हमें द्रष्टृ नहीं है । क्योंकि ऐसा होने पर तो
जलपान और भोजनादि करने से भूल और प्यास की निवृत्ति होने पर क्षुधा-पिपासानिवृत्ति देखने
वाले को उस की समानता से लोकव्यवहार में जलपान और भोजन ग्रहण करते दिखाई देना नहीं
बनता, किन्तु जलपान भोजन किए हुए लोग फिर भी जलपान भोजन करने से क्षुधा-पिपासादि की
निवृत्ति का अनुमान करके उमके लिये प्रवृत्त होते दिखाई देते हैं ।

और जो यह कहा या कि देह दर्शनादिक्रिया का कर्ता है, उसका तो स्वप्न और स्मृति का
देह से व्यतिरिक्त द्रष्टा है' ऐसा कहकर पहले ही परिहार किया जा चुका है । इसी से उस दूसरी

१. घटवे । २. अनुमिन्वन्त इति । इमे पानभोजने तृप्तनिवृत्तिके पानभोजनत्वात्पानभोजनवदित्यनु-
मिन्वाना । ३. ६६३पृष्ठभाष्ये । ४. ६६४पृष्ठभाष्ये । ५. पक्षादीनि । सद्योतादेः पक्षिण-
ये पक्षाद्यवयवा-रेषां संकोचविकासौ, तथा च तत्प्रकाशाप्रकाशभोरपि नैमित्तिकत्वेन स्वाभाविकत्वाभावात्तददृष्टा-
स्तेति भावः । ६. ६६३पृष्ठटीकायाम् । ७. देहस्यति—अनुमानप्रामाण्य प्रसाध्य तदवतनादात्मज्योतिषो
देहाद्यतिरेक उक्त-सप्रतीत्यादिः । ८. व्यतिरिक्तचैतन्याऽनधीनम् । ९. ६६३ पृष्ठटीकायाम् ।

नोज्जुमिति प्रमा" ॥ १४४ ॥ किंचानुमानप्रामाण्यमुपेत्योक्तं यत्पुनस्तु न तत्प्रामाण्यत्वात्—विशेष इति ।
पर्वतनितम्बवर्तिनि बह्निविशेषे साध्य महानक्षे तदभावाददृष्टान्तस्य साध्यविकल्पता बह्निमाने साध्य तस्य
वशापि निन्दतया निन्दसाध्यत्वादायसात्तद्विधुमविशेषे च हतो साधनवैकल्यमसिद्धिवैति दोषदुष्टत्वात्प्रानुमान
मानमित्यर्थः । ६७कथ्योर्था व्याप्तिर्जात्यादां तदाकान्तविशेषयोर्विधुमवत्त्वबह्निमत्त्वयोर्वा नाऽऽह सर्वेषुसहारास्तिर्नेन
द्वितीयस्तयो स्वल्पभेदादभिभेदाच्च न तृतीय उक्तदोषात्तत्त्वत्तुर्वा औपाधिकमस्य स्वरूपातिरिक्तस्यानिरूप्यादि-
त्वादिसन्देहः ॥

कतम आत्मेति योऽय विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्त-
ज्योतिः पुरुषः 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति

जनक ने पूछा—आत्मा कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो प्राणो मे बुद्धिवृत्तियों के भीतर स्थित विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है (वही आत्मा है) । वह बुद्धिवृत्तियों के समान होता हुआ इस

स्वात्प्रकाशाप्रकाशकत्वस्य । यत्पुनरुक्तं धर्माधर्मयो रवश्य फलदातृत्वं स्वभावोऽभ्युपगन्तव्य इति । तदभ्युपगमे भवतः सिद्धान्तहानात् । एतेनानवस्थादोषः प्रत्युक्तः । तस्मादस्ति व्यतिरिक्तं चान्तःस्थं ज्योतिरात्मेति ॥ ६ ॥

यद्यपि व्यतिरिक्तत्वादि 'सिद्धं' तथाऽपि समानजातीयानुग्राहकत्वदर्शननिमित्त-

सिद्धान्तिनाऽपि स्वभाववादस्य षवाचवेष्टव्यत्वमुपविष्टमनूद्य ब्रूयति—यत्पुनरिति । धर्माधर्मदि हेतुवन्तराधीनं फलदातृत्वं तदा हेतुवन्तरस्यापि हेतुवन्तराधीनं फलदातृत्वमित्यनवस्थेत्पुक्तं प्रत्याह— एतेनेति । सिद्धान्तविरोधप्रसञ्जनेनेति । लोकायतमतासंभवे स्वपक्षमुपसहरति—तस्मादिति ॥६॥

नन्वात्मज्योतिः संघाताव्यतिरिक्तमन्त स्थं चेति साधितं तथा च कथं कतम आत्मेति पृच्छ्यते तत्राऽह—यद्यपाति । अनुग्राह्येण देहादिना समानजातीयस्याऽऽदिप्रादेरनुग्राहकत्वदर्शान्निमित्ता-
दनुग्राहकत्वाविशेषात्मज्योतिरपि ममानजातीयं देहादिनेति भ्रान्तिर्भवति तपेति यावत् । अद्विवेकतो

ज्योति के अनात्मत्व का भी खण्डन कर दिया गया है । इसी प्रकार जुगनु का जो कभी प्रकाशकत्व और कभी अप्रकाशकत्व बतलाया, वह भी मिथ्या है क्योंकि वे प्रकाशकत्व और अप्रकाशकत्व तो पर आप्रति अन्वयवो के सकोच और विकास के कारण है । इसवे अतिरिक्त जो यह (पूर्ववादी ने) कहा कि धर्म और अधर्म का अवश्यफलदातृत्व स्वभाव ही स्वीकार कर लेना चाहिये—सो ऐसा मान लेने पर आप देहात्मवादी के सिद्धान्त मे विरोध प्राणा । इसी से तुम्हारे द्वारा पूर्वचर्चित अनवस्था दोष का भी खण्डन कर दिया गया । इसलिये (अतीन्द्रिय होने से) संघात से पृथक् और अपने भीतर सुव्यवस्थित आत्मज्योति है—यह सिद्ध हुआ ॥६॥

यद्यपि आत्मा का देहादि से व्यतिरिक्त होना अनुमानादि द्वारा निर्णत हो चुका है तथापि

१. पूर्वोक्तरीत्या देहाद्यतिरिक्तस्य नित्यमुक्तस्यात्मनोऽविद्यया बुद्धधर्म्यासादेव सर्वास्त्विति श्रद्धंयितुमाह—स समान इति । स हृद्यन्तर्ज्योतिरात्मा समानः सन् बुद्ध्या सहस्य । सस्योऽभ्युपगम्यासि सति तस्याय विष्वक्ता-
दात्म्यात्पत् । सन्नेव उभो लोको प्रतिपन्नप्रतिपत्तव्याविह्लोकपरलोकावनुक्रमेणोपासत्तदेह परिषयजन् अन्यात्वापादत्त संघरतीत्यर्थः । २. अवश्यमिति । न च स्तुत्यादिर्न्यैव सुखादिकलदाने धर्मादिनाऽभेदात्त विनापि दर्शनात् । न च धर्माद्यन्तरमपेक्ष्यमनवस्थानात्तथा च धर्मादेः फलदानवर्ष्यतस्य देहस्वभाव इति भावः । ३. सत्स्युपगमे—धर्माद्यभ्युपगमे । न च सिद्धाशुभ्रव्याऽभ्युपगमे इति धर्म्यं वक्तुं सद्देवेतराभ्युपगमापातादिति भावः । ४. देहात्मवादिनः । ५. तस्मात्—पूर्वोक्तरीत्याऽनुमानमानत्वस्य सिद्धत्वेनातीन्द्रियत्वादिहेतोः सुखात्वात् । हेतुद्वय आत्मज्योतिः संघाताव्यतिरिक्तमनुग्राहकत्वात् सूयंत् । ज्वरं ज्योतिरन्तःस्थमतीन्द्रियत्वात्प्रतिरेके सद्दिवस्थादुक्त एव । ६. अनुमानैर्निर्णतम् । ७. भौतिकत्व साधारणम् ।

ध्यायतीव लेलायतीव 'स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोक-

मतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥ ७ ॥

लोक परलोक दोनों में सपरण करता है। वही बुद्धिवृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ मा घोर प्राणवृत्ति के अनुसार चेष्टा करता हुआ मा खान पड़ता है। वही स्वप्न होकर देहेन्द्रियसघातरूप इस लोक का लघन कर जाता है एवं देहेन्द्रियरूप मृत्यु के रूपों को भी पार कर जाता है ॥७॥

भ्रान्त्या करणानामेवान्यतमो व्यतिरिक्तो वेत्येविवेकतः पृच्छति—कतम इति ।
न्यायसूक्ष्मताया दुर्विज्ञेयत्वादुपपद्यते भ्रान्तिः । अथवा शरीरव्यतिरिक्तं सिद्धं ऽपि

निष्कृष्टदृष्ट्यभावादित्यर्थः । व्यतिरेकसाधकस्य न्यायस्य दर्शितत्वात्कुनो भ्रान्तिरित्याशङ्क्याऽह—
न्यायेति । भ्रान्तिनिमित्ताविवेककृतं प्रश्नमुक्त्वा प्रकारान्तरेण प्रश्नमुत्थापयति—अथवेति । प्रश्नाक्षराणि

आदित्यादि समानजातीय पदार्थों का ही अनुयाहकरत्र देखने के कारण उत्पन्न भ्रान्ति से “आत्मा इन्द्रियों में से ही कोई एक है अथवा उनसे भिन्न है” इसका ज्ञान न होने से विदेहराज जनक ‘कतमो’ इस मन्त्र से पूछता है। तत्त्व के सूक्ष्म होने में दुर्विज्ञेय होने के कारण उसमें भ्रान्ति होनी सम्भव है। अथवा आत्मज्योति शरीर से व्यतिरिक्त सिद्ध होने पर अभी इन्द्रियाँ चेतनस्वभाव वाली जान पड़ती हैं,

१ आत्मनि ध्यानलेलायनादिकं यद्दृष्टुमाधिकं न स्वामादिन मित्यत्र हेतुमाह—स हीति । हि यस्मात् स आत्मा स्वप्नो भूत्वा स्वप्नाकारपरिणतबुद्धिवृत्त्यवसासकत्वेन तदाकारो भूत्वेमं लोकं कार्यकरणसघातलक्षणम् अतिक्रामति तदभिमानं त्यजतीति यावत् । तथा मृत्यो रूपाणि अतिक्रामति मृत्युरन्तर्गते रूप्यते निष्कृष्टं देहैकारादिभिर्ज्ञाप्यते तानि मृत्यो रूपाणि । अतः सत्त्वात्परिणतं नास्त्वं स्वाभाविकं स्वभावस्य बह्वृष्णत्वात्स्वयेव स्वसद्भावे सत्यतिक्रमायोगादित्यर्थः । २. आत्मज्योतिषि । ३ सत्त्वात्परिणतं दृष्टिरिति यावत् ।

एतद्विवेकत पृच्छति कतम इति । अत्र अतिरेके प्रकारान्तरेण प्रश्नसाधकत्वोत्पापनं तयाहि—“आत्मैवास्त्येत्सुपप्लव्य पूर्वोत्तरविरुद्धताम् । आत्मवृत्त्य जनकोऽप्राणोदात्तासाध्य कतमो निवृत्तिः ॥ देहादिसहतावस्थामात्मेति ह्यभिधासिचो । सुप्रसिद्धं जगत्प्रतिमन्त्रायोग्यदबासपण्डितम् ॥ पुण्यापारस्य सन्नन्धो देहादिव्यतिरेकिणा । ज्योतिषाज्जात्मना पूर्व निष्कृतं प्रतिपाशितं ॥ आत्मैवात्मेति वचनान्पूर्वोत्तरविरोधतः । सजातसजयो राजा याश्रवत्वमपमपृच्छत् ॥ अर्वात्तर चेद्देहादेशात्मज्योतिर्विबलितम् । पूर्वोत्तरविरोधोऽस्य तथा नैवेद्यं ढीकते ॥ आत्मसदृशश्च लोकेऽस्मिन्प्रसिद्धोऽनेकवस्तुषु । साक्षिबुद्धिर्गणैरान्तेऽप्यारब्धबुद्धिसमन्वयात् ॥ इतमन्त्रस्यैवस्तत्त्वात्पूर्वोत्तरस्याश्च सन्नवात् । कतमो भवनाऽऽस्मेति ज्योतिष्ट्वेन विवक्षितः । इति पृष्टोऽनुमानेनाविरुद्धं प्रत्यपीपदत् । आत्मज्योतिः, सुविस्फटं राजानं योग्यमित्यतः” ॥ २७१-२८३ ॥ इति । प्रकृतं दशममन्त्रमनुत्थापयति—आत्मेति । अथ पूर्वोत्तरविरुद्धं स्वाज्ज्ञा यन्मूलं प्रश्नप्रवृत्तिरित्याशङ्क्य तदर्थं प्रथमं प्रसिद्धिं दर्शयति—देहादीति । उक्तप्रसिद्धेरविपीतत्वायों हिजायः ॥ तथाऽपि कथं पूर्वोत्तरविरुद्धतेरवाशङ्क्य पूर्वोक्तमनुद्ववति—पुण्यापारस्येति ॥ अथ विरोधमुद्गायय-मन्त्रनोपपत्तिमाह—आत्मेति । आत्मत्वेन प्रसिद्धं देहं हिंसाज्जात्मना ज्योतिरन्तरेण पुण्यापारः स्यादित्यादित्यज्योतिः एवाहित्यादीं सबन्ध उक्तः । सप्रश्नार्थभास्य ज्योतिरित्याद्युक्त्याऽप्रमत्ता तस्य सन्नन्धं चप्यते इतः पूर्वोत्तरवाक्य-

करणानि सर्वाणि 'विज्ञानवन्तीय' विवेकत आत्मनोऽनुपलब्धत्वात् । अतोऽहं पृच्छामि कतम आत्मेति । कतमोऽसौ देहेन्द्रियप्राणमनःसु यस्त्वयोक्त आत्मा । येन ज्योतिषाऽऽस्तं इत्युक्तम् ।

अथवा योऽयमात्मा त्वयाऽभिप्रेतो विज्ञानमयः । तस्य इमे प्राणा विज्ञानमया इवंपु प्राणेषु कतमः । यथा 'समुदितेषु ब्राह्मणेषु सर्वे इमे तेजस्विनः कतम एषु पङ्कज-विदिति । पूर्वस्मिन्व्याख्याने कतम आत्मेत्येतावदेव प्रश्नवाक्यं योऽयं विज्ञानमय इति प्रतिवचनम् । द्वितीये तु व्याख्याने प्राणेष्वित्येवमन्त प्रश्नवाक्यम् । अथवा सर्वमेव प्रश्न-वाक्यं विज्ञानमयो ह्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः कतम इत्येतदन्तम् । योऽयं विज्ञानमय इत्येतस्य

व्याचष्टे - वनमोऽयमिति । ननु ज्योतिर्निमित्तो व्यवहारो यद्योक्तो न त्वात्मेत्याशङ्क्याऽऽह—येनेति । आत्मनेवाद्यं ज्योतिर्येत्युक्तत्वादासनादिनिमित्तं ज्योतिरात्मेत्यर्थः ।

प्रकारान्तरेण प्रश्नं व्याकरोति—अथवेति । सप्तम्यर्थं कथयति—सर्वं इति । योऽयं त्वयाऽ-भिप्रेतो विज्ञानमयः स प्राणेषु मध्ये कतमः स्यात्सेऽपि हि 'विज्ञानमया इव भान्तीति योजना । उक्त-मर्थं दृष्टान्तेन बुद्धावारोपयति—यथेति । व्याख्यानयोरवान्तरविभागमाह—पूर्वस्मिन्व्याख्यादिना । हृदीत्यादि प्रतिवचनमिति शेषः । पक्षान्तरमाह—अथवेति । सर्वस्य प्रश्नत्वे वाक्यं योजयति—विज्ञानेति

व्यक्ति उनसे पृथक् आत्मा की प्राप्ति नहीं होती । इसलिये मैं पूछता हूँ—वह आत्मा कौन सा है । जिसका प्रतिपादन आपने किया है, वह आत्मा शरीर, इन्द्रिय, प्राण शरीर मन इनमें से कौन सा है, जिस ज्योति के द्वारा पुरुष बैठता है—एसा कहा गया है ।

अथवा जो यह आत्मा आपको विज्ञानमयरूप स अभीष्ट है, सो ये चक्षुरादि सभी प्राण विज्ञान-मय के समान है, इन प्राणों में वह कौनसा है ? जिस प्रकार सजीभूत ब्राह्मणों में ये सभी तेजस्वी है; वेदों के छ अङ्गों को जानने वाला कौन है (ऐसा प्रश्न किया जाय) । पूर्व व्याख्यान में "कौनसा आत्मा है" इतना ही प्रश्नवाक्य है, "जो विज्ञानमय है" यह इसका उत्तर है । दूसरे व्याख्यान में 'प्राणेषु' से "ह्यन्तर्ज्योति" यहाँ तक प्रश्नवाक्य है । अथवा "विज्ञानमय हृदयस्थ ज्योति वाला पुरुष कौनसा है" यहाँ तक ही प्रश्नवाक्य है । "जा यह विज्ञानमय है" इस शब्द का निश्चिन्तात्मक सार्थपरस्य तथा 'वह

१. चेतनानीय । २. भाण्डीति योजना । ३. चक्षुरादयः । ४. सजीभूतसु । ५. विज्ञानरूपाः ।

यो विरोधादात्मन्युत्पन्नसंशयो राजा तन्निदिधारयिष्यति पृच्छतीत्यर्थः ॥ विरोधशङ्कया संशयोऽप्रश्नमुक्तमाक्षिपति—अपान्तरमिति । आत्मैवात्मेत्यादाधारमशब्देन देहप्रदे पूर्वोक्तविरोधः शङ्कनीयो वेदातिरिक्तज्योतिषा पूर्वपुण्यापारम्याद्युना च देहेन सबंधोक्तेरात्मशब्देनाद्यन्तरपदे स्वविरोधस्तस्माद्विरोधशङ्काप्येवसंशयमूलप्रश्ना-तिदिशित्यर्थः ॥ समाधत्ते—आत्मशब्दश्चैव । प्रश्नानुत्थानशङ्काफलसार्थवचकारः । प्रसिद्धिश्चुटविति—साक्षीति । सत्त्वादात्मशब्देऽनेरात्मभवत्सम्बद्धवृत्तान्तिकस्य निर्धारणेऽपेक्षिते कतम इति उक्तमन्वयप्रयोग इत्युक्तस्यै लिङ्गमाह—उत्तमिति । आत्मशब्दम्यानेकेषु प्रयोगे दृष्ट्वा मशयान्, पृच्छतीति फलितमाह—कतम इति । यो भवता ज्योतिर्द्वेषताऽऽत्मा विवक्षितः स कतम इति योजना ॥ उत्तरमाह—इति पृष्ट इति । पूर्वोक्तानुमानाविषय-आत्मज्योतिर्विषयानित्यादिना मुनी राजान प्रति स्पष्टमुक्तवानिति योजना ॥

शब्दस्य 'निर्धारितार्थविशेषविषयत्वं' कतम आत्मेति चेतिशब्दस्य प्रश्नवाक्यपरिसमाप्त्यर्थत्वं 'एवहितसंबन्धमन्तरेण युक्तमिति कृत्वा कतम आत्मेत्येवमन्तमेव प्रश्नवाक्यं योऽयमित्यादि परं सर्वमेव प्रतिबचनमिति निश्चीयते ।

योऽप्रमित्यात्मनः प्रत्यक्षत्वान्निर्देशः । विज्ञानमयो 'विज्ञानप्रायो' बुद्धिविज्ञानोपाधिसंपर्काविवेकाद्विज्ञानमय इत्युच्यते । बुद्धिविज्ञानसंपृक्त एव हि यस्यादुपलभ्यते राहुरिव चन्द्रादित्यसंपृक्तः । बुद्धिर्हि 'सर्वायंकरण तमसीव प्रदीपः पुरोर्वास्थितः । मनसा तमसीव ह्येव पश्यति मनसा शृणोतीति' ह्युक्तम् । बुद्धिविज्ञानालोकविशिष्टमेव हि सर्वं विषयजातमुपलभ्यते पुरोर्वास्थितप्रदीपालोकविशिष्टमिव तमसि । द्वाग्मात्राणि त्वन्यानि

स समान. सन्नित्यादि प्रतिबचनमिति शेषः ।

द्वितीयतयापक्षपोरर्शचि सूचयन्नाद्यं पक्षमङ्गी करोति—योऽयमिति । 'यस्त्वया पृष्ठः सोऽयमित्यात्मनश्चन्द्रपूष्येन प्रत्यक्षत्वाद्यमिति निर्देश इति पदद्वयस्यार्थः । देहव्यच्छेदार्थं विशिनष्टि—विज्ञानमय इति । विज्ञानशब्दार्थमाचक्षणस्तत्प्रायत्वं प्रकटयति—बुद्धीति । बुद्धिरेव विज्ञानं विज्ञापतेऽनेनेति घ्युत्पत्तेश्चनोपाधिना संपर्कं 'एवाविवेकस्तस्मादिति यावत् । तत्संपर्कं "प्रमाणमाह—बुद्धिविज्ञानेति । तस्माद्विज्ञानमय इति शेषः । 'ननु चक्षुर्मय. श्रोत्रमय इत्यादि हित्वा विज्ञानमय इत्येव कस्मादुपदिश्यते तत्राऽऽह—बुद्धिर्हीति । "तस्याः साधारणकरणत्वे प्रमाणमाह—मनसा हीति । मनसः सर्वायंत्वं समर्थयते—बुद्धीति । किमर्थानि तर्हि चक्षुरादीनि करणानोत्पान्नाङ्घ्राऽह—द्वाग्मा-

आत्मा कौन सा है" इसमें इतिशब्द का प्रश्नवाक्य परिमभाषित के लिये होना किसी भिन्नत्रम के बिना ही होना सम्भव है । ऐसा जान कर "वह आत्मा कौनमा है" इसके इतिशब्दपर्यन्त ही प्रश्नवाक्य है; ('योऽयम्') "यह वह है" इत्यादि भागे का सारा वाक्य उत्तरवाक्य है, ऐसा निश्चय होता है ।

आत्मा के प्रत्यक्ष होने के कारण "जो यह विज्ञानमय है" ऐसा निर्देश किया गया है । "विज्ञानमयः" अर्थात् बुद्धिसदृश बुद्धिपहित बुद्धिरूप विज्ञान उपाधि के सम्पर्क का विवेक न होने के कारण विज्ञानमय कहा जाता है । बुद्धिरूप विज्ञान के सम्पर्क से है क्योंकि तन्मयता उपलब्धि होती है, राहु चन्द्र और सूर्य के सम्पर्क में आकर ही उपलब्ध होता है । बुद्धि सर्व विषयों के प्रति साधारण होकर अनुभव प्रदान में आती है, जिस प्रकार अन्धकार में मानने रमे हुए दीपक से विषयोपलब्धि होती है । "मन ही से देखना है, मन ही से सुनना है" ऐसा धृति बतला चुकी है । जिस प्रकार अन्धकार में समस्त पदार्थ सम्मुखस्थित दीपक के प्रकाश से युक्त होकर उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार सारे पदार्थ धीरूप

- १ निश्चितारमरूपार्थपरत्वं यच्छेदेददन्वर्णितत्वादिनि भावः । २ त्रिष्वस्यस्वमन्तरेण । ३ बुद्धिमदको बुद्धपुपदिन इति यावत् । ४ धीरूपविज्ञानोपाधिरिति यावत् । ५ बुद्धिविज्ञानसंपृक्त इति । अस्मिन्नामीनम्य प्रतीचो यत्पुनस्तदसंबन्धोऽपि सविकल्प(कर्तृत्वादि)प्रतीतिस्तत्संपर्कदिवेति तन्मयताऽनो यथोक्तस्य तस्य बुद्धसंबन्धान विज्ञानमयप्रेत्युक्तमपास्तम् । ६ सर्वेति—सर्वविषय प्रति साधारणमित्यर्थः । ७. वृ० उ० १।५।३ । ८. योऽयमित्यात्मन इत्यादिभाष्यपट्टवत्तरेणमाह—परस्वदिति । ९. तादात्म्यम् । १०. अर्थापत्तिरूपम् । ११. नन्विति—आत्मनो बुद्धयेव चक्षुरादिभिरपि संपृक्तत्वाऽविवेकादिति भावः । १२. दृष्टेः ।

करणानि 'बुद्धेः । तस्मात्तेनैव विशेष्यते विज्ञानमय इति ।

येषां 'परमात्मविज्ञानमिविकार इति व्याख्यानं तेषां विज्ञानमयो मनोमय इत्यादौ विज्ञानमयशब्दस्यान्यार्थदशनादश्रीतायंताऽवसीयते । संदिग्धश्च पदार्थोऽन्यत्र निश्चित-प्रयोगदशान्निर्धारयितुं शक्यो वाक्यशेषात् । 'निश्चितन्यायवलाद्वा । 'सधीरिति चोत्तरञ्च

श्रणोति । बुद्धेः सति प्राधान्ये कलितमाह—तस्मादिति ।

विज्ञानं परं ब्रह्म तत्प्रकृतिको जीवो विज्ञानमय इति भर्तृप्रपञ्चरुक्तमनुददति—येषामिति । 'विज्ञानमयादिग्रन्थे मयटो न विकारायंतेति तंरेवोच्यते तत्र मनःसमभिव्याहाराद्विज्ञानं बुद्धिनं चाऽऽत्मा तद्विकारस्तस्मादस्मिन्प्रयोगे मयटो विकारार्थत्वं वदतां स्वोक्तिविरोधः स्यादिति हूययति—तेषामिति । कथं विज्ञानमयपदार्थनिर्णायार्थं प्रयोगान्तरमनुश्रूयते तत्राऽऽह—संदिग्धश्चेति । यथा पुरोडाश चतुर्धा कृत्वा 'वह्निपद करोतीति पुरोडाशमात्रचतुर्धाकरणवाक्य'मेकार्यसंबन्धिना शाखान्तरीयेणाऽऽनेयं चतुर्धा करोतीत्यनेन विशेषविषयतया निश्चितार्थेनाऽऽनेय एव पुरोडाशो व्यवस्थाप्यते यथा चाक्ताः शकरा "उपदघातोत्पन्न केनाक्तत्वेत्यपेक्षायां तेजो वं घृतमिति वाक्यशेषान्निर्णयस्तयेहापीत्यर्थः । घातमनो विकारस्त्वे "मोक्षानुपपत्त्याद्यत्राघिन्यायाद्वा विज्ञानमयपदार्थनिश्चय इत्याह—निश्चितेति । यदुक्तं निर्णयो वाक्यशेषादिति तदैव व्यनक्ति—सधीरिति चेति ।

विज्ञान के आलोक से विशिष्ट होकर उपलब्ध होते हैं । अन्य इन्द्रियो बुद्धिवृत्ति की द्वारमात्र हैं । इसलिये (इन्द्रियो मे बुद्धि की प्रधानता होने के कारण) बुद्धि के द्वारा ही आत्मा को विज्ञानमय विशेषण से युक्त किया जाता है ।

जिन (भर्तृप्रपञ्च आदि) के मत मे 'परमात्मरूप विज्ञान का कार्य है' ऐसा व्याख्यान किया जाता है, इनका यह अर्थ "विज्ञानमय है, मनोमय है" इत्यादि तैत्तिरीय उपनिषत् मे विज्ञानमय शब्द का 'प्रायः' अर्थ देखे जाने के कारण श्रुतिविरुद्ध सिद्ध होता है । जहाँ किसी पदार्थ के बारे मे सद्दह हो, वहाँ अन्यत्र निश्चित प्रयोग देखकर उसके अनुसार ही निश्चय किया जाता है । इसके अतिरिक्त वाक्यशेष अथवा निश्चितन्याय के बल से भी अर्थनिर्धारण किया जा सकता है । इसके सिवा मन्त्र मे आगे "स हि" (वह आत्मा स्वप्न होकर इस लोक को अतिक्रमण करता है) ऐसा पाठ है । 'हृद्यन्तः'

१. धीवृत्तेः । २ तस्मात्—करणेषु बुद्धेः प्राधान्यात् । ३ परमात्मरूपविज्ञानस्य विकारः कार्यम् । ४. प्रायार्थदशनादिति भावः । ५. तेषां तद्व्याख्यानस्य वा । ६ न्यायेति । तदुक्तं प्रमाणसङ्घे—“अर्थाद्वा कल्पनकदेशत्वादिति” मी० सू० । छुवेणावधति स्वधितना (कुठारेण) अवधति हस्तनावद्यतीत्यत्र छुवाधीनो सर्वावधानेषु विनियोगादनियमो वा सामर्थ्यालोचनया छुवस्वधितिहस्ताना यथाक्रम इवमांससगतद्रव्यावधानेषु नियमो वेति सदेहे विनियोगाविशेषाद् नियमे प्राप्ते विनियोगस्यानुष्ठानार्थत्वात्तस्य च सामर्थ्याधीनत्वात्तदनु-भवेन व्यवस्थायाः (यां) शास्त्रप्रामाण्यमिति स्थितम् सूत्रे वा शब्दोऽनियमव्याप्तेर्धार्यः । अर्थात्—सामर्थ्यात्—योग्यतावशाद् एकैकस्य छुवादेः एकैकस्मिन्ब्रह्मादौ देवे सङ्ख्याहंत्वात् नियम इत्यस्यार्थः । तथेहाप्यना-त्मनो ब्रह्मविकारत्वमात्मनस्तु तन्मात्रत्वं शास्त्रप्रामाण्यादिति व्यवस्थेति भावः । ७. माष्यदिनशास्त्रोप्य पाठः । अत्र तु सहीत्यादिर्वदयते । ८. वृ० उ० ४।४।१ । ९. बर्हिषि स्थितम् । १०. पुरोडाशात्मकेकार्यप्रतिपादना । ११. अग्निदेवताके । १२. देवतासनिधौ सत्प्रापे स्थापयतीति भावः । १३. विकारस्य विनाशित्वादिति भावः ।

पाठात् । ह्यन्तरिति च वचनाद्युपेतं विज्ञानप्रापत्यमेव ।

प्राणेष्विति 'व्यतिरेकप्रदर्शनायां सप्तमी । यथा वृक्षेषु 'पापाण इति सामीप्य-
लक्षणा' । प्राणेषु हि व्यतिरेकाव्यतिरेकना संविद्भूत आत्मनः । प्राणेषु प्राणेष्वो
'व्यतिरिक्त इत्यर्थः । यो हि 'येषु भवति स तद्व्यतिरिक्तो भवेत्येव यथा पापाणेषु वृक्षः ।

हृदि तत्रैतत्स्वात्प्राणेषु प्राणजातीयैव बुद्धिः स्यादित्यत आह—ह्यन्तरिति ।
ह्यन्तरेण पुण्डरीकाकारो मांमपिण्डस्तात्स्थयाद्बुद्धिर्ह्यन्तस्था हृदि बुद्धी । अन्तरिति
बुद्धिवृत्तिर्व्यतिरेकप्रदर्शनायम् । *ज्योतिर'वभासात्मकत्वादात्मोच्यते । तेन ह्यवनास-

प्रापाराद्यर्थं सप्तमी ह्येता सा कथं व्यतिरेकप्रदर्शनायैत्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । भवत्वप्रापि
सामीप्यलक्षणा सप्तमी तयाऽपि "कथं व्यतिरेकप्रदर्शनमित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणेषु हीति । फलितं सप्तम्य-
यंनभिनयनि—प्राणेष्विति । "तेषु सप्तम्येषोऽपि कथं तेभ्यो अतिरिच्यते तत्राऽऽह—यो हीति ।

विशेषणान्तरमादाय व्यावर्त्यां शङ्कामुक्त्वा पुनरवतार्यं व्याकरोति—हृदात्यादिना । विशेष-
णान्तरस्य तात्पर्यमाह—अन्तरिति । ज्योतिर'शब्दाद्यंमाह—ज्योतिरिति । "तस्य ज्योतिर्युत्प-

वचन भी उसकी बुद्धि सदृश बुद्धिषु पहितत्व सिद्धि होती है ।

मन्त्र मे "प्राणों में" यह सप्तमी भिन्नत्वप्रदर्शन करने के लिए है । जिन प्रकार (वृक्षेषु
पापाण) वृक्ष के समीप पत्थर है, यहाँ सप्तमी सामीप्य अर्थ की खोजना है । प्राणों में ही आत्मा की
भिन्नता या अभिन्नता के विषय में मन्त्रेह होता है । "प्राणेषु" अर्थात् प्राणों में भिन्न है । जो जिनमें होता
है, वह उनसे भिन्न ही होना है, जिस प्रकार पत्थरों में होने वाला वृक्ष पत्थर में भिन्न होता है ।

"हृदि" अर्थात् वहाँ हृदय के समीप में यह रहता है । (प्राणसमीपस्था बुद्धि ही आत्मा है)
प्राणों में प्राणजातीया ही बुद्धि रहेगी, इसलिये श्रुति कहती है—हृदयस्य (ज्योति) है । 'हृदय' शब्द से
कमल के प्राकार वाला मांमपिण्ड उभय रहने से बुद्धि ही हृत् है, उस हृदय में बुद्धि अनुगत प्रतीत होती है ।
"अन्तर" यह शब्द बुद्धिवृत्ति से उसकी भिन्नताप्रदर्शन करने के लिए है । प्रकाशकतत्व होने के कारण

- १ विज्ञानमयपद व्याख्यान प्राणेष्वित्यस्य विवक्षितमप्यमाह—व्यतिरेकेति । तदुक्तं वार्तिके—“देहादिर्वेदिभ्य-
भ्योऽपि व्युत्पापन (विवक्षया)वकीर्यया । प्राणेष्विति श्रुतिर्वैकि प्राणा पञ्चदशोदिता ” ॥ ३२४ ॥ इति ।
- २ षटे पाद षोडश इत्यादावपि । ३ सप्तमी । ४ व्यतिरिक्त इति—प्राणेषु तत्साक्षित्वन योऽर्थोऽनुगत-
स आत्मेति यावत् । न हि दीपवत्करणेऽव्यतिरेकसंभावनेन भावः । ५ सप्तमीप । ६ तत्रेति । प्राणेष्विति
सामीप्यसम्बन्धमुपगमे । एतत्—वद्वर्माणं स्वाच्छिद्रुतमित्यर्थः । ७ प्राणेषु—प्राणसमीपस्था बुद्धिरेवात्मा
स्यादित्यर्थः । ८ अनुगतो भावोति विशेषः । ९ व्यतिरेकेति । अत्र वार्तिके यथा—“हृदीत्याचारनिर्देशा-
द्वीत्या आत्मेति शङ्कते । वृणवोऽपि निवृत्त्यर्थम-परिमुपदिशत ” ॥ ३२६ ॥ परापर्यानुसारिण्यो यतो
धीवृत्त्यस्यत । विशेषपाद-नरिति अत्र (त्यं) तन्ते पराकृत्यत ” ॥ ३३४ ॥ इति । पराकृत्यत-प्रतीच इति
शेषः । १० प्रकाशस्त्वात् । ११ किमर्थमिति यावत् । १२ तत्समीपयोऽपि । १३ आत्मनः ।

अज्योतिरवभासात्मकत्वादात्मोच्यते । तत्राहुर्वार्तिककाचार्यस्तथाऽह—“कारणं तद्दि बुद्ध्यादेरान्तरमत्र प्रदर्शयते ।
कार्यस्यान्तर्वर्ती ह्येह सर्वत्रैव च कारणम् ॥ आहम्य चाऽऽज्यत इच्छति कणमुद्भूतमोविन । तेषां विप्रलियेधार्थं
ज्योतिरित्यभिधीयते ॥ योऽर्थमित्यादिना यद्वा यथोक्तस्याऽऽज्यतस्तुन । प्रवृत्तज्योति सन्धो ज्योतिरित्य-

केनाऽऽत्मना ज्योतिषाऽऽस्ते पत्ययते कर्म कुरुते चेतनावानिव' ह्ययं कार्यकरणविण्डो यथाऽऽदित्यप्रकाशस्यो घटो यथा वा मरकतादिर्मणिः क्षीरादिद्रव्ये प्रक्षिप्तः परोक्षस्याया- 'ऽऽत्मच्छायमेव तत्क्षीरादिद्रव्यं करोति 'तादृगेतदात्मज्योतिर्बुद्धेरपि' हृदयात्सूक्ष्मत्वाद्धृ-

स्पष्टयति—तेनेति । आत्मज्योतिषा ध्यातस्य कार्यकरणसघातस्य ध्यवहारक्षमत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । चेतनावानिवेषुष्वन दृष्टान्तेनापवादयति—यथा यनि । हृदय बुद्धिस्ततोऽपि सूक्ष्मत्वादात्मज्योतिस्त- दन्त स्थमपि हृदयादिक सघातं च सर्वमकीटुत्य 'स्वच्छाय करोतीति कृत्वा ययोक्तमणितादृग्यमुचित-

ज्योति ही आत्मा बहा गया है । उम प्रकानक आत्मज्योति से चैनन्यवान सा प्रतीत होता है । यह देहेन्द्रियसघ न मूर्यं क प्रकाश मे स्थिन घट की तरह रहता है, इधर-उधर जाना है और कर्म करता है । प्रथवा जिस प्रकार परोक्षण के लिए दुग्धादि द्रव्य में डाली हुई मरकतादि मणि उम दुग्धादि द्रव्य को स्वामाम की तरह रू देती है, उतो प्रकार (मरकत मणि के सदृश) यह आत्मज्योति हृदयशब्दवाच्य

१. प्रतीयते । २. आत्मनश्छाया यनेति स्वाभावमित्यर्थं । ३. मरकतसदृक् । ४. हृदयशब्दवाच्याया बुद्धेरिति सामानाधिकरण्यम् । ५. स्वामामयुक्तम् ।

निधीयत ॥ उपादान हि बुद्ध्यादेरात्मविद्यति भण्यत । सद्ब्रह्मात् विद्यमान ज्योतिरिन्सुपदिश्यते ॥ वस्तुवृत्तेन प्रवृत्तनि तेषांज्ञानमात्मन । ज्योती रूपमिदं भास्वत्प्रत्यद्भ्रान्तसतत्त्वकम् ॥ ज्योति सर्बिच्छित प्रत्यद्दृष्टात्मेति ध्यपदिश्यते । स्वायं यत्प्रयते नित्यं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥ बुद्ध्यादिषु पराशेषे ह्यागमापायिवस्तुषु । स्वय रूपेण यो भानि स्वास्तु स्वायं स भण्यते ॥ ज्योतिरित्यस्य बुद्ध्यादेरावमापायिद्विदं । स्वयमातृक एवायमात्मत्वादेव कारणात् ॥ क्षननेन यथोक्तेन ज्योतिषा सकल जगत् ॥ यदभावविक्रियाभिति निर्विकारेण भास्वता ॥ अचेतनोऽपि बुद्ध्यादिचेतनावानिवेष्यते । देहेन्द्रियमनोबुद्धिसघातो वायुमि' सः ॥ यथा प्रकाशयत्येक इन्द्रिज लोकात्मि र्दिव । क्षेत्र क्षेत्रो तथा वृत्तन व्यनत्तीति स्मृतवर्ष ॥ आत्मच्छाय पयोऽश्लेष यथा मरकतो मणि । परोक्षणाय प्रदियात् कुर्वादात्मा तर्षं च ॥ बुद्ध्यादिदेहधर्मैत प्रत्यगज्ञानहेतुम् ॥ जडत्वमावक नित्यमवपासमिति स्वयम् ॥ बुद्ध्यादिष्वपि सूक्ष्मेषु यत्सूक्ष्मतममुच्यते । बुद्ध्यादिकारण नित्यमात्मविद्येति भण्यत ॥ अपि कूटस्थवपुष प्रतीच-सङ्गवारकम् । तत्पदस्यादिवाक्योत्पन्नानवाच्यं च यद्विदु ॥ यन्निमित्तं च साक्षित्वं कारणत्वं तथा-ऽऽत्मनः । सर्वकार्यविनाशेऽपि यद्वीजमवशिष्यते ॥ तदात्मज्योतिषज्ज सप्रित्येवैकवित्छन्दे ॥ उरपतिरिच्छिति-भङ्गान्ना न वेद्योति च साक्षित ॥ कूटस्थ एव साधयत्र स्वमोहभितहेतुत । ब्रह्मविरितससिद्धि तमोऽनुभव-सधयात् ॥ नि माग्निषे न वेद्योति न वचचिरप्रसिद्धयति । तथा कूटस्थसवित्त्वे नितरां नैतदिष्यते ॥ ऐश्वर्यं कारणत्वं च साक्षित्वमपि चाऽऽत्मनः । सदेजितव्यकार्यसंसाहयार्थेनस्य सगत ॥ आत्माज्ञानमतः प्रत्यक्चेतन्या-भ्रातवत्तदा । आत्मन करणत्वादे प्रयोजवमिहेत्यते ॥ चैतन्यामाग्वत्प्रत्यङ्मोहान्तात्प्रत्ययात्मन । बुद्ध्यादे-विषयान्नाय सिद्धिं स्यात्साक्षिणस्तत्ता' ॥ ३३५ ३५६ ॥ इति ज्योतिविशेषणव्यावर्यमाह—कारणमिति । अत्र सर्वत्रेति संबन्ध ॥ बुद्ध्यादेर्जाह्वान्प्रवनेव किञ्चित्कारण मुक्त कथमात्मा तथेत्याचक्षुषाऽऽह—चादय चेति । विनेषणप्रवतारयनि—तेषामिति ॥ ननु प्रागेव निष्पं व्याकुर्वता जाड्यस्याऽऽत्मनो व्यावृत्तित्वात्क-मिरत्यर्थं ज्योतिविशेषणमित्यासाक्षुष तस्य तात्पर्यान्तरमाह—योऽप्यमिरयादिनेति । प्रस्तुतवाक्योक्तारणवस्तुन प्रकृतेनाऽऽत्मनैवाय ज्योतिषेत्यादावक्तेन ज्योतिषा तव धा वाच्यरतेम विशेषणमित्यर्थं ॥ यत् बुद्ध्यादिकारण चडमात्मवदस्त्वत्यतन्निषेधार्थं विशेषणमिति तद्व्यर्थम-बुद्ध्यादिकारणत्वरूपमाह—उपादानमिति । बुद्ध्यादेः

छन्दःस्यमपि हृदयादिकं कार्यंकरणसंघातं चैकीकृतयाऽऽत्मज्योतिश्छायां करोति । पारम्पर्येण सूक्ष्मस्थूलतारतम्यात्सर्वान्तरतमत्वात् ।

मिति दाष्टान्तिके योजना । कथमिदमात्मज्योतिः सर्वमात्मछायां करोति तत्राऽऽह—पारम्पर्येणेति । 'विषयादिषु प्रथमात्मान्तेषुत्तरोत्तरं सूक्ष्मतातारतम्यात्तेष्वेवाऽऽत्मादिविषयान्तेषु स्थूलतातारतम्यात् प्रतीचः सर्वस्मादन्तरतमत्वात्तत्र 'तत्र स्वाकारहेतुत्वमस्तोत्वयः' ।

बुद्धि से सूक्ष्म होने के कारण हृदयपिण्ड में स्थित हृदयादिक और देहेन्द्रियसंघात को भी एक करके प्रारम्भज्योति की कान्ति से युक्त कर देता है क्योंकि परम्परा से सूक्ष्मस्थूलतारतम्य से यह सबकी प्रवेक्षा अन्तरतम है ।

१ "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्षा" इति श्रुत्यनुसंधानेनाह—विषयादिष्विति । २ विषयादिषु ।

विद्यायाश्च जडत्वेन साक्य्यादुपनिषत्प्रमाणानुपादेयत्वमितिसूचनार्थो द्विशब्दः । तत्र विद्वत्प्रमिद्धि प्रमाणयति— इति मध्यत इति आत्मनि प्रयुक्तज्योति शब्दस्यैतदुपायार्थेनसामर्थ्येमाह—सृष्टिरिति ॥ अज्ञोऽहमिति ज्ञायमानस्य प्रतीको मयोपदिष्टज्योतिष्त्वमदिलिप्यमिति चेतत्राऽऽह—वस्तुवृत्तंनेति । आत्मनो रूपमित्युक्ते भेदमाशङ्क्याऽऽह—मास्त्विति ॥ ज्योति शब्दस्यात्र स्वदेनाऽऽत्मविषयनेत्याशङ्क्य ज्योतिर्दंशंभाति । म्यादेनाऽऽह—ज्योतिरिति । पुरुषशब्दाद्यनुगृहीतप्रकरणप्रकृतज्योतिषोऽनुगृह्याऽऽत्मभेदाय शब्दो नियम्यत इति भावः । आत्मनो ज्योतिर्दृष्टे बुबन्त्यतरमाह—स्वार्थमिति । अथस्वाप्तयेऽपि सर्वत्र जडे जन्मनागच्छति यदनेपेक्ष गदा भाति तज्ज्योतिरित्यर्थः ॥ आत्मरहादेवाऽऽत्मज्योतिषः स्वार्थंत्वमनात्मनश्चानात्मरहादेव परार्थत्वमिति वक्तुं द्विशब्दः । कथं पुनराद्यैवदृष्टेरारम्भः स्वार्थंत्व तत्राऽऽह—स्वयमिति । स्वयं ज्योतिरिति कृशय स्वरूपेण भाति स एवास्तु स्वार्थंस्वेति योवना । विशिष्टस्य परार्थं नान्यस्येति भावाः ॥ उक्त स्वप्रकाशत्वं साधयति—अस्येति ॥ कार्यं पञ्चमुरनाद्य द्वितीय समर्थयते—अनेनेति ॥ आत्मज्योतिर्मास्मिं सर्वमिरव्य गमकमाह—अचेननोऽपीति । बुद्धपादिशब्दात् विशदयति—इहेति । अनेनेव ज्योतिर्दृश्यत इति पूर्वेण सङ्गः ॥ आत्मज्योतिष्य सर्वमिषासकत्वे भगवद्वाक्यं प्रमाणयति—यथेति ॥ तस्य सर्वाविभासकरत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—आत्मच्छायामिति ॥ बुद्धपादेर्भासकापेक्षत्वे हेतुमाह—अहेति ॥ जडत्वात् प्रत्यगज्ञानहेतुकमित्युक्त किं तत्प्रत्यगज्ञानमित्युक्तं तस्य विश्लेशक रूपमाह—बुद्धपादिष्विति । आत्मज्योतिर्भास्यर्थं विशिनष्टि—बुद्धपादोति । कारणशक्तिद्वयार्थं तदित्यन्तिर्भासित्वमुक्तम् ॥ तस्यैवाऽऽच्छादकं रूपमाह—अपीति । उभयरूपे तस्मिन्वाक्योपज्ञानरहायवस्वानुपपत्ति प्रमाणयति—तस्वमिति ॥ आत्मन साक्षित्वाद्यनुपपत्तिरपि तदाक्षेपित्वेत्याह—यन्निसत्तमिति । प्रत्ययादौ क्षीतस्य कार्यस्य पुनरुपपत्त्यनुपपत्तिरपि तदक्षेपित्वेत्याह—सर्वेति । यद्बोद्धव्यमिति स्थिति मङ्गलामिति सङ्गः ॥ तस्य स्वातन्त्र्यं म्यावर्तयति—तदात्मेति । अनुभवसिद्धत्वात् साक्षिकान्तरापेक्षेत्याह—नेति । साक्षित्वात् स्वानुभवान्नातीति शेषः ॥ साक्षित्वस्य वस्तुत्वाद्यभिसिद्धं च साक्षित्वमिति कथमुक्तं तत्राऽऽह—कृटस्थ इति । यद्वा परिणामित्वात् साक्षित्वात् तत्राज्ञानापेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह—कृटस्थ इति । अत्र परिणामिबुद्धपादाविति यावत् । तस्य साक्षित्वे हेतुमाह—स्वमोहेति । मोहस्य वस्तुत्वात् तत्कृतमपि तथेत्पादाशङ्क्याऽऽह—अविचारितेति । प्राणाधिकस्य कुतोऽविचारितस्य तत्राऽऽह—अनुभवेति ॥ अनुभवादेव तत्र तिष्ठति साधयति—नि साक्षिक इति । तमपि साक्ष्यनपेक्षे न वेद्योति न तज्ज्ञानं न हि प्राणादेर्भास तस्य स्वदिव्यत्वात्साधयत्वादित्यर्थः । आत्मा चेदज्ञानसाक्षी त्वि यथा स्वरूपेण च तस्माद्यो त्प्राज्यन्नापि स्वादित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । यथा साक्षिणोऽप्यावे तमसोऽसिद्धि-

ॐ बुद्धिस्तावत्स्वच्छत्वादा नन्तर्याञ्चाऽऽत्मचैतन्यज्योतिः प्रतिच्छाया भवति । तेन हि विवेकिनामपि तत्राऽऽत्माभिमानबुद्धिः प्रथमा । ततोऽप्या नन्तर्यान्मनसि चैतन्यावभासता बुद्धिसंपर्कात् । तत इन्द्रियेषु । मनःसयोगात् । ततोऽनन्तर शरीरे । इन्द्रियसंपर्कात् एव पारम्पर्येण कृत्स्नं कार्यंकरणसंघातमात्मा चैतन्यस्वरूपज्योतिषाऽव-

बुद्धेर्गाम्बच्छायत्वं समर्थयते—बुद्धिस्तावदिति । 'लौकिक'परीक्षकाणां बुद्ध्यात्माभिमान-
ध्वान्तिमुक्तेऽर्थे प्रमाणयति—तेन हीति । बुद्धेः पश्चात्तन्मनस्यपि चिच्छायातेत्यत्र हेतुमाह—बुद्धीति ।
आत्मनः सर्वावभासकत्वमुक्तमुपसंहरति—एवमिति । आत्मनः सर्वविभासकत्वे किमिति "कस्यचि"त्व-

बुद्धि प्रथम तो स्वच्छ एव आनन्तर्य होने से आत्मचैतन्यज्योति की ध्रुवभासक होती है । इसलिये (बुद्धि के चिदाभासकत्व होने से) विद्वान् और श्रुतिद्वान् को भी बुद्धि मे प्रथम आत्माभिमानी बुद्धि हो जाती है । पुनः बुद्धि के पारश्चात्य होने से बुद्धि द्वारा आत्मा-मन के संबन्ध से मन मे चैतन्या-वभास होता है । मन का सम्पर्क होने के कारण मन से इन्द्रियो मे, फिर इन्द्रियो का शरीर से संबन्ध होने के कारण उनसे शरीर मे चैतन्यावभास होता है, इस प्रकार परम्परा से समग्र कार्यंकरणसंघात को

१. प्रथमम् । २ आनन्तर्यादिति—(स्वकारणाज्ञानमात्रव्यवहितत्वेऽपि) इन्द्रियाद्यपेक्षया बुद्धेराऽऽऽनन्तर्यादिति । ३ आत्मचैतन्याभासकता । ४ तेन—बुद्धेर्दिषदाभासकत्वेन । सादृश्याभिमाने सर्वविषयबाधोत्तमाय हि शब्द । श्रुतिद्वयप्रहासोऽपि कण्ठः । ५ बुद्धौ । ६ बुद्धेः । ७ पारश्चात्यात् । ८ बुद्धिसंपर्कात्—बुद्धिद्वाराऽऽत्मनो मनसो संघात् । ९ शास्त्रासकृतविधौ लौकिकाः । १०. प्रमाणसंविचारका परीक्षकाः । ११ बुद्धेर्दिषदाभासकत्वरूपेऽर्थे । १२ न तु सर्वस्य पुंस । १३ इन्द्रियाद्यन्यतमे एव ।

स्तथा त्रिविकारचिद्वपे तमोनपेक्षे साक्षात्पि बुभ्रामेत्तमो न सिध्यति । 'स्वयं सेहपुनसामर्थ्यासाधनान्तरङ्गानन । बाधकस्य च सद्भावात्तमसा साक्षिता चिते' ॥ स्वपरनिर्वाहकत्व च तस्योक्तमिति भावः ॥ साक्षित्वादेवादिष्ट-त्वमुपसंहरति—ऐश्वर्यमिति । न हि सापेक्ष स्वरूप स्वाभाविकमस्वाभाविक चाऽऽविद्य रजतवदित्यर्थः । ये तु केचिदेवैश्वर्यमनारोपितमाश्रयन्ते ते पुनरेवैश्वर्यं कारणतश्चैत्यादिवातिकार्यं नाऽऽनोचयन्त ॥ स्वाज्ञान साक्षि-त्वादिनिर्वाहकमनुब्रुवति—आत्मेति । आत्मनोऽमङ्गलसाक्षिरत शब्दार्थः । इहेति चणमिद्युक्ति ॥ साक्षात्स्वभाविक-मुक्त्वा तत सर्वबुद्ध्यादिनिर्वाहिरयुक्तं नियमयति—चैतन्येति । यच्चैतन्याभासव्याप्यशुभोद्भवतन्तः साक्षी तस्माच्च प्रतीचो बुद्ध्यादे सिद्धिरिति यावत् ।

ॐ बुद्धिस्तावदित्यादि मन्त्रवचं इत्यन्तर्याम्ये वातिकास्तथाहि—'स्वकारणाभिज्ञबन्धाच्चैतन्याभासता धिया । आयतेऽनोऽनिमानोऽस्यां जायते महतामपि ॥ कारणातन्तरस्वाच च तथा स्वच्छस्वभावतः । चैतन्याभासवत्येषा धी पूर्वमभिजायते ॥ तस्मादात्माभिमानो हि बुद्धौ जनिमशो सदा । जायते सर्वभूतानामपि सवदिशामिह ॥ चिदाभासोऽय मनसि बुद्धयानन्तर्यकारणात् । मन संबन्धतश्चैव निन्द्येष्वभिजायते । मन करणसंबन्धाद्देहेऽप्य-स्थोपजायते । एवमाभासवत्यतया कृत्स्नं कार्यं सकारणम् ॥ सोऽन्मस्य तारतम्येन स्थितस्य नियमावधि । आत्माभिमानधो पुंसो जायते निबन्धा ततः ॥ नित्योऽनिव्यानामिति च येन सूर्यस्तथा पर । न तत्र सूर्यो भतीति मन्त्रान्मानो ह्यनेवश ॥ ३५७-३५३ ॥ आत्मज्योतिरधीन सर्वं सिध्यति चैतस्यबन्धाविधेयात्किम-त्यादौ सर्वेषां बुद्ध्यादेवाऽऽत्मधीरित्याद्युक्त्याऽऽह—स्वकारणेति । पोक्षेतावज्ञाने चैतन्याभाससंबन्धादनन्तरमव्य-ज्ञानत तस्यां चतन्याभासता जायते तदस्यामादत्वात्तमीः । उक्तं हि—बहुमिति तावदश्वमेतोऽप्यास इति । तत्र

भासयति । तेन हि सर्वस्य लोकस्य कार्यकरणसंघाते 'तद्वृत्तिषु चानियतात्माभिमान-
बुद्धिर्यथा' विवेकं जायते । तथा च भगवतोक्तं गीतासु—

“यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति सारत” ॥

“यदादित्यगतं तेजः” इत्यादि च ।

“नित्योऽनित्याना चेतनश्चेतनानाम्” इति च काठके । “तमेव मान्तमनुमाति

चिदेवाऽऽत्मधोरित्याशङ्काऽऽह—तेन हीति । बुद्ध्यादेरुक्तक्रमेणाऽऽत्मच्छायात्वं तच्छब्दार्थं । आत्म-
ज्योतिषः सर्वावभासकत्वे लोकप्रसिद्धिरेव न प्रमाणं किंतु भगवद्वाक्यमपीत्याह—तथा चेति । नाशाना-
मयमनाशी चेतनाश्रंतिवितारो ब्रह्मादयस्तेषामयमेव चेतनो यथोक्तोनामनगनीनामग्निनिमित्त
दाहकत्वं तथाऽऽत्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमथेयामित्याह—नित्य इति । 'अनुगमनवदनुमानं स्व-
गतया भासा स्यादिति शङ्कां प्रत्याह—तस्येति । येनेति । 'तत्र नावेदविन्मनुजे तं बृहन्तमित्युत्तरत्र

चैतन्यस्वरूप ज्योति से प्रकाशित कर देता है । इसलिये सभी लोगो की कार्यकरणसंघात और इन्द्रिया-
द्यन्यतम वृत्तियो मे अपने-अपने विवेक (या अविवेक) के अनुसार अनियत आत्माभिमान बुद्धि उत्पन्न
हो जाती है । इसी को भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता मे कहते हैं—

‘हे भरतकुलीत्पन्न गर्जुन ! जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है,
उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है’ ।

और भी कहते हैं—“जो आदित्य में तेज है; वह मेरा रूप है (इससे सिद्ध है, सूर्य में प्रकाशन-
सामर्थ्य नहीं है)” इत्यादि ।

काठापनियद् मे कहा है—“जो अनित्य पदार्थों में नित्य, ब्रह्मादि चेतन प्राणियो का भी चेतन

१. इन्द्रियाद्यन्यतमे इति यावत् । २. अविवेकमित्यपि चिच्छन्दन्ति । ३ न तर्हि रवि प्रकाशयति नेत्याह—
यदादित्येति । ४ अनुगमनवदनुमानमिति । यथा गच्छन्तमनुगच्छतीत्यन्तानुगच्छतोऽपि गतिस्तादस्त्वावसंब
एव मान्तमनुमानोऽप्यनुमान स्वगतरेव भासा भवेदित्यर्थं । ५ अत्रेति ।

विद्वद्भ्रान्तिरपि साधनमित्यर्थं ॥ उक्तेश्च बुद्धिस्त्वावदित्यादित्यादिभाव इवावष्टे—कारमेति ॥ तस्यापिच-
दाभासत्वे भ्रान्ति प्रमाणयति—तस्यादिति । तादृगभिमाने सर्वाविसवाद्यद्योतनायो हिवावद ॥ अविबुधाभी-
हगभिमानो न विबुधाविरवावाक्यायामाह—चिदिति । तत्र हेतु—बुद्धीति । इन्द्रियेषु कय तद्भोगिति तत्राऽऽह
—मन इति । एव चैत-याभासदादरेणाहधीरित्यर्थः ॥ देहे तद्विद्यमुपपादयति—मन, करणेति । मनसा करणेष्व
इवावदन्वाऽऽत्मन स्थाने देहे चिदाभासात्तद्गीरित्यर्थः । उक्तं नियमयति—एवमिति ॥ तत्र हेतु—सोऽन्वस्येति ।
बुद्ध्यादेर्विषयान्ततया स्थितस्य यस्मिंश्च तस्य तत्तत्त्वहेतुनेति यावत् । ततो बुद्ध्यादिषु पूर्वोक्तप्रमाणदि-
श्वेतत् ॥ आत्मज्योतिषः सर्वावभासकत्वे कठभूति प्रमाणयति—नित्य इति । नाशानामयमनाशी चेतना-
श्रंतिवितारो ब्रह्मादयस्तेषामयमेव चेतनो यथोक्तोनामनगनीनामग्निनिमित्त दाहकत्वं तथा चैतन्यनिमित्तमेव
चेतयितृत्वमथेयामित्यर्थः । तत्रैव येन सूर्येक्षरति तेजसेद इत्यादिमन्त्र पठति—येनेति । नावेदविन्मनुजे त
बृहन्तमित्युत्तरत्र भगवन् । तत्रैव श्रुत्यन्तरमाह—न तत्रेति । तत्रैति विषयमन्तमी प्रकृत ज्योतिषां ज्योतिर्ब्रह्मा-
विकरोति । भरतज्योतिषः सर्वावभासकत्वे यथा प्रकाशयतीत्याद्या स्मृतिरप्यस्तादेव दशितेति हिवावदार्थः ॥

सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति च । "येन सूर्यस्तपति तेजसेदः" इति च मन्त्रवर्णः । तेनायं हृद्यन्तज्योतिः ।

४३ पुरुष आकाशवत्सर्वगतत्वात्पूर्ण इति पुरुषः । निरतिशयं चास्य स्वयंज्योतिष्ट्वं सर्वावभासकत्वात्स्वयमन्यानवभास्यत्वाच्च । स एष पुरुषः स्वयमेव ज्योतिःस्वभावो यं त्वं पृच्छसि कतम आत्मेति । बाह्यानां ज्योतिषां सर्वकरणानुग्राहकाणां प्रत्यस्तमयेऽन्तःकरणद्वारेण हृद्यन्तज्योतिः पुरुष आत्माऽग्राहकः करणानामित्युक्तम् ।

संबन्धः । ज्योतिःशब्दव्याख्यानमुपसंहरति—तेनेति ।

हृद्यन्तःस्थितोऽयमात्मा 'सर्वावभासकत्वेन ज्योतिर्भवतीति योजना । पदान्तरमादाय व्याचष्टे—पुरुष इति । आदित्यादिज्योतिषः सकाशादात्मज्योतिषि विशेषमाह—निरतिशय चेति ॥ प्रतिबचनवाक्यार्थमुपसंहरति—स एष इति । स समानः सन्नित्याद्यतारमित् 'वृत्तं कीर्तयति—बाह्यानामिति ।

हे" । "उसके प्रकाशित होने पर ही सब कुछ प्रकाशित होता है तथा उसके प्रकाश से ही सब भासता है" इत्यादि । मन्त्र भी है—"जिम्मे तेज से दोप्ट होकर सूर्य तपता है (उस महान् ब्रह्म को वेदों को न जानने वाला नहीं समझ सकता)" । इसलिये यह आत्मा हृदयान्तगत ज्योति है ।

"पुरुषः" अर्थात् आकाश के समान सर्वत्र होने से पूर्ण होने से यह पुरुष है । सबका प्रकाशक एवं स्वयं दूसरो से अप्रकाशय होने के कारण इसकी स्वयंप्रकाशता निरतिशय है । जिसको तुम 'वह आत्मा कौन सा है' ऐसा पूछ रहे हो, वह यह पुरुष स्वय ही ज्योतिस्वभाव है । समस्त इन्द्रियों की अनुग्राहक आदित्यादि बाह्य ज्योतिषी के अस्त होने पर हृदय के भीतर अन्तःज्योति स्वरूप पुरुष आत्मा अन्तःकरण द्वारा इन्द्रियों का अनुग्राहक है—ऐसा कहा जा चुका है ।

१. येन तेजसा इदः सूर्यस्तपतीत्यन्वयः । अस्त्वं शेषप्रीकार्या तादेविति । २. आदित्यादीनाम् । ३. आत्मस्वतेनेत्यस्यामर्थः । ४. उक्तमात्मज्योतिस्तनुपहम् ।

४३ पुरुष आकाशवत्सर्वगतत्वात्पूर्ण इति पुरुषः । अत्र वातिकाकार्याः—"आत्मण्येषं प्रबुद्धेऽस्मिन्ज्योतिषि ध्यान्तनामतः । सर्वैस्त्वाऽऽन्नमायात्मादात्मा पुरुष उच्यते ॥ आत्माज्ञानसमुच्छित्तौ तज्जस्य न हि वस्तुनः । प्रत्ययप्राप्त्यप्यप्यं सभास्यं केनचित्सर्वचित् ॥ अज्ञानसमुच्छित्तौ न तज्जस्यन्त्यत्त. सज् । रूपं समाभ्यतेऽह्यादेरेव-मात्मस्वरूपतः ॥ न कार्यं कारणे वाऽपि तदभावेऽद्यवाऽन्मत । प्रत्ययमात्रैकायात्मात्मात्प्यं सभास्यतेऽप्यपि ॥ अय्यावृत्ताननुगतं प्रत्ययमात्रावशेषतः । पूर्णत्वात्पुरुषो ज्योतिरारम्भं कीर्तयतीति" ॥ ३६४-३६८ ॥ इति । ज्योतिःशब्दं व्याख्याय पुरुषशब्दार्थमाह—आत्मनोति । एवमुक्तश्रुतिस्मृतिन्यायैरिति यावत् ॥ ज्ञानादज्ञानस्वप्नेऽपि व्यतीऽवस्तेन पूर्णत्वेन पुरुषतेत्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति ॥ तद्दृष्टान्तेन स्पष्टयति—स्मिति । आत्मस्वरूपतो-ऽन्वत् इति संबन्धः ॥ ततोऽन्यानामुमान्स्यापि कार्यादिरूपस्याऽभवे हेतुमाह—प्रत्ययिति ॥ पुरुषशब्दात्प्रमु-संहरति—अभ्यावृत्तेति । तथापिज्योतिरिति संबन्धः । तस्य पुरुषत्वे हेतुः—प्रत्ययनात्तेति । ज्योतिषो यथोक्तत्वेऽपि किमात्मनः स्वात्माह—आत्मा ॥

यदाऽपि बाह्यकरणानुप्राहकाणामादित्यादिज्योतिषां 'सद्भावस्तदाऽप्यादित्यादि-
ज्योतिषां 'परायंत्वात्कार्यकरणसंघातस्यार्चतन्येन 'स्वार्थानुपपत्तेः 'स्वार्थज्योतिष
प्रात्मनोऽनुप्राहमावेष्ट्यं कार्यकरणसंघातो न व्यवहाराय कल्पते । आत्मज्योतिरनुप्राहैर्यं
हि सर्वदा सर्वः सव्यवहारः । "यदेतद्दुर्दयं मनश्चेतस्संज्ञानम्" इत्यादिश्रुत्यन्तरात् ।
सामिमानो हि सर्वः प्राणिस्वव्यवहारः । अभिमानहेतुं च मरकतमणिदृष्टान्तेनावोचाम ।

'यद्यप्येवमेतत्तथाऽपि जाग्रद्विषये सर्वकरणागोचरत्वादात्मज्योतिषो 'बुद्ध्यादि-

'तर्हि बाह्यज्योति सद्भाववस्थायामात्मिकविकारमात्मज्योतिरित्याशङ्क्याऽऽह—यदाऽपीति ।
ष्यतिरेकमुखेनो(णो)त्तमर्थमन्वयधुत्सेन कथयति—प्रात्मज्योतिरिति । आत्मज्योतिषः स्वार्थानुप्राह-
कत्वे "प्रमाणमाह—यदेतदिति । सर्वम"स्त.करणमिति "प्रज्ञानेप्रमित्यंतरेषुकेः श्रवणाद्युक्तमात्मज्योतिषः
सर्वानुप्राहकत्वमित्यर्थं । किंचाचेतनानां कार्यकरणानां चेतनत्वप्रसिद्धधनुपपत्त्या सदा चिदात्मव्य-
तिरेक्येत्याह—सामिमानो हीति । कथमसंज्ञस्य प्रतीच' सर्वत्र बुद्ध्यादावहमान इत्याशङ्क्याऽऽह—
पमिमानेति ।

वृत्तमनुद्योत्तरवाक्यमवतारयति—यद्यपीति । "यद्योक्तमपि प्रत्यग्ज्योतिर्जागरिते दर्शयितुम-
शक्यमिति श्रुतिः स्वप्नं प्रस्तौतीत्यर्थः" । अशक्यत्वे हेतुद्वयमाह—सर्वेति । स्वप्ने "निरकृष्टं ज्योतिरिति

जिस समय बाह्य इन्द्रियो की अनुप्राहक आदित्यादि ज्योतिषो का सद्भाव रहता है, उस समय भी
प्रादित्यादि ज्योतिषां अन्येषोपत्व और कार्यकारणसंघात अचेतन से भावप्रधान स्वार्थ असभव होने से
अनन्यशेष स्वार्थज्योति प्रात्मा के अनुग्रह के बिना यह कार्यकरणसंघात व्यवहार प्रवृत्ति के लिये
समर्थ नहीं होता क्योंकि समस्त व्यव्यवहार सर्वदा आत्मज्योति के अनुग्रह से ही होता है । "जो यह
प्रसिद्ध निश्चयात्मिका बुद्धि और सकल्पात्मक मन है; वह अन्तःकरण वृत्तिविशेष सज्ञान है" ऐसा
अन्य श्रुति में भी प्रतिपादित किया है । प्राणियों का यह सब व्यवहार अभिमानपूर्वक होता है ।
मरकतमणि के दृष्टान्त से हम कह आये हैं कि प्रात्मा का चिदाभासत्व सर्वत्र अभिमान का हेतु है ।

यद्यपि प्रत्यक्ज्याति सर्वविभासरूप से व्याख्यात है; तथापि जाग्रदवस्था में आत्मज्योति
समस्त इन्द्रियो की प्रविषय तथा बुद्धि आदि बाह्य और आन्तर शरीर एवं इन्द्रिय के व्यापार

१. सद्भाव इति जागरे भावाद् सत्त्वेऽपि जाह्यादव्यवहारज्योतिरभावे स्वसत्त्वायापि सत्तात् दूरे प्रकाशयितुमिति
भावः । २. अन्येषोपत्वात् । ३. भावप्रधान । ४. अनन्यशेषेति भावत् । ५. यदेतदिति । यदेतदप्रसिद्ध
हृदय निवचयार्थिका बुद्धि मनश्च सकल्पात्मात्मक सद्बुद्धयमन्त करण तस्य वृत्तिविशेषो संज्ञानादयः । एतदुक्त-
संज्ञानमन्त करण वृत्तिरूपेण परिणत सत् संज्ञानविक्षानमित्यादिष्ववशिष्टत इत्यर्थः । ६. अभिमानहेतुम्—
आत्मनिविचक्षाभास सर्वत्राभिमानहेतुम् । ७. एवमेतदिति । एतत्प्रत्यक्ज्योतिः । एवम्—सर्वविभासरूपत्वेन
प्रव्यासत् । श्रुतिस्मृतिप्रमितमिति भावत् । ८. बुद्ध्यादीति—आदिना शरीरमनश्चक्षुरादयो विषया मोहा-
दयश्च गृह्यन्ते तद्व्यापारसंक्रयव्यापारवादित्यर्थः । ९. बाह्यज्योतिषां प्रत्यस्तमेव आत्मज्योतिष करणानु-
प्राहकत्वाऽनुपपत्तेः । १०. ध्यानतरसवादम् । ११. अन्तःकरणमिति—आदिना तत्रोक्त दिग्दृश्यमिति स्वाववादात्
अव्यवहार गृह्यते । १२. प्रज्ञा ब्रह्म नेत्र धराप्रापक इत्ये उदिशयर्थः । १३. सर्वविभासरूपमिति । १४.
बुद्ध्यादावसंक्रयम् ।

बाह्याभ्यन्तरकार्यकरणव्यापारसंनिपातव्याकुलत्वान्न शक्यते तज्ज्योतिरात्माख्यं मुञ्जेयी-
कावन्निष्कृष्य दर्शयितुमित्यतः स्वप्ने दिवर्शयिषुः प्रक्रमते—स समानः सन्नुमो लोकावनु-
संचरति । यः पुरुषः स्वयमेव ज्योतिरात्मा स समानः सदृशः सत् । केन । 'प्रकृतत्वा-
स्तंनिहितत्वाच्च हृदयेन । हृदीति हृच्छब्दवाच्या बुद्धिः प्रकृता संनिहिता च । तस्मात्त-
पैष सामान्यम् ।

किं पुनः सामान्यम'श्वमहिषयद्विवेकतो'ऽनुपलब्धिः । अथमास्या बुद्धिरवभासकं

शेषः । महशः सधनुसंचरतीति संबन्धः । सादृश्यस्य प्रतियोगिसापेक्षत्वमपेक्ष्य पृच्छति—केनेति ।
उत्तरम्—प्रकृतत्वादिति । प्राणानामपि तुल्यं 'तविति चेत्त्राऽऽह—संनिहितत्वाच्चेति । हेतुद्वयं
साधयति—हृदीत्यादिना । प्रकृतत्वादिकलमाह—तस्मादिति ।

सामान्यं प्रश्नपूर्वकं विशदयति—किं पुनरित्यादिना । विवेकतोऽनुपलब्धिष्यक्ती कर्तुं

समूह से व्याकुल होने के कारण वह धारमसंज्ञकज्योति मूँज से सोक के समान निकालकर पृथक्
नही की जा सकती । इसलिये उसे स्वप्न में दिखाने की इच्छा से श्रुति कहती है—वह पुरुष समान रूप
से दोनो लोको मे संचार करता है अर्थात् वह पुरुष स्वयज्योतिस्वरूप आत्मा है, वह "समानः" अर्थात्
सदृश रहकर संचरण करता है । किसके साथ रहकर ? प्रकरणस्थ समीपवर्ती होने के कारण हृदय के
सदृश रहकर । 'हृदि' इस शब्द से 'हृदय' शब्दवाच्य बुद्धि ही प्रकरणस्थ है, वही समीप में रहती है ।
प्रतः उक्त हेतुद्वय से उसका बुद्धि से सादृश्य है ।

वह सादृश्य किस प्रकार का है ? अथ और भैसे के समान उनका अलग-अलग अनुभव न होना

१. प्रकरणं प्रमाणयति—प्रेति । संनिधिं तथापयति—यमिति । सघोरितिश्रुति समुच्चेतु चः । २. तस्माद्-
हेतुद्वयात् । तथा बुद्ध्या । सामान्यं—सादृश्यम् । ३. उत्तरमाह—अथेति । ४. अननुभवः भाविर्त्त-
सादात्म्यमिति यावत् । ५. तत्—प्रकृतत्वम् ।

किं पुनरित्यादि सर्वत्रय इति चात एव वदपतीत्यन्तमाद्ये भातिकाचार्यास्तथाहि—“किं पुनः स्यात्समानत्व-
मारमबुद्ध्यादिवस्तुनोः । विवेकतोऽनुपमनो वषाद्गोरगवत्तपोः ॥ यत्तत्तयोः समानत्वं रज्जुसर्पादिवन्मतम् ।
आत्माविद्यैव सवन्वस्तस्मादात्मन इष्यते ॥ अकारकत्वभावस्य परमाभासकत्वस्तुनः । अविद्याकल्पितं स्यात्सगतित्वा-
द्येऽसितादिवत् ॥ कूटस्थ्यात्मचिदाभेदस्य प्रत्यग्भावान्ते हि सद्भूतैः । विषयान्तं संबेद्भास्तिः सामानाधिकरण्यतः ॥
विकारिणः प्रकाशस्य नीलरक्तादिसगतेः । नीलादिविक्रिया युक्ता परिणामस्य न त्वष्टी ॥ परिणामो हि
मोहादेश्चिदाभासः सदेव्यते । परिणामान्तरप्राप्तिस्तस्यापीति न युज्यते ॥ सुखिद्विषयसिद्धत्वं दुःखित्वं
स्यात्तथा सति । सुखाद्यनुगमात्तस्य अतिरेकः सुदुर्लभः ॥ तत्रैव स्याद्विक्रियां दुःखी साधिता का विकारिणः ।
वीविक्रियासिद्धाणां सादृशतोऽहमविक्रियाः ॥ परिणाम्यात्मनोऽप्येव कूटस्थ्यावतेरिव । न युक्तः परिणामोऽयं
लौकिकस्यापि नेष्यते ॥ बीत्वात्तेऽद्रिपसघाते चिदाभासकत्वमेव । सवैतनिकरव सयात् आत्माऽविद्यावशादतः”
॥ ३८६-३८८ ॥ इति । कार्यकारणान्यामभयमात्मनः समानतेत्यप्युक्तं तयोस्तत्त्व च आद्यथाऽऽद्याभ्यां विरोधा-
दिति मत्वाऽह—किमिति ॥ अथमहिषयदित्यादिमाद्येष्वोत्तरमाह—विवेकश्च इति ॥ उक्तसमानत्वस्य मिथ्या-
त्वमाह—यत्तदिति । मिथ्यात्वे फलितमाह—आत्मेति । अनात्मनेति शेषः ॥ कल्पिता तयोः सवतिरित्येत-
ददृष्टान्तेन साधयति—अकारकेति ॥ तस्यास्तथात्वेऽपि प्रतीचो बुद्धपादिसमानत्वं कर्षं कल्पितं स्याऽह

तवात्मज्योतिरालोकवत् । प्रवभास्याथभासकयोर्विवेकतोऽनुपलब्धिः प्रसिद्धा । विशुद्धस्वा-
द्वधालोकोऽवभास्येन सहशो भवति । यथा रक्तमवभासयन् रक्तसहशो रक्ताकारो भवति ।
यथा हरितं नील लोहितं चावभासयन्नालोकस्तत्समानो भवति । तथा बुद्धिमवभासय-
न्बुद्धिद्वारेण कृत्स्नं क्षेत्रमवभासयतीत्युक्तं मरकतमणिनिर्वाणनेन । तेन सर्वेण समानो
बुद्धिसामान्यद्वारेण । सर्वमय इति चात एव चक्षयति ।

बुद्धिज्योतिषो स्वरूपमाह—प्रवभास्येति । प्रवभासकत्वे हृष्टान्तमाह—प्रालोकवदिति । 'तयाऽपि
कथं विवेकतोऽनुपलब्धस्तत्राऽऽह—प्रवभास्येति । प्रसिद्धिमेव प्रकटयति—विशुद्धत्वादीति । 'उक्त-
मयं हृष्टान्तेन बुद्ध्यावारोपयति—यथेत्यादिना । हृष्टान्तगतमयं वाट्टान्तिके योजयति—त्यथेति ।
पुनरुक्तिपरिहरति—इत्युक्तमिति । सर्वावभासकत्वे कथं बुद्धयं साम्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तेनेति ।
सर्वावभासकत्वं तच्छब्दाद्यर्थः । किमयं 'तद्दि बुद्ध्या सामान्यमुक्तमित्याशङ्क्य द्वारस्थेनेत्याह—बुद्धीति ।
आत्मन सर्वेण समानत्वे वाक्यशेषमनुकूलयति—सर्वमय इति चेति ।

बुद्धिप्रकाश्य है और प्रकाश के समान आत्मज्योति प्रकाशक है, प्रकाश्य और प्रकाशक का अलग अलग
अनुभव न होना प्रसिद्ध ही है, विशुद्ध हान के कारण क्योंकि प्रालोक प्रकाश्य के समान हो जाता है,
जिस प्रकार रक्त वस्तु को प्रकाशित करते समय वह रक्तवर्ण के समान रक्ताकार हो जाता है । एव हरि,
नीले और लोहित पदार्थों को प्रकाशित करते समय वह प्रालोक उन्ही रंगो व समान हो जाता है । इसी
प्रकार बुद्धि को प्रकाशित करते समय वह बुद्धि व द्वारा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है; ऐसा

१. हरितमित्यादि । चरत्तः एमुच्चय । तथा च त्रितयमवभासद-युगपरिचयतयाचरो भवतीति न लोहितम
पुनरुक्तिः । २ उक्तस्मारणे न पुनर्धत्तिरिति भावः । ३ साहचर्यद्वारणति भावः । ४ सर्वसमत्वादेव ।
- १ नू० उ० ५।५।१ । २ लघोरवभासावभासकत्वोऽपि । ३ आनोकस्यावभाससाहचर्यम् । ४ तद्दि—
सर्वावभासकत्वेन सर्वसमत्वे ।

—कृतमिति । स्वाशाने सामाने निमित्तं प्रतीचस्तस्कार्यं मनुष्योऽहमित्यादिज्ञानानाविकरण्यात्तादात्म्यभातिस्त-
युक्तं समानत्वस्य निष्पत्तात्त्यथ ॥ आदित्याद्यानोकस्य नीलादिदिग्गे तत्प्रकारविकारबदाहत्मज्योतिषोऽपि
बुद्ध्यादिद्योगे विकारित्वं ज्योतिषतवाविकारोपित्याशङ्क्याऽऽह—विकारिण इति ॥ कथमपरिणामत्वमारमनो
बुद्ध्यादिनिष्पत्त्येव तत्राऽऽह—परिणामी इति । अविद्याया बुद्ध्यादेवच परिणामस्य सदा चिदात्मप्रकाश्य-
त्वात्तस्य परिणामविशेषप्रान्तिरयुक्ता साक्षिण साध्यत्वानुपपत्तेस्तदसौ कूटस्थ एवेत्यर्थः ॥ रूपप्रकाशकस्यापि
सर्वत्र रूपवत्परिणामसाक्षिणोऽपि परिणामित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—सुखीति । दौस्थ्ये हेतु—त्यथेति ।
दु सित्वादी सति तस्मात्परिणामन साध्यादनु-खादेर्मेदो दुर्जानो न चैकत्वे तद्द्रावो विरोधाद्दृष्टान्तस्तु प्रायश्चरवा-
विशदो न चात्र विक्रियावत्त्वे मानं सद्युक्तमविक्रियत्वमित्यर्थः ॥ अविक्रियत्वेऽपि कुतो न दुःखादिमत्त्व तत्राऽऽह
—नेति । विक्रियावत्त्वे दोषमाह—साक्षिणेति । साक्षी चेतित्यादि श्रुतिमाहित्य फलितमाह—धीविक्रियेति ॥
मानुषदामन सक्रियत्वमाशङ्क्याऽऽह—परिणामीति । इन्द्रत्वत्वात्पयोवमात्ता परिणामीत्यनुमानात्कुत साध्य-
वैकल्य तत्राऽऽह—सौविक्रियेति । न हि तत्राभूतस्य परिणामस्तथाभावविरोधान्प्रान्त्यभूतस्यानवस्थितेस्तथा-
च सौरीदिपरिणामोऽपि प्रायानिको न भवतीति भावः ॥ समानत्व निगमयति—धीत्वातेति । अस्तुत
समानत्वायोगोऽत शब्दाद्यर्थः ॥

तेनासौ' कुतश्चित्प्रथिमज्य मुञ्जेधीकावत्स्वेन ज्योतीरूपेण दर्शयितुं न शक्यत इति' सर्वव्यापारं तत्राध्यारोप्य नामरूपगतं ज्योतिर्धर्मं च नामरूपयोर्नामरूपे चाऽऽत्म-ज्योतिषि सर्वो लोको मोमुह्यतेऽयमात्मा नायमात्मैवंधर्मा नैवंधर्मा कर्ताऽकर्ता शुद्धोऽशुद्धो चद्धो मुक्तः स्थितो गत प्रागतोऽस्ति नास्तीत्यादिविकल्पः । 'प्रतः समानः सन्तुमौ लोको प्रतिपन्नप्रतिपत्तव्याविहलोकपरलोका' धुपात्तदेहेन्द्रियादिसंघातत्यागान्योपादानसंतानप्रबन्ध-शतसंनिपातैरनुक्रमेण संचरति । 'घोसादृश्यमेवोनयलोकसंचरणहेतुर्न' स्वत इति ।

॥ तत्र नामरूपोपाधिसादृश्यं भ्रान्तिनिमित्तं यत्तदेव "हेतुर्न स्वत" इत्ये"तदुच्यते ।

वाक्यशेषमिदं 'स्य लोकाभ्रान्तेगंमकत्वमाह—तेनेति । सर्वमयत्वेनेति यावत् । आत्मानात्मनो-विवेकदर्शनस्याशक्यत्वे" परस्परार्थ्यासत्तद्वर्माध्यासश्च स्या"त्तत्र लोकानां मोहो भवेदित्याह—इति सर्वेति । धर्मविषयं "मोहमभिनयति—अयमिति । धर्मविषयं मोहं दर्शयति—एवंधर्मति । "तदेव स्फुटयति—कर्तृत्यादिना । विकल्पः सर्वो लोको मोमुह्यत इति संबन्धः । स समानः सप्रित्यस्यायंमुक्त्वा-ज्वशिष्टं भाग व्याकरोति—प्रत इत्यादिना ।

आत्मनः स्वाभाविकमुभयलोकसंचरणमित्याशङ्क्यानन्तरवाक्यमादत्ते—तत्रेति । आत्मा

मरुक्त मणि के च्छान्त द्वारा पहले ही कह चुके हैं । इसलिए बुद्धि के सादृश्य के द्वारा वह सबके समान हो जाता है । सर्वसादृश्य होने से वह सर्वमय हो जाता है—ऐसा श्रुति आगे कहेगी ।

इसलिये आत्मा को मूँज से सीक के समान बुद्धि आदि किसी भी अनात्मवस्तु से अलग करके अपने ज्योतिःस्वरूप से नहीं दिखलाया जा सकता । इस कारण से नामरूप के सारे व्यापारों का; नामरूपगत ज्योतिर्धर्म का तथा आत्मज्योति में नामरूप का अध्यास करके सम्पूर्ण लोक "यह आत्मा है, यह आत्मा नहीं है; आत्मा ऐसे धर्म वाला है, आत्मा ऐसे धर्म वाला नहीं है; कर्ता है, प्रकर्ता है; शुद्ध है, अशुद्ध है; बद्ध है, मुक्त है; स्थित है, गत है, आयत है, सत् है और असद्रूप है" इत्यादि विकल्पों से पुनः पुनः प्रतिशय मोहित हो रहा है । इसलिये (अविद्याजनित भ्रान्ति से) यह समान रहकर प्राप्त बृहलोक और अप्राप्त परलोक, इन दोनों लोकों में (सनिपात और पतन द्वारा) प्राप्त देहेन्द्रियसंघात के ग्रहण की परम्परा से निरन्तर सैकड़ों संनिपातों के क्रम से संचरण करता रहता है । आभास द्वारा बुद्धितादात्म्य ही उसके दोनो लोकों में संचरण का हेतु है, संचरण के प्रति स्वयं हेतु नहीं है ।

यहाँ जो भ्रान्तिजनित नामरूपोपाधि की सदृशता है, वही संचरण मे हेतु है, स्वतः संचरण नहीं करता, ऐसा ('ध्यायतीव' आदि श्रुतिवाक्यों से) कहा जाता है । क्योंकि वह समान रहकर क्रमशः

१. आत्मा । २. बुद्ध्याद्यनात्मनः । ३. हेतोः । ४. आत्मज्योतिरचानात्मनामरूपयोरिति चार्थः । ५. स्वतः—आविद्यकभ्रान्तिवशात् । ६. प्राप्तप्राप्तयो । ७. क्रमसंचरणमेव प्रपञ्चयति—उपात्तेत्यादिना । शतेषु संनिपाताः पतनानि तैः । ८. आभासद्वारा घेतादात्म्यमेव । ९. स्वतःसंचरणं प्रवीच इति शेषः । १०. संचरणे । ११. संचरणम् । १२. उच्यत इति—ध्यायतीवेत्यादिवाक्येनेति शेषः । १३. सति । १४. उभयाभ्यासात् । १५. सदेहमिति यावत् । १६. उक्तमोद् ।

क्षेत्र नामरूपोपाधिसादृश्यमित्यादि न तु परपार्थतदचनमधर्मक सादात्मज्योतिरित्यन्त्याभ्याये वादिकापार्श्वतयाहि
"बसंधवः स्वतो यस्मात्तदबोधान्च संभवा । क्रियाकारकरूपस्य तस्माच्छ्रुत्याधीधीयते ॥ त्रियाकाररूपस्य

'यस्मात्स समानः सन्तुभौ लोकावनुक्रमेण संचरति तदेतत्प्रत्यक्षमित्ये'तद्दृशयति—यतो
ध्यायतीव ध्यानव्यापारं करोतीव चिन्तयतीव ध्यानव्यापारवर्ती बुद्धिः स तत्स्थेन
चित्स्वभावज्योतीरूपेणावभासयंस्तत्सदृशस्तत्समानः सन्ध्यायतीवाऽऽलोकवदेव । श्रुतो

सप्रत्ययः । यतःशब्दो वक्ष्यमाणातःशब्देन संघटयते । अक्षरोत्यमयंमुच्यते वाच्यार्थमाह—ध्यानेति ।
ध्यानवर्ती बुद्धिः ध्यान्तश्चिदात्मा ध्यायतीवेत्यत्र दृष्टान्तमाह—भ्रालोकवदिति । यथा खल्वालोको
नीलं पीतं वा विषयं व्यग्रनुधानस्तदाकारो हृद्यते तथाऽयमपि ध्यानवर्ती बुद्धिः भासयन्ध्यानवानिव
भवतीत्यर्थः । यथोक्तबुद्धयवभासकत्वमुच्यते हेतुमनुद्य फलितमाह—भ्रत इति । इवशब्दार्थं कथयति—

दोनो लोको मे संचरण करता है, यह भ्रस्वाभाविक संचरण प्रत्यक्ष ही है, उसी को श्रुतिवाक्य द्वारा
दिखाया जाता है—क्योंकि "ध्यायतीव" भ्रयति मानो ध्यान व्यापार करता है, यानी चिन्तन करता हुआ
सा है । वह भ्रालोक के समान ही अपने चित्स्वभाव ज्योतिरूप से भ्रवभासित करता हुआ उसीके सदृश
यह समान होकर बुद्धि को ध्यानव्यापारवती करके उससे ध्यान्त होकर मानो ध्यान करता है । इधी

१ अनेनेनुच्यत इति कुनस्तत्राऽह—भ्रमादिति । यस्मादेनदृशयतीत्यन्वयः । २ तत्—समानवाक्योक्तम् ।
एतद्—अध्याभाविकं संचरणम् । ३ वाक्यम् । ४ तद्व्यापत्तेन । ५ यथोक्तबुद्धयवभासकत्वात् ।

मिध्यात्वं प्रत्यगात्मनि । ध्यायतीस्वादिवाक्येन प्रत्यक्षोदस्थयवित्तये । ध्यायतीव स कोटध्यायत्वात्तेनावतीव
व । ध्यानादिवारिखाशित्वाप्राऽऽत्मा ध्यानादिकार्यवान् ॥ त्रि.शेषबुद्धिबुद्धीनां ध्यानं स्वादुपलक्षणम् । लेखायनं
क्रियाणां च सर्वसामुपलक्षणम् ॥ ध्याताः ध्यानं तथा ध्येयं च स्वार्थैकसाक्षिकम् । करणं कर्म कर्ता च नातो
ध्यानादिसाक्षिणि । बोद्धुः कर्तृश्च संबन्धो ज्ञानेन क्रियया यथा । कूटस्थसाक्षिष्वन्धो बोद्धुःकर्त्तृत्वैव च ॥
सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वात्कूटस्थैकचित्तात्मनः । अतोऽध्यानभिसंबन्धः सर्वप्रत्यक्त्वहेतुतः ॥ एकनीदृत्वहेतूपा साक्षिणः
साक्ष्यसगतिः । न तु मोहोत्यचिदबिम्बहेतुबुलभयेक्षया ॥ कूटस्थारभेकहेतूत्यचिदबिम्बो मोहूगस्तु यः । स्वाभावा-
नानुरोधित्वात्नेचिद्वारास्य सगतिः ॥ त्रिदाभासाद्यप्यभानात्कार्यसगतिहेतुतः । स्वाभासान्तः परोऽध्यायता
ध्यायतीवेति बोध्यते ॥ प्रत्यक्षमोहैकमात्रेण ध्यानलेलायनादिकम् । तन्मिध्यात्प्रतिपत्त्यर्थमिवेति व्यपदिश्यते ॥
ध्यानयान यथाऽज्ञानाच्छरणभूयश्चक्षयति । क्रियाकारकवदुद्धि तथा तत्साक्षिणीते ॥ धर्मधर्म्यभिसंबन्धाव्या
मोहैकस्रयात् । अस्युन्नपि नीलं समिति संभावयेत्तथा ॥ आत्मप्रत्ययगन्धेऽप्यं निष्क्रियेऽकारकेऽफले ।
क्रियाकारकवद्वस्तु संभावयति तत्रब्रह्मः ॥ तस्मात्संभावनामानः ससारः प्रत्यगात्मनि । अनेऽर्थे संशयश्चेत्त्या-
प्रत्यारदृष्ट्या समीदयताम् ॥ आत्ममात्रावसायित्वाभानात्कार्यस्पृगीक्ष्यते । आत्मधीरात्मसंबन्धो नातोऽज्ञानम
ईक्ष्यते ॥ ४०७-४२२ ॥ ध्यायतीवेत्वादिवाक्यमादत्ते—असम्भ इति ॥ तन्मिध्यात्वोक्तैरुपयोगमाह—
प्रत्यगिति ॥ अत्रातरितवाक्यस्वाधाराणि ध्याचष्टे—ध्यायतीवेति । सातादेवात्य ध्यानादिमत्त्वं किं न स्यात्तत्राऽह
—कोटस्थयविति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—ध्यानादीति ॥ अस्तु ध्यानमात्रमन्धोपाधिर्षं तथाऽपि दर्शनादि स्वा-
भाविकं पञ्चमे दृष्ट्यादिव्वाभाव्यस्योपदिष्टरवादत् आह—नि शेषेति । संतन्म्यात्रमन्धेव स्वाभाव्यं तत्रोक्तमिति
भावः ॥ चलनस्योपाधिकत्वेऽपि चलनदीनोपानोपाधिकत्वं चदन्वागित्यादिश्रुतेरित्यावाङ्मुपाऽऽह—लेलायनमिति ।
न हि तत्र तत्तत्क्रियास्वाभाव्यमभिमत्तं तत्तत्साक्षिणत्वेन बाणादित्योपचारादिति भावः ॥ तथाऽपि ध्यायतीवदि
वस्तुतोऽस्तोऽप्यावाङ्मुपाऽऽह—ध्यायतीति । चकारेण स्वार्थैकसाक्षिकमित्यायुक्त्यते । तत्साक्षिणत्वेन तादस्थयमत्-
पच्यते ॥ ध्यायतीवेति साक्षिवेद्यार्थं तदसंबन्धत्वात्तद्वस्तवत्.सिद्धत्वसिद्धेरित्यावाङ्मुपाऽऽह—बोद्धुरिति । जघदीत्येयो ।

भवति चिन्तयतीति भ्रान्तिर्लोकस्य । न तु परमार्थतो ध्यायति । तथा लेलायतीवात्यर्थं चलतीव । तेष्वेव करणेषु बुद्ध्यादिव्यु चलयुषु च चलत्सु तदवभासकत्वात्तत्सदृशं तदिति 'लेलायतीव । न तु परमार्थतश्चलनधर्मकं तद्भात्मज्योतिः ।

कथं पुनरेतदवगम्यते 'तत्समानत्वभ्रान्तिरेवोभयलोकसंचरणादिहेतुर्न स्वत

न त्विति । बुद्धिधर्माणामात्मन्योपाधिकत्वेन मिथ्यात्वबुद्धत्वा प्राणधर्माणामपि तत्र तयात्व कथयति— तथेति । आत्मनि चलनस्योपाधिकत्वं साधयति—तेष्विति । इवशब्दसामर्थ्यसिद्धमयंमाह—न त्विति ।

स हीत्याद्यन्तरवाक्यमाकाङ्क्षाद्वारोत्यापयति—कथमित्यादिना । तच्छब्दो बुद्धिविषयः ।

से (बुद्धि के प्रवभासक होने के कारण)लोकव्यवहार में ऐसी भ्रान्ति होती है कि वह चिन्तन करता है । तत्त्वत वह नि शेषधीवृत्ति से अधिक ध्यान नहीं करता । इसी तरह "लेलायतीव" प्रयात् अधिक चलता हुआ मा है, उन बुद्धि आदि इन्द्रियों के और वायु आदि के चलने पर उनका प्रकाशक होने के कारण वह आत्मज्योति के समान जान पड़ता है, इसी से अधिक चसता है । तत्त्वत वह आत्मज्योति चलनरूप धर्म वाली नहीं है ।

किन्तु ऐसा कैसे जाना जाता है कि घीतादारम्य अध्यास ही आत्मा के दोनो लोको में सचरण

१ ध्यायतीति । ध्यानमत्र नि शेषधीवृत्तीनामुपलक्षणम् । तत्र दशनाद्यपि न तत्र तत्त्वत इति बोध्यम् । २ भात्मज्योतिः । ३ लेलायतीवेति—लेलायन च सर्वासां त्रिधागामुपलक्षणं तेन बदनाद्यपि तत्रोपचारिकमेवेति ज्येयम् । ४ घीतादारम्याध्यास एव ।

साक्षात्तया कल्पितसद्व्यासदृष्टतेत्यर्थः ॥ ध्यानादे साक्षिणा सर्वध्वे तस्यापि स तत्र स्यात्त च तस्य कल्पितत्वे हेतुरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वध्वेति । यद्यपि कृतस्थोऽद्वयश्चिदात्मा सर्वप्रत्यगरामा तथाऽपि किमिदस्य न सबन्धस्तत्राऽह—सर्वेति । सबन्धस्य द्विष्टत्वादेकत्रायोगादिति भावः ॥ यास्तवसद्व्याभावे कथं साक्षित्वं तत्राऽह—एकेति । एकस्मिन्कृतस्थे चेत्ये स्थितस्त्वमज्ञानादिहाद्यस्याऽऽभासस्य चारितं तदन्तश्च साक्षी तस्यादेकाश्रयत्वात्सगतमृक्ता साक्षितेत्यर्थः । विधान्तरेण सबन्ध धुनीत—न त्विति । ब्रह्मानन्दतश्चिदाभासतस्य हेतुश्चेत्यर्थं तत्स्वरूपपेक्षया न साक्षित्वं निवृत्तिविद्याऽऽज्योत्सवेतन्यामासाऽनुवृत्तेत्यर्थः ॥ किंचाऽऽभासस्यापि वस्तुतो न केनचिद्योगं किमु चेतन्यस्यातोऽविद्योत्सगतरेव साक्षितेत्याह—कृतस्थेति । स्तोपादानं कृतस्थमसङ्गमात्मनस्तु तदनुरोधित्वादिति यावत् ॥ ध्यातृत्वादे, साक्षिणि वस्तुतोऽसत्त्वमुक्त्वा ध्यायतिभावार्थमनुबधति—विद्यामासेति । तदाश्रयादज्ञानाकार्यं प्रपञ्चेन साक्षिणं सवन्धात्परोऽप्यात्मा स्वासात्तविशिष्टो ध्यायतीव लेलायतीवेति प्रतीतो भवतीत्यर्थः ॥ इवशब्दार्थमाह—प्रवृद्धादिति । इवशब्दोद्वेति तन्मिथ्यात्वं हृष्टान्तेन स्पष्टयति—अत्रेति । ब्रह्मानादिति च्छेदः ॥ चन्द्रमस स्वतोऽपि यति सन्नवति प्रतीचो नैवमिति मन्वानो हृष्टान्जान्तर्याह—धर्मेति । दाष्टान्तिकमाह—तथेति । इवशब्दार्थमुपसहृति—तस्मादिति । वस्तुतः सत्तारतस्यार्थात्तमवस्तुत्वात्तः ॥ तत्र विद्वदनुभव प्रमाणयति—उक्त इति ॥ ननु प्रत्यग्दृष्टिरपि सत्तार प्रतीचो गोचरयति पुण्यं दुःखद्विमिति प्रतीतस्तत्कुनोऽप्यसाक्षित्वं तत्राऽह—आसेति । ननु साऽऽज्यमात्मनवगाहयानाऽपि तसिष्ट सुखादि मात्तं येषां कवेनावगाहते घटदृष्टिरिव तसिष्टिष्ट रूपं तत्राऽह—आत्मसद्वय इति । न हि केवलमात्मानं स्पृशन्ती घोरर्षान्तरं स्पष्टदृष्टीष्टे तद्वीक्ष्यमावाताद्यं चाऽऽत्मनि दुःखादियोगे क्वंचित् घटदृष्टस्तु विशिष्टमेव विषयो कुरतीति वैधर्म्यमिति भावः ॥

इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय हेतुरूपदिश्यते—^१म आत्मा हि यस्मात्स्वप्नो भूत्वा । स यथा धिया 'समानः सा धी'यं च द्रुवति तत्तदसावपि भवतीत्यस्माच्छास्त्री स्वप्नो भवति स्वापवृत्ति प्रतिपद्यते धीस्तदा सोऽपि स्वप्नवृत्ति प्रतिपद्यते । यदा धीर्जागरिपति तदाऽसावप्यत आह—स्वप्नो भूत्वा स्वप्नप्रवृत्तिमवभांसयन्धियः स्वापवृत्त्याकारो भूत्वेम लोकं जागरितव्यवहारलक्षण कार्यंकरणसंघातात्मकं लौकिकशास्त्रीयव्यवहारारूपदमतिप्राम- त्यतीत्य 'कामति' विधियतेन स्वेनाऽऽत्मज्योतिषा स्वप्नात्मिकां धीवृत्तिमवभांसयन्भव- तिच्छते 'यस्मात्तस्मात्स्वयज्योतिःस्वभाव एवासी विद्युदः सन्कट्टं क्रियाकारकफलशून्यः परमार्थतो 'धीसाहृदयमेव तूभयलोकसंचारादिसंघ्यवहारभ्रान्तिहेतुः । मृत्यो रूपाणि

मंचरणादीत्यादिशब्दो घणानां^२दिश्यापारसप्रहायं । स्वप्नो भूत्वा लोकमतिप्रामतीनि संघः । कथमात्मा स्वप्नो भवति तत्राऽह—स यथेति । उक्तेऽर्थे धावयमयतार्थं ध्याकरोति—प्रत प्राहेति । उक्त हेतुमनूय फलितमाह—यस्मादित्यादिना । कार्यंकरणातीतत्वात्प्रत्यगात्पनो न स्वतः संसारित्व-

का हेतु है, तस्कायंसाक्षी होने से वह स्वतः नहीं करता । इस प्रथं के प्रतिपादन क लिये कारण बतलाया जाता है । जिसको अनुमानो के द्वारा स्वयज्योति देखा गया है, वह आत्मा ही स्वप्न होकर, जिस बुद्धि से सादात्म्य को प्राप्त है, वह बुद्धि जिस-जिस रूप वाली होती है, वह मानो वही-वही हो जाता है । इसलिये जिस समय वह बुद्धि स्वप्नमय होती है यानी स्वप्नवृत्ति को प्राप्त करती है, तो वह भी स्वप्न- वृत्ति को प्राप्त करता है । जब बुद्धि जागने की इच्छा करती है, तो वह भी जागने की इच्छा करता है । इसलिये श्रुति कहती है—“स्वप्नो भूत्वा” यानी बुद्धि की स्वप्नवृत्ति को प्रकाशित करता हुआ स्वापवृत्त्याकार होकर “इम लोक” यानी जाग्रतव्यवहारलक्षण कार्यंकरणसंघातात्मक लौकिक- धास्त्रीय व्यवहार के स्थान को “मतिप्रामति” यानी पार करके चला जाता है (उम प्रभिमान को छोड़ देता है) । क्योंकि उस समय यह अपने संघातव्यतिरिक्त आत्मज्योति से स्वप्नात्मिका बुद्धिवृत्ति को साक्षी करके भवस्थित रहता है, इसलिये वह स्वयज्योतिस्वभाव वाना ही है । वह विद्युद होकर कट्टं, क्रिया, कारक एव फल से रहित है । तत्त्वतः उसके दोनो लोको मे संचरणादि व्यवहाररूप भ्रान्ति की हेतु बुद्धिसादृश्य ही है । “मृत्यो रूपाणि” यहाँ मृत्यु से काम, बमं प्रौर प्रविद्यादि समभना चाहिये । इसक सिवा उसका स्वत कोई रूप नहीं है । कार्यं प्रौर करण ही इसके रूप हैं । इसलिये कर्म प्रौर फल के प्राश्रयभूत उन मृत्यु के रूपो को वह पार कर जाता है ।

१ तस्कायंसाक्षित्वात् । २ धीनुमाने । स्वयज्योतिरदक्षि । ३ सादात्म्यमात्रम् । ४ यद्यद्भवतीति —यद्यनूप विमर्शित्वर्थम् । ५ दुःख—“बुद्धिजागरणे यत्रजागर्मीत्यदिमन्यते । बुद्धिस्वापेऽपि तस्मात्स्वप्नो भूत्वेति बोद्धवतीति” ॥ ५० ॥ ४४८ ॥ सादय—सादित्वम् । मोहादात्मनि स्वप्नधीरिति फलितमाह—स्वप्न दिति । ६ तदभिमान इत्यति । ७ सघातव्यतिरिक्तेन । ८ धयमेव योगो यदासादित्वमिति नागुद्विः । ९, परमादिति—“जाग्रतलोक यतो हित्वा स्वप्नलोक प्रपद्यते । तस्मात्स्वप्नोऽकतो च स्वयज्योतिरितीत्युक्ताम्” ॥ ४१ ॥ इति भाषिते । १० सादित्वमेवेति । स्वतः सादित्वे चापर भाषित्वात् । स्वभाववय इत्याया- कोणात् तस्वप्नोऽसंसारित्वमिति भावः । १०. भाषिना दर्शनादिव्याहृतम् ।

ॐ मृत्युः कामकर्माविद्यादिने' तस्यान्यद्रूपं स्वतः कार्यकरणान्येवास्य रूपाणि । श्रतस्तानि मृत्यो रूपाण्यतिक्रामति क्रियाफलाश्रयाणि ।

'ननु नास्त्येव धिया समानमन्यद्विद्योऽवभासकमात्मण्योतिः । धीव्यतिरेकेण

मित्याह—मृत्योरिति । रूपाण्यतिक्रामतीति पूर्वस्य संबन्धः । क्रियास्तत्फलानि चाऽऽश्रयो येषां, यानि वा क्रियाणां तत्फलानां चाऽऽश्रयस्तानोति यावत् ।

बुद्धयवभासकं ज्योतिरात्मेत्युक्तं श्रुत्वा 'शाश्वतः शङ्कते—नन्विति । प्रमाणादतिरिक्तात्मोपल-

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु बुद्धि के समान बुद्धिप्रकाशिका तो कोई अन्य ज्योति है नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान से भी बुद्धि से भिन्न उसकी प्राप्ति नहीं होती । जिस प्रकार

१ न तस्येति । 'न हि प्रमाणतो मृत्युः शक्यो दर्शयितुं ततः । रूपाणि मृत्योस्तेन स्युः कार्याणि करणानि च" ॥ ४।३।७ ॥ इति । प्रमाणनिरस्यारं ततः शब्दाद्यैः । मृत्योर्मानसगम्यत्वाद्ये तद्द्रव्यकत्वेन रूपोपगमात् इति फलितमाह—रूपाणीति । २. यतो ब्रह्मा तत्त्वज्जादेवो तान्यतिक्रामति—अतः (तस्मात्) ब्रह्मणो निमंलश्च प्रत्याधातुरिति भावः । ३. आत्मा कृत्स्नत्वदिरूपः सिद्धश्चेत् किमुत्तरप्रदेनेत्याशङ्क्य समहितं वार्तिके—'वसति घुडो घृदयचाऽस्मा स संक इति यस्तिपतम् । अत्यंभाश्रय सादयार्थिं पूर्वपक्ष उदीयते' ॥ ५६ ॥ इति पूर्वपक्षं श्रुत्वा तन्निरासे यथोक्तोऽर्थो दृढो भवति उदुत्तरो ग्रन्थोऽर्थमनिश्चयः । पूर्वपक्षमुद्घाटयति—नन्विति । ४. धोदः ।

ॐ मृत्युः कामेत्यादि क्रियाफलाश्रयाणीत्युक्त्याद्ये वार्तिकार्थास्तथाहि—'आत्मनिर्द्वैव मृत्युः स्थाक्रित्यस्यापि मृतेस्तत् । मृत्युर्वै तम इत्याह श्रुतिरूपत्वमनिर्द्वैवात् ॥ स्वतोमृतस्य मरणं नाविद्यातो यतोऽभ्यत । अविद्या-मात्मनो मृत्युं तस्मादाहाविपरिचयः ॥ प्राणोत्क्रान्तिनिर्देशोक्तिर्मैत आत्मावबोधतः । सम्प्रज्ञातस्य वाधो-त्वंस्तस्मान्मृत्युरिक्तोयंते ॥ रूप्यते यंरतो मृत्युः कार्याणि करणानि च । श्रानि रूपाणि अप्यन्ते मृत्योस्तस्य परात्मनः ॥ विषमस्वं यतः सर्वं प्राणव्यापितकारणम् । तुपाप्रमात्रमपि हि मृत्युः सर्वमिदं ततः ॥ मोढ्यं ब्राह्मणमविद्या स्थाश्रित्यनुदात्मवस्तुना । ज्ञानात्मनि च तद्दृष्ट्येन मृत्युरिति अगत ॥ न हि प्रमाणतो मृत्युः शक्यो दर्शयितुं ततः । रूपाणि मृत्योस्तेन स्युः कार्याणि करणानि च ॥ अतिश्रमति वाग्वात्मा आप्रस्थानाश्रया-श्रयतः । क्रियाफलाश्रयाण्येव तस्माच्छ्रुडो द्रुयश्च सः" ॥ ४३२-४३६ ॥ इति । मृत्यो रूपाण्येत्यत्र मृत्युशब्दा-र्थमाह—आत्मेति । तत्र हेतुमाह—नित्यस्येति । मृतेस्तदभिमानादिति भावः । अविद्याया मृत्युशब्दत्वे श्रुतिमाह—मृत्युरिति । श्रोतेऽर्थं युक्तमुक्तौ स्मारयति—आत्मेति । तत्र शब्दाश्रयाविद्या नित्यसिद्धमप्यवमानं निर्द्वैते प्रमाणं बस्त्वमाहस्य परमात्मैव विच्छेतीति न्यायास्तोऽसौ मृत्युरित्यर्थः ॥ आत्मो मृतिहेतौ मृत्युशब्देऽपि तत्रःशब्दो गुणविधेयवाधोत्पाशङ्क्याऽऽह—स्वत एव । तत्रैव विद्वाश्रितामाह—अविद्यामिति । आत्मानिचैव मृत्युरित्यत्र हेत्वन्तरमाह—प्राणेति । न तस्य प्राणा इत्यकामतीति विदुषो मरणं निषिध्यते । न च सम्बन्धानमज्ञानादन्य-त्रिवर्तयत्यतस्तत्रिवर्षो मृत्युरज्ञानमेवेत्यर्थः ॥ कृशब्दाद्यैर्माह—रूप्यते इति । परात्मनस्तदुपायोः आनासत्या-ज्ञानस्येति यावत् ॥ आत्माविद्या मृत्युस्तस्य रूपाणि कार्यकरणानोरनुवादा सर्वमज्ञानकारं मृत्युरिति प्रकारान्तर-माह—विषमस्वमिति । कर्त्तादिनिष्करोऽवमणश्च विभेत्सुमममयैपाल्योदतोऽभ्यप्रपातादेम्' तित्हेतुत्वमनुभव-सिद्धमिति विश्वकार्यैः ॥ तत्र हेत्वन्तरमाह—मोढ्यमिति । अज्ञानं हि मोढ्यापत्परममि मृत्युरित्युक्तं मोढ्यं जानात्मन्यपि स्वकल्पया दृश्यते तेन शोऽपि मृत्युरित्यर्थः ॥ किमित्येव रूपस्य मृत्यो रूपाणि कार्यकरणान्युच्यन्ते

प्रत्यक्षेण वाऽनुमानेन वाऽनुपलम्भात् । 'यथाऽन्या तत्काल एव द्वितीया धीः । यत्स्वव-
भास्यावभासकयो रभ्यत्वेऽपि 'विवेकानुपलम्भात्सादृश्यमिति' घटाद्यालोकयोः । 'तत्र भवत्व-
न्यत्वेनाऽऽलोकस्योपलम्भाद्घटादेः संश्लिष्टयोः 'सादृश्यं भिन्नयोरेव न च तथेह' घटादेरिव
धिषोऽवभासक ज्योतिरन्तरं प्रत्यक्षेण वाऽनुमानेन धोपलभामहे । धीरेव "हि चित्स्वरूपा-
वभासकत्वेन "स्वाकारा "विषयाकारा च । "तस्मान्नानुमानतो नापि प्रत्यक्षतो धिषोऽव-
भासकं ज्योतिः शक्यते प्रतिपादयितुं व्यतिरिक्तम् ।

यदपि दृष्टान्तरूपमभिहितमवभास्यावभासकयोर्भिन्नयोरेव घटाद्यालोकयोः

द्विरित्याशङ्क्य प्रत्यक्षमनुमानं चेति प्रमाणद्विविधनियममभिप्रेत्य ताभ्यामतिरिक्तास्मानुपलम्भा-
सावरीत्याह—घोध्यतिरेकेणेति । "तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । घटादिरालोकश्चेत्सुभयोन्मिधः संसृष्ट-
योविवेकेनानुपलम्भयदवभास्यावभासकयोर्बुद्ध्यात्मनोर्भेदेऽपि पृथगनुपलम्भादेवमवभासते दस्तुतस्तु
तयोरेवत्यत्वेनेति शाङ्कामनुवदति—यत्त्विति । येयम्यप्रवदनेनोत्तरमाह—तत्रेति । दृष्टान्तः सप्तम्यर्थः ।
घटादेरन्यत्वेनेति संवन्धः । ज्योतिरन्तरं नास्ति चेत्कुतो "प्राह्यप्राह्यसंविस्तिरित्याशङ्क्याऽह—
धीरेवेति । बाह्यायंवादिनोः सौत्रान्तिकत्वेभाषिकयोरेभिप्रायमुपसंहरति—तस्मान्नेति ।

इदानीं विज्ञानवादी बाह्यायंवादिभ्यमनुपपन्नं "दृष्टान्तमनुवदति—यदपीति । बाह्यायंवाद-

की ग्रन्था बुद्धि है, उसी काल में दूसरी बुद्धि की प्राप्ति नहीं होती । धीर जो प्रकाश्य घटादि धीर प्रकाशक
मालोक का भेद होने पर भी सघातव्यतिरिक्त न हो सकने के कारण तादात्म्य है, सो वहाँ मालोक का
भिन्नरूप से प्रत्यक्ष होने के कारण उन दोनों के भिन्न होने पर भी घटादि के साथ मिलने पर तादात्म्य
हो जाता है, किन्तु यहाँ दार्ष्टान्तिक घट के समान प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से भी बुद्धि की प्रकाशक
कोई ज्योति हमें अनुभव नहीं होती, बुद्धि ही अपने चिदात्मकरूप से प्रकाशक होने से प्राह्यकाकार धीर
धीर प्रकाश्यरूप से प्राह्यकाकार हो जाती है । इसलिये बुद्धि की प्रकाशक उससे भिन्न कोई दूसरी ज्योति
न ही अनुमान धीर न ही प्रत्यक्ष से प्रतिपादित की जा सकती है ।

१. यथेत्यादि—यथेतिस्मिन् संज्ञाने पूर्वज्ञानातिरेकेण ज्ञानान्तरं तत्तुल्यकारणं न प्रत्यक्षं तथाऽऽस्मापि धीव्यतिरिक्तो
न प्रत्यक्ष इत्यर्थः । २ मिधो भिन्नत्वेऽपीत्यर्थः । ३ भिन्नत्वेनापरिज्ञानादेक्यभ्रान्तिहेतोः । ४. तादा-
त्म्यम् । ५. द्विती—अनुमानमिति शेषः । तद्यथा बुद्ध्यात्मनो मिधो भिन्नो भास्यभासकत्वाद्घटाद्याऽऽलोक-
विधेति । ६. उक्तानुमानावयवे दृष्टान्ते । ७. प्रायश्चयात् । ८. पञ्चमीयम् । ९. तादात्म्यम् । १०.
दार्ष्टान्तिके । ११. चित्स्वरूपा धीरेवावभासकत्वेन स्वीकारेऽयमर्थः । १२. चिदात्मक यत्स्वव्य रूपं
तदवभासकत्वेनेति यावत् । १३. प्राह्यकाकारा । १४. अवभास्यत्वेन विषयाकारा प्राह्यकाकारा च प्रथत इति
शेषः । १५. च अनुमेयबाह्यायंवादाभिप्रायेण नेयम् । १६. तस्मात् - बुद्धेरेव द्विषामानात् । १७. तत्र—
प्रत्यक्षानुमानयोर्मध्ये धीव्यतिरिक्तउत्सृष्टिसाधकस्य प्रत्यक्षस्याभावे अनुमानाभावे चेत्यपि न गम्यम् । १८.
बुद्ध्यात्मनोर्भास्यभासकयोर्ज्ञानमित्यर्थः । १९. सिद्धाग्नितोत्तम् ।

तत्राऽऽह—न हीति । प्रमाणनिरस्त्रं तत्राऽऽशङ्क्यः । मुख्योभिनगम्यत्वाद्योरे तदगमवशत्वेन रूपोपन्यास इति
फलितमाह—रूपाणीति । प्रकृतं भाववाचंनुपसंहरति—व्यतिक्रामतीति । अतःशङ्को यस्मादर्थः । जापरास्व-
भावेपे यस्मात्तात्पत्रिकामति तस्मात्कूटस्थो निर्ममस्य प्रत्यक्षावुत्तिर्यर्थः ।।

संयुक्तयोः 'सादृश्यमिति । तत्रान्युपगममात्रमस्माभिरवतं न तु तत्र घटाद्यवभास्यावभासको भिन्नो । परमार्थतस्तु घटादिरेवावभासात्मकः 'सालोकः । 'अन्योऽन्यो हि घटादिरूपयते । विज्ञानमात्रमेव सालोकघटादिविषयाकारमवभासते । यदैवं तदा न बाह्यो दृष्टान्तोऽस्ति 'विज्ञानलक्षणमात्रत्वात्सर्वस्य । 'एवं तस्यैव विज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारतामलं परिकल्प्य 'तस्यैव पुन' विशुद्धिं परिकल्पयन्ति । 'तद्ग्राह्यग्राहकविनिर्मुक्तं विज्ञानं स्वच्छीभूतं 'क्षणिकं व्यतिष्ठत इति 'केचित् । 'तस्यापि 'शान्तिं केचिदिच्छन्ति । तदपि विज्ञानं 'सावृत्तं ग्राह्य-

प्रक्रिया न मुगताभिप्रेतेति दूययति—सन्नेति । "उभयत्र दृष्टान्तस्वरूपं सप्तम्यर्थः । ननु घटादेरवभास्यादालोकोऽवभासको भिन्नो लक्ष्यते नेत्याह—परमार्थतस्त्विति । "तस्य स्यादित्वं व्यावर्तयति—अन्योऽन्य इति । प्रतीतिं "विषयप्राधान्यं व्यावर्तयन्तु"क्तमेव व्यनक्ति—विज्ञानमात्रमिति । विज्ञानवादे यथोक्तदृष्टान्तराहित्यं फलतोऽह—यदेति । शिष्यबुद्धचतुसारेण त्रिविधं बुद्धाभिप्रायमुपसंहरति—एवमित्यादिना । परिकल्प्येत्यन्तेन बाह्यार्थं वादमुपसंहृत्य तस्यैवेत्यादिना विज्ञानवादमुपसंजहार । "तत्र विज्ञानवादोपसंहारं विवृणोति—तद्ग्राह्येति । शून्यवादिमतमाह—तस्यापीति । "तदैव स्फुटयति—तदपीति ।

इसके प्रतिरिक्त व्यतिरिक्त और परस्पर संयुक्त प्रकाश्य घटादि और प्रकाशक प्रालोक का जो दृष्टान्तरूप से तात्पर्य प्रतिपादन किया है, उसे भी हमने स्वीकार मात्र करना कहा है । किन्तु वहाँ घट-प्रालोक का प्रकाश्य और प्रकाशक भिन्न नहीं है । तत्त्वतः तो प्रालोक के सहित घटादि ही अवभासकरूप हैं क्योंकि प्रतिक्षण अन्य-अन्य घट उत्पन्न होता रहता है । केवल विज्ञानमात्र ही प्रालोकसहित घटादिरूप विषयाकार में भासित होता रहता है । जब सब कुछ विज्ञानमात्र ही है, तो वस्तुतः बाह्य दृष्टान्त नहीं है क्योंकि सब कुछ विज्ञानमात्र स्वरूप वाला है । (इस पर सिद्धांती कहता है—) सबके विज्ञानमात्र होने पर सर्वाधिष्ठान उभ विज्ञान की ही ग्राह्य-ग्राह्यकारता मल की कल्पना करके सर्वाभिन्न उसीकी पुन. विशुद्धि की कल्पना करते हैं । कुछ विज्ञानवादी ऐसा कहते हैं कि विज्ञानग्राह्य-

१. सादृश्यम्—तादात्म्यम् । २. आदिनाऽऽनौकप्रदः । ३. सालोक इति—नन्वालोकासृष्टस्यापि घटस्य कथमवभासात्मकत्वमिति चेच्छुष्ण घटः सालोको घटः क्षणमात्रमेवावतिष्ठतेऽतस्तथोभेदस्य दुर्बलत्वाद्भेद एवेति ४. प्रतिक्षणम् । ननु सालोको घटः क्षणमात्रवृत्तिश्चेत्तर्हि कथं स्यादित्यधीरिति तथाऽऽह—अन्योऽन्यो ह्येति । अतः स्यादित्यधीरिति तस्यापि घटादेः सादृश्यकालेति शेषः । ५. एवं—विज्ञानमात्रमेव तत्त्वम् । ६. विज्ञानमात्रस्वरूपत्वात् । ७. एवं—सर्वस्य विज्ञानमात्रत्वे सति । ८. तस्यैव—सर्वाधिष्ठानस्यैव । ९. सर्वाभिन्नस्य । १०. विशुद्धिमिति कल्पितस्य ग्राह्यग्राहकक्षणमलस्य विज्ञानमात्रत्वमिति यावत् । अत्र बोद्धव्यमेव घातिकोषं तथाहि—"अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्ययितबुद्धिमिः । ग्राह्यग्राहकस्यचित्तेदवानिव लक्ष्यत इति" ॥ ४७१ ॥ इति । तस्मात्तु वस्तुतो ग्राह्यग्राहकभेदोऽस्तीति शेषः । ११. विज्ञानमिति सवन्धः । १२. सिद्धान्ताद्विशेषमाह—क्षणिकमिति । १३. विज्ञानं क्वादिना । १४. शुद्धस्यापि विज्ञानं क्वादिना । १५. अभावम् । १६. संबन्धितरिचिदात्तत्वाय संबन्धमाविद्यम् । १७. तत्रेति शब्दद्वये । १८. सालोकस्य घटादेः । १९. सालोक इत्युक्त्वा प्रतीयमानमालोकविशेषणकघटादिप्राधान्यमित्यर्थः । २०. परमार्थतस्त्वित्यादिना भङ्गधन्तरेण पारमार्थिकं वस्तुविज्ञानमात्रमेत्युक्तमेवेत्यर्थः । २१. शून्य—बाह्यार्थविज्ञानवादोपसंहारयोर्मध्ये । २२. शून्यवादिमतम् ।

प्राहकांशविनिर्मुक्तं शून्यमेव घटादिबाह्यवस्तुवदित्यपरे' माध्यमिका आचक्षते ।

सर्वा एताः कल्पना बुद्धिविज्ञानावभासकस्य' व्यतिरिक्तस्याऽऽत्मज्योतिषोऽपह्नवा-
दस्य श्रेयोमार्गस्य प्रतिपक्षमृता' वैदिकस्य । 'तत्र येषां चाहोऽर्थोऽस्ति तां प्रत्युच्यते तावत् ।
न स्वात्मानवभासकत्वाद् घटादेः । तमस्यवस्थितो घटादिस्तावन्न घटादिदपि स्वात्म-
नाऽवभास्यते । प्रदीपाद्यालोकसंयोगेन तु नियमेनैवावभास्यमानो दृष्टः सालोको घट
इति । संश्लिष्टयोरपि घटाद्यलोकयोरन्यत्वमेव पुनः पुनः 'सदलेये' विदलेये च 'विशेष-
दर्शनाद्रजुघटयोरिव । अन्यत्वे च व्यतिरिक्तावभासकत्वं' न स्वमात्मनैव स्वमात्मानमव-
भासयति ।

पक्षप्रयेऽपि दोषं संभावयति—सर्वा इति । कथममूयां कल्पनानां रूपमभिर्याशाङ्कुष प्रथमं
बाह्यार्थवादिनं प्रत्याह—तत्रैति । निर्धारणे सप्रभो । यत् धीरेव यभासकत्वेन स्वाकारेति तत्राऽऽह—
नेति । यदवभास्यं 'तत्स्वातिरिक्तावभास्यमवभास्यत्वाद्यथा घटादि । अवभास्या चैयं बुद्धिरित्यनुमा-
नाद्बुद्धिव्यतिरिक्त साक्षो सिध्यतीत्यर्थः । दृष्टान्तं साधयति—तमसीति । 'तस्यावभासकपक्षां दशयितुं
विशेषणम्—सालोको घट इति । 'सदलेपावगमास्ति घटस्य व्यतिरिक्तावभास्यत्वमित्याशाङ्कुषाऽह—
सदिल्लष्टयोरपीनि । भवत्वन्वयस्य किं तावत्स्याशाङ्कुषाऽह—अन्यत्वे चेति । व्यतिरिक्तावभासकत्वं
साह्यशावभासक'साहित्यमिति यावत् । अवभासयति घटादिरिति शेषः ।

प्राहकविनिर्मुक्त विज्ञान स्वच्छीभूत श्रौर क्षणिक रहता है । शुद्ध विज्ञान का भी कुछ (शून्यवादी)
प्रभाव चाहते हैं । दूसरे माध्यमिक बौद्ध कहते हैं—वह विज्ञान भी अविद्या का कार्य है, घटादि बाह्य
वस्तुओं के समान प्राह्य श्रौर ग्राह्यवाश से वजित शून्य ही है ।

ये सभी कल्पनाएँ बुद्धिरूप विज्ञान के प्रकाशक सघातव्यतिरिक्त आत्मज्योति का
परित्याग करने वाली होने से इस वेदप्रतिपादित मोक्षमार्ग की विघ्नरूपा हैं । उन (सौत्रान्तिक, वैभाषिक,
योगाचार श्रौर माध्यमिकों) के मध्य जो घटादि बाह्यपदार्थों की सत्ता को मानते हैं, उनके प्रति
कहा जाता है । घटादि स्वयं ही अपने प्रकाशक तो हो नहीं सकते । अण्वकार में रखे हुए घटादि कभी
भी अपने आप प्रकाशित नहीं होते, प्रदीपादि के प्रकाश के संयोग होने पर 'यह घट प्रकाशयुक्त है'
इस प्रकार उनका नियम से प्रकाशित होना देखा जाता है । संयोग को प्राप्त घट श्रौर प्रकाश भी एक
दूसरे से भिन्न ही हैं क्योंकि रस्सी श्रौर घट के समान पुनः-पुन संयोग श्रौर वियोग होने पर उनमें माना-
मानात्मक भेद देखा जाता है । अन्यत्व होने पर भिन्नप्रकाशकत्व सिद्ध है । वे स्वयं ही अपने आप को

१ अर्थात्तवे कथं ज्ञान ज्ञायतेऽर्थाज्जेनेति व्युत्पत्तेरिति वदन्त । २ सघातव्यतिरिक्तत्वेति यावत् । ३
वैदिकस्य—वेदशौक्तस्य श्रेयोमार्गस्य मोक्षमार्गस्यैऽप्यन्य । ४ तत्र—धीर्वात्तकवैभाषिकयोगाचारस्याप्य-
निर्गता मध्ये यो बाह्यार्थवादिनावाद्यो तो प्रति दोषोत्पिस्तावत् त्रिषल इति योजना । ५ धीरेव चित्स्वरूपेयं
प्रयते प्राहकात्मनेति बहुवचं तन्नेति प्रतिश्रायं हेतुमाह—स्वात्मेति । ६ सालोक्यस्य घटादेरालोकव्याप्तस्ये-
त्यर्थः । ७ संयोगे । ८ विद्योगे । ९ विशेषो मानामानात्मक इत्याहुः वस्तुनो भेदोऽत्र विशेषार्थः ।
१० सिद्धमिति शेषः । ११ स्वातिरिक्तावभास्यमिति । अत्र सर्वं वाक्य सावधारणमिति व्यापार । स्वाति-
रिक्तेनैवावभास्यत्वं साध्यं बोध्यं एतन्नवानुपदमेव स्फुटिष्यति । १२ घटस्य । १३ सालोको घट इति
सदलेष्वदं नात् सदलेष्वस्तादात्म्यम् । १४ साहित्यमिति—न साह्यमिति हृदयम् ।

ननु प्रदीपः स्वात्मानमेवावभासयन्वृष्ट इति । न हि घटादिवत्प्रदीपदर्शनाय प्रकाशान्तरमुपाददते लौकिकाः । तस्मात्प्रदीपः स्वात्मानं प्रकाशयति । न । अथभास्य-
त्वाविशेषात् । यद्यपि प्रदीपोऽन्यस्यावभासकः स्वयमवभासात्मकत्वात्तथाऽपि व्यतिरिक्त-
चैतन्यावभास्यत्वं न व्यभिचरति घटादिवदेव । यदा 'चैवं' तदा व्यतिरिक्तावभास्यत्वं
तावदवश्यंभावि । ननु यथा घटश्चैतन्यावभास्यत्वेऽपि व्यतिरिक्तमालोकान्तरमपेक्षते
नत्वेवं प्रदीपोऽन्यमालोकान्तरमपेक्षते । तस्मात्प्रदीपोऽन्यावभास्योऽपि सन्नात्मानं घटं
वावभासयति ।

न, 'स्वतः' परतो वा विशेषाभावात् । यथा चैतन्यावभास्यत्वं घटस्य तथा

दृष्टान्तस्य साध्यविकसत्त्वे परिहृते व्यभिचारमाशङ्कते—नन्विति । 'तदेव व्यतिरेकमुखेना-
(एषा)ऽह—न हीति । अर्नकान्तिकत्वं—निगमयति—तस्मादिति । प्रदीपस्य पक्षतुल्यत्वात् व्यभिचारो-
ऽस्तीति परिहरति—नायभास्यत्वेति । अयान्यावभासकत्वात्—सत्यं नाप्यावभास्यत्वमिति चेत्तत्राऽह
—यद्यपीति । अथभास्यत्वहेतोरव्यभिचारे फलितमाह—यदा चेति । व्यतिरिक्तावभास्यत्व बुद्धेरिति
शेषः । अथभास्यत्वे सत्यपि प्रदीपे स्वातिरिक्तेनेवावभास्यत्वमितिनियमासिद्धेर्यंभ्रचारतादवस्थमित्ति
वाङ्कते—नन्विति ।

यदि प्रदीपस्य स्वावभासनात्पूर्वमसंनिवेशः "समन्तरकाले स्यात्तदा स्वात्मानं भासयतीति
यवतुं युवतं न च "सोऽस्तीति दूषयति—नेत्यादिना । "तदेव विवृणोति—यथेति । "अथभास्यत्वाविशेषा-

प्रकाशित नही करते ।

(इस पर पूर्वपक्षी कहता है —) किन्तु प्रदीप तो स्वय ही अपने आप को प्रकाशित करता
हुआ देखा जाता है । लोकव्यवहार में भी घटादि के समान दीपक को देखने के लिये किसी अन्य
दीपक की आवश्यकता नहीं है । इसलिये (प्रकाश के तुल्य होने से) दीपक स्वयं ही अपने को प्रकाशित

१. समत्वात् प्रकाशस्य प्रकाशान्तरानपेक्षत्वात् । २. घटादिवदेवेति—यो भास्यः स स्वैतरभास्यो यथा घटादिः
भास्यश्च प्रदीप इति व्याप्तिसिद्धावुक्तानुमानं युक्तमिति भावः । ३. एषम्—उक्तहेतोरव्यभिचरित्तत्त्वम् ।
४. समत्वेन प्रकाशस्य प्रकाशान्तरानपेक्षत्वात् । ५. चैतन्यावभास्योऽपि । ६. स्वपरब्रह्मम् । ७. स्वतः
परतो वा विशेषाभावादिति । स्वापेक्षया परापेक्षया वा ब्रह्मण्यभावादिपर्ययः । यथाऽवभासनकाले घटत्वादिना
घटान्तरतुल्योऽपि पूर्वं समोवृत्तस्वरूपोऽणुना स्वनायुत्तरूप इति भवति स्वतो ब्रह्मण्यभावात् । यथा वा
प्रकाशेऽप्यस्वतमोर्घटयोरेकस्य हस्तादिच्छायाऽऽवृत्तत्वे सत्त्वपरस्य स्वतोऽविशेषेऽपि भवति छायावृत्तपरतो
विशेषतो च विशेषो प्रदीपादिकृताविति प्रदीपादि भास्यो भवति घटः नैवमवभासनकाले प्रदीपस्य स्वपरत्वं-
क्षणमित्यर्थः । ८. यथा चैतन्यावभास्यत्वमित्यादि । प्रदीपो यद्यथावभासनात्प्रवृत्ति स तद्दि चैतन्यावभास्य
एवाऽन्याऽऽस्तीत्येव न स्याद्दूष्यमपि स तपेथेति स्वतो विशेषाभावः । यदि नास्ति तदा श्व विशेषोऽन्यम् ऊर्ष्वं
स्यात् । नापि परतो घटादितो ब्रह्मण्यत्वं चैतन्यावभास्यत्वतोऽप्यादित्यर्थः । ९. स्वावभासनात्मकत्वमेव । १०.
उपसंहार इति । ११. दीपस्य । १२. अविद्यमानस्तमोऽप्यसादिरूपः । १३. स्वावभासनोत्तरसमये । १४.
सः—स्वतः परतो वा स्वावभास्यत्वोपयोगी विशेषः । १५. विशेषासत्त्वमेव । १६. अविशिष्टत्वे हेतुं
दूषयति—अवभासेति ।

प्रदीपस्यापि चैतन्यावमास्यत्वमविशिष्टम् । यत्तूच्यते प्रदीप आत्मानं घटं धावन्नामयतीति तदसत् । कस्मात् । यदाऽऽत्मानं नावभासयति तदा 'कीदृशः स्यात् । न हि 'तदा प्रदीपस्य स्वतो वा परतो वा 'विशेषः कश्चिदुपलभ्यते । स ह्यवभास्यो भवति यस्यावभासकसंनिधावसंनिधौ च विशेष उपलभ्यते । न हि प्रदीपस्य स्वात्मसंनिधिरसंनिधिर्वा शक्यः

दित्यर्थः । 'प्रदीपे परोक्षतं 'विशेषमनुभाष्य वृषयति—पत्त्रिवदादिना । यदा दीपो न स्वात्मानं भासयति तदाऽनवभासमानः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । विशेषाभावेऽपि दीपस्य स्वेनैवावभास्यत्वं किं न स्यादिति चेत्त्रयाऽऽह—स हीति । दीपस्य विशेषान्तराभावेऽपि स्वात्मसंनिध्यसंनिधौ विशेषा-

करता है। (सिद्धान्ती इस शब्दा का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है—क्योंकि प्रकाश्यत्व में दीपक घटादि से समानता है। यद्यपि प्रदीप स्वयंप्रकाश होने के कारण दूसरों का प्रकाशक है तथापि घटादि के समान ही वह अपने से व्यतिरिक्त चैतन्य द्वारा प्रकाशित होने की योग्यता का त्याग नहीं करता। यदि ऐसा है, तो दीपक का अपने से भिन्न से प्रकाशित होना भावश्यक है। (इस पर पुनः पूर्ववादी कहता है—) किन्तु जैसे चैतन्य से प्रकाश्य घट को अपने से पृथक् भालोक की भावश्यकता होती है, उसी प्रकार दीपक को तो किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती। इसलिये प्रदीप अन्य चैतन्य से प्रकाश्य होने पर भी अपने और घट को प्रकाशित करता है।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) उससे स्वप्रयुक्त और परप्रयुक्त ऐसी कोई विशेषता नहीं। जिस प्रकार घट चैतन्य से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार प्रदीप भी चैतन्य से प्रकाशित होता है, इसलिये स्वप्रकाश्यत्वरूप विशिष्टता प्रदीप में नहीं है। एवं यह जो कहा जाता है कि प्रदीप अपने और घट को प्रकाशित करता है, यह भी मिथ्या है। ऐसा क्यों कहते हो? जब प्रदीप अपने को प्रकाशित नहीं करता, तो वह (भासमान या अभभासमान) कौसा है? अपने को प्रकाशित न करने की दशा में तो दीपक का अपने या अन्य से (तमो ध्वनिच्छिन्नरूप) कोई विशेष अन्तर नहीं देखा जाता; वही प्रकाश्य होता है, जिसमें प्रकाशक का संयोग और वियोग होने पर कोई विशिष्टता देखी जाय। प्रदीप की तो अपने से सयुक्त और वियुक्त होने की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिये कभी-कभी होने वाले (घट

१ तस्मान्न स्वप्रकाश्यता प्रदीपस्येति शेषः । २ यदात्मानमित्यादि कश्चिदुपलभ्यत इत्यन्तम् । उक्तो विशेषो यदि भावनात्प्राङ्मनासीमावृत्तौहि (स्वरूपत्यागन स्वस्वविशिष्टस्यानुभवावधारितादिति भावः) दीप इति क्वासौ विशेषोऽक्षप्रवतिष्ठः । यद्यभूत्पुरस्ताद कुतस्त्वहि तस्यावभासनवालीनत्वमेव । अथ विशेषाभावेऽपि दीपोऽस्त भासनात्प्रकृ तर्हि चैतन्यावभास्यत्वमेव सर्वसममित्यर्थः । (अवभासनाभावभासनावस्थे स्वात्मन् परमित्येष घटासौ तुल्यमित्यर्थः) । यस्तुतस्त्वृत्तविशेषाभावे दीपसंसर्ग न समवति । अनु विशेषाभावेऽपि दीपोऽतीति पक्षेऽनवभासनेऽसप्रवभासने च सन् विदोषः प्रदीपः स्वरात्मान घट च सासयतीति त्रुतीतिनियामकः स्यादेवेत्य- द्वाऽऽह— यत्तुतस्त्विति । तथा च क्व विशेषोऽस्तिरियुक्त एव दोष इति भावः । ३. भासनामोऽनाममानो वा । ४. स्वात्मानवमल्लभ्यदशयाप्यम् । ५. तमोऽध्वस्यदिरूपः । ६. यथा दीपासनिधावसन् कुम्भस्य त्रस्तनिधौ च सन् विशेषस्तमोऽवसो न तथा प्रदीपे विशेषो मानामाकावित्यर्थः । ७. प्रदीपे परोक्ष विशेषमिति— स्वपरभासत्वरूपमवभासनकाले स्वपरविशेषमित्यर्थः । ८. विशेषम्—घटापेक्षया वेदशक्यम् ।

'कल्पयितुम् । असति च कादाचित्के 'विशेष आत्मानं प्रदीपः प्रकाशयतीति मृपं घोच्यते ।
 चैतन्यप्राहृतत्वं तु घटादिभिरविशिष्टं प्रदीपस्य । 'तस्माद्विज्ञानस्य'ऽऽत्मप्राहृ-
 प्राहृत्ये न प्रदीपो दृष्टान्तः । 'चैतन्यप्राहृतत्वं च विज्ञानस्य 'बाह्यविषयैरविशिष्टम् ।
 चैतन्यप्राहृत्ये च विज्ञानस्य किं प्राहृविज्ञानप्राहृत्यैव किं वा प्राहृकविज्ञानप्राहृतेति
 तत्र संविद्यमाने वस्तुनि योऽन्यत्र दृष्टी ग्यायः स कल्पयितुं युक्तो न तु दृष्टविपरोतः ।
 "तथा च सति यथा व्यतिरिक्तेनैव प्राहृकेण चाह्वानां प्रदीपानां प्राहृतत्वं दृष्टं तथा
 विज्ञानस्यापि चैतन्यप्राहृतत्वात्प्रकाशत्वे सत्यपि प्रदीपवद्व्यतिरिक्तचैतन्यप्राहृतत्वं युक्तं
 कल्पयितुं न 'त्वन्यप्राहृतत्वम् । पश्चान्यो विज्ञानस्य ग्रहीता "स आत्मा ज्योतिरन्तरं

विद्यमानः प्राहृतः—न हीति, दीपस्य स्वेनान्येन वा स्थितिनिश्चेषाभावे फलितमाह—प्रसताति ।
 व्यभिचारनिरासपूर्वकं भास्यत्वानुमानमुपपाद्यानुमानान्तरमाह—चैतन्यति । यद्ब्रह्मजकं
 तत्त्वविज्ञातोपपन्नं यथा सूर्यादि व्यवजकं च "विज्ञानं तस्माद्विज्ञानव्यतिरिक्तध्रुवात्मा तिष्ठती-
 त्यर्थः । प्रदीपस्य न स्वावभास्यत्वं किं तु विज्ञातोपचैतन्यावभास्यत्वमिति स्थिते फलितमाह—
 तस्मादिति । यद्ब्राह्मं तद्ब्राह्मणान्तरप्राहृ यथा दीपो प्राहृ चेवं विज्ञाननिश्चयानुमानान्तरमाह—
 चैतन्येति । "तथाऽपि कथं द्वाविष्टप्राहृकसिद्धिरित्याशङ्क्य विमृशति—चैतन्यप्राहृत्ये चेति । कथं "तहि
 निरण्यस्तप्राहृ—इति तत्र संविद्यमान इति । अस्तु लोकानुमारी निश्चयो लोकस्तु कथमित्या-
 शङ्क्याऽह—तथा चेति । "तथाऽपि कुतो विवक्षितात्मज्योतिस्तत्राऽह—यश्चेति ।

की प्रपेक्षा से) वैलक्षण्य न होने पर "प्रदीप प्रपने को प्रकाशित करता है" ऐसा मिथ्या ही कहा जाता है ।

प्रदीप का चैतन्यप्राहृ होना घटादि के सदृश ही है, अतः (प्रदीप के स्वयंप्रकाशक न होने से) विज्ञान के स्वयंप्राहृ और प्राहृक होने में प्रदीप का दृष्टान्त नहीं बनता । विज्ञान का ज्ञानप्राहृ होना तो प्रदीपादि बाह्य विषयों के समान ही है । विज्ञान के ज्ञानप्राहृ सिद्ध ज्ञान पर क्या प्राहृविज्ञान की प्राहृता है अथवा प्राहृकविज्ञान की इस पर वस्तु में सदेह होने पर जो निश्चय लोकव्यवहार में देखा जाता है । उसकी यहाँ भी कल्पना करनी चाहिये । दृष्टनिश्चय से अन्य कल्पना करना उचित नहीं है । ऐसा होने पर जिस प्रकार व्यतिरिक्त प्राहृक द्वारा बाह्य प्रदीप की प्राहृता देखी जाती है, उसी प्रकार

१. कल्पयितुमिति—सनिष्कसनिष्कान्तेष्वतिरिक्तत्वादिति भावः । २. विशेषम्—घटापेक्षया वैलक्षण्यम् । ३. प्रदीपस्य स्वभास्यत्वात्वात् । ४. स्वयमेव प्राहृ प्राहृकं च तत्त्वं । ५. ज्ञानप्राहृत्यम् । ६. प्रदीपादिभिः । ७. द्वाविष्टे सति । ८. लोके । ९. निश्चयः । १०. तथा च सति निश्चयस्य लोकानुसारित्वे यतोत्यर्थः । ११. स्वप्राहृत्यम् । १२. स बास्तेति वार्तिके यथा—"प्राहृकप्राहृत्यप्राहृतात्वात्वाविविधमिति । प्रहृपादवच यो विद्यः स बास्तेत्यवयवमप्यतम्" ॥ ५१८ ॥ १३. विज्ञानमिति वार्तिके—"विज्ञानमपि तद्विद्युर्जातिविद्-प्राहृमिष्यताम् । व्यञ्जकत्वाविशेषत्वात्प्रविचरन् प्रदीपवदिति" ॥ ५१९ ॥ १४. अनुमानान्तरमिति । न च १०२३पृष्ठीकृतपदवशात्स्वमित्यादि भास्यत्वानुमानेन पुनर्वक्ति । तानप्रकाशयत्यस्याव हेतुत्वात् प्रकाशत्वमात्रं तु भास्यतेति भावा । १५. विज्ञानस्य प्राहृत्यस्य । १६. तद्धि—वस्तुनि संदेहे सति । १७. विज्ञानस्य स्वायचैतन्यप्राहृत्येति । १८. सिध्यति ।

विज्ञानात् ।

'तदाऽनवस्थेति चेत् । न । ग्राह्यत्वमात्रं हि तद्'ग्राहकस्य' वस्त्वन्तरत्वे लिङ्गमुत्वं न्यायतः । न त्वेकान्ततो ग्राहकत्वे तद्ग्राहकान्तरास्तित्वे वा कदाचिदपि 'लिङ्ग' सम्भवति । तस्मान्न तदनवस्थाप्रसङ्गः ।

'विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राह्यत्वे करणान्तरापेक्षायामनवस्थेति चेत् । न ।

विज्ञानस्य ग्राहकान्तरग्राह्यत्वे तस्यापि ग्राहकान्तरापेक्षायामनवस्थाप्रसक्तिरिति शङ्कते— तदाऽनवस्थेति चेदिति । कूटस्थबोधस्य विज्ञानसाक्षिणो "ऽविषयव्यभिचानवस्थेति परिहरति—नेति । यद्ग्राह्यं तत्स्वातिरिक्तग्राह्यं यथा घटादिति" ग्राह्यत्वमात्रं बुद्धिग्राहकस्य "ततो वस्त्वन्तरत्वे प्रदीपस्य "स्वानवभास्यत्वभावेन "लिङ्गमुत्वं न च बुद्धिसाक्षिणो ग्राह्यत्वमस्ति कूटस्थबुद्धिस्वाभावात्तत्कृतोऽनवस्थेत्पुण्यपादयति—ग्राह्यत्वमात्रं हीति । साक्षी स्वातिरिक्तग्राह्यो ग्राहकत्वाद्बुद्धिबद्धित्वाद्ग्राह्यत्वमात्रं न्विति । ग्राहकत्वं हि ग्रहणकर्तृत्वं वा "तत्माक्षित्यं वा । अद्य बुद्धिसाक्षिणो "मुख्यवृत्त्या ग्रहणकर्तृत्वे न किञ्चि"लिङ्ग" सम्भवति । द्वितीये "तस्य ग्राहकान्तरास्तित्वे न कदाचिदपि प्रमाणमस्ति तत्कृतोऽनवस्थेत्यर्थः ।

"ग्राहकानवस्थया परिहृत्य "करणानवस्थामाशङ्कते—विज्ञानस्येति । "तस्य हि ग्राह्यत्वे चक्षुरादिस्यानोयेन करणेन भवितव्यं" तस्यापि ग्राह्यत्वेऽन्यकरणमित्यनवस्थां दूषयति—न नियमाभा-

विज्ञान की भी अंतन्यग्राह्यता होने के कारण प्रकाशक होने पर भी दीपक के समान अपने से भिन्न चेतन्य द्वारा ही ग्राह्यता कल्पना करनी चाहिये । उसकी स्वग्राह्यता मानना उचित नहीं है । इस प्रकार जो विज्ञान का ग्रहीता है, वह आत्मा विज्ञान से भिन्न ज्योति है ।

यदि कहो—उस (विज्ञान के ग्राहकान्तर ग्राह्यत्व) दशा में अनवस्था दोष भा जाया—तो ऐसा कहना ठीक नहीं है । ग्राह्यत्वमात्र में बुद्धिविज्ञान साक्षी के बुद्धिविज्ञान भिन्न होने में न्यायत लिङ्ग (ज्ञापक) कहा गया है, किन्तु उस प्रथमिचरित लिङ्ग के साक्षी होने पर अथवा किसी अन्य साक्षी

- १ विज्ञानस्य ग्राहकान्तरग्राह्यत्वदशायाम् । २ बुद्धिविज्ञानसाक्षिणः । ३ बुद्धिविज्ञानभिषयत्वे । ४ एकांततो लिङ्गमित्यन्वयः—अप्यभिचरित लिङ्गमित्यर्थः । ५ ग्राह्यत्वे साक्षिण इति शेषः । ६ प्रमाणम् । ७ तस्यात्—स्वप्रकाशस्य साक्षिणो ग्राहकान्तरानवस्थात्वात् । ८ ग्राहकत्वप्रयुक्तानवस्था । ९ बुद्धे । १० अग्राह्यत्वात् । ११ व्याप्यात् । १२ ग्राह्यबुद्धिः । १३ स्वेत्यादि । स्वानवभास्यत्वसाधकयुक्तिरसायेन यदाऽऽप्तानमिरथादि न प्रदीपो दृष्टान्त इत्यन्तर्भावप्रदक्षिणेनोक्तमित्यन्वयः । १४ लिङ्गमुक्तमिति—तत्र बुद्धिविज्ञान स्वातिरिक्तग्राह्यं ग्राह्यत्वादघटादिवदिति । १५ ग्रहणसाक्षित्वम् । १६ परमायतं इति यावत् । १७ प्रमाणम् । १८ बुद्धिसाक्षिणः । १९ ग्राहकद्वारा । २० करणद्वारकानवस्थायाम् । २१ चक्षुरादिकरणक ज्ञानमभ्येन श्रेय चेत् तस्य ज्ञानविषयकज्ञानस्य करणान्तर वाच्य विषयविषयत्वोपसर्गकरणत्वस्यैव दृष्टत्वात् । तस्यापि ज्ञानस्यान्यश्रेयत्वेऽप्युक्तं करण वक्तव्यं ग्राह्यग्राहकान्यामर्थानन्तरस्य करणस्यावगच्छत्वात् । न च विदाभासः (द्वितीयज्ञानरूप) करणानपेक्षान्तस्याऽवगच्छत्वेन (अनिराश्वेक) तदपेक्षा प्रोत्पादित्यनवस्था करणद्वारिका मुख्यस्यभिप्रेत्याह—सत्येति । अक्षुरादिकरणकविज्ञानरूपेत्यर्थः । २२ तस्यापि—ज्ञानविषयकज्ञानस्यापि ।

'नियमाभावात् । न हि 'सर्वत्राय नियमो भवति । यत्र वस्त्वन्तरेण गृह्यते वस्त्वन्तर तत्र ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्तं करणान्तरं स्यादिति 'नैकान्तेन नियन्तुं शक्यते । वैचित्र्य-
'दर्शनात् । कथम् । घटस्तावत्स्यात्मव्यतिरिक्तेनाऽऽत्मना ग्राहकेण गृह्यते 'तत्र प्रदीपा-
दिरालोको 'ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्तं करणम् । न हि प्रदीपाद्यालोको घटाश्रक्षुरशो
वा । घटवक्षुक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि प्रदीपस्य 'चक्षुः, प्रदीपव्यतिरेकेण न 'बाह्यमालोकस्थानीयं
किञ्चित्करणान्तरमपेक्षते । 'तस्मान्नैव नियन्तुं शक्यते यत्र यत्र व्यतिरिक्तग्राह्यत्व तत्र
तत्र करणान्तरं स्यादेवेति । 'तस्माद्विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राह्यग्राह्यत्वे न करणद्वाराऽन-
वस्था नापि ग्राहकत्वद्वारा कदाचिदप्युपपादयितुं शक्यते । 'तस्मात्सिद्ध विज्ञानव्यति-

वादिति । नियमाभाव साधयति—न हीत्यादिना । वैचित्र्यदर्शनमाकाङ्क्षापूर्वकं स्फुटयति—कथमित्या-
दिना । 'उभयव्यतिरेक विशदयति—न हीति । 'तथाऽपि कथं वैचित्र्यं तत्राऽह—घटवदिति । नियमा-
भावमुपसंहरति—तस्मादिति । 'प्रभववस्थाद्वयनिराकरणं निगमयति—तस्माद्विज्ञानस्येति । बाह्यार्थ-
यादिमतनिराकरणमुपसंहरति—तस्मात्सिद्धमिति ।

के अस्तित्व मे कभी कोई प्रमाण होना सम्भव नहीं है । इसलिये (स्वप्रकाश साक्षी की ग्राहकान्तर से अपेक्षा न होने से) प्रभववस्था प्रसङ्ग नहीं होगा ।

यदि कहो कि विज्ञान बुद्धि को किसी अन्म से ग्राह्य मानने पर करणान्तर की अपेक्षा होने के कारण प्रभववस्था दोष बना रहेगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'ग्राह्य ग्राहक के सम्बन्ध के लिये व्यतिरिक्त करण कल्पना करना' कोई नियम नहीं है । ग्रहण स्थल मे सर्वत्र यह नियम नहीं होता । जहाँ किसी वस्तु से अन्य वस्तु ग्रहण की जाती है वहाँ ग्राह्य और ग्राहक से भिन्न कोई दूसरी इन्द्रिय होनी चाहिये । ऐसा प्रव्यभिचरितरूप स कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि पदार्थों मे वैचित्र्य देखा जाता है । किस प्रकार ? घट का अपने से भिन्न आत्मीय नेत्र द्वारा ग्रहण होता है घटग्रहण स प्रदीपारूप मालोक घट चक्षु स भिन्न करण है क्योंकि प्रदीपादि का प्रकाश न घट का अंश है और न नेत्र का अंश है, किन्तु दीपक घट के समान नेत्र से ग्राह्य होने पर भी नेत्र और दीपक स व्यतिरिक्त ग्राह्य-ग्राहकभिन्न बाह्य प्रकाशस्थानीय किसी करणान्तर की अपेक्षा नहीं करता । इस प्रकार (व्यभिचार) से ऐसा नियम सम्भव नहीं है कि जहाँ जहाँ अपने से व्यतिरिक्त वस्तु द्वारा ग्राह्यता होती है, वहाँ-वहाँ कोई करणान्तर होना ही चाहिये । इसलिये विज्ञान की व्यतिरिक्त ग्राह्य ग्राह्यता होने पर भी न तो कभी किसी करण क

- १ नियमाभावादिति । २ ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्तकरणस्य नियमाभावात्प्रानवस्थायत्थ । ३ गृह्यस्थल ।
४ कथमित्युक्तं अत्रेति—यत्रति । ५ अव्यभिचारेण चक्षुम् । ६ पदार्थानाम् । ७ घटमित्येति ।
८ आत्मीयवदृशा । ९ घटग्रहणम् । १० प्रदीपमित्यालोकः । ११ घटवक्षुर्ग्राह्यमित्यम् । १२
ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्तं करणम् । १३ ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्तं करणम् । १४ चक्षुःकर्मोपेक्षते । १५
व्यभिचारवदशनात् । १६ नियमाभावात् । १७ विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राह्यत्वप्रभववस्थाऽभावात् । १८
प्रदीपाद्यालोके ग्राह्यग्राहकत्वदृशम् । १९ उच्यते—घटग्रहणं ग्राह्यग्राह्यव्यतिरिक्तप्रदीपाद्यालोकस्य करणत्वेऽपि ।
२० ग्राह्यत्वद्वाराऽनवस्थाद्वयेण च ।

रिक्तमात्मज्योतिरन्तरमिति ।

ननु नास्त्येव बाह्यार्थो घटादिः प्रदीपो वा विज्ञान'द्यतिरिक्तः । 'यद्वि यद्व्यतिरेकेण नोपलभ्यते तत्तावन्मात्रं वस्तु दृष्टम् । यथा स्वप्नविज्ञानग्राह्यं घटपटादिवस्तु 'स्वप्नविज्ञान-
नव्यतिरेकेणानुपलम्भात्स्वप्नघटप्रदीपादेः स्वप्नविज्ञानमात्रताऽवगम्यते, 'तथा जागरितरेऽपि
घटप्रदीपादेर्जाग्रद्विज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भाज्जाग्रद्विज्ञानमात्रतय युक्ता भवितुम् । 'तस्मान्ना-
स्ति बाह्योऽर्थो घटप्रदीपादिविज्ञानमात्रमेव त् सर्वम् । तत्र 'यद्व्यतं विज्ञानस्य द्यति-
रिक्तावभास्यत्वाद्द्विज्ञानव्यतिरिक्तमस्ति ज्योतिरन्तरं घटादेरित्येति तन्मिथ्या । सर्वस्य
विज्ञानमात्रत्वे' दृष्टान्ताभावात् ।

❖ न । 'यावत्तावदभ्युपगमात् । न तु बाह्योऽर्थो भवतैकान्तेनैव "नाभ्युपगम्यते ।

बाह्यार्थवादिनि ध्वस्तते विज्ञानवादी घोदयति—नन्विति । बाह्यार्थो विज्ञानातिरिक्तो नास्ती-
त्यत्र "प्रमाणमाह—यद्वीति । नोपलभ्यते च जाग्रद्वस्तु जाग्रद्विज्ञानव्यतिरेकेणोति शेषः । दृष्टान्तं
समर्थयते—स्वप्नेति । दाष्टान्तिकं विवृणोति—तथेति । उक्तमनुमानमुपमंहरति—तस्मादिति । सर्वं
विज्ञानमात्रमिति स्थिते फलितमाह—तत्रेति । किमिति "तस्य मिथ्यात्वं तत्राऽऽह—सर्वस्येति ।

"बाह्यार्थापलापवादिनं दूषयति—नेत्यादिना । हेतुं विशदयति—नन्विति । विज्ञानमात्रवादित्वादेकान्तेन

द्वारा घोर न ही ग्राहकत्वं द्वारा ही अन्वबन्धा दोष का प्रतिपादन संभव है । इससे सिद्ध होता है कि
विज्ञान से पृथक् आत्मज्योति अन्य ही है ।

(इस पर विज्ञानवादी कहता है—) परन्तु घटादि अथवा प्रदीपादि कोई बाह्य पदार्थ
(मानाभाव से) विज्ञान से व्यतिरिक्त तो है नहीं । (अभिप्राय मे भी तो कोई प्रमाण नहीं है, इस पर
कहते हैं) जो वस्तु जिससे व्यतिरिक्त अनुभव नहीं होती, वह वस्तु तत्स्वरूप ही देखी गई है । जिस
प्रकार स्वप्न विज्ञान से गृहीत होने वाली घट पटादि वस्तु स्वप्नविज्ञान से व्यतिरिक्त अनुभव न होने से
स्वप्नघट घट-प्रदीपादि की स्वप्नविज्ञानमात्रता जानी जाती है, इसी प्रकार जागरित अन्वबन्धा में घट
घोर प्रदीपादि की जाग्रद्विज्ञान से भिन्न अनुभव न होने से जाग्रद्विज्ञानमात्रता ही होनी उचित है ।

१. व्यतिरिक्त इति—मानाभावादिति हेतुः। २. नव्यव्यतिरेकेण न मानमित्याशङ्कपाऽऽह—यद्वीति ।

३. दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमाशङ्कपाऽऽह—स्वप्नेति । ४. अनुमानं निगमयति—उपेति । ५. तस्मात्—

जाग्रद्विज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भात् उक्तानुमानात् । ६. यदुक्तमिति—विज्ञानं स्वव्यतिरिक्तावभास्यमव-

भास्यत्वात्घटादिवदिति यदुक्तमित्यर्थः । ७. दागिकस्य । ८. घति । ९. दृष्टान्ताभावादिति । अथ

वादिर्न यथा—'बाह्येऽर्थेऽहते चैव प्रदीपादेरतन्मत्वात् । दृष्टान्तो भवतः कः स्यात्कामितार्थसिद्धये" ॥११३॥

कामितोऽर्थो विज्ञानातिरिक्तः प्रत्यगात्मा तददृष्टये । १०. सर्वस्य विज्ञानमात्रत्वं नैत्यर्थः । ११. यावत्ता-

वदिति—विज्ञानव्यतिरिक्तं वस्तु धारिकञ्चत् स्वप्राप्यभ्युपगम्यत इत्यर्थः । १२. नाभ्युपगम्यत इति—सर्वव्यव-

हारलोपप्रसक्तमार्थादिति शेषः । १३. जाग्रद्वस्तुजाग्रद्विज्ञानमात्रं तदघटितरेणानुपलम्भात् स्वप्नावस्तुवदित्येवम्

—अनुमानात्मकम् । १४. तस्य—मदुक्तानुमानवचनस्य । १५. विज्ञानवदितिम् ।

❖ न यावत्तावदभ्युपगमादिति । अथ वातिकाचार्यास्तथाहि—'वस्तवन्तराभ्युपगमात्कारणो ज्ञानवदवया ।

ननु मया नाम्युपगम्यत एव । न । विज्ञानं घटः प्रदीप इति च 'शब्दार्थ'पृथक्त्वाद्यावत्ता-

बाह्यार्थान्म्युपगतिरिति शङ्कते—नन्विति । बाह्यार्थं 'हठादङ्गोकारयति—नेत्यादिना । अन्वयममुखेनोक्त-

प्रतः घट एवं प्रदीपादि बाह्य परार्थो की सत्ता ही नहीं है, विज्ञानमात्र ही सब कुछ है । एवं जो यह कहा गया कि घटादि के समान क्षणिक विज्ञान भी अपने से व्यतिरिक्त साक्षी द्वारा प्रकाश्य है, उससे भिन्न कोई अन्य ज्योति है, सो यह कहना मिथ्या है क्योंकि सभी कुछ विज्ञानमात्र होने पर (प्रदीपादि के घसभव होने से) दृष्टान्त का ही प्रभाव ही जाता है ।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) (विज्ञानवादी का) उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि विज्ञान से व्यतिरिक्त जो कुछ भी वस्तु है, उसको तुमने स्वीकारा है । तुम बाह्यार्थ को सर्वथा ही नहीं मानते हो — ऐसी बात तो नहीं है । (इस पर विज्ञानवादी कहता है—) मैं तो प्रमाणाभाव होने से ऐसा स्वीकार नहीं करता । (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कथन ठीक नहीं है । क्योंकि विज्ञान, घट

१. मानाभावादिति भावः । २. इति च शब्देत्यादि । इत्येवमादिशाब्दानामर्थस्य भिन्नात्वात् शब्दानामर्थानां च विधौ चिन्तनत्वादिति वाच्यः । ३. पृथक्त्वादिति—अन्यथा घटमानयेत्युक्ते पटमप्यान्वयेत् बह्विरित्युक्तं च सुख इहोठेति भावः । ४. वत्तत् ।

दृष्टान्तोऽस्त्येव नो भ्रूवात्त चेन्न शङ्कतोऽप्यसौ ॥ भीमानाज्ज्ञानमेवेदमभ्युपेत्य ततोऽपरम् । बाह्यस्त्वन्यादिकं वस्तु तन्मिष्येति निविष्यते ॥ भावो वा यदि वाऽभावो ज्ञानवम्मानिनिरिष्यतः । नास्तीति ब्रूवती सज्जा वाऽप्येव न जायते ॥ अवि ज्ञानातिरेकेण बाह्योऽर्थोऽभ्युपगम्यते । दीपकुम्भादिको युद्धैर्ध्वंहरत्प्रसिद्धः ॥ सर्वस्य ज्ञानमात्रत्वाद्गुणान्म्युपगम्यते । मया ज्ञानातिरेकेण तस्मान्नाशभावोऽस्ति ॥ ज्ञानं घटो दीप इति शब्दार्थंभावमिष्यते ॥ अवश्यमभ्युपेयोऽत्र भेदो मानप्रमेययोः ॥ प्रमाणं भवता वाच्यं भेदाभेदत्वसिद्धये । नाऽऽव्योक्तिप्रमाणावर्तं यतः सगच्छते सुधीः ॥ माभेयसपत्तिफलमिष्येत्मुपगमसर्वमा । कार्यं ऐक्ये यतोऽपीयां व्यवहारो न सिध्यति ॥ उपादिस्तिन्ति मानानि ह्यज्ञातार्थोपलक्षणे । अतोऽभ्युपेयोऽज्ञातोऽर्थः प्रमाणवत्प्रसिद्धये ॥ न च प्रवाच्यतः सिद्धिरज्ञातस्य शक्यते । अन्योन्याश्रयतादोषः ह्यर्थैवं प्रसज्यतः ॥ प्रमाणाच्च न तस्मिन्निर्दिष्टस्य मानविरोधता । मानैरेवेदविरोधः स्यात्कुतोऽज्ञातत्वनिर्हृतिः ॥ न स्वरूपेऽप्यत्र स्वाधो मानमेयत्वसंभवः । सर्वदाऽतिशयाभावाद्वोधाच्छाश्वतिरेकतः ॥ प्रमाणं यदि विज्ञानं मिया नीलादिरूपता । मिष्यस्तयोरेषा का यत् ज्वरं प्रसिध्यति ॥ आकारतद्गतोर्भेदो यदि नामाभ्युपेयते । अस्तु कामं प्रमानेयसंगतिरप्यन्ते कुतः ॥ कार्याश्रय-निष्ठत्वस्याप्यमानमेयत्वसंगतिः । अन्यैश्च तु निषिद्धात्मा वस्तुनोर्मानमेययोः ॥ मानोऽपि यस्य मेयः स्यान्मेयाजो या भवेत्प्रमा । सर्वान्भावतस्तस्य मानमेयो न सिध्यति ॥ मानमेयत्वयो रूप वस्तुनामेवेह मन्वते । मानमेयत्व-सिद्धिर्निर्दिष्टतत्रोपपद्यते ॥ ३३८-३४५ ॥ इति । तावदुद्गाह्यमेव सिद्धान्तयति—वस्तुत्वेति । यथा स्वया बाह्यार्थातिरिक्तं ज्ञानमिष्टं तथा ज्ञानातिरिक्तस्य घटदीपादेरभ्युपगमादस्माकमतिरिक्ततामसाधने दृष्टान्तः सुखसोऽस्त्येव ज्ञानादन्योऽर्थस्यैव नेष्यते चेज्ज्ञानमात्रं सर्वं स्वरूपवदिति भवतोऽपि न सिध्यति दृष्टान्ताभावा-दित्यर्थः ॥ कथं विज्ञानवादिना वस्तुवन्तरमिष्टं तनाऽऽह—धीमानादिति । ततो ज्ञानादप्यद्वासमान जागरादिकं वस्तु यथामानमुपेत्य धीरुपान्मानाज्ज्ञानमेवेदं वस्त्विति प्रसाध्य बहिर्भासमान मिष्येति भवता बाह्यं वस्तु निविष्यते ; क्वं हि—'तस्यां श्रद्धममाभाति बाह्यमेकपिवाच्यतः । व्यावृत्तमिव निरुत्तरं परीशान्ज्ञमावता' इति । न हि ज्ञानमेव तस्मान्शब्द मिष्यताव वा साध्यतः सिद्धताप्यव्यादावाप्यत्र तदस्य मिष्यताव तदस्यतिरिक्त-मिष्यतः ॥ बाह्यार्थस्य मिष्यतावमसत्त्वमतो न तदस्तितेत्यादौप्युपाऽह—भावो वेति । ज्ञानवज्ज्ञानविषयतया तद्वासमानो पददीपादिभिर्बोऽभावो वाऽस्तु च त्रयको नास्तीति ब्रूषधारणो निर्ध्वजवत् प्रकटयति ज्ञानस्यापि

वदपि बाह्यम'र्थान्तरमवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । विज्ञानादर्थान्तरं यस्तु न चेदभ्युपगम्यते

मयं व्यतिरेकमुखेन (ण) विशदयति—विज्ञानादिति । ज्ञानज्ञेयधोरंपये दोषान्तरमाह—तथेति । अन्वर्थकं

प्रदोष इत्यादि शब्द श्रीर इनकं अर्थं पृथक् होने से जब तक ऐसा है, तब तक विज्ञान से व्यतिरिक्त बाह्य अर्थान्तर अवश्य मानना पड़ेगा । यदि विज्ञान से भिन्न कोई अन्य पदार्थ नहीं मानते हो; तो विज्ञान, घट-पटादि शब्दों का एक विज्ञानमात्र अर्थ मानने पर इनका पर्याय शब्द प्राप्त हो जायेगा । इस

१ विज्ञानव्यतिरिक्तम् ।

नास्ति त्वप्रसङ्गात् । यथाऽऽह—'घनैषामिव्यवस्थान भेदोऽभेदश्च यादृश । अमभीक्षिततत्त्वार्थो यथा लोके प्रतीयते' इति । तत्र बाह्यावर्णनाय इत्यर्थः ॥ इतश्च न तदवलाप इत्याह—अधीति । बुद्धेरपीति सबन्धः ॥ अभ्युपगममाक्षिपति—सर्वेभ्येति । इद्वेति मानभूमिरुक्ता । उच्यते हि—'ज्ञानादव्यतिरिक्तं च कश्चमर्थान्तरं द्रवेत् । तस्यान्विध्याविकल्पोऽमर्थेभ्येकारमतायाहः' इति ॥ दूषयति—ज्ञानमिति । अनेति व्यवहारदत्तोक्तिः । अन्यथा शब्दार्थभेदान्नावर्णनमर्थोभ्यवहारसंकरप्रसक्तो दृग्नादिपदोवाहरणे देहदाहादि स्यादिति भावः ॥ इतश्च भेदस्तयोरिति वक्तुं भूमिकामाह—प्रमाणमिति । ज्ञानार्थयोर्भेदं वदता सिद्धान्तानां तत्र मानं वाच्यं नवताऽपि तदभेदकारिणा तत्र तथैवेत्यर्थः । तत्र हेतुः—ताऽऽवयोरिति ॥ अन्भेदे मानासारं भवन्तानो भेदे तदाह—मानमेवेति । मानमेवयोस्तद्विषयविषयित्वकृतफलस्य मातृव्यस्य मिथो भेदरत्नयैष्टव्यस्तेषामेक्ये सत्यसमीर्णं व्यहारासिद्धिरतस्तदनुपपत्तिस्तदभेदे मानम् । यथाऽऽह—'तत्तथैव समर्थित्य साध्यसाधनसंस्थितिः । परमार्थावताराय विद्विद्भ्रव-कल्प्यते' इति । तदुपेयो भेदस्तेषामित्यर्थः ॥ तत्र हेतुवन्तरं वक्तुं समतमर्ममाह—उपादिस्यमन्तीति । तदेतद्बहुशो दक्षितमिति द्विशब्दाद्यः । समतमुक्त्वा विमलं ह्युक्तुपयममति—अत इति । अज्ञानेऽर्थे मानप्रवृत्तिरतःशब्दायः । अज्ञातं द्विष्येदः ॥ तस्य भेदत्वमाद्यञ्चुपाऽऽह—न चेति । अज्ञातत्वस्य भेदश्चेति मानवच स्वयंमज्ञातत्वमादौ ज्ञातस्य तज्ज्ञानं च मानादिति दुरुत्तरमितरेन राशयत्वमित्याह—अन्व्योऽनेति ॥ तस्याभेदत्वे हेतुवन्तरमाह—प्रमाणादिति । मानविरोधं व्यतिरेकद्वारा साध्ययति—मानैरिति ॥ मानमेवभेदं साध्यता कृतस्योऽनुभवोऽज्ञात-त्वादि साधकस्योऽभ्युपेय इत्युक्तं तत्र न मानमेवभेद एकस्मिन्नेव ज्ञाने तदद्ये वा मानमेवत्वयोगादिति बाह्यावर्ण-नापवादी मन्वते त प्रत्याह—नेत्यादिना । आद्यप्रतिज्ञायां हेतुमाह—सर्वेदेति । द्वितीयस्यां युक्तिमाह—बोधाचचेति । अज्ञानज्ञानादभेदो भेदो वा ताऽऽहो मानमेवव्यवस्थासिद्धेर्न द्वितीयस्तदभेदोपपत्तिरित्यर्थः ॥ मानमेवव्यवस्थामाद्यञ्चुते—प्रमाणमिति । तद्वि तयोरेग्योग्यभेदाकाङ्क्षाभावाद्भेदाकाङ्क्षायाश्च सत्त्वास्त्वदुक्त-मैव न सिद्ध्यतीत्याह—मिथ इति । व्यवहारादवस्थायां नीलाकाकारस्याऽऽकारिज्ञानस्य च भेदोपपत्तिमाद्यञ्चुते—आकारेति । व्यवति तत्र तदभेदमिच्छामो न परमार्थावस्थायां तदा तयोरेवाभादतोऽनुपपत्तिरित्यनुजानाति—अस्तिवति । व्यावहारिके भेदे स्वीकृते कथमिच्छामसिद्धिरतयाऽह—प्रमेति । नीलतद्विधोमनिमेवत्वसंगतिरविव न वा स्ववेद्ये ज्ञानमात्राभावाभावि स्वाभिज्ञानविद्या तस्य स्वमात्रविषयमात्रापि ज्ञानान्तरासिद्ध्या ज्ञानस्यापि विशेषणत्वेन तद्विषयत्वे स्वस्ववेदनरहानासर्वाचित्तवैश्यानामात्मा संवेदनं स्वसंवेदनपिस्तुपगमात्समास्तसाधककृत-स्यबोधोपपत्तिरिति भावः ॥ नीलतद्विधोराकाराकारित्वे कार्यकारणत्ववशादित्ये वा मानमेवत्वसंगतिनिर्मा सा च ज्ञानाभेदेन सेतव्यति इत् तदवाचयेन साक्षिभेदासाङ्गुषाऽऽह—कार्येति । मूढघटयोस्तमुपपत्तीर्षोपपत्तदर्थोपपत्त मानमेवत्वकृतत्वमनेनैवान्तरत्वात्साधकसाक्षिणा भाव्यद्वयः । किंच मानमेवत्वसंगतेस्तदव्यतमत्वेऽपि तावदव्यतम भाव्य न हि ज्ञानाभेदेन तस्मिन्निस्तस्यास्त-मात्रत्वात्वादित्याह—विधिनेति । संगतिरभ्येदेति सबन्ध ॥ मानमेवसंगतिसाधक साक्षिण साध्यता ज्ञानातिरिक्तो प्राहको प्राह्यत्वेऽप्युक्तम् । इदानीं मानमेवभेदे

विज्ञानं घटः पट इत्येवमादीनां शब्दानामेकार्थत्वे पर्यायशब्दत्वं प्राप्नोति । तथा साधनानां फलस्य 'चैकत्वे साध्यसाधन'भेदोपदेशशास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गः । तत्कर्तुरज्ञानप्रसङ्गो वा ।

किंचान्यत् । विज्ञानव्यतिरेकेण चादिप्रतिवादिवादोपान्मुपगमात् । न ह्यात्मविज्ञान-

शास्त्रमुपदिशतो बुद्धस्य सर्वज्ञत्वं न स्यादित्याह—तत्कर्तुरिति । वाशब्दश्रापः ।

इतश्च सर्वस्य नास्ति विज्ञानमात्रत्वमित्याह—किंचान्यदिति । न केवलं पूर्वोक्तोपपत्तिवशादेव बाह्यार्थोऽभ्युपेयः किन्तु 'तत्रैवान्यदपि कारणमुच्यत इति याजद । 'तदेव स्फुटयति—विज्ञानेति ।

साधन प्रौर फल की एकता होने से साध्य-साधनरूप भेद का उपदेश करने वाली श्रुतियां व्यर्थ हो प्रकार जाएंगी तथा उनके रचयिता मन्त्रद्रष्टाप्रो पर भी प्रज्ञान का प्रसङ्ग भा जायगा ।

इसके प्रतिरिक्त एक प्रौर वात यह भी है कि वादी-प्रतिवादी के वाद और दोष, ये विज्ञान से

१. प्राप्नोतीति—तथा च घटशब्दत्वाने पटाभेदप्रति प्रयुज्येन । २. एकत्व इति—तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनिवृत्तमादिति भावः । ३. भेदोपदेशेति—इदमस्य साधन नैवदस्य फलमित्येवम् । धानपंचयम्—निवृत्तयाम् । तथा च योगिप्रत्यक्ष प्रकृत्य एतच्च सर्वं भवति निवृत्तमूलं सर्वमदादिकदृष्टधर्मशास्त्राकारित्वा-दित्यादि ददुक्तं तदभ्रमतगतोत् स्यादित्यर्थः । ४. क्षणिकविज्ञानरूपात्तमप्यम् । ५. बाह्यार्थोऽभ्युपेय एव । ६. कारणान्तरमेव ।

हेतुवन्तरमाह—मानेति । तयोर्भेदे भावना एव भेदो भेदांश एव मानमित्युक्तं स्यात्तदा मानमेवत्यासिद्धिरैकवा-संबन्धादांशिनोरैक्यतत्त्वाद्भेदस्तथोरित्यर्थः ॥ यस्य तदभेदस्तस्य कथं भेद एकत्र तद्भावामादानुपपत्तेरित्या-शङ्कधोक्तं स्पष्टयति—मानमेवावबोधिरिति । छप्पमीष्मां ज्ञानं गृह्णते ॥

‘न । यावत्तावदित्यत्रत्यवातिक्रमस्थबोद्धकारिणः । ‘तस्यां यद्रूपमाभाति बाह्यमेकमिवान्यतः । स्यादुक्तमिव निस्तत्त्वं परीक्षानुज्ञावत् ।’ ॥ १ ॥ इति । तस्यां विधि यद्बाह्यं रूपं जायरादित्वेव अन्यत इव विज्ञाना-ङ्गिद्रमिव अथ च स्यादुक्तमिव मिथो भिन्नमिवाऽऽभाति तस्मिन्स्तत्त्वं मिथोविज्ञानमेव श्वेक तत्त्वम् । कुतः परीक्षानुज्ञावत्तः, विचारे क्रियमाणे जागरादेर्नि स्वरूपावनिश्चयादिति भावत् । प्रमाणाविवयरादिति वा ॥ ‘धर्मधर्मिभ्यवस्थान भेदोऽभेदश्च यादृशः । असमीक्षितस्वार्थो यथातोके प्रतीयते ॥ २ ॥ असमीक्षित तत्त्वं पस्य सोऽर्थो घटदोषादिभिघटत इति भेदा भावरूपोऽभेदोऽभावरूपो वा बाह्योऽभ्युपेयमन्यते लोके धर्मधर्मिभ्यवस्थानं विषयविषयिमावादिभ्यवस्था च सोऽस्तु परमण्या प्रतीयते यथा प्रतीयते न तथा प्रत्यक्षो नास्तोत्यर्थः । अथवा प्रतीयते यथा यादृशबाह्योऽभ्युपेयमन्यतेऽस्तु परमसमीक्षितस्तत्त्वतोऽर्थः स्वरूपं यस्य स तथाऽप्रत्यक्ष इति यावत् ॥ ‘ज्ञानादभ्यतिरिक्त च कथमर्थान्तरं प्रजेत् । तस्मान्मिथ्याविचित्रोऽयमर्थेकात्मताग्रहः’ ॥ ३ ॥ चकारस्त-द्रघतिरेकेणानुपलभ्यमुक्ति द्योतयन् व्यतिरेकरूपधारयति । धर्मान्तरं व्यतिरिक्तद्रवम् । भावप्रधानो वा प्रयोगः । एकारमता या अग्रह इति च्छेद्यम् । केवलायतिमकरवग्रहो वार्यः । ज्ञानस्याज्ञानत्वात्संभवस्तच्छब्दाद्यः । तथाच ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानज्ञानंरूपस्य घटादेस्ततो भेत्तुमशक्तेरतत्र धेवमर्थमाश्रयत्वमितिः सा भ्रान्तिरिति लभुदितार्थः ॥ ‘तत्तथैव उमाश्रित्य साध्यसाधनसंस्थितिः । परमाश्रिताराय विद्वद्भिरवहत्येते’ ॥ ४ ॥ मानमेवादि यथा प्रतीतिभिन्नेत्वेनाभ्युपेयमन्येतानुमानादिमानेनेतच्छ्रुत्यादि तत्त्वात्मकमेवमेवोचरा प्रमा प्रमातरि त्वयि जनिष्यत इत्येवं हेतुफलभावव्यवस्था शून्यादितत्त्वे सिध्याणां मतिमदमाहमितुं विद्वद्भिः प्रकल्प्योपदिश्यत इत्यर्थः ।

मात्रमेव वादिप्रतिवादिवादस्तद्दोषो वाऽभ्युपगम्यते निराकर्तव्यत्वात्प्रतिवाद्यादीनाम् । न ह्यात्मीयं विज्ञानं निराकर्तव्यमभ्युपगम्यते स्वयं चाऽऽत्मा कस्यचित् । तथा च सति सर्वसंख्यवहारलोपप्रसङ्गः । न च प्रतिवाद्यादयः 'स्वात्मनैव गृह्यन्त इत्यभ्युपगमः । व्यतिरिक्तग्राह्या हि तेऽभ्युपगम्यन्ते । 'तस्मात्तद्वत्सथमेव व्यतिरिक्तग्राह्यं वस्तु जाग्रद्विषयत्वाज्जाग्रद्वस्तु प्रतिवाद्यादिव्यविति सुलभो दृष्टान्तः । 'संतत्यन्तरव'द्विज्ञानान्तर-

'द्विग्राह्यं तस्त्वव्यतिरिक्तग्राह्यं यथा प्रतिवाद्यादि जाग्रद्वस्तु चेद ग्राह्यमित्यनुमानात्प्र वाह्यार्थपत्तापत्तिद्विरित्यर्थः । दृष्टान्ते विप्रतिपत्ति प्रत्याह—न हीति । निराकर्तव्यत्वेऽपि "तेषां ज्ञानमात्रत्वं किं न स्यादित्यशङ्क्याऽऽऽत्मीयज्ञानत्वमात्मज्ञानत्वं वा तेषामिति विरुद्धे क्रमेण दूषयति—न हीत्यादिना । स्वकीयनिषेधे स्वनिषेधे चानिष्टापत्तिमाचष्टे—तथा चेति । स्वदङ्गोकारात्सोघनायामपि प्रतिवाद्यादीनां विज्ञानातिरेकः सेत्स्यतीत्याह—न चेति । "अग्नयथा विवादाभावापातादिति भावः । कथं "तर्हि तेषामङ्गीकारस्तत्राऽह—व्यतिरिक्तेति । सिद्धे दृष्टान्ते "कलितमनुमानं निगमयति—तस्मादिति । किंच "चंद्रसंतानेन भ्रंशसंतानो ध्ववहारावनुमीयते सर्वज्ञज्ञानेन चामर्शज्ञानानि ज्ञायन्ते "तत्र भेदस्य तेषां सिद्धेस्तद् "दृष्टान्ताप्रोत्पादेस्तद्विषयश्च भेदः प्रायो"ऽनुमातुमित्याह—सतत्यन्तरवदिति ।

व्यतिरिक्त ही स्वीकार किये जाते हैं; वादी और प्रतिवादी के वाद और दोष क्षणिक विज्ञानरूप आत्म-मात्र ही नहीं स्वीकार किये जाते; क्योंकि प्रतिवादी आदि के लिये इनका निराकरण करना आवश्यक हुआ करता है । किसी सुमुद् के लिये भी प्रपना विज्ञान अथवा स्वयं आत्मा ही निराकरण के योग्य नहीं होता; यदि ऐसा हो तो सभी सव्यवहारो का लोप हो जाय । 'प्रतिवादी आदि स्वयंप्रकाशरूप अपनी आत्मा से ग्रहण किये जाते हैं'—ऐसा विज्ञानवादी को भी स्वीकार नहीं है । वे अपने से व्यतिरिक्त वादी आदि के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं—ऐसा उन्हें प्रथमतः है । अतः उन्हीं के समान सब वस्तुएँ अपने से व्यतिरिक्त ग्राहक द्वारा ग्राह्य हैं । क्योंकि वे जाग्रत् के विषय हैं, जाग्रत्काल की वस्तु

१. भवद्विरस्मानिष्य । २. सुमुदस्यापि । ३. स्वयंप्रकाशतया स्वेनैवेत्यर्थः । ४. तस्मात्—प्रतिवाद्यादीनां स्वव्यतिरिक्तग्राह्यत्वात् । ५. तद्वत्—प्रतिवाद्यादिवत् । ६. तद्वदित्यस्य व्याख्या । ७. सतत्यन्तरवदिति । नीलवीर्यादिक विज्ञानव्यतिरिक्तं विज्ञानविषयस्वाभेदसंतानवत् । ८. विज्ञानान्तरवदिति । नीलादिकं विज्ञानव्यतिरिक्तं विज्ञानविषयवशात् । यथा सर्वज्ञानविषयमसर्वज्ञानं सर्वज्ञज्ञानाद्व्यतिरिक्तं तद्वत् । ९. ज्ञानाव्योभेद वदताः सिद्धान्तित्वात् तत्र मानमवच्छेद वाच्यं भवतापि तदभेदवादिना तत्र तदवश्यं वाच्यमित्यभिप्रेत्य अनेके मत्तामात्रं मन्यान्तो भेदे मानमाह—यदाहामिति । १०. वाद्यादीनाम् । ११. तेषां स्वग्राह्यत्वे । १२. अग्नयथाविवादाभावापातादिति । किमाद्यकास्त इति तत्त्वत्वे स्वग्राह्याः स्वेतरग्राह्या येति तद्विकी वा यो विवादस्तदभावप्रसङ्गादित्यर्थं इत्याह यथा स्वत्वसिद्धान्तोपपादकमुक्तिप्रत्युक्तमभ्युदय-विशिष्टानां वाद्यादीनां स्वयं ग्राह्यत्वेऽनवदनव्यापारेणेति मौनभूवितैव स्यादबोधश्चेत्यर्थः । स्वग्राह्यत्वे वा सर्वैः शक्यमेव विज्ञानमेव सत्त्वमिति विज्ञानमिति इत विवादेनेति । १३. स्वग्राह्यत्वानभ्युपगमे । १४. उपक्रान्तमिति भावत् । १५. चैनेत्यादि—चैत्रसंतानेनेति कर्तृपदम् । संतानः क्षणिकविज्ञानधारा । अनुधीयत इति मेना संतानवानभिवदनादिभ्यवहारात्तद्वदिति । १६. तत्र—अनुमातुमेव संतानादौ । १७. चैत्रमेद-संतानरूपस्यात्तात् । १८. अनुमातुमिति—नीलादितद्विधे) मिथो मिन्ने विषयविषयित्वाच्चैत्रमेदसंतान-वदिति ।

वच्चेति । 'तस्माद्विज्ञानवादिनाऽपि न शक्यं विज्ञानध्वतिरिवत्तं ज्योतिरन्तरं निराकर्तुम् । स्वप्ने विज्ञानध्वतिरेकाभावादयुक्तमिति चेत् । न । अभावादपि भावस्य वस्त्वन्तरत्वोपपत्तेः । भवतैव तावत्स्वप्ने घटादिविज्ञानस्य भावभूतत्वमभ्युपगतम् । 'तदभ्युपगम्य 'तद्व्यतिरेकेण घटाद्यभाव उच्यते । स विज्ञानविषयो घटादियद्यभावो यदि वा भावः स्यादुभययोऽपि घटादिविज्ञानस्य भावभूतत्वमभ्युपगतमेव । न तु 'तन्निरवर्तयित्' शक्यते । तन्निरवर्तकंन्यायाभावात् । एतेन सर्वस्य शून्यता प्रत्युक्तः ।

इति न बाह्याण्यपिलापमिदिरिति शेषः । तवपलापामभवे कलितमाह—तस्मादिति ।

'विज्ञानादर्थभेदोक्त्या प्रत्यगात्मा विज्ञानातिरिक्त उक्तः । संप्रति 'ध्वितं ज्ञानभिन्नं प्राहृत्वा-
'स्वप्नप्राहृत्वादित्युक्तमनुवदति—स्वप्न इति । अयुक्तं विज्ञानातिरिक्तत्वमयं स्येति शेषः । दृष्टान्तस्य साध्यविकलतामभिप्रेत्य परिहरति—नाभावादपीति । संप्रहृत्वायं विद्युत्शोभेति—अवर्तयेति । बाह्याण्य-
वादिभ्यो विशेषमाह—तदभ्युपगम्येति । 'तयाऽपि कथं दृष्टान्तस्य साध्यविकलतेः शङ्काऽह—
म इति । घटादिविज्ञानस्य भावभूतस्याभ्युपगतस्य घटादेर्भावादभावाद्वा विद्ययादर्थान्तरत्वाद्यस्य 'कस्य-
चिद्बाह्याण्यस्योरगमाद्दृष्टान्तस्य ऋसाध्यविकलता सृप्रसिद्धेत्यर्थः । साध्यविकलताम'तिदेशेन निरा-
करोति—एतेनेति । ज्ञानज्ञेययोर्निराकर्तृमशयत्ययचनेनेति यावत् । आत्मनो प्राहृत्वाहमिति प्रत्य-

प्रतिवादी आदि के ममान यह दृष्टान्त सुलभ है; तथा अन्यसन्तति तथा अन्यविज्ञान के महश भी वे वस्तुएं अपने से भिन्नप्राहक द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं । इसलिए (ज्ञानार्थभेद के प्रामाणिक होने से बाह्याण्यं अपलाप प्रसभव होने के कारण) विज्ञान से व्यतिरिक्त अन्यज्योति का निराकरण करना विज्ञानवादी द्वारा भी समभव नहीं है ।

यदि कहो स्वप्न मे तो विज्ञान के बिना दूसरी वस्तु का अभाव है, तो ऐसा कथन ठीक नहीं क्योंकि प्रभाव से भी भाव का वस्त्वन्तर हाना सिद्ध है । घटादिविज्ञान का भावस्वरूपत्व स्वप्न मे होना है—ऐसा तो आप भी स्वीकार करते हो । ऐना स्वीकार कर उससे भिन्न घटाभाव कहा जाता है । घटादि का अभाव उम विज्ञान का विषय हो अथवा भाव, दोनों तरह स घटादिविज्ञान की भावरूपता तो स्वीकार कर ली गयी, घटादिविज्ञानभाव का निराकरण करना समभव नहीं है क्योंकि उसका निराकरण होने मे युक्ति का प्रभाव है । इससे सबकी शून्यता का निरास हो गया । तथा आत्मा

- १ तस्मात्—ज्ञानार्थभेदस्य प्रामाणिकत्वेन बाह्याण्यपिलापसमवात् । २ तत्—तत्र तस्य भावभूतत्वम् ।
३. घटादिविज्ञानध्वतिरेकेण । ४ घटादिविज्ञानभावम् । ५ एकत्वभावात् । ६ भाषानेयभेदोक्त्या ।
- ७ जाग्रद्वस्तु । ८. स्वप्नेति । न हि त्वायिवर्तमानोऽपि जाग्रद्वस्तुषु (स्यापि) स्वप्नवस्त्वस्ति । तथा च तत्र तस्य ज्ञानमानवत्वात् दृष्टान्ताज्जाग्रद्वस्तुषु नातिरेक्यस्त्विति न दृष्टान्तास्यपरिचित भावा । ९ तयार्थ—
स्वप्ने घटादिविज्ञानस्य भावरूपत्वमभ्युपगम्य तदर्थान्तरकेण घटाद्यभावे स्वीकृतेऽपि । १०. भावस्याप्राक-
स्य वा । ११. अतिदेशेनेति—निष्पन्नद्वैतुस्मारणैरेव ।

ऋसाध्यविकलतेति । अत्रापूर्वातिकारणवस्तुत्वाद्—'किमात्र समते ज्ञानाज्ज्ञानवस्त्वन्वचरतु चेत् । स्वमहि-
म्नैव तस्मिन्ने कय नास्तीति अशक्येति । ज्ञानार्थेयाप्यत्र तद्वीधवचनेप्रकल्पयते । परमार्थसतोऽसत्य किमानमिति
पश्यताम् ॥ विज्ञानध्वतिरेकेण नोनादिविषयो यदि । भावो वा स्यादभावो वा सोऽस्त्येवेति विनिश्चिति ॥ स्व-

प्रत्यगात्मग्राह्यता चाऽऽत्मनोऽहमिति मीमांसकपक्षः 'प्रत्युक्तः ।

'यत्सूक्तं सालोकोऽन्यश्चान्यश्च घटो जायत इति तदसत् । क्षणान्तरेऽपि स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञानात् । 'सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानं कृतोत्थितकेशनखादिष्विवेति चेत् ।

गात्रमनेव ग्राह्येनेति मीमांसकमतमपि प्रत्युक्तमेकरथं च ग्राह्यग्राहकताया निरस्तत्वादित्याह—
प्रत्यगात्मिति ।

क्षरुभङ्गादिनोक्त'मनूय प्रत्यभिज्ञाघिरोधेन निराशरोति—यत्सूक्तमित्यादिना । स्वपक्षेऽपि प्रत्यभिज्ञोपपत्तिं प्राप्य 'शङ्कते— मादस्यादिति । दृष्टान्तं 'विघटयन्गुत्तरमाह— न तत्रापीति । 'तथाऽपि

'ग्रह'प्रत्यगात्माग्राह्य है—ऐसा मीमांसको के मत का भी निरास हो गया ।

प्रौर जो यह कहा गया था कि 'आलोकमहित अन्य-अन्य घट उत्पन्न होता है'—ऐसा कहना भी संभव नहीं है । क्योंकि क्षणान्तर मे भी यह वही घट है—ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । यदि कही कि काटने पर पुन वट्टे हुए केश प्रौर नखादि के समान उन घटो मे समानता होने के कारण घटसादृश्य

१ प्रत्युक्त इति—ननु म टटा हि द्रव्यबोधरूपगतरानमिच्छ'तो द्रव्यातस्य ग्राह्यत्व बोधोपस्य ग्राहकत्वमिति व्यवस्थापरमि- तदेकस्मिन्नात्मनि ग्राह्यग्राहकत्वावपत्तिरिति चेन्न तत्कदाऽमन्यशासित्व निरस्तत्वघृतेस्तद्भूतेऽपि नैकत्र ग्राह्यग्राहकत्वे तस्य द्वयोर्ध्वव्यतिरिक्त्वात् तथोग्रामभेदादेकस्मिन्बोधे तद्भूत्वा एव च ग्राह्यग्राहकत्वपक्षो- क्तबोधः स्वादरो न सम्भूत साधुः ॥ तथा च वार्तिकम्—'प्रशाशित्येऽपि नैव स्यात्प्रोक्तादेव कारणा- दिति" ॥ १११ ॥ २ १०२१पृष्ठभाष्ये । ३ सादृश्यादित्यादि । सोऽयं घट इति प्रत्यभिज्ञा सादृश्यनि- बन्धना प्रत्यभिज्ञात्वात् कृतोत्थितकेशनखादिप्रत्यभिज्ञावदिति प्रयोधोऽयं सूचयते । ४ तिद्वावलोकनन्यायन । ५ साध्यबैकत्येन द्वयपत्न । ६ तथाऽपि शक्तिरूपस्यासिद्धत्वेऽपि ।

प्राप्तो भवतैवाय जायदनुभूयते । घटादिज्ञानविधय स कथं भव्यते त्वया ॥ यद्वस्त्वनुभवप्राप्त तच्चेत्प्राप्तोति भव्यते । ज्ञानेऽपि स्वयदनास्वास्तस्यानुभवसिद्धिर्दिति ॥ ज्ञानादतिशयो यदप्राप्तोतीति तथैव सन् । घटोऽपी ह्यनुभूते सप्राप्तोति कथमुच्यते ॥ तदव्यकालासदृशेति चेदसद्बुध्यते । क्षणान्तरे क्षणाद्विदरसत्त्व व प्रसज्यते ॥ हेमन्तेऽनुपमभरवाद्दप्रोपमवमरिनिहूति । प्रतिज्ञातुमवाक्या स्यात्तथा द्युर्यवमापत्तत् । देशकालादिन वत्पा- भेदेनैवाहित मन् । वस्तु सिद्ध जगत्परिष्ठातवत्सद्भूयते कथम् ॥ विज्ञानव्यतिरेकेण घटो नास्तीति वत्ततः । नास्त्यर्थेऽपि च यो विदेदस्यपर्वित्त्वादिह ॥ अस्त्यर्थेवत्त्वमात्रेण नामाबोऽस्ति विना सता । यथाऽस्ति तव विज्ञानमेव कुम्भमाप्योष्यताम् ॥ अस्त्यर्थेवत्त्वतिरेके हि न किंचिदपि सिध्यति । अस्त्यर्थेवत्त्वतिरेकेण विज्ञानादि यदोच्यते । ब्रह्माह्यगार्दिवस्तस्यादप्रदेवेति निश्चितम्" ॥ १६४-१७२ ॥ इति । स्वप्नवस्तु ज्ञानाद्भेदेन दृश्यते न वेति विद्वत्प्राऽऽयनादाय दूषयति—विभागमिति । जेवाऽज्ञानभेदइज्ज्ञानाऽज्ञेयभेद स्वप्ने दृश्यते चेत्सद्व्यवयव स्वात्मस्य ज्ञानातिरेकिकण, सिद्धेऽवपलापयोवाद्दृष्टान्तस्य साम्यविलतेष्वर्थं ॥ द्वितीयमनूय दूषयति— ज्ञानयेति । स्वप्न वस्तु ज्ञानाद्भेदेन न दृश्यते किंतु त-मात्रमेवेत्यत्र न तद्व्यवयवस्य ज्ञानातिरेकत्वाज्ञानवत्सो आषट्स्तुनोऽपि स्वप्नापह्नुषो नास्तोर्यथं ॥ न स्वप्नजाग्रदहस्तुनो स्वप्नमेवासपारमरतयोरस्तु ज्ञानातिरेक त्त्वात्सद्व्यवयवत्वोऽप्यमित्याहकृपाऽऽह—विज्ञानेति । अवस्थाद्वयेऽपि यथाप्रतीति साक्षात्तो ग्राह्योऽन्यथा अप्राप्तोवार्दित्यव ॥ जायते ज्ञानार्थभेदेऽपि न स्वप्ने तद्भेदसत्त्वग्राहकक्षुराद्यजामादियाद्यकृपाऽऽह— स्वप्नादाविति । आदिवदेन स्मृतिरुपाचयानासृत्ताः । तत्र चक्षुराद्यजावेऽपि मनोऽस्ति तच्च समनन्तरपरमोऽयमेति

न । 'तत्रापि क्षणिकत्वस्या'सिद्धत्वात् । जात्येकत्वाच्च । कृत्तेषु पुनरुत्थितेषु च केश-
नखादिवु केशनखत्वजातेरेकत्वात्केशनखत्वप्रत्ययस्तन्निमित्तोऽभ्रान्त एव । 'न हि
दृश्यमानलूनोत्थितकेशनखादिवु व्यक्तिनिमित्तः स एवेति प्रत्ययो भवति । 'कस्यचिदीर्घ-

कस्य'तत्र प्रत्यभिज्ञेयाशङ्क्याऽऽह—जातीति । तन्निमित्ता तेषु प्रत्यभिज्ञेति शेषः । 'तदेव प्रपञ्चयति
—कृत्तेष्विति । अभ्रान्त इति श्लेषः । किमिति जातिनिमित्तं यो धोर्बन्धुक्ति'निमित्ता किं न स्यादत आह—
न हीति । ननु सादृश्यवशाद्भक्तिमेव विषयोऽहस्य प्रत्यभिज्ञानं केशादिवु किं न स्यात्तत्राऽह—

के कारण ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ भी उनका क्षणिकत्व
सिद्ध नहीं किया जा सकता । समानजातीय होने से भी ऐसा नहीं हो सकता । कटे हुए और बडे हुए
केश और नखादि को केशत्व और नखत्वरूप से समानजाति होने से तन्निमित्तक केशत्व और नखत्व
की प्रतीति भ्रान्तिमूलक ही है । साक्षात् कटे और बडे हुए केश और नखादि मे—'यह वही है'— ऐसी
प्रतीति व्यक्तिनिमित्तक नहीं होती । किसी-किसी को दीर्घकाल के पश्चात् देखे हुए तुल्यपरिमाण

१ तत्रापि—कृत्तरिचतकेशादिवचनम् । २ अतिदृश्यादिति—तथा च सादृश्येन च केशयोऽप्येकानि-
तोऽप्येकमिति भावः । ३ न हीत्यादि । केशादिव्यक्तौ नामनेकरस्य प्रामाणिकत्वात्तद्विरोधात् सत्र व्यक्ति-
कृता प्रत्यभिज्ञेयः । ४ किं च भ्रान्तस्य सादृश्यतः प्रवृत्तिज्ञानभ्रान्तस्य वेति विकल्पालङ्घनीत्ययं द्वितीयं
निराकरोति—कस्यचिदिति । ५ तत्र—केशयोः । ६ तदेव—जातिनिमित्तकत्वप्रतिपादयत् ।

बिन्तान्तरमिति भावः ॥ दयोरवस्थयोस्तु प्रवादवाह्यार्थं एवमुक्त्वा विपक्षे दोषमाह—यदतिरिचति ॥ ज्ञानार्थभेदे
युक्त्यन्तरमाह—ज्ञानादिति । यथा व्यवहारदशायां ज्ञानादग्नौ नास्त्वर्थस्तथास्त्वर्थोऽनुभूयमानत्वात्ततोऽवस्थयो-
ऽग्नौ नास्तीति दुर्बचनमित्यर्थः । अतिशयमवदोऽग्न्यविषयः ॥ अस्त्वर्थस्य घटादेर्निकास एवोपलम्भकारकालान्तरे
षानुपलम्भमादित्येवामिद्विरिति शङ्कते—तदयेति । अतिप्रसङ्गेन दूषयति—क्षणान्तर इति । अतिरिक्तस्त्वर्थसत्त्व
कालान्तरे स्वकाले वा नाऽऽद्योऽभ्युपगममानेतरः स्वक्षणे सत्त्वेन दृष्टस्य कालान्तरेऽनुपलम्भकारकत्वस्यैव
स्यैव क्षणशक्तिवत्कालान्तरे ज्ञानान्तरक्षणोऽदृष्टेः स्वक्षणेऽप्यसत्त्वावसेः सर्वदृश्यता स्यादित्यर्थः ॥ स्वकाले
सतोऽप्येवाऽनुपलम्भमात्तत्राप्यसत्त्वमिति प्रतिज्ञा न निर्वहोऽप्यत्र हेतुवन्तरमाह—इमन्त इति । प्रीप्ते सत्त्वेन
दृष्टानामोऽप्यधीना हेमन्तेऽदृष्टेर्ग्रीष्मेऽप्यपह्नुतिस्ते स्यात्तथा च प्रतिज्ञादुपलम्भया दृष्टिविरोधात्तथा सति स्वकाले
सर्वस्य यथाप्रतीति सत्त्वमेवेत्यर्थः । अदृश्यत्वमिति श्लेषः । अथवा दृष्टिमनादस्यासत्त्वप्रतिज्ञायां सर्वदृश्यता
स्यादिति विपक्षे दोषमाह—तथेति । इतश्च ब्राह्मणार्थादृश्यतेत्याह—विद्येति । विपक्षे विभाषणीयव्येतेत्यर्थः ॥
ब्राह्मणार्थपलायिनो ऽवशात्तापत्तेश्च तत्पलायितद्विरित्याह—विद्येति । प्रायाभाववद्ब्रह्मरूपमिहेत्युक्तं ॥
कुतो व्याहृतिर्यथाऽऽस्त्वर्थो नास्त्वर्थानिपेक्षस्ते सिद्ध्यति तथा सोऽप्यस्त्वर्थानिपेक्षा सेत्स्वतोऽप्यनुपलम्भः—
अस्त्वर्थवदिति । अथायमकलमाह—यथेति । अस्त्वर्थानुपलम्भे निष्प्रतिपत्तिको नास्त्वर्थो न सिद्ध्येत्तदङ्गीकारे
मन्वाह्याऽर्थपलायितद्विरस्त्वज्ञानव्योपस्थापि सत्त्वमित्यर्थः ॥ अस्त्वर्थो नास्त्वर्थो वा लक्षणां विज्ञानमेव तु
स्वरसम्पुष्टुपनिवारणोऽप्यमात्रियामहे तत्र किंचिदनुपलम्भितयाऽऽह—अस्त्वर्थेति ॥ इत्थं तदप्यथे
मर्वाविरिक्तनिवारणकारोऽस्त्वर्थानिपेक्षस्ते सिद्धेरित्याह—अस्त्वर्थोऽस्त्वर्थेति । न हि ब्राह्मणान्तरस्यैव
ब्राह्मणादिभावस्तथा सतोऽप्यसत्त्व न सतोऽप्यसत्त्व ॥

कालव्यवहितदृष्टेयु च त्वत्परिमाणेषु तत्कालीनवालादित्तुल्या इमे केशनखाद्या इति प्रत्ययो भवति न तु त एवेति । घटादियु पुनर्भवति स एवेति प्रत्ययः । 'तस्मान्न समो दृष्टान्तः ।

प्रत्यक्षेण हि प्रत्यभिज्ञायमाने वस्तुनि तदेवेदमिति न चागदत्वमनुमातुं युषतं प्रत्यक्षविरोधे निङ्गस्याऽऽभासत्वोपपत्तेः । सादृश्यप्रत्ययानुपपत्तेश्च । 'ज्ञानस्य क्षणिकत्वात् । एकस्य हि वस्तुदर्शने वस्त्वन्तरदर्शने सादृश्यप्रत्ययः स्यात् । न तु वस्तुद्वयको वस्त्वन्तरदर्शनाय क्षणान्तरमवतिष्ठते । विज्ञानस्य क्षणिकत्वात्सकृद्वस्तुदर्शनेनैव क्षयोपपत्तेः । तेनेदं सदृशमिति हि सादृश्यप्रत्ययो भवति । तेनेति दृष्टस्मरणमिवमिति

वस्यचिदिति । अभ्रान्तस्येति यावत् । दार्ष्टान्तिके बंधम्यमाह—घटादिविति । बंधम्यमुपसहरति—तस्मादिति ।

यत्सत्तत्क्षणिक यथा प्रदीपादि सन्तश्चामी भावा इत्यनुमानविरोधाद्भ्रान्तं प्रत्यभिज्ञानमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यक्षेणेति । अनुष्णतानुमानवत्प्रत्यक्षविरोधे क्षणिकतानुमानं मोदेत्येवाघतवियपत्त्वस्याप्यनुमित्यङ्गत्वादिति भावः । इतश्च प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यनिबन्धनो भ्रमो न भवतीत्याह—सादृश्येति । तदनुपपत्तो हेतुमाह—ज्ञानस्येति । तस्य क्षणिकत्वेऽपि किमिति सादृश्यप्रत्ययो न सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—एकस्येति । अस्तु तर्हि वस्तुद्वयदर्शित्वमेकस्येति चेन्नेत्याह—न त्विति । उक्तमेवायं प्रपञ्चयति—तेनेत्यादिना । भवतु किं तावत्तत्तत्राऽऽह—तेनेति दृष्टमिति । अ्वतिष्ठेन

वाले केश नखादि मे तो ये केश भ्रौर नखादि उस समय के केशनखादि के समान है—ऐसा प्रत्यय होता है, परन्तु यह वही है—ऐसा प्रत्यय नहीं होता । किन्तु घटादि मे तो 'यह वही है' ऐसा प्रत्यय होता है । इसलिये यह दृष्टान्त विषम है ।

जिस वस्तु मे प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'यह वही है', तो उसका अन्वय अनुमान करना ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षवाद्य होने पर लिङ्ग का आभासत्व सिद्ध होगा और ज्ञान के क्षणिक होने से उसमे सादृश्यमान होना भी सम्भव नहीं है । एक ही वस्तुदशक को वस्त्वन्तरदर्शन मे सादृश्यमान हो सकता है । तथा एक वस्तुदशक दूसरी वस्तु को देखन के लिये अगले क्षण मे रहता नहीं है क्योंकि विज्ञान के क्षणिक होने से उसका एक बार वस्तुदर्शन से ही क्षय होना सिद्ध है । 'यह उसके तत्त्व है' ऐसा सादृश्यमान हुआ करता है । तेन' (उसके) यह पद दृष्ट का स्मारक है, 'इद' (यह) इस पद से वर्तमान की प्रतीति होती है । यदि 'तन' इस पद से पूर्वदृष्ट को स्मरण करके देखन वाला 'इद' इस

१. न तु त एवेति—केशादिवद्भ्रान्तस्य प्रत्यभिज्ञा दृश्यमाना त्वेकजातिनिमित्ता नाङ्गूयत इत्युक्तमिति व विस्मृतस्यम् । "अभ्रान्तस्य केशादी यथा सादृश्यधीस्तथा । पूर्वचालेरिम वासा. घटश्च इति आपत्त" । वा ६६८॥
२. तस्मात्—दृष्टोत्पिषकेवादिषु प्रत्यभिज्ञानाभावात् घटादियु च तस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्यर्थः ।
३. प्रत्यक्षेणवादि—बह्विधैर्यानुमाने तथा दृष्टवासानुमाने न प्रत्यक्षवाद्य इति भावः । ४. ज्ञानस्येति—प्रत्यभिज्ञाव्यवस्थामनुत्तज्ञानस्येत्यर्थः । ५. अवापितस्यप्यकत्वस्यानुमिते। प्रमावप्रयोजकत्वादित्यर्थः ।

वर्तमानप्रत्ययः । तेनेति दृष्टं स्मृत्वा यावदिदमिति वर्तमानक्षणकालमवतिष्ठेत । ततः क्षणिकवाद्वाहानिः ।

अथ तेनेत्येवोपक्षीणः 'स्मार्तः प्रत्यय इदमिति चान्य एव 'वार्तमानिकः प्रत्ययः क्षीयते 'ततः सादृश्यप्रत्ययानुपपत्तिस्तेनेदं सदृशमिति । अनेकदर्शन एकस्याभावात् । व्यपदेशानुपपत्तिश्च 'दृष्टव्यदर्शनेनैवोपक्षयाद्विज्ञानस्येदं पश्याम्यदोऽद्राक्षमिति व्यपदेशानुपपत्तिर्दृष्टवतो व्यपदेशक्षणानवस्थानात् । 'अथावतिष्ठेत' क्षणिकवाद्वाहानिः । अथाद्दृष्टवतो व्यपदेशः सादृश्यप्रत्ययश्च 'तदानो' 'जात्यन्धस्येव रूपविशेषव्यपदेश' स्तत्सादृश्यप्रत्ययश्च सर्वमन्धपरम्परेति "प्रसज्येत सर्वज्ञशास्त्रप्रणयनादि न चेतदिष्यते । अकृताभ्यागमकृत-

यदीति शेषः ।

क्षणिकत्वहानिपरिहारं शङ्कित्वा परिहरति—अथेत्यादिना । "तत्र हेतुमाह—अनेकेति । परपक्षे दोषान्तरमाह--व्यपदेशेति तदेव विवृणोति—इदमिति । व्यपदेशक्षणेऽनवस्थानातिद्वि शङ्कित्वा दूषयति—अथेत्यादिना । अन्वो द्रष्टाऽन्यश्च व्यपदेशेऽप्येवाशङ्क्य परिहरति—अथेत्यादिना । शास्त्रप्रणयनादीत्यादिशब्देन शास्त्रीयं नाप्यसाधनादि गृह्यते । क्षणिकत्वपक्षे दूषणान्तरमाह—

जन्तिपर्यन्त वर्तमान क्षण (काल) तक रहेगा, तो क्षणिकवाद सिद्धान्त की प्रसंगति हो जायगी ।

यदि 'तेन' इतना बहने से स्मृतिज्ञान क्षीण हो गया और 'इदम्' यह अन्य ही वर्तमानिक ज्ञान क्षीण होता है, तो ऐसी प्रवस्था में 'यह उमके समान है'—यह सादृश्यज्ञान होना सम्भव नहीं है क्योंकि अनेक वस्तुओं को देखने वाला कोई एक नहीं हो सकता । उपदेश की भी सिद्धि नहीं होगी क्योंकि द्रष्टा का विज्ञान तो द्रष्टव्य वस्तु को प्रथम बार देखकर ही क्षीण हो जाता है । "यह देखता है, यह देखा" ऐसा कथन सम्भव नहीं है क्योंकि विज्ञान का कथनक्षण में रहना सम्भव नहीं है । यदि विज्ञान रहता है—ऐसा मानें तो क्षणिकवाद का लोप हो जायगा । यदि कहो, वह कथन अद्रष्टा का है और उसी को सादृश्यप्रत्यय होता है, तो उस प्रवस्था में वह जन्मान्ध के समान रूपविशेष कथन और उसी पूर्वदृष्ट का 'यह उसी के सदृश है' ऐसा सादृश्यमान होगा; तब तो प्रमाणाभाव होने से सर्वज्ञ, शास्त्र-प्रणयनादि सर्वत्र अन्धपरम्परा की प्रसक्ति होगी । किन्तु यह इष्ट नहीं है । इस क्षणिकवाद में "विना

१. स्मार्त इति—दृष्टव्यवस्तुविषयकस्मृत्यधिकरणोभूतः तत्रावगाही शेष इति यावत् । उपलक्षण इत्यन्तं यद्योक्त-स्मृत्याधारात् सन्नेह नष्ट इत्यर्थः । २. वर्तमानिकः—वर्तमानकालिकेदस्तावत्वाद्दी वोपरचेद सामवगाहमान एव नश्यतीत्यर्थः । तथा च न क्षणिकवादसतिरिति । ३. तेनेत्येवोपक्षीण स्मार्तज्ञानमिदमित्येवोपक्षीण च वर्तमानिक ज्ञानमस्तेनेद सादृश्यमित्येकं ज्ञानं नास्ति चेत्तदा सादृश्यसाधिकत्वयोरसिद्धिरित्यभिप्रेत्याह— तत इति । सादृश्येत्यादि क्षणिकत्वस्याप्युपलक्षण तथा च धात्विकम्—"स्वरूपमात्रसंबोधि नाऽऽप्यनोऽपि क्षणे" इति । ज्ञानं प्रथमभिज्ञानाति च्चसिवाप्रापि व्यापारम् ॥ सादृश्यसाधिकत्वे द्वे त्वदिष्टे न प्रसिध्यतः" ॥ १७३७ ६७१ ॥ इति ॥ अथ सादृश्यम् । ४. प्रथमदर्शनेन । ५. द्रष्टुः । ६. विज्ञानस्य । ७. पूर्वार्थ-वसिद्धिज्ञानं भविष्यदयदानीमावसानम् । ८. तद्दि । ९. तदानोमिति—द्रष्टरेव व्यपदेशव्यवहोति नियमा-भावे । १०. जात्यन्धस्येति । अत्र धात्विके—"बाह्यन्धश्च सादृष्ट्वा कश्चिद्गद्यपदिविशेदह । सादृश्यधि-षणां वेद न कश्चिद्वक्तुं मर्हति" ॥ १८५ ॥ इह—व्यवहारवशात् । कश्चित्—प्राचीनदर्शनशून्यः । ११. पूर्वदिष्टेन सदृशमिदमिति । १२. प्रमाणाभावादिति भावः । १३. सादृश्यानुपपत्तौ ।

विप्रल्लाशदोषो तु प्रसिद्धतरौ क्षणवादे ।

दृष्टव्यपदेशहेतुः पूर्वोत्तरसहित एक एव हि शृङ्खलाव्यप्रत्ययो जायत इति चेत् । तेनेदं महद्गमिति च । न । 'वर्तमानातीतयोर्मिन्नकालत्वात् । तत्र वर्तमानप्रत्यय एकः शृङ्खलाशब्दस्थानीयोऽतीतश्चापरस्ती प्रत्ययो मिन्नकालो तदुभयप्रत्ययविषयपृषचेच्छृङ्खलाप्रत्ययस्ततः क्षणद्वयव्यापित्वादेकस्य विज्ञानस्य पुनः क्षणवादहानिः । 'ममतवतादिविशेषानुपपत्तेश्च सर्वसव्यवहारलोपप्रसङ्गः । सर्वस्य' च स्वसंवेद्यविज्ञानमात्रत्वे विज्ञानस्य च स्वच्छावबोधायमात्रस्वानाव्याभ्युपगमात्तद्दृशिनश्चान्यस्याभावेऽनित्यदुःखशून्यानात्मत्वाद्यनेककल्पनानुपपत्तिः ।

पकृतेति ।

व्यपदेशानुपपत्तिमुक्ता समादधानः शङ्कते—दष्टेति । सादृश्यप्रत्ययश्च शृङ्खलास्थानीयेन प्रत्ययेनेव सेस्यतीत्याह—तेनेदमिति । अप्रसिद्धात्प्रसक्तया प्रत्याचष्टे—नेत्यादिना । तावेद्योमीयो प्रत्ययो विषयो तदवगाहो चेन्मध्यवर्ती शृङ्खलाव्यवस्थानीयः प्रत्यय इति यावत् । "क्षणानां नियः संयन्धस्तहि मा भूदिति चेत्त्राऽह—ममेति । व्यपदेशसादृश्यप्रत्ययानुपपत्तिस्तु स्थितंवेति चकारार्थः । यत्तु विज्ञानस्य "दुःखाद्यप्लुनस्त्वं तद्द्रूपयति—मयस्य चेति । "शुद्धत्वात्तरससर्गद्वैभावाच्च न ज्ञानस्य दुःखादिसत्त्व " "स्वसंवेद्यत्वाङ्गीकारादित्यर्थः ।

किये हुए फल की प्राप्ति और किए हुए का फलनाश" ये दो दोष तो प्रसिद्ध ही हैं ।

दृष्ट कथन का हेतु पूर्व और उत्तर भागों से सबद शृङ्खला के समान एक ही भाग होता है, तथा 'यह उसके समान है' ऐसा भी भाग होता है—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वर्तमान और प्रतीत प्रत्यय भिन्न-भिन्न काल में हुआ करते हैं । उनमें से वर्तमानप्रत्यय उभयसबद शृङ्खला का एक भव्यवस्थानी है; प्रतीतप्रत्यय दूसरा है; यह दोनों प्रत्यय भिन्नकालिक है । यदि शृङ्खला के समान प्रत्यय उन दोनों प्रत्ययों के विषय को स्पर्श करता है तो एक ही विज्ञान के क्षणद्वयव्यापी होने से पुनः क्षणिकवाद की हानि होती है । तथा 'मेरा तेरा' भेद सब न होने से सम्पूर्ण व्यवहार का ही लोप हो जायगा । सर्व जगत् के स्वसंवेद्य विज्ञानमात्र होने पर और विज्ञान को स्वच्छ ज्ञान प्रकाश

१. प्रसिद्धतराविति—क्षणम इत्यादि कतुं देव मोक्षनुरवस्य तदनुपपत्तिकाविति भावः । तस्मादात्मादष्टः स्यात्प्रत्यया- ६९त्वेकस्य च । न कृतागमनिर्णय वा व्यपदेशपरमिन्नाद्यनुपपत्तिरिति सर्वं निर्णयम् । २. पूर्वोत्तरप्रत्यया- ३र्था सम्बद्ध । ३. शृङ्खलावदिति । यथा शृङ्खलाशब्दभूतानां बटुकानां मिथो मिप्रत्येऽपरि परस्परं सर्वत्र शृङ्खलाशब्दे नैकस्य च तथा मन्ववर्तिज्ञानस्य पूर्वोत्तराभ्यां सम्बद्धत्वेकरशास्त्र व्यपदेशसादृश्यप्रत्यय- ६९प्रत्ययानुपपत्तिरिति । नाव्यकृतान्वायगमिदोषद्वयमिति भावः । ४. प्रायययोः । ५. सगृहीतं विदुकोति— ६. तमेति । तयोः प्रत्यययोर्मध्ये इत्यर्थः । ६. उभयप्राययोरम् । ७. ममेत्यादि—ममतवत्सव्यवहारस्य सर्व- ६९वार्थकत्वाविति भावः । ८. जगतः । ९. विज्ञाने दुःखादिससर्गदशिनः । १०. क्षणिकानां प्रत्ययानामित्यर्थः । ११. दुःखादिससर्गदशिनः । १२. दुःखादिससर्गदशिनः भावः । १३. सत्त्वः । १४. तत्सर्गद्वैभावात् हेतुमाह—स्वसंवेद्यत्वाङ्गीकारादिति । तथा च ज्ञानस्य स्वभावभाष्यकारं न तु स्वा- ६९भित्माहव्यविति ।

न च दाडिमादेरिव विरुद्धानेकांशवत्त्वं विज्ञानस्य । 'स्वच्छावभासस्वामाव्यात् । अनित्यदुःखादीनां विज्ञानांशत्वे च सत्यनुभूयमानत्वाद्ध्यतिरिक्तविषयत्वप्रसङ्गः । 'अथानित्यदुःखाद्यात्मकत्वमेव विज्ञानस्य तदा तद्वियोगा'द्विशुद्धिकल्पनानुपपत्तिः । सयोगि-मलविपोगाद्धि विशुद्धिर्भवति । यथाऽऽज्ञं प्रभूतीनाम् । न तु स्वाभाविकेन धर्मैण कल्पचिद्वियोगो दृष्टः । न ह्यग्नेः स्वाभाविकेन प्रकाशेनौष्ण्येन वा वियोगो दृष्टः । यदपि पुष्पगुणानां 'रक्तत्वादीनां द्रव्यान्तरयोगेन (रा)' वियोजनं दृश्यते तत्रापि संयोगपूर्वत्वमनु-

ज्ञानस्य शुद्धबोधैकस्वाभाव्यमसिद्धं दाडिमादिवद्विज्ञानाविधुःखाद्यंशवत्त्वाभ्रयणादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । 'तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अनित्येति । 'तेषां 'तद्वत्त्वे सत्यनुभूयमानत्वात्ततो'ऽतिरिक्तत्वं स्वाद्धर्माणां धर्ममात्रत्वाभावाभ्येयानां च मानादर्शान्तरत्वादतो यन्मेयं न तज्ज्ञानाशो यथा घटादि मेयं च दुःखादोत्पत्त्यः । ज्ञानस्य दुःखादि धर्मो न भवति किन्तु स्वरूपमेवेति शङ्कामनुभाष्य दोग्यमाह—अथेत्यादिना । अनुपपत्तिमेव प्रकटयति—सयोगीत्यादिना । 'स्वाभाविकस्यापि वियोगोऽस्ति पुष्परक्तत्वादीनां तथोपलम्भादित्याशङ्क्याऽऽह—यदपीति । ॥द्रव्यान्तरशब्देन 'पुष्पसंबन्धिनोऽवयवास्त-द्वगत रक्तत्वाद्याचारम्भका विवक्षिताः । "विमतं संयोगपूर्वकं विभागवत्त्वा"न्मेपादिवदित्यनुमानात्

स्वरूपमात्र मानने परविज्ञान मे किंसा प्रत्य दुःखादिसत्संग्रष्टा की उपस्थिति स्वीकार नहीं की जायगी, तो उसमे अनित्यत्व दुःखत्व, क्षुण्यत्व और अनात्मत्वादि अनेक कल्पनार्ण उत्पन्न हो जाएंगी ।

अनार भादि फल के समान विज्ञान अनेक विरुद्धाशो से युक्त हो, ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि विज्ञान का स्वच्छ और प्रकाशक स्वभाव तो तुम भी मानते हो । यदि अनित्य और दुःखाद्यात्मक को विज्ञान का अश माना जाय तो अनुभूयमान होने के कारण उन्हे किसी दूसरे का विषय मानने का प्रसङ्ग आ जायगा और यदि विज्ञान को अनित्य और दुःखादिरूप माना जाय तो दुःखदि की वियुक्ति द्वारा विज्ञान की विशुद्धि की कल्पना करनी संभव नहीं है । लगे हुए मल को हटा देने से विशुद्धि होती है, जिम प्रकार दण्डादि के मल को दूर किया जाता है । किन्तु अपने सहज धर्म से किसी का वियोग होते

१. स्वयैवतकाऽनुपपत्तात् । २. दुःखादिवियोगात् । ३. विज्ञातस्य । ४. शुक्लत्वादीनामित्ययः ।

५. विभागः । ६. तस्य विरुद्धानेकांशवत्त्वासत्त्वे एव । ७. अनित्यदुःखादीनाम् । ८. विज्ञानधर्मत्वे ।

९. विज्ञानतः । १०. पुष्पस्य स्वाभाविकोऽपि शोकेत्यादिररक्तत्वादिरसावदिकते पुष्पबीजेऽपगच्छति रागादि-

(रक्तादि) इवोत्पद्यते तथा विज्ञानस्यापि चतुर्विधमात्राप्रमाणाद् दुःखादिस्वाभाविकैव विमुच्यते शुद्धिश्चोत्पद्यते

इत्यभिप्रेत्यावधारयति—स्वाभाविकत्वमपीति । ११. रक्त वादिवियोजनाय पुष्पेण सर्वथ सम्भ्रिताः अवयवा

द्रव्यान्तरस्यैव । १२. द्रव्यान्तरत्वरक्तस्येति योजना । १३. विमतम्—वियुक्तं रक्तत्वादि । १४.

मेपादिवदिति—वियुक्तं वियुक्तं युष्पमानं हृद्धारण्यदित्यर्थः ।

॥द्रव्यान्तरशब्देन पुष्पसंबन्धिनोऽवयवास्तद्वगतरक्तत्वाद्याचारम्भका विवक्षिता इति । द्रव्यान्तरशब्देन तद्वग-रक्तत्वाद्याचारम्भका द्रव्यान्तरे रक्तत्वादियोजनाय पुष्पेण सर्वथ सम्भ्रिता अवयवा इत्यर्थः । यद्वा पुष्पसंबन्धिन इति पठेत् । तथा च पुष्पस्य रक्तत्वा-दिवियोजनाय पुष्पेण सर्वथवतो द्रव्यान्तरस्य अवयवा द्रव्यान्तरे जनिष्यमाणरक्तत्वाद्याचारम्भकास्तै द्रव्यान्तरशब्देन विवक्षिता इति । ननु द्राव्यद्रव्याणामोऽप्यम् । न । वियोजनं दृश्यते इति भाष्यस्य तथोपलम्भादिति स्वोक्तस्य

मीयते । 'बीजभावनया पुष्पफलादीनां गुणान्तरोत्पत्तिदर्शनात् । अतो विज्ञानस्य विशुद्धिकल्पनानुपपत्तिः ।

'विषयविषयामासत्वं च यन्मलं परिकल्प्यते विज्ञानस्य तदप्यन्यसंसर्गाभावाद्-
नुपपन्नम् । 'न ह्यविद्यमानेन' विद्यमानस्य' संसर्गः स्यात् ।' अस्ति चान्यसंसर्गो यो धर्मो
यस्य दृष्टः स तत्त्वभावत्वात् तेन विद्योगमर्हति । यथाऽग्नेरोष्णं सवितुर्वा प्रभा ।

'स्वाभाविकस्य सति वस्तुनि नाशोऽस्तीत्यर्थः । अनुमानानुगुणं प्रत्यक्ष दर्शयति—योजेति । कार्पासादि-
बीजे 'द्रव्यविशेषसंपर्काद्' रक्तादिवासनया "तत्पुष्पादीनां रक्तादिगुणोदयो वलम्भा"त्संसर्गयोगिद्रव्यापग-
मादेव "तत्पुष्पादिविपु रक्तत्वाद्यपगतिरित्यर्थः । विशुद्धचनुपपत्तिमुपसंहरति—अत इति ।

कल्पनान्तरमनूद्य दूषयति—विषयविषयोति । कथं पुनर्ज्ञानस्थान्येन संसर्गाभावस्तस्य विषयेण
संसर्गादित्याशङ्क्याऽऽह— न हीति । अथान्यसंसर्गमन्तरेणापि ज्ञानस्य विषयविषयभासत्वमलं

नही देखा जाता । अग्नि अपने स्वाभाविक धर्म प्रकाश और उष्णता का परित्याग करते कभी
नही देखी जाती । जो पुष्प के लालिमादि गुणों का अन्य द्रव्य के संयोग से त्रियोग होने देखा जाता
है, वहाँ भी उनकी संयोगपूर्वता का अनुमान किया जाता है । क्योंकि बीज की वामना के द्वारा पुष्प और
फलादि में अन्य गुणों की उत्पत्ति होती देखी जाती है । इसलिए (स्वाभाविक विद्योग के न होने से)
विज्ञान के विशुद्ध होने की कल्पना अनुपपत्ति है ।

विज्ञान के ग्राह्य और ग्राहकरूप से भासित जिस मल की कल्पना की जाती है, अन्य विज्ञान
से संसर्ग न होने में उसकी भी सिद्धि नहीं होती । पश्चिमान विज्ञानातिरिक्त पदार्थ का विद्यमान
विज्ञान से संसर्ग नहीं हो सकता । अन्य संसर्ग न होने से जिनका जो धर्म देखा गया है, वह उसी

१. वासनया । २ स्वभावविद्योगाभावात् । ३ ग्राह्यग्राहकरूपत्वम् । ४. अन्यस्य विज्ञानेन संसर्गा-
भावात् । ५. न हीत्यादि । अथमाशयः—अन्यसंपर्कादपगतस्य असत्त्वप्रतिद्वेषवशतो च ज्ञानान्यस्यस्मित्ये-
स्तरप्रयुक्ततया सन्न तदयोगादिति । ६. विज्ञानातिरिक्त्वेन । ७. विज्ञानस्य । ८. स्वाभाविकस्येति—
अस्तु वा पुष्पस्य स्वाभाविकः शुक्लरसादिगुणस्तथापि नाशो स्वाभाविकविद्योगे दृष्टान्त इत्याहुर्वातिकावायाः ।
—"द्रव्यान्तराच्छादनान्ना सहवस्याप्यनोद्यणम् । तदद्रव्यसहाये अस्मात् पूर्ववासादेजलमिति" ॥ ७० ॥
पुष्पशुक्लरसस्य स्वाभाविकस्यापि द्रव्यान्तरेव षष्ठत्वाद्दृष्टिनिमित्तादिपक्ष इतुमाह—तदद्रव्येति । वृषयते
हि अत्रादौ हरिद्रादिरापापयमे यथापूर्वं शुक्लत्वमिति भावः ॥ ९ अत्ररक्तादिद्रव्यमिति भावः ।
१०. रक्तादिवासनेति—रक्तरवाद्याश्रयोभूतसूक्ष्मावयवसंपर्केणेति यावत् । ११ कार्पासम् । १२. मलं-
योगेति—बीजादिपरम्पराया पुष्पादिसंयोगिद्रव्य रक्तरवाद्याश्रयोभूतसूक्ष्मावयवाह्य द्रव्यान्तरसंयोगेन तदपग-
मादेवेत्यर्थः । १४ यथोक्तकार्पासादिवु ।

चोद्घातनायेत्यात् । विद्योजनं हि विभागस्तस्यै तेन वा दर्शनमेकतो विपुत्रेणपरत्र ह्येतेत्यादन्वयात् नाशो
विभागः किन्तु विनाश इति स्वादत्ततदनुगुणयादेतस्येति । यथाश्रुते तु द्रव्यान्तरयोगेतिभाष्ये द्रव्यान्तरस्य
रक्तत्वादिबिद्योजकद्रव्यविशेषेण योगेनेत्येवंसंभवस्येति तत्र द्रव्यान्तररदं सजङ्गमीति । अत्र रक्तरवात्मकः
पुष्पस्यस्मित्तिरिचयधर्मयोगेन पुष्परक्तत्वविद्योजनं प्रतीयमानमनुपपन्नमिव प्रतिभाति । अरक्तरवादीति पाठे तु
नानुपपत्तिमवयवश्याय । तदपगतरक्तरवाद्यात्मका इत्यत्र रक्तरवादि यस्य शुक्लरवादेतिरित्यतदनुगुणसिद्धान्तो
षट्ठीविशेषः इत्येके । द्रव्यान्तररवादेनेत्यस्य तदपगतद्रव्यस्येनेत्यस्य इत्यन्वे अरक्तो अगदुः ।

'तस्मादन्यसंसर्गेण मलिनत्वं तद्विशुद्धिश्च विज्ञानस्येतीयं कल्पनाऽन्धपरम्परैव प्रमाणशून्ये-
त्यवगम्यते ।

'यद्यपि तस्य विज्ञानस्य निर्वाणं पुरुषार्थं कल्पयन्ति 'तत्रापि 'फलाश्रयानुपपत्तिः ।
'कण्टकविद्धस्य हि कण्टकवेधजनितदुःखनिवृत्तिः फलं न तु कण्टकविद्धस्य मरणे
'तद्दुःखनिवृत्तिफलस्याऽऽश्रय उपपद्यते । 'तद्वत्सर्वनिर्वाणोऽसति च फलाश्रये पुरुषार्थ-
कल्पना व्यर्थं । यस्य हि 'पुरुषशब्दवाच्यस्य 'स्त्वस्याऽऽत्मनो विज्ञानस्य 'चार्यः
परिकल्प्यते तस्य पुनः पुरुषस्य 'निर्वाणे 'कस्यार्थः पुरुषार्थ इति स्यात् । यस्य पुनरस्त्य-
'नेकार्थदर्शी विज्ञानव्यतिरिक्त आत्मा तस्य दृष्टस्मरणदुःखसंयोगवियोगादि सर्वमेवोप-

स्यादिति चेत्त्राऽऽह—असति चेति । कल्पनाद्वयमप्रमाणमनादेयमित्युसंहरति— तस्मादिति ।

कल्पनांतरमुत्थापयति—यदपीति । "उपशान्तिनिर्वाणशब्दार्थः । दूषयति—तत्रापीति । फल्य-
भावेऽपि फलं स्यादिति चेन्नेत्गाह—कण्टकेति । दाष्टान्तिकं विवृणोति—यस्य हीति । ननु त्वन्मनेऽपि
'वस्तुनोऽद्वयत्वात्तस्यासङ्गस्य केनचिदपि संयोगवियोगयोरोपात्कलित्वासांभये मोक्षासंभवादि तुल्य-
मित्याशङ्क्याऽऽह—यस्य पुनरिति । यद्यपि पूर्णं "वस्तु वस्तुतोऽसङ्गमङ्गी क्रियते तथाऽपि क्रियाकारक-
फलभेदस्याविद्यामात्रकृतत्वादस्मन्मते सर्वव्यवहारसभवात्त साम्यमिति भावः । ननु बाह्यायंवादे

और सूर्य की प्रभा उससे पृथक नहीं हो सकती । इसीलिए "अनित्य वस्तुओं के संसर्ग से विज्ञान की
मलिनता और फिर शुद्धि होती है" ऐसी कल्पना करना अन्धपरम्परा है तथा प्रप्रामाणिक है; यह
सिद्ध होता है ।

जो 'उस विज्ञान का निर्वाण ही पुरुषार्थ है'—ऐसी कल्पना करते हैं, उक्त कल्पना में फलाश्रय
की सिद्धि नहीं होती । जो कंठ से बिधा हुआ है, उसी को कण्टकवेधजनित दुःखनिवृत्ति का फल
मिलना सम्भव है, यदि कण्टकविद्ध प्राणशून्य हो जाय, तो कण्टकवेधजनित दुःखनिवृत्तिरूप फल
को कैसे जानेगा । उसी प्रकार सबसे निवृत्त ही जाने पर फलाश्रय के न होने पर पुरुषार्थकल्पना
ही व्यर्थ सिद्ध हो जायगी क्योंकि जिस 'पुरुष'शब्दवाच्य वस्तु का आत्मा और विज्ञान ऐसा
अर्थ किया जाता है, उसी पुरुष के नाश हो जाने पर पुरुषार्थ किसके लिए होगा । जिनके मत में
अनेकार्थदर्शी विज्ञान से व्यतिरिक्त आत्मा है उसके अनुसार देखे हुए का स्मरण, दुःख के संयोग-
वियोगादि, अन्य संयोगनिमित्तक मलिनता और उसके वियोग से होने वाली शुद्धि—इन सबकी सिद्धि

१ मलकल्पनाया अनुपपत्त्वात् । २ बन्धनवल्पना निराकृत्य नि श्रेयसकल्पना निराकरोति—यदपीति ।

३ उक्तकल्पनायामपि । ४ फलाश्रयस्य विज्ञानस्याभावः । ५ कण्टकविशुद्धस्येति पाठान्तरम् ।

६ कण्टकवेधजनितेत्यथ । ७ दाष्टान्तिकमाह—तद्वदिति । सर्वनिर्वाणे सर्वस्य निवृत्ती । ८

पुरुषशब्देति—पुरुषाद्यगद्वधकपुरुषशब्देत्यर्थः । ९ वस्तुन । १० अर्थं एव चत्स्वर्थो चार्थ इति

पाठान्तरम् । ११ नाशे । १२ निर्वाणे इति । तथा च वार्तिके—'न संयोगो वियोगो वा यस्य

केनचिद्विद्यते । विनाशत स्वतस्तस्य शीघ्रं फलसगतिरिति" ॥ ७१३ ॥ १३ अनेकेति—भूतमविव्य-

दाद्यर्थेत्यर्थः । १४ निवृत्तिः । १५ आत्मनः । १६ आत्मा ।

'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः
पाप्मभिः स^१सृज्यते स उत्क्रामन्मियमाणः^२ पाप्मनो^३
विजहाति ॥८॥

वह यह प्रकृत आत्मा जन्म धारण करते समय शरीर में आत्मभाव करता हुआ देहेन्द्रियादिरूप पापो से युक्त हो जाता है और मरते समय उन पापो को त्याग देता है ॥८॥

पद्ममध्यसंयोगनिमित्तं कातुष्य तद्वियोगनिमित्ता च विशुद्धिरिति । शून्यवादिपक्षस्तु
सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नाऽऽवरः क्रियते ॥ ७ ॥

यथैवेहैकस्मिन्देहे स्वप्नो मूर्खा मृत्यो रूपाणि 'कार्यकरणा'न्यतिक्रम्य 'स्वप्ने

विज्ञानवादश्च निराकृतो शून्यवादो निराकृतेश्चोऽपि यस्मान्न निराक्रियते तथाऽऽह—शून्यवादीति ।
समस्तस्य घस्तुन^१ सत्त्वेन भानान्मानानां च सर्वेषां सटिपयत्वाच्छून्यस्य 'चाविपयतया' 'प्राप्त्यभावेन
निराकरणार्थानर्हत्वा'^२सटिपयत्वे च शून्यवादिनेव 'विषयनिराकरणोक्त्या' शून्यस्यापह्नवत्तस्य च
'स्फुरणास्फुरणयो सर्वशून्यत्वायोगात्तद्वादिनश्च सत्त्वासत्त्वयो'^३स्तदनुपपत्तेः संबृतेश्चा'^४ऽऽश्रयाभावात्सं-
भवा'^५त्तदाश्रयत्वे च शून्यस्य 'स्वरूपहानान्निराश्रयत्वे'^६ चा'^७संवृतित्वात्प्राप्ताभिस्तद्वादनिरासयाऽऽवरः
क्रियते 'तत्सिद्ध बुद्ध्याद्यतिरिक्तं नित्यसिद्धमत्यन्तशुद्धं कूटस्थमद्वयमात्मज्योतिरिति भावः ॥७॥

प्रसङ्गागतं 'परपक्ष' 'निराकृत्य' भूतिव्याख्यानमेवानुवर्तयन्तुत्तरवाक्यतात्पर्यमाह—यथेति ।

हो सकती है । किन्तु शून्यवादी का मत तो सभी प्रमाणों के विरुद्ध है । इसलिए उसके खण्डन के लिए अधिक आदर नहीं दिया जाता ॥७॥

जिस प्रकार यहाँ एक देह में स्वप्नरूप से स्थित होकर आत्मा अज्ञान के जापक मृत्युरूप देह

- १ शोऽयं प्रकृत पुरुष । जायमानो न घटादिवदुत्पद्यते स्वरूपतः विन्दु शरीरमभिसम्पद्यमानस्तत्रात्मभाव-
पच्छन्नेव सन् पाप्मभिर्बन्धस्युपा धर्माधर्माश्रयै कार्यकारणै । २ ससृज्यते । स एव पुनर्देहान्मन्वकर्मक्षये सति
व्याख्या शरीरात्तर प्रति ह उच्यते इति । ३ व्याख्येयम् । ४ कार्यकरणात् । ५ अभिमानत्याग-
रूपेण । ६ सिद्धे सत्येव । ७ स्वप्ने स्वप्नाकारपरिणतस्वोपाधिधोवृत्त्यवभासकत्वेन तदाकार ।
८ अज्ञानस्य जापकानि । ९ अभिमानतो गृहीतानि । १० वस्तुत आसङ्गाभावात् । ११ आत्मा ।
१२ प्रमाणाविपयतया । १३ उपस्थित्यभावेन । १४ तद्विषयत्वे चेति—शून्यस्य प्रमाणविषयत्वे
स्वीकृते सतीत्यर्थ । १५ विषयनिराकरणोक्तेति—यत् प्रमाणविषयसत्त्वच्छून्यमित्युक्त्वा शून्यस्य प्रमाण-
विषयत्वं शून्यस्यापि शून्यत्वलाभात्तन्निराकरणमिति भाव । १६ स्फुरणेत्यादिभावे भानमेव शून्याति-
रिक्तमभाने च तदिति न मवशून्यतेत्यर्थ । १७ सर्वशून्यानुपपत्तेः । १८ प्रविद्याया । १९ शून्यस्या
विद्याश्रयत्वे । २० स्वरूपहानादिति—प्राश्रयत्वधर्मव्यतिरिक्तस्य निर्दिशेपत्वस्वरूपहानापत्तेरित्यर्थ । २१
प्रविद्याया । २२ असंवृतित्वादिति—प्रविद्याया साश्रयत्वेनैव सर्वानुभवमिद्वत्त्वाद् न जानामीत्यादि-
रित्येव तस्य अनुभूयमानत्वाप्रति भाव । २३ तत्—तस्मात् विगतो व्यवहारोऽसहजज्योतिरिति नित्यो
व्यवहारत्वादादित्यादिकृतव्यवहारवदित्यनुमानादिति यावत् । २४ बोद्धरादान्तम् । २५ प्रत्याख्याय ।

स्व आत्मज्योतिष्यास्त एवं स वै प्रकृतः पुरुषोऽयं जायमानः । 'कथं जायमान इत्युच्यते—शरीरं देहेन्द्रियसंघातमभिसंपद्यमानः शरीर आत्मभावमापद्यमान' इत्यर्थः । पाप्मभिः 'पाप्मसमवायिभिर्धर्मार्धमार्थयैः कार्यकरणैरित्यर्थः संसृज्यते । 'संयुज्यते ॐस एवोत्क्रामञ्छरीरान्तर'मूर्ध्वं क्रामन्गच्छन्म्रियमाण इत्येतस्य व्याख्यानमुत्क्रामन्निति । तानेव सश्लुष्टान्पाप्मरूपाण्कार्यकरणलक्षणान्विजहाति तैर्वियुज्यते तांपरित्यजति ।

एवमात्मा देहभेदेऽपि वर्तमानं 'जन्म त्यज्जन्मान्तरं चोपादानः कार्यकरणान्यतिक्रामतीति शेषः । अतः स्वप्नजागरितसंचाराद्देहाद्यतिरेकविहलोकपरलोकसंचारीयत्याऽपि तदतिरेक'स्तस्योच्यतेऽन्तरवायधेने(रो) त्यर्थः । संप्रत्युत्तरं वाक्यं गृहीत्वा व्याकरोति—म वा इत्यादिना । ॐपाप्मशब्दस्य लक्षणया 'तत्कार्यविषयत्वं दर्शयति—पाप्मसमवायिभिरिति । पाप्मशब्दस्य 'पापघातिरित्येऽपि 'कार्य-साम्याद्धर्मोऽपि वृत्ति सूचयति—धर्मार्धमेति । "उक्तमर्थं दृष्टान्तरथेनानुवदति—यथेति । अथस्थाह्वय-

मीर इन्द्रियो को (आसक्ति अभाव से) अतिक्रमण करके स्वप्न मे अपने आत्मज्योतिरूप मे स्थित रहता है—इसी प्रकार "स वा अय पुरुषो जायमान". यह जायमान पुरुष है इत्यादि । किस प्रकार जायमान है ? इस पर श्रुति कहती है—"शरीरम्" यानी देहेन्द्रियसंघातरूप शरीर को "अभिसंपद्यमान" अर्थात् आत्मभाव से प्राप्त होता हुआ "पाप्मभिः" अर्थात् पापहेतुक समवायी कारण धर्म मीर अर्थ के आश्रय देह मीर इन्द्रियो से "संसृज्यते" यानी संयुक्त हो जाता है (उन्ही को आत्मरूप से मानता है) । तथा वही फिर 'उत्क्रामन् म्रियमाण' शरीरान्तरप्राप्ति के लिए ऊपर जाता हुआ, श्रुति मे व्याख्येय म्रियमाण' पद की व्याख्या उत्क्रामन्' पद से की गयी है । उन सश्लुष्ट देहेन्द्रिय

- १ सोऽयं प्रकृत जायमान एव पाप्मभिरिति सबन्ध । २ घटादिवदात्मन स्वरूपतो जन्म देहसप्त्या वेति पृच्छति—कथमिति । उत्तरकल्पमादायोत्तरमाह—उच्यते इति । ३ एव । ४ पाप्महेतुर्क । ५ तत्कार्ये । ६ संयुज्यते—तान्देवात्मत्वेनाभिमन्यते । ७ प्रति । ८ परित्यजतीति—यदा देहारम्भक कर्म भोगेन क्षीयते वर्तमानदेहपातश्च तदा पाप्मशब्देन लक्षितलक्षणया गृहीतानि कार्यकरणानि सर्वविक्रियाधून्य सन्नात्मा परित्यज्याभिमानत्यागमात्रेणेत्यर्थ । ९ शरीरम् । १० आत्मन । ११ सघातबोधित्वम् । १२ अधर्मवाचवत्त्वेऽपि । १३ द्वयोरपि वार्यं देह एतेति तत्साम्यम् । १४ उक्तमर्थमिति—स वा इत्यादिप्रकृतकण्डिका व्याख्यानोपक्रमं यथेवेहेत्यादिना आस्त इत्यन्तेन भाष्येणानेतम् ।

ॐस एवेत्यादि परित्यजतीत्यन्तर्भाष्ये वार्तिकद्वयम्—'देहकर्मधये देहपातश्चास्य यदा तदा । पाप्मन कर्मज्ञा-र्याणि विजहात्यमृतोऽयमय ॥ जहाति मृत्यो रूपाणि मृतिस्वप्नादिभूमिषु । न तु मृत्युमृते ज्ञानाज्जहात्यत्मा निज तम ॥ ८१६ ८२० ॥ इति । म उत्क्रामन्नित्यादेरर्बमाह—देहेति । यदा देहारम्भक कर्म भोगेन क्षीयते वर्तमानदेहपातश्च तदा पाप्मशब्देन लक्षितलक्षणया गृहीतानि कार्यकरणानि सर्वविक्रियाधून्य सन्नात्मा त्यजती-त्यर्थ ॥ ननु मृत्युकार्यं देहादि ज्ञान विना त्यजति चेन्मृत्युमपि तथा त्यजति तथाच ज्ञानवैधर्माच्छान्दारम्भो वृथा स्यादित्याशङ्क्याऽह—जहातीति । नैसगिकमज्ञान मृत्युस्तस्य ज्ञान विना न त्यागो विरोध्यन्त-राभावदित्यर्थ ॥

ॐपाप्मशब्दस्येति । अत्राहुर्धातिकाचार्यरित्याहि—'पाप्मेति देहसंबन्धहेतुमात्रमिहोच्यते । आ विरिञ्चातथा-

यथाऽयं स्वप्नजाग्रद्व्योर्वर्तमान एवैकस्मिन्देहे पाप्मरूपकार्यं करणोपादानपरित्यागाभ्या-
मनवरतं संचरति धिया सपानः सन्, तथा सोऽयं पुरुष उमाविहलोकपरलोको जन्म-
मरणाभ्यां कार्यं करणोपादानपरित्यागावनचरतं प्रतिपद्यमान आ संसारमोक्षारसंचरति ।
'तस्मात्सिद्धमस्याऽऽत्मन्योतिषोऽन्यत्वं कार्यं करणरूपेभ्यः संयोगवियोगाभ्याम् । न हि
तद्वर्मत्वे सति तैरेव संयोगो वियोगो वा युक्तः ॥ ८ ॥

'संचारस्य लोकरूपसंचारं द्वाष्टाग्निकमाह—'तथेति । इहलोकपरलोकावनचरतं संचरतीति संबन्धः ।
संचरणप्रकारं प्रकटयति—जन्मेति । जन्मना कार्यं करणोपादान मरणेन च तयोस्त्यागमविच्छेदेन
सभमानो मोक्षदर्शाननचरतं संचरन्तु री भवतीत्यर्थः । स वा इत्यादिवाक्यतात्पर्यमुपसंहरति—तस्मा-
दिति । तच्छब्दायंभवे स्फुटयति—संयोगेति । कथमे'तावता तस्योऽन्यत्वं तत्राऽह—न हीति । स्वा-

लक्षणात्मक पापरूपो को "विजहाति" अर्थात् छोड़ देता है, उनका अभिमान परित्याग कर देता है ।
जिस प्रकार यह जीव एक वर्तमान शरीर मे ही बुद्धि की सदृशता को प्राप्त होकर स्वप्न और जाग्रत्
वृत्तियो मे पापरूप देहन्द्रिय का ग्रहण और त्याग करता हुआ निरन्तर संचरण करता रहता है, उसी
प्रकार यह पुरुष जन्म-मरण द्वारा देहन्द्रिय का निरन्तर ग्रहण और परित्याग करता हुआ, इस लोक
और परलोके मे तब तक संचार करता रहता है, जब तक संसार से मोक्ष प्राप्त नही कर लेता । इसलिए
इन सयाग और वियोग के कारण इस आत्म-ज्योति का देहन्द्रियरूप पापों से अन्यत्व सिद्ध होता है ।
स्वाभाविक धर्म होने पर उनका धर्मी से संयोग-वियोग होना सिद्ध नहीं होता ॥८॥

१ तस्मात्सिद्धमिति—देहादिनात्मस्वभावसत्त्वर्मा वा तत्सयोनित्वादिप्रयोगित्वाच्च स्वगादिवदिति भावः । ननु
स्थूलदेहादेरात्मत्वाद्यभावेऽपि गूढमस्यान्यभिचारित्वात्तत्स्यादिति चेन्न यथा चैत्ररिद्धत्वा त्यक्तेन हस्तादिना
तद्वात्मन्मीनि नाम्नात्ममभिमन्यते तथाऽऽवनिष्टेनापि नात्मन स्वल्पस्त्वैकतवदत्यक्तस्यापि देहस्य विदोपान्वा-
विदोपादत मूरमोऽपि देहो नात्मा तदीयो वा तदुपहित्वात्स्थूलवदिति । २ स्यान्तभूतस्य । ३ एता-
वता—ताभ्या संयोगवियोगमात्रेण ।

ऽऽभ्याणो सर्वं कर्मात् उच्यते ॥ ब्रह्मादीनां शरीराणि श्रुत्वा शरीरवत् । यतो जिहासिनामेव तस्माद्धर्मोऽपि
पाप्मणी ॥ दुःखाभाव सदेहस्य नैवास्तीति श्रुतेर्न च । तस्मादेवोऽन्यनर्थं स्यादेहो नागाच्च सर्वदा ॥ कर्म नाऽऽर-
भने यावद्दुःखादिभक्त्यात्मन । असत्सम भवेत्तावत्तदुपवर्तना न्ययनम् ॥ शरीर पाप्मना कार्यं धर्मोऽन्यत्वं तस्मात्तदपि
तस्मिन्नात्माभिमानो य सा सपत्तिरविद्याया' ॥८१४-८१८ ॥ इति । पाप्मप्रतिपदिकार्थमाह—पाप्मेतीति ।
आ विरिञ्चदा च स्याणोर्देहसंबन्धे हेतुधर्मादिस्तन्मात्रमत्र वाक्ये पाप्मप्रतिपादिकार्थं । तत्राहणा कर्ममात्र
पाप्मगन्धितमित्यर्थं ॥ उक्तपहेतोर्धर्मस्य पाप्मसंबन्धेन प्रदो धर्मकार्याणां ब्रह्मगदिदेहानां सर्वेऽपृहणीयत्वादि-
त्यानां दुःखाऽह—ब्रह्मादीनामिति ॥ धर्मोऽन्यत्वापि देहस्य जिहासिस्त्वे हेतुमाह—दु सेति । न ह वै सशरीरस्ये-
स्यादियुतेर्ब्रह्मादिदेहस्यापि दुःखायतनत्वं सट्टेजिहासिगत्वमित्यर्थं । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—नायाच्चेति ।
सर्वदेत्यनर्थपदेन संबध्यते ॥ पाप्मसंबन्धस्य धर्ममात्रविषयत्वेऽपि कथं देहमन्वहेतुविषयत्वं कर्मणस्तद्वैतुत्वा-
सिद्धेर्भोग्यासनायास्तथावदित्यासां दुःखाऽह—कर्मोति । षट्'भोगार्थं कर्म तदनारम्भे मानाभावादिप्रसूक्ष्मस्य
तथावत्त्वप्रसङ्गान्न च देहं विना भोगस्तस्माद्देहस्य देहमन्वहेतुपुराविद्य सवामन कर्मत्वर्थं ॥ पाप्मभिरित्यत्र
प्रतिपदिकार्थमुक्त्वा विभक्त्यर्थं सपातकतु'त्वाख्य कथयति—शरीरमिति । ससर्गशब्दार्थमाह—तस्मिन्निति ॥

ॐ ननु न स्तोऽस्योमी लोको यी जन्ममरणान्यामनुक्रमेण संचरति स्वप्नजागरिते इव । स्वप्नजागरिते तु प्रत्यक्षमवगम्येते न 'त्वह्लोकपरलोको केनचित्प्रमाणेन । तस्मादेते एव स्वप्नजागरिते इह्लोकपरलोकाविति । उच्यते—

भाविकस्य हि धर्मस्य सति 'स्वभावे कृतः संयोगवियोगो बह्व्योऽप्यादिध्ववशं नात्कार्यंकरणधोश्च संयोगविभागवशादस्वभावाधिकत्वे सिद्धमात्मनस्तदप्यत्वमित्यर्थः ॥८॥

तस्येत्यादिवाक्यस्य व्यावर्त्यां शङ्कामाह—तन्विति 'अवस्थाद्वयवलोकाद्व्यपसिद्धिरित्याशङ्क्याऽह—स्वप्नेति कथं 'तर्हि लोकद्वयप्रसिद्धिरत आह—तस्मादिति । 'तत्रोत्तरत्वेनोत्तरं वाक्य

किन्तु स्वप्न और जाग्रत् के समान यह पुरुष जन्म और मरण के द्वारा क्रमशः जिनमे संचरण करता है, वे दोनो लोक तो नहीं हैं । स्वप्न और जाग्रत् तो प्रत्यक्ष जाने जाते हैं, इह्लोक और परलोक तो किसी भी प्रमाण से नहीं जाने जाते । इसलिए ये स्वप्न और जागरित ही इह्लोक

१ यद्यपीह ज्ञानं प्रत्यक्षेणावगम्यत एव तथापि तस्य जागरित एवान्तर्मानान् तद्व्यतिरेकेण परलोकसम-
कक्षेहोकोऽपि मानमिति भाव । २ तयोः प्रमाणकत्वात् । ३ धर्मिणि । ४ जाग्रत्स्वप्ना
वस्थाद्वयेति भाव । ५ तर्हि—इह्लोकपरलोकयोः प्रमाणकत्वे । ६ उक्तशङ्कामाह

ॐ नन्वित्यादि उच्यत इत्यतः प्राक्तन भाष्ये तत्र सप्त वार्तिकानि—“प्रात्यक्ष्यादस्य लोकस्य नास्त्याशङ्काऽस्ति
हा प्रति । परलोकेऽपि नाऽऽङ्का तस्तिद्वेरावमात्सदा ॥ प्रत्यक्षवित्प्रमाणत्वं परलोकेह्लोकयो । स्वप्नवन्ना-
न्यमानत्वमित्यस्तित्वं विवक्षितम् ॥ इत्याशङ्क्योत्तरो ग्रन्थस्तस्य वा इति भण्यते । इत्येव तावत्सबन्धस्तयाज्यो-
ज्यभिधीयते ॥ आत्मा ज्योतिरिति लोक समान इति चापर । पाप्मनो विजहातीति पदार्थां सूत्रितास्य च ॥
स्वप्नेन निर्णयो वाच्य एतेषामित्यतोऽधुना । तस्येति वर्ण्यतेऽप्येदं विधिना येन तच्छ्रुणु ॥ अथ चाप्यनिसबन्ध-
स्तथा चाप्योऽपि वर्ण्यते । स्वप्नोक्तिर्यं आत्मोक्तस्तस्यापि चाक्रियोऽनूत्वा ॥ कर्मोपभोगसिद्धयर्थं वर्ण्यते
भूमयोऽधुना । इव जगत् परं चैव स्वप्नस्तन्मध्यगतरत्वा” ॥ ८२८-८३४ ॥ इति ॥ भाष्योक्तामाशङ्कामनूचा-
ऽऽधिपति—प्रात्यक्ष्यादिति । इह्लोकस्य प्रत्यक्षत्वादस्तिता निश्चिता परलोकस्य स्वर्गकामादिवाक्यसिद्धत्वान्
तत्रापि नास्तित्वाशङ्का तेन तन्निरासार्थं नोत्तरग्रन्थारम्भ इत्यर्थं ॥ शङ्कासम्बन्धपूर्वकं समाधत्ते—प्रत्यगिति ।
प्रतीच भवित्स्वप्नुभवारय प्रत्यक्ष तत्प्रमाणकत्वं यथा स्वप्नजागरितयोस्तयेह्लोकयोरेपि प्रत्यक्षप्रमाणक
भस्तिव वाच्ये नाऽऽजमादिमानान्तराण्यं तदस्तिवमिति विवक्षितं न च परलोकास्तित्वं प्रत्यक्ष तस्मात्परलोको
नास्तीत्याशङ्क्य प्रत्यक्षेणैव तत्समर्थायमुत्तरो ग्रन्थ इत्यर्थं ॥ भाष्योक्तं सबन्ध निगमयति—इत्येव इति ।
भर्तुं प्रपञ्चोक्तं सबन्धमुत्थापयति—तथेति ॥ त वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—आत्मेति । यथाऽऽङ्क्यताऽन्वेषितानि भोगेण
वस्तुन्युपन्यस्तातीति । तयोदाहृततदीयभाष्यावद्योती हिंसाब्द ॥ तस्येत्यादेरित्प्र सबन्धमाह—स्वप्नेनेति ।
आत्मज्योतिरादीनां त्रयाणां स्वप्नदृष्टान्तेन निर्णयो वाच्य इत्यतो हेतोस्तस्येति वाक्यं प्रवृत्तमित्यर्थं । कथमत्र
त्रयाणां निर्णयस्तथाऽह—वर्ण्यते इति । उक्तचोदाहृतार्थोऽन्वेषणाब्दः । इदं त्रयं येन विधिना तस्यैविकाक्षे
वर्ण्यते तद्विधानमुच्यमानं शृण्विति योजना । वाक्यव्याख्यानं त्रयाणां निर्णयो व्यक्तो भवतीति भावः ॥
उक्तं सबन्धमनुजानाति—अथ चेति । भाष्योक्तं सबन्धं दृष्टान्तमित्यनुपनिषद् । स्वाधीष्टं सबन्धान्तरमाह—
तथाचेति । तदेन स्फुटयति—स्वयमिति ॥ इदं चत्यादिवाक्यमादाय भोगभूमिरेव दर्शयति—इदमिति ।
नकारसूचितमर्थमाह—स्वप्न इति ॥

'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं
च परलोकस्थान च सध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं
तस्मिन्सध्यं स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं
च परलोकस्थानं च । 'अथ यथाक्रमोऽयं परलोक-
स्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान्पाप्मन आनन्दा-

उम इस आत्मपुरुष के यह लोक और परलोकसबन्धी दो ही स्थान हैं, तीसरा स्वप्नस्थान तो सध्यस्थान है। उस सध्यस्थान में रहता हुआ यह पुरुष इस लोकरूप स्थान और परलोकरूप स्थान इन दोनों को देखता है। यह पुरुष परलोकस्थान के लिये जैसे साधनो से युक्त होता है, वैसे साधनो का आश्रय लेकर यह पाप के फलरूप दुःख और पुण्य कर्म के फलरूप सुख दोनों ही को देखता है। जिस

तस्यैतस्य पुरुषस्य च द्वे एव स्थाने भवतो न तृतीयं चतुर्थं वा । के ते । इदं च
यत्प्रतिपन्नं वर्तमानं जन्म शरीरेन्द्रियविषयवेदनाविशिष्टं स्थानं प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानम् ।
परलोक एव स्थानं परलोकस्थानम् । तच्च शरीरादिवियोगोत्तरकाला'नुमाद्यम् । ननु

पुत्याप्य ध्याकरोति—उच्यत इति । स्थानद्वयप्रसिद्धद्योतनार्थो बंशब्दः । अवधारणं दिष्टुणोति—नेति ।
वेदना सुखदुःखादिलक्षणा । "आगमस्य परलोकसाधकत्वमभिप्रेत्याऽह—तच्चेति । "अवधारणमा-

और परलोक है। इसी को श्रुति कहती है—

उस इस पुरुष के दो ही स्थान हैं, तीसरा या चौथा नहीं है। वे कौन से दो स्थान हैं ?
"इदं च" अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, विषय और वेदनाविशिष्ट यह जो प्राप्त वर्तमान जन्म प्रत्यक्ष
अनुभूयमान है, (दूसरा) "परलोकस्थानम्" यानी परलोक ही जो स्थान है, वह शरीर आदि के

१ एवमागमत परलोकाऽस्तित्वे सिद्धेऽपि तत्र प्रत्यक्ष वाच्यमतस्तद्वक्तु यद्वाऽऽत्मज्योति । समान सन्
पाप्मनो विजहाति । इत्येतान् सूत्रितास्त्रोन्यदार्थान् स्वप्नावष्टम्भेन निरौलुमाह— तस्येति । २ प्रतिद्वयम् ।
३ प्रकृतस्य । ४ न न्यूनं नागधिके । ५ इदं—प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानं वर्तमानं जन्मैकम् । द्वितीय-
माह—परेति । ६ भाविजन्म । ७ उक्तोभयो सधो भवम् । ८ वर्तमान । ९ वर्तमान-
माविजन्मनो । १० लोकद्वयस्य ग्राह्यत्वाजविशेषे कस्मादिदं लोकं त्यक्त्वा परलोको व्युत्पाद्यत इत्यासङ्क्य
प्रपेद्यादेस्तास्यं माहूर्वातिके—"सुखेन दर्शनं तावदेहिकस्येह जन्मन । यथा नु परलोकस्य तथाऽप्येत्यभिधीयते" ॥
८४५ ॥ इति । ११ आत्रम इत्यादि—आत्रामत्यनेनेत्यात्रम आश्रय विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञानक्षणोऽवष्टम्भं स
यास्तोऽस्य सोऽथ यथाऽऽत्रम पुरप परलोकरुपाने प्रतिपत्तव्ये निमित्ते तत्प्राप्त्यर्थमिति यावत् । यादोना-
द्वेण युक्तो भवति तमात्रम बीजभूतमात्रम्यावष्टम्भ उभयान् पाप्मन आनन्दाश्च पापफलानि दुःखानि धर्म-
पत्रभूतान्पुण्यविशेषाश्च परपति एवमनेन प्रकारेण धर्मादेवताप्रसादादा गन्ते ययसि यदिहाऽमभाभ्यमान स्वप्ने
परपति तत्पारलौकिकमेवेत्यर्थं । १२ अनुभवनीय भोक्तव्यमिति यावत् । १३ प्रत्यक्षस्य तत्त्वोव-
साधकत्वम् । १४ सध्यमित्यादिना व्याख्यां शाङ्कामादर्शयन् ।

‘इच्च पश्यति’स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो
मात्रामपादाय स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा
स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योति-
र्भवति । ६॥

समय यह सो जाता है उस समय इस सम्पूर्ण लोको की मात्रा अर्थात् एक देश को लेकर अपने आप ही इस स्थूल शरीर को चेतनाशून्य करके तथा स्वयं अपने ही वासनामय स्वाप्न शरीर को रचकर अपने आत्मज्योतिरूप प्रकाश से शयन करता है । अतः इस अवस्था में यह पुरुष स्वयंज्योतिस्वरूप होता है ॥६॥

स्वप्नोऽपि परलोकस्तथा च सति द्वे एवेत्यवधारणमयुक्तम् । न । कथं तर्हि । सध्य
'तत् । 'इहलोकपरलोकयोः संधिस्तस्मिन्भव संध्यं यत्तृतीयं तत्स्वप्नस्थानम् । 'तेन
स्थानद्वित्वावधारणम् । 'न हि ग्रामयोः सधिस्तावेव ग्रामावपेक्ष्य तृतीयत्वपरिगण-

क्षिपति—नन्विति । 'तस्य स्थानान्तरत्वं'द्वयमिति—नेति । स्वप्नस्य लोकद्वयातिरिक्तस्थानत्वाभावे
कथं तृतीयत्वप्रसिद्धिरित्याह—कथमिति । 'तस्य सध्यत्वात् स्थानान्तरत्वमित्युत्तरमाह—सध्यं तदिति ।
संध्यत्वं व्युत्पादयति—इहेति । यत्स्वप्नस्थानं तृतीयं मन्यते तद्विहलोकपरलोकयोः संध्यमिति संध्यं ।
अस्य सध्यत्वे फलितमाह—न हीति । पूरणप्रत्ययश्रुत्या स्थानान्तरत्वमेव स्वप्नस्य किं न स्वादित्या-
शङ्क्य प्रथमश्रुतसंध्यशब्द'विरोधा'न्मैवमित्याह—न हीति । परलोकास्तित्वे "प्रमाणान्तरनिज्ञासया-

प्राणशून्य हो जाने पर भोगने योग्य है । (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु स्वप्न भी तो परलोक है
ऐसा होने पर 'दो ही' यह निश्चयपूर्वक कहना ठीक नहीं है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसी
बात नहीं है । तो फिर क्या बात है ? स्वप्नस्थान सन्ध्य है । ऐहिक और ग्रामुत्पिक देह की जो
सन्धि है, उसमें होने से जो 'सन्ध्य' है, वह तीसरा स्वप्नस्थान है । उसके सन्ध्य होने से दो ही स्थानों
का निर्णय किया गया है । दो ग्रामों की सधि को उन्ही दो ग्रामों की अपेक्षा से किया जाता है,
तृतीय ग्राम की गणना नहीं की जाती । किन्तु उस परलोकस्थान का अस्तित्व कैसे जाना जाता है,

१ स खलवात्मा ब्राह्मैज्योतिर्भिरतस्सुष्ट स्वयमेव यथा ज्योतिर्भवति तथेदं स्वयं ज्योतिरिदं साक्षात्स्वप्नान-
घटम्भेनाह—स इति । स प्रकृत आत्मा यत्र काले प्रवर्षेण स्वप्नमनुभवति तदा किमाश्रयं केन प्रकारेण
स्वप्न प्रतिपद्यत इत्याकाङ्क्षाया'माह—अस्येति । २ स्वप्नस्थानम् । ३ ऐहिकाग्रामुत्पिकदेहयोः ।
४ तस्य सन्ध्यत्वेन । ५ न हीति—अत्र भाष्याद्विरुद्धार्थो वातिके—सध्यं तृतीयमित्युक्तिं पूरण-
प्रत्ययश्रुतं । न स्थानान्तरनिज्ञास्यै यत्तु कर्मवधारणम् ॥ तदयागव्यवच्छिद्ये नान्ययोगव्यपेक्षया । तस्मिन्
नाश्रय इतीदं च तथा मतिं समञ्जसमिति ॥८३७८३८॥ ६ स्वप्नस्य । ७ द्वयमिति—देहद्वयातिरिक्त
स्वप्नदेहोऽपि पृसोऽन्तीति भवधारणानुपपत्तिरिति चोद्यं निरस्यतीत्ययं । ८ स्वप्नस्य । ९ विरोधादिति
—एवकारविरोधादित्यप्यवधयम् । १० मैवमिति—तथा च पूरणप्रत्ययश्रुतिर्ह्येति भावः । ११ ग्राममा-
न्यप्रमाणेति बोध्यम् ।

नमर्हति । कथं पुनस्तस्य परलोकस्थानस्या'स्तिस्त्वमधगम्यते यदपेक्ष्य स्वप्नस्थानं संध्यं भवेत् । यतस्तस्मिन्संध्ये स्वप्नस्थाने तिष्ठन्भवन्व्यतमान' एते उभे स्थाने पश्यति । के ते उभे । इदं च परलोकस्थानं च । 'तस्मात्स्तः स्वप्नजागरितव्यतिरेकेणोभौ लोकी यौ 'धिद्या समानः सन्ननुसंचरति जन्ममरण'सतानप्रवन्द्येन ।

कथं पुनः स्वप्ने स्थितः सन्नुभौ लोकी पश्यति । किमाश्रयः केन 'विधिनेति । उच्यते—अथ कथं पश्यतीति । शृणु । यथाक्रम आक्रामत्यनेनेत्याक्रम आश्रयोऽवष्टम्भ इत्यर्थः । 'यादृश आक्रमोऽस्य सोऽयं यथाक्रमः । अयं पुरुषः परलोकस्थाने प्रतिपत्तध्ये 'निमित्ते यथाक्रमो भवति यादृशेन परलोकप्रतिपत्तिसाधनेन विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञालक्षणैः युक्तो भवतीत्यर्थः । तमाक्रमं परलोकस्थानायोन्मुखीभूतं प्राप्ताङ्कुरीभावमिव बीजं

पृच्छति—कथमिति । "प्रत्यक्षं प्रमाणयन्नुत्तरमाह—यत इत्यादिना ।

स्वप्नप्रत्यक्षं परलोकास्तिस्त्वे प्रमाणमित्युक्तं तद्वैद्योत्तरवाक्येन (ण) 'फटयितुं' पृच्छति—कथमिति । कथंशब्दाद्यर्थमेव प्रकटयति—किमित्यादिना । उत्तरवाक्यमुत्तरस्त्वेनेत्यापद्यति—उच्यते इति । "तत्राश्रयशब्दमुक्तप्रदर्शयतया व्याकरोति—अथेति । उत्तरभागमुत्तरस्त्वेन व्याचष्टे—शृण्विति । यदुक्तं किमाश्रय इति तत्राऽऽह—यथाक्रम इति । यदुक्तं केन विधिनेति तत्राऽऽह—तमाक्रममिति ।

जिसकी अपेक्षा से स्वप्नस्थान सन्ध्यस्थान होता है क्योंकि उस सन्ध्य स्वप्नस्थान में "तिष्ठन्" यानी विद्यमान रहते हुए विद्या-कर्म-वासना से संस्कृत प्रात्मा इन दोनों स्थानों को देखता है । वे दोनों स्थान कौन से हैं ? यह श्रीर परलोक स्थान है । इसलिए स्वप्न श्रीर जागरित से व्यतिरिक्त दोनों लोक हैं, जिनमें बुद्धि से तादात्म्यभाव को प्राप्त पुरुष जन्म-मरण पङ्क्तिपरम्परा के द्वारा निरन्तर संचरण करता रहता है ।

किन्तु वह स्वप्न में स्थित हुआ दोनों लोकों को किस प्रकार देखता है, किस आश्रय श्रीर कौन सी विधि द्वारा देखता है ? 'वह कैसे देखता है' यह कहा जाता है । सुनो । "यथाक्रम." अर्थात् जिससे जीव आक्रमण करता है, वह 'आक्रम' यानी आश्रय या आधार है । इस जन्म में परलोक के निमित्त, अर्थात्, ज्ञानादिसाधनकलाप, आक्रम, जन्म, मरण, है, उसे 'यथाक्रम' कहा जाता है । यह पुरुष लब्धव्य परलोकस्थानरूप उद्देश्य में जैसे आक्रम वाला होता है अर्थात् विद्या, कर्म श्रीर पूर्व-प्रज्ञारूप जिस प्रकार के परलोकप्राप्ति के साधन से युक्त होता है । "तमाक्रमम्" यानी अङ्कुरभाव को

- १ अग्नित्वमिति । तथा च वतिके—'स्वप्नेहृत्वीक्योस्तावत्सर्व प्रत्यक्षगोचरम् । परलोकस्य सद्भावे किं प्रमाणमित्यौर्गता' मिति ॥ ८३६ ॥ २ विद्याकर्मवासनासंस्कृत प्रात्मा । ३ परलोकसद्भावे स्वप्न-प्रत्यक्षस्य मानत्वात् । ४ धीसदस्य—तत्तादात्म्यापन्न । ५ पङ्क्तिपरम्परा । ६ प्रकारेण । ७ यास्य प्राग्रभ इति इह जन्मनि परलोकार्थमाजितज्ञानादिसाधनकलाप आक्रम शब्दाद्यं । ८ प्रतिपत्तध्ये लब्धव्ये भाविदेहे । ९ उद्देश्ये सति । १० स्वप्नप्रत्यक्ष परलोकसद्भावे प्रमाणयन् । ११ आश्रयशब्दम् ।

तमाक्रममाक्रम्यावष्टम्याऽऽश्रित्योभयान्पश्यति बहुवचन धर्माधर्मफलानेकत्वाद्बुभयानुभय-
प्रकारानित्यर्थः । कांस्तान्पाप्मनः पापफलानि । न तु पुनः साक्षादेव पाप्मनां दर्शनं
संभवति तस्मात्पापफलानि दुःखानीत्यर्थः । आनन्दांश्च धर्मफलानि सुखानीत्येतत् ।
तानुभयान्पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति जन्मान्तरदृष्टवासानामयान् । यानि च प्रतिपत्त-
व्यजन्मविषयाणि क्षुद्रधर्माधर्मफलानि धर्माधर्मप्रयुक्तो देवतानुग्रहाद्वा पश्यति ।

पाप्मशब्दस्य यथाश्रुतार्थत्वे संभवति किमिति फलविषयत्वं तत्राऽऽह—न त्विति । साक्षादागमादृते
प्रत्यक्षेणेति यावत् । पाप्मनामेव साक्षाद्दर्शनासंभवस्तच्छब्दार्थः । कथं पुनराद्ये वयसि पाप्मनामा-
नन्दानां च स्वप्ने दर्शनं तत्राऽऽह—जन्मान्तरिति । यद्यपि मध्यमे वयसि कारणपाटवादेहिकवासनाया
स्वप्नो दृश्यते तथाऽपि कथमन्तिमे वयसि स्वप्नदर्शनं तदाह—यानि चेति । फलानां क्षुद्रत्वमत्र
लेशतो भुक्तत्वम् । यानीत्युपक्रमात्तानीत्युपसंख्यातव्यम् ।

प्राप्त हुए वीज के समान परलोकस्थान के प्रति उन्मुख हुए उस आक्रम को “आक्रम्य” यानी आक्रान्त कर
अथवा उसका आश्रय लेकर दोनों लोको को देखता है । ‘उभयान्’ इस पद में बहुवचन धर्माधर्म के
फलो की अनेकता के कारण है अर्थात् दोनों प्रकार के लोको को देखता है । उन्हे किनको देखता है ?
‘पाप्मन’, अर्थात् पाप के फलो को । पापफलो के अतीन्द्रिय होने के कारण उनका साक्षात् दर्शन
संभव नहीं है, इसलिए पापफल दुःखरूप है, “आनन्दाश्च” अर्थात् धर्म के फल जो सुखरूप हैं,
इन जन्मान्तर दृष्ट वासानाओ के कार्य दुःख और सुख दोनों को देखता है । इसके अतिरिक्त जो भावी

१ तेषामतीन्द्रियत्वात् । २ कथं स्वप्नप्रत्यक्ष परलोक गोचरयतीत्याशङ्क्य वात्ययौवनवार्धकभेदे
मवात्स्य त्रिलोऽवस्थास्तत्र बाल्यावस्थाया परलोकविषय स्वप्न संभवतीत्याह—जन्मान्तरदृष्टेति । तथा च
वार्तिके—“भूतजन्मनि यदुक्तं कर्म तद्भावनाञ्जित । पीवदैहिकमेवातो वयस्याद्येऽभिबीशते ॥ मध्ये वयसि
कार्कश्यात्कारणानामिहाऽप्यजिता । प्रायेण वीक्षते स्वप्ने वासना कर्मणो वदात् ॥ पियासु परलोक तु
कर्माविद्याविसृत् । भाविनी जन्मनो रूप स्वप्ने प्रायेण पश्यति” ॥ ८४१-८४३ ॥ इति । न हि तस्यामवस्था-
यामेहिकपुत्रादिविषय स्वप्नस्तस्याद्यप्यनिवृत्तं च तस्य स्वप्नो नारत्येव निद्राणस्य तस्य क्रन्दनादिरष्टिज्ज्ञानु-
मितस्वप्नस्याप्रत्याख्येयत्वात्समादिति परलोकिकस्वप्नो बालस्येति भाव ॥ तर्हि यूतोऽपि परलोकविषय
स्वप्नोऽस्तु नेत्याह—मध्य इति । कार्कश्यं स्थूलाद्यं ग्रहणसामर्थ्यम् । इहेति वर्तमानजन्मनि । कर्मणोवशादाजिता
वासना इति सन्नन्ध । इहासंभावितमपि स्वप्ने कदाचिददृष्टवशात्पश्यति प्रायेणेत्युक्तम् ॥ अन्तिमे वयसि स्वप्न-
दर्शनस्य परलोकविषयत्वमाह—पियासुरिति । ष्टेरनियमार्थं प्रायेणेत्युक्तम् । अस्मिन्जन्मन्यसंभावितार्थस्य
स्वप्ने दर्शनं परलोकसत्त्वे मानमिति समुदायार्थं । अस्तु स्वप्नप्रत्यक्ष तत्र मानं तथाऽपि कथं स्वप्नस्य सध्यत्व
प्रत्यक्षेण वर्तमानदेहग्रहेऽपि द्वितीयोपेलाया भूतो भावी वा दहो ग्राह्यस्तस्य सध्यत्वार्थमित्यावाङ्क्षायामाह—
“भुक्तत्वादत्रिवक्षोहं व्यतिक्रान्तस्य जन्मन । परलोकैहलोको तु गृह्यते मध्यसिद्धये” ॥ ८४४ ॥ इह—स्वप्नस्य
सध्यत्वसिद्धौ । ३ भाविजन्माधिकरणकानि तत्र मोक्ष्यमाणानीति यावत् । ४ बाल्ये । ५ यानि
चेतीति । तथा च धर्माधर्मादिकृतं तत्र तद्दर्शनमिति भावः । तथा च स्वप्नस्य तस्काराधीनत्वाद्भाविनश्चायस्य
मस्काराभावात् कथं भाविगोचरत्व स्वप्नस्येत्यपास्त धर्मादेरेव तत्र हेतुत्वात् । ६ लोके जन्मनि वा ।
अत्र लेशतो भुक्तत्वमिति—ईदमपि भवति कर्म यदत्र मनाग्भोग प्रदाय जन्मान्तेऽपि नेप फलतीति कर्मवै-
चिद्व्यमूचनायदमिति बोध्यमित्याह । ७ फलानीत्यस्याये ।

'तत्कथमवगम्यते परलोकस्थानसंबन्धिपाप्मानन्ददर्शनं स्वप्न इति । उच्यते—
 यस्मादिह जन्मन्यननुमाध्यममपि पश्यति बहू । न च स्वप्नो नामापूर्वं दर्शनम् । पूर्व-
 दृष्टस्मृतिहि स्वप्नः प्रायेण । तेन स्वप्नजागरितस्थानमध्यतिरेकेण स्त उभो लोको ।

यदादित्यादिबाह्यज्योतिषामभावेऽयं कार्यकरणसंघातः पुरुषो येन व्यतिरिक्तेना-

ऐहिकवामनावगादेहिकानामेव पाप्मनामानन्दानां च स्वप्ने दर्शनसमयात् स्वप्नप्रत्यक्ष
 परलोकसाधकमिति शङ्कते—तत्कथमिति । परिहरति—उच्यत इति । यद्यपि स्वप्ने मनुष्याणा-
 मिन्द्रादि'भावोऽननुभूतोऽपि भाति तथाऽपि तदपूर्वमेव दर्शनमित्याशङ्क्याऽह—न चेति । स्वप्नधिया
 'भाविजन्मभाविनोऽपि स्वप्ने दर्शनात्प्रायेणोयुक्तम् । 'न च 'तदपूर्वदर्शनमपि सम्प्रज्ञानमुत्थानप्रत्यय-
 बापात् । 'न च' स्वप्नधिया भाविजन्मासिद्धि'यथाज्ञानमर्थाङ्गीकारादिति भावः । प्रमाणफलमुपसं-
 रति—तेनेति ।

स यत्रेत्यादिव्यवस्य ॐ'व्यवहितेन संबन्धं वक्तुं श्रुतमनुष्ठाऽऽक्षिपति—यदित्यादिना ।
 बाह्यज्योतिरभावे सत्ययं पुरुषः कार्यकरणसंघातो येन सघातातिरिक्तेनाऽऽत्मज्योतिषामनागमनादि

जन्म के अधिकरण धर्म और अधर्मों के क्षुद्र फल हैं, उन्हें भी धर्माधर्म से प्रेरित होकर अथवा देवता
 के अनुग्रह से देखता है ।

“स्वप्न मे जो दुःख और सुख का दर्शन है, वह परलोकस्थानसंबन्धी है” —ऐसा किस
 प्रकार जाना जाता है । इस पर कहा जाता है क्योंकि इस जन्म में अननुभूत भी बहुत सी बातों को
 देखता है । स्वप्न अपूर्वदर्शन को कहते हो—ऐसी बात नहीं है । प्रायः पूर्वदृष्ट स्मृति का नाम
 स्वप्न है । अतः दोनों लोक स्वप्न और जागरित स्थानों से भिन्न हैं ।

जिन आदित्यादि बाह्य ज्योतिषों के अभाव में यह देहेन्द्रियसघातरूप पुरुष जिन अपने से

- १ तत्कथमिति स्वप्ने यत्पाप्मानन्ददर्शनं तत्परलोकस्थानसंबन्धीति कथमवगम्यत इति योजना । २ अननु-
 भूतमिति यावत् । ३ तेन—परलोकसद्भावे स्वप्नप्रत्यक्षस्य मानत्वेन । ४ भाव पदार्थ इत्यप्याह ।
 ५ तदपूर्वमेवेति—न भूतजागर नापि भाविगोचर तथा च न भूत भावि वा जन्मस्वप्नद्वन्द्वेन सेद्ममहंतीति
 भाव । ६ भाविजन्मनि भविष्यतो वस्तुन । ७ ननु स्वप्नस्य स्मृतिरूपत्वे तत्रत्यापाना प्रत्यक्षोप-
 न्यधिर्न स्यादित्यत आह—न च तदपूर्वेति । तथा च शुकिरप्यादिसानवदपूर्वत्वेऽपि सस्कारजन्यत्वानुपमात्स्मृति-
 तुल्यत्वाभिप्रायेण स्मृतित्वाभिधानमिति भाव । ८ तदपूर्वदर्शनमपीति—अस्तु वा स्वप्नदर्शनमपूर्वं तथापि
 न तत्प्रमा तत्र हेतु—उत्थानेत्यादि । अन्तेऽत्र सस्कारजन्यत्वनिर्णयमात् सिद्ध भूतजन्मेति भाव । ९ स्वप्न-
 दर्शनस्य मित्यात्वे । १० यथाज्ञानमर्थाङ्गीकारादिति । तथा च स्वप्ने ज्ञानवदर्थस्य मित्यात्वेऽपि तत्सूचितस्य
 साम्यत्वेन सिध्यत्येव भावि जन्मति भाव । उक्तं हि—“सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विद्वि” । ३ २ ४ इति ।
 ११ च सू ४ ३ ५ भाष्येण 'आत्मनैवाय ज्योतिषाऽऽस्त' इत्यादिना सह—आरोपसंगति यक्तुमित्यर्थ ।

* व्यवहितेन संबन्धं वक्तुमित्यादि । अत्राह्वयवैतिककारपादास्तयाहि—'यदुक्तं विरहेऽपेयसूर्यादिज्योतिषामयम् ।
 पुमान्मयवहृत्स्वामज्योतिषैवेति लिङ्गत ॥ मान्वाद्रिसर्वज्योतिष्यो विविक्तोऽयं पुमानिति । न च सिद्ध इति
 वक्तव्य यथोक्ताथप्रसिद्धे मे ॥ स्वयज्योति प्रसिद्धिर्वा पूर्वमुक्ताऽनुमानत । साक्षादव्यवधानेन तत्प्रसिद्धिरथो-
 च्यते ॥ स स्वयज्योतिरात्मैव बाह्यज्योतिर्विवाजित । यथा भवति साधाच्च तथेदमभिधीयते” ॥ ८५५-

ऽऽत्मना ज्योतिषा व्यवहरतीत्युक्तम् । तदेव नास्ति । यदादित्यादिज्योतिषामभावगमनं यत्रेदं विविक्तं स्वयंज्योतिरूपलभ्यते । येन सर्वदेवायं कार्यकरणसंघातः संसृष्ट एवोपलभ्यते । तस्मात्सत्समोऽसन्नेव वा स्वेन विविक्तस्वभावेन ज्योतीरूपेणाऽऽत्मेति ।

अथ 'क्वचिद्विविक्तः स्वेन ज्योतीरूपेणोपलभ्येत वाह्याध्यात्मिकभूतभौतिक-संसर्गशून्यस्ततो' यथोक्त सर्वं भविष्यतीत्येतदर्थमाह—स यः प्रकृत आत्मा यत्र यस्मिन्काले प्रस्वपिति प्रकल्पेण 'स्वापमनुभवति तदा किमुपादानः केन विधिना स्वपिति संघ्यं स्थानं

निर्वर्तयति तदात्मज्योतिरस्तीति यदुक्तमित्यनुवादार्थः । 'विशिष्टस्थानाभावं वक्तुं "विशेषणाभावं तावद्दर्शयति—तदेवेति । आदित्यादिज्योतिरभावविशिष्टस्थानं यत्रेत्युक्तं तदेव स्थानं "नास्ति विशेषणाभावादिति शेषः । यथोक्तस्थानाभावे "हेतुमाह—येनेति । संसृष्टौ बाह्यज्योतिर्भिरिति शेषः । व्यवहारभूमौ बाह्यज्योतिरभावाभावे कलितमाह—तस्मादिति ।

उत्तरग्रन्थमुत्तरत्वेनावतारयति—प्रयेत्यादिना । यथोक्तं सर्वथ्यतिरिक्तत्वं स्वयंज्योतिरूपमि

व्यतिरिक्त आत्मज्योति के द्वारा व्यवहार करता है—ऐसा कहा गया है । जो उन आदित्यादि ज्योतिषो के अभाव को प्राप्ति होनी है, जहाँ कि इस विशुद्ध स्वयंज्योति आत्मा की अनुभूति होती है—वह स्थान ही नहीं है । क्योंकि वह कार्यकारणसंघात सदैव संसृष्ट ही अनुभूत होता है, प्रतः अपने विशुद्ध स्वभाव ज्योतिरूप से यह आत्मा असत् के समान है अर्थात् असत् ही है ।

यदि यह किसी स्थान में बाह्य भूत तथा आध्यात्मिक भौतिक पदार्थों के संसर्ग से शून्य अपने विशुद्ध ज्योतिरूप से उपलब्ध होता तो (बाह्यादि से असंसृष्ट होने में) उपरोक्त सब कुछ हो सकता था, इसलिए श्रुति कहती है— "स" अर्थात् वह यह प्रकरणस्थ आत्मा "यत्र" यानी जिस समय में "प्रस्वपिति" अर्थात् प्रवर्णरूप से स्वप्नावस्था का अनुभव करता है, तब वह किस उपादान वाला

१ वृ उ ४ ३ ६ । २ तदेवेति - तत्रेत्यादि । ३ अन्तरणोक्तार्थकम् । ४ कुत्रचित्स्थाने ।

५ विविक्त इत्युक्त विवृणोति—बाह्येति । बाह्याध्यात्मिके भूतभौतिकविशेषणो । ६ तत — बाह्यादि-भिरसंसृष्टत्वात् । ७ स्वापमनुभवतीति । जाग्रदवस्थस्यूनवेहाभिमान त्यजतीत्यर्थं । तदभिमानशून्यतया स्वप्रधानो भवति तत्पारतन्त्र्यरहितो भवतीति यावत् । तदुक्तं यातिके— "जाग्रत्कर्मधावादात्मा बाह्यदेहाभिमानन । व्युत्पाय स्वप्रधान सन्स्वप्रमाया समीक्षते" ॥ ८६० ॥ इति । ८ विमुपादान इति उपादीयत इत्युपादान साधनवलाप विस्मामप्रीक सन्नित्यर्थं । ९ बाह्यज्योतिरभावविशिष्टप्रस्थानमिति भावः ।

१० बाह्यज्योतिरभाववत्कविशेषणमित्यर्थं । ११ नास्तीत्यन्तस्यात्रायुपपन्नशेषान्तरमेव वेदम् ।

१२ विशेषणाभावात्मिकमेवोक्त हेतुमुपपादयतीत्यर्थं । १३ यथोक्ताशेषसाधनत्वेन ।

८५८ ॥ इति । स यत्रेत्याद्यन्तरयितु व्यवहितं वृत्तं कीर्तयति—यदुक्तमिति । लिङ्गत इत्यादित्यादिज्योतिरभावेऽपि सृष्टस्वप्नादिगसत्वासनादिव्यवहारवशादित्यर्थं । तत्र चोद्यमुत्समतीति शेषः ॥ अनन्तगवात्कार्य-माकाङ्क्षापूर्वकं सक्षिप्याऽहं भाग्वदीति । आदित्यादिज्योतिरसंसृष्टिश्चिदात्मा कुत्र सिद्ध इति पृष्टे जिज्ञासित स्थानं यस्माद्बाह्यं तस्माद्बाह्यज्योतीरहितस्य स्थानस्य यथोक्तार्थस्य प्रवर्णनार्थं स यत्रेत्यादिवाक्यमिति योजना ॥ सर्वथ्यन्तरमाह—स्वयमिति । आत्मैवास्वेत्यादौ व्यवहारलिङ्गानुमानत स्वप्रकाशश्चिदात्मोक्तः । अथापरोक्षानुभवत्प्रत्यग्भावेन तत्तद्विवाच्येत्युत्तरं वाचयमित्यर्थं । उक्त

प्रतिपद्यत इत्युच्यते । अस्य 'दृष्टस्य 'लोकस्य 'जागरितलक्षणस्य सर्वावतः 'सर्वमव-
तीति सर्वावानय लोकः कार्यकरणसंधातो 'विषयवेदनासंयुक्तः । सर्वावत्वमस्य व्याख्यात-
मन्नत्रयप्रकरणेऽयो' अयं वा आत्मेत्यादिना । सर्वा वा भूतनौतिकमात्रा 'अस्य संसर्ग-
कारणभूता विद्यन्त इति 'सर्ववान्सर्ववानेव "सर्वावास्तस्य सर्वावतो मात्रामे" कदेशमव-
यवमपादायापच्छिद्याऽऽदाय गृहीत्वा ❀ "दृष्टजन्मवासनावसितः सप्रित्यर्थः । "स्वय-

त्यादि । आह स्वप्नं प्रस्तौतीति यावत् । उपादानशब्दः परिग्रहविषयः । कय"मस्य सर्वावत्वं तदाह—
सर्वावत्वमिति । संसर्गकारणभूताः सहाप्यात्मादिविभागेनेति शेषः । किमुपादान इत्यस्योत्तरमुक्त्वा

होकर किस विधि से सोता है यानी सध्य स्थान को प्राप्त करता है । इस जाग्रद्देहलक्षण प्रत्यक्ष लोक
की "सर्वावत" अर्थात् सबका पालक यह लोक विषय से उत्पन्न मुखदु खानुभवयुक्त देहेन्द्रियसघात
है । इसका "सर्वावत्व" "यही वह आत्मा है"—इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा अन्नत्रय के प्रवरण मे कह
दिया गया है । अथवा सम्पूर्ण भूत भौतिक सस्कार इस पुरुष के संसर्ग के कारणभूत हैं—इसलिए
सर्ववान् है । सर्ववान् को ही सर्वावान् कहा गया है, उस सर्वावान् के सस्कार एकदेश जाग्रदासना वा

१ प्रत्यक्षस्य । २ लोकस्येति—'प्रवृत्त फलदानाय यदि जन्म वर्तते । अस्मिन्लोकेशब्देन तदेतदभिधीयते"
॥ वा ८६२ ॥ इति । ३ जाग्रद्देहस्य । ४ सर्वमवतीति । तथा च वार्तिके—'जुहोत्यादिव्रियाद्वारा
यस्मात्सर्वमवत्ययम् । सर्वावानिति तेनायमात्मा देहान्त उच्यते" ॥ ८६२ ॥ इति । अय बुद्ध्यादिविहान्त भर्ता
मघात पुरुषो यागादिद्वारा सर्व देवादि यतो रक्षति तेनाय लोकयमान सर्वावानित्युच्यते इत्यर्थः । अत्र यद्यपि
भाष्यवार्तिकटीकासु सर्वावानित्येव पाठ सर्वपुस्तकेषु लभ्यते तथापि सर्वमवतीति व्युत्पत्त्यनुसारेण सर्वावत्रिति-
शत्रन्तपदपाठ एव समीचीनो भाति सर्वावत्रिति तु मुमुक्षुर्ना ममास । ५ विषयोत्पत्त्युक्तदु खानुभवयुक्त । ६
वृ उ १ ४ १६ । ७ मस्कारा । ८ पूम । ९ सर्वावानिति—सर्वानाम्ना वृत्तिमात्रे पुवद्भाव ।
१० सर्वावानिति छान्दस दैर्घ्यम् । ११ जाग्रदासनामित्यर्थः । १२ जाग्रदासनायुक्त । १३ स्वयमिति
—आत्मनो देहघाते कर्तृत्व देवतानामिति शङ्कानिरासार्थमत्र स्वयमिति विशेषण बोध्यम् । १४ मघातस्य ।

सवन्प्रथममेकीकृत्य मुखप्रतिपत्त्यर्थं सगृह्णाति—स इति । स एतत्वात्मा बाह्यैर्ज्योतिरिस्पृष्ट स्वयमेव यथा
ज्योतिर्भवति तथेद स्वयं योतिष्ट्व सासादनुभवयोग्य स्वप्नदृष्टान्तेनोच्यते । उक्त हि—स्वयज्योतिरित्युपन्य-
स्तमात्मज्योतिरित्यननाभिधानान्तरमेव तत्रिण्यार्यं स्वप्नदृष्टान्त उपादीयत इति । सर्वावाऽपि स्वप्रवासात्म-
निरण्यार्यमुत्तर वाक्यमित्यर्थः ॥

❀ दृष्टजन्मवासनावसित मन्मित्यय । तथाच वार्तिके—'सर्वावतोऽयं देहस्य स्वप्नभोगप्रसिद्धये । आदाय
वासनामात्रा स्वप्नमाया तनोत्ययम् ॥ अघ्यात्मादिविभागेन मात्रा जागरिते यया । भोगेनेहापचीयन्ते
प्रचीयन्ते च कर्मणि ॥ स्वप्नभूमावपि तथा कर्मणोत्थापिता इमा । क्षयवृद्धिप्रबन्धेन मात्रा स्युर्वी-
सनात्मिका ॥ धिया धियेति च तथा प्रागेतदुपादितम् । हासवृद्धिप्रबन्धेन यथेद वर्तते जगत्" । ८६५-
८६८ ॥ इति । मात्रामित्यादिव्याचष्टे—सर्वावत इति । अस्य देहस्य सर्वावत्वेनोक्तस्य वासनारूपं
मात्रामादाय स्वप्नाख्या माया तद्भोगाद्ययं पुरुषस्तनोतीति संबन्धः ॥ वासनाना स्वप्नभोगेन क्षयादन्त-
र्योपपत्ते सुप्तस्य मुक्ति स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तग्राह—अघ्यात्मादीति ॥ दाष्टान्तिकमाह—स्वप्नेति ॥
उक्तार्थोपदिशत्स्वप्नेन सप्तान्ब्राह्मणोक्त स्मारयति—धियेति ॥

मात्मनैव विहृत्य वेहं पातयित्वा 'निःसंबोधमापाद्य । जागरिते ह्यादित्यादीनां चक्षुरा-
दिव नुग्रहो 'देहव्यवहारार्थः । देहव्यवहारश्चाऽऽत्मनो धर्माधर्मफलोपभोगप्रयुक्तस्त-
द्धर्माधर्मफलोपभोगोपरमणमस्मिन्वेह 'आत्मकर्मोपरमकृतमित्यात्माऽस्य विहन्तेत्युच्यते ।
'स्वयं निर्माय निर्माणं कृत्वा ॐ वासनामयं स्वप्नदेहं मायामयमिव । निर्माणमपि तत्क-

केन विधिनेतस्योत्तरमाह—स्वयमित्यादिना । आपाद्य प्रवृत्तित्युत्तरत्र संबन्धः । कथं पुनरात्मनो देह-
विहन्तृत्व जाग्रद्वेतुकर्मफलोपभोगोपरमणाद्वि स 'विहृत्यते तत्राऽह—जागरिते ह्येत्यादिना । निर्माण-
विषयं दर्शयति—वासनामयमिति । यथा मायावी मायामयं वेह निर्मायते तद्वदित्याह—मायामयमि-
वेति । कथं पुनरात्मनो 'यथोक्तदेहनिर्माणकर्तृत्वं 'कर्मकृतत्वात्तन्निर्माणस्येत्याशङ्क्याऽह—निर्माण-

"आदाय" अपच्छेदनं कर, आदानं या ग्रहणं करके अर्थात् इष्ट जन्मरूपं जाग्रद्विज्ञानात् से युक्तं होकर,
"स्वयं विहृत्य" यानी अनेके प्राण ही देह को चेतनाशून्य कर, जागरित अवस्था में ही देहचेष्टाफलक
के लिए चक्षु आदि इन्द्रियो में आदित्यादि का उपकार होता है और देहचेष्टा आत्मा के धर्माधर्म के
फलोपभोग का कारण होती है तथा इस देह में उस भोग के धर्माधर्म फलोपभोग की उपरति
आत्मकर्म की उपरति के कारण है, इस प्रकार परम्परा से आत्मा इसका हननकर्ता कहा जाता है ।
"स्वयं निर्माय" अर्थात् मायामय स्वप्न वासनामय स्वप्न देह को स्वयं निर्माण करके (अनन्य करता है) ।

- १ जाग्रद्देहम् । २ निरुच्छेदं कृत्वा । ३ देहचेष्टाफलक । ४ तस्य भोगस्य । ५ आत्मकर्मो-
परमकृतमिति । अत्र वातिके—'स्वप्नवासर्षणादेहं निःसंबोधं करोति य । युषुषु कर्मणा च्वस्तां विहृत्से-
त्युच्यते तत् ॥ ८७० ॥ इति । ६ एव परम्परया । ७ इदमपि विशेषणं पूर्ववत् । ८ भोगोप-
शान्ते । ९ विहृति प्राप्ति । १० स्वप्नदेहेत्यर्थ । ११ कर्मकार्यत्वात् ।

ॐ धनुग्रह इति । धनुग्रहप्रयुक्त आत्मनो रूपादिबोध इति यावत्तथा च वातिकम्—'मान्वाद्यनुग्रहाद्बोध-
आत्मनश्चरुदियु । देहस्य व्यवहारार्थं देहव्यवहृतिस्तथा ॥ ८७१ ॥ आत्मनो हि कर्मणोषु देवतानुग्रहादेह-
चेष्टया रूपादिबोधो जागरितो जायते तथा सति देहचेष्टा हृष्टेत्यर्थं ॥ देहव्यवहारोपि वेन प्रयुज्यते किमर्थो
वेत्याशङ्क्याऽह—'पालयकर्म प्रयुक्तं धर्मादिकलमुक्तये । कर्मणु फलोपशान्ते देहो यस्मात्पतत्ययम् ॥ ८७२ ॥
तथाऽपि नचमात्मनस्तद्विहृतिवृत्तेत्याशङ्क्याऽह—कर्मण इति । तस्मात्परम्परया देहपाते हेतुरात्मेति शेष ॥
ॐ वासनामयमिति । अस्य विशेषणस्य तात्पर्यं माहूर्वातिवाचायस्तिथाह—'प्रयास्ताशेषकरणादवतस्यापि
चाऽऽत्मन । त्रियाकारसिद्धधर्म भावनैवात्य कारणम् ॥ निमित्तव्योञ्ज भोक्तव्यो यो लोकोऽभूदिहाऽऽत्मन ।
तेन तेन स्वल्पेण भावना व्यवतिष्ठते ॥ अनेतकारकत्वोऽपि कर्मोत्थापितभावन । भावनाकारकेतिवादात्मक
कारकायते ॥ तर्हि क्रियाकारकमात्रसिद्धधर्मा भावनाऽस्तु न सा सर्वस्वप्ननिर्माणे हेतुर्नैत्याह—निमित्तव्य
इति । अयदावदस्तथाशब्दपर्याय । इहेति जागरोति ॥ विहृत्य निर्मायति च ननु त्वमात्मनो न पुनर न हि
कूटस्थावमस्य कर्तुं वेत्याशङ्क्याऽह—अपेतेति । एकविशेषणानुपरिष्ठावप्यपित्रंष्टव्य ॥ किमर्थं भास स्वनेति
विशेषणमित्याशङ्क्य समादधुर्वातिके—'बुद्ध्यादिकरणोत्थाया व्यावृत्त्यर्थं विशेषणम् । स्वनेति भास प्रत्यक्-
चिदभिव्यक्तिःकृतोऽभिधा ॥ स्वधव्याविहृ विज्ञेयाकारधीयात्मापंचाचिनी । भाज्योतिरनुत्पद्येन साम्प्रदिव
कारणत्वात् ॥ परार्था भावना यत्प्रवृत्तवार्थं ज्योतिश्चिदात्मन । उक्तापंचाचिनी तस्मात्प्रवृत्तौ समुदाहृती ॥
स्वयज्योतिरिति श्रोत्रोत्थो निष्क्रियोऽकारकोऽपच । य स एव स्वयज्योतिर्ज्योति शब्देन अच्यते ॥ नि शेषलोकाधी-

‘मपेक्षत्वात्स्वयंक्तं कमुच्यते । स्वेनाऽऽत्मीयेन भासा मात्रोपादानलक्षण्येन भासा दीप्त्या प्रकाशेन सर्ववासनात्मकेनान्तःकरणवृत्तिप्रकाशेनेत्यर्थः । सा हि तत्र विषयभूता सर्ववासनामयी प्रकाशते । सा तत्र स्वयं मा उच्यते । तेन स्वेन भासा विषयभूतेन स्वेन च ज्योतिषा तद्विषयिणा विविक्तरूपेणालुप्तदृग्स्वभावेन तद्भास्यं वासनात्मकं विषयिकुर्वं प्रस्वपिति । यदेवं वर्तनं तत्प्रस्वपितीत्युच्यते । अत्रैतस्याभवस्थायामेतस्मिन्कालेऽयं पुरुष आत्मा स्वयमेव विविक्तज्योतिर्भवति ॥ बाह्याध्यात्मिकभूतभौतिक-

मपीति । स्वेन भासेत्यत्रेत्यभावे तृतीया । करण्ये तृतीयां ध्यायतंयति—सा हीति । तत्रैति स्वप्नोक्तिः । यथोक्तान्तःकरणवृत्तिविषयत्वेन प्रकाशमानत्वेऽपि स्वभासो भवतु करणत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—‘सा तत्रति । स्वेन ज्योतिषेति कर्तरि तृतीया । स्वशब्दोऽत्राऽऽत्मविषयः । कोऽयं प्रस्वापो नाम तत्राऽऽह—यदेवमिति । विविक्तविशेषणं विवृणोति—बाह्येति ।

निर्माण भी आत्मकर्मपेक्ष होने से वह आत्मकतक कहा गया है । “स्वेन भासा” अर्थात् आत्मीय मात्रोपादानरूप दीप्ति या प्रकाश से; अर्थात् सर्वदेहसंबन्धी वासनात्मक अन्तःकरणवृत्तिरूप प्रकाशन से (शयन करता है) क्योंकि सर्ववासनामयी अन्तःकरणवृत्ति ही वहाँ विषयभूता होकर प्रकाशित होती है । उस स्वप्नावस्था मे वह स्वयंप्रकाश कही जाती है । उस अपने विषयभूत प्रकाश से यथोक्तवृत्ति साक्षी सघात से विविक्त अलुप्त दृक् स्वभावात्मिका आत्मज्योति से उस अपने वासनात्मक अन्तःकरणवृत्तिरूप को विषय करता हुआ तत्साक्षीरूप से अवस्थित रहता है । यथोक्त साक्षीत्वरूप से रहना ही “प्रस्वपिति” ऐसा कहा जाता है । यहाँ इस अवस्था मे इस काल मे यह पुरुष यानी आत्मा स्वयं विशुद्ध ज्योतिस्वरूप होता है, ‘बाह्य’ आध्यात्मिक भूत एव भौतिक

१ आत्मकम् । २ अतीतवर्तमानसर्वदेहमन्विषवासनात्मकेन । ३ वृत्तिरूपप्रकाशेन । ४ अन्तःकरणवृत्ति । ५ स्वप्ने । ६ यथोक्तवृत्तिमाधिगता । ७ सघाताद्विविक्तरूपेण । ८ आत्मीय-यथोक्तान्तःकरणवृत्तिस्वरूपम् । ९ तत्साक्षित्वेनावतिष्ठते । १० यथोक्तसाक्षित्वेन । ११— बाह्यमादित्यादि प्राध्यात्मिक वृत्त्यादि । १२ तथा च तदनुलक्षित इत्यर्थः । तदात्मनेत्येके । १३ यद्यपि स्वेन भासेत्यत्रत्यरवशब्द एवात्मीयपरतया यथोक्तान्तःकरणवृत्तिस्वेन व्याख्यातरतथापि तस्य तत्राप्रसिद्धया तद बुद्धयैव दाह्यते—स्वभासो भवतु करणत्वमिति । १४ सा तत्रैतीति—यथोक्तान्तःकरणवृत्तिपर एव स्वशब्द इति भाव इति शेष ।

वृत्तिसाक्षिण्येवाविकारिरण । प्रतीच ईदृशि वृत्ति स्वपितीत्यभिधीयते” ॥ ७७-८-८२ ॥ इति । स्वेनेत्याभिधास्य विशेषण प्रत्यक्षैतन्माभिव्यक्तिहेतोर्भास स्वप्नावस्थागताया बुद्ध्यादिद्वारा प्रवृत्ताया नूटस्थबोधोपज्योतिष्टवेन प्रस्तुताद्व्यावृत्त्यर्थं भवति हि भावनामयी भा स्वप्नस्था प्रत्यगभिव्यक्तिवरी तत्साक्षित्वेन तत्स्वयंज्योतिष्टु-साधनादित्यर्थः ॥ कथं स्वराब्देन नूटस्थज्योतिषो भासो व्यावृत्ति स्वेन ज्योतिषेति ज्योतिषोऽपि विशेषणां दित्यादाङ्क्य स्वशब्दयोर्विशेष्यवसादर्थंभेदाद्भासविशेषणेनाऽऽत्मज्योतिषान्तद्व्यावर्तनं युक्तमित्याह—स्वशब्दाविति । इहेति प्रवृत्तयानयोक्ति । कथं तदनुसोधेऽपि स्वशब्दयोर्वित्यमर्थव्यवस्थेत्यादाङ्क्याऽह—सामर्थ्यादिति ॥ कथं तयो सामर्थ्यं तत्राऽऽह—परार्थेति ॥ स्वेन ज्योतिषेत्यत्र ज्योतिषशब्दार्थमाह—स्वयमिति ॥ प्रस्वपितीत्यस्याप्यंमाह—नि शेषेति ॥

॥ बाह्याध्यात्मिकभूतभौतिकससंगंरहित ज्योतिर्भवतीति । अत्र वानिचे—“भान्वादिबाह्यज्योतिर्भिः सरीणं

संसर्गरहितं ज्योतिर्भवति ।

नन्वस्य लोकस्य मात्रोपादानं कृतं कथं तस्मिन्सप्तत्रयं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवतीत्युच्यते । नय दोषः । विषयभूतमेव हि 'तत् । तेनैव चात्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्दशयितुं शक्यः । न 'स्वन्ययाऽसति विषये कस्मिंश्चित्सुपुप्तकाल इव । यदा पुनः सा मा वासनात्मिका विषयभूतोपलभ्यमाना भवति तदाऽसिः कोशादिव निष्कृष्टः सर्वसंसर्गरहितं

स्वप्ने स्वयं ज्योतिरात्मेत्युक्तमाक्षिपति—नन्वस्येति । 'वासनापरिग्रहस्य मनोवृत्तिरूपस्य विषयतया विषयित्वाभावाद्बिबुद्धमात्मनः स्वप्ने स्वयंज्योतिष्प्रमिति समाधत्ते—नैप दोष इति । कुतो वासनोपादानस्य विषयत्वमित्याशङ्क्य 'स्वयंज्योतिष्ट्वभ्रुतिसामर्थ्यादित्याह—तेनेति । मात्रादानस्य विषयत्वेनेति यावत् । 'तदेव व्यतिरेकमुखेनाऽऽ (साऽऽ) ह—न त्विति । यथा सुषुप्तिकाले धक्तस्य विषयस्याभावे स्वयं ज्योतिरात्मा दर्शयितुं न शक्यते तथा स्वप्नेऽपि 'तस्मात्तत्र स्वयंज्योतिष्ट्वभ्रुत्या मात्रादानस्य विषयत्वं प्रकाशितमित्यर्थः । भवतु स्वप्ने वासनादानस्य विषयत्वं तथाऽपि कथं स्वयं ज्योतिरात्मा शक्यते विविच्य दर्शयितुमित्याशङ्क्याऽऽह—यदा पुनरिति । अत्रभासयद्भवमास्यं

ससर्गं से रहित ज्योति होता है ।

(इम पर शङ्का होती है—) किन्तु इसने तो इस लोक के सस्कार को ग्रहण किया है; फिर वासनात्मक मात्रा शब्दित वस्तु के रहते हुए पुरुष स्वयं ज्योति किस प्रकार होता है । (सिद्धान्ती उत्तर देता है—) इसमें कोई दोष नहीं है । क्योंकि वासना उपादान तो विषयभूत ही होता है । इसलिए उस पुरुष को यहाँ स्वयंज्योतिरूप से दिखाना संभव है । नहीं तो सुषुप्ति अवस्था के समान विषयशून्य होने पर इस स्वयंज्योति को दिखाया नहीं जा सकता । स्वप्नकाल में जब कि वासनात्मिका ज्योति विषयभूत होकर अनुभव की जाती है, उस समय म्यान से निकाली गई तलवार के समान सर्व-

- १ वासनात्मके मात्राभावित्ते वस्तुनि । २ उच्यते इति—जाग्रदासनानादेवात्मसिद्धरूपपत्तेर्न तस्य स्वयंज्योतिष्ट्वमिद्विरिति भाव । ३ वासनोपादानम् । ४ न त्वन्यथेति—न हि सूक्ष्मलोपाधिसत्त्वे आगर्तितवत् अरोपोपाध्यसत्त्वे च सुषुप्तवदात्ता स्वयंज्योति शक्यो दर्शयितुं तथा च स्वप्ने कृत मिथ्याभूत-वासनाऽदानमात्मस्वयंज्योतिष्ट्वसाधनोपयुक्तमित्यर्थः । ५ स्वप्रकाले । ६ वासनारूपपरिग्रहस्य । ७ स्वयंज्योतिष्ट्वभ्रुत्सामर्थ्यादिति—स्वयंज्योतिष्ट्वभ्रुत्स्वयंज्योतिष्प्रपत्तेरित्यर्थः । मात्राऽदानस्य विषय-वादिप्रवेदे विषयाभावात्स्वयंज्योतिष्ट्वभ्रुत्स्वरूपेणेति भावः । ८ वासनाऽदानस्य विषयत्वमेव । ९ तस्मात्—वासनाऽदानस्य विषयत्वमन्तरेण स्वयंज्योतिष्ट्वास्य दर्शयितुमशक्यत्वात् ।

प्रागभूदयम् । अन्यस्य ज्योतिषोऽभावात्स्वयंज्योति पुमानयम् ॥ नान्यत्र कारणाद्वृत्ति कारणा जागरेऽपि हि । कारणे च तमस्थ्यात्मा नात स्वप्ने मनस्त्विति ॥ ८६५ ८६६ ॥ इति । प्राग्जाग्रति सप्रति स्वप्नावस्थायामिति नेप ॥ ज्योतिरुत्तराभाव स्वप्ने नास्ति मनसो ज्योतिपरत्व सत्त्वादिन्याया सुषुप्तादिविशेषमज्ञादतो न तत्र स्वयंज्योतिष्ट्वमित्याशङ्क्य समतमर्थमाह—नान्यत्रेति । अत्रस्थान्तरेऽपीत्येपर्यं । कारणा स्वातन्त्र्येण दुनिष्प्रतितावदितिहेत्वर्थो हिशब्द । अस्त्वेव प्रस्तुते वि जात तदाह—कारण चेति । अज्ञातो हि प्रत्यगात्मा जगद्धेतुस्तथाच कार्यस्य मनस स्वकारणाधीनत्वात् स्वप्ने स्वतन्त्रतया स्थिति स चाऽऽत्मा तत्साधको नाऽऽत्मा-साधक तद्युक्त पराधीनत्वेन सपवञ्जलत्वादित्यर्थः ॥

चक्षुरादिकार्यकरणव्यावृत्तस्वरूपमलुप्तदृगात्मज्योतिः स्वेन रूपेणावभासयद्गृह्यते । तेनात्राय पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवतीति सिद्धम् ॥ ६ ॥

नन्वत्र कथं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्येन जागरित इव ग्राह्यप्राहकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारो दृश्यते । चक्षुराद्यनुग्राहकाश्चाऽऽदित्याद्या लोकास्तर्येव दृश्यन्ते यथा जागरिते । तत्र कथं विशेषावधारणं क्रियतेऽत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवतीति । उच्यते—'बलक्षण्यात्स्वप्नदर्शनस्य । जागरिते हीन्द्रियबुद्धिमनश्चालोकादिव्यापारसंकीर्णमात्मज्योतिः । इह तु स्वप्न इन्द्रियाभावात्तदनुग्राहकादित्याद्यालोकामावाञ्च विविधतं केवलं भवति । तस्माद्विलक्षणम् । ननु तथैव विषया उपलभ्यन्ते स्वप्नेऽपि यथा जागरिते तत्र कथमिन्द्रियाभावाद्बलक्षणमुच्यत इति । शृणु—

धासनात्मकमन्त करणमिति शेषः । स्वप्नावस्थायामात्मनोऽवभासकान्तराभावे फलितमाह—तेनेति ॥६॥

यद्युक्तं स्वप्ने स्वयं ज्योतिरिति तत्प्रकारान्तरेणाऽऽक्षिपति—नन्विति । अत्रस्याद्वये विशेषाभावकृतं चोद्यं दूययति—उच्यत इति । बलक्षणं स्फुटयति—जागरिते इति । मनस्तु स्वप्ने सदपि विषयस्यात्र स्वयंज्योतिष्टवविधातीति भावः । उक्तं बलक्षणं प्रतीतिमाश्रित्याऽऽक्षिपति—नन्विति । न तत्रस्याविवाक्यं व्याकुर्वन्नुत्तरमाह—शृण्विति । प्रतीतिं घटयति—अथेति ।

ससर्गरहित, चक्षु आदि कार्यकरण से व्यावृत्त स्वरूप, अलुप्तदृक्स्वभाव वह आत्मज्योति अल्पने स्वरूप से प्रकाशित करती हुई स्वयं गृहीत होती है । अतः यह सिद्ध हुआ कि यहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति स्वरूप होता है ॥६॥

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु स्वप्नावस्था में पुरुष स्वयंज्योति कैसे हो सकता है क्योंकि जागरित के समान ग्राह्य-प्राहकादिलक्षण सर्वव्यवहार देखा जाता है । चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुग्राहक आदित्यादि लोक भी उसी तरह देखे जाते हैं, जैसे जाग्रदवस्था में थे । दोनों अवस्थाओं में कोई भेद न होने से यह विशेष निर्णय किस लिए किया जाता है कि यहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति होता है ? (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) इसे बतलाया जाता है । क्योंकि स्वप्नदर्शन की जागरित से विशेषता है । जागरित अवस्था आत्मज्योति इन्द्रिय, बुद्धि, मन और आलोकादि व्यापार से व्याप्त रहती है, किन्तु यहाँ स्वप्न में तो इन्द्रियों के अभाव तथा उनके अनुग्राहक आदित्यादि के प्रकाश के अभाव के कारण वह विशुद्ध केवल रहती है; इसलिए विलक्षण है । (पुन शङ्का होती है—) किन्तु जिस प्रकार जाग्रदवस्था में विषयानुभूति होती है, उसी प्रकार स्वप्न में भी विषयो की उपलब्धि होती है, फिर इन्द्रिय के अभाव के कारण ही उन प्रतीयमानों की विलक्षणता क्यों कही जाती है । (समाधान में कहते हैं—) सुनो ।

१ अदतरणोक्तार्थकम् । २ स्वप्ने । ३ अवस्थाद्वये सत्यविशेषे । ४ बलक्षण्यादिति—देहादे स्वप्रवृत्तावसम्भवेन स्वप्नस्य जागरितबलक्षण्यादित्यर्थः । ५ तस्माद्विलक्षणमिति—एकत्रेन्द्रियादीनां भावादन्यत्र चाऽभावाज्जागरितज्ञानात्स्वप्नदर्शनं विलक्षणमित्यर्थः । ६ प्रतीयमानेषु सेतुः । ७ पञ्चमीम् । ८ स्वप्ने रपादीनां जायमाना प्रतीतिमुपपादयतीत्यर्थः ।

ॐ न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो

उस स्वप्नावस्था मे न रथादि विषय हैं, न रथ मे जोते गये भ्रशवादि हैं और न मार्ग ही है ।

न तत्र विषयाः स्वप्ने रथादिलक्षणाः । तथा रथयोगा रथेषु युज्यन्त इति रथयोगा अश्वदादयस्तत्र न विद्यन्ते । न च पन्थानो रथमार्गा भवन्ति । अथ रथान्-रथ-योगान्पथश्च सृजते सृजति स्वयम् ।

कथं पुनः सृजते रथादिसाधनानां वृक्षादीनामभावे । उच्यते—'ननूक्तमस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहृत्य स्वयं 'निर्मयित्प'न्त.करणवृत्तिरस्य

रथादिसृष्टिमाक्षिपति—कथं पुनरिति । वासनामयी सृष्टिः 'शिलाट्टेद्युत्तरमाह—उच्यत इति । तदुपलब्धिनिमित्तेनेत्यत्र तच्छब्देन वासनात्मिका मनोवृत्तिरेवोक्ता । 'उक्तमेव प्रपञ्चयति—नत्वित्या-

वहाँ उस स्वप्नावस्था मे (काष्ठादि के अभाव के कारण) रथादिलक्षण विषय नहीं हैं । "न रथयोगा " अर्थात् रथो मे जुडने वाले भ्रशवादि भी वहाँ नहीं है । "न पन्थानो भवन्ति" अर्थात् न ही वहाँ रथमार्ग हैं । परन्तु वह स्वयं रथ, रथ मे जोते जाने वाले भ्रशवादि और रथ के मार्गों की रचना कर लेता है ।

(यहाँ शब्दा होती है—) किन्तु रथादि के साधन वृक्षादि का अभाव होने पर भी यह उनकी

१ दार्वाद्यभावादिति शेष । २ ननु रवधारणे । ३ निर्मायित्युक्तं नन्विति पूर्वश्रान्वय । ४ अस्य लोकस्य मात्रामित्यस्यायं माह—अन्तं करणेति अन्तं करणनिष्ठाया अस्य लोकस्य वासना सकारास्या तामपादाय स्वपितेति सवन्ध । ५ उपपत्ता । ६ समाधानम् ।

ॐ न तत्र रथा न रथयोगा इत्यत्रत्यतात्पर्यमाहृवास्तिकाचार्यास्तथाहि— अविश्विकीषु साक्षादिममर्थं च श्रुति-परा । न तत्रेति प्रवृत्तौपा प्रत्यगात्मविशुद्धय ॥ कर्मकृद्विपरान्तो य कामविद्यासमन्वित । स्वापवोधाविमो तस्य न तु तत्साक्षिणो ह्ये ॥ कूटस्थज्योतिर्यवाऽऽस्ते स्वप्नस्वानेऽक्रियोऽज्य । चिदाभया वासनया तत्साक्षित्व प्रकल्पते ॥ तत्प्रयोक्तृक्रियाभावाद्बुद्ध्यादिव्योतितामिह । न व्यापुतिरत प्रत्यङ्ज्योतिता स्वेन वर्तते ॥ जाग्रद्वस्तूनि सर्वाणि भावनानामाश्रुताम् । जाग्रत्कर्मक्षये यान्ति स्वप्नकर्मोद्भवे सति ' ॥ १०४ ॥ १०५ ॥ इति । प्रत्यगर्थविशुद्धयर्थं स्वप्नस्य जाग्रतो वैलक्षण्यलक्षणमर्थं साक्षादाविष्कृतुं मिच्छन्ती न तत्रेत्याद्या श्रुति प्रवृत्तेति योजना ॥ तद्विबुद्धिरसिद्धा बुद्ध्यादिवदवस्थावत्त्वादित्याशङ्क्याऽह—कर्मति । विशिष्टस्य लक्षितस्य वाऽऽद्विर्वाऽऽस्य सिद्धत्वादित्येते हि बुद्धिविशिष्टस्याविद्यास्मितदिदोषवतो धर्माधमकतुं रवस्थावत्त्वेनागुद्धत्व नेतरो हेत्वसिद्धे-रित्यर्थं । साक्षिणो दृष्टिकर्तृत्वमाशङ्क्याऽह—ह्येरिति ॥ तस्यावस्थावत्त्वाभावे हेतुमाह—कूटस्थेति । स्वप्नादौ सर्वक्रियारहितो द्वैताभावोपलक्षितो निर्विकारचैतन्यमाश्रवनेनाऽऽमाज्वलित्पठे तत्कुतोऽस्यावस्थावत्त्व-मित्यर्थं । कूटस्थादयस्य कुत साक्षित्व सन्नियस्य सन्नयस्यैव च लोके तद्दृष्टेरित्याशङ्क्याऽह—चिदाभयेति । कूटस्थाद्वयस्यैव चैतन्याभासव्याप्तजाग्रदसतानुसारेण स्वप्ने प्रतीच साक्षित्व तथाऽवस्थान्तरेऽपि बाल्पनिक स्वयज्योतिपस्तद्विबुद्धमित्यर्थं ॥ अथस्यासाक्षितयाऽऽज्जन शुद्धत्वमुक्त्वा प्रकृतयुतेस्तात्पर्यं नियमयति—तदिति । बुद्ध्यादीना तत्रैरकर्मणा च स्वप्ने वासनानतिरेकात्तन्मयाना तेषामात्मप्रकाशयत्वात्तस्मिन्प्रकाशकत्वेन न प्रवृत्ति-रत स्वयमेव ज्योतिस्तत्राऽऽस्तेत्यर्थं ॥ स्वप्ने बुद्ध्यादीना वासनानतिरेकेणाभावमुक्तं व्यनक्ति—जाग्रदिति ॥

भवन्त्यथ

रथान् रथयोगान्पथः

सृजते

वहाँ तो वह रथ, रथ में जोते गये घोड़े और रथ के मार्गों की सृष्टि स्वयं ही वामना द्वारा पुरप कर

'लोकस्य वासना मात्रा तामपादाय 'रथादिवासनारूपान्तःकरणवृत्तिस्तदुपलब्धिनिमि-

दिना । तदुपलब्धिर्वासनोपलब्धिस्तत्र यत्कर्म निमित्त तेन चोदिता योऽङ्गताऽन्तःकरणवृत्तिर्ग्राहका-

रचना किस प्रकार करता है । (सिद्धान्ती कहता है—) इस पर बतलाया जाता है—“इत सर्वावान् लोक की मात्रा को लेकर अपने को चेतन्यशून्य कर तथा स्वयं अपने को रचकर” ऐसा पहले श्रुति निषय कर चुकी है । सो अन्तःकरण की वृत्ति ही इस जाग्रद्देह (लोक) की वासना की मात्रा है उसे लेकर

१. जाग्रद्देहस्य । २ निर्माणपदार्थमाह—रथादीति । रथादीनां सत्काररूपा याऽन्तःकरणस्य वृत्ति परिणति भास्यत्वेन व्यक्तित्पुने इति सवन्ध । ३ कीदृशी सेत्यानाङ्घ्रायामाह—तदिति ॥ तस्या वृत्तेर्वा रथादिरूपणोपलब्धिस्तत्रिमित्तेन कर्मणा चाद्यमाना रथादिपरिणामोन्मुखीत्रियमाणा ह्यत्यन्तेन रथाद्यात्मना व्यक्तित्पुने पुर स्थिता भवति विषयी भवतीति यावत् । तद्—उक्तरूपेणावस्थान स्वयं निमित्तेत्येतद्दृष्टवन्निमित्तानोच्यत इत्यर्थः । ४ वासनोपलब्धि—रथाद्यात्मना वासनाया उपलब्धि । ५ अननीद्भूतेति पर व्याख्यातम् ।

ॐ अथ रथा न रथयोगान्पथं सृजत इत्यादिश्रुतित्वात्पर्यं वातिके यथा—“ता भावना उपादाय प्रत्यङ्—स्वप्ने रिररतया । करोत्येव रथाद्यर्थं स्वप्नभोगप्रसिद्धये ॥ करणं कर्म कर्ता च कर्मतत्कारवात्मकम् । प्रत्यङ्मोहैकनिष्ठ सच्चिदाभवात्तदात्मनि ॥ कार्यकरणरूपेण कर्मतत्प्रथमे जगत् । आत्मन्पेतत्समन्व्यस्तमात्माविद्यैव हेतुत् ॥ सर्वस्य कर्मणोऽश्रयन्तामात्माऽन्तर्ता विलक्षण ॥ तत्सहैत स्वयं स्वात्माऽनर्ता निर्गुण शुचि ॥ अविद्यया स्वमात्मानममुषुड मन्यते यदा । जाग्रत्स्वप्नमुषुतानि तदेतानि प्रपद्यते ॥ रथा दार्वाद्यमद्भवात् सन्ति स्वप्नदर्शने । न सत्यश्रादयस्तद्द्वययोगाः सवर्त्मका ॥ रथादीन्मृजतेऽद्यात्र जाग्रत्कर्मादिहेतुवान् । अविद्याकामकर्मणि मृष्टिबीजमिदं द्यो ॥ कर्मणो गमनस्येह साधनाभावहेतुना । स्वप्ने मृयात्वमाहैव गमनादे श्रुति स्वयम्” ॥६०६-६१६ ॥ इति । अथ रथानित्यादेस्तात्पर्यमाह—ता इति । आत्मा स्वप्ने रथादि करोति चेदमुषुडपादापि करिष्यति तथाच स्वकृतबुद्धपादिप्रकाश्यतया न स्वयन्व्योतिष्ठवमित्यानाङ्घ्राऽह—स्वप्ननि । करणादिकारकस्य वासनात्मक सर्वं प्रतीच स्वप्नभोगार्थं कर्मत्वेन प्रपद्यते तेन न तत्प्रत्येवप्रकाशकमित्ययं कथं तर्हि बुद्धपादेरात्प्रविषयत्वप्रतीतिस्तथाऽह—प्रत्यगिति । तद्वि बुद्धपादि साभासाज्ञाने कल्पित चिदाभासस्त्वादज्ञानेन सहाऽऽत्मनि कल्प्यते तेन तद्विषयत्वधीरित्यर्थः ॥ करणं कर्मैत्यत्रोत्तमूढ प्रत्यङ्मोहैत्यादिनोक्तमर्थं साधयति—कार्येति । कर्मविषयभूतमिति यावत् ॥ अविद्ययाऽऽत्मन्यप्यस्त जगदित्यत्र फलितमाह—सर्वस्यति । कर्मणो जगतो विषयस्येति यावत् । अत्यन्त विलक्षण इति सवन्ध । अकर्तृत्तच्छेदः । अविद्याअज्ञानवधादात्मनश्च समुत्पत्त्वाद्ब्याप्तिमायाङ्घ्राऽह—तदिति ॥ आत्मा बुद्धस्वेत्कथं तस्यावस्थावत्त्वप्रथेत्यत आह—अविद्ययति ॥ न तत्रेत्यादेः स हि कर्तृत्वात् तस्य तत्त्वयमुक्त्वा नेत्यादेरक्षरारथमाह—रथा इति । अनेन स्वप्नात्किं । दार्वादिहेत्वभावे कथं रथादिमृष्टि रित्याह—अप्येति ॥ तत्रात्तम्—जाग्रदिति । कर्मादि रथादिमृष्टिहेतुत्वं कथमात्मा स्रष्टोच्यते तत्राऽह—अविद्येति ॥ रथादि मृजयत चेतस्य स्वप्न तदाभावोक्तिरित्यानाङ्घ्राऽह—कर्मण इति । गमनास्यकर्महेतुर्नरथादिनिवासन स्वप्ने गमनादेर्नि यात्र स्वयमेव श्रुतिद्वयस्यैव सर्वस्यापि स्वप्नस्य भिद्यत्वात्कमत्र विवक्षित मायामात्र

ॐ न तत्राऽऽनन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथाऽऽनन्दान्मुदः

लेता है । उस समय वह भ्रान्त, मोद और प्रमोदरूप वृत्ति भी नहीं है किन्तु वह स्वप्नद्रष्टा भ्रान्त,

त्तेन कर्मणा चोद्यमाना दृश्यत्वेन व्यवतिष्ठते तदुच्यते स्वयं निर्मायेति । 'तदेवाऽऽह

वस्या तदाश्रयं तदात्मक तद्वासनारूपं दृश्यत इति योजना । 'तथाऽपि कथमात्मज्योतिः स्वप्ने केवलं

रथादि की वामनारूपा जो भ्रन्त करण की वृत्ति है, वह उसकी उपलब्धि के निमित्त भूत कर्म से प्रेरित होकर दृश्यरूप से स्थित रहती है । उसी को "स्वयं निर्माय" यानी स्वयं रचकर कहा जाता है—

१ स्वयं निर्माणमेव विशेषरूपेणाह । २ रथादीना तत्र वासनामात्रत्वेऽपि ।

त्विति न्यायादित्यर्थं ॥

स्वप्नमधिकृत्य बृहदारण्यके श्रूयते न तत्र रथा इत्यादि । तत्र किं स्वप्नसृष्टिर्घटादिवदव्यावहारिकी ग्राहो-
स्विच्छुक्तिरजतादिवन्मायामधीति सदेहे पूर्वपक्षी ब्रूते—'मध्ये सृष्टिराह हि' (ब्र शू ३ २ १) इति । जागरित-
मुपुष्यो सन्धीभवे स्वप्ने सृष्टिर्व्यावहारिकी हि यत । अथ रथान् रथयोगानिति श्रुतिरेवमाह—'निर्मातार वैके
पुत्रादयश्च' (ब्र शू ३ २ २) । इदमपि पूर्वपक्षसूत्रम् । एके शाखिन स्वप्ने कामाना निर्मातार जीवमिव परमे-
श्वरमामनन्ति य एष सुप्तो जागति काम काम पुत्रो निर्माण इति । ननु श्रुतौ कामाना बुद्धिवृत्तिविशेषाणा
निर्माता परमेश्वर इति श्रूयते नार्थनिर्मातयाश्चुद्धाऽह—पुत्रादयश्चेति काम्यन्त इति व्युत्पत्त्या पुत्रादय एव
कामा इति परमेश्वरस्यैवार्थनिर्मातृत्वमेव च स्वप्नसृष्टिर्व्यावहारिकसत्त्वात् परमेश्वरकर्तृत्वात्सित्यादिवदित्यनेन
पूषेण सूचितमत श्रुत्यनुमानाम्या स्वप्नसृष्टिर्व्यावहारिकसत्त्वेति पूर्वपक्षे प्राप्ते प्रादान्त—मायामात्र तु पूर्व-
पक्षनिर्मातसोतु शुक्तिरजतवत्स्वप्नसृष्टिर्मायामात्र कुत कात्स्न्येन उचितदेशवानादिसप्तयाबाधाभावेन चानभि-
व्यक्तस्वरूपत्वात् न हि रथानानुचितो देश स्वप्ने सम्भवति । देहान्तर्नाडीप्रविष्टमनाञ्जच्चिद्वनसाक्षिनिष्ठत्वात्पु-
चित्त बालोऽस्ति घटिकाामात्रवर्तिनि स्वप्ने प्रचुरवत्सरसाध्यसतरणस्य दृष्टेस्ततो देशादिसप्तयाबाधरूपवस्तुधर्मोत्पा-
ननिव्यक्तस्वरूपत्वात् प्रातिभासिक एव स्वप्नप्रपञ्च यदुक्तमथ रथानिति श्रुतिरेवेश्वरकर्तृका सृष्टिर्माहेति सृष्टे
सत्यत्वमिति तच्छ्रुत्वे न तत्र रथा इत्यादिकया स्वप्ने रथाद्यभावबोधिवया परिहृतम् । अनुमाने चोचितदेशा-
दिज यत्वमुपाधिर्हेत्वसिद्धिश्च सुगते स हि कर्तेति स्वयं निर्मायेत्यादिश्रुत्यन्तरे च स्वप्नसृष्टेर्जीवकर्तृत्ववश्वरणा-
त्तथा च काम काममिति श्रुतावपि जीव एव निर्माता विज्ञेयोऽत स्वप्नसृष्टिर्मिथ्येति सिद्धम् । स्वयं निहृत्य
पूर्वदेहं निश्चेष्ट कृत्वा, स्वयं निर्माय—अपूर्वं स्वप्न देहं सपाद्य स्वेन भासा स्वीयान्तं वरणावृत्त्या स्वेन
ज्योतिषा स्वरूपचैतन्येन च प्रवर्षयति बुद्धिस्ववासना साक्षित्वेनावतिष्ठत इति श्रुत्यर्थः ॥

ॐ न तत्राऽऽनन्दा इत्यादि स हि कर्तेत्यन्तम् । अत्र वार्तिके - न कर्मफलमप्यत्र स्वप्ने तद्वैश्वस्यत्वात् ।
नाऽऽनन्दा अपि तत्रेति ह्यत श्रुतिरभाषत ॥ आह्लादा स्युरिहाऽऽनन्दा हर्षश्चात्र मुदस्तथा । प्रकर्षगुणसम्बन्धा
प्रमुदो मुद एव तु ॥ पत्वलात्स्विह वैशान्ता प्रतिद्वार्यं तथोत्तरम् । इत्येवमसतामेव स्रष्टाऽऽज्जना स्वात्मनायया ॥
चिदाभकारकोऽङ्गुलत्वासात्मकहेतुक । स्वयं निर्मायं सुजत इत्यकर्मोपि भण्यते । अविचारितसिद्ध क्रियाकारक-
लक्षणम् । जाग्रद्भावमपि मतं किमु स्वप्नकनीडगम् । रथादिवामनानीडचित्तवृत्तिसमुद्भव-कर्महेतुत्वत कर्ता-
कर्ताऽप्यात्मामिधीयते ॥ अकर्तृरपि कर्तृत्व स्वात्मानानकहेतुत । तदन्यस्येह कारवत्वात्कर्ताऽऽज्जमेव तमोवधि ॥
स्वप्नवृत्तावुपादान साधनं वा न विद्यते । रथादेरसतस्तस्माद्द्रष्टृवाऽऽज्जना न वारक ॥ अस्ति यत्राप्युपादान

प्रमोदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो
भवन्त्यथ वेशान्तान्पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स
हि कर्ता ॥१०॥

मोद एव प्रमोद को भी सृष्टि कर लेता है । उस समय छोटे-छोटे जलाशय, तालाव और नदियाँ भी नहीं हैं । उन जलाशयो, तालावो और नदियो को सृष्टि भी वह पुरुष कर लेता है । अतः उनका कर्ता स्वयं स्वप्नद्रष्टा पुरुष ही माना जाता है ॥१०॥

रथादींसृजत इति । ननु तत्र करणं वा करणानुप्राहकाणि वाऽऽदित्यादिज्योतींषि तदवमास्या वा रथादयो विषया विद्यन्ते । तद्वासनामात्रं तु केवल तदुपलब्धिकर्म-निमित्तबोद्धितोद्भूतान्तःकरणवृत्त्याश्रयं दृश्यते । तद्यस्य ज्योतिषो 'दृश्यतेऽनुसृष्टशस्त-दात्मज्योतिरत्र केवलमसिरिद्य कोशाद्विविक्तम् ।

सिध्यति तत्राऽऽह— तद्यस्येति । यथा कोशादसिर्विविक्तो भवति तथा दृश्याया, बुद्धेर्विविक्तमात्मज्यो-तिरिति कैवल्यं साधयति—असिरिवेति ।

स्वयं निर्माण का विशिष्ट रूप बना जाता है कि रथादि की रचना करता है । उस अवस्था में इन्द्रिय, इन्द्रियो के अनुप्राहक प्रादित्यादि प्रकाश अथवा उनमें प्रकाश्य रथादि विषय भी नहीं हैं । उनकी अनुभूति हेतुभूत जो कर्म हैं; उन कर्मरूप निमित्त में प्रेरित अन्तःकरण की उद्भूतवृत्ति के प्राश्रित केवल उनकी वासनामात्र देखी जाती है । वह जिस अलुप्त दक स्वभाव ज्योति को दिखाई देती है; वह प्रात्मज्योति इस अवस्था में म्यान में निकाली हुई तलवार की तरह शुद्ध होती है ।

१ उद्भूतस्व कार्यजननक्षमस्व स्वप्नदर्शनानुकूलत्वम् । २ दृश्य भवति ।

साधन वाऽस्य जागरे । तत्राप्यात्मचिदाभासमनोबुद्धपादिकारकं ॥ रथादिवासनानोडभीवृत्त्युद्भवकारणम् । कर्म निर्वर्त्यते तेन स हि कर्तेति भण्यते ॥ भ्रान्दादेरिव कर्तृत्व कर्ताद्यर्थविभासनात् । बुद्धपादिकर्तृसाक्षित्वात्कर्तृत्वा-धारमनो भवेत् ॥ त्रियाकर्तृत्वमेवावस्य हेतुर्बुद्धपादिसमता । यथावस्त्वपरिजानाद्धीति हेतावत पदम् ॥ ११७-१२२ ॥ इति । न तत्राऽऽनन्दा इत्यपिदेस्तात्पर्यंमाह—न कर्मेति । स्वप्ने कर्माभावात्तत्कलाभाव इत्यत्र धृतमित्यवगत्यति—नेति । हेत्वभावे फलाभाव हिशब्दोपात्तमन शब्देनानुवदति ॥ भ्रान्दादिवदानामपुनरुक्तमर्थ-माह—आह्लादा स्युरिति । इहेत्यत्रेति च प्रकृतवाक्योक्तिः । भ्रानन्दा मुखसामान्यानि । मुद्-पुत्रादिनिमित्ता हर्षा प्रमुदस्तु हर्षा एव प्रवर्षेर्विद्यता इति भेदः ॥ पस्वन्वा धुदाणि सरति । उत्तर स हीत्यस्मात्प्राक्तन वाक्यम् । न तत्रेत्यादिवाक्यार्थमुपमहरति—इत्येवमिति ॥ आत्मनो मायया स्रष्टृत्वं युक्तिमाह—चिदामेति । चैतन्या-भासव्याप्तबुद्धपादिकारकाकारेणाभिव्यक्तवामनाप्रयोजकस्वप्नभोगहेतुकर्मस्वविद्यया हेतुत्वाद्बस्तुतो निर्वापारो-ज्यात्मा तत्र कर्तोऽप्येते । तत्र ब्रूटस्थस्य मायिकमव स्रष्टृत्वमित्यर्थः ॥ स्वप्नमूढमायामयत्वे कर्मतुतिव्यायमाह—अविचारितेति ॥ स हि कर्तेत्यस्यार्थमाह—रथादीति । जाग्रदृष्टरथादाकारवासनाश्रयचित्तदृश्यप्रकाशरूप-परिणामव्यञ्जकर्महेतुत्वाद्ब्रह्मनुताऽऽकृतोऽज्यात्मा कर्तेत्युच्यते न तस्य स्रष्टृत्वादिरित्यर्थः ॥ अकर्ता चेदात्मा न कर्महेतुविरोधादिशयात्तच्छ्रुत्याऽह—अकर्तुरिति । आत्मन कर्तृत्वमज्ञानवृत्त चेदन्यो वस्तुतोऽस्तु कर्तेत्याश्रुत्या-

'तथा न तत्राऽऽनन्दाः सुखविशेषाः सुवो हर्षाः पुत्रादिलाभनिमित्ताः 'प्रमुदस्त एव प्रकर्षोपेताः । 'अथ चाऽऽनन्दादीन्सृजते । तथा न तत्र वेशान्ताः पत्न्यलाः पुष्करिण्यस्तडागाः स्रवन्त्यो नद्यो भवन्ति । 'अथ वेशान्तादीन्सृजते वासनामाश्रयणान् । यस्मात्स हि कर्ता । तद्वात्मनाश्रयचित्तवृत्त्युद्भवनिमित्तकर्महेतुत्वनेत्यवोचाम्' तस्य कर्तृत्वं न तु साक्षादेव तत्र क्रिया संभवति साधनाभावात् । न हि कारकमन्तरेण क्रिया संभवति । न च तत्र हस्तपादादीनि क्रियाकारकाणि संभवन्ति । यत्र तु तानि विद्यन्ते जागरिते

तथा रथाद्यभाववदिति यावत् । मुखान्येव 'विशिष्यन्त इति विशेषाः सुखसामान्यानीत्यर्थः । तयेत्यानन्दाद्यभावो दृष्टान्तितः । अल्पोपासि सरांसि पत्न्यलाश्रयान्तेच्यन्ते । स हि कर्तृत्वत्र हिगन्दाद्यर्थो यस्मादित्युक्तस्तस्मात्सृजतीति शेषः । कुतोऽस्य कर्तृत्वं 'सहकार्यभावादित्याशङ्क्याऽऽह—तद्वासनेति । तच्छ्रवदेन 'वेशान्तादिग्रहणम् । तदीयवासनाधारश्चित्तपरिणामस्तेनोद्भवति यत्कर्म तस्य सृज्यमान'निदानत्वेनेति यावत् । मुख्यं कर्तृत्वं चारपति—नन्विति । तत्रेति स्वप्नोक्तिः । साधनाभावेऽपि स्वप्ने क्रिया किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । तर्हि स्वप्ने कारकाण्यपि भविष्यन्ति नेत्पाह—न चेति । "तर्हि पूर्वोक्तमपि कर्तृत्वं कथमिति चेत्तत्राऽऽह—यत्र त्विति । "उच्येऽर्थो वाक्योपक्रम-

(स्वप्नावस्था मे कर्माभाव होने से फलाभाव होता है—) इस प्रकार वहाँ "भ्रानन्दा." यानी सुखविशेष "मुदः" अर्थात् पुत्रादिलाभनिमित्तक हर्ष; "प्रमुद." यानी प्रकर्ष को प्राप्त हुए वे हर्ष भी नहीं है । किन्तु यह भ्रानन्दादि वा स्रष्टा है । इसी प्रकार वहाँ न "वेशान्ताः" यानी छोटे तालाब हैं, 'पुष्करिण्यः" यानी न तालाब हैं और न ही 'स्रवन्ती." अर्थात् नदियाँ हैं । किन्तु यह उन वासना-माश्रयणको छोटे तालाब आदि को रच लेता है क्योंकि वह कर्ता है । उन विषयो की वासनाश्रय चित्तवृत्ति के परिणामी जो कर्म हैं, उनके कारण ही उसका कर्तृत्व बतलाया जा चुका है; साधन के अभाव से साक्षात् उसमे कोई क्रिया होना संभव नहीं है क्योंकि कारक के बिना क्रिया नहीं हुआ करती और वहाँ क्रिया के वास्तविक हाथ, पाँव आदि भी संभव नहीं है । एव जहाँ जाग्रदवस्था में

- १ स्वप्ने कर्माभावात्फलाभाव इत्यत्र श्रुतिप्रवृत्तारयति—तथेति । २ हर्षा एव । ३ कथं तर्हि तत्र तेषां प्रतीतिरित्याशङ्क्य प्रतीतिमुपपादयति—अथेति । ४ तत्प्रतीतिमुपपादयति—अथेति । ५ पृ १०५७ भाष्ये । ६ अतिरिच्यन्ते सर्वाभिलाषविषयतया दुःखादिभ्य उद्वृच्यन्ते इत्यर्थः । ७ आत्मन वृत्तत्वात् । ८ दावादि । ९ आहृति—कर्मैव सहकार्यमित्यर्थः । १० जागरितवृत्तादिग्रहणम् । ११. वायोन्मुलीभवति । तेनोद्भवति—तदात्मना फनोन्मुखी भवतीति यावत् । १२ सहकारितया । १३. कारकाभावे । १४ स हि वर्तते । १५ आत्मनिग्रीपचारिककर्तृत्वस्ये ।

ऽह—तदन्यस्येति । शास्त्रोयो व्यवहार सप्तम्यर्थः ॥ आत्मनोऽपि कथमाविद्य रथादिकर्तृत्व स्वप्ने तदुदात्तानस्य दावदित्तदुपकरणस्य परध्यादेर्भाष्यत्वादित्याशङ्क्याऽऽह स्वप्नेति ॥ स्वप्ने रथादेरात्मा साक्षी चेत्कथं कर्तृत्वुक्तिरित्याशङ्क्याज्ञानत स्वप्नेहेतुकर्मनिर्बन्तं नत्वादित्याह—अस्तीति ॥ अस्येति रथादिनिर्देश ॥ एवमात्मा कर्ता चेद्द्रष्टव्यं न कारक इति कथमुक्तं तत्राऽऽह—भान्वादेरिति । वर्ताद्यर्थावभासात्तत्त्वादादित्यादेरवभासकत्वं यथोपचर्यते तथाऽऽत्मनोऽपि बुद्ध्यादिकारकसाक्षात्कालत्वाद्युपचरितमित्यर्थः ॥ स हीत्यत्र हिगन्दाद्यर्थमाह—त्विति । प्रत्यगज्ञानादुद्भवपादिसव्यवधानीन यदात्मनो धर्मादिकर्तृत्व जाग्रति जात तदेवमपि स्वप्ने रथादिनिर्माण हेतुरिति हेतो हीति पद तस्माच्चुक्तमात्मनो मायिक स्वप्ने सृष्टृत्वमित्यर्थः ॥

तदेते श्लोका भवन्ति । स्वप्नेन शारीरमभिप्रहृत्या-^१

सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति । 'शुक्रमादाय पुनरैति

इस विषय मे ये मन्त्र है । यह आत्मा स्वप्न के द्वारा देह को चेष्टारहित कर स्वयं न मोता हुआ सोये हुए समस्त पदार्थों को सभी ओर से प्रवाशित करता है । वह शुद्ध इन्द्रिय मात्रारूप को लेकर पुन

तत्राऽऽत्मज्योतिरवभासितैः कार्यकरणे रथादिवासनाश्रयान्तःकरणवृत्त्युद्भवनिमित्तं कर्म निर्वर्त्यते तेनोच्यते स हि कर्तेति । तदुक्तमात्मनैवायं ज्योतिपाऽऽस्ते पत्ययते कर्म कुरुत इति । तत्रापि न परमार्थतः स्वतः कर्तृत्वं चैतन्यज्योतिपाऽवभासकत्वव्यतिरेकेण । यच्चैतन्यमात्मज्योतिपाऽन्तःकरणद्वारेणावभासयति कार्यकरणानि यदवभासितानि कर्मसु व्याप्रियन्ते कार्यकरणानि तत्र कर्तृत्वमुपचयंत आत्मनः । यदुक्तं ध्यायतीव तेलापतीवेति तदेवाच्यते स हि कर्तेतीह हेत्वर्थम् ॥ १० ॥

तदेत एतस्मिन्नुवतेऽर्थ एते श्लोका मन्त्रा भवन्ति स्वप्नेन स्वप्नभावेन शारीरं

मनुकूलयति—तदुक्तमिति । उपक्रमे मुख्यं कर्तृत्वमिह स्वोपचारिकमिति विशेषमाशङ्क्याऽऽह—तत्रापीति । परमार्थतश्चैतन्यज्योतिषो 'व्यापारवदुपाध्यवभासकत्वव्यतिरेकेण स्वतो न कर्तृत्व वाश्रयोपक्रमेऽपि विवक्षितमित्यर्थं । आत्मनो वाश्रयोपक्रमे कर्तृत्वमोपचारिकमित्युपसंहरति—यदिति । स हि कर्तेत्योपचारिक कर्तृत्वमित्युच्यते चैतस्य ध्यायतीवेत्यादिनोक्तत्वात्पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—यदुक्तमिति । अनुवादे प्रयोजनमाह—हेत्वर्थमिति । स्वप्ने रथादिसृष्टाविति शेषः ॥ १० ॥

तदेते श्लोका भवन्तीत्येतत्प्रतीकं गृहीत्वा श्याचष्टे—तदेत इति । उक्तोऽर्थः स्वयंज्योति-

वे रहते हैं, वहाँ आत्मज्योति से प्रकाशित कार्य और करण द्वारा रथादिवासना को आश्रयभूता मन्त्र करण की वृत्ति से उत्थित होने वाला कर्म निष्पन्न हो सकता है, इसी से कहा जाता है कि वह कर्ता है । अतः श्रुति कहती है कि 'वह आत्मज्याति से ही बँठता है, इधर-उधर जाता है और कर्म करता है, फिर वापिस प्रा जाता है' । वहाँ भी प्रकाशक होने के अतिरिक्त इस चैतन्यज्योति का तत्त्वतः कोई कर्तृत्व नहीं है । क्योंकि आत्मा अन्तःकरण द्वारा चैतन्यमात्मज्योति से देह और इन्द्रियों को अवभासित करता है और उससे अवभासित हुई देह और इन्द्रियाँ कर्म में प्रवृत्त होती हैं, इसी से देह इन्द्रिय व्यापार में आत्मा के कर्तृत्व का उपचार किया जाता है । और जो यह कहा गया है "मानो ध्यान करता है, प्राणवृत्ति के अनुसार मानो चेष्टा करता हुआ सा जान पड़ता है", उसी का कर्तृत्व मे हेतु दिखाने के लिये यहाँ 'वही कर्ता है' इस प्रकार अनुवाद किया गया है ॥१०॥ "तदेते" अर्थात् उक्त अर्थ में "श्लोका." यानी मन्त्र है । आत्मा "स्वप्नेन" अर्थात् वासनामात्र

१ अत्र 'शुक्रमादायभिचाकशीति'त्यपि योजयन्ति । २ स्वप्नरथादिप्रयोजककर्मनिर्वर्तकत्वेन । ३ उपक्रमेऽपि । ४ कार्यकरणव्यापारे । ५ हेत्वर्थमिति—स्वाज्ञानाद्द्वयादिसंबन्धाधीन यदात्मनो धर्मादि-कर्तृत्व जायति जात तदेवायं स्वप्ने रथादिनिर्माणहेतुरित्येतदनुवादप्रयोजनं ज्ञापनम् । तस्मादुक्तमात्मनो मायिक स्वप्ने सृष्टृत्वमिति । ६ वासनामात्रोपग्रहेण । ७ भासनादिव्यापारविशिष्टसपादेत्यर्थं ।

स्थान^७ हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥ ११ ॥

प्राणेन रक्षन्नवरं 'कुलायं बहिष्कुलायादमृत-

श्चरित्वा । स ईयतेऽमृतो यत्र 'काम^७ हिरण्मयः पुरुष

जाग्रदवस्था मे आता है । अतः वह स्वयज्योतिस्वरूप दोनों अवस्थाओं मे तथा इहलोक और परलोकादि मे अकेला ही जाने वाला है ॥११॥

इस निकृष्ट देह की रक्षा प्राण द्वारा करता है (अन्यथा निद्राकाल मे मृत्यु की भ्रान्ति हो सकती है) । वह अविनाशी आत्मा शरीर से बाहर बिचरता है, वह अकेला घूमने वाला हिरण्मय

शरीरमभिप्रहृत्य 'निश्चेष्टमापाद्यासुप्तः स्वयमलुप्तगृहादिशक्तिस्वभाव्यात्सुप्तान्वासना-
कारोद्भूतानन्तःकरणवृत्त्याध्यायान्बाह्याध्यात्मिकान्तर्बन्धिव 'मावांस्वेन' रूपेण प्रत्यस्त-
मितान्सुप्तानभिचाकशीत्य'लुप्तपाऽऽत्मदृष्ट्या पश्यत्यवभासयतीत्यर्थः । शुक्रं शुद्ध 'ज्योति-
ष्मदिन्द्रियमात्रारूपमादाय गृहीत्वा पुनः कर्मणे जागरितस्थानमंत्यागच्छति हिरण्मयो
हिरण्मय इव चेतन्यज्योतिःस्वभावः 'पुरुष एकहंस एक एव हन्तीत्येकहंसः । एको
जाग्रत्स्वप्नेहलोकपरलोकवीगच्छतीत्येकहंसः ॥ ११ ॥

'तथा प्राणेन पञ्चवृत्तिना रक्षन्परिपालयन्न'न्यथा मृतभ्रान्तिः स्यादवरं निकृष्ट-

त्वादि" । शरीरमिति स्वार्थे वृद्धिः । स्वयमसुप्तस्य हेतुमाह—अलुप्तेति । व्याख्येय पदमादाय व्या-
चष्टे—सुप्तानित्यादिना । उक्तमनूय पदान्तरम"वतार्यं ध्याकरोति—सुप्तानभिचाकशीतीति ॥ ११ ॥

तथाशब्दः स्वप्नगतविशेषसमुच्चयार्थः । किमिति स्वप्ने प्राणेन शरीरमात्मा पालयति

स्वप्नभाव से "शरीरमभिप्रहृत्य" अर्थात् शरीर को निश्चेष्ट बनाकर "आसुप्त सुप्तानभिचाकशीति"
अर्थात् स्वय अलुप्तगृहादिशक्तिस्वरूप होने से आसुप्त रहकर वासनारूप से उद्भूत अन्तःकरण वृत्ति
के आश्रित बाह्य और आध्यात्मिक सभी पदार्थों को जो अपने व्यावहारिक रूप से सोये रहते हैं, उन्हें
प्रकाशित करता है अर्थात् उन्हें अपने अलुप्त आत्मज्योति से देखता है यानी प्रकाशित करता है ।
वह "शुक्रम्" अर्थात् दीप्तिमान् इन्द्रिय मात्रा के शुद्धरूप को "आदाय" यानी ग्रहणकर "पुन"
अर्थात् फिर जागरितस्थानरूप कर्म मे "एति" प्रथात् चला जाता है । "हिरण्मय" अर्थात् हिरण्मय
के समान चेतन्य ज्योतिस्वभाव वाला पुरुष "एकहंस" अर्थात् अकेला ही विचरण करता है । वह एकाकी
ही जाग्रत्, स्वप्न तथा इहलोक-परलोकादि मे जाता है, इसलिये वह एकहंस है ॥११॥

इसी प्रकार "प्राणेन" अर्थात् प्राणापानादि पाँच वृत्त्यात्मक प्राणो से "रक्षन्" अर्थात् परि-

- १ को पृथिव्या लीयते शरीरम् । २ काम्यने इति व्युत्पत्त्या शरीरादि । ३ जाग्रत्कर्मक्षयात्स्वप्न-
कर्मोद्भवत् च । ४ पदार्थान् । ५ व्यावहारिकेण । ६ कूटस्थया । ७ दीप्तिमत्त्वात् ।
८. कार्यकरणवि सर्वं पुरयति-पूर्वोऽपरिच्छिन्नश्च स्वयम् । ९ तथेति—यथा स्वप्नेन शरीरमित्यादि
पूर्वमन्त्रपूर्वाद्धे स्वप्नगतो विशेष प्रदर्शितस्तथा प्राणेनेत्यादिभन्नादये पुनरपि स्वप्नगतो विशेष एव प्रदर्शयति
इत्यर्थः । १० यदि पर स्वप्ने प्राणेन देह न रक्षित्वा । ११ आदिना बुद्ध्याद्यतिरिक्ततम् । १२ आदाय ।

एकह^{१७}सः ॥ १२ ॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते
वह्नि । उतेव शोभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि
भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥

अमर पुरुष वहाँ चला जाता है; जहाँ की वासना उसे होती है ॥१२॥

इसके प्रतिरिक्त स्वप्नावस्था में वह आत्मदेव ऊँच-नीच भावों को प्राप्त होता हुआ अनेक वासनामय रूप बना लेता है । वैसे ही वह स्त्रियों के साथ प्रसन्न होता हुआ, मित्रों के साथ हँसता हुआ और कभी व्याघ्रादि भयकर जन्तुओं से भय का अनुभव करता हुआ-सा विचरता रहता है ॥१३॥

मनेकाशुचिसंघातत्वाद्यन्तर्धीमत्सं कुलायं नीडं शरीरं स्वयं तु बहिस्तस्मात्कुलाया-
ञ्जरित्वा । यद्यपि शरीरस्य एव स्वप्नं पश्यति तथाऽपि 'तत्संबन्धाभावात्तस्य इवा-
ऽऽकाशो बहिश्चरित्वेत्युच्यते । 'अमृतः स्वयममरणधर्मोयते गच्छति यत्र कामं यत्र यत्र
कामो विषयेषूद्भूतवृत्तिर्भवति तं तं 'कामं वासनारूपेणोद्भूतं गच्छति ॥ १२ ॥

किंच स्वप्नान्ते स्वप्नस्थान उच्चावचमुच्चं देवादिभावमवचं तिर्यगादिनावं

तत्राऽऽह—अन्यथेति । बहिश्चरित्वेत्युक्तं शरीरस्यस्य स्वप्नोपलम्भादिवाशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति ।
तत्संबन्धाभावाद्बहिश्चरित्वेत्युच्यते इति संबन्धः । देहस्यस्यैव तदसन्देहे दृष्टान्तमाह—
तस्य इति ॥ १२ ॥

स्वप्नस्यं विशेषान्तरमाह—किंचेति । उच्चावचं 'विषयीकृत्य 'तेन तेनाऽऽत्मना स्वनेव

पालन करता हुआ (यदि आत्मा स्वप्न में प्राण से देह की रक्षा न करे) अन्यथा मृतम्रान्ति ही जायगी । "अमरम्" अर्थात् अनेक अपवित्र वस्तुओं का संघात होने से निकृष्ट अत्यन्त बीभत्स 'कुलायम्' अर्थात् नीड या शरीर की रक्षा करता हुआ, स्वयं उस शरीर से बाहर विचर कर; यद्यपि यह शरीर में रहकर स्वप्न देखता है तो भी शरीर से मिथ्याभिमान आत्मसंबन्धाभाव होने से देहस्य आकाश के समान मानो बाहर विचर कर ऐसा कहा जाता है । 'अमृतः' अर्थात् स्वयं अमरणधर्म होता हुआ भी 'ईयते' अर्थात् वहाँ जाता है । "यत्र कामम्" अर्थात् जहाँ-जहाँ कामनाओं में उद्भूतवृत्ति रहती है, वासनारूप से उद्भूत उन-उन काम्यमान शरीरादि कामनाविषय को प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

इसके प्रतिरिक्त "स्वप्नान्ते" अर्थात् स्वप्नस्थान में "उच्चावचमीयमानः" अर्थात् देवादि

१. घृणास्पदम् । २ शरीरेण सह मिथ्याभिमानात्मसंबन्धाभावादिति भावः । ३. देहस्यः । ४ बहिश्चरित्वेत्युपपादित वातिके—“नाडीस्त्यक्त्वा यत् स्वप्ने जाग्रद्भोगप्रदाः पुमान् । स्वप्नभोगप्रदा याति बहिर्नीदादतस्तदा” ॥ ६४० ॥ इति । ५ हृष्येत्तद्दि गमनागमनवत्त्वात्प्रायासप्रशयभागी स्यादित्या-
शङ्क्याऽऽह—अमृत इति । ६ काम्यमान शरीरादि । ७ प्राप्नोति । ८ आत्मन्यध्यस्य प्रकाशयन् । ९. तत्तदूपेण ।

'आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति । तं
नाऽऽयतं बोधयेदित्याहुः । दुर्भिक्षज्य^१ हास्मै भवति
यमेव न प्रतिपद्यते । 'अथो' खत्वाहुर्जागरितदेश

सभी लोग उस आत्मा की क्रीडासामग्री को तो देखते हैं, उस आत्मा को कोई देखता नहीं । उस सुपुत्र पुरुष को सहसा कोई न जगावे, ऐसा (बँध लोग) कहते हैं । जिस इन्द्रियप्रदेश में यह सोता रहता है, सहसा जगाने पर उस प्रदेश में प्राप्त न होने के कारण उसका शरीर दुश्चिकित्स्य हो जाता है । इसीलिए नि सन्देह कोई-कोई ऐसा कहते हैं, यह स्वप्नस्थान इस पुरुष का जाग्रत् देश ही

निकृष्टं तदुच्चावचमीयमानो गम्यमानः प्राप्नुवन्रूपाणि देवो द्योतनावान्कुरुते निर्वन्तंपति
'वासनारूपाणि बहुन्यसंख्येयानि । उतापि स्त्रीनिः सह भोदमान इव जक्षदिव हसन्निव
द्यस्यैः । उतेवापि भयानि बिभेत्थेभ्य इति भयानि 'सिंहव्याघ्रादीनि पश्यन्निव' ॥ १३ ॥

आराममारमणाम् क्रीडामनेन निर्मितानि वासनारूपामस्याऽऽत्मनः पश्यन्ति सर्वे
जनाः । ग्रामं नगरं स्त्रियम् घ्राद्यपित्यादिव्वासनानिर्मितमाक्रीडनरूपम् । न तं पश्यति
'तं न पश्यति कश्चन । कष्टं भो वर्ततेऽयन्' विविक्षं 'दृष्टिगोचरापन्नमप्यहो भाग्य-

स्वयं गम्यमान इति यावत् ॥ १३ ॥

आरामं विवृणोति—ग्राममित्यादिना । न तमित्यादेस्तात्पर्यमाह—कष्टमिति । दृष्टिगोचरापन्न-

उत्कृष्ट भाव और तिर्यगादि निकृष्टभाव इस प्रकार ऊँच-नीच भावी को प्राप्त होता हुआ वह द्योतनवान् देव बहुत से वासनात्मक शरीरों को बना देता है । वह स्त्रियों के साथ क्रीडा करता हुआ सा, "जक्षदिव" अर्थात् अपने मित्रों के साथ हँसता हुआ सा और भय के स्थान सिंह व्याघ्रादि को देखता हुआ सा रहता है ॥ १३ ॥

सभी लोग इस आत्मा के "आरामम्" अर्थात् स्वप्ननिर्माणलक्षणा क्रीडा को यानी मायावी आत्मा द्वारा निर्मित वासनात्मक मायिकरूप को देखते हैं । वे ग्राम, नगर, स्त्री, भक्षण करने योग्य अन्न इत्यादि वासनानिर्मित क्रीडा के रूपों को देखते हैं । "न त पश्यति कश्चन" अर्थात् उस विशुद्ध

- १ प्रदर्शित स्वप्नप्रयोजन स्वयंज्योतिष्टमित्याभिप्रेत्याह—आराममिति ।
- २ अपि—अन्ये ।
- ३ स्वयंज्योतिष्टुविधातकमन्यदीय मत दुष्टमिति बोधयितुमुपन्यस्यति—अथो इत्यादि नेतीत्यन्तेन । अन्ये ग्राहू किम् । एष प्रसिद्धो जागरितदेश एव प्रत्य स्वप्नस्य विषयो न तु स्वप्नोर्जितरिक्त इति । ४ प्रकाशमान ।
- ५ वासनारूपानि शरीराणि । ६ क्रीडन्निव । ७ सिंहव्याघ्रादीनीति—आविष्कामीति ध्येयम् । ननु स्वप्ने व्याघ्रादिकृत भय कथमाविष्कामिति चेच्छृणु—अविद्यया भय भेह स्वप्ने तद्वैत्यसभवादि' ति ॥ वा १४३ ॥ अविद्येतत्ख्याघ्राद्यभावात्कृतमेव तत्र भयमिति तस्य । ८ पश्यन्निवेतीत्यन्तेन तस्य निष्क्रियत्वं द्योत्यते । ९ भवति । १० स्वप्ननिर्माणलक्षणम् । ११ आत्मना मायाविना । १२ मायिकाम् । १३ अदनाहं सिद्धमित्यर्थः । १४ विविक्षन्नूपमपि प्रत्यञ्चम् । १५ अर्थात्मादिपदार्थेभ्यः । १६ दर्शनयोग्यतापन्नम् । १७ प्रतीयमान ।

एवास्यैव इति 'यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त
इत्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति 'सोऽहं' भगवते
'सहस्रं' ददाम्यत ऊर्ध्वं' विमोक्षाय ब्रूहीति ॥१४॥

है प्रयात् जिन पदार्थों को यह जागने पर देखा है, सोकर भी उन्ही को देखा है। (—विन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं—) क्योंकि इस अवस्था में यह पुरुष स्वयज्योति होता है। राजा जनक ने पूछा—वह मैं जनक आप प्राचार्यश्री को एक सहस्र गोएँ देता है। अतः अब इसके प्रागे मोक्ष के लिये यद्यार्थ उपदेश करें ॥१४॥

हीनता लोकस्य 'यच्छब्दव्यदर्शनमप्यात्मानं न पश्यतीति लोकं 'प्रत्यनुक्रोशं दर्शयति श्रुतिः । अत्यन्तविविक्तः स्वयं ज्योतिरात्मा स्वप्ने भवतीत्यभिप्रायः ।

तं नाऽऽपतं बोधयेदित्याहुः । 'प्रसिद्धिरपि लोके विद्यते स्वप्न आत्मज्योतिषो
'व्यतिरिक्तत्वे । काऽसौ । तमात्मानं सुप्तमापतं सहसा भूशं न बोधयेदित्याहुरेव कथयन्ति
मपि न पश्यतीति संबन्धः । कष्टमित्यादिनोषत् प्रपञ्चयति—ग्रहो इति । भूोकानां तात्पर्यमुपसंहरति
—अत्यन्तेति ।

वाक्यान्तरमादाय तात्पर्यमुक्त्वाऽऽकाङ्क्षापूर्वकमक्षराणि स्याकरोति—त नेत्यादिना ।

इकरूप प्रत्यगात्मा को कोई नहीं देखता। यह बड़े दुख की बात है, जो अद्यात्मादि पदार्थ से अत्यन्त विशुद्ध दर्शनयोग्यता को प्राप्त भी, स्वात्मादेह में स्थित दर्शन के लिए शक्य होने पर भी इस आत्मा को कोई नहीं देखता। ग्रहो! ससारी जीवों का कैसा दुर्भाग्य है। इस प्रकार श्रुति करुणापूर्ण संवेदना प्रकट करती है। भाव यह है कि स्वप्नावस्था में यह स्वयज्योति आत्मा अत्यन्त ससर्गयुग्म हो जाता है ॥ १४ ॥

'उस सोए हुए आत्मा को सहसा न जगावे'। ऐसा लोग कहते हैं। स्वप्न में आत्मज्योति के सघात से व्यतिरिक्त होने की लोकव्यवहार में प्रसिद्धि भी है। वह प्रसिद्धि क्या है? उस सोए हुए आत्मा को 'आपत' यानी सहसा-एकदम न जगावे—ऐसा चिकित्सकादि लोकव्यवहार में कहा

- १ एतदुपपाद्यन्ति—यानीत्यादि नेतीत्यन्तेन । हि यस्माद्यानि हस्त्यादीनि वस्तूनि जागरितदेशे परमति तान्येव स्वप्नेऽपि पश्यति इति । तथा च जाग्रद्वत्स्वप्नेऽपि न स्वयज्योतिष्टुम् । तदेतदसार (वृ ३-३-८) स वा अयमित्यादिना । स्वप्नस्य जागरितभिप्रत्वेनोक्तत्वादित्यभिप्रायेण श्रुति स्वप्ने निरूपित स्वयज्योतिष्टुमुपसंहरति—अत्रायं पुरुष इति । तथा चायं पूर्वपक्षस्तरमात्सिद्धान्तप्रत्याप्रागेव बोध्यः । २ स्वप्नस्य पुरुष स्वयज्याति-भवतीति मुनिश्रुतौपसंहार श्रुत्वा राजाऽहं—सोऽहमिति । देहेन्द्रियादिविलक्षण स्वरूप यद्यप्युक्तं तथापि भयादिहेतुकामकर्माद्यतीतं तु तत्रोक्तमतं पृच्छति—अत इति । स्वयज्योतिष्टुरूपो मुक्त्येकदेश एव निर्णीतोऽतः कारणत्वं (स्वयज्योतिष्टुत्वात्) ऊर्ध्वमनन्तर विशेषेण मोक्षो भवत्यनेनति विमोक्षो सम्पन्नान तदर्थं ब्रूहि—यथा मोहत्रासादिजनक कर्माख्यो मृत्युरात्मन स्वभावो न भवति तथोपदिशेत्यर्थः । ३ तुम्यम् । ४ गवाम् । ५ स्वात्मनि (देहे) स्थितत्वात् । ६ अनुक्रोश दर्शयतीति । मय्य शिरस्ताडमावन्दतीत्यर्थः । ७ बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तव स्वयज्योतिष्टुमागमादात्मन प्रतिपाद्याय लोकतोऽपि विभाव्यते—प्रसिद्धिरिति । ८ सघातात् ।

चिकित्सकादयो जना लोके । नूनं ते पश्यन्ति जाग्रद्देहादिन्द्रियद्वारतोऽपसृत्य 'केवलो बहिर्वर्तत इति यत् आहुस्तं नाऽऽयतं बोधयेदिति । तत्र च दोषं पश्यन्ति 'भृशं ह्यसौ बोध्यमानस्तानीन्द्रियद्वाराणि सहसा प्रतिबोध्यमानो न प्रतिपद्यत इति । 'तदेतदाह— दुर्मिषज्यं हास्मं भवति यमेय न प्रतिपद्यते यमिन्द्रियद्वारदेशं 'यस्माद्देशं चक्षुःक्रमादायापसृतस्तमिन्द्रियदेशमेव' आत्मा पुनरं प्रतिपद्यते । कदाचिद्'ध्यत्यासेनेन्द्रियमात्राः प्रवेशयति । 'तत आन्ध्यद्वाधिर्यादिविदोषप्राप्तौ दुर्मिषज्यं दुःखमिषवर्कसंता 'हास्मं देहाय भवति दुःखेन चिकित्सनीयोऽसौ देहो भवतीत्यर्थः । 'तस्मात्प्रसिद्ध्याऽपि स्वप्ने स्थयं-ज्योतिष्वं 'देहादिव्यतिरिक्तत्वमस्य गम्यते ।

"तेषामभिप्रायमाह—नूनमिति । इन्द्रियाण्येव द्वाराण्यस्येतीन्द्रियद्वारो जाग्रद्देहस्तस्माविति यावत् । "तयाऽपि सहसाऽसौ बोध्यता का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । सहसा बोध्यमानत्वं सप्तम्यर्थः । किमत्र" प्रमाणमित्याशङ्क्यानन्तरवाक्यमवतार्यं व्याचष्टे—तदेतदाहेत्यादिना । पुनरप्रतिपत्तौ दोषप्रसङ्गं दर्शयति—कदाचिदिति । ध्यत्यासप्रवेशस्य कार्यं दर्शयन्तुर्मिषज्यमित्यादि व्याचष्टे— तत इति । उक्तां प्रसिद्धिमुपसंहरति—तस्मादिति ।

करते हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे देखते हैं कि आत्मा जाग्रद्देह से उसके इन्द्रियरूप द्वार से निकलकर अकेली बाहर रह जाती है, इसलिए उसे सहसा न जगावे—ऐसा कहते हैं । इसमें वे यह भी दोष देखते हैं कि भटिति जगावे जाने पर वह एकाएक जगाया हुआ उन इन्द्रियगोलकों को प्राप्त नहीं हो सकता । उक्त रूपण को उत्तरवाक्य में स्पष्ट करते हैं—'जिस इन्द्रिय प्रदेश में यह सोता रहता है—सहसा जगाने पर उस प्रदेश में प्राप्त न होने के कारण उसका धारी चिकित्सा करने योग्य नहीं रहता' । 'यम्' अर्थात् जिस इन्द्रियद्वाररूप प्रदेश से अर्थग्रहण सामर्थ्याख्य इन्द्रिय मात्रा-रूप झुक लेकर हट गया है, उसी इन्द्रिय देश को (सहसा जगाने पर) फिर प्राप्त नहीं करता । तथा यदि वही विपरीतरूप से इन्द्रियमात्रा को प्रविष्ट करा देता है तो अन्धत्व-अधिरत्व आदि दोष की प्राप्ति होने पर "दुर्मिषज्य" यानी इसकी चिकित्सा होनी कठिन हो जाती है । अर्थात् स्पष्टतया इसका धारी दुःख से चिकित्स्य हो जाता है । अतः प्रसिद्धि से भी स्वप्न में इसका स्वयंज्योतिस्वरूप जाना जाता है ।

१ अपसृत्येति । तदुक्तं वातिके—'प्रमोथनाडीस्त्वक्त्वाऽऽत्मा स्वप्रनाडीरय मत् । इति नीचप्रमिद्धत्वात्-स्मिंत्वोकोजुगास्ति तत्' ॥ ६४७ ॥ इति । तस्मिन्—गुप्ते पुमि । तस्मादिति पाठान्तरम् । तत् तत्रायतं बोधयेदित्येतत् । २ एवम् आत्मा । ३ भटिति । ४ प्रसिद्धानि । ५ गोलमानि । ६ उक्त रूपणम् । उत्तर वाक्य स्पुट प्रूते । ७ इन्द्रियद्वारप्रदेशात् । ८ अर्थग्रहणसामर्थ्याख्यमिन्द्रियमात्रारूपम् । ९ सहसा प्रतिबोध्यमान । १० विपरीत्येन । ११ ध्यत्यासगते । १२ स्पुटम् । १३ सहसा प्रतिबोधप्रतिवेधात् अपिना मन्त्रब्राह्मणग्रह । १४ प्रवेष्टा हि प्रवेष्ट्यादतिरिक्तो ट्यु । १५ चिकित्सा-वादीनम् । १६ नाऽपन्तरप्रवेशप्रसिद्ध्यापि । १७ यथास्थानमप्रतिपत्तौ ।

स्वप्नो भूत्वाऽतिक्रान्तो मृत्यो रूपाण्योति' तस्मात्स्वप्ने स्वय ज्योतिरात्मा ।
 ❀ अथो अपि खल्वन्य आहुर्जागरितदेश एवार्येव यः स्वप्नः । न संधं स्थानान्तर-
 मिहलोकपरलोकाम्यां द्यतिरिधत् किं तर्हीहलोक एव जागरितदेशः' । यद्येव, किंचातः ;
 शृण्वतो यद्भवति, यदा जागरितदेश एवाथ स्वप्नस्तवाऽयमात्मा कार्यकरणेभ्यो न व्याव-

द्वृत्तमनुद्य मतान्तरमुख्यापयति—स्वप्नो भूत्वेत्यादिना । इतिशब्दो यस्मादर्थे । तदेव
 मतान्तरं स्फोरयति—नेत्यादिना । उक्तमङ्गीकृत्य फलं पृच्छति—यद्यवमिति । स्वप्नो
 जागरितदेश इत्येवं यदीष्टमत्र किं स्थाविति प्रश्नायं । फलं प्रतिज्ञाय प्रकटयति—शृण्वति ।

“यह स्वप्न होकर मृत्यु प्रादि रूपों को पार कर जाता है” इसी से स्वप्न में आत्मा स्वयंज्योति
 है । इस पर कुछ विचारक ऐसा भी कहते हैं—जो यह स्वप्न है; यह आत्मा वा जागरित देश है ।
 इहलोक और परलोक से पृथक् कोई सन्ध्यस्थान नहीं है । ऐसा मानने से क्या निष्कर्ष निकला ?

१ वृ ४ ३ ७ । २ स्वप्न ।

❀ अथो धर्मीत्यादि भवत्वत्येवत्ये वातिक्त्वात्पादास्तथाहि—“स्वयंज्योतिष्टुमारभ्य यच्छ्रुत्योत्तमिहृत्तमनि ।
 उच्यते पूर्वपक्षेऽय तस्य सिद्धान्तकपिल ॥ स यत्रेति ह्यत पूर्व पूर्वपक्षत्वेहेतुत । अथो खत्वाहुर्दित्यादि
 अन्य पक्षेत्तथा क्रमात् ॥ स्वप्नस्य जाग्रत्स्थानत्वमयो खल्वितिवाक्यत ॥ यानि ह्येवेति हेतुक्ति प्रतिज्ञा-
 तार्थसिद्धये ॥ जाग्रत्प्रतीक्षणं यामु पुसो नाहीषु तास्वित्त्वम् । स्वप्नेषण विजानीयाग्रान्यत्रेति विनिश्चय ।
 स्वप्ने तमेव चाऽऽत्मानं मुतोऽयमभिमन्यते । यमनस्तप्रवापरस्य न ततोऽन्य वदाचन ॥ जाग्रद्व्युपुरामप-
 श्वारामादिलक्षणान् । स्वप्ने प्रत्यभिजानाति तानेव न ततोऽपरात् ॥ अपूर्वमेव सपर्येत्स्वप्रदराजाग्रतो यदि ।
 उक्तमत्रो भवेदन्यो यथा पूर्वगतस्तथा ॥ इत्येवमाहु वेचित्तु न तु तद्युक्तिमद्वच । अयुक्तिमद्यथा पिततत्पूर्व
 प्रतिपादितम् ॥ अत्रायमित्यनेनात्र पूर्वपक्षनिरात्रिया । न्यायेनोक्तेन पूर्वेण वक्ष्यमाणेन च ध्रुवम् ॥ न जाग्र-
 देषाग स्वप्नो जाग्रत्सामप्रचभावत अघ्यात्माद्यर्थविरहे यत स्वप्नाग्रपरयति” ॥ ६५४-६६३ ॥ अथो
 खल्वित्यादिवाक्यस्य पूर्वणासगतिमाशङ्क्याऽह—स्वयंज्योतिष्टुर्मात । स यत्र प्रवृत्तितीत्याद्या श्रुति ॥
 उच्यते स्वयंज्योत्स्व प्रत्यस्य पूर्वपक्षत्वे कथमत्र प्रातिरित्याशङ्क्याऽह—स यत्रेति । पूर्वपक्षत्वेऽपि कथमय
 क्रमस्तत्र हि साव्यवृत्तितमर्थमाह—तथेति । पूर्वपक्षानन्तरभावी सिद्धान्त इति त्रमस्योचितत्वादर्थत्रमेण पाठत्रम-
 स्याग्निहोषयवागुपाकवद्भ्रजादित्यर्थं ॥ क्रम दर्शयित्वा पूर्वपक्ष विभजते—स्वप्नस्येति । वाक्यत प्रतिज्ञायत
 इति शेष ॥ हेतुक्ति व्याचष्टे—जाग्रदिति ॥ जाग्रत्स्वप्नयोरेवस्थानत्वमुक्त्वा द्रष्टृक्ये हेतुमाह—स्वप्न इति ॥
 तयोविपर्ययमाह—जाग्रदिति ॥ अधिकरणद्रष्टृविपर्ययवात्तयोरेक्यमुक्त थ्यतिरेकद्वारा ध्यनन्ति—अपूर्वमिति ।
 यथा देशादेशान्तर गतोऽपूर्वं करभादि परयति तथा यदि स्वप्नराजागरितादपूर्वं पर्येत्तदा स्वप्नरततोऽन्यो युग्येत
 न सैन पक्षत्यतो जाग्रदेव स्वप्न इत्यर्थे । समुपसर्गो भवेदित्यनेन सवच्यते ॥ पूर्वपक्षमुपसहरति—इत्येवमिति ।
 यदा जाग्रदेव स्वप्नस्तदा तत्र स्वयंज्योतिष्ट्व दुर्बलं चेतुल्य स्वप्नेऽपि दुर्बलत्वमिति तेषामापाय । तदसदिति
 प्रतिजानीते—न त्विति । तदेव प्रकटयति अयुक्तिमदिति । न तत्र तथा इत्यादावित्यर्थे ॥ श्रुतेर्वैहिरिव
 परिहृत्यात्रेत्यादिवाच्यमवसार्थं तात्पर्यमाह—अत्रेति । समनन्तरश्रुतो प्राप्तस्य पूर्वपक्षस्थानेन वाक्येनोक्तवच्य-
 माणन्यायानुसारिणा ध्रुव निरात्रियेति योजना ॥ उक्तवक्ष्यमाणन्याय सक्षिाय स्मारयति—नेत्यादिना । तत्र
 हेतु साधयति—अघ्यात्मादीति ॥

त्तस्तेभिश्चीभूतः । अनो न स्वय ज्योतिरात्मेत्यंतः स्वयंज्योतिष्टुंबाधनायान्य आहु-
र्जागरितदेश एवास्यैव इति । 'तत्र च हेतुमाचक्षते' जागरितदेशत्वे यानि हि यस्माद्ध-
स्त्यादीनि पदार्थजातानि जाग्रज्जागरितदेशे पश्यति लौकिकस्तान्येव सुप्तोऽपि पश्यतीति ।
तदसत् । इन्द्रियोपरमात् । उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान्पश्यति । 'तस्मान्नान्यस्य ज्योति-
पस्तत्र सभवोऽस्ति । तदुक्तं न तत्र रथा न रथयोगा इत्यादि । 'तस्मादत्राय पुरुषः स्वय
ज्योतिर्भवत्येव ।

ॐ स्वय ज्योतिरात्माऽस्तीति स्वप्नानदशनेन प्रदर्शितम् । अतिक्रामति मृत्यो

मतान्तरोपन्यासस्य स्वप्नतद्विरोधित्वमाह—इत्यत इति । स्वप्नस्य जाग्रदृशत्वं दूषयति—तदसदिति ।
'तस्य जाग्रदृशत्वाभावे फलितमाह—तस्मादिति । स्वप्ने बाह्यज्योतिष संभवो नास्तीत्यत्र
प्रमाणमाह—तदुक्तमिति । बाह्यज्योतिरभावेऽपि स्वप्ने व्यवहारदर्शनात्तत्र स्वयज्योतिष्ट्वमाक्षेप्तुम-
शक्यमित्युपसहरति—तस्मादिति ।

कथं पुनर्विद्यायामनुक्ताया सहस्रदानवचनमित्यादाङ्क्य वृत्तं कीर्तयति—स्वय ज्योतिरिति ।
मृत्यो रूपाण्यतिक्रामतीत्यत्र च कार्यकरणव्यतिरिक्तत्वमात्मनो दर्शितमित्याह—अतिक्रामतीति ।

इससे जो होता है, वह सुनो । यदि यह स्वप्न (आत्मा वा) जागरित देश ही है, उस समय यह
आत्मा देह और इन्द्रियो से पृथक् नहीं होता उनसे मिला ही रहता है । अत आत्मा स्वयज्याति
नहीं है, इसी कारण उसके स्वयज्योतिष्ट्व को बाध करने के लिए कोई कोई विचारक कहते हैं कि
यह इसका जागरित देश है । स्वप्न क जागरितदेशत्व मे वे हेतु बतलाते हैं—'यानि' अर्थात् जिन
हस्ती आदि पदार्थों को लौकिक पुरुष 'जाग्रत्' अर्थात् जागरित दश मे देखता है, उन्ही को स्वप्ना-
वस्था मे भी देखता है । यह कहना मिथ्या है क्योंकि वहाँ तो इन्द्रियां उपराम हा जाती हैं । इन्द्रियो
की उपरामावस्था मे ही पुरुष स्वप्न देखता है । इसलिए उस अवस्था मे किसी अन्य ज्याति का होना
सभव नहीं है । इसी से कहा है—'न वहाँ रथ है, न रथ योग (अश्वादि) है' इत्यादि । इसलिए
यहाँ वह पुरुष स्वयज्योतिस्वरूप होता ही है ।

आत्मा स्वयज्योति है—यह बात स्वप्नदृष्टान्त से प्रदर्शित कर दी गयी । मृत्यु रूपो वा

१ वाधनायेति—जागरस्वप्नयोरैकयाज्जागरे च ज्योतिरन्तरसन्नादिति । २ तत्र जागरितदेशत्व इति
समानाधिकरणे गमम्यो । ३ स्वप्नस्य । ४ पश्यतीति—न खलु जागरे तदुररमोऽभ्युपगन्तु वाक्यो-
ऽभ्युपगम्यते वेति भाव । ५ अवतरणोक्तार्थम् । ६ अवतरणोक्तम् । ७ स्वप्नस्य । ८ प्रति-
पद्धम् ।

ॐ स्वयज्योतिरात्माऽस्तीतीत्यादि तदिदर्शयिषया प्रवृत्ते इत्यन्तभाष्ये वातिकार्यास्तवाहि—स्वयज्योतिष्-
मर्योत्त स्वप्ने चाकारकात्मता । मृत्युरूपात्ययश्चैव प्रतीच पूर्ववाक्यत ॥ वामादय स्वभावोऽभ्य मृत्यवोऽय
न वा भवेत् । इत्यागङ्क्य नूपो दोष याज्ञवल्क्यमपृच्छत् ॥ पृष्ट वरु मुनिर्गीत मयेतिप्रवृत्तोक्ति ।
निवृत्तु नूपो विप्र भूयोऽपृच्छद्विमुक्तये ॥ स्वयज्योतिष्टमुदित मुक्तेरङ्गममन्यत ॥ न चाङ्गनिर्णयोक्त्यैव
निर्णय मन्यतेऽङ्गन । यतोऽतो मोक्षमुद्दिश्य याज्ञवल्क्यमपृच्छत् ॥ आसङ्गप्रविवेकार्यं न वा इत्यादि

रूपाणीति च' । क्रमेण संवरन्निहलोकपरलोकादीनिहलोकपरलोकादिव्यतिरिक्तः' । तथा जाग्रत्स्वप्नकुलायाणां व्यतिरिक्तः' । 'तत्र च क्रमसंचारान्नित्यश्चेत्येतत्प्रतिपादितं याज्ञवल्क्येन । अतो विद्यानिष्क्यार्यं सहस्रं वदामीत्याह जनकः । मोऽहमेवं बोधितस्त्वया

लोकद्वयसंचारवशाद्भुक्तमर्थमनुद्वयति—क्रमेणेति । आदिशब्दस्तत्तद्देहादिव्ययः । स्थानद्वयसंचारवशाद्भुक्तमनुभाष्यते—तथेति । इहलोकपरलोकाभ्यामिवेति यावत् । लोकद्वये स्थानद्वये च क्रमसंचारप्रयुक्तमर्थान्तरमाह—तत्र चति । प्रात्मनः स्वयंज्योतिषो देहादिव्यतिरिक्तस्य नित्यस्य ज्ञापितत्वावि-

प्रतिक्रमणं कर्तवी है—इस प्रकार कार्यकरणपृथक्त्व आत्मस्वरूप दिखाया गया । आत्मा क्रम से इस लोक और परलोक में संचरण करता हुआ भी इहलोक और परलोक से व्यतिरिक्त है, तथा जाग्रत् और स्वप्नशरीरो से पृथक् है । स्थानद्वय और लोकद्वय में क्रम से संचरण करने के कारण नित्य भी है—ऐसा याज्ञवल्क्य ने प्रतिपादन किया । इसलिए जनक बोले—मैं तुमको विद्यादान के

१ इति च कार्यकरणव्यतिरिक्तत्वमात्मनो दर्शितमिति शेष । २ आत्मेति च दधितम् । ३ आत्मेत्यदर्शि । ४ स्थानद्वये लोकद्वये च ।

अप्यते । कामादिप्रविवेके हि मोक्षयोग्यत्वमात्मन ॥ कामाद्यात्मगुणश्चेत्स्यादनिर्मलः प्रसज्यते । न हि गुण्विनाशेन तद्गुणस्य निराकृति ॥ हृषाप्येवायमात्माऽत्र मृत्यो स्वप्नेतिवर्तते । न तु मृत्यु यत् स्वप्ने मोदनासादि ह्यप्यते । मोदनासादिको मृत्यु स्वभावो न यथाऽऽत्मन । तथाऽत ऊर्ध्वं प्रबुद्धि भगवन्मे विमुक्तये ॥ सहस्रदानं तु तस्य स्वयंज्योतिषु बन्धुन । निर्णयाघाटविश्वर्यं नाशेषप्रन्ननिर्णयात्" ॥ ६६४-६७३ ॥ इति । अत ऊर्ध्वं नित्याद्यवतारयित्नु वृत्त कीर्तयति—स्वमिति । अत्रायं पुरुष स्वयंज्योतिर्न तत्र रथा प्रतिज्ञामिति मृत्यो हृषाणीत्यादिविक्यादित्यर्थ ॥ उत्तरवाक्यमादाने—कामादय इति । मृत्यो रूपाण्यतिक्रामतीत्युक्तत्वात्कामवर्मादिभृगुरामन स्वभावो न वेत्याशङ्क्याऽऽद्ये मोक्षायोग्यं यन्वाती राजाऽद्वितीयनिष्कार्यदत्त इत्यादिना मुनिमपृच्छदित्यर्थ । कतम आत्मेति प्रष्टार राजान प्रति निर्णेतुं प्रवृत्तो मुनिर्न तं विना निवर्तते तत्कथं राजा सभामध्ये नियुज्यते तत्राऽऽह—पृष्टमिति । यदि राजा पृष्टमात्मबन्धु तद्यथावदेव योऽयमित्यादिवचनवशादिप्रतिरिति बुद्ध्या प्रत्युत्तितो निर्दुश्चुनुयुव मुनिमुपलभ्य पुनरपि मोक्षार्थं राजा पृष्टवानित्यर्थ । बुद्ध्याघातित्स्वयाऽऽत्मन स्वयंज्योतिषुक्तेरेव मुक्तिमिद्वेस्तदर्थो न प्रदतो मुक्तिमानित्याशङ्क्याऽऽह—स्वयमिति । तर्हि मोक्षाद्भुक्तमर्थोतिषु निर्णयमादेर्भुक्तमर्थोतिषु निर्णयमादेरेव तदर्थप्रदनेनेत्याशङ्क्याऽऽह—न वेति । अङ्गिति हि दर्शतो निर्णयति शाह्वयप्रहणसामर्थ्यादिदमर्थेनाङ्गानि निर्णयित्ते भुक्त्वादीनि तु ह्याप्यंवापि न स्वङ्गनिर्णयदेवाङ्गनिर्णयो न्यायाभावादिति भावः ॥ प्रश्नकारण्यंमुक्त्वा प्रत्युत्तितार्थ्यमाह—प्रासङ्गंति । किमिति तत्राविवेको मोक्ष एवापेक्षितो व्याख्यायतामित्याशङ्क्याऽऽह—कामादीति । अतस्तत्राविवेको युक्त इति शेष ॥ उत्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा स्पृष्टमिति—कामेति । अथमेतावता मोक्षासिद्धिरात्मगुणस्यापि तस्य निरासेन तसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । सत्यात्मनि तदीयास्तकगुणस्य सर्वात्मना ध्वंसानुपपत्ते सहाऽऽत्मना ध्वंसे च परमभावादमुक्तिरित्यर्थ ॥ कामादेरात्मस्वभावेत्याभावेऽपि तत्राविवेकार्थं नोत्तर वाक्यमतिक्रामति मृत्यो रूपाणीत्यर्थैव सिद्धत्वादित्याग्याऽऽह—रूपाणीति ॥ अथप्रतिवचनयोस्तात्पर्यंमुक्त्वा प्रश्नं योजयति—मोदेति । अत स्वयंज्योतिषु निर्णयादिति यावत् । प्रश्नोपपत्तिपृष्टवैक्य सहस्रदानं तत्राऽऽह—सहस्रेति । निर्णयाघाटो निर्दिष्टेऽर्थे स्वयंनिर्णयस्य इत्या तज्ज्ञापनायेति यावत् । प्रश्नोपपत्त्यादेव सहस्रदानं किं न स्मार्दित्यास्तद्गुणं पुन प्रश्नार्थंवाच्यमित्याह—नासोपेति ॥

मगवते तुभ्यं सहस्रं वदामि । 'विमोक्षश्च कामप्रश्नो मयाऽभिप्रेतः । तदुपयोग्यं ताद-
र्थात्तदेकदेश एव । अतस्त्वां नियोक्ष्यामि ममस्तकामप्रश्ननिर्णयश्रवणेन विमोक्षायात्
ऊर्ध्वं ब्रूहीति । येन संसाराद्विप्रमुच्येयम्, त्वत्प्रसादात् । विमोक्षपदार्थं कवेशनिर्णयहेतोः
सहस्रदानम् ॥ १४ ॥

यत्प्रस्तुतमात्मनंवायं ज्योतिषाऽऽस्त इति तत्प्रत्यक्षतः प्रतिपादितमत्रायं पुरुषः स्वयं
ज्योतिर्भवतीति स्वप्ने । यत्कृतं स्वप्ने भूत्वेन लोकमतिक्रामति मृत्यो ह्यपाणीति

त्यतःशब्दार्थः । "कामप्रश्नस्य निर्णीतत्वाग्निराकाङ्क्षस्त्वमिति शङ्कां धारयति—विमोक्षश्चेति ।
सम्यग्बोध"स्तद्धेतुरिति यावत् । ननु "स एव प्रागुक्तो नासौ वक्तव्योऽस्ति तत्राऽऽह—तदुपयोगीति ।
अयमित्युक्तामप्रत्ययोक्तिः । तादर्थ्यात्पदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थज्ञानशेषत्वादिति यावत् । परार्थस्य
वाक्यार्थबहिर्भावं "दूषयति—तदेकदेश एवेति । कामप्रश्नो नाद्यापि निर्णीत इत्यत्रोत्तरवाक्य"
गमकमित्याह—अत इति । कामप्रश्नस्यानिर्णीतत्वादिति यावत् । "तेनापेक्षितेन हेतुनेत्यर्थः ।
विमोक्षशब्दस्य सम्यग्ज्ञानविषयत्व सूचयति—येनति । सम्यग्ज्ञानप्राप्ते गुरुप्रसादस्य प्राधान्यं
दर्शयति—त्वत्प्रसादादिति । ननु विमोक्ष"पदार्थो निर्णीतोऽन्यथा सहस्रदानस्या"ऽऽकस्मिन्कल्पप्रसङ्गात्त
आह—विमोक्षेति ॥१४॥

उत्तरकण्डिकामवतारयितुं वृत्तं कीर्तयति—यत्प्रस्तुतमिति । आत्मनंवेत्यादिना यदात्मनः
स्वयंज्योतिष्ट्वं ब्राह्मणादौ प्रस्तुत तदत्रायमित्यादिना प्रत्यक्षतः स्वप्ने प्रतिपादितमिति सन्धः ।
वृत्तमर्थान्तरमनूय चोद्यमुत्यापयति—यत्तूत्तमिति । मृत्युं नातिक्रामतीत्यत्र हेतुमाह—प्रत्यक्ष हीति ।

बदले एक सहस्र गोएँ देता हूँ यानी इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर आप आदरणीय के लिए मैं एक सहस्र
गोएँ देता हूँ । अब मुझ अपने मनोनुकूल अभीष्ट सम्यग्बोध मोक्षरूप प्रश्न पूछना है । यह आत्मज्ञान
वाक्यार्थबोध हेतु होने व वाक्यार्थ बोधशेषत्व होने से वाक्यार्थबोध का एकदेश ही है । इसलिए मैं
मम्पूर्ण अभीष्टित प्रश्ननिर्णय को श्रवण करने की इच्छा से आपसे प्रार्थना करता हूँ । अब आगे
मुझे सम्यग् बोधरूप मोक्ष का उपदेश कीजिये, जिससे आपकी कृपा से संसार से छूट जाऊँ । यह
सहस्र गोदान तो मोक्षपदार्थ के ज्योतिष्ट्वस्वरूप एकदेश का जो निर्णय कि ग है, उसके लिये है ॥१४॥

"यह पुरुष अपनी आत्मज्योति से प्रकाशित होता है" इस प्रकार जिसे प्रस्तुत किया था,
उसका स्वप्न मे "यहाँ वह पुरुष स्वयज्योति होता है" इस श्रुतिवाक्य से प्रत्यक्ष प्रतिपादन किया ।
किन्तु जो यह कहा गया कि "स्वप्न होकर इस लोक को अतिक्रमण कर जाता है । कर्माख्य मृत्यु के

- १ सम्यग्बोधश्च । २ तदुपयोग्यमिति—अथ पूर्वोक्तपदार्थबोध वाक्यार्थबोधहेतु । ३ तादर्थ्यात्—
वाक्यार्थबोधशेषत्वात् वाक्यार्थबोधैकदेश एवेत्यर्थः । ४ प्रायंयामि । ५ श्रवणेच्छया । ६ विमोक्षेण
मोक्षो भवति अनेनेति विमोक्ष सम्यग्ज्ञानम् । ७ अत ऊर्ध्वम्—आत्मन स्वयज्योतिष्ट्वदेहाद्यतिरित्त-
नित्यत्वनिर्णयानन्तरम् । ८ एकदेश—स्वयज्योतिष्ट्वादि । ९ वाक्येन । १० कर्माख्यस्य ।
११ ह्यपकाणि कार्यंकरणाणि । १२ यपेच्छ प्रश्नस्य । १३ तच्छ्रुती मुक्तिपर । १४ सम्यग्बोध
एव । १५ निषेधति । १६ अत ऊर्ध्वमित्यादि पुन प्रश्नात्मकम् । १७ श्रवणात्मनेन । १८
प्राणायाम । १९ सम्यग्ज्ञानम् । २० निनिमित्तकत्वप्रसङ्गात् ।

‘स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वं च
पुण्यं च पापं च । पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति

वह यह स्वयज्योति आत्मा इस सुपुत्रिवाल मे रमण और विहार कर पुण्य तथा पाप को देख कर ही पुनः स्वप्नस्थान को वहाँ ही वापस आ जाता है, जहाँ से प्राया या और जैसे प्राया था ।

तत्रैतदाशङ्क्यते मृत्यो रूपाण्येवातिक्रामति न मृत्युम् । प्रत्यक्षं ह्येतस्वप्ने कार्यकरण-
व्यावृत्तस्यापि मोदत्रासादिदशानम् । तस्मान्मूर्त्तं नैवायं मृत्युमतिक्रामति । कर्मणो हि
मृत्योः कार्यं मोदत्रासादि दृश्यते । यदि च मृत्युना यद्ध एवायं स्वभावतस्ततो विमोक्षो
नोपपद्यते । न हि स्वभावात्कश्चिद्विमुच्यते । अथ स्वभावो न भवति मृत्युस्ततस्तस्मा-
न्मोक्ष उपपत्स्यते । यथाऽसौ मृत्युरात्मीयो धर्मा न भवति तथा प्रदर्शनायात् ऊर्ध्वं

इच्छन्नेवादिरादिशब्दायः । ‘तथाऽपि कुनो मृत्युं नातिक्रामति तत्राऽह—तस्मादिति । कार्यस्य
कारणादन्यत्र ‘प्रवृत्त्ययोगादिति यावत् । उक्तमुपवादमिति—कर्मणो हीति । अतः स्वप्नं गतो
मृत्युं कर्मस्य नातिक्रामतीति शेषः । मा तर्हि मृत्योरतिक्रमो मूर्त्तको दोषस्तत्राऽह—यदि चेति ।
रत्वाभावादपि मृत्योर्विमुक्तिमाशङ्क्याऽह—न हीति । उक्तं हि—

“न हि स्वभावो भावानां व्याघर्तैरिण्यवद्भवेः” इति ॥

कथं “तर्हि मोक्षोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽह—अथेति । एषा च शङ्का “प्रागेव राजा कृतेति

कार्यकरणात्मक रूपी को पार कर जाता है” । यहाँ यह शङ्का होती है कि मृत्यु के रूपी को पार
करना है, मृत्यु को तो पार करता नहीं । यह बात भी प्रत्यक्ष ही है कि स्वप्न मे देह और इन्द्रियो से
व्यावृत्त हुए पुरुष को भी आनन्द और भय का दर्शन होता है । इससे सिद्ध होता है कि पुरुष मृत्यु का
अतिक्रमण नहीं करता । आनन्द और भयादि कर्मरूप मृत्यु के ही कार्य देखे जाते हैं, यदि यह जीव
स्वभावत ही मृत्यु से बद्ध है तो इसका मोक्ष असभव है क्योंकि स्वभाव से कोई भी छूट नहीं सकता ।
यदि आत्मा का स्वभाव मृत्युरूप नहीं होता है, तभी उससे मोक्ष होना सिद्ध होगा । जिस प्रकार यह मृत्यु
आत्मा का स्वभाव नहीं है, यह प्रदर्शन करने के लिए अब आगे मोक्ष का उपदेश दीजिए’ इस प्रकार

- १ यथा मोहनासादिजननं कर्मरूपो मृत्युरात्मन स्वभावो न भवति तयोपदिशेत्येव राजा नियुक्तो
मुनिरवस्थापयेऽपि तयोपदेष्टुमवस्थापय कण्डिकापयेणाह—स वा इति । नेन ज्ञमेण सप्रसदीतीत्यावाङ्मया-
माह—एतेति । स्वप्ने एव रमणादि कृतेत्यर्थः । यदा सप्रसादे एव रमणादि कृत्वा तत्र रमण स्वरूपानन्वा-
भव । आनन्दभुगिति श्रुते । चरणमीश्वरात्मसम्पत्ति सता सौम्येति श्रुते । पुण्यदर्शनमानन्दानुभव तस्य
तरफत्वाद् मुक्तमस्वाप्तमित्यनुभवात् । पापदर्शनमज्ञानानुभव तस्य तरफत्वात्प्रायेद्विपमित्यनुभवात् ।
२ मृत्युपयवस्थायाम् । ३ भवस्यम् । ४ यदि । ५ आत्मन । ६ स्वभाव । ७ प्रदर्शनात्मकार्य
विमोक्षादित्यन्वयः । ८ तत्र मोदत्रासादिदर्शने प्रत्यक्षे सत्यपि । ९ उपपत्तिरिति भावः । १० ‘आत्मा कर्त्रादि-
रूपत्वेन्मा वाङ्क्षीस्तर्हि मुक्ततामिति पूर्वदलम् । ११ मृत्योरात्मस्वरूपत्वे माधो नोपपद्यते चेत्तर्हि ।
१२ प्रागेव—समनन्तरकण्डिकावसानेऽत्र ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रह्मीत्यत्मिनेव वाक्ये ।

स्वप्नायैव 'स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन
भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं
भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव
ब्रूहीति ॥ १५ ॥

वहाँ वह जो कुछ देखता है, उससे बंधता नहीं क्योंकि यह पुरुष असग है । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । मैं श्रीमान् को सहस्र गौएँ देता हूँ । अतः इसके भागे, मोक्ष के लिए ही यथार्थतत्त्व का उपदेश करें ॥१५॥

विमोक्षाय ब्रूहीत्येवं जनकेन 'पर्यनुयुक्तो याज्ञवल्क्यस्तद्द्विदशंपिषयया प्रववृते—

स 'वं' प्रकृतः स्वयं ज्योतिः 'पुरुषः । एष यः स्वप्ने प्रदर्शित एतस्मिन्संप्रसादे सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति 'संप्रसादः । जागरिते देहेन्द्रियव्यापारशतसंनिपातजं हित्वा कालुष्यं तेभ्यो विप्रमुक्तः "ईयत्प्रसीदति स्वप्ने । इह तु सुषुप्ते सम्यक्प्रसीदतीत्यतः सुषुप्तं संप्रसाद उच्यते । "तीर्णो हि "तदा सर्वाञ्शोकान्सलिल" एको द्रष्टेति हि "वक्ष्यति

दशंयधुत्तरमुत्थापयति—यथेत्यादिना । तद्द्विदशंपिषयेत्यत्र तच्छब्देन "मृत्योरतिक्रमणं गृह्यते । वंशब्दस्य "प्रसिद्धार्यत्वपुण्येत्य सशब्दार्थमाह—प्रकृत इति । एषशब्दमनूय ध्याकरोति—एष इति । संप्रसादे स्थित्वा मृत्युमतिक्रमतीति शेषः । सुषुप्तस्य संप्रसादत्वं साधयति—जागरित इत्यादिना । "तत्र वायवेशेपमनुकूलयति—तीर्णो हीति । अस्तु संप्रसादः सुषुप्तं स्थानं तथाऽपि

जनक द्वारा प्रार्थना किये जाने पर याज्ञवल्क्य जी उन्हे दिखाने की इच्छा से कहने लगे ।

वह यह स्वप्न में रहने वाला आत्मा स्वयंज्योति है । जिसे पहले स्वप्नावस्था में बतसाया जा चुका है । "एतस्मिन्संप्रसादे" अर्थात् जिसमें भली प्रकार स्वच्छ होता है; उसे सम्प्रसाद कहते हैं, जागरित अवस्था में जो देहेन्द्रिय सैकड़ों व्यापारों के ससर्ग से क्लेश था, उसे छोड़कर उन देह और इन्द्रियों से मुक्त होने के कारण सस्कार शेष हो स्वप्न में थोड़ा प्रसन्न होता है । यहाँ सुषुप्ति में अतिशय प्रसन्न होता है, इसलिए सुषुप्ति अवस्था को सम्प्रसाद कहते हैं । श्रुतियाँ भी सुषुप्तस्य आत्मा के सबन्ध में कहती हैं—"सुषुप्ति काल में वह सम्पूर्ण शोको से पार हो जाता है", "सलिल के समान

- १ स आत्मा तत्र स्वप्ने यत्किमपि पुण्यपापघन पश्यति तेन दृष्टेनानन्वागतोऽवबद्धो भवति हि यस्मादयं पुरुषोऽसङ्ग तस्मादसबद्ध इत्युक्तमङ्गीकरोति राजा एवमेवैतद्याज्ञवल्क्येति । वार्तिके तु "असङ्गोऽयं पुरुष" इति प्रतिज्ञा हि यतोऽजन्वागतस्तेन भवतीति हेतूक्तिरितिप्रकारान्तरमभ्युक्तिमिति तत्रैव कथं हत्य निरीक्षयमित्यलम् ।
- २ वृष्ट प्रायितो वा । ३ प्रसिद्ध । ४ स्वप्नावस्था । ५ आत्मा । ६ स्वच्छो भवति ।
- ७ संप्रसाद इति सुषुप्तं स्थानमिति शेष । ८ संप्रसादशब्दे उपसर्गाभिप्रायमाह—जागरित इत्यादिना ।
- ९ ससर्ग । १० संस्कारशेष प्रसीदति । ११ वृ उ ४ ३ २२ । १२ सुषुप्तिवाले । १३ सलिलवत्स्वच्छो विजातीयभेदरहित एक सजातीयो भेदगूण्य वृट्स्वज्योति । १४ वृ उ ४ ३ २२, ४ ३ ३२ । १५ कर्मात्यस्य । १६ सिद्धवत्त्वस्य । १७ सुषुप्तस्य संप्रसादत्वं ।

सुषुप्तस्थमात्मानम् । ॐ स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे क्रमेण संप्रसन्नः सःसुषुप्ते स्थित्वा ।
 'कथं संप्रसन्नः । स्वप्नात्सुषुप्तं प्रविविक्षुः स्वप्नावस्य एव रत्वा रतिमनुभूय मिश्रबन्धु-
 जनदर्शनादिना चरित्वा विहृत्यानेकधा चरणफलं धर्ममुपलभ्येत्यर्थः । दृष्ट्वा च न
 'कृतेत्यर्थः । 'पुण्यं च पुण्यफलं पापं च पापफलम् । न तु पुण्यपापयोः साक्षाद्दर्शनमस्ती-

किमांयातमित्यत आह—न वा इति । 'पूर्वोक्तेन क्रमेण संप्रसादे सुषुप्ते स्थित्वा संप्रसन्नः सःसुषुप्तमति-
 क्रामतेत्यर्थः । उक्तमप्येमुपपादयितुमाकाङ्क्षामाह—वयमिति । रत्वेत्यादि व्यासुर्व्यं चरिहरति—
 स्वप्नादिति । पुण्यपापशब्दयोर्व्याधुतायत्पनाशब्दोपासह—न त्विति । प्रबोचामीभयान्यात्मन

पह स्वच्छ, विजातीयभेदरहित, सर्वभेदधन्य, बृहत्सज्योति, द्रष्टा है" । वह स्वयज्योतिष्टव्य मात्मा
 इस संप्रसाद मे प्रम से सम्भक् प्रसन्न हुआ सुषुप्तावस्था मे स्थित रहकर जिस प्रयत्न प्रसन्न हुआ ?
 स्वप्न मे सुषुप्तावस्था मे प्रवेश करने की इच्छा वाला, स्वप्नावस्था मे "रत्वा" यानी स्त्री-पुत्रादि-
 सौपेस मन, बाणी धीर धारी की चेष्टा करके, 'चरित्वा' अर्थात् मित्र-बन्धुजन के दर्शनादि के लिए
 इधर-उधर जाकर तथा संचरण मे अमरूप फल की प्राप्ति कर "दृष्ट्वा च" अर्थात् यथाश्रुत की देखकर
 "पुण्यं च पापं च" पुण्य और पापफल को, पुण्यपापफल का साक्षात् दर्शन नहीं होता—ऐसा हम पहले

- १ य स्वय ज्योतिष्टव्यन प्रतिपादित अत्यन्त । २ स्वप्न रत्नस्यदिवसेन । ३ वन क्रमेणैति यावत् ।
- ४ स्त्री पुत्रादिसापक्षा मनोवाक्पायचष्टा कृत्वा । ५ इतस्तता गमन कृत्वा । ६ यथाश्रुताभिरप्रायेण-
 दम् । ७ गोमि श्रीणीत मत्तरमितिबहुपचारात् । ८ स्वप्रावश्य संप्रसादे इति । ९ आवाङ्माम् ।

ॐ स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे इत्यादि । अत्र वातिने—“सुषुप्तं नन्वमवाप्रादत्वादि वक्ष्यमभ्यते । न त्वि-यपि
 तथा वाक्येन बाह्यं चैति वक्ष्यति ॥ स्वप्ने रत्वाद्यस्य मत नैयमप्युपपद्यते । अनन्वयार्थो नुष्यत्स्वप्नज्जनेत्येव
 तःकृतम् ॥ यथा जाग्रत्कृतं वक्ष्यं कर्तारमनुमच्छति । जाग्रन्त्य स्वप्नकर्मैव स्वप्ने नमधिगच्छति ॥ इत्येव
 चादिते कैचित्परिहार प्रचक्षते । पदच्छेदेन कुसला अस्त्वैत्येवमादिना ॥ न यतमेत्यमज्ञानेनैवमप्युत्तर भवत् ।
 दृष्टिं तत्रापि चोद्यस्य परिहार प्रचक्षते ॥ अस्ति भोग सुषुप्तेऽपि तथाचाऽऽनन्दभुङ्गमत् । गुरुो वाऽत्र
 भोगोऽस्ति सर्वस्थानाभिमानत ॥ वायंभूमिगतो ज्ञातया सुषुप्तं प्रगमीदमने । वायंस्य नारणज्याज्जेनं
 सुषुप्तपरोक्षता ॥ यदि वा स्वप्न एवास्तु रत्वादि यदुगीरिणम् । स्वप्नोरभिन प्राप्तादनन्वयतताज्यत ॥
 त्रिधा त्रिधा वा न्युप्ता स्वप्नैवैवस्थेत्यदोषता । जाग्रत्स्वप्नस्युपाभा जाग्रत्स्वप्नस्युपगत ॥ वायंवायंदि
 यत्साधनप्रमाणान्नसमीक्षते । जाग्रज्जायति तादृक्त्वमप्री वन्यूयेक्ष्यते ॥ वायोदिविषयामर्तनें विचिद्वि-
 विनक्ति यत् । जाग्रत्सुषुप्त तादृक्प्राजिविधैवस्वभावत ॥ सुषुप्तेऽपि वनं कुरुते नैव स्वप्ने प्रबोधकत् । स्वप्न
 जाग्रत्साक्ष्य स्वप्न स्वप्नायकोऽत्र य ॥ दृष्टान्ति यत्सामान्यात् प्रबुद्धो नैव शक्युयात् । तादृक्स्वप्नस्युपगत
 स्यात्सुषुप्तं च त्रिधोच्यते ॥ सुषुप्तजाग्रत्भूद स्याच्छान्तोऽसौ स्वप्न उच्यते । ऐकात्मतत्त्वामयोध सुषुप्तं प्राग
 उच्यते ॥ त्रिविधत्वात्सुषुप्तस्य सर्वं रत्वादि मुच्यते । दृष्टान्तं संप्रसादो वा स्वप्नजाग्रदवस्थयो । यथा रत्वाद्य-
 समान्य संप्रसादे सर्वेषु च । इतरत्रापि विज्ञेय तत्र वस्त्वममीक्षतात् ॥ यत एकमतं वनंवाशरीरविवर्जित ।
 पुरुषोऽयं स्वतः सिद्धो ययोस्तेनैव वर्तमानः ॥ १०४६ १०६२ ॥ इति । संप्रसादे रत्वेत्यादि यथाश्रुतप्राप्तित्य
 शङ्कते—सुषुप्त इति । असतोवात्युपादिविज्ञेयवस्त्ववच्छेदिरिति यावत् । वयं तत्र द्वितीयादृष्टिप्रसादः—नेति । न
 तु तद्विज्ञेयमिति न बाह्यं चिन्म वेदेति अत्यन्ततः तत्र द्वितीयादृष्टि सिद्धेत्यर्थः ॥ स्वप्नासुषुप्तं प्रविशितुं
 स्वप्नावस्य एव रत्वायानुभूय संप्रसादे प्रमीदतीत्युपगमात्प्राप्तितरिति न्युते—स्वप्न इति । पूर्ववाद्याह—

त्यबोचाम । 'तस्मान्न पुण्यपापाभ्यामनुबद्धः । यो हि करोति पुण्यपापे स, ताम्भामनुब-
ध्यते । न हि दर्शनमात्रेण तदनुबद्धः स्यात् । 'तस्मात्स्वप्नो मृत्वा 'मृत्युर्मतिक्रामत्येव न
'मृत्युरूपाथ्येव केवलम् ।

प्रानन्दाश्च 'पश्यतीत्यत्रेति शेषः । पुण्यपापयोर्दर्शनमेव न करणमित्यत्र फलितमाह—तस्मादिति ।
'तद्दृष्ट्वरपि तदनुबन्धः स्यादित्याशङ्क्यातिप्रसङ्गात्तन्मवमित्याह—यो हीत्यादिना । पुण्यपापाम्या-
मात्मनोऽसप्तपक्षं फलितमाह—तस्मादिति ।

ही कह चुके हैं । इसलिए वह भ्रकर्ता होने में पुण्य पाप से साक्षात् संबद्ध नहीं है । जो पुरुष पुण्य-पाप करता है, वही उनसे संबद्ध होता है । दर्शनमात्र से ही वह संबद्ध नहीं होता । इसलिए (सबन्धभाव होने में) स्वप्न होकर कर्माक्षय मृत्यु को पार कर जाता है, कार्यकरणरूप केवल मृत्युरूपों को ही पार नहीं करता ।

१ पृ १०४६ भाष्ये । २ नदकृत्त्वात् । ३ सबद्ध । ४ तत्सबद्धाभावात् । ५ कर्मात्स्व
मृत्युमपि । ६ कार्यकरणानि । ७ मृ उ ४ ३ ६ । ८ पुण्यपापयो ।

नैवमिति । स्वप्ने रत्यादि शब्द भेत्स यत्तत्रेत्यादि विरुध्येत तत्र कृतस्य तद्द्रष्टृयामित्वादित्यर्थः ॥ यथा स्वप्न-
'कृतमवस्थान्तरस्य नानुगच्छत्यथ स्वप्नस्यमपि द्रष्टार नानुगच्छेदित्याशङ्क्याऽह—यथेति ॥ उक्तं चोद्यमसूत्र
स्वयूष्यसमाधिमुत्पापयति—इत्येवमिति । सप्रसादेऽरत्वाऽचरित्वाऽष्टवेति नबन्धव्यपदच्छेदेन वाक्ये व्याख्या-
यमाने नावच्छमित्यर्थ ॥ वाक्यशेषानुपपत्त्या दूषयति—न यदिति । न च स्वप्नापैवेतिप्रस्तुतस्वप्नस्य तत्रेति
परामर्शविरोध शेषश्चेति वाक्य तच्छब्दस्य प्रवृत्तविप्रकृष्टपरामर्शित्वादन्योत्तरत्र श्वप्नेऽन्यस्यासंबन्ध्यांश्च
जाग्रत्यसङ्गत्वप्रतिपादनार्थस्तदुपन्यासस्तथा सति बुद्धान्तोपन्यासानवयमात्रं च तच्छब्देन सप्रसादपरामर्शत्र
पश्यतेरयोगात्तत्परिशोपाह्वानवयवोपरिचय इति भावः । अन्येऽपि स्वप्नस्य तेषु श्चिदुपाधारोप्य नबन्धव्य विनेव
पद छिद्यत स यत्तत्रेति सुमिपरामर्शद्विषयशेष चोपपन्न मन्वाना परिहरन्तीत्याह—दृष्टिमिति ॥ स्वापे
रत्याधारोपे तत्फलंगनविधिमितिभित्याह—प्रस्तौति । तत्र भोगास्तित्वे मानमाह—तथावेति । प्रानन्दमुक्त्या
प्राज्ञ इति बृह्द्वैरित्वाकस्ति सुभी मुखभोग इत्यर्थः । तत्र रत्याधारोपे निमित्तान्तरमाह—ऐश्वरो वेति । क्वत्ति
हि तत्र कारणरथेश्वरालोकन सिद्धयस्तु जीवस्य तदीयो श्रेण एतस्यैकाऽनन्तरस्यैवविद्युत्तरो रत्याधारोपे
इत्यर्थः । उक्तमुपादायति सर्वेति । सर्वकारणत्वादीश्वराऽश्वर्यात्रयमात्मीय मन्यते तेन स्वापे तदारामना स्थितो
जीवस्तद्भोगभागीत्यर्थः ॥ तत्र श्चिदुपाधारोपे तस्यावस्थान्तरादविशेषप्रसक्तिरित्यामङ्क्य परिहारान्तरमाह—
कार्येति । सुपुत्रात्कारणादुक्तित्वात् स्वप्ने जागरे वा ज्ञाप्यंभूमी स्थित पुमान्नायंस्य कारणेन व्याप्तैस्तत्र च
स्वप्नादी रत्यादिरथेऽस्तित्वात् न कारणं सुपुत्र तदुक्तमेवानुमीयते तेन तत्र रत्यादिवाचोपुक्तिरित्यर्थः । प्रनुमाना-
स्तुपुतिमिदो परोमत्वेन तस्मिन्ने स यत्तत्र विचिन्त्यतीतिशोभानुपपत्तिरित्यामङ्क्याऽह—नेति । सुपुत्र
नामाऽऽत्मानं बुद्धे कारणान्तराऽवस्थानं तदिति स्थितेस्तत्र न विचिद्वेदिरिति व्युत्थितस्य परामर्शपरिषोधा
तत्र शोभानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ सुपुत्रे रत्यादिविनिष्टेऽनुमानादिष्टेऽपि तस्यावस्थान्तरादविशेषापत्तिस्तदवस्थेत्या-
मङ्क्य सिद्धान्तमाह—यदि वति । स्वप्न रत्याद्युच्यते चतत्र कृतशुभादीना तत्प्यस्यानुगतैरनुगतवाक्य-
विरोध स्यादियुक्तं तत्राऽह—स्वप्नपरिति । प्राज्ञ सुपुत्रित्वात् तस्मात्पूर्वमूर्ध्वं च यो स्वप्नो तपोरनुगतगतता
सिध्यति तस्मात्सुपुत्र गतस्तत् स्वप्न गच्छति न च सुपुत्रात्वात्त्वाविवस्वत्येवमंशां प्राज्ञाद्वाविवस्वन् गतोऽनु-

'प्रतो न मृत्योरात्मस्वभावत्वाशङ्का । 'मृत्युश्चेत्स्वभावोऽस्य स्वप्नेऽपि 'कुपति । न तु करोति । स्वभावश्चेत्क्रिया स्यादनिर्भोक्षतव स्यात् । न तु स्वभावः स्वप्नेऽभावात् । 'प्रतो विमोक्षोऽस्योपपद्यते मृत्योः' पुण्यपापाम्याम् । ननु जागरितेऽस्य स्वभावात् एव । न । बुद्ध्याद्युपाधिकृतं हि 'तत् । 'तच्च प्रतिपादितं 'सादृश्याद्बुद्ध्यापतोव लेलापतीवेति' ।

मृत्योरतिक्रमणे किं स्यादित्याशङ्काऽऽह—प्रतो नेति । मृत्योरस्वभावत्वमुपपादयति—मृत्युश्चेदिति । इष्टापत्तिमाशङ्काऽऽह—न त्विति । अनन्यागतवाक्यादसङ्गवाक्याच्चेत्यर्थः । मोक्षशास्त्रप्रामाण्यादपि मृत्योरस्वभावत्वमित्याह—स्वभावश्चेदिति । इत्यत्र मृत्युः स्वभावो न भवतीत्याह—न त्विति । अभावादिति च्छेदः । तस्याऽस्वभावत्वे लब्धमर्थं कथयति—अत इति । मृत्युमेव ध्याचष्टे—पुण्यपापाभ्यामिति । स्वप्ने मृत्योः स्वभावत्वाभावेऽपि जाग्रदवस्थायां कर्तृत्वमात्मनः स्वभावस्तथा च नियमेन तस्य मृत्योरतिक्रमो न सिध्यतीति शङ्कते—न त्विति । औपाधिकत्वात्कर्तृत्वस्य स्वाभाविकत्वाभावात्शस्त्रमनो मृत्योरतिक्रमः संभवतीति परिहरति—नेति । कथमोपाधिकत्वं कर्तृत्वस्य सिद्धवदुच्यते तत्राऽह—तच्चेति । ध्यायतीचेत्यादौ सादृश्यावाचकादिव-

इसलिए 'मृत्यु' आत्मा का स्वभाव है—ऐसी शङ्का करना समय नहीं है । यदि कर्मस्वयं मृत्यु इसका स्वभाव होता, तो यह स्वप्न में भी कर्म करता । किन्तु यह नहीं करता । यदि स्वभाव होता तो उसमें क्रिया भी होती और फिर इससे विमुक्ति ही नहीं हो सकती । किन्तु स्वप्न में क्रिया का अभाव होने के कारण वह इसका स्वभाव नहीं है । इसलिये इसका पापपुण्यरूप मृत्यु से मोक्ष पाना संभव ही है । (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु जागरित में तो यह इसका स्वभाव ही है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । यह तो बुद्धि आदि उपाधि के कारण ही

१ अत्रतरणात् । २ कर्मोति यावत् । ३ कर्म कुर्यादिति भाव । ४ इन्द्रियादिसाधनाभावादिति भाव । ५ अत्रतरणात् । ६ सकाशात् । ७ कर्तृत्वम् । ८ कर्तृत्वस्योपाधिवत्त्वम् । ९ धीतादात्म्यात् । १० वृ उ ४ ३ ७ ।

गम्यते न च प्राञ्जल्यस्वप्नस्वयं मणा प्राचीनस्वप्नस्यो लिप्यते तथा स्वप्नस्थेन शुभादिना सुषुप्तजागरयोरनन्वागतत्वमतोऽविद्ययाऽनुगमावगमऽपि वस्तुनोऽस्वप्नाश्रयेऽपि तदभावादनन्यागतवाक्यमविरुद्धमित्यर्थं ॥ सप्रसादे रत्वादि कथमित्यत्र समाध्यन्तरमाह—त्रिषेति । जाग्रदादीना मध्य प्रत्येक जाग्रदादिभेदेन त्रैविध्यरूपनात्मसुप्तस्थजाग्रत्स्वप्नावपेक्ष्य सुप्तावेव रत्वादेरदोषेति स्यादित्यर्थं ॥ कथ प्रत्येक त्रैविध्यं तत्र जागरस्य तद्दर्शयति—कार्येति । आदिशब्देन ज्ञेयाज्ञेयभक्ष्याभक्ष्यादि शृणुते । तच्छब्देन जाग्रदुच्यते ॥ तस्य सुषुप्तत्वे प्रसिद्धसुषुप्तिसाधर्म्यं हेतुमाह—निर्विकेतेति ॥ स्वप्न त्रेधा विभजते—सुषुप्तीति । अत्र स्वप्ने य स्वप्नात्मकोऽनुभव स स्वप्नस्य स्वप्न इत्यर्थं ॥ सुषुप्त त्रैविध्येन योजयति—सुषुप्त चेति ॥ तत्रैविध्यस्य प्रकृतोपयोगमाह—त्रिविधत्वादिति । सुषुप्तस्योक्तरीत्या त्रैविध्यात्सद्गतस्वप्नाद्यपेक्षया तत्र रत्वाद्युपपत्तिरित्यर्थं । कार्यकरणनिर्मुक्तस्वप्रकाशात्मन कर्मादिविकार्यं सुमिषत्ता सप्रति तदुक्तेस्तात्पर्यात्तरमाह—एषान्त इति ॥ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकत्व स्पष्टयति—यथेति । कथं तर्हि स्वप्नादौ रत्वादिर्दृष्टस्तथाऽह—तत्रेति । तत्त्वपाठे तु तत्रैव वस्तु तस्यासमीपस्यावस्थाद्भवे रत्वादीति योग्यम् ॥ प्रकरणाद्यंमुपमहरति—यत् इति । एवशब्दार्थं दर्शयति—यथोक्तनेति । काम कर्मगुणस्तत्र प्रयागद्वारा कारकाश्रितमित्याद्युक्तमार्गेणैति यावत् । यतोऽयं सबदोपरहितोऽत स्वतोऽकर्ता सिद्ध इति योजना ॥

'तस्मादेकान्तेनैव' स्वप्ने स्वरूपातिक्रमणान्न स्वाभाविकत्वाशङ्काऽनिर्मोक्षता वा । ततः संप्रसादानुभवोत्तरकालं पुनः 'प्रतिन्याय यथान्यायं यथागतं निश्चित आयो न्यायः । अयनमाधो निर्गमनं पुनः पूर्वगमनवैपरीत्येन यदागमनं स प्रतिन्यायः । यथागतं पुनरागच्छन्तीत्यर्थः । प्रतियोनि यथास्थानं स्वप्नस्थानाद्धि सुषुप्तं प्रतिपन्नः 'सन्ययास्थानमेव पुनरागच्छति । प्रतियोन्याद्भवति स्वप्नायैव स्वप्नस्थानायैव ।

ननु स्वप्ने न करोति पुण्यपापे तयोः फलमेव पश्यतीति कथमवगम्यते यथा जागरिते तथा करोत्येव स्वप्नेऽपि तुल्यत्वाद्दर्शनस्येति, अत आह स आत्मा यदिकचित्तत्र

शब्दादौपाधिकत्वं कर्तृत्वस्य प्रागेव दर्शितमित्यर्थं । जागरितेऽपि कर्तृत्वस्य स्वाभाविकत्वाभावे फलितमाह—तस्मादिति । मृत्योः स्वाभाविकत्वाशङ्काभावकृतं फलमाह—अनिर्मोक्षता वेति । वाशब्दो नञ्नुकपरंसाधं । पुण्यं च पाप चेत्येतदन्तं वाक्य ध्यात्वाय पुनरित्यादि व्याचष्टे—तत इति । स्वप्नाद्बुद्ध्याय सुषुप्तिमनुभूयोत्तरकालमिति यावत् । स्थानास्थानान्तरप्राप्ताव 'भ्यास वस्तु पुन शब्द' । प्रतिन्यायमित्यस्याययथायंमुक्त्वा दिवक्षितमर्थमाह—पुनरिति । संप्रसादादूर्ध्वमिति यावत् । जागरितास्वप्न ततः सुषुप्त गच्छतीति पूर्वगमन ततो वैपरीत्येन सुषुप्तास्वप्न जागरित वा गच्छतीति यदागमन स प्रतिन्यायः । तमेव संक्षिपति—यथेति । यथास्थानमाद्भवतीत्येतद्विबुषोति—स्वप्नस्थानादिति । उवतेऽर्थे वाक्य पातयति—प्रतियोनीति । किमर्थं यथास्थानमागमन तदाह—स्वप्नायेति ।

स यदित्यादिवाक्यस्य व्यावर्त्यामाशङ्कामाह—नन्विति । 'तत्र वाक्यमुत्तरत्वेनावतार्यं व्याकरोति—अत आहेति । अननुचक्ष इत्यस्यार्थं स्फुटयति—नवेति । स यदित्यादिवाक्यस्याक्षरार्थ-

कर्तृत्व है । "ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस श्रुतिवाक्य में धीतादात्म्य से कर्तृत्व का औपाधिकत्व प्रतिपादन किया गया । इसलिये स्वप्नावस्था में मृत्यु के रूपों का नियमन अतिक्रमण करने के कारण उसके स्वाभाविकत्व अर्थात् आत्मा के अनिर्मोक्ष की शङ्का नहीं हो सकती । फिर सम्प्रसाद के अनुभव के पश्चात् फिर "प्रतिन्यायं" यानी यथान्याय प्रथवा यथागत निश्चित आय को न्याय कहते हैं । 'अयन' आय का नाम है, निर्गमन—पुन पहले जाने के विपरीत जो आगमन हो, वह प्रतिन्याय कहा जाता है । अर्थात् जिस प्रकार गया था, उसी प्रकार पुन वापिस आ जाता है । "प्रतियोनि" अर्थात् यथास्थान, स्वप्नस्थान से सुषुप्तस्थान को प्राप्त कर पुन स्वप्नस्थान को लौट आता है । वह यथास्थान यानी स्वप्नस्थान के लिए (स्वप्नानुभव के लिए) लौट आता है ।

किन्तु यह कैसे जानते हो कि वह स्वप्न में पाप पुण्य नहीं करता, केवल उनके फल को देलता है ? जिस प्रकार जागरित में करता है, उसी प्रकार स्वप्न में भी वर्म करता है क्योंकि आत्मकर्तृत्वदर्शन दोनों अवस्थामें भी समान है । इस पर श्रुति कहती है—वह आत्मा जो कुछ भी स्वप्न में पुण्य-पाप वा फल

- १ अत । २ नियमत । ३ प्रातितोम्येन वैपरीत्येन न्याय निर्गमनं यथा स्यात्तथा । ४ स्वप्नस्थानम् । ५ स्वप्नानुभवार्थं । ६ प्रात्येन कर्तृत्वदर्शनस्य । ७ अभ्यासमिति—अमहद्भावमित्यर्थं । प्रतिदिन ह्यसौ स्थानात्स्थानान्तर प्राप्नोतीत्यर्थं । ८ उतनेवार्थम् । ९ शङ्काम् ।

स्वप्ने पश्यति पुण्यपापफलमनन्वागतोऽनुबद्धस्तेन 'दृष्टेन भवति नैवा'नुबद्धो भवति । यदि हि स्वप्ने कृतमेव तेन स्यात्तेनानुबध्येत । स्वप्नादुत्थितोऽपि समन्वागतः स्यात् । न च तल्लोके स्वप्रकृतकर्मणाऽन्वागतत्त्वं प्रसिद्धिः । न हि स्वप्नकृतेनाऽऽगसाऽऽगस्कारिण-
मात्मानं मन्यते कश्चित् । न च स्वप्नदृश' आगः श्रुत्वा लोकस्तं गर्हति 'परिहरति वा । 'अतोऽनन्वागत एव 'तेन भवति । 'तस्मात्स्वप्ने' कुर्वन्निवोपलभ्यते न तु क्रियाऽस्ति परमार्थतः । उतेव स्त्रीभिः सह मोदमान इति श्लोक 'उक्तः । आख्यातारश्च "स्वप्नस्य सहेवशब्देनाऽऽचक्षते हस्तिनोऽद्य "घटीकृता घावन्तीव मया दृष्टा इति । "अतो न "तस्य कर्तृत्वमिति ।

मुक्त्वा तात्पर्यमाह— यदि हीति । तेनाऽऽत्मनेति यावत् । स्वप्ने कृतं कर्म "पुन'स्तेनेत्युक्तम् । अनुबन्धे दोषमाह— स्वप्नादिति । इष्टापत्तिमाशङ्क्यऽह— न चेति । स्वप्नकृतेन कर्मणा जाग्रदव-
स्थस्य पुरवस्यान्वागतत्वं प्रसिद्धिरिति यदुच्यते तन्न व्यवहारभूमी सप्रतिपक्षमित्यर्थः । स्वप्नदृष्टेन जाग्रद्गतस्य न सगतिरित्यत्र स्वानुभव इत्यर्थः— न हीति । यथोक्तेऽनुभवे लोकस्यापि समति दर्शयति—न चेति । "तत्र फलितमाह— अत इति । कथं "तहि स्वप्ने कर्तृत्वप्रतीतिस्तथाऽह— तस्मादिति । स्वप्नस्या"ऽऽभासवाच्च न तत्र वस्तुतोऽस्ति क्रियेत्याह— उतेवेति । तदाभासत्वे लोकप्रसिद्धिमनुकूलयति— आख्यातारश्चेति । स्वप्नस्याऽऽभासत्वे फलितमाह— अत इति ।

देखता है, उस देखे हुए से वह 'अनन्वागत' अर्थात् बिना बंधा हुआ सा रहता है अर्थात् उससे सम्बद्ध नहीं होता है । उसने यदि स्वप्न में वैसा किया होता तो उससे वह बंध जाता और स्वप्न से उठने पर भी उससे सम्बद्ध ही रहता किन्तु लोकव्यवहार में स्वप्नकृत कर्म से सम्बद्धता की प्रसिद्धि नहीं है । स्वप्न में किये हुए पाप से कोई पुरुष अपने को पापी नहीं मानता, स्वप्नदृष्टा मनुष्य के पाप मुनकर समाज उसकी निन्दा या बहिष्कार नहीं करता । इसलिये वह स्वप्नदृष्ट कर्म से असम्बद्ध ही रहता है । इसलिए (वहाँ वास्तविक वस्तुत्व का अभाव होने से) स्वप्न में मनुष्य केवल करता हुआ सा दिखाई देता है, वस्तुतः उस समय वहाँ काई क्रिया नहीं होती । इसी से 'स्त्रीसमुदाय से त्रीडा करता हुआ सा देखता है' ऐसा श्रुति कहती है । स्वप्न की बात कहने वाले भी उस 'इव' शब्द के साथ

- १ पुण्यपापफलेन । २ संबद्ध । ३ अपराधेन पापन वा । ४ पुन । ५ बहिष्करोति ।
- ६ अन्वागतताप्रसिद्धे । ७ स्वप्नकर्मणा । ८ तत्र तस्य वास्तवकर्तृत्वाभावात् । ९ कुर्वन्निवति । अत्र वार्तिके— वृत्त स्वप्नेऽप्य संबद्ध श्रुत्परीत प्रबुध्यते ॥ यस्मादनृतमवेद यत्किञ्चिद्देह वीरयते । प्रत्यङ्ङकारबन्धमास्तिग्यने न त्रियाकर्त्त ॥ स्वप्नकर्मनिमित्तं तु प्रायश्चित्तं यदुच्यते । सत्येन्द्रियविकारत्वात्तच्चापि न निराश्रयम् । स्वप्नस्वप्ने यथा स्वप्न तथा बोधोऽपि बीरयते । आत्मवैतन्यवत्तस्मात्प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥ १०१०-१०१३ ॥ इति । तच्च प्रायश्चित्तमुक्तं स्मृतिकारैर्यथा— "स्वप्नं चेन्द्रियदोषत्यास्त्रियश्चा शरेद्यदि । प्रायश्चित्तं तस्यात् प्राणायामास्तु षोडश" इति । १०. वृ उ ४ ३ १३ । ११ कर्मणोपलभ्य पण्णियम् । १२ सपीकृता वृन्दीकृता । १३ स्वप्नस्य मिथ्यात्वात् । १४ आत्मन । १५ द्वितीयन । १६ तेनति शब्दन्त्यथ । १७ नाकगहाद्यभाव । १८ स्वप्ने चदात्मा न कराति । १९ मिथ्यात्वात् ।

कथं पुनरस्याकर्तृत्वमिति । कार्यं करणं मूर्तं संश्लेषो मूर्तस्य स तु क्रियाहेतुर्दृष्टः । न ह्यमूर्तः कश्चित्क्रियावान्दृश्यतेऽमूर्तश्चाऽऽत्माऽतोऽसङ्गः । यस्मान्नासङ्गोऽयं पुरुषस्तस्मादनन्वागतस्तेन स्वप्नदृष्टेन । अत एव न क्रियाकर्तृत्वमस्य कथंचिदुपपद्यते । कार्यं करण-संश्लेषेण हि कर्तृत्वं स्यान्स च संश्लेषः यद्गोऽस्य नास्ति यतोऽसङ्गो ह्ययं पुरुषः । तस्मादमृतः । एवमेव तद्याजवत्त्वय । सोऽहं भगवते सखं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव भूहि । मोक्षपदार्थकदेशस्य कर्मप्रविवेकस्य सम्यग्दर्शितत्वात् । अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१५॥

अनन्वागतवाच्यं प्रतिज्ञारूपं व्याख्यायासङ्गवाच्यं हेतुरूपमवतारयितुमाकाङ्क्षामाह— कथमिति । 'मूर्तस्य मूर्तान्तरेण संयोगे क्रियोपलम्भादमूर्तस्य 'तदभावादात्मनश्चात्मूर्तत्वेनासयोगा-त्क्रियाऽयोगदकनृत्वसिद्धिरित्युत्तर हेतुवाच्यार्थकथनपूर्वकं कथयति—कार्यं करणेरित्यादिना । आत्म-नोऽसङ्गत्वेनाकर्तृत्वमुक्तं समर्थयते—अत एवेति । अत शब्दार्थं विशदयति—कार्येति । क्रियावत्त्वाभावे जन्ममरणादिराहित्यं कीदृश्यं फलतीत्याह—तस्मादिति । "कर्मप्रविवेकमुक्तमङ्गी करोति—एवमिति । "तत्प्रविविक्तारमजाने दाढ्यं सूचयति— सोऽहमिति । "नैराकाङ्क्ष्य व्यावर्तयति—अत इति । कथं "तर्हि सहस्रदानमित्याशङ्क्याऽह—मोक्षेति । कामप्रविवेकविषय"नियोगमभिप्रेत्य पुनरनुक्रामति—अत ऊर्ध्वमिति ॥१५॥

वर्णन करते हैं। जैसे "आज्ञ मीने हाथियो को एकनित हुए दौडते हुए से देखा"। इसलिए स्वप्नदृष्टा आत्मा मे कर्तृत्व नहीं है।

अच्छा तो इसमे अकर्तृत्व किस प्रकार है? मूर्त पदार्थों का जो मूर्त देह और इन्द्रिय आदि से सम्बद्ध है, वही क्रिया का हेतु जाना गया है। कोई अमूर्त पदार्थ क्रियावान् नहीं देखा जाता और आत्मा अमूर्त है। इसलिए असङ्ग है। क्योंकि वह आत्मा असङ्ग है इसलिए उस स्वप्नदृष्ट पुण्य-पाप से असम्पृक्त है। (असङ्ग होने से) इसलिए इसमे क्रिया का कर्तृत्व भी सम्भव नहीं है। देह और इन्द्रिय के ससर्ग से ही कर्तृत्व होता है और इस आत्मा को वह ससर्ग नहीं है क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है। अतः यह अमूर्त है। (जनक बोले—)हे याजवत्त्वय । यह वात ऐसी है ता दृढनिश्चयवाला मैं आप श्रीमान् को सहस्र गोरुं देता हूँ, इसके पश्चात् मुझे मोक्ष का उपदेश कीजिए। क्योंकि ऊपर अभी तक मोक्ष पदार्थों के एकदेश कर्मप्रविवेक का अच्छी तक उपदेश कर दिया। इसलिए अब आप आगे मुझे मोक्ष का ही उपदेश कीजिए ॥१५॥

- १ भवति । २ असङ्गत्वात् । ३ अवतरणोक्तत्वात् । ४ स्वप्नादौ नर्मातिबद्धत्वम् । ५ तत्र दृढनिश्चय । ६ कर्मप्रविविक्तारमस्वप्नप्रदर्शनानन्तरम् । ७ कामादिमसंगविधुरविमोक्षार्थम् । ८ प्रातिके तु अनन्वागतवाच्य हेतुरूपम् असङ्गनाय च प्रतिज्ञारूपमिति प्रकारान्तरमप्युक्तमिति ध्येयम् । ९ सावयवस्य । १० संयोगाभावात् । ११ आत्मन नर्मातिवृत्त्वम् । १२ कर्म । १३ ज्ञेये जनकस्य । १४ नैराकाङ्क्षाभावे । १५ प्रार्थनाम् । १६ नियुङ्क्ते ।

ॐ 'स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव
पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतिन्याद्रवति
बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन

वह यह आत्मा इस स्वप्नकाल में रमण श्रौर विहार कर एव पुण्य तथा पाप को देखकर ही पुन उस जाग्रत्स्थान को ही लौट आता है, जहाँ से वह आया था श्रौर जैसे आया था । वह वहाँ जो

तत्रासङ्गो ह्ययं पुरुष इत्यसङ्गताऽकृतं त्वे हेतुरुक्तः । उक्तं च पूर्वं कर्मवशात्स ईयते यत्र काममिति । कामश्च सङ्गोऽज्ञोऽसिद्धो हेतुरुक्तोऽसङ्गो ह्ययं पुरुष इति । न

'उत्तरकण्डिकाव्याख्यार्थांश्चाङ्गमाह—तत्रेति । 'पूर्वकण्डिका सप्रमथंः । भवत्वक्तृत्वहेतुर-
सङ्गत्वं किं तावतेत्याशङ्क्याऽह—उक्तं चेति । पूर्वं श्लोकोपन्यासदशायामिति यावत् । कर्म-
वशात्स्वप्नहेतुकर्मसामर्थ्यादित्यर्थः । आत्मन स्वप्ने कामकर्मसंबन्धेऽपि किमिति नासङ्गत्वं तत्राऽह
—कामश्चेति । हेत्वसिद्धिं परिहरति—न त्विति । न चेद्वेतोरसिद्धत्वं तर्हि कथं 'तत्सिद्धिरिति

(यहाँ शाङ्का होती है—) पूर्वमन्त्र मे 'यह आत्मा असङ्ग है' इस श्रुतिवाक्य से असङ्गता ही अन्वागतत्व मे हेतु बतलायी है । इससे पूर्व प्रतिपादन किया गया था कि जहाँ इसकी इच्छा होती है, वहाँ यह कर्मवश चला जाता है । काम ही सङ्ग है । इसलिए 'क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है' यह तो असिद्ध हेतु ही कहा गया है । (इसका समाधान करते हैं—) यह हेतु असिद्ध नहीं है । तो यह असङ्ग

१ एव स्वप्नवज्जागरेऽपि स्वतो वस्तुन (आत्मन) कर्मासंबद्धत्वमेवेति दर्शयितुमाह—स वा एष इति । स सप्रसादात्प्रात्यागत प्रकृतो वै प्रसिद्ध एष स्वयम्येति पुरुष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा स्त्रीपुत्रादिभि । शेष पूर्ववत् । प्रतियोगि जागरितस्थान प्रति आद्रकया गच्छति । बुद्धात्ताय जागरणानुभवाय । २ गमनवैषरी-
त्यन । ३ अनन्वागतत्वे । ४ वृ उ ४ ३ १६ । ५ वृ उ ४ ३ १५ । ६ वृ उ ४ ३ १२ ।
७ इत्यय इति—तथा च स्वप्न प्रतीच कामकर्मससर्गाविगमादसगत्वायोगेन दूरनिरस्तमकतृत्वमिति मम लब्धमिति भाव इति शेष । ८ हेतुसिद्धिरिति यावत् ।

ॐ स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने इत्यादि । अत्र वातिकाचार्यास्तथाहि—'असङ्गत्वादर्कतैति नवसिद्धोऽयमुच्यते । स्वप्न कामस्य दृष्टत्वाद्यत्र काममिति श्रुते ॥ इत्यस्य परिहारार्थं स वा इत्यादिक वच । पुन स्वप्नसमारम्भो गतत्वात्किमितीयते । बुद्धान्तादेर्यथा तद्वन्नात स्यात्पुनरुक्तता ॥ निराया सप्रवृत्ताया सहताक्षस्य निद्रया । भवस्या संजसी भुक्त्वा स्वापो भवति देहिन ॥ स आनन्द परो शेष मुवदुःखविवर्जित । सतत सर्वभूताना तिष्ठत्येव पुरीसति ॥ तत्र रत्वा यथाकाम वचित्काल यदच्छया । तामवस्था तिरश्चक्र आयियामुस्ततोऽपराम् ॥ भावना-
विग्रहो भूत्वा तत्र स्वप्ररिरस्याय । उवाचवानि वस्तूनि भावनात् कराति स ॥ गती प्राणवियोग स्याद्यथा-
कालस्य वैशराम् ॥ तदसमाभ्युदेगोदी दर्शनात् मृपारमता ॥ यावत्स्वप्नेऽस्ति वसत्य प्राप्तदुक्मण्येयत् । तस्मा-
त्प्राऽह जगन्धोऽपि स्वप्ने पुसोऽय विद्यते ॥ १०६३ १०७० ॥ इति । असङ्गो हीत्यसङ्गत्वमनन्वागतत्वे कारण-
मुक्त तदसिद्धिं चोदयति—असङ्गत्वादिति । धर्ममिति हेतुनिर्देश । तत्र हेतु—स्वप्न इति । स ईयते मृतो यत्र

भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं
भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१६॥

कुछ देखता है, वहाँ उससे बंधता नहीं क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! आप की ये बात यथार्थ ही है। इसके बदले मे मैं आपको एक सहस्र गोएँ भेंट करता हूँ। अतः इसके आगे भी आप मोक्ष के विषय मे उपदेश करें ॥ १६ ॥

'त्वेतदस्ति । कथं 'तहि । असङ्ग एवेत्येतदुच्यते—स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने स व एष

पृच्छति—कथमिति । हेतुसमर्थनार्थमुत्तरग्रन्थमुत्थापयति—असङ्ग इति । प्रतिपोन्याद्रवतीत्ये-

किस प्रकार है, इसे बतलाया जाता है। 'स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने' अर्थात् वह यह पुरुष इस स्वप्ना-

१ हेतोरसिद्धत्वम् । २ अचरत्त्वावतत्वात् ।

नाममिति श्रुते स्वप्ने वामस्य दृष्टत्वात्प्रासङ्गयोश्च पर्यायत्वात्प्रासङ्गतेत्यर्थं । स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने
रत्वेत्याद्युत्तरत्वेनाऽऽदत्ते—इत्यस्मेति । स हि स्वप्नो भूत्वेत्यादिनाऽस्य स्वप्नोपन्यासस्य पौनरुक्त्य शङ्कते—
पुनरिति । अर्थभेद बन्धनिरहरति—बुद्धागतादेरिति । यथा जाग्रत्सुपुष्यदेर्यभेदात्पुन पुनरुक्तिस्तथा स्वप्नस्याप्य-
सद्बुद्धिक्रिविद्धा म हि स्वप्नो भूत्वेत्यत्र कर्मपररगातिरेकार्थमात्मन स्वप्न उक्त स यत्तत्र प्रवर्षितोत्यत्र स्वय-
ज्योतिष्टाव संप्रसाद रत्वेत्यत्र कर्मविवेकार्थमत्र कामविवेकापेक्ष्यभेदात्पौनरुक्त्यमित्यर्थं ॥ स्वप्नात्पुनरिति-
प्राप्तिमुक्तामधिकोक्त्यर्थंमनुद्ववति—निज्ञातामिति । तैजसीमवस्था स्वप्नात्म्यामिति यावत् । अधाणि सर्वाणी-
न्द्रियाणि । भुक्त्वा स्थितस्येति शेष । स्वाप सुपुनिरित्येतत् ॥ सा च परानन्द इत्यधिकमभिधिमितमहाह—स
इति । तस्य परत्व स्फोरयति—सुषेति । तस्यावस्थाविशेषयोगादागन्तुक्त्वमगद्बुध विनिर्गटि—सततमिति ।
तस्य सर्वप्राणिसवन्धितया ध्यापित्वमाह—सर्वेति । प्रत्यक्वनाशयन्तमनिहितत्वमाह—एष इति । पुरीतद्द्वारा
ब्रह्मरूपेण स्थितिमाह—पुरीततीति ॥ यथोक्त स्वापमारुद्धस्तहि मुक्तवनावस्थान्तर गच्छेदित्यावद्बुद्ध्याऽह—
तत्रेति । रत्वा पुर्वोक्त परमानन्द निर्विकल्पेनानुभूयति यावत् । किञ्चालमवस्थान्तरहेतुवर्गानिभ्यस्तपव-
स्थायामित्यर्थं । यद्यपि यच्छ्रद्धायद्वो विना नियामक यदानदाचित्कार्थोदयार्थस्तवाऽस्य स्वप्नहेतुभूतमुद्भूत कर्म
यच्छेति द्रष्टव्यम् । तामवस्थामिति सुपुनिरक्त्वा । अपरामिति स्वप्नोक्ति ॥ स्वप्न गत्वा किं करोयात्पत्येक्षा-
यामाह—भावेनेति । स्वप्ने जाग्रद्भासनानिमित्तं देहं गृहीत्वा तत्र रतीच्छया हस्त्यादिपदाग्निभावनावानाप्रियंते-
यत्यत स मिध्येत्यर्थं ॥ तन्निध्यात्वं युक्त्यन्तरमाह—गताविति । स्वप्ने हि द्रष्टा विप्रवृष्टं पर्यति यदि चेतो
देहाद्गर्वाऽवगच्छेत्तदाऽत्र प्राणवियोगान्मृति स्यात्तमुत्त्रामन्तं प्राणोऽनूत्त्रामतीति श्रुतेन चात्रापि सत्त्वादोषो
विनिर्गटस्यातप्रावात्तस्मादन्तरेण गतिमतिविप्रवृष्टये स्वप्ना मिध्येत्यर्थं । तत्रैव हेत्यन्तरमाह—यथेति ।
योग्यबालवतोऽर्थस्य स्वप्ने इतिरन्ति न च तत्र तंयोगो विद्यते म हि षणमाशेष सुप्तोत्पित्तस्यानेवाहोरात्रनिर्वर्त्या-
वसिच्छेदो योग्यनातसंभावनान्प्रत्यत, स्वप्नो मिध्येत्यर्थं प्राङ्मरीचादियंत्रं देशे जाने वा न संभाष्येते तत्र तस्य
स्वप्ने एतेऽत्र तन्निध्यात्वमित्याह—तदसंभाष्येति ॥ किञ्च तन्निध्यात्वं स्वप्नप्रपञ्च सर्वोऽपि वागनामात्रमेव
त्वित्यादावुक्तमित्याह—यावदिति । स्वप्ननिध्यात्वे फलितमाह—तस्मादिति । वागनातमनोऽपि यामो न
स्वप्नेऽस्तीति यक्तु गन्धपदम् ॥

'स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव
पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्ववति

वह यह पुरुष जाग्रतकाल में रमण और विहार करतया पुण्य और पापों को केवल देखकर फिर स्वप्न में उसी मार्ग से लौट जाता है, जिस मार्ग से वह आया था। वह वहाँ जो कुछ देखता है, वहाँ

पुरुषः संप्रसादात्प्रत्यागतः स्वप्ने रत्वा चरित्वा यथाकामं दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं चेति सर्वं पूर्ववत् । बुद्धान्तायैव जागरितस्थानाय । तस्मादसङ्ग एवायं पुरुषः । यदि स्वप्ने सङ्गवान्स्यात्कामी ततस्तत्सङ्गजैर्दोषैर्बुद्धान्ताय प्रत्यागतो लिप्येत ॥१६॥

यथाऽसौ स्वप्नेऽसङ्गस्त्वास्वप्नसङ्गजैर्दोषैर्जागरिते प्रत्यागतो न लिप्येत एव जागरितसङ्गजैरपि दोषैर्न लिप्येत एव बुद्धान्ते जागरिते । तद्वैतदुच्यते—

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते जागरिते रत्वा चरित्वेत्यादि पूर्ववत् । स यत्तत्र

तदन्त सर्वमित्युक्तम् । स्वप्ने 'कर्तृत्वाभावस्तच्छब्दायं । उक्तमसङ्गत्वं व्यतिरेकमुत्पेन (ए) विशदयति—यदीति । सङ्गवानित्यस्य व्याख्यानं—कामीति । तत्सङ्गजैस्तत्र स्वप्ने विषयविशेषेषु कामाख्यसङ्गवशादुत्पन्नैरपरार्थैरिति यावत् । न तु लिप्यते प्रायश्चित्तविधानस्यापि स्वप्नसूचिता-शुभाशङ्कानिबर्हणार्थत्वाद्द्वस्तुवृत्तानुसारित्वाभावादिति शेषः ॥१६॥

'उक्तमर्थं दृष्टान्तोक्तस्य जागरितेऽपि निर्लेपत्वमात्मनो दर्शयति—यथेत्यादिना । "तत्र

वस्था में मुप्ति से लौटकर स्वप्न में नीडा और विहार कर इच्छानुसार पुण्य और पाप को देखकर (जागरितस्थान को लौट जाता है) इत्यादि अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए। "बुद्धान्तायैव" अर्थात् जागरितस्थान के अनुभव के लिए (लौट आता है)। इसलिए यह पुरुष असङ्ग है। यदि यह कामनायुक्त होने के कारण स्वप्न में सङ्गवान् होता तो जागरित अवस्था में लौटने पर उन भासक्तिजन्य दोषों से लिप्त हो जाता ॥१६॥

जिस प्रकार यह स्वप्नावस्था में असङ्ग रहकर स्वप्न में विषयो में कामाख्यसंगवशात् उत्पन्न अपराधी से जागरित में लौट आने पर लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जागरित अवस्था में भी जागरितसङ्गजन्य दोषों से लिप्त नहीं होता। यही (जागरित में इसका निर्लेपत्व) बात बही जाती है—
"स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते" वह यह पुरुष इस जागरितस्थान में नीडा और विहार कर

१ स्वप्नात्प्रत्यागत पुरुष । २ जागर । ३ तदनुभवाय । ४ स्वप्ने विषयेषु कामाख्यसङ्गव-
शादुत्पन्नैरपरार्थैरित्यर्थं । ५ तत्—तत्र जागरित । एतद्—निर्लेपत्वमित्याहुः । ६ दृष्ट्वैवेत्युक्त-
रवृत्त्वमुक्त तच्छब्देन परामर्शाहम् । ७ स्वप्नत्रियात्प्रतिस्वेदात्मा कुतस्तहि 'स्वप्ने चेन्द्रियदीर्घत्या-
त्तित्रय दृष्टा शरेद्यदि । प्रायश्चित्त तु तस्यावनं प्राणायामास्तु षोडशे ति प्रायश्चित्तविधानमित्यासङ्गप्राह—
प्रायश्चित्तेति । तादस्यास्वप्नेन सूचित यद्वाध्यशुभ तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं तदित्यर्थं । ८ वस्तुवृत्तेति वस्तुन-
पापस्य वृत्त संबन्ध । यद्वा वस्तुन स्वप्नदसो वृत्तं पापसद्विषय तत्प्रमुक्तत्वाभावात्प्रत्यर्थं । ९ स्वप्ने
निर्लेपत्वे । १० जागरे निर्लेपत्वे ।

स्वप्नान्तायैव स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन
भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं
भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१७॥

उससे वैद्यता नहीं क्योंकि यह पुरुष असंग है । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! आप की ये बात यथार्थ ही है । इसके बदले में मैं आपको एक सहस्र गोएँ भेंट करता हूँ । अतः इसके आगे भी आप मोक्ष के विषय में उपदेश करें ॥ १७ ॥

बुद्धान्ते किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इति । ननु दृष्ट्वंवेति कथमवधारयते करोति च तत्र पुण्यपापे तत्फलं च पश्यति । न । कारकावभासकत्वेन कर्तृत्वोपपत्तेः । आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्त इत्यादिनाऽऽत्मज्योतिषाऽवभासितः कार्य-करणसंघातो व्यवहरति तेनास्य कर्तृत्वमुपचर्यते न स्वतः कर्तृत्वम् । तथा चोक्तं ध्यायतीव लेलायतीवेति । बुद्ध्याद्यपाधिकृतमेव न स्वतः । इह तु परमाथपिक्षयोपाधि-निरपेक्ष उच्यते दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च न कृत्वेति तेन न पूर्वापरव्याघाताशङ्का ।

प्रमाणमाह—तदेतदिति । जाग्रदवस्थायामुक्तमकर्तृत्वमाक्षिपति—नन्विति । तत्र कल्पितं कर्तृत्व-मित्युत्तरमाह—नेत्यादिना । तदेव विवृणोति—आत्मनैवेति । स्वतोऽकर्तृत्वे वाक्योपक्रमं संवादयति—तथा चेति । वाक्यायं 'संगृह्णाति—बुद्ध्यादीति । कर्तृत्वमिति श्रेयः । नन्वोपाधिकं कर्तृत्वं 'पूर्वमुक्तमिदानीं तन्निराकरणे पूर्वापरविरोधः स्यादित्यत्राऽऽह—इह त्विति । उपाधिनिरपेक्षः कर्तृ-

इत्यादि प्रथं पूर्ववत् समझना चाहिए । वह उस जागरित अवस्था में जो कुछ देखता है, उससे असम्पृक्त रहता है, क्योंकि वह पुरुष असङ्ग है । (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु यह कैसे निर्णय किया जाता है कि वह उन्हें देखकर ही लौट आता है । जागरित अवस्था में तो पुण्य-पापो को करता भी है और उसके फल को भी अनुभव करना है । (सिद्धाग्ती बहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि बुद्ध्यादि कर्तृ-कारको के साक्षित्वेन ही इसमें कर्तृत्व है । 'यह पुरुष आत्मज्योति के द्वारा ही रहता है' इत्यादि श्रुतिवाक्य के अनुसार आत्मज्योति से प्रकाशित देहेन्द्रियसंघात का व्यवहार करता है । उस अवभासरूप से आत्मा के कर्तृत्व को आरोप किया जाता है, इसमें स्वतःकर्तृत्व नहीं है । श्रुति भी कहती है 'ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा' इत्यादि । इसकी बर्तृत्वबुद्धि प्रादि उपाधि के कारण है; स्वतः नहीं है । इस मन्त्र में उपाधि की अपेक्षा न रखकर परमायंत. ऐका कहा जाता है कि "वह पुण्य पाप का देखकर ही लौट जाता है; करके नहीं" । इसलिए यहाँ पूर्वापर के

१ स्वप्नस्यान्तो लयो यस्मिन्निति सुषुप्तिरतदनुभवाय । स्वप्नानुभवार्थदत्तयो वा स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं चेति वक्ष्यमाणत्वात् । २ जागरे । ३ अनुभवति । ४ बुद्ध्यादीना ब्रह्मादिवारणाणा साक्षित्वेन । ५ तदवभासरूपत्वेन । ६ आत्मन । ७ वृ उ ४ ३. १७ । ८ सद्रूपीतं जागरे कल्पित बर्तृ-त्वमेव । ९ ध्यायतीवेतिवाक्यायंम् । १०. सक्षिपति । ११. ध्यायतीवेत्यादी ।

यस्मान्निरुपाधिकः परमार्यतो न करोति न लिप्यते क्रियाफलेन । तथा च भगवतोक्तम्—

“अनादित्वाग्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयं मच्चयः ।

शरीरस्योऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते” इति ।

तथा सहस्रदानं तु कामप्रविवेकस्य दर्शितत्वात् । तथा स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्त इत्येताभ्यां कण्डिकाभ्यामसङ्गतं प्रतिपादिता । यस्माद्बुद्धान्ते कृतेन स्वप्नान्त गतः संप्रसन्नोऽसंबद्धो भवति स्तैर्न्यादिकार्यादर्शनात्तस्मात्त्रिष्वपि स्थानेषु स्वतोऽसङ्ग एवायम् । अतोऽमृतः स्थानत्रयधर्मविलक्षणः प्रतियोग्याद्रवति स्वप्नान्तायैव संप्रसादायेत्यर्थः । दर्शनवृत्तेः स्वप्नस्य स्वप्नशब्देनामिधानदर्शनादन्तशब्देन

त्वाभाव इति शेषः । तेनेत्युक्तं हेतु स्फुटयति—यस्मादिति । आत्मनो लेपाभावे भगवद्वाच्यमपि प्रमाणमित्याह—तथा चेति ।

अवस्थात्रयेऽप्यसङ्गतत्वमनन्वागतत्वं चाऽऽत्मनः सिद्धं चेद्विमोक्षपदार्थस्य निर्णीतत्वाज्जनकस्य नेराकाङ्क्ष्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । यथा मोक्षकदेशस्य कर्मविवेकस्य दर्शितत्वात्पूर्वत्र सहस्रदानमुक्तं तथाऽत्रापि तदेकदेशस्य कामविवेकस्य दर्शितत्वात्तद्वानं न तु “कामप्रदस्य निर्णीतत्वादित्यर्थः । “द्वितीयतृतीयकण्डिकयोस्तात्पर्यं संगृह्णाति—तथेत्यादिना । यथा “प्रथमकण्डिकया कर्मविवेकः प्रतिपादितस्तथेति यावत् । कण्डिकात्रितयार्थं संक्षिप्तोपसंहरति—यस्मादिति । अवस्थात्रयेऽप्यसङ्गत्वे किं सिध्यति तदाह—अत इति । प्रतीकमादाय स्वप्नान्तशब्दार्थमाह—प्रतियोनीति । कथं पुनस्तस्य सुषुप्तविविधत्वमत आह—दर्शनवृत्तेरिति । दर्शनं “वाचनामयं” तस्य वृत्तिर्पिस्मिन्निति व्युत्पत्त्या

व्याकाप की आशङ्का नहीं है क्योंकि निरुपाधिक होकर वह नहीं करता, न ही क्रियाफल से लिपायमान होता है । भगवान् ने भी कहा है—“हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मुण से व्ययाभाव वाला (त्वमर्थ) परमात्मा अनादि और स्वरूपत निर्गुण होने से शरीर में रहते हुए भी न करता है, न लिपायमान होता है” इत्यादि ।

तथा सहस्र गोश्री का दान तो कामप्रविवेक प्रदर्शित किये जाने के लिए है । इस प्रकार “वह यह पुरुष स्वप्नावस्था में”, “वह यह पुरुष जागरित अवस्था में”, इन दोनों मन्त्रों द्वारा कामप्रविवेक आत्मा असङ्ग है—ऐसा प्रतिपादन किया गया क्योंकि स्वप्नावस्था में जाकर पूर्ण प्रसन्न हुआ यह पुरुष जागरितस्थान में किये गये कर्म से सम्पृक्त नहीं होता । क्योंकि इस समय इसके चौबीस कार्य नहीं दखे जाते, इसलिये तीनों स्थानों में यह स्वयं असङ्ग ही है । इसलिये यह अमृत और तीनों स्थानों के धर्मों से विलक्षण है । यह उसी मार्ग से यथास्थान यानी स्वप्नस्थान अर्थात् सुषुप्ति के लिए लौट

- १ त्वमय । २ अनादित्वात्स्वरूपतो निर्गुणत्वाच्च गुणतो व्ययाभावान् । ३ कामप्रविवेक । ४ कर्मणा । ५ स्वप्नस्थानम् । ६ स्तैर्न्य चौर्य तद्रूप कार्यं तस्य वा कार्यं फल तदननुभवादित्यर्थः । ७ अवतरणात् । ८ सुषुप्तय । ९ वृ उ ४ ३ १५ । १० वृ उ ४ ३ १६-१७ । ११ यथेच्छप्रभस्य । १२ वृ उ ४ ३ १६-१७ । १३ वृ उ ४ ३ १५ । १४ स्वप्नान्तशब्दस्य । १५ तद्वि श्यत एव न सत् । १६ वस्तु ।

च विशेषणोपपत्तेः । एतस्मा अन्ताय धावतीति च सुपुप्तं 'दर्शयिष्यति । यदि पुनरेव मुच्यते स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वंतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं चेति दर्शनात्स्वप्नान्तायैवेत्यत्रापि दर्शनवृत्तिरेव स्वप्न उच्यत इति तथाऽपि न किञ्चिद्बुद्ध्यत्यसङ्गता हि सिषाधयिषिता सिध्यत्येव । यस्माज्जागरिते दृष्ट्वैव पुण्यं च पाप च रत्वा चरित्वा च स्वप्नान्तमागतो न जागरितदोषेणानुगतो भवति ॥१७॥

एवमयं पुरुष आत्मा स्वयं ज्योतिः कार्यकरणविलक्षणस्तत्प्रयोजकाम्यां कामकर्मभ्यां विलक्षणो यस्मादसङ्गो ह्ययं पुरुषोऽसङ्गत्वादित्ययमयः स वा एव एतस्मिन्संप्रसाद इत्यद्याभिस्तिस्मिः कण्डिकाभिः प्रतिपादितः । तत्रासङ्गत्वाऽऽत्मनः कुतो

स्वप्नो दर्शनवृत्तिस्तस्य स्वप्नशब्देनैव सिद्धत्वादन्तशब्दधेयर्थात्स्वप्नान्तो लयो यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या स्वप्नान्तशब्देन सुषुप्तग्रहे सत्यन्तशब्देन स्वप्नस्य व्यावृत्त्युपपत्तेरत्र सुषुप्तस्यानमेव स्वप्नान्तशब्दितमित्ययं । 'तत्रैव वाक्यशेषानुगुण्यमाह—एतस्मा इति । स्वप्नान्तशब्दस्य स्वप्ने प्रयोगदर्शनादिहापि तस्यैव तेन ग्रहणमिति पक्षान्तरमुत्पात्त्याङ्गी करोति—यदीत्यादिना । सिषाधयिषितार्थसिद्धौ हेतुमाह—यस्मादिति ॥१७॥

'कण्डिकात्रयेण सिद्धमयमनुवदति—एवमिति । आत्मन स्थानत्रयसंचारादसिद्धोऽसङ्गत्वहेतुरिति 'शङ्कते—तत्रेति । 'प्रतिज्ञाहेत्वोहेतुनिर्धारण सप्तम्ययं । 'सप्रयोजकाद्देहद्वयाद्विलक्षणं तु दूरनिरस्तमित्येवशब्दार्थः । एवं चोदिते हेतुसमर्थनार्थं महामत्स्यवाक्यमिति 'सगतिमभिप्रेत्य

जाता है । दर्शनवृत्ति स्वप्न का 'स्वप्न' शब्द से अर्थावबोध देखे जाने से एव 'अन्त' शब्द से उसका विशेषण की सिद्धि होती है । इसी को "यह पुरुष इस सुषुप्तस्थान की ओर दौडता है" श्रुति कहती है । यहाँ 'अन्ताय' पद से श्रुति सुषुप्ति का ही प्रतिपादन करेगी । और यदि ऐसा कहा जाता है कि "स्वप्नान्त मे रमण और विहार कर", "उसी प्रकार यह पुरुष स्वप्नस्थान और जागरितस्थान इन दोनों ही स्थानो मे कमरा संचार करता है . . . "इन श्रुतिवाक्यो मे ऐसा देखा जाने से "स्वप्नान्तार्थेव" इस प्रयोग मे भी दर्शनवृत्ति को ही स्वप्न कहा जाता है, तो भी किसी प्रकार का दोष नहीं आता । क्योंकि असङ्गता के की सिद्धि करना हमे इष्ट है और वह सिद्ध हो ही जाती है क्योंकि जागरित अवस्था मे पुण्य और पाप को देखकर ही तथा नीडा और रमण कर वह स्वप्नान्त मे आता है किन्तु जागरित के दोष से सम्पृक्त नहीं होता ।

इस प्रकार यह पुरुष आत्मा स्वयंज्योति है, कार्य और करण से विलक्षण है, और कार्य करण के प्रयोजक काम और कर्म से भी विलक्षण है क्योंकि यह पुरुष असङ्ग ही है । असङ्ग होने के कारण ही "वह यह आत्मा सुषुप्ति मे (रमण - विहार कर लौट आता है)" इत्यादि तीन मन्त्रो से इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया । इससे आत्मा की असङ्गता ही सिद्ध

१ वृ उ ४. ३ १६ । २ वृ उ ४ ३ ३४ । ३ वायकरणप्रयोजकाम्याम् । ४ वाच्य । ५ स्वप्नान्तशब्दस्य सुषुप्तिरत्ये । ६ वृ उ ४ ३ १५-१७ । ७ स्थानसंचारात्प्राप्तमेव सगर्ग मन्वमान । ८ विलक्षणत्वासङ्गत्वस्यो । ९ कामकर्मसंहितात् । १० प्राणैव कार्यार्थं वा ।

तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं
चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं
च बुद्धान्तं च ॥१८॥

जैसे कोई बड़ा मत्स्य नदी के पर और अपर दोनों तटों पर क्रमशः संचरण करता है अर्थात् जलप्रवाह के वेग से वह विवश नहीं होता, वैसे ही यह पुरुष स्वप्नस्थान और जाग्रत्स्थान इन दोनों ही स्थानों में (प्रारब्धकर्म से प्रेरित हुआ) क्रमशः विचरता रहता रहता है ॥१८॥

'यस्माज्जागरितात्स्वप्नं स्वप्नाच्च संप्रसावं संप्रसादाच्च पुनः स्वप्नं क्रमेण बुद्धान्तं जागरितं बुद्धान्ताच्च पुनः स्वप्नान्तमित्येवमनुक्रमसंचारेण स्थानत्रयस्य व्यतिरेकः साधितः । पूर्वमप्युपन्यस्तोऽप्यमर्थः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणीति तं विस्तरेण प्रतिपाद्य केवलं दृष्टान्तमात्रमवशिष्टं तद्वक्ष्यामीत्या'रभ्यते—

तत्र तस्मिन्मया प्रदर्शितेऽयं दृष्टान्तोऽयमुपादीयते यथा लोके महामत्स्यो महाश्राप्ती मत्स्यश्च नादेयेन स्रोतसाऽहार्थं इत्यर्थः । स्रोतश्च विष्टम्भयति स्वच्छन्दचार्युं मे कूले नद्याः पूर्वं चापरं चानुक्रमेण संचरति । संचरन्नपि कूलद्वयं तन्मध्यवर्तिनोदकस्रोतोवेगेन

'संगत्यन्तरमाह—पूर्वमपीति । यथाप्रदर्शितोऽर्थोऽसद्भूत्वं कार्यकरणविनिर्मुक्तत्वं च । अहार्थत्वमप्रकम्प्यत्वम् । स्वच्छन्दचारित्वं प्रकटयति—सचरन्नपीति । किं पुनर्दृष्टान्तेन दाष्टान्तिके लभ्यते

होती है । वह कैसे ? क्योंकि वह जागरित में स्वप्न को, स्वप्न से सुपुप्ति को, सुपुप्ति से पुनः स्वप्न को तथा क्रमशः 'बुद्धान्त' यानी जागरित को, जागरित से पुनः स्वप्न को इस तरह श्रमिक संचरण से तीनों स्थानों का व्यतिरेक सिद्ध किया गया है । "स्वप्न और मृत्युरूप इस लोक का अतिश्रमण किया" इस श्रुतिवाक्य द्वारा पहले भी इस (असद्भूत्वं कार्यकरणविमुक्तत्वादिरूप) अर्थ का प्रतिपादन किया है । उस का विस्तार से प्रतिपादन कर अर्थ जो दृष्टान्त मात्र शेष रह गया है, उसी को कहेंगे । इसी से अग्रिम दृष्टान्त मन्त्र प्रारम्भ किया जाता है ।

"तत्" अर्थात् यहाँ यथाप्रदर्शित (असद्भूत्वं कार्यकरणविनिर्मुक्त) अर्थ में इस दृष्टान्त का उपपादन किया जाता है । जिस प्रकार लोकव्यवहार में "महामत्स्य" अर्थात् महान् मत्स्य जो नदी के वेग में अग्रकम्प्य हो और जो नदी के वेग को रोक देता हो, वह स्वच्छन्दचारी महामत्स्य "उभे कूले अनुसंचरति" अर्थात् जैसे नदी के पूर्व और अपर दोनों किनारों पर क्रमशः संचरण

१ तत्रासद्भूतैवेत्यादिभाष्ये यस्मादित्यादि वाक्यं समाधानपरतया निनीपवस्त्रित्वमवसात्पयन्ति । तथाहि समाधत्ते—यस्मादिति । परं तथा सति टीकावृत्ताम्बतरणे इति शङ्कत इत्यन्याय्यामापद्यते इत्यादाश्च समाधत्ते—इत्यस्यैवोच्यते । तस्माद्रीकाहता सर्वाऽप्येया पदुक्तिगद्वापरैवाभिमतेति प्रतिभाति । तथा च सति व्यतिरेकसाधित इत्यस्य स्थाने व्यतिकर साधित इत्येव पाठ साधीयान् । पूर्वमपीत्यादि भाष्यमेव समाधानपरमिति विवेकव्यमित्यलम् । २ असद्भूत्वाकार्यकरणविमुक्तत्वादिरूप । ३ दृष्टान्त कश्चिन्ना वा कर्म । ४ प्रतीको निरामद्भूत्वमिदमर्थम् । ५ महत्त्व स्फोरयति—नादेयेनेति । ६ निरणदि । ७ दृष्टान्त-रूपम् ।

न परवशी क्रियते । एवमेवायं पुरुष एतावमुमा अन्ता अनुसंचरति । कीं तो । स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च । दृष्टान्तप्रदर्शनफलं तु मृत्युरूपः कार्यकरणसंघातः सह तत्प्रयोजकाभ्यां कामकर्मभ्यामनात्मधर्मोऽयं चाऽऽत्मेतस्माद्विलक्षण इति विस्तरतो व्याख्यातम् ॥१८॥

अत्र च स्थानत्रयानुसंचारेण स्वयंज्योतिष आत्मनः कार्यकरणसंघातव्यतिरिक्तस्य कामकर्मभ्यां विविक्ततोक्ता । स्वतो नाय संसारधर्मवानुपाधिनिमित्तमेव त्वस्य संसारित्व-
'मविद्याधारोपितमित्येव समुदायार्थं उक्तः । 'तत्र च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानानां
त्रयाणां विप्रकीर्णरूप उक्तो न पुञ्जीकृत्येकत्र दर्शितः । यस्माज्जागरिते ससङ्गः समृत्युः
सकार्यकरणसंघात उपलक्ष्यतेऽविद्यया । स्वप्ने तु कामसंयुक्तो मृत्युरूपविनिर्मुक्त
उपलभ्यते । सुषुप्ते पुनर्बुद्धान्तं मांगतो बुद्धान्ताच्च सुषुप्ते संप्रसन्नोऽसङ्गो भवतीत्यसङ्ग-

तदाह—दृष्टान्तेति ॥ १८ ॥

इत्येववावयवमतारयितुं वृत्तं कीर्तयति—पत्र चेति । 'पूर्वसंदर्भः सप्रमथ्यः । देहद्वयेन सप्रयो-
जकेन वस्तुतोऽसंबन्धे फलितमाह—स्वत इति । कथं तर्हि तत्र संसारित्वयोरित्याशङ्क्याऽह—उपाधेति ।
ओपाधिकस्यापि वस्तुत्वमाशङ्क्याऽह—अविद्येति । वृत्तमनुचोत्तरण्यमवतारयन्मुमिकामाह—
तनेति । स्थानत्रयसंबन्धित्वेन विप्रकीर्णं विश्लिष्टं रूपमस्येत्यात्मा तथा । पुञ्जीकृत्य विचक्षितं सर्वं
'विशेषणमादाधेति यावत् । एकत्रेति चावयोक्तिः । 'तत्र हेतुं वदञ्जाग्रहाव्येन विवक्षितात्मोक्ति-
रित्याह—यस्मादिति । ससङ्गत्वादेहस्यामानरूपस्य मिथ्यात्वं सूचयति—अविद्ययेति । स्वप्नवाच्ये
विवक्षितात्मसिद्धिमाशङ्क्याऽह—स्वप्ने त्विति । 'तर्हि सुषुप्तवाच्ये तद्विनिर्मुक्त्याह—सुषुप्ते पुनरिति ।

वरता है । तथा संचार करता हुआ भी उन दोनों तीरों के मध्यवर्ती जलप्रवाह के वेग से अनियन्त्रित नहीं होता । इसी तरह यह पुरुष भी इन दोनों स्थानों में संचरण करता है । वे दोनों स्थान कौन से हैं ? स्वप्नस्थान और जागरितस्थान । दृष्टान्तप्रदर्शन का फल है कि अपने प्रयोजक काम और कर्म-
सहित मृत्युरूप देहेन्द्रियसंघात आत्मधर्मों नहीं है, यह आत्मा इससे विलक्षण है । इस प्रकार विस्तार से इसका व्याख्यान कर दिया गया ॥१८॥

यहाँ स्थानत्रय के क्रमशः संचरण से देहेन्द्रियसंघात से भिन्न स्वयंप्रकाश आत्मा की काम और कर्मों से पृथक्ता बतला दी गयी । यह स्वयं सत्ताधर्मों नहीं है, इसका संसारित्व अविद्या से आरोपित उपाधि के कारण ही है । इस प्रकार यह समुदायार्थं कहा गया । परन्तु पूर्व संदर्भ में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त तीनों स्थानों का पृथक्-पृथक् रूप कहा गया है । सबको एवमित्तरकें नहीं दिखलाया गया क्योंकि जागरित अवस्था में वह अविद्या द्वारा प्राप्तियुक्त, मृत्युयुक्त और कार्यकरण-
संघात से युक्त प्रतीत होता है । स्वप्नावस्था में कामसंयुक्त, मृत्युरूप विनिर्मुक्त प्रतीत होता है । सुषुप्तावस्था में पुनः स्वप्न से जागरित में आता हुआ और जागरित में सुषुप्ति में अतीव प्रसन्न और

१ स्थाने । २ आत्मधर्मों न भवतीत्यर्थं । ३ अविद्योच्छेदे मुक्तिरित्यवस्तुत्वपत्र द्रष्टव्यम् ।
४ पूर्वसंदर्भं । ५ प्रतीयते । ६ स्वप्नावत् । ७ वृ उ ४ ३ ११-१७ । ८ उत्तरत्रयोपानप्रयो-
जयोक्तिम् । ९ अविद्यावामकमासिद्धिरूपम् । १० एषत्र पुञ्जानुत्तो । ११ स्वप्नवाच्ये ना चेत् ।

तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्यः ।

श्रान्तः सँहृद्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं

जैसे इस भौतिक आकाश में बाज या श्येन पक्षी सभी ओर उड़कर थक जाने पर पंखों को अच्छी प्रकार फंलाकर अपने घोंसले की ओर हो दीड़ने लगता है। ठीक ऐसे ही जीवात्मा (जाग्रत्

ताऽपि दृश्यते । एकवाक्यतया तूपसंह्रियमाणं 'फलं नित्यमुक्तबुद्धशुद्धस्वभावताऽस्य नैकत्र पुञ्जीकृत्य प्रदर्शितेति 'तत्प्रदर्शनाय कण्डिकाऽऽरभ्यते । सुषुप्ते 'ह्यैवंरूपताऽस्य वक्ष्यमाणा तदा 'अस्यं तद'तिच्छन्दा 'अपहतपाप्माऽभयं 'रूपमिति । 'यस्मादेवंरूपं'दिलक्षणं 'सुषुप्तं' प्रविवक्षति । "तत्कथमित्याह"—दृष्टान्तेनास्यार्थस्य प्रकटीभावो भवतीति तत्र दृष्टान्त "उपादीयते ।

"तत्राप्यविद्यानिर्मोको न प्रतिभातीति भावः । एवं पातनिकां कृत्वा श्येनवाक्यमादत्ते—एकवाक्यतयेति । पूर्ववाक्याना (णा) मिति शेषः । कुत्र "तहि यथोक्तमात्मरूपं पुञ्जीकृत्य प्रदर्शयते तत्राऽह—सुषुप्ते-हीति । "तत्राभयमित्यविद्याराहित्यमुच्यते । "सा च सुषुप्ते स्वरूपेण सत्यपि "नाभिध्यक्ता भातीति द्रष्टव्यम् । यस्मात्सुषुप्ते यथोक्तमात्मरूपं वक्ष्यते "तस्मादिति यावत् । एवंप्रमित्येतदेव प्रकटयति—विलक्षणमिति । कार्यकरणविनिर्मुक्तं कामकर्मविद्यारहितमित्यर्थः । स्थानद्वयं हित्वा "कथं सुषुप्तं प्रवेष्टमिच्छतीति" पृच्छति—तत्कथमिति । स्वप्नादौ दुःखानुभवात्तत्त्यागेन सुषुप्तं प्राप्नोतीत्याह—ग्राहेति । अयोत्तरा श्रुतिः स्थानान्तरप्राप्तिमभिधत्तां तथाऽपि किं दृष्टान्तवचनेनेत्याशङ्क्याऽह—दृष्टान्तेनेति । अस्यार्थस्य सुषुप्तिप्राप्तिरूपस्येत्येतत् । न एवायंस्तत्रेति सप्रत्यर्थः ।

असङ्ग होता है। इस प्रकार उसकी असङ्गता देखी जाती है। इसलिए एकवाक्यतारूप जो उपसंह्रियमाण विचार है, वह इसका नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव एक स्थान पर सग्रह करके नहीं दिखलाया गया। अतः अब उसे बतलाने के लिए यह मन्त्र प्रारम्भ किया जाता है। इसका ऐसा रूप 'वह इसका कामरहित, पापरहित और अभयरूप है' इस श्रुतिवाक्य द्वारा बतलाया जाने वाला है क्योंकि ऐसे (कामरहित) आदि) विलक्षणरूप वाले सुषुप्तस्थान में प्रवेश करने की इच्छा करता है। वह किस तरह? इसे श्रुति कहती है। दृष्टान्त से इसके अर्थ का प्रकाशन होता है, इसके लिए दृष्टान्त का उपादान किया जाता है।

- १ विचारस्य । २ सुप्तप्रतिपत्यर्थत्वात्तत्प्रदर्शनस्येति भावः । ३ नित्यशुद्धस्वभावता । ४ आत्मनः । ५ एतद्रूपमिति संह्रियमाणम् । ६ कामरहितम् । ७ धर्मादिदुष्यम् । ८ वृ उ ४ ३ २१ । ९ प्रतिच्छन्दावाक्योक्तम् । १० आत्मस्वरूपं सुषुप्तस्थानं प्रवेष्टमिच्छति । ११. किमर्थम् । १२. उत्तरा श्रुतिः । १३ उपादीयत इति । अत्र सन्नधान्तरमाह्वयित्ते—"स्वप्नबुद्धान्तयोर्वेह दृष्टान्त सप्रदर्शितः । मप्रसादस्य दृष्टान्त श्येनेनायं धुनोच्यते" ॥ ११५६ ॥ इति । पूर्वो दृष्टान्तो महामत्स्यास्य । १४ सुषुप्ते । १५ तदर्थम् । कण्डिकाऽऽरभ्येति । १६ वाक्ये विशेषेषु वा । १७ अविद्या । १८. कार्याकारो हि ध्यति । १९ यथोक्तमात्मस्वरूपप्रदर्शनाय कण्डिकाऽऽरभ्यत इति पूर्वशान्दव्य । २०. किमर्थम् । २१ आत्मा ।

पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन

'कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ॥१६॥

तथा स्वप्न में प्रारब्धानुसार कर्म फल को भोग कर थक जाने पर) इस सुषुप्तिस्थान की ओर दौड़ता है । जहाँ सोने पर यह किसी भोग की आकांक्षा नहीं करता और न किसी स्वप्न को ही देखता है ॥१६॥

'तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे भौतिके श्येनो वा सुपर्णो वा । सुपर्णशब्देन किंप्रः श्येन उच्यते । यथाऽऽकाशेऽस्मिन्बिहृत्य' विपरिपत्य श्रान्तो नानापरिपतनक्षरणेन कर्मणा परिखिन्नः संहृत्य पक्षी 'संगमध्य संप्रसार्य पक्षी सम्पग्लोयतेऽस्मिन्निति संलयो नीडो 'नीडायैव ध्रियते' स्वात्मनैव धार्यते स्वयमेव । यथाऽयं दृष्टान्त एवमेवाय 'पुरुष एतस्मा 'एतस्मै' अन्ताय 'धावति । *'अन्तशब्दवाच्यस्य "विशेषणं यत्र "तस्मिन्नन्ते" सुप्तो न कञ्चन

परमात्माकाशं व्यावर्तयितुं भौतिकविशेषणम् । महाकायो मन्दवेगः श्येनः सुपर्णस्तु वेगवानल्पविग्रह इति भेदः । धारणे सौकर्यं वक्तुं "स्वयमेवेत्युक्तम् । स्वप्नजागरितयोरवसानमन्तमज्ञातं

जिम प्रकार इस प्रसिद्ध भौतिक आकाश में श्येन अथवा सुपर्ण हो; सुपर्ण तेज उड़ने वाले वाज का नाम है । जिस प्रकार इस आकाश में भक्ष्यार्थं विहार कर चारो ओर उड़कर "श्रान्त" अर्थात् बार-बार उड़ड़यनरूप कर्म से खिन्न होकर "सहत्य पक्षी" यानी पक्षी को सम्पक् फंसाकर "सलयायैव ध्रियते" घोसले के प्रति अपने को धारण करता है । जिसमें सम्पक् प्रकार से लीन होता है, उस घोसले का नाम 'सलय' है । जैसे यह दृष्टान्त है उसी प्रकार यह पुरुष भी जागरित आदि से खिन्न होकर "एतस्मा" अर्थात् अपने नीड के प्रति अज्ञात ब्रह्मप्राप्ति के अर्थ अमनिवृत्ति के लिए भागता है । अन्त-शब्दवाच्य अज्ञातब्रह्म के विशेषणद्वय 'यत्र' अर्थात् जिस अज्ञातब्रह्म में सम्पन्न एकीभूत न 'कञ्चन'

१ तत् प्रसिद्ध निदर्शनं यथा । अस्मिन् प्रसिद्धे । २ भक्ष्यार्थम् । ३ स्वनीडाग्रमनाभिमुख्य पण्यो-
रापाद्य । ४ नीडप्रवेशार्थम् । ५ स्वात्मनैवेत्यादि—शरीरस्य जडत्वाच्चेतनेनैव ध्रियमाणत्वं न तु स्वतस्तथापि नीटप्रवेशसमये शरीरधारणे तौर्ग्यं छातयितुं मूले ध्रियते इति कर्मवर्तितं प्रयागन्तदेतन्मूचयितुं भाष्ये स्वयमेव स्वात्मना धार्यते इत्युक्तनिति ज्ञेयम् । ६ जागरादौ खिन्नः । ७ स्वनीडाय । ८ अज्ञातब्रह्मप्राप्त्यर्थम् । ९ तच्छुद्धानयम् । १० अज्ञातब्रह्मणः । ११ विशेषणद्वयम् । १२ अज्ञातब्रह्मणि । १३ सम्पन्न एकीभूतः । १४ शरीरस्य जडत्वेन चेतनैव ध्रियमाणत्वं अपि नीडार्थं छातयितुं स्वयमित्युक्तं स्थाली पचतीतिवत् । कर्मणस्तु वक्तुं स्वप्न विषयितत्वावयवबद्धावन यागादिकं पच्यते आदन इतिवत् ।

* अन्तशब्दवाच्यस्य विशेषणमिति । अत्र वातिने—'अन्ताय धावतीत्युक्तं तस्यान्तस्य विशेषणम् । यत्र मुना न कनिति । जाग्रत्स्वप्ननिषेधद्वयम् ॥ सुप्तान्तिमृष्यव्यप्यागु गामान्धनं यतस्ततः । विगिनत्प्रारभत स्वाप यत्र मुनिगिरा स्फुटम् ॥ न वचनेति वानो य स्वप्नजाग्रदवस्थयो । निषिध्यत मुष्योऽप्यो तथा स्वप्नोऽपि यस्तथा ॥ स्वप्न वा वामविरहाद्ययोर्कोनेव बर्तमानः । जाग्रत्कामनिषेधोऽत्रस्तत्र कामादिमभवान् ॥ सर्ववस्थावस्थ्याया जाग्रत्स्वप्नगुणनिधिः । यदि वा विद्यते भेदः कंचनति च निद्रत ॥ तत्र भावसत्ता इति तथा च श्रुतिनामानम् । जाग्रत्स्वप्नगुणमानां त्रैविध्यप्रतिपादकम् ॥ तत्र त्रयाणां स्थानानां जाग्रत्स्वप्ननिषेधनम् । न स्वप्नेन वाच्येन

न कंचिदपि 'कामं' 'कामयते' । तथा न कंचन स्वप्नं पश्यति । 'न कंचन काममिति' स्वप्नबुद्धान्तयोरविशेषेण सर्वः कामः प्रतिपिध्यते 'कंचनेत्यविशेषिताभिधानात् । तथा न कंचन स्वप्नमिति' । जागरितेऽपि यद्दर्शनं तवपि स्वप्नं मन्यते श्रुतिरत आह न कंचन स्वप्नं पश्यतीति । 'तथा च श्रुत्यन्तरम् "तस्य त्रय प्रावसयास्त्रयः 'स्वप्नाः" इति ।

ब्रह्म । तथा न कंचन स्वप्नमिति 'स्वप्नजागरितयोरविशेषेण सर्वं "दर्शनं निपिध्यत इति शेषः । "स्वप्नविशेषणभस्वप्नदर्शननिषेधेऽपि कुतो जाग्रद्दर्शनं निपिध्यते तत्राऽऽह—जागरितेऽपीति । कथमयमभिप्रायः श्रुतेरवगत इत्याशङ्क्य "विशेषणमामर्ष्यादित्याह—प्रत प्राहेति । जागरितस्यापि स्वप्नत्वे

अर्थात् किसी भी काम्य वस्तु की इच्छा नहीं करता । इसी प्रकार न कोई स्वप्न देवता है । "न कञ्चन कामम्" इस विशेषण के द्वारा स्वप्न और जागरित के सभी भोगों का निषेध हो जाता है, क्योंकि 'कचन' यह उक्ति कामत्वावच्छिन्न की है । इसी प्रकार "न कचन स्वप्नम्" इस प्रकार द्वितीय विशेषण के द्वारा भी समझ लेना चाहिये । जागरित में जो कुछ देखा जाता है; उसे श्रुति स्वप्न ही मानती है, इसी से श्रुति कहती है कि कोई स्वप्न नहीं देखता । ऐसी ही एक अन्य श्रुति भी है—"उसके तीन वासस्थान हैं और तीन ही स्वप्न हैं (जागरित में यही नेत्रस्थान वाला है, स्वप्न में यह कण्ठस्थान

१ काम्य विषयम् । २ इच्छति । ३ विशेषणयो इत्यमाह—नेति । ४ विशेषणेन । ५ कचनेति—कामत्वावच्छिन्नस्योक्तेरित्यर्थ । ६ द्वितीयविशेषणेन । ७. तथैव । ८ शरीरस्थात्मन शीघ्रि स्थानानि । ९ स्वप्रवृत्त्यानि । १० अविशेषिताभिधानादिति शेष । ११ काम्यमानार्थज्ञानम् । १२ दर्शने स्वप्नस्य विशेषणतयाऽन्वितत्वात् । १३ स्वप्ने कचनति विशषणायथाऽनुपपत्ते ।

तयोरेव ग्रहं श्रुत्वा ॥ स्वप्नं न कचनत्युक्त्या सर्वस्वप्ननिषेधनम् ॥ इति प्रबोधस्वप्नान्ता विविक्त स्थानमुच्यते ॥ जाग्रत्स्वप्नात्मको पक्षो विसृज्यात्ममोहवान् । भुक्त्वा भोगानथ श्रान्त पक्षो सहृद्य चाऽऽत्मनि ॥ अविद्यामवस्थान तद्बुद्धतस्य वस्तुन । सहृद्यपक्षोपमया श्रुत्यह प्रतिपाद्यते ॥ सलयायेति यच्छुद्ध रूप स्यात्प्रवगात्मन । प्रत्यकचिदात्म आगत्य मिथिते प्रत्यगात्मने ॥ बुद्ध्यादिकार्यसंहारे प्रत्यक्चैतन्यरूपिण । चिद्विम्बस्यापि सहायो जलाकंप्रविलापवत्" ॥ ११६३-११७४ ॥ इति ॥ कथमन्त गन्देन ब्रह्मग्रहणमित्याशङ्क्योक्तानुवादपूर्वक विशेषण द्वयमाद्यते—धन्तायति । तस्य इत्येव दर्शयति—जाग्रदिति ॥ सुप्तविशेषणैरेव जाग्रद्विच्युतेन कचन काममित्याद्यनयंकमित्याद्युपाऽऽह—सुप्त इति । प्रत्यममवस्थाना वैविध्योस्त सामान्यनाऽऽत्माऽवस्थानयेऽपि सुप्ते वर्तते तस्माद्यत्र सुप्त इत्युक्तमात्मन स्वाप न कचनेत्यादिपि रा स्पष्टीकृत्य विभिन्नतीति योजना ॥ अस्त्वान्स्वापस्यैव विशेषण तथाऽपि तेन कामस्यैव निषेधाच्चप्रत्स्वप्ननिषेधकृदित्ययुक्तमत आह—नेत्यादिना । अत्रस्याद्वयस्थकाममात्रस्य स्वापे निषेधादवस्थाद्वयमपि तत्र निपिध्यते चेद्विशेषणान्तरानयंकमित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । स्वप्न जागरयो स्वप्न सुप्ते द्वितीयन विशेषणैरेव निपिध्यते तेन तदप्याद्यविशेषणवदर्थवदेव पूर्वत्र कामप्राधान्येनावस्थाद्वयनिषेध उत्तरत्र स्वप्नप्राधान्येनेति भावः ॥ आद्यविशेषणस्यार्थान्तरमाह—स्वप्न वेति । यथोक्तेनाऽङ्गीहीत्युक्तमार्गैरेति यावत् । अमङ्गलव्यायेन जाग्रत्यपि रागादिराहित्यं सुल्पमित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । सति मातरि बाधविधुरो जाग्रति कामादि स्वप्ने तु नैवमित्यर्थः ॥ द्वितीयविशेषणस्यार्थान्तरमाह—एकैव स्यामिति । तत्र हेतुमाह—कचनेतीति । न कचन स्वप्न पश्यतीत्यत्र कंचनेतिभेदोक्तिविशेषणादुक्तभेदमिद्वित्यर्थः ॥ भवस्थाना प्रत्येक वैविध्यसाधक वाक्यान्तरं चालीत्याह—त्रय इति ॥ सिद्धे वैविध्ये नि प्रकृते सिध्यति

यथा 'दृष्टान्ते पक्षिणः परिपतनजश्रमापनुत्तये स्वनीडोपसर्पणमेवं जाश्रत्स्वप्नयोः कार्य-
'करणसंयोगजक्रियाफलं संयुज्यमानस्य पक्षिणः परिपतनज इव श्रमो भवति तच्छ्रमाप-
नुत्तये स्वात्मनो नीडमायतनं सर्वसंसारधर्मविलक्षणं सर्वाक्रियाकारकफलायासशून्यं स्वमा-
त्मानं प्रविशति" ॥ १६ ॥ -

❧ यद्यस्यायं स्वभावः सर्वसंसारधर्मशून्यता परोपाधिनिमित्तं चास्य संसार-

भ्रुत्यन्तर संवाद्यति—तथा नेति । दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोर्विवक्षितमंशं दर्शयति—यथेत्यादिना । संयुज्य-
मानस्य 'क्षेत्रज्ञस्येति शेषः । सर्वसंसारधर्मविलक्षणमिति विशेषणं व्याचष्टे—सर्वेति ॥ १६ ॥

श्येनवाक्येनाऽऽत्मनः सोपुत्तं रूपमुदत्तमिदानीं 'नाडीकण्डवस्य संवन्धं वधत् चोदयति—यद्यस्येति ।

वाला है और सुपुत्रि मे हृदयस्थान वाला है)" । जिस प्रकार श्येनदृष्टान्त मे उड़ने से उत्पन्न श्रम की निवृत्ति के लिए पक्षियों की स्वनीडप्राप्ति दिखायी है; इसी प्रकार जागरित और स्वप्न मे देहेन्द्रिय के संयोग से होने वाले त्रियाफलो से सयुक्त जीव को, पक्षी के उड़ने से होने वाले श्रम के समान ही श्रम होता है । इसलिए श्रम से निवृत्त होने के लिए वह अपने नीड या निवासस्थान अर्थात् सम्पूर्ण संसार-धर्मों से विलक्षण तथा सब प्रकार के क्रिया, कारक और फल के श्रम मे रहित अपने आत्मा में क्षेत्रज्ञ जीव प्रवेश करता है ॥ १६ ॥

यदि इस आत्मा का स्वभाव सर्वसंसारधर्म से विलक्षण है तो इसका संसारधर्मों होना अन्य

१. श्येनदृष्टान्ते । २. स्थूतेति भाव । ३. मुदमेति यावत् । ४. क्षेत्रज्ञो जीव । ५. आत्मन ।
६. जीवात्मन । ७. अग्रपञ्च भ्रुचिदानन्दैकतान स्वाभाविक रूपम् । ८. नाडीघटितवायव्यस्य ता वा इत्यादे । ९. पूर्वग्रन्थेन संवन्धम् ।

तदाह तत्रेति । स्वानाना प्रयाणा प्रत्येक त्रैविध्ये सिद्धे त्रिविधस्य जागरस्याऽऽद्येन त्रिविधस्य च स्वप्नस्य द्विमीयेन विशेषणो न निषेध सिध्यतीत्यर्थः । तत्र हेतुः—तथोरिति । कामस्वप्नदाद्याम्मा तयोरेव जाग्रत्स्वप्नयो श्रुत्या ग्रहास्तयो सर्वप्रचारयोर्निषेधोऽत्र विवक्षित इत्यर्थः ॥ विनेपशब्दयार्थमनुवदति—स्वप्नमिति । काम न कचनेत्युक्त्या सर्वजाग्रन्निषेधनमित्यपि द्रष्टव्यम् । तपार्थिप प्रवृत्ते किं सिध्यति तदाह—इति प्रयोषेति ॥ विशेष-णांयमुक्त्वऽऽन्याय धावतीत्यरथायं मुपमहरति—जाग्रदिति । अन्तःशब्दवाच्यग्रहणोऽप्यर्थः गच्छतीति शेषः । श्रान्त-स्याऽऽश्रयमनापेक्षाचोतनार्थोऽध्यगदः । सहत्यपक्षदृष्टान्तेन दाष्टान्तिके विविधं तमंशमाह—अदिद्यायामिति । पदो सहत्य स्वात्मन्येव मनुचिततावयवावापाद्य स्वाश्रये श्रमध्वंसार्थं श्येनरितदृतीति दृष्टान्तश्रुत्या सामामायात्म-विद्याया जगतोऽवस्थान विवक्षितमित्यर्थः । इहाविद्यायामिति सवन्धः ॥ संवन्धदृष्टान्तेन दाष्टान्तिके विवक्षितमाह—समिति । श्येनो हि सम्यङ्गिनिलयनार्थं स्वनीडयाऽऽत्मानं धारयतीति दृष्टान्तश्रुत्या मुद्बुद्धादि यत्प्रतीचो रूपं तद्विवक्षितं स्यात्तरुमं प्रत्यगारमने प्रत्यवचिदिव भासमान ससारी प्रत्यगजाने सामामे श्वोपाधिवुद्बुद्धाचुपुमंहारे सायुष्टितो हित्गवस्थातुमगचनुबन्धिवस्वस्थानीयायाऽऽजत्याऽऽत्मान दिभर्त्तीत्यर्थः ॥ उक्तमपं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—बुद्धधादिति । चिद्विम्बस्य चित्रतिविम्बस्येति यावत् । जीवस्योपसंहारे भावस्वे सति नागित्वाज्जगमापि स्यात्तथाच नाऽऽत्माऽभूतेरित्यधिकरणविरोध इत्याशाद्बुद्ध्याऽह—जलेति । उपार्थिलये सत्युपहितस्यानुपहितमात्मत्वेनावस्थानात्मनोऽस्ति वस्तुत इत्यर्थः ॥

❧ यद्यन्यार्थं स्वभाव इत्यादि पराकण्डिवाऽऽत्मान्यत इत्यन्ते वासित्वावार्था—“एतदस्य स्वतो रूपं यदत्रोप-
प्रदक्षितम् । अविद्यानामवर्णादिविवर्तं यत्सुपुमगम् ॥ इतीऽन्यथा तु यद्रूप जाग्रत्स्वप्नम्बलक्षणम् । तदस्य

धर्मित्वम् । यन्नमित्तं चास्य परोपाधिकृतं संसारधर्मित्वं सा अविद्या । तस्या अविद्यायाः
किं स्वाभाविकत्वमाहोस्थितकामकर्मादिववागःशुक्लत्वम् । यदि चाऽऽगन्तुकत्वं ततो विमोक्ष

परः सन्नुपाधियुद्धपादिः । प्रसङ्गत्वतः स्वतो बुद्ध्यादिसंबन्धासंभवमुपेत्याऽऽह—यन्नमित्तं चेति ।
'सिद्धान्ताभिप्रायम'नूद्य पूर्ववाची विकल्पयति—तस्या इति । आगन्तुकत्वम'स्वाभाविकत्वम् ।
आद्ये मोक्षानुपपत्तिं विवक्षित्वाऽऽह—यदि चेति । अस्तु 'तर्हि द्वितीयो मोक्षोपपत्तेरित्यादाऽऽह—

उपाधि के कारण है । जिस कारण से इसका अन्य उपाधि द्वारा कृत संसारधर्मित्व है, वह अविद्या है ।
वह अविद्या क्या (चैतन्य के समान) स्वाभाविकत्व है अथवा कामकर्मादि के समान आगन्तुकत्व है ।
यदि आगन्तुक है, तब तो उससे मोक्ष होना संभव है किन्तु उसके (प्रत्यक्षत्व) आगन्तुकत्व होने में

१. चैतन्यत्व । २. आदिना कर्म कार्यं घटीरादिवत् । ३. सिद्धान्त्यभौत्यपि सम्भवं । ४. यदीत्या-
द्यविद्येत्यन्तेन । ५. स्वभावभिन्नत्वम् । ६. आद्ये मोक्षानुपपत्तिश्चेत् ।

परतो ज्ञेयमात्मज्ञानैकहेतुत्वम् ॥ यद्वेतुवमिदं रूपं साऽविद्याज्ञयंकारिणी । सा स्वतः परतो वाऽप्येत्येतदत्रा-
धुनोच्यते ॥ न त्वागन्तुरविद्येयमनिर्मोक्षप्रसङ्गत । आत्मस्वभावोऽविद्येयं न वेद्येतद्विचार्यते ॥ अविद्याकाम-
वर्मादिप्रविस्तिभिहात्मनः । रूपं पूर्वमुपन्यस्त तस्य साक्षात्कीर्षया ॥ अविद्यायाश्च मत्कार्यं तच्च वाच्य-
मशेषतः । इत्यादिप्रवृत्तिसिद्धिर्धर्मं परोऽग्र्योऽवताप्यते ॥ नाऽऽद्यायता यतोऽविद्याकार्यंरहितं परम् । नाडीना
स्यानुपन्यासस्ता वा अस्येतिवाक्यतः ॥ यदा मृषात्वसिद्धिर्धर्मं नाऽऽपुन्यास इत्यन्ते । अत्यन्ततनुतो ह्यन्तर्विन्ध्या-
देरीक्षणं कुत ॥ अविद्याकार्यमेतच्छेदविद्यावन्मृषेत्येते । अतो मृषात्वसिद्धिर्धर्मं तनुनाटोपरिग्रहः” ॥ १२०५-
१२१३ ॥ श्येनवाक्यनाऽऽत्मनः सौपुत्तं एपमुत्सिदाती नाडीत्वण्डस्य संबन्धार्थं कृतं कीर्षयति—एतदिति । किं
तदात्मनः स्वतो विद्यमानं रूपं तदाह—यदिति । किं पुनः श्येनवाक्ये प्रत्यवत्वेनोक्तं रूपं तदाह—अविद्येति ।
आदिपदं तत्कार्यसंग्रहार्थम् । एतदेवाऽऽत्मनः स्वाभाविकं रूपं यदप्रपञ्चं सच्चिदानन्दैकतानमित्यर्थं ॥ रूपान्त-
रमपि स्वप्रादिवगतं कर्तृत्वादिलक्षणमस्य भाति तत्त्वमवधारणमित्याशङ्क्याऽऽह—इतोऽप्येति । तृतीयपदार्थं
स्पुटयति—आत्मेति ॥ उत्तरवाक्यमसत्तारयन्विचारविषयमाह—यद्वेतुवमिति । कर्तृत्वादि यदूर्ध्वं तस्यानर्थ-
हेतुरविद्या प्रस्तुतेत्यर्थं । विचारस्वरूपमाह—सेति । अविद्या खलवात्मनः स्वभावश्चेत्यवदस्वभावो वा कर्मादि-
वदिति विचार्यास्वभावत्वमनन्तरप्रत्येन कथ्यत इत्याह—एतदिति ॥ अविद्याऽऽत्मनः स्वभावोऽप्रवभभावोऽवेति
नात्र चिन्त्यते किंतु सा सादिरनादिवैतन्निरूप्यते कामकर्मादिववागन्तुकत्वमिति भाष्ये कोट्यन्तरोक्तेरित्या-
शङ्क्याऽऽह—न त्विति । अविद्या चेदागन्तुकी तदा तस्या हेत्वभावे मोक्षेऽपि पुनरुन्मज्जनसंभवादनिर्मोक्ष-
सहेतुत्वेऽप्यात्मारितिरहेत्वभावात्तद्वेतुत्वेन ततो मोक्षेऽप्यविद्योदयसंभवात्स एव दोषस्तस्मादागन्तुकत्वाद्ययोगाद-
विद्यायाः सादिरनादिवैति विचारो न विवक्षित इत्यर्थः । नन्वविद्यायाः स्वभावत्वेऽपि तन्निवृत्त्याऽऽत्मनो मुक्तेर-
संभवस्य तुल्यत्वात् स्वदभिमतोऽपि विचारो मुच्येतेत्याशङ्क्याऽऽत्मनोऽजडत्वमिच्छता मुक्तेरविद्यानिवृत्तेरतिरिक्त-
त्वानैकमित्यभिप्रेत्य विवक्षितं विचारं निगमयति—आत्मेति । भाष्येऽप्येवंविधो विचारोऽभिप्रेतः स्वाभाविकत्व-
पक्षमादाय तत्रप्रतिपक्षत्वेनाऽऽगन्तुकत्वं वदता तच्छब्देनास्वभावत्वत्वेऽप्येत्वादन्यथा तत्र मोक्षप्रतिपादनमुक्त्यायेना-
नववाचमिति भावः ॥ नन्वविद्यायाः सादित्वपक्षेऽपि मोक्षस्याविद्यायादध्यान्तरत्वात्तदा तदुच्येऽपि नानिर्मोक्ष-
प्रसक्तित्यस्मदृष्टविचारसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽविद्यायाः सादित्वे तद्वेतोरप्येत्वात्कूटस्थस्याऽऽत्मनो विनाऽविद्याम-
तद्वेतुत्वापूर्वाविद्यायाश्चोक्तं राविद्यानुपादानत्वादानाद्यविद्यात्मनस्तदुपादानत्वात्तदुक्तं विचारयोगात्प्राचीनविचारसि-

'ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा
भिन्नस्तावताऽग्निम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य
पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रनं घ्न-

इस (हस्त-पादादि अग्रयव वाले पुरुष) की वे ये हिता नाम की नाडियां हैं। जिस प्रकार सहस्र भागों में केश विभक्त होता है, वैसे ही ये नाडियां अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वे सफेद, नीले, पीले, हरे और लाल रङ्ग के रस से भरी हुई हैं। जहाँ पर इस पुरुष को स्वप्नावस्था में प्रतीत होता

उपपद्यते । तस्याश्चाऽऽगन्तुकत्वे कोपपत्तिः कथं वा नाऽऽत्मधर्मोऽविद्येति । सर्वानर्थबी-
जमूताया अविद्यायाः 'सतत्त्वावधारणार्थं परा कण्डिकाऽऽरभ्यते—

'ता वा अस्य शिरःपाण्यादि' लक्षणस्य "पुरुषस्यैता" हिता नाम नाड्यो यथा
तस्याऽश्चेति । मा भूदविद्याऽऽत्मस्वभावस्तद्धर्मस्तु स्याद्धर्म्यन्तराभावादित्याह—कथं वेति । 'तत्रोत्तर-
त्वेनोत्तरग्रन्थमुत्थापर्याति—सर्वनिर्णयति । तासां परमसूक्ष्मत्वं दृष्टान्तेन दर्शयति—यथेति । कथमन्नरसस्य

व्या प्रमाण है तथा अविद्या आत्मधर्मों क्यों नहीं है ? इसलिए सम्पूर्ण धर्मों की बीजभूता अविद्या का स्वरूप निर्धारण करने के लिए अग्रिम मन्त्र प्रारम्भ किया जाता है ।

जो इस शिर एव हाय आदि लक्षणरूप तादात्म्यापन्न आत्मा पुरुष की ये हिता नाम की

१ शरीररूपावस्थाद्वयतद्धर्मादि नानात्मन स्वाभाविक संबन्धस्तेषा स्वकरणे सुप्तोऽज्याकृताख्येऽविद्यामात्र-
व्यवहिते (भ्रजान्ते ब्रह्मणि) लीनत्वादित्युक्त सम्प्रत्यविद्यासंबन्धोऽपि न स्वाभाविक इति दर्शयितुं तस्यास्ता-
वत्स्वकार्यद्वारा प्रत्यक्षत्वमुपोद्घातपूर्वकमाह—ता वा इति । २ प्रसिद्धा । ३ हितफलप्राप्तिनिमित्त-
त्वाद्धिता । ४ काले । ५ स्वप्नप्रदशम् । ६ शब्दादयः । ७ अस्वरूपत्वे । ८ स्वरूपाव-
धारणार्थम् । ९ वृ उ २ १ १६ । १० तत्तादात्म्यापन्नस्यात्मन इति यावत् । ११ कर्मादि-
कर्तृरात्मन उक्तसघाताभिमानिन संबन्धिन्य । १२ वृ उ ४ २ ३ । १३ यथोक्तचोद्ये सति ।

द्विरिति मत्वा विचारप्रयोजकमाह—अविद्येति । आत्मनो रूपमविद्यादिहीनं सुप्तो पूर्वश्रीकर्तृ तस्य प्रत्यक्षेण
प्रतिपाद्यतेऽन्यथा विद्याऽऽऽगन्तुरन्तरग्रन्थारम्भ इत्यर्थं ॥ नाडीवाक्यस्याभिप्रायान्तरमाह—अविद्यायादथेति ।
यदविद्याकार्यं तदप्यथोपती वाच्यमेव विवेकोपयोगादिति कृत्वा तदाविप्वरणार्थमुत्तरा ग्रन्थ इत्यर्थं ॥ अविद्या-
कार्यं चेद्विद्वंसंयितं तदेवोच्यता कृत नाड्यपण्यासेनेत्याशङ्क्याऽह—नाडीति । अविद्योत्थनत्वादिधीर्नाडीहृता
तदभावे स्वापादाविव तदनुपपत्तेरतस्तददृष्ट्युपयोगिनाड्यपण्यासस्तददृष्टिश्च व्यवहारार्थेत्यर्थं ॥ तदुपन्यासरय
फलान्तरमाह—यद्वेति । कुतोऽज्यत्वाद्यस्य मिथ्यात्वात् नाड्यपण्यासस्तत्राऽह—अत्यन्तेति । नाडीनामति-
सौधम्यात्तासु महापरिमाणस्य विन्ध्यादेरीक्षण स्वान्नं मिथ्यैवोचितदेशाभान्तदृष्टान्ताज्जाप्रतोऽपि मिथ्या-
तेत्यर्थं ॥ पृष्टं मत्वा शङ्कते—अविद्येति । अद्यतमान घटयत्यविद्येति न्यायादत सूक्ष्मनाडीष्वतिमहता विन्ध्या-
देरेऽपि विद्योत्थेति शङ्क्यं । तर्हि मत्प्रक्षितिदिरित्याह—अविद्यावदिति । अस्वल्पयोर्मिथ्यात्वात् नाड्युत्तिरिति
निगमयति—अत इति । कारणस्य निम्नत्वे कार्येऽपि तद्भावनिगमयति यावत् ॥

६ अथेत्यादेरविद्यया मन्यत इत्यन्ते धार्तिके—“मथैतस्मिन्नन्नरसपरिणामे यथोदिने । प्रायश्चोदस्य यत्रायं-
मधुना तत्रप्रचञ्च्यते ॥ जगदात्मनि निर्माय साधिभूताधिदैवतम् । पुनस्ताद्याह विनाडीस्यमात्मा परमपर्यविद्यया ॥

न्तीव जिनन्तीव हस्तोर्वे विच्छाययति गतमिव
पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यते ऽथ
यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं - सर्वोऽस्मीति मन्यते
सोऽस्य परमो लोकः ॥२०॥

हे कि कोई इसे मानो भारता है, कोई मानो इसे वश मे करता है और कोई इसके चारों ओर मानो हाथी दीडा रहा है, या मानो स्वयं यह गर्त मे गिर रहा है । इस प्रकार जो कुछ भी जाग्रदवस्था के भय को देखता है, जन्ती को स्वप्नावस्था मे अविद्या के कारण सत्य मानने लगता है और जहाँ पर यह देवता के समान या राजा के समान या ही सब है, ऐसा अपने को मानता है, यह इसका श्रेष्ठ लोक है ॥२०॥

केशः सहस्रधा भिन्नस्तावता तावत्परिमाणेनाग्निम्नाऽणुत्वेन तिष्ठन्ति । ताश्च शुक्लस्य
वर्णविशेषप्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह-वातेति । भुवत्स्याप्तस्य परिणामविशेषो 'वातबाहुत्ये नीतो भवति
नाडियाँ है, जिस प्रकार सहस्र भागो मे विभक्त केश है, "तावता" अर्थात् उतने ही परिमाण 'अग्निम्ना"

१ एव भयदिवार्येन्द्राऽथमसहस्रकृतामविद्यामविद्यामालमनोऽस्वभावभूता प्रदर्शयिष्य धर्मसहस्रता ता तथा दर्शयति - प्रथेति । विद्यायामुल्लृप्पमाणाया सत्या यत्र स्वप्ने जाग्रत्कालीनदेवाद्युपासनजनिततत्तद्द्वामनावासा-
देव इव राजेवेति देवमिव राजानमिव चात्मान मन्यते परयति । मोक्षावस्थायामस्या विनासादपि नेय स्वाभा-
विकीर्यभिप्रेत्यात्मस्वभावभूत मोक्षस्वरूपमपि प्रत्यक्षमित्याह-ग्रहमिति । ताद्याजाग्रदासनावामित स्वप्नेऽपि
एव सर्वमहमेव चिन्मार्गं न तु मदतिरेकेण किञ्चिदस्यतोऽहं सर्वं पूर्णोऽस्मीति मन्यते जानाति स सर्वात्मभावो-
ऽस्यात्मन पूर्वोक्तालोकानपेक्ष्य परम पूर्णो लोको विद्यया सपादित स्वामाविक पूर्ववदिवशादप्रयोगाभावा-
दित्यथ । २ मूढमत्वेन । ३ नाडीस्थो रम । ४ ह्येत्पिपित्तयोश्चात्पत्वं इ याथम् ।

अविद्याया परा काष्ठोऽपेदानीमुच्यते स्फुटम् । तत्कायतारतम्येन साऽविद्या भिद्यत यत ॥ लिङ्गादिवार्येभेदेन
साऽविद्या भिद्यते सदा । स्वतस्त्वविद्याभेदोऽत्र मनागपि न विद्यते ॥ तल्लिङ्ग वासनानीडं मूढमं स्वच्छस्वभाव-
कम् । नाडीगतस्तापार्थिससर्गात्सकटिकादिवत् ॥ धर्मादिमेरकोद्भूतरपुस्तोहस्तिलक्षण-नानाकृतिरसाद्यात्म
ह्यारमनोऽणुनचक्षुष्य । प्रथम पुरतोऽविद्यामात्रतत्र विनश्वरम् ॥ एव, तावदविद्यैवनीडानामुदितो विधि ।
भावनाना विनिष्पत्ती बोधे स्वप्नेऽव भयन ॥ १२४१-१२४७ ॥ इति । अथेत्यादिवार्यतात्पर्यमाह-प्रथेति ।
निमित्ते सप्तमी ॥ स्वप्ने नाविद्याकार्यमस्ति न तत्र रथा' इत्यादिभूनेस्तत्कथं तत्प्रपञ्चयितुं वाक्यमित्याशङ्क्या-
ऽह-जगदिति । अविद्यया नानाविध वासनानामय जगन्निर्मायाऽऽत्मा पूर्वोक्तनाडीगतत्वादेव परयतीति सक्कथ ॥
अथ योऽन्यामित्याख्याविद्याकार्यं प्रपञ्चितं तत्किमुत्तरवानयेनेति तत्राऽह-अविद्याया इति । जाग्रद्वैत्वविद्या-
विभूतिरतशोक्ताऽत्र स्वप्नेतोस्तस्या वपुते कार्यमिति विशेषः । एकैवाविद्योत्पुपगच्छता कथं तद्भेदोऽणुपगम्यते
तत्राऽह-तत्कार्येति । अतस्तद्भेदापगतिरविच्छेदिति दोषः ॥ स्वयूर्यास्तु स्वाभाविकमविद्याभेदानुवाहुरतात्पर्याह-
निङ्गादीति । अथेत्यात्मोच्यत । न हि स्वतोऽविद्याभेदो मानाभावात्तत्र प्रत्यात्म तद्भेदोऽणुभूयते तद्भेदस्यैवा-
सिद्धेन च मायाभिरिति बहूक्त्या तत्सिद्धिः कार्यभेदतन्वतद्भेदानुवादित्वादन्यथा माया तु प्रकृतिमित्यवयवचन-
विरोधान्न च व्यक्तवैक्य मभवति जात्यैक्य तदर्थं । एतेन यावन्ति जानानीत्यादि व्याख्यातमिति भावः ॥ अविद्यो-

रसस्य' नीलस्य पिङ्गनस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णां ॐ 'एतैः शुक्लादिभ्यो रसवि-
शेषैः पूर्णा इत्यर्थः । 'एते च 'रसाना वर्णविशेषा वातपित्तश्लेष्मणामितमेतरसंयोग-

'पित्ताधिक्ये पिङ्गलो जायते 'श्लेष्मातिशये शुक्लो भवति 'पित्ताल्पत्वे हरित 'साम्ये च 'धातूनां
'लोहित "इति "तेषां मित्य 'सयोगवैषम्यात्'रसानाम्वाच्च विचित्रा बहवश्चा'न्नरसा भवन्ति तद्व्याप्तानां
नाडीनामपि तादृशो वर्णो जायते ।

यानी सूक्ष्मरूप से वे रहती है । वह इन शुक्ल, नील, पीत, हरित और लाल अन्न रस से पूरा है अर्थात्
इन शुक्लत्वादिविशिष्ट रसों से पूर्ण है, और ये शुक्लादि अन्नरसों के वर्णविशेष हैं, जो (अन्नरस)
वात, पित्त और कफों के पारस्परिक संयोग की विशेष विषमता के कारण विभिन्न और बहुत प्रकार

१ शुक्लस्यान्नरसस्येत्येवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । २ पृष्ठी सर्वाऽत्र तृतीयार्था इत्यभिप्रेत्याह—एतैरिति । ३
शुक्लादयः । ४ अन्नरसानाम् । ५ श्लेष्मवातयोश्चोपसर्गन्त्वे । ६ वातपित्तयोश्च मान्द्ये । ७ वात-
श्लेष्माधिक्ये च सति । ८ समप्रधानत्वे । ९ त्रयाणां वातपित्तकफरूपाणाम् । १० रक्तम् । ११
उक्तरीत्या । १२ वातादीनाम् । १३ गुणप्रधानभावेन सर्वधात् । १४ संयोगसाम्यात् । १५
नाडीत्या ।

त्वलिङ्गस्य जागद्रूपेणावस्थितिं वदन्नादौ नानाकार्योपलम्भोपयोगितरेण तस्य भूयो भावनाश्रयत्वमाह—तदिति ।
तस्य घटादिवदग्रहे हेतुमाह—सूक्ष्ममिति । वासनाधात्त्वे निमित्तमाह—स्वच्छेति । ननु नाडीनामेव नानारस
पूर्णाणां तत्र नीलपीतादिव्याप्तनाधारत्वमुचितं न तु लिङ्गस्येत्यादाङ्गघाऽङ्ग—नाडीगतेति । स्वाच्छेषे दृष्टान्त-
स्फटिकादिवदिति । तस्यानेकवर्णभास्वत्वे वा हेतुमाह—नाडीति ॥ उक्तस्य लिङ्गमनूय तत्र साक्षिप्रत्यक्ष प्रमा-
ण्ययति—धमदीति । जाग्रद्गोदादृष्टादिज यस्यादिनानाकारोपेतमंगितादिपाकोत्थरससहस्रत कामाद्यात्मक लिङ्ग-
मात्मनो विषयत्वेन भातीत्यय । तस्य जडत्वादस्ति साक्ष्यपक्षेति वक्तुं हिंशब्द । तस्य प्रवागान्तरापेक्षा
वारयति—अनुपेति । लिङ्गस्य वस्तुत्व परिहरति—प्रविद्यति । तत्र हेतु—विनश्चरमिति ॥ अथेत्यादेस्तात्पर्य
यार्थं प्रतिज्ञाय लिङ्गस्य जाग्रद्रूपेणावस्थानमविद्याकार्यमुक्त्वा तदनूय स्वप्ने तत्प्रपञ्चयितुं वाक्यमित्युक्तं तात्पर्यं
निगमयति—एवमिति ॥

ॐ एतैः शुक्लादिभ्यो रसविशेषैः पूर्णा इति । अत्र वातिषे— तास्वरस्यपूर्णां स आत्माऽविद्ययाऽऽत्मन । रस-
पीतादिरूपत्व मन्यते स्वप्नमध्यग ॥ रसवर्णानुरोधेन रक्तपीतादिरूपताम् । प्रतीचो भोगनिदधर्षं देवैर्नैति मृषा
त्मिकाम् ॥ बौद्धविनायनविशेषसंहारकथनाय तु । चतुर्थे नाड्युपवासो विनायनात्मविबुद्धये ॥ देवतान्नरसाणुत्व
ज्ञानाय च पुनर्ग्रह । पृष्ठादौ सूक्ष्मनाडीना तद्द्वाराऽऽत्मावबुद्धये ॥ भोक्तुं स्वरूपविज्ञपत्या इह नागीपरिग्रह ।
त्रियते कामबर्मादिविवेकस्य विवक्षया ॥ १२१६ १२२० ॥ इति । नापीना गुञ्जनीवादिरूपाप्ररसपूखत्वेऽपि
विभात्मना जात तदाह—ताद्विति । स स्वप्नमध्ये द्रष्टृत्वन स्थिता नाडीऽन्तरस्यपूर्णास्वात्मा तदुपाधि स्वस्यापि
रक्तादिरूपतामविद्यया कल्पयतीत्यर्थं ॥ अथाऽऽत्मनो रसगतैरक्तादिप्रपञ्चन केन द्वारेण मपद्यन विमर्षं चेति
तत्राऽह—रसेति । भुक्त्यान्नस्य रसो नाडीपु प्रसृतो धातुसंबंधानानावर्णो भवति तदनुमारेण नाडीस्था देवता
लिङ्गादिवाद्या मिथ्याभूता रक्तादिरूपता गच्छति तदुपाधिरात्माऽपि स्वभोगार्थमुक्त्वरूपभागभवतीत्यर्थं ॥ ननु
नेय व्यवस्था चतुर्थे पृष्ठादौ च नाडीनामुक्तत्वादेन पुनरुक्त्या तदुपनरेवायोपादिसाम्यद्वयं चागुर्वितनात्पुपयाग-
फलमाह—बौद्धेति । ज्ञानस्य धीपरिणामस्य जागरादौ विकासं सुपुप्तं सतीचस्तपारत्ययं चतुर्थे नाड्यु-

वैषम्यविशेषाद्विचित्रा बहवश्च भवन्ति ।

तास्वैर्बन्धिषासु नाडीषु सूक्ष्मासु बालाग्रहसहस्रमेदपरिमाणसु शुक्लादिरसपूर्णासु सकलदेहव्यापिनीषु सप्तदशकं लिङ्गं वतन्ते । तदाधिताः सर्वा वासना उच्चवचसंसार-धर्मानुभवजनिताः । तल्लिङ्गं वासनाश्रयं सूक्ष्मत्वात्स्वच्छं स्फटिकमणिगुल्फं नाडीगत-

‘ॐ’ग्रहणाः शिरा वातवहा नीलाः पित्तवहाः शिराः ।

प्रसृग्वहास्तु रोहिण्यो गौर्यः श्लेष्मवहाः शिराः’ ॥

इति सौश्रुते दशनादित्यर्थः ।

नाडीस्वरूपं निरूप्य तत्र जागरिते लिङ्गशरीरस्य वृत्तिं दर्शयति—तारिवति । एवंबन्धिषास्त्वित्यर्थेण विवरणं सूक्ष्मास्त्वित्यादि । पञ्च भूतानि दशेन्द्रियाणि प्राणोऽन्तःकरणमिति सप्तदशकम् । जागरिते लिङ्गशरीरस्य स्थितिमुक्त्वा स्वाप्नीं तस्स्थितिमाह—तल्लिङ्गमिति । विवक्षितां स्वप्नस्थिति-

के होते है ।

इस प्रकार शुक्लादि रसो से पूर्ण सम्पूर्ण देह मे व्याप्त बालाग्र के सहस्रांश परिमाण वाली इन सूक्ष्म नाडीषु मे सत्रह तत्त्वो वाला लिङ्गशरीर रहता है । लिङ्गाश्रित ससार के उष्कृष्ट-निकृष्ट अनात्मधर्मों के अनुभव से अन्य सभी वासनाएँ है । वासनामो का प्राश्रयभूत वह लिङ्गशरीर सूक्ष्म होने

१ अन्नरसा । २ निङ्गाधिता । ३ उक्तं ट्टिन्ट्टानानामधर्मानुभवजनिता । ४ अतएव च घटादिवद-प्रत्यक्षम् । ५ अतएव वासनाश्रय । ६ ईषद्रक्तानीलबहुला । ७ ईषप्रोना पीतबहुला । ८ मुश्रुता-चार्यप्रणीते ग्रन्थविशेष । ९ उक्तरूपासु नाडीषु ।

पन्यासो धीवृत्तिरूपज्ञानसकोचविकासो हि द्वारभूता नाडीराकाङ्क्षेते न च तद्विक्रामादिवचनमकवित्कर त्वमर्थ-शुद्धपद्यत्वात्त्वचनेन हि तत्साक्षितयाऽऽत्मा शुद्ध स्यादित्यर्थं ॥ कूर्चब्राह्मणेन नाड्युत्तिष्ठत्तमाह—देवतेति । पृष्ठादौ सूक्ष्मनाडीग्रहो देवताया लिङ्गस्य स्थितिकारन्नरसस्यातिसूक्ष्मत्वज्ञापनार्थं न च तदपल प्रविक्रिताहारतर-तैजससन्धितदेवताद्वारा त्वमर्थे इष्टप्रथंत्वान्न हि विश्वादिज्ञानाच्छे त्वमर्थो वाक्यान्वयो शक्यो ज्ञातु न च विना नाडीतैजसस्य सूक्ष्मान्नरससक्यस्य मिद्विस्तद्युक्तमादौ नाडीवचनमित्यर्थं । अत्र नाड्यपन्यासस्य कृपमाह—भाक्कुरिति । त्वमर्थज्ञापनार्थं कामादिविवेकविविधयाऽत्र नाडीग्रहस्तदगतो लिङ्गात्मा कामादिना नी सस्तदुपाधा-वात्मन्यारोप्यते, अतएव तत्र द्वारभेदन नाड्यपन्यासस्त्वमर्थशुद्धयर्थं इत्यर्थभेद इत्यर्थं ॥

ॐ ग्रहणा शिरा वातवहा इत्यादि । यद्यपि अक्षत्वे लभ्यमानमुधुतप्रत्ये पद्यमिदमन्यथैव पठ्यते । तद्यथा—“तत्रास्या वातवहा पूयन्ते वायुना शिरा । पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्यः स्विरा कफात् ॥ प्रसृग्वहास्तु रोहिण्य शिरा नात्युष्णशीतला ॥” इति । शरीरस्थाने ७-२० ॥ तथापि प्रकृत्युत्तौ गुणस्त्व नीलस्त्वत्येव ह्य-माश्रय नाडीषु प्रदर्शितत्वेन मुश्रुतौक्तस्यैर्वादीना प्रकृतानुपयोगादुपयोग्यता एव मुश्रुतयादुद्देश्य टीकाङ्कित-रव पद्यमना परिणमय्यात्र न्यस्त इति प्रतिभाति । सौश्रुतपचार्यैस्त्वित्यम् । तत्र शिराया मध्य वातवहा शिरा ग्रहणा ईषच्छपाभत्व सति रसा पूयन्ते च वायुना वायुपूरणादुच्छ्रान्नाश्च तिष्ठन्तीति । पित्तवहाश्च ता उष्णा नीलाश्च भवन्ति । कफवहास्तु शीतलस्पदा श्वेतरूपा इडाश्च भवन्ति । रधिरवाहिन्यस्तु रक्तवर्णा अणुष्णानीत र्मार्गन्वेति ।

रसोपाधि'संसर्गवशाद्धर्माधर्म'प्रेरितो'द्वभूतवृत्तिविशेषं स्त्रीरथहस्त्याद्या'कारविशेषै'वासनाभिः
 'प्रत्यवभासते । अथैवं सति यत्र यस्मिन्काले केचन शत्रवोऽप्ये वा तस्करा मामागत्य
 घ्नन्तीति मृषैव वासनानिमित्तः प्रत्ययोऽविद्याख्यो जायते 'तदेतदुच्यते एनं
 स्वप्नदृशं, घ्नन्तीवेति । तथा जिनन्तीव वशी कुर्वन्तीव । न केचन घ्नन्ति
 नापि वशी कुर्वन्ति केवलं 'त्वविद्यावासनोद्भवनिमित्तं भ्रान्तिमात्रम् । तथा हस्तीवर्नं
 विच्छाप्रयति विच्छादयति विद्रावयति धावयतीवेत्यर्थः । गतंमिव पतति गतं जीर्णकृपादिक-
 मिव पतन्तमात्मानमुपलक्षयति । तादृशी ह्यस्य' मृषा 'वासनोद्भवत्यत्यन्तनिकृष्टाऽधर्मो-
 'द्भासितागतःकरणवृत्त्याश्रया दुःखरूपत्वात् ।

मुक्त्वा श्रुत्यक्षराणि योजयति—अथेत्यादिना । स्वप्ने धर्मादिनिमित्तवशास्मिधर्मैव लिङ्गं नानाकार-
 मवभासते तन्मिथ्याज्ञानं लिङ्गानुगतमूलाविद्याकार्यत्वावधिच्छेति स्थिते सतीत्यथशब्दार्थमाह—एवं-
 सतीति । तस्मिन्काले स्वप्नदशनं विशेषमिति शेषः । "इवशब्दार्थं"माह—नेत्यादिना । उक्तोदाहरणेन
 समुच्चित्योदाहरणान्तरमाह—तथेति । गतादिपतनप्रतीतो हेतुमाह—तादृशी हीति । तादृशत्वं
 विशदयति—अत्यन्तेति । यथोक्तवासनाप्रभवत्वं कथं गतंपतनादेरवगतमित्याशङ्क्याऽऽह—दुःखेति ।

के कारण (घटादि के समान प्रत्यक्ष न होने से) स्वच्छ शरीर स्फटिकमणि के समान है, वह नाडीगत
 रस की (नाना वर्ण वाली) उपाधियों के सम्पर्क से धर्माधर्मजनित अभिव्यक्तवृत्तिविशेष वाला तथा
 स्त्री, रथ, हाथी आदि आकार वाली विशेष प्रयोजकीभूत वासनाओं से युक्त भासित होता है। "अथ"
 अर्थात् ऐसा होने पर "पत्र" यानी जिस काल मे "घ्नन्तीव" अर्थात् वासना के कारण "कोई शत्रु
 अथवा अन्य चोर आदि आकर मुझे मारते हैं"—ऐसा वृथा ही अविद्याख्य प्रत्यय हो जाता है। उक्त
 अभिप्राय से श्रुति कहती है—इस स्वप्नद्रष्टा को मानो मारते हैं; तथा "जिनन्तीव" अर्थात् मानो
 वश में करते हैं। उस समय वस्तुतः न कोई मारते है शरीर न ही कोई वश मे करते हैं; केवल अविद्या-
 प्रयुक्त सस्कार के उद्वोघनिमित्तक भ्रान्तिमात्र ही है। उसी प्रकार हाथी के समान कोई इसे
 'विच्छाप्रयति' अर्थात् विच्छादित करता है अथवा विद्रावित या पीछा करता है। "गतंमिव पतति"
 अर्थात् जीर्णादिक कुर्णों में अरण्ये को गिरते हुआ सा देखता है। इस प्रकार इस स्वप्नद्रष्टा को मिथ्या
 वासना उत्पन्न हो जाती है, जो दुःखरूपा होने के कारण अत्यन्त निकृष्ट तथा अन्तःकरण की अधर्म-
 जनित वृत्ति के आश्रित है।

१. अतएव नानावर्णभिम् । २ जनितेति यावत् । ३ अभिव्यक्तवृत्तिविशेषम् । ४. एतदात्मना ।
५. प्रयोजकीभूताभिः । ६ प्रत्यवभासते इति—अनेन तत्र साक्षिप्रत्ययं प्रमाणितम् । उक्तं लिङ्गमात्मनो
 विषयत्वेन भातीत्यर्थः । तस्य जडत्वेनास्ति साध्यपेक्षेति वक्तुं प्रतिगच्छ इत्याहुः । ७ उक्तमर्थमभिप्रेत्य श्रुत्यो-
 च्यते । ८ अविद्याप्रयुक्ततस्कारोद्बोधनिमित्तम् । ९ स्वप्नदृशः । १०. वारुनोद्भवतीति—जाग्रद्बोध
 यदाजितं कर्म तस्य यत्फलं तत्र भुवतं तस्य तेषां वासना सा च स्वप्ने व्यज्यत इत्यर्थः । ११. जनितेति
 यावत् । १२. इवशब्दार्थमिति—ननु स्वप्नेऽपि जाग्रदवस्थायामिव हन्नादि भाति तत्तुतो हननादिधीर्मु-
 पेत्यानाद्गुणेत्यादिः । १३ उक्तज्ञानस्याभासरूपम् ।

किं बहुना यदेव जाग्रद्भूयं पश्यति हस्त्यादित्क्षरं तदेव भयरूपमत्रास्मिन्स्वप्ने
विर्नेव हस्त्यादिरूपं भयम् ॐ विद्यावासनया मूर्धोद्भूतया भग्यते । ॐ अथ पुनर्थात्रा-

यदेवेत्यादिश्रुतेरर्थमाह—किं बहुनेति । भयमित्यस्य भयरूपमिति द्याएतानम् । भयं रूप्यते
येन तत्कारणं तथा । हस्त्यादि नास्ति चेत्कथं स्वप्ने भातीत्याशङ्क्याऽऽह—अथियेति । अथ यत्र
देव इवेत्यादेस्ताप्यंमाह—अथेति । "तत्र तस्याः फलमुच्यत इति शेषः । तात्पर्योक्त्वाऽथशब्दाथं-

अधिक कया वहा जाय—जागरित अत्रस्था मे जो यह भय के कारण हस्त्यादि रूप को देखता है,
इस स्वप्नावस्था मे भयहेतुव हस्त्यादि रूप के विना उदबुद्ध हुई अविद्याजनित वागना से उस
भय रूप को, जो मिथ्या ही है, (आकाश मे नीलेपन को तरह) सत्प मानने लगता है ।

१ विभेत्यस्मादिति भयम् । जागरिते यद्भयकारण हस्त्यादिरूप पश्यति । २ अविद्याजनितवासनया ।
३ उदबुद्धया । ४ नभसि नैल्यवत् । ५ अथेति—उत्पत्त्यमाणाया अविद्याया वायं प्रदर्शनानन्तरमित्यर्थ
इत्याहु । ६ काले । ७ उत्पद्यते । ८ इति । ९ भयरूपम् । १० काले । ११ उत्पत्त्यमाणा-
विद्याया ।

ॐ अविद्यावासनया मूर्धोद्भूतया भग्यते इति । अत्र वातिकाचार्यास्तथाहि—“जाग्रद्विषय एवायं यदैशिट्ट
प्राशयसत् । तदत्र स्वप्नेऽस्तंभायं भग्यतेऽविद्यैव स । नाविद्या नापि तत्कार्यं यस्मादात्मसमीक्षणं ॥ भय
त्वेकान्ततोऽविद्याचार्यामाहृद्विपन्नित । यतो विज्ञाततत्त्वाना भीतिर्नास्ति कुतश्चन ॥ एतदुक्तं भवत्यत्र पूर्वोपात्तस्य
कर्मणः । फल प्रबोधे यद्गुरु तच्छेषो भावनीच्यते ॥ यदि नामावसितार्था फल दत्त्वेह भावना । पुत्रोपसमये वरं
प्रयुङ्क्ते सा पुनर्नेवम् ॥ उत्पत्तिभोगयोरेव भावना कर्मणः सदा । प्रयोजनी भावनाऽऽत्मकवृत् भोक्तृत्वयोर्मुष्ठा” ॥
१२५२-१२५६ ॥ इति । यद्ग्रथादि जाग्रदवस्थाया पुरुषो हृष्टवास्ततत्रापि मिथ्यैव वस्तुनोद्भवत्वात्तदेव वागना-
मय स्वप्नेऽसभावितमपि स्वविद्यया सभावित भग्यत तदाविद्यत्वात्स्वप्नो मिथ्येत्यर्थः । जागरे स्वप्ने च हस्त्यादेर
विद्या विनाऽसभावितत्वमुक्त सभावयति—नाविद्येति । आत्मन सम्पत्तीक्षणं वाक्यीय सवार्थान्नस्यात्यन्तस्वप्ने-
स्तदसभावित्यर्थः ॥ अत्रयथोराविद्य भयमित्युक्तेऽर्थे विद्वत्प्रसिद्धिमाह—भय रिवति । तत्रैवान्वयव्यतिरेका-
वाह—यत् इति । आत्मनमजानतामेव भीतिर्न तु जानता हेत्वभावादतोऽसावविद्याहृतेत्यर्थः ॥ यदेव जाग्रद्भूय
मिति विशेषणाऽभूयस्याऽऽविद्यत्वेऽपि स्वप्ने कर्तृत्वादेर्न तथात्वमित्याशङ्क्य वाक्यस्य विवक्षितमाह—एतदिति ।
जाग्रद्भोगेद यदाजित कर्म तस्य यत्फल तत्र भुवत तस्य लेशो वागना सा च स्वप्न व्यज्यत इत्याह—पूर्णेति ॥
जाग्रद्भोगदस्य कर्मणस्तदा भुक्तत्वात्तद्वागनाना च स्वप्नभोगेनावसर्जत्वाद्युत्थानमुत्थितस्यानुष्ठान च न स्यादेत्व
भावादित्याशङ्क्याऽऽह—यदीति । यद्यपि स्वप्ने पुसो भोगकाले जाग्रद्वसना व्यस्ता फल दत्त्वा समाप्तस्वभावा
तथाऽपि पुनर्जागरेऽपरा वासना नूतन कर्म कारयति न हि सत्यामविद्यायामुत्थानानुपपत्तिवसिनाना च कासा-
चित्स्वानभोगदत्वमन्यासा जाग्रत्कर्महेतुतेत्युत्थानमुत्थितस्यानुष्ठानसिद्धिरित्यर्थः ॥ जागरे स्वप्ने च कर्मोत्पत्ती
तत्फलभोगे च गनानासना प्रयोजितैर्युक्त निगमयति—उत्पत्तीति । आत्मस्वकर्तृत्वादेरपि कर्मादिद्वारा संव
प्रयोजितेत्याह—भावनेति । प्रयोजनीति सवन्धः । सा चेत्तत्र प्रयोजनी प्रयोजिकाऽविद्याम्युपगमभङ्गस्तत्राऽह—
मृपेति ॥

ॐ अथ पुनरित्यादि यत्स्वप्नोऽर्जातनभाप्ते वातिकाचार्यास्तथाहि—“वायंमेतदविद्याया प्रोद्भूताया प्रदक्षितम् ।
अथाऽऽप्यमाणाया वायं तं वायंमुष्यते । देवादिविषयोद्भूतवासनाऽस्य यदा तदा । जाग्रद्भूतामव स्वप्ने
जायते संव भावना । देवो राजेव चास्मीति स्वप्रकर्मवशाद्विभो ॥ ध्वस्तात्ममोहत्कार्यं स्थाप्यबोधे यदा तदा ।

'विद्याऽपकृष्यमाणा विद्या चोत्कृष्यमाणा किंविषया किलक्षणा चेत्पुच्यते—अथ पुनर्यत्र यस्मिन्काले देव इव स्वयं भवति । देवताविषया विद्या यदोद्भूता जागरितकाले तदोद्भूतया वामनया देवमिवाऽऽत्मानं मन्यते स्वप्नेऽपि तदुच्यते—देव इव राजेव राज्यस्योऽभिषिक्तः स्वप्नेऽपि राजाऽहमिति मन्यते राजवासनावासितः । एवमत्यन्तप्रक्षीय-

'मुक्त्वा विद्याया विषयस्वरूपे प्रश्नपूर्वकं वदन्यत्रेत्यादेरर्थमाह—किंविषयेति । "इवशब्दप्रयोगात्स्वप्न एवोक्त इति शङ्कां वारयति—देवतेति । विद्येत्पुषास्तिरुक्ता । अभिषिष्यतो राज्यस्थो जाग्रदवस्थायामिति शेषः । अहमेवेदमित्याद्यवतारयति—एवमिति । यथाऽविद्यायामपकृष्यमाणायाम् "कार्यमुक्तं

पुन जिस काल में अविद्या कार्यत प्रक्षीणा और (उपासनारूप) विद्या उत्कर्ष को प्राप्त होती है, तो वह किंविषया और किलक्षणा है? उसे श्रुति कहती है—फिर "यत्र" अर्थात् जिस समय वह स्वयं देवता के समान हो जाता है, जब जागरित अवस्था में इस द्रष्टा में देवताविषयिणी विद्या उत्पन्न हो जाती है, तब उस उत्पन्न हुई वासना से अपने को देवता के समान मानता है । ऐसा ही स्वप्न में भी कहा जाता है—वह देवता के समान और राजा के समान

१ प्रक्षीणा कार्यत इति शेष । २ उपासना । ३ उत्कर्ष गता । ४ अस्य द्रष्टुकल्पना । ५ सा च मतिर्मिथेव शब्दप्रयोगाद् । ६ पूर्वोक्तम् । ७ श्रुत्या । ८ नि शेषप्रक्षीयमाणा । ९ तथा चाविद्या-विद्ययोरेत्कर्षापर्ययोः सतीरित्येवायशब्दार्थ इति बोध्यम् । १० देव इव स्वयं भवतीति भाष्ये । ११. उत्कृष्यमाणाया उपासनाया एव राजादिभावोऽस्वाभाविकत्वात्कार्यम् आत्मभावस्त्वकार्यं. स्वाभाविकत्वादिति भावः ।

सर्वमस्म्यहमेवेदमिति स्वप्नेऽभिमन्यते ॥ अहमेवेति चिन्मात्रमात्मनोऽज्ञावधार्यत । इदशब्देन चाविद्याकार्यमत्र विवक्षितम् ॥ अविद्याया समुच्चिन्तावसवमेवमिदं वचः । सर्वं कृत्स्नमेहमस्मीति तदेतदुपपद्यते ॥ एपोऽस्य परम पूर्णं कृत्स्नो लोचस्तु विद्यया । इतोऽधरे तु ये लोकास्तस्याविद्याप्रकल्पिता ॥ देवो राजेव परस्वप्ने दर्शनं प्रत्यगात्मनः । विद्याभन न तन्त्याय्यमिवसद्वन मगते ॥ घन्तीवाविद्यया यद्गमन्यते स्वप्नभूमिगः । देवो राजेव चास्मीति मोहादेव क्रियाफलम् ॥ अहमेवेति न स्वप्न साक्षादनाऽऽभवस्तुनः । बोधेऽविद्यासहायत्वमिह त्वात्मैव निर्दयम् ॥ १२७०-१२७८ ॥ इति । अथ यत्र देव इवेत्यादेर्ज्ञानुवादेन तत्तयमात्रं—कार्यमिति । कार्यतोऽपकृष्यमाणायामिति सवन्धः ॥ तात्पर्योक्त्याऽयशब्दार्थमुक्त्वा यथेत्यादेरर्थमाह—देवदिति । यदा जायते देवादिविषया विद्याऽस्य द्रष्टृजाता तदा तदनुसारिणी वासना जायत तत स्वप्नभोगहेतुकर्मवशादस्य सैव पूर्वोत्पन्ना वासना देवोऽस्मीत्यादिर्दृष्टिरूपा स्वप्ने सपद्यते सा चेवशब्दाग्निमय्येत्यर्थः । जाग्रद्वेतुवर्मसंशयानन्तर्यमयशब्दार्थः । विभुत्वं करणस्वामित्वेन भोक्तृत्वम् ॥ अहमेवेदमित्यादेरर्थमाह—ध्वस्तेति ॥ सप्रहीतं विवरितुं पदत्रयायंमाह—अहमिति । सप्तम्या प्रकृतवाचयाम्क्तिः ॥ वाक्यार्थं फन्तीति पूर्वोक्तमाह—अविद्याया इति । उक्तरीत्या पदानामर्थं गृहीते समानाधिष्ठितपदत्रयात्मकं वाक्यं चिन्मात्रं बोधयदविद्या सकार्यामुच्छेत्तु शक्त स्यादित्यर्थः । तत्र वाक्येपोपानुग्रहमाह—सर्वं इति । उक्तवाक्यार्थोपगमे सर्वोऽस्मीति पूर्णत्वमुच्यमानमात्मनो युज्यते परिच्छेदकाभावादित्यर्थः ॥ सोऽप्येत्यादेरर्थमाह—एपोऽस्यिति । परमशब्दार्थमाह—पूर्णं इति । तस्य सापेक्षत्वं व्यावर्तयति—कृत्स्न इति । विद्यया सम्यत इति शेषः । स्वर्गादिसोवताना सत्त्वे कुतोऽस्य पूर्णतया-पङ्कपाऽह—इत इति । देवत्वादिज्ञानस्य पुनर्यतया विद्याफन्तत्वात् तस्य पूर्णतेति चेत्त्राऽह—देव इति ॥

माणाऽविद्योद्भूता च विद्या सर्वात्मविषया यदा तदा स्वप्नेऽपि 'तद्भावभावितोऽहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मग्न्यते । स यः सर्वात्मभावः सोऽस्याऽऽत्मनः परमो लोकः परम आत्मभावः 'स्वाभाविकः । यत्तु सर्वात्मभावाद्'धर्मशालाप्रमात्रमप्य'न्यत्वेन दृश्यते नाहमस्मीति । तदवस्थाऽविद्या तथाऽविद्यया ये 'प्रत्युपस्थापिता' अनात्मभावा 'लोकास्तेऽपरमाः स्यावरान्तास्ता'न्संव्यवहारविषयांल्लोकानपेक्ष्यायं सर्वात्मभावः समस्तोऽनन्तरोऽबाह्यः सोऽस्य परमो लोकः ।

तद्वदित्यर्थः । यदेति जागरितोक्ति । "इदं "चंतन्यमहमेव "चिन्मात्रं न तु मदतिरेकेणास्ति "तस्मादह सर्वोऽस्मीति ज्ञानातीत्यर्थः । सर्वात्मभावस्य परमत्वमुपपादयति—यन्वित्यादिना । "तत्र "तेनाऽऽकारेणाविद्याऽवस्थितेत्याह—तदवस्थेति । तस्या कार्यमाह—तयेति । समस्तत्वं पूर्णत्वम् । अनन्तत्वमेकरसत्वम् । अबाह्यत्वं प्रत्यक्षत्वम् । योऽयं यथोक्तो लोकः सोऽस्याऽऽत्मनो लोकाःपूर्वोक्तानपेक्ष्य परम इति संबन्धः ।

होता है, राज्य मे अभिषेकपूर्वक स्थित हुआ पुरुष स्वप्न मे भी उस राजवासना से वासित होने से "मैं राजा हूँ" ऐसा मानता है । इसी प्रकार जब अविद्या नि शेष क्षीण हो जाती है तब सर्वात्मविषया विद्या प्रकर्ष को प्राप्त होती है । तब उस अविद्या सस्कार से संस्कृत वह स्वप्न मे भी "मैं ही सर्वरूप हूँ", ऐसा मानता है । यह जो सर्वात्मभाव है, वह इस आत्मा का "परमो लोक." अर्थात् (विद्यातिरिक्त-साधन से अनपेक्ष) स्वाभाविक परम आत्मभाव है । और जो सर्वात्मभाव से प्राक् अपने को बालाप्रमात्र भी 'मैं यह नहीं हूँ' इस प्रकार प्रत्यागत्मा से प्रतिरिक्त अग्न्यत्वेन देखता है, वह अविद्या की अवस्था है । उस अविद्या द्वारा प्रदर्शित (प्रकल्पित) किए हुए अनात्मरूप स्वर्गादिलोक हैं, वे स्थावर पर्यन्त अपरम हैं । उन संव्यवहियमाण लोकों की अपेक्षा यह सर्वात्मभाव सम्पूर्ण, तथा अन्तर-बाह्य-शून्य है वह इसका परम लोक है ।

- १ उत्पत्ता प्रकर्ष गता वा । २ यथोक्तविद्यासम्कारसंस्कृत । ३ विद्यातिरिक्तसाधनानपेक्ष्य । ४ प्राक् । ५ नाहमस्मीत्येव मग्न्यत्वेन प्रत्यागत्मातिरेकेण दृश्यत इत्यन्वय । ६ प्रदर्शिता प्रकल्पिता इति यावद् । ७ अनात्मरूपा । ८ स्वर्गादय । ९ संव्यवहियमाणान् । १० जगद् । ११ चित्स्वरूपमदभिनमव । १२ तदेव स्फुटयति—चिदिति । १३ मदतिरेकेणान्यस्याभावाद् । १४ सर्वात्मभावप्रागवन्व्यायाम् । १५ तद्वस्त्वाकारेण ।

सर्वस्य चिन्मात्रत्व पूर्णमेव विद्याफलमिति स्थिते स्वप्ने इत्यमानदेवत्यादेर्गतिमाह—घ्नन्तीवेति । यथा स्वप्नदृष्टा हृत्नादिकर्मफलमविद्याऽनुभवत्येव देवत्याद्यपि तत्फल मोहादेव परमत्यतो न तस्य विद्याफलतेत्यर्थः ॥ तर्हि सर्वस्य चिन्मात्रत्वमपि न तत्पन्न स्वप्नदृष्टत्वात्तद्दृष्टहृत्नादिवदित्यामाङ्गुषाऽह—अहमिति । यत्सर्वस्य चिन्मात्रत्वमत्र स्वप्ने भाति न सदित्तरन्वप्रवन्मिथ्येवशब्द विना साक्षादेव सर्वभावध्रवणात्तस्य चाऽऽत्मत्वेन वस्तुत्वादित्यर्थः । जाग्रति दृष्टेहात्म इवदनापि दृष्ट सर्वात्मत्व मिथ्यति चेन्नेत्याह—शेष इति । जागरे हेतुभूता विद्यासाहित्य देहात्मत्वस्यास्ति स्वप्ने केवलमात्मैव विद्याफलभूतो वर्तते वासनारूपाविद्याभावेऽपि स्थूलाविद्याया जाग्रदभानादतो नात्र मिथ्याशङ्केत्यर्थः । यदा जाग्रति बाधकबोधसाहित्यं देहात्मत्वादेरस्ति स्वप्ने स्वात्मैव केवलो बाधकविपुस्तित्प्रत्यक्ष स्वाप्न सर्वभावो न मिथ्येत्यर्थः ॥

'तस्माद्'पकृष्यमाणायाम'विद्यायां विद्यायां च 'काष्ठां गतायां सर्वात्मभावो मोक्षः । यथा स्वयंज्योतिष्द्वं स्वप्ने प्रत्यक्षत उपलभ्यते तद्वद्विद्याफलमुपलभ्यत इत्यर्थः । तथा-
 ऽविद्यायामप्युत्कृष्यमाणायाम् तिरोधीयमानायां च विद्यायामविद्यायाः फलं प्रत्यक्षत एवोप-
 लभ्यतेऽय यत्रेनं घनन्तीव जिनन्तीवेति । ते एते विद्याविद्याकार्ये सर्वात्मभावः परिच्छिद्य-
 त्मभावश्च । विद्यया शुद्धया सर्वात्मा भवति । अविद्यया चासर्वो भवति । अन्यतः
 कुतश्चित्प्रविभक्तो भवति । यतः प्रविभक्तो भवति तेन विरुध्यते । विरुद्धत्वाद्गन्धते
 'जीयते' विच्छाद्यते च । असर्वविषयत्वे च भिन्नत्वादेतद्भवति । "समस्तस्तु सन्कुतो
 भिद्यते येन विरुध्येत विरोधामावे केन हन्यते "जीयते विच्छाद्यते च । अत इदमविद्यायाः

वाक्यार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । मोक्षो विद्याफलमित्युत्तरत्र संबन्धः । "तस्य प्रत्यक्षत्वं
 दृष्टान्तेन स्वप्नयति—यथेति । विद्याफलवदविद्याफलमपि स्वप्ने प्रत्यक्षमित्युक्तमनुवदति—तथेति ।
 विद्याफलमविद्याफलं "चेत्युक्तमुपसंहरति—ते एते इति । उक्तं फलद्वयं विभजते—विद्ययेति ।
 असर्वो भवतीत्येतत्प्रकटयति—अन्यत इति । अविभागफलमाह—यत इति । विरोधफलं कथयति—
 विरुद्धत्वादिति । अविद्याकार्यं निगमयति । असर्वेति । अविद्यायाश्चेत्परिच्छिद्यप्रफलार्थं तदा "तस्य
 भिन्नत्वादेव यथोक्तं विरोधादि दुर्वारमित्यर्थः । विद्याफलं निगमयति—समस्तस्त्विति । नन्वविद्यायाः
 "सत्त्वं निरूपयितुमा"रन्धं न च तदद्यापि दर्शितं" तथा च किं "कृतं स्यादत आह—अत इति ।

इसलिए (पर-अपर लोको के विद्या अविद्या के अधीन होने के कारण) अविद्या का तिरोधान
 और विद्या की उत्कर्ष सीमा प्राप्त हो जाने पर सर्वात्मभाव ही मोक्ष है । अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न मे
 आत्मा का स्वयंप्रकाशत्व प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी प्रकार विद्या के फल मोक्ष की प्रत्यक्ष उपलब्धि
 होती है । इसी प्रकार अविद्या का उत्कर्ष और विद्या का तिरोभाव होने पर भी "जिस समय मानो
 इसे मारते हैं; मानो इसे बश मे करते हैं" इत्यादि अविद्या का फल प्रत्यक्ष ही अनुभव होता है । वे ये
 सर्वात्मभाव और परिच्छिन्नात्मभाव भ्रमशः विद्या और अविद्या के कार्य है । शुद्ध विद्या से सर्वात्मा
 हो जाता है । अविद्या से असम्पूर्ण हो जाता है । अपने से अन्य किसी क द्वारा पृथग्भूत हो जाता है ।
 जिससे पृथग्भूत रहता है, उससे विरुद्ध रहता है । विरुद्ध रहने के कारण मारा जाता है, वशीकृत
 होता है तथा विद्रावित होता है । असम्पूर्ण का विषय रहने पर ही पृथक् होने के कारण यह होता है ।
 यदि पूर्ण रूप रहता तो जिससे भिन्न होता, जिससे कि उसका विरोध हो सकता था और विरोध न
 होने पर वह किसके द्वारा मारा जाता, वश मे किया जाता और विद्रावित होना । अतः इस अविद्या
 का स्वरूप बतलाया जाता है—पुरुष सर्वात्मा होते हुए अपने को असर्वात्मा ग्रहण करता है । आत्मा से

- १ पराअपरलोकयोर्विद्याअविद्याधीनत्वात् । २ अपकीयमाणायाम् । ३ तिरोधीनायाम् । ४
 उत्कर्षसीमानम् । ५ कार्यत उत्कर्ष गतायाम् । ६ स्वात्पत । ७ पृथग्भूत । ८ परिभूषणे ।
 ९ विद्राम्यते । १० पूर्णस्तु । ११ वशी क्रियते । १२ विद्यात्ममोक्षत्वम् । १३ प्रत्यक्षम् ।
 १४ फलस्य अविद्यावतो वा । १५ स्वरूपम् । १६ ता वा इत्यादिकम् । १७ निरूपयितुमारन्ध-
 स्यानिरूपणे । १८ विभेतावता भवद्भिः कृतम् ।

सतत्त्वमुषतं भवति । सर्वात्मानं सन्तमसर्वात्मत्वेन प्राहयति । आत्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरम-
विद्यमानं प्रत्युपस्थापयति । आत्मानमसर्वमापादयति । ततस्तद्विषयः कामो भवति
यतो मिद्यते । कामतः क्रियामुपादत्ते । ततः फलम् । तदेतदुक्तम् । वक्ष्यमाणं च यत्र
हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यतीत्यादि । इदमविद्यायाः सतत्त्वं सह कार्येण
प्रदर्शितम् । विद्यायाश्च कार्यं सर्वात्मभावः प्रदर्शितोऽविद्याया विपर्ययेण । सा चाविद्या
नाऽऽत्मनः स्वाभाविको धर्मो यस्माद्विद्यायामुत्कृष्यमाणायाम् स्वयमपचोयमाना सती
काष्ठां गतायां विद्यायां परिनिष्ठिते सर्वात्मभावे सर्वात्मना निवर्तते रज्ज्वामिव
सर्पज्ञानं रज्जुनिश्रये । तच्चोक्तं यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् त्केन कं पश्येदित्यादि ।

“कार्यवशादिति यावत् । इदंशब्दाद्यंमेव स्फुटयति—सर्वात्मानमिति । प्राहकत्वमेव ध्यानक्ति—आत्मन
इति । वक्ष्यन्तरोपस्थितिफलमाह—तत इति । कामस्य कार्यमाह—कामत इति । क्रियातः फलं
सभते तद्भोगकाले च रागादिना क्रियामादघातोत्पत्तिश्च संसारस्तद्विद्यावन्न सम्याज्ञानं तावन्मिथ्या-
ज्ञाननिदानमविद्या दुर्वरिण्याह—तत इति । भेददर्शननिदानमविद्येत्यविद्यासूत्रे वृत्तमित्याह—तदेत-
दिति । तत्रैव वाक्यशेषमनुकूलयति—वक्ष्यमाण चेति । अविद्याऽऽत्मनः स्वभावो न वेति विद्यारे
किं निर्णयति भवतोत्पाशङ्क्य वृत्त कीर्तयति—इदमिति । अविद्यायाः परिच्छिन्नफलत्वमस्ति ततो
वंपरोत्थेन विद्यायाः कार्यमुक्तं स च सर्वात्मभावो दर्शित इति योजना । संप्रति निर्णयितमर्थ
दर्शयति—सा चेति । ज्ञाने सत्यविद्यानिवृत्तिरित्यत्र वाक्यशेषं प्रमाणयति—तच्चेति । अविद्या

पृथक् कोई अन्य वस्तु न होने पर भी उसे प्रदर्शित करता है और आत्मा को असम्पूर्ण प्रतिपादित
करता है । फिर जिससे भेद होता है, उसके विषय में कामना होती है, कामना से कर्मानुष्ठान होता
है । क्रिया से फलप्राप्ति होगी, यह कहा जा चुका है । आगे भी कहा जायगा कि “जहाँ द्वैत सा होना
है, वहीं अन्य, अन्य को देखता है” इत्यदि । अविद्या का यह (अन्यथाग्राहकत्वात्) स्वरूप
(भ्रम-वामादि) कार्यसहित प्रदर्शित किया गया । विद्या का सर्वात्मभाव कार्य भी जो अविद्या के
विपरीत है, प्रदर्शित किया गया । वह अविद्या आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है, क्योंकि विद्या का
उत्कर्ष होने पर (रागादि कार्य उत्पन्न करने में भ्रसमर्थ होने पर) वह स्वयं क्षीण होने लगती
है । एव जिस समय विद्या का सर्वात्मभाव स्वरूप और कार्य से सुस्थिर पूर्ण प्रतिष्ठा को
प्राप्त होता है, उस समय रज्जु का निश्चय होने पर रज्जु में सर्पज्ञान के समान उसकी अशेषन निवृत्ति

- १ प्रदर्शयति । २ वक्ष्यन्तरोपस्थितानन्तरम् । ३ कर्मानुतिष्ठति । ४ क्रियाते । ५ वृत्त
१४ १० । ६ वृत्त ४५ १५ । ७ अयथाग्राहकत्वात्स्वरूपम् । ८ भ्रमवामादिकार्येण ।
९ वंपरोत्थेन । १० प्रप्रामाण्यज्ञानानास्त्वन्दितायाम् । ११ रागादिवार्यजननाज्जमर्थेति यावत् ।
१२ धर्मभावनादिविधुरायाम् । १३ सुस्थिरे । १४ स्वरूपेण कार्येण च । १५ अज्ञाननिवृत्ति-
रूपज्ञानफलम् । १६ वृत्त २४ १५ । १७ वृत्त ४५ १५ । १८ अविद्याकार्यप्रदर्शन-
द्वारेति यावत् । १९ वर्तमानं हृदि स्थापयति । २० तस्मात् । २१ भ्रान्तिनारणम् । २२
‘मोक्ष्या देवतामुपास्ते’ वृत्त १४ १० इत्यविद्यासूत्रम् अविद्याय सशेषतः प्रतिपाद्यवाक्य तस्मिन् ।
२३ भेददर्शननिदानमविद्येत्युपेत्यर्थः । २४ अविद्याफलम् । २५ प्रवृत्तवाक्यस्य तावत्पर्यन्तपरिणामम् ।

‘तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयं^७ रूपम् ।
 ‘तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन
 वेद नाऽऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना

वह इस पुरुष का रूप नि सन्देह कामनाशून्य, पापरहित और अभय स्वरूप है। जैसे व्यवहार में अपनी प्यारी पत्नी का आलिङ्गन करके पुरुष न कुछ बाह्य वस्तु को और न आभ्यन्तर वस्तु को ही जानता है, ऐसे ही यह पुरुष प्रजात्मा से आलिङ्गित हुआ परमार्थदर्शन काल में न कुछ बाह्य विषय

‘तस्मान्नाऽऽत्मधर्मोऽविद्या । न हि स्वाभाविकस्योच्छ्रित्तिः कदाचिदप्युपपद्यते सवितुरि-
 चौण्यप्रकाशयोः । ‘तस्मात्तस्या मोक्ष उपपद्यते । २० ॥

इदानीं योऽसौ सर्वात्मभावो मोक्षो विद्याफलं क्रियाकारकफलशून्यं स प्रत्यक्षतो
 निदिश्यते यत्राविद्याकामकर्माणि न सन्ति । तदेतत्प्रस्तुतं यत्र सुप्तो न कंचन कामं

नाऽऽत्मनः ‘स्वभाषो निवर्त्येत्याद्रज्जुसर्पवदित्याह—तस्मादिति । निवर्त्यत्वेऽप्यात्मस्वभावत्वे
 का हानिरित्या‘शङ्क्याऽह—न हीति” । अविद्यायाः स्वाभाविकत्वाभावे फलितमाह—
 तस्मादिति ॥ २० ॥

तद्वा अस्यैतदित्यनन्तरवाक्यतात्पर्यमाह—इदानीमिति । “विद्याविद्ययो”स्तत्फलयोश्च प्रदर्शना-
 नन्तरमिति यावत् । मोक्षमेव विज्ञिनष्टि—यत्रति । “एवद्वयस्यान्वय दर्शयन्विवक्षितमर्थमाह—तदेतदिति ।

हो जाती है। इसीसे श्रुति में कहा है—“जहाँ इसके लिए सब कुछ भारतस्वरूप ही हो जाता है—तब
 किससे किमको देखे” इत्यादि। इसलिए अविद्या आत्मधर्मो नहीं है क्योंकि उष्णता और प्रकाश के
 समान सूर्य के स्वाभाविक धर्मों का कभी विच्छेद नहीं हो सकता इसलिए उसके प्रकाश से मोक्ष
 होना संभव है ॥२०॥

अब जो विद्या का फल त्रिया-कारक-फलशून्य सर्वात्मभाव मोक्ष है, जिसमें अविद्याजनित
 काम और कर्मों का अभाव है, उसका प्रत्यक्ष निर्देश किया जाता है। प्रकरणस्य मोक्षाह्य ब्रह्म को

१ सर्वोऽस्मीत्यादिना सद्गृहीतमेवात्मलाक व्यक्ताऽविद्याहीना सुपुण्यवस्थामवलम्ब्य वण्डिकाद्वयन प्रकटीभरोति—
 तद्वा इत्यादिना । २ प्रसिद्धम् । अस्य सर्वात्मभावापन्नस्य विदुषस्तदतद्रूपमित्यन्वय । प्रतिच्छेदा इत्यादि, रूपस्य
 विशेषणत्रयम् । २ नन्वविद्याकामकर्मदीनामिबोक्तस्ययज्योतिष्वस्यापि मुमुक्षावदर्शनात्तदपि नाम्नन स्वाभा-
 विकमित्याशङ्क्याया तत्र तद्दर्शने विशेषज्ञानाभाव एव हेतुरिति दृष्टान्तपूर्वकमाह—तद्यथेति । मुमुक्षावत्त्वे सति
 विशेषज्ञानाभावेऽप्य दृष्टान्त इत्यर्थं । ३ अविद्यामाधिणा स्वाभाविकेनात्मना । ४ आत्मज्ञाननिरूपणात् ।
 ५ अवतरणोक्तात् । ६ सकाशात् । ७ माभे । ८ प्रवृत्त मोक्षाह्य ब्रह्मैत्यर्थं । ९ आत्मज्ञान-
 निवर्त्येतात् । १० व्यभिचारमाशङ्क्यैत्यर्थं । ११ तथा च हृत्सिद्धिभाषातोऽनुत्तरत्वं इति भाव इति
 शेष । १२ ज्ञानानामयो । १३ मोक्षबन्धयो । १४ तदेतदितिपदत्रयस्य ।

संपरिष्ठवतो न वाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरं ॐ तद्वा
अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम् ॥२१॥

को जानता है और न आभ्यन्तर को ही । यह इसका प्राप्तकाम, आत्मकाम, अवाम और शोकरहित स्वरूप है ॥२१॥

कामयते न कंचन स्वप्नं 'पश्यतीनि । तदेतद्वा' अस्य' रूपं यः सर्वात्मभावः सोऽस्य परमो लोक इत्युक्तंस्तदतिच्छन्दो अतिच्छन्दमित्यर्थः । रूपपरत्वात् । छन्दः कामोऽति-

'यत्रेत्यन्तशब्दितं ग्रहोच्यते । व्याहृतात् पदद्वयमनूद्य घंशब्दस्य प्रसिद्धार्थत्वं मन्वानो रूपशब्देन 'घृष्ट्या' सबन्ध दर्शयति—तदिति । अतिच्छन्दमिति प्रयोगे हेतुमाह—रूपपरत्वादिति । कयमति-
च्छन्दमित्यात्मरूपं विवक्ष्यते तत्राऽऽह—छन्द इति । छन्द शब्दस्य गायत्र्यादिच्छन्दोविषयाय कथं

इस प्रकार "जहाँ सोया हुआ पुरुष कुछ कामना नहीं करता, कोई स्वप्न नहीं देखता" इत्यादि श्रुति-
वाक्य से प्रस्तुत कर दिया गया । इस प्रसिद्ध आत्मा का यह रूप जो सर्वात्मभाव है तथा 'यह इसका परम लोक है' इस प्रकार कहा गया, वह आत्मरूप "अतिच्छन्दा" अर्थात् कामरहित है क्योंकि रूप

१ प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमतिच्छन्दवाक्योक्तमेव रूप स्पष्टयति—तद्वा इति । अस्य तुपुमो सर्वात्मत्वमापप्रत्या-
त्मनस्तदेव प्रकृत रूपमात्मकामत्वादिविरोधशक्यमित्यर्थं । २ इत्यत्र वाक्ये प्रस्तुतमित्यन्वय । ३ प्रसिद्धम् ।
४ आत्मन । ५ इति वाक्यन । ६ तदात्मरूपम् । ७ रूपविरोधत्वात् । ८ यत्रेति पदेन एव-
मवाय पुरप एतस्मा अन्ताय धावतीतिवाक्यस्था तशब्देनोक्त ब्रह्म भण्यत इत्यर्थं । ९ अन्तेत्यस्या ।

ॐ तद्वा अस्यै तदाप्तकाममात्मकाममकाम रूप शोकान्तरम् । अत्र वार्तिके—'निरविद्य तु यद्रूपमनन्यापन्न
सिद्धिकम् । तद्वा अस्यैतदिति तच्छ्रुत्या निर्वर्ण्यतेऽपुना ॥ सर्वकार्म्यमिदं यस्मादात्मनो रूपमीदृशम् । तदावि-
च्छिद्यते तस्मात्कारविन्यस्तविलंबवत् ॥ आत्मनो यदविद्योत्य रूप ससारभूमिगम् । घनात्मकाम तत्सर्वमपेक्ष्यद-
मिहोच्यते ॥ प्राप्तकामादिकं सर्वं वस्तुवृत्तध्वषेक्षया । प्राप्तकामादिहीनत्वादानन्दकार्म्यवस्तुन ॥ पुमर्थ
कामनाब्धार्थो नान्योऽयं काम्यते यत । आशाशेषपुमर्थोऽयं सर्वसाधननिम्बूह ॥ सत्यवामादिशब्देन यदप्यन्यत्र
भाषितम् । एतद्वाक्यानुसोधेन व्याख्यय तदपि स्पष्टम् ॥ आत्ममात्रं समुक्तुज्य सत्यत्व नान्यतो मत । तत्रैव
निरधार्यतेच नान्यदिति श्रुत ॥ सुखमविद्धि काम्योऽर्थो ब्राह्मसाधनसाधन । सविदेव सुख यस्मादात्म-
काममिदं तत ॥ कामकामिप्रभेदेन प्रतीचो'स्याऽऽप्तकामता । हिरण्यगर्भवत्किंवा निर्मलस्येह भण्यते ॥ आत्मैव
कामा नि शेषा नाऽऽत्मरूपप्रभेदेत । आत्मैवेदं सर्वमिति प्रत्यङ्मात्रावशेषत ॥ समस्तव्यस्तताशङ्कामुच्छेत्तु
चोत्तरं यच्च । अकाममित्यतो ध्वस्तसमस्तव्यस्तरूपकम् ॥ प्राप्तकामात्मकामत्ववचसंब निराहृता । कामा
सर्वेऽकाममिति तथाऽपि पुनरुच्यते ॥ आत्माध्यत्व कामाना केचिद्व्यावृत्तध्वेषुधा । अतस्तत्प्रतिषेधार्थं भूयो-
ऽकाममितोरणम् ॥ कामादिहेतुकः शोकः कामाद्यज्ञानहेतुकम् । तदभावावधेयकार्म्य शोकान्तरमितीर्यते । यदि
वा शोकवदस्तु शोककव्येन भण्यते । गुणत्वाच्छोकशब्दस्य मनुषो लुप्तता भवेत् ॥ शोबाह्वेष्यदार्थंम्यो जात्यन्त-
रिदं मत । अहेतुफलरूपत्वाच्छोकान्तरमतो मतम् । शोकस्य प्रत्यगात्मा वा शोकान्तरमिरोच्यते । शोकहेतोरपि
प्रत्यङ्मात्मा स्याच्छोकवान्धयम् ॥ अशोकान्तरमिति वा श्रुत्यन्तरसमाश्रयात् । अशोकादपरोऽशोकोऽशोकान्तर-

गतश्छन्दो यस्माद्रूपात्तदतिच्छन्दं रूपम् । अन्योऽसौ सान्तश्छन्दःशब्दो गायत्र्यादिच्छन्दो-
वाची । 'अथ तु कामवचनोऽन्तः स्वरान्त एव । तथाऽप्यतिच्छन्दा इति पाठः स्वाध्याय-
धर्मो द्रष्टव्यः । अस्ति च लोके 'कामवचनप्रयुक्तश्छन्दः(न्द)शब्दः 'स्वच्छन्दः' परच्छन्द-
इत्यादौ । 'अतोऽतिच्छन्दमित्येव'मुपनेयं कामवर्जितमेतद्रूपमित्यस्मिन्नर्थे ।

कामविययत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अन्योऽसाविति । गायत्र्यादिविययत्वं त्यक्त्वा 'छन्दः(न्द)शब्दस्य
कामविययत्वमतःशब्दार्थः । यथात्मरूपं कामवर्जितमित्येतदत्र विवक्षितं किमिति तर्हि, वैश्वं
प्रयुज्यते तथाऽऽह— तथाऽपीति । स्वाध्यायधर्मत्वं छान्दसत्वम् ॥ वृद्धस्यवहारमन्त्रेण कामवाचित्वं
छन्दः(न्द)शब्दस्य कथमित्याशङ्क्याऽऽह—अस्ति चेति । तस्य कामवचनत्वे सति सिद्ध पदरूप-
मनूद्य तस्यार्थमुपसंहरति—अत इति ।

विशेषं है । 'छन्द' काम का नाम है । अतः जिस रूप से काम की निवृत्ति हो गयी है । उसे अतिच्छन्द रूप
कहते हैं । एक छन्दस् शब्द सान्त भी है, जो गायत्री आदि छन्दों का जापक है । यहाँ 'छन्द' शब्द तो
कामवाची है, स्वरान्त ही है । 'स्वरान्त होने पर भी 'अतिछन्दा' यहाँ दीर्घान्त पाठ 'छान्दस है ।
लोकव्यवहार में 'स्वच्छन्द-परच्छन्द' इत्यादि शब्दों में 'छन्द' शब्द का कामरूप अर्थकथन में प्रयोग है ।
इसलिए कामवर्जित इस अर्थ में इस रूप का "अतिच्छन्दम्" इस प्रकार प्रयोग कर लेना चाहिए ।

१ प्रकृतवाक्यपरिचित । २ तस्य स्वरान्तत्वेऽपि । ३ कामरूपार्थकथनाद्योचरित । ४ स्वस्य च्छन्द
काम इच्छा । ५ कामार्थस्याजन्तत्वात् । ६ प्रयोक्तव्यम् । ७ वीरुणं सुष्टु । ८ अतिच्छन्दा
इति पदे ।

मितीयेति ॥ शोबायोग्य शुचा हीनोऽशोकशब्देन भण्यते । यदाऽन्नरयते शोकमानन्दैकस्यभावतः । यत्प हुताभ-
वत्तस्माच्छोकान्तरभिद भवेत् ॥ शोकादेर्जनक यदा तच्छोकान्त भवेत्तम । तन्पार छिद्रमेतत्प्याच्छान्दसी
वर्णनिष्कृति ॥ अविद्याकामकर्माणि नि सङ्गत्वस्वभावतः । अतिवर्तत आत्माप्य वस्तुवृत्तानुरोधतः ॥ स्वतो बुद्ध
यतो वस्तु स्वतः शुद्धमतोऽव्ययम् । स्वतो मुक्तमत सिद्धमविद्यातज्जहानत ॥ १३३३-३३४४ । इति । अतिच्छन्द-
वाक्योक्त रूपमागस्तुक चैतन्यमिति धाद्धा स्त्रीवाचयेन निरस्यातिच्छन्दवाक्यार्थमवोपस्वर्तुमाप्तकामादिवाचयमा-
इते—निरविवक्षित्विति । अतिच्छन्दवाक्यार्थस्य किमित्याप्तकामवाचयेन स्पष्टीकरणमित्यातद्बुधाऽह—सर्तिति ।
यस्मादिदमातरूप सर्वस्य कार्यकरणद्वैतस्य कल्पितस्यानुषवर्तित स्वरूप परमानन्दनया परमपुराणार्थमक च
तस्मादाप्तकामश्रुत्या प्रत्यक्षयोग्यतया तत्प्रतिपादितमित्यर्थ । ईदमिति पुराणोक्ति ॥ अतोऽसौ कामस्य
विशेषणानुवचनरयति—आत्मन इति । रूप कार्यकारणात्मकमव्यावृत्तमुदादिताद्यमित्यर्थ । श्रुति मतमर्थ्य ।
तेषा तात्पर्यमाह—वस्तिवति । मानन्दैकरूपस्य वस्तुनो वास्तवस्वरूपोपेक्षया सारभेदहीनव्याप्तमाप्तकामत्वा-
दीत्यर्थ ॥ कामशब्दार्थं सहेतुमाह—पुमर्थ इति । कामशब्दस्योक्तार्थत्वे साजनाऽऽह इति व्युत्पत्त्याऽप्यस्यैव
तथात्व स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—आनेति । आत्मन निरत्याप्तेरारत्या पुमर्थतयाऽज्जाम्यत्वाप्य सर्वानपेक्ष मन्त्रात्प्र
कामत्वेत्याप्तकाम इत्यर्थ ॥ अत्यकाम सत्यमकल्प इत्यादौ छान्दोग्ये कामशब्दस्याऽऽत्ममवधिनाश्रुतेने तच्छन्द-
रयोक्तार्थतेत्याशङ्क्याऽह—सत्येति । इह तावत्स्वरूपानुय निम्नं श्रुतित्तरदुस्य कामशब्दार्थं आत्मनामादिविशे-
षणात्तथावर्तदनुगाराच्छान्दोग्योक्तमपि नेतव्य परविषयत्वेन वाचयोरक वास्तवमाद्युक्तान् कामशब्दोक्तार्थ-
त्वेत्यर्थ । एतद्वाक्यानुसारेण तद्विशेष्यास्याननुवितमेवविषयत्वेनेव वाचयस्य एतदुक्तोक्ति हेतुमाह—एतुमिति ॥

तथाऽपहतपाप्म । पाप्मशब्देन धर्माधर्मवृत्तेः । 'पाप्मनिः संमृज्यते पाप्मनो विजहातीत्युक्तत्वात् । अपहतपाप्म 'धर्माधर्मवर्जितमित्येतत् । किञ्च, 'अभयम् । भयं हि नामाविद्याकार्यम् । अविद्यायाः भयं मन्वत इति 'ह्युक्तम् । 'तत्कार्यद्वारेण कारणप्रतिषेधोऽयम् । अभयं रूपमित्यविद्यावर्जितमित्येतत् । 'येदेतद्विद्याफलं सवर्त्ममावस्तदेतदति-

- तथा कामवर्जितत्ववदित्येतत् । नन्व'भ्रायमं वर्जितत्वमेव प्रतीयते न धर्मवर्जितत्वं पाप्मशब्द-
स्याधर्ममाश्रयचनत्वात् अह-पाप्मशब्देनेति । 'उपक्रमानुसारेण पाप्मशब्दस्योभयविषयत्वे
विशेषणमनूय विवक्षितमर्थं कथयति-अप्रवृत्तेति । 'तर्हि कार्यमेवाविद्याया निषिध्यते नेत्याह-
तत्कार्येति । तस्मादर्थं तच्छब्दः । 'वाक्यार्थमुपसंहरति-यदेतदिति । कृच्छ्राहारान्तेऽपीवं रूपमुक्त-

इसी प्रकार यह पापरहित है । 'पाप' शब्द से धर्माधर्म बड़े जाते हैं । जैसा कि "पापो से (देह और इन्द्रियो से) सखिलष्ट हो जाता है", "(उत्तमण करते समय) पापों को त्याग देता है" इन श्रुतिवाक्यों से कहा गया है । अतः "अपहतपाप्मा" का अर्थ है, धर्माधर्म से वर्जित । इसके प्रतिरिक्त आत्मरूप अभय है । भय तो अविद्या का कार्य है । "अविद्या से भय मानता है" ऐसा पहले कहा जा चुका है । भय अविद्या का कार्य होने से अविद्याकार्य द्वारा कारण का प्रतिषेध किया जाता है । 'अभयरूपम्' अर्थात् जो अविद्या से विवर्जित है, यह मोक्षार्थ अपरोक्ष ग्रह्य जो विद्या का फल

१ वृ उ ४ ३ ८ । २ धर्माधर्मति-ननु पापोऽह पापकर्मत्वादि भ्रष्टते सोऽने । न । अन्यत्र धर्माधर्मना-
धर्मादित्यादिश्रुतेस्तस्याविद्यात्वादिति ध्येयम् । ३ तदात्मरूपम् । ४ वृ उ ४ ३ २० । ५ भयस्या-
विद्याकार्यत्वात् । ६ मोक्षार्थमपरोक्षं ब्रह्म । ७ विशेषणे । ८ यपोक्तोपक्रमवाक्यानुसारेण । ९
अविद्याकार्यस्य भयस्य निषेधविषयत्वे । १० प्रतिच्छन्दवाक्यार्थम् ।

सत्यकामवाक्ये कामशब्दो यथोक्तमुखवाचीत्यत्र हेत्वन्तरमाह आत्ममात्रमिति । अतो निरतिशयमुखमात्मतत्त्वं
सत्यकामपदेवेदनीयमिति शेष । तदेव कुत सिद्धमित्यागच्छुष भूमवाक्यादिरयोह-तत्रैवति । छान्दोग्यश्रुतादेव
यत्र नाव्यत्यस्यतीत्यादिश्रुत्या दर्शनादिनिषेधे भूमलक्षणमात्रक्षानया प्रत्यगात्मनो भूमन् सत्यत्व मुपत्त्वं चेत्येत-
न्निर्धारितमित्यर्थं ॥ श्रुत्यन्तरविरोधगद्गामुमृत्याऽऽनकामत्वमुपसंहरप्रयो लोकप्रसिद्धिमाह-मुवेति । बाह्यानि
स्वगादीनि साधनानि यथोत्पादकानि स काम्योज्यं मुखमाशक्तकार प्रसिद्ध इत्यर्थं । तथाऽप्यात्मनि विभाषयात्
तदाह-सविदेवेति । विज्ञानमानन्दमिति श्रुतेरात्परिचितमुखतत्त्वंविदोर्भावादात्मरूप कर्मधारमादात्मकाम-
मित्यर्थं ॥ आत्मकामपदमात्राङ्क्षापूर्वकमादाय ध्याकरोति-काममिति । इहेति श्रुतिरुक्ता ॥ आत्मनो भेदन कामा
न सतीत्यत्र हेतुमाह-आत्ममिति । नाऽऽत्मनो हिरण्यगर्भवदात्मकामत्वमन्वयादिपरिहाण्या सर्वस्याऽऽत्ममात्रता
श्रुतैस्तस्मात्सस्य निर्भेदस्यैवाऽऽत्ममतेत्यर्थं ॥ अकाममित्यस्यायंमाह-समस्तेति । वदयमाणपक्षेण समुच्चयार्थ-
अकार । विशेषणफलमाह-अत इति । कामादिमर्भेदेरहितमात्मरूप तस्मिन्सत्यपि स्वापादो तदाभावात्तत्र च
व्यस्ताभावे तदपेक्षानगरतमग्रवीतोऽकामत्वात्तदेकरसमिति भाव ॥ पुनरुक्ति शङ्कते-आप्तंति । तदनर्थकं
पौनस्त्याप्यदिति शेष । न च समस्तव्यस्तत्वशाङ्क्य समुच्छेदमिति वाच्यमात्रकामादिबचनैव तस्मिद्धेरिति भाव ॥
पुनरुक्तिमङ्गीकृत्य तस्या सार्थं वमाह-आत्ममिति । कामकामिभिर्भागे प्रत्युक्ते कथं कामाश्रयत्वमात्मन शक्यशाङ्क-
मित्याशङ्क्याऽऽह-अबुधा इति । मन्दमतीना मतनिरासार्थं विशेषणमर्थवदिति फजितमाह-अत इति ॥
शोकान्तरमित्यस्यायंमाह-कामादीति । तदभावात्सुपुमो ध्यताजानाभावादित्येतत् ॥ बुत्तोऽनोक्तत्वं तदाश्रय-

च्छन्दो अग्रहृतपाप्माभयं रूपं सर्वसंसारधर्मैर्वाजितमतोऽभयं रूपमेतत् । इदं च पूर्वमेवोपन्यस्त-
मतीतानन्तरब्राह्मणसमाप्तावभयं वै जनकं प्राप्तोऽसीत्यागमतः । इह तु तर्कतः प्रपञ्चितं
दर्शितागमार्थप्रत्ययदाढर्चाय ।

अयमात्मा स्वयं चैतन्यज्योतिःस्वभावः सर्वं स्वेन चैतन्यज्योतिषाऽवभासयति ।
स यत्तत्र किञ्चित्पश्यति रमते चरति जानाति चेत्युक्तम् । स्थितं चैतन्यायतो नित्यं

मित्याह—इदं वेति । आगमवशात्तत्रोक्तं चैतिकमित्यत्र पुनरुच्यते तत्राऽह—इह त्विति ।
'सर्विशेषत्वं चेदात्मा'नुपपत्तिरित्यादिसतर्कः । आगमसिद्धे किं तर्कोपन्यासेनेत्याशङ्क्याऽह—
दर्शितेति ।

'श्रीवाक्यस्य संगतिं वक्तुं बृहत्तममुद्रयति—अयमिति । अन्तर्वागतवाक्ये चाऽऽत्मनश्चेतनत्व-
मुक्तमित्याह—स यदिति । आत्मनः सदा चैतन्यज्योतिष्ट्वं स्वरूपं न केवलमुक्तादागमादेव सिद्धं

सर्वात्मभाव है वह कामरहित, पुण्य-पापरहित एव अग्रभरूप है, यह समस्त सासारिक धर्मों से अतीत
है, इसलिए अग्रभरूप है । पूर्ववर्ती ब्राह्मण की समाप्ति के अवसर पर 'हे जनक । तुम अग्रभरूप को
प्राप्त हो गए हो' इस श्रुतिवाक्य द्वारा वर्णन कर दिया है । यहाँ तो पूर्वप्रदर्शित श्रुतिवाक्यार्थ
में यह प्रत्यय करने के लिए तर्क द्वारा समझाया जाता है ।

स्वयं चैतन्य ज्योति स्वरूप यह आत्मा अपनी चैतन्य ज्योति से सबको प्रकाशित करता रहता
है । "वह जो कुछ उस अग्रस्या में देखता है, शीडा करता है, विचरता है जानता है (उससे अग्रज्ञ
है)" यह कह गया । यह चैतन्य ज्योतिष्ट्वं आत्मा का नित्य स्वरूप है—ऐसा युक्ति से सिद्ध होता है ।

१ वृ उ ४ २ ४ । २. इत्युक्तमित्यन्वय । ३ उक्तात्मरूपस्य । ४ घटादिवत् । ५ तद्यथेत्यादि-
स्त्रीपठितवाक्यस्य ।

संबन्धादित्याशङ्कामध्याशब्देनानुद्यार्थान्तरं ब्रूवाण शोकशब्दार्थमाह—यदि वेति । अन्त वरण शोकशब्दित-
मित्यत्र हेतुमाह—गुणत्वादिति । तद्विचित्रादिति यावत् । किमिति तर्हि शोकवदिति नोच्यते तत्राऽह—मनुष्य
इति । सुमता छान्दसीति शेष ॥ तथाऽपि किं शोवान्तरं तदाह—शोवाहृति । आत्मरूपं हेतुफलविक्षणतया
शोकयोग्यबुद्ध्यादिभ्योऽप्यन्तस्त्वत्प्रामाणिकं शोकान्तरमधिगतमित्यर्थं ॥ द्वैतप्रमक्किमाशङ्क्यार्थान्तरमाह—
शोकस्येति । कथं तर्हि तस्य शोकराहित्यं न हि तदात्मा तदहितस्तत्राऽह—शोवेति । अपि शोवसमुद्यार्थं ।
न हि संप्रत्यं रज्जुं विना सत्त्वाभावे तस्यास्तद्वत्त्व वस्तुतोऽस्तीति भावः ॥ अशोकांतरमितिमाध्यन्दिनपाठमु-
त्पापयति—अशोकैति । त व्युत्पादयति—अशोकादिति ॥ अशोकशब्दार्थमाह—शोवेति । ईश्वरो भाषाविशिष्ट
सर्वनियन्ता शोकायोग्यत्वादशोक केवलद्विधातुरविद्यातज्जल्पया बुधा हीनत्वाद्दिशिष्टार्थांतरत्वनशोवान्तर-
मित्यर्थं । यत्तु काण्वपाठे शोकस्य प्रत्यक्षया शोकान्तरमिति तत्र प्रतीचस्तद्वत्त्वान्वावेऽपि तत्त्वापत्तिरित्याशङ्क्यार्थ-
ार्थांतरमाह—यद्वेति । आत्मरूपं शोक तिरयतीत्यत्र हेतु—आनन्दति । तस्य तत्तिरस्वतृत्वे इष्टान्त—शैत्यमिति ।
दाष्टीन्तिकं निगमयति—तन्मादिति ॥ आत्मन शोकहेतुयोगे मुखत्वेऽपि न सर्वथा तत्तिरस्वतृत्वेत्याशङ्क्यार्थ-
ार्थांतरमाह—शोकादेरिति । तर्हि शोकान्तरमिति स्यान्नेत्याह—छान्दसीनि ॥ कथमात्मन शोकहेतुराहित्यम
विद्यादिभ्रवप्रतीतिरित्याशङ्क्याऽह—अविद्येति । प्रतीतिविरोधं परिक्रुतुं द्वितीयं दार् ईकृतयति—वदित्वेति ॥
वस्तुवृत्तमेव दर्शयन्नातकामवाक्यार्थमुपसहरति—स्वत इति ॥

स्वरूपं चैतन्यज्योतिष्ट्वमात्मनः । 'स घटात्माऽत्राविनष्टः' इत्येव रूपेण वतंते' कस्मा-
दपमहेमस्मीत्यात्मानं वा बहिवैधानि भूतानीति जाग्रत्स्वप्नयोरिव न 'जानातीत्यत्रोच्यते ।
शुष्वत्राज्ञानहेतुम् । 'एकत्वमेवाज्ञानहेतुः । तत्कथमिति । उच्यते । दृष्टान्तेन हि प्रत्यक्षी
भवति 'विवक्षितोऽयं इत्याह—तत्तत्र यथा लोके प्रियेष्टया स्त्रियाः संपरिष्वक्तः सम्य-

किन्तु 'पूर्वोक्तादनुमानाच्च स्थितमित्याह—स्थितं चैति' । वृत्तमनूय संबन्धं वक्तुं कामश्रोदयति
—सः यदिति । अत्रेति सुपुत्रिरक्ता । १० ॥ चैतन्यस्वभावस्यैव सुपुष्टे विशेषज्ञानाभाय साध्यमिति
—उच्यते इति । सुपुष्टिः सप्तम्यर्थः । अज्ञानं विशेषज्ञानाभावः । कोऽप्यावज्ञानहेतुस्तमाह—
एकत्वमिति । जीवस्य परेणाऽऽत्मना यदेकत्वं तत्कथं सुपुष्टे विशेषज्ञानाभावे कारणं तस्मिन्स-
त्यपि चैतन्यस्वभावानिधुत्तरिति शङ्कते—तत्कथमिति । तत्र 'श्रीव'क्यमुत्तरत्वेनोक्त्यापयति—
उच्यते इति । 'तत्र दृष्टान्तभागमात्रेण दृष्टान्तेनेति । एकत्वकृतो विशेषज्ञानाभावो विवक्षितोऽयं ।

इस सुपुष्टावस्था मे यदि यह आत्मा अविनष्ट हो अपने स्वरूप मे स्थित रहता है तो जाग्रत् और
स्वप्न के समान 'मैं यह हूँ' इस प्रकार अपने को और अपने से बाहर इन भूतों को क्यों नहीं जानता ।
इस पर श्रुति कहती है—उसके अज्ञान का जो हेतु है; उसे सुनिए । जीव की परब्रह्म से एकता है, विशेष-
ज्ञानाभाव में हेतु है । ऐसा कैसे कहते हो ? इस पर बतलाया जाता है । दृष्टान्त से अभिमत अर्थ का
प्रत्यक्ष होता है, इसलिए कहा जाता है । लोकव्यवहार मे जिस प्रकार अपने को चाहने वाली "प्रियया"
अर्थात् इष्ट स्त्री से कामुक होकर "सम्परिष्वक्तः" अर्थात् सम्यक् परिष्वजित होता हुआ पुरुष "वाह्यः"

१. उक्तविशेषण । २ तर्हि । ३ 'तथा चोक्तं चैतन्यैवैज्योतिष्टु' कामादिवदागन्तुकमिति भाव ।
४ जीवस्य परेण ब्रह्मणा । ५ अभिमत । ६ वृ उ ४ ३. २ । ७ आत्मन स्वय चैतन्यज्योतिष्ट्वे-
ऽपीत्यर्थ । ८ एकत्वे । ९ उक्तचोद्ये । १० स्त्रीषटितवाक्ये ।

१० चैतन्यस्वभावस्यैव सुपुष्टे विशेषज्ञानाभावमिति । तथा चोक्तम्— "नैतदेव यतो भेदज्ञान मोहोत्थकारक-
संशयवादेव न शुनमोहाभावे तद्विद्यते ॥ यत्र वा अर्थदित्येव भेदज्ञानमभाषत । सर्वेव प्रत्यगज्ञाने तस्याज्ञान-
सामन्यवात् ॥ यत्र स्वस्थिति विष्वक्त आत्माज्ञान प्रबोधत । तत्त्वेन कमिति श्रुत्या भेदरहितनिर्दिष्यते" ॥ वा
१३०७-१३०९ ॥ इति । 'स्वर्गज्योतिष्टुमुक्तं यदात्मनः प्राक्प्रयत्नत । तदप्यात्मन ध्यागामि दान्कथते
कामकर्मवत् ॥ यस्मात्सुपुष्ट आत्माऽप्य नाऽऽत्मान नाप्यनात्मन । आब्रह्मद्वेति तेनास्य चैतन्यं कामकर्म-
वत्' ॥ वा १३०५-१३०६ ॥ इति षष्ठाध्यायमुक्तं चोद्यं परिहरति—नैतदिति । चैतन्यस्याऽऽगन्तुकत्व वदता
मुमावसत्त्वमित्य तत्र हि किं रूपज्ञानं निर्दिष्यते किंवा विशेषज्ञानं नाऽऽद्यो य मुक्त सोऽहमित्युत्थितस्य
प्रतिबन्धानविरोधात्सत्यन्वै तत्र पश्यतीति च श्रुतेर्नैतदस्तस्यान्वयव्यतिरेकाभ्या मोहोत्थकारकजन्यत्वात्सुपुष्टे
चाज्ञोऽहमित्यक्तज्ञानाभावात्वात्प्रामाण्यं च दूरोत्तारितत्वात्तत्र तन्निषेधस्यैवैष्ट्वादित्यर्थं ॥ यत्राज्ञानं तत्र
विशेषज्ञानमित्यन्वये मानमाह—यत्रेति । तत्र तस्य भेदज्ञानस्यति यावत् ॥ यत्र ताज्ञानं तत्र न विशेषज्ञानमिति
स्थितिरैवे मानमाह—यत्र स्थिति । यत्र त्वस्येत्युपक्रम्य तत्त्वेन कमिति श्रुत्येति संबन्धः ॥ सुपुष्टे विशेषज्ञाना-
भावे हेतुवन्तरमाह 'एकत्वमेव तेनात्र भेदादर्शनकारणम्' । तेन परेण जीवस्यैकत्व सुप्तौ विशेषज्ञानाभावे
हेतुरिति यावत् । तत्र स्त्रीवाक्यमवतारयति—'स्त्रीपुष्टान्तवचसा तदेतत्प्रतिपाद्यते' ॥ वा १३१० ॥ तदेतदेकत्वं
विशेषादर्शने कारणमित्यर्थः ॥

वपरिष्वक्तः कामयन्त्या, कामुकः सन्न, बाह्यमात्मनः^१ किञ्चन किञ्चिदपि वेद मत्तोऽन्य-
द्वस्त्विति न चाऽऽन्तरमयमहमस्मि सुखी दुःखी वेति । अपरिष्वक्तस्तु तथा प्रविमक्तो
जानाति सर्वमेव बाह्यामाभ्यन्तरं च । परिष्वङ्गोत्तरकालं त्वेकत्वापत्तौ^२ जानाति ।

एवमेव यथा दृष्टान्तोऽयं पुरुषः क्षेत्रज्ञो भूतमात्रासंसर्गतः सन्धवत्खिल्यवत्प्रवि-
भक्तो जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बवत्कार्यकरणे इह प्रविष्टः सोऽयं पुरुषः प्राज्ञेन परमायने
स्वाभाविकेन स्वनाऽऽत्मना परेण ज्योतिषा संपरिष्वक्तः सम्यक्परिष्वक्त एकीभूतो
निरन्तरः सर्वात्मा न बाह्यं किञ्चन वस्त्वन्तरं नाप्यान्तरमात्मन्ययमहमस्मि सुखी

परिष्वङ्गप्रयुक्तमुखाभिनिवेशादज्ञानं किमिति कल्प्यते 'स्वाभाविकमेव तर्कं न स्यादित्याशङ्क्याऽह-
—अपरिष्वक्तस्त्विति । तद्वि परिष्वङ्गवक्तोऽपि स्वभावविपरितोपासभवाद्द्विषेयविज्ञानं स्यादिति
चेन्नेत्याह—परिष्वङ्गोति । स्त्रीपुंसलक्षणयोर्व्यभिश्चत्वं परिष्वङ्गस्तदुत्तरकालं संभोगफलप्राप्ति-
रेकत्वापत्तिस्तद्दशाद्विषेयाज्ञानमित्यर्थः ।

दार्ष्टान्तिकं व्याकरोति—एवमेवेति । भूतमात्राः शरीरेन्द्रियलक्षणास्ताभिश्चिदात्मनस्तादा-
त्प्राध्यासात्तरं प्रतिबिम्बो जातस्ततो विभक्तवद्भ्रान्तोत्पन्न दृष्टान्तमाह—सन्धवेति । तस्य देहादौ
प्रवेशं दृष्टान्तेन दर्शयति—जलादाविति । उपसर्गश्चलत्तदधमयं कथयति—एकीभूत इति । तादात्म्यं
व्यावर्तयितुं निरन्तर इत्युक्तम् । परमात्माभेदप्रयुक्तम् नवच्छिन्नत्वमाह—सर्वात्मेति । एवं स्त्रीष्वङ्गोपासनाया

यानी अपने से बाहर 'किञ्चन' अर्थात् किसी भी वस्तु को नहीं जानता; "मुझ से अन्य वस्तु है" ऐसा
नहीं जानता; न ही वह भीतर ही 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' ऐसा जानता है । उससे अपरिष्वजित तो
उससे भिन्न रहकर बाहर और अन्दर को सब बातों को जानता है । परिष्वजन के पश्चात् एकत्वभाव
होने से वह सब कुछ नहीं जानता ।

जिस प्रकार यह दृष्टान्त है कि क्षेत्रज्ञ पुरुष भूतमात्रा के ससर्ग से लवणखण्ड के समान विभक्त
होकर, जलादि में चन्द्रादि के प्रतिबिम्ब के समान इस देहेन्द्रिय में प्रविष्ट हो रहा है, उसी प्रकार यह
पुरुष "प्राज्ञेन परमायने" अर्थात् प्राविद्या साक्षात् स्वाभाविक आत्मा से यानी अनागन्तुक पारमार्थिक आत्मा
स्वरूप से, कार्यकरण से असृष्ट ज्योति से "संपरिष्वक्तः" अर्थात् सम्यक् परिष्वजित या एकीभूत
हुआ अव्यवहित, सर्वात्मा बाह्य किसी अन्य वस्तु को नहीं जानता; न आत्मा में ही 'मैं सुखी हूँ,

१. पञ्चमी । २. न जानातीति—तथा चान्वयव्यतिरेकान्या परिष्वङ्ग एव विशेषज्ञानाभावहेतुरिति भाव
३. सन्धवेति—लवणखण्डो यथा समुद्रात् प्रविभक्त । ४. अनागन्तुकेन । ५. स्वरूपेण । ६. कार्य-
करणसृष्टेन । ७. अव्यवहित । ८. आत्मनि न वेदेत्यन्यत्र इत्याहः । ९. विशेषज्ञानाभावः । १०.
निनिमित्तम् । ११. अपरिष्वक्तस्य विशेषज्ञानस्वीकारे । १२. भगमेदुयो । १३. मुखसाक्षात्कार
फलम् । १४. अत्र च विशेषज्ञानाभावस्योभयसाधारणत्वेऽपि प्राधान्यात्पुरुषनिष्ठनोतिरिति ध्येयम् । १५.
तामु प्रतिबिम्बो यस्य तथाभूतः । १६. प्रतिबिम्बवशात् । १७. चिदात्मनः । १८. संपरीति यावत् ।
१९. भेदेन सहाभेदं सघातेन यथा । २०. अपरिच्छिन्नत्वम् ।

दुःखी वेति वेद । तत्र चेतन्यज्योतिःस्वभावत्वे कस्मादिह न जानातीति 'यदप्राक्षीस्तत्र यं हेतुर्मयोक्त एकत्वं यथा स्त्रीपुंसयोः संपरिच्यक्तयोः । 'तत्रार्थाज्ञानात्वं विशेषविज्ञानहेतुरित्युक्तं भवति । नानात्वे च कारणभात्मनो वस्त्वन्तरस्य प्रत्युपस्थापिकाऽविद्योत्पत्तम् । तत्र चाविद्याया यदा प्रविविक्तो भवति तदा सर्वैकत्वमेवास्य भवति । 'ततश्च ज्ञानज्ञेयादिकारकविभागेऽसति कुतो विशेषविज्ञानप्रादुर्भावः कामो वा संभवति 'स्वाभाविके स्वरूपस्य आत्मज्योतिषि ।

यस्मादेवं सर्वैकत्वमेवास्य रूपमतस्तद्वा अस्याऽऽत्मनः स्वयज्योतिः स्वभावरयतद्रूपमाप्तकामं यस्मात्समस्तमेतत्तस्मादाप्ताः कामा अस्मिन् रूपे तद्विद्यमानकामम् । 'यस्य

व्याख्याय चोद्यपरिहार प्रकटयति—तत्रेति । प्रत्यगात्मनोति यावत् । इहेति सुपुत्रिरूपते । यथा परिध्वक्तयोः स्त्रीपुंसयोरेकत्वं पुंसो विशेषविज्ञानाभावे कारणं तथा परेणाऽऽत्मना सुषुप्ते जीवस्यैकत्व विशेषविज्ञानाभावे "तस्य "तत्र कारणमुक्तमित्यर्थः । स्त्रीवाक्ये "श्रीतमर्थमभिधाया"ऽऽर्थकमर्थमाह—तत्रेति । किं पुनर्नानात्वे कारणमिति तदाह—नानात्वे चेति । उक्तमर्थं शोऽन्यामित्यादावित्यर्थः । "किमेतावता सुषुप्ते विशेषविज्ञानाभावस्याऽऽयात् तत्राऽऽह—तत्रेति । विशेषविज्ञाने नानात्वं तत्र चाविद्या कारणमिति स्थिते संतीति यावत् । यदा तदेति सुषुप्तिरिवक्षिता । प्रविविक्तत्वं कार्यकारणाविद्याविरहितत्वम् । सर्वेषु परमात्मना सहैक्यं । विज्ञानात्मा घट्टयोष्यते । एकत्वफलमाह—ततश्चेति ।

उक्तमुपजीव्याऽऽप्तकामवाच्यमवतार्य व्याचष्टे—यस्मादिति । आप्तकामत्व समर्थयते—यस्मात्समस्तमिति । "तदेव ध्यतिरेकमुखेन (ण) विशदयति—यस्य हीत्यादिना । "विशेषणान्तरमाकाङ्क्षा-

में दुःखी हूँ" ऐसा मानता है । इस प्रकार तुमने जो पूछा था कि चैतन्यात्म ज्योतिस्वरूप होने पर भी यह इस अवस्था में क्यों नहीं जानता उसके विशेषज्ञान के अभाव में मैंने एकत्व हेतु बतलाया, जिस प्रकार परस्पर परिध्वजित स्त्री पुरुष का ऐक्य होता है । इससे "नानात्व विशेषविज्ञान में हेतु है" ऐसा स्वतः मिथ्य हो जाता है । नानात्व का कारण आत्मा से वस्त्वन्तर की प्रत्यायिका अविद्या है—ऐसा कहा जा चुका है । जिस समय अविद्या से पृथक् हो जाता है, उस समय इसकी सबके साथ एकता ही हो जाती है । एकत्व होने से आत्मज्योति के ग्रहण में अनागन्तुक स्वरूप में स्थित हो जाने पर ज्ञान-ज्ञेयादि कारक विभाग के न रहने पर विशेषविज्ञान का प्रादुर्भाव तथा कामना कैसे संभव है ?

क्योंकि इस प्रकार सबके साथ एकता ही इसका स्वरूप है, इसलिए इस स्वयं ज्योतिस्वरूप आत्मा का यह रूप आप्तकाम है । क्योंकि यह इसका सर्वात्मिकरूप है, इसलिए इस रूप में सुखादि सभी काम प्राप्त रहते हैं, इसीसे यह रूप आप्तकाम है । जिसका विषय ग्रहण से अन्य रूप में विभक्त

- १ विशेषज्ञानाभावे । २ तत्रेति—स्त्रीवाक्ये एतद्वक्तव्य विशेषज्ञानाऽभावहेतुत्वे संतीति वाऽर्थः । ३ पञ्च-माऽयम् । ४ प्रत्यायिका । ५ एतत्वाच । ६ अनागन्तुके । ७ सर्वात्मकम् । ८ आत्मरूपम् । ९ सुखादयः । १० देवस्तादे । ११ प्रतीच । १२ विशेषज्ञानाभावे । १३ आन्दम् । १४ फलितम् । १५ वृत् । १६ विशेषविज्ञाने नानात्वं तत्र चाविद्याकारणमित्युक्तिमात्रेण । १७ आप्तकामत्वमेव । १८ आप्तकामविशेषणान्तरम् ।

ह्यन्यत्वेन^१ प्रविभक्तः कामस्तदनाप्तकामं भवति । यथा जागरितावस्थायां देवदत्तादिरूपं न त्विदं तथा कुतश्चित्प्रविभज्यतेऽतस्तदाप्तकामं भवति । किमन्यस्माद्ब्रह्मन्तरात् प्रविभज्यत आहोस्विदात्मैव तद्ब्रह्मन्तरमत आह—नान्यदस्त्यात्मनः । कथम् । यत आत्मकाममात्मैव कामा यस्मिन्रूपेऽन्यत्र प्रविभक्ता इवान्यत्वेन काम्यमाना यथा जाप्र-त्स्वप्नयोस्तस्याऽऽत्मेवान्यत्वप्रत्युपस्थापकहेतोर^२ विद्याया अभावादात्मकाममत् एवाकाम-भेतद्रूप^३ काम्यविषयाभावाच्छोकान्तरं शोकच्छिद्र शोकशून्यमित्येतच्छोकमध्यमिति वा सर्वथाऽप्यशोकमेतद्रूपं शोकवर्जितमित्यर्थः । २१॥

पूर्वकमादाय व्याचष्टे—किमन्यस्मादित्यादिना । सुषुप्तेर^४न्यत्राऽऽत्मनः सकाशादन्यत्वेन प्रविभक्ता इव काम्यमाना । सुषुप्तावामैव कामास्^५तस्मादात्मकाममात्मरूपमित्येतद्बृहत्पात्तेनाऽह—यथेति । अवस्थाद्वये सत्त्वात्मनः सकाशादन्यत्वेन प्रविभक्ता इव कामा काम्यन्त इति कामाः । न चैव सुषुप्त्य-वस्थायामात्मनस्ते भिद्यन्ते किंतु सुषुप्तमा^६ऽऽत्मेव कामा इत्यात्मकाममेतद्रूपमित्यर्थः । "तस्याऽऽत्मे-त्यत्र" हेतुमाह—अन्यत्वेति । यद्यपि सुषुप्तेऽविद्या विद्यते तथाऽपि न साऽभिध्यक्ताऽऽतोत्यनर्थपरिहारोप-पत्तिरित्यर्थः । "कामानामात्माश्रयत्वपक्षं प्रतिक्षेप्तुं तृतीयं विशेषणम् । शोकमध्यं शोकस्यान्तरं प्रत्यग्नूतमिति यावत् । "तर्हि शोकवत्त्वं प्राप्तं नेत्याह—सर्वथेति । पक्षद्वयेऽपि शोकशून्यमात्म-

रहता है, वह अन्यात्मकाम होता है, जिस प्रकार जागरित अवस्था में देवदत्तादिरूप । किन्तु यह आत्म-तत्त्व उनकी तरह किसी से विभक्त नहीं होता इसलिए प्राप्तकाम होता है । क्या प्रात्मा का ब्रह्मन्तर से अभेद है अथवा ब्रह्मन्तर का आत्मा से अभेद है । इस पर कहने हैं—ब्रह्मन्तर आत्मा नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि वह रूप आत्मकाम है । जिस प्रकार जाग्रत और स्वप्नावस्था में आत्मा से अन्यत्र विभक्त के समान और अन्य रूप से कामना किये जाने वाले काम होते हैं उसी प्रकार सुषुप्ति में भेदप्रत्यायक (व्यक्त) अवधारण रूप हेतु का अभाव होने के कारण आत्मा ही उसके काम हैं इसलिए वह आत्मकाम है । इसीसे सुषुप्तावस्था में काम्यमान विषयो का अभाव होने के कारण सौषुप्त रूप अकाम है, "शोकान्तरम्" अर्थात् शोकच्छिद्र यानी शोकशून्य है अथवा यह शोकमध्य है । भावार्थ यह है कि यह रूप सर्वथा ही अशोक है यानी शोकवर्जित है ॥२१॥

१ स्वस्मात् । २ विषय । ३ आत्मरूपम् । ४ आत्मनो ब्रह्मन्तरेणाभेद । ५ ब्रह्मन्तर-स्यात्मनाभेद ब्रह्मन्तरमात्मरूपमात्मा वा ब्रह्मन्तररूप इति द्वयोरप्य । ६ भेदप्रत्यायक । ७ व्यक्ताया । ८ आत्मकामम् । ९ सौषुप्तम् । १० सुषुप्ते काम्यमानविषयाभावात् । ११ जाग्रतस्वप्नयो । १२ तस्मादात्मरूपमात्मकाममित्यन्वय । १३ रवरूपमेव । १४ सुषुप्तपुरु । १५ आत्मैव कामा इत्युक्तार्थे । १६ अज्ञाऽहमिति प्रतीयमाना कार्योमुखीति यावत् । १७ कामानामित्यादि । यद्यपि आत्मकाममात्मकाम मिति विशेषणद्वयस्य यथा भाष्यात्कायकत्वेनात्मनि कामा प्रसज्यन्ते तथापि यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता (श्रिता) इति श्रुत्यन्तरे । हृदीति विशेषणद्वयमाश्रय्य अपि केचित्कामा प्रतीयन्ते कामाना हृदयमाश्रितत्वं हृदीति विशेषण व्यर्थं स्यादिति तदनुसारेणान्नाप्युक्तविशेषणद्वयं विनीयता मन्दिधिया मत निरसितुमत्रमिति विशेषणमित्यर्थः । १८ शोकस्याप्यविद्यमानत्वात् । १९ आत्मन शोचस्यापि प्रत्यक्तत्वे । २० प्राप्तमिति—न हि तदात्मा तद्ब्रह्मैवो भवतीति भावः ।

॥ अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका
अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः । अत्र स्तेनोऽ-

इस सुपुत्रावस्था म पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है अर्थात् वहाँ अन्य-जनकभाव सवन्ध नहीं रह जाता । लोक अलोक हो जाने हैं, देव अदेव और वेद अवेद हो जाते हैं अर्थात् सभी साध्य साधन वा अभाव हो जाता है । वहाँ पर चार अक्षर हो जाता है । अणुहत्यारा

प्रकृत स्वयज्योतिरात्माऽविद्याकामकर्मविनिर्मुक्त इत्युक्तम् । असङ्गत्वादात्मन
प्रागण्णुक्त्वाच्च तेषाम् । तत्र कामकर्मविद्यस्वयज्योतिष्ट्वम्पस्थाऽऽत्मनो न स्वभाव ।

रूपम् । न हि शोको येनाऽऽत्मवाऽस्तस्य शोकवत्त्व शोकस्याऽऽत्माघोनसत्तात्पर्यैरात्मातिरेकेणाभावा
दित्यर्थ ॥२१॥

अत्र पितेत्यादिवाक्यमवतारयितुं वृत्तमनुव्रवति—प्रकृत इति । अविद्यादिनिर्भोके हेतुद्वयमाह—
असङ्गत्वादिति । यद्यपि नाऽऽण्णुक्त्वमविद्याया 'युक्त तया'ऽप्यभिषण्क्ता साऽन्यहेतुराण्णुकीति
द्रष्टव्यम् । एतौवाक्यनिरस्तौ शङ्कामनुव्रवति—तत्रेति । कामादिभिमोके दर्शिते सतीति यावत् ।

प्रकरणस्य वह स्वयज्योति आत्मा अविद्या काम और कर्म से रहित है—ऐसा कहा गया ।
क्योंकि आत्मा का असङ्गत्व रूप है और अविद्यादि का प्रागण्णुकरूप है । यहाँ काम-वर्मादि के
समान स्वयज्योतिष्ट्व भी इस आत्मा का स्वभाव नहीं है क्योंकि सुपुत्रावस्था में स्वयज्योतिष्ट्व

१ असङ्गत्वादियादि । अत्रोच्यते— नि मङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य निरात्मना । आत्मनोऽज्ञाना मना योगो
चास्तथो नोपपद्यते ॥ वा ११७६ । इति । २ अविद्यादीनाम् । ३ न हि गोच इत्यादि—न हि सपस्य
रज्जु विना सत्त्वाभावे तस्यास्तद्वत्त्व वस्तुतोऽस्तीति भाव । ४ आत्मना । ५ आत्मरूपस्य । ६
युक्तमिति—नस्या अनादिवाग्मुपगमनिरोधादिति भाव । ७ अत्रोद्भूतित्वमभिव्यक्ता । ८ निरस्तामिति
यावत् ।

अत्र पिताऽपिता भवतीमादि । अत्र वार्तिके 'यत एवमिदं वस्तु अतिच्छेदादिलक्षणम् । नि गेषत्वात्
सर्वध्व्यतिक्रान्तमिदं तत् ॥ जयकारणसर्वधाकायकारणसमन । अन्यहेत्विति वृत्तत्वात्पिताऽप्यपिता तत् ॥
अविद्यं यतो हेतु कर्तृत्वस्य न दस्तुत् । कर्तृत्वे सति कर्माणि नायथाऽनुरात्मन ॥ अविद्यायामतोऽप्यत्या
नाऽऽत्मन कर्तृकमणो । पितृपुत्रादिसंबंधानातोऽस्तीह सुपुत्रम् ॥ असङ्गोऽप्य स्वतो यस्मादात्त वेनचिदात्मन ।
सर्वाविस्थानु सर्वध सर्वधोऽतोऽप्य माहत् ॥ १३५५ १३५६ ॥ इति । अत्रत्यादेस्तात्पर्यमाह—यत इति ॥
प्रतिपद व्याहृत्वन्न पिताऽपितेत्यस्याथमाह—जयेति । पुत्रस्य कारण धर्मादि तेन सर्वधान्पितापुत्रयो काम
कारणबोधगमात्सुमो च तत्संबंधाभावात्तत्रैव धनवायकारणत्वव्याहृतजगिरादौ पिताऽपि सुपुत्रे भवत्यपिता
पुत्रऽपि तन्प्रेतदित्यर्थ ॥ आत्मन सुपुत्रे धर्मादिसंबंधाभावात् कर्तृत्वाभावमाह—अविद्यति । व्यक्ताविद्या
कर्तृत्वस्य हेतुन स्वतस्तदमित मोक्षाभावप्रसङ्गात् अ सुमो तादृगविद्या तद्भङ्गात्तत्र तदा कर्तृतेयर्थ । तदभावऽपि
कमसंबंध स्यादिति चेनेत्याह—कर्तृत्व इति । प्रकर्तुरिति च्छेदः । विपक्षे त्वनिर्मुक्तिरिति भाव ॥ सुपुत्रो
व्यग्राविद्याभावे पलितमाह—अविद्यायामिति । कर्तृत्वस्यावास्तवत्वमकतु कर्माभावश्चात् गन्धाय । कर्मा
संबंधे पलितमाह—पित्रिति । सुपुत्रगविद्याप्राप्तपितापुत्रादिसंबंधस्तत्रैव न सदे याशङ्क्याऽह—असङ्गात्प्रमिति ।
सर्वधनुदगतिमाह—सर्वध इति । चास्तवसंबंधयोगोऽत्र गन्धाय ॥

स्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः
 पौलकसोऽपौलकसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसो-
 ऽऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा
 सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति ॥ २२ ॥

अभ्रूणहा हो जाता है । चाण्डाल चाण्डाल नहीं रह जाता है । पौलकस अपौलकस हो जाता है (शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न सतान को चाण्डाल कहते हैं, शूद्रा में ब्राह्मण से उत्पन्न सतान को निषाद कहते कहते हैं एव निषाद से क्षत्रिया में उत्पन्न सतान को पुलकस कहते हैं) । परिव्राजक अपरिव्राजक और वानप्रस्थी अतापस हो जाता है अर्थात् किसी वर्णाश्रम धर्म की या पुण्य-पाप की प्रतीति नहीं होती । उस समय यह पुरप पुण्य से प्रसन्न तथा पाप से भी सन्धरहित हो जाता है । किंवहुना उस प्रवस्था में हृदयस्थ समस्त शोको को पार कर जाता है ॥२२॥

यस्मात्संप्रसादे तोपलभ्यते इत्येवमाशङ्कायां प्राप्तायां तन्निराकरणाय स्त्रीपुंसयोर्दृष्टान्तोपादानेन विद्यमानस्यैव स्वयज्योतिष्ट्वस्य सुपुप्तेऽग्रहणमेकीमावाद्धेतोर्न तु कामकर्मादिविदागन्तुकम् । इत्येतत्प्रासङ्गिकमभिधाय यत्प्रकृतं तदेवानुवर्तयति । अत्र चैतत्प्रकृत-

स्वभावस्यापायो न संभवतीत्यभिप्रेत्य हेतुमाह-यस्मादिति । शङ्कोत्तरत्वेन स्त्रीवाक्यमवतार्यं तत्तात्पर्यं पूर्वोक्तमनुकीर्तयति-एवमिति । द्युत्तमनूद्योत्तरग्रन्थमुत्थापयति-इत्येतदिति । स्वयज्योतिष्ट्वस्य स्वाभाविकत्वमेतच्छब्दार्थः । प्रासङ्गिकं कामादेरागन्तुकत्वोक्तिप्रसङ्गादागतमिति यावत् । प्रकृतमेव दर्शयति-अत्र चेति । अतिच्छन्द्यादिवाक्यं सप्तम्यर्थः । प्रत्यक्षतः स्वरूपचैतन्यवशाद्यथोक्तान्तरूपस्य सुपुप्ते

की उपलब्धि नहीं होती, इस प्रकार आशङ्का होने पर उसका निराकरण करने के लिए “स्त्री-पुरप” दृष्टान्त के उपादान से एकीभावरूप हेतु के कारण सुपुप्तावस्था में विद्यमान स्वयज्योतिष्ट्व का ही ग्रहण नहीं होता क्योंकि स्वयज्योतिष्ट्व कामकर्मादि की तरह अगन्तुक नहीं है । इस प्रकार इस प्रासङ्गिक ज्योतिष्ट्व का प्रतिपादन करके जो प्रकरणस्य है, उसी का श्रुति अनुगमन करती है ।

१ स्वयज्योतिष्ट्वम् । २ स्वयज्योतिष्ट्वमित्यतरतदग्रहणम् । ३ आदिनाऽऽप्तकामादिवाक्यम् । ४ अविद्या-कामकर्मादिविनिर्मुक्तात्मस्वरूपस्य ।

ॐ अनन्वागत पुण्येनानन्वागतं पापनेत्यादि । यत्र वार्तिके—‘पुण्यापुण्ये हि निबिन्सबन्धस्यैव कारणम् । प्राज्ञोऽनन्वागतस्ताम्या नमहेत्वमन्वयात् ॥ पर रूप समापन्न कर्माविद्यानिमित्तत्वम् । पितृमात्रादिमन्वयं सुपुण्य मोऽतिवर्तते ॥ जीववच शरीरऽस्मिस्तस्यैव एव वच पुन । सर्वसङ्ख्यतीतोऽप्य भवतीत्यभिधीयते ॥ यतोऽनन्वागत रूप सुपुप्तस्याऽऽत्मन स्वत । उभाम्या पुण्यपापाम्या द्युत्तमदपि चेत्ततम् ॥ हृदयातिप्रमाद्य-स्मात्तद्वर्मानतिवर्तते । नमंप्रयोऽकान्तामास्तस्मात्सुख यथोदितम् । हृदयस्यैव धर्मान्ते शोबकामादयो यत । तोर्ननुद्विहति तदमास्तस्मादेपोऽतिवर्तते ॥ पुण्यपापाभिसंबन्ध स्वप्ने हृदयस्यने । वागनामात्राया त्वत्र साऽपि प्राप्ते निवर्तते ॥ वरणस्य विहायेह केवनाज्ञानमात्रकम् । स्वप्न घ्राण्ते मनोरूप वागनामयविग्रहम् ॥ वागनामय

मविद्याकामकर्मविनिर्मुक्तमेव तद्रूपं यत्सुषुप्त आत्मनो 'गृह्यते' प्रत्यक्षत इति । तदेत 'ध्यायामृतमेवामिहितं सर्वसंबन्धातीतमेतद्रूपमिति । यस्मादत्रतस्मिन्सुषुप्तस्थानेऽति-
च्छन्दोऽपहतपाप्मा भयमेतद्रूपं तस्मादत्रास्मिन्सुषुप्तेऽपि पिता जनकः । तस्य च जनयितृत्वा-
द्यत्पितृत्वं पुत्रं प्रति तत्कर्मनिमित्तं तेन च कर्मणाऽयमसंबद्धोऽस्मिन्काले तस्मात्पितापुत्र-

गृह्यमाणत्वमुत्थितस्य 'परामर्शादवधेयम् । "कामादिसंबन्धवदात्मन"स्तदहितमपि रूपं कल्पितमेवेत्या-
शङ्क्याऽऽह—तदेतदिति । प्रकृतमयंमुक्तत्वोत्तरवाक्यस्य"सत्प्रत्ययंमाह—एतस्मिन्प्रिति । जनकोऽयत्रा-
पिता भवतीति संबन्धः । पिताऽयत्रापिता भवतीत्युपपादयति—तस्य चेत्यादिना । यथाऽस्मिन्काले पिता

यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि सुषुप्ति में आत्मा जिस स्वप्नकाश रूप से अनुभव की जाती है, वह अविद्या, काम और कर्म से रहित ही है । इसलिए यह तथ्य ही कहा गया है कि यह रूप सभी सवर्णों से अतीत है, क्योंकि यहाँ इस सुषुप्तिस्थान में यह अपरोक्ष रूप कामरहित, धर्माधर्मादिगुण, निरविद्यक है इसलिए यहाँ सुषुप्तावस्था में भी 'पिता' अर्थात् जनक अपिता हो जाता है । जन्म देने

- १ अनुभूयते । २ स्वप्नवासतया । ३ तस्यमेव । ४ कामरहितम् । ५ धर्माधर्मादिगुणम् । ६ निरविद्यम् । ७ अपरोक्षम् । ८ जनकस्य । ९ पुत्रीधर्मादिप्रयुक्तम् । १० पुत्र नितेत्येव । ११ पुत्रीयसुषुप्तिनाम । १२ सुषुप्तत्वात्सम् । १३ कामादीना सवर्णवत् । १४ बहुश्रीहिणा कामादिसबन्ध-
विनाशविद्यकालरूपवदिति वाच्यं । तद्वद्विना कामादिरहितम् । १५ अत्र नितेत्यादिवाक्यस्यात्र पदायम् ।

एवाना भुङ्क्ते रवन्त्रिंशत्पलम् । न हि स्वप्नद्वयो योग स्वप्नेऽयनारित्ते जेनचित् ॥ स्वाभासवर्त्मनेवाऽऽत्ते
जायस्वप्नसुषुप्तिषु । अविद्याकामकर्मदि विभर्ती न तु स्वप्न" ॥ १३६०-१३७७ ॥ इति । अनन्वागतमित्यादि-
रूपंमाह—पुण्यति । इहे ध्यामोति । पञ्चमेऽभ्युत्तमेतदिति हिमब्दाद्यं । स्वापे पुण्यपापान्या पुनोऽपुष्टत्वे
हेतुमाह—कर्मति । अज्ञानेभ्य कारकं तद्देवतस्य स्वापऽनन्वयोदिति यावत् ॥ तत्र हेतुमाह—परमिति ।
कर्माद्यनिबन्धन ब्रह्म यत् स्वापे प्रतिपद्यते 'सता सोम्य तदा सपन' इति ध्युनेतस्तद्गत पित्रादिमन्वन्हीन
पुरुषा भवतीत्याह—पित्रिति ॥ अथास्यातमनन्वागतवाक्य शङ्कोत्तरत्वेन व्याख्यातुं शङ्क्याति—जीवदेवेति ।
एतदुत्तरत्वेन वाक्यमावतारमति—अभिधीयत इति ॥ व्याचष्टे—यत इति । अत सर्वसङ्गव्यतीत इति शेषः ।
वर्मासंबद्धत्वमप्यगिद्विमिति शङ्कने—युत इति ॥ तीर्णो होत्याद्युत्तरत्वेनाऽऽत्ते ह्येति । यथोदित मुषी
वर्मासंबन्धादयोगसकभराहियमिति यावत् ॥ हृदयस्य शोकानलिङ्गामतीत्युक्त शोचच्छ्रितकामादीनामात्म-
धर्मत्वादिति केषिन्नाऽप्रत्याह हृदयस्थेति । शोकाहृदयस्येति सबन्धस्य हृदि स्थिता इति हृदयाश्रितत्वस्यैतत्सर्वं
मन इति तादात्म्यस्य च श्रवणान् तपामात्मधर्मता किंतु मनोधर्मत्वमत मुमस्तदतिव्रमासंबन्धादीनादीनति-
व्रामतीत्यर्थं । धर्मिभवाभावदे तद्वर्त्मनैवामाव- मुतरामिति हिंसाद्याय ॥ स्वप्नरतुसुषुप्ती कामाद्ययोगेऽपि
कर्मयोग किं न रयात्तत्राऽह—पुण्येति ॥ स्वप्ने मनस सत्त्वात्कथं वायनामात्रया कर्मयोगस्तत्राऽह—वरण-
त्वमिति ॥ स्वप्ने स्वकल्पेन मनो न तिष्ठति चैतद्य भोगस्तत्राऽह—वासतीति । वासनामप्येव तत्प्रधानत्वं
वासनाविषयस्य मनसोऽन्वेषादित्यत गन्दाद्यं । जागरवत्स्वप्नेऽपि स्थूलो भोग किं न स्यात्तत्राऽह—न हीति ।
स्वप्नसुषुप्तयोर्वस्तुतोऽन्वेषाद्योगेऽपि जागरे सोऽसंतीत्याशङ्क्याऽह—स्वाभावेति । बुद्ध्यादिस्यचित्प्रतीतियिद्वद्वारंवा-
ऽऽत्ता सदाऽविद्यादिना युज्यते न स्वतोऽनङ्गत्वभूतिरित्यर्थं । आदिपद्येन वातना शुकते ।

संबन्धनिमित्तात्कर्मणो विनिर्मुक्तत्वात्पिताऽप्यपिता भवति । तथा पुत्रोऽपि पितुरपुत्रो भवतीति 'सामर्थ्याद्भव्यते । 'उभयोर्हि 'संबन्धनिमित्तं कर्म 'तदयमतिक्रान्तो वर्तते । अपहतपाप्मेति ह्युक्तम् ।

तथा 'माताऽमाता लोकाः कर्मणा 'जेतव्या 'जिताश्च 'तत्कर्मसंबन्धाभावात्लोकान् अल्लोकाः । तथा देवाः 'कर्माङ्गीभूतास्तत्कर्मसंबन्धात्ययाद्देवा अदेवाः । तथा वेदाः साध्य-साधनसंबन्धाभिधायका 'मन्त्रलक्षणाश्चाभिधायकत्वेन कर्माङ्गीभूता अधीता अध्येतव्याश्च कर्मनिमित्तमेव 'सबध्यन्ते पुरुषेण, "तत्कर्मातिक्रमणादेतस्मिन्काले वेदा अप्यवेदाः संपद्यन्ते ।

पुत्रस्यापिता भवति तद्वदित्याह—तथेति । नास्यार्थंरय" प्रतिपादकः" शब्दोऽस्तोत्याशङ्क्याऽह—सामर्थ्यादिति । तत्रैव सामर्थ्यं दर्शयति—उभयोरिति । सुपुत्रे कर्मातिक्रमे प्रमाणमाह—अपहतेति । पुनर्लोकदेवशब्दावनुवादाद्यर्थो ।

वाक्यान्तरमादाय व्याचष्टे—तथेत्यादिना । साध्यसाधनसंबन्धाभिधायका "ब्राह्मणलक्षणा इति शेषः । अभिधायकत्वेन "प्रमाणत्वेन प्रमेयत्वेन चेत्यर्थः ।

के कारण जनक का पुत्र के प्रति पिताभाव होता है, वह (पुत्रीयधर्मादिप्रयुक्त) कर्म रूप निमित्त से है, उस कर्म से यह पिता सुपुत्रावस्था में असम्बद्ध रहता है । इसलिए पिता-पुत्र संबन्ध प्रयुक्त कर्म से रहित रहने के कारण पिता भी अपिता हो जाता है । इसी प्रकार पिता का पुत्र भी अपुत्र हो जाता है—ऐसा (सुपुत्रि में कर्मातिक्रमण बलरूप) सामर्थ्य से जाना जाता है क्योंकि पिता-पुत्र को जन्य-जनक-भाव संबन्ध प्रयुक्त कर्म का यह अतिक्रमण कर जाता है, तथा इसे धर्माधर्मादिसून्य कहा गया है ।

उसी प्रकार माता अमाना हो जाती है । लोक अलोक हो जाते हैं क्योंकि लोक कर्म से सम्पद्य तथा सम्पादित है, उस कर्म का संबन्ध न रहने से अलोक हो जाते हैं । इसी प्रकार "देवाः" यानी कर्माङ्गीभूत कर्मों के करले समय आत्मा में सबन्धाभावा होने के कारण देवता अदेवता हो जाते हैं । इसी प्रकार "वेदाः" यानी साध्य-साधन संबन्ध के प्रत्यायक, अभिधायकरूप से कर्माङ्गीभूत मन्त्रलक्षणात्मक वेद; अधीत या अध्येतव्य वे कर्म निमित्त ही अध्येय-अध्येतृभाव से पुरुष संबन्धवान् होते हैं । उक्त संबन्ध निबन्धनकर्म के अतिक्रमण होने से इस सुपुत्रि अवस्था में वेद भी अवेद हो जाते हैं ।

१. पुत्रस्य पितुरित्येके । २. सुपुत्रे कर्मातिक्रमणबलात् । ३. पितृपुत्रयोः । ४. जन्यजनकभावसंबन्ध-निमित्तम् । ५. अयं पिता पुत्र इत्येके । ६. मातापुत्रयोर्लोकान्मोकिनोश्च य. संबन्धस्तत्प्रयोजनवर्मेणः सुपुत्रावात्मन्यसंबन्धात् । ७. सपाद्याः । ८. सपादिताश्च । ९. तत्त्वमेति—असर्वेवार्यो मातेत्यादि पदुक्त-परि न्यस्तो भ्रमात् । १०. अङ्गीभूतकर्मणस्तत्काले आत्मनि संबन्धाभावात् । ११. कर्मसमयेतार्थाभिधा-यकाः । १२. अध्येत्याध्येतृभावसंबन्धवन्तो भवन्ति । १३. निरुक्तमवन्धनिबन्धनकर्म । १४. "पुत्रोऽप्य-पुत्रो भवती"त्यस्य । १५. श्रुती । १६. स्वर्गकामो यजेनेति ब्राह्मण यागः स्वर्गसाधनमिति साध्यसाधनयोः संबन्धमभिधायते । १७. प्रमाणत्वेन प्रमेयत्वेनेति—वेदकर्मणो. प्रमाणप्रमेयभावसंबन्धेनाङ्गाङ्गीभाव इति भाव ।

न केवलं शुभकर्मसंबन्धातीतः किं तर्ह्यशुभैरप्यत्यन्तघोरैः कर्मभिरसंबद्ध एवार्थं
वर्तत इत्येतमर्थमाह—अत्र स्तेनो ब्राह्मणमुवर्णहर्ता भ्रूणघ्ना सहपाठादवगम्यते ।
'स तेन घोरेण कर्मणंतस्मिन्काले विनिर्मुक्तो भवति । येनार्थं कर्मणा महापातकी स्तेन
उच्यते । तथा भ्रूणहाड्भ्रूणहा तथा चाण्डालो न केवलं प्रत्युत्पन्नेनैव कर्मणा
विनिर्मुक्तः किं तर्हि सहजेनाप्यत्यन्तनिकृष्टजातिप्रापकेणापि विनिर्मुक्त एवायम् ।
चाण्डालो नाम शूद्रेण ब्राह्मण्यामुत्पन्नश्चण्डाल एव चाण्डालः । स जातिनिमित्तेन कर्मणा-
संबद्धत्वाद्वाचाण्डालो भवति । पौलकसः पुलकस एव पौलकसः शूद्रेणैव क्षत्रियायामुत्पन्न-

अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवतीत्यादस्तात्पर्यमाह—न केवलमिति । स्तेनशब्दोऽत्र चोरमात्रे भाति
कथं विशेषणमित्याशङ्क्याऽह—भ्रूणघ्नेति । भ्रूणहा च वरिष्ठब्रह्महन्तोच्यते । तदेव घोरं
कर्म विज्ञानष्टि—येनेति । महत्पातकमस्येति द्युत्पत्त्या महापातकी स्तेनः । स्तेनादिवाक्येन
चाण्डालादिवाक्यस्य गतार्थत्वमाशङ्क्याऽह—नेत्यादिना । प्रत्युत्पन्नमागन्तुकम् ।

“ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो वंश्याद्वैदेहकस्तथा ।

शूद्राज्जातस्तु चाण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः” ।

इति स्मृतिमाश्रित्याऽह—चाण्डालो नामेति ।

‘जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुलकसः’ ।

इति स्मृतेः ‘शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो निषादः स च जात्या शूद्रस्तस्मात्क्षत्रियायां जातः पुलकसो
भवतीति ध्यास्यानमुपेत्याऽह—शूद्रेणैवेति । तथा चाण्डालवदिति यावत् । श्रमणादिवाक्यस्य

वह केवल शुभ कर्मों से ही प्रतीत नहीं होता तो फिर क्या होता है? वह अशुभ, अत्यन्त
घोर कर्मों से भी असम्पृक्त रहना है । इसी अर्थ को श्रुति कहती है । यहाँ ‘भ्रूणहन्ता’ के साथ पाठ होने
से ‘स्तेन’ का अर्थ ब्राह्मण के सुवर्ण का हर्ता है । वह आत्मा उस समय उस (विप्रसुवर्ण के हरणरूप)
घोर कर्म से मुक्त हो जाता है, जिम कर्म से उसे महापापी चोर कहा जाता है । उसी प्रकार भ्रूणहत्याया
अभ्रूणहन्ता हो जाता है । इसी प्रकार चाण्डाल भी केवल आगन्तुक कर्म से विनिर्मुक्त नहीं होता ।
तो फिर किस घोर कर्म से मुक्त होता है? वह अत्यन्त निकृष्ट जाति की प्राप्ति कराने वाले अपने
प्रारब्धात्मक कर्म से भी विनिर्मुक्त हो जाता है । शूद्र पुरुष से ब्राह्मण कन्या में उत्पन्न मन्वान को
चाण्डाल कहते हैं । चण्डाल ही चाण्डान है । वह जातिप्रयोजक कर्म से असम्पृक्त रहने के कारण
अचाण्डाल हो जाता है । शूद्र पुरुष से क्षत्रिय कन्या में उत्पन्न पुलकस ही पौलकस कहा जाता है; वह

१ मीयुम आत्मा । २ युति । ३ प्रकृतस्वरूप आत्मा । ४ विभ्रण । ५ हाटकहरणादिरूपजाति-
भयावहेन । ६ प्रारब्धात्मनेनापीति यावत् । ७ जाने प्रयोजनेन । ८ ब्राह्मणमुवर्णेति विशेषणम् ।
९ नत्र भ्रूणघ्ना सह पठितोऽपि स्तेनो ब्राह्मणमुवर्णहर्तेति नृत्तो नियम्यते तत्राह—भ्रूणहा चेति । १०
शूद्राया ब्राह्मणाज्जातो निषाद इति । “विप्रान्मुदोवसितो हि क्षत्रियाया विग त्वियाम् । धन्वष्टु शूद्रपा
निषादो जात पारनवोऽपि के”ति स्मृतेः । मुदोवसितः क्षत्रियः । इति स्मृतेरिति ध्यास्यानमुपेत्यन्वयः । तथा
पौलभाभ्यानुरोधाद् स्मृती शूद्राण्येव क्षत्रियायां च शूद्रसंबन्धादीपचारिको बोध इति भावः ।

स्तथा सोऽप्यपुत्रकसो भवति । तथाऽऽश्रमलक्षणोऽथ कर्मभिरसबद्धो भवतीत्युच्यते । श्रमणः
परिव्राज्यत्कर्मनिमित्तो भवति 'स तेन विनिर्मुक्तत्वाद्दश्रमणः । तथा तापसो वानप्रस्थो-
ऽतापसः सर्वेषां वर्णाश्रमादीनामुपलक्षणार्थमुभयोर्ग्रहणम् ।

'किं बहुना'ऽनन्वागत नान्वागतमनन्वागतमसबद्धमित्येतत्पुण्येन शास्त्रविहितेन
कर्मणा तथा पापेन 'विहिताकरणप्रतिपिद्धक्रियालक्षणेन । रूपपरत्वान्नपुंसकलिङ्गम् ।
'अभयं रूपमिति ह्यनुवर्तते । किं पुनरसबद्धत्वे कारणमिति 'तद्धेतुर्दृश्यते—तीर्णोऽति-
क्रान्तो हि यस्मादेवरूपस्तथा 'तस्मिन्वाले सर्वाच्छ्लोकान्श्लोकाः कामाः । इष्टविषय-
'प्रार्थना हि 'तद्विषयवियोगे शोक्तव्यमापद्यते । इष्ट हि विषयमप्राप्त वियुक्तं चोद्दिश्य

तात्पर्यमाह—तथेति । परिव्राट्तापसयोरेव ग्रहणात्तत्कर्मायोगेऽपि सौपुप्तस्य वर्णाध्यात्मरकर्मयोग
शङ्कित्वाऽऽह—सर्वेषामिति । आदिशब्देन 'वयोवस्थादि गृह्यते ।

सौपुप्ते पुरुषे प्रकृते कथमनन्वागतमिति नपुंसकप्रयोगस्तत्राऽह—रूपपरत्वादिति । 'तत्परत्वे
हेतुमनुपङ्ग दर्शयति—अभयमिति । 'हेतुवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्पाप्य ध्यात्त—किं पुनरित्यादिना ।
यस्मात् 'तिच्छन्दादिवयोक्तस्वभावोऽध्यात्मता सुपुत्रिकाले हृदयनिष्ठानस्यच्छ्लोकानतिक्रामति
तस्मादेतद्वारमरूप पुण्यपापान्यामनन्वागत युक्तमित्यर्थः । शोक्तव्यस्य कामविषयत्व साधयति—इष्टेति ।
कथं 'तस्याः शोक्तव्यपत्तिरित्याशङ्क्याऽह—इष्ट हीति । तेषां पर्यायत्वेऽपि 'प्रकृते किमायातं

भी अपोलकस हो जाता है । इसी प्रकार अश्रमप्रापक आश्रमलक्षण कर्मों से भी असम्पृक्त हो जाता है—
ऐसा कहा जाता है । 'श्रमण' यानी सर्वस्व त्यागरूप कम प्रयोजक जो सन्यासी है, वह उससे विनिर्मुक्त
होने के कारण अश्रमण ही जाता है । इसी प्रकार 'तापस' यानी वानप्रस्थ अतापम हो जाता है ।
अमण और तापस इन दोनों का ग्रहण सम्पूर्ण वर्णाश्रमों के उपलक्षण के लिए है ।

अधिक क्या कहे, वह आत्मरूप 'पुण्येन' यानी शास्त्रविहित कर्म से 'अनन्वागतम्' अर्थात्
अनन्वागत नहीं है यानी असबद्ध है तथा 'पापेन' यानी विहित कर्म के न करने एव निषिद्ध के करने रूप
पाप से भी असबद्ध है । पुरुष रूपपरक होने से 'अनन्वागतम्' में नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग है क्योंकि
'अभय रूपम्' की यहाँ अनुवृत्ति की जाती है । किन्तु पुण्य पाप के असबद्धत्व में कारण क्या है ? इसका
हेतु कहा जाता है । 'तीर्णो हि तदा शोकान्' क्योंकि उस सुपुत्र्तावस्था में यह पुरुष सभी शोकों यानी

१ आश्रमलक्षणैराश्रमप्रापकैरिति वा । २ श्रमणस्य धरणेने हृदिमाकाङ्क्षाऽह—परिव्राजिति ।

तद्रुक् वाचित्के—'परिव्राट्तापसो ज्ञेयस्तापमाधमसन्निधेरिति ॥ १३६१ ॥ तापसा वानप्रस्थ । ३ श्रमण ।

४ मन्त्रजननात् कर्मणामानन्वाद्द्विधोपगृह्यत् तदतीतत्वमाह—नि बहुनति । ५ अमबद्धम् आत्मन्य

मित्यनुवर्तते । ६ विहित्यादि—हे अपि ते सुपुत्र पुमि निवर्तते तद्धेतुव्यत्ताऽविद्याभावादिति भाव ।

७ रूपेति—तथा च पुरुषस्य मत्र विगेप्यमनुवर्तते इति भाव । ८ तदेव स्पृश्यति—अभयमित्यादिना ।

९ पुण्यपापसत्त्वत्व । १० पुण्यपापार्थहेतुवचन । ११ सुपुत्रो । १२ कामना । १३ तस्या

विषयवियोग । १४ वर्णाश्रमादीति—वयं शतत्रयादिस्वपापानु । शब्दार्था यान्यादिरिति विवक । पुरुषस्यादि

कादिगच्छद्ब्राह्मम् । १५ प्रकृतवाक्यस्य रूपपरक रूपानुस्मृतत्वक ह्यम् । १६ स्वाप एव पुण्यपापा-

ऽपसो ह्यनुवर्तते वाच्यम् । १७ गच्छत् इत्यर्थवियम । १८ प्राथम्या । १९ आत्मन पुण्यादत्तवृत्त्य ।

चिन्तयानस्तद्गुणान्संतप्यते पुरुषो ऽतः शोको रतिः काम इति पर्यायाः । यस्मात्सर्वकामा-
तोतो ह्यत्रायं भवति । न कंचन कामं 'कामयतेऽतिच्छन्दा' इति ह्युक्तं 'तत्प्रक्रियापतितोऽयं
शोकशब्दः कामवचन एव भवितुमर्हति । कामश्च कर्महेतुः । वक्ष्यति हि "स यथाकामो
भवति तत्कृतुर्भवति यत्कृतुर्भवति तत्कर्म फुल्ले" इति । अतः सर्वकामातितोऽणत्वाद्युक्त-
मनन्वागतं पुण्येनेत्यादि ।

हृदयस्य हृदयमिति पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डस्तत्स्थमन्त.करणं बुद्धिर्हृदयमित्यु-
च्यते । तात्स्थान्मञ्चक्रोशनवत् । हृदयस्य बुद्धेर् शोकाः कामाः । बुद्धिसंश्रया हि ते ।

तदाह—यस्मादिति । अत्रेति सुपुण्डिरुच्यते । अतः सर्वकामातितोऽणत्वादित्युत्तरत्र संबन्धः । न केवलं
शोकशब्दस्य कामविषयत्वमुपपन्नमेव किंतु संनिधेरपि सिद्धिमस्याह—न कचनेति । शोकशब्दस्य
कामविषयत्वेऽपि 'तद्व्ययमात्रात्कर्म' 'कर्मत्वयः स्यादित्याशङ्क्याऽह—नामश्चेति । 'तत्र वाक्यशेषं
प्रमाणयति—वक्ष्यति हीति । कामस्य कर्महेतुत्वे सिद्धे फलितमाह—अत इति ।

हृदयस्य शोकानतिक्रान्तोत्यत्र हृदयशब्दार्थमाह—हृदयमिति । मांसपिण्डविशेषविषयं
हृदयपदं कर्म बुद्धिमाहेत्याशङ्क्याऽह—तात्स्थ्यादिति । यथा मञ्जाः क्रोशन्तीति मञ्चक्रोशनमुच्यमानं
मञ्चस्थानुपुरुषानुपचारशाह तथा हृदयस्यत्वाद्बुद्धेरुपचाराद्बुद्धिर्हृदयशब्दो दर्शयतीत्यर्थः ।
हृदयशब्दार्थमुक्त्वा "तस्य संबन्धं दर्शयति—हृदयस्येति । तानतिक्रान्तो भवतीति शेष । आत्मा-
श्रयास्ते न बुद्धिमाश्रयतीत्याशङ्क्याऽह—बुद्धीति । कर्म "नहि 'केचिदात्माश्रयत्वं 'तेषां चवन्ती-

कामनाभो को पार कर जाता है । क्योंकि मनोवाञ्छित विषय की कामना ही उस विषय का वियोग
होने के कारण शोकरूप हो जाती है । अप्राप्त और वियुक्त हुए इष्ट विषय के निमित्त से उसके गुणो वा
चिन्तन करता हुआ पुरुष सन्तप्त होता है । इसलिए शोक, रति और काम ये पर्यायवाची शब्द हैं
क्योंकि उस अवस्था में पुरुष समस्त कामनाभो को पार कर जाता है । "वह किसी की कामना नहीं
करता", "वह कामरहित है" ऐसा श्रुति वह चुकी है । इसलिये उस प्रकरण में पठित यह
"शोक" शब्द कामवाची ही हो सकता है । काम कर्म में हेतु है । इसी को भागे कहा जायगा "वह
जैसे काम वाला होता है, वैसा सकल्प करता है, जैसे सकल्प करता है, वैसा कर्म करता है" ।
इसलिए (काम के कर्महेतुत्व होने से) सुपुण्डि में सर्वकर्म से अतीत होने के कारण "वह पुण्य से असम्बन्धित
है" यह श्रुतिवचन सुसंगत ही है ।

"हृदयस्य भवति" यहाँ हृदय कमल के प्रकार वाले मांसपिण्ड को कहने हैं । उसमें स्थित
मन्त करण या बुद्धि भी हृदय ही है । "मञ्च चित्ताते हैं" इस वाक्य में मञ्चस्थ पुरुष का बोध

- १ अत—निरुक्तार्थनाया एवोक्तविधया शोकात्मना परिणतत्वात् । २ वृ उ ४ ३ १६ । ३ वृ उ
४ ३ २१ । ४ कामप्रकरणपठित । ५ वृ उ ४ ४ ५ । ६ ऋतुरध्यवसाय सत्त्वात् क्रियाहेतु ।
७ कामकर्महेतुत्वात् । ८ सुपुण्डो । ९ कामातिक्रमभावेण । १० पुण्यपापस्पर्श । ११ कामस्य
कर्महेतुत्वे । १२ जहल्लक्षणपति यावत् । १३ तस्य संबन्धमिति हृदयशब्दार्थस्य बुद्धे शोकशब्दार्थेन
कामादिना सह संबन्धमाश्रयाश्रित्वरूपमित्यर्थ । १४ कामानां हृदयाधित्वम् । १५ तानिकादय ।
१६ कामानाम् ।

'कामः संकल्पो विचिकित्सेत्यादि सर्वं मन एवेत्युक्तत्वात् । वक्ष्यति च "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" इति, 'आत्मसंश्रयभ्रान्त्यपनोदाय हीदं वचनं, हृदि श्रिता हृदयस्य शोका इति च । 'हृदयकरणसंबन्धातीतश्रायमस्मिन्कालेऽतिक्रामति मृत्यो रूपाणीति ह्युक्तम् । हृदयकरणसंबन्धातीतत्वात्तत्संश्रयकामसंबन्धातीतो भवतीति युक्ततरं वचनम् ।

ये तु वादिनो हृदि श्रिताः कामा वासनाश्च हृदयसंबन्धिनमात्मानमुपसृष्योपदिल-
ष्यन्ति 'हृदयवियोगेऽपि चाऽऽत्मन्यवतिष्ठन्ते पुटतैलस्थ इव पुष्पादिगन्ध इत्याचक्षते ।
तेषां 'कामः संकल्पो, 'हृदये ह्येव रूपाणि हृदयस्य शोका इत्यादीनां वचनानामानर्थक्य-
मेव । हृदयकरणोत्पाद्यत्वादिति चेत् । न । हृदि श्रिता इति विशेषणात् । न हि हृदयस्य

त्पाशङ्क्य भ्रान्तिवशादित्याह—घ्रात्मेति । भवति कामानां "हृदयाश्रितत्व तथाऽपि "तत्सबन्धद्वारा
'तदाश्रयत्वसंभवात्कयमात्मा सुपुप्ते कामानतिवर्तेते तत्राऽह—हृदयेति । "तत्संबन्धातीतत्वे श्रुति-
सिद्धे कलितमाह—हृदयकरणेति ।

। भर्तृप्रपञ्च'प्रस्थानमुत्पापयति—ये त्विति । सत्येव हृदये तन्निष्ठानां कामादीनामात्मन्युपश्रु-
वो न 'तन्निवृत्तावित्याशङ्क्याऽऽह—हृदयवियोगेऽपीति । तन्मते श्रुतिविरोधमाह—तेषामिति । हृदयेन
करणेनोत्पाद्यत्वादात्माधिकाराणामपि कामादीनां हृदयसंबन्धसंभवान्नाऽऽनर्थक्यं श्रुतीनामिति
शङ्कते—हृदयेति । न "कामाविसंबन्धमात्रं हृदयस्य भूयर्थः कित्वाभयाश्रयित्व तच्च करणत्वे न
स्यात् । न हि चक्षुराद्याभ्रयं रूपादिज्ञानं दृष्टमिति परिहरति—न हृदीति । चकाराद्वचनं न समञ्ज-

होता है । उमी प्रकार हृदयस्य बुद्धि को भी समझना चाहिये । "हृदयस्य" यानी बुद्धि के जो शोक
है, वे बुद्धि के ही आश्रित होते हैं क्योंकि "काम, संकल्प और विचिकित्सा, यह सब मन में ही
है" ऐसा कहा गया है । तथा "जो काम इसके हृदय में आश्रित है" ऐसा श्रुति आगे कहेगी । कामनाओं
के आत्मसंश्रयरूप भ्रान्ति के अपनोदन के लिए "हृदि श्रिता." "हृदयस्य शोका." ये श्रुतिवचन हैं ।
इस सुपुष्पावस्था में यह पुरुष हृदयाख्य करण के संबन्ध से अतीत हो जाता है । जसा कि "वह मृत्यु
के रूपों को पार कर जाता है" ऐसा श्रुति प्रतिपादन कर चुकी है । इसलिए हृदयाख्य करण के संबन्ध
से अतीत होने के कारण हृदय से आश्रित काम संबन्ध से अतीत हो जाता है, यह कहना अधिक
सगत जान पड़ता है ।

विन्तु जो भर्तृप्रपञ्चादि विचारक ऐसा कहते हैं कि हृदय में स्थित काम और वासनाएँ
हृदयसंबन्धी घ्रात्मा के पास जाकर उसका परिष्वजन करती हैं तथा सुपुष्पावस्था में हृदय का
वियोग होने पर भी पुटतैल में स्थित पुष्पादि की गन्ध के समान, वे घ्रात्मा में विद्यमान रहती हैं,
उनके लिए "काम और संकल्प सब मन ही है", "रूपों के हृदयप्राप्ती होने के कारण ये सब रूप हृदय

- १ वृ उ १ ५ ३ । २ वृ उ ४ ५ ७ । ३ कामानाम् । ४ हृदयस्य शोकानिति तु प्रवृत्तवाक्य
पाठ । ५ हृदयाख्यकरणेति यावत् । ६ वृ उ ४ ३ ७ । ७ हृदयेति भाव । ८ धर्मिसंबन्धा-
भावे तदर्थसंबन्धाभाव मुक्तरामिति वरुकरणम् । ९ मप्रसादादौ हृदयापगमेऽपि । १० वृ उ १ ।
५ ३ । ११ वृ उ ३ ६ २० । १२ बुद्धिस्थत्वम् । १३ इत्य । १४ घ्रात्मेति वीज्यम् ।
१५ हृदयसंबन्धातीतत्वे । १६ मतम् । १७ हृदयनिवृत्ती । १८ घ्रात्मेति । १९ जन्यजनकत्व-
मयममात्रम् ।

करणमात्रत्वे हृदि श्रिता इति वचनं 'समञ्जसं हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानीति च ।
'आत्मविशुद्धेश्च' विवक्षितत्वाद्बुद्धयणवचनं 'यथार्थमेव युक्तम् । ध्यायतीव लेलापतीवेति
च श्रुतेरन्यार्थासंभवात् ।

कामा येऽस्य हृदि श्रिता इति विशेषणादात्माश्रया अपि सन्तीति चेत् । न ।
'अनाश्रितापेक्षत्यात् ।' नात्राश्रयान्तरमपेक्ष्य ये हृदीति विशेषण किं तर्हि ये हृद्यनाश्रिताः
कामा'स्तानपेक्ष्य विशेषणम् । ये त्वप्ररूढा 'भविष्यन्तो भूताश्च प्रतिपक्षतो निवृत्तास्ते
नेव 'हृदि श्रिताः संनाध्यन्ते च ते । 'अतो युक्तं तानपेक्ष्य विशेषणम् । 'ये प्ररूढा

सन्ति संवध्यते । प्रदीपायत् घटज्ञानमिति "वदन्त.करणायत्तमात्माश्रित "कामादिति तस्य
"तदाश्रयत्ववचनमी"पचारिकमित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मविशुद्धेश्चेति । इतश्चेदं यथार्थमेवेत्याह—
ध्यायतीवेति । अन्यार्थासंभवाद्बुद्ध्याश्रयणवचनस्येति शेषः ।

दक्षिणेनाक्षणा पश्यतोऽयुक्ते वामेन न पश्यतीतिवत्प्रमुच्यन्ते हृदि श्रिता इति विशेषणमा
श्रित्याऽऽशङ्कते—कामा य इति । "प्रकारान्तरेण विशेषणव्यर्थवत्त्वं दर्शयति—नेत्यादिना । अत्रेति
प्रकृतश्रुत्युक्तिः । आश्रयान्तर बुद्ध्याश्रितिरूपात्माश्रयम् । बुद्ध्यानाश्रिता' कामा एव न सन्ति यदपेक्षया
हृदयाश्रयत्वविशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—ये त्विति । प्रतिपक्षतो विषयबोपदर्शनादिति यावत् । कामानां
वर्तमानत्वनियमाभावाद्भूतभविष्यतामपि सभवे कलितमाह—अत इति ।

मे ही प्रतिष्ठित है' तथा "हृदय के शोक (निवृत्त हो जाते हैं)" इत्यादि वचनो की व्यर्थता ही है ।
यदि कहो कि कामादि हृदयाख्य करण से उत्पाद्य होने के कारण हृदय से सम्बद्ध है; तो ऐसा कहना
ठीक नहीं है क्योंकि "जो काम इसके हृदय में स्थित है", यहाँ "श्रिता" विशेषण है । हृदय के करण-
मात्र होने में "हृदि श्रिता" यह श्रुतिवाक्य असंगत हो जायगा । इसी प्रकार "हृदय में ही सब रूप
प्रतिष्ठित हैं" यह श्रुतिवाक्य भी अनर्थक हो जायगा । किन्तु यहाँ (त्वपदार्थ शोधन में) आत्मा की
विशुद्धि विवक्षित होने के कारण इस प्रकरण में "हृदय का आश्रयण" यह वचन मुख्य है और उचित
भी है क्योंकि "बह मानो ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस श्रुति का कोई दूसरा
अर्थ असंभव है ।

यदि कहो "जो काम इसके हृदय में स्थित है" इस श्रुति में ऐसा विशेषण देने से सिद्ध होता है
कि कुछ काम आत्मा के आश्रित भी हैं, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा हृदय में अनाश्रित कामों
की अपेक्षा से है । यहाँ "जो काम इसके हृदय में" ऐसा विशेषण कामों के किसी दूसरे आश्रय की अपेक्षा
से नहीं है । तो किस लिये है ? जो काम हृदय के अनाश्रित हैं, उनकी अपेक्षा से यह विशेषण है ।
और भविष्य में होने वाले जो काम हृदय में प्ररूढ हैं तथा जो भूतकाल में होकर विरोध के कारण

- १ सगतम् । २ त्वंपदाश्रयधनत्वम् । ३ अत्र प्रवरणम् । ४ मुख्यमेव । ५ हृदयानाश्रितवाम-
व्यावृत्तये इति यावत् । ६ सप्रह्ववाक्यं विवृणोति—नेति । ७ तद्व्यावृत्त्यर्थमिति यावत् । ८ अप्ररूढ-
विवरणमिदम् । ९ अवतरणोक्तात्वात् । १० एव मति वाच्यार्थमाह—ये प्ररूढा इति । ११ अन्त-
वरणैति च्छेद । १२ अन्त करणधीनत्वात् । १३ हृदयाश्रितवचनम् । १४ गीणम् । १५ वाच-
भिमत्प्रकारात् ।

'वर्तमाना विषये ते सर्वे प्रमुच्यन्त इति ।

'तथाऽपि विशेषणानर्थक्यमिति चेत् । न । 'तेषु यत्नाधिक्याधेयार्थत्वात् । 'इतरयाऽश्रु-
तमनिष्टं च कल्पितं स्यादात्माश्रयत्वं कामानाम् । न कंचन कामं कामयत इति प्राप्त-
प्रतिषेधादात्माश्रयत्वं कामानां श्रुतमेवेति चेत् । न । सद्योः स्वप्नो भूत्वेति' पर'निमित्तत्या-
त्कामाश्रयत्वप्राप्तेर'सङ्गवचनाच्च । न हि कामाश्रयत्वेऽसङ्गवचनमुपपद्यते । सङ्गश्च काम
इत्यबोधाम् । 'आत्मकान इति श्रुतेरात्मविषयोऽस्य कामो भवतीति चेत् । न । "व्यतिरिक्त-

हृदयानाधितमूतभविष्यत्कामसंभवेऽपि सर्वकामनिवृत्तेर्विवक्षितत्वाद्दत्तमानविशेषणमनर्थक्यमिति
शङ्कते—तथाऽपीति । अतीतानागतकामाभावः संभवति स्वतः सिद्धो न तन्निवृत्तौ यत्नोऽपेक्ष्यते
शुद्धात्मदृष्टक्षुणा तु मुमुक्षुणा वर्तमानकामनिरासाय यत्नाधिक्यमा'धेयमिति ज्ञापयितुं वर्तमानग्रहणमिति
परिहरति—न तेऽप्यिति । यदि यथोक्तं व्याख्यानमनादृष्ट्याऽऽत्माश्रयत्वमेव कामानामाधीयते तदाऽश्रुतं
'मोक्षासंभवेमानिष्टं च कल्पितं स्यादित्याह—इतरथेति । अश्रुतत्वमसिद्धमिति शङ्कते—न कंचनेति ।
'अर्थादात्माश्रयत्वं श्रुतमेव कामानामित्येतद्ब्रूयद्यति—नेत्यादिना । निषेधो हि प्राप्तिमपेक्षते न वास्तवं
कामानामात्मधर्मत्वं प्राप्तिस्तु भ्रान्त्याऽपि संभवति । तस्मादात्मनो वस्तुतो न कामाद्याश्रयत्वमित्यर्थः ।
इतश्चाऽऽत्मनो न कामाद्याश्रयत्वमित्याह—असङ्गेति । नन्वसङ्गवचनमात्मनः सङ्गाभावं "साधयत्सत्य"
कामित्वे न "विरुध्यते तत्राऽह—सङ्गश्चेति । "कामश्च सङ्गश्च"ततोऽसिद्धो "हेतुर"त्रेति शेषः ।
यावयान्तरमाश्रित्याऽऽत्मनि कामाश्रयत्वं शङ्कित्वा ब्रूयति—आत्मेत्यादिना ।

निवृत्त हो गये है, वे हृदय में स्थित नहीं हैं । उनकी संभावना हो सकती थी । इसलिये उनकी अपेक्षा
से ऐसा विशेषण देना उचित है कि "जो प्ररुद्ध विषय में वर्तमान है, वे सब ही मुक्त हो जाते हैं" ।

यदि कहो कि ऐसा मानने पर भी विशेषण का आनर्थक्य ज्यों का त्यों बना रहता है; तो
ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वर्तमान कामादिको की निवृत्ति के लिए यत्नाधिक्य की अपेक्षा होने से
हृदयारुद्ध काम हेतु है । नहीं तो 'कामनाएँ' आत्मा के आश्रित हैं' ऐसी प्रश्रुत और अनिष्ट कल्पना
हो जाती । यदि कहो कि "वह किसी काम की कामना नहीं करता" इस श्रुतिवाक्य से प्राप्त वस्तु के
प्रतिषेधत्व नियम से कामो का आत्माश्रय तो श्रुतिसम्मत है । तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि
"वह बुद्धिसहित स्वप्न होकर" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार आत्मा का कामाश्रयत्व की प्राप्ति अन्य
(बुद्धि) के कारण ही है । "यह पुरुष अमङ्गल है" इस श्रुतिवचन से भी यही सिद्ध होता है । कामा-

१. प्ररुद्धविवरणं विषय वर्तमाना इति । २. अवतरणोक्तत्वात् । ३. वर्तमानकामादिषु तन्निवृत्त्यर्थं यत्ना-
धिक्यज्ञापनार्थत्वाद्धिषेयणरूप (वर्तमानग्रहणम्) इत्यर्थं । ४. कामस्य हृदयाश्रयत्वानमुपगम्य आत्माश्रय-
त्वाम्मुपगमनम् । ५. वचनात् । ६. धीतसर्गनिमित्तत्वात् । ७. "असङ्गो ह्ययं पुरुष"इति । ८. वृ.
उ ४. ३. १६ । ९. वृ उ ४. ४. ६ । १०. आत्मातिरिक्तैत्यर्थं । ११. अनुच्छेदम् । १२. मोक्षा-
वादिनो हि तत्र मोक्षासंभवोऽनिष्ट इति भावः । १३. प्राप्तप्रतिषेधानुपपत्तेः । १४. बोधयत् । १५.
आत्मनः । १६. न हि काम सङ्गो नामेति पूर्ववाच्यभिप्रायः । १७. अबोधामिति सूचितं स्वतः दर्शयति—
वागश्चेत्यादिना । तथा चात्र कामश्च सङ्गोऽतोऽसिद्धो हेतुरित्यत्रेत्येव युक्तं पाठः । १८. नामस्यैव सङ्गत्वात् ।
१९. श्रुतत्वम् । २०. नामित्वे ।

कामामावायर्थत्वात्तस्याः ।

‘वंशेषिकादितन्त्रन्यायोपपन्नमात्मनः कामाद्याश्रयत्वमिति चेत् । न हृदि श्रिता इत्यादिविशेषणश्रुतिविरोधाद्’नपेक्षयास्ता वंशेषिकादितन्त्रोपपत्तयः । श्रुतिविरोधे न्याया-
‘मासत्वोपगमात् । स्वयंज्योतिष्टव्याधनाच्च । कामादीनां च स्वप्ने केवलदृशिमात्र-
विषयत्वात्स्वयंज्योतिष्टवं स्थितं वाध्येत । आत्मसमवायित्वे तद्दृश्यत्वानुपपत्तेश्चक्षुर्गंत-

इच्छादयः षडचिदाश्रिता गुणत्वाद्गुणादिविदित्यनुमानात्परिचोपात्कामाद्याश्रयत्वमात्मनः सेत्स्य-
तीति शङ्कते—वंशेषिकादीति । ‘श्रुत्यष्टम्भेन निराचष्टे—नेत्यादिना । स्वयंज्योतिष्टव्याधनाच्च
नाऽऽत्माश्रयत्वं कामादीनामिति शेषः । ‘तदेव चिदुच्यते—कामादीनामिति । स्थितं “चानुमानादिति
शेषः । यद्यत्र समवेतं तत्तेन न दृश्यते । यथा चक्षुर्गंतं काष्ण्यं तेनैव चक्षुषा न दृश्यते तथा कामादीना-
मात्मसमवायित्वे तद्दृश्यत्व न स्यात्तद्दृश्यत्वबलेनैव स्वयंज्योतिष्टवं साधितं ”तथा च “पूर्वोक्त-

श्रयत्व होने पर असङ्ग श्रुति निरर्थक हो जायगी और “सङ्ग ही काम है” यह श्रुतिवचन कहा
जा चुका है । यदि कहे “आत्मकाम” ऐसी श्रुति होने के कारण इसे आत्मविषयक काम होता
ही है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह श्रुति आत्मातिरिक्त काम का अभाव बतलाती है ।

यदि कहें कि वंशेषिकादि सिद्धान्तों में जो न्याय है, उनकी उपपत्तियों द्वारा आत्मा का
कामाश्रयत्व सिद्ध हो जाना है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि “हृदय में जो काम स्थित है”
इत्यादि विशेष श्रुति से विरोध होने के कारण वंशेषिकादि शास्त्रों की वे उपपत्तियाँ अनादरणीय हैं,
तथा श्रुतिविरोध होने से उनको न्यायभ्रान्तत्व माना गया है और इसकी स्वीकार कर लेना
आत्मा का स्वयंज्योतिष्टव भी बाधित हो जाता है । स्वप्न में केवल साक्षी मात्र भास्य होने से कामादि
के सिद्ध और प्रतिष्ठित स्वयंज्योतिष्टव का वाध हो जायगा क्योंकि कामों के आत्मसमवायी
होने पर, नेत्रगत विशेष की तरह वे आत्मा क दृश्य नहीं हो सकेंगे । द्रष्टा से दृश्य भिन्न पदार्थ

- १ श्रुते । २ प्रादिना गीतमादयो गृह्यन्त तदीयतन्त्रेषु य न्याया उपपत्तयस्तत्सिद्धम् । ३ नादरणीया ।
- ४ भ्रान्तत्वमिति यावत् । ५ केवलेत्यादि—केवलमाश्रितामाश्रयत्वादित्यर्थः । केवलेति चतुराद्यनपेक्षत्व
मात्रेति धनोपपत्तय विवर्धितम् । ६ वाध्यत्वं ह्यनुभाह—आत्ममिति । कामानामिति शेषः । तत्र दृष्टान्तमाह—
चक्षुरिति । ७ इत्यनुमानादिति—इति मामान्यानुमाननेच्छादीना साध्यत्वसिद्धादिति यावत् । ८ परि-
शेषादिति—इच्छादयः पृथिव्याद्यनाश्रितत्वात्तन्त्रस्यापान्नाधिकरणत्वेन प्रतीयमानत्वत्वाच्चानैवं तन्नेव यथा रूपादीनि
परिशेषानुमानादित्यर्थः । तथा चच्छादयः आत्माश्रिता साध्यत्वे मति पृथिव्याद्यनाश्रितत्वाद् व्यतिरेके
रूपादिवदित्यनुमानं पतितमित्यभिप्रेत्याह—कामादीति । ९ श्रुत्यष्टम्भेन निराचष्ट इति—यद्यपि चतनत्व-
सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानत्वं प्रतीतियामान्यपठिनम्ब व्यभिचार्यैः पृथिव्याद्याश्रितमपि रूपस्य गौराट्ट-
मिति तन्नेव प्रतीतेरिति न तन्निराकरणाय श्रुत्यष्टम्भं आश्रयवस्तुनापि तस्य प्रमापठितत्वाभिमानं तु
हेतोरसिद्धिसिद्धपर्यमिच्छादीना तथाप्रतीतेर्भ्रान्त्वापादनायान्तत श्रुतिरेव काम संकल्पो विषयिस्तेत्यादि
धारणु तद्वरमादाविव तदवष्टम्भ इति भावः । १० वाधनमेव । ११ आत्मा स्वयंज्योतिष्टवासंभवात्वात्वादित्या-
दिवदित्यनुमानम् । १२ तथा चेति—तेषां तत्समवेतत्वे । १३ स्वयंज्योतिष्टवाधकत्वदृश्यत्वमात्रे न च
स्वयंज्योतिष्टवाग् चेत्यर्थः । १४ पूर्वोक्तानुमानमिति—स्वयंज्योतिष्टवापवानुमानम् । तस्य वृ उ ४ ३ २
टीकामादिद्रष्टव्यम् ।

विशेषवत् । 'द्रष्टुर्हि दृश्यमर्थान्तरभूतमिति' द्रष्टुः स्वयंज्योतिष्ट्वं सिद्धम् । 'तद्वाधितं स्याद्यदि कामाद्याश्रयत्वं परिकल्प्येत ।

सर्वशास्त्रार्थविप्रतिषेधाच्च । परस्यैकदेशकल्पनायां कामाद्याश्रयत्वे च सर्वशास्त्रार्थ-
जातं कुप्येत । एतच्च विस्तरणं चतुर्थोऽवोचाम । मृता हि प्रयत्नेन कामाद्याश्रयत्व-
कल्पनाः प्रतिषेद्धव्या आत्मनः परैरैकत्वशास्त्रार्थसिद्धये । तत्कल्पनायां पुनः क्रिय-
माणायां शास्त्रार्थ एव बाधितः स्यात् । यथेच्छादीनामात्मधर्मत्वं कल्पयन्तो वैशेषिका
नैयायिकाश्चोपनिषच्छास्त्रार्थेन न संगच्छन्ते, तथेयमपि कल्पनोपनियच्छास्त्रार्थबाधना-
न्नाऽऽदरणीया ॥ २२ ॥

मनुमानमपि बाध्यतेत्यर्थः । कथं कामादीनामात्मदृश्यत्वमाश्रित्य स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वस्योपविष्टत्वं
तत्राऽऽह—द्रष्टुरिति । 'तथाऽपि तेषामात्माश्रयत्वे काऽनुपपत्तिस्तत्राऽऽह—तद्वाधितमिति ।

यत्तु परमात्मैकदेशं जीवमाश्रित्य तदाश्रितं कामादीति' तत्राऽह—सर्वशास्त्रेति । "तदेव
स्फुटयति—परस्येति । शास्त्रार्थजात निरवयवत्वप्रत्ययेकत्वादि तस्य कथं कोप. स्यादित्याशङ्क्याऽह—
एतच्चेति । चतुर्थं चेद्भृत्प्रपञ्चमत निरस्तं तर्हि पुनरिनाकरत्सर्माकिचत्करमित्याशङ्क्याऽह—महतेति ।
'परेण सह प्रत्यगात्मनो यवेकत्वं तस्य शास्त्रार्थस्य सिद्धयर्थमिति यावत् । अंशत्वादिकल्पनायामपि
शास्त्रार्थसिद्धिमाशङ्क्याऽह—तत्कल्पनायामिति । भर्तृप्रपञ्चकल्पनाया हेयत्वमुपसंहरति—
यथेत्यादिना ॥२२॥

होता है" इस कारण से द्रष्टा (आत्मा) का स्वयंज्योतिष्ट्व होना सिद्ध हो जाता है । इसलिये यदि
घात्मा से कामादि के आश्रयत्व की कल्पना की जायगी, तो वह बाधित हो जायगा ।

सम्पूर्ण शास्त्रो के तात्पर्यार्थ से भी विरोध होने के कारण उक्त कल्पना भ्रमान्य है । निरवयव
परमात्मा की एकदेश कल्पना तथा आत्मा कामादि का आश्रय है—ऐसा मानने से तो सम्पूर्ण शास्त्र का
अर्थ ही विप्रतिषिद्ध हो जायगा । यह बात हमने "चतुर्थे" यानी उपनिषत् के द्वितीय अध्याय मे (अज्ञात-
शत्रु ब्राह्मण मे) विस्तारपूर्वक कही है । आत्मा-परमात्मा का एकत्व यही शास्त्रप्रमेय सिद्ध करने के
लिए "आत्मा कामादि का आश्रय है" इस कल्पना का बार-बार महान् प्रयत्न करके प्रतिषेध करना
चाहिये । पुन इस कल्पना के करने पर तो शास्त्र का तात्पर्यार्थ ही बाधित हो जायगा । जिस प्रकार
इच्छादि को आत्मधर्म मानने वाले वैशेषिकों और नैयायिकों की उपनिषत् सम्मत शास्त्रतात्पर्य से
संगति नहीं बैठती, उसी प्रकार (भर्तृप्रपञ्च की) यह कल्पना उपनिषत् शास्त्र के तात्पर्यार्थ की
बाधिका होने के कारण हेय है ॥२२॥

१ सवासात् । २ हेतो । ३ तद् उक्तरीत्या सिद्ध स्थित च स्वयंज्योतिष्ट्वम् । ४ द्वितीयध्याये
अज्ञातशत्रुब्राह्मणे पृ ४६३भाष्ये 'अत्र केचिदित्यारम्भाऽऽब्राह्मणममातिपर्यन्तम् । ५ भूयो भूय इति
यावत् । ६ शास्त्रप्रमेयेति भावः । ७ उपनिषच्छास्त्रार्थेन—कामादीना मनाधर्मत्वात्प्रमेय । न मागच्छते
संवादिनो न भवन्तीत्यर्थः । ८ भर्तृप्रपञ्चोऽपि । ९ उक्तरीत्या स्वयंज्योतिष्ट्वे विद्देशि । १० मतम्
नेपाचित् भर्तृप्रपञ्चादीनाम् । ११ विप्रतिषिद्धत्वम् । १२ परमात्मना ।

स्त्रीपुंसधोरिवैकत्वात् पश्यतीत्युक्तं स्वयं ज्योतिरिति च । स्वयंज्योतिष्ट्वं नाम
'चैतन्यात्मस्वभावता । 'यदि ह्यग्न्युष्णत्वादिवचंचैतन्यात्मस्वभाव आत्मा स कथमेकत्वेऽपि
स्वभावं 'जह्यान्न जानीयात् । अथ न जहाति कथमिह सुषुप्ते न पश्यति । 'विप्रतिपिद्धमेत-

यद्वे तन्न पश्यतीत्यादिः 'संख्य वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—स्त्रीपुंसधोरिति । चकाराद्युक्तं स्वयं-
ज्योतिष्ट्वमिति संबध्यते । किमिदं स्वयंज्योतिष्ट्वमिति तदाह—स्वयंज्योतिष्ट्व नामिति । एवं
वृत्तमनूचोत्तरवाक्यव्याख्यार्थं शङ्कामाह—यदीत्यादिना । स्वभावत्वागमेवाभिनयति—न जानीयादिति ।
'तत्त्वागामाभावे सुषुप्ते विशेषविज्ञानराहित्यमपुक्तमित्याह—अयेत्यादिना । आत्मा चिद्रूपोऽपि सुषुप्ते
विशेषं न जानाति चेत्किं दुष्पत्तोत्याशङ्क्याऽऽह—विप्रतिपिद्धमिति । परिहरति—नेति । उभयं चैतन्य-

(यहाँ शङ्का होती है—) सुषुप्ति मे स्त्री और पुरुष के समान परमात्मा के साथ जीव की एकता
होने के कारण 'वह नहीं देखता है' तथा वह स्वयं ज्योति है' ऐसा कहा गया । चैतन्य आत्मस्वभाव
जिसका हो, उसे स्वयंज्योतिष्ट्व कहते हैं । यदि प्रग्न के उष्णत्वादि के समान आत्मा चैतन्य-
रूप है, तो परमात्मा के साथ एकत्व होने पर वह अपने स्वभाव का कसे छोड़ देता है अर्थात् कैसे नहीं
जानता है ? यदि वह स्वभाव को नहीं छोड़ता तो यहाँ सुषुप्तावस्था में क्यों नहीं देखता है ? वह
चैतन्य आत्मस्वभाव वाला है और आत्मा नहीं जानता—यह क्यों तो परस्पर विरुद्ध है । इस पर

१ परेण मह जीवस्य । २ चैतन्यमात्मस्वभावो यस्य तत्ता । ३ यदीति—आत्मा चिद्रूपचैतनामादिवचंचैतन्य
न त्यजेत् स्वभावस्य त्यागागामादतदचैतन्य नास्य स्वाभाविको धर्म सत्पद्मात्मनि स्वापे तदभावात् मयोगादिव-
दागन्युक्तत्वेऽपि नासावात्मन स्वता धर्म तद्वत्त्वेऽपि तथैव (चैतन्यवदव) सुषुप्तौ तन्नाश (आत्मनाश धर्मनाशे
धर्मिनायात्) स्वादात्मा जड एवति भाव । ४ स्वभाव जह्यादित्यर्थैव दिवरेणमिदम् । ५ विप्रतिपिद्धमिति—
आदित्याऽप्रकाश इतिवत्स्वयंज्योतिरिति पश्यतीति व्याहृतमित्यर्थ । ६ पूर्ववाक्येन सह । ७ स्वभावत्यागामाभावे ।

स्त्रीपुंसधोरित्यादि न जानाति चेतीत्यन्त वातिक यथा—'चैतन्यमपि नैव स्यादात्मन कामकर्मवत् । धर्मिन-
न्वयत प्राप्त इत्यवमभिचादित ॥ स्त्रीपदष्टान्तवाक्येन परिहारश्च दशित । विभागेत्त्वसद्भावाज्जाग्रदज्ञोप-
सम्पत्ते । अविभागात्मता यात न पुन कामकर्मवत् । नाधित च प्रयत्नेन स्वयंज्योतिष्ट्वमात्मन । यथात्माऽयं
स्वयंज्याति कामकर्मदिवकथम् । सुषुप्तेऽयं स्वभावत्वाज्जह्याच्चैतन्यमित्यत ॥ नास्य धर्मो भवदेतन्सुषुप्त
तददर्शनात् । नाऽऽमधर्मो विनष्टत्वात्तस्माच्चैतन्यमत्र तत् ॥ अपि विप्रतिपिद्ध च यस्वयंज्योतिरात्मकम् ।
प्रयत्नस्तु न वतीति भवत्हाभिधीयते । एवमादगुपलविधद्वदनेकान्तिकता तथा । यतोऽभावेऽप्यमवित्तिरचैतन्य-
स्येह एत्ये ॥ इत्यस्य परिहारार्थं परो ज्ञयोऽवतार्येन । यद्वै तदिजुपत्रस्य प्रत्यम्बस्तुविमुद्यम्" ॥ १३७८-
१३८४ ॥ इति, यद्वै तन्न पश्यतीत्याद मन्धार्थं वृत्त कीर्तयति—चैतन्यमिति । धर्म कामादित्त्वरचैतन्यस्यापि
मुनी हेत्वभावन सत्त्वायोगादिति ह्यर्थः ॥ उत्तमपरिहारमनुद्ववति—विभागेति । बाह्या घटादिरान्तरश्च
मुखादिविभागस्तस्य ह्युप्यक्तमान तदभावादिति यावत् । चैतन्यमिति शेष ॥ ह्यन्तरमाह—अविभागेति ।
अद्वयब्रह्मगोत्रीभूतमिति यावत् । नास्तत्त्वमगुपलविधेस्तु रित्याह—न पुनरिति । तदेव तत्रादृष्टिकारणं किं न
स्यात्तत्राऽह—साधित चति । आत्मन स्वयंज्यातिष्ट्व वागादिवदीपचारिकमित्याशङ्क्य तस्यान्यात्वभास्यत्वेन
तस्य सर्वावभासत्वत्वमैवमिच्छाह—प्रयत्नरिति । तत्र चादयति—यदीति । आत्मा चिद्रूपचैतनामादिवचंचैतन्यं
न त्यजेत्स्वभावस्य त्यागागामादतदचैतन्य नास्य स्वाभाविको धर्म सत्पद्मात्मनि स्वापे तदभावात्त्यागामादि

'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि
द्रष्टुद्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु
तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥ २३ ॥

वह जो सुपुत्रि में नहीं देखता है, निःसन्देह उस अवस्था में देखता हुआ ही नहीं देखता है, क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता । वह तो अविनाशी है । उस अवस्था में उससे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह देखे ॥२३॥

चैतन्यमात्मस्वभावो न जानाति चेति । न विप्रतिषिद्धभुभयमप्येतदुपपद्यत एव । कथम्—

स्वभावत्वं विशेषविज्ञानराहित्यं चेत्यर्थं । उभयस्वीकारे शङ्कितं विप्रतिषेधमाकाङ्क्षापूर्वकं श्रुत्या निराकरोति—कथमित्यादिना । यद्वै तदित्यादिवाक्यं 'चोदितार्थानुवादस्तत्परिहारस्तु पश्यन्नित्यादि-

मिद्वान्तो कहता है—ये परस्पर विरुद्ध कथन नहीं है, दोनों बातें कहना सुसंगत ही है । किस प्रकार ? (इस पर श्रुति कहती है—)

१ स्त्रीपुंसपरिवृत्तदृष्टान्तेनैव त्वापत्तिवशाद्विशेषज्ञानाभावो न स्वयज्योतिष्ठाभावादित्युमेव षोडशपूर्वक स्पष्टयति—
यद्वा इति । तत्तत्र सुपुत्री आत्मा न वै नैव पश्यतीति यज्जानीये तत्र तथा यतस्तत्र स्वरूपचैतन्येन सर्वसाक्षित्वा-
त्पश्यन्नेव सन् द्रष्टव्यमप्यत्रात न पश्यतीत्यपि सम्भवतीति स्वरूपदर्शनं विशेषदर्शनं च प्रतिज्ञायते इत्यर्थः ।
तत्र प्रथमप्रतिज्ञाया हेतुमाह—न हीति । द्रष्टु प्रमातुर्था सर्वसाक्षिभूता दृष्टिर्ब्रह्मा द्रष्टु कूटस्थचिन्मात्ररूपस्य
स्वरूपभूता या दृष्टिस्तस्या हि यस्माद्विपरिलोपो विनाशो न विद्यतेऽन्युष्णत्ववत् तथापि हेतुमाह—अविना-
शित्वाविति । विनाशहेतुपरिणामहीनत्वादित्यर्थः । विशेषज्ञानाभावरूपद्वितीयप्रतिज्ञाया हेतुमाह—न त्विति ।
तत्तत्र सुपुत्री आत्मस्वरूपात् द्वितीयं प्रमातुरूपं साभासान्त करणाण्यम् । आत्मस्वरूपादन्यच्च चक्षुरादि वरण
विभक्त च रूपादिप्रमेय न त्वस्ति यद् प्रमेय प्रमाता प्रमाणेन पश्येदित्यर्थः । २ आत्मा । ३ यच्छब्द-
योगात् ।

वदान्तुक्त्वेषि नासावात्मन स्वतो धर्मस्तद्धर्मत्वेषि तथैव मुनी तन्नादान्तस्मादात्मा जड एवेत्यर्थः ॥ विचा-
ऽदित्योऽप्रवास इतिवत्स्वयंज्योतिर्न पश्यतीति ध्याहृतमित्याह—अपीति । इहेति स्वापेक्षितः ॥ श्रीवाचयोक्त
समाधि शङ्कते—एकवादिति । ब्रह्मसंक्षय विद्यमानस्यैव चैतन्यस्यानुपलब्ध्या न नियतमिति रूपयति—प्रनैकान्ति-
कतेति । तथेवैतन्यादनुपलम्भश्रीकारे सतीत्यर्थः । धर्मैकान्तिवत्त्वे हेतुमाह—यत इति । लोके पापाणादी चैतन्य-
स्याभावेऽन्यनुपलम्भेरेवयस्य तत्प्रयोजकत्वात् व्यभिचारीत्यर्थः ॥ उत्तरमादत्ते—इत्यस्येति । स्वप्रकाश तत्र जडमिति
तद्विशुद्धिस्तदर्थं चोद्य समापेय तदर्थेन यद्वै तदित्यादिप्रवृत्तिरित्यर्थः ॥

* न हि द्रष्टुर्दृष्टेरित्यादौ भातिने—“न हीतिहेतुवचन प्रतिज्ञातामसिद्धिदृष्ट् । द्विप्रकारे विनाशत्र द्विहेतुत्वा
निमित्त्येते ॥ निरन्वयो विनाशोऽन्य न हीत्युक्त्या निमित्त्येते ॥ अविनाशीति चाप्यत्र विकारापह्नूत्वेव ॥
अविनाशीति मैत्रेया द्विधानागनिषेधदृष्ट् । चचन प्रागुपन्यस्त तदेवात्रापि हेतवे ॥ सर्वोन्दिह्यात्ममाक्षित्वाद्-
च्छिन्नतथाप्यमभवत् । तथा सर्वविकाराणां प्रत्यङ्मात्रैकमाक्षिता ॥ पश्यन्नेवायमत्राऽस्तं गान्धयानन्वयो ध्रुव ।
नातो यस्मादत सिद्ध आत्मा कूटस्थदर्शनः ॥ परब्रह्म परयतीरयेतत्तत्तत्र चाऽऽगम वच । न हीति तु प्रतिज्ञोक्ति-

यद्दं सुषुप्ते तन्न पश्यति पश्यन्वं तत्तत्र' पश्यन्नेव न पश्यति । यत्तत्र सुषुप्ते न पश्यतीति जानीये तन्न तथा गृह्णीयाः । कस्मात् । पश्यन्वं भवति तत्र ।

वाक्यमिति विभजते—यत्तत्रेति ।

जो यह सुषुप्ति मे गहो देखता, सो उस सुषुप्तावस्था मे वह देखते हुए भी नहीं देखता । तुम जो ऐसा जानते हो कि वह वहाँ सुषुप्ति मे नहीं देखता, उसे बँसा मत मान सो । क्यों ? क्योंकि वह वहाँ

१ सुषुप्तौ ।

रनुमास्त्यनुसारिणी ॥ हेतुतिरविनाशित्वादित्युक्तार्थप्रसिद्धये । विनाशप्रकल्पभावोक्तं प्रतिज्ञैव देशता ॥ प्रतिज्ञा-
वचनी द्वे वा पर्यायित्वादिनादिते । न हीति हेतुवचनी द्वे स्यातामुक्तं तयो ॥ पश्यन्नेवाऽऽस्त इत्यस्या प्रतिज्ञोक्तं
प्रसिद्धये । हेतुर्न हीतिवचनमुत्तरस्यापि चोत्तरम् ॥ निरन्वयविनाशस्य निषेधोऽत्र विवक्ष्यते । प्रथमे हेतुवचनमि
परिणामस्तयोत्तरं ॥ द्वौ वा हेतु यथोक्तयो द्वयोरपि प्रतिज्ञयो । आम्ना संभूय मिदोऽयं एव मन भवेद्यत् ॥
१४६६-१५०६ ॥ इति । प्रतिज्ञावाक्य पाठद्वयेऽपि व्याख्याय हेतुवाक्यमनूय तस्यायंमाह—न हीतीति । आम्ना
कूटस्थार्थादिति प्रतिज्ञासाध्यंरत्साधकत्वेन न हीत्यादिवाक्यमित्यर्थं । एकेनैव हेतुना प्रतिज्ञार्थसिद्धेय्यर्थं हेत्वन्तर-
मित्यानाहुषाऽऽह—द्विप्रकार इति ॥ कौं तां नादास्य द्वौ प्रकारौ तयोर्वा बन्ध केन निषेध इत्यासाङ्गुषोक्त
विभजने—निरन्वय इति । विपरीत्युपसर्गद्वयवशादित्यर्थं । अविनाशित्वादित्यस्य तात्पर्यमाह—अविनाशीतीति
चेति । विनाशस्यापह्नूति कारणससय सावशेषो नाशस्तत्सन्नान्यविनाशित्वादिति वचोऽस्मिन्वाक्ये प्रत्युक्तमतो
निरवशेषनाशत्वभावशेषनाशस्याप्ययोगात्कूटस्थवर्णितत्वेत्यर्थं ॥ चतुर्थे न नाशद्वय निरस्तमित्याह—अवि-
नाशीति । अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छिन्तधर्मत्वत्र नाशद्वय निषिद्ध चेतिवमितीह नियम्यते तत्राऽह—
सदेवेति । आत्मा कूटस्थार्थादिति प्रतिज्ञासाध्यं नाशद्वयभाववरूपहेतुसिद्धयर्थं चातुर्थिकमेव वाक्यमत्राऽङ्गु-
मित्यर्थं ॥ आत्मनो निरन्वयनाशाभावं हेतुमाह—सर्वेति । सर्वात्मनोच्छ्रितिनिरन्वयो नामन्तत्राऽऽत्मन
साक्षित्वात् तद्वत्तैत्यर्थं । आत्मन सावशेषनाशाभावं हेतुमाह—उच्छ्रितैवेति । उच्छ्रिति सावशेषो नाशो हेतु-
सगर्गो नाऽऽत्मनो युज्यते हेत्वभावात्तत्रापि साक्षित्वाच्च तदक्षो निर्यद्विरेवेत्यर्थं । सावशेषनाशाभावं हेत्वन्तर-
माह—तथेति । सर्वेषु विकारेषु प्रत्ययमात्रस्य साक्षित्वात्तस्याविकारित्वात् कारणसगर्गो नाश इत्यर्थं ॥
आत्मनो द्विधानाशाभावं वनितमाह—पथप्रतिनि । विधानन्तरेण वाक्य विभजते—पश्यन्तित्यादिता । प्रागमरूप
द्वि वचो न हेतुमानाऽऽशान्तिरप्येतामन्वात्वादित्यर्थं । न हीत्यादाविष्ट विभागमाह—नेति । यथा वद्विमानिति
प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये धूमवर्षादिति हेतुरुच्यते तथैव शब्दान्तरत्वेन प्रतिज्ञाय तस्यैव सिद्धयर्थमनुमाना-
नुसारिणी हेतुकारविनाशित्वादिति प्रयुज्यते तयाचानुमानवत्ताधकतत्यर्थं । आत्मव्यवहाराभाव प्रतिज्ञाया-
विनाशित्वादिति हेतु चदन माध्याविकारित्युक्त्यासाङ्गुषाऽह—विनाशेति । न चित्तम्यतीति प्रतिज्ञा विनष्टु-
मयाग्यत्वे हेतुत्तमानयावाक्येऽर्थं ॥ प्रवचानन्तरेण विभागमाह—प्रतिज्ञेति ॥ तमेव विभाग प्रकट-
यति—पश्यन्नेवेति । उत्तरस्य न पश्यन्तैत्यर्थेति यावत् । उत्तरमविनाशित्वादिति वाक्यमित्यर्थं ॥ हेतवोरैका-
धर्ममासाङ्गुषाऽह—निरन्वयति । परिणामो नियमित इति साप । प्रतिज्ञाद्वय हेतुद्वय योग्यमिति विधान्तर-
माह—द्वौ वेति । यथोक्तयो सावशेषो निरवशेषत्वेऽप्युक्तावित्यर्थं । द्वयोरिति पश्यन्न पश्यतीत्यन्यमित्यर्थं ।
अस्मिन्तरे सावशेषमाह—आम्नामिति । आम्ना हेतुम्ना सभूय स्थिताम्नामात्मना र्थात्त्वमनामात्र विवक्षितोऽर्थो
यस सिध्यमानो हेतुद्वय प्रतिज्ञाद्वयेऽपि सावशेषव वाक्यद्वय स्थिते कूटस्थवर्णित्वात्तन् स्थितमित्यर्थं ॥

नन्वेवं न पश्यतीति सुषुप्ते जानीमो यतो न चक्षुर्वा मनो वा दर्शने करणं व्यापृतमस्ति । व्यापृतेषु हि दर्शनश्रवणादियु पश्यतीति व्यवहारो भवति शृणोतीति वा । न च व्यापृतानि करणानि पश्यामः । तस्मान्न पश्यत्येवायम् । न हि । किं तर्हि पश्यन्नेव भवति । कथम् । न हि यस्माद्द्रष्टुं दृष्टिकर्तुं दृष्टिस्तस्या दृष्टेर्विप-

न होत्यादिवाक्यनिरस्यामाशङ्कामाह—नन्विति । चक्षुरादिव्यापाराभावेऽपि सुषुप्ते दर्शनादि किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—व्यापृतेष्विति । अस्तु "तर्हि" तत्रापि करणव्यापारो नेत्याह—न चेति । अयमिति सुषुप्तपुरुषोक्तिः । न पश्यत्येवेति निषमं निषेधति—न हीति । "तत्र हेतुं वक्तुं" प्रश्नपूर्वकं प्रतिज्ञां "प्रस्तौति—किं तर्हीति । "तत्राऽऽकाङ्क्षापूर्वकं हेतुवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—कथमित्यादिना ।

देखता ही रहता है ।

(पुनः शङ्का होती है—) किन्तु हम जानते हैं कि सुषुप्तावस्था में वह इस प्रकार नहीं देखता क्योंकि वहाँ चक्षु या मन कोई भी इन्द्रिय दर्शनरूप व्यापार करने वाली नहीं होती । चक्षु और श्रोत्रादि के दर्शन-श्रवणादि व्यापार में लगे रहने पर देखता है अथवा सुनता है—ऐसा व्यवहार होता है । और वहाँ हम इन्द्रियों को व्यापार में लगी हुई अनुभव नहीं करते । इसलिये यह नहीं ही देखता है । (इस पर सिद्धान्तो कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । फिर क्या है ? यह देखता हो रहता है । किस प्रकार ? क्योंकि "द्रष्टुः" यानी दृष्टि के कर्ता प्रमाता की जो साक्षीरूपा दृष्टि है, उस

- १ इत्येव जानीम इत्यन्वय । २ चक्षु श्रोत्रादियु । ३ जात्यन्वादी तथाव्यवहारादर्शनात् । ४ अनुभवाम । ५ व्यापृतकरणाभावात् । ६ किम् कोऽय निषम इत्यर्थः । ७ तर्हि—न पश्यतीति नियमाभावे । ८ प्रमानु । ९ साक्षिरूपा । १० तर्हि—व्यापृतेषु करणेषु पश्यतीत्यादि व्यवहारो सति । ११ सुषुप्तो । १२ उक्तनियमनिषेधे । १३ स्थापयति । १४ पश्यन्नेवेति प्रतिज्ञानेऽर्थे ।

नन्वेवमित्यारभ्य यावद्द्रष्टृभाविनी हि सत्यन्तभाध्वे वातिकचाचार्यस्तयाहि—“न पश्यत्येव नन्वत्र चक्षुरादेरतभवान् । कारणान्यन्तरेणेह जात्यन्वादिर्न वीक्षते ॥ नैतदेव यतो द्रष्टु कारकस्य समीक्षणे । कारणानि व्यपेक्षन्ते न त्वकारकवीक्षणे ॥ स्वप्नेऽपि चक्षुरादीनामपीति श्रूयते श्रुती । कुत सुषुप्तो तानि स्युर्यत्र तदासनाऽपि न ॥ न पश्यतीति वचन कारकादेरसभवात् । वास्तव वृत्तमापेक्ष्य पश्यन्वे तदतिरिच्ये ॥ पश्यन्नेवायमश्राऽऽरत द्रव्ये तच्चेत्कुतो भवेत् । इत्यस्य हेतुमिच्छार्थं न हि द्रष्टुद्वितीरणम् ॥ मेयमानप्रमानुणा ध्यमिचारेऽपि चाऽऽत्मन । अनन्यानुभवादेव मिद्विस्तद्वर्षममाशित ॥ प्रमात्राद्यनभिधार्ष्टं वस्तु पूर्वं समीक्ष्य हि । नात्राशमिति मंधते दृष्टवत्त्वविवात्मना ॥ यस्माद्द्रष्टुहि या दृष्टियंया द्रष्टा प्रमिध्यति । तस्या विपरिणोपोज हेतवभावान्न मुच्यते ॥ नाऽऽऽत्पत्पदाद्यो धर्मा हेतुपद्रव्युना यत । निर्हेतुमाश्रितो न स्युरागमापामिमाशित ॥ नागादि न स्वयं मिध्यद्विना नागादिसाक्षिणा । नातो विपरिणोष स्याद्द्रष्टुर्दृष्टेः कदाचन ॥ द्रष्टुरात्मेव या दृष्टि प्रत्यगदृष्ट्या भमीदयते । तस्या विपरिणोपोज न कथचन मुच्यते ॥ प्रार्थंवाऽऽत्मीयभूतस्य या दृष्टिदित्श्री । द्रष्टुविनाशिनस्तस्या नोच्छित्तिरपच्यते ॥ प्रागमापामिनो द्रष्टुर्दृष्टिस्तत्साक्षिणी तु या । द्रष्टुर्दिनीपनासित्वात्तस्या लोपो न मुच्यते । मत्स्येव साक्षिणि यतो भावाभावी प्रमिध्यत । जगतोऽनो न नाम न्यादात्पत्पदो-कुतश्च ॥” १४४-१४२७ ॥ इति । पश्यन्नेवेत्युक्तमाश्रितं—नेति । चक्षुराद्यभावेऽपि स्यान् दर्शनं किं न स्यात्तत्राऽह—करणानेति । तथा सुषुप्तोऽपीत्यर्थं ॥ द्रष्टुर्गणानुभवज्ञानस्य करणापेक्षा साक्षिण्यनु नैव नित्य-

रिलोपे विनाशः स न विद्यते । ययाग्नेरोष्णं यावदग्निभावि तयास्यं चाऽऽत्मा द्रष्टाऽ-
विनाश्यतोऽविनाशित्वादात्मनो दृष्टिरप्यविनाशिनी यावद्द्रष्टृभाविनी हि सा ।

ननु विप्रतिपिद्धमिदमभिधीयते द्रष्टुः सा दृष्टिनं विपरिलुप्यत इति च । दृष्टिश्च
द्रष्टा क्रियते । दृष्टिकृत्त्वाद्धि द्रष्टेत्युच्यते । क्रियमाणा च द्रष्टा दृष्टिनं विपरिलुप्यत

अविनाशित्वादिरथेतद्ध्याकुर्वन्द्दृष्टेविनाशाभावं स्पष्टयति—यथेत्यादिना ।

द्रष्टुर्दृष्टिनं नश्यतोत्पन्न विरोधं घोदयति—नन्विति । विप्रतिषेधमेव माधयति— दृष्टिश्चेति ।

दृष्टि का "विपरिलोप" यानी विनाश नहीं होता । जिस प्रकार अग्नि की उष्णता अग्नि की मत्ता
तक रहने वाली है, उसी प्रकार यह द्रष्टा आत्मा तो अविनाशी है । अतः आत्मा के अविनाशी होने के
वारण आत्मा की दृष्टि भी अविनाशी है अर्थात् द्रष्टा की सत्ता तक ही यह रहने वाली है ।

(इस पर मद्धा होती है—) विन्तु वह द्रष्टा की दृष्टि है और उसका लोप नहीं होता, यह
दोनों बातें तो परस्पर विरुद्ध हैं । द्रष्टा द्वारा किये जाने से दृष्टि कार्य है । दृष्टि का वर्ता होने से द्रष्टा
कहा जाता है । द्रष्टा को कार्यभूता दृष्टि है और उसका लोप नहीं होता । (कार्यनाश के प्रवश्यंभावी
होने से) ऐसा कहना असंभव ही है । यदि कहो कि 'लोप नहीं होता' इस श्रुतिवचन के अनुसार

१ तथा च नायमेव मेति भाव । २ द्रष्टु कार्यभूता ।

ज्ञानत्वादित्याह—नैतदिति ॥ किञ्च प्रमानुरूपि न चधुराद्यपेदानियम स्वप्ने दृष्ट्यादिध्यापारेऽपि वरणोपनंहार-
श्रुतेरित्याह—स्वप्नेऽपीति । अनुमन् मुनानित्याद्या श्रुति । सोपुसत्य साक्षिणश्चधुराद्यपेसायोगेऽविना सूचित
कैमुतिवन्त्यायमाह—कुत इति । तच्छब्दश्चधुरादिविषय ॥ अविरोधमुपनंहरति—नेत्यादिना । न हीत्यादि-
भावयमाकाङ्क्षापूर्वकमादत्ते—पश्यन्निति । पश्यन्नेवाऽऽप्ते सुप्तावात्मेत्यस्यापशितो हेतु स्वरूपज्ञानविनाशस्तत-
स्तत्प्रतिरन्त्यर्थं न हीन्यादिवाक्यमित्यर्थं ॥ कुतो मानाद्यतिरेकेण स्वरूपज्ञानादेवाऽऽत्मन मिद्धिस्तत्राऽह—
मेयति । मात्राद्यभावमाशित्वादात्मा तदभावेऽपि स्वरूपज्ञानादेव सिध्यतीत्यर्थं ॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह—प्रमात्रा-
दीति । पूर्वं प्रमाणादिप्रवृत्ते प्रागवस्थायामित्यर्थं । प्राचीनानुभवपुर मरमनुमंधानमित्यत्र प्रमिद्धिद्योतको
हिाशब्द । प्रमाणतो दृष्टस्य पुनरनुमंधानवत्तेनारदृस्यापि स्वरूपज्ञाना प्रतिपन्नस्यानुगधानदंगनासदविनाशिते-
त्यर्थं ॥ तात्पर्यं दुःखा न हीन्याद्यधराणि व्याचष्टे—यस्मादिति । दृष्टि विशिनष्टि—यथेति । मनोवृत्तिव्युत्पत्तौ
विषेयार्थं । तस्मादात्मा पश्यन्नेव सुप्तो निद्रानांति दीप । श्रोतो हिाद्यो हिाद्येनाहृत । तूर्नायत्येवमांवे ।
आत्मा चाप दृष्टिरूप स्फुरति सा तस्य स्वरूपत्वात्प्रसाकाभावाद्यनो न लुप्यन्तेऽत्र सुप्तावात्मा पश्यन्नेवेति
योजना । हेत्वभाव प्रपञ्चयध्रविनाशित्वादित्यस्यार्थमाह—नामेति । अने हेतुहीनमाक्षिणो नाशदयो नेत्यत्र
हेत्वन्तरमाह—आगमेति । तस्य साक्षिणस्यत्वामिद्धिनासाङ्क्याऽह—नागादीति । अन्यथा जडताहानिरिति
भाव । आत्मनरत्ताक्षयत्वे पवित्तमाह—नात इति ॥ प्रमात्रा तस्मिन्नेत्य साक्षिणेत्यादाङ्क्य तद्भावभावयो-
स्तदसिद्धेर्मेवमिति भव्याऽह—द्रष्टुरिति । तत्रानुभवं प्रमाणयति—प्रत्यगिति । आत्मदृष्टेः सर्वमाधकत्वे
क्रियायात् तदह—तरया इति । स्वाप सप्तम्यर्थं । बन्धनन स्वतो वा परतो वेत्यर्थं ॥ भाऽपि दृष्टित्वानामृ-
दृष्टिवृत्तद्योतयाराङ्क्याऽह—आत्मेति । नाशयोऽत्यत्वमुपाधिरिति भावः ॥ साधनव्याप्तिमासाङ्क्याऽह—
आगमेति ॥ आत्मदृष्टेर्नायत्वे हेत्वन्तरमाह—गत्येवेति । जगतो भावाभावयोर्द्वैतवाऽऽत्मसाक्षित्वादात्म-
स्वरूपभूता साक्षिदृष्टिरविनाशिनीत्यर्थं । इहेति हेतुभावयोक्तिः ॥

इति 'चाशक्यं वक्षुम् । ननु न विपरिलुप्यत इति वचनादविनाशिनी स्यात् । न । वचनस्य ज्ञापकत्वात् । न हि 'न्यायप्राप्तो विनाशः' कृतकस्य वचनशतेनापि धारयितुं शक्यते । 'वचनस्य यथाप्राप्तार्थं ज्ञापकत्वात् ।

नैप दोषः । आदित्यादिप्रकाशकत्ववद्दर्शनोपपत्तेः । यथाऽऽदित्याद्यो नित्य-
प्रकाशस्वभावा एव सन्तः स्वाभाविकेन नित्येनैव प्रकाशेन प्रकाशयन्ति । न ह्यप्रकाश-

कार्यस्यापि वचनादविनाशः स्यादिति शङ्कते—नन्विति । 'तस्याकारकत्वान्नेवमिति परिहरति—न वचनस्येति । 'तदेव स्फुटयति—न हीति । यत्कृतकं तदनित्यमित्यध्याप्यनुगृहीतानुमानविरोधाद्वाच्यो न कार्यनित्यत्वबोधकमित्यर्थः ।

कूटस्थदृष्टिरेवात्र द्रष्टृशब्दार्थो न दृष्टिकर्ता तत्र विप्रतिषेधोऽस्तीति सिद्धान्तयति—नैप दोष इति । आदित्यादिप्रकाशकत्ववदित्युक्तं दृष्टान्तं ध्याचष्टे—यथेति । दृष्टान्तेऽपि विप्रतिषन्नं प्रत्याह—न

बह्वविनाशी होनी चाहिये । तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वचन तो ज्ञापक है । कार्य का नाश अनुमानप्राप्त है । अतः उसको संकटो श्रुतिवाक्यो से भी रोका नहीं जा सकता क्योंकि वचन तो यथाप्राप्त अर्थ को ज्ञापित करता है ।

(इस शङ्का का समाधान किया जाता है)—यह कहना दोष नहीं है क्योंकि आदित्यादि के प्रकाशकत्व के समान दर्शन सिद्ध ही है । जिस प्रकार आदित्यादि नित्यप्रकाशक स्वभाव होते हुए ही अपने निरह्य स्वाभाविक प्रकाश से प्रकाशित करते हैं, वे स्वयं अप्रकाशस्वरूप होकर अपने से

१ कार्यस्य नाभावव्यभावात् । २ न्यायोऽनुमानम् । ३ कार्यस्य । ४ यद्यपि मानान्तरविरुद्धमर्थं वचो न बोधयति तथापि तं करोतीत्याशङ्क्याऽऽह—वचनस्येति । तदुक्तं वातिके—“सिद्धस्य व्यञ्जनं मानं न तु उत्कारकं यत । उक्तेनन्तोऽविनाशित्वं द्रष्टृदृष्टेरिहेत्येत” ॥ १४३१ । इति । इहशब्द पूर्वार्थंयापी मानभूमिविषयश्च । उक्तेर्वचनादित्यर्थः । ५ नैप दोष इति—वातिके तु द्रष्टृदृष्टेरिति समावाधिकरणे पृष्ठयो दृष्टेरिति च द्रष्टृरित्यस्य विशेषण तथा च दृष्टिरूपस्य द्रष्टृरित्येवमर्थोऽत्र वणित । ६ प्रवान-
यन्तीत्येवं प्रकाशकत्वेनोच्यन्त इत्यर्थः । ७ वचनस्य । ८ अकारकत्वमेव ।

ऋ नैप दोष इत्यादि न विप्रतिषेधगन्धोऽप्यस्तीत्यन्तभाष्य वातिकार्थारस्तथाहि—'नैप दोषो यतो द्रष्टु श्रुतिराह विशयणम् । द्रष्टृदृष्टेरिति ततो द्रष्टा नैवेह कारकम् ॥ देहान्ता दृष्टिकारी यो द्रष्टा धर्मादिहेतुमान् । दृष्टेर्द्रष्टृश्च तापोऽत्र प्रत्यग्दृष्ट्येवनाशिक ॥ प्राक्प्रमात्रादिमभूतेर्था तु दृष्टिकर्तृत्वा । द्रष्टृदिनाशनाशित्वात्मा दृष्टिरविनश्चरी । दृष्टिरेव तु सा द्रष्टा न तु कारकलक्षणम् । द्रष्टृविशेषणत्वेन दृष्टेरिति परिग्रहात् ॥ परिशोषा हि कार्याणां लोके मिदं स्वकारणे । नात कारणरूपस्य नाप्यकारकवन्मुन ॥ अभावस्य च भावत्वाद्भाव-
सिद्धेश्च दृष्टि । दृष्टो नाभावश्चाप्यत्र सर्वमिदंस्तदवभावात् ॥ न मुमुक्षुप्रसिद्धिं स्याददृष्टत्वाभावेद्यदि । जन्म-
नागादिहानेयमता दृष्टि परात्मनः ॥ १४३२-१४३८ ॥ इति । कूटस्थदृष्टिरेवात्र द्रष्टृशब्देनाप्यन्ते न दृष्टिकर्ता तत्र विप्रतिषेधाऽस्तीत्याह—नेति । न हि द्रष्टुरिति श्रुतिर्दृष्टेरिति विशेषणं द्रष्टृराचष्टे पृष्ठयो मामाना-
धिकरण्यादता द्रष्टा साक्षी न वत्तैवविशेष इत्यर्थः । पृष्ठयो मामानाधिकरण्यमुपेत्य कूटस्थदृष्टिरात्मेत्यादिदृष्टमय तयोर्वैयधिकरण्येऽपि तयोस्याह—देहान्त इति । यो धर्मादिमानुषद्विदिदेहान्तो दृष्टिकारो द्रष्टा तस्य तद्वृत्तायाश्च एतेनाऽन्वापादो प्रत्यग्दृष्टिमात्राप्रसिध्यत्यतो द्रष्टृर्वा साक्षिभूता दृष्टिस्तस्या प्रतिष्या न नाम इत्यर्थः ॥

त्मानः सन्तः प्रकाश कुर्वन्तः प्रकाशयन्तीत्युच्यन्ते । किं तर्हि स्वभावेनैव नित्येन प्रकाशेन ।
तथाऽप्यमप्यात्माऽविपरित्तुमस्वभावया दृष्ट्या नित्यया द्रष्टेत्युच्यते । गौणं तर्हि द्रष्टृ-
त्वम् । 'नैवमेव मुख्यत्वोपपत्तेः । यदि ह्यन्यथाऽप्यात्मनो द्रष्टृत्वं' दृष्टं तदाऽस्य द्रष्टृ-
त्वस्य गौणत्वं न त्वात्मनोऽप्यो दर्शनप्रकारोऽस्ति । तदेवमेव मुख्यं द्रष्टृत्वमुपपद्यते

होति । दर्शनोपपत्तेरित्युक्तं दार्ष्टान्तिकं विभजते—तथेति । आत्मनो नित्यदृष्टित्वे दोषमाशङ्कते—
गौणमिति । गौणस्य मुख्योपेक्षत्वात् न मुख्यस्य चान्यस्य द्रष्टृत्वस्याभावात् नैवमित्युत्तरमाह—नेत्यादिना ।
तामेवोपपत्तिमुपदर्शयति—यदि हीत्यादिना । अन्यथा कूटस्थदृष्टिस्वमन्तरेणेति यावत् । दर्शनप्रकार-
स्यान्यत्वं क्रियात्मत्वम् । 'तस्य निष्क्रियत्वश्रुतिस्मृतिविरोधादिति शेषः । द्रष्टृत्वान्नरानुपपत्ती

भिन्न प्रकारा उत्पन्न करके प्रकाशित करते हैं—ऐसा उनके लिए नहीं कहते । तो फिर क्या है ? वे
अपने स्वभावरूप नित्य प्रकाश से प्रकाशकर्तृत्व कहे जाते हैं । इसी प्रकार यह आत्मा भी अनुस-
स्वभावा नित्यदृष्टि होने के कारण 'द्रष्टा' कहा जाता है । (यहाँ घड्का होती है—) तब तो (बिना
विकार के प्रकाशकत्व होने से) इसका द्रष्टृत्व गौण है । (इसका समाधान देते हैं—) नहीं । इसी
प्रकार नित्य दृष्टित्व से ही इसका मुख्यत्व सिद्ध हो सकता है । यदि आत्मा का द्रष्टृत्व किसी दूसरी
तरह से देखा गया होता तो इसके (कूटस्थ दृष्टिरूप) द्रष्टृत्व को गौणता हो सकती थी, किन्तु आत्म-
दर्शन का कोई दूसरा प्रकार तो है ही नहीं, इसलिए इसी प्रकार आत्मा का मुख्य द्रष्टृत्व समझ ही

१ तर्हीति - नित्यदृष्टित्वे नैवात्मनो द्रष्टृत्वे । गौणम् बिना विकार प्रकाशकत्वम् । अग्निर्माणवक इतिवद्गौण-
मेव स्यात् मुख्यमित्याशयः । २ नित्यदृष्टित्वेनैव । ३ भवत् । ४ कूटस्थदृष्टिरूपस्य । ५ स्यात् ।
६ मुख्यस्य चान्यस्यति विकाररूपस्येत्यर्थः । ७ द्रष्टृत्वस्याभावादिति—नश्यत्वेव प्रमातरि दर्शनक्रिया-
कर्तृत्वं बिभाररूपं मुख्यं द्रष्टृत्वमिति चन्न दर्शनस्य नित्यचिद्रूपतया क्रियात्वाभावेन तत्त्वतृत्वस्य बुद्धान्य-
मभवान् दर्शनोपायेषु तैरेव च भूरादिजन्यतया प्रमातरि तथा प्रतीतिरौपाधिर्वा । वस्तुतस्तु वृत्तेरपि वस्तुप्रमाण-
मबन्धमात्राधीनजन्यतया न प्रमातृकृतिमाध्यत्वं कुतस्तथा चिदर्शनस्य प्रमा प्रति बर्तृत्वव्यवहारस्तु
प्रमोत्पत्त्यनुकूलविषयन्द्रियसत्त्वानुकूलकृतिमत्त्वात्प्रमातृयोपचारिक एव । किं च चेतनश्चेतनानामित्यादि श्रुते-
रात्मद्रष्टृत्वाधीनमेव प्रमातुर्द्रष्टृत्वम् । एव च सत्यात्मद्रष्टृत्वं गौणं प्रमातुञ्च तन्मुख्यं वदन् श्रीवास्यमुत्तमोत्त-
मौल्यं दर्शनस्यमुत्तमोत्तं न मुख्यं बुद्धना तुल्यं स मन्वेषेक्षणीय एव परीक्षणाणामापयेतत्यलम् । ८ क्रिया-
त्मदर्शनस्यात्मनो वा ।

आत्मा द्रष्टृत्वदृष्टिरुक्तमुपादायति—प्रागिति । स्वापादौ तादृशी दृष्टिरभिज्ञेयानुद्गृह्याह—द्रष्टृदिति ॥ वैय-
धिक्यरूपपक्षं हित्वा पक्षात्तरमाधित्याऽह—दृष्टिरिति । मा दृष्टिरेव द्रष्टा न तत्कर्मैव शोक्तं हेतु स्मारयति—
द्रष्टृमिति । आत्मदृष्टेरेतानो हेतवन्तरं वस्तु सामान्यन्यायमाह—परिलोपो हीति । आत्मदृष्टेस्तु कार्यवैकल्या-
प्रोक्तनामसिद्धिरित्याह—नात इति । परित्यागोऽस्तीति शेषः । अज्ञानवदात्यन्तिकनाममादात्तु च कारणवैकल्या-
न्मैवमित्याह—नापीति ॥ तदपरित्यागं युक्त्यन्तरमाह—अभावस्यति । न हि स भावाद्भिद्यते भेदस्य भावत्वे
तन्निद्रावायोपादाभावत्वेऽपि स एव दोषस्तथा च तस्य भावातिरेकियोभावात्तल्लिङ्गे दृष्ट्यधीनत्वात्तस्मात्तं नाग-
दात्तुत्यर्थः । भावादभावस्यान्यत्वेऽपि सर्वदृष्टेरेष्ट्यधीनत्वादात्मा द्रष्टृत्वदृष्टिरेवत्याह—अत इति ॥ इतश्चाऽऽज्य-

'नान्यथा । यथाऽऽदित्यादीनां प्रकाशयितृत्वं नित्येनैव स्वाभाविकेनाक्रियमाणेन प्रकाशेन तदेव च प्रकाशयितृत्वं मुख्यं प्रकाशयितृत्वान्तरानुपपत्तेः । 'तस्मान्न द्रष्टृदृष्टिद्विपरिलुप्यत इति' न विप्रतिषेधगन्धोऽप्यस्ति ।

नन्व नित्यक्रियाकर्तृ विषय एव तृचप्रत्ययान्तस्य शब्दस्य प्रयोगो दृष्टो यथा छेत्ता भेत्ता गन्तेति तथा द्रष्टेत्यत्रापेति चेत् । न । 'प्रकाशयितेति दृष्टत्वात् । भवतु प्रकाश-

फलितमाह—तदेवमेवेति । नित्यदृष्टिद्वेनेत्यर्थः । उच्यतेऽर्थे दृष्टान्तमाह—यथेत्यादिना । तथाऽऽत्मनोऽपि द्रष्टृत्वं नित्येनैव स्वाभाविकेन चेतन्यज्योतिषा सिध्यति तदेव च द्रष्टृत्वं मुख्यं द्रष्टृत्वान्तरानुपपत्तेरिति शेषः । आत्मनो नित्यदृष्टिस्वभावस्ये फलितमाह—तस्मादिति ।

तृजन्तं द्रष्टृशब्दमाश्रित्य शङ्कते—नान्वाति । अत्राप्यनित्यक्रियाकर्तृ विषयस्तृजन्तशब्दप्रयोग इति शेषः । तृजन्तशब्दप्रयोगस्यानित्यक्रियाकर्तृ विषयत्वं व्यभिचारयन्तुत्तरमाह—नेति । वैपम्यमाशङ्कते—भवदिति । आदित्यादिषु स्वाभाविकप्रकाशेन प्रकाशयितृत्वमस्तु कादाचित्कप्रकाशेन

सकता है; किसी दूसरी तरह से नहीं । जिस प्रकार आदित्यादि का प्रकाशकत्व नित्य, स्वाभाविक और अक्रियमाण प्रकाश के कारण है और वही मुख्य प्रकाशकत्व भी है क्योंकि उसका कोई अन्य प्रकाशक सिद्ध नहीं होता । इसलिए "द्रष्टा को दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता" इस श्रुतिवाक्य में परस्पर विरोध की गन्ध भी नहीं है ।

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु 'तृच'प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग तो अनित्य क्रिया के कर्ता के विषय में भी देखा गया है, जिस प्रकार छेत्ता, भेत्ता और गन्ता इत्यादि हैं; इसी तरह 'द्रष्टा' पद समझना चाहिये । (इसका समाधान दिया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि (कादाचित्क क्रिया के बिना भी सूर्य के विषय में) प्रकाशयिता ऐसा प्रयोग देखा जाता है । (प्रतिशब्दो पुनः शङ्का करता है—)

१ नान्यथेति—प्रतीचोऽक्रियवोधस्य सन्नधिमात्रेण सर्वजगत्प्रतीतिरेव तद्भ्रामकत्व न तु तद्विकारद्वारा तया-विषयभावकत्वे मानाभावान् तद्विदमेव मुख्यमिति भाव । २ अत्रतरणोक्तत्वात् । ३ इत्यत्र । ४ प्रकाशयितेति—कादाचित्कक्रिया विनापि सविता प्रकाशयिता व्याप्तु विषयदिति तृच प्रयोगदर्शनाद्दृष्टिस्वस्वोऽप्यात्मा द्रष्टेत्यविरुद्धमित्यर्थः । ५ स्वरूपभूतप्रकाशेन ।

दृष्टिरनाशिनीत्याह—नत्यादिना । न चानुमानादेव तस्मिद्धेरत्वं कूटस्थदृष्टेति युक्तं तद्द्विधाभिज्ञानभावे तदनुत्पानान्न चाह स्वप्रजागरान्तराले दुस्साद्यनुभवशून्यस्तत्कालीनतदीयस्मरणविरहित्वात्पापाणवदिति वाच्यं तदीयस्मृत्युभावस्यापेक्षणीयतृणादावनुभवाभावासाधकत्वेन व्यभिचारित्वादतो दृष्टिरेव कूटस्था तत्माधिनेति भाव । कूटस्थदृष्टिरात्मेत्युक्तमुपसहरति—जन्मेति ॥

६ नन्विदमिति दृष्टत्वादित्यन्तभाष्ये वातिवाच्यार्थस्तथाहि—'घनतृजन्तप्रदण्णदृष्टिस्वेत्स्यात्सकृत्' का । पश्यन्द्रष्टुरिति ह्येव नैव कर्त्ताऽसम्भवात् ॥ नह बुद्धधादिमद्भ्रवस्तदाज्जीति श्रुतेर्भवेत् । मुपुत्तेजो न पात्वयं प्रत्ययार्थेन नैप्येन ॥ कर्त्तादिकारकं नो केत्पुपुष्टे विद्यन कथम् । पश्यन्द्रष्टुरिति वच, कूटस्थ उपपद्यते ॥ यथाऽवकासादात्रिति भण्यते निष्क्रियं विषयत् । घनतृजन्तवचमा तथाऽऽत्मा भण्यते ध्रुव ॥ १।४।३६-१-४४२ ॥ इति । पश्यन्निद्रि शत्रन्तस्य द्रष्टुरिति तृजन्तस्य च श्रवणाद्भावत्वमप्यसकृत् का दृष्टिर्न कूटस्थेति शङ्कते—शान्ति । प्रयोगद्वयस्य क्रियापेक्षकत्व प्रसिद्धमिति ह्यिन्द्रायं । घानुप्रत्ययार्थयो मुमावयोगाद्दृष्टिवौटस्य-

केष्वन्यथाऽसंभवाद्भवत्वात् नोति चेत् । न । दृष्ट्यविपरिलोपश्रुतेः । 'पश्यामि न पश्यामीत्यनुभवदर्शान्नेति चेत् । न । करणव्यापारविशेषापेक्षत्वात् । 'उद्धृतचक्षुषां च स्वप्न आत्मदृष्टेरविपरिलोपदर्शनात् । 'तस्मादविपरिलुप्तस्वभावेवाऽऽत्मनो दृष्टिः । 'अतस्तयाऽविपरिलुप्तया दृष्ट्या स्वयंज्योतिःस्वभावया 'पश्यन्नेव भवति सुषुप्ते ।

प्रकाशयितृत्वस्य तेष्वासंभवाद्भवत्वात् नित्या दृष्टिरस्ति तन्मानाभावात् । 'तथा च कादाचित्कदृष्ट्यं च तस्य दृष्ट्येतेत्यर्थः । प्रतीचश्रिद्रूपत्वस्य श्रुतत्वात्कर्तृत्वं विना प्रकाशयितृत्वमविशिष्टमित्युत्तरमाह—न दृष्टीति । कूटस्थदृष्टिरात्मेत्युक्ते प्रत्यक्षविरोधं शङ्कते—पश्यामीति । द्विविधोऽनुभवस्तस्य कूटस्थदृष्टित्वमनुगृह्णाति चक्षुरादिव्यापारभावाभावापेक्षया पश्यामि न पश्यामीति धियोरात्मसाक्षिकत्वादित्युत्तरमाह—न करणेति । आत्मदृष्टेर्नित्यत्वे हेत्वन्तरमाह—'उद्धृतेति । आत्मदृष्टेर्नित्यत्वमुपसहरति—तस्मादिति । तन्नित्यत्वोक्तिरुत्तरमाह—अत इति ।

प्रकाशकौ मे अन्यथा असंभव होने से भले ही ऐसा प्रयोग होता हो किन्तु आत्मा के विषय में तो ऐसा नहीं कहा जा सकता । (इस पर वादी कहता है—) ऐसा समझना ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ आत्मदृष्टि के लोप न होने की प्रतिपादिका श्रुति है । (प्रतिवादी कहता है—) 'मैं देखता हूँ—मैं नहीं देखता' ऐसा अनुभवसिद्ध होने से आत्मदृष्टि नित्य नहीं हो सकती । (वादी उक्त मत का दूषण प्रस्तुत करता है—) ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि यह अनुभव तो चक्षु इन्द्रिय के विशेष व्यापार की अपेक्षा से है । अन्धों को भी स्वप्न दृष्टि अनुभव होती है, इसलिए आत्मदृष्टि नित्य है । अतः उम यविनादिनी दृष्टि से सुषुप्ति में देखता ही रहता है ।

१ श्रुतेरिति—'स्वयंज्योतिष्पदास्त्राच्च प्रत्यगात्मा प्रकाशक । ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमेवेति च शास्त्रतः" ॥ वा १४६५-६६ ॥ इति । चकारो द्रष्टृदे (प्रमानादे) आडभात्र स्वता भानमिति युक्तिसमुच्चयार्थः । २ पश्यामीत्यादि—एवं कादाचित्कदर्शनवत्त्वप्रतीतेर्न कूटस्थदृष्टिरात्मेति भाव । ३ उद्धृतेति—अन्धानामपि स्वप्ने दृष्टिरनुभूयतेऽतो नित्या आत्मदृष्टि । स्वप्ने वासनामध्यव सा सत्य जात्यन्वे तु वामनापि नो तत्र जगन्मात्ररीवेति चज्जगन्मात्रसाधककूटस्थदृष्टिप्रोव्यामित्या दृष्टिरेष्ट्येत्यर्थः । ४ तस्मात्—आत्मदृष्टेर्नित्यत्वे बाधवाभावात् साधकस्य च सत्त्वात् । आगमापायिन तत्रस्य प्रत्यद्दृष्टेर्नसाक्षित्वाच्चेत्यर्थः । ५ अतस्तरणोक्तत्वात् । ६ पश्यन्नेव भवतीति । तथा च वार्तिवे—'पश्यामीति यथाऽऽक्षिरात्मदृष्ट्यं च जागरे । न पश्यामीत्यपि तथा नित्यदृष्ट्यं च बोधसे" ॥ १४७४ ॥ इति ॥ ७ असंभवादिति—तथा प्रकाशकस्त्वत्वादिति भाव । ८ तन्मानाभावादिति—तथा च विकारेण भाव्यमिति श्रुतीति । ९ तथा चेति—आत्मनो नित्यदृष्टित्व मानाभावे सतीत्यर्थः । १० साधयति । ११ उद्धृतेतीति । नित्या चेदात्मदृष्टिस्ताह मर्षं मर्षदा विमिति नानुभूयत इत्याशङ्क्य ममाहित वार्तिवे तथाहि—'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिरस्मद्वीपरिर्मोषणात् । तमोहपमिवाऽऽभाति भानुर्नक्तदशामिवे' ति शेषः ॥ १४७२ ॥ नननद्ग उक्त्वादय ।

मिवाह—नैवमिति ॥ हेतु साधयति—नेति । प्राण सहि वाग्येतीत्याद्या श्रुति । कारकाभावे पलितमाह—सुषुप्त इति ॥ कादाचित्की दृष्टिस्तत्कर्ता च स्वापे नास्ति कारकाभावादित्यत्र शङ्कते—वर्तीतीति । मरुत्पान्तं समापते—यथेति ॥

कथं तद्दि न पश्यतीति । उच्यते । न तु तदस्ति । किं तत् । द्वितीयं विषयभूतम् । किं विशिष्टम् । ततो द्रष्टुरन्यदन्वत्वेन विभक्तं यत्पश्येद्यदुपलभेत । यद्धि तद्विशेषदर्शन-कारणमन्तःकरणं चक्षू रूपं च तदविद्ययाऽन्यत्वेन 'प्रत्युपस्थापितमासीत् । तदेतस्मिन्काल एकीभूतम् । 'आत्मनः परेण परिष्वङ्गात् । 'द्रष्टुर्हि परिच्छिन्नस्य विशेषदर्शनाय करणान्येन्यत्वेन व्यवतिष्ठन्ते । अयं तु 'सर्वात्मना 'संपरिष्वक्तः स्वेन परेण प्राज्ञेनाऽऽत्मना प्रिययेव पुरुषः । 'तेन न पृथक्त्वेन व्यवस्थितानि करणानि विषयाश्च । 'तदभावाद्द्विशेषदर्शनं नास्ति । करणादिकृतं हि "तन्नाऽऽत्मकृतम् । आत्मकृतमिव प्रत्यव-

वावधान्तरमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्पाद्य व्याचष्टे—कथमित्यादिना । द्वितीया"विपदानां पौन-रुक्तधमाशङ्क्यायमेवं दर्शयति—यद्यतीत्यादिना । साभासमन्तःकरणं यत्पश्येदिति" विशेषदर्शनकारणं "प्रमात् "द्वितीयं तस्माद्"न्यञ्जुरादि प्रमाण रूपादि च प्रमेय "विभक्तं तत्सर्वं जाग्रत्स्वप्नयोर्बिद्या- "प्रतिपन्नं सुषुप्तिकाले कारणमाप्रती गतमभिव्यक्तं नास्तीत्यर्थः । सुषुप्ते "द्वितीयं प्रमात् रूपं नास्ती-त्येतदुपपादयति—आत्मन इति । प्रमात् रूपं पृथङ्नास्तीति शेषः । "तथाऽपि करणव्यापारकृतं विषय-दर्शनमात्मनः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—द्रष्टुरिति । सुषुप्तस्यापि परिच्छिन्नत्वमाशङ्क्याऽऽह—अयं त्विति । "तस्य परेणैकीभावफलमाह—तेनेति । विषयेन्द्रियामावकृतं फलमाह—तदभावादिति । किमिति विषयाद्यभावाद्द्विशेषदर्शनं निविध्यते सत्यमेव "तस्याऽऽत्मसत्त्वाधीनं किं न स्यादित्याश-ङ्क्याऽऽह—करणादीति । "नन्ववस्याद्यपे विशेषदर्शनमात्मकृतं प्रतिभाति "तस्य "प्रधानत्वादत्

(इस पर प्रतिवादी कहता है—) 'वह नहीं देखता है—' ऐसा क्यों कहा जाता है ? (वादी समाधान देता है—) इसे बतलाया जाता है । यहाँ तो वह वस्तु ही नहीं है । वह क्या है ? द्वितीय विषयभूत वस्तु । किस विशिष्टता वाली है ? उस द्रष्टा से 'अन्यत्' अर्थात् अन्य रूप से विभक्त, जिसे कि वह देखे, अनुभव करे । क्योंकि जो उस विशेष दर्शन का कारण चक्षुरूप अन्तःकरण था; वह अविद्या से आत्मभिन्न प्रत्यायित था । वह इस समय प्रमाता आत्मा का परमात्मा के साथ एकी-भाव होने से वह एकरूप हो गया है । (जाग्रत् स्वप्नावस्था वाले) प्रमाता द्रष्टा के विशेष दर्शन के लिए ही इन्द्रियाँ आत्मभिन्न रूप से प्रतिष्ठित रहती हैं । किन्तु इस समय जैसे पुरुष अपने प्रिया से परिष्वजित होता है, उसी प्रकार वह संपरिच्छिन्न रूप से अपने पर स्वरूप प्राणात्मा से एकीभूत रहता है । इसलिये उस अवस्था में इन्द्रिय और विषय पृथक् रूप से प्रतिष्ठित नहीं रहते और पृथग्विषयादि का अभाव होने के कारण विशेष दर्शन भी नहीं होता । क्योंकि वह तो इन्द्रियादि

- १ अन्यन्वेवायमन्तस्त उक्तं तति । २ आत्मभिन्नत्वेन । ३ प्रस्थापितम् । ४ प्रमात् । ५ परमा-त्मना । ६ एकीभावात् । ७ जाग्रत्स्वप्नावस्थस्य । ८ प्रमात् । ९ आत्मभिन्नत्वेन । १० अय-रिच्छिन्नेन । ११ एकीभूत । १२ अवतरणोत्तरत्वात् । १३ पृथग्विषयाद्यभावात् । १४ विशेष-दर्शनम् । १५ आदिना अन्यद्विभक्तमिति पदद्वयं शाह्यम् । १६ इत्येतत्पदवाच्यम् । १७ ओतद्वितीय-वदार्थं । १८ प्रमात् । १९ अन्यगदार्थं । २० विभक्तपदार्थः । २१ प्रतीयमानम् । २२ द्वितीयपदाभिधेयम् । २३ अनेदेन पृथक्प्रमात्रभावेऽपि । २४ सुषुप्तस्य । २५ विशेषदर्शनस्य । २६ जाग्रत्स्वप्नावस्थादये । २७ आत्मनः । २८ ब्रह्मण्यपेक्षया ।

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वं तन्न जिघ्रति न हि
 घ्रातुर्घातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु
 तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥ २४ ॥
 यद्वै तन्न रसयते रसयन्वं तन्न रसयते न हि
 रसयित् रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु
 तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत् ॥ २५ ॥

वह जो उस प्रवस्था में सूँघता नहीं (इसका यह अर्थ नहीं है कि उसकी गन्धग्रहण करने वाली शक्ति का सर्वथा लोप हो गया है) वह तो सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता, सूँघने वाले की सूँघने की शक्ति का सर्वथा लोप होता ही नहीं क्योंकि वह नाशरहित है। हाँ यह बात सत्य है कि उस समय उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती, जिसे कि वह सूँघे ॥ २४ ॥

वहाँ पर वह जो रस नहीं लेता नि सन्देह वह रस लेता हुआ ही रस नहीं लेता है। रसग्रहण करने वाले को रसग्रहणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु उस प्रवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु रहती ही नहीं जिसका कि वह रस लेवे ॥ २५ ॥

भासते । तस्मात्तत्कृतेय भ्रान्तिरात्मनो दृष्टिः परिलुप्यत इति ॥ २३ ॥

समानमन्यत् । यद्वै तन्न जिघ्रति । यद्वै तन्न रसयते । यद्वै तन्न वदति । यद्वै
 तन्न शृणोति । यद्वै तन्न मनुते । यद्वै तन्न स्पृशति । यद्वै तन्न विजानातीति । मनन-

ब्राह्— घ्रात्मवृत्तमिवेति । नस्वित्यादेस्तात्पर्यमुपसहरति—तस्मादिति । प्रमानुकरणविषयकृतत्वाद्वि-
 शेषदृष्टेस्तेषां च सुषुप्तावभावान्तरकार्याया विशेषदृष्टेरपि यावत् । तत्कृता जागरादावात्मकृतत्वेन
 भ्रान्तिप्रतिपन्नविशेषदर्शनाभावप्रयुक्तेत्यर्थः ॥ २३ ॥

यद्वै तन्न पश्यतीत्यादावुक्त्यायमुत्तरवाच्येष्वतिदिशति— समानमन्यदिति । मनोबुद्धयो-
 साधारणकरणत्वात्पृथग्व्यापाराभावे कथं पृथङ्निर्देशं स्यादित्यागच्छाऽऽह—मननेति ।

द्वारा किया हुआ है, आत्मा द्वारा किया हुआ नहीं है। आत्मा का किया हुआ सा है—ऐसा केवल
 लगता है। अतः उसी व कारण ऐसी भ्रान्ति होती है कि आत्मदृष्टि का लोप होता है ॥२३॥

जो यह सुषुप्तावस्था में नहीं सूँघता, वह सूँघते हुए भी नहीं सूँघता है'। 'जो यह सुषुप्ता-
 वस्था में रस का आस्वादन नहीं करता, वह रस का स्वाद लेते हुए भी रसास्वादन नहीं करता'। 'जो
 यह सुषुप्तावस्था में बोलता नहीं, वह बोलते हुए भी नहीं बोलता है'। 'जो यह सुषुप्तावस्था में नहीं
 सुनता, वह सुनते हुए भी नहीं सुनता है'। 'जो यह सुषुप्तावस्था में मनन नहीं करता, वह मनन करते

१ मनोबुद्धिजययो । २ चक्षुरादौ प्रति गाधारणत्वात्तज्जयवृत्त्यतिरिक्तवृत्त्यभावे । ३ यद्वै तन्न
 मनुते यद्वै तन्न विजानातीति चक्षुरादिभ्यः पृथङ्निर्देशः ।

यद्वं तन्न वदति वदन्वं तन्न वदति न हि वक्तु-
र्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् तन्न तु तद्-
द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥ २६ ॥

यद्वं तन्न शृणोति शृण्वन्वं तन्न शृणोति न हि
श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्
तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणु-
यात् ॥ २७ ॥

जो वह बोलता नहीं, नि सन्देह वह बोलता हुआ ही नहीं बोलता, वक्ता की वदन्शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह नाशरहित है। सत्य बात यह है कि उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं, जिसके विषय में वह बोले ॥ २६ ॥

यहाँ जो नहीं सुनता है, वह नि सन्देह सुनता हुआ ही नहीं सुनता है। श्रोता की श्रवणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह नाशरहित है। सत्य यह है कि उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह सुने ॥ २७ ॥

विज्ञानयो हृष्टचादिसहकारित्वेऽपि सति चक्षुरादिनिरपेक्षो मूलमविष्यद्वर्तमानविषय-
व्यापारो विद्यत इति पृथग्रहणम् ।

किं पुनर्दृष्ट्यादीनामग्नेरोऽप्यप्रकाशनज्वलनाविबद्धमभेद आहोस्विदमित्यर्थ

वाक्यानि व्याख्याय स्वसिद्धात्स्फुटीकरणार्थं विचारयति—किं पुनरिति । धर्मभेदो धर्माणां
सता मियो धर्मिणश्च भेदोऽस्तीति यावत् । धर्मस्य दृष्ट्यादिपदार्थस्येत्यर्थः । परोपाधिनिमित्तं चक्षु-

हुए भी नहीं करता है' । 'जो यह सुपुत्रावस्था में स्पर्श करता है, वह स्पर्श करते हुए भी नहीं करता' । 'जो यह सुपुत्रावस्था में नहीं जानता है, वह जानते हुए भी नहीं जानता' । इस प्रकार इन सभी मन्त्रों के अर्थ पूर्व मन्त्र के समान हैं । मनन और विज्ञान का इसलिये पृथक ग्रहण है क्योंकि इनके मन और बुद्धि होने से दृष्टि आदि में अन्तर्भाव होने पर भी इनका चक्षु आदि इन्द्रियो से स्वतन्त्र रहकर भूत, भविष्यत और वर्तमान विषयसंबन्धी व्यापार (और रागादि वृत्ति) की विद्यमानता सिद्ध है ।

किन्तु क्या (विज्ञान और मनन में) अग्नि के धर्म औष्य, प्रकाश और ज्वलनादि के समान दृष्टि आदि धर्मों की भिन्नता है अथवा आत्मा से अभिन्न दृष्ट्यादि पदार्थ धर्म का ही चक्षुरादि उपाधि के कारण धर्मत्व और धर्मों में परस्पर प्रत्यत्व है । यहाँ कुछ विचारक इस प्रचार कहते हैं ।

१ दृष्ट्यादावन्तत्रविधिः । २ स्वातन्त्र्यम् । ३ रागादिवृत्तिश्च यपि वाच्यम् । ४
आत्मादयो ग्राह्याः । ५ यथोष्णवाद्याः धर्माः अग्निभिन्नाभिन्ना मियञ्च भिन्नास्तद्वत् । ६
भिन्नस्य ।

यद्वं तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तु-
मंतेविपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्वि-
तीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥ २८ ॥

यद्वं तन्न स्पृशति स्पृशन्वं तन्न स्पृशति न हि
स्पृष्टुः स्पृष्टेविपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न
तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत् ॥ २९ ॥

जो वह वहाँ पर मनन नहीं करता, सो मनन करता हुआ ही मनन नहीं करता है । मनन करने वाले को मननशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह नाशरहित है । सच्ची बात यह है कि उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह मनन करे ॥ २८ ॥

वह जो उम समय स्पर्श नहीं करता, वह वस्तु का स्पर्श करता हुआ ही स्पर्श नहीं करता । स्पर्श करने वाले को स्पर्शनशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है । हाँ उस अवस्था में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे वह स्पर्श करे ॥ २९ ॥

धर्मस्य परोपाधिनिमित्तं धर्मान्यत्वमिति । अत्र केचिद्वाचकते । आत्मवस्तुनः 'स्वत एवैकत्वं नानात्वं च यथा गोगोद्वयतथैकत्वं' सास्नादीनां धर्माणां परस्परतो भेदः । यथा स्थूलेष्वेकत्वं नानात्वं च तथा निरवयवेष्व'भूतवस्तुष्वेकत्वं नानात्वं चानुमेयम् । 'सर्वत्रा-

राद्युपाधिकृतमित्येतत् । धर्मान्यत्व धर्मत्वं धर्मिणो मिथोऽन्यत्व चेत्यर्थः । भूतप्रपञ्चमतेन पूर्वपक्ष गृह्णाति—मन्त्रेति । गवादीनां सावयवत्वात्प्रभेदसम्भवादेकेन रूपेणाभिन्नत्व रूपान्तरेण भिन्नत्वमित्यु-
भयथात्वेऽपि निरवयवेष्वेवात्मादियु' कथमनेकरसत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यथा स्थूलेष्विति । एक-
रूपत्वे वस्तुनो दृष्टान्तादृष्टेर्नारूपत्वे गवादिदृष्टान्तदर्शनात्तदेवानुमेयम् । 'विमत भिन्नाभिन्न
यत्तुत्वाद्गवादिवदित्यर्थः । यद्यपि गगनादियु भिन्नाभिन्नत्वमनुमीयते तथाऽपि कथमात्मनि तदनुमान-
मित्याशङ्क्य वस्तुत्वस्य नानारूपत्वेनाभ्यभिचारादात्मन्यपि यथोक्तमनुमान 'निरङ्कुशप्रसरमित्याह-
सर्वत्रेति । यथोक्तानुमानानुपहाच्छब्दं तदित्यादौ भिन्नाभिन्ने वस्तुनि तात्पर्यमिति भावः ।

आत्म वस्तु का स्वाभाविक ही भेद प्रौर भेद है जिस प्रकार गो का गोद्वयत्वरूप से भ्रभेद है प्रौर तत्तत् सास्नादिमद् व्यक्ति से भेदधर्मों का परस्पर भेद है । जिस प्रकार (सावयव) स्थूल पदार्थों में भ्रभेद प्रौर भेद है; उसी प्रकार निरवयव (सूक्ष्म) आकाशादि भ्रमूर्त पदार्थों में भ्रभेद प्रौर भेद का

१ स्वाभाविकावेव भेदाभेदादित्यर्थ । २ तत्सास्नादिमद्भवत्या भेद । ३ विद्यदादियु । ४ स्थूल-
सूक्ष्मभ्यभिचारेति भावः । ५ आदिना गगनादिब्रह्म । ६ नानात्वमेव । ७ गगनादि । ८ अप्रति-
बद्धप्रकारम् ।

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति
 न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशि-
 त्वान्न तु तद्विद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजा-
 नीयात् ॥ ३० ॥

उस सुपुप्तावस्था मे वह जो जानता है, वह वस्तुतः जानता हुआ ही नहीं जानता है । विज्ञाता की विज्ञानशक्ति का संबंध लोप नहीं होता क्योंकि वह तो नित्य है । हाँ उस समय उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह विशेष रूप से जाने ॥ ३० ॥

व्यभिचारदर्शनादात्मनोऽपि तद्वदेव दृष्ट्यादीनां परस्परं 'नानात्वमात्मना चैकत्व-
 मिति ।

नान्यपरत्वात् । न हि दृष्ट्यादिधर्मभेदप्रदर्शनपरमिदं वाक्यं यद्वै तदित्यादि ।
 किं तर्हि यदि चेतन्यात्मज्योतिः कथं न जानाति सुपुप्ते नूनमतो न चेतन्यात्मज्योति-
 रित्येवमाशङ्क्याप्राप्ती तन्निराकरणायंतवारब्धं यद्वै तदित्यादि । यदस्य जाप्रत्स्वप्नयो-
 ष्चक्षुराद्यनेकोपाधिद्वारं चेतन्यात्मज्योतिःस्वाभाव्यमुपलक्षितं 'दृष्ट्याद्यभिधेयव्यवहारा-

भत्प्रपञ्चोक्त वाक्यतात्पर्यं निराकरोति—नेत्यादिना । चेतन्याविनाशे वाक्यतात्पर्यं
 चैक्य तर्हि दृष्ट्यादिभेदवचनमित्याशङ्क्याऽऽह—यदस्येति । 'तद्वि सुपुप्स्यवस्थायामुपाधेरन्त-
 करणस्य चक्षुरादिभेदाद्योन'परिणामभवापारनिवृत्तौ सत्यामुपाधिभेदस्यानुकूल्यमानत्वात्तन' भिन्न-
 मिवानुपलक्ष्यमाणस्वभावं यद्यपि तथाऽपि चक्षुद्वारेण जायमानाया बुद्धिवृत्तौ व्यक्तं चेतन्यं दृष्टिर्दृष्टि-
 द्वारेण जातायां तस्यां व्यक्तं प्रातिरित्युपाधिभेदात्प्राप्तभेदानुवादेन चेतन्यस्याविनाशित्वे वाक्यतात्पर्य-

अनुमान करना चाहिए । (स्थूल और सूक्ष्म) संबंध व्यभिचार दर्शन से वियदादि के समान आत्मा
 की भी दृष्टि आदि का तो परस्पर भेद है किन्तु आत्मस्वरूप से भेद है ।

किन्तु यह विचार अनुचित है क्योंकि इन वाक्यों का तात्पर्य (इसमे न होकर) अन्य ही है ।
 "जो इस सुपुप्तावस्था मे—"इत्यादि श्रुतिवाक्य दृष्ट्यादि धर्मों का भेद प्रदर्शित करने के लिए नहीं
 है । तो फिर किसलिए है ? यदि आत्मा चेतन्यात्मज्योति है, तो वह सुपुप्तावस्था मे क्यों नहीं जानता ?
 इसलिए (सुपुप्ति मे विशेष ज्ञान का अभाव होने से) आत्मा निश्चय ही चेतन्यात्मज्योति नहीं है । इस
 प्रकार शङ्का होने पर, उसका निराकरण करने लिए "यद्वै तत्" इत्यादि मन्त्रों का प्रतिपादन
 किया गया है । जाप्रत् घोर स्वप्नावस्था मे जो इस आत्मा का चेतन्यात्मज्योतिस्वभाव चक्षु आदि
 अनेको उपाधियों के द्वारा दृष्ट्यादिशब्दवाच्य व्यवहारयुक्त उपलब्ध हुआ है, सुपुप्तावस्था मे

- १ वियदादिवदे । २ भिन्नत्वम् । ३ आत्मत्वन । ४ आत्मा । ५ सुपुप्ते विशेषज्ञानाभावात् ।
 ६ आत्मन । ७ उपलब्धम् । ८ दृष्ट्यादिशब्दवाच्यव्यवहारयुक्तम् । ९ व्यवहाराद्यप्रमित्यस्यापि
 तत्पदमध्याहरति । १०. वृत्तिव्यापारेति भाव । ११ उपाधिभेदेन ।

पन्नं सुपुत्र उपाधिभेदव्यापारनिवृत्तावनुद्धास्यमानत्वादनुपलक्ष्यमाणस्वभावमप्युपाधिभेदेन
 भिन्नमित्थं यथाप्राप्तानुपादेनैव विद्यमानत्वमुच्यते । 'तत्र दृष्ट्यादिविधर्मभेदकल्पना विवक्षि-
 'तार्थाऽनभिज्ञताया' । सन्धवधनवत्प्रज्ञानैकरस'घनश्रुतिविरोधाश्च । 'विज्ञानमानन्दम्'
 'मत्स्यं ज्ञानम्' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । ऋशब्दप्रवृत्तेश्च । लौकिकी च' शब्द-
 प्रवृत्तिश्चक्षुष्या रूपं विजानाति श्रोत्रेण शब्दं विजानाति रसनेनान्नस्य रसं विजानातीति
 'न्न 'मर्चत्रैश्च च 'दृष्ट्यादिविशब्दाभिधेयानां विज्ञानशब्दवाच्यतामेव दर्शयति । शब्द-
 प्रवृत्तिश्च प्रमाणम् ।

मित्यर्थं । उक्ते वाक्यतात्पर्ये स्थिते फलितमाह—तत्रेति । 'इतश्च दृष्ट्यादिभेदकल्पना न श्लिष्टेर्याह
 —सन्धवेति । 'तदेव स्पष्टयति—विज्ञानमिति । न दृष्ट्यादिभेदकल्पनेति शेषः । यथा घटाकाशो
 मठाकाश इत्येकशब्दविषयत्वाद्युपाधिभेदेऽप्याकाशस्यैकत्वमिदं तथैक'शब्दप्रवृत्तेरेकत्व द्वितीऽपि
 स्वोक्तं च 'तत्कुतो दृष्ट्यादिभेदसिद्धिरित्याह—शब्दप्रवृत्तश्चति । "तामेव विवृणोति—लौकिकी
 चेति ।

उपाधिभेदरूप व्यापार की निवृत्ति ही ज्ञान पर वह अनुद्धास्य और अनुपलब्ध रहना है । तो भी
 यथाशक्त भेद का अनुवाद करते हुए उपाधिभेद से भिन्न के समान विद्यमानता कही जाती है ।
 परत दृष्ट्यादि धर्मभेद कल्पना यथोक्तश्रुति के तात्पर्य की अनभिज्ञता से है । (ऐसी कल्पना करने से)
 आत्मा सन्धवखण्ड के समान प्रज्ञान एकरसस्वरूप है—इस श्रुति से विरोध आ जाएगा । और
 श्रुतियो में विरोध हो जाता है । जैसे 'वह विज्ञान और आनन्दरूप है (विषय विज्ञान के समान
 दुःखादुःखिद नहीं है क्योंकि लौकिकसुख विलक्षण है) , 'वह सत्य ज्ञानस्वरूप (अनन्त, ब्रह्म) है' तथा
 'प्रज्ञान ब्रह्म है इत्यादि । शब्द की प्रवृत्ति से भी भेदकल्पना असमत् है । चक्षु से रूप का ज्ञान करता
 है श्रोत्र न शब्दज्ञान करता है और रसना से अन्न रस का ज्ञान करता है, इस प्रकार शब्द की
 लौकिकी और बौद्धिकी प्रवृत्ति भी (लौकिकी और वेद में) मर्चत्र ही दृष्टि आदि शब्दों के वाच्यो की
 विज्ञानशब्दवाच्यता दिखानती है । तथा शब्द की प्रवृत्ति भी प्रमाण है ।

- १ अदतरणोक्तत्वात् । २ यथोक्तश्रुतित्वात्परिनिमित्तताया । ३ स्वरूप इत्यर्थं । ४ चार्द्धिदेवि ।
- ५ चात्त्वव्यापारग्रहः । ६ लोके वेदे च । ७ दृष्टिप्राप्त्यादीनाम् । ८ वक्ष्यमाणकारणात् । ९
 कारणमव । १० उभयत्रानुगततायाऽविविषयत्वात् । ११ विज्ञानशब्दप्रवृत्तेरिति भावः । १२ चित्त
 एकरत्वात् । १३ शब्दप्रवृत्तिमव ।

* शब्दप्रवृत्तश्चेत्यादि शब्दप्रवृत्तिश्च प्रमाणमित्येतन्नाद्ये वानिवाचार्थास्तथाहि— दृष्ट्यादिवचता लोके प्रवृत्ते
 ज्ञान एव च । दर्शनान्तरादिभिः स्यादथस्तथा प्रसिद्धित्वात् ॥ पञ्च च शब्दादिभिः साक्षाज्जानामीति समीक्ष्यते ।
 दान्नादीनिह लोकेऽतो दृष्ट्यादेर्नान्वयता ॥ येन रूप रस गन्ध शब्दास्त्वगश्चि मंधुनान् । एतन्नेव विजाना
 ती-यपि च श्रुतिगासनम् ॥ तावच्च 'माचरो वेति कारकस्य सती यत् । नभेरीऽपि क्रियाभिः स्यात्प्रातीकारक-
 तावित । गच्छत पठता भास्वप्रातावर्कमहूतो रवि । यथा प्रजापत्येवरूप एव तथा धियः ॥ दृष्ट्यादि
 भिन्नचेष्टास्ता भिन्नदेशादिलक्षणम् । एकरूप पर ज्यातिरेव मदीयान धियः ॥ विज्योतिरिदुपब्रह्म्य यत्नन

दृष्टान्तोपपत्तेश्च । यथा हि लोके स्वच्छस्वाभाव्ययुक्तः स्फटिकस्तन्निमित्तमेव केवलं हरितनीललोहिताद्युपाधिभेदसंयोगात्तदाकारत्वं भजते । न च स्वच्छस्वाभाव्यव्यतिरेकेण हरितनीललोहितादिलक्षणा धर्मभेदाः स्फटिकस्य कल्पयितुं शक्यन्ते । तथा चक्षुराद्युपाधिभेदसंयोगात्प्रज्ञानघनस्वभावस्यैवाऽऽत्मज्योतिषो दृष्ट्यादि शक्तिभेद

यत्तु सिद्धान्ते दृष्टान्तो नास्तीति तत्राऽऽह—दृष्टान्तेति । किमेकरूपत्वे 'वस्तुनो दृष्टान्तो नास्ति किं वा मिथ्यात्वे 'तन्नानारूपत्वस्येति वक्तव्यम् । नाऽऽहः । 'नानारूपत्वस्तुवादिभिरित्येकैकरूपस्या-
नवस्थापरिहारार्थं नानारूपत्वाद्भोकारादस्माकं 'दृष्टान्तसिद्धे' वस्तुत्वहेतोश्च "तत्रैवानेकान्तिकत्वा-
"त्स्मादेकरूपमेव "वस्तु स्वीकर्तव्यमिति भावः । द्वितीयं दूषयति—यथा हीति । तन्निमित्तमेवेत्यत्र तच्छब्देन स्वच्छस्वाभावं परामृश्यते । स्फटिके हरितादियमर्णां स्वाभाविकत्वं किं न स्यादित्या-
शङ्क्याऽऽह—न चेति । "तस्य हि" स्वच्छस्वाभावं तद्गुणेन हरिताद्युपाधिभेदसंबन्धव्यतिरेकेणैति यावत् । एकस्य नानारूपत्वं मिथ्येत्यत्र दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । आत्मा "मिथ्यानाना-

इसमे दृष्टान्त भी सभ्रव है । जिस प्रकार लोकव्यवहार मे स्वच्छ धर्म वाली स्फटिक मणि हरित, नील तथा लोहितादि उपाधि भेद के मसर्ग से केवल उन्ही उपाधियो के निमित्त से तदाकार हो जाती है । स्वाभाविक स्वच्छ स्फटिक मणि मे गुदत्त्व से व्यतिरिक्त हरित, नील एव लोहितादि धर्मभेदो की कल्पना प्रसन्नव है । तथा चक्षु आदि उपाधिभेद के संयोग से ही प्रज्ञानघनस्वरूप आत्मज्योति के रट्टि

- १ रूपभेद । २ उक्त ११३६पृष्ठोक्त्यायाम् । ३ आत्मवस्तुन । ४ आत्मनो नानारूपत्वमेति ।
- ५ नानारूपत्वस्तुवादिभिरिति—भिरत्वाभित्त्वादिना वस्तुमात्रमनवरूपमिति वादिभिरित्यर्थं । ६ अनव-
स्येति—अनेकैकरूपम्यावयविनो घटादेरवयवात्मनाऽनेवत्वम् (घटत्वेनावयवित्वेन वैकरूपस्य सत्) तथा तद-
वयवानामपि कपालादीना स्वावयवात्मनाऽनेवत्व तथा तदवयवानामपि स्वावयवात्मनाऽनेवत्वमित्यनवस्था ।
न च परमाणोनिरवयवत्वात्तत्र विभ्रान्तिस्तस्यापि वस्तुत्वेनावयवानुमानात् । न च तस्यापि गुणाद्यात्मनाऽने-
वत्वस्यदृष्टान्तानुमानविरोध गुणादीनामपि वस्तुत्वेन प्रत्येकमनेकत्वानुपहारोदनवस्था तदवस्येति भावः ।
- ७ एकैकरूपस्यावयवङ्गीकरणीयत्वादिषु । ८ दृष्टान्तसिद्धेति—तथा च आत्मा एव रूपो वस्तुत्वाद्-
घटादिवदिति मुप्रयोजकमिति भावः । ९ त्वं च नानारूपत्वमाशक्तत्वाभिमतो वस्तुत्वहेतुर्थमिचारीत्याह—
वस्तुत्वहेतोश्चेति । १० तत्रैव—अनवस्थापरिहारयाऽभ्युपगमनीये एकस्य वस्तुनि । ११ तस्मात्—मम
दृष्टान्तसिद्धेस्तव च वस्तुत्वहेतोर्लैवाभित्त्वादित्यर्थं । १२ आत्मवस्तु । १३ स्फटिकस्य । १४
यत् । १५ उपाधिच्छायेति यावत् । १६ मिथ्यानैकप्रतीत्याश्रयः ।

महताऽऽदरात् । अर्थोऽयमेव निर्णोतन्तद्विरुद्धं निमुच्यते ॥ माहात्म्यापाथिमव्यादभिप्रोऽपि स्वतो र्मि । द्रष्टा
श्रोतेति नानात्व याति यद्दलकम् ॥ रतादिभेदतो भेद प्रज्ञामय प्रकारयत । यथैवमात्मनो भेदो
यतीतिदृष्टान्तभेदत ॥ १७६६-१७७७ ॥ इति । दृष्ट्यादीना भिन्नाभिरत्ये भिरत्ये या यद् तद्विद्या-
देनं तात्पर्यमिति ब्रूयता स्वपक्षे दृष्टान्त परपक्षे तदभावप्रोक्तः । इदानीं तेषा भिन्नत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—
दृष्ट्यादीति उक्त हेतु सधियाऽह—प्रतिष्ठित इति ॥ दृष्ट्यादिगद्वाना ज्ञानमात्रवाचित्व प्रतिष्ठामितं प्रकटयति ।

'उपलक्ष्यते । प्रज्ञानधनस्य स्वच्छत्वाभावात्स्फटिकस्वच्छत्वाभावात्स्वयं ज्योतिष्ठाच्च । यथा चाऽऽदित्यज्योतिरवभास्यभेदः संयुज्यमानं हरितनीलपीतलोहितादिभेदं रविभाग्यं तदाकारामासं भवति, तथा च कृत्स्नं जगदवभासयञ्चक्षुरादीनि च 'तदाकारं भवति', तथा चोक्तमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्त इत्यादि ।

निर्भाम् उपहितत्वात्स्फटिकवदित्यर्थः । किंचाऽऽत्मा मिथ्यानांतात्पादारः स्वच्छत्वात्संप्रतिपन्नवदित्याह—प्रज्ञानेति । किंचाऽऽत्मा कल्पितनानात्वापारो ज्योतिष्ठादादित्यादिज्योतिर्वदित्याह—स्वयमिति । आदित्यादावकल्पितोऽपि - भेदोऽन्तीत्याशङ्क्य विवक्षितं साम्यमाह—यथा चेत्यादिना । अविभाग्यं 'वस्तुनो विभागयोग्यमिति यावत् । चक्षुरादीनि चावभासयविति संबन्धः । आत्मनः सर्वावभासकत्वे चावयोपक्रमं प्रमाणयति—तथा चेति ।

आदि रूपभेद प्रतीत होते है । प्रज्ञानधन स्वाभाविक स्वच्छ स्फटिक मणि के समान स्वच्छ स्वभाव है । और यह स्वयंज्योतिष्त्व भी है । जिस प्रकार आदित्य ज्योति हरितादि प्रकार्यविधियों से संपृक्त होने पर हरित नील, पीत और लोहितादि भेदों से अभिन्न और हरितादि के आकार का प्रतीत होता है, उसी प्रकार समस्त जगत् और चक्षु आदि को प्रकाशित करने वाली चेतन्यात्मज्योति कल्पित नाना आकार वाली हो जाती है । इसीसे श्रुति कहती है—'सुपुष्तावस्था मे (देशक्यवयवसमाप्त से व्यतिरिक्त) यह प्राकृत पुरुष आत्मज्योति से ही बैठता है" ।

१ प्रतीयते । २ हरितादिप्रकाश्यविशेष । ३ हरिताद्याकारेण प्रतीतं भवति । ४ चाष्टान्तिके योजयति—तथा चेति । ५ कल्पितनानाकारम् । ६ आत्मज्योति । ७ स्फटिकादिवत् । ८ सजातीयादिप्रतियोगिक । ९ वस्तुत इति—हरितादिभास्यसनिधानेन प्रतीयमानहरितादिविभागानहंमव वस्तुत इत्यर्थ ।

पञ्चति । इष्टपादेस्तत्पदस्यति यावत् । ज्ञानमेव वाच्य यस्य तस्म भावस्तत्तेति विग्रह ॥ इष्टधादीना ज्ञान-मात्रत्व काठकश्रुति प्रमाणयति—येनति । येनैतन साक्षिचैतन्यन लोको रूपादीञ्जानाति तस्मिञ्जाते नाव-शिष्यत तज्ज्ञेयमिति वदन्नाक्य इष्टधादीना ज्ञानमात्रत्व श्रावयति जानते सर्वेय प्रयोनादित्यर्थः ॥ चक्षुरादि-व रणधीनो दर्शनादिक्रिमाभेदाऽपि लोकादिद्वैतान् निरासमहंतीत्याशङ्क्य इष्टधादिवाच्यार्थस्य सामासबुद्धि-निग्रय भवदपि लक्ष्यावस्थाऽऽज्यमानतया न भेदोऽस्तीत्यभिप्रेत्याऽऽह—लावक इति ॥ दुष्टपादेरीक्षित्वा-दात्मनोऽकारकत्वमिदमिदमित्यानाङ्क्याऽऽह—गच्छत इति । धियो बीक्षत इति संबन्ध ॥ चाष्टान्तिक प्रपञ्च-यति—इष्टधादीति । देशगन्धेन चक्षुरादुक्ति । आदिशब्दस्तु कालविषय । लक्षणमाद्यो निमित्तपण ॥ किंच कूटस्थमेकरम ज्योतिरास्मेति प्रतिपाद्य तन्म दुष्टधादित्रियावत्त्वोक्तो पूर्वापरविरोध स्यादित्याह—विमिति । परपञ्चनिरासद्वारा स्वपक्षमाधन यत्नस्तस्य महत्त्वं साधनदूषणपरिवृत्तत्वमादरो दुष्टान्तीति ॥ आत्मा कूटस्थदुष्टिरचेत्त्वं तस्य इष्टा श्रोनेत्यादिनात्वात्त्वदुष्टिरित्यानाङ्क्याऽऽह—मोहेति । यथा स्वच्छस्वभाव स्फटिक-मणिरनक्तवमुपाधन्तर वा सनिहितमपेश्य लाहिलाद्यनेक रूपनामेति तथेत्याह—यद्वदिति ॥ स्फटिकादेर-प्रकाशसामाधितीत्यथा प्रथमेऽपि कथं प्रकाशात्मनोऽज्याधीनतयाऽप्यथा प्रथेत्यानाङ्क्याऽऽह—रक्तादीति । यथा प्रदीपादिप्रकाशस्य प्रकाशरक्तादिभेदवगात्तद्भेदो भाति तथाऽऽत्मनो ज्योतिष्ठाविशेषाद्भास्यद्वयत्वादिभेदवसा-द्वयंत्यादिनात्वात् सिद्धमित्यर्थं ॥

ॐ न च 'निरवयवेष्वनेकात्मता शक्यते कल्पयितुम् । दृष्टान्ताभावात् । यदप्याकाशस्य सर्वगतत्वादिधर्मभेदः परिकल्प्यते परमाज्वादीनां च गन्धरसाद्यनेकगुणवत्त्वं तदपि 'निरूप्यमाणं परोपाधिनिमित्तमेव भवति । आकाशस्य तावत्सर्वगतत्वं नाम न 'स्वतो धर्मोऽस्ति । 'सर्वोपाधिसंश्रयाद्धि 'सर्वत्र स्वेन' रूपेण 'सत्त्वमपेक्ष्य सर्वगतत्वव्यवहारो न त्वाकाशः श्वचिद्गतो वाऽऽगतो वा स्वतः । गमनं ही नाम देशान्तरस्थस्य देशान्तरेण संयोगकारणम् । सा च क्रिया नैवा विशेषे संभवति । 'एवं धर्मभेदा नव सन्त्याकाशे ।

यत् 'निरवयवेष्वपि नानारूपत्वमनुमेयमिति' तत्राऽऽह—न चेति । आकाशादीनां दृष्टान्तत्वमाशङ्क्य निराचष्टे—यदपीत्यादिना । कथमाकाशस्यानेकधर्मत्वमोपाधिकमित्याशङ्क्य तस्य सर्वगतत्वं तावदोपाधिकमिति साधयति—आकाशस्येति । कथं "तर्हि तत्र सर्वगतत्वव्यवहारस्तत्राऽऽह—सर्वोपाधीति । नन्वाकाशस्य सर्वत्र गमनमपेक्ष्य सर्वगतत्व किमिति न ध्यवहियते तत्राऽऽह—न त्विति । आकाशे गमनायोगं वक्तुं "तत्स्वरूपमाह—गमन हीति । ननु "कुतश्चिद्भिभागे" संयोगे च केनचिद्देशेन "तत्कारणीभूता क्रियाऽपि श्येनादाविवाऽऽकाशे भविष्यति नेत्याह—सा चेति । साधयते हि श्येनादौ क्रिया दृश्यत आकाशं त्वविशेषं निरवयवं कुतस्तत्र क्रियेत्यर्थः । "तथाऽपि घर्मन्तराण्याकाशे भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तेषामपि क्रियापूर्वकारणामुक्त्यायकवलीकृतत्वमाह—एवमिति । नैवाभेदान्यां "दुर्बचत्वाच्च तत्र धर्मधमिभावो न सभवतीति भावः ।

निरवयव आत्मादि मे नानात्वकल्पना सम्व नही है क्योंकि इसमे दृष्टान्त का अभाव है । आकाश की जो सर्वगतत्वादि धर्म भेद और परमाणु आदि की गन्ध-रसादि घनेकगुणरूपता की कल्पना की जाती है, वह भी विचार्यमाण अन्य उपाधि निमित्त ही है । सर्वगतत्व आकाश का स्वाभाविक धर्म नहीं है । समस्त उपाधियों के अनुगत होने के कारण सर्व उपाधियों मे आकाश-त्वरूप से उसकी विद्यमानता है । इसीसे आकाश मे सर्वगतत्व व्यवहार होता है; स्वाभाविकरूप से आकाश मे गमन-आगमन नहीं है । किसी देशान्तर मे स्थित वस्तु के किसी प्रन्व देश से संयोग होने के

- १ आत्मादिपु । २ विचार्यमाणम् । ३ स्वाभाविक । ४ सर्वोपाध्यनुगतत्वात् । ५ उपाधिपु । ६ आकाशस्त्वेन । ७ विद्यमानत्वम् । ८ निरवयवे । ९ एवमिति—उक्तेर्नैव ज्यायतेत्यर्थ । सर्वगतत्वधर्मवदिति वा । १० उक्त ११३३ पृष्ठभाष्य । ११ तर्हि सर्वगतत्वव्य स्वतो धर्मत्वानमुपगमे । १२ गमनस्वरूपम् । १३ देशात् । १४ आत्मात्मस्य । १५ संयोगविभागकारणीभूता । १६ सर्वगतत्वस्य स्वतोऽभावेऽपि । १७ दुर्बचत्वादिति—आकाशधर्मत्वनाभिमतानामाकाशभिन्नावे हिमवद्विन्ध्ययोरपि धर्मधमिभावापत्ति अभिन्तत्वे स्वमपि स्वस्य धम स्यादिति भाव ।

ॐ न च निरवयवेष्वनेकात्मता शक्यते कल्पयितुमिति । अत्र यातिवाच्यस्तथाहि—'निरवयु न चाप्येव सभागेष्विव वस्तुषु । भिन्नाभिन्नान्मता शक्या वस्तु साक्षादपीश्वरं ॥ न चापीह निरवयु भिन्नाभिन्नत्वकल्पने । दृष्टान्ता कश्चिदप्यस्ति जगत्पस्मिन्नरारवे" ॥ १७७८-१७७९ ॥ दृष्टयादीना इष्टुभिन्नाभिन्नत्व मिश्रश्च भिन्ने-त्वतभिन्नस्तमयुना स्तूलेषु यद्विद्यादिनास्त निरस्त्यति—निरधेचिति ॥ तत्र दृष्टान्ताभाव हेतुमाह - न चेति । गोवादे साध्यनुरूपत्वमप्यर्थः ॥

तथा परमाण्वादायपि । परमाणुनाम पृथिव्या 'गन्धघनायाः परमसूक्ष्मोऽवयवो
गन्धात्मक एव न तस्य पुनर्गन्धवत्त्वं नाम शक्यते कल्पयितुम् । अथ 'तस्यैव रसादिमत्त्वं
स्यादिति चेन्न । 'तत्राप्यवाविसंसर्गमित्तत्वात् । 'तस्मान्न 'निरवयवस्या'नेकधर्मवत्त्वे
दृष्टान्तोऽस्ति । * 'एतेन दृग्वादिशक्तिभेदानां पृथक्चक्षुरूपादिभेदेन परिणामभेदकल्पना
परमात्मनि प्रयुक्ता ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

आकाशे दशितन्यायमन्यत्रापि संचारयति—तथेति । पार्थिवत्वं परमाणोरेकं रूपं गन्धवत्त्वं
चापरमित्येकैकरूपत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—परमाणुनामिति । न हि पार्थिवत्वातिरेकि गन्धवत्त्वं प्रामाणिक-
मिति भावः । वैशेषिकपरिभाषामाश्रित्य शङ्कयति—अथेति । पार्थिवे परमाणो रसादिमत्त्वमनो-
पाधिकं न भवति जलाविसंसर्गकृतत्वात्तथा 'अथ निरवयविकभेदे नेदुवाहाहरणमिति परिहरति—
न तत्रापीति । उक्तन्यायस्य विगादावपि समत्वं मत्स्योपसहरति—तस्मादिति । सन्ति परस्मिन्प्रात्मनि
दृग्वादिशक्तिभेदास्तेषां मध्ये वृक्षशक्तिश्रुक्षुरात्मना रूपरामना च पृथगेव परिणामते प्रातिशक्तिश्च
प्राणात्मना गन्धात्मना चेत्यनेन क्रमेण परस्मिन्परिणामकल्पना भर्तृ प्रपञ्चार्थं कृता साऽपि 'परस्मि-
कैकरूपत्वोपपादनेन निरस्तेत्याह—एतेनेति ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

कारण को गमन कहते हैं । वह गमनत्रिया किमो निरवयव वस्तु में होनी संभव नहीं है । हम प्रकार
(सवगतत्व धर्म के समान) आकाश में धर्मभेद नहीं रहते हैं ।

इसी प्रकार परमाणु आदि में भी धर्मभेद नहीं है । गन्धवमूर्ति पृथिवी का जो अत्यन्त
सूक्ष्म गन्धात्मक अवयव है, उसे परमाणु कहते हैं, उसके गन्धवत्त्व होने की कल्पना नहीं की जा
सकती । यदि कहें कि उस गन्धात्मक परमाणु का रसादिमत्त्व होना संभव है तो ऐसा कहना
ठीक नहीं क्योंकि पार्थिक परमाणु के रसादिमत्त्व होने में जलादि मसर्ग निमित्त होता है ।
इसलिये (आकाशादि दृष्टान्त के निरास से) निरवयव आत्मा के (स्वत) अनेक धर्म होने में कोई
दृष्टान्त नहीं है । इसीसे परमात्मा में दृष्ट्यादि रूप भेदों से पृथक् चक्षुरूपादिभेद से परिणाम-
भेदों की कल्पना की गई है, उसका भी यहाँ निराकरण हो गया ॥ २४-३० ॥

१ नैव सन्ति धर्मभेदा इति पूर्वव मन्वन् । २ गन्धवमूर्ते । ३ गन्धात्मकपरमाणोरेव । ४ पार्थिव-
परमाणोरसादिमत्त्वेषुपि । ५ आकाशाददृष्टान्तत्वनिरासात् । ६ प्रात्मनि । ७ स्वतोऽन्यधर्मवत्त्वं ।
८ भवतरणोक्तत्वात् । ९ तत्र रसादेजलादिमसर्गप्रयुक्तत्वं च । १० प्रात्मनि ।

ॐ एतेन दृग्वादिशक्तिभेदानामित्यादि प्रत्युक्तोत्पन्तभाष्ये वान्तिकाचार्यास्तत्वादि - 'दृग्वादिशक्तिभेदानां चक्षुरूपादि-
भेदतः । विकारवत्त्वेनेन न्यायवनाऽऽगम्यपाहृता । कार्यनिष्ठादि शक्तौनामस्तित्वं कारणत्वत् । यतोऽवगम्यते
नातोऽप्यारवे शक्तिरात्मनि ॥ शक्तिसाक्तित्वादेकं तयोर्भेदात्प्र युजित । प्रतिपत्तु च्चक्वित्यस्य प्रकृतिप्रत्य-
यार्थयो ॥ प्रकृत्यर्थोऽवयवस्य स्यागमनुष्यद्वया ततोऽन्यत । पक्षातिदिहि पूर्वस्मिन्भेदात्तन्वयं तयोन्तरे ॥ आत्मा-
विवैव न शक्तिः सर्वशक्तपस्य सर्वज्ञे । नातोऽन्यथा शक्तिवादः प्रमाणेनावसीयन । अनाक्त शक्तिमच्छक्त्या शक्ति-
शक्तिमता तथा । अशक्तैति कथं योगमन्योऽय हेत्वसंभवात् ॥ शक्त्य सन्ति भूयस्यस्तयोरेपि मत मदि ।
तत्रापि तुल्यचोदत्वादनवस्था प्रसज्यते ॥ सम्मादज्ञान आत्मैव शक्तिरित्यभिधीयते । आशासादेस्ततो जन्म
यस्माच्छ्रुत्याऽभिधीयते" ॥ १७०-१७०७ ॥ इति । प्रात्मनि दृष्ट्यादीनां भिन्नभिन्नत्वनिरासिन्यायनैव

**‘यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्य-
जिज्जघ्नेदन्योऽन्यद्वसयेदन्योऽन्यद्वेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्यो-**

जिस जाग्रत् या स्वप्न में आत्मा से भिन्न अन्य भी-वस्तु होती है, वहाँ ही अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य को चखता है, अन्य अन्य को बोलता है, अन्य अन्य

जाग्रत्स्वप्नयोरिव यद्विजानीयात्तद्द्वितीयं प्रविभक्तमन्यत्वेन नास्तीत्युक्तमतः सुषुप्ते न विजानाति विशेषम् । ननु ‘यद्यस्यायमेव’ स्वभावः किनिमित्तमेव विशेषविज्ञानं स्वभावपरित्यागेन । अथ विशेषविज्ञानमेवास्य स्वभावः कस्मादेव विशेषं न विजानातीति

श्रोत्राधिकी दृष्ट्यादिभेदो न वास्तवोऽस्तीत्युपपाद्य वृत्तमनुभवति—जाग्रदिति । यत्रेत्याद्यु-
त्तरवाक्यव्यावर्तमानाशङ्का दर्शयति—नन्विति । किमस्य विशेषविज्ञानराहित्यं स्वरूपं किं वा विशेष-

जाग्रत् शरीर स्वप्न के संभान मुमुप्तावस्था में जिसे पुरुष जाने, ऐसी उससे अन्य रूप से विभक्त अपने से भिन्न वस्तु नहीं है—यह बात पहले कही जा चुकी है । इसलिए सुषुप्तावस्था में उसे कोई विशिष्टज्ञान नहीं होता । (इस पर शङ्का होती है—) यदि इस आत्मा का निर्विशेष दृष्टि ही स्वभाव है तो फिर प्रपन्न स्वभाव त्यागकर इसे जाग्रत्-स्वप्न का विशिष्ट ज्ञान किनिमित्तक

- १ एव मुमुनाकविद्योत्पट्टिताभावाद्द्विशेषज्ञानाभाव इति व्यतिरेकमुक्त्वा जाग्रदादौ तु तस्मिन्सति तदित्यन्वय-
माह—यत्रेति । यस्मिन्जागरिते स्वप्ने वा अन्यदिवेत्यादिभाष्ये स्पष्टम् । २ मुपुत् । ३ द्वितीय स्वस्मा-
द्भिन्नम् । प्रविभक्त ज्ञेयजातम् स्वभिन्नत्वेन नास्ति । अत मुपुप्ते विशेष न विजानातीत्युक्तमिति सवन्ध ।
४ आत्मन । ५ निर्विशेषदृष्टिरेव । ६ जाग्रत्स्वप्नयो । ७ सुषुप्तौ । ८ आत्मन ।

द्यादिकशक्तिश्चक्षुरादिना द्यादिना च परिणमत इति कल्पनाऽपि निरस्तेत्याह—द्यादीति ॥ किञ्चाऽऽमानि
शक्तिरेव नास्ति मानानावादित्याह— वार्येति । वायमेव लिङ्ग तद्वन्मयं तासामस्तित्वमित्यत्र हेतुमाह—वारण-
त्वत इति । शक्तिमत्कारण तत्र वार्येति तत्र वा विशेषणान् शक्तिमत्त्वमपि तल्लिङ्गमित्यर्थं ॥ आत्मन्य-
वारकत्वादेव शक्तिर्नास्ति चेत्प्रधानादेव जगज्जन्मादिशक्तिरस्तु तत्कारकत्वादित्याशङ्क्य प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां
शक्तिमत्कर्मतोरभेदो भेदो वेति विकल्प्याऽप्ये दोषमाह—शक्तीति । न च तयोर्भेदप्रतीती न एवास्तु हिषव-
द्विन्ध्ययोरिव शक्तितद्ब्रह्मावायोगादिति ब्रह्मव्यम् ॥ उक्तमर्थं स्फोरयितुं शक्तिमानियत्र मतुवर्थं विकल्पयति—
प्रकृतीति । प्रहृत्त्वर्थं शक्तिरेव मत्वर्धेदेच्छक्तिमत्कारणमितिपक्षासिद्धिरित्याय दूषयति—पक्षेति । पक्षारव
वारणत्वप्रसङ्गात्तस्मात्प्राऽऽश्रयविषयव्यतिरेकायोगादिति हि गृह्यार्थं । प्रहृत्वर्थान्धवनरर्थान्तर मतुवर्थं शक्ति-
द्वतोर्भेदात्तयोरेक्य विवक्षित न सिध्यन्न च तयोर्भिन्नैव शक्तितद्ब्रह्मावायोगादिति कल्पान्तर निरस्यति—
भेदादिति ॥ ननु भेदाभेदविकल्पाम्ना शक्तिवादो नापवादमर्हति त्वयाऽपि शस्त्रराशित्वादिन्यामाङ्क्याऽह—
आत्मेति ॥ आत्माविद्यतिरिक्तशक्तिवादो न प्रमाणवर्तान्यतत्त्वमिति तत्र किं शक्तिशक्तिमतामिदं सर्वथे
प्रत्येक शक्तिरस्ति न वा द्वितीय दूषयति—अन्यकमिति । प्राथममूद्य प्रत्याह—शक्य इति । तत्रापि तत्तच्छ-
क्तिद्वतोर्भेदीत्यर्थं । नुत्पस्य चाद्यस्य सत्त्वं नाम तत्र तत्र शक्तिमत्त्वस्याऽऽवश्यत्वम् ॥ परमं निराहृत्य
स्वपशानुसहरति—तस्मादिति । तत्र मानमाह—प्राणागादिति । वारण हि शक्तिमदित्युक्तमव्याप्तिप्रसङ्गात्-
ज्ञातप्राऽऽमा विश्वन्य कारणं धूमन तस्मादात्मानामेव शक्तिरित्यर्थं ॥

ऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥ ३१ ॥

ॐ 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः

का मनन करता है, अन्य अन्य का स्पर्श करता है और अन्य अन्य को जानता है, अर्थात् अविद्या की वक्षेपशक्ति से उत्पन्न हुई वस्तु को देखता हुआ-सा प्रतीत होता है ॥३१॥

जैसे जल विशुद्ध और एक है, वैसे ही सुषुप्ति में अद्वैत आत्मा द्रष्टा एक है । हे राजन् ! यही

उच्यते शृणु । यत्र यस्मिञ्जागरिते स्वप्ने, वा अन्यदिवाऽऽत्मनो वस्त्वन्तरमिवाविद्यया प्रत्युपस्थापितं भवति तत्र तस्मादविद्याप्रत्युपस्थापितादन्योऽन्यमिवाऽऽत्मान मन्यमानो-ऽसत्यात्मनः प्रविभवते वस्त्वन्तरेऽसति चाऽऽत्मनि ततः प्रविभवते'ऽन्यो'ऽन्यत्पश्येदुपलभेत ।

विज्ञानवस्त्वम् । अद्ये जाग्रत्स्वप्नयोरनुपपत्तिः । द्वितीये सुषुप्तेरितिद्विरिति भावः । प्रतीचश्रिन्मात्र-ज्योतिषो विशेषविज्ञानराहित्यमेव स्वरूपं तथाऽपि स्वाविद्यकल्पितविशेषविज्ञानवस्त्वमाश्रित्यावस्थाद्वयं

होता है ? यदि जाग्रत्-स्वप्न का विशिष्ट ज्ञान ही इसका स्वभाव है तो यह सुषुप्तावस्था में जाग्रत्-स्वप्न विशेष को क्यों नहीं जानता ? (इसका समाधान करते हैं —) इसे बतलाया जाता है—सुनो । "यत्र" अर्थात् जिस जागरित अथवा स्वप्नावस्था में "अन्यदिव" अर्थात् अविद्या द्वारा प्रत्यु-स्थापित की हुई आत्मा से भिन्न कोई-कोई वस्तु होती है, वहाँ आत्मा से भिन्न वस्तु न होने पर

१ प्राज्ञेनात्मना मपरिस्वक्तय यद्दे तत्र पर्यतीत्यादिना विस्तरणोक्त स्वरूपमुपसंहरति—सलिल इति । यस्मादेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामाविद्यक एवान्त बरणादिसम्बन्धस्तस्मात्सलिल सलिलवत्स्वच्छ विजातीयभेद-शून्य एव सजातीयभेदशून्य अतएवादृष्टम् । यद्वा जडत्वशङ्काव्यावृत्तये द्रष्टेति पदच्छेद । कूटस्थज्योति अद्वैत एकरस स्वगतभेदशून्य इति यावत् । अत ऊर्ध्वमित्यादि पुन पुन पृष्टस्यात्तर मुनिरक्तवानिति श्रुतिराह—एष इति । एष मनिहित सुषुप्त्यवस्थामापन्न प्रत्यगात्मा । अस्य बुद्धधातुपाधिवस्य । एषा अतिच्छन्दवाक्योक्ता । अग्य विज्ञानम् यस्य परमा उत्कृष्टा सपद् विभूति अदृशतत्वात् । अन्य विज्ञानमयस्य एष यथोक्त सुषुप्तौ परमात्मैकतत्वात् परमो मोक्षरूपो लोक । अस्य सुषुप्तस्य एष स्वरूपाभुवन्लक्षण आनन्द परम, साधना-साध्यो निरतिशय इति यावत् । २ तस्मिन्नवस्थाविशेष । ३ वस्तुना भ्रमाद्वा । ४ प्रमेयात् । ५ अन्यथायैमित्यम् । ६ स्वस्मात्पुत्रम् । ७ पशुधन्तम् । ८ अनुपपत्तिरिति—तयोविशेषविज्ञानवस्त्व-स्वाभाव्यात् । तत्र विज्ञान (जागरे) व्यावहारिक (स्वप्ने) प्रतीतिक वरमन्यदेतदिति भाव । ९ तस्या निम्नविशेषविज्ञानविलयस्वाभावात्तदिति भाव ।

ॐ मनिन एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोक इति । अत्र यातिवार्थायां अद्भुतवाहि—'यद्दे सटिपुपुत्रम्य भ्याभ्यान् वगु विस्तरात् । गलिसादिमिरा तस्य द्वियतऽत्रोपसंहृति ॥ अविद्यैव यतो हेतु कार्यकारणता प्रति । सम्यग्ज्ञानादतस्तस्यां ध्वस्तायामात्मगायता ॥ नाविद्यामनुपाशय प्रतीचोऽनात्मसंगति । यतो विध्वंसने तस्या नाऽऽत्मनोऽयोऽजगिष्यते ॥ स्वताऽवबोधमात्रत्वात्सुतोऽविद्यादिमप्युति ॥ तस्मात्सलिलवच्छुद्ध कार्यकारण-हानत ॥ अन्तरागपि सन्नय बार्थकारणवस्तुन । स्वताऽनेवात्मकं तस्यादित्यासद्बुधं क उच्यत ॥ न अपित्था-दिवत्तत्त्व स्वताऽनेवभाववत् ॥ उक्त्वा मनिनवत्तस्मादत्र इत्यवबोधच्छ्रुति ॥ सजातीयनिषेधा वा श्लोकवाच्येन

सच्चादिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषाऽस्य परमा

ब्रह्मलोक है । ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश दिया । यही इस पुरुष की परम गति है । यह इसकी

तच्च दशितं स्वप्ने प्रत्यक्षतो हनन्तीव जिनन्तीवेति । तयाऽन्योऽन्यज्जिब्रो व्रसयेद्वेच्छृणु-
यान्मन्वीति स्पृशेद्विजानीयादिति ॥ ३१ ॥

यत्र पुनः साऽविद्या सुषुप्ते वस्त्वन्तरप्रत्युपस्थापिका शान्ता तेनान्यत्वेनाविद्या-

सिध्यतीत्युत्तरवाच्यमवलम्ब्योत्तरमाह—उच्यत इत्यादिना । तच्चेत्याविद्यं दर्शनमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तवस्तूपसंहारार्थं सलिलवाच्यमुत्थापयति—यचेत्यादिना । तेनाविद्यायाः शान्तत्वेनेति

उस श्रविद्या द्वारा वस्तु के भ्रम से प्रत्युपस्थापित वस्तु से अपने को अन्य के समान मानता हुआ; अन्य अन्य को देखता यानी उपलब्ध करता है । उसी को "स्वप्न में मानो भारते हैं, मानो वश में करते हैं" इस अनुभव द्वारा दिखाया गया है । इसी प्रकार अन्य अन्य को सूँध सकता है, रस ग्रहण कर सकता है, बोल सकता है, सुन सकता है, मनन कर सकता है, स्पर्श कर सकता है, जान सकता है ॥ ३१ ॥

१ आत्मभिन्नवस्तुप्रत्यापिका । २ पूर्वोक्तेत्यादि । तथा च वार्तिके—“यद्वै तदित्युपब्रम्य व्याख्यात वस्तु विस्तराम् । सलिलादिगिरा तस्य क्रियतेऽश्रोपसहति” ॥ १७६५ ॥ इति ॥ तस्य प्रत्यगभिन्नवस्तुन । वस्तुप-
संहारश्च वस्तुनि वक्तव्योपसंहारः ।

भण्यते । सलिलोक्त्वा विजातीयमन्वो हि निवारित ॥ एकशब्दो न सव्यर्थं सारथेयासम्बादिह । अद्विती-
यार्थत्वात् द्वितीयार्थनिषेधतः ॥ सदेवेत्यादिना चास्य तथा सत्यविरुद्धता ॥ प्रत्यङ्मात्रावसायित्वं प्रत्यक्ष-
यन्तरतः । अकारकस्वभावत्वाददृष्टेः्यभिधीयते ॥ यत्र हि द्वैतमित्युक्तेयत्र त्वस्येति चेरणात् । स्वतः पूर्णात्मकं
ज्योतिरद्रष्टेत्यभिधीयते ॥ यस्मादेवमतोऽज्ञेतोऽविद्यातत्कार्यमङ्गनात् । न ह्यविद्याविरह द्वैतधीरुपपद्यते ॥
द्विधेत द्वीतमित्याहुस्तद्भक्तो द्वैतमुच्यते ॥ तन्निषेधेन चाद्वैत प्रत्यग्वरत्वमिधीयते ॥ द्विधा त्रिधा वा बहुधा
कारणं सद्भूदेदिह । तस्याऽऽत्मनि निषिद्धत्वादात्मज्ञेतो भवेत्ततः ॥ भेदसगहानार्थभेदवत्तामपि श्रुतिम् ।
ग्रन्थास्त्यागव्या प्राहुरहो विद्या महीयसी ॥ मिथो विभागसतिद्विधमणिणा नाऽऽत्मसंप्रयात् । धर्मधर्म्याभितान्यो
रस्यत्वाद्दृष्ट्येक्षया ॥ द्रष्टा सलिलवच्छुद्धो नि सङ्गं काद्वयस्तथा । श्रुत्युक्तोऽज्ञा विरुद्धोऽर्थो निर्हीर्करिह वष्यते ॥
तमंशत्वं यथा भानो सत्प्राप्त्यसदवशात् । विद्यतो मूर्तत्वं स्याद्विज्ञानभिरत्वमात्मनः ॥ मत् ऊर्ध्वं विमोक्षायैशुक्त
प्राग्यनुत्तु पुन । तद्विमुक्ते समानत्वादेव इत्यम्यधाम्मुनिः ॥ प्रत्यक्षदृष्टव्यवहितं प्रात्यक्ष्यादात्मवस्तुन ।
एष इत्यात्मनिर्देशो यत्साक्षादिति च श्रुतिः ॥ ध्व्यावृत्तानुपगतं नि सामान्यविशेषतः । ब्रह्मेति मुख्यवृत्त्येह वस्तु
श्रुत्याऽभिधीयते ॥ यथा लोचयतेर्षतीर्देशनार्थत्वहेतुतः । प्रवृत्तत्वात्तथा दृष्टेर्लोचनं लोक उच्यते ॥ धर्मधारय
एवाल समाशोऽश्रोपपद्यते । न तु पृष्ठीमभाशोऽत्र विभागस्याप्रसिद्धितः ॥ श्रुतं चैव विप्रकित्वं पुनत नाश्रुतवत्त्वना ।
वल्पनाह्वस्वद्भवे निरकाङ्क्षे तथा श्रुतः ॥ पट्टपादिकल्पनाऽप्याधी तस्मादनेति भण्यतः । सामानाधिकरण्य
च विदेषणविशेष्यता ॥ लक्ष्यलक्षणसंबन्धो ब्रह्मलोकाभिधानयोः । ब्रह्मेति चाऽऽत्मवाच्यत्वं लक्ष्यत नाभिधीयते ॥
तथा लोकागिरा ब्रह्मत्वमारमोपलक्ष्यते । मुख्यमंकाप्यंभव स्याद्ब्रह्मलोकपदार्थयोः ॥ न हि लोकातिरन्गं

गतिरेवाऽस्य परमा संपदेयोऽस्य परमो लोको

परमसंपत्ति है, यह ईश्वर परमलोक है। यह इसका परमानन्द है। इसी आनन्द की (प्रविद्या द्वारा

प्रविभक्तस्मै 'वस्तुनोऽभावात्तत्केन कं पश्येज्जिह्वेद्विज्ञानीयाद्वा । -अतः स्वेनै हि

यावत् । वस्तुनोऽभावात्तत्रैति शेषः । सुप्ते विशेषविज्ञानोऽयं प्रयुज्यते फलमाह—अत इति । 'पूर्वमेवा-

किन्तु जहाँ सुप्तावस्था में आत्मभिन्न वस्तु की प्रत्यायिका वह प्रविद्या शान्त हो जाती है, वहाँ उससे भिन्न रूप से प्रविद्या द्वारा विभक्त रम्यादि वस्तु का अभाव होने के कारण उस आत्मवस्तु

- १ रम्यादे । २. आत्मवस्तु । ३. अवतरणोक्तत्वात् । ४. स्त्रीवाक्ये घृ. उ ४. ३. २१ ।

ब्रह्मसुप्तावस्था । ब्रह्मणो व्यतिरेकेण प्रत्यक्ता नाम्यतस्तथा ॥ अनयोरेक्यतमोहालारोक्ष्यद्रव्यत्पने । ससारोऽप्यमती मोहसमुच्छित्तौ विमुक्तता ॥ अतोऽनौपमहानपेहोर्भोह्म्य हानये । एष इत्यादिवाक्योक्ति सम्पत्त्यर्थान्तरम् ॥ १७६५-१८२४ ॥ इति । सलिलादिवाक्यं तात्पर्योक्तिपूर्वकमादत्ते—यदिति ॥ सतिल-पदाथोक्त्यर्थं पातनिका करोति—प्रविद्योति ॥ सर्वस्याऽऽस्यंमात्रत्व प्रपञ्चयति—नेत्यादिना ॥ आत्मन स्वाविद्या विद्याज्जात्मासम्बन्धे हेतुमाह—स्वत इति । सर्वस्याऽऽस्यंमात्रत्व विद्यया ध्वरतावागममात्रत्वपरिदोषे फलितं सतिलपदार्थमाह—तस्मादिति ॥ एकशब्दमात्राङ्गोत्तरत्वेनोत्थापयति—अन्तरणेति ॥ तात्पर्यार्थमाह—नेत्यादिना । सतिलपदादात्तमानं शुद्धमुक्त्वा पुनरेकपद प्रयुञ्जाना श्रुतिरेकस्य तस्य विवक्षयन्मया विशेषण-वैकल्यादित्यर्थं ॥ एकशब्दस्यार्थान्तरमाह—सजातोपेति । तत्रापि तच्छब्दस्य सामर्थ्यमस्तीति द्योतनायार्थं हिशब्द । एकपदे सर्वभेदनिवारके संभवति किं सजातीयविशेषणोनेत्यामङ्गुच सतिलसम्बन्धमाध्यान्तरमाश्रयत्याह—सतिलेति । सर्वं सतिलाद्यात्ममात्रमिति निर्देशादन्त्यामभेदन्य निषिद्धत्वादेकपदमात्मभेदनिरासार्थमित्यर्थं ॥ एकशब्दस्य सख्यावाचिनो गुणगुणसम्बन्धपरत्वान्न विवक्षितायेतेत्यामङ्गुचाह एवेति । इहेत्यात्मोक्तिः । न हि तस्मिन्नेकत्व गुणो निर्गुणत्वश्चेतिरित्यर्थं । सख्यावाचित्वासम्भवे सिद्धमाह—प्रद्वितीयेति ॥ एकशब्दस्य वृद्धव्यवहारे संख्यावाचित्वप्रसिद्धेर्नाद्वितीयार्थोत्तेत्यामङ्गुच अत्यन्तरविक्रोधान्नेवमित्याह—सदिति । तथा सन्धेकपदस्याद्धार्यत्वे सतीति यावत् ॥ अकारकत्वे हेतुक्तिपूर्वकमद्रष्टव्यस्यार्थमाह—प्रत्यगिति ॥ द्रष्टेति पदच्छेदमापङ्गुच द्रूपयति—यवेति ॥ सजातीयविजातीयभेदविरही कूटस्थो यस्मादात्मा तस्मादनी स्वगतभेदशून्य इत्यद्वैतपदार्थमाह—यस्मादिति । प्रविद्यातज्जाभावेऽपि स्वगतभेदमान किं न स्यादित्यामङ्गुचाह—न हीति । हेतुब्रह्मे कलाभावस्य प्रतिद्वत्वादिति भावः ॥ ननु नभयं त्रैविध्यादन्तमनिर्धारणत्वे नभयद्वैतं निर्धार्य-तेत्यामङ्गुचाद्धार्यशब्दसमावपक्योऽर्थमाह—द्विषेति । अभावावसानत्वभेदतस्य व्यावर्तयति—प्रत्यगिति ॥ नभ द्वैतनिषेधवत्त्वसिद्धिस्तत्राऽह—द्विषेत्यादिना । इह वेदात्मनि द्वैतकारणमनिषिद्धं तदा तस्मिन्वद्भकारद्वैतं स्यात्तस्य च कारणस्यात्यन्तद्वैतपदेन निषिद्धत्वादात्मनित्तद्वैतनिषेधसम्भवादद्वैतो भवेदात्मेति योजना ॥ सलिलादिवाक्यार्थकस्यमात्मनो निर्धार्य भिन्नाभिन्नत्ववाचिना तद्व्यावधिकारोपमाह—भेदेति । श्रुतिमव-धोर्धर्मनो भिन्नाभिन्नत्ववाचिना विद्या महतीत्युपहृता तेषामज्ञत्व प्रतिज्ञातमिदानीं तत्राप्यन्याय-माह—मिथ इति । इष्ट्यादिधर्मारात्ममाध्यत्वे ततो भेदस्य दुर्बलत्वानिमिषोऽपि तेषा भेदासिद्धिस्तन्ना-ऽऽमयमस्यैतत्त्वं । इष्ट्यादिधर्मारात्ममाध्यत्वे ततो भेदस्य दुर्बलत्वानिमिषोऽपि तेषा भेदासिद्धिस्तन्ना-ऽऽमयमस्यैतत्त्वं । इष्ट्यादिधर्मारात्ममाध्यत्वे ततो भेदस्य दुर्बलत्वानिमिषोऽपि तेषा भेदासिद्धिस्तन्ना-ऽऽमयमस्यैतत्त्वं । इष्ट्यादिधर्मारात्ममाध्यत्वे ततो भेदस्य दुर्बलत्वानिमिषोऽपि तेषा भेदासिद्धिस्तन्ना-ऽऽमयमस्यैतत्त्वं ।

ॐ एषोऽस्य परम आनन्दः । एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि

भूतानि : 'मात्रामुपजीवन्ति' ॥ ३२ ॥

उपस्थित विषय और इन्द्रियो के सबन्ध से होने वाली) कला के आश्रित दूसरे जीव जीते रहते हैं ॥३२॥

'प्राज्ञेनाऽऽत्मना स्वयंज्योतिःस्वभावेन संपरिधत्तः समस्तः संप्रसन्नः श्राप्तकाम

स्वार्थस्योक्त-व द्योतयितुं हि शब्द । सपरिध्वङ्गकलं समस्तस्वमपरिधत्तत्त्वं तत्कलं संप्रसन्नत्वम् ।

'असंप्रसादो हि परिच्छेदाभिमानकृतः । संप्रसन्नत्वे हेत्वन्तरमाह—श्राप्तकाम इति । तदेव संप्र-

को किस इन्द्रिय से देखे, सुँवे अथवा जाने ? इसलिये अपने ही स्वयंज्योतिष्ठव पारमार्थिक स्वरूप

- १ ब्रह्मरूपस्य । २ विषयेन्द्रियसद्वन्धनाले विभाव्यमानाम् । ३ तदन्यस्यानन्दस्याभावादिति भावः ।
- ४ पारमार्थिकेन स्वरूपेण । ५ एकीभूतः । ६ अपरिच्छिन्नः । ७ अत्यन्तस्वच्छः । ८ प्राप्ता
- मुखाद्यो यस्मिन् । ९ कर्तृत्वादिमातिन्यम् ।

भाव ॥ सनिनादिदाकयार्थमनुबन्धेदाभेदवादिना तद्विरोधमुपमहरति—द्रष्टेति । अर्थदादो भिन्नाभिन्नत्व-
विषय । इहेत्यात्मोच्यते ॥ आत्मनो भिन्नाभिन्नत्वस्य श्रुति यायविरोधमुक्त्वा तदसम्भ एष्टान्तीतिगमयति—
तम इति ॥ एष ब्रह्मलोक इत्यादिवानपस्वभेदपशब्दमादत्ते—अत इति । उच्यते पृष्टमिति यावत् । आत्मा सनिहि-
तत्वादेपशब्दवाच्य ॥ न च तस्यानिदमाकारस्य शास्त्रैकगम्यस्यैतच्छब्दाहंतेत्यासाङ्क्याऽह—प्रत्ययमिति ।
तदव्यवहितत्व तदतोमत्व ततश्च प्रत्यक्षत्वादेपशब्दाहंत्वमारत्नोऽस्तीत्यर्थं । आत्मन प्रत्यक्षत्वे मानमाह—
यदिति । ब्रह्मशब्दार्थमाह—धर्म्यात्तेति । तत्र हेतु—नि सामान्येति । अस्ति कमलासनादिविशेषवदधि यद्भेदो
चेत्तत्राऽह—मुख्येति । इहेति ब्रह्मलोकशब्दनिर्देशः । धर्म्यात्तानुगुण वस्तु द्रष्टेति श्रुत्याऽभिधीयत इति
सबन्ध ॥ लोकशब्दस्य भोगभूमिनिगमत्त प्रकरणादिना व्यावर्तयन्निबधितमाह—तथेति ॥ अवयवार्थमुक्त्वा
ब्रह्मलोकशब्दस्य समासमाह—कर्मति । ब्रह्मशब्देन तत्पदार्थस्य लोकशब्देन त्वपदार्थस्य चोक्तत्वाऽभिधान-
मत शब्दाय । ननु निपादस्यपत्यधिकरणपूर्वपक्षन्यायन समासान्तरं नभाविते कथं कमधारयो निपम्यते
तत्राऽह—न त्विति । तत्र हि भेदमादाय समासान्तरं शङ्कित न चात्र तद्वचनार्थयोर्भेदे मानदस्ति तथाच तदीय-
सिद्धान्तन्यायेन कर्मधारय इत्यर्थं ॥ तत्रैव मुख्यन्तरमाह—श्रुत चेति । अत्यार्थं । लोकशब्दस्य तावत्प्रत्यय-
न्तत्वं श्रुत तन समभिध्याहृता ब्रह्मशब्द समासान्तर्वर्ती लुभविभक्तिको विभक्तिगणेशते तथा च मनिहितलो-
कशब्दादस्यापि प्रथमान्तत्वं युक्त वत्यकमद्भावत्वात्तावच्छेदं न त्वस्य पृष्टघन्ता कल्या तद्भेदाभावाद्गौरवाद्
श्रुतपट्टीकल्पनाया प्रवरणविरोधाच्च तत्र हेतोरमत्त्वे ब्रह्मलोकशब्दे च श्रुते प्रथममेव निरावाङ्क्षे सति न
सा कल्पेति पट्टीकल्पनावच्छेदुष्यादिकल्पनाभि न मुक्त्विति ॥ समासान्तरस्यागन कर्मधारयस्यैव स्वीकार्यत्वमुप-
सहरति—पट्टादीति । अत्र ब्रह्मलोकशब्दे पट्टीचतुष्यादिकल्पना न साव्येति कृत्वा कर्मधारयो भण्यत इति
याजना ॥ समास व्यवस्थाया वाक्यवृत्ति व्याचष्ट—सामानाधिकरण्येति । ब्रह्मलोकशब्दो सामानाधिकरण्यं
तदर्थयोग्योऽन्योर्भेदोपशुविशेष्यत्व तथोच्ये तद्व्यवस्थाव्योर्भेदोपशुविशेष्यत्वमन्तत्त्वमसीतिविदि यथ ॥ ब्रह्मशब्दना-
नात्मनो लोकशब्देन चाब्रह्मणो लक्ष्यत्वात्तत्रशब्दायत्वमन्यथा पदान्तरैर्यस्यादित्यासाङ्क्याऽह—ब्रह्मेतीति । न च
पदान्तरैर्यस्यैव व्यावर्त्यभेदादिति भावः । पदान्या ब्रह्मात्मनोर्वाच्यत्वमव किं न स्यादित्यासाङ्क्याऽह—नाभि-
धीयत इति ॥ शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य पट्टादिरभावादित्यय । उत्तमोत्या तद्व्यवस्थाभोऽप्यगम फलितमाह—
मुख्यमिति ॥ मुख्यत्वे युक्तिमाह—न हीति ॥ ब्रह्मात्मनारैर्यमस्ति चेत्कथं सकारप्रतीकित्तत्प्रतीती वा कथं
ब्रह्मणो नित्यमुक्तेति तत्राऽह—घनमोरिति ॥ वाक्यनालर्त्वंमुपसहरति—अत इति । मोहध्वस्तौ मुक्तिरत-
पद्यार्थः ।

ॐ एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्तेत्यादो वातिने—'आनन्द परमोऽस्यैव मुखात्कर्त्तसमाश्रितः । सर्वा-

'आत्मकामः सलिलवत्स्वच्छीभूतः 'सलिल इव सलिल एको द्वितीयस्याभावात् । अविद्यया हि द्वितीयः प्रविमज्यते । सा च शान्ताऽप्रान एको द्रष्टा हृष्टेरविपरिलुप्तत्वादात्मज्योतिःस्वभावाया अद्वैतो द्रष्टव्यस्य द्वितीयस्याभावात् । 'एतदमृतममममेव' ब्रह्मलोको ब्रह्मैव "लोको "ब्रह्मलोकः पर एवा"मस्मिन्काले व्यावृत्तकार्यंकरणोपाधिनेदः

सन्नत्यं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—सलिलवदिति । उक्तेऽयं वायवाक्षरार्णं योजयति—सलिल इवेति । द्वितीयस्याभावं सुपुप्ते ध्यक्तो करोति—अविद्ययेति । अद्रष्टा द्रष्टेति या छेदः । एकोऽद्वैत इत्यभ्यास-स'स्तात्पर्यलिङ्ग "तस्य परमपुरुषार्थत्वं दर्शयन्कूटस्थत्वमाह—एतदिति । किमिति पृष्ठीसमासमुपेक्ष्य

प्राज्ञात्मा से एकीभूत, अपरिच्छिन्न, अत्यन्त स्वच्छ, प्राप्तवाम, आत्मवाम, सलिल के समान स्वच्छीभूत "सलिल एक" अर्थात् सलिल के समान एक है क्योंकि निरवयव होने के कारण उसमें द्वितीयत्व का अभाव है । द्वितीय विभाजन तो अविद्यावस्था में होता है । वह यहाँ सुपुष्पावस्था में शान्त हो गई है । इसलिये रूप द्रष्टा एक है, आत्मज्योतिस्वभाव द्रष्टि का लोप न होने के कारण वह द्रष्टा है तथा अन्य द्रष्टव्य का अभाव होने के कारण अद्वैत है । यह आत्मतत्त्व (पञ्चावविकारशून्य) अमृत, अम-

- १ भारमैव काम सुखमात्माकारो यस्मिन्निति न हिरण्यगर्भतुल्य । २ सलिल इव सलिल इति—सर्व-स्याविद्यस्य (विद्यया) घ्वस्तावात्ममात्रत्वपरिदोषे वायवकरणधारभावेन तत्संबन्धाभावात्सलिलवच्छुद्ध इत्यर्थ ।
- ३ एक इति—सलिलपदादात्मानं शुद्धमुक्त्वा पुनरेकपदं प्रयुञ्जाना श्रुतिमत्स्यैकरत्वम् (निरवयवत्व) विवक्षत्यन्यथाविशेषणवैयर्थ्यादिति वातिकानुमारो पन्था । ४ सुपुष्पो । ५ रूपः । ६ मयोक्त-मात्मतत्त्वम् पञ्चावविकारशून्यम् । ७ अमहेत्वविद्याशून्यम् । ८ प्रत्यक् । ९ तत्पर्याय । १० तत्पर्याय । ११ कर्मधारयतत्तयोरेक्यम् । १२ आत्मा । १३ श्रुतेर्निविशेषवस्तुनि तात्पर्यग्राहक इत्यर्थ । १४ यथोक्तत्वात् ।

नन्दातिशायित्वात्तथाैव प्रवक्ष्यते ॥ विषयस्पर्शजानन्दा साधनानुविधानतः । आद्यन्तवत्स्वभावाव्यादु लहेतव एव ते । कूटस्थात्मस्वभावात्सर्वसाधननिस्पृह । सर्वानन्दातिवर्तिवादानन्द परमा मत ॥ आनन्द परमो-ऽयं चक्षुक्तार्थप्रमिदये । एतस्यैवेति वक्षसा समर्था हेतुर्कथ्यते ॥ एतस्यैव यथोक्तस्य सर्वानन्दातिवर्तित । उपजीवन्ति भूतानि ब्रह्मानन्दस्य विष्णुपम् । एष एकविधो यस्मादानन्द परमस्ततः । आनन्दानतिशेतेऽन्यान्यवर्-नस्यैव कृत्स्नत ॥ कृत्स्नोऽपि चैव आनन्दस्तदविचिकित्तेनुज । बुद्धपाद्युपाध्यवच्छेदान्मात्रेति व्यपदिश्यते" ॥ १८३६-१८४२ ॥ इति । एयोऽय परम आनन्द इत्यस्यार्थमाह—आनन्द इति । आनन्दानन्दस्य परमत्वे हेतु—मुनेति । आनन्दातिशयस्याऽऽत्मनि कथं समाप्तिस्तत्राऽह—सर्वेति । तदेव कथं नदाह—तथावेति । यथा-ऽन्योत्पत्तयस्याऽऽत्मनि समाप्तिस्तथा सर्वान-दातिशायित्वमात्मनि स यो मनुष्याणांमिन्द्रादिप्रकारेण वक्ष्यत इति यावत् ॥ विषयान्दानामपि हिरण्यगर्भादीना परमत्वात्तत्र तेनाऽऽत्मानन्दो विद्येयते तत्राऽह—विषयेति ॥ तर्हि सद्ब्रह्मन्मुखस्यापि मुखत्वाविशेषात् परमतेत्यागङ्क्याऽह—कूटस्थेति ॥ आत्ममुखमेवोक्तं मुखमितर-द्रिङ्गमित्यथावाधितहेतुकस्यैवमुखर वाक्यमित्याह—आनन्द इति ॥ वाच्यं योजयति—एतस्यैवेति । यथो-क्तस्येत्यस्य व्याख्यानम्—सर्वानन्देत्यादि ॥ हेत्वर्थमत्रूय साध्यां निगमयति—एव इति । परमत्व व्याखरोति—आनन्दानतीति । तत्र हेतु—अस्मेति ॥ आत्मानन्दस्य कृत्स्नत्वे कथं मात्रेति व्यपदेशस्तत्राऽह—कृत्स्नोऽपीति । पूर्णस्याऽन्यस्याविद्योत्पद्युद्धादिमन्वन्धनमात्रेतिव्यपदेशाहृत्यर्थं ॥

स्व आत्मज्योतिषि शान्तसर्वसंबन्धे वर्तते । हे सम्राडिति हैवं हीनं 'जनकमनुशशासतु-
शिष्टवान्याज्ञवल्क्यं इति श्रुतिवचनमेतत् ।

'कथं वाऽनुशशास । 'एषाऽस्य विज्ञानमयस्य परमा गतिः । यास्त्वन्या देहग्रहण-
लक्षणा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता अविद्याकल्पितास्ता गतयोऽतोऽपरमा अविद्याविषयत्वात् ।
इयं तु देवत्वादिगतीनां कर्मविद्यासाध्यानां परमोत्तमा यः "समस्तात्मभावो यत्र
नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानातोऽप्येव च परमा संपत्सर्वसां संपदां विभू-
तीनामियं परमा स्वामाविकत्वादस्याः कृतका" ह्यन्याः संपदाः । तथैषोऽस्य परमो लोकः ।
येऽन्ये कर्मफलाश्रया लोकास्तेऽस्माद"परमाः । * "अयं तु न केनचन कर्मणा मीयते स्वाभा-

कर्मधारयो गृह्यते तत्राऽऽह—पर एवेति । अस्मिन्काले सुपुत्र्यवस्थायामित्येतत् ।

परमत्वं साधयति—यास्त्विति । प्रस्तुतं समस्तात्मभावं विशेषविज्ञानराहित्येन विशिनष्टि—
यत्रेति । सर्वार्थभावाद्यस्य लोकस्य परमत्वमुपपादयति—येऽन्य इति । मीयते परिच्छिद्यते साध्यत

हेतुक अविद्या से घुन्य है । "एष ब्रह्मलोक" अर्थात् त्वपदार्थं लोक तत्पदार्थं ब्रह्म ही है । इसनिये उनके ऐक्य होने से ब्रह्मलोक है । हे सम्राट् । इस समय अपनी देहेन्द्रियरूप उपाधि से छूटकर सब सबन्धो से मुक्त ही परमात्मा ही अपनी आत्मज्योति मे वर्तमान रहता है । इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने इस जनक को "अनुशशास" यानी उपदेश किया, यह श्रुतिवाच्य है ।

किस प्रकार से उपदेश किया ? यह इस विज्ञानमय की नैष्ठिकी अवस्था है । इससे भिन्न जो ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त देहग्रहणलक्षणा अवस्थाएँ हैं; वे सब अविद्याकल्पित हैं, अत अविद्या की विषय होने के कारण वे क्षय होने वाली है । किन्तु यह जो अपरिच्छिन्न आत्मभाव है वह कर्म और उपासना द्वारा माध्य देवत्वादि गतियो मे "परमा" यानी उत्तम गति है, जहाँ कि पुरुष अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता, अन्य कुछ नहीं जानता । "एषाऽस्य परमा सपत्" अर्थात् सम्पूर्ण सपदाओ या विभूतियो मे यह अतिशय उत्कर्ष वाली सपत् है, क्योंकि यह स्वामाविक है और दूसरी तरह की सपदाएँ जन्या है । इसी प्रकार यही इसका परम लोक है । जो अन्य कर्मफलाश्रय लोक हैं, वे

- १ मुमुक्षुम् । २ अविद्यापरोदनाय । ३ केन वाऽन्येन प्रकारेणेत्यर्थ । ४ अतिच्छिन्नावकाशात् ।
५ नैष्ठिकी । ६ अवस्था । ७ तत्राऽऽत् । ८ क्षयिष्य । ९ मध्ये । १० अपरिच्छिन्न ।
११ उत्कर्षतिशय । १२ जन्या । १३ कृतवत्वात् । १४ आत्मलोचन्तु ।

* मोक्षस्यापि तुल्यं कर्मज्ञानरूपक्षयिष्णुसाधनमाध्यत्वेन क्षयित्वमेतद् ब्राह्—अथ त्विति । प्रतिबन्धवस्तो
ज्ञानस्योपायोऽपि कर्म साध्यान्मोक्षे नोपचरोतीति भाव । तथा चोक्तं वार्तिके— ब्रह्मैव सत्त्वता यस्माद्ब्रह्मा-
प्येत्यवबोधत । तदविद्यानिरामेन मुक्तिर्नातीत्युपमाधनात् ॥ लोकाश्रयस्य मुम्बोऽथ ब्राह्मैवह यन्मतत ।
कर्मविहेतुसाध्येषु गोणी लोपापंता भवेत् ॥ न कर्मणा कर्मावस्ता वृद्धिर्वा नान्तसारमन । इति ब्राह्मिणोऽप्यु-
वेदान्तोपपणा कृता ॥ १८३३-३५ ॥ इति । ब्रह्मलोकाश्रितस्य लोकात्वात्कर्म न कर्मवत्त्व इत्यपवित्या-
शङ्कपाऽह—तीकेति । इन्द्रियुत्पत्तिभ्यामात्मैव लोकाब्दापदेत्कर्मफलेषु स्वर्गादिषु कर्म तच्छब्द इत्यावाङ्मुखा-
न्याय्य चानेकार्थत्वमिति न्यायेनाऽह—कर्मोदिति । एवस्य शब्दस्य मुख्यता कृत्यानेकार्थकार्थमनुनित-

विक्रवादेयोऽस्य परमो लोकः । तथैयोऽस्य परम आनन्दः । यान्यन्यानि विषयेन्द्रिय-
संबन्धजनितान्यानन्दजातानि तान्यपेक्ष्योऽस्य परम आनन्दो नित्यत्वात् । “यो वै
भूमा तत्सुखम्” इति श्रुत्यन्तरात् ।

यत्रान्यत्पश्यत्यन्यद्विजानाति तदल्पं मर्त्यममुख्यं सुखमिदं तु तद्विपरीतम् ।
अत एवैषोऽस्य परम आनन्दः । एतस्यैवाऽऽनन्दस्य मात्रां कलाम विद्याप्रत्युपस्थापितां
विषयेन्द्रियसंबन्धकाल विभाव्यामन्यानि भूतान्युपजीवन्ति । कानि तानि “तत एवा-
ऽऽनन्दादविद्यया प्रविमज्यमानस्वरूपाप्यन्यत्वेन तानि ब्रह्मणः परिकल्प्यमानान्यन्यानि

इति यावत् । सौपुत्रस्य सर्वात्मभावस्य परमानन्दत्वं विशदयति—यानीति । आत्मनोऽनवच्छिन्नानन्दत्वे
छान्दोग्यश्रुति सवाद्यति—यो वै भूमेति ।

ननु वैषयिकमेकं सुखमात्मरूपं चापरमिति सुखभेदाङ्गीकारादपसिद्धान्तः स्यादित्याशङ्क्य
मुख्यामुख्यभेदेन तदुपपत्तमेवमित्याह—यत्रेत्यादिना । किञ्च वस्तुतो नारत्येवाऽऽत्मसुखातिरिक्तं वैषयिकं
सुखमित्याह—एतन्मेति । ब्रह्मातिरिक्तचेतनाभावे कान्युपजीवकानि स्पुर्तिरत्याशङ्क्य परिहरन्ति—

(कृतक होने के कारण) क्षयिष्णु हैं । आत्मलोक तो किसी कर्म से मापा नहीं जा सकता क्योंकि यह
स्वाभाविक है, इसलिए यह इसका परम लोक है, तब तो यह इसका परम आनन्द है क्योंकि अन्य जो
विषय और इन्द्रियों के संबन्ध से होने वाले आनन्द हैं, उनकी अपेक्षा यह सुपुष्ट का आनन्द नित्य होने
से साधनासाध्यत्व से निरतिशय है । अन्य श्रुति में कहा गया है कि “जो भूमा है, निश्चय ही वह
सुख है” ।

जहाँ अन्य कुछ देखता है, अन्य कुछ जानता है वह अल्प, मर्त्य, अमुरय सुख है, किन्तु यह
उससे विपरीत प्रमुख्य है, इसीसे यह सुपुष्ट का कृत्स्न आनन्द है । ब्रह्मात्मक आनन्द की अविद्या
प्रत्यापित तथा विषयेन्द्रिय के संबन्ध के समय प्रतीत होने वाली मात्रा कला के आश्रित ब्रह्मातिरिक्त
सभी जीव उपभोग करते हैं । वे जीव कौन हैं ? जो उस ब्रह्मस्वरूप के आनन्द से ही अविद्यावश विभक्त

- १ सुपुत्रस्य । २ साधनासाध्यत्वेन निरतिशय । ३ मुख्यम् । ४ सुपुत्रस्य । ५ इत्सु इति
यावत् । ६ ब्रह्मात्मकस्य । ७ नन्वात्मनन्दस्य पूर्णत्वे कथं मात्रेति व्यपदेशस्तथाऽऽह—अविद्येति ।
इत्सुस्यापि सस्याविद्यात्यबुद्ध्यादिसंबन्धान्मात्रेति व्यपदेशार्हता तदुक्तं वार्तिके—“इत्सुतोऽपि चैव आनन्द-
स्तदविद्यैकहेतुः । बुद्ध्यात्पुण्यव्यवच्छेदान्मात्रेति व्यपदिश्यते” ॥ १८४२ ॥ इति ॥ ८ प्रतीयमानाम् ।
९ अन्यानि—ब्रह्मातिरिक्तत्वेन प्रतीयमानानि ब्रह्मादिपिपीलिकान्तानि । १० उपभुञ्जते । ११ ब्रह्म-
स्वरूपादेव । १२ निरतिशया ।

मिति न्यायार्थं । न्यायश्चायम् “अन्यायश्चानेकशब्दत्वमिति” (१ ३ २६) ॥ न्याय प्रणयता परमविरा
जनिनिता कटाक्षित इति बोध्यम् । युक्तेस्तुल्यत्वात् । सा च गौरव तच्च यदैवस्यायंत्यानेषु शब्देषु कल्प्यमा-
नाया दातौ तथैवादेवैष्वर्थेष्वेकस्य शब्दस्येति । यद्वा तस्यैवेदमर्थान्तरम् । तस्य हि वाचका अनेके शब्दा यस्येति
श्रुत्यस्या नानाशब्दवाच्यत्वमेकस्यार्थस्याग्यायमित्यर्थं । अनेकमर्थं शब्दयतीति व्युत्पत्त्याऽनेकेषामर्थानां दादो
वाचक इत्यनया वा यथोपरिष्ठात्प्रिदृष्ट इति ॥ ननु लोचस्य कर्मसाध्यत्वप्रसिद्धेरात्मैव लोकश्चेत्कर्मसाध्य
सोऽपि भविष्यति नेत्याह—नेति ॥

स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः
 सर्वमनुष्यकर्मभोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम
 आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः
 पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां
 जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दो-
 ऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवा-

मनुष्यो मे वह जो भी कोई सम्पूर्ण अगो से युक्त, भोगसामग्री से सम्पन्न, दूसरो का स्वतन्त्र अधिपति और मनुष्यसंबन्धी सम्पूर्ण भोगसामग्री के कारण सबसे बड़ा-चड़ा हो, वह मनुष्यो का परम आनन्द है—अर्थात् मनुष्यलोक मे ऐसे व्यक्ति का आनन्द सर्वश्रेष्ठ माना गया है । ऐसे मनुष्यों के जो सौ गुणे आनन्द हैं, वह पितृलोक को जीतने वाले पितृगणो का एक आनन्द माना जाता है और जो पितृलोक को जीतने वाले पितृगणो के सौ आनन्द है, वह गन्धर्वलोक का एक आनन्द माना जाता

सन्त्युपजीवन्ति भूतानि विषयेन्द्रियसंपर्कद्वारेण विभाव्यमानाम् ॥ ३२ ॥

यस्य परमानन्दस्य मात्रा अवयवा ब्रह्मादिभिर्मनुष्यपर्यन्तं भूतैरुपजीव्यन्ते तदानन्दमात्राद्वारेण मात्रिणं परमानन्दमधिजिगमयिषन्नाह संधवलवणशकलरिव लवण-

कानीत्यादिना । विभाव्यमानामानन्दस्य मात्रामिति पूर्वेण संबन्धः ॥ ३२ ॥

स यो मनुष्याणामित्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—यस्येति । यथा संधवावयवैः संधवाचल लोको बोधयति तथा तस्याऽऽनन्दस्य मात्रा नामावयवास्तत्प्रवर्शनद्वारेणावयवित परमानन्दमधिगमयितु-

स्वरूप तथा ब्रह्म से पृथक्स्वरूप से परिकल्पित अन्य शीव है, वे विषय और इन्द्रियो के सम्पर्क द्वारा उस आनन्द की प्रतीयमान मात्रा का उपयोग करते है ॥ ३२ ॥

ब्रह्मा से लेकर मनुष्यपर्यन्त सभी जीव जिस ब्रह्मस्वरूप परमानन्द की मात्रा अवयव को अनुभव करते हैं, उस ब्रह्मानन्द की मात्रा के द्वारा संधव नमक के टुकड़े से संधव पर्वत का ज्ञान कराने

१ एतमेव परमानन्द सातिशयानन्दप्रतिपादनद्वारा बोधयति—स य इत्यादिना । २ ब्रह्मस्वरूपस्य । ३ भुज्यन्तेऽनुभूयन्त । ४ ब्रह्मानन्देति भाव । ५ अनुमिमापयिषन् ।

ॐ अथ य शत मनुष्याणामानन्दा स एक पितृणामिति । अत्राहुर्वातिवाचायास्तत्पाहि—“गतवृत्तो मनुष्याणा-
 मानन्दा गुणितस्तु य । पितृणामेव आनन्दस्तेन तुल्यप्रमाणतः ॥ मत्सुव साधनाधीन दुःखमेव तदुच्यते ।
 अनन्यसाधन तस्मात्स्वात्मस्य परम सुखम् ॥ तस्मादात्मपरिज्ञानकार्यमेष समाहित । निरस्तातिशयानन्दो
 भवतीत्यस्य निगम ॥ तारतम्यानुपायानां शुद्धिस्तरतमा धिय । शुद्धेस्तरतमत्वाद्य सुख तरतम भवेत् ॥
 यावदावन्मनो इति बुद्धेर्धर्मदिसिचयात् । तावत्तावद्विष्य स्वास्थ्य तावत्तावत्सुखोत्पत्ति ॥ यावदावदपनीभावो
 बटे पापादिर्न गत । तावत्तावद्विषयास्वस्थ्य दसोद्भूतिस्तथा तथा ॥ पितृलोको जितो यं

नामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्तेऽयं ये शतं
कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो
यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहृतोऽयं ये शतमाजान-

है। तथा जो गन्धर्वलोक के सौ आनन्द हैं, वह अग्निहोत्रादि श्रोतवर्ग के द्वारा देवत्व को प्राप्त हुए कर्म देवों का एक आनन्द है। इसी प्रकार कर्म देवों के जो सौ आनन्द हैं, वह आजान (जन्म-

शैलम्'। स यः कश्चिन्मनुष्याणां मध्ये राट्टः संतिष्ठोऽधिकतः समप्राययव इत्यर्थः।
समृद्ध 'उपभोगोपकरणसंपन्नो भवति। किञ्चान्येषां समानजातीयानामधिपतिः स्वतन्त्रः

मिच्छन्नन्तरं ग्रन्थः प्रवृत्त इत्यर्थः। तात्पर्यमुक्त्वाऽक्षराणि ध्याचष्टे—म य. कश्चिदित्यादिना।
राट्टत्वमधिकतत्त्वं चेत्समृद्धत्वेन पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—समप्रेति। 'तदेव समृद्धत्वमपीत्याशङ्क्य
व्याकरोति—उपभोगेति। 'अन्तर्वहं संपत्तिभेदादपुनरुक्तिरिति भावः। न केवलमुक्तमेव तस्य विशेष-
यत्वं किंतु विशेषणान्तर चास्तौत्याह—किंचेति। विशेषणतात्पर्यमाह—रिच्येति। तदनिवर्तने 'तद्वय

के समान मायो परमानन्द का ज्ञान कराने की इच्छा से श्रुति कहती है—“म यो मनुष्याणां राट्टः”
अर्थात् वह जो मनुष्यों में सब तरह से सिद्ध भविष्य यानी सम्पूर्ण अवयवों से युक्त, समृद्ध अर्थात्
उपभोग सामग्री से सम्पन्न रहता है, “एवामधिपति” इसके अतिरिक्त अन्य सजातीय पुरुषों का स्वतन्त्र

१ सैन्धवति। सैन्धवाःस्त्री शीतलिव माणिमन्य च सिन्धुजे” इत्यमरः। सिन्धो देवविशेषे भवेत् कच्छादिभ्य-
श्चेत्यण्। अत्वारि सिन्धुजे लवणे। २ भोगक्षमाऽपेयावयव। ३ स्रक्चन्दनवनिनादिनिमित्तवाह्यभोग-
सामग्रीव। ४ समप्रायवयवमेव। ५ अन्तरित्यादि। संपत्ति साधनम्। अथ वातिकम्—“वाह्यै-
राध्यात्मिकैरेव साधनैरन्वित पुमानिति” ॥ १८४६ ॥ इति ॥ ६ पुमः।

कर्मणि। जितलोकास्त उच्यन्ते पितरो दिव्यभोगिनः ॥ य एष दक्षिण पन्था पितृलोक स उच्यते। मनुष्या-
नन्दत सोऽयं गुणित म्याच्छनाधिक ॥ उत्तरेष्वपि वाक्येषु यथोक्तमुपपादयेत्। शताधिकोऽयमानन्द पूर्व-
स्मादुत्तर क्रमान् ॥ नशत्रलोकाब्देन ये पूर्वं प्रतिपादिताः देवलोकगिरा तेषु भण्यन्ते सूदनमूर्तयः” ॥
१८५०-१८५६ ॥ इति। अथेत्यादेरर्थमाह—शतेति। प्रमाण परिमाणम् ॥ परंपरयोश्चमानो ब्रह्मानन्दो न
परमो हिण्ड्यसमभितानन्दस्यानुभूतसजातीयस्य परमत्वसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—यदिति ॥ वैषयिकमुत्सय विप-
मवद्धदुधवद्धुक्तात्मवादात्समुत्सयैव परमत्वात्तद्विधारणार्थं परंपरेति पत्नितमाह—तस्मादिति ॥ मनु सर्वं
मुखमात्मैष्यते ताक्य तारतम्यवत्स्यादात्मनोऽप्रतिपत्त्वात्तत्राऽह—तारतम्यादिति। व्यञ्जकबुद्धिशुद्धिवैषम्यात्-
स्मिन्वैषम्यधीरित्यर्थं। नचं तेषामुपायतारतम्याच्छुद्धितारतम्य तत्राऽह—यावदिति। बुद्धिशुद्धितारतम्यादा-
नन्दे तारतम्यधीरित्येतन्नियमयति—तावदिति। उपायतारतम्याधीनशुद्धितारतम्यकृतं मुखतारतम्यमित्येतद्व-
तिरूपमुत्तेनाऽह—यावदिति। मनुष्यान्वादादरम्य हिरण्यगर्भानन्दानामानन्दानां तारतम्ये हेतु सदा स
एक पितृणामित्यन व्याख्यातम्। इदानीं जितलोकानामित्यस्वार्थमाह—पितृलोक इति ॥ कोऽयं पितृलोक-
स्तत्राऽह—य इति। गतेयन्तर्ग्येयमोपचारिकम्। तस्य स एक आनन्द इत्यनेन समतित्याह—मनुष्येति ॥
अथ ये शतमित्यादिवाक्येषु सान्यायमतिदिशति—उत्तरेष्विति। सर्वपर्यायेषु मिदमर्थं सकलयति—शताधिक
इति ॥ वाष्वापाठेन सर्वपर्यायतात्पर्यं मुक्त्वाऽप्ययं शत गन्धर्वलोक आनन्द स एको देवलोक आनन्द इति
भाष्यदिनपाठे देवलोकान्दार्थमाह—नशत्रेति। पूर्वमिति मार्गब्राह्मणोक्ति ॥

देवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च
श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक
आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियो-
ऽवृजिनोऽकामहतो*ऽथ एव परम आनन्द
एष ब्रह्मलोकः सभाडिति होवाच याज्ञवल्क्यः

(सिद्ध) देवो का एक आनन्द है । तथा आजानदेवो के जो सौ आनन्द है, वह प्रजापति का एक आनन्द है एवं जो पाप तथा कामनारहित श्रोत्रिय विद्वान् है, उसका भी वह आनन्द माना जाता है और जो प्रजापतिलोक के सौ आनन्द है, वह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का एक आनन्द है । एवं जो आप्त तथा कामना से शून्य श्रोत्रिय विद्वान् का आनन्द है, वह भी वही है । यही परम उत्कृष्ट आनन्द है । हे राजन् ! यही ब्रह्मलोक है, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा । इस पर राजा जनक ने कहा—

पतिर्न 'भाण्डलिकः सर्वैः समस्तमनुष्यकैरिति' । दिव्यभोगोपकरणनिवृत्त्यर्थं मनुष्या-
णामेव यानि भोगोपकरणानि तैः संपन्नानामप्यतिशयेन संपन्नतमः 'स मनुष्याणां
परम आनन्दः ।

वक्ष्यमाणगन्धर्वादिष्वन्तर्भावः स्यादिति भावः । अतिशयेन संपन्न इति शेषः ।

शासक है किसी सीमित प्रदेश के प्रशासक होने से भाण्डलिक नहीं है, "मानुष्यकैः" अर्थात् सम्पूर्ण मनुष्यसवन्धी भोगो द्वारा सम्पन्नतम है । दिव्यभोगों से निवृत्ति के लिए "मानुष्यकैः" यह विशेषण दिया गया है अर्थात् मनुष्यो की जितनी भोग वस्तुएँ हैं; उनसे जो लोग सम्पन्न है, उनमें भी सम्पन्नतम होता है; वह पुरुष मनुष्यो का परम आनन्द है ।

१ भाण्डलिक इति—“चक्रवर्ती सार्वभौमो नृपोऽप्यो मण्डलेऽथर” इत्यमरोक्त्या सार्वभौमादप्य इत्यर्थं ॥
२ विशेषणम् । ३ पुमान् । ४ एतच्छ्रेयानुरोधाद्भाष्ये संपन्नपद प्रक्षिप्तं वेद्यम् ।

ॐ अथैव एव परम आनन्द इति । अत्राहुर्वात्किञ्चाचर्यस्तिवाहि—“अत परमनन्त्वादागणित विनिवर्तते । यत एवमत प्राहाथैप एवेति न श्रुति ॥ अनेनातिशयवता ह्यस्मद्भोगोचरवतिना । अयास्तातिशयानन्द सुमेनेहा-
नुमीपते ॥ अवेस्तातिशयनिष्ठवाल्तोवे सातिशयारमन । यतोऽतोऽतिशयता शम्पतेऽतिशय मुमुक्षुम् ॥ सर्वैतानि समस्तानि निष्ठा यान्ति परारमनि । परभोग्याविहाऽऽनन्दः सर्वानन्दातिलङ्घनात् ॥ एपोऽयति प्रतिज्ञात आनन्दः सोऽनुमानत । निष्ठा प्रतीचि गमित उत्तरोत्तरवृद्धित ॥ अविज्ञातपरानन्दान्प्रत्येषानुमितिमता । साक्षात्ज्ञाता-
त्मतत्त्वाना प्रत्यक्षतममेव तत् ॥ अकामहतधीगम्य आनन्दः प्रत्यगात्मनि । य स एव यपोऽनेम्यः परमः स्यादनन्तत । तथाच भगवान्वास सर्ववेदाथैतत्त्वविद् । स्वय प्राहेममेवार्थं कामानर्थत्रिहाणया ॥ यच्च काममुख लोके यच्च दिव्य महत्सुखम् । कृप्राद्यममुखस्यैते नार्हतः पोडशी कनाम् ॥ यतो यतो निवर्तते ततस्ततो

सोऽहं^१ भगवते सहस्रं^२ ददाम्यत ऊर्ध्वं^३ विमोक्षायैव
 ब्रूहीत्यत्र^४ ह याज्ञवल्क्यो^५ विभयांचकार मेधावी
 राजा सर्वेष्यो मा^६ऽन्तेभ्य^७ उदरौत्सीदिति ॥ ३३ ॥

में इसके बदले श्रीमान् को एक सहस्र गौएं देता है । मत. इसके आगे भी आप बन्धन से मुक्त करने के लिये ही उपदेश करे । इस बात को सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य मगभीत हो गये कि इस युद्धिमान् राजा ने तो मुझे मोक्ष के साधन रूप में सम्पूर्ण प्रश्नों के सम्यक्निर्णय देने के लिये बांध लिया है (कामप्रश्न के बहाने से यह मेरा सारा विज्ञान ले लेना चाहता है) ॥ ३३ ॥

तत्राऽऽनन्दानन्दिनोरभेदनिर्देशः। प्रार्थान्तरभूतत्वमित्येतत् । परमानन्दस्यैवेयं
 विषयविषयकारेण मात्रा प्रसूतेति ह्युक्तं यत्र वा प्रत्यदिव स्यादित्यादिवाक्येन ।
 तस्माद्युक्तोऽयं स परम आनन्द इत्यभेदनिर्देशः । युधिष्ठिरादितुल्यो राजाऽत्रोदाहरणम् ।

अभेदनिर्देशस्याभिप्रायमाह—तत्रेति । प्रकृतं वाक्यं साम्प्रयं । आत्मनः सकाशादानन्दस्येति
 शेषः । औपचारिकत्वमभेदनिर्देशस्य भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—परमानन्दस्येति । तस्यैव विषयत्व
 विषयित्वमिति स्थिते फलितमाह—तस्मादिति । यथोक्तो मनुष्यो न दृष्टिपथमवतरतीत्याशङ्क्याऽऽह

यहाँ आनन्द और आनन्दवान के अभेद दर्शन से आत्मा से आनन्द कोई भिन्न पदार्थ नहीं है ।
 विषय और विषयी रूप से यह परमानन्द की मात्रा ही सर्वत्र फैली हुई है । यह बात “जहाँ (जागरित
 या स्वप्नावस्था में) आत्मा से भिन्न अन्ध सा होता है” इस श्रुतिवाक्य से बही गयी है । इसलिये
 “यह मनुष्यो का परम आनन्द है” यह प्रभेदोक्ति सुसगत ही है । इसमें युधिष्ठिर आदि के समान राजा

१ सोऽहमित्यादिब्रूहीत्यन्तम्यायमर्थः । जनकराजस्य मुक्तिफलकमभ्यग्जानाय प्रथम प्रवृत्तस्तस्यार्थं सम्यग्ज्ञाने
 यथाक्करीत्या निर्धोस्तेऽपि तत्रिधोरणात्प्रागव राजा मुनि यन्मुक्तये पर साधन तदस्मादूर्ध्वं मह्यं ब्रूहीति
 विधानिष्ठमणपूर्वकं पश्यन्नेति । २ अत्र—विमोक्षायैव ब्रूहीतेतस्मिन् वाक्ये श्रुते मतीत्यर्थः । ३
 भीतवान् । ४ अन्तेभ्य प्रभानर्णयावमानेभ्यः । ५ उदरौत्सीत्—प्रावृणोत् पुन पुनरुदरोत् इतवान्
 मदीय सर्वेष्वं कामप्रभ्रम्याजेन ब्रूहीतुमित्यर्थः । ६ वृ उ ४ ३ ३१ । ७ आनन्दाऽऽनन्दिनोरभेदस्यो-
 पज्ञातत्वात् । ८ आत्मनः ।

दिमुच्यते । निवतनादि मवना न वेति दुस्त्वमप्यपि ॥ मलिसादिगिरा योऽयं प्रत्यज्ञायि पुराऽखिल । ब्रह्म-
 ताजानलवाक्येन तस्य स्वादुरगद्वेति ॥ १०५६ १००६ ॥ इति । अर्थेव इत्यदिवाक्यनादत्ते—अत परमिति ।
 आत्ममुने गणनायोगात्तदेवानतियमिति यर्थः ॥ कथमिदं प्रमीयते तत्राज्ञानप्रति प्रमाणमाह—अनेनेति । अनेन
 गुणेति मवन्ध । भातिभायस्य निरतिभायेन व्याप्ति वस्तु हिमवद । आत्मतत्त्वमिति शेषः । इहेत्यनुमान-
 भूमिरन्ता । कथमनुमान मय ध्यातिमाह—ध्वस्तेति । व्याप्तिसिद्धिरिति शेषः । तामनूयानुमानमाह—यत इति ।
 युष्वात्कर्मतात्तम्यं ब्रविचिभ्रात तत्तमभावात्वात्परिमाणतारतम्यवदिति भावः ॥ हिरण्यगर्भानन्दे ततारतम्य-
 विधा-तेरर्थात्तत्त्वमाशङ्क्याऽऽह—अथेति । एतानीति चोक्तिरुच्योक्तिः । इति प्रतिमानन्दभेदा गृह्यन्ते ।

'दृष्टं मनुष्यानन्दमादि' कृत्वा शतगुणोत्तरोत्तरक्रमेणोऽनीय परमानन्दं यत्र भेदो निवर्तते तमधिगमयति । अत्रायमानन्दः शतगुणोत्तरोत्तरक्रमेण वर्धमानो यत्र वृद्धिकाष्ठामनुभवति । यत्र गणितभेदो निवर्ततेऽयददर्शनश्रवणमननाभावात् परमानन्दं विवक्षन्नाह अथ ये मनुष्याणामेवंप्रकाराः शतमानन्दभेदाः स एकः पितृणाम् । तेषां विशेषणं जितलोका मिति । श्राद्धादिकर्मभिः पितृस्तोषयित्वा तेन कर्मणा जितो लोको येषां ते जितलोकाः पितरस्तेषां पितृणां जितलोकानां मनुष्यानन्दशतगुणीकृतपरिमाण एक आनन्दो

युधिष्ठिरादीति । अथ ये शतं मनुष्याणामित्वादेस्तात्पर्यमाह—दृष्टमिति । शतगुणोत्तरोत्तराऽऽनन्दस्योत्कर्षप्रवर्धनक्रमेण परमानन्दमुनीय तमधिगमयत्युत्तरेण ग्रन्थेनेति संबन्धः । परमानन्दमेव विशिनष्टि—यत्रेति । भेदः संख्याध्यवहारः । उक्तमेव प्रपञ्चयति—यत्रेत्यादिना । परमानन्दे विवृद्धिकाष्ठायां हेतुमाह—अन्येति । यद्यपि "यस्पेत्यादिनोक्तमे" तत्तथाऽपीहाक्षरव्याख्यानावसरे "तदेव विवृतमित्यविरोधः" । तत्तदानन्दप्रदर्शनान्तर्गं तत्र तत्राथशब्दार्थः । तत्तद्वाक्योपक्रमो वा । एवंप्रकारत्वं समृद्धत्वादि । पितृणामानन्द इति संबन्धः । श्राद्धादिकर्मनिर्वाद्यादिशब्देन पिण्डपितृयज्ञादि गृह्यते ।

उदाहरण है । श्रुति अनुभूत मनुष्यो के आनन्द से आरम्भ करके उसका क्रमशः उत्तरोत्तर सौ-सौ गुणा उत्कर्ष दिखाते हुए जिस परमानन्द मे भेद की निवृत्ति हो जाती है, उस परमानन्द को बतलाती है । आनन्दमीमांसा प्रकरण मे यह मनुष्यानन्द क्रमशः उत्तरोत्तर सौगुणा बढ़ता हुआ जहाँ (निरतिशय आनन्द मे) वर्धन की विश्रांति अनुभव करता है, जहाँ अन्य दर्शन, श्रवण और मनन का भ्रम हो जाने के कारण गणना विशेष भेद की निवृत्ति हो जाती है । उस परमानन्द का वर्णन करने की इच्छा से श्रुति कहती है । इस प्रकार मनुष्यो के आनन्द के जो सौ आनन्द हैं, वह (एकत्र हुआ) पितृगण का एक आनन्द है । 'जितलोकानाम्' उन्ही पितरो का विशेषण है । जिन्होने श्राद्धादि कर्मों से पितरों को (स्वघाकार से) तृप्त कर उस कर्म से पितृलोक जीत लिया है, वे जितलोक पितृगण ही हैं । मनुष्या-

- १ अनुभूतम् । २ आरभ्येति द्वयोरर्थः । ३ उनीयेति—जन्यानन्दं वर्धित्काष्ठा गतः सातिसयात् परिमाणवदित्येव जन्यानन्दतारतम्यावधित्वेन निरतिशयस्वाभाविकब्रह्मानन्दमनुभोषत्यर्थः । ४ परमानन्दे । ५ आनन्दमीमांसाप्रकरणे । ६ मनुष्यानन्दः । ७ निरतिशयानन्दे । ८ वर्धनविधान्तम् । ९ गणनाविशेषः । १० ११५१ पृष्ठभाष्ये । ११ यथोक्तं वाक्यतत्पर्यम् । १२ उक्तमेव तात्पर्यम् । १३ अपीनश्चत्यम् । १४ पितृयज्ञस्तु तपसाम् ।

अयानुमानात्परानन्दे परमात्मनि सिध्यत्यपि प्रत्यगात्मा न्य परानन्दी भवितुमुक्तवते तत्राऽह—एषोऽनेति । प्रज्ञानप्रत्यनुमानमुक्त्वाऽऽयमज्ञानप्रत्याह—प्रविज्ञातेति । उच्यते हि स एव परमानन्दो विवृत्त्यथोत्रियप्रत्ययशोऽधिगत इति ॥ आत्मानन्दस्य परमत्व साधयति—प्रवामेति ॥ तस्य परमत्वे प्रमाणपञ्चतारयति—तथाचेति । प्रकामहतत्वकृतमुत्तम सुखमिति वदतोऽभिप्रायमाह—वामेति ॥ तदेवोदाहरण—यच्चति ॥ तदोपमेव वाक्यान्तर पठति—यत इति ॥ एष इत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—सनिनादीति । ब्रह्मनोऽनात्मवाच्येन ब्रह्मलोकपदमन्ते मध्ये यस्यास्ति तेनेति यावत् । सनित एषो इत्येत्युपक्रम्य मांशुपजीवन्तीत्यन्तेन कार्यकरणनिर्मुक्तोऽनतिशयानन्दो य प्रत्यगात्मा परिपूर्णः प्रतिज्ञातः स पुनः स यो मनुष्याणामित्यारम्भार्थे एवेत्यन्तेन प्रतिपादितस्तस्येदानीमेव इत्यादिवाक्येनोपमहार कृत इत्यर्थः ॥

भवति । 'सोऽपि शतगुणीकृतो गन्धर्वलोकं एक आनन्दो भवति । स च शतगुणीकृतः कर्मदेवानामेक आनन्दो भवति ।

'अग्निहोत्रादिश्रौतकर्मणा ये देवत्वं प्राप्नुवन्ति ते कर्मदेवाः । तथैवाऽऽजानदेवानामेक आनन्दः । भ्राजानत एवोत्पत्ति एव ये देवास्त 'भ्राजानदेवाः । यत्र श्रोत्रियोऽधी- तवेदोऽवृजिनो वृजिनं पापं तद्रहितो यथोक्तकारोत्यर्थः । प्रकामहतो वीततृष्ण भ्राजान-

के ते कर्मदेवा नाम तत्राऽऽह—अग्निहोत्रादीति । यथा गन्धर्वानन्दः शतगुणीकृतः कर्मदेवानामेक आनन्दास्तथा कर्मदेवानन्दः शतगुणीकृतः सभ्राजानदेवानामेक आनन्दो भवतीत्याह—तथैवेति । कुत्र वीततृष्णत्वं 'तदाऽऽह—भ्राजानदेवभ्य इति । श्रोत्रियादिबाधस्य प्रकृत्यासंगतिमाशङ्क्याऽऽह—

नन्द का शतगुणीकृत परिमाण उन्न जितलोक पितृगण का एक आनन्द होता है । वह भी शतगुण किये जाने पर गन्धर्वलोक का एक आनन्द होता है । वह शतगुण करने पर कर्मदेवों का एक आनन्द है ।

अग्निहोत्रादि श्रोत्र कर्म द्वारा जो देवत्व प्राप्त करते हैं, उन्हें कर्मदेव कहा जाता है । उसी प्रकार वह शतगुण करने पर भ्राजानदेवों का एक आनन्द है । 'भ्राजानत.' अर्थात् उत्पत्ति से ही जो देव होते हैं; वे निसर्गसिद्ध भ्राजानदेव हैं । एव जो 'श्रोत्रिय.' अर्थात् वेदों की एक शाखा का अर्थसहित अध्ययन करने वाला "अवृजिनः" अर्थात् पापरहित यानी शास्त्रप्रतिपादित भ्रमोप कर्मों का अनुष्ठान

१ पितृगणन्दोऽपि । २ अग्निहोत्रादीत्यादिना तप सत्यं वेदाना चानुपालनम् आतिथ्य वैश्वदेवं च गृहते । ३ भ्राजानदेवा इति—निसर्गसिद्धा मृष्टादिभूता यष्टव्या इति यावत् । अग्नी च कर्मदेवापेक्षया सूक्ष्ममूर्तयः शरीराणि चामीषा ध्यापीनीत्येवमादिहेतुवस्तोपामानन्दं शतगुणाधिक इति स्पष्टं वातिने । ४. सार्धैक-शाखाध्ययनवान् । ५ भ्रमोपचोदितानुष्ठायीति यावत् । ६ असङ्गतिरन्वितत्वम् ।

॥ यदचेत्यादि चण्वादित्यन्तभाष्ये वातिकाचार्यास्तियाहि— "श्रोत्रियोऽधीतवेद स्याज्जातवेदार्थ एव य । कृत्स्नचोदितकारित्वात्सर्वपापविवर्जित ॥ भ्राजानदेवावधिककामानुपहृताशय । तत परेषु भोगेषु जाततृष्णाश्च य पुमश्नु ॥ भ्राजानदेवानन्देन सम तस्य च यत्सुखम् । प्रकामामहतत्वेन सुखोऽष्टिष्ठिरिहोच्यते ॥ श्रोत्रिया-वृजिनत्वे द्वे तुभ्ये एवाऽऽविरिञ्चित । प्रकामहतताहेतोर्वृद्धौ ह्लादो विवर्धते ॥ पूर्वपूर्वोपभोगेभ्यो यावद्या-वन्निरवर्तते । कामो विवर्धते पुसस्तावत्तावत्सुखं हृदि ॥ कामैकधयतन्त्रैव यस्मात्पुस' सुनोन्नति । प्रकामहत-तैवात् पूर्वान्मा साधनं परम् ॥ साधनत्व समान स्यात्प्रयाणामिह यद्यपि । कामस्यप्रकर्मोऽत्र ह्युत्पृष्टाह्लाद-साधनम् । समुच्चयविविधाशत्र न मनागपि युज्यते । कर्तृत्वादिसमुच्चैदिज्ञानस्येहाऽऽश्रितत्वत ॥ समुच्चय-निवृत्त्यर्थं न्यायभ्रापि पुरोदित । नात. समुच्चयान्नेह कर्तव्या सूक्ष्मदग्निभि ॥ साधनत्व यतस्तत्त्वं श्रोत्रि-यावृजिनत्वयो । अचरेत्पि भोगेषु न चोत्तमसुखं तत ॥ अनामहतत्वान्न तारतम्यारम्भस्त्वत । भेदादुत्तम-सौम्यस्य साधन चोत्तमा भवेत् ॥ युवा माधुपुरंस्त्वेव तैत्तिरीयश्रुतीरणात् । अचरेत्पि वाक्येषु श्रोत्रियादि विवर्धितम् ॥ १८६३-१८७४ ॥ इति । यदचेत्यादी श्रोत्रियशब्द व्याचष्टे श्रोत्रिय इति अर्थज्ञानान्तमध्य-यनमेकभाषाविवप यस्यास्ति स श्रोत्रियो विवर्धित इति यावत् । प्रवृजिनशब्दार्थमाह हृत्स्नेति ॥ अनामहत-पदार्थमाह—भ्राजानेति । तदानन्दादर्वाचीनानन्देषु वीतरागोऽत्राकामहत इत्यर्थं । वैराग्यस्य निरद्वन्द्वत्वात्-मित्यनानुष्ठाऽऽह—तत इति । भ्राजानदेवानन्दमारभ्योत्तरानन्देषु प्रवृत्ततृष्णाश्च भो भवति सोऽनामहत इत्यर्थं ॥

देवेभ्योऽर्वाग्यावन्तो विषयारतेषु^१ । तस्य चंचंभूतस्याऽऽजानदेवेः समान आनन्द इत्येतदन्वाकृष्यते चशब्दात्तच्छतगुराणीकृतपरिमाणः प्रजापतिलोक एक आनन्दो विराट्-शरीरे । तथा 'तद्विज्ञानवाङ्मथोत्रियोऽधीतवेदश्चावृजिन इत्यादि पूर्ववत् । तच्छतगुराणीकृतपरिमाण एक आनन्दो ब्रह्मलोके हिरण्यगर्भात्मनि ।

'तस्य चेति । एवंभूतस्य विशेषराश्रयविशिष्टस्येति यावत् । प्रजापतिलोकशब्दस्य ब्रह्मलोकशब्दादर्ध-भेदमाह—विराडिति । यथा विराडात्मन्याजानदेवानन्दः शतगुणीकृत. सन्नेक आनन्दो भवति तथा विराडात्मोपासिता श्रोत्रियःषाद्विशेषणो 'विराजा तुल्यानन्दः स्यादित्याह—तथेति । तच्छतगुराणीकृतेति तच्छब्दो विराडानन्दविषयः ।

करने वासा; "अकामहत." अर्थात् तृष्णारहित है यानी आजानदेवताओ से नीचे के जितने विषय हैं, उनकी तृष्णा नहीं करता। "च" शब्द वा यह अर्थ निकाला जा सकता है कि इस प्रकार के पुरुष का आनन्द आजानदेवताओ के समान होता है। आजानदेवानन्द का शतगुणीकृत परिमाण वाला आनन्द "प्रजापतिलोके" यानी विराट् शरीर मे एक आनन्द है। तथा विराट् के उपासक श्रोत्रिय, अधीतवेद निष्पाप को भी समान आनन्द है—ऐसा अर्थ पूर्वमन्त्र के समान समझ लेना चाहिये। उसका शतगुणीकृत परिमाण वाला आनन्द "ब्रह्मलोके" अर्थात् हिरण्यगर्भात्मि का एक आनन्द है।

१ तदितरेषु तु सतृष्ण इति भाव । २ आजानदेवानन्देति यावत् । ३ विराडुपासक । ४ मनुष्यदेहे वर्तमानस्यैव । ५ विराडानन्देनेति यावत् ।

चशब्दार्थमाह—आजानदेवेति । उक्तविशेषणवतो मनुष्यदेहे वर्तमानस्यैव यत्सुख तदाजानदेवानन्देन तुल्य भवतीति यावत् । श्रोत्रियत्वादीना तुल्यमानन्दोत्कर्षं हेतुत्वमविशेषभूतेरित्याशङ्क्याऽह—अस्येति । मनुष्य-देहस्थस्याधिकृतस्येति यावत् । इहेति निर्धारणे सप्तमी ॥ तत्र हेतु—श्रोत्रियेति । ते हि मनुष्यानन्दादारभ्य शतानन्दान्तेषु तुल्ये ष्टे तद्वगमहत्तावोत्कर्षाद्बुद्धत्वं सुखस्यैतदर्थं । तस्यापि सर्वत्र तद्वद्वैकच्यत्वात्तत्र तदुत्कर्षा-दानन्दोत्कर्षन्तत्राऽह—अत्रामेति ॥ तत्रातुभव प्रमाणयति—पूर्वेति ॥ अकामहतत्वस्येतत्रान्यामुःप्रवृत्त फलित-माचष्टे—कामेति ॥ कथ साधारणभूतेरेष विभागस्तत्राऽह—साधनत्वमिति । इहेत्यानन्दातिरक्ता । अत्रेत्य-धिकृतपुरुषोक्ति । अत्राधितस्वानुभवप्रप्तौ विभागो न साधारणभूत्या कथ्या भेतुमित्यर्थं । उक्तैर्भ्यं म्वातुभव-मनुकूलयितुं हिंसाह ॥ अथाकामहतशब्देन ब्रह्मज्ञान विवक्ष्यते श्रोत्रियावृजिनशब्दाभ्यां कर्म तथाव विशेषण-श्रयवतोऽनतिशयानन्दाभि धदन्ती भूतिर्ज्ञानकर्मसमुच्चय विवक्षति नेत्याह—समुच्चयेति । अत्रेति वाक्यं ज्ञान-कर्मणी मुक्तिर्वाक्ता । अमुक्तत्वे हेतु—वर्तुत्वादीति । इह स्ववन्तिम पयसि यथोक्तज्ञानस्यानामहतशब्देनेष्ट्वाप-मोशे समुच्चयो विवक्षित इत्यर्थं ॥ केन पुनन्ययिन समुच्चयो निरस्यत तत्राऽह—समुच्चयति । पुरा सवन्ध-वन्धादावित्यर्थं । फलितमाह—नेति । मानयुक्तिविरोधोऽत मन्दायं । इहेति युक्तरति ॥ किंचावापहतप्रवित्त-ज्ञानस्य परमसुखोपायत्वादितरयोस्तदभावात् समुच्चय इत्याह—साधनत्वमिति ॥ अत्रर्षीन्मनुष्यमापनत्वादिनापा-दवामहतत्वस्यापि श्रोत्रियत्वादिश्रम मुक्तिहेतुत्वाशङ्क्याऽह—अत्रामेति । प्रवृत्तमापनत्वमपहतत्वस्योत्कर्ष-पर्ययं भवादापवृत्त तत्वादाचित्वावीचीनमुषहेतुत्वात् ज्ञानान्यतिरिक्तमोशोपायमन्तर समुच्चयत्सुक्तिरित्यर्थं ॥ नाऽऽजानदेवेभ्योऽर्वाक्तनभोगहेतुत्व श्रोत्रियत्वादेरकामहेतुत्ववदसित श्रवणाश्रयणयो साम्यादि याग रूप तस्य तद्वेनुत्व विवक्षितमित्येत्नमानता दर्शयति—पुवेति । साधुपुवेत्सृजितत्वमध्यायक इति श्रोत्रियत्वमिद्युमय पूर्वभूमित्वमि युवा स्यान्साधुपुवाऽभ्यायक इत्यत्रोक्तमनो येषु पयसिषु तत्र भूत तत्रापि द्रष्टव्यमित्यर्थं ॥

यश्चेत्यादि पूर्ववदेव । 'अतः परं गणितनिवृत्तिः । 'एष परम आनन्द इत्युक्तः । यस्य च 'परमानन्दस्य ब्रह्मलोकाद्यानन्दा मात्रा उदघेरिव विप्रुपः । एवं शतगुणोत्तरोत्तरवृद्धचुपेता आनन्दा यत्रं कतां यान्ति यश्च 'श्रोत्रियप्रत्यक्षोऽयं एव संप्रसादलक्षणः परम आनन्दंस्तत्र हि नान्यत्पश्यति नानन्यच्छृणोति । 'अतो 'सूमा सूमत्वादमृतः' । 'इतरे 'तद्विपरीताः । "अत्र च श्रोत्रियत्वावृजिनस्त्वे "तुल्ये । "अकामहृत्त्वकृतो "विशेष आनन्दशतगुणवृद्धिहेतुः । अत्रंतानि साधनानि श्रोत्रिय-

श्रोत्रियत्वादिविशेषणवानपि हिरण्यगर्भोपासकस्तेन" तुल्यानन्दो भवतीत्याह—यश्चेति । हिरण्यगर्भानन्दादुपरिष्ठादपि ब्रह्मानन्दे गणितभेदे प्राकरणिके प्राप्ते प्रत्याह—अतः परमिति । एषोऽप्य परम आनन्द इत्युक्तम् "किमन्या" नन्दान्तरमु' 'पवशितमित्याशङ्क्याऽऽह—एष इति । "तथाऽपि सौपुष्यं सर्वात्मत्वमु' 'पेक्षितमिति चेनेत्याह—यस्य चेति । प्रकृतस्य ब्रह्मानन्दस्यापरिच्छिन्नत्वमाह—तत्र हीति । अनवच्छिन्नत्वफलमाह—भूमत्वादिति । ब्रह्मानन्दादितरे परिच्छिन्ना "मर्त्या-इचेत्याह—इतर इति । "अथ यत्रान्यत्पश्यतीत्यादिभूतेरिति भावः । श्रोत्रियादिवदानि व्याख्याय तात्पर्यं दर्शयति—अत्र चेति । मध्ये विशेषणेषु त्रिविवति यावत् । तुल्ये सर्वंपर्यायेत्विति शेषः । विशेषणांतरे विशेषमाह—अकामहृत्त्वेति । यथोक्तं "विभागमुपपादयितुं "सिद्धमयंमाह—

"यद्वच" इत्यादि श्रुतिवाक्य का अर्थ पूर्ववत् समझ लेना चाहिये । हिरण्यगर्भानन्द के बाद गणनाविशेष की निवृत्ति हो जाती है । (इसी से सलिलवाक्य मे) यही परम आनन्द है—ऐसा कहा गया है । जिस सुपुत्रावस्था के परमानन्द के यह सब हिरण्यगर्भान्ता के आनन्द ममुद्र की बूंद के समान केवल अशमात्र है । इस प्रकार उत्तरोत्तर शतगुण वृद्धि को प्राप्त हुए आनन्द जहाँ जाकर एकीभूत हो जाते हैं और जो विद्वदनुभवसिद्ध है, वही सम्प्रसादलक्षण परम आनन्द है । वहाँ (प्रकृत ब्रह्मानन्द मे) न कोई अन्य कुछ देखता है और न ही अन्य कुछ सुनता है । इसलिए वह अप्रच्छिन्न है और अपरिच्छिन्न होने के कारण अनन्तर है । अन्य आनन्द उससे विपरीत (अमुरुष्य) हैं । यहाँ

- १ अत परमिति—हिरण्यगर्भानन्दादुपरिष्ठादित्यर्थ । तदुक्तं वार्तिके—'अत परमनन्ताद्वाद्गणितं विनिवर्तते । यत एवमत प्राहाऽयं एवेति न श्रुति" ॥ १८७६ ॥ इति । आत्भमुने गगनाऽद्यागातदेवाऽनतिगय-मित्यर्थ । सुखोत्कपतारतम्यं क्वचिद्धिश्चान्त तरतमभावत्वात् परिमाणतारतम्यवदित्यनुमानादिति भावः ।
- २ एष इति—उपशितसातिग्रायानन्दविश्रामभूमि परमाणरूप एव सलिलवाक्य परम आनन्द इत्युक्त इत्यर्थ । यदा एष इति भौतिक पद व्याख्ययं सलिलवाक्य परम आनन्द इति य उक्तं इति तद्व्याख्या ।
- ३ सौपुमानन्दस्य । ४ विद्वदनुभवसिद्ध । ५ प्रकृतेब्रह्मानन्दे । ६ मातृमानादरभावात् । ७ अपरिच्छिन्न । ८ अनन्तर । ९ आनन्दा । १० टीकायाम् । ११ विशेषणश्रयमध्ये । १२ तारतम्य-रहिते । १३ अकामहृत्त्वनिष्ठ इति यावत् । १४ उक्तं । १५ हिरण्यगर्भोयानन्देनति यावत् । १६ सलिलवाक्ये वृ उ ४ ३ ३२ । १७ आनन्दान्तरमिति—सलिलवाक्योक्तान्तितग्रायानन्दान्ता पूर्णात्प्रत्य-यात्मन सवागादित्यर्थ । १८ अत्रोपसंहृतमिति यावत् । १९ आनन्दस्थोपक्रान्तस्यैवोपसंहृतत्वेऽपि । २० नोपसंहृतमिति यावत् । २१. वितन्वरा । २२ छा उ ७ २४ १ । २३ विशेषणगतम् । २४ सर्वममतम् ।

त्वावृजिनस्वाकामहृतत्वानि तस्य तस्याऽऽनन्दस्य प्राप्तवर्थादभिहितानि । यथा कर्मण्यग्निहोत्रादीनि देवानां देवानन्दप्राप्तौ ।

तत्र च श्रोत्रियत्वावृजिनत्वलक्षणो कर्मणो 'अधर'भूमिष्वपि समाने इति नोत्तरानन्दप्राप्तिसाधने अम्बुपेयेते । अकामहृतत्वं तु वंराग्यतारतम्योपपत्तेरुत्तरोत्तरभूम्यानन्दप्राप्तिसाधनमित्यवगम्यते । स एष परम आनन्दो वितृष्णश्रोत्रियप्रत्यक्षोऽधिगतः । तथा च वेदव्यासः—

अत्रैतानीति । यश्चेत्यादिवाक्यं सप्तम्यर्थः । तस्य तस्याऽऽनन्दस्येति देवप्राजापत्यादिनिर्देशः । अर्थादभिहितत्वे हृष्टान्तमाह—यथेति । ये कर्मणा देवत्वमित्यादिश्रुतिसामर्थ्याद्देवानन्दाप्तौ यथा कर्मणि साधनान्युक्तानि तथा यश्चेत्यादिश्रुतिसामर्थ्यादित्यापि श्रोत्रियत्वादीनि तत्तदानन्दप्राप्तौ साधनानि विवक्षितानीत्यर्थः ।

ननु प्रयाणामविशेषश्रुतौ कथं श्रोत्रियत्वावृजिनत्वयोः सर्वत्र तुल्यत्वं न हि ते 'पूर्वभूमिषु श्रुते तथा चाकामहृतत्वदानन्दोत्कर्षे तयोरपि हेतुतेति तत्राऽह—तत्र चेति । निर्धारणार्था सप्तमी । न हि श्रोत्रियत्वादिशून्याः सार्वभौमादिसुखमनुभूवितुमु'सहते । 'तथा च सर्वत्र श्रोत्रियत्वादेस्तुत्यात्वात् "तदानन्दातिरेकप्राप्तवसाधारणं साधनमित्यर्थः । यदुक्तमानन्दशतगुणवृद्धिहेतुरकामहृतत्वकृतो विशेष इति तदुपपादयति—अकामहृतत्वं' इति । पूर्वपूर्वभूमिषु वंराग्यमुत्तरोत्तरभूम्यानन्दप्राप्तिसाधनं वंराग्यस्य तरतमभावेन परम'काण्डोपपत्तेरितिशयस्य 'तस्य परमानन्दप्राप्तिसाधनत्वसम्भवादित्यर्थः । यश्चेत्यादिवाक्यस्येत्वं तात्पर्यमुक्त्वा प्रकृते परमानन्दे विद्वदनुभव प्रमाणयति—स एष इति । निरतिशयमकामहृतत्वं परमानन्दप्राप्तिहेतुरित्यत्र प्रमाणमाह—तथा चेति ।

विशेषणत्रय मे श्रोत्रियत्व और निष्पाप तो तारतम्यरहित विशेषण है, किन्तु अकामहृतत्वनिष्ठ जो उत्कर्ष है, वह आनन्द की शतगुणीकृत वृद्धि का हेतु है । जिस प्रकार अग्निहोत्रादि कर्म देवताओं के देवानन्द प्राप्त के कारण हैं; उसी प्रकार वहाँ ये श्रोत्रियत्व, अमृजिनत्व और अकामहृतत्व भी उस-उस आनन्द की प्राप्ति में साधन हैं, यह बात अर्थापत्ति से कह दी गयी ।

वहाँ श्रोत्रियत्व और अमृजिनत्वरूप कर्म तो आजातदेव के पहले की भूमियों के समान हैं, इसलिए आनन्दोत्कर्ष प्राप्ति के साधन नहीं स्वीकार किये जाते । किन्तु अकामहृतत्व तो वंराग्य का तात्तम्य होने से आगे-आगे की भूमियों के आनन्द की प्राप्ति का साधन है—ऐसा जाना जाता है । वही तृष्णारहित श्रोत्रिय को प्रत्यक्ष होने वाला परम आनन्द है । इसी को भगवान् व्यास कहते हैं—

- १ सामर्थ्यात्—अर्थापत्ते । २ अधरेति—यद्यप्यधरभूमिषु प्रथमव वर्तते तैत्तिरीयेगार्थ्येन वाक्यत्वानथा च वातिके—'युवा साधुयुक्त्वेव तैत्तिरीयश्रुतीरण्यात् । अधरेष्वपि वाक्येषु श्रोत्रियादिविवक्षितम्" ॥ १८७४ ॥ इति । साधुपेयेत्यवृजिनत्वमध्यायक इति श्रोत्रियत्व तत्र विवक्षितम् । तथापि श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे सर्वत्र समान उत्कर्षोपपत्त्ये इत्यर्थः । ३ प्राजानात्प्राभ्यामु । ४ आनन्दोत्कर्षेति यावत् । ५ प्राजानपर्यायात्पूर्वपमिषु । ६ अकामहृतत्ववत्तयो पूर्वत्राप्रवणादिति यावत् । ७ पारयति । ८ अनुमन्त्र च । ९ पर्यायेषु । १० श्रोत्रियत्वमवृजिनत्व च । ११ निमोमता निरतिशयता । १२ वंराग्यम् ।

“यच्च 'कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यंते नाहंतः षोडशीं कलाम्” इति ।

‘एष ब्रह्मलोको हे सभ्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहमेवमनुशिष्टो भगवते तुभ्यं सहस्रं दशमि गवाम् । अत ऊर्ध्वं विमोक्षायं व ब्रूहीति व्याख्यातमेतत् । अत्र ह विमोक्षायेत्यस्मिन्वाष्ये’ याज्ञवल्क्यो विभयांचकार भीतवान् । याज्ञवल्क्यस्य भय-कारणमाह श्रुतिः । ॐ न याज्ञवल्क्यो वक्तृत्वमामर्ष्याभावाद्भूतवान् ज्ञानाद्वा किं

प्रकृत प्रत्यामृत परमानन्दमेव इति परामृदाति । श्रुतिर्मेधाधीत्याद्या तां व्याचष्टे—नेरवादिना ।

“लोक मे जो स्वच्छन्द षडवतिं सभ्राट् वा मुख है और जो इन्द्र का दिव्य महान् मुख है; वे सुख तृष्णाक्षय से प्राप्त होने वाले सुख की सोलहवी कला भी नहीं हो सकते” ।

जनक को ‘हे सभ्राट्’ इस प्रकार में संबोधन कर याज्ञवल्क्य बोले—“यह ब्रह्मलोक है” । (जनक ने कहा)—क्योंकि आपने मुझे शिक्षा प्रदान की है; इसलिए मैं आदरणीय आपको एक सहस्र गोएँ देता हूँ । अब इसके बाद मोक्षविषयक उपदेश ही दीजिए । इस प्रकार इसकी व्याख्या पहले ही की जा चुकी है । यहाँ “विमोक्षाय” इस वाक्य को सुनने पर याज्ञवल्क्य “विभयांचकार” अर्थात् भयभीत हो गये । श्रुति ही याज्ञवल्क्य के भयभीत होने में हेतु बतलाती है । बोलने की सामर्थ्य न होने प्रत्यया उत्तर न देते बनने से भयभीत नहीं हुए, तो फिर किसलिए हुए; इसलिए कि इस

१ स्वच्छन्द षडवतिं मुखम् । २. ऐन्द्रम् । ३ एष ब्रह्मलोक इति—सतिल एको द्रष्टेत्युपक्रम्य मात्रा-मुपजीवन्तीत्यन्तेन कार्यकरणनिर्मुक्तोऽनतिशयानन्दो यः प्रत्यागत्या परिपूर्णः, प्रतिज्ञातः । स पुनः स यो मनुष्या-णांमित्रारम्य एष एवेत्यन्तेन प्रतिपादितस्तस्येदानीमेव इत्यादिवाक्ये नोपसहारः कृत इति ध्येयम् । ४ श्रुते सति । ५ उत्तराजानात् । तस्य सर्वज्ञत्ववित्ति भावः ।

ॐ न याज्ञवल्क्यो वक्तृत्वसामर्ष्याभावाद्भूतवानिति । सभ्राडुर्वातिंकाचाप्यस्तथाहि—“याज्ञवल्क्योऽपि राजैव पृष्ट सन्पूर्ववतदा । अविभेदव्यक्तो हेतोर्न त्वसामर्ष्यकारणात् ॥ सर्वज्ञत्वान्मुनेर्भूतप्रभार्थज्ञानतो भयम् । कारणां त्वन्यदेवातो यत श्रुतिरभापत ॥ अविबधुमय राजा कामप्रभबलाश्रयात् । किज्योतिरित्येवमादिम-प्राप्तीन्मा पुन पुनः ॥ अप्रत्याक्षेयो ह्यर्थांश्च सत्यस्यावश्यरक्षणात् । स्वयज्योतिर्नृनिर्णीति कृताज्ञोऽनवधेयतः ॥ निर्णीतिज्यय मा राजा पुन पुनरपुच्छत । अत ऊर्ध्वमिति पिरा निरूपद्वर्षे च मा नृप ॥ कामप्रभाड्बुधोर्नैव मा वशीकृत्य मदगतम् । समादितसति निशेष ज्ञान राजाऽतिपण्डितः ॥ इत्येव भयहेतु स्यात्तयाज्ञवल्क्यस्य मान्यतः । भयहेतोरविद्याया सर्वज्ञत्वादसम्भवात् ॥ असकृन्निरांशोऽकारि पृष्टे वस्तुस्योपेतः । प्रतीक्षीन्मा तथाऽप्येव सर्वस्वादिन्यमा नृप ॥ मेधावी पण्डितोऽतोऽप्य ब्रह्मस्वादानवारणात् । न विभेति यतस्तस्माद्भेदतस्य जनकाद्भृशम्” ॥ १८८८-१८९६ ॥ अत्र हेत्वादेरप्यमाह—याज्ञवल्क्योऽपीति । वक्तृत्वस्यामामर्ष्यादुत्तराजानाद्वा मुनेर्भयमित्येतन्निरस्यति—धन्यत इति ॥ असामर्ष्यमज्ञान वा न तस्य भयहेतुर्नियत हेतुमाह—सर्वज्ञत्वादिति । ब्रह्मीभूतश्च याज्ञवल्क्य सर्वज्ञ सर्वशक्तिश्च न तस्य प्रभोत्तरीभूतापिज्ञानात्तदुक्तयसामर्ष्याऽऽ भयं संभवतीत्यर्थः । किं सति तस्य तत्कारणमित्येवशायामन्यतो हेतोरित्युक्तं ध्येयं वक्तुं मेधावीत्याद्युत्थापयति—कारणं किंति ॥ सद्वाक्यं भूमिका करोति—अविबधुमिति । ननु दुराग्रहपस्तो राजा पृच्छतु त्वया तु प्रत्युत्तर न देयं न हि यदि कृतं यौनप्रतमकस्मादेव हातव्यं तत्राऽह—अप्रत्याक्षेयो हीति । हिगव्यायंभवं विषादयति—सत्यस्येति ।

'स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वं व

(जाग्रत् से स्वप्नान्त द्वारा सुपुप्ति मे गया हुआ) वह यह पुरुष इस स्वप्नान्त में रमण और

तहि मेधावी राजा सर्वेभ्यो मा मामन्तेभ्यः प्रश्ननिर्णयवाचसानेभ्य उदरीत्सीदावृ-
णोदवरोधं कृतवानित्यर्थः । यद्यन्मया निर्णोतं प्रश्नरूपं 'विमोक्षायं तत्तदेकदेशत्वे-
नेव कामप्रश्नस्य गृहीत्वा पुनः पुनर्मा पर्यनुपुङ्क्त एव मेधावित्वादित्ये'तद्भयकारणं
सर्वं मदीयं विज्ञानं कामप्रश्नध्याजिनो'पादित्सतीति ॥ ३३ ॥

अत्र 'विज्ञानमयः स्वयं ज्योतिरात्मा स्वप्ने प्रदाशितः । स्वप्नान्तबुद्धान्तसंचारेण

'तथाऽपि किं तद्भयकारणं तदाह—यद्यदिति । मेधावित्वात्प्रज्ञातिशयशालित्वादिति यावत् । तदेव
भयकारणं प्रकटयति—सर्वमिति ॥ ३३ ॥

स वा एष एतस्मिन्नित्याद्युत्तरग्रन्थस्य संबन्धं वक्ष्यं वृत्त कीर्तयति—अत्रेति । अत्रायं पुरुषः
स्वयं ज्योतिर्भवतीति वाक्य सप्तम्यर्थः । वृत्तमर्थान्तरमनुव्रवति—स्वप्नान्तेति । कार्यकरणव्यति-

प्रज्ञाशाली राजा ने "सर्वेभ्यो माज्जन्तेभ्यः" अर्थात् सभी प्रश्नों के निर्णय के लिए 'उदरीत्सीत्' अर्थात्
भावृत कर लिया या रोक लिया । मैंने ज्ञान के लिए जिन-जिन प्रश्नों का निर्णय किया है, उसे यह
प्रज्ञाशाली होने के कारण कामप्रश्न के एकदेश रूप से ग्रहण करके पुनः पुनः मुझे प्रेरित करता है ।
उनके भय का हेतु यही है कि कामप्रश्न के बहाने ही (यह गुह्य वस्तु वा) उपदेश कराना
चाहता है ॥ ३३ ॥

१ वार्तिके तु स्वप्नान्तपद स्वप्नान्तो तयो यत्र ते व्युत्पत्त्या सुपुसिपरतयाऽपि व्याख्यातम् । तत्र च रमण
नाम स्वरूपानन्दानुभव । ध्यानन्दभुगिति श्रुते । चरणं तु तत्रेस्वरात्मसपति सता गोम्येति श्रुते । पुण्यदर्शन
त्वानन्दानुभवस्तस्य तत्कलत्वात् सुखमस्वाप्तमित्यनुसंधानाच्च पापदर्शनं स्वज्ञानानुभवस्तस्य तत्कलत्वात् किंचिदवे-
दियमित्यनुसंधानादिति च । २ प्रज्ञाशाली । ३ ज्ञानार्थम् । ४ प्रेरयत्येव । ५ सर्वस्वापहारप्रसङ्गो
भयहेतुरित्युपसंहरति—एतदिति । ६ उपादित्सतीति—यद्यपि राजा योग्यो योग्यपाने च विद्याप्रदानं नामुचितं
तथापि गुह्यं वस्तु सहसा नोपदेष्टव्यमिति भावः । ७ विज्ञानोपाधि । ८ राज्ञो मेधावित्त्वे नावरोधवत्त्वेऽपि ।

तहि पृष्टं बुभुत्सित नि दीपं विशदी क्रियतामत आह—स्वयमिति । प्रागुक्तहेतुपरामर्शोऽपि यत्र ॥ तहि वृत्त-
निर्णयस्य ते बुक्तो भयमुपस्थित तत्राऽह—निर्णयतीति । अथशब्दोक्त शब्दपर्यायो निरगदीत्यस्मान्पूर्वं मवच्यते ॥
ननु राजा गुहं निरत्यप्रविवेकी न विद्यापत्र नेत्याह—कामिति । सर्वस्वापहारप्रसङ्गो भयहेतुरित्युपसंहरति—
इत्येव इति । नाम्यतो भयहेतुरित्यत्र हेतुमाह—भवेति ॥ विद्यायोग्यो हि राजा मुनिगत ज्ञानमादित्यते तथा
च तस्मै तदात् किमिति युक्तव्रथेति न हि परस्मै वत् तदात्मनि ह्यमतात्पाशङ्कपाऽह—प्रगृह्णति ॥ तस्य
श्रुत्युक्त मेधावित्त्वं साधयति—मेधावीति । अतःशब्दार्थमेव स्फुटयति—ब्रह्मेति । ब्रह्मणो ब्राह्मणस्यैव ज्ञानं
तस्याऽऽदानादित्यर्थः । मोक्षरत्नं ज्ञानं पातयितुमिच्छता जनान्द्रव्यं कर्तव्यमिति ऋषिप्रसमाह—तस्मादिनि ।
योग्येऽपि पाने मुक्तिरल ज्ञानं सहसा नोपदेष्टव्यमिति वाक्यार्थः ॥

अत्र स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वेत्यादि । अत्र वार्तिके—'ननु प्रश्ना यद्योक्तान्निर्णयानायां,

पुण्यं च पापं च पुनः 'प्रतिन्यायं' 'प्रतियोन्याद्रवति
बुद्धान्तायैव ॥ ३४ ॥

विहार कर, पुण्य तथा पाप को केवल देलकर ही पुनः जाने के मार्ग से ही अपने नियत स्थान जायत्
भवस्था में ही लौट आता है ॥ ३४ ॥

कार्यकरणव्यतिरिक्तत्वम् । कामकर्मप्रविचेकश्चासङ्गतया महामत्स्यदृष्टान्तेन प्रव-
शितः । पुनश्चाविद्याकार्यं स्वप्न एवेनं घनन्तोवेत्यादिना प्रवशितम् । 'अर्थादविद्यायाः
'सतत्त्वं निर्धारितम'तद्धर्माध्यारोपणरूपत्वमनात्मघर्मत्वं च । तथा विद्यायाश्च कार्यं

रिक्तत्व प्रवशितमिति संबन्धः । उक्तमर्थान्तरमाह—कामेति । अयं यत्रं घनन्तोवेत्यादायुक्तमनु-
भावते—पुनश्चेति । किं तत्कार्यप्रदर्शनसामर्थ्यान्निर्यारितमविद्यायाः सतत्त्वं तदाह—अतद्वर्मेति ।
अनात्मघर्मत्वात्मात्मनि चंचन्यवदस्वाभाविकत्वम् । प्रविद्याकार्यं विद्याकार्यं च स्वप्ने सर्वात्मभाव-

यहाँ विज्ञानोपाधि आत्मा को स्वप्न में स्वयं ज्योति दिखलाया गया है । स्वप्नस्थान और
जागरितस्थान में सचरण के द्वारा उसकी देह और इन्द्रिय से भिन्नता दिखलाई गई । तथा महामत्स्य
के दृष्टान्त से असङ्गता से उसका वाम और कर्मा से विकृता भी दिखलायी गयी । फिर "इसे मारते
हुए से" इत्यादि श्रुतिवाक्य से यह प्रदर्शित किया गया कि प्रविद्या का कार्य स्वप्न ही है । इस (प्रविद्या
कार्य प्रदर्शन सामर्थ्य) से अनात्मघर्मों का आत्मा में आरोपण करना तथा अनात्मघर्मों होना प्रविद्या
का स्वरूप निर्धारित किया गया । तथा "मैं सर्वात्मा हूँ, ऐसा मानता है, वह इसका परमलोक है"
इस श्रुतिवाक्य द्वारा प्रत्यक्ष रूप से स्वप्न में ही सर्वात्मभाव विद्या का कार्य दिखलाया गया । वहाँ

१ पूर्वगमनवैपरीत्येन । २ यथास्थानम् । ३ अर्थात्—प्रविद्याकार्यप्रदर्शनसामर्थ्यात् । ४ स्वरूपम् ।
५ अनात्मघर्मिणात्मात्मन्यारोपणरूपत्वम् । ६ अघतरणोन्त्वात् ।

पुरास्तिभि । अनिर्यातं विमुद्दिश्य नृपोऽप्राक्षीन्मुनि पुनः ॥ स्वप्नबुद्धान्तसचार आत्मनो यः पुरोदितः ।
दृष्टान्तत्वेन राज्ञाज्ञो सर्वोऽप्रीट विवशितः ॥ तस्य दार्ष्टान्तिको योऽर्थो यावन्माभ्यान् कथ्यते । मुमुक्षति न
तावत् राजा प्रभाषयेत् ॥ दृष्टान्तस्य मुमुक्षेत्र्थं नार्थं दार्ष्टान्तिकं जगौ । ब्रह्मास्मीत्यागमाद्बोधं मुमुक्षोदाहृत-
मंतं । दार्ष्टान्तिकोऽर्थं प्राज्ञस्य दृष्टान्तस्यावशेषतः ॥ उक्तं दार्ष्टान्तिकेऽर्थेऽस्मिन्प्रभाषस्य समासितं । सर्वंमुक्तं
भवेदस्मादतः साऽर्थोऽपुनोच्यते ॥ असङ्गा मत्स्यवत्प्रत्यङ्गामकर्मदिभिः ब्रमात् । समति स्वप्नबुद्धान्तो यथाऽयं
स्वप्नरासता ॥ महेतुरस्य समारः परलोचैहनाकयो । सविस्तरं स वक्तव्य इत्यर्थे परा श्रुति ॥ बन्धो बन्धन-
हेतुश्च मोक्षस्तदेतुरेव च । सविस्तरं प्रवक्तव्यस्तदुक्त्यर्था परा श्रुति ॥ जाग्रत्स्थानात्तत्त्वं पूर्वस्वप्नमात्मा
प्रवशितं । जाग्रद्भूमिं न नतव्यो दार्ष्टान्तिकविवधया ॥ धानन्दनिर्गुणान्तं तु सप्रमादवचो यदा । तदा
निगमनार्थं तत्प्रतिज्ञातार्थं गोचरम् । अनुमर्षदृष्टारात्माऽयं यथोक्तं स्वप्नबोधयो । प्राज्ञेऽपि च तथैवायं यद्वै तदिति-
वाक्यतः ॥ अतिवारकहेतुश्च यथाऽऽप्यस्य मुमुक्षयः । ब्रूत्स्वदृष्टिमात्रत्वात्तथा स्वप्नबोधया । इत्येवं पूर्व-
गिद्वेयं निगमार्थं पुनर्वचं । स वा इत्यादिश्च ज्ञेयं न तु नासादिशाङ्क्यो" ॥ १८६७-१८०६ ॥ इति । स वा
एष इत्याद्याक्षिपति—नविति । यथोक्तं प्रभा विज्योतिरमित्यादय आदित्यज्योतिरित्यायास्तु पुरोक्तमोक्ष

प्रदर्शितं सर्वात्मभावः स्वप्न एव प्रत्यक्षतः सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोक इति । तत्र च सर्वात्मभावः स्वभावोऽस्यैवमविद्याकामकर्मादिसर्वसंसारधर्मसंबन्धातीतं रूपमस्य साक्षात्सुषुप्ते गृह्यत इत्येतद्विज्ञापितं स्वयं ज्योतिरात्मैष परम आनन्दः । एष विद्याया विषयः । स एष परमः 'संप्रसादः सुखस्य च परा काष्ठेत्येतदेवमन्तेन ग्रन्थेन व्याख्यातम् । तच्छेतत्सर्वं विमोक्षपदार्थस्य दृष्टान्तमूतं बन्धनस्य च । ते चैते

लक्षण प्रत्यक्षत एव प्रदर्शितमित्याह—तथेति । सुषुप्तेऽपि स्वप्नवदेत्प्रदर्शितमित्याह—तत्र चेति । साक्षात्स्वरूपचैतन्यवशादित्येतत् । अन्वयतोऽप्येतस्य सुखपरामर्शो न स्यादिति भावः । उक्तं विद्याकारं निगमयति—एष इति । तमेव विद्याविषयं विशदयति—स एष इति । वृत्तानुवाचमुपसंहरति—इत्येतदिति । एवमन्तेन ग्रन्थेन ब्रह्मलोकान्तवाप्येनेति यावत् । सोऽहमित्यादेस्तात्पर्यमनुवदति—तच्छेति । यतो राजेश्वरं मन्यतेऽतस्तस्य सहस्रदाने पुक्ता प्रवृत्तिरित्यर्थः । अत ऊर्ध्वमित्यादेरभिप्रायमनुवदति—ते चेति । यद्यपि 'यथोक्तलक्षणे मोक्षबन्धने प्रागेवोपदिष्टे तथाऽपि पूर्वोक्तं सर्वं दृष्टान्त-

(विद्या और अविद्या कार्यो मे) सर्वात्मभाव इसका स्वरूप है । इससे बतलाया गया है कि सुषुप्तावस्था मे इस आत्मा का अविद्या, काम और कर्मादि समस्त सासारिक धर्मों के सबन्ध से प्रतीत रूप प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है । आत्मा स्वयं ज्योति स्वरूप है, यह परम आनन्दरूप है, यह विद्या का विषय है, वह यह आत्मा ही उत्कृष्ट, स्वच्छस्वभाव सुख की पराकाष्ठा है—यह सब यहाँ तक के ग्रन्थ से उपपादित कर दिया गया । तथा यह सब (विद्या-अविद्या का कार्य) मोक्षपदार्थ तथा बन्धन का दृष्टान्त रूप है । विद्या और अविद्या के कार्यभूत उन इन मोक्ष और बन्धन को कामकर्मादि हेतु सहित सविस्तर

१ इति वाक्येन । २ विद्याऽविद्याकार्योर्मध्ये । ३ अनुभूयते । ४ स्वच्छस्वभाव । ५ विद्याऽविद्ययो कार्यम् । ६ एतत्—विद्याकार्यं सर्वात्मभावसदृशम् । ७ आत्मन आनन्दरूपत्वाभावे । ८ विद्याऽविद्याकार्यरूपे स्थानत्रयसंचाराद्यम् ।

ऊर्ध्वमितिप्रश्नायोगे प्रत्युक्तिरपि न युक्तेति भावः ॥ अग्निर्णीतं दस्यन्प्रभ्रप्रत्युक्ती समर्पयते—स्वप्नेति । इहेति लोकद्वयसंचाराख्यसंसारोक्ति ॥ तथाऽपि कथं प्रभावाकाशतत्राऽह—तन्धेति । स यावदिति वक्तव्यं योर्ध्वं इत्युपक्रमात्तमित्याचार्यस्तच्छब्दाय । प्रभ्रायस्य बन्धरूपस्य दाष्टान्तिकस्य वक्तव्यस्य गिगृत्वादिति यावत् । प्रवस्थाद्वयसंचारो लोकद्वयसंचाराख्यसंसारस्य दृष्टान्तयोक्ताऽयं तस्वीं दाष्टान्तिकस्याकार्ययंमुत्तरो ग्रन्थ इत्यर्थः ॥ संसारप्रकरणस्याप्यवत्वमुक्त्वाऽप्याभ्यामयमान इत्यादेरर्थवत्त्वमाह—दृष्टान्तस्येति । अतोऽपि प्रभ्रस्य साववागत्वमिति शेषः । योऽतो दाष्टान्तिकोऽयस्तमाह—प्रद्वेति । यत् स्वप्नदृष्टान्तस्य दाष्टान्तिकऽर्थो वक्तव्यत्वेनावधेपितोऽस्तादर्थ्येन मोक्षप्रकरणमागमित्यतीत्याह—प्राप्तमिति ॥ दाष्टान्तिकद्वयं निदिष्टेऽपि वक्तव्यान्तरंगापादाकाङ्क्षानिवृत्ते प्रभ्रतादवस्थमित्याशङ्क्याऽह—उक्त इति ॥ प्रवरणद्वयमवतार्याऽऽदौ समाप्तरणमुत्थापयति—असङ्ग इति । यथा महामत्स्यो नद्या द्वे कूने ब्रह्मान्नमते तथाऽयं कामादिभिर्यन्तुतोऽप्युष्टोऽपि आपस्त्वप्री स्वतन्त्र सन्ननुसंवरति तथाऽयं लोकद्वये मंचाराख्यो बन्धो हेतुमहितो विस्तरमहितश्च वाच्यो वैराग्यार्थमिति संसारप्रकरणं प्रवृत्तमित्यर्थः ॥ प्रकरणद्वयार्थं प्रतिपत्तिस्तौकर्यायं मदिपति—बन्ध इति । इतरमदभंभवतायं स या एष इत्यादेस्तात्पर्यमाह—जाग्रदिति । युद्धान्ते रश्मेत्यादिवावायज्जागरितादात्मा स्वप्रान्तायैवेति स्वप्न प्रवेदित स चेदानीं ततो जाग्रदवस्थां यमारप्रकारप्रदस्यंनार्थं प्रापयित्थ्यो न हि स्वप्नप्रकथ्यापामेव

मोक्षबन्धने 'सहेतुके' सप्रपञ्चे निदिष्टे विद्याविद्याकार्ये तत्सर्वं दृष्टान्तभूतमेवेति तद्दाष्टान्तिकस्थानीये मोक्षबन्धने सहेतुके कामप्रशान्त्यर्थंभूते त्वया वक्तव्ये इति पुनः पर्यनुयुङ्क्ते जनकोऽत ऊर्ध्वं विमोक्षार्थं व्रूहीति ।

'तत्र महामत्स्यवत्स्वप्नबुद्धान्तावसङ्गः संबंध्यैक आत्मा स्वयं ज्योतिरित्युक्तम् । यथा चासौ कार्यंकरणानि 'मृत्युरूपाणि परित्यजन्नुपाददानश्च महामत्स्यवत्स्वप्नबुद्धान्तावनुसंचरति- तथा जायमानो भ्रियमाणश्च 'तैरेव मृत्युरूपैः संयुज्यते

भूतमेव 'तयोरिति यतो राजा 'भ्राम्यत्यतो मोक्षबन्धने 'दाष्टान्तिकभूते वक्तव्ये याज्ञवल्क्येनेति मन्व-मानस्तं प्रेरयतीत्यर्थः ।

बन्धमोक्षयोर्वक्तव्यत्वेन प्राप्तयोरपि प्रथमं बन्धो वष्यंत इति वक्तुं दृष्टान्तं स्मारयति—तत्रेति । 'दृष्टान्तमनूय दाष्टान्तिकस्य बन्धस्य सूत्रितत्वं दर्शयति— यथा चेत्यादिना । उभौ लोकावित्यत्र प्रथम-

निरूपित किया गया, यह सब तो दृष्टान्तरूप ही है । अतः कामप्रशन के विषयभूत तथा उनके दाष्टान्तिक स्थानीय मोक्ष और बन्धन का आपको (कामकर्मादि) हेतु सहित व्याख्यान करना चाहिए; इसीसे जनक पुनः प्रेरित करता है कि अब आगे आप मोक्षविषयक उपदेश दीजिए ।

बन्ध और मोक्ष के मध्य महामत्स्य के समान स्वप्न और जागरित में एक ही स्वयंप्रकाश असङ्ग आत्मा संचरण करता है । जिस प्रकार यह (प्रविद्याकार्य) मृत्युरूप देह और इन्द्रियों को त्याग एव ग्रहण करता हुआ महामत्स्य के समान क्रमशः स्वप्न और जागरित स्थानों में संचरण करता है,

१ कामकर्मादिहेतुके । २ सविस्तर । ३ बन्धमोक्षमध्ये । ४ प्रविद्याकार्याणि । ५ कार्यकरणं । ६ मोक्षबन्धनयोः । ७ मन्वते । ८ तत्रावस्थाद्वयसंचारस्य लोकद्वयमचारो दाष्टान्तिक स्वापस्य भाश इति बन्धमाशौ दाष्टान्तिको बन्ध मसार । ९ दृष्टान्तभूतबन्धम् ।

दाष्टान्तिको बन्ध स्पृष्टयितुं शक्यतेऽतः स्वप्राज्ञापदापत्तिकथनायमनन्तरवाक्यमित्यथ ॥ तस्यैवोक्तार्थावितोद्ये-नार्थान्तरमाह—भ्रानन्दति । यदा स्वप्नान्तायत्त्यत्र स्वप्नान्तं सुयुक्तं तथा महामत्स्यवाक्यमारभ्याथैव एव परम भ्रानन्द इत्येतदन्त वाक्य तद्विषय ततश्च प्रतिज्ञातार्थमधिकृत्य निगमनार्थमनन्तरवाक्यं तदाऽपि स्वाप्राज्ञापदा-पत्तिरात्मनोऽत्र विवक्षितताज्जया समारप्रकारप्रदर्शनार्थोभादित्यर्थं ॥ षोडशी प्रतिज्ञातोऽर्थस्तमाह—प्रलुप्येति । यथा स्थानद्वये प्रत्यगात्माऽपि नश्रष्टिस्तथा स्वापेऽपीत्येतद्वष्टिप्रतीक्षायांमुक्तमित्यर्थं ॥ प्रतिज्ञातमर्थान्तरमाह—पत्तिकारणेति । यथाऽऽत्मा स्वापं मात्रादिद्वैतरहितस्तथा स्थानद्वयेऽपि कूटस्थदृष्टिस्वाविशेषादिति च तत्रैवोक्त-मित्यर्थं ॥ प्रतिज्ञातं स्मारयित्वा तन्निगमनाथत्वमुत्तरस्योपन्यस्यति—इत्येवमिति । आत्मनो नित्यदृष्टित्वं मात्रादिद्वैतराहियं नैतुभयमत्र स्वप्नान्तपदेन निगम्यते स्वप्नशब्देन हि विशेषदर्शनमुच्यते तस्यान्तं सुप्तमित्युक्ते मात्रादिहीनं तस्य मध्यति तद्विनाश्च तत्कान कूटस्थबोधोपाधौना साधकान्तराभावात् स्वप्नान्तपदेनोभय निगमयद्वाक्य स्वप्नशब्दो जागरापत्तिं दर्शयतीत्यथ । ननु सुप्तो मृतवन्नष्टो देधान्तरं गतो वेति शङ्क्यत तस्य ध्यादितास्पर्यादिना मृतन तुल्यत्वात्तथाच तन्निराविधीर्याऽनन्तरवाक्यमिति नैत्याह—न त्विति । न स्वप्नशब्दो नाथ देशान्तरगमनं वा दाङ्कित्वा वाक्यमित्येतत्प्रवृत्तं नित्यसिद्धे निष्प्रिये प्रतीचि तदाशङ्कानवका-दात्त च सुप्तो मृतोऽपि प्रगप्रवन्दतादिवैसाह्यादित्यर्थं ॥

वियुज्यते च । उभौ लोकावनुसंचरतीति' संचरणं स्वप्नबुद्धान्तानुसंचारस्य दाष्टान्ति-
कत्वेन सूचितम् । तदिह विस्तरेण सनिमित्तं संचरणं वर्णयितव्यमिति तदर्थोऽय-
मारम्भः' । तत्र च 'बुद्धान्ता'त्स्वप्नान्तमयमात्माऽनुप्रवेशितः । 'तस्मात्संप्रसाद-
स्थानं मोक्षदृष्टान्तभूतम् । 'ततः प्रच्याव्य 'बुद्धान्ते संसारव्यवहारः प्रदर्शयितव्य
इति तेनाऽस्य संबन्धः । स वै बुद्धान्तात्स्वप्नान्तक्रमेण 'संप्रसन्न एष एतस्मिन्सं-
प्रसादे स्थित्वा 'ततः पुनरीषत्प्रच्युतः' स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वेत्यादि पूर्ववद् 'बुद्धान्-
न्तार्येवाऽऽद्रवति ॥ ३४ ॥

मेवंशब्दो द्रष्टव्यः । वृत्तमनूद्यानन्तरप्रकरणमुत्थापयति—तदिहेति । अन्नः संसारी सप्तम्यर्थः । सनिमित्तं
कामादिना निमित्तेन सहितमित्येनत् । प्रकरणारम्भमुक्त्वा समनन्तरवाक्यस्य 'व्यवहितेन संबन्ध-
माह—तत्र चेति । स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वेत्युपक्रम्य स्वप्नान्तार्येवेति 'वाक्य सप्तम्या परा-
मृश्यते । स्वप्नान्तशब्दस्य स्वप्नविषयव्यावृत्त्यर्थं विशिनष्टि—संप्रसादेति । कथं पुनः 'संप्रसन्नस्य
संसारो'पवर्णनमित्याशङ्क्याऽऽह—तत् इति । प्रागुक्तः सप्तम्यर्थो व्यवहितो 'ग्रन्थस्तेनेति परामृश्यते ।
'समनन्तरग्रन्थः पठ्योच्यते । वाक्यस्य व्यवहितेन संबन्धमुक्त्वा तदक्षराणि योजयति—स वै बुद्धान्ता-
दिति । स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वेत्यादि बुद्धान्तार्येवाऽऽद्रवतीत्येतदन्तं पूर्ववदिति योजना ॥ ३४ ॥

उसी प्रकार जन्म और मरण को प्राप्त होता हुआ भी कार्यकरणात्मक मृत्युरूपो से सयुक्त प्रौर वियुक्त
होता है । "दोनों लोको मे क्रम से संचरण करता है" इस श्रुतिवाक्य द्वारा संचार को स्वप्न-जागरित
अनुसंचार के दाष्टान्तिकरूप से सूचित किया गया है । निमित्तसहित उस संचरण का यहाँ विस्तार से
वर्णन करना चाहिये—इससे आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है । वहाँ इस आत्मा का जागरित से
स्वप्नावस्था मे प्रनुप्रवेश कराया गया । सुषुप्ति मे अनुप्रवेशित हो जाने से सम्प्रसादस्थान मोक्ष का
दृष्टान्तभूत है । सुषुप्ति से च्युत कर जागरित मे संसार का व्यवहार प्रदर्शित करता है । अतः उसी से
इस अग्रिम वाक्य का सम्भव है । जागरित से स्वप्नावस्था मे प्रविष्ट होने रूप क्रम द्वारा सम्प्रसाद
(सुषुप्ति) को प्राप्त हुआ वह यह पुरुष सुषुप्ति में स्थित रहकर 'उससे थोड़ा च्युत हो स्वप्नावस्था
मे रमण और विहार कर' इत्यादि श्रुत्यर्थ पूर्ववत् जागरित भोगो के अनुभव के लिए जागरित स्थान
को लौट आता है ॥ ३४ ॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जंघ्यायादेवमेवाय^७ शारीर
आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति ।
यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३५ ॥

लोक मे जैसे बहुत बोक से भरा हुआ छकडा चलते समय शब्द करता हुआ चलता है, वैसे ही यह शारीरी आत्मा स्वयंप्रकाश परमात्मा से प्रकाशित हो शब्द करता हुआ जाता है, जबकि यह ऊर्ध्वं पवास लेता हुआ लिङ्गोपाधिक मर्मस्थानों को छोड़ने लगता है ॥ ३५ ॥

इत आरम्भास्य' संसारो वर्ण्यते । यथाऽयमात्मा स्वप्नान्तावबुद्धान्तभागत एव-
मयमस्माद्देहाद्देहान्तरं प्रतिपत्स्यत इत्याहात्र दृष्टान्तम् । तत्र यथा लोकेऽनः
शकटं सुसमाहितं सुष्ठु भृश वा समाहितं भाण्डोपस्करणेनोलूखलमुमलशूपंपिठरा-
विनाऽप्राद्येन सपन्नं समारेणाऽऽक्रान्तमित्यर्थः । 'तथा भाराक्रान्तं सदुत्सर्जंछद्दं'
कुर्वंघ्या यायाद्'गच्छे'च्छाकटिकेनाधिष्ठितं सत् । एवमेव यथोक्तो 'दृष्टान्तोऽयं
शारीरः 'शारीरे भवः । कोऽसौ । आत्मा 'लिङ्गोपाधिः' । यः स्वप्नयुद्धान्ताविव

तद्यथेत्यादेरिति" नु कामयमान इत्यन्तस्य सबभंस्य तात्पर्यं "तदिहेत्यत्रोक्तमनुवदति—इत
प्रारभ्येति । तद्यथेत्यस्माद्वाक्यादित्येतत् । "दृष्टान्तयावयमु'दवाप्य व्याकरोति—यथेत्यादिना । इत्यत्र
दृष्टान्तमाहेति योजना । भाण्डोपस्करणेन भाण्डप्रमुखेन (रा) गृहोपकरणेनेति यावत् । तदेवोपकरण
विशिनष्टि—उलूखलेति । पिठर पाकायं "भाण्डम् । अग्वय दर्शयित्नु ययाशब्दोऽनूद्यते । लिङ्गविशिष्ट-

पद यहाँ से लेकर आत्मा का संसार वर्णन किया जाता है । जिस प्रकार यह आत्मा (क्रमशः)
स्वप्नस्थान मे जागरित स्थान मे आया है, उसी प्रकार यह इस देह से दूसरी देह प्राप्त करेगा—इसमे
श्रुति दृष्टान्त प्रस्तुत करती है । "तद्यथा" अर्थात् जिस प्रकार लोकव्यवहार मे "सुसमाहितम्" अर्थात्
सम्पक् या प्रतिशयसमाहित अर्थात् गृहसामग्री उखल, मूसल, सूप और पिठरादि मे तथा खाद्यसामग्री से
सम्पन्न "अन्न" यानी छकडा अर्थात् उपरोक्त बोक से लदा हुआ छकडा गाडीवान से (गुरुभार से
पीडित हो) "उत्सर्जत्" यानी शब्द करते हुए "यायाद्" ले जाया जाता है । "एवमेव" अर्थात् उक्त

१ आत्मन । २ उपदर्शितभारेणाक्रान्तम् । ३ गुरुभारप्रपीडितत्वाजानाविध शब्दं कुर्वन् । ४ देशा-
देहान्तरम् । ५ शाकटिकेनेति—शकटतद्गतार्थाग्या विनशरणेन अन्नयथापणु शकटस्वामित्यर्थं । ६
उत्सर्जन्तवत् । ७ स्थूले । ८ लिङ्गोपाधिरिति । अत्र वार्तिके—'मुक्तशहादिनिङ्गमुत्पन्नान्त भोगमभयात् ।
याति देहांतर तद्वत्कर्मविद्यादिसंभृतम् ॥ विमुक्त देवतानि सत्कर्मसंभारमगृणन् । अनावन्निङ्गमेत्यसत्प्रत्य-
गात्कार्यसिद्धये ॥ १११४-१५ ॥ इति । अत्र तद्वत्प्रकृतशकटवत् । विमुक्तमित्यादि दत्तानुप्ररहितमित्यर्थं ।
प्रत्यगात्कार्यसिद्धि जन्मान्तरे भोगसिद्धि । तथा च लिङ्गमबोक्तापति तदुपाधित्वादात्मन्युत्क्रमाग्योपचार इति
ध्येयम् । ९ लिङ्गदेहापहित । १० वृ उ ४ ५ ६ । ११ ११६५पृष्ठाभ्याम् । १२ तद्यथेत्यादि
यावदित्यन्तम् । १३ भवतायं ११४ स्थानी ।

जन्ममरणभ्यां पाप्मससर्गवियोगलक्षणाभ्यामिहलोकपरलोकाद्यनुसचरति । यस्योत्क्रम-
णमनु प्राणाद्युत्क्रमणं 'स प्राज्ञेन परेणाऽऽत्मना स्वयज्योतिःस्वभावेनान्धारुहोऽधिष्ठि-
तोऽवभास्यमानः । तथा चोक्तमात्मनेवाय ज्योतिषाऽऽस्ते पत्ययत इति । 'उत्सर्ज-
न्याति 'तत्र चेतन्यात्मज्योतिषा भाष्ये लिङ्गे प्राणप्रधाने गच्छति सति तदुपाधिर-
प्यात्मा गच्छतीव' । तथाच श्रुत्यन्तरम्—“कस्मिन्बहसु” इत्यादि “ध्यायतीव” इति
च । अत एवोक्तं प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारुह इति । अन्यथा 'प्राज्ञेनकीभूतः शकटव-
त्कथमुत्सर्जन्त्याति ।

मात्मान विशिनष्टि—य स्वप्नेति । जन्ममरणे विशदयति—पाप्मेति । 'कार्यकरणानि पाप्मशब्देनो-
च्यन्ते । शारीरस्य प्राधान्यं द्योतयति—यस्येति । उत्सर्जन्त्यातीति चेतदाऽङ्गीकृतमात्मनो गमनमित्या-
शङ्क्याऽऽह—तत्रेति । "लिङ्गोपाधेरारामनो गमनप्रतीतिरित्यत्राऽऽयवर्णयति प्रमाणयति—तथा चेति ।
उत्सर्जन्त्यातीति श्रुतेर्बुद्ध्यर्थत्वाद्यर्थमारामनो वस्तुतो गमन किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—ध्यायतीवेति
चेति । श्रोपाधिकमारामनो गमनमित्यत्र "लिङ्गान्तरमाह—अत एवेति । "कथमेतावता निरुपाधिरात्मनो
गमन नेष्यते तत्राऽह—अन्यथेति ।

दृष्टान्त की तरह ही “शारीर” अर्थात् स्थूल शरीर मे रहने वाला । वह कौन है ? वह लिङ्ग देह
उपहित आत्मा है । जो स्वप्न और जागरित स्थानो के समान पाप के संयोग और वियोग रूप जन्म
और मरण के द्वारा क्रमश इत लोक और परलोक मे अनुसचरण करता है । और जिसके उत्क्रमण के
साथ ही प्राणादि का उत्क्रमण हो जाता है, वह लिङ्गोपाधि 'प्राज्ञेनात्मना' अर्थात् स्वयज्योतिस्वरूप
परमात्मा से “अन्वारुह” अर्थात् अधिष्ठित या अवभासित हुआ, कहा भी है—“यह आत्मज्योति से
बँठता है, इधर उधर जाता है” । हिक्कादि शब्द करते हुए जाता है । उपाधि और उपहित के मध्य
चेतन्यज्योति से अवभासित प्राणप्रधान लिङ्गदेह के जाने पर उस लिङ्गदेह उपाधि वाला आत्मा हुआ भी
जाता हुआ सा प्रतीत होता है । अन्य श्रुति भी कहती है—“किसके उत्क्रान्त हो जाने पर मैं उत्क्रान्त
हो जाऊँगा”, “ध्यान करता हुआ सा” इत्यादि । इसी से कहा है—प्राज्ञ आत्मा द्वारा अधिष्ठित
आत्मा से (शब्द करता हुआ जाता है); नही तो प्राज्ञ आत्मा से एकीभूत होने पर यह शकट के
समान शब्द करते हुए कैसे जाता ।

१ लिङ्गोपाधि । २ मरणकाले अनेन वेदनातंतया हिक्कादितब्द कुर्वन् । ३ उपाध्युपहितयोर्मध्य ।
४ भाति । ५ प्र उ ६ ३ । उत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि । ६ अत एव—आत्मगमनस्योपचारिकत्वादेव ।
७ अन्यथेत्यादि । निरुपाधिकस्यात्मनो गमने हि उपाधिपरित्यागे प्राज्ञेन परमात्मनेकीभूत परमात्मस्वरूप एव
स खलु शकटवत् वचमुत्सर्जन्त्यानु शक्नोति । अवरिच्छिन्नत्वान्नैव शक्नोतीत्यभिप्रायेण श्रुत्या प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारुह
इत्युक्तमित्यथ । निरुपाधिकस्यापि गमनसंभव तु प्राज्ञतत्यादि न वक्तव्यमिति भाव । ८ प्राज्ञात्मा यातीत्येव
वा वक्तव्यम् । ९ तथा पाप्मत्वापत्वात्—धर्माधर्मो च पाप्मशब्दार्थ । १० लिङ्गरूपादुपाधितः । ११
लिङ्गान्तरमिति—एतन् पूर्वं अपि श्रुती लिङ्गत्वेनैवोपन्यस्त इति सूचयति । प्रवृत्तापत्य तथाप्याधिभरवादिनि
ध्यम् । १२ प्राज्ञेनेत्याद्युक्तिमानेन ।

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता' वाऽणि-
मानं निगच्छति तद्यथाऽऽन्नं वोदुस्वरं वा पिप्पलं वा

वह यह हस्त-पादादि भ्रवय वाला देह वृद्धावस्थादि वृत्तिपय कारणों से जब कृशता को प्राप्त होता है, तब जैसे आम, गूलर, पीपल के फल बन्धन से छूट जाते हैं, ठीक वैसे ही यह शरीर

तेन लिङ्गोपाधिरात्मोत्सर्जनमंसु निकृत्यमानेषु 'दुःखवेदनाऽऽतः' शब्दं कुर्व-
न्याति गच्छति तत्कस्मिन्काल इति । उच्यते—यत्रैतद्भवति । एतदिति क्रिया-
विशेषणम् । ऊर्ध्वोच्छ्वासी यत्रोर्ध्वोच्छ्वासित्वमस्य भवतीत्यर्थः । 'दृश्यमानस्याप्यनुव-
दनं वैराग्यहेतोः । ईदृशः कष्टः खल्वयं संसारः । येनोत्क्रान्तिकाले ममंसूक्त-
त्यमानेषु स्मृतिलोपो दुःखवेदनात्स्य 'पुरुषार्थसाधनप्रतिपत्तो चासामर्थ्यं परवशीकृत-
चित्तस्य । तस्माद्वावदियमवस्था नाऽऽगमिष्यति तावदेव पुरुषार्थसाधनकर्तव्यताया-
'मप्रमत्तो भवेदित्याह कारुण्याच्छ्रुतिः ॥ ३५ ॥

तद्"स्योर्ध्वोच्छ्वासित्वं कस्मिन्काले किनिमित्तं "कथं" किमर्थं वा स्यादि-

प्रमाणफल निगमयति—तेनेति । तत्कस्मिन्नित्यत्र तच्छब्देनाऽऽतंस्य शब्दविशेषकरणपूर्वक
गमन गृह्यते । एतदूर्ध्वोच्छ्वासित्वमस्य यथा स्यात्तथाऽवस्था यस्मिन्काले भवति तस्मिन्काले तदुपा-
मनमित्युपपादयति—उच्यत इत्यादिना । किमिति प्रत्यक्षमर्थं श्रुतिरनुवदति तत्राऽऽह—दृश्यमानस्येति ।
"कथं संसारस्वरूपानुवादमात्रेण वैराग्यसिद्धित्तत्राऽऽह—ईदृश इति । ईदृशत्वमेव विशदयति—येनेत्या-
दिना । अनुवादश्रुतेरभिप्रायमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ ३५ ॥

प्रश्नचतुष्टय"मनूद्य तदुत्तरत्वेन स यत्रैवादि वाक्यमादाय ध्याकरोति—तदस्येत्यादिना । प्रश्न-

उक्त प्रमाण से लिङ्गोपाधिक आत्मा ममंस्यानो के निकल जाने पर दुःखानुभूति से व्याकुल
हुआ (हिक्कादिलक्षण) शब्द करता हुआ जाता है । यह किस समय होता है—इस पर कहा जाता है
कि "यत्रैतद्" यानी जब यह होता है । यहाँ "एतद्" क्रियाविशेषण है । "ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति"
भर्यात् जहाँ इसका ऊर्ध्वश्वास हो जाता है । प्रत्यक्षसिद्ध अर्थ का पुन कथन वैराग्य के लिए है । यह
समार ऐसा दुःखात्मक है । जहाँ कि कष्ट से देहोत्सर्ग काल में ममंस्यानो से निकलने पर दुःखानुभूति
में व्याकुल हुए पुरुष को स्मृति नष्ट हो जाती है, तथा उस परवशीकृत चित्त वाले पुरुष का मोक्षसाधन
प्राप्ति में कोई सामर्थ्य नहीं रह जाता । इसलिये (भरणकाल में कुछ कर्तव्य समब न होने से) जब तक
यह भवस्था नष्टी प्राप्त होती, तब तक ही पुरुष को मोक्ष के साधनों को करने में सावधान रहना

१ युवा चेदिति ध्येयम् । २ उक्तप्रमाणेन । ३ दुःखानुभूत्या । ४ हिक्कादिलक्षणम् । ५ प्रत्यक्ष-
सिद्धस्यापि धर्मस्य । ६ दुःखात्मक । ७ यत् कष्टेनेति वा । ८ मोक्षसाधनप्राप्ती । ९ मरये
कर्तव्याज्जामर्थात् । १० सावधान । ११ मुमूर्षो । १२ स्वरूपप्रथ । १३ प्रयोजनप्रथ । १४
संसारस्वरूपे प्रत्यक्षे वैराग्यं नोत्पद्यते चेत् । १५ मनूचेति—श्रुत्यभिप्रेतस्य भाष्योक्तेरनुवादव्यभिक्ति भावः ।

बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गैभ्यः
संप्रमुच्य पुनः 'प्रतिन्यायं' 'प्रतियोन्या' ब्रवति
'प्राणायैव ॥ ३६ ॥

पुरुष भी इन अंगों से छूटकर पुन जिस मार्ग से प्राया था, उसी मार्ग से (अपने कर्मानुसार यथासभव) प्रत्येक योनि में प्राणादि की अभिव्यक्ति के लिये चला जाता है (क्योंकि प्राणादि की विशेषाभिव्यक्ति के बिना कर्मफलभोग का होना सम्भव नहीं है) ॥ ३६ ॥

त्पेतदुच्यते—सोऽयं प्राकृतः शिरःपाण्यादिमान्पिण्डो यत्र यस्मिन्कालेऽग्निमान-
मणोर्भावमणुत्वं काश्यमित्यर्थः । न्येति निगच्छति । किनिमित्तं 'जरया वा स्व-
पमेव कालपक्वफलवज्जीर्णः काश्यं गच्छति । उपतपतीत्युपतपञ्ज्वरादिरोगस्तेनो'प-
तपता वा । उपतप्यमानो हि रोगेण विपमाग्नितयाऽन्न भुक्तं न 'जरयति' 'ततो-
ऽन्नरसेनानुपचीयमानः पिण्डः काश्यंमापद्यते' तदुच्यत उपतपता वेति । अग्निमानं
निगच्छति । यदाऽत्यन्तकाश्यं प्रतिपन्नो जरादिनिमित्तं तदोर्ध्वोच्छ्वासी भवति ।
यदोर्ध्वोच्छ्वासी तदा भृशहितसंभारशकटवदुत्सर्जन्त्याति । "जराभिभवो" "रोगादिपीडनं

पूर्वकं काश्यंनिमित्तं स्वाभाविकमागन्तुकं चेति दर्शयति—किनिमित्तमित्यादिना । क्व ज्वरादिना
काश्यंप्राप्तिरित्याशङ्काऽऽह—उपतप्यमानो हीति । यद्योक्तनिमित्तद्वयवशात्काश्यंप्राप्तिं नियमयति—
अग्निमानमिति । कस्मिन्काले तदूर्ध्वोच्छ्वासित्वमस्येति प्रश्नस्योत्तरमुक्त्या विषया सिद्धमित्याह—
यदिति । अथशिरःप्रश्नस्योत्तरमाह—यदोर्ध्वोच्छ्वासीति । "तत्र हि काश्यंनिमित्तं सभूतशकटव-
ज्ञानाशब्दकरणं स्वरूपं शरीरविमोक्षणं च प्रयोजनमित्यर्थः । स यत्रेत्यादिवाक्यादर्थमिदमयमाह

चाहिए । इस प्रकार श्रुति कल्पना के बशीभूत हो कहती है ॥३५॥

इसका ऊर्ध्वोच्छ्वास किस समय, किस कारण से, किस प्रकार और किसलिए होता है, इस पर श्रुति कहती है—“सोऽयम्” अर्थात् यह शिर एव हाय-पांवादि अथवावाला प्राकृत पिण्ड 'यत्र' यानी जिस समय में "अग्निमान न्येति" अग्निभाव यानी काश्यंरूप अणुत्व को, प्राप्त हो जाता है । किस कारण से होता है ? "जरया वा" अर्थात् (स्वाभाविक रूप) ताल से पकाये फल के समान जीर्ण होकर कृशता को प्राप्त होता है । अथवा (यदि युवा हो तो) "उपतपता" अर्थात् उपनपन करने वाले ज्वरादि रोगों से (कृश हो जाता है) क्योंकि रोग से उपतप हुया मनुष्य विषम अग्नि हो जाने के कारण खाये हुए अन्न को पचा नहीं सकता । फिर अन्न के रस से अन्नचय को प्राप्त हुया पिण्ड कृशता को प्राप्त हो जाता है । इसी में कहा है "ज्वरादि रोगों में कृशता को प्राप्त होता है ।

१ प्रतिगमन यथा तथा । २ योनि योनिप्रति । ३ प्रागच्छति । ४ प्राणाना स्थानविशेषिन्या-
नेनावस्थानायेत्यर्थः । देहान्तरग्रहणायैति यावद् । ५ इदं स्वाभाविकम् । ६ इदमागन्तुकम् । ७
पाचयति । ८ तत इत्यादि—अन्नरिपावाभावात्परिवर्तनवात्प्रमृत्तमादिधानुप्रयुक्तोपचयमप्राप्यमाण इत्यर्थः ।
९ नक्तमर्थंजातमभिप्रेत्य श्रुत्योच्यत इत्यर्थः । १० जरन् हि स्वजनैरपि नाऽद्रियते । ११ रोगादि-
प्रयुक्त दुःखम् । १२ निमित्तस्वरूपप्रयोजनेषु ऊर्ध्वोच्छ्वासित्वे वा ।

काश्यापित्तिश्च शरीरवतोऽवश्यंभाविन एतेऽनर्था इति वंराग्यापेदमुच्यते ।

यदाऽसाद्युत्सर्जन्त्याति तदा कथं शरीरं त्रिमुञ्चतीति दृष्टान्त उच्यते—तत्तत्र यथाऽऽन्नं वा फलमुद्बुधर' वा फलं पिप्पलं वा फलम् । 'विषमानेकदृष्टान्तोपादानं मरणस्यानियतनिमित्तत्वव्यथापनार्थम् । अनियतानि हि मरणस्य निमित्तान्यसंख्यातानि च । 'एतदपि वंराग्यार्थमेव । यस्मादव्ययमनेकमरणनिमित्तवांस्तस्मात्सर्वदा मृतवोरास्ये वर्तत इति । बन्धनाद्व्यथते 'येन वृत्तेन सह स बन्धनकारणो रसो यस्मिन्वा व्यथत इति वृत्तमेवोच्यते 'बन्धनं तस्माद्द्र'साद्वृत्ताद्वा बन्धनात्प्र-

—जरेति ।

सद्येत्वादिवाक्यं प्रश्नपूर्वकमादाय ध्याचष्टे—यदेत्यादिना । फलं बन्धनात्प्रमुच्यत इति संबन्ध । 'किमिति विषमानेकदृष्टान्तोपादानमेकेनापि विषयक्षितसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—विषमेति । कथं मरणस्यानियतान्यन्येकानि निमित्तानि संभवन्तीत्याशङ्क्यानुभवमनुमृत्याऽऽह—प्रनियतानीति । अयं मरणस्यानेकानियतनिमित्तत्वसंकीर्तनं कुश्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—एतदपीति । तदर्थत्वमेव समर्थयते—यस्मादिति । इत्यु'प्रमत्तं भवितव्यमिति शेषः । वृत्तेन सह फलं 'येन रसेन संबध्यते स रसो बन्धनकारणमूतो बन्धन वृत्तमेव वा बन्धनं यस्मिन्फलं व्यथते रसेनेति श्युत्पत्तेस्तस्माद्बन्धनाद्'भेकनिमित्तवशात्पूर्वोक्तस्य फलस्य भवति प्रमोक्षणमित्याह—बन्धनादित्यादिना । लिङ्गमात्मोपाधिरस्येति

जिस समय जरादि निमित्तो से शरीर गत्यन्त वृक्ष हो जाता है उस समय जीव ऊर्ध्वोच्छ्वासी हो जाता है । जब ऊ-र्ध्वोच्छ्वासी हा जाता है तो उस समय भारी बोझ म लद हुए छकडे के समान शब्द करता हुआ जाता है' । सभी प्राणियों के लिए जरा से अभिभव, रागादि प्रयुक्त दुःख और वृशता की प्राप्ति, ये अनर्थ अवश्यभावी हैं । इसलिए इसे वंराग्य के लिए कहा जाता है ।

जब यह लिङ्गात्मा शब्द करत हुए जाता है तो किम प्रवार शरीर छोडता है—इमे दृष्टान्त द्वारा कहा जाता है । वहाँ जिस प्रकार आम्रफल, गूलरफल अथवा पिप्पलफल (बन्धनो से छूट जाता है) । अनेक विषम दृष्टान्तो वा उपपादन मृत्यु के अनियत निमित्तत्व बताने के लिए है । मरण के निमित्त अनियत और प्रसख्य हैं । यह भी वंराग्य के लिए कहा जा रहा है । क्योंकि यह लिङ्ग तादात्म्यवान् ससारी, अनेकमरणनिमित्तवान् है, इसलिए सदा ही मृत्यु के मुख मे पडा रहता है । "बन्धनात् प्रमुच्यते" यानी बन्धन से छूट जाता है । जिस अपक्व रस वृत्त मे बंधता है, वह बन्धन कारण है अथवा

१ लिङ्गात्मा । २ फलम् । ३ विषमिति—विषम्य त्वमीपामान्स्वाद्युम्बरत्वादिधर्मैः । विच्छेदस्वरूपनिमित्तविषम्येण च बोध्यम् । घ्रात्र तावत्पक्वं मक्षन्तरेणापि चातादिव्याह्यनिमित्त वृन्तरसवलेदादेव निपतति पतन्व सद्रन्तरहितमेव पतति । उद्बुधर वृत्तेन मह वातादिना । पिप्पल पक्वमपि शकुन्तादिभिरेव पात्यते न वातमात्रेणेति । ४ अथतरुणांस्तार्थमपि । ५ लिङ्गतादात्म्यवान् ससारी । ६ अपक्ववरसेन । ७ अपक्वेन रसेन । ८ रसादिति—रसा हि पात्रावस्थायाम् वरदमापद्यमानाऽवस सन् गंस्तसहैत फलमवप्रभितुमिति भावः । ९ विषमम् । १० मोक्षाय ज्ञानसाधनम् । ११ अपक्वेन । १२ गुह्यस्वरसापक्वात-शुब्दसंबन्धादिनिमित्तेत्यर्थः ।

मुच्यते 'वाताद्यनेकनिमित्तमेवमेवायं पुरुषो लिङ्गात्मा लिङ्गोपाधिरेभ्योऽङ्गेभ्यश्चक्षुरादिदेहावयवेभ्यः संप्रमुच्य सम्पद्'निल्लेपेन प्रमुच्य ।

न सुषुप्तगमनकाल इव प्राणेन रक्षन् । किं तर्हि सह वायुनोपसंहृत्य । पुनः प्रतिन्यायं पुनःशब्दात्पूर्वमप्ययं देहाद्देहान्तरमसकृद्गतवान्यथा स्वप्नबुद्धान्तौ पुनःपुनर्गच्छति तथा पुनः प्रतिन्यायं प्रतिगमनं यथागतमित्यर्थः । प्रतियोनि योनि योनि प्रति कर्मश्रुतादिवशादाद्भवति । किमर्थम् । प्राणायैव प्राणव्यूहायैवेत्यर्थः । 'सप्राण

'तद्विशिष्ट शरीरस्तपोच्यते । सप्रमुच्याऽऽद्रवतीति "संघन्ध" ।

"समित्युपसर्गस्य तात्पर्यमाह—नेत्यादिना । यदि "स्वप्नावस्थायांमिव मरणव्यवस्थाया प्राणेन देहं रक्षन्नाद्रवतीति नाऽऽद्रियते केन प्रकारेण तर्हि "तदा देहान्तरं प्रति गमनमित्याशङ्क्याऽऽह—किं तर्हीति । वायुना प्राणेन सह कारणजातमुपसंहृत्याऽऽद्रवतीति पूर्ववत्संघन्ध । पुन प्रतिन्यायमिति प्रतीकमाद्यं पुनःशब्दस्य तात्पर्यमाह—पुनरित्यादिना । तथा पुनराद्भावतीति संघन्धः । यथा पूर्वमिव देहं प्राप्तवान्पुनरपि तथैव देहान्तरं गच्छतीत्याह—प्रतिन्यायमिति । देहान्तरगमने कारणमाह—कर्मति । आदिशब्देन "पूर्वप्रज्ञा गृह्णाते । प्राणव्यूहाय प्राणाना "विशेषाभिव्यक्तिताभायेति यावत् । प्राणयेति

रस या वृन्त वन्धन कहा जाता है । उस रस या वृन्तरूप वन्धन से वायुआदि अनेक कारणों से फल छूट जाता है । उसी प्रकार "अय पुरुष" अर्थात् यह लिङ्गोपाधिक लिङ्गात्मा "एभ्योऽङ्गेभ्य" अर्थात् सम्पद् कि शेषत मुक्त हो कर (पूर्वागत मार्ग से चला जाता है) ।

जिस प्रकार मुद्रुप्तावस्था में जाने के समय प्राण के द्वारा रक्षा करने के समान नहीं, तो किस प्रकार ? प्राण वायु के सहित चक्षुरादि गोलकों का उपसंहार करके । "पुन प्रतिन्याय" यहाँ पुन शब्द कथन से यह प्रयोजन है कि जिस प्रकार जीव पुन पुन जाग्रित और स्वप्न अवस्था में जाता है, उसी प्रकार पहले भी यह लिङ्गात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में गया था । अतः पुन जिस

१ वाताद्यनेकनिमित्तादिति यावत् । निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वास्ता प्रायदर्शनम् । २ गोलकेभ्य । ३ सम्पक्व व्यक्तिके—निल्लेपेनेति नि शेषमिति यावत् । स्वप्नप्रवृत्त्यादौ हि प्राणावदेषो लिङ्गोपसंहारो मरणे तु प्राणेन सहैवेत्यर्थः । ४ लिङ्गात्मा । ५ शरीरम् । ६ श्रुतमुपासनम् । ७ प्राणव्यूहानैवति—प्राणाना यथा गोलकमवस्थानात्यव्यर्थं न तु प्राणग्रहणायत्यवकाराय । सप्राणयैव गमनादित्यनुपदमेव स्पृष्टी भवति । ८ सप्राण एव हि गच्छतीति—तमुत्त्रामन प्राणोऽन्तु ब्रामतीनि श्रुनेरिति हृदयम् । ९ पर्यवसानं तु विशेषणं एवेति ध्येयम् । १० गवध इति—अत्रेदमवधेयम् लिङ्गस्य स्थूलेऽवस्थितिरस्तु अत्ररत्ननिबन्धनाऽन्न दामेति श्रुते । रसप्राप्तस्याणिष्ठ परिणामः । न च यावदमत्तस्तावदेवात्रावतिष्ठते लिङ्गं स्पृते तस्य जरारोगादिना दुर्बलत्वे तु वृन्तरसपरिष्काराद्गन्तात्स्वमिव स्पृताद्विद्युज्ज्वल एव लिङ्गात्मेति स्पष्ट वृत्तस्वविस्तरं वातिकामृत इत्यधिकं तत एवावगन्तव्यमित्यलम् । ११ अक्षरापर्यन्तं निल्लेपेत्युक्तं । १२ भाव्ये मुपुत्ते गमनं यस्माद् (यद्द्वारा) इति विग्रहमभिप्रेत्याह—स्वप्नेति । इदं च प्राणेन रक्षतवरं कुतायमिति श्रुते स्वप्नप्रवृत्तानुरोधेनेति ध्येयम् । १३ मरणकाले । १४ सरकारः । १५ चक्षुरिदं श्रोत्रमिदमित्येवम् ।

एव हि गच्छति 'ततः प्राणायंवेति' विशेषणमनर्थकम् । प्राणव्यूहाय हि गमनं देहाद्देहान्तरं प्रति । 'तेन ह्यस्य कर्मफलोपभोगार्थसिद्धिर्न प्राणसत्तामात्रेण । 'तस्मात्तादर्थ्याय युक्तं विशेषणं प्राणव्यूहायेति ॥ ३६ ॥

तत्रा'स्येद' शरीरं परित्यज्य गच्छतो नान्यस्य देहान्तरस्यो'पादाने सामर्थ्यमस्ति 'देहेन्द्रियवियोगात् । न चान्ये'ऽस्य नृत्यस्यानीया गृहमिव "राज्ञे शरीरान्तरं कृत्वा प्रतीक्ष-

धृति किमर्थमित्य ध्याह्यायते" तत्राऽऽह—सप्राण इति । "एतच्च तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणे निर्धारितम् । प्राणायति "विशेषणस्याऽऽनर्थक्याद्युक्तं प्राणव्यूहायेति "विशेषणमित्याह—प्राणैति । "नन्वस्य प्राण सह वर्तते चेत्तावन्तं भोगसिद्धरेल प्राणव्यूहेनेत्याशङ्क्याऽऽह—तेन हीति । "अन्यथा सुपुत्रिमूर्खयोरपि भोगप्रसव्तेरित्यर्थं । तावन्तं प्राणस्य "भोगशेषत्वसिद्धार्थमिति यावत् ॥ ३६ ॥

तद्यथा राजानमित्यादिवाक्यध्यायत्यमाशङ्क्यामाह—तथेति । मुमुषुषविस्या सप्तम्यर्थं । अथास्य स्वयमसामर्थ्येऽपि शरीरान्तरकर्तारोऽप्ये भविष्यन्ति यथा राज्ञो भृत्या गृहनिर्मातारस्तथाऽऽह—न चेति । स्वयमसामर्थ्यमन्येषा चासत्त्वमिति स्थिते कलितमाह—अथेति । तद्यथेत्यादिवाक्यस्य

प्रकार आया था, वंसे ही दूसरे शरीर म चला जाता है । "प्रतियोन्याद्रवति" अर्थात् अपने वरमं श्रीर उपासना के अनुसार प्रत्येक शरीर मे जाता है । किसलिए जाता है ? "प्राणायव" अर्थात् प्राणो की यथागोचक मे प्रतिष्ठा के लिए । प्राणसहित तो जाता ही है, अत "प्राणायव" यह विशेषण व्यर्थ होगा । यथागोचक अवस्थिति के लिए प्राणो का एक शरीर से दूसरे शरीर मे गमन होता है, उस व्यूहस्य प्राण से इसके कम फलोपभोगार्थ की सिद्धि हातो है, बवल प्राणो के अस्तित्व मात्र से नहीं होती । इसलिय प्राण का भोगोपयोगित्व सिद्ध करने के लिए 'प्राणव्यूहाय' यह विशेषण देना उचित ही है ॥३६॥

(इम पर शङ्का होती है—) मरणावस्था मे वतमान शरीर का छोडकर जाने वाले भोक्ता म दूसरे शरीर का ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि उसका देहविनिष्क इन्द्रियो का परस्पर वियोग हो जाता है । एव जिस प्रकार राजा के लिए भृत्य गृहनिर्माण कर प्रतीक्षा करते हैं, उस

- १ सत—सप्राणस्यैव गमनात् । २ विगपणमिति—प्राणग्रहणायेत्यथक चेदिति शेष । ३ व्यूहावस्थेन प्राणन । ४ तस्मात्—तत्तद्गारावेषु करणस्यापनमन्तरा भोगाभावादित्यर्थं । ५ एतदर्थं प्राणाययेतित्यर्थ । ६ भोक्तु । ७ वातमानिकम् । ८ निमाण इति यावत् । ९ दहविशिष्टन्द्रियस्य वियोगात् देहेन्द्रियाणा मिथ विधानादिति वाच्य । १० भोक्तु । ११ पट्टपन्त पाठान्तरम् राज इति । १२ न तु प्राणग्रहणायेतीति भाव । १३ एतच्चति—प्राणन महैव जीवस्य देहान्तरं प्रतिगमनमित्यर्थ । तदनन्तर प्रतिपत्तो रद्धानि मपरिवृत्त प्रचनित्परागम्याम् (ग्र सू ३ १ १) देहान्तरप्राप्तौ तदारम्भर्कं पृच्छीकृत भूतमार्गं प्राणाधारभूतैर्वैष्टितो जीवो रहति गच्छति । वाच्य यथा पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति (छा उ ५ ३ ३) इति प्रथम्य तदुत्तरम्य अंतदर्थानुगुण्यादिति सूत्रासराथ । १४ प्राणग्रहणमित्यर्थेकस्य । १५ विगपणव्याप्त्यानम् । १६ निङ्गात्मना भोक्तु । १७ प्राणसत्तामात्रेण भोगोपगम । १८ भागेर्यागि वसिद्धपथम् ।

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यो-

श्रीर जंसे अपने राष्ट्र में जाते हुए राज्याभिषिक्त राजा की उग्रकर्मा एव (चौरादि को दण्ड

माणा विद्यन्ते। अथैवं सति कथमस्य शरीरान्तरोपादानमिति । उच्यते—सर्वं ह्यस्य जगत्स्वकर्मफलोपभोगसाधनत्वाद्योपात्तं स्वकर्मफलोपभोगाय चायं प्रवृत्तो देहाद्-देहान्तरं प्रतिपित्सुस्तस्मात्सर्वमेव जगत्स्वकर्मणा प्रयुक्तं तत्कर्मफलोपभोगयोग्यं साधनं कृत्वा प्रतीक्षत एव । “कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते” इति श्रुतेः । यथा स्वप्नावजागरितं प्रतिपित्तोः ।

‘तत्कथमिति’ लोकप्रसिद्धो दृष्टान्त उच्यते—

तात्पर्यं दर्शयन्नुत्तरमाह—उच्यत इति । भवत्वज्ञस्य स्वकर्मफलोपभोगे साधनत्वसिद्धयर्थं सर्वं जगदुपात्तं तथाऽपि देहाद्देहान्तरं प्रतिपित्समानस्य किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वकर्मति । स्वकर्म-एतेष्वत्र स्वशब्दस्तत्कर्मफलोपभोगयोग्यमित्यत्र तच्छब्दश्च प्रकृतभोक्तृविषयो । तत्र प्रमाणमाह—कृतमिति । पुरुषो हि त्यक्तवर्तमानदेहो भूतपञ्चकादिना निमित्तमेव देहान्तरमभिव्याप्य व्यप्यत इति श्रुतेरर्थः । उक्तमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टपति—यथेति । स्वप्नस्थानाज्ञागरितस्थानं प्रतिपत्तुमिच्छतः शरीरं पूर्वमेव कृतं नापूर्वं क्रियते तथा देहाद्देहान्तरं प्रतिपित्समानस्य पञ्चभूताविना कृतमेव देहान्तरमित्यर्थः ।

प्रकार इस भोक्ता के लिए दूसरा शरीर बनाकर इन्द्रियादि प्रतीक्षा नहीं करती । ऐसा होने पर इसका दूसरा शरीर निर्माण कैसे संभव है ? (वादी समाधान करता है—) इस पर कहा जाता है । इस भोक्ता को यह सारा ससार अपने कर्मफल उपभोग के साधनरूप में प्राप्त हुआ है और स्वकर्मफलोपभोग के लिए ही यह एक शरीर से दूसरे शरीर की प्राप्ति की इच्छा से प्रवृत्त होता है । इसलिए स्वकर्म से प्रेरित सम्पूर्ण संसार उसके कर्मफलोपभोग योग्य साधन होने से उसकी प्रतीक्षा करता ही है । श्रुति वही है—‘पुरुष देहान्तर को व्याप्त करके अभिषिक्त होता है’ । जैसे स्वप्नावस्था से जागरित स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले पुरुष का शरीर पूर्व ही रचा रहता है ।

यह कैसे कहते हो ? ऐसी जिज्ञासा होने पर लोक दृष्टान्त कहा जाता है—

१ अवतारणोक्तत्वात् । २ निर्माणम् । ३ सर्वं ह्यस्येति—अस्यति कर्त्तरि पठ्ये । हि यस्मादनेन भोक्त्रा पुसा स्वकर्मफलोपभोगसाधनत्वार्थं सर्वमिन्द्रादिजगदुपात्तं स्वायतीकृतं तस्मात्सर्वमेवेन्द्रादिजगदुपात्तं स्वामिभोगयोग्यं देहं कृत्वा भोक्तरं प्रतीक्षत एवेति योजना । तथा चोक्त—“कर्मोपासानि भूतानि तत्प्रयुक्तानि देहिन । कृत्वा देहान्तरं योग्यं तस्यै राज्ञोऽग्रग इव” ॥ १६५८ ॥ इति । भोक्तृपुणित्तकर्मोपाजितानीन्द्रादिभूतानि तत्रैरितानि तत्पत्न्याभिमुखानि तिष्ठन्तीत्याह—कर्मति । भूतानामात्मवर्माणोजितत्वे सिद्धमर्षमाह—देहिन इति । ४ कृतं लोकमित्यादिश्रुतेर्देहान्तरनिर्माणान्तरमरत्वे एव प्रमाणात्तयोपन्यासो बोध्यो देहारम्भश्च भूतैः । न हैवात्मनो गमनस्य रहस्यविषयणी सिद्धान्तितत्वात् । ५ अवतारणात्कम् । ६ बोधायाम् । ७ तत्रेति—अस्य स्वयमगा-मर्थोऽपि देहान्तरनिर्मातारोऽप्ये सन्तीत्यस्मिन्नर्थे इत्यर्थः । ८ घ्रादिना कर्मदवतादि प्राणम् ।

ऽन्तः पानंरवसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छ-
तीत्येव ७ हंवं विद ७ सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त

इवं ब्रह्माऽऽयातीदमागच्छतीति ॥ ३७ ॥

देने के लिये) पापकर्म में नियुक्त मृत घोर गाँव के नेता लोग घन्नदान तथा निवासस्थान भोग्यवस्तु को तैयार रखकर 'ये प्राये, ये प्राये' इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही "यह यज्ञ आता है, यह आता है" इस प्रकार कहते हुए इस कर्मफल के आता की सभी भूत प्रतीक्षा करते हैं ॥३७॥

तत्तत्र यथा राजानं राज्याभिविक्तमायान्तं स्वराष्ट्र उपां जातिविशेषाः क्रूर-
कर्माणो वा प्रत्येनसः प्रत्येनसि पापकर्मणि नियुक्ताः प्रत्येनसस्तस्कराद्विदण्डनादौ नियुक्ताः
सूताश्च ग्रामण्यश्च सूतग्रामण्यः सूता वर्णसंकरजातिविशेषा ग्रामण्यो ग्रामनेतारस्ते पूर्व-

सर्वेषां भूतानां देहान्तरं कृत्वा संसारिणि परलोकाय प्रस्थिते प्रतीक्षणं केन प्रकारेणेति
प्रश्नपूर्वकं दृष्टान्तवाक्यमुत्थाप्य ध्याचष्टे—तत्तत्रेत्यादिना । "तत्र पापकर्मणि नियुक्तस्वप्नेस घ्ननक्ति—
तस्करादीति । आदिपदेनाग्रेऽपि "निप्राह्या गृह्यन्ते । दण्डनादावित्यादिशब्दो हि साप्रभेदसंप्रहायः ।
'ब्राह्मण्यां क्षत्रियास्सूतः' इति स्मृतिमाश्रित्य सूतशब्दार्थमाह—वर्णसंकरेति । भोज्यभक्ष्यादिप्रकार-

"तद्यथा" अर्थात् जिस प्रकार "राजानमायान्तम्" अर्थात् अपने राष्ट्र में आते हुए
राज्याभिविक्त राजा को उपां जाति विशेष ग्रयवा क्रूरकर्मा "प्रत्येनसः" अर्थात् तस्करादि को दण्ड देने
रूप पापकर्म में नियुक्त, "सूतग्रामण्य" अर्थात् वर्णसंकर जातिविशेष सूत तथा ग्राम के नेता लोग

- १ एवमेव । २ एवविदमित्यनुवादो विधिर्वैति पश्चाद्वयमपि वातिव उक्तम् । ३ सर्वाणि भूतानि शरीरा-
रम्भकारिण चादिरयादीनि शरीरिणो भोक्तार प्रति कल्पन्ते प्रतीक्षन्त उपादय इवायान्त राजानम् । दृष्टान्तध्यायं
शरीरारम्भकमात्मनो विद्यत इत्येतावत्यथे एव विवक्षितो न तु पूर्वं भूतानि राजभृत्यवद् देहमारम्य प्रतीक्षन्ते
पश्चादात्मा राजवत्तत्र मच्छनोत्स्येदेऽपि शरीरारम्भकभूते स हैवात्मनो गमनमिति राजान्तादिति ध्येयम् । ४.
इद ब्रह्माऽऽयातीत्यादि । "मुमुर्षुणा भाविदेहवन्वय कर्मणाऽजिता । एन पुत्रादिभावाय प्रतीक्षन्तेऽक्षिला सदा ॥
ऋतात्वरिम्भमाप्रसि ब्रह्म पुत्ररक्षिणतः । ऋताव्यन्तरे वाऽप्रप्राकास्सपेभ सत्रंवा ॥ क्षीर पातुमिय धेनुरिव
बोवऽस्य लालने । इति सपाद्य तद्भोग्यमागते राजभृत्यवत् ॥ अनेत जीवेनेत्यादिप्रवेशस्य विवक्षया । ब्रह्मिव
पुत्ररूपेण समयातीत्यभिज्ञानी ॥ ४४२-४४४ ॥ इति वातिवमारे तु प्रतीक्षमास्यानि भूतानि मातापित्रादि-
रुपाणि वणितातीति ध्येयम् । ५ देहिनो देहान्तरग्रहे सहाया सन्वीत्यस्मिन्नर्थे । ६ यथा दृष्टान्तः ।
७. उपां जातिविशेषा इति । यथाह मनु —"क्षत्रियाच्छूद्रकन्याया क्रूराचारविहायवान् । शतत्रयूद्रवपुंजन्तुस्त्रयो
माम प्रजायते" इति । ८ क्रूरकर्माण इति—पापिजनाना शिरःदंष्ट्रेदादिः क्रूरकर्मणि ये राजा नियुक्तास्तेऽत्र
तयो विवक्षिता । ९ प्रत्येनस इति—प्रतिपापं दण्डादौ नियुक्ता इत्यर्थः । उपास्तु उपापापप्रतिकारे ययोक्ते
इत्यनयोर्भेदो वातिकेऽभिहितः । १० सूताश्च ग्रामण्यश्चेति । उभयत्र वातिके—"रथावाहाश्च भूताः स्यु रथ-
वाहनकोविदा । ग्रामण्यो ग्रामनेतार सेनाधिपतयो मता" ॥ १६६३ ॥ इति । ११. प्रत्येन सञ्चिते ।
१२. दण्डभा ।

तद्यथा राजानं प्रथियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्राम-

जैसे जाने के लिये तैयार हुए राजा के सामने होकर उग्रकर्मा और पापकर्म में नियुक्त सूत

मेव राज्ञं प्रागमनं बुद्ध्वाऽनर्भोज्यभक्ष्यादिप्रकारैः पानंमदिरादिमिरावसयंश्च प्राप्तादा-
दिभिः प्रतिकल्पन्ते निष्पन्नैरेव प्रतीक्षन्तेऽयं राजाऽऽयात्ययमागच्छतीत्येवं वदन्तः । यथाऽयं
दृष्टान्त 'एवं हैवंविदं कर्मफलस्य वेदितारं संसारिणमित्यर्थः । 'कर्मफलं हि प्रस्तुतं तदेवं-
शब्देन परामृश्यते । सर्वाणि भूतानि शरीरकतं णि करणानुग्रहीतु णि चाऽऽदित्यादीनि
तत्कर्मप्रयुक्तानि कृतैरेव कर्मफलोपभोगसाधनैः प्रतीक्षन्ते । इदं ब्रह्म भोक्तुं कर्तुं चास्मा-
कमायाति तथेदमागच्छतीत्येवमेव कृत्वा प्रतीक्षन्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

'तमेव जिगमिषु' के सह गच्छन्ति । ये वा गच्छन्ति ते किं तत्क्रियाप्रणुना

रित्यादिशब्देन लेह्यचोष्ययो संग्रहः । मदिरादिमिरित्यादिपदेन क्षीरादि गृह्यते । प्राप्तादादिभि-
रित्यादिशब्दो 'गोपुरतोरणादिप्रहार्यः । विद्वन्मात्रे प्रतीयमाने किमिति कर्मफलस्य वेदितारमिति
विद्योषोपादानमित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मफल हीति । तत्कर्मप्रयुक्तानीत्यत्र तच्छब्दः सत्सारिविषयः ।
सत्सारिणो वस्तुतो 'ब्रह्माभिन्नत्वात्स्मिन्ब्रह्मशब्दः । प्रथ्यासस्तु भयत्राऽऽदरार्थं ॥ ३७ ॥

तद्यथा राजानं प्रथियासन्तमित्यादिवाच्यव्याचर्य चोद्यमुत्यापयति—तमेवमिति । वागादय-

पहले से ही राजा के आने वा समाचार पाकर 'घनं' अर्थात् भोज्यभक्ष्यादि प्रकार के घनो से,
"पानं" अर्थात् मदिरादि से तथा "प्रावसयं" यानी महलों आदि के द्वारा 'प्रतिकल्पन्ते' अर्थात्
तैयार हुए "यह राजा आता है, यह राजा आता है" इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं । जिस प्रकार
यह दृष्टान्त है, 'एवं हैवंविदं' अर्थात् इसी प्रकार ऐसा कर्मफल के जानने वाले जीव की (सम्पूर्ण
भूत प्रतीक्षा करते हैं) । यहाँ उत्क्रान्त्यादिरूप कर्मफल का प्रसङ्ग है, उसीका 'एवं' शब्द से ग्रहण होता
है । (भोक्ता के द्वारा अपने कर्म से प्रजित) शरीर की रचना करने वाले समस्त भूत तथा इन्द्रियो
के अनुग्रहाह्व सूर्यादि देवता, उसके कर्मों से प्रेरित होकर निष्पन्न कर्मफलोपभोग साधनो सहित प्रतीक्षा
करते रहते हैं । "इदं ब्रह्म" यानी कर्ता भोक्ता जोव हमारे पास आ रहा है, तथा यह आ रहा है, इस
प्रकार कहकर वे प्रतीक्षा करते रहते हैं, यह इसका भावार्थ है ॥ ३७ ॥

इस प्रकार जाने की इच्छा वाले विन के साथ जाते हैं और जो परलोक दारी के रक्षयिन

१ एव ह—एवमेव । २ उत्क्रान्त्यादिरूपम् । ३ भावत्रा स्ववचंभाजितानि । ४ निष्पन्नैरेव । ५
तन्वमित्यादि—उत्तरोत्या दहान्तर जिगमिषु सत्सारिणु केऽनुगच्छन्तीत्यर्थ । श्रवणं सह शब्दात्ता मात्र तृतीया-
विभक्त्यं दान्वावसर । ६ पुरद्वार तु गोपुरम् । ७ ब्रह्माभिन्नत्वादिनि—सत्सारित्वस्याविद्यत्वादिति
भावः । जीवस्यात्मस्वरूपे ब्रह्मात्मैति बुद्ध्युत्पादनाय जीव ब्रह्मवन्दप्रयाग इति श्रुतित्वात्पदंमुक्त वातिरे—
'कथं नाम मतिस्त्वस्य ब्रह्मात्मैति भवेदिह । श्रुतित्वात्स्वभावात्प्रत्येत्याह तता नरम् ॥ १६६८ ॥ इति ।
इह पात्यनि । ८ सत्सारिण जीव । ९ उग्रवक्त्र—ब्रह्मलक्षणादिप्रणुना ।

ण्योऽभिसमायन्त्येवमेवममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा
अभिसमायन्ति यत्रंतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥३८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य

तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

एव गाँव के मुखिया लोग एकत्रित ही जाते हैं; वैसे ही जब यह ऊँचं द्वास लेने लगता है, तो मन्त काल में सभी प्राण इस जीवात्मा के सम्मुख होकर इसके साथ जाते हैं, अर्थात् जीव के साथ-साथ चक्षुरादि प्राण भी जाते हैं ॥ ३८ ॥

॥ इति तृतीय ब्राह्मणम् ॥

आहोस्वित्तत्कर्मवशात्स्वयमेव गच्छन्ति परलोकशरीरकर्मणि च भूतानीति । 'धत्रोच्यते
दृष्टान्तः—सद्यथा राजानं प्रथियासन्तं प्रकर्षेण यातुमिच्छन्तमुप्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यस्तं
यथाऽभिसमायन्त्याभिमुख्येन समायन्त्येकी'भावेन तमभिमुखा प्रायन्त्यनाजप्ता एव राजा
केवलं तज्जिगमिषाभिज्ञाः, एवमेवममात्मानं 'भोक्तारमन्तकाले मरणकाले सर्वे प्राणा
'वागादयोऽभिसमायन्ति । 'यत्रंतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवतीति व्याख्यातम् ॥३८॥ ।

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

स्तमनुगच्छन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—ये वेति । तद्विक्रियाप्रणुष्णास्तस्य गन्तुर्वागादिव्यापारेण प्रेरिताः
समाहृता इति यावत् । यानि च भूतानि परलोकशरीरकर्मणि कुर्वन्ति यानि वा करणानुपहोतृण्या-
दित्यादीनि तेष्वपि यथोक्तप्रदानप्रवृत्तिं दर्शयति—परलोकेति । नाऽऽद्य परलोककार्यं 'प्रस्थितस्य वागादि-
व्यापाराभावाद्धानानुपपत्तेः । न द्वितीयो भोक्तृकर्मणाऽपि वागादिव्यचेतनेषु स्वयं प्रवृत्तेरनुपपत्ते-
रिति चोदयितुरभिमान । उत्तरवाष्येनो(णो)त्तरमाह—अत्रेत्यादिना । मरणकालमेव विशिनष्टि—
यत्रति । अचेतनानामपि रयादीनां चेतनप्रेरितानां प्रवृत्तिदर्शनाद्वागादीनामपि भोक्तृकर्मवशात्तदाहृतस्व-

आदित्यादि भूत जाते हैं, क्या वे उसके वागादि व्यापार से समाहृत होकर जाते हैं, अथवा उनके कर्म
वशात् अपने आप जाते हैं ? इसमें दृष्टान्त कहा जाता है—जिस प्रकार 'प्रथियासन्त राजानम्'
अर्थात् जाने की उत्कट इच्छा वाले राजा के अभिमुख होकर उसके क्रूरकर्मा, तस्करादि को दण्ड देने
के लिए नियुक्त पापकर्मा, सूत और गाँव के नेता लोग "अभिसमायन्ति" अर्थात् सहीभूत होकर राजा
के समक्ष आते हैं, बिना राजा की आज्ञा के केवल गमन की इच्छा जानकर ही उद्यत हो जाते हैं । उसी
प्रकार मरणासन होने पर वागादि सम्पूर्ण प्राण (बिना किसी के बुलाए कर्म से प्रेरित होकर)

- १ अत्रेति । आत्मकमप्रेरिता वागादयोऽनुगच्छन्तीत्येतस्मिन्नर्थे इत्यर्थं । एतेन तदप्येत्यत्रमन्तकाले व्याख्यात ।
- २ सधीभूयति यावत् । ३ राजममुखा । ४ कर्मफलस्य भोक्तारम् । ५ अनाहृता एव तत्कर्मप्रणुष्णा ।
- ६ यत्रंतदित्यादि—चातिकां त्वेवविदमित्यत्र विधिपक्षस्याप्यङ्गीकारात् मरणममये वागादय इतरान् बलेशयन्ती-
ऽपि यथाशास्त्रमुत्क्रान्तिवदिनं सृष्टानुवनास्थावन्त त्वश्लेरायन्त एवानुवन्त इति यणितमित्यलम् । ७ इत्या-
शङ्क्य—इति मन्त्येव समाधानं कृत्वा । ८ आह—चोद्यान्तरमित्यर्थं । ९ जीवस्य ।

(अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम्)

स यत्रापमात्मा । ऋसंसारोपवर्णनं प्रस्तुतम् । तत्रायं 'पुरुष' 'एभ्योऽङ्गैभ्यः' संप्रमुच्येत्युक्तम् । तत्संप्रमोक्षणं कस्मिन्काले कथं वेति सविस्तरं संसरणं वरांयित्त्वर-
तरेण प्रवृत्तिः सभवतीति भावः ॥ ३८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां चतुर्थाध्यायस्य ज्योतिर्ब्राह्मण तृतीयम् ॥३॥

ब्राह्मणान्तरमुत्थापयति—स यत्रेति । ऋतस्य संबन्धं वक्तुमुक्तं कीर्तयति—संसारेति ।
वक्ष्यमाणोपयोगित्वेनोक्तमयन्तरमनुव्रवति—तत्रेति । संसारप्रकरणं सप्तम्यर्थः । संप्रत्याकाङ्क्षापूर्वक-
मोक्षा आत्मा के समक्ष एकत्रित ही जाते है । 'जहाँ यह ऊर्ध्वोच्छ्वासी हो जाता है'—इसकी व्याख्या
पहले की जा चुकी है ॥३८॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् मे चतुर्थे अध्याय तृतीय ब्राह्मण के
शाङ्करभाष्य का हिन्दी भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥३॥

"वह यह आत्मा जिस समय (दुर्बलता को प्राप्त हो)" यहाँ ससार के उपवर्णन का प्रसङ्ग है ।
यहाँ "यह लिङ्गात्मा चक्षुरादि स्थानो से पूर्णतया मुक्त होकर" ऐसा कहा गया है । आत्मा की वह
पूर्णतया मुक्ति किस समय और कैसे होती है—इस प्रकार संसरण का विस्तारपूर्वक वर्णन करना है ।

१ प्रस्तुत तद्यथाञ्ज सुसमाहितमित्यादिना । २ लिङ्गात्मा । ३ चक्षुरादिस्थानेभ्य । ४ समासव्यास-
भावात्मक समानविषयत्वरूप वा ।

ऋसंसारोपवर्णनमित्यादीत्यारभ्यत इत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—“यत् उत्रान्तरिक्तस्य विविष्टप्लस्रगते ।
सर्वेषामविशिष्टाञ्ज स यत्रैत्युच्यतेऽयुना ॥ करणानां समुत्कान्तिर्गमनं च तयो समम् । प्रागुक्तं तत्र यत्रोक्तं
तदेवेहांच्यतेऽयुना ॥ संसारस्याधिकारोऽयमा श्लोकोदाहृतेर्मत । स यत्रैत्यत् प्रारभ्य पुंसं संसारवर्णनम् ॥
पुंसं संसरणं पूर्वं भूषितं यत्समासत । विस्तरस्तस्य वक्तव्यं इत्यर्था वा परा श्रुति ॥ तत्संप्रमोक्षणं वस्मिन्पुंसं
कालेऽभिजायते । कथं वेत्यादिकोऽत्रार्थो विस्तरैरणोपवर्णनेते” ॥१-५॥ इति । पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे कार्यंकरणसंघाता-
तिरिक्तस्याऽऽत्मन स्वव्यज्योतियोज्ज्वलाश्रयातीतस्याविद्याकाममर्मनिमुक्तस्यानतिघनानन्दस्यापि दुरप्रह्ववानाच-
विद्यानिमित्तकामादिदृष्टमिहलोकपरलोकसचरणमवस्थाद्वयसचाररुष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिक मोक्षोदाहरणं च सुपुन
व्याख्यातम् । अयुना मोक्षस्यैव सुपुतिदार्ष्टान्तिकस्य शिष्टवातस्मिन्वक्तव्यं पुन संसारोत्तरियुक्ता पुनरुक्तिरित्या-
शङ्क्य ब्राह्मणान्तरगवतारयति—यत् इति । वैशिष्ट्यं हतुमाह—पञ्चेति । एवमिदं सर्वाणि भूतानि प्रतिवक्ष्यन्त
इति श्रुतेरित्यर्थं ॥ एवमिदं वैशिष्ट्ये संबन्धमुक्त्वा तदनुवादपक्षे समाह—करणानामिति । तयार्जोऽप्राणयोरिति
यावत् । प्रागुक्तं तद्यथा राजानं प्रवियानन्तमित्यादावित्यर्थं । यत्रोक्तं तत्रोपापादानादीत्यर्थं ॥ सर्वस्यैव ब्राह्मण-
स्य संसारविषयत्व व्यावर्तयितुं संसारप्रवरणपरिभाषणमाह—संसारस्येति । स यत्रायमित्यस्मादारभ्य तदेव सक्त
कर्मणेतिलोकसहितावर्तित्तन्मध्येन संसारप्रकरणं यतो निवृत्तमतोऽकामयमानवाक्यात्प्रागेव वंराग्यहेतो मत्सार-
वर्णनमित्यर्थं ॥ भाष्याद्बहिरेव संबन्धद्वयोक्त्या पुनरुक्तिं समाधाय भाष्योक्तमव्ययमनुसृत्य तां समाधत्ते—पुन
इति ॥ विस्तरप्रकारमवाह—तदिति । देहाद्भूतानि च सर्वान्मांशु गृहीतानि तानि हि पुनो देहान्मुच्यमानस्या-
पादानभूतानि । द्वादिपदेन देहान्तरोपादानोपकरणारम्भादि गृह्यते । अत्रेति वक्ष्यमाणसंसारप्रकरणोक्ति ॥
ऋ तस्य संबन्धं वक्तुमुक्तं कीर्तयतीति । संबन्धोऽत्र समासव्यासभावो विज्ञेयः । पूर्वं संश्लेषणोत्स्यैव संसरण-

'स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्य'र्थन-
मेते प्राणा अभिसमायन्ति ॥स एतास्तेजोमात्राः

वह आत्मा जब दुर्बलता को प्राप्त हो मानो समूहता (विवेकाभाव) को प्राप्त होता है, तब ये वागादि प्राण सामने एवत्रित हो जाते हैं, वह इन प्राणों की तेजोमात्रा को सम्यक् प्रकार से लेकर

मित्यारभ्यते—

सोऽयमात्मा प्रस्तुतो यत्र 'यस्मिन्कालेऽबल्यम'बलभावं नि एत्य गत्वा । यद्-
देहस्य दौर्बल्यं तदात्मन एव दौर्बल्यमित्यु'पचयंतेऽबल्यं न्येत्येति । न ह्यसौ 'स्थतो'ऽमूर्तत्वा-

मुत्तरब्राह्मणमादत्ते—तत्संप्रमोक्षणमिति । एव ब्राह्मणमवतार्यं तदक्षराणि व्याकरोति—सोऽयमित्या-
दिना । गत्वा संमोहमिव न्येत्येत्युत्तरय सवन्धः । कथमात्मनो दौर्बल्यं तदाह—यद्देहस्येति । किमि-
त्युपचारी मुख्यमेवाऽऽत्मनो दौर्बल्यं किं न स्वादिरयाशङ्क्याऽऽह—न हीति । यथाऽयमबलभावं निग-
च्छति तथा समोह समूहतामिव प्रतिपद्यते । विवेकाभावो हि समोहः । 'तथा च समूहतामिव निग-

इसलिए आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है ।

वह यह प्रकरणस्य आत्मा "यत्र" अर्थात् भ्रमणसन्न होने पर "अबल्य" यानी जरा-रोगादि से दुर्बलता को 'न्येत्य' अर्थात् प्राप्त होकर । जो शरीर की दुर्बलता है, वही आत्मा का दौर्बल्य है । इस प्रकार तादात्म्याध्यास से उपचरित होता है—'आत्मा दुर्बलता को प्राप्त होकर' । अशरीर होने के कारण देह-तादात्म्य अध्यास के बिना स्वयं यह दुर्बलता को प्राप्त नहीं होता । उसी प्रकार "समोह-

१ एभ्योऽङ्गैर्म्य सप्रमुच्येत्यादिना वैराग्यार्थं सूचित सप्रमोक्षणं कस्मिन् काले कथं वेति जिज्ञासाया मविस्तर
सदस्यमित् शारीरकब्राह्मण इति नु कामयमान इत्यन्त प्रवर्तते । यद्वा—'तृतीयब्राह्मणे प्रोक्ता देहे स्वप्नादिसंभृति ।
देहान्तरे तु ससारो मुक्तिश्चापान् वर्ण्यते" ॥ वा सा ४ ४ १ ॥ इति स इत्यादिना । २ न्येत्यन्तेन
मुमुक्षोर्वाह्यामवस्थामुक्त्वाऽपान्तरी तामाह—अथैनमित्यादिना । ३ तदथाऽन सुममाहितमित्यादौ प्रकृत ।
४ भरणावसरे । ५ जरारोगादिभिर्दौर्बल्यं कारयम् । ६ तादात्म्याध्यासात् । ७ देहतादात्म्याध्यास
विना । ८ अशरीरत्वात् । ९ तथा वेति—विवेकैव रूपस्य तदभावत्वानर्हत्वात् । तस्य तदभाववत्त्वमभवा-
दिति धार्यं ।

स्यात्र विस्तरणं वर्णयितव्यात् । ब्राह्मणाच्च वातिकारणादा—'पुस ससरण पूर्व सूत्रित यत्समासत । विस्तर-
स्तस्य वक्तव्य इत्यर्थं वा परा श्रुति" ॥ ४ ॥ इति । समासव्याप्तौ च व्याख्ययव्याख्यानाग्या नात्यन्तमति-
रिच्यते । समानविषयत्वमेव वा सवन्धः ससरणस्यैवोभयत्र प्रतिपाद्यमानत्वात् । न च सङ्गतेः षोडाश्वेन नियत-
त्वात्कार्यमिदो संबन्धाविति रेजश्रीयम् । षोडाश्वेन नियतस्य हि सवन्धत्व ग्रन्थयो पीर्वापर्येनियामकत्वप्रयुक्तमेव
तन्नियामकत्वस्य आनयोऽप्यविविधित्वादिति ।

॥स एतास्तेजोमात्रा समभ्याददान इति । अत्र धातिकानि—'कथं तमभिसमाप्तीत्युक्ते श्रुत्याऽभिधीयते ।
आत्मानमभिसयान्ति वागादीनि यथा स्पृष्टम् ॥ स आरमा प्रकृतस्त्वेताश्चक्षु श्रोत्रादिलक्षणः । तेजोमात्रा यथा-
र्था समये मृतिकर्मण । उद्भूताभूतविभागो मृति प्रति यदा तथा । भ्रातृकानुविधायीनि जायन्ते करणान्यथ ॥

समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति 'स यत्रैष
चाक्षुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽय्यारूपज्ञो भवति ॥ १ ॥

हृदय मे ही अभिव्यक्त विज्ञान बाला होता है । जब यह चाक्षुष पुरुष सभी ओर से पृथक् हो जाता है, तब यह मरणासन्न पुरुष रूपादि ज्ञान से हीन हो जाता है ॥ १ ॥

दबलभाव गच्छति । तथा संमोहमिव संमूढता संमोहो विवेकाभावः 'संमूढतामिव न्येति निगच्छति । न चास्य स्वतः संमोहोऽसंमोहो वाऽस्ति 'नित्यचैतन्यज्योतिःस्वभावत्वात् । 'तेनेवशब्दः संमोहमिव न्येतीति । उत्क्रान्तिकात्ते हि 'करणोपसहारनिमित्तो व्याकुली-भाव आत्मन इति लक्ष्यते 'लौकिकैः । तथा च वक्तारो भवन्ति संमूढः संमूढोऽप्यमिति ।

च्छतीति युक्तमित्याह—तथेति । इवशब्दायंमाह—न चेति । कथं पुनरात्मनः 'समारोपितोऽपि संमोहः स्यान्नित्यचैतन्यज्योतिष्ट्वादिस्थाशङ्क्याऽऽह—उत्क्रान्तीति । व्याकुलीभावो लिङ्गस्येति शेषः । 'तत्र लौकिकीं 'वातामनुकूलपति—तथेति ।

मिव न्येति" यानी (मूच्छादि मे) संमूढता या विवेक शून्य सा हो जाता है । नित्य चैतन्य ज्योतिस्वरूप होने से इसमे स्वयं संमोह या असंमोह नहीं है । इसी से "संमोहमिव न्येति" इस वाक्य मे 'इव' शब्द का प्रयोग है क्योंकि प्राणोत्क्रमण के समय इन्द्रियो के उपसहार के कारण होने वाली व्याकुलता अविवेकियो को आत्मा के समान ही जान पड़ती है और इसीसे लोगों से सुनने को मित्रता है; "संमूढ." अर्थात् यह निश्चेष्ट हो गया है ।

१ स यत्रैष इत्यादि । यत्रैष चाक्षुष पुरुष पराङ्पर्यावर्तते । अथ—तदा । स—मुमुर्षुरूपज्ञो भवति रूप न जानातीत्यर्थ । २ मूच्छादादिविवेक्यर्थ । ३ नित्यचैतन्येति । तथा चोक्तं धार्तिके—'दोधमात्रं यथापा-स्याप्रायं समोहमायत । संमूढबुद्धिसाधित्वात्संमूढ इव भास्यत" ॥ ६ ॥ इति । ४ तेनेति—उक्तत्वा-भाष्यादात्मन स्वतः संमोहमोहयोरभावत्वं संमोहमिव न्येतीतीवशब्द प्रयुक्त इति योजना । ५ करण-न्यादि—करणेना स्वस्थानाऽदाढप हेतुं स्वयंभवेत्प्रजातिवितोष इत्यर्थ । ६ अविवेकिभि । ७ वरिप-तोऽपि । ८ आत्मन समारोपितममाहम् । ९ जनश्रुतिम् ।

स्वावृत्तानुविधामिरव यत्तदा वरणालमनाम् । अम्याददान इति तत्त्ववृत्त्व स्यादिहाऽऽत्मनः ॥ एतत्त्ववृत्त्वमापेक्ष्य ध्रुवैवमभिधीयत । अम्याददान इति तु तेजोमात्रा स्वदेगत ॥ मीयन्त विषया याभिर्मायास्तादृक्शुरादय । तेजोबिह्वलित्हेतुत्वात्तजामात्रादच वा स्मृता ॥ सत्त्वं तेजोऽन विज्ञेय तदेव वरणालमना । प्रविभक्त हि तच्छब्द-स्पर्शाद्यर्थावभासनात् ॥ पिताम्या वा भवेत्तेजस्तदशास्त्रशुरादय । इत्यथमायुर्वेदज्ञा वरणानि प्रवर्शते ॥ यदा पञ्चावतिष्ठन्त ज्ञानानि मनमा मह । इति प्रकाशरूपत्वं वरणानां श्रुतिर्जगौ ॥ भौतिकान्मु प्रवागोऽय भौतिकार्थ-प्रकाशनात् । प्रदीपवन्न भूतेभ्यो जात्यन्तरमतो भवत् ॥ स्पष्ट च वक्ष्यतःपयोर्ध्वमेनेभ्य इति हि श्रुति । अशाणि भौतिकान्येव नात शक्त्यं प्रात्मन ॥ निज्जात्मकाना भूतानां निर्देशोऽप्रविष्टमा सह । तत्राजगत्तु नाथ स्याद्यता दुःखालमनस्तत ॥ पिण्डतेशेऽपि नैवाभ्य नाथ, ससारिणी यत । अविद्यादीनि भूतानि तत्रोप्यन्य तथा ध्रुवम् ॥

अथधोभयत्रैवशब्दप्रयोगो योज्योऽबल्यमिव न्येत्य समोहमिव न्येतीति । 'उभयस्य परोपाधिनमित्तव्याविशेषात् । समानकर्तृकनिर्देशाच्च । अथास्मिन्काल एते प्राणा

यथाश्रुतमिवशब्द गृहीत्वा वाक्यं व्याख्याय पक्षान्तरमाह—अथवेति । इवशब्दप्रयोगस्यो-
भयत्र योजनामेवाभिनयति—प्रबल्यमिति । उभयत्र तद्योजने हेतुमाह—उभयस्येति । त्यप्रत्ययेना-
बल्यसमोहयोरेककर्तृकत्वनिर्देशादभ्युभयत्रैवकारो द्रष्टव्य इत्याह—समानेति । अथेत्यादि वाक्यमव-

अथवा इव' शब्द का प्रयोग दोनो जगह जोड लेना चाहिए । "दुर्बल सा हो जाता है, समूह सा हो जाता है" क्योंकि वाक्यं और समोह दोना का देह और बुद्धि प्रादि से उपाधिदृत्त होना समान है तथा दोनो का ही समान कर्ता उपपादित किया गया है । एव इस समय ये वागादि प्राण, इन्द्रियो के

१ वास्यसमोहरूपस्य । २ दहबुद्धिपाद्युपाधिरिति भाव । ३ प्रारब्धवर्मावमानानन्तयमयशब्दाय इत्यभि-
प्रेत्याह—अस्मिन्निति । अत्र यस्मिन्निति पाठोऽपि नायम्य ।

मात्रानसर्ग एवाव्य तथाचैव प्रकथ्यते । विज्ञानेनाथ विज्ञानमादापेत्यपि चावदत् ॥ अस्य लोकस्य चेत्युक्त शुभ-
मित्यादि चापरम् । सर्वेष्वेव प्रदेशेषु मूतमात्राग्रहं श्रुती । भूतेभ्यो नापर वस्तु मस्मादात्मन ईदृश्यते ॥ अतो
विवेको भूताना म परोऽतीव शुद्धित । तेजोमात्रादिवचसा म एवात्राभिधीयते ॥ इन्द्रियाणीन्द्रियार्थादिव न
विकार परात्मन । अतो न जायत इति तद्विकारनिषेधत ॥ जन्मादिविज्ञियापट्क सामान्य परमात्मन ।
अपूर्वावपराद्युक्तेनेति नेत्यादिवाक्यत ॥ न च वेदान्तसिद्धान्त परमात्मनितरेकत । इष्टं विकारवद्वस्तु यथा
कापिलशास्त्रे ॥ स्वत दूटस्यतत्त्वस्य तदस्योपतस्तत । जन्मादिविज्ञियापट्कसगत स्यात्परात्मन ॥
घातमकारणवाद्येभ्येव सत्युपपद्यते । न तु पिब्वस्तनि वेपजन्मनामादिकारणे ॥ तेजोऽती भौतिक सर्वमन्यत्र
परात्मन । स्वयज्योति प्रसङ्गेन तदुक्त प्रागपि श्रुती ॥ आदित्यादीनि तेजासि तयाऽप्यारमाधिभूतयो ।
भौतिकान्येव तानीति प्रत्यङ्ग तेभ्यो विलक्षण ॥ १६-४२ ॥ इति । स एता इत्याद्याकाङ्क्षापूर्वकमारत्ते—
कथमिति ॥ यथाऽऽत्मान करणानि सामस्यनाऽऽभिमुख्येन गच्छति तथा स्पृष्टमुच्यते वाक्यनेति तात्पर्यमुक्त्वा
तद्व्याचष्टे—स इति । अविद्वानात्मा ततद्देहात्करणान्यादाय श्रुतिकाले हृदि गच्छतीत्यर्थं ॥ समन्यादान
इत्यस्यार्थं वक्तु पातनिका करोति—उद्भूतेति । यथोक्तकृतस्य तदनुविधायित्वस्य च हेतुहेतुमत्वद्योतनार्थो-
ऽशब्द ॥ सप्रति शानचोऽयमाह—स्वाकूतेति । अविद्वानात्मा शुभपूर्वं स्वस्यार्थं । तदेति शुभपूर्वस्योच्यते ।
इहेति प्रकृतवाक्योक्ति ॥ करणानामात्माभिप्रायानुसारित्वमेव तस्य तदादानकर्तृतेति नस्मादुच्यते चैत्रादी
घनादिविषये प्रसिद्धमादानकर्तृत्वमत्रापि कि न स्यादित्यागङ्क्षाऽऽह—एतदिति । ध्यायतीवेत्यादिविरोधा-
त्करणान्तराभावाच्च तदादानकर्तृताऽऽत्मनोऽमुष्येत्यर्थं ॥ तेजोमात्रा इत्यस्यार्थमाह—मीयन्त इति । तेज एव
विकृति साभासत्याज्ञानस्य ता हेतुत्वं प्रवृत्तत्वात्तेजसो मात्रा करणानित्यर्थं ॥ मात्राशब्दार्थं समास चोक्त्वा
तेज शब्दार्थं साम्याभिप्रेतमाह—सत्वमिति । तत्र मास्यप्रसिद्धिद्योतको हिंशब्द । कथं मत्त्वगुणश्चक्षुरादि
करणरूपेण परिणत इति ज्ञायते तत्राऽह—सत्त्व्येति । सत्वमहकारावस्थित शब्दाद्यर्थावभासकत्वात्त्वरूपेण
परिणत सात्त्विक एकदसक प्रवर्तते वैकृतादहकारादित्युक्तेरित्यर्थं ॥ पूर्वपक्षान्तरमाह—पित्तस्य वेति ।
तत्र प्रमाणमाह—इत्येवमिति । उक्तं हि—'घनिरेव शरीरे पित्तान्तगत कुपिताडुपित्तानि शुभाशुभानि
करोतीति । अन्योऽप्याह—घामाधयाध्रय पित्त रञ्जकर सरञ्जनात् । बुद्धिमेषाभिमानादीरभिप्रेतार्थसाधनात् ॥
माथक हृद्गत पित्त रूपागोचनत् स्मृतम् । इत्थमलोचकं त्वस्य आजक आजनास्त्वच' ॥ इति ॥ सिद्धान्त-
पित्तु करणाना प्रकाशरूपत्व सप्रमाणमाह—यदेति ॥ तेषा प्रकाशरूपत्वेऽपि कथं ते सिद्धान्तसिद्धिरत धाह—

वागादय एनमात्मानमभिसमायन्ति तदाऽस्य शारीरस्याऽऽत्मनोऽङ्गैर्म्यः संप्रमोक्षणम् ।
कथं पुनः संप्रमोक्षणं केन वा प्रकारेणाऽऽत्मानमभिसमायन्तीति । उच्यते— स आत्मेतास्तेजो-

तार्यं व्याकुर्वन्कस्मिन्कासे 'तस्सप्रमोक्षणमित्यस्योत्तरमाह—अथेत्यादिना । कथं वेत्युक्त प्रश्नमनूद्य
प्रश्नान्तरं 'प्रस्तौति—कथमिति । 'अत्रोत्तरत्वेनोत्तरं वाक्यमावाय ध्याकरोति—उच्यत इत्यादिना ।

स्वामी आत्मा के पास आते हैं, तब (प्रारब्ध समाप्ति काल में) इस लिङ्गोपाधिक जीवात्मा का
अङ्गो से संबंधा मोक्ष हो जाता है । किन्तु वह मोक्ष किस प्रकार होता है अथवा किस प्रकार ये
आत्मा के सम्मुख आते हैं ? इसे श्रुति कहती है—वह अन्न जीव 'तेजोमात्रा.' अर्थात् तेज की मात्रा

१ एनम् करणस्वामिनमात्मानमुच्चिक्रमियुम् । २ अभिसमायन्तीति । अत्र वार्तिके—'अभिति चाऽभि-
मुख्येऽर्थे स तु सामस्त्य इष्यते । अथध्यर्थे तथाऽऽङ्गं यन्तीत्यस्य विशेषणम्" ॥ १७ ॥ इति । तथाचात्मावधिक
सामस्त्येन तेषामभिगमनमित्यर्थं । ३ प्रारब्धावसानावसरे । ४ लिङ्गोपाये । ५. प्रकृतोज्ञो जीव ।
६ तस्यात्मन तेभ्योऽङ्गैर्म्य इति वा । ७ उच्यते । ८ अत्र—प्रश्नद्वयविषये, उत्तरत्वेन—समा-
धानत्वेन ।

भौतिकस्त्विति । तेज शब्देन भूतपञ्चकमुच्यते तत्कार्यं करणजात भौतिकप्रकाशत्वादानोक्तवत् । तदाहुर्मंष्टु-
प्रपञ्चा—'प्रकाश पुनरप्य भौतिको न जात्यन्तरं भूतेभ्य इति । आयुर्वेदविदश्चाऽहुः—'एकंकाधिकयुक्तानि
खादीनामिन्द्रियाणि च' इति । 'खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहकारस्तथाऽऽत्मा । भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकारा
पोडशैव तु ॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च । समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति सज्जिता"
इति च ॥ करणाना भौतिकत्वे वाक्यशेषसवादमाह—स्पष्टं चेति । एतेभ्यो भूतेभ्य समुत्पायेत्यत्र भूतशब्देन
कार्यं करणान्युच्यन्ते तथा च शरीरवदिन्द्रियाण्यपि भूतकार्याण्येवति श्रुतिर्वक्ष्यति भाष्यकारादिभिर्भाष्यमयं
वक्ष्यते तस्माद्भौतिकत्वमिन्द्रियाणांमविवादमित्यर्थं । आयुर्वेदे श्रयन्तरे च यथा करणाना भौतिकत्वमुक्त तथा
वाक्यशेषेऽपीत्ययशब्दाद्यं । भौतिकत्वे तेषामात्मविकारत्वमपि स्वयूपस्थाभीष्ट प्रत्यादिष्टमित्याह—नात इति ॥
यथोक्ते वाक्ये करणाना भौतिकत्व न भाति तत्त्व तत्र वाक्यशेषस्य सवादितेत्यासङ्कधाऽह—लिङ्गैति ।
साविद्य सप्तदशकलिङ्गाकारपरिणत भूतपञ्चकमत्र भूतशब्दाद्यं । तथाच भूतेषु करणानामन्तर्भावत्वात्पर्यंतैव
परिमिष्यत इत्यर्थं । तत्र भूतशब्दस्योक्तार्थत्वे हेतुमाह—तत्राश्रमिति । तान्येवानुविनश्यतीति जीवस्यापि
भूतनाशेन नाशो यत श्रूयतेऽनो भूतशब्देनोक्तलिङ्गग्रह इत्यर्थं ॥ सूत्रसद्वेदुहाशेषेऽपि शारीरनाशात्तद्विषयमेव भूत-
पदमित्यादाङ्क्याऽह—पिच्छेति । तथाऽपि सूत्रसद्वेदुहाशेषे स्थितिसम्भवादित्यर्थं ॥ साविद्य लिङ्गशरीर वाक्यशेषे
भूतशब्दितमित्युक्त्वा करणाना भौतिकत्वे पूर्वोक्तवाक्यस्थमेव लिङ्गमुपयस्यति—मात्रेति । तेषां भौतिकत्वा-
नुसारेण प्रकृतवाक्य एव मात्राससर्गत्वस्य भवतीति वक्ष्यते ॥ तथाच भूतेभ्यो मात्राम्भ्यः समुत्पायाति पूर्वत्र
विबक्षित न च भूताना मात्रास्तेजोमात्राम्यो भिद्यन्ते तेन मात्राससर्गश्रुत्या भौतिकत्वमिन्द्रियाणामितिमिति
भावः । सर्वैव हेत्वन्तरमाह—विज्ञानेनेति । विज्ञानेन विज्ञानमादायान्तर्हं दये शत इति वदता विज्ञानमात्रत्वं
करणानामुक्तं न च तन्मात्रास्तेजोमात्राम्यो भिन्नास्तद्यथोक्तवाक्यादपीन्द्रियाणा भौतिकत्वमित्यर्थं । करणाना
भौतिकत्ववदभौतिकत्वे न श्रुतिरस्तीतिद्योतनार्थोऽयशब्द ॥ विज्ञानस्य लोकर्त्वं सर्ववतो मात्रामपादाय प्रस्व-
पितोतिब्राह्मणोक्तोऽर्थं शुद्धमादाय पुनरेति स्थानमित्यादिमन्त्रेणापि प्रवक्ष्यते तेनात्रापि स्वप्रकरणे करणाना
भौतिकत्व विबक्षितमित्याह—अस्येति । अथोदाहृतवाक्येषु करणानां भौतिकत्व न भातितत्राऽह—सर्वंष्विति ।
श्रुतिगतोक्तवाक्येषु भूतमात्राम्योऽतिरिक्तग्रहणं चि न स्यात्तत्राऽह—भूतेभ्य इति । आत्मनोऽतिरिक्तं यस्तु

मात्रास्तेजसो- 'मात्रास्तेजोमात्रास्तेजोऽवयवा रूपादिप्रकाशकत्वाच्चक्षुरादीनि करणा-
नीत्यर्थः । 'ता एता समभ्याददानः सम्यङ् निलेपेनाभ्याददान भ्रान्निमुख्येनाऽऽदानः संहर-
माणस्तत्स्वप्नापेक्षया विशेषणं समिति । न तु स्वप्ने निलेपेन सम्यगादानम् । अस्ति
त्वादानमात्रम् । गृहीता वा गृहीतं चक्षुरस्य' लोकस्य सर्वायतो मात्रामपादाय शुक्रमादा-
येत्यादिवाक्येभ्यः ।

रूपादिप्रकाशनशक्तिमत्स्वप्नप्रधानं भूतकार्यत्वात्तेजोमात्राश्चक्षुरादीनीत्युपतं संप्रति समभ्याददान इत्य-
स्यायंमाह—ता एत इति । संहरणो हृदयमन्त्रकामतीत्यन्वयः । तत्समिति विशेषणं स्वप्नापेक्ष-
येति संबन्धः । कथं स्वप्नापेक्षया विशेषणं तदाह—न द्विविति । आदानमात्रमपि स्वप्ने नास्तीति पुन-
स्तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—अस्तीति ।

यानी रूपादि की प्रकाशक होने के कारण चक्षु भादि इन्द्रियां ही तेज की अवयव हैं । इन तेजोमात्रा
इन्द्रियो का "समभ्याददान" अर्थात् सम्यक् या निलेप भाव स अभ्यादान, भ्रमिमुख होकर, आदान
या उपसहार कर (हृदय मे हो भ्रमिव्यक्त जानवान् हाता है) । "समभ्याददान" मे "सम्" यह विशेषण
स्वप्न की अपेक्षा से है क्योंकि स्वप्नावस्था मे निलेप भाव से आदान नहीं होता; केवल आदान
मात्र ही हाता है । जंसा कि श्रुतियां इसमे प्रमाण है "यहां वाक् उपसहृत ही जाती है, चक्षु
उपसहृत हो जाती है", "(जिस समय यह सोता है) उस समय सर्वावान लोक की मात्रा को

- १ भोयन्त विषया याभिरता मात्रा । २ व्याख्याता । ३ तेजोमात्रा । ४ वृ उ २ १ १७ । ५
उपसहृतम् । ६ वृ उ ४ ३ ६ । ७ शुक्र शुद्ध ज्योतिष्मदिन्द्रियादिमात्रारूपम् । ८ वृ उ ४ ३ ११ ।
९ भूतानि खादीनि ।

भूतभौतिकेभ्यो नापर इत्यत तस्माद्भूतात्मातिरिक्तविषयत्वे भौतिकविषयत्वस्याऽऽवश्यत्वाद्युक्तमत्र सर्वत्र
भूतमात्राग्रहणमित्यर्थः ॥ उक्तवाचयाना भूतमात्रावत्वात्तदनुसारेण प्रवृत्तवाच्यस्य तदग्रहणमुचितमिति पलित-
माह—अत इति । यो भूतानामुत्तमो विवेकापरपर्याय परिणामोऽन्यतोऽन्यत्र वादात् रूप कारणसमुदाय स एव
तेजोमात्रा समभ्याददान इति वाक्य तेजो मात्राशब्देनोच्यते इत्यर्थः ॥ केचित्तु सविषयाणां कारणानां न
भौतिकत्वमात्रमविकारत्वादित्याहुस्तान्प्रस्थाह—इन्द्रियाणीति । उक्त भूतमात्रे वाक्य आत्मन इति । तत्र हेतुमाह
—अत इति । अतोऽन्यदार्तं न जायते म्रियते वा विपश्चिदित्यादिनाऽऽत्मन सर्वविकारनिषेधात् तद्विवास्त्व-
मिन्द्रियादित्यर्थः ॥ तत्रैव हेतुन्तरमाह—जन्मादीति । साक्षादित्यविद्या विनेत्यर्थः ॥ तर्हि तदतिरिक्तमेव
विचित्ररमायता विकारि भविष्यति नेत्याह—न चेति ॥ परस्व नूटस्त्व विचारिणश्चात्यन्यानुपगमे निष्कारण
विश्व स्यादित्यादाङ्क्याऽऽह—स्वत इति । माया तु प्रवृत्तिमित्यादिभूतेराविद्य कारणत्व तस्यैव परस्याऽऽस्वे-
यमित्यर्थः ॥ आत्मनो यदि कारणत्व तर्हि वस्तुतोऽस्तु किं तदग्रेनत्यासाङ्क्याऽऽह—आत्मेति । एव सत्य-
विद्याकृते कारणत्वे स्वीकृतं सतीति यावत् । निरविद्ये ह्यात्मन्यङ्गीकृते नैवमपुर्वविद्युतेरित्याह—न त्विति ।
प्रज्ञानहीनस्य नूटस्वस्य कारणत्वानुपपत्तेरात्माज्ञानजन्यभूतकार्यत्वमिन्द्रियादेरित्युपसंहरति—तेज इति । ब्रह्मैव
तज एवेत्यत्र ध्यमिचारमासाङ्क्याऽऽह—अन्यत्रेति । किंच वरणादेभौतिकत्व ज्योतिर्ब्राह्मणादावपि साधित
मित्याह—स्वयमिति । उक्तमेव स्मारयति—आदित्यादीनीति । इति यत्तदुक्तमिति संबन्धः । सर्वस्य भौतिक-
त्वोक्तिप्रसमाह—प्रत्यह इति ॥

हृदयमेव । पुण्डरीकाकारमन्ववक्रामत्यन्वागच्छति हृदयेऽभिव्यक्तविज्ञानो भवतीत्यर्थः । बुद्ध्यादिविक्षेपोपसंहारे सति । न हि तस्य स्वतश्चलनं विक्षेपोपसंहारादिविक्रिया वा । घृणयतीव लेलायतीवेत्युक्तत्वात् । बुद्ध्याद्युपाधिद्वारं हि सर्वविक्रिया-

स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददान इत्येतद्ब्रह्माख्याय हृदयमेवेत्यादि व्याचष्टे—हृदयमित्यादिना । 'सविज्ञानो भवतीति' वाक्यशेषमाश्रित्य वाक्यार्थमाह—हृदय इति । कथमात्मनो निष्क्रियस्य तेजोमात्रादानकर्तृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—बुद्ध्यादीति । 'तेषा तद्विक्षेपस्य चोपसंहारे सत्यात्मनस्तदादानकर्तृत्वमो'पचारिकमित्यर्थः । 'तद्दि' 'तद्विक्षेपोपसंहर्तृत्वव' 'तदादानकर्तृत्वमपि मुख्यमेव भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । आदिशब्देन क्रियाविशेषः सर्वो गृह्यते । कथं "तद्दि प्रतीचि कर्तृत्वा-

लेकर(अपने प्रकाश से शयन करता है, इस अवस्था में यह पुरुष स्वयज्योतिस्वरूप है)", "बह बुद्ध-इन्द्रिय मात्रा रूप को लेकर (पुनः जागरित स्थान में जाता है)" ।

पुण्डरीकाकार हृदय मे ही, "अन्ववक्रामति" प्रथति अनुगमन करता है अर्थात् हृदय मे अभिव्यक्त भावी देहविषयक विज्ञान मे युक्त होता है । ऐसा बुद्ध्यादिविक्षेप के उपसंहार होने पर संभव है । आत्मा मे चलन, विक्षेप और उपसंहार आदि विकार अपने आप नही हुआ करते । जैसा कि "ध्यान करता हुआ मा, चेष्टा करता हूरा सा" इस प्रकार श्रुति कह चुकी है । उसमे भव विकारो का अध्यारोप तो बुद्धि आदि उपाधि के द्वारा ही होता है । किन्तु उसको तेजोमात्राओ का उपसंहार

१ विज्ञान भाविदेहविषयम् । २ आत्मन । ३ मुमुक्षुं पुनानुत्क्रान्तिकाले सविज्ञानो भाविदेहविषयवेण कार्मोद्भूतिसतमस्कारजनितेन ज्ञानेन सह वर्तमानं स्वप्ने इव भवतीत्यर्थः । ४ वृ उ ४ ४ २ । ५ बुद्ध्यादीनाम् । ६ तेजोमात्रादानकर्तृत्वम् । ७ अमुष्यम् । ८ तद्दि—आत्मनो बुद्ध्यादिविक्षेपोपसंहर्तृत्वेऽभ्युपगते सति । ९ बुद्ध्यादिविक्षेपेति यावत् । १० तेजोमात्रादानकर्तृत्वम् । ११ तद्दि—प्रतीच सर्वथा निष्क्रियत्वे ।

हृदयमेवेत्यादि कदा पुनरित्यत प्राक्तनभाष्ये वातिकानि । 'अभ्याददान एवायमन्ववक्रामतीश्वरः । न त्वाक्रम्य समादत्ते कथं तदिति भण्यते ॥ विक्षेपज्ञानाभोग्म्य निङ्गत्मानुविधानतः । ततस्तदवर्षेण विज्ञानात्मोपसंहृति ॥ तद्विधानो चापि मव्याप्तिरापादतलमस्तकम् ॥ न्वतस्तु व्यामितहाररहितत्वात्परात्मनः ॥ मंथवादिस्त्वान्ते पीयमाने यथोदके । पान मलवणस्यैः लिङ्गत्मानुविधायिता ॥ योग्यादानस्य कर्ताऽत्र लिङ्गयोऽभिति भन्यते । आत्रामद्बुद्धय लिङ्गमन्ववक्रामतीव म ॥ तथा हृदयमन्वेन तत्तथा धीरभिधीयते । एवेत्यवधृतित्रात्र स्वप्नप्राज्ञनिवृत्तये ॥ विक्षेपकार्यंवाहित्म्यं स्रोतोभ्य स्वप्नभूमिग । विक्षेपाननुमुष्याऽऽया यात्वा हृदयमाश्रयम् ॥ पुरीतत्प्रमुख देह इत्या मामाऽप्यपया । तन्नोद्गादिवद्विषयमेते प्राणात्मता गत ॥ इह त्वेवेति निशेषा लिङ्गस्यात्योपसंहृतिः । विक्षेपेभ्योऽविक्षेपेभ्यो युक्त प्रत्यवगर्पणम् ॥ भवदप्रैत्र एवेति मा भूत्वप्रादिवत्सिक्वति । सामान्य वा विक्षेपो वा न यतोऽत्रावगिन्यते । नाग्न्ये हृदय एव पिण्डीभाव व्रजत्यत ॥ ४४-५३ ॥ इति ॥ वरणाभ्यादानस्य हृदयात्रमणस्य च पोरिष्यंमासद्भूप ज्ञानचा विवक्षित योग्यवदमाह—अभ्यादान इति । ईश्वरत्व वरणस्वामित्व वस्तुतो वा परमात्मत्वम् । आत्मन स्वात्मोपसंहारं वरणदानं च युगपद्योपपद्यते स्थितिगतवद्विषययोपसंहारोपादि रागिणसि—वचमिति । सप्तदशवर्तिज्ञोपाधिचरणादात्मनो लिङ्गसंबोधविनासाववाऽऽत्मनः संबोधविक्रियासौ न स्वतोऽग्रा ध्यात्वारद्वयाभावात् अमप्राप्तिरित्याह—अभ्यत

ऽध्यारोप्यते तस्मिन् । कदा पुनस्तस्य तेजोभात्रान्यादानमिति । 'उच्यते--स 'यत्रंप चक्षुषि भवश्चाक्षुषः पुरुष 'आदित्यांशो भोक्तुः कर्मणा प्रयुक्तो यावद्देहधारण तावच्चक्षु-
पोऽनुग्रहं कुर्वन्वर्तते । मरणकाले त्वस्य, चक्षुरनुग्रह परित्यजति स्वमादित्यात्मानं
प्रतिपद्यते ।

'तेदेतदुक्तं 'यत्रास्य' पुरुषस्य 'मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्य-

विप्रयेत्याशाङ्क्याऽऽह—वृद्धघादीति । स यत्रेत्यादि वाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमवतार्य दृशाकरोति—कदा
पुनरित्यादिना । 'तस्य पुरुषशब्दाद्भोक्तृत्वे प्राप्ते विशिनष्टि—आदित्याना इति । 'तस्य चाक्षुषत्वं
साधयति—भोक्तृरित्यादिना । यावद्देहधारणमिति कुतो विशेषणं तत्राऽऽह—मरणकाले त्विति ।
आदित्याशस्य चक्षुरग्रहम् "कुर्वन्त. 'स्वातन्त्र्यं वारयति—स्वमिति ।
मरणावस्थायो चक्षुराद्यनुग्रहकथेयतांशानामप्येवतात्मनोपसंहारे ध्ययन्तर संवाहयति—

कब होता है ? इस प्रकार श्रुति कहती है—“स यत्रंप चाक्षुषः पुरुष ' अर्थात् जिम समय यह चाक्षुष
पुरुष (सब श्रोत से व्यावृत्त होता है) चक्षु मे रहने वाला चक्षु का अनुग्राहक आदित्याश है, जो भोक्ता के
कर्म से प्रेरित होकर जब तक देह की स्थिति रहती है, तब तक नेत्रों पर कृपा करता हुआ विद्यमान
रहता है । मरणकाल में भोक्ता के चक्षु पर अनुग्रह करना परित्याग कर देता है । वह अपने आदित्य

१ उच्यत इति—करणाऽऽदानप्रकारमुक्त्वा मुमूर्षोमृत्तिकाले शब्दाद्यज्ञानप्रकार 'उच्यत इति तत्त्वमित्याह ।
२ यस्मिन्काले । ३ चक्षुरनुग्रहक । ४ भोक्तु । ५ भवतरणोत्तोपसंहरणम् । ६ काले । ७
प्रमातुर्भोक्तु । ८ मरणोन्मुखस्य । ९ चाक्षुषस्य । १० आदित्याशस्य । ११ मरणकाले । १२
आदित्याशधीनत्वम् ।

इति ॥ तदेव वातिकाम्या प्रपञ्चयति—विशेषेत्यादिना । अस्य जीवस्य तदपवर्षेण लिङ्गस्य देहादवमर्षणेन
तद्व्याप्तौ देहे लिङ्गस्य व्याप्तौ सत्यामित्यर्थः ॥ लिङ्गसकोचविकासवेव तदुपाधेरान्तमस्तावित्यत्र हेतुमाह—
स्वतस्त्विति ॥ एतददृष्टान्तेन साधयति—मैन्धवादीति । उपहितस्य लिङ्गानुविधायित्वेऽपि करणादानहृदयप्रवेश-
कर्तृत्वतो भेदादव्यथ तस्य लिङ्गानुविधायित्वमित्यांङ्क्याऽऽह—स इति । य समदाकलिङ्गात्मन्हमभिमानी
सोऽस्मिन्वाक्ये करणादानस्य कर्ता स एव च बहुत्करणरूप लिङ्गमन्त करण प्रविशदनुप्रविशति तदुपाधित्वात्
च तस्य वस्तुत्वं प्रवेशो निर्व्यापारत्वादित्यस्य ॥ हृदयमेवत्यत्र हृदयगन्दापंमाह—तथेति । यथाऽन्यादानोऽवव-
क्रामतीत्युभयत्रापि कर्तोपहितो विवक्षितस्तद्वदित्यर्थः । एवकारकृत्यमाह—एतेतीति ॥ कथमननावधारण-
वाचिना स्वप्रस्थापयोर्ष्वविक्षिति रित्याशाङ्क्य तयो स्वरूप तावदाह—विशेषेत्यादिना । स्वप्रस्थो हि पुरुषो
रूपादियासनाश्रयनाडीविशेषवधाद्वासानाम्यान्विशेषेपागुभवति स च स्वप्रतिवर्तकमश्रये सत्यन्त करण प्राप्य
प्राणविक्षिताज्ञातज्ञाता गतस्तामनोहादी वल्लिरिव समस्त देह निविकल्पकचिदाभासेन व्याप्यावतिष्ठते तथाच
सामासाया बुद्धे शरीरे सामान्यव्याप्तिर्द्रव्यास्तुल्या वासनारूपण द्रष्टेत्यादिविशेषव्याप्तिं स्वप्न एवेत्यर्थः ॥ इयो-
र्द्वैतमुक्त्वा मृतावेवकार सर्वप्रकारव्याप्तिं निरस्यतीत्याह—इह त्विति । लिङ्गस्य विशेषोपसंहारे तदुपाधेरान्त-
मोऽपि तथा समवतीत्याह—विशेषेभ्य इति ॥ एवकारार्थं निगमयति—भवदन्न इति । स्वप्नमुपयोर्विव मरणेऽपि
स्थितिरात्मनो लिङ्गस्य च मा भूदिति मत्सामान्येन श्रुतिस्तरमादवेत्यवधूतवतीति यावत् । हृदयमित्यादरयमुप-
गहरति—सामान्य वेति ॥

‘एकी भवति न पश्यतीत्याहुरेकी भवति न जिघ्रती-

नेत्रेन्द्रिय लिङ्गात्मा से जब एक रूप हो जाता है, तब लोग कहते हैं, अब यह देखता नहीं ।

मित्यादि पुनर्देहग्रहणकाले संश्रयिष्यन्ति । तथा स्वप्स्यतः प्रबुध्यतश्च । तदेतदाह—
चाक्षुषः पुरुषो यत्र यस्मिन्काले पराङ्पर्यावर्तते परि समन्तात्पराङ्गावर्तत इति । यथा-
त्रास्मिन्कालेऽरूपज्ञो भवति मुमूर्षु रूपं न जानाति तदाऽयमात्मा चक्षुरादितेजोमात्राः
समभ्याददानो भवति स्वप्नकाल इव ॥१॥

एकी भवति करणजातं स्वेन लिङ्गात्मना । तदेतं पार्श्वस्था आहुतं पश्यतीति ।

तदेतदिति । ‘तर्हि देहान्तरे वागादिराहित्यं स्यादित्याशङ्क्याऽह—पुनरिति । संश्रयिष्यन्ति वागादयस्त-
त्तद्देवताधिष्ठिता “यथास्थानमिति शेषः । मुमूर्षोरिव स्वप्स्यतः सर्वाणि करणानि लिङ्गात्मनो-
पसंहियन्ते प्रबुध्यमानस्य चोत्पिरसोरिव तानि “यथास्थानं प्रादुर्भवन्तीत्याह—तथेति” । उक्तेऽर्थे
वाक्यं “पातयति—तदेतदाहेति । पराङ्गावर्तत इति “रूपवंमुख्यं चाक्षुषस्य विवक्षितमिति शेषः ॥१॥
‘तर्हि भोक्त्रोपसंहृतं चक्षुरत्यन्ताभावीभूतमित्याशङ्क्याऽह—एकीति । उक्तेऽर्थे लोकप्रसिद्धि

स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।

इसीसे यह कहा है “जिस समय इस मरणोन्मुख प्रजाता की वाक् इन्द्रिय अग्नि में, प्राण वायु
मे और नेत्र आदिस्य में लीन हो जाते हैं” इत्यादि । ये देह ग्रहण के समय उन-उन का आश्रय ले लेंगे ।
ऐसा ही साने और जागने वाले पुरुष के विषय में होता है । इसी बात को श्रुति कहती है—यह चाक्षुष
पुरुष जिस समय ‘पराङ्पर्यावर्तते’ अर्थात् विपरीत होकर सब ओर से लौट आता है । “अथ” उस
समय “अरूपज्ञो भवति” अर्थात् अरूपज्ञ हो जाता है । (जब चक्षु का देवताश अपने अशी देवता को
प्राप्त कर लेता है; तब चक्षु रूपप्राहकता में अक्षम हो जाती है) मुमूर्षु को रूप का ज्ञान नहीं रहता ।
उस समय स्वप्नकाल के समान यह आत्मा चक्षु आदि तेजोमात्राओं को सब ओर से उपसंहृत कर

१. मुमूर्षन्ति पुरुषे देवताकरणच्युतिरेवारूपज्ञत्वे हेतुरित्यत्र लोकप्रसिद्धिमनुकूलयति—एकी भवतीति । देवता-
च्युतिरनुप्राहवनिवृत्ति करणच्युति स्थानत्रय देवताये स्वाशिवेवतास्वरूपेण सहैकीभूते सति यदा चक्षुर्लिङ्गा-
त्मनकीभवति तदा मुमूर्षुः पार्श्वस्थात्र पश्यतीत्याहुरित्ययं इत्येके एवमग्रेऽपि । २ न पश्यतीति—अत्र
चक्षुराद्येकीभावे श्रुत्युक्तमस्तु न विवक्षित वस्यचिद्वाचोऽप्यादौ तिरोधदर्शनात् नापि योगपद्यमे करणनिरोधे
नियतमनुभवविरोधादित्यनियत क्रम इति ध्येयम् । ३ सोपपत्तिकः सत्त्वादमुक्तमर्थजात स्वमुभेन श्रुतिपह ।
४. विपरीत. मन् । ५ यदा देवताशस्य देवतैक्य भवति तदेति यावत् । ६ रूपं न जानातीति—देवता-
शाश्राधुषो यदा स्वाशिनं देवमापद्यते चधुरपि तदा करण स्वस्थानाद्भाववृत्ति लिङ्गमेवाऽऽगच्छतीति न तस्य
वायंशमतेति ध्येयम् । ७ वदा पुनरित्युपपन्नत्वं प्रश्नमुपमहरति—तदेति । ८ स्वादिना सह । ९.
तर्हि—मरणकाले तत्तद्देवताधिष्ठितवागादीनामुपसंहारे सति । १०. स्वस्वगोलवम् । ११. यथागोलवम् ।
१२. तथा च कुतो देहान्तरे वागादिराहित्यमिति शेषः । १३ योजयति । १४. रूपवंमुख्यमित्यादि । तथा
च वातिवम्—“निरनुग्रहतैवास्य पर्यावर्तनमुच्यते” ॥ ५८ ॥ इति । १५. मृतिवत्त्वे लिङ्गस्य निरोपो-
संहारे सति ।

त्याहुरेकी भवति न रसयत इत्याहुरेकी भवति न
वदतीत्याहुरेकी भवति न शृणोतीत्याहुरेकी भवति
'न मनुत इत्याहुरेकी भवति न स्पृशतीत्याहुरेकी भवति
न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्र प्रद्योतते

प्राणेन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं कि, यह सूंघता नहीं। जब रसनेन्द्रिय एक रूप हो जाती है, तब यह कहते हैं कि यह चखता नहीं। वागिन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं कि यह बोलता नहीं। श्रोत्रेन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब यह कहते हैं कि यह सुनता नहीं। जब मन एक रूप हो जाता है, तब कहते हैं कि यह मनन करता नहीं। जब त्वगिन्द्रिय एक रूप हो जाती है, तब

तथा प्राणदेवतानिवृत्तो प्राणमेकी भवति लिङ्गात्मना^१। तदा न जिघ्रतीत्याहुः। समान-
मन्यत्। जिह्वायां सोमो वरुणो वा देवता तन्निवृत्त्यपेक्षया न रमयत इत्याहुः। तथा न
वदति न शृणोति न मनुते न स्पृशति न विजानातीत्याहुः। तदोपलक्ष्यते देवतानिवृत्तिः
करणानां च हृदय एकीभावः। तत्र हृदय उपसंहृतेषु करणेषु योजन्तर्ग्यापारः स कथ्यते

दशोपति—तदेति। चक्षुषि दर्शितं न्यायं प्राणोऽनिदिशति—तथेति। यथा चक्षुर्वेवताया निवृत्तो
लिङ्गात्मना चक्षुरेकी भवति तथा प्राणदेवतास्य प्राणानुग्रहनिवृत्तिद्वारेणाग्निदेवतपेक्षे लिङ्गात्मना
प्राणमेकी भवतीत्यर्थः। तन्निवृत्त्यपेक्षया वरुणादिदेवताया जिह्वायामनुग्रहनिवृत्तो जिह्वाया लिङ्गा-
त्मनेव्यपेक्षयेत्यर्थः। तत्तदनुग्राहकदेवतास्य 'तत्र तत्रानुग्रहनिवृत्त्या तत्तदग्निदेवताप्राप्तौ तत्तत्कर-
णस्य लिङ्गात्मनेवयं भवतीत्यभिप्रायः—तथेति। मरणदशायां रूपादिदर्शनगहित्यमर्थद्वयसाध-
कमित्याह—तदेति। तस्य हैतस्येत्यादि वाक्यमुपादत्ते—तथेति। मुमुक्षुर्वित्या सप्तन्यर्थः। 'किनायं

लेता है ॥ १ ॥

जब इन्द्रियसमुदाय स्वामी सहित अपने लिङ्गात्मा से एकीभूत हो जाता है; तब समीप बैठे हुए लोग कहते हैं—“यह नहीं देखता”। इसी प्रकार जब प्राण देवता के निवृत्त हो जाने पर लिङ्गात्मा के साथ प्राणेन्द्रिय एकीभूत हो जाती है; तब “यह नहीं सूंघता” ऐसा कहते हैं। अथशिष्ट श्रुति का अर्थ इसी तरह समझ लेना चाहिये। जिह्वा में सोम अथवा वरुण देवता है; उनके निवृत्त हो जाने पर “यह नहीं बोलता”, “यह नहीं सुनता”, “यह मनन नहीं करता”, “यह स्पर्श नहीं करता”, “यह नहीं जानता” ऐसा कहते हैं। मरणकाल में इन्द्रियाभिमानों देवताओं की निवृत्ति और इन्द्रियों का हृदय में एकीभाव, ऐसा उपलक्षित होता है। उस समय हृदय में इन्द्रियों का उपसंहार हो जाने पर

१ न मनुते न विजानातीति—न च मनोबुद्धिदेवतोत्क्रान्तौ नास्ति लिङ्ग रूपाजानादिनिव चक्षुरादिदेवतो-
त्क्रान्तायिति शङ्क्यम्। मुमुक्षुर्हि कदाचिद्रूप पश्यन्नपि न विविनक्त्ययमसाधित्वेत्तस्यैव लिङ्गत्वादिति। २
यदा। ३ मरणकाले। ४ उपसंहृताग्नेष्वकरणस्यात्मनो निष्क्रमणसाधनीभूत। ५ तस्येत्यादिवाक्येन।
६ वागादौ। ७ वागादे। ८ करणानामुपसंहृतत्वात्वरुणमाणाङ्कत—नैनायमिति। प्रद्योतो भाविदेह-
विषय ज्ञानम्।

तेन प्रद्योतेनेष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो
वाऽन्धेभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनु-
त्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति
'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति । तं
विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वं प्रज्ञा च ॥ २ ॥

कहते हैं कि यह स्पर्श करता नहीं । जब बुद्धि लिङ्गात्मा से एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं, यह जानता नहीं । उस समय इस हृदय का बाहर जाने वाला मार्ग अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है । उसी से यह आत्मा नेत्र द्वारा शिर द्वारा या शरीर के किसी ग्रन्थि भाग द्वारा बाहर निकल जाता है । उसके निकलते ही उसके साथ प्राण भी निकल जाता है और प्राण के निकलने पर सभी इन्द्रियाँ निकल जाती हैं । उस समय यह जीव विशेष विज्ञान वाला हाता है और विज्ञानयुक्त प्रदेश को ही जाता है । उस समय इसके साथ साथ ज्ञान कम और पूर्वानुभवजन्य सस्कार जाता है ॥२॥

—'तस्य हैतस्य' प्रकृतस्य' हृदयस्य हृदयच्छिद्रस्येयेतत् । अत्र नाडीमुख निर्गमनद्वार
'प्रद्योतते स्वप्नकाल इव स्वेन भासा तेजोमात्रादानकृतेन स्वेनेव ज्योतिषाऽऽत्मनेव च ।
तेनाऽऽत्मज्योति प्रद्योतेन हृदयाप्रेरणं आत्मा विज्ञानमयो लिङ्गोपाधिनिर्गच्छति

प्रद्योतो भवतीत्यपेक्षायामाह—स्वप्नेति । यथा स्वप्नकाले स्वेन 'भासा स्वेन ज्योतिषा 'प्रस्वपितोति
व्याख्यात तथा"ऽप्रापि तेजोमात्राणा यदादान ।"तत्कृतेन वासनारूपेण "प्राप्यफलविषयबुद्धिवृत्ति
रूपेण स्वेन भासा स्वेन चाऽऽत्मना चैतन्यज्योतिषा हृदयाप्रद्योतनमित्यर्थं । "तस्यार्थं"क्रिया दर्शयति

(आत्मा का निष्क्रमण माधनीभूत) जो अन्तर्व्यापार है उसे कहा जाता है—'तस्य हैतस्य' अर्थात्
लिङ्गोपाधिक आत्मा मुमुर्षुसब धी "हृदयस्य अग्रम अर्थात् हृदयच्छिद्र का नाडीमुख यानी निर्गमनद्वार
'प्रद्योतते' अर्थात् (भावीदेहविषयक) ज्ञानवान् हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार स्वप्नास्वप्ना म आत्म-
ज्योति से स्थित रहता है इस समय भी तेजोमात्राप्रो के ग्रहण करने के कारण प्रात्मज्योति तथा

- १ सविज्ञान इत्यादि—मुमुषु सविज्ञान श्रुतकर्माद्भासितसस्कारजनित विज्ञान भाविदेहविषयनेण सह
वर्तमान स्वप्ने इव विगपविज्ञानो भवत्युत्पत्तिसमय अत एवाऽऽयनतरमपि सविज्ञानमव विगपविज्ञानो
द्भासितमव गतव्यमववक्रामत्यनुच्छतीत्यर्थः । २ लिङ्गोपाधिरस्य । ३ भासन । ४ मुमुर्षो ।
५ सविधन । ६ मरणकाले भाविदेहविषयज्ञानवद्भवति कमवात् । ७ द्वारभूतम् । ८ वृ ३ ५ ३ ६ ।
९ प्रस्वपितोति—स्वप्नप्रभुभवतात्पर्य । स्वप्नसाक्षिस्वनावतिष्ठत इति यावत् । व्याख्यातम् ज्यातिर्ब्राह्मण
४ ३ ६ इत्यत्र । १० मरणकालेऽपि । ११ मात्रादानस्य भाविदेहविषयवृत्तिप्रयोजकव स्वप्न प्रतीक । १२
प्राप्यफलविषयबुद्धिवृत्तिरूपेण—भाविदेहविषयधीवृत्त्यत्यर्थः । तथा च स्वप्नमरण बुद्धिर्नोपमहति नैव
वरणमिति भावः । १३ प्रद्योतस्य । १४ कायम् ।

निष्कामति । तथाऽऽयवर्षणे "कस्मिन्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रति-
च्छित्ते प्रतिष्ठास्यामीति' स प्राणमसृजत" इति ।

तत्र चाऽऽत्मचैतन्यज्योतिः सर्वदाऽमिष्यक्ततरम् । तदुपाधिद्वारा ह्यात्मनि जन्म-
मरणगमनागमनाविसर्वविक्रियालक्षणः संधवहारः । "तदात्मकं हि द्वादशविधं करणं
'बुद्धधावि तत्सूत्रं तज्जीवन सोऽन्तरात्मा जगतस्तस्युपश्च । तेन प्रद्योतेन हृदयाप्र-
प्रकाशेन निष्कममाणः केन मार्गेण निष्कामतीति । उच्यते—'चक्षुष्टो वा । आदित्यलोफ-
प्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं कर्म वा यदि स्यात् । भ्रूणो वा ब्रह्मलोकप्राप्तिनिमित्तं चेत् । अन्ये-

—तेनेति । किमिति "लिङ्गद्वाराऽऽत्मनो निर्गमन प्रतिज्ञायते तत्राऽऽह—'तथेति ।

यदि मरणकाले तेजोमात्रावान न तर्हि सदा लिङ्गोपाधिरात्मेत्याशङ्क्याऽह—तत्र चेति ।
सप्तम्या लिङ्गमुच्यते । सर्वेदेति लिङ्गसत्तादशोक्ति । आत्मोपाधिभूते लिङ्गे किं प्रमाणमित्याशङ्क्या-
ऽऽत्मनि फूटस्थे सधवहार"दर्शनमित्याह—तदुपाधीति । चक्षुरादिप्रतिद्विरपि "प्रमाणमित्याह—तदा-
त्मक हीति । एकादशविध करणमित्यनुपगमात्कुतो द्वादशविधम्बमित्याशङ्क्य विशिनष्टि—"बुद्धधा-
वीति । 'वायुर्वे गोतम तत्सूत्रम्' इत्यादिभूतिरपि यथोक्ते लिङ्गे प्रमाणमित्याह—तत्प्रमिति ।
"जगतो जीवनमपि तत्र "मानमित्याह—तज्जीवनमिति । "एव सर्वंभूतान्तरात्मा" इति श्रुतिरपि
यथोक्त लिङ्गं साधयतीत्याह—सोऽन्तरात्मेति । लिङ्गोपाधिरात्मनो यथोक्तप्रकाशेन मरणकाले हृद-
याक्षिप्कमणे मार्गं प्रदन्पूवकमुत्तरवाचयेनो(रो)पदिशति—तेनेत्यादिना । चक्षुष्टो वेति विकल्पे
निमित्त सूचयति—आदित्यति । भ्रूणो वेति विकल्पे हेतुमाह—ब्रह्मलोकेति । "तत्प्राप्तिनिमित्तं चेज्ज्ञान
कर्म वा स्यादिति पूर्वण सवन्ध । वेदावयव स्तरेभ्यो निष्कमणो नियामकमाह—यथेति । कय पर-

स्वय से प्रकाशित हो जाता है । उस आत्मज्योति प्रकाश से यह लिङ्गोपाधिक विज्ञानमय आत्मा हृदय
द्वार से "निगच्छति" अर्थात् निकल जाता है । जिस प्रकार प्रायवर्षण उपनिषत् मे कहा है-' मैं किस के
उत्त्रमण हो जाने पर उत्क्रा त हो जाऊँगा किसके प्रतिष्ठित हो जाने पर प्रतिष्ठा लाभ करूँगा, ऐमा
विचार कर उसने प्राण सृष्टि की ' इत्यादि ।

उस लिङ्गात्मा मे आत्मचैतन्यज्योति सर्वदा अधिकतर अभिव्यक्त होता है । उस लिङ्गरूप
उपाधि के द्वारा ही आत्मा मे जन्म मरण गमन आगमन आदि सर्व विचारात्मक व्यवहार होता है ।
बाह्य प्रकार की बुद्धधावि इन्द्रियाँ हैं वह लिङ्गात्मक है, वह सूत्रात्मा है, वह जीवन है तथा जङ्गम और
स्थावर का प्र तरात्मा है । उस प्रद्योतेन" यानी हृदयाप्र प्रकाश म निकलने वा ना आत्मा किस माग से

- १ विचार्य । २ लिङ्गात्मनि । ३ लिङ्गरूपोपाधिद्वारा । ४ लिङ्गात्मकम् । ५ तल्लिङ्ग समष्टि-
रूप सूत्रात्मत्वेन श्रूयते । ६ जङ्गमस्य । ७ स्थावरस्य । ८ चक्षुर्द्वारा । ९ ब्रह्मरुद्रद्वारा । १०
लिङ्गद्वारेत्यादि लिङ्गनियमनाधीनमात्मनियमन किमिति । स्वतन्त्रवेचारमनियमन किं न स्यादित्यागम्य । ११
उक्तश्रुतिवशादोपाधिक एवात्मनियमो न स्वतो निश्चि'यस्य निरवयवस्य विभो स्वय नियमावभवादिति भाव
इति शेष । १२ दर्शनायथाऽनुपपत्तिरिति यावत् । १३ प्रत्यभ्यात्मकम् । १४ तथा च ज्ञानेन्द्रियपञ्चक
धर्मेन्द्रियपञ्चक मनो बुद्धिश्चेति द्वादश । १५ स्थूलदेहस्य । १६ न हि लिङ्गं विना स्थूल जीवति ।
१७ लिङ्गदेह । १८ ब्रह्मलोकप्राप्तिनिमित्तम् ।

भ्यो वा शरीरदेशेभ्यः 'शरीरावयवेभ्यो यथाकर्म यथाश्रुतम् । तं' विज्ञानात्मानमुत्क्रामन्तं परलोकाय प्रस्थितं परलोकायोद्भूताकृतमित्यर्थः । प्राणः सर्वाधिकारिस्थानीयो राज इवाऽनूत्क्रामति । तं च प्राणमनूत्क्रान्तं वागादयः सर्वे प्राणा श्रुतक्रामन्ति ।

यथाप्रधानान्वाचिहृष्यासेयं न तु क्रमेण सार्थवद्गमनमिह विवक्षितम् । तदेव प्रात्मा सविज्ञानो भवति स्वप्न इव विशेषविज्ञानवान्भवति कर्मवशात् स्वतन्त्रः । स्वातन्त्र्येण हि सविज्ञानत्वे सर्वः कृतकृत्यः स्यात् नैव तु "तल्लभ्यते । "भ्रत एवाऽऽह

लोकाय "प्रस्थितमित्युच्यते प्राणगमनाधीनत्वाद्द्विज्ञानात्गमनत्पेयाशङ्क्याऽऽह—परलोकायेति ।

"ननु जीवस्य प्राणादितादात्म्ये सति कथमनुशब्देन क्रमो विवक्ष्यते तत्राऽऽह—यथाप्रधानेति । प्रधानमनतिक्रम्य हीमम"न्वाह्यानेच्छा । "तथा च जीवादेः "प्राधान्याभिप्रायेणानुशब्दप्रयोगो न क्रमाभिप्रायेण देशकालभेदाभावादित्यर्थः । सार्थे समूहे व्यक्तियु क्रमेण गमनं हृद्यते न तथा प्राणादिव्यतिष्ठति "ध्यतिरेकः । यदुक्तं हृदयाप्रप्रद्योतनं तत्सविज्ञानश्रुत्या प्रकटयति—तदेति । कर्मवशादिति विशेषणं साधयति—नेति । विपक्षे शेषमाह—स्वातन्त्र्येणेति । इष्टापत्तिमाशङ्क्याऽऽह—नैवेति । भूमूर्धो-

निकलता है । इम पर श्रुति कहती है—"चक्षुष्टो वा" अर्थात् चक्षुद्धार मे निकलता है । यदि उसका ज्ञान और कर्म आदित्यलोक की शक्ति मे हेतु होता है, यदि ब्रह्मलोक की प्राप्ति मे हेतु होता है तो ब्रह्मरूप द्वार से निकलता है । इसी प्रकार अपने कर्म और उपासना के अनुसार वह शरीर के ग्रन्थान्य देशो या अवयवो से निकल जाता है । उस विज्ञानात्मा के "उत्क्रामन्तम्" अर्थात् परलोक के लिये प्रस्थित अथवा परलोक के लिये प्रकटित अभिप्राय प्राला होने पर राजा के मन्त्री के समान प्राण उसके साथ-साथ उत्क्रान्त होने पर (परिवारस्थानीय) वागादि सारे प्राण उसके साथ-साथ उत्क्रमण करते हैं ।

यहाँ जनसमूह की तरह क्रम से जाना अभोष्ट नहीं है, बल्कि उनके प्रधान के अनुसार उसका कथन करना इष्ट है । उस समय यह आत्मा विज्ञानसहित होता है, स्वप्न के समान कर्मवश भावी देहविवयक विशेष ज्ञानवान् होता है, स्वतन्त्रता से नहीं होता । यदि स्वतन्त्ररूप से विज्ञानवान् हो

- १ श्रोत्रादिभ्य सकाशात् । २ राजस्थानीयम् । ३ प्रकटिताभिप्रायम् । ४ मन्त्रिस्थानीय । ५ अभिप्रायमनुसृत्य क्रामतीत्यर्थ । ६ परिवारस्थानीया । ७ आत्मादिषु । ८ विशेषविज्ञानवान्—भावित्देहविवयकज्ञानवान् । ९ कृतकृत्य स्यादिति—मरणसमये हि यस्य ज्ञान तदुत्तरत्र लभ्यते तत्र ज्ञाने स्वतन्त्रस्तु को नामापकृष्टं भावयेद्ब्रह्मैवात्मानं भावयित्वा मुक्त स्यादिति भाव । १० कृतकृत्यत्वम् । ११ तस्याऽस्वातन्त्र्यादेव । १२ प्रस्थितं विज्ञानात्मानमनु प्राण उत्क्रामतीति कथमुच्यत इत्यर्थ । १३ नवित्यादि । अत्र वार्तिकम्—"नन्वतमप्राणवभादेरन्योन्यव्यतिभिश्चणात् । देवकालाद्यतभेदात्कर्मणोत्क्रमण कथम्" ॥ ८८ ॥ इति । मिथस्तादात्म्यवता सहैव गमनं न्याय्यमिति भाव । १४ तत्तद्गमने प्राप्त्रात्यवकथनेच्छा । १५ तथा च—अन्वाह्यानेच्छया प्राधान्यानुरोधिस्त्वे चेत्यर्थ । १६ प्राधान्येति—जीवस्य प्राधान्यं प्राणस्य गुणत्व तस्य प्राधान्यं वागादीनां गुणत्वमित्यभिप्रायेणेत्यर्थ । १७ एन्स्मादेव देशादेकस्मिन्नेव काले सर्वेषां निर्गमादिति यावत् । १८ व्यतिरेकी दृष्टान्त ।

व्यासः "सदा तद्भावमावितः" इति । कर्मणा तद्भावममानेनान्तःकरणवृत्तिविशेषाश्रित-
वासनात्मकविशेषविज्ञानेन सर्वो लोक एतस्मिन्काले सविज्ञानो भवति । सविज्ञानमेव च
गन्तव्यमन्ववक्रामत्यनुगच्छति विशेषविज्ञानोद्भासितमेवेत्यर्थः । तस्मात्तत्काले स्वातन्त्र्यार्थ
योगधर्मानुसेवनं परिसंख्यानान्यासश्च विशिष्टपुण्योपचयश्च श्रद्धधानः परलोकार्थनिर-
प्रमत्तः कर्तव्य इति ।

सर्वशास्त्राणां यत्नतो विधेयोऽर्थो दुश्चरिताच्चोपरमणम् । न हि तत्काले शक्यते
किञ्चित्संपादयितुम् । कर्मणा नीयमानस्य स्वातन्त्र्याभावात् । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा
भवति पापः पापेनेत्युक्तम्' । 'एनस्य ह्यनर्थस्योपशमोपायविधानाय सर्वशास्त्रोपनिषदः

रस्वातन्त्र्ये मानमाह—प्रत एवेति । कर्मवशाद्भवत सविज्ञानत्वमुपसंहरति—कर्मणेति । अन्तःकरणस्य
वृत्तिविशेषो भाविवेदेहविषयस्तदाश्रितं तद्रूप यद्वासनात्मकं विशेषविज्ञानं तेनेति यावत् । चित्रमालस्य
सविज्ञानत्वे सत्यर्थसिद्धमयंमाह—सविज्ञानमेवेति । न तस्यस्य सविज्ञानत्व विज्ञानाश्रयत्वमित्याशङ्क्य
विशिनष्टि—विशेषेति । प्रागेवोक्तान्ते सविज्ञानत्ववादिश्रुतेस्तादर्थ्यमाह—तस्मादिति । पुरुषस्य 'कर्म-
नुसारित्व तच्छब्दार्थः' । योगश्रितवृत्तिनिरोधे । तस्य 'धर्मा यमनियमप्रभृतयः' । तेषामनुसेवनं पुनः
पुनरावर्तनम् । परिसंख्यानान्यासो योगानुष्ठानम् । कर्तव्य इति प्रकृतश्रुतेर्विधेयोऽर्थ इति शेषः ।

किञ्च पुण्योपचयकर्तव्यताहृषेऽर्थे सर्वमेव विधिकण्ड 'पर्यवसितमित्याह—सर्वशास्त्राणामिति ।
सर्वस्मादागामिदुश्चरिताच्चोपरमणं कर्तव्यमित्यस्मिन्नर्थे निषेधशास्त्रमपि पर्यवसितमित्याह—दुश्चरि-
ताच्चेति । ननु पूर्वं यथेष्टचेष्टा कृत्वा मरणकाले सर्वमेतत्संपादयिष्यते नेत्याह—न हीति । कर्मणा
नीयमानत्वे मानमाह—पुण्य इति । "तहि पुण्योपचयादेव यथोक्ता"नर्थनिवृत्तेर्धर्म्यं तत्त्वज्ञानमित्याश-
ङ्क्याऽह—एतस्येति । उपशमोपायस्तस्वज्ञानं तस्य विधानं प्रकाशनं तदर्थमिति यावत् । देवताध्या-

जाता, तो मरणकाल मे सभी कृतकृत्य हो जाते । किन्तु वह कृतकृत्यता तो सभी को प्राप्त नहीं है ।
इसी से भगवान् व्यास ने कहा है—'हृदय से सदा उस भाव मे भावित रहने से (वह प्राप्त होता है)'
इसलिये इस समय सब लोग कर्म द्वारा उद्भूत अन्तःकरण की वृत्तिविशेष के आश्रित वामनात्मक
विशेषविज्ञान से विज्ञानवान् होते है । इस प्रकार "सविज्ञानमेव" अर्थात् विशेषविज्ञान से उदभासित
होकर ही अपने गन्तव्य स्थान को "मन्ववक्रामति" अर्थात् अनुगमन करता है । इसलिये परलोक की
इच्छा वाले श्रद्धावान् मनुष्यों को मरण के समय स्वातन्त्र्यप्राप्ति के लिये सावधान होकर निरन्तर
योगधर्मों का सेवन योगानुष्ठान और विशिष्ट पुण्य की सचय करना चाहिये ।

सम्पूर्ण शास्त्रों के विधेय धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये तथा दुष्कर्म से उपरति धारण
करनी चाहिये । प्रागेत्क्रमण काल मे कुछ भी माघन निष्पन्न नहीं किया जा सकता क्योंकि कर्म
दाग ले जाये जाते हुए जीव मे उस समय स्वतन्त्रता का अभाव रहता है । 'पुण्य कर्म से देवादि एव

१ मृतिवन्ते । २ यत्नत कर्तव्यमिति शेषः । ३ देवादि । ४ स्यावरति । ५ वृत्त
३ २ ११ । ६ अपरौजस्य जननादे । ७ मृतिवाले कर्मानुसारित्वम् । ८ शङ्कानि । ९ अभिप्रेत ।
१० तात्पर्यवत् । ११ जीवस्य सर्वथा कर्मानुसारित्वे । १२ जननादि ।

प्रवृत्ताः । न हि तद्विहितोपायानुसेवनं मुक्त्वाऽऽत्यन्तिकोऽस्थानर्थस्योपशमोपायोऽस्ति ।
'तस्मादन्नं चोपनिषद्विहितोपाये यत्नपरं भवितव्यमित्येव प्रकरणाथः ।

शकटवत्संभृतसंभार उत्सर्जन्यातीत्युक्तं, किं पुनस्तस्य परलोकाय प्रवृत्तस्य
पर्यवदनं शाकटिकसंभारस्थानोयं गत्वा वा परलोकं यद्भुङ्क्ते शरीराद्यारम्भकं च यत्त-
त्किमिति । उच्यते—तं परलोकाय गच्छन्तमात्मानं विद्याकर्मणो विद्या च कर्म च विद्या-
कर्मणो विद्या सर्वप्रकारा विहिता प्रतिपिद्धा चाविहिताऽप्रतिपिद्धा च । तथा कर्म
विहितं प्रतिपिद्धं चाविहितमप्रतिपिद्धं च समन्वारभेते सम्यगन्वारभेते अन्वात्नभेते अनु-

नादनर्थो निवर्तित्येते किं तत्त्वज्ञानेनेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । तद्विहितेति तच्छब्देन प्रकृताः सर्व-
शाखोपनिषदो गृह्यन्ते । विद्याभूतरेखानर्थं ध्वंसासिद्धौ फलितमाह—तस्मादिति । ज्ञापितः सविज्ञान-
यावयेनेति शेषः ।

वृत्तमनूय प्रश्नपूर्वकभुत्तरवाक्यमवतरायं ध्याचष्टे—शकटवदित्यादिना । विहिता विद्या "ध्या-
नात्मिका । प्रतिपिद्धा नग्नस्त्रीदशनादिरूपा । अविहिता घटादिविषया । अप्रतिपिद्धा पथि पतितवृणा-
दिविषया । विहितं कर्म यागादि । प्रतिपिद्धं ब्रह्महत्यादि । अविहितं गमनादि । अप्रतिपिद्धं नेत्र-
पक्षमविक्षेपादि ।

पापकर्म से त्यागरादि धोनियो की प्रप्ति होती है ' ऐसा श्रुति कह चुकी है । प्रत्यक्ष जननादि रूप
अनर्थ की गान्ति का उपाय बतलाने के लिये ही सभी शाखाओं की उपनिषदें वृत्त हुई हैं । उन
उपनिषदों द्वारा विधान किये हुए उपायों का निरन्तर सेवन किये बिना इस अनर्थ की प्रात्यक्तिक निवृत्ति
का ग्रन्थ कोई उपाय नहीं है । इसलिए यहाँ पर ही उपनिषत् प्रतिपादित उपाय के अनुष्ठान में लगे
रहना चाहिये— यही इस प्रकरण का ग्रन्थ है ।

पिछले शाहण में यह कहा गया है कि गाड़ी के समान जिसने (विद्या, कर्म एवं पूर्वप्रज्ञारूप)
भार धारण किया है, वह जोब शब्द करता हुआ जाना है किन्तु गाड़ीवान् (पथिक) के पायेय के
समान परलोक के लिए प्रस्थित इस जीवात्मा के मार्ग की भोजनभोग्यी क्या है, जिसे परलोक में जाकर
खाता है तथा उसके शरीरछात्र का पारम्भक क्या है ? इसपर श्रुति कहती है—परलोक में जाते हुए उस
जीवात्मा के साथ 'विद्याकर्मणो' यानी विद्या और कर्म (साथ जाते हैं) । सब प्रकार की विहित
और प्रतिपिद्ध तथा अविहित और अप्रतिपिद्ध विद्या ही यहाँ प्रभिन्न है । इसी प्रकार विहित और
प्रतिपिद्ध तथा अविहित और अप्रतिपिद्ध कर्म ही कर्म हैं । य विद्या और कर्म 'समन्वारभेते' यर्थात्

१ उपाय ध्यायन्तिकवर्ग आत्यन्तिकोपशमजनकत्वादीपचारिकम् वेदितव्यम् । २ उपशमापाय इति—
उपशम अपाय इति वा द्वेद अपाय उपशमविवरणम् । ३ तस्मादिति—तत्त्वज्ञान विनोपायान्तरस्थानर्थ-
स्यात्यन्तिकनिवृत्त्यभावादिचर्यम् । ४ संभार—विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञारूप । ५ वृत्त उ ४ ३ ३१ । ६
धीयात्पत्नः । ७ प्रस्थितव्यम् । ८ विद्या तत्रप्रकारति—विद्याऽत्र व-बहेतुरत्र ज्ञानमात्रं ब्राह्म कर्मसाह-
१ यर्थात् तु सर्वप्रकारे मुक्तं वा ब्रह्मज्ञानमपीति स्पष्टं वाक्यम् । १० तत्त्वज्ञानं विना । १० उपायान्तराया ।

गच्छतः पूर्वप्रज्ञा च पूर्वानुभूतविषया प्रज्ञा पूर्वप्रज्ञाऽतीतकर्मफलानुभववासनेत्यर्थः ।
सा च वासनाऽपूर्वकर्मरम्भे कर्मविपाके चाङ्ग भवति । तेनासावप्यन्वारभते । न हि
तथा वासनया विना कर्म कर्तुं फलं शोपभोक्तुं शक्यते । न ह्यनभ्यस्ते विषये कौशलमि-
न्द्रियाणी भवति । पूर्वानुभववासनाप्रवृत्तानां त्विन्द्रियाणामिहाभ्यासमन्तरेण कौशलमुप-
पद्यते । दृश्यते च केषांचित्कामुचित्क्रियासु चित्रकर्मादिलक्षणसु विनवेहाभ्यासेन जन्मत

विद्याकर्मणोरुपभोगसा रनत्वप्रसिद्धे रन्वारम्भेऽपि किमित्यन्वारभते 'वासनेत्याशाङ्क्याऽऽह
—सा चेति । अपूर्वकर्मरम्भादावङ्गं पूर्ववासनेत्यत्र हेतुमाह—न हीति । उक्तमेव हेतुमुपपादयति—
न हीत्यादिना । इन्द्रियाणां विषयेषु कौशलमनुष्ठाने प्रयोजकं 'तच्च फलपभोगे हेतुः । न चान्तरेणा-
भ्यासमिन्द्रियाणां विषयेषु कौशलं संभवति । तस्मादनुष्ठानाद्यभ्यासाधीनमित्यर्थः । 'तथापि कर्म
पूर्ववासना कर्मानुष्ठानादावङ्गमित्याशाङ्क्याऽऽह—पूर्वानुभवेति । 'तत्र लोकानुभवं प्रमाणयति—दृश्यते
चेति । चित्रकर्मादीत्यादिशब्देन प्राप्तादिनिर्माणादि गृह्यते । पूर्ववासनोद्भवकृत कार्यमुपवत्त्वा तदभाव-

सम्पक् अन्वालम्भन या अनुगमन करते हैं । इसी प्रकार "पूर्वप्रज्ञा" यानी पूर्वानुभूतविषयिणी प्रज्ञा
अथवा पूर्वोत्पन्न विद्याकर्म अनुभव की वासना साथ जाती है ।

वह वासना ही अपूर्व कर्मरम्भ एव कर्मफल में प्रयोजिका हुआ करती है, अतः यह भी उसके
साथ जाती है । उस वासना के बिना न ही कर्म किया जा सकता है, न ही उसका फलोपभोग किया जा
सकता है । अनभ्यस्त विषय में इन्द्रियो को कुशलता नहीं होती । यहाँ पूर्वानुभव वासना से प्रवृत्त हुई
इन्द्रियो के बिना अभ्यास के कुशलता हीनी समव है । लोक में देखा जाता है किन्हीं का किन्हीं चित्र-
कर्मादिलक्षण क्रियाओं में बिना अभ्यास के जन्मजात कौशल होता है, और किन्हीं-किन्हीं अरन्धत

१ पूर्वोत्पन्नविद्याकर्मैत्यर्थं । २ कार्यकारणकोटधोर्द्वैराश्यमिद्वयर्थं समासतदकरणे । ३ फले । ४
प्रयोजकम् । ५ गच्छन्तमात्मानमनुगमनेऽपि । ६ फलोपभोगे तस्या अनुपयुक्तत्वादिति शङ्कितुरागम्य ।
७ अनुष्ठानम् । ८ अनुष्ठानादेरभ्यासाधीनत्वेऽपि । ९ इहाभ्यास विनापि कौशलानुपपत्तौ ।

सर्जनम् । यथेह न तथा विचिदुपादानं समीक्ष्यते ॥ अर्थं देवतात्यक्ते लिङ्गे देहादहिंगतं । लोवान्तरगतौ
हेतुलोककारम्भे च भण्यताम् ॥ आत्मन परलोक्याय यत्यादागमनकारणम् । भुङ्क्ते गत्वा च यत्न देहारम्भे च
वारणम् ॥ लिङ्गानस त्तो देहाद्देहमर्गं निगच्छन् । सभारं कोऽस्य यत्यर्था देहारम्भे च कथ्यताम् ॥ इतो
जिगमिषु विद्यावर्मेणी ये पुरार्जिते । त मन्वारभते ते या चाप्रत्यूषवासना ॥ विज्ञान मयापज्ञान निव्याज्ञान-
मयापि वा । प्रमाणतोऽप्रमाणान्ना सर्वं विद्येति भण्यते ॥ संसारकारणध्वमि यत्तु ज्ञान परात्मगम् । तदत्र न
परिग्राह्य सर्वोपत्त्वारणानुत् ॥ ससारवारण तस्मादात्माज्ञानाविरोधि यत् । अप्रतिपरमार्थार्थं ज्ञानमात्र
जिष्णुसितम् ॥ बाह्यमन कायसाध्य च सास्त्रतो यदि वाज्यत । एष्टाष्टार्थेष्वं यत्तच्च कर्मेति गृह्यते ॥
अन्वारभते गच्छन्त यथोक्ते ज्ञानकर्मणि । गच्छन्त पुरुष यस्मादन्वेते स्वस्वभावत । गच्छन्तोऽतोऽनुशाब्दोऽत्र
पद्मादर्थं प्रयुज्यते ॥ गमनादिविधौ पुन साधनत्व चिगच्छन् । कर्मण त्रियामाग्यस्य संस्कारो यो हृदि धित्त ।
तत्फलस्य च भुक्तस्य पूर्वप्रज्ञेति सोच्यते ॥ पूर्वोपचितसंस्कारहेतुस्य साऽभिजायते ॥ पण्मासोपप्रोद्भूता
वासना याऽस्य देहिना । मरिष्यतोऽन्यदेहार्थं पूर्वप्रज्ञेति तां विदुः ॥ समर्थां संव ते यस्मादुदोद्भू ज्ञानकर्मणी ।
नरत्प्रात प्रयान्तवत्पुयत्तस्या ग्रह इत ॥ समासेनैव निर्दिष्टे कारणत्वाविशेषत । अन्योन्यकारणत्वाच्च

एव कौशलं कामुचिदत्यन्तमौकार्ययुक्तास्वप्पकौशलं केपांचित् । तथा विषयोपभोगेषु स्वमा-
वत एव केपांचित्कौशलाकौशले दृश्येते । तच्च तत्सर्वं पूर्वप्रज्ञोद्भवानुद्भवनिमित्तम् । तेन
'पूर्वप्रज्ञया विना कर्मणि वा फलोपभोगे वा न कस्यचित्प्रवृत्तिरुपपद्यते । तस्मादेतत्त्रयं
शाकटिकसंभारस्यानोयं परलोकपथ्यदनं विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाख्यम् । यस्माद्विद्याकर्मणी पूर्व-

कृतं कार्यमाह—कामुचिदिति । रज्जुनिर्माणदिव्यति यावत् । 'तत्रैवोदाहरणसौलभ्यमाह—तथेति ।
'तत्र हेत्वन्तरमाशङ्क्य परिहरति- तच्चेति । कर्मनिष्ठानादौ पूर्वप्रज्ञाया हेतुत्वमुपसंहरति—तेनेति ।
समन्वारम्भवधनार्थं निगमयति—तस्मादिति । 'तस्यैव तात्पर्यायमाह—यस्मादिति ॥ २ ॥

सुगम श्रियाद्यो मे भी कुशलता नहीं होती । उसी प्रकार विषयोपभोग मे भी किन्ही-किन्ही की स्वा-
भाविक बुशलता या अकुशलता देखी जाती है । कौशल और अकौशलादि पूर्वप्रज्ञा से ही उत्पन्न या
अनुत्पन्न होते हैं । इसलिये पूर्वप्रज्ञा के विना कर्म या फलापभोग मे किसी की भी प्रवृत्ति होनी संभव
नहीं है । इसलिये गाडीवान् के मार्गव्यय सामग्री के समान ये विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा नामक तीन
परलोक के पाथेय हैं क्योंकि विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा—ये देहान्तर की प्राप्ति और उपभोग के

१ कौशलाकौशलादिना २ अवतरणोक्तेन । ३ तस्मादिति—परलोकनिर्माणे तद्भोगे च त्रयाणा कारण-
त्वात् । ४ कर्मनिष्ठानादौ पूर्वप्रज्ञाया कारणत्वे एव । ५ निरुक्तकौशलादौ । ६ समन्वारम्भ-
वचनस्यैव ।

यत्वेह ज्ञानकर्मणी ॥ पूर्वप्रज्ञात् उद्भूतिविद्याया कर्मणो यत । ताम्या च भावनोद्भूतिनिर्देशोऽज्ञो
ययौदित ॥ कर्मणो भुज्यमानस्य परिदोषो हि भावना । मूल च जायमानस्य प्रधान तेन भण्यते ॥ परिच्छेदनी
विनिर्मात्री विद्या लोकांतररस्य हि । विवर्तुं कर्म वदोत्री च पूर्वप्रज्ञेह पूर्वयो ॥ १०७-१२५ ॥ इति ।
सविज्ञान इत्यादि व्याख्याय त विद्येत्यादिवाक्यव्यावर्त्यमाह—मात्रेति । यथा स्वप्ननिर्माणे जाग्रदायाना-
कर्मण्यामिष्टं तथा लोकांतरनिर्माणकारणं न किञ्चिददृष्टनिर्त्ययं ॥ कार्यकरणत्वविद्ययापृष्टेवतावशाद्देहान्तर-
गतित्वात्परम्भवेत्प्राशङ्क्याऽऽह—अथेति । अथाहपञ्चो भवतीत्यादावुक्त्यायनाऽऽह—एवमिति ॥ अतमनस्तर्हि
विद्वेव कारणं देहान्तरगमनादि स्यादत आह—प्रात्मन इति । कथ्यतामित्युत्तरेण संबन्ध । कारणं विना
कार्यायोगादिति भावः ॥ लिङ्गमेव तर्हि केवलं गत्यादिहेतुरित्याशङ्क्य स्थूलदेहानुपेक्षस्य तस्या किञ्चित्करत्वा-
न्वैवमित्याह—लिङ्गंति । अन्यं लिङ्गानस इति संबन्ध । लिङ्गमेवानो यस्य सोऽयं लिङ्गानास्तस्येति यावत् ॥
परलोकनिर्माणे तद्गतौ भोगे च कारणं वक्तुं त विद्येत्यादिवाक्यमिति मन्वानस्तदावत्ते—इत इति । विद्या
व्याचष्टे—विज्ञानमिति । ज्ञानमात्रमत्र विद्येत्यर्थं ॥ ब्रह्मज्ञानमपि तर्हि विद्याशब्देनात्र ब्राह्ममित्याशङ्क्याऽऽह
—ससारेति । तस्याप्राप्तत्वे हेतु—सर्वेति । विद्येत्यम बन्धहेतुर्गृह्यते तद्वेत्तुर्कर्मदिशाहचर्यात् । ब्रह्मज्ञान
तु तद्वर्धसित्वान्नेह विद्याशब्दमहतीत्यर्थं ॥ तस्याप्राप्तेह फलितमाह—सत्कारणमिति । तदविरोधित्वे
हेतुमाह—अप्राप्तेति ॥ कर्मसद्भावात्माह—वागिति । व्यापारमात्रमत्र कर्मत्वार्थं ॥ उक्तविद्याकर्मनुवाचपूर्वकं
त समन्वारभेते इतिभाषमादत्ते—अन्वारभेते इति । तात्पर्यायमाह—गच्छन्तमिति । स्वस्वभावतो ज्ञानकर्मणो-
राश्रयपारतन्त्र्यस्वाभाव्यादित्यर्थं ॥ यत्तु सभार कोऽस्येत्यादि तत्राऽऽह—अगगादीति । आचिषेव देहेन
देहान्तरारम्भो गृह्यते ॥ पूर्वप्रज्ञा व्याचष्टे—कर्मण इति ॥ अन्तं करणाश्रिता कर्मतत्कलसंस्कारसंज्ञिता
पूर्वप्रज्ञा तदभिव्यक्तिकारणमाह—पूर्वेति । उपरतकर्मपूर्वाख्यहेतुम्या मृत्तिकाले पूर्वोक्ता पूर्वप्रज्ञा कार्याभिमुख्ये-

प्रजा च देहान्तरप्रतिपत्युपभोगसाधनं तस्माद्विद्याकर्मादि शुभमेव समाचरे'द्यद्येष्टदेहसंभोगोपभोगो स्यातामिति प्रकरणाथः ॥ २ ॥

एवं विद्यादिसंभारसंभूतो देहान्तर प्रतिपद्यमानो मुपस्था पूर्व देहं पक्षीव वृक्षा-
न्तरं प्रतिपद्यते । अथ वाऽऽतिवाहिकेन शरीरान्तरेण कर्मफलजन्मदेशं नीयते । किंचात्र-
स्यस्यैव'संबंगतानां करणानां 'वृत्तिलाभो भयत्पाहोस्वि'च्छरीरस्यस्य संकुचितानि कर-
णानि मृतस्य भिन्नघटप्रदोपप्रकाशवत्सवंतो ध्याप्य पुनर्देहान्तरारम्भे संकोचमुपगच्छन्ति ।
किंच मनोमात्रं वैशेषिकसमय इव देहान्तरारम्भदेशं प्रति गच्छति किंवा कल्पनान्तरमेव

तृणजलायुकावाशयमवतारयितुं वृत्तमनूद्य वादिविद्यादान्दर्शयन्नादौ दिग्भ्रमरमतमाह—एव-
मित्यादिना । देवतावादिमतमाह—अथ वेति । देवता येन शरीरेण विशिष्ट जीव परलोकं नयति
तदातिवाहिकं शरीरान्तरं तेनेति यावत् । साह्यादिमतमाह—विचेति । सिद्धान्तं सूचयति—
ग्राहोस्विदिति । वैशेषिकादिवक्षमाह—विचेति । न्यूनत्वनिवृत्त्यर्थमाह—किंवा कल्पनान्तरमिति ।

साधन है । इसलिये ऐसी शुभ विद्या और कर्मादि का अनुष्ठान करे, जिससे कि इष्ट देह के संभोग और
उपभोग प्राप्त हो—यही हम प्रकरण का तात्पर्य है ॥ २ ॥

इस प्रकार विद्यादि के भार से आत्मान देहान्तर को प्राप्त करने वाला जीव पूर्वदेह को छोड़
कर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को जाने वाले पक्षी की तरह देहान्तर की प्राप्ति करता है । अथवा आतिवाहिक
शरीरान्तर से (जिस शरीर से देवता विशिष्ट जीव को परलोक ले जाता है) कर्मफल के उत्पत्तिस्थान
देश को ले जाया जाता है । (इस पर शङ्का होती है—) क्या उसे यहाँ अपनी महिमा में प्रतिष्ठित हुए
ही सर्वव्यापी इन्द्रियों की स्वरूपाभिर्मूर्ति हो जाती है अथवा शरीरस्य जीवित आत्मा की समुचित
इन्द्रियाँ, फूटे हुए घड़े के प्रकाश के समान मृतक में सर्वत्र व्याप्त होकर पुन देहान्तर की सृष्टि होने पर
संकोच को प्राप्त हो जाती है अथवा वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार मन ही देहान्तर के आरम्भक देह में
जाता है, अथवा वेदान्त सिद्धान्त की यह कल्पान्तर ही है । (सिद्धान्ती समाधान देता है—) इस पर

१ येनेत्यर्थको यथावत् । २ आत्मान् । ३ स्वमहिमप्रतिष्ठयैव । ४ वृत्तिनाम स्वरूपताभोर्भि-
व्यक्तिरिति यावत् । ५ जीवत एवात्मन ।

नाऽऽभिर्भवन्तीत्यर्थं ॥ पूर्वप्रज्ञानन्तरस्यार्थान्तरमाह—पश्मासति ॥ तस्या विद्यावमम्या पृथक्वचन को हेतुस्त-
थाऽऽह—समर्थेति । न हि मृतस्य विद्याकर्मणो स्वरूपेण स्यस्तुमहत् वररक्षभेदाभावात्ततो चात्तनात्मनैव स्थिते-
स्तयोस्तत्राधान्यात्तस्या युक्ता पृथगुक्तिरित्यर्थं ॥ तद्दि पूर्वप्रज्ञावदसमायकरण विद्यारकमंखोरपि स्पान्तेत्याह—
समासेनेति । ज्ञानकर्मणा हि पूर्वप्रज्ञाया कारणत्वाविशेषात्तत्करण श्रुत्या ममातेनैवोक्तेन एकस्मिन्वायं कारण-
त्वेनैकहृत्पात्तस्य युक्तत्वादित्यथ । किंच प्रज्ञाया विद्याकर्मणोश्चान्योन्य कार्याकारणभावात्कार्याकारणत्वोद्योयुक्त
द्वैरास्यमित्याह—अन्योन्येति । इह ज्ञानवर्णपूर्वप्रज्ञास्यार्थेषु मिथोहेतुपनभावाज्ज्ञानकर्मणो श्रुत्या पृथक्वृते
पूर्वप्रज्ञा च ताभ्या पृथक्वृतेति योजना । तदेव स्फुटयते—पूर्वेति ॥ तस्यास्तयोश्च मिथो हेतुहेतुमत्त्वे त्रयाणा-
मविशेषात्त्वथ पूर्वप्रज्ञाप्रधान्यामित्याशङ्काऽह—कर्मण इति । परिशेषो नाम फलवाचना । हिगवशापेक्षित
फलसमाह—प्रधानमिति । अथाणा कायविशेषोक्तिपूर्वकं वाक्यार्थमुपसहरति—परिच्छेद्वीति । परिच्छेद्वत्त्वं
विद्याया विकर्तृत्वं च कर्मणो लोचसिद्धिमिति हिगवन्दाय । समगो निर्धारणे ॥

वेदान्तसमय इति । 'उच्यते—“त एते सर्वे एव समा सर्वेऽनन्ताः” इति श्रुतेः सर्वात्म-
कानि तावत्करणानि । 'सर्वात्मकप्राणसंश्रयाच्च । तेषामाध्यात्मिकाधिभौतिकपरिच्छेदः
प्राणिकर्मज्ञानभावनानिमित्तः । 'अतस्तद्वशात्स्वभावतः सर्वगतानामनन्तानामपि प्राणानां
कर्मज्ञानवासनानुरूपेणैव देहान्तरारम्भवशात्प्राणानां 'वृत्तिः संकुचति विकसति च । तथा
चोक्तम् “समः 'प्लुपिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिलोकैः समोऽनेन सर्वेण”
“इति । तथा चेदं वचनमनुकूलम्—“स यो हंताननन्तानुपास्ते” इत्यादि “तं यथा यथो-

तत्र सिद्धान्तस्य प्रामाणिकत्वेनोपादेयत्व वदन्कल्पनान्तराणामप्रामाणिकत्वेन त्याज्यत्वमभिप्रेत्याऽऽह
—उच्यत इति । “तेषा सर्वात्मकत्वे हेत्वन्तरमाह—सर्वात्मकेति । कथं तर्हि करणानां परिच्छिन्नत्व-
घोरित्याशङ्क्याऽऽह—तेषामिति । आधिदैविकेन रूपेणापरिच्छिन्नानामपि करणानामाध्यात्मिकादि-
रूपेण परिच्छिन्नतेति स्थिते फलितमाह—अत इति । तद्वशाद्बुदाहृतश्रुतियशावित्येतत् । स्वभावतो
देवतास्वरूपा “नुसारोति यावत् । कर्मज्ञानवासनानुरूपेणैत्यत्र भोक्तुरिति शेषः । “उभयत्र संबन्धार्थं
प्राणानामिति द्विरुक्तम् । तेषां वृत्तिसंकोचौ प्रमाणमाह—तथा चेति । परिच्छिन्नपरिच्छिन्नप्राणो-
पासने गुणशेषकोर्तनमपि प्राणसंकोचविकासयोः सूचकमित्याह—तथा चेदमिति ।

कहा जाता है । “वे जो पहले अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव मे कहे गये हैं, वे ये वाक्, मन और
प्राण सभी तुल्य हैं और कार्यकरणत्मक ससार को व्याप्त करके स्थित होने से अनन्त हैं” इस श्रुति
से सर्वात्मक प्राण वे आश्रय मे रहने से इन्द्रियां भी सर्वात्मक हैं । उनका आध्यात्मिक और आधि-
भौतिक रूप विभाग तो प्राणियों के कर्म, ज्ञान और भावना के कारण है । इसलिये उनके बरीभूत होने से
नि सर्गत सर्वगत और अनन्त होने पर भी प्राणों के कर्म, ज्ञान और वासना के अनुरूप ही दूसरी देह के
आरम्भवशात् प्राणों के स्वरूप का संकोच या विकास होता है । श्रुति में कहा भी है—“यह प्राण चीटों
के शरीर के समान है, मच्छर के शरीर के समान है, हाथी के शरीर के समान है, त्रैलोक्यात्मक
विराट शरीर के समान है, इस समस्त जगद्रूप हिरण्यगर्भ से चीटी आदि शरीरों मे सर्वव्यवावच्छेद
रूप से व्याप्त है” । इसीसे ये श्रुतिवाक्य भी इसी का समर्थन करते हैं—“वह जो कोई भी प्रजापति के
आत्मभूत इन परिच्छिन्न अनन्तवान् प्राणों की अध्यात्म या अधिभूत रूप से उपासना करता है (वह
उस उपासना के फलस्वरूप अन्तपरिणामी लोको पर विजय प्राप्त कर लेता है” एव “उसकी जो

- १ उच्यत इत्यादि—सर्वगतत्वपक्षमाश्रित्य श्रुतिप्रवृत्तस्तद्विरुद्धानि पक्षान्तराणि त्याज्यानीति भाव । २
त एत इत्यादि—वागादय आधिदैविकरूपेणशेषजगद्रूपसिन्धो यावत्ससारभावविशेषेत्यर्थ । ३ वृ उ
१ ५ १३ । ४ सर्वात्मकेति—प्राणसवादे हि ज्यायस्त्वपरीक्षाया पराभूतं करणं प्राणाश्रयत्व प्राणात्म
वत्वमात्मनोऽङ्गीकृतमिति । ५ अत—आधिदैविकरूपेणापरिच्छिन्नानामपि तेषामाध्यात्मिकादिरूपेण परि-
च्छेदस्यापि सभवादित्यर्थ । ६ स्वरूपम् । ७ वृ उ १ ३ २२ । ८ प्लुपिणा—प्लुपिशरीरेण ।
एवमग्रेऽपि । त्रिभिलोकै—त्रैलोक्यात्मकविराटशरीरेण । सर्वेण—हिरण्यगर्भजगद्रूपेण सम प्राण । ९
वृ उ १ ३ २२ । १० इतीति—उक्तश्रुतिवाक्यात्प्राणाना सर्वप्राणिषु ज्ञानकर्मानुदोवेन स्थितिवृत्तिपरिच्छेद-
संकोचविकासा निश्चिता इत्यर्थ । ११ वृ उ १ ५ १३ । १२ करणानाम् । १३ आधिदैविकस्वरूपेण ।
१४ वृत्तिपरिच्छेदयो ।

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममा-
क्रम्याऽऽत्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं
निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मान-
मुपसंहरति ॥ ३ ॥

जैसे घास पर चलने वाले तृणजलोका नामक कीड़ा एक तृण के अन्तिम भाग पर पहुँच कर दूसरे तृण रूप आश्रय को पकड़कर अपने शरीर को मिचोड लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा इस वर्तमान देह को मारकर अचेतनावस्था को प्राप्त कराकर दूसरे शरीर रूप प्राथय का आधार ले अपना उपसंहार कर लेता है अर्थात् उसी देह में आत्मभाव करने लगता है। यही देहान्तर के आरम्भ की विधि है ॥३॥

पासते" इति च ।

तत्र वासना पूर्वप्रज्ञाख्या विद्याकर्म'तन्त्रा जलूपाद्य'तसततं च स्यप्नकाल द्वच 'कर्म-
कृत देहान्तरमुपस्पृशति हृदयस्थैव पुनर्देहान्तर' पूर्वाश्रयं विमुञ्चतीत्येतस्मिन्नर्थे दृष्टान्त
उपादीयते—

तत्तत्र देहान्तरसंचार इव निदर्शनम् । यथा येन प्रकारेण तृणजलायुका तृणस्यान्त-
मवसान गत्वा प्राप्यान्य तृणान्तरमाक्रममाक्रम्यत इत्याक्रमस्तमाक्रममाक्रम्याऽऽश्रत्या-

धाषिदं विकेन रूपेण सवंगतानामपि करणानामाध्यात्मिकाधिभौतिकरूपेण परिच्छिन्नत्वात्-
'स्परिषुतम्य मनन विध्यतीति सिद्धान्तो दर्शित । इदानीं तृणजलायुकादृष्टान्ताद्देहांतर गृहीत्या
पूर्वदेह मुञ्चत्यात्मेति 'स्यूतदेहविशिष्टस्यैव परलोकगमनमिति पौराणिकप्रक्रिया प्रत्याख्यातुं दृष्टान्त-
वाच्यस्य नातर्यमाह—तत्रत्यादिना । देहनिर्गमनात्प्रागवस्था सप्तम्यर्थं । 'तदेव 'यथोक्ता वासना
हृदयस्था विद्याकर्मनिमित्त भाविदेह 'स्पृशति जीवोऽपि तत्राभिमान करोति 'पुनश्च पूर्वदेह त्यजति
यथा स्वप्ने देवोऽहमित्यभिमान्यमानो 'देहान्तरस्य एव भवति तथोक्तान्तावपि" "तस्मात् पूर्वदेह-

जिम प्रकार उपासना करना है ' इत्यादि ।

वहाँ विद्या कर्मज वा पूर्वप्रज्ञा नामक वासना जोर के समान विस्तृत रहते हुए ही हृदयस्थ
है स्वप्न क सपान विद्या-कर्मप्रयुक्त देहान्तर का उपस्पृश करती है, फिर पूर्वाश्रित देहान्तर का परित्याग
कर देती है—इस संबन्ध में दृष्टान्त का उपादान किया जाता है ।

तत' शब्द वहाँ देहान्तर संचरण में निर्देश करने के लिए है । 'यथा' यानी जिम प्रकार
'तृणजलायुका' अर्थात् तृण की जोव तृण के "अन्त' यानी किनारे "गत्वा' अर्थात् पहुँचकर "अन्यम्'
अर्थात् दूसरे तृणरूपी 'प्राक्रमम्' जहाँ प्राथिन हुआ जाय, वह प्राथम है उस प्राथम का 'आक्रम्य'

१ ज्याय । २ विस्तृतैव । ३ कर्मकृतम्—विद्याकर्मप्रयुक्तम् । ४ वेष्टितस्य जीवस्य । ५ स्यूतेति
—पूर्वदेहाभिमानविशिष्टस्यैवेत्येव इत्याहु । ६ देहनिर्गमात्प्राक् । ७ विद्याकर्मोत्पन्नफलमोगजनितसत्कार-
रूपा पूर्वप्रज्ञाख्या । ८ मोक्षरयति । ९ अभिमानांतरम् । १० देहान्तरस्य सुप्तदेहादयो देवादि-
देहस्तस्य देवादिदेहश्च स्वप्निवो वाच्य । ११ देहान्तरस्य । १२ उत्क्रान्तिनाले देहान्तरस्पृशत्वात् ।

ऽऽत्मानमात्मनः 'पूर्वावयवमु'पसंहरत्यन्त्यावयवस्थाने । एवमेवायमात्मा यः प्रकृतः संसारीदं शरीरं पूर्वोपात्तं 'निहत्य स्वप्नं प्रतिपित्सुरिव 'पातयित्वा'ऽविद्यां गमयित्वाऽचेतनं कृत्वा स्वात्मोपसंहारेणान्यमाक्रमं तृणान्तरमिव तृणजलूका 'शरीरान्तरं गृहीत्वा प्रसारितया वासनयाऽऽत्मानमुपसंहरति । तत्रा'ऽऽत्ममावमारमते' यथा स्वप्ने देहान्तरमारमते 'स्वप्न-देहान्तरस्य इव शरीरारम्भदेश आरम्भमाणो देहे जङ्गमे स्थावरे वा ।

तत्र च कर्मवशात्करणानि 'लब्धवृत्तीनि 'संहन्यन्ते । बाह्यं च 'कुशमृत्तिका'स्थानीयं शरीरमारम्यते । तत्र च 'करणव्यूहम्'पेक्ष्य वागाद्यनुग्रहायान्यादिदेवताः सश्रयन्ते" । एव "देहान्तरारम्भविधिः ।

तत्र देहान्तरारम्भे नित्योपात्तमेवोपादानमु'पमृद्योपमृद्य देहान्तरमा'रमत् आहोस्वि-

विशिष्टस्यैव परलोकगमनमित्यर्थः । स्वात्मोपसंहारो देहे पूर्वस्मिन्नात्माभिमानत्यागः । प्रसारितया वासनया शरीरान्तरं गृहीत्वेति संबन्धः । उपसंहारस्य स्वरूपमाह—तत्रेति । सप्तम्यर्थं विबुधोति—मारभ्यमाण इति ।

आरब्धे देहान्तरे सूक्ष्मदेहस्याभिव्यक्तिमाह—तत्र चेति । कर्मग्रहणं, विद्यापूर्वप्रज्ञयोरेव-लक्षणम् । ननु लिङ्गदेहबलादेवार्थक्रियासिद्धौ कृतं स्पृणुशरीरेणेत्याजङ्गुच तद्व्यतिरेकेणोत्तरस्यायं-क्रियाकारित्वं नास्तौति मत्वाऽह—बाह्यं चेति । आरब्धे देहद्वये कारणेषु देवतानामनुग्राहकत्वेनाव-स्थानं दर्शयति—तत्रेति । स्पृणो देहः सप्तम्यर्थः । कारणव्यूहस्तेषामभिव्यक्तिः ॥ ३ ॥

पेशस्कारिवावयववाचर्यामाशङ्कामाह—तत्रेति । ससारिणो हि प्रकृते देहान्तरारम्भे किमु-

अर्थात् आश्रय लेकर 'आत्मानमुपसंहरति' अर्थात् अपने पूर्वार्द्धे अवयवों को परचार्धे अवयव स्थान में स्थापन कर देता है । इसी प्रकार यह प्रकरणस्य संसारी आत्मा अपने इस पूर्वप्राप्त देह के कर्मों के लय से स्वप्नराप्ति के इच्छुक के समान निश्चेष्ट कर अपनी आत्मा के उपसंहार द्वारा "अविद्या गमयित्वा" अर्थात् जब ऊरके एक तृण से दूसरे तृण में जाने वाले तृण-जोक के समान प्रसारित वासना द्वारा आरभ्यमाण अन्य शरीरान्तर प्राधर को ग्रहण करके अपना उपसंहार कर लेता है ।

वहाँ कर्मवश इन्द्रियों भी अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई सबद्ध होनी है तथा तृण-मृत्तिका निमित्त गृहस्थानीय बाह्य शरीर का भी आरम्भ हो जाता है । फिर वहाँ इन्द्रियव्यूह की अभिव्यक्ति को देख कर वापादि इन्द्रिया का उपकार करने के लिए अग्नि आदि देवता इन्द्रियों का आश्रय लेते हैं । इसी प्रकार देहान्तर की प्राप्ति होती है ॥३॥

वहाँ देहान्तर की प्राप्ति में नित्यप्राप्त भूतपञ्चक पूर्व-पूर्व देह को विनष्ट कर करके देहान्तर

१ पूर्वावयवमिति—अनेन तस्या पश्चार्धगमित्व सूच्यते । २ स्थापयति । ३ कर्मणः क्षयात् । ४ निश्चेष्टमापाद्य । ५ जाड्यम् । ६ आरभ्यमाणम् । ७ अह्नित्यात्मभाद प्रतिपद्यते । ८ स्वप्न-देहान्तरस्य इति स्वप्राथम्यस्त्वनुल्लेखमध्यस्थ इत्यर्थः । ९ जन्वाभिव्यक्तीनि । १० मन्यन्ते । ११ कुशेत्यादि—तृणमृत्तिकादिनिमित्तगृहस्थानीयमित्यर्थः । १२ समीह्य । १३ करणानीति शेष । १४ देहान्तर-प्राप्तिप्रकारः । १५ भूतपञ्चकम् । १६ पूर्व-पूर्व देहम् । १७ उत्पादयति ।

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं
कल्याणतरं^७ रूपं तनुत एवमेवायमात्मेद^७ शरीरं
निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं^७ रूपं

जैसे सोनार सोने की मात्रा को लेकर उससे नूतन और अत्यन्त सुन्दर रूप की रचना करता है, वैसे ही यह जीवात्मा इस वर्तमान देह को नष्ट कर केवल अचेतनावस्था को प्राप्त कराकर दूसरे

दपूर्वमेव पुनः पुनरा'दत्त इति । 'अत्रोच्यते दृष्टान्तः—

तत्तत्रैतस्मिन्नर्थे । यथा पेशस्कारी पेशः सुवर्णं तत्करोतीति पेशस्कारी सुवर्णकारः
पेशसः सुवर्णस्य मात्रापादायापच्छिद्य गृहीत्वाऽन्यत्पूर्वस्माद्रचनाविशेषान्नवावतरमभिन-
वतरं कल्याणात्कल्याणतरं रूपं तनुते निर्मिनोति । एवमेवायमात्मेत्यादि पूर्ववत् ।

'नित्योपात्तान्येव पृथिव्यादीन्याकाशान्तानि पञ्च भूतानि यानि द्वे वाक् ब्रह्मणो

पादानमस्ति किं वा नास्ति नास्ति चेन्न 'भावरूपं कार्यं सिध्येत् । अस्ति चेत्तत्किं भूतपञ्चकमुतान्यत् ।
आद्येऽपि तन्नित्योपात्तमेव पूर्वपूर्वदेहोपमर्दान्यान्यमन्यं देहमारभते किवाऽन्यदन्यद्भूतपञ्चकमन्यमन्य
देहं जनयति । नाऽऽद्यः । भूतपञ्चकस्य तत्तद्देहोपादानत्वे मायायाः सर्वकारणत्वस्वीकारविरोधात् ।
न द्वितीयो भूतपञ्चकोत्पत्तावपि कारणान्तरस्य मृग्यत्वात्तस्यैव देहान्तरकारणत्वसंभवान्तेरो
देहस्य पाञ्चभौतिकत्वप्रतिद्विविरोधादिति भावः । उत्तरं वाक्यमुत्तरत्वेनाऽऽदत्ते—अत्रेति ।
'तच्छब्दाद्यर्थमपेक्षितं पूरयन्नाह—दृष्टान्त इति । अवशिष्टं भागमादाय व्याचष्टे—यथेत्यादिना ।

किं पुनश्चापादानमितावता देहान्तरारम्भेऽन्युपगतं भवति तत्राऽऽह—नित्योपात्तानीति ।
'शरीरद्वयारम्भकाणीति शेष । तेषामु'भयारम्भकत्वेन भूतामूर्तब्राह्मणो प्रस्तुतत्वं दर्शयति—यानीति ।

की सृष्टि करता है अथवा पहली वाली देह को पुन उत्पन्न करता है । इसका समाधान श्रुति
दृष्टान्त से बतलाती है—

'तत्' अर्थात् इस सबन्ध में जिस प्रकार 'पेशस्कारी' अर्थात् सुवर्ण का काम करने वाला स्वर्ण-
कार 'पेशस' अर्थात् सुवर्ण की मात्रा को "अपादाय" यानी अपच्छेदन अथवा ग्रहण कर पहले की
रचनाविशेष से भिन्न नवीन से नवीनतर और कल्याण से भी कल्याणतर रूप 'तनुते' अर्थात् बनाता

- १ उत्पादयति । २ यथोक्तसङ्ख्याया सत्या समाधानमुच्यत इत्यथ । ३ एतस्मिन्नर्थे—नित्योपात्तमेव भूत-
पञ्चक देहान्तरारम्भकमित्यत्रार्थे । ४ नित्योपात्तान्येवेति—'देहारम्भकभूतानि यानि पूर्वाणि वेष्टित ।
तैल्लिङ्गोपाधिको यातीत्येव सूत्रवृद्धयर्थे ॥ पञ्चीकृतास्तु भूतासां स्थूलदेहस्य हेतव । अल्पत्वेनाऽपि सूक्ष्मा-
स्तैलिङ्ग तिष्ठति बट्टितम् ॥ निमित्तस्तेरय देह' पोषित पितृवीर्यं । मृतो कञ्चुनवस्याग्नौ बाह्यासो वीर्य-
निमित्त । मारस्त्वान्तरभूतासो लिङ्गेन सह गच्छति । निष्पाद्यन्ते भाविदेहास्तेनाऽनेन पुन' पुन' ॥
५८-६१ ॥ इति वातिकसारे । ५ वृ उ २ ३ १ । ६ अभावस्त्वन्तरेपाप्युपादान सिध्यतीत्यत ब्राह्
भावरूपमिति । ७ अपेक्षितं पूरयस्तच्छब्दाद्यर्थमाहैत्यन्वय । ८ अन्धेन । ९ स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयेति
भाव । १० स्थूलसूक्ष्मशरीरारम्भकत्वेन ।

कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा
ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥ ४ ॥

पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा या अन्य प्राणियों के नूतन तथा अत्यन्त सुन्दर रूप की रचना कर लेता है ॥ ४ ॥

रूपे इति 'चतुर्थे व्याख्यातानि पेशस्थानीयानि 'तान्येवोपमृद्योपमृद्यान्यदन्यच्च देहान्तरं' नव-
तरं कल्याणतरं रूपं संस्थानविशेषं देहान्तरमित्यर्थः । कुरुते 'पित्र्यं वा पितृभ्यो हितं
पितृलोकोपभोगयोग्यमित्यर्थः । गान्धर्वं गन्धर्वाणामुपभोगयोग्यं तथा देवानां दैवं प्रजापतेः
'प्राजापत्यं ब्रह्मण इदं 'ब्राह्मं वा । यथाकर्म यथाश्रुतमन्येषां वा 'भूतानां संबन्धि शरी-
रान्तरं कुरुत इत्यभिसंबध्यते ॥ ४ ॥

ॐ 'येऽस्य बन्धनसंज्ञका उपाधिभूता 'यैः संयुक्तस्तन्मयोऽयमिति "विभाव्यते ते पदार्थाः

वेहृषिकल्पे नियामकमाह—यथाकर्मति ॥ ४ ॥

शरीरारम्भे मायात्मकभूतपञ्चकमुपादानमिति "वदता भूतावयवानामपि सहैव गमन-
मित्युक्तम् । इदानीं स वा अयमात्मेत्यादेस्तात्पर्यमाह—येऽस्येति । तान्येषोपाधिभूतान्यपदार्थान्विशिनष्टि
है । इसी प्रकार इस आत्मा के संबन्ध में समझ लेना चाहिये — इत्यादि प्रथं पूर्ववत् ही है ।

जो नित्यप्राप्त पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त पञ्च महाभूत सुवर्णस्थानीय है, "ये (भूत-
प्रयात्मक और भूतद्वयात्मक) दो ही ब्रह्म के मूलें और अमूर्त रूप है" । इस प्रकार बृहदारण्यक
उपनिषत् के दूसरे अध्याय में उनका व्याख्यान किया गया है । उन्हीं को बार-बार विनष्ट करके,
अन्यान्य देह को बनाता है । अर्थात् पूर्वदेह से नवीनतर और कल्याणतर रूप संस्थान विशेष
देहान्तर को बनाता है । (किन् प्रकार के शरीर बनाता है —) "पित्र्यम्" अर्थात् पितृगण के हित-
कारक अर्थात् पितृलोक में उपयोग के योग्य, "गान्धर्वम्" अर्थात् गन्धर्वों के उपयोग के योग्य । इसी प्रकार
"दैवं" यानी देवताओं के, "प्राजापत्यम्" यानी विराट् प्रजापति के, "ब्राह्म" यानी हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के
उपभोग योग्य शरीरान्तर की उनके कर्म और उपासना के अनुसार अथवा प्रेततियर्गादि शरीरों से

१ चतुर्थे व्याख्यातानीति । तत्र "यच्चक्षुर्न एष तपतीति" च स्थूलो देहो लक्षितो "योग्य दक्षिणेऽङ्गानुरूपो य
एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष इति" च । सूक्ष्मो देहो ग्रहीतस्तत्र "सतो ह्येष रसत्त्यस्य ह्येष रस" इति च तयो-
भूतपञ्चकारव्यवस्थामुक्तमतां (उक्तब्राह्मणे नित्योपात्तभूतपञ्चकस्यैव स्थूलतुष्टपदेहारम्भकत्वोक्तेः)ऽत्रापि
नित्योपात्तमेव तदारम्भकमित्यं न च मामावादविरोध प्रत्यक् चैतन्याश्रितमायाविवर्तभूतपञ्चकपरिणामो
जगदिति स्थितेरिति भाव । २ द्वितीयात्तम् । ३ नवतरमिति—पूर्वदेहस्य नववर्णविवक्षयाऽस्य नवतरत्वं
विवक्ष्यत इति व्ययम् । ४ वि तद्देहान्तरं यत्कुरुते तत्राऽह—पित्र्यमिति । ५ वैराजम् । ६ हिरण्य-
गर्भम् । ७ अस्तु यथावत् देहाद्युपादानं तत्रिमित्तं तु वाच्यमित्याशङ्क्याऽह—यथाकर्मति । ८ प्रेततियर्ग-
गादीनाम् । ९ पदार्थाः । १० आत्मन । ११ पदार्थे । १२ प्रतीयते । १३ भाष्ये ।

ॐ येऽस्येत्यादि याज्ञनायाद्यतत इत्यन्तर्भाष्ये वार्तिकानि । तथाहि—' न, तु चैतन्यवत्साक्षात्समारोप्य रवतो

पुरुजोक्त्येहं कत्र' प्रतिनिदिश्यन्ते—

—यैरिति । ननु पूर्वमप्येते पदार्था दक्षिता. किं पुनस्तत्प्रदर्शनेनेत्याशाङ्क्याऽऽह—पुरुजोक्त्येति ।

सबन्धी शरीरान्तरो बी रचना करता है—यह इसका तात्पर्य है ॥५॥

जो पदार्थ आत्मा के बन्धनसंज्ञक उपाधिभूत हैं, जिन पदार्थों से समुक्त "यह तन्मय है" ऐसा प्रतीत होता है—उन सभी पदार्थों को एवत्रित कर इस एक ही मन्त्र में प्रदर्शित किया जाता है ।

१ एकस्या वचिन्वामाम् ।

मत । इत्यर्थमाजगामोत्तर वच ॥ यन्नात्मस्य वास्तव रूप यच्चाविद्योक्त्यमात्मन । सा वा प्रत्यादिना तस्य निर्णय त्रियन्नेऽयुना । तत्रिण्यंयादोषोऽऽनिर्णीत स्यात्कथं चिति ॥ ससारी यो ययोक्तेन ग्रन्थेन प्रतिपादित । तदृष्टहीत्यं सवाब्दोऽयं तत्स्मृत्यर्थं तथाच वै ॥ अनात्मभूत एतस्मिन्नायंकारणलक्षणैः । ससारे प्रथमे योऽयं आत्मनाऽन्यमानन ॥ यत्साधिका यथोक्तस्य भावाभावो प्रसिध्यत । ससारवस्तुनः सोऽयमात्मेत्यत्राभिधीयते ॥ व्यभिचारो न यस्यास्ति सर्वेषु व्यभिचारिणु । तदवष्टम्भत सिद्धेर्व्यभिचारस्य सर्वदा । प्रत्यक्षयाऽन्य साक्षात्वा-दत्रिणाकारकत्वतः । अनन्यबोधमानत्वादयमित्युच्यते ततः ॥ नि शेषानात्मतद्भेदुनिराकरणवर्तना । आत्मत्व-मान्यन सिध्येत्प्रान्येयमनात्मवत् ॥ असाधारणसिद्धिर्षव सिद्धिः स्यादात्मवस्तुन । यतोऽत आत्मवस्त्वेव वायंकारणवज्जगत् ॥ न हीदमात्मनः स्थान ततोऽन्यत्रापि वाऽस्तुनं । आत्मनोऽव्यतिरेकेण यतोऽनात्मा प्रसिध्यति ॥ आत्मा त्वनात्मप्रत्ययत्वाद्ब्रह्मचरिरेक न सोऽर्हति । अजीव संपदंशदे समविद्योऽन्यवस्तुन । स्रक्तत्व-व्यतिरेकेण सिद्धिर्नान्यत्र कुत्रचित् ॥ न चाभावसाध्येतदभावस्यापि भाववत् । प्रत्यङ्मानैक्यायाथात्म्याद-श्रुतत्वात् चार्थतः ॥ अनुद्य निखिल विस्व तत्त्वप्रतिरतये । आत्मैवेति श्रुत यस्मान्नाताऽन्यत्किंचिदप्यते ॥ प्रत्याख्याय न चाऽऽत्मानमनात्मा व्यतिरिच्यते । व्यतिरेकस्वभावत्वात्प्रापि चाऽऽत्मनि मिष्यति ॥ प्रत्याचष्टे श्रुतिरन सर्वं नेतीति चाऽऽत्मनि । सर्वमात्मेति च तथा व्यतिरेक निषेधति ॥ ध्रुवनिपदानन्तरावाह्य ब्रह्म-लक्षणम् । उक्तात्मवस्तुस्वभावात्सात्मा ब्रह्मेत्यतो वच ॥ प्रत्यक्षं ब्रह्माण्तत्त्व ब्रह्मत्व चाऽऽत्मनस्तथा । परोऽब्रह्मपहानेन ह्यात्मा ब्रह्मेति बोध्यते ॥ अब्यावृत्तानुगतो ब्रह्मादब्यर्थ इत्यते । नाऽऽत्मनोऽन्यत्र सम्भ्योऽती नाप्यत्मा ब्रह्माणोऽन्यत । आत्मनोऽपि परोऽत्व ब्रह्माणोऽविद्यया यथा । आत्मन सद्वितीयत्वं ब्रह्माणोऽपि तथा मम ॥ अतोऽविद्यामनुच्छिद्यती यथावस्त्वबबोधत । आत्मा ब्रह्मैव नन्वेव ब्रह्माप्येति स्वतोऽयम् ॥ यथोक्त-बोधविरहादग्यानार्थपरपरा । विज्ञानाद्यभिगमन्यो यथा तदधुनोच्यते ॥ आत्मा ब्रह्मैव सन्नप धर्मैर्मांकिऽऽन्वित । प्रज्ञानात्मगरुत्यत्र वर्णते तत्तत्मासत । ततोऽविद्यान्वयऽशेषसंनारानयंसंगतिः । तद्वत्स्वात्मात्मनस्तत्समा-त्सुष्यायं समाप्यते । अविद्यामात्रहेतुया ह्यात्मनोऽन्यसंसंगतिः । इत्यस्य प्रतिपत्त्यर्थं परो ग्रन्थोऽवताप्यते ॥ यद्यविद्यैकहेतु स्यात्समास्तिव तदाऽऽत्मनः । विद्यार्थोऽन्य समारम्भो युज्यते नान्यथा सति" ॥ १४७-१७९ ॥ इति । यथोक्त समारम्भैतन्वयदात्मन स्वाभाविक स्यादित्यासाङ्क्य स वा अयमित्याद्यवतारपति—न त्विति । तस्य तात्पर्यमाह—यच्चिति । आत्मनो वास्तवत्वरूपद्वयनिरणये वेदार्थ सर्वोऽपि निर्णीत स्यादिति फलितमाह—तदिति ॥ सर्वैराब्दव्योक्त्यमाह—ससारीति ॥ अयसाद्यार्थमाह—अनात्मेति । अविद्यातत्कार्य-निर्भूतत्वप्रकाशोऽन्यत्राप्यित्युच्यत इत्यर्थं ॥ आत्मशब्दार्थमाह—यदिति । कूटस्थसाक्षी चिदातुरना-ऽऽप्रेत्यर्थं ॥ कूटस्थत्व साधयति—व्यभिचार इति । सोऽनाऽऽत्मेति पूर्वेण सवन्धः । तस्याव्यभिचारे हेतुमाह—तदिति ॥ भावाभावविभागविधुरस्य सर्वसाधकस्याऽऽत्मन सप्रयुक्तपुरुोक्तिस्वाभावव्यतिरिक्त कथं व्यप-देशस्तत्राऽह—प्रत्यवतयेति । सनिहितत्वादिपरोक्षत्वाच्चाऽऽत्मनोऽयंशब्दवाच्यतेत्यर्थं । साक्षात्त्व साधयति—

‘स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः

वह यह आत्मा ही ब्रह्म है । वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय,

‘स वा ‘अयं य एवं संमरत्यात्मा’ ‘ब्रह्म’ व’ पर एव योऽज्ञानयाद्यतोतो विज्ञानमयो, ‘विज्ञानं

स वा अयमात्मा ब्रह्मेति भागं व्याकुर्वन्प्रात्मनो ब्रह्मं पर्यं यास्तवं ‘वृत्तं दर्शयति—स’ वा इति ।

‘तस्यैवावास्तव्य रूपमुपन्यस्यति—विज्ञानमय इत्यादिना । ज्योतिर्ब्राह्मणोऽपि ध्याह्वयते विज्ञानमयत्व-

‘स वा अयम्’ अर्थात् जो इस प्रकार ससरण करता है, वह (स्वप्रकाश, अपरोक्ष, सनिहित, कूटस्थ साक्षी) प्रात्मा (अपूर्वं अपरादिलक्षण) परब्रह्म ही है, जो भूत-प्यासादि से रहित है ।

१. योऽयमात्मन ससरण्य स वास्तवो न भवति कि स्वोपाधिक एवेति निरुपाधिकरूपं प्रदर्शयन्तुप्राधीन् पुञ्जीकृत्य प्रदर्शयति—स वा अयमिति । यदा यथोक्तं ससरण्यतन्मयवास्तवम् स्वाभाविकं स्वादिति तत्राह—स वा इति । २ प्रवृत्त । ३ स्वप्रकाशोऽपरोक्ष सनिहित । ४ कूटस्थसाक्षी । ५ स । ६ अपूर्वानिपरादिलक्षणम् । ७ अवधारण्य सामानाधिकरण्यत्वम् । ८ योऽज्ञानयाद्यतोत स पर एव सन् विज्ञानमयो वृत्तिप्रायस्तदैवाध्यासादित्याह—विज्ञानमिति । विज्ञानमयमनोमयो ब्रह्मैव चित्तमयाहकारमयो-रूपलक्षणाविति ब्रह्मव्यम् । ९ रूपम् । १० प्रात्मन ।

भगव्येति । तदेव कथमिति तदाह—प्रतिषेधेति ॥ घटादिवयसश्चदवाव्यत्वादात्मा परिच्छिन्नं स्वादिति चेन्नेत्याह—नि शेषेति ॥ कथमनात्मतद्भेदोमिरासद्ब्राह्मणसिद्धि ररमातिरिक्तस्य कार्यकारणवस्तुन सत्त्वादिगामाङ्गोऽहं पसाधारणेति । अद्वितीयत्वंप्रब्रह्मणमिति जगतोऽध्यासात्तत्पूर्णाता युक्तेत्यर्थं ॥ आत्मनि जगतोऽध्यस्तत्त्व समर्थयते न हीति । इदमा प्रकृत जगन्निदिश्यते । उभयत्र हेतुमाह—आत्मन इति । न हि व्यतिरेकाव्यतिरेकाभ्यामनात्मसिद्धिर्वातिरेके नि स्वरूपत्वाद्यतिरेकेस्य अज्ञानव्योरोयोगात्तोऽनात्माऽध्यस्त इत्यर्थं । इहापि पूर्वाधंग नउपदमनुह्यते ॥ आत्मनोऽनात्मव्यतिरेकवदनात्माऽपि ततोऽतिरिक्तमिति चेन्नेत्याह—आत्मा त्विति । आत्मनो भेदाभेदाभ्यामनात्मा न सिध्यतीत्यत्र स्पान्त—सजीति । न हि सजि भासतस्तदविद्याकल्पितस्य संपादेतदतिरेकेणाप्यत्र सिद्धिर्नापि तदात्मनैव तत्सिद्धिस्तथाऽऽत्मनो व्यतिरेकाव्यतिरेकाभ्यां नानात्मसिद्धिरित्यर्थं ॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जगतोऽसिद्धिशेषदभावावगायितेति नेत्याह—न चेति । किञ्च जगतोऽभावनिपुत्र श्रुत्या कल्पयते तदवधिपत्या वा नाऽऽह इत्याह—अश्रुतत्वादिति । नेति नेतीत्यादिभुक्तिर्जगतो भावममृष्यन्ती तस्याभावनिपुत्रमर्थादाहेति द्वितीयमाहाङ्गोऽहं—न चेति ॥ वतीत्यस्या श्रुत्या दुर्बलाप्यस्तदर्थापत्तेर्वाध्याह हेतुमाह—प्रनुवेति । जगत शून्यत्वमन्यदित्युच्यते ॥ अभावनिपुत्र जगती निरस्यान्वयादिनिरासमनुवदति—प्रत्याख्यायति । आत्मानं विहायानात्मा न स्वातन्त्र्येण निव्यति नि स्वरूपत्वापत्तेरुक्तत्वाङ्गाव्यभिन्नतयाऽऽत्मनि तत्सिद्धिर्जडत्वेनाजडादपतिरिक्तवादित्यर्थं ॥ जगतोऽवभावादे मानमाह—प्रत्याचष्ट इति । व्यतिरेकाभावे मानमाह—सर्वमिति । स वा अयमात्मेवेतद्वाध्याय ब्रह्मशब्दार्थमाह—अपूर्वेति । सामानाधिकरण्यत्वात्पर्यमाह—उच्येति सामान्यविशेषादिहीन ब्रह्म तत्र तत्रोक्त तस्याऽऽत्मरूपत्वादात्मा ब्रह्मेत्यात्मनो ब्रह्मत्व सामानाधिकरण्यं प्रोच्यन्ते तेन तयोरेक्यमयं ॥ कथं तयोरेक्यं पारोक्ष्यसद्ब्रह्मत्वम् विरोधादेत ब्रह्म—प्रत्यक्त्वमिति । निरुद्धभावस्यागादेक्यं योऽयमित्यत्र प्रसिद्धमिति हिसम्भार्यं ॥ ब्रह्मणस्तत्त्व प्रत्यक्त्वमित्येतद्ब्रह्मशब्दार्थमनूक्त प्रकटयति—प्रव्यावृत्तेति । आत्मनो ब्रह्मत्वं तत्त्वमित्येतद्वचनं—नापीति ॥ तथाऽपि कथं पारोक्ष्यसद्ब्रह्मणमित्याशङ्क्य तद्ब्रह्म पारोक्ष्यादेरापिचत्वमाह—प्रात्मनोऽपीति । तस्याऽऽविवक्षते फनितमाह—अत इति । एष खल्वत्मा स्वतो ब्रह्मैव सन्नानादब्रह्मत्वमित्यत्र सम्यग्ज्ञानादज्ञानध्वंसे ब्रह्मवा-

प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो
वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽस्तेजोमयः काममयो-

जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अस्तेजोमय, काममय, अकाममय, क्रांघमय, अक्रांघमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है (प्रयत्नं बुद्धिः, मनः, प्राण, नेत्रादि, पृथिव्यादि एव अन्तःकरण के नामादि जो

बुद्धिस्तेनोपलक्ष्यमाणस्तन्मयः । 'क्तम आत्मेति घोष्यं विज्ञानमयः प्राणैत्त्विति ह्युक्तम् । *विज्ञानमयो विज्ञानप्रायो यस्मात्तद्धर्मत्वमस्य विभाष्यते ध्यायतीव लेला-

मित्याह—क्तम इति । कस्मिन्नर्थे मयद् प्रयुज्यते तत्राऽऽह—विज्ञानेति । उक्ते मयडर्थे हेतुमाह—यस्मादिति । बुद्धधर्मव्याख्यासात्तद्धर्मस्य कर्तृत्वादेरात्मनि प्रतीतिरित्यत्र मानमाह—ध्यायती-

“विज्ञानमयः” अर्थात् (ब्रह्म-प्यासादि धर्मों से परे होते हुए भी) बुद्धि में उपलक्षित होने के कारण विज्ञानमय अथवा बुद्धिप्राय है । “(देह, इन्द्रिय और प्राणों में) आत्मा कौन सी है, वह बुद्धिरूप विज्ञान की उपाधि के सम्पर्क के अविशेष से विज्ञानमय है; प्राणों से व्यतिरिक्त है” ऐसे पहले ही श्रुति प्रतिपादित कर चुकी है । विज्ञानमय वा अर्थ विज्ञानप्राय यानी बुद्धि सहज बुद्धयुक्त है क्योंकि “ध्यान करता हुआ सा, चेटा करना हुआ सा” इस श्रुति में आत्मा का विज्ञानधर्मत्व प्रतीत होता है । इसी

१ वृ उ ४ ३ ७ । २ विज्ञानमिष्टानमपि सत्तादात्म्याध्यासात्तन्मयो अगिव सर्वमयी । ३. विज्ञान-धर्मत्वमात्मन प्रतीयते । ४ वृ उ ४ ३ ७ । ५ बुद्धिधर्मस्य ।

अप्यत इत्यर्थः ॥ आत्मनो वास्तव वृत्तमुक्त्वा विज्ञानमय इत्यादेस्तात्पर्यमाह—यथोक्तेति । तामेव स्पृष्टयति—विज्ञानादीति ॥ उक्तेष्वर्थे यस्मैत्यादि भाष्यं योजयति—आत्मेति । विज्ञानमयादिवाच्यमत्रेति परामृश्यते ॥ अज्ञानादेव विज्ञानादियोगाद्वा ससरतु किं तावता ते लभ्यते तदाह—यत इति ॥ अविद्यावशादात्मनो बन्ध-श्चेदुक्त सिध्येत्तत्रासावबिद्यो मानाभावादित्याशङ्क्याऽह—अविद्येति । अज्ञानव्यत्यतिरेकी हेतून्तुं हिमाह ॥ तत्रैव श्रुति सवाद्यति—इत्यस्येति ॥ बन्धस्याऽऽविद्यत्वं युक्तिमाह—यदीति । शास्त्रारम्भस्य विद्यार्थत्वात्तस्याः समूलानर्थस्यैवार्थत्वाद्धिद्याविद्ययोरेव विरोधप्रसिद्धेराविद्यो बन्धो मुक्तोऽप्यथा शास्त्रारम्भात्तन्मादित्यर्थः ।

* विज्ञानमय इत्यादि तत्तन्मयो भवतीत्यन्तभाष्ये वातिरिति । तथाहि—“प्राणात्मत्वाभिमानी सन्त्यतः प्राण-प्रसूयते । प्राणप्राणोऽपि सम्गोहृद्ग्राहानादि प्रसूयते ॥ ततो बुद्धिसमुत्पत्तौ विज्ञानोऽस्मीतिभावतः । विज्ञान-मयतामेति स्रसत्सर्वमयतामिव ॥ मनसो प्रहण चात्र बुद्धिवृत्त्युपलक्षणम् । अमुबुद्धौ यतो हेतु सर्वेषामिन्द्रिया-त्मनाम् । कर्मेन्द्रियाणां सार्यानां प्राण कारणमुच्यते । स एव बुद्धयतिशय श्रोत्रादेरपि कारणम् ॥ स्वाभ्यस्त-भावनातीत्य श्रुतकर्मनुरोधतः । प्राणो बुद्धिर्मनश्चक्षुःश्रोत्राद्यज्ञस्य जायते ॥ प्रायार्थे च मयडर्थेयो विकार-देनिषेधनात् । अविज्ञातात्मतत्त्वस्य विकारो वास्तवदोषतः ॥ सर्पादयो यथा रज्ज्वा विकारः स्पृष्टोपेतः । धनानादात्मनस्तद्वत्तेजोवप्रादिविक्रिया ॥ न हि वेदान्तसिद्धान्ते ह्यज्ञातात्मातिरेकतः । साध्यानामिव सिद्धान्ते लभ्यते कारणान्तरम् ॥ प्राणादिमयता यात्वा तद्गुत्तीनामबोधतः । आत्माऽकर्तृऽपि कर्तृत्वमेति तासौ समुद्भवे ॥ अथु रज्जुरूपेण यथा चक्षुर्मेवस्तथा । श्रोत्रादिमयताऽप्यस्य ध्यायन्तेषां प्रत्यगात्मनः । स विज्ञानमन-प्राणवक्षु श्रोत्रादि मोहजम् । मन्यानीऽविद्ययाऽऽत्मेति तन्मयत्व न तु स्वतः ॥ १७२-१८२ ॥ इति । उत्तर-प्रत्यस्तात्पर्यमुक्त्वा पाठक्रममविवक्षित्वा प्राणमय इत्यस्यार्थमाह—प्राणेति । यस्मात्प्रतीच सत्तादात्प्राणी जायते

ऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः
सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी
यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पाप-

विकार हैं, इनमे से जिनके साथ वह तन्मय होता है, उस समय वह तद्रूप ही प्रतीत होने लगता है) ।
विबहुना—जो कुछ इदमय प्रत्यक्ष वस्तु और अदोमय परोक्ष वस्तु है, सब वह ब्रह्म ही है। वह जैसा
करने वाला तथा जैसा आवरण वाला होता है, उसके साथ तादात्म्य हुआ वैसा ही प्रतीत होने लगता
है। पुरुष शुभ कर्म करते समय उसमे तन्मयता के कारण शुभ होता है और पापकर्मा पुरुष पापी हो

यतीवेति । तथा 'मनोमय' मनःसंनिकर्षान्मनोमयः । तथा प्राणमयः प्राणः पञ्चवृत्तिस्त-
न्मयो येन चेतनश्चलतीव लक्ष्यते । तथा चक्षुर्मयो रूपदर्शनकाले । एवं श्रोत्रमयः शब्द-
श्रवणकाले । 'एवं' तस्य तस्येन्द्रियस्य व्यापारोद्भवे तत्तन्मयो भवति ।

वेति । मनःसंनिकर्षान्तेन द्रष्टव्यतया संबन्धादिति यावत् । चक्षुर्मयत्वादेरुपलक्षणत्वमङ्गीकृत्याऽऽह—
एवमिति ।

प्रकार "मनोमय." अर्थात् मन के तादात्म्य होने से मनोमय है। इसी प्रकार "प्राणमय." अर्थात् पञ्च-
वृत्त्यात्मक प्राण वाला है क्योंकि वह चलता हुआ सा देखा जाता है। इसी प्रकार रूपदर्शन करने के
समय वह चक्षुर्मय है। इसी प्रकार शब्द श्रवण काल मे वह श्रोत्रमय है। चक्षुर्मयत्वादि के समान उस
अनुक्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के व्यापार वा उद्भव होने से वह त्वगादिमय और वागादिमय
होता है ।

१ व्यक्ताव्यक्तस्य जगतो धर्मधर्मकार्यत्वाद्दमार्धमयो भूत्वा सर्वमयो भवतीत्युक्तं तत्राऽव्यक्तमयत्वं कथमवगन्तुं
शक्यते इत्यपेक्षया इत्यमानचेष्टादिलक्षणैर् इदमयत्वलिङ्गैर् तत्कारणीभूतं परोक्षमपि भावनात्मकमदोमयत्व-
मनुमेयमित्यभिप्रेत्याह—तदिति । तदेतन् सर्वमयत्वं सिद्धं यत् यस्माद् इदमयस्तेन चादोमय इति । असङ्गा-
द्वितीयत्वात्मनः प्राणादिमयत्वे हेतुमाह—यथाकारीत्यादिना । यथेत्यादि व्याकरोति—साध्विति । २ मन-
स्तादात्म्यात् । ३ चक्षुर्मयत्वादिवात् । ४ अनुक्तस्य । ५ ज्ञानेन्द्रियस्य कर्मेन्द्रियस्य च । ६ त्वगादिमयो
वागादिमयश्च । ७ तेनेति—मनसैवेदमात्मव्यमित्यादिश्रुतेर्मनो द्रष्टव्यत्वमात्मनो मनः सवन्ध इत्याह ।

एतस्माज्जायते प्राण स प्राणममृजतेत्यादिश्रुते स प्राणस्य प्राणमिति श्रवणात्प्राणोऽपि मोहात्प्राणोऽस्तीति-
तादात्म्याभिमानो भूत्वा प्राणनादिक्रिया प्राप्नोतीत्यर्थं ॥ चलनं विना विज्ञानादिमयत्वयोगादादौ प्राणमयत्वं
प्रदर्श्यं विज्ञानमयत्वं व्याचष्टे—तत इति । मनोमय इत्यस्यार्थमाह—बुद्धीति ॥ बुद्धिर्मानसत्त्वं बुद्धिवृत्ती-
नामनुक्तज्ञानेन्द्रियाणां प्राणवृत्तीनां च कर्मेन्द्रियाणां उपलक्षणमतस्त्वगादिमयत्वं वागादिमयत्वं चाऽऽत्मनो द्रष्टव्य-
मित्याह—मनस इति । कर्मिन्द्रियाणां बुद्धिप्राणवृत्तिमत्त्वमात्मवृत्तिरवगमादित्यत आह—मनुबुद्धी इति ।
अतस्तेषां तत्त्वार्थत्वेन तद्बुद्धित्वात्प्राऽऽत्ममर्मेति शेषः ॥ ननु मनः सर्वेन्द्रियाणि चेत्यात्मकार्यत्वेन तदमत्त्व-
मिन्द्रियाणां श्रूयते तत्कथं प्राणादिकार्यत्वेन तद्बुद्धित्वात्प्राणाद्भूतं कारणत्वं तेषु प्राणबुद्धयोर्विचित्रं दर्शयति—
कर्मति । प्राण एव बुद्धिलक्षणवित्तक्षणकारी भूत्वा श्रोत्रादे सविषयस्य हेतुर्मेन स्पन्दनमेव द्वैतमिति स्थितेरित्याह

कारी पापो भवति 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः
पापेन । 'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति
स यथाकामो भवति 'तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति
'तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते 'तदभिसंपद्यते ॥ ५ ॥

जाता है । (ब्रह्म स्वरूप को भूल कर धर्म तथा उनके साधनों में तन्मयता के कारण ही) पुरुष पुण्य कर्म में पुण्यात्मा होता है और पाप कर्म से पापी होता है । फिर भी कुछ लोग कहते हैं—यह पुरुष काममय है । वह जैसी कामना वाला होता है, वैसा ही सकल्प करता है । जैसे सकल्प वाला होता है, वैसे ही शरीरादि साधनों से आचरण करता है (भ्रत ब्रह्म के सर्वमयत्व और ससारित्व में कामना ही कारण है) ॥ ५ ॥

एवं बुद्धिप्राणद्वारेण चक्षुराविकरणमयः सञ्जरीरारम्भकपृथिव्यादिभूतमयो भवति ।
'तत्र पाथिवशरीरारम्भे पृथिवीमयो भवति । तथा वरुणादिलोकेष्वाप्यशरीरारम्भ आपोमयो

उक्तमनूय 'सामान्येन भूतमयत्वमाह—एव बुद्धीति । भूतमयत्वे सत्यवान्तरविशेषमाह—
तत्रेत्यादिना । न चाऽऽकाशपरमाण्वश्रभावादिआकाशस्य शरीरानारम्भकत्व श्रुतिविरुद्धारम्भप्रक्रियान-

इस प्रकार बुद्धि और प्राण के द्वारा वह चक्षुरादि इन्द्रियो से सूक्ष्म शरीर विशिष्ट होकर शरीरारम्भक पृथिव्यादि भूतमय यानी स्थूलदेहविशिष्ट हो जाता है । सामान्यतः भूतमय होने पर पाथिवशरीर के आरम्भ में पृथिवीमय हो जाता है । इसी प्रकार वरुणादि लोको में जलीय शरीर

१ सङ्घटनुष्ठानादपि फलति कर्म पौन पुन्य तु फलेऽतिशयप्रयोजकमित्यभिप्रायण ताच्छ्रीत्यप्रत्यय विहाय उप-
दिष्टमेवार्थं स्पष्टयति—पुण्य इत्यादिना । २ पुण्यापुण्ययोरेव ससारसाधारणकारणत्वमित्युक्त पूर्वपक्षीकृत्याजविद्या-
मूलक काम एव ससारसाधारणकारणमिति सिद्धान्तमाह—अथो इति । उक्तपूर्वपक्षान्तरम् । कामो विषया-
दीच्छा तन्मय एव धर्मोदीनामपि काममूलकत्वात् । ३ तात्कृत्तु । ४ तात्क । ५ तदीयफलम् ।
६ सूक्ष्मशरीरविशिष्टं सन् स्थूलदेहविशिष्टो भवतीति यावत् । ७ सामान्यतो भूतमयत्वे सति । ८
भूतत्वजात्यात्रान्तत्वेनेत्यर्थ ।

—स एवेति । आत्मा हि भूतानि सृष्ट्वा तदात्मना प्राणो भूत्वा शक्तिद्वयावष्टम्भेन सर्वमिन्द्रियवर्गं सृजतीत्यायवंध-
धुत्यर्थं पाठक्रमस्थानिचित्वात्तद्युक्त प्राणबुद्धिकार्यत्वेन तद्गृह्यत्वमिन्द्रियाणामिति भावः ॥ ननु प्राणादी-
नाममत्नोदासीनात्मकार्यत्वे किं कारणमित्याशङ्क्य निमित्तकारणमाह—स्वाभ्यस्तेति । उपादानकारणमाह—
भ्रष्टयेति । भ्रष्टिभ्रष्टकरणे श्रूयमाणस्य मयटोऽर्णमाह—प्रार्थार्थ इति । तत्र हेतु—विकारादेरिति । प्राणादि-
विकारत्वतत्त्वहृत्पत्वतदधीनत्वादेरात्मन्यप्राणो ह्यमना शुभ्रो न जायते म्रियते वेत्यादिभृत्या निषेधादित्यर्थः ।
मयटो विकारार्थत्वमुपेत्यापि स्वभते दोषराहित्यमाह—भविभातेति । विकारो वा मयट्यर्थित्वज्ञातस्याऽऽत्मन-

भवति । तथा वायव्यशरीरारम्भे वायुमयो भवति । तथाऽऽकाशशरीरारम्भे आकाशमयो भवति । 'एवमेतानि तंजसानि देवशरीराणि । तेष्वारभ्यमाणेषु तन्मयस्तेजोमयो भवति । 'अतो व्यतिरिक्तानि पञ्चादिशरीराणि नरकप्रेतादिशरीराणि 'चातेजोमयानि तान्यपेक्षयाऽऽहातेजोमय इति । 'एवं कार्पणसंघातमयः सत्तात्मा प्राप्तव्यं वरस्त्वन्तरं पश्यन्नित्थं मया प्राप्तमवो मया प्राप्तव्यमित्येवं विपरीतप्रत्ययस्तदभिलाषः 'काममयो भवति ।

भ्युपगमादित्यभिप्रेत्याऽऽह—तथाऽऽकाशेति । कथं पुनर्धर्मादिमयत्वे कामादिमयत्वमुपयुज्यते तत्राऽऽह

भारम्भ मे पापोमय हो जाता है । इसी तरह वायव्य शरीर के भारम्भ मे वायुमय हो जाता है । तथा आकाश शरीरारम्भ मे आकाशमय हो जाता है । इस प्रकार यह पूर्वोक्त पुण्य के प्रभाव से उत्पन्न तंजस दिव्य शरीर है । उनके भारम्भ होने पर तेजोमय हो जाता है । तंजस शरीरो से भिन्न पाप से उत्पन्न पञ्चादि शरीर नारकीय एवं प्रेतादि के शरीर हैं, उन्हें देखकर श्रुति मे "अतेजोमय" कहा जाता है । इस प्रकार यह आत्मा देहेन्द्रियसंघातमय होकर प्राप्त करने योग्य दूसरी वस्तु को देखता हुआ 'यह मुझे प्राप्त है, यह प्राप्त करनी देव है' इस प्रकार विपरीत प्रत्यययुक्त होकर उसकी अभिलाषा म

१. एवमेतानीति—एतानि पूर्वोक्तानि । तंजसानि—पुण्यप्रभवानीति यावत् । देवेति—दिव्यानि स्तुर्यानि प्रशस्तानि शरीराणीति यावत् । पूर्वोक्तशरीराणां तंजसत्वव्यापनाय मूले तेजोमयस्यान्ते प्रहणं कृतमन्यथा आपोमयाऽन्तरमेव पठधेत् अपा तेज कार्पण्येति विभावनीयम् । त्वग्गतदीप्तिविशेषशालित्वाद्वा तानि तंजसानि । २. एवमेतानि तंजसानि देवशरीराणीति—वाक्यप्रधानत्वात्तानि तंजसानि "तंजोमयी वापि"ति श्रुते । पापयते हि मनुष्यादिभिर्भूतैर्गारुष्या वाग्यपेष्टमुञ्चारायित्वा परवादभिस्तु नैवमिति तेषामतंजसानि शरीराणि तंजसत्वादेव च तानि देवशरीराणि दिव्यानीत्यर्थः । स्तुर्यानि प्रशस्तानीति यावत् । यदा तंजमानि पुण्यप्रभवानि । पुण्यं हि तेज सत्वप्रभवत्वात् सत्त्वं च प्रकाश इति । स्वगतदीप्तिविशेषशालित्वाद्वा तंजसानि । ३. यथोक्ततंजसशरीरेभ्यः । ४. पापप्रभवानीति यावत् । ५. विज्ञानमय इत्यारभ्य पृथिवीमय इत्यतः प्राक्तन-वाक्येन सूक्ष्मो निज्जदेहो व्याप्तित्वात् प्रधानो व्याख्यातः । पृथिवीमय इत्यारम्भे काममय इत्यतोऽर्जात्कनवाक्येन सूक्ष्मो देहो व्याप्यतया गुणो दक्षितस्तौ च पाञ्चभौतिकौ मिथश्च कार्पण्यमृतौ पूर्वोक्तरीत्योपदिष्टौ तत्सिद्ध-मत्स्यो देहेन्द्रियमयत्वं चिदभिव्यक्त्याह—एवमिति । ६. तत्रादात्म्यापद ।

वारणस्यवत्प्राणादिविकारत्वे दोषाभावादित्यर्थः ॥ परस्याज्ञानात्कारणत्वं ह्यज्ञानेनाऽह—सर्पादय इति । किमिवात्मनोऽज्ञस्य कारणत्वं प्रधानादिकारणात्तरसंभवादत् आह—न हीति । स्वसिद्धान्तस्य श्रुतिस्मृतिसंग्राह-नुसारित्वं हि शब्दार्थः ॥ परस्याज्ञानात्कारणत्वे श्रुतिसिद्धेऽपि प्रकृते किमायात् तदाह—प्राणादीति । परो हि प्राणाद्युत्पाद्य तद्रूपेण स्थित्वा तद्विकाराणामिन्द्रियाणां च वस्तुतोऽर्कतोऽप्यबोधतस्तदुद्भवे कर्ता भवतीत्यर्थः । उक्तं हि—"कारणं पुरुषस्तस्मात्कारणजैश्चदाहूत् । न चेत्यारणमात्मा स्यात्त्वाद्यं स्युरहेतुका" इति ॥ चक्षुर्धर्म इत्यादिरर्थमाह—चक्षुष इति । प्राणान्ते प्राणादिरपि यथा प्राणादिमयस्तथा चक्षुषश्चक्षुरपि यथाऽऽया चक्षुर्धर्मस्तथाऽप्य श्रोत्रादिमयस्तथाऽप्यज्ञानाधीना द्रष्टव्येति योजना । प्राणादिमयत्वमस्य वास्तवमस्तु किमज्ञाने-नेत्याशङ्क्याऽऽह—न विज्ञानति । आत्मा विज्ञानाद्यज्ञानजन्यमहंत्वेनाभिमन्यमानस्तन्मयत्वं भ्रान्त्या निगच्छति वस्तुतस्तु कूटस्थामज्ञाद्वितीयो न तन्मयो भवतीत्यर्थः । उक्तं हि—'अभ्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञ शाश्वती विभुरख्यम्' इति ॥

तस्मिन्कामे दोषं पश्यतस्तद्विषयाभिलाषप्रशमे चित्तं प्रसन्नम'कलुषं शान्तं भवति तन्मयो-
ऽकाममयः । 'एवं तस्मिन्विहते कामे केनचित्स कामः क्रोधत्वेन परिणमते 'तेन तन्मयो
भवन्क्रोधमयः । स क्रोधः केनचिदुपायेन निवर्तितो यदा भवति तदा 'प्रसन्नम'नाकुलं चित्तं
सदक्रोध उच्यते 'तेन तन्मयः । 'एवं कामक्रोधाभ्यामकामक्रोधाभ्या च तन्मयो भूत्वा धर्म-
मयोऽधर्ममयश्च भवति । न हि कामक्रोधादिभिर्विना धर्मादिप्रवृत्तिरुपपद्यते ।

“यद्यद्वि कुरुते कर्म तत्तत्कामस्य चेष्टितम्”

—न हीति । कर्म धर्मादिमयत्वं सर्वमयत्वे कारणमित्याशङ्क्याऽऽह—समस्तमिति ।

तादात्म्यापन्न हो जाता है । उस इच्छा में दोष देखने पर तद्विषयक अमिलाया से उपरत हो जाने पर चित्त प्रसन्न, कामकालुष्यरहित, विशेषवर्जित हो जाता है, उस प्रकार वा चित्त अकाममय होता है । काममय और अनाममय के समान ही किसी के द्वारा काम में बिध्न प्रस्तुत करने पर काम शोध में बदल जाता है, तादात्म्यापन्न होकर क्रोधमय हो जाता है । वह शोध जब (विचारादि) किसी उपाय से निवृत्त हो जाता है, तब चित्त स्वच्छ, आकुलतारहित हुआ अक्रोध कहा जाता है, उस चित्त से तादात्म्यवान् अक्रोधमय कहाता है । इस प्रकार कामक्रोधमय और अनाम-अक्रोधमय होकर धर्ममय और अधर्ममय होता है क्योंकि काम-शोधादि के विना धर्मादि में प्रवृत्ति संभव नहीं है । इसीका स्मृति समर्थन करती है । 'जो-जो कुछ भी जीव कर्म करता है, वह सब काम की चेष्टा करता है' । धर्ममय

१ अकलुषम्—कामकालुष्यरहितमत एव प्रसन्नं स्वच्छ शान्त विशेषवर्जितम् तन्मय तादाचिततादात्म्यापन्न इत्यर्थः । २ एवम्—कामाकाममयत्ववत् । ३ तादात्म्यापन्नः । ४ विचारादिना । ५ स्वच्छम् । ६ व्याकुलत्वरहितम् । ७ तादाचित्तेन सह तादात्म्यवान् । ८ एवं कामक्रोधाभ्यामकामक्रोधाभ्या च तन्मयो भूत्वा धर्ममयोऽधर्ममयश्च भवतीति । नात्र यथासत्त्वमन्वय अपितु कामे न धर्ममयोऽधर्ममयश्च भवतीत्येव प्रत्येक धर्माधर्ममयत्वान्वय । सत्कामनया हि धर्मं प्रवर्तमानो धर्ममयो भवति कामेन असत्कामनया चाधर्ममय कामेन, एव क्रोधेनापि प्रवर्तमानो धर्मं युद्धादौ धर्मिणादिधर्ममय क्रोधेन चाधर्मं प्रवर्तमानोऽधर्ममयः एवमसत्काम जिहासतन्मययोऽकामेन विहितेष्वप्यकामतोऽप्रवर्तमान प्रत्यव्याप्यधर्ममयोऽकामेन एवमक्रोधादहितम् धर्ममयोऽक्रोधेन दण्डानप्यक्रोधेनादण्डयत्नधर्ममयो भवत्यक्रोधेन राजेति । यथासत्त्वमन्वये त्वित्यर्थं कर्मचिद्योग्य तथाहि—अकामक्रोधाभ्यामित्यस्य कामक्रोधाभावरूपाभ्यामित्यर्थः । धर्ममयोऽधर्ममयश्चेत्यत्र धर्माधर्मशब्दो विहितप्रवृत्तिमय कामक्रोधाभावरूपाभ्यामक्रोधाभ्या च तन्मयो भूत्वा विहितप्रवृत्त्यभावमयश्च भवतीति तदर्थः । धर्मादिप्रवृत्तिरित्यस्य धर्मादिरूपा प्रवृत्तिरित्यर्थः । तथा च कामक्रोधावन्तरेण विहितप्रवृत्त्यभिधा प्रवृत्तिर्धर्मोक्ताकामक्रोधावृत्ते विहितप्रवृत्त्यभावाभिन्ना प्रवृत्तिश्च नैव सभवतीति तदर्थः । व्याहृतमित्यस्य बन्धमोक्षाख्यमुच्चावचयोग्यात्मक इत्यर्थः । तथा च धर्मशब्दविहितप्रवृत्ते फल बन्धोऽधर्मशब्दित्यस्य विहितप्रवृत्त्यभावस्य विवेकादिपुरस्कर्त्वे मोक्ष फल विवेकादिपूर्वकत्वाभावे तु तस्य तिर्यगाद्यवचयोनिः फल यथोक्तधर्मफल तु बन्धाख्यदेवाद्युच्चयोग्योनिरूपमेवेति तदर्थं इत्यप्याहुः ।

१. प्रवृत्ति प्रकृष्टा अचला वृत्ति. स्मितरीदामीन्यस्थितिरिति यावत् । २ बन्धो देवाद्युच्चयोग्याख्य ।

इति स्मरणात् । धर्ममयोऽधर्ममयश्च भूत्वा सर्वमयो भवति । समस्तं धर्माधर्मयोः कार्यं यावत्किञ्चिद्ब्रह्माकृतं तत्सर्वं धर्माधर्मयोः फलं तत्प्रतिपद्यमानस्तन्मयो भवति ।

किं बहुना 'तदेतत्सिद्धमस्य' 'यदयमिदंमयो' गृह्यमाणविषयोदिमयस्तस्मादयम'दो-
मयः । अद इति 'परोक्षं कार्येण' गृह्यमाणेन "निदिश्यते । अनन्ता ह्यन्तःकरणे "भावना-
विशेषाः । नच ते विशेषतो निर्दोषं शक्यन्ते । तस्मिन्स्मिन्कारो कार्यतोऽवगम्यन्त इद-
मस्य हृदि वर्ततेऽदोऽस्येति । तेन गृह्यमाणकार्येणोदंमयतया" निदिश्यते परोक्षोऽन्तःस्थो
व्यवहारोऽयमिदानीमदोमय इति । संक्षेपतस्तु यथा कर्तुं यथा वा चरितुं शीलमस्य सोऽयं

तद्यदेतदित्यादेरर्थमाह—किं बहुनेति । विषयः शब्दादिस्ततोऽन्यथैव प्रत्यक्षतो गृह्यमाणमादि-
शब्दायः । इदमयत्वमदोमयत्वे गमकमित्याह—तस्मादिति । विशेषतः "स्तन्मयत्वोक्तिं चिन्ता किमिति
सामान्योक्तिरित्याशङ्क्याऽह—अनन्ता हीति । तदस्ति त्वे मानमाह—तस्मिन्निति । अथगतप्रकार-
मभिनयति—इदमस्येति । इदमयत्वमदोमयत्वं चोपसहरति—तेनेत्यादिना । परोक्षार्थं व्याकरोति—
अन्तःस्थ इति । "व्यवहितविषयव्यवहारवानिति यावत् । इदानीमित्यस्मादुपरिष्ठादपि तेनेति संबध्यते ।
'परोक्षत्वावस्थेदानीमित्युक्ता । "तृतीयया "च प्रकृतो व्यवहारो निदिश्यते । इतिशब्दः सर्वमयत्वोप-

श्रीर अधममय होकर सर्वमय हो जाता है । जितना कुछ नामरूप से अभिव्यक्त होता है, वह सभी कुछ
धर्म और अधर्म का कार्य है, वह सब धर्म और अधर्म का फल है । उन्हें प्राप्त करने वाला धर्ममय-
अधर्ममय हो जाता है ।

अधिक क्या कहा जाय । इस आत्मा का सर्वमयत्व सिद्ध है क्योंकि यह "इदंमय" यानी प्रत्यक्ष
गृह्यमाण विषयादिमय है, इसी से यह अदोमय (परोक्षविषयादिमय) है । प्रत्यक्ष कार्य से गृह्यमाण परोक्ष
वस्तु ममूह का "अद" इस शब्द में निर्देश किया जाता है । क्योंकि अन्तःकरण में रागादिरूप अनन्त
भावनाविशेष है । उन सभी का अलग-अलग निर्देश करना संभव नहीं है । उस-उस क्षण में उनके कार्य
से ही जाना जाता है कि इसके हृदय में यह है और उसके हृदय में वह है । उस गृह्यमाण कार्य इदमयत्व
निर्देश किया जाता है और जो अन्तःकरण में स्थित परोक्ष व्यवहार है, वह इस समय अदोमय है ।
संक्षेपत जिसका जैसा करने का स्वभाव है, वह यथाचारी है, तथा जिसका जैसा प्राचरण करने के स्व-
भाव है, वह यथाचारी है । इस प्रकार वह यथाकारा और यथाचारी हो जाता है । 'करण' नाम मानाधीन

- १ नामरूपात्मनिभिव्यक्तम् । २ सर्वमयत्वम् । ३ आत्मन । ४ बुत । ५ यस्मात् । ७
प्रत्यक्षत । ७ परोक्षविषयादिमय । ८ वस्तुजातम् । ९ प्रत्यक्षेण । १० निदिश्यत इति—
यत्किमपि कर्म पुत्राशुभचेष्टारूप साक्षात्तलक्ष्य ते तदिदमित्येवोच्यते तेन प्रत्यक्षेण लिङ्गेन भावनारूप परोक्ष-
मद शब्दित तद्भेदुत्वेनानुमीयते तेन चेदमयत्वेन लिङ्गेनारोमयत्वमात्मनोऽनुमेयमिदमयत्वादोमयत्वयोर्भूमाग्यो-
रिव सर्वव्यवस्थात्मनि दृष्ट्याद्युक्त हि कार्येण कारणनुमानमिति भाव । ११ रागादिरूपा । १२. मयत्वेन ।
१३ घटादि । १४ अदोमयत्वोक्तिम् । १५ अदोमय शब्दायंमाह—व्यवहितेति । १६ विषयस्य ।
१७ तेनेत्यनया । १८ तथाचेदमयत्वे नेति भावत् ।

यथाकारी यथाचारी स तथा भवति । करणं नाम 'नियता क्रिया विधिप्रतिषेधादिगम्या चरणं' नामानियतमिति विशेषः । साधुकारी साधुर्भवतीति यथाकारीत्यस्य 'विशेषणं पाप-
कारी पापो भवतीति च यथाचारीत्यस्य ।

ताच्छील्यप्रत्ययोपादानादत्यन्ततात्पर्यतयैव तन्मयत्वं न 'तु तत्कर्ममात्रेणेत्याशङ्क्या-
ऽऽह 'पुण्यः 'पुण्येन कर्मणा भवति 'पापः पापेनेति । पुण्यपापकर्ममात्रेणैव 'तन्मयता स्यात्
तु ताच्छील्यमपेक्षते' । "ताच्छील्ये तु 'तन्मयत्वातिशय इत्ययं विशेषः । "तत्रः' काम-
क्रोधादिवृत्तकपुण्यापुण्यकारिता सर्वमयत्वे हेतुः संसारस्य कारणं "देहाद्देहान्तरसंचारस्य
च । "एतत्प्रयुक्तो "हृन्मयदन्वदेहान्तरमुपादत्ते । "तस्मात्पुण्यापुण्ये संसारस्य कारणम् ।

सद्गारायं । ज्ञानानमयादिवाक्यार्थं सक्षिपति—सक्षेपतस्त्विति । करणचरणयोरक्षयेन षोडशतममा-
शङ्क्याऽऽह—करण नामेति । आदिशब्दः शिष्टाचारसंग्राह्यः ।

वाक्यान्तरं शङ्कोत्तरत्वेनोक्त्याप्य व्याचष्टे—ताच्छील्येत्यादिना । कुत्र "तर्हि ताच्छील्यमुप-
पुज्यते तत्राऽऽह—ताच्छील्य त्विति । "पूर्वपक्षमुपसहरति—तत्रेत्यादिना" । कर्मणः संसारकारणत्व-
मुपसहरति—एतत्प्रयुक्ता हीति । संसारप्रयोजके कर्मणि प्रमाणमाह—एतद्विषयो हीति । कथं यद्योक्त-

क्रिया का है, जा विधि और प्रतिषेध शास्त्र से नियन्त्रित होती ही, 'चरण' नाम मान से निरपेक्ष का नाम है, यही इसमें विशेषता है । 'यथाकारी' इसका विवरण है कि साधुकारी साधु हो जाता है; 'यथाचारी' का विवरण है कि पापचारण करने वाला पापी हो जाता है ।

"यथाकारी और यथाचारी मे" ताच्छील्यार्थक 'णिनि' प्रत्यय होने मे कर्म में अत्यन्त तत्परता का शील होना ही तन्मयता है । सकृद् अनुष्ठित कर्म से ही तन्मयता नहीं आती । इसी आशङ्का से श्रुति कहती है—पवित्र शास्त्रीय कर्म से उत्कृष्ट देवादि की प्राप्ति एव शास्त्रप्रतिषेध पाप कर्म से तियगादि पाप योनियों की प्राप्ति होती है अर्थात् पुण्यपापमय कर्ममात्र से तत्फलभाक्ता आती है, उसके लिये ताच्छील्य की कोई अपेक्षा नहीं । (अभ्यासरूप) ताच्छील्य होने पर फलातिशय होगा; यही यहाँ विशेषता है । इस प्रकार कामक्रोधादि पूर्वक पुण्य और अपुण्य का अनुष्ठान करना जीव के सर्वमयत्व

- १ मानापीनेति यावत् । २ मानापीनम् । ३ विवरणम् । ४ पुण्यपापयोर्मूषोऽभ्यासेनैव तत्फल-
भाक्त्व वक्तुं स्यात्तु सकृदनुष्ठितेन कर्मणेत्यर्थः । ५ उत्कृष्टो देवादिः । ६ पवित्रेण शास्त्रीयण । ७
कामक्रोधादिभूषितिर्यगादि । ८ सकृदनुष्ठानमात्रत इति यावत् । ९ तत्फलभाक्ता । १० अभ्यासा-
त्तदनुष्ठानवैफल्यदिति भावः । ११ अभ्यासे सति । १२ फलातिशय इति यावत् । १३ तत्रेति—
पुण्यादे फलप्रदानेऽभ्यासानपेक्षत्वे सतीत्यर्थः । १४ देहाद्देहान्तरेत्यादि—संसारस्येत्यस्यैव विशेषणम् । धर्म-
धर्मात्मक कर्म संसारानर्थकारणमिति यावत् । १५ कर्मप्रयुक्तः । १६ यस्मात् । १७ तस्मात्—
देहान्तरोपादानस्योक्तकर्मप्रयुक्तत्वात् । १८ सकृदनुष्ठानादेव फलसिद्धौ । १९ पूर्वपक्षमिति—'पुण्य
पुण्येन कर्मणा भवती'ति वाक्येन पुण्यपापयोरैव संसारासाधारणकारणत्वमित्युक्त पूर्वपक्षमित्यर्थः । अत्र
यदा यथाकारीत्यास्य धर्मो खल्वानुष्ठितः प्राप्तानवाक्यस्य ताच्छील्यत्वात् कर्मणोऽपि ।
२० साफल्यमितीत्यन्तेन ।

तिषेधो' । 'अत्र शास्त्रस्य साफल्यमिति ।

'अथो अल्पन्ये बन्धमोक्षकुशलाः 'खत्वाहु'—सत्यं 'कामादिपूर्वके पुण्यापुण्ये शरीर-
ग्रहणकारण तथाऽपि कामप्रयुक्तो हि पुरुषः पुण्यापुण्ये कर्मणो 'उपचिनोति कामप्रहाणो

कर्मवियवत्ये विधिनियेषयोस्तियाशङ्क्याऽऽह—अत्रेति । इतिशब्दः पूर्वपक्षसमाप्त्यर्थः ।

सिद्धान्तमयतारयति—अथो इति । 'संसारकारणस्याज्ञानस्य प्राधान्येन 'कामः सहकारीति
स्वसिद्धान्त समर्थयते—सत्यमित्यादिना । कामाभावेऽपि कर्मणः 'सत्त्वं दृष्टमित्याशङ्क्याऽऽह—कान-

मे हेतु, उसके संसार वा कारण तथा देह से देहान्तर संचरण में हेतु है क्योंकि इन कर्मों से प्रयुक्त जीव
अन्य-अन्य देहान्तर को प्राप्त करता है । इसलिये पुण्य और पाप संसार के कारण हैं । विधि और
प्रतिषेध संसार प्रयोजक और प्रतिपादक हैं । यही कमवाण्डरूप शास्त्र की सफलता है ।

यहाँ बन्ध मोक्ष प्रतिपादन करने में प्रवीण अन्य विचारक जोर से कहते हैं । यह ठीक नहीं है

१ एतद्विषयो संसारप्रयोजककर्मप्रतिपादको । २ अत्रेति—यद्योक्तकर्मप्रतिपादकत्वे सति । शास्त्रस्य
कर्मकाण्डस्य । तथा च कर्मण एव शुभाशुभफलहेतुषु प्रधानत्वाच्छुभमेव कर्मानुष्ठेयम्मुदयमभीप्सुभिरित्यत्रैव
कर्मकाण्डपर्यवसानमित्यवधेयम् । ३ अथो इति—पूर्वपक्षानन्तर सिद्धान्तप्राप्तेऽप्यताद्योतकोऽप्योऽहम् ।
४ सतुसाद्विभ्रान् उच्चैरित्यर्थक । ५ कामादिपूर्वके पुण्यापुण्ये शरीरग्रहणकारणमिति—अत्र शरीरग्रहणकारण-
मिभ्रमेव पुण्यापुण्ये इत्येव कारणान्तपदोत्तरविभक्त्यर्थैवत्वस्य पुण्यापुण्यपदार्थैर्ज्वयबोधस्य पुण्यापुण्यपदार्थस्य
द्विस्वावरुद्धत्वेन बाधाच्छरीरग्रहणकारणसावच्छेदकैककमत्ववती पुण्यापुण्ये इत्येव कर्मत्वविशिष्टपुण्यापुण्यपदार्थ-
पदो कर्मत्व एव निरुक्तैकत्वान्वयबोधो बोध्य । यथा वेदा प्रमाणमित्यत्र वेदपदार्थस्य चतुष्टस्योऽज्वरुद्धतया
प्रमाणपदोत्तरविभक्त्यर्थैवत्वान्वयायोग्यत्वेन प्रमाणाभिन्न एको वेदा इत्यन्वयबोधस्य बाधात्प्रमाणत्वविशिष्ट-
वेदपदार्थैवदेशे प्रमाणात् एवोक्तैकत्वान्वयन प्रमित्तिजनकतावच्छेदकैकप्रमाणात्त्वन्तो वेदा इति शब्दबोधस्त
द्वत् । न च शक्त पदमित्यम्पुषमवाद्भिकत्यर्थैकत्वस्य पदार्थतया पदार्थैतान्वयो न्याय्यो न तु पदार्थैकदेशे
कर्मत्वाद् पदार्थ पदार्थैतान्वयति न तु पदार्थैवदेशेनेति नियमादिति साम्प्रतम् । निरुक्तनियमस्योत्सर्गिकतया
ऽसति बाधके एव न्याय्यत्वात् अथमन्यथोत्पन्नो घटो नष्टो घट इत्यादौ घटत्वविशिष्टपदार्थैकदेशस्य व्यक्ते
रेवोत्पत्तिविनाशपदार्थैरन्वय सर्वाभिमत । अत्र यथा जातेरित्येव विशिष्टान्वयबोधबाधक तथा प्रकृतेऽपि
पदार्थस्य द्विस्वाविविद्धसस्यावरुद्धत्वमिति । एव पुण्यपापे संसारस्य कारणमित्यादौ सर्वत्रायमेव पन्था ।
६ बाह्मन कायसाध्याया प्रवृत्ते काममूलतेत्यत्रान्वयव्यतिरेकयोःरानुकूल्य वक्तुं हिशब्द । ७ समनुत्तिप्रति
सम्पादयति । ८ ननु कामस्य संसारप्रयोजकत्वसाधनभूमित्वाम्युपगमे प्रत्यगज्ञान तन्मूलमिति सिद्धान्तहानिरित्या-
शङ्क्याऽऽह—संसारकारणस्येति । तदुक्तं वातिके—'प्रयोजकत्वं कर्मदि कामप्राधान्यमभिरितम् । प्रयोजकाना
निष्ठात्वे न तु कामो विवक्षितः ॥ यथा वस्त्वपरिज्ञान कामस्यापि प्रयोजकम्" ॥ २१३-१४ ॥ इति । यद्यपि
प्रकृतवाक्ये कामहेतुरज्ञानं न श्रुतं तथाप्यज्ञाने प्रमाणाप्रवृत्तिनियमादात्मनि श्रुतिप्रामाण्येऽज्ञानमधुतमपि सत्र
तत्प्रवृत्तिहेतुत्वेऽपि तथाच प्रतीचि दृश्यमान कामादि कारणात्तराभावाद्ज्ञानमेव तत्त्वेन स्वीकरोतीति भावः ।
वातिके यथा—'प्रयोजकत्वेऽविद्येयं यदि नामेह न श्रुता । मितिप्रवृत्तिहेतुत्वात्तथाप्यत्राऽऽश्रितैव सा" ॥ २१८
॥ इति । ९ न तु कर्मोत्त भावः । १० सत्त्वमिति 'नेह कश्चित्कारणमपी'ति स्मृते ।

तु कर्म विद्यमानमपि 'पुण्यापुण्योपचयकरं न भवति'। उपचिते अपि पुण्यापुण्ये कर्मणो कामशून्ये 'फलारम्भके न भवतः'। 'तस्मात्काम एव संसारस्य मूलम्'। तथाचोक्तमाथर्वणे "कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र" इति। 'तस्मात्काममय एवायं पुरुषो यदन्यमयत्वं तदकारणं विद्यमानमपीत्यतोऽवधारयति काममय एवेति।

यस्मात्सं च 'काममयः सन्पादशेन' कामेन यथाकामो भवति "तत्क्रतुर्भवति" स काम ईषदमिलापमात्रेणाभिव्यक्तो यस्मिन्निवषये भवति "सोऽविहृन्मन्यमानः स्फुटीमवन्क्रतुत्वमापद्यते। क्रतुर्नामाध्यवसायो निश्चयो यदनन्तरा क्रिया प्रवर्तते। यत्क्रतुर्भवति यादृशकाम-

प्रहाणे त्विति। ननु कामाभावेऽपि नित्याद्यनुष्ठानात्पुण्यापुण्ये "संचयीते तत्राऽऽह—उपचिते इति। यो हि पशुपुत्रस्वर्गादीनततिशयपुरुषार्थान्मन्यमानस्तानेष कामयते स तत्तद्भोगभूमी तत्तत्कामसयुक्तो भवतीत्यापर्वणश्रुतेरर्थः। श्रुतियुक्तिसिद्धमर्थं निगमयति—तस्मादिति। धर्मादिमयत्वस्यापि सत्त्वाद्यवधारणानुपपत्तिमाशङ्क्याऽऽह—यदिति।

स यथाकामो भवतीत्यादि व्याचष्टे—यस्मादित्यादिना। यस्मादित्यस्य तस्मादिति व्यवहितेन

किं कामादिपूर्वकं पुण्यं श्रौतं पापं हीं शरीरग्रहणं मे कारणं है, तथापि वाम से प्रेरितं पुरुष ही पुण्य-अपुण्य कर्मों को संपादित करता हैं। काम के न रहने पर तो वतमान वम भी पुण्यापुण्य का उत्पादक (अदृष्ट उत्पत्ति का प्रयोजक) नहीं होता। तथा कामनारहित होने पर (अपूर्वरूप में) सचित पुण्य-पापकर्म फलारम्भ में समर्थ नहीं होते। इसलिये काम ही संसार का मूल है। इसी को मुण्डकोपनिषत् में बतलाया गया है, 'जो कामनाओं का हो सब कुछ मानता हुआ उनकी इच्छा करता है, वह उन कामनाओं से उस-उस पद को प्राप्त होता है'। इसलिए वह पुरुष काममय ही है, इसका जो अन्य-मयत्व है वह विद्यमान रहते हुए भी कारण नहीं है। इसी से श्रुति निर्धारित बरती है—'यह सब काममय ही है।

क्योंकि वह आत्मा सामान्यतः वाममय होने से "यथाकाम" अर्थात् जिस प्रकार के व विशेष्य से युक्त रहता है, 'तत्रतु' अर्थात् वैसे निदचय वाला हो जाता है। जरा सी अमिलापा लेकर भी की हुई कामना जिस विषय के प्रति होती है उस कामनाविषयक गुणस्मरण के अभ्यास से अप्रतिबद्ध प्रतिक्षण बढ़ते हुए निदचय को धारण करती है। "क्रतु" नाम अध्यवसाय या निदचय का है, क्रिया

- १ अश्रुतिप्रयोजकम्। २ फलारम्भके न भवत इति—राम विना प्रमादोरनतऽपि दुरिते पुरुषस्य होपात्पत्व धमशास्त्रेपूतम्—'बण्डालान् प्रमादेन यदि भुञ्जीत यो द्विजः। उतश्चाग्रायणं कुर्यान्नासकं व्रतं चरेदिति ॥ तस्मादकामपूर्वकं कर्माफलमिति भावः। ३ तस्मात्—काम पूर्विकाया कायिकादि त्रिविधप्रवृत्तिं सफलत्वात्। ४ अपावर्ग इति—इहापि प्रागुक्तं 'आत्मवेदमप्र आमीदेक एव सोऽङ्गमयतेति'। 'यदद्वि कुरुते जन्पुरिति' स्मृतरत्नेत्यपि वाच्यम्। ५ तस्मात् सर्वप्रवृत्ती प्राधान्येन कामस्यैव प्रयोजकत्वात्। ६ काममय इति—'कामो गर्वाऽभिलाषश्च तुष्येत्येकार्यवाचका'। ७ ध्वारणम्—काम विना पलाजनवम्। ८ आत्मा। ९ मामागतं काममयत्यर्थः। १० काम-विशेषणं युक्तं। ११ तादाध्यवसायः। १२ कामस्यैव क्रतुत्वं वस्तु पातनिवासाह—सकाम इत्यादि भवन्तित्यन्तेन। १३ कामः। १४ अविहृन्मन्यमानं तद्विषयगुणस्मरणेणाभ्यासात्-अप्रतिबद्धः। १५ प्रतिक्षणं वर्धमानं। १६ अपूर्वरूपे। १७ उत्पद्यते।

'तदेव श्लोको भवति । तदेव सक्तः सह कर्मणैति
लिङ्गं मनो यत्र निषवतमस्य' । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य
यत्किंचेह करोत्यधम् । तस्मात्श्लोकोत्पुनरैत्यस्मै

उस विषय में यह मन्त्र भी है । इसका मन प्रधान लिङ्गदेह जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है; उसमें ही अभिलाषा प्रकट कर कर्म के सहित उसी फल को वह प्राप्त करता है । इस संसार में यह जीव जो कुछ भी करता है; उस कर्म का फल प्राप्त करके उस लोक से कर्म करने के लिए पुनः

कार्येण क्रतुना' यथारूपः क्रतुरस्य सोऽयं यत्क्रतुर्भवति' यत्कर्म कुरुते' यद्विषयः क्रतुस्तत्फल-
निर्वृत्तये यद्योग्यं कर्म, तत्कुरुते निर्वर्तयति । यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते, तदीयं
फलमभिसंपद्यते । तस्मात्सर्वमयत्वेऽस्य संसारित्वे च काम एव हेतुरिति ॥ ५ ॥

'तत्तस्मिन्नर्थे एव श्लोको मन्त्रोऽपि भवति' । तदेवेति तदेव गच्छति सक्तः आसक्तस्तत्रो-
द्भूताभिलाषः सन्नित्यर्थः । कथमेति । सह कर्मणा यत्कर्म, फलासक्तः सन्नकरोतेन कर्मणा
सहैव तदेति तत्फलमेति । किं तल्लिङ्गं मनः । मनःप्रधानत्वात् लिङ्गस्य मनो लिङ्गमित्युच्यते ।

संबन्धः । इतिशब्दो ब्राह्मणसमाप्त्यर्थः ॥५॥

तत्रेति गन्तव्य'फलपरायणः । तदेव गन्तव्य फलं विशेषतो ज्ञातुं पृच्छति—किं तदिति ।
प्रतीकभावात् ध्याचष्टे—लिङ्गमिति । 'योऽथगच्छति स प्रमात्रादिसाक्षी येन साक्ष्येण मनसाऽवगम्यते

उसके अनन्तर प्रवृत्त होती है । "यत्क्रतुर्भवति" अर्थात् जिस प्रकार के काम कार्यरूप निश्चय से
युक्त यानी यथारूप क्रतु वाला होता है; "तत्कर्म कुरुते" अर्थात् जिस फलविषयक निश्चय होता है,
उस फल की सिद्धि के लिए जो कर्म उपयुक्त है, उसे निष्पन्न करता है । जो कर्म करता है, "तदभिस-
पद्यते" अर्थात् उसीका फल प्राप्त करता है । इसलिए इस आत्मा के सर्वमयत्व और संसारित्व में
काम ही हेतु है ॥५॥

"तदेव श्लोको भवति" अर्थात् उस ब्राह्मणोक्त अर्थ में यह पूर्वार्ध मन्त्र है—"तदेवेति"
यानी स्वर्गादिफल को जाता है, "सक्तः" अर्थात् आसक्त हो प्रथवा उसमें अपनी जागृत इच्छा रखते
हुए । किस प्रकार जाता है ? "सह कर्मणा" अर्थात् जिस कर्म को फलासक्त होकर किया, उस कर्म
साथ वह (स्वर्गादि) फल को प्राप्त होता है । उसका लिङ्ग क्या है ? मन ही है । सत्तरह लिङ्गों में
मन ही प्रधान होने से मन ही 'लिङ्ग' शब्द से विशिष्ट है । अथवा जिससे प्रतीत होता है, जाना जाता

१. तत् तत्र ब्राह्मणोक्तेऽर्थे एव श्लोकः मन्त्र सार्धः । २. संसारिणः । ३. युक्त । ४. यत्फलविषय ।
५. पुमान् काममय एव कर्मादे स्थात्रयोजक इत्यनन्तरपूर्वसन्दर्भोक्तोऽर्थे । ६. सार्धः । ७. स्वर्गादिफलमेव ।
८. सप्तदशकस्य । लिङ्गम्, मन इति विशेष्यत इत्यर्थः । ९. ब्राह्मणवाक्यस्य मन्त्रस्य । भग्रे तु मन्त्र-
प्रवर्त्यतीति भावः । १०. स्वर्गादिफलम् । ११. प्रमात्रादि भासयति ।

लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथा'कामयमानो
योऽकामो निष्काम आप्तकाम 'आत्मकामो 'न तस्य'
प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्म'व सन्ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

इस मनुष्यलोक में आ जाता है (क्योंकि यह मनुष्यलोक ही कर्म प्रधान है, पर फलासक्ति के कारण पुन परलोक में जाता है, नि सन्देह कामना वाला पुरुष ही कर्मानुसार ऐसी शुभाशुभ गति को प्राप्त होता रहता है)। अब जो भ्रवाम पुरुष है, उसके विषय में कहने हैं। जो भ्रकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उस तत्त्वज्ञानी के लिङ्गदेह रूप प्राणों का उत्क्रमण शरीरान्तर के लिए नहीं होता। वह तत्त्ववेत्ता पुरुष ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

अथ वा लिङ्गघतेऽवगम्यतेऽवगच्छति येन 'तल्लिङ्ग' तन्मनो 'यत्र यस्मिन्नियथ तनिश्चयेन सक्तमुद्भूताभिलाषमस्य' ससारिणः । 'तदभिलाषो हि 'तत्कर्म' कृतवान् । तस्मात्त-
'न्मनोऽस्मिन्नवगच्छतेऽवगच्छति तेन कर्मणा तत्फलप्राप्तिः । 'तेनैतत्सिद्धं' भवति कामो, मूलं ससारस्येति । 'अत उच्छिन्नकामस्य विद्यमानान्यपि कर्माणि ब्रह्मविदो वन्द्यप्रसवानि भवन्ति । "पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः" इति श्रुतेः ।

तन्मनो लिङ्गमिति पक्षान्तरमाह—अथवेति । यस्मिन्नश्चयेन ससारिणो मन सक्त तत्फलप्राप्तिस्तस्येति सबन्ध । "तदेवोपपादयति—तदभिलाषो हीति । पूर्वार्थायमुपसहरति—तेनेति । कामस्य ससारमूलत्वे सत्यर्थसिद्धमर्थमाह—अत इति । वन्द्यप्रसवत्व निष्फलत्वम् । पर्याप्तकामस्य प्राप्तपरमपुरुषार्थायैवेति यावत् । कृतात्मन शुद्धबुद्धेर्विदितस'तत्त्वस्यैत्यर्थं । इहेति जीवदवस्थोक्ति ।

है प्रमाता भासता है वह लिङ्ग है । लिङ्गात्मक मन 'यत्र' अर्थात् जिस (स्वर्गादिफल) में यह जीव "निपक्त" दृढतापूर्वक आसक्त है अर्थात् उत्पन्न अभिलाषा वाला होता है क्योंकि उस फलाभिलाषा से युक्त होकर इसने कर्म किया था । इसलिए उस फल में मन के लगे रहने में इसे उस कार्य से उस फल की प्राप्ति हो जाती है । इस पूर्वार्ध मन्त्र में यह मिथ होता है कि काम ही ससार का मूल है । इसनिये आप्तकाम उस ब्रह्मवेत्ता के विद्यमान कर्म भी वन्द्या स्त्री के पुत्र के समान हैं । इसी को श्रुति कहती है — 'परम पुरुषार्थ को प्राप्ति हुए कृतात्मा पुरुष की सारी कामनाएँ यहीं प्रविलीन हो जाती है" ।

१ अकामयमानत्व नाम कामनाप्रवर्तमानत्व कामनाप्रयुक्तप्रत्यक्ष यत्कर्मिति यावत् । तत्र हेतुरकाम इति—शान्तिदिवियवकस्युलकामनारहित इत्यर्थं । अकामत्वे हेतुनिष्कार्यत्वम् । तच्च (मतिग्रहणद्वित) कामवासनारहितत्वम् । एवमपि उत्तर पुरुषहेतु । २ आत्मातिरिक्ते कामाभाववान् । ३ न तस्येति—यतस्तस्य विदुष प्राणा बागादपो नो क्रामन्ति कामाभावेन कर्माभावे मति गमनकारणाभावात् स जीवनेव ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति प्राप्नोति देहाद्यावरणविच्छेत्तापेक्षयाऽप्यतीवरेमुपचयते नित्यप्राप्तत्वादेवेत्यर्थः । ४ योऽवगच्छति प्रमात्रादि भासयति स येन लिङ्गघते । ५ तन्मन लिङ्गमिति विशेष्यत इत्यर्थः । ६ स्वर्गादिभ्यः । ७ आसीत् । ८ फलाभिलाषवान् । ९ फलावृत्तं कर्म । १० तत्र फले । ११ मन्त्रपूर्वार्धेन । १२ अथतरणोक्तार्थत्वात् । १३ फलकामनेव तत्फलप्राप्तिमूलमित्येतदेव । १४ स्वरूपस्य ।

किञ्च प्राप्यान्तं कर्मणः प्राप्य भुक्त्वाऽन्तमवसानं यावत्कर्मणः फलपरिसमाप्तिं कृत्वेत्यर्थः । तस्य कर्मणोऽन्तं प्राप्येत्युच्यते—तस्य यत्किञ्च कर्महास्मिँल्लोके करोति निर्वर्तयत्यर्थं तस्य कर्मणः फलं भुक्त्वाऽन्तं प्राप्य तस्माल्लोकात्पुनरैत्यागच्छत्यस्य लोकाय कर्मणोऽयं हि लोकः कर्मप्रधानस्तेनाऽऽह कर्मण इति पुनः कर्मकरणाय पुनः कर्मं कृत्वा फलासङ्गवशात्पुनरमुं लोकं यातीत्येषम् । इति न्वेवं नु कामयमानः संसरति । ऋयस्मात्कामयमान एवैवं संसरत्यय तस्मादकामयमानो न क्वचित्संसरति ।

कामप्रधानः संसरति चेत्कर्मफलभोगानन्तरं कामाभावाद्युक्तिः, स्वाश्रित्याशङ्क्याऽऽह— विचेति । इतश्च सत्तारस्य कामप्रधानत्वमाश्लेषमित्यर्थः । यावदवसानं तावद्भुक्त्वेति सत्त्वप. । उक्तमेव ससिपति—यमंण इति । इत्येव पारम्पर्येण संसरणादृते ज्ञानात् मुक्तिरिति शेषः । सत्तारप्रकरणमुपसंहरति—इति न्विति । अथरथाऽयस्य दार्ष्टान्तिकं दग्धं प्रवन्देन दशद्विधं सुपुत्रय दार्ष्टान्तिक मोक्ष यत्तुमपेरथावि वाक्य तत्राप्यशङ्क्यमाह—यस्मादिति ।

तथा 'प्राप्यान्तं कर्मणा' अर्थात् जहाँ तब कर्मों वा अवसान है, वहाँ तक उमे भोगकर अर्थात् उमकी फलसमाप्ति करने । "किस कर्म वा पर्यवसान करके" इस पर श्रुति बहती है "तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्" अर्थात् वह जो कुछ भी कर्म इस लोक में करता है, यह उस कर्म वा फल भोग-कर यानी अन्त पाकर भुक्त भोग लोक से पुन कर्म करने के लिए इस देह में आ जाता है क्योंकि यह लोक कर्मप्रधान है । इसी से कहा है—"यमंण इति" अर्थात् पुन कर्म करने के लिए । पुन. वम करके फलासक्ति वशात् पुन परलोक जाता है । "इति नु" अर्थात् इस प्रकार ही, कामनायुक्त हो संसरण करता रहता है । क्योंकि यह कामनायुक्त होकर संसरण करता है, प्रकामयुक्त (इस लोक परलोक में) नहीं भी संसरण नहीं करता ।

- १ भुक्तभोगात् । २ देहाय । ३ कर्मकरणार्थम् । ४ चातिवे नु इति नु इत्यनयोर्निपातयो वेदाऽनु-कर्म्ये अर्थात्तुक्ते । ५ सत्तु । ६ इहामुन वत्यर्थम् । ७ अथस्याद्वयस्येत्यादि—चतुर्थाध्यायतृतीय-ब्राह्मणे षष्ठादशादिषु षड्कोक्तस्य जागराद्यवस्थाद्वयसत्त्वारत्यत्यर्थम् । अथ जागरात्स्वप्नेति स्वप्नाच्च जागर तथाऽस्माल्लोकादमुं लोकममुष्मात्पुनरियमतीत्यर्थम् । ८ लोकात्त्वोकात्संसरणाख्यम् । ९ एतावता प्रवन्देन । १० सुपुत्रयेति—यथा योपिदालिङ्गने पुत्री रूपं स्त्रीवाक्येन श्रुतिरवदत् तथा सौपुत्रस्थान प्राप्तस्य कामादिहीन रूपमतिच्छन्दावाक्येन मोक्षदृष्टान्तभूतमुक्त तस्य दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिक मोक्ष-मित्यर्थम् ।

ॐ यस्मादित्यादि मुच्यते एवत्यन्तभाष्ये अन्तनिहितार्थाविष्कारराशौमिति चार्तिकानि । तथाहि—'अय-दान्दोऽत्र हेत्वर्थं उक्तस्य सदपेशत । काम्यव हि यतोऽत्रस्य संसरत्यविचक्षण ॥ तद्भावभावित्हेतुत्वादतोऽकामो विमुच्यते । नरोऽकामयमान स्मात्कामहेतोर्निराकृते ॥ स्वत एवाखिलसुखप्राप्ततत्त्वे स्व शान्तिनि । निरस्ता-शेषदुःखे च मोहात्तत्र विषयं ॥ अप्राप्त, दुःखवन्माहात्मनवान सुखमुत्तमम् । सुख मे स्यादिति सदा नर-कामयतेऽप्युच । तथा परिहृताशेषदुःखहेतु स्वताऽपि सन् । मा भूददुःख मनेत्येव जाड्याकामयतेऽनिरामम् ॥ कृत्स्नानन्दस्य चानासिरवातिरसुखस्य च । नाऽऽमवस्त्वनुपेयेन तदवोवात्तदनुते ॥ वस्तुतश्चा भवेद्विद्या कर्तुं तन्त्रैव च क्रिया । घत कामयमानत्व कर्तुं तन्त्रमवोचत ॥ कारकाण्युपमृद्नाति विद्यावीजमिवापरम् ।

फलासक्तस्य 'हि गतिरुक्ता । अकामस्य 'हि क्रियानुपपत्तेरकामयमानो मुच्यत एव । कथं पुनरकामयमानो भवति । योऽकामो भवत्यसावकामयमानः । कथं कामतेत्युच्यते—यो निष्कामो यस्मान्निर्गताः कामाः सोऽयं निष्कामः । कथं कामा निर्गच्छन्ति । य आप्तकामो भवत्याप्ताः कामा येन स आप्तकामः । कथमाप्यन्ते कामा आत्मकामत्वेन यस्याऽऽत्मैव नान्यः कामयितव्यो वस्त्वन्तरभूतः पदार्थो भवति । आत्मैवानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एकरसो नोर्ध्वं न तिर्यङ्नाथ आत्मनोऽन्यत्कामयितव्यं वस्त्व-

कामरहितस्य सत्साराभाव साधयति—फलासक्तस्येति । विदुषो निष्कामस्य क्रियाराहित्ये 'नेष्कर्म्यमयत्नसिद्धिमिति भावः । अकामयमानत्वे प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह—वयमित्यादिना । बाह्येषु शब्दादिविषयिष्येष्वा 'सङ्गाराहित्याद' कामयमानतेत्यर्थं । अकामत्वे हेतुमाकाङ्क्षापूर्वकमाह—कथं मिति । वासनारूपकामाभावावकामतेत्यर्थः । निष्कामत्वे प्रश्नपूर्वकं हेतुमुत्पाप्य व्याचष्टे—कथं मिति । प्राप्तपरमानन्दत्वादिष्कामतेत्यर्थं । आप्तकामत्वे हेतुमाकाङ्क्षापूर्वकमाह—वयमित्यादिना । हेतुमेव साधयति—यस्येति । 'तस्य युक्तमाप्तकामस्यमिति शेष । उक्तमर्थं प्रमाणप्रदर्शनार्थं प्रपञ्चयति

फलासक्त की गति बतला दी गई । पर्याप्तकाम मे क्रिया सभव न होने के कारण अकाम-युक्त मुक्त हो जाता है । किन्तु यह अकामयमान किस प्रकार होता है ? जो कामशून्य हो, वही अकाम-यमान हाता है । कामशून्य कैसे होता है, इस पर श्रुति कहती है । 'निष्काम' अर्थात् जिसकी कामनाएँ निर्गत हो गयी हैं वह निष्काम है । कामनाएँ निर्गमन कैसे करती हैं ? जो आप्तकाम हो जाता है अर्थात् (परमानन्द में स्वर्गादि सभी कामनाओं का अन्तर्भाव हो जाने से) जिसने सभी कामनाओं को प्राप्त कर लिया है । कामनाओं की प्राप्ति कैसे होती है ? आत्मकाम होने से ; जिसकी कामना का विषय आत्मा से भिन्न और कुछ पदार्थ नहीं होता । आत्मा अनन्तर, अबाह्य, पूर्ण, प्रज्ञान-घन और एकरस है, आत्मा से भिन्न कामना करने योग्य वस्तु न ऊपर है, न इधर-उधर है ; न नीचे

१ कामस्यानर्थमूलत्वमनुभवानुसारीति हिशब्दाद्य । २ पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु 'अकामस्य क्रिया काचिदि नि श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिद्योतको द्वितीयो हिशब्द । ३ प्राप्तपरमानन्द परमानन्दे च स्वर्गादिसर्व-कामान्तर्भावान्निर्वासन । ४ वैबल्पम् । ५ हेतुम्—अकामत्वाव्ययम् । ६ कामराहित्यात् । ७ काम-प्रयुक्तप्रयत्नशून्यता । ८ आमकामस्य विदुषः ।

सत्कारणोपमदित्वाऽऽजन्मनैव न कारकम् । यत एवमतो विद्वान्कामहेतुपमर्दनात् । स्यादकामयमानोऽत्र न स्वविद्वान्कथंचन ॥ २५४ २६३ ॥ इति । यस्मादित्यादिभाष्येणायशब्दार्थमाह—अथशब्द इति ॥ तत्र हेतु — उत्तम्यति । उक्तो बन्धस्तस्य कामापेक्षत्वात्समात्कामी सत्सरीति तस्मादकामो मुच्यत इत्यत्र विवक्षितमित्यर्थं । सत्सरीत्य कामापेक्षा साधयति—काम्यवेति । कामस्यानर्थमूलत्वमनुभवानुसारीति हिशब्दार्थं । यत शब्दस्योत्त-रेणत शब्देन सदन्य । कामित्वे हेतु—अविचक्षण इति ॥ काम्यव ससारीत्यत्र हेतुमाह—सङ्गाधेति । तस्य कामस्य भावे बन्धस्य भावाद्विपर्यये चाभावात्तस्य त प्रति हेतुत्वसिद्धेरित्यर्थं । कामी सत्सरीति सिद्धे र्णित्यमाह—अत इति । सत्यमकामो मुच्यते वय स्वकामत्व सदाह—नर इति । यदा नाकामो मुच्यते धुस्तस्या-कामस्यापि पुनस्तस्यानर्थादित्यासाङ्गाऽऽह—नर इति ॥ वस्तुहि कामहेतुस्तत्राऽऽह—स्वत इति ॥ निरतिशयसुखे प्रतीचि मोहकृत विपर्ययमभिनयति—अप्राप्तमिति ॥ निरस्तसमस्तदुभे तस्मिन्प्रविद्यातो विपर्ययमुदाहरति—

न्तरम् । यस्य सर्वमात्मैवामूत्तकेन कं पश्येच्छ्रयान्मन्वीत विजानीयाद्वैवं विजानकं कामयेत । ज्ञायमानो ह्यन्यत्वेन पदार्थः कामयितव्यो भवति । न चासावग्यो ब्रह्मविद् आप्तकामस्यास्ति । य एवाऽऽत्मकामतयाऽऽप्तकामः स निष्कामोऽकामोऽकामयमानश्चेति मुच्यते । न हि यस्याऽऽत्मैव सर्वं भवति तस्यानात्मा कामयितव्योऽस्ति । अनात्मा चान्यः कामयितव्यः सर्वं चाऽऽत्मैवामूदिति विप्रतिपिद्धम् । सर्वात्मदर्शनः कामयितव्याभावात्कर्मानुपपत्तिः ।

ये तु प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्म फलपयन्ति ब्रह्मविदोऽपि तेषां नाऽऽत्मैव सर्वं

—आत्मैवेति । कामयितव्याभावं ब्रह्मविदः श्रुत्यवष्टम्भेन स्पष्टपत्ति—यस्येति । इति विद्यावत्या यस्य विदुषोऽस्ति सोऽयमविजानन्न कंचिदपि कामयेतेति योजना । पदार्थोऽयत्वेनाविज्ञातोऽपि कामयितव्यः स्यादिति चेन्नेत्याह—ज्ञायमानो हीति । अनुभूते स्मरणविपरिवर्तिनि कामनियमादित्यर्थः । अन्यत्वेन ज्ञायमानस्तर्हि पदार्थो विदुषोऽपि कामयितव्यः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । प्राप्तकामस्य ब्रह्मविदो दर्शितरीत्या कामयितव्याभावे मुक्ति सिद्धेत्युपसंहरति—य एवेति । कथं कामयितव्याभावोऽनात्मनस्तथात्वादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । सर्वात्मत्वमनात्मकामयितृत्वं च स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अनात्मा चेति । अथेत्यादिवाक्ये श्रोतमर्थमुक्तत्वाऽर्थसिद्धमर्थं कथयति—सर्वात्मदर्शन इति ।

कर्मजडानां मतमुत्पाप्य भूतिविरोधेन प्रत्याचष्टे—ये त्विति । ब्रह्मविदि प्रत्यवायप्राप्ति-

हे । “जिस ब्रह्मात्मवेत्ता के लिए सब कुछ आत्मस्वरूप हो गया है, वह किसके द्वारा किसे देखे, किसे सुने, किसे मनन करे, किसे जाने” । इस प्रकार जानने वाला किसकी कामना करे । अन्यत्वं रूप से जानने योग्य पदार्थ ही कामना का विषय होता है और आत्मकाम ब्रह्मवेत्ता को दृष्टि में कुछ अन्य पदार्थ ही नहीं । जो भी इस प्रकार आत्मकाम होने से आप्तकाम होता है, वह (हेतुहेतुमद्भाव से) निष्काम, अकाम और अकामयमान है, इसीसे मुक्त हो जाता है । जिसके लिए आत्मा ही सब कुछ है, उसके लिए आत्मभिन्न वस्तु कामयितव्य नहीं हो सकती । अन्य अनात्म पदार्थ कामयितव्य रहे, “सब कुछ आत्मा ही हो गया” इस श्रुतिवाक्य से ब्रह्मात्मैक्य अनुभूति भी रहे—दोनों परस्पर विरुद्ध बातें हैं । सर्वात्मदर्शी के लिए अन्य कामयितव्य पदार्थ का अभाव होने से कर्म होना संभव ही नहीं है ।

जो लोग प्रत्यवाय के परिहार के लिए ब्रह्मवेत्ता के लिए भी कर्म का विधान करते हैं,

१. विज्ञानु । २ तत्तमात् । ३ अथेत्यादि वाक्यस्यार्थं हेतुहेतुमद्भावितोत्तमुपसंहरति—य एवत्यादिना ।

४ स्मरणविषयी भवति वस्तुनीत्यर्थ । ५ ज्ञायमानस्त्वं कामयितव्यत्वमित्यर्थे । ६ कामयितव्यात् । ७ अथेत्येति शब्दम् । ८ सर्वस्यात्मत्वप्रतिपादनश्रुतिविरोधेन ।

तथेति ॥ मुखस्याप्राप्तिर्दुस्वप्न प्राप्तिश्चेत्यनुभवाविद्य तत्प्रपञ्चयति—कृ स्नेति ॥ कामस्य स्वाविद्या हेतुरित्युक्त तत्रैव हेतुवन्तर वस्तु सामान्यन्यायमाह—वस्त्विति । अस्तु प्रस्तुत किं जात तदाह—अत इति । कामस्य क्रियारूपत्वेन कर्तृत्वत्रवात्कर्तृत्वज्ञानजत्वात्तस्यापि तज्जन्यत्वसिद्धिरित्यर्थं ॥ क्रियारूपत्वाऽपि कर्तृत्वत्रेत्याशङ्क्याऽऽह—कारकालीति । कथं कारकापमदित्व विद्याया सिद्ध तत्राऽह—तदिति । विद्या जन्मानुपपैव कारक न सिध्यति तस्या स्वोदयमात्रेण तत्कारणाविद्योपमर्शित्वादित्यर्थं । स्वाविद्या कामहेतुरिति स्थिते फलितमाह—यत इति । अथेत्यधिकारिनिर्धारणे सप्तमी ॥

भवति' । प्रत्यवायस्य जिहासितव्यस्याऽऽत्मनोऽन्यस्याभिप्रेतत्वात् । येन चाशनायाद्यतीतो नित्यं प्रत्यवायासंबद्धो विदित आत्मा तं चयं ब्रह्मविदं ब्रूमः । नित्यमेवाशनायाद्यतीतमात्मानं पश्यति । यस्मान्नु जिहासितव्यमन्यमुपादेयं वा यो न पश्यति तस्य कर्म न शक्यत एव संबद्धु(न्धु)म् । यस्त्वब्रह्मवित्तस्य भवत्येव प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्मेति न विरोधः । अतः कामाभावादकामयमानो न जायते ऋमुच्यत एव ।

मङ्गीकृत्योक्तमिदानीं तदप्राप्तिरेव तस्मिन्नास्तीत्याह—येन चेति । ययोक्तस्यापि ब्रह्मविदो विहितत्वादेव नित्याद्यनुष्ठान स्यादिति चेन्नेत्याह—नित्यमेवेति । यो हि सर्वबासंसारिणमात्मानमनुभवति न च हेयमादेयं वाऽऽत्मनोऽन्यत्पश्यति । यस्मादेवं तस्मात्तस्य कर्म सप्रश्रुमयोग्यम् । ययोक्तब्रह्मविद्यया कर्माधिकारहेतूनामुपमृदितत्वादित्यर्थः । कर्मसंबन्धस्तर्हि कस्येत्याशङ्क्याऽह—यस्त्विति । न विरोधो विधिकाऽप्येति शेषः । श्रुत्यर्थस्या सिद्धमर्थमुपसहरति—मेत इति । विद्यावशादित्येतत् । कामाभावात्कामाभावाच्चेति द्रष्टव्यम् । प्रकामयमानोऽकुवाणश्चेति शेषः ।

उनक लिए आत्मा ही सब कुछ नहीं है (इससे श्रुति विरोध होता है) क्योंकि प्रत्यवाय तो त्यागने योग्य होना प्रतीत है, जो आत्मा स भिन्न ही है । जिसने आत्मा को प्रशनायादि पढ़ूँमिरहित, नित्य प्रत्यवाय से असंबद्ध जान लिया, उसे ही हम ब्रह्मवेत्ता कहते हैं । वह हमेशा धुधा पिपासातीत आत्मा का ही देखता है । क्योंकि वह त्याग या ग्रहण करने योग्य अन्य कुछ भी नहीं देखता, इसलिये उसे कर्म बाँधने में समर्थ नहीं हो सक्ते । एव जो अब्रह्मवित् है, उसी के लिए प्रत्यवाय परिहारार्थ कर्म का विधान है । इसमें कोई श्रुतिविरोध नहीं प्राता । इसलिये नामना के अभाव के कारण प्रकामयमान उत्पन्न नहीं होता, मुक्त हो जाता है ।

१ तथा च श्रुतिविरोधः । २ पशूँमिरहितः । ३ यणित्वाद्यभिमानादीदाम् । ४ ययोक्तब्रह्मविद-
कर्मससर्गायोग्यत्वे । ५ कर्मकाण्डस्य । ६ अक्षरतात्वर्थान्याम् । ७ कर्माभावादिति—तत्राधिकारा-
भावादिति यावत् ।

ऋमुच्यत एवेत्यादि देहादित्यन्तर्भाष्ये वातिकाचार्यास्तयाहि—ससारानर्थबीजस्य प्रध्वसादात्मबोधत । तस्मादात्मनि विज्ञाते कामहेतोस्तभवात् ॥ कामवर्माद्यसङ्गात्प्राप्त्यं आत्माऽवतिष्ठते । न तस्येत्युत्तरोक्त्याप्य ययोक्तोऽर्थं समर्प्यते ॥ असात्तानर्थहेतुत्व यदुक्त प्रत्यगात्मनः । योऽकाम इत्यादिगिरा यो वदाऽऽत्मनमागमात् ॥ जिहृक्षत्यामस्य तस्य शास्त्राचार्यात्मनिश्रयात् । तस्मोऽत्रामन्ति न प्राणा आसत नापि तत्र ते ॥ स्थित्युक्ता-
न्त्योर्हि यो हेतुरात्माविद्यादिलक्षणः । ध्वस्तत्वात्तस्य सर्वस्य प्रत्यग्याथात्म्यदर्शनात् ॥ यत एवमत प्राणा सम्पन्नानस्य जन्मनि । नोक्तामन्ति न तिष्ठन्ति न च नश्यन्त्यहेतुत् ॥ रज्जुसर्पो यपालोनेऽज्ञातरज्जुसतत्वकः । नोक्तामन्ति न चाप्यास्ते न च नश्यति रज्जुतः । स्थित्युक्तान्तिविनाशाना रज्जुसतत्व यतस्ततः । रज्जुज्ञान-
समुत्पत्तो रज्ज्वा नान्योऽवशिष्यत ॥ अविद्यातज्जनिर्मुक्त वस्त्वैवति भण्यत । समित्यैकात्म्यमात्रेण प्राणानां स्थितिर्लभ्यते ॥ अवनयन्त इत्युक्त्या नासादिभ्योऽन्यतो गति । प्रत्यङ्मात्रैव तिष्ठत्वान् भावाभावयो स्थितिः ॥ सादात्म्यमेव सर्वस्य कार्यकारण्यस्तुन । उक्त्वात्प्रादेश्च कृत्स्नस्य सवमात्मतिशास्त्रतः ॥ २०३-२६३ ॥ कैय मुक्तिर्न हि सा निर्धारिता वादिविप्रतिपत्तेरित्याग्न्याऽह—ससारिति । शान्दाशानतज्जगध्वासादपूर्णाताहेत्व-
भावात्पूर्णेपेणावस्थानं मुक्तिरित्यर्थः ॥ तत्र विप्रतिपत्तिनिरासार्थं न तस्ये यादिकाव्यङ्ग्यमवतारयति—
नेति ॥ ययोक्तमर्थमेव व्यनक्ति—अप्रास्तेति । असंप्रदृष्टात्मरूपेणावस्थानरक्षण मोक्ष पूर्ववाक्योक्तमनन्तर-

तस्यैवमकामयमानस्य कर्माभावे गमनकारणाभावात्प्राणा वागादयो नोत्क्रामन्ति नोर्ध्वं क्रामन्ति देहात् । स च विद्वानाप्तकाम 'प्राप्तकामतयेहेव' ब्रह्मभूतः । सर्वात्मनो हि ब्रह्मणो दृष्टान्तत्वेन प्रवक्षितमेतद्रूपं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकामकामं रूपमिति । तस्य हि दार्ढ्यान्तिकभूतोऽयमर्थ उपसंह्रियतेऽथाकामयमान इत्यादिना । स कथमे-

देशांतरप्राप्त्यायत्ता मुक्तिरित्येतन्निराकर्तुं न तस्येत्यादि व्याचष्टे—तस्येत्यादिना । ब्रह्मैव सन्नित्येतदवतारयति—स चेति । कथं वर्तमाने देहे तिष्ठानेव ब्रह्मभूतो भवति तत्राऽऽह—सर्वात्मनो हीति । दृष्टान्तालोचनया दार्ढ्यान्तिकेऽपि सदा ब्रह्मैव भातीति भावः । सदा ब्रह्मीभूतस्य मुक्तिर्नाम 'नास्तीति शङ्कित्वा "परिहरति—स कथमिति । परिहृत्त्वेन "स्फोरयितुं न तस्येत्यादिव्याध्यायं-

इस प्रकार 'तस्य' यानी अकामयमान उम पुरुष के कर्मका अभाव हो जाने से, गमनकारण का अभाव होने से 'प्राणा' अर्थात् वागादि प्राण "नोत्क्रामन्ति" अर्थात् देह से ऊपर को नहीं जाते । प्राप्त परमानन्द आत्मकाम होने से वह प्राप्तकाम विद्वान् यही वर्तमान देह में स्थित रहता हुआ ही ब्रह्मीभूत हो जाता है । 'निश्चय ही वह यह इसका प्राप्तकाम, आत्मकाम और अकामरूप है' इस

१. प्राप्तपरमानन्द । २ आत्मकामतयाऽऽप्तकाम इत्यन्वय । ३ वर्तमानदेहे तिष्ठानेव । ४ ब्रह्माप्येतीति सन्नित्येव । ५ सौपुप्त रूपम् । ६ तद्वा अस्येति—अस्य सुपुत्रो सर्वात्मभावप्राप्त्याऽऽप्तमन तदेतद्रूपम् । तस्य विशेषणानि प्राप्तकाममित्यादीनि । प्रकाममित्यस्यानन्तर दोषाग्नारमिति विशेषणान्तरम् दोकशून्यमिति तदर्थं । ७ आत्मा कामा सुखमिति यावत् अत्र तत् । आत्मैव काम सुखसाक्षात्कारलक्षणो यत्र । प्रतएव काम्याभावादकाम तद्रूपमिति । ८ वृ उ ४ ३ २१ । ९ उक्तात्मन । १० ददो हि मुच्यते । ११ न हीत्यत प्राक्तनप्रत्येन । १२ कथयितुम् ।

वाक्यद्वय समर्थयते तत्र श्रौतीर्षं विवादो वैद्विधानामितरे तु प्रमुदस्ता इत्यथ । वाक्पाक्षराणि व्याकरोति—यो वेदेति ॥ प्राणानामनुत्क्रमण वाङ्मात्रब्रह्मविदो नाश्रोच्यते किन्तु मनुष्योऽहमितिवदह ब्रह्मेतिदृष्टप्रत्ययवत् सत्याभिसधस्य तसपरशुषहणादिपथसमर्थमन्यस्यर्थं ॥ विमिति प्राणा ब्रह्मविदो नोत्क्रामन्ति इत्यते हि तस्यापीतरवदुत्क्रमणमत आह—स्थितोति । उत्त्रमणादिहेतुत्वमविद्यादरन्वयव्यतिरेकलभ्यमिति हिंसाद्यार्थः । तत्कार्यस्मात्स्थितिरिति दोष ॥ उत्क्रान्तिस्थितिहेत्वभावे वाक्यार्थमुपसहरति—यत इति ॥ आत्मयायात्स्यज्ञानादज्ञानादिध्वस्तो प्राणानामुत्क्रान्तिस्थितिनारा न सिध्यन्तीत्यत्र द्वापन्तमाह—रज्ज्वति । घनातेति च्येद । रज्जुरेव तत्र कल्पितसंपर्यय तत्त्वमित्युक्त हेतु प्रपञ्चयति—स्थितोति । एवमारमज्ञानोत्पत्तावन्यानवशेषात् प्राणोत्क्रान्त्यादि सिध्यतीति दोष ॥ अत्रैव समवनीयन्त इति माय्यदिनश्रुतावत्रैवेत्यस्यार्थमाह—अविचेति । उपसर्गांशमाह—समितोति ॥ क्रियापदार्थमाह—अवनीयन्त इतीति । अन्वयव्यतिरेकाभावपरिहारेण प्राणानामात्मन्यत्रतया स्थितिरवनयनमित्येतदुपपादयति—प्रत्यमिति ॥ ननु मवम्याऽऽप्तमप्रावे साधकाभावादात्मसिद्धिर्न च शास्त्रात्तिसिद्धिरतस्याज्ञाने प्रवृत्तेर्न च सर्वस्याऽऽप्तत्वे ततोऽप्यदज्ञानमस्ति न चाज्ञानादि निवर्तते निवृत्त चेति व्यबहारस्ते सभवत्यत आह—इति वस्तु स्वता बुद्धमज्ञान चानुभूतित ॥ प्रत्यस्यावात्म्यमाश्रवात्तस्मोहोदप्यशेषतः । निवर्तते निवृत्त चेत्येतदप्यनुभूतित ॥ २१४-२१५ ॥ इति । न यावदात्मन साधकापेया स्वप्रकाशत्वाप्रापि तत्र शास्त्राप्राप्त्यात्मज्ञानस्य तत्रानुभवसिद्धत्वात्प्रत्ययितरूपाभावादविद्यादेरत्रैकात्म्यनिवृत्तिप्र विद्वदनुभवसिद्धा न विद्वद्वैत्यर्थं ॥

'धंभूतो मुच्यत इत्युच्यते—यो हि सुपुप्तावस्थमिव निर्विशेषगद्वैतमसृप्तचिद्रूपज्योतिः-
स्वभावमात्मानं 'पश्यति तस्यैवाकामयमानस्य कर्माभावो गमनकारणान्नाधात्प्राणा वागा-
द्यो नोत्क्रामन्ति । किंतु विद्वान्त 'इहैव ब्रह्म यद्यपि देहवानिय लक्ष्यते, स ब्रह्म' व
सम्ब्रह्माप्येति ।

यस्मान्न हि तस्याब्रह्मत्व परिच्छेदहेतवः कामाः सन्ति तस्मादिहैव ब्रह्म' व सम्ब्रह्मा-
प्येति न शरीरपातोत्तरकालम् । न हि विद्युद्यो मृतस्य 'भावान्तरापत्ति'र्जीवतोऽन्यो
भावो देहान्तर'प्रतिसंधानाभावमात्रेणैव तु ब्रह्माप्येती'त्युच्यते । 'भावान्तरापत्ती हि

मनुब्रवीति—तस्यैवेति । ब्रह्म' व सन्नित्यस्यार्थमनुवदति—वित्तिविति । विद्वानिहैव ब्रह्म चेत्कथं तस्य ब्रह्म-
प्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्म' वेति ।

यदुक्तं ब्रह्म' व सन्नित्यादि तदुपपादयति—यस्मादिति । प्रागपि ब्रह्ममृतस्यैव पुनर्देहपाते
'ब्रह्मप्राप्तिरित्ययुक्तं विद्युद्यो मृतस्य "भावान्तरापत्तिस्वीकारादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । कथं "तर्हि
ब्रह्माप्येती'त्युच्यते तत्राऽऽह—देहान्तरेति । विद्युद्यो भावान्तरापत्तिर्मुक्तिरिति पक्षेऽपि किं दूषणमिति
चेत्तदाह—भावान्तरापत्ती हीति । "तथा चोपनिषदामप्रामाण्यं विना हेतुना स्यादिति भावः । भावा-

श्रुति द्वारा इष्टान्त रूप से ब्रह्म का वह सुपुप्तावस्था वाला स्वरूप प्रदर्शित किया गया है । प्रस्तुत
मन्त्र में "अथ अकामयमान" इस वाक्य में उस दाष्टान्तिकभूत अर्थ का उपसंहार किया गया है ।
इस प्रकार साधनसम्पन्न वह किस प्रकार मुक्त हो जाता है, इस पर कहा जाता है । जो सुपुप्ता-
वस्था में स्थित की भाँति आत्मा को निर्विशेष अद्वैत, प्रलुप्त, चिद्रूप, ज्योति स्वभाव देखता है उस
अकामयमान पुरुष के कर्मों का अभाव होने में उसके वागादि प्राण उत्त्रमण नहीं करते । किंतु यह
विद्वान् देह में स्थित होते हुए ही ब्रह्म हो जाता है, यद्यपि वह प्राणधारी सा दिखायी देता है, वह
ब्रह्म रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

क्योंकि उसके ब्रह्मभिन्नत्व रूप उपाय के परिच्छेद की हेतुभूता कामनाएँ नहीं रहती, इसलिए
वह यही ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, शरीर विनष्ट होने के बाद नहीं । मरकर विद्वान्
को भावान्तर की प्राप्ति नहीं होती, जीवात्मा में भिन्न भाव ब्रह्मलक्ष्य भाव नहीं होता क्योंकि देहान्तर
प्राप्ति के अभाव मात्र से ही—'यह ब्रह्म को प्राप्त होता है' ऐसा उपचरित होता है । भावान्तरापत्ति

- १ अत्रतरणोक्तभूत । २ पश्यतीति—एतावान् शङ्काग्रन्थ इत्यप्याहुः । ३ देहे तिगुणैव । ४ ब्रह्मभिन्न-
त्वस्यो य परिच्छेदस्तद्वैतव । ५ भावान्तरेति - भावान्तरापत्तिवादिनो हि परस्मादन्यो जीवोऽजितरायज्ञान-
कमम्या ब्रह्माप्येतीति वेदयन्त इति वेदनीयम् । ६ भावान्तपद स्वयमेव व्याचष्टे—जीवत इति । जीवात्मन
सकादादन्यो भिन्नो भावो ब्रह्मलक्ष्यवार्थः । ७ प्राप्तिरिति यावत् । ८ उपचर्यते । ९ भावान्तर-
पत्तिरूपत्वे । १० अप्येतिनोक्ता । ११ भावान्तरेति—स्वस्माद्भिन्नस्य ब्रह्मपदार्यस्य प्राप्तिस्वीकारात् ।
१२ तर्हि—प्रागपि ब्रह्मरूपस्य विद्युद्यो मुक्तैर्भावान्तरापत्तिरुपायान्म्युपगमे । यथा जीवदवस्थायामितरत्र च
विशेषाभावे इत्यर्थः । १३ तद्विषयित्वात्प्रवाधे ।

मोक्षस्य सर्वोपनिषद्विद्वक्षितोऽर्थ आत्मकत्वाख्यः स बाधितो भवेत् । कर्महेतुकश्च मोक्षः प्राप्नोति न - ज्ञाननिमित्त इति । स चानिष्टोऽनित्यत्वं च । मोक्षस्य प्राप्नोति । न हि क्रियानिवृत्तोऽर्थो नित्यो दृष्टः । नित्यश्च मोक्षोऽभ्युपगम्यते । "एष नित्यो महिमा" इति मन्त्रवर्णात् ।

न च 'स्वाभाविका'स्वभावादन्यन्नित्यं कल्पयितुं शक्यम् । स्वाभाविकश्चेदग्न्यु-
ष्णवदात्मनः स्वभावः' मे न शक्यते पुरुषव्यापारानुभावीति वक्तुम् । न ह्यग्नेरीष्ण्यं
प्रकाशो वाऽग्निव्यापारानुभावी । अग्निव्यापारानुभावी स्वाभाविकश्चेति विप्रति-

न्तरापत्तिमुक्तिरित्यत्र दोषान्तरमाह—कर्मोति । इतिपवादुपरिष्ठा'क्रियापदस्य संबन्धः । अस्तु कर्म-
निमित्तो मोक्षो ज्ञाननिमित्तस्तु मा भूत्तत्राऽऽह—स चेति । 'प्रसङ्गः सर्वनाम्ना परामृश्यते । 'प्रति-
षेधशास्त्रविरोधादिति भावः । मोक्षस्य कर्मसाध्यत्वे "दोषान्तरमाह—अनित्यत्व चेति । "तत्रोपयुक्तां
व्याप्तिमाह—न हीति । अस्तु "तर्हि प्रासादादिविक्रियासाध्यस्य मोक्षस्याप्यनित्यत्वं नेत्याह—
नित्यश्चेति ।

कृतकोऽपि ब्रह्मभावो ध्वंसवन्नित्यः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । कृत्रिमस्वभावव्यावृत्त्यर्थं
स्वाभाविकपदम् । "अतोऽप्यदातंम्" इति हि श्रुतिः । ध्वंसस्य तु विकल्पमात्रत्वाच्चित्यत्वमसंमतमिति"
भावः । मोक्षोऽकृत्रिमस्वभावोऽपि कर्मोत्थ स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वाभाविकश्चेदिति । अग्ने-
रीष्ण्यवदात्मनो मोक्षश्च स्वाभाविकस्वभावश्चेन्न स क्रियासाध्यो व्याघातादित्यर्थः । दृष्टान्तं समर्थयते
—न हीति । अरणिगतस्याग्नेरीष्ण्यप्रकाशो नोपलभ्यते सति च "ज्वलने दृश्यते "तेन स्वाभाविकावपि

रूप मोक्ष के स्वीकार कर लेने पर तो सम्पूर्ण उपनिषदो का विवक्षित आत्मैक्यरूप अर्थ बाधित हो
जायगा । ऐसे तो मोक्ष कर्मनिमित्तक हो जायगा ज्ञाननिमित्तक नहीं रह जायगा । इस प्रकार
मोक्ष मे अनिष्टत्व और अनित्यत्व प्रसङ्ग आ जायगा । 'त्रिया से सम्पादित होने वाला पदार्थ नित्य
नहीं देखा जाता" और मोक्ष नित्य है, ऐसे स्वीकार किया जाता है । "यह त्यक्त सर्वपणा ब्रह्मवेत्ता
की 'नेति नेति' लक्षण विलक्षण स्वाभाविक महिमा है" ऐसा श्रुति उपपादित करती है ।

इसके अतिरिक्त अकृत्रिम स्वरूप से भिन्न कोई पदार्थ नित्य है—ऐसी कल्पना करनी सम्भव
नहीं है । यदि अग्नि के उष्णत्व के समान मोक्ष आत्मा का स्वाभाविक रूप है, उसके लिए यह
नहीं कहा जा सकता कि वह पुरुषव्यापार साध्य है । अग्नि का उष्णत्व अथवा प्रकाश भी अग्नि-
व्यापार साध्य है । अग्निव्यापार साध्य भी हो और स्वाभाविक भी हो, ऐसे कहने मे परस्पर विरोध

१ वृ उ ४ ४ २३ । २ अकृत्रिमाद् । ३ स्वरूपाद् । ४ मोक्षः । ५ तर्हि । ६ साध्यः । ७
प्रसज्यत इत्यर्थकस्य प्राप्नोतीत्यस्य । ८ प्रसङ्ग —मोक्षे कर्महेतुत्वप्रसङ्गं ज्ञाननिमित्तत्वाभावप्रसङ्गञ्च ।
९ प्रतिषेधेति—"न कर्मणा न प्रजया", "न ह्यद्भुतं प्राप्यते हि ध्रुव तद्", "नास्त्यवृत्तं कुतेन" "मोक्षस्य
तु नादास्तित्ति चित्तेन"त्यादिप्रतिषेधशास्त्रम् । १० प्रतिषेधशास्त्रविरोधरूपदोषोपशया । ११ तस्या-
नित्यत्वे । १२ तर्हि—त्रियासाध्यस्य नित्यत्वाद्दृष्टौ । १३ आत्मनोऽप्यदिनाशित्ति । १४ इति कुतो
दृष्टान्ततीति भाव इति पाठान्तरम् । १५ तदाख्यव्यापारे । १६ तेन—अन्यव्यतिरेकाभ्या तयोर्गलन-
व्यापारफलत्वेन ।

विद्धम् । ज्वलनव्यापारानुमावित्वनील्यप्रकाशयोरिति चेत् । न । 'अग्न्योपलब्धिव्यवधानापगमाभिव्यक्त्यपेक्षत्वात् । ज्वलनादिवृत्तकमग्निरौल्यप्रकाशगुणान्गमाभिव्यज्यते तन्नाग्न्यपेक्षया किं तद्वृत्तदृष्टेरनेरौल्यप्रकाशौ धर्मो व्यवहितौ कस्यचिद्दृष्टत्वा त्वसंबन्धमानौ ज्वलनापेक्षया व्यवधानापगमे दृष्टेरभिव्यज्येते । तदपेक्षया भ्रान्तिरुपजायते ज्वलनपूर्वकावेतानौल्यप्रकाशौ धर्मो जाताविति ।

यद्यौल्यप्रकाशयोरपि स्वाभाविकत्वं न स्यात् । 'यः स्वाभाविकोऽग्नेर्धर्मस्तमुदाहरिष्यामः । न च स्वाभाविको धर्म एव नास्ति पदार्थानामिति शक्यं वक्तुम् । न च 'निगड-

तावा'गन्तुकी कादावित्कोपलब्धिमत्त्वादिति शङ्कते—ज्वलनेति । न हि 'सतोऽग्नेरीण्यादि कादावित्कं युक्तं 'तद्दृष्टेर्व्यवधानस्य दावदिव्यंसे 'मयनज्वलनादिना बह्व्यभिध्यक्तिमपेक्ष्य 'तत्त्वभावस्योण्यादेर्व्यक्त्यभ्युपगमादिति परिहरति—नान्येति । 'तदेव प्रपञ्चयति—ज्वलनादीति । मयनादिव्यापारवशा 'प्रकाशादिना व्यज्यतेऽग्निरिति ध्वयुच्यते "तदग्नी सत्येव तद्गतव्यापारापेक्षया तदौल्याद्यभिध्यक्तिवशान्न भवति कितु "देवदत्तदृष्टेरग्निधर्मो "व्यवहितो न तु तौ कस्यचिद्दृष्टत्वा संबध्येते ज्वलनादिव्यापारात्तु दृष्टेर्व्यवधानभङ्गे तयोरभिव्यक्तिरित्यर्थः । कथं "तहि ज्वलनादिव्यापारादग्नेरौल्यप्रकाशौ जानाविति बुद्धिस्तथाऽह—तदपेक्षयेति । ज्वलनादिव्यापाराद्दृष्टिव्यवधानभङ्गे बह्वौ रौल्यप्रकाशाभिव्यक्त्यपेक्षयेति यावत् ।

यथा बह्वौ रौल्यद्विस्वाभाविकं न क्रियासाध्यं तथाऽऽत्मनो मुक्तिः स्वाभाविकी न क्रियासाध्येत्युक्तमिदानीमानेरौल्यादि न स्वाभाविकमित्याशङ्क्याऽह—यदीति । उदाहरिष्यामो मोक्षस्याऽऽत्मस्वभावस्याकर्मसाध्यत्वायेति शेषः । अथानेः स्वाभाविको न कश्चिद्धर्मोऽस्ति यो मोक्षस्य दृष्टान्तः स्यादत आह—न चेति । 'तव्यात्मकं हि वस्तु वस्त्वन्तेरेण सन्नद्यते । अस्ति च निग्वादो तिक्तत्वादिधो-रित्यर्थः । भावान्तरापत्तिपक्ष प्रतिक्षिप्य पक्षान्तरं प्रत्याह—न चेति । न हि बन्धस्य "तथाभूतस्य

हो जायगा । यदि कहेो किं अग्नि का उल्लेख्य और प्रकाश ज्वलन व्यापार साध्य है; तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वह अग्न्य उपलब्धि के व्यवधान निवृत्ति की अभिव्यक्ति की अपेक्षा से है । ज्वलनादि पूर्वक जा अग्नि उल्लेख्य और प्रकाश रूप गुणों से अनुभव होता है; वह अग्नि की अपेक्षा से नहीं होता । तों कैसे होता है । अग्नि के उल्लेख्य प्रकाशरूप धर्म अग्न्य की अपेक्षा व्यवहित हैं, अर्थात् किसी को दृष्टि से असंबद्ध है, ज्वलन की अपेक्षा से दृष्टि के व्यवधान हट जाने पर वे अभिव्यक्त हो जाते हैं । उम (अग्नि के औल्य प्रकाश अभिव्यक्ति) की अपेक्षा से भ्रान्ति हो जाती है कि उल्लेख्य और प्रकाश रूप धर्म ज्वलन व्यापार पूर्वक उत्पन्न हुए हैं ।

- १ देवदत्तादिवृत्तिरिति यावत् । २ अग्न्यापक्षयति यावत् । ३ तर्हि । ४ बह्व्यभावो मोक्षो न कर्मसाध्य इत्युक्तमग्न्य तु तममृष्यमाणा बन्धवत्स मोक्षमावधारणादस्त्वस्य कर्मसाध्यतामाहुस्तान्प्रत्याह—निगडैति । शृङ्खला-ध्वंसवदित्यर्थः । ५ प्रागन्तुकी—प्रागन्यज्वलनादिव्यापारसाम्नी । ६ विद्यमानस्य । ७ देवदत्तादिवृत्तेरग्निदृष्टेरिति वा । ८ मयनज्वलनादिना ध्वसे इत्यन्वयः । ९ अग्निस्वरूपस्य । १० सद्यहीतम् । ११ प्रकाशाद्यत्तमना । १२ त्वया । १३ देवदत्तापेक्षया । १४ दावादिना । १५ उक्तरीत्या तयोरभिव्यक्तिस्वीकारे । १६ न चेति प्रतिज्ञाया हेतुमाह—तत्रामकं हीति । १७ पारमाथिवस्य स्वाभाविकस्यति यावत् ।

भङ्ग इवाभावभूतो मोक्षो बन्धननिवृत्तिरूपपद्यते । परमात्मैकत्वाभ्युपगमात् "एकमेवाद्वितीयम्" इति श्रुतेः । न चान्यो यद्वोऽस्ति यस्य निगडनिवृत्तिवद्वन्धननिवृत्तिर्माक्षः स्यात् । परमात्मव्यतिरेकेत्यान्यस्याभावं विस्तरेणावादिषम । तस्मादविद्यानिवृत्तिमात्रे मोक्षव्यवहार इति चावोचाम यथा रज्ज्यादौ सर्पाद्यज्ञाननिवृत्तौ सर्पादिनिवृत्तिः ।

निवृत्तिविरोधात्प्राप्त्यन्यथाभूतस्यानवस्थानात् । न च प्रतिद्विविरोधो "दुर्निरूपश्चस्तिविषयत्वादिति भावः । किंच परस्मादन्वयस्य बन्धनिवृत्तिस्तस्यैव वा नाऽऽह इत्याह—न चेति । तत्र हेतुत्वेन परमान्तैकत्वाभ्युपगमादित्याविभाष्यं व्याख्येयम् । न द्वितीयस्तस्य नित्यमुपेतस्य स्वयाऽपि यद्वत्त्वानभ्युपगमादिति द्रष्टव्यम् । कथं परस्मादन्वयो यद्वो नास्तौत्याशङ्क्य "प्रवेशविचारादायुक्तं स्मारयति—परमात्मेति । न चेदन्वयो यद्वोऽस्ति कथं मोक्षव्यवहारः स्यादित्याशङ्क्यऽऽह—तस्मादिति । अन्यस्य यद्वत्त्वाभावात्परस्य च नित्यमुपेतत्वादिति यावत् । यथा रज्ज्वादावधिष्ठाने सर्पादिहेतो रज्ज्वज्ञानस्य निवृत्तौ सत्यां सर्पादिरपि निवृत्तिस्तथाऽऽविद्याया यन्धहेतोर्निवृत्तिमात्रेण तत्कार्यस्य बन्धस्यापि निवृत्तिव्यवहारो भवतीति चावोचामेति "योजना ।

यदि उच्यते श्रीर प्रकाश अग्नि के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं, तो जों भी अग्नि का धर्म हो, उसी को हम प्रस्तुत करेंगे । पदार्थों का कोई स्वाभाविक धर्म ही नहीं है—ऐसा कथन तो सिद्ध नहीं होता । शृङ्खलाध्वस के समान मोक्ष भी बन्ध-निवृत्ति रूप अभावभूत धर्म है, ऐसा कहना भी नहीं बनता क्योंकि (परमात्मा के भावरूप होने से तथा) मोक्ष को परमात्मैकत्व स्वीकार किया गया है । हमें श्रुति का भी समर्थन प्राप्त है—"बह निरुपाधिक ब्रह्म एक ही अद्वितीय है" परमात्मतत्त्व में भिन्न दूसरा कोई ब्रह्म नहीं, जिसकी बन्धननिवृत्ति शृङ्खलाध्वम के समान कर मोक्ष दिया दिया जाय । परमात्मा से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु का संवत्था अभाव है—यह हम (प्रथम अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण में) विस्तार में प्रतिपादित कर चुके हैं । इसलिये अविद्या निवृत्ति मात्र से ही मोक्ष व्यवहार होता है—ऐसा वही कहा जा चुका है । जिस प्रकार रज्जु आदि में सर्पादि ज्ञान की निवृत्ति मात्र से सर्पादि की निवृत्ति हो जाती है ।

१ मोक्षस्य । २ परमात्मनश्च भावत्वात् । ३ वृ उ १ ४ ७ । ४ तत्रैव । ५ सर्पादिनिवृत्तिरिति—किंच नास्मात्तिरिक्ता तत्रिभूति आदिचकस्य बन्धस्यास्वातन्त्र्यात् न हि रज्ज्वविद्याकल्पितसर्पाभावाभावा रज्ज्वतिरेकेण भवत् । तथा च स्वरूपस्थितिरैव मुक्तिरिति भाव । ६ विरोधात्—निवर्त्यत्वस्वाभावित्ववयोरन्वय विरुद्धत्वात् । ७ अन्यथाभूतस्य—घोषाधिकस्य अगारमाधिकस्वति यावत् । ८ अनवस्थानात्—निवृत्तेरपि बन्धतया तस्या अपि निवृत्ति स्वीकारेति अविश्रान्तनिवृत्तिधारापतेरित्ययं इत्याह । ९ प्रसिद्धीति—वामदेवादीना बन्धनिवृत्तिर्जातति प्रसिद्धिविरोध । १० दुर्निरुत्वादि—अनिर्वचनीयबन्धनिवृत्तेऽन्तःप्रसिद्धिविषयत्वादित्ययं । यद्वा बन्धनिवृत्तिन सती ईतत्वापतेर्नाप्यसती ज्ञानसाध्यत्वायोगात् नाभ्युपगमादिविरोधात् नाप्यनिर्वचनीयाऽनिर्वाच्यस्य सादेरज्ञानोपादानकर्त्तव्यमेव मुक्तावपि तदुपादानज्ञानानुत्प्रापत्तं ज्ञानं निवर्त्यत्वापत्तेश्चात् उक्तप्रकारचतुष्टयातीर्णपञ्चमप्रकाराबन्धव्यतिरिति । ११ परस्यैव । १२ वृ उ १ ४ ७ । १३ योजनेति—अत्र रज्ज्वा स्नाज्ञानतत्कार्यसर्पादिध्वसे रज्जुभाववत् प्रात्यनोऽपि स्वादिद्यातत्कार्यबन्धध्वम ब्रह्मत्वमुपचर्यते इति शेष ।

येऽप्याचक्षते मोक्षे विज्ञानान्तरमानन्दान्तरं चाभिव्यज्यत इति तद्वक्तव्योऽभिध्य-
क्तिशब्दायः । यदि 'तावत्लौकिकेषोपलब्धविषयध्याप्तिरभिव्यक्तिशब्दायः । 'ततो
वक्तव्यं किं *विद्यमानमभिव्यज्यतेऽविद्यमानमिति वा । विद्यमानं चेद्यस्य मुक्तस्य

'मत्तान्तरमुद्गाद्यपति—येऽप्याचक्षते इति । वैषयिकज्ञानानन्दापेक्षाऽन्तरशब्दः । केयमभि-
व्यजितस्तपतिर्वा प्रकाशो वा । नाऽऽद्यो मोक्षे सुखाद्युत्पत्तो तदनित्यत्वापत्तेरितिर्षमिप्रत्येयाऽह—तैरिति ।
द्वितीयमात्मभूते—यदीति । तत्र दोष दहन्तुं विकल्पयति—तत इति । द्वितीये खरविषयान्यदवरोक्षा-
भिव्यजितं स्मादित्यभिप्रेत्याऽऽद्यमनुभाष्य दूषयति—विद्यमान चेदिति । उपलब्धिव्यवहारव्यवस्था-

जो विचारक ऐसा मानते हैं कि मोक्ष मे किमी विज्ञानान्तर या मानन्दान्तर की अभिव्यक्ति
होती है, उन्हें 'अभिव्यक्ति' शब्द वा वास्तविक अर्थ बतलाना चाहिये । यदि (पटज्ञान की तरह)
लौकिक उपलब्धि या विषय ध्याति ही अभिव्यक्ति शब्द वा अर्थ है तो फिर बतलाना चाहिये कि
विद्यमान सुख की अभिव्यक्ति हाती है अथवा अविद्यमान की ? यदि कहा जाय विद्यमान सुख की
अभिव्यक्ति होती है, तो जिस मुक्त के प्रति उस विद्यमान सुख की अभिव्यक्ति होती है, उसका वह

१ लौकिकेषेति—लोकप्रसिद्धैव घटादेरिव ज्ञानविषयत्व मुखादेरभिव्यक्तिरित्यर्थः । २ तादृशाभिव्यक्ति-
स्वीकारे इति यावद् । ३ मुखादि । ४ आत्मनो ब्रह्मत्व मुक्तिरियुक्तमप्यैषयिकमुखज्ञानातिरिक्ते
सुखज्ञाने मोक्षे व्यज्येते ते च मिथो विषयविषयिभूते न ब्रह्मभावमात्रं मुक्तिरिति मतभयतारयति—
मतान्तरमिति ।

ॐ विद्यमानमित्यादि संबन्धीत्यन्तभाष्य वातिकार्यास्तथाहि—“विज्ञानान्तरमन्वन्तं प्राप्तिं किं सतो वाऽप्यवा-
ज्जत । अभिव्यक्तिं सतश्चेत्स्याचम्य मुक्तस्य तत्सुखम् ॥ स्वरूपमेव तस्येति विशेषणमनपेक्षम् । मुक्तो
तद्वप्यते ज्ञान सुख चेति यदीरितम् ॥ स्वात्मभूतं हि यद्यस्य नैव तद्वधवधीयते । आत्मनस्तत्स्वभावत्वात्सर्व-
देति विनिश्चय ॥ अमुक्तावधया मुक्तौ विदोपोऽस्ति न कश्चन । प्रत्यगात्स्वभावत्वात्सुखविज्ञानयोरतः ॥
मुक्तो तद्वप्यते इति विशेषवचन मृषा । स्वसिद्धान्तविरोधेऽपि तदभिव्यक्तिवादिन ॥ सत्कार्यवादिनो यस्माद-
भिव्यक्तिं प्रशस्यते । व्यज्यते मयमेवेद सत्त्वात्सर्वंश्य वस्तुन ॥ द्वारम्भवादे त्विच्छादे कार्थत्वादसदात्मता ।
असत्तन्नाप्यभिव्यक्तिर्न युक्ता खरभ्रूङ्गवत् ॥ व्यङ्ग्यमव्यञ्जकसंबन्ध प्रदीपघटयोरिव । उभयो सिद्धयो-
र्योगान्तरा कारणकार्यता ॥ सुखविज्ञानयोर्नापि किमभेदोऽप्यत्र भिदा । नैकऽभिव्यक्तिर्वाद्यर्थः कदाचिदपि
नभ्येदे ॥ अथ भेदतयोनिष्ठो व्यवधान प्रशस्यते । तद्भेदाभेदतासिद्धौ न च मानमिहास्ति च ॥ भेदप्राहि
न नो मानमितोऽप्यत्रापि विद्यते । मेयमात्रवमायिन्वात्सर्वमानस्य सर्वदा ॥ स्वमेयव्यतिरेकेण मेवान्तर-
ममायय । न व्यावृत्त्यनुत्त्वादिव्यापारोऽस्ति मिते कश्चित् ॥ अभिव्यक्तिं सुखस्यास्तु काम ज्ञानेन गत ।
मानव्यतो तु किं मान योऽभि-व्यक्तिवागियम् ॥ प्रमाणाना प्रमाणतय न स्वरूपप्रमेयता । न च मानान्तरादिष्ट
तपोस्तुल्यस्वभावत ॥ अभिव्यक्तिर्मताऽत्रापि कदाचित्की न सर्वदा । तदन्तरायमुद्गावादव्यक्तिं स्यात्सदा
ध्रुवम् ॥ अन्तरायनिवृत्तौ च व्यपेक्षा च प्रसज्यते । साधनान्तरविषया तज्ज्ञानव्यतिरेकतः ॥ उपलब्ध्वेक-
नीद्वत्वे ध्यवधानस्य कल्पना । न चोपपद्यते मानान्तयोरेकात्मकत्वत ॥ एव च सत्यभिव्यक्तिं सर्वदा
सुखबोधयो । अभिव्यक्तिर्न चदेव नाभिव्यक्तिं सदा तदा ॥ इतोऽप्यथा कल्पनाया न प्रमाणं समीक्ष्यते ॥
नाप्येवाप्रयिता लोके धर्माणा क्वचिदीक्ष्यते । मानमेयत्वसंबन्धो मिथोमेयत्वतस्तथा ॥ ३२६-३४५ ॥

तदभिव्यज्यते तस्याऽऽत्मभूतमेव 'तद्विद्युपलब्धिव्यवधानानुपपत्तेर्नित्याभिव्यक्तत्वामुक्त-
स्यामिद्व्यज्यत इति विशेषणवचनमनर्थकम् । अथ 'कदाचिदेवाभिव्यज्यत 'उपलब्धिव्यव-
धानादनात्मभूतं 'तद्विद्येन्यतोऽभिव्यक्तिप्रसङ्गः । 'तथात्राभिव्यक्तिसाधनापेक्षता । उप-
लब्धिसमानाधयत्वे 'तु व्यवधानकल्पनानुपपत्तेः 'सर्वदाऽभिव्यक्तिरनभिव्यक्तिर्वा । न त्वन्त-
रालकल्पनायां प्रमाणमस्ति ।

यदात्मा तस्य विद्यमानं सुखादि व्यज्यते चेज्जानानन्दयोर्देशादिव्यवधानाभावादानन्दः सर्वेव व्यज्यत
इति मुक्तिविशेषणमनर्थकमित्यर्थः । बलघुंष्टशोविषयविषयित्वप्रतिबन्धककुड्यादिव्यवधानादिप्रति-
बन्धादानन्दो ज्ञानं च संमारादशायां न व्यज्यते मोक्षे तु व्यज्यते तदभावादिति शङ्कते—अथेति ।
'उपलब्धिविशेषाद्भिन्नदेशस्यैव घटादे'रुपलब्धिप्रतिबन्धदर्शनादनात्मभूतं सुखं न स्वभावभूतयोपलब्ध्या
प्रकाशते किंतु विषयेन्द्रियसंपर्कादित्युत्तरमाह—उपलब्धीति । अन्वतोऽभिव्यक्तौ किं स्यादिति
चेत्तदाह—तथा चेति । तदनाधानानि चेन्मुषतो स्युः संमाराद्विशेषः स्यादिति भावः । उपलब्धि-
व्यवधानमानानन्दस्याङ्गीकृत्यो'क्तमिदानीं सर्वेव नास्तीत्याह—उपलब्धीति । कदाचिदभिव्यक्तिरन-
भिव्यक्तिश्च कदाचिदित्येवं कालभेदेनोभयं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति ।

आत्मस्वरूप ही है, इसलिये नित्य अभिव्यक्त होने से उसकी उपलब्धि में व्यवधान सिद्ध न होने से
वह मुक्त को अभिव्यक्त होता है, यह विशेषण वचन अनर्थक है । तथा यदि वह मोक्ष में ही कभी कभी
अभिव्यक्त होता है, वह सुख उपलब्धि स्वरूप होने से आत्मा का व्यवधान होने से अनात्मभूत है,
तब तो उसका इन्द्रियादि से अभिव्यक्त होने का प्रसङ्ग भा जायगा । इससे तो अभिव्यक्ति के साधन
की भी प्रपेक्षा होती है । यदि आनन्द को उपलब्धि-समान-प्राथम्यत्व माना जाय तो व्यवधान
कल्पना असिद्ध हा जाने से या तो उसकी सर्वदा अभिव्यक्ति होगी अथवा सर्वदा अनभिव्यक्ति होगी,
इन दोनों कल्पनाओं को छोड़कर कोई तीसरी कल्पना मानने में कोई प्रमाण नहीं है ।

१. तत्—सुखादि स्यादिति शेष । ततो भेदेनावस्थाने मानाभावादिति भावः । २ मोक्षे एव । ३ उपलब्धि-
स्वरूपादात्मनो व्यवहितत्वात् । ४ सुखम् । ५ इन्द्रियादिति । ६ अवतरणोक्तार्थत्वात् । ७
आनन्दस्य । ८ सर्वदेत्यादि—उपलब्धिव्यवहितं व्यज्यत एवेत्यन्वयगमे प्रथमागतित्वात्तथाजन्म्युपगमे तु
द्वितीयेति भावः । ९ अन्तारालेति—व्यवधानाव्यवधानरूपनयोर्मध्ये व्यवधानाव्यवधानमिति तृतीय-
कल्पनायामिति यावत् । १० आनन्दस्योपलब्धिव्यवधानमभ्युपेयोत्तरमवतारमिति—उपलब्धिवेदादिति ।
११ उपनबो कुड्यादिरतिवर्णेति यावत् । १२ उक्तमिति—मुक्तौ संसारादविशेषाण्यं द्रूपणमुक्त-
मित्यर्थः ।

इति । सुखादि विद्यमानभिव्यमानं वाऽऽत्मनो व्यज्यत इति विन्ययति—विज्ञानेति । आद्यमनुभाष्य द्रूपयति—
अभिव्यक्तिरिति । आत्मनो विद्यमानं सुखादि मुक्तौ व्यज्यते चेत्तद्भि स्वहृद्यमेव मुक्तरय स्यात्ततो भेदेनावस्थाने
मानाभावादतो नित्यव्यक्ते सुखादेर्मुक्तौ व्यक्तिरिति । आत्मनो विद्यमानं सुखादि मुक्तौ व्यज्यते चेत्तद्भि
स्वरूपमेव मुक्तस्य स्यात्ततो भेदेनावस्थाने मानाभावादतो नित्यव्यक्ते सुखादेर्मुक्तौ व्यक्तिरिति विशेषोक्ति-
रनर्थकित्यर्थः ॥ संसारेऽनभिव्यक्तमपीत्यप्यर्थं चकार ॥ स्वरूपत्वेन सदा सद्यि तत्राहमुक्तेर्व्यवहितः वादव्यक्त-
मित्याशङ्क्याऽऽह—स्वात्मेति । स्वरूपसुखादेर्न वास्तव व्यवधान स्वरूपत्वविरोधानामानाभावाव्यावृत्तवे तु
तस्मिन्मत्तभेदासिद्धिरित्यर्थः । यद्यस्य स्वरूप न तत्तस्य व्यवहितं यथा प्रकाशो दीपस्येति व्याख्येयो हिाव्यक्त ॥

'न च समानाश्रयाणां'भेदस्याऽऽत्मभूतानां धर्माणामितरेतरविषयविषयित्वं संभवति । विज्ञानमुखयोश्च प्रागभिव्यक्तैः संसारित्वमभिव्यक्त्युत्तरकालं च मुक्तत्वं यस्य सोऽयः परमात्मित्वाभिव्यक्तज्ञानमुखम्वरूपादत्यन्तवैलक्षण्याच्छैत्यमिदोऽप्यात् । परमा-

ज्ञानन्दज्ञानयोर्विषयविषयित्वमन्युपेत्य कादाचित्की तावदभिव्यक्तिरिरेता, सप्रति तदपि न संभवतीत्याह—न चेति । आत्मभूतत्वं स्वाभाविकत्वम् । 'विमत न समानाश्रय'विषयं धर्मत्वात्-
'प्रदोषप्रकाशवदिति भावः । मुक्तावानःज्ञानाभिव्यक्तिपक्षे दोषान्तरं यत्तुं भूमिषा करोति—
विज्ञानमुखयोश्चेति । 'तद्वेदापादनमिष्टमेवेत्यादाङ्गुच विवक्षितं दोषमाह—परमात्मैति । परमते

समानाश्रयवासी एक ही वस्तु के आत्मभूत धर्मों का परस्पर विषय-विषयोभाव सम्भव नहीं है । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) विज्ञान और मुख की अभिव्यक्ति के पूर्व संसारित्व और अभिव्यक्ति के उत्तर काल में जिसका मुक्तत्व प्रतिपादित किया जाता है, वह अत्यन्त बिलक्षण स्वभाव होने के कारण, नित्य अभिव्यक्त ज्ञान स्वरूप होने के कारण परमात्मा उसी प्रकार भिन्न है, जैसे चण्डाल से शीतलना भिन्न है । (इस पर सिद्धान्ती कहना है—) परमात्मा में भेद की कल्पना करने

१ न चेति—विमती नाग्योऽन्यगोचरादेकाश्रयत्वात् तथाविधस्वरसादिवत् तथा च मुक्ती ज्ञानाद्यभिव्यक्तिर-
मुक्तेति भावः । २ वस्तुत्वं । ३ मुखम् । ४ जनविषयम् । ५ प्रदीपति—यथा प्रदीपप्रकाश-
स्वसमानाश्रयोऽप्यविषयो न भवति तथा मुखमपि स्वसमानाश्रयज्ञानविषयो न भवति धर्मत्वादित्यर्थः । ६
परपरभेदेति यावत् ।

बन्धमोक्षयो मुखादेरितिनाभावे मुक्ती तद्व्यक्तिरिति विशेषोक्तिरनविकेत्युक्तं निगमयति—अमुक्ताविति ॥
विचासत्कार्यवादिना सन्वायंवादिना वा मतमेतदिति विवक्ष्याऽऽद्य प्रत्याह—एदसिद्धान्तेति ॥ तत्पक्षे वा कथं
तत्प्रागसेवाशङ्क्य तन्मतमनुवदति—व्यग्यत इति ॥ अस्तकार्यवादेऽपि कस्मादभिव्यक्तिरेव न भवति तत्राऽऽह
—आरम्भति । नापि द्वितीयस्तत्र विशेषणवैयर्थ्यस्योक्तत्वादिति तुगब्दार्थः । विद्यमानमुखादेरभिव्यक्तिपक्ष
निराहृत्य पक्षात्तर निराकरोति—अमनद्वेति ॥ तस्यापि तच्छब्दाद्वैचल्यमाशङ्क्य तद्विशेषो नास्तीत्याह—
व्यङ्ग्येति । किञ्च व्यक्ति सत्यसती बोधययाऽपि कारणेन तस्य न कार्यता सतोऽनन्तत्र साध्यत्वात्प्रेरित्याह—
नेष्टेति ॥ व्यक्तिपक्षे दोषान्तरं यत्तुं विकल्पयति—मुक्तेति । अथ ज्ञानालम्बनत्वाभ्यां व्यक्तित्वं सिध्ययकत्र
विषयविषयित्वायोगादित्याह—नेति ॥ कल्पान्तरमनूय निरस्यति—अपेति । मुखज्ञानयानेदं दशादिव्यवधि-
प्रसङ्गादपटादिवनित्यज्ञानाज्ञानान्तरं मुखप्राप्तिं श्यास्तथाच मुक्तावपि कायकारणप्रमत्तने ममारादिविषय
इत्यर्थः । ज्ञानानन्दयोर्न केवलं भेदो नाप्यभेदः किन्तु भेदाभेदावित्याशङ्क्याऽऽह तदिति । इत्यात्मा
मुक्तिर्वैत्ता ॥ तयोर्भेदाभेदे मानाभावात् भेदस्याप्रामाणिकत्वं साधयति—भेदति । पटादावपि न भेदप्राप्तिं
मानमस्तीत्यत्र हेतुमाह—मेयति ॥ म्वायं व्यञ्जयदेव मानमन्यस्माद्भाट्टात्तुमनुति च तस्य व्यनक्तीत्या-
शङ्क्याऽऽह—स्वमयति । स्वाभावित्तयापाराणि मानानि न तन्मन्यन्तो भेदमभेदमुभय बाऽवगाहन्त स्वायं-
भूराणां तेषामन्यत्रोचासीत्यादित्यर्थः ॥ अस्तु वा यथाकथंचिज्ज्ञानेन सगत्या मुखव्यक्तिस्तद्व्यक्तिस्तु न सिध्यति
तत्तुतो द्वयोर्मुक्ती व्यक्तिरित्याह—अभिव्यक्तिरिति । ज्ञान स्वयमेव मानमन्यदिति प्रथमार्थः ॥ तत्राऽऽद्य रूपयति—
प्रमाणानामिति । मानमयोर्भेदप्रसिद्धेरित्यर्थः । द्वितीयं निराह—न चेति । इत्थं मानस्य मेयत्वमिति दोषः ॥
किञ्च ज्ञानेन मुखव्यक्तिरित्या नित्या वति विवक्ष्याऽऽद्यमादंसे—अभिव्यक्तिरिति । अनित्या चेदानन्दभिव्यक्ति-

स्मभेवकल्पनायां च 'वैदिकः कृतान्तः परित्यक्तः स्यात् । मोक्षस्ये'दानीमिव' निविशेयत्वे तदर्थ्याधिक्यतनानुपपत्तिः शास्त्रवैयर्थ्यं च प्राप्नोतीति चेन्न । 'प्रविद्याभ्रमापोहार्यत्वात् । न हि वस्तुतो मुक्तामुक्तत्वं विशेषोऽस्ति । आत्मनो - नित्यैकरूपत्वात् । किंतु 'तद्विषया-ऽविद्याऽरोहते शास्त्रोपदेशजनितविज्ञानेन । प्राक्तदुपदेशप्राप्तेस्तदर्थंश्च प्रयत्न उपप-द्यत एव ।

निराकृते सिद्धान्तेऽपि दोषद्वयमाशङ्कते—मोक्षस्येति । मोक्षार्थोऽधिको यत्नः शमवमादिः । शास्त्रं 'मोक्षविषयम् । मोक्षस्य निविशेयत्वेऽपि प्रत्यगविद्यातदुत्पत्तयानर्थक्यं कित्त्वेनोभयमर्थवदिति परिहरति— नाविद्येति । "तत्र नञर्थं विवृणोति—न हीति । कथं "तर्हि शास्त्राद्यर्थवत्त्वमित्याह—कित्तिवति । "तत्र शास्त्रस्याप्यर्थवत्त्वं समर्थवति—तद्विषयेति । प्रस्तुतात्मविषयस्तच्छब्दः । सप्रति प्रयत्नस्याप्यर्थवत्त्व प्रकटयति—प्रागिति । प्रथमस्तच्छब्दः शास्त्रविषयः । द्वितीयो मोक्षविषयः ।

मे तो वैदिक सिद्धान्त का ही लोप हो जायगा । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) ससार दशा मे (इदानी-मिव) इस समय भी तरह मुक्ति मे यदि कोई विशेषता न मानी जाय तो उसके लिए अधिक यत्न की अस्ति एवं शास्त्रवैयर्थ्यरूप दोष भी प्राप्त होता है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उन (यत्नाधिक्य और शास्त्रारम्भ) की अविद्यारूप भ्रम की निवृत्ति होने के कारण उनकी उपयोगिता सिद्ध है । परमार्थतः मुक्तत्व और प्रमुक्तत्व रूप विशेष नहीं है क्योंकि आत्मा नित्य एक रूप ही है । किन्तु शास्त्रोपदेशजनित विज्ञान से आत्मविषयक प्रविद्या का नाश होता है और उस शास्त्रोपदेशजन्य विज्ञान होने से पूर्व उसके लिए प्रयत्न करना उचित ही है ।

१. वैदिक इति—“एको देव सर्वभूतेषु”, “एकमेवाद्वितीय” मित्यादिवैदिक सिद्धान्त इत्यर्थं । २. इदानी-मिति । अत्र चातिके—“नन्विदानी यथा तदन्मुक्ती चेदविशेषतेति” ॥ ३४६ ॥ ३ ससारदशायामिव । ४. अविद्येत्यादि—यत्नाधिक्यशास्त्रारम्भयोरेति शेषः । ५ रूप । ६ आत्मविषया । ७ उक्ता मुक्ति-ममूयमाणः । ८. लीनिकयत्नापेक्षया शास्त्रोपदेशिव । ९. मोक्षे प्रवर्तकमिति यावत् । १०. प्रतिज्ञा-हेत्वोर्मध्ये । ११. वस्तुन्युक्तिविशेषाभावे सति । १२ शास्त्रयत्नयोः ।

स्तदा तस्य व्यवधेरव्यक्तिरेव मुक्ती स्मात्तत्काले तद्वैत्वभावादित्याह— तदन्तरायेति । ससारदशायामानन्दा-व्यक्तिरिष्टत्वमवष्टभ्य सदेत्युक्तम् ॥ मुक्तिदशाया व्यवधिभङ्गेन तद्व्यक्तिरित्यासाङ्क्याऽह्य अन्तरायेति । व्यवधेर्वस्तुत्वे ज्ञानस्यातदध्वसित्वात्तदर्थं हेत्वन्तरमुपास्य तदभावान्मुक्ती व्यवधानाध्वस्तेरव्यक्तिरेव सुखस्ये-त्यर्थं ॥ व्यवधेरवस्तुत्वे तस्याज्ञानाख्यस्य ध्वस्तित्यादागन्तुकाद्वा ज्ञानादिति विकल्प्याऽध्य रूपयति— उपलभ्येति । यत्र ज्ञान तत्रैव मुख्यमपीत्येकाश्रयत्वे तयोर्व्यवधानमप्रामाणिकमेकस्मिन्नात्मनि तयोः सदा सत्त्वाद्बन्धवधानाज्ञानस्य नित्यज्ञानेन नित्यप्रतिहेतेरित्यर्थः ॥ व्यवधानायागे फलितमाह—एव चेति । विपक्षे दण्डमाह—अभिव्यक्तिरिति ॥ यदि मुक्तावागन्तुक ज्ञानमज्ञानाख्य व्यवधि धुनीते तत्राऽह्य—इतोऽन्येति । नित्यज्ञान विना मुक्तावागन्तुकज्ञानकल्पनायां तत्र मात्रादि कल्प्यं तन्वायुक्त बन्धादविशेषापत्तेर्मानाभावा-च्चेत्यर्थः ॥ इतश्च मुक्ती ज्ञानादिव्यक्तिरमुक्तेत्याह—नापीति । विमतो मान्योन्मग्योचरावेकाधत्वात्तथाविध-रूपरसवदित्यर्थः ॥

अविद्यावतोऽविद्यानिवृत्त्यनिवृत्तिकृतो विशेष आत्मनः स्यादिति चेत् । न ।
 'अविद्याकल्पनाविषयत्वाभ्युपगमाद्रज्जूपरशुक्तििकागगनानां सर्पोदकरजतमलिनत्वादिवद-
 दोष इत्यथोचाम । 'तिमिरातिमिरदृष्टिवद'विद्याकर्तृत्वाकर्तृत्वकृत आत्मनो विशेषः
 स्यादिति चेत् । न । ध्यायतीव लेलायतीवेति स्वतोऽविद्याकर्तृत्वस्य 'प्रतिपिद्धत्वात् ।
 अनेकव्यापार'संनिपातजनितस्वाज्ञाविद्याभ्रमस्य । विषयत्वोपपत्तेश्च ।

'आत्मनः सर्वे रूढपदं प्रागुक्तमभिपति—अविद्येति । अविद्यः सोऽपीति समापत्ते—नेति ।
 यथा रज्ज्वाद्यविद्योत्पत्तयस्तद्विद्यया ध्वंसाध्वंसयो रज्ज्वादेन वास्तवो विशेषस्त्वस्याऽऽत्मनोऽपि
 स्वाविद्यानाश्रित्यविशेषवत्त्वेऽपि तदध्वंसाध्वंसयोर्वास्तवो विशेषोऽस्तोत्यर्थः । अदोषः सविशेषव-
 दोपराहित्यम् । प्रकारान्तरेण सविशेषत्वं दाञ्जुते—तिमिरेति । किमिदमविद्याकर्तृत्वं किं तज्जनकत्वं किं
 वा तदाश्रयत्वमिति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—न ध्यायतीवेति । आत्मनः स्वतोऽविद्याकर्तृत्वाभावे हेत्व-
 न्तरमाह—अनेकेति । 'विषयविषय्याकारोऽन्त करणस्य तत्र चिदाभासो'दयश्चाऽऽत्मनो 'ध्यापारस्तथा
 चानेकव्यापारसंनिपाते सत्यहं संसारोऽविद्यात्मको भ्रमो जायते 'तस्मात् तस्याऽऽत्मकार्यतेत्यर्थः ।
 कल्पान्तर प्रत्याह—विषयत्वेति । अविद्यादेरात्मदृश्यत्वात् 'तदाश्रयत्वं न हि 'तद्गतस्य तद्ग्राह्यत्व-
 मंगतः 'स्वग्रहापत्तेरित्यर्थः ।

(इस पर पूर्ववादी आक्षेप करता है—) अविद्यावान् आत्मा वा अविद्या की निवृत्ति एवं
 अनिवृत्ति वाला भेद तो रहेगा । (इस पर सिद्धान्ती समाधान करना है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है ।
 आत्मा के अविद्याकल्पित भेद विषयत्व स्वीकार करने से जिस प्रकार रज्जु, ऊमर, शुक्ति और आकाश
 में भासने वाले सर्प, जल, रजत और मलिनता से उनमें कोई दोष नहीं आता; उसी प्रकार आत्मा
 में अविद्या कल्पना से कोई दोष नहीं आता, ऐसा हम पहले ही बनला चुके हैं । (पुनः पूर्ववादी आक्षेप
 करता है—) दृष्टि के तिमिरकृत और प्रतिमिरकृत विशेष के समान अविद्यात्मक भ्रम से वर्ता और
 प्रकर्ता होने से आत्मा में भी भेद हो जायगा । (इस पर सिद्धान्ती समाधान करता है—) ऐसा कहना
 ठीक नहीं । बवोकि "ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस श्रुति में स्वतः अविद्याकर्तृत्व
 का निषेध किया गया है । इस पर प्रतिरिक्त अविद्या भ्रम तो अनेक व्यापारों के पुञ्ज से उत्पन्न होता
 है तथा उसका विषयत्व होना भी सिद्ध है ।

- १ आत्मनोऽविद्याकल्पितविशेषविषयवस्वीकारादित्यर्थः । २. तिमिरातिमिरेति—दृष्टेस्तिमिरातिमिरकृत-
 विशेषवदित्यर्थः । ३ अविद्येति—अविद्याभवेनात्र तदात्मको भ्रमो गृह्यते । ४ स्वत इति—बुद्धपाद्युपाधि-
 प्रयुक्तत्व वाच्यति । ५ प्रतिपिद्धत्वादिति—'रज्जो न जायते नेति ध्यायतीवेति चाऽऽत्मनः । निषेध त्रिवे-
 दोपविचारदेहिहाऽऽत्मनि' ॥ वा० ३५६ ॥ विकारादेरित्यादिपदध्वेन विनाग्निग्रहणम् । इहेति मोक्षयास्त्वोक्तिः ।
 ६। पुञ्जेत्यर्थः । ७ आत्मनो निविशोपत्वात्सिद्धिं चोदयति—अविद्येतीति पाठान्तरम् । ८ विषयविषयीति
 —विषयविषयकोऽन्त करणस्याकारो वृत्तिरूपः दृष्टिमृष्टिपक्षे त्वन्त करणस्यैवोभयाकारत्वम् । ९ अभिव्यक्तिः ।
 १० कार्यविशेषः । ११ तस्मात्—उक्तभ्रमस्याविद्योपादानकत्वे सत्युक्तानेकव्यापारसंनिपातनिमित्तकत्वात् ।
 १२ परमधर्मत्वमिति भावः । १३ आत्मधर्मस्यात्मप्रत्ययत्वम् । १४ धर्मग्रहणपूर्वको हि धर्मग्रह इति
 धर्मधर्मिणोरतादात्म्याद्वा स्वग्रहापत्तिः ।

'यस्य चाविद्याभ्रमो घटादिव'द्विविक्तो गृह्यते स 'नाविद्याभ्रमवान् । 'ग्रहं न जाने मुग्धोऽस्मीति प्रत्ययदर्शनादविद्याभ्रमवत्त्वमेवेति चेन्न । 'तस्यापि विवेकग्रहणात् । 'न हि यो यस्य विवेकेन ग्रहीता स तस्मिन्भ्रान्त इत्युच्यते । तस्य 'व विवेकग्रहणं तस्मिन्नेव च भ्रम इति विप्रतिषिद्धम् । न जाने मुग्धोऽस्मीति दृश्यत इति ब्रवीपि तद्विशि-
नभ्रान्तानं मुग्धरूपता दृश्यत इति च 'तद्दर्शनस्य विषयो भवति कर्मतामापद्यत इति तत्कथं कर्मभूतं सत्कृतुं' स्वरूपदृशिविशेषणज्ञानमुग्धते स्याताम् । अथ दृशिविशेषणत्वं

"तदेव स्फोरयति—यस्य चेति । "अनुभवमनुपृद्य शङ्कते—ग्रह नेत्यादिना । साक्षिसाध्य-
भावेन भेदाभ्युपगमात्सास्मनोऽविद्याश्रयत्वमित्युत्तरमात्र—न तस्यापीति । "तदेव स्पृष्टयति—
न हीति । अविद्यादेर्विवेकेन "ग्रहीतयपि तद्विषये भ्रान्तत्वे का हानिरित्याशङ्क्याऽह—तस्य चेति ।
अज्ञानं मुग्धत्व चाऽऽत्मनो न विशेषणमिति विधान्तरेण दर्शयितुं चोद्यवाक्यमनुवदति—न जान इति ।
तद्व्याचष्टे—तद्विशिनश्चेति । अज्ञानादिस्तच्छब्दार्थं । दृश्यमानत्वमेव विशदयति—कर्मतामिति । इति
ब्रवीपीति सबन्ध । एव परकीयं वाक्यं व्याख्याय कलितमार्ह—तत्त्वथमिति । 'तत्र चोद्यवाक्यार्थं
दर्शितरीत्या स्थिते सति कृतुं विशेषण नाज्ञानमुग्धते स्याता तयो प्रत्येक कर्मभूतत्वादित्यर्थ । 'विपक्षे
दोषमाह—अथेति । कथं कर्म स्यातामित्येतदेव व्याचष्टे—दृशनेति । "तत्रापि कथशब्द सबन्धते ।

† जिस आत्मा के द्वारा अविद्याभ्रम घटादि के समान अपने से भिन्न ग्रहण किया जाता है, यह अविद्याभ्रमवान नहीं है (अपितु साक्षी ही है) । (इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) 'मैं आप द्वारा कही हुई बात को नहीं जानता, मैं मूढ़ हूँ' ऐसा (लौकिक) अनुभव देखे जाने से आत्मा अविद्याभ्रम-
वान ही सिद्ध होता है । (भिद्धान्ती स्पष्टीकरण करता है—) ऐसी बात नहीं है क्योंकि अविद्यादि का भी भेद से ग्रहण होता है । किसी वस्तु को भेदबुद्धि से ग्रहण करने वाला उस विषय में भ्रान्त नहीं कहा जा सकता । उसी का ही भेद ग्रहण हो और उसी में ही भ्रम हो, ऐसी दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं । 'मैं आपकी बात नहीं जानता, मूढ़ हूँ' ऐसा अनुभव होता है, यह जो तुम कहते हो और उसे देखने वाले की अज्ञान और मुग्धरूपता देखे जाने की बात कहते हो—ऐसा स्वीकार करने से तो अज्ञान

- १ पुस आत्मन । २ स्वस्माद्भिन्न । ३ नाविद्यति—अपितु साक्ष्येव स इति शेष । ४ भवदुक्तम् ।
५ अविद्यादेरपि । ६ भेदेन ग्रहणात् । ७ न हीत्यादि—अथ भाव न जाने मुग्धोऽस्मीत्यनया प्रतीत्या
ऽऽत्मन्यज्ञानमुग्धते आपाद्यते ते तु किंविषये इति वक्तव्यं न तावदारमविषय ज्ञात्वैव स्वात्मानमहमिति प्रयोगात् ।
आत्मातिरिक्तस्य तु सर्वस्याप्यज्ञानकार्यद्विज्ञानरूपत्वात् तद्विषय ते सभवतस्तयोस्तु विवेकेन ग्रहणादिति ।
आत्मातिरिक्तस्याज्ञानरूपत्वेऽपि तद्विषय तुतो नाज्ञानादीत्यत आह—समोस्त्वित्यादि । तथा चाज्ञानादे साक्षिणा
ग्रहणादेव नाज्ञानादि रूपस्यात्मातिरिक्तस्याप्यज्ञान सभवतीति भावः । ८ एव । ९ द्रष्टुदर्शनस्य अज्ञान
मुग्धता च । १० स्वरूपे स्थीति पाठान्तर । ११ अविद्यादेरा महत्त्वमेव । १२ प्रतीचो युक्तिगतो-
ज्ञानाद्याश्रयत्व प्रत्युक्तं सा चानुभववाधितेति मन्यान शङ्काप्रथमवतात्प्यति—अनुभवमिति । १३ सगृहीत-
मेव । १४ साक्षिणि । १५ तत् । १६ तयो कृतुं विशेषणत्वे । १७ विवरणवाक्येऽपि ।

तयोः कर्म कर्म स्यातां दृशिना व्याप्येते । कर्म हि कर्तृक्रियया व्याप्यमानं भवति । अन्यश्च व्याप्यमग्नद्वेषापकं न तेनैव तद्व्याप्यते । यद् कथमेवं सत्यज्ञानमुग्रधते दृशि- विशेषणे स्याताम् । न चाज्ञानविषेकदर्शज्ञानमात्मनः कर्मभूतमुपलभमान उपसङ्घ- धर्मत्वेन गृह्णाति शरीरे काश्चिद्व्याप्यदिवत्तया ।

सुषुप्तु-वेच्छाप्रयत्नादीन्सर्वो लोको गृह्णातीति चेत् । तथाऽपि ग्रहीतुर्लोकस्य विधित्त- त्वाम्युपगता स्यात् । न जानेऽहं स्वकुत्र न मुग्र एवेति चेत् । भवत्वमज्ञो मुग्रो यस्त्वे- यदर्शो तं ज्ञममुग्र प्रतिजानीमहे वयम् । तथा व्यासेनोक्तम्—'इच्छादि कृत्स्नं क्षेत्रं

'एतदेव स्फुटयति—कर्मं होति । एष सति व्याप्यध्यापकभावस्य भेदनिष्ठत्वे सतीत्येतत् । विद्याज्ञान- मुपलब्धधर्मो न भवत्युपलभ्यमानस्याऽदेहगतथाऽर्थाविवक्षित्याह—न चेति । अज्ञानय'सत्प्राप्यमपि नाऽऽप्यधर्मं स्यादित्यतिदिशति—तथेति ।

अज्ञानोत्पत्त्येच्छावेरात्मधर्मत्वनिराकारणे प्रतीतिविरोध स्यादिति शङ्कते—मुनेति । तेषां प्राहृत्यवमङ्गीकृत्य परिहरति—तथाऽपीति । "आत्मनिष्ठत्वे मुखादीनां चतस्र्यवदात्म"प्राहृत्यायोगा"स- द्ब्रह्माद्यानां तेषां न "तदमतेति भाव । प्रकारान्तरेण निराकर्तुं निराकृतमेव चोद्यममुद्रयति—न जान हति । किं प्रमातुरज्ञानाद्याद्यत्त्वमनुभवादभिदधानि 'तस्मात्सिरो वा । तत्राऽऽद्य प्रत्याह—भवतिवति । कल्पात्तर निराकरोति—यस्त्विति । न हि यो यत्र साक्षी स तत्रानो भूदो वेति । तथा च सर्वसाक्षी नाज्ञानादिमाग्भवतीत्यर्थं । आत्मनो मोहादिराहित्ये भगवद्वाक्य प्रमास्यति— तथेति । "तस्य सर्व-

श्रीर मुग्रता द्रष्टा क दशन के विषय हो जाते हैं श्रीर कर्मरूपता को प्राप्त हो जाते हैं । तब कर्मभूत होकर वे अज्ञान श्रीर मुग्रता कर्तृस्वरूप में साक्षी विशेषण कैसे हो सकते हैं । श्रीर यदि वे साक्षी के विशेषण हैं तो उन दोनों के कर्म कैसे हो सकेंगे यानी साक्षी से किम प्रकार व्याप्त होंगे । कर्म का स्वभाव है कि वह कर्ता की क्रिया में व्याप्त होता है । व्याप्य श्रीर व्यापक दोनों भिन्न भिन्न हुआ करते हैं, अपने से अपने को व्याप्त नहीं किया जा सकता । बतलाइये ! इस प्रकार अज्ञान श्रीर मुग्रता साक्षी के विशेषण कैसे हो सकते हैं । अज्ञान को अपने से भिन्न देखने वाला यानी अज्ञान को अपना कर्मभूत मानने वाला शरीरस्य कृशता य रूपादि की तरह उस स्वधर्मत्वेन ग्रहण नहीं करता ।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) यदि कर्त्री सुप्त, दुःस, इच्छा, प्रयत्न आदि (आत्म-

- १ स्वनेव । २ स्वम् । ३ अज्ञानस्य स्वतो भेददर्शा । ४ स्वधर्मत्वन । ५ तथा प्राहृत्यऽपि । ६ एव प्रमाता । ७ यस्त्वेवदर्शीति— मुद्राजयोस्तु य साक्षी नाऽज्ञो मुग्धाऽज्ञ एव वा ॥ लोकेऽपि यस्य य साक्षी सम्पदसर्वेष तस्य स । यथा लोके तथेहापि साक्षी सम्पदप्रययती 'ति वातिकामृतम् ॥ ३६३-३६४ ॥
- ८ इच्छादीति— महाभूतायहकारा बुद्धिरध्यवतमेव च । इन्द्रियाणि दर्शक च पञ्च चेन्द्रियगोचरा ॥ इच्छा द्वेष मुक्त दुःख तथातत्त्वेनना पृति । एतक्षेत्र समासेन सविकारमुदाहृतम् ' ॥ गी १३ ५-६ ॥ इत्य- ज्ञानोत्पत्त्य महाभूतादे साभिण्य सफासज्जोत्त्वन पृथक्करणान्तकारणीभूतस्याज्ञानस्यापि तदस्यसंखिदित्त्वर्थं । ९ त्रियाऽव्यप्यत्वमेव क्रियाव्याप्यत्वासम्भवमव । १० भ्रम । ११ आत्मधर्मत्वे । १२ प्राहृत्वा- योगादिति तनिष्ठस्य तद्प्राहृत्वे चागत स्वग्रहापत्तिरित्युक्तमिति भाव । १३ आत्मप्राहृत्वात् । १४ आत्मधर्मता । १५ प्रमातु । १६ आत्मन ।

क्षेत्री प्रकाशयतीति ।

“समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तम्”

इत्यादि शतश उक्तम् । तस्मान्नाऽऽत्मनः स्वतो बद्धमुक्तज्ञानाज्ञानकृतो विशेषो-
ऽस्ति । सर्वदा समंकरसत्त्वाभाव्याभ्युपगमात् ।

ये स्वतोऽन्यथाऽऽत्मवस्तु परिकल्प्य बन्धमोक्षादिशास्त्रं चार्थवादमापादयन्ति
त उत्सहन्ते खेऽपि शाकुनं पदं द्रष्टुं खं वा मुष्टिनाऽऽन्नष्टुं चर्मवद्वेष्टितुम् । वयं तु

विशेषशून्यत्वे वाक्यान्तरमुदाहरति—सममिति । आदिपदेन सम पश्यन्हि सर्वत्र । ज्योतिषामपि
तज्ज्योतिरित्यादि गृह्यते । आत्मनो निर्विशेष-वे प्राणाणिके स्वमतपुपसंहरति—तस्मान्नेति ।

पक्षान्तरमनुभाषते—ये त्विति । अत्र निर्विशेषत्वाभाव्यादिति यावत् । अज्ञानाद्बन्धो ज्ञाना-
न्मुक्तिरिति शास्त्रमथवादः । आदिशब्देन ‘उद्गरोदनाद्यर्थवादं’ दृष्टान्त सूचयति । सोपहासं दूषयति—
त उत्सहन्त इति । न हि सविशेषत्वं शक्यमात्मनः प्रतिपत्तुं निर्विशेषत्वप्रत्यायकागमविरोधादिति भावः ।
“कथं” तर्हि भवद्भिरात्मतत्त्वमभ्युपगम्यते तत्राऽऽह—वयं त्विति । प्रमाणविरुद्धार्थदर्शनं तच्छब्देन

धर्मों को मनुष्यमात्र ग्रहण करता है । (सिद्धान्ती समाधान करता है—) उनके ग्राह्यत्व स्वीकार
करने पर भी ग्रहीता की भिन्नता लोक में अङ्गीकृत है ही । और जो तुम ने कहा—“मैं नहीं जानता,
मैं मूढ़ ही हूँ” ऐसे कहकर भले ही तुम अज्ञ या मूढ़ बने रहो, किन्तु जो मूढ़ और अज्ञ का साक्षी है;
उसे हम ज्ञानी और अमुग्ध होने का बचन करते हैं । इसे व्यास जी ने भी कहा है—“इच्छादि
सम्पूर्ण क्षेत्रों को क्षेत्री आत्मा प्रकाशित करता है” ।

“जो परमात्मा को सब भूतों में सर्वत्र एक रूप से स्थित, विनस्वर पदार्थों के नाश होने पर
भी, नाश न होने वाला देखता है, वही परमार्थतः देखता है” इस प्रकार संकड़ों शास्त्र घचन हैं ।
इसलिए स्वयं आत्मा की बद्ध-मुक्त ज्ञान-अज्ञान होने से कोई विशिष्टता नहीं होती क्योंकि उसका
सर्वदा सम, एकरस स्वरूप स्वीकृत किया गया है ।

किन्तु जो विचारक आत्मतत्त्व की सविशेष कल्पना कर बन्धमोक्षादि शास्त्र को अर्थवाद

१. सममित्यादि—विषयेषु भूतेषु सम चलत्यु तिष्ठन्तमित्यर्थं । २. तस्मादिति—“यत एवमतो नास्ति
विशेषोऽत्र मनागपि । बन्धमोक्षादिष्वपोऽन्यमात्मनीति विनिश्चय” ॥ वा ३६८ ॥ ३. भवत्तरणोऽतत्त्वात् ।
४. सविशेषम् । ५. “यदा ह्येवंप एतस्मिन्नदरमन्तरं बुद्धेऽथ तस्य भयं भवती”त्यादावज्ञानाद्बन्धो ज्ञानान्मुक्तिरिति शास्त्रे
सति अथमात्मनो वस्तुतः सविशेषतेत्याशङ्क्याऽऽह—बन्धमोक्षेति । ६. अर्थवादिति—तथा चारमनो बन्ध-
मोक्षादिविभागो वास्तवोऽस्तीति तद्भाषः । ७. त इति—“एव परिहृतेऽप्याह्वयंयेच्छ दूषणं परे । विद्वद्भिरस
उपेक्ष्या. स्फुर्वालोन्मत्तसमा जना” ॥ वा० ३७१ ॥ इति तात्पर्यम् । ८. इत्यादीत्यादिना—“यथा प्रवादायत्वेक
कृत्स्नं लोचमिमं रवि । क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रवादायति भारत” “न तत्र सूर्यो भाति” “नाग्योऽतोऽस्ति द्रष्टा” ।
“अत्राप्य पुरुष स्वयज्योतिरित्या”दिवाक्यानि गृह्यन्ते । ९. “सोऽतोदीदि”त्यादि । १०. वीरक । ११.
तर्हि—आत्मनः सविशेषत्व प्रतिपत्तेरशक्यत्वे ।

तत्कर्ममशक्ताः सर्वदा समभेकरसमद्वैतमविक्रियमजमजरममरममृतममयमात्मतत्त्वं ब्रह्मव
इत्येव सर्ववेदान्तनिश्चितोऽर्थ इत्येवं प्रतिपद्यामहे । तस्माद्ब्रह्माप्येतीत्युपचारमात्रमेत-
द्विपरीतग्रहवद्देहसंततैर्विच्छेदमात्रं विज्ञानफलमपेक्ष्य ॥ ६ ॥

स्वप्नबुद्धान्तगमनदृष्टान्तस्य दाष्टान्तिकः संसारो वर्णितः । संसारहेतुश्च विद्या-
कर्मपूर्वप्रज्ञा वर्णिताः । यंश्रोपाधिभूतः कार्यकरणलक्षणंभूतः परिवेष्टितः संसारित्वमनु-
भवति तानि चोक्तानि । तेषां साक्षात्प्रयोजको धर्माधर्माविति पूर्वपक्षं कृत्वा काम
एवेत्यवधारितम् । यथा च ब्राह्मणोनायमर्थोऽवधारित एव मन्त्रेणापीति बन्धं
बन्धकारणं चोक्तवोपसंहृतं प्रकरणमिति नु कामयमान इति । अथाकामयमान इत्यारभ्य

परामृश्यते । 'सत्त्वादीनामिव साम्यं दूषयति—सर्वदेति । भेदाभेदमपयवति—एकरसमिति । तत्र
हेतुमाह—अद्वैतमिति । द्वैताभावोपलक्षितत्वादित्यर्थः । एकरस्ये कौटस्यं हेत्वन्तरमाह—अविश्रिय-
मिति । तदुपपादयति—अजमित्यादिना । अमर मरणायोग्यम् । तत्र सर्वत्राविद्यासंबन्धराहित्यं
हेतुमाह—अभयमिति । ननु ब्रह्मं त्रिविधं न त्वात्मतत्त्वमित्याशङ्क्याऽह—ब्रह्मं वेति । यद्योषतं प्रत्यग्भूतं
ब्रह्मेत्यत्र प्रमाणमाह—इत्येव इति । तत्रैव विद्वदनुभवं प्रमाणयति—इत्येवमिति । परपक्षनिरासेन
प्रकृतं वाक्यार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । उपचारनिमित्तमाह—विपरीतेति । आत्मा तत्त्वतः संसारीति
विपरीतग्रहवती या देहसततितस्तया विच्छेदमात्रं ज्ञानफलमपेक्ष्योपचारमात्रमित्यर्थः ॥६॥

ब्राह्मणोक्तेऽर्थे मन्त्रमवतारयितुं ब्राह्मणार्थमनुवदति—स्वप्नेत्यादिना । अयमर्थः संसार-

प्रतिपादित करते हैं, ऐसे (उन्नत और अतत्त्वविद्) आकाश में भी पक्षी के पदचिह्न देखना चाहते हैं,
आकाश को मुट्टी से खींचना और चमड़े के सामान लपेटना चाहते हैं । हम ऐसी कल्पना करने का
साहस नहीं कर सकते । हम मानते हैं कि सर्वदा सम, एकरस, अद्वितीय, अविकारी, अजन्मा, अजर,
अमर, अमृत, अभयरूप आत्मतत्त्व ब्रह्म ही है—यही सर्व वेदान्तों का निष्कर्ष है । इसलिये विपरीत
ग्रह से होने वाली भावी देह सतत के विच्छेद मात्र विज्ञान के फल की अपेक्षा से—“ब्रह्म ही होकर ब्रह्म
को प्राप्त होता है” यह श्रुतिवचन उपचार मात्र ही है ॥ ६ ॥

स्वप्न और जागरितावस्था में गमनसंबन्धी दृष्टान्त का दाष्टान्तिक रूप जन्ममरणात्मक
संसार का वर्णन कर दिया गया । संसार की प्राप्ति में हेतु विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा का भी प्रतिपादन
कर दिया गया और जिन उपाधिभूत देह-इन्द्रिय लक्षण भूतों के द्वारा परिवेष्टित हो, संसारित्व
अनुभव करता है, उनका भी निरूपण कर दिया गया । उन भूतों के साक्षात् प्रेरक धर्म और अधर्म
हैं—इस प्रकार पूर्वपक्ष उपस्थापित कर “काम ही उनका प्रेरक है” ऐसा सिद्धान्त निर्धारित किया
गया । जिस प्रकार ब्राह्मणभाग में अर्थ किया गया था; उसी अर्थ का मन्त्रभाग में निर्धारण किया
गया । बन्ध और बन्ध के कारण को बतलाकर “इति नु कामयमान.” इस श्रुतिवाक्य से प्रकरण का

१ प्रतीच सदा ब्रह्मत्वात् । २ भाविन्या देहसंततित्यर्थः । ३. जन्ममरणात्मकः । ४. भूतानाम् ।
५. काम्येन । ६ सत्त्वादिगुणानां यथा वदन्तिसाम्यवस्था सट्टकादाचित्क साम्यमित्यर्थः । ७. प्रत्याभूते
ब्रह्मण्येव । ८ भाविनीदेहसततितरिति यावत् ।

'तदेव श्लोको भवति । यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा
येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म

उसी विषय में यह मन्त्र भी है । जब इसके हृदय में स्थित समस्त कामनाएं मूल से नष्ट हो जाती हैं; तब यह मरणशील पुरुष अमर हो जाता है और इस वर्तमान शरीर में ही वह ब्रह्म को

सुषुप्तदृष्टान्तस्य दाष्टान्तिकभूतः सर्वात्मभावो मोक्ष उक्तः । मोक्षकारणं चाऽऽत्म-
कामतया यदात्मकामत्वमुक्तम् । तच्च सामर्थ्यान्नाऽऽत्मज्ञानमन्तरेणाऽऽत्मकामतयाऽऽप्त-
कामत्वमिति सामर्थ्याद्ब्रह्मविद्यैव मोक्षकारणमित्युक्तम् । अतो यद्यपि कामो मूलमित्युक्तं
तथाऽपि मोक्षकारणविपर्ययेण बन्धकारणमविद्येत्येतदप्युक्तमेव भवति । अत्रापि मोक्षो
मोक्षसाधनं च ब्राह्मणेनोक्तम् । तस्यैव दृढीकरणाय मन्त्र उदाह्रियते श्लोक-
शब्दवाच्यः—

'तत्तस्मिन्नेवार्यं एष श्लोको मन्त्रो भवति । यदा यस्मिन्काले सर्वे समस्ताः

स्तद्धेतुश्च मन्त्रस्तदेव सक्तः सह कर्मस्येत्यदिः । आत्मज्ञानस्य 'तर्हि मोक्षकारणत्वमुपेक्षितमत्या-
शङ्क्याऽऽह—तच्चेति । अतो ब्रह्मज्ञानं मोक्षकारणमित्युक्तत्वादिति यावत् । मूलं बन्धस्येति शेषः ।
'अत्रेति मोक्षप्रकरणोक्तिः । बन्धप्रकरणं दृष्टान्तयितुमपिशब्दः । "उत्तेऽर्थे तदेव इत्याद्यक्षराणि घ्याचष्टे
—तत्तस्मिन्नेवेति । यस्मिन्काले विद्यापरिपाकावस्थायामित्यर्थः । "सुषुप्तिव्यावृत्त्यर्थं सर्वविशेषण-
उपसंहार कर दिया गया । पुनः "अथाकामयमानः" इस श्रुतिवाक्य से प्रारम्भ कर सुषुप्त दृष्टान्त
ना दाष्टान्तिकभूत सर्वात्मभाव मोक्ष कहा गया । यहाँ जो मोक्ष का कारण "आत्मकाम होने से जब
नात्मकाम होता है" ऐसा कहा गया, वह प्रकरण सामर्थ्य से "आत्मकाम होने से आत्मकामत्व" बिना
आत्मज्ञान के नहीं हो सकता; इसलिए सामर्थ्य से ब्रह्मविद्या ही मोक्ष में कारण है—ऐसा बतला दिया
या । यद्यपि "मूल में सभी काम ही है" ऐसा बतलाया था, तथापि मोक्ष कारण की विपर्ययात्मिका
प्रविद्या ही बन्धन का कारण है, यह बात स्वतः ही उक्त हो जाती है । यहाँ भी मोक्ष और मोक्ष का

१. तत् तस्मिन् ब्राह्मणोक्ते मोक्षसाधनेऽर्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति । अथात्मकामस्य विदुषो यदा यस्मिन्
विद्यापाककाले हृदि श्रिता ये प्रसिद्धाः सर्वे इहामुत्रार्था इन्द्रियप्रवृत्तिभूताः कामा वासनात्मका मुच्यन्ते मूलतो
विदीर्यन्ते । अथातो हेतोस्तदा मर्त्यो मरणधर्माऽपि सन् अमृतो भवति कि तदमृतत्वं क्व वेत्यत आह—अत्र
अस्मिन्नेव शरीरे स्थित सन् ब्रह्म समस्तुते ब्रह्मभूतो भवतीत्यर्थं । २. तच्चेति—मोक्षकारणत्वेन धृतमात्म-
कामत्वप्रयुक्तमात्मकामत्व च सामर्थ्यात्—श्रुतार्थानुपपत्त्या यागोऽपूर्वमिव स्वदार बल्पयतीति शेषः । ३.
बल्पनास्वरूपमैवाभिनयति—नेत्यादिना । ४. आत्मकामत्वमित्यन्तर साध्यान्मोक्षसाधका स्वरूपभूतमोक्ष-
व्यवध्यज्ञानानिवर्तकत्वादिति शेषः । इति सामर्थ्यात्—इत्याकारकश्रुतार्थानुपपत्त्यर्थः । ५. ब्राह्मणोक्तार्थ-
स्यैव । ६. श्रोतुप्रवृत्तिदाढ्यार्थः । ७. ब्राह्मणोक्ते मोक्षसाधनरूपेऽर्थे । ८. समस्ता इति—विद्यया-
ऽविद्याष्वस्ती कारणानां वा कामा सत्कारात्मनापि नावशिष्यन्त इति भावः । ९. तर्हि—आत्मकामत्व-
प्रयुक्तस्यात्मकामत्वस्य मोक्षकारणत्वानुपपत्तेः । १०. अमृतं ब्रह्मण्ये । ११. 'सुषुप्तीति—सुषुप्तो हि
पञ्चानुरूपकारणवशेषात् कामा अपि संस्कारात्मनाऽऽतिष्ठन्त इति न समस्तानां वस्तुपरिमिति भावः ।

समश्नुत इति । तद्यथाऽहिनित्वंयनी वल्मीके मृता
प्रत्यस्ता शयीतंवमेवेव^७ शरीर^८शेतेऽथायम^९शरीरो-
^३ऽमृतः प्राणो ब्रह्म^४व तेज एव सोऽहं भगवते
सहस्रं ददामीति होवाच जनको वंदेहः ॥ ७ ॥

प्राप्त कर लेता है । इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे सर्प की बँचली सर्प के निवासस्थान बिल के ऊपर
मृत एव सर्प द्वारा त्यागी हुई पड़ी रहती है, वैसे ही सर्पस्थानीय भूत पुरुष द्वारा यह घनात्म देह
परित्यक्त हो मरे हुए के समान पड़ा रहता है और यह शरीररहिन, अमर, प्राणपदवाच्य चेतन
आत्मा तो ब्रह्म ही है, तेज ही है (अर्थात् देहाध्याम के कारण से प्रतीत होने वाला ममार उस
सत्त्ववेत्ता को सतप्त नहीं करता) । इस पर विदेहराज जनक ने कहा—भगवन् ! वह मैं जनक प्राणको
एव सहस्र गौएँ देता हूँ ॥ ७ ॥

कामास्तृष्णाप्रभेदाः प्रमुच्यन्ते । आत्मकामस्य ब्रह्मविदः समूलतो विशीर्यन्ते । ये प्रसिद्धा
लोक ईहामुपार्थाः पुत्रवित्तलोकंपणा लक्षणा अस्य प्रसिद्धस्य पुरपस्य ^{१०} हृदि बुद्धौ श्रिता

मिति मत्वाऽह— समस्ता इति । कामशब्दास्या^१र्थांतरविषयत्व व्यावर्तयति—तृष्णेति । क्रियापदं
सोपसर्गं ध्याकरेति—आत्मकामस्येति । ^२तानेव विशिनष्टि—ये प्रसिद्धा इति । कामानामा^३स्मास्य वं

साधन ब्राह्मणभाग द्वारा कहा गया है । उसी ब्राह्मणभागेक्त अर्थ की पुष्टि करने के लिए श्लोकशब्द-
वाच्य मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है ।

“तदेव श्लोको भवति” अर्थात् उसी अर्थ में इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में मन्त्रात्मक श्लोक है ।
“यदा” अर्थात् जिस समय “सर्वे कामा ” अर्थात् (विद्या से अविद्याध्वंस होने पर कारणनाश से
संस्कारात्मक रूप से भी काम अवशिष्ट न रहने से) समस्त तृष्णा प्रभेद काम पूर्णतया छूट जाते हैं;
आत्मकाम ब्रह्मवेत्ता के काम अज्ञानसहित समूल नष्ट हो जाते हैं । “ये” यानी जो लोक में प्रसिद्ध
उभयलोक फल विषयक पुत्र-वित्त-लोकंपणासजक काम “प्रस्य” अर्थात् इस प्रसिद्ध पुरुष के “हृदि

१ शरीर—स्थूल सूक्ष्म च जीवन्मुक्ते नानात्मभावेन व्यक्तम् । २ तत्र निर्ममाहृदित्वत्वात् । ३ मरुत्स्य
देहधर्मत्वात् । ४ साक्षी । ५ ब्रह्मरूप । ६ किं तद्वद्ब्रह्म तत्राह—तेज इति । विज्ञानज्योतिरेव ।
७ मूलमज्ञानम् । ८ उभयलोकफलविषयका । ९ अर्थात्तरेति—मदनादीत्यर्थ । तथा च मेदिनी—
‘काम’ स्मरेच्छयो पुमान् देतस्यापि निकामे च काम्येऽपि स्यात्पुसकम्’ इति । १० कामानेव । ११
सात्त्विकसम्मतम् ।

^{१०} हृदि बुद्धौ श्रिता इति । अत्र वास्तिकानि—‘हृदि श्रिता इति अत्र कामधर्मब्रवीमन् । काम सङ्कल्प इत्येवं
तथाच प्राक्श्रुतीरणम् ॥ इदं च हेतुवचन प्रतिज्ञातस्य वस्तुन । हृदि श्रिता यत कामा प्रमुच्यन्तेऽखिलास्ततः ॥
अविद्याया यत काममव्यात्मादिविशेषणम् । अथ वा इदमित्युक्त वाडमन प्राणभेदवत् ॥ अतोऽविद्यासमुच्छ्रितौ
सद्बुद्धेनामधेयतः । कामानामपि नाश स्याद्ब्रह्मातिग्रहरूपिणाम् ॥ नि शेषजनिमदंतु काम एवावधारितः ।
श्रिता अतिग्रहाः कामा इन्द्रियाणा प्रवर्तकाः । हृदि श्रिता इति अत्रस्तेषामवस्तुत्वात् ॥ वेदव्यासोऽपि च

प्राश्रिताः । अथ तदा मर्त्यो मरणधर्मा सन्कामवियोगात्समूलतोऽमृतो भवति । अर्थादनात्मविषयाः कामा अविद्यालक्षणा मृत्यव इत्येतदुक्तं भवति । अतो मृत्युवियोगे विद्याञ्जीवन्नेवामृतो भवति । अत्रास्मिन्नेव शरीरे वर्तमानो ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मभावं मोक्षं प्रतिपद्यत इत्यर्थः । अतो मोक्षो न देशान्तरगमनाद्यपेक्षते । तस्माद्विदुषो नोत्कामन्ति

निराकरोति—हृदीति । समूलतः कामवियोगादिति संबन्धः । कामवियोगादमृतो भवतीति निर्वेशसामर्थ्यसिद्धमर्थमाह—अर्थादिति । तेषां मृत्युत्वे किं स्यात्तद्वाह—अत इति । अत्रेत्यादिना विवक्षितमर्थमाह—अतो मोक्ष इति । आदिपदमुक्त्वात्त्यादिसप्रहार्थम् । मुक्तेरतदपेक्षाभावो कलितमाह—तस्मा-

श्रिताः” अर्थात् बुद्धि के प्राश्रित है । “अथ” अर्थात् तब “मर्त्यः” अर्थात् मरणधर्मा होने पर भी कामनाश्यों के समूल नष्ट हो जाने से अमृत हो जाता है । अर्थात् अनात्मविषयक काम ही अविद्या उपादानक मृत्यु है; यह बात कह दी गयी है । इसलिये (काम रूप) मृत्यु के वियोग हो जाने पर यह विद्वान् पुरुष जीते हुए ही मुक्त हो जाता है । “अत्र” अर्थात् इस शरीर में वर्तमान रहते हुए ही ‘ब्रह्म समश्नुते’ अर्थात् ब्रह्मभाव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । इसलिए मोक्ष में देशान्तरादिगमन की

१. अविद्योपादानका । २. अवतरणोक्तत्वात् । ३. अतः—ज्ञानसमकालमेव ब्रह्मभावप्रतिपत्तेर्मन्त्रोक्तत्वात् ।
४. अवतरणोक्तत्वात् ।

मुनिर्जगाद्वैम यपोदितम् । श्रुत्यर्थनुररीकृत्य लोकानुग्रहकाम्यया ॥ विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन् । रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ एवं बुद्धे परं बुद्ध्या संसंभ्याऽऽमानमात्मना । जहि शत्रु महाबाहो कामरूपं दुरासदम्” ॥ ३०-३-३७ ॥ इति । अस्य पुत्री ये कामा लोकद्वयविषयास्ते सर्वे ज्ञानान्तर्यामिणीत्युक्तं सप्रति हृदीत्यादेस्तात्पर्यमाह—हृदीति । तत्र व्यप्राधिकार संवादमिति—काम इति ॥ तर्हि तेनैव गतार्पत्वाद्द्वयममेतदित्याद्यद्वाऽह—इद चेति । कामा प्रमुच्यन्ते इति प्रतिज्ञातं वस्तुनो हृदि श्रिता इति हेतुवाक्यमित्यमुमेव विभाग प्रकटयति—हृदीति । ननु ब्रह्मविदो विद्यया कामध्वस्तो तेषां हादंस्व कथं हेतुर्न हि मुक्तिविद्यया तदविद्याध्वस्तो पुरुषनिष्ठत्वं तस्या हेतु क्रियते तत्राऽह—अविद्याया इति । त्रिविध वागादिक जगदाविद्यामिति त्रय वा इदमित्यत्र यस्मादुक्तं तस्मादविद्याध्वस्तो तज्जान्तं करणध्वस्तेस्तदाश्रितानामपि कामान्नासाथानां सर्वथा ध्वस्तिरिति विदुषो विद्यया कामध्वस्तो हृदिश्रितत्वोक्तिर्भवति हेतुस्त्वर्थः । नन्वविद्याध्वस्तो तत्कार्यध्वस्तेस्तदाश्रितकामध्वसेऽपि कार्यान्तरं स्यास्यति सत्कुतो मुक्तिस्तत्राऽह—नि.शेषेति । काममय एवायं पुरुष. कामबन्धनमेवेदमित्यादाविति शेषः । कामहेतुत्वोक्त्यादमदिविद्यया ध्वस्तो कर्म विध्वंसते तथाच मुक्तिप्रतिबन्धाभावात्तत्सिद्धिरित्यर्थः । कामान्द्वयत्वेनाकार्यत्वात्कस्य जनमदेतुत्वं तत्राऽह—श्रिता इति । बुद्धिस्या रागादिवासनाह्याः कामा द्विविधेन्द्रियप्रवर्तकाः सन्तो नानाक्रियामुत्पादन्यन्तो जगज्जनयन्ति धिया धिया जनयते कर्मभिरिति श्रुतेरित्यर्थः । रागादिवासनामत्र कामत्वे नमकमाह—हृदीति । रागादीनामत्र कामाद्येन सप्रहार्थमेनाद्विशेषणं न हि मनोगतत्वं रागादिभ्योऽप्यत्र मुख्यमित्यर्थः । ब्रह्मविदो ज्ञानादशेषकामध्वस्तिरिति प्रतिज्ञाहेतुभ्यामुक्तं तत्र स्मृति प्रमाणयति—वेद्यव्याप्तौऽपीति ॥ तदीयं वाक्यं मठति—विषया इति । तत्राव्यन्तराहित्यं निराहारत्वं रसो रागः ॥ तदीयं वाक्यान्तरमाह—एवमिति । ब्रह्मविदं कामा निवर्तन्त इति प्रतिज्ञासामान्तेषु तदुच्यते तेषां ध्वस्तेरिति हेत्वर्थतया विशेषणं व्याख्यायार्थान्तरमाह—अनाश्रितविभागार्थमथवा सद्द्विशेषणम् । तेषु मलविधेयत्वात्सर्वं स्याद्विशेषणम् ॥ नाऽऽश्रयादेशेयत्वात्तदादीतोह

प्राणा यथावस्थिता एव स्वकारणं पुरुषे समवनीयन्ते । नाममात्रं ह्यवशिष्यत इत्युक्तम् ।
 कथं पुनः समवनीयेषु प्राणेषु देहे च 'स्वकारणं प्रलीने विद्वान्मुक्तोऽत्रैव सर्वात्मा
 सन्वर्तमानः पुनः पूर्ववद्देहित्व संसारित्वलक्षणं न प्रतिपद्यत इति । अत्रोच्यते—'तत्त-
 त्रायं दृष्टान्तो यथा लोकेऽहिः सर्पस्तस्य नित्वंयनी निर्मोकः सांऽहिनित्वंयनी' बल्मीके
 सर्पाभ्ये बल्मीकादावित्थयः । 'मृता प्रत्यस्ता प्रक्षिप्ताऽनात्मभावेन सर्पेण परित्यक्ता

दिति । तर्हि मरणामिदिरित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । उत्क्रान्तिगत्यापतिराहित्यं यथावस्थितत्वम् ।
 एतच्च पञ्चमे प्रतिपादितमित्याह—नाममात्रमिति ।

तद्यथेत्यादिवाक्यनिरसयां शङ्क्यामाह—कथं पुनरिति । विदुषो विद्यायाऽऽत्ममात्रत्वेन प्राणादिव्यु-
 धाघितेष्वपि देहे चेतसौ वर्तन्ते ततोऽप्य पूर्ववद्देहित्वादिद्यावेवैश्वर्यमित्यर्थः । दृष्टान्तेन परिहरति
 —अत्रत्यादिना । देहे धर्तमानस्यापि विदुषस्तत्राभिमानराहित्यं तत्रैत्युच्यते । यस्यां त्वचि

अपेक्षा नहीं है । इसलिए विद्वान् क प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, वे ज्यो के त्या ही अपने कारण पुरुष
 में प्रविलीन हो जाते हैं । कब न नाममात्र हा शेष रह जाता है—ऐसा श्रुति में पहले (पाँवें मन्त्र में)
 प्रतिपादित किया जा चुका है ।

प्राणों के बाधित हा जाने पर और देह के अपने कारण में बाधित हो जाने पर विद्वान् मुक्त
 होकर जानाधिकरण देह में ही सर्वात्मा होकर धर्तमान रहते हुए पुन पूर्ववत् ससारित्वलक्षण दहभाव
 को क्यों प्राप्त नहीं होता ? इस सबंध में यह कहा जाता है वही (जीवन्मुक्त देह और जीवन्मुक्त में)
 यह दृष्टान्त है । जिस प्रकार लोकव्यवहार में "ग्रहिनित्वंयनी" यानी सर्प की केंचुली "बल्मीके"

१ मृ उ ३ २ १२ । २ बाधितेषु । ३ भूतपञ्चके परम्परयाऽधिष्ठाने घातनीति यावत् । ४
 बाधिते । ५ ज्ञानाधिकरण देहे एव । ६ तत्रेति—जीवन्मुक्तदेहे जीवन्मुक्ते चेत्यर्थः । ७ निर्मोक
 इति—समो कञ्चुव निर्मोकावित्यमर । ८ मृता—ग्रहिदेहविनिमुक्ता । तथा च वातिके—'ग्रहिदेह-
 वियोजोऽत्र मृतशब्देन भण्यते । बल्मीकाभ्यना तस्या प्रत्यस्तेत्यभिधीयते' ॥ ५०७ ॥ इति । ९ अनात्म-
 भावेनेति—आत्मात्मीयत्वाभिमानराहित्येनेत्यर्थः ।

विशेषणम् ॥ न हि हृद्घतितरेकेण वामानामाभ्यान्तरम् । श्रुतो स्मृतौ वा न्यायाद्वा एतदेऽपि प्रमान्तरात् ॥
 प्रवृत्तिं कामाब्दस्य भूय स्वर्गेषु दृश्यते । कर्मादिव्यु जगत्कर्मिन्मन्तानपेदयात् उच्यते । हृदि स्थिता इति वचो
 माऽऽश्रयतातरवीक्षया' ॥ ४३७ ४४० ॥ इति । तद्व्यसत्ताका कामात्सनावदुद्विद्यामध्यन्ते नात्तद्व्यसत्तावास्ता-
 न्यावतपित्ते हृदिस्थितविशेषणमिति यावत् । कामा प्रमथ्यत इत्येतावर्तवेष्टित्वात्तस्यसत्ताका इत्यनर्थकमन्ये-
 वामप्रस्तावास्तथा 'च विशेषणवैषम्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तेष्विति । आतत्रामेषु विषयबोधपरानादिना ध्वस्तौ
 यत्नासिधायस्य कायत्वात्तद्विधेनाथ विशेषणमथवन्त्यर्थः ॥ आश्रयात्तरस्यकामापोहायमव तत्किं न स्यान्नेत्याह
 —नाऽऽश्रयेति ॥ तत्र हेतु — न हीति ॥ यत्मानकामेषु यत्नाधिकवधिधानार्थमनाश्रितकामेभ्यो विभाग घनत्
 विशेषणमित्युक्तवाऽन्तरमाह—प्रवृत्तिरिति । काम्यत इति वा काम्यतेऽनेनेति वा कामनमिति वा कामाब्द-
 स्यात्तैकाग्र्यत्वं दृश्यते तत्र भावध्वस्त्यन्तिव्यवस्थाविशेषा हृदि स्थिता नेतरे करणादयस्मानपेदय तद्विशेषण
 माऽऽश्रयकामाभेदाया तदभाष्यतात्त्विकत्वात् भवविषयेच्छावस्तौ मुक्तिर्नान्येति वक्तु विशेषणमित्यर्थः ।
 —माऽऽश्रयन्तरवीक्षयेत्यात्मनः कामाध्ययकाभाव उक्तः ॥

शयीत वतेंत । एवमेव यथाऽयं दृष्टान्त इदं शरीरं सर्पस्थानीयेन मुक्तेनानात्मभावेन परित्यक्तं मृतमिव शेते ।

अथेतः सर्पस्थानीयो मुक्तः सर्वात्ममृतः सर्पवत्त्रैव चर्तमानोऽप्यशरीर एव न पूर्ववत्पुनः सशरीरो भवति । कामकर्मप्रयुक्तशरीरात्मभावेन हि पूर्वं सशरीरो मर्त्यश्च । तद्विद्योगादथेदानीमशरीरोऽस्त एव चामृतः । प्राणः प्राणित्येति प्राणः ।

सर्पो नितरां लीयते सा नित्वंयनो सर्पत्वगुच्यते । "सर्पनिर्माकदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकमाह —एवमेवेति ।

सर्पदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकं दर्शयति—अथेति । अज्ञानेन सह वेहाय नष्टत्वमशरीरत्यावो हेतुरथशब्दाद्यैः । प्रथमशब्दाद्यद्योतितहेत्ववष्टम्भेनाशरीरत्व विशदयति—कामेति । पूर्वमित्यादिद्यावस्थोक्तिः । इवानोमिति विद्यावस्थोच्यते । श्रुत्युत्पत्त्यनुसारिणं रुढं च "मुख्यं प्राणं व्यावर्तयति

अर्थात् सर्प के आश्रित बाँधी आदि पर "मृता प्रत्यस्ता" अर्थात् सर्प की देह से विनिर्मुक्त एव सर्प द्वारा आत्माभिमानरहित भाव से परित्यक्त पडी रहती है । जिस प्रकार यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार ही सर्पस्थानीय मुक्त पुरुष के द्वारा आत्मभाव से रहित होने से परित्यक्त यह शरीर विद्वान् से विमुक्त की तरह पडा रहता है ।

एवं उससे परे जो सर्पस्थानीय सर्वात्मस्वरूप मुक्त पुरुष है, वह सर्प के समान बही रहता हुआ भी अशरीर यानी निर्मम निरह रहता है, पूर्ववत् अविद्यावस्था के समान पुनः विद्यादशा में सशरीर नही होता । कामकर्म से प्रेरित शरीरात्मभाव मे पहले सशरीर और मर्त्य था, कामादि के वियोग से अब वह अशरीर है । (शरीर के हो मरणधर्म होने से) इसलिए वह अमृत है । "प्राणः"

१. वतेंतेति—सर्पश्च तत्र निर्ममाहृतिक इति शेषः । २. विद्वद्वियुक्तमिव तिष्ठति । ३. सर्पवत्त्रैव चर्तमानोऽप्येति—बिलेऽहरिव देहादावित्यर्थः । वस्तुतस्तु तत्रैव चर्तमानत्व इगान्तेनैव विवक्षितम् अर्पितु निर्माके आत्माऽभिव्यक्ताभिमानशून्यत्वमात्र विवक्षितं तत्रैव चर्तमानत्व तु दार्ष्टान्तिक एवेति ध्येयम् ।
४. तत्र निर्ममाहृतिकत्वात् । ५. पूर्ववत्—अविद्यादशायामित्यर्थः । ६. पुनः—विद्यादशायाम् । ७. अमृतम् । ८. कामादि । ९. शरीरस्यैव मरणधर्मित्वात् । १०. सर्पनिर्माकेत्यादि—सर्पस्तन्निर्माकत्वेति दृष्टान्तद्वयमनेष्टं तत्र सर्पनिर्माके विद्वद्देहस्य दृष्टान्तस्तदार्ष्टान्तिकमाहोत्यर्थः । ११. पञ्चवृत्त्यात्मकम् ।

कामकर्मत्वादि चाप्युत्पत्त्यभावे वातिककारपादास्तथाहि—"प्रत्यग्मानसिचित्स्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहयुक्ते । नेति नेतिस्वरूपत्वादाशरीरो भवेत्ततः ॥ स्वतोऽदिदेशकालादे प्रत्यविचरन्मात्रवस्तुन । देगादिमच्छरीरेण न सन्न्यस्तमो विना ॥ कल्पितेनाभिसन्नयो न ह्यकल्पितवस्तुन । अज्ञानकालेऽप्यस्तीह किमुताज्ञाननिहृती ॥ अतस्त्रिकगिरा स्थूलदेहस्येह निवारणम् । तथाऽशरीरस्येन सूक्ष्मो देहो निरिष्यते ॥ मूत्रदेहनिषेधोक्त्या स्थूलस्यापि निषेधतः । तन्निषेधाय यत्नोऽत्र चावयुस्या न भण्यते ॥ यदाऽशरीरस्येन सञ्चुतो विद्वन्निहृतिः । स्थूलस्यामृत इत्युक्त्या निरिष्यतात्र निहृतिः" ॥ ५।१०-५।२२ ॥ इति । अथशब्दार्थमनूपाशरीरविशेषणमादत्ते—प्रत्यगिति ॥ तस्याधर्माह—स्वत इति । अदिदेशकालादेरिति च्येदः । देहयोगविद्योगाद्यर्थवितानिष्टि—समो विनेति ॥ विदुषो देहयोगो नेत्युक्तं कैमुतिव्याप्येन साधयति—कल्पितेनेति ॥ अथायमनसिचो-

प्राणस्य प्राणमिति हि वक्ष्यमाणे श्लोके । “प्राणबन्धनं हि सोम्य 'मन.' इति च श्रुत्यन्तरे । प्रकरणवाक्यसामर्थ्याच्च पर एवाऽऽत्माऽत्र प्राणशब्दवाच्यः । ब्रह्मैव परमात्मैव । किं पुनस्तत्तेज एव विज्ञानज्योतिर्येनाऽऽत्मज्योतिषा जगदवनास्यमानं प्रज्ञानेत्रं विज्ञानज्योतिरुत्सद्विभ्रं शब्दतैः ।

—प्राणस्येति । श्लोके पर एवाऽऽत्मा यथा प्राणशब्दस्तथाऽत्रापीत्यर्थः । यथा च श्रुत्यन्तरे प्राणशब्दः पर एवाऽऽत्मा तयाऽत्रापीत्याह—प्राणेति । किञ्च परविषयमिव प्रकरणमयाकामयमान इति मोक्षस्य प्रकृतत्ववाक्यामिरणादि वाक्ये च “तद्विषयमन्या ब्रह्मादिशब्दानुपपत्तेः । ‘तस्माद्बुभयसामर्थादत्र पर एवाऽऽत्मा प्राणशब्दित इत्याह—प्रवरणेति । ॥ विशेष्ये दर्शयित्वा विशेषण दर्शयति— ब्रह्मैवेति । ब्रह्मशब्दस्य कमलासनाद्विषयस्यैव वारयति—किं पुनरिति । तेज शब्दस्य “कार्यज्योतिर्विषयत्वमाशङ्क्याऽह—विज्ञानेति । “तत्र प्रमाणमाह—येनेति । प्रज्ञा प्रकृष्टा ज्ञप्ति स्वरूपचैतन्यं नेत्रमिव नेत्र प्रकाशकरयेति तद्योक्तम् ।

अर्थात् प्राणन त्रिया करने से प्राण है । “बह प्राण का भी प्राण है” इमे श्रुति भागे प्रतिपादित करेगी । “हे सोम्य । साक्षी का बन्धन ही जीव है” ऐसा छान्दोग्य श्रुति कहती है । प्रवरण और वाक्य के सामर्थ्य से यह परमात्मा ही प्राण शब्द का वाच्य है । “ब्रह्मैव” अर्थात् परमात्म रूप ही है, और वह क्या है, ‘तेज एव’ अर्थात् विज्ञान ज्योति ही है, जिस आत्मज्योति से अन्धभासित होता हुआ जगत् प्रज्ञा नेत्र और विज्ञान ज्योतिमान् होकर सुस्थिर विद्यमान रहता है ।

१ वृ उ ४ ४ १६ । २ साक्षिवन्धनम् । ३ जीव । ४ ब्रह्म । ५ अथमास्यमानत्वमेव विद्यदयति—प्रकृति । ६ सुस्थिरम् । ७ परविषयम् । ८ प्रकरणाद्ब्रह्मादिशब्दाच्च । ९ विशेष्यमिति—प्राणशब्देन विशेष्य साक्षिण दर्शयित्वा ब्रह्मशब्देन तद्विशेषण दर्शयतीत्यर्थः । एव च सामानाधिकरण्याज्जीवपरैक्य प्रतिपादितम् भवतीति भावः । १० प्रादित्यादि । ११ विज्ञानस्य तेजशब्दत्वे ।

शरीर इति भाष्यदिनपाठस्तत्रानस्थिकशब्दार्थमाह—अनस्थिवेति । अशरीरशब्दस्य तर्हि पुनरुक्तत्वात्पाङ्क्याऽह—तमेति ॥ तर्हि काण्वपाठे स्पृशदेहनिवारकाभावस्तत्राऽह—सूक्ष्मेति ॥ यन्प्रायर्दार्ढ्यं न स चोदानार्थं इति ग्यायेन काण्वश्रुती स्पृशदेहनिषेधस्याविवक्षितत्वमात्राङ्क्याऽह—यद्वेति । माध्यंदिनश्रुती विशेषणद्वयार्थोऽमृतश्रुती पिण्डीकृत्योच्यते ॥

॥ विशेष्ये दर्शयित्वा विशेषण दर्शयतीति । तदुक्त—“साक्षिण प्राणशब्देन विशेष्यस्याभिधेय्यते । ब्रह्मैवेति च शब्देन तद्विशेषणमुच्यते ॥ साक्षिण सद्वितीयत्व ब्रह्मणश्च परोक्षताम् । तद्वेतुप्रतिषेधेन वाक्यमेतन्निषेधति ॥ आमोपब्रममाशान्त प्राणकारणसम्यग्म् । प्राणो ब्रह्मति चक्षता तदात्मनि निधिष्यते ॥ ब्रह्मात्मनोऽत्र ससर्गो मा प्रापत्कृष्णसपवत् । इत्यर्थं तेज एवति श्रुति ससर्गवारिणी । व्यावर्त्येभेदादाभाति भेदो ब्रह्मात्मन्यव्यो । वस्तुतस्त्वेक एवाऽऽत्माऽत्रानि-यादिर्नैवा तथा ॥ ब्रह्मैव तेज एवेति ह्यमयत्रावधारणम् । सस्यप्रतिषेधार्थं मा भूमीलोत्पलादिवत् ॥ सर्वानर्थकबीजस्य प्रत्यगज्ञानरूपिणः । कार्योऽत्र चक्षता वाद्य केवलो नाग्य इत्यते ॥ मरमादेतस्त्वतो बुद्धमत बुद्धमसगते । मुक्त चात स्वतो वस्तु किमन्यत्कायनिष्यते । हृत चिकीपित सर्वं बुद्धयच्च बुभुंसितम् । प्राप्त बोधात्तथाऽऽभव्य बर्जनीय च वज्रितम्’ ॥ वा ५२३-५३१ ॥ इति । यद्योक्तस्य विदुषो

यः 'कामप्रश्नो विमोक्षार्थो याज्ञवल्क्येन वरो दत्तो जनकाय 'सहेतुको बन्धमोक्षार्थलक्षणो दृष्टान्तवाष्पान्तिकभूतः स एष निर्णीतः सविस्तरः जनकयाज्ञवल्क्याख्यायिकारूपधारिण्या श्रुत्या । संसारविमोक्षोपाय उक्तः प्राणिभ्यः । इदानीं श्रुतिः स्वयमेवाऽऽह विद्यानिष्क्रयार्थं जनकेनेवमुक्तमिति । कथं सोऽहमेव विमोक्षितस्त्वया भगवते तुभ्यं विद्यानिष्क्रयार्थं महत्त्वं ददामीति हेवं किलोवाचोक्तवाञ्छनको वदेहः । अत्र कस्माद्विमोक्ष-

सोऽहमित्यादेशस्तात्पर्यं वस्तुं वृत्त कीर्तयति—य कामप्रश्न इति । निर्णयप्रकार संक्षिपति—ससारेति । सोऽहमित्यादिवाक्यान्तरमुत्थापयति—इदानीमिति । आकाङ्क्षापूर्वकं वाक्यमादाय विभज्यते—कथमिति । सहस्रदानमाक्षयति—अत्रेति ।

याज्ञवल्क्य ने विमोक्ष क लिए राजा जनक को स्वच्छन्द प्रश्न रूप वर का आश्वासन दिया था, उस दृष्टान्त वाष्पान्तिकभूत बन्ध-मोक्षार्थ लक्षण प्रश्न का जनक याज्ञवल्क्य आख्यायिका वाली श्रुति ने महेतुक (बन्ध के हेतु प्रविद्या काम कर्मादि एव मोक्ष मे हेतु संन्याससहित बोध वा) विस्तार सहित निर्णय कर दिया । प्राणियों के लिए ससाराप्राप्ति एव विमोक्ष प्राप्ति के हेतु बतलाये गये; अत्र श्रुति स्वयं कहती है कि इस (गुह्य) विद्या का ऋण चुकाने के लिए जनक ने इस प्रकार कहा, आपके द्वारा इस प्रकार बन्धनमुक्त कराया हुआ मैं इस विद्यादान से किस प्रकार उन्मूढ होऊँ, इसलिए आप भगवान् श्री को एक सहस्र गौएँ देता हूँ—ऐसा विदेहराज जनक ने याज्ञवल्क्य से कहा । यहाँ मोक्ष पदार्थ का निर्णय हो जाने पर राजा जनक विदेह देशो का राज्य और अपने को याज्ञवल्क्य के

१ स्वच्छन्दप्रश्न । २ स एष सहेतुकादि विशेषणको निर्णीत इत्यन्वयः । ३ सहेतुक इति—बन्धार्थ-लक्षणस्य हेतुरविद्याकामकर्मादि । मोक्षार्थलक्षणस्य हेतु ससंन्यासो बोध इति विवेकः । ४ उभयोर्भाष्यो हेतुः । ५ उत्तरत्रत्याशब्दवदवस्थायां ।

मुक्तस्यापनीतप्राणत्वान्न प्राणशब्दता युक्तेत्याशङ्क्याऽऽह—साक्षिण इति । ब्रह्मशब्दार्थमाह—ब्रह्मेति ॥ समानाधिकृतपदद्वयतात्पर्यमाह—साक्षिण इति । तद्वेत् सद्ब्रह्मैतत्वादिदेवरात्माज्ञानम् ॥ न केवल सद्ब्रह्मत्वादेरेव प्राणो ब्रह्मत्वावाक्योत्पन्नानाभिषेध कृत्वन्वदपि सर्वं सकारण निषिध्यते तेनेत्याह—नामेति ॥ प्राणो ब्रह्मैवेत्युक्त्वा तेज एवेत्युक्त तेज शब्दस्याऽऽदित्यादौ हृदस्य साक्षिणी ब्रह्मण्ययोगदित्याराच्छुष्याऽऽह—ब्रह्मेति । प्राण साक्षी तेज एवेति श्रुतिब्रह्मात्मनो ससगवारिणीति सबन्धः । तयो ससगंप्रसङ्गं दृष्टान्तेन दर्शयती वारणप्रकारमितरभागेनाभिनयति न च तेजशब्दस्य तस्मिन्प्रयोगस्तस्य भासेत्यादियुते सर्वान्भासकस्य तच्छब्दार्थत्वादिति भावः ॥ ब्रह्मात्मनोरभेदे कथं तद्भेदमानमतं प्राह—व्यावर्त्येति । तच्छब्दयोस्तद्वृत्तोरर्थयो-रित्यर्थः ॥ कथं ब्रह्मैवेत्युक्त्वा तेज एवेत्युक्ते ब्रह्मात्मनो ससगंप्रसङ्गं निषेधतत्राऽऽह—ब्रह्मेवेति । एववारद्वयसामर्थ्या-त्ससगंप्रसङ्गमित्यर्थः । श्रुते सामर्थ्यादेरेवसाधकत्वमयत्रापि प्रसिद्धमिति हिगन्धर्षं । तत्रप्रतिषेधप्रकारमभिनयति—ना भूदिति ॥ अनेत्यादि पदसो व्याख्याय तत्तात्पर्यंमुपसहरति—सर्वानर्थेति । इहेति प्रत्यगात्मोक्तिः ॥ भावयोगज्ञानादनर्थहेत्वज्ञानहान केवल कर्तव्यं न तु सति ज्ञाने कार्यान्तरमस्तीत्यत्र हेतुमाह—यस्मादिति ॥ चिकीर्षां बुभुत्सा प्रेप्सा परिजिहीर्षां चेज्जानिनोऽपि श्रयते तत्कथं तस्य कार्यान्तराभावस्तत्राऽऽह—श्रुतमिति । सर्वानर्थहेत्वज्ञानहानादेवोक्तार्थसिद्धेर्ज्ञानिनो न कार्यान्तरं तद्व्याज्ज्ञानसो दग्धपटवदित्यर्थः ॥

पदार्थे निर्णयति 'विवेहराज्यमात्मानमेव च न निवेदयत्ये'कदेशोक्ताविव सहस्रमेव वदाति तत्र कोऽनिप्राय इति ।

'अत्र केचिद्वर्णयन्ति—अध्यात्मविद्या'रसिको जनकः 'श्रुतमप्यर्थं पुनर्मन्त्रैः शुश्रूषति । अतो न सर्वमेव निवेदयति । श्रुत्वाऽभिप्रेतं याज्ञवल्क्यात्पुनरगते 'निवेदयिष्यामीति हि मन्वते । यदि 'चात्रैव सर्वं निवेदयामि निवृत्तानिलापोऽयं श्रवणादिति मत्वा श्लोकात्न वक्ष्यतीति च 'भयात्सहस्रदानं 'शुश्रूषालिङ्गज्ञापनायेति । सर्वमप्येतदसत्पुरुषस्येव प्रमाणमूनायाः श्रुतेर्व्याजानुपपत्तेः । 'अयंशेषोपपत्तेश्च । विमोक्षपदार्थं उच्यतेऽध्यात्मज्ञानसाधन आत्मज्ञानशेषभूतः सर्वेषणापरित्यागः संन्यासाख्यो 'वक्तव्योऽयंशेषो विद्यते ।

सर्वस्वदानप्राप्तावपि सहस्रदाने हेतुमेकदेशीयं दर्शयति—अत्रेत्यादिना । कदा तर्हि गुरवे सर्वस्वं राजा निवेदयिष्यति तत्राऽऽह—श्रुत्वेति । ननु पुनः शुश्रूषुरपि राजा किमिति "सप्रत्येव सर्वस्वं गुरवे न प्रयच्छति प्रमूता हि दक्षिणा गुरुं प्रीणयन्ती "स्वीयां शुश्रूषां फलमति तत्राऽऽह—यदि चेति । 'अनाप्तोक्ती हृदयेऽप्यत्रियाय वाचाऽप्यनिष्पादनात्मकं "ध्याजोत्तरं युवतं श्रुती त्वपोऽप्येयामपास्ता-शेषदोषशङ्कायां न व्याजोक्तिर्युक्ता तदोयं"स्वारिभिकप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गादिति दूषयति—सर्वमपीति । एकदेशीयपरिहारसंभवे हेतवन्तरमाह—अर्थेति । तदुपपत्तिमेवोपपादयति—विमोक्षति । "तस्यापि

प्रति पूर्णं समर्पित वयो नहीं कर देता । एकदेश का उपदेश करने के समान बार-बार एक सहस्र गौएँ देने का संकल्प करता है, इसका क्या फलिप्राय है ।

यहाँ कुछ विचारक कहते हैं कि अध्यात्म विद्या के रस से भ्राह्मण्ट हुमा राजा जनक (ब्राह्मण-भाग के वाक्यो द्वारा) सुने हुए प्रथम को पुन पुन मन्त्रों द्वारा सुनने की इच्छा करता है । इसलिए सर्वस्व भक्षण नहीं करता । वह सोचना है कि भ्राह्मण्ट आत्मतत्त्व को याज्ञवल्क्य से सुनकर पुनः अन्त में सर्वस्व निवेदन कहेगा । यदि भभी सब कुछ दे दूंगा तो जनक को मय है कि याज्ञवल्क्य जो "यह भव श्रवण मे निवृत्त होना चाहता है" ऐसा जानकर श्रुति मन्त्रो को नहीं कहेंगे । अतः यह सहस्र गोदान स्वात्मक सुनने की इच्छाभिष्यक्त को ज्ञापन करने के लिए है । किन्तु यह सब मिथ्या है क्योंकि पुरुष के समान प्रमाणभूत श्रुति के लिए किसी बहाने की कल्पना करना संभव नहीं है । इसके प्रतिरिक्त, वक्तव्य अर्थ का भवशेष संभव होने से ऐसा हो सकता है । मोक्षपदार्थ के निरूपण हो जाने पर भी आत्मज्ञान का माधन और आत्मज्ञान का दोषभूत सब एणामों के परित्याग रूप संन्यास के विषय में निरूपण तो भभी शेष रह ही जाता है । अतः मन्त्र श्रवण मात्र की इच्छा की कल्पना

१. विवेहाना देवाविशेषाणां राज्यम् । २. मोक्षपदार्थैकदेशोक्तावित्यर्थः । ३ भवतरणोक्तत्वात् । ४. रसाष्टटः । ५. ब्राह्मणवाक्यैः । ६. वृ. उ. ४. ४. २३ । ७. श्लोकात्वात् । ८. स्वात्मकगुभूयेति यावत् । ९. अर्थेविशेषेति—वक्तव्यार्थविशेषसंभवाच्चेत्यर्थः । १०. वृ. उ. ४. ४. २३ । ११. श्लोकी-पन्यासात्प्रागेव । १२. सिध्यत्य । १३. मिथ्यावाचुक्ती । १४. यत्नेनोत्तरम् । १५. स्वाभाविक-प्रामाण्यम्—इदत्त-प्रामाण्यमिति यावत् । १६. संन्यासस्यापि ।

तस्माच्छ्लोकमात्रशुश्रूषाकल्पनाऽनूजवी । अगतिका हि गतिः पुनरुक्तार्थकल्पना । सा चायुक्ता सत्यां गती ।

न च तत्स्तुतिमात्रमित्यवोचाम । नन्वेवं सत्यत ऊर्ध्वं विमोक्षार्थंवेति चक्तव्यम् । नैष दोषः । आत्मज्ञानवदप्रयोजकः संन्यासः पक्षे प्रतिपत्तिकर्मवदिति हि मन्यते ।

पूर्वमसकृदुषतेस्तदोद्यशुश्रूषाधीनं सहस्रदानमनुचितमित्याशङ्क्य शमादिज्ञानसाधनत्वेन प्रागनुषतेस्तेन सह भूयोऽपि संन्यासस्य 'वक्तव्यत्वयोगात्तदपेक्षया' पुक्तं "सहस्रदानमित्याह—अगतिका हीति ।

ननु संन्यासादि विद्यास्तुत्यर्थमुच्यते "महाभागा" हीय —"यत्तदर्थो "दुष्करमपि "करोत्यतो नायशेषसिद्धिस्तत्राऽऽह—न चेति । न तावत्संन्यासो विद्यास्तुतिविदित्वा" द्युत्यायेति समानकर्तृत्वनिर्देशादिति पञ्चमे स्थित भापि शमादिविद्यास्तुतिस्तत्रापि विधे'वंक्षयमास्तुत्वादित्यर्थः । अयशेषशुश्रूषया सहस्रदानमित्यत्र" जनकस्याकौशलं चोदयति—नन्विति । राज्ञ शङ्कितमकौशलं दूषयति—नैष इति । "तत्र हेतुमाह— आत्मज्ञानवदिति । यथा"ऽऽत्मज्ञान मोक्ष प्रयोजक न तथा "संन्यासो न चास्मिन्पक्षे तस्याकर्तृत्वव्यत्य "प्रतिपत्तिकर्मवदनुष्ठानसम्भाव्यदिति राजा यतो मन्यते ततः संन्यासस्य न ज्ञानतुल्यत्वमतो" नात ऊर्ध्वं विमोक्षार्थं च ब्रूहीति पृच्छतीत्यर्थः । संन्यासस्य प्रतिपत्तिकर्मवक्तृत्वं

करना क्लिष्ट है । एक बार कहे हुए को पुन कहना तो अगतिका गति है । उक्त न्याय से अपुनरुक्तार्थं सभन्न होने पर वह मानना उचित नहीं है ।

यह संन्यासादि स्तुति मात्र नहीं है—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं । (यहाँ शङ्का होती है—) किन्तु यदि ऐसा होता तो "इसके पश्चात् मोक्ष के लिए ही कहिये" ऐसा जनक को कहना चाहिये था । (इसका समाधान दिया जाता है—) ऐसा प्रश्न न करने में कोई दोष नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान के समान संन्यास, मोक्ष का माक्षात साधन नहीं है (संन्यास तो ज्ञान द्वारा प्रयोजक होने से) प्रतिपत्तिकर्म के समान (जातोपयोग का विधान से परित्याग करना प्रतिपत्ति कर्म है) उसका पाक्षिक अनुष्ठान किया जा सकता है । स्मृति भी कहती है—"संन्यास के द्वारा शरीर का त्याग करे" । (विविदिषा-

- १ उक्तार्थशेषस्य सभवाद् । २ विनष्टेति भावद् । ३ सा चेति—विद्यां श्रुतामेव श्लोके प्रातु सहस्रदानमित्येषा पुनरुक्तार्थकल्पनेत्यय । ४ सत्यां गताविति—उक्तन्यासेनापुनरुक्तार्थसंभवे सतीत्यर्थः । ५ नयासादिस्तुतिरिति भावद् । ६ धवतरणस्योक्तत्वाद् । ७ ननु यद्यप्येयोऽस्ति कस्माद्द्यूते न पूर्ववत् । "विमोक्षार्थं च ब्रूहीति इति । ८ अत ऊर्ध्वमित्यादिप्रश्नकारणरूपः । ९ वृ उ ४ ४ २३ । १० विविदिषसंन्यासशुश्रूषया । ११ न स्वदुक्तनिमित्ताद् । १२ महामहिमवाग्निनी । १३ महाभागा हीयमित्यादि—महाभागा यथाप्रत्ययरूपा भागधेय मत् भाग्ये भागप्रत्ययो पुमानिति कोप भाग्य वमनुमानुभमिति च "अशभागी तु बटके" विभागे इति च । प्रत्यये महत्त्वं च महद्स्तुतिव्ययत्वम् । १४ विद्यार्थी । १५ वैराग्यसामादि । १६ संन्यासादिशेषवादत्वाद् । १७ वृ उ ३ ३ १ । १८ वृ उ ४ ४ २३ । १९ इत्यस्मिन्ननुपगतौ । २० दोषाभावाख्ये प्रतिज्ञानार्थे । २१ आत्मज्ञानं हि शास्यप्रयोजकम् । २२ संन्यासस्तु ज्ञानकार । २३ प्रतिपत्तीति—जातोपयोगस्य विधिना परित्याजन प्रतिपत्तिषमं यथाजातोपयोगाना वृष्णविषाणादीनां चात्वासादी निशेषस्तथा शतोपयोगानामग्निहोत्रादीनां विधिना परित्यागरूपानुष्ठानसम्भाव्यदित्यर्थः । २४ अनुत्पत्त्वाद् ।

'तदेते श्लोका भवन्ति । अणुः पन्या विततः
पुराणो मा^१ स्पष्टोऽनुवित्तो मयं व । तेन घीरा
अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं
विमुक्ताः ॥ ८ ॥

उक्त विषय मे ये मन्त्र हैं । यह ज्ञानमार्ग दुविज्ञेय होने के कारण सूत्रम है, विस्तीर्ण श्रीर वेदोक्त होने से पुरातन है । वह ब्रह्मविद्या रूप मोक्षमार्ग प्राप्त होने के कारण मुझे स्पष्ट किया हुआ है तथा उसका फलसाधक आत्मज्ञान मैंने प्राप्त किया है । इसी मार्ग से अन्य ब्रह्मवेत्ता पुरुष भी इस लोक में जीतेजी मुक्त हुए प्रारब्ध क्षय के बाद इस देह का त्याग कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥८॥

“संन्यासेन तनुं त्यजेत्” इति स्मृतेः । 'साधनत्वपक्षोऽपि नात ऊर्ध्वं विमोक्षायवेति प्रश्नमर्हति मोक्षसाधनभूतात्मज्ञान'परिपाकार्यत्वात् ॥ ७ ॥

आत्मकामस्य ब्रह्मविदो मोक्ष इत्येत्स्मिन्नर्थे 'मन्त्रब्राह्मणोषते' विस्तरप्रतिपादका

व्यवहारे प्रमाणमाह—संन्यासेनेति । ननु विविदिषासंन्यासमङ्गीकुर्वता न तस्य प्रतिपत्तिकर्मबन्धनुर्येवत्व-
मिष्यते तत्राऽऽह—साधनत्वेति । 'स्मजतं हि तज्ज्ञेय त्यक्तुः प्रत्यपपर पवम्' इत्युक्तत्वा-
दित्यर्थ ॥ ७ ॥

राज्ञोऽकौशल परिहृत्य मन्त्रानवतारयति—आत्मकामस्येति । यदेत्याद्यतीतश्लोकेनाऽऽगामि-

संन्यास ज्ञानफलरूप होने से) यदि उसे साधनपक्ष में माना जाय, तो भी उसके संबन्ध में “भव इसके) पश्चात् माक्षविषयक उपदेश कीजिए” ऐसा प्रश्न करना उचित नहीं ठहरता है क्योंकि संन्यास माक्ष के साधनभूत आत्मज्ञान के दाढर्ष के लिए है ॥ ७ ॥

आत्मकाम (प्राप्तकाम हुए) ब्रह्मवेत्ता का मोक्ष होता है, मन्त्र श्रीर ब्राह्मण द्वारा कहे इस धर्म में मोक्ष का विस्तार से प्रतिपादन करने वाले ये मन्त्र हैं । यह ज्ञानमार्ग (स्यूलादि निखिल-

१ भयाकामयमान इत्यादिना ज्ञानसाध्यैव मुक्तिरिति सक्षिप्तार्थस्यैव विवरणसूत्राच्छ्लोकानुदाहरति—तदत इति । तद्—तत्र आत्मकामस्य ब्रह्मविदो मुक्तिरित्युक्तेऽर्थे । श्लोकमन्त्रा—अणु सूत्रादिनिखिलविशेषातीत-
त्वाद् दुविज्ञेयं सूक्ष्मं । विततो विस्तीर्णोऽन्तात्मावगाहित्वाद् । पुराणभिरन्तर्न नित्यश्रुतिप्रकाशितत्वाद् ।
एवभूत पन्या ऐकात्म्यज्ञानलक्षणो मार्गो मा स्पष्ट शास्त्रादेः सकाशात्मानुप्राप्तो भया लब्ध इति यावत् । किं
च मयैवानुवित्तोऽपि । विद्यापरिपाकापेक्षया फलावसानलक्षणा निष्ठा नीत । एवकारो नान्ययोगव्यवन्देदार्थो
भवतीत्यभिप्रेत्याह—तेनेति । धन्येऽपि ये ब्रह्मविदः प्रज्ञावन्तो घीरा निर्द्वन्दा जीवन्त एव विमुक्ता सन्त इतो-
ऽस्मान्छरीरपातादूर्ध्वमन्तरमेव तेन ब्रह्मविद्यामार्गेण स्वर्गं परमानन्दलक्षण प्रकरणात्लोक स्वप्रकाराद यन्ति
गच्छन्तीत्यर्थः । २ साधनत्वेति—विद्वन्मन्यासो हि ज्ञानफलरूपो विविदिषासंन्यासस्तु तत्साधनभूत इति
ध्येयम् । ३ दाढर्षायत्वाद् । ४ मन्त्रेति । 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्त' इत्यादिमन्त्रेषु 'अथाकामयमान'
इत्यादिब्राह्मणन चोक्ते । ५ विस्तरेति—मन्त्रब्राह्मणान्या ज्ञानादेव मुक्तिरिति सक्षिप्तोऽर्थो विविद्यते श्लोकैरिति
यावत् । ६ संन्यासिनेव ।

एते श्लोका भवन्ति । अणुः सूक्ष्मः 'पन्था' दुर्विज्ञेयत्वाद्द्विततो विस्तीर्णो 'विस्पष्ट-
तरणहेतुत्वाद्वा वितर इति पाठान्तरान्मोक्षसाधनो ज्ञानमार्गः पुराणदिचरन्तनो नित्य-
श्रुतिप्रकाशितत्वात् तार्किकबुद्धिप्रभव'कुट्टिदिमार्गवदवकालिको मा स्पृष्टो मया लब्ध
इत्यर्थः । यो हि येन लभ्यते स तं स्पृशतीव सबध्यते तेनायं ब्रह्मविद्यालक्षणो मोक्षमार्गो
मया लब्धत्वात्मा स्पृष्ट इत्युच्यते । न केवल मया लब्धः । कित्वनुवित्तो मयैव । अनु-
वेदनं नाम विद्यायाः परिपाकापेक्षया फलावसानता निष्ठा प्राप्तिः । भुजेरिव तृप्यव-
सानता । 'पूर्वं तु ज्ञानप्राप्तिसबन्धमात्रमेवेति विशेषः ।

किमवावेव मन्त्रदृगेको ब्रह्मविद्याफलं प्राप्तो नान्य प्राप्तवान्येनानुवित्तो मयैवे

दलोकानामर्थापीनरुच्य सूचयति—विस्तरेति । ज्ञानमार्गस्य सूक्ष्मत्वे हेतुमाह—दुर्विज्ञेयत्वादिति ।
विस्तीर्णत्व पूर्णवस्तुविषयत्वादवधेयम् । माध्यमिनश्रुतिमाभित्याऽऽह—विस्पष्टेति । 'प्रयत्नसाध्यत्व
तस्य पञ्चम्या विवक्ष्यते । कथ पुनरधुनातनो वदिको ज्ञानमार्गश्चिरतनो र्श्च्यते तत्राऽऽह—नित्येति ।
विशेषणप्रकाशिनमयंमुक्त्वा तस्य व्यवच्छेद्यमाह—न तार्किकेति । मन्त्रदृशा लब्धत्वेऽपि कुतो ज्ञान-
मार्गस्य तत्सम्पत्तिवमित्याशङ्क्याऽऽह—यो हीति अनुवेदनलाभयोर्विशेषाभावात्पीनरुच्यत्वाशङ्क्याऽऽह—
अनुवेदनमिति । पूर्वशब्देन पाठक्रमानुसारेण लाभो गृह्यते ।

एवकारमाश्रित्य शङ्कते—किमसाविति । तथा च तद्यो यो देवानामित्याद्य'विशेषश्रुतिविरु

विशेषो से अतीत हाने से) दुर्विज्ञेय होने के कारण 'अण्ड' यानी सूक्ष्म है वितर' अर्थात् विस्तीर्ण
है, 'वितर' यह प ठान्तर होने से मोक्ष साधन ज्ञानमार्ग ससारानथ सागर को तरने के लिए विस्पष्ट
हेतु है । 'पुराण' अर्थात् श्रुति द्वारा नित्य प्रकाशित होने के कारण पुरातन है, नयायिको की बुद्धि
स उत्पन्न भेदविषयज्ञानमार्ग के समान अर्थात् "मुझे स्पश किए हुए है, मुझ प्राप्त है" इस प्रताति
की तरह वाक कालिक है । जो जिसके द्वारा प्राप्त किया जाता है वह उसे स्पश सा करता है यानी
उससे सबद्ध रहता है । इसी से ब्रह्मविद्या लक्षण मोक्षमार्ग मुझे प्राप्त होने से मुझे स्पश किए
हुए है" ऐसा कहा जाता है । मेरे द्वारा केवल प्राप्त किया हुआ ही नहीं अपितु अनुवेदित विषय
हुआ भी है । विद्या के परिपाक की अपेक्षा से जो उसकी फलावसानता रूप परिपक्वता की प्राप्ति है,
उसका नाम अनुवेदन है, जैसे भोजन करने का भवसान तृप्ति मे होता है । (लाभ के भवसर
पर) पूर्व वाक्य मे केवल ज्ञानप्राप्ति का सबन्ध मान बतलाया गया है । यही उससे इसमे
विशेषता है ।

(इस पर शङ्का होती है—) क्या इस मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने अकले ही ब्रह्मविद्या का फल प्राप्त

१ ज्ञानमार्ग । २ दुर्विज्ञेयत्वादिति—तत्त्व च स्थूलाद्यशेषविशेषातीतत्वादिति बोध्यम् । ३ विस्पष्टेति ।
अत्र वातिके—'तरत्यनेन विस्पष्ट ससारानथसागरम् । यतोऽतो वितर' तथा प्रत्यङ्गोपाभिधीयते ॥
५४८ ॥ इति । ४ भेदविषयज्ञानमार्गवत् । ५ परिपक्वतति षवत् । ६ लाभवसरे तु । ७
प्रयत्नेति—यतो विस्पष्टतरणहेतुरतोऽपि प्रयत्नेन मुमुक्षुभिः साधनीय सम्पादनीय इत्यायम् । ८ मन्त्रदृश
एव विद्याफलनित्यमुपगमे । ९ साधारणश्रुति ।

इत्यवधारयति । नैष दोषः । 'अस्याः फलमात्मसाक्षिकमनुत्तममिति ब्रह्मविद्यायाः स्तुति-
परत्वात्' । एवं हि कृतार्थताभिमानकरमात्मप्रत्ययसाक्षिकमात्मज्ञानं किमतः परमन्य-
स्यादिति ब्रह्मविद्यां स्तौति । न तु पुनरन्यो ब्रह्मवित्तफलं न प्राप्नोतीति । "तद्यो यो देवा-
नाम्" इति सर्वायं श्रुतेः । 'तदेवाऽऽह—*तेन ब्रह्मविद्यामार्गेण धीराः प्रज्ञावन्तोऽभ्येऽपि

ध्येतेति शेषः । अवधारणश्रुतेरन्यपरत्वेनान्ययोगव्यवच्छेदकाभावमभिप्रेत्य परिहरति—नैष दोष
इति । स्तुतिपरत्वमेव प्रकटयति—एव हीति । कृतार्थोऽस्मोत्पातमन्यभिमानकर स्वानुभवसिद्ध-
मात्मज्ञान नास्मादन्यदुत्कृष्ट किंचिदित्येव विद्यामवधारणश्रुतिः स्तौतीत्यर्थः । यथाश्रुतार्थत्वे को
दोषः स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—न त्विति । इत्यवधारणश्रुत्या विवक्षितमिति शेषः । तत्र हेतुः—तद्यो य
इति । सर्वायंश्रुतेर्ब्रह्मविद्या सर्वायं सर्वसाधारणीति श्वरणादिति यावत् । ब्रह्मविद्यायाः सर्वायंत्वे
वाक्यशेष प्रमाणत्वेनावतार्यं श्याचष्टे—तदेवेति । ननु मोक्ष स्वर्गशब्दो न दुज्यते तस्यार्थान्तरे

किया है, किसी अन्य श्रुति ने नहीं प्राप्त किया, जो कि यह निश्चय करता है कि मेरे द्वारा ही
अनुवित्त है । (इसका समाधान किया जाता है—) इस कथन में कोई दोष नहीं है । क्योंकि यह
श्रुतिवाक्य "ब्रह्मविद्या का अनुत्तम फल आत्मसाक्षिक है" इस प्रकार ब्रह्मविद्या स्तुतिपरक है ।
इस प्रकार आत्मा में कृतार्थता का अभिमान करने वाला श्रीर स्वानुभवसिद्धि आत्मज्ञान से उत्कृष्ट
कोई पदार्थ नहीं हो सकता—इस प्रकार श्रुति ब्रह्मज्ञान की स्तुति करती है । "अन्य कोई ब्रह्मज्ञानी
मन्त्रद्रष्टा इसको नहीं जानता"—ऐसी बात नहीं है क्योंकि "देवताओं में से जिस जिसने उसे जाना"
ऐसा श्रुतिवाक्य सबकी कृतार्थता को बतलाता है । उसे ही कहा जाता है "तेन" अर्थात् उस ब्रह्म-

१ ब्रह्मविद्यायाः । २ अवतरणश्रुतिरिति यावत् । ३ अवतरणोक्तत्वात् । ४ स्तुतिपरत्वेन । ५
व्यवच्छेदकत्वेत्युचितम् ।

ॐ तेनेत्यादि विमुक्ता सन्त इत्यन्तमध्ये वार्तिकानि—' तेनानेन पथा धीराः प्रत्यग्वान्तच्छिदा सदा । ब्रह्मा-
पिपति निर्दंडा आत्ममेव तमोह्लुते ॥ आत्मैव ब्रह्म चाऽऽमात्रि ब्रह्मैव स्याद्यत स्वत । तदायात्मापरि-
हानात्तद्विषयधीरियम् ॥ नि शेषमिष्याविज्ञानदेवविद्याविनाशकृत् । नान्योऽस्ति ब्रह्मसर्वोवाकृत् त्तिस्तेनेत्यतो-
ऽवदत् ॥ स्वर्गोऽयमेव प्रागुक्त स्वर्गकामवचस्यपि । कमभिस्तदसिद्धिर्हि वेदान्तज्ञानसिद्धित् ॥ परमानन्द एवात-
स्वर्गशब्देन भ्रष्यते । मोक्षप्रकरणात्रित्य क्रियोत्पोजो न श्रुते ॥ इत उक्तात्मसंबोधमोहोच्छिन्नेरन्तरम् ।
स्वत एव यतो मुक्ता मुच्यन्तेऽतस्तमोह्लुते ॥ देहपातव्यपेथा स्याद्यत्र कारणसगति । सर्वकारणविध्वस्तो
मान्यद्रोधादपेक्ष्यते ॥ मुक्तौ समातिरेकेण नान्तरागोऽय इत्यते । यतोऽज्ञानविध्वस्तो मुक्तः सन्ना विमुच्यते ॥
ब्रह्मैव सप्रति तथा प्रागपीद श्रुतीरितम् । देहपातव्यपेथाऽतो न स्यादूच्यंश्रुतेरिह' ॥ ५५२ ५६० ॥ इति ॥
तेनेत्यादेर्यमाह—तेनेति । धीरा इत्यस्य विवक्षितोक्तिर्निर्दंडा इति प्रज्ञावन्तः सदा दृढासीता इत्यर्थः । ब्रह्मप्ले-
रामनुभवत्व परिहरति—आत्ममेवेति । तस्य कथमभिस्तत्राऽऽह—सम इति ॥ आत्मस्यैवाज्ञानत्वत्वात् न प्राप्ति-
र्ब्रह्मात्मनोर्भेदस्येदित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मैवेति ॥ ब्रह्मणोऽविद्यातज्जघ्वसात्प्राप्तस्यैव प्राप्तावपि तद्वदिति
ज्ञानमेवेत्यत्र किं गमवमित्याशङ्क्याऽऽह—नि शेषेति ॥ स्वर्गलोकमित्यत्र स्वर्गशब्दार्थमाह—स्वर्ग इति । अय-
मेवात्र स्वर्गो विवक्षित एषोऽयं परम आनन्द इत्यादौ य परमानन्दोऽभिहित इति योजना । स्वर्गवाचो यजे-
तेत्यत्र भोगश्रुतिविशेष स्वर्गो गृहीत स एवात्रापि ब्राह्मो लोकशब्दादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वर्गेति । तत्रान्यु-

‘तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलः हरितं लोहितं

उस मोक्ष साधन रूप ज्ञानमार्ग मे मुमुक्षुषो का वंमत्य है । कोई उतमे शुक्ल प्रौर कोई नील

ब्रह्मविद इत्यर्थः । अपियन्त्यपिगच्छन्ति ब्रह्मविद्याफल मोक्ष स्वर्गं लोकम् । स्वर्गलोक-
शब्दस्त्रिविष्टपवाच्यपि सन्निह प्रकरणमोक्षाभिधायकः । इतोऽस्माच्छरीरपातादूर्ध्वं
जीवन्त एष विमुक्ताः सन्तः ॥ ८ ॥

‘तस्मिन्मोक्षसाधनमार्गं विप्रतिपत्तिर्मुमुक्षूणाम् । कथम् । तस्मिञ्छुक्ल शुद्धं विमल-

रूढत्वावत ब्राह्—स्वर्गति । यथा ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रुतो ज्योति शब्दो ज्योतिष्टोमविषयस्तथा
मोक्षप्रकरणे श्रुतः स्वर्गशब्दो मोक्षमधिकरोति । रूढपङ्क्तिकारे ब्रह्मविद्याया निरुपमप्रसङ्गाविति
भावः । जीवन्त एष मुक्ताः सन्तः शरीरपातादूर्ध्वं मोक्षमपियन्तीति सबन्धः ॥ ८ ॥

तस्मिन्नित्यादि पूर्वंपक्षमुत्थापयति—तस्मिन्निति । ‘विप्रतिपत्तिमेव प्रश्नपूर्वकं विशदयति

विद्या का मार्ग से “धीराः” अर्थात् अन्य भी प्रजावान् ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मविद्या के फल “स्वर्गलोक”
यानी मोक्ष पद को “अपियन्ति” अर्थात् प्राप्त करते हैं । स्वर्गलोक’ शब्द ‘देवलोक’ का याची होने
पर भी यहाँ प्रकरणानुसार मोक्ष का अभिधायक है । “इत ऊर्ध्वं विमुक्ताः” इस शरीर का नाश
होने के पश्चात् जीवित रहते हुए ही विमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥

पूर्व मन्त्र प्रतिपादित मोक्षसाधनरूप ज्ञानमार्ग मे मुमुक्षुषो का विचारसाम्य नहीं है । यह

१. तस्मिन् ज्ञानमार्गो दुर्विज्ञेयत्वं द्योतयितुमुपासकानां विप्रतिपत्तिं दर्शयति—तस्मिन्निति । ब्रह्मज्ञानतत्त्वे
मोक्षमार्गो शुक्लं ब्रह्मेत्याद्याहुः । नील शरदाकाशवत् । हरित वंदूर्यमणिवत् । सिद्धान्तमाहु—एष इति । ज्ञान-
मार्गः । ब्रह्मणा त्यक्तैपर्येण ब्राह्मणेन, अनुवित्त शुभशास्त्रोपदेशानन्तर निष्ठा गमित तेन धीरा इत्युक्त
निगमयति—तेनेति मार्गोऽन्योऽपि ब्रह्मविन्मोक्षमेति । ब्रह्मविस्त्वे हेतुमाहु—तैजस इति । तेजसि बुद्धसत्त्वे भव-
स्तैजसः विद्युदान्त.करणः । तत्राजपि हेतु—पुण्यकृदिति । पुण्य स्वाश्रमोक्तं नमं । २. पूर्वमन्त्रप्रदर्शिते ।
३. रूपम् । ४. विप्रतिपत्तीरेव इति पाठान्तरम् ।

पाष्यवच्छिन्नः परमानन्द एव स्वर्गशब्देनोच्यते तत्रासी दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिकादविधेयादित्यर्थं । तर्हि तत्र स्वर्गस्य
कर्मसाध्यत्वान्मोक्षस्यापि तच्छ्रयस्य तदापतिरित्याशङ्क्याऽह—कर्मभिरिति । सोपाधिकस्वर्गस्य कर्मसाध्यत्वेऽपि
निष्पाधिकस्य ज्ञानैकलभ्यत्वात्तदासाध्यत्वात्तेनेति श्रुतिरधिरदेत्यर्थं ॥ अयमपि सोपाधिकस्वर्गो लोभत्वादितर-
वदित्याशङ्क्याऽह—परमानन्द इति । तत्र लोकाशब्दमभवात्त्रिधाफलस्याश्रावणत्वरूपविरोधादनुमानमनवका-
पामिर्यर्थः ॥ इत इत्यादेरर्थमाहु— इत इति ॥ न मुक्ता मुच्यन्ते देहपातोत्तरभावित्वान्मुक्तैरिति चेन्नेत्याहु—
देहेति । यत्र सूत्रादिभावे चोच्यमाने कारणेनाज्ञानेन सबन्धो नापगतस्तत्र देहपातोऽपेक्ष्यत इह त्वज्ञानध्यसे
मोक्षे ज्ञानान्नाद्यदपेक्ष्यमस्ति ज्ञानाज्ञानयोरेव विरोधप्रसिद्धेरित्यर्थं ॥ ब्रह्मभावे मोक्षे व्यबधिभूततमोक्षरतो
ज्ञानादर्शान्तरस्यानपेक्षत्वेऽपि व्यवधानान्तररूपेण देहपातापेक्षेयाशङ्क्याऽह—मुक्ताविति ॥ ऊर्ध्वंश्रुति-
यनात्तदपेक्षा मोक्षस्येत्याशङ्क्याऽह—ब्रह्मेति । प्रवृत्तमन्त्रवदिति तथाशब्दार्थं । मुक्तस्यैव मुक्तत्वमिदमा परा-
भृष्टम् । प्राचीनश्रुतिवशादित्यत शब्दार्थं । अनन्यथासिद्धत्वावधान्तरविरोधेऽन्यथा सिद्धा श्रुतिरतादेत्यर्थं ।
इहेति मोक्षोक्तिः ॥

च । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनति ब्रह्मविंत्पुण्य-
कृत्तंजसश्च ॥ ६ ॥

वर्ण करते हैं, तथा अपनी रचित के अनुसार अन्य कोई मुमुक्षु उसमें पिङ्गल वर्ण, हरित और लोहित भी कहते हैं (वस्तुतः श्लेष्मादि रस से पूर्ण होने के कारण सुपुम्नादि नाडियों में साधक को उक्त भ्रान्ति हो जाती है) यह मार्ग साक्षात् ब्रह्म द्वारा अनुभूत है। उस मार्ग से पुण्य वर्म करने वाला ब्रह्मवेत्ता पुरुष परमात्म तेज को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

माहुः केचिन्मुमुक्षवो नीलमन्ये पिङ्गलमन्ये हरितं लोहितं च यथादर्शनम् । नाड्यस्त्वैताः
सुपुम्नाद्याः श्लेष्मादिरससंपूर्णाः शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्येत्याद्युक्तत्वात् । आदित्यं वा
मोक्षमार्गमेवंविधं मन्यन्ते । “एष शुक्ल एष नीलः” इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । दर्शन-
मार्गस्य च शुक्लादिवर्णासंभवात् । सर्वथाऽपि तु प्रकृताद्ब्रह्मविद्यामार्गविद्य एते शुक्लादयः ।
ननु शुक्लः शुद्धोऽद्वैतमार्गः । न । नीलपीतादिशब्दवर्णवाचकैः सहानुद्बवणात् ।

—कथमित्यादिना । पिङ्गलं बह्विज्वालातुल्यम् । लोहितं जपाकुसुमसनिभम् । सप्रपञ्च शब्दस्पर्शरूप-
रसादिमद्ब्रह्म तद्रुपासनमनुसृत्य तत्प्राप्तिमार्गं विधातो मुमुक्षूणामिमाह—यथादर्शनमिति । तथाऽपि
कथं ब्रह्मप्राप्तिमार्गं शुक्लादिरूपसिद्धिः । न हि ज्ञानरय रूपादिमस्वमित्थाशब्दुच्चाः—नाड्य-
स्त्विति । तासामपि कथं यथोक्तवर्णवस्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—श्लेष्मादीति । तथाऽपि कथं शुक्ला-
दिरूपवस्त्वमित्याशङ्क्य नाडीखण्डोक्तं स्मारयति—शुक्लस्येति । नाडीपरिदहे नियामकभावमा-
शङ्क्य पक्षान्तरमाह—आदित्य वेति । एवमिष शुक्लादिनानावर्णमित्यर्थः । तस्य तथात्वे प्रमाण-
माह—एष इति । प्रकृते ज्ञानमार्गं किमिति मार्गान्तरं कल्प्यते तत्राऽऽह—दशनेति । तर्हि, नाडीपक्षो
याऽऽदिरयपक्षो वा कतरो विवक्षितस्तत्राऽऽह—सर्वथाऽपीति ।

शुक्लमार्गस्य ज्ञानमार्गाद्व्यस्त्वमाक्षिपति—मन्विति । शुक्लशब्दस्य नाद्वैतमार्गविषयत्वं
नीलादिशब्दसमिभ्याहारविरोधादिति परिहरति—न नीलेति । सैद्धान्तिकमन्त्रभाग व्याख्यातुं

कैसे कहते हो ? कोई मुमुक्षु उसमें 'शुक्लम्' यानी शुद्ध विमल रूप कहते हैं, कुछ मुमुक्षु नील रूप,
दूसरे पीला, अन्य हरित या रक्त, जैसा जिनके विचार में प्राता है । किन्तु ये श्लेष्मादि रस से परिपूर्ण
सुपुम्नादि नाडियाँ ही हैं, क्योंकि उन्हीं के विषय में शुक्ल, नील और पिङ्गल पूर्वं श्रुतिवाक्य में कहा
जा चुका है । अथवा वे आदित्य रूप मोक्षमार्ग को ऐसा मानते हैं जैसा कि श्रुति कहती है—“यह
शुक्ल है यह नील है” । प्रकरणस्य ज्ञानमार्ग के शुक्लादिवर्ण होने असम्भव है क्योंकि प्रस्तुत ब्रह्म-
विद्यामार्ग से यह शुक्लादि रूप सर्वथा ही भिन्न है ।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु शुक्ल अथवा शुद्ध तो अद्वैत (मोक्ष) मार्ग ही हो

१ उ उ ४ ३ २० । २ छा. उ. ८ ६-१ । ३- प्रकृतज्ञानमार्गस्य । ४. श्रुतिभाष्यस्यकारण-
माह—सप्रपञ्चमिति । सगुणमित्यर्थं । ५ उक्तविधादेश्चि । ६ नाडीनाम् । ७ श्लेष्मपूर्णत्वेऽपि । ८
मोक्षभागत्वेन । ९ प्रकृतज्ञानमार्गस्य शुक्लादिवर्णासंभवे । १० उतरायम् ।

याञ्छुक्त्वादीन्योगिनो मोक्षपथानाहुनं ते मोक्षमार्गाः संसारविषया एव हि ते । 'चक्षुष्टो वा मूर्धनो वाऽन्येष्वो वा शरीरदेशेभ्य इति शरीरदेशान्निःसरणसंबन्धात् । ब्रह्मादिलोक-प्रापका हि ते । 'तस्माद्यमेव मोक्षमार्गो य आत्मकामत्वेनाऽऽप्तकामतया सर्वकामक्षये गमनानुपपत्तौ प्रदीपनिर्वाणवच्चक्षुरादीनां कार्यकरणानाम'त्रैव समवनय इत्येष ज्ञानमार्गः पन्था ॥ ब्रह्मणा परमात्मस्वरूपेणैव ब्राह्मणेन त्यक्तसर्वेषणोऽनुवित्तः । तेन ब्रह्मविद्या-

पूर्वपक्ष द्रूपयति—याञ्छुक्त्वादीनिति । न केवलं देहदेशनि सरणसंबन्धादेव नाडोभेदानां संसारविषयत्व किंतु ब्रह्मलोकादिसंबन्धावपीत्याह—ब्रह्मादीति । आदित्योऽपि देवयानमध्यपातो ब्रह्मलोकप्रापकः संसारहेतुवेदिति मन्वानो मोक्षमार्गमुपसहृति—तस्मादिति । आप्तकामतया ज्ञानमार्ग इति संबन्धः । एव भूमिका कृत्वैव इत्यस्यार्थमाह—सर्वकामेति । यथा तंलादिविलये प्रदीपस्य ज्वलनानुपपत्तौ तेजोमात्रे निर्वाणमिष्यते तथा स्थूलस्य च सर्वस्यैव कामस्य ज्ञानाक्षये सति गहनानुपपत्तावग्रंथः प्रत्यगात्मनि कार्यकरणानामेकीभावेनावसानमित्ययमेवशब्दाय इत्यर्थः । पन्था इत्येतद्ब्रह्माद्यष्टे—ज्ञानमार्ग इति । 'इत्यंभावे तृतीयामाश्रित्याऽऽह—परमात्मेति । अनुवेदनकर्तृ ब्रह्मणस्य संन्या-सित्वं दर्शयति—त्यक्तेति । विप्रतिपत्ति निराकृत्य मोक्षमार्गं निर्धार्य तेन धीरा अपियग्नेतीत्यत्रोक्तं

सक्ता है । (इस पर सिद्धान्ती समाधान देता है) नहीं, क्योंकि इसका वर्णवाचक नील-पीतादि शब्दों के लिए प्रयोग किया जाता है। योगी लोग जिन शुक्लादि मोक्षमार्गों के विषय में कहते हैं वे सब मोक्षमार्ग नहीं हैं क्योंकि वे सब संसारविषयक हैं। "(आदित्यलोक प्राप्त निमित्तक ज्ञान और कर्म होने से) चक्षु द्वारा, (ब्रह्मलोक की प्राप्तिनिमित्त ज्ञान और कर्म होने से) ब्रह्मरन्ध्र द्वारा (अन्य लोकों के निमित्तक होने से) श्रोत्रादि अन्य शरीरावयवों द्वारा विज्ञानात्मा का उत्कर्षण कर (परलोक को जाता है)" इम श्रुति के अनुसार उनका शरीर के भागों से निकलने का सब-व होने से वे ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराने वाले हैं। इसलिए यही मोक्ष मार्ग है जहाँ आत्मकाम से आप्तकाम होता है, इसमें सर्वकामक्षय होता है, जिससे गमन की समावना नष्ट हो जाती है, जहाँ दीपक बुझने के समान चक्षुरादि कार्यकरणार्थक जगत् का विलय हो जाता है। 'एव पन्था' अर्थात् यही मार्ग ज्ञानमार्ग है। जो 'ब्रह्मणा' अर्थात् त्यक्त सब एषणा वाले परमात्म स्वरूप ब्रह्मवत्ता के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। 'तेन' अर्थात् उस ब्रह्मविद्यामार्ग से ब्रह्मवित् एव (उसके सङ्ग से) अन्य भी प्राप्त

१ १ ४ ४ २ । २ तस्मात्—शुक्लादिमार्गाणां संसारविषयत्वेन मोक्षमार्गात्वाभावात् । ३ मार्ध्व-दिनपाठमाश्रित्याह—प्रब्रैव समवनय इति । ४ परमात्मस्वरूपत्वेनेति यावत् । ५ लब्ध । ६ तेजोमात्रे—तेज सामान्य । निर्वाणमिति—अस्तगमनमित्यर्थः । निर्वाणमस्तगमने निवृत्तौ गजमज्जने संग्नेऽप्यपवर्गं च विधाने इति विश्वहैमसेदित्य निर्वाणोऽजाते, इति निगुप्तत्वम् । ७ ब्रह्माभेदेन । ८ यत्र ब्रह्मण्यस्य ब्रह्मण्यपत्त्वमित्याद्यङ्कपाऽऽह—इत्यभावे तृतीयेति । तथा च ब्रह्माभूते नेत्यर्थः । ब्रह्माभावस्य च योग्यतावत्त्वाद्-ब्रह्मणो धर्मो लभ्यत इति भावः । ९ प्रतीच कर्तृत्वादेवस्तुतोऽयोगादिति भावः ।

१ १ ४ ४ २ । २ तस्मात्—शुक्लादिमार्गाणां संसारविषयत्वेन मोक्षमार्गात्वाभावात् । ३ मार्ध्व-दिनपाठमाश्रित्याह—प्रब्रैव समवनय इति । ४ परमात्मस्वरूपत्वेनेति यावत् । ५ लब्ध । ६ तेजोमात्रे—तेज सामान्य । निर्वाणमिति—अस्तगमनमित्यर्थः । निर्वाणमस्तगमने निवृत्तौ गजमज्जने संग्नेऽप्यपवर्गं च विधाने इति विश्वहैमसेदित्य निर्वाणोऽजाते, इति निगुप्तत्वम् । ७ ब्रह्माभेदेन । ८ यत्र ब्रह्मण्यस्य ब्रह्मण्यपत्त्वमित्याद्यङ्कपाऽऽह—इत्यभावे तृतीयेति । तथा च ब्रह्माभूते नेत्यर्थः । ब्रह्माभावस्य च योग्यतावत्त्वाद्-ब्रह्मणो धर्मो लभ्यत इति भावः । ९ प्रतीच कर्तृत्वादेवस्तुतोऽयोगादिति भावः ।

“नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथेकता समता सत्यता च ।

शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाम्यः” ॥

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ।

उपदेक्ष्यति चेह “व्येष” नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न बध्ते कर्मणा नो कनीयान्” इति कर्मप्रयोजनाभावे हेतुमुक्त्वा तस्मादेवंविच्छान्तो दाग्त इत्यादिना सर्वक्रियोपरमम् । ‘तस्माद्यथाव्याख्यातमेव पुण्यकृत्वम् । अथवा यो ब्रह्मवित्तेनेति स पुण्यकृत्तजसश्चेति

एकना निरपेक्षता सर्वोदासीनतेति यावत् । समता मित्रोदासीनशत्रुबुद्धिर्यतिरेकेण “सर्वत्र स्वस्मिन्निब-
द्विटि । दण्डनिधानम हिंसापरत्वम् ।

“अथस्य मूल निकृतिः क्षमा च कामस्य वित्तं च अपुर्व्वंश्च ।

यमस्य यागादि दया दमश्च मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाम्यः” ॥

इत्यादि चतुर्विधे पुरुषार्थे साधनभेदोपदेशि वाक्यमादिशब्दायः । इत्यादिस्मृतिभ्यश्च न पुण्यावि-
समुच्चयकारिणो ग्रहणमिति” सन्नय ।

“तयाऽपि प्रकृते मन्त्रे समुच्चयो भाती याशङ्कयाऽऽह—उपदेक्ष्यतीति । वाक्यशेषादिपर्यालोच-
नातिद्वयमयमुत्सहरति—तस्मादिति । पूर्वं पुण्यकृद्भूत्वा पुनस्त्यक्तपुत्राद्येवणो ब्रह्मवित्तेनेतीति क्रमो
पारलौकिक प्रयाजन वाली) विभिन्न क्रियायो से उदासीन हो जाना” ।

यहाँ भी भागे श्रुति मे इसी बात का व्याख्यान किया जायगा । “यह ब्रह्मवेत्ता की (स्वरूप-
भूत) नित्य महिमा है, जो शुभ कर्म से न तो कभी बढती है और न ही कभी घटती है” । इस प्रकार
कर्मप्रयोजनाभाव मे हेतु बनलाकर “आत्मा सर्वकर्मदि सतत स क्षुब्ध है” ऐसा जानता हुआ बाह्येन्द्रिय
व्यापार से उपशान्त भ्रन्त करण, तृष्णा से निवृत्त, सर्वेषणविनिमुक्त (स्वकायकरणसधात आत्मा मे ही
प्रत्यक् चेतयिता आत्मा को देखता है) इत्यादि वाक्य से सब क्रियाओ से उपरामता बतलायी है । इसलिए
(अन्य प्रकार से समुच्चय सभव न होने के कारण) ‘पुण्यकृत्’ का उपरोक्त प्रकारक निर्वचन ही उचित
है । अथवा जो ब्रह्मवेत्ता उस ब्रह्मविद्यामार्ग से जाता है, वह (अपुण्यकृत् होने पर भी) पुण्यकृत् और

- १ नैतादृशमिति—दान्तिपर्वमोक्षधर्म १७५-३७ महाभारते । एकता—एकाकित्येव्याह । सत्यता यथार्थ-
भायिता शील शुभाचरणम् कलापनीय वृत्त वा । स्थितिर्मर्यादानतिक्रमोपशेयता वा । शीलस्थितिरित्येकपदाठे
शीले निष्ठेत्यर्थ । मार्जवमकौटिल्यम् क्वचिदर्थविशेषे व्यवहारविशेषे वाप्यनाग्रह इति यावत् । ततस्तत-
इत्यादि ऐहिकामुमिकप्रयोजनान्य क्रियाम्य उपरम औदासीन्यम् । एकतादीनां फलमेतदित्याहुः । २
ब्रह्मविदः । ३ वृ उ ४ ४ २३ । ४ महिमास्वरूपभूत । ५ ब्रह्मविदः । ६ शुभेन कर्मणा ।
७ अमुभेन । ८ तस्मात्—वाक्यशेषादिपर्यालोचनया समुच्चयाऽऽश्रयवात् । ९ अपुण्यकृदपि । १०
विषमेष्वपि प्राणिषु । ११ सर्वभूताभयदान सन्यास इति यावत् । १२ अर्थस्येत्यादि—निकृति
वाशिक्यादिलक्षणा क्रिया । शाठ्यं वा शाठ्यं कपटश्छलमिति यावत् । सत्यान्तमिथुनीकरणत्माव्यव-
हार इति स्थिते । सर्वोपरम — सर्वोपरम इत्यर्थ । १३ पूर्व्वं । १४ उत्करीत्या समुच्चया-
धमवेऽपि ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव
ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥ १० ॥

जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे अन्धरे में प्रवेश करते हैं और जो कर्मकाण्डात्मक त्रयी विद्या में अनुरक्त रहते हैं; वे उससे भी अधिक अंधरे में प्रवेश करते हैं अर्थात् उपनिषदर्थ को उपेक्षा करने वाले दोनों ही अन्धकूप में गिरते हैं ॥ १० ॥

ब्रह्मविस्तृतिरेया । पुण्यकृति तंजसे च योगिनि 'महाभाग्यं प्रसिद्धं' लोके ताम्बामतो
ब्रह्मविस्तृत्यते 'प्रख्यातमहाभाग्यत्वात्लोके ॥ ६ ॥

अन्धम'दर्शनात्मकं तमः संसारनियामकं प्रविशन्ति प्रतिपद्यन्ते । के येऽविद्यां
विद्यातोऽन्यां साध्यसाधनलक्षणांमुपासते 'कर्मानुवर्तन्त इत्यर्थः । ततस्तस्मादपि भूय इव

न युज्यतेऽभ्रुत्त्वादित्याज्ञाऽऽह—अथ वेति । स्तुतिमेवोपादयति—पुण्यकृतीति । तेजासि
करणान्युपसहृत्य स्थितस्तंजसो दहराद्युपासिनो योगो तस्मिन्नणिमाद्यंभ्यान्महानुभावत्वप्रसिद्धि ।
ताभ्या पुण्यकृतंजसाभ्यामित्यर्थः । अतःशब्दपरामृष्टं स्पष्टयति—प्रख्यातयति । पुण्यकृतंजसयो-
रिति शेषः ॥ ६ ॥

'प्रस्तुत'ज्ञानमार्गस्तुत्यर्थं मार्गांतर 'निन्दति—अन्धमित्यादिना । विद्यायामिति प्रतीक-

तंजस है—यह ब्रह्मवेत्ता की स्तुति है । पुण्यकृत एव तंजस होने से योगियो में महानुभावत्व लोक में प्रसिद्ध
है । लोक में प्रसिद्ध महिमा वाले होने से इन दोनों विशेषणों से ब्रह्मवेत्ता की स्तुति की गयी है ॥६॥

“अन्ध तम” अर्थात् समारनियामक अदर्शनात्मक तम को “प्रविशन्ति” अर्थात् प्राप्त करते
हैं । कौन “येऽविद्यामुपासते” अर्थात् विद्या से भिन्न साध्यसाधनरूप कर्म का ही अनुष्ठान करते हैं ।

१ महानुभावत्वम् । २ स्तूयत इति—सा च स्तुति मुमुक्षुणां ब्रह्मविद्योद्देशेन श्रवणादिप्रवृत्तावुपपत्तीति
भाव । ३ प्रसिद्धमहिमत्वात् । ४ अदर्शनात्मक तम इति—तमो हि बहुधा भिद्यत इति । इतरथावृत्तये
विशेषणम्—अदर्शनात्मकमिति । तथा चोक्त पुराणे—“तमो मोहो महामोहस्तामिदो ह्यन्यसंज्ञितः ।
अविद्या पञ्चपद्वेषा प्रादुर्भूता महात्मनः” इति । अविद्यास्मिन्तारागद्वेषाभिविज्ञाना पञ्चवस्तेषा इत्युक्तानि
पञ्चपद्वेषिणि । तत्र बुद्धिपुरुषयोरभेदाभिमानोऽस्मिता । साधनरहितस्यापि सर्वसुखजातीय मे भूयादिति
विषयं विशेषो राग । दुःखसाधने विद्यमानेऽपि किमपि दुःख मे मा भूदिति विषयंविशेषो द्वेष । प्रायुर-
मावेऽपि धारोरेन्द्रियादिभिरित्यैरपि वियोगो मे मा भूदिति या विद्बद्भ्रानावात् त्वामाविक सर्वप्राणिसाधारणो
मरणत्रासरूपो विषयंविशेषोऽभिनिवद सौम्यमभिविज्ञोऽन्यतामिज्ञास्य प्रवृत्तेऽप्य तम इति विवक्षित इति
भाव । महात्मनः प्रजापते । ५ कर्मानुवर्तन्त इति—उपनिषद्भागमपीश्वरे प्रमाणतयाभ्युपगच्छन्तो मीमांसक-
व्यावृत्ता, कर्मबानुतिष्ठन्तीत्यर्थः । ६ उज्ज्वान्तेति भावः । ७ मोक्षहेतुः । ८ निन्दतीति—एताभ्यदर्शनादुक्ता-
पदन्यद्दर्शान्तरम् । “अन्ध तम” इति श्रुत्या “तद्विद्यागोचतेऽखिनम्” इत्युक्ते । इह मुक्तो ।

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।

ताऽस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाऽसोऽबुधो जनाः ॥११॥

वे लोक सुखरहित तथा घोर अन्धकार से आवृत हैं, उन्हीं लोको को वे भ्रजानी भविद्धान् लोग प्राप्त करते हैं अर्थात् आत्मज्ञान ही एकमात्र मोक्ष का साधन है ॥ ११ ॥

'बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति । के । य उ 'विद्यायामविद्यावस्तुप्रतिपादिकाया कर्मार्थायां त्रय्यामेव विद्यायां रता' अभिरताः । विधिप्रतिषेधपर एव वेदो नान्योऽस्तीत्युपनिषदर्थानपेक्षिण इत्यर्थः ॥ १० ॥

यदि तेऽवशंनलक्षणं तमः प्रविशन्ति को 'दोष इत्युच्यते—'अनन्दा अनानन्दा अमुखा नाम ते लोकास्तेनान्धेनादर्शनलक्षणेन तमसाऽऽवृता व्याप्तास्ते तस्याज्ञानतमसो गोचरास्तास्ते प्रत्य मृत्वाऽभिगच्छन्त्यभिगन्ति । के । येऽविद्वांसः । कि 'सामान्येनाविद्व-

मादाय व्याकरोति—अविद्येति । यं पुनलक्ष्यामभिरतानामयःपतनमित्याशाङ्क्याऽह—विद्येति ॥ १० ॥

अन्तर्गतमाकाङ्क्षाद्वारोत्याप्य व्याचष्टे—यदीत्यादिना । अयुष इत्यस्य निष्पत्ति सूचयन्वि-

"तत" यानी उससे भी "भूय इव" यानी अधिकतर तम में प्रवेश करते हैं । कौन ? "य उ विद्यायाम" अर्थात् जो विद्यारूप वस्तु वा प्रतिपादिका कर्मार्थ त्रयोविद्या मे ही "रता" अर्थात् आसक्त हैं अर्थात् जो विधि-प्रतिषेधपरक वेदो मे भिन्न कुछ तात्पर्याय न समझकर उपनिषदर्थ की उपेक्षा करने वाले हैं, वे अधिकतर अन्धकार को प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

यदि वे अदर्शनलक्षण तम को प्राप्त करते हैं तो इसमें क्या अविद्येति है ? (दोष को श्रुति बताती है—) 'अनन्दा' अर्थात् जिनमें अज्ञान नहीं है, सुख नहीं है, ऐसे नाम वाले लोक जो अदर्शनात्मक तम से 'आवृता' यानी व्याप्त हैं, 'ताऽस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति' वे (अविद्या और त्रयो को उपासना करने वाले) भर कर भ्रजान तम के विषय लाको को ग्रहण करते हैं । कौन ग्रहण करते हैं ? जो भविद्धान् होते हैं । क्या अन्तर्गत विशेषगुण्य अविद्येति मात्र स ही प्राप्त हो जाते हैं ? नहीं । इस पर श्रुति कहती है—'अबुध' अर्थात् आत्मतत्त्व के ज्ञान से शून्य लोग ही उन्हें ग्रहण करते हैं । अविद्य-

१ बहुतरमिति—विद्याज्ञानाधिपत्यादिविद्येतिवाहुत्वमित्यर्थ । कर्मजडा हि मीमांसका ईश्वरमपि नाङ्गीकुर्वन्ति उपनिषदामपि विधिषेधपरनात्रियार्थत्वाद्ब्रामाण्यमातिष्ठन्त इति तेषामविद्येतिवाहुत्वम् । २ विद्यायामिति—नात्र विद्यागन्धेन परविद्या विशिष्टता तत्स्तुतय मार्गान्तर निषेधे अन्तर्गृह्ये ततो भेदरहितवान् विद्याभि-सम्पत्ते । ३ आसक्ताः । ४ ससारतम प्रवदोऽपि तेषां किमविद्येतिमर्थ । ५ दोषमेव विद्येदयति—अनन्दा इति । ६ अभिमान्तीति—दुःखग्रहणमात्मज्ञानप्रतिकूल बहज्जात शृङ्खन्तीति निष्कर्ष । ७ आकाङ्क्षापूर्वबुध इति विशेषणतात्पर्यमाह—किमिति । ८ सामान्यतम—अन्तर्गतविशेषशून्येन । ९ अतो युक्त तेषामप्यतनमिति ।

‘आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमि-
च्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ १२ ॥

मैं यह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ब्रह्म हूँ। इस प्रकार विशेष रूप से आत्मा को साधक पुरुष यदि जान लेवे, तो भला किस चीज को चाहता हुमा, किस भोग के लिये शरीर के पीछे सनस होने लगे अर्थात् आत्मबोध के बाद सर्वात्मदर्शी को जन्म जरादि दुःख नहीं सताते ॥ १२ ॥

त्तामात्रेण । नेत्युच्यते—ब्रबुधः । बुधेरवगमनार्थस्य घातोः विवप्प्रत्ययान्तस्य रूपम् ।
आत्मावगमवर्जिता इत्यर्थः । जनाः प्रकृता एव जननधर्मिणो वेत्येतत् ॥ ११ ॥

आत्मानं स्वं सर्वंप्राणिमनीषितज्ञं हृत्स्थमज्ञानायादिधर्मातीतं चेद्यदि विजानीया-
त्सहस्रेषु कश्चित् । चेदित्पात्मविद्याया दुर्लभत्वं दर्शयति । कथमयं पर आत्मा सर्वंप्राणि-
प्रत्ययसाक्षी यो नेति नेतीत्याद्युक्तो यस्माद्भ्रान्त्योऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता समः
सर्वंभूतस्थो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽस्मि भवामीति पूरुषः पुरुषः । स किमिच्छ-

वक्षितमर्थमाह—बुधेरिति ।

‘उक्तात्मज्ञानस्तुत्यर्थमेव तन्निष्ठाय कायकलेशरहित्यं वक्ष्यति—आत्मानमित्यादिना ।
विज्ञानात्मनो बलक्षणार्थं त्रिंशत्निष्ठ—सर्वेति । तादृश्यं व्याप्यतेत्यति—हृत्स्थमिति । बुद्धिसवन्ध-
प्राप्तं संसारिवं वारयति—प्रश्नायाधीति । प्रश्नपूर्वकं ज्ञानप्रकारं प्रकटयति—व्यभित्यादिना ।
स्वंभूतसवन्धप्रयुक्तं दोषं वारयितुं त्रिंशत्निष्ठ—नित्येति । इति विजानीयाविति सवन्धः । प्रयोजनाय

मार्थकं ‘बुध’घातु से विवप् प्रत्यय सर्वापहाररूप होकर ‘बुध’ रूप बनता है। यहाँ ‘जना’ शब्द से प्रकरणस्य दशम मन्त्र मे प्रतिपादित पुरुषो का ग्रहण है यथवा जन्ममरणशील वालो को ‘जना’ कहा गया है ॥ ११ ॥

‘आत्मानं चेद्विजानीयात्’ अर्थात् यदि सहस्रों मे से कोई सर्वजनाभोष्ट विज्ञाता, हृदयस्य धोर क्षुधापिपासादि धर्मों से भ्रतीत अपनी आत्मा को विशेष रूप से जान जाय, ‘चेद्’ इस अर्थय से आत्मविद्या की दुर्लभता दिखायी गयी है। किस प्रकार जाना जाय? यह पर आत्मा सम्पूर्ण प्राणियों के अनुभवो का साक्षी जो ‘नेति-नेति’ इत्यादि वाक्यो द्वारा प्रतिपाद्य है, जिससे भिन्न द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता कोई नहीं है, विषयों मे सम है, सम्पूर्ण भूतो मे स्थित है नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव है, वह मैं हूँ—ऐसे जो पुरुष जान जाय, ‘किमिच्छन्वस्य कामाय’ वह अपनी अवष्ट स्वरूप

१ एव मन्त्रद्वये आत्मज्ञानाभावे दोषमुक्त्वेदानीं प्रवृत्तमार्गस्यैव स्तुत्यर्थं तन्निष्ठस्य ब्रह्मज्ञानिमाह—आत्मान-
मिति । अथ परमात्मस्यः पुरुषोऽहमेवास्मीत्यात्मानं चेतक्यचित्तस्त्वबुद्धितो विजानीयादित्यन्वयः । दोष स्पष्टं
भाष्ये । २ आत्मातिरिक्तं पल्लभ्यते वस्तु । ३ पुत्रादेः । ४ प्रयोजनाय । ५ शरीरमनुसंचरेदिति
भाष्यदिनापाठ । तत्र शरीरान्तरं गच्छेदित्यर्थः । ६ प्रवृत्ता इति—अप्यं तमो मन्त्रे प्रवृत्ता इत्यर्थः ।
७ जननमरणादिमात्रात्तिलेन ब्रह्मात्मबोधविदुरतामेव स्फोरयति—जननेति । ८ सर्वजनाभीष्ट-
विज्ञातारम् । ९ इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यः । १० विषयेषु । ११ आत्मज्ञाननिष्ठस्य । १२ इयमि-
प्रत्ययम् ।

‘यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने

इन प्रमेक प्रमथों से परिपूर्ण और विवेक विज्ञान के दागु विषम स्यात् शरीर में प्रविष्ट हुआ

‘स्तस्वरूपव्यतिरिक्तमन्यद्वस्तु फलभूत किमिच्छन्कस्य चाऽन्यस्याऽऽत्मनो व्यतिरिक्तस्य’
कामाय प्रयोजनाय । न हि तस्याऽऽत्मन एष्टव्यं फलम् । न चाप्यात्मनोऽन्योऽस्ति यस्य
‘कामायेच्छति सर्वस्याऽऽत्मभूतत्वात् । अतः किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेद्-
भ्रंशेत् । शरीरोपाधिकृतदुःखमनु दुःखी स्यात् । शरीरतापमनुत्पद्येत । अनात्मदर्शिनो हि
‘तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरेप्तोः । ममेव स्यात्पुत्रस्येदं भार्याया इवमित्येवमोहमानः पुनः
पुनर्जननमरण’ प्रबन्धाद्दृढः शरीररोगमनु रज्यते । सर्वात्मदर्शिनस्तु “तदसंभव
इत्येतदाह ॥ १२ ॥

किंच “यस्य ब्राह्मणस्यानुवित्तो”ऽनुलब्धः प्रतिबुद्धः साक्षात्कृतः कथमहमस्मि परं ब्रह्मे-

शरीरमनुसंज्वरेदिति संबन्धः । किमिच्छन्प्रत्याक्षेप समर्थयते—न हीति । कस्य वा कामायेत्याक्षेपमु-
पपादयति—न चेति । भाक्षेपद्वयं निगमयति—अत इति । “तदेव स्पष्टयति—शरीरेति । विदुषस्तापा-
भाव व्यतिरेकमुखेन (ण) विशदयति—अनात्मेति । वस्त्वन्तरेप्तोस्तापसंभव इति शेषः । स चेत्य-
प्याहृत्य ममेवमित्यादि योग्यम् । इत्येतदाह किमिच्छन्प्रत्याक्षा श्रुतिरिति शेषः ॥ १२ ॥

न केवलमात्म-विचारतिरकस्य कापवलेनाराहित्य किन्तु कृतकृत्यता चास्तोत्प्राह—किंचेति ।

से व्यतिरिक्त दूसरी किस फलयुक्त वस्तु को इच्छा करता हुआ, आत्मव्यतिरिक्त पुत्रादिरूप किस
प्रयोजन के लिए करे क्योंकि उस आत्मा के लिए कोई चाहने योग्य फल है ही नहीं और न ही
आत्मा से व्यतिरिक्त कोई पुत्रादि पदार्थ है, जिसके फल की वह इच्छा करे क्योंकि वह तो सब का
आत्मस्वरूप ही हो जाता है । अतः वह किस की इच्छा करता हुआ किमकी कामना के लिये शरीर
के “अनुसंज्वरेत्”, यानी पीछे भ्रष्ट हो । शरीररूप उपाधि के दुःख के पीछे दुःखी हो ; शरीर के ताप
से अनुतापित हो । जिसे आत्मदर्शन नहीं होता, उसे ही आत्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तर की इच्छा होती
है । “मुझे यह प्राप्त हो जाय, मेरे पुत्र को यह प्राप्त हो जाय, मेरी भार्या को यह मिल जाय” इस
प्रकार अभिलाषा करता हुआ पुनः पुनः जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पतित हुआ शरीर के रोग से रोगी हो
जाता है । सर्वात्मदर्शी को तो यह ताप होना असंभव है—इसे श्रुति यहाँ बतलाती है ॥ १२ ॥

—इसके प्रतिरिक्त “यस्य” अर्थात् समस्त कल्प क्षीण कर ब्रह्मसाक्षात्कार के इच्छुक) जिस
ब्राह्मण को आत्मा “अनुवित्तः” अर्थात् शास्त्र और भाषायें के प्रसाद से उपलब्ध है “प्रतिबुद्धः” अर्थात्
साक्षात्कृत है; किस प्रकार ? “मै परब्रह्म हूँ” इस प्रकार प्रत्यगात्मस्वरूप से साक्षात्कृत है; “अस्मिन्

१. मेनेत्यर्थः । २. स्वीयास्यस्वरूपेति भावः । ३. पुत्रादे । ४. आत्मार्थम् । ५. पुत्रादि-
पदार्थः । ६. फलाय । ७. स्वातिरेकेषामन्यस्याभावात् । ८. आत्मव्यतिरिक्तं यावत् । ९. अभिलषत् ।
१०. प्रवाहमयित्तः । ११. तापासम्भवः । १२. क्षयितापि कल्पस्य ब्रह्मसाक्षात्कारादिना । १३. वास्त्रा-
चार्याप्रसादादनु । १४. अनुभवंशमेव । १५. तदेननिर्गम्य ।

प्रविष्टः । स विश्वकृतस हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः

स उ लोक एव ॥ १३ ॥

आत्मा जिस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को प्राप्त तथा भ्रमगत हो गया है; वह कृतकृत्य हो गया, वह सभी कर्मों का कर्ता है । उसी का सारा लोक है और स्वयं भी वह लोक स्वरूप आत्मा ही है ॥ १३ ॥

त्येवं प्रत्यगात्मत्वेनावगत आत्माऽस्मिन्संदेह्ये संदेहेऽनेकानयंसंकटोपचये गहने विषमे-
'अनेकशतसहस्रविवेकविज्ञान'प्रतिपक्षे विषमे प्रविष्टो जलसूर्यकादिवदिति 'स यस्य ब्राह्मण-
स्यानुवित्तः'प्रतिबोधेनेत्यर्थः । स विश्वकृद्विश्वस्य 'कर्ता' । 'कथं विश्वकृत्वं तस्य कि
विश्वकृदिति नामेत्याशङ्क्याऽऽह—'स हि यस्मात्सर्वस्य कर्ता न नाममात्रं न केवलं'
विश्वकृत्परप्रयुक्तः सन् । किं तर्हि 'तस्य 'लोकः सर्वः' । किमन्यो लोकोऽन्योऽसाविद्यु-
च्यते—'स उ लोक एव । लोकशब्देनाऽऽत्मोच्यते तस्य 'सर्व आत्मा स च सर्वस्याऽऽत्मे-

संदेहे पृथिव्यादिभिर्भूतैर'पक्षिते शरीरे । सदेहत्वं साधयति—अनेवेति । विषमत्वं विशदयति—अनेक-
शतेति । न नःममात्रमित्यत्र पुरस्ताद्भ्रजतस्मादिति पठितव्यं यस्माविद्युपक्रमाद्विश्वकृत्वमिति शेषः ।
परशब्दो विद्याविषयः । विश्वकृतकृतकृत्य इत्येतत् । लोकलोकविभागेन भेदं शङ्कित्वा दूषयति
—किमित्यादिना । यद्येत्यादिमन्त्रस्य तात्पर्यं सगृह्णाति—य एष इति । "अस्त्वेवं किं तावतेत्या-

संदेह्ये" अर्थात् जहाँ नानाविध भ्रमप्राथम्य दुःखों का पुञ्ज होने से सन्देह और 'गहने' अर्थात् जहाँ
अनेक शत-सहस्र आध्यात्मिक विवेक प्रतिपक्ष है; ऐसे विषम स्थान में जलसूर्यकादि के समान
प्रविष्टःहुमा जो आत्मा है, वह जिस ब्राह्मण को सघात से विविक्षित हुमा जात है, एवं प्रत्येक बुद्धिवृत्ति
के माझी रूप से साक्षात्कृत है । "स विश्वकृत्" अर्थात् विश्व का कर्ता ईश्वर है । उसे विश्वकर्तृत्व
कैसे कहते हो तथा क्या विश्वकृत् उस का नाम है ? ऐसी आशङ्का होने पर श्रुति कहती है—(ज्ञान
के फल में सब कुछ आ जाता है, इसलिए ज्ञानी सर्वकृत् या कृतकृत्य है) इसीलिए वह सब का कर्ता
है । यह उस विद्वान् का केवल नाम ही नहीं है । वह किसी अन्य से प्रयुक्त होकर विश्वकृत् नहीं है ।
तो फिर कैसे है ? उसी विद्वान् का सारा प्रपञ्च लोक अर्थात् आत्मा है । क्या यह लोक भिन्न है
और वह भिन्न है ? इस पर श्रुति कहती है—वही विद्वान् सर्वप्रपञ्च की आत्मा है । यहाँ 'लोक'

१. अनेकेत्यादि—नानाविधानामप्रार्थनीयाना दुःखानामुपचयो यत्रेति विग्रहः । २ अनेकशतेत्यादि—अनेक-
शतसहस्राणि विवेकप्रतिपक्षा आध्यात्मिकाद्यो यत्र । ३ बृहन्नीहि । ४. निश्चत आत्मा । ५. सघाता-
दिविषय विज्ञातः । ६. प्रत्येकबुद्धिवृत्तिमाशङ्क्येन । ७. ईश्वरः । ८. कथमिति—न ब्रह्मविदो विश्व-
कृत्वं विश्वाभावात्तथा च तस्य विश्वकृदिति नाममात्रमित्याद्ययः । ९. स हीति—ज्ञानफले सर्वस्यान्त-
र्भावात्तानिना सर्वं कृतमिति भावः । कृतकृत्योऽसाविति यावत् । १०. विद्वान् । ११. विदुषः । १२.
आत्मा । १३. प्रपञ्चः । १४. सोऽपि विद्वान् सर्वस्य प्रपञ्चव्याऽऽप्नोव । १५. सर्वस्येदो ब्रह्मपर-
इत्यप्याहुः । १६. सद्विहात इति व्युत्पत्तौ दिह उपचयं । १७. अस्त्वेवमित्यादि—उत्तरीत्या प्रतीचः
परत्वमस्तु तस्य परत्वेऽपि प्रकृते किमायातमित्यर्थः ।

'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने
इन भनेक भनयो से परिपूर्णं शरीर त्रिवेक विज्ञान के धनु विषम स्थान शरीर में प्रविष्ट हुआ

'स्तस्वरूपव्यतिरिक्तमन्यद्वारतु फलमूत किमिच्छन्कस्य वाऽन्यस्याऽऽत्मनो व्यतिरिक्तस्य कामाय प्रयोजनाय । न हि तस्याऽऽत्मन एष्टव्यं फलम् । न चाप्यात्मनोऽन्योऽस्ति यस्य कामायेच्छति सर्वस्याऽऽत्मनूतत्वात् । अतः किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेद्भ्रंशेत् । शरीरोपाधिकृतदुःखमनु दुःखी स्यात् । शरीरतापमनुत्प्येत । अनात्मदर्शिनो हि तदव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरेत्सोः । ममेद स्यात्पुत्रस्येदं भार्याया इदमित्येवमोहमानः पुनः पुनर्जननमरणं प्रबन्धाहृदः शरीररोगमनु रज्यते । सर्वात्मदर्शनस्तु "तदसंभव इत्येतदाह ॥ १२ ॥

किंच "यस्य ब्राह्मणस्यानुवित्तो"ऽनुलब्धः प्रतिबुद्धः साक्षात्कृतः कथमहमस्मि परं ब्रह्मे-

शरीरमनुसंज्वरेदिति संबन्धः । किमिच्छन्नित्याक्षेपं समर्थयते—न हीति । कस्य वा कामायेत्याक्षेपमुपपादयति—न चेति । आक्षेपद्वयं निगमयति—अत इति । "तदेव स्पष्टयति—शरीरेति । विदुषस्तापाभाव व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—प्रनात्मेति । यस्त्वन्तरेत्सोस्तापसंभव इति शेषः । स चेत्यप्याहृत्य ममेदमित्यादि योजयम् । इत्येतदाह किमिच्छन्नित्याद्या श्रुतिरिति शेषः ॥ १२ ॥

न केवलमात्म"विद्यारसिकस्य कायवलेशरहित्य किनु कृतकृत्यता चारतोत्याह—किंचेति ।

से व्यतिरिक्त दूसरी किस फलयुक्त 'वस्तु' को इच्छा करता हुआ, आत्मव्यतिरिक्त पुत्रादिरूप किस प्रयोजन के लिए करे क्योंकि उस आत्मा के लिए कोई चाहने योग्य फल है ही नहीं शरीर न ही आत्मा से व्यतिरिक्त कोई पुत्रादि पदार्थ है, जिसके फल की वह इच्छा करे क्योंकि वह तो सब का आत्मस्वरूप ही हो जाता है । अतः वह किस की इच्छा करता हुआ किमकी कामना के लिये शरीर के "अनुसंज्वरेत्", यानी पीछे भ्रष्ट हो । शरीररूप उपाधि के दुःख के पीछे दुःखी हो ; शरीर के ताप से अनुतापित हो । जिसे आत्मदर्शन नहीं होता, उसे ही आत्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तर की इच्छा होती है । "मुझे यह प्राप्त हो जाय, मेरे पुत्र को यह प्राप्त हो जाय, मेरी भार्या को यह मिल जाय" इस प्रकार अभिलाषा करता हुआ पुनः पुनः जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पीतत, हुआ शरीर के रोग से रोगी हो जाता है । सर्वात्मदर्शी को तो यह ताप होना असंभव है—इसे श्रुति यहाँ बतलाती है ॥ १२ ॥

इसके व्यतिरिक्त "यस्य" अर्थात् (समस्त कल्मष क्षीण कर ब्रह्मसाक्षात्कार के-इच्छुक) जिस ब्राह्मण को आत्मा "अनुवित्तः" अर्थात् शास्त्र शरीर आचार्य के प्रसाद से उपलब्ध है "प्रतिबुद्धः" अर्थात् साक्षात्कृत है; किस प्रकार ? "मै परब्रह्म हूँ" इस प्रकार प्रत्यगात्मस्वरूप से साक्षात्कृत है; "अस्मिन्

१. वेनेत्यर्थः । २. स्वीयात्स्वरूपवैति भाव । ३. पुत्रादे । ४. आत्मार्थम् । ५. पुत्रादि-पदार्थः । ६. फलाय । ७. स्वातिरेकेणान्यस्याभावात् । ८. आत्मव्यतिरिक्ते यावत् । ९. अभिलषन् । १०. प्रवाहमयित्त । ११. तापासभ्रः । १२. आपितापिपकल्मषस्य ब्रह्मसाक्षात्कारार्थिनः । १३. शास्त्राचार्याप्रसादादनु । १४. अनुभ्रंजनमेव । १५. तदेकनिष्ठस्य ।

प्रविष्टः । स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः
स उ लोक एव ॥ १३ ॥

आत्मा जिस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को प्राप्त तथा भ्रवगत हो गया है; वह कृतकृत्य हो गया, वह सभी कर्मों का कर्ता है । उसी का सारा लोक है और स्वयं भी वह लोक स्वरूप आत्मा ही है ॥ १३ ॥

त्येवं प्रत्यगात्मत्वेनावगत आत्माऽस्मिन्संवेह्ये संवेहेऽनेकानर्थसंकटोपचये गहने विषमे-
ऽनेकशतसहस्रविवेकविज्ञानप्रतिपक्षे विषमे प्रविष्टो जलसूर्यकादिवदिति 'स यस्य ब्राह्मण-
स्यानुवित्तः प्रतिबोधेनेत्यर्थः । स विश्वकृद्विश्वस्य कर्ता । कथं विश्वकृत्वं तस्य किं
विश्वकृदिति नामेत्याशङ्क्याऽऽह—'स हि यस्मात्सर्वस्य कर्ता न नाममात्रं न केवलं'
विश्वकृत्परप्रयुक्तः सन् । किं तर्हि 'तस्य 'लोकः सर्वः' । किमन्यो लोकोऽन्योऽसावित्यु-
च्यते—'स उ लोक एव । लोकशब्देनाऽऽत्मोच्यते तस्य 'सर्वं आत्मा स च सर्वस्याऽऽत्मे-

सदेहे पृथिव्यादिभिर्भूतैरुपचिन्ते शरीरे । सदेहत्व साधयति—अनेकेति । विषमत्वं विशदयति—अनेक-
घतेति । न नाममात्रमित्यत्र पुरस्तात्प्रज्ञस्नस्मादिति पठितव्यं यस्माद्वित्युपक्रमाद्विश्वकृत्त्वमिति शेषः ।
परशब्दो विद्याविषयः । विश्वकृत्कृतकृत्य इत्येतत् । लोकलोकविभागेन भेदं शङ्कित्वा दूषयति
—किमित्यादिना । यस्येत्यादिमन्त्रस्य तात्पर्यं सगृह्णाति—य एष इति । "अस्त्वेवं किं तावतेत्या-

संवेह्ये" अर्थात् जहाँ नानाविध अप्रायणीय दुःखों का पुञ्ज होने से सन्देह और 'गहने' अर्थात् जहाँ
अनेक शत-सहस्र आध्यात्मिक विवेक प्रतिपक्ष हैं, ऐसे विषम स्थान में जलसूर्यकादि के समान
प्रविष्टः।हुआ जो आत्मा है, वह जिस ब्राह्मण को सघात से विविक्षित हुआ जात है, एव प्रत्येक बुद्धिवृत्ति
के साक्षी रूप से साम्राज्यकृत है । "स विश्वकृत्" अर्थात् विश्व का कर्ता ईश्वर है । उसे विश्वकर्तृत्व
कैसे कहते हो तथा क्या विश्वकृत् उस का नाम है ? ऐसी आशङ्का होने पर श्रुति कहती है—(ज्ञान
के फल में सब कुछ आ जाता है, इसलिए ज्ञानी सर्वकृत् या कृतकृत्य है) इसीलिए वह सब का कर्ता
है । यह उस विद्वान् का केवल नाम ही नहीं है । वह किसी अन्य से प्रयुक्त होकर विश्वकृत् नहीं है ।
तो फिर कैसे है ? उसी विद्वान् का सारा प्रपञ्च लोक अर्थात् आत्मा है । क्या यह लोक भिन्न है,
और वह भिन्न है ? इस पर श्रुति कहती है—वही विद्वान् सर्वप्रपञ्च की आत्मा है । यहाँ 'लोक'

१ अनेकेत्यादि—नानाविधानामप्रायणीयाना दुःखानामुपचयो यत्रेति विग्रहः । २ अनेकशतत्यादि—अनेक-
घतसहस्राणि विवेकप्रतिपक्षा आध्यात्मिकादयो यत्र । ३ बहुव्रीहिः । ४ निरुक्त आत्मा । ५ सघाता-
द्विविष्य विज्ञातः । ६ प्रत्येकबुद्धिवृत्तिसाक्षित्वेन । ७ ईश्वरः । ८ कथमिति—न ब्रह्मविदो विश्व-
कर्तृत्व विश्वाभावात्तथा च तस्य विश्वकृदिति नाममात्रमित्याशयः । ९ स हीति—ज्ञानफले सर्वस्यान्त-
र्भावान्ज्ञानिना सर्वं कृतमिति भावः । कृतकृत्योऽसाविति यावत् । १०. विद्वान् । ११. विदुषः । १२
आत्मा । १३ प्रपञ्चः । १४ सोऽपि विद्वान् सर्वस्य प्रपञ्चस्याऽऽत्मैव । १५ सर्वशब्दो ब्रह्मपर
इत्यप्याहुः । १६ सद्विद्यत इति व्युत्पत्तेरिदं उपचयः । १७ अस्त्वेवमित्यादि—उत्तरीत्या प्रतीच
परत्वमस्तु तस्य परत्वेऽपि प्रकृते विभायातमित्यर्थः ।

‘इहैव सन्तोऽथ विद्वन्मृतद्वयं न चेद्वेदमंहती
विनष्टिः । ये तद्विद्वन्मृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवा-
पियन्ति ॥१४॥’

हम इस अर्थपूर्ण शरीर में रहते हुए ही यदि उस आत्मतत्त्व को जान लेते हैं तो कृतकृत्य हो जाते हैं और यदि उसे नहीं जानते तो बड़ी भारी क्षति होती है (जिमकी पुति अन्यत्र दुःखय है) । मृत जो साधक उसे जानकर उस तत्त्व को आत्मभावेन साक्षात् कर लेते हैं; वे अमर हो जाते हैं । इनमें भिन्न लोग जन्म मरणादि रूप दुःख को ही प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥

अर्थः । य एव ब्राह्मणेन प्रत्यगात्मा प्रतिबुद्धतयाऽनुविष्ट आत्माऽनर्थसंकेते गहने प्रविष्टः स न संमारो कित्तु पर एव । यस्माद्विद्वन्मृतास्तस्य च सर्वं आत्मा । एक एवाऽद्वितीयः पर एवास्मीत्यनुसंधातव्य इति श्लोकार्थः ॥ १३ ॥

किंचेहैवानेकानर्थसंकुले सन्तो भवन्तोऽज्ञानदीर्घनिद्रामोहिताः सन्तः कथंचिदिव ब्रह्मनस्त्वमात्मत्वेनाथ विद्यो विजानीमः । तदेतद्ब्रह्म प्रकृतमहो वयं कृतार्था इत्यभि-
प्रायः । यदेतद्ब्रह्म विजानीमस्तन्न चेद्विदितवन्तो वयं वेदनं वेदो वेदोऽस्यास्तीति वेदो

शङ्क्याऽह—एक एवेति । यो हि परः ‘सर्वप्रकारभेदराहित्यात्पूरांतया वतंते स एवास्मीत्यात्मा-
ऽनुसंधातव्य इति योजना ॥ १३ ॥

ब्रह्मविद्यो विद्यया कृतकृत्यत्वे श्रुतिसप्रतिपत्तिरेव केवल न भवति किंतु ‘श्रुत्यानुभवसप्रतिपत्ति-
रन्तोऽप्यह—किंचेति । अर्थः त्वस्य कथंचिदिवेति व्याख्यानम् । तद्विद्वन्मृतास्तस्य च सर्वं आत्मा । एक एवाऽद्वितीयः पर एवास्मीत्यनुसंधातव्य इति योजना ॥ १३ ॥

शब्द से आत्मा का ग्रहण करना चाहिये । उनका ब्रह्म आत्मा है, वह ब्रह्म का आत्मा है । आत्मा अनर्थसंकेत और विषम शरीर में प्रविष्ट है—इस प्रकार अपरोक्ष प्रत्यगात्मा का जिस ब्रह्मवेत्ता ने साक्षात् व गुरु की कृपा में साक्षात्कार प्राप्त कर लिया, वह ससारी नहीं है; किन्तु परब्रह्म ही है क्योंकि यह विश्व का कर्ता है, ब्रह्म का आत्मा है । उनका ब्रह्म आत्मा है । “मैं एक ही अद्वितीय परब्रह्म हूँ” ऐसा अनुसन्धान करना चाहिये—यही इस श्लोक का अर्थ है ॥ १३ ॥

इसके अतिरिक्त “इहैव” यानी अनेक अर्थबहुल शरीर में “सन्त” रहते हुए यानी अज्ञानरूपी दीर्घनिद्रा से मादित हुए किसी तरह से भी (पापधर्म होने से) ब्रह्मतत्त्व को आत्मस्वरूप से “अथ विद्यो विजानीम” यदि जान लें, तब तो हम वच होकर कृतार्थ हो गये, यह अभिप्राय है । हम जिस ब्रह्म को

१ विदुषो न केवल श्रोत कृतकृत्यत्व किंशानुभविक्मपीत्याह—इहेति । एतस्मिन्नेव वेदे । २ ये तद्वि-
द्विरिति मन्त्रार्थमुपसहरति स्म वातिके—“ब्रह्मैव सन्तो विजानात्सगतो ब्रह्मबोधत । भवानो ब्रह्म नाजानार्त्तं
दशमो दशम यथा” ॥ ६२६ ॥ इति । ३ अपरोक्ष । ४ शरीरे । ५ शरीर एव । ६ पाप-
ध्यात् । ७ ब्रह्म वयमिति सवन्ध । ८ मजातीयोऽभिभेदराहित्यात् । ९ विद्वन्मृतास्तस्य च सर्वं आत्मा ।
रिति यावत् । १० इति व्याख्यानमिति सवन्ध । ११ परस्पररङ्गते दोषेऽन्यत्र विवक्षित्याऽह—
सहीत्यादि ।

‘यश्चेतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा । ईशानं भूत-

जिस समय भूत और भविष्य के शासक इस प्रकाशमय या व मंफल दाता आत्मा को आचार्य

वेद्येव वेदिनं वेदिरवेदिः । ततोऽहमवेदिः स्याम् । दद्यवेदिः स्यां को दोषः स्यान्महत्प-
नन्तपरिणामा जन्ममरणदिलक्षणा विनष्टि विनशनम् । अहो वयमस्मान्महतो विनश-
नाग्निर्मुक्ता यदब्रह्म ब्रह्म विदितवन्त इत्यर्थः । यथा च धयं विदित्वाऽस्माद्दिनशनाद्दि-
प्रमुक्ता एवं तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ये पुनर्नवं ब्रह्म विदुस्त इतरे ब्रह्मविद्भ्योऽप्येऽब्रह्म-
विद इत्यर्थः । दुःखमेव जन्ममरणादिलक्षणमेवापियन्ति प्रतिपद्यन्ते न कदाचिदप्य-
विदुषां ततो विनिवृत्तिरित्यर्थः । दुःखमेव हि त आत्मत्वेनोपगच्छन्ति ॥ १४ ॥

यदा पुनरेतमात्मानं कथंचित्परमकारुणिकं कंचिदाचार्यं प्राप्य ततो लब्धप्रसादः

महती विनष्टिरिति संबन्धः । बहुत्वं ‘न विवक्षित ज्ञानान्मोक्षोऽत्र विवक्षित इत्यभिप्रेत्य वेदिरित्य-
स्यार्थमाह—वेदनमित्यादिना । ‘न चेद्ब्रह्म विदितवन्तो वयं ततोऽहमवेदिः स्यामिति योजना । त्रिधा-
भावे दोषमुक्त्वा विद्वदनुभवसिद्धमर्थं निगमयति—अहो वयमिति । इहैवेत्यादिना पूर्वार्थेनोक्तमेवार्थ-
मुत्तरार्धेन ‘प्रपञ्चयति—यथा चेत्यादिना । दुःखादविदुषां विनिर्मुक्ताभावे हेतुमाह—दुःख-
मेवेति ॥ १४ ॥

किंच विदुषो विहिताकरणादिप्रयुषत भयं नारतीनि विद्यां स्तोतुमेव मन्त्रान्तरमादाय

जानते हैं यदि उसको उस रूप में हमने न जाना होता, “वेद” वेदन को कहते हैं, जिसे ज्ञान है, वह वेदी होता है, वेदी ही ‘वेदि’ समझना चाहिये, जो ‘वेदि’ नहीं है, वह अवेदि है । इस प्रकार मैं अवेदि होता । यदि न जाना होता, तो क्या दोष होता । “महती विनष्टि.” अर्थात् जन्म-मरणलक्षण अनन्त होता । यदि न जाना जाता, तो क्या दोष होता । “अहो” हम इस महान् विनाश से मुक्त हो गये हैं, जो हमने परिणामरूप मरणात्मक विनाश हो जाता । अरे ! हम इस महान् विनाश से मुक्त हो गये हैं, जो हमने ब्रह्म को जान लिया है, यह इसका अर्थ है । जिस प्रकार हम इस ब्रह्म को जान कर इस मरणात्मक विनाश से सम्पक् मुक्त हो गये हैं, इसी प्रकार जो इस ब्रह्म को जान लेते हैं, वह अमृतत्व लाभ कर लेते हैं । “इतरे” यानी ब्रह्मविद् से अन्य अब्रह्मविद्, जो इसे नहीं जानते हैं, “दुःखमेवापियन्ति” यानी वे जन्म-मरणादि लक्षण दुःख को ही प्राप्त होते हैं । अब्रह्मविद् की कभी भी उस दुःख से निवृत्ति नहीं हो सकती—यह इस का अर्थ है । वे दुःखालय यानी कार्यकरणरूपसघात को ही आत्मरूप से ग्रहण करते हैं ॥ १४ ॥

“यदा” अर्थात् फिर जब ‘एतमात्मानम्’ अर्थात् इस हृदयस्य आत्मा को किसी प्रकार परम

- । १ एतम् हृदयस्यम् । २ विनानमिति—तच्चात्र न प्वस अभावे महत्वासभवादपि त्वद्विद्वैव त्वं सा च मरणादिलक्षणा मरणादिजनकतया विनष्टिरित्यभिप्रेत्यत इति स्पष्ट वातिके । ३ स्यात् । ४. य । ५ दुःखालय सघातमिति यावत् । ६ न विवक्षितमिति—बृहदचनेनोपब्रह्म पुनरेव चचनेनोपसहारादिति भाव । ७ साक्षाद्दोषेऽप्यन्वयाय योजनान्तर दर्शयति—न चेदित्यादिना । ८ प्रपञ्चयतीति—स्पष्टप्रति-पत्तय इति भाव । तत्रापि प्रथमपादायं तृतीयपादेन द्वितीयार्थं चतुर्थेनेति विभागः ।

भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५ ॥

'यस्मादर्वाक्सवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । तद्देवा ज्यो-

द्वारा शास्त्र श्रवण के बाद मनुष्य अपरोक्ष रूप से जान लेता है; उस समय अपने को सुरक्षित रखने की इच्छा नहीं करता अर्थात् ब्रह्मवेत्ता को भय के अभाव में सुरक्षा की इच्छा भी नहीं होती ॥ १५ ॥
जिसके नीचे सवत्सर अहोरात्रादि अपने श्रवणों के साथ चक्कर काटता रहना है, उस आदित्यादि

सन्ननु 'पश्चात्पश्यति साक्षात्करोति स्वमात्मानं देवं' द्योतनवन्तं दातारं वा सर्वप्राणि-
कर्मफलानां यथाकर्मणिरूपमञ्जसा 'साक्षाद्वीशानं स्वामिनं भूतभव्यस्य कालत्रयस्येत्येतत् ।
न ततस्तस्माद्वीशानाद् देवादात्मानं विशेषेण जुगुप्सते' गोपायितुमिच्छति । सर्वो हि लोक
ईश्वराद्गुप्तिमिच्छति भेददर्शी । अयं त्वेकत्वदर्शी 'न विभेति कुतश्चन । अतो न तदा
विजुगुप्सते । यद्वीशानं देवमञ्जसाऽऽमत्वेन पश्यति न तदा निन्दन्ति वा 'कंचित् । सर्व-
मात्मानं हि पश्यति य एवं पश्यन्कमसौ निन्देत् ॥ १५ ॥

किञ्च यस्माद्वीशानादर्वाक्सवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । संवत्सरः कालात्मा सर्वस्य

व्याचष्टे—यदा पुनरित्यादिना । उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन (ण) विशदयति—सर्वो हीति । जुगुप्साया
निन्दा येन प्रतिद्वत्वात्कथमवयवार्थमादाय अत्रात्प्रायने रुडिबोगमपहरतोनि न्यायादित्याशङ्क्याऽऽह
—यदेति । तदेवोपपादयति—सर्वमिति ॥ १५ ॥

अथेश्वरस्यापि कालान्यत्वे' सति वस्तुत्वाद्घटवत्कालावच्छिन्नत्वात्प्र कालत्रयं प्रति युक्तमो-
'श्वरत्वमत आह—किञ्चेति । यस्माद्वीशानाद'र्वाक्सवत्सरो' वर्तते तमुपासते देवा इति संबन्धः । ननु

कृपालु किसी आचार्य का पाकर उनको कृपा से शास्त्राचार्य उपदेशानुसार साक्षात्कार कर लेता है
अर्थात् स्वयंप्रकाश या अपने अपने कर्मों के अनुसार सभी प्राणियों को बरम फल देने वाला देव,
'ईशानं भूतभव्यस्य' अर्थात् कालत्रय का स्वामी इस अपनी आत्मा को साक्षत् जान लेता है ।
'न ततो विजुगुप्सते' अर्थात् स्वात्मभूत उस स्वामी और देव से अपने आप को विशेष रूप से सुरक्षित
होने की इच्छा नहीं करता । भेदवादी सभी लोग ईश्वर से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करते हैं । यह
ब्रह्मात्मैक्यदर्शी कहीं भी नहीं डरता । इसलिए यह अपनी सुरक्षा की इच्छा नहीं करता । जब यह
ईशान व देव को साक्षात् आत्मत्वेन देखता है, तब अपने या दूसरे की निन्दा नहीं करता । वह
सब जगह आत्मा ही देखता है, जो इस प्रकार देखने वाला है, वह किसकी निन्दा करे ॥ १५ ॥

द्विमी प्रकार 'यस्माद्' अर्थात् जिस ईशान से 'अर्वाक्' अर्थात् अन्य ही विषय वाला संवत्सर

- १ सवत्सरस्य कालोऽयं न परिच्छिन्नतीत्यर्थं । २ शास्त्राचार्योपदेशानुसारेण । ३ स्वयंप्रकाशम् ।
४ आत्मत्वेन । ५ स्वात्मभूतात् । ६ गोपायितुमिच्छतीति—जानबलादीस्य प्रत्यक्त्वेन प्रतिपन्नतया
स्वनिष्ठेभित्तव्यत्वव्यावृत्तेरिति भावः । ७ विदुषो अभावात् मानमाह—न विभेतीति । ८ क्वचिदिति—
आत्मानं पर वा न गर्हतीत्यर्थं । ९ सवत्सर । १० काले व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् । ११ ईश्वरत्व
१२ अत्रापि घटवदित्यनुवर्तते । १३ अक्षस्तात् ।

तिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ १६ ॥

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।

तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ १७ ॥

ज्योतियों के भी ज्योति स्वरूप अमरधर्मा परमेश्वर को देवता लोग "प्रायु" इस रूप से उपासना करते हैं अर्थात् आयुकाम पुरुष ब्रह्म की आयुरूप गुण के द्वारा उपासना करे ॥ १६ ॥

जिस ब्रह्म में (गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस या ब्राह्मणादि) पाँच पंचजन तथा अग्न्याकृत नामक आकाश भी प्रतिष्ठित हैं; उस आत्मा को ही मैं अधिनाशी ब्रह्म मानता हूँ (उससे भिन्न आत्मा को मैं नहीं जानता) । अतः मैं इसे जानने वाला ब्रह्मवेत्ता अमृत ही हूँ ॥ १७ ॥

जनिमतः परिच्छेत्ता यमपरिच्छिन्दन्नवागिव वर्ततेऽहोभिः स्वावयवैरहोरात्रैरित्यर्थः । तज्ज्योतिषां ज्योतिरादित्यादिज्योतिषामप्यवभासकत्वादायुरित्युपासते देवा अमृतं ज्योतिरतोऽन्यन्मिथ्यते न हि ज्योतिः । सर्वस्य ह्येतज्ज्योतिरायुः । प्रायुर्गुणेन' यस्माद्देवास्तज्ज्योतिरुपासते तस्मादायुष्मन्तस्ते' ५ तस्मादायुष्कामेनाऽऽ(रा)ऽऽयुर्गुणेनोपास्यं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ १६ ॥

किञ्च यस्मिन्पञ्च ब्रह्मणि पञ्च पञ्चजना गन्धर्वादयः पञ्चैव संख्याता गन्धर्वाः

कयं संवत्सरोऽर्वागित्युच्यते कालस्य 'कालान्तराभावेन पूर्वकालसंघ्नाभावादत आह—यस्मादिति । अन्ययस्तु पूर्ववत् । आत्मज्योतियो गुणमायुष्ट्वलक्षण स्पष्टयन्नुपासकस्य फलमाह—सर्वस्येति । यथोक्तोपासने देवानामेवाधिकारो विशेषवचनादित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ॥ १६ ॥

ज्योतिषां 'ज्योतिरमृतमित्युक्तं तस्यामृतत्वं सर्वाधिष्ठानत्वेन साधयति—किञ्चेति । एषका-

है; संवत्सर कालात्मा है जो सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थों का परिच्छेत्ता है, "अहोभिः परिवर्तते" वह उसका परिच्छेद न करता हुआ अहोरात्र रूप अपने अवयवों के द्वारा उससे नीचे ही रहता है । आदित्यादि ज्योतियों के भी प्रकाशक होने से उन ज्योतियों की ज्योति को देवगण 'प्रायु' इस प्रकार उपासना करते हैं । वह ज्योति अमृत है; इससे भिन्न जो मरणमाव को प्राप्त होती है; वह ज्योति नहीं है । यह ज्योति सबकी प्रायु है क्योंकि देवता लोग इस ज्योति की प्रायुरूप गुण के कारण उपासना करते हैं, इसी से वे प्रायुष्मान् प्रसिद्ध हैं । इसलिए प्रायुष्काम को 'प्रायु' गुण वाले इस ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये ॥ १६ ॥

तथा "यस्मिन्" अर्थात् जिस ब्रह्म में पाँच पञ्चजनसञ्ज्ञक हैं, गन्धर्वादि पाँच गिनाये गये

१. यस्मिन् ब्रह्मणि पूर्ववाक्योक्तपट्टपन्तज्योतिष्य सह प्राणैश्चु श्रोत्र मनश्चेति पञ्च पञ्च सङ्ख्याताः पञ्चजनाः पञ्चजनसञ्ज्ञकाः प्रतिष्ठिताः आकाशस्याङ्कितस्य सूत्रापरभूत प्रतिष्ठितः समेवात्मानं ब्रह्मामृतं विद्वानहममृत इति मन्ये इत्यर्थः ।
२. प्रायुरित्येवमनुसदर्थतः ।
३. विद्विद्वत् ।
४. प्रसिद्धाः ।
५. तस्मात्—प्रायुष्गुणैर्ब्रह्मोपासनायाः प्रायुष्पत्त्वपत्त्वस्यैव प्रसिद्धत्वात् ।
६. एतत्सजना ।
७. पूर्वकालेत्यादिनाऽन्वयः ।
८. ब्रह्म ।

ॐ 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं
मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्वुर्ब्रह्म पुराण-
मग्रचम् ॥ १८ ॥

(ब्रह्म की शक्ति से अघिष्ठित नेत्रादि में दर्शन सामर्थ्य होने से) जो उस ब्रह्म को प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र वा श्रोत्र, मन वा मन जानते हैं; वे ही उस पुरातन तथा प्रागे रहने वाले ब्रह्म को जानते हैं ॥ १८ ॥

पितरो देवा असुरा रक्षांसि निपादपञ्चमा वा वर्णा आकाशश्चाव्याकृताख्यो यस्मि-
न्सूत्रमोत' च प्रोतं च । 'यस्मिन्प्रतिष्ठित' एतस्मिन्नु खत्वक्षरे गार्गाकाश इत्युक्तं
तमेवाऽऽत्मानममृतं ब्रह्म मन्येऽहं न चाहमात्मानं ततोऽन्वत्वेन जाने । 'किं तह्यं' मृतोऽहं
ब्रह्म विद्वान्मत्प्रजानमात्रेण तु मर्त्योऽहमात्तं 'तदपगमाद्विद्वानहममृत एव ॥ १७ ॥

किंच तेन हि चैतन्यात्मज्योतिर्पाऽवमास्यमानः 'प्राण आत्मभूनेन 'प्राणिति 'तेन
प्राणस्यापि प्राणः "स तं प्राणस्य प्राणम् । तथा चक्षुषोऽपि चक्षुरुत श्रोत्रस्यापि श्रोत्रम् ।

रायमाह न चेति । यद्यात्मानं ब्रह्म जानासि "तहि किं ते तद्विद्याफलमिति प्रश्नपूर्वकमाह
—किं तर्हीति । कथं "तहि ते मर्त्यत्वप्रतीतिस्तत्राऽह—अज्ञानमात्रेणेति ॥ १७ ॥

प्रकृताः पञ्चजनाः पञ्च "ज्योतिषा सह प्राणादयो वा स्युरित्यभिप्रेत्याऽह—किंचेति ।

है, गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निपाद; ये पाँच
है तथा अव्याकृतसञ्ज्ञक आकाश जिममे सूत्र ओत-प्रोत है, मानी जिसमे यह सब प्रतिष्ठित हैं । श्रुति
भी कह चुकी है—"हे गार्गी । इस अक्षर मे ही आकाश ओत-प्रोत है, उसी आत्मा को मैं अमृत ब्रह्म
मानता हूँ," अर्थात् मैं आत्मा को उससे भिन्न नहीं जानता । उसका फल तुम्हें क्या मिला ? उस ब्रह्म
को जानने से मैं अमृत हो गया हूँ, मैं अज्ञान मात्र से ही अपने को मरणधर्मा मान बैठा था, अज्ञान के
निट जाने पर मैं विद्वान् अमृत ही हूँ ॥ १७ ॥

तथा उस आत्मभूत चैतन्यात्मज्योति से सत्ता-स्फूर्ति प्राप्त करता हुआ प्राण (जब होता हुआ
भी) प्राणन त्रिधा करता है प्राण के अद्वभासक होने से वह प्राण का भी प्राण है । उस प्रत्यगात्मा को

१ प्राणितोति—प्राणनत्रिधा करोतीत्यर्थं । २ कल्पितमिति यावत् । ३ स । ४ तत्र प्रमाणमाह—
एतस्मिन्निति । ५ वृ उ ३ ८ ११ । ६ किं तर्हीति—आत्मनि ब्रह्मत्वेन निश्चिते सति किं ते फल
जातमिति प्रश्नार्थं । ७ अज्ञानापगमात् । ८ सत्तास्फूर्तिं प्राप्यमाण । ९ ज्योतिषि सत् । १०-
प्राणितोति—प्राणनक्रिया करोतीत्यर्थं । ११ प्राणावभासकत्वेन । १२ प्रत्यगात्मा । १३ ब्रह्मज्ञाने
सति । १४ अमृतत्वे सति । १५ वृ उ ४ ४ १३ इति मन्त्रोक्तपशुपन्तज्योतिषा सहेत्यर्थः ।

ॐ प्राणस्य प्राणमिति । अत्राहुर्वातिवार्थास्तथाहि—"यत प्राणादिभावोऽप्य प्राणादीना तमेव ये । निचिक्वुस्ते
विदुः साधादग्र्य ब्रह्म सनातनम् ॥ निरपेक्षात्मनैवेह सर्वस्याऽऽत्मभवतो यत प्राणादेरात्मवत्ता स्यात्प्राणस्य प्राण-
मित्यत ॥ अनात्मा हि स्वतोऽसिद्धमस्वत सिद्धमपेक्षते । आत्मनस्तु स्वत मिद्धेनपि साऽनात्मसम्भवात् ॥ अन्वत्-
संगति' सेयमभिचारितसिद्धिना । अविद्योस्तद्भ्रंसस्यैव तत्त्वज्ञानाद्विनश्यति ॥ अकार्यावधारणार्थैव कार्यकारण-

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन । मृत्योः
स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १६ ॥

(परमार्थं ज्ञान से शुद्ध) मन के द्वारा ही आचार्य उपदेशपूर्वक ब्रह्म को देखना चाहिए । उस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं है, फिर भी जो उसमें नाना के समान दखता है, वह मरण से मरण को प्राप्त करता है अर्थात् अज्ञान के कारण ही उसे बार-बार मरना पड़ता है ॥ १६ ॥

ब्रह्मशक्त्यधिष्ठितानां हि चक्षुरादीनां दर्शनादिसामर्थ्यं न स्वतः काष्ठलोष्टसमानि हि तानि
चैतन्यात्मज्योतिःशून्यानि । मनसोऽपि मन इति ये विदुश्चक्षुरादिव्यापारानुमितास्तित्वं
प्रत्यगात्मानं न विषयभूतं ये विदुस्ते निचिक्वुनिश्चयेन ज्ञातवन्तो ब्रह्म पुराणं चिरंतन-
मप्रथमग्रे भवम् । “तद्यदात्मविदो विदुः” इति ह्याथर्वणे ॥ १८ ॥

कथं चक्षुरादित्वं ब्रह्मणः सिध्यति तत्राऽऽह—ब्रह्मशक्तीति । 'विमतानि केनचिदधिष्ठितानि प्रथमं ते
करणत्वाद्वास्यादिविदिति चक्षुरादिव्यापारेणानुमितास्तित्वं प्रत्यगात्मानं ये विदुरिति योजना
विदिक्रियाविषयत्वं व्यावर्तयति—नेति । प्रत्यगात्मविदां कथं ब्रह्मवित्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह
—तदिति ॥ १८ ॥

जो प्राण का भी प्राण तथा चक्षु का भी चक्षु और श्रोत्र का भी श्रोत्र जानते हैं क्योंकि ब्रह्म की शक्ति
से अधिष्ठित चक्षुरादिको मे दर्शनादि का सामर्थ्य है, स्वतः नहीं । चैतन्यात्मज्योति से अनधिष्ठित वे
काष्ठ या लोष्ठ के समान हैं । वह प्रत्यगात्मा मन का भी मन है, ऐसा जो जानते हैं अर्थात् चक्षु आदि
के व्यापार से जिसकी सत्ता की अनुमिति होती है, उस प्रत्यगात्मा को जो “वह इन्द्रियो का विषय
नहीं है” ऐसा जानते हैं—वे उस “पुराणम्” अर्थात् चिरन्तन तथा “मप्रथमम्” यानी प्रागे होने वाले
ब्रह्म को “निचिक्वुः” अर्थात् निश्चयपूर्वक जानते हैं । इसी को आथर्वण मुण्डक श्रुति बतलाती है
—“जिसे वह ब्रह्मात्मैवविद् जानते हैं” इत्यादि ॥ १८ ॥

१ तदनधिष्ठितानि । २ मु० उ । ३ प्राणादीनि ।

वस्तुन । तत्त्वमुक्त पृथिव्यादेर्नभोजन्तस्याक्षर परम्” ॥ ६४३-६४७ ॥ इति । पूर्वमन्त्रे विद्वान्ब्रह्मोक्त सा विद्या
कथं स्यादित्यपेक्षाया यथा त्वपदार्थविदा वाक्यार्थधीरूपा सोदेतीत्येतमर्थं प्राणस्येत्यादिर्मन्त्रो दर्शयतीत्यर्थं ॥
प्राणादीना प्राणादित्वं किमित्यात्मकृत स्वाभाविकमेव चैतन्यवर्तिक न स्यात्तत्राऽह—निरपेक्षेति । आत्मा-
नात्मनोमध्ये प्राणादेरनात्मन सर्वस्याऽऽत्मवत् स्वार्थेनाऽऽत्मनैव यस्मादात्मवत्ता तस्मात्प्राणस्य प्राणमित्यादि-
वाक्यं युक्तमिति योजना ॥ विचानात्मा जाडपात्र स्वतः स्फुरत्यनात्मत्वाच्च न स्वतोऽस्त्यत सन्त स्फुरन्त
चाऽऽत्मानमपेक्ष्यासौ सिध्यतीति प्राणादीना प्राणादित्वं तद्वत् युक्तमित्याह—भनात्मेति । उक्तहेतुद्वयमिदं प्रथमं
हि शब्द । आत्मनोऽपि तुल्य सापेक्षत्व स हि विषयसंविदाश्रयत्वेन सिध्यति तत्कथमात्मना प्राणादेरात्मवत्त्वमत
प्राह—अन्यत इति । आत्मानात्मसंबन्धस्य कल्पितत्वफलमाह—तत्त्वेति ॥ ततश्चेत्तत्त्वप्रतिनिश्चयति तौ तर्हि
विरिल्लो स्वतन्त्रौ स्यातामित्याशङ्क्य पाञ्चमिन् स्मारयति—प्रकार्येति ॥

'तद्ब्रह्मदर्शने साधनमुच्यते' मनसैव परमार्थज्ञानसंस्कृतेनाऽऽचार्योपदेशपूर्वकं

मनसो ब्रह्मदर्शनसाधनत्वे कथं ब्रह्मणो वाङ्मनसातोतस्वश्रुतिरित्याशङ्क्याऽऽह—परमा-
र्थेति । केवलं मनो ब्रह्माधिपद्योक्तुं वदपि श्रवणादिसंस्कृतं तदाकारं जायते 'तेन द्रष्टव्यं' तदुच्यतेऽत
एव श्रुतिव्याप्यं ब्रह्मस्युपगच्छन्तीति भावः । अनुशब्दायंमाह—प्राचार्येति । द्रष्टुं द्रष्टव्यादि-

उक्त ब्रह्मदर्शनं का साधन निरूपितं विद्या जाता है । (अन्य साधनों को छोड़) परमार्थज्ञान
में संस्कृत मन से ही आचार्योपदेशपूर्वक उसका दर्शन करना चाहिये । उक्त दर्शनविषयक ब्रह्म में नाना

१. ते निचिष्युर्ब्रह्मैत्युत्स्य ब्रह्मणो दर्शनोपायः क इत्यपेक्षायामाह—तद्ब्रह्मेति । २. मनसैवेत्येवकारः
व्याशेषयति । तदुक्तम्—“ब्रह्मदग्ने धतत्त्वेयं मनसैवेति च श्रुतिः । मनोऽतिरिक्तोऽपेक्षा नैवातः साधनान्तरे” ॥
इति । “मनसैवेदमाप्तव्यमिति” श्रुत्यन्तरसमुच्चयार्थश्रवणः । साधनान्तरानुपलम्बं ममुच्चेत् द्वितीयम् । ३.
तदाकारेण मनसा । ४. ब्रह्म ।

ॐ मनसैव परमार्थज्ञानसंस्कृतेनेति । मनसो ब्रह्मदर्शनसाधनत्वे विषयमान प्रत्याह्वयति काचार्यास्तथाहि—
“धात्मानात्मपदार्थेषु विज्ञानोत्पत्तिसाधनम् । मनः साधारणं दृष्ट सर्वज्ञानकहेतुतः ॥ प्रत्यविषयदृष्टिस्तत्र
सर्वदा धर्मधर्मिणो । हेत्यन्तरानपेक्षत्वादात्मत्वात्तन्निधेः सदा ॥ धारमाकृतिरतो नित्या तद्वतोः सभवात्सदा ।
ध्रजानादेभ्यं चिद्रूपं तस्याध्यात्म्यान् धार्यते ॥ धर्माधर्मौघपेक्षत्वादन्यत्वाच्चान्यवस्तुनः । शब्दाद्याकारता तस्मा-
त्कादाचित्की विद्यो भवेत् ॥ यद्यपीमो जगत्स्मिन्नात्मज्ञानयुक्तसरोः । शब्दाद्यनात्मविज्ञानभावाभावो
स्वभावतः ॥ तथाऽन्यनुभवविधेयं प्रत्यक्षत्वानभिज्ञता । धनात्मनोऽवतिष्ठत्वाऽविज्ञातः प्रत्यगात्मनि ॥ उत्पन्न-
स्यापि चोत्तरति कृपाकाशादिवत्तत । प्रत्यग्यायात्म्यरोधस्य व्युत्पत्तेश्चैकान्ततः” ॥ ६५०-६५६ ॥ इति ।
धात्मज्ञाने मनस साधनत्वं नास्मत्साध्यं तस्य सर्वज्ञानसाधारणकरणत्वस्य सर्वैष्टवादित्याह—धाम्मेति । मनसः
साधारणकरणत्वस्यैष्टवे हेतुमाह—सर्वेति । सर्वत्र ज्ञानहेतूना मध्ये मनसोऽप्यतमत्वेन हेतुत्वादिति यावत् ॥
मनश्चेदनात्मज्ञानवदात्मज्ञानेऽपि साधनं तर्हि तद्गम्यत्वादात्मनोऽपि जाड्यथापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यगिति ।
धर्मिणो बुद्ध्यादेस्तद्वर्त्मस्य च ज्ञानादे सदा विदाभासव्याप्तिरस्ति तस्य स्वरूपनाभातिरेकेण चिद्ब्रह्मज्ञाने हेतु-
न्तरानपेक्षत्वात्तथा च तस्मिन्बुद्ध्यादी साधकत्वात्प्राऽऽत्मनो जाड्यमित्यर्थः । उक्तं हेतु साधयति—धात्मत्वा-
दिति । बुद्ध्यादे स्वरूपत्वेन सदा विदात्मनस्तत्र ज्ञानिधानादित्यर्थं ॥ न केवलं बुद्धिस्तद्वर्त्मयोरेव सदात्म-
विदाभासः किन्तु सर्वस्येत्याह—धाम्मेति । धत, सभवादिति सबन्धः । सर्वस्याऽऽत्माकारो नित्यस्तत्र हेतोरान्त-
रनिधेः सर्वत्र नित्यभावादस्य सर्वस्य प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः । कथं सर्वस्याऽऽत्माकृतिरित्या सदायादेस्तदभावादित्या-
शङ्क्याऽऽह—ध्रजानादेश्चेति । तस्याध्यात्म्यात्सर्वैव चिदातोऽज्ञानादिवस्वरूपत्वादतिरिक्तत्वाभावादिति यावत् ।
धात्मप्रसादादेव सर्वस्य सत्ता स्फूर्तिरन्येष्यात्मनो न जाड्यं तद्दर्शने मनस साधनत्वोक्तिरनु सदा तदाकारस्य तस्य
श्रवणादिसंस्कारापेक्षया कादाचित्कतद्रूपपरिणामधारित्वादिति वार्तिकयोस्तात्पर्यार्थः ॥ सर्वधीसाधारणस्य
मनस किमित्यात्माकृतिरित्येति विशेष्यते तस्याऽऽत्माकृतिरपि तथेत्याशङ्क्याऽऽह—धर्मोति । मनस शब्दाद्या-
कारता न नित्याऽऽत्मापेक्षत्वात्तदाकारताया शब्दादेरप्रत्यक्षतया मनसि सदासानिध्याभावाच्च तस्मादननात्मा-
कृतिर्न नित्येत्यर्थः ॥ मनस शब्दाद्याकृतेरनित्यत्वेऽपि सर्वस्याऽऽत्माकारो नित्यश्चेदात्मस्फूर्तिपूर्वकत्वात्तन्व्यव्या-
धिज्ञानभावाभावयोनित्याज्ञानं कदाचिदपि मनश्चेदात्मस्फूर्तिव्याप्तमनोवृत्त्या तपि वृत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति ।
धनात्माकारधी वृत्तिभावाभावयोरान्तर्धन्यव्याप्तत्वेऽपि तस्वभावादिभावयोर्व्युत्पत्तिरितिरेव।इयप्रत्यक्षमात्माकारा
तदविद्यामपनुदिति वृत्त्यन्तरं विदाकारमन्याकारान्तरोद्ग्राहित्वात् तामपनेतुमर्हति तस्मात्प्रतीच्यज्ञानमनुभवसिद्ध

वानुदृष्टव्यम् । तत्र च दर्शनविषये ग्रहाणि ऋनेह नानाऽस्ति किञ्चन किञ्चिदपि । असति नानात्वे नानात्वमध्यारोपत्यविद्यया । स मृत्योर्मरणमृत्युं मरणमाप्नोति । कोऽसौ ।

भायेन भेदमानुष्याऽऽत्—तत्र चेति । 'एवकारार्थमाह—नेहेति । कथमारमनि वस्तुतो भेद-
रहितेऽपि भेदो भासोऽप्यानुष्याऽऽत्—असतीति । नेहेत्याद्यैः सपिच्छित्तमर्थं कथयति

"किञ्चन" अर्थान् कुछ भी नहीं है । नानात्व के न रहने पर भी अविद्या से उसमें नानात्व का जो
मध्यारोप करता है ; वह "मृत्योः मृत्युमाप्नोति" अर्थात् मरण से मरण को प्राप्त होता है । वह बीज

१. एवकारार्थमाहेति—एवकारस्य बोधोऽवधारणरूपसतमाहृत्यर्थं । उत्तरवाक्ये अपिचान्वयोजनया द्रष्टृद्रष्ट-
व्यादिभेदाभावमयकारणमतीति यावदिति गृहपादा । यद्वा एवकारार्थमिति—मनसैवेत्येवकाररूपित द्रष्टृद्रष्ट-
व्यादिभेदाभावमित्यर्थं । मानसैवेत्येवकारेण हि द्रष्टृद्रष्टव्यभावो मनःप्रयुक्त एवात्मन्योपाधिको न वस्तुतः इति
गूष्यत इत्यतम् । एवकारस्यैवकारार्थं कत्वम् "एवा न इन्द्रोऽतिथिभिः" ऋ. ५। ३३. ७ इत्यादि वेदे इत्यते
सदाश्रित्याह—एवकारार्थमिति । यद्वा ननु मनसैवानुद्रष्टव्यमित्युक्तं कथं द्रष्टव्यमिति दर्शनप्रकारस्तु नोक्त इत्य-
पेक्षायां मनसैवेत्येवकारोऽमेवकारार्थं को निश्चयमत्र किञ्चनेत्यनन्तरानुपपत्तिरियमिष्टेत्य तदर्थपरम् (एवकारार्थ-
पर) भाष्यमवधारयति—एवकारार्थमाहेति । एवकारस्यैवकारार्थं कत्वमाह स्म वाचस्पतिः । 'एवमित्यर्थं चेति
उदाहरणं धात्र वैदिक वाक्यम् "एवा न इन्द्रो ति(थि)भिरिति" ऋ. ५। ३३. ७ । एवा एवम् । भा०—मन-
सैवेत्येवकारोऽमेवकारार्थं प्रत्यु इत्यादिवहीयं इति च । न चात्रैव दर्शनप्रकारस्य प्रदत्तस्यै सत्येकधैवानुद्रष्टव्यमित्युत्तर-
प्रददर्शनस्यैवमित्यिति दान्द्रष्टव्यम् एवकारार्थमिति विधिमुनेन प्रकारप्रदर्शनमिदं तु नियममुद्येनेति विधेयात् । यद्वा एव-
कारार्थमिति मनसैवेत्येवकाररूपित द्रष्टृद्रष्टव्यभेदाभावमित्यर्थं । मनसैवेत्येवकारेण हि द्रष्टृद्रष्टव्यभावो मन-
प्रयुक्त एवामनि प्रतिभाति न वस्तुतः इति गूष्यत इत्यतम् ।
('एवकारार्थमिति—मनसाऽनुद्रष्टव्यमिति पदत्रय व्याख्यायावशिष्टमित्यादि) ।

दुरपल्लवमित्यर्थः ॥ अनुभवप्राप्तमर्थं निगमयति—अनात्मति । अत दान्द्रोऽनुभवार्थं ॥ भवतु प्रतीक्ष्यज्ञान तथाऽपि
सप्रिवर्तते न वा न धनमिहोऽसौ निवर्तते चेप्रिवर्तकमस्ति न वा न चेत्सदा निवृत्तिरस्ति चेत्किं कर्म ज्ञान वा
नाऽऽद्योऽनुभवप्राप्तमाद्द्वितीयोऽपि स्वरूपज्ञान ज्ञानान्तरं वा नाऽऽत् यद्वा निवृत्त्यनिवृत्त्योरन्यतरापत्ते प्रवणदि-
वैषम्यप्रसङ्गाज्ज्ञानान्तरमपि अहमजहं वाऽऽत्ते नामान निवर्तयेदविरोधाद्द्वितीयोऽपि सदात्मनोऽर्थात्तरं चेदपरादान्त
धारस्यैव चेत्तस्यापि षादाचित्कत्वप्रसङ्गि स्वरूपज्ञानपक्षोक्तोदोषद्वेषयोराऽऽत्—उपपन्नस्येति । यथा नित्य-
सिद्धस्यैवाऽऽज्ञायास्य नृपाद्यवच्छिन्नममोत्वत्तिस्तथा प्रत्यग्यायात्स्वरूपबोधस्य सदात्मधारमकस्यापि शास्त्रा-
चार्यैश्चलादहमस्मि ब्रह्मतिथीवृत्त्युत्पत्तेरनन्तरं तदुपहितस्यैवोत्पत्तिरिष्टा ततश्च स्वरूपज्ञानरथैव चावयोत्पधीवृत्त्यु-
पहितस्याविद्याध्वंसं सित्वोपगमात्प्रवचमित्यर्थं ॥

ऋनेह नानास्ति किञ्चन किञ्चिदपीति । अनादुर्वात्किंकारपादास्तथाहि—'इदं चेन्मनसैवेत्तद्द्रष्टृत्वादिप्रभेदतः ।
पुनः प्रसवत नानात्व भेद यस्मान्प्रियच्छ्यते ॥ नेह प्रमाणतो मय यस्माप्राप्ताऽस्ति किञ्चन । अज्ञात यदि वा ज्ञात
वस्तु नानात्वमाह न हि ॥ नानात्वबुद्धये नालममिहोऽर्थो यतस्ततः । अज्ञात सद्यज्ञातो मिथ्याज्ञातो न भित्तये ॥
सम्यग्ज्ञातोऽपि नीचायो ह्येतयोश्चद्विषयः । ह्येतवारणबाधेन साम्यज्ञातत्वसिद्धितः ॥ भेदव्याप्तिश्च मानाना नान्य-
व्यावृत्तिवर्त्मना । व्यावर्त्येवपि सतसक्तेर्न चापि सभतेऽवपिम् ॥ भेदेनैव समासत्वात्ततोऽप्या व्यापृतिर्न च । मातो
वस्तुवन्तरव्याप्तिं व्यावृत्तिं चाऽऽनुति प्रमा । व्यावृत्तौ व्याप्यवस्तुत्वात्त यद्वस्तूपलम्बनैः । प्रमायोरपि सवन् प्रत्यस-

य इह 'नानेव पश्यति । अविद्याध्यारोपणव्यतिरेकेण नास्ति परमार्थतो द्वैतमित्यर्थः ॥ १६ ॥

—प्रविद्येति ॥ १६ ॥

हे ? जो यहाँ मिथ्याभूत नाना वस्तु को सत्यस्वरूप से देखता है । अविद्याजनित अध्यारोप से भिन्न

१ मिथ्याभूत नानावस्तु सत्यत्वेन पश्यतीत्यर्थ । २ प्रविद्येति—“प्रज्ञानप्रभवा लोका वादाभ्याज्ञानसभवा । विदितारमसत्त्वस्य नेह नानाऽस्ति किंचनेति” म्भूते ॥

प्रमुखं वचिच्छ ॥ अभावमात्रबोधित्वाभावावादिषु भेदधी । भावाभावावभावेन प्रत्यक्षेणैव देशते ॥ योऽपि प्रत्यक्षतोऽभाव वादी कश्चित्समीक्षते । तावन्भावावसायित्वाद्द्वैत नासावपीक्षते ॥ प्रत्यक्षस्यानुवृत्ति च व्यावृत्ति तद्भूदा च स । प्रत्यक्षेणैव स पश्येत्कथमित्यभिधीयताम् ॥ यतो मान न हीहास्ति नानात्वप्रतिपत्तये । सकापर्यवदत्तस्त्यादविचारितसिद्धिबन्धम् ॥ अज्ञातवस्तुहेत्वव यस्मान्नाना तताऽवदत् । मृत्यो स मृत्युमान्पीति योऽत्र नानव पश्यति । १५८-६६६ ॥ इति । नेहेत्यादिव्यावर्त्या शङ्कामाह—इय चेदिति । न ब्रह्मात्मनि नानात्वं तस्य निषिध्यमानत्वादित्याह—मैवमिति ॥ निषेधमव ददायन्वाक्य योजयति—नेहेति । तस्मात् द्वैत-प्रसक्तिरिति शेष । प्रतिषेध प्रपञ्चयति—अज्ञातमिति ॥ अज्ञात वस्तु वस्तुन सबाधाद्वस्तुतो न नानात्वनागित्येतत्साधयति—नानात्वेति । मानेनापृहीतस्य भेदो न प्रामाणिक इत्यर्थ ॥ ज्ञात वस्तु वस्तुतो न नानात्व-भागित्युक्त व्यनक्ति—सम्यगिति । प्रत्यगर्थो हि शास्त्राचार्यैकधाद्यथावदधिगतो न भेदज्ञानं करोति नानात्व-हेत्वज्ञाननिरासेन तस्य सम्यग्ज्ञातत्वादित्यर्थ ॥ ज्ञातमज्ञात वा वस्तु न नानात्वभाक्चेत्यव प्रत्यक्षादीनि नानात्व-मुन्निखतीत्याशङ्क्य विधिमुखेन निषेधमुखेन वा तानि नानात्व गोचरच्यतीति विकल्प्य द्वितीय प्रत्याह—भेदेति । षट् पटो नेत्ययनिवृत्तिद्वारा मानाना न भेदव्याप्ति पटादिषु व्यावर्त्यैष्वप्यन्यव्यावृत्तिप्रसक्तनं सा वचिच्छिद्राम्येदतो न निषेधद्वारा मानप्रवृत्तिरित्यर्थ ॥ कल्पान्तर निरस्यति—भेदेति । ततो वस्तुबोधनादिति यावत् । वस्तुभावबोधनेनैव मानानामुपशीलत्वात् भेदाभेदगोचरतेत्यर्थ ॥ व्यापारान्तराभावोऽत्र-शब्दार्थः ॥ किंचान्यव्यावृत्तिरेव भेदोऽर्थान्तर वा प्रथमे भेदस्य प्रत्यक्षादिप्राप्तत्वानुपपत्तिरित्याह—व्यावृत्तेश्चेति । व्यावृत्ति-वत्तन्तमूर्तभेदस्यावस्तुत्वमपेक्ष्यं । वचिच्छिति देशकालविषयोक्तिः ॥ प्रत्यक्षादिपञ्चवस्य व्यावृत्त्यवधिष्वेऽपि षड् मान ता बोधयित्वात्येते भेदस्यापि प्रामाणिकतेत्यासाङ्क्याऽह—अभावेति । योग्यानुपलब्धेरभावमात्र-बोधित्वान्न ततो भावरूपभेदधीर्न हि भेदोऽन्यव्यावृत्तिरेव तथा सति तदवस्तुत्वेनाद्वैतापात्तावेतेन कल्पान्तरमपि प्रत्युक्त व्यावृत्तिरिक्तभेदे मानाभावादिति भाव । अभावस्याभावमानमेतदवमङ्गीकृत्य भेदस्याप्रामाणिकत्वमुक्त सप्रत्यङ्गीकार इत्यति—भावेति । अभावश्चेदभावेन गृह्यते भावोऽपि तेन गृहीतव्यस्तयोर्धर्मधर्मित्वान हि धर्मिन्यगृह्यमान तद्धर्मं गृह्णाति न च शब्दादेराकामाद्यगृहेऽपि धोत्रादिप्राप्त्या लप्तेति वाच्य तत्रापि विप्रति-पत्तेश्चत्वत्वाद्दृष्टिभावानुसारे च योक्तिकत्वव्याघातान चभावेन मानेन भावाभावा कश्चिदपि निश्चिनोति यथा प्रत्यक्षेण भावे गृह्यमाणोऽपि नानावो गृह्यते तथाऽभावेनापि नोभयग्रह स्वयमतो प्राहृत्वायोगात्समादभावस्य न तद्प्राप्तताऽपीत्यर्थ ॥ प्रत्यक्षाभाववादिपक्षे दृष्टा तासिद्धिमाशङ्क्याऽह—योऽपीति । तन्मतेऽपि प्रत्य-क्षस्यान्यव्यावृत्तिरूपाभावमात्रविषयत्वान् भेदविषयतेत्याह—ताव मात्रेति ॥ अभावस्य धर्मप्रतिषोधि-पटित्वात्तद्ग्राहि प्रत्यक्ष कथ न भेद गृह्णातीत्यासाङ्क्याऽह—प्रत्यक्षस्यति । भेदवादी सर्वान्माना पटा-मृश्यते । समुपसगस्तु त्रियापदेन योजनीय । तस्य विषयव्यनुवृत्तिस्तेष्वो व्यावृत्तिरन्तरभेदवचेत्ये-

एकधैवानुद्भूटव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् । विरजः पर
आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥ २० ॥

आचार्योपदेश के बाद उस ब्रह्म को (आकाश के समान अन्तर बाह्य शून्य एक मात्र विज्ञान-
पनरूप से ही) देखना चाहिए । यह ब्रह्म किसी प्रमाण का विषय नहीं, ध्रुव, निर्मल, आकाश से भी
सूक्ष्म, प्रअन्मा, आत्मा, महान् पीर अविनाशी है ॥ २० ॥

यस्मादेवं तस्मादेकधैवं केनैव प्रकारेण विज्ञानघनं करसप्रकारेणाऽऽकाशवन्निरन्त-
रेणानुद्भूटव्यम् । यस्मादेतद्ब्रह्माप्रमयमप्रमेयम् । सर्वैकत्वात् । अन्येन ह्यन्यत्प्रमीयत इवं
त्वेकमेवातोऽप्रमेयम् ध्रुवं नित्यं कूटस्थमविवालोत्पथः । ननु विरुद्धमिदमुच्यतेऽप्रमेयं

द्वैताभावे कथमनुद्भूटव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति । तमेवंकं प्रकार प्रकटयति—विज्ञा-
नेति । परिच्छिन्नत्वं व्यवच्छिन्नमिति—आकाशवदिति । एकरसत्वं हेतुकृत्याप्रमेयत्वं प्रतिजानीते—यस्मा-
दिति । एतद्ब्रह्म यस्मादेकरस तस्मादप्रमेयमिति योजना । हेत्वर्थं स्फुटयति—सर्वैकत्वादिति ।
'तयाऽपि कथमप्रमेयत्वं तदाह—अन्येनेति । 'मियो विरोधमाशङ्कते—नन्विनि । विरोधमेव स्फोर-

परमार्थत द्वैत नहीं है—यह इसका भाव है ॥ १८ ॥

व्योक्ति ऐसा (प्रत्यगभिन्न ब्रह्म से परमार्थतः द्वैत का अभाव) है, इसलिए "एकधैव"
अर्थात् एक ही प्रकार से यानी आकाश के सदृश निरन्तर उस ब्रह्म को विज्ञानघन, अद्वितीय, रस रूप
से देखना चाहिये व्योक्ति यह ब्रह्म "अप्रमयम्" यानी सर्वाभिन्न अद्वितीय होने से अप्रमेय है । अन्य से

१ यस्मादिति—यस्मात्प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि परमार्थतो द्वैताभावस्तस्मादित्यर्थः । २ एकेनैवेति—इत्यभावे
तृतीया । तथा चोक्तं वातिके—“एकेनैव प्रकारेण भास्वच्चिन्मात्ररूपिणा । शास्त्रैकमानतो ब्रह्म
द्रष्टव्यं प्रत्यगात्मना” ॥ ६७४ ॥ इति । ३ सर्वैकत्वात्—सर्वाभिन्नत्वात् सर्वात्मकत्वादद्वैतत्वादिति यावत् ।
४ अद्वितीयमिति यावत् । ५ सर्वैकत्वेऽपि । ६ मिय इति—द्रष्टव्यमप्रमेयमिति पद्योरित्यादि ।

सप्ताध्यधगोचरोदात्त स्वग्रहार्पणं च तद्ग्राहि मानान्तरमनवस्थानादातो नाध्यक्षं विषयभेदमपि साधये-
त्तस्मादग्रहीतभेदत्वात्तद्वदित्यर्थं ॥ न किंचिदपि प्रत्यक्षतो मानात्वभाषीत्युक्तत्वा मानान्तर मानात्वावेदक-
मित्याशङ्क्याऽऽह—यत् इति । इहेति वस्तुक्ति ॥ नेहेत्यादि व्याख्याय भृत्योरित्याद्युक्तमुपजीव्याऽऽदत्ते—
अज्ञातेति । समभो पूर्ववत् ॥ अनन्तरं वातिकचतुष्टयमपि द्रष्टव्यं तथाहि—'तमस्तत्त्वस्तार्थादृष्टैकधैवेतिवाक्यत ।
मिथ्येति गम्यते श्रीतान्मृत्योरिति च निन्दनात् ॥ एतदप्रमयं ब्रह्म मृत्युहेतोर्निषेधनात् । मृत्युर्वं तम इत्युक्तं तच्च
बोधान्निराकृतम् ॥ एकधैव यतस्तत्त्व सर्वस्य जयतस्तत् । क्रियाकारकसंभेदधीर्मुपेत्यवधायताम् ॥ यत्र हि द्वैत-
मित्येव यत्र त्वस्येति च श्रुति । मानात्वरुष्टेर्मिथ्यात्व स्वयमेवावदत्पुरा” ॥ ६७५ ६७८ ॥ इति । वाक्यस्य
श्रोतार्यंमुक्तत्वाऽऽधिकार्यंमाह—तमस्तेति । तत्रय भेदवृत्त्यपवादस्यानुग्राहकत्वमाह—श्रीतादिति ॥ एतदित्या-
देस्तापर्यमाह—एतदिति । जन्ममृत्युप्रमुखसर्वबन्धहेत्वज्ञानस्य वाक्योत्पन्नानेन निषेधात्तरय वस्तुवोधित्वाभावा-
द्दुस्तुनो युक्तममेयत्वमित्यर्थं । मृत्युरेव हिरेण्यगर्भाह्यो हेतुस्तस्य निषेधेऽपि यत्र ब्रह्माण्डोऽप्रमेयत्वमिति प्रतिभास
व्यावर्तयति—मृत्युरिति । सर्वप्रत्ययवेच ब्रह्मेति स्थिते कथमप्रमेयमित्याशङ्क्याऽऽह—एकधैवेति । भेदबुद्धे-
मिथ्यात्वात्तद्ग्राह्यत्वमपि तादृगेव न च केवलस्य सर्वप्रत्ययवेद्यत्वात्तन्निषेधत्वादित्यर्थं ॥ भेदधीमिथ्यात्वे वाक्य-
न्तरमन्वयव्यतिरेकानुवादो दर्शयति—यत्र हीति ॥

'जायत इति च । जायत इति प्रमाणैर्मायत इत्यर्थोऽप्रमेयमिति च 'तत्प्रतिषेधः । क्लृप्तं च दोषः । 'अन्यवस्तुवदागमातिरिक्तप्रमाणप्रमेयत्वप्रतिषेधार्थत्वात् । 'यथाऽन्यानि वस्तून्यागमनिरपेक्षः 'प्रमाणैर्विषयो क्रियन्ते न तर्थात्वात्मतत्त्वं प्रमाणान्तरेण विषयोक्तुं शक्यते । 'सर्वस्याऽऽत्मत्वे केन कं पश्येद्विजानीयादिति प्रमातृप्रमाणादिद्वयापारप्रतिषेधेनैवाऽऽगमोऽपि

यति—जायत इतीति । चोदितं विरोधं निराकरोति—नैव दोष इति । सगृहीतं समाधानं विशदयति—यथेत्यादिना । 'तस्य मानान्तरं विषयोक्तुं महाशक्यत्वे हेतुमाह—सर्वस्येति । इति सर्वद्वेभ्योऽज्ञानित्युत्तेरिति शेषः । प्रागभोऽपि तर्हि कथमात्मनामावेदयेदित्याशङ्क्याऽह—प्रमाणिति । आत्मनः

अन्य की प्रमा होती है, यह ब्रह्म तो अद्वितीय है, इसलिये अप्रमेय है "द्रुवम्" अर्थात् नित्य कूटस्थ अर्थात् स्वरूप में स्थिर रहने वाला है । (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु ब्रह्म अप्रमेय भी है और दर्शन करना चाहिये, इन दोनों बातों में परस्पर विरोध है । "जाना जाता है" इसमें तो उभका प्रमाणमान सिद्ध हुआ और "वह अप्रमेय है" इससे उभका निषेध हो जाना है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि 'अप्रमेय' यह कथन अनात्मवस्तु के समान उसके आगमातिरिक्त प्रमाण से प्रमेयत्व का प्रतिषेध करने के लिए है । जिस प्रकार अनात्मभूत अन्य वस्तुएँ आगम प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुए प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय होती हैं, उसी प्रकार यह आत्मतत्त्व प्रमाणान्तरो से विषय नहीं किया जा सकता । सभी दृश्यों के आत्मा होने पर "किस के द्वारा किसे देखे

१ द्रष्टव्यमित्यस्यार्थोऽयम् । २ प्रमेयत्वप्रतिषेध । ३ अनात्मवस्तुत्वत् । ४ अनात्मभूतानि । ५ प्रत्यक्षादिभि । ६ दशस्य । ७ आत्मतत्त्वस्य ।

ॐ नैव दोष इत्यारभ्योभयमप्यविरुद्धमेवेत्यवसानभाष्यान्तर्निहितायोर्दुष्टाटक वातिवद्वन्द्वमुपन्यस्यते—'मेशस्य मानमवन्ध प्रमेय इति गीरियम् । प्रमाफल त्वप्रमर्ष यतो नातो विरुद्धता ॥ अज्ञानवस्तुना यागो मानस्येह यतस्तत् ॥ ज्ञातस्य चाप्रमेयत्वान्नपेक्षा मानसगतौ ॥ फलात्मनैव तन्मान न तु मात्रादिरूपतः । अभिष्यन्ति नो ज्ञात नातोऽस्य स्यात्प्रमेयता ॥ तरावेव च्छिदा यद्दृष्टंभीभावे तु नेष्यते । प्रमेयत्व तथाऽज्ञाते न तु ज्ञाते फलरामता ॥ प्रागभोऽपि ममात्मान तत्तमोऽर्थात्स्वित्त्वर्त्तना । अथवाधयतीत्येव भण्यते श्रुतिस्त्वत् ॥ स्वतः सिद्धाद्यतः सिद्धिरज्ञातादपि चाऽऽत्मनः । सिद्धचसिद्ध्या प्रमात्रादेस्तत्सिद्धौ किमपेक्षते ॥ ज्ञानव्याप्तिर्हि शब्दादौ स्यादेकप्रकृतित्वत् । प्रकार्यकारणे व्याप्ति कथं स्यात्प्रत्यगात्मनि ॥ शब्दप्रवृत्तिहेतूना प्रत्यगात्मन्यमभवात् । नाभिधानाभिधयत्सवत्याऽऽत् प्रबोध्यते ॥ प्रत्यगज्ञानहेतून्प्यो यत्रानात्मा प्रविष्यति । ज्ञातृज्ञेयप्रभेदः स्यात्तत्र प्रत्यगनात्मनो ॥ यत्र त्वारमैव मेय स्यात्तत्र मेयातिरेकतः । क प्रमाता प्रमाण वा यमेवति तथा धृति ॥ मानापेक्षय यो भावः स एवात्मानतो न सन् । मानानपेक्षसिद्धिस्तु कस्यान्मानमपेक्षते ॥ मातृमानप्रमेयाणां प्रत्यक्तवादात्मवस्तुन । नात् प्रमयता तस्य स्वतःज्ञावगमात्मनः । प्रमातृत्वज्ञोर्भातिर्नेह चोदय संभवः । त्रियमोहि प्रभेदे तत्किं पूर्वमिति चोद्यते ॥ अपीतकरणग्राम-पुमान्यद्वस्तुपुमग । शब्दाप्रिद्रामवात्याय यथा-वन्ववबोध्यते ॥ अग्रहीत्वैव सवन्धमभिधानाभिधेययो । हिंत्वा निद्रो प्रबुध्यन्ते यथेहापि तथाऽऽत्मनि ॥ शब्द-गन्तरेचिन्त्यत्वादात्मत्वाद्गोचरपिण । तत्साध्यत्वाच्च निद्राया विभ्रमत् मोहहानतः ॥ ६०३-६१० ॥ इति । यत् द्रष्टव्यमप्रमेयमिति विरोधत्रयन तस्मापि पूर्वोक्त परिहार स्मारयन्सामान्यन्यायमाह—मेयस्यति ॥ एवमपि प्रवृत्त किमायात तदाह—यत इति । प्रमाणभूमि सप्तम्यर्थं । चकारोऽवधारणार्थं सत्यञ्चम्यन्तरं सवध्यते ॥

विज्ञापयति 'न त्वमिधानाभिधेयलक्षणवाक्यधर्माङ्गीकरणेन । 'तस्मान्नाऽऽगमेनापि स्वर्ग-
मेवादिब'त्तप्रतिपाद्यते । प्रतिपादयिन्नात्मनूतं हि तत् । प्रतिपादयितुः' प्रतिपादनस्य
प्रतिपाद्यविषयत्वात् । भेदे हि सति तद्भवति ।

स्वर्गादि'बद्विषयत्वेनाऽऽगमप्रतिपाद्यत्वाभावे हेतुमाह—प्रतिपादयित्रिति । तथाऽपि किमिति विषयत्वे-
नाप्रतिपाद्यत्व नत्राऽऽह—प्रतिपादयितुरिति । तदिति प्रतिपाद्यत्वमुक्तम् ।

घयना जाने" इस प्रचार श्रुति भी प्रमाता-प्रमाणादि व्यवहार के प्रतिषेध द्वारा ही उसका बोध कराती
है ; सतिमान् पदो द्वारा शक्यार्थों का लक्षण परस्पर समृष्टतया बोधनात्मक वाक्यधर्म प्रङ्गीकार
करके नहीं । इसलिए (उम निःसामान्य विशेष रूप से सर्वथा अविषय होने के कारण) शास्त्र भी उस
प्रश्न का स्वग या मेरु आदि के समान प्रतिपादन नहीं करता, क्योंकि प्रतिपादन करने वाले का
प्रतिपादन तो प्रतिपाद्यविषयक होता है और यह प्रतिपाद्य भेद होने पर ही सम्भव है ।

१ ननु स्वजन्यज्ञानविषयत्वेन (शक्यार्थ) एवागमं प्रत्यञ्चं विज्ञापयेदित्यत आह—न त्वमिधानाभिधेयत्वादि ।
शब्दप्रवृत्तिहेतुना जात्यादीना प्रत्यगात्मन्यसंभवादिति शेषः । अमिधानाभिधेययोर्लक्षणं संबन्ध । वाक्यधर्म-
आसत्तियोग्यताऽऽकाङ्क्षातात्पर्यमज्ञानानि तयो स्वीकारेण न तु विज्ञापयति इत्यर्थः । शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद्य-
धोक्तवाक्यधर्माद्यनपेदेवैव स्वनामोद्घोषे निद्रितो यद्दर्शनमवबुध्योतिष्ठति तद्वदिति स्पष्टं यातिके । यदा अमिधानै-
वाक्तिमङ्गी पदैरभिधेयाना लक्षण परस्पर समृष्टतया बोधन तदात्मकवाक्यधर्माङ्गीकारेणेत्यर्थः इत्याहुः ।
२ तस्य निःसामान्यविशेषत्वेन सर्वथाऽविषयत्वात् । ३ ब्रह्म । ४ कर्तारं पशु । ५ शक्तिरूप्येति
यावत् ।

कथममेयत्वे द्रष्टव्यत्वाधीना मेयतेत्याशङ्क्याऽह—फलात्मानेति । तद्वि स्वप्रकाशे प्रतीचि प्रवृत्त प्रमाणविषय-
सविद्रूपतयैव त नोःस्माक साक्षाद्बोधयति न तु मात्राद्यपेक्षया विषयो करोत्यतो वृत्तिव्याप्यत्व कल्पित फला-
व्याप्यत्व तु वास्तवमित्यविरोध इत्यर्थः ॥ फलाव्याप्यत्वेऽपि वृत्तिऽप्यत्व वास्तव किं न स्यादित्याशङ्क्याऽह
—तत्राविति ॥ आत्मनि फलव्याप्यत्वमपीतरवत्त्वमपीपनिपदत्वात्तस्येत्याशङ्क्याऽह—आगामोऽपीति । न हि
वृत्तिव्याप्यत्वात्ते प्रतीच सविद्रुचाप्यत्वं कल्प्य तदात्मत्वादित्यर्थः ॥ इतश्चाऽऽत्मनो न तद्व्याप्यत्वाह—स्वत्व-
सिद्धादिति । मात्रादिभावाभावकार्यत्प्रसादात्सिद्धिस्तस्य स्वप्रकाशम्याज्ञातस्य मानजन्यवृत्तिव्याप्यतया सिद्धत्व-
व्यवहारे नान्यसविदपेक्षेत्यर्थः ॥ किंच वृत्तिव्याप्यत्वमपि तस्य दुर्बचनमिन्याह—ज्ञानेति । तत्रोभयसप्रतिपत्त्यर्थो
हिचन्द्र । शब्दादौ ज्ञानव्याप्तिरित्यत्र हेतुमाह—एकेति । शब्दादेर्बुद्धिवृत्तेश्राविद्योपादानत्वादित्यर्थः । आत्मनि
तु न ज्ञानव्याप्तिरित्याह—अकार्येति । एकभूतप्रकृतित्वे सति रूपधुपोप्राह्वत्व शब्द न चाऽऽत्मना ज्ञानेनैक-
हेत्वन्तरमाह—शब्देति । प्रतीचसंभवादिति संबन्ध । प्रतीच संविदव्याप्यत्वे हेत्वन्तरं बन्तु भूमिका करोति—
प्रत्यगिति । यस्या श्त्वविद्यावस्थायामात्मानज्ञानजोऽनात्मा ज्ञायते तत्र प्रतीचोऽनात्मनश्च शान्तेनैवभावन भेदप्रति-
भासो भवेद्यत्र हीत्यादिभुतेऽतस्तत्राऽऽत्मनि न ज्ञानव्याप्तिरित्यर्थः ॥ विद्यावस्थायामुपन्यस्यति—यत्र त्विति ।
यस्या विद्यावस्थायामात्मैवाद्बो बोधयित्थवुद्धिर्नृत्त्या व्याप्यत तत्राऽऽमातिरकता मात्रादेरभावात् सविद्रुचाप्यत्वा
यत्र स्वस्य सर्वमात्मैवेत्यादिभुतरित्यर्थः । मात्राद्यभावे श्रुत्यन्तरं मवादपति—यमेवेति । यमेवैव वृणुते तेन

ज्ञानं च तस्मिन्परात्मभावनिवृत्तिरेव । न 'तस्मिन्माहादात्मभावः कर्तव्यो
विद्यमानत्वादात्मभावस्य । नित्यो ह्यात्मभावः सर्वस्यातद्विषय इव प्रत्यक्षभासते ।
'तस्मादतद्विषयाभासनिवृत्तिव्यतिरेकेण न तस्मिन्परात्मभावो विधीयते । 'अन्यादात्मभाव-
निवृत्तावात्मभावः स्वात्मनि स्वाभाविको यः स 'केवलो मयतीत्यात्मा ज्ञायत इत्यु-

कथं तद्दि 'तस्मिन्प्रागमिकं ज्ञानं तत्राऽऽह—ज्ञानं चेति । परस्मिन्देहादावात्मभावस्या-
ऽऽरोपितस्य निवृत्तिरेव याचयेन क्रियते "तथाचाऽऽत्मनि परिशिष्टे स्वाभाविकमेव स्फुरणं
प्रतिबन्धविगमात्प्रवृत्ती भवतीति भावः । ननु ब्रह्मण्यात्मभावः श्रुत्या कर्तव्यो विवक्ष्यते न तु देहादावा-
त्मत्वव्याधुत्तिरत ब्राह्म—न तस्मिन्प्रिति । ब्रह्मणश्चेवात्मभावः सदा मन्थते कथमन्यथा प्रथेया-
शब्दुचाऽह—निगो हीति । सर्वस्य पूर्णस्य ब्रह्मण इत्येवम् । अत्रद्विषयो "ब्रह्मव्यतिरिक्तविषय
इत्यर्थः । ब्रह्मण्यात्मभासस्य सदा विद्यमानस्ये कलितमात्र—नस्मादिति । अत्रद्विषयाभासो देहादावा-
त्मत्वप्रतिभासः । तस्मिन्ब्रह्मस्वीत्यर्थः । अन्वस्मिन्परात्मभावनिवृत्तिरेवाऽऽगमेन क्रियते चेत्तद्दि कथमात्मा
तेन गम्यत इत्युच्यते तत्राऽऽह—अन्येति । पद्यागमिकवृत्तिव्याप्यत्वेनाऽऽत्मनो "मेयत्वमित्यने कथं तद्दि

अनात्मवस्तुभो मे अध्यारोपित आत्मभाव की निवृत्ति होने का नाम ज्ञान है । उभ ब्रह्म में
(परात्मभाव निवृत्तिव्यतिरेक से) साक्षात् आत्मभाव नहीं करना है क्योंकि आत्मभाव उसमे विद्यमान
रहता है । ब्रह्म से आत्मभाव नित्य सिद्ध है, ब्रह्मातिरिक्त देहादिविषयक के समान वह भासता है । इसलिये
'देहादि मे आत्मत्व प्र'तिभास की निवृत्त के बिना ब्रह्म मे आत्मभाव का विधान नहीं किया जा सकता ।
देहादि मे आत्मभाव की निवृत्त होने पर स्वात्मभूत ब्रह्म में जो स्वाभाविक आत्मभाव है, वह अप्रति-
बद्ध हो जाता है । इसीसे "आत्मज्ञान होता है" ऐसा कहा जाता है । किन्तु स्वयं वह अप्रमेय है, स्वरूपा-

१ ब्रह्मणि । २ परात्मभावनिवृत्तिव्यतिरेकेण । ३ सदातन । ४ अन्वतरणोक्तत्वात् । ५ देहा-
दिवि आत्मभावनिवृत्तौ । ६ स्वात्मभूते ब्रह्मणि । ७ अमकीर्णोऽप्रतिबद्ध । ८ तद्दि—आत्मनो विषय-
स्तेन प्रतिपाद्यत्वाभावे । ९ तस्मिन् अन्वमनि । १० तथा च—अध्यारोपितस्य देहादात्मत्वस्य निवृत्तौ
च । ११ ब्रह्मेति—ब्रह्मानिरिक्तो देहादिद्विषयो मन्थेति विप्रह । १२ मेयत्वमिति—द्रष्टव्यमित्यनेन सूचित-
मित्यर्थः । ज्ञायत इत्युक्त च ।

सम्य इति श्रुतमात्रादिविभागाभावः । एष द्वि परो यमेव साधक मामव प्रत्यक्षतन प्रतिपद्यतामित्यनुगृह्णाति
स तेन तथा शक्यो ज्ञानमिति श्रुत्यर्थः । तत्कृतो मानादिभेदमिदिरूपव ॥ मानातिरिक्त मेयमाधिष्यते चेन्मेय-
स्याऽऽत्मनोऽस्तस्य मानमिदस्त्वेव सत्त्वादिःत्वादात्मभाऽऽह—मानेति । आत्मनाऽपि वस्तुत्वादस्ति मानापक्षेति
चेन्नेत्याह—मानानपेति ॥ स्वप्नवत्तस्य न मानापेक्षेत्यर्थः ॥ इतश्चाऽऽत्मनो न ज्ञानव्याप्यतेत्याह—मात्रिति ।
अतः, प्रत्यक्षत्वादिति सवन्ध । तत्रैव त्रेवन्तरमाह—स्वतत्त्वेति । स्वरसतः स्फुरत्स्वरूपत्वादात्मनो न मान-
व्याप्यता नदान्तास्तु तथाकारा दृतिमुत्पादयत्तन्तदज्ञाननिवृत्तवत्तया तत्र प्रमाणमिति भावः ॥ ज्ञानाज्ञानध्वस्त्यो-
रनिश्चितयोर्वाप्ये कथं तद्व्यतिरिक्तमफलमित्याशङ्क्याऽऽह—अमेति । न हि फलान्तर मानस्याऽऽत्मनि समाप्यते
तत्प्रमाणात्तद्वत्तस्य आज्ञानध्वस्त्येहेतुफलभावनेन पीर्याप्यस्य व्ययस्वित्तत्वादनयोर्मध्ये किं पूर्वमिति न चोच्य-
मित्यर्थः । तद्दि कुत्र मायकागमिति तत्राऽऽह—क्रियवारिति । तत्प्रमस्यानिर्धारितत्वं हिशब्दार्थः । पीर्याप्ये

‘तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वति ब्राह्मणः ।

बुद्धिमान् ब्राह्मण यो उय ब्रह्म को ही जानकर उसी में, बुद्धि लगानी चाहिये । बहुत शब्दों

क्यते । स्वस्वैवाप्रमेयः प्रमाणाःतरेण न विषयी क्लियत इत्युभयमन्वाविहृदमेव । ‘विरजो विगतरजो रजो नाम धर्माधर्मादिमलं तद्रेहित इत्येतत् । परः परो ध्यतिरिक्तः सूक्ष्मो ध्यापो वाऽऽकाशादप्यध्याकृताहयात् । अजो न जायते जन्मप्रतिषेधावुत्तरेऽपि भाव-
विकाराः प्रतिषिद्धाः । सर्वेषां जन्मादित्यात् । आत्मा महान्परिमाणतो महत्तरः सर्व-
स्मात् । ध्रुवोऽविनाशी ॥ २० ॥

तन्मामेयःस्वभावो वृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—स्वतरेवेति । ‘वृत्तिध्याप्यत्वेन मेयत्वं स्फुरत्याध्याप्यत्वेन धामेयत्वमित्युपसंहरति— इत्युभयमिति । यदुक्तं ध्रुवत्वं ‘तदुपस्कारपूर्वकमुपपादयति—विरज इत्यादिना । अर्थं जन्मविषेधावितरे विकारा निवृत्त्यगते तत्राऽऽह—सर्वेषामिति ॥ २० ॥ ;

तिरिक्तं अन्व प्रमाण का विषय नहीं हाता । इमलिए अत्रमेय धीर जान दोनो उम ब्रह्म मे रहते पर भी कोई विरोध नहीं आता । ‘विरज.’ पद मे ‘रज’ नाम धर्माधर्मादि मल का है । उसमे जो रहित ही ; उसे विरज अथवा विगतरज कहते हैं । ‘परः प्राकाशात्’ अर्थात् ध्याकृत संज्ञक प्राकाश से भी व्यतिरिक्त सूक्ष्म अथवा ध्यापक है । ‘अजः’ अर्थात् जो जन्मता नहीं, जन्मप्रतिषेध करने से पाँच अन्व भाव विकार भी ब्रह्म में प्रतिषिद्ध है क्योंकि सबका प्रारम्भ जन्म रूप विकार से होता है । आत्मा आकाशादि सभी से ‘महान्’ अर्थात् महत्तर परिणाम वाला है, ‘ध्रुव’ अर्थात् अविनाशी है ॥ २० ॥

१. तमेवेति—विरजस्वादिबिषेपणकमात्मान विज्ञाय । तत्स्वपदायैवोः बुद्धिं संपोषेति यावत् । प्रज्ञो धावयार्थ-
भूताम् । स्वस्वभावात्किरूपी मोक्षत्रयादिकाम् । कुर्वति—तत्स्वमस्यादिकाव्यवसादेव सम्पादयेत् । २ स्वस्वभा-
तिरिक्तप्रमाणेति यावत् । ३. विरजो विरजरज इति । रजशब्द स्वस्ववन्तोऽपि भवतीति तथा प्रयुक्तः ।
तथा च अजयः ‘रजोऽयं रजसा सारं सरीपुण्युपपूजिष्यति’ कोशकृदाह । ४ विरजस्वादेव । ५
अजविषेपणस्याधिकमर्थमाह—जनेति । ६ महान्—विषेपणश्रयविधिपृष्टवादेव । ७ सर्वस्मात्—यथोक्ता ।
कावादे सकाशात् । ८ महत्त्वादेव च ध्रुवः । ९ वृत्तिध्याप्यत्वेनेत्यादि—‘अथ’ सतिहितं बुभुभ यथा
सूर्याऽवभासयेत् । चित्तवृत्त्या तथा व्याप्तं चिदात्मैव प्रकाशयेत् ॥ स्वयं प्रकाशं चिदात्मानं वृत्तिरत्मान्तरं विना ।
भासयेद्भ्राह्मणमिव चक्षुः सूर्यान्तरं विना ॥ वृत्तिध्याप्यत्वेनेत्यर्थं वैशद्यं प्राहुरात्मानं । चिदन्तरानपेक्षत्वात्वेत्यत्र
तदाऽऽगमः ॥ इति हि स्मरन्ति । १०. हेतुपूर्वकमिति यावत् ।

तदित्युच्यते ॥ नन्वात्मनि शब्दो प्रथमं नोत्पद्यते ज्ञात्याधिष्ठिते तस्मिन्नपृष्टीतसंगते शब्दस्याबोधकत्वात्तदहोपेतं
प्रमातृत्वकालयोः पीवीपर्यं तत्रज्ञातसंगतेरपि शब्दस्य बोधकत्वे शृणुन्तमाह—अपीतमि । तदनुभवस्याऽऽनुभविकत्व-
द्योतकोऽयमन्वः ॥ शृणुन्ते विवक्षितसंगमनूय कार्यान्तिवमाह—अपृष्टीत्येति ॥ इत्युक्तिरु स्फुटयति—शब्देति ।
तस्य हि महिमा न प्राकृताऽवभेदस्तस्यातीतानपातवर्तमानादियु सुव्यवधान् । उक्तं हि चोदना हि भूतं भवन्त-
मित्यादि । तदज्ञातवर्तिको न बोधयत्ययमित्यशक्यं निन्देत्तुमित्यर्थः । किंच बोधस्य स्फुटदृष्टत्वाद्बोधवा-
पेक्षेन नास्तीत्याह—आत्मत्वादिति । अज्ञातमात्मवस्तु वेदान्तवेदमित्यङ्गीकाररतस्यै कथं तत्राऽऽह—तस्यास्य-
त्वादिति ॥

नानुध्यायाद्बहुञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं ७ हि ।
तदिति ॥ २१ ॥

का चिन्तन न करे क्योकि यह तो वाणी का परिश्रम मात्र ही है ॥ २१ ॥

तमीदृशमात्मानमेव धीरो धोमान्विज्ञायोपदेशतः शास्त्रनश्च प्रज्ञां शास्त्राचार्योप-
दिष्टविषयां जिज्ञासापरिसमाप्तिकरं कुर्वीत ग्राह्यम् । एवं प्रज्ञाकरणसाधनानि संग्रहा-
शमदमोपरमनितिक्षासमाधानानि कुर्यादित्यर्थः । नानुध्यायाप्रानुचिन्तयेद्बहुप्रनूता-
ञ्छब्दान् । तत्र बहुत्वप्रतिषेधात्केवलतात्मकत्वप्रतिपादकाः स्वल्पाः शब्दा अनुज्ञायन्ते ।
“श्रोमित्येवं ध्यायय आत्मानम्” “अन्या वाचो विमुञ्चय” इति चाऽऽयवंगे । वाचो
विग्लापनं विशेषेण ग्लानिकरं श्रमकरं हि यस्मात्तद्बहुशब्दान्मिध्यानमिति ॥ २१ ॥

यथोक्ते चस्तुनि दर्शनं निगमयति—तमीदृशमिति । नित्यमुद्रत्वादितिक्षणमिति यावत् ।
उक्तरीत्या प्रज्ञाकारणे कानि साधनानीति चेतानि दर्शयति—एवमिति । काम्यनिषिद्धत्यागः
संग्रहास उपरमो नित्यनेमित्तिकत्याग इति भेदः । बहूनिविशेषणवशादावातमयं दर्शयति—तत्रेति ।
चिन्तनीयेषु शब्देष्विति यावत् । तत्र धृत्यन्तरं संवाचयति—श्रोमित्येवमिति । नानुध्यायादित्यत्र
हेतुमाह—वाच इति । तस्माद्बहुञ्छब्दानुचिन्तयेदिति पूर्वणं संबन्धः । इतिशब्दः द्रव्यकव्याख्यान-
समाप्त्यर्थः ॥ २१ ॥

“धीरः” अर्थात् बुद्धिमान् ब्रह्मवेत्ता “तमेव” अर्थात् उन आत्मा को ही “विज्ञाय” अर्थात्
आचार्योपदेश धीर शास्त्र से जानकर “प्रज्ञा कुर्वीत” शास्त्र-आचार्योपदिष्ट विषयक एवं सभी शोक धीर
आकांक्षाओं को शमन करने वाली प्रज्ञा करे । इस प्रकार संग्रहास, शम दम उपरति तितिक्षा धीर
समाधान इन प्रज्ञाकारक साधनों का अनुष्ठान करे । “बहुन्” अर्थात् बहुत शब्दों का “नानुध्यायात्”
अर्थात् चिन्तन न करे । यहाँ बहुत्व का प्रतिषेध कर केवल आत्मकत्व प्रतिपादक थोड़े शब्दों के चिन्तन
की आज्ञा दी जाती है । आद्यवंगे मुण्डक श्रुति में भी कहा है—“उस आत्मा का ‘अ’ इस प्रकार में
ध्यान करे”, “अनात्मप्रतिपादिका अपरविद्या रूप वाणी का बोलना त्याग करे” इत्यादि । “वाचा
विग्लापनं हि तत्” यानी बहुत शब्दों का अनुचिन्तन तो वाणी को विशेष रूप से ग्लानि प्रयवा
श्रम उत्पन्न करने वाला है ॥ २१ ॥

१. प्रत्येयशोकाद्भादिशमनकरीम् । २ बहुञ्छब्दानिति—अनात्मबोधिन इति शेष । समादीनानुक्तप्रज्ञा-
साधनत्वेन विधायमानत्पादनात्मवाचिद्वन्द्वानुसंधानस्य च तद्विरोधित्वादिति भाव । बहुशब्दोपादानं स्वरूपा-
नुवादायमनात्मवाचिशब्देषु बहुत्वस्य प्रसिद्धत्वादिति द्रष्टव्यम् । ३ केवलतयनात्मवाचिशब्दो ध्यावत्येते ।
४ मुमुक्षुणात्मात्मवाचिकर्मकाण्डाख्यशब्दानुसंधानं न कार्यमित्यत्र श्रुत्यन्तरं प्रमाद्युयति—श्रोमिति । प्रणवाव-
साभ्येतिव्यर्थः । ५ मु उ । ६ अनात्मप्रतिपादिका अपरविद्यारूपा । ७ नानात्मशब्दानुध्यानस्य धमा-
तिरिक्त फलमिति भाव । ८ ईदम विरजस्त्वादिविषयसुचिन्तमित्यर्थ इत्यभिप्रेत्याह—नित्यति । ९
तत्रेति—प्रज्ञात्मकत्वप्रतिपादकस्वल्पशब्दानुज्ञायाम् । अनात्मवाचिशब्दानुसंधानप्रतिषेधे चेत्यर्थः ।

'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः

यह वह महान अजन्मा आत्मा है, जो कि यह प्राणी मे विज्ञानमय स्वयं ज्योति स्वरूप है ।

'सहेतुको बन्धमोक्षावभिहितो मन्त्रब्राह्मणार्थ्यां श्लोकैश्च पुनर्मोक्षस्वरूपं विस्त-

कण्डिकान्तरमयतारवित्तं वृत्तं कीर्तयति—सहेतुकाविति । उत्तरकण्डिकातात्पर्यमाह

मन्त्र गौर ब्राह्मण दोनो के द्वारा बन्ध गौर मोक्ष का सहेतुक प्रतिपादन किया गया । फिर (श्लोकात्मक) मन्त्रो के द्वारा मोक्ष के स्वरूप का विस्तार से निरूपण किया गया । इस प्रकार इस

१. अथ विविदिपावावनेन ब्रह्मात्मनि सर्वस्य वेदस्य विनियोगकथनार्थं तावदस्मिन्नध्याये उक्त सफलमात्मज्ञान स या एष इत्याद्यसभेदायैत्यन्तेनानुवदति—स या इति । स ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तो जीवः एषोऽन्नाभ्यवहितोक्तः परमात्मा । एवमुक्तमर्थं प्रवृत्तवर्तुमपचाद्येन विरज इत्याद्युक्तं परमात्माऽभिहित इति द्योतयितुं तस्य विशेषण-विशेषणद्वयमाह—महानज आत्मेति । सचाद्येन ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तो जीवोऽभिहित इति द्योतयितुं तस्य विशेषण-द्वयमाह—योऽयं विज्ञानमयः प्राणोऽप्यिति । उभयोरेनयनदणो वाक्यार्थं सामानाधिकरण्यानाभिहित इति द्योत-यितुमत्रैवोक्तमाह—य इति । सप्रसादसमये य एषोऽन्तर्हृदये आकाश परमात्मस्य बुद्धघाटाश्रयो वा तस्मिन् पितुमत्रैवोक्तमाह—य इति । सप्रसादसमये य एषोऽन्तर्हृदये आकाश परमात्मस्य बुद्धघाटाश्रयो वा तस्मिन् ब्रह्मेण विज्ञानमयः देते एकीभूतो वन्ते बुद्धघाटिसाक्षिरूपेण वा यतंत इत्यर्थः । २ सहेतुकाविति—तदेव सक्तं सह कर्मणैतीत्यादि मन्त्रेण स यत्राप्यमात्माऽनल्पं न्यतीत्यादि ब्राह्मणेन च कामादिहेतुसहितो बन्धो मुमुक्षुणा हेयत्वेनाभिहितो "यदा सर्वं प्रमुच्यन्त" इत्यादिमन्त्रेण 'अथाकामयमान' इत्यादिब्राह्मणेन च तेषा-मवापेक्ष्यत्वेन सम्यग्पीहेतुको मोक्षोऽभिहितः । पुनश्च तत्स्वरूपं श्लाकैर्विप्रश्चित्तमित्यर्थः ॥

ॐ स वा एष महान्तिपाद्यसभेदायैत्यन्तोपनिषद्वाक्यतद्ग्राह्यान्तनिहितायोऽद्यात्कं वातिकवृन्दमुपन्यस्यते । तथाह—"नानुध्यायाद्बहून्पदानानिति कस्मादिहोच्यते । अलीयमा वा न त्याग कस्मादित्यभिधीयताम् । शब्दस्यालीपसोऽप्यागे तत्र नावदिहोच्यते । हेतुस्वरूप्यास्तु मर्यागे तमेतमेति वक्ष्ये ॥ यदि वा त्रिप्रवाक्य-त्वात्कर्मविज्ञानकाण्डयो । वदान्तं कर्मकाण्डस्य परस्परविरोधतः ॥ हेतुता प्रतिपद्यन्ते कर्मण्यपि विमुक्तये । युद्धे सक्तावत्त्वेन यथा तदभिधीयतः ॥ पूर्वो भागः समस्तोऽपि वेदान्तार्थावबुद्धये । यथा भवति वेदस्य तथाऽयं प्रतिपाद्यते ॥ वेदान्तार्थं यथायातमनूष श्रुतिरादरात् । स या इत्यादिनोक्तार्थं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ परामर्शं सचाद्येन पूर्वोक्तस्य प्रसिद्धितः । वैशब्द स्मृतये तस्य मृतिजन्मादिप्रमाणे ॥ ध्रुवान्तमन्त्रान्नायोक्त एष इत्यभिधीयते । महानज इति वचस्तद्विनेपणसिद्धये ॥ अन्वयव्यतिरेकार्था योऽयमित्यादिका श्रुति । विशेषण-विशेषणार्थं सर्वस्येति तथा वचः ॥ यदत्र किंचिदुक्तव्यं तस्य प्रागेव चोक्तितः । सामानाधिकरण्यादेर्हे तस्युन-कच्यते ॥ भूपांस साधुना नेति ज्ञानस्य फलमुच्यते । एष सर्वदेवरोरुया च यथोक्तमर्थं वस्तुति ॥ एतदुक्तं भवत्यत्र योऽयमित्यादिनोदितः । जिवित्क कामकमदि स्वयज्योतिश्च शब्दितः । स एष ईश्वर साक्षादिति श्रुत्या प्रदर्शितः । विशेषणविशेषणमोक्षितव्येनाशोरिह ॥ यमपेक्षेश्वरत्व स्यात्तत्तावत्प्रतिपेक्षति । विशेषणविरोधित्वा-न्महत्त्व कुम्भग यथा ॥ ईशितव्यापनुत्ती च तदपेक्षं कस्यथायात् । ईशित्वमपि नि शेष प्रतीचो विनिवर्तते ॥ घटाकाशो महाकाश इत्युक्तं बुम्भहत्त्वौ । आकाशमाश्रतापो यथैवेह तथाऽऽत्मनि ॥ विरुद्धयोरसमर्णो यथैवमविरुद्धयो । तदबोधिसमुच्छित्तावाक्यार्थोऽयमित्येति ॥ एदप्यभिद तावत्पदाधोऽप्यानुच्यते । स वा इतिवचोर्थस्य व्याख्यातत्वात् यत्ततः । तदधाख्यानाय भूयोऽपि तस्य चेहानुवादतः ॥ आवाशवचसा चोक्त

प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते
सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स

जो यह हृदय मे आकाश है उसमें यह पुरुष रहता है । यह सबको अपने वश में करने वाला धामक प्राण

रेण प्रतिपादितमेवमेतस्मिन्धात्मविषये सर्वो वेदो ययोपयुक्तो भवति तत्तया वस्तव्य-

—एवमिति । विरज पर इत्यादिनोक्तक्रमेणावस्थिते ब्रह्मस्येति यावत् । तद्विद्युपयुक्तोक्तिः ।

प्रात्मा के विषय मे जिस प्रकार सारा वेद विनियुक्त होता है, उसे उस प्रकार बतलाना चाहिये । इस-

१ प्रात्मेति—प्रात्मशब्दगोचरे प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मस्येति । २ उपयुता विनियुक्त । ३ उपयुक्तत्वम् ।

परोऽजातो जगद्गुरुः । जगज्जनिस्त्वित्पञ्चसहसुरात्मविशेषणम् ॥ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेव स्वभावः प्राक्कर्मविरितः ।
अप्रबुद्धात्मतत्त्व सन्धारणतमतया स्थितः ॥ सर्वमस्य वदो यस्माद्दशी सर्वस्य तेन सः । उदासीनस्य तस्य
स्याद्विदित्वमिति चेन्नतम् ॥ वशित्वव्यक्तिसवन्धान्मेव यस्मात्पुनर्वच । सर्वस्येशान एवेति सर्वस्येष्टे सदेव सः ॥
कुमारनृपवत्तत्स्योदीशानत्व परात्मनः । इति चेन्नैतदेव स्याद्यतोऽधिपतिरुच्यते ॥ अधिष्ठायाऽऽत्मकार्यत्वाद्दुत्पत्ति-
स्थितिहानियु । त्रिविधेनाऽऽधिपत्येन स जगत्प्राप्ति सर्वदा ॥ धर्माधर्मसमायोगो लोकवच्छासनात्प्रभो ।
प्राप्नोति चेन्न तत्प्राप्ति स नेति वचस श्रुते ॥ स्वकर्तृकनदायित्व स्वभाव कर्मणा मतः । कर्तृत्वामित्व-
विरहान्नेषास्य फलसंगति ॥ कौटल्यान्नास्य कर्तृत्वमकार्यकारणत्वतः । कार्यकारणभेदेन तदविद्येव सस्थिता ॥
अस्थूल नेति नतीति न जायत इति श्रुति । अपूर्वनिपरेत्याद्या तथाच सति युज्यते ॥ स्वस्वामित्वादिनवग्न्य
स्तथा नास्याद्वितीयत । यत्र हि द्वैतमित्येव तथाच श्रुतिशासनम् ॥ जग्यादयो विकारा य सवन्ध्याप्रापि य
मता । प्रविद्यापञ्चतस्यैव ते सर्वे स्युर्न तु स्वतः ॥ यत एवमतो नेशो भूयान्स्यात्साधुकमला । कर्मोयाप्रापि
पापेन तदकर्तृत्वहेतुतः ॥ क्षेत्रज्ञस्य सतो यद्वत्पुण्यपापभिसंगति कर्तृत्वाद्यभियानित्वाग्नास्य तदसंभवात् ॥
निर्हेतुत्वात्प्रतीचोऽस्य तमस्वित्वस्य सबदा । हानिवृद्धी न तस्यातो धर्माधर्मरसंगते ॥ न कार्यकारण वाऽस्य
यत्कर्तृत्वादिकारणम् । स्वतोऽस्तस्यभावत्वानिर्देशकत्वतस्तथा । स्वत एवस्वभावोऽपि तदविद्यासमाध्रयात् ।
एष सर्वेश्वरो देव ईशितव्यव्यपेक्षया ॥ एष सर्वेश्वर इति पुनरवत् किमुच्यते । वक्ष्यमाणबुभुक्षुसाया विषयत्व-
प्रतिद्वये ॥ भ्रूजात एष एवाऽऽत्मा तावन्मात्रसतत्त्वतः । ईशादेवियमान्तस्य कर्त्तृत्वत्वमतो भवेत् ॥ साध्वा
घनभिसन्नये यदि वा हेतुच्यते । एष इत्यादिवन्न स सर्वोऽस्याऽऽत्मनः स्फुटः । धर्माधर्मादितन्त्रोऽसंस्तत्फलनेहे
लिप्यते । विज्ञानात्मानं न तु तथा सर्वेशत्वात्परो भवेत् । सर्वस्य कर्मणोऽप्येव कारकस्य च सत्कृतः । स्वतन्त्र
ईश्वरो यस्मात्प्रातो धर्मादितन्त्रता ॥ भूतानि जनिमन्त्येव यतः पालयतीश्वरः ॥ भूतपालस्ततो देवः कार्यार्णो
कारणत्वतः ॥ कारणेन हि पाल्यते कार्यार्णो यतस्ततः । तत्कार्यत्वाच्च भूतानां भूतपालत्वमात्मनः ॥ भूताधि-
पतिगन्धेन ब्रह्मा वाऽत्राभिधीयते । इदो लोकेश्वरश्चात्र ब्रह्मणादात्मना तथा ॥ लोकपालोऽपि चाप्येव तथा-
कार्यस्य धर्मात् । प्रधासिताऽपि चाप्येव तदेतदभिधीयते ॥ लोकानां रचना येषां शिल्पादीनां व्यवस्थिता ।
सिद्धाऽऽकीर्यमाणेह साऽप्यस्यैवानुशासनात् ॥ धर्माधर्मादिहेतूनां व्यवस्थानामसकरः । नैव सिध्येद्विना हेतुं
सेतुपुर इतीक्ष्यताम् ॥ यथोदकप्रवाहस्य सेतुविधरणस्तथा । सर्वलोकव्यवस्थानां सेतुः स परमेश्वरः ॥ किमर्थं
सेतुव्यवस्थाकाङ्क्षाया पर वचः । असभदाय साकारानाममित्यभिधीयते ॥ असभिन्नव्यवस्था स्युः कथं नाम
पमोदिता । तस्मै तस्मै फलापात सेतुरीशो भवसत् ॥ १६६-१-१७ ॥ इति । स वा एष महानित्याद्यध्वरामि

न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनी-
यानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल

सवका अधिपति है । वह न तो शुभ कर्म से बढ़ता है और न अशुभ कर्म से घटता ही है । यह सर्वेश्वर है, यह समस्त भूतों का अधिपति और पालक है । इन भूरादि लोकों की मर्यादा नष्ट न हो, इसीलिये

'मिति तदर्थेयं कण्डिकाऽऽरभ्यते । तच्च यथाऽस्मिन्प्रपाठकेऽभिहितं सप्रयोजनमनूद्या'त्रंबो-

तदर्था ब्रह्मात्मनि सर्वस्य देवस्य विनियोगप्रदर्शनार्थेति यावत् । 'ननु विविदिषावाक्येन (ण) ब्रह्मात्मनि सर्वस्य देवस्य विनियोगो दृश्यते तथा च तस्मात्प्राक्तनं वाक्य किमर्थमित्याशङ्क्याऽऽह — तच्चेति । यथाऽस्मिन्प्रपाठके सफलमात्मज्ञानमुपेत तर्थात् तदनुद्येति योजना । कथं यथोपेते ज्ञाने

लिए इस मन्त्र का प्रारम्भ किया जाता है । इस प्रपाठक में सप्रयोजन आत्मज्ञान को जिस प्रकार कहा

१. अत्रैव—यथोपेते ज्ञाने एव । २ नन्विति—यद्वा स वा इत्यादिना कर्मकाण्डस्य ज्ञानकाण्डशेषत्व नोच्यते । तथा च तदर्थेयं कण्डिकेत्युक्तिर्युक्तेत्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेति ।

षोडशति—नेत्यादिना । मुमुक्षुरधिकारी सप्तम्यर्थे ॥ बहूनिविद्विषोपशादस्वीयसां तत्त्वमादिशब्दानामत्यागो दक्षित-
स्तत्र धुमुत्सितो हेतुस्तमेतमित्यतः प्राक्तनवाक्येनोच्यते इत्याह—शब्दस्यति । तत्र त्यागात्यागयोरेति यावत् ।
स वा एष इत्यादावात्मपाठात्प्रमनूद्यते तेन तद्विषयोनियन्नागेन भवितव्य तस्यापि त्यागे तत्त्वज्ञानासिद्धे-
रित्येतत्तमेतमित्यस्मात्प्रागभिप्रेतमित्यर्थः । बहून्शब्दानानुध्यायेदिति कर्मकाण्डत्याग उत्तस्तत्र हेतुक्यर्थं तमित्यादि-
वाक्यमित्याह—अप्यास्तिवति । प्रभूतायास्तस्या' कर्मकाण्डरूपायास्त्यागे तमित्यादिना हेतुर्वक्ष्यते तेन हि
विविदिषायां कर्माणि विनियुज्यन्ते तथाचोत्पन्नविविदिषयाफनत्वात्कर्मत्यागे तत्काण्डस्यापि त्यागः ससिध्य-
सोत्थयं ॥ विविदिषावाक्यस्य तात्पर्यान्तरं प्रतिजानीते—यदि वेति । सदेव वक्तुं शक्नुयति—भिन्नेति ।
सिद्धसाध्यायंतया काण्डयोभिन्नवाक्यत्वात्प्रमनूद्यो विरोधाच्च न शेषोपेतेति शङ्कार्थं । कर्मकाण्डस्य वेदान्तं
सह विरोधवत्तेषामपि तेन विरोधात्परस्परविरोध इत्युत्तरार्थंयोजना ॥ यथा कर्मवाक्याना बुद्धिबुद्धिद्वारा
ज्ञानवाक्यशेषता तथा वक्तुमुत्तरमित्युत्तरमाह—हेतुतामिति । ज्ञानबदित्येपरर्थः ॥ एवमेतस्मिन्नित्यादिभाष्य-
मुक्तेऽर्थे योजयति—पूर्वं इति । स वा इत्यादिना कर्मकाण्डस्योक्तरीत्या ज्ञानकाण्डशेषत्व नोच्यते तथा च
भाष्ये कण्डिकोक्तिर्युक्तेत्याशङ्क्य तच्चेत्यादिभाष्यतात्पर्यंमाह—वेदान्तेति । स वा इत्यादिना वेदान्तार्थ-
मनुद्येति सवन्धः । अनुवादे हेतुमाह—यथेति । प्रागमप्रधानेन मधुकाण्डेनोपपत्तिप्रधानेन मुनिकाण्डेन वेदान्ता-
न्तरैश्च प्राप्त रूपमनतिक्रम्येति यावत् । श्रुतिस्तमेतमित्याद्या उक्तार्थं कर्मणां धीशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्ति-
हेतुत्वम् ॥ कण्डिकातात्पर्यंमुनया विविदिषावाक्यत्वात्प्राक्तनग्रन्थस्यावयवशस्तात्पर्यं दर्शयन्त्यदथोरर्थंमाह—परामर्थं
इति । वैशब्दस्तथैव स्मृत्यर्थमित्यत्र हेतु—प्रसिद्धित इति । त्वंपदलक्ष्यस्यापि प्रागुक्तत्वात्तस्य सशब्देन
परामर्शमाशङ्क्याऽऽह—श्रुतीति ॥ एषशब्देनापि तस्यैवोक्ति व्यावर्तयति—ध्रुवेति । विरञ् पर आकाशादज
भात्मा ध्रुव इत्युक्तत्वात्पदलक्ष्योऽर्थोऽत्रैव इत्युपदिष्ट इत्यर्थः । त्वमर्थस्य शोधनाथंमजशब्दः । शुद्धस्य तस्य ब्रह्म-
मक्षणविवोपणसिद्धमर्थं महानिति पदमित्याह—महानिति ॥ योऽप्यमित्यादेस्तात्पर्यंमाह—ध्रुवयेति । ध्रुव्य-

एष सेनुविधरण एषां लोकानामसंभेदाय 'तमेतं

वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन

वह इन्हें धारण करने वाले सेतु के समान सेतु है । उस इस आत्मा को ब्रह्मजिज्ञासु या जाति से

पयोगः कृतस्नस्य वेदस्य काम्यराशिर्वाजितस्येत्येवमर्थं उक्तार्थानुवादः स वा एष 'इत्यादिः ।

सर्वो वेदो विनियोगतुं शक्यते स्वर्गकामादिवाक्यस्य स्वर्गादाशेष्य पर्यवसानादित्याशङ्क्य 'संयोग-
पृथक्त्वध्यायमनाहृत्य विशिनष्टि - काम्यराशिति । उक्तस्य सफलस्याऽऽत्मज्ञानस्यानुवाद इति

गया है, उसी का अनुवाद करके वेद की काम्यकर्म विनियोग करने वाली राशि को छोड़कर शेष सम्पूर्ण वेद का इसी में उपयोग है—यही प्रदर्शित करने के लिए "स वा एषः" इस मन्त्र में आत्मज्ञान

१ एवमनुवादप्रयोजनीभूत वेदविनियोगमाह—तमेतमिति । मन्त्रोक्तविशेषणकर्मोपनिषद् पुरुष, वेदानुवचनेन नित्यस्वाध्यायलक्षणैः । अस्त करणमुद्धिद्वारा विविदिषन्ति न तु विदन्त्येवेति भावः । एव यज्ञेनेत्यादि श्रेयम् ।

२ इत्यादिरिति आसंभेदादित्यवसान इति शेषः । ३ संयोगपृथक्त्वेति—"एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमिति" जै. मू. ४. ३ ५ । संयोगो वाक्य तस्य पृथक्त्व भेद एकस्योभयार्थत्वे नियामक इति तदर्थः । यथा दध्ना जुहुयादिति फलासयुक्तवाक्येन कृत्वर्थत्वेन विहितस्यापि दध्नी दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यनेन फलाय विधानात् पुरयार्थत्वमपि भवति तथा ज्योतिष्टोमादीनां स्वर्गार्थत्वेन विहितानामपि यज्ञेनेत्यादि विविदिष्यावाक्येन विविदिष्या-
साधनत्वमपि स्यादेवेति भावः ।

व्यतिरेकाम्या रवंपदार्थपरिगोधनार्थेति यावत् । सर्वस्य वशीत्यादेस्तात्पर्यमाह—विशेषणैति । ब्रह्मणः प्रतीको विशेषणत्वेन यथा तस्य विशेष्यत्व तथा ब्रह्मणोऽपि सर्वस्य वशीत्यादिविशेषणविशेष्यत्वायं वाक्यमित्यर्थः ॥ ब्रह्मणो विशेषणत्व प्रतीकञ्च विशेष्यत्व चेत्तर्हि पदयोः सामानाधिकरण्य तदर्थयोर्विशेषणविशेष्यत्व स्वरूप-
मात्रस्य लक्ष्यत्वमित्येतदपि वाच्यं न चात्र सामानाधिकरण्यादि स्वीकृतुं शक्यं ब्रह्मप्रतीकोमिथो विशेषा-
दित्याशङ्क्य ब्रह्मकण्डिनायामुक्त स्मारयति—यदनेति । इहेत्यत्र च प्रकृतकण्डिकोक्तिः ॥ स न साधुनेत्या-
देस्तात्पर्यमाह—भूयानिति । एष सर्वेश्वर इत्यादेस्तात्पर्यमाह—एष इति । यथोक्तस्येति प्रत्ययुक्तिः ॥ एवं
ब्रह्म त्व विष्णुरित्यादिवद्विद्यमानस्तुतिरेपेत्याशङ्क्य स्तुतिप्रकारमभिनयति—एतदिति । अनेति ज्योति-
र्ब्राह्मणोक्तिः । सत्त्वमादिवाक्यादिक्यमिद्वेदेया यथार्थस्तुतिरेवेति भावः ॥ तत्र विशेषणविशेष्यत्वविभाग दर्शयति
—विशेषणैति । इहेति श्रुतिरुक्ता ॥ ईश्वरेण विशेषणं जीवस्य विशेष्यत्वे फलमाह—यमिति । सर्वेश्वरत्वादि-
विशेषणसामर्थ्याद्विशेष्यजीवव्यतीतमित्यव्याख्यानगच्छतीत्यर्थः । निषेधकर्ता विशेषणविशेष्यभावस्तस्य निषेध-
त्वे हेतुमाह—विशेषणैति । ईश्वरत्वेन विगोषितशक्तेन विशेषितजीवनेतिमित्यव्यवस्थानि वृत्तिरित्यर्थः ।
घटाकागो महापात्र इत्युक्ते घटाकागम्यपरिच्छिन्नप्रत्वनिवृत्तिवदेव सर्वेश्वर इत्युक्ते जीवगतशक्तित्वनिवृत्ति-
रित्याह—महदिति ॥ ईगितव्यत्वनिवृत्ती फलितमाह—ईगितव्येति । तत्रच निविशेष प्रत्यह्मात्र तिष्ठतीति
भावः ॥ महदित्यादिनोक्तं शृणुन्त प्रपञ्चयति—धरेति । दार्ष्टान्तिकमाह—इहेति ॥ तदेव स्पष्टयति—विशुद्ध-
योरिति । पदार्थद्वयमध्यमद्वयत्वपरोक्तव्यर्थानं ब्रह्मात्मभ्या मममो मिथोविच्छेदादेवं प्रत्यक्त्वाद्यत्वयोरपि
नान्योन्यमवयवस्तयोरैक्यव्यवस्था ब्रह्मात्मानाद्यव्यवस्थावेकरम वस्तु स्यादित्यर्थः ॥ उक्तस्यमाणयो पौरुषक्य
परिहरन्मुक्तमनूय बक्ष्यमाण प्रतिज्ञानीत—एतपर्यमिति । पदार्थानामपि प्राग्वार्थादुक्तत्वात्तदवस्था पुनरुक्ति-

तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति ।

एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्

ब्राह्मण लोग वेदों के स्वाध्याय से यज्ञ, दान तथा निष्काम तप से जानना चाहते हैं । इसी को जानकर मुनि हो जाते हैं । इस प्रात्मलोक को चाहता हुआ त्यागी पुरुष सभी का परित्याग कर संन्यासी हो

स इत्युक्तपरामर्शार्थः । कोऽमावृत्तः परामृश्यते तं प्रति निदिशति य एव विज्ञानमप

यावत् । उक्तानां भूयस्ये विशेषं ज्ञातुं वृन्दति—कोऽसाविति । हिंटेऽरा'नर्धे'यमाशङ्क्य परिहरति

का अनुवाद किया गया है—मन्त्र में 'स वै' पद पूर्वोक्त परामर्श के स्मरण कराने के लिए है । पूर्वोक्त किस का परामर्श किया जा रहा है ? उसके प्रति श्रुति द्वारा विशेष रूप से निर्देश किया जा रहा

१. ननु वेदेनेच्छात् किं स्यादत आह—एमित्यादि ।
२. प्रव्रजन्तीति—पञ्चमलकारेण संन्यासो विधीयते । प्राग्नेयोऽष्टावपालो भवतीतिवत् ।
३. प्रव्रजन्तीति संन्यासविधिरित्येतत्स्य निन्देतु शक्यत इत्यागच्छुष तन्निष्ठायां तदर्थं वादमाह—एतदिति । तदेतत्कारिप्राग्ने स्पष्ट कारणं ह किल वै स्मर्यते । शेष भाष्यतो- ज्वगन्तव्यम् ।
४. उक्तेति—तेन परामृष्टस्यैव स्मारको वैशब्दो द्रष्टव्यः ।
५. त प्रतीति—पूर्वोक्त परामर्श- योग्यं विशेषरूपेण प्रदर्शयति श्रुतिरिति शेषः ।
६. य एव इति—एषाशब्दोऽप्य योज्यमित्यस्यशब्दस्थाने तत्पर्यायतयाऽऽपतित इति बोध्यम् ।
७. विज्ञानमप इति—ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तस्त्वपदार्थ इत्यर्थः ।
८. व्यावर्त्याभावादिति भावः ।

रित्याशङ्क्याऽह—स वा इतीति । तथाऽपि कतमं प्रात्मत्यागस्य यदुक्तं तेन पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्य तस्यैव प्राग्नेयनिष्ठागात्यागेन हेतुस्त्वर्थत्वेनानुवादात् पुनरुक्तिरित्याह—तस्येति ॥ प्राक्षाशब्दार्थं स्मारयति—प्रावाशेति । जगद्गुरुत्व स्फोरयति—जगदिति । तस्य ताटस्य व्यावर्तयति—प्रात्मेति ॥ जगत्कारणत्वफल सर्वात्मत्वमिदं सर्वमित्यादावुक्तमिति स्मारयति—क्षेत्रेति ॥ सर्वस्य वशीयस्यार्थमाह—सर्वमिति । सर्वस्येशान इत्येतदाकाङ्क्षापूर्वकमादाय व्याकरोति—उदासीनस्येति ॥ सर्वस्वाधिपतिरिति विशेषणमाशङ्क्यपुर सरमव- इत्येतदाकाङ्क्षापूर्वकमादाय व्याकरोति—उदासीनस्येति ॥ सर्वस्वाधिपतिरिति विशेषणमाशङ्क्यपुर सरमव- सार्यं व्याकरति—भुमारिति ॥ उत्पत्तिस्थितिहानिप्रयोजक त्रिविधमाधिपत्यं स खलु तिसृष्ववस्थासु जगदुक्तेनाऽऽधिपर्येनाधिप्रायं सदा पालयति स्वकार्यत्वाज्जगतस्तस्मिन्नधिप्राणपालनसिद्धेरिति द्वितीयवार्तिक- योजना ॥ स न साधुनेत्यादि शङ्काद्वारोत्यापयति—धर्मिति । तद्वैश्वानरमुपपत्तिं शास्त्रफलं प्रयोक्तारि तत्त्वसाधुत्वादिति न्यायेनाऽह—स्वर्वाश्रिति ॥ ईगस्य सर्वकर्तृत्वोपपत्त्यात् त्वराहित्यमसिद्धमित्या- शङ्क्याऽह—कौटस्थादिति । तदुपपादयति—धर्माश्रिति । ऋष तर्हि तस्य कारणत्वं सदाह—कार्येति । प्रतीच स्वतो न कर्तृत्वं कित्त्वविद्ययेत्यत्र श्रुतीनामानुक्त्यामाह—प्रत्यूनमिति ॥ कर्तृत्वाभावमीशवक्तृत्वा- स्वामित्वाभावमाह—स्वस्वामित्वादीति । प्रादिशब्देन सव्रन्धान्तराणामपि कल्पितत्वं सूचयति । तथा कार्य- कारणत्ववदित्यर्थः । आत्मनः सव्रन्धः सर्वोऽपि कल्पित इत्यत्र श्रुतिमाह—यत्र हीति ॥ कर्तृत्वात्प्रात्मनो भस्तुतो नैत्युक्तमुपगृह्णति—जन्यादय इति । जनिर्जन्म तदादयो विकारा विपरिणामादयः । प्रात्मनः स्वत- स्वामित्वात्प्रात्मनोऽपि कर्तृत्वमुपजीव्य धर्मफलान्ब्रह्म वदन्वावय योजयति—यत इति । प्रत शब्दार्थं स्फुटयति— तदकर्तृत्वहेतुत्वं इति ॥ ईश्वरस्य धर्मतत्फलान्ब्रह्मे हेत्वन्पराह—अत्रैतन्निति । विशिष्टस्य धर्मतत्फलान्ब्रह्म- कर्तृत्वमित्याद्यभिमानिन्वात् तपोरनतिस्तस्य नस्य तदभावादित्यर्थः ॥ इतन्न नेशस्य कर्मादिसंबन्धित्याह—

स्म वै तत्पूर्वं विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं' लोक इति

जाते हैं। इस सन्यास मे कारण यह है कि पहले विद्वान् सतान आदिची इच्छा नहीं करते थे, उनका निश्चय था कि हमे प्रजा से क्या लेना है। जिन हम मोक्षभिलाषियों को यह आत्मलोक प्राप्त करना ही

इति । अतीतानन्तरवाक्योक्तसंप्रत्ययो मा भूविति । य एषः कतम एष इत्युच्यते विज्ञान-

—अतीतेति । तद्वि विरज पर इत्यादि तेनोक्तो यो महत्त्वाविविशेषण परमात्मा तत्र सशब्दात्प्रतीतिर्मा भूविति कृत्या 'तेन ज्योतिर्ब्राह्मणस्य जीवं परामृश्य तमेव वंशब्देन स्मारयित्वा तस्य 'सनिहितेन परेणाऽऽत्मनैक्यमेवशब्देन निदिशतोत्यर्थः । विशेषणवाक्यस्यमेवशब्देन प्रश्नपूर्वक व्याचष्टे—कतम इति । कथं जीवो विज्ञानमयः कथं वा प्राणोऽपि सप्तमी प्रपुज्यते तत्रा-

है—“वह यह विज्ञानमय है” । उक्त अतीत और अनन्तर वाक्यो मे सम्भ्रम न हो जाए, इसलि ए “य एष.” कहा गया। यह कौन सा ? इस पर श्रुति कहती है—“जो प्राणो मे विज्ञानमय है” । यहाँ ज्योति-

- १ य पुत्रादिसाध्य उच्यते ।
- २ य एष इत्यत्रैव शब्दार्थक इत्यर्थं ।
- ३ सशब्देन ।
- ४ विरज-वाक्योक्तेन ।

निर्हेतुत्वादिति । अस्य प्रतीचरतमस्वित्त्व नामाज्ञानकृतमीद्यत्वं तस्याज्ञानोपाधिकस्याऽऽप्यनुक हेत्वनपेक्षात्वेन सदाभावान्न धर्मादिभि सगतिरतो न कर्मप्रयुक्तहानिवृद्धी परत्येत्यर्थं ॥ ईशत्वाद्यात्मन स्वीकृत्य तस्य धर्माद्य-सगतिमुक्त्या तदेव तस्य नास्तीत्याह—नेत्यादिना । कर्तृत्वाविकारणस्य कार्यकारणस्य वाऽभावे हेतुमाह—स्वत इति । प्रशभेदेन कर्तृत्वमसङ्गत्वं च स्यादित्याद्यङ्क्याऽह—निरदेति । क्षेत्रज्ञस्य कर्तृत्व परत्यासङ्गत्व-मित्याद्यङ्क्याऽह—एकत्वत इति ॥ यथोक्तलक्षणत्वादात्मनो नेशत्वादीत्यर्थं ॥ तद्वि कथमेव सर्वेश्वर इत्यादि-वाक्यमत आह—स्वत इति । एवस्वभावोऽसङ्गत्वानशत्वादिरोऽपीति यावत् । तदविद्यासमाश्रयादीदित-व्यव्यपेक्षयेति सबन्ध ॥ सर्वस्येशान इत्यनेन पुनरुक्ति चोदयति— एष इति । तस्यास्तात्यर्थं दस्यंयन्परिहरति—वक्ष्यमाणेति । प्रत्यगात्मवाज्ञातो विविदिपाविषय इति वस्तु पुनरुक्तिरेव इति हि प्रतीचो निर्देयस्तस्याज्ञातत्व सर्वेश्वरशब्देन चोत्पत्ते स च बुभुत्साविषयो विविदित इत्यर्थंबची पुनरुक्तिरित्यर्थं ॥ प्रजातत्वेन तद्विषयत्व हरिहरादेरपि सम्भवति तरक्य प्रत्यगात्मैव तया प्रतिज्ञायते तत्राऽह—प्रजात इति । नियमे हेतु—ताव-न्मात्रेति । प्रत्यह्मात्र कथ सर्वस्य सतत्वमीश्वरादेरपि सोके वस्तुत्वप्रसिद्धेरित्याद्यङ्क्याऽह—ईशादेरिति । जडत्वपरिच्छिन्नत्वाविरत शब्दार्थं ॥ पालनादिकर्तृरनुपहादिना इतेन धर्मादिना योगो दुर्वारो लोके तथा-दृष्टवत्तत्क्य स नेत्यादिवाक्यमित्याद्यङ्क्य पुनरुक्तेरर्थान्तरमाह—सात्वादीति ॥ कोऽसाववाधितोऽसदिग्धो हेतुस्तमाह—धर्मति । कामधर्माविद्यातत्रो जीवस्तत्त्वेन सद्यत्यते परस्तु तद्वध धर्मादितन्त्र सर्वेश्वरत्वा-त्सिमप्रपि नियन्तुत्वादतो न तत्फलमवधी स्यादित्यर्थं । इहशब्दो जीवेशयोर्नियमित्यर्थं ॥ कथ सर्वेश्वरत्वञ्चि कर्मफलसंगन्धित्व तत्राऽह—सर्वेति ॥ षण्पतिर्वा श्रीपतिर्वा सर्वेश्वरो न प्रत्यगात्मेत्याद्यङ्क्यैष भूताधि-पतिरिति विशेषणमित्यभिप्रेत्यैव भूतपाल इत्यस्यार्थमाह—भूतानीति । तत्र हेतु—कारणोत्पत्तिरिति । यद्यपि सर्वकार्याणि जन्मादिभूतमारभ्य तत्र तत्रोक्तान्यायेन आरणाभीश्वरस्तथाऽपि कथ तस्य भूतपालत्वमत आह—आरण्येति । तेनोपेक्षितस्य कार्यस्य सत्वमेव नेति वक्तुं हिसाध् । व्यवहारभूमिनिर्हेत्युक्ता । यतस्तत्र सर्व-नेत्यर्थं । सामान्यन्याय प्रकृते योजयति—सत्कार्यत्वादिति ॥ भूताधिपतिशब्दशार्थान्तरमाह—भूतेति । यो

'ते' ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणा- याश्च व्युत्थायाय भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा

श्रीगोष्ठ है । मतः वै मुमुक्षु पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से ऊपर उठकर फिर भिक्षाचर्या किया करते थे । जो भी पुत्रैषणा है; वह फलतः वित्तैषणा ही है, और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है ।

मयः प्राणेष्यति . 'उक्तवाक्योक्तिजङ्गनं संशयनिवृत्त्यर्थम् । उक्तं हि पूर्वं जनकप्रश्नारम्भे 'कतम भ्रातेति षोडशं विज्ञानमयः प्राणेष्यत्यादि ।

५५—'उक्तेति । तदनुवादस्य 'सशब्दार्थं सवेहापोहं' फलमाह—सद्येति । उक्तवाक्योक्तिजङ्गनमि-
त्युक्तं विवृणोति—उक्त हीति ।

ब्राह्मणोक्त वाक्य वा अनुवाद सशयनिवृत्ति के लिए है । जनक ने प्रश्न भारम्भ मे पहले यही जिज्ञासा व्यक्त की थी—'बह भ्राता कौन सा है, जो प्राणो मे विज्ञानमय है' इत्यादि ।

- १ पूर्व ब्राह्मणा । २ तद्वि ते वि कृतवत् इत्यत आह—ते ह स्मेत्यादि । तथा चोक्तार्थवाद एव प्रव्रजन्ती-
त्यस्य तस्यास्यविविधत्वनिश्चायको विधिमन्तराग तस्थानन्वयादिति भाव । ३ ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तानुबदनम् ।
- ४ वृ उ ४ ३ ७ । ५ उक्तेतीति—तथा चास्योक्तानुवादवात्पूर्वंवादेत एव तदवगमन्तव्यं तत्रैवैतस्य
समाहितत्वादिति भाव । ६ सशब्देति—सशब्दार्थं किमव्यवहितविरजवाक्योक्त परमात्मा भवेद्वधवहितोक्तो
विज्ञानमयो वति सशब्दार्थं सदेहस्वदपोहमित्यर्थं ।

ब्रह्मा श्रुतिम्भूतीतिहस्तपुराणेषु भूषादिसत्रया विज्ञात सोऽस्मिन्वाक्ये भूताधिपतिशब्दोऽप्यते 'हिरण्यगर्भं सम-
वर्ततां भूतस्य जात पतिरेक भ्रामीदिति' ध्रुति स नात्र परमात्मैव तत्प्रकरणात्वादित्यर्थं । 'एष लोकेश्वर
एष लोकपाल' इति माध्यंदिनास्तत्र सोमेश्वरशब्दं व्याकरोति—इन्द्र इति । लोकपालशब्दार्थमाह—बह्मणा-
दीति ॥ यथा परमात्मवेन्द्रान्मना लोकेश्वरस्तथा स एव ब्रह्मणादिरूपेण लोकपालोऽपीत्यत्र हेतु—तथेति ।
जपत्रियप्रभ्रनपालनादिकार्येभ्योन्द्रादौ इदंनानादीश्वरस्य तदयोगात्तत्तद्रूपेण स्थित्वा स एव तत्तत्कार्यं करोतीत्यर्थं ।
एष सेतुविरयान्नवतारयति—प्रनास्तितेति । मर्षादाभारमितति यावत् । द्विलोषोऽपरत्त्वापारणे ॥ परस्मादलोऽपि
कश्चित्प्रशामिताऽस्तु तद्भेदप्रतिषेधेति चेन्नेत्याह—लोकानामिति । प्रशास्त्रिन्तरम्नोऽप्यदात्तमित्यादिना
प्रत्युदत्तामित्यर्थं ॥ परस्मैव प्रशामित्येऽपि क्य सेतुवद्वस्तत्र प्रयुक्तस्तत्राऽह—वर्षेति ॥ परस्य सेतुत्व
एतन्नेत्र साधयितु विधरणविशेषण व्याकरोति—येति ॥ एषामित्यादादत्ते—किमर्थमिति ॥ किं तत्परं वचस्तद-
सभेदायेति शब्दव्याकरोति—प्रसयिन्नति । यपोदिता वर्षाभ्याऽऽभ्रमाभ्र पृथिव्यादयश्च लोका इति यावत् ।
तत्तत्प्रसमसवीर्णं तत्तदधीन कार्यम् ॥

ॐ ते ह स्म पुत्रैषणायाश्चेत्यादि । मत्र वातिकारि—'पुत्रार्थात्तं समुद्दिश्य श्लेषणा दारतग्रह । पुत्रैषणोति
सहात्का यदि वाऽऽलोऽयवैषणा । मनुष्यलोकसंप्राप्तिं समुद्दिश्यास्य वैषणा । पुत्रोत्पत्त्येह तत्राती साऽत्र
पुत्रैषणोऽप्यत्र ॥ दैव च मानुष वित्त कर्मणो यत्प्रयोजकम् । देवतादिपरिज्ञान दैव पश्चादि मानुषम् ॥ ससार-
कारणवन्ति यत्तु ज्ञान विमुक्तिरम् । वित्तयुत्वा न तद्ग्राह्य तस्य कर्मविरोधत ॥ यस्य साधनभावः स्यात्परवृत्तौ
सर्वकर्मणाम् ॥ गतदिरिक्त वित्तत्व तस्य ज्ञानस्य कर्मसु ॥ कर्महेतुविरुद्ध तु न वित्त ज्ञानमिष्यते ॥ कर्मप्रकरणा-
काङ्क्षि ज्ञान कर्मगुणो भवेत् । यदि प्रकरणे यस्य तत्तदङ्ग प्रचक्षते ॥ स्वरूपनाभ्रानेव यत्त्वविद्या

सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते
एषणे एव भवतः । 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न
हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यते-

ये दोनो साध्य-साधन एषणा ही हैं । 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य से बतलाया गया वह यह आत्मा प्रगृह्य है, इसलिये वह अङ्गन नहीं किया जाता । वह अशीर्य है, अतः उसका नाश नहीं होता । वह असंग है, अतएव वह कही ससक्त नहीं होता । वह वही बंधा हुआ नहीं है, इसीलिये वह दुःखी नहीं होता एव

एतद्वर्तं भवति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्वित्यादिना वाष्येन प्रतिपादितः स्वय-
ज्योतिरात्मा स एष कामकर्माधिष्ठानामनात्मधर्मत्वप्रतिपादनद्वारेण मोक्षितः परमात्म-
भावमापादितः पर एत्रायं नान्य इत्येष स साक्षान्महानज आत्मेत्युक्त । योऽयं विज्ञान-
मयः प्राणेष्विति यथाव्याख्यातायं एव । य एषोऽन्तर्हृदये हृदयपुण्डरीकमध्ये य एष

योऽयं विज्ञानमय प्राणेषु प्रागुक्त स एष महाजन आत्मेति जीवानुवादेन परमात्मभावो
'विहित इति वाक्यार्थमाह—एतदिति । परमात्मभावावादानप्रकारमनुवदति—साक्षादिति ।
विशेषणवाक्यस्य व्याख्येयत्वप्राप्त्युक्तवाक्योत्पत्तिरङ्गनात्मधर्मोक्त स्मारयति—योऽयमिति । वाष्या-
न्तरमयतायं व्याचष्टे—य एष इति । कथं पुनराकाशशब्दस्य परमात्मविषयत्वमुपेत्य द्वितीयं

कहने का तात्पर्य यह कि 'जो यह प्राणो मे विज्ञानमय है' इत्यादि श्रुतिवाक्य से जिस स्वय-
ज्याति आत्मा का प्रतिपादन किया गया है, उस इस आत्मा के "काम, कर्म और अविद्या ये अनात्मधर्म
हैं" ऐसा कहकर उन धर्मों से शोभित कर दिया है । "यह परब्रह्म ही है, अन्य (संसारी) नहीं है" ऐसा
कह कर परमात्मभाव प्राप्त करा दिया है । इस प्रकार वही यह साक्षात् महान् अजन्मा, आत्मा है
—ऐसा कहा गया है । 'जो यह प्राणो मे विज्ञानमय है' इस श्रुति की व्याख्या पूर्व मन्त्र (वृ उ
५-३ ७) मे की व्याख्या के समान समझ लेनी चाहिये । "य एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिन्हेते"

१ स एष इत्यादि न रिष्यतीत्यन्त शाकल्यब्राह्मणोक्तार्थकम् । य सूत्राध्यायान्तर्गमित्त्वल्पनाधिष्ठानभूत स
परमरत्मा एष प्रत्यगात्मैव मूलावृत्तब्राह्मण नेति नेतीत्येव मकलोपाधिनिषेधेन निदिष्ट । २ शोभित ।
३ प्राय । ४ एवम् । ५ इत्यस्य । ६ बोधित ।

निर्हित न । न तदङ्ग प्रथम वा ज्ञान स्यात्कर्मण इवचित् । एतद्वलन सन्यास एषणाम्योऽवसीयते ।
देवनाकपन ज्ञानमपरोधेन गम्यते ॥ तार्कपरगाग्रहेणैव विज्ञातमवसिष्ठित । कलोद्देशेन या चेष्टा सैव
नार्कषणा यत् ॥ यत्तु बोधितमित्येव क्रियते कथं निष्कलम् । वित्तैषणैति ता इमः जामित्यदिनिवृत्तया ॥
लोकोद्देशेन या चेष्टा बाधमन वायसाधना । सार्कषणैति सामाहारेणवायविदो जना ॥ क्रियाकारकत्वात्पय
एषणाम्य प्रबोधत । प्रातिसाम्यन यत्स्थान व्युत्थानमिति सिद्धिः ॥ इत्येवमादि व्याख्येय व्याख्यात पूर्वमेव
त । बहोरब्राह्मणे नातस्तद्व्याख्याय मयत् ॥ १११६-११३२ ॥ इति । एतन्त्यादि व्याख्याय ते
हृत्वादी पुत्रैषणाग्राह्यायमाह—पुत्रैति । य प्रसिद्ध पुत्रोत्पत्तिमुद्दिश्य दारसम्बन्धे सा सत्वपरा पुत्रैषणेत्यस्य
युक्तानुवृत्तेति सम्बन्ध । उत्सर्पणान्नो विधान्तरण प्रवृत्ता कथाचिदपणा पुत्रैषणैति पदान्तरमाह—यदि वति ॥

ऽसितो न व्यथते न रिष्टप्रत्ये'तमु ह्वैते न तरत
इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ
ह्वैव एते तरति नैनं कृताकृते तपतः ॥ २२ ॥

उसका नाश भी नहीं होता । केवल इन ब्राह्मजानी को ही ये दोनों (धर्माधर्म संबन्धी) हर्ष-शोक नहीं सताते । इसीलिये मैंने पाप किया है, ऐसा पदचालाप; या मैंने पुण्य किया है, ऐसा हर्ष उसे नहीं होता, किन्तु इन दोनों को वह पारकर जाता है । इस तत्त्ववेत्ता का किया हुआ और न किया हुआ नित्य नैमित्तिकादि कर्म (फल प्रदान और प्रत्यवाय के द्वारा) ताप नहीं पहुँचाते ॥ २२ ॥

आकाशो बुद्धिविज्ञानसंश्रयस्तस्मिन्नाकाशे बुद्धिविज्ञानसहिते शेते तिष्ठति । अथवा
संप्रसादकालेऽनहृदये य एष आकाशः पर एवाऽऽत्मा निरुपाधिको विज्ञानमयस्य स्वस्व-
भावस्तस्मिन्स्वस्वभावे परमात्मन्याकाशाख्ये शेते । अतुयं 'एतद्व्याख्यातं ष्वैव तवा-
ऽभूदित्यस्य प्रतिवचनत्वेन । स च सर्वस्य ब्रह्मेन्द्रादेव्यंशौ । सर्वो ह्यस्य वशे वर्तते ।

व्याख्यानं तस्याप्यन्तरे ष्टष्टवादिवाशङ्कपाऽऽह—अतुयं इति । इत्यमुषतं ज्ञानमनुद्य तत्फलमनु-
ववति—स चेत्यादिना । कथं पुनर्निरुपाधिकस्यैश्वरस्य वशित्वं कथं च "तदभावे तवात्मनो विद्वत्स्त-

अर्थात् हृदयकमल के मध्य जो बुद्ध्याख्य विज्ञानावच्छिन्न आकाश है, उसमें बुद्धि विज्ञानसहित बुद्ध्यादि के साक्षी रूप से स्थित रहता है । अथवा सुषुप्ति अवस्था में हृदयकमल में जो आकाश है यानी विज्ञान-मय का प्रपना स्वरूप निरुपाधिक परमात्मा ही है, उस अपने अपने स्वरूप आकाशाख्य परमात्मा में (एकीभूत होकर) स्थित रहता है । अतुयं ध्याय (बृहदारण्यक के द्वितीय अध्याय) में "यह उस समय कहाँ था" इसके उत्तर रूप में इसकी व्याख्या की जा चुकी है । वह ब्रह्मीभूत विज्ञानमय ब्रह्मा-इन्द्रादि सबका वशी है क्योंकि सभी इसके वश में रहते हैं । इसी को श्रुति कहती है—'हे गर्गी ! इसी अक्षर

१. एतद्रूपस्य सर्वेषणाविनिर्मुक्तस्य किं स्यादित्यत आह—एतमिति । उक्तं परमात्मभूतमात्मविदमिरत्ययः ।
२. बुद्ध्याख्यविज्ञानावच्छिन्नः । ३. अवच्छिन्ने । ४. तिष्ठतीति—बुद्ध्यादिसाक्षिरूपेषु वर्तते इत्यर्थः ।
५. शेते इति—अज्ञानस्यानुपदमादनेकोऽप्यन्तःकरणविधेयपामाभावादेकीभूतो वर्तते इत्यर्थः । ६. वृ. उ. २. १. १७ । ७. स चेति—ब्रह्मीभूतो विज्ञानमय इत्यर्थः । यथा ब्रह्मणो विशेषणत्वं प्रतीचञ्च विशेष्यत्वं तथा ब्रह्मणोऽपि सर्वस्य वशीत्यादिविशेषणविशेष्यत्वार्थं यावयम् । सतुक्तं वातिके—“विशेषणविशेष्यार्थं सर्वस्येति तथा वचः” ॥ १७७ ॥ इति । ८. सर्वस्य वशीत्यस्याप्यन्तरमाह । तद्यथा—“धर्मं वा सकलैर्जीवैर्बुद्धि स्वस्य वशीकृतं । अपत्यंजननी यदस्त्वेतु म्निगया वशीकृतेति” ॥ ९. अद्वैतज्ञानम् । १०. ईश्वरस्य वशित्वामादे ।

विधान्तरं प्रवटयति—मनुष्येति । पुत्रोत्पत्त्या हेतुभूतया मनुष्यलोपात्ताविह पुत्रैर्वायं लोको जय्य इति-
शास्त्रसिद्धा या सामुद्दिश्याज्ञसर्वेषणा साऽस्मिन्वाक्ये पुत्रैरपणोति योजना ॥ वित्तपणान्द्वयंमाह—द्वयं चेति ।
तस्य विनियोगमाह—वर्णनं इति । वित्तद्वयं विभजते—देवतादीति ॥ ब्रह्मज्ञानस्यापि देववित्तान्तर्भाव-
द्वित्तान्द्वेतेति केचित्सांप्रत्याह—संसारोति । वित्तं हि कर्मप्रयोजकं सन्न विनियुक्तमिदं तु तद्विरोधित्वात्

उक्तं चैतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति । न केवलं वशी सर्वस्येशान ईशिता च ब्रह्मेन्द्र-
प्रभूतीनामोशितृत्वं च कदाचिज्जातिकृतं यथा राजकुमारस्य बलवत्तरानपि भृत्यान्प्रति
सद्वन्मा भूदित्याह सर्वस्याधिपतिरधिष्ठाय पालयिता स्वतन्त्र इत्यर्थः । न राजपुत्रवदमा-
त्याद्विभृत्यतन्त्रः । अथमर्प्यतद्विशित्वाविहेतुहेतुमद्रूपम् ।

यस्मात्सर्वस्याधिपतिस्ततोऽसौ सर्वस्येशानः । यो हि यमधिष्ठाय पालयति स तं

दुपपद्यते तत्राऽऽह—उक्तं चेति ।

विशेषणप्रथमस्य हेतुहेतुमद्रूपत्वमेव विशदयति—यस्मादित्यादिना । 'तत्र प्रतिदि-प्रमाण-
यति—यो हीति । न केवलमुक्तमेव विद्याफल किरवन्पञ्चास्तौत्याह—किंचेति । एवंभूतत्व 'ज्ञातपर-

की आशा मे सूर्य और चन्द्रमा नियमित रूप से चलते हैं' इत्यादि । केवल वशी ही नहीं, धत्कि
"सर्वस्येशान" अर्थात् ब्रह्मा इत्यादि पर शासन करने वाला है । प्रशासन कभी-कभी जन्म से भी होता
है । जैसे राजकुमार का बलशाली नौकरो पर भी शासन हुआ करता है, उसके समान यहाँ न हो ।
इसलिये श्रुति कहती है—'सर्वस्याधिपति' अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय करने में स्वतन्त्र है ।
राजपुत्र के समान मन्त्री और भृत्यो के अधीन नहीं है । (परमात्मा के लिए प्रयुक्त) ये बलित्वादि
तीनों विशेषण हेतुहेतुमद्रूप हैं ।

क्योंकि यह सब का अधिपति है, इसलिए सब का ईशान है । जो जिसका अधिष्ठाता होकर

१ वृ उ ३ ८ ६ । २ उत्पत्तिस्थितिलयेषु । ३ मर्वाधिपते सर्वेशानत्वे । ४ ज्ञातो य परमात्मा
तदभिप्रत्यम् ।

सच्छब्दाहमित्यर्थः ॥ देवताविज्ञानस्यापि तर्हि ब्रह्मज्ञानवन्न सच्छब्दत्वेत्यामद्वय विशेषमाह—अस्तेति । गर्ता-
देरितेत्याहवनीयरूपादि इत्याह्यते । यद्वा गर्तकण्ठवादेव्यावहारिकस्य कर्महेतुत्वात्त वित्तत्वं नैवं प्रकृतस्य
ज्ञानस्त्वेति व्यतिरेको गवादेरित्येति पाठान्तरम् ॥ ब्रह्मज्ञान वित्तधुर्या न ब्राह्म कर्मविरोधित्वादित्युक्तमनुभाषते
—कर्मैति ॥ ब्रह्मज्ञानस्य कर्मतद्धेतुविरुद्धत्वमित्यह कर्माङ्गत्वादाज्यावेशणवदित्याह ब्रह्माऽह—कर्मैति । तत्र
हेतु—पट्टीति । विनियोजकप्रमाणभावात्तदे कर्माङ्गमित्यर्थः ॥ ब्रह्मत्वाभावेऽपि प्राधान्येन ज्ञानस्य कर्मणि
सबन्ध स्यादिति चेन्नेत्याह—स्वरूपेति । क्वचिदिति स्वरूपे फले वेत्यर्थः ॥ ब्रह्मज्ञानस्य कर्मविरोधित्वात्
वित्तत्वमित्युक्त्वा तत्रैव हेत्वन्तरमाह—एतदिति । अतो नास्य वित्तत्वेन त्यागोऽस्तीति शेषः । ब्रह्मधीवदुपास्ति-
मपि हित्वा ज्ञानान्तर वित्तधुर्या ब्राह्ममित्याह ब्रह्माऽह—देवलोकेति । यस्य साधनभाव स्यादित्यत्र कर्म-
प्रयोजक ज्ञान वित्तमेवेत्युक्तमिह नूपास्तिरपीति विशेषो न हि यद्योक्तकन ज्ञानमेव एतातोऽप्यन्तर पितृ-
भोकादिकलस्य कर्मदेरपि तथात्वापत्तेरिति भावः ॥ लोकीपणाशब्देन वित्तपणाशब्दस्य फौनकस्य शङ्कने—
लोकेति । तेनैव वित्तपणा गृहीता लोकसाधनत्वेन वित्तस्य लोकीपणायामन्तर्भावमिद्वेदिरिति योजना । अन्तर्भावं
साधयति—फलेति । अतो लोकीपणाशब्देनैव लोकसाधनसर्वप्रकारकर्मग्रहादिसगन्धेनापि तदपहे पुनरुक्ति-
रित्यर्थः ॥ अर्थभेद वर्णयन्परिहरति—यस्त्विति । निष्फल विद्युद्देशस्थफलविकलासिति यावद् । वित्तशब्देन
नित्य कर्म तत्साधन च पुनरिति परिहाराय ब्राह्ममित्यर्थः ॥ लोकीपणाशब्दायंमाह—लोकेति । काय्य कर्म
तत्साधन चात्र विवक्षितमिति न फौनकस्यमित्यर्थः ॥ व्युत्पायत्यत्र पट्टत्वर्थमाह—त्रियेति ॥ अथेत्यादिव्याय
प्रत्याह—इत्येवमादीति । व्याख्याप्रकार गृह्यन्त प्रत्याह—व्याख्यातमिति ॥

प्रतीष्ट एवेति प्रसिद्धम् । यस्माच्च सर्वस्येशानस्तस्मात्सर्वस्य वशीति । किञ्चान्यत्स एवंभूतो हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषो विज्ञानमयो न साधुना शास्त्रविहितेन कर्मणा भूयान्भवति न यधंते पूर्वावस्थातः केनचिद्धर्मण । नो एव शास्त्रप्रतिपिद्धेनासाधुना कर्मणा कनीयान्-
त्पतरो भवति पूर्वावस्थातो न हीयत इत्यर्थः । सर्वो ह्यधिष्ठानपालनादि कुर्वन्परानु-
ग्रहपीडाकृतेन प्रमायमास्थेन युज्यतेऽस्यैव तु कथं तदभाव इति । उच्यते—यस्मादेव
सर्वेश्वरः 'सन्कर्मणोऽपीशितुं भवत्येव शीलमस्य तस्मान्न कर्मणा संबध्यते । किंचैव'
भूताधिपतिर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानामधिपतिरित्युक्तार्थं पदम् ।

एष भूतानां तेषामेव पालयिता रक्षिता । एव सेतुः । किंविशिष्ट इत्याह विधरणो
वर्णाश्रमादि व्यवस्थाया विधारयिता । तदाहैवां भूरादीनां ब्रह्मलोकान्तानां लोकानाम-
सभेदायासंभिन्न मर्यादायं । परमेश्वरेण सेतुवदविधायंमाराणां लोकाः संभिन्नमर्यादाः स्युः ।

मात्माभिन्नत्वम् । परिसुद्धत्वमर्थमनुवर्तत—हृदीति । ब्रह्मीभूतस्य विदुषः स्वातन्त्र्यादिवद्धर्मधर्मस्पर्शि-
त्वमपि फलमित्यर्थः । अधिष्ठानादिकर्तृत्वाद्बिदुषोऽपि लौकिकवद्धर्मदिसमन्वित्वं स्यादिति
शङ्कते—सर्वां हीति । परतन्त्रत्वमु'पाधिरिति परिहरति—उच्यत इति । सर्वाधिपत्यराहित्यं चोपा-
धिरित्याह—किंचेति ।

सर्वपालकत्वरहित्यं चोपाधिरित्याह—एष इति । सर्वानाधारत्वं चोपाधिरित्याह—
एष इति । कथं विधारयितृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तदाहेति । तदेव साधयति—परमेश्वरेणेति ।

पालन करता है, वह उस पर शासन करता ही है । क्योंकि सब पर शासन करता है, इसलिए सबका
वशी है । तथा पुनः वह इस प्रकार हृदयस्थित ज्योति स्वरूप विज्ञानमय पुरुष "साधुना" अर्थात् शास्त्र
विहित कर्म से "न भूयान्" अर्थात् अपनी पूर्वावस्था की अपेक्षा किसी धर्म से बढ नहीं जाता; न ही
"असाधुना" अर्थात् शास्त्रप्रतिपिद्ध कर्म से "कनीयान्" अर्थात् भ्रष्टतर होता है । पूर्वावस्था से
विकारभाव को प्राप्त नहीं होता । अधिष्ठान और पालनादि करने वाले सभी लोग दूसरो पर अनुग्रह
से धर्म एवं पीडा पहुँचाने से अप्रमार्थ्य फल से युक्त होते हैं, इस आत्मा को वे फल क्यों प्राप्त नहीं
होते । इसे ही श्रुति कहती है—क्योंकि वह सर्वेश्वर है, अत इसका स्वभाव कर्म का शासन करने वाला
भी है । इसलिये कर्म से इसका संबन्ध नहीं होता । तथा यह प्रत्यगात्मा "भूताधिपतिः" अर्थात् ब्रह्मा से
लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त भूतो का अधिपति है—इस प्रकार इस पद का अर्थ पहले जा चुका है ।

यह ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी भूतों का (सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करने से) रक्षिता है ।
यह सर्वलोक व्यवस्था के लिये सेतु के समान है । वह किन विशेषणों से विशिष्ट सेतु है ?—"विधरणः"
अर्थात् वर्णाश्रमादि व्यवस्था का विधारक है । इसे श्रुति कहती है—"एषा लोकानाम्" अर्थात् इन

१. वर्तते तस्मात् । २. प्रत्यगात्मा । ३. ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानाम् । ४. सत्तास्फूर्तिप्रदानेन । ५.
सेतुरिति—सेतुरिव सेतुः । तदुक्तं वार्तिके—"यथोदकप्रवाहस्य सेतुविधरणस्तथा । सर्वलोकव्यवस्थानां सेतु स
परमेश्वर" ॥ १०१५ ॥ इति । ६. आदिना भूरादिलोकग्रह । ७. मर्यादायाः । ८. असभेदायेति—
तथा चासभेदकत्वेन विधारयितृत्वमिति भावः । ९. मर्यादास्तकारायेति यावद् । १०. उक्तानुमाने ।

'अतो लोकानामसंभेदाद्य सेतुभूतोऽयं परमेश्वरो यः - स्वयं, ज्योतिरारम्भेव । 'एवंविरम्भस्य यशोत्यादि ब्रह्मविद्यायाः फलमेतन्निदिष्टम् । * किञ्चोतिरयं पुरुष' इत्येवमादिषुप्रपाठक- विहितायामेतस्यां ब्रह्मविद्यायामेवंफलायां 'काम्यैकदेशवर्जितं कृत्स्नं कर्मकाण्डं तादृश्यं

सर्वस्य यशोत्यादिनोक्तमुपसहरति—एवंविदिति । सफलं ज्ञानमनूय विविदिषावाक्यमदत्तारयति—किञ्चोतिरिति । एवंफलामां सर्वस्य यशोत्यादिनोक्तफलोपेतायामिति यावत् । तादृश्यं

भूरादि लोकों से ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों के "असंभेदाय" यानी मर्यादा असंकर के लिये । यदि परमात्मा सेतु के समान चोकों का विचारण न करे तो उनको मर्यादा भंग हो जाय । इसलिये लोकों की मर्यादा ब्रह्मरूण बनाये रखने के लिए सेतुभूत यह परमात्मा है, जो स्वयंज्योतिरारम्भ ही है । "इस प्रकार जानने वाला सबका यशो है" यह श्रुति ब्रह्मविद्या के फल का निर्देश करती है । "यह पुरुष किस ज्योतिरिति वाना है" इस प्रकार पण्ड प्रपाठक (उपनिषत् के चतुर्थे अध्याय) में विहित इस प्रकार फल वाली ब्रह्मविद्या में काम्यकर्मरूप एक देश को छोड़कर दोष सारा वर्मकाण्ड (घोषुद्वि द्वारा

१. अतः—अतोऽयंदातेमित्यादिना विचारयित्तरत्स्य प्रयुज्जतत्वादित्यर्थः । २. एवंविदिति—स वा एष महानज इत्यादि श्रुत्याऽनूचितमेतदप्यायोक्तं ब्रह्मात्मैक्य वस्त्वेवशाब्दार्थः । ३. कृ. उ. ४. ३. २ । ४. काम्यैकदेशोत्यादिविशेषण सयोगपृथक्त्वन्यायमवधीर्येति पूर्वं टीकोक्तं न प्रसन्नतव्यम् ।

* नि ज्योतिरित्यादि विनियुज्यते इत्यन्तभाष्यमनाहुर्वातिनाचार्यास्तथाहि—“एव सावत्समसेन पट्टाप्यायोक्तमादरात् । श्रुत्याऽनूचाखिल वस्तु सत्याप प्रतिपत्तये ॥ उपगतं यथा सर्वो वेदोऽयं प्रतिपद्यते ॥ तन्मतिनिर्वाक्येन तदेतवभिधीयते ॥ एत विविदिषन्पुत्रं वेदानुवचनानिदिभिः । उपयैरीश्वर साक्षादपेतासोपक्त्वमन् ॥ स्वातन्त्र्येसोराविषया बुभुत्साऽप्यतिदुर्लभा । गम्यते तदुपायानां विधानाद्यन्तः श्रुती ॥ विनियोगप्रयत्नाच्च कर्मविज्ञानकाण्डयो । गम्यते भिन्नवाक्यत्वं नैत्र विनिधोगी ॥ यदुभुत्साऽपि दुप्यापा बद् एतत्त्वबोधनम् । ततोऽपि दुर्लभतरमुपायाल्लभ्यते कृत ॥ बुभुत्सामात्र एवामी वेदानुवचनदयः । विनियुक्ता यतस्तस्मान्मते तज्ज्ञानसिद्धये । अत एव श्रुतियल्लाच्छ्रमादीनेव बक्षयति । उपायानात्प्रयायत्स्यविज्ञानाय यमात्कात् ॥ बुभुत्सासाधनेष्वेयु वेदानुवचनविद्यु । अधिकाशोऽविशेषेण ह्यायमाणा मयायुति ॥ यथायोग यथाशब्द तदुभुत्साप्रसिद्धये । सर्वान्शरमी कार्मा वेदानुवचनदयः” ॥ १०१८-१०२७ ॥ इति । वृत्तमनूय विविदिषावाक्यसात्वर्थमाह—एव तावदिति । वस्तु ब्रह्मात्मैक्यमिति यावत् । श्रुत्या स वा एष महानित्यादिकयेत्यर्थः । अखिलं पूर्णमित्येतत् । तस्यैवैक्योक्तिः । तत्प्रतिपत्तेरुपायापेसाद्योतकोऽयंशब्दः ॥ वेदशब्दं कर्मकाण्डार्थं ॥ विविदिषावाक्यसात्वर्थमनुत्वा तदक्षराणि योजयति—एतमिति । साक्षाद्विविदिषन्तीति संबन्धः । उक्तं विरज्ज परभाकाशादित्यादावित्यर्थः । ईश्वरमित्यज्ञातस्य प्रतीचो विविदिषाविषयत्वं सूचयति । तस्यैव निरुपाधिक नित्यमुक्त रूपमाह—अपेतेति ॥ प्रतीचि ज्ञानेच्छाया लीङ्गिनेच्छातो विशेषमाह—स्वातन्त्र्येणेति । सोक्तिवी सावदिच्छा सोभनार्थधीकृता मुलभा प्रत्यविषया तु पुरुषस्य स्वातन्त्र्येण बुभुत्साऽपि न गम्यते तज्ज्ञानं तु सुतरामित्यर्थः ॥ विविदिषादीर्लभ्यस्य गमकमाह—तदुपायानामिति । बहुभाष्योपग्यासो यत्नः ॥ विविदिषावाक्यालोचनया सिद्धमर्माह—विनियोषेति । यत् काण्डयोरीक्याक्यत्वं कैश्चिदुक्तं तदुभुत्स तयोभिन्नवाक्यत्वमेव हि गम्यते कर्मणा विविदिषायं विनियोगे वाप्यतत्पर्यदर्शनात् च काण्डयोरीक्यैक्येऽपि तेषां तत्र विनियोगीकर्तृत्वा तद्विनियोगे लब्धविविदिषस्य कर्मत्यागप्रसङ्गादेकवाक्यत्वानवकाशादित्यर्थः ॥ इत्य-

विनियुज्यते । 'तत्कथमित्युच्यते—तमेतमेवंभूतमोपनिषदं पुर्यं वेदानुवचनेन मन्त्र-
ब्राह्मणाद्ययनेन नित्यस्वाध्यायलक्षणो विविदिपन्ति वेदितुमिच्छन्ति । के । ब्राह्मणाः ।
ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणार्थम् । अविशिष्टो ह्यधिकारस्त्रयाणां वर्णनाम् । 'अथवा कर्म-
काण्डेन मन्त्रब्राह्मणेन वेदानुवचनेन विविदियन्ति । कथं विविदिपन्तीत्युच्यते यज्ञेने-
त्यादि' । -

ये पुनर्मन्त्रब्राह्मणलक्षणो वेदानुवचनेन प्रकाश्यमानं विविदिपन्तीति व्याचक्षते

'परम्परया ज्ञानोत्पत्तिशेषत्वेनेत्यर्थः । विनियोजक वाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमादाय व्याचक्षते—तत्कथ-
मित्यादिना । एवंभूतं श्लोकोक्तविशेषणमित्यर्थः । ब्राह्मणशब्दस्य क्षत्रियाद्युपलक्षणत्वे
हेतुमाह—अविशिष्टो हीति । सभावितं पक्षान्तरमाह—अथवेति । 'तेन विविदिपाप्रकारं प्रश्नपूर्वकं
विवृणोति—कथमित्यादिना ।

भर्तृप्रपञ्चप्रस्थानमृत्याप्य प्रत्याचक्षते—ये पुनरित्यादिना । तत्र हेतुमाह—न हीति ।

परम्परया ज्ञानोत्पत्तिके लिए विनियुक्त होता है । वह किस प्रकार ? इसे बतलाया जाना है—“तमेतम्”
अर्थात् इस श्रौपनिषद पुरुष को “वेदानुवचनेन” अर्थात्—नित्य स्वाध्याय लक्षण मन्त्र-ब्राह्मण ग्रन्थों के
अध्ययन से “विविदिपन्ति” अर्थात् जानने की इच्छा करते हैं । कौन करते हैं ? ब्राह्मण । यहाँ ब्राह्मण
ग्रहण क्षत्रिय और वैश्य का भी उपलक्षण करने के लिए है क्योंकि ब्रह्मात्मावबोधन में ब्राह्मण, क्षत्रिय
और वैश्य इन तीनों वर्णों का समान रूप से अधिकार है अथवा मन्त्रब्राह्मणात्मक कर्मकाण्डरूप
वेदानुवचन से उस ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं । कैसे जानने की इच्छा करते हैं ? इस पर
‘यज्ञेन’ इत्यादि मन्त्र से कहा जाता है ।

किन्तु जो (भर्तृप्रपञ्चादि विचारक) इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि मन्त्र ब्राह्मणरूप
वेदानुवचन के द्वारा प्रकाश्यमान आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं । उनके अनुसार उपनिषद्मात्र

- १ तत्कथमिति—निष्कृत कर्मकाण्ड निष्कृतविद्याया कथं विनियुज्यत इति प्रश्नार्थः । २ क्षत्रियवैश्ययोः ।
- ३ ब्रह्मात्मावबोधने । ४ वेदानुवचनशब्दस्यार्थान्तरमाह—अथवेति । मन्त्रब्राह्मणात्मक यत्कर्मकाण्ड
तद्रूपवेदानुवचनेत्यर्थः । ५ यथोक्तकर्मकाण्डद्वारा यथाद्यनुष्ठानेनेत्यर्थः । ६ आत्मानमिति शेषः । ७
धीयुद्धिद्वारेत्यर्थः । ८ यथोक्तकर्मकाण्डेन ।

विषया बुभुत्साऽशीत्यनार्पिना सूचितमर्थमाह—यदिति ॥ कर्मणा विविदिपाया विनियोगोक्तिमनुसृत्य काण्ड-
योरेकवाक्यत्वाभावमुक्त्वा विनियोगोक्तिवशादेव लब्धमर्थान्तरमाह—बुभुत्सेति ॥ विविदिपासाधनान्यव
कर्माणं न ज्ञानसाधनानीत्यत्र बान्धशेषस्थानुप्राहकत्वमाह—प्रत इति । 'अहिंसासत्यास्तयब्रह्मचर्यपरिग्रहा
यमा' इति योगसूत्रानुसारेण धामादीन्विचिन्तयि—यमात्प्रकानिति ॥ अस्तु बुभुत्सासाधनान्यव कर्माणं केपा
पुनस्तेष्वधिकारस्तत्राऽह—बुभुत्सेति । अविशेषेणोति च्छेदः । तेषां तत्र स्वामित्वेन योग्यत्व हिंसाश्चाद्यं ।
बर्णाश्रमकर्मव्यवस्था तर्हि दुःस्था स्यादित्याशङ्क्याऽह—यथायुतीति । येन वर्णानाऽऽश्रमण वा यत्कर्म
शास्त्रवशाद्युज्यते ता युक्तिमतिरुच्यं तस्य तस्मिन्नधिकृतिरित्यर्थः ॥ तत्र प्रपञ्चयति—यथायोगमिति । तद्-
बुभुत्सा प्रत्यग्विविदिपा ॥

तेषामा'रण्यकमात्रमेव वेदानुवचनं 'स्यात् । न हि कर्मकाण्डेन परं आत्मा प्रकाशयते' । तं त्वोपनिषदमिति विशेषश्रुतेः । वेदानुवचनेनेति चाविशेषितत्वात्समस्तप्राहीदं वचनम् । न च तदेकदेशोत्सर्गो युक्तः । ननु 'त्वत्पक्षेऽप्युपनिषद्वर्जमित्येकदेशतयं स्यात् । नाऽऽद्यव्याख्यानेऽविरोधादसंमत्पक्षे नैव दोषो भवति । यदा वेदानुवचनशब्देन नित्यः स्यादध्यायो विधीयते तदोपनिषदपि परिगृहीतंवेति वेदानुवचनशब्दार्थेकदेशो न परित्यक्तो भवति । यज्ञादिसहपाठाच्च' ।

यज्ञादीनि कर्माण्येषां नुक्रमिष्यन्वेदानुवचनशब्दं प्रयुङ्क्ते । 'तस्मात्कर्मैव वेदानु-

भवतूपनिषन्मात्रग्रहणमित्याशङ्क्य 'वेदो वाऽनूच्यते गुरुज्ञान्तरानन्तरं पठ्यत इति ध्रुवत्त्वेवेदानुवचनशब्देन सर्ववेदग्रहे सम्भवति तदेकदेशत्वागो न युक्त इत्याह—वेदेति । दोषसाम्यमाशङ्कते—नन्विति । सिद्धान्तेऽप्युपनिषदं वर्जयित्वा वेदानुवचनशब्दे कर्मकाण्डं गृहीतमिति कृत्या तस्य वेदेकदेशविषयत्वं स्यात्तत्र—

“यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।

नैकः "पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे" ।

इति न्यायविरोध इत्यर्थः । नित्यस्याध्यायो वेदानुवचनमिति पक्षमादाय परिहरति—नेत्यादिना । वेदेकदेशपरिग्रहपरित्यागात्मकविरोधाभावं साधयति—यदेति । "तर्हि ध्याख्यानान्तरमुपेक्षितमित्याशङ्क्य तदपि वाक्यशेषवशावपेक्षितमेवेत्याह—यज्ञादीति ।

संग्रहवाक्यं विवृणोति—यज्ञादीनि कर्माणीति । तर्हि प्रथमध्याख्याने कथं वाक्यशेषोपपत्ति-

ही वेदानुवचनं है क्योकि कर्मकाण्ड से परमात्मा (परोक्ष या अपरोक्ष रूप से) प्रकाशित नहीं होता । जैसा कि "मैं उस उपनिषत् प्रतिपादित पुरुष के विषय में पूछता हूँ" यह श्रुति है । किन्तु "वेदानुवचनेन" यह पद विशेषणयुक्त न होने से समस्त वेदो का ही ग्रहण करने वाला है ; उसके एक (कर्मकाण्ड) भाग को छोड़ देना उचित नहीं है । (दोषसाम्य की शङ्का की जाती है—) किन्तु सुम्हारे मत में भी उपनिषत् को न ग्रहण कर एकदेशत्व ही जाता है । (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसी बात नहीं है । पहले व्याख्यान में कोई विरोध न होने के कारण हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं होता है । जब 'वेदानुवचन' शब्द से नित्यस्वाध्याय का अभिधान किया जाता है तो उसमें उपनिषत् का समावेश हो जाता है, इससे वेदानुवचन शब्द में अर्थ का एकदेश नहीं छूटता । यज्ञादि के साथ पाठ होने से भी इस प्रकार की अर्थ व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है ।

यज्ञादि वर्गों को अनुक्रम से ही दिखाते हुए श्रुति 'वेदानुवचन' शब्द का प्रयोग करती है ।

१ उपनिषन्मात्रम् । २ स्यादिति—तथा च सर्ववेदवाचि वेदानुवचनपक्षेऽप्रामाणिक एव सङ्कोच इत्यस्यादिति भावः । ३ परोक्षत्वनापरोक्षत्वेन वा । ४ अथवेत्यादिना त्वदुक्तद्वितीयपक्षे । ५ अभिधीयत इति पाठान्तरम् । ६ ध्याख्यानान्तरमप्युपेक्षितमनेति शेषः । ७ अनुक्रमेण वदिष्यन्वेद । ८ यज्ञादिसाहचर्यात् । ९ कर्मकाण्डमेव । १० वेदो वेति—वेदस्यानुवचनमिति श्रुत्युत्तिसमपेक्ष्यास्याभ्युत्पत्त्यन्तरत्वाद्वागव्य इति ध्येयम् । ११ अर्थः । १२ प्रष्टव्यम् । १३ तर्हि—निर्दोषत्वेन प्रथमध्याख्यानेऽङ्गीकृते ।

वचनशब्देनोच्यते इति 'गम्यते । 'कर्म हि नित्यस्वाध्यायः । कथं पुनर्नित्यस्वाध्याया-
द्विभिः कर्मनिरात्मानं विविदियन्ति । 'नैव हि तान्यात्मानं प्रकाशयन्ति यथोपनिषदः ।
नैव दोषः—कर्मणां विशुद्धिहेतुत्वात् । कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्त्या-
त्मानमुपनिषत्प्रकाशितमप्रतिबन्धेन वेदितुम् । तथा ह्याश्वर्ये—“विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं
पश्यते निष्कलं ध्यायमानः” इति । स्मृतिश्च “ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः”

रित्याशङ्क्याऽऽह—कर्म हीति । वेदानुवचनादीनामात्मविषयविद्यासाधनत्वमाक्षिपति—कथमिति ।
उपनिषद्विरवाऽऽत्मा तैरपि ज्ञायतानित्याशङ्क्याऽऽह—नैवेति । कर्मणामप्रमाणत्वेऽपि परम्परया
ज्ञानहेतुत्वाद्द्विविदिषाद्युतिरविशुद्धेति समाधत्ते—नैव दोष इति । तदेव स्फुटयति—कर्मनिरिति ।
‘तत्र श्रुत्यन्तरं प्रमाणयति—तथा हीति । ततो ऋनित्याद्यनुष्ठानाद्विशुद्धधीरात्मानं सदा चिन्तयन्नुपनि-

यज्ञादिसाहचर्यं होने से बर्माकाण्ड ही 'वेदानुवचन' शब्द से कहा जाता है, इस प्रकार जाना-जाता है
क्योंकि नित्यस्वाध्याय भी वाचिक कर्म है । (यहाँ शङ्का होती है—) किन्तु नित्यस्वाध्यायादि कर्मों
से आत्मा को जानने की इच्छा किस प्रकार करते हैं । (प्रमाण प्रमेय का प्रकाशक हुआ करता है—)
क्योंकि वे तो उपनिषदों के समान आत्मा को प्रकाशित नहीं करते । (इसका समाधान किया
जाता है—) ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है क्योंकि कर्म वित्तशुद्धि के हेतु हैं । कर्मों से संस्कृत हुए
विशुद्धात्मा पुरुष ही उपनिषदों में प्रकाशित आत्मा को बिना किसी प्रतिबन्ध के देख सकते हैं ।
प्राथम्येण मुण्डकोपनिषत् में कहा है—“जब विशुद्धान्तःकरण वाला पुरुष ध्यानान्वसित हो उस निष्कल
ब्रह्म को देखता है” । स्मृति कहती है—“पापकर्मों के क्षय हो जाने से मनुष्यों को ज्ञान उत्पन्न होता
है” इत्यादि ।

१ सकोचिऽमगते गमनमिदमिति भावः । २ कर्म हीति—नित्यस्वाध्यायोऽपि वाचिक कर्मवेति न साह-
चर्यानुपपत्तिरिति भावः । ३ नैव हीति—प्रमाण हि प्रमेयप्रकाशक भवति कर्मणां चाप्रमाणत्वात्नैव
तत्प्रकाशकत्वमिति भावः । ४ यथाऽऽस्तं तले प्रखे परत्यात्मानमात्मनीति स्मृतिदोषः । ५ तत्र बर्माभि
शुद्धबुद्धेर्विविदियोर्ज्ञानमित्यत्रैतपर्यः ।

ऋ नित्याद्यनुष्ठानादिति—आदिना काम्य कर्मं गृह्यते । तथा च वार्तिके—“संसारानर्भहेतुत्वज्ञानायैव च
कर्मणाम् । काम्यानामिह निर्देशस्तजिज्ञासाप्रसिद्धये ॥ यदा विविदिषार्थं त्व काम्यानामपि कर्मणाम् ।
तथेतिमिति वाक्येन सयोगस्य पृथक्त्वत्” ॥ १०५१-१०५२ ॥ इति । गुडिद्वारा मुक्तिपन्नोपामवाश्रित्य-
कर्मणांमुक्तमपुमर्थात्नव्यमुक्त्वा काम्यकर्मणा तदन्वयप्रकारमाह—समावेति । यदा वेदे काम्यानि कर्माण्युक्तानि
गर्भवामाद्यनर्भहेतवो ज्ञायन्ते तदा तेषु जिह्वास्तोत्रवर्तते ततश्च निमाचनुष्ठानात्परिशुद्धिबुद्धेर्विविदिषादिद्वारा
मुक्तिरिति युक्ता तेषामपि प्रवृत्तपन्नान्वयितेत्यर्थः ॥ तेषां विधानान्तेरेण मोक्षाव्यवित्त्वं सव्यवस्थान्मोक्तं स्मारयति
—येति । कथं तानि फलान्तरोद्देशेन विहितानि विविदिषायामुपयुज्यन्ते तत्राऽह—मयोगस्येति ॥
'एकस्य स्रुभयत्वे सयोगपृथक्त्वम्' (जै. सू. ४. ३. ५) इति जैमिनीयसिद्धान्तानुसृतम् । सयोगो वाक्य तस्य
पृथक्त्व भेद एकस्योभयार्थत्वे नियामक इति तदर्थः । यथा दध्ना जुग्यादिति फलतपुक्तवाच्येन ब्रह्मत्वेन
विहितस्यापि दध्ने दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यनेन फलाय विधानात्पुरुषार्थत्वमपि भवति । तथा ज्योतिष्टो-
भादीनां स्वर्गाश्रयत्वेन विहितानामपि यज्ञेनत्यादिविविदिषावाक्येन विविदिषासाधनत्वमपि स्यादेवेति ॥

इत्यादिः ।

कथं पुनर्नित्यानि कर्माणि संस्कारार्थानीत्यवगम्यते "स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेजेनाङ्गं संस्क्रियत इदं मेजेनाङ्गमुपधीयते" इत्यादिश्रुतेः । सर्वेषु च स्मृतिशास्त्रेषु कर्माणि संस्कारार्थान्येवाऽऽवक्षतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्कारा इत्यादिषु । गीतासु च—

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः" ॥

इति । यज्ञेनेति 'ब्रह्मयज्ञो ज्ञानयज्ञोऽच संस्कारार्थाः । संस्कृतस्य च विशुद्ध-

पद्भिस्त पश्यतीत्यर्थः । आदिशब्देन 'कथायपक्तिरित्यादिस्मृतिसंग्रहः ।

नित्यकर्मणां संस्कारार्थत्वे प्रमाणं पृच्छति—कथमिति । यद्यपि श्रुतिस्मृतिभ्यां कर्मभिः संस्कृतस्थोपनिषद्भिरात्मा ज्ञातुं शक्यते तथाऽपि तेषां संस्कारार्थत्वे किं प्रमाणमिति प्रश्ने श्रुतिस्मृती प्रमाणमिति—स ह वा इत्यादिना । किं पुनः स्मृतिशास्त्रं तदाह—अष्टाचत्वारिंशदिति । अष्टावनामासादयो गुणाश्चत्वारिंशद्गर्भाधानादयः संस्कारा इति विभागः । बहुवचनोपात्तं स्मृत्यन्तरमाह—गीतासु चेति । पदान्तरमादाय व्याचष्टे—यज्ञेनेतीति । तेषां संस्कारार्थत्वेऽपि कथं ज्ञानसाधनत्वमित्याशङ्क्याऽह—संस्कृतस्येति । दानेन विविदियतीति पूर्वेषु सबन्धः । कथं पुनः

किन्तु नित्यं कर्म चित्तशुद्धि के लिए है, यह कैसे जाना जाता है ? (इसका समाधान देते हैं—) वही आत्मयाजी है, जो इस प्रकार जानता है कि "इस कर्म से मेरे अन्तःकरण का संस्कार होता है, तथा इस कर्म से मेरे पुण्य की वृद्धि होती है" इत्यादि श्रुति इसके जानने के प्रकार में प्रमाण है । सभी स्मृतिशास्त्रों में कर्मों को चित्तशुद्धि के लिए ही बतलाया गया है । संस्कार भवतातीस हैं । गीता में भी कहा गया है—

"यज्ञ, दान और तप मनुष्यों को पवित्र करने वाले हैं, "यज्ञों के द्वारा जिसके पाप नष्ट हो

१ स ह वा इति—अनन कर्मणा मेऽङ्गम् अन्त करण सस्त्रियते उपधीयते पूर्णनोपधीयत इति विदित्वा यः कर्मं चरति स आत्मशुद्धयर्थं यज्ञप्राप्तमयाजी स च देवयाजिन काम्यकर्तुं श्रेयानिति ध्युत्यर्थं । २ अष्टाचत्वारिंशदिति—तत्र अनायास, अनसूया, दया, शीघ्रम्, माङ्गल्यम्, अकार्षण्यम्, असृष्टा, अन्नाष्टि, इत्यष्टावात्मगुणा अनायासादयः । हुत, प्रहृतम्, ध्यातम्, शूलगव, बलिहरणम्, प्रत्यवरोहणम्, अष्टकाहोमः, इति सप्तपाकयज्ञा । आग्न्याधानम्, अग्निहोत्रम्, दशगुणमासी, चातुर्मास्यानि, आश्रमण्येष्टि निरुद्धपशुवन्ध, शीघ्रामणि, इति सप्तहविर्व्यञ्जा । अग्निष्टोम, वाजपय, उक्थ, योडशी, अतिरात्र, अतोयामि, इति सप्तसोमयज्ञसंस्था । अग्निष्टोमानन्तरमत्यग्निष्टोमो दृष्टव्यः । गर्भाधानम्, पुंसवनम्, सोमन्त, विष्णुवलि, जातकर्म, नामकरणम्, उपनिष्क्रामणम्, अन्नप्रासादम्, अर्णवेद्य, शीलम्, अक्षरस्वीकरणम्, उपनयनम्, व्रतम्, समावर्तनम्, विवाह, उपाकर्म, उत्सजनम्, बानप्रस्थम्, सन्यास. इत्येकोनविंशतिरितरे । ३ इत्ययत्त—यथासास्त्रं इत्यपरित्यागः अष्टापूर्तदत्ताख्यं कर्मैति यावत् । ४ न्यायन वेदान्तार्थनिष्प्रया ज्ञानयज्ञः । ५ "कथायपक्तिः कर्माणि ज्ञान तु परमा गतिः । कथाय कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञान प्रवतत" ॥ इति समग्रम् । ६ श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यत्र विहितैरिति शेषमन्ति गुरुपादाः । अथ तु दास्यत इत्यनन्तरमित्यवगतमिति शेषमन्त्यहं मन्महे ।

सत्त्वस्य ज्ञानोत्पत्तिरप्रतिबन्धेन भविष्यत्यतो यज्ञेन विविदिषन्ति दानेन । दानमपि पापक्षयहेतुत्वाद्धर्मवृद्धिहेतुत्वाच्च । तपसा तप इत्यविशिषेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्राप्ती विशेषणमनाशकेनेति । कामानशनमनाशकं न तु भोजननिवृत्तिः । भोजननिवृत्तौ त्रियत एव नाऽऽत्मवेदनम् ।

'स्वतन्त्र दानं विविदिषाकारणमत आह—दानमपीति । विविदिषाहेतुरिति शेषः । तपसेत्यत्रापि पूर्ववदन्वयः । कामानशनं रागद्वेषरहितंरिन्द्रियोवियसेवेन यहच्छालाभसंतुष्टत्वमिति यावत् । 'यथा-श्रुतार्थत्वे का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति ।

गये है, वे सभी लोग यज्ञ का स्वरूप जानने वाले हैं" इत्यादि ।

'यज्ञ' इस पद से द्रव्ययज्ञ (इष्टापूर्तं दत्ताख्य कर्म) तथा (वेदान्तार्थनिश्चयरूप) ज्ञान-यज्ञ का ग्रहण करना चाहिये; ये सस्कार के प्रयोजक हैं । सस्कारयुक्त विगुह्य अन्तःकरण वाले पुरुष को बिना किसी प्रतिबन्ध के ज्ञान की प्राप्ति होगी, इसलिए यज्ञ और दान द्वारा उसे जानने की इच्छा करते हैं । दान भी पापक्षय एवं धर्मवृद्धि द्वारा ज्ञान का हेतु है । "तपसा" अर्थात् तप से सामान्यतः कृच्छ्रचान्द्रायणादि का ग्रहण ही जाता है । इसी से 'अनाशकेन' यह विशेषण दिया गया है । राग-द्वेष रहित होकर इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करना कामानशन है; भोजन की निवृत्ति करना नहीं । भोजन छोड़ देने से तो मनुष्य मर ही जाता है, इससे कोई आत्मज्ञान नहीं होता ।

१ पापक्षयादिद्वारेति यावत् । २ द्वार किञ्चिदनपक्ष्य । ३ सकल्पपूर्वकमानरणमशनवर्जनार्थत्वे ।

ऽन तु भोजननिवृत्तिरिति । अत्राहुर्वातिककारपादास्त्याहि—“नियमाद्ब्रह्मसपातसहनं तप उच्यते । तस्यापि वृद्धिसमुद्दिहेतुत्व शास्त्रतो मतम् । विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म तपसेवेति च श्रुतिः । तपसा कल्प हन्तीत्यपि च स्मृतिशासनम् । यद्दुस्तर यद्दुराप यद्दुग यच्च दुष्करम् । सर्वं तत्तपसा साध्य तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ अनाशक चानशन कामानशनलक्षणम् । रागद्वेषवियुक्तस्तु विषयानिवि चाऽऽह हि ॥ कामानशनबोधार्थं वेदध्यासोऽपि यत्नतः । मृत्यन्त वा सनिवम तदप्यत्यन्तशुद्धिकृत् ॥ प्रत्यग्विविदिषामात्रहेतुत्वात् मृतेभ्यम् । अनेकजन्मसिद्धस्ततो यातीति च स्मृतेः । भावितैः करणैश्चाय बहुसत्सरोनिषु । आसादयति शुद्धात्मा मोक्ष र्त्वं प्रथमाश्रमे ॥ पृथुदकादितीर्थेषु तथाच मरण स्मृतौ । श्रूयते मुक्तये साक्षात् भयं स्यादतो मृते ॥ साक्षात् वस्तुविज्ञाने श्रुत्या यत्र नियुज्यते । विद्वान्परिहरेत्तत्र मृतिहेतु प्रयत्नतः ॥ चतुर्णामाश्रमार्णा वा वेदानु-वचनादिना । श्रुत्येह ग्रहण ज्ञेय तद्व्युत्पासप्रसिद्धये ॥ ब्रह्मचर्यान्तवाक्येन ब्रह्मचारिपरिग्रहः । तपसा तापमस्यैव यज्ञेन दृष्टिएस्तथा ॥ यद्वानाशकवाक्य तु सर्वार्थमिति गम्यते । एतमेव विदिवेति पारिजात्र च यद्यति ॥ सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते सेव्यमाना यथाविधि । यथोक्तकारिण विप्र नयन्ति परमा गतिम् ॥ चतुर्विंशत्यनैरेभिर्यथा-धास्त्रमनुष्ठितं । अत्यन्त क्षेममाप्नोतीत्यापस्तम्बोऽप्यभाषत” ॥ १०५४-१०६७ ॥ इति । तत्र शब्दार्थनाह—नियमादिति १ रागादिनिमित्तवशेषाहृण्युष्यवच्छेदार्थं नियमाविरुक्तम् । शास्त्रोपपारलोकिकजपोपवासादि-विविधवादिति यावत् । तेन कथं विविदिषासिद्धिस्तत्राऽऽह—तस्यापीति ॥ तदेवेवाहरति—विजिज्ञासस्त्वेति अन्वयव्यतिरेकरूप तपोऽत्र विवलिषमित्याशङ्क्य चशब्दसूचिता स्मृतिमवतारयति—तपसेति ॥ तत्रैव स्मृत्यन्तर-माह—यदिति । दुस्तर दुष्परिहृर कुम्भीपाकादिदुःखम् । दुरापमानुनशक्य स्वर्गादियुषम् । दुर्गमवगन्तुमशनय-

वेदानुवचनयज्ञवानतपःशब्देन सर्वमेव नित्यं कर्मोपलक्षयते । 'एवं काम्यवर्जितं नित्यं कर्मजातं सर्वमात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधनस्य प्रतिपद्यते । 'एवं कर्मकाण्डेना'स्ये-

भयंस्तुपात्तानां वेदानुवचनादीनामित्यपारणे जाने विनियोगस्तथाऽपि कथं सर्वं नित्यं कर्म तत्र विनियुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—वेदानुवचनेति । उपलक्षणेनकाह—एवमिति । 'प्रणाश्रया कर्मणो मुक्तिहेतुस्ये काण्डद्वयस्यैकवाक्यस्यमपि सिध्यतीत्याह—एव वर्मेति । यावद्यान्तरमवतारं व्याकरोति—एवमिति । 'तस्यैवार्थमाह—यद्योक्तेनेति । यज्ञाद्यनुष्ठानाद्विशुद्धिद्वारा विविदिषोत्पत्तौ गुरुपादोप-

वेदानुवचन, यज्ञ, दान और तप इन शब्दों से सम्पूर्ण नित्यकर्म उपलक्षित होता है । (उपात्त के उपलक्षक होने पर) इस प्रकार काम्यवर्जित सम्पूर्ण नित्यकर्म आत्मज्ञानोत्पत्ति के द्वारा मोक्ष के साधन होते हैं । इस प्रकार कर्मकाण्ड से इस ज्ञानकाण्ड की एकवाक्यता हो जाती है । इस प्रकार यथा-

- १ उपात्तस्योपलदाकत्वे सति । २ भवतरणोत्तरवान् । ३ ज्ञानकाण्डस्य । ४ श्रुत्या । ५ परम्परया ।
६ एवमर्थस्य ।

भास्मादि । दुष्कर वर्तुमदाक्यमश्रमेधादि । तपसा सर्वस्य साध्यत्वे हेतुमाह—तपो हीति । तपसा हि कृष्ण-समवेनाम्भोनिधिः सहसा बुभुक्षीकृतस्तत्र तस्य माहात्म्य सुवचमिति भावः ॥ अनाशकशब्दायंमाह—अनाशकं चेति । रागद्वेषाभिनिवेशातिरेकेण परिमितशास्त्रीयविषयनिषेधमनाशकमित्यत्र मानमाह—रापेति ॥ इन्द्रियमनोनिग्रहस्य प्रसादादिकलवचनं यत्न । अनाशकशब्दस्य प्रसिद्धिमनुष्णपानोष्णान्तरमाह—मृत्यन्तमिति । नियमेन सक्त्येन सहितं मरणान्तमचानवर्जनमनाशकमित्यर्थः । किं तेनेति तदाह—तदपीति ॥ शुद्धिद्वारा विविदिषाहेतुत्व तस्य न मिथ्यमिति जीवतो हि शुद्ध्यादिसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यमिति । अनाशकस्याऽऽत्म-विविदिषाभावात्हेतुत्वात् त्वैहिकविविदिषा तन्निग्रयोत्तौ मृतिप्रयुक्तमनाशकस्यापत्तत्वं नाऽऽशङ्कनीयं जन्मान्तरे तस्य तदनुत्वादित्यर्थः । ऐहिकमपि साधनं जन्मान्तरविविदिषाद्वारा मुक्तिहेतुरित्यत्र मानमाह—अनेवेति ॥ सर्वानाथमाननुष्ठितवतो जन्मान्तरेऽपि मुक्तिरिति नियमं निराकुर्वन्वाक्यान्तरमाह—भावितैरिति ॥ यद्यपि वार्तमानिक यज्ञादि जन्मान्तरे शुद्ध्यादिद्वाराप्युक्तं तथाऽपि कथं विधिः मरणं तथेत्याशङ्क्याऽऽह—युद्धवका-योति । आदिपदेन प्रयागादिग्रहः । स्मृतौ 'ब्रह्मज्ञानेन मुच्यन्ते प्रयागमरणेन वे'त्याद्यामिति । तथाच मृति-वृत्तमनाशकस्याफलत्वविषयं भयं नास्तीति फलितमाह—नेति ॥ सर्वैरपि तर्हि शुभुशुभिरनदानं मरणान्तमनुष्ठेयं तनुत्तस्तेषां श्रवणादिविविधिरित्याशङ्क्याऽऽह—साधादिति । यत्र ज्ञानमुद्दिश्य श्रवणादौ श्रोतव्यादिश्रुत्या पुरुषो निमुच्यते तत्र कर्मस्य साधनचतुष्टयप्रसन्नो मरणकारणमनदानं दूरादेव त्यजेत्तज्जानान्तरं चाऽऽद्विधेयं मृतिहेतुमिति विशेषणाच्छुद्ध्यादिसमर्थस्तु मरणान्तमनदानं मरणप्रत्ययेयात्त्वपदार्थविवेकायेत्यादिरमृतेरित्यर्थः ॥ वेदानु-वचनादिशब्दानां कर्मपरत्वमुक्त्याऽऽश्रयमविषयत्वमाह—चतुर्थांमिति ॥ वेदानुवचनादिरूपमा श्रुत्या किमित्य-स्मिन्वाक्ये ब्रह्मणामश्रवाणाभित्याशङ्क्याऽऽह—तदिति । सर्वेषामप्याश्रमाणां व्यवधानाभ्यवधानान्मा प्रत्यग्विवि-दिषामाधिकारायं तेषां ग्रहणमित्यर्थः ॥ केन शब्देन कस्याऽऽश्रमस्य ग्रहणमित्येषायां माष्यदिनपाठमनुत्त्व विभागमाह—ब्रह्मचर्यांतेति । 'तप्तं वेदानुवचनेन ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपमाज्जा-शक्तेनेति' हि ते पठन्ति । तथाऽपि अयास्यामेवाऽऽश्रमाणांमिह ब्रह्मश्रुतयश्चिन्मद्योतिशब्दाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—एतमेवेति ॥ वेदानुवचनादिविधानामाश्रयमविषयत्वं वदता विविदिषाद्वारा मोक्षोपापत्वमाश्रमाणापुक्तं तत्र प्रमाणाह—सर्वैःपीति ॥ दोषशब्देन मोक्षं ब्रह्मोत्पत्त्यन्तविशेषणम् ॥

कथाश्रयतावगतिः । एवं यथोक्तेन न्यायेनैतमेवाऽऽत्मानं विदित्वा यथाप्रकाशितं मुनिर्भवति मननान्मुनिर्योगी भवतीत्यर्थः । एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति 'नान्यम् । ॐ नन्वन्ववेदनेऽपि मुनिस्त्वं स्यात्कथमवधार्यत एतमेवेति । 'बाहमन्ववेदनेऽपि मुनिर्भवेत् । कित्वन्ववेदने न मुनिरेव स्यात्क तर्हि इभ्यंपि भवेत्सः । एतं त्वोपनिषद पुरूपं विदित्वा

संपरं श्रयणादि चेत्यनेन क्रमेणेत्यर्थः । यथाप्रकाशितं 'मोक्षप्रकरणे मन्त्रब्राह्मणस्यामुक्तलक्षण-मित्यर्थः । योगिशब्दो जीवन्मुक्तविषयः । एषकारं ध्याकरोति—एतमेवेति । श्रवधारणमाक्षिप्य समाधत्ते—मन्वित्यादिना । एषकारस्तर्हि त्वय्यजानित्वाशङ्क्याऽऽह—कित्विति । प्राप्तमवेदनेऽपि कर्मत्वं स्यादिति चेन्नेत्याह—एत त्विति । कथमात्मविदोऽपि मुनिस्त्वमसाधारणं तदाह—एतस्मिन्निति । इत-

विधि से इस आत्मा को जान कर मोक्ष प्रकरण मे प्रकाशित लक्षणानुसार मुनि हो जाता है । मनन करने से मुनि या योगी होता है, यह इसका अर्थ है । इसे जानकर ही मुनि होता है; कर्मादि अनात्म-पदार्थों को जानकर नहीं । (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु मुनि तो अन्व वस्तु के ज्ञान से भी हो सकता है, फिर यह क्यों कहते हो कि इतना मात्र जानने से मुनि होता है । (समाधान देते हैं—) ठीक है । दूसरे को जानने से भी मुनि हो सकता है किन्तु अन्व को जानने से केवल मुनि ही नहीं होगा, बर्मा भी होगा । इस उपनिषद पुरूप को जानकर तो केवल मुनि ही होगा; बर्मा नहीं । इसलिये

१ कर्मादिकमनात्मवर्गम् । २ सत्यम् । ३ अथाकामयमान इत्यादौ ।

ॐ नन्वन्ववेदनेपीत्यादि व्रत पुन इत्यत प्राप्तनभाष्ये वातिबान्पुण्यस्यन्ते—“य सं विविदिपन्त्युर्च्यंयंपोर्त्तं साधन परम् । एतमेव विदित्वाऽथ मुनि स्यात्प्राग्यचोदित ॥ पाण्डित्यबाह्ययोनिष्ठा मुनित्व प्रागवादिपम् । सर्वैर्भगंमुचा मस्मान्तरताधारण तत ॥ योगस्य च समस्तस्य प्रत्यग्विज्ञानजग्मने । उपयोगो यतस्तस्मात्प्रा-ऽऽत्मज्ञानोदयात्पर ॥ समाधीश्वेन विद्याया साध्यानि वतस्तत । मुक्तोऽन्यासिनरतस्तस्यान्मुनित्व निष्प्रमाण-कम् ॥ मननात्मकमेवावश्य धम ना-यधतरतत । मुनित्व न्यासिनो मुषत भौताच्छापरय सर्वदा ॥ प्रत्यग्यायात्म्य-विज्ञाननिष्ठता मुनिता यत । तज्ज्ञानजग्मनो नोर्ध्वं मुनिता तत्फलत्वत ॥ एतमेवेत्यवधुतेरस्यैवैकस्य वस्तुन । तदज्ञानं हेतुत्वात्सर्वस्यानात्मवस्तुन ॥ सामर्थ्याच्च ततोऽप्येव प्रत्यग्यायात्म्यवेदिन । मुनित्व प्रत्यगज्ञानहेतु-कर्मविषयज्ञानम् ॥ किंचतमेवमात्मानं सार्थानर्थैर्बन्धारणम् । मोहमात्रव्यवहितमाप्तुमिच्छन्त भादरात् ॥ आत्म-याथात्म्यविज्ञानसर्वाविद्योपमदिना । सम्प्रज्ञानप्रदीपेन प्रत्यनप्रवरणमुद्धय ॥ विरक्ता सर्वसंभारादापजादुबुद्धि-सुद्धित ॥ उत्पन्ननिरित्तानर्थतित्यक्षा दोषदर्शनात् ॥ बाहमन कायवर्भभ्योऽत प्रयज्ञाशीलिनः ॥ एतमेवेत्यव-धुतेनं शोभयकागिनाम् ॥ पारिश्राज्यधिभारोऽस्तीत्ययमर्षोऽजगम्यते ॥ समाधारणसाध्यानि पुत्रादीनि यथा तथा । पुत्रादिकामत्यागोऽपि रयादसाधारण्योऽर्थवान् ॥ परस्परविरोधाच्च परतत्प्रत्यक्कलात्मनाम् । पुत्रादि-साधनाना च तत्यागस्य च वर्तमनः ॥ पूर्वं तमुद्रे य पन्था न स गच्छति पत्रिमम् ॥ एव पन्था हि मोक्षरयेत्यपि व्यासोऽपि चावदत् ॥ प्रसाजिनोऽत्र गृह्यन्ते प्रसिद्धैर्यदि वा परे । भिदण्डिन समाख्यायास्तेष्वेवातिप्रसिद्धित ॥ पराञ्चि स्तानीत्यादीनि धीतानि च वचासि न । तानि वा इति निन्दित्वा न्यासो ब्रह्मेति शासनात् ॥ उपायो न्यास एवात प्रत्यगज्ञानस्य जग्मने । प्रत्यग्यायाविच्छेदात्मनोवाकयवर्भगाम् ॥ शब्दादिप्रवृत्तीन्वेव धार्याणि बरणाणि च । प्रत्यग्यानाय नैवात्मतरतानि विरापत ॥ आत्मज्ञोऽपरिपन्थो तस्मात्साधनमुत्तमम् । त्याग एव हि विज्ञेय मनोवाकयवर्भगाम् ॥ प्रसिद्धाय सुतादीनि, यथा सोऽत्रवादिनाम् । नियतानि तदपेवेह

मुनिरेव स्यान्न तु कर्मा । 'प्रतोऽसाधारणं मुनित्वं विवक्षितम'स्येत्येवधारयत्येतमेवेति ।
'एतस्मिन्ह विदिते केन कं पश्येदित्येव क्रियासंभवामननमेव स्यात् । किञ्चतमेवा-
ऽऽत्मान स्वं लोकमिच्छन्तः प्रार्थयन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजनशीलाः प्रव्रजन्ति प्रकर्षेण
व्रजन्ति सर्वाणि कर्माणि संन्यस्यन्तीत्यर्थः ।

आऽऽत्मविदो न कर्मत्वमित्याह—किञ्चेति । आत्मलोकमिच्छन्ना मुमुक्षूणामपि कर्मत्यागश्रवणादा-
त्मविदां न कर्मतेति किं वक्तव्यमित्यर्थः । ताच्छील्यं वैरग्यातिशयशालित्वम् ।

(आत्मवेत्ता मे कर्मत्व वा अभाव होने से) यहाँ (प्रत्यम् याथात्म्य जाता) असाधारण मुनि विवक्षित
है । इसी से निर्णय किया जाता है—'उस आत्मा को जानकर (मुनि होता है)'' इत्यादि । "इसके
जान लेने पर कौन किसे देवे" इस श्रुति के अनुसार वहाँ किया होनी असम्भव होने पर केवल मनन
ही होगा । तथा "एतमेव" अर्थात् इसी अपनी आत्मा के लिए लोक को "इच्छन्त" अर्थात् जानने
की इच्छा वाले "प्रव्राजिन" अर्थात् अखिल समाज से विरक्त होकर "प्रव्रजन्ति" अर्थात् पूर्ण रूप
से सन्यासी हो जाते हैं, अर्थात् सभी कर्मा का सन्यास कर देते हैं ।

१ आत्मविद कर्मत्वाभावात् । २ न तु सर्वश्रमसाधारणम् । ३ प्रत्यग्यायात्म्यविदः । ४ शीप-
निपदपुरुषे । ५ विविदिपन्तः । ६ प्रव्रजनशीला भारद्वाजलोकमल्लिससाराद्विरक्ता प्रत्यवप्रवणबुद्धय
इति यावत् ।

प्रत्यग्लोकातिमिच्छताम् ॥ सर्वकर्मपरित्याग साधन परम मतम् । असभवे हि कर्माणि विधीयन्तेऽस्य सर्वतः ॥
रागादाहृषेयतस्त्वान्न चेच्छन्नोत्पशेषतः । कर्माणि मानवस्त्यक्तुं स करोतु यथाविधि । कर्माणि कर्मसत्याग-
सामर्थ्यात् दिवानिशम् । न कर्मणाग्नारम्भात्तथा च स्मृतिगासनम् ॥ आरुष्योमुनेयोगे बभूव कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव श्रम कारणमुच्यते" ॥ १०६८ १०६९ ॥ इति । एतमेव विदित्वत्यादेरर्थमाह—ममिति ।
आत्मवेदनमुनिभावबोरोव्यवधानार्थमथेत्युक्तम् । प्राणिति विविदिपावाक्योक्तिः । यथोदितः प्रत्यग्विविदिपा-
वानित्यर्थः । तात्पर्यवत्त्वमुच्येतित्युच्यते ॥ प्रत्यञ्च विविदिपुस्तमेव विदित्वा ज्ञानी भवतीत्युक्तम् । इदानी-
मात्मवेदानामुनित्व सर्वश्रमसाधारण विविदिपा हि श्रवणादिद्वारा ज्ञानहंतु सा च सर्वश्रमसाधारणी दमितेत्या-
दाहृष पञ्चमोस्त स्मारयति—प्राणित्यति ॥ किञ्च कर्मणा विविदिपाद्वारा दुरोपकारित्वाज्ज्ञानाद्रूपमयोगा-
त्वमत्यागिनामेव ज्ञानितेत्याह—योगस्यति । कर्मण इति यावत् । परो योग इति शेषः ॥ यदि कर्मणाज्ञानो-
त्पद्युपायत्वमिष्टं तर्हि कर्मिणोऽपि मुनित्वं तत्राऽऽह—समादीनीति । अन्तरङ्गसाधन विद्यायां समादिर्वहिरङ्ग-
साधन कर्मात् संयासिनामेव ज्ञानितेत्यर्थः । तेषामपि न ज्ञानित्वं स्वाश्रमकर्माक्षितचित्तत्वादित्यागद्वेषाऽऽह—
मननेति । सत्याग्निनो हि कर्म वेदान्तानामैकविषयमैदपर्यं निश्चित्य तस्यैव तात्पर्यविषयस्य श्रौतयुक्त्यवशम्भेना-
गवर्तमनुसंधानमेव न सन्निरुपि कर्मात्तरं धौचादीनां वाधितानुवृत्तिमाश्रवात्तरतस्तस्य मुक्ता मुनितेत्यर्थः ।
सततमतिनियतवापादिख्यापारम्बाञ्च तस्य मुनित्वं युक्तमित्याह—मीनाश्चति ॥ अन्ये तु शब्देत्यङ्गज्ञान-
मात्रात् मुनित्वं तस्य समुद्रपरोक्षत्वात्तदभ्यासोत्पसासात्कारापेक्ष सन्निति मन्वन्ते तान्प्रत्याह—प्रत्यगिति ।
आत्मस्वरूपविषय आश्रमज्ञान साक्षात्कारफलकमेवोत्पद्यते तथाविधज्ञानलाभो मुनित्वं तस्य फलरूपत्वात्त-
दाहृषज्ञानोत्तरकामन्यासहृत्तसाक्षात्काररूपेणैव मुनित्वं न दाहृषमित्यर्थः ॥ इतश्च सत्यागिनामेव मुनितेति
वक्तुमेवकार व्याकरोति—एतमिति । प्रवधारणे हेतु—सञ्जानेति ॥ अस्त्वेव प्रस्तुते किं जातं तदाह—

एतमेव लोकमिच्छन्त इत्यवधारणात् बाह्यलोकत्रयेऽनुने पारिव्राज्येऽधिकार इति गम्यते । न हि गङ्गाद्वारं प्रतिपित्तुः काशीदेशनिवासे पूर्वामिमुखः प्रेति । तस्माद् बाह्यलोकत्रयाथिनां पुत्रकर्मापरब्रह्मविद्याः साधनम् । “पुत्रेणायं लोको जयते नान्येन कर्मणा” इत्यादिश्रुतेः । अतस्तदर्थिभिः पुत्रादिसाधनं प्रत्याख्याय न पारिव्राज्यं प्रतिपत्तुं युक्तम् । अतस्ताधनत्वात्पारिव्राज्यस्य । तस्मादेतमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति युक्तमव-

अवधारणसामर्थ्यसिद्धमयमाह—एतमेवेति । पारिव्राज्ये लोकत्रयाधिनामनधिकारे दृष्टान्तमाह—न हीति । लोकत्रयाधिनश्चेत्पारिव्राज्ये नाधिक्रियन्ते कुत्र तर्हि तेषामधिकारस्तत्राऽऽह—तस्मादिति । स्वर्गकामस्य स्वर्गसाधने यागेऽधिकारबललोकत्रयाधिनामपि तस्माधने पुत्रादावधिकार इत्यर्थः । पुत्रादीनां बाह्यलोकसाधनत्वे प्रमाणमाह—पुत्रेणेति । पुत्रादीनां लोकत्रयसाधनत्वे सिद्धे, कलितमाह—अत इति । अतस्ताधनत्वं लोकत्रयं प्रत्यनुपायत्वम् । अवधारणार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । लोक-

“इसी लोक के जानने की इच्छा करने वाले” ऐसा निश्चय करने से जाना जाता है कि अनात्मभूत बाह्य तीनों लोको के इच्छुक के लिए परिव्रजन (संन्यास) में अधिकार नहीं है । काशीवासी गङ्गाद्वार यानी हरद्वार पहुँचने के लिए पूर्वदिशा की ओर नहीं चलता । अतः बाह्य लोकत्रय के इच्छुक के लिए पुत्र, कर्म और अथवा ब्रह्मविद्या साधन है । “यह लोक पुत्र से ही जीता जा सकता है, अन्य कर्म से नहीं” इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है । इसलिए उसके चाहने वालों के लिए पुत्रादिसाधन को छोड़कर परिव्रजन करना उचित नहीं है क्योंकि परिव्रजन उनका साधन नहीं है । अतः इसी लोक की इच्छा करने वाले सर्व कर्मों को छोड़ देते हैं—यह निर्णय करना ही ठीक है । अविद्या;

- १ अनात्मभूतलोकैति यावत् । २. गङ्गाद्वारमिति—अथत्वे हरिद्वारं हरद्वारमिति वा प्रथमानम् । ३. अवतरणोक्तत्वात् । ४ वृ उ १. ५ १६ ।

सामर्थ्याच्चेति । आत्मेव वस्तुनात्मा तदविद्याजन्यस्ततो वस्तुस्वरूपाभिज्ञस्यैव ज्ञानसामर्थ्याद्विज्ञानकृतकर्मत्यागसिद्धेस्तस्यैव मुनितेरथर्षः ॥ तत्रैव हेतुन्तरत्वेनोत्तर वाक्यमादत्त—किञ्चेति । प्रकृतमात्मानं शुद्धार्थविद्याराऽऽनुमादरादिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति सवन्धः । आत्मन सदाऽऽस्तत्वात्त्वयमाभीच्छेत्यागङ्गुयाऽह—सर्वेति ॥ तदाप्युपायमाह—आत्मेति । आत्मनो आशक्त्यनेव विज्ञाने तत्र सर्वत्रकारादिद्विविधप्रशस्ततासामातदुपमदिसम्बन्धज्ञानसंज्ञो दीपस्तेनाऽऽमानमाचुमिच्छन्तीति योजना । प्रव्राजिन इत्यस्य तात्पर्यमाह—प्रत्यगिति ॥ कथं स्वभावतो विषयाभिमुखानां प्रत्यवप्रावण्य पराञ्चि खान्तीति हि श्रुतेस्तत्राऽह—विरक्ता इति । नित्यकर्मनुष्ठानसिद्धिषुद्विषयवैराग्यस्य विषयदोषोसहकृतस्य फलमाह—उत्पन्नेति ॥ प्राप्तसर्वमसारत्यागेच्छानामिच्छाकार्यमाह—वागिति । यस्मादीदृशा मुमुक्षवोऽतः प्रत्यवप्रावणबुद्धयः प्रव्रजन्तीति सवन्धः । एवकारार्थं दर्शयन्तेतमेव लोकमित्यादिभाष्यार्थमाह—एतमिति ॥ विरक्तस्य पारिव्राज्यमुक्त्वा तस्यैव पारिव्राज्यं ज्ञानद्वारा मुक्तिहेतुरित्येतददृष्टान्तेनाऽह—प्रसाधारणेति ॥ पुत्रादिसाधनसमुच्चितस्य पारिव्राज्यस्य कुतो न मोक्षहेतुतेत्याशङ्क्याऽह—परस्परैति । मिथो विरोधे दृष्टान्तमाह—पूर्वइति । पारिव्राज्यस्यैव केवलस्य कैवल्यहेतुतेत्यत्र वृद्धसमतिमाह—एक इति । श्रोतार्थे स्मृतिसमुच्चयार्थमपि चेत्युक्तम् । ध्रुविशब्दसत्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तममित्यादिवाक्यसमुच्चयार्थः ॥ प्रव्राजिनः प्रव्रजनशीला मुमुक्षव इत्येवपरत्वेन व्याख्यातयिदानीं तस्यैवार्थान्तरमाह—प्रव्राजिनोऽनेति । प्रसिद्धेरिति हेतुं स्फुटयति—समाख्याया इति । मुमुक्षवस्त्रिदण्डिनः पारमहंसि

धारणम् । आत्मलोकप्राप्तिर्ह्यविद्यानिवृत्ती स्वात्मन्यवस्थानमेव । तस्मादात्मानं चेत्यलोक-
मिच्छति यस्तस्य सर्वक्रियोपरम एवाऽऽत्मलोकसाधनं मुख्यमन्तरङ्गम् । यथा पुत्रादिरेव
बाह्यलोकप्रयस्य । पुत्रादिकर्मण आत्मलोकं प्रत्यसाधनत्वात् । असंभवेन च विरुद्ध-
त्वमवोचाम । 'तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रयजन्त्येव सर्वक्रियाभ्यो निवर्तरेन्नेवेत्यर्थः ।

त्रयायिनां पारिव्राज्येऽनधिकारादिति यावत् । आत्मलोकस्य स्वरूपत्वेन सदाप्रत्यात्कर्यं तत्रेच्छेत्प्राश-
ङ्ग्याऽऽह—आत्मेति । तस्याऽऽत्मत्वेन नियमप्राप्तयेऽप्रविद्यया व्यवहितत्वात्प्रेष्या सम्भवतीति भावः ।
भवत्वात्मलोकप्रेप्सा तथाऽपि किं तत्प्राप्तिसाधनं तदाह—तस्मादिति । अविद्यावशात्तद्विषयासंभवा-
दित्यर्थः । तद्विच्छाया बौलेभ्यो द्योतयितुं चेच्छब्दः । 'गुणस्यं श्रुत्यक्षरप्रतिपन्नत्वम् । प्रनाटिका-
साधनेभ्यो वेदानुवचनादिभ्यो विशेषमाह—ग्रन्तरङ्गमिति । पारिव्राज्यमेवाऽऽत्मलोकस्यान्तरङ्ग-
साधनमिति हृष्टान्तमाह—यथेति । तथा पारिव्राज्यमेवाऽऽत्मलोकस्य साधनमिति शेषः । पारिव्राज्य-
मेवेति नियमे हेतुमाह—पुत्रादीति । तस्यान्यत्र विनियुक्तत्वादिति शेषः । यद्यपि केवल पुत्रादिकं
नाऽऽत्मलोकप्रापकं तथाऽपि पारिव्राज्यसमुच्चित तथा स्वाविरत्याशङ्क्याऽऽह—प्रसभवेनेति । न हि परि-
व्राजकस्य पुत्रादि तद्वतो वा पारिव्राज्यं संभवति । उपतं च समुच्चयं निराकुर्वद्भिः 'सपरिकरस्य ज्ञानस्य
कर्मादिना विरुद्धत्वं तेन' कुतः समुच्चित पुत्राद्यात्मलोकप्रापकमित्यर्थः । साधनान्तरासंभवे फलितमुप-

निवृत्तिपूर्वकं स्वात्मा मे स्थिति ही आत्मलोक की प्राप्ति है । इसलिये आत्मलोक की ही इच्छा है,
ससके लिए सर्वविध कर्मानुष्ठान से उपरत होना ही आत्मलोक का मुख्य और अन्तरङ्ग साधन है ।
जिस प्रकार धनात्मभूत बाह्य तीन लोको के साधन पुत्रादि ही है क्योंकि पुत्रादि कर्म आत्मलोक के
लिए साधन नहीं हैं । दोनों का एक साथ होना असंभव है—इसलिये इन्हे परस्पर विरुद्ध बतलाते

१ तस्मात्—आत्मलोक प्राप्ति पारिव्राज्यव्यतिरेकेण साधनान्तराभावात् (प्रसभवात्) । २. "दान्ती दान्त"
इत्यादिरपि श्रुति । ३ अन्तर । ४ ससाधनस्य । ५ विरुद्धेन ।

नृति गृह्णन्तीति भाव ॥ कर्मिणामेव तेषां विवक्षितज्ञानलाभात्किं पारमहंस्येनेत्याशङ्क्य बहिर्मुक्तानां कर्मिणां न
ज्ञानमित्यत्र मानमाह—पराञ्चीति । पारमहंस्यमेव अन्त्यर्गधीहेतुरित्यत्र श्रौत लिङ्गमाह—तानीति । न्यास इति
ब्रह्मा ब्रह्मा हि परं परो हि ब्रह्मैत्युक्त्वा तानि वा एवान्यवराणि तपसीति प्रकृतानि सत्यादीनि निन्दित्वा
न्यास एवात्परेचयदिति परमहंससंन्यासस्यातिशयित्वोपदेशात्तस्य तत्त्वज्ञान प्रत्यन्तरङ्गत्व निश्चितमित्यर्थः ।
वाङ्मन कायकर्मणा संन्यास एवेति सर्वत्र ॥ अदधारणे हेतु—प्रत्यमिति ॥ विरोधं नाधयति—शब्दादीति ।
देहेन्द्रियाणि भौतिकत्वाप्रत्यनिरोधोनि न सज्ज्ञानमुत्पादयितुमुत्सहन्ते तत्कार्यत्वात्कर्माण्यपि तथैवेत्यर्थः ॥
कर्मत्यागो ज्ञानहेतुरित्युक्तमुपसहरति—आत्मेति । तस्य ज्ञानसाधनत्व श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धमिति हिंसाद्वयं ॥
तदेव व्रजन्तेन स्पृश्यति—प्रतिसाध्यमिति । इहेति प्रतीचो लोकास्थाऽऽतिरुक्ता ॥ कर्मत्यागो ज्ञानसाधन चेत्तर्हि
पञ्चप्रसालनग्यायात्कर्मविषयैर्धर्ममित्याशङ्क्याऽऽह—असंभवे हीति । अविरेकस्य संन्यासासंभवे सति सर्वतो
वैराग्योत्पत्त्यर्थं बुद्धिफलानि कर्माणि विधीयन्ते तस्मात्त पञ्चप्रसालनन्याय इत्यर्थः ॥ तदेव प्रपञ्चयति—
रागादीति । कर्मणा सत्यागे सामर्थ्यं बुद्धिबुद्धिद्वारा वैराग्यं तदर्थमिति यावत् ॥ अज्ञत्याविरक्तस्य कर्मानुष्ठान-
मित्यत्र मानमाह—नेति ॥ तर्हि कर्मिणामेव साक्षान्नेष्कर्म्मसाधनत्व भगवतो मतमिति शान्तिकर्मणि वेतालो-
क्यस्तत्राऽऽह—प्राहुरोरिति । योगसाधनेन चित्तबुद्धिज्ञानोदयो बोध्यते ॥

यथा च बाह्यलोकरथायिनः प्रतिनियतानि पुत्रादीनि साधनानि विहितान्येवमात्मलोकायिनः सर्वेष्वपनिवृत्तिः पारिव्राज्यं ब्रह्मविद्यो विधीयत एव ।

कुतः पुनस्त आत्मलोकायिनः प्रव्रजन्त्येवेत्युच्यते । तत्राथंवादवाक्यरूपेण हेतुं दर्शयति । एतद्ध स्म वै तत् । तदेतत्पारिव्राज्ये कारणमुच्यते—ह स्म वै किल पूर्वोऽतिक्रान्तकालीना विद्वांस आत्मज्ञाः प्रजा कर्मापरब्रह्मविद्यां च । प्रजोपनक्षितं हि त्रयमेतद्बाह्यलोकरथायसाधनं निर्विद्यते प्रजामिति । 'प्रजां किं न' कामयन्ते पुत्रादिलोकत्रयसाधनं नानुतिष्ठन्तीत्यर्थः । नन्वपरब्रह्मदर्शनमनुतिष्ठन्त्येव । तद्वलाद्धि द्युत्थानम् । 'नापवादात् । ब्रह्म तं परावाद्योज्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म चैव सर्वं तं परादावित्परब्रह्मदर्शनमप्यपवदत्येव ।

बंहरति—तस्मादात्मानमिति । प्रव्रजन्तीति वर्तमानापदेशान्नात्र विधिरस्तोत्याशङ्क्याग्निहोत्रं जुहोतीतिबद्धिधियाश्रित्याऽऽह—यथा वेति ।

पारिव्राज्यविधिपुष्यत्वा तदपेक्षितमर्थवाचमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थापयति—कुतः पुनरिति । उत्थापितस्यार्थवादस्य तात्पर्यमाह—तत्रेति । आत्मलोकायिनां पारिव्राज्यनियमः सप्तम्यर्थः । अर्थवादस्यान्यकाराणि व्याचष्टे—तदेतदिति । 'क्रियापदेन स्मेति सवच्यते । निपातद्वयस्यार्थमाह—किलेति । प्रजां न कामयन्त इत्युत्तरत्र संबन्धः । प्रजामात्रे भुते कथं कर्माविं पृच्छते तत्राऽऽह—प्रजेति । आकाङ्क्षापूर्वकमन्वयमन्वाचष्टे—प्रजां विमिति । अकामयमानत्वस्य पर्यवसानं दर्शयति—पुत्रादीति । पूर्वो विद्वांसः साधनत्रयं नानुतिष्ठन्तीत्युक्तमाक्षिपति—नन्विति । एष्वान्यो द्युत्तिष्ठतां किं तन्ननुष्ठानेनेत्याशङ्क्याऽऽह—तद्वलाद्धीति । आत्मविदामपरविद्यानुष्ठानं द्रूपयति—नापवादादिति । 'अथत्र

है । अतः आत्मलोक की इच्छा रखने वाले प्रव्रजन ग्रहण कर लेते हैं । अर्थात् वे सब कर्मों से निवृत्त हो जायें । जिस प्रकार बाह्य लोकत्रय चाहने वाले के लिए पुत्रादि नियत साधनों का विधान किया गया है, इसी प्रकार आत्मलोक जानने की इच्छा वाले ब्रह्मवेत्ता के लिए सर्वेष्वपनिवृत्तिरूप प्रव्रजन का विधान किया गया है ।

फिर वे आत्मलोक के चाहने वाले प्रव्रजन (सन्यास) ग्रहण करते ही है—ऐसा क्यों कहा जाता है ? इसमें भ्रुति अर्थवाद वाक्यरूप हेतु दिखाती है । "एतद्ध स्म वै तत्" यानी इस प्रव्रजन मे कारण कहा जाता है—"पूर्व" अर्थात् प्राचीन काल मे होने वाले "विद्वांसः" अर्थात् आत्मतत्त्ववेत्ता प्रजा, कर्म और अपरब्रह्मविद्या की कामना नहीं करते थे । यहाँ 'प्रजा' पद से बाह्य तीनों लोकों के तीनों साधनों का प्रजा मे उपलक्षित होना निर्देश किया जाता है । प्रजा का क्या करेये? अर्थात् पुत्रादिलोकत्रय साधनों का "न कामयन्ते" अर्थात् अनुष्ठान नहीं करने हैं । (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु अपरब्रह्म के दर्शन के लिए अनुष्ठान तो करते हैं क्योंकि उसी के बल से एषणा की निवृत्ति होती है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उसकी तो निन्दा की गई है । "ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मण जाति को अनात्मरूप से देखता है;

१ कुत इति—शिक्षामज्ञोपधीतादिभिः साधनैः सह तेष्विल कर्म त्यजन्त्येवेत्यत्र किं कारणमित्यर्थः । २. भ्रुतिः । ३. अनात्मभूतलोकत्रयसाधनम् । ४. इयमाकाङ्क्षा । ५. इदमन्वयान्वाख्यानम् । ६. निन्दनात् । ७. कामयन्त इत्यनेन । ८. भ्रुती ।

अपरब्रह्मणोऽपि 'सर्वमध्यान्तर्भावात् । यत्र नान्यत्पश्यतीति च । पूर्वापरबाह्यान्तर-
दर्शनप्रतिषेधाच्चा 'पूर्वमनपरमन्तरमबाह्यमिति' । तत्केन कं पश्येद्विजानीयादिति च ।
'तस्मान्नाऽऽत्मदर्शनव्यतिरेकेणान्यद्ध्युत्थानकारणमपेक्षयते ।

कंकः पुन स्तेषामभिप्राय इत्युच्यते किं प्रयोजनं फलं साध्यं करिष्यामः प्रजया

सर्वस्यानात्मनो दर्शनमेवापोद्यते न त्वपरस्य ब्रह्मणो दर्शनमत आह—अपरब्रह्मणोऽपीति । तदपवादे
श्रुत्यन्तरमाह—यत्रेति । यस्मिन्मूनि स्थितश्चक्षुरादिभिरन्यत्र पश्यति न शृणोतीत्यादिना च दर्शनादि-
व्यवहारस्य वारितत्वादात्मविदो न युक्तमपरब्रह्मदर्शनमित्यर्थ । तत्रैय हेत्वन्तरमाह—पूर्वेति । प्रतिषेध-
प्रकारमभिनयति—अपूर्वमिति । इत्यत्राऽऽत्मविद्या नापरब्रह्मदर्शनमित्याह—तत्केनेति । अपरब्रह्म-
दर्शनासम्भवे किं तेषामेवणान्यो द्युत्थाने कारणमित्याशङ्क्याऽह—तस्मादिति ।

॥ साधनत्रयमननुतिष्ठतामभिप्राय प्रश्नपूर्वमाह—क पुनरित्यादिना । कंवत्यमेव तस्माद्यं

(क्योकि परमात्मा ही सब की आत्मा है)', "समो उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मा से
भिन्न देखता है" इस प्रकार श्रुति अपरब्रह्मदर्शन की निन्दा करती है क्योंकि अपरब्रह्म का (प्रनात्म-
ग्रन्त पाती होने से) सब क मध्य ही अन्तर्भाव है । "जहाँ अन्य को नहीं देखता" यह भी श्रुति है ।
तथा "ब्रह्म अकार्यरूप अकारणरूप, नि सामान्य और निविशेष है" इस प्रकार ब्रह्म में कार्य, कारण,
सामान्य और विशेष दृष्टियों का निषेध किया है । "उस समय किसके द्वारा किसे देखेकिसके
द्वारा किसे जाने" एसा भी श्रुति कहती है । प्रत एषणात्रय से विमुक्ति के लिए आत्मदर्शन के बिना
किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं की जाती है ।

तो फिर उन (निखिल कर्मों का त्याग करने वाले आत्मलोक के इच्छुकों) का क्या अभिप्राय

१ प्रनात्मान्त पातित्वात् । २ तदेतद्ब्रह्म । ३ वृ उ २ ५ १६ । ४ तस्मात् अपरब्रह्मदर्शनस्य
श्रुत्याने कारणत्वात्साम्यादात्मविदस्तद्वर्षनासम्भवाच्च । ५ शिक्षायज्ञोपवीतादिसाधनं सहास्रित कर्म त्वज-
तात्मात्मलोकाविनाम् । ६ आक्षेपार्थं किञ्च ।

कंक पुन तेषामभिप्राय इत्यादि न कर्मोऽऽभिरित्यन्तर्भावे वातिफानि —'कोऽभिप्रायोऽखिल कर्म त्वजता
साधने सह । आत्मलोकादिना पुतामिति पृष्टेऽथ उच्यते ॥ एतद् स्मति वचसा, पारिव्राज्येऽभिधीयते । अर्ष-
वादस्वरूपेण हेतु श्रुत्या प्रयत्नत ॥ तदेतत्कारण, स्पष्ट पारिव्राज्येऽभिधीयते । ऐतिहास्यं च स्मति वंशब्द
स्मरणाय च ॥ पूर्वोक्तिग्रन्तकानिना विद्वांसो ज्ञानतत्त्वका । तिमृणामपराणा स्यात्त्रयामित्युपलक्षणम् ॥ न
कामयन्ते नेच्छन्ति पुत्रोत्पत्त्यादिलक्षणा । एषणा, सकला एता, कर्मादित्यभिधीयते ॥ एषणास्त्यजता तेषाम-
भिप्रायमिम शृणु । एषणाति तयस्यापि विमित्याशय उच्यते ॥ प्रजया किं करिष्याम कनीय फलया वयम् ।
स्वत सिद्धकलो ह्यात्मा यथा लोको ध्रुवोऽक्षय । आत्मत्वादेव चावाप्त सर्वसाधननि स्पृह । वस्तुत्वत्यादिमत्समा-
त्साधनानि व्यपद्यते ॥ मच्चत्पत्त्यादिमद्रस्तु तत्तच्छ स्वप्नवस्तुवत् । आत्मज्ञानं तु नि शेषलान्तर्भावकारणात् ॥
नाऽऽत्मलाभात्परो लाभ कृत्स्नेऽपि जयतीत्यत । सर्वप्राप्त्यर्थं सप्राप्ते सर्वहैयनिराकृते ॥ इति चेतसि सधाय
ह्यादिपति प्रजादिवम् । मनोकादिफल सर्वमपणात्रयमादरात् ॥ उत्पाद्यमाय सत्कार्य विकार्य चैषणाफलम् ।
तरिमन्नेव विधे क स्यात्सतोयो विदुषामपि ॥ आत्मब्रह्मानुलोभ्येन ह्येषणात्याग इष्यते । साधन ब्रह्मविद्येव
ब्रह्मज्ञानस्य जन्मने ॥ आताशापपुमस्य प्रदग्ग्याथात्म्यबोधित । दशमस्कन्धे

साधनेन । प्रजा हि 'बाह्यलोकसाधनं' निर्जाता । स च बाह्यलोको नास्त्यस्माकमात्मव्यतिरिक्तः । सर्वं ह्यस्माकमात्मभूतमेव सर्वस्य च वयमात्मभूताः । 'आत्मा च न आत्मत्वादेव' न केनचित्साधनेनोत्पाद्य आत्मीयो विकार्यः संस्कार्यो वा । यदप्यात्मेयाजिनः संस्कारार्थं 'कर्म'ति तदपि 'कार्यंकरणात्मदर्शनविषयमेव । इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इत्यङ्गाङ्गित्वादिश्रवणात् । न हि विज्ञानघनंकरसनैरन्तर्पदशिनोऽङ्गाङ्गिसंस्कारो-

फलमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रजा हीति । निर्जाता 'सोऽप्यमित्यादिभ्रूताविति शेषः । 'स एव तर्हि प्रजया साध्यतामिति चेन्नेत्याह—स चेति । आत्मव्यतिरिक्तो नास्तीत्युक्तमुपपाद्यप्रति—सर्वं हीति । आत्मव्यतिरिक्तस्यैव लोकस्य । प्रजादिसाध्यत्वमिष्यतामिति चेन्नेत्याह—आत्मा चेति । आत्मयाजिनः संस्कारार्थं कर्मैत्यङ्गीकारादात्मनोऽस्ति संस्कार्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यदपीति । अयाङ्गाङ्गित्वं संस्कार्यत्वं च मुष्यातामदर्शनविषयमेव किं नेष्यते तत्राऽऽह—न हीति । आत्मविदां "प्रजादिसाध्याभाव-

होता है; उसे कहा जाना है । हम प्रजारूप साधन से किस प्रयोजन या फल को सिद्ध करेंगे, प्रजा तो बाह्य लोको मे साधन जानी गयी है और वह बाह्य लोक आत्मा से व्यतिरिक्त नहीं है । हमारे लिए सब कुछ आत्मा ही है और हम भी सबके आत्मा ही है और हमारा आत्मा नित्यप्राप्त होने के कारण किसी साधन से उत्पाद्य, आप्य, विकार्य या संस्कार्य नहीं है । एव जो आत्मयाजी के संस्कार के लिए कर्म हैं, वह कार्यकरण सघातात्मदर्शी विषयक ही है—ऐसा स्वीकृत किया गया है । इसके द्वारा मेरे इस भ्रज्ज का संस्कार होता है—इससे उसमे भ्रज्जाङ्गीभाव का श्रवण होता है । जो निरन्तर, एक, विज्ञानघनरस स्वरूप आत्मा को ही देखता है, उसके लिए भ्रज्जाङ्गी संस्कारो का गुणारोप

- १ अनात्मलोकसाधनम् । २ अस्माकम् । ३ आत्मत्वादेवेति—नित्यप्राप्त इति शेष । न केनचित्स्वित्यादि—सदा विद्यमानत्वाद्युत्पाद्योऽनाप्यश्च कौटल्यादिविकार्यं । क्रियाभङ्गत्वानिर्गुणत्वाच्चासत्कार्यं क्रियाङ्गं हि व्रीह्यादि संस्कार्यं भवतीति । ४ कर्मैतीति—अङ्गीकृतमिति शेष । उक्तं हि—कर्ममि संस्कृता हीत्यादि १२२३ पृष्ठभाष्ये । ५ सघातात्मदर्शिविषयकमेव । ६ आदिना संस्कार्यत्वग्रह । ७ सोऽप्य मनुष्यलोक पृथेणैव जय्यो नाग्यन कर्मणा । ८ स्वर्गादिबाह्यलोक । ९ प्रजासाधनं साध्याभावम् ।

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वैकात्म्य प्रपश्यत । आत्माशेषपुमर्थस्य त्यक्ताशेषानुसृत्य च । प्राप्तस्य परम स्वास्थ्य वद किं श्यात्प्रजादिभि । इति निश्चिन्त्य नि सङ्गा प्रब्रजन्त्येव सर्वत ॥ धावतोऽविद्रुपो इष्टा मृगतृणोदकाधिन । तत्तोयतत्त्ववित्कश्चिद्ग्रह हि धावति मूढवत् ॥ यथैव युतितोऽशेषवाङ्मन कायसाधन प्रवृत्तिविषयप्रत्यग्यापात्माजिनानामिह ॥ अविद्यापटनवीतधिपणास्काभिनो नरान् । पुत्रोत्पत्त्यादिसाध्येषु प्रवृत्ताङ्गीष्व यत्नत । अस्माकं न प्रवृत्ति स्यात्कृतार्थत्वाच्च कारणात् ॥ यदज्ञानात्प्रवृत्तिर्मा तज्ज्ञानात्सा कृतो भवेत् । तस्मात्त्वप्रवृत्तीना हानि स्यादात्मबोधत ॥ सदाव्यतन्नेरनुत्पाद्योऽनाप्यश्चापि तथाऽऽत्मन ॥ असंस्कार्योऽत्रियाङ्गत्वाभिर्गुणत्वात्तथाऽऽत्मन । कौटल्यादिविकार्योऽप्य वद स्यात्कर्मणा हि किम् ॥ नीत्यस्यादि स्वतो यस्य स्वत एवास्ति यस्य तत् । न तस्य कर्मविधास्ति कर्मविधा ततोऽप्यत ॥ उत्पत्त्यादौ समर्थं यद्वेतुमात्रमपेक्षते । फलवत्कर्म तत्रैव ततोऽप्यत्राफल भवेत् ॥ उक्तहेतुबलात्समादिदित्वाऽऽप्रदानमात्मना । प्रब्रजेषु समस्तस्य एषस्याभ्यो द्रुत बुधा ॥ १०६४-१११८ ॥ इति । इदानीमेवद स्मेत्यादि प्रश्नपूर्वकमादत्ते—कोऽभिप्राय इति । साधने 'दिसायशोपवीतादिभिरिति यावत् ॥ अभिप्रेतमर्थमुच्यमानत्वेन प्रतिज्ञात प्रकटयति—एतदिति । अथवावस्वरूपेणैतदित्यादि-

'पधानदर्शनं संभवति । 'तस्मान्न 'किञ्चित्प्रजादिमाधनं करिष्यामः । अविद्युयां हि तत्प्रजावि-
साधनं कर्तव्यं फलम् । न हि मृगतृष्णिकायामुदकपानाय 'तदुदकदर्शो प्रवृत्त इति
तत्रोपरमात्रमुदकमात्रं पश्यतोऽपि प्रवृत्तिर्युक्ता । एवमस्माकमपि परमार्थात्मलोकदर्शनां
प्रजाविसाधनसाध्ये मृगतृष्णिकादिभेऽविद्वद्दर्शनत्रिपये न 'प्रवृत्तिर्युक्तेत्यभिप्रायः ।

'तदेतदुच्यते—येषामस्माकं परमार्थदर्शनां नोऽप्यमात्माऽज्ञानायाविविनिर्मुक्तः

मुपसंहरति—तस्मान्नेति । येषां तर्हि प्रजाविभिः साध्यं फलं तदाह—अविद्युयां हीति । 'केषांघृत्युप्रा-
विद्यु प्रवृत्तिश्चेत्तेनेव न्यायेन विद्युषामपि तेषु प्रवृत्तिः स्यादिरवाशाङ्क्याऽह—न हीति । तत्र प्रवृत्ति-
रिति सबन्धः । अविद्वद्दर्शनविषय इति च्छेयः ।

उक्तंऽयं वाक्यमवधत्तायं ध्याचष्टे—तदेतदिति । आत्मा वे'तदभिप्रेतं फलं तर्हि 'तत्र

देखना सम्व नही है । इसलिए प्रजादि साधनो से हम कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करेंगे । अविद्वानो को ही उन प्रजादि-साधनों से फल प्राप्त करना होता है । मृगतृष्णा में जल देखने वाला जलपान के लिए लिए प्रवृत्त होता है । इसलिए उसमें उसकी भी प्रवृत्ति हानी चाहिये, जो उसे ऊमर मात्र तथा वहाँ जल का अभाव देखता है, किन्तु ऐसी बात नहीं होती । इसलिये जो अविद्वानों की भ्रान्ति का विषय है और मृगतृष्णिका के समान है, उस प्रजादि साधन से साध्य फल में हम परमार्थात्म-लोकदर्शियों की भी प्रवृत्ति हानी उचित नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

इसी अर्थ को श्रुति कहती है—जिन हम परमात्मदर्शियों के लिए यह क्षुधा-तृपादि पदार्थों से

- १ उपधान गुणारोप । २ भवतरणोक्तत्वाद् । ३. फलम् । ४ तस्या मृगतृष्णिकायामुदकदर्शो ।
५ भ्रान्तजानविषये । ६ मयज्ञानात्प्रवृत्तिर्यां तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेदिति वा । ७ उत्तमर्थज्ज्ञात
श्रुत्योच्यते ८ अविद्युयाम् । ९ तेषां परमार्थात्मलोकदर्शिनाम् । १०. आत्मात्म्ये फले ।

वचसा तात्पर्येण श्रुत्या पारिवाज्ये हेतुलुच्यत इति योजना ॥ तात्पर्यं मुक्त्वा पदानि व्याकुर्वन्निस्तदेतच्छब्दयो
सबन्ध दर्शयप्रपञ्चित पूरयति—तदेतदिति । निपातत्रय व्याकरोति—एतिह्येति ॥ पदद्वय व्याचष्टे—पूर्वं
इति । प्रजा न कामयात इति सबन्ध । प्रजामित्येतच्छ्रुयते कर्मापरवृत्तिविद्या चेति ऋष भाष्यमित्यापङ्ग्याऽह
—तिमृष्टामिति ॥ नेत्यादिरेयंमाह—नेत्यादिना । वाच्यमुक्त्वा विवक्षितमाह—पुत्रेति । मेच्छन्तीति पूर्वेण
संबन्ध । पुत्रादिनोक्तमाधनं नानुतिष्ठन्तीतिभाष्यव्याख्याने हेतु पृच्छति—कस्मादिति । किमित्यादि हेतुस्वना-
वतारयति—अभिधीयत इति । तस्य तात्पर्यमाह—एषा इति । तेषामभिप्राय दर्शयितुमेतद्वाक्यमित्यर्थः ।
विशब्दस्य प्रश्रवितकंभुत्सार्थकं व्यावर्तयति—एषेति ॥ आक्षेप प्रष्टव्यद्वयस्य योजयति—प्रजयेति । येषाम-
स्माकं कूटस्थत्रिदात्मकं पुमर्थं त्वेव प्रजादिना लोकत्रयत्रेनुना साध्यं नैव परमाम इत्यर्थः । आक्षेपे हेतुस्तरार्थ-
नोक्त ॥ आत्मात्म्योऽपि पुमर्थं साधनसाध्य- स्वर्गादिवत्तरकथमाक्षेपतत्राऽह—आत्मत्वादिति । आत्मनः
साधननिरपेक्षत्वे हेत्वन्तरमाह—वस्त्विति । तस्मादुत्पत्त्यादिरहितमात्मवस्त्वनपेक्षामिति शेषः ॥ अथोत्पत्त्यादि-
मदृशत्वात्मनोऽन्यदनन्यद्वा प्रथमे वस्त्वन्तरस्थीकारतदपसिद्धान्तो द्वितीये साधनानपेक्षत्व नाऽऽत्मनः सिध्यति
तत्राऽह—अन्नेति । 'तस्य तुच्छत्वे स्वर्गादिनाभो न पुमर्थं स्यात्ततोऽन्यस्य तत्त्वे चाऽऽत्मनाभादप्यर्थांतरस्य
तथाववित्त्वनवस्थे चाऽङ्ग्याऽह—आत्मज्ञाने त्विति । तस्य पुमर्थता दुर्वरिति शेषः ॥ तत्रैव हेत्व तरमाह—
नत्यादिना । आत्मज्ञान नि शेषकलात्तर्भाव हेतुमाह—सर्वेति । एषाण्यथागिनामभिप्रायं निगमयति—इति

'साध्यसाधुभ्यामविकार्योऽयं' लोफः फलमभिप्रेतम् । न चास्याऽऽत्मनः साध्यसाधनादिसर्व-
संसारधर्मविनिर्मुक्तस्य साधनं किञ्चिदेवितव्यम् । साध्यस्य हि साधनान्वेषणा क्रियते ।
असाध्यस्य साधनान्वेषणायां हि जलबुद्धिं स्यल इव तरणं कृतं स्यात् । खे वा शाकुन-
पदान्वेषणम् । तस्मादेतमात्मानं विदित्वा प्रव्रजेयुरेव ब्राह्मणा न कर्माऽऽरभेरन्नित्यर्थः ।
यस्मात्पूर्वं ब्राह्मणा एवं विद्वांसः प्रजामकामयमानः ।

साधनेन भवितव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । ष्व तर्हि साधनमेष्टव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—साध्य-
स्येति । विपक्षे दोषमाह—असाध्यस्येति । येषामित्यादिव्याख्यायामुपसंहरति—तस्मादिति । ब्राह्मणानां
ब्रह्मविदां प्रजादिभिः साध्याभावादिति यावत् ।

रहित, विहित प्रतिपिद्ध कर्म से प्रविकार्यं, अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश आत्मलोक रूप फल अभीष्ट है; साध्य-
साधनादि सम्पूर्ण ससारी धर्मों से रहित इस आत्मा को, किसी भी साधन की इच्छा नहीं है क्योंकि
साध्य के साधन की ही खोज की जाती है । असाध्य का साधन खोजने में तो जलबुद्धि से स्थल में तैरने
के समान हो जायगा, आकाश में पक्षियों के पदचिह्न ढूँढने के समान हो जायगा । इसलिये इस आत्मा
को जान कर ही ब्राह्मण प्रयज्ञया धारण करें अर्थात् किसी कर्म को प्रारम्भ न करें क्योंकि इस प्रकार
जानने वाले पूर्वकालीन ब्राह्मण भी प्रजा की इच्छा नहीं करते थे ।

१. विहितप्रतिपिद्धकर्मम्याम् । २. अपरोक्ष । ३. स्वयंप्रकाशः । ४. तरणमिवेत्यन्वयः एवेति वा
पाठः । ५. अद्यतनाः ।

चेतसीति । आत्मज्ञाने सति प्राप्यस्य सर्वस्य प्राप्तेरनिराकर्तव्यस्य सर्वस्य निराकृतेस्तस्मिन्सर्वफलान्तर्भावादात्म-
नाभात्परो वाचो नेति मत्वा प्रजादिक विद्वांसः समाक्षिपन्तीत्यर्थः । आक्षेपके सत्याक्षेपस्योपपत्त्यर्थो हिशब्दः ॥
आक्षेपे हेतुवन्तरमाह—उत्पाद्यमिति । एवविधे सातिशये जन्मविनाशवतीत्यर्थः ॥ विद्युपामपीत्युक्तत्वाद्ब्रह्मस्यापि
विरक्तस्य पुत्राद्येपणात्यागो धीहेतुत्वेन सूचितः । इदानीं तस्यागस्य तदेतुव दृष्टान्तेन सापयति—आत्मेति ।
यथा ब्रह्मविद्या प्रत्यम्भूतब्रह्मानुसृष्टत्वात्तस्मादिहेतुरेवमेपणात्यागोऽपि कर्मविरोधित्वेन नैक्यम्ब्रह्मज्ञानानुसृष्टत्वात्त-
ज्जन्मने साधनमित्येते तस्माद्ब्रह्मस्यापि विरक्तस्य संन्यासो भवति फलवानित्यर्थः ॥ अविद्वत्सत्यासफलमुक्त्वा
विद्वत्सत्याससौलभ्यमाह—प्राप्तेति ॥ विद्युपामेपणापेक्षा नास्तीत्येतत्प्रतिपादयति—सर्वभूतेति । मेयस्वपमनूय
ज्ञानरूपमनुवदति—सर्वेति । तददृष्टफलमाह—प्राप्तेति ॥ त् प्रति प्रजादीनामकिञ्चित्करत्वमाह—वदेति ।
उक्तरीत्या ज्ञानवतामेपणात्यागस्यानायासत्वमाह—इति निश्चित्येति ॥ तेषामेपणात्याग दृष्टान्तेन स्पष्टयति—
धावत इति । अविद्युप इति च्छेदः ॥ दृष्टान्तानुसारेण दार्ष्टान्तिकमाह—यथेति । त्रिविधप्रवृत्तीनामालम्बन देहादि-
स्तस्याप्याराम प्रत्यक्त्वेन स्थितस्तस्त्वरूपरूपानिनस्तस्त्वमादियुक्तिवशादेव ये तेषामस्माकज्ञानान्च्छन्नबुद्धित्वादागादि-
पराधीनान्पुत्रोत्पत्त्यादियु विधिवशादेव यत्तमानान्गुण्यानिमानिनो दृष्टा न पुत्रोत्पत्त्यादौ प्रवृत्तिस्तत्त्वज्ञान-
विरोधादित्यर्थः ॥ न केवलमस्माक ज्ञानमेव तत्फल चास्त्यतोऽपि न प्रवृत्तिरित्याह—कृतार्थत्वादिति ॥ इतश्च
विद्युपो न प्रवृत्तिरित्याह—यदज्ञानादिति । उक्त सामान्यन्याय प्रकृते योजयति—तस्मादिति ॥ आत्मन, कर्मान-
पेक्षान्वाच सद्रूपेण स्थितस्य विद्युपो न प्रवृत्तिरित्याह—सदेत्यादिना । सर्वदाविद्यमानत्वादित्यर्थः ॥ किञ्च सतो-
ऽसतो वा कर्मानपेक्षत्वादात्मनश्च सत्त्वात्तदनपेक्षतेत्याह—नेत्यादिना । कस्य तर्हि कर्मापेक्षा तत्राऽह—कर्मैति ॥

त एवं साध्यसाधनसंबन्धवहारं निन्दतोऽविद्वद्विषयोऽयमिति कृत्या किं कृत्यन्त इत्युच्यते—ते ह स्म किल पुत्रंपणायाश्च वित्तंपणायाश्च लोकंपणायाश्च द्युत्यायाश्च भिक्षाचर्यं चरन्तोत्यादि व्याख्यातम् । * तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रयजन्ति प्रयजेयु-

वाश्वान्तरं प्रश्नद्वारेणाधत्तार्यं पाञ्चमिकं ध्यायमानं तस्य स्मारयति—त एवमित्यादिना । पदार्थोऽयमर्थावदस्तं विधिं निगमयति—तस्मादिति । 'महानुभावोऽयमात्मलोको यतर्दाचिनो दुष्कर-

इस प्रकार वे साध्य साधनरूप व्यवहार की निन्दा करते हुए 'यह सब अविद्वानों का विषय है' ऐसा समझ कर क्या करते थे । इस पर श्रुति कहती है । वे पुत्रंपणा वित्तंपणा, लोकंपणा में मुक्त होकर भिक्षाटन करते थे । इस श्रुति की व्याख्या (वृ० उ० ३-५ १ मे) की जा चुकी है । इसलिये आत्मलोक कर्म से असाध्य होने के कारण आत्मलोक की इच्छा वाले 'प्रयजन्ति' अर्थात् प्रयजन ग्रहण

१ कहोलब्राह्मणे वृ० उ० ३ ५ १ । २ आत्मलोकस्य कर्मासाध्यत्वात् । ३ महामहिमा ।

तत्प्रपञ्चयति—उत्पत्त्यादाविति । सदसद्विलक्षणस्यानिर्वाच्यस्य धर्मविशेष्ये । निर्वाच्ये तु नित्यसद्रूपे प्रतीचि कर्मनिर्धकमित्याह—तत इति ॥ आत्मस्वरूपस्यैव रूपत्वेऽपि प्रकृते पारिव्राज्ये विभाषात तदाह—उत्तंति । आत्मानं नित्यमुक्तत्वादिरूपेण ज्ञात्वा तस्य चतुर्विधत्रियाफलविलक्षणत्वलक्षणोक्त हेतुसामर्थ्यादियमाग्यो बुधा द्रुत प्रयजेयुस्तस्मादविद्वदसंन्यासो ज्ञानाङ्गत्वेन विद्वत्संन्यासस्तत्कलत्रेन मिद इत्यर्थं ॥

* तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रयजन्ति प्रयजेयुरित्येष विधिरर्थवादेन सगच्छने इति भाष्यमत्राहुर्वाति काचार्या— ननु चाऽऽमप्रबोधेन विधिगोचरलङ्घन । अतः कृत्यस्य मुक्तस्य विधिरपे कथं भवेत् । परिहारोऽयं चोद्यस्य कहोनब्राह्मणेऽस्वित । यतोऽग्निं मया पूर्वं जेहातं पुनरुच्यते ॥ ब्रह्मचर्यं समापयेति प्रत्यगश्रुतिमूलतः । चतुर्गात्रमात्राणां स्यान्नोपेक्षाऽतोऽनुमानतः ॥ न च वेदैकमूलत्वविरहात्स्यात्प्रमाणता । आचारस्य स्मृतेर्वापि बौद्धाचारवद्भ्रुवम् ॥ धर्मस्य वदमूलत्वादवेदस्य न धर्मता । इत्येव न्यायवद्वाक्यमाहुर्देवप्रमाणकाः ॥ वेदपाश्चान्यपेक्षास्य स्मृतिशास्त्रस्य वेग्यतम् । निरग्निं वा शास्त्रतुल्यत्व स्मृतीनां च प्रसज्यते ॥ नापि स्मृतिष्यपेक्षाऽस्ति श्रुते स्वातन्त्र्यकारणात् । स्मृत्यर्थसंन्यानादोऽयं पारतन्त्र्येऽस्ति श्रुते ॥ स्वतन्त्रयोर्मिथोऽपेक्षा नापि स्यात्परतन्त्रयोः । पारतन्त्र्यात्त चापेक्षा स्वतन्त्रस्य स्वतः क्वचित् ॥ स्मृत्यर्थं न श्रुतिस्तस्मादनुवक्तीह कुत्रचित् । स्मृतिस्वतन्त्रत्वेऽपि श्रुत्यर्थं परतन्त्रम् ॥ ११५६-११५४ ॥ इति ॥ अग्न्यस्य विधेः श्रुत्युक्तपरिहारः—न खिति । न तावदविदुषो विहितं सत्यासा विद्वत्प्रकरणविरोधात्पि विदुषस्तस्य प्राप्तविद्याफलस्य विध्ययोग्यत्वाद्ब्रह्मयासायोगादित्यर्थं ॥ पञ्चमोक्त स्मारयन्परिहरति—परिहारोऽस्ति । साक्षात्कारवतो वा वैधर्म्यस्यो निरस्यत आपातज्ञानवतो वा नाऽऽद्यतस्य विद्याफलभूतसंन्यासस्याऽऽधिक्यत्वेन वैधर्म्यानुपगमात् द्वितीयस्तस्य माधात्कारोद्देशेन स्यात्संन्यानुद्देश्यतया विध्यपेक्षात्वादित्यर्थं ॥ ननु त्रिदुर्गोऽविदुषो वा न मर्यादा एवाश्रम्यस्मृतेर्गार्हस्थ्यतिरेकेणाऽऽश्रमान्तराद्योगात्पञ्च शोचन कैवाश्रम्यत्वाचार्या प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्यैतत्तत्राऽऽह—ब्रह्मचर्यमिति । श्रुतिवशात्तदुत्तराश्रम्यसंभवादनुमानं गन्धितैकाश्रम्यविषयस्मृतिबलात्प्राऽऽश्रमान्तरपेक्षेत्यर्थं ॥ तर्हि श्रुतेऽनुराश्रम्य स्मृतेरेकाश्रम्यं चेति सशयं स्यात्तद्विधेरेषां प्रामाण्याविवेकापदतः ग्राह—न चेति । तुल्यन्यायत्वादाचार्यग्रहणम् । अथ प्राव । वेदमूला स्मृतयः प्रमाणात् सन्मूलानामन्ता मानत्वात्त चैकाश्रम्यस्मृतेर्मूल वेदोऽस्ति नृदुष्ये शुचो देवि स्वाध्यायमयीमान इत्यादि तु नाऽऽश्रमान्तरमपवादति क्विचजस्यारिचरस्य गार्हस्थ्यमनुमोदते न चाग्या स्मृतावाश्रमान्तरासत्त्वं विवक्षितं ब्रह्मचर्यस्याप्यपलापप्रसङ्गात्स्याऽऽश्रमिकरूपमेके ब्रूवत इत्युपक्रम-

रित्येय विधि'रथंवादेन संगच्छते । न हि सार्थवादस्यास्य' लोकस्तुत्याभिमुख्यमुपपद्यते । प्रव्रजन्तीत्यस्यार्थवादरूपो ह्येतद् स्मेत्यादिरुत्तरो ग्रन्थः । 'अर्थवादश्चेन्नार्थवादान्तरमपेक्षंत । अपेक्षते त्वेतद् स्मेत्याद्यर्थवादं प्रव्रजन्तीत्येतत् ।

मपि पारिव्राज्यं कुर्वन्तीति स्तुतिरत्र विवक्षिता न विधि'रित्याशङ्क्याऽऽह—न होति । 'तदेव प्रपञ्चयति—प्रव्रजन्तीत्यस्येति । तथाऽपि प्रव्रजन्तीतिवाक्यस्यार्थवादत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अर्थवादश्चेदिति ।

कर ले, इस विधि की अर्थवाद से संगति बैठ जाती है । इस अर्थवाद सहित 'प्रव्रजन्ति' इस विधिवाक्य का आत्मलोक की स्तुतिपरक होना संभव नहीं है । 'प्रव्रजन्ति' इस विधिवाक्य का अर्थवाद रूप 'एतद् स्म' इत्यादि आगे का श्रुतिवाक्य है । यदि यह अर्थवाद ही होता, तो इसे दूसरे अर्थवाद की अपेक्षा नहीं हो सकती थी किन्तु 'प्रव्रजन्ति' इस वाक्य को 'एतद् स्म' इस श्रुतिवाक्य के अर्थवाद की अपेक्षा है ही ।

१ अर्थवादेनेति—प्रयोजवत्त्व तृतीयायं । अर्थवादप्रयुक्त एष विधि संगच्छत इत्यर्थं इत्याह । २ प्रव्रजन्तीतिवाक्यस्य । ३ आत्मलोकस्तुतिपरत्वम् । ४ अर्थवादश्चेदित्यादि—तोऽरोवीदित्यादेरर्थवादस्य बहिषि रजत न देवमित्यादिविधिनैकवाक्यत्ववशांनादर्थवादस्यार्थवादान्तरापेक्षा न युक्तेति स्थितमर्थवापाधिकरत्वे । ५ उक्तानाभिमुख्यमव ।

विरोधान्च न चासावेकीयपक्षोपन्यासो न स्वमतमिति वाच्यं नियामकाभावाच्चतुराश्रम्यविषयबन्धुश्रुतिस्मृतिविरोधान्च तस्मादैकाग्रम्यस्मृतेर्भूलाभावाद्मानत्वात् तद्देशादत्र सद्योऽवतरेदिति ॥ वेदमूला स्मृतिर्मानमित्यत्र स्मृत्यधिकरणं प्रमाणयति—धर्मस्येति । अवेदस्य वेदाप्रमाणकस्य चैत्यवन्दनादेरिति यावत् । वेदप्रमाणका शबरस्वामिप्रभृतयः । उक्तं हि शब्दमूलो हि धर्म इत्युक्तमिति ये त्वदृष्ट्यास्तेषु वैदिकशब्दानुमानमिति च (जै सू १ ३ १, १ ३ २) ॥ श्रुतिमूला स्मृतिर्मानमित्युक्त्वा विपक्षे दोषमाह—वेदिति । निग्रन्थयो विष्ण्वराज्ये । यथाऽह्—युक्तं श्रुतिविरोधात्स्मृतिरप्रमाणमिति (जै सू १ ३ ३) ॥ श्रुतिनिरपेक्षत्वे स्मृतिनाम प्रामाण्यप्रसङ्गात्प्रमाणं स्मृतिस्तत्सापेक्षेति नियम्यते चेदितराऽपि स्मृतिसापेक्षा किं न स्यात्सारापि पोरुषेयो मूलानपेक्षा न मानमित्याशङ्क्याऽह्—नापीति । तत्र हेतु—स्वातन्त्र्येति । अपौरुषेयतया निरतसमस्तदोषाशङ्क्या श्रुते स्वार्थे स्वतन्त्रप्रम एतन्नापेक्षेत्यौत्पत्तिकसूत्रे (जै १ १ ५) स्थितम् । उक्तं हि—अतश्च प्रमाणमपेक्षत्वादिति । शब्दार्थसंबन्धोपौरुषेयत्वमत्र शब्दार्थं । ननु स्मृत्यर्थमनुवदन्ती श्रुति स्मृति कथं नापेक्षते पादोऽयं विश्वा भूतानीत्याया हि श्रुतिर्मर्मैवांशो जीवलोक इत्यादिस्मृत्यर्थमनुवदति नेत्याह—स्मृत्यर्थस्येति । श्रुतेरसति पारतन्त्र्ये नास्ति स्मृत्यर्थानुवादित्वमिति पूर्ववन्नप्येन योजना ॥ श्रुते स्मृत्यनपेक्षत्वे दृष्टान्तेनाह्—स्वतन्त्रयोरिति । घातमाकाशयोर्वा घटपटस्थरूपरसयोर्वा नियोपेक्षाभावाद्भेदस्यापि स्वतन्त्रस्य स्मृतिशास्त्रात्परतन्त्रालम्बविद्यर्थे स्वतोऽपेक्षा न युक्ता स्वतन्त्रस्य परतन्त्राधीनापेक्षावत्त्वव्यापारतादित्यर्थं ॥ श्रुते स्मृत्यनपेक्षत्वे फलितमाह—स्मृत्यर्थमिति । इहेति वैदिकव्यवहारभूमिरुक्ता । यत्तु पादोऽप्येत्यादिश्रुतिर्मर्मैवेत्यादिस्मृत्यर्थमनुवदतीति तत्र वैपरीत्यमाह—स्मृतिरिति । उक्तं हि प्रमाणमेवा स्मृतिविज्ञातं तदिकमित्यन्यथा भवतीति ॥

यस्मात्पूर्वं विद्वांसः प्रजादिकर्मस्थो निवृत्ताः प्रव्रजितवन्त एव तस्माद्-
घुनातना' अपि प्रव्रजन्ति प्रव्रजेयुरित्येव 'संबन्धमानं न लोकस्तुत्यभिमुखं भवितुमर्हति ।
विज्ञानसमानकर्तृत्वोपदेशादित्यादिनाऽवोचाम । वेदानुबचनादिसहपाठाच्च । यथाऽऽत्म-
वेदनसाधनत्वेन विहितानां वेदानुबचनादीनां 'यथायंतवमेव' नार्थवादः तथा तरेव सह
पठिनस्य पारिव्राज्यस्याऽऽत्मलोकप्राप्तिसाधनत्वेनार्थवादत्वमयुक्तम् । फलविभागीपदेशाच्च ।
एतमेवाऽऽत्मानं लोकं 'विदित्वेत्प्रण्यस्माद्बाह्याल्लोकादात्मानं फलान्तरत्वेन प्रविभजति ।
यथा पुत्रेणैवायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोक इति' । न च प्रव्रजन्ती-

अपेक्षाप्रकारमेव प्रकृत्यप्रत्ये स्तुत्यभिमुखत्वाभावाद्द्विविधत्वेवेत्याह—यस्मादिति । किञ्च
विदित्वा घृत्याय भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यत्र' विज्ञानेन समानकर्तृत्वं घृत्यानादेवपदिश्यते विज्ञानं च
सर्वासुपनिषत्सु 'विधेयतेऽतो द्युत्थानमपि विधिमर्हतीत्युक्तं तथा चात्रापि घृत्यथानपरपर्यायं पारिव्राज्यं
विधेयमित्याह—विज्ञानेति । इमंश्च पारिव्राज्यवाक्यमर्थवाचो न भवतीत्याह—वेदेति । तदेव साधयति
—यथेत्यादिना । पारिव्राज्यस्य विधेयत्वे हेत्वन्तरमाह—फलेति । पुत्रादिकलापेक्षया पारिव्राज्यफलं
विभागेनोपदिश्यते तथाच फलवत्त्वात्पुत्रादिवत्पारिव्राज्यस्य विधेयत्वमसिद्धिरित्यर्थः । "तदेव विद्युणोति
—एतमेवेति । प्रकृतमात्मानं स्वं लोकमापाततो विदित्वा समेव साक्षात्कर्तुमिच्छन्तः प्रव्रज-
न्तीनि वचनात्पुत्रादिसाध्यान्मनुष्यादिलोकादात्मात्प्रं लोकः पारिव्राज्यस्य फलान्तरत्वेन यतः श्रुति-
विमज्जाभिदधाति । अतस्तस्य विधेयत्वमप्रत्यूहमित्यर्थः । फलविभागीपदेशे दृष्टान्तमाह—यथेति । तथा
पारिव्राज्येऽपि फलविभागेऽपि विधेयतेति दाष्टान्तिकमितिशब्दायं' । पारिव्राज्यस्य स्तुतिपरत्वाभावे
हेत्वन्तरमाह—न चेति । यथा वापुर्वं श्लेषितेत्यादिरर्थवादः "प्राप्तार्यो देवतादिस्तुत्यर्थः स्थितो न

क्योकि प्रजादि कर्मो मे निवृत्त हुए पूर्वकालीन विद्वान् प्रव्रजन ग्रहण करते ही ये
इसलिए आजकल के विद्वान् ब्राह्मण भी प्रव्रजन ग्रहण कर लें, इस प्रकार अर्थवाद से संबन्ध वाला
'प्रव्रजन्ति' यह वाक्य आत्मलोक को स्तुति के लिए होना सम्भव नहीं है । क्योकि प्रव्रजन और विज्ञान
का एक ही कर्ता है, ऐसा श्रुति वा उपदेश है, यह हम कह चुके हैं । (इसके अतिरिक्त) वेदानुबचनादि
के साथ इसका पाठ होने से यह केवल स्तुत्यर्थक नहीं है । जिस प्रकार आत्मज्ञान के साधन रूप से
विहित वेदानुबचनादि तात्पर्य विषयत्व हैं, स्तुत्यर्थक नहीं हैं, उसी प्रकार उनके साथ पठित होने से
पारिव्राज्य का भी आत्मलोक प्राप्ति वा साधन होने से उसे स्तुत्यर्थक कहना अनुचित है । तथा फल-
विभाग के उपदेश दिये जाने से भी इसका स्तुत्यर्थक होना सिद्ध नहीं होता । 'इस आत्मलोक को जान
कर' इस वाक्य से श्रुति ग्रन्थ बाह्य लोकों से आत्मा का फलान्तर रूप से विभाग करती है । इसी को
श्रुति बहती है—'पुत्र रूप साधन से यह आत्मलोक जीता जाने योग्य है, किसी ग्रन्थ कर्म से नहीं' तथा
'कर्म से ही पितृलोक जीता जाने योग्य है' इत्यादि । इसके अतिरिक्त प्रमाणान्तर से प्राप्त वायु आदि के

१ बाह्येण । २ अर्थवादेन सह संबन्धमान प्रव्रजन्तीतिवाक्यम् । ३ तात्पर्यविषयत्वम् । ४. स्तुत्यर्थ-
त्वम् । ५ वृ उ ४ ४ २२ । ६ वृ उ १ ५ १६ । ७ वृ उ ३ ५ १ । ८. विधेयसमान-
कर्तृत्वोपदेशात् । ९ आत्मलोकत्वम् । १० संबन्धमानवाक्यम् । ११. प्रागमेतत्प्रमाणप्राप्तार्यः

त्येतत्प्राप्तवत्लोकस्तुतिपरम् । प्रधानवस्तुार्थवादापेक्षम् । मकृच्छ्रुतं स्यात् । तस्माद्भ्रान्ति-
रेवंपा लोकस्तुतिपरमिति ।

न 'धानुष्ठेयेन पारिव्राज्येन' स्तुतिरूपपद्यते । यदि पारिव्राज्यमनुष्ठेयमपि सदन्य-
स्तुत्यर्थं स्याद्दशपूर्णमासादीनामप्यनुष्ठेयानां स्तुत्यर्थता स्यात् । न 'चान्यत्र कर्तव्यते' तस्मा-
'द्विषयाभिर्जाता यत इह स्तुत्यर्थो भवेत् यदि पुनः षड्विधविधिः परिकल्प्येत पारिव्राज्यस्य'
म इहैव मुखयो नाम्यत्र संभवति । यदप्यनधिकृतविषये पारिव्राज्यं परिकल्प्यते तत्र

तदेवं स्तुतिपरं तदवद्योतिशब्दाभावादित्यर्थः । किञ्च प्रधानस्य दशपूर्णमासादेरर्थवादापेक्षावत्पारि-
व्राज्यमपि 'तदपेक्षमुपलभ्यते' तेन तस्य दशादिवद्विधेयत्वं दुर्बारमित्याह—प्रधानवच्चेति । किञ्च पारि-
व्राज्यं सकृदेव श्रुतं चेदविधिक्षितमन्यस्तुतिपरं स्यान्न चेद सकृदेव श्रूयते प्रव्रजन्तीत्युपक्रम्य प्रजां न
कामयन्ते व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यस्यासादतोऽपि न स्तुतिमात्रमेतदित्याह—सकृदिति । न
चेत्यत्रापि संघट्यते, कथं तर्हि पारिव्राज्यस्य स्तुतिपरत्वप्रतीतिस्तत्राऽऽह—तस्मादिति ।

अस्तु 'तर्हि विधेयमपि पारिव्राज्यं स्तावकमपीति चेन्नेत्याह—न चेति । विषये दोषमाह
—यदीति । 'अथ पारिव्राज्यं यज्ञादिवच'न्यत्र विधीयतामिह' तु स्तुतिरेवेत्याशङ्क्याऽऽह—न चान्य-
थेति । आत्मज्ञानाधिकारादन्यत्र पारिव्राज्यविध्यनुपलम्भादित्यर्थः । अन्यत्र विध्यनुपलम्भं ममथं-
यते—यदीत्यादिना । अन्यत्र कर्मप्रक्रियायामिति यावत् । कर्माधिकारे तस्यागविधेर्विच्छेदादिति
भावः । भवत्विह पारिव्राज्ये विधि'स्तथाऽपि सर्वकर्म'नधिकृतविषय' स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—यद-
पीति । तत्र कर्मानधिकृते पुंसित्येवम् । 'तत्र हेतुमाह—कर्तव्यत्वेनेति । कर्मानधिकृतेन कर्तव्यतया

समान भी 'प्रव्रजन्ति' यह वाक्य स्तुत्यर्थक नहीं हो सकता । तथा अन्य प्रधान कर्मों के समान यह अर्थ-
वाद सापेक्ष है । यदि श्रुति में इसका भी श्रवण होता तो ऐसा कह सकते थे । इसलिये यह श्रुति आत्म-
लोक की स्तुतिपरक है—यह विचार भ्रान्तिपूर्ण ही है ।

विधेय पारिव्राज्य से (आत्मा या उसके ज्ञान) किसी को स्तुति नहीं हो सकती । यदि विधान
करने योग्य होकर भी पारिव्राज्य अन्य की स्तुतिपरक हो सकता है तो इसे दशपूर्णमासादि विधेय कर्म
भी स्तुति के लिए सिद्ध होंगे । इस विद्या प्रकरण को छोड़कर और कहीं भी (कर्म प्रकरण में) इसकी
कर्तव्यता ज्ञात नहीं हुई, जिसके कारण यहाँ स्तुतिपरक हो । यदि कहीं पारिव्राज्य विधि की कल्पना
की जाय तो वह यही मुख्य विधि होगी, अन्यत्र तो होगी नहीं । यदि अनधिकृत के विषय में पारि-
व्राज्य की कल्पना की जाय तो वृद्धादि में आरौहणादिकी भी पारिव्राज्य के समान कल्पना हो जायगी ।

१ अस्तावकत्वेन विधित्वनिष्पत्त्यात् । २ विधेयेन । ३ आत्मनस्तज्जानस्य वेति शेषः । ४ कर्मप्रकरणे ।

५ प्रवृत्त्यात् । ६ प्रवरणात् विद्याप्रवरणादिति भावत् । ७ तर्हि । ८ सुवर्णय तोनायेत्याद्यर्थवादा-
पेक्षावदित्यर्थः । ९ एतच्च स्मृत्याचर्चयाम् । १० अर्थवादमापेक्षत्वेन । ११ स्तावकमायत्वाभावे ।

१२ एकत्रोभयार्थत्वे वाक्यभेदोऽपीति मनसि निघायाऽऽह—अथेति । १३ कर्मप्रकरणे । १४ विद्याप्रकरणे ।

१५ प्रवरणात् । १६ विधिप्रकरणे । १७ पारिव्राज्यविधेयत्वेऽपि । १८ अथपश्यादिविषयः ।

१९ उक्तकल्पनायाम् ।

वृक्षारोहणाद्यपि पारिश्राज्यवत्कल्प्येत । कर्तव्यत्वेनानिर्जातत्वाविशेषात् । 'तस्मात्स्मृति-
त्वगन्धोऽप्यत्र' न शक्यः कल्पयितुम् ।

यद्ययमात्मा लोक इष्यते किमर्थं तत्प्राप्तिसाधनत्वेन कर्माण्येव नाऽऽरभेरङ्क
पारिश्राज्येनेति । अत्रोच्यते—अस्याऽऽत्मलोकस्य कर्मभिरसंबन्धात् । यमात्मानमिच्छन्तः
प्रव्रजेयुः' स आत्मा साधनत्वेन फलत्वेन चोत्पाद्यत्वाविप्रकाराणामन्यतमत्वेनापि कर्म-
भिनं संबध्यते । 'तस्मात्स एव नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यत इत्यादिलक्षणः । यस्मादेवं-
लक्षण आत्मा कर्मफलसाधनासंबन्धी सर्वसंसारधर्मविलक्षणोऽज्ञानायाद्यतीतोऽस्यूलादि-
धर्मवान्जोऽजरोऽमरोऽमृतोऽमयः सन्धवघनवद्विज्ञानंकरसस्वभावः स्वयंज्योतिरेक एवा-
द्वयोऽपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्य इत्येतदागमतस्तर्कतश्च स्यापितं विशेषतश्चेह जनक-

ज्ञातत्वं वृक्षारोहणादाविव पारिश्राज्येऽपि नास्ति 'तथा चानधिकृतविषये पारिश्राज्यं कल्प्यते
चेत्तस्मिन्विषये वृक्षारोहणाद्यपि कल्प्येताविशेषादित्यर्थः । पारिश्राज्यस्याधिकृतविषयत्वे विधेयत्वे च
शिक्षे कलिनमाह—तस्मादिति ।

सार्यवाद पारिश्राज्यं व्याख्याय स एष इत्यादि व्याकृतुं शक्यमिति—यदीति । परिहरति
—अत्रेति । तदर्थिनो नाऽऽरभन्ते कर्माणीति शेषः । कर्मभिरसंबन्धमात्मलोकस्य साधयति—यमात्मा-
नमिति । तस्य कर्मासंबन्धे निष्प्रपञ्चत्व फलतीत्याह—तस्मादिति । आत्मनो निष्प्रपञ्चत्वेऽपि कर्म
तदर्थिनां पारिश्राज्यसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति । निर्विशेषस्तत्र तत्र बाधे दक्षितस्वरूपोऽय-

व्योक्ति कर्तव्य रूप से ज्ञात न होने में दोनों समान हैं । इनलिए 'प्रव्रजन्ति' इस वाक्य में स्तुतिपरक
होने की लेशमात्र भी कल्पना नहीं की जा सकती ।

(इस पर शङ्का होती है—) यदि आत्मलोक की इच्छा की जानी है तो उसकी प्राप्ति के
रूप से कर्मों का आरम्भ ही न करो, प्रव्रजन ग्रहण से क्या प्रयोजन है? इस पर (सिद्धान्ती द्वारा
परिहार करते हुए) कहा जाता है—इस आत्मलोक का कर्म से कोई संबन्ध नहीं है । जिस आत्मा की
इच्छा करते हुए मुमुक्षु प्रव्रजन ग्रहण करें, उस आत्मा का साधन, फल, उत्पाद्य, भाष्यादि प्रकारों में
से किसी एक रूप से भी कर्मों का संबन्ध नहीं होता । इसलिए वह 'नेति नेति' इन प्रकार लक्षण वाला
आत्मा "अगृह्य" अर्थात् ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि इस प्रकार के लक्षण वाला आत्मा
कर्म के फल या साधन से असम्बद्ध, सम्पूर्ण सासारिक धर्मों से विलक्षण, क्षुधादि से अतीत, अस्पृश्यादि
धर्मवान्, अन्नमा, अजर, अपक्षयरहित अमृत और निरविद्य संबन्धखण्ड के समान एकमात्र विज्ञानरम-
स्वभाव, स्वयंज्योति, एव, अद्वितीय, अकार्य, अकारण, नि सामान्य एव निर्विशेष है—ऐसा आगम श्रौ-
तक द्वारा निर्णय किया गया है, यहाँ जनक-याज्ञवल्क्य सवाद में इसका प्रतिपादन किया गया है ।

- १ आदिभ्यामनिप्रवेशादि धातुम् । २ अर्थवादान्वादिनिज्ञात् धवतरणोत्वात् । ३ प्रव्रजन्तीतिवाक्ये ।
। ४ मुमुक्षव । ५ आदिनाऽऽप्यत्वाद्विग्रहः । ६ अन्यतमेनेति न्यायम् । ७ धवतरणोक्तत्वात् । ८
अपक्षयरहित । ९ निरविद्य । १० तथा च—उभयत्र कर्तव्यत्वे न ज्ञातत्वाभावस्य तुल्यत्वे च ।

त्येतत्प्राप्तवल्लोकस्तुतिपरम् । प्रधानवच्चार्थवादापेक्षम् । मकृच्छ्रुतं स्यात् । 'तस्माद्भ्रान्ति-
रेवैवा लोकस्तुतिपरमिति ।

न 'चानुष्ठेयेन पारिव्राज्येन' स्तुतिरूपपद्यते । यदि पारिव्राज्यमनुष्ठेयमपि सदन्य-
स्तुत्यर्थं स्याद्दशपूर्णमासादीनामप्यनुष्ठेयानां स्तुत्यर्थता स्यात् । न 'चान्यत्र कर्तव्यते' तस्मा-
'द्विपयान्निर्जाता यत इह स्तुत्यर्थो भवेत् यदि पुनः ब्रह्मिद्विधिः परिकल्प्येत पारिव्राज्यस्य'
सं इहैव मुख्यो नान्यत्र संगवति । यदप्यनधिकृतविधये पारिव्राज्यं परिकल्प्यते तत्र

तदेवं स्तुतिपरं तदवद्योतिशब्दाभावादित्यर्थः । किञ्च प्रधानस्य दशपूर्णमासादेर'र्थवादापेक्षावत्पारि-
व्राज्यमपि 'तदपेक्षमुपलभ्यते' 'तेन तस्य दर्शादिविधिधेयस्यं दुर्वारमित्याह—प्रधानवच्चेति । किञ्च पारि-
व्राज्यं सकृदेव श्रुतं चेदविवक्षितमन्यस्तुतिपरं स्यान्न चेद सकृदेव श्रूयते प्रवज्जन्तीत्युपक्रम्य प्रजां न
कामयन्ते द्युत्थायाथ भिक्षार्थं चरन्तीत्यस्यासादतोऽपि न स्तुतिमात्रमेतदित्याह—सकृदिति । न
चेत्यत्रापि संबध्यते, कथं तर्हि पारिव्राज्यस्य स्तुतिपरत्वप्रतीतिस्तत्राऽह—तस्मादिति ।

अस्तु 'तर्हि विधेयमपि पारिव्राज्यं स्तावकमपीति चेन्नेत्याह—न चेति । विपक्षे दोषमाह
—यदीति । "अथ पारिव्राज्यं यज्ञाविवध"न्यत्र विधीयतामिह" तु स्तुतिरेवेत्याशङ्क्याऽह—न चान्य-
त्रेति । आत्मज्ञाना"धिकारादप्यत्र पारिव्राज्यविध्यनुपलम्भादित्यर्थः । अन्यत्र विध्यनुपलम्भं समर्थ-
यते—यदीत्यादिना । अन्यत्र कर्मप्रक्रियायामिति यावत् । कर्माधिकारे तत्प्रागविधेर्विरुद्धत्वादिति
भावः । भवतिवह" पारिव्राज्ये विधि"स्तथाऽपि सर्वकर्मा"नधिकृतविषयः स्यादित्याशङ्क्याऽह—यद-
पीति । तत्र कर्मानधिकृते पृंसोत्येनत् । "तत्र हेतुमाह—कर्तव्यत्वेनेति । कर्मानधिकृतेन इत'प्रतया'

समान भी 'प्रव्रजन्ति' यह वाक्य स्तुत्यर्थक नहीं हो सकता । तथा अन्य प्रधान कर्मों के समान यह अर्थ-
वाद सापेक्ष है । यदि श्रुति में इसका भी श्रवण होता तो ऐसा कह सकते थे । इसलिये यह श्रुति आत्म-
लोक की स्तुतिपरक है—यह विचार भ्रान्तिपूर्ण ही है ।

विधेय पारिव्राज्य से (आत्मा या उसके ज्ञान) किसी की स्तुति नहीं हो सकती । यदि विधान
करने योग्य होकर भी पारिव्राज्य अन्य की स्तुतिपरक हो सकता है तो इसे दशपूर्णमासादि विधेय कर्म
भी स्तुति के लिए सिद्ध होंगे । इस विद्या प्रकरण को छोड़कर और कहीं भी (कर्म प्रकरण में) इसकी
वर्तव्यता ज्ञात नहीं हुई, जिसके कारण यहाँ स्तुतिपरक हो । यदि कहीं पारिव्राज्य विधि की कल्पना
की जाय तो वह यही मुख्य विधि होगी, अन्यत्र तो होगी नहीं । यदि अनधिकृत के विषय में पारि-
व्राज्य की कल्पना की जाय तो वृक्षादि में आरौहणादि की भी पारिव्राज्य के समान कल्पना हो जायगी ।

१. अस्तावकत्वेन विधित्वनिष्पत्त्यात् । २ विधेयेन । ३ आत्मनस्तज्ज्ञानस्य वेति शेष । ४ कर्मप्रकरणे ।
५. प्रवृत्त्यात् । ६. प्रवरणात् विद्याप्रकरणादिति यावत् । ७. तर्हि । ८. मुवर्गाय लोकापेक्षावत्प्रादा-
पेक्षावदित्यर्थः । ९. एतद् स्मृत्यार्थवादात् । १०. अर्थवादसापेक्षत्वेन । ११. अस्तावकत्वात्प्रादा-
पेक्षावदित्यर्थः । १२. एकत्रोभयार्थत्वे वाक्यभेदोऽपीति मनसि निष्पत्त्याऽह—प्रथेति । १३. कर्मप्रकरणे । १४. विद्याप्रकरणे ।
१५. प्रवरणात् । १६. विधिप्रकरणे । १७. पारिव्राज्यविधेयत्वेऽपि । १८. अर्थवादावदित्यर्थः ।
१९. उक्तवत्त्वनायाम् ।

वृक्षा'दारोहणाद्यपि पारिव्राज्यवत्कल्प्येत । कर्तव्यत्वेनानिर्जातत्वाविशेषात् । 'तस्मात्स्तुति-
त्वगन्धोऽप्यत्र' न शक्यः कल्पयितुम् ।

यद्ययमात्मा लोक इष्यते किमर्थं तत्प्राप्तिसाधनत्वेन कर्मण्येव नाऽऽरभेरिक
पारिव्राज्येनेति । अत्रोच्यते—अस्याऽऽत्मलोकस्य कर्मभिरसंबन्धात् । यमात्मानमिच्छन्तः
प्रव्रजेयुः स आत्मा साधनत्वेन फलत्वेन चोत्पाद्यत्वाद्द्विप्रकाराणामन्यतमत्वेनापि कर्म-
भिर्न संबध्यते । 'तस्मात्स एव नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यत इत्यादिलक्षणः । यस्मादेवं-
लक्षण आत्मा कर्मफलसाधनासंबन्धी सर्वसंसारधर्मविलक्षणोऽज्ञानायाद्यतीतोऽस्यूलादि-
धर्मवानजोऽजरोऽमृतोऽमयः सैन्धवधनवद्विज्ञानंकरसस्वभावः स्वयज्योतिरेक एवा-
द्वयोऽपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्य इत्येतदागमतस्तर्कतश्च स्थापितं विशेषतश्चेह जनक-

जातत्वं वृक्षारोहणादाविव पारिव्राज्येऽपि नास्ति "तथा चानधिकृतविषये पारिव्राज्यं कल्प्यते
चेत्तस्मिन्विषये वृक्षारोहणाद्यपि कल्प्येताविशेषादित्यर्थः । पारिव्राज्यस्याधिकृतविषयत्वे विधेयत्वे च
सिद्धे फलिनमाह—तस्मादिति ।

सार्थवाद पारिव्राज्यं व्याख्याय स एव इत्यादि व्याकृतुं शङ्कयति—यदीति । परिहरति
—अत्रेति । तर्वायिनो नाऽऽरभन्ते कर्मणोति शेषः । कर्मभिरसंबन्धमात्मलोकस्य साधयति—यमात्मा-
नमिति । तस्य कर्मासंबन्धे निष्प्रपञ्चत्व फलतीत्यह—तस्मादिति । आत्मनो निष्प्रपञ्चत्वेऽपि कथं
तदयिनो पारिव्राज्यसिद्धिरित्याशङ्क्याऽह—यस्मादिति । निर्विशेषस्तत्र तत्र वाश्ये दर्शितस्वरूपोऽय-

क्योकि कर्तव्य रूप से ज्ञात न होने मे दोनों समान हैं । इसलिए 'प्रव्रजन्ति' इस वाक्य मे स्तुतिपरक
होने की लेशमात्र भी कल्पना नहीं की जा सकती ।

(इस पर शङ्का होती है—) यदि आत्मलोक की इच्छा की जानी है तो उसकी प्राप्ति के
रूप से कर्मों का आरम्भ ही न करो, प्रव्रजन ग्रहण से क्या प्रयोजन है? इस पर (सिद्धान्ती द्वारा
परिहार करते हुए) कहा जाता है—इस आत्मलोक का कर्म से कोई संबन्ध नहीं है । जिस आत्मा की
इच्छा करते हुए मुमुक्षु प्रव्रजन ग्रहण करें, उस आत्मा का साधन, फल, उत्पाद्य, भाव्यादि प्रकारों मे
से किसी एक रूप से भी कर्मों का संबन्ध नहीं होता । इसलिए वह 'नेति नेति' इस प्रकार लक्षण, वात्स,
आत्मा "अगृह्य" अर्थात् ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि इस प्रकार के लक्षण वाला आत्मा
कर्म के फल या साधन से असम्बद्ध, सम्पूर्ण सासारिक धर्मों से विलक्षण, क्षुधादि से अतीत, अस्यूलादि
धर्मवान्, अन्नमा अजर, अपक्षयरहित अमृत और निरविद्य सैन्धवखण्ड के समान एकमात्र विज्ञानरम-
स्वभाव, स्वयज्योति, एव, अद्वितीय, अकार्य, अकारण, नि सामान्य एव निर्विशेष है—ऐसा भागम और
तर्क द्वारा निर्णय किया गया है, यहाँ जनक-याज्ञवल्क्य सवाद मे इसका प्रतिपादन किया गया है ।

- १ भादिम्याग्निप्रवेभादि प्राह्यम् । २ अर्थवादान्ययादितिङ्गात् भवतरणोत्वात् । ३ प्रव्रजन्तीतिवाक्ये ।
४ मुमुक्षुधन । ५ भादिनाऽऽप्यत्वादिग्रह । ६ अन्यतमेनेति न्याय्यम् । ७ भवतरणोक्तत्वात् । ८
अपक्षयरहित । ९ निरविद्य । १० तथा च—उभयत्र कर्तव्यत्वे न ज्ञातत्वाभावस्य तुल्यत्वे च ।

याज्ञवल्क्यसंवादेऽस्मिस्तस्मादेवंलक्षण आत्मनि विदित आत्मत्वेन, नैव कर्मारम्भ उपपद्यते । 'तस्मादात्मा निर्विशेषः । न हि चक्षुष्मान्पथि प्रवृत्तोऽहनि कूपे कण्टके वा पतति । कृत्स्नस्य च कर्मफलस्य विद्याफलेऽन्तर्भावात् । न चायत्नप्राप्ये वस्तुनि विद्वान्यत्नमातिष्ठति ।

“अद्भुते चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।

इष्टस्यार्थस्य संप्राप्तौ को विद्वान्यत्नमाचरेत्” ॥

“सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते” ।

इति गीतासु । इहापि चैतस्यैव परमानन्दस्य ब्रह्मविराप्स्यस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तोत्युक्तम् । अतो ब्रह्मविदां न कर्मारम्भः ।

यस्मात्सर्वेषणाविनिवृत्तः स एष नेति नेत्यात्मानमात्मत्वेनोपगम्य तद्रूपेणैव

मात्मेत्येतदागमोपपत्तिभ्यां यथा पूर्वत्र स्यापितं तथैवात्रापि ब्राह्मणद्वये विशेषतो यस्मान्निर्धारितं तस्मादस्मिन्नात्मन्यापाततो ज्ञाते कर्मानुष्ठानप्रयत्नासिद्धिरिति योजना । उक्तात्मविषयविवेकविज्ञानवतो न कर्मानुष्ठानमित्यत्र दृष्टान्तमाह—न हीति । ब्रह्मज्ञानफले सर्वकर्मफलान्तर्भावाच्च तदपिनो मुमुक्षोर्न कर्तव्यं कर्मत्याह—कृत्स्नस्येति । तथाऽपि विचित्रफलानि कर्माणीति विवेको कुतूहलवशादनुष्ठास्यतोत्याशङ्क्याऽह—न चेति । तत्र लौकिकं न्यायं दर्शयति—अद्भुते चेदिति । पुरोदेशे मधु लभेत चेदिति यावत् । ज्ञानफले कर्मफलान्तर्भावे मानमाह—सर्वमिति । अखिलं समप्राप्तोपेतमित्यर्थः । तत्रैव श्रुति संवाद्यति—इहापीति । निषेधवाक्यतात्पर्यमुपसंहरति—अत इति ।

एतमित्यादि वाक्यं प्रोजयति—यस्मादिति । उ हेति निपातान्यां सूचितोऽर्थो यस्मादित्यनु-

इसलिए इस प्रकार लक्षण वाले आत्मा को आत्मस्वरूप से जान कर कर्म का आरम्भ होना असम्भव है । इसलिये (कर्म से आत्मलोक के अत्यन्त असम्बद्ध होने के कारण) आत्मा निर्विशेष है । कोई भी नेत्र-ज्योतिसम्पन्न व्यक्ति दिन में मार्ग में चलता हुआ कूप या काँटों में नहीं गिरता और समग्र वस्तु बिना प्रयत्न के प्राप्य है क्योंकि कर्मफल का, विद्या के फल में अन्तर्भाव हो जाता है । अन्तर्भाव मुद्रा में ही प्राप्त होने पर उस वस्तु के लिए विद्वान् यत्न का अनुष्ठान नहीं करता ।

“यदि अपने पास ही मधु प्राप्त हो जाय तो मधु प्राप्ति के लिए पर्वत के पास क्यों जाय । इष्ट अर्थ की प्रति हो जाने पर, विद्वान् यत्न का आश्रय क्यों ले” ।

“हे पृथापुत्र अर्जुन ! कर्म जितने भी हैं, सभी ज्ञान में जाकर परिसमाप्त हो जाते हैं” ऐसा गीता का वचन है । इस बृहदारण्यक श्रुति में भी कहा है कि “ब्रह्मस्वरूप इस परमानन्द की विषयेन्द्रिय संबन्ध के समय प्रतीयमान एक कला के आश्रित दूसरे जोब रहते हैं” । इसलिए (कर्मानुष्ठान में कारण और फल के अभाव होने से) ब्रह्मवेत्ताओं के लिए कर्म का विधान नहीं है ।

१. निष्कारमलोकस्यकर्मभिरत्यन्तमसम्बन्धात् । २. अन्तर्भावमुद्रया लभ्ये इति यावत् । ३. वृ उ. ५. ३. ३२ । ४. कर्मानुष्ठाने कारणफलयोरभावात् । ५. एरण्यो विनिवृत्तो हेतुमाह—स एष इति । ६. ज्योति-ब्राह्मणगारीखब्राह्मणे । ७. तत्र तदन्तर्भविषि ।

वर्तते तस्मादेतमेवंविदं नेति नेत्यात्ममूतमु हेवते वक्ष्यमाणे न तरतो 'न' प्राप्नुत इति युक्तमेवेति वाक्यशेषः । के ते इत्युच्यते—अतोऽस्मान्निमित्ताच्छरीर'धारणाविद्वेतोः पाप-मपुण्य कर्माकरवं कृतवानस्मि 'कष्टं खलु मम 'श्रुतमनेन पापेन कर्मणाऽहं नरकं प्रति-पत्स्य इति योऽयं पश्चात्पापं कर्म कृतवतः 'परितापः स एनं नेति नेत्यात्ममूतं न तरति । कृतयाऽतः कल्याणं फलविषयकामान्निमित्ताद्यज्ञदानादिलक्षणं पुण्यं शोभन कर्म कृतवान-स्मि । 'अतोऽहमस्य फल सुखमुपभोक्ष्ये देहान्तर इत्येयोऽपि हर्षस्तं' न तरति' । उभे उ हेवैव ब्रह्मविदेसे कर्मणो "तरति पुण्यपापलक्षणं ।

भाषितः । इतिशब्दस्यापेक्षितं पुरयति—युक्तमिति । आकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यमवगतार्थं व्याफरोति—के ते इत्यादिना । यथोक्तात्मविदस्तापहर्षासंस्पदो हेतुमाह—उभे इति ।

सर्वं एवणाश्रो से निर्मुक्त होकर "वह ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है" इस प्रकार आत्मा को आत्मत्वेन जानकर तद्रूप हो जाता है । इसलिए यद्येक आत्मविद इम 'नेति नेति' आत्मभूत दृष्ट पुण्य को ये वक्ष्यमाण दोनों प्राप्त नहीं होते; यह ठीक ही है, यह वाक्य का पर्यवमित अर्थ है । वे क्या हैं ? इसे श्रुति बतला रही है—'अत' अर्थात् इस शरीर-धारणादि निमित्त से 'पापमकरवम्' यानी मैंने अपुण्य कर्म किये हैं यह महान् कष्टजनक है कि अपने द्वारा आचरित इन अपुण्य कर्मों से मैं नरक में जाऊंगा, इस प्रकार पापकर्म करने वाले का जो मरणावस्था में पश्चात्ताप है, उसे 'नेति-नेति' इस प्रकार आत्मस्वरूप को जानने वाला नहीं प्राप्त होता । इसी प्रकार "अतः कल्याणमकरवम्" अर्थात् मैंने फलविषयक कामना के निमित्त से मैंने यज्ञदानादि रूप पुण्य यानी शुभ कर्म किये हैं, इसलिए शुभानुष्ठायी होने से मैं इसका दूसरी देह में फलात्मक सुख भोगूंगा, इस प्रकार का हर्षं विद्वान् को स्पर्श नहीं करता । इस प्रकार वह ब्रह्मवेत्ता इन दोनों पुण्य-पापलक्षण कर्मों का अतिश्रमण कर जाता है ।

१. एवविदम्—यथोक्तात्मविदम् । २ न प्राप्नुत इति—तयोरज्ञानकार्यत्वाद्द्विपुत्र निष्पन्नचरामनि स्थित-त्वादिति भावः । ३ धारणादीत्यादिनाऽपि विवेकप्रयुक्तयोगादेव हेतुम् । ४ महाकष्टजनकम् । ५ आचरणं चरितं वा । ६ मरणावस्थायाम् । ७ प्राप्नोति । ८ शुभानुष्ठायित्वात् । ९ विद्वान् । १०. स्पृशति । ११ अतिक्रामति, कर्महेतोरविद्याया विद्यया बाधत्वात् ।

कृतयाऽतः कल्याणमित्याद्यतो ब्रह्मविदवर्गसंबन्धीत्यवसाने भाष्ये वार्तिकानि—क्षयिष्यन् पुण्य चेतस्मादेतारकरवपुः । इत्येते विचिन्तिस्ते द्वे सर्वस्य भवतो मृतौ ॥ एते न तरतोऽज्ञोत्ये तद्वत्त्वज्ञानधर्मरम् । अज्ञानायाद्यतिक्रान्त ब्रह्मस्मीत्यात्मवेदिनम् । कथं ते ध्यान्तोऽपि चाहेतुत्ये ब्रह्मवेदिनम् ॥ तापाय पुण्यमप्याहुः परिणामादिसगते । क्षयातिशययोगित्वात्तथा ध्यामोऽप्यभाष्यते । तस्य स्थानवरिपुत्रस्य सर्वे निरयमंजिता ॥ न व्याप्नुतस्ते स कस्या-त्ममंणी साध्वसाधुनी । इतिहेतुवदेशार्थमुभे इति पर शब्द ॥ उभे एते तरत्येव विद्वान्तरदेवुवाधनात् । उभे न तरतोऽस्तमुभे न तपतश्च तम् ॥ श्रुतं फलप्रदानेन प्रत्यवायेन चान्धनम् । न तापयति कर्मतन्नेति नेत्यात्म-दशिनम् ॥ पुण्यं वा यदि वा पापं न कर्मोऽस्ति तादृशम् । लोकोऽयं भोयते येन ब्रह्मविद्याप्रकाशितः ॥ न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महत्तया । इति मन्त्रोऽपि चाऽऽनन्त्यर्थमस्मात्प्रत्यवावत्त्ववयम्' ॥ ११७१-११७० ॥ इति । अतः कल्याणमित्यादेरर्थमाह—क्षयिष्यति । एतस्मादागादेरेवेत्यर्थः । तत्परं च मरणात्तर भोक्तव्यमिति

एवं ब्रह्मविदः संन्यासिन उभे अपि कर्मणी क्षीयेते पूर्वजन्मनि कृते ये ते 'इह जन्मनि कृते ये ते चापूर्वं' च नाऽऽरभ्येते । किंच नैन कृताकृते कृतं नित्यानुष्ठानमकृतं तस्यैवाक्रिया ते अपि कृनाकृते एनं न तपतः । अनात्मज्ञं हि कृतं फलदानेनाकृतं प्रत्य-
चापोत्पादनेन तपतः । अयं तु ब्रह्मविदात्मविद्याग्निना स्वर्गणि कर्माणि भस्मी करोति ।

पुण्यपापे तरतोऽस्त्युक्ते 'पृथगवस्थानं तयोः' शङ्कयते तन्निरस्यति—एवमिति । 'निषेधवाक्योक्त-
क्रमेणैति यावत् । 'इतश्चाऽऽत्मदिवो धर्मादिसंबन्धो नास्तोत्याह—किंचेति । 'तदेवानन्तरवाक्यव्या-
ख्यानानेन स्फोरयति—नैनमिति । 'तयोस्तर्हि कुत्र तापकत्वं तदाह—अनात्मज्ञ हीति । पुरपत्वाद्ब्रह्म-
विदुष्यपि कृताकृतयोस्तापकत्वं स्यादित्यागङ्गुचाऽह—अयं त्विति' । अत्र भगवद्वाक्यं प्रमाणयति

इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता संन्यासी के जो पूर्वजन्म के कर्म हैं और (विद्योत्पत्ति से पूर्व) इस जन्म के कर्म हैं; वे दोनों अनारब्धफलक पुण्य और पाप कर्म पृथक् नहीं रहते और ज्ञानोत्तर काल में नए कर्मों का आरम्भ नहीं होता । तथा "नैन कृताकृते तपत" अर्थात् नित्य अनुष्ठान करने योग्य और नित्य अनुष्ठान न करने योग्य, ये दोनों (फल प्रदान प्रत्यवाय द्वारा) इसे स्पर्श नहीं करते ।

- १ उभे पुण्यपाप अनारब्धफले । २ न पृथगवतिष्ठते । ३ विद्योत्पत्ते प्राक् । ४ ज्ञानोत्तरकालम् ।
- ५ फलप्रदानप्रत्यवायद्वारा । ६ तथा च द्वैतमवशिष्येतेति भाव । ७ शङ्कयतेति पाठान्तरम् । ८, निषेधेति—नेति नेतीतिनिषेधवाक्य तत्रोक्त क्रम १३०० पृष्ठभाष्ये 'यत्रोच्यते' इत्यादिना प्रदग्निषो भाष्ये तेनेत्यर्थ । ९ टीकावक्षाने निर्गलित्यभाषणात् कारणात् । १० कारणम् । ११ विदुष्यतापकत्वे । १२ अयं त्विति—उक्तानुमानेऽविद्यावत्त्रमुपाधिरिति शेष ।

सकल्पयतीति शेष । सकल्पद्वये कोऽधिकारीत्यपेक्षायामाह—इत्येते इति । तत्र समुच्चयानुष्ठाप्यो यथोक्तचिकित्सा-
वान्मतेहर्षं सूक्ष्मदेहवैष्टितो देवयानेन पया ब्रह्मलोकमासाद्य निवृत्तगोति नेत्रलेष्टादिकारित्वविशेषण पितृयज्ञेन
चन्द्रमसमासीदिति । अनिष्टादिकारी पुनरुक्तविशेषणो भूतसूक्ष्मपरिवृत, सवमने यामीयतिना भूयो भूयोज्जुभूय
सतोऽवहृद् नृसीयस्थानभाभवतीति भाव । तर्हि ब्रह्मविदोऽपि स्यातामेते विविक्तिं उत्कारणे च सुहृत्वमुच्यते
नेत्याह—एत इति । धर्माधमपोर्ब्रह्मविदस्पर्शं हेतुमाह—कथमिति । न हि त स्पृश्याऽऽष्ट तपति तस्याविद्या-
कार्यत्वात्तदहितऽस्मिन्नयोगादित्यर्थं । पापस्य तापकत्वेऽपि पुण्यस्य तस्य तदभावात्तत्र तपतीत्यप्रसक्तानियेयोऽय-
मित्याचङ्क्याऽह—तापावेति । आहु सूत्रकारभाष्यकारप्रभृतय श्रुतयश्चेति शेषः । तस्य पापवतापत्त्वे हेतुमाह
—परिणामादीति । पुण्यस्य हि फले परिणामवृद्ध्यादिसंबन्धास्त्यस्यगतियत्वेन च मुक्तत्वाद्युक्त तस्यापि ताप-
कत्वमित्यर्थं । तत्र स्मृतिं प्रमाणयति—तथेति । घ्यासवावयवेव लेशतो दर्शयति—तस्यति । ब्रह्मलोकास्थ-
स्थानस्य मोक्षस्थानस्य वाऽऽश्रयाद्भ्राविन सर्वे लोका दुःखबहुलत्वात्प्रकशन्दिता इति वदन्पुण्यमपि तापक
मूचयति स्मेत्यर्थं ॥ पुण्यापुण्ये ब्रह्मविद न स्पृशतो न तपतस्त्वेत्यत्र श्रुतिप्रवेग हेतु वन्तु प्रभ्रपूर्वं नमुत्तरवाक्य-
मादत्ते—नेत्यादिना ॥ तदप्यकरोति—उभे इति । तत्र हेतु —तद्वैत्विति । ब्रह्मेतोरविद्याया विद्याया दाधादिति
यावद् । विदुषो धर्माद्यतिरुपफलमनिलपन्नैनमित्यादेरर्थमाह—उभे नति ॥ उभे न तपतस्तमित्येतत्प्रपञ्चयति—
इतिमिति । तस्यातापकत्वे हेतुमाह—नेतीति । यद्यपि कर्म विद्वांस न तापयति तथाऽपि विद्याया सह तत्फल परि-
च्छिन्नसौम्यस्ति विदुषोऽपि कर्माधीनतेत्याचङ्क्याऽह—पुण्य वेति । पृष्टीससमीभ्यां विद्वातुच्यते ॥ विद्याप्रकाशि-
तात्मलोकस्यापपरिच्छिन्नत्वे मानमाह—न तस्येति । तस्य तापस्यमाह—इति मन्त्रोऽतीति ॥

'तदेतदृचाऽभ्युक्तम् । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य
न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात्पदवित्तं
विवित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति । 'तस्मादेवं-
विच्छान्तो दान्त उपरतस्तिक्षुः ॐ समाहितो भूत्वा-

ब्राह्मण के द्वारा कही गयी यह बात मन्त्र द्वारा भी प्रकाशित की गयी है । 'नेति नेति'
इत्यादि श्रुति द्वारा लिखित यह ब्रह्मदेवी की नित्य महिमा है । (दूसरी महिमा यह है कि) जो कर्म से
न तो घटती है और न बढ़ती ही है । अतः उस महिमा के स्वरूप को जानने वाला होना चाहिए । उसे
जानकर पुरुष धर्माधर्म रूप कर्म से लिप्त नहीं होता । अतः ऐसा जानने वाला ब्राह्म इन्द्रिय व्यापार

“यथैवाति समिद्धोऽग्निः” इत्यादिस्मृतेः । शरीरारम्भकयोस्तूपभोगेनैव क्षयः । अतो
ब्रह्मविदकर्मसंबन्धो । २२ ॥

तदेतद्वस्तु ब्राह्मणेनोक्तमृचा मन्त्रेणाभ्युक्तं प्रकाशितम् । 'एष नेति नेत्यादिलक्षणो

—यथेति । यद्यपि पूर्वोक्तसर्वधर्मयोगोरनारब्धयोरान्तरात्मविद्यावशाद्विनाशाश्लेषी तथाऽपि प्रारब्ध-
योरस्ति तयो'स्तापकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—शरीरेति । प्रकृतं विद्याफलमुपसंहरति—अत इति । कर्म-
कार्यासंबन्धादिति यावत् ॥ २२ ॥

उपते विद्याफले मन्त्रं सवावयति—तदेतदिति । एष नित्यो महिमेत्यत्र नित्यत्वमुपपादयति

ब्रह्मात्मज्ञ को ही फलप्रदान के द्वारा कृत कर्म और प्रत्ययाम द्वारा अकृत कर्म स्पर्श करते हैं । यह ब्रह्म-
वेत्ता तो आत्मज्ञानरूप अग्नि से सारे कर्मों को भस्म कर देता है । 'जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि
लकड़ी को भस्म कर देता है, (उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सर्वे कर्मों को भस्ममात् कर देता है) इत्यादि
स्मृति इससे प्रमाण है । (प्रारब्ध से) शरीरारम्भक पुण्य पाप कर्मों का विनाश तो उपभोग से ही होता
है । इसलिए ब्रह्मवेत्ता कर्म से कोई संबन्ध नहीं रखता ॥ २२ ॥

ब्राह्मण द्वारा कही हुई यह बात "ऋचा" अर्थात् मन्त्र के द्वारा 'अभ्युक्तम्' अर्थात् प्रकाशित

१ तत् सर्वकर्मातिगम् । एतत् संहितब्राह्मणेनोक्त प्रथममात्मसङ्ग ब्रह्म वस्त्वित्यर्थं । २ एतदेवम कथ
स्यादित्यत आह—तस्मादिति । यस्मानुक्तलक्षणो महिमा तस्मादेवित् सर्वकर्मादिससंगं धूम्य आत्मेत्यापाततो
जानप्रित्यर्थं । ३ नेतीत्यादिना प्रवृत् इत्यर्थं । ४ जन्मान्तरीयभयप्रदत्वम् ।

ॐ समाहितो भूवेति । अत्राह्वर्यादिकाध्यायस्तिष्ठाहि—“साध्यस्य कर्मणस्तपागात्साम्यदेव सिद्धत । तत्साधनस्य
साधयेते श्रद्धावित्तगिराऽत्र किम् ॥ मैव दृष्टार्थविषये यत्कर्मास्त्यावयेयितम् । तत्साधनेष्वममताविधानार्थं यच्चो
यत् ॥ अद्वैत विलासस्येति नान्यदस्य यतस्ततः । श्रद्धावित्तोऽयमित्युक्त सत्यासी सर्वकर्मणाम् ॥ भूत्वेत्यस्याभि-
संबन्ध सर्वे शान्तादिभि परे । विधिनाऽप्यपि चाऽऽशेषाद्विधिभ्रंशवन्निप्यते ॥ पाण्डित्यादि पुरोक्तं यत्तस्यैय-
मुपमहति । प्राक्तशास्त्रभेदात्वेदिति यच्च समीरितम् । सेतिकर्तव्यताऽहोऽव विधिरस्तस्यायमुच्यते ॥ अन्वयव्यति-
रेकान्मां यचोक्तं साधनैर्युतं ॥ आत्मन्येव तमात्मानं निष्कम्प्यानात्मराशित । पश्येद्विषयभिसंबन्ध परयतीत्ययव

ऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं
पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति
सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो

से घान्त भ्रन्त करण की तृष्णा से रहित होने के कारण दान्त, सम्पूर्ण एणुओं से उपरत, द्वन्द्व को सहन करने वाला तितिक्षु और समाहित चित्त हो आत्मा में ही आत्मा को देखता है । सभी को आत्मा देखता है । उसे घर्माघर्म रूप पाप का स्थान नहीं होता । यह सम्पूर्ण पापों को पार कर जाता है । इसे पाप और ताप दुःखी नहीं करते, बल्कि यही सम्पूर्ण पापों को संतप्त करता रहता है । यह पापरहित,

नित्यो महिमा । अन्ये तु 'महिमानः कर्मकृता इत्यनित्याः । अयं तु तद्विलक्षणो महिमा
स्वाभाविकत्वान्नित्यो ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य 'त्यक्तसर्वेणस्य । कुतोऽयं नित्यत्वमिति

—अन्ये त्विति । तद्विलक्षणत्वमकर्मकृतत्वम् । अकर्मकृतो महिमा स्वाभाविकत्वान्नित्य इत्यत्राकर्म-
कृतत्वेन स्वाभाविकत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—कुतोऽस्येति । वृद्धिरपञ्चदशेति विक्रियाद्वयाभावेऽपि

की गई है । 'एः' अर्थात् 'नेति-नेति' इत्याद्यात्मक नित्य महिमा है । अन्य ब्रह्मलोकादिपर्यन्त
जितने भी ऐश्वर्य विशेष हैं, वे सभी कर्मकृत होने से अनित्य है । यह उस सर्व एणुआत्मागी ब्रह्मदेवता
की उससे विलक्षण महिमा है, जो स्वाभाविक होने के कारण नित्य है । इसकी नित्यता क्यों है ?

१ ब्रह्मलोकादिपर्यन्ता ऐश्वर्यविशेषा । २ ब्राह्मणशब्दस्य जातिपरत्व व्यवच्छिन्नति—त्यक्तेति ।

भवेत् ॥ विध्यर्थस्य पुरा प्राप्ते. काण्वानामनुवादत । द्रष्टव्याद्युक्तिस्तस्मात्पश्यतीत्यभिधीयते ॥ प्रात्माऽनात्म-
प्रधानत्वाद्ब्रह्मरूपेण नैक्यते ॥ विशेषणत्वं स्वार्थोऽपि सत्कार्यं कारणं गत. । स्वात्माविद्यासमुत्प्रेऽस्मिन्प्रात्मा-
विद्यासमाश्रयात् ॥ देहेन्द्रियमनोधीम्यो ह्यन्वयव्यतिरेकत. । मुञ्जेधीकावदुक्त्यप्य पर्येदात्मानमारामि ॥
मात्पन्येव यदाऽऽत्मान विभज्यानात्मनोऽविलात् ॥ प्रपश्यति तदाऽनात्मा न पृथग्व्यवधिष्यते" ॥ १२६७-
१२७० ॥ इति । तस्मादित्यादि समाहित इत्यन्त व्याख्याय श्रद्धावित्तो भूरेति माध्यंदिनश्रुति व्याख्यातु
शोदयति— साध्यस्येति । अद्वैत वित्तमस्येति व्युत्पत्त्या वित्तान्तरत्यागो विवक्षयते स च नर्मत्यागेनैव गतस्तथा-
चोपरतादिश्रुत्या श्रद्धावित्तश्रुतेः पौनरुक्त्यात्प्रमादपाठोऽयमित्यर्थ ॥ परिहरति—सैवमिति । देहस्त्वितिदंष्टार्यं-
स्तद्विषये यत्कर्म मिश्राटनादि पूर्वविशेषणैरनिषिद्ध मन्थासिनोऽज्ञशेषित तत्तापनेषु मिश्राणात्रादिश्रुति मनता न
कार्यत्वेतदर्थं श्रद्धावित्तपदमुक्तम् ॥ उक्तं हि—'न वृत्त्या मोदके भङ्गो न चैने न त्रिपुकरं । नागारे नाऽऽसने
नान्ने यस्य वै भोजवित्तु सः' इति । तस्मात्पुनरुक्तेर्युक्ता माध्यंदिनश्रुतिरित्यर्थ ॥ उक्तेर्ये तं व्याचष्टे—
श्रद्धेति । यत शब्दात्पूर्वमितिप्रदस्य सवन्ध ॥ पाठद्वयेऽपि भूत्वेतिपदव्याख्यावहितेनैव सवन्धो न व्यवहितेन
पान्थादिनेति शङ्का निरस्यति—भूत्वेत्यस्येति । न हि सनिधिरेव सवन्धहेतु इत्यु योग्यत्वादिरपीत भावः ।
घान्तः स्यादित्यादिविधिरास्ति चेत्तहि शमादीनां रवतत्रविधिविषयत्रात्र ज्ञानशेषतेत्यात्र रूप पर्येदिति-
विधिसनिधानान्मैवमित्याह—विधिनेति । उभयत्र विधिपदं पर्येदिति विधिनिषयम् ॥ बहोलाब्राह्मणादी
यथोक्तगमादेविहितत्वात्कमत्र तद्विधिनेत्याशङ्क्याऽऽह—पाण्डित्यादीति । आत्मन्येवेत्यादेस्तास्यमाह—
प्रायिति । वृतीयेऽध्याये तदात्मानमेवावेदित्यत्र वाक्यार्थज्ञानमुक्तं तस्योपाये त्वमर्थज्ञाने शमादीतिवर्तव्यतासहिहो

ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः स भ्राडेनं प्रापितोऽसीति
होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवतं विदेहान्दवामि मां
चापि सह दास्यायेति ॥ २३ ॥

कामनारहितं एव संशयरहितं ब्रह्मवेत्ता हो जाता है। हे रामन् ! यही ब्रह्मलोक है, इस लोक में तुम पहुंचा दिये गये हो—ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा। तब जनक ने कहा—बह मैं प्राप श्रीमान् को विदेह देना देता हूँ, साथ ही अपने प्रापको मो दास कर्म के लिये समर्पित करता हूँ ॥ २३ ॥

हेतुमाह—कर्मणा न वर्धते शुभलक्षणेन कृतेन वृद्धिलक्षणां विक्रियां न प्राप्नोति ।
अशुभेन कर्मणा नो कनीयान्नाप्यपक्षयलक्षणां विक्रियां प्राप्नोति । उपव्यापचयहेतुभूता
एव हि सर्वा विक्रिया इत्येताभ्यां प्रतिषिध्यते । 'अतोऽविक्रियत्वाभित्य एष महिमा ।
ऋतस्मात्तस्यैव महिम्नः स्याद्भवेत्पदवित्पदस्य वेत्ता पद्यते गम्यते ज्ञाप्यते इति महिम्नः

विक्रियान्तराणि भविष्यतीत्याशङ्क्याऽह—उपचयेति । एताभ्यां निषेधाम्यामिति यावत् । आत्मनः
सर्वविक्रियाराहित्ये फलितमाह—प्रत इति । तस्य नित्यत्वेऽपि किं तदाह—तस्मादिति । अधर्मलक्षणे-

इतमे श्रुति हेतु बतलाती है—“न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्” अर्थात् किए हुए शुभ कर्मों से यह वृद्धि
रूप विकार को प्राप्त नहीं होती, न ही अशुभ कर्मों से अपक्षयरूप विकार को प्राप्त होती है। जितने
भी विकार हैं, सब वृद्धि और अपक्षय के हेतुभूत हैं, इसलिए ये प्रतिषिद्ध किये जाते हैं। इसलिए
विक्रियारहित होने के कारण यह इस ब्राह्मण की नित्य महिमा है। इसलिये “तस्यैव स्यात्पदवित्”

१ कार्याभावे हि कारणाभावोऽवगम्यते । २ कर्माताप्यत्वात् । ३. त्वपदार्थभूतस्य ।

विधिरात्मन्येवेत्यादिनोच्यते शमादिसंप्रभो हि त्वपर्यंज्ञानी भूत्वा वाक्यार्थज्ञानवान्मुच्यत इत्यर्थः । वाक्यार्थज्ञानस्य
मुक्तिहेतुत्वेनाऽऽवश्यमनत्वद्योतनायाधेतुत्तम् ॥ नायं वाक्यार्थज्ञाने विधिरिति स्फोरयितु पदार्थज्ञाने विधिमनुबद्धान्ना-
त्मनीत्यादि व्याकरोति—अन्वयेति ॥ शमादिभिर्युक्तोऽधिकारी चतुर्थाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मानमनात्मराशे-
निवृत्त्य तमात्मन्येव परयेदिति योजना । सभ्या संघातोक्ति । द्वितीयया तत्प्राधान्येन । परयेदिति माध्य-
दिनपाठेनोक्तम् ॥ पश्यतीति वर्तमानापदेशात्काण्वपाठे पदार्थज्ञाने युतो विधिरित्याशङ्क्याऽह—विधीति ।
यद्यपि द्रष्टव्यादिवाक्यात्पदार्थज्ञानं काण्वमाध्यदिनयो सिद्ध तथाऽपि विशिष्टं तदप्राप्तमिति माध्यदिनाना तद्विधि-
रिष्टं काण्वानां तु पदार्थज्ञानमनूय विशेषणविषयो विधिरिति वर्तमानापदेशात्कल्पितोऽर्थतो नोभयेया विज्ञेय
इत्यर्थं । ननु शमादिविशेषणमात्रविषयो विधिरात्मज्ञानस्य विधिमन्तरेणाहमिति सदा प्राप्तेरत आह—
प्राप्तेति । यद्यप्यहमात्मेत्यते तथाऽपि परमार्थस्वरूपेण नाय सभ्यते देशादावात्माभिमानभाक्त्वादत-
स्त्वमर्थशुद्धिविधेयेत्यर्थं । कथमज्ञदस्य चिदात्तो, स्वतन्त्राधानात्प्रधान्यं सत्राऽह—विशेषणत्वमिति ।
तस्मादित्यादिवाक्यार्थमुत्सहरति—देहेति । अन्वयव्यतिरेकयोर्विवेकहेत्वोऽनुषंगे प्रसिद्धत्वात्प्रो हिशब्दः ॥
अन्वयविना देहद्रव्यादिभ्यस्वमहिमस्यात्मनो ज्ञाने रज्जुसुपवत्कल्पित्वादानात्मनोऽन्यदेषोपायूर्णत्व प्रतीचः
सिध्यतीति फलितमाह—प्रात्मन्येवेति ॥

ऋ तस्मात्तस्यैव महिम्न इत्याद्युभयपरि पापकमेव विदुष इत्यन्तर्भाष्ये वातिकाचार्यास्तथाहि—“महिमेवविधो

स्वरूपमेव 'पदं तस्य पदस्य वेदिता । किं तत्पदवेदेनेन स्यादित्युच्यते—तं विदित्वा महिमानं न लिप्यते न संबध्यते कर्मणा पापकेन धर्माधर्मलक्षणोभयमपि पापकमेव

नेति वक्तव्ये किमिदं धर्माधर्मलक्षणेनेत्युक्तमतं ब्राह्म—उभयमपीति । संसारहेतुत्वाविशेषादित्यर्थः ।

अर्थात् उसी (त्वपदार्थभूत) की महिमा से यह तत्पदार्थभूत ब्रह्म ही जाता है । पद का वेत्ता 'पदवित्' है अथवा "जो जाता है, प्राप्त होता है, ज्ञात होता है" इस प्रकार व्युत्पत्ति से महिमा के स्वरूप को पद कहते हैं, उसका जानने, वाला 'पदवित्' है । उस पद के जानने से क्या होता है ? इस पर श्रुति कहती है—'तं विदित्वा' अर्थात् उसकी महिमा जानकर 'कर्मणा पापकेन' अर्थात् धर्माधर्मलक्षण दोनों प्रकार

१ तत्पदार्थभूतं ब्रह्म ।

यस्माद्ब्राह्मणस्यात आदरात् । पदवित्स्यान्महिम्नोऽयं महत्तज्ज्ञानत फलम् ॥ तत्त्ववित्स्यान्महिम्नोऽयमेत्येव मन्यो विधिःसित । फलवादीदोषवाद स्यादस्मैव तु विधे पर ॥ महिम्नोऽस्मैव वा साक्षाद्वाक्यार्थप्रतिबुद्धये । धन्वयव्यतिरेकान्मा स्यात्पदार्थविचक्षण ॥ यत पदार्थसंशोधनेति नेत्यादिलक्षणम् । महिमानं श्रुतवैत्ति फल चेत्स्यात्ततोऽपि किन् ॥ तं विदित्वैत्यत ब्राह्म फल वातयार्थबोधत । यस्मादेव फल ज्ञानमेवविचरन्तस्तत ॥ शामादिसाधनो भूत्वा महिम्न पदविद्भवेत् । इति मन्त्रोक्त एवार्थो ब्राह्मणेनापि वष्यते ॥ धर्माधर्मसमायोगो यस्मात्प्रत्यगिद्य फलम् । एवविदादरात्तस्मात्प्रत्यनप्रवराणधीर्नर ॥ उत्पन्नात्मबुभुक्षु सन्वेदानुवचनादिभि । विरक्त भ्राजत्लोकाण्मोक्षादवाक्षु भूमिषु ॥ तद्युद्धधिषणोऽवर्षं वैदिकैरेव साधनं । पराङ्मुखीकृतं शुद्धधा तैस्तं सासारिकं फलं ॥ दुःखात्मकत्वात्सर्वेषां सिद्धिविन्पस्तहस्तवत् ॥ इत्येव ध्वस्तनि शेषकल्पय पूर्वसाधनं । उत्पन्नात्मबुभुक्षु सत्ययुक्तसर्वपरिग्रह ॥ रजस्तमोजरामादिदोषान्नाशितशेमुषि । मुमुक्षुवस्था सप्राप्त एव पूर्वोक्त साधनं ॥ मन्त्रब्राह्मणरूपिण्याऽधेदानीं विनियुज्यते । श्रुत्याऽप्येतमोवातिप्रत्याजानस्य जन्मने ॥ एव पूर्वोक्त-मन्त्रार्थज्ञानतत्फलविसुधी । शामादिसाधनो विद्याधन्वयव्यतिरेकत । व्युत्पाप्यानात्मन पश्यत्प्रदिव्याऽऽमान मात्मना ॥ वाक्यादेव ततोऽसङ्ग सर्वमात्मेति बोधते । इत्येतद्ब्राह्मणनह प्रवर्तन विधीयते ॥ दान्तो भूत्वा तत शान्तस्ततश्चोपरतो भवेत् । अर्थरूपो बन्दीमान्स्याद्यत पाठकमादिह ॥ त्रियानिद्रास्तिथिय प्रयोगो जग-तीक्यते । अधिधानस्य धान्तादे प्रत्यक्षेणह सर्वत ॥ बहिष्करणवेष्टाया निवृत्तौ दान्त उच्यते । दान्ताऽधो गीर्गजो वाऽपि प्रयोगस्तत्र बोधयते ॥ भ्रन्त करणवष्टाया निवृत्तौ शान्त उच्यते । शान्तो मिधुस्तपस्वीति तत्प्रयोगसमीक्षणत्वात् ॥ नवप्राप्तो विधियुक्तं प्राशस्त्वेत दमाद्य । कुनस्तत्रासिरेति चयया प्रातिस्तथोच्यते ॥ प्रतिषिद्धं तेषां काम्य चायत नित्यमेव च । इयदेव जगत्प्रतिगन्तुसा कर्म समीपयते ॥ निषिद्धस्य निषिद्धत्वात्कर्म काण्डेऽपि कर्मणा । बुद्धो वेदान्तविद्याया तस्य प्रातिर्मानागपि ॥ मुनेरेवांशु काम्येषु मुमुक्षु वादिरक्तत । काम्य कर्मोपि नैवेहे मुमुक्षो ममवयत ॥ रजस्तमोतिर्कतित्वात्सर्वसुखिद्विडेनु । पापनामपि कर्माणि नात सन्त्यस्य वानिचित् ॥ न पाणिपादचपन इत्युक्तेर्वा निषेधत ॥ नात सभाध्यते कर्म मुमुक्षोऽप्रापत क्वचित् ॥ नित्यस्याकरणत्वात् स्वादनर्थं करणादपि । नित्यस्यावाप्यतेऽपि चद्व किं नित्यकर्मणा । एव नित्यानि कर्माणि कुर्वत शुद्धचेतस । तिरयथा जायते पुंसो नित्देध्वति च कर्मनु ॥ संसारमोक्षशायाऽऽनु नित्य कर्म न चचलम् । होज्यस्तेनह पुन स्यादकृतेन कृतेन वा ॥ इति सत्रातं रमवेरांशु नित्यकर्मण । स्वतस्त्वाप क रोत्येव प्राशस्तन दमाद्य ॥ यमान्नेवेत सतत न नित्य निपमान्बुध । यमान्ततयनुवाणो नियमान्बवत्तान्प्रबन् ॥ सत्यमेव शमादीनां प्राशस्तात्प्रथते विधि । प्राशतानमेव तेषां तु हापनत्य विधीयते । प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानरूपमने श्रुतिशक्यत ॥ यद्योतविषय तेषां साधनत्व न मानत । यत प्राशतन श्रुत्या साधनत्व विधीयत ॥ निवृत्तिसामं

विदुषः ।

यस्मादेवमकर्मसंबन्धेय ब्राह्मणस्य महिमा नेति नेत्यादिलक्षणस्तस्मादेवं-

तस्मादित्यादिवाक्यं व्याचष्टे—यस्मादिति । एवंविधात्मा कर्मफलसंबन्धस्य इत्यापाततो

के पापकर्म से विद्वान् 'न लिप्यते' अर्थात् सम्बद्ध नहीं होता ।

क्योकि इस प्रकार "नेति-नेति" इत्यादि स्वरूप वाली उस सर्व एवणा र्थानी ब्राह्मण की "

प्राप्त वा भवेदुक्तेन वर्त्मना । कर्तव्यता निवृत्तेस्तु न प्राप्तेति विधीयते" ॥ ११८८-१२२० ॥ इति । तस्यै-
 वेत्यादेरर्थमाह—महिमेति । एवंविधो वृद्धिर्हानिहीन इति यावत् । महिम्नस्त्वंपदार्थस्य पद ब्रह्म तज्ज्ञानी
 स्यान्मुमुक्षुरित्यर्थं । तं विदित्वेत्यादेस्तोत्रार्थमाह—महदिति ॥ उक्तमेव विभजते—सत्त्वविदिति । तं विदित्वेत्या-
 दिविधे परं फलवादीशंकाद स्यादिति योजना ॥ यद्येव शार्थंवादी विहितोहो वाक्यासंज्ञाने विधीष्टेरपरब्रह्म
 इत्यात्तद्वृत्तं तस्यैत्यादेरर्थान्तरमाह—महिम्न इति । महिम्नः पद स्वमर्थरूपं तज्ज्ञानमत्र विधीयते तस्यैव
 पदवित्यादिति । रूपार्थं तद्विधानं तत्राऽह—मायादिति । पदार्थज्ञानविधिविधानमिति—प्रव्ययेति ॥
 वाक्यार्थज्ञानार्थं पदार्थज्ञानं न विधेयं वाक्यादेव तदर्थज्ञानसिद्धेरित्याशङ्क्याऽह—यत इति । ज्ञातपदार्थस्य
 वाक्यार्थज्ञानायोक्तारम्भेण पदार्थज्ञानमप्यतिमित्यर्थं । वाक्यासंज्ञानफलं वृद्धति—फलं वेदिति ॥ मन्त्रभागे-
 नोत्तरमाह—तमिति । तस्मादित्यादेस्तात्पर्यमाह—यस्मादिति । एवंपलमकर्मसंबन्धस्वरूपावस्थापनकर्ममिति
 यावत् । एवंविदिति ज्ञानाद्यथोक्तकृत्यं विज्ञानित्यर्थं । यामादेर्याससाध्यात्ता दसंयित्तु यत्नत इत्युक्तम् ॥
 'एद नित्यो महिमेत्यादिमन्त्रेणास्य पुनश्चक्तिमाशङ्क्याऽह—इति मन्त्रेति । मन्त्रब्राह्मणाम्मुक्तोऽर्थो भूयो
 ब्राह्मणेनोपरिक्रममाणो ब्रह्मिणमनुभवतीति भावः ॥ वाक्यतात्पर्यमुक्त्वा तदपदार्थमाह—यमेति । तस्मादेव-
 वित्यस्यज्ञानजनने विनियुज्यते इति सव्यं । एवंविदित्यस्यार्थमाह—आदादिति । आत्मज्ञानफलं कर्म-
 फलसत्त्वस्तिरित्येव ज्ञानप्राप्तयो ध्रुवस्तुतया सदा प्रत्यक्षप्रवणचित्तं स्यादित्यर्थं ॥ प्रत्यक्षप्राप्त्येव कारणमाह—
 जल्पनेति । तस्य पूर्वस्य सव्यं । बुभुत्वोत्पत्तौ वेदानुवचनाद्यधीनधीनुद्धि हेतुं सूचयति—वेदेति । ननु
 तदनुष्ठानेऽपि न शोभ्यतेतै सर्वेषां स्वभावतो विषयप्रावण्यादुक्तं हि स्वभावतो विषयविषययोर्निष्ठं यथोक्ति
 तत्राऽह—विरक्त इति । वैराग्ये हेतुमाह—समुद्धेति । सुद्धिफलं कथयति—पराडिति ॥ युक्तं सासारिष्यु
 फलेषु पराडमुक्तमित्याह—दुषेति ॥ नित्यादि कर्मभिः शुद्धबुद्धिविवेककृतं वैराग्यं सिध्यतीत्युक्तिमदानीं
 विरक्तमप्यारिद्राज्यं विशेषान्तरमाह—इत्येवमिति ॥ सर्वकर्मसत्यामिनः दामादिसंपत्तिमाह—रज इति ।
 उक्तं साधनत्रयस्यैव मुमुक्षुत्वं लभ्यमिति—मुमुक्षुत्ववत्त्वादिनि ॥ साधनचतुष्टयविशिष्टमधिकारिणमुक्त्वा तस्य
 विधिस्तद्व्ययमाह—मन्त्रेति । तस्यैव स्यात्परवित्यात्म-येवाऽऽत्मानं पदपेविति श्रुत्या स्वपदार्थविवेकादिसाधनेषूक्तो-
 ऽधिकारी नित्युत्तरे वाक्यार्थज्ञानार्थमित्यर्थं । तस्य यथोक्तसाधनतिरेकेणापोषोऽप्यवधार्यं । इदानीमिति
 वाक्यार्थज्ञानाकाङ्क्षादशोक्तिः ॥ कथमधिकारिणो यथोक्तसाधनेषु मन्त्रब्राह्मणाम्या विनियुज्यमानत्वं
 मित्यपेसायां विनियोगप्रकारमाह—एवमिति । कर्मानुष्ठानशुद्धिपादिसमेणैव नित्यो महिमेत्यादिसत्त्वार्थज्ञान-
 न्मूलवेत्ता भूत्वा बुद्धिपूर्वकारी देहादेरव्यय्यतिरेकाम्मादात्मानं निष्कृत्य स्वेन पुण्यतमना तमेव प्रविश्य
 सदव्ययमासाद्य पर्येदिति मनुष्यते तदयं विवेकसाधिसाधनं सन्विद्यादित्येव विवक्षितमित्यर्थं ॥ पदार्थज्ञानम-
 धित्वं मन्त्रेण विनियोगे फलितमाह—वाङ्मयमिति । पदार्थज्ञानान्तरं देहाद्यमिन्येसां सूर्योऽधिकारी तत्त्वमादि-
 यावत्तद्व्ययत्तमात्मानमनुभवत्येवेत्यर्थं । ब्राह्मणेन त्वं किमित्येव नियुज्यते तत्राऽह—इत्येवमिति । इति-

विच्छान्तो बाह्येन्द्रियव्यापारो उपशान्तस्तथा दान्तोऽन्तःकरणतृष्णातो निवृत्त

जानन्नित्यर्थं । विशेषणभ्यामुत्सर्गतो विहितस्योभयविधकरणव्यापारोपरमस्य यावद्गीवादिश्रुति-
विहितं कर्मापवादस्तस्माद्विरक्तस्यापि न नित्यादिराग । 'उत्सर्गस्यापवादेन वाध कस्य न समत'

महिमा कर्म का सवन्ध रखने वाली नहीं है, इसलिए इस प्रकार जानने वाचा "शान्त" अर्थात् बाह्य
इन्द्रिय के व्यापार से उपशान्त, "दान्त" अर्थात् अन्तःकरण की तृष्णा से निवृत्त "उपरत" अर्थात्

१ शांत इत्यादि—अत्र व्याख्यानमेव शरणं वातिके स्वयङ्कमस्य बलीयस्त्वेन पाठक्रममनाद्य दान्तपदमेव
बाह्येन्द्रियपरमपरत्वे पूर्व न व्याख्यात तत शान्तपदमन्तःकरणोपरमत्वेनेति ध्येयम् ।

शब्देन शमाद्युच्यते तच्चेद ब्राह्मणेन वाक्यार्थबुद्धाबुद्धेस्याना तात्पर्येण विधीयते न च तन्मन्त्रेण विहितं न च
तद्विना वाक्यार्थधीरतस्तज्ज्ञानमुद्दिश्य शमादि विधातुं ब्राह्मणमित्यथ ॥ पदद्वय व्याख्याय पदान्तराणि
व्याचिख्यासुरादौ पाठक्रम भङ्गत्वा क्रमान्तरमाह—दान्त इति । पाठक्रमभङ्गो हेतु—अर्थेति । इहेति श्रौत
पन्थान निदिशति ॥ कोऽसावर्थक्रमो यस्य बलीयस्त्वमित्याशङ्क्य पदपञ्चकस्य साधारणमर्थमाह—क्रियेति ।
इह जयतीति सबन्ध' । सर्वत सर्वत्र व्युत्पत्तिभूमावित्यर्थं । प्रत्यक्षेण व्युत्पत्तिजनितत्वानुभवेनेत्यर्थं ॥ इदानीमर्थ-
त्रयेण दान्तपद व्याचष्टे—बहिरिति । तत्र वृद्धप्रयोय प्रमाथयति—दान्त इति । बाह्यकरणेषुष्टादिनिवृत्ति
सामर्थ्यं ॥ शान्तशब्द व्याकरोति—अत्र करणेति । सत्ययोगसमीक्षणत्वात्तन्मन्त्रं करणवैष्टानिभूतिविधिष्ये
पुंति शान्तपदस्य प्रयोगशब्देरित्यथ । प्रथम भाव । बाह्यकरणानां विषयानिनिवेशनिवृत्तिमत्तरेणान्तःकरणस्य
विषयासङ्गो न व्यावर्तते न हि विषयविमुखा धीर्बाह्यानि करणानि तदभिनिवेशभाञ्जोति युज्यते तदव्यावृत्ता-
वपि तदुपरम' सभवति 'कर्मेन्द्रियाणि सयस्य य आस्ते मनसा स्वरश्रिति स्मृतेस्तद्योक्तमथक्रममाश्रित्य
पाठक्रमातिरक्तो यदि तु शान्तदान्तशब्दयोर्भाष्योक्तोऽर्थां वृद्धप्रयोगमनास्त्योपेयने तदा पाठक्रमोऽपि स्यादिति ॥
शमादीनां विधेयत्वमांसपति—नन्विति । शमादीनामपि तुल्यमप्राप्तत्वमित्याशङ्क्याऽह—प्राप्तस्त्विति ।
प्रापकाभावाद्धिं विना तेषां न प्राप्तिरित्याह—कुत इति । प्रापकोक्त्या प्राप्तिस्तेषां प्रदत्त इत्याह—यथेति ॥
वदथमादौ कर्मणा चार्तुर्विध्यमाह—प्रतिषिद्धमिति । चापल प्रामादिक प्रायश्चित्ताहं कर्म । कर्मान्तरसत्त्व
निरस्यति—इयदेवेति ॥ सप्रत्युपपत्त्या शमादि प्रापयन्निषिद्धश्वस्तेर्विधिं विना प्राप्तिमाह—निषिद्धस्येति ।
वेदान्तविद्यायामिति ज्ञानकाण्डोक्ति । कर्मकाण्डाभिव्याहारात्काम्यकर्मणामपि ध्वस्तेर्विना विधिं प्राप्तिमाह—
मुक्तेरिति । मुक्त्यतिरिक्तकाम्येषु सूत्रादपिदेवु विरक्तत्वे हेतुमाह—मुमुक्षुत्वादिति । वैराग्यफलमाह—काम्येति ।
इहेति वेदात्तविद्योक्ति । अत शब्दो विरक्त इत्यनेन सबध्यते ॥ चापलनिवृत्तिविधिमनपेय प्राप्तिं दर्शयति
—रज इति । शुभुतोर्गुणद्वयतिवर्तित्वे हेतुमाह—शत्विति । अत शब्दोऽप्यत्रैव स्पृश्यते ॥ 'न पाणिपादचपलो
न नेत्रचपलो भवेत् । न स्यादावचपलश्चैव न परद्रोहकर्मंधो' ॥ इतिस्मार्तनिषेधानुरोधादपि विधिं विना चापल-
ध्वस्तिरित्याह—न पाणीति । वाशब्दश्चाप्ये । नित्यकमणामपि ध्वस्तिर्विध्यनपेसा सिध्यतीति वक्तुं सत्करणा-
करणयोरतर्पणरत्नमाह—नित्यस्येति । असावित्यन्तर्थां गर्भंवासादिदध्यते ॥ अहि तेषामत्य तमेवानादरो नेत्याह
—एवमिति । यावज्जीवश्रुतिवधेनेति दर्शयितुमेवमित्युक्तम् । कर्मान्तराणि श्रान्तयितुमपि चेत्तुच्यते ॥
एयोरेच्छाप्रकारमभिनयति—संसारंति । प्राप्नु ऋदिति साक्षादिति यावत् । इहेति मोक्षोक्तिः । तित्यथाफनमाह
—इति श्रुतातेति । शमादीनां विधिं विनोपपत्त्या प्राप्तिशुक्रानुपसहरति—प्राप्ता इति ॥ न केवलमुपपत्तितत्त्व-
प्राप्तिं किन्तु स्मार्तविधितोऽपीत्याह—यमानिति । देवकालावस्थाभिरनियता बुद्धिदुःखहेतवो ब्रह्मचर्यादिषो
यमा । उक्तं हि—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा' इति । देवकालावस्थापेक्षिण शुद्धित्व

उपरतः सर्वेषणाविनिर्मुक्तः संन्यासी तितिक्षुद्वंद्वसहिष्णुः समाहित इन्द्रियान्तःकरणचसन
रूपाद्वाक्यवृत्त्येकाभ्यरूपेण समाहितो भूत्वा । तदेतदुक्तं पुरस्ताद्वाच्यं च पाण्डित्यं
निर्विद्येति । आत्मन्येव स्वे कार्यकरणसंघात आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं पश्यति । तत्र किं
तावन्मात्रं परिच्छिन्नं नेत्युच्यते—सर्वं समस्तमात्मानमेव पश्यति नान्यदात्मव्यतिरिक्तं

इत्यादिन्यायादित्याशङ्क्याऽऽह—उपरत इति । जोषनविच्छेदव्यतिरिक्तगोता'विसहिष्णुत्वं तिति-
क्षुत्वम् । 'यत्र कर्तुं स्वातन्त्र्य तेषां कर्मणां निवृत्ति शमादि'पदरक्ता । यत्र तु सन्म्यगोविरोधिनि
निद्रालस्याशौ' पक्षो न स्वातन्त्र्य तन्निवृत्तिः समाधानम् । समाहितो भूत्वा पश्यतीति सवन्धः ।
'पश्यतीति वर्तमानापदेशात्कथं विशेषणेषु संक्रामितो विधिरित्याशङ्क्याऽऽह—'तदेतदिति । यथोक्तं:

सर्वं एषणाधो से निवृत्त संन्यासी, 'तितिक्षु' अर्थात् द्वन्द्व-सहिष्णु "समाहितः" अर्थात् इन्द्रिय धीर
अन्तःकरण के चलन रूप से व्यावृत्त होकर एकाग्रता पूर्वक समाहित होकर, इसी को पहले श्रुति में कहा
जा चुका है, 'वात्य धीर पाण्डित्य को नि शेष करके (मनन से मुनि निदिध्यासनशील हो जाता है)'' ।
'आत्मनि एव' अर्थात् कार्यकरणसंघात अपने में ही "आत्मानम्" अर्थात् प्रत्यक् चेतयिता आत्मा को
देखता है । क्या वह तावन्मात्र परिमाण से भवच्छिन्न आत्मा को देखता है । नहीं । इसी को श्रुति
कहती है—"सर्वमात्मानं पश्यति" अर्थात् सभी कुछ आत्मा ही देखता है, आत्मा से व्यतिरिक्त बालाग्र-

१ उपरत इति—शमादिविधेरोत्सर्गिकस्यापवादतया प्रवृत्तयावज्जीवादिविधेरपवादार्थं मुपरतश्रुतिरिति भावः ।
न च शमादिश्रुतेर्मावज्जीवादिश्रुतश्च विपरितमुत्सर्गपवादत्वं हि सांज्ञहिंसा श्रुत्योरपि तथा प्रसङ्गात्, सामान्य-
विशेषविषयत्वेन तयोस्तसर्गापवादत्वं तु प्रवृत्तस्य तुल्यम् । शमादिविधेरन्तर्बहिरेष्टाभ्यामनिवृत्तिविषयस्य सामान्य-
विषयत्वेनोत्सर्गत्वाद् यावज्जीवश्रुतेरिग्नहोत्रादिविषयत्वेनापवादत्वात् तदपवादार्थं मुपरतश्रुतिरिति युक्तमिति । २
वृ उ ३ ५ १ (८२० गृहभाष्ये) । ३ आदिना दुर्वादताडनादि गृह्यत । ४ काम्यवर्मसु । ५ इच्छामात्रेण
वर्तुमक्तुं वा शस्तवम् । ६ पात्यादिपदै आदिना दमोपरमतिशिक्षा गृह्यत । ७ आदिना मनोरेषादि गृह्यते ।
८ पश्यतीति वर्तमानेति—सति हि ज्ञाने विधौ तत्साधनेषु संक्रामद्विधिरिति भावः । ९ तदेतदिति—वात्य
पत्यादिष्वप्ये ज्ञानविधेरुक्तत्वात्तावन्मात्रपदस्य विन्दु पञ्चमो लकार इत्यभिप्रायः ।

त्रिषाविशेषा देवताप्रतिष्ठानादयो नियमाः । उक्तं च—'शोचसतोपतव स्वाध्यायश्चरप्रणिधानानि नियमा' इति ।
उक्तस्य विशेषवैवाङ्ग्यं दर्शयति—यमानिति ॥ प्राग्भूतं ह्यनुत्तमं शफरीनां इत्येव सा किञ्चिन्निरुत्पत्ते उत्पन्नानहेतुत्वे
यति विवक्ष्याऽऽद्यमङ्गी करति—सत्यमिति । द्वितीय प्रत्याह—प्राज्ञानामिति ॥ ज्ञानसाधनत्वमपि प्राप्तत्वात्
विषयमित्याशङ्क्याऽऽह—यथोक्तमिति । प्रत्यग्यापारम्यज्ञानजन्मनीति यावत् । श्रुत्या शमादिवाक्येनेत्यर्थः ॥
इतश्च तेषां विषयत्वेत्याह—निवृत्तीति । उक्तं यत्नं निविद्वस्य निविद्वस्वादित्यादि । वाशब्दो विधान्तरद्योतनार्थः ।
यदा शमादीनां विनयत्वमुपसर्हरति—निवृत्तीति । वागशीज्वाधारणार्थं ॥

उपरत सर्वेषणाविनिर्मुक्त संन्यासीति । अत्राट्टवार्तिवाच्यार्थस्तथाहि—'ननु दान्ताधोक्तस्यैव सर्वस्यैवेह
कथम् । धारितत्वादनुरतभूयाऽऽत्क विधीयते ॥ बहिरन्तःत्रिषातोऽप्या न त्रिषा विद्यते यत् । नोत्सर्ग-
विधिना यस्मान्नापवादस्य बाधनम् ॥ भूताहिंसाविधिर्यस्मान्नाग्नीषोमीयमारभित् । उच्चं प्राणा उत्क्रामति यून-
स्वधिर प्रायति ॥ प्रसुप्त्यानाभिवादात्प्राणा पुनस्तामप्रतिपद्यते । इत्येवैतन्निकमाचारं यथा ब्रह्मा प्रवापते ॥
भाग्यप्रति गुरो तूष्णीमाधीनस्वदद च । धौर्त्यपिकरयागर्वाधं निरारुर्मेविधिवेद्यत् । तस्य जीवन्मानैक-

वालाप्रमात्रमप्यस्तीत्येवं पश्यति । एवं पश्यन्तं ब्राह्मणं नैनं पाप्मा पुण्येपापलक्षण-
स्तरति न प्राप्नोति । अयं तु ब्रह्मवित्सर्वं पाप्मानं तरत्यात्मभावेनैव व्याप्नोत्यतिक्रामति ।

साधनं रुदित्वायां विद्यायां किं स्मादिद्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । तस्य पुण्यपापासत्पशं हेतुमाह
—अयं त्विति । इतश्च विदुषो न कर्मसंबन्धोऽस्तीत्याह—नैनमिति । किमिति पाप्मा ब्रह्मवित्त्वं न

मात्रं भी नही है” ऐसा देखता है । इस प्रकार देखते हुए ब्राह्मण को “नैनं पाप्मा तरति” अर्थात् पुण्य-
पाप-लक्षण पाप नहीं प्राप्त होता । यह ब्रह्मवेत्ता सकारण “सर्वं पाप्मानं तरति” अर्थात् सभी पापों को

१. सकारणम् ।

हेतुत्वाद्वापते ध्रुवम् ॥ नित्यकर्मविधेयंरामान्द्यमादिनिधिना हतिः । न साप्रान्तेऽगती यत्नाप्रारब्धोत्तरस्तभूतिः ॥
इह चोपरतधृत्या तिष्ठत्यादिवदुच्यते । कर्मकर्मैव पुंसोऽयं ह्यनुष्ठेयतयाऽऽयुते ॥ मनुष्ठेयतया धृत्या निवृत्तिः
सर्वकर्मणां । कस्माद्विधीयते तस्मात्तस्यामी पठितो भवेत् ॥ इत्यत्र चोदयित्वाकं परिहारं प्रवक्षते । नित्याना
कर्मणा कस्मात्परित्यागो विधीयते ॥ काम्यादिकर्मवत्तेषां मनोव्याक्षेपहेतुतः । त्यागोऽस्तत्रोद्यते धृत्या नित्या-
नामपि कर्मणाम् ॥ श्रुत्वा समाहित इति समाधानं विधास्यते । धोषस्यासम्भनोऽस्यात्र धृत्यैव विहितत्वतः ॥
साधनत्वेन शान्त्यादेि सम्पन्नानस्य जन्मने । नातश्चोद्यावकाऽऽत्र दामार्देविहितत्वतः ॥ साध्यसाधनसंबन्ध-
विधाने सत्यसम्भवं । स्वर्गादायिव यामादेविधानादेव कारणात् ॥ दोषान्तरप्रसङ्गाय परिहारः कृतस्ततः ।
धोषपूर्वकं एतस्मिन्नन्यधोषस्य संबन्धात् ॥ यदि व्याक्षेपकारित्वानित्यं कर्म निषिध्यते । बहु भिदाटनाद्यस्ति
सत्कस्मात्प्र निषिध्यते ॥ वेदान्तधवणाद्यस्ति बहु व्याक्षेपकारि च । तन्निषेधकर्मवत्कस्माच्छ्रुत्वेह न निषिध्यते ॥
नैष दोषः प्रधानार्थसमाप्तेरेव कारणात् ॥ भिदाटनाद्यनुष्ठानं साध्यवर्धनं निषिध्यते ॥ अत्रयथाभास्यविज्ञान-
समाप्त्यापेक्षितत्वतः । वेदान्तधवणादीनां न त्यागोऽतोऽत्र भण्यते ॥ समाप्तिं न समायाति प्रपानं यत्तमेव ।
निषिद्धमपि सत्कार्यं तत्समाप्तिप्रयुक्तिः ॥ प्रधानचोदनैवास्य चोदनातोऽप्यगम्यते । भिदाटनादिना नतं प्रपान
हि समाप्यते ॥ दोषमर्थं न कुर्वन्ति प्रधानार्थानुरोधतः । साक्षाद्विहितमप्येव तादर्थ्यात्कर्मं नो मतम् ॥ याः
काञ्चिज्जीवता शक्यास्त्यक्तुं तित्यक्षता क्रिया । ताः सर्वाः सपरित्यज्य निमेषादी व्यवस्थितः ॥ उत्तविध्यर्थ-
विषयायाः क्रिया विषयान्तरे । निषिध्यन्तेऽत्र ताः सर्वाः ध्येयातामैव ता यतः” ॥ १२२१-१२४३ ॥ इति ।
धवादीनां विषयेत्यत्राद्योपरतधृतिव्यावर्त्यां शङ्क्याह—नन्विति ॥ शान्तिवन्तिस्मान्निवारितक्रियानिवारणा-
मुपरतधृतिरित्याशङ्क्याऽऽह—बहिर्दिति । अतस्तयोर्वारितः शङ्क्युपरतधृतिरनधिकेति दोषः । दूषयति—नेति ।
उपरतधृतेरुपरतधृति विषयं बन्तु सामान्यन्यायमाह—उत्सर्गेति । एवस्य निषेधविधेः स्वविषयस्य इत्यर्थेन
पुरुषार्थत्वेन च विनियोगे विरोधात्सामान्यविषयत्वे च पुरुषार्थहितानु शक्यतास्य न इत्यर्थं हि साविषयत्वं
सदाधिकारान्तरानुभवैदित्वेन सापेक्षत्वप्रसङ्गादतो नोत्सर्गोपवादस्य बाधोऽतीत्यर्थः ॥ अत्र श्रौतदृष्टान्त-
माह—भूतेति । न हिस्वात्सर्वंभूतानीति निषेधस्य निषेध्याधीननिष्कृषत्वात्तस्य च रागप्राप्तत्वेन पुरुषार्थत्वात्-
निषेधस्यापि सादर्थ्याद्विद्यमानात्सिद्धानुवादेन नमर्थं विध्युपसङ्गान्तेषुपुरुषार्थभूतहितेन तत्र कुर्वादिति वाक्यार्था-
समानात्पुरुषार्थनिषेधो न क्रत्वर्थमप्यास्वन्दत्यन्यथा वाच्यभेदात् हि न हित्यादिति इत्युपरकरणे हो न पतो
करोतीतिवदन्मातं तस्माद्भ्रूणोपरतधृतिव्याप्यं भूदाहित्याविधिरानीयोमीदृशिसावापक इति भावः । उत्रैव
स्मात्तदृष्टान्तमाह—ऊर्ध्वमिति ॥ तद्वि स्थविरदर्शी मुवा कथं पुनर्जीवति तन्नाऽह—प्रत्युत्पातेति । श्रुतिविधेयो
ब्रह्मन्प्रवर्धयेत्यादौ संबोध्यमानो ब्रह्मेत्युच्यते ॥ स रूपमोत्सर्गिकभाषार्थं बाधते तन्नाऽह—प्राप्यन्तीति ।
तस्य बाधादिविषयं कर्मप्रं धादित्यर्थः । दाष्टान्तिवमाह—इदिति । अनेति दामादिवाक्योक्तिः । त्यागविधिः

नेनं पाप्मा कृताकृतलक्षणस्तपतीष्टफलप्रत्यवायोत्पादनाभ्याम् । सर्वं पाप्मानमयं तपति
ब्रह्मवित्सर्वतमदर्शनवह्निना भस्मी करोति । स एव एवंविद्धिपापो विगतधर्माधर्मो
विरजो विगतरजो रजः कामो विगतकामोऽविक्रित्मदिद्धम्रसंशयोऽहमस्मि सर्वात्मा परं
ब्रह्मेति निश्चितमतिर्ब्राह्मणो भवति ।

तपतीत्याशाङ्क्याऽह— सर्वमिति ।

आत्मभाव से व्याप्त भ्रयवा अतित्रमण करता है, इसे इष्टफलप्रदान से कृत पाप शीर प्रत्यवायोत्पादन से अद्वैत रूप पाप स्पर्श नहीं करता । यह ब्रह्मवेत्ता सभी पापो को सर्वात्मदग्धन रूप वह्नि से भस्मसात् कर देता है । वह इस प्रकार जानने वाला "विपापः" अर्थात् धर्माधर्मसूय 'विरजः' अर्थात् विगतकाम "विक्रित्स" अर्थात् सशयरहित शीर 'ब्राह्मणः" अर्थात् 'मैं सर्वात्मा परब्रह्म हूँ' इस प्रकार निश्चित-मति वाला हो जाता है ।

शान्तो भवेदित्यादि । क्व यावज्जीवादिविधिरनस्य बाधको द्वयोर्वैदिकविधित्वाविशेषात्त्राऽह—तस्येति ॥
शमादिविधेरोत्सर्गिकरूपपावादतया प्रवृत्तयावज्जीवादिविधेरपवादाद्यंमुपरतश्रुतिरिति फलितमाह—नित्येति ।
उत्सर्गपावादयोरपवादादस्य बलवत्त्वमत शब्दार्थः । न च शमादिश्रुत्यावज्जीवश्रुतेश्च विपरीतमुत्सर्गपावादत्व
हि साहास्यश्रुत्योरपि तथा प्रसङ्गात्सामान्यविशेषविषयत्वेन तयोस्तरूपपावादत्व प्रवृत्तेऽपि तुल्यं शमादिविधेरन्त-
र्यंहि चेषामान्नित्यवृत्तिविषयस्य सामान्यविषयत्वेनोत्सर्गत्वाद्यावज्जीवश्रुते रगिनहोत्रादिविषयत्वेनापवादात्वात्तद-
पवादाद्यंमुपरतश्रुतिरिति भावः । अतो यत्प्राप्तुक्त्यायादगतायंत्वसभवादिति यावत् ॥ उपरतिविधीयते
चेत्साहास्यत्वकर्म स्याद्विधेर्भावाद्यंविषयत्वनियमात्तथाच तद्वदेव त्याग्यताऽन्याया यागादेरप्युपादेयतेत्याशाङ्क्याऽह
—इह वेति । यथा तिष्ठति स्वपितीत्यादिना क्रियानिवृत्तिरेवोच्यते तथोपरतश्रुत्या नित्यकर्मनिवृत्तिरूपकर्मैव
यावन्परतश्रुतमुष्टेयमस्मिन्वाक्ये विवक्ष्यतेऽतो यागादिसंलग्नकर्मविषयभावात्प्रियेधेत्त्वैव विषयवसानाप्रोक्तानुपपत्ति-
रित्यर्थः ॥ अथोपरतश्रुतेरभिप्राय दर्शयति—अनुष्ठेयतयेति । स्वीकृतपारमहंस्यो जीवन्नेव तत्पञ्चमस्यैव
स निरयाहं स्याद्विद्वत्प्रभययाऽपीति न्यायादित्यर्थः ॥ उपरतश्रुतिनित्यकर्मनिवृत्त्यर्थेत्सुक्तेऽप्यं चोद्यमाधो
परकीयात्तुल्यव्यति—इत्यनेति । कौ तावदित्याकाहृष्टाया चोद्य तावद्दर्शयति—नित्यानामिति । यावज्जीव-
श्रुतिचोदितानामकस्मात्स्यागाग्योमो न चोपरतश्रुतिस्तस्यागे हेतुस्तस्या काम्यकर्ममात्रस्यागाग्यत्वात्काम्यादौ
कर्मणा न्याम सन्यास कवचो विदु रिति श्रुते शमदमथ तिम्यामेव तस्मिन्नेतद्वैद्यं सिद्धं न समीहितमिति
भावः ॥ तत्र परकीय गमाधिमाह—काम्यादीति । अत शब्दस्य पूर्वपञ्चम्या सवन्व ॥ नित्यकर्मणा चित्त-
विशेषकत्वेऽपि तस्यागादत्वे मुमुक्षुरूपमपेक्षितज्ञानस्य काम्यादित्यागादेव मिदं तस्यागचोदना वृथेत्याशाङ्क्याऽह
—भूत्वेति । ज्ञानार्थिनश्चित्तसमाधिविधेस्तद्विशेषस्य तद्विरोधित्वान्मुमुक्षुणा तद्वैतुधिमिच्छता चित्तविशेषकरं
नित्यमपि कर्म स्याज्यमेवेत्यर्थः । परेषा चोद्यमाधिपति—चोद्यतेति । आत्मनि धीहेतुत्वेन सन्यासादे श्रुत्यैव
विहितत्वात्प्रियेयागाग्योचोद्यमनवकार्शं न च काम्यादिमात्रत्यागागर्थोपरतश्रुति शमादिश्रुत्या पुनश्चैतनं चोपरत-
वचन प्रमत्तगीत मोन्मर्गविधित्वादिन्यायेन सति गत्यन्तरे वैदिकोक्तित्यागाग्योगात्तुल्य हि साप्रदायिकमिति
भावः ॥ तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयितुमुनुभाषते—नात इति । अत्राऽऽत्मनि ज्ञानमुद्दिश्य शमादेविहितत्वात्
चोद्य सावकाशमित्यर्थः ॥ सत्यपि शमादिविधौ किमिति चोद्य मोत्सर्गदित्याशाङ्क्याऽह—सार्धेति । यथा
स्वर्गादौ साध्ये यागादे साधनत्वं ज्योतिष्टोमादिवाक्येन विधीयते तथा सम्प्रदानोदयस्य कर्मत्यागस्य च

अयं त्वेवंभूत 'एतस्यामवस्थायां मुख्यो ब्राह्मणः प्रागेतस्माद्ब्रह्मस्वरूपावस्थाना-
'द्वौणमस्य ब्राह्मण्यम् । एष ब्रह्मलोको ब्रह्मं च लोको ब्रह्मलोको मुख्यो निरुपचरितः
सर्वात्मभावलक्षणो हे सन्नाट् । एनं ब्रह्मलोकं परिप्रापितोऽस्यभय' नेति नेत्यादिलक्ष-
णमिति होवाच याज्ञवल्क्यः ।

कथं ब्राह्मणो भवतीत्यपूर्ववदुच्यते प्रागपि ब्राह्मण्यस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—अयं त्विति ।
महत्त्वमवाधितत्त्वम् । सफलं विद्यां मन्त्रब्राह्मणान्यामुपदिश्योपसंहरति—एष इति । तत्र कर्म-
धारयसमासं सूचयति—ब्रह्मं वेति । तथाविधसमासोपसंहारे प्रकरणमनुप्राहकमभिप्रेत्याऽऽह—मुख्य
इति । तथाऽपि किं मम सिद्धमिति तदाह—एनमिति ।

इस प्रकार ब्रह्मीभूत हुआ इस विद्यावस्था में यह ब्रह्मवेत्ता ही प्रवाधित ब्राह्मण है, इस ब्रह्म
स्वरूप में स्थिति होने से पूर्व गौण भावी वृत्ति से ही इसका ब्राह्मणत्व है । “एष ब्रह्मलोकः” प्रसृतं मह
ब्रह्म ही लोक है । अतः मुख्य निरुपचरित सर्वात्ममान रूप ब्रह्मलोक है । ‘हे सन्नाट् ! तू इस अभय,
नेति-नेति प्रादि लक्षण वाले ब्रह्मलोक को प्राप्त हो गया है’ ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा ।

१. ब्रह्मीभूतः । २. विद्यावस्थायाम् । ३. भावितृत्वेत्याहुः । ४. कूर्चं ब्राह्मणोऽभयं यं जगद्वेत्त्यादिना
यदभयं विद्याफलमुक्तं तदेव ब्रह्मलोकत्वेनेहोच्यते नातो विद्याकले भेद इत्यभिप्रायेणाह—अभयमिति । ५.
तस्य ब्रह्मलोकत्वेऽपि ।

साध्यसाधनत्वेन तत्त्ववैदिकीं श्रीने विवेकेन कर्मत्यागमभवात्कथं नित्यव्यायोगोचोत्पलासोर्जित हि मुमुक्षो-
रुपरत स्यादिति विधिस्तथाच ततो नित्यव्यागे बोधायोगात्त समाधिरपि साधोयानित्यर्थः ॥ तित्वात्ती समाधते
—दोषान्तरैति । अस्यापि—यावज्जीवश्रुतिविहितनित्यवर्मात्यागो न मुक्तिमानिति बोधपूर्वकमनोविशेषकरवा-
त्काम्यादिवस्यागो नित्यानामिति समाधौ चोच्चात्तरस्य सम्भवादसत्त्वोपमादाबुद्ध्यस्य समाधिस्तस्य विहितस्तदा
दोषान्तरमापाद्य समाधेयमिति परेषामिति ॥ किं तच्चोच्चात्तर यदोवान्तरप्रसङ्गरूप परिनिहीयते
तदाह—यदीति । नित्यकर्मणाश्चित्तविशेषकरत्वादुपरतश्रुत्या निषेधे विशेषकरत्वाविशेषाद्ब्रह्माटनाद्याद्यमधर्मस्यापि
निषेधः स्यात्तथाच तदीन सत्यामी भ्रष्टो न पुण्यार्थाय स्वात् । ‘आश्चो नैतिक धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः ।
प्रायश्चित्तं न पर्यामि येन सुख्येस भ्रतमह्य’ इति भ्रष्टासाधोपगतनस्मृतेरित्यर्थः ॥ भ्रष्टाटनादेः
अवगाद्यर्थात्तत्र निषेधोऽस्तीत्यात्तद्बुध तस्यापि विशेषकरत्वान्मुमुक्षुविषये निषेधप्राप्तमैवमित्याह—वेदान्तेति ।
नित्यकर्मंब्रह्माटनादेः अत्राटनादोपरतश्रुत्या त्यागो न प्राप्नोतीत्याह—नैव इति । तत्र हेतुः—प्रधानेति ।
भ्रष्टाटनादेः श्रवणादेःभोभयविद्यादेतोर्गानिष्कारत्वं प्रधानस्य सत्यन्यात्वेन प्रधानाच्चिन्तः सन्नाटिनस्मत्यागतिदिः
प्रधानविधातादित्यर्थः । यत्तावद्ब्रह्माटनादुपरतश्रुत्या निषेध्यमिति तदुपरयति—भ्रष्टेति । ज्ञानार्थत्वान्मुमुक्षुणा
तदनुष्ठेयमन्यथा जीवनापोषात्प्रधानामिदंशेत्प्रोपरतश्रुत्या तन्निषेध्यमित्यर्थः ॥ यत् वेदान्तश्रवणात्सतीत्यादि
तत्राऽऽह—प्रत्यमिति । अत नन्दोऽपेक्षितस्य इत्यनेन मुञ्चते । यत्रेति प्रकृतवाच्योक्तिः । श्रवणादित्यागे
ज्ञानातिदंज्रान्मोक्षत्यागायोगात्तद्विधिषापनतायनकाले विशेषो भवन्नपि भुजिह्वानयमवत्प्रधानाविरोधीति
भाव । उपरतश्रुत्या प्रधानार्थत्वादिनिषेधः श्रवणादित्पुरुषा निषेधनञ्जीह्वात्पि मुमुक्षुणा तस्य कार्यत्व-
माह—समाधिमिति ॥ तत्त्वमितिप्रयुक्तं दृश्येतरस्यव्ययति—प्रधानेति । ज्ञानोपदेश एव श्रवणादेः प्रापको
भादीत्यत्रातःशब्दोक्त हेतु व्यनक्ति—भ्रष्टेति । न हि संव्यस्तितो विना भ्रष्टादिना देहकारणं न च तद्विना

एवं ब्रह्मभूतो जनको याज्ञवल्क्येन ब्रह्मभावमापादितः प्रत्याह—'सोऽहं त्वया ब्रह्मभावमापादितः सन्भगवते तुभ्यं विदेहान्देशान्मम राज्यं समस्त ददामि मां च सह विदेहैर्दास्याय दासकर्मणे ददामीति चशब्दात्संबध्यते । 'परिसमापिता ब्रह्मविद्या सह सन्यासेन साङ्गा सेतिकर्तव्यताका । 'परिसमाप्तः परमपुरुषार्थः । 'एतावत्पुरुषेण कर्तव्य-

भारतीय विशालाभ छोटवित्तु राज्ञो वचनमित्याह—एवमिति । सति वक्तव्येणैव कथमित्यं राज्ञो वचनमित्याशङ्क्याऽऽह—'परिसमापितेति । तथाऽपि परमपुरुषार्थस्य वक्तव्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—परिसमाप्त इति । कर्तव्यान्तर वक्तव्यमस्तोत्याशङ्क्याऽऽह—एतावदिति । 'तथाऽपि यत्र निष्ठा

इस तरह याज्ञवल्क्य द्वारा ब्रह्मभाव की प्राप्ति कराये जाने पर ब्रह्मीभूत जनक ने उत्तर दिया । "सोऽहम्" अर्थात् तुम्हारे द्वारा ब्रह्मभाव को प्राप्त कराया गया मैं आप भगवान्श्री को देह-विदेह का प्रपन्न समस्त राज्य देता हूँ एवं अपने आप को इनके माथ "दास्याय" दासरूप वर्म के लिए समर्पित करता हूँ । 'च' अव्यय का 'ददामि' क्रिया म संबंध है । सन्यास, अङ्ग प्रौर इतिवर्णव्यता के सहित ब्रह्मविद्या का व्याख्यान हो गया । ब्रह्मबोध से परम पुरुषार्थ होना भी कहा जा चुका । पुरुषको यही

- १ सोऽहमिति—दक्षिणात्वेन राजा राज्यमात्मान च गुरवे समर्पितवानिति वक्ष्यार्थ । २ परोत्थादि—ब्रह्म-विद्याभावार्थज्ञान सद्गुणस्वरूपवर्णज्ञान तदङ्ग शमादयः इतिकर्तव्यता सन्यासप्रयोगाङ्गत्वमर्थज्ञानोपायत्वात् स्वपदार्थविवेकस्य सन्यास सर्वकर्मणामिति स्मृतेरिति ध्येयम् । ३ ब्रह्मबोधोदिति भावः । ४ ब्रह्मज्ञानम् । ५ निरतिशयानन्दस्य । ६ कर्तव्यान्तरसमाप्तवपि ।

सत्य ज्ञानमागन्तुकं युक्तं 'शरीर मे विचरंणमित्यादिश्रुतेर्नापि श्रवणाद्यभाव एव तत्त्वबोधो युक्तो द्रष्टव्यादि-श्रुतेस्तद्विधिद्वयमपि प्रधानानुरोधे कार्यं तद्विधिनाऽऽभिमतया निषेधस्याकिञ्चित्करत्वादित्यर्थः ॥ प्रधानादिना निषिद्धमपि प्रधानानुरोधानुपादानप्रमाणात्कर्तव्यमित्युक्तम् । इदानीं विहितमपि प्रधानविरोधि त्याज्यमिति सार्तायोदाहरणेन दर्शयति—शेषेति । अर्थार्थ—यदि राजन्य वैश्य वा माजयेत्स यदि सोम विभक्षयिष्येन्य-प्रोषस्तिभिनीराहृत्य ता सपिष्य वधन्मुञ्ज्य तमस्मं भक्ष प्रयच्छेदिति श्रुतेर्भक्षे स सोम विकरोतीति पूर्वंपक्षे श्रुत्या भक्षान्वयेऽपि मागशेषद्रव्यसंस्काराद्येतया तस्यावगतत्वत्फलमसस्य यावहाघनत्व विना तदयोगाद्यप्यथ शेषभक्षस्तथा कुर्पादित्यनया भङ्ग्या मागसंबन्धस्यैव विधानाद्भक्षणेमपि सोमकार्योपेत्यार्थं प्राप्तमनुव्यत इति रादान्तितामिज्याधिकारो वा मस्कारस्य तदर्थस्यादित्यत्र तत्र यथा तमस्मं भक्षं प्रयच्छेदिति साक्षाद्विहितमपि दोषभक्ष प्रधानसोमयामविरोधाद्वाज्याद्ययो न कुर्वन्ति किन्तु तदनुरोधेनैव तमाचरन्ति न सोममिति च श्रूयते स्येहापि प्रधानवशाद्विहितस्यापि विरोधिनस्त्यागो नाविरुद्धस्येति । अथवाऽधिकारत्वात्स्थाने स्थित निर्देशाच्छेष-भदोऽन्यप्रधानत्वाद्गर्भपूर्वमासमर्थे शेषभक्षास्ते किमुत्किम्योऽयैरेव कर्तव्याः किंवा तैरेवेति सशये सर्वभक्षेभु कर्मकरत्वेन प्राप्तानामुत्किवा यजमानपञ्चमा इहा भक्षयन्तीति पुनरिडाया, श्रवणाद्भक्षान्तरपरिमत्स्यात्नादिहा-मेवैते भक्षयन्तीति नियमादन्वेषध्वन्यभक्षेत्वितर इति प्राप्ते यजमानस्याकर्मकरत्वेन प्राप्तस्य प्रापक यजमान-वक्षमा इत्यादिवचनमित्यङ्गीकाराद्भक्षान्तराणामपरिमत्स्यात्त्वात्तेष्वपि प्रकृतानामेव प्रधानकर्मानुरोधेन कर्तव्या-प्राप्त्येवामिति रादान्तिता तत्र यथा साक्षाद्विहितमपि शेषभक्ष प्रधानपूर्वमासानुरोधोपादित्यग्योऽन्ये न कुर्वन्त्युत्कि-वापेव दर्शपूर्णमासकृतं तथा तदीयशेषभक्षेऽपि कर्तव्यनिश्चयात्तथा प्रकृते निषिद्धमपि प्रधानाविरुद्धमेष्टव्य सदिष्टं तु विहितमपि त्याज्यमिति । अथवाऽभिपुत्य हत्वा भक्षयन्तीति समानकर्तव्ययुतेरभिपत्तादिपदेन

‘स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते
वसु य एवं वेद ॥२४॥

वह यह महान् अन्नमा ही समस्त अन्नो को भोक्ता एव सम्पूर्ण भूतो का कर्म फल दाता है । जो कोई इस रूप से ब्रह्म की उपासना करता है, उसे सम्पूर्ण कर्मों का फल प्राप्त होता है ॥२४॥

‘मेवा निष्ठेवा परा गतिरेतन्निःश्रेयसमेतत्प्राप्य कृतकृत्यो ब्राह्मणो भवत्येतत्सर्ववेदानु-
शासनमिति ॥ २३ ॥

योऽयं जनकयज्ञवल्क्याहयायिकायां व्याख्यात आत्मा स वा एष महानज आत्मा-

कर्मव्या तद्वाच्यमित्याशङ्क्याऽऽह—एषेति । तयाऽपि परमा निष्ठाऽन्याऽऽस्तीति चेन्नेत्याह—एषेति । निश्चितं श्रेयोऽन्यदस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एतदिति । तयाऽपि कृतकृत्यतया मुख्यब्राह्मण्यनिष्ठधर्मं वक्तव्या-
न्तरमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एतत्प्राप्येति । किमस्या प्रतिज्ञापरम्पराया निषामकमिःयाशङ्क्याऽऽह—
एतदिति । निरुपाधिकब्रह्मज्ञानात्कवल्पमिति गमयितुमिति शब्द ॥ २३ ॥

संप्रति सोपाधिकब्रह्मध्यानादभ्युदय दर्शयति—योऽयमित्यादिना । ईश्वरश्चेत्प्राणिभ्यः कर्मफलं

ब्रह्मज्ञान वर्तव्य है, यह ब्रह्मविद्या ही निष्ठा है, यही परा गति है, यही नि श्रेयस है । इसे प्राप्त कर
ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है, यही वेद की आज्ञा है ॥ २३ ॥

इस जनक-यज्ञवल्क्य आख्यायिका में जिस आत्मा का स्वरूप बतलाया गया है, वह यह महान्

१ मम सोपाधिकब्रह्मध्यान सफलं प्रतिपत्तिर्लोकार्थं श्रुतिरेवाह स वै यो राजमुन्याख्यायिकयोक्त । अयं
रानेर्वाप्यस्तिप्रत्यय प्रपञ्चो द्रष्टव्य । २ ब्रह्महेतुर्वास्ते । ३ ब्रह्मविद्यया । ४ निष्ठा तत्साधनत्वादेवमशेषि ।
५ वृ उ २ ५ १६ । ६ ऐश्वर्यम् ।

तत्साक्षाद्विहितमपि शेषभक्ष न प्रधानीभूतप्रयोजनानुरोधादनुतिष्ठन्ति न हि शेषभक्षप्रतिबद्ध विमपि क्वचन-
भिलष्यते किन्तु प्रतिपत्तिकर्मनया तथाचरन्ति तथा प्रतिपत्तिकर्म भूतसर्वकर्मत्याग विरक्ता मुमुक्षवोऽनुतिष्ठन्तीरपि
प्रधानीभूतमध्यज्ञानानुरोधादेव भिक्षाटनादि न त्यजन्तीति । धधवा होमादिवत्तुल्यकर्तुं कर्तव्यतया मुमुक्षो विहित-
मपि शेषभक्षण न रौद्रस्वेष्यामवच्छेतीति रौद्रे गावीषुने चरौ प्रतिषेधाच्च कुर्वन्ति प्रहने तु प्रधानभूतसम्पत्काना-
नुरोधादनिषेधाच्च भिक्षाचर्याप्रविच्छेदमिति विरोधिनस्त्वाप इति प्रधानादिना विहितमपि विरोधि त्वार्ज्यं
निषिद्धत्वादविरोध्यनुसर्तव्यमित्युक्तिद्वारा श्रवणादेर्ज्ञानोपायत्वादनुरोधानावस्यापामर्षप्रानो विशेषा न ज्ञानोत्पत्ति-
विरोधीत्युक्तमिदानीं कर्मणोऽपि तादर्थ्यात्तदनुष्ठानकालिकमगोविरोधस्य तदविरोधित्वात्तदनुष्ठानात् तदनुष्ठानमि-
त्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । यथा श्रवणादि ज्ञानसाधन दशनमनूष तदुनापत्वेन विधानाच्च तथा कर्म साक्षात्-
त्साधन विनिविष्टेतीति व्यवधानभूतस्तस्य चित्तमुद्धरणत्वात्तत्तु दुदुर्मेमुमुक्षोस्त्याज्यमव कर्म क्वचनभावादित्यर्थः ॥
मुमुक्षो श्रवणाद्यतिरिक्तोपशमार्थसाधने स्मृति प्रमाणयति—या, काऽऽदिनि । दधवा भिक्षाटनादिप्रतिरिक्ता
वीक्षतेति विशेषणसित्यथता त्यक्तमुच्छ्रिता विरक्तेनेति यावत् । निमयादौ काले स्थितो भट्टिति ता
मर्वात्स्वकत्वा ज्ञानार्थं श्रवणादिपर ह्यादिति शेषः ॥ तस्यास्तात्पर्यमाह—उत्पत्ति । उत्तो विधिरूपोऽयं, ज्ञान
स्मादित्यादिसत्य विषयस्तत्त्वज्ञानमुद्देश्य तस्यादुद्देश्यान्तरे स्वर्गो या यापादिक्रियाः समाम्यन्ते ता मर्वा-
मध्यज्ञानस्य व्यापातायैव यतो भवन्त्यतोऽयं स्मृतौ निविध्यन्ते श्रवणादवस्तु तद्वेदुवाच्च निषेधमहन्तीत्यर्थः ॥

'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो

वही यह अजन्मा आत्मा, महान्, अजर, अमर, अमृत एव अभय ब्रह्मरूप है। अमय ही ब्रह्म है।

ऽन्नादः सर्वभूतस्यः सर्वाज्ञानामत्ता वसुधो नो वसु धनं सर्वप्राणिकर्मफलं तस्य दाता प्राणिनां यथाकर्म फलेन योजयितेत्यर्थः । तमेतमजमघ्रादं वसुदानमात्मानमघ्रादवसुदान-गुणान्यां युवत यो वेद स सर्वभूतेष्व्यात्मभूतोऽन्नमत्ति विन्दते च वसु सर्वं कर्मफलजातं लभते सर्वात्मत्वादेव य एवं यथोक्तं वेद । अथवा दृष्टफलाधिभिरप्येवगुण उपास्यः । तेनाघ्रादो वमोश्च लब्धा दृष्टेनेव फलेनाघ्रात्त्वेन गोशवादिना चास्य योगो भवतीत्यर्थः ॥२४ ॥

इदानीं समस्तस्यैवाऽऽरण्यकस्य 'योऽयं उक्तः स 'समुच्चित्यास्यां कण्डिकाया

बदाति तर्हि तस्य वैषम्यनेर्घुष्ये स्वातामित्याशङ्क्याऽह—प्राणिनामिति । उपास्यस्वरूपं दर्शयित्वा तदुपासनं सफल दर्शयति—समेतमिति । सर्वात्मत्वफलमुपासनमुक्त्या पक्षान्तरमाह—अथवेति । दृष्टफलमघ्रात्त्वं धनलाभश्च । उक्तगुणकमीश्वर ध्यायत फलमाह—तेनेति । तदेव फल स्पष्टयति—दृष्टेनेति । अघ्रात्त्वं दीप्ताग्नित्वम् ॥ २४ ॥

निरुपाधिकब्रह्मज्ञानानुक्तिरुक्ता' सोपाधिकब्रह्मध्यानाज्ञानमुदय उत्सस्तथा' च किमुत्तर-

अजन्मा आत्मा 'अन्नाद' अर्थात् सर्वभूतस्य होकर समस्त अन्नो का भोक्ता, 'वसुदान' अर्थात् धन या सम्पूर्ण प्राणियों के कर्मफल को देने वाला है अर्थात् प्राणियों को उनके कर्म के अनुसार फल से युक्त करता है। इस प्रकार अन्न, अन्नाद, वसुदान आत्मा को जो अन्नाद, वसुदान गुणों से युक्त जानता है, वह सर्वभूतो से आत्मभूत होकर अन्न भक्षण करता है, "विन्दते वसु" अर्थात् सर्वात्मक स्वरूप होने से ही सम्पूर्ण कर्मों के फलसमूह को प्राप्त करता है, जो 'एवम' अर्थात् यथोक्तरूप से जानता है। अथवा दृष्ट फल के इच्छुक पुरुषों को भी ऐसे गुणों वाले ब्रह्म की उपासना करना चाहिये। उस उपासना से वह अन्नाद और धनलाभ करता है अर्थात् दृष्ट अन्नाद और गोशवादि फल के द्वारा वह युक्त होता है ॥ २४ ॥

इस सारे अरण्यक मे जो ब्रह्मात्मैक्य रूप अर्थ कहा गया है, उसी का अर्थ (सुविधा के लिये)

१ अथ तद्विमानस्यत्याद्युक्त निर्गुणब्रह्मज्ञान सफलमाह—स वा एष इति । २ उपासनम् । ३ ब्रह्मात्मैक्य-रूप । ४ सशिष्योपसंहितयै लोकर्याय । ५ वृ उ ३ ६ २८ । ६ सफलयोगान्ध्यानयोश्चत्वे ।

ॐ अज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म-यादि । अत्राहर्वातिकाचार्यास्तथाहि—'रज्जु सर्पादिनवाऽऽत्मा विनाऽविधा न जायते । कार्या मना यतस्तस्यादात्माऽज इति भण्यते ॥ सर्वभावविकाराराणां जन्म मूल यतस्ततः सर्वेषां प्रतिपद्य स्वाप्तिपथादात्मजगन्मनः ॥ तथाऽपि ताञ्छ्रुतिर्यस्ताञ्जरादी-प्रतिषेधति । स्वाभाविकरवाशङ्क्या प्रति-षेधस्य विद्म्ये ॥ कासारमना ह्यवच्छेदाप्राय कालजरत्नत । देहादिवज्जरापेति तस्मादात्माऽजरो स्मृतः ॥ सर्वस्य परिचायस्य हानोपादानमात्रतः । अराधननिषेधेन सर्वोऽतोऽत्र निषिध्यते ॥ परिणामोऽस्य मनःपर्य

ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं^७ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद
॥२५॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य
चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥४॥

जो को उक्त आत्मा कोई अमय ब्रह्म समझता है, वह अभय ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं ॥२५॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

निर्दिश्यत एतावान्तमस्तारण्यकार्यं इति । 'स वा एष महानज आत्माऽजरो न जोर्यत इति न विपरिणामत इत्यर्थः । अमरो यस्माञ्चाजररतस्मादमरो न म्रियत 'इत्यमरः । यो हि जायते 'जोर्यते च स विनश्यति म्रियते च । अयं त्वज्जटादजरत्वाच्चाविनाशी यतोऽत एवामृतः । यस्माज्जनिप्रभृतिभिस्त्रिभिर्भावविकारैर्वर्जितस्तस्मादितरैरपि भाव-

कण्डिकयेत्याशङ्क्याऽऽह—इदानीमीति । अजत्वाच्चाविनाशीति षड्तुं चशब्दः । कथं जन्मजराभाव-योरमरत्वाविनाशित्वसाधकत्वं तदाह—यो हीति । अथ त्वज्जटादजरत्वाच्चाविनाशीत्यमरोऽमरत्वाच्चाविनाशीति योजना । 'मरणायोग्यत्वमुपजीव्य 'मरणकार्याभाव दर्शयति—अत एवेति । जन्मापक्षय-विनाशानामेव भावविकारास्यामिह मुख्यतो निषेधाद्ब्रह्मवादीनि विकारान्तराभ्यात्मनि भविष्यन्ति विशेषनिषेधस्य शेषान्यनुज्ञापरत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति । इतरे सत्त्वविवृद्धिविपरिणामाः ।

सहित अर्थ इस मन्त्र में कहा जाता है कि इतना ही सारे प्रारण्यक का अर्थ है । वह यह महान् अजन्मा आत्मा "अजरः" अर्थात् जीर्णता या विपरिणाम का प्राप्त नहीं होता । "अमर" अर्थात् अजर होने के कारण सान्त्वयनाश के लिए योग्य नहीं होने से अमर है । जो जन्म लेता है, वह जीर्ण होता है और विनाश या मरणभाव को भी प्राप्त होता है । यज्ञ तो अजन्मा और अजर होने के कारण क्योंकि अविनाशी है, इसीलिए अमृत है । क्योंकि यह जन्मादि तीन भाव विकारों से वर्जित है, इसलिये दूसरे

१ स वा एष महानिति—स पृथक्ब्राह्मणोपनिषदे स मन्त्रायमात्माऽवत्यमित्यादिनोक्तस्त्वपदवाच्यायं संघार्पात्मा वै स्मारणाय एष ब्रह्मनोक्तवान्ये लोकसन्धेन प्रवाणितस्त्वपदत्तय । इत्य त्वपदलक्ष्यमुद्दिप तस्य ब्रह्मत्व विदधाति महानिति सत्यज्ञानादिलक्षण ब्रह्मेत्यर्थ । २ विपरिणामते—कानावच्छिन्नप्रदेहादिवप्रापणीयत इत्यर्थ । ३ सान्त्वयनाज्ञानहं । ४ जोर्यतीति त्वाप्यम् । ५ निरन्वयनाज्ञानहं । ६ सान्त्वयादि नाश-द्वयानहंत्वम् । ७ मरणाकार्याभावम् ।

युत्वेह प्रतिपिष्यते ॥ देहस्थितेरवसितिमृत्तिशान्देन भश्यते । तन्निषेधोऽमरोक्त्याऽन नित्यस्याऽऽत्मन उच्यते ॥ नाजस्यपरिणामस्य मरण जगतीत्यते । अजोऽजरश्च तेनोक्तोऽमरदस्यै तत स्मृत ॥ परिणामात्मनो मृत्यु-मरोक्त्या निवारित । अमृतोक्त्याऽन नापोऽस्य वांते यो निरन्वय ॥ अविनाशीत्यपि तथा विनाशाद्वयमात्मन । युत्मा निपिष्यते साक्षात्प्रत्यक्कोटस्त्वसिद्धये ॥ कामवर्मवमोभावामराऽमृत एव च । तत एवाभव, प्रत्यक्षमय हि तदनाशतः । कारणस्य निषेधोऽता भयकार्यनिषेधतः ॥ दुसोऽभमत्वसिद्धिं प्रतीप इति शङ्कते । ब्रह्मेत्याहा-

विकारंस्त्रिभिस्तत्कृतंश्च कामकर्ममोहादिनिर्मृत्युरूपैर्वर्जित इत्येतत् । अभययोजत एव । यस्माच्चैवं पूर्वोक्तविशेषणस्तस्माद्भूयवर्जितः । भयं चाविद्याकायं तत्कार्यप्रतिषेधेन भाव-
विकारप्रतिषेधेन चाविद्यायाः प्रतिषेधः सिद्धो वेदितव्यः । अभय आत्मैवगुणविशिष्टः
'किमसौ ब्रह्म परिवृढं निरतिशयं महदित्यर्थः । अभयं वै ब्रह्म । प्रसिद्धमेतल्लोकैः अभयं
ब्रह्मेति । 'तस्माद्युक्तमेवगुण विशिष्ट आत्मा ब्रह्मेति ।

अत एवाभय इत्युक्तं विवृणोति—यस्माच्चेति । किं तद्भूयं तदाह—भय चेति । अविद्यानिषेधिविशे-
षणाभावादात्मानं सा सदा स्पृशतीत्याशङ्क्याऽऽह—तत्त्वार्थेति । विशेषणान्तरं प्रश्नपूर्वकमुत्पाप्य
व्याकरोति—अभय इति । कथं पुनरभयगुणविशिष्टस्याऽऽत्मनो ब्रह्मत्वं तदाह—अभयमिति । वैशब्दा-
र्थमह—प्रसिद्धिमिति । लोकशब्दः शास्त्रस्याप्युपलक्षणम् ।

भी तीन भाव विकारो से तथा उनसे उत्पन्न होने वाले मृत्यु रूप काम-कर्म-मोहादि से भी रहित है—
यह इसका अर्थ है । इमनि ए अभय है (व्योक्ति वह इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषण वाला है, इसलिए भय
रहित है) । 'मद' नाम अविद्या के कार्य कामादि का है । उस अविद्या के कार्य के प्रतिषेध श्रौ-
भाव विकारो के प्रतिषेध से अविद्या का प्रतिषेध भी सिद्ध हो जाता है—ऐसा जानना चाहिए । इस
प्रकार के गुणो से विशिष्ट अभय आत्मा का क्या स्वरूप है । "ब्रह्म" अर्थात् सब श्रौ परिव्याप्त
अर्थात् निरतिशय महान है । अभय ही ब्रह्म है । लोक में प्रसिद्ध है कि ब्रह्म अभयस्वरूप है । इसी-
लिए इस प्रकार के गुणो में विशिष्ट आत्मा ही ब्रह्म है—ऐसा कहना उचित ही है ।

१ कामादिनायम् । २ त्विस्वरूप । ३ आत्मनो ब्रह्मलक्षणसहितत्वात् अभयत्वादिति यावत् ।

ऽऽत्मनस्तत्त्व ब्रह्म त्वभयमेव हि ॥ अहं ब्रह्मेत्यत साक्षाद्योक्तोर्मेव वर्त्मना । भयहंतो निरासेन स ब्रह्माभयमनुने ॥
१३२५-१३३७ ॥ इति । अत्रगच्छ व्याचष्टे—रज्जुरिति ॥ अजरादिविशेषणान्वाक्षिपति—सर्वेति ॥ जन्म-
निषेधादितरविकारनिषेधमङ्गीकृत्य समाचष्टे—तथाऽपीति । आधिकनिषेधस्याशब्दिकत्वाज्जरादीना पारमार्थिक-
त्वाशङ्क्या तदधिरामार्थं मुञ्चतो निषेध इत्यर्थः ॥ अजरपद व्याकरोति—जालामनेति । यथा देहादि काला-
बन्धप्रत्याज्जीयंते न तथाऽऽत्मा जरामेति कालजरत्वादेव तदवबन्धिप्रत्याज्जतीचञ्च कालजरत्वमुक्त तस्मादय-
मजर स्मृतो विद्वद्भिरित्यर्थः । कालजरत्वस्याऽऽत्मनि प्रागुक्तवाच्योती हिदाब्दः ॥ जरादीना स्वाभाविक निषेध-
मजरानिषेधेण धेत्तहि श्रुतधादेन्तत्त्वात्वाङ्ग्या तदवस्था तन्निषेध रविशेषणाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेति ।
अधेत्वात्पीति । हानोपादानमात्रतो जराजन्मागतवैतित्वादिति यावत् । अत शब्दस्य पञ्चम्या संबन्धः ॥ उक्तोऽयं
गणकमाह—परिणाम इति । इह वाक्ये जन्मजरादिबंधानन्तरमात्मनो नाशान्यो न्यो विकारोऽमृतश्रुत्या येन
हेतुना निषिध्यते तेन मध्यवनिवृद्धधादिमवैविकारनिषेधो विवक्षित इत्यर्थः ॥ अजरपद तर्हि किमर्थमित्याशङ्क्य
प्राणत्यागरूपमरणनिषेधार्थमाह—देहेति । तन्निषेधे हेतुमाह—नित्यस्येति ॥ अज वाद्युपजीव्यामरत्व साधयति—
नाजमेति । यतोऽज्ञस्तेनाजरो यतश्चाजरस्ततोऽमर इति योजना । अजरपदेनैवात्मनिकारनिराससिद्धेर्बन्धं ममृत्पद-
न च घटादिब्रह्म निरसितुं तदिति युक्तमजरपदेन गतत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—परिणामेति । अमरोक्त्या प्राणत्याग-
स्याजरोक्त्या च कारणममर्थस्य मृत्योनिवारित-वानिरन्वयनाश निरतिशुममृतपदमित्यर्थः । अमृतपदस्यागतायैव

य एवं यथोक्तमात्मानममयं ब्रह्म वेद सोऽभयं हि वै ब्रह्म भवति । 'एष सर्वस्या उपनिषदः संक्षिप्तोऽयं उक्तः । एतम्यैवार्थस्य सम्पक्प्रबोधायोत्पत्तिस्थितिप्रलयाविकल्पना क्रियाकारकफलाध्यारोपणा चाऽऽत्मनि कृता तदपोहेन च नेति नेतीत्यध्यारोपित- विशेषोपनयद्वारेण पुनस्तत्त्वमावेदितम् । यथैकप्रभृत्यापरार्थसंख्यास्वरूपपरिज्ञानाय रेखाध्यारोपणं कृद्वैकेयं रेखा दशैयं शतैयं 'सहस्रेयमिति ग्राह्यत्यवगमयति संख्यास्वरूपं केवलं न तु संख्याया रेखात्मत्वमेव यथा चाकारादीन्धराणि विजिग्राहयिषुः पत्रमयी- रेखादिसंयोगोपायमाप्त्याय वर्णानां सतत्त्वमावेदयति न पत्रमप्याद्यात्मतामक्षराणां

'वेद्यस्वरूपमुक्त्वा विद्याफलं कथयति—य एवमिति । कण्डिकायंमुपसंहरति—एष इति । सृष्ट्यादेरपि 'तदर्थत्वात्किमित्यसाविह नोपसंह्रियते तत्राऽह—एतस्येति । सृष्ट्यादेरारोपितत्वे गमकमाह—तदपोहेनेति । तच्छब्दः सृष्ट्यादिप्रपञ्चविययः । तदपोहेनेति यदुक्तं तदेव स्फुटयति—नेतीति । अध्यारोपापवादन्यायेन तत्त्वस्याऽऽवेदितत्वादारोपितं भवत्येव सृष्ट्यादिद्वैतमित्यर्थः । अध्यारोपापवादन्यायस्य पञ्चप्रक्षालनन्यायविरुद्धत्वात्तरुं विवक्षितं चैतदेवोच्यतां कृतं सृष्ट्यादिद्वैता- बोधेणैषान् क्लृप्त्वाऽह—यथेति । उदाहरणान्तरमाह—यथा चेति । दृष्टान्तद्वयमनूय दाष्टान्तिकमावृष्टे—

जो इन प्रकार पूर्वोक्त आत्मा प्रथम ब्रह्म का जानता है, वह निश्चय ही अमय ब्रह्म हो जाता है । यह कूटस्य, अद्वय, प्रत्यगमिन्न परमात्मा ही समस्त उपनिषदों का मूलतः अर्थ है—ऐसा कहा गया । इसी अर्थ के सम्पक् प्रबोध के लिये आत्मा में उन्नति, स्थिति, प्रलयादि को कल्पना तथा क्रिया, कारक और फल का अध्यारोप किया गया है; उसे हटा कर अर्थात् "नेति-नेति" इस रूप से अध्यारोपित विशेष की निवृत्ति द्वारा पुनः तत्त्व का ज्ञान कगया है । जिस प्रकार एक से लेकर परार्थ पर्यन्त संख्या का स्वरूप ज्ञान कराने के लिए रेखाओं को बन्ना करके यह रेखा एक की द्योतिका है, यह दश की द्योतिका है, यह सौ की द्योतिका है, यह सहस्र की द्योतिका है, इस प्रकार ग्रहण कराया जाता है; इस प्रकार इन रेखाओं से केवल संख्या का स्वरूप बतनाया जाता है, संख्या का रेखा मात्र ही स्वरूप नहीं है । जिस प्रकार अकारादि अक्षरों को समझाने की इच्छा वाला पुष्प, कागज, स्याही और रेखादि के मयोग का सहारा लेकर बर्णों का स्वरूप ज्ञान करा देता है; कागज, स्याही आदि ही अक्षर के स्वरूप हैं । ऐसा नहीं बतलाता, इसी प्रकार यहाँ उत्पत्ति आदि अनेक उपायों का आश्रय

१. कूटस्थोऽद्वयः प्रत्यगमिन्नः परमात्मा । २. अयं पापञ्च । ३. ब्रह्मत्वैक्यम् । ४. उपनिषदर्थत्वात् ।

द्योतनार्थोऽप्यवृष्टे ॥ नैनेयोऽब्राह्मणेऽप्यविनाशी वा अद्वैत्यमात्मानुश्लिषित्तिधर्मोति श्रुत्वा नानाद्वयमात्मानो निविद- मित्याह—प्रविनाशीत्यर्थेति । प्रकृतप्रत्यवेति वक्तुं तथावृष्टे । तत्रिपेयत्तमाह—प्रत्यगिति । पत्रमप्याद्युपन्या- भवत्यमवतारत्यति—कामेति । तद्विमजने—अयं हीति । अनुभवानुसारार्थी हिनन्द । आशाऽऽप्रापूर्वं विदेषणा- न्तरमादत्ते—कुत इति । तथाऽपि अयममवत्यमित्याद्युपमाय वै ब्रह्मैत्यस्यार्थमाह—ब्रह्म इत्यति । धीर्नो प्रविद- मनुरोऽह हिनन्द । अमयं हीत्यादि व्याकरोति—अहमिति । इतिगद्यो ज्ञानपरामर्शः । तस्य निमित्तत्वमतः- पाठ्यायः । अणुशोभानन्वैद सनिदानापरौषधमप्यसिनेति दर्शयितुं साशादित्युक्तम् । एवमज्ञानोपयोग्यं मूषयति—यथोस्तेनेति । अन्वयादिना पदार्थयोग्यपूर्वकं श्रुतेन वाक्येनेत्यर्थः ॥

ग्राह्यति 'तथा 'चेहोत्पत्त्याद्यनेकीपायमास्थायिकं ब्रह्मतत्त्वमावेदितम् । पुनस्तत्कल्पितोपाय-
जनितविशेषपरिशोधनार्थं नेति नेतीति तत्त्वोपसंहारः कृतः । तदुपसंहृतं पुनः परिशुद्धं
केवलमेव, सफलं ज्ञानमिहितमन्तेऽस्यां कण्डिकायामिति' ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्वृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं
ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

(अथ चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम्)

प्रागमप्रधानेन 'मधुकाण्डेन ब्रह्मतत्त्वं निर्धारितम् । 'पुनस्तत्त्वमोपपत्तिप्रधानेन
याज्ञवल्कीयेन काण्डेन पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहं कृत्वा विगृह्यवादेन विचारितम् । शिष्याचार्य-

तया चेति । इहेति मोक्षशास्त्रोक्तिः । तयाऽपि कल्पितप्रपञ्चसबन्धप्रयुक्त सविशेषत्व द्रष्टव्यः ।
स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—पुनरिति । तस्मिन्नात्मनि कल्पित, सृष्ट्यादिरुपायस्तेन जनितो विशेष'स्तस्मि-
न्कारणत्वादित्यस्य निरासार्थमिति यावत् । 'तर्हि द्वैताभावविशिष्टं तत्त्वमिति चेन्नेत्याह—तदुपसंहृत-
मिति । परिशुद्धं भाववदभावेनापि न ससृष्टमित्यर्थः । केवलमित्यद्वितीयोक्तिः । सृष्ट्यादिवचनस्य
गतिमुक्त्वा प्रकृतमुपसहरति—सफलमिति । इतिशब्द सप्रहसमाप्त्यर्थो ब्राह्मणसमाप्त्यर्थो वा ॥२५॥

इति वृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकाया चतुर्थाध्यायस्य
चतुर्थं शारीरकब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

समाप्ते शारीरकब्राह्मणे वशब्राह्मण व्याख्यातस्य कृत 'पतार्थेन मंत्रेयोवाह्योनेत्याशङ्क्य
मधुकाण्डार्थमनुवदति—प्रागमेति । 'पाञ्चमिकमर्थमनुभाषते—पुनरिति । तस्यैव ब्रह्मणस्तत्त्वमिति
शेषः । विगृह्यवादे जयपरःजयप्रधानो जल्पःश्यायः । 'पठे प्रतिष्ठापितमनुवदति—श्लेषेति । प्रश्न-

लेकर एक ब्रह्मतत्त्व का बोध कराया गया है । फिर उस प्रात्मा मे कल्पित सृष्ट्यादि उपाय से
जनित विशेष का निरास करने के लिए 'नेति-नेति" ऐसा कहकर तत्त्व का उपसंहार किया है । फिर
इस मन्त्र के अन्त मे उग उपसहन (ग्रमाव मे ग्रसंपूक्त भाववान्) परिशुद्ध, अद्वितीय ब्रह्म को ही, एवं
फल सहित ज्ञान को कहा गया है ॥ २५ ॥

इस प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थध्याय चतुर्थं ब्राह्मणस्य शाङ्करभाष्य का
हिन्दी भाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

प्रथम और द्वितीय अध्यायस्य प्रागमप्रधान मधुकाण्ड द्वारा ब्रह्मतत्त्व का निर्णय किया गया ।
फिर तीसरे मे हमी का युक्तिप्रदान याज्ञवल्कीय काण्ड द्वारा पक्ष-प्रतिपक्ष का परिग्रह करके जल्प द्वारा

- १ तर्पेव । २ तथा चोक्तम्—'असत्य यत्मनि स्थित्वा तत् सत्य समीहते । उपाय शिष्यामाणां बालाना-
मुपनासनेति" ॥ ३ इति सप्रह इत्यर्थः । ४ उपनिषत्क्रमेण प्रथमद्वितीयाध्यायान्नाम् । ५ प्रागम-
ण्यस्य युक्तेस्तदानन्तर्यं युक्तम् । ६ आत्मनि । ७ कारणत्वादि द्वैतनिषेधे । ८ पूर्वग्रन्थेन तत्त्वार्थत्वम् ।
९ उपनिषदि तात्परीयिकम् । १०. उपनिषदि चतुर्थं ।

संबन्धेन च षष्ठे प्रश्नप्रतिवचनन्यायेन सविस्तरं विचार्योपसंहृतम् । 'अथेदानीं निगमन-
स्थानीयं मंत्रेयीब्राह्मणमारभ्यते । अयं च 'न्यायो वाक्यकोविदः परिगृहीतो हेत्वपदेशा-
त्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति' । अथवाऽऽगमप्रधानेन मधुकाण्डेन यदमृतत्वसाधनं
ससंन्यासमात्मज्ञानमभिहितं तदेव तर्कणाप्यमृतत्वसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानमधिगम्यते ।
तर्कप्रधानं हि याज्ञवल्कीयं काण्डम् । तस्माच्छास्त्रनर्काम्यां निश्चितमेतद्यदेनवात्मज्ञानं
ससंन्यासमभूत्त्वसाधनमिति । तस्माच्छास्त्रश्रद्धावद्भिरमृतत्वप्रतिष्ठित्स्मिन्निरेतत्प्रतिपत्त-
व्यमिति । आगमोपपत्तिभ्यां हि निश्चितोऽर्थः श्रद्धेयो भवत्यव्यभिचारादिति । अक्ष-

प्रतिवचनन्यायस्तत्त्वनिर्णयप्रधानो वादः । उपसंहृतं तदेव तत्त्वमिति शेषः । संप्रयुत्तरब्राह्मण-
स्यागतार्थत्वमाह—अथेति । आगमोपपत्तिभ्यां निश्चिते तत्त्वे निगमनमकिञ्चिदकर(मत्याशङ्क्याऽऽह—
अयं चेति । प्रकाशान्तरेण 'संगनिमाह—अथेवेति । कथमिह' तर्कणाधिगतिस्तत्राऽह—तर्कोति । मुनि-
काण्डस्य तर्कप्रधानत्वे किं स्यात्तदाह—तस्मादिति । इति फलतीति शेषः । शास्त्रादिना यथोक्तस्य
ज्ञानस्य निश्चितत्वेऽपि किं सिध्यति तदाह—तस्माच्छास्त्रश्रद्धावदभिरेति । एतच्छब्दो यथोक्तज्ञान-
परामर्शार्थः । इति सिध्यतीति शेषः । 'तत्र हेतुमाह—आगमेति । अव्यभिचारात्मानयुक्तिगम्यस्वार्थस्य
तयैव सत्त्वादिति यावत् । इतिशब्दो ब्राह्मणसंगतिसमाप्त्यर्थः । तात्पर्यायं व्याख्याते सत्यधर-

विचार किया गया, इसके पश्चात् इस पक्ष प्रपाठक (उपनिषत् क्रम से चौथे अध्याय) में शिष्याचार्य-
संबन्ध से प्रश्नोत्तर न्याय से विस्तृत विचार कर उपसंहार किया गया । इस (आगम उपपत्ति द्वारा
तत्त्वनिश्चय करने) के बाद अब निगमनस्थानीय मंत्रेयी ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है ।
इस निगमनरूप न्याय को पञ्चावयव-वाक्य विचक्षणों के द्वारा भी परिगृहीत किया जाता है ।
(व्यातिविशिष्ट पक्ष धर्म रूप) हेतु का कथन कर (साध्यविशिष्ट पक्ष रूप) प्रतिज्ञातार्थ का पुन
प्रदर्शन करना निगमन है । अथवा आगमप्रधान मधुकाण्ड में जिस सन्यासयुक्त आत्मज्ञान को अमृतत्व वा
साधन बतलाया है; वही ससंन्यास आत्मज्ञान तर्क से भी अमृतत्व का साधन जाना जाता है । याज्ञवल्कीय
काण्ड क्योंकि तर्क प्रधान है; इसलिए यह जो अमृतत्व का साधन सन्यासपूर्वक आत्मज्ञान है, वह
शास्त्र और युक्ति दोनों के द्वारा निश्चित है । इसलिए शास्त्रों में श्रद्धा रखने वाले एवं अमृतत्व लाभ

१ आगमोपपत्तिभ्यां तत्त्वनिश्चयान्तरम् । २ न्याय इति—न्यायस्य पञ्चावयवकस्यानुमानस्यान्यायवयो
निगमनस्य । वाक्ये पञ्चावयवके कोविदैर्विचक्षणैर्द्वैत्विति हेतोर्व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मस्य अप्रदेशतत्त्वना-
त्प्रतिज्ञाया प्रतिज्ञातार्थस्य साध्यविशिष्टपक्षस्य पुनर्वचनं प्रदर्शनं निगमन तथा च व्यातिविशिष्टपक्षधर्महेतुवचन-
पूर्वकसाध्यविशिष्टपक्षप्रदर्शको न्यायावयवो निगमनमित्यर्थः । ३ न्यायम् ? १ ३६ । ४ अमृतत्वेति—
मधुकाण्डे वा मंत्रेयीब्राह्मणशाखापमबलादुक्ता मुक्तिसाधनीभूता सन्याससहितोऽऽपविद्या संवायुना न्यायस्याने
मुनिकाण्डेऽपि मुक्तौ हेतुत्वेन न्यायतो मन्त्रेष्वेतेतद्ब्राह्मणं प्रकृतमित्यर्थः । ५ धनवरोक्तत्वात् । ६
हिंस्रमृषितोऽर्थं हेतु । ७ संगतिमिति पाठान्तरम् । सा च संगतिरवसराद्या । ग चानन्तरवक्तव्यत्व
भवति हि पूर्ववचनेऽप्येतेनन्तरवक्तव्यं निगमनमिति । ८ संगतिमिति—एकविषयत्वरूपा दोषोपविवररूपा
वेत्यर्थः । तर्कस्यागमोपत्वादिति ध्येयम् । ९ पञ्चमब्राह्मणे । १० यथोक्तज्ञानस्य प्रतिपत्तभ्यत्वे ।

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुमंत्रेयी च कात्या-
यनी च तयोर्हं मंत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव
तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपा-
करिष्यन् ॥ १ ॥

यह बात प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्य महर्षि की मंत्रेयी तथा कात्यायनी नाम वाली ये दो स्त्रियाँ थीं। उनमें मंत्रेयी ब्रह्मचर्या करने वाली थी और कात्यायनी स्त्रियों की-सी (गृहसन्धी प्रयोजन) बुद्धिवाली थी। ऐसी स्थिति में याज्ञवल्क्य गार्हस्थ्य जीवन से भिन्न सन्यासचर्या को आरम्भ करना चाहते थे ॥ १ ॥

राणां तु 'चतुर्थे यथा व्याख्यातोऽयंस्तथा प्रतिपत्तद्योऽत्रापि । यान्यक्षराण्यव्याख्यातानि
तानि व्याख्यास्यामः ।

अथेति' हेतुपदेशानन्तर्यप्रदर्शनार्थः । 'हेतुप्रधानानि हि वाक्यान्वयतीतानि । तदन-
न्तरमागमप्रधानेन 'प्रतिज्ञातोऽर्थो निगम्यते मंत्रयोर्ब्राह्मणेन । ह्यशब्दो वृत्तावद्योतकः ।

व्याख्यानप्रसक्तावाह—अक्षराणां इति । तर्हि ब्राह्मणोऽस्मिन्वक्तव्यभावात्परिसमाप्तिरेवेत्याशङ्क्याऽह—
—यानीति ।

ननु वाक्यानि पूर्वत्र व्याख्यातानि न हेतुरपदिष्टस्तत्कथं तदुपदेशानन्तर्यं ससंन्यासस्यामृतत्व-
हेतोरारामज्ञानस्याथशब्देन द्योत्यते तत्राऽह—हेतुप्रधानानीति । तदेव वृत्तं ध्यनक्ति—याज्ञवल्क्यस्येति ।

के इच्छन् पुरुषो को इसे प्राप्त करना चाहिये क्योंकि शास्त्र और युक्ति द्वारा अवधारित अर्थ ही अभ्यभिचरित होने से श्रद्धा का विषय होता है। इन अक्षरों के अर्थ का व्याख्यान जिस प्रकार चतुर्थ प्रपाठक (उपनिषत् के द्वितीय अध्याय) में किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। जो अक्षर वहाँ अव्याख्यात रह गये हैं, उनकी व्याख्या यहाँ की जायगी।

"अथ" यह (ससंन्यास आत्मज्ञान के) हेतु, (वैराग्यादि) उपदेश व आनन्तर्य प्रदर्शन के लिए है। इसमें पूर्व हेतुप्रधान (शामादिप्रतिपादक) वाक्यों का निरूपण हो चुका है। तदनन्तर आगमप्रधान मधुकाण्डस्य मंत्रेयी ब्राह्मण से (यथोक्त आत्मबोध रूप) प्रतिज्ञात अर्थ निगमन किया जाता है। 'ह' यह शब्द पूर्व सन्दर्भ का द्योतक है। याज्ञवल्क्य ऋषि की "द्वे भार्ये बभूवतु" अर्थात् दो पत्नियों

१ अथेति—"मधुकाण्डे याज्ञवल्क्यकाण्डे विज्ञानमीरितम् । तत्सर्वमुपसंहृतुं मंत्रेयीब्राह्मण भवेत् ॥ वक्तव्यत्र विधेयोऽत्र पूर्वोक्तादधिको नूह । इति सूचयितुं शेषस्तत्पाठः पुनश्च्यते" ॥ इति वा० सा ५ ५ १-२ । २ द्वितीय । ३ शब्द । ४ यथोक्तात्मज्ञानहेतुशामादिप्रतिपादकानि । ५ मधुकाण्डन । ६ यथोक्तात्म-बोध । ७ भाष्यस्य ।

मंत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरे-
ऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं
करवाणीति ॥ २ ॥

हे मंत्रेयि ! इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने (बड़ी पत्नी को लक्ष्य करके) कहा—मैं इस गार्हस्थ्य
जीवन से अन्यत्र सब कुछ त्याग कर जाना चाहता हूँ यानी सन्यास लेना चाहता हूँ । अतः तुम्हारी
अनुमति लेना चाहता हूँ, तुम चाहो तो इस कात्यायनी के साथ तुम्हारा बँटवारा कर दूँ ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्यस्यर्षेः किल द्वे भार्ये पत्न्यौ यमूनतुरास्तां मंत्रेयो च नामत एकाऽपरा कात्या-
यनी नामतः । तयोर्भार्ययोर्मंत्रेयो ह किल ब्रह्मवादिनी ब्रह्मवदनशीला बभूवाऽऽसीत् ।
स्त्रीप्रज्ञा स्त्रियां योचिता सा स्त्रीप्रज्ञा संव यस्याः प्रज्ञा गृहप्रयोजनान्वेषणालक्षणा सा
स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि तस्मिन्काल आसीत्कात्यायनी । अर्थवं सति ह किल याज्ञवल्क्योऽन्यत्पूर्व-
स्माद्गार्हस्थ्यलक्षणाद् वृत्तात्पारिव्राज्यलक्षणं वृत्तमुपाकरिष्यन्नुपाचिकीर्षुः सन् ॥ १ ॥

हे मंत्रेयीति ज्येष्ठां भार्यामामन्त्रयामास । आमन्त्र्य चोवाच ह प्रव्रजिष्यन्पारि-
व्राज्यं करिष्यन्वा अरे मंत्रेयस्मात्स्थानाद्गार्हस्थ्येऽहमस्मि भवामि । मंत्रेय्यनुजानीहि
मां हन्तेच्छसि यदि तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीत्यादि ध्यास्यातम् ॥ २ ॥

अथेत्यस्वार्थमाह—एव सतीति । भार्याद्वये दशतिरोत्था स्थिते स्वस्य च वंराग्यातिरेके सतीति
यावत् ॥ १ ॥

तस्या ब्रह्मवादित्वं तदामन्त्रणद्वारेण तां प्रत्येव संवादे हेतुकर्तव्यम् । 'तस्या ब्रह्मवादित्वं द्योत-
यितुमिच्छसि यदीत्युक्तम् ॥ २ ॥

यी; मंत्रेयी और कात्यायनी । "तयो" अर्थात् उन पत्नियों में मंत्रेयी "ब्रह्मवादिनी" अर्थात् ब्रह्मवदन-
शीला थी और कात्यायनी में "तर्हि" यानी उस समय "स्त्रीप्रज्ञा" अर्थात् स्त्री को जो उचित है,
जैसी बुद्धि थी अथवा गृह-प्रयोजन की ही खोज में रहने वाली बुद्धि थी । "अथ" अर्थात् ऐसा होने
पर याज्ञवल्क्य ने "अन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन्" अर्थात् गृहस्थ आश्रम में भिन्न चरित मन्त्रेय्य से प्य
को वर्णन करने का इच्छुक हो कहा ॥ १ ॥

हे मंत्रेयी ! इस प्रकार कहकर (ब्रह्मवादिनी) ज्येष्ठ पत्नी को ही बुलाया । बुलाकर के कहा—
हे मंत्रेयी ! "अस्मात् स्थानात्" यानी मैं इस गृहस्थ आश्रम से "प्रव्रजिष्यन्" अर्थात् सन्यास ग्रहण
करने वाला हूँ । हे मंत्रेयी ! मैं तुम्हारी अनुमति की प्रार्थना करता हूँ । यदि तुम चाहती हो तो इस
कात्यायनी में तेरा द्रव्यविभागादि कर दूँ, इसकी व्याख्या की जा चुकी है ॥ २ ॥

१ चरिताद् धाम्नादिति यावत् । २ अनुजानीहि मामिति तत्रानुमति प्रार्थयार्थव्यर्थः । ३ अन्त-
मित्यादि विच्छेदम् । द्रव्यविभागेन विभक्ता इत्वा गमिष्यामीत्यर्थः । ४ ब्रह्मवादित्वादेव वराचिन्नेभ्येद-
पीति भावः ।

सा होवाच मंत्रेयी यन्तु' म इयं भगोः सर्वा पृथिवी
दित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां त्वहं तेनामृताऽऽहो३ नेति नेति
होवाच याज्ञवल्क्यो यथं वीपकरणवतां जीवितं तथैव ते
जीवितं १७ स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति ॥३॥

सा होवाच मंत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन
कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥४॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वं खलु नो भवती सती
प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते
व्याचक्षणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ५ ॥

उस मंत्रेयी ने कहा—भगवन् ! यदि धन से सपन्न सारी पृथिवी मुझे मिल जाय तो उससे मैं अमर हो सकती हूँ ? याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं, भोगसामग्री से युक्त मनुष्यों का जन्मा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा । धन से अमर होने की आशा है ही नहीं ॥ ३ ॥

तब उस मंत्रेयी ने कहा—जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे मैं लेकर क्या कहूँगी । आप जो कुछ भी अमरत्व का साधन जानते हो, उसी को मेरे लिए बहे ॥ ४ ॥

उन याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा—नि सन्देह तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और अब भी तूने हमारी प्रसन्नता को बढ़ाया है । अतः मंत्रेयी ! मैं अत्यन्त सतुष्ट हो तुझसे उस अमरत्व के साधन की व्याख्या कहूँगा, तू मेरे द्वारा बतलाये गये विषय का भली प्रकार चिन्तन करना ॥ ५ ॥

संवमुक्तोवाच मंत्रयो सर्वेयं पृथिवी वित्तेन पूर्णा 'स्यान्तु किं स्या विमह वित्त-
साध्येन कर्मणाऽमृताऽऽहो न स्यामिति । नेति होवाच याज्ञवल्क्य इत्यादि समान-
मन्यत् ॥ ३ ॥ ४ ॥

स होवाच प्रियं व पूर्वं खलु नोऽस्मभ्य भवती भवन्ती सती' प्रियमेवावृधद्धन्त-

मंत्रेयी स्वमुत्त्वमाश्रायिनामात्मनो दर्शयति—संविमिति ॥ ३ ॥ ४ ॥

गुरुप्रसादाधीना दिक्षावाप्तिरिति द्योतनापेमाह—स होवाचेति । ज्ञानेच्छादुर्लभताद्योतनाय

इस प्रकार बहे जाने पर मंत्रेयी ने कहा—यदि धन से पूर्ण यह सम्पूर्ण पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उस वित्तसाध्य कर्म से अमृत हो जाऊँगी अथवा नहीं । याज्ञवल्क्य ने कहा—'इससे अमर नहीं हो सकोगी' इत्यादि अन्य श्रुतिवाक्य की व्याख्या पूर्ववत् है ॥ ३-४ ॥

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—(हे मंत्रेयी !) तू पहले भी हमारी प्रिया रही है, अब भी तूने हमारे

स होवाच न वा अरे पत्यु कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायाय कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं

हे मंत्रेयि ! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा । इसमें सन्देह नहीं है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्यारा नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये पति प्यारा होता है । स्त्री के प्रयोजन के लिये स्त्री प्यारी नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्यारी होती है । पुत्रों के सुख के लिये पुत्र प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही सुख के लिये पुत्र प्यारे होते हैं । धन के प्रयोजन के लिये धन प्यारा नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्यारा होता है । पशुओं के प्रयोजन के लिये पशु प्यारा नहीं होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये पशु प्यारे होते हैं । ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होते हैं । क्षत्रिय के सुख के लिये क्षत्रिय

वत्पति । अतस्तुष्टोऽहं हन्तेच्छसि चेदमृतत्वसाधनं ज्ञातुं हे भवति ते तुभ्यं तदमृतत्वसाधनं व्याख्यास्यामि ॥५॥

आत्मनि खल्वरे मंत्रेयि हृष्टे । कथं हृष्ट आत्मनीति, उच्यते—पूर्वमाचार्याग-

चेदित्युक्तम् ॥ ६ ॥

व्याख्यानप्रकारमेवाऽऽह—आत्मनीति । हृष्टे सर्वमिदं विदितं भवतीत्युत्तरत्र सवन्धः । बेनोपायेनाऽऽत्मनि हृष्टे सर्वं हृष्टं भवतीत्युपायं पृच्छति—कथमिति । आत्मदर्शनोपायं श्रवणादिकं दर्शन-

प्रेम को "अबृघ्न" यानी बढाया है, इसलिये मैं प्रसन्न हूँ । अब यदि तुम अमृतत्व का साधन जानने की इच्छा करती हो तो हे प्रिये ! मैं तुम्हें उस अमृतत्व के साधन की व्याख्या करूँगा ॥ ५ ॥

हे मंत्रेयी ! निश्चय ही आत्मदर्शन हो जाने पर सर्वज्ञान होता है । किन् प्रकार आत्मा का

भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा अरे
 लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय
 लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय
 देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया
 भवन्ति । न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया
 भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति । न वा
 अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु
 कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य
 कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं
 प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो
 मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मंत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे
 श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम् ॥ ६ ॥

प्यारा नहीं होता, किन्तु अपने ही मुख के लिये क्षत्रिय प्यारा होता है। लोको के मुख के लिये लोक प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्यारे होते हैं। देवों के प्रयोजन के लिए देव प्यारे नहीं होते हैं, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिए देव प्यारे होते हैं। वेदों के प्रयोजन के लिये वेद प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये वेद प्यारे होते हैं। भूतों के प्रयोजन के लिये भूत प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये भूत प्रिय होते हैं। (विशेष क्या बहूँ बस इतना ही समझो) सब के प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं। अतः हे मंत्रेयि ! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवण के योग्य, मनन के योग्य और ध्यान करने योग्य है। हे मंत्रेयि ! निःसन्देह आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान हो जाने पर ये सभी विज्ञान हो जाते हैं (क्योंकि अधिष्ठान आत्मा से भिन्न यह अर्घ्यस्त वस्तु कुछ भी नहीं है) ॥ ६ ॥

माग्यां श्रुते पुनस्तर्कोणोपपत्त्या मते विचारिते । श्रद्धयां त्वागममात्रेण मत उपपत्त्या

मुत्तमाह—उच्यत इति । उक्तोपायकलं प्रश्नपूर्वकमाह—किमित्यादिना । इदं सर्वमित्यनूद्य तत्प्रायः-

दर्शन होने पर—इस पर कहा जाता है। पहले आचार्य और शास्त्र द्वारा श्रवण कर पुनः तर्क या युक्ति से उस पर मनन और विचार करने पर (आत्मा का दर्शन होता है)। केवल शास्त्र से श्रवण, युक्ति

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं
 परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्यो-
 ऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रा-
 ऽऽत्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो
 वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूतानि
 वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं
 ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि
 भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा । ७ ॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य बाह्याञ्छब्दाञ्छब्दनुयाद्-
 ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो
 गृहीतः ॥ ८ ॥

ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मण जाति को आत्मा से भिन्न समझता है ।
 क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न समझता है । लोक उसे
 परास्त कर देते हैं, जो लोकों को आत्मा से भिन्न समझता है । देव उसे परास्त कर देते हैं, जो देवों
 को आत्मा से भिन्न समझता है । वेद उसे परास्त कर देते हैं, जो वेदों को आत्मा से भिन्न समझता है ।
 भूत उसे परास्त कर देते हैं, जो भूतों को आत्मा से भिन्न जानता है । सभी उसे परास्त कर देते हैं, जो
 सबको भिन्न समझता है क्योंकि यह ब्राह्मण जाति, यह क्षत्रिय जाति, ये लोक, ये देव, ये वेद,
 ये भूत तथा ये सब जो कुछ भी है, यह सब आत्मा ही है ॥ ७ ॥

वहाँ पर दृष्टान्त यह है कि जैसे काछादि के द्वारा आघात किये हुए नक्कारे के बाह्य शब्दों
 को ग्रहण करने में कोई समय नहीं होता, किन्तु नक्कारे या नक्कारे के आघात को ग्रहण कर लेने से
 उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है ॥ ८ ॥

पश्वाद्भिर्भात एवमेतन्नान्यथेति निर्धारिते । किं भवतीत्युच्यत इदं विदितं भवति । इदं
 सर्वमिति यदात्मनोऽन्यत् । प्रात्मव्यतिरेकेणाम्बावत् ॥ ६ ॥

साह—यदात्मनोऽन्यदिति । तदात्मनि दृष्टे दृष्टे स्यादिति शेषः । कथमन्यस्मिन् दृष्टे भवति तत्राऽह—
 प्रात्मव्यतिरेकेणिति ॥ ६ ॥

ये मनन और उसके बाद विशेष रूप से जान लेने पर “वह इस स्वरूप वाला है, दूसरी प्रकार का नहीं
 है” इस प्रकार निर्धारित कर लेने पर फिर क्या होता है—इस पर कहा जाता है। “इदम्” अर्थात्
 यह सब जो कुछ है, आत्मा से अन्य भी है, शात हो जाता है क्योंकि आत्मा से व्यतिरिक्त कुछ भी
 नहीं है ॥ ६ ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छ-
 क्तनुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा
 शब्दो गृहीतः ॥६॥

स यथा वीणायै बाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्त-
 नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा
 शब्दो गृहीतः ॥ १० ॥

स यथाऽद्वैतधाम्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्च-
 रन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्चलितमेतद्य-
 द्भवेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं

वह दूसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे बजाये गये शख के बाह्य शब्दों को कोई पकड़ने में
 समर्थ नहीं होता, किन्तु शख या शख के बजाने को पकड़ लेने से उसका शब्द भी गृहीत हो
 जाता है ॥ ६ ॥

वह तीसरा दृष्टान्त है कि जैसे बजायी गयी वीणा के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में कोई
 समर्थ नहीं होता, किन्तु वीणा या वीणा के बजाने को ग्रहण करने पर उसका शब्द गृहीत हो
 जाता है ॥ १० ॥

वह चौथा दृष्टान्त यह है कि जैसे जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आदान किये गये अग्नि से
 नाना रंग के पुएँ निकलते हैं । हे मंत्रेयि ! वे ही ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास,

तमयथायंदंशिनं परादात्पराकुर्यात्कैवल्यसंबन्धिनं कुर्यादयमनात्मस्वरूपेण मां
 पश्यतीत्यपराधादिति, भावः ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

चतुर्थे शब्दनिश्वासेनेय लोकाद्यर्थनिश्वासः सामर्थ्यादुक्तो भवतीति पृथङ् नोक्तः ।

स यथाऽद्वैतधाम्नेरित्याबाविष्ट हृतमित्याद्यधिकं दृष्ट तस्यार्थमाह—चतुर्थं इति । सामर्थ्या-

“तम्” अर्थात् उस अनात्मतत्त्वदर्शी को “यह मुझे अनात्मस्वरूप से देखता है”—इस
 अपराध से “परादात्” अर्थात् परास्त कर देते हैं यानी कैवल्य से उसका सबन्धच्युत कर
 देते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

चतुर्थे प्रपाठव (द्वितीय अध्याय के अन्त में मंत्रेयी ब्राह्मण) में शब्दनिश्वास के द्वारा सामर्थ्य
 से लोकादि अर्थनिश्वास भी कह दिये गये, उसका पृथक् प्रतिपादन नहीं किया । यहाँ तो सारे

१ स यथेत्यादिसृष्टिभूनेरित्य विभाग तपाहि—ऋग्वेद इत्यारभ्य व्याख्यातानीत्यन्तेन नामसृष्टिहत्का
 परमात्मब्रमेतविति इष्ट पापितमिति कमसृष्टि । अथ चेत्यादिना रूपसृष्टिरिति । २ द्वितीयाध्यायावसान-
 नतमंत्रेयीब्राह्मणे ।

विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि
व्याख्यानानी'ष्ट' हृतमाशितं पायितमयं च लोकः
परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवंतानि सर्वाणि
निश्वसितानि ॥ ११ ॥

स यथा सर्वाणामपा' समुद्र एकायनमेव' सर्वेषा'
स्पर्शानां त्वगेकायनमेव' सर्वेषां गन्धानां नासिके
एकायनमेव' सर्वेषा' रसाना जिह्वेकायनमेव'
सर्वेषा'रूपाणां चक्षुरेकायनमेव' सर्वेषा' शब्दाना'
श्रोत्रमेकायनमेव' सर्वेषा' सकल्पाना मन एकायन-
मेव' सर्वासां विद्याना' हृदयमेकायनमेव' सर्वेषां
कर्मणा' हस्तावेकायनमेव' सर्वेषामानन्दानामुपस्थ
एकायनमेव' सर्वेषां विसर्गणां पायुरेकायनमेव'
सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेव' सर्वेषां वेदानां वागे-
कायनम् ॥ १२ ॥

पुराण, विद्या, उपनिषद्, ब्राह्मण, वैदिक वस्तु समग्र वाक्यरूप मूत्र, सूत्रों की व्याख्या, मन्त्रों की
व्याख्या, इष्ट (यज्ञ), इवन क्रिया हुन, विलाया हुआ, पिलाया हुआ, यह लोक, परलोक तथा मपूर्ण
भूत है। ये सब इस परमात्मा व ही निश्वास है ॥ ११ ॥

वह पाँचवाँ दृष्टान्त यह है कि जैसे समस्त जलो का समुद्र ही एकमात्र प्रलयस्थान है, वैसे
ही समस्त स्वर्णों का त्वचा एक प्रलयस्थान है। ऐसे ही सपूर्ण गन्धों का दोनों नासिकाएँ एक अयन
हैं। ऐसे ही सपूर्ण रसों का जिह्वा एक अयन है। ऐसे ही समस्त रूपों का चक्षु एक अयन है। ऐसे ही
समस्त शब्दों का श्रोत्र एक अयन है। ऐसे ही समस्त सबरूपों का मन एक अयन है। ऐसे ही समस्त
विद्याओं का हृदय एक अयन है। ऐसे ही समस्त बर्णों का दोनों हाथ एक अयन है। ऐसे ही समस्त
मानन्दों का उपस्थ एक अयन है। ऐसे ही समस्त विसर्गों का गुदा एक अयन है। ऐसे ही समस्त
मार्गों का दोनों पाद एक अयन है। तथा ऐसे ही समस्त वेदों का वाक् एक अयन है ॥१२॥

इह तु सर्वशास्त्रार्थोपसङ्ग इति कृत्वाऽर्च्यप्राप्तोऽप्यर्थः स्पष्टीकृत्य इति पृथगुच्यते ॥११॥

द्वयस्य शब्दस्य नुपवर्त्तेरित्यथ । नन्वत्रापि सामर्थ्याद्यथाऽप्युक्तं तदुक्तत्वाद्वाऽप्युक्तं—इह
शास्त्रो वे उपसंहारात्मक अर्थ का बतलाया जा रहा है। इसलिये अर्थत प्राप्त अर्थ का स्पष्टीकरण

१ इष्ट यागनिमित्त धर्मजात हृत हामनिमित्त धानितमप्रदाननिमित्त पायित पयदाननिमित्तम् । प्रय लोक इद
जन्म परी लोक' प्रतिपत्तय जन्म । इद पाशाचार्य ४ १ २ ब्राह्मणे स्पष्टम् ।

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन
 एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञान-
 घन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति
 'न प्रेत्य सज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञ-
 वल्क्यः ॥ १३ ॥

इस विषय में छटा छटान्त यह है—जैसे नमक का डला बाहर और भीतर सभी से परिपूर्ण रसघन ही है। हे मंत्रेयि ! ऐसे ही यह आत्मा भी बाह्यान्तर भेद में रहित परिपूर्ण प्रज्ञानघन ही है। वह इन भूतों से अच्छी प्रकार उठकर उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है। इसलिये मर जाने पर इसकी सज्ञा नहीं रह जाती। हे मंत्रेयि ! इस प्रकार मैं कहता हूँ, ऐसा याज्ञवल्क्य ने मंत्रेयी से कहा ॥ १३ ॥

॥ १२ ॥

सर्वकार्यं प्रलये विद्यानिमित्ते 'सैन्धवघनवदनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एक
 आत्माऽवतिष्ठते पूर्वं तु 'भूतभात्रासंसर्गविशेषात्सैन्धवविशेषविज्ञानः सन् । तस्मिन्प्रवि-
 लापिते विद्यया विशेषविज्ञाने तन्निमित्ते च भूतसंसर्गे न प्रेत्य सज्ञाऽस्तीत्येवं याज्ञव-
 ल्क्येनोक्ता ॥ १३ ॥

त्विंति ॥ ११ ॥ १२ ॥

स यथा सैन्धवघन इत्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—सर्वकार्येति । एतेभ्यो भूतेभ्य इत्यादेरर्थमाह—
 पूर्वं त्विति । ज्ञानोदयात्प्रागवस्थावामित्यर्थः । सैन्धवविशेषविज्ञानः सैन्धवहरतीति शेषः । प्रविलापिते
 'सत्प्रेषण्याहार' ॥ १३ ॥

करना चाहिये। इसलिये उसका यहाँ पृथक् निरूपण किया जाता है ॥ ११ ॥ १२ ॥

विद्यानिमित्त होने पर सर्वकार्य के बाध हो जाने पर सैन्धवघन की तरह अन्दर बाहर में रसघन, नि सामान्य, निविशेष, कृत्स्न, प्रज्ञानघन एक ही आत्मा स्थित रह जाता है। पहले वह भावाशादि भूतभावों के (आविद्यक) तादात्म्य में विशेष विज्ञान को प्राप्त होता है। फिर विद्या के द्वारा उस विशेष विज्ञान और तन्निमित्तक भूततादात्म्य को सर्वथा घिनीन कर दिये जाने पर मरणावस्था के बाद उसकी सज्ञा नहीं रहती। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने मंत्रेयी से कहा ॥ १३ ॥

१ धत्वा च कैवल्यावस्थाया विशेषज्ञान नास्तीत्याह—नेति । प्रेत्य देहादेर्देहावस्था बाधानन्तरम् । सज्ञा विशेषविज्ञानमयमुप्य पुन द्वंद्वं क्षेत्रमित्यादि । २. बाधे । ३. सैन्धवति । सत्त्वा च वातिके—“धन्त-
 बंधोरसघनः सैन्धवरूप घनो यथा । विज्ञानघन एवायं विज्ञानात्मा तथैव च” ॥ ११ ॥ इति । ४. भूतेति
 —भूतानामाकाशादीना भात्रा शरीरकरणविषयाभारपरिणामास्तैः संसर्गविशेष आविद्य तादात्म्य तस्मा-
 दित्यर्थः । ५. य पूर्वं भयवहरीत्युक्तस्तस्य भ्यवहर्तृत्वित्यर्थः ।

सा होवाच मंत्रेय्यत्रंवा मा भगवान्मोहान्तमापीपिपत्र
वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं
मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्ति-
'धर्मा ॥ १४ ॥

उस मंत्रेयी ने कहा—(भरने पर इसकी संज्ञा नहीं रहती है ऐसा कहकर) इस प्रज्ञानघन के विषय में ही श्रीमान् ने मुझे मोह में डाल दिया है। अतः उमे में विशेष रूप से नहीं समझ पा रही हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—अरी मंत्रेयि ! मैं मोह की बात नहीं करता हूँ, अरी ! यह आत्मा निःसन्देह अविनाशी है, और उच्छेद धर्म से सर्वथा शून्य है अर्थात् इसमें -विनाश या उच्छेद रूप विकार नहीं होता ॥ १४ ॥

सा होवाचात्रंवा मा भगवानेतस्मिन्नेव वस्तुनि प्रज्ञानघन एव न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति'
मोहान्तं मोहमध्यमापीपिपदापीपददवगमितवानसि संमोहितवानसीत्यर्थः । 'अतो न वा
अहमिममात्मानमुक्तलक्षणं विजानामि विवेकत इति । स होवाच नाहं 'मोहं ब्रवीम्य-
विनाशी वा अरेऽयमात्मा । यतो विन(नं)ष्टुं शीलमस्येति विनाशी न विनाशयविनाशी
विनाशशब्देन विक्रियाऽविनाशीत्येविक्रिय आःमेत्यर्थः । अरे मंत्रेययमात्मा प्रकृतोऽनुच्छि-
त्तिधर्मा । उच्छित्तिरुच्छेद उच्छेदोऽन्तो विनाश उच्छित्तिधर्मोऽस्येत्युच्छित्तिधर्मा नोच्छित्ति-

पूर्वोत्तरविरोधं शङ्कित्वा परिहरति—सा होवाचेत्यादिना । अविनाशित्वं 'पूर्वत्र हेतुरित्याह—
यत इति ॥ १४ ॥

वह मंत्रेयी बोली—“अत्रंवा” अर्थात् उसी प्रज्ञानघन वस्तु के विषय में “भरणकाल होने पर इसकी यह संज्ञा नहीं रहनी” इस वाक्य से आप भगवान्श्री ने मुझे “मोहान्तमापीपिपत्” यानी मोहावस्था को प्राप्त करा दिया है अर्थात् मैं संमोहित हो गयी हूँ। इसलिए मोहाविष्ट होने में मैं “इमम्” अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण वाले आत्मा को “न विजानामि” अर्थात् विवेकपूर्वक नहीं जानती हूँ। वह याज्ञवल्क्य बोले—अरी मंत्रेयी ! मैं मोहजनक वचनों को नहीं बोल रहा हूँ, यह आत्मा अविनाशी है। जिसका स्वभाव विनष्ट होने वाला है, उसे विनाशी कहते हैं, और जो विनाशी नहीं हो, वह अविनाशी है अर्थात् विनाश विक्रिया का नाम है और अविनाशी अविकारी आत्मा है। अरी मंत्रेयी ! यह आत्मा अन्तर्हित है। उच्छेद ही उच्छित्ति है। अन्न या विनाश उच्छेद का नाम है। जिसका उच्छित्ति धर्म हो वह उच्छित्तिधर्मा, और इसमें भिन्न अनुच्छित्ति धर्मा है। भाव यह है

१. इत्योऽन्तर मात्रावसर्गवत्स्वयं भवतीत्यधिको माध्यन्दिनभावात्मां पाठः । २. वाचनेन । ३. मोहा-
विष्टत्वात् । ४. शङ्कतु वचः । ५. अविक्रिय इति । अत्र वाचिके—“परिणामनिर्णयं स्व्यादविनाशित-
गिराऽऽत्मनः । प्रनुच्छित्तिगिरा नानो वाप्यंते वो निरुच्यथ.” ॥ १३ ॥ इति । आरण्यकमर्मः परिणामः । ६
नाहं मोहं ब्रवीमीत्यत्र ।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर
इतरं जिध्रति तदितर इतरं रसयते तदितर इतरम-
मिवदति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरं मनुते
तदितर इतरं स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र

हे मंत्रेयि ! जिस अविद्यावस्या में द्वैत-सा प्रतीत होता है वहाँ पर ही अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य का रस लेता है, अन्य अन्य को बहना है, अन्य अन्य को गुनता है, अन्य अन्य का मनन करता है, अन्य अन्य को छूना है, अन्य अन्य को विशेष रूप से जानता है ।

धर्माऽनुच्छित्तिधर्मा नापि 'विक्रियालक्षणो 'नाप्युच्छेदलक्षणो विनाशोऽस्य विद्यत
इत्यर्थः ॥१४॥

चतुर्ध्वपि प्रपाठकेष्वेक आत्मा तुल्यो निर्धारितः परं ब्रह्म । 'उपाय'विशेषस्तु
तस्याधिगमेऽन्यश्चान्यद्वय । उपेयस्तु स एवाऽऽत्मा यश्चतुर्थोऽस्यात् प्रादेशो नेति नेतीति
'निर्दिष्टः । स एव पञ्चमे प्राणपणोपन्यासेन 'शाकल्ययाज्ञवल्क्यसंवादे निर्धारितः । पुनः

'प्रत्यध्यायमन्यथाऽन्यथा प्रतिपादनावात्मन सविशेषत्वमाज्ञञ्जुष स एव इत्यावेस्तात्पर्यमाह—
चतुर्ध्वपीति । केन प्रकारेण तस्य तुल्यत्वमित्याज्ञञ्जुषाऽऽह—परं ब्रह्मति । अध्यायमेवस्तहि कथ-
मित्याज्ञञ्जुषाऽह—उपायेति । उपायमेवदुपेयमेवोऽपि स्वाश्रित्याज्ञञ्जुषाऽह—उपेयस्त्विति । चातुर्यि-
कादर्थत्वाञ्चमिकस्यार्थम्य भेद द्यावतंयति—स एवेति । प्राणपणोपन्यासेन सूक्ष्मं ते विपतिध्वतीति
सूक्ष्मं पाणोप-यासात्प्राणा 'पणत्वेन गृहीता इति गम्यते । तेन शाकल्यब्राह्मणेन निर्विशेष प्रत्यगात्मा
निर्धारित इत्यर्थं । विज्ञानमानन्द ब्रह्मेत्यादावुक्त स्मारयति—पुनरिति । पञ्चमममाप्तौ 'पुनर्विज्ञान-

किं न ही इसका कारणसमं रूप सान्धयनाश होता है श्रीर न ही निरन्धयनाश होता है ॥ १४ ॥

चारो अध्यायो मे एक समान ही निश्चय किया गया है, एक आत्मा है, वही परब्रह्म है । किन्तु उसका जानने के लिए (आगम-जल्प-वादात्मक न्याय रूप) उपाय विशेष भिन्न-भिन्न है । जिसके लिए उपाय किया जाता है, वह उपेय आत्मा ही है जिसका द्वितीय अध्याय में 'यही उपदेश है कि (सर्वोपाधि विशेष के निरास से) वह आत्मा नेति नेति है इस प्रकार निर्विकल्प निश्चित किया गया है । वही तीसरे अध्याय में शाकल्य-याज्ञवल्क्य संवाद में ('तुम्हारा शिर पात ही जाएगा') हार्पत्व प्राण क उपन्यास से निर्धारित किया गया है । पुन (विज्ञान, आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है,

१ कारणसमं रूप सान्धयनाश । २ निरन्धय । ३ आगमो जल्पवाग्वत्की न्यायओपाय-
विशेष । ४ विशेष इति—प्रथमद्वितीययोः अध्याययोरागम तृतीये जल्पानुर्थं वाद इति । ५ वृ उ
२ ३ ६ । ६ निर्दिष्ट—निर्विकल्पत्वेनावधारित । ७ वृ उ ३ ६ २६ । ८ ब्रह्म-
प्राप्त्युपायानां प्रत्यध्याय भेदेन प्रतिपादनादनेकरसमाप्ततत्त्वमित्यर्थं । ९ पणत्वेनेति—हार्पत्वेनेत्यर्थं ।
प्राप्तौ हार्पं वस्तु यत्र इति भग्यते । १० वृ उ ३ ६ २६ ।

त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रैत्तत्केन कं
रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कं
मन्वीत तत्केन कं स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्ये-
नेदं सर्वं विजानाति तं तेन विजानीयात्स एष नेति

इसके विपरीत जहाँ पर इस विद्वान् की दृष्टि में सब आत्मा ही हो गया, वहाँ पर किससे किसको देखे, किससे किसको चले, किससे किसको कहे, किससे किसको सुने, किससे किसको मनन करे, किससे किसको छूवे और किससे किसको जाने । पुरुष जिससे इस सबको जानता है; भला उसे किसके द्वारा

'पञ्चमसमाप्ती । पुनर्जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे । पुनरिहोपनिषत्समाप्ती । चतुर्णामपि प्रपा-
ठकानामेतदात्मनिष्ठता नान्योऽन्तराले कश्चिदपि विवक्षितोऽर्थ इत्येतत्प्रदर्शनायान्त उप-
संहारः स एष नेति नेत्यादिः ।

यस्मात्प्रकारशतेनापि निरूप्यमाणे तत्त्वे नेति नेत्यात्मैव 'निष्ठां नान्योपलभ्यते
तर्केण चाऽऽग्नेन वा तस्मादेतदेवामृतत्वसाधनं यदेतन्नेति नेत्यात्मपरिज्ञानं ससंन्यास-
मित्येतमर्थमुपसंजिह्वीर्षन्नाह—एतावदेतावन्मात्रं यदेतन्नेति नेत्यद्वैतात्मदर्शनमिदं चान्य-
सहकारिकारणनिरपेक्षमेवारे मंत्रेणामृतत्वसाधनम् । यःपृष्टवत्यसि यदेव भगवान्नेदं तदेव

मित्यादिना स एव निर्धारित इति योजना । 'कूचं ब्राह्मणं वायुमि स एवोक्त इत्याह—पुनर्जनकेति ।
अस्मिन्नपि ब्राह्मणे स एवोक्त इत्याह—पुनरिहोत । किमिति पूर्वत्र तत्र तत्रोक्तस्य निर्विशेषस्या-
ऽऽत्मनोऽवसाने वचनमित्याशङ्क्याऽह—चतुर्णामपीति ।

बोधाभ्यर्थालोचनायामुपनिषदर्थो निर्विशेषमात्मतत्त्वमित्युपपद्यते वाशयान्तरमवतार्यं ध्या-
करोति—यस्मादित्यादिना । इति होक्त्वेत्यादिवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमादाय ध्याच्छेदे—यत्पृष्टवत्य-

इस प्रकार) तृतीय अध्याय की समाप्ति पर कहा गया है । फिर जनक-याज्ञवल्क्य सवाद में श्रीर
अथ चतुर्यं अध्याय समाप्ति पर मंत्रेयी ब्राह्मण में कहा गया है । वारो प्रपाठको का विवक्षित अर्थ
निर्विशेष आत्मनिष्ठ है । इसके अनिर्दिष्ट और कोई विवक्षित अर्थ नहीं है, इसी को समझाने के
लिए श्रुति अन्त में "वह यह नेति-नेति है" इस प्रकार उपसंहार करती है ।

क्योंकि सँकटों मार्गों से निहपित किये जाने पर भी तत्त्व की "नेति - नेति" इस प्रकार
आत्मा में ही निष्ठा है, युक्ति या शास्त्र से अन्यत्र (उमका पर्यवसान) नहीं देखा जाता । इसलिए
"नेति-नेति" इस वाक्य से आत्मा का सन्याससहित जो निर्विशेष ज्ञान है, वही अमृतत्व का साधन है ।
इसी अर्थ को उपसंहार करने की इच्छा से याज्ञवल्क्य जो बहते हैं—हे मंत्रेयी ! वस वह इतना ही
है जो कि "नेति-नेति" इस प्रकार अद्वितीय आत्मा का दर्शन करना है, यह अमृतत्वसाधन अन्य

नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो
न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे
केन विजानीयादित्युक्तानुशासनाऽसि मंत्रेय्येतावदरे

जाने ? वह यह 'नेति नेति' इस प्रकार बतलाया गया आत्मा अगृह्य है, उसका ग्रहण नहीं होता । अशीर्य है, उसका विनाश नहीं होता । असज्य है, वह वही पर ससक्त नहीं होता । अरिष्य है, अतः वह पीड़ित और क्षीण नहीं होता । हे मंत्रेयि ! विज्ञाता को किससे जाने ? इस प्रकार हमने तुम्हे उपदेश कर

मे अहमृतत्वसाधनमिति 'तदेतावदेवेति विज्ञेय त्वयेति हैय क्लामृतत्वसाधनमात्मज्ञानं
प्रियार्थं भार्याया उक्त्वा याज्ञवल्क्यः किं कृतवान्यत्पूर्वं प्रतिज्ञातं प्रयत्नित्व्यन्नरमीति तच्च-
कार विजहार प्रव्रजितवानित्यर्थः । परिसमाप्ता ब्रह्मविद्या संन्यासपर्यवसाना । 'एतावानुप-
देश 'एतद्वेदानुशासनमेवा' परमनिष्ठेषु पुरुषार्थकर्तव्यतान्त इति ।

इदानीं विचार्यते शास्त्रार्थविवेकप्रतिपत्तये । यत 'आकुलानि हि वाक्यानि

सीत्यादिना । ब्राह्मणार्थमुपसंहरति—परिसमाप्तेति । तथाऽप्युपरैशान्तर कर्तव्यमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह
—एतावानिति । किमत्र प्रमाणमिति तदाह—एतदिति । 'तथाऽपि परमा निष्ठा संन्यासिनो
वक्तव्येति चेन्नेत्याह—एयेति । आत्मज्ञाने ससंन्यासे सत्यपि पुरुषार्थान्तरं कर्तव्यमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह
—एय इति । इतिशब्दो ब्राह्मणरुमाप्यर्थः ।

ससंन्यासमात्मज्ञानममृतत्वसाधनमित्युपपाद्य संन्यासमधिकृत्य विचारमयतारयति—इदानी-
मिति । 'तत्र तत्र प्रागेव 'विचारितत्वात्किं पुनर्विचारेणेत्याशङ्क्याऽऽह—शास्त्रार्थेति । विरक्तस्य
संन्यासो ज्ञानस्यान्तरङ्गसाधनं ज्ञानं तु केशलममृतत्वस्येति शास्त्रार्थे विवेकरूपा 'प्रतिपत्तिरपि प्रागेव
सिद्धेति किं तदर्थेन विचारारम्भेणेत्याशङ्क्याऽऽह—यत इति । अतो विचारः कर्तव्यो नान्यथा

महकारी कारणो मे निरोपेक्ष है । 'हे भगवान् श्री ! जो कुछ भी आप अमृतत्व के साधन के विषय
मे जानते हैं, मुझे उपदेश कीजिए इस प्रकार जो तुमने पूछा था, "वह मन््याससहित निर्विशेषात्म-
ज्ञान केवल इतना मात्र है ' ऐसा मुझे समझना चाहिये । अपनी प्रिय भार्या को इस प्रकार अमृतत्व-
साधन रूप आत्मज्ञान का उपदेश देकर याज्ञवल्क्य जी ने क्या किया ? जिस प्रकार उन्होंने प्रतिज्ञा
की थी कि "परिश्रज्या ग्रहण करूँगा" उनी प्रकार किया अर्थात् सब कुछ त्याग दिया यानी मन््यासो
हो गये । मन््यास मे पर्यवसित होने वाली इस ब्रह्मविद्या का प्रकरण सम्पन्न हुआ । मन््यासपूर्वक
बोध की अवधि तर ही उपदेश है मन््यासपूर्वक ज्ञान करना ही वेद की आज्ञा है, मन््यासमहित विद्या
ही परम निष्ठा है, उक्त बोध मे ही पुरुषार्थ कर्तव्यता का पर्यवसान है ।

१ समन्यास निर्विशेषात्मज्ञानमव । २ समन्यासवाधावधि । ३ ससंन्यासज्ञानम् । ४ ससंन्यासा-
विद्या । ५ उक्तो बोधः । ६ मिथो विरुद्धानि । ७ यथोक्तविद्योपदेशसमाप्तिरिति । ८ वृ
उ ३ ५ १ इति कहोनब्राह्मणे । ९ मन््यासादे । १० प्रमकीर्तुंभेव ।

खल्वमृतत्वमिति होवत्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥१५॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य

पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

दिया । अरी मैत्रेयि ! वस, तू निश्चय जान ! इतना ही अमृतत्व है । ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य सन्यासी हो गये ॥१५॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

दृश्यन्ते “यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्” “यावज्जीवं दशंपूर्णमासाभ्यां यजेत” “कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजोविषेच्छतं समाः” “एतद्वै जरामयं मत्रं यवग्निहोत्रम्” इत्यादीन्यंकाश्रम्य-
ज्ञापकान्यन्यानि चाऽऽश्रमान्तरप्रतिपादकानि वाक्यानि “विदित्वा द्युत्याय प्रव्रजन्ति”
“ब्रह्मचर्यं समाप्य गृहो भवेद्गृहाद्वनी मूत्वा प्रव्रजेत्” “यदि वैतरथा ब्रह्मचर्यादिव
प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा” इति “द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्तरौ भवतः क्रियापथश्चैव

शाखायं विवेकः स्यादित्युपसंहारार्थं हि शब्दः । वाक्यानामाकुलतदमेव दर्शयति—यावदिति । यदाग्नि-
होत्रमित्यादीनीत्यादिशब्दादंकाश्रम्यं ‘त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्ब्राह्मण्यस्यैतदमृतत्वमिति वाक्यं गृह्यते ।
कथमेतावता’ वाक्यानि ध्याकुलानीत्याद्याऽऽह—अन्यानि चेति । विदित्वा द्युत्याय भिक्षाचर्यं
चरन्तीति वाक्यं पाठक्रमेण विद्वत्संन्यासपरमथंक्रमेण तु विविदिवासंन्यासपरमात्मानमेव लोका-
मिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति तु विविदिवासंन्यासपरमेवेति विभागः । क्रमसंन्यासपरां श्रुतिमुदाहरति
—ब्रह्मचर्यमिति । क्रमसंन्यासविषयं वाक्यं पठति—यदि चेति । क्रमसंन्यासयोः सन्यासस्याऽऽधिप-
प्रदर्शनपरां श्रुतिं दर्शयति—द्वावेवेति । अनुनिष्क्रान्तरौ दासत्र क्रमेणाम्युदयनिःश्रेयसोपायश्चैव पुनः

(सन्यासपूर्वकं आत्मज्ञान ही अमृतत्व का साधन है) अथ (सन्यासविषयक) शास्त्र के अर्थ का विवेक समझने के लिये विचार किया जाता है क्योंकि (शास्त्रों में) परस्पर विरुद्ध वाक्य देखे जाते हैं । “जब तक जोए, अग्निहोत्र करे”, “जीवनपर्यन्त दशं और पूर्णमास याग करे”, “यहाँ कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे”, “यह अग्निहोत्र जग-मरण पर्यन्त अनुष्ठेय है” इत्यादि शास्त्रवाक्य एकाश्रमी यानी जीवनभर गृहस्थाश्रमी रहने को बतलाते हैं । अन्य शास्त्र-वाक्य आश्रमान्तर अर्थात् सन्यासाश्रम का विधान करने वाले भी हैं । जैसे “उमं जानकर एवणाश्रय मे ऊपर उठकर सन्यास ग्रहण करे”, “यदि वैराग्य प्रवल हो तो ब्रह्मचर्याश्रम मे मी ! ही सन्यास ग्रहण करे अथवा गृहस्थाश्रम मे वा वानप्रस्थ मे सन्यास ग्रहण करे”, “आश्रम दो ही मार्गों को बार-बार प्रतिपादन करता है—कर्ममार्ग और संन्यासमार्ग; उनमे सन्यासमार्ग को ही उत्कृष्ट कहा

१. जरामयं—जरामरणपर्यन्तमनुष्ठेयम् । सत्र—यज्ञ । २. वृ उ ३ ५ १ । ३. वृ उ ४ ५. २२ ।
४. जानाते चतुर्विंशष्टे । ५. सति वैराग्ये सन्यासे विदोषमाह—यदि चेति । ६. गौतममृति-तृतीयाध्यायावसाने । ७. ऐकाश्रम्यवाक्यप्रदर्शनमात्रेण । ८. वृ उ ४ ५. २२ । ९. उत्कृष्ट-प्रदर्शनपराम् ।

पुरस्तात्संन्यासश्च तयोः संन्यास एवा'तिरेचयति" इति "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" इत्यादीनि । तथा स्मृतयश्च "ब्रह्मचर्यवान्प्रजति" "अवि-
शीर्णब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तमावसेत्" "तस्याऽऽश्रमत्रयल्पमेके ऋयते" तथा—

"वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्रपौत्रानिच्छेत्पावनार्थं पितृणाम् ।
अग्नीनाथाय विधिवच्चेष्टयज्ञो वनं प्रविश्याय मुनिर्बुभूषेत्" ।

"प्राजापत्यां निरुप्येष्टि सर्ववेदसदक्षिणाम् ।

आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रज्जेद्गृहात्" इत्याद्याः ॥

एवं व्युत्थानविकल्पक्रमपथेष्टाश्रमप्रतिपत्तिप्रतिपादकानि हि श्रुतिस्मृतिवाक्यानि
शतश उपलभ्यन्तइतरेतरविरुद्धानि । आचारश्च तद्विदाम् । विप्रतिपत्तिश्च शास्त्रार्थ-

पुनरुक्तावित्यर्थः । ज्ञानद्वारा संन्यासस्य भोक्तृपापत्वे श्रुत्यन्तरमाह—न कर्मणेति । "तानि वा एता-
न्यवराणि तपासि न्यास एवात्यरेचयत्" इत्यादिवाक्यमादिशब्दाथः । यथा श्रुतयस्तथा स्मृतयो-
ऽप्याकुला दृश्यन्त इत्याह—तथेति । तत्राक्रमसंन्यासे स्मृतिमादाबुदाहरति—ब्रह्मचर्यवानिति । यथे-
ष्टाश्रमप्रतिपत्तौ प्रमाणभूतां स्मृतिं दर्शयति—अविशीर्णति । आश्रमविहरणविविधं स्मृतिं पठति
—तस्येति । ब्रह्मचारी यच्छर्च्यः । क्रमसंन्यासे प्रमाणमाह—तथेति । तत्रैव वाक्यान्तरं पठति—प्राजा-
पत्यामिति । सर्ववेदस सर्वैव दक्षिणा यस्या तां निर्वर्त्येत्यर्थः । आदिपदेन 'गुण्डा' निस्तन्त्ववश्चेत्यादि-
वाक्यं गृह्यते । इत्याद्याः स्मृतयश्चेति सूत्रेण सवन्धः ।

व्याकुलानि वाक्यानि दर्शितान्युपसहरति—एवमिति । इतश्च कर्तव्यो विचार इत्याह—आचार-
श्चेति । श्रुतिस्मृतिविदाचारश्च विरुद्धो लक्ष्यते । केचिद्ब्रह्मचर्यादेव प्रयजन्ति । अपरे तु तत्परि-
समाप्तं गार्हस्थ्यमेवाऽऽवरन्ति । अन्ये तु चतुरोऽप्याश्रमान्क्रमेणाऽऽव्यन्ते तथाच विना विचारं
निर्णयान्तिद्विरित्यर्थः । इतश्चास्ति विचारस्य कार्यतेत्याह—विप्रतिपत्तिश्चेति । यद्यपि श्रुतिवद-

जाता है । "कर्म, प्रजा या धन मे अमृतत्वप्राप्ति की है, केवल त्याग मे ही की है" । इसी प्रकार
स्मृतिर्वा भी कहती है—"ब्रह्मचर्य से युक्त संन्यासी होता है", "अशोणवीर्यं ब्रह्मचारी जहाँ चाहे, उसी
आश्रम मे रहे, "कोई-कोई उसके लिए आश्रम वा विकल्प ब्रह्मा करते है" तथा "ब्रह्मचर्य व्रत से
वेदो वा अव्ययन कर, पितृगण को पवित्र करने वे लिए फिर पुत्र पौत्रो की इच्छा करे और विधि-
पूर्वक अग्नि वा आवा कर यज्ञानुष्ठान कर यानप्रस्थी होकर फिर संन्यासी होने की इच्छा करे"
"सर्वैव दक्षिणा मे दिए जाने वाले प्राजापत्य यज्ञ को करके अग्नियो को आत्मा मे आरोपण करके
ब्रह्मवेत्ता को गृहस्थाश्रम छोड़ कर संन्यासी हो जाना चाहिये" इत्यादि ।

इस प्रकार संन्यास के विकल्प ब्रम और यथेष्ट आश्रमो को ग्रहण करने का प्रतिपादन करने
वाले परस्पर विरुद्ध संकेतो श्रुति-स्मृति वाक्य उपलब्ध होते है । उनके जानने वालो के आचार भी

१ उच्यते । २ गौ स्मृ नृ य उपक्रमे । ३ प्राजापत्यामिति—यजुर्वेदीयोपाख्यानप्रन्योक्ता
सर्वैवदक्षिणा प्राजापतिदेवतायां तदसंबिधिनैव श्रौतानग्नीन् अस्मपानादिनाऽऽमनि समारोप्य गृहादित्य-
भिधानाद्ब्रह्मचर्यं अस्ममनुष्ठायैव चतुर्थाश्रममनुतिष्ठेरित्यर्थः । ४ तानि वेति—चाग्नेयणादीनीत्यर्थः । नारा-
यणानिपदि ७ ८ खण्डे । प्रवराणि निकृत्तानि । ५ नि गित्वा । ६ नि मूनाश्च ।

प्रतिपत्सुं बहुविदामपि । यतो न शक्यते शास्त्रार्थो मन्दबुद्धिर्भिविकेन प्रतिपत्सुम् ।
 'परिनिष्ठितशास्त्रन्यायबुद्धिभिरेव ह्येषा वाक्याना विषयविभागः' शक्यतेऽवधारयितुम् ।
 'तस्मादेवा विषयविभागज्ञापनाय यथाबुद्धिसामर्थ्यं विचारयिष्यामः । यावज्जीवश्रुत्यादि-
 वाक्यानामन्यार्थासम्भवात्क्रियावसान एव वेदार्थः । त यज्ञपार्त्रेर्दहनतीत्यन्त्यकर्मश्रवणा-
 ज्जरामर्यंश्रवणाच्च लिङ्गाच्च भस्मान्तं शरीरमिति । न हि पारिव्राज्यपक्षे भस्मान्तता
 शरीरस्य स्यात् । स्मृतेश्च—

“निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।

तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्पचित्” इति ॥

शास्त्रार्थप्रतिपत्तारो जमिनिप्रवृत्तयस्तथाऽपि तेषा विप्रतिपत्तिरूपत्वमेवेति चेद्वर्धरेतस आश्रमा तन्तो-
 त्याहुर्न सन्तीत्यपरे तत्कुतो विधाराहुते निश्चयसिद्धिरित्यर्थः । अथ केपाचिदन्तरेणापि विचार शालार्थो
 विवेकेन प्रतिभास्यति तत्राऽऽह—अत इति । श्रुतिस्मृत्याचारविप्रतिपत्तेरिति यावत् । कंस्तर्हि शास्त्रार्थो
 विवेकेन ज्ञातुं शक्यते तत्राऽऽह—परिनिष्ठितेति । नानाश्रुतिदर्शनादिवशादुपपादित विचारारम्भमुप-
 सहरति—तस्मादिति । विचारकतंयताभुवत्वा पूर्वपक्ष गृह्णाति—यावदित्यादिना । श्रुत्यादीत्यादि-
 शब्देन कुर्यंश्रित्यादिमन्त्रवादी गृह्णाते एकाश्रम्ये हेत्वन्तरमाह—तमिति । एतदं जरामर्यं सत्र यदग्नि-
 होत्रमिति श्रुतेश्च पारिव्राज्यासिद्धिरित्याह—जरेति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—लिङ्गाच्चेति । पारिव्राज्य-
 पक्षेऽपि तदुपपत्तिमाशङ्क्याऽऽह—न हीति । इतश्च नास्ति पारिव्राज्यमित्याह—स्मृतेश्चेति । तस्या-

भिन्न-भिन्न है । उन शास्त्र के तात्पर्य जानने वालों के बहुज्ञ होने पर भी उनमें परस्पर मतभेद है ।
 इसलिए मन्दबुद्धि पुरुषों के द्वारा शास्त्र के तात्पर्य की ठीक प्रकार समझना संभव नहीं है । जिनकी
 बुद्धि शास्त्र और तर्क में निष्णात है वही इन परस्पर विरुद्ध श्रुति-स्मृति वाक्यों का विषयविभाग-
 पूर्वक निर्णय कर सकते हैं । इसलिये इनके विषय को बतलाने के लिये हम अपनी बुद्धि-सामर्थ्य के
 अनुसार विचार करेंगे । (इस पर पूर्ववादी शङ्का बरता है—) जीवनपर्यन्त अग्निहोत्रादि कर्म करें'
 इत्यादि श्रुतिवाक्यों का कोई दूसरा अर्थ न हो सकने से वेद का तात्पर्यार्थ कर्म में ही पर्यवसित
 होता है । “उक्त अग्निहोत्री कर्म अज्ञपानो सहित दाहसस्कार करते हैं इस प्रकार अग्निहोत्री का
 कर्म श्रवण होने से “जरामरणपर्यन्त अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहिये इस प्रकार श्रवण होने
 से शरीरभस्मान्त है इस प्रकार ज्ञापक लिङ्ग होने से भी यही बात ज्ञान होती है । मन्यास पक्ष में तो
 शरीर की भस्मान्तता स्वीकार ही नहीं की जाती । स्मृति में इसी का समर्थन किया गया है—

“गर्भाधान से अत्येष्टि क्रिया पर्यन्त जिसके सभी (अद्यतालीम) सम्कारों का विधान मन्त्रों
 द्वारा बतलाया गया है, इसी का इस वेद में अधिकार जानना चाहिए, अन्य किसी का नहीं” इत्यादि ।

- १ निष्णात । २ तस्मात्— विचार विना यदाक्तवाक्याना विषयविभागयावधारयितमन्त्रव्यवहारित्यर्थः ।
- ३ क्रियावसान एव—क्रियानतिरिक्त एव क्रियागुष्ठानमवति यावत् । न तु तस्याग इत्यपकारार्थं । यदा
 क्रियायां क्रियार्थं वाऽवसान यस्वति श्रुत्यस्या गाहृष्यमवत्त्यर्थः । ४ पुस । ५ विधि—विधीयत इति
 श्रुत्यस्या अष्टावत्वारिष्यत् सस्कारा । सस्कार कर्मति यावत् । ६ वेदे । ७ पारिव्राज्य मान-
 हायम् ।

समन्त्रकं हि 'यत्कर्म वेदेनेह' विधीयते 'तस्य इमशानान्ततां दर्शयति स्मृतिः ।
'अधिकाराभावप्रदर्शनाच्चात्पन्तमेव श्रुत्यधिकाराभावोऽकर्मणो गम्यते । 'अग्न्युद्वासानाप-
वादान् "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" इति ।

ननु व्युत्थानादिविधानाद्वैकल्पिकं क्रियावसानत्वं वेदार्थस्य । न, 'अन्यायंत्वाद्-
व्युत्थानादिविश्रुतीनाम् । "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां
यजेत्" इत्येवमादीनां श्रुतीनां जीवनमात्रनिमित्तत्वाद्यदा न शक्यतेऽन्यार्थता कल्पयितुं
तदा व्युत्थानादिविधानानां कर्मनिधिकृतविषयत्वसंभवात् । "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजी-
विषेच्छतं समाः" इति मन्त्रवर्णात्तैत्तद्वै जरामयं सूत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मा-

स्तात्पर्यमाह—समन्त्रकं हीति । नान्यस्य कस्यचिदित्यत्र सूचितमर्थं वाचयति—अधिकारेति । गृहस्यस्य
पारिशाज्याभावे हेत्वन्तरमाह—अग्नीति ।

पूर्वपक्षमाक्षिपति—नन्विति । उभयविधिदर्शने षोडशीग्रहणाग्रहणवदधिकारिभेदेन विकल्पो
युक्तो न तु क्रियावसान एव वेदार्थ इति पक्षपाते निबन्धनमन्तोत्तर्यः । तुल्यविधिद्वयदर्शने हि विकल्पो
भवत्यत्र तु सावकाशानवकाशत्वेनातुल्यत्वान्नेधमित्याह—नान्यार्थत्वादिति । तदेव स्फुटयति— याव-
ज्जीवमित्यादिना । कर्मनिधिकृतविषयत्वात्तत्र वैकल्पिकमिति' सवन्धः । क्रियावसानस्य वेदार्थस्येति
शेषः । 'तत्रैव हेत्वन्तराण्यह—कुर्वन्प्रत्यादिना । न वैकल्पिकमित्यत्र "पूर्ववदन्वयः । व्युत्थानादि-

यहाँ वेद ने जिसके लिये मन्त्रसहित कर्म का विधान किया है, उस अधिकारी का कर्म
इमशान पर्यन्त होता है—ऐसा श्रुति वतला रही है । अधिकार का अभाव प्रदर्शित करने से
, अर्कर्मों का श्रुति में अधिकार नहीं है—ऐसा जाना जाता है । "जो अग्नि का उच्छेद करता है; वह
, वह देवताओं के द्वारा हनन किया जाता है, इस प्रकार अग्नि-परित्याग के निषेध करने पर भी यही
सिद्ध होता है ।

(सिद्धान्ती कहता है—) किन्तु हमारे मत में तो सन्यासादि का विधान वैकल्पिक होने के
कारण वेदार्थ का क्रिया में पर्यवसान होना वैकल्पिक है । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसा कहना
ठीक नहीं है क्योंकि सन्यासादि श्रुतियों का तात्पर्य कर्माधिकार-विषयत्व नहीं है । क्योंकि "जीवन-
पर्यन्त अग्निहोत्र कर्म करे", "जीवनपर्यन्त दर्श और पूर्णमास से याग करे" इत्यादि श्रुतियाँ जीवन-
मात्र वर्मनिमित्तत्व होने से, जब अन्यायता की कल्पना ही नहीं की जा सकती, तब सन्यासादि-
वाक्यों का कर्म के अनधिकारियों के विषय में विकल्प संभव है । "यहाँ कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष
जीने की इच्छा करे" इस श्रुति से तथा "यह अग्निहोत्र सत्र जरा-मरणपर्यन्त अनुष्ठेय है; इस कर्म

- १ यद्वा—यस्य कर्म यत्कर्मिति समस्त तथा च तस्यैत्यस्य कर्मिण इत्यर्थः । इहगच्छदून्यत्र पाठो ग्राह्यः ।
- २ इह—अधिकारिणि । ३ तस्य कर्मण इत्याहु । ४ अधिकाराभावेत्यादि—कर्महीनस्य श्रुत्यधिकारा-
भावेन श्रौतज्ञानेऽधिकाराभावादूर्ध्वरिस्त कर्मत्वञ्चो ज्ञानार्थं पारिशाज्यमिति भावः । ५ अग्निपरित्याग-
निषेधात् । ६ इन्द्रहन्ता स हि देवानां मध्ये वीरः । ७ कर्मनिधिकृतविषयत्वादिति यावत् । ८
कर्मण सकृदात् । ९ उत्तरत्र । १० धवैकल्पिकत्व एव । ११ पूर्ववदन्वय इति—क्रियावसानस्य
वेदार्थस्येति शेषेणान्वय इत्यर्थः ।

न्मुच्यते मृत्युना वेति च जरामृत्युभ्यामन्यत्र कर्मवियोगच्छिद्रासंभवात्कर्मिणां 'इमशानान्तत्वं न वैकल्पिकम् । काणकुब्जादयोऽपि कर्मण्यनधिकृता अनुग्राह्या एव श्रुत्येति' वृत्त्यानाद्याश्रमान्तरविधानं नानुपपन्नम् ।

पारिव्राज्यक्रमविधानस्यानवकाशत्वमिति चेत् । न । विश्वजित्सर्वमेघयोर्पावज्जीवविषयपवादत्वात् । यावज्जीवाग्निहोत्रादिविधेर्विश्वजित्सर्वमेघयोरेवापवादस्तत्र च क्रमप्रतिपत्तिसंभवो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेदिति । विरोधानुपपत्तेः । न ह्येवविषयत्वे पारिव्राज्यक्रमविधानवाक्यस्य कश्चिद्विरोधः क्रमप्रतिपत्तेः । अन्यविषयत्वपरिकल्पनायां तु यावज्जीवविधानश्रुतिः स्वविषयात्संकोचिता स्यात् ।

वाक्यानां क्रममनधिकृतविषयत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—कार्णेति ।

अनधिकृतविषयत्व तेषामशक्यं वस्तु ब्रह्मचर्यं समाप्येत्यादावधिकृतविषये क्रमदर्शनादिति शङ्कते—पारिव्राज्येति । गत्यन्तर दर्शयन्नुत्तरमाह—न विश्वजिदिति । यावज्जीवमग्निहोत्र जुहोतीत्युत्सर्गस्तस्यापवादो विश्वजित्सर्वमेघो त्वनुष्ठाने सर्वस्वदानादेव साधनसपट्विरहात्पारिव्राज्यस्यावश्यभावात्त्वाद'तस्तद्विषय क्रमविधानमित्यर्थः । तदेव स्फुटमिति—यावज्जीवेति । कथं क्रमविधेरेवविषयत्वं कल्पकाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—विरोधानुपपत्तरिति । गृहस्थतरयापि विरक्तस्य पारिव्राज्यमिति किमिति क्रमविषयो नेष्यते तत्राऽऽह—अन्यविषयेति । क्रमविधेरपि स्वत्वश्लेषे 'सकोचः स्वादि-

से जरा से मुक्त हो जाता है, मरण से मुक्त हो जाता है" इस प्रकार जरा और मरण के सिवा अन्यत्र कर्म का वियोग और अक्षर संभव नहीं होने से कर्मियों के जीवनपर्यन्त होता वैकल्पिक नहीं है । कर्म के लिए अनधिकृत अन्ये और कूबडे लोगों पर अनुग्रह करने के लिए श्रुति तद्विषयत्व रूप से सन्यासादि आश्रमान्तर का विधान करती है, यह कहना असंगत नहीं है ।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) इससे तो सन्यास तक के आश्रमों के क्रमविधान का भी अवकाश नहीं होगा । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि विश्वजित् और सर्वमेघ यज्ञों में 'जीवनपर्यन्त अनुष्ठान करने का' अपवाद है । जीवनपर्यन्त अग्निहोत्रानुष्ठान की जो विधि है, उसका सर्वमेघ और विश्वजित् याग के अनुष्ठान में ही अपवाद है इसलिए वहाँ "ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण कर गृहस्थ धर्म स्वीकार करे, उसके बाद वानप्रस्थी होकर सन्यास ग्रहण कर ले" आश्रमों की क्रमशः प्राप्ति संभव है । इस प्रकार उन वाक्यों में कोई विरोध मिद्ध नहीं हो सकता । सन्यास क्रमविधानवाक्य का ऐसा विषय स्वीकार करने पर क्रमशः आश्रम प्राप्ति में कोई विरोध नहीं आता ।

- १ अक्षरसंभवात् । २ इमशानान्तरत्वमिति—इतीति शेष इति हेतोरित्यर्थः । न वैकल्पिकमप्यत्र हेतुरयम् । एतद्द्वारा छिद्रासंभवोऽपि पूर्वोक्तस्तत्र हेतु तद्द्वारा च पूर्वोक्तवाक्यद्वयामरु हेतुद्वयमपि तत्रैवेत्येवमिति तत्रैव हेत्वन्तराध्याहेति बहुवचनमवतरणं सगच्छत इति चित्येकवचनघटितमवावतरणमवतीर्यत । तत्र त्वाज्ज्वमेवेति विभ्रवनीयम् । ३ तद्विषयत्वेन । ४ विषये । ५ विश्वजिदाद्यनुष्ठानेति । ६ अपवादो विश्वजित्सर्वमेघाविति—अन्यकत्वमपवादत्वात्त्वयि तथा वैकापवाद-वचनो विश्वजित्सर्वमेघाविति कोचः । ७ विश्वजित्सर्वमेघानुष्ठानविषयम् । ८ विश्वजिदनुष्ठानविषयत्वम् । ९ विश्वजिदादिकृतुं पात्रविषयत्वेन मकोचः ।

क्रमप्रतिपत्तेस्तु विश्वजित्सर्वमेध'विषयत्वात् फञ्चिद्विरोधः । नाऽऽत्मज्ञानस्यामृतत्व-
हेतुत्वाम्बुपगमात् ।

यत्तावदात्मैत्येवोपासीतेत्यारभ्य 'स एष नेति नेत्येतदन्तेन धन्येन यदुपसंहृत-
मात्मज्ञानं तदमृतत्वसाधनमित्यम्बुपगतं भवता । 'तत्रैतावदेवामृतत्वसाधनं मन्थनिरपेक्ष-
मित्येतन्न मृप्यते । तन्न भवन्तं पृच्छामि किमर्थमात्मज्ञानं मयंप्रति भवानिति । शृणु तत्र
कारणं यथा स्वर्गकामस्य स्वर्गप्राप्त्युपायमज्ञानतोऽग्निहोत्रादि स्वर्गप्राप्तिसाधनं ज्ञापयति

त्याशङ्क्याऽऽह—क्रमप्रतिपत्तेस्त्विति । सति ज्ञाने कर्मत्यागो निषिध्यते सत्यां वा जिज्ञासायामिति
विकल्प्याऽऽद्य दूषयति सिद्धान्ती—नाऽऽत्मज्ञानस्येति ।

विद्वत्संन्यासस्यावश्यंभादित्वात् कर्मावसान एव वेदायं इति संगृहीतं चतुर्विधं विद्युर्गति—यत्ता-
वदिति । विद्यासुत्राचारस्य निषेधवाच्यत्वेन ग्रन्थेन यदात्मज्ञानमुपसंहृतं तदाहेतुक्तिसाधनमिति
भवत्ताऽपि यस्मादम्बुपगतं 'पराङ्म' चाऽऽत्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधारणादिति न्यायात्समाज्ज्ञाने सति
कर्मनिष्ठानं निरवकाशमित्यर्थं । अयाऽऽत्मज्ञानं कर्मसहितममृतत्वसाधनमित्येते न केवलं तथाच
ज्ञानोत्तरकालमपि न कर्मत्यागमिदिरिति शङ्कते—तत्रेति । आत्मज्ञानस्यामृतत्वसाधनस्ये मत्यपीति
यावत् । कर्मनिरपेक्षत्वं चेदात्मज्ञानस्य भवात् सहेते किमिति तर्हि ज्ञानमेवोपगतमिति सिद्धान्ती
पृच्छति—तत्रेति । तस्य कर्मनिरपेक्षत्वात्कारे सतीत्यर्थः । 'तत्र पूर्ववादी शास्त्रीयस्यादात्मज्ञान-
ममृतत्वसाधनमम्बुपगतमिति शङ्कते—शृण्विति । ज्ञापयति वेद इति शेषः । शास्त्रानुसारेणाऽऽत्मज्ञाना-

उसको अन्यविषयत्व कल्पना करने पर जीवनपर्यन्त कर्मानुष्ठान का विधान करने वाली श्रुति का
स्वकर्तृत्व मात्र विषय में सकोच कर देना पड़ेगा । क्रम-प्रतिपत्ति का विषय तो विश्वजित् और
सर्वमेध ही है, इसलिए उसका कोई वाध नहीं होता । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना
ठीक नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान को अमृतत्व का हेतु स्वीकृत किया गया है ।

'आत्मा की ही उपासना करे' इस श्रुति से लेकर "वह आत्मा नेति-नेति" इस प्रकार
निर्विकल्प है इस श्रुति पर्यन्त अमृतत्व साधन जिस आत्मज्ञान का उपसहार किया गया है, वह
आपको स्वीकृत है । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु वहाँ "अन्य कर्मनिरपेक्ष केवल आत्मज्ञान
ही अमृतत्व का साधन है" ऐसा कथन हमें इष्ट नहीं है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) किन्तु
मैं आप से पूछता हूँ कि आप आत्मज्ञान को ही किस लिए स्वीकार कर लेते हैं । (इस पर पूर्ववादी

१ तत्कर्तृमात्रविषयत्वात्—एतावानेवास्व विषयोऽम्बुपगम्यत इति भावः । २ वृ उ १ ५ ७ । ३
वृ उ ५ ५ १५ । ४ केवलमात्मज्ञानम् । ५ अन्वयति—कर्मत्यर्थः । पूर्वोक्तस्मैवतद् व्यावर्त्येति
ष्येयम् । ६ पराङ्गमिवादे—'सर्वत्रैव हि विज्ञानं सत्कारत्वेन गम्यते' इति पूर्वार्थम् । इदं च जं सू
१ ३ २५ । इति व्याकरणविचारणपरपर्यन्ते सत्त्वैवाधुत्वाधिकरणे सत्त्ववार्तिके स्थितं तथा च सूत्रं 'ना-
स्तत्त्वविषयत्वादि'ति । शास्त्रसाधुत्वज्ञानस्य सत्कारत्वं पारापर्यं चोपपादयितुमाह—सर्वत्रैव हीति । यस्मा-
त्सर्वत्रैवाप्यविशेषादो सार्थं विज्ञानमाग्न्याविशेषादिभ्यः सत्कारत्वेन पराङ्गत्वेन च गम्यतेऽवगम्यते तस्मात्सद्वि-
ज्ञानमपि तथैवैव । पुष्कार्थं स्यात्साधनस्य पराङ्गत्वाभावादाह—मात्मविज्ञानादन्यत्रेति । इत्यवधारणात्—
सत्कारत्वरपर्यन्तनिर्णयदिति वानिकार्यं । ७ एव वृष्टे सति ।

तथेहाप्यमृतत्वप्रतिपित्तोरमृतत्वप्राप्त्युपायमजानतो यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूही-
त्येवमाकाङ्क्षितममृतत्वसाधनमेतावदर इत्येवमादौ वेदेन ज्ञाप्यत इति । एवं तर्हि यथा
ज्ञापितमग्निहोत्रादि स्वर्गसाधनमभ्युपगम्यते तथेहाप्यात्मज्ञानम् । यथा-ज्ञाप्यते तथा-
भूतमेवामृतत्वसाधनमात्मज्ञानमभ्युपगन्तुं युक्तम् ।- तुल्यप्रामाण्यादुभयत्र ।

यद्येव किं स्यात् । सर्वकर्महेतुपमर्दकत्वादात्मज्ञानस्य विद्योद्भवे कर्मनिवृत्तिः
स्यात् । दाराग्निसंबद्धानां तावदग्निहोत्रादिकर्मणा भेदबुद्धिविषयसंप्रदानकारकसाध्यत्वम् ।
'अन्यबुद्धिपरिच्छेदा ह्यग्न्यादिवेदता संप्रदानकारकभूतामन्तरेण न हि 'तत्कर्म निर्वर्त्यते ।
यथा हि संप्रदानकारकबुद्ध्या संप्रदानकारकं कर्मसाधनत्वेनोपदिश्यते सेह विद्यया निवर्त्यते

ज्ञीकारे कर्मनिरपेक्षमेवाऽऽत्मज्ञान मोक्षसाधन सेत्स्यतीति परिहरति—एव तर्हीति । उभयत्र ज्ञाने
कर्मणि चेत्यर्थः । यद्वा ज्ञानस्यामृतत्वसाधनत्वे तस्य कर्मनिरपेक्ष वे चेत्यर्थं । तुल्यप्रामाण्यात्प्रामा-
ण्यस्य तुल्यत्वाद्देवस्येति शेष ।

। यथाशास्त्रे ज्ञानाभ्युपगमेऽपि कथं 'तत्केवल' केवल्यकरणमिति पृच्छति—यद्येवमिति ।
शास्त्रानुसारेण ज्ञानमभ्युपगच्छत्ये प्रत्याह—तत्कर्मैति । आत्मज्ञानस्य तदुपमर्दकत्व दर्शयितुं कर्महेतु
तावददर्शयति—दाराणीति । अग्निहोत्रादीनां संप्रदानकारकसाध्यत्व व्यतिरेकद्वारा साधयति
—अन्येति । 'तथाऽपि कथमात्मज्ञानस्य कर्महेतुपमर्दकत्वमित्याशङ्क्याऽह—यथा हीति । इहेति

कहता है—) इसका कारण सुने । जिस प्रकार स्वर्गप्राप्ति के उपाय को न जानने वाले स्वर्गकामी
पुरुष को श्रुति बतलाती है कि अग्निहोत्रादिकर्म स्वर्गप्राप्ति के साधन हैं, उसी प्रकार यहाँ अमृतत्व-
प्राप्ति का साधन न जानने वाले, अमृतत्वप्राप्ति के इच्छक को श्रुति के द्वारा "अग्नी मंत्रेयी" इतना
मात्र ही अमृतत्व का साधन है", "हे भगवान्श्री ! अमृतत्व साधन के विषय में जो कुछ ध्याप
जानते हैं, वह मेरे प्रति कहिये" इत्यादि प्रकार से आकाङ्क्षित अमृतत्व के साधन का ज्ञान कराया
जाता है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसे मानने पर तो, जैसे श्रुति द्वारा उपदिष्ट अग्निहोत्रादि
स्वर्ग के साधन माने जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ आत्मज्ञान को भी स्वीकार करो, जिस तरह ज्ञान
कराया जाता है, उसी प्रकार ही आत्मज्ञान को अमृतत्व का साधन मानना ठीक है क्योंकि श्रुति का
प्रामाण्य दोनों तरह के वाक्यों के लिए समान है ।

(पूर्ववादी कहता है—) ऐसा मानने से क्या हो जायगा । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—)
आत्मज्ञान सभी कर्मों के (संप्रदानादि कारकभेद) हेतुओं का निवर्तक है, इसलिए ज्ञान वे उत्पन्न होने
पर कर्मों की निवृत्ति हो जायगी । भार्या और अग्नि में सबद्ध जो अग्निहोत्रादि कर्म हैं, वे भेदबुद्धि
के विषय एव संप्रदान कारक द्वारा साध्य हैं । भेदबुद्धिविषयभूत एव संप्रदानकारकभूत अग्नि आदि
देवता के बिना वह अग्निहोत्रादि कर्म संपन्न नहीं हो सकता । एव जिस संप्रदानकारक-बुद्धि से
संप्रदान कारक कर्मसाधन रूप से उपदेश किया जाता है, वह इस विद्या दशा में विद्या से निवृत्त

“अग्न्योऽसावग्न्योऽहमस्मीति न स वेद” “देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद”
 “मृत्योः स मृत्युमान्नोति य इह नानेव पश्यति” “एकध्वानुद्रष्टव्यं” “सर्वमात्मानं
 पश्यति” इत्यादिश्रुतिभ्यः । न च देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वं व्यवस्थितात्मवस्तुविषय-
 त्वादात्मज्ञानस्य । क्रियायास्तु पुरुषतन्त्रत्वात्स्याद्देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वम् । ज्ञानं तु
 वस्तुतन्त्रत्वान्न देशकालनिमित्ताद्यपेक्षते । यथाऽग्निरूपेण आकाशोऽमूर्तं इति तथाऽऽत्म-
 विज्ञानमपि ।

नन्वेवं सति प्रमाणनूतस्य कर्मविधेर्निरोधः स्यात् । न च तत्प्रमाणयोरितरेतर-

विद्यादशोक्तिः । विद्यायाः श्रुतिजन्यत्वेन बलवत्त्वं दर्शयति—अग्न्योऽसावित्यादिना । ननु शुची देशे
 दिवसादौ काले शास्त्राचार्यादिवशाद्बुद्धं ज्ञानं पुमर्थसाधनम् ‘शुची देशे प्रतिष्ठाप्य’ इत्यादिस्मृते-
 रस्तथाच “कथं तस्य भेदबुद्धेः समवेकत्वमत आह—न चेति । “द्वंश्रंकाप्रता तत्राविशेषादिति न्यायाज्ञान-
 साधनस्य समाधेरपि न देशाद्यपेक्षा दूरतस्तु कूटस्थवस्तुतन्त्रस्य ज्ञानस्येति भावः । “विमतं देशाद्य-
 पेक्षं शास्त्रार्थत्वाद्धर्मवदित्याशङ्क्य पुरुषतन्त्रत्वमुपाधिर्नित्याह—क्रियायास्त्विति । “साधनध्यातिं ब्रूष-
 यति—ज्ञानं त्विति । विमतं न देशाद्यपेक्षं प्रमाणत्वादुष्णामिज्ञानवदिति “प्रत्यनुमानमाह—यथेति ।
 आत्मज्ञानस्य सर्वकर्महेतूपमर्दकत्वे दोषमाशङ्कते—नन्विति । इष्टापत्तिमाशङ्क्याऽऽह—न
 चेति । कर्मकाण्डेन “काण्डान्तरस्यापि निरोपसंभवादित्यर्थः । साक्षादात्मज्ञानं कर्मविधिनिरोध्य-

हो जाता है, “जो ऐसा मानता है—वह अन्य है, मैं अन्य हूँ वह नहीं जानता” “उस अर्थार्थदर्शी
 को देवता ‘यह मुझे अनात्मस्वरूप से देखता है’ इस अपराध से केवल्य पद से असवद्ध कर देते हैं”,
 “जो यहाँ मिथ्याभूत नानावस्तु सत्यात्मक भाव से देखता है, वह मरण से मरण को प्राप्त होता है”,
 उम आत्मा को एक ही विज्ञानधन, एकरस प्रकार से देखना चाहिये”, “आत्मा से व्यतिरिक्त वालाप्र
 मात्र भी नहीं है, इसलिए सब कुछ आत्मा ही देखता है” इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण है । आत्मज्ञान
 का विषय इतरनिरपेक्ष, कूटस्थ, आत्म वस्तु है, इसलिये उसे देश, काल और निमित्तादि की अपेक्षा
 नहीं है । क्रिया के पुरुषाधीन होने के कारण उसकी देश, काल व निमित्तादि की अपेक्षा है, किन्तु
 ज्ञान के वस्तुतन्त्र होने से देश, काल और निमित्त आदि की अपेक्षा नहीं रहता । जिस प्रकार “अग्नि
 उष्ण है और आकाश अमूर्त है” इसके ज्ञान को देश-कालादि की अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार आत्मज्ञान
 भी निरपेक्ष है ।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु ऐसा होने पर तो प्रमाणभूत कर्मविधि का वाद्य
 हो जायगा । श्रुति समर्थित समान प्रमाणों में एक दूसरे का बाध करना उचित नहीं है । (इस पर

१. वृ. उ. १. ५. १० । २. वृ. उ. २. ५. ६ । ३. वृ. उ. ५. ५. ७ । ४. वृ. उ. ५. ५. १६ ।
 ५. वृ. उ. ५. ५. २० । ६. वृ. उ. ५. ५. २३ । ७. इतरनिरपेक्षकूटस्थतात्मवस्तुविषयत्वादिति । ८.
 बाधः । ९. तथा च—ज्ञानस्य देशादिभेदमापेक्षते च । १०. कथमित्यादि—उपजीव्यविरोधादिति
 भावः । ११. यत्रैकाग्रतेत्यादि—व मू. ५. १. ११ । यत्र दिशि देशे काले वा चित्तस्यैकाग्रता प्रत्ययप्रवाहो-
 न्मुख्यं तत्रैकत्वमीति दिगादिबिधेःसाध्याप्रमाणम् । यथा—उपासने (तदर्थं) इष्टाया एकाग्रतायाः सर्वत्राविशेषा-
 दित्यर्थः । १२. आत्मज्ञानम् । १३. उपास्ये, साधनव्यापकत्वम् । १४. सत्प्रतिपक्षताम् । १५. ज्ञान-
 बाधस्य ।

निरोधो युक्तः । न । स्वाभाविकभेदबुद्धिमात्रनिरोधकत्वात् । न हि विध्यन्तरनिरोध-
कमात्मज्ञानं स्वाभाविकभेदबुद्धिमात्रं निरुणद्धि । तथाऽपि 'हेत्वपहारात्कर्मनुपपत्ते-
विधिनिरोध एव स्यादिति चेत् । न । कामप्रतिषेधात्काम्यप्रवृत्तिनिरोधवददोषात् । यथा
स्वर्गकामो यजेतेति' स्वर्गसाधने यागे प्रवृत्तस्य कामप्रतिषेधविधेः कामे विहृते काम्ययागा-
नुष्ठानप्रवृत्तिनिरुध्यते । न चेतावता काम्यविधिर्निरुद्धो भवति ।

कामप्रतिषेधविधिना 'काम्यविधेरनर्थकत्वज्ञानात्प्रवृत्त्यनुपपत्तिर्निरुद्ध एव स्यादिति
चेत् । भवत्वेवं कर्मविधिनिरोधोऽपि । यथा कामप्रतिषेधे काम्यविधेरेवम् । अननुष्ठेयत्वे-

यद्विति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—नेत्यादिना । तदेव स्फुटयति—न हि विध्यन्तरिति । द्वितीयं
शङ्कते—तथाऽपीति । यथा न कामो स्यादिति निषेधात्कस्यचित्कामप्रवृत्तिर्न भवतीत्येतदवतान
सर्वान्प्रति काम्यविधिर्निरुध्यते तथा कस्यचिदात्मज्ञानात्कर्मविधिनिरोधोऽपि न सर्वान्प्रत्यसौ निरुद्धो
भविष्यतीति परिहरति—न कामेति । हृष्टान्तमेव स्पष्टयति—यथेत्यादिना । प्रतिषेधशास्त्रार्थनिर्भर्जं
प्रति 'तदुपपत्तेरिति भावः ।

अभिप्रायमविद्वानाशङ्कते—कामप्रतिषेधविधिनेति । 'अनर्थकत्वज्ञानात्कामस्येति शेषः । प्रवृ-
त्त्यनुपपत्तेः कान्येषु कर्मस्त्विति द्रष्टव्यम् । निरुद्धः स्यात्काम्यविधिरत्यघ्याहृतव्यम् । गुडाभिसंधिः
सिद्धान्तो ब्रूते—भवत्विति । पुनरभिप्रायमप्रतिषेधमानश्रोदयति—एवमिति । ज्ञानेन कर्मविधिनिरोधे
सतीति यावत् । 'तत्प्रामाण्यानुपपत्तिरिति शेषः । तदेव चोद्यं विशदयति—अननुष्ठेयत्व इति । तेषा-
मनुष्ठेयानामग्निहोत्रादीनां कर्मणां ये 'विधयस्तेवामिति यावत् । सिद्धान्तो स्वाभिसंधिमुद्घाटय-

निद्वान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान आविद्यक भेदबुद्धि मात्र का बाध
करता है । वह अन्य विधि का बाध नहीं करता, वह केवल आविद्यक द्वैतबुद्धि का बाध करता है ।
(इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसे (साक्षात् विध्यन्तर के अबाधक) होने पर भी तो (फलेच्छा
क्रिया कारकादिभेदबुद्धि) हेतु की निवृत्ति से कर्मों का होना संभव न होने के कारण विधि का
बाध हुआ । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) नहीं, काम प्रतिषेध से काम्य प्रवृत्ति के बाध के समान
इसमें भी कोई दोष नहीं है । जिस प्रकार "स्वर्गकामो याग करे" इस श्रुतिवाक्य में जो पुरुष स्वर्ग-
प्राप्ति के साधनरूप यज्ञ में प्रवृत्त है, उसकी कामना का कामप्रतिषेध विधि से बाध हो जाने पर
काम्यकर्म यागानुष्ठान में प्रवृत्ति अवरुद्ध हो जाती है । किन्तु इतने ही से तो काम्यकर्मों के विधान
का बाध नहीं हो जाता ।

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) कामप्रतिषेधविधि द्वारा काम्यकर्मविधान से अनर्थकता का ज्ञान
हो जाने में प्रवृत्ति का होना संभव न होने से उसका बाध हो जायगा । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—)
इस प्रकार कर्मविधि का बाध भले ही हो जाय । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) जिस प्रकार कामना
का प्रतिषेध होने पर काम्य विधि का निषेध हो जाता है; उसी प्रकार ज्ञान द्वारा कर्मविधि का

१. आविद्यकभेदेति यावत् । २. साक्षाद्विध्यन्तराबाधकत्वेऽपि । ३. फलेच्छाक्रियाकारकादिभेदधीश्र
हेतुः । ४. वानयेन । ५. पञ्चमीयम् । ६. काम्यविष्णुपपत्तेः । ७. अनर्थकत्वज्ञानात् । ८.
कर्मविधेः । ९. अनुष्ठानविषयः ।

अनुष्ठानुरभावात्तदनुष्ठानविधानन्यक्यादप्रामाण्यमेव कर्मविधीनामिति चेत् । न, प्रागात्म-
जानात्प्रवृत्त्युपपत्ते । 'स्वाभाविकस्य क्रियाकारकफलभेदविज्ञानस्य प्रागात्मज्ञानात्कर्म-
हेतुत्वमुपपद्यत एव । यथा 'कामविषये दोषविज्ञानोत्पत्तेः प्रापकाम्यकर्मप्रवृत्तिहेतुत्व-
स्यादेव स्वर्गादीच्छाया स्वाभाविक्यास्तद्वत् ।

तथा 'सत्यनर्थार्थो वेद इति चेत् । न । अर्थानर्थयोरभिप्रायतन्त्रत्वात् । मोक्ष-
मेकं वर्जयित्वाऽन्यस्याविद्याविषयत्वात् । पुरुषाभिप्रायतन्त्रौ ह्यर्थानर्थो । मरणादिकाम्ये-
ष्टिदर्शनात् । 'तस्माद्यावदात्मज्ञानविधेरा'भिमुख्य 'तावदेव कर्मविधयः । 'तस्मान्नाऽऽत्म-
ज्ञानसहभावित्व 'कर्मणामित्यतः सिद्धमात्मज्ञानमेवावृत्तत्वसाधनमेतावदरे ह्यवृत्त-
मृत्तरमाह—नेत्यादिना । उपपत्तिमेवोपदर्शयति—स्वाभाविकस्येति । 'तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति
—यथेति ।

अज्ञानावस्थायामेव कर्मविधिप्रवृत्तिरित्यत्रानिष्टमाशङ्कते—तथा सतीति । कर्मविधेरपि
पुरुषाभिप्रायवशात्पुरुषार्थोपयोगित्वसिद्धेर्नानिष्टापत्तिरित्युत्तरमाह—नार्थेति । अर्थस्य पुरुषाभिप्राय-
तन्त्रत्वे मोक्षस्यापि वास्तव्यं पुरुषार्थत्वं न स्यादित्याशङ्क्याऽह—मोक्षमिति । अर्थानर्थयोरभिप्राय-
तन्त्रत्व साधयति—पुरुषेति । मरणं महाप्रस्थानमित्यादि काम्य 'कृत्वा जीवदवस्थायामेव महाभारता-
दाविष्टिविधानं दृष्टमतोऽर्थानर्थविभिप्रायतन्त्रकावेवेत्यर्थः । कर्मविधीनामात्मज्ञानात्प्राचीनत्व
प्रतिपादितमुपसहरति—तस्मादिति । 'तथाऽपि प्रकृते किमायात तदाह—तस्मान्नेति । तत्र प्रमाण-

वाच होने पर निषेध हो जाता है । कर्मों के अननुष्ठेय सिद्ध होने पर अनुष्ठेयता का अभाव हो जाने
उस अनुष्ठानविधि का आनर्थक्य होने से कर्मविधि अप्रामाण्य ही होगी । (इस पर सिद्धान्ती कहता
है—) यह कहना उचित नहीं क्योंकि आत्मज्ञान से पूर्व कर्म में प्रवृत्ति संभव है । आविद्यक क्रिया,
कारक और फलरूप भेदज्ञान का आत्मज्ञान से पूर्व कर्म में हेतु होना संभव है । जिम प्रकार स्वर्गादि-
कामना के विषय में दोषभावना उत्पन्न होने में पूर्व स्वर्गादि की स्वाभाविक इच्छा ही काम्यकर्म में
प्रवृत्ति का हेतु है, इसी प्रकार यहाँ सम्भ्रना चाहिए ।

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसा होने पर वेद अनर्थफलक हो जायगा । (सिद्धान्ती कहता
है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ और अनर्थ अभिप्राय के अधीन हैं । केवल एक मोक्ष की
छोड़कर बाकी सब अविद्या के विषय हैं । इसीलिए अर्थ और अनर्थ तो पुरुष के अभिप्राय के अधीन
हैं । क्योंकि मरणादि की इच्छा से भी याग का विधान शास्त्र में देखा जाता है, इसलिए जब तक
आत्मज्ञान विधि का अधिकारी नहीं हो जाता, तभी तक कर्म की विधियाँ हैं । इसलिए (कर्मविधियों
से पूर्वभावी होने से) कर्मों का आत्मज्ञान के साथ सहभाव नहीं हो सकता । इसलिए 'हे मैत्रयी ।

- १ भाविद्यस्य । २ स्वर्गादी । ३ अनर्थफलक अज्ञानावस्थायामन्यरूपानात्मफलबोधकत्वात् । ४
तस्मादिति—आत्मज्ञानस्य सकर्महेतुपदकार्त्वेन तत्समये तदुत्तरसमये च कर्मविधीना निरवकाशतया तत्र
प्रागेव सावकाशवस्थोपपादितत्वादिभ्यः । ५ अधिकारिणः । ६ कर्मविधीनात्मज्ञानात्प्राग्भावित्वात् ।
७ ज्ञानस्य कर्मपिशाऽभावात् । ८ यथोक्तहेतुत्वमेव । ९ कामविषयमापाद्य । १० कर्मविधीना-
मात्मज्ञानात्प्राग्भवेऽपि ।

त्वमिति । कर्मनिरपेक्षत्वाज्ज्ञानस्य । अतो 'विदुषस्तावत्पारिव्राज्यं सिद्धं' संप्रदानावि-
कर्मकारकजात्यादिशून्याविक्रियब्रह्मात्मदृढप्रतिपत्तिमात्रेण वचनमन्तरेणाप्युक्तन्यायतः ।

'तथा च व्याख्यातमेतद्येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति हेतुवचनेन पूर्वं विद्वांसः
प्रजामकामयमाना व्युत्तिष्ठन्तीति पारिव्राज्यं विदुषामात्मलोकावबोधोधादेव । 'तथा च

साह—इत्यत इति । अतःशब्दार्थं स्फुटयति—कर्मैति । ज्ञानस्य कर्मविरोधित्वे तन्निरपेक्षत्वे च सिद्धे
'कलितमाह—अत इति । 'आत्मज्ञानस्यामृतत्वहेतुत्वाभ्युपगमादित्यादेरुक्तन्यायादात्मसाक्षात्कारस्य
केवलस्य कैवल्यकारणत्वसिद्धेः सति तस्मिन्जीवन्मुक्तस्य कर्मानुष्ठानानवकाशात्तदुद्देशेन प्रवृत्त-
स्याधोतवेदस्य विदितपदपदार्थस्य परोक्षज्ञानवत्तस्मात्रेण प्रमाणापेक्षामन्तरेण सिद्धं सर्वकर्मत्याग-
लक्षणं पारिव्राज्यमेव एव विद्वत्संन्यासो न त्वपरोक्षज्ञानवतः प्रारब्धफलप्राप्तिमन्तरेणानुष्ठेयं किञ्चि-
दस्तीति भावः । विध्यविषयत्वाज्जातसाक्षात्कारस्य कथं पारिव्राज्यं तत्राऽह—वचनमिति । उक्त-
न्यायः ज्ञान्तादिवाक्यसूचितः । विधिं विनाऽपि फलमूर्तं पारिव्राज्यमित्यर्थः ।

' सत्यां जिज्ञासायां कर्मत्यागो न शक्यते निषेद्धमिति वदन्विदिविधिसंन्यास साधयति—तथा
चेत्यादिना । एतत्पारिव्राज्यमिति संबन्धः । विदुषामात्मसाक्षात्कारार्थिनां तत्परोक्षनिश्चयवतामिति
यावत् । आत्मलोकस्यावबोधोऽपि व्युत्थानहेतुः परोक्षनिश्चय एव । 'सतीतरस्मिन्फलावस्यस्य
'व्युत्थानाद्यनुष्ठानायोगात्तदन्तरेण' तत्प्राप्त्यभावाच्च । 'उच्यते हि ज्ञानादिवदुपरतेरपि तत्त्वसाक्षा-
त्कारे नियतं साधनत्वं तदाह—तथा चेति । विविदिषुर्नामाधोतवेदो विचारप्रयोजका'पातिकज्ञानवा-

इतना ही अमृतत्व का साधन है' इस श्रुति से आत्मज्ञान ही अमृतत्व का साधन सिद्ध हुआ क्योंकि
ज्ञान कर्मनिरपेक्ष है । इसलिए प्रामाणिक वचन के बिना उक्त न्याय से संप्रदानादि कर्मों के कारक
जातिशून्य अविकारी, ब्रह्म मे ही सुदृढ आत्मज्ञान से ही विद्वान् के लिये संन्यास ग्रहण करना सिद्ध
हो जाता है ।

इसी प्रकार 'हमलोग जिन्हे यह आत्मलोक इष्ट है' इस हेतु वचन से भी साधन-भूत संन्यास की
व्याख्या की जा चुकी है कि पूर्वकालीन विद्वान् प्रजा की कामना न करके संन्यास ग्रहण कर लेते थे;
इसलिए आत्मलोक के बोध मात्र से विद्वानों के लिए संन्यास ग्रहण करना सिद्ध हो जाता है । 'इसलिए

१ विविदिषोरपि पारिव्राज्यमनुपद साधयिष्यते इति सूचयति—सावदिति । आदावित्यर्थं । २ संप्रदाना-
दिरूप यदग्निहोत्रादिकर्मण वारकमय च जात्यादि तच्छून्येत्यर्थः । ३ तथा च—तथैव फलमूर्तपारिव्राज्य-
वत्साधनभूत च पारिव्राज्यं व्याख्यातमिति यावत् । ४ साक्षात्कार प्रति उपरतेनियतत्वे सति । ५ विद्व-
त्संन्यासम् । ६ १३५० शृष्ट्याप्ये । ७ तदुद्देशेन—धात्मसाक्षात्कारोद्देशेन प्रवृत्तस्य अधोतवेदस्य विदित-
पदपदार्थस्यतः । पूर्वं परोक्षज्ञानवतः सतः तस्मिन्प्राप्तमसादात्कारे सति जीवन्मुक्तस्य कर्मानुष्ठानानवकाशात्
तस्मात्रेण अपरोक्षज्ञानमात्रेण प्रमाणापेक्षादीत्येवं योग्यम् । ८ अपरोक्षात्प्रतिभवे मति । ९ विधिना-
नुष्ठेयव्युत्थानादीत्यर्थः । १० व्युत्थानादि विना । ११ ध्यात्मसाक्षात्कारमवकात् । १२ धान्तो दान्त
इत्यादिवाक्ये । १३ प्रामाण्ययच्छास्त्रकन्धितज्ञानवान् ।

विविदियोरपि सिद्धं पारिवाज्यम् । "एतमेवाऽऽत्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" इति वचनात् । कर्मणां चाविद्वद्विषयत्वमवोचाम् । 'अविद्याविषये चोत्पत्त्याप्तिविकारसंस्कारार्थानि कर्माणीत्यतः । 'आत्मसंस्काराद्वारेणाऽऽत्मज्ञानसाधनत्वमपि कर्मणामवोचाम यज्ञादिभिविदिवन्तीति' ।

अथैवं सत्यविद्वद्विषयाणामाश्रमकर्मणां बलाबलविचारणायामात्मज्ञानोत्पादनं प्रति यमप्रधानानाममानित्वादीनां मानसानां च ध्यानज्ञानवैराग्यादीनां संनि-

न्मुमुक्षुर्भक्षसाधनं तत्त्वसाक्षात्कारमपेक्षमाणं 'तस्मिन्परोक्षनिश्चयेनापि 'दून्यो विवक्षितस्तस्य कथं पारिवाज्यमत आह—एतमेवाऽऽत्मानमिति । इतश्च विविदिषासंन्यासोऽस्तीत्याह—कर्मणां चेति । 'तथा चाविद्याविरुद्धां विद्यामिच्छन्नक्षेपाणि कर्माणि शरीरधारणमात्रकारणोत्तराणि त्यजेदिति शेषः । विविदिषासंन्यासे हेत्वन्तरमाह—अविद्याविषये चेति । चतुर्विधफलानि कर्माण्यविद्याविषये 'परं संभवन्ति न त्वसाध्ये वस्तुनीत्यतो वस्तुजिज्ञासार्थं त्याज्यानि तानीत्यर्थः' । कथं 'तर्हि कर्मणामुत्तम' फलान्वयस्तत्राऽऽह—आत्मेति । 'युद्धियुद्धिद्वारा ज्ञानहेतुत्वात्कर्मणांमस्ति 'प्रणादद्या परमपुरयार्थान्वय इत्यर्थः ।

‘संन्यासः कर्मयोगश्च नि श्रेयसकरावुभौ’

इति स्मृतेर्विविदिपूरां मुमुक्षुणां कथं पारिवाज्यस्यैव कर्तव्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अथेति । 'यथा विद्वत्संन्यासस्तथा विविदिषासंन्यासेऽपि यथोक्तनीत्या संभाविते सतीति यावत् । आत्मज्ञानोत्पादनं प्रत्याश्रमधर्माणां बलाबलविचारणा नामान्तरङ्गत्वबहिर्ङ्गत्वचिन्ता तस्या सत्यामित्यर्थः । 'अहिंसास्तेयग्रहणार्थादयो यमः । वैराग्यादीनामित्यादिशब्देन शमादयो गृह्यन्ते । इतरे 'नियमप्रधाना आश्रमधर्मा चतुर्ता विषयेन पापेन कर्मणा सकीर्णा हिंसादिप्राचुर्यात् ।

आत्मलोक की इच्छा करने वाले सब क्रियाओं से निवृत्त हो संन्यास ग्रहण कर लेते हैं' इस श्रुति वचन से जिज्ञासु के लिए भी संन्यास ग्रहण करना मिद्ध हो जाता है । कर्मों का अविद्वानों को विषय करना स्वभाव होता है—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं । अविद्या के विषय अनात्म-पदार्थों में ही उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार के लिए कर्म होते हैं । इसलिए 'हम यज्ञादि के द्वारा उस आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं' ऐसे बहकर अन्त करण युद्धि द्वारा कर्मों का आत्मज्ञान साधनत्व होना भी बताया गया है ।

ऐसा होने पर अविद्वानों के विषय आश्रमकर्मों के अन्तरङ्गत्व और बहिर्ङ्गत्व चिन्ता करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि अमानित्वादि यमप्रधान तथा ध्यान-दिवैव-वैराग्यादि मानस

- १ वृ उ ४ ५ २२ । २ १३५० पृष्ठभाष्ये । ३ अनात्मनीति यावत् । ४ अन्त करण युद्धिद्वारेण । ५ वृ उ ४ ५ २२ । ६ अश्रमन्त वाञ्छयाम् । ७ विवेकवैराग्यादीनाम् । ८ आत्मतत्त्वे । ९ इदमनुपगमवादन । १० कर्मणामविद्वद्विषयत्वे च । ११ केवलम् । १२ विद्वद्विविदिपूम्पयाननुष्ठेयत्वे । १३ मोक्षरत्नान्वयम् । १४ परम्परया । १५ एव गतीत्वस्यार्थमाह—यथेति । १६ अहिंसा-मन्तरम् सत्येति इत्याद्यमन्तर परिग्रहा इति चादिशब्दप्राह्यम् । १७ नियमेति—शौचसतोयवप स्वाध्या-धेश्वरप्रतिष्ठानानि नियमा इति नियमशुभम् ।

पत्योपकारकत्वम् । हिंसारागद्वेषादिबाहुत्याद्वबहुक्लिष्टकर्मविमिश्रिता इतरः इत्यतः पारित्राज्यं मुमुक्षूणां प्रशंसन्ति—

“त्याग एव हि सर्वेषामुक्तानामपि कर्मणाम् ।

वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमोऽवधिः” ॥

“किं ते धनेन किमु बन्धुभिस्ते किं ते दारं ब्रह्मिण यो मरिष्यसि ।

आत्मानमन्विच्छं गुहा प्रविष्ट पितामहास्ते क्वं गताः पिता च” ।

“यमान्पतयकुर्वाणो नियमान्केवजान्भजन्”

इति स्मृतेस्तस्मात्पूर्वेषामन्तरङ्गत्वमुत्तरेषा बहिरङ्गत्वमित्याशयेनाऽऽह—हिसेति । कर्मयोगा-
पेक्षया तस्यागस्याधिकारिविशेष प्रति प्रशस्तत्वमुपसर्हरति—इत्यत इति । तत्प्रशंसाप्रकारमेवा-
भिनयति—त्याग एवेति । उक्तानामाश्रमैरनुष्ठेयत्वेनेति शेषः । तस्याग्रे हेतुमाह—वैराग्यमिति ।
मोक्षस्य कर्मपरित्यागस्येत्यर्थः । उत्तमपुमर्थान्धिनः सन्यामद्वारा श्वरणादि कर्तव्यमित्यत्र चापान्तर-
मुवाहरति—किं ते धनेनेति । अथ पित्रादिभिर्गतं पन्यामन्वेपयामि नाऽऽत्मानमित्याशङ्क्याऽऽह
—पितामहा इति । विविदिषासन्त्यासे साह्यादिसमतिमाह—एवमिति । यथाऽऽहु सास्या —

कर्म आत्मज्ञान के उत्पादन मे साक्षात् उपकारक है । एव दूसरे कर्म हिंसा एव राग द्वेषादि की बहूलता के कारण बहुत से क्लिष्ट कर्मों से मिले हुए हैं, इसलिये मुमुक्षु के लिए सन्यास की ही प्रशंसा करते हैं ।

‘इसलिए उक्त सभी कर्मों का त्याग करना ही श्रेष्ठ कहा जाता है क्योंकि इस मोक्ष का परम कारण वैराग्य है’ ।

‘तुझे धन से क्या प्रयोजन है, बन्धुओं से क्या लेना है, हे ब्राह्मण ! भार्या से तेरा क्या स्वायं है । तुम्हारा मरण अवश्यम्भावी है । (इसलिए मरने से पूर्व ही) हृदयान्तर मे (नित्य) प्रविष्ट उस आत्मा को खोजो । तुम्हारे पिता और पितामह आदि कहीं चले गये’ ?

। उपरोक्त-श्रुति-स्मृति वचनों के समान साख्य-योग शास्त्रों मे भी आत्मज्ञान के प्रति सन्यास को साक्षात् उपकारक कहा जाता है क्योंकि सन्यासियों की भोगों मे प्रवृत्ति कामना पुर सर नही हुआ करती । क्योंकि काम प्रवृत्ति का ज्ञान विरोधी होना सभी शास्त्रों मे प्रसिद्ध है, इसलिये वैराग्यमुक्त मोक्षाभिलाषी ज्ञान के बिना भी ब्रह्मचर्य से सन्यास ग्रहण कर ले—यह कहना मुसगत है ।

१ इत्यत नियमप्रधानाश्रमधर्मपेक्षया यमप्रधानाश्रमधर्मात्ता सनियतयोपकारकत्वादित्यर्थः । २ प्रशस्तत इत्यध्याहारः । ३ धवधिरत्र कारणम् । ४ मेधाविनामा ब्राह्मणदुग्ध स्वपितर प्रत्याह—विमिति । महा० शा० मोक्षवर्म १७५-३८ । यस्तव मरिष्यसि तस्य त” इति योग्यम् । जीवतो हि तत्तुमाय स्यात्-स्मान्मरणात्प्रागेव वनादिनर्भ परित्यज्य बुद्धिगुहा प्रविष्ट यथावदभिम्यक्तान्मानमन्विच्छ तस्वरूपान्वेषन-मेव कुरु तत एव हेऽक्षयमुखप्रामिरित्यर्थः । मरणमत्रदयभावीत्यत्रभावात्—पितामहा इति । ५ यमेति—“यमान्सेवेत सतत न नित्य नियमान्बुध” इति पूर्वो भागोऽस्या स्मृतेः । ६ अधिभारिविषयम्—यमादि-सपन्नं मुमुक्षुमित्यर्थः । ७ धनुष्ठित व्यवहारम् ।

'एवं सांख्ययोगशास्त्रेषु च संन्यासो ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्न उच्यते । 'कामप्रवृत्त्यं-

'ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिव्यते बन्धः' इति ।

'विवेकख्यातिपर्यन्तमज्ञानाच्चित्तचेष्टितम्' इति च ।

'अविपर्ययाद्विमुक्तं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्' इति च ।

योगशास्त्रविद्वद्भाष्ये— 'प्रम्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इति । तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः
खिली क्रियते । विवेकदर्शनाभ्यासेन कल्याणस्रोत उत्पाद्यत इति च । 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य
वशीकारसज्ञा वैराग्यम्' इति च । इतश्च संन्यासो ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्न इत्याह— वामेति । संन्यासिनः

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) 'जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करे' इस श्रुति के बाध होने

१ एवमिति— यथोक्तश्रुतिस्मृत्युपपत्तिवदित्यर्थं । २ सतिपत्योपकारक । ३ सत्यासिन कामनायुत्-
सरं (भोगेषु) प्रवृत्त्यभावाच्च संन्यासो ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्न इति संबन्धः । ४ वामप्रवृत्त्यभावाच्चेत्यादि—
प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वं सर्वसंभसम् । वामप्रवृत्तिश्च ज्ञानप्रतिबन्धिका तथा च वामप्रवृत्त्यभावोपलक्षित-
संन्यासो ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्नो भवत्येवेति भावः । ५ विपर्ययादतत्त्वज्ञानात् । ६ "'ज्ञानेन चापवर्गो
विपर्ययादिव्यते बन्धः' । विवेकख्यातिपर्यन्तमज्ञानाच्चित्तचेष्टितम् ॥ "'अविपर्ययाद्विमुक्तं केवलमुत्पद्यते ज्ञान-
म्"' इत्येतादृशत्रयमपि मुमुक्षुमुद्दिश्य ज्ञानसाधनविधानाभिप्रायं मन्तव्यमन्यथाश्रुवादमात्रत्वेनाप्राभाष्यापत्तेः ।
ज्ञानसाधनं च श्रवणादि । तदुक्तं दृष्टवानुश्रविकं "इत्यादि द्वितीयकारिकाव्याख्योपान्तं मिथं "एतदुक्तं भवति
श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु व्यक्तादीन् विवेकेन "श्रुत्वा शास्त्रमुक्त्या च "अवस्थाप्य दीर्घकालं" नैरन्तर्वादि-
संविताङ्गावनामया "द्विज्ञानादित्तीति" न च श्रवणादि कर्मत्यागमन्तरेण सम्भवति मुमुक्षुणा तस्याज्यत्वस्य
'तद्विपरीतं श्रेयानिति" सूचितत्वात् "तथाच स्फुटं" निर्गलिता विविदिद्यासंन्यासे सांख्यसमतिरिति । ७
प्रम्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध इति - न सत्त्वसत्यस्तकमणा विवेकदर्शनाभ्यासं शक्यं कर्तुम् । न च सज्ञात-
वैराग्यं कर्मणि व्याप्रियते निरुद्धवृत्तिकर्तव्येति संन्यास एव समापसति ॥ विषयस्रोतं खिलीक्रियत इति कर्म
पराङ्मुखत्वं सूच्यते विषयस्रोतो हि "भोगसाधनपरम्परा" ततो वैमुन्यमेव तस्खिलीकरणमिति । कल्याणस्रोत
उत्पाद्यत (उद्घाटयत इति योगभाष्यपाठ) इत्यत्र कल्याणसातं "कल्याणसाधनपरम्परा" मयासप्रमुनेति
संन्यास समतो भवति । वशीकारसन्नकर्तव्यत्वाच्च संन्यस्यत्येव दृष्टानुश्रविकविषयषु वैतृष्ण्यादिति स्फुटमव ।
८ उद्घाटयत ।

११ ज्ञानेनेत्यादि— धर्मोऽयं गमनमुद्धं गमनमवस्ताङ्गव्यधर्मोऽयं "त्यायोपूर्वार्धम्" का १ ४४ । १२ पज्ञाना-
च्चित्तचेष्टितमित्यस्य स्थाने ज्ञेयं प्रकृतिचेष्टितमिति पाठान्तरम् प्रामाणिकमाह । १३ अविपर्ययादित्यादि—
'एव सत्त्वाम्नासाप्राप्तिं न मे नाहमित्यपरिदोषमि' त्यायोपूर्वभाग ॥ का २ ६४ । १४ स ह्यविशुद्धि-
दायानिधाययुक्तं तद्विपरीतं श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानादि' त्यायोऽशेषं प्रापिदप्राह । १५ इदं श्रवणम् ।
१६ इदं मननम् । १७ इदं निदिध्यासनम् । १८ विज्ञानादिति— तत्त्वसाक्षात्कारो जायत इति शेषः । १९
समादानुश्रविकादनु सापघातकादुपायात् । सोमपानादेरविशुद्धादनिर्यसातिशयपलाद् विपरीतो विशुद्धो हिसा-
दितकराभावाद् असकृदपुनरावृत्तिश्रुतेरित्यनिरतिशयफलं सत्त्वबुद्ध्याप्यताप्रत्यय साक्षात्कारो दु सापघातको
हेतु श्रेयानित्यर्थः । २० उक्तवाच्यताना ज्ञानसाधनश्रवणादि विधानाभिप्रायत्वे तद्विपरीतं इत्यादिना कर्म-
स्थापनस्य सूचितत्वे चेत्यर्थः । २१ निरुद्धत्वस्येत्यर्थः । २२ भोगसाधनपरम्परेति भोगसाधनपरम्पर्यायां
चेत् प्रावण्यमिति यावत् । २३ ततो वैमुन्यम् तत्र प्रावण्याभावः । २४ तत्र चेत् प्रावण्यमिति यावत् ।

भावाच्च । कामप्रवृत्तेर्हि ज्ञानप्रतिकूलता सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धा । तस्माद्विरक्तस्य मुमुक्षो-
विनाऽपि ज्ञानेन ब्रह्मचर्यादिव प्रदजेदित्याद्युपपन्नम् ।

ननु सावकाशत्वादनधिकृतविषयमेतदित्युक्तं यावज्जीवश्रुत्युपरोधात् । नैप दोषः ।
नितरां सावकाशत्वाद्यावज्जीवश्रुतीनाम् । अविद्वत्कामिकर्तव्यतां ह्यवोचाम' सर्वकर्म-
णाम् । न तु 'निरपेक्षमेव जीवननिमित्तं कर्तव्यं कर्म । प्रायेण हि पुरुषाः कामबहुलाः ।
कामश्रानेकविषयोऽनेककर्मसाधनसाध्यश्च । 'अनेकफलसाधनानि च वैदिकानि कर्माणि

कामप्रवृत्त्यभावेऽपि कर्म संन्यासस्य ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्नत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—कामप्रवृत्तेरिति ।
“इति नु कामयमानः” ।

“काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह' वैरिणम्”

इत्यादीनि शास्त्राणि । विविदिवासभ्यासमुपसंहरति—तस्मादिति । ययोक्तस्याधिकारिणो
दर्शितया विषया ज्ञानेन विनाऽपि सन्यासस्य प्राप्तत्वाद्ब्रह्मचर्यादिवेत्यादि विधिवाच्यमुपपन्नमिति
योजना ।

अथ पारिव्याप्यविधानम'नधिकृतविषयमुचितं तथा सति सावकाशत्वात् त्वधिकृतविषयं
यावज्जीवश्रुतिविरोधात्तस्या निरवकाशत्वात्सावकाशनिरवकाशयोश्च निरवकाशस्यैव बलवत्त्वा-
दित्युक्तं शङ्कते—नन्विति । यावज्जीवश्रुतेनिरवकाशत्वं द्वयवति—नैप दोष इति । कयमतिशयेन
सावकाशत्वं तत्राऽऽह—अविद्वदिति । जीवनमात्रं निमित्तोक्त्य चोचितं कर्म कर्म कामिना कर्तव्यं
तत्राऽऽह—न त्विति । प्रत्यवायपरिहारादैरिदृष्टैश्चादित्यर्थः । अनुष्ठातृस्वरूपनिष्पत्त्यायामपि न
जीवनमात्रं निमित्तोक्त्य कर्म कर्तव्यमित्याह—प्रायेणेति । तथाऽपि नित्येषु कर्मसु न कामनिमित्ता
प्रवृत्तितत्र काम्यमानफलाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—कामश्चेति । प्रत्यवायपरिहारादैरपि कामितद्वं
युक्तमिति भावः । तथाऽपि नित्ये कर्मणि काम्यमान फल विधुपददेशे किञ्चित् श्रुतमित्याशङ्क्याऽऽह

पर ('ब्रह्मचर्यं से सन्यास ग्रहण करे' इस) अन्य श्रुति को अथकाश मिल जाता है, ऐसा कहा गया ।
(सावकाश और निरवकाश के प्रसङ्ग आने पर निरवकाश ही बलवान् होता है—इस न्याय से) अतः
यही मानना उचित है कि सन्यास कर्म के अनधिकारी के लिए है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—)
ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है क्योंकि यावज्जीवन अग्निहोत्र का विधान करने वाली श्रुतियों को
सदा ही अथकाश है एव सभी कर्म कामनायुक्त अविद्वान् के लिए ही है यह हम पहले ही यह आये
हैं । प्रत्यवायपरिहारादि निरपेक्ष बल जीवन के निमित्त कर्म की कर्तव्यता नहीं हुआ करती । प्रायः
मनुष्यों के भीतर कामबाहुल्य होता है । काम अनेक विषयों का है एव अनेक कर्मों और साधनों में

१ १३४० पृष्ठमध्ये न प्रागित्यादिना । २ प्रत्यवायपरिहारादिनिरपेक्षमेव । ३ अनेकफलसाधनानोक्ति
—विधुद्देशोक्तमात्रपक्षान्वायेव मेति यावत् । ४ शानामाधारणकारणक संन्यासमुपसंहरति—इतीति ।
एव मन्त्रशास्त्राभ्यां प्रदर्शितरीत्या नु सन्तु कामयमान सत्तरतीत्यर्थः । ५ नृ उ ४. ४. ६ । ६ इह
सप्तारे अधिकारिणु वा । ७ वैरिण—वैदिकानामिति शेषः । ८ अन्यपञ्चवापदुद्भवम् । ९ विधायक-
वाक्ये ।

'दाराग्निसंबन्धपुरुषकर्तव्यानि' पुनः पुनश्चानुष्ठीयमानानि बहुफलानि कृत्वा दिवहृष-
शतसमाप्तीनि च गाहंस्थये वाऽरण्ये वाऽस्तंस्तदपेशया यावज्जीवश्रुतयः । "कुर्वन्नेवेह
'कर्माणि'" इति च मन्त्रवर्णः ।

'तस्मिंश्च पक्षे विश्वजित्सर्वमेधयोः' कर्मपरित्यागः । 'यस्मिंश्च पक्षे यावज्जीवा-
नुष्ठानं तदा इमशानान्तत्वं' मरमान्ता च शरीरस्य । "इतरवर्णपेक्षया वा यावज्जीव-

—अनेवेति । कर्मभिरनेकैः साधनैर्यद्बुद्धिरितनियहंणादि साध्य तदेवास्याश्रुतमपि विद्युद्देशे साध्यं
भवति ।

‘पठद्धि कुरते जनुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्’

इति स्मृतेः "स्तद्वचनितरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरतो" नित्येऽपि कामित फलमस्तीत्यर्थं । ननु वैदि-
कानां कर्मणां "नियतफलत्वात्कामोऽपि नियतफलो युक्तस्तथाच नित्येषु "तदभावात् "कामित फलं
सेत्स्यति तत्राऽऽह—अनेकफलेति । अथ तानि पुरपमात्रकर्तव्यानीति कुतो विवक्षितसन्ध्याससिद्धिस्त-
त्राऽऽह—दारेति । नन्वविरवतेनापि गृहिणा सकृदेव सा-यनुष्ठेयानि तावता विधेःश्रितार्थत्वात् "तथाच
कथं फलयाद्बुद्धयमित्याशङ्क्याऽऽह—पुन पुनश्चेति । यावज्जीवोपसन्ध्यादावृत्तिसिद्धिरिति भावः । "तहि
यावज्जीवश्रुतिवशादशेषानुष्ठेयान्यनवरतमग्निहोत्रादीनीति कुतो यथोक्तसन्ध्यासोपपत्तिरित्या-
शङ्क्याऽऽह—वर्षशतेति । अविरक्तगृहिविषयस्य श्रुतिमन्त्रयोरित्युपसहरति—अत इति ।

"यत्तु यावज्जीवश्रुतेरपवादो विश्वजित्सर्वमेधयोरिति तदपि कामगृहिविषयत्वात् ब्रह्मचर्यादिव
प्रव्रजेदिति विध्यपवादकमित्याह—तस्मिंश्चेति । परोक्षत लिङ्गमपि तद्विषयत्वात् सर्वस्य घेदस्य कर्मावि-
सानत्व द्योतयतीत्याह—यस्मिंश्चेति । यावज्जीवश्रुतेः "गोत्यन्तरमाह—इतरेति । कथं "सा क्षत्रियवैश्य-

माध्य है । वैदिक कर्म भी अनेक फल के साधन है जो कि विवाहित और अग्निहोत्री पुरुष के लिए
कर्तव्य है वारम्बार अनुष्ठान किए जाने वाले वे कृषि आदि के समान बहुत से फल देने वाले हैं तथा
गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ आश्रमों में सी वर्षों में पूर्ण होने वाले हैं । इसलिए (कर्मविधि अविरक्त
गृहस्थों का विषय होने से) अविरक्त गृहस्थ की अपेक्षा से 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे' तथा 'यहाँ
कर्म करते हुए सी वर्ष जीने की इच्छा करे' इस प्रकार श्रुतियाँ तथा मन्त्रवर्ण हैं ।

उसी पक्ष में विश्वजित् और सर्वमेध यागों में कर्म परित्याग यानी सन्ध्या है और जिस पक्ष

- १ पितृलोकप्रत्यवायपरिहारसत्त्वयुद्धपादिसाधनानि । २ न तु वीतरागपुरुषकर्तव्यानि । ३ यत्—
कर्मविधेरविरक्तगृहस्थविषयत्वात् । ४ तदपेक्षया—अविरक्तगृहस्थापेक्षया । ५ कर्मविधौना कामिगृहि-
विषयत्वपक्षे । ६ सतो । ७ पारिव्राज्यम् । ८ कामित्वे सत्यशक्त्यादिना विश्वजिदाद्यनुष्ठानपक्षे ।
९ कर्मणाम् । १० ब्राह्मणतरवर्णपेक्षया । ११ कामव्यतिरेकेण । १२ नित्येषु प्रवृत्तिदर्शनात् ।
१३ वाक्येदोदितमेव फल वैदिकानां कर्मणा भवति न स्वचोदितकल्पनोपनीतमित्येकदेव संपन्नियतफलत्व-
मिति ध्येयम् । १४ नित्यफलभावात् । १५ कामित कल्पनोपनीत प्रत्यवायपरिहारादि-
रूपमित्ययम् । १६ सकृदनुष्ठाने च । १७ तेषामसङ्ख्येयमानत्वम् । १८ यत्किंचिदिति—कामिना हि
सति विश्वजिदादौ भवतु पारिव्राज्यविषयत्वमकामिविषयं तु निरङ्कुटाप्रसरत्वं ब्रह्मचर्यादिवैदिकविरति
भावः । १९ अविरक्तापेक्षया गत्यन्तरम् । २० यावज्जीवश्रुति ।

(अथ चतुर्थाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम्)

अथ वःशः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्या-
त्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः

गौपवन से पौतिमाष्य ने, पौतिमाष्य से गौपवन ने, गौपवन से पौतिमाष्य ने, कौशिक से गौपवन ने, कौण्डिन्य से कौशिक ने, शाण्डिल्य से कौण्डिन्य ने, कौशिक तथा गौतम से शाण्डिल्य

श्रुतिः । न हि क्षत्रियवैश्वयोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति । तथा 'मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
एकाश्रम्यं त्वाचार्या इत्येवमादीनां क्षत्रियवैश्वयोपेक्षत्वम् । तस्मात्पुरुषसामर्थ्यज्ञानवेराग्य-
कामद्यपेक्षया व्युत्थानविकल्पक्रमपारिव्राज्यप्रतिपत्तिप्रकारा न विरुध्यन्ते । अनधिकृतानां
च पृथग्विधानात्पारिव्राज्यस्य स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निदो वैश्या'दिना ।
तस्मात्सिद्धान्याश्रमान्तराण्यधिकृतानामेव ॥ १५ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे चतुर्थाध्यायस्य षष्ठमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

विषयत्वेन प्रवृत्ता त्रैवर्षिकानामपि पारिव्राज्यपरिग्रहादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । यावज्जीवश्रुति-
वदेकाश्रम्यप्रतिपादकस्मृतीनामपि क्षत्रियवैश्वयोपेक्षत्वमाह—तथेति । श्रुतिस्मृतीनां कर्मतत्सन्व्यासायानां
भिन्नविषयत्वे फलितमुपसंहरति—तस्मादिति । यत्तु काणकुब्जादयोऽपि कर्मण्यनधिकृता अनुप्राह्या
एव श्रुत्येति तत्राऽऽह—अनधिकृतानां चेति । सत्यामेव भार्याया त्यक्ताग्निस्तस्मात्सत्याग्निस्तस्यामसत्यो
परित्यक्ताग्निरनग्निः इति भेदः । 'आश्रमान्तरविषयश्रुतिस्मृतीनामनधिकृतविषयत्वाभावे सिद्धमर्थं
निगमयति—तस्मादिति ॥ १५ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां चतुर्थाध्यायस्य षष्ठमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

ये यावज्जीवन कर्म के अनुष्ठान का विधान है, वही कर्मों को स्मसान्तता तथा शरीर को मस्मान्तता
प्रत्यक्ष है । अथवा ब्राह्मणोत्तर वर्णों के लिए यावज्जीवन कर्म करने का विधान है । क्षत्रिय और वैश्यों
को संन्यास की प्राप्ति नहीं होती । इसमें व्यास स्मृति प्रमाण है 'गर्भाधान मे अन्योऽपि क्रिया पर्यन्त
जिसके सभी संस्कारों का विधान मन्त्रों द्वारा बतलाया गया है, उसी का वेद मे अधिकार समझना
चाहिए; किसी अन्य का नहीं', 'आचार्यों ने इन्हे एकाश्रमी बतलाया है' इत्यादि वाक्य क्षत्रियों और
वैश्यों की अपेक्षा में हैं । इसलिए पुरुष के सामर्थ्य, ज्ञान, वेराग्य और कामनादि की अपेक्षा मे संन्यास
विकल्प तथा क्रम से संन्यास ग्रहण प्रकारों का विरोध नहीं है । 'यती हो अथवा अग्रती, उत्सन्नानि
हो अथवा अनग्नि' इत्यादि वाक्य द्वारा अनधिकारियों के लिए संन्यास का अलग विधान है । इस-
लिए यह सिद्ध हुआ कि गार्हस्थ्य इतर आश्रम अधिकारियों के लिए ही है ॥ १५ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् के चतुर्थ अध्यायस्य षष्ठम ब्राह्मण के शाण्डिल्यभाष्य का
हिन्दी भाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ ५ ॥

१. १३५० गृष्टभाष्ये प्रष्ट्या स्मृति । २. स्नातक इत्यादि.—अथ पुनरदती वा शनी वेत्यादिः ।
अग्रती—अग्रहीताध्ययनाङ्गत्वे इति विद्याप्रदानस्तानः स्नातक । ३. मादिना "महरेव विरजितश्रेव
प्रवेदिति" श्रुतिशेषो प्राह्य । ४. गार्हस्थ्यतरविषयत्वम् ।

कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशि-
काच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो
गौतमाद्गौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्यायणात्पारा-
शर्यायणो गार्ग्यायणाद्गार्ग्यायण उद्दालकायनाद्दुद्दाल-
कायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यन्दिनायना-
न्माध्यन्दिनायनः सौकरायणात्सौकरायणः काषायणा-
त्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः
कौशिकायनिः ॥ २ ॥

घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्या-
यणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्यज्जातूकर्ण्य आसु-
रायणाच्च यास्काच्चाऽऽसुरायणस्त्रैवणस्त्रैवणिरौप-
जन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आ-

ने श्रीर गौतम ने ॥ १ ॥

आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने गार्ग्यं से, गार्ग्यं ने गार्ग्यं से, गार्ग्यं ने गौतम से, गौतम ने सैतव
से, सैतव ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने गार्ग्यायण से, गार्ग्यायण ने उद्दालकायन से, उद्दालकायन
ने जाबालायन से, जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, माध्यन्दिनायन ने सौकरायण से, सौकरायण ने
काषायण से, काषायण ने सायकायन से, सायकायन ने कौशिकायनि से, कौशिकायनि ने ॥ २ ॥

घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्यं से, पाराशर्यं ने
जातूकर्ण्यं से, जातूकर्ण्यं ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि
से, औपजन्धनि ने आमुरि से, आमुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्डि से, माण्डि

अयान्तरं याज्ञवल्कीयस्य काण्डस्य वंश आरभ्यते यथा मधुकाण्डस्य वंशः । व्या-

सदेव विचारद्वारा श्रुतिस्मृतौनामापातनो विरुद्धानामविरोधं प्रतिपाद्याय वंश इत्यस्यार्थमाह
—प्रयेति । साङ्गोपाङ्गस्य सफलस्याऽऽत्मविज्ञानस्य प्रवचनानन्तर्यमथशाब्दार्थमाह—अनन्तरमिति ।
यथा प्रथमान्तः शिष्यो गुरुस्तु पश्चम्यन्त इति चतुर्थान्ते ध्याह्यातं तथाऽत्रापीत्याह—व्याख्यानं

प्रथमं भागो याज्ञवल्कीय काण्ड वा वंश आरम्भ विद्या जाता है, जिस प्रकार मधुकाण्ड का वंश

१. आत्मविज्ञानस्य—वाच्यार्थज्ञानस्येत्यर्थः । तदुपायत्वात्त्वमर्थज्ञानं तदङ्गम् । उपाङ्गशब्देन सन्यासोऽभि-
धीयते तस्य च वाच्यार्थज्ञानाद्गत्वं स्वमर्थज्ञानोपायत्वात् “त्वमर्थार्थविवेकाय सन्यासः । सर्वकर्मणामिति” इत्युक्तेः ।
फलशब्देनामृतत्वमुच्यते ।

त्रेयादात्रेयो माण्डेर्माण्डिर्गांतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो
 वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्का-
 प्यात्कैशोर्यः काप्यः, कुमारहारितात्कुमारहारितो
 गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो-
 वत्सनपातो वाश्रवाद्दत्सनपाद्वाश्रवः पथः सौभरात्प-
 न्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभू-
 तेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरू-
 पस्त्वाष्ट्रोऽश्विन्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्गा-
 थर्वणोऽथर्वणो देवादथर्वा देवो मृत्योः प्राध्वत्
 सनान्मृत्युः प्राध्वत्सनः प्रध्वत्सनात्प्रध्वत्सन
 एकर्वरेकषिविप्रचित्तेविप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः
 सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः

ने गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कैशोर्य-
 काप्य से, कैशोर्यकाप्य ने कुमारहारित से, कुमारहारित ने गालव से, गालव ने विदर्भीकौण्डिन्य से,
 विदर्भीकौण्डिन्य ने वत्सनपाद् वाश्रव से, वत्सनपाद् वाश्रव ने पन्था सौरभ से, पन्था सौरभ ने अयास्य
 आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूतित्वाष्ट्र से, आभूतित्वाष्ट्र ने विश्वरूपत्वाष्ट्र से, विश्व-
 रूपत्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारो से, अश्विनीकुमारों ने दध्यङ्गाथर्वण से, दध्यङ्गाथर्वण ने अथर्वा-देव
 से, अथर्वा-देव ने मृत्यु-प्राध्वसन से, मृत्यु-प्राध्वसन ने प्रध्वसन से, प्रध्वसन ने एकपि से, एकपि ने
 विप्रचित्ति से, विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग से,
 सनग ने परमेष्ठी से एव परमेष्ठी ने ब्रह्मा से (यह विद्या प्राप्ति की है) ब्रह्म स्वयम्भु है, ब्रह्म को

स्थानं तु पूर्ववत् । ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणो नम ऋमिति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

त्विति । 'इत्यमागमोपपत्तिभ्यां सप्तम्यासं सेतिकर्तव्यताकमात्मज्ञानममृतत्वसाधन सिद्धिमित्युपसंह-
 र्तुमितिशब्दः । परिसमाप्तो मङ्गलमाचरति—ब्रह्मेति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

निरूपण किया गया था । इसका व्याख्यान पूर्व मधुवाण्ड की व्याख्या की तरह ममभना चाहिये । ब्रह्म
 स्वयम्भु है (उससे आगे आचार्य परम्परा नहीं है) इसलिए उस ब्रह्म को नमस्कार है ॥ ६ ॥

'परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्याये
षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥
बृहदारण्यकक्रमेण षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

नमस्कार है ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थाध्याय , षष्ठ ब्राह्मणम् ॥

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्म्ये चतुर्थाध्यायस्य षष्ठ
वंशब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमद्भोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्रजज्ञा-
चार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्म्ये
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्म्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य
षष्ठं वंशब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजज्ञाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्री-
मद्भगवदानन्दज्ञानविरचिताया श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्म्य-
टीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार डॉ० उमेशानन्द शास्त्री कृत बृहदारण्यकोपनिषत् के चतुर्थाध्यायस्य
शाङ्करभाष्य की 'कुमुदतोपिणी' टीका सम्पन्न हुई ॥ ४ ॥

१ परमेष्ठी विराड् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भादिषां प्राप्त । ब्रह्मणश्च स्वयंप्रतिभातवेदत्वात्तत आचार्यपरम्परा
मास्ति । यत्तुनर्बह्वेदास्य तत्स्वयंभु नित्य परस्मैव वेदरूपेणावस्थानादित्यर्थं ।



अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

ॐ 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ॥ पूर्णस्य
पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ॐ खं ब्रह्म खं पुराणं

आकाश ब्रह्म ओकार रूप है (यहाँ ख शब्द से भौतिक आकाश नहीं समझना चाहिए) । अतः
आकाश परमात्मस्वरूप है । जिसमें वायु रहता है, वह ही ख है, ऐसा कौरव्यायणी पुत्र ने कहा है

ॐ पूर्णमद इत्यादि खिलकाण्डमारभ्यते । अध्यायवत्पुष्टयेन यदेव साक्षादपरो-
क्षाद्ब्रह्म य 'आत्मा सर्वान्तरो निरुपाधिकोऽज्ञानायाद्यतो नेति नेतीति व्यपदेश्यो
निर्धारितो यद्विज्ञानं केवलममृतत्वसाधनमधुना तस्यैवाऽऽत्मनः सोपाधिकस्य' शब्दार्था-

पूर्वस्मिन्नध्याये 'ब्रह्मात्मज्ञानं 'सकल माङ्गोपाङ्ग' 'वादन्यायेनेक्तमिदानीं 'काण्डान्तरमवतार-
यति—पूर्णमिति । पूर्वाध्यायेष्वेव सर्वस्य वक्तव्यस्य समाप्तत्वात्'दलं खिलकाण्डराम्भेरोत्याशङ्क्य पूर्वश्रा-
वणं परिशिष्टं वस्तु खिलशब्दवाच्यमस्तीत्याह—अध्यायवत्पुष्टयेनेति । सर्वान्तर इत्युक्त इति शेषः ।
अमृतत्वसाधनं निर्धारितमिति पूर्वेण सवन्धः । शब्दार्थादित्यादिशब्देन मानमेयादिग्रहः । यदां शिक्षे-

अत्र 'पूर्णमद' इत्यादि श्रुति मन्त्रो से खिलकाण्ड का आरम्भ किया जाता है । पूर्वं के चार
अध्यायो मे जिस साक्षात्, अपरोक्ष ब्रह्म तथा जिस आत्मा का, सर्वान्तर, निरुपाधिक, क्षुधादि-धर्मा-
तीत, नेति-नेति द्वारा व्यपदेश्य होना बतलाया गया और जिसका ज्ञान होना ही केवल अमृतत्व का
साधन है (ऐसा निर्धारित किया गया है), अत्र शब्दार्थादि व्यवहार-विषयता को प्राप्त उसी (वस्तुतः

१ "गोत्ववसानुवृत्त यत्र व्यावृत्त च क्षणवत् । अनन्यमानमानन्द पूर्णं तदभिधीयते" ॥ वा १२ ॥ २
अथ ब्रह्मण भोङ्कारावलम्बनत्वेन ध्यानमाह—भोह्म ब्रह्मेति । मन्त्र । भोङ्कार व ब्रह्मेति व्येथ शान्तप्रानो
विष्णुरिति वत् । मन्त्र व्याचष्टे खमित्यादि ब्राह्मणम् । पुराणं चिरन्तन ब्रह्म अथवा वायुरं वायुमदाकाश
क्षम् भूतात्मकम् तदवच्छिन्न ब्रह्मोङ्कारावलम्बनम् । एव प्रतीकरूपक्षुभवा यथोक्तब्रह्मण भोङ्कारवाच्यमिति
पशान्तरमाह—वेद इति । ३. वस्तुतो निरुपाधिकस्य । ४ अविद्यया । ५ वाक्यार्थज्ञानम् । ६.
अमृतत्वफलसहितम् । ७ वादेति—सत्त्वबुभुक्त्वोर्वातजमपराजयेच्छयो सब्रह्मचारिणोर्मुर्दशिव्यथोर्वा प्रमाणेन
तर्केण च साधनदूषणात्मा पक्षप्रतिपक्षग्रहस्तत्त्वनिर्णयावसानो वादन्यायस्तेनेत्यर्थं । ८ खिलकाण्डम् । ९.
अल खिलकाण्डराम्भेनेति पूर्वं श्राणुकस्य वक्तव्यत्वेनावशिष्टस्य खिलशब्दवाच्यत्वादिति भावः ।

ॐ पूर्णमद इत्यादि । अत्राद्वैतिककारवादास्तथाहि—“कार्यकारणसंबन्धव्याजमाश्रित्य तत्परम् । व्याख्यात
यत्नतः पूर्वंमात्मज्ञानप्रसिद्धये ॥ चरितार्थंस्वतस्तस्य कार्यकारणपरवस्तुनः । निषेधामेयमुक्तिं स्मार्त्पूर्वमित्येव-
मादिना ॥ न व्यावृत्तमिदं सर्वं परात्प्रत्ययमानम् । नानुवृत्त तथैवेतन्प्राप्यभावंकतिष्ठितम् ॥ अध्यावृत्ताननु-

वायुरं खमिति ह स्माऽऽह कौरव्याथणीपुत्रो वेदोऽयं
ब्राह्मणा विदुर्वेदेनेन यद्वेदितव्यम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य

प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

अर्थात् ख शब्द का मुख्य अर्थ भूताकाश ही होता है । ब्रह्माकाश तो गौण अर्थ है । यह ओंकार, वेद, यानी नाम है, इसी ने वेदितव्य वस्तु ब्रह्म का प्रकाश होता है । ऐसा ब्राह्मण जानते हैं, क्योंकि जो वस्तु वेदितव्य है, उसका इसी ओंकार से बोध होता है ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

दिव्यवहारविषयापन्नस्य पुरस्तादनुक्तान्पुपासनानि 'कर्मभिरविद्वानि प्रकृष्टाभ्युदय-
साधनानि 'क्रममुक्तिनाञ्जि च यानि तानि वक्तव्यानीति परः संबन्धः 'सर्वोपासनशेषत्वे-
'नोकारो दम दान दयामित्येतानि च विधित्सितानि । पूर्णमदः पूर्णं न कुतश्चिद्व्यावृत्तं
ध्यापोत्येतद् । निष्ठा च कर्तारि ब्रह्मव्या । अद इति 'परोक्षानिधायि सर्वनाम तत्परं

दित्युक्तानीति शेष । ओंकारादि यत्र साधनत्वेन विधित्सितं तत्पूर्वोक्तमर्थज्ञानमनुवर्तति—पूर्णमिति ।

निरुपाधिक किन्तु अविद्या द्वारा) सांपाधिक आत्मा की उन (त्रिविध) उपासनाओं का जो पहले
वर्णन नहीं की गई है, जो कर्म की समृद्धि के लिए है, प्रकृष्ट अभ्युदय की साधन तथा क्रममुक्ति की
प्राप्तिका है उनको वर्णन किया जाना है, इसलिए आगे का संबन्ध है । अथवा सर्वोपासना का शेषत्व
ओंकार, दम, दान, और दया इनका विधान करना इष्ट है । 'पूर्णमद' इस वाक्य में 'पूर्णम्' पद का
अर्थ व्यापक है अर्थात् जो कहीं से व्यावृत्त न हो । यहाँ 'निष्ठा' प्रत्यय कर्ता अर्थ में समझना चाहिए ।

१ ओंकार । २ विषयताभाष्यस्य । ३ उपासनानि तेषां विभजते—कर्मभिरित्यादिना । कर्म-
समृद्धयर्थानीति यावद् । ४ क्रममुक्तिकराणि । ५ ओंकारदीनां विधित्सितत्वे हेतुमाह—सर्वोपासनेति ।
६ वक्तव्यमर्थान्तरमाह—ओंकार इति । ७ निष्ठा चेति—वादान्तघान्तपूर्णदस्तस्यष्टच्छत्रजज्ञा' इति
सूत्रे 'पूर्वो' भाष्याग्ने इति दैवादिकस्य चौरादिकस्य च धातोरिद्भावेन पूर्णोति निष्ठान्द निरत्यते खिज तस्य
धाराधावन च वृद्धिरिति तत्रार्थे इदार्थेणिजन्तत्वेनाकर्मकस्य चौरादिवस्यात्र रूपं धाह्य गत्यर्थकर्मकेति सूत्रा
नुसारेण तत कर्तारि निष्ठाविरोधात् । दैवादिधात् प्रेरणाखिज मकर्मकत्वेन तदसमवात् न तदग्रह पृथातोस्तु
निष्ठाया पूर्वं इत्येव भवति 'न ध्यात्वापुमुञ्जिममिति निष्ठान्त्वनिषेधात् । तथा च पूर्यति निरतिशय बर्धत
इति पूर्णमिति ऋपति । कर्मणि निष्ठायां स्वान्येन वधितमित्यनिष्ट प्रसज्यत इति कर्तारि निष्ठाऽऽस्तेति
ध्येयम् । ८ कापानुमेयति यावद् ।

गतमात्मप्रत्ययमीरितम् । यस्मात्पूर्णमिदं साक्षात्तादात्म्यं तेन वर्ण्यते ॥ धर्मावर्षम्याविज्ञाततत्त्वमात्रैकनिष्ठिनम् ।
सम्बन्धान् यतस्तस्यात्पूर्णं तज्जेयमुच्यते ॥ ७-११ ॥ इति । काण्डारम्भमुक्त्वा पूर्णवाक्यस्य वृत्तमनूय
मात्पर्यमाह—कार्ष्णेति । निष्ठाभूत भागकारणसम्बन्धमाश्रित्य तात्पर्येण ब्रह्मव्याख्यानस्य फलमाह—धात्मेति ॥
सत्प्राप्तज्ञाने कायदिनादस्यैव कल्पितस्य इतफलतया पुनरनुपयोगात्तन्निषेधाद्यं पूर्णवाक्यमित्याह—परितार्थत्वतः

ब्रह्मेत्यर्थः । 'तत्संपूर्णमाकाशवद्ब्रह्मापि निरन्तरं निरुपाधिकं च । 'तदेवेदं सोपाधिकं नामरूपस्य' 'व्यवहारपन्नं पूर्णं' 'स्वेन रूपेण परमात्मना व्याप्येव नोपाधिपरिच्छिन्नेन विशेषात्मना । तद्विदं विशेषापन्नं' 'कार्यात्मकं ब्रह्म पूर्णाकारणात्मन उदच्यत उद्विच्यत उद्वच्छतीत्येतत्' । यद्यपि कार्यात्मनोद्विच्यते तथाऽपि यत्स्वरूपं पूर्णत्वं 'परमात्मभावं तन्न' जहाति पूर्णमेवोद्विच्यते । पूर्णस्य कार्यात्मनो ब्रह्मणः पूर्णं पूर्णत्वमादाय

अवयवार्थमुक्त्वा समुदायार्थमाह— तत्संपूर्णमिति । अदः पूर्णमित्यनेन लक्ष्य तत्पदार्थं दर्शयित्वा त्वपदार्थं दर्शयति—तदेवेति । कथं सोपाधिकस्य पूर्णत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वेनेति । "व्यवयवार्थमाह—नोपाधीति । "न वयमुपहितेन" विशिष्टेन रूपेण पूर्णतां वर्णयामः कितु केवलेन स्वरूपेणेत्यर्थः । लक्ष्यौ तत्पदार्थविवृत्त्वा तावेव वाच्यौ कथयति—तद्विदमिति । कथं कार्यात्मनोद्विच्यमानस्य पूर्णत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति । लक्ष्यपदार्थकथनफलमुपन्यस्यति— पूर्णस्येति ।

"अद" यह कार्यानुभेय सर्वनाम है । इसका अर्थ वह परब्रह्म है । ब्रह्म सम्पूर्ण है अर्थात् आकाश के समान व्यापक, निरन्तर और निरुपाधिक है । "इदम्" अर्थात् (उक्त तत्पदलक्ष्य) वही यह नामरूपादि उपाधिविशिष्ट शब्द-प्रत्ययगोचर "पूर्णम्" अर्थात् सोपाधिक पूर्ण है, अपने निरुपाधिक परमात्म स्वरूप से व्यापक है, उपाधि परिच्छिन्न विशेष रूप से व्यापक नहीं है । वही यह विशेषता को आपन्न (त्वपदवाच्य) कार्यात्मक ब्रह्म "पूर्णात्" अर्थात् (तत्पदवाच्य) कारण ब्रह्म से "उदच्यते" अर्थात् उद्भव होता है यानी उत्पन्न होता है । यद्यपि यह कार्यरूप से उत्पन्न होता है; तदापि जो भी इसका परमात्म-

१ ब्रह्म । २. उक्त तत्पदलक्ष्यम् । ३ सोपाधिकत्वमेव विग्रहयति—नामेति । नामानुपाधिविशिष्टमित्यर्थः । ४. शब्दप्रत्ययगोचर । ५. निरुपाधिनेन । ६ त्वपदवाच्यम् । ७. तत्पदवाच्यात् । ८. उद्वच्छति—उत्पद्यते घटाकाशो महाकाशादिवेत्यर्थः । ९ परमात्मभाव तन्न जहातीति—परमात्मभावात्मक तत्पूर्णत्वं न जहातीत्यर्थः । १० (पूर्णं) स्वभावत्यागायोगात् । ११. स्वेनेत्यादिविशेषणव्यावर्त्यम् । १२ नोपाधिपरिच्छिन्नेनेति भाष्याद्यंमाह—न वयमुपहितेनेति । १३ विशेषात्मनेत्येतद्व्याचष्टे—विशिष्टेनेति । विलक्षणनेत्यर्थः ।

इति ॥ ननु कार्यादि ब्रह्मणि निषिद्धमिह निषिद्धपदव्यवहारस्तीति चेद्ब्रह्मणो न पूर्णता तस्य ब्रह्मात्मत्वेऽपि स एव दोषः परिच्छिन्नाभिन्नस्य पूर्णत्वायोगात्तत्त्वेच्छमध्यक्षादिविरोधः स्यादित्याशङ्क्यान्वयास्तित्वकृत दोष तावन्निरस्तयति—नेत्यादिना । न हीद ब्रह्मणोऽन्यत्रास्ति भेदस्य दुनिरूपत्वात् न ततोऽप्यन्तर स्वत परतश्च सिध्यति जडत्वाच्चिदसवन्धाच्चेत्यर्थः । अन्नेदप्रयुक्तदोषः [प्रत्याह—परामिति । न हीद प्रत्यगभिन्न पराकथेन भानादित्यर्थः । जडाजडयोर्भेदाद्योगाच्च न ब्रह्माभिन्न तदित्याह—नेति । यद्येतावन्तं ध्यावृत्त तर्थाव-नुवृत्तमपि न भवतीत्यर्थः । तुच्छत्वनिमित्तदोष निराह—नापीति । अणुरोक्षप्रतीतेर्यक्रियात्पदेऽप्येत्यर्थः ॥ अन्वय-व्यतिरेकाभावंजगतौ दुनिरूपत्वे फलितमाह—अध्यावृत्तेति । यस्माच्चिद जगदन्वयादित्यागेनाद्वय स्वप्रकारं ब्रह्मैव तस्मात्पूर्णस्येत्यादिवाक्येन यदैक्य स्फुटमुच्यते तद्युक्तमित्यर्थः ॥ ननु प्रत्यग्ब्रह्म ज्ञायते न वा न चेन्न पूर्णतानिश्चयो ज्ञायते चेज्ज्ञानस्य पृथग्भावात् पूर्णत्वं तत्राऽऽह—अज्ञातेति । सर्ववत्पनाधिष्ठानतया तत्स्वरूप ब्रह्म सम्यग्ज्ञानस्य विषयस्तस्य च वाक्यीयधीवृत्तिरूपस्य कार्यान्तरांमाद्ब्रह्मैव यतो रूपमसौस्य युक्ता पूर्णतेत्यर्थः ॥

गृहीत्वाऽऽत्मस्वरूपं करसत्त्वमापाद्य विद्यायाऽविद्याकृतं 'भूतमात्रोपाधिसंसर्गमन्त्वावभासं
तिरस्कृत्य पूर्णमेवानन्तरमवाह्यं' प्रज्ञानघनं करसत्त्वभावं केवलं ब्रह्मावशिष्यते ।

यदुक्तं 'ब्रह्म वा इदमग्रं आसीत्तादात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीतितस्मात्तत्सर्वमभव-
दित्येषोऽस्य मन्त्रस्यायः । 'तत्र ब्रह्मोत्पत्त्यायः पूर्णमद इति । इदं पूर्णमिति ब्रह्म वा
इदमग्र आसीदित्यस्यायः । तथा च श्रुत्यन्तरम्—“यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह” इति ।
'अतोऽदःशब्दवाच्यं पूर्णं ब्रह्म तदेवेद पूर्णं कार्यस्यं नामरूपोपाधिसंयुक्तमविद्याद्विक्तम् ।
तस्मादेव परनायंस्वरूपादन्यदिव प्रत्यवभासमानम् । 'तद्यदात्मानमेव परं पूर्णं ब्रह्म

उपक्रमोपसंहारयोरेकरूप्यमेष्ये धृतितात्पर्यलिङ्गं सगिरते—यदुक्तमिति । कथं पूर्णकण्डि-
काया ब्रह्मकण्डिकाया सहैकार्यत्वेनैकवाक्यत्वमित्याशङ्क्य तद्वत्त्वादयति—तत्रेत्यादिना । उपक्रमोप-
संहारसिद्धे ब्रह्मात्मन्ये कठश्रुति संवादगति—तथा चेति । ब्रह्मात्मनोरैक्यं“मुक्तमुपजीव्य वाक्यार्थ-
माह—अत इति । पूर्णं यद्ब्रह्म इति यच्छब्दो द्रष्टव्यः । उक्तमेव ध्यनक्ति—तस्मादेवेति । संभारावस्थां
दर्शयित्वा मोक्षावस्थां दर्शयति—तद्यदात्मानमिति । उच्यते विद्याफले वाक्योपक्रममनुकूलयति—तथा

भावात्मक नत्पूर्णत्व है, उसे नहीं छोड़ता अर्थात् पूर्ण ही उत्पन्न होता है । “पूर्णस्य” अर्थात् कार्यात्मक
ब्रह्म की “पूर्णम्” अर्थात् पूर्णता को ग्रहण कर, आत्मस्वरूप एकरसता को प्राप्त कर, विद्या के द्वारा
अविद्याकृत कार्यकारण-सघात उपाधि के संसर्ग से होने वाले भेद प्रत्यय को तिरस्कृत कर “पूर्णमेव”
अर्थात् अन्तरवाह्य-रहित, प्रज्ञानघन, एकरसस्वभाव केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है ।

जो पहले श्रुति मे यह कहा गया है—(‘परब्रह्म की सर्वभावापत्ति विद्या सापेक्ष न होने से)
मृष्टि के पूर्व मे हिरण्यगर्भ ही था, उसने केवल आत्मा को ही जाना, उसमे उसे सर्वभाव की प्राप्ति ही
गयी है’ यही (पदार्थज्ञान-पुर मर लक्ष्यार्थ की ऐक्यापत्ति रूप) इस मन्त्र का अर्थ है । वहाँ (ब्रह्म-
कण्डिका मे) ‘ब्रह्म’ इस पद का अर्थ है “पूर्णमद” और “इद पूर्णम्” यह (ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्)
'मृष्टि के प्रारम्भ केवल हिरण्यगर्भात्मक ब्रह्म था' इस श्रुति वाक्य का अर्थ है । ऐसी ही एक दूसरी
श्रुति भी है 'जो चैतन्य वस्तु जीव उपाधि मे सर्वबुद्धि की साक्षी रूप से रहती है, वही यहाँ ईश की
उपाधि प्रज्ञान मे रहती है और जो यहाँ रहती है, वही वहाँ रहती है' । इसलिए (ब्रह्मात्मैक्य उक्त
होने मे) जो 'अद' शब्द वाच्य पूर्ण ब्रह्म है, वही “इद पूर्णम्” अर्थात् कार्यरूप मे स्थित नामरूपादि
उपाधि विशिष्ट अविद्या मे उत्पन्न है । इसलिए परमात्म स्वरूप से अन्य के समान प्रत्यवभासित

१ भूतमात्रा - कार्यकरणमघात । २ भेदपर्ययम् । ३ अर्थे प्रबोधोप्रागपि इदं शरीरस्य प्रमात्रादि-
साक्षिभूतत्वं पदलक्ष्यं ब्रह्मैवास्मिद् । ४ वृत्त १५ १० । ५ एष इति । तदुक्तं वातिके—“ब्रह्म वा
इदमित्यादि मधुकाण्डे यदीरितम् । तदेव पूर्णमित्यादिवाक्यनेहोपसंहृतमिति” ॥ १७ ॥ एष इति—ब्रह्म-
कण्डिकोक्त पदार्थज्ञानपुर मर लक्ष्यार्थोपाध्यापत्तिरूप इत्यर्थः । ६ तत्र ब्रह्मोत्पत्त्यादि—तत्र ब्रह्मकण्डिकायां
ब्रह्मेति पूर्णमद इत्यस्यायं इत्यत्र योजयन्ति । वस्तुतस्तु भयोरेकवाक्यत्वेन यथाश्रुतसिद्धिं नानुपपत्तिरिति ध्येयम् ।
७ यदेवेहेति—यच्चैतन्मन्त्रस्य जीवोपाधौ सर्वबुद्धिसाक्षितया वर्तते तदेवामुत्रेशोपाधावज्ञान इत्यर्थः । ८. ब्रह्म-
कण्डिकायां ब्रह्मात्मनोरैक्यस्योक्तत्वात् । ९. तदात्मानमिति पाठः । १०. तृतीयाध्याये ।

विदित्वाऽहमदः पूर्णं ब्रह्मास्मीत्येवं पूर्णमादाय तिरस्कृत्यापूर्णस्वरूपतामविद्याकृतां नाम-
रूपोपाधिसंपर्कजामेतया ब्रह्मविद्याया ऋपूर्णांभेव केवलमवशिष्यते । तथा चोक्तम् “तस्मा-
त्तत्सर्वमभवत्” इति ।

यः सर्वोपनिषदर्थो ब्रह्म म एपोऽनेन मन्त्रेणानूद्यत उत्तरसंबन्धायम् ।- ब्रह्मविद्या-

चोक्तमिति ।

न केवलं ब्रह्मकण्डिकयैदास्य मन्त्रस्यैकवाक्यत्व किंतु सर्वाभिरुपनिषद्भिरित्याह—य सर्वो-
पनिषदर्थ इति । अनुवादफलमाह—उत्तरेति । तदेव स्फुटयति—ब्रह्मविद्येति । तस्माद्युक्तो ब्रह्मणो-

होता है । तब अपने को पूर्ण परब्रह्म जानकर ‘मैं ही वह पूर्ण ब्रह्म हूँ’ इस प्रकार पूर्णत्व को ग्रहण कर
अविद्या उपादान नाम-रूपादि निमित्त अपूर्ण स्वरूपत्व को तिरस्कृत कर ब्रह्मविद्या के द्वारा केवल
पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है । कहा भी है—‘इससे वह सर्वभावापन्न हो गया’ ।

जो सभी उपनिषदों का ब्रह्मात्मैक्य रूप अर्थ है, उसका इस मन्त्र में उत्तर ग्रन्थ से सवन्ध
दिखाने के लिये अनुवाद किया जाता है । तथा जो खिलप्रकरण पठित होने से सामानाधिकरण्य से,

१ अविद्योपादानिका नामादिनिमित्तिकाम् । २ ब्रह्मात्मैक्यमित्यर्थं । ब्रह्मशब्दरहितोऽपि ऋचित्पाठ ।

ऋ पूर्णमेव केवलमवशिष्यते इति । अत्राहुर्वातिकाचार्यास्तथाहि—“क्षेत्रज्ञेश्वरभेदेन ह्यग्निं वस्त्वविद्या ।
भिन्न बोधात्तमोष्वस्तौ नेतीत्यस्माज्जविष्यते ॥ न भेदो न च ससर्गो नाप्यभावोऽवसीयते । तन्मूलाज्ञान-
विष्वक्स्तेर्मथोत्पागमगानत ॥ स्रगज्ञानमनादाय तदुत्थं सगतिं स्रज । नैव सभाव्यते यद्गतयेहाऽऽमनि
बोधयताम् ॥ कार्यकारणयोर्वैस्तावपूर्वाद्युतिबोधत । प्रात्मप्रत्ययमागम्य स्वार्थं प्रात्माऽवशिष्यते ॥ यादस्य
द्वये रूपमात्मनैवावगम्यते । तावदेव हृताध्यस्य तदग्यानवशेषत ॥ यदेवेति च तथा मन्त्रोऽप्युच्चैर्जगाद न ।
ग्रन्थदेवेति च श्रुति कार्यैतरनिषेधिनी ॥ प्रात्मेतिदृष्टेर्मयत्व स्वार्थाङ्गगतितोऽपरम् । नाग्यदुःमहते बोटुमिति
पूर्वमवादिष्यम्” ॥ २१ २७ ॥ इति । कथं तयोरेवधीर्भेदधीविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह—क्षेत्रज्ञेति । वस्तुतः
श्रुतिस्मृतियुक्तिप्रसिद्धेरभिप्रायमि वस्तु जीवेश्वरजगदभेदेनाविद्या भिन्न प्रतिभाति ततश्च विद्यायाऽविद्याविष्वक्से
निविशेषमेकमेवाऽऽत्मरूप सिध्यतीत्यर्थं ॥ निविशेषमात्मतत्त्वमवशिष्टमित्यश्लिष्ट भेदो वा ससर्गो वाऽन्यापोहो
वा वाक्यार्थ इति स्थितरित्याशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना । तत्र हेतु—तन्मूलेति ॥ वाक्योपेयज्ञानाद्भेदादि-
मूलाज्ञानाध्वसेऽपि तसगतिरतस्मिन् स्वाभाविकी किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—सगिति । बोधयतामज्ञानो-
त्थैर्भेदादिभि संगतिरज्ञानकृतैवेति शेष ॥ अज्ञानादात्मनि भेदादिसवन्धेऽपि कथं तस्यैकरस्यमित्याशङ्क्याऽऽह—
कार्येति । सकार्याविद्याध्वस्तावार्ता स्वरूपेणैव शिष्यते चेत्पूर्वकमन्यादक्षतया सविशेषेत्याशङ्क्याऽऽह—यार्थेगिति ।
देहादी साक्षित्वलक्षणं यद्ग्रहमविद्यादशायामस्य स्वरूपेणानुभूत तदेव विद्यावस्यार्था ध्वस्ताविद्यारमाऽऽत्मनो
रूपं तदध्वस्तावन्वस्मानवशेषादतो युक्तमैकरस्यमित्यर्थः ॥ तत्र श्रुति प्रमाणमिति—यदेवेति । तदमुत्र यदमुत्र
सदन्विहेति शेषसद्ब्रह्मार्थं । तथेत्येक्योक्तिः । अकार्यकारण तत्त्वमित्यत्रापि श्रुतिमाह—ग्रन्थदिति ॥ प्रात्सनि
शाते सर्वं शातं भवतीत्यात्मज्ञानेन सर्वस्य जैयत्वोपगमात्तन्निषेधश्रुति श्रुत्यन्तरविरुद्धेत्याशङ्क्याऽऽह—
ग्रन्थेति । तदर्थदृष्टेस्तावप्रानात्मानं गोचरयत्यात्मरहित्वव्याघातात्प्र चानात्मा यद्विषयस्तत्रविरोधादात्मज्ञानेन
सर्वज्ञानश्रुतिस्तु तदितरसर्वभावात्तस्मात्कार्यैतरनिषेधसिद्धिरित्यर्थं ॥

साधनत्वेन हि वक्ष्यमाणानि साधनान्याकारदमदानदद्यात्पानि विधित्सतानि 'खिल-
प्रकरणसंबन्धात्मवोपासनाङ्गभूतानि च ।

ॐ प्रश्नके वर्णयन्ति—पूर्णकारणात्पूर्णं कार्यमुद्दिष्यते । उद्दिक्तं कार्यं वर्तमान-
कालेऽपि पूर्णमेव परमार्थवस्तुभूतं द्वैतरूपेण । पुनः प्रलयकाले पूर्णस्य कार्यस्य पूर्ण-

श्रुत्याव इति शेषः । कथं 'तहि सर्वोपासनशेषत्वेन विधित्सितस्वर्गोकारादीनामु'क्तमत ग्राह—पिनेति ।

अद्वितीयं ब्रह्मेत्युक्तं प्रवृत्तं शास्त्रं प्रलयावस्थमहाविषयं सृष्टिशास्त्रं तु विशेषप्रवृत्तं तस्या-
पवादास्ततो द्वैताद्वैतरूपं ब्रह्म सर्वोपनिषदपर्यन्तदेव ब्रह्मानेन मन्त्रेण सक्षिप्यत इति भर्तृप्रपञ्चपलमुत्या-
पयति—प्रनेत्यादिना । कार्यकारणगोरुपत्तिकाले पूर्णस्वपुवत्त्वा स्थितिकालेऽपि तदाह—उद्दिक्त-
मिति । प्रलयकालेऽपि तयोः पूर्णत्वं दर्शयति—पुनरिति । कालभेदेन कार्यकारणयोरेकतां पूर्णतां निग-

समस्त उपासनाभो के अङ्गभूत है, उन वक्ष्यमाण ओङ्कार, दम, दान, दयासंज्ञक साधनों का ब्रह्मविद्या
के साधन रूप से विधान करना अभीष्ट है ।

यहाँ (द्वैताद्वैत मत वाले भर्तृप्रपञ्चादि) कुछ विचारक ऐसा कहते हैं कि पूर्ण कारण से पूर्ण
कार्य होता है । उल्टा हुआ कार्य वर्तमान काल में परमार्थ-वस्तुभूत द्वैतरूप से पूर्ण ही है । पुनः प्रलय-
काल में पूर्ण कार्य की पूर्णता को लेकर अर्थात् आत्मा में धारण कर कारणरूप पूर्ण ही रह

१ एकप्रकरणफलितत्वेन सामानाधिकरण्यात् साहचर्यादिति यावत् । २. तहि—ओङ्कारादीना ब्रह्मविद्या-
साधनत्वेन विधित्सितत्वामुपगमे । ३. १३५६पृष्ठभाष्ये द्रष्टव्यम् ।

ॐ प्रश्नके वर्णयन्तीत्यारम्भ तदपरिचयन प्राक्तनपूर्वपक्षभाष्यतात्पर्याविकरणपरानि वानिवाग्युपन्यस्यन्ते—
“एव यथोदिते सावत्प्रमाचार्येऽप्यवस्थिते । अग्नयेद वच, केचिद्ब्रह्मावक्युरतिनैनुशात् ॥ पूर्णमित्यादिवाक्यस्य
पद्यन्त्यवचसा सह । वस्तुकामो हि सर्व-भवेत् यत्नारचीकृत् ॥ द्वैताद्वैतात्मक ब्रह्म मैत्रेय्ये वणितं बिल ।
यत्र हि द्वैतमित्युक्त्या यत्र स्वस्मेति चाऽऽदरात् ॥ यद्यद्वैतं परं ब्रह्म तत्र स्यात्परमार्थतः । कल्पित प्रसज्येद्वैतं
तोयबुद्धिरिषोरे । मृषात्वाद्भेदजातस्य सर्गस्थिराद्यासभवात् । सर्गस्थितिलमाना स्यादन्वाख्यानं मृषैव तु ॥
श्रवणप्रतिपत्ती 'व व्यर्थं स्यातां तयाऽद्भये । अथ स्वैर्नैव रूपेण द्वैतमस्तीति भण्यते ॥ अन्वाख्यानं सतामेव
सर्गादीना तथा भवेत् । तयाऽप्यद्वैतसष्टेर्मृषात्व स्याद्विरोधतः ॥ परिकल्पिततादोष एवमत्र प्रसज्यते ।
सर्वोपापनुत्साये पूर्णमित्यादिकां श्रुतिः ॥ न कश्चिदपि दोषोऽत्र यथा तदभिधीयते । स्वानुभूत्यनुसारेण सर्वं
सुखं भवेदतः ॥ अथ परोक्षमत्यन्त कारणं पूर्णमुच्यते । व्योमवद्व्यापि सद्वह्य सर्वतोऽनवसङ्गितम् ॥
ब्रह्मणो मा-इत्यावस्या संव सावदिहोदितता । एवं चेददय ब्रह्म द्वैतावस्थानं सिध्यति ॥ इतिदोषनिषेधार्थमिदं
पूर्णमित्येति । यथोक्तावस्थमोमी भूगृपात्व ब्रह्मण सदा ॥ पूर्णं ब्रह्मपरिज्ञानाभ्यतिरेकवहेतुतः । अदोषकार्य-
मप्येतत्पूर्वमेवावसीयताम् ॥ पूर्णताभेदतः कार्यं पूर्णं स्यात् मृषा श्रुतेः ॥ यद्यतो नातिरेकेण तत्तदेवेति
निश्चितिः ॥ एव तद्वैतं रूपेऽस्मिन्नस्त्वे सत्ये समदिते । तत् सर्गाद्यभाव स्यादेकरूपतया स्थिते ॥ नैवं यतः
श्रुतिः प्राह पूर्णत्वमुदच्यते । पूर्णकारणतः पूर्णं द्वैतमेतदुच्यते ॥ यस्माद्ब्रह्मिण्यमानं हि द्वैतं नैवातिरिच्यते ।
तदेवोद्भेदं चेतस्याद्द्वैतस्येति भर्तृ मदि ॥ नैतदेव कुतो यस्माद्दृष्टहानं प्रसज्यते । प्रत्यस्ततो हि श्रेष्ठोऽयं द्वैताद्यो
विषयः स्फुटः ॥ तथा दर्शनतः सिद्धो विधितभावसीयते । प्रागाम्योच्छेद एव स्याच्छ्रुतेरेव समर्थे ॥
पारमार्थ्यं वचिच्छास्त्रं वचिच्छाप्यनुत्तरमताम् । विदयन्मानतां जहात्परस्परविरोधतः ॥ पूर्णरवेर्नाजहद्वृत्त्या

तामादायाऽऽत्मनि धित्वा पूर्णमेवांशशिष्यते ' कारणरूपम् । एजमुत्पत्तिस्थितिप्रलयेषु त्रिष्वपि कालेषु कार्यकारणयोः पूर्णतैव । सा चैकैव' पूर्णता कार्यकारणयोर्भेदेन व्यप-

मयति—एवमिति । कार्यकारणे द्वे पूर्णे चेत्तर्हि कथमद्वैतसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—सा चेति । कथं तर्हि द्वयोश्चतं पूर्णत्व तदाह—कार्यकारणयोः । एका पूर्णता व्यपविश्यते च द्वयोरिति स्थिते लक्ष-

जाता है । इस प्रकार उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय रूप तीनों कालों में कार्य और कारण की पूर्णता ही है । (विभागसाधकाभाव होने से) वह एक पूर्णता ही कार्य-कारण भेद से उपपादित की जाती है । इस

१ विभागसाधकाभावात्तस्या । - २ कार्यकारणभेदतो भेदेन व्यपदेशार्हा ।

त्रिपदव्यध्वमु वर्तते । द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्म पूर्णत्वेनाविभागत ॥ कुतोऽविभागो मानाच्छुद्धमो रप्यवश्यतो । पूर्णादित्यादिवचनामहाप्रसन्न घातमनि ॥ इदं च द्वैतमस्त्येव । तथाऽद्वैतमेव च । पूर्णत्वात्पात्रहृदवृत्त्या समुद्रोन्निवदीदृश्यात् ॥ भग्नं चत्तत्वमूर्ध्ना भग्न इषच्चलात्तमता । निष्कम्पत्वं तथा मूले समुद्र, सवरपशुत् ॥ ययैता शीगपद्येन वृत्तीरुपिभिरात्मन । अनुभूयन्त एकत्र देवदातादिके तथा ॥ निष्कम्पा देवदत्तस्य वृत्ति स्यात्परमात्मना । इषत्प्रचलिता प्राणभावेनेत्यवगम्यते ॥ विराड्भावेनातितरं चण्डश्रचनितोमिवत् । ऊर्म्य-श्रवतिष्ठभावे नामरूपक्रियात्मना ॥ जगिद्विद्वित्तयेष्वेव त्रिषु कालेषु पूर्णता । कार्यकारणयोर्मया द्वैताद्वैत स्वभावो, ॥ सा चैकैवाविभागत्वात्कार्यकारणभेदत । भेदेन व्यपदेशार्हा सर्वमेव समञ्जसम् ॥ आनिभवि-तिरोभावे कार्यकारणरूपिणि । समुद्रवन्नुर्यति च प्रत्यवश्यं विभु स्थित ॥ एज द्वैतस्य सत्यत्वे कर्म-काण्डस्य मानता । अनन्तपुरुषायासिरिष्यते कर्मकाण्डत ॥ यदा तु कल्पित द्वैतमद्वैत परमायंत् । उच्चिन्न कर्मकाण्डस्य प्रामाण्य विषयस्ते । एकदेशस्य चामात्वे वेदस्याप्यप्रमाणता । सर्वतामो भवेदेव सर्वप्रामाण्य हेतुत ॥ प्रतो विरोधानुत्तर्यं सत्यत्वप्रतिपत्तये । कार्यकारणयो शास्त्रं पूर्णमित्यादिनाऽबदत् ॥ प्रत्यक्षादीनि मानानि भेदप्राहीणि सर्वदा । तेषां चाप्यप्रमाणत्वं प्रापद्वैतवादिन " ॥ २८-६२ ॥ इति । पूर्णवाक्यमखण्डा-द्वयप्रत्यग्रहूपर व्याख्यातमिदानीं भवत्प्रपञ्चव्याख्यानमुत्पादयति—एवमिति । प्रमाण पूर्णवाक्यम् ॥ कथमन्यथा व्याख्यानमित्याशङ्क्य तदर्थं परोक्तमवगमनुदवति— पूर्णमित्यादीति । पूर्णवाक्यस्य यत्र हीत्यादि वाक्येन सवन्धं वक्तुमिच्छन्तस्तदर्थं यस्यात्प्रकारेण विचार्यं कल्पितवन् इत्यर्थं । यथाव्यापावसानिक वाक्यप्रतीकवाक्यप्रहारां हिंसाद् ॥ कल्पित वाक्यार्थं दशयति—द्वैतति । नित्यसमात्तृक्ता । मैत्रेयीब्राह्मण मित्राभिन्नं ब्रह्मेति वाक्यं नास्ति चेतशाऽऽह—यत्र हीति । यत्र हि द्वैतमिति द्वैतात्मकं ब्रह्मोक्त्या यत्र त्यस्येयद्वैतामयं तदुक्तं तथाच वाक्याभ्यां मित्राभिन्नब्रह्मसिद्धिरित्यप ॥ सवप वक्तुं कार्यस्य चद्विषय कल्पितरतर्हि कोशो सवन्धं इत्यागच्छुप तं वक्तुमाश्रियति—यथेति । तत्रेति मैत्रेयीशरणोक्ति । परैत द्वैत पा वास्तवमिति विकल्प्याऽऽवे द्वैतस्य मृत्वात्प्रसक्तिरित्युक्तं तत्र हेतुगर्भं रणान्तमाह—तीयेति । ऊर तोयधीवद्वैतधियो भ्रमत्वादित्यर्थं ॥ इष्टमत्र तस्य कल्पितत्वमित्यागच्छुप निविशयतया मृत्पादिभूतार प्रामाण्यप्रसक्तिदोषमाह—मृत्पात्वादिति । तत्रैव दोषान्तरमाह—यद्वर्णेति । ब्रह्मव्यवस्तवे सति मननादि सक्ति श्रवण तत्पुंतावधिरनाधेयानिशातराम्यफले स्वाता तथाचोचरनिवयमाप्यमित्यर्थं ॥ द्वितीयमुत्पादयति प्रयेति ॥ द्वैतस्य स्वरूपेण सर्वं फलितमाह—प्रत्वाख्यातमिति । सर्गाद्विद्युत्तमर्नान्तरमङ्गीदृश्य दूरयति—सत्पाश्रीति । यद्वैतव्येदेषि द्वैतवर्तिव्यप्रमात्वमागच्छुपाऽह—विराघत इति । नैत्र त इष्टप्रमाणे मन प्रकाशसिद्धवदित्यर्थं ॥ बल्पद्वये दशित दोषं निगमयति—परिकल्पिततेति । प्रनेति कल्पद्वयाक्ति । पापेता

दिश्यते । एवं च द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्म । यथा किल समुद्रो जलतरङ्गफेनबुद्बुदाद्यात्मक एव । यथा च जलं सत्यं तद्बुद्बुवाश्च तरङ्गफेनबुद्बुदादयः समुद्रात्मभूता एवाऽऽविर्भाव-तिरोभावधर्मिणः परमायंसत्याः । एवं सर्वमिदं द्वैतं परमायंसत्यमेव जलतरङ्गादि-

मर्थमाह—एवं चेति । एकं ह्यनेकार्कामकमिति विप्रतिपेधमाशङ्क्य हृष्टान्तेन निराचष्टे—यथा किमेति । एवमेकं ब्रह्मानेकार्कामकमिति शेषः । ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वेऽपि सत्यमद्वैतमसत्यामन्तरविध्याशङ्क्या-

प्रकारं द्वैत-अद्वैतात्मक रूप एव ही ब्रह्म है । जिस प्रकार समुद्र जल, तरङ्ग, फेन, बुद्बुद इत्यादि रूप ही है । जिस प्रकार उसमें जल सत्य है, वैसे ही जल में उत्पन्न होने वाले आविर्भाव-तिरोभावधर्मी तरङ्ग, फेन, बुद्बुद आदि भी समुद्ररूप और परमार्थतः सत्य हैं । इस प्रकार यह जलतरङ्गादिस्यानीय और समुद्रजलस्यानीय सारा द्वैत परमार्थतः सत्य ही है । इस प्रकार द्वैत के सत्य हो जाने पर कर्मकाण्ड

सत्त्वेन मन्त्रमवतारयति—तद्दोषेति । शङ्कितदोषस्येप्यमाणापनोदार्थं पूर्णवाक्यमित्यर्थः ॥ कथमत्र तन्निरसन-मित्याशङ्क्याऽऽह—नेति । द्वैताद्वैतयोरेक्यतरस्य मृपात्वप्रयुक्तो दोषो यथा न भवति तथा द्वयोरवस्थयोर्वस्तुत्व-मस्मिन्मन्त्रे कल्प्यतेऽत एवानुभवादद्वैतस्याद्वैतस्य च श्रुतिवशादिप्रत्वात्कर्मकाण्डप्राधान्यादि सम्भवतोत्तर्यर्थः ॥ तात्पर्यमुक्त्वा पूर्णमद इत्यस्यायंमाह—मद इति ॥ वाक्यमुपसहरति—ब्रह्मण इति । पूर्णमिदमिति वाक्य गङ्गापूर्वकमादत्ते—एव चेदिति ॥ द्वयोरवस्थयोर्वस्तुत्व मन्त्रप्रकाशमित्युक्तं कथं निर्वहेदित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । तत्र हेतुः—सवेति । तयोरवस्थयोः सदा सत्त्वादित्यर्थः ॥ अद्वैतावस्था यद्यपि सदा सती वास्तवी तथाऽपि न द्वैतावस्था तथेत्याशङ्क्याऽऽह—पूर्णेति । ब्रह्मैव पूर्णं परितो ऋषिरेव तस्मादव्यतिरेकत्वात्कारण-बलकार्यमपि पूर्णमेवेत्यर्थः ॥ तथाऽपि कथं वास्तवमित्याशङ्क्याऽऽह—पूर्णेनेति । तस्य पूर्णाभिधे मानमाह—श्रुतेरिति । पूर्णमिदमिति श्रवणादित्यर्थः । पूर्णात्कार्यस्याव्यतिरेकेऽपि कथं वस्तुत्व तथाऽऽह—यद्यत् इति । अत्र घटशरावाद्युदाहरणम् ॥ पूर्णादित्यादिवाक्यस्य व्यावर्त्यां शङ्कामाह—एव तर्हीति । अत्रत्याद्वयस्य सत्यत्वे कार्यकारणत्वव्यवस्थानुपपत्तिरित्यर्थः । एकरूपत्वमत्र द्वैताद्वैतारमना द्रष्टव्यम् ॥ सदुत्तरत्वेन वाक्यमवतारयति—नैवमिति । सा व्याकरोति—पूर्णादिति ॥ अद्वैतकार्यत्वे द्वैतस्योक्ते सिद्धान्त्याशङ्कते—यस्मादिति । द्वैतस्याद्वैता-दुद्वेचनमुद्भवमिष्टं चेत्तर्हि तस्मादद्वैतादुद्वेचनं ततोऽतिरिच्यते किन्तु तत्र कल्पित तदेव स्थानं हि रज्जो-द्वन्द्वच्छन्दुरास्तस्माद्भिद्यते तथाच विवर्तबाधः स्यादित्यर्थः । इष्टान्तद्योतको हिनब्दः । द्वैतस्य मिथ्यात्वानुप-पत्तेर्नैवमित्येकदेशी दूषयति—नैतदिति । मिथ्यात्वासम्भवे हेतुं पृच्छति—कुत इति । एकदेशी हेतुमाह—यस्मादिति । प्रसङ्गं प्रकटयितुं इष्टं व्याचष्टे—प्रत्यक्षतो हीति । उक्तदृष्टौ सप्रतिपत्त्यर्थो हिनाब्दः । इष्टत्वमिव श्रुतत्वमपि तस्यास्तीत्याह—तथेति । तथा दर्शनतः सिद्धस्तथा विधितश्चेति योजना । द्वैतस्य रज्जुसंपं-न्निध्यात्वोक्तौ न इष्टत्वहानिरेव किन्तु कर्मश्रुतेर्विषयाभावादप्राप्ताश्च च स्यादिति फलितमाह—प्राप्ताप्येति ॥ तदप्राप्ताप्येऽपि का हानिर्न ह्यात्पवादिनामित्याशङ्क्य ज्ञानकाण्डस्यापि सत्प्रसक्तैर्नैवमित्याह—पारमार्थ्यमिति । अद्वैतविषय प्रथमः न्वचिच्छब्द ॥ श्रुतावष्टम्भेनाद्वैतवद्द्वैतमपि पारमार्थिकमिति समर्थितमिदानीं तत्रैव हेत्वन्तरमाह—पूर्णत्वेनेति । ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकमुत्पत्तिरिच्छितिलयकालेषु त्रिष्वपि वर्तते पूर्णत्वेनावस्थाद्वयम-परित्यज्यैव सदावस्थानाद्वयवशवस्थान्त्यागे पूर्णत्वायोगात्तस्मात्तत्र वस्तुरूपेणावस्थयोरविभागात्तयोरस्ति वास्तवत्वमित्यर्थः ॥ अत्रत्याद्वयस्य वस्तुरूपेणाविभागे मानं पृच्छति—कुत इति । परिहरति—पूर्णादित्या-चीति । पूर्णात्पूर्णमुदन्वत इति द्वैताद्वैतयोः कार्यकारणत्वमुक्त्वा पूर्णस्येत्यादिना प्रलयावस्थायामात्मन्यवस्था-

स्थानीयं समुद्रजलस्थानीयं तु परं ब्रह्म । एवं च किल द्वैतस्य सत्यत्वे कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं यदा पुनर्द्वैतं द्वैतमिवाविद्याकृतं मृगतृष्णिकावदनृतमद्वैतमेव परमार्थतस्तदा किल कर्मकाण्डं विषयामावादप्रमाणं भवति । तथा च विरोध एव स्यात् । वेदकदेशभूतोपनिषत्प्रमाणं परमार्थाद्वैतवस्तुप्रतिपादकत्वादप्रमाणं कर्मकाण्डमसद्द्वैतविषयत्वात् । तद्विरोध-

ऽऽह—यथा चेत्पाविना । द्वैतस्य परमार्थतत्पत्वे कर्मकाण्डश्रुतिमनुकूल्यति—एव चेति । विपक्षे दोषमाह—यदा पुनरिति । अस्तु कर्मकाण्डप्रामाण्यं नेत्याह—तथा चेति । विरोधोऽध्ययनं विधेरिति शेषः । तमेव विरोध साधयति—वेदेति । कथं 'तर्हि विरोधसमाधिस्तत्राऽऽह—तद्विरोधेति ।

की प्रामाण्यता सिद्ध हो जाती है । जब द्वैत केवल द्वैत सा तथा अविद्याकृत और मृगतृष्णा के समान मिथ्या है, परमार्थत अद्वैत ही सत्य है तो विषय के अभाव होने से कर्मकाण्ड अप्रामाणिक हो जाता है । ऐसा होना पर परस्पर विरोध होने लग जायगा क्योंकि परमार्थ अद्वैत वस्तु का प्रतिपादन करने वाली वेद की एकदेश-भूत उपनिषदे प्रामाणिक है, किन्तु असत् द्वैतविषयक होने से कर्मकाण्ड अप्रामाणिक है । अतः उस विरोध का परिहार करने की इच्छा से ही 'पूर्णमद' इस श्रुति मन्त्र द्वारा समुद्र के

१ यदा पुनर्द्वैतमित्यादि—द्वैत परमार्थतोऽद्वैतमेव सदविद्याकृत द्वैतमिव अविद्याकृत द्वैतमिव भवतीत्यर्थः । परमार्थतोऽप्यात्मकस्याविद्यायाऽप्यथाभाने शृणुतमाचष्टे—मृगतृष्णिकावदिति । यथा परमार्थतो मरौचिकेव सत्यविद्यया तोयवद्भाति तथैवेत्यर्थः । तत्रानुत्तमिति योजना । २ प्रमाणाप्रमाणयोरध्ययनविधानात् । ३ तर्हीति—द्वैतस्य मिथ्यात्वे यथोक्तविरोधश्चेत्तर्हीत्यर्थः ।

द्वयस्याविभागो नावस्थान दर्शयता द्वैताद्द्वैतात्मकमेवाऽऽमवस्तु परिशिष्टमित्यर्थः ॥ प्रलयावस्थायामद्वैतावस्थैवास्ति नेतरा नीनत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—इद चेति । भेदेनासदपि द्वैत ब्रह्मरूपेणाभ्युपगम्य हेतुशृणुतावाह—पूर्णत्वेति । यथा समुद्रात्मन्युर्म्यादिविभागस्य जलात्मस्वेनैकरूपत्वस्य च सदा सत्य तथा पूर्णत्वावस्थवस्तुनोऽवस्थाद्वयमजहत सदाऽवस्थानात्तत्रावस्थाद्वय प्रलयेऽप्यतीत्यर्थः ॥ शृणुत प्रपञ्चयति—अथ इति ॥ तमनूय दार्ष्टान्तिकमाह—अथेति । आत्मनः समुद्रयोर्मिद्वारा योगपद्येनैताञ्जलाचलत्वादिद्वन्द्वयो यथाऽभूयन्ते तथैकत्र मैत्रादिवेशेभ्यः युगपदेता वृत्तीरालोचयेत्यर्थः ॥ दार्ष्टान्तिक आचष्ट—निष्कम्भेति । श्रातशब्द मृत्तार्थः ॥ विण्डभावश्चतुर्विधभूतप्राप्तत्वम् । अत्यन्तप्रचलितादपि प्रचलितत्वं व्यग्रिदेहग्रहे केनाऽऽचारणेत्यपेयायामाह—नामेति ॥ अवस्थाद्वयस्य वस्तुत्वमुपसहरति—जनीति ॥ द्वैतावस्थायामन्या पूर्णताऽप्या च द्वैतावस्थायामित्याशङ्क्याऽऽह—सा चेति । अविभागत्वाद्द्वैतस्तु पूर्णता विभागसाधकाभावादित्यर्थः । कारण पूर्णं कार्यं पूर्णमितिभेदोस्तिस्तर्हि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—कार्येति । द्वैतमद्वैतं च वास्तवमित्युक्त तन्निगमयति—सर्वमिति ॥ अद्वैतावस्था कारण कार्यं द्वैतावस्थयोरेव तद्भावो ब्रह्म लुभयता बहिरैकरममित्याशङ्क्याऽऽह—प्राविभविति । न हि स्वातन्त्र्यमवस्थयोरस्यात्तु शक्यमिति भावः ॥ द्वैतस्य सत्यस्य फलितमाह—एवमिति । किं कर्मकाण्डस्य मानत्वेनेति तदाह—अनन्तेति ॥ द्वैतस्य सत्यत्वे लाभमुक्त्वा तन्मिथ्यात्वे दोषमाह—यदेति ॥ तदप्रामाण्योपपत्ते परमार्थं क्वचिदित्यादिनेतक दूषणप्रयत्नेरिदमभिप्रेत्याऽऽह—एकदशमथेति । उपनिषद्भागा वेदः सर्वनामा स्वर्गपितृवर्णयोरयोगः ॥ उत्करोयनिरासस्तर्हि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—अत इति । द्वैतसत्यत्ववद्भूतिकादे पूर्वाक्तदोषोऽत शब्दार्थः । अकदरपूर्णत्वमिति शेषः ॥ न केवल श्रुतरेव द्वैतसाधक विरुध्यसादरपोत्याह—प्रत्यक्षादीनीति ॥

परिजिहीर्षया श्रुत्यैतदुक्तं ❀कार्यकारणयोः सत्यत्वं समुद्रवत्पूर्णमद इत्यादिनेति ।

तदसत् । विशिष्टविषयापवादविकल्पयोरसंभवात् । न हीयं 'सुविवक्षिता' कल्पना । कस्मात् । यथा क्रियाविषय 'उत्सर्गप्राप्तस्यैकदेशोऽपवादः क्रियते । यथा' 'हिंसानियेधादि' कृत्वा

प्राप्तं भूतं प्रपञ्चप्रस्थानं प्रत्याचष्टे—तदसदिति । विशिष्टम'द्वितीयं ब्रह्म तद्विषयोत्सर्गपवा-
दयोर्विकल्पसमुच्चययोश्चासंभव एषत्वं प्रतिज्ञाभागे विभजते—न हीति । "तत्र प्रदनपूर्वकं हेतुं विवृणोति
—कस्मादित्यादिना । यथेत्यादिप्रत्ययस्य न च तथेत्यादिना संबन्धः । क्रियायामुत्सर्गपवादसंभवात्तन्मुदा-
हरति—यथेत्यादिना । तथाऽन्यत्रापि क्रियायामुत्सर्गपवादादौ द्रष्टव्याविति शेषः । वैषम्यदृष्टान्तस्य दार्ष्ट-

समान इस कार्यकारण की सत्यता घतलायी गई है ।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) यह कहना मिथ्या है, क्योंकि निविकल्प ब्रह्म मे विशिष्ट के
विषय अपवाद और विवल्प संभव नहीं हैं । द्वैताद्वैतात्मक ब्रह्म की यह कल्पना कोई सुसोभना कल्पना
नहीं है । ऐसा क्यों कहते हो ? जिस प्रकार क्रिया के विषय मे उत्सर्ग से प्राप्त (हिंसानियेधादि) किसी

१ सत्यत्वमिति । न केवल श्रुतेरेव द्वैतसत्यत्व विस्वभ्यशादेरपीत्युक्तं यातिके—“प्रत्यक्षादीनि मानानि भेद-
प्राहीणि सर्वदा । तेषां चाप्यप्रमाणत्वं प्रापदद्वैतवादिनः” ॥ ६२ ॥ इति । २. सुसोभना । ३. द्वैता-
द्वैतात्मक ब्रह्मेति कल्पना । ४. हिंसानियेधादे । ५. छा उ ८ १५ १ । ६. विशिष्टसम्बन्धमाह—
प्रद्वितीयमिति । ७. न हीति प्रतिज्ञायाम् ।

❀ कार्यकारणयोः सत्यत्वमिति फक्किकाटिप्पणे प्रत्यक्षादीनि मानानि भेदप्राहीणीत्युक्तं तत्राहूर्वातिवक्रुचरणाः
—'भेदप्राहि न नो मानं लौकिकं वैदिकं च यत् । प्रविचारितसंसिद्धिरस्माद्भेदोऽवसीयताम् ॥ नः स्वतः
परतो वाऽप्यभेदो वस्तुन ईक्ष्यते । सर्वस्यैव स्वतोऽभितेस्तदग्न्यस्याप्यभेदतः ॥ वस्तु वस्तुन्तरं भिन्नाद्योगाद्यद्वा
विभागतः । योगे नातिपर्येकरवात्तयोश्चाप्येकरूपतः ॥ विभागेऽपि न भेदः स्यात्तयोरेकात्मना स्थिते । अन्य-
दीयोऽपि नान्यस्य भेदः स्यात्कल्पना विना ॥ मेययाथात्म्यसलेहि मानं मानत्वमश्रुते । भेदं न लभते भेदे
मेयादन्यत्र न प्रमा ॥ सतो न व्यतिरेकेण भेदो नापि सदन्यथात् । यथैव नासतोऽप्येव भेदो नैवावसीयते ॥
सर्वं सदेव यथेष्टमथवाऽसिद्धि जगत् । भेदं निमाध्यस्तस्य विरोधान्न इष्याभ्रम् ॥ धन्यापेक्षं पृथक्त्वं चैतस्वत
एवापृथग्भूतः । बलीयानन्तरं ज्ञानाद्भिरङ्गं प्रबाधते ॥ द्रव्याद्भिन्नं पृथक्त्वं चेदनवस्येति सत्वरः । द्रव्यमेव
पृथक्त्वं चेदपृथक्त्वादिदं जगत् । स्वतश्चेद्वस्तुनो भेदो वस्तु धूम्य प्रसज्यते । प्रापेशिकोऽपि ननुसत्त्वात् भेदो
रज्जुसर्पवत् ॥ इत्येवमादि बहुशो भिन्नाभिन्नत्वदूषणम् । प्रागप्युक्तं तदत्रापि सधैर्यं वस्तुत्तद्वये” ॥ ८४-९४ ॥
इति । यत्तु प्रत्यक्षादीनि भेदप्राहीणि तत्राऽऽह—भेदेति । अन्योन्याश्रयत्वादित्यर्थः । तद्विषयो गतिमाह—प्रवि-
चारितेति । प्राप्तापि कत्वाभावस्तच्छब्दार्थः ॥ किञ्च स्वस्मादेव भेदोऽन्यस्माद्वा नोभययाऽपीत्याह—नेति ।
वस्तुनः स्वस्माद्भेदो न प्राप्तापि कोऽस्तीत्यत्र हेतुमाह—सर्वस्येति । सर्वं वस्तु स्वस्मादभिन्नमन्यथा वस्त्वभाव-
प्रसङ्गादतो नाऽऽप्यो युक्त इत्यर्थः । परतो भेदोऽपि न प्राप्तापि कोऽस्तीत्यत्र हेतुमाह—तदग्न्यस्येति । वस्तुनो-
ऽन्यत्वेनेष्टस्यापि न सत्यं भेदस्याप्याप्यसिद्धिरसन्न द्वितीयोऽपीत्यर्थः ॥ किञ्च घटं सन्नग्न्याप्यं पटं भिन्ना-
स्वरूपेण स्थितो वेति विकल्पयति—वरित्वति । नाऽऽह इत्याह—योग इति । घटस्य पटेन सन्नग्नो नासौ पटं
भेदमर्हत्यतिगमयति तदसन्नग्न्यस्यैकत्वात्पटपटयोश्च प्रत्येकमवयवाद्भेदकाङ्गतरस्य साभावादित्यर्थः । धनतिशयै-
कत्वादिति पाठे भेदोऽतिशयस्तस्मादन्यस्तत्प्रयोगकसन्नग्नोऽनतिगमयस्तस्यैवमात्रं भेदः स्यादित्यर्थः ॥ वस्तुन्तरं

तीर्थेभ्य इति हिंसा सर्वभूतविषयोत्सर्गेण निवारिता तीर्थे विशिष्टविषये ज्योतिष्टोमादावनु-
ज्ञायते । न च तथा वस्तुविषय इहाहृतं ब्रह्मोत्सर्गेण प्रतिपाद्य पुनस्तदेकदेशोपवदितुं
शक्यते । ब्रह्मणोऽहृतत्वादेवैकदेशानुपपत्तेः । तथा 'विकल्पानुपपत्तेश्च । यथाऽतिरात्रे
षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति ग्रहणाग्रहणयोः पुरुषाधीनत्वाद्विकल्पो

न्तिकमाह—न चेति । 'विषयभेदे सत्पुत्सर्गापवादाद् द्वेषी न तावद्वितीये ब्रह्मणि संभवतः । 'न हि
ब्रह्माद्वयमेव जायते लीयने चेति सभावनास्पवमिति भावः । उत्सर्गापवादानुपपत्तिवद्ब्रह्मणि विकल्पानु-
पपत्तेश्च तदेकरसमेधितव्यमित्याह—तथेति । विकल्पानुपपत्तिमुपपादयति—यथेत्यादिना । सप्रति

क्रिया का किसी एक देश में अपवाद कर दिया जाता है । जैसे 'तीर्थों को छोड़कर अन्यत्र सभी प्राणियों
की अहिंसा करता हुआ' इस श्रुतिवाक्य में सामान्यतः सब प्राणियों की हिंसा का जहाँ निषेध किया
जाता है, वही उसकी तीर्थ यानी ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ रूप विषय में उसकी आज्ञा दी जाती है ।
इस प्रकार उस वस्तु के विषय में यहाँ सामान्यतः अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन कर फिर उससे किसी
एकदेश में ब्रह्म का निषेध नहीं किया जा सकता । क्योंकि अद्वैत ब्रह्म में एकदेश का अभ्युपगम संभव
नहीं है । इसके अतिरिक्त द्वैताद्वैत ब्रह्म की कल्पना करना अनुचित है । जिस प्रकार (कर्मकाण्ड में)
'अतिरात्र याग में षोडशी का ग्रहण करे', 'अतिरात्र याग में षोडशी का ग्रहण न करे' इस प्रकार

१ विकल्पेति—द्वैताद्वैतात्मक ब्रह्मेति कल्पना न युक्ति शेष । २ विषयभेदे—अवान्तरभेदवति विषये
इत्यर्थं । ३ नन्वद्वितीयेऽपि ब्रह्मण्युत्पत्त्यवच्छिन्नस्वप्रलयावच्छिन्नत्वाभ्या भविष्यत्येवावान्तरभेदो नेत्याह
— न हीत्यादिना ।

प्रत्याह—विभागेऽपीति । घटपटयोऽमवन्धेऽपि मिथा न भेद प्रत्येक तयारकत्वस्यैव स्थितिरित्यर्थं । पटा-
सब-कोऽपि घट स्वस्मिन्पटादभेदमावेदयतीत्यासाङ्ग्य स एव पटस्य भेदोऽप्यो वेति विकल्प्याऽऽद्य दूषयति—
अन्यदीयोऽपीति । पटासबन्धो घटो न स्वात्मनि ततो भेदावेदक मन्वन्वाभाव धर्मप्रतियोगित्वायोगादित्य
शक्तिरपेक्ष्यं ॥ द्वितीये स स्वभावो धर्मो वा नाऽऽद्यो वस्तवभावप्रमञ्जादित्यभिप्रेत्य द्वितीय निरस्यत्सामान्य
न्यायमाह—मेयति । तयाऽपि प्रस्तुते किं जातं तदाह—भेदमिति । मान मय विषयीतुर्वन्न तत्र भेद गोचरयति
तस्य तदमत्वेन ततोऽप्येवात्र च भेदावन्वस्मिन्नपि भेदे प्रमाण प्रसरति मयैकविषयपर्यायतो धर्मभेदोऽपि न
प्रामाणिक इत्यर्थं ॥ किंच भेद सतो मिश्रोऽभिप्रो वा नाऽऽद्यानवस्थानात्सतो भिन्नसासरत्वेन सत्त्वैता-
पत्तेश्च द्वितीयोऽपि सत्त्वैतमित्यभिप्रेत्याह—सत इति । भदस्य सतो भदाभेदाभ्या हुनिरूपत्ववदसतोऽपि तस्य तो
दुर्वच्यवित्यतिदिशति—यथेति । उक्त न्याय निगमयति—एवमिति ॥ किंच नांरयवोदधपणवपक्षेषु भेदो न
सिध्यतीत्याह—सर्वमिति । पक्षद्वयेऽपि धर्मप्रतियोगि विशेषाभावाद्भेदकाराभावात्तृतीय च विरोधान्न
भेदसिद्धिरित्यर्थं ॥ तादृक्पक्षेऽपि भेदासिद्धिरिहाह—मन्यापेक्षमिति ॥ किंच पृथक्स्य द्रव्याङ्गिन्नमभिन
वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—द्रव्यादिति । अनवस्थायामूलधायकरीत्य शोपरव सूचयति—सत्त्वरिति ॥ स्वय
परतो वा भेदो नास्तीत्युक्तमुपमहरति—स्वत्त्वरिति । नदम्यासत्त्वमिन्नत्वादिह तत्रिरात्रे पुनरुक्तिरित्या-
साङ्ग्याऽह—इत्येवमादीति । आदिशब्देन गुरुसिष्यादिश्वघस्यानुपपत्तिर्गृह्यते नैदाहरस्यायामभेदात्प्रभावात् ।
प्रागिति सबन्धग्रन्थादावित्यर्थं । इहापि भर्तृप्रपञ्चव्याख्यान पूर्वोक्तन्यायसंयानुसंधानार्थमनुवादश्चेत्तदेव विमय
मिति तत्राऽह—वस्त्विति । ब्रह्मात्मैकरस्यस्फुटीकरणार्थं परमतप्रत्याख्यानमित्यर्थं ॥

भवति । न त्विह तथा वस्तुविषये द्वैतं वा' स्यादद्वैतं वेति विकल्पः संभवत्यपुरुषतन्त्रत्वा-
दात्मवस्तुनः । विरोधाच्च द्वैताद्वैतद्वयोरेकस्य । त मात्रं सुविद्यक्षिण्यं कल्पना ।

श्रुतिन्यायविरोधाच्च । सन्धवधनवत्प्रज्ञानंकरसधनं निरन्तरं पूर्वापरबाह्याभ्यन्तर-
भेदविवर्जितं सबाह्याभ्यन्तरमजं नेति नेत्यस्यूलमनष्वजमजरमभयममृतमित्येवमाद्याः
श्रुतयो निश्चितायाः 'संशयविपर्ययासाशङ्कारहिताः सर्वाः समुद्रे प्रक्षिप्ताः स्युरकिंचित्कर-
त्वात् । तथा न्यायविरोधोऽपि सावयवस्थानेकात्मकस्य क्रियावतो नित्यत्वानुपपत्तेः ।
नित्यत्वं चाऽऽत्मनः स्मृत्यादिवशानादनुमीयते । तद्विरोधश्च प्राप्नोत्यनित्यत्वे । भवत्कल्प-

'समुच्चपासंभवमभिवर्धति—विरोधाच्चेति । उत्सर्गापवादविकल्पसमुच्चयानामसंभवात्तु युक्ता ब्रह्मणो
नानारसत्वकल्पनेति फलितमाह—तस्मादिति ।

परकीयकल्पनानुपपत्तो हेत्वन्तर प्रतिज्ञाय श्रुतिविरोध प्रकटीकृत्य न्यायविरोधं प्रकटयति
—तथेति । ब्रह्मणोऽनेकरसत्वे स्यादिति शेषः । नित्यत्वानुपपत्तेरात्मनो नित्यत्वाङ्गीकारविरोधः स्या-
दित्यध्याहारः । ननु तस्य नित्यत्वं नाङ्गी क्रियते मानाभावादिति प्राप्तङ्गीकोमाशङ्कां प्रत्याह—नित्यत्वं
चेति । स्मृत्यादिवशानादित्यादिशब्देन 'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिम्य इत्यधिकरणोक्ता ह्येतवो
पृह्यन्ते । 'अनुमीयते कल्प्यते स्वी क्रियत इति यावत् । तद्विरोधश्च स्मृत्यादिवशानात्कृतात्मनित्यत्वानुमा-
नविरोधश्चेत्यर्थः । आत्मनोऽनित्यत्वे दोषान्तरमाह—भवदिति । कर्मकाण्डस्य 'सत्यायत्वं परेण

ग्रहणं करना और न करना पुरुष के अधीन होने के कारण विकल्प हुआ करता है । उस प्रकार यहाँ
वस्तु के विषय में 'वह द्वैत हो अथवा कभी अद्वैत हो' ऐसा विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मवस्तु
पुरुष के अधीन नहीं है । तथा एक ही वस्तु का द्वैत और अद्वैत होना परस्पर विरुद्ध है । इसलिए यह
कल्पना सुसंगत नहीं है ।

इसमें श्रुति और न्याय का भी विरोध हो जाता है । 'सन्धवधन के समान प्रज्ञानंकरसधन-
स्वरूप, अकार्य, अकारण, नि सामान्य, निर्विशेष है', 'बाह्य-आभ्यन्तर युक्त और अजन्मा है', 'नेति नेति'
स्वरूप है', 'अस्यूल, अनयु, ब्रह्मस्व, अजर, अभय और अमृत है' इत्यादि श्रुतियाँ (उपासनापरक न
होने में) निश्चितायं और संशयविपर्ययास और आशङ्का से रहित हैं । उनसे कुछ कथं न होने से उन
नभी वो समुद्र में फेंक देना पड़ेगा । तथा सावयव अनेक आत्माओं तथा क्रियावान् का नित्यत्व होना
असंभव है; इसमें न्याय में विरोध आता है । एव स्मृत्यादि के दर्शन से भी आत्मा की नित्यता का

१ कदाचित् । २ न चेतसासुपासनादि परत्वमित्याह—सशमेति । ३ आत्मनः । ४ समुद्रद्वैता-
द्वैतात्मकत्वात्संभवम् । ५ स एव त्विति—अ नू ३ २ ६ । ६ सुतो जीवः स एतौत्तिष्ठति नान्य इत्यत्र
द्वैतकर्मत्वायव—दिनद्वयसाध्यकर्मणोऽयं कृत्वा पुनस्त्यायावतिष्ठमयं वचं करोति । अनुदाब्देन प्रत्यभिज्ञा
पृह्यते । स्मृतिशब्देन स्मरणम् । पुनः प्रतिन्याय प्रतिषेधोऽयं इत्येत्यादिशब्दः । कर्मविधाविधयो विधि-
षान्निध्यः । ६ अनुमीयत इत्यादि—वेदान्तनये तात्त्विकाभिमतमतिरेक्यनुमानस्थितेऽप्यपि स्युपपत्त्यादनु-
मीयत इति परं कल्प्यत इति चिन्तितम् । ननु स्वया कल्प्यमानमपि मया नामनुपपत्त्यभिहितं चैतन्नाह—स्वी
क्रियत इति । प्रमाणातिक्रमे निर्वर्णयतासात्त्विकव्याप्यमुपेत्यभिहितं भावः । एवं च तद्विरोधपरत्वादावनुमान-
पदमप्यपि तत्परं ठमा रबीकारपर वा व्याख्यामिति श्लेषम् । ७ अर्थो द्वैतम् ।

नानर्थक्यं च । स्फुटमेव 'चास्मिन्पक्षे' कर्मकाण्डानर्थक्यम् । अकृताभ्यागमकृतविप्रत्याश-
प्रसङ्गात् ।

ननु ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वे समुद्रादिदृष्टान्ता विद्यन्ते कथमुच्यते भवतंकस्य द्वैता-
द्वैतत्वं विरुद्धमिति । न । ग्रन्थविषयत्वात् । नित्यनिरवयववस्तुविषयं हि विरुद्धत्वमवो-
चाम द्वैताद्वैतत्वस्य न 'कार्यविषये सावयवे । तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादनुपपन्नेय
कल्पना । अस्याः कल्पनाया धरमुपनिषत्परित्याग एव ।

अध्येयत्वाच्च न 'शास्त्रार्थेयं कल्पना । न हि जननमरणाद्यनर्थशतसहस्रभेदसमाकुलं

कल्पते तवानर्थक्यमात्मानित्यत्वे स्पष्टमापतेदित्युक्तमेव स्फुटयति—स्फुटमेवेति ।

ब्रह्मणो 'नानारसत्वे' विरोधमुक्तमसहमानः 'स्थोवतं स्मारयति—नन्विति । समुद्रादीनां कार्य-
त्वसावयवत्वाभ्यामनेकात्मकत्वमविरुद्धं ब्रह्मणस्तु नित्यत्वात्निरवयवत्वाच्च नानेकात्मकत्वं युक्तमिति
वेद्यभ्यमावशंयन्नुत्तरमाह—नेत्यादिना । ब्रह्मणो नानारसत्वकल्पनानुपपत्तिमुपसंहरति—तस्मादिति ।
'अत्रो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' इत्याद्याः स्मृतयः । ननु प्रत्यक्षाद्यविरोधेनोपनिषदां विषयसिद्धयर्थ-
मेया कल्पना क्रियते तथा च कथं साऽनुपपन्नेत्याशङ्क्याऽऽह—अस्या इति । 'विरुद्धार्थत्वे कल्पितेऽपि
तत्प्रामाण्यानुपपत्तेरविशेषाविति भावः ।

किं च ब्रह्मणो नानारसत्वं 'लौकिकं वैदिकं वा । नाऽऽद्य । तन्म्यालौकिकत्यात्तन्नानारसत्वे
'लोकस्य तदस्पत्यात्' । न द्वितीयः । तन्नानारसत्वस्य ध्येयत्वेन ज्ञेयत्वेन वा शास्त्रेणानुपदेशादित्याह
—अध्येयत्वाच्चेति । तदेव स्फुटयति—न हीति । इत्यत्र नानारसं ब्रह्म 'नोभयथाशास्त्रप्रकाशय-

अनुमान होता है । उसका अनित्यत्व मानने पर उस युक्तिसिद्ध नित्यत्व से विरोध आता है । आपकी
कल्पना व्यर्थ ही जाती है । हमारे आत्मा के नित्यत्व पक्ष में (परलोकसंबन्धी आत्मा का अभाव
होने पर अनुष्ठान की असिद्धि होने से) कर्मकाण्ड की अनर्थकता स्पष्ट ही है क्योंकि आत्मा को अनित्य
मानने पर अकृत की फलप्राप्ति और कृत के फलनश का प्रसङ्ग आ जायगा ।

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु ब्रह्म के द्वैताद्वैतात्मक होने में समुद्रादि दृष्टान्त विद्यमान
हैं, फिर आप ऐसा क्यों कहते हो । एक का वस्तु ही द्वैत-अद्वैत होना विरुद्ध है । (सिद्धान्ती कहता
है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उनका विषय दूसरा है । हमने द्वैताद्वैतत्व का नित्य, निरवयव
वस्तु (ब्रह्म) के विषय में ही विरोध आ जाना बताया है, सावयव कार्य विषय में विरोध आने की बात
नहीं कही । इसलिए श्रुति, स्मृति और न्याय विरोध आ जाने में यह कल्पना असंगत है । इस कल्पना
के मानने की अपेक्षा उपनिषत् परित्याग ही श्रेयस्कर है ।

इसके अतिरिक्त ध्येय रूप में होने से भी यह कल्पना शास्त्र प्रतिपाद्य नहीं है । श्रुति ऐसे ब्रह्म
के विषय में ध्यान या ज्ञान संपादन के लिए नहीं कहती, जो जन्ममरणादि संकड़ो-हजारों अर्थ रूप

१. आत्मानित्यत्वपक्षे । २. परलोकसंबन्ध्यात्माभावेऽनुष्ठानाऽसिद्धेः । ३. हिरण्यगर्भादावस्तु नाम उचित
भावः । ४. शास्त्रप्रतिपाद्या । ५. द्वैताद्वैतात्मकत्वं । ६. श्रुतिन्यायविरोधम् । ७. दृष्टान्तम् । ८.
विरुद्धार्थत्वे इति—न्यायविभिरनुपपन्नानार्थकत्वं इत्यर्थः । उपनिषदाविति वेद्यः । ९. प्रत्यक्षाद्यपिणत्म् ।
१०. प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य । ११. उभयथा—ध्येयत्वज्ञेयत्वाभ्यामित्यर्थः ।

समुद्रवनादिवत्मावयवमनेकरसं ब्रह्म ध्येयत्वेन विज्ञेयत्वेन वा श्रुत्योपदिश्यते । प्रज्ञान-
घननां चोपदिशति । एकध्वानुद्रष्टव्यमिति च । अनेकधादर्शनापवादाच्च "मृत्योः स, मृत्यु-
माप्नोति य इह नानेव पश्यति" इति । यच्च श्रुत्या निन्दितं तन्न कर्तव्यम् । यच्च न
क्रियते न स शास्त्रार्थः । ब्रह्मणोऽनेकरसत्यमनेषघातं च द्वैतरूपं निन्दितत्वात् द्रष्टव्यम् ।
अतो न शास्त्रार्थः । यत्वेकरसत्वं ब्रह्मणस्तद्द्रष्टव्यत्वात्प्रशस्तं प्रशस्तत्वाच्च शास्त्रार्थो
भवितुमर्हति ।

यत्पूर्वतं वेदैकदेशस्याप्रामाण्यं कर्मविषये द्वैताभावाद्द्वैते च प्रामाण्यमिति । तन्न ।
यथाप्राप्तोपदेशार्थत्वात् । न हि द्वैतमद्वैतं वा वस्तु जातमात्रमेव पुरुषं ज्ञापयित्वा पश्चात्

मित्याह—प्रज्ञानेति । चकाराद्युपविशतीत्याकृष्यते । अनेकधादर्शनापवादाच्च नानारसं ब्रह्म शास्त्रार्थो
न भवतीति शेषः । भेददर्शनस्य निन्दितत्वे लक्ष्यमर्थमाह—यच्चेति । अकर्तव्यत्वे प्राप्तमर्थं कथयति
—यच्च नेति । सामान्यमाय प्रकृते योजयति—ब्रह्मण इति । कस्तुहि शास्त्रार्थस्तत्राऽऽह—यत्त्विति ।

ब्रह्मं करस्वै प्रागुक्तं बोधमनुभाषते—यत् क्तमिति । कर्मकाण्डस्य कर्मविषये न प्रामाण्यमसद्-
द्वैतविषयत्वाद्ब्रह्मकाण्डस्य त्वद्वैते प्रामाण्यं परमाथद्वैतवरतुप्रतिपादकत्वात्तथा न विरोधोऽध्ययनविधे-
रित्यनुवादार्थः । कर्मकाण्डाप्रामाण्यं प्रत्याक्षटे—तन्नेति । प्रष्टुं भेदमादाय 'तत्रैव विधिनिवेधोप-
देशस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वाराऽर्थवत्त्वाच्च कर्मकाण्डानर्थक्यमित्यर्थः । ननु शास्त्रमेवाऽऽबो भेदं बोधयित्वा
पश्चादभ्युदयसाधन कर्मोपदिशति तथा च नास्ति भेदस्यान्यतः प्रातिरत आह—न हीति । यथा हि
शास्त्रं जातमात्रं पुरुषं प्रष्टुं तं वस्तु ज्ञापयित्वा पश्चाद्ब्रह्मविद्यामुपदिशतीति नेष्यते तथा प्रथममेव
पुरुषं प्रति द्वैतं बोधयित्वा कर्म पुनर्बोध्यतीत्यपि नाभ्युपेय प्रथमतो भेदवेदनावस्थायामस्य 'शास्त्रान-

भेद से सपत्र और समुद्र-वनादि की तरह सावयव और अनेक रस हो । उसके विषय में तो श्रुति
प्रज्ञानघनत्व बहुती है । 'भास्वत् चिन्मानमात्ररूप (शास्त्रैकप्रमाण) ब्रह्म को एक प्रकार से ही
प्रत्यगात्मा द्वारा देखा जाना चाहिए', 'जो मिथ्याभूत नाना वस्तु को सत्यत्व भाव से देखता है, वह
मरण में मरण को प्राप्त होता है'—इस प्रकार श्रुति उसे अनेक रूप देखने को निषेध करती है । जिसकी
श्रुति निन्दा करती हो, उसे नहीं करना चाहिए । एव जिसकी उपादेयता नहीं बताई जाती, वह शास्त्र
का तात्पर्य अर्थ नहीं है । ब्रह्म का (अणु-स्थूलत्वादि) अनेकरसत्व एव (द्वैताद्वैतरूप) अनेक प्रकारत्त्व
द्वैत रूप निन्दा का विषय होने से उसे ब्रह्म में नहीं देखना चाहिए । अनएव वह शास्त्र का तात्पर्य
अर्थ नहीं है । और जो ब्रह्म का एकरसत्व ब्रह्म गया है, उसी को देखना श्रेयस्कर है । इसके श्रेयस्कर
होने से वही शास्त्र का तात्पर्य अर्थ हो सकता है ।

एव जो यह कहा गया कि द्वैत का अभाव होने के कारण वेद के एक-भाग कर्मकाण्ड की
अप्रामाणिकता हो जायगी और अद्वैत में प्रामाणिकता होगी, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि
यथाप्राप्त वस्तु का उपदेश करना शास्त्र का प्रयोजन है । शास्त्र ऐसा नहीं करता कि पंदा होते ही पुरुष

कर्म वा ब्रह्मविद्यां वोपदिशति शास्त्रम् । न चोपदेशार्हं द्वैतं जातमात्रप्राणिवुद्धिगम्यत्वात् ।
न च द्वैतस्यानृतत्वबुद्धिः प्रथममेव कस्यचित्स्यात् । येन द्वैतस्य सत्यत्वमुपविश्य
पश्चादात्मनः प्रामाण्यं प्रतिपादयेच्छास्त्रम् । नापि पापण्डिभिरपि प्रस्थापिताः शास्त्रस्य
प्रामाण्यं न गृह्णीयुः ।

तस्माद्यथाप्राप्तमेव द्वैतमविद्याकृतं स्वाभाविकमुपादाय स्वानाविक्यैवाविद्यया
युक्ताय रागद्वेषादिदोषवते यथानिमित्तपुरुषार्थमाधनं कर्मोपदिशत्यग्रे पश्चात्प्रतिद्विक्रिया-

धिकारित्वादित्यर्थः । द्वैतस्योपदेशार्हत्वं मङ्गीकृत्योक्तं तदैव नास्तोत्याह—नं चेति ।

ननु द्वैतस्य सत्यबुद्धिर्भावे श्रुत्युक्तानुष्ठानाय पुंसां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः स्वप्रामाण्यसिद्धयर्थमेव
द्वैतसत्यत्वं श्रुतिर्बोधयिष्यति नेत्याह—न च द्वैतस्येति । द्वैतानृतत्ववादिषु 'कर्मजडानां प्रद्वेषप्रतीतेर्न
प्रथमतो द्वैतानृतत्वबुद्धिर्न च द्वैतसत्यत्वं श्रुत्यर्थस्तत्परिचयहीनानामपि द्वैतसत्यत्वाभिनिवेशादि-
त्यर्थः । किंच न द्वैतवैतथ्यं शास्त्रप्रामाण्यविधातकं यतो बौद्धादिभिः श्रेयसे 'प्रस्थापिता रयज्ञिया द्वैत-
मिथ्यात्वावगमेऽपि स्वर्गकाम'इत्येवं वदेतेत्यादिशास्त्राय प्रामाण्यं गृह्णीत । तथाऽग्निहोत्रादिशाखा
स्यापि प्रामाण्यं भविष्यति 'साधनत्वशपत्यनपहारादित्याह—नापीति ।

ॐकाण्डद्वयस्य प्रामाण्योपपत्तिमुपसंहरति—तस्मादित्यादिना । प्रसिद्धो योऽथ क्रियाद्वेषे

को द्वैत या अद्वैत वस्तु का ज्ञान करा कर उसके बाद कर्मकाण्ड अथवा ब्रह्मविद्या का उपदेश करे ।
क्योंकि द्वैत को तो स्वभावतः प्राणी की बुद्धि समझ जाती है, इसलिये वह उपदेश देने के लिए उप-
युक्त नहीं है ।

इसके अतिरिक्त प्राणी की द्वैत में प्रारम्भ से ही मिथ्यात्व बुद्धि नहीं होती; जिससे शास्त्र द्वैत
के सत्यत्व का उपदेश कर, बाद में आत्मा की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करे । तथा (बौद्धादि)
पाण्डित्यमानुष्यादियों द्वारा कल्याणमार्ग में लगाये हुए शिष्य भी शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं ।

इसलिये अविद्याकृत लोचप्रसिद्ध स्वाभाविक द्वैत को ग्रहण कर जो स्वाभाविक अविद्या में युक्त
और रागद्वेषादि दोषवान् है, ऐसे पुरुष को शास्त्र पहले यथाभिमत कर्मकाण्ड रूप साधन का उपदेश

१. कर्मकाण्डस्य प्रामाण्ये वेदमत्त्ववापेक्षाभावात् । २. यथाग्रात—लोचसिद्धम् । ३. कर्मभिनिविष्ट-
चेतसाम् । ४. स्वप्रस्थानेन प्रबोधिता प्रवर्तिता प्रेरिता इति यावत् । ५. बुद्धप्रतिमाम् । ६. अग्नि-
होत्रादेः स्वर्गादिप्रापनत्वेति यावत् ।

ॐ काण्डद्वयस्य प्रामाण्योपपत्तिमिति । एतेन "एव द्वैतस्य सत्यत्वे कर्मकाण्डस्य मानता । अनन्तपुरुषार्थातिरिच्यते
कर्मकाण्डनः ॥ यथा तु कल्पितं द्वैतमद्वैत परमार्थतः । उच्छिन्न कर्मकाण्डस्य प्रामाण्य विपणनतः ॥ एकदेशस्य
चामात्वे वेदस्याप्यप्रमाणता । सर्वनामो भवेदेव सर्वाप्रामाण्यहेतुतः । अतो विरोधनुरूपं सत्यत्वप्रतिपत्तये ।
कार्यकारणयोः शास्त्र पूर्णमित्यादिनावदत्" ॥ ५८-६१ ॥ इति । तदुक्तमपास्तम् । विवेकरय चामात्वे वेदस्या-
प्यप्रमाणत्वेति यदुक्तम् सत्राधिकार्यंभावात्पत्राभावाद्द्विषयामावादात्तान्तराण्डाप्रामाण्यमिति विबन्ध्याच्च प्रत्याहु-
र्वातिककारचरणा—"सर्वतस्तु विरक्तो यः कर्मभिः शुद्धधीर्नर । वाप्ययान पूर्णफलमुत्पत्त्यादिभिरक्षणम् ॥
तमोमात्रात्तारात्तत्राप्रनीचः पूर्णरक्षिणः । स्वतःसिद्धत्वसत्तस्य व्यञ्जकप्राणोऽधीयते ॥ स्वतः प्राप्तस्य सत्रासो
वाक्यामोहप्रहाणतः । मानापेक्षा न भूयः स्यात्प्राप्त्येस्तरतृतायैवः ॥ साध्ये हि साधनापेक्षा सिद्धेऽपि विनि-

कारकफलस्वरूपबोधदर्शनवत्ते तद्विपरीतौदासीन्यस्वरूपावस्थानफलानि तदुपायमूलात्मा-
त्मैकत्वदर्शनात्मिका ब्रह्मविद्यामुपदिशति । अर्थं सति तदौदासीन्यस्वरूपावस्थाने फले
प्राप्ते शास्त्रस्य प्रामाण्यं प्रतीयते निवर्तते । तदभावाच्छास्त्रस्यापि शास्त्रत्वं तं प्रति
निवर्तत एव ।

'तथा प्रतिपुष्टय 'परिसमाप्त शास्त्रमिति' न शास्त्रविरोधगन्धोऽप्यरितः । अद्वैत-

द्वैते बोध सातिशयत्वादिसदृशं निवेकस्तद्वत्ते तस्माद्द्वैताद्विपरीतौदासीन्योपलक्षित स्वरूप तस्मिन्-
वस्थान कंवलय तदर्थिने मुमुक्षवे साधनचतुष्टयसंप्राप्येत्यर्थः । किंच तदज्ञानादूर्ध्वं पूर्वं वा काण्डबोधि-
रोधः शङ्कयते । नाऽऽह इत्याह—अपेति । अवस्थानेवादेकस्मिन्नपि पुरुषे काण्डद्वयस्य प्रामाण्यविच्छे-
दमित्येव स्थिते सत्युपनिषद्ग्रन्थज्ञानोत्पत्त्यनन्तर 'नान्तरोपकत्वेन प्राप्ते कंवलये पुरुषस्य निरा-
काङ्क्ष्य जायते न च निराकाङ्क्ष पुरुष प्रति शास्त्रस्य शास्त्रत्वमरितः ।

“प्रभृतिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।

पूसा येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते” ॥

इति न्यायात्कृतकृत्य प्रति प्रवर्तकत्वाविवरिहण शास्त्रत्वयोगादतो ज्ञानादूर्ध्वं “धर्मभावादि-
रोधासिद्धिरित्यर्थः ।

“एकस्मिन्पुरुषे दर्शितन्यायः सवशात्तिदिशति—तथेति । ज्ञानादूर्ध्वं विरोधाभासमुपसहरति
—इति नेति । कल्पान्तर प्रत्याह—अद्वैतेति । तत्त्वज्ञानात्पूर्वं भेदस्यावस्थितत्वात्तमाविष्टमादाया” धिका-

करता है, उसके पश्चात् जो प्रसिद्ध इस क्रिया-कारक फलस्वरूप द्वैत में बोध बुद्धि वाले, उस द्वैत से
विपरीत औदासीन्य स्वरूप कंवलय स्थिति के इच्छक (साधनचतुष्टय संपन्न) मुमुक्षु के लिए ही उसकी
उपायभूता आत्मैकत्वदर्शनात्मिका ब्रह्मविद्या का श्रुति उपदेश करती है । ऐसा होने पर उस
औदासीन्य स्वरूप में स्थिति रूप फल प्राप्त हो जाने पर विद्वान् की शास्त्र के प्रामाण्य के प्रति आकाशा

- १ अर्थित्वमाकाङ्क्षा । विदुष इति शेषः । २ विद विदन्प्रतीत्यर्थः । ३ निवृत्तशास्त्रत्वम् । ४ इति
ज्ञानिन प्रतिशास्त्रस्य शास्त्रत्वाभावात् । ५ विवेकाविवेकावस्थे । ६ ज्ञानसमनियतत्वेन । ७ नित्यं
—स्मृतिरूपेण । ८ अथ कृतकेन—स्मृतिरूपेण । ९ यथोक्तज्ञानानन्तर कृतापस्य विदुष शास्त्रनिषेधत्वात् ।
१० विरोधमिच्छो शास्त्रयोःभावात् । ११ विदुषि । १२ एकस्मिन्नधिकारिणि विवेकाविवेकावस्था
भेदात् ।

वर्तते । किञ्चसाध्ये समस्तस्य पूरणत्वेन समाहितः ॥ १०-१-१०५ ॥ कामयान कामयमान इति यावत् । स
साधनचतुष्टयसंपन्नोऽधिकारीति श्लेषः ॥ द्वितीय निराह—समोमायति । सविलासादिवाध्वस्तिरत्र फलमिति
भावः । तृतीय प्रत्याह—प्रतीच इति । अज्ञातस्य तस्य विषयत्वात् तद्वाहि यमित्ययम् । अज्ञानध्वस्तावपि फले
वमपिर्वा केचिदाहुस्ता प्रत्याह—स्वत इति ॥ प्रतीच स्वत स्फुरणात्तदाच्छेदात्तज्ञानध्वस्तार्थं मानमेव मुमुक्षुर-
पेक्षते न कर्मत्वम् हेतुमाह—स्वत इति । उत्पन्नमपि मानमभ्यस्यमानमज्ञानध्वसीत्यपरे साधिराकरोति—
मानेति । सकृदुत्पन्नादेव मानादज्ञानध्वस्तेस्तावतैव पुरुषस्य कृतकृत्यत्वात् मानावृत्त्यपेक्षेत्ययम् ॥ अग्नये तु
ब्रह्मप्राप्तावभ्यासापेक्षा मयते सान्निध्यस्य—साध्ये हीति । स्वर्गादी तत्पेक्षाया साध्य सिद्धे च तदभावस्य
दृष्टव्यं हिबन्धात् ॥

ज्ञानावसानत्वाच्छास्त्रशिष्यशासनादिवृत्तमेवस्य । 'अन्यतमावस्थाने हि विरोधः स्याद-
वस्थितस्येतरैतरापेक्षत्वात्तु शास्त्रशिष्यशासनानां नान्यतमोऽप्यवतिष्ठते । 'सर्वसमाप्तौ तु
कस्य विरोध आशङ्क्येतादृते केवले शिवे सिद्धे । नाप्यविरोधतास्त एव ।

'अथाप्यभ्युपगम्य ब्रूमः—द्वैताद्वैतात्मकत्वेऽपि शास्त्रविरोधस्य तुल्यत्वात् ।
यदाऽपि समुद्रादिवद्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्माभ्युपगच्छामो नान्यद्वस्त्वन्तरं तदाऽपि भवदुक्ता-

रिभेदादवस्थाभेदाद्वा काण्डयोरविरोधसिद्धिरित्यर्थः । उक्तमेवोपपादयति—अन्यतमेति । शिष्यादीना-
मन्यतमस्यैवावस्थानं चेदवस्थितस्येतरस्मिन्नत्र सापेक्षत्वात्तु सोऽप्यवतिष्ठते । न च ज्ञानात्प्रागन्यतम-
स्यैवावस्थानं सर्वेषामेव तेषां यथाप्रतिभासमवस्थानादतो न पूर्वं विरोधशङ्क्येत्यर्थः । 'ऊर्ध्वं विरोध-
शङ्काभावमधिकषिवक्षयाऽनुभवति—सर्वेति । कथं कंदल्पं विरोधाभावस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याऽह
—नापीति । अद्वैतत्वादेवाभावस्यापि तत्त्वनिमज्जनादित्याह—अत एवेति ।

अद्वितीयमेव ब्रह्म न द्वैताद्वैतात्मकमित्युपपादितमिदानीं ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वाभ्युपगमेऽपि
विरोधो न शक्यते परिहर्तुमित्याह—अथापीति । तुल्यत्वात्तदभ्युपगमो वृथेति शेषः । उक्तमेवोपपाद-
यति—यदाऽपीति । द्वैत द्वैतात्मकं ब्रह्म ति पक्षे कथं विरोधो न समाधीयते द्वैताद्वैतं चाधिकृत्य काण्ड-
द्वयप्रामाण्यसंभवादित्याक्षिपति—कथमिति । किं ब्रह्मविषयः शास्त्रोपदेशः किं वाऽब्रह्मविषयः । प्रथमे

मिट जाती है । उसका अभाव हो जाने पर तो विद्वान् के लिए शास्त्र का शास्त्रत्व भी मिट जाता है ।

इस प्रकार प्रत्येक विद्वान् पुरुष के प्रति शास्त्र का शास्त्रत्व निवृत्त हो जाता है, इसलिए शास्त्र-
विरोध की तो गन्धमात्र भी नहीं है । क्योंकि शास्त्र शिष्य और शासनादि द्वैतजनित भेद अद्वैतज्ञान
होने पर पर्यवसित हो जाते हैं । अपेक्षित किसी एक के भी रहने पर उस अपेक्षित का कर्मकाण्ड या
ज्ञानकाण्ड से विरोध होता किन्तु शास्त्र, शिष्य और शासन के परस्पर अन्योन्याश्रित होने पर आत्मज्ञान
होने पर इससे से कोई भी स्थित नहीं रहता । इस प्रकार शास्त्रादि का सर्वविध द्वैत समाप्त होने पर
तो एकमात्र शिव अद्वैत तत्त्व सिद्ध होने पर किसके विरोध की आशङ्का की जाय । इसलिए ही उसका
किसी से विरोधाभाव भी नहीं है ।

अब हम ब्रह्म का उभयात्मकस्वरूप मानकर बतलाते हैं । उसके द्वैताद्वैतात्मक होने पर भी
शास्त्र का विरोध समान ही है । जब हम समुद्रादि के समान द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म मान लेते हैं,
उससे व्यतिरिक्त कोई वस्तु नहीं मानते तो उस समय भी हम आप द्वारा कथित शास्त्र विरोध से मुक्त

१ अन्यतमावस्थाने अपेक्षितस्यान्यतमस्थानवस्थाने अपेक्षितस्य यावतोऽसत्त्वं इति यावत् । विरोधः काण्डयो-
रिति शेषः । तथाहि शास्त्रद्वयमवतिष्ठते शिष्यद्वयं च न चेत्तदैकमेव शिष्यं प्रति विषयो विरुद्धमुपदिशतोः स्यादेव
विरोधः काण्डयोरिति । अपेक्षितमन्यतममनाद्यान्यतमस्यावस्थान पर न घटत इत्याह - अवस्थितस्येत्यादिना ।
नान्यतमोऽप्यवतिष्ठत इति - सर्वमेवोपेक्षितमवतिष्ठत इति यावत् । २ शास्त्रादि द्वैतसमाप्तौ । ३ अथापि
—ब्रह्माद्वितीयमेव नोभयात्मकमित्युपपादानन्तरं तस्योभयात्मकत्वं स्वीकृत्यापि वदाम । ४ तत्त्वज्ञाना-
नन्तरम् । ५. ब्रह्म प्रति । ६ ब्रह्मिन्न जीवं प्रति ।

च्छान्त्रविरोधान्न मुच्यामहे । कथम् । एकं हि परं ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकं तच्छोकमोहाद्य-
तीतत्वाद्दुपदेशं न काङ्क्षति । न चोपदेशाऽन्यो ब्रह्मणो द्वैताद्वैतरूपस्य ब्रह्मण एकस्य-
वाम्युपगमात् ।

अथ 'द्वैतविषयस्यानेकत्वादन्योन्योपदेशो न ब्रह्मविषय उपदेश इति चेत् । तदा
द्वैताद्वैतात्मकमेकमेव ब्रह्म नान्यदस्तीति विरुध्यते । 'यस्मिन्द्वैतविषयेऽन्योन्योपदेशः
'सोऽय इदं चान्यदेवेति समुद्रदृष्टान्तो विरुद्धः । न च समुद्रोदकैकत्ववद्विज्ञानैकत्वे

द्वैताद्वैतरूपस्यैकस्यैव ब्रह्मणोऽभ्युपगमात्तस्य च निरुपमुक्तत्वान्नोपदेशः संभवतीत्याह—एकं हीति ।
तस्योपदेशाभावे हेत्वन्तरमाह—न चेति । उपदेष्टा हि ब्रह्मणोऽन्योन्यो वा । नाऽऽद्योऽभ्युपगमविरो-
धात् । न द्वितीयो भेदमन्तरेणोपदेशयोपदेशकभावासंभवाविति भावः ।

कल्पांतरमुत्थापयति—अथेति । प्रतिज्ञाविरोधेन निराकरोति—तदेति । किञ्च सर्वस्य ब्रह्म-
रूपस्यैव यः समुद्रदृष्टान्तः स न स्यात्परस्परोपदेशस्या'ब्रह्मविषयत्वादित्याह—यस्मिन्निति । अथ यथा
केनादिविकाराणां भिन्नत्वेऽपि समुद्रोदकात्मकत्वं तथा जीवादीनां भिन्नत्वेऽपि ब्रह्मस्वभावविज्ञानैक्या-
द्ब्रह्म सर्वमिति न विरुध्यते तत्राऽह—न चेति । सर्वस्य ब्रह्मत्वमङ्गीकृतं चेद्ब्रह्मविषय एधोपदेशः

नही होते । यह कैसे कहते हो ? पर ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मक एक ही है, वह क्षुधातृपादिधर्मों से अतीत
होकर मोक्ष की आकाङ्क्षा नहीं रखता । तथा उपदेश से द्वैताद्वैतरूप ब्रह्म अन्य नहीं हो सकता क्योंकि
द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म स्वीकार किया गया है ।

यदि कहो कि भेदधर्मों जीव अनेक है, यह उपदेश परस्पर जीवों के लिए है, यह ब्रह्म-
विषयक उपदेश नहीं है, तब तो 'द्वैताद्वैतात्मक एक ही ब्रह्म है, इससे भिन्न कोई नहीं है' इस कथन
से विरोध होगा । जिस जीव के विषय में परस्पर उपदेश होता है, वह जीव अन्य है और अद्वैत अन्य

१. भेदधर्मणो जीवात्मन । २ परस्पर जीवानामुपदेश । ३ जीवे । ४. जीव । ५.
ब्रह्मभिन्नजीवविषयत्वात् ।

एकं हि परं ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकमित्यादि । अद्वैते श्रुतिविरोधं निराकृत्य द्वैताद्वैतवादे तद्विरोधं प्रवारान्तरेणो-
पपादयति स्म वातिककारपादा — 'द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्म यदाऽभवामुपगम्यते । तदाऽपि न विरोधोऽयं केनचि-
द्विनियार्थते ॥ समन्तभ्यस्तभूतस्य ब्रह्मण्यवसितारामन । दत्तं कर्मणि को हेतुः सर्वानित्यददगिन ॥ सर्वजात्या-
दिमस्त्वे च परस्परविरोधत । ध्याघातात् प्रवृत्तिं स्यान्निषेधेऽपि विधौ तथा ॥ न चावच्छेदमानित्वं विदुषो-
ऽस्त्यामुत्त्वत् । विदुषोऽप्यामुत्त्वे स्यान्निष्फलं ब्रह्मःशंनम्" ॥ १०५-१०८ ॥ इति । कथं द्वैताद्वैतपक्षे श्रुति-
विरोधो द्वैतापेक्षया कर्मकाण्डस्याद्वैतापेक्षया च काण्डान्तरस्य प्रामाण्यसंभवादित्याद्युक्त्वाऽह—समस्तेति ॥
विशिष्टजात्यादिमस्त्वेव हेतुरित्याद्युक्त्वाऽह—सर्वेति । द्वैताद्वैतात्मके ब्रह्मणि स्थितस्य विदुषु सर्वजात्या-
श्रमादिमुत्त्वे सति विदेषुश्रुतजात्यादीनां निषेधो विरोधाद्ब्रह्मणत्वादुद्बृहस्पतिं सर्वे प्रवृत्तिः । शरित्प्रत्यक्षानि-
वृत्तिचेरन्योन्यध्याघाद्विधिनिषेधयोर्न प्रवृत्तिनिवृत्तौ स्यात्ता स्यात् च विश्वमप्रवृत्तिकामिति कर्मधृत्यप्रामाण्या-
दुपनिषदामपि तस्यार्थविति भावः । किञ्च सर्वजात्यादिमस्त्वेऽपि विदुषुस्तदनभिमानान्न प्रवृत्तिनिवृत्तिर्ब्रह्माह
—न चेति । विषये दोषमाह—विदुषोऽपीति । परिच्छेदाभिमानस्याऽऽमुत्त्वमसुराणां ह्येवोपनिषदिति श्रुते-
र्दृष्टवम् ॥

ब्रह्मणोऽन्यत्रोपदेशग्रहणादिकल्पना संभवति । न हि हस्तादिवृत्ताद्वृत्तात्मके देवदत्ते वाधकरण्योर्देवदत्तकदेशभूतयोर्वागुपदेशी कर्णः केवल उपदेशस्य ग्रहीता, देवदत्तस्तु नोपदेष्टानाप्युपदेशस्य ग्रहीतेति कल्पयितुं शक्यते । समुद्रैकोदकात्मत्त्वबदेकविज्ञानवत्त्वाद्देवदत्तस्य । 'तस्माच्छ्रुतिन्यायविरोधश्चाभिप्रेतार्थासिद्धिश्चैवं कल्पनायां स्यात् । तस्माद्यथाव्याख्यात एवास्माभिः पूर्णमद इत्यस्य मन्त्रस्यार्थः ।

ॐ खं ब्रह्मेति मन्त्रोऽयं चान्यत्राविनिष्कृत इह ब्राह्मणेन ध्यानकर्मणि 'विनियुज्यते ।

स्याद्देवस्याविचारितरत्नोपदेष्टादित्यर्थः । ननु नानारूपवस्तुसमुदायो ब्रह्म तत्प्रदेशभेदाद्युपदेश्योपदेशकभावो ब्रह्म तु नोपदेश्यमुपदेशकं चेति तत्राऽऽह—न हीति । तत्र हेतुमाह—समुद्रेति । यथा समुद्रस्योदकात्मना फेनादिवेकत्वं तथा देवदत्तक्षेत्रज्ञस्य वागाद्यवयवेष्वेकत्वेन विज्ञानवत्त्वात् व्यवस्थासंभवस्तथा ब्रह्मण्यपि ब्रह्मण्यमित्यर्थः । मत्तान्तरनिराकरणमुपसहरति—तस्मादिति । 'आत्मैकरस्यप्रतिपादिका श्रुति-न्यायश्च साधयवस्थानेकात्मकस्येत्यादायुक्तः' । अभिप्रेतार्थासिद्धिर्भेदकल्पनानर्थक्यं चेत्यादिना दर्शिता । एवकल्पनायामेकानेकात्मक ब्रह्मेत्यभ्युपपत्तादित्यर्थः । परकीयव्याख्यानासंभवे फलितमाह—तस्मादिति ।

ध्यानशेषत्वेनोपनिषदर्थं 'ब्रह्मानूद्य 'तद्विधानार्थं 'तस्मिन्विनिष्कृतं मन्त्रमुत्पापयति—ॐ खमिति । 'इये त्वेत्यादिव'सस्य कर्मान्तरे विनियुक्तत्वमाशङ्क्याऽऽह—अयं चेति । विनियोजकाभावोदिति भावः । तर्हि ध्यानेऽपि नायं विनियुक्तो विनियोजकाभावाविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह—इहेति । खं पुराणमित्यादि ब्राह्मणं तस्य च विनियोजकत्व ध्यानं समवेतार्थप्रकाशनसामर्थ्यात् । यद्यपि मन्त्रनिष्ठं सामर्थ्यं विनियोजकं तथाऽपि मन्त्रब्राह्मणयोरेकार्थत्वाद्ब्राह्मणस्य सामर्थ्यद्वारा विनियोजकत्वमविर-

होगा, इस प्रकार समुद्र दृष्टान्त की भी सगति नहीं बैठती । यदि समुद्र के जल की एकना के समान विज्ञान की भी एकता है, तो ब्रह्म से व्यतिरिक्त उपदेश ग्रहणादि कल्पना संभव नहीं होती । हस्तादिरूप द्वृत्ताद्वृत्तात्मक देवदत्त से वाणी और कान देवदत्त के एक देश में उत्पन्न हैं, केवल वाणी ही उपदेश करने वाली है और अकेला कान उपदेश को ग्रहण करने वाला है, देवदत्त न तो उपदेश है और न ही उपदेश का ग्रहीता है—ऐसी कल्पना करनी संभव है क्योंकि जिस प्रकार समुद्र जल-रूप है, उसी प्रकार देवदत्त भी विज्ञानवान् है । अतः उक्त कल्पना करने से अति और युक्ति में विरोध तथा अभीष्ट अर्थ की अप्राप्ति होगी । इसलिए अन्य व्याख्या के असंगत होने में पूर्णमद 'इस मन्त्र का अर्थ जिग प्रकार हमने व्याख्या की है, उसी प्रकार है ।

'आकाश ब्रह्म ओङ्कार है' इस श्रुति का अन्यत्र कहीं विनियोग न होकर यहाँ ब्राह्मण द्वारा ध्यानकर्म में क्रममुक्ति प्राप्ति के लिए विनियोग किया जाता है । यहाँ इस मन्त्र में 'ब्रह्म यह विदोष्य है

१ तस्मात्—द्वृत्ताद्वृत्तात्मकस्य निरूपयितुमशक्यत्वेन ब्रह्मणोऽद्वितीयोपनिषारणम् । २ अस्यान्तरस्यायुक्तत्वात् । ३ इममुक्तव्यासत्वे । ४. १३६७ श्रुत्यात् । ५ पूर्णमन्त्रेण । ६ ध्यानविधानार्थम् । ७ ध्याने । ८ अयं यथापत्तावशात्, ऐदमे । ९. मन्त्रस्य । १०. ध्येयार्थेति भावः । ११. भवति ।

अत्र च ब्रह्मेति विशेष्याभिधानं लमिति विशेषणम् । विशेषणविशेष्ययोश्च सामानाधिकरण्येन निर्देशो नीलोत्पलवत्खं ब्रह्मेति । ब्रह्मशब्दो बृहद्बस्तुमात्रास्पदोऽविशेषितोऽतो विशेष्यते खं ब्रह्मेति । यत्तत्त्वं ब्रह्म तदोशब्दवाच्यमोशब्दस्वरूपमेव बोधयथाऽपि सामानाधिकरण्यमविरुद्धम् ।

इह च ब्रह्मोपासनसाधनत्वायंमोशब्दः प्रयुक्तः । तथा च श्रुत्यन्तरात् 'एतवालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्' 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' 'ओमित्येनेनं प्राक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' 'ओमित्येव ध्यायय आत्मानम्' इत्यादेः । अन्यायासंभवाच्चोपदेशस्य । यथाऽन्यत्रोमिति शंसत्योमित्युद्गापतीत्येवमादौ स्वाध्यायारम्भापवर्गमोक्षोकारप्रयोगो विनियोगादवगम्यते न च 'तथाऽर्यान्तरमिहावगम्यते । तस्माद्ब्रह्मसाधनत्वेनेवेहोकार-

लमिति भावः । अत्रेति मन्त्रोक्तिः । विशेषणविशेष्यत्वे 'ययोक्तसामानाधिकरण्यं हेतुं करोति—विशेषणेति । ब्रह्मेत्युक्ते 'सत्यकाङ्क्षाभावात्किं विशेषणेनेत्याशङ्काऽऽह—ब्रह्मशब्द इति । निरुपाधिकस्य सोपाधिकस्य वा ब्रह्मणो 'विशेषणत्वेऽपि कथं तस्मिन्मोशब्दप्रवृत्तिरित्याशङ्काऽऽह—यत्तदिति ।

किमिति ययोक्ते ब्रह्मण्योशब्दो मन्त्रे प्रयुज्यते तत्राऽऽह—इह चेति । ॐशब्दो ब्रह्मोपासने साधनमित्यत्र मानमाह—तथा चेति । सापेक्षं श्रेष्ठं चारयति—परमिति । आदिशब्देन प्रणवो घनुरित्यादि गृह्यते । ॐ ब्रह्मेति सामानाधिकरण्योपदेशस्य ब्रह्मोपासने साधनत्वमोकारस्येत्यस्मादर्थान्तरासंभवाच्च तस्य तत्साधनत्वमेष्टमितिआह—अन्यार्थेति । एतदेव प्रपञ्चयति—यथेत्यादिना । अन्यत्रेति तन्तिरोपश्रुतिग्रहणम् । अपवर्गं स्वाध्यायावसानम् । अर्थान्तरावगतेरभावे फलितमाह—तस्मादिति ।

और "ख" यह विशेषण है । नीलकमल की तरह यहाँ विशेषण और विशेष्य का सामानाधिकरण्य रूप से निर्देश किया है कि 'आकाश ब्रह्म (ओङ्कार) है' । ब्रह्म शब्द विशेषण के बिना बृहत् वस्तु मात्र का गोचर है, इसलिए इसे 'ख ब्रह्म' इस प्रकार विशेषित किया जाता है । जो वह 'ख ब्रह्म' है, वह ओङ्कार शब्द वाक्य है, अथवा ओङ्कार शब्द स्वरूप ही है, दोनों ही प्रकार से मानने में सामानाधिकरण्य में कोई विरोध नहीं आता ।

यहाँ ब्रह्मोपासना में साधन रूप से ॐ शब्द का प्रयोग हुआ है । ऐसा ही दूसरी श्रुतियों में कहा गया है—'यह (ओङ्कार ही) श्रेष्ठ आलम्बन है, तथा यही उत्कृष्ट आलम्बन है', 'ॐ—इस प्रकार उच्चारण कर आत्मा को संयत करे', 'ओङ्कार अक्षर द्वारा ही उस परम पुरुष का ध्यान करे', 'ॐ—इस प्रकार आत्मा का ध्यान करे' इत्यादि । सामानाधिकरण्य उपदेश से ब्रह्मोपासना से भिन्न अर्थ यहाँ संभव नहीं है । जिस प्रकार 'ॐ' ऐसा कहकर श्रुति का पाठ करता है, 'ॐ' इस प्रकार कहकर उद्गान करता है—इत्यादि श्रुतिवाक्यों में स्वाध्याय के आरम्भ और समाप्ति में विनियोग से ओङ्कार का

- १ गोचर । २ विशेषण बिना । ३ क उ । ४ नारा ७२ प्र । ५ प्र उ । ६ मु उ ।
७ सामानाधिकरण्योपदेशस्य । ८ ध्यानसाधनत्वात् मन्त्रे ओङ्कारस्य । ९ मन्त्रोक्तसामानाधिकरण्यम् ।
१० विशेषणाकाङ्क्षाभावात् । ११ विशेषितत्वं विशेष्यत्वं इति यावत् ।

शब्दस्योपदेशः ।

यद्यपि ब्रह्मात्मादिशब्दा ब्रह्मणो वाचकास्तथाऽपि श्रुतिप्रामाण्याद्ब्रह्मणो नेदि-
ष्टमभिधानमोकारः । अत एव ब्रह्मप्रतिपत्ताविद परं साधनम् । 'तच्च द्विप्रकारेण प्रतीक-
त्वेनाभिधानत्वेन च । प्रतीकत्वेन । यथा विष्ण्वादिप्रतिमाऽभेदेनैवमोकारो ब्रह्मेति
प्रतिपत्तव्यः । तथा ह्योकारालम्बनस्य' ब्रह्म प्रसीदति,

“एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते” इति श्रुतेः ।

तत्र खमिति भौतिके खे प्रतीतिर्मा भूदित्याह—खं पुराणं चिरन्तनं खं परमात्मा-
काशमित्यर्थः । यत्तत्परमात्माकाश पुराणं खं तच्चक्षुराद्यविषयत्वाद्भिरालम्बनमशब्दं
ग्रहीतुमिति श्रद्धाभक्तिभ्यां भावविशेषेण चोकार आदेशयति । यथा विष्ण्वङ्गाङ्कितायां

ननु शब्दादन्तरेष्वपि ब्रह्मवाचकेषु सत्सु किमित्योशब्दः एव ध्यानसाधनत्वेनोपदिश्यते तत्रा-
ऽऽह—यद्यपीति । नेदिष्टं निकटतमं प्रियतममित्यर्थः । प्रियतमत्वप्रयुक्तं फलमाह—अत एवेति । साधन-
त्वेऽवास्तरविशेषं दर्शयति—तच्चेति । प्रतीकत्वेन कथं साधनत्वमिति पृच्छति—प्रतीकत्वेनेति । कथ-
मित्यव्याहारः । परिहरति—यथेति । ओंकारो ब्रह्मेति प्रतिपत्तो किं स्वात्तदाह—तथा हीति ।

मन्त्रमेवं व्याख्याय ब्राह्मणमवतार्य व्याचष्टे—तत्रेत्यादिना । मन्त्रः सप्तम्यर्थः । ननु यथोक्तं
'तत्त्वं स्वेनैव रूपेण प्रतिपत्तुं शक्यते किं प्रतीकोपदेशेनेत्याशङ्क्याऽऽह—यत्तदिति । भावविशेषो बुद्धे-
विषयपारवश्यं परिहृत्य प्रत्यक्षब्रह्मज्ञानाभिमुख्यम् । ओंकारे ब्रह्मवेगनमुदाहरणेन द्रढयति—यथेति ।

प्रयोग करना ज्ञात होता है' उसी प्रकार ध्यानसाधनत्व होने में यहाँ अर्थान्तर ज्ञात नहीं होता ।
इसलिए यहाँ ध्यान के साधनत्व रूप से ही ओङ्कार शब्द का प्रयोग हुआ है ।

यद्यपि ब्रह्म धीर आत्मादि शब्द ब्रह्म के वाचक है; तथापि श्रुतिप्रामाण्य से ब्रह्म का प्रियतम
नाम ओङ्कार है । इसलिए ब्रह्म प्रतिपत्ति में यह परम साधन है । प्रतीक रूप एव नाम रूप से प्रतीक
ब्रह्मप्राप्ति के दो साधन हैं । प्रतीक का यह स्वरूप है—जैसे विष्णु आदि मूर्तियों में विष्णु से अनेक
चिन्तन, इसी प्रकार 'ओङ्कार ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करनी चाहिए । तथा जो पुरुष ओङ्कार
का अवलम्बन करता है; उससे ब्रह्म प्रसन्न होता है । श्रुति कहती है—

“यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही उत्कृष्ट आलम्बन है, इस आलम्बन की उपासना कर साधक
ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है” ।

यहाँ “खम्” इस पद से भौतिक आकाश के अर्थ की प्रतीति न हो—इस पर श्रुति कहती है ।
“खं पुराणम्” अर्थात् चिरन्तन आकाश या परमात्माकाश । जो वह चिरन्तन आकाश या परमात्मा-
काश है, वह चक्षु आदि इन्द्रियो का विषय न होने से निरालम्बन है, उसे ग्रहण करना कठिन

१. ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वं च । २. ब्रह्मदृष्टपालम्बनत्वेन तददृष्टपरिहरणत्वेनेति यावद् । ३. पुंसः । ४.
भूमिति फलति । ५. अत्र मानमाह—एतदिति । ६. उपास्य । ७. निरधिकरणम् । ८. धारोपयति ।
९. धनाद्यन्तपरमात्माकाशम् ।

शिलादिप्रतिमायां विष्णुं सोरु एवम् । वायुरं तं 'वायुरस्मिन्विद्यत इति वायुरं तं
 त्मानं समित्युच्यते न पुराणं समित्येवमाह स्म । फोऽमी । वीरव्यापणीपुत्रः । वायुरे
 हि ते मुच्यः सशब्दव्यवहारस्तस्मान्मुच्ये सप्रत्ययो युक्त इति मन्वते । तत्र यदि पुराणं
 तं ब्रह्म निहनाधिस्वरूपं यवि वा वायुरं तं सोपाधिक ब्रह्म 'सद्यथाऽप्योकारः प्रतीक-
 त्पेनैव 'प्रतिमावत्साधनत्वं प्रतिपद्यते । "एतद्वै सत्ययाम परं चापरं च ब्रह्म यदोकारः"
 इति श्रुत्यन्तरात् । केवलं सशब्दार्थे विप्रतिपत्तिः ।

येदोऽयमोकारो वेद विजानात्यनेन यद्वेदितव्यम् । 'तस्माद्देव ऽकारो वाचको-
 ऽनिधानम्' । तेनाभिधानेन यद्वेदितव्यं ब्रह्म प्रकाश्यमानमभिधीयमानं वेद साधनो

'कल्पान्तरमाह—वायुरमित्यादिना । किमिति मूत्राधिकरणमथावृत्तमाकाशमत्र गृह्यते तत्राऽह—'वायुरे
 हीति । 'तदेव मूत्रान्नाशान्मना विपरिणाममिति भावः । "तर्हि पक्षद्वये सत्त्वयमाने क सिद्धान्तः स्यादि-
 त्याशङ्क्याधिकारिभेदमाश्रित्याऽह—तत्रेति । श्रुत्यन्तरस्या"न्यधामिन्द्रिसंभवाद्योकारस्य प्रतीकरत्वेऽपि
 विप्रतिपत्तिमाशङ्क्याऽह—केवलमिति । "इतरत्र विप्रतिपत्तिद्योतकाभावादिति भावः ।

प्रतीकपक्षमुपपाद्याभिधानपक्षमुपपादयति—येदोऽयमिति । "तदेव प्रपञ्चयति—तेनेति । येदेत्य-

है । इसलिये श्रुति श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भाव विशेष द्वारा उभवा ओङ्कार मे आरोप करनी है,
 जिस प्रकार लोकव्यवहार मे विष्णु के भक्तों मे अद्विज शिलादि की प्रतिमा मे विष्णु
 का आरोप हुआ करता है । "वायुर सम्" यानी जिसमे वायु विद्यमान हो, वह वायुर आनाश ।
 यहाँ "क्षम्" पद मे आवाश मात्र ही कहा जाता है, उस चिरन्तन आवाश की नहीं, ऐसा कहा
 है । वह किसने कहा है—वीरव्यापणी पुत्र ने । 'य' शब्द का मुख्य व्यवहार वायुर आनाश
 मे है । इसलिये इसका मुख्य अर्थ जानना ही उचित है—ऐसा वह मानता है । वहाँ यदि 'यम्' इस
 पद का अर्थ चिरन्तन आवाश रूप निरूपान्ति ब्रह्म मे हो प्रयवा यदि वायुर आवाश सोपाधिक ब्रह्म
 से हो, दोनों ही प्रकार से उभयविध ब्रह्मोपासना मे प्रतिमा के समान प्रतीक रूप से ओङ्कार की
 साधनता सिद्ध होती है । अन्य श्रुति इसी की कहती है—हे सोम्य । यह निरुपाधिक परब्रह्म और
 सोपाधिक अपरब्रह्म ही ओङ्कार है । यहाँ केवल स शब्दार्थ मे सन्देह है ।

'वेद' अर्थात् यह ओङ्कार ही वेद है क्योंकि जो वेदितव्य ब्रह्म है, वह इससे जाना जाता
 है । (जिससे ब्रह्मवेदन साधनत्व है) इसलिये वेद ओङ्कार वाचक, आत्मा का नाम है । उस नाम मे

- १ वायुरस्मिन्निति—वायुरत्र मूत्र वायुर वाध्यावृत्तयोश्चर इति स्पुटित्यन्ते टीकातोऽर्थे । २ यद्योक्तोभय-
- प्रकारेणापि । ३ उभयविधब्रह्मप्रतिपत्तौ । ४ ब्रह्म । ५ ब्रह्मवेदनसाधनत्वात् । ६ आत्मनः ।
- ७ सशब्दस्यार्थान्तरम् । ८ अध्याहृताकारो । ९ ननु सशब्दस्य भूताकारो प्रसिद्धतरत्वात्तदेव किमित्यत्र
- न गृह्यते-त आह—तदेवेति । अध्याहृताकारामेवेत्यर्थं । तथा च परिणामपरिणामिनोरभेदाद्भूताकारात्मव
- वायुरस्यैव विवक्षितमिति भावः । १० तर्हि—वायुरस्येन भूताकारास्य विवक्षितत्व । ओङ्कारस्ये प्रतीने
- कारणब्रह्मवद्विस्तमित्यनेन भूताकारावाचिच्छब्रह्मवद्विस्तारितपक्षद्वये प्राप्नुवति सतीत्यर्थः । ११ अन्यधामिन्द्रि-
- संभवादिति । ओङ्कारस्यप्रतीकत्वान्मुच्यमेऽपि तदभिधानत्वेनापि सार्थकत्वमभवादित्यर्थः । १२ ओङ्कारस्य
- प्रतीकत्वे । १३ तस्याभिधानत्वमेव ।

विजानात्युपलभते । 'तस्माद्देवोऽयमिति ब्राह्मणा विदुः । 'तस्माद्ब्राह्मणानामभिधान-
त्वेन 'साधनत्वमभिप्रेतमोँकारस्य । अथवा वेदोऽयमित्याद्यर्थवादः । कथमोँकारो ब्रह्मणः
प्रतीकत्वेन विहितः । ॐ छं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यात्तस्य' स्तुतिरिदानीं वेदत्वेन ।
सर्वो ह्ययं वेद ॐकार एव । 'एतत्प्रभव एतदात्मकः सर्वं ऋग्यजुःसामादिभेदभिन्न' एष
ओँकारः "तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णाणि" इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । इतश्चायं वेद ॐकारो
यद्देवित्वं तत्सर्वं वेदित्वमोँकारेणैव वेदेनेनातोऽयमोँकारो वेदः । इतरस्यापि "वेदस्य
वेदत्वमत एव । "तस्मा"द्विशिष्टोऽयमोँकारः साधनत्वेन "प्रतिपत्तव्य इति । अथवा वेदः
सः । कोऽसौ । यं ब्राह्मणा विदुरोँकारम् । ब्राह्मणानां ह्यसौ प्रणवोद्रीया"दिविकल्प-

त्राऽऽवो तच्छब्दो द्रष्टव्यः । ब्राह्मणा विदुरिति विशेषनिर्देशस्य तात्पर्यमाह—तस्मादिति । प्रतीकपक्षे-
ऽपि वेदोऽयमित्यादिग्रन्थो "निर्वहतीत्याह—अथवेति । विध्यभावे कथमर्थवादः संभवतीत्याशङ्क्य परि-
हरति—कथमित्यादिना । वेदत्वेन स्तुतिमोँकारस्य संग्रहविवरणाम्यां दर्शयति—सर्वो हीति । ॐकारे
सर्वस्य नामजातस्यान्तर्भावे प्रमाणमाह—तद्यथेति । "तत्रैव हेत्वन्तरमवतार्य व्याकरोति—इत्यथेति ।
वेदित्वं परमपरं वा ब्रह्म । 'द्वे ब्रह्मणी वेदित्वे' इति श्रुत्यन्तरात् । "तद्वेदनसाधनत्वेऽपि कथमो-
कारस्य वेदत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—इतरस्यापीति । अत एव वेदित्वमवेदेन हेतुत्वादेवेत्यर्थः । प्रतीकपक्षे
वाच्ययोजनां निगमयति—तस्मादिति । अभिधानपक्षे प्रतीकपक्षे चं कं वाच्यमेकैकत्र योजयित्वा पक्ष
द्वयेऽपि साधारण्येन योजयति—अथवेति । तस्य पूर्वोक्तनीत्या वेदत्वे लाभ दर्शयति—तस्मिन्निति ।

"यद्देवित्वम्" अर्थात् जो प्रकाश्यमान या अभिधीयमान ब्रह्म है, उसे साधक 'वेद' अर्थात् जानता या
प्राप्त करता है । इसलिये ब्रह्म वेदन साधन होने से यह वेद है—ऐसा ब्राह्मण जानते हैं । इसलिए
(विशेषनिर्देश होने से) ब्राह्मणों को यह स्वीकृत है कि ब्रह्म उपासना में ओँकार अभिधान रूप से
साधन है । अथवा 'यह वेद है' यह वाक्य स्तुतिपरक है । किस प्रकार ओँकार ब्रह्म के प्रतीक रूप से
विहित है । क्योंकि वह परमात्मा आकाश है, इस प्रकार उनका सामानाधिकरण्य है । अब उसवी
स्तुति वेदरूप से की जाती है । यह सारा वेद ओँकार ही है । इससे उत्पन्न एव इसका स्वरूप ऋग्यजु-
सामादिभेदों में विभक्त वेद भी यह ओँकार ही है । अन्य श्रुति में भी कहा है 'जिस प्रकार शङ्कु से
संपूर्ण पत्तं और तृण व्याप्त रहते हैं' । यह वेद इसलिए भी ओँकार है क्योंकि जो वेदित्व्य ब्रह्म है, वह
सब इस ओँकार रूप वेद से जाना जाता है, इसलिए यह ओँकार वेद है, इसमें निम्न ऋगादि वेद वा
भी वेदत्व इसी से है । इसलिए गायत्री आदि आलम्बनों से प्रशसित इस ओँकार में साधन रूप से
ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये । अथवा वह वेद है । कौन वेद है ? जिसे ब्राह्मण ओँकार जानते हैं क्योंकि यह
ओँकार ब्राह्मणों द्वारा प्रणव-उद्गीथ आदि विकल्पों से ग्राह्य है और उसके साधन रूप में प्रयोग करने

- १ ब्रह्मवेदनसाधनत्वात् । २ विशेषनिर्देशात् । ३ ब्रह्मप्रतिपत्ता । ४ स्तुति । ५ विधेरोमो वा ।
- ६ क्रियते । ७ सग्रहवाक्य विवृणोति—एतदिति । ८ वेद । ९ सतृणान्येवमोँकारेण सर्वा वाक्
सतृणोँकार एव । द्वा उ २ २३ ३ । १०. ऋगादे । ११ यद्योक्तनीत्या वेदत्वात् । १२. गायत्र्या-
द्यालम्बनेभ्य प्रशस्तः । १३. तत्र ब्रह्मदृष्टिः कार्या । १४ भादिना प्रस्तावप्रतिहारो प्राहो । १५
उपयुज्यते । १६ वेदत्वेनोँकारस्तुतो । १७ ब्रह्म ।

अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीय ब्राह्मणम् ।

'त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापती पितरि ब्रह्मचर्यं मूषुर्देवा
मनुष्या असुरा उपित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्व्रवीतु नो
भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा

देव, नर और असुर, ये तीनो प्रजापति के पुत्र थे । उन्होंने पिता प्रजापति के पास शिष्यभाव से ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया । ब्रह्मचर्यपूर्वक वास के बाद देवो ने प्रजापति से कहा—आप हमे उपदेश करें । प्रजापति ने उन देवो से 'द' यह अक्षर कहा और पूछा—क्या आप लोग समझ गये ? इस पर देवताओ

विज्ञेयः । तस्मिन्हि प्रयुज्यमाने साधनत्वेन सर्वे देवः प्रयुक्तो भवतीति ॥ १ ॥

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

अधुना दमादि'साधनप्रयविधानार्थोऽयमा'रम्भः—त्रयास्त्रिसंख्याकाः प्राजापत्याः
प्रजापतेरपत्यानि प्राजापत्यास्ते किं प्रजापती पितरि ब्रह्मचर्यं शिष्यत्ववृत्तेर्ब्रह्मचर्यस्य
प्राधान्याच्छिष्याः सन्तो ब्रह्मचर्यं मूषुर्विवृत इत्यर्थः । के ते विशेषतो, देवा मनुष्या

ॐकारस्य ब्रह्मोपास्तिसाधनत्वमित्ये सिद्धमित्युपसर्तुंमितिशब्द ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकाया पञ्चमाध्यायस्य प्रथम ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणान्तरस्य तात्पर्यंमाह—अधुनेति । तद्विधाने 'सर्वोपास्तिसोपत्वेनेति द्रष्टव्यम् । आख्या
यिकाप्रवृत्तिरारम्भः । पितरि ब्रह्मचर्यं मूषुरिति सन्न-ध । प्रजापतिसमीपे ब्रह्मचर्यं वासमात्रेण किमि-
त्यसौ देवादिभ्यो हित श्रूयादित्याशङ्कयाऽह—शिष्यत्वेति । शिष्यभावेन 'वृत्तेः सवन्धिनो ये धमस्तिष्या
पर सभी वेद प्रयुक्त हो जाता है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य प्रथम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का
हिन्दीभाषानुवाद संपन्न हुआ ॥ १ ॥

(आम्यन्तर सर्वोपास्ति साधन ओङ्कार को ब्रह्म कर) अथ दमादि (ब्राह्म) साधनत्रय के लिए
यह आख्यायिका रूप अर्थवाद आरम्भ किया जाता है—'त्रया' अर्थात् तीन संख्या वाले
'प्राजापत्या' यानी प्रजापति के पुत्र थे । उन्होंने क्या किया ? 'प्रजापती पितरि ब्रह्मचर्यं मूषु'
अर्थात् पिता प्रजापति के पास 'शिष्यत्ववृत्ति से रहना ही ब्रह्मचर्य की प्रधानता है', इसलिए शिष्य
होकर ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किया । वे तीन थे ? विशेषतः देव, मनुष्य और असुर । उन्होंने ब्रह्मचर्य-

१ त्रया इत्यादिरर्थवादीत्यम् । तदेतन्नय विशेषिति दमादिविशेषित्वात् । दमादयश्च सर्वोपास्तिसाधनम् ।
यदाह—'दान्तो दाता दयालुश्च सत्साहाय्यतर' शुचि । एवविधोऽधिकारी स्यात्सर्वोपास्तिभूमिषु ॥
वा २ ॥ इति । पतिभूषणे यत्तस्मिन् नाचस्य ध्यान शिष्यतीति भाव । २ अधुनेति—आम्यन्तर सर्वो
पास्तिसाधनमोङ्कारमुक्त्वा । ३ ब्राह्मसाधनत्वर्थः । ४ आख्यायिकारूपोऽर्थवादः । ५ वक्ष्यमाणसर्वो-
पास्तीत्यर्थः । ६ वर्तनस्य भवहरणस्य ।

३ इति व्यज्ञासिष्टमेति होचुर्दाम्यतेति न आत्येत्योमिति
होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥१॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्व्वीतु नो भवानिति तेभ्यो
हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञा-

ने कहा—हाँ, हम लोग समझ गये । आपने 'इन्द्रिय दमन करो' ऐसा हमें उपदेश दिया है, (क्योंकि देवता स्वभाव से अजितेन्द्रिय होते हैं; अतः उन्हें इन्द्रिय दमन की आवश्यकता होती है) तब प्रजापति ने कहा—ठीक है, आप लोग समझ गये हो ॥ १ ॥

उसके बाद प्रजापति से मनुष्यों ने कहा—हमें आप उपदेश करे । प्रजापति ने उन्हें भी 'द' यह अक्षर ही बतलाया और पूछा—समझ गये ? मनुष्यों ने कहा—हाँ, हम सब समझ गये । आपने

अमुराश्च । ते चोषित्वा ब्रह्मवयं किमकुर्वन्नित्युच्यते—तेषां देवा ऊचुः पितरं प्रजापतिम् ।
किमिति । ब्रवीतु कथयतु नोऽस्मभ्यं यदनुज्ञासनं भवानिति । तेभ्य एवमर्थिन्यो हैतव-
क्षरं वर्णमात्रमुवाच द इति । उक्त्वा च तान्पप्रच्छ पिता किं व्यज्ञासिष्टा इति । मयो-
पदेशार्थमभिहितस्याक्षरस्यार्थं विज्ञातवन्त आहोस्विन्मेति । देवा ऊचुर्व्यज्ञासिष्टमेति
विज्ञातवन्तो वयस् । यद्येवमुच्यतां किं मयोक्तमिति । देवा ऊचुर्दाम्यतादान्ता यूय स्वभाव-
तोऽतो दान्ता भवतेति नोऽस्मानात्थ कथयसि । इतर आहोमिति सम्प्राद्यज्ञासिष्टेति । १ ।
समानमन्यत् । स्वभावतो लुब्धा यूयमतो यथाशक्ति संविभजत दत्तेति, नोऽस्मा-

मध्ये ब्रह्मचर्यस्येत्यादि योज्यम् । तेषामिति निर्धारणे षष्ठी । ऊहापोहशक्तानामेव शिष्यत्वमिति द्योत-
नार्थो ह्यशब्दः । विचारार्थं प्लुतिरित्यङ्गीकृत्य प्रश्नमेव व्याचष्टे—मयेति । अमित्यनुज्ञामेव 'विभ-
जते—सम्पगिति ।

समानत्वेनोत्तरम्य सर्वस्यैवार्थवाद्यस्याध्याह्येत्ये प्राप्ते दत्तेत्यत्र तात्पर्यमाह—स्वभावत इति ।

पूर्वक रहकर क्या किया ? इस पर श्रुति कहती है—उन (तीनों पुत्रों) में से देवता अपने पिता प्रजापति से बोले ! क्या बोले ? "ब्रवीतु नो भवानिति" अर्थात् जो आपकी शिक्षा हो, वह हमारे प्रति कहिये । "तेभ्य" अर्थात् उपदेश सुनने के इच्छक उन देवों के प्रति "हैतवक्षरम्" अर्थात् हम 'द' वर्णमात्र का उच्चारण किया । इतना कहकर पिता ने उन देवताओं से पूछा—क्या समझ गये हो अर्थात् मेरे द्वारा उपदेशार्थ बतायें गये 'द' इस अक्षर का तात्पर्य समझ गये हो अथवा नहीं । देवता बोले - "व्यज्ञासिष्टमेति" अर्थात् हम समझ गये हैं । यदि ऐसा है, तो यथाश्रो मेरे 'द' कहने या तात्पर्य क्या था ? देवता बोले—"दाम्यताम्" अर्थात् तुम लोग स्वभाव में अदाम्न हो, इसलिए अत्र जितेन्द्रिय हो जाओ । ऐसा "न आत्ये" आप हमसे कह रहे हो । तब प्रजापति ने कहा—ठीक है ! आप अक्षरी प्रकार समझ गये हो ॥ १ ॥

इस मन्त्र का अर्थ उपरोक्त मन्त्र के समान है । आप लोग स्वभान से लोभी हो, इसलिए

सिष्मति होचुदंत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञा-
सिष्मति ॥ २ ॥

अथ हंनमसुरा ऊचुव्रंवीतु नो भवानिति तेभ्यो हंतदे-
वाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्मति ३ इति व्यज्ञा-
सिष्मति होचुदंयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच

हमे 'दान करो' ऐसा उपदेश किया है (क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही लोभी होना है) तब प्रजापति ने कहा—हाँ, ठीक है, आप लोग समझ गये ॥ २ ॥

फिर प्रजापति से दंत्यो ने कहा—आप हमें उपदेश करें। प्रजापति ने दंत्यो से भी 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा—क्या आप लोग समझ गये? दंत्यो ने कहा—हाँ, हम सब समझ गये। आपने हमें 'दया करो' ऐसा कहा। तब प्रजापति ने कहा—हाँ ठीक है, आप लोग समझ गये। उम प्रजापति

नात्थ 'किमन्यद्ब्रूयाप्नो हितमिति मनुष्याः ॥ २ ॥

तथाऽसुरा दयध्वमिति । 'क्रूरा यूयं हिंसादिपरा अतो दयध्वं प्राणिषु दया पुरुतेति । तदेतत्प्रजापतेरनुशासनमद्याप्यनुवर्तत एव । यः पूर्वं प्रजापतिर्देवादीननुशासत सोऽद्याप्यनुशास्तेव दंव्या स्तनयित्नुलक्षणया वाचा । कथमेया भ्रूयते दंवी वाक्काऽसौ स्तनयि-

दानमेव लोभत्यागरूपमुपदिष्टमिति कुतो निश्चितमन्यदेव हित किंचिदादिष्ट किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—किमन्यदिति ।

यथा देवा मनुष्याश्च स्वाभिप्रायानुसारेण दकारश्रवणे सत्यर्थं जगृहस्तथेति यावत् । दयध्वमित्यत्र तात्पर्यमीरयति—क्रूरा इति । हिंसादीत्यादिशब्देन परस्वापहारादि गृह्यते । प्रजापतेरनुशासनं प्रागासीदित्यत्र सिद्धमाह—तदेतदिति । अनुशासनस्यानुवृत्तिमेव व्याकरोति— य पूर्वमिति । 'द इति

यथाशक्ति अनादि का सविभाजन किया करो, दान किया करो—ऐसा अपने हमसे कहा है । (दान करना ही सर्वोत्तम हित की बात होने से) इससे अधिक हित की बात क्या कहोगे—ऐसा मनुष्य बोले ॥ २ ॥

इसी प्रकार असुरों ने 'दया करो' ऐसा 'दकार' वर्ण का अभिप्राय समझा । क्योंकि सुम स्वभावतः क्रूर हो, हिंसादिपरायण हो, इसलिए "दयध्वम्" अर्थात् प्राणियों में दया करो । प्रजापति का यह अनुशासन आज भी उसी प्रकार चल रहा है । जिस प्रजापति ने पहले देवादिकों को शिक्षा दी थी, वह आज भी मेघ देवता की दिव्य वाणी से शिक्षण कार्य करता है । यह देवी वाणी जिस

१ किमन्यदिति—सर्वोत्तमहितत्वादानस्येति भावः । २ स्वभावतः । ३ द इति विसन्धिकरणमिति—
द इतीत्यत्र गुणात्मकशब्दकारणमित्यर्थः । सर्वत्रेत्यादि—सर्वत्र समानवर्णत्वबोधनायमित्यर्थः । सन्धिकरणे हि तृतीयस्थाने दकारोऽपि समाभ्येतेति भावः । दकारास्त्रयोऽपि निविमक्तिका प्रातिपदिकमात्रमिति ध्येयम् ।

व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा देवी वागनुवदति 'स्तन-
यित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति 'तदेतत्त्रयध
शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य

द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

के अनुशासन का मेघगर्जनरूपी देवी वाणी 'द द द' इस प्रकार आज भी अनुवाद कर रही है अर्थात् दमन करो, दान करो और दया करो । अतः दमन, दान और दया इन तीनों को अपने अधिकारानुरूप सभी ने सीख लिया ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

त्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमित्येषां वाक्यानामुपलक्षणाय त्रिवंकार उच्चार्यते-
ऽनुकृतिर्न तु स्तनयित्नुशब्दस्त्रिरेव, संख्यानियमस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात् । यस्मादद्यापि
प्रजापतिर्दाम्यत दत्त दयध्वमित्यनुशास्त्येव तस्मात्कारणादेतत्त्रयम् । किं तत्त्रयमित्युच्यते
दमं दानं दयामिति शिक्षेदुपावद्यात्प्रजापतेरनुशासनमस्माभिः कर्तव्यमित्येवं मतिं कुर्यात् ।
तथा च स्मृतिः—

विसंधिकरणं सर्वत्र वर्णान्तरभ्रमापोहायंम् । यया दकारत्रयमत्र' दिवक्षितं तथा स्तनयित्नुशब्देऽपि
त्रित्वं विवक्षितं चेत्प्रसिद्धिबिरोधः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अनुकृतिरिति । दशब्दानुकारमात्रमत्र' विष-
क्षितं न तु स्तनयित्नुशब्दे त्रित्वं प्रमाणाभावादिः। प्रकृतस्याचंवादस्य विधिपर्यवसायित्वं फलित-
माह—यस्मादिति । उपादानप्रकारमेवाभिनयति—प्रजापतेरिति । श्रुतिसिद्धविषयानुसारेण भगवद्दश-
प्रवृत्तिं दशयति—तथा चेति ।

प्रकार सुनी जाती है—'द द द' इस प्रकार मेघ देवता की वाणी 'दमन करो, दान करो, दया करो,—
इन वाक्यों के बोध के लिए तीन बार दकार अनुवृत्ति का उच्चारण करती है, मेघ देवता का शब्द तीन
बार ही होता है—ऐसी तीन बार आवृत्ति वाली संख्या का नियम लोक में प्रसिद्ध नहीं है । जिस
कारण आज भी प्रजापति 'दमन करो, दान करो, दया करो' इस प्रकार अनुशासन करता है, इसलिये
इन तीनों की शिक्षा दी । किन तीनों की ? इस पर श्रुति कहती है—दम, दान और दया । इन तीनों
को "शिक्षेत्" ग्रहण करे अर्थात् हमें प्रजापति के अनुशासन को करना चाहिये, इस प्रकार बुद्धि बरे ।
इसी को स्मृति भी कहती है—

१. मेघो देवः । २. य स्तोत्रमर्चवादः प्रवृत्तमन्तं विधेयमाह—तदेतदिति । विरोदापुनिकोऽपि मनुष्य इति
भावः । ३. उपलक्षणायेति—नामैकदेवग्रहणव्यायेन बोधनायेत्यर्थः । ४. प्रजापतिवाक्ये । ५. स्तनयि-
त्नुशब्दे । ६. दीपत्वम् ।

“ त्रिविध नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ” इति ॥

अस्य हि विधेः शेषः 'पूर्वः । तथाऽपि 'देवादीनुद्दिश्य किमर्थं' दकारत्रयमुच्चारित-
वाप्रजापतिः 'पृथगनुशासनाधिभ्यः । ते वा कथं विवेकेन प्रतिपन्नाः प्रजापतेर्मनोगतं
समानेनैव दकारवर्णमात्रेणेति पराभिप्रायज्ञा विकल्परमिति ।

अत्रैक आहुरद्वान्तत्वादानत्वाद्यत्तुत्वेरपराधित्वमात्मनो मन्थमानाः शङ्कता एव
'प्रजापतावपुः किं नो वक्ष्यतीति । तेषां च 'दकारश्रवणमात्रादेवाऽऽत्माशङ्कावशेन तदर्थ-

तदैतत्त्रय शिक्षोदित्येषु विविधैः कृतं न्यायः प्रजापत्या इत्यादिना ग्रन्थेनेत्याशङ्क्य 'यस्मादित्या-
दिना सूचितमाह—अस्येति । सर्वैरेव त्रयमनुष्ठेयं चेत्तद्दि देवादीनुद्दिश्य दकारत्रयोच्चारणमनुपपन्नमिति
शङ्कते—तथेति । दमादित्रयस्य सर्वैरनुष्ठेयस्ये सतीति यावत् । किञ्च पृथक्पृथगनुशासनाधिभ्यो देवाद्य-
स्तेभ्यो दकारमात्रोच्चारणे नापेक्षितमनुशासनं सिध्यतीत्याह—पृथगिति । किमर्थमित्यादिना पूर्वेषु
सबन्धः । दकारमात्रमुच्चारयतीऽपि प्रजापतेर्विभागेनानुशासनमभिसहितमित्याशङ्क्याऽऽह—ते वेति ।
त्रयं सर्वैरनुष्ठेयमिति परस्य सिद्धान्तिनोऽभिप्रायस्तदभिज्ञाः सन्तो यथोक्तनीत्या विकल्पयतीति
योजना । पराभिप्रायज्ञा इत्युपहासो वा परस्य प्रजापतेर्मनुष्यादीनां चाभिप्रायज्ञा इति । "नजृत्नेखी
वा पाठ ।

एकीय परिहारमुत्थापयति—अत्रेति । अस्तु तेषामेवा शङ्का तथाऽपि दकारमात्रात्कीदृशी
प्रतिपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तेषां चेति । तदर्थो दकारार्थो दमादिस्तस्य प्रतिपत्तिस्तद्वारेणावागन्तत्वादि-

“काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं, जो आत्मा को पतन की ओर ले जाने
वाले हैं, इसलिये बुद्धिमान् को इन तीनों का त्याग कर देना चाहिये” ।

इस विधि वा ही यह पूर्ववर्णित 'प्रजापति के तीन पुत्रो वाली आख्यायिका' शेष है । तो भी
पृथक्-पृथक् उपदेश मुनने के इच्छक (सबको निमित्त वा उच्चारण करने योग्य होते हुए भी) देवताओं
को उद्दिश्य करके प्रजापति ने तीन दकारों वा उच्चारण क्यों किया और उन देवताओं ने भी एक
दकार मात्र वर्ण से प्रजापति के मनोगत (विभागपूर्वक) उपदेश को कैसे जान लिया ? इस प्रकार
दूसरों के अभिप्राय के जानने वाले वादी लोग विकल्प करते हैं ।

यहाँ किसी एक पूर्ववादी वा मत है कि अजितेन्द्रिय, लोभी और निर्दयी होने के कारण अपने-
अपने को अपराधी मानते हुए शङ्कित भाव से उन्होंने प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्ये वास किया कि देखें

- १ त्रया प्रजापत्या इत्यादिकोऽर्थवाद । २ देवादीनुद्दिश्येति—सर्वादिनुद्दिशोच्चारणमित्ये इति भाव । ३
दकारत्रयमिति—दामन्तत्वादिपदत्रये वक्ष्ये इति भाव । ४ इत्येव विवादयति—पृथगित्यादिना । ५
देवादयः । ६ विभागेनानुशासनम् । ७ प्रजापतावपुः इति—तथा च "नापृष्टं वरुषिद्वन्द्व्यादिति"
न्यायेन देवादीनेवोद्दिश्य दकारोच्चारणं न्यायमिति भाव । ८ दकारमात्रश्रवणात् । ९ धात्मदोषानु-
रूप्येण । १० १३८१ पृष्ठमाध्याये । ११ नजृत्नेखीति—पराभिप्रायानभिज्ञा इत्येवम् । १२ कीदृशीति
—नच तादृशीति यावत् ।

प्रतिपत्तिरभूत् । लोकेऽपि हि प्रसिद्धं पुत्राः शिष्याश्चानुशास्याः सन्तो दोषान्निवर्तयितव्या इति । अतो युक्तं प्रजापतेर्दकारमात्रोच्चारणम् । दमादित्रये च दकारान्वयादात्मनो दोषानुरूप्येण देवादीनां विवेकेन प्रतिपत्तुं चेति । 'फलं त्वेतदात्मदोषज्ञाने सति दोषान्निवर्तयितुं शक्यन्तेऽल्पेनाप्युपदेशेन यथा देवादयो दकारमात्रेणेति ।

नन्वेतत्त्रयाणां देवादीनामनुशासनं देवादिभिरप्येकैकमेवोपादेयमद्यत्वेऽपि न तुं त्रयं मनुष्यैः शिक्षितव्यमिति । अत्रोच्चरते—पूर्वदेवादिभिर्विशिष्टैरनुष्ठितमेतत्त्रयं तस्मान्मनुष्यैरेव शिक्षितव्यमिति । तत्र दयालुत्वस्याननुष्ठेयत्वं स्यात्कथमसुरैरप्रशस्तैरनुष्ठित-

निवृत्तिरासीदित्यर्थः । किमिति प्रजापतिर्दोषज्ञापनद्वारेण ततो देवादीननुशास्यां दोषान्निवर्तयिष्यति तत्राऽऽह—लोकेऽपीति । दकारोच्चारणस्य प्रयोजने सिद्धे फलितमाह—अत इति । यत्पूर्वतं ते वा कथमित्यादि तत्राऽऽह—दमादीति । प्रतिपत्तुं च युक्तं दमादीति शेषः । इतिशब्दः स्वयूष्यमतसमाप्त्यर्थः । परोवर्तं परिहारमङ्गीकृत्याऽऽख्यायिकातात्पर्यं सिद्धान्तो ब्रूते—फलं त्विति । निर्जातदोषा देवादयो यथा दकारमात्रेण ततो निवर्तयन् इति शेषः । इतिशब्दो वाष्पान्तिकप्रदर्शनार्थः ।

विशिष्टान्प्रत्यनुशासनस्य प्रवृत्त्यादस्माकं तदभावादनुपादेयं दमादीति शङ्कते—नन्विति । किंच देवादिभिरपि प्रातिस्विकानुशासनवशादेकैकमेव दमाद्यनुष्ठेयं न तत्रयमित्याह—देवादिभिरिति । यथा पूर्वस्मिन्काले देवादिभिरैकैकमेवोपादेयमित्युक्तं तथा वर्तमानेऽपि काले मनुष्यैरेकैकमेव कर्तव्यं पूर्वाचारानुसारान्न तु त्रयं शिक्षितव्यं तथा च "कस्यायं विधिरित्याह—अद्यत्वेऽपीति । आचारप्रामाण्यमाश्रित्य परिहरति—अनेति इत्येकैकमेव नोपादेयमिति शेषः । दयालुत्वस्यानुष्ठेयत्वमाक्षिपति—तत्रेति । मध्ये दमादीनामिति यावत् । असुरैरनुष्ठितत्वेऽपि दयालुत्वमनुष्ठेयं हितमापनत्वाद्वा-

किं यह हमे क्या शिक्षा देते हैं । अपने दोष के अनुरूप जब उन्होंने दकारमात्र का श्रवण किया तो उन्हें उसकी प्रतीति हुई । लोक में यह प्रसिद्ध है, पत्नी व शिष्यों को अनुशासित करते हुए उनके दोषों का निवारण करना चाहिये । इसलिये प्रजापति द्वारा (अपने पुत्रों के कल्याण के लिए) दकार मात्र का उच्चारण करना ठीक ही है । तथा दमादि तीनों में दकार का अन्वय होने से अपने दोष के अनुरूप देवादिको उन्हें अलग-अलग जान लेना भी उचित ही है । तात्पर्य यह है कि अपने दोष का ज्ञान होने पर अल्प उपदेश से ही दोष से निवृत्त कराया जा सकता है । जिस प्रकार देवादि 'दकार' मात्र उपदेश से ही दोष निवृत्त हो गये ।

(पूर्ववादी शङ्का बरता है—) किन्तु यह देवता आदि तीनों को उपदेश दिया गया, देवता-

- १ अत—दकारोच्चारणस्य यथोक्तरीत्या सकलत्वान् । २ फलम्—प्राप्त्यापिकोत्प्लेक्षस्य तात्पर्यमित्यर्थः । ३ पञ्चमीयम् । ४ ननु पूर्वदेवादिभिर्येकैकमनुष्ठितं किमिति तर्हि मनुष्यैश्चयमनुष्ठेयमित्यावाङ्मा निरमित्तु मनुष्यैरेवेत्येवकारं पूर्वं समुच्चिज्यानुष्ठितमप्यापुगिर्बैरनयैवानुष्ठेयम् । आपुनिर्वाप्रति पूर्वोपाचारामपि ज्येष्ठत्वाविशेषात् ज्येष्ठमात्राचारस्य च बनिष्ठप्रति प्रामाण्यादिति भावः । ५ उपादेयम् । ६ न तावज्ज्येष्ठमात्राचारस्य प्रामाण्यं हि तर्हि । प्रगस्त्येष्टाचारस्यैव बनिष्ठप्रमाणाङ्कान्ते—तत्रेत्यादिना । ७ अप्रशस्तैरिति—निष्ठाचारस्यैव प्रामाण्यादिति भावः । ८ प्रदान्तत्वादि । ९ पञ्चमी । १०. विशिष्टत्वाभावात् । ११ कस्यायं विधिरिति—कस्य दमाद्यन्वयतात्पर्यम् ।

त्वादिति चेत् । न तुल्यत्वात्त्रयाणामतोऽन्योऽत्राभिप्रायः प्रजापतेः पुत्रा देवादयस्त्रयः पुत्रेभ्यश्च हितमेव पित्रोपदेष्टव्यम् । प्रजापतिश्च हितज्ञो नान्ययोपदिशति । तस्मात्पुत्रानुशासनं प्रजापतेः परममेतद्धितम् । अतो मनुष्यैरेवंतत्रयं शिक्षितव्यमिति ।

अथवा न देवा असुरा वाऽन्ये केचन विद्यन्ते मनुष्येभ्यः । मनुष्याणामेवादान्ता येऽन्यैरुत्तर्गुणैः संपन्नास्ते देवा लोभप्रधाना मनुष्यास्तथा हिंसापराः क्रूरा असुरास्त एव मनुष्या अदान्तत्वादिदोषत्रयमपेक्ष्य देवादिशब्दभाजो भवन्तीतरांश्च गुणान्तस्त्वरज-

नाविवदिति परिहरति—नेत्यादिना । देवादिषु प्रजापतेरविशेषात्तस्म्यस्तदुपदिष्टमद्यत्वेऽपि सर्वमनुष्येभ्यमित्यर्थः । हितस्येवोपदेष्टव्यत्वेऽपि तदज्ञानात्प्रजापतिरन्ययोपदिशतीत्याशङ्क्याऽऽह—प्रजापतिश्चेति । हितज्ञस्य पितुरहितोपदेशित्वाभावस्तस्मादित्युक्तः । विशिष्टंरनुष्ठितस्यास्मदादिभिरनुष्येभ्यस्त्वे फलितमाह—अत इति । प्राजापत्या देवादयो विप्रहृद्यन्तः सन्तीत्यर्थवादस्य यथाश्रुतेऽर्थे प्रामाण्यमभ्युपगम्य दकारत्रयस्य तात्पर्यं सिद्धमिति बबुमिति शब्दः ।

संप्रति कर्ममीमांसकमतमनुसृत्याऽऽह—अथवेति । कथं मनुष्येष्वेव देवासुरत्वं तत्राऽऽह—मनुष्याणामिति । अन्ये गुणा ज्ञानादयः । किं पुनर्मनुष्येषु देवादिशब्दप्रवृत्तो निमित्तं तदाह—अदान्तत्वादीति । "देवादिशब्दप्रवृत्तो निमित्तान्तरमाह—इतराश्चेति । मनुष्येष्वेव देवादिशब्दप्रवृत्तो फलितमाह

दिको ने भी उन तीनों मे से एक-एक की उपादेयता को स्वीकार किया । इसलिए आजकल भी मनुष्यों को उन तीनों की शिक्षा नहीं देनी चाहिये । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) यहाँ तात्पर्य अर्थ यह कहा जाता है कि जिस प्रकार पूर्व समय मे देवतादिविशिष्ट प्रजापति के पुत्रो ने इन तीनों का अनुष्ठान किया, इसलिए मनुष्यों को इनका अनुष्ठान करना चाहिये । (फिर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु उन तीनों में दयालुता का अनुष्ठान तो करने योग्य नहीं है क्योंकि इसका अशिष्ट राक्षसो द्वारा अनुष्ठान किया गया था । (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि तीनों उपदेश तुल्य ही हैं । अत यहाँ दकारत्रय का दूसरा ही अभिप्राय है । देवतादि तीनों प्रजापति के पुत्र हैं और पिता द्वारा अपने पुत्रो को हितकारी बात की ही शिक्षा दी जानी चाहिये । प्रजापति उनके हितपी हैं, इसलिये उन्हें अहित का उपदेश नहीं करते । इसलिए प्रजापति द्वारा पुत्रो को दी हुई यह शिक्षा उनका परम हित है । इसलिये मनुष्यों को इन तीनों की शिक्षा देनी चाहिये ।

अथवा देवता या असुर, मनुष्यों से भ्रान्य नहीं हैं । मनुष्यो मे ही जो, और तो सभी उत्तम गुणो से सम्पन्न हैं किन्तु अदान्त है, वे देवता हैं, लोभप्रधान व्यक्ति मनुष्य कहे गये हैं और हिंसा-

- १ अतोऽन्य इति अत्रयत्ताऽमुत्रानुष्ठित्वेनानुष्ठेयं दयालुत्वमिति त्वदुक्ताभिप्रायादन्य इत्यर्थः । २ अत्र प्रकृतास्वामिकायां दकारत्रये वा । ३ अभिप्रायमेव प्रकटयति—प्रजापतेरित्यादिना शिक्षितव्यमितौत्यन्तेन । यदा तुल्यत्वात्त्रयाणामित्युक्तं विवृण्वन्नभिप्रायमेव प्रकटयति—प्रजापतेरित्यादिना । ४ मनुष्यैरेवेति—देवादिषु प्रत्येकं व्यावृत्तितयसमुच्चयबाधोत्पेक्षकारः । ५ अदान्तत्वमदानुत्त्वमदयानुत्वमिति दोषत्रयम् । ६ इतरांश्च गुणान्धत्वेत्यादि—सत्त्वप्रधाना देवा इत्येवमादि बोध्यम् । ७ हिताज्ञानात् । ८ अहितम् । ९ तात्पर्यम्—विशिष्टानुष्ठितःकारत्रयमप्यस्माभिरनुष्ठेयमित्येतत् । १० मनुष्येषु ।

स्तमांस्यपेक्ष्य । अतो मनुष्येरेव शिक्षितव्यमेतन्नयमिति । तदपेक्षयैव प्रजापतिनोप-
विष्टत्वात् । तथा हि मनुष्या प्रदान्ना लुब्धाः क्रूराश्च दृश्यन्ते । तथाचस्मृतिः—“कामः
क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतन्नयं त्यजेत् ” इति ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

(अथ पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम्)

दमादिसाधनत्रयं सर्वोपासनशेषं विहितम् । दान्तोऽलुब्धो दयालुः सप्तसर्वोपासने-
ष्वधिक्रियते । तत्र निरुपाधिकस्य ब्रह्मणो दर्शनं मतिक्रान्तमथाधुना सोपाधिकस्य तस्यै
वाभ्युदयफलानि वक्तव्यानीत्येवमर्थोऽधमारम्भः—

—प्रतं इति । इतिशब्दो विद्युत्पतिप्रशंसायैः । मनुष्येरेव त्रयं शिक्षितव्यमित्यत्र हेतुमाह—तदपेक्ष-
यति । मनुष्याणामेव देवादिभावे प्रमाणमाह—तथा हीति । त्रयं शिक्षितव्यमित्यत्र स्मृतिमुदाहरति
—तथा चेति । इतिशब्दो ब्राह्मणममाप्त्यर्थः ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मण्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

सायंवादेन विधिना सिद्धमयंमनुवचति—दमादीति । ‘कथं तस्य सर्वोपासनशेषत्वं तवाह
—‘दान्त इति । अलुब्ध इति च्छेदः । संप्रत्युत्तरसंदर्भस्य तात्पर्यं वक्तुं भूमिकां करोति—तत्रेति ।
“काण्डद्वयं सप्तम्यर्थः । अनन्तरसंदर्भस्य तात्पर्यं माह—अपेति । “वापसयाविरम्युदयस्तत्फलान्युपासना-

परायण क्रूर लोग असुर कहे गये हैं । वही मनुष्य अदान्तत्व (प्रदातुत्व-अदयालुत्व) रूप दोषत्रय की
अपेक्षा से तथा सत्त्व, रज और तमोगुण की अपेक्षा से देवतादि नाम धारण करते हैं । इसलिये यह
तीनों साधन मनुष्य द्वारा सीखने चाहिये क्योंकि मनुष्यों की अपेक्षा से ही प्रजापति ने इन तीनों का
उपदेश किया है । तथा मनुष्य भी अजितेन्द्रिय, लोभी और क्रूर स्वभाव वाले देखे जाते हैं । इसीलिए
स्मृति कहती है—“काम, क्रोध और लोभ—इन तीनों का तो परित्याग कर देना चाहिये” ॥ ३ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य द्वितीय ब्राह्मण के
शाङ्करभाष्य का हिादीभानुवाद सपन्न हुआ ॥ २ ॥

वक्ष्यमाण सर्वोपासना के शेषभूत दमादि साधनत्रय का विधान किया गया । दान्त, निर्लोभी
और दयालु होने पर साधक का सब उपासनाओं में अधिकार होता है । वहाँ (मधुकाण्ड और याज्ञ-
वल्क्यकाण्ड में) निरुपाधिक ब्रह्म के सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादन किया गया । अब सोपाधिक प्रश्न की
अभ्युदयफलक उपासनाएँ बनलानी हैं । इसलिए इस मन्त्र का वर्णन किया जाता है ।

१. मनुष्यपेक्षया । २. वक्ष्यमाणम् । ३. विहितमिति अनन्तरब्राह्मणे इति शेषः । ततः पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे
शोङ्करभोपास्त्याज्जतया विहित इति द्रष्टव्यम् । ४. सम्यक् ज्ञानम् । ५. उक्तम् । ६. ब्रह्मणम् । ७.
अधमारम्भ इति—निरुपाधिकब्रह्मोक्त्यनन्तर तत्प्रतिपत्त्यनधिकारि(णं)गत् माराधितव्यमित्येति
दृष्टव्यम् । ८. संप्रत्युत्तरमकम् । ९. कथमित्यादि—दम इतिनिर्देशादि मन्त्रोपासनास्यकोरापनसम्भवादिनि
भाव प्राप्तेः । १०. दान्त इतीति—प्रतिभूक्ष्मे वस्तुनि (पराम्पिन) नाम्यस्य एवान मिथ्येतीति भाव इति
शेषः । ११. मधुकाण्ड मुनिवाण्ड च । १२. पुण्योदय प्रादिगन्तव्यं ।

एष प्रजापतियंद्द्वयमेतद्ब्रह्म तत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरं
 हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये
 च य एव वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य

जो "हृदय" है, वह प्रजापति है। वह ब्रह्म है क्योंकि वह सब का आत्मा है। अतएव यह सर्व भी है। यह 'हृदय' ऐसा तीन अक्षर नाम वाला है। "हृ" यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसके प्रति स्व (इन्द्रियाँ) और अन्य शब्दादि विषय बलि समर्पण करते हैं। "द" यह एक अक्षर है,

एष प्रजापतियंद्द्वयं प्रजापतिरनुशास्तीत्यनन्तरमेवामिहितम् । षः पुनरसाद्यनु-
 शास्ता प्रजापतिरिति । उच्यते—एष प्रजापतिः । कोऽसौ यद्द्वयं हृदयमिति 'हृदयस्या
 बुद्धि'रुच्यते । यस्मिञ्शाकल्यब्राह्मणान्ते नामरूपकर्मणामुपसंहार उक्तो दिग्विभागद्वारेण
 तदेतत्सर्वंभूतप्रतिष्ठ सर्वंभूतात्मभूतं हृदयं प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा । एतद्ब्रह्म बृहत्या-
 त्सर्वात्मत्वाच्च ब्रह्म । एतत्सर्वम् । उक्तं पञ्चमाध्याये हृदयस्य सर्वत्वम् । तत्सर्वं यस्मात्त-
 स्मादुपास्य हृदयं ब्रह्म । तत्र हृदयनामाक्षरविषयमेव तावदुपासनं मुच्यते । तदेतद्द्वय-
 मिति नाम त्र्यक्षरं त्रीण्यक्षराण्यस्येति त्र्यक्षरम् । कानि पुनस्तानि त्रीण्यक्षराण्युच्यन्ते ।

निति शेषः । अनन्तरब्राह्मणमादाय तस्य सगनिमाह—एष इत्यादिना । उक्तस्य हृदयशब्दार्थस्य
 'पाञ्चमिकत्वं दर्शयन्प्रजापतिस्त्वं साधयन्—यस्मिन्निति । कथं हृदयस्य सर्वत्वं तदाह—उक्तमिति ।
 सर्वत्वसंकीर्तनफलमाह--तत्सर्वमिति । तत्र हृदयमुपास्यत्वे सिद्धे सतीत्येतत् । फलोक्तिमुत्पाप्य

यह जो हृदय है, वह प्रजापति है। प्रजापति अनुशामन करता है, यह पिछले ब्राह्मण में कहा
 जा चुका है। किन्तु यह अनुशासन करने वाला प्रजापति कौन है—इस पर श्रुति कहती है। 'यह
 प्रजापति है'। कौन सा है? जो हृदय हृदय से (लक्षणा द्वारा) बुद्धि का ग्रहण होता है। शाकल्य
 ब्राह्मण के अन्त में जिसमें दिग्विभागपूर्वक नाम रूप और कर्मों का उपसंहार बतलाया है, वही यह
 समस्त प्राणियों में प्रतिष्ठित तथा सभी प्राणियों का आत्मभूत हृदय प्रजापति यानी प्रजा का उत्पत्ति-
 कर्ता है। "एतद्ब्रह्म" यानी बृहत्परिमाण और सर्वत्र होने में यह ब्रह्म है। यह सर्व है। पञ्चम
 अध्याय (उपनिषत् के तृतीय अध्यायस्य शाकल्य ब्राह्मण) में हृदय का सर्वत्व बरान किया जा चुका
 है। क्योंकि यह सर्व है, इसलिये हृदयरूप ब्रह्म उपास्य है। अब 'हृदय' इस नाम की अक्षरविषयिणी
 उपासना को (उपास्य हृदय की स्तुति के लिए) कहा जाता है। वह यह 'हृदय' ऐसा 'त्र्यक्षरम्'
 यानी तीन अक्षरों वाला है। वे तीन अक्षर कौन हैं? वे बतलाये जाते हैं। 'हृ' यह एक अक्षर

१ उच्यते इति—दक्षादिब्राह्मणेषु एष इत्यादिवाक्यमिति भावः । २ हृदय मासप्तष्टविशेषः । ३.
 लक्षणया । ४ वृ उ ३ ९ २० । ५ स्याद्व्येयमिदं पदम् । ६ तृतीये शाकल्ये ब्राह्मणे । ७ उच्यते
 इति—उपास्यहृदयन्तुपर्यमिति बोधम् । ८ पाञ्चमिकत्वं पञ्चमे (तृतीये) अध्याये प्रस्तुतत्वम् ।

एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं
वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य
तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार जो उपासना करता है, उसे स्वजातीय और असद्वद् पुरुष भी बलि समर्पण करते हैं। "यम्" यह एक अक्षर है। इसे जो जानता है, वह स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है (जब नाम के अक्षर की उपासना करने वाले को भी विशिष्ट फल मिलता है, तो 'हृदय' ब्रह्म की उपासना से प्राप्त होने वाले फल के विषय में कहना ही क्या है) ॥१॥

॥ इति तृतीय ब्राह्मणम् ॥

हृ इत्येकमक्षरम् । अभिहरन्ति हृतेराहृतिकर्मणो हृ इत्येतद्रूपमिति यो वेद यस्माद्ब्रह्मया ब्रह्मणे स्वाश्चेन्द्रियाण्यन्ये च विषयाः शब्दादयः स्वं स्व कार्यमभिहरन्ति हृदयं च भोवन्नर्थमभिहरति । अतो हृदयनाम्नो हृ इत्येतदक्षरमिति यो वेदास्मं विदुषेऽभिहरन्ति स्वाश्रजातयोऽन्ये चासंबद्धाः । बलिमिति वाक्यशेषः । विज्ञानानुरूप्येणेतत्फलम् ।

तथा हृ इत्येतदप्येकमक्षरमेतदपि दानार्थस्य ददातेदं इत्येतद्रूप हृदयनामाक्षरत्वेन निबद्धम् । अत्रापि—हृदयाय ब्रह्मणोस्वाश्र करणान्यन्ये च विषयाः स्व स्वं वीर्यं वदति

व्याकरोति—अभिहरन्तीति । यो वेदास्मं विदुषेऽभिहरन्तीति संबन्धः । वेदनमेव विशदयति—यस्मादित्यादिना । "स्वं कार्यं रूपदर्शनादि । 'हृदयरय तु कार्यं सुखादि । असद्वद्धा ज्ञातिध्यातिरिक्ता । भौचित्यमुक्ते फले कथयति—विज्ञानेति ।

अत्रापिेति दकाराक्षरोगासनेऽपि फलमुच्यते इति शेषः । तामेव फलोक्तिं ध्यनक्ति—हृदया-

है । 'अभिहरन्ति' यह हरण-आहृति अर्थ के द्योतक 'हृ' धातु का रूप है जो ऐसा जानता है क्योंकि हृदय के प्रतीक ब्रह्म को "स्वा" अर्थात् इन्द्रियाँ और "अन्ये" अर्थात् शब्दादिविषय अपने-अपने कार्यों के प्रति ले जाते हैं और ब्रह्मदृष्टिप्रतीक बुद्धि उपास्य चैतन्य के प्रति ले जाती है इसलिए 'हृदय' नाम का 'हृ' यह एक अक्षर जो जानता है, उस विद्वान को अपने वध और अन्य असद्वद् पुरुष बलि देते हैं । बलि यह वाक्यशेष से अर्थ है । यह फल उपासना के अनुरूप ही है ।

तथा 'धृ' यह भी एक अक्षर है । यह भी दानार्थक दा धान का द यह रूप 'हृदय' के म-यवर्ती दकार में सद्वद् है । यहाँ भी हृदय ब्रह्म को अपनी इन्द्रियाँ और अन्य विषय अपने-अपने

१ हृदयाय ब्रह्मणे इति—हृदयप्रतीकाय (हृद्युपासनाय) ब्रह्मणे 'इत्ययम् । २ हृदयं चेति ब्रह्मदृष्टिप्रतीको बुद्धिमात्रमित्यर्थम् । ३ भोवन्नर्थमिति—उपास्यचैतन्यार्थमित्ययम् । ४ अभिहरन्तीति—स्व कार्यमित्यनुपपन्नम् । ५ हृदयनाम्नो हृ इत्येतदिति—हरतराहृतिकर्मण इत्युक्तमत्रानुसन्धयम् । ६ स्व स्व वीर्यमिति—स्वस्वकार्योत्पादनसामर्थ्यमित्यर्थम् । ७ स्व कार्यमिति—इन्द्रियकार्यं विषयकार्यं चैतन्यम् । तदुभयोरपि एकस्मिन्दर्शनादि कार्यं करणविषयविषया निमित्तत्वादिति बोध्यम् । ८ हृदयकार्यं मुखादीति हृदयवृत्त्यात्मकमुखादेहृदयोपादानकत्वाद् ।

अथ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

'तद्ध' तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हृतं महद्यक्ष
प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाल्लोकाञ्जित इन्व-
सावसद्य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति

वही यह हृदय ब्रह्म ही वह है, जो कि सत्य ही है । जो कोई भी इस महत्पूज्य प्रथम उत्पन्न हुए को 'यह सत्य ब्रह्म है' इस प्रकार में उपासना करता है; वह इन लोको को जीत लेता है, वह उसके वश में हो जाता है और वह असत् स्वरूप हो जाता है । जो इस प्रकार इग महत्पूज्यनीय प्रथम

हृदयं च भोवन्ने ददाति स्वं वीर्यमतो दकार इत्येव यो वेदास्मै ददति स्यान्नान्ये च ।
तथा यमित्येतदप्येकमक्षरम् । इणो गत्यर्थस्य यमित्येतद्रूपमस्मिन्नास्मिन्निबद्धमिति यो वेद
स स्वर्गं लोकमेति । एव 'नामाक्षरादपीदृशं विशिष्टं फलं प्राप्नोति किमु वक्तव्यं हृदय-
स्वरूपोपासनादिति हृदयस्तुतये नामाक्षरोपन्यासः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

तस्यैव हृदयाख्यस्य ब्रह्मणः सत्यमित्युपासनं विधिस्तस्माद्—तत्तदिति हृदयं ब्रह्म

येति । अस्मै विबुधे स्व भ्रान्ते च ददति । 'बलिमिति शेषः । नामाक्षरोपासनानि त्रीणि हृदयस्वरूपो-
पासनमेकमिति चत्वार्युपासनान्यत्र विवक्षितानीत्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति ।

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकाया पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

ब्रह्माण्डान्तरमुत्पाद्याक्षराणि व्याचष्टे—तस्येत्यादिना । सत्यशब्दार्थं 'सत्यज्ञानाविवाक्यो-

कार्यं उत्पादन का सामर्थ्यं देते है । बुद्धि उपास्य चैतन्य को अपना उत्पादन सामर्थ्यं देती है; इसलिए जो 'दकार' इस प्रकार में उपासना करता है, उसे स्वजन और अन्यजन भी बलि देते हैं । इसी तरह 'यम्' यह भी एक अक्षर है । गत्यर्थक 'इण्' धातु का यम्' यह रूप हृदय इस नाम में निबद्ध है, ऐसा जा जानता है उसे स्वर्ग लोक प्राप्त होता है । इस प्रकार जब नाम व अक्षर मात्र द्वारा की गई उपासना से ऐसा विशिष्ट फल प्राप्त कर लेता है, तो हृदय स्वरूप ब्रह्म की उपासना से जो फल मिलेगा, उसके विषय में तो कहना ही क्या है । इस प्रकार उपास्य हृदय की स्तुति के लिए 'हृदय' नाम के अक्षरो का उपन्यास किया गया है ॥ ३ ॥

इम प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चम अध्यायस्थ तृतीय ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद सप्तम हुआ ॥ ३ ॥

उसी हृदयसंज्ञक ब्रह्म की 'सत्यम्' इस स्वरूप से उपासना करने की विधिस्ता से श्रुति वहती है—'तत्' अर्थात् तत् पद से हृदयात्मक ब्रह्म का निर्देश किया है । 'वा' यह अव्यय

१. एतस्यैव हृदयब्रह्मण गत्यात्मनोपासनमाह—तदा इत्यादिना । २. तदुपासनात् । ३. बलिमिति—
दृष्टान्तापुरोधिनार दार्ष्टान्तिकेऽपि अनादिसामर्थ्यरूप बलिमित्यर्थ । ४. "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति"
वा तै उ ।

सत्यं ह्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य

चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥ -

उत्पन्न हुए को 'सत्य ब्रह्म' इस प्रकार से उपासना करता है, उसे अवश्य पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है क्योंकि सत्य ही ब्रह्म है। (अतः उपासना के अनुरूप फल मिलना उचित ही है) ॥१॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

परामृष्टम् । वा इति स्मरणार्थम् । तद्यद्युदयं ब्रह्म स्मर्यत इत्येकस्तच्छब्दः । 'तदेतदुच्यते प्रकारान्तरेणेति' द्वितीयस्तच्छब्दः । किं पुनस्तत्प्रकारान्तरम् । 'एतदेव तदित्ये' तच्छब्देन संबध्यते तृतीयस्तच्छब्दः । 'एतदिति वक्ष्यमाणं बुद्धौ संनिधौकृत्याऽऽह । आस बभूव । किं पुनरेतदेवाऽऽस यदुक्तं' हृदयं ग्रह्येति तदिति तृतीयस्तच्छब्दो 'विनियुक्तः । किं तदिति विशेषतो निर्दिशति 'सत्यमेव सच्च त्यच्च मूर्तं चामूर्तं च सत्यं ब्रह्म पञ्चभूतात्मकमाधिदैविकं तत्त्वं हिरण्यगर्भात्मकमित्येतत् । स यः कश्चित्सत्यात्मानमेतं महन्महत्त्वा-

पात्तं व्यावर्तयति—सञ्चेति । सत्यस्य "चतुर्थे प्रस्तुतत्वं सूचयति—मूर्तं चेति । वेदन" ननु च फलोक्ति-भवतारयति—स य इति । प्रथमजत्वं प्रकटयति—सर्वस्मादिति । स यः कश्चिद्वेदेति सवन्धः । कमु-

स्मरणार्थक है । "तत्" अर्थात् मन्त्र मे प्रथम 'तत्' शब्द हृदयात्मक ब्रह्म के लिए है, जिसका स्मरण किया जा रहा है । स्मयमाण हृदयाख्य ब्रह्म को प्रकारान्तर से द्वितीय 'तत्' शब्द से कहा जाता है । वह प्रकारान्तर क्या है ? वह प्रकारान्तर वाला यही है । इस प्रकार मूल मन्त्र मे "एतत्" इस के साथ तृतीय 'तत्' को जोड़ दिया जाता है । "एतत्" इस शब्द से श्रुति उस वक्ष्यमाण रूप को बुद्धि मे धारण करते हुए कह रही है । 'आस' अर्थात् वह था । किन्तु वह कौन था ? यही जिसका हृदयात्मक ब्रह्म वह कर निरूपण किया गया है । इसीलिए तृतीय 'तत्' शब्द 'एतत्' शब्द से संबद्ध है । वह क्या है ? इस पर श्रुति उसका विशेषरूप से निरूपण करती है । वह (हृदयाख्य ब्रह्म) सत्य ही है । सत् और त्यत्, मूर्त और अमूर्त सत्यात्मक ब्रह्म ही है, यही पञ्चभूतात्मक, आधि-दैविक, हिरण्यगर्भात्मक तत्त्वं है । वह जो कोई भी "एतम्" अर्थात् इस सत्यात्मा 'महत्' अर्थात् अपरिच्छेद्य 'यक्षम्' अर्थात् पूज्य 'प्रथमजम्' अर्थात् सब ससारी लोगो से सर्वप्रथम उत्पन्न

१. तदेतदिति—स्मयमाण हृदयाख्य ब्रह्मेति तदेतदोर्यः । २. एतदेव तदिति—तत्प्रकारान्तरमेतदेव वक्ष्य-मात्ममेवेत्यर्थः । ३. एतच्छब्देनेति—मूलस्थेनैवेत्यर्थः । ४. ननु वक्ष्यमाणस्य समीपतरवदित्वाभावे कथमेतच्छब्दस्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—एतदिति । वक्ष्यमाणमपि बुद्धौ संनिधौ एतच्छब्देनाह वेदो भगवानित्यर्थः । ५. किं पुनरित्यादिनोक्तमेवार्थं प्रश्नोत्तराभ्यां निरादयति—किं पुनरिति । ६. विनियुक्त इति—एतच्छब्देन संबद्ध इत्यर्थः । ७. किं तदिति—तद्वक्ष्यमाणम् । एतत्त्वदोक्त विशेषण किमिति बोधायामित्यर्थः । ८. सत्यमेवेति—यद्ब्रह्म हृदयाख्यमुक्तं तस्यैवमेवास्तेति वाक्यार्थः । ९. परिमाणतः अपरिच्छेद्यमिति यावत् । १०. वृ उ २. ३. १ । ११. अनुवदन्त्यर्थः ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य पञ्चम ब्राह्मणम् ।)

'आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं

यह नामरूपात्मक जगत् पहले जल ही था, उसी ने सर्वप्रथम मत्स्य की रचना की। अतः

दक्षं पूज्यं प्रथमजं प्रथमजातं सर्वं समात्संसारिण एतदेवाग्रे जातं ब्रह्मातः प्रथमजं वेद विजानाति सत्यं ब्रह्मेति । तस्येदं फलमुच्यते—यथा सत्येन ब्रह्मरोगेमे लोका आत्मसात्कृता जिता एवं 'सत्यात्मानं ब्रह्म महद्यक्षं प्रथमजं वेद स जयतीमात्लोकात् । किञ्च जितो वशीकृत इन्विष्यत्यं यथा ब्रह्मणाऽसौ शत्रुरिति वाक्यशेषः । अमच्चवासद्भुवन्दसौ शत्रुजितो भवेदित्यर्थः । कस्यैतत्फलमिति पुनर्निगमयति—य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति । अतो विद्यानुरूप फलं युक्तम् । सत्यं ह्येव यस्माद्ब्रह्म १ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

तिकसिद्ध फलान्तरमाह—किञ्चेति । वशीकृतस्य शत्रोः स्वरूपेण सत्त्वं वारयति—असञ्चेति । स यो हैतमित्यादिना य एवमेतदित्यादिरेकाग्रं यत्पुनरुक्तं रित्याशङ्क्याऽऽह—कस्यैतदिति । कथमस्य विज्ञानस्येदं फलमित्याशङ्क्याऽऽह—अत इति । 'पञ्चमोपरामुष्ट स्पृणयति—सत्यं हीति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणदोकायां पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

अथवा क्योकि यह ब्रह्म ही सबसे आगे उत्पन्न हुआ था, इसलिए प्रथम है, 'वेद' अर्थात् जो सम्यक् प्रकार से जानता है, कि ब्रह्म सत्यात्मक है, उसका फल बतलाते हैं—जिस प्रकार सत्यात्मक ब्रह्म के द्वारा ये लोक आत्मसात् किये हुए हैं यानी जीते हुए हैं, इसी प्रकार जो मत्स्य स्वरूप, अपरिच्छेद, पूज्य और प्रथमजात ब्रह्म को जानता है यह इन लोकों को जीत लेता है । उसने द्वारा यह शत्रु "जित" अर्थात् वशीकृत हो जाता है । जिस प्रकार सत्यात्म्य ब्रह्म द्वारा यह अमृतात्म्य शत्रु वश में हो जाता है, उसी प्रकार उपामक द्वारा भी वश में हो जाता है, यह वाक्य शेष है अर्थात् उस शत्रु के पराजित होने में उसके अस्तित्व का ही अभाव हो जाता है । यह किसका फल है—इसे श्रुति उपसहारव्याज में पुन कहती है । जो इस प्रकार इस अपरिच्छेद, पूज्य, प्रथमजात, मत्स्यस्वरूप ब्रह्म को जानता है (यह लोकजित् और शत्रुजित् होता है) । इस प्रकार उपामक के लिए यह विद्यानुरूप फल होना उचित ही है क्योंकि ब्रह्म भी सत्य ही है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

१ आप. पय सोमाद्यात्मिका ह्यमाना सूक्ष्मभूता भूतान्तरसहिता जगद्बीजभूता ध्व्याहृतात्मनाऽऽवृत्तता एव । इदं सर्वं विकारजातं जगदग्रे मृष्टे पूर्वमासुनात्पत् किञ्चिद् । २ सत्यं ब्रह्मासात्कृता त सत्यस्वरूपमित्यर्थः । ३ इत्यमित्युक्तमेव विवृणोति—यथा ब्रह्मणेति । यथा सत्यात्म्यब्रह्मणा अतो शत्रुरनुतास्यो वशीकृतस्तथोपासकेनापि वशीकृतो भवतीत्यर्थः । ४ उपसहारति—उपसहारव्याजेन पुन कथयतीत्यर्थः । ५ अत इति—यस्मात्सत्यमेव ब्रह्मोक्तरीत्या लोकजित्यनुजित् उच्यमानुपासकस्यापि विद्यानुरूपमुक्तं फलं युक्तमेत्यर्थः । ६ अत इति पञ्चमी ।

ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाः सत्यमे-
वोपासते तदेतत्त्र्यक्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरं
तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं

सत्य ब्रह्म है, ब्रह्म ने विराट् को और विराट् ने देवताओं को उत्पन्न किया । वे देवगण भी सत्य की ही उपासना करते हैं । वह यह सत्य तीन अक्षर वाला है । 'स' यह एक अक्षर है । ईकारानुबन्ध-सहित 'ती' यह एक अक्षर वाला है और 'यम्' यह भी एक अक्षर वाला है । इनमें प्रथम और

सत्यस्य ब्रह्मणः स्तुत्यर्थमिदमाह । महद्यक्षं प्रथमजमित्युक्तं तत्कथं प्रथमजत्व-
मिति । उच्यते—प्राप एषेदमप्रापुः । आप इति कर्मसमवायिन्योऽग्निहोत्राद्याहुतयः ।
अग्निहोत्राद्याहुतेर्द्रवात्मकत्वावपदम् । ताश्चाऽऽपोऽग्निहोत्रादिकर्मपवर्गोत्तरकालं केन-
चिद्वृष्टेन सूक्ष्मेणाऽऽत्मना कर्मसमवायित्वमपरित्यजन्त्य इतरभूतसहिता एव न केवलाः ।
कर्मसमवायित्वात्तु प्राधान्यमपामिति । सर्वाण्येव भूतानि प्रागुत्पत्तेरव्याकृतावस्थानि
कतृसहितानि निर्विद्यन्त आप इति । ता आपो बीजभूता जगतोऽव्याकृतात्मनाऽव-

इदमा ब्राह्मणं गृह्यते । तस्यावान्तरसंगतिमाह—महदिति । आहुतिनामेव कर्मसमवायित्वं न
त्वपामित्याशङ्क्याऽह—अग्निहोत्रादीति । यद्यप्यापः सोमाद्याह्वयमानाः कर्मसमवायिन्यस्तथाऽप्युत्तर-
काले कथं तासां "तथात्वं कर्मसोऽस्यापित्वादिद्याशङ्क्याऽह—तात्वेति । कर्मसमवायित्वमपरित्यजन्त्य-
स्तत्संबन्धित्वेनाऽऽपः प्रथमं प्रवृत्तास्तत्रागोत्तरकालं सूक्ष्मेणावृष्टेनाऽऽत्मनाऽऽग्निहोत्रेणाऽऽत्मना तिष्ठे-
न्तीति योजना । आप इति विशेषणं भूतान्तरव्यतिरिक्तमिति भ्रान्तिं वारयति—इतरेति । कथं तर्हि
तासामेव अतामुपादानं तदाह—वर्मेति । इति तासामेवात्र ग्रहणमिति शेषः । विद्यक्षितपदार्थं निगम-
यति—सर्वाण्येदेति । "पदार्थमुक्तमनुष्ठ वाक्यार्थमाह—ता इति । या योक्ता आपस्ता एवेति यच्छ्रुत्वा-

सत्यस्वरूप ब्रह्म की स्तुति के लिए श्रुति यह बहती है । अपरिच्छेद्य, पूज्य और प्रथमजात
यह पिछले ब्राह्मण में कहा गया, यह सत्यात्मक ब्रह्म प्रथमजात जिस प्रकार है—इसे श्रुति धतलाती
है । (सृष्टि से) पूर्व में यह जल ही था । "आप." इस शब्द से कर्मसमृष्ट अग्निहोत्रादि की आहुतियाँ
कही गयी हैं । अग्निहोत्रादि की आहुतियाँ (पय सामाद्यात्मक) द्रवात्मक होने से जल है । अग्नि-
होत्रादि कर्म की पूर्णाहुति के पश्चात् वह जल किसी प्रत्यक्ष अगोचर सूक्ष्म रूप से अपनी कर्मसमृष्टि
को न छोड़ते हुए इतर भूतों के साथ रहते हैं, भ्रूजले नहीं । क्योंकि कर्मसमृष्टि होने से जल की
प्रधानता है । उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त रूप में स्थित ईश्वरसहित (मूल कारण के रूप से) जल का

१. तथा च पूर्वोत्तरयो स्तुत्येतावकभावो वैविशेषभायो वा महत्सद्गतिरिति बोध्यम् । २
- संभृष्टा । ३. पय,सोमाद्यात्मकत्वाद् । ४. प्रत्यक्षागोचरेण । ५. प्राधान्यमिति—आहुतिमयी नाम
- पूर्वोभूततामया सर्वव्यक्तारण्यकारणत्वस्याग्निहोत्रप्रकरणे युक्तत्वादि प्राधान्य बोध्यम् । ६. ईश्वर-
- सहितानि—तथा च भूतकारणमेवाव्याप्तेन विवक्षितमिति यावत् । ७. अविद्यमानतामरूपामना । ८.
- सात्म्यतापरिभाषरूपानुत्पाद्योत्पादकभावरूपामिति वा । ९. कर्मसमाप्यन्तरम् । १०. कर्मसमृष्टत्वम् ।
११. अपपदार्थम् ।

मध्यतोऽनृतं तदेतद्वनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतं
 सत्यमयमेव भवति नैवं विद्वांसमनृतं हिनस्ति ॥१॥
 इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमं
 ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

अन्तिम अक्षर सत्य रूप है क्योंकि उनकी मृत्यु का अभाव है और बीच में तकार अनृत है, फिर भी वह यह अनृत तकार दोनों और सत्य से व्याप्त है। इसलिये यह सत्य बहुल ही है। इस प्रकार जानने वाले को मृत्यु रूप अनृत नहीं सताता अर्थात् ऐसे उपासक को कभी प्रमाद से कहा हुआ असत्य मारता नहीं ॥ १ ॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

स्थितास्ता एयेदं सर्वं नामरूपविकृतं 'जगदग्र आसुर्नाम्नोऽद्विचिद्विकारजातमासीत् । ताः पुनरापः 'सत्यमसृजन्त । तस्मात्सत्यं ब्रह्म प्रथमजम् । तदेतद्विरण्यगर्भस्य सूत्रात्मनो जन्म यवव्याकृतस्य जगतो व्याकरणम् । तत्सत्यं ब्रह्म कुतः । महत्त्वात् । कथं महत्त्वमित्याह । यस्मात्सर्वस्य स्रष्टुः । कथम् । यत्सत्यं ब्रह्म तत्प्रजापतिं प्रजानां पतिं विराजं सूर्यादिकारणमसृजन्तेत्यनुषङ्गः । प्रजापतिर्देवान्स विराट्प्रजापतिर्देवानसृजन्त । यस्मात्सर्वमेवं क्रमेण सत्याद्ब्रह्मणो जातं तस्मान्महत्सत्यं ब्रह्म । कथं पुनर्यक्षमिति । उच्यते—त एषं सृष्टा देवाः पितरमपि विराजमतीत्य तदेव सत्यं ब्रह्मोपासते । अत एतत्प्रथमजं महद्यक्षम् ।

नुबन्धेन योजना । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुतं सत्यं कथं सूतान्तरसहितान्योऽब्रह्म्यो जायते तत्राऽऽह—तदेतदिति । तस्य ब्रह्मत्वं प्रश्नपूर्वकं विशदयति—तत्सत्यमिति । सत्यस्य ब्रह्मणो महत्त्वं प्रश्नद्वारा साधयति—कथमित्यादिना । तस्य सर्वस्रष्टृत्वं प्रश्नद्वारेण स्पष्टयति—कथमिति । महत्त्वमुपसंहरति

निर्देश किया जाता है। जगत् का बीज कारणभूत वह जल अनभिव्यक्त-नामरूपात्मक था; वही पुनः नामरूप विकार भाव को प्राप्त हुआ। सूत्रोत्पत्ति के पूर्व में वही था, उससे भिन्न और कोई विकार-समुदाय नहीं था। उन जलो के सूत्रात्मा सत्य की सृष्टि की। इसलिये सत्यस्वरूप ब्रह्म ही प्रथमजात है। वही इस सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ का जन्म है जो कि अनभिव्यक्त जगत् का व्यक्त होना है। वह सत्यात्मक ब्रह्म है। किस प्रकार ? महत् परिमाण वाला अथवा अपरिच्छेद्य होने के कारण। महत् किस प्रकार है—उसे श्रुति कहती है। क्योंकि वह सब वा स्रष्टा है। किस प्रकार ? जो सत्य ब्रह्म था। उसने "प्रजापतिम्" अर्थात् सूर्यादि इन्द्रियो वाले प्रजा के पति विराट् को उत्पन्न किया। "प्रजापतिर्देवान्" अर्थात् उस विराट् प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि की। क्योंकि इस प्रकार का क्रम सब कुछ उस सत्यात्मक ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, इसलिये सत्यात्मक ब्रह्म ही महान्तम है। पुनः वह पूज्य किसलिए है ? इस पर श्रुति कहती है। वे इस प्रकार उत्पन्न हुए देवतागण अपने पति विराट् को छोड़कर उसी सत्य ब्रह्म की उपासना करने हैं। इसलिए यह प्रथमजात, अपरिच्छेद्य और पूज्य

१ सूत्रोत्पत्ते प्राक् । २ सूत्रात्मानम् ।

तस्मात्सर्वतिमनोपास्यं तत्तस्यापि सत्यस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति तदेतत्त्र्यक्षरम् । कानि तान्यक्षराणीत्यत आह—स इत्येकमक्षरम् । तीत्येकमक्षरम् । तीतीकारानुबन्धो 'निर्देशार्थः । यनित्येकमक्षरम् । 'तत्र 'तेषां प्रथमोत्तमे अक्षरे सकारयकारौ 'सत्यम् । 'मृत्युरूपाभावात् । मध्यतो मध्येऽनृतम् । अनृतं हि मृत्युः । मृत्युवनृतयोस्तकारसामान्यात् । तदेतन्नृतं तकाराक्षरं मृत्युरूपमुभयतः सत्येन सकारयकारलक्षणेन परिगृहीतं ध्यातमन्तर्भावितं सत्यरूपाभ्यामतोऽर्कचित्कर 'तत्सत्यभूयमेव सत्यबाहुत्यमेव भवति । "एव सत्यबाहुत्यं 'सर्वस्य मृत्योरनृतस्यार्कचित्करत्वं च यो विद्वांस्तमेवं विद्वांसमनृतं कदाचित्प्रमादोक्तं न "हिनस्ति ॥

इति वृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥५॥

—यस्मादिति । विशेषणत्रये सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति । तस्यापीत्यपि तदो हृदयकृत् "दृष्टान्तार्थः । बुद्धिपूर्वकमनृतं "विदुषोऽपि बाधकमित्यभिप्रेत्य विशिनष्टि—प्रमादोक्तमिति ॥ १ ॥

इति वृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

है । इसलिए वही सर्वविध उपासना करने योग्य है, उस सत्यस्वरूप ब्रह्म का नाम 'सत्य' है जिसमें तीन अक्षर हैं । वह कौन से तीन अक्षर है, इस पर श्रुति कहती है । 'स' यह प्रथम अक्षर है 'ती' यह दूसरा अक्षर है । "त्" होने से ईकारानुबन्ध उच्चारणार्थ के लिए है । "यम्" यह तीसरा है । "सत्यम्" इस पद में तीनों अक्षरों के मध्य प्रथम और अन्तिम अक्षर सकार और यकार अनृत है । क्योंकि उनमें मृत्यु का अभाव है । "मध्यत" अर्थात् बीच का तकाराक्षर अनृत है क्योंकि अनृत ही मृत्यु है । क्योंकि मृत्यु और अनृत में (तकारघटित होने से) तकार की समानता है, वह यह मृत्युरूप अनृतपरव 'तकार' अक्षर पहले और अन्तिम दोनों और में 'सकार-यकार' रूप अनृत से "परिगृहीतम्" अर्थात् व्याप्त या सत्यरूप अक्षरों से अन्तर्भावित है । तकाराक्षर प्रमारक है, "सत्यभूयमेव" अर्थात् सत्यप्राय ही है । इस प्रकार जो 'सत्-यम्' इस समुदाय अक्षर के सत्यप्राय और मृत्युरूप अनृत के प्रमारकत्व को जानता है, उस इस जानने वाले को कभी प्रमाद में बोला हुआ अनृत भी स्वप्नदान में बाधक नहीं हुआ करता ॥ १ ॥

इस प्रकार वृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद मपन्न हुआ ॥ ५ ॥

१. निर्देशार्थं इति - उच्चारणार्थं इत्यर्थं । अत्र ह्युच्चारणप्रदानार्थं इति यावत् । २. मध्यपदे । ३. त्रयाणामक्षरानां मध्ये । ४. अनृतम् । ५. मन्वत्त्वादिति यावदित्याहुः । ६. तकाराक्षरम् । अनृतत्वं मन्वत्त्वं नि स्वस्वत्त्वात्कारस्येत्यपि वदन्ति । ७. उभयोस्तकारघटितत्वात् । ८. पूर्वोत्तरम् । ९. प्रमारकम् । १०. तकाराक्षरम् । ११. उक्तविभागयोर्पाठिनम उच्यते । १२. न हिनस्तीति - स्वप्नदान-दानेन बाधक न भवतीत्येतत् । १३. दृष्टान्तत्रय नामान्वयभरत्वं बोध्यम् । १४. उपासितम् ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य षष्ठे ब्राह्मणम् ।)

तद्यत्तत्प्रत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मि-
 न्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणे क्षन्पुरुषस्ता-
 वेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरयोऽस्मि-

वह जो सत्य है, वह यह आदित्य है। जो इस आदित्य मण्डल में पुरुष है और जो भी यह दाएँ नेत्र में पुरुष है, वे दोनों एक दूसरे में प्रतिबिम्बित हैं। रश्मियों द्वारा अनुग्रह करता हुआ यह आदित्य पुरुष चाक्षुष पुरुष में प्रतिष्ठित है और चाक्षुष पुरुष प्राणी के द्वारा उपकार करता हुआ

'अस्याधुना सत्यस्य ब्रह्मणः 'सस्यानविशेष उपासनमुच्यते—तद्यत् । किं तत्सत्यं ब्रह्म प्रथमजं किमसौ सः । कोऽसावादित्यः कः पुनरसावादित्यो य एष य एतस्मिन्नादित्य-मण्डले पुरुषोऽभिमानी मोऽपी सत्यं ब्रह्म । यश्चायमध्यात्म योऽय दक्षिणोऽसन्नक्षरिण पुरुषः । अशब्दात्स च सत्यं ब्रह्मेति संबन्धः । तावेतावादित्याक्षिस्थो पुरुषावेकस्य सत्यस्य ब्रह्मणः 'सस्यानविशेषो यस्मात्तस्मादन्योन्यस्मिन्नितरेतरस्मिन्नादित्यश्चाक्षुषे चाक्षुषश्चाऽऽदित्ये प्रतिष्ठितौ । अध्यात्माधिदेवतयोरन्योन्योपकार्योपकारकत्वात् । कथं

ब्राह्मणान्तरमवतारं ध्याकरोति—अस्येत्यादिना । 'तन्नाऽऽधिदेविकं स्थानविशेषमुपन्यस्यति—तदित्यादिना । सप्रत्याध्यात्मिक स्थानविशेष दर्शयति—यश्चेति । 'प्रदेशभेदवर्तिनो स्थानभेदेन 'भेदः शङ्कित्वा परिहरति'—तावेताविति । अन्योन्यमुपकार्योपकारकत्वेनान्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितत्वं प्रदन-

अब उस सत्यात्मक की रूप भेद में उपामना बतानी जाती है। वह जो, कौन वह ? वह जो प्रथमजात, सत्यात्मक ब्रह्म है, वह क्या है ? वह यह है। वह कौन है ? वह आदित्य है। किन्तु वह आदित्य कौन है ? जो यह है। वह कौन है ? जो इस आदित्य मण्डल में इसका अभिमानी पुरुष है, वह यह सत्य स्वरूप ब्रह्म है। एव जो यह अध्यात्म है दक्षिण "अक्षन्" अर्थात् नेत्र में जो यह पुरुष है, वह भी ब्रह्म है। 'यश्चायम्' यहाँ 'च' शब्द से सत्यस्वरूप ब्रह्म यह अर्थ लगाया चाहिये। क्योंकि वे (आधिदेव और अध्यात्म) आदित्यस्य और नेत्रस्थ पुरुष एक सत्यात्मक ब्रह्म के आकृति विशेष हैं, इसलिए "अन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ" अर्थात् एक दूसरे में यानी आदित्य पुरुष चाक्षुष म और चाक्षुष पुरुष आदित्य म प्रतिष्ठित है क्योंकि अध्यात्म और अधिदेव पुरुष एक दूसरे के उपकार्य-उपकारक

- १ प्रथमजत्वादिभिन्नप्रसारयोपासनोत्पन्नतरम् । २ सस्यानविशेष—रूपभेदे अध्यात्माधिदेवयोरह्यादित्य-स्थानयो सत्यस्यैव ब्रह्मणो रूपविशेष कल्पयित्वा तदुपास्युक्त्यनुसृतं ब्राह्मणमित्यर्थं । ३ आकृतिविशेषो । ४ अध्यात्माधिदेवयोर्मध्ये । ५ प्रदेशे यादि—प्रदेशे स्थान आदित्यादित्यमण्डलरूपे बोधे । ६ भेदमिति उपास्योरित्यादि । ७ शङ्कित्वेति—उपास्यभेदादुपासनमपि चिन्तेति शङ्कित्पुराणस्य । ८ आदित्याक्षि-स्थानभेदादेवताभेदे ध्यान भिद्येतेत्यांङ्गुपाऽह—तावेताविति पाठान्तरम् । ९ तावेताविति—तथा च वस्तुन एकस्यैव मूत्रात्मन स्थानद्वयेऽवस्थानात्तावभिन्नावैक्यर्थं । स्थानमात्रभेदात् भेद प्रोपाधिक इति भाव इति शेषः ।

प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्स यदोत्क्रमिष्य-
न्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डल पश्यति नैनमेते रश्मयः
प्रत्यायन्ति ॥१॥

उस आदित्य पुरुष में प्रतिष्ठित है। जिस समय यह आध्यात्मिक चाक्षुष पुरुष शरीर में उत्क्रमण करने लगता है, उस समय यह विज्ञानमय इस आदित्य मण्डल को चन्द्रमण्डल के समान रश्मिरहित शुद्ध ही देखता है। फिर ये रश्मियाँ इसके पास आती नहीं (इस प्रकार परस्पर 'उपकार्य-उपकारक' भाव के कारण ये दोनों एक सत्यात्मा के ही अंश हैं) ॥१॥

प्रतिष्ठितावित्युच्यते—रश्मिभिः प्रकाशेनानुग्रहं कुर्वन्नेप आदित्योऽस्मिन्चाक्षुषेऽध्यातमे प्रतिष्ठितः । अयं च चाक्षुषः प्राणैरादित्यमनुगृह्णन्मुष्मिन्नादित्येऽधिदेवे प्रतिष्ठितः । सोऽस्मिच्छरीरे विज्ञानमयो यो भोक्ता यदा यस्मिन्काल उत्क्रमिष्यन्भवति तदाऽसौ आदित्यपुरुषो रश्मिनुपसंहृत्य केवलेनौदासीन्येन रूपेण व्यवतिष्ठते । तदाऽयं विज्ञानमयः पश्यति शुद्धमेव केवलं विरश्म्ये'तन्मण्डलं चन्द्रमण्डलमिव । 'तदेतदरिष्टदर्शनं 'प्रासङ्गिकं प्रदश्यंते । 'कथं नाम पुरुषः 'करणोये यत्नशान्त्यादिति । नैनं चाक्षुषं पुरुषमुररीकृत्य तं

पूर्वकं प्रकटयति—कथमित्यादिना । प्राणैश्चक्षुरादिविरिन्द्रैरिति यावत् । अनुगृह्णन्नादित्यमण्डलात्मानं 'प्रकाशयन्नित्यर्थः । प्रासङ्गिकमुपासनाप्रसङ्गागतमित्यर्थः । तत्प्रदर्शनस्य किं फलमित्याशङ्क्याऽह —कथमिति । पुरुषद्वयस्यान्योन्यमुपकारार्थोपकारकत्वमुक्तं निगमयति—नेत्यादिना । पुन शब्देन मृते-

होते हैं। किस प्रकार प्रतिष्ठित है ? इस पर श्रुति कहती है - "रश्मिभि" अर्थात् प्रकाश के द्वारा, अनुग्रह करता हुआ यह आदित्य पुरुष इस अध्यात्म चाक्षुष में प्रतिष्ठित है। "अयम्" अर्थात् यह चाक्षुष पुरुष प्राणों के द्वारा आदित्य का अनुग्रह करता हुआ इस अधिदेव आदित्य पर्य में प्रतिष्ठित है। "स" अर्थात् इस शरीर में विज्ञानमय जो भोक्ता है वह 'यदा' यानी जिस समय उत्क्रमण करने लगता है, तब वह आदित्य पुरुष प्रकाश का उपसंहार करके केवल तटस्थ भाव में बंध जाता है। तब यह विज्ञानमय रश्मिमण्डल को चन्द्रमण्डल के समान "शुद्धम्" अर्थात् केवल रश्मिविहीन देखता है। यह (मरणसूचक) अरिष्ट दर्शन चाक्षुषादित्य पुरुष के प्रसङ्ग में आया हुआ प्रदर्शित किया जाता

१ रश्मिमण्डलम् । २ स यदेत्यादेस्ताप्यमाह—तदनदिति । प्रष्टिममुम मरणविक्षमिति यावत् । ३ उपास्तिवप्रस्तावे कथं तदुच्यते तत्राऽऽह—प्रासङ्गिकमिति । चाक्षुषादित्यपुरुषप्रमङ्गाद्रागतमित्यर्थः । ४ कथमिति—ज्ञातार्थेण कथं नाम जुषीशरमहितं पुष्याति वा । ५ स्वप्नित । ६ प्रकाशयन्नित्यर्थ इति—यदा चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वरणस्वामिन भोक्तारमुपनयन्ति य चाक्षुषादित्यमुपनयन्ति । तथा च चाक्षुषस्य तत्रावस्थानोक्तिरिति शेषः । इन्द्रियाणि वरणस्वामिनमहात्मान भोक्तारमुपनयन्ति जनयन्ति स्व-सानिच्छेन भोक्तृत्व प्रापयन्तीत्यर्थः । स च भोगानभित्यस्वैरेवेन्द्रियेवापादिदृग्गण एष्टं निपानयन्ति नन च सूर्योत्पाद । भोक्तृत्वनिर्वृतितात्पर्येणैवात्पूर्वादिमृष्टे । एव वरणस्वामिन चाक्षुषस्यादिऽऽवस्थानोक्तिरिति उदयः ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ।)

‘य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति
शिर एकः शिर एकमेतदक्षरं भुव इति वाह
द्वौ वाह द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे
प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति
पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥१॥

इस मण्डल में जो यह सत्यनामा पुरुष है, उसका ‘भू-’ यह शिर है क्योंकि गिर एक है और यह अक्षर भी एक है। ‘भुव-’ यह भुजाएँ दो हैं और अक्षर भी दो हैं। ‘स्व-’ यह चरण है क्योंकि पाद दो हैं और यह अक्षर भी दो हैं। ‘मह-’ यह उसका गोपनीय नाम है। जो ऐसा जानता है (जो महर्नामा ब्रह्म की उपासना करता है) वह पापों को मारता है और उसे त्याग देता है ॥१॥

प्रत्यनुग्रहायंते रश्मयः स्वामि कर्तव्यवशात्पूर्वभागच्छन्तोऽपि पुनस्तत्कर्मक्षयमनुद्ध्यमाना इव नोपयन्ति न प्रत्यागच्छन्त्येनम् । अतोऽवगम्यते परस्परोपकार्योपकारकभावात्सत्यस्यैवं कस्याऽऽत्मनोऽशावेताविति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम् ॥६॥

तत्र ‘योऽसौ को य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सत्यनामा तस्य व्याहृतयोऽवयवाः ।

हृत्तरकासो गृह्यते । रश्मीनामचेतनत्वादिवशब्द- । पुनर्नकारोच्चारणमन्वयप्रदर्शनार्थम् ।

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां पञ्चमाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

तत्र स्थानद्वयसंयन्धनः सत्यस्य ब्रह्मणो ध्याने प्रस्तुते सतीत्यर्थः । तत्रेति प्रथमव्याहृतौ शिरो-

है क्योंकि (अरिष्ट को जानकर) आत्महितपी पुरुष स्वहित के लिए कैसे इस में प्रयत्न करेगा ? चाक्षुष पुरुष को स्वीकार करके उसके अनुग्रह के लिए ये रश्मियाँ जो भोक्ता जीव के कर्तव्य वश जोरित अवस्था में आया करती थीं, अब उसके कर्मक्षय से अवरोधित होकर “प्रत्यायन्ति” अर्थात् इसके पास नहीं आती । इससे सिद्ध होता है कि परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव के कारण ये दोनों एक सत्य स्वरूप आत्मा के ही अंश हैं ॥१॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ षष्ठ ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद सप्तम हुआ ॥ ६ ॥

१. अथैवमुक्तमन्यब्रह्मण एव ब्याहृत्यवयवकत्वेन ध्यानमाह—य एष इत्यादिना । तथा च वातिकम्—“शरीर व्याहृतमित्ये कल्पयेत्शिरविस्थयोः । तस्यैव सत्यनाम्नोऽप्य सतुपासाप्रसिद्धये” ॥ १ ॥ इति । ब्राह्मणान्तरस्य सात्वयमाह—शरीरमिति । अथचदो ब्राह्मणान्तरात्समायं । २. भोक्ता जीव स्वामी । ३. जीवदव-स्थायाम् । ४. योऽताविति—सत्यत्वमहत्त्वप्रथमत्र-वर्धिशेषणकरत्वेन प्रतिदो विप्रकृष्ट तस्येति संबन्धः ।

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकश्च

जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है उसका 'भू.' यह शिर है क्योंकि शिर एक है और यह अक्षर

कथम् । भूरिति येयं 'व्याहृतिः सा तस्य शिरः । प्रायम्यात् । तत्र सामान्यं स्वयमेवाऽऽह
श्रुतिः—एकमेकसंख्यायुक्तं शिरस्तथैतदक्षरमेकं भूरिति । भुव इति बाहू द्वित्वसामान्याद्द्वौ
बाहू द्वे एते अक्षरे । तथा स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे । प्रतिष्ठे पादौ प्रतिष्ठि-
त्याभ्यामिति । तस्यास्य 'व्याहृत्यवयवस्य सत्यस्य ब्रह्मण उपनिषद्ब्रह्मस्यमभिधानम् ।
'येनाभिधानेनाभिधीयमानं तद्ब्रह्मा' भिमुखी भवति लोकवत् । 'काऽसावित्याह—अहरिति ।
अहरिति चैतद्रूपं हन्तेर्जहातेश्चेति यो वेद स हन्ति जहाति च पाप्मानं य एवं वेद ॥१॥
एवं योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर इत्यादि सर्वं समानम् । तस्यो-

दृष्ट्यारोपे विवक्षिते । तस्योपनिषदित्यादि व्याचष्टे—तस्येत्यादिना । यथा लोके गवादिः श्वेनाभिधाने-
नाभिधीयमानः संमुखी भवति तद्वदित्याह—लोकवदिति । 'नामोपास्तफलमाह—अहरिति चेति ॥१ ।

यथा मण्डलपुरुषस्य व्याहृत्यवयवस्य सोपनिषत्कस्याधिदेवतमुपासनमुद्यतं तथाऽध्यात्मं चाक्षुष-
पुरुषस्योक्तविशेषणस्योपासनमुद्यत इत्याह— एवमिति । चाक्षुषस्य पुरुषस्य कथमहमित्युपनिषदित्ये

वहाँ (सत्यत्व-महत्त्व-प्रथमजत्व विशेषणक) जो यह है, वह कौन है ? जो इस
मण्डल में सत्यनामा पुरुष है, उसके अथवा व्याहृतियाँ हैं । वह कैसे ? "भू" यह जो
पहली व्याहृति है, वह उसका शिर है क्योंकि उसका स्थान प्रथम है । उनकी समानता
श्रुति स्वयं बतलाती है । शिर भी एक है और "भू" यह भी एक अक्षर है ।
"भुवः" (दूसरी व्याहृति) उसकी भुजाएँ हैं क्योंकि उनमें द्वित्व संख्या की समानता है । 'बाहू'
और 'भुजा' इन दोनों शब्दों में दो-दो अक्षर हैं । तथा "स्व" यह (तीसरी व्याहृति)
प्रतिष्ठा है । दो प्रतिष्ठाएँ हैं, दो ही अक्षर हैं । "इनसे पुरुष प्रतिष्ठित होता है" इस व्युत्पत्ति से
प्रतिष्ठा पाद का नाम है । "तस्य" अर्थात् इस रविमण्डल में स्थित व्याहृति रूप अथवा बाले
सत्यात्मक ब्रह्म का गुह्य नाम उपनिषत् है । जिस नाम में पुकारा जाना हुआ लोकव्यवहार के समान
साक्षात् प्रसन्न होता है । वह उपनिषत् क्या है ? इस पर श्रुति कहती है "अहरिति" अर्थात् यह
'अहर्' है । 'आड्' पूर्व 'हन्' धातु अथवा श्रोणादिक प्रत्यययुक्त 'हा' धातु से 'अहर्' यह निष्पन्न होता
है । जो इस प्रकार जानता है, वह पापी को मार देता है और छोड़ देता है (यह नामोपासना का
फल है) ॥ १ ॥

इसी प्रकार जो दक्षिण नेत्र में पुरुष है उसकी 'भू.' यह प्रथमा व्याहृति है, वह उसका शिर

१. प्रथमा । २. व्युत्पत्तेः । ३. रविमण्डले स्थितम् । ४. गुह्यं नाम । ५. नामकरणे फलमाह—
- येनेति । ६. भिमिमुखी भवति—साक्षात्प्रसीदति । ७. उपनिषत् । ८. हन्तेर्जहातेश्चन्द्रि—घाहपूर्वस्य
- हन्तेर्जहातेर्वा श्रोणादिके इति इत्ते ह्रस्वत्वे चोपसर्गस्य टिनोपे चाहरिति पद निष्पन्न भवतीति यातिर-
- दीकायामुक्तम् । ९. नामेति—घहर्नामविनिष्टमरयोपासकस्य फलमाहेत्यर्थम् ।

शिर एकमेतदक्षरं भुव इति वाहू द्वौ वाहू द्वे
एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते
अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं
जहाति च य एवं वेद ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य

सप्तमं ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

भी एक है। 'भुव' यह भुजाएँ हैं क्योंकि भुजाएँ दो हैं और यह अक्षर भी दो है। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा है क्योंकि पाद दो हैं और अक्षर भी दो है। 'अहू' यह उसका गूढ नाम है क्योंकि यह प्रत्यगात्म-स्वरूप है। जो ऐसा जानता है, वह पाप को मारता है और त्याग देता है ॥ २ ॥

॥ इति सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

पनिषदहमिति । प्रत्यगात्मभूतत्वात् । पूर्ववद्वन्तेजंहातेऽचेति ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥७॥

'उपाधीनामनेकत्वादानेकविशेषणत्वाच्च तस्यैव प्रकृतस्य' ब्रह्मणो मनउपाधि-
विशिष्टस्योपासनं विधिस्तत्राह—

तत्राऽह—प्रत्यगिति । हन्तेजंहातेऽश्वाहमिधेतद्रूपमिति यो वेद स हन्ति पाप्मानं जहाति चेति पूर्ववत्फल-
वाक्यं योज्यमित्वाह—पूर्ववदिति ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणान्तरमुत्पापयति—उपाधीनामिति । अनेकविशेषणत्वाच्च प्रत्येकं तेषामिति शेषः ।

है—इत्यादि अर्थ पूर्व मन्त्र की तरह है। प्रत्यगात्मभूत होने से उसका 'अहम्' यह उपनिषत् है।
पापो का मारना और छोड़ना रूप व्याख्या पूर्व मन्त्र के समान समझ लेनी चाहिये ॥ २ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का
हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ७ ॥

उपाधिभो के बहुत होने एवं उनके बहुत विशेषण होने से प्रकरणस्य उमी सत्यस्वरूप ब्रह्म
की मनरूप उपाधि विशिष्ट उपासना का विधान करने की इच्छा से श्रुति कहती है—

१. हन्तेरिति—मन्त्र 'इम्' प्रत्ययः ग्रन्थपूर्वत् । २ ननु किमिति मन उपाधिकमुपासनान्तरनु'व्यते तत्राह
—उपाधीनामित्यादि । उपाधमस्तावदानेके सन्ति प्रत्युपाधिविशेषणार्थमपि बहूनि ब्रह्मणस्तथा च येन येनो-
पाधिना यैश्च विशेषणैरुनासित् शक्य तेषामुपेक्षितुमनहंत्वान्मनो विशिष्टस्याप्युपासन विधीयत इत्यर्थः ।
'केनचिदुपाध्यादीनोपाधितुमद्यनुवदप्रपि कश्चिदधिकारी 'केनचिरकदाचित्त्वानुपाधितुपाध्यादीनमुपेक्षानहंत्व-
मिति बोध्यम् । ३. सत्यस्य ।

(१. उच्यते इति बहुविधोपासनस्य पूर्वमुक्तत्वादिति भावः । २ केनचिदिति एनेकेत्यर्थः । ३ केनचिदिति—
अपरेणेत्यर्थः ।)

(अथ पञ्चमाध्यायस्याष्टम ब्राह्मणम् ।)

मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये
यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः
सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं
किञ्च ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्याय-
स्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥८॥

प्रकाश ही जिसका स्वरूप है, ऐसा भास्वर यह पुरुष मनोमय है। जैसे—धान या जी सूक्ष्म होता है, वैसे ही सूक्ष्म परिणाम वाला उस अन्तर्हृदय में वह पुरुष रहता है। वही यह सबका स्वामी और सबका अधिपति है और जो कुछ भी यह जगत् है, सबका विशेष रूप से शासन करने वाला वही है (उसकी जो उपासना करता है, वह सबका शासक हो जाता है) ॥ १ ॥
॥ इत्यष्टम ब्राह्मणम् ॥

मनोमयो मनःप्रायो मनस्युपलभ्यमानत्वात् । मनसा चोपलभ्यत इति मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यो 'भा एव सत्य सद्भावः स्वरूप यस्य सोऽयं 'भाःसत्यो भास्वर इत्येतत् । मनसः सर्वार्थावभासकत्वान्मनोमयत्वाच्चास्य भास्वरत्वम् । तस्मिन्नन्तर्हृदये हृदयस्या-
'न्तस्तस्मिन्नित्येतत् । यथा 'व्रीहिर्वा यवो वा परिमाणत एवपरिमाणस्तस्मि-

त्तप्रायत्वे हेतुमाह—मनसीति । प्रकारान्तरेण तत्प्रायस्त्वमाह—मनसा चेति । 'तस्य भास्वरूपत्वे 'साध-
यति—'मनस इति । तस्य ध्यानार्थं स्थानं दर्शयति—तस्मिन्निति । 'व्रीधाधिकमिदं परिमाणं स्वाभा-

"मनोमय " अर्थात् मन से अनुभूत होने के कारण यह मनोप्राय है। अथवा वह मन से प्राप्त किया जाता है, इसलिए यह पुरुष मनोमय है। "भा सत्य " अर्थात् अजड प्रकाशसंज्ञक उच्येति ही सत्य है, वही उसका स्वरूप होने वह "भासत्य " यानी भास्वर है। मन को उपाधि का भी सर्वार्थ-
भासकत्व होने से तथा मनोमय होने से इसकी भास्वरता मिद्ध है। वह "तस्मिन्नन्तर्हृदये " अर्थात् हृदय के मध्य भाग में, जिस प्रकार व्रीहि अथवा यव का परिणाम है, उतने परिमाण वाला अर्थात् उस हृदय के मध्य योगियो द्वारा देखा जाता है। वह यह "सर्वस्येशान " अर्थात् समस्त भेदजान

१. अजडप्रकाशास्य ज्योति । २ मनस इत्यादेरपराऽयं । अथ मनोमयत्वात् मनसः सर्वार्थावभासकत्वा-
दस्य भास्वरत्वमित्य-वय । स्वयंप्रकाशास्य ब्रह्मणो मनसि प्रतिफलितत्वेनैव मनसो भासकता न स्वतो जडत्वा-
विति मनसो भासकत्वान्यथाऽनुपपत्त्या तत्तादात्म्यापन्नस्य ब्रह्मणो भासुत्व निदचत्वव्यविति । ३ मध्यम् ।
४. तस्य भास्वरूपत्वमिति—ननु स्वतो भास्वरमपि कथमुपाधिविधिदृमपि तथा नहि स्वतो शुद्धमपि गङ्गा-
मन्मन्त्रद्वालघटिकागत पानमहंतीत्यानङ्गुषोऽप्यादि । ५. अर्थान्तरे साधयतीत्यस्य अर्थापत्त्या प्रमापयतीत्यर्थः ।
६ मनस इतीति । मनन उपाधेरपि भासुत्वात्स्वतो भास्वरत्व न व्येतीति भावः इति टिप्प । न व्येतीत्य-
नन्तर प्रत्युत द्वैगुण्यात्कावापवरकगतदोषनिशावदित्यधिक बोध्यम् । ७. धोपाधिकमिति—बुद्धुपाधिव्यद-
भेदाद्ब्रीह्यादिवरिमाणतेति वातिकोक्तरिति भावः ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ।)

'विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य
एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ब्रह्मेव ब्रह्म ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य

नवमं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

विद्युत् ब्रह्म है—ऐसा कहते हैं । अथर्वार वा खण्डन या विनाश करने के कारण विद्युत् है, ऐसे गुण वाले विद्युत् ब्रह्म को जो उपासना करता है; वह अपने प्रतिबुल सभी पापों का नाश कर देता है (क्योंकि यह फल उपास्य के अनुरूप ही है) अतः विद्युत् ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

अन्तर्हृदये योगिनिर्हृद्यत इत्यर्थः । स एष सर्वस्येशानः सर्वस्य भेदजातस्येशानः स्वामी । स्वामित्वेऽपि सति 'कश्चिदमात्यादितन्त्रोऽयं तु न तथा किं तर्ह्यधिपतिरधिष्ठाप पालयिता । सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच यत्किंचित्सर्वं जगत्तत्सर्वं प्रशास्ति । 'एवं मनो-मयस्योपासनात्तयारूपापत्तिरेव फलम्' । तं यथा यथोपासते तदेव भवतीति ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

'तयैवोपासनान्तरं सत्यस्य ब्रह्मणो विशिष्टफलमारभ्यते—विद्युद्ब्रह्मेत्याहुः ।

किं त्वानन्त्यमित्यभिप्रेत्यासह—स एष इति । यदुक्तं सर्वस्येशान इति 'तन्निरगमयति—सर्वमिति । 'यथाऽन्यत्र तथाऽत्राकलभ्रुतेरफलमिदमुपासनमकार्यमिति चे,नेत्याह—एवमिति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्बृहद्विष्णुटीकायां पञ्चमाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणान्तरमुद्भाव्य विभजते—तयैवेत्यादिना । तमसो विदानाद्विद्युति संबन्धः । 'तदेव

वस्तुत्रो का स्वामी है । स्वामी होने पर भी जिस प्रकार कोई राजपुत्रादि मन्त्री आदि के अधीन रह कर शासन करते हैं, वैसे यह नहीं है, तो कौनसा है ? 'अधिपति' अर्थात् अधिष्ठापक होकर पालन करने वाला है । 'सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच' अर्थात् इस जगत् में जो कुछ भी है; उस सब पर प्रशासन करता है । इस प्रकार मनोमय ब्रह्म की उपासना से वैसे ही रूप की प्राप्ति होती है, वही फल समझना चाहिये । 'उसकी जो जिस-जिस प्रकार उपासना करता है, वही हो जाता है'—ऐसा ब्राह्मण वाक्य में कहा गया है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य अष्टम ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का

हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

मन-उपाधि विशिष्ट ब्रह्म की उपासना के समान ही सत्यस्वरूप ब्रह्म की (अनेक-दुरित-निवृत्ति-

१ सत्यस्वैव ब्रह्मणोऽशेषपापव्यसकलवमुपासनान्तरमाह—विद्युदित्यादिना । २ इति शेषः । ३ राज-पुत्रादि । ४ एवमिति—यथोपासनान्तरेषु फलमुक्तमेवमित्यर्थं । ५ ऊह्यम् । ६ मन-उपाधि-विशिष्ट-स्योपासनवदेव । ७ अशेषदुरितनिवृत्तिफलकम् । ८ उपसहरति । ९ यथेत्यादि—उपासनान्तरेषु यथाफलमुक्त तथाऽत्र फलोक्त्यभावादित्यर्थं । १० निर्वचनमेव ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य दशम ब्राह्मणम् ।)

'वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहा-
कारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ
देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं

वाग् (ऋग्, यजु और सामवेद) रूप धेनु की उपासना करे । उस वाग् रूप धेनु के स्वाहाकार, वषट्कार, हन्त और स्वधाकार ये चार स्तन हैं । इनमे से स्वाहाकार और वषट्कार द्वारा देवताओं को हवि दी जाती है । 'हन्त' ऐसा कह कर मनुष्यों को अन्न देते हैं और स्वधाकार के द्वारा पितृगणों को श्राद्ध के योग्य वस्तु देते हैं । (इन्हीं चारों स्तनों के द्वारा वाग् गी के समान बछड़े स्थानीय देव-

विद्युत्तो ब्रह्मणो निर्वचनमुच्यते—विद्वानाववखण्डनात्तमनो मेघान्धकार विदार्य ह्यव-
भासतेऽतो विद्युत् । 'एवंगुण विद्युद्ब्रह्मेति यो वेदासौ विद्यत्यवखण्डयति विनाशयति
पाप्मन 'एनमात्मानं प्रति प्रतिकूलभूताः पाप्मानो ये तान्सर्वा'स्पाप्मनोऽवखण्डयतीत्यर्थः ।
य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति तस्यानुरूप फलम् । विद्युद्धि यस्माद्ब्रह्म ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ॥६॥

पुनरुपासनान्तरं तस्यैव ब्रह्मणो 'वाचं ब्रह्मेति' वागिति शब्दस्त्रयी तां वाचं

स्फुटयति—मेघेति । उक्तमेव फल प्रकटयति—एनमिति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणोपाध्यायस्य नवम ब्राह्मणम् ॥६॥
ब्राह्मणान्तरमवतारयति—पुनरिति । तां धेनुमुपासीतेति संबन्धः । वाचो धेन्वाश्च सादृश्यं

रूप) विशिष्ट फल वाली दूसरी उपासना आरम्भ की जाती है । 'विद्युत् ब्रह्म है'—ऐसा कहते हैं । विद्युत् ब्रह्म की व्युत्पत्ति बतलायी जाती है । नम को विदीर्ण या अखण्डन करने में यह विद्युत् नाम पडा क्योंकि यह मेघ जन्य अन्धकार को मिटा कर प्रकाशित होती है । इस प्रकार तमो विदारण गुण विविष्ट विद्युत् ब्रह्म को जो कोई जानता है, वह पाप को "विद्यति" अर्थात् टुकड़े-टुकड़े कर देता है अथवा विनष्ट कर देता है । भाव यह है कि इस उपासक आत्मा के जितने प्रतिकूल भूत पाप होते हैं उन सभी (देवत्वप्राप्ति के प्रतिबन्धकस्वरूप) पापों का नाश कर देता है । जो 'विद्युत् ब्रह्म है' ऐसा जानता है, यह उसका अनुरूप फल है क्योंकि विद्युत् ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य नवम ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का

हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ६ ॥

पुन उस सत्यात्मक ब्रह्म की 'वाचं' ही ब्रह्म है' ऐसी श्रुति समर्थित दूसरी उपासना का

१ अथ पुनस्तस्यैव वाङ्मयधेनुमुबन्धेनोपासनमाह—वाचमिति । वाग् वेदत्रयीलक्षणः । २ तमोविदारण-
गुणम् । ३ उपासकारमानम् । ४ पाप्मन इत्यादि—देवत्वातिप्रतिबन्धकात् पाप्मन उपास्य ब्रह्म
नाशयतीत्यर्थः । ५ उच्यते । ६ वृ उ ४ १ २ । ७ श्रुतेः । ८ तमीति—'वागियत्र तमी
ब्राह्मणं न स्थानकरणादयः । स्वाहाकारादि नात्यत्र तस्याः सभाम्यन्ते बवविति वार्तिके ॥ २ ॥

मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो
वत्सः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य
दशमं ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

गणादिको को वामना की सिद्धि करती है) । उस धेनु का वृषभ प्राण है क्योंकि प्राण के द्वारा ही वाक् प्रसव करती है, मन उसका बछड़ा है (क्योंकि मन से ही आलोचना किये हुए विषय में वाणी की प्रवृत्ति होती है) ।

॥ इति दशमं ब्राह्मणम् ॥

धेनुं धेनुरिव धेनुर्मया धेनुश्चतुर्भिः स्तनैः स्तन्यं पयः क्षरति वत्सायं वाग्धेनुवंक्ष्यमाणैः
स्तनैः पय इवाश्वं क्षरति देवादिभ्यः । के पुनस्ते स्तनाः के वा ते येभ्यः क्षरति । तस्या
एतस्या वाचो धेन्वा द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति वत्सस्थानीयाः । कौ तो । स्वाहाकारं च
वपट्कारं च । आम्नां हि हविर्वीयते देवेभ्यः । हन्तकारं मनुष्याः । हन्तेति मनुष्येभ्योऽन्नं
प्रयच्छन्ति । स्वधाकारं पितरः । स्वधाकारेण हि पितृभ्यः स्वधां प्रयच्छन्ति । तस्या
धेन्वा वाचः प्राण ऋषभः । प्राणेन हि वाक्प्रसूयते । मनो वत्सः । मनसा हि प्रख्याप्यते ।
मनसा ह्यालोचिते विषये वाक्प्रवर्तते । तस्मान्मनो वत्सस्थानीयम् । एवं वाग्धेनुपासक-

विशदयति—ययेत्यादिना । स्तनचतुष्टयं भोक्तृत्रयं च प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—के पुनरित्यादिना । कयं
देवा यथोक्तौ स्तनावुपजीवन्ति तत्राऽऽह—आम्ना हीति । हन्त यद्यपेक्षितमित्यर्थः । स्वधामश्रम् । प्रख्या-
प्यते प्रख्याता क्षरणोद्यता क्रियते । मनसा हीत्यादिनीवर्तं विधुणोति—मनसेति । पलाशवणादेतदुपासन-

निरूपण किया जाता है । 'वाक्' यह शब्द (स्वाहाकारादि) त्रयी है । उस वाणी को "धेनुमुपासीत"
अर्थात् धेनु के समान उपासना करे । जिस प्रकार गाय अपने चारो स्तनो से बछड़े के लिए दूध
बहाती है, उसी प्रकार वाग्धेनु वक्ष्यमाण स्तनो से देवादि के लिए दूध के समान अन्न देती है । वे स्तन
कौन से हैं तथा जिनसे वह दूध बहाती है, वे कौन-कौन से हैं । उस इस वाक्रूपी धेनु के दो स्तनो
के वत्सस्थानीय देवतागण उपजीवी हैं । वे कौन से दो हैं ? स्वाहाकार और वपट्कार । इन्ही दोनों
से देवताओं के लिए हवि दी जाती है । हन्तकार के उपजीवी मनुष्य हैं । 'हन्त' इस प्रकार कहकर
मनुष्य को अन्न दिया जाता है । स्वधाकार के उपजीवी पितृगण हैं क्योंकि स्वधाकार के द्वारा पितरों
को अन्न देते हैं । उस धेनुस्वरूपा वाणी का प्राण ऋषभ के समान उत्पादक है क्योंकि प्राण के द्वारा
वाक् उत्पन्न होती है । मन उसका बछड़ा है क्योंकि मन के द्वारा वाणी क्षरण के लिए तैयार होती है,
मन से चिन्तित विषय में ही वाक् प्रवृत्त होती है, इसलिए मन वत्सस्थानीय है । इस प्रकार वाक्

१. ऋषभ इवर्षभ उत्पादक इत्यर्थ । २ मनसो वाक्प्रसवणहेतुत्वात् ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्यैकादश ब्राह्मणम् ।)

'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते
यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय
शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषः
शृणोति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य

कादशं ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

जो यह पुरुष के भीतर है, यह अग्नि वैश्वानर है। जिससे यह अन्न पकाया जाता है और
भक्षण किया जाता है, उसी जठराग्नि का यह घोष हुआ करता है, जिसे पुरुष अगुलियो ने दोनों
कानों को बन्द करके सुनता है। जब यह जीव उत्क्रमण करने वाला होता है, उस समय इस घोष को
नहीं सुनता है (अतः उस प्रजापति रूप वैश्वानराग्नि की उपासना करे) ॥१॥

॥ इत्येकादश ब्राह्मणम् ॥

स्ताद्ब्राह्मणमेव प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य दशमं ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

अयमग्निर्वैश्वानरः पूर्वघटुपासनान्तरमयमग्निर्वैश्वानरः । कोऽयमग्निरित्याह—
योऽयमन्तः 'पुरुषे । किं शरीरारम्भको नेत्युच्यते—यनाग्निना वैश्वानरारूपेनेदमन्नं
पच्यते । किं तदन्नम् । यदिदमद्यते भुज्यतेऽन्नं प्रजामिजठिरोऽग्निरित्यर्थः । तस्य 'साक्षा-

'मकिञ्चित्करमित्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । तादृभाष्यं यथोक्तवागुपाधिकग्रह्यरूपत्वमित्यर्थः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां पञ्चमाध्यायस्य दशमं ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

ब्राह्मणान्तरमनूय तस्य तात्पर्यमाह—अयमिति । अन्नपानस्य पक्ता । तत्सद्भावे मानमाह

स्वरूपा घेनु का उपासक वागुपाधि ब्रह्मरूपता को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे पञ्चमाध्यायस्य दशमं ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का
हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १० ॥

"अयम् अग्निर्वैश्वानरः" इत्यादि अन्य से यानी यह अग्नि वैश्वानर है, इस धुनि द्राग पूर्ववत्
अन्य उपासना कही जाती है। यह अग्नि कौन सा है ? धुनि कहती है जो शरीर के भीतर है।
क्या शरीरारम्भक अग्नि कहते हो ? नहीं—जिम वैश्वानर अग्नि मे यह अन्न पकाया जाता है वह
अन्न क्या है ? "यदिदमद्यते" अर्थात् जो यह अन्न पकाया जाता है अर्थात् उस अन्न को पचाने वाला

१. प्रकृतस्यैव सत्यब्रह्मणो जाठराग्निवत्त्वे नापरोऽस्तव प्रदस्यपितु तत्त्वेनोपासनामाह—अयमग्निर्वैश्वानरित्या-
दिना । २. उच्यते इति घोष । ३ शरीरे । ४ घोषरूपेण प्रत्यक्षज्ञानार्थम् । ५ अयमोऽन्नम् ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वादश ब्राह्मणम् ।)

'यदा वै पुरुषोऽस्मात्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति
तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य ख तेन स
ऊर्ध्वं आक्रमते स आविश्यमागच्छति तस्मै स तत्र

जब यह पुरुष इस लोक से प्रस्थान करता है, तब वह वायु को प्राप्त करता है। आकाश में घनीभूत वह वायु उसके लिए छिद्रयुक्त हो जाता है और मार्ग दे देता है। वह छेद रथ के पहिये के छेद के समान होता है। उस छेद के द्वारा वह उपासक ऊर्ध्व होकर जाता है, फिर वह सूर्य लोक में

दुप'लक्षणां यमिदमाह—तस्यनेरन्नं पचतो जाठरस्यंघ घोषो भवति । कोऽसौ । यं घोष-
मेतदिति क्रियाविशेषणं कर्णावपिधायान्गुलीभ्यामपिधानं कृत्वा शृणोति तं प्रजापति-
मुपासीत वैश्वानरमग्निम् । अत्रापि ताद्भाष्य फलम् । तत्र 'प्रासङ्गिकमिदम'रिष्टलक्षण-
मुच्यते—सोऽत्र शरीरे भोक्ता यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोष शृणोति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्यैकादश ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

सर्वेषामस्मिन्प्रकरण उपासनानां गतिरियं फलं चोच्यते—यदा वै पुरुषो विद्वान-

—तस्येति । क्रियाया श्रवणस्यैतदिति विशेषणं तद्यथा भवति तथेत्यर्थं । 'कोक्षेया'ग्युपाधिकस्य पर-
स्योपासने प्रस्तुते सतोत्प्राह—तत्रेति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकाया पञ्चमाध्यायस्यैकादश ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

ब्राह्मणान्तरस्य तात्पर्यमाह—सर्वेषामिति । फलं चाश्रुतं फलानामिति शेष । किमिति विद्वान-

जाठराग्नि ही अग्नि है । उसके साक्षात् ज्ञान के लिए श्रुति कहती है—उस अन्न पचाने वाले जाठराग्नि की यह ध्वनि होती है । कौन सी ध्वनि ? "य घोषमेतत्" अर्थात् जिस ध्वनि-क्रिया के विशेषण का श्रवण यह "कर्णावपिधाय" अर्थात् कानों को अँगुली से दबा कर सुनता है । उस वैश्वानर अग्नि प्रजापति को उपासना करे । इसका तद्भाष्यपत्ति रूप फल है । यहाँ घोष प्रकरण से प्राप्त मरणचिह्न रूप अरिष्ट लक्षण कहा जाता है, जिस समय शरीर में भोक्ता यहाँ उत्क्रमण करने वाला होता है, उस समय घोष को नहीं सुनता ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्यैकादश ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ११ ॥

इस प्रकरण में सभी उपासनान्त्रो का मार्ग और इन (प्रथुन फल उपासनान्त्रो) का यह फल

१ अर्थात्स्मिन्प्रकरण उक्तोपासनाना गतिगनुक्तफल चाह—यदेत्यादिना । २ प्रासङ्गिकमिति—घोष-
प्रसङ्गादागतमरिष्टमनुभ मरणचिह्नमिति यावत् । ३ जाठारिष्टं यय नाम कुपदासहित पुपानिस्वरिष्टोक्ति-
फलम् । ४ मार्गं । ५ तदिति श्रवणमुच्यते इत्युच्यु । ६ कोक्षेयति—'इतिशुश्रूषन्निशितस्यस्य-
हेतव्' (पा सू ४ ३ ३६) इत्यनेन दत्तं भवार्थं । ७ उरर्षुगतीत्यर्थं । ८ उपासनानाम् ।

विजिहीते यथा लम्बरस्य ख तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते
 स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा
 दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते सलोकमागच्छत्य-
 शोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य

द्वादश ब्राह्मणम् ॥ १२ ॥

पहुँच जाता है। वहाँ पर सूर्य भी उसके लिये वंसा ही छिद्रयुक्त हो मार्ग दे देता है। वह छेद डबर नामक वाजे के छेद के समान होता है। उसमें प्रविष्ट हो वह उपासक ऊपर की ओर जाता है और वह चन्द्रलोक में पहुँच जाता है। वहाँ चन्द्रमा भी छिद्र युक्त हो उसे मार्ग दे देता है। वह छिद्र दुन्दुभि के छिद्र के समान होता है। उस छिद्र के द्वारा ही वह उपासक ऊपर की ओर चढ़ता है। वहाँ पर वह मानसिक बुख से हिमवर्जित अर्थात् शारीरिक ताप से रहित प्रजापति लोक में पहुँच जाता है और उसमें अनन्त वर्षों तक अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक निवास करता है ॥१॥

॥ इति द्वादश ब्राह्मणम् ॥

स्माल्लोकात्प्रति शरीर परित्यजति 'स तदा वायुमागच्छत्यन्तरिक्षे 'तिर्यग्भूतो वायुः
 स्तिमितोऽभेद्यस्तिष्ठति । स वायुस्तत्र स्वात्मनि तस्मै 'संप्राप्तय विजिहीते स्वात्माय-
 यवान्विगमयति च्छिद्री करोत्यात्मानमित्यर्थः । किपरिमाणं छिद्रमिति । उच्यते—यथा
 रथचक्रस्य खं 'छिद्रं प्रसिद्धपरिमाणम् । तेन च्छिद्रेण स विद्वानूर्ध्वं आक्रमत ऊर्ध्वं सन्ग-
 च्छति स आदित्यमागच्छति । आदित्यो ब्रह्मलोक जिगमिषोर्माणंनिरोध कृत्वा स्थितः

न्वायुमागच्छति तमुपेक्षेव ब्रह्मलोकं कुतो न गच्छतीत्याशङ्क्याऽऽह—अन्तरिक्ष इति । आदित्यं प्रत्या-

श्रुति कहती है—जब कोई विद्वान् पुरुष इस लोक से 'प्रैनि' अर्थात् शरीर छोड़ता है, उस समय वह उपासक वायु को प्राप्त होता है। आकाश में वह वायु चरुगति से निश्चल प्रौर अभेद्य होकर स्थित है। वह वायु 'तत्र' अर्थात् स्वात्मा में 'तस्मै' यानी लोक भोग के लिए "विजिहीते" अर्थात् अपने अवयवों को मिटा देता है अथवा अपने को छिद्र-युक्त कर देता है। किन्तुने परिणाम वाला छिद्रयुक्त करता है ? इस पर श्रुति कहती है—जिस प्रकार रथ के चक्र का "ख" यानी छिद्र होता है, वैसे प्रसिद्ध परिमाण वाला छिद्र कर देता है। उस छिद्र से वह विद्वान् "ऊर्ध्वं आक्रमते" अर्थात् ऊपर की ओर होकर जाता है, वह आदित्यलोक प्राप्त करता है। आदित्य ब्रह्मलोक जाने के

१ उपासक । २ चरुगति । ३ स्तिमितो निश्चलता स्थिर इति यावत् । स्तिमितो निश्चलार्थो ' इति मेदिनीकोश । ४ लोकाभोगार्थम् । ५ नाभिबिलम् ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य त्रयोदश ब्राह्मणम् ।)

'एतद्वं परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमं ह्येव लोकं

जयति य एवं वेदैतद्वं परमं तपो यं प्रेतमरण्यथ

ज्वरादि से ग्रस्त पुरुष को जो ताप होता है, यह नि सन्देह परम तप है (क्योंकि ताप और तप दोनों में समान बलेश होता है । इस प्रकार चिन्तन करने वाले तथा रोगादि की निन्दा न करने वाले

सोऽप्येवंविद उपासकाय द्वारं प्रयच्छति । तस्मै स तत्र विजिहीते । यथा 'लम्बरस्य खं वादित्रविशेषस्य च्छिद्रपरिमाणं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति । सोऽपि तस्मै तत्र विजिहीते । यथा दुन्दुभेः खं प्रसिद्धं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स लोकं प्रजापति-लोकमागच्छति । किञ्चिच्छिष्टम् । अशोकं मानसेन दुःखेन विवर्जितमित्येतत् । अहिमं हिमवर्जित शारीरदुःखवर्जितमित्यर्थः । तं प्राप्य तस्मिन्वसति शाश्वतीनित्याः समाः सवत्सरानित्यर्थः । ब्रह्मणो बहून्कल्पान्वसतीत्येतत् ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य द्वादशं ब्राह्मणम् ॥ १२ ॥

एतद्वं परमं तपः । किं त्व् । यद्व्याहितो 'व्याधितो ज्वरादिपरिमृहीतः सन्य-

गमने हेतुमाह—आदित्य इति । उक्तेऽर्थे वाच्य पातयति—तस्मा इति । बहून्कल्पानित्यवान्तर-कल्पोक्तिः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकाया पञ्चमाध्यायस्य द्वादशं ब्राह्मणम् ॥ १२ ॥

ब्रह्मोपासनप्रसङ्गं न फलवद्ब्रह्मोपासनमुपन्यस्यति—एतदिति । यद्व्याहित इति प्रतीकमादाय

इच्छको का मार्गं रोककर स्थित है, वह भी इस प्रकार जानने वाले उपासक के लिए मार्ग दे देता है । उसके लिए वह अपने को छिद्रयुक्त करता है । जैसे हमस्य प्रभेद 'लम्बर' नामक वाद्यविशेष के छिद्र का परिमाण होता है । उसके द्वारा वह ऊपर की ओर जाता है, वह चन्द्रलोक को प्राप्त करता है । वह चन्द्रमा भी उसके लिए अपने को छिद्रयुक्त कर देता है । जिस प्रकार दुन्दुभि वा छिद्र प्रसिद्ध है, उस छिद्र के बीच से वह ऊपर की ओर चढ़ता है । फिर वह प्रजापति लोक को प्राप्त करता है । उसकी विशिष्टता कैसी है ? "अशोकम्" अर्थात् यह मानस दुःख से शून्य है; "अहिमम्" अर्थात् हिम यानी शरीर के दुःख से शून्य है । उसे प्राप्तकर वह "शाश्वती" अर्थात् नित्य या अनन्त वर्षों तक वही रहता है अर्थात् ब्रह्म के बहुत कल्पों तक वही रहता है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य द्वादश ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १२ ॥

यही परम तप है । वह क्या है ? "यद्व्याहित" अर्थात् ज्वरादि से पीड़ित व्यक्ति जो दुःख

१ यथा यार्थच्छकज्वरादिहेतुकमनामोपासनत्रय सकलमाह—एतदा इत्यादिना । २ इमहकप्रभेदस्येत्याहुः ।
३ व्याधितो भय पाठ इतिचिन् ।

हरन्ति परमं^१हैव लोकं जयति य एवं वेदं तद्वं^२ परमं
तपो यं प्रतमग्नावभ्यादधति परमं^३हैव लोकं जयति
य एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमोऽध्यायस्य

त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

पुरुष को) जो लोक प्राप्त होता है, वह परम लोक ही है, उसी लोक को वह जीतता है। मृत पुरुष को जो ऋत्विक् लोक अन्त्येष्टि कर्म के लिए ग्राम से बाहर वन में ले जाते हैं, निश्चय ही यह परम तप है (क्योंकि मृत पुरुष और तपस्वी दोनों को वन में जाना समान ही है)। जो मरणासन्न पुरुष ऐसा जानता है, वह परम लोक पर विजय कर लेता है। अन्त्येष्टि सस्कार के समय मृत पुरुष को जो सब ओर से अग्नि में रखते हैं, निश्चय ही उसका परम तप है। जो ऐसा जानता है, वह निश्चय ही परम लोक को जीत लेता है ॥१॥

॥ इति त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

‘तप्यते तदेतत्परमं तप इत्येवं^१ चिन्तयेत् । दुःखसामान्यात् । तस्यैवं चिन्तयतो विदुषः कर्मक्षयहेतुस्तदेव तपो भवत्यनिन्दतोऽविषीदतः । त एव च तेन विज्ञानतपसा दाघ- किल्बिषः परमं^२ हैव लोकं जयति य एवं वेद । तथा मुमुर्षुरादाधेव कल्पयति किमेतद्वं^३ परमं तपो यं प्रेतं मां ग्रामादरण्यं हरन्ति ऋत्विजोऽन्त्येष्टकर्मणे तद्ग्रामादरण्यगमनसामान्या- त्परमं मम तत्तपो न विष्यति । ग्रामादरण्यगमनं परमं तप इति हि प्रसिद्धम् । परमं हैव

व्याचष्टे—ज्वरादीति । कर्मक्षयहेतुरित्यत्र कर्मशब्देन पापमुच्यते । परमं हैव लोकमित्यत्र तपसोऽनुकूलं फलं लोकशब्दार्थः । अस्तु ग्रामादरण्यगमनं तथाऽपि कथं तपस्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—ग्रामादिति ॥१॥
इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां पञ्चमोऽध्यायस्य त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

अनुभव करता है, वही परम तप है, इस प्रकार (परमफल की इच्छा वाला) भावना करे क्योंकि तप और इस तप दोनों में दुःख की समानता है। जो आग ज्वरादि दुःख की निन्दा नहीं करता तथा उससे दुःखी नहीं होता, उस इस विद्वान् का यही कर्म क्षय में हेतुक तप हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है, वह उस विज्ञान रूप तप के द्वारा पापों को जलाकर के परम लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार मरणावस्था को प्राप्त व्यक्ति आरम्भ में ही सोचने लग जाता है। क्या कल्पना करने लगता है कि मर जाने पर मुझे ऋत्विज लोग अन्त्येष्टिकर्म अथवा सबन्धी लोग दाह सस्कार के लिये ग्राम से वन में ले जाएंगे, यह निश्चय ही परम तप है। इस प्रकार ग्राम से वनगमन में समानता होने से यह मेरा परम तप हो जायगा। ग्राम से जाकर अरण्य में वास करना परम तप है; यह लोक में प्रसिद्ध है। जो इस प्रकार जानता है, वह निश्चित ही परम लोक को प्राप्त कर लेता है।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशं ब्राह्मणम् ।)

'अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृतं
प्राणारप्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति
वैप्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाम्यं भूत्वा
परमतां गच्छतस्तद्ध स्माऽऽह प्रातूदः पितरं
किञ्च स्वदेवैवं विदुषे साधु कुर्या किमेवास्मा
असाधु कुर्यामिति स ह स्माऽऽह पाणिना मा

कुछ लोग कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्राण के बिना अन्न सड़ जाता है और वह दुर्गन्ध को प्राप्त हो जाता है। ऐसे ही कुछ आचार्यों ने कहा है कि प्राण ब्रह्म है पर यह बात भी ठीक नहीं क्योंकि अन्न के बिना प्राण सूख जाता है। अतः (इनमें से एक-एक का ब्रह्मत्व सम्भव न होने के कारण) ये दोनों देव एकरूपता को प्राप्त होकर परम भाव अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है, ऐसा निश्चय कर प्रातूद नाम वाले ऋषि ने अपने पिता से कहा था। इस प्रकार जानने वाले का मैं क्या शुभ कहूँ या क्या अशुभ कहूँ? (क्योंकि उम कृत-कृत्य हुए पुरुष को शुभाशुभ कर्म से कुछ लाभ और हानि नहीं होती)। उसके पिता ने हाथ से रोकते हुए कहा—हे

लोकं जयति य एवं वेद । तथैतद्ध परमं तपो यं प्रेतमग्नावग्नादघति । अग्निप्रवेश-
सामान्यात् । परमं ह्येव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

अन्नं ब्रह्मेति । तथैतदुपासनान्तरं विधित्तन्नाह—अन्नं ब्रह्माग्नमघते यत्तद्ब्रह्मे-

ब्राह्मणान्तरं गृहीत्वा तात्पर्यमाह—अन्नमिति । यथा पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे 'कत्वदश्रहोपासन-
मृषत् तद्ब्रह्मिवाह—तथेति । एतदिति ब्रह्मविषयोक्तिः । उपास्यं ब्रह्म निर्धारयितुं विचारयति—अन्नमि-
जिस प्रकार मृतक को सब ओर में अग्नि में रखते हैं, यह भी परम तप है क्योंकि अग्नि प्रवेश से इसकी समानता है। जो इस प्रकार जानता है, वह परम लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य तेरहवें ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १३ ॥

'अन्न ब्रह्म है' इस प्रकार (मोपाधिक ब्रह्म की) उपासनान्तर विधान करने की इच्छा से श्रुति कहती है—'अन्न ब्रह्म इत्येक आहु' अर्थात् जो खाया जाया है, वह अन्न ब्रह्म है—ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं, किन्तु इसका रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिये। अन्न आचार्य कहते हैं, प्राण ही

१. यत्र पुनरन्नप्राणोपाधिकं वीरगुणकं ब्रह्मोपासनमेव विधातुं तावद्युक्तौ माह—अन्नं ब्रह्मेत्यादिना । २. एतद्वा इत्यादिकृष्टिकाश्रयेणेत्यादि ।

मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां
गच्छतीति तस्मा उ हंतद्रुवाच वीत्यन्नं वं व्यन्ते
हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वं रं
प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा,
अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य
एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य

चतुर्दशं ब्राह्मणम् ११४ ।

प्रातृद ! ऐसा न कहो, इन दोनों की एकता को प्राप्त कर किसने ब्रह्मभाव को प्राप्त किया है। इस प्रकार उक्त साधन का निषेध कर प्रातृद ऋषि से उसके पिता ने 'वि' ऐसा कहा। 'वि' यही समस्त भूतो का आश्रय होने से अन्न है क्योंकि 'वि' रूप अन्न में ही सभी प्राणी प्रविष्ट हैं। "रम्" यह प्राण है क्योंकि इस रम् में ही ये सभी भूत रमण करते हैं। इस प्रकार समस्त भूतो के आश्रयरूप अन्न को और समस्त भूतो के रमणरूप प्राण को जो जानता है, उसमें समस्त प्राणी प्रवेश करते हैं और सभी भूत रमण करते हैं (क्योंकि उपास्य के गुणानुरूप ही उपासक को फल प्राप्त होता है) ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥

त्येक आचार्या ब्राह्मस्तत्र तथा ग्रहीतव्यमन्नं ब्रह्मेति । अन्ये चाऽऽहुः प्राणो ब्रह्मेति तच्च तथा न ग्रहीतव्यम् । किमर्थं पुनरन्नं ब्रह्मेति न ग्राह्यम् । यस्मात्पूषति विलद्यते 'पूति-भावमापद्यत ऋते प्राणात्तत्कथं ब्रह्म भवितुमर्हति । ब्रह्म हि नाम तद्यद्विनाशि । अस्तु 'तहि प्राणो ब्रह्म । नवम् । यस्माच्छुष्यति वं प्राणः 'शोषमुपति ऋतेऽन्नात् । अन्ता हि प्राणः । अतोऽन्नेनाऽऽद्येन विना न शक्नोत्यात्मानं धारयितुम् । तस्माच्छुष्यति वं प्राण

त्यादिना । अन्नस्य विनाशिवेदेषि ब्रह्मत्वं किं न स्यादत ग्राह—ब्रह्म हीति । कथमन्नं विना प्राणस्य

ब्रह्म है, उसका भी उस रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिये । किन्तु 'अन्न ब्रह्म है' ऐसा ग्रहण क्यों नहीं करना चाहिये क्योंकि "पूयति" अर्थात् विवृत हो जाता है यानी जो प्राणों के विना विनाश-भाव को प्राप्त होता है, ब्रह्म कैसे हो सकता है ? ब्रह्म अविनाशी वस्तु का नाम है । (अन्न के ब्रह्मत्व संभव न होने से) प्राण ही ब्रह्म है, ऐसा मान लो । ऐसा भी कहते नहीं बनता क्योंकि "शुष्यति वं प्राणः" अर्थात् अन्न के बिना प्राण का नाश हो जाता है, प्राण ही भोजन करने वाला है । इसलिए भक्षयार्ह भोजन के बिना प्राण को धारण नहीं किया जा सकता । इसीलिए बिना अन्न के प्राण नष्ट हो जाना

१. विनश्यतीति यावत् । २. "अविनाशीति" "अन्नेनोपयति"त्यादि स्मृ१. । ३ अन्नस्य ब्रह्मत्वसंभवे ।

ऋतेऽन्नात् । अत एकैकस्य ब्रह्मता नोपपद्यते यस्मात्तस्मादेते ह त्वेवाग्रप्राणदेवते एकधा-
सूयमेकधामावं सूत्वा 'गत्वा परमतां परमत्वं गच्छतो ब्रह्मत्वं प्राप्नुतः ।

'तदेतदेवम'ध्यवस्य ह स्माऽऽह स्म प्रातृवो नाम' पितरमात्मनः किंस्विस्त्विति
वितर्कं । यथा मया ब्रह्म परिकल्पितमेवं विदुषे किंस्विताद्यु कुर्यां साधु शोभनं पूजां, कां
त्वस्मं पूजां कुर्यामित्यभिप्रायः । किमेवास्मं विदुषेऽसाधु कुर्यां कृतकृत्योऽसावित्यभिप्रायः ।
अन्नप्राणो 'सहस्रतो ब्रह्मेति विद्वान्नासावसाधुकरणेन 'खण्डितो भवति । नापि साधु-
करणेन 'महीकृतः । तमेववादिनं स पिता ह स्माऽऽह पाणिना हस्तेन निवारयन्मा प्रातृव
मेवं वोचः । कस्त्वेनयोरन्नप्राणयोरेकधामसूयं सूत्वा परमतां कस्तु गच्छति न कश्चिदपि
विद्वाननेन ब्रह्मदर्शनेन 'परमतां गच्छति । तस्मान्नेवं वधतुमर्हसि कृतकृत्योऽसाविति
यद्येवं ब्रवीतु भवान्कथं परमतां गच्छतीति । तस्मा उ हैतद्वक्ष्यमाणं वच उवाच । किं

शेषप्राप्तिस्तत्राऽऽह — अत्ता हीति । प्रत्येकं नाशित्वमत शब्दायः ।

किंस्विदित्यादिवाक्यस्यार्थं विवृणोति—अन्नप्राणाविति । कस्त्विति प्रतीकमादाय व्याकरोति
—एनयोरिति । यद्येवमुक्तरीत्या परमत्वं यदि नास्तीत्यर्थं । उत्तमसंकीर्णं गुणद्वयं सक्षिप्याऽह—सर्व-

है । इमलिये इनमे से पृथक पृथक का ब्रह्मत्व सम्भव नहीं है, ये अन्न और प्राण दोनों "एकधामसूयम्"
अर्थात् एकीभाव से 'सूत्वा' अर्थात् मिलकर 'परमता गच्छत' अर्थात् परम पद यानी ब्रह्मभाव को
प्राप्त हो जाते हैं ।

उसका(अन्नप्राणोपाधिक ब्रह्म उपास्य है) इस तरह निश्चय करके प्रातृद नामक किसी ऋषि के
पुत्र ने अपने पिता से कहा । किंस्वित् अर्थात् कौन सा—यह वितर्क के लिए है । अर्थात् मैंने जिस प्रकार
ब्रह्म की अल्पना की है उस प्रकार जानने वाले विद्वान् वा क्या तो मैं साधु कुर्याम्' अर्थात् शोभन कार्य
या पूजन करूँ "किमेवास्मा असाधु कुर्याम्' और क्या मैं ऐसे विद्वान् का अशोभन कार्य या अपूजन
करूँ । भावाशय यह है कि वह विद्वान् तो कृतकृत्य है । "अन्न और प्राण" ये मिलकर ब्रह्म हैं । इस
प्रकार जो विद्वान् जानता है, वह अशोभनीय कर्म करने से तिरस्कृत नहीं होता, न ही शोभनीय कर्म
करने से सम्माननीय होता है । इस प्रकार प्रातृद को बोलते हुए "स" अर्थात् उस के पिता "पाणिना"
अर्थात् हाथ मे मना करते हुए बोले—प्रातृद । ऐसा मत बहो । इन अन्न और प्राण को एवीभूत मिल-
कर कौन ब्रह्मत्व को प्राप्त हुआ है । कोई भी विद्वान् इस (सोपाधिक) ब्रह्म के दर्शन से ब्रह्मत्व को नहीं
प्राप्त हुआ । इमलिये इस प्रकार आप आप्रह्म नहीं कर सकते हो कि वह कृतवृत्त्य हो जाता है । यदि

- १ मिलित्वेति यावद् । २ तदेतदेवमध्यवसति—अन्नप्राणोपाधिक ब्रह्मोपास्यमित्येव निश्चित्येत्यर्थं । ३
अध्यवस्यति—अन्तर्वर्तमानं योपातोर्ध्वं क्विधानमिति भावकान्तात्करोत्यर्थं ऋषि त्वरि च प्रयोग । यद्वा
'मोत' इयनी'त्यत्र मोत इति योगो विभक्त्यर्थः । यद्वा शेषार्थं कासुधानात्स्यद् 'सदग्वादिषु पररूप वाक्य मिति
समायेयम् । ४ कश्चनपिपुत्र । ५ अशोभनमपूजात् । ६ सहस्रतो—समुदितो मिलितो । ७ स
शक्तिः तिरस्कृतः । ८ आस्त । महीकृत इति महीकृत्यापामिति ऋषिवादिप्रकृतिकमुबन्ताच्छब्दो प्रयोगः ।
९ ब्रह्मत्वम् ।

तत् ; वीति । किं तद्वीति । उच्यते—अन्नं वै वि । अन्ने हि यस्मादिमानि सर्वाणि भूतानि विष्टान्याश्रितान्यतोऽन्नं वीत्युच्यते । किञ्च रमिति । रमिति चोक्तवान्पिता । किं पुनस्तद्रम् । प्राणो वै रम् । कुत इत्याह । प्राणे हि यस्माद्बलाश्रये सति सर्वाणि भूतानि रमन्तेऽतो रं प्राणः । सर्वभूताश्रयगुरामन्नं सर्वभूतरतिगुणश्च प्राणः । न हि कश्चिदनायतनो निराश्रयो रमते । नापि सत्यप्यायतनेऽप्राणो दुर्बलो रमते । यदा त्वाय-तनवान्प्राणो बलवांश्च तदा कृतार्थमात्मानं मन्यमानो रमते लोकः । “युवा स्यात्साधु-युवाऽध्यायकः” इत्यादिश्रुतेः । इदानीमेवंविदः फलमाह—सर्वाणि ह वा अस्मि-न्भूतानि विशन्त्यन्नगुरुजानात्सर्वाणि भूतानि रमन्ते प्राणगुणज्ञानाद्य एवं वेद ॥ १ ॥ इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

भूतेति । अन्नगुणं विना प्राणगुणादेतद्विधानं सिध्यतीत्याशङ्क्याऽह—न हीति । प्राणगुणस्याप्यन्न-गुणत्वसंभवादन्नं प्राणेनेत्याशङ्क्याऽह—नापीति । गुणद्वयस्य परस्परापेक्षामनुभवानुसारेण स्फोर-यति—यदा त्विति । आयतनवती बलवतश्च कृतार्थेतेत्यत्र तत्तिरोयश्चति संवादयति—युवा स्यादिति । ‘माशिष्टो द्रष्टिष्ठो बलिपुस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वितस्य पूर्णा स्यादित्येतदादिशब्देन गृह्यते ॥ १ ॥ इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

ऐसा है तो आप बतलाइये—किस प्रकार वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है? उसके इस प्रकार पुछने पर पिता ने वक्ष्यमाण वचन कहा । क्या कहा ? ‘वि’ इस प्रकार कहा । वह ‘वि’ क्या है । इस पर कहा जाता है—अन्न ही ‘वि’ है क्योंकि सभी भूत प्राणी अन्न के ही “विष्टानि” अर्थात् आश्रित होते हैं । इसलिए अन्न को ‘वि’ कहा जाता है । (अन्न का दूसरा गुण कहते हैं । तथा “रम्” यह भी पिता ने कहा । वह ‘रम्’ क्या है । प्राण ही ‘रम्’ है । वह कैसे ? इस पर श्रुति कहती है । क्योंकि प्राण के बल के आश्रय से ही सभी भूतप्राणी रुचि के अनुसार विहार करते हैं, इसलिये रम् प्राण है । इस प्रकार अन्न समस्त भूतों के आश्रयरूप गुणवाला है और प्राण समस्त भूतों के रतिरूप गुण वाला है । संसार में कोई भी प्राणी विना आयतन या आश्रय के यथेष्ट विहार नहीं कर सकता । जब और आश्रय के होने पर भी अप्राण या दुर्बल भी यथेष्ट विहार नहीं कर सकता । जब प्राणी आश्रय युक्त और बलवान् होता है, तभी अपने को कृतार्थ मानता हुआ लोक में यथेष्ट विहार करता है । जैसा श्रुति में कहा है—युवा और यथोक्तकारी युवा तथा अधीनवेद-वेदाङ्ग वाला ही’ । अब इस प्रकार यथोक्त ब्रह्मोपासक का श्रुति फल बनलाती है—उसमें अन्नगुण का ज्ञान होने से सभी भूत उसमें प्रवेश करते हैं तथा प्राण गुण का ज्ञान होने में सम्पूर्ण प्राणी यथेष्ट विहार करते हैं, जो इस प्रकार जानता है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य चौदहव ब्राह्मण में शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १४ ॥

१. द्वितीय गुणमाह—किञ्चित् । २ यथेष्ट विहारन्ति । ३ माधुयथोक्तकारी धामो युवा । ४ अधीन-वेदवेदाङ्ग । ५. यथोक्तब्रह्मोपासकस्य । ६ भासास्तृतम माधुतमो वा । ७ वित्त । ८ बने भवेत् । ९. स्यादित्यन्नम्नर स एको मानुष पानन्द इति श्रुतिष्य । १० उच्य पितृप्रमाद ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य पञ्चदशं ब्राह्मणम् ।)

'उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदथ सर्वमुत्थापय-
त्युद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यथ

सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

"उक्थं" इस प्रकार प्राण की उपासना करे । इन्द्रियों में प्रधान होने से प्राण ही उक्थ है क्योंकि प्राण ही इन सबको उठाता है । प्राणहीन कोई भी उठ नहीं सकता । इस उपासन में प्राणवित् वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं । जो ऐसी उपासना करता है; वह प्राण के सायुज्य और सालोक्य को जीत लेता है ॥ १ ॥

उक्थं तथोपासनान्तरमुक्थं 'शस्त्रम् । तद्वि प्रधानं महाव्रते क्रनौ । किं पुनस्तदुक्थम् । प्राणो वा उक्थम् । प्राणश्च प्रधान इन्द्रियाणामुक्थं च शस्त्राणामत उक्थमित्युपासीत । 'उक्थं प्राण उक्थमित्याह—'प्राणो हि यस्मादिदं सर्वमुत्थापयति । उत्थापनादुक्थं प्राणः । न ह्यप्राणः कश्चिदुत्तिष्ठति । तदुपासनफलमाह—उद्धास्मादेवंविद उक्थवित्प्राणवि-

अथप्राणयोगुणद्वयविशिष्टयोर्मिसितयोरुपासनमुक्तमिदानीं ब्राह्मणान्तरमादाय तात्पर्यमाह—उक्थमिति । तस्यु शब्दान्तरेषु किमित्युक्थमुपास्यत्वेनोपन्यस्यते तत्राऽऽह—तद्वीति । कस्मिन्किमारोप्य कस्योपास्यत्वमिति प्रश्नद्वारा विवृणोति—किं पुनरिति । तस्मिन्नुक्थदृष्टौ हेतुमाह—प्राणश्चेति । तस्मिन्नुक्थशब्दस्य 'समवेतार्थत्व प्रश्नपूर्वकमाह—कथमित्यादिना । उत्थानस्य 'स्वतोऽपि संभवात् प्राणकृतत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । उक्थस्य प्राणस्येति"द्विज्ञानतारतम्यमपेक्ष्य सायुज्यं सालोक्यं

इसी ब्रह्म की पुन उक्थादिगुण-विशिष्टता कही जाती है । प्रगीत मन्त्र के साध्य गुणों निष्ठ गुणाभिधान स्तोत्र उक्थ है । वही महाव्रत क्रतु में प्रधान होता है । वह उक्थ क्या है ? प्राण ही उक्थ है । प्राण इन्द्रियों में प्रधान है, और उक्थ स्तोत्रों में प्रधान है । इसलिए प्राण उक्थ है । इस प्रकार प्राण की उपासना करे । वह प्राण उक्थ किस प्रकार है—इस पर कहा जाता है क्योंकि प्राण होने पर इस सम्पूर्ण जगत् को कर्म द्वारा उत्पन्न करता है । उत्पादन करने में उक्थ प्राण है । कोई भी बिना प्राण के उठ नहीं सकता । उस उक्थ गुण-विशिष्ट प्राण ब्रह्म की उपासना का फल

- १ अर्थैव ब्रह्मण पुनरुक्थादिगुणविशिष्टत्वेनोपासनमुच्यते—उक्थमित्यादिना । २. अस्त्रमिति—प्रगीत-मन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधान स्तोत्रम् । ३. उपासीतेत्यनन्तर प्राणमिति शेष । ४. कथमिति—उक्थ शस्त्र तस्य प्राणत्वम-प्रसिद्धमित्यभिप्रायः । ५. प्राणो हीति—प्राणे सति जीव इति यावत् । ६. जगत् उत्पादयति कर्मभिः । ७. तदित्यदि—तस्म उक्थगुणविशिष्टप्राणब्रह्मण उपासनस्य फल दृष्टादृष्टरूपम् । ८. अन्वर्थत्वम् । ९. प्राण विनापि । १०. विज्ञानतारतम्येति—विज्ञाने तारतम्ये त्वावरनेरन्तर्यामि साद्गुण्येनोपास्याया प्रयत्न-वाद्यर्थं शैथिल्याम्ना येति ध्येयम् ।

'यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि
युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रंष्ठचाय
यजुषः सायुज्य^१ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ २ ॥

“यजुः” इस प्रकार प्राण की उपासना करे । प्राण के रहने पर ही किसी से योग हो सकता है । अतः प्राण ही यजु है क्योंकि प्राण में ही इन सब भूतों का योग होता है । सभी भूत इसकी श्रेष्ठता के कारण श्रेष्ठ भाव से युक्त होते हैं । जो इस प्रकार उपासना करता है, वह यजु रूप प्राण के सायुज्य एव सलोक्य को जीत लेता है ॥ २ ॥

वीरः पुत्र उत्तिष्ठति ह दृष्टमेतःफलमदृष्टं तूक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

यजुरिति चोपासीत प्राणम् । प्राणो वै यजुः । कथं यजुः प्राणः । प्राणे हि यस्मात्सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते । न ह्यसति प्राणे केनचित्कस्यचिद्योगसामर्थ्यम् । अतो युनक्तोति प्राणो यजुः । एवंविदः फलमाह—युज्यन्त उद्यच्छन्त इत्यर्थः । हास्मा एवंविदे सर्वाणि भूतानि श्रंष्ठय श्रेष्ठभावस्तस्मै श्रंष्ठचाय श्रेष्ठभावावाप्यं नः श्रेष्ठो भवेदिति । यजुषः प्राणस्य सायुज्यमित्यादि सर्वं समानम् ॥ २ ॥

घ व्याहयेयम् ॥ १ ॥

यजु शब्दस्यान्वय^१ वृहत्वाद्युपसृतं प्राणविषयत्वमिति शङ्कित्वा परिहरति—कथमित्यादिना । असत्यपि प्राणे योगः संभवतोत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । प्रकरणात्पुत्रोत्पत्तिप्राणशब्दश्रुत्या यजु शब्दस्य रुडि त्यक्त्वा योगोऽङ्गी क्रियत इत्याह—अत इति ॥ २ ॥

बतलाया जाता है—“य एव वेद” यानी इस प्रकार के ज्ञाता को “उर्वयवित्” अर्थात् प्राणवित् ‘वीरः’ अर्थात् वीर पुत्र उत्पन्न होता है, यह दृष्ट फल है और अदृष्ट फल यह है कि वह उक्त प्राण की सायुक्ति और सलोकता को प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

यजुःरूप से प्राण की उपासना करे । प्राण ही यजु है । प्राण यजु किस प्रकार है ? क्योंकि प्राण के रहने पर ही समस्त भूत प्राणी एक दूसरे से संयुक्त रहते हैं । प्राण के न रहने पर किसी का किसी से संयुक्त रहने का सामर्थ्य नहीं रहता । (यजु का रुडि अर्थ परित्याग करके) युक्त करता है, इसलिए प्राण यजु है । इस प्रकार जानने वाले का फल कहा जाता है । इस प्रकार के ज्ञाता या उपासक से सभी भूतप्राणी “श्रेष्ठचाय” अर्थात् श्रेष्ठभाव के लिए अर्थात् यह हम में श्रेष्ठ हो, इस निमित्त से “युज्यन्ते” अर्थात् परस्पर सहज होते रहते हैं । तथा यह यजु रूप प्राण का सायुज्य लाभ करता है ।

१. अथ यजुष्वगुणविशिष्ट प्राणब्रह्मोपासन विषये—यजुरित्यादिना । २. अति । ३. मिय. उह्यन्ते ।
४. अतः अतिप्रकरणात्सां यजु शब्दे रुडिपर्यपरित्यागात् । ५. एवंविदं यजुर्गुणविशिष्ट प्राण इत्यस्येवोपा-
सीनस्य । ६. वेदभेदे । ७. उपरतिप्रकरणेति यावत् ।

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि
सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रंष्ठचाय
कल्पन्ते साम्नः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं
वेद ॥ ३ ॥

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं प्रायते ह्येनं
प्राणः क्षणितोः 'प्र क्षत्रमघ्रमाप्नोति क्षत्रस्य
सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य

पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥

'साम' इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही साम है क्योंकि प्राण मे ही सम्पूर्ण
भूत मुसङ्गत होते हैं। समस्त प्राणी उसके लिये सङ्गत होते हैं और उसकी श्रेष्ठता के लिए समर्थ
होते हैं। जो इस प्रकार प्राण की उपासना करते हैं, वे साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होते
हैं ॥ ३ ॥

प्राण ही 'क्षत्र' है। इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही क्षत्र है, यह प्रसिद्ध है
क्योंकि इस शरीर की शक्वादि-जनित पीडा से रक्षा प्राण ही करता है। अन्य किसी से प्राण न पाने
वाले क्षत्र को प्राप्त करते हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह क्षत्र के सायुज्य और सालोक्य को जीत
लेता है ॥ ४ ॥

॥ इति पञ्चदश ब्राह्मणम् ॥

सामेति चोपासते प्राणम् । प्राणो वै साम । कथं प्राणः साम । प्राणो हि यस्मा-
त्सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि संगच्छन्ते संगमनात्साम्यापत्तिहेतुत्वात्साम प्राणः । सम्यञ्चि
संगच्छन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि । न केवलं संगच्छन्त एव श्रेष्ठमावाय चास्मै कल्पन्ते
'समर्थन्ते । साम्नः सायुज्यमित्यादि पूर्ववत् ॥ ३ ॥

तं प्राणं क्षत्रमित्युपासते । प्राणो वै क्षत्रं प्रतिदमेतत्प्राणो हि वै क्षत्रम् ।

संगमनादित्येतदेव व्याचष्टे—साम्नेति ॥ ३ ॥

शेष व्याख्या पूर्वमन्त्र के समान है ॥ २ ॥

क्योंकि प्राण ही साम है, इसलिये प्राण की 'साम' इस रूप से उपासना करे। प्राण के
होने पर ही सभी भूतप्राणी "सम्यञ्चि" अर्थात् सङ्गत जाते हैं। सङ्गमन अथवा साम्यप्राप्ति हेतु होने
से साम ही प्राण है। इसके होने पर ही सभी प्राणी "सम्यञ्चि" से अर्थात् साम्य प्राप्त करते हैं। केवल

१. प्रोपसर्गं प्राप्नोतिद्वियान्द्वी नोदभ्यः । २ यत् प्राण एव सामातः प्राण सामेत्युपासीतेत्यर्थः । ३
समर्थन्त इति करोत्यर्थकणिजन्तात् नमं कर्तरि प्रत्ययः । ४ यत् ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य षोडशं ब्राह्मणम् ।)

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं
गायत्र्यं पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु

भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौः, इस प्रकार ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का पहला पाद भी आठ अक्षर वाला ही प्रसिद्ध है ("द्यौः" के यकार से ही आठ संख्या की पूर्ति होती है)। यह भूमि आदि ही इस गायत्री का प्रथम पाद है। जो त्रैलोक्यात्मक रूप है, इस प्रकार इस गायत्री के

कथं प्रसिद्धतेत्याह—त्रायते पालयत्येनं पिण्डं देहं प्राणः क्षणितोः शस्त्रादिहिंसितात्पुन-
र्मासेनाऽऽपूरयति यस्मात्तस्मात्क्षतत्राणात्प्रसिद्धं क्षत्रत्वं प्राणस्य । विद्वत्फलमाह—प्र
क्षत्रमन्नं न त्रायतेऽन्येन केनचिदित्यन्नं क्षत्रं प्राणस्तमन्नं क्षत्रं प्राणं प्राप्नोतीत्यर्थः ।
शाखान्तरे वा पाठात्क्षत्रमात्रं प्राप्नोति प्राणो भवतीत्यर्थः । क्षत्रस्य सायुज्यं सलोकतां
जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य षोडशं ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥
ब्रह्मणो हृदयाद्यनेकोपाधिविशिष्टस्योपासनमुक्तमथेदानीं गायत्र्युपाधिविशिष्ट-

शाखान्तरशब्देन माध्यंदिनशाखीच्यते ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां पञ्चमाध्यायस्य षोडशं ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥

वृत्तमनूद्य गायत्रीब्राह्मणस्य तात्पर्यमाह—ब्रह्मण इत्यादिना । छन्दोन्तरेष्वपि विद्यमानेषु

साम्य प्राप्ति ही नहीं करते; बल्कि इसमें श्रेष्ठ भाव के लिए "कल्पन्ते" अर्थात् समर्थ होते हैं। साम के सायुज्य को प्राप्त होता है—ऐसा इसके फल की पूर्ववत् व्याख्या समझनी चाहिये ॥ ३ ॥

क्योंकि "प्राणो वै क्षत्रम्" अर्थात् यह प्राण ही प्रसिद्ध क्षत्र है; इसलिए उसकी "क्षत्र" इस रूप से उपासना करनी चाहिये। यह प्रसिद्धि क्यों है? इसे श्रुति बतलाती है—"एनम्" अर्थात् इस पिण्ड देह को प्राण, "क्षणितः त्रायते" अर्थात् यस्मादि की हिंसा से रक्षा करता है, पुनः उसे मांस से भर देता है, इसलिये चोट से बचाने के कारण प्राण का क्षत्रत्व लोकप्रसिद्ध है। इस प्रकार उपासना करने वाले का फल श्रुति कहती है। "प्र क्षत्रमन्नमाप्नोति" अर्थात् इससे रक्षा न होने वाले उन्न अन्न-क्षत्र रूप प्राण को प्राप्त कर लेता है। पाठान्तरशाखा उपलब्ध होने से क्षत्र मात्र को प्राप्त होता है अर्थात् प्राण हो जाता है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह क्षेत्र के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य पंद्रहवें ब्राह्मण के पाठानुसार पञ्चमाध्यायस्य षोडशं ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥

हृदय आदि अनेक उपाधियों से विशिष्ट सोपाधिक ब्रह्म की उपासना बतलायी गयी। अथ

१. हृदयादीत्यादिना सत्यमनोविषुद्धान्धेनुकीर्त्याग्निचिरामिति गुणद्वयविशिष्टात्रप्राणोत्तर्यादिगुणगुणविशिष्ट-
प्राणा य ॥ १ ॥

लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥

इस त्रैलोक्य रूप पाद को जानता है; वह उस सभी को जीत लेता है, जो इस त्रिलोक में जितना भी है ॥ १ ॥

स्योपासनं वक्तव्यमित्यारभ्यते^१ । सर्वच्छन्दसां हि गायत्रीछन्दः प्रधानभूतम् । तत्प्रयोवत्-
'गयत्राणाद्गायत्रीति हि वक्ष्यति'^२ । न चान्येषां छन्दसां तत्प्रयोवत्प्राणत्राणसामर्थ्यम् ।
'प्राणात्मभूता च सा सर्वच्छन्दसां चाऽऽत्मा प्राणः । प्राणश्च क्षतत्राणात्क्षत्रमित्युक्तम् ।
प्राणश्च गायत्री । तस्मात्तदुपासनमेव विधित्स्यते । द्विजोत्तमजन्महेतुत्वाच्च । गायत्र्या
ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वंश्यमिति^३ द्विजोत्तमस्य द्वितीयं जन्म गायत्री-
निमित्तम् । तस्मात्प्रधाना गायत्री । ब्राह्मणा व्युत्पाय, ब्राह्मणा अभिवदन्ति, 'स
ब्राह्मणो, 'विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवतीत्युत्तमपुरुषायंसंघं ब्राह्मणस्य

किमिति गायत्र्युपाधिकमेव ब्रह्मोपास्यमित्येते तत्राऽऽह—सर्वच्छन्दसामिति । तत्प्राधान्ये हेतुमाह
—तत्प्रयोकिनिति । तुल्यं प्रयोवत्प्राणत्राणसामर्थ्यं छन्दोतराणामपीति चेन्नेत्याह—न चेति । "प्रमाणा-
भावादिति भावः । किञ्च "प्राणात्मभावो गायत्र्या विवक्ष्यते प्राणश्च सर्वेषां छन्दसां निर्वर्तकत्वादात्मा
"तथा च सर्वच्छन्दोभ्यापकगायत्र्युपाधिकब्रह्मोपासनमेवात्र विवक्षितमित्याह—प्राणात्मेति । तदात्मभूता
गायत्रीत्युक्तं व्यक्ती करोति—प्राणश्चेति । तत्प्रयोवत्प्राणत्राणाद्वि गायत्री । प्राणश्च वागादीनां प्राता ।
"ततश्चकलक्षणत्वात्तयोस्तादात्म्यमित्यर्थः । प्राणगायत्र्योस्तादात्म्ये फलितमाह—तस्मादिति । गायत्री-
प्राधान्ये हेत्वन्तरमाह—द्विजोत्तमेति । "तथैव स्फुटयति—गायत्र्येति । तत्प्राधान्ये हेत्वन्तरमाह

भागे गायत्री आदि उपाधिविशिष्ट ब्रह्म की उपासना बतलानी है, इसलिए इस ब्राह्मण का प्रारम्भ
किया जाता है—सब छन्दों में प्रधानभूत छन्द गायत्री ही है । प्रयोक्ताओं के प्राणों की रक्षा करने के
कारण वह गायत्री है—यह निर्वचन भागे किया जायगा । अन्य छन्दों में उसके प्रयोक्ता के प्राणों की
रक्षा करने की सामर्थ्य नहीं है । वह प्राण से तादात्म्यापन्न है और प्राण सब छन्दों की आत्मा है ।
तथा चोट से रक्षा करने के कारण क्षण प्राण है, ऐसा कहा जा चुका है । प्राण ही गायत्री है । इसलिए
गायत्र्युपाधिक ब्रह्मोपासना का विधान करना इष्ट है । तथा विप्रजन्म के हेतु होने से भी उसका विधान
करना इष्ट है । 'गायत्री से ब्राह्मण, त्रिष्टुप् से क्षत्रिय और जगती से वैश्य की रचना की' ऐसी श्रुति
है । इससे विप्र का द्वितीय जन्म गायत्री के कारण है । विप्र के जन्म में हेतु होने से गायत्री प्रधान है ।

१. ब्राह्मणम् । २. गयत्राणां प्रयोक्ताः । ३. वृ उ ५. १६ ४ । ४. प्राणतादात्म्यापन्नाः । ५. सर्वच्छन्दोभ्यापकगायत्र्युपाधिकब्रह्मोपासनमित्यर्थः । ६. श्रुतेः । ७. विप्रजन्महेतुत्वात् । ८. वृ. उ. ३. ५ १ । ९. वृ. उ. ३. ८ ८ । १०. वृ. उ. २. ५ १ । ११. वृ. उ. ४. ४. २३ । १२. प्रमाणा-
भावादिति—गायत्र्यास्तु गयत्राणसामर्थ्यं श्रुतिरेव वक्ष्यतीति भावः । १३. प्राणतादात्म्यम् । १४. प्राणतादात्म्येन गायत्र्या सर्वच्छन्दमागतत्वे च । १५. ततश्च—उक्तीत्वोभयोस्त्रादृत्वात् । १६. तदेतद्वचनेव ।

दर्शयति' । 'तच्च ब्राह्मणत्वं' गायत्रीजन्ममूलमतो' वक्तव्यं गायत्र्याः 'सत्स्वम् । गायत्र्या
हि यः सृष्टो द्विजोत्तमो' 'निरङ्कुश एवोत्तमपुरुषार्थसाधनेऽधिक्रियतेऽतस्तन्मूलः परम-
पुरुषार्थसंबन्धः । तस्मात्तदुपासनविधानायाऽऽह—भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्येतान्यष्टावक्ष-
राणि । अष्टाक्षरमष्टावक्षराणि यस्य तविदमष्टाक्षरम् । ह वै प्रसिद्धावद्योतकी । एकं
प्रथमं गायत्र्यै गायत्र्याः 'भृपदम् । 'यकारेणैवाष्टवपूरणम् । एतद्दु हैचैतदेवास्या गायत्र्याः

—ब्राह्मणा इति । कथमेतावता" गायत्रीप्राधान्यं तत्राऽऽह—तच्चेति । अतो वक्तव्यमित्यत्रात् शब्दार्थ-
माह—गायत्र्या हीति । अधिकारित्व"कृतं कार्यमाह—अत इति । तच्छब्दो गायत्रीविषयः । गाय-
"वैशिष्ट्यं परामृश्य फलितमुपसंहरति—तस्मादिति । गायत्रीप्रथमपादस्य सप्ताक्षरत्वं प्रतीयते न त्वष्टा-
क्षरत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यकारेणेति । गायत्रीप्रथमपादस्य त्रैलोक्यनाम्नश्च सत्यासामान्यप्रयुक्तं
कार्यमाह—एतदिति । गायत्रीप्रथमपादे त्रैलोक्यदृष्टाचारोपस्य प्रयोजन दर्शयति—एवमिति । प्रथमपाद-

'ब्राह्मण (पुत्र, वित्त और लोकपणा से) पारिव्राज्य को प्राप्त कर (श्रवणादिशेष-काल देहस्थिति के लिए
भिक्षाटन करते हैं)', 'उस ब्रह्मवेत्ता को ब्राह्मण अभिवादन करते हैं', 'वह ब्राह्मण कृतवृत्त्य हो जाता
है', 'इस प्रकार जानने वाला धर्म और अधर्म से भ्रवीत, वामरहित, निःसहाय, मैं ही सर्वोत्तम पर-
ब्रह्म है—इस प्रकार निश्चितमति वाला ब्राह्मण हो जाता है' इस प्रकार उपरोक्त सभी श्रुतियाँ
ब्राह्मण का उत्तम पुरुषार्थ से संबन्ध दिखाती हैं । इसलिये गायत्री का विशिष्ट स्वरूप बतलाना
चाहिये । गायत्री के द्वारा जिस विप्र को बनाया गया है, वह अप्रतिबद्ध है । उसका उत्तम पुरुषार्थ
साधन में अधिकार है । इसलिये परम पुरुषार्थ का संबन्ध गायत्री से ही है । इसलिए गायत्री-उपाधि-
विशिष्ट ब्रह्म की उपासना के लिए श्रुति कहती है—भूमि, अन्तरिक्ष और ध्रुलोक इनम वर्ण विदलेप
से षाठ अक्षर हैं । "अष्टाक्षरम्" यानी जिसके षाठ अक्षर हो, उसे षष्टाक्षर कहा जाता है । 'ह' और
'वै' प्रसिद्धिद्योतक अव्यय हैं । 'एकम्' अर्थात् प्रथम पाद 'गायत्र्यै' अर्थात् गायत्री के षाठ अक्षर हैं ।
'ओ' इसके यकार को ग्रहण करने से षाठ अक्षरों की संख्या पूरी होती है । यही इस गायत्री का

१. श्रुति । २. उत्तमपुरुषसंबन्ध । ३. गायत्र्याऽऽमृतु सत्तासाद्यद्वितीय जन्म तन्मूलकम् । ४. द्विजोत्तम-
जन्महेतुत्वाद् । ५. विशिष्ट स्वरूपम् । ६. स । ७. अप्रतिबद्ध । ८. गायत्र्युपाधिकब्रह्मोपासन
विधानायाः । ९. षष्टावक्षराणीति—त्रैलोक्यनामाचारणिय मष्टी द्यौरित्यत्र वर्णविषयेवेणाष्टवमित्याहुः ।
विसर्गस्यादारत्वे तेनैव षाष्टवमिति ध्येयम् । १०. पादः । ११. यकारेणैवेति—तथा च 'इवादिपूरण'
(पिङ्ग. सू. ३।२६) इति । इय च सत्काररत्नमालाभ्याभ्यामन हलामुधेनोद्धतम् । तथाहि—'श्रुतिविरयत्तार
तु गायत्री प्रजपन् हृदि । सर्वान् वर्णानिभिव्यायेहेवतामर्षमव च" ॥ इति श्रुतेः । अक्षरस्य स्वरूपे वर्तते ।
तत्र यकार स्वरारम्भोविगातिरेव गायत्रीमन्त्रे वर्तन्ते तथापि स्वमित्यत्र भावनया गियमिति स्वरूपम ज्ञेयम् ।
उक्त च पिङ्गलेन—'इवादिपूरण' इति पाद इत्यनुवर्तते इवादि पूरणो यस्य स इवादिपूरणः । प्रादिबन्धेनो
बादयो ह्यस्यते । तत्रायमर्षं यत्र भावत्र्यादो सन्धसि पादस्याक्षरमस्या न पूर्वते तन्नेवादिभिः सा पूरयितव्याः ।
यथा "उत्सविदुर्बरेणियम्" 'दिव गच्छ सुक पतेये' 'वमादव इति । १२. उत्तमपुरुषार्थसंबन्धप्रदर्शनं
नाशेषः । १३. प्रयुक्तम् । १४. श्रुत्यम् ।

ऋचो यजूषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह व
एक गायत्र्यं पदमेतदु हंवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी
विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद । २ ॥

ऋच, यजूषि और सामानि ये त्रयीविद्या के आठ अक्षर हैं। आठ अक्षर वाली ही गायत्री का दूसरा पाद प्रसिद्ध है। सख्या की समानता होने के कारण यह ऋगादि ही इस गायत्री का दूसरा पाद है। इस प्रकार इस गायत्री के इस त्रयीविद्या रूप द्वितीय पाद को जो जानता है, वह उन सभी को जीत लेता है, जितनी यह त्रयीविद्या है अर्थात् त्रयीविद्या से जितना फल प्राप्त किया जा सकता है ॥ २ ॥

पद पादः प्रथमो भूम्यादिलक्षण त्रैलोक्यात्मा । अष्टाक्षरत्वसामान्यात् । एवमेतन्नैलो-
क्यात्मक गायत्र्या । प्रथम पद यो वेद तस्यैतत्फलम्—स विद्वान्यावत्कच्चिदेषु त्रिषु
लोकेषु जेतव्य तावत्सर्वं ह जयति योऽस्या एतदेव पद वेद ॥ १ ॥ ।

तथर्चो यजूषि सामानीति त्रयीविद्यानामाक्षराण्येतान्यष्टाष्टावेव तथैवाष्टाक्षरं ह
वा एक गायत्र्यं पद द्वितीयमेतदु हंवास्या 'एतद्व्यजुःसामलक्षणमष्टाक्षरत्वसामान्या-
वेव । स यावतीय त्रयी विद्या त्रय्या विद्यया यावत्फलजातमाप्यते तावद्ध जयति योऽस्या

ज्ञाने विराडात्मकत्व फलतोऽयं ॥ १ ॥

प्रथमे पादे त्रैलोक्यदृष्टिबद्धद्वितीये पादे कर्तव्या त्रैविद्यादृष्टिरित्याह—तथेति । दृष्टिविध्युप-
योगित्वेन सह्यासामान्य कथयति—ऋच इति । सख्यासामान्यफलमाह—एतदिति । 'विद्याफले
वशंयति—स यावतीति ॥ २ ॥

भूमि आदि लक्षण विराडात्मा त्रैलोक्य प्रथम पाद है क्योंकि आठ अक्षर होने में इसकी सरूपता है । इस प्रकार गायत्री के त्रैलोक्यात्मक स्वरूप प्रथम पाद को जो जानता है उसका यह फल है । जो इस प्रकार इसके इस पाद की उपासना करता है, इस त्रिलोकी में जितना जेतव्य (भोगसाधन) है, उस सब को प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

“ऋच, यजूषि, सामानि” ये त्रयी विद्या के अक्षर हैं, ये भी (वर्णविस्लेप से) आठ अक्षर हैं । जिस प्रकार गायत्री का प्रथम पाद अष्टाक्षर है, इसी प्रकार यह दूसरा पाद है । अष्टाक्षर सरूपता होने से इस ऋग्यजु सामलक्षण द्वितीय पाद की त्रैविद्या की दृष्टि से उपासना करे । जो इस गायत्री के

- १ त्रैलोक्यात्मेति—गायत्र्या प्रथम पाद विराडात्मकत्रैलोक्यदृष्ट्योपासीतेति भाव । २ भोगसाधनम् ।
- ३ द्वितीय पदमेव । ४ त्रैविद्यादृष्ट्योपासीतेति यावत् । ५ विराडात्मभावप्राप्ति फल प्रथमपादोपासन-
स्येति यावत् । षष्ठ व भूम्याद्युक्तः पाऽपेयस्य रूपराशिर्गायत्रीप्रथमपादात्मनोपसंहृत इति विवक्षितोऽयम् । ६
विद्याफलमिति—गायत्रीद्वितीयपादस्य त्रय्यात्मनोपासनस्य फलमित्यर्थे ।

‘प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह
वा एकं गायत्र्यै पदमेतद्गु ह्रंवास्या एतत्स यावदिदं
प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेव पदं वेदाथास्या
एतदेव तुरीय दशंत पदं परोरजा य एष तपति यद्

प्राण, अपान और व्यान, ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का तृतीय पाद भी आठ अक्षर वाला है। यह प्राण आदि ही सख्या में समानता होने के कारण इस गायत्री का तृतीय पाद है। इस प्रकार गायत्री के इस तृतीय पाद को जो जानता है, वह उस सभी को प्राप्त कर लेता है, जितना यह प्राणी समूह है और जो यह प्रकाशित होता है, वही इसका (प्राण बतलाया जाने वाला) तुरीय दशंत एव परोरजा पद है। जो चतुर्थ होता है, उसी को तुरीय कहते हैं। “दशंत पदम्” इसका अर्थ यह है कि

एतद्गायत्र्यास्त्रैर्विद्यलक्षणं पदं वेद ॥ २ ॥

तथा प्राणोऽपानो व्यान एतान्यपि प्राणाद्यभिधानाक्षराण्यष्टौ । तच्च गायत्र्या-
स्तृतीयं पदं यावदिदं प्राणिजातं तावद्ध जयति योऽस्या एतदेव गायत्र्यास्तृतीयं पदं वेद ।
अथानन्तरं गायत्र्यास्त्रिपदायाः शब्दात्मिकायास्तुरीयं पदमुच्यतेऽभिधेयभूतमरयाः
प्रकृताया गायत्र्या एतदेव वक्ष्यमाणं तुरीयं दशंतं पदं परोरजा य एष तपति । तुरीय-
मित्याविवाक्यपदार्थं स्वयमेव व्याचष्टे श्रुतिः—यद् चतुर्थं प्रसिद्धं लोके तद्विह तुरीय-

प्रथमद्वितीयपादयोस्त्रैर्विद्यलक्षणं त्रिपदास्तृतीये पादे प्राणादिदृष्टि कर्तव्येत्याह—तपेति ।
ननु त्रिपदा गायत्री व्याख्याता चेत्किमुत्तरग्रन्थेनेत्याशङ्क्याऽह—प्रथेति । शब्दात्मकगायत्रीप्रकरण
विच्छेदाद्योऽयंशब्द । यद् चतुर्थमित्यादिप्रत्यय पूर्वणं पौनरुक्त्यमाशङ्क्याऽह—तुरीयमिति । इहेति
प्रकृतवाक्योक्तिः । योगिभिर्दृश्यत इवेति लक्ष्यते न तु मुख्यमीश्वरस्य दृश्यत्वमतीन्द्रियत्वादित्याह

त्रैर्विद्यलक्षणं पाद को जानता है, “स यावतीयं त्रयीं विद्या” अर्थात् वह जितना त्रयी विद्या द्वारा फलसमूह प्राप्त किया जा सकता है, उसे प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

तथा प्राण, अपान और व्यान—ये प्राणादि के नाम भी आठ अक्षर वाले हैं। यह गायत्री का तृतीय पाद है। जो इस प्रकार के, गायत्री के तृतीय पाद को जानता है, वह यह जितना भी जगत् है, सभी को प्राप्त कर लेता है। (शब्दात्मक गायत्री कथन के अनन्तर) अब इसके पश्चात् शब्दात्मक त्रिपदा गायत्री का अभिधेयभूत चतुर्थ पाद कहा जाता है। प्रसङ्गप्रति उसी इस गायत्री का, जो तपता है, वक्ष्यमाण तुरीय पाद ‘दशंतं परोरजा’ है। ‘तुरीय’ इस वाक्य के पदार्थ वा श्रुति स्वयं व्याख्यान करती है। जो लोकव्यवहार में चतुर्थ शब्द से प्रसिद्ध है, उसी का यहाँ तुरीय कहा जाता

१. तृतीयपादश्लोकरूपनामात्मकोभयविषयबगद्विधारकप्राणाद्यात्मत्वमाह—प्राण इत्यादिना । २. यत्रापि श्रुत्याद्युक्त्याऽप्येव नामराशिर्गायत्रीद्वितीयपादरूपणीवसह इति विवक्षितोऽर्थः । ३. यद्विहितं—यत्रापि प्राणाद्युक्त्याशेषकमंराशिर्गायत्रीद्वितीयपादात्मनोपसह इति विवक्षितोऽर्थः । ४. यत्रापि—यत्रप्रत्ययकपायत्री-कथनानन्तरमित्यर्थः ।

चतुर्थं तत्तुरीयं दशतं पदमिति ददृश इव ह्येष
 परोरजा इति सर्वम् ह्येवैव रज उपर्युपरि तपत्येवथ
 ह्येव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं
 वेद ॥ ३ ॥

मानो यह आदित्य मण्डलान्तर्गत पुरुष दीक्षता है। इसीलिये इसे दशतं पद कहते हैं। 'परोरजा' इस पद का अर्थ यह है, यह सभी रज (लोकों) के ऊपर-ऊपर आधिपत्य स्थापित कर प्रकाशित होता है (सभी लोक पर आधिपत्य दिखलाने के लिये ही इस मन्त्र में "उपरि उपरि" ऐसा दो बार कहा हुआ है)। जो गायत्री के इस चतुर्थ पद को इस प्रकार जानता है, वह उसी प्रकार शोभा और कीर्ति से प्रकाशित होता है जैसा कि यह आदित्य सर्वाधिपत्य रूप शोभा और कीर्ति से तप रहा है ॥ ३ ॥

शब्देनाभिधीयते । दशतं पदमित्यस्य कोऽर्थं इत्युच्यते—दृश इव दृश्यत इव ह्येष
 मण्डलान्तर्गतः पुरुषोऽतो दशतं पदमित्युच्यते । परोरजा इत्यस्य पदस्य कोऽर्थं इत्यु-
 च्यते—सर्वं समस्तमु ह्येवैव मण्डलस्यः पुरुषो रजो रजोजातं समस्तं लोकमित्यर्थः ।
 उपर्युपर्याधिपत्यभावेन सर्वं लोकं रजोजातं तपति । उच्युंपरीति योप्सा सर्वलोकधिपत्य-
 स्थापनार्था । ननु सर्वशब्देनैव सिद्धत्वाद्दीप्साऽनयिका । नैव दोषः । येषामुपरिष्ठात्स-
 विता दृश्यते तद्विषय एव सर्वशब्दः स्यादित्याशङ्कानिबृत्पर्या योप्सा । "ये चामुष्मात्प-

—दृश्यत इवेति । 'लोका रजांस्युच्यन्ते' इति श्रुत्यन्तरमाधित्याऽऽह—समस्तमिति । आधिपत्यभावे-
 नेति कथं व्याख्यानमित्याशङ्क्याऽऽह—उपर्युपरीति । योप्सामाक्षिपति—नन्विति । सर्वं रजस्तप-
 तीत्येतावन्तं सर्वधिपत्यस्य सिद्धत्वाद्बृहपर्या वीप्सेति चोद्यं ब्रूयति—नैव दोष इति । येषां लोकाना-
 मिति यावत् । मण्डलपुरुषस्य निरदकुशमाधिपत्यमित्यत्र च्छान्दोग्यधुतिमनुकूलयति—ये चेति ।

है। 'दशतं' इस पद का क्या अर्थ है, इस पर श्रुति कहती है। "स ह्येव" अर्थात् वह मण्डल के अन्तर्गत पुरुष "दृश इव" यानी दीक्षता हुआ सा है, इसलिए "दशतं पदम्" ऐसा कहा जाता है। "परोरजा" इस पद का क्या अर्थ है, इस पर श्रुति कहती है—'एवः' अर्थात् यह मण्डलान्तर्गत पुरुष "सर्वम् ह्येव रजः" अर्थात् समस्त रजोजात लोक को ऊपर-ऊपर आधिपत्य रूप से, समस्त रजोसमूह लोक को प्रकाशित करता है। "उपरि उपरि" पदों में द्वित्व सर्वलोकों में आधिपत्य स्थापन करने के लिए है। (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु अभिलषित सर्वाधिपत्य तो सर्वशब्द से ही सिद्ध हो जाता है। इसलिए 'उपरि उपरि' यह द्वित्व प्रयोग अनर्थक है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है। जिनके ऊपर आदित्य दीक्षता है, सर्वशब्द उन्हीं के अर्थ में होगा, इस धाराशुक्ला की निवृत्ति के लिए द्विरुक्ति की गयी है। इसीका अन्य श्रुति प्रतिपादन

१. तपत्यति प्रकाशयति च । २. अभिलषितसर्वाधिपत्यस्य । ३. श्रु. उ १. ६. ८ । ४. उच्यन्त इति—"स इमांल्लोकान् विभक्त्येऽथो देवानथो वाचमिति" धृतिशेषः । ५. सर्वपदसामध्यदिव ।

संवा गायत्र्येतस्मिंस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि
प्रतिष्ठिता यद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं च क्षुर्वं सत्यं चर्क्षुर्ह
वै सत्यं तस्माद्यद्विदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्श-

पूर्वोक्त तीन पदो वालो वह यह गायत्री इस चतुर्थं दर्शते परोरजा पद मे, प्रतिष्ठित है । वह तुरीय पद सत्य मे प्रतिष्ठित है । नेत्र ही सत्य है, नेत्र ही सत्य है (बधोकि विवाद करने वाले की सत्यता नेत्र से देखने पर ही सिद्ध होती है) यह प्रसिद्ध है । इसीलिये यदि दो पुरुष 'मैंने देखा है, मैंने सुना है' इस प्रकार विवाद करते हुए घावे तो उनमे से 'मैंने देखा है' ऐसा जो कहता है, उसी के प्रति हम

राज्ज्वो लोकास्तेषा चेष्टे देवकामाना च" इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मात्सर्वावरोधार्था
वोप्सा । यथाऽसौ सविता सर्वाधिपत्यलक्षणया श्रिया यज्ञसा च ख्यात्या तपत्येव हैव
'श्रिया यज्ञसा च तपति योऽस्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं वेद ॥ ३ ॥
संवा त्रिपदोक्ता या त्रैलोक्यत्रैविद्यप्राणादिलक्षणा गायत्र्येतस्मिंश्चतुर्थं तुरीये दर्शते
पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता । मूर्तामूर्तरसत्वादादित्यस्य । रसापाये हि वस्तु नीरसम-

वोप्सायं वस्वमुपसहरति—तस्मादिति । चतुर्थं वाऽज्ञानस्य फलवत्त्व कथयति—यथेति ॥ ३ ॥
"अभिधानाभिधेयात्मिकां गायत्रीं ख्यालयायाभिधानस्याभिधेयतन्त्रत्वमाह—संयेति ।
आदित्ये प्रतिष्ठिता मूर्तामूर्तात्मिका गायत्रीत्यत्र हेतुमाह—मूर्तेति । भवतु मूर्तामूर्तब्राह्मणानुसारेणा-
ऽऽदित्यस्य तत्सारस्य तथाऽपि कथं गायत्र्यास्तत्प्रतिष्ठत्व पृथगेव सा मूर्ताद्यात्मिका ख्यास्यतीत्या-

करती है—"जो कि इससे ऊपर के लोक हैं, यह मण्डल पुरुष उन देवताओं के अभीष्ट कानो वा भी निरकुश अधिपति है" । इसलिये सभी लोको वा अवरोध करने के लिए यह श्रुति है । जो पुरुष गायत्री के इस चतुर्थं पाद को (सूत्रात्मक आदित्यान्तर्गत में हैं) इस प्रकार जानता है, वह उसी प्रकार वसुलक्षणा श्री और कीर्ति से प्रकाशित होता है, जिस प्रकार यह आदित्य सर्वाधिपत्यलक्षणा श्री एव ख्यातिलक्षणा कीर्ति से प्रकाशित होता है ॥ ३ ॥

पूर्वसर्वाभित त्रैलोक्य, त्रैविद्य और प्राणादिरूपा त्रिपदा गायत्री इस चतुर्थं तुरीय दर्शते परोरजा पाद मे प्रतिष्ठित है । आदित्य मूर्तामूर्त रसस्वरूप होने से (यह गायत्री आदित्य मे प्रतिष्ठित है) । रस के नष्ट हो जाने पर वस्तु उसी तरह नीरस और अप्रतिष्ठित हो जाती है, जिस प्रकार वायुदि

१ तस्मादिति—वोप्साया सर्वशब्दार्थं मकोवशङ्कानितृप्त्ययंत्वात् । २ सर्वलोकावरोधार्था । ३ वसु-
लक्षणया च । ४ अरीन् । ५ गायत्र्याश्चतुर्थं पादं सूत्रात्मक आदित्यात्सर्गोऽहमस्मीत्येवम् । ६
एतस्मिन्—उक्तसंज्ञके तुरीयादियदवाक्ये मूर्तामूर्तरसे भानी । ७ अभिधानेत्यादि—प्रथमपदमभिधान
तदभिधेय त्रैलोक्य द्वितीयपदात्मनाभिधानस्याभिधेय त्रयी विद्या तृतीयपदाभिधानाभिधेयं सर्वप्राणादिरूप
प्राणपदस्य त्रैलोक्यात्मत्वं द्वितीयस्य त्र्यात्मत्वं तृतीयस्य सर्वप्राणात्मत्वमिति व्याख्यातमित्यभिधानाभिधेया-
त्मिका गायत्रीत्यर्थं ।

महमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदशमिति तस्मा एव
श्रद्धयाम तद्वं तत्सत्यं बले प्रतिष्ठित प्राणो प्राणो वं
बल तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुबल^७ सत्यादोगीय

विश्वास करते हैं। नि सन्देह यह तुरीय पद का आश्रय सत्य, बल से प्रतिष्ठित है। अतएव कहते हैं कि सत्य की अपेक्षा अधिक श्रोत्रस्वी बल है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म प्राण में स्थित है। इस गायत्री ने वागादि प्राण रूप गयो का प्राण किया था अर्थात् वागादि प्राण ही गय हैं। उनका इसने

प्रतिष्ठितं भवति । यथा काष्ठादि 'दग्धसार तद्वत् । 'तथा मूर्तामूर्तात्मकं जगत्त्रिपदा'
गायत्र्यादित्ये प्रतिष्ठिता 'तद्रसत्वात्सह त्रिभिः 'पादः । तद्वं तुरीयं पदं सत्ये प्रति-
ष्ठितम् । कि पुनस्तत्सत्यमित्युच्यते—चक्षुर्वं सत्यम् । कथ चक्षुः सत्यमित्याह—प्रसिद्ध-
मेतच्चक्षुहि वं सत्यम् । कथ प्रसिद्धमेत्याह—तस्माद्यद्यदोदानोमेव द्वौ विषदमानी
विरुद्धं वदमानावेयातामा'गच्छयातामहमदशं दृष्टवानस्मो'त्यग्य आहाहमश्रौषं यत्त्रया दृष्टं
न तथा 'तद्वस्त्विति तयार्यं एव ब्रूयादहमद्राक्षमिति तस्मा एव श्रद्धयाम न पुनर्यो ब्रूया-
दहमश्रौषमिति । श्रोतुर्मृषा अवगममपि संभवति 'न तु चक्षुषा मृषा दर्शनम् । "तस्मा-

शङ्काऽऽह—रसेति । तद्वदादित्यसम्बन्धाभावे मूर्ताद्यात्मिका गायत्री स्यादप्रतिष्ठितेति शेषः । साराहते
स्वातन्त्र्येण मूर्तादिर्न स्थितिरिति स्थिते फलितमाह—तथेति । आदित्यस्य स्वातन्त्र्य वारयति—तद्वा
इति । सत्यशब्दस्यानृतविपरीनवाग्विययत्व शङ्काद्वारा वारयति—कि पुनरित्यादिना । चक्षुष्य सत्यत्वे
प्रमाणाभाव शङ्कित्वा दूषयति—कथमित्यादिना । श्रोतरि श्रद्धाभावे हेतुमाह—श्रोतुरिति । द्रष्टुरपि
'मृषादर्शनं संभवतीत्याशङ्काऽऽह—न त्विति । 'भवति'कथयि'रसंभवेऽपि श्रोत्रपेक्षया द्रष्टरि

भस्मीभूत हो जाते हैं। ऐसा होने पर मूर्तामूर्तात्मक जगत्स्वरूपा त्रिपदा (अभिधेयात्मिका) गायत्री
(अभिधानभूत) तीनो पादो सहित आदित्य में प्रतिष्ठित है, क्योंकि आदित्य मूर्तादिरसस्वरूप है। वह
तुरीय पाद सत्य में प्रतिष्ठित है वह सत्य क्या है इस पर श्रुति कहती है—चक्षु ही सत्य है। चक्षुही सत्य क्यों
है? इसे बतलाया जाता है क्योंकि लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है कि चक्षु सत्य है। ऐसी प्रसिद्धि क्यों है। इस
पर श्रुति कहती है, इसलिये यदि इसी समय दो 'विषदमानी' अर्थात् परस्पर विरुद्ध कहने वाले 'इयाताम'

- १ भस्मीभूतमित्यर्थ । २ तथा सति अभिधानभूतम् । ३ अभिधेयात्मिका । ४ तद्रसत्वात्—
आदित्यस्य मूर्तादिरसत्वात् । ५ अभिधानभूतं । ६ भागच्छेयातामित्यात्मनेपद भूम्यम् । ७ एकं ।
- ८ गजादिकं वस्तु । ९ न त्विति—यद्यपि रजतादिरदृष्टिरपि मृषा दृष्टा तथापि निर्दृष्टा दृष्टिर्न मृषा यद्यपि
निर्दृष्टा श्रुतिरपि न मृषा तथापि भूतेर्दृष्टिर्नलीयसी श्रुतवादिनो (सकाशात्) दृष्टवादिनि सोक्तस्य सप्रत्यय-
दशोनादिति भावः । १० तस्मात्—मृत्युपेक्षया दृष्टे प्रबलत्वात् । ११ मृषादर्शनं—शुक्तिरूप्यादि-
विषयम् । १२ नचिवत्—रजतादौ । १३ कथयित्—मात्रादिदोषेण । १४ रजतादिरदृष्टस्य मृषात्व-
सम्बन्धीत्यर्थः ।

इत्येवम्बेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा ह्येषा ।
 गयाऽस्तत्रे प्राणा वै गया'स्तत्प्राणाऽस्तत्रे तद्ब्रह्मयाऽ
 स्तत्रे तस्माद्रायत्रीनाम स यामेवामूऽ सावित्रीमन्वा-
 ह्यैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाऽस्त्रायते ॥ ४ ॥

त्राण किया था, इसने गयो का त्राण किया था । इसीलिये तो इसका नाम गायत्री प्रसिद्ध हुआ है । उस
 आचार्य ने ऋठ वयं के बटु का उपनयन कर उसे जिस सविता देव सबन्धी गायत्री का उपदेश किया
 था, वह यही है । वह आचार्य जिस बटु को इस गायत्री का उपदेश करता है, यह गायत्री उस बटु के
 वांगादि प्राण रूप गय की नरकादि मे गिरने से रक्षा करती है ॥ ४ ॥

आश्रौषमित्युक्तवते श्रद्धध्याम । तस्मात्सत्यप्रतिष्ठितहेतुत्वात्सत्यं चक्षुस्तस्मिन्सत्ये चक्षुषि
 सह त्रिभिरितरंः पादेस्तुरीयं पदं प्रतिष्ठितमित्यर्थं । उक्तं च 'स आदित्यः कस्मिन्प्रति-
 स्थित इति चक्षुषीति ।

तद्वै तुरीयपदाश्रयं सत्यं बले प्रतिष्ठितम् । किं पुनस्तद्वलमित्याह—प्राणो वै बलं
 तस्मिन्प्राणे बले प्रतिष्ठितं सत्यम् । तथाचोक्तं 'सूत्रे तदोतं च प्रोतं चेति । यस्माद्वले

विश्वासो दृष्टो लोकत्येत्याह—तस्मान्नेति । विश्वासातिशयफलमाह—तस्मादिति । आदित्यस्य
 चक्षुषि प्रतिष्ठितत्वं पञ्चमेऽपि प्रतिपादितमित्याह—उक्तं चेति ।

सत्यस्य स्वात उच्य प्रत्याह—तद्वा इति । सत्यस्य प्राणप्रतिष्ठितत्वं च पञ्चमिकमित्याह—
 तथाचेति । सूत्र प्राणो वायु । तच्छब्देन सत्यशब्दितसर्वभूतग्रहणम् । सत्य बले प्रतिष्ठितमित्यत्र लोक

अर्थात् आयें, उनमे से एक कहता हो 'मैंने देखा है', दूसरा कहता हो, जो तुमने देखा है, उसे मैंने सुना
 है, वह वस्तु वही नहीं है । उनमे से जो यह बोले कि मैंने यह वस्तु देखी है, उसी मे लोग श्रद्धा करते
 हैं, किन्तु जो इस प्रकार कहता है, मैंने सुना है, उस पर श्रद्धा नहीं करते । कानो द्वारा मिथ्या कथन
 का श्रवण हो सकता है किन्तु चक्षु के द्वारा मिथ्या दर्शन संभव नहीं । इसलिए 'मैंने सुना है' इस
 प्रकार कहने वाले पर श्रद्धा नहीं करते । इसलिये (श्रुति की अपेक्षा दृष्टि के प्रबल होने से) सत्यज्ञान
 का हेतु होने के कारण चक्षु सत्य है, अर्थात् उस (प्रकाशकस्वभाव) सत्यस्वरूप चक्षु मे अन्य तीनों
 पादो वै सहित चौथा पाद प्रतिष्ठित है । श्रुति य कहा भी है—वह आदित्य किसमे प्रतिष्ठित है ? चक्षु
 मे प्रतिष्ठित है ।

वह चतुर्थ पाद का आश्रयभूत सत्य बल मे प्रतिष्ठित है । वह बल क्या है ? इस पर श्रुति

१ ते च ते प्राणास्तात् । २ तस्मात्—श्रोत्रपेक्षया दृष्टिर विश्वासाधिक्यात् । ३ प्रकाशकस्वभाव ।

४ प्रतिष्ठितमिति—एकस्वभावत्वादाधाराधेयत्व चक्षुरादित्ययोर्युक्तमिति भाव । ५ वृ उ ३ ६ २० ।

६ "यदि सर्वमस्वोत च प्रोतं च कस्मिन्नु स'वाप श्रोताश्च प्रोतादचेति वायां गार्गीतीत्येतदेव" तृतीया
 ध्यायपट्टब्राह्मणस्यवाक्य शब्दान्तरेण स्मारयति—सूत्रे तदित्यादिना । ७ वृ उ ३ ६ ६ ।

सत्यं प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलं सत्यादोगीय भोजीय भोजस्तरमित्यर्थः । लोकेऽपि यस्मिन् हि यदाभितं भवति तस्मादाश्रितादाश्रयस्य बलवत्तरत्वं प्रसिद्धम् । न हि दुर्बलं बलवत्तः क्वचिदाश्रयभूतं दृष्टम् । एवमुक्तन्यायेन उ 'एषा गायत्र्यध्यात्ममध्यात्मे प्राणे प्रतिष्ठिता । सैषा गायत्री प्राणः । अतो गायत्र्यां जगत्प्रतिष्ठितम् । यस्मिन्प्राणे सर्वे देवा एकं भवन्ति । सर्वे वेदाः कर्माणि फलं च सर्वं गायत्री प्राणरूपा सती जगत् भ्रातृमा । सा ह्येषा गद्यांस्तत्रे ज्ञातवती । के पुनर्गद्याः । प्राणा वागादयो वै गद्याः । शब्दकरणत् । तांस्तत्रे सैषा गायत्री । तत्रत्रे यद्यस्माद्गद्यांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम । गयत्राणाद्गायत्रीति प्रथिता । स आचार्य उपनीय 'माणवकमष्टवर्षं यामेवाम् सावित्रीं सवितृदेवता-

प्रतिष्ठिद्विप्रमाणयति—तस्मादिति । तदेवोपपादयति— लोकेऽपीति । एतेषु व्यतिरेकमुल्लेखितः (एवम्) ह— न हीति । एतेन गायत्र्याः सूत्रात्मत्वं सिद्धमित्याह—एवमिति । तस्मिन्प्रथं वाक्यं योजयति—संपेति । गायत्र्याः प्राणत्वे किं सिध्यति तदाह—अत इति । तदेव स्पष्टयति—यस्मिन्प्रित्यादिना । गायत्री-नामनिर्वचनेन तस्या जगत्जीवनहेतुत्वमाह—सा हैपेति । प्रयोक्तृशरीरं सप्तम्यर्थः । गायन्तीति गद्या वागुपलभिताश्चक्षुराद्ययः । ब्राह्मण्यमूलत्वेन स्तुत्यर्थं गायत्र्या एव सावित्रीत्वमाह—स प्राचार्य इति ।

कहती है—प्राण ही बल है, उस "प्राणे" अर्थात् बल में प्रतिष्ठित है । कहा भी है—वह सब किसमें प्रीत-प्रीत भाव से युक्त है । सूत्रात्मा मे । जिससे बल में सत्य प्रतिष्ठित है, इसी से कहा है, बल सत्य से "भोगीय" अर्थात् भोजयुक्त अथवा भोजस्तर होता है । लोकव्यवहार में भी जिसका जो आश्रित होता है, उस आश्रित से आश्रयदाता का बलवत्तर होना प्रसिद्ध ही है । कही भी दुर्बल बलवान् को आश्रय देते हुए नहीं दिखायी देता । "एवम्" अर्थात् इस प्रकार उक्त न्याय से यह (त्रयात्मिका) गायत्री "अध्यात्मम्" अर्थात् शरीरस्य प्राण में प्रतिष्ठित है, वही यह गायत्री प्राण है, इसलिये गायत्री में जगत् प्रतिष्ठित है । जिस प्राण में सभी देवता एक हो जाते हैं । सभी वेद, कर्म और फल भी एकीभूत हैं; वही गायत्री प्राणस्वरूपा होकर जगत् की भ्रातृमा है । वह यह गायत्री "गद्यांस्तत्रे" अर्थात् प्राणों की रक्षा करने वाली है । वे प्राण क्या हैं ? वागादि ही "गद्याः" यानी प्राण हैं क्योंकि "गै शब्दे" इस प्रकार उसकी निष्पत्ति होने से) वे शब्द करते हैं । उनकी रक्षा करती है, इसलिए वह यह गायत्री है । गायत्री प्रयोक्ता के शरीर में इसने प्राणों की रक्षा की थी, इसलिये इसका नाम गायत्री है । प्राणों का प्राण करने से वह गायत्री इस नाम से प्रसिद्ध हुई । उस आचार्य ने आठ वर्ष के बालक को यज्ञोपवीत देकर उसे

१. उक्तन्यायेन सैषा गायत्री यावत्कामण्येत्यर्थः । २. एषा त्रैलोक्यत्रैविद्यप्राणादिन्यात्मिकेत्यर्थः । ३. प्राणे—सर्वदेवाचारमके सूत्रात्मनि । ४. अतः—गायत्र्या सूत्रप्रतिष्ठितत्वेन सूत्रात्मत्वात् । ५. गैशब्दे । ६. शब्दनिष्पत्तिहेतुत्वात् । ७. तत्र गायत्रीप्रयोक्तु शरीरे । ८. माणवकमिति—मनोरपत्यं मानवः "ब्राह्मणमाणववाद्वाचत्" वा ४. २. ४२ इति सूत्रे निपातनाण्यत्वम् ततोऽप्यर्थे कन् माणवको बालकः कम् । ९. एतेन—त्रिपदा गायत्र्यध्यात्ममध्यात्मस्य प्रतिष्ठिता स चाऽऽदित्योऽध्यात्मं बहुशरीर प्राणे प्रतिष्ठित इत्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः । १०. गायत्र्याः सूत्रात्मत्वेऽर्थे सा हैपेत्यत्रय संपेते पदद्वयात्मकं वाक्यम् ।

'ता७ हैतामेके सावित्रीमनुष्टुममन्वाहुर्वागनुष्टुवेतद्वाच-
मनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेत्र सावित्री-
मनुब्रूयाद्यदि ह वा अप्येवविद्वह्विव प्रतिगृह्णाति
न ह वै तद्गायत्र्या एकंचन पर्वं प्रति ॥ ५ ॥

कुत्र शाखा वाले इस ("तत्सवितुर्वृणीमहे वय देवस्य भोजन, श्रेष्ठ सर्वथातमम् । तुर भगस्य धीमहि") ऐसे अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री का उपदेश करते हैं । वाक् अनुष्टुप् है उस सरस्वती का उपदेश करते हैं । ऐसा न करे, (तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि, यिया यो न प्रचोदयात्) इस सावित्री का ही उपदेश करे । यदि ऐसा जानने वाला अधिक प्रतिग्रह भी करे तो भी गायत्री के एक-पाद के बराबर भी वह प्रतिग्रह समुदाय नहीं हो सकता ॥५॥

कामन्वाह पच्छोऽर्धंचंशः समस्ता च 'एषैव सा 'साक्षात्प्राणो जगत आत्मा माणवकाय
सर्पितेहेदानीं व्याहृपाता नान्या स 'आचार्यो यस्मै माणवकायान्वाहानुषक्ति तस्य माण-
वकस्य गयान्प्राणास्त्रापते नरकादिपतनात् ॥ ४ ॥

'तामेता सावित्रीं हैके शाखिनोऽनुष्टुभमनुष्टुष्वन्वस्कामन्वाहुरपनीताय । तदमि-

पच्छ पादशः । 'सावित्र्या गायत्रीत्व साययति—स इति । अत 'सावित्री गायत्रीति शेष ॥ ४ ॥

मतान्तरमुद्गाधयति—तामेतामिति । 'तत्सवितुर्वृणीमहे वय देवस्य भोजनम् । श्रेष्ठ (वै) सर्व-
थातम तुर भगस्य धीमहि' इत्यनुष्टुभ सावित्रीमाहुः । सवितृदेवताकर्वादित्यर्थः । उपनीतस्य माण-

जिस 'गायत्रीम्' अर्थात् सवितृदेवतासबन्धी सावित्री का पहले पदश फिर आधी ऋचा करके,
फिर सम्पूर्ण ऋचा का उपदेश किया था, वही यह गायत्री जो प्राण जगत् की आत्मा है, उस बटु को
को समर्पण की गयी थी । उसी की यहाँ व्याख्या की गई है, दूसरी की नहीं । गायत्र्युपासक, वह
आचार्य जिस बालक के लिए "अन्वाह" अर्थात् उपदेश करता है, गायत्री उस बालक के "गयान्"
अर्थात् प्राणों को नरकादि पतन से बचाती है ॥ ४ ॥

कुत्र शाखा वाले पक्षोपवीतधारी बटु की 'अनुष्टुभम्' अर्थात् अनुष्टुप-प्रभव या अनुष्टुप्

- १ मन्तान्तरमनुष्टुपयति—तामित्यादिना । २ सा सावित्री एषैव गायत्र्यय । ३ एषैवेत्येतद्विवृणोति
—सासादित्यादिना । ४ आचार्यो गायत्र्युपासक । ५ अत वातिकम्—'माणवकस्योपनिषत्समये
वेदवादिनाम् । छन्द प्रति विवादीय सतिर्णितो परा श्रुति' ॥ ४२ ॥ इति । उपनीताय माणवकायान्वाहमात्रि
यच्छन्दस्तत्प्रतीति यावत् । ६ सावित्रीशब्दवाच्या गायत्रीत्वम् गायत्र्यय सावित्रीशब्दवाच्येति भाव ।
७ सावित्रीशब्दार्थो गायत्र्येव मान्येति यावत् ।

ॐ यदि ह वा अप्येवविदित्यादि । अत्राहुर्वर्तिकाचार्यन्तथाहि—'विज्ञानपुरषस्येद स्वभावादेव सर्वदा ।
भारमेव हि अगच्छन्त साधारणविशेषवत् ॥ साधारणानि बन्न्ति तदाऽसाधारणान्यपि । नानुप्रादाय कृत्स्नानि
जन्ती काचित्क्रियेष्यते ॥ अभिव्यक्तं पुराऽप्येतद्रपमासीत्स्वभावतः । प्रभिव्यक्तौ तु तत्साक्षात्समर्पित्वेति-

प्रायमाह—'वागनुष्टुप् । वाक्च शरीरे सरस्वती तामेव हि वाचं मरस्वतीं माणवकाया-
नुब्रूम इत्येतद्वदन्तः । न तथा कुर्यान्न तथा विद्याद्यत्त' आहुम्'पैव तत् । किं तर्हि गायत्री-
मेव सावित्रीमनुब्रूयात् । कस्मात् । यस्नात्प्राणो गायत्रीत्युक्तम् । प्राण 'उपते वाक्च
सरस्वती चान्ये च 'प्राणाः 'सर्वे माणवकाय समर्पितं भवति । किंचेदं प्राप्तञ्जिकमुक्त्वा

वक्ष्य प्रथमतः सरस्वत्यां वर्णहिनिकायां सायेशत्वं द्योतयितुं शिष्यः । रूपमिति—नेत्यादिना । नन्व-
पेक्षितवागात्मकसरस्वतीसमर्पणं विना गायत्रीसमर्पणमथुक्तमिति शङ्कित्वा परिहरति—वन्मादित्या-
दिना । यदि हेत्यादिरुत्तरस्य ग्रन्थस्याव्यवहितपूर्वं ग्रन्थासंगतिमाशङ्क्याऽऽह—विचेदमिति । 'सावित्र्या

छन्द वाली उस सावित्री वा उपदेश करते हैं । उसी अभिप्राय को श्रुति बतलाती है । वाक् अनुष्टुप्
है । वाक् ही शरीर में सरस्वती है, उसी वाक्स्वरूपा सरस्वती का हम ब्रह्मचारी के लिए उपदेश
करते हैं—इस प्रकार कहते हुए उपदेश करते हैं । 'न तथा कुर्यात्' अर्थात् किन्तु ऐसा नहीं समझना
चाहिये । ऐसे एकसाखीय जो कहते हैं, वह मिथ्या ही है । तो फिर क्या करना चाहिये ? गायत्री
छन्द वाली सावित्री का ही उपदेश करे । क्यों ? क्योंकि प्राण गायत्री है—ऐसा कहा जा चुका है ।
प्राण अर्पित कर देने पर वाक् सरस्वती और अन्य चक्षु आदि सभी प्राण बटुक को समर्पित हो जाते

१ वागनुष्टुबिति—वाग् वा अनुष्टुबिति श्रुतेरिति भावः । २ एके शालिनः । ३ अर्पिते । ४.
चक्षुराद्यम् । ५ सर्वमिति—अनुष्टुभो निर्देशे सरस्वतीमात्रं प्राप्तये गायत्रीकथने तु सर्वमपि लभ्यते तेन
सैव वक्तव्येत्यर्थः । वातिके यथा—'यद्योक्तायां हि गायत्र्यां कृत्स्न जगदुपाहितम् । तदुक्तो सर्वमुक्त
स्याद्यत्तुमर्थाय साधनम्' ॥ ५७ ॥ सर्वस्य जगतो गायत्र्यामुपहितत्व प्रागुक्तमित्यर्थः । ६. सावित्रीशब्द-
वाच्यस्य गायत्रीत्वम् ।

लक्षणम् ॥ एव सिद्धे महिम्यस्मिन्मयोक्तेनैव बर्त्सना । कभीयस्ता विवृद्धिर्वा नैव सभाष्यते मिते ॥ ऊरीकृ-
त्येयमेवाथं स य इत्यादिनोच्यते । महाप्रतिग्रहेणापि नैवविदोषमुच्छति ॥ दर्शनस्य म्युतिरिय स य इत्यादि-
नोच्यते । साधनप्रतिग्रहस्येह न भवचित्तभवो यत ॥ प्रतिग्रहस्य निग्या वा विद्वमानाप्रसक्ति । नि शेष-
पुण्यमोपिवाग्निपेयार्थाय कुस्त्यते" ॥ ५८ ५९ ॥ इति । भूमिरित्यादिना गायत्र्युपाधिकब्रह्मोपास्तिसुबन्वा यदि
हेत्यादिपदोक्तित्वात्पर्यं वक्तु भूमिका करोति—विज्ञानेति । तत्र श्रुतिप्रसिद्धयर्थो हिमाद्य ॥ कय स्वभावतः
सर्वस्य जीवस्य समष्टिव्यष्टपात्मस्त्व तद्याह—साधारणानीति । मनुबाह्यार्णं प्रपञ्चिनमतदिति भावः ॥ उपारते-
रुर्ध्वं समष्टिव्यष्टिरूपता जीवस्य न प्राणिति चेत्प्राऽऽह—अभिव्यक्तेरिति ॥ किमर्थं तर्हि ध्यानमत आह—
अभिव्यक्ताविति । प्रागेव ध्यानाधीनवस्तुव्यक्तधर्मातु स्वतः समष्टिव्यष्टपात्मत्वेऽपि तत्कृताया तद्व्यक्तो ध्येय-
भारमरूपमुभयात्मकमपरोक्ष भवत्यतो ध्यानमर्थवदित्यर्थः ॥ अथ फलोक्तितात्पर्यमाह—एवमिति । स्वभावतः
सर्वस्य चेतनस्य समष्टिव्यष्टपात्मत्वमित्युक्तन्यायेनाऽऽरूपरूपे सिद्धे तस्य पूर्वोक्तनीत्या गायत्र्युपासकस्य प्रामाणिक-
वृद्धिदान्योरयोगाद्गृह्यतरप्रतिग्रहेऽप्यदोष इत्यर्थः ॥ सामान्येन गायत्रीविद फल विषय विशेषतो विधातु
वाच्यमवतारयति—ऊरीकृत्येति । यात्मन स्वतो वृद्धपादि नेत्युक्त ऋकृत्यानन्तरवाच्य प्रतिग्रहकृतदोषाभावो
विद्युवो विवक्ष्यत इत्यर्थः ॥ नन्वेवमन्तरप्रतिग्रहस्यापि विद्वद्विषये निर्दोषत्वप्रसक्ते चूदाद्यपादानकप्रतिग्रह-
नियेषकदास्त्रविरोध स्यादत्त आह—दर्शनस्येति । तत्र हेतुमाह—साधनिति ॥ साधनार्थान्तरमाह—प्रतिग्रह
स्येति । विद्वानह मम तद्व्याहोष सर्वो मस्मी भवतीत्यभिमानादस्त्रप्रतिग्रहस्यापि प्रातिविद्वानवमिति बहुमा-

स य इमाऽस्त्रीँल्लोकान्पूर्णाप्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या
 एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी
 विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्
 द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावद्विदं प्राणि यस्ताव-

जो गायत्री उपासक गौ, अश्वदि धन से पूर्ण इन भूरादि तीन लोको का दान स्वीकार करता है, उसका वह दान गायत्री के इस प्रथम पाद को व्याप्त करता है, अर्थात् वह प्रतिग्रह इससे अधिक दोष उत्पन्न नहीं कर सकता और जितना यह त्रयीविद्या है, जो उतना दान स्वीकार करता हो तो वह दान इस गायत्री के उस द्वितीय पाद को व्याप्त कर लेता है, तथा ये जितने प्राणी हैं, इनका दान गायत्री उपासक स्वीकार करता है, वह दान इस गायत्री के इस तृतीय पाद को व्याप्त करता है (अर्थात् पूर्वोक्त दान पादत्रय विज्ञान के फल मात्र के नाशक हो सकते हैं, अधिक दोष उत्पन्न नहीं

गायत्रीविदं स्तोति—यदि ह वा अप्येवंविदेवं विद्वान्वद्विव न हि तस्य सर्वत्मनो बहु
 नामास्ति किञ्चित्सर्वत्मकत्वाद्विदुषः प्रतिगृह्णाति न हैव तत्प्रतिग्रहजातं गायत्र्या एक-
 चनेकमपि यद प्रति पर्याप्तम् ॥ ५ ॥

स य इमाँस्त्रीँस यो गायत्रीविदिमान्भूरादीँस्त्रीँगोश्यादिधनपूर्णाँल्लोकाँप्रतिगृह्णी-
 यात्स प्रतिग्रहोऽस्या गायत्र्या एतत्प्रथम पदं यद्व्याहयात्पदमाप्नुयात्प्रथमपदविज्ञानफलं तेन

गायत्रीत्वमिति यावत् । इवन्नब्दाथं दर्शयति—न हीति । यद्यपि बहु प्रतिगृह्णाति विद्वानिति पूर्वेषु
 संबन्ध । तथाऽपि न तेन प्रतिग्रहजातेनेकस्यापि गायत्रीरस्य विज्ञानफल भुवत् स्यात् । दूरतरतु
 दोषापायकत्वं तस्येत्यर्थः ॥ ५ ॥

गायत्रीविद प्रतिगृह्णतो दोषाभावं 'सामा-येनोदःशा विशेषतस्तवमाशमाह—स य इति ।

है । इसके अतिरिक्त इस प्रासङ्गिक चर्चा को कर अब श्रुति गायत्र्युपासक की स्तुति करती है । यदि
 "एव विद्" अर्थात् इस प्रकार जानने वाला विद्वान् "वद्विव" अर्थात् प्रतिग्रह भी ले ले, क्योंकि उस
 उस विद्वान् के सर्वत्मिक होने के कारण उस उपासक के लिए अधिक कुछ नहीं है, तो भी वह
 प्रतिग्रहसमूह गायत्री के एक पाद के लिए भी पर्याप्त नहीं है ॥ ५ ॥

"स य इमाँस्त्रीँल्लोकान्" अर्थात् जो गायत्र्युपासक गो-अश्वदि धन से पूर्ण इन
 भूर्लोकदि तीन लोको का प्रतिग्रह लेता है, वह प्रतिग्रह इस गायत्री के प्रथम पाद को व्याप्त करता

१ उपासकस्य । २ एतत्पद व्याख्याति - यदिनि । ३ प्रतिग्रहेण । ४ बहुता । ५ उपासन-
 क्तम् । ६ प्रतिग्रहस्य । ७ यदि ह धन्वव विद्वित्यादिवारयन ।

नादा तस्मै बहुदान प्राप्त न च यद्वासाशात्परास्त गर्वदायनिर्गहं विषिदस्यताऽनन व्याजेन प्रतिग्रहो निन्दते
 त्रेभोव्यादिपरिमितद्रव्यप्रतिग्रहकृतो भोगो न गायत्री-रदमात्रगीकोतानि तुल्यस्य प्रतिग्रह श्रेयानिति भाव ।
 किमर्थमिति स निन्दते तत्राऽह—निनेपेति ॥

त्प्रतिगृहणीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुया-
 'दथास्या एतदेव तुरीयं दशतं पदं परोरजा य
 एष तपति नैव फेनचनाऽऽद्य कुत उ एताव-
 त्प्रतिगृहणीयात् ॥ ६ ॥

कर सक्ते । ऐसी कल्पना गायत्री उपासना की स्तुति के लिए की गई है । एव यही इगमा तुरीय दशतं परोरजा पद है । जो यह अन्तरिक्ष में तपता है, यह त्रिगी के प्राण करने के योग्य नहीं है क्योंकि इतना दान कोई वहाँ में कर सकता है (दान के अभाव में प्रतिग्रह का तो प्रसङ्ग ही नहीं होता, तात्पर्य यह है कि इस त्रिपद गायत्री की ही उपासना करना चाहिये) ॥ ६ ॥

भुवत्तं स्यान्न त्वधिकदोषोत्पादकः स प्रतिग्रहः । अयं पुनर्पायतीयं त्रयी विद्या प्रसिद्धा तावत्तद्वचिच्छन्नं वस्तु यस्तावत्प्रतिगृहणीयात्सोऽस्या एतद्विद्वितीयं पदमाप्नुयात् । द्वितीय-
 पदविज्ञानफल तेन भुवत्तं स्यात् । तथा यावदिव प्राणि यस्तावत्प्रतिगृहणीयात्सोऽस्या एत-

पथा प्रेक्षोषया'वच्छिन्नस्य 'त्रिविद्यवच्छिन्नस्य चार्थस्य प्रतिग्रहेण पावद्वयविज्ञानफलमेव भुक्तं नाधिकं रूपेण तथेति यावत् । प्रतिग्रहीता दाता वा नैवविद्यः सभास्यते किंतु स्तुत्यर्थं श्रुत्यंतत्कल्पितमित्याह—

है, जिसकी व्याख्या की जा चुकी है । अर्थात् उस प्रतिग्रह के द्वारा केवल प्रथम पाद के विज्ञान का फल भोगा जाता है, वह प्रतिग्रह उससे अधिक दोष का उत्पादक नहीं है । "अयं" अर्थात् तृया जितनी यह प्रसिद्ध त्रयीविद्या है, जो उनना प्रतिग्रह लेता है, वह इम गायत्री के उस प्रतिग्रह द्वारा द्वितीय पाद का व्याप्त करता है । उस प्रतिग्रह के द्वारा केवल द्वितीय पाद के विज्ञान का फल भोगा

१ तुरीयपादविज्ञानफलस्य समष्टिरूपस्य प्राणस्य क्षयस्तु सभावितुमपि न शक्यत घनन्तत्वादित्याह—अथेत्यादिना । २ घटकस्य । ३ त्रिविद्यप्रतिपाठस्य ।

ॐ अयमस्या एतद्वैत्यादि । अत्राहुर्वातिवकारपादास्तथाहि— घन-तद्भविभक्तस्य यथोक्तं स्यात्प्रतिग्रहे । क्षयो नानन्तरूपस्य स्यात्समष्टिवपुभूतं ॥ परिच्छिन्नेन सर्वत्र प्रतिमानं जगत्परि । अन्तर्द्विषय इष्टं न त्वनन्तस्य कुत्रचित् ॥ अयं ज्ञानगतमात्मानमक्षिप्युयंस्ववस्थितम् । अघातुनाघनात्प्राणमा मखेन दिवानिधम् ॥ सभास्यते क्षयस्तस्य न कुतश्चिदनन्तत । घनता-धीयते तकिं न त्वनन्तं कुतश्चन ॥ घातृति क्षयशब्देन तु क्षत्रायामु भूमिषु । कैवल्यावसितेनोपा स्यात्समष्टिवपुभूतं ' ॥ ६२ ६६ ॥ घट्टस्यान्वदित्यंतरणोऽस्त एव विभक्त परिच्छिन्न पाठान्तरे शरीरस्यै पाणिपादाभिरङ्गविभक्त परिच्छिन्नोऽनुपासकस्तस्येत्यर्थं । चतुर्थ-पादज्ञानफलभूतस्योपासकस्यानन्त्यात्तस्यो न सभावतीति यावत् ॥ इत्यत्र तत्तथो नास्तीत्याह—परिच्छि-
 न्नेनेति । सर्वत्रापि जगति घटादिवप्ररपति स्वर्गादीनि परिच्छिन्नानावद्विषयमुपासनमुपलब्धं न च चतुर्थ-पादक्षीफलस्यानन्तस्य क्षय इत्यालोऽस्तीत्यर्थः ॥ सदानन्त्यमसिद्धं ब्रह्मज्ञानफलतातिरिक्तत्वात्स्वर्गादिवदित्या-
 शङ्क्याऽऽह—अयं चेति । दिवानिधमात्मखेनोपासनादयमुपासकोऽन्त प्राणमात्मानमयादिनि मदन्यः ॥ उपारितफनानन्त्ये सिद्धं नियममति—संभास्यते इति । तदुपवादयति—घनं शानिति । क्षयशब्दार्थोक्तिपूर्वकं फलावस्थोपासितुरसदभावे हेत्वन्तरमाह—घातृतिरिति ॥

तृतीयं पदमाप्नुयात् तेन तृतीयपदविज्ञानफलं भुक्तं स्यात् । कल्पयित्वेदमुच्यते । पाद-
त्रयसममपि यदि कश्चित्प्रतिगृह्णीयात्तत्पादत्रयविज्ञानफलस्यैव क्षयकारणं न त्वन्यस्य
दोषस्य 'कर्तृत्वे क्षमम् । न चैवं दाता प्रतिग्रहीता वा 'गायत्रीविज्ञानस्तुतये कल्प्यते ।
दाता प्रतिग्रहीता च यद्यप्येवं संभाव्यते नासौ प्रतिग्रहीत्पराधक्षमः । कस्माद्यतोऽभ्यधिक-
मपि पुरुषार्थविज्ञानमवशिष्टमेव चतुर्थपादविषयं गायत्र्यास्तद्दर्शयति । अस्यास्या एतदेव
तुरीयं दर्शतं परोरजा य एष तपति । तच्चैतन्नेव केनचन केनचिदपि प्रतिग्रहेणाऽऽप्यं नैव
प्राप्यमित्यर्थः । यथा पूर्वोक्तानि त्रीणि पदानि । एतान्यपि तेषांऽऽप्यानि केनचित्कल्पयि-
त्वैवमुक्तं परमार्थतः कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात्त्रैलोक्यादिसमम् । 'तस्माद्गायत्र्येवं-

कल्पयित्वेति । 'उक्तमेव सगृह्णाति-पादनयेति । कल्पयित्वेदमुच्यत इति किमिति कल्पयते मुख्यमेव' त-
द्विकं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । कल्पनाऽपि 'तर्हि किमर्थेनाशङ्क्याऽऽह-गायत्रीति । 'शङ्की-
कृत्योत्तरवाक्यमुत्थापयति—दातेति । 'तदेवाऽऽकाङ्क्षापूर्वकमाह—कस्मादिति । 'वागात्मकपदत्रय-
विज्ञानफलभोगोक्त्यामन्तर्पयशब्दाद्यर्थः । नैव प्राप्य प्रतिग्रहेण केनचिदपि नैव भुक्त स्यादित्यर्थः ।
'तत्रैव वैधर्म्यं दृष्टान्तमाह—यथेति । 'तानि प्रतिग्रहेण यथा'ऽऽप्यानि न तथैतदाप्यमित्यर्थः । कुत
इत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—एतान्यपीति । गायत्रीविदः स्तुतिरुक्ता तत्फलमाह—तस्मादिति ।

जाता है । तथा इतना प्रतिग्रह लेता है, जितने यहाँ प्राणी हैं, वह इस गायत्री के तृतीय पाद को व्याप्त
करता है । उस प्रतिग्रह के द्वारा केवल तृतीय पाद के विज्ञान का फल भोगा जाता है, (वह इससे
अधिक दोपोत्पादक नहीं है) । यह बात कल्पना करके कही गयी है । यदि कोई गायत्री के पादत्रय
के समान भी प्रतिग्रह करे तो उसका वह प्रतिग्रहण पादनयविज्ञान के फल मात्र का क्षय करने का
कारण हो सकता है किन्तु और कोई दोष उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता । न ही केवल
गायत्रीविज्ञान की स्तुति के लिए दाता या प्रतिग्रहीता की कल्पना की गयी है । यद्यपि उक्तविध
दाता और प्रतिग्रहीता संभव हो सकता है, किन्तु यह प्रतिग्रह दोषकारक नहीं है । ऐसा क्यों है ?
क्योंकि गायत्री के चतुर्थ पाद का विषयभूत पुरुषार्थ विज्ञान है, जो इससे भी अधिक है, उसका
व्याख्यान अभी बाकी ही है, उसे श्रुति प्रदानत करती है । और यह जो तपता है वही इस गायत्री
का तुरीय दर्शत परोरजा पाद है । (चतुर्थपादविज्ञान का फल यह है कि) यह केनचन' अर्थात्
किसी भी प्रतिग्रह के "प्राप्य नैव" अर्थात् प्राप्य नहीं है, जो पहले तीनों पाद बनलाये गये हैं । यह
तीन पाद भी किसी में प्राप्य नहीं हैं, कल्पना मात्र है, यह कहा गया है । वास्तव में त्रैलोक्यादि के

१ नरवचिन्-दोपोत्पादक ता इत्यनुवक्त । २ प्रतिग्रहणम् । ३ जनन । ४ गायत्रीति—उक्तपादव्यवि-
ज्ञान नैवात्मकपराधिपुम् । गायत्रीविदो ज तारपि भूमान्प्रतिग्रह इति । ५ उक्तविध । ६ चतुर्थपाद-
विज्ञानफल च । ७ श्रोत्रपि पदानि । ८ प्रतिग्रहणं वदतु । ९ तस्मात्—गायत्रीविज्ञानस्य यथाक-
फलत्वात् । १० य ए इमानित्यादिनोक्तमथजातम् । ११ यन्म् । १२ तर्हि—सादृशदानुप्रतिग्रही-
चोरमाव सति । १३ शङ्कीइत्य—एतावत्पदानुप्रतिग्रहीतारावभ्युपय । १४ यपरापादान्तमेव । १५
अधिधातात्वकेत्यर्थः । १६ चतुर्थपादविज्ञानेनकल्पनायत्न एव । १७ पदानि । १८ भुक्तानि ।

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्यैकपदी द्विपदी
त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे । नमस्ते
तुरीयाय दशंताय पदाय परोरजसेऽसावदो

उस गायत्री का इस मन्त्र से उपस्थान किया जाता है । हे गायत्री ! तू त्रैलोक्य रूप प्रथम पाद से एकपदी है, त्रयीविद्या रूप द्वितीय पाद से द्विपदी है और प्राणादि रूप तृतीय पाद से त्रिपदी है तथा तुरीय पाद से चतुष्पदी है । वस्तुतः निरुपाधिक होने से तू अपद है अर्थात् तेरा कोई पद नहीं है, जिससे तू जानी जा सकती है । अतः व्यवहार से अतीत संपूर्ण लोको से ऊपर विद्यमान तेरे दर्शन के योग्य तुरीय पद को नमस्कार है । यह पापरूपी शत्रु इस विघ्न बाधा रूप कार्य में सफलता प्राप्त

प्रकारोपास्येत्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्या उपस्थानं तस्या गायत्र्या उपस्थानमुपेत्य स्यात् नमस्करणमेव 'मन्त्रेण । कोऽसौ मन्त्र इत्याह—हे गायत्र्यसि त्वं भवसि 'त्रैलोक्यपादेनैकपदी । त्रयीविद्यारूपेण द्वितीयेन द्विपदी । प्राणादिना तृतीयेन त्रिपद्यसि । 'चतुर्थेन तुरीयेण चतुष्पद्यसि । एवं चतुर्भिः पादैरुपासकैः पद्यसे ज्ञायसेऽतः पर परेण निरुपाधिकेन स्थेनाऽऽत्मनाऽपद्यसि ।

एवप्रकारा पादचतुष्टयरूपा सर्वात्मिकेत्यर्थः ॥ ६ ॥

'प्रकृतमुपासनमेव मन्त्रेण संगृह्णाति—तस्या इत्यादिना । ध्येयं रूपमुक्त्वा ज्ञेयं गायत्र्या रूपमुपगम्यत्यति—अत परमिति । चतुर्थस्य पादस्य पादत्रयापेक्षया 'प्राधान्यमभिप्रेत्याऽऽह—अत इति ।

समान प्रतिग्राह्य वस्तु को कोई कहां से प्रतिग्रहण करेगा । इसलिये (गायत्री विज्ञान के यथोक्त फल से) गायत्री की इस प्रकार उपासना करनी चाहिये ॥ ६ ॥

गायत्री उपासक के द्वारा उस गायत्री का "उपस्थानम्" अर्थात् उपासना या नमस्कार इस मन्त्र से करना चाहिये । वह मन्त्र कौन सा है ? उसे श्रुति बतलाती है—हे गायत्री ! तुम त्रैलोक्यात्मक रूप प्रथम पाद से एकपदी हो, त्रयीविद्यारूप द्वितीय पाद से द्विपदी हो, प्राणाद्यात्मक तृतीय पादसे त्रिपदी हो, मण्डलान्तर्गत पुरुष रूपसे चतुर्थ पाद द्वारा तुम चतुष्पदी हो, इस प्रकार चार पदी से तुम उपासकों के द्वारा "पद्यसे" अर्थात् जानी जाती हो । इससे परे तुम अपने सर्वोत्तम निरुपाधिक स्वरूप से अपद हो । तुम्हारा

१. मन्त्रेणेति—कर्तव्य गायत्र्युपासकेनेति शेष । अतः वातिके—'उपस्थान यद्योक्ताया गायत्र्याः श्रद्धया-ऽन्वितः । गायत्र्यसीति मन्त्रेण कुर्वाणुक्तावैवित्सदा' ॥ ६७ ॥ इति । गायत्र्युपस्थाने तदुपासकस्याधिकारं सूचयति—उक्तेति । तदुपस्थाने यावच्छिद्यन्त्यं वारयति—सदेति । २ त्रैलोक्यात्मकेन प्रथमेन पादेन । ३. प्राणाद्यात्मकेन । ४ चतुर्थेनेति—मण्डलान्तर्गतपुरुषरूपेणेत्यर्थः । ५ उक्तविज्ञानसंग्राहकोऽय मन्त्र ऐहिकादिकलोपासकधर्माय इत्यभिप्रेत्य सद्ब्राह्मणवतारयति—प्रकृतमिति । ६. नमस्तेऽन्तु तुरीयापेत्युक्तया सुव्यप्रधानतां गुणभाव यथोक्तस्य विद्यात्पादत्रयस्य तु ।

मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा
समृद्धीति वा न ह्वास्मै स कामः समृध्यते
यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥ ७ ॥

न करे । एवं यह उपासक जिससे द्वेष करता हो, उसकी कामना पूर्ण न हो । इस प्रकार मन्त्र पढ़ कर गायत्री का उपस्थान करे । इस प्रकार जिसके लिये उपस्थान किया जाता है, उसका अभीष्ट कभी पूर्ण नहीं होता । अथवा मैं इसे प्राप्त कहूँ, ऐसी कामना से गायत्री का उपस्थान करे (वहाँ पर उक्त मन्त्र पदों का उपासक को इच्छानुरूप विकल्प हो सकता है) ॥ ७ ॥

अविद्यमानं पदं यस्यास्तव देव पद्यसे सा त्वमपदसि यस्माद्गृह्ण पद्यसे नेति नेत्यात्म-
त्वात् । असौ व्यवहारविषयाय नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पशाय परोजसे । असौ शत्रुः
पाप्मा इवत्प्राप्तिविघ्नकरोऽदस्तदात्मनः कार्यं यत्त्वत्प्राप्तिविघ्नकर्तृत्वं मा प्रापन्मेव
प्राप्नोतु । इतिशब्दो 'मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः । य द्विष्याद्यं प्रति द्वेषं कुर्वास्त्वयं विद्वारितं'
प्रत्यनेनोपस्थानमसौ शत्ररमुकनामेति नाम गृह्णीयादस्मै' यज्ञवत्सायाभिप्रेतः कामो मा

यद्योक्तमस्कारस्य प्रयोजनमाह—असाविति । 'द्विषियनुपस्थानमाभिचारिकाम्बुदायकं च तस्याऽऽद्यं
द्वेषा व्युत्पादयति - य द्विष्यादिति । नाम गृह्णीयात्तदीयं नाम गृह्णीत्या च "तदभिप्रेतं मा प्रापदित्यने-

ऐसा कोई पद नहीं है जिससे तुम्हारा ज्ञान हो, इसलिये तुम अपद हो क्योंकि नेति-नेति स्वरूप वाली (अनन्त) होने के कारण तुम्हारा ज्ञान नहीं हो सकता । इसलिये (तुरीय से परे जानना असंभव होने एवं तुरीय का प्राधान्य होने के कारण) व्यवहार के विषय तुम्हारे तुरीय दर्शित परोरजा पद को नमस्कार है । यह शत्रु पाप तुम्हारी प्राप्ति में विघ्न करने वाला है । "अदः" अर्थात् यह तेरी प्राप्ति में विघ्नकारी पापकार्य को "मा प्रापन्" अर्थात् प्राप्त न हो । "टनि" शब्द पापशयफल के उपस्थान मन्त्र की समाप्ति के लिये है । "य द्विष्यात्" अर्थात् यह विद्वान् उपासक जिस के प्रति द्वेष करता हो, उस शत्रु को निमित्त करके उसके विघात के लिए उपस्थान है । "असौ" अर्थात् यह अमुकनामा शत्रु है—इस प्रकार उसका नाम प्रत्यन करे । 'अस्मै' अर्थात् शत्रु यज्ञवत् के

१. पदमित्युक्तमेव पद भ्रुत्यादयति—देन पद्यत इति पद्यते शायम । २. यस्माद्गृह्णीयादि । अत्र दाहिने—'अपद्यतीत्यपि गिरा तस्या धानन्यमुच्यते । अथवा चाशयाऽपि न ह्यन्तात्तदधिगमते' ॥ ६६ ॥ इति । ३ अतः—तुरीयादूर्ध्वमभिगमात्तुर्वरं च प्रत्यानादित्यर्थं । ४ स्वस्य पाप्मनः । ५ अत्रेति—पापशयपरोपस्थानमन्त्रेत्यर्थं । ६ तं प्रतीति—त शत्रु निमित्तीश्वरैत्यर्थं । तदभिप्रेतविघातादेति वाच्यं । ७. सप्रत्यभिचारिकोपस्थानस्य द्वितीयधनुनादन दर्शयति—एवमा इत्यादिना । ८. शत्रवे । ९. पाप-दायमात्रप्रयोजनमुपस्थानसामान्यमुच्यते अत्रति विद्येयत् उपस्थानस्य विविनतीयनिर्देश्यं यं द्विष्यादियादिभिरप्य-सकृत्पर्यति—द्विषियमित्यादिना । १०. तदभिप्रेतमिति—तद् अमुकमित्यर्थं । अनेनाभिप्रेतस्य अस्तुनो विद्वज्जातरं गृह्णन्नेहमद प्रापमित्यत्र ज्ञातव्योपयोगादिति भावः ।

एतद्ध वै तज्जनको वंदेहो बुडिलमाश्वतराश्वि-
मुवाच यन्तु हो तद्गायत्रीविदब्रूया अथ कथं
हस्तीभूतो वहसोति मुखं ह्यस्याः सम्राण
विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं

उस गायत्री विज्ञान के विषय में विदेहराज जनक ने अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल में यही बात कही थी कि तूने जो अपने को गायत्रीतत्त्व का ज्ञाता बतलाया था तो फिर भला प्रतिग्रह दोष के कारण हाथी बनकर भार क्यों डोता है। इस पर बुडिल ने कहा—हे राजन् । मैं इस गायत्री का मुख नहीं जानता था (अर्थात् एक अङ्ग को न जानने के कारण मेरा गायत्री विज्ञान निष्फल हो गया है)। तब जनक ने कहा—अग्नि ही इसका मुख है, यदि लौकिक पुरुष अग्नि में बहुत-सा ईंधन डाल दें

समृद्धि समृद्धि मा प्राप्नोतिविति' चोपतिष्ठते । न हंवास्मै देवदत्ताय सकामः समृध्यते ।
कस्मै । एवमुपतिष्ठते । ग्रहमदो देवदत्ताभिप्रेतं 'प्रापनिति चोपतिष्ठते । 'असावदो मा
प्रापदित्यादित्रयाणां मन्त्रपदानां यथाकामं विकल्पः ॥ ७ ॥

'गायत्र्या मुखविधानायायंवाद उच्यते—एतद्ध किल वै स्मर्यते । तत्तत्र गायत्री-
विज्ञानविषये जनको वंदेहो बुडिलो नामतोऽश्वतराश्वस्यापत्यमाश्वतराश्वस्तं किलो-
क्तवान् । यन्तु इति वितर्कं हो अहो इत्येतत्तद्वत्त्वं गायत्रीविदब्रूया गायत्रीविदस्मीति

नोपस्थानमिति सदस्य । आम्बुदयिकमुपस्थानं दर्शयति—ग्रहमिति । 'कीदृगुपस्थानमन्त्र' मन्त्रपदेन
कर्तव्यमिष्ट्याशङ्कुष यथाशक्ति विकल्पं दर्शयति—असाविति ॥ ७ ॥

किं तद्गायत्रीविज्ञानप्रतिकूलमुपलभ्यते तदाह—अप्येति । 'पूर्वापरविरोधाद्यद्योतको-

लिए "कामो मा समृद्धिं" अर्थात् अभिप्रेत कार्यं समृद्धि को प्राप्त न हो, इस प्रकार मन्त्र से उपस्थान
किया जाता है। ऐसा करने से इस देवदत्त की मनोकामना पूर्ण नहीं होती है। किसके लिए ?
जिसके उद्देश्य से इस प्रकार उपासना करता है—मैं यह देवदत्त की अभीष्ट प्राप्त कर लूँ, इस प्रकार
उपस्थान करता है। "जिसे यह द्वेष करता है", "मन इच्छित" और "प्राप्त हो" इन तीन मन्त्र पदों का
उपासक की कामनानुसार विकल्प हो सकता है ॥ ७ ॥

गायत्री का मुखविधान के लिए अर्थवाद कहा जाता है—इस गायत्री के विषय में इस
प्रकार स्मरण किया जाता है। अश्वतराश्व के पुत्र आश्वतराश्वि बुडिल नाम के थे। विदेहराज जनक

- १ मन्त्रेण । २ प्राण्युयाम् । ३ असाविति—पूर्वमन्त्राद"दो मा प्रापदि"त्वस्यानुवर्त्ये "यं द्विध्याद-
सावि 'व्यसौशब्देनान्वयादिप्रपन्नो "यासावदो मा प्रापदिति" मन्त्रस्तथादित्रयाणामित्यर्थः । ४ एतद्व्या-
देस्तात्पर्यंमाह—गायत्र्या इति । ५ आश्वर्यमित्यर्थः । ६ तद्वत्त्वमित्यादि—तत्रसिद्ध तदानीतन वा
गायत्रीविदस्मीति यद्वचनमङ्गशास्त्रस्य वचसोऽनुरूपं प्रतिकूलमिदमाचरणं किं किमितिस्त्वर्थः । ७ कीदृक्—
धाधिचारिकमाम्बुदयिक वा । ८ मन्त्र—धाधिचारिकाम्बुदयिकयोर्ध्वे । ९ पूर्वैति—पूर्वं गायत्रीवित्त्व-
वचनमपर हस्तीभूत्वा वहनं तयोर्विरोधाद्यद्योतित्वर्थः ।

यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावश्यादधति सर्व-
मेव तत्संदहृत्येव^१ हैवेवविद्यद्यपि बह्विव पापं
कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरो-
ऽमृतः स भवति ॥ ८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य
षोडशं ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

तो वह अग्नि सभी को भस्म कर देती है। इसी प्रकार जो ऐसा जानता है, वह प्रतिग्रहादि बहुत-सा पाप करता रहा हो तो भी वह उस सबको भक्षण करके शुद्ध, पवित्र, अजर और अमर हो जाता है अर्थात् उक्त विज्ञान वाला गायत्री उपासक अग्नि के समान प्रतिग्रह दोष में लिपायमान नहीं होता ॥ ८ ॥

॥ इति षोडश ब्राह्मणम् ॥

यदब्रूयाः किमिदं तस्य वचसोऽनुरूपम् । अथ कथं यदि गायत्रीवित्प्रतिग्रहदोषेण हस्ती-
भूतो वहमीति । स प्रत्याह राजा स्मारितो मुखं गायत्र्या हि यस्मादस्या हे सम्प्राण
विदांचकार न विज्ञातवानस्मीति होवाच । एकाङ्गविकलत्वाद्गायत्रीविज्ञानं ममाफलं
जातम् । शृणु तर्हि तस्या गायत्र्या अग्निरेव मुखम् । यदि ह वा अपि बह्विवेन्धन-
मानावश्यादधति लौकिकाः सर्वमेव तत्संदहृत्येवेन्धनमग्निरेवं हैवेवविद्यद्यप्यग्नि-

^१ऽशब्दः । 'तथाऽपि गायत्रीविज्ञानस्य फलवस्त्वे सति प्रतिकूलमिदं हस्तीभूतस्य तव मां प्रति वहन-
मित्याशङ्क्याऽऽह—एकाङ्गंति । राजा भूते—शृण्वति । मुखविज्ञानस्य दृष्टान्तावष्टम्भेन फलमा-
चष्टे—यदीत्यादिना । इवशब्दोऽवधारणार्थः । वापसस्पर्शराहित्यं शुद्धिस्तत्फलासंस्पर्शस्तु पूततेति

ने गायत्रीविज्ञान के विषय में बुझिल से कहा था । 'यत्' और 'तु' अव्यय वितर्क अर्थ में हैं अर्थात् अहो बड़ा आश्चर्य है ! तुमने जो अपने को "गायत्रीविदब्रूया" अर्थात् 'मैं गायत्री को जानने वाला हूँ' ऐसा कहा था, तो तुम्हारे वचन के अनुरूप क्यों नहीं है । यदि गायत्री के जानने वाले हो तो प्रतिग्रह दोष से क्यों हाथी होकर भार होते हो ? राजा के द्वारा स्मरण दिलाये जाने पर बुझिल ने उनसे कहा—हे सम्प्राट् ! क्योंकि मैं इस गायत्री का मुख 'न विदांचकार' अर्थात् नहीं जानता । एक यानी प्रधान अङ्ग से रहित हो जाने के कारण मेरा गायत्री विज्ञान विफल हो गया है । (तब राजा जनक ने कहा—) तो मुनो ! उस गायत्री का अग्नि ही मुख है । यदि लौकिक पुरुष अग्नि में बहुत सी लकड़ियाँ भी डालें, उन सब लकड़ियों को जिस प्रकार अग्नि भस्म कर देता है, इसी प्रकार 'एवविद्' अर्थात् 'गायत्री का मुख अग्नि है' इस प्रकार जो जानता है, तथा स्वयं अग्निमुक्त होकर

१. अग्निरिति—यथेति शेषः । २ अथशब्द इति तर्हीत्यर्थक इति शेषः । ३ तथाऽपि—तदीयमुख-
विज्ञानान्नादेऽशीत्यर्थः ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य सप्तदशं ब्राह्मणम् ।)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये । पूषन्नेकपे
यम सूर्यं प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् । समूह तेजो
यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि । 'योऽसावसौ
पुरुषः सोऽहमस्मि । वायुरनितममृतमथेदं भस्मान्तथ

आदित्य मण्डलस्थ सत्य ब्रह्म का द्वार (स्वर्ण के समान चमकीले व्यष्टि और ममष्टि ग्रहद्वार-
रूप) ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है । अतः हे पूषन् ! मुझ सत्य धर्म जिज्ञासु को उस सत्यात्मा ब्रह्म
का दर्शन कराने के लिए तू उस भावरण को हटा दे । हे जगत्पोषक ! हे एकपे ! हे सूर्य ! हे
प्राजापत्य ! तू अपने किरणों को हटा ले और तेज को समेट ले । जिसमे कि तेरा जो अतिमय
कल्याणमय रूप है, उसे मैं देख सकूँ । यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूँ । अब मेरा
प्राण (ब्राह्मात्मिक-वायु) आदिदेविक-वायु रूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मान्त

मुखमित्येवं वेत्तात्येवंदित्सात्स्वयं गाप्रश्वात्माऽग्निमुखः सन् । यद्यपि यद्विष पापं कुरुते
प्रतिग्रहादिदोषं तत्सर्वं पापजातं संक्षय भक्षयित्वा युद्धोऽग्निवत्पूतश्च तस्मात्प्रतिग्रह-
दोषाद्वायव्यात्माऽजरोऽमृतश्च सभवति ॥ ८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य षोडश ब्राह्मणम् ॥ १६ ॥

'यो ज्ञानकर्मसमुच्चयकारी सोऽन्तकाल आदित्यं प्रार्थयति । अस्ति च 'प्रसङ्गो

भेदः । गायत्रीज्ञानस्य क्रममुक्तिफलत्वं दर्शयति—गायत्र्यात्मेति ॥ ८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटोकायां पञ्चमाध्यायस्य षोडशं ब्राह्मणम् ॥ १६ ॥

ब्राह्मणान्तरस्य तात्पर्यमाह—यो ज्ञानकर्मति । आदित्यस्याप्रस्तुतत्वात्कथं तत्प्रार्थनेत्या-

गायत्रीमय हो गया है, वह यद्यपि प्रतिग्रहादि दोष वाले बहुत मे पाप करता है, उस सब पापसमूह
को 'सप्साय' अर्थात् भक्षण करके अग्नि के समान युद्ध प्रतिग्रह दोग मे पवित्र होकर वह गायत्रीमय
उपामक अजर और अमर हो जाता है ॥ ८ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे पञ्चमाध्यायस्य सोलहवें ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य
का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १६ ॥

जो ज्ञान और कर्म का समुच्चय करने वाला है, वह अन्त समय मे आदित्य की प्रार्थना करता

१ योऽसावसाविति—अत्रत्यर्थात्कतट्टीकार्पांलौचनया तु योऽसावदित्ये पुरुष इति पाठ प्रतीयते । यथा-
युतपाठे तु योऽसौ भूर्नुव.स्वरितिभ्यहृत्ययवको.सावादित्यस्य इत्यर्थोऽयमेव । २. गायत्र्युपासन सतुपस्थान
च सफलमुक्त्वा समुच्चयकारिण सावित्रमामेय जोपरस्थान वन्तु ब्राह्मणान्तरमित्याह—इ इति । ३. प्रसङ्ग
आदित्यस्येति शेष ।

शरीरम् । ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर
कृतं स्मर । अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्निश्चानि
देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमर्कित विधेम ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य सप्तदशं
ब्राह्मणम् ॥१७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

बृहदारण्यकक्रमेण सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

हो जाये । हे मेरे सद्बुद्ध-विकल्पात्मक-मन ! अब तू मेरे स्मरण के योग्य शुभ कर्म का स्मरण कर । हे ओम् ! हे क्रतो ! मेरे किये हुए का स्मरण कर । अब तू स्मरण कर । अपने किये हुए का स्मरण कर (क्योंकि स्मरण का समय आ गया है) । हे अग्नि ! हमे अपने कर्म फल भोग के लिये शुभमार्ग से ले चलो । हे देव ! तू हमारे सम्पूर्ण ज्ञान एवं कर्म को जानने वाला है । अतः हमारे कुटिल कर्मों को हमसे पृथक् कर दो । इस समय हम भ्रष्टाचार हैं, तेरी अन्य कोई सेवा नहीं कर सकते हैं । अतः हम तेरी अनेको नमस्कारमात्र से परिचर्या करते हैं ॥ १ ॥

॥ इति पञ्चमाध्यायः, सप्तदश ब्राह्मणम् ॥

गायत्र्यास्तुरीयः 'पादो हि सः । तदुपस्थानं प्रकृतमन्तः स एव प्रार्थ्यते । हिरण्मयेन
ज्योतिर्मयेन मण्डलेन पात्रेण 'यथा पात्रेणोष्ठं वस्त्वपिधीयत एवमिदं सत्याद्यं ब्रह्म
ज्योतिर्मयेन मण्डलेनापिहितमिवासमाहितचेतसामदृश्यत्या' तदुच्यते । 'सत्यस्यापिहितं

शङ्कुघाऽऽह—अस्ति चेति । तथाऽपि कथमादित्यस्य प्रसङ्गस्तत्राऽह—तदुपस्थानमिति । नमस्ते
तुरीयायेति हि वर्णितमित्यर्थः । आदित्यस्य प्रसङ्गे सति कलितमाह—अत इति । समाहितचेतसां
प्रयत्नात् दृश्यत्रात्रापिहितमेव किंतु पिहितमित्यत्र हेतुमाह—असमाहितेति । 'जगतः पोषणाद्गर्भ-

है । यहाँ आदित्य का प्रकरण तो है क्योंकि वह गायत्री का चतुर्थ पाद है । उसके उपस्थान का प्रसङ्ग है, इसलिए सूर्य की इस प्रकार प्रार्थना की जाती है । "हिरण्मयेन" अर्थात् ज्योतिर्मय मण्डलरूप पात्र से; जिस प्रकार पात्र से अभिलपित वस्तु ढकी जाती है, उसी प्रकार यह सत्यात्मक ब्रह्म सूर्य ज्योतिर्मय मण्डल से ढका हुआ है क्योंकि असमाहित चित्त वाले पुरुषों के लिए वह अदृश्य है । यही बात

१. पादो हीति—स आदित्यमागच्छतीति ब्रह्मसोक्तमार्गद्वारत्वेनापि तस्य प्रस्तुतत्वमित्यपि द्रष्टव्यमित्याह ।

२. अतः—यथोक्तरीत्याऽऽदित्यस्य प्रस्तुतत्वात् तदुपस्थापितमपि यदुपस्थापितमवधानं युक्तं चेति भावः । ३

पात्रेणोष्ठं वस्त्वपिधीयत इति । ४. एवमिति । ५. तदिति अपिहितमित्यर्थं

इत्याह । भ्याम्यं ब्रह्म । ६. सत्यस्य ब्रह्मणो रवेः । ७. तथाऽपि—गायत्र्यास्तुरीयपादवेऽपि । ८.

"जगत्पुणाति वृष्ट्यायैः पूषाऽऽदित्यस्तव स्मृतः" इति वार्तिके ॥ ४ ॥

'मुखं मुख्यं स्वरूपं तदपिधानं पात्रमपिधानमिव दर्शनप्रतिबन्धकारणं' तत्त्वं हे पूषञ्ज-
गतः पोषणात्पूषा सत्रिनाऽवाधृष्वपावृतं कुरु दर्शनप्रतिबन्धकारणमपनयेत्यर्थः । 'सत्य-
धर्माय सत्यं धर्मोऽस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै' त्वदात्मभूतापेत्यर्थः । दृष्टये दर्शनाय ।
पूषन्नित्यादीनि नामान्यामन्त्रणार्थानि सवितुः । एकप्यं एकश्चासावृषिद्वैचक्यिदर्शनादृषिः ।
स हि सर्वस्य जगत आत्मा चक्षुश्च सन्सर्वं पश्यत्येको वा गच्छतीत्येकपिः "सूर्यं एकाकी
चरति" इति मन्त्रवर्णात् । यम सर्वं हि जगतः संयमनं त्वत्कृतम् । सूर्यं 'सुष्ठ्वीरयते
तोयादीन् रसान् रश्मीन् प्राणान्घियो वा जगत इति व्युत्पत्तेः ।

'प्राजापत्यं प्रजापतेरीश्वरस्यापत्यं हिरण्यगर्भस्य वा हे प्राजापत्यं व्यूहं 'विगमय
रश्मिन् । समूहं "संक्षिपाऽऽत्मनस्तेजो येनाहं शक्नुया द्रष्टुम् । तेजसा ह्यपहतदृष्टिर्न शक्नुयां

हिमवृष्ट्याविदानेनेति शेषः । अवावरणकरणमेव विवृणोति—दर्शनेति । सत्यं परमार्थस्वरूपं ब्रह्म
धर्मं स्वभाव इति यावत् । मनु दर्शनार्थं "सप्तप्रतिबन्धकनिवृत्ती पूषणि नियुपते किमित्ये" "सबोध्य"
नियुक्त्यन्ते तत्राऽऽह—पूषन्नित्यादीनीति । दर्शनादृषिरित्युक्तं विशदयति—स हीति । "सूर्यं आत्मा
'जगतस्तस्यद्युपशब्ध' इति मन्त्रवर्णमाधित्योक्तम्—जगत आत्मेति । 'चक्षुमित्रस्य वरणाभ्याग्ने' ।
इत्येतदाधित्याऽऽह—चक्षुश्चेति ।

स्वाभाविका रश्मियो न विगमयितुं "शशया इत्याशङ्क्याऽऽह—समूहेति । मदीयतेज-

शही जाती है । "सत्यस्य मुखम्" अर्थात् सत्यब्रह्म रवि का मुख्य स्वरूप टका हुआ है । उसके आवरणक
पात्र को, जो दक्कन के समान है एव आदित्यमण्डल के दर्शन म प्रतिबन्ध का कारण है,
'पूषन्' अर्थात् जगत् के पोषण करने वाले हे पूषा सवितृ देव । यथोक्त द्वार यानी दर्शन मे प्रतिबन्ध-
कारण को "अपावृणु" अर्थात् अनावृत कर दो अथवा हटा दो । 'सत्यधर्माय' अर्थात् अपने स्वरूप
मुख (दर्शनार्थी) सत्यधर्मा के लिए "दृष्टये" अर्थात् दर्शन के लिए उसे अनावृत कर दो । सविता के
'पूषन्' इत्यादि नाम उसके सबोधन के लिए हैं । "एकप्यं" अर्थात् 'ऋषि दर्शनात्' इस निर्वचन से
हे एकाकी मन्त्रद्रष्टा सूर्य । न्योवि वह सारे जगत् की आत्मा और चक्षु होकर सब कुछ देखता है,
एकाकी जाता है, इसलिए एकपि है । "सूर्यं एकाकी चलता है" ऐसी श्रुति भी है । 'यम' अर्थात्
सारे जगत का नियन्त्रण तुम्हारे द्वारा किया हुआ होने मे यम है । 'सूर्यं' सबोधन, जगत् के
जलादि रस, रश्मि, प्राण और बुद्धि को मम्यकनया प्रेरित करता है, इस व्युत्पत्ति मे है ।

'प्राजापत्यं' अर्थात् ईश्वर अर्थात् हिरण्यगर्भ के पत्र होने के कारण हे प्राजापत्य । रश्मियो

- १ मुख वा द्वारमाह । २ मण्डलमिति शेषः । ३ यथोक्तं मुखम् । ४ मण्डलम् । ५ मर्यादमयिति
—सत्या अक्षितया सायसङ्ख्यादिश्रुत्या धर्मा यस्य ममेत्यपि व्याचष्टः । ६ तव दर्शनाधिके । ७
समाननार्थानोप्यह । ८ सुष्ठ्विद्यादि—स्वीरणाच्छीतोतोयादे सूर्यस्तेनासि धर्मद' इति वातिके ॥ ८ ॥
९ प्राजापतेति । अत्र कातिके—'प्राजापति पर ब्रह्म कारण तदपरायस । प्राजापत्योऽसि तेन त्व गीयसे
विपुसश्रुते' ॥ ८ ॥ इति । १० विनाशयेति यावत् । ११ सकोच्यः । १२ दर्शनप्रतिबन्धकनिवृत्ती ।
१३ धये—एकपिप्रभृतय । १४ मदीय—प्राप्त्यः । १५ जङ्गमस्य शवावरस्य च । १६ स्वाभाविक-
स्य तत्त्वाभोगादिति भावः ।

त्वत्स्वरूपं मञ्जसा द्रष्टुम् । विद्योतन इव रूपाणामत उपसंहर तेजः । यत्ते तव रूपं सर्व-
कल्याणानामतिशयेन कल्याणं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि । पश्यामो वयं वचनव्यत्य-
येन । योऽसौ भूभुवःस्वर्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकृतित्वात्पुरुषाः सोऽहमस्मि
भवामि । अहरहमिति चोपनिषद् उक्तत्वादां वित्वाक्षाक्षुष्योस्तदेवेदं परामृश्यते सोऽहमस्-
यमृतमिति संबन्धः । भवामृतस्य सत्यस्य शरीरपाते शरीरस्यो यः प्राणो वायुः सोऽनिलं
वाह्यं वायुमेव प्रतिगच्छतु । तथाऽन्या देवताः स्वां स्वां प्रकृतिं गच्छन्तु । अथेदमपि
"भस्मान्तं सत्पृथिवीं यातु" शरीरम् ।

सक्षेपं विनाऽपि ते मत्स्वरूपदर्शनं स्यादित्याशङ्क्याऽह—तेजसा हीति । विद्योतनं विद्युत्प्रकाशस्त-
स्मिन्सति रूपाणां स्वरूपमञ्जसा चक्षुषा न शक्यं द्रष्टुं तस्य चक्षुः"मोवितात्तयेत्याह—विद्योतन
इवेति । तेज सक्षेपस्य प्रयोजनमाह—यदिति । किञ्च नाह त्वा भृत्यवद्याचेऽभेदेन ध्यातत्वादित्याह—
योऽसाविति । व्याहृतिशरीरे पुरुषे कथमहमिति प्रयोगोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽह—अहरिति । तदेवेद-
मित्यहुरूपमुच्यते । ननु तव शरीरपातेऽपि नामृतत्वमाप्यात्मिकवाध्यादिति वन्धादत आह—ममेति ।
वायुग्रहणस्योपलक्षणत्व विवक्षित्वाऽह—तथेति । देहस्य देवतानामप्रतिवन्धकत्वेऽपि देहस्यैव "सूक्ष्मतां
गतस्य प्रतिवन्धकत्वात् तवामृतत्वमित्याशङ्क्याऽह—अथेति ।

को 'व्यूह' अर्थात् विनष्ट कर दो । 'तेजो समूह' अर्थात् अपने तेज को सकुचित कर दो, जिसने मैं
तुम्हे देख सकूँ । (तुम्हारे) तेज मे अपहृत दृष्टि वाला होकर तुम्हारे स्वरूप को रूपो मे बिजली की
चमक की तरह साक्षात् देखने मे असमर्थ है, इसलिये तेज का उपसंहार कर दो । "यत्ते रूप
कल्याणतमम्" अर्थात् जो तुम्हारा रूप निखिल आनन्दो का आनन्द है, उसे मैं देखता हूँ । वचन
व्यत्यय से 'हम देखते हैं' यह अर्थ है । जो यह 'भू, भुव और स्व.' इन व्याहृति रूप अवयवों वाला
"पुरुष" अर्थात् पुरुषाकृतिक होने से पुरुष है, वह मैं ही हूँ । 'आदित्य और 'चाक्षुष' पुरुष के 'अहर'
और 'अहम्' ये रहस्य नाम कहे गये हैं—उसी का यहाँ विचार किया जाता है । वह मैं अमृतस्वरूप
हूँ—ऐसा इसका संबन्ध है । शरीर छूटने पर मुझ अमृतरूप सत्य का जो "वायु" अर्थात् शरीरस्य
आध्यात्मिक वायु प्राण है, वह 'अनिलम् अर्थात् आधिदैविक बाह्य वायु को प्राप्त हूँ । तथा अन्य

१ सम्बन्धाधादा । २ निखिलानन्दानाम् । ३ सत्वज्ञानादिलक्षणम् । ४ अनुभवामि । ५ अथे
—अस्मान्स्मद्विशेषेति बहुत्वोन्वयतुरोधादत्रापि तैव मा भू पूर्वपरवैरूप्यमिति न्याय्यति मन्वान आह—एवमामो
वयमित्यादि । एवमस्मि भवामीत्यत्राप्युहम् । ६ रहस्यनाम्न । ७ उ ५ ७ १२ । ७ आदित्य
चाक्षुषोरिति । मण्डलचक्षुर्गंतयो उपसंख्योपासकरवाग्या भेदमाशङ्क्य समाहितं वातिके—"स्यानमात्राद्य ती
भिन्नो वस्तुतो नाऽऽवयोभिदा" ॥ ११ ॥ इति । ८ आध्यात्मिक । ९ आधिदैविकम् । १० चक्षुरादि-
देवता । ११ भस्मान्तमिति—भस्मान्तलिङ्गात्कमिण एतदुपस्थानमिति गम्यत । तदुक्तं वातिके—"भस्मान्त-
मिति लिङ्गाच्च कमिण स्यादुपस्थिति । न तु सन्धासिनो न्याय्या साहाय्यमवहेतुत् ॥ १३ ॥ इति । १२
मत्स्यैवाधिकरणम् । १३ मोपित्वात्—चक्षुस्तिरस्वर्तृत्वात्तन्निमीलनशीलत्वादिति यावत् । १४ सूक्ष्मता-
मिति—कृतात्मित्यर्थः । स्वस्थदेवताप्रयुक्त सामर्थ्यं गृह्णतिमिति यावत् । 'सूक्ष्म दम कृत्वं तन्वि'त्यत्र
इत्याह । सूक्ष्मतामिति पाठ सम्बन्ध प्रतिपद्ये ।

अथेदानीमात्मनः 'संकल्पभूतां मनसि द्यवस्थितामग्निदेवतां प्रार्थयते—ॐ क्रतो ।
 ॐमिति क्रतो इति च संबोधनार्थादेव । ॐकारप्रतीकत्वादोम् । 'मनोमयत्वाच्च' 'क्रतुः ।
 'हे ॐ हे क्रतो स्मरो 'स्मृतंध्यमन्तकाले हि 'त्वस्मरणव्यशाधिष्टा गतिः प्राप्यते' इतः प्रार्थयते
 यन्मया 'कृतं तत्स्मर पुनरुक्तिरादरार्था । किञ्च हेऽग्ने नय प्रापय सुपया शोभनेन "मार्गेण
 राये घनाय कर्मफलप्राप्तय इत्यर्थः । न दक्षिणेन कृष्णेन पुनरावृत्तियुक्तेन किं तर्हि शुक्ले-
 नैव सुपया" इत्यान्विश्वानि सर्वाणि हे देवं वयुनानि प्रज्ञानानि सर्वप्राणिनां "विद्वान् ।
 किञ्च पुयोद्यपनय विपोजयास्मदस्मत्तो जुहुराण "कुटिलमेतः पापं पापजातं सर्वम् । तेन

"मन्त्रान्तरमक्षरार्थं ध्याकरोति—अथेदानीमित्यादिना । अथतीर्थोभीद्वयः सर्वस्य रक्षक-
 स्तस्य जाठराग्निप्रभोक्त्येन ध्यातव्यादग्निशब्देन निर्देशः । एवमग्निदेवतां संयोज्य "निपुङ्क्ते—स्मरेति ।
 इष्टं गतिं जिगमिषता किमिति स्मरणे देवता निपुङ्ग्यते तत्राऽऽह—त्वत्तरणेति । प्रार्थनान्तरं समुच्चि-
 नोति—किञ्चेति । उक्तमेव ध्यानक्ति—नेत्यादिना । इत्यादिना प्रवेति पूर्वेण संबन्धः । प्रज्ञानप्रहृष्टं "कर्मा-
 दीनामुपलक्षणम् । प्रार्थनान्तरं दक्षमिति—किञ्चेति । पापवियोजनफलमाह—तेनेति । भयङ्कराराधितो

चक्षु आदि देवता अपनी-अपनी प्रकृति को प्राप्त हो, तथा यह दारो र भी भस्वीभूत होकर पृथिवी
 को प्राप्त हो जाय ।

अब यहाँ मन मे व्यवस्थित अपने ध्यानात्मक अग्नि देवता की स्तुति की जाती है—“ॐ
 क्रतो” यहाँ दोनों पद संबोधन के लिए हैं । आद्वार प्रतीक होने के कारण 'ॐ' है तथा मनोमय
 होने के कारण क्रतु (सकल्यरूप) है । हे ॐ 'हे क्रतु' 'स्मर' अर्थात् मन्त्र कर्मोपासना को स्मरण
 कर; अन्तर्वाल मे तुम्हारे स्मरण से ही अभीष्ट गति प्राप्त की जाती है, इसलिए प्रार्थना की जाती है
 कि मैंने जो कर्मोपासना की है, उसका स्मरण कर । द्विरुक्ति आदर के लिए है । तथा हे अग्नि ! हमें
 'राये' अर्थात् धन अथवा कर्मफल की प्राप्ति के लिए "सुपया" अर्थात् (पुनरावृत्ति रहित) सुन्दर
 मार्ग से 'नय' अर्थात् ले चलो । पुनरावृत्तियुक्त दक्षिण अथवा धूममार्ग से मत ले चलो, तो किस
 मार्ग से ले चलें ? शुक्ल मार्ग से ही हम ले चलो । हे देव ! "अस्मात्" यानी अपने उपासकों के
 "विश्वानि वयुनानि" अर्थात् सभी प्राणियों के प्रज्ञानो को तुम जानते हो, हमारे "जुहुराणम्" अर्थात्
 कुटिल "एन" अर्थात् सभी पापसमूहो को हमसे 'युयोधि' दूर अथवा अलग कर दो । तुम्हारे प्रसाद

- १ ध्यानात्मकसंकल्पत्वात्वाद् । २ शोमित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमुक्त्वा तदक्षराणि व्याचष्टे—शोमितिति ।
- ३ मनोमयत्वाद्—मनसा ध्यानेनैव लभ्यत्वान्मनोमयत्वम् । ४ इ उ ५ ८ १ । ५ सकल्यरूपः ।
- ६ पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—हे शोमिति । ७ मन्त्रकर्मोपासनम् । ८ प्रतीके प्रामादिकत्वच्छब्द-
 रहितपाठाभिप्रायेणेदमिति बोध्यम् । ९ अतः—पुरुषानुष्ठिनोपायस्य त्वत्स्मृतिविषयत्वे नैवोपेयप्राप्तिहेतुत्वा-
 दित्यर्थः । १० कर्मोपासनं च । ११ मार्गेण—उत्तरेण पुनरावृत्तिरहितेनेत्यर्थः । १२ त्वदुपासकान् ।
- १३ विद्वान्शब्दं विद्वत्त्वादिति हेतुरस्य गर्भः । १४ कुटिलत्व देवयानप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वम् । १५ मन्त्रा-
 न्वरमिति । अत्र पाठान्तरम् एवमादित्योपस्थानमुक्त्वा तदात्मकस्य "अथमग्नि"रिति प्रकृतस्याग्नेरुपस्थान
 प्रस्तौति—अथेदानीमित्यादित्येति । १६ निपुङ्क्ते इति—स्मृतंध्यमन्त इति शेषः । १७ कर्मादीना-
 मिति—धादिना हृदीयेति कर्तव्यतादयो धाह्या ।

पापेन विद्युक्ता वयमेष्याम उत्तरेण पथा त्वत्प्रसादात् । 'किंतु वयं तुभ्यं परिचर्या' कर्तुं न शक्नुमो नूयिष्ठा बहुतमा ते तुभ्यं नमर्त्तुं नमस्कारवचनं विधेम नमस्कारोक्त्या परिचरेमेत्यर्थः । अन्यत्कर्तुंमशक्ताः सन्त इति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्म्ये पञ्चमाध्यायस्य

सप्तदश ब्राह्मणम् ॥७ ॥

इति श्रीमद्भोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजका-

चार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्म्ये

पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

भवता यद्योक्तं फलं साधयिष्यामीत्याशङ्क्याऽऽह— किंत्विति । बहुतमत्वं भक्तिश्रद्धातिरेकयुक्तत्वं । यागादिनाऽपि परिचरणं क्रियतामित्याशङ्क्याऽऽह— अन्यदिति । सततनमस्कारोक्त्या परिचरेमेति पूर्वोक्तं सवन्धः । अशक्तिश्च मुमूर्षावशादिति द्रष्टव्यम् । इतिशब्दोऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्म्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य

सप्तदश ब्राह्मणम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमद्भगवदानन्द-

ज्ञानविरचितायां श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्म्यटीकायां

पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

से उन पापों से रहित होकर हम (पुनरावृत्तिरहित) उत्तरायण पथ में जायेंगे । किन्तु हम तुम्हारी (प्रसादानुकूल) पूजा करने में समर्थ नहीं हैं । 'भूयिष्ठाम्' अर्थात् अनेक बार 'ते' अर्थात् तुम्हें 'नमर्त्तुं विधेम' अर्थात् नमस्कार वचन कहें यानी नमस्कार उक्ति से तुम्हारी पूजा करें । (मरणकाल आसन्न होने से) अन्य कुछ भी करने में हम समर्थ नहीं हैं ।

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य शाङ्करभाष्य की डॉ० उमेशानन्द

शास्त्री कृत 'कुमुदतोपिणी' टीका संपन्न हुई ॥ ५ ॥

१ किंतु वयमित्यादि । स्वास्थ्यावस्थापापेवास्माभिर्ज्ञानकर्मणोत्पुष्टितत्वादपुना च मुमूर्षादशामां हृत्यान्तरे वाक्यभावाद्यन्यथा भक्तिश्रद्धाभ्यां नमोमात्रं भवतेऽन्वत् उच्ये सर्वोधिभवेन त्वया श्राह्यमापुरवसाने वाच सप्तानां क्षमाप्रसादो कर्तव्यवित्त्वर्थः ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च
स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च
श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां वृषभति य एवं
वेद ॥१॥

जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है, वह अपने सजातियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो कोई इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह अपने सजातियों में तथा और भी जिन लोगों में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ बनना चाहता है, उनमें भी वह ज्येष्ठ-श्रेष्ठ बन जाता है ॥ १ ॥

ॐ प्राणो गायत्रीत्युक्तम् । कस्मात्पुनः कारणात्प्राणभावो गायत्र्या न पुनर्वागादि-
मात्र इति । यस्माज्ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च प्राणो न वागादयो ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चमाजः । कथं ज्येष्ठत्व

कारो वमादित्रय ब्रह्माब्रह्मोपासनानि तत्फल तदर्थं गतिरादित्याद्युपस्थानमित्येषोऽर्थः
सप्तमे निवृत्त । सप्रति प्राधान्येनाब्रह्मोपासन सफल श्रीमन्धा' विकर्म च वक्तव्यमित्येष्टमभ्यासमार-
भनालो ब्राह्मण'सगतिमाह—प्राण इति । तस्मात्प्राणो गायत्रीति युक्तमुक्तमिति शेषः । प्राणस्य
ज्येष्ठत्वादि नाद्यापि नियमितमिति शङ्कित्वा परिहरति—कथमित्यादिना । प्रकारान्तरेण पूर्वोत्तर-

प्राण गायत्री है—ऐसा पहले कहा जा चुका है। तो फिर गायत्री का प्राणभाव किस कारण से है, वागादिभाव क्यों नहीं है? क्योंकि प्राण ज्येष्ठ है, वागादि ज्येष्ठता और श्रेष्ठता के योग्य नहीं हो सकती। प्राण का ज्येष्ठत्व और श्रेष्ठत्व किसलिए है, इस आशङ्का को करके उसके निर्धारण

१ वृ च ५ १६ ५ । २ इति जिज्ञासावाभाह । ३ प्रादिना गायत्र्युपस्थानमात्रेण चोपस्थान
ब्राह्मम् । ४ प्रादिना पुत्रमन्य । ५ उत्पाप्योत्पापकत्वकृष्णम् ।

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेदेत्यादि । धराहृवर्षातिकाद्यापिस्तदाहि—समान सप्तमोऽध्याय प्राप्तावसर उच्यते ।
प्रष्टम जितकाण्डेऽस्मि पूर्वकाण्डेष्वनुक्तित्वात् ॥ गायत्र्या प्राणभावोक्ति कस्मादेतेो पुरोदिता । न तु वागादि-
भावोऽस्यास्तत्र हेतुरिहोच्यते ॥ ज्येष्ठ श्रेष्ठो यत् प्राणो न तु वागादयस्तत् । प्राणात्मभाव एवोक्त प्राणत्वसर्व-
मेव तु ॥ उपास्त्यन्तरमवैतत् न यत् विवक्षितम् । न तूक्तशेषतस्तस्या भिन्नोरास्तित्व कारणात् ॥ मन्यकमणि
ये भन्ना पञ्च ज्येष्ठ्यादय भूता । प्राणारम्भेदिनस्तेषो प्रयोगोऽत्रोपबन्धते ॥ पृथग्वा फलनिर्देशाद्यो ह वा इति
पञ्चया । प्राणविद्या पृथङ्मन्यान्मन्यस्तु महिमायिन ॥ फलेऽन्यत्तन्निर्विष्टे वाच्यशेषगत फलम् । तस्मिन्सति
दि सद्भावाद्वागादीना न त विना ॥ शास्त्रेनोक्ता धारीरेऽस्मिन्वृत्ति प्राणस्य जीवकम् । पूर्वमादिशति प्राणो
देह पञ्चाच्च मुञ्चति ॥ ज्येष्ठ श्रेष्ठश्च सर्वेषां प्राणानामाश्रयो हि सः । श्रेष्ठता वक्ष्यमाणेन प्रत्येनास्य

श्रेष्ठत्वं च प्राणस्येति' तन्निर्विधारविषये'दमारभ्यते । अथवोवथयजुःसामक्षत्रादिभावं प्राणस्यैवोपासनमभिहितं सत्स्वप्नस्थेषु चक्षुरादिषु । तत्र हेतुमात्रमिहाऽऽनन्तर्येण संबध्यते । न पुनः पूर्वशेषता । विवक्षितं तु 'खिलत्वावस्थ' काण्डस्य पूर्वत्र यदनुवर्तं विशिष्टफलं प्राणविषयमुपासनं तद्वक्तव्यमिति ।

ग्रन्थ'सगतिमाह—अथवेति । आदिशब्दाव'सर्वेश्रेष्ठघादिनिर्देशः । तत्रेति प्राणस्यैव विशिष्टगुणकस्योपास्यत्वोक्तिः । हेतुज्येष्ठत्वादिस्तन्मात्रमिहानन्तरग्रन्थे कथ्यत इति शेषः । तत्रेवं पूर्वग्रन्थस्य हेतुमत्त्वाद्दुस्तरस्य च हेतुत्वादानन्तर्येण पीर्षापर्येण पूर्वग्रन्थेन सहोत्तरग्रन्थजातं संबध्यत इति फलितमाह—आनन्तर्येणेति । वक्ष्यमाणप्राणोपासनस्य पूर्वोक्तोक्त्या'द्युपास्तिशेषत्वमाशङ्क्य गुणभेदात्फलभेदाच्च नैवमित्यभिप्रेत्याऽह—न पुनरिति । किमिति प्राणोपासनमिह स्वतन्त्रमुपदिश्यते तत्राऽह—खिलत्वादिति । इतिशब्दो ब्राह्मणारम्भोपसंहारार्थः ।

करने की इच्छा से यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है, अथवा चक्षु आदि अन्य इन्द्रियों के रहते हुए भी उक्थ, यजुः, साम और क्षत्रादि भावों से प्राण की उपानना बतलायी गयी है । विशिष्टगुणक प्राण के (ज्येष्ठत्वादि) हेतु मात्र को यहाँ अनन्तर ग्रन्थ से कहा जाता है । पूर्व ग्रन्थ का यह शेष नहीं है । इसका विवक्षित विषय विशिष्ट फलवती प्राणोपासना है । खिलकाण्ड होने के कारण जो उस अध्याय में नहीं, उसे इस अध्याय में बतलाना है ।

- १ प्राशङ्क्य । २. पृथग्रहान्गणम् । ३ पञ्चमाध्यायमारभ्य खिलकाण्डम् । ४ हेतुहेतुमद्भावरूपाम् । ५ अत्रवैशिष्ट्यादीति—अत्रवैशिष्ट्यं च योति गुणवत्त्वं सर्वभूताभ्रयत्वमिति यावत् । अत्रत्यादिना प्राणवैशिष्ट्यं गृह्यते । तच्च रमिति गुणवत्त्वं सर्वभूतव्यवहारप्रयोजकत्वमिति यावत् । स्पष्ट चेदं वृ. उ. ५।१।१। इत्यत्र । ६ आदिना गायत्र्यादिप्राहम् ।

विश्रान्थते" ॥ १-६ ॥ इति । पूर्वोत्तराध्यायसंबन्धमाह—समाप्त इति । धोङ्कारो दमादित्रय ब्रह्माब्रह्मोपासनानि तत्फलानि तदर्थं गतिरादित्याद्युपस्थानभिरियेवमयं मत्तमस्तावदध्यायोऽस्मिन्खिलकाण्डेऽतिवृत्तः मप्रति प्राधान्येनाब्रह्मोपासनानि सफलानि श्रीमन्त्यादिकर्म चानुक्तं वक्तव्यमित्युक्तोऽध्याय आरभ्यत इत्यर्थः । सप्तमादष्टमस्याऽऽनन्तर्यं हेतुमाह—प्राप्तेति । ब्रह्मोपासनसंबन्धे विचारे प्राधान्येन व्यतीते सत्यब्रह्मोपास्तिसंबन्धविचार प्राधान्येन कर्तुमध्यायान्तरं न हि प्रधानविचारास्तेऽप्रधानविचारः सम्भवतीति भावः । खिलकाण्डस्यैवानुपयुक्तत्वात्कथमित्यमित्याशङ्क्याऽह—पूर्वकाण्डेऽपि । कर्मकाण्डेन सह बहूक्तिः । अपुनरक्त्यं सद्भावबुद्ध्युक्तं तदित्यर्थं ॥ अध्यायसंबन्धमुक्त्वाऽऽद्यब्राह्मणस्यावांतरसंबन्धं चोद्यपूर्वकमाह—गायत्र्या इति । तत्रेति वागादित्यागेन गायत्र्याः प्राणभावोक्ताविति यावत् इहेत्यनन्तरबाह्यणोक्तिः ॥ जोऽमी हेतुस्त्वियेषामापाह—ज्येष्ठ इति । यथोक्तप्राणोपासनस्यान्येषेनेति चेत्तत्र किमुवथाद्युपास्तिशेषता गायत्र्युपास्तिशेषता वा मन्थकर्मशेषता वेति चिकित्स्याऽऽद्य प्रत्याह—मानन्तर्यार्थमिति । वागादिषु सत्स्ववि तत्त्वागेन प्राणस्यैवोक्त्यादिगुणस्योपास्तिसक्तता तत्र हेतुत्वेन ज्येष्ठत्वात्कथ्यते न चैयमुपास्तिसक्याद्युपास्तिशेषो ग्रन्थानन्तर्यघटनायैव हि ज्येष्ठत्वादि तन्मात्रोपास्यत्वे हेतुत्वेन संबध्यते गुणभेदात्फलभेदाच्च नास्यात्सम्भेदेति भावः ॥ द्वितीयद्वयमिति—उपास्त्यनन्तरमिति । ज्येष्ठत्वादिगुणकप्राणोपास्ति, स्वतन्त्रत्वेन हेतुमाह—फलवदिति । एववारायंमाह—न विवक्षितं । उक्तग्रन्थेन गायत्र्युपास्तिसंभेदे । यद्यो प्राणोपासनार्था । गुणभेदाच्च निप्रत्ये सति नास्यान्य

यः कश्चिद्वा इत्यवधारणार्थो । यो 'ज्येष्ठश्रेष्ठगुणं वक्ष्यमाणं वेदाती मद्यत्वेव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । एवं फनेन प्रलोमितः सन्प्रशनायाभिमुखीभूतस्तस्मै चाऽऽह'—प्राणो वं ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । कथं पुनरवगम्यने प्राणो ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चेति । यस्मान्निपेककाल एव शुक्रशोणितसंबन्धः 'प्राणादिकलापस्याविशिष्टः । तेषांऽपि नाप्राणं शुक्रं 'विरोहतीति प्रथमो वृत्तिलाभः प्राणस्य चक्षुरादिभ्यः । अतो ज्येष्ठो यथा प्राणः । निपेककालादारभ्य गर्भे

एव ब्राह्मणारम्भं प्रतिवाद्याक्षराणि व्याचष्टे—यः कश्चिदित्यादिना । यच्छब्दस्य पुनरुपादानमन्वयार्थम् । निपालयोरर्थमवधारणमेव प्रागुक्तं प्रकटयति—भवत्येवेति । प्रशनाय कोऽसौ ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चेति प्रश्नस्तदयमिति यावत् । प्राणस्य ज्येष्ठत्वादिकमाक्षिपति—कथमिति । "तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । तस्मान्ज्येष्ठत्वादिकं 'तुल्यमेवेति शेषः । संबन्धाविशेषमङ्गीकृत्य ज्येष्ठत्वं प्राणस्य साधयति—तथाऽपीति । "उक्तमेव समर्थयते—निपेककालादिति । "तत्रापि विप्रतिपन्नं

"य." इस मन्त्र में 'हु' और 'वा' यह दोनों अव्यय निर्धारण के लिए हैं । जो भाग बतलाये जाने वाले ज्येष्ठ-श्रेष्ठ गुण को जानता है, वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ ही हो जाता है । इस प्रकार के फल से प्रलोमित हुआ शिष्य जब प्रश्न के लिए अभिमुख होता है तो उससे (आचार्य मुख में) श्रुति कहती है । प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है । यह किस प्रकार जाना जाता है कि प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है । बीजा-

१. ज्येष्ठश्रेष्ठगुणमिति—भावप्रधानो निर्देशो ज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वगुणमित्यर्थः । एवमपेक्षि बोध्यम् । २. श्रेष्ठश्चेति—स्वानामिति शेष । ज्ञातीनामिति तदर्थः । ३. शिष्यः । ४. आचार्यः । ५. न प्राणस्यैवेत्याशयः । ६. तथाऽपि—आनिपेक कलापस्य शुक्रसंबन्धाविशेषेऽपि । ७. अप्राणम्—मन्वद्वृत्तिकप्राणसंबन्धद्वयम् । ८. न विरोहति—न कलमबुद्बुदादिपरिणाम जनयतीत्यर्थः । ९. अतोः प्रथम वृत्तिलाभात् । १०. तत्र प्राशेषे । ११. कलापस्य । १२. उक्तमेव—प्राणस्य ज्येष्ठत्वमेवेत्यर्थः । १३. तत्रापि—प्राणस्य गर्भ-पोषकत्वेऽपि ।

शेषतेति हेत्वन्तरमाह—भिन्नेति ॥ तृतीयं शङ्कते—मन्येति । प्राणात्मवेदिनो यन्मन्याभ्य वर्मं वक्ष्यते तत्र ज्येष्ठस्य स्वाहेत्यादयो मन्त्रा अतुतास्तेषामुपयोगोऽस्मिन्ब्राह्मणे कथ्यते तदर्थस्यात्रोपास्य-वोक्तेरतो मन्यवर्म-शेषता यद्योक्तोपास्तेर्युक्तेत्यर्थः ॥ पञ्चेति च्छान्दोग्यश्रुत्यनुसारेणोक्तं रूपमिति—पृथग्वेति । वासन्द्भ्रोच-निरासार्थः । न हि मन्यकर्मशेषता प्राणोपास्तेर्युक्ता यो ह वै ज्येष्ठं नत्यादिना मन्यवर्मणं पृथगेव तस्या बहुधा फलाभिलाषात्तद्वैश्वर्थायनो वित्तसिद्धये विधीयते तस्मात्पृथगेव प्राणविद्येत्यर्थः ॥ प्राणविदो मन्वाधिकारा-त्प्राणविद्यासि महत्त्वकनेत्याशङ्क्याऽऽह—फल इति । प्राणोपास्ते. स्वावाक्यस्यपत्रैर्नैव नैराकाङ्क्षात्त वाचकशेषस्य महत्त्व फल न वाधिक्वताधिकारादेकफलता दर्शाधिक्वतस्य योदोहनाधिकारे तद्वैश्वेदिति भावः । ब्राह्मणस्य स्वतन्त्रप्राणोपासितवियत्यत्वमुक्त्वा प्राणस्य ज्येष्ठत्वं व्युत्पादयति—तस्मिन्निति । प्राणविषयत्त च्छुध्य । न सत्त्वमिति शेष । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणज्येष्ठता सिद्धेत्यर्थः । प्रथमेवार्थो द्विपान्देन चोत्थते ॥ तत्रैव शास्त्रसंबाधमाह—शास्त्रेणेति । शरीरे प्राणस्य जीवन नाम वृत्तिर्वागदिवृत्तिस्तद्वैश्वेदया शास्त्रेणोक्तेति योजना । तदेवोदाहरति—पूर्वमिति ॥ अन्वयादिना शास्त्राचोक्तं निगमयति—ज्येष्ठ इति । श्रेष्ठत्व तस्य प्रतिजानीते—श्रेष्ठश्चेति । तत्र हेतुः—सर्ववामिति । सर्वप्राणाश्रयता प्राणस्यानीद्वैत्याशङ्क्याऽऽह—श्रेष्ठेनेति । तं हेत्यादिनेत्यर्थः ॥

पुष्यति प्राणः । प्राणो हि लब्धवृत्तौ पश्चात्क्षुरादीनां वृत्तिलाभः । अतो युवतं प्राणस्य ज्येष्ठत्वं चक्षुरादिषु । भवति तु कश्चित्कुले ज्येष्ठो गुराहीनत्वात् न श्रेष्ठः । मध्यमः कनिष्ठो वा गुणाढ्यत्वाद्भवेच्छ्रेष्ठो न ज्येष्ठः । न तु तथेहेत्याह—प्राण एव तु ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । कथं पुनः श्रेष्ठचमवगम्यते प्राणस्य तद्विह संवादेन दर्शयिष्यामः । सर्वथाऽपि तु प्राणं ज्येष्ठ-श्रेष्ठगुणं यो वेदोपास्ते स स्वानां ज्ञातीनां ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवति । 'ज्येष्ठश्रेष्ठगुणोपासन-सामर्थ्यात्स्वव्यतिरेकेणापि च येषां मध्ये ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भविष्यामीति बुभूषति भवितु-मिच्छति तेषामपि ज्येष्ठश्रेष्ठप्राणादर्शो ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवति । ननु वयोनिमित्तं ज्येष्ठत्वं तदिच्छातः कथं भवतीत्युच्यते । नैव दोषः । प्राणवद्वृत्तिलाभस्यैव ज्येष्ठत्वस्य

प्रत्याह—प्राणो हीति । ज्येष्ठत्वेनैव श्रेष्ठत्वे सिद्धे किमिति पुनश्चकिरित्याशङ्क्याऽह—भवति त्विति । ज्येष्ठत्वे सत्यपि श्रेष्ठत्वाभावमुक्त्वा तस्मिन्सत्यपि ज्येष्ठत्वाभावमाह—मध्यम इति । इहेति प्राणोक्तिः । प्राणश्रेष्ठत्वे प्रमाणाभावमाशङ्क्य प्रत्याह—कथमित्यादिना । 'पूर्वोक्तमुपासितफलमुप-संहरति—सर्वथाऽपीति । 'आरोपेणानारोपेण वैश्वर्यः । ज्येष्ठत्वस्य विद्याफलत्वमाक्षिपति—नन्विति । तस्य विद्याफलत्वं साधयति—उच्यत इति । इच्छातो ज्येष्ठत्वं दुःसाध्यमिति दोषस्यासत्त्वमाह—नेति । तत्र हेतुमाह—प्राणवदिति । यथा प्राणकृताशनादिप्रयुक्तचक्षुरादीनां वृत्तिलाभस्तथा प्राणो-पासकाधीनं जीवनमन्येषां स्वानां च भवतीति प्राणदर्शिनो ज्येष्ठत्वं न वयोनिबन्धनमित्यर्थः ॥ १ ॥

रोपण काल मे ही यद्यपि प्राणादिसमूह का युक्त और शोणित से संबन्ध है, तो भी बिना प्राण के कलल-बुद्बुद् आदि परिणाम को उत्पन्न नहीं करता । इस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियो की अपेक्षा प्राण को प्रथम वृत्तिलाभ होता है । इस प्रकार (प्राण के ही गर्भ वृद्धि मे हेतु होने के कारण) आयु में प्राण ज्येष्ठ है । गर्भाधान के प्रारम्भ से ही प्राण गर्भ का पोषण करता है । प्राण के वृत्तिलाभ ही जाने के पश्चात् ही चक्षु आदि की वृत्तिलाभ होता है । अतः चक्षुरादि इन्द्रियों मे प्राण का ज्येष्ठत्व होना उचित ही है । ऐसा भी होता है, किसी के परिवार कोई आयु मे ज्येष्ठ होता है किन्तु गुणहीन होने के कारण नहीं माना जाता । अथवा मध्यम या कनिष्ठ गुणयुक्त होने के कारण श्रेष्ठ तो हो सकते है किन्तु उन्हें आयु में ज्येष्ठ नहीं माना जाता । किन्तु यहाँ यह बात नहीं है । इसी को श्रुति कहती है । प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है । प्राणों की श्रेष्ठता किस प्रकार जानी जाती है, उसे इस ब्राह्मण मे 'ते हेमे प्राणाः' इत्यादि संवाद से प्रदर्शित करेंगे । जो प्राण के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ गुण की सदा 'वेद' अर्थात् उपासना करता है वह 'स्वानाम' अथवा अपने स्वजनो में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है । ज्येष्ठ-श्रेष्ठ गुणो-पासना के सामर्थ्य मे अपने जातिजनों से भिन्न लोगों में भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाऊँ; इस प्रकार 'बुभूषति' अर्थात् होने की इच्छा करता है । उन में यह ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्राणोपासक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है । किन्तु ज्येष्ठत्व तो आयु से ही होता है, इच्छा मात्र से ही किस प्रकार हो सकता है ? इस पर क्या

१ घट्टः—निपेककालमारभ्य चक्षुराद्यपेक्षया प्राणस्यैव गर्भवृद्धिहेतुत्वेन प्रथम वृत्तिलाभत् । २ तत् वैष्टम् । इह प्रकृतब्रह्मणो । नवादेन "ते हेमे प्राणाः" इत्यादिना । ३ उत्कृष्टगुणमहारामन्तरं कृत्वात्तरमाह ज्येष्ठेति । ४. ज्ञातिव्यतिरेकेण । ५ उपरुमीकम् । ६ प्राणे ज्येष्ठश्रेष्ठश्रेष्ठारसर्षेणारोपेण सन्वे चानारोपेणैत्यर्थः ।

'यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वारवं
वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां ब्रुभूपति
य एव वेद ॥२॥

जो वसिष्ठा को जानता है, वह अपने सजातियो मे वसिष्ठ हो जाता है। वाक् ही वसिष्ठा है (क्योकि अच्छे वक्ता धनादि संपन्न होकर सुख पूर्वक बसते हैं और सभा म दूसरो परास्त कर देते हैं)। जो ऐसी उपासना करता है, वह स्वजनो मे तथा अन्य लोगो मे भी वसिष्ठ हो जाता है, जिनमे वह वसिष्ठ बनना चाहता है ॥ २ ॥

विवक्षितत्वात् ॥ १ ॥

यो ह वै वसिष्ठा वेद वसिष्ठः स्वानां भवति । 'तद्दर्शनानुरूपेण फलम् । येषा च ज्ञातिव्यतिरेकेण वसिष्ठो भवितुमिच्छति तेषां च वसिष्ठो भवति । उच्यता तर्हि काऽसौ वसिष्ठेति । 'वाग् वै वसिष्ठा । वासयत्यतिशयेन वस्ते वेति वसिष्ठा । वाग्मिनो हि धनवन्तो वसन्त्यतिशयेन । प्राच्छादनार्थस्य वा वमैर्धसिष्ठा । अभिभवन्ति हि वाघा वाग्मिनोऽन्यान् । तेन वसिष्ठगुणवत्परिज्ञानाद्वसिष्ठगुणो भवतीति दर्शनानुरूपं

वसिष्ठत्वमपि प्राणस्पंदेति वक्तुमुत्तरवाक्यमुत्पाप्य ध्याचष्टे—यो हेत्यादिना । फलेन प्रलोभित शिष्य प्रश्नाभिमुख प्रत्याह—उच्यतामित्यादिना । वाचो वसिष्ठत्व द्विधा प्रविजानीते—वासयतीति । वासयत्यतिशयेनेत्युक्तं विश्वव्यति—वाग्मिनो हीति । वाग्मन्ति चेति द्रष्टव्यम् । वस्ते वेत्युक्तं स्फुटयति—प्राच्छादनार्थस्य वेति । प्राच्छादनार्थत्वमनुभवेन साधयति—अभिभवन्तीति । उक्तमुपास्तिकल निगमयति तेनेति ॥ २ ॥

जाता है। ऐसा कहन मे कोई दोष नहीं है क्योकि प्राण के समान यहाँ भी वृत्तिलाभ ही ज्येष्ठत्व रूप से विवक्षित है ॥ १ ॥

जो वसिष्ठा को जानता है, वह अपने निजजनो मे वसिष्ठ होना है। वागुपासना अनुरूप उसका फल भी है। अपने स्वजनो से व्यतिरिक्त लोगो मे वह वसिष्ठ होने की इच्छा करता है, इसलिए उनमे भी वसिष्ठ हो जाता है। तो फिर बतलाइये कि वह वसिष्ठा क्या है? वाक् ही वसिष्ठा है। प्रतिपाद रूप मे वास देती है प्रपवा करती है, इसलिये वसिष्ठा है क्योकि अच्छे व्याख्याता धनवान् होते हुए पूर्ण रूप मे वास करते हैं। 'वम' धान् प्राच्छादनार्थक है, उससे भी वसिष्ठा वदत की निष्पत्ति होती है। व्याख्याता अपनी वाणी से दूसरो को तिरस्कृत कर देते हैं। इसलिये वसिष्ठगुण युक्त पदार्थ की उपासना करने से वसिष्ठगुण वाता हो जाता है यही इसकी उपासना

१ इदानीं प्राणस्पंदं वसिष्ठत्वप्रतिष्ठावत्परमात्मनस्त्वप्रजातित्वलक्षणा पञ्च गुणा इति दर्शयितुं प्रथमं तेषा-
मेकैकस्य इमेण वाक्पशुश्रोत्रमनोरतसां गुणत्वमाह—'यो ह वा' इत्यादिपञ्चकण्डिकाभिः । २ वागु-
पासनानुरूपेण । ३ इत्युक्तं माह—वाग्वा इति ।

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतिष्ठति समे प्रतिष्ठति
दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च
प्रतिष्ठति प्रतिष्ठति समे प्रतिष्ठति दुर्गे य एवं
वेद ॥३॥

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह समान देश-काल में प्रतिष्ठित होता है और दुर्गम्य तथा दुर्भिक्षादि विषम काल में प्रतिष्ठित होता है । चक्षु ही प्रतिष्ठा है क्योंकि चक्षु से ही समान और दुर्गम देश-काल में प्रतिष्ठित होता है । अतः जो प्रतिष्ठा गुण वाले चक्षु की उपासना करता है, वह समान और दुर्गम देश में प्रतिष्ठित होता है ॥ ३ ॥

फलम् ॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा तां प्रतिष्ठागुणवतीं यो वेद
तस्यंतत्फलं प्रतिष्ठति 'समे देशे काले च । तथा दुर्गे विषमे च 'दुर्गमने च देशे दुर्भिक्षावो
वा काले विषमे । यद्येवमुच्यतां काऽसौ प्रतिष्ठा । चक्षुर्वै प्रतिष्ठा । कथं चक्षुषः प्रतिष्ठा-
त्वमित्याह—चक्षुषा हि समे च दुर्गे च दृष्ट्वा प्रतिष्ठति । अतोऽनुरूपं फलं प्रतिष्ठति
समे प्रतिष्ठति दुर्गे य एवं वेदेति ॥ ३ ॥

गुणान्तरं वक्तुं वाष्यान्तरमाशय व्याचष्टे—यो ह वा इति । समे प्रतिष्ठा 'विद्यां
विनाऽपि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । विषमे च प्रतिष्ठतीति सवन्धः । विषमशब्दरयाचंमाह—
दुर्गमने चेति । इदानीं प्रश्नपूर्वकं प्रतिष्ठां वक्ष्यति—यद्येवमिति । प्रतिष्ठात्वं चक्षुषो व्युत्पादयति—
कथमित्यादिना । विद्याफलं निगमयति—अत इति ॥ ३ ॥

का अनुरूप फल है ॥ २ ॥

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है; जिसमें प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, उसे प्रतिष्ठा कहते हैं
(इस व्युत्पत्ति से) उस "प्रतिष्ठा" अर्थात् प्रतिष्ठागुणवती (चक्षु) को जो कोई जानता है, उसका
यह फल है—वह (उच्च, नीच, गतं कण्टकादिरहित) सम देश तथा (सुभिक्षादियुक्त) सम काल में
प्रतिष्ठित होता है । तथा "दुर्गे" अर्थात् विषम और कण्टकादि से उपद्रुत देश में तथा दुर्भिक्षादि से
युक्त विषम काल में भी प्रतिष्ठित होता है । यदि ऐसी बात है तो कहिये वह प्रतिष्ठा क्या है ?
चक्षु ही प्रतिष्ठा है । चक्षु का प्रतिष्ठात्व किस प्रकार है ? इस पर धृति कहती है—चक्षु से सम
और विषम देश-काल को देखकर प्रतिष्ठित होता है । इसलिये इसकी उपासना के अनुरूप फल है—
जो इस प्रकार उपासना करता है, वह सम में भी प्रतिष्ठित होता है और विषम में भी प्रतिष्ठित हो
जाता है ॥ ३ ॥

१. समे देश इत्यादि—देशस्य समत्वमुच्चनीचगतंकण्टकादिरहित्यम् । कालस्य सुभिक्षादियुक्तत्वमिति ध्येयम् ।

२. दुर्गमने—कण्टकाद्युपद्रुते । ३. उपासितम् ।

यो ह वै संपदं वेद सऽ हास्मं पद्यते यं कामं काम-
यते श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभि-
सपन्नाः सऽ हास्मं पद्यते यं कामं कामयते य एवं
वेद ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेदाऽऽयतनऽ स्वानां भवत्या-

जो सपद को जानता है, वह जिस भोग को चाहता है, वही अच्छी प्रकार में उसे प्राप्त हो जाता है। श्रोत्र ही सपद है क्योंकि श्रोत्र में ही ये सब वेद भली प्रकार निष्पन्न होते हैं (अर्थात् श्रोत्र वाला ही वेद का अध्ययन करता और वेदविहित कर्मों के अधीन ही सभी भोग हैं)। जो ऐसी उपासना करता है, वह जिस भोग को चाहता है, वही उसे मध्यक् प्रकार में मिल जाता है ॥ ४ ॥

यो ह वै संपदं वेद संपद्गुणयुक्तं यो वेद तस्यैत्फलमस्मि विदुषे 'संपद्यते ह ।
किम् । य कामं कामयते स कामः । किं पुनः संपद्गुणकम् । श्रोत्रं वै संपत् । कथं पुनः
श्रोत्रस्य संपद्गुणत्वमिति । उच्यते । श्रोत्रे सति हि यस्मात्सर्वे 'वेदा अभिसंपन्नाः
श्रोत्रेन्द्रियवतोऽध्येयत्वात् । वेदविहितकर्मायत्ताश्च 'कामास्तस्माच्छ्रोत्रं संपत् । अतो
विज्ञानानुरूपं फलम् । सं हास्मं पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेद । आयतनमाश्रयस्तद्यो वेदाऽऽयतनं स्वानां भवत्यायतनं

वाश्रयान्तरमादाय विभजते—यो ह वै सपदमिति । प्रश्नपूर्वकं 'संपदुरपत्तिवाक्यमुपावत्ते—किं
पुनरिति । श्रोत्रस्य संपद्गुणत्वं श्युत्पादयति—कथमिति । अध्येयत्वमध्ययनाहंत्वम् । 'तथाऽपि कथं
श्रोत्रं संपद्गुणकमित्याशङ्क्याऽऽह—वेदेति । पूर्वोक्तं फलमुपसंहरति—अत इति ॥ ४ ॥

वाश्रयान्तरमादाय विभजते—यो ह वा आयतनमिति । सामान्येनोक्तमायतनं प्रश्नपूर्वकं

'यो ह वा सपद वेद' अर्थात् संपद्गुणयुक्त को जो भी उपासक जानता है, उस विद्वान् को इसका यह फल प्राप्त हो जाता है। क्या प्राप्त हो जाता है? जिस कामना को करता है, वह कामनापूर्ति हो जाती है। तो वह सपद्गुणयुक्तता क्या है? श्रोत्र ही संपत् है। श्रोत्र की सपद्गुण-रूपता किस प्रकार है? इस पर श्रुति कहती है—श्रोत्रेन्द्रिय के रहने पर ही यह सारे वेद प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि वे श्रोत्रेन्द्रिय युक्त पुरुष द्वारा अध्ययन किये जाते हैं। काम सपत्तियां वेदविहित कर्म के अधीन हैं, इसलिए श्रोत्र ही संपत् है। इसलिए उपासना के अनुरूप ही फलप्राप्ति होती है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह जो भी कामना करता है, उसे प्राप्त हो जाती है ॥ ४ ॥

'यो ह वा आयतन वेद' अर्थात् आयतन नाम आश्रय का है, उस आश्रयरूप आयतन को जो

१. सपद्यते—प्राप्नोति । २. वेदा इमे प्रसिद्धाः । ३. प्राप्ता भवन्ति । ४. काम्यसपत्तयः । ५. नः ।
६. संपत्स्वरूपमात्रबोधक वाक्यम् । ७. तथाऽपि—वेदप्राप्तेः श्रोत्रनिमित्तकत्वेऽपि ।

यतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनं^७ स्वानां भव-
त्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो
वं प्रजातिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६ ॥

जो आश्रय को जानता है, वह स्वजनो का आश्रय होता है तथा अन्यजनो का भी आश्रय हो जाता है। मन ही आयतन है (क्योंकि मन सकल्प के अर्धीन इन्द्रियाँ विषयो में प्रवृत्त होती हैं और विषय में निवृत्ति भी होती हैं) जो इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वजनो का आयतन होता है तथा अन्यजनो का भी आयतन होता है ॥ ५ ॥

जो कोई भी प्रजापति को जानता है, वह प्रजा और पशुओं से संपन्न होता है। रेत ही प्रजापति है (क्योंकि रेत से ही प्रजा की उत्पत्ति होती है)। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओं से संपन्न होता है ॥ ६ ॥

जनानामन्येषामपि । किं पुनस्तदायतनमिति । उच्यते—मनो वा आयतनमाश्रय इन्द्रि-
याणां विषयाणां च । मनःआश्रिता हि विषया आत्मनो भोग्यत्वं प्रतिपद्यन्ते । मनः-
संकल्पवशानि चेन्द्रियाणि प्रवर्तन्ते च । अतो मन आयतनमिन्द्रियाणां । अतो दर्शना-
नुरूप्येण फलमायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभिश्च संपन्नो भवति । रेतो
वं प्रजातिः । रेतसा प्रजननेन्द्रियमुपलक्ष्यते । अतद्विज्ञानानुरूपं फलं प्रजायते ह प्रजया

विशदयति—किं पुनरिति । मनसो विषयाश्रयत्वं विशदयति—मन इति । इन्द्रियाश्रयत्वं तस्य स्पष्टयति—मन सकल्पेति । पूर्ववत्फलं निगमयति—अत इति ॥ ५ ॥

गुणान्तरं वक्षु वाष्यान्तरं गृहीत्वा तदक्षराणि ध्याकरोति—यो हेत्यादिना । यामावी-
न्द्रियाणि तत्तद्गुणविशिष्टानि "शिष्ट्वा रेतो विशिष्टगुणमाचक्षणस्य प्रकरणविरोधः । स्यादित्याश-
ङ्क्याऽह—रेतसेति । विद्याफलमुपसहरति—तद्विज्ञानेति ॥ ६ ॥

कोई जानता है, वह निजजनो और अन्यजनो का भी आश्रय हो जाता है। वह आयतन क्या है ? इस पर श्रुति कहती है—मन ही इन्द्रियो और विषयो का "आयतनम्" अर्थात् आश्रय है। मन में प्रकाशित विषय ही आत्मा को भोग्यत्व रूप से प्राप्त होते हैं। मन के सकल्प के वशीभूत होकर इन्द्रियाँ स्व-स्व विषयो में प्रवृत्त और निवृत्त होती हैं। इसलिए (इन्द्रियप्रवृत्तिप्रयोजक होने में) मन ही इन्द्रियो का आश्रय है। इसलिये उपासना के अनुरूप ही फल प्राप्ति होती है। जो इस रूप में

१ प्रकाशिताश्च । २ अत—इन्द्रियप्रवृत्त्यादिप्रयोजकत्वात् । ३ सः । ४ तद्वि कोऽप्रापित्यत एव
—रेतो वा इति । ५ उपलक्ष्यते इति—इन्द्रियप्रकरणत्वात् । प्रजापतिहनुत्वाच्चेति भावः । ६ प्रजाप्यु-
पास्यनुगुणम् । ७ उपदिश्य ।

ते हेमे प्राणा अहृश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म
जगमुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच
यस्मिन्व उत्क्रान्त इदं शरीरं पापीयो मन्यते
स वो वसिष्ठ इति ॥७॥

ये वागादि प्राण 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार विवाद करते हुए प्रजापति के पास गये । पूछे जाने पर ब्रह्मा से ये बोले—भगवन् । हमसे से कौन वसिष्ठ है । ब्रह्मा ने कहा—तुमसे से जिसके शरीर से निकल जाने पर यह शरीर अत्यन्त पापी माना जाता हो, वही तुममें वसिष्ठ है (वसिष्ठ को जानते हुए भी दूसरे को अप्रिय न लगे, इसी अभिप्राय से प्रजापति ने वसिष्ठ को स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा) ॥ ७ ॥

पशुभिर्य एव वेद ॥ ६ ॥

ते हेमे' प्राणा वागादयोऽहृश्रेयसेऽहं 'श्रेयानित्येतस्मै प्रयोजनाय विवदमाना विरुद्धं वदमाना ब्रह्म जगुर्ब्रह्म गतवन्तो ब्रह्मशब्दवाच्यं 'प्रजापति गत्वा च तद्ग्रह्य होचुरुक्तवन्तः । को नोऽस्माक मध्ये वसिष्ठः कोऽस्माकं मध्ये वसति च वासयति च । तद्ग्रह्य तैः पृष्टं सद्धोवाचोक्तवद्यस्मिन्वो युष्माकं मध्य उत्क्रान्ते निर्गते शरीरादिदं शरीरं पूर्वस्मादतिशयेन पापीयः पापतरं मन्यते लोकः । शरीरं हि नामानेकाशुचिसंघातत्वाज्जी-

उक्ता वसिष्ठत्वादिगुणा न वागादिगामिनः कित्तु 'मुख्यप्राणगता एयेति दर्शयितुमाह्वयिका-मधिकरोति - ते हेत्यादिना । ईयमुन्प्रयोगस्य तास्वयमाह—शरीरं हीति । किमिति शरीरस्य पापीय-

उपासना करता है, वह स्वजनो और अन्यजनों का आश्रय होता है ॥ ५ ॥

जो प्रजाति को जानता है, वह प्रजा और पशुओं से 'प्रजापते' अर्थात् संपन्न होता है । वीर्य ही प्रजाति है । (प्रजा की उत्पत्ति का हेतु होने से) रेतस् शब्द से जननेन्द्रिय का ग्रहण होता है । प्रजाति उपासना के अनुगुण फल है । जो इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओं से युक्त होता है ॥ ६ ॥

वे ये प्रकरणस्य वागादि प्राण "अहृश्रेयसे" अर्थात् (वसिष्ठत्वादि स्व-स्वगुणो से) 'मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रयोजन से 'विवदमाना' अर्थात् आपस में विरुद्ध बोलते हुए "ब्रह्म जगमुः" अर्थात् ब्रह्म शब्द वाच्य विराट् के पास गये । उसके पास जाकर उस विराट् ब्रह्म को इस प्रकार "होचुः" यानी बोले कि हमारे में से कौन वसिष्ठ है, हममें से कौन वास करता है और कौन वास करवाता है । उन वागादि प्राणों के इस प्रकार पूछे जाने पर वह विराट् ब्रह्म बोला—तुमसे से जिसके 'उत्क्रान्ते' अर्थात् निकल जाने पर इस शरीर को लोग पहले की अपेक्षा "पापीयः" अर्थात् अधिक पापी मानते हैं । अनेक अपवित्र वस्तुओं का समूह होने से जीवित पुरष का शरीर पापरूप होता है, उससे भी अधिक पापी तब हो

- १ इमे—प्रवृत्ता । २ वसिष्ठत्वादिभिः स्वस्वगुणैरिति शेषः । ३ विराजम् । ४ पूर्वोवस्थात् । ५ मुखेति—सर्वेन्द्रियव्यापारणां प्राणाधीनत्वादिति भावः । तथा च वदन्निरति गुणैर्मुस्यप्राणस्यैवोपास्यत्वम् । तन्मेषत्वेन त्वितरेषाम् मुख्यप्राणञ्च जीवदव्यतिरिक्त इति ध्येयम् ।

‘वाग्धोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच
कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होच्युंथाऽकला
अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा
शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाँसो मनसा प्रजायमाना
रेतसंवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

पहले वाक् ने इस शरीर से उत्क्रमण किया । उसने एक वर्ष तक बाहर रहकर वापस आकर कहा—तुम लोग मेरे बिना कैसे जीवित रह सके ? इस पर वे बोले—जैसा गूंगा वाणी से न बोलते हुए, प्राण से प्राणन व्यापार करते हुए, नेत्र मे देखते, कान से सुनते, मन से कर्त्तव्याकर्तव्य को जानते जननेन्द्रिय से प्रजा को उत्पन्न करते हुए जीते रहते हैं, वैसे ही हम लोग भी जीवित रहे । यह सुनकर वाक् अपने को वसिष्ठ न समझ कर शरीर में प्रवेश कर गया ॥ ८ ॥

वतोऽपि पापमेव ततोऽपि फष्टर पश्मिन्नुत्क्रान्ते भवति । वंराग्यार्थमिदमुच्यते—पापीय इति । स वो युष्माकं मध्ये वसिष्ठो भवति । जानन्नपि वसिष्ठं प्रजापतिर्नोवाचायं वसिष्ठ इतोतरेषामप्रियपरिहाराय ॥ ७ ॥

त एवमुक्त्वा ब्रह्मणा प्रणा आत्मनो वीर्यपरीक्षणाय क्रमेणोच्चक्रमुः । तत्र वागेव प्रथमं हास्माच्छरीरादुच्चक्रामोत्क्रान्तवती । सा चोत्क्रम्य संवत्सरं प्रोष्य प्रोषिता भूत्वा पुनरागत्योवाच—कथमशकत शक्तवन्तो यूयं मदृते मां विना जीवितुमिति । त एवमुक्त्वा

स्त्वमुच्यते तदाह—वंराग्यार्थमिति । शरीरे वंराग्योत्पादनद्वारा तस्मिन्नहंममाभिमानपरिहारार्थ-मित्यर्थः । वसिष्ठो भवतीत्युक्तवानिति संबन्धः । किमिति साक्षादेव मुख्यं प्राणं वसिष्ठत्वादिविगुणं नोक्त-
‘याग्रजापतिः स हि सर्वज्ञ इत्याशङ्क्याऽऽह—जानन्नपिति ॥ ७ ॥

वाग्धोच्चक्रामेत्यादौस्तात्पर्यमाह—त एवमिति । उच्यतेऽयं श्रुत्यक्षराणि ध्याचष्टे—तत्रेत्या-

जाना है, जब उत्क्रमण कर जाता है । ‘अधिक पापी होता है’ यह वंराग्य के लिए कहा जाता है । वही तुम में से वसिष्ठ है । विराट् प्रजापति ने वसिष्ठ जानते हुए भी, दूसरों के अप्रिय परिहार के लिए ‘यह वसिष्ठ है’ ऐसा नहीं कहा ॥ ७ ॥

विराट् ब्रह्म द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर उन प्राणों ने अपने पराक्रम की परीक्षा के लिए क्रमशः एक-एक करके शरीर से उत्क्रमण करना प्रारम्भ किया । उनमें से पहले वाक् ने इस शरीर से “उच्चक्राम” अर्थात् उत्क्रमण किया । शरीर से निकल कर उसने एक वर्ष पर्यन्त शरीर से अग्यत्र “प्रोष्य” अर्थात् प्रवास करके पुनः आकर कहा—‘कथमशकत मदृते जीवितुमिति’ अर्थात् तुम लोग

१. ध्येयनिर्णयार्था वागित्यादि धृतिर्न तु वागादीनां स्वातन्त्र्येणोत्क्रमणे तात्पर्यमसंभवादिति स्पष्टं भाषिणे ।
२. शरीराभिर्गत्य । ३. प्रोषिता भूत्वा—शरीरादग्यत्र प्रवास इत्यादि । ४. पश्मिन्नुत्क्रान्ते । ५. उक्त-
वानित्यनोक्तवदिति न्याय्यं भाति ।

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथम-
शकत मदृते जीवितुमिति ते होच्यंथाऽन्धा अपश्यन्त-
श्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण
विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसंवमजीविष्मेति
प्रविवेश ह चक्षु ॥ ६ ॥

श्रोत्रहोच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच
कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होच्यंथा वधिरा
अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा

चक्षु ने शरीर से उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक प्रवास कर लौटकर अन्य प्राणों से उसने कहा—तुम लोग मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? अन्य इन्द्रियो ने कहा—जैसे अन्धे नेत्र से न देखते हुए भी प्राण से प्राणन करते वाक् से बोलते कान से सुनते, मन से जानते, शिश्न से सन्तान उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम भी जीवित रहे। यह सुनकर नेत्र शरीर न प्रवेश कर गया ॥६॥

श्रोत्र ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक बाहर रहकर लौटकर उसने कहा—तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहे? अन्य प्राणों ने कहा जैसे वहरे कानों से न सुनते हुए भी, प्राण से प्राणन करते,

ऊच्यंथा लोकेऽन्धा' मूका अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणनव्यापार कुर्वन्तः प्राणेन
पश्यन्तो दर्शनव्यापारं चक्षुषा कुर्वन्तस्तथा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा कार्या-
कार्याविविषय प्रजायमाना रेतसा पुत्रानुत्पादयन्त एवमजीविष्म वयमित्येव प्राणदंतो-
त्तरा यागात्मनोऽस्मिन्नवसिष्ठत्व बुद्ध्या प्रविवेश ह याक् ॥ ६ ॥

दिना। कार्याकार्याविविषयमित्यादिशब्देनोपेक्षणीयसग्रह। चक्षुरादिभिर्दंतोत्तरा पुनर्वाकिकमकरोदिति

इन शरीर में मेरे बिना कैसे जीवित रहे। उससे इस प्रकार पूछे जाने पर वे बोले—जिस प्रकार लोग कला अर्थात् मूक पुरुष वाणी से न बोलते हुए भी 'प्राणन्त प्राणेन' अर्थात् प्राण से प्राणन व्यापार करते हैं, 'पश्यन्तश्चक्षुषा' चक्षु से दर्शन व्यापार करते हैं श्रोत्र से सुनते हैं, मन से कार्य श्रोत्र अकार्यादि के विषय में विचार करते हैं वीर्य से 'प्रजायमाना' यानी पुत्र उत्पादन करते हैं—इस प्रकार सब कुछ करने हुए जीवित रहते हैं—उसी प्रकार हम भी जीवित हैं। इसी प्रकार प्राणा से इस प्रकार उत्तर सुनकर वाक् ने अपने को वसिष्ठ न समझकर पुन इस शरीर में प्रवेश कर लिया ॥ ६ ॥

पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाऽसौ मनसा प्रजायमाना
रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

मनो होच्चक्राम तत्सवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच
कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होच्युर्यथा मुग्धा
अविद्वाऽसौ मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा

पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना
रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

रेतो होच्चक्राम तत्सवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथम-
शकत मदृते जीवितुमिति ते होच्युर्यथा क्लीबा
अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा
पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाऽसौ मनसैवम-
जीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥ १२ ॥

वाक् से बोलते, नेत्र से देखते, मन से मनन करत, शिदन से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम सब जीवित रहे। उसके बाद श्रोत्र ने भी देह में प्रवेश किया ॥ १० ॥

मन ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक बाहर रहकर लौटने पर उसने अग्न्य प्राणो से कहा— तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके ? उन्होंने कहा—जैसे मुग्ध पुरुष मन में न जानते हुए भी प्राण में प्राणन करते, वाक् से बोलते, नेत्र से देखते, कानों में सुनते, शिदन से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं वैसे ही हम लोग भी जीवित रहे। इसके बाद मन भी शरीर में प्रवेश कर गया ॥ ११ ॥

रेत ने उत्क्रमण किया। उसने भी एक वर्ष तक बाहर रहने के बाद लौट कर अग्न्य प्राणो से कहा— तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके ? उन्होंने कहा—जैसे नपुंसक शिदन से प्रजा न उत्पन्न करते हुए भी प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, नेत्र से देखते कानों से सुनते और मन से जानते हुए जीवित रहते हैं, ऐसे ही हम लोग भी जीवित रहे। यह सुनकर वीर्य ने भी पुनः शरीर में प्रवेश किया ॥ १२ ॥

तथा अक्षुर्होच्चक्रामेत्यादि पूर्ववत् । आत्र मनः 'प्रजातिरिति ॥ ६ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

तत्राऽऽह—प्रात्मन इति ॥ ८ ॥

‘उसी प्रकार चक्षु ने भी इस शरीर से उत्क्रमण किया’ इत्यादि पूर्ववत् व्याख्या ममभनी चाहिये। इसी तरह श्राव, मन और उपस्थेन्द्रिय न उत्क्रमण किया ॥ ६-१० ॥

'अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्थथा महासुहयः सन्धवः
पङ्वीशशङ्कून्संवृहेदेव ७ हवेमान्प्राणान्संववर्हं ते
होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वं शक्यामस्त्वदृते जीवितुमिति
तस्यो मे वलिं कुरुतेति तथेति ॥ १३ ॥

उसके बाद जब मुख्य प्राण उत्क्रमण करने लगा (उसी समय वागादि प्राण अपने स्थान से विचलित हो गये)। जैसे सिन्धुदेश में उत्पन्न अच्छी जाति का घोड़ा परीक्षा के समय पर बाँधने के खूंटों को उखाड़ डालता है, वैसे ही मुख्य प्राण ने भी इन वागादि प्राणों को अपने स्थान से विचलित कर दिया। उन वागादि ने कहा—हे भगवन् ! आप उत्क्रमण न करें क्योंकि आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकते। प्राण ने कहा—(तुम्हें मेरी श्रेष्ठता का पता लग गया है, अब अब तुम लोग) मुझे भेंट दिया करो। वागादि प्राणों ने 'वहुत अच्छा' ऐसा कहकर प्राण को भट देना स्वीकार किया ॥ १३ ॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्नुत्क्रमण करिष्यंस्तदानीमेव स्वस्थानात्प्रवसिता वागा-
दयः । किमिवेत्याह—यथा लोके महाशचासौ सुहयश्च महासुहयः शोमनो ह्यो लक्षणो-
पेतो महान्परिमाणतः सिन्धुदेशे भवः सन्धवोऽभिजनतः 'पङ्वीशशङ्कून्पादवन्धन-
शङ्कूपङ्वीशशङ्कू से शङ्कुश्च तान्संवृहेदुद्युगपदुत्खनेदश्वारोह आरूढे परीक्षणाय । एवं
हवेमान्वागादीन्प्राणान्सववर्होद्यतवान्स्वस्थानाद्भ्र शितवान् । ते वागादयो होचुर्हो भगवो

वागादिप्रकरणविच्छेदाधोऽयशब्द । उत्क्रमण करिष्य यदा भवतीति शेषः । उक्तमर्थं दृष्टा-
न्नेन स्पष्टपन्नुत्तरवाच्यमवतरयति—किमिवेत्यादिना । प्राणस्य श्रेष्ठत्व वागादिभिर्निर्धारितमित्याह
—ते वागादय इति । 'तर्हि तत्कलेन भवितव्यमित्याह—यद्येवमिति । यद्योक्तस्य प्राणस्यवाच्यस्य काल्प-

इस के बाद प्राण के 'उत्क्रमिष्यन्' अर्थात् उत्क्रमण करने पर उसी समय वागादि प्राण अपने स्थान से च्युत हो गये। किस के समान हो गये? इस पर श्रुति कहती है—जिस प्रकार लोक में 'महासुहय सन्धव' अर्थात् जन्मभूमि से सिन्धु देश में होने वाले महान् परिमाण वाले श्रीर मुन्दर लक्षणा से युक्त घोड़े 'पङ्वीशशङ्कून्' अर्थात् पर बाँधने के खूंटों जो पङ्वीश और शङ्कु हैं, उनकी परीक्षण के लिए सवार द्वारा घोड़े पर चढ़ते ही 'संवृहेत्' अर्थात् उखाड़ देता है। इसी प्रकार वागादि प्राणों ने 'सववर्हं' अर्थात् उखाड़ दिया यानी अपने स्थान से विनष्ट कर दिया। वे वागादि प्राण बोले हे भगवो' अर्थात् 'हे भगवन् ! आप इस शरीर से उत्क्रमण न करें क्योंकि

१ अमेति—वागादिपरीक्षणप्रकारप्रदक्षानान्तरवित्यर्थः । २ अभिजन इति जन्मभूमित् इत्यर्थः । 'भवेद-
भिजन स्वातो जन्मभूम्या तुल्यवजे । कुलेऽपि च पुमानिति' मेदिनी । ३ पङ्वीशेति—पदनशाला पद
पादास्तेषा सहति—पङ्वी तस्या ईवानियामका पङ्वीश शङ्कुः तान् । ४ तर्हित्यादि—यद्यहमेवात्र
श्रेष्ठतर्हि मन्वृष्ट्यकलेन भाष्यमित्यर्थः ।

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं
तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठो-

उस वागिन्द्रिय ने कहा—मैं जो वसिष्ठा हूँ, वह वस्तुतः उस वसिष्ठत्व गुण से युक्त तुम्ही हो । मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, वह तुम्ही उस प्रतिष्ठा से युक्त हो ऐसा नेत्र ने कहा । श्रोत्र ने कहा— मैं जो

भगवन्मोत्करोमि'र्यस्मान्न वै शक्ष्यामस्त्वहते त्वां विना जीवितुमिति । यद्येवं मम श्रेष्ठता विज्ञाता भवद्भिरहमत्र' श्रेष्ठतस्य उ मे मम बलि करं कुरुन 'करं प्रयच्छतेति । अय च प्राणसंवादः कल्पितो विदुषः श्रेष्ठपरीक्षणप्रकारोपदेशः । अनेन हि प्रकारेण विद्वान्को नु खल्वत्र' श्रेष्ठ इति परीक्षणं करोति । स एष परीक्षणप्रकारः संवादभूतः कथ्यते । न ह्यन्यथा 'संहृत्यकारिणां सतामेपांमञ्जसैर्व' संवत्सरमात्रमेवंकैकस्य निगमनाद्युपपद्यते । तस्माद्द्विद्वानेवानेन प्रकारेण विचारयति वागादीना प्रधानबुभुत्सुरुपासनाय बलि प्रार्थिताः सन्तः प्राणास्तथे'ति प्रतिज्ञातवन्तः ॥ १३ ॥

सा ह वाक्प्रथमं बलिदानाय प्रवृत्ता ह किलोवाचोक्तवती यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि

निकृत्वं दर्शयति—अय चेति । कल्पनाफलं सूचयति—विदुष इति । तदेव स्पष्टयति—अनेन हीति । उपास्यपरीक्षणप्रकारो विवक्षितश्चेत्किं संवादेनेत्याशङ्क्याऽऽह—स एष इति । संवादस्य मुख्यार्थत्वाद्-कल्पितत्वमाशङ्क्याऽऽह—न हीति । संवादस्य कल्पितत्वे फलिनमाह—तस्मादिति । एवं प्राणसंवादस्य तात्पर्यमुक्त्वा प्रकृतमक्षरव्याख्यामेवानुवर्तयति—बलिमिति ॥ १२ ॥

सा ह वागिति प्रतीकमावाप ष्ठाचष्टे—प्रथममिति । तेन वसिष्ठगुणेन त्वमेव वसिष्ठोऽसि तथा''

तुम्हारे बिना हम जीवित रहने समर्थ नहीं हैं । (प्राण बोला—)यदि ऐसा ही है तो आप ने मेरी श्रेष्ठता जान ली, 'मैं ही श्रेष्ठ हूँ' । इसलिए मुझ श्रेष्ठ के लिए 'बलि कुरुन' अर्थात् कर दीजिए । यह प्राण संवाद कल्पनामात्र है यह श्रेष्ठता परीक्षा की प्रक्रिया का विद्वान् को उपदेश है । 'वागादि मे कौन श्रेष्ठ है' इसकी विद्वान् इसी प्रकार परीक्षा करता है । वह यह परीक्षण प्रक्रिया संवाद रूप में कही गयी है । अन्यथा एकत्रित होकर ही क्रियाजनकत्व मे समर्थ इन इन्द्रियो का स्वतन्त्रता से एक-एक करके एक वर्ष के लिए शरीर से निकल जाना संभव नहीं है । इसलिए वागादि प्राण मे प्रधान कौन है ? ऐसा जानने की इच्छा वाला विद्वान् उपासक ही उपासना के लिए इस प्रकार विचार करता है । प्राण द्वारा बलि मनि जाने पर वागादिको ने "हमे कर देना स्वीकार है" इस प्रकार प्रतिज्ञा की ॥ १३ ॥

"स ह वाक्" अर्थात् प्रथम बलि देने के लिए प्रवृत्त उस वाक् ने "उवाच" अर्थात् कहा । "यद्वा

१. त्वम् । २. यवतां मध्य श्रेष्ठस्य । ३. कर प्रयच्छतेति—पराविर्बहि वित्रयिनेकरोदीयत इति प्रसिद्ध लोके इति भावः । ४. वागादियु । ५. अन्यथा—संवादस्य कल्पननित्वान्मुपगमे । ६. संहृत्य कारिणाम्—मितित्वा त्रियोजनकानाम् । ७. एषा—करणानाम् । ८. प्रयच्छता—स्वातन्त्र्येण साक्षात् । ९. तथास्तिवत्पञ्जीचक्रुः । १०. भावयति । ११. तथा चेति—एवं वसिष्ठबुगुणायत्वे सत्यह वाक्त्वं द्वाविष्टवर्षेव वसिष्ठेति भावः ।

ऽसीति चक्षुयंद्वा अहं संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति
 श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो
 यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो

सपद् है, वह तुम्ही उस सपद् गुण से युक्त हो। मन ने कहा—जो मैं आयतन है, वह वस्तुतः तुम्ही आयतन हो। रेत ने कहा—मैं जो प्रजापति है, वह भी वस्तुतः तुम्ही उस प्रजातित्व गुण में युक्त हो। (प्राण ने कहा—कोरी वस्तु से क्या लाभ है, अथ बतलाओ कि) ऐसे गुणों से युक्त होने पर मेरा अन्न

यन्मम वसिष्ठत्वं तत्तवैव तेन वसिष्ठगुणेन त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति । यद्वा अहं प्रतिष्ठा-
 ऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसि या मम प्रनिष्ठा सा त्वमसीति । चक्षुहवाचेति प्रत्येकं सर्वत्र संब-
 ध्यते । समानमन्यत् । संपदायतनप्रजातित्वगुणांक्रमेण समर्पितवन्तः । यद्येवं साधु बलि
 दत्तवन्तो भवन्तो ब्रूत तस्य उ न एवगुणविशिष्टस्य किमन्नं किं वास इति । आहु-
 रितरे—यद्विदं लोके किंच किंचिदन्नं नामाग्या श्रम्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गभ्यः । आहु-
 रितरे—यद्विदं लोके किंच किंचिदन्नं नामाग्या श्रम्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गभ्यः ।
 यच्च भ्रान्तं कृम्यन्नं कीटपतङ्गान्नं च तेन सह सर्वमेव यत्किंचित्प्राणिभिरद्यमानमन्नं
 तत्सर्वं तवान्नं सर्वं प्राणस्यान्नमिति दृष्टिरन्न विधीयते ।

च तद्वसिष्ठत्वं तवैवेति योजना । बलिदानमङ्गीकृत्यान्नवाससी पृच्छति—यद्येवमित्यादिना । एवंगुण-
 विशिष्टस्य ज्येष्ठस्वध्रेष्ठस्ववसिष्ठुःवादिसबद्धस्त्वैवमर्थः । यद्विदमित्यादि वाक्य व्याचष्टे—यदिदमिति ।
 प्रकृतेन शुनामन्नेन कीटादीना चान्नेन सह यत्किंचित्कृम्यन्न दृश्यते तत्सर्वमेव तवाग्रमिति योजना ।
 तदेव स्फुटवति—यत्किंचिदिति । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थं कथयति—सर्वमिति ।

अहं वसिष्ठास्मि" अर्थात् मेरा जो वसिष्ठत्व है, वह तुम्हारा ही है अर्थात् उस वसिष्ठ गुण से तुम्ही वसिष्ठ हो । 'यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि ' त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसि' अर्थात् जो मेरी प्रतिष्ठा है वह तुम ही हो ।
 चक्षु बोला—इस प्रकार प्रत्येक के साथ सबन्ध समझना चाहिये । अन्य व्याख्या समान ही है । वागादि-
 प्राणों ने अपने सपद् आयतन और प्रजातित्व गुणों का क्रमशः प्राणको अर्पित कर दिया । (प्राण बोला—)
 यदि यही ठीक है, तो बलि देते हुए आप मुझे बतलाइये कि मुझ (बुधुसु और नग्न) इस प्रकार गुणविशिष्ट का क्या अन्न है और क्या वस्त्र है । वागादि कहने लगे—लोक में कुत्ते, कृमि और कीट-
 पतङ्गादि से लेकर जितना भी अन्न है अर्थात् कुत्ते, कृमि अथवा कीटपतङ्गों का अन्न है, उसके सहित मनुष्यों द्वारा खाया जाने वाला जितना अन्न है, वह सभी तुम्हारा अन्न है । यहाँ 'यह सब प्राण का ही अन्न है' इस प्रकार की निष्ठा का सम्पादन किया जाता है ।

१ भवन्त इति शत्रन्तम् । २ ब्रूत भूयमित्यध्याहार । ३ बुभुक्षो । ४ नग्नस्येति शेषः । ५ इति प्राणवच श्रुत्वा । ६ इतरे वागादयः । ७ तत्सर्वं तवाग्रमिति—अन्न वाचिके—'अन्नं तद्भवत, सर्वं यद्यत्स्वच्छेयमोमिन । जीव प्राणोऽन्नमगारी भोस्तेन्द्रियमन परः" ॥ ३१ ॥ इति । 'प्रात्येन्द्रियमनोमुक्तं भोक्तव्याहृ'रिति श्रुति सूचयति—इन्द्रियमन पर इति ।

मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किंचाऽऽश्वभ्य आ
कृमिभ्य आ कीटपतङ्गैभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न
ह वा अस्यान्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं य

क्या है, वस्त्र क्या है ? वागादि ने कहा—लोक में कुत्ते, कृमि और कीट पतङ्गादि से लेकर यह जो
कुछ भी है, वही सब तेरा अन्न है और जल ही तेरा वस्त्र है। इस प्रकार जो प्राण के अन्न को
जानता है, उसके द्वारा अन्नभक्ष्य का भक्षण नहीं होता और न अन्नभक्ष्य का प्रतिग्रह ही होता है। ऐसा

केचित्तु सर्वभक्षणे षोषाभावं वदन्ति 'प्राणान्नघिदः । तदसत् । शास्त्रान्तरेण प्रति-
षिद्धत्वात् । तेनास्य विकल्प इति चेत् । न । अविधायकत्वात् । न ह वा 'अस्यान्नं
जग्धं भवतीति' सर्वं प्राणस्यान्नमित्येतस्य विज्ञानस्य विहितस्य स्तुत्यर्थमेतत् । तेनैक-

प्रस्मिन्नेव वाक्ये पक्षान्तरमुत्थापयति—केचित्त्विति । न ह वा 'अस्येत्याद्यर्थवावदशंता-
दित्यर्थः । तद्ब्रूययति—तदपदिति । शास्त्रान्तरेण किमयो' भवन्त्यभक्ष्यभक्षिण इत्यादिनेत्यर्थः । प्राण-
विदितिरिक्तविषयं शास्त्रान्तरं सर्वभक्षणं तु प्राणदर्शिनो विवक्षितमतो व्यवस्थितविषयत्वात्प्रतिषेधेन
सर्वभक्षणस्योदितानुदितहोमवद्विकल्पः स्यादिति शङ्कते—तेनेति । किं तर्हि' सर्वाग्निभक्षणं विहितं न
वा । न चेन्न तस्य निषिद्धस्यानुष्ठानं' प्राणविदि तस्यापकाभावाद्विहितं चेत्तर्हि यदिदमित्यादिना न
हेत्यादिना वा विहितं नाऽऽद्य इत्याह—नाविधायकत्वादिति । यदिदमित्यादिना हि सर्वं प्राणस्यान्न-
मिनि ज्ञानमेव विधीयते न तु प्राणाश्विद सर्वान्नभक्षणं तदवज्ञोतिपदाभावात्तद्विकल्पोपपत्तिरित्यर्थः ।
द्वितीयं ब्रूयति—न ह वा इति । अस्येति चिद्वत्परामर्शान्निपातयो'रर्थवाद्वावदशोतिनोर्वंशनादेकवाक्य
त्वसंभवे वाक्यभेदस्यान्यायत्वाच्चेति हेतुमाह—तेनेति । अर्थवादस्यापि स्वार्थे प्रामाण्य 'देवताधिकरण

'सभी प्राण का अन्न है' इस प्रकार जानने वाले के लिए सर्वभक्षण में कोई दोष नहीं है—
ऐसा कुछ विचारक कहते हैं। वह मिथ्या है। (मरकर अभक्ष्यभक्षी कृमि होते हैं) अन्य शास्त्र इसका
निषेध करते हैं। प्रतिषेध के साथ सर्वभक्षण का विकरण है, ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि यह
विधिवाक्य नहीं है। 'इस प्राणोपासक के द्वारा अन्नभक्ष्यभक्षण नहीं किया जा सकता, यह अग्निम ग्रन्थ

१ सर्वं प्राणस्यान्नमितिविद । २ तनास्य—प्रतिषेधेन सह सर्वभक्षणमित्यर्थ । ३ तस्येत्यादि—
प्राणविदोऽभक्ष्य नैक भक्षितं भवतीत्यर्थः । ४ इत्यतद्वाक्यमित्यर्थ । ५ तेन—सर्वभक्षणं प्राणस्येति
विज्ञानविधायकेन यदिदं किचेत्यादिवाक्येन । ६ क्रिमय इति—क्रिमि शब्द कृमियर्थः । तथा च मेदिनी
'क्रिमिनां कृमिभक्तोऽति साक्षार्या कृमिलेसरे इति' । ७ तर्हि—विकल्पस्याभ्युपगमेऽतीत्यर्थः । ८ अनु-
ष्ठानं प्राणविदि न प्राप्नोतीत्यन्वयः । ९ निपातयो—ह वा ज्ञयनयो । १० देवतति—सवादिभिमवादा-
भावे सति यत्र मन्त्रादौ विग्रहादिहोमोऽयं भिष्यति स देवताधिकरणम्याप यथा "वज्रहस्त पुरन्दर" इत्यत्र
हादर्याद्विषयभूतमपि विग्रहं वज्रहस्तत्वादिभिर्दृश्यति तात्पर्येणियस्येत्तु यत्रप्रादास्यमवक तथा 'न ह वा' इति
शान्ततात्पर्यस्य सन्नमन् प्राणस्येति विहितविज्ञानप्राशस्त्यविषयत्वेऽपि तदविषयोऽपि सर्वप्रसंगिकम् प्राणविद,
भिष्यतीति ।

एवमेतदनस्यान्न वेद 'तद्विद्वाँसः श्रोत्रिया अशि-
ष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्त्येतमेव 'तदनमनग्नं
कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥ १४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य

प्रथम ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

जानने वाले श्रोत्रिय विद्वान् भोजन से पूर्व आचमन करते हैं और भोजन के पश्चात् भी । उसी को वे
उस प्राण को अनग्न करना अर्थात् वस्त्र पहनाना मानते हैं ॥ १४ ॥

॥ इति प्रथम ब्राह्मणम् ॥

वाक्यतापत्तेः । न तु शास्त्रान्तरविहितस्य बाधने सामर्थ्यमन्यपरत्वादस्य । प्राणमात्रस्य
सर्वमन्नमित्येतद्दर्शनमिह विधित्सत् न तु सर्वं भक्षयेदिति ।

यत्तु सर्वभक्षणो दोषाभावज्ञानं तन्मिथ्यैव प्रमाणाभावात् । विदुषः प्राणत्वात्सर्वा-
न्नोपपत्तेः सामर्थ्याददोष एवेति चेत् । न । प्रशेषाप्रत्वानुपपत्तेः । सत्यं यद्यपि विद्वा-

ग्वायेन भविष्यतीत्याशङ्क्य न कलञ्जं भक्षयेदित्यादिविहितस्य भक्षणाभावस्य बाधने न हेत्यादेन
सामर्थ्यं 'दृष्टिपरत्वावस्य भानान्तरविरोधे स्वार्थे मानत्वाद्योगादित्याह—न त्विति । न हेत्यादेरन्यपरत्वं
प्रपञ्चयति—प्राणमात्रस्येति ।

'तत्र दोषाभावज्ञानात्' तत्रैव विधित्सत्प्रतिपाद्योऽऽह—यत्त्विति । अर्थवाक्यस्य भानान्तरविरोधे
स्वार्थे मानत्वाद्योगस्योक्तत्वादिति भावः । प्रमाणाभावस्यासिद्धिमाशङ्कते—विदुष इति । सामर्थ्यात्प्राण-
स्यरूप'बलादिति यावत् । प्रदोषः सर्वान्नभक्षणो तस्येति शेषः । अर्थापत्तिं दूषयति—नेत्यादिना । अनु-
पपत्तिमेव विवृणोति—सत्यमिति । येनेत्यस्मात्प्रावृत्त्याऽपीति वक्तव्यं यद्यपीत्युपक्रमात् । "प्राणस्यरूप-

'सर्व-प्राण का ही भन्न है' इस प्रकार विधान की गई उपासना की स्तुति के लिए है क्योंकि उसके
इसकी एकवाक्यता की उपपत्ति है । उक्त श्रुतिवाक्य के अन्यपरक होने से शास्त्रान्तर द्वारा अर्थ
का बाध करने की इसमें सामर्थ्य नहीं है । 'प्राण मात्र का यह सब भन्न है, इस दृष्टि का विधान करना
यहाँ इष्ट है । यह बतलाना प्रयोजन नहीं है कि सर्वभक्षी हो जाय ।

जो विचारक ऐसा कहते हैं कि सर्वभक्षी के दोषभाव का ज्ञान होता है; उनका विचार

१. सटिद्वाह इति—अस्मात्प्राणस्यापी वासस्तत् तस्मादित्यर्थ । २. तदनमिति—सत् तेन उभयतोऽर्था
भक्षणोऽन्य प्राणम् । अनग्नम् आचम्यदितमित्यर्थः । ३. उपपत्तेः । ४. अस्य न ह वा इत्यादिवाक्यस्य ।
५. इह—'न वा' इति वाक्यस्य । ६. विधित्सत्—एतद्दर्शनप्राप्त्यर्थं विवक्षितमित्यर्थः । ७. सर्वेति
—सर्वाभित्सत्समादित्यर्थः । ८. एवमपि कथं सर्वभक्षणे दोषाभावाज्ञानस्य प्रमात्वमित्याशङ्क्योक्तरेव स्पष्टयति
—सामर्थ्यादिति । ९. यद्योक्तविरहितविज्ञानप्राप्तस्येतात्पर्यात् । १०. सर्वभक्षणो । ११. सर्वभक्षणमेव ।
१२. विदुषः प्राणत्वरूपत्वान्यथानुपपत्तेरित्यर्थः । १३. विदुषः ।

प्राणो येन कार्यकरणसंघातेन विशिष्टस्य विद्वत्ता तेन कार्यकरणसंघातेन कृमिकीट-
देवाद्यशेषान्नभक्षणं नोपपद्यते । तेन तत्राशेषान्नभक्षणे दोषाभावज्ञापनमनर्थकम् । अप्राप्त-
त्वाद्दोषान्नभक्षणदोषस्य । ननु प्राणः सन्भक्षयत्येव कृमिकीटाद्यन्नमपि । बाह्वम् । किन्तु
न तद्विषयः प्रतिषेधोऽस्ति । तस्माद्देववरक्त किशुक तत्र दोषाभावः । अतस्तद्रूपेणा-
शेषान्नभक्षणे दोषाभावज्ञापनमनर्थकम् । अप्राप्तत्वाद्दोषान्नभक्षणदोषस्य । येन तु कार्य-
करणमङ्गातसंबन्धेन प्रतिषेधः क्रियते तत्संबन्धेन त्विह नैव प्रतिप्रसवोऽस्ति । तस्मा-

सामर्थ्यविन्युपपत्तिरपि क्षाम्यतीति शङ्कते—नन्विति । किं 'फलात्मना विदुषु सर्वान्नभक्षण साध्यते कि
वा साधकत्वरूपेणेति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गी करोति— बाह्वमिति । प्राणरूपेण सर्वभक्षणं तच्छब्दार्थम् ।
तत्र प्रतिषेधाभावे सदृष्टान्तं क्लृप्तमाह—तस्मादिति । तथा "स्वारसिक प्राणस्य सर्वभक्षणं" तत्र
चाप्रतिषेधाद्दोषराहित्यमिति शेषः । तद्वाहित्ये किं स्यादिति चेत्तदाह—अत इति । पञ्चम्यर्थमेव स्फोर-
यति—अप्राप्तत्वादिति । प्राणविषयः साधकत्वाकारेण साध्यते सर्वान्नभक्षणमिति पक्षः प्रत्याह—येन
त्विति । इहेति प्राणविदुष्यते । "निमित्तान्तरावत्यन्ताप्राप्तविषयो विधि प्रतिप्रसवो यथा ज्वरितस्मा-
शनप्रतिषेधेऽप्यौषधं पिबेदिति तथा अस्त्राधिकारिणः सर्वाभक्षयभक्षणनिषेधेऽपि प्राणविधौ विशेष-
विबिर्नापलभ्यते" तथा च "तस्य भक्षणं बु साध्यमित्यर्थः । प्रतिप्रसवाभावे लब्धं दक्षयति—तस्मा-

अप्रामाणिक होने से मिथ्या है । यदि कहो कि प्राणरूप होने से प्राणोपासक विद्वान् का सभी
अन्न भक्षण है, ऐसी प्रमा के सामर्थ्य से सर्वभक्षण में कोई दोष नहीं होता—तो ऐसा बहना ठीक नहीं
क्योंकि सब कुछ ही उसका अन्न हो जाना सिद्ध नहीं होता । यद्यपि यह मानना उचित है कि प्राणो-
पासक विद्वान् प्राण ही है, तो भी जिस देहेन्द्रियसंघात से विशिष्ट पुरुष की विद्वत्ता स्वीकार की
जाती है, इस देहेन्द्रियसंघात द्वारा कृमि, कीट और देवादि (के लिए विभक्त) इन सभी के अन्नो को
भक्षण करना उससे सम्भव नहीं है । इसलिए यथोक्त संघात में सर्वविध अन्न भक्षण करना कोई दोष
नहीं है—ऐसा समझना मिथ्या है क्योंकि उसके प्रति सर्वान्नभक्षणरूप दोष तो प्राप्त ही नहीं होता ।
किन्तु प्राण रूप से वह विद्वान् कृमि-कीटादि के अन्न को भी भक्षण करता ही है । ठीक है किन्तु
उस प्राण के विषय में तो ('अभक्षयभक्षो कृमि होते हैं—इस प्रकार) निषेध नहीं है । इसलिये यदि
पलाश-पुष्प स्वभाव से ही लाल है तो इसमें कोई दोष नहीं है । अतः प्राण रूप में दोषाभाव धृतलाना
निरर्थक है क्योंकि उसमें तो सर्वान्नभक्षण रूप दोष की प्राप्ति ही नहीं है । मन्त्री । जिम देहेन्द्रिय के
संघात से प्रतिषेध किया जाता है, उसका संबन्ध रहने के कारण यहाँ उस प्रतिषेध का प्रतिप्रसव ही
ही नहीं सकता । इसलिए उस अभक्षयभक्षण का अनिश्चय करने में दोष ही होगा । क्योंकि 'न ह वा'

१ यथोक्तसङ्घाते । २ विद्वान् । ३ प्रतिषेध इति—क्रियते भवन्भवभक्षयभक्षण इत्ययं स्मार्त्तं प्रतिषेध
इत्यर्थम् । ४ तस्माद्—प्राणरूपेण सर्वभक्षणे प्रतिषेधाभावात् । ५ देवेति—यथा प्रकृत्यैव उक्तं यत्
किशुक पलाशपुष्पम् । ६ तत्र रक्तत्वाप्यो दोषो न भवतीत्यर्थम् । ७ प्राणरूपेण । ८ इत्याद्यशेषान्न
भक्षणानुपपत्तिः । ९ प्राणरूपेण । १० स्वाभाविकम् । ११ प्राणकर्तृकमसंभक्षणम् । १२ व्रतादि
निमित्ताद्यन्तनिमित्तं निमित्तान्तरं ज्वरितस्मात् । १३ तथा च—प्रतिप्रसवानुपलभ्यते च । १४ तस्य
—प्राणविधौ सर्वभक्षणमित्यर्थम् ।

'नत्प्रतिषेधातिशये दोष एव स्यादन्यविषयत्वात् न ह वा इत्यादेः ।

न च ब्राह्मणादिशरीरस्य' सर्वाश्रित्वदर्शनमिह विधीयते किंतु प्राणमात्रस्यैव । यथा च सामान्येन सर्वाश्रित्ये प्राणस्य' किंचिदश्रितं 'कस्यचिज्जीवनहेतुः । यथा विषयं विषयजस्य क्रमेस्तदेवांशस्य प्राणाश्रमपि सदृष्टमेव दोषमुत्पादयति भेरणाविलक्षणम् । तथा सर्वाश्रित्यपि प्राणस्य प्रतिषिद्धाश्रमभक्षणे ब्राह्मणत्वादिदेहसंबन्धाद्दोष एव स्यात् । 'तस्मान्मिथ्याज्ञानमेवाभक्ष्यभक्षणे दोषाभावज्ञानम् ।

प्रापो वास इत्यापो भक्ष्यमाणा 'वासःस्थानीयस्तथ । 'अथ च प्राणस्याऽऽपो वास

दिति । 'अप्यंवाद्यस्य' तर्हि का गतिरित्याशङ्क्याऽऽह—अन्यविषयत्वादिति । तस्य स्तुतिमात्रार्थत्वात् तद्वशात्प्रियेयातिक्रम इत्यर्थः ।

ननु "विशिष्टस्य प्राणस्य सर्वाश्रित्वदर्शनमत्र" विधीयते तथा च विदुषोऽपि "तदात्मनः सर्वाश्र-भक्षणे न दोषो यथादर्शनं फलानुपुपगमादत आह—न चेति । इतोऽपि सर्वं प्राणस्याश्रमिष्येतदवष्टम्भेन प्राणविव' सर्वभक्षणं न विधेयमित्याह—यथा चेति । प्राणस्य यथोक्तस्य स्वीकारेऽपि कस्यचिद्विद्वन् जीवनहेतुरित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । तथा सर्वप्राणिषु ध्ववस्थमाऽश्रमभक्षे' दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । प्राणविदोऽपि कार्यकरणयोः निषेधातिक्रमयोगे फलितमाह—तस्मादिति ।

वाक्यान्तरमावाप स्याकरोति—आप इति । "स्मार्तादाचमनादन्यदेव श्रोतमाचमनमन्यतो-ऽप्राप्तं विषेय तदर्थमिदं वाक्यमिति केचित्तान्प्रत्याह—अथ चेति । वास कार्यं परिधानम् । तत्र साक्षा-

यह अग्रिम ग्रन्थ विषयान्तर के लिए है ।

इसके प्रतिरिक्त ब्राह्मणादि शरीर वाले विद्वान् को सर्वाश्रित्वदृष्टि का विधान भी नहीं किया जाता किन्तु केवल प्राण की ही सर्वाश्रित्व दृष्टि बतलायी गयी है । जिस प्रकार सामान्यतः 'सर्वाश्र प्राण वा ही है' इस प्रकार स्वीकार करने पर भी कोई अन्न किसी प्राणी के जीवन का हेतु है । जिस प्रकार विष से उत्पन्न कीड़े के लिए विष ही अन्न है किन्तु वही दूसरे के प्राणाश्र होने पर भी उसकी तत्काल मृत्यु कर देता है । इसी प्रकार सर्वाश्रभक्षी प्राण होने पर भी ब्राह्मणादि देह का संबन्ध होने के कारण अभक्ष्य अन्न भक्षण करने में दोष ही होगा । इसलिए अभक्ष्यभक्षण में दोषाभाव की प्रतीति होना मिथ्या प्रतीति ही है ।

'जल ही वस्त्र है' इस प्रकार भक्ष्यमाण जन में प्राण की वस्त्र दृष्टि सम्पादित करनी चाहिये प्रकृत वाक्य में प्राण का जल वस्त्र है—इम दृष्टि का विधान किया जाता है । वस्त्र के रूप में जल

१ अभक्ष्यभक्षणं इति वाक् । २ विदुषु । ३, स्वीकारेऽपि । ४ प्राणिनः । ५ ध्ववतरणीकत्वात् । ६ भक्ष्यमाणासु प्राणवासो दृष्टिविधेयति भावः । ७ प्रकृतवाक्ये । ८ "न ह वा" इत्यादेः । ९ प्रतिषेधोक्त्युद्देशे प्राणविदोऽपि दोषभाक्त्वे । का गतिरिति—वैयर्थ्यमिति भावः । १० वागाश्रयेणाय श्रेष्ठस्य शरीरविशिष्टस्य । ११ यदिदमिति वाक्यस्य । १२, प्राणात्मनः । १३ "दिजो नित्यमपस्वरोति" स्यादिसृतिविहितात् ।

इत्येतद्दर्शनं विधीयते । न तु वास कार्यं आपो विनिधोक्तुं शक्या । तस्माद्यथाप्राप्ते-
ऽभक्षणे दर्शनमात्रं कर्तव्यम् । न ह वा अस्य सर्वं प्राणस्याग्नमित्येवविदोऽनन्नम नदनीय
जग्ध भुक्तं न भवति ह । यद्यप्यनेनानदनीय भुक्तमदनीयमेव भुवत स्यान्न तु तत्कृत-
वोपेण लिप्यत इत्येतद्विद्यास्तुतिरित्यथोचाम । तथा नानन्नं प्रतिगृहीतं यद्यप्यप्रतिग्राह्यं
हस्त्यादि प्रतिगृहीतं स्यात्तदप्यन्नमेव प्रतिग्राह्यं प्रतिगृहीतं स्यात्तत्राप्यप्रतिग्राह्यप्रति-
गृहवोपेण न लिप्यत इति स्तुत्यर्थमेव य एवमेतदनस्य प्राणस्यान्नं वेद । फलं तु प्राणा-
त्मभाव एव न त्वेतत्फलभिप्रायेण किं तर्हि स्तुत्यभिप्रायेणेति । नन्वेतदेव फलं
कस्मान्न भवति । न प्राणात्मदर्शनं प्राणात्मभाव एव फलम् । तत्र च प्राणात्मभूतस्य
सर्वात्मनोऽनदनीयमप्याद्यमेव । तथाऽप्रतिग्राह्यमपि प्रतिग्राह्यमेवेति यथाप्राप्तमेवोपादाय

इया विनिधोनायोगे प्राप्तमर्थमाह—तस्मादिति । यदि किंचित्प्रादाद्युक्तहृष्टिविधेरथवाद्यमादाय
व्याचष्टे—नेत्यादिना । पुनर्नञ्जुक्त्यर्थमन्वयाय । पदार्थमुक्त्वा वाक्याथमाह—यद्यपीति । अभक्ष्य-
भक्षणं तर्हि स्वोक्तमिति चेन्नेत्याह—इत्येतदिति । यथा प्राणविदो नानन्नं भुवत भवति तथेत्येतत् ।
अनुमतस्तीह प्राणविदो दुष्टप्रतिग्रहोऽपीत्याशङ्क्याऽह—तत्रापि । अमत्प्रतिग्रहे प्राप्तेऽपीत्यर्थं ।
किमित्ययं स्तुत्यर्थवाद फलवाद एव किं न स्वादित्याशङ्क्याऽह—फलं त्विति । इतिशब्दं सर्वं
प्राणस्याग्नमित्तिहृष्टिविधे सार्थवावस्थोपसहारार्थं । उक्तमेवार्थं चोद्यमप्राधिपत्या समर्थयते—नन्वि-
त्यादिना । यथाप्राप्तं प्रकृतवाक्यवशात्प्रतिपत्तं न रूपमन्तिक्रमेति यावत् । यावत्स्य विद्यास्तुतित्वे

का प्रयोग नहीं किया जा सकता । इसलिये यथाप्राप्त जल भक्षण में केवल इष्टि मात्र की भवना
करनी चाहिये । सब अन्न प्राण का ही है' इस प्रकार जानने वाले इस विद्वान् उपासक में अन्नम्
अर्थात् अभक्षणीय अन्न 'जग्धम् अर्थात् भक्षण नहीं किया जा सकता । और कदाचित् यदि यह कोई
अभक्ष्य खा ले, तो भी यह भक्ष्य ही होगी उसमें होने वाले दोष से लिपायमान नहीं होता यह इस
विद्या की स्तुति है—ऐसा हम पहले ही कह आये हैं । तथा इसके द्वारा अभक्ष्य अन्न का प्रतिग्रहण भी
नहीं होता । यद्यपि यह हाथी आदि अप्रतिग्राह्य वस्तुओं को भी प्रतिग्रह में न लेना भी वह प्रतिग्राह्य
अन्न का ही प्रतिग्रहण होगा वहाँ भी अप्रतिग्राह्य वस्तु को प्रतिग्रहण करने रूप दाप म यह लिप्त
नहीं होता यह स्तुति के लिए ही है । जो इस प्रकार हम अनस्य अर्थात् प्राण को अन्न जानता है,
उसे प्राणतादात्म्य भाव रूप फल ही मिलता है । यह कथन इस यथाश्रुत फलाभिप्राय से नहीं है ।
तो किसलिए है ? स्तुति के अभिप्राय से है । किन्तु यहाँ इसका फल क्यों नहीं है ? नहीं क्योंकि
प्राणात्मदर्शी का फल प्राणतादात्म्यभाव प्राप्ति ही है । ऐसा हान पर प्राणतादात्म्यभाव का प्राप्त
हुए सर्वान्ना के लिए अभक्ष्य भी भक्ष्य ही है तथा अप्रतिग्राह्य भी प्रतिग्राह्य ही है—इस प्रकार यथा
प्राप्त स्थिति को ग्रहण कर विद्या की स्तुति की जाती है । इसलिये वाक्य की फल विधि स्वरूपता

१ भवतरणोक्तत्वात् । २ कदाचिदभक्ष्यमपि । ३ एतदिति—यथाभूतफलाभिप्रायणं न न ह वा
इत्यादिवाक्यमित्यर्थः । ४ तथा तति । ५ प्रतीयमानमर्थमिति यावत् ।

विद्या स्तूयते । अतो नैव फलविधिस्वरूपता वाक्यस्य ।

'यस्मादापो वासः प्राणस्य तस्माद्विद्वातो ब्राह्मणाः श्रोत्रिया अघीतवेदा अशिष्यन्तो भोक्ष्यमाणा आचामन्त्यपोऽशित्वाऽऽचामन्ति भुक्त्वा चोत्तरकालमपो भक्षयन्ति । तत्र तेषामाचामता कोऽभिप्राय इत्याह—एतमेवान प्राणमननं कुर्वन्तो मन्यन्ते । अस्ति चंतद्यो यस्मै वासो ददाति स तमननं करोमीति हि मन्यते । प्राणस्य चाऽऽपो वास इति ह्युक्तम् । यदपः पिबामि तत्प्राणस्य वासो ददामीति विज्ञानं कर्तव्यमित्येवमर्थमेतत् । ननु भोक्ष्यमाणो भुक्तवाश्च प्रयतो भविष्यामीत्याचामति । 'तत्र च प्राणस्यानग्नता-करणार्थत्वे च द्विकार्यताऽऽचमनस्य' स्यात् । न च कार्यद्वयमाचमनस्यैकस्य युक्तम् । यदि

फलितमाह—अत इति ।

यदुक्तमापो वास इति तस्य शेषमूतमुत्तरशःशमुत्थाप्य व्याचष्टे—यस्मादिति । तत्रैतदज्ञा-त्प्राणध्वंकालोक्ति । उक्तेऽभिप्राये लोकाप्रतिद्विमनुकूलयति—अस्ति चेति । 'तत्रैव वाद्योपक्रमस्था-ऽऽनुकूल्य दर्शयति—प्राणस्येति । किमर्थमिव सोपक्रम वाद्यमित्यपेक्षापामत्र' धेयादावुक्त स्मारयति—यदप इति । दृष्टिविधानमसहमानं शङ्कुते—निति । अस्तु—प्रायत्यार्थमाचमनं प्राणपरिधानार्थं चेत्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । 'कृत्याप्रणयनन्यायेन द्विकार्यत्वाविरोधमाशङ्क्याऽऽह—न चेति । 'तत्र प्रत्यभवात्कार्यभेदस्याविरोधेऽपि प्रकृते प्रमाणाभावाद्द्विकार्यत्वानुपपत्तिरित्यभिप्रेत्योक्तमुपपादयति—यदीति । ननु स्मार्तमाचमनस्य प्रायत्यार्थत्व तस्यैवानग्नतास्यैव प्रकृतवाद्यवधिगत 'तथाच कथ

नही है ।

क्योकि जल प्राण का वस्त्र है, इसलिए 'श्रोत्रियाः' अर्थात् वेदाध्ययन किये हुए, विद्वान् ब्राह्मण अशिष्यत अर्थात् भोजन करने में पूर्व आचामन्ति" अर्थात् जल का आचमन करते हैं, और 'अचित्वा आचामन्ति' अर्थात् भोजन करने के बाद भी जल से आचमन करते हैं। वहाँ जल से आचमन करने का उनका क्या अभिप्राय है ? इस पर श्रुति कहती है—इस प्रकार उभयविध जल का आचमन करते हुए एनम् अर्थात् प्राण को वस्त्र से प्राच्छादित करते हुए मानते हैं । ऐसा होता है कि जिसको वस्त्र देता है, वह उस में भ्रमन करता है' ऐसा मानता है । जल प्राण का वस्त्र है—ऐसा कहा जा चुका है । जो जल पीता है वह प्राण को वस्त्र देता है—ऐसी दृष्टि रूप उपासना करनी चाहिये यही इसका तात्पर्य अर्थ है । इस पर शङ्का होती है कि भोजन करने वाला और कर चुकन वाला व्यक्ति केवल इसलिए आचमन करता है कि इससे मैं शुद्ध हो जाऊँगा । वहाँ यदि प्राण की नग्नता निवारण भी उद्देश्य रहे तो उस आचमन का दो कार्य होंगे । एक ही आचमन से दो कार्य

- १ मूलरथतत्पद व्याचष्टे—यस्मादित्यादिना । २ प्रयतं शुद्ध इत्यप्य । पवित्रं प्रयतं पूत इत्यमरः ।
- ३ आचमनस्य प्रायत्यार्थत्वं निश्चितं सति । ४ स्यादिति—ता चाऽपुक्ताऽऽस्ति वाद्यके एकरस्य कर्मसोऽनेकाय स्वानिद एवस्य तस्य तयादवाद्यवमि-तुमर्गा दिक्ति भावे । ५ उक्ताभिप्राये एव । ६ १४५८पुष्टनाल्ये । ७ कुत्सेति—यथा कु-याप्रणयनं सत्याभिपेकाय आचमनाद्यर्थस्य च भवति तथाऽऽचमनमपि प्रायत्याप प्राणा-नग्नताय च भवतु को विरोध लभ्य । ८ कृत्याप्रणयन । ९ एवमुभयापत्वं ।

प्रायत्यर्थं नानग्नतार्थम्यानग्नतार्थं न प्रायत्यर्थम् । यस्मादेवं तस्माद्द्वितीयमाचमनान्तरं प्राणस्यानग्नताकरणाय भवतु । न, क्रियाद्विबोधपत्तेः । द्वे ह्येते क्रिये भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवत्तश्च यदाचमनं स्मृतिविहितं तत्प्रायत्यर्थं भवति क्रियामात्रमेव न तु तत्र प्रायत्यं दर्शनाद्यपेक्षते । तत्र चाऽऽचमनाङ्गभूतास्वप्सु वासोविज्ञानं प्राणस्येतिकतं व्यतया चोद्यते । न तु तस्मिन्क्रियमाण आचमनस्य प्रायत्यर्थता बाध्यते 'क्रियान्तरत्वादाचमनस्य । 'तस्माद्भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवत्तश्च यदाचमनं 'तत्राऽऽसौ वासः प्राणस्येति दर्शनमात्रं विधीयते ।

द्विकार्यत्वमप्रामाणिकमित्याशङ्क्य वाक्यस्य विद्यमान्तरं दर्शयति—यस्मादिति । द्विकार्यत्वबोधोपयुक्तं ब्रूयति—नेत्यादिना । तत्राऽऽचमनं दर्शननिरपेक्षमित्याह—क्रियामात्रमेवेति । नत्वाचमने" फलभूत प्रायत्यं दर्शनमापेक्षमिति चेन्नेत्याह—न त्विति । "क्रियाया एव तदाधाननामर्थादित्यर्थः । तत्रेत्याचमने शङ्क्यर्थे "क्रियागते सतोत्यर्थं । प्राणविज्ञानप्रकरणे वासोविज्ञानं चोद्यते चेद्वाक्यमेवः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणस्येति । "सर्वाप्रविज्ञानवदिति शकारार्थः । "आचमनीयास्वप्सु वासोविज्ञानं क्रियते चेत्कथमाचमनस्य प्रायत्यर्थेऽभित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । "द्विकार्यत्वबोधाभावे फलितं दर्शनविधियुपसंहरति—तस्मादिति । अप्राप्तत्वाद्वासोदृष्टेर्विधिव्यतिरेकेण प्राप्त्यभावाददृष्टेऽत्रात्र "प्रकृतत्वा"त्कार्या-

के निष्पन्न होने की सगति नहीं बैठती । यदि आचमन का उद्देश्य शुद्धिकरण होगा तो अनग्नता नहीं होगा । यदि ऐसा है तो (स्मार्त आचमन से भिन्न) दूसरा आचमन प्राण की अनग्नता करने के लिए हो जायगा । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है "क्योंकि दो क्रियाओं का एक साथ होना संभव है । ये दोनों क्रियाएँ होती हैं, भोजन करने वाले एव भोजन कर चुकने वाले का जो यह स्मृतिविहित आचमन होता है, वह केवल शुद्धि के लिए होता है, वह क्रिया मात्र ही है क्योंकि आचमन में शुद्धि को किसी दृष्टि आदि की अपेक्षा नहीं है । वही आचमन के अङ्गभूत जल में प्राणविज्ञान के वस्त्रविज्ञान का इतिकतं व्यतया रूप से विधान किया जाता है । उसकी भावना से आचमन भी शुद्धिर्धरता का बाध होता हो—ऐसी बात नहीं है क्योंकि आचमन तो (दर्शन से) क्रियान्तर है । इसलिये भोजन करने वाले धीर कर चुकने वाले का जो आचमन है, उसमें 'जल प्राण का

१ स्मार्तविचनतो भिन्नम् । २ सग्रहवाक्य विवृणोति—द्वे हीति । ३ आचमनास्या ह्येका क्रिया आचमनाङ्गभूतास्वप्सु वासोदर्शनास्या चापरा । एतदेवोपपादयति—भोक्ष्यमाणस्येत्यादिना । ४ आचमने । ५ द्वितीया क्रिया । ६ प्राणविज्ञानस्य । ७ आचमनाङ्गभूतवासोदर्शने । ८ त्रियेति—तदा च नोक्तोत्सर्गविरोध इति ध्ययम् । ९ दर्शनतः । १० ध्वतरणोत्सवात् । ११ आचमने अङ्गभूता । १२ आचमने दर्शनमापेक्षमिति सङ्घः । १३ आचमनक्रियाया एव प्राणाधाननामर्थान् । १४ वासोविज्ञानक्रियात् । १५ सर्वान्नेति—तद्देशे स्वगतस्येण बोधनाभावात् वाक्यभेद इति भावः । १६ शुद्धिर्धरं विनियुक्तस्य आचमनस्य प्राणपरिधानाद्यत्वे विनियुक्तविनियोगविराधेः स्वादित्याद्येन शङ्कते—आचमनीयास्विति । १७ त्रियादित्यतः । १८ अ सू ३३१६ । १९ त्रियेति—प्राणं प्रति वातस्त्वभ्यानेवापूर्वमप्राप्त प्राणविद्याङ्गत्वेन विधेय इत्या सर्वाप्रभ्याने न त्वाचमनग्न विधेयम् । नूनं, त्रयार्थस्यानाद् स्मृत्या सर्ववृत्तान्तेषु शुद्धिर्धरं कार्यस्याचमनस्य प्राणविद्याग्रामपि प्राप्तस्य वातस्त्वविधानार्थं नुवादादिति सवेपथुत्वात् ।

प्रप्राप्तत्वादन्यतः ॥ १४ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे षष्ठ्याध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

(अथ षष्ठाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ।)

श्वेतकेतुर्हं वा आरुणेय इत्यस्य 'संबन्धः' । खिलाधिकारोऽयं तत्र यदनुवर्तं तदु-
च्यते । 'सप्तमाध्यायान्ते ज्ञानकर्म समुच्चयकारिणाऽऽनेमार्गवाचनं कृतम् । अग्ने नय सुपथेति ।
तत्रानेकेषां पथां सद्भावो मन्त्रेण सामर्थ्यात्प्रदर्शितः । सुपथेति विशेषणात् । पन्थानश्च
'कृतविपाकप्रतिपत्तिमार्गाः' । वक्ष्यति च यदृत्त्वेत्यादि । 'तत्र च कति कर्मविपाकप्रति-

ष्यानादपूर्वमिति च न्यायादित्यर्थं ॥ १४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मण्यटीकायां षष्ठाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणान्तरमादाय तस्य पूर्वेण सबन्ध प्रतिजानीते— श्वेतकेत्वरिति । कोऽती संबन्धस्तमाह—
खिलेति । तत्र 'कर्मकाण्डे ज्ञानकाण्डे वा यद्वस्तु प्राधान्येन नोक्तं तदस्मिन्काण्डे वक्तव्यमस्य "खिला-
धिकारत्या" स्याच्च पूर्वमनुवर्त वस्तुभिर्ब्राह्मणमित्यर्थं । वक्तव्यशेषं दर्शयितुं वृत्तं कीर्तयति— सप्तमेति ।
समुच्चयकारिणो भुम्भूर्गोर्गिनप्रायंनेऽपि "किं स्याद्विष्ठाशाङ्गुघाऽह—तत्रेति । "अध्यायावसानं सप्त-
म्यर्थं । सामर्थ्यमेव दर्शयति—सुपथेतीति । विशेषणवशाद्ब्रह्मो मार्गा भान्तु किं पुनरुत्थेयं स्वरूपं
तवाह—पन्थानश्चेति । "तत्र वाक्पथेषामनुकूलयति—वक्ष्यति चेति । संप्रत्याकाङ्क्षाद्वारा समनन्तर-

वस्त्र है' इस दृष्टिमात्र का विधान किया जाता है क्योंकि अन्य किसी भी प्रमाण से इसकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १४ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में षष्ठाध्यायस्य प्रथम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ १ ॥

आरुण का पुत्र आरुण्य श्वेतकेतु या । इस उपनिषद्वाक्य की पूर्वसन्दर्भ से व्याख्या बही जाती है । यह खिलकाण्ड है, इसमें जो पहले नहीं कहा गया—उसे अब कहा जाता है । सप्तम अध्याय (उपनिषत् के पञ्चम अध्याय) के अन्त में ज्ञानकर्म समुच्चयकारी भुम्भूर् द्वारा 'अग्ने नय सुपथा' इस मन्त्र से अग्नि से देवयान मार्ग की याचना की गई है । वहाँ मन्त्र के सामर्थ्य से अनेक मार्गों का

१ सबन्ध ही— 'सङ्गति शेषशेषस्वरूपा नीत्यापकादिता । बाध्या पूर्वेण सदमेणास्य वै खिलभावत ॥ प्रकारस्तत्र भिद्यन्ते न तु सङ्गतिमा भिदा । ते च चत्वार एते स्फुटिगणन्ते यथाक्रमम् ॥ मार्गत्तया भवेदाद्य-
प्रकारेण द्वितीयक' । देवयानादिभेदेन विवेको वर्त्मसङ्गत ॥ ज्ञानमेवामृतस्वरूप्य हेतुरित्यत्र हेतुग । तृतीय म
तुरीयोऽयं बर्धुं पत्तसमागम' ॥ २ द्वारकश्च विद्यायामभिव्यक्तिप्रवृत्तनम्' । इति श्वेतकेतो ज्ञेय तत्रकार-
प्रदर्शनम् । २ अन्यत इति शेष । ३ पञ्चमाध्यायान्ते । ४ भुम्भूर्गो । ५ अनुष्ठितकर्मफलप्राप्तिसाधन-
स्वरूपा इत्यर्थं । ६ दक्षिणोदशयो मार्गा । ७ वृ उ ६ २ २ । ८ तत्र चेति—सुपथेति विशेषण-
वशात्पथामनेवत्वे यद्योत्स्वरूपत्वे च सति पथामित्यर्थं । ९ प्रवर्गविद्यायाध्यायद्वयरूपे । गधुमुनिषाण्डयो ।
१० खिलेति—खिलकाण्डत्यादित्यर्थं । अनुत्तार्यवत्त्वे नारदवत्त्वादिति यावत् । खिल. शेष १- ११ अथय
खिलकाण्डत्वे सति । १२ सङ्गतो किमावात् । १३ पञ्चमाध्यायति भावत् । १४ मार्गेषु ।

पत्तिमार्गा 'इति सर्वसंसारगत्युपसहारार्थोऽयमारम्भः' । एतावती हि संसारगतिः । 'एता-
वान्कर्मणो विपाकः 'स्वाभाविकस्य शास्त्रीयस्य च सविज्ञानस्येति । यद्यपि 'द्वया ह प्राजा-
पत्या इत्यत्र 'स्वाभाविकः पाप्मा सूचितः । न च तस्येदं कार्यमिति विपाकः प्रदर्शितः ।
'शास्त्रीयस्यैव तु विपाकः प्रदर्शितश्च्यव्रतमप्रतिपत्त्यन्तेन' । ब्रह्मविद्यारम्भे 'तद्वैराग्यस्य

ब्राह्मणतास्वर्यमाह—तत्रेति । उपसंहियमानां ससारगतिमेव 'परिच्छिन्नसि—एतावती हीति ।
दक्षिणोदगधोगत्यात्मिकेति यावत् । "कर्मविपाकस्तर्हि कुत्रोपसंहियते तत्राऽऽह—एतावानिति । इति-
शब्दो यथोक्तसंसारगत्यतिरिक्तकर्मविपाकाभावात्तदुपसहारार्थं एवायमारम्भ इत्युपसहारार्थं । प्रथो-
द्वगीयाधिकारे सर्वोऽपि कर्मविपाकोऽनर्थ एत्युक्तत्वा"त्परिनिष्ठसंसारगत्यभावात्कथं "खिलकाण्डे
तन्निर्देशसिद्धिरत आह—यद्यपीति । कस्तर्हि विपाकस्तत्रोक्तस्तत्राऽऽह—शास्त्रीयस्येति । "तत्र सुकृत-
विपाकस्यैवोपगम्यसे हेतुमाह—ब्रह्मविद्येति । अनिष्टविपाकात् वैराग्यं "सुकृताभिमृश्यादेव सिद्धमिति
न "तत्र तद्विवक्षा । इह पुन शास्त्रमार्गो खिलाधिकारे "तद्विपाकोऽप्युपसंहियत इति भावः । प्रकारा-
न्तरेण सर्गतिं वक्तुमुक्तं स्मारयति—तत्रापिति । शास्त्रीयविपाकविषयेऽपीत्यर्थं । उत्तरग्रन्थस्य

अस्तित्वं प्रदर्शित किया गया है । क्योंकि 'सुपथा' यह विशेषण लगाया गया है । "पथ" अनुष्ठित-
कर्मफल प्राप्ति साधन स्वरूप मार्गों के नाम है । "जिमको अनुष्ठान कर देवयान पथ को प्राप्त
करते है"—इस प्रकार श्रुति आगे कहेगी । मार्गों के अनेक होने के कारण वहाँ अनुष्ठित कर्मफल
प्राप्तिसाधन स्वरूप मार्ग कौन से हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर सम्पूर्ण संसार के मार्ग का उपसंहार
करने के लिए इस ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है । वस इतनी ही संसार की गति है और इतना
ही शास्त्रानाधेय और विज्ञानयुक्त शास्त्रीय कर्म (दक्षिणादि गत्यात्मक) परिणाम है । यद्यपि 'प्राजा-

१ आवादायाम् । २ दक्षिणादिगत्यात्मक एव । ३ शास्त्रानाधेयस्य । ४ बृ. उ १ ३ १ । ५
शास्त्रानाधेय । ६ कर्मण । ७ प्रत्यन्तेन । ८ सुकृतविपाकेति भावः । ९ तस्या परिमाण
व्ययति । १० अस्य ब्राह्मणस्य संसारं युपसहारायत्वं । ११ कर्मविपाकातिरिक्तसंसारगत्याभावात् ।
१२ खिलस्यानुक्तोक्तिरूपत्वात् । १३ उदगीयाधिकारे । १४ सुकृताभिमृश्यादिति—गुह्यताद्विरुद्धनी
यानामधिकारिणा सुकृतैकपरत्वादित्यय । १५ उदगीयधिकार विपाकस्य वैविष्ट्यात् । १६ अग्रिष्ट
विपाकः ।

ॐ मार्गा इत्यादि । अत्राहुर्वर्तिकावायस्तियाहि — दक्षिणोदगधोमार्गा विहितप्रतिविद्ययो । विपाना कर्मणो
वीच्यास्तद्वैराग्यप्रमिद्वय ॥ नाभिरक्तस्य नि दोषसासारिकपुमयत् । प्रवृत्तिर्मुक्तये तस्याच्छ्रत्या यत्नात्तदुच्यत ।
यानुवर्तित न कर्माणि सर्ववामसमापनम् । त्रिपेद्व वाऽभिमनयास्तद्वलस्यातिफल्युत् ॥ न कर्म कारण
मुक्तनानिर्वाहिवरापनुत् । कर्मभ्यो जम नियत जम चेत्त्रिवृत्तिं कुत ॥ न कर्मणा कनीयस्ता महत्त्व
पात्तात्वन । इति नाहमिषोद्वस्य वदार्तर्षोपणा वृत्ता ॥ न तत्र दक्षिणा यति विदयैव तदाप्यने । इति
धीयाज्ञवत्त्वधन मुक्तवष्टमुदाहृतम् । अतो मुक्ति परीच्छद्भिस्तत्पद्यादिविरोधिनीम् । त्यक्त्वा कर्माप्यर्थं
कार्म्यज्ञान सर्वतमनाऽऽश्रयत् ॥ तमोत्तरायतो मुक्तेनान्तरायोऽप्यरोऽस्ति हि । तमोहृतिर्न कर्मभ्यो ज्ञानात्सा
व्यन्तवत्त्वत ॥ ५-१२ ॥ इति । के ते मार्गा यथा निरूपणपिप्यतस्त आह—दक्षिणेति । तयां स्वरूपमाह—
विहितेति । तदुक्तिपथमाह—वाच्या इति । तच्छब्द कर्मफलार्थं ॥ वैराग्योक्तिर्कचित्करेति चेन्नत्याह—
नत्यादिना । संसारगतिभेदेषु दुःखदूतेषूपबनेषु विवर्जितो वैराग्यसिद्धितश्च मुमुक्षुत्ववैतुरत श्रुत्या कर्म-

विवक्षितत्वात् । तत्रापि केवलेन कर्मणा पितृलोको विद्यया विद्यासंपुंभतेन कर्मणा देवलोक इत्युक्तम् । तत्र केन मार्गेण पितृलोकं प्रतिपद्यते केन वा देवलोकमिति नोक्तम् । तच्चेह खिलप्रकरणशेषतो यत्कथ्यमित्यतः प्रारभ्यते । अन्ते च सर्वोपसंहारः शास्त्रस्थेष्टः ।

अपि चेत्तावदभृतत्वमित्युक्तं न कर्मणोऽभृतत्वाशाऽस्तीति च तत्र हेतुनोक्तत्वदर्थ-
व्याप्यमारम्भः । यस्मादियं कर्मणो गतिर्न निर्येऽभृतत्वे व्यापारोऽस्ति तस्मादेतावदेवाभृत-

विषयपरिषेवायं पातनिकामाह—तथेति । लोभद्वय सप्तम्यर्थः । प्रागनुक्तमपि देवयानाद्यत्र यत्कथ्य-
मिति कुतो नियमसिद्धिस्तत्राऽह—तच्चेति । यत्कथ्यशेषस्य सत्त्वे फलितमाह—इत्यत इति । यत्तहि”
प्रागनुक्तं तद्देवयानादि यत्कथ्य प्रागेवोक्तं तु ब्रह्मलोकवि” कस्मादुच्यते तत्राऽह—अन्ते चेति । शास्त्र-
स्यान्ते चेति संबन्धः ।

इतश्चेदं ब्राह्मणमगतायंत्यादारभ्यमित्याह—अपि चेति । एतावदित्यात्मज्ञानोक्तिः । अभृतत्व
”तस्माद्यनमिति यावत् । चकारादुक्तमित्यनुपङ्गः । ज्ञानमेवाभृतत्वे हेतुरित्युक्तोऽयंस्तत्रेति सप्तम्यर्थः ।
सर्वो हेतुत्व”पदेशार्थः । कथं पुनर्येष्यमाणा ”कर्मगतित्जानमेवाभृतत्वसाधनमित्यत्र हेतुत्व प्रतिपद्यते
तत्राऽह—यस्मादिति । व्यापारोऽपि कर्मण इति शेषः । सामान्याज्ञानातिरिक्तस्थोपायस्य सत्तारहेतु-

पति की देव और असुर द्विविध सृष्टि हुई” — इत्यादि पूर्व प्रतिपादित प्रसङ्ग मे शास्त्रानां येय पाप को
सूचित किया गया है । किन्तु वहाँ यह यह उसका कार्य है” इस प्रकार (अनुष्ठित कर्म का) फल प्रदर्शित
नहीं किया गया । अत्रात्मक प्राप्ति तक के मन्त्र द्वारा केवल शास्त्रीय कर्म का ही फल दिखलाया गया
है क्योंकि ब्रह्मविद्या के प्रारम्भ मे उससे वंराय बतलाना अभीष्ट है । वहाँ भी केवल कर्म से पितृलोक
और उपासना तथा उपासना सहित कर्म से देवलोक मिलता है—ऐसा कहा जा चुका है । पर किस
मार्ग से पितृलोक की प्राप्ति होती है और किस मार्ग से देवलोक की प्राप्ति होती है, यह नहीं बतलाया
गया । उस (पूर्व अनुक्त देवयानादि) को यहाँ खिलकाण्ड मे पूर्णतया बतलाना है, इसलिए अन्त्य वा

१ प्रागनुक्तदेवयानादिवर्त्म । २ अन्तरणोक्तत्वात् । ३ नृ उ ४ ५ १५ । ४ नृ उ ४ ५ ३ । ५ नृ
उ २ ४ २ । ६ वक्ष्यमाण कर्मफलम् । ७ आत्मज्ञानादेव । ८ विभागायम् । ९ धारितप्राह
पिपुयाणम् । १० यत्कथ्यशेषसत्त्वे । ११ अत्र । १२ अभृतत्वसाधनम् । १३ कथनार्थः । १४ कर्मफलम् ।

विवेकाद्वैराग्य विवक्षितमित्यर्थः ॥ कर्मवशादेवाशेषपुरुषायसम्भवात् तद्विपाक विषय वैराग्य मुक्तमित्याशङ्क्याऽह
—यन्नुवन्तीति ॥ तथा मुक्तिफलत्वादेवसिद्धिरित्याशङ्क्याऽह—नति । तदव सधयति—कर्मभ्य इति ।
आत्मरूपे मोक्षे कर्माफलमित्यत्र प्रमाणमाह—न कर्मणेति ॥ तत्रैव स्मृतिमुदाहरति—न तथेति ॥ मोक्षस्या-
कर्मयत्तत्त्वे फलितमाह—अत इति । त्याग्यानि कर्माणीति शेषः । तदनन्तरकायमर्षमाह—त्यक्त्विति ।
श्वभारदिकायद्योतकोऽथाब्दः । सवत्यनेत्यन्तर्बहिर्व्यापारात्तराभाव द्योतयति । ब्रह्मसम्प्लोऽभृतत्वमतीति
हि श्रुतिः ॥ मोक्षे कर्मानुपयोगेऽपि तद्व्यवधिर्भङ्गो तदुपमुक्तमित्याशङ्क्याऽह—तमोऽतरायत इति । अतरायान-
न्तरस्याप्रमाणवत्त्वघातको हिस्यदः । कर्मणामभ्यञ्जकत्वात्तन्मोक्षेरेयोयाज्ज्ञानस्य । अत्रकत्वात्तस्मात्त-
सिद्धिर्ब्रह्मध्यानान्तर त्वप्रामाणिकमित्यर्थः । सुपथेतिविशेषणप्रतिबद्धमर्थैरिहणाय ब्राह्मणमित्यत्र संबन्धः ।
ज्ञानस्यैव मुक्तिहेतुता कर्मणा बध्यन्तत्वेन तत्रानन्वयादिति यन्नु तदित्यपरः ॥

त्वसाधनमिति सामर्थ्याद्धेतुत्व संपद्यते । अपि चोक्तमग्निहोत्रे न त्वेवंतयोस्त्वमुत्क्रान्ति न गति न प्रतिष्ठा न तृप्ति न पुनरावृत्ति न लोक प्रत्युत्थायिनं वेत्थेति । तत्र प्रतिवचने ते वा एते ब्राहुती हुते उत्क्रामत इत्यादिना ब्राहुतेः 'कार्यमुत्तमं । तच्चैतत्कर्तुराहुतिलक्षणस्य कर्मणः फलम् । न हि कर्तारमनाश्रित्याऽऽहुतिलक्षणस्य 'कर्मणः स्वातन्त्र्येणो-

स्वनियमादित्यर्थः । प्रकारान्तरेण ब्राह्मणतात्पर्यं वक्तुमग्निहोत्रविषये जनकयाज्ञवल्क्यसवादिभिर्द्वयमर्थ-
मनुवदति—अपि चेत्यादिना । एतयोरग्निहोत्राहुत्यो 'साय प्रातश्चानुष्ठितयोरिति यावत् । लोक प्रत्युत्थायिनं यजमान 'परिवेष्ट्ये' म 'लोक प्रत्यावृत्तयोस्तयो'रनुष्ठानोपचितयो परलोक प्रति 'स्वाश्र-
योत्थानहेतु परिणाममित्येतदिति 'प्रदन्वदत्कमग्निहोत्रविषये जनकेन याज्ञवल्क्य प्रत्युक्तमिति सवन्ध ।
तत्रेत्या'क्षेपगर्भप्रदन्वदत्कोक्ति । ननु 'फलवतोऽभ्यवृत्तकर्मणोऽहोत्राहुतिलक्षणस्य फल न हि 'तत्स्वतन्त्र' सभवति
तत्राऽऽह—नचेति । कर्तृवाचिपश्चात्तद्वाहुत्यपूर्वस्यैवोत्क्रान्त्याऽऽहुतिलक्षणस्य 'तत्र वत्' गामिक-
फलमुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । किञ्च कारकाश्रयत्वात्कर्मणो युक्त तत्फलस्य कर्तृगामित्व-

आरम्भ किया जाता है । शास्त्र के अन्त में ही सब का उपसंहार करना इष्ट है ।

इसके अतिरिक्त 'हे मंत्रेयी' इतना ही अमृतत्व है' यह भी कहा गया है । तथा यह भी श्रुति कहती है—'कर्मों के अनुष्ठान करते रहने में अमृतत्व की आशा नहीं है' । वहाँ इसका हेतु प्रतिपादन नहीं किया गया था, इसलिये यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है । क्योंकि वक्ष्यमाण कर्मफल कर्म की गति है, नित्य, अमृतत्व में कोई व्यापार नहीं है, इसलिये 'यही आत्मज्ञान ही अमृतत्व का साधन है'—इस वचन के सामर्थ्य से यह उसका हेतु हो जाना है । इसके अतिरिक्त अग्निहोत्र प्रकरण में कहा है—'तू साय-प्रातः अनुष्ठित इन अग्निहोत्र ब्राहुतिया की न उत्क्रान्ति का जानता है, न गति को, न प्रतिष्ठा को, न तृप्ति को, न पुनरावृत्ति को, न लोक के प्रत्युत्थान करने वाले यजमान को ही जानता है' । वह इसके उत्तर में कहा गया है— वे ये दोनों ब्राहुतियाँ हवन को जाने पर उत्क्रान्त करती हैं' इत्यादि ब्राहुति का कार्य कहा गया है । यह भी कर्ता के ब्राहुति रूप कर्म का फल है क्योंकि कर्ता का विना आश्रय लिये ब्राहुति रूप कर्म (उससे होने वाले अमृतत्व) का स्वतन्त्रता में उत्क्रान्ति आदि कार्य आरम्भ करना संभव नहीं है । कर्म का आरम्भ कर्ता के लिये होता है और

- १ इत्यत्र कर्मगतिहेतुत्व प्राप्नोतीत्यर्थः । २ न त्वेवंतयोरिति—प्रातःप्रातः ५ । ४ इत्यत्र भाष्येणोक्तयो स्पष्टमेतत् । ३ तत्रेति—रात्रपुष्ट्यादिना ज्ञानाभावाद्याज्ञवल्क्येन पुनस्तेष्वेव प्रानुष्ठानं जिज्ञासुभूय मुक्तादीप पृष्ट्येव सत्स्वित्यर्थः । ४ प्रतिवचने—जनककर्तृके इति शेषः । स्पष्टमन माष्यविनीयगतपथशा० ११ वा० ५ वा ५०२ इति पृष्ठे । ५ वायम्—तज्जन्यापूर्वद्वारक फल वदद्विषय जगदित्यर्थः । ६ तज्जन्यापूर्वस्य । ७ प्राश्रित्य । ८ भूलोकम् । ९ अनुष्ठानतापूर्वात्मकपरिणतिभोग्यतां गमितयो । १० स्वाश्रयेति— ब्राहुत्याश्रयवर्जमानस्य परलोकगमनाभिमुख्यहेतुभूतममृतमित्यर्थः । ११ प्रदन्वदत्कमिति—अग्निहोत्रविषय प्रदन्वदत्क जनकेन साक्षेप पुरस्ताद्याज्ञवल्क्य प्रति पृष्टमित्यर्थः । १२ भाष्येणोक्तो यतो यस्मात्प्रदन्वदत्क तत्त्वा क्षेपरहितस्य प्रदन्वदत्कस्योक्तिरित्यर्थः । १३ फलस्वामिनः । १४ फलम् । १५ निश्चयितम् । १६ अग्निहोत्रप्रकरणम् ।

श्वेतकेतुर्ह वा आरुण्यः पञ्चालानां परिषदमाजगाम
स आजगाम जंवालि प्रवाहण परिचारयमाण तमुदी-

प्रसिद्ध आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु एक बार पाञ्चालो की सभा में आया । वह जीवल के पुत्र प्रवाहण नामक पाञ्चालराज के पास पहुँचा । उस समय वह राजा सेवको में सेवा करा रहा था (राजा ने उसके विद्याभिमान और गव के विषय में पहले से ही सुन रक्खा था । अतः विनीत बनाने के लिये)

त्क्रान्त्यादिवर्षारम्भ उपपद्यते । कर्मर्यंत्वात्कर्मणः । कार्यारम्भस्य । साधनाश्रयत्वाच्च कर्मणः । तत्राग्निहोत्रस्तुत्यर्थत्वाद्वाग्निहोत्रस्यैव कार्यमित्युषत् पट्प्रकारमपि । इह तु तदेव कर्तुं फलमित्युपदिश्यते पट्प्रकारमपि कर्मफलविज्ञानस्य विवक्षितत्वात् । तद्द्वारेण च पञ्चाग्निदर्शनमिहोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधन विधित्सितम् । एवमशेषसत्सारगत्पुपसहारः । कर्मकाण्डस्यैव निष्कृत्ये तद्द्वय दिवशंयिष्टुराहायिका प्रणयति ।

मित्याह—साधनेति । स्वातन्त्र्यासभवादाहृद्यो सक्तृकयोरेव गत्यादि विवक्षित चेत्तहि कथं तत्र केवलाहृत्योर्गत्यादि गम्यते तत्राऽऽह—तत्रति । अग्निहोत्रप्रकरणे सप्तम्यर्थे । अग्निहोत्रस्तु त्ययत्वात्प्रश्नप्रतिपत्तिरूपस्य सदसंश्लेषेति शेषः । भक्त्येवमग्निहोत्रप्रकरणस्थिति 'प्रकृते तु क्रियायात् तत्राऽऽह—इह त्विति । किमिति विद्याप्रकरणे कर्मफलविज्ञान विवक्ष्यते तत्राऽऽह—तद्द्वारेणति । ब्राह्मणारम्भमुपपादितमुपसहारति—एवमिति । सत्सारगत्पुपसहारेण कर्मविषयस्य सर्वस्येवोपसहार सिद्धो भवति तदतिरिक्तद्विपाकाभावावित्याह—कर्मकाण्डस्येति । 'यथोक्तं यस्तु दर्शयितुं ब्राह्मणारम्भ्यते चेत्तत्र' किमित्याहायिका प्रणीयते तत्राऽऽह—इत्येतदद्वयमिति । 'सर्वमेव पूर्वोक्तं यस्तु दर्शयितुमिच्छेद्येदं सुखावबोधार्थमाह्वयिष्यां करोतीत्यर्थः ।

कर्म साधन के आश्रित रहते हैं । (पूर्व श्रुति में) वहाँ अग्निहोत्र स्तुतिपरक होने के कारण यह छ प्रकार वाला अग्निहोत्र का कार्य चललाया गया है । यहाँ विद्याप्रकरण में कर्मफल विज्ञान बतलाना अभीष्ट होने से यह छ प्रकार वाला कर्ता का ही फल है—ऐसा उपपादित किया जाता है । उर्मा कर्म फल विज्ञान के द्वारा ही यहाँ उत्तर मार्ग की प्राप्ति की साधनभूता पञ्चाग्नि दर्शन का विधान करना अभीष्ट है । इस प्रकार यह सम्पूर्ण सत्सार गति का उपसहार है और यही कर्मकाण्ड का निष्ठा है—इन्ही दोना बातों को दिखलान के लिए श्रुति आख्यायिका का उपपादन करती है ।

१ विद्याप्रकरण । २ विवक्षितत्वादिति—कर्म फलस्य आभावे यथाकथं विवक्षया प्रकथितकरत्वादिता भावः । अन्यथाऽनुपपत्ता सता विवक्षा क्तु फलसर्वथापदेश हेतुरिति ध्वयम् । ३ कर्मफलविज्ञानद्वारेण । ४ एषा सत्सारगति कर्मफलपरस्य फलम् । ५ एतदद्वयमिति—अग्निहोत्रप्रकरणात्क पट्प्रकारमपि फल क्तु रिति कर्त्तु फलविज्ञानद्वारा चोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनपञ्चाग्निदर्शनविधानमिति द्वयमित्यर्थः । ६ निस्वानिकत्वा ममत्वात् । ७ अग्निहोत्रप्रकरण । ८ विद्याप्रकरण । ९ गति प्राप्ति । १० यथोक्तं बस्तिविति—अनन्तर ब्राह्मणारम्भप्रयोजकत्वेन विनायिकारोप्यमित्यादि भाष्यणोक्त कर्मविषयप्रतिपत्तिसाधनस्यैवैवमित्यर्थः । ११ ब्राह्मणः । १२ कर्त्तुं कर्मफलस्यैव पञ्चाग्निदर्शनविधान चेत्येतस्मिन् द्वये पूर्वोक्तस्य सर्वस्य माय सहायिण्यस्यान्वर्थं मभिप्रायत्वाह—सर्वमेवेति ।

क्ष्याभ्युवाद कुमार इति स भो, ३ इति प्रतिशुश्रुवानु-
शिष्टो न्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥१॥

उसे आते देखते ही प्रवाहण ने कहा—भो कुमार ! उसने उत्तर दिया—भो ! (ब्राह्मण के लिये क्षत्रिय को 'भो' शब्द से सम्बोधित नहीं करना चाहिये, फिर भी क्रोधावेश में उसने ऐसा किया) प्रवाहण ने कहा—क्या पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है ? तब श्वेतकेतु ने कहा—हाँ पिता ने मुझे शिक्षा दी ही ॥१॥

श्वेतकेतुनमितोऽरुणस्यापत्यमारुणिस्तस्यापत्यमारुण्यः । हशब्द ऐतिह्यार्थः । वंशब्दो निश्चयार्थः । पित्राऽनुशिष्टः सन्नात्मनो यज्ञःप्रथमाय पञ्चालाना परिषदमाजगाम । पञ्चालाः प्रसिद्धास्तेषां परिषदभागत्य जित्वा, राज्ञोऽपि परिषदं जेष्यामीति गर्वेण स आजगाम । जीवलस्यापत्यं जैवलस्तं पञ्चालराजं प्रवाहणनामान स्वभूयैः परिचारयमाण-मात्मनः परिचरणं कारयन्तमित्येतत् । स राजा पूर्वमेव तस्य विद्यामिमानगर्वं श्रुत्वा विनेतव्योऽयमिति मत्वा तमुदीक्ष्योत्प्रेक्ष्याऽऽगतमात्रमेवाभ्युवादाभ्युक्तवान्कुमारा ३ इति

यदा कदाचिद्वतिक्रान्ते काले वृत्तार्थद्योतिव निपातस्य दर्शयति—हशब्द इति । यज्ञःप्रथम विद्वत्सु स्वकोपविद्यासामर्थ्यरूपानं प्रसिद्धविद्वज्जनविशिष्टत्वेनेति शेष । 'क्वचिद्व्ययस्य प्राप्तस्व गर्वे हेतु । किमिति राजा श्वेतकेतुमागतमात्रं तद्विद्याभिप्रायमप्रतिषेध तिरस्कुर्वन्निव तद्विधितवानिवा-शङ्क्याऽऽह—स राजेति । सर्वोध्य भस्संन कृतवानिति शेषः । 'तद्वद्योति पदमिह नास्तीत्या-

"आरण्ये श्वेतकेतु" अर्थात् अरुण का पुत्र आरुणि, उसका पुत्र आरण्ये श्वेतकेतु नाम वाला था । "ह" शब्द परम्परागत उपदेश को बतलाने के लिए है । 'वे' शब्द निश्चयार्थक है । पिता से ज्ञान प्राप्तकर अपना यज्ञ फलाने के लिए पञ्चाल देश के ब्राह्मण-विद्वानों की सभा में गया पञ्चाल जनपद के ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं । उनकी सभा में जाकर उन्हें जीतकर, फिर राजा की सभा को भी जीत लूंगा' इस अहंकार से वह वहाँ गया । वह 'जैवलम्' अर्थात् जीवल के पुत्र जैत्रलि पञ्चालदेश के प्रवाहण नाम के राजा के पास पहुँचा, वह राजा 'परिचारयमाणम्' अर्थात् अपने नौकरों से अपनी सेवा-पूजा करवा रहा था । उसक आने से पूर्व ही राजा ने उसका गर्वाधिक्य सुनकर इसे विनम्र करना चाहिये' ऐसा सोचकर "तमुदीक्ष्य" अर्थात् उसे देखकर आत ही 'अभ्युवाद' अर्थात् अभिवादन किया—हे कुमार ! इस प्रकार बालक के समान सम्भाषण कर उसे 'अभ्युवाद' अर्थात् अभिवादन किया । यहाँ "कुमारा ३ शब्द म प्लुत तिरस्कृत करने

१ ऐतिह्यार्थ इति—परम्परागतोपदेश ऐतिह्य तदर्थोऽयं हशब्दस्तथा चाचार्यपरम्परायमाण्याधिक्य श्रूयते इत्यर्थः । २ परम्पर्योपदेश स्यादेतिह्यमिति हाभ्यय मित्यमर । ३ पञ्चालानाम्—दर्शविशेषाणामित्यर्थः । तद्गतब्राह्मणानामिति यावत् । ४ जनपद । ५ जित्वेति—परिषदमित्यनुवृत्त एव सम्प्राप्त् ब्राह्मणा निति तदर्थः । जित्वा—माजगामत्युत्तरत्र सन्त्य । ६ तदागते प्रागम् । ७ गर्वाधिक्यम् । ८ ब्राह्मण सशयमादिदमुचितमिति विनेतव्य इति मत्वा उत्पणामी हि नृपेण प्रशासनीम् इति भावः । ९ बाल-वत् । १० ब्रह्मणससदि । १० अस्संनम् ।

वेत्य यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति
 होवाच वेत्यो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति नेति
 हंवाच वेत्यो यथाऽसौ लोक एव बहुमिः पुनः पुनः
 प्रयद्मिन् सपूर्यता ३ इति नेति हंवाच वेत्यो

जैसे मरने के बाद यह प्रजा विभिन्न मार्गों से जाती है, उसे क्या तू जानता है? स्वेतकेतु ने कहा—नहीं। राजा ने पूछा—जैसे वह फिर इस लोक में लौट कर आती है, क्या तू उसे जानता है? स्वेतकेतु ने कहा—नहीं। राजा ने पूछा—इस प्रकार बार-बार बहुतो के भर कर जाने पर भी जैसे वह

संबोध्य। भर्त्सनार्था प्लुतिः। एवमुक्तः स प्रतिशुश्राव भो ३ इति। भो ३ इत्यप्रतिरूपमपि क्षत्रियं प्रत्युक्तवान् क्रुद्धः सन्। अनुशिष्टोऽनुशासितोऽसि भवसि किं पित्रेऽप्युवाच राजा। प्रत्याहेतर अमिति चाडमनुशिष्टोऽस्मि पृच्छ यदि 'संशयस्ते ॥ १ ॥

'यद्येव वेत्य विजानासि किं यथा 'येन प्रकारेणोमाः प्रजाः प्रसिद्धाः प्रयत्यो न्निय-
 मारणा विप्रतिपद्यन्ता ३ इति विप्रतिपद्यन्ते विचारणार्था प्लुतिः। समानेन मार्गेण गच्छ-
 स्तीनां मार्गद्विविध्यं 'यत्र भवति 'तत्र काश्चित्प्रजा अन्येन मार्गेण गच्छन्ति काश्चिदेन्येनेति

शाङ्खाऽऽह—भर्त्सनार्थेति। भो ३ इति प्रतिषेधनमाचार्यं प्रत्युचितं न क्षत्रियं प्रति तस्य हीनत्वा-
 दित्याह—भो ३ इतीति। अप्रतिरूपवचने क्रोधं हेतुं करोति—क्रुद्धः सन्निति। पितुः सकाशात्तव
 सन्धानुशासनत्वे लिङ्गं नास्तोत्याशाङ्खाऽऽह—पृच्छेति ॥ १ ॥

पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—समानेनेति। नाडीरूपेण सगधारणेन मार्गेणाम्बुदयं गच्छतां
 'यत्र मार्गविप्रतिपत्तिस्तर्हि जानासिति प्रश्नार्थं। विप्रतिपत्तिमेव विशदयति—तथेति। अधिकृत-

के लिए है। ऐसा अभिवादन करने पर उसने 'भो' इस प्रकार उत्तर दिया। 'भो' यह सम्बोधन
 क्षत्रिय के लिए उचित नहीं है, किन्तु स्वेतकेतु ने क्रुद्ध होकर ऐसा कहा। "अनुशिष्टो स्वसि पित्रोत्"
 प्रथमं क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है—ऐसा राजा ने कहा। इस पर स्वेतकेतु ने कहा—'अ'
 प्रथमं हाँ, मैं पिता द्वारा शिक्षा दिया गया है यदि तुम्हें सन्देह हो तो पूछ लो ॥ १ ॥

यदि ऐसा है तो 'यथा' अर्थात् जिस कर्म विशेषात्मक कारण से यह प्रसिद्ध प्रजा "प्रयत्य"
 अर्थात् मरने पर "विप्रतिपद्यन्ता ३" अर्थात् विप्रतिपन्न होती है, "वेत्य" अर्थात् क्या तू वह जानता
 है। "विप्रतिपद्यन्ता ३" पद में प्लुत स्वर विचार के लिये है। समान मार्ग से जाती हुई प्रजा के
 जिस कारण से दो मार्ग हो जाते हैं, उन (अधिकारियों)में कुछ प्रजा अन्य मार्ग से जाती है, कुछ अन्य

१ पित्राऽप्यनुशिष्टो न वेति सजयशरीरम्। २ यद्येवत्यनुशिष्टः पित्रेऽप्येव। ३ येन कर्मविशेषात्मक-
 कारणेनेति यावत्। ४ यस्मिन् कारणे सति। ५ तत्र-प्रधिकारिणा मर्त्ये। ६ पुण्यतोऽकभेदम्। ७.
 यस्मिन् कर्मविशेषे निमित्ते सति।

यतिथ्यामाहुत्या ७ हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा
समुत्थार्य वदन्ती ३ इति नेति हैवोवाच वेत्यो
देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा
यत्कृत्वा देवयान वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते ॥ पितृयाणं

लोक भरता नहीं, उसे क्या तू जानता है ? श्वेतकेतु ने कहा—नहीं । राजा ने पूछा—कितने बार की आहुति के हवन करने पर जल पुरुष सत्त्वा को प्राप्त हो उठकर बोलने लगता है क्या तू जानता है ? श्वेतकेतु ने कहा—नहीं । राजा ने पूछा—देवयान मार्ग के कर्म रूप साधन या पितृयाण मार्ग के कर्म रूप साधन को क्या तू जानता है, जिसे अनुष्ठान कर जीव देवयान या पितृयाण को प्राप्त हो जाते हैं ?

'विप्रतिपत्तिः । यथा ताः प्रजा विप्रतिपद्यन्ते १ तत्किं वेत्येत्यर्थः । नेति हैवोवाचेतरः ॥
तहि वेत्य उ यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति पुनरापद्यन्ते यथा पुनरागच्छन्तीमं लोकम् ॥
नेति हैवोवाच श्वेतकेतुः । वेत्यो यथाऽसौ लोक एव प्रसिद्धेन न्यायेन पुनः पुनरसकृत्प्र-
पद्भिर्निपमाराण्यथा येन प्रकारेण न संपूर्यता ३ इति न संपूर्यतेऽसौ लोकस्तत्किं वेत्य ।
नेति हैवोवाच । वेत्यो यतिथ्या यत्संख्याकायामाहुत्यामाहुतो हुतायामापः पुरुषवाचः
पुरुषस्य वा वाचसैव वासां वाक्ताः पुरुषवाचो भूत्वा पुरुषशब्दवाच्या भूत्वा । यथा पुरुषा-

प्रजानिर्घारणार्था सप्तमी । प्रथमप्रश्नं निगमयति—यथेति । प्रश्नान्तरमावसे—तर्हीति । 'तदेव स्पष्टयति—यथेति । परलोकगता प्रजा पुनरिमं लोकं यथाऽऽगच्छन्ति तथा किं वेत्येति योजना । प्रश्नान्तर-प्रतीकमुपादत्ते—वेत्येति । 'तद्व्याकरोति—एवमिति । प्रसिद्धो न्यायो जराज्वरादिमरणहेतुः । प्रश्नान्तरमुत्थाप्य व्याख्येते—वेत्येत्यादिना । पुरुषशब्दवाच्या भूत्वा समुत्थाय वदन्तीति सबन्धः । कथमथां

मार्ग से जाती है, यह सन्देह हो जाता है । जिस कारण से प्रजाएँ विभिन्न मार्गों से जाती हैं; वह क्या कारण है, क्या तुम जानते हो ? श्वेतकेतु बोला—नहीं, मैं नहीं जानता । तो फिर प्रजा जिस प्रकार पुनः इस लोक में आगच्छती ३ अर्थात् आती हैं—वह कारण क्या तुम जानते हो ? इस पर श्वेतकेतु बोला—नहीं, मैं नहीं जानता । तो क्या तुम जानते हो कि (जराज्वरादि मरण से हेतु है) इस प्रसिद्ध न्याय से प्रजा के बहुत प्राणियों के पुनः-पुनः निरन्तर 'प्रपद्भिः' अर्थात् मरने पर भी यथा अर्थात् जिस निमित्त से "न संपूर्यता ३" अर्थात् यह लोक नहीं भरता, सो क्या वह निमित्त तम्भे मालूम है ? श्वेतकेतु बोला—नहीं, मुझे नहीं मालूम है । क्या तुम जानते हो कि 'यतिथ्याम्' यानी जितनी संख्या वाली "आहुत्या हुतायाम्" अर्थात् आहुतिया के हवन किये जाने पर जल 'पुरुषवाचो भूत्वा' अर्थात् पुरुष की वाक् वाला होकर यानी पुरुषशब्द वाच्य ग्रथवा जिस समय

१ विप्रतिपत्ति—विभिन्नवर्त्मगतिरिति यावत् । २ येन कारणेन । ३ कारणम् । ४ बहुभिः प्राणिभिः ।

५ निमित्तेनेति यावत् । ६ निमित्तम् । ७ हुता सत्य । ८ प्रश्नान्तरमेव । ९ मार्गेण हेतुना च यत्न ।

१० प्रश्नान्तरम् ।

वाऽपि हि - न ऋषेर्वचः श्रुतं द्वे सृती अशृणवं पितृ-
 णामहं देवानामुत मर्त्यानां ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति
 यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकंचन वेदेति
 'होवाच ॥२॥

यह वचन सुन रक्खा है अर्थात् पितरो के और देवो के दो मार्ग हमने सुने हैं, जो ये दोनों ही मनुष्य से सबन्ध रखने वाले हैं। इन दोनों मार्गों से जाने वाले लोग भली प्रकार से जाते हैं और ये दुःखी और पृथिवी के मध्य में हैं, जिन्हें माता-पिता भी कहते हैं। इस पर श्वेतकेतु ने कहा—मैं इन प्रश्न समुदाय में से एक को भी नहीं जानता, मुझे किसी का पता नहीं ॥२॥

कारपरिणतास्तवा पुरुषवाचो भवन्ति । ममुत्याय सम्यगुत्यायोद्भूताः सत्यो यदन्तोऽ
 इति । नेति हैवोवाच । 'यद्येवं वेत्थ उ देवयानस्य पथो मार्गस्य प्रतिपदं प्रतिपद्यते, येन
 सा प्रतिपत्ता प्रतिपद पितृयाणस्य वा प्रतिपद प्रतिपच्छब्दवाच्यमयमाह । यत्कर्म कृत्वा
 'यथाविशिष्टं कर्म कृत्वेत्यर्थः । देवयान वा पन्थानं मार्गं प्रतिपद्यन्ते पितृयाण वा यत्कर्म
 कृत्वा प्रतिपद्यन्ते तत्कर्म प्रतिपद्युच्यते तां प्रतिपदं किं वेत्थ देवलोकपितृलोकप्रतिपत्ति-
 साधनं किं वेत्थेत्यर्थः ।

पुरुषशब्दवाच्यत्व तदाह—यदेति । प्रश्नान्तरमवतारयति—यद्येवं वेत्थेति । पितृयाणस्य वा प्रतिपद
 वेत्थेति सबन्ध । यत्कृत्वा प्रतिपद्यन्ते पन्थानं तत्कर्म प्रतिपदिति योजना । वाप्यापमाह—देवयान-
 मिति । उक्तमर्थं सक्षिप्याऽऽह—देवलोकैति ।

यह पुरुषाकार म परिणत होनी है, उस समय पुरुषवाक् होगी है, इस प्रकार होकर "समुत्याय"
 अर्थात् सम्यक् उठकर या उदबुद्ध होकर बोलता है ? श्वेतकेतु बोला—नही, मैं नहीं जानता। यदि ऐसा
 है तो क्या तुम देवयान 'पथ' यानी मार्ग के "प्रतिपदम्" अर्थात् प्राप्ति साधन को जानते हो तथा
 पितृयान मार्ग के प्राप्ति साधन को जानते हो ? "प्रतिपत्" शब्द का वाच्य अर्थ स्वयं श्रुति कहती है।
 'यत्कृत्वा' जिस शास्त्रविहित को यादकर कर्तव्यता विशिष्ट करके देवयान अथवा पितृयान को प्राप्त
 होते हैं, वह कर्म 'प्रतिपद' कहा जाता है। उस देवलोक पितृलोक प्राप्ति साधन को क्या तुम जानते
 हो, यह इसका अर्थ है।

१ यद्यदिति—अर्थात् प्रश्नस्वाज्ञान प्रभवतुष्टमपि न जानामि वेदिति यावत् । २. प्रतिपद प्राप्तिसाधनम्
 यथाप्राप्तोपासनारूपां विद्यामिति यावत् । ३ श्रुति स्वयमेव । ४ यथाविशिष्टमतिशयैत्यर्थः । विहित
 मिति यावदित्याहुः । यथा यथाविशिष्टं यादगमित्यर्थः । यादगिति कर्तव्यताकमिति यावत् ।

अप्यत्रास्यार्थस्य प्रकाशकमृषेर्मन्त्रस्य वचो वाक्यं 'वः श्रुतमस्ति । मन्त्रोऽप्यस्या-
र्थस्य प्रकाशको विद्यत इत्यर्थः । कोऽसौ मन्त्र इति । उच्यते—द्वे सूती, द्वौ मार्गात्रशृणावं
श्रुतवानस्मि तयोरेका पितॄणां प्रपिका पितृलोकसंज्ञदा तथा सत्या पितृलोकं प्राप्नो-
तीत्यर्थः । अहमशृणवमिति व्यवहितेन संबन्धः । देवानामुतापि देवानां संबन्धिन्यन्या
देवान्प्रापयति सा । के पुनरुभाम्नां सृतिभ्यां पितृन्देवांश्च गच्छन्तीति । उच्यते—उतापि
मर्त्यानां मनुष्याणां सबन्धिन्यो । मनुष्या एव हि सृतिभ्यां गच्छन्तीत्यर्थः । 'ताभ्यां सृति-
भ्यामिदं विश्वं समस्तमेजं द्रच्छत्समेति संगच्छते । ते च द्वे सूती यदन्तरा ययोरन्तरा
यदन्तरा पितरं मातरं च मातापित्रोरन्तरा मध्यं इत्यर्थः । कोऽसौ मातापितरौ द्यावा-

मार्गद्वयमेव नास्ति स्वया तूत्रेणामात्रेण पृच्छयते तत्राऽह—अपीति । अत्रेति कर्मविधाक-
प्रक्रियोक्तिः । अस्वार्थस्य मार्गद्वयस्येत्येतत् । 'तेषामेव मार्गद्वयेऽधिकृतत्वमिति यधतु' ह्येत्युक्तं तदेव
स्फुटयति—ताभ्यामिति । विश्वं 'साध्यसाधनात्मक संगच्छते' गन्तव्यत्वेन गन्तव्येन चेति शेषः ।

"आप हि न ऋषेर्वच श्रुतम्" अर्थात् हमने इस अर्थ के प्रकाशक मन्त्र को वाक्य भी सुना है
अर्थात् मन्त्र भी इसी अर्थ का प्रकाशक है । वह मन्त्र कौन सा है ? इस श्रुति कहती है—'द्वे सूती'
अर्थात् दो मार्ग "अशृणवम्" मीने सुने हैं । उनमें एक पितृलोक से सम्बद्ध पितृलोक की प्राप्ति कराने
वाला है अर्थात् उस मार्ग से पितृलोक की प्राप्ति होती है, 'मीने सुना है' इस प्रकार व्यवहित पदों का
संबन्ध है । दूसरा मार्ग 'देवानाम्' अर्थात् देवताओं से सम्बद्ध है, जो देवताओं की प्राप्ति
कराता है । किन्तु इन दोनों मार्गों से पितरों और देवताओं को समीप कौन जाते हैं । इस पर श्रुति
कहती है—'उतापि मर्त्यानाम्' अर्थात् ये मनुष्यों से सबन्धित हैं । अर्थात् मनुष्य ही इन दोनों मार्गों
से जाते हैं । "ताभ्याम्" अर्थात् उन मार्गों से यह सम्पूर्ण विश्व "एजत्" अर्थात् चल होकर "समेति"
अर्थात् (गन्तव्यत्व और गन्तृत्व रूप से) सङ्गमन करता है । ये दोनों मार्ग "यदन्तरा पितरं मातरं च"

१ न अस्माकम्—अस्माभिरिति यावत् । २ अषिकृतानां मार्गांतरगच्छं वारयति—ताभ्यामिति । ३. गच्छ-
दिति—अनेन साध्यसाधनमोहभयोरपि जगतोश्चलत्वमुच्यते । ननु साधनस्य गन्तृत्वप्रतिष्ठावपि कथं साध्यस्य
जगतस्तथात्वमिति चेदित्य साध्य हि नाम पियादितोऽपीव देह एव तस्य च तद्देहेन भुक्त तद्गोचरस्य
जोर्वस्य च कर्मक्षये पुनराभ्यां सृतिभ्यामिदं लोकं प्रत्यावर्तनस्य श्रुताख्येऽनुभववान् एतस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं
च अ सू २।१।६ इति न्यायसिद्धत्वादिति । ४ ते च मृती इव वर्तते इति वीक्षायामाह—ते चेति । ५ ययो-
रिति—मातापितृव्याधोययोर्वावापृथिव्योरिति यावत् । ६ नादिति—अप्रामाणिकमित्यर्थः । ७ उत्प्रेक्षा कल्पना ।
८ पृच्छयते—मदमागोहार्थमिति शेषः । ९ मनुष्याणामेव । १० साधेति—साध्यात्मकं जगद्गन्तव्यत्वेन
साधनात्मकं च तद् गन्तव्येन ताभ्यां सृतिभ्यां संगच्छते सम्भवत इत्यर्थः । ११ यदा गच्छत्युपाधिमेव
शेषच्छलेन समर्पयति—गन्तव्यत्वेनेत्यादिना । ननु गन्तृत्वस्य गच्छत्वस्यैव न्याय्यं कुतस्तु गन्तव्यत्वस्य
तत्त्वमिति चेद् गच्छत्यस्य तन्त्रेण निर्देयादित्येहि तत्र चैकस्य कर्मकर्तृरिति साङ्ख्येन गन्तव्यार्थकत्व-
मभवादिति धर्मम् । यदा गच्छदिति गन्तृत्वगत एव विशेषणं न तु गन्तव्यजगतोऽप्यसम्भवादत् एव टीकाकृद्भि-
स्तथ कटाक्षितमित्यपि वदन्ति ।

अर्थेन वसत्योपमन्त्रयाञ्चक्रेऽनादृत्य वसति कुमारः ७,

प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तथ होवाचेति वाव किल नो

भवान्पुराऽनुशिष्टानवोच इति कथथ सुमेध इति पञ्च

इसके बाद राजा ने श्वेतकेतु से विनयपूर्वक ठहरने के लिये प्रार्थना की, किन्तु वह कुमार उस निवास को भ्रनादर कर अपने पिता के पास चला गया। वह अपने पिता के पास आया और अपने पिता से उसने समावर्तन सत्कार के समय की बात याद दिलायी। आपने समावर्तन के समय यही कहा

पृथिव्यावण्डकपाले । इयं वं माताऽथो पितेति हि व्याहृयात् ब्राह्मणेन । अण्डकपालयो-
र्मध्ये संसारविषये एवैते सूतो नाऽऽत्यन्तिकाभृतत्वगमनाय । इतरं प्राह—नाहमतो-
ऽस्मात्प्रश्नसमुदायादेकचनेकमपि प्रश्नं न वेद नाह वेदेति होवाच श्वेतकेतुः ॥ २ ॥

अथानन्तरमपनीय विद्यानिमानगर्वमेन प्रकृतं श्वेतकेतुं वसत्या वसतिप्रयो-
जनेनोपमन्त्रयाञ्चक्रे । इह वसन्तु भवन्तः पाद्यमर्घ्यं चाऽऽनीयतामित्युपमन्त्रणं कृतवानराजा ।
'प्रनादृत्य ता वसति कुमारः श्वेतकेतुः प्रदुद्राव प्रतिगतवान्पितरं प्रति । स चाऽऽज-

प्रकृतमन्त्रव्याख्यानप्रणयो ब्राह्मणशब्दार्थः । यदन्तरेत्यादौ "विवक्षितमयंमाह—अण्डकपालयो-
रिति ॥ २ ॥

श्वेतकेतोरभिमाननिवृत्तिद्योतनाय "बहुवचनम् । रात्रन्यदत्तवसत्यनादरे हेतुमाह—कुमार

अर्थात् माता एव पितृस्थानीय थावा-पृथिवी के मध्यवर्ती हैं। वे माता एव पिता कौन हैं? शुलोक
श्रीर पृथिवी रूप ब्रह्माण्ड कपाल ही पिता और मता है। "यह पृथिवी ही माता और शुलोक
पिता है" इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ में उपपादिन ही चुका है। ब्रह्माण्ड कपालो के बीच में ये दोनों
मार्ग केवल संसार रूप फल की प्राप्ति कराने वाले हैं आत्यन्तिक अमृतत्व मोक्ष प्राप्ति कराने के
लिए हैं। इस पर श्वेतकेतु बोला—"प्रत" अर्थात् इस प्रश्नसमुदाय में से मैं "एकचन"—अर्थात् एक
भी प्रश्न को "न वेद" अर्थात् नहीं जानता ॥ २ ॥

इसके बाद श्वेतकेतु ने विद्याप्रयुक्त दर्पोत्सेक को दूर कर (अथ उसका अभिमान शान्त हुआ
देखकर) उसमें "वसत्या" अर्थात् निवास के लिए प्रार्थना की। आप यहाँ विराजिए, इस प्रकार श्वेत-
केतु से निवेदन कर, नीचरो को पाद्य अर्घ्य लाने के लिए आज्ञा दी। उस निवास को (लज्जा और
रोष में) भ्रनङ्गीकार करके कुमार श्वेतकेतु 'प्रदुद्राव' अर्थात् पिता के पास चल दिया। वह पिता के
पास आया और बोला। किस प्रकार बोला? "नो भवान्" अर्थात् आपने मुझे "पुराऽनुशिष्टानवोच"

१ संसारविषये इति—समार्थकपलिके न तु मोक्षसाधने इति यावत् । २ विद्याप्रयुक्त दर्पोत्सेकम् ।
३ श्वेतकेतोरित्यादि । श्वेतकेतुमिति—शास्त्रार्थे समीक्षयति शेष । ४ निवासार्थम् । ५ पाद्यमित्य-
दिक् राजा भूत्याप्रत्युक्ति । ६ भ्रनादृत्यति—भ्रनङ्गीकृत्येत्यर्थं । सञ्चारोवाभ्यामिति शेष । ७ भवन्त
इतीत्य् । ८ कुमारस्य वात्यम् ।

मां प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकञ्चन वेदेति
कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ॥३॥

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किञ्च

धा कि सभी विषयो की शिक्षा तुम्हें देदी गयी है । आरुणि ने पुत्र का उलाहना सुन कर कहा—हे सुन्दर धारणा वाले ! तुम्हें इस प्रकार दुःख कंमे हुआ । पुत्र ने कहा—मुझ से एक क्षत्रियबन्धु ने पाँच प्रश्न पूछे, पर मैं तो उनमे से एक को भी नहीं जानता । पिता ने कहा—ये प्रश्न कौन से हैं । उसने कहा—ये प्रश्न थे, ऐसा कह कर श्वेतकेतु ने राजा से पूछे गये प्रश्नों के सकेत बतलाए ॥३॥

(क्रुद्ध पुत्र को शान्त करने के लिये) उस पिता ने कहा—हे वत्स ! तू हमसे इतना निश्चित

गाम पितरभागत्य घोवाच तं कथमिति याव किलंबं किल नोऽस्मान्भवान्पुरा समा-
वर्तनकालेऽनुशिष्टान्सर्वाभिविद्याभिरवोचोऽवोचदिति । सोपालम्भं पुत्रस्य वचः श्रुत्वाऽऽह-
पिता । कथं केन प्रकारेण तव दुःखमुपजातं हे सुमेधः शोभना मेधा यस्येति सुमेधाः ।
शृणु मम यथा वृत्तं पञ्च पञ्चसंख्याकान्प्रश्नान्मा मां राजन्यबन्धू राजन्या बन्धवो
यस्येति । परिभववचनमेतद्राजन्यबन्धुरिति । अप्राक्षीत्पृष्ट्वांस्ततस्तस्मात्प्रं कञ्चनैकमपि
न वेद न विज्ञातवानस्ति । कतमे ते राजा पृष्टाः प्रश्ना इति पित्रोक्तः पुत्र इमे त इति
ह प्रतीकानि मुखानि प्रश्नानामुदाजहारोदाहृतवान् ॥ ३ ॥

स होवाच पिता पुत्रं क्रुद्धमुपशमयंस्तथा तेन प्रकारेण नोऽमांस्त्वं हे तात वत्स

इति । एवं किलेति राजपरामर्शनिर्णयकं पितृवचसो मृषात्वं द्योत्यते । अज्ञानाद्येन दुःख तथासंभावित-
पिति सूचयति—सुमेध इति ॥ ३ ॥

अर्थात् पहले समावर्तन संस्कार के समय आपने यही कहा था कि तुम्हें सब विद्याओं की शिक्षा दी जा चुकी—वह सब झूठ था । उपालम्भपूर्ण पुत्र के वचनों को सुनकर पिता ने कहा—“कथं सुमेध इति” अर्थात् हे शोभन बुद्धि वाले पुत्र ! तुम्हें दुःख किस कारण से हुआ है । श्वेतकेतु बोला—जैसा मेरे साथ हुआ है, उसे सुनिये । भुम्हसे एक “राजन्यबन्धु” क्षत्रिय बन्धु राजा ने ‘पञ्च’ अर्थात् पाँच सख्या वाले प्रश्न “अप्राक्षीत्” यानी किये । “राजन्यबन्धु” यह विशेषण राजा के प्रति अनादरभाव का सूचक है । “ततः” अर्थात् उनमे मे मैं “एकञ्चन” अर्थात् एक भी “न वेद” यानी नहीं जानता है । राजा ने कौन से ऐसे प्रश्न पूछे थे जिसका उत्तर तुम न दे सके । श्वेतकेतु बोला—‘ये ये प्रश्न थे’ इस प्रकार उन प्रश्नों को (विस्तार से न कहकर) संक्षेप से ‘उदाजहार’ अर्थात् बोला ॥ ३ ॥

अपने क्रुद्ध पुत्र को शान्त कर वह पिता बोला—‘तात’ अर्थात् हे वत्स ! ‘तथा’ यानी इस

१. एव किलेति—इत्य निर्वच्येत्यर्थः । इत्यमिति—परैत्यात्मत्परान्नवहेतुरित्यर्थः । २. अनादरवाक्यम् । ३. प्रश्नपञ्चमात् । ४. यास्त्वं न ज्ञातवानिति शेषः । ५. प्रभाः । ६. मुखानीति—घादिभेदशान्तिपर्यं । समासः प्रश्नानवदित्यर्थः ।

वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोच प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं
वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम
गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जंबलेरास तस्मा आसनमा-
हृत्योदकमाहारयांचकाराय हास्मा अर्घं चकार तः
होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्य इति ॥ ४ ॥

जान कि जो कुछ मैं जानता था वह सब तुझ से मैंने कह दिया था (राजा के इन प्रश्नों को तो मैं नहीं जानता अतः) भ्रम चल, हम दोनों वही चलें और ब्रह्मचर्यपूर्वक उसको यहाँ निवास करें। पुत्र ने कहा—आप ही जाएँ (मैं तो उसका मुख भी देखना नहीं चाहता) तब वह गौतम जंबलि, प्रवाहण की जहाँ बैठक थी, वहाँ आया। राजा ने उस ब्राह्मण के लिए उचित आसन देकर सेवकों से जल मँगवाया और पुरोहित द्वारा मन्त्र पूर्वक उसे भ्रम्यदान किया। फिर राजा ने कहा—मैं भगवान् गौतम को वर देता हूँ ॥४॥

जानीया गृह्णीया 'यथा यदहं किञ्च विज्ञानजातं वेद सर्वं तत्तुभ्यमवोचमित्येव' जानीयाः ।
कोऽन्यो मम प्रियतरोऽस्ति स्वतो यदर्थं रक्षिष्ये । 'ब्रह्मप्येतन्न जानामि यद्राज्ञा पृष्टम् ।
'तस्मात्प्रेहागच्छ तत्र प्रतीत्य गत्वा 'राज्ञि ब्रह्मचर्यं वत्स्यावो विद्यार्थमिति' । स आह
भवानेव गच्छत्विति नाह तस्य मुख निरोक्षितुमुत्सहे । 'स आजगाम गौतमो गोत्रतो

सत्य, किंचिदुक्तं किंचित् विज्ञानमभ्यसने प्रियतमाय दातु रक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—कोऽन्य
इति । राजा यत्पृष्ट त-मया न विज्ञात तथा च तस्मिन्निवद्ये स्वया वञ्चितोऽस्मीत्याशङ्क्याऽऽह—
महमपीति । 'तर्हि तज्ज्ञानं कथं साधयतामित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ॥ ४ ॥

प्रकार हमसे तू 'जानीया' अर्थात् जान कि जितना जिस प्रकार मैं जानता था, उतना सब मैंने तुझे
बना दिया। ऐसा ही तুম निश्चय जानो। तूम से प्रिय मेरे लिए और कौन है, जिसके लिये कुछ
अथ गोपनीय रखूंगा। राजा द्वारा पूछी गयी विद्या को तो मैं भी नहीं जानता। इसलिये 'प्रेहि'
अर्थात् आशा। प्रतीत्य अर्थात् राजा के समीप में जाकर विद्या के लिए ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करेंगे।
स्वतकेतु बोला—आप ही जाइये मैं तो उसका मुख देखना भी नहीं चाहता। 'गौतम' अर्थात् गोत्र

१ यत्किञ्चिदथाऽहं वेद तत्सर्वं तुभ्य तथैवावाचमिति नरत्त विजानीया इत्यवयमाह । २ इत्येव जानीया
इति—ब्रह्मज्ञानतोऽन्य विद्या पत्र-छ भूमिप । नहि ब्राह्मणविज्ञाने किञ्चिदस्ति स्वयाऽऽपत्तमित्यभिप्राय ।
३ ब्रह्मपीति—राजपृष्टा तु विद्यामहमपि न जानामि तस्या राजवशमात्ररथत्वादिति भाव । ४ तस्मात्
—तद्विज्ञानस्य तन्मात्ररथत्वात् । ५ राजसमीपम् । ६ इति पित्रोक्त इति शेष । ७ स पुत्रेणैवमुक्तः
स इत्यथ । ८ महमिति शय । ९ तर्हि—राजपृष्टविज्ञानस्य तद्वशमात्ररथत्वे ।

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते
वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥ ५ ॥

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां
ब्रूहीति ॥ ६ ॥

उस गौतम ने कहा—आपने मुझे वर देने के लिये जो प्रतिज्ञा की है, उसके बदले में मैं यही चाहता हूँ कि मेरे पुत्र के समीप प्रश्न रूप में जो बात आपने कही थी, वही मुझ से कहिये ॥ ५ ॥

उस राजा ने कहा—हे गौतम ! वह वर तो देव संवन्धी वरों में से है, तुम मानुष वरों में से कोई वर माँगो ॥ ६ ॥

गौतम आरुणियंत्र प्रवाहणस्य जंबवेरासाऽऽसनमास्थापिका षष्ठी वा प्रथमार्थे तस्मै
गौतमायाऽऽगतायाऽऽसनमनुरूपमाहृत्योवकं भृत्यैराहारयाचकार । अथ हास्मा अर्घं पुरो-
धसा कृतवान्मन्त्रवन्मधुपर्कं च । कृत्वा चैवं पूजां तं होवाच वर भगवते गौतमाय तुभ्यं
वक्ष्ये इति गोश्वदिलक्षणम् ॥ ४ ॥

स होवाच गौतमः प्रतिज्ञातो मे ममैव वरस्त्वयाऽस्यां प्रतिज्ञायां दृष्टी कुर्वात्मानं यां
तु वाचं कुमारस्य मम पुत्रस्यान्ते समीपे वाचमभाषथा. प्रश्नरूपां तामेव मे ब्रूहि स एव
नो वर इति ॥ ५ ॥

विवक्षितविद्यागीरवं विवक्षित्वाऽह—अस्यामिति ॥ ५ ॥

से गौतम वह आरुणि, जहाँ राजा जंबलि प्रवाहण का "आस" अर्थात् दर्शन करने योग्य स्थान था, वहाँ आया । यहाँ प्रथमा के स्थान में पक्षी है । तब राजा ने आये हुए गौतम को अनुरूप आसन देकर अर्घ्यार्थिके जल नौकरो से मंगवाया और फिर पुरोहित द्वारा अर्घ्य एवं मन्त्रयुक्त मधुपर्क कराया । इस प्रकार पूजा करके प्रवहण ने गौतम से कहा—'मैं आप भगवान् गौतम का गो-अश्वदि रूप वर देता हूँ' ॥ ४ ॥

"स." अर्थात् उस गौतम ने कहा—आपने 'मे' अर्थात् मुझे वर देने की प्रतिज्ञा की है । अब "कुमारस्यान्ते" अर्थात् मेरे पुत्र के समीप 'या वाचम्' अर्थात् जिस प्रश्न रूपा वाणी को आपने बोला था, उसे ही मुझे कहिये, यही मेरा वर है । इस प्रतिज्ञा में आपने आपको मुदृढ कर लीजिए ॥ ५ ॥

- १ आस्थापिका—दमनयोग्यस्वानस्थिति । २ षष्ठी वेति—ग्राम इत्यस्य बभूवैत्येवायं । ३ नवो राजा ।
४ अर्घ्यार्थम् । ५ पुरोधसा साकमिति शेषयन्ति । ६ मधुपर्कमिति—मधुना योगी यन्नेति मधुपर्क
कार्यपदान्तरम् । ७ मधुपर्कान्तरेणावृत्त दधि सपिर्जलं सोढ सित्ता चैतैश्च पञ्चभिः प्रोष्यते मधुपर्कः ।

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गो-
अश्वानां दासीनां प्रवारानां परिधानस्य मानो भवा-
न्वहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्यो भूदिति स वै

उस गौतम ने कहा—आप जानते ही हैं, वह मनुष्य संवन्धी स्वर्णादि वर तो मेरे पास भी है, मुझे सुवर्ण, गौ, अश्व, दासी, परिवार और वस्त्रादि परिधान भी प्राप्त हैं। आप अनन्त और निस्सीम धन के दाता होकर भी केवल मेरे लिए भदाता न हों। राजा ने कहा—हे गौतम ! शास्त्रोक्त विधि से उस विद्या को प्राप्त करने की इच्छा करो। गौतम ने कहा—अच्छी बात, मैं आपके प्रति

स होवाच राजा 'दंशेयु वरेषु तद्धै गौतम यत्त्वं प्रार्थयसे भानुवाणामन्यतमं प्रार्थय वरम् ॥ ६ ॥

स होवाच च गौतमो भवताऽपि 'विज्ञायते ह ममास्ति 'सः । न तेन प्रार्थितेन कृत्यं मम यं त्वं दित्सति भानुयं वरम् । यस्मान्ममाप्यस्ति हिरण्यस्य 'प्रेनूतस्यापात्तं प्राप्तं गो-
अश्वानामपात्तमस्तीति सर्वत्रानुपङ्गो दासीनां प्रवारानां परिवाराणां परिधानस्य च । न च यन्मम विद्यमानं तत्त्वत्तः प्रार्थनीयं त्वया वा देयम् । प्रतिज्ञातश्च वरस्त्वया, त्वमेव जीनीये यदत्र युवतं प्रतिज्ञा रक्षणीया तवेति । मम पुनरयमभिप्रायो मम सूक्ष्मोऽस्मानभ्यस्मानेव

तदिति 'सामान्योक्त्या चरो निर्दिश्यते ॥ ६ ॥

ममास्ति स इति यदुक्त तदुपपादयति—यस्मादित्यादिना । न च यन्ममेतद्यत्र तस्मादिति पठितव्यम् । 'किं तर्हि मया कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रतिज्ञातश्चेति । यत्तवाभिप्रेतं तद्वहं करोमीत्याशङ्क्याऽऽह—ममेति । मा भूदित्यन्वयं दर्शयन्प्रतीकमावाप्य व्याचष्टे—नोऽस्मानिति । वदान्यो दान-

उम राजा ने कहा— हे गौतम ! जो वर तुम चाहते हो, वह तो देवप्रार्थनीय वरों में से है, (गवादादिलक्षण) मनुष्य प्रार्थनीय वरों में से कोई वर माँगो ॥ ६ ॥

वह गौतम बोला—आप भी आश्वानादि से जानते हो कि गवादादि भानुप वर तो मेरे पास है ही । आप जिस भानुप वर को मुझे देना चाहते हैं, उसे माँगने से मेरा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता क्योंकि मुझ वहुत सा सुवर्ण 'अपात्तम्' अर्थात् प्राप्त है, तथा गो-अश्वदि भी प्राप्त हैं । इस प्रकार 'प्राप्तं है यह क्रिया पद सवत्र गम्बद्ध है । अर्थात् दामी, परिवार और वस्त्र, ये सब मुझे प्राप्त हैं । जो वस्तु मेरे पास विद्यमान नहीं है, उसी की ही मुझे प्रार्थना करनी चाहिये, एव तुम्हें भी उसे ही देना चाहिये । आपने वर देने का वचन तो दिया है, यहाँ अब क्या करना उचित है, तुम ही जान सकते हो, वचन निभाना ही चाहिये । मेरी तो हादिक अभिलाषा है कि आप सर्वत्र दाता होकर

१ दैवेत्विति—देवप्राथनीयषु वरेषु (मध्य) वरंते इत्यर्थ—इत्याह । २ गवादादिलक्षणानाम् । ३. मासवाक्यादित् । ४ गवादादिभानुयो वर । ५ भावेऽत्र निष्ठा । ६ क्षीमदुःखलादे । ७ लिङ्ग-
विशेषाविवक्षया । ८ राजाऽहं—किं तर्हिनि । नोदगस्तर्हि वरस्तुभ्य दातव्यो भवेत्यर्थं ।

गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह
स्मैव पूर्वं उपयन्ति स होपायनकीर्त्यावास ॥ ७ ॥

शिष्यभाव से उपसन्न होता हूँ । पहले भी ब्राह्मण लोग आपत्ति काल में विद्या प्राप्ति के लिए क्षत्रि-
यादि के प्रति जाते रहे हैं, सेवा पूर्वक नहीं । इस प्रकार उपसत्ति का वाणीमात्र से कथन करके गौतम
वहाँ रहने लगे ॥ ७ ॥ ;

केवलान्प्रति भयान्सर्वत्र वदान्यो भूत्वान्यो मा भूत्कव्यो मा भूदित्यर्थः । बहोः प्रभूत-
स्यानन्तस्यानन्तफलस्येत्येतत् । अपर्यन्तस्यापरिसमाप्तिकस्य पुत्रपौत्रादिगामिकस्येत्येतत् ।
ईदृशस्य वित्तस्य मां प्रत्येव केवलमदाता मा भूद्भवान् । न वान्यत्रादेयमस्ति भवतः ।
एवमुक्त आह—स त्वं वै हे गौतम तीर्थेन न्यायेन शास्त्रविहितेन विद्यां मत्त इच्छासा
इच्छस्वाऽऽप्तुमिच्छुस्ती गौतम आह—उपैम्युपगच्छामि शिष्यत्वेनाहं भवन्तमिति ।

शौलो विभवे सत्यदाता कवयं इति भेदः । 'परिशिष्ट' भागं व्याकुर्वन्वावधार्यमाह—बहोरित्यादिना ।
मां प्रत्येवेति 'नियमस्य कृत्यं दर्शयति—न चेति । कोऽसौ न्यायस्तत्राऽऽह—शास्त्रेति । "उपसदनवाच्यं
शास्त्रमित्युच्यते । गौतमो राजानं प्रति शिष्यत्ववृत्तिं कुर्वाणः शास्त्रार्थविरोधमाश्रयतीत्या-

केवल हमारे प्रति "अत्रदान्यो मा भूत्" अर्थात् कृपण न हों । 'बहोः' अर्थात् बहुत सी, 'अनन्तस्य'
अर्थात् अनन्त फल वाली 'अपर्यन्तस्य' अर्थात् समाप्त न होने वाली यानी पुत्र-पौत्रादिकों के लिए की
जाने वाली, इस प्रकार की सम्पत्ति के दाता होकर भी मेरे लिये श्रदाता न हों । मुझे छोड़ किसी
याचक के लिए आपको अदेय कुछ नहीं है । इस प्रकार कहे जाने पर राजा बोला—हे गौतम ! तुम
शास्त्रविहित शिष्य वृत्ति विधि से मुझसे विद्या प्राप्त करने की इच्छा करो । राजा के इस प्रकार

१. तीर्थेनेति—तीर्थमिह विद्यापत्र ग्राहं तच्च पट्टविषयम् । यथाह स्वयमेव भगवती विद्या—"ब्रह्मचारी घन-
दायो मेधावी श्रोत्रियः प्रियः । विद्यया विद्या य प्राह तानि तीर्थानि दण्णमेति" ॥ अत्र ब्रह्मचारी शिष्यः ।
श्रोत्रियो यच्छोक्तकारी । प्रियः पुत्र इत्यर्थः । २. भाग्यवान्—मदन्पयाचकेषु । ३. ननु प्रभूतमपि देव वित्त
दीयमान क्रमादपगच्छति तत्कथं दातुं शक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अनन्तस्येति । अनन्तत्वादेवापर्यन्तमवसानहीन
तन्मानुपवित्तविलक्षणं देवं वित्त परस्मै दीयमानमधिकमापद्यतेऽदीयमानं च हसति । तदुक्तम्—"अपूर्वः
कोऽपि कोऽसौ विद्यते तव भारति । व्ययतो वृद्धिमाप्नोति सयमासादि सचयात्" ॥ इति । ४. मर्यामित्यन् ।
५. राजा । ६. शिष्यमृत्प्येति यावत् । ७. इच्छस्वाऽऽप्तुमिति—वैदिकं लोभमध्यमेकवचनान्तमिच्छासे इति
रूपमित्येवस्कोरमित् । न्यायमपि परस्मैवदमित्युधातोरपेक्षालम्बनेपदं प्रादुर्भवनेत्यदोषः । ७. इत्युक्त इति—
एवं राजा स्मारित्वाशास्त्रार्थं इत्यर्थः । ८. परिशिष्टमिति—अत्र पाठान्तरम् । स वरो दातुमवश्यो लोभादि-
त्याशङ्क्याऽऽहेति । ९. नियमस्य कृत्यमिति—एवकारस्य व्यावर्त्यमिति यावत् । १०. उपसदनवाच्य-
मिति तद्विज्ञानार्थं स गुणमेवाभिगच्छेत् "स्मिन्त्याभिरिते वभादि तत्" ।

स होवाच तथा नस्त्वं गौतम माऽपराधास्तव च पिता-
महा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण
उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तम-
र्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥ ८ ॥

उसे दु खी समझकर उस राजा ने कहा—हे गौतम ! हमारे अपराध को आप वैसे ही न मानें,
जैसे आपके पितामहादि पूर्वजो ने हमारे पितामहो का अपराध नहीं माना था । इससे पूर्व यह विद्या
किसी ब्राह्मण के यहाँ नहीं रही (इसे आप जानते भी हो, यह विद्या सदा क्षत्रिय परम्परा से आई
है) । अब उसे मैं तुमसे कहता हूँ, क्योंकि इस प्रकार विनयपूर्वक बोलने वाले तुम्हें निषेध करने
में कौन समर्थ हो सकता है अर्थात् योग्य अधिकारी के प्रति विद्या संप्रदान उचित ही है ॥ ८ ॥

वाचा ह 'स्मैव किल पूर्वं ब्राह्मणाः क्षत्रियान्विद्यायिनः सन्तो वैश्यान्वा क्षत्रिया वा
वैश्यानापद्युं पयन्ति 'शिष्यवृत्त्या ह्युपगच्छन्ति नोपायनशुश्रूवादिभिः । अतः स गौतमो
होपायनकीर्तयोपगमनकीर्तनमात्रेणैवोवासोपितवाग्नोपायनं चकार ॥ ७ ॥

'एवं गौतमेनाऽऽपदन्तर उक्ते स होवाच राजा पीडितं' मत्वा क्षामयंस्तथा
नोऽस्मान्प्रति माऽपराधा अपराधं मा 'कार्षीरस्मदीयोऽपराधो न ग्रहीतव्य इत्यर्थः ।
तव च पितामहा अस्मत्पितामहेषु यथाऽपराधं न जगृहस्तथा पितामहानां 'वृत्तम-

शङ्कुपाऽऽह—वाचा हेति । अपादि समादधिकारा विद्याप्राप्त्यसंभवावस्थायामित्यर्थः । उपायनमुपगमनं
पादोपसर्पणमिति यावत् ॥ ७ ॥

'विद्याराहित्यापेक्षया निर्होतशिष्यभावोपगतिरापदन्तरम् । तथाश्चन्वयमेव विशदयति—
तव चेति । सन्तु पितामहा यथा तथा किमस्माकमित्याशङ्क्याऽह—पितामहानामिति । किमिति

कहे जाने पर गौतम ने कहा—मैं शिष्य रूप से 'उपैमि' अर्थात् आपकी शरण में हूँ । विद्या की
इच्छा वाले पूर्वजालीन ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्यो के प्रति अथवा क्षत्रिय, वैश्यो के प्रति 'उपयन्ति'
अर्थात् वाणी द्वारा शिष्य वृत्ति से शरणपत्र होते थे, पादोपसर्पण अथवा शुश्रूपादि के द्वारा नहीं ।
इसलिये उस गौतम ने "उपायनकीर्त्यो" अर्थोन् उपसत्ति के कथन मात्र से वहाँ निवास किया, केवल
पादोपसर्पणादि द्वारा वास नहीं किया ॥ ७ ॥

इस प्रकार 'मैं शिष्य भाव से आपकी शरण हूँ' यह गौतम के कहने पर उस ब्राह्मण को

- १ स्मन्वोऽयमुपयन्तीत्यनंतरमन्वेति । २ उपयन्ति स्मेत्यन्वयं । ३ शिष्यवृत्त्या हीति—उद्दानकादी-
नामस्वपत्नी प्रसिद्धामिदमुपगमनमिति हिद्वन्वायं । ४ एवमिति—उपैमिह भवन्ममित्युक्तीत्येत्यर्थः ।
- ५ ब्राह्मणम् । ६ एव हे गौतम । ७ समाचरणम् । ८ आदेति—श्रुति स्वमुनेनास्मान्प्रत्याहेत्यर्थः ।
- ९ विद्येत—विद्याराहित्यमेवाऽऽपद्युं निहीनेत्याद्युक्ताऽपरेत्यर्थः । समादधिकारा विद्याप्राप्त्यसंभवावस्था
प्रथमा निर्हीनेत्यादिरपरेत्यप्याहुः ।

'असौ वै लोकोऽग्निर्गौ' तम तस्याऽऽदित्य एव समिद्र-
श्मयो धूमोऽहर्त्विदिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फु-

हे गौतम ! यह द्युलोक ही अग्नि है (अग्नि न होने पर भी स्त्री और पुरुष के समान द्युलोक में अग्नि दृष्टि का विधान किया गया है) । आदित्य ही उसका ईधन है, क्योंकि आदित्य से उसका

स्मास्वपि भवता रक्षणीयमित्यर्थः । 'यथेयं विद्या स्वया प्रार्थितेतस्त्वत्संप्रवानात्पूर्वं प्राङ् न कस्मिन्नपि ब्राह्मण उवा सोपितवती तथा त्वमपि जानीषे सर्वदा क्षत्रिय-परम्परयेयं विद्याऽऽगता सा स्थितिर्न्याऽपि रक्षणीया यवि रक्षितुं शक्यत इत्यभिप्रायेणोक्तं देवेषु गौतम तद्वेषु मानुषाणां ब्रूहीति न पुनस्तवादेयो वर इतीतः परं न शक्यते रक्षितुम् । 'तामपि विद्यामहं तुभ्यं वक्ष्यामि । को ह्यन्योऽपि हि यस्मादेवं ब्रुवन्तं त्वामहंति प्रत्याख्यातुं न वक्ष्यामीति । अहं पुनः कथं न वक्ष्ये तुभ्यमिति ॥ ८ ॥

'तर्होयं वि श भूटिति मह्य' नोपब्रिश्यते तत्राऽऽह— न कस्मिन्निति । 'तहि भवता सा स्थिति रक्ष्यता-महं तु यथागतं गमिष्यामीत्याशाङ्क्याऽऽह—इतः परमिति । तवाहं शिष्योऽस्मीत्येवं ब्रुवन्तं भवन्तं मत्तोऽन्योऽपि न वक्ष्यामीति यस्मान्न प्रत्याख्यातुमहंनि तस्मादहं पुनस्तुभ्यं कथं न वक्ष्ये कितु वक्ष्या-म्येव विद्यामित्युक्तमुपवादवति—को हीत्यादिना ॥ ८ ॥

पीडित समझ कर उस राजा ने क्षमा कराते हुए कहा—हे गौतम ! आप 'नः' अर्थात् हमारे प्रति "माऽपराधा" अर्थात् अपराध न करे अर्थात् हमारे अपराध उसी प्रकार ग्रहण न करें; जिस प्रकार तुम्हारे पितामहो ने हमारे पितामहो के अपराध ग्रहण नहीं किये । अर्थात् आपको भी हमारे प्रति अपने पितामहो के समाचरण की रक्षा करनी चाहिये । जिस प्रकार तुम्हारे द्वारा अभिलपित यह विद्या "इतः पूर्वम्" तुम्हे देने से पहले किसी ब्राह्मण के पास नहीं "उवास" यानी रही; सो तुम्हे भी यह विद्या सर्वदा क्षत्रियपरम्परा से आयी है । यदि रक्षा करने में समर्थ होता तो मुझे भी उस स्थिति की रक्षा करनी चाहिये थी । इसी अभिप्राय से मैंने कहा था कि 'हे गौतम ! यह वर देव वरो में से है । तुम मानुषवरों में से कोई वर माँगो । अब तुम्हारे लिए यह अदेय वर हो, ऐसी बात नहीं है । अब इसके बाद इसको छिपाये रखना संभव नहीं है । (सर्वदा राजकुलस्था अति गोपनीया) उस विद्या को भी मैं तुम्हारे प्रति वहे देता हूँ क्योंकि तुम्हे इस प्रकार (क्षरणापन्न शिष्यभाव स्वीकार करना) कहते हुए को मेरे अतिरिक्त दूसरा बौन है, जो 'मैं नहीं कहूँगा' इस प्रकार निषेध करने में समर्थ हो सके । मैं तुम्हे वह विद्या क्यों न कहूँगा, अर्थात् अवश्य कहूँगा ॥ ८ ॥

१. असाविति—हे गौतम वै प्रसिद्धोऽसौ द्युलोकोऽग्निराहवनीयात् इति दृष्टिः कर्तव्येत्येवमग्रेऽपि दृष्टिरेव संबंध विधेया । २. ननु ब्राह्मणप्रवरे गौतमे राजानमासाद्य विद्यामभैयमाने तामप्रदच्छदस्तस्यापराधोऽन्यं ब्रूहीत्यय इत्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । ३. तामपि—सर्वदा राजकुलस्थामतिगोप्यामपीत्यर्थः । ४. तहि तस्या ब्राह्मणेष्वभावे । ६. तहि—उक्तमर्यादाया अवश्य रक्षणीयत्वे सतीत्यर्थः ।

लिङ्गास्तस्मिन्ने^१ तस्मिन्नग्नौ^२ देवाः^३ श्रद्धां जुह्वति

*तस्या आहुत्यं सोमो^४ राजा^५ संभवति ॥ ६ ॥

उद्दीपन होता है। किरणें धूप हैं, दिन ज्वाला है, उपशम में समानता होने से दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा विस्फुलिङ्गों के समान बिखरी हुई होने के कारण अवान्तर दिशाएँ चिनगारियाँ हैं। ऐसे गुणों में युक्त इस द्युलोक रूप अग्नि में इन्द्रादि देव श्रद्धा का हवन करते हैं। उस आहुति से पितरो और ब्राह्मणों का राजा सोम उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गोतमेत्यादि^१ चतुर्थः प्रश्नः प्रायम्येन निर्णायते । क्रमभङ्गस्त्वेत-
न्निर्णयायत्तत्त्वादितरप्रश्ननिर्णयस्य । असौ द्यौर्लोकोऽग्निर्हे गोतम द्युलोकेऽग्निर्दृष्टिरनग्नौ
विधोयते यथा योषित्पुरुषयोस्तस्य द्युलोकाग्नेरादित्य एव समित्समिन्धनात् । आदित्येन
हि समिध्यतेऽसौ लोकः । रश्मयो धूमः समिध उत्यानसामान्यात् । अश्वित्याद्धि रश्मयो
निर्गताः । समिधश्च धूमो लोक उत्तिष्ठति । अहरर्चिः प्रकाशसामान्यात् । दिशोऽङ्गारा
उपशमसामान्यात् । अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गवद्विक्षेपात् । तस्मिन्नेतस्मि-

अश्वित्यादिना यतिथ्यामित्यादिचतुर्थप्रश्नस्य प्रायम्येन निर्णये क्रमभङ्गः स्यात्तत्र" च
कारण वाक्यमित्याशङ्काऽऽह—क्रमभङ्गस्त्विति । "मनुष्यजन्मस्थितिलयानां चतुर्थप्रश्ननिर्णया-
धीनतया तस्य प्राधान्यात्प्रायम्ये सत्ययंक्रममाश्रित्याविवक्षितस्य पाठक्रमस्य भङ्गः कृत इत्यर्थः । इन्द्रा-

हे गोतम ! यह द्युलोक ही अग्नि है' इस मन्त्र से चतुर्थ प्रश्न का उत्तर पहले दिया जाता है। क्योंकि इस प्रश्न के निर्णय के अधीन अन्य प्रश्नों का उत्तर निभर है, इसलिये क्रम भंग विया गया है। हे गोतम ! यह द्युलोक अग्नि है। स्त्री और पुरुष में अग्नि के समान ही द्युलोक में अग्नि दृष्टि की भावना का विधान किया गया है। 'तस्य' अर्थात् उस द्युलोक अग्नि का सम्यक् दीप्ति-कारक होने से आदित्य ही समिध है क्योंकि आदित्य से ही यह लोक प्रकाशित होता है। रश्मि धूम है क्योंकि ईन्धन से ऊपर उठना रूप समानता दोनों में है। आदित्य में ही रश्मियाँ निकली हैं और लोक व्यवहार में समिध से धुआँ निकला है। प्रकाश साम्य होने से दिन ज्वाला है। ज्वालाद्यभाव होने से दिशाएँ अङ्गारे हैं। विस्फुलिङ्ग के समान विक्षेप करने से विदिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं ।

- १ एवगुणविशिष्टे । २ इन्द्रादयः । ३ द्रव्यस्थानीयाम् । ४ पञ्चम्यर्थे चतुर्थो । ५ अग्निपति-
पितृणां ब्राह्मणानां च । ६ उत्पद्यते । ७ इत्यादीत्यन्तेन कण्डिका प्रतीकमुपादाय तस्यास्तात्पर्यमाह—
चतुर्थं इत्यादिना । ८ लोक इति—यथा समिद्धिः प्रसिद्धोऽग्निरिति दीपः । ९ दिनम् । १० ज्वालाद्य-
भावः । ११ विदिग् । १२ विस्फुलिङ्गप्रत्ययवेषात्त्वसाम्यात् । १३ क्रमभङ्गे च । १४ उत्पत्ते
स्तदधीनत्वाज्जन्मावृत्ता स्थितित्वात् स्थित्युपाय प्रमाणे च धृत्याऽपि इमस्तत इति वास्तव विवृण्वन् भाष्य
योऽयमिति—मनुष्येत्यादिना । तदधीनत्वाद् तुरीयप्रश्ननिर्णयायसात्वात् ।

न्नेवंगुणविशिष्टे द्युल्लोकान्तो देवा इन्द्रादयः श्रद्धां जुह्वत्याहुतिद्रव्यस्थानीयां प्रक्षिपन्ति । तस्या आहुत्या आहुतेः सोमो राजा पितृणा ब्राह्मणाना च संभवति । तत्र के देवाः कथं जुह्वति किं वा श्रद्धाख्यं हविरित्यत उक्तमस्मानिः संबन्धे । नत्वेवेनयोस्त्वमुत्क्रान्तिमित्यादिपदार्थपट्कनिर्णयार्थमग्निहोत्र उक्तम् । ते वा एते अग्निहोत्राहुती हुते सत्याघृत्कामतः । ते अन्तरिक्षमाविशतः । ते अन्तरिक्षमाहवनीयं कुर्वन्ति वायु समिध मरीचीरेव शुक्रामाहुतिम् । ते अन्तरिक्ष तर्पयतः । ते तत उत्क्रामतः । ते दिवमाविशतः । ते दिवमाहवनीयं कुर्वन्ति आदित्य समिधमित्येवमाद्युक्तम् ।

दोनां 'कर्मानधिकारिस्वाद्युल्लोकस्य चाऽऽहवनीयत्वाप्रसिद्ध्या होमाघारत्वायोगा'त्प्रत्ययस्य च श्रद्धाया "होम्यत्वादानुपपत्तेस्तस्मिन्निस्त्रयादि वाक्यमयुक्तमिति शङ्कते—तत्रैति । होमकर्म सप्तम्यर्थः । अस्य ब्राह्मणस्य संबन्धग्रन्थे समाधानमस्य" चोद्यस्यास्माभिरुक्तमित्याह—अत इति । "तवैव दर्शयितुमग्निहोत्रप्रकरणे वृत्त स्मारयति—नत्विति । किं तदुक्तमिति चेत्तदाह—ते वा इति । आहुत्यो. स्वतन्त्रयोरुत्क्रान्त्यादि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रैति ।

"तस्मिन्नेतस्मिन्" अर्थात् ऐमे पुणो से युक्त उस इस द्युल्लोकस्य अग्नि मे इन्द्रादि देव आहुति द्रव्यस्थानीय श्रद्धा को "जुह्वति" अर्थात् हवन करते हैं । उस आहुति से पितरो और ब्राह्मणो का राजा सोम उत्पन्न होता है । वह देवता कौन है ? कैसे हवन करते है ? वह श्रद्धाख्य हवि क्या है ? इसीलिये इसके सबन्धभाष्य को हम कह चुके हैं कि 'तू इन साय-प्रात अग्निहोत्र की इन दोनो आहुतियो की उत्क्रान्ति को नही जानता है" इत्यादि । इसी प्रकार उत्क्रान्ति आदि पट्पदार्थ वा निर्णय करने के लिए अग्निहोत्र प्रकरण मे कहा गया है— वे ये अग्निहोत्र की दोनो आहुतियां हुत होकर (यजमान के आश्रय से) ऊपर उत्क्रमण करती हैं, धूमादि के द्वारा अन्तरिक्ष मे प्रवेश करती हैं । वे अन्तरिक्ष को आहवनीय करती है वायु को समिध करती है और किरणो को शुक्र आहुति करनी है, वे अन्तरिक्ष को तृप्त करती हैं, वे इसमे भी ऊपर चली जाती है, वे द्युलोक मे प्रवेश करती हैं, वे द्युलोक को आहवनीय करती हैं और आदित्य को समिध करती हैं इत्यादि (याज्ञवल्क्य जनक सवाद वृ उ ५.४.१ मे) कहा जा चुका है ।

१. अधिपति । २ उत्पद्यते । ३ हविरिति—कथं चोक्तहोमात्सोमोत्पत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । ४ याज्ञवल्क्य प्रति जनक । ५ साय प्रतरनुष्ठितयोरग्निहोत्राहुत्यो । ६ आदिना मति प्रतिष्ठावृत्ति पुनरवृत्ति सोक प्रभुत्वार्थो ध दृष्टव्यः । ७ ते वा एते इत्यादि—धपूर्वरूपे खत्वाहुतीयजमानमुत्क्रामन्तमादित्य उत्क्रामत । धूमादिना यजमानान्तरिक्षमाविशत इत्यादि बाध्यम् । ८ इत्येवमारीत्यादिना—त पूर्ववद्वैव तर्पयत तै तत प्रावर्तते इमामाविश्य तपयित्वा पुष्यमाविशत तत. त्त्रियमाविश्य लोक प्रत्युत्पाद्यो भवन्तीति गृह्यते । स्पष्ट चतुष्पाद. भा० १-४.१ । ९ कर्मानधिकारिस्वादिति—होतृत्वानुपपत्तेरिति वाच । १० पन्त करणवृत्तिविनोपस्य । ११ उक्तहोमाच्चन्द्रमस उत्पत्त्यस्य भावादित्यपि द्रष्टव्यम् । १२ मार्वादिमतिश्च तसि मत्वाश्च इत्यर्थार्थमाह—अस्य बोधस्येति । १३ उक्तमेव ।

तत्राग्निहोत्राहुतो ससाधने एवोत्क्रामतः । यथेह यः साधनेविशिष्टे 'ये ज्ञायेते
 ब्राह्मवनीयाग्निमिद्धूमाङ्गारविस्फुलिङ्गाहुतिद्रव्यंस्ते 'तथैवोत्क्रामतोऽस्माल्लोकादमु'
 लोकम् । 'तत्राग्निरग्नित्वेन समित्समिन्त्वेन धूमो धूमत्वेनाङ्गारा अङ्गारत्वेन विस्फुलिङ्गा
 विस्फुलिङ्गत्वेनाऽऽहुतिद्रव्यमपि पयप्राद्याहुतिद्रव्यत्वेनेव सर्गादावव्याकृतावस्थायामपि
 'परेण सूक्ष्मेणाऽऽत्मना व्यवतिष्ठते । तद्विद्यमानत्वमेव ससाधनमग्निहोत्रलक्षणं कर्मपूर्वेषा-
 ऽऽत्मना ध्यवस्थितं सत्त्पुनर्व्याकरणकाले 'तथैव'न्तरिक्षादीनामाहवनीयाद्यग्न्यादिभावं
 कुर्वद्विपरिणमते । 'तथैव'दानोमप्यग्निहोत्राह्यं कर्म ।

यजमानस्य मृतिकान्नः सप्रभ्ययः । ससाधनयोरेव तयोहक्रान्तिर्न स्वतन्त्रयोरित्येतदुपपादयति—
 यथेत्यादिना । इहेति जीवदयत्योच्यते । नष्टानामग्न्यादीनाम"व्याकृतभावापसरत्वेना"विशेषप्रसङ्गात्
 तेः" सहाऽऽहुत्योहक्रान्त्यादिसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—तत्राग्निरिति । नाशाद्रूर्ध्वमपि "प्रातिस्विकशक्ति-
 रूपेणाग्न्यादिरवतिष्ठते तथा चाविशेषप्रसङ्गाभावादाहुत्योः ससाधनयोरेवोहक्रान्त्यादिसिद्धिरित्यर्थः ।
 "यथोक्तयोराहुत्योहक्रान्त्यादिसमर्पनेनाग्निहोत्राद्यपूर्वस्य जगदारम्भकत्वमुत्तं भवतीत्याह—तद्विद्य-
 मानमिति । विद्यमानत्वमेव विशदयति—अपूर्वंगेति । अथ यथोदितया विषया "कथमपि पूर्वकल्पीयं
 कर्म प्रलयदशायामव्याकृतात्मना स्थितं पुनर्जगदारभतां तयाऽपीदानोत्तनमग्निहोत्रादिकं कर्म कथं,
 जगदारम्भकं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—तथैवेति । विमतमारम्भकं "तच्छुक्तिमत्त्वात्संप्रतिपत्त-
 वदिति भावः ।

(यजमान के मरने के समय) अग्निहोत्र की दोनो ब्राहुतियाँ साधन के सहित उत्क्रमण करती
 हैं । जिस प्रकार यहाँ ये दोनो ब्राहुतियाँ जिन ब्राह्मनीय, अग्नि, समिध्, धूम, अङ्गार, विस्फुलिङ्ग
 और ब्राहुतिद्रव्य रूप साधन से विशिष्ट जानी जाती है, उन्ही साधनो से विशिष्ट होकर वे इस लोक
 में उम लोक के प्रति उत्क्रमण करती हैं । वहाँ (नाशोत्तरकाल में) सर्ग के प्रारम्भ में अव्यक्त अवस्था
 (प्रलय) में भी अत्यन्त सूद्रम रूप से अग्नि अग्नित्व रूप से, समिध् समित्व से, धूम धूमत्व से,
 अङ्गार अङ्गारत्व से, विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्गत्व से, ब्राहुतिद्रव्य दुग्ध आदि भी ब्राहुतिद्रव्यत्व से
 स्थित रहते हैं । साधन सहित यह अग्निहोत्र रूप कर्म अपूर्वस्मिक व्यवस्थित होकर विद्यमान रहता
 हुआ ही जगत् के पुन व्याकृति के समय पूर्वकल्प के समान ही अन्तरिक्षादि का ब्राह्मनीयादि
 अग्न्यादिभाव करता हुआ विकार को प्राप्त हो जाता है । उसी पूर्वकल्पीय कर्म के समान ही आजकल
 अग्निहोत्र सकल कर्म है ।

१. ब्राहुती । २. यथोक्तसाधनविशिष्टत्वेन । ३. नाशोत्तरकाले । ४. प्रलयेऽपि । ५. अत्यन्तम् ।
६. पूर्वकल्पवदेव । ७. अन्तरिक्षादीनित्यादी—प्रयमेनादिशब्देन धृषुधीपुरुषयोपिता ग्रहण द्वितीयेन गार्ह-
 पत्यादिनागत्ययो तृतीयेनादित्यसमिधादीनाम् । ८. तथैव—पूर्वकल्पीयकर्मवदेव । ९. इदानीमपि—
 इदानीतनमपीत्यर्थः । १०. धनमिष्यत्तनामरूपत्वेति भावः । ११. अविशेषप्रसङ्गात्—एकत्वापत्तेः ।
१२. न तैरिति—सहोत्क्रामनेनविशेषनिर्वाहदिति भावः । १३. साधनेः । १४. प्रातिस्विकशक्तिरूपेणेति—
 स्वीयस्वीयामाधारणपूर्वमरूपेणेत्यर्थः । १५. नमजन्तयोः । १६. कथमपीति—धृत्याद्यनिर्धारितप्रमाण-
 विधेयेत्येति यावत् । १७. अरम्भकशक्तिवत्त्वात् ।

एवमग्निहोत्राहुत्वपूर्वविपरिणामात्मकं जगत्सर्वमित्याहुत्योरेव स्तुत्यर्थत्वेनो-
त्कान्त्याद्या लोकों प्रत्युत्थायितान्ताः षट् पदार्थाः कर्मप्रकरणेऽधस्तान्निर्णीताः । इह तु
कर्तुः कर्मविपाकविवक्षायां द्युलोकाग्न्याद्यारभ्य पञ्चाग्निदर्शनमुत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं
विशिष्टकर्मफलोपभोगाय विधित्सितमिति द्युलोकाग्न्यादिदर्शनं प्रस्तुते । तत्र य 'प्राध्या-
त्मिकाः प्राणा इहाग्निहोत्रस्य 'होतारस्त एवाऽऽधिदैविकत्वेन परिणताः सन्त इन्द्रादयो
भवन्ति त एव तत्र होतारो द्युलोकाग्नो । ते चेहाग्निहोत्रस्य फलभोगायाग्निहोत्रं
हुतवन्तः । त एव फलपरिणामकालेऽपि तत्फलभोक्तृत्वात्तत्र 'तत्र होतृत्वं प्रतिपद्यन्ते
तथा तथा विपरिणममाना देवशब्दवाच्याः सन्तः । अत्र च यत्पयोद्भवमग्निहोत्रं कर्मश्रय-

अग्निहोत्रप्रकरणस्यार्थं संगृहीतमुपसंहरति—एवमिति । उक्तमुपजीव्य प्रकृतब्राह्मणप्रवृत्ति-
प्रकारं दर्शयति—इह त्विति । उत्तरमार्गप्रतिपत्तिमाधनं विधित्सितमिति सवन्धः । "किमित्युत्तरमार्ग-
प्रतिपत्तिस्तत्राऽऽह—विशिष्टेति । ब्राह्मणप्रवृत्तिमभिधायासौ वे लोकोऽग्निरित्यादिवाक्यप्रवृत्ति-
प्रकारमाह—इति द्युलोकेति । इत्थं ब्राह्मणे स्थिते सतीत्येतत् । "अन्तर्वेवं तथाऽपि के देवा इति
प्रश्नस्य किमुत्तर तत्राऽऽह—तत्रेति । उक्तोरप्या पञ्चाग्निदर्शने प्रस्तुते सतीत्येतत् । इहेति व्यवहार-
भूमिग्रहः । कथं तेषां तत्र होतृत्वं तदाह—ते चेति । "तथाऽपि कथं द्युलोकेऽग्नौ तेषां होतृत्व तदाह—
त एवेति । तत्फलभोक्तृत्वादित्यत्र तच्छ्रद्धोऽग्निहोत्रादिकर्मविवक्ष्यस्तद्भोक्तृत्वं च प्राणानां
जीवोपाधित्यादवधेयम् । तथा तथा "द्युपर्जन्यादिसंबन्धयोग्या"कारेणेति यावत् । के देवा इति प्रश्नो
निर्णीतः संप्रत्यवशिष्टं "प्रश्नद्वयं निर्णेतुमाह—अत्र चेति । जीवदवस्थायामिति यावत् । सह कर्त्रेत्यत्र

इस प्रकार यह सारा जगत् अग्निहोत्र की ब्राहुति से हुए अपूर्व वा विकार रूप है, अतः
आगे कर्मप्रकरण में उन ब्राहुतियों की स्तुति के लिए उत्क्रमण से लेकर पुन प्रत्युत्थान होने तक छः
पदार्थों का निर्णय किया गया है । प्रकृत ब्राह्मण में कर्ता के कर्मफल की विवक्षा होने पर द्युलोकाग्नि
आदि से लेकर, विशिष्टफल के उपभोग के लिये उत्तरमार्ग की प्राप्ति का माधनस्वरूपा पञ्चाग्नि
विद्या का विधान करना अभीष्ट है, इसलिये द्युलोकाग्न्यादिदर्शन प्रस्तुत किया जाता है । वहाँ जो
यजमान के शरीरवर्ती जो वागादि प्राण है, जाग्रत् अवस्था में अग्निहोत्र के ऋत्विक्स्थानीय होते
हैं । वही प्राध्यात्मिक रूप में परिणत होकर इन्द्रादि होते हैं, वे ही वहाँ द्युलोकाग्नि में हवन करने
वाले हैं । उन्होने ही जाग्रदवस्था में अग्निहोत्र का फल भोगने के लिए अग्निहोत्र किया था । फल के

१ इति स्तुत्यर्थत्वेनेति—प्राहुत्वपूर्वस्य निमित्तमात्रेऽपि परिणामितया स्वान-उपभोगादिय इति निरिति
ध्येयम् । २ प्रकृतब्राह्मणे । ३ यजमानशरीरवासिन । ४ वागादयः । ५ जीवदवस्थायाम् ।
६ ऋत्विक्स्थानीयः । ७ फलपरिणामेति—अग्निहोत्रादिकर्मपूर्वस्य फलामना परिणामान्तिर्गीत्यर्थः ।
८ द्युलोकाद्यग्नौ । ९ त्रियाकर्मश्रयभूतम् । १० किमर्था । ११ अन्तर्वेवमिति—अथोत्तरप्रकरणे
पञ्चाग्निदर्शनस्य प्रस्तुतत्वं भवतु । तथापि—पूर्वोत्तरीत्या पञ्चाग्निदर्शनं प्रस्तुतेऽपि । १२ इह तेषां होतृत्व-
ऽपि । १३ द्युपर्जन्यादि यादिना पृथिवीपुरुषयोपिहो ब्राह्मणः । १४ स्वभूणेण । १५ प्रश्नद्वयमिति—कथं
द्युलोकाग्न्यादवधेयत्वं कथं वा अद्यापि होम्यत्वं मित्येतद्दर्शयम् ।

भूतमिहाऽऽहवनीये प्रक्षिप्तमग्निना भक्षितम'दृष्टेन सूक्ष्मेण रूपेण विपरिणतं सह कर्त्रा यजमानेनामुं लोकं घृमादिक्रमेणान्तरिक्षमन्तरिक्षाद्द्युलोकमाविशति । 'ताः सूक्ष्मा प्राप श्राद्धतिकायंभूता अग्निहोत्रसमवायिन्यः कर्तृसंहिताः 'अद्वाशब्दवाच्याः सोमलोकं कर्तुः शरीरारम्भाय द्युलोकं प्रविशन्त्यो ह्यन्त इत्युच्यन्ते । 'तास्तत्र द्युलोकं प्रविश्य सोममण्डले कर्तुः शरीरमारमन्ते । 'तदेतदुच्यते देवाः अद्वां जुह्वति तस्या ब्राह्मत्यं सोमो

'तच्छब्दो द्रष्टव्यः । अमुं लोकमाविशतीति सवर्ण्यः । प्रावेशप्रकारमाह—घृमादीति । कथमेतावता किं पुनः अद्वाह्यं हविरिति प्रश्नो निर्णोतस्तत्राऽह—ता सूक्ष्मा इति । 'तथाऽपि कथं जुह्वतीति प्रश्नस्य "कथं निर्णयस्तत्राऽह—सोमलोक इति । "तथाऽपि "तस्या ब्राह्मतेः सोमो राजा संभवतीति कथमुच्यते तत्राऽह—तास्तयेति । निर्णोतिस्यं श्रुतिमवतारयति—तदेतदिति । कथं पुनरापः

परिणाम काल में वे ही उस फल के भोक्ता होने में द्युलोकादि अग्नि में वैसे-वैसे रूप से परिणत होकर देवशब्दवाच्य हुए होतृत्व को प्राप्त होते हैं । एव यहाँ अग्निहोत्र क्रिया का आश्रय भूत दुग्धरूप द्रव्य जो ब्राह्मणीय अग्नि में डाला गया था, वह अग्नि द्वारा ग्रहण किया जाता हुआ अपूर्व सूक्ष्म रूप में परिणत हो कर्ता यजमान के सहित घृमादि क्रम से उस अन्तरिक्ष लोक में और फिर अन्तरिक्ष लोक में द्युलोक में प्रवेश करना है । अपूर्वाभूत वह ब्राह्मण का कार्यभूत, अद्वा शब्द वाच्य अग्निहोत्र सवर्ण्य सूक्ष्म प्राप (जल) सोमलोक में कर्ता के शरीर का आरम्भ करने के लिए कर्ता के सहित द्युलोक में प्रवेश करते हुए "हवन किया जाता है" इस प्रकार कहा जाता है । वे वहाँ द्युलोक में प्रविष्ट होकर सोम मण्डल में कर्ता का शरीर आरम्भ करते हैं । उक्त रीति से निर्णीत वस्तु को श्रुति

- १ अपूर्वापरिपर्यायेण । २ अपूर्वाभूताः । ३ अद्वाशब्दवाच्या इति । अत्र वातिकम्—"ब्राह्मणो परिणामोऽयमुपसोऽपूर्वमित्यपि । तस्य अर्द्धकहेतुत्वाच्छ्रद्धा नामेति कीर्यते" ॥८६॥ अग्निहोत्रादिकर्मापूर्वं अद्वाकार्यत्वाद्युपचारत अद्वाशब्दितमित भावः । ४ प्रविशन्त्य इत्यादि—अद्वाशब्दिताना भूतान्तरसहितानां सोमाद्यात्मिकानामपूर्वात्मना परिणतानामप्य वतुं शरीरारम्भाय द्युलोकावेशकथनमात्रेण होम इत्यर्थः । ५ सूक्ष्मा प्रापः । ६ तदेतत्—उक्तरीत्या निर्णीतमेतद्वस्तु श्रुत्याभ्यत इत्यर्थः । ७ तत् पयोद्रव्यम् । ८ एतावता—बधोक्तपयोद्रव्यस्य कर्तृसहितस्य घृमादिक्रमेण द्युलोकावेशकथनमात्रेण । ९ तथाऽपि—किंवा अद्वाह्यं हविरिति प्रश्ने निर्णोतिस्योत्तरं । १० कथं निर्णय इति—अपूर्वस्यापि अद्वाह्यस्य न होम्यता संभवतीत्यभिप्रायः । ११ तथाऽपि—इत्य अद्वाया होम्यत्वसिद्धावपीत्यर्थं १२ तस्या अद्वास्याया ब्राह्मते सकाशात् ।

ॐ शरीरमारमन्त इति । तथा च वातिकम्—'तस्याभिवृद्धिं संप्रतिनें त्वभूतजनितं' ॥ ८७ ॥ "आहुतं रश्मिस्तोयमादित्ये प्रतिष्ठित्वा । तस्मादादित्येण सोम क्षीणं प्राप्यायते पुनः ॥ परिणामो ह्यपि सोम वीतानुत्तेन सोऽम्यय । अद्वाहृतं हि सोमस्य सप्रयं वास्य उच्यते ॥ अङ्गापचन्द्रमास्तस्मिन्नुत्तेऽग्नी सोमसम्भवः । सोमचन्द्रमसोरेव भेदं वास्येण दक्षितः ॥ चन्द्रमा मण्डलं स्वच्छं चन्द्रकेण मिथो हि सः । सोमस्तु मण्डले श्वेतो वर्धते हृषते च यः ॥ चन्द्रमा परं घादित्यादर्वाक्सोमं श्रुतेमन्तं । घादित्याचन्द्रमित्याह नैते सवस्तर तथा ॥ सोमचन्द्रमसोस्तस्माद्भेदं समवगम्यते । दशाभेदादभिन्नो तावेव सोम इति भूतेः ॥ मिथो च घर्म-

राजा संभवतीति । “श्रद्धा वा आपः” इति श्रुतेः ।

वेत्य यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्याय वदन्तीति प्रश्न-
स्तस्य च निर्णयविषयेऽसौ वै लोकोऽग्निरिति प्रस्तुतम् । तस्मादापः कर्मसमवायिन्यः
कर्तुः शरीरारम्भिकाः श्रद्धाशब्दवाच्या इति निश्चीयते । भूयस्त्वादापः पुरुषवाच इति
व्यपदेशो न त्वितराणि भूतानि न मन्तीति कर्मप्रयुक्तञ्च शरीरारम्भः । कर्म चापसम-
श्रद्धाशब्दवाच्या न हि लोके श्रद्धाशब्दं तामु प्रयुञ्जते तत्राऽह—श्रद्धेति ।

उपक्रमवशादप्यापोऽत्र श्रद्धाशब्दवाच्या इत्याह—वेत्येति । अपामेव पुरुषशब्दवाच्यानां
शरीरारम्भकत्वान्न ‘भूतान्तराणामिति कृत्वा तस्य पञ्चमूतारम्भस्वाम्युपगमभङ्ग स्यादिति
चेन्नेत्याह—भूयस्त्वादिति । अपा पुरुषशब्दवाच्यत्वे हेतवन्तरमाह—कर्मति । ‘अथाकर्मप्रयुक्तमपि
कहती है—’ देवगण श्रद्धा को होम देते हैं, उस आहुति से राजा सोम होता है’ । तथा ‘श्रद्धा ही जल-
तत्त्व है’ इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है ।

“क्या तुम जानते हो कि कितनी आहुतियों के हवन किये जाने पर ‘आप’ पुरुष शब्द वाच्य
होकर उठकर बोलने लगता है” यह प्रश्न है, उसके निर्णय के लिए ‘यह ध्रुलोक ही अग्नि है’ इस
प्रकार आरम्भ किया जाता है । इसलिये यह निश्चय होता है कि कर्ता के शरीर का आरम्भक कर्म-
संबन्धी आप श्रद्धा शब्द वाच्य है । अन्य भूतो से जल की बहुलता होने से ‘आप पुरुष शब्द वाच्य
है’ ऐसा व्यपदेश किया जाता है, इससे अन्य भूतो का अभाव सिद्ध नहीं हो जाता क्योंकि शरीरारम्भ

- १ तस्मादिति—उपक्रमानुरोधवित्यर्थं । प्रदने ह्याप पुरुषवाचो भवन्तीत्युक्तमत्र शीतरे श्रद्धाहुतिस्त्वदप्येते-
नोच्यमानाऽपामेव श्रद्धाशब्दत्व गमयति—अन्यथा प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यादिति भावः । २ कर्मसंबन्धिन्यः ।
३ शरीरारम्भकत्वम् । ४ शरीरस्य । ५ यदा देवादिपूज्यत्वमशरीराणामकर्मप्रयुक्तत्व मत्वा शङ्कते—
अपेति ।

भेदेन तस्मादुभयया श्रुति ॥ ६१-६७ ॥ इति । तस्या आहुत्यं सोमो राजा सभवतीत्यत्र कीदृशी सोमस्य
समूतिस्तत्राऽह—तस्येति । तत्र हेतुमाह—न त्विति । सोमस्य प्रागेव सिद्धेरसतो जन्मायोगाद्बुद्धिरेव समूति
सा च सोमसोके कर्तृभोगाय देहान्तरारम्भकता ‘तास्तत्र ध्रुलोक प्रविश्य सोममण्डले कर्तुं शरीरमारभन्त’ इति
हि भाष्यमित्यर्थं ॥ श्रद्धाहुते सोमस्य समूतिवृद्धिरित्युक्तं कथं निर्वहतीत्याशङ्क्याह—आहुटिमिति ।
तच्छब्दस्तोषार्थं । कृष्णपक्षे क्षीयमाण सोमोऽभावात्पापामादित्यान्तर्गतस्त्वगततोयन शुक्लपक्षे क्रमेणा
ऽऽप्यायते सेम वृद्धि सोमस्य समूति । ‘विबस्वानशुभिस्तीर्णरादाय जगसो जलम् । सोमे मूर्ध्ववत्येन्दुश्च
बाभुनाक्षीमर्षेद्विज’ ॥ इत्यादिसमूतिरित्यर्थं ॥ ये तु सोमस्य वैजसत्वमाहुस्तथा तस्या आहुत्यं सोमो राजा
सभवतीति विरोध इत्याह—परिणामो हीति । श्रुतिप्रसिद्धयर्थो हि सन्द । प्रत्यक्ष च तस्याऽऽप्यत्वमित्याह—
धीताश्रुतिः । किञ्च श्रद्धाहवानामपा हुते सोमस्य समवो यः शास्त्रे न्यथेति स सोमसोके कर्तृभोगार्थं देहान्त-
रारम्भ एव तथा च तस्य वैजसत्वेऽपि न शक्तिरिति विवक्षाप्राह—श्रद्धाहुतेरिति ॥ ननु ध्रुलोकानो श्रद्धाहुते
सोमेत्यसिद्धेत्सत्कथं तस्य अनुप्यनोकागमावज्ञास्त्व चन्द्रमा चक्षुरा इति हि श्रुतिरित्याशङ्क्य सोमचन्द्रमसो-
र्भेव साधयति—चक्षुरा इति । तस्मिन्प्रति ध्रुलोकानेकक्तिः । कारकभूतचन्द्रमा पश्यन्तं सोम इति
भेद इत्यर्थं । एव प्रमाणं प्रकटयति—सोमेति । शास्त्रमत्र चन्द्रमा चक्षुरास्त्वस्या आहुत्यं सोमो राज्ञेयमिति ॥

भूतमिहाऽऽहवनीये प्रक्षिप्तमग्निना भक्षितम'दृष्टेन सूक्ष्मेण रूपेण विपरिणतं सह कर्त्रा यजमानेनामुं लोकं घृमादिक्रमेणान्तरिक्षमन्तरिक्षाद्युलोकमाविशति । ताः सूक्ष्मा अप्राहृतिकार्यभूता अग्निहोत्रसमवापिन्यः कर्तृसहिताः 'अद्वाशब्दवाच्याः सोमलोके कर्तुः शरीरारम्भाय युलोकं प्रविशन्त्यो ह्यन्त इत्युच्यन्ते । तास्तत्र युलोकं प्रविश्य सोममण्डले कर्तुः शरीरमारभन्ते । 'तवेतदुच्यते देवाः अर्धा जुह्वति तस्या प्राहुत्यं सोमो

'तच्छब्दो द्रष्टव्यः । अमुं लोकमाविशतीति संबन्धः । आवेशप्रकारमाह—घृमादीति । कथमेतावता किं पुनः अद्वाशब्दं हविरिति प्रश्नो निर्णीतस्तत्राऽऽह—ताः सूक्ष्मा इति । 'तथाऽपि कथं जुह्वतीति प्रश्नस्य 'कथं निर्णयस्तत्राऽऽह—सोमलोक इति । 'तथाऽपि 'तस्या प्राहुतेः सोमो राजा संभवतीति कथमुच्यते तत्राऽऽह—तास्तत्रेति । निर्णीतेऽयं अन्तिमवतारयति—तदेतदिति । कथं पुनरापः

परिणाम काल मे वे ही उस फल के भोक्ता होने से युलोकादि अग्नि में वैसे-वैसे रूप से परिणत होकर देवशब्दवाच्य हुए होगुत्व को प्राप्त होते हैं । एव यहाँ अग्निहोत्र क्रिया का आश्रय भूत दुग्धरूप द्रव्य जो आहवनीय अग्नि में डाला गया था, वह अग्नि द्वारा ग्रहण किया जाता हुआ अपूर्व सूक्ष्म रूप में परिणत हो कर्ता यजमान के सहित घृमादि क्रम से उस अन्तरिक्ष लोक में घौर फिर अन्तरिक्ष लोक से युलोक में प्रवेश करता है । अपूर्वाभूत वह प्राहुति का कार्यभूत, अद्वा शब्द वाच्य अग्निहोत्र सदन्वो सूक्ष्म अप्रा (जल) सोमलोक में वर्ता के शरीर का आरम्भ करने के लिए वर्ता के सहित युलोक में प्रवेश करते हुए "हवन किया जाता है" इस प्रकार कहा जाता है । वे वहाँ युलोक में प्रविष्ट होकर सोम मण्डल में कर्ता का शरीर आरम्भ करते हैं । उक्त रीति से निर्णीत वस्तु को श्रुति

१. अपूर्वापरवयसिण । २. अपूर्वाभूता । ३. अद्वाशब्दवाच्या इति । अत्र वार्तिकम्—'प्राहुतयोः परिणामो-
ऽप्यपूर्वसोऽपूर्वमित्यपि । तस्य अर्द्धकहेतुत्वाच्चद्वा नामेति कीत्येते" ॥८६॥ अग्निहोत्रादिकर्मापूर्वं अद्वाकार्यत्वा-
दुपचारत अद्वाशब्दतमिति भाव । ४. प्रविशन्त्य इत्यादि—अद्वाशब्दिताना भूतान्तरसहितानां
सोमावात्मिकादानपूर्वस्मिना परिणतानामथा कर्तुं शरीरारम्भाय युलोकप्रवेदानमेव होम इत्यर्थः ।
५. सूक्ष्मा अप्राः । ६. तदेतत्—उक्तरीत्या निर्णीतमेतद्वस्तु श्रुत्योच्यत इत्यर्थः । ७. तत् पयोद्रव्यम् ।
८. एतावता—वयोक्तृपयोद्रव्यस्य कर्तृसहितस्य घृमादिक्रमेण युलोकावेशकथनमात्रेण । ९. तथाऽपीति—
—क्रिया अद्वाशब्द हविरिति प्रश्ने निर्णयित्यर्थः । १०. कथं निर्णय इति—अपूर्वस्यापि अद्वाशब्दस्य न
होम्यता संभवतीत्यभिप्राय । ११. तथाऽपीति—इत्थं अद्वाया होम्यत्वसिद्धावपीत्यर्थः । १२. तस्या
अद्वाशब्दाया प्राहुते सकाशात् ।

ॐ शरीरमारभन्त इति । तथा च वार्तिकम्—'तस्याभिवृद्धिः समूतिर्नैव भूतजनयति" ॥ ८७ ॥ 'प्राकृष्टं
रश्मिमिस्तोयमादित्ये प्रतिस्तिष्ठति । तस्मादादित्यगः सोमः क्षीण आम्नायते पुनः ॥ परिणामो ह्येषां सोमः
क्षीतानुत्तेन सोऽम्नयः । अद्वाहुतेहि सोमस्य समवः शास्त्र उच्यते ॥ अद्वापाचन्द्रमास्तस्मिन्नुत्तेऽग्नौ सोमसमव ।
सोमचन्द्रमसोरेव भेद शास्त्रेण दशितः ॥ चन्द्रमा मण्डल स्वच्छ चन्द्रकेण मिथो हि सः । सोमस्तु मण्डले
स्वतो वर्धते ह्युत्ते च यः । चन्द्रमा पर प्रादित्यादवास्तोमः श्रुतेर्मतः । प्रादित्याचन्द्रमित्याह नैते सवत्सह
तथा ॥ सोमचन्द्रमसोस्तमाद्भेदः समवगम्यते । देवाभेदादभिप्री तावेच सोम इति श्रुतेः ॥ मिथी च धर्म-

राजा संभवतीति । "श्रद्धा वा आपः" इति श्रुतेः ।

वेत्य यतिथ्यामाहुत्वां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्तीति प्रश्न-
स्तस्य च निर्णयविषयेऽसी वै लोकोऽग्निरिति प्रस्तुतम् । तस्मादापः 'कर्मसमवायिन्यः
कर्तुः शरीरारम्भिकाः श्रद्धाशब्दवाच्या इति निश्चीयते । भूयस्त्वादापः पुरुषवाच इति
व्यपदेशो न त्वितराणि भूतानि न मन्तीति कर्मप्रयुक्तश्च शरीरारम्भः । कर्म चाप्तम-

श्रद्धाशब्दवाच्या न हि लोके श्रद्धाशब्दं तामु प्रयुञ्जते तत्राऽऽह—श्रद्धेति ।

उपक्रमवशादप्यापोऽत्र श्रद्धाशब्दवाच्या इत्याह—वेत्येति । अपामेव पुरुषशब्दवाच्यानां
शरीरारम्भकत्वान्न 'भूतान्तराणामिति कृत्वा 'तस्य पञ्चमूतारब्धत्वाभ्युपगमभङ्गः' स्यादिति
चेन्नेत्याह—भूयस्त्वादिति । अपां पुरुषशब्दवाच्यात्वे हेत्वन्तरमाह—कर्मति । 'अथाकर्मप्रयुक्तमपि

कहती है—'देवगण श्रद्धा को होम देते हैं, उस आहुति से राजा सोम होता है' । तथा 'श्रद्धा ही जल-
तत्त्व है' इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है ।

"क्या तुम जानते हो कि कितनी आहुतियों के हवन किये जाने पर 'आप' पुरुष शब्द वाच्य
होकर उठकर बोलने लगता है" यह प्रश्न है, उसके निर्णय के लिए 'यह चुलोक ही अग्नि है' इस
प्रकार आरम्भ किया जाता है । इसलिये यह निश्चय होता है कि कर्ता के शरीर का आरम्भक कर्म-
सबन्धी आप श्रद्धा शब्द वाच्य है । अन्य भूतो से जल की बहुलता होने से 'आप पुरुष शब्द वाच्य
है' ऐसा व्यपदेश किया जाता है, इससे अन्य भूतो का अभाव सिद्ध नहीं हो जाता क्योंकि शरीरारम्भ

१. तस्मादिति—उपक्रमानुबोधदित्यर्थः । प्रश्ने ह्याप पुरुषवाचो भवन्तीत्युक्तमत्र चोत्तरे श्रद्धाहुतिस्तदर्थत्वे-
नोच्यमानाऽपामेव श्रद्धाशब्दत्व गमयति—अन्यथा प्रभोतरयोर्वैयधिकरण्यादिति भावः । २. कर्मसंबन्धिन्यः ।
३. शरीरारम्भकत्वम् । ४. शरीरस्य । ५. यदा देवादिपूज्यतमशरीरारणामकर्मप्रयुक्तत्व मत्वा शङ्कते—
मयेति ।

भेदेन तस्मादुभयया श्रुतिः ॥ ६१-६७ ॥ इति । तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवतीत्यत्र कीदृशी सोमस्य
संभूतिस्तत्राऽऽह—तस्येति । तत्र हेतुमाह—न त्विति । सोमस्य प्रागेव सिद्धेरसतो जन्मायोगाद्बृद्धिरेव संभूतिः
सा च सोमलोके कर्तृभोगाय देहान्तरारम्भकता 'तास्तत्र चुलोक प्रविश्य सोममण्डले कर्तुं शरीरमारभन्त' इति
हि भाष्यमित्यर्थः ॥ श्रद्धाहुतेः सोमस्य समुत्पत्तिरित्युक्तं कथं निर्वहतीत्याशङ्क्याऽह—आहुतिमिति ।
तच्छब्दस्तोयार्थः । कृष्णपक्षे क्षीयमाण सोमोऽभावास्वायामाभित्यान्तर्गतस्तद्गततोदेन शुक्लपक्षे क्रमेणा-
ऽऽप्यायते सेय वृद्धिः सोमस्य संभूतिः । "विवस्वानशुभिस्तीक्ष्णं रादाप जगतो जसम् । सोमे मुञ्चत्यपेन्दुम्
षायुनाढीमयैर्द्विज" ॥ इत्यादिसंभूतेरित्यर्थः ॥ ये तु सोमस्य तैजसत्वमाहुस्तेषां तस्या आहुत्यै सोमो राजा
संभवतीति विरोध इत्याह—परिखामो हीति । श्रुतिप्रसिद्धार्थो हिशब्दः । प्रत्यक्ष च तस्याऽऽप्यत्वमित्याह—
क्षीतांशुरिति । किञ्च श्रद्धास्थानामपा हुतेः सोमस्य समवो यः दास्यते कथ्यते स सोमलोके कर्तृभोगार्थं देहान्त-
रारम्भ एव तथा च तस्य तैजसत्वेऽपि न दासिरिति विवशाग्रह—यदाहुतेरिति । ननु चुलोकान्गो श्रद्धाहुते-
सोमोत्पत्तिश्चेत्तत्कथं तस्य मनुष्यलोकान्गावज्जारात्वं चन्द्रमा भङ्गारा इति हि श्रुतिरित्याशङ्क्य सोमवन्दनसो-
मैव साध्यमिति—भङ्गारा इति । तस्मिन्निति चुलोकान्गैकिकः । कारकप्रयुक्तचन्द्रमा पत्नमूतः सोम इति
भेद इत्यर्थः । तत्र प्रमाणं प्रकटयति—सोमेति । दास्यतमत्र चन्द्रमा भङ्गारास्तस्या आहुत्यै सोमो राजेत्यादि ॥

वापि । ततश्चायां प्राधान्यं शरीरकर्तृत्वे । तेन चाऽऽपः पुरुषवाच इति ध्यपदेशः ।
कर्मकृतो हि जन्मारम्भः सर्वत्र । तत्र यद्यप्यग्निहोत्राहुतिस्तुतिद्वारेणोत्क्रान्त्याद्यः
प्रस्तुताः यद्व्यायां अग्निहोत्रे तथाऽपि वेदिकाणि सर्वाण्येव कर्माण्यग्निहोत्रप्रभृतीनि

प्रकृष्ट जन्मास्ति तत्कथमयां सर्वत्र पुरुषशब्दवाच्यत्वं तत्राऽऽह—यमं कृतो हीति । 'अग्न्या' तत्र तत्र
सुखदुःखप्रभेदोपमोणासंभवादिति भावः । यदि कर्मापूर्वशब्दवाच्यं 'मृतमूर्धमं सर्वत्र शरीरारम्भकं'
कथं 'तर्हि पूर्वमग्निहोत्राहुत्योरेव व्यक्तं जगदारम्भत्वं'मुषतं तत्राऽऽह— तत्रेति । लक्ष्यतेऽग्निहोत्रा-

कर्मनिमित्तक है और कर्म आप सचन्धी है । इसलिए शरीर मृष्टि में जल की प्रधानता है । इसनिए
भी आप पुरुषशब्दवाच्य है—ऐसा व्यपदेश किया जाता है । जन्म का आरम्भ सर्वत्र कर्म प्रयुक्त ही
हुआ करता है । वहाँ अग्निहोत्र के प्रकरण में यद्यपि अग्निहोत्र की आहुतियों की स्तुति के द्वारा
उत्क्रमण आदि छ पदार्थ वर्णित किये गये हैं तो भी उसमें अग्निहोत्रादि सभी वेदिक कर्म लक्षित
होते हैं । स्त्री और अग्नि से सम्बद्ध पाङ्क्त कर्म प्रस्तुत करके श्रुति में कहा गया था—'वर्म मे
पितृलोक होता है' । तथा इसी की श्रुति आगे भी वहेगी—'जो यज्ञ, दान और तप से लोकों की जीतते

- १ ततश्चेति—शरीरारम्भकर्मणोऽप्यमवाप्तिवादेवेत्यर्थः । २ तेन चेति—यथा तत्कर्तृतायां प्राधान्येन
हेतुनेत्यर्थः । ३ प्रयुक्तः । ४ अग्नयेति—देवादिदेहानामवर्मप्रयुक्तत्वे । तत्र तत्र—देवादिदेहे । मुनेति—
श्रुते च तेषां तदुपभोगः पुराणदिग्म इति भावः । ५ ईश्वरत्वेन स्वीयकर्माप्रयुक्तमपि ब्रह्माध्वतारजन्म-
साधुदुष्कृता कर्मप्रयुक्तमेव नेतरथा तत्तदवतारप्रयुक्तस्तेषां सुखदुःखोपभोग सम्भवतीत्यभिप्रायेणाह—अग्नयेति ।
अग्न्या—अध्वतारदेहानां कर्मप्रयुक्तत्वे । तत्र तत्र—तत्तदवतारविग्रहे सति । मुनेति—साधुदुष्कृतमित्यादिः ।
६ मृतमूर्धममित्यादि—अध्वतारदेहानाम् मौक्तिकत्वमेवेति मतेनेदम् । ७ अग्निहोत्रप्रकरणे । ८ न त्वेवैन-
मोक्तिर्यादिकाः ।

पदार्थानुबन्धानामपि भेदसिद्धिरित्याह—चन्द्रमा इति । मण्डले चन्द्रम शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह—चन्द्रवेणेति ।
पञ्चके सुलित इत्यर्थः । सध्वन्दो मण्डलार्थं । मण्डलात्तर्जितिन पुरुषे सोमशब्दप्रवृत्तिमाह—सोमस्त्विति ।
तत्र निमित्तमाह—वर्धत इति । तत्कारणे वृद्धिहासत्परेऽस्मिन्नपि पक्षभेदेन तद्भावात्तच्छब्दप्रवृत्तिः । न च
मण्डलस्यैव वृद्धिहासो नियामकामावादेवमेवास्तत्र भक्षवन्तीति च श्रुतेन च साऽपि मण्डलार्था तस्मान्नस्या-
भोग्यत्वादित्यर्थः ॥ भेदकान्तरमाह—चन्द्रमा इति । आदित्यात्प्रागूर्ध्वं च श्रुतयो सोमचन्द्रमसोर्भेद श्रुति-
श्लेकाभ्यां श्रुतिरित्यात्प्रागुपाऽह—आदित्यादिति । उत्तरमार्गणा संवत्सरद्वाराऽऽदित्यं यत्तारस्तामचन्द्र
गच्छन्तीति श्रुतिरादित्यात्पराञ्च चन्द्र ब्रूते । एते दक्षिणमार्गणा न सवत्सरमापद्यन्ते किंतु मासेभ्यः पितृलोक
पितृलोकचन्द्रमेव सोमो राजैर्यादियुतिरादित्यादश्च सोममाह । न च चन्द्रस्याऽऽदित्यात्पराचीनत्वे तदन्त-
र्गतं सोमस्य तस्मादर्वाचीनत्वात्प्रपत्तिरैवर्षव्याहृत्यास्तथास्वत्त्वभवादेनेकप्रतिपत्ति-पायादित्यर्थः ॥
फलित भेद निगमयति—सोमेति । तयोस्त्यन्तभेदश्चेत्कथमभेदोक्तिरित्यात्प्रागुपाऽह—देशेति । स्वरूपभेदे
सत्येव देशभेदेन पितृलोकचन्द्रमेव सोमो राजैर्यभेदश्रुति सोमस्य मण्डलस्यव्याहृत्यान्तराभावादित्यर्थः ॥
कथं तर्हि भेदश्रुतिस्तत्राऽह—भिन्ना चेति । धर्मभेदेन स्वरूपभेदेनेति यावत् । देशभेदादभेदश्रुति स्वरूपभेदाद्-
भेदश्रुतिरित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिद-
 आणि धूमो विद्युर्दचिरशनिरङ्गारा हादुनयो विस्फु-
 लिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमश्च राजानं
 जुष्टवति तस्या आहुत्यं वृष्टिः संभवति ॥१०॥

हे गौतम ! मेघ ही अग्नि है, सवत्सर ही उसका ईंधन है, क्योंकि संवत्सर के द्वारा ही मेघरूप अग्नि प्रदीप्त होता है । बादल धूम है, विजली ज्वाला है, इंद्र का वज्र अङ्गार है, मेघगर्जन चिनगारियां हैं । इस अग्नि में देवगण सोमराज को हवन करते हैं । उस सोम की आहुति से वर्षा होती है ॥१०॥

लक्षयन्ते । दाराग्निसंबद्धं हि 'पाङ्क्तं' कर्म 'प्रस्तुत्योक्तम्—'कर्मणा पितृलोक इति ।
 'वक्ष्यति च— अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्तीति ॥ ६ ॥

'पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम द्वितीय आहुत्याधार 'आहुत्योरा'वृत्तिक्रमेण । पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानि देवतात्मा । 'तस्य संवत्सर एव समिद्वत् । संवत्सरेण हि शरदाविभिर्गोष्मान्तैः स्वावयवैर्वपरिवर्तमानेन पर्जन्योऽग्निर्दीप्यते । अआणि धूमः । 'धूम-

ह्वयेति शेषः । लक्षणायां "पूर्वोत्तरवाक्ययोगंमकत्वमाह—दाराग्नीति ॥६॥
 आद्यमाहुत्याधारमेवं निरूप्याऽऽहुत्याधारान्तराणि क्रमेण निरूपयति—पर्जन्यो वा अग्निरित्यादिना । कुतो"ऽस्य द्वितीयत्वमिति शङ्कित्वोक्तम्—आहुत्योरिति । अस्ति खस्वभ्राणां धूमप्रभवत्वे "गाथा 'धूमज्योनि सलिलमरुता संनिपातः ष्व मेघः' इति ॥१०॥

है (वे धूम को प्राप्त होते हैं)' इत्यादि ॥६॥
 हे गौतम ! आहुतियों की आवृत्ति के क्रम द्वितीय आहुति का आधार मेघ ही अग्नि है । वृष्टि उपकरण के अभिमानि देवता का नाम पर्जन्य है । उसका सवत्सर समिद्वत् है । शरदादि से श्रोष्मपर्यन्त अपने अवयवों द्वारा विभिन्न रूप से परिवर्तित हुए सवत्सर के द्वारा ही मेघ रूप अग्नि प्रदीप्त होता है । बादल धूम हैं, क्योंकि धूम से उत्पन्न होते हैं और धूम की तरह दिखायी देते हैं ।

१. पाङ्क्तमिति—मनोवाक्प्राणचक्षुश्रोत्रैः पञ्चभिः साध्यम् आत्मजायाप्रजावित्तविद्याभिः सार्धं वा कर्म पाङ्क्तम् । २. वृ उ १. ४ १७ । ३. वृ उ १. ५ १६ । ४. वृ उ ६ २. १६ । ५. ससोमः पर्जन्याग्नी हुतः सन् वृष्टिरूपेण परिणमत इत्याह—पर्जन्य इति । पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानिदेवतात्मा-ऽग्निः । स च शुर्लोकादावर्तनसमये द्वितीय आहुत्याधार इत्यर्थः । ६. आहुत्योरपूर्वात्मिकयो । ७. आवृत्ति-क्रमेण—शुर्लोकादेत लोके प्रत्यागमनक्रमेण । ८. पर्जन्याग्नेः । ९. शरदादीति—आदिना हेमन्तानिगिर-वसन्ता प्राहाः । १०. अघ्राणाम् । ११. पूर्वोत्तरेति—पञ्चाग्निप्रकरणेषुसया पूर्वोत्तरत्वं वाश्रयत्वात्कर्म-सदसितत्वं तद्गताहुतिलक्षणागमकमिति ध्येयम् । १२. अस्य पर्जन्याग्निरूपस्याधारस्य । १३. क्या-

अयं वै लोकोऽग्निगौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्नि-
धूमो रात्रिरचिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फु-

हे गौतम ! यह लोक ही अग्नि है, पृथिवी इसका ई धन है, अग्नि धूम है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवगण वर्षा का हवन करते हैं। उस ब्राह्मि से अन्न उत्पन्न होता है। (समिया के सक्न्म से ज्वाला और धूम उत्पन्न होता है)। अतः

प्रभवत्वाद्भवदुपलक्षप्रथाद्वा । विद्युदचिः । प्रकाशसामान्यात् । अशनिरङ्गाराः । उपशा-
न्तस्वकाठिन्यसामान्याभ्याम् । ह्लादुनयो ह्लादुनयः स्तनयित्नुशब्दा विस्फुलिङ्गाः ।
विक्षेपानेकत्वसामान्यात् । तस्मिन्नेतस्मिन्नित्याहुत्यधिकरणनिर्देशः । देवा इति त एव
होतारः सोमं राजानं जुह्वति । योऽनी छुलोकानो श्रद्धायां हुतायामभिनिर्युतः सोमः
स द्वितीये पर्जन्याग्नी हूयते । तस्याश्च सोमाहुतेवृष्टि संभवति ॥ १० ॥

अयं वै लोकोऽग्निगौतम । अयं लोक इति प्राणिजन्मोपभोगाश्रयः क्रियाकारक-
फलविशिष्टः स तृतीयोऽग्निः । तस्याग्नेः पृथिव्येव समिद्वत् । पृथिव्या ह्ययं लोकोऽनेक-

एतल्लोकपृथिव्योर्देहेदेहिभावेन भेदः । पृथिवीछाया हीति । एतानि हि चन्द्रं रात्रेस्तमसो

विद्युत् ज्वाला है क्योंकि प्रकाश से उसकी समानता है। वज्र अङ्गारे हैं क्योंकि इनमें उपशान्तत्व और काठिन्य की समानता है। "ह्लादुनय" अर्थात् स्तनयित्नु शब्द विस्फुलिङ्ग हैं क्योंकि विशिष्ट-प्रत्ययवेद्यत्वं दोनों में समान है। उस इस पर्जन्य अग्नि में इस प्रकार कहकर ब्राह्मि के अधिकरण का निर्देश किया गया है। "देवा" अर्थात् यजमान वागादि प्राण ही आधिदैविक इन्द्रादिशब्दवाच्य होना राजा सोम को होमते हैं। जो यह सुलोक में श्रद्धा का हवन करने पर निष्पन्न हुआ सोम था, उसे ही इस द्वितीये पर्जन्यरूप अग्नि में होमा जाता है। इस सोम की ब्राह्मि से वृष्टि होती है ॥१०॥

हे गौतम ! यह लोक ही अग्नि है। "अयं लोक" अर्थात् प्राणियों के जन्म और उपभोग का

१ अग्निः—वज्रापरपर्याय प्रकाशाश्रय । २ विद्येयो विद्युत्प्रत्ययवेद्यत्वम् । ३ पर्जन्याग्नी । ४ त एवेति—प्रागुक्ता यजमानप्राणा वागादय एवाधिदैविकभूता इन्द्रादिशब्दवाच्या होतारस्तत्र भोक्तृत्वलक्षण होतृत्वमापन्नन्ते इत्यर्थः । ५ एवमुत्पन्नवृष्टिरस्मिन्लोके हुता सत्यप्रक्षेपेण परिणमत इत्याह—अयं वा इति । हे गौतम अयं वै लोक पृथिव्यभिमानिदेवताया देह्युतस्तृतीयोऽग्नि तस्याग्ने पृथिव्येव पृथिव्यभिमानिदेवतैव सत् तथा ह्ययं लोक समिध्वते । ६ पृथिवीदेवतैव । ७ हीति—देहिना देहस्य प्रसिद्धा दीप्तिरिति हेतुकुं हिशब्दः । ८ नन्वयं लोकोऽग्नि पृथिवी च तस्य समिदित्यमुक्तमेतल्लोकपृथिव्योर्देव्यादेकस्मिन्प्राणिजन्मोपभोगाश्रय-योगादित्याद्यङ्गुषाऽह—एतल्लोकेति । एतल्लोको दृश्यमाना पृथ्वीदेह पृथिवी च तदभिमानिदेवता देहीति भेद इत्यर्थः । ९ एतानित्यादि—एतानि हि प्रसिद्धानि ज्योतीषि नक्षत्राणि । रात्रेस्तमसस्तमोभूताया रात्रेर्मुत्प्लो-मार्कात् प्रकाशविरोधिन् इति यावत् विभ्रमं को हि मत्स्यपक्षे लोकमिममाह्लादयेदिति चिन्त्येयं भेदप्रायः अत्रमत्स्यपारयन् अत्रमत्स्यपक्षे वयमेव मनुष्य करिष्यामा भावत्क यथाशक्तिकार्यमित्याश्रानेन समर्थमकुर्वन्निमुक्त-चिन्तनभावव्यभिचि यावत् ।

लिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या
आहुत्या अन्नं संभवति ॥११॥

पार्थिव द्रव्यरूप ईंधन से अग्निरूप धूम की छायारूप रात्रि (अन्धकार) उत्पन्न होता है। अङ्गारे के समान होने से चन्द्रमा को अङ्गार कह दिया गया है। ११॥

संपन्नया समिध्यते । अग्निर्धूमः । 'पृथिव्याश्रयोत्थानसामान्यात् । 'पार्थिवं' होन्धनद्रव्यमाश्रित्याग्निरुत्तिष्ठति । यथा समिदाश्रयेण धूपः । रात्रिरग्निः । समित्संबन्धप्रभवसामान्यात् । अग्नेः समित्संबन्धेन ह्यग्निः संभवति । तथा पृथिवीतमित्संबन्धेन शर्वरो । पृथिवीछायां हि शर्वरं तम आचक्षते । चन्द्रमा अङ्गाराः । तत्प्रभवत्वसामान्यात् । 'अचिषो ह्यङ्गाराः प्रभवन्ति तथा रात्रौ उपशान्तरसामान्याद्वा । नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः । विस्फुलिङ्ग-

मृत्योर्विष्यतमस्यपारयन्' इति ध्रुवे रात्रेस्तमस्त्वायगमात्तस्य च 'मृत्युर्वं तमश्छाया मृत्युमेव तत्तमश्छायां तरतीति 'मृच्छायात्वं श्रुतम् । 'तमो राहुस्थानं तन्न मृच्छापेति हि प्रतिद्वम्—

“उद्धृत्य पृथिवीछायां निमित्तं मण्डलाकृति । स्वर्भानोस्तथुहस्तस्थानं तृतीयं यत्तमोमयम्” इति स्मृतैरित्यर्थः । 'सोमचन्द्रमसोराश्रयाश्रयिभावेन भेदः ॥११॥

आश्रयभूत एव क्रिया, कारक और फल से विशिष्ट यह लोक ही तृतीय अग्नि है। उम अग्नि का पृथिवी देवता ही समिध् है। पृथिव्यभिमानी देवता से ही जो प्राणियों के अनेक उपभोगसामग्रियों से सम्पन्न है, यह लोक दीप्त होता है। अग्नि देवता ही धूम है क्योंकि पृथिवी रूप आश्रय मे ऊपर उठने में इनकी समानता है। पार्थिव ईंधन द्रव्य को आश्रित करके अग्नि ऊपर उठता है, जिस प्रकार समिध् के आश्रय से धूम उठता है। रात्रि ज्वाला है क्योंकि समिध् के सबन्ध से उत्पन्न होना रूप समानता दोनों मे है। समिध् के सबन्ध से अग्नि मे ज्वाला उठती है, इस प्रकार पृथिवी रूप समिध् के सबन्ध से रात्रि होती है। पृथिवी की छाया को रात्रि का अन्धकार कहा जाता है। चन्द्रमा अङ्गार है क्योंकि रात्रि और अचि से उत्पन्न होने से दोनों मे समानता है। ज्वाला मे ही अङ्गारे उत्पन्न होते है इसी प्रकार रात्रि मे चन्द्रमा होता है अथवा उपशान्तरत्व गुण दोनों में समान है। नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं क्योंकि

१ पृथिव्याश्रयेति—उभयो पार्थिवद्रव्याश्रितत्वेनोत्थानसामान्यादिति यावत् । २ तदेव स्पष्टयति—पार्थिव हीति । ३ तत्प्रभवत्वेति चन्द्रमोङ्गारयो रात्र्याचिष्यामुद्भवप्रकानाश्रयत्वादिसामान्यादित्यर्थः । ४ विरोधिच्छायाभूत तम कर्म । तैवेव ज्योतिषा नक्षत्रपरिवारेण चन्द्रमसंबन्धेन तरति सोमोऽपि त्रामतीत्यर्थः । ५ मृच्छायात्वं श्रुतमिति । ६ मनु च्छायाभात्रत्व श्रुत न तु भूच्छायात्वमित्येतावद्भूच्छायात्वं—तमा राहुस्थानमिति रात्रिरूप तम एव हि राहो स्थित्यधिकरण तद्योऽन्धकारमिति त्वनादभूच्छायेति सिद्धं रात्रिरूपस्य तमसो भूच्छायात्वमिति भावः । ७ ननु पूर्वं शुनोक्ताग्नी अद्वाहने सोमोऽपि तिरक्ता उररुपनिदानो तन्पैव मनुष्यलोकान्नाबङ्गारत्वंमुच्यते इत्यादिभूच्छायात्वं—सोमचन्द्रमसोरिति । सोम प्राथम्ये चन्द्रना प्राथम्य इति स्पष्ट प्रकृतब्राह्मणवाक्ये (६२) इत्यादी ।

पुरुषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो
धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्ने-
तस्मिन्नग्नी देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः
संभवति ॥ १२ ॥

हे गौतम ! (हस्तपादादि भ्रवयवो वाला) प्रसिद्ध पुरुष ही अग्नि है, उसका गुला हुआ धूम ही समिधा है, प्राण धूम है, वाणी ज्वाला है, (क्योंकि ज्वाला के समान वाणी से ही वस्तु का प्रकाश होता है) नेत्र अङ्गार है और श्रोत्र चित्तगारियाँ हैं । इस पुरुषाग्नि में देवगण अन्न का हवन करते हैं । उस आहुति से अन्न का परिणाम वीर्य उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥

वद्विक्षेपसामान्यात् । तस्मिन्नेतस्मिन्नित्यादि 'पूर्ववत्' । वृष्टि जुह्वति तस्या आहुते'रन्नं
संभवति वृष्टिप्रभवत्वस्य प्रसिद्धत्वाद्बोहियवादेरन्नस्य ॥ ११ ॥

'पुरुषो वा अग्निर्गौतम प्रसिद्धः शिरःपाण्यादिमान्पुरुषश्चतुर्थोऽग्निस्तस्य व्यात्तं
विवृतं मुखं समित् ; विवृतेन हि मुखेन बोहियेने पुरुषो वचनस्वाध्यायादौ । यथा
समिधाऽग्निः । प्राणो धूमस्तदुत्थानसामान्यात् । मुखाद्धि प्राण उत्तिष्ठति । वाक्शब्दो-
ऽर्चित्वंञ्जकत्वसामान्यात् । अर्चिश्च व्यञ्जकम् । तथा वाक्शब्दोऽग्निधेयव्यञ्जकः ।
चक्षुरङ्गारा उपशमसामान्यात्प्रकाशाश्रयत्वाद्वा । श्रोत्रं विस्फुलिङ्गा विक्षेपसामान्यात् ।
'तस्मिन्नग्ने' जुह्वति । ननु नैव देवा अन्नमिह जुह्वतो दृश्यन्ते । नैव दोषः । प्राणानां

योग्यानुपलब्धिविरोधमाशङ्कते—नन्विति । इहेति पुरुषाग्निनिर्देशः । शङ्कितं विरोधं

विस्फुलिङ्ग के समान विश्लिष्ट प्रत्यय वेद्य है । 'उस इस अग्नि में' इत्यादि व्याख्या पूर्वमन्त्र के समान समझ लेनी चाहिए । इसमें वृष्टि को होमते है, उस आहुति से भक्षण करने योग्य अन्न होता है क्योंकि बोहियवादि अन्न का वृष्टि से होना प्रसिद्ध ही है ॥ ११ ॥

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है । हाथ पाँव आदि से युक्त प्रसिद्ध पुरुष शरीर ही चतुर्थ अग्नि है, उसका 'व्यात्त' यानी गुला हुआ मुख ही समिध है । बोलने व स्वाध्याय आदि में खुले मुख से पुरुष उसी प्रकार प्रकाशित होता है, जिस प्रकार समिध से अग्नि । प्राण धूम है क्योंकि समिध से ऊपर उठने के कारण दोनों में समानता है । मुख से प्राण ऊपर उठता है । व्यञ्जकत्व समानता से 'वाक्' अर्थात् शब्द उत्राला है । ज्वाला वस्तु की प्रकाशिका होती है । इसी प्रकार 'वाक्' यानी शब्द भी वाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला हाता है । उपशम अथवा प्रकाशाश्रय में समानता होने के

१. पूर्ववदिति—एतदनेकानो देवा यजमानप्राणा वागादय एवाग्निर्देविकभूता इन्द्रादिदेवशब्दवाच्या वृष्टि-मित्यादि ।
२. अन्नम्—अदनीय बोहियवादि ।
३. तदन्न पुनः पुरुषाम्नी ह्रवं सदेतो रूपेण परिरुमत इत्याह—पुरुषो वा इति ।
४. पुरुषदेह ।
५. तस्मिन्निति—तस्मिन्नेतस्मिन्नेवगुणविशिष्टे पुरुषाम्नी देवा प्राण्यादिमका वागादयो यजमानप्राणा अन्न जुह्वतीत्यर्थः ।

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि
धूमो योनिरर्चयन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा
विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति
तस्या आहुत्यं पुरुषः स भवति स जीवति यावज्जीव-
त्यथ यदा म्रियते ॥ १३ ॥

हे गौतम ! स्त्री ही होमाधिकरण रूप अग्नि है । उपस्थ ही उसकी समिधा है, योनि ज्वाला है और जो मैथुन व्यापार करता है, वह अङ्गार है, धान-दलेश चिनगारियाँ हैं । इस योपाग्नि में देवगण वीर्य का हवन करते हैं । उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है, वह पुरुष (तब तक) जीवित रहता है, जब तक उसके प्रारब्ध क्षीण नहीं होने । प्रारब्ध क्षीण होने पर वह मर जाता है ॥ १३ ॥

देवत्वोपपत्ते । अधिदैवमिन्द्रादयो देवास्त एवाव्यात्मं प्राणास्ते चाग्रम्य पुरुषे प्रक्षेप्तारः ।
तस्या आहुते रेतः संभवति । अन्नपरिणामो हि रेतः ॥ १२ ॥

योषा वा अग्निर्गौतम । योवेति स्त्री पञ्चमो होमाधिकरणोऽग्निस्तस्या 'उपस्थ एव
समित् । तेन हि सा समिध्यते । लोमानि धूमस्तदुत्थानसामान्यात् । योनिरर्चयन्त-
निराकरोति—नेप दोष इति । उपपत्तिमेव दर्शयति—अधिदैवमिति ॥१२॥

कारण चक्षु अङ्गार है । विश्लिष्टप्रत्यय वेद्यत्व ममानता होने से श्रोत्र विस्फुलिङ्ग है । इस प्रकार के गुरुणो से विशिष्ट पुरुषाग्नि में आध्यात्मिक देवगण वागादि यजमान क प्राण अन्न को होमते हैं । (यहाँ शब्दा होती है—) किन्तु देवता लोग तो इस अग्नि में हवन करने हुए दिखाई नहीं देते । (सिद्धान्ती परिहार करता है—) इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि प्राणों को देव माना जाना सिद्ध है । इन्द्रादि अधिदेव ही अध्यात्म प्राण हैं, वे ही इस पुरुषाग्नि में अन्न डालते हैं । उस अग्नि से रेतस् होता है क्योंकि रेतस् होना अन्न का परिणाम है ॥ १२ ॥

(वही रेतस् पुन योषित् अग्नि में डालने से पुरुषाकार परिणाम होता है—इससे) हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है । "योषा" अर्थात् स्त्री—यह पाँचवा होमाधिकरण अग्नि है । उपस्थेन्द्रिय ही उसका समिध है । उसी से वह प्रदीप्त होती है । समिध से उठने (एव वर्ण) की समानता होने के कारण लोम ही धूम है । वर्ण से समानता होने के कारण (उपस्थेन्द्रियाश्रय प्रदेश) योनि ज्वाला है । जा

१ तस्मिन्नेतस्मिन् षषोक्तगुणविशिष्टे योषित्मनो देवा आध्यात्मिकवागादयो यजमानप्राणा रेतो जुह्वति तस्या आहुते पुरुष शिर वाष्यादिमान् स भवति इत्यत्र ब्रमेण चतुर्षुप्रभिनियं उक्त । एवमुदात्तस्य स्वाभाविक व्यापारमाह—स एव ब्रमेण जाठ. पुरुषो जीवतीति । २ तद्रेत पुनर्योषाग्नौ हृत् सत्पुष्याकाशेण परिणमत इत्याह—योवेति । ३ उपस्थ इतीन्द्रिय ग्राह्यम् । ४ तदुत्थानसामान्यादिति—वर्णमामावाचनेत्यपि दृश्यम् । ५ योनिरिति—उपस्थेन्द्रियाश्रयप्रदेश इत्यर्थः ।

सामान्यात् । यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अन्तः करणं मंथुनव्यापारस्तेऽङ्गारा वीर्यो-
पशमहेतुत्वसामान्यात् । 'वीर्याद्युपशमकारणं मंथुनम् । तथाऽङ्गारमावोऽग्नेरुपशमकारणम् ।
अभिनन्दाः सुखलवाः' क्षुद्रत्वसामान्याद्विस्फुलिङ्गाः । तस्मिन्नेतो जुह्वति । तस्या आहुतेः
पुरुषः संभवति । एवं क्षुपजन्त्यायंलोकपुरुषयोवाग्निषु क्रमेण ह्यमानाः अद्वासोपवृष्टपद्म-
रेतोभावेन 'स्थूलतारतम्यक्रममापद्यमानाः' अद्वाशब्दवाच्या आपः पुरुषशब्दवाच्यं
शरीरमारभन्ते । यः प्रश्नश्चतुर्थो वेत्य यतिध्यामाहुत्यां हुतांपामापः पुरुषवांबो भूत्वा समुत्प्याय
वदन्ती३ इति स एष निर्णीतः । पञ्चम्यामाहुतौ योवाग्नी हुतायां रेतोभूता आपः
पुरुषवाचो भवन्तीति । स पुरुष 'एवं क्रमेण जातो जीवति । क्रियन्तं कालमिति । उच्यते—
यावज्जीवति यावदस्मिच्छरीरे स्थितिनिमित्तं कर्म विद्यते तावदित्यर्थः । अथ तत्क्षये

तस्या आहुत्यं पुरुषः संभवतीति श्वाकरोति—एवमिति । पञ्चाग्निवर्शनस्य
चतुर्थप्रश्ननिर्णायकत्वेन प्रकृतोपयोग दर्शयति—यः प्रश्न इति । निर्णयप्रकारमनुवदति—पञ्चम्या-
मिति । यथोक्तनीत्या जाते देहे 'कथं पुरुषस्य जीवनकालो नियम्यते तत्राऽऽह—स पुरुष इति ।
'पञ्चाग्निः क्रमेण जातोऽग्निः लपद्वाहं तेनान्गमात्मेति ध्यानसिद्धये यद्गुणमिन्मत्प्राहुत्यधिकरणं प्रश्नोति
—अथेति । जीवननिमित्तकर्मविषयस्तच्छब्द ॥१३॥

भीतर करना है, वह अङ्गार है क्योंकि भीतर डालना रूप मंथुन व्यापार ही वे अङ्गार हैं क्योंकि वीर्य
स्खलन होने में उसकी समानता है । (वीर्य भी तेज. स्वभाव है) मंथुन वीर्यादि के स्खलन का हेतु
है । उसी प्रकार अङ्गार भाव भी अग्नि के उपशम का कारण है । मंथुन जन्म "अभिनन्दाः" सुखलव
ही विस्फुलिङ्ग है क्योंकि क्षणिकत्व की इनमें समानता है । इसलिये इस योवाग्नि में वीर्य का होम
करते हैं । उम आहुति से पुरुष होता है । इस प्रकार शुलोक, मेघ, इहलोक, पुरुष और योवाग्निषु
में क्रमशः होमे गए अद्वा, सोम, वृष्टि, अन्न और वीर्य रूप से उत्तरोत्तर स्थूलता को प्राप्त करता हुआ
अद्वाशब्द वाच्य भूतसूक्ष्म लक्षण 'आप' पुनपशब्दवाच्य शरीर को आरम्भ करता है । 'क्या तुम
जानते हो कि कितनी आहुतियों में हवन किये जाने पर 'आप' पुरुषशब्दवाच्य होकर उठकर बोलने
लगता है', इस पर चतुर्थ प्रश्न का निर्णय हो गया कि योवाग्नि में पाँचवी आहुति के होम किये जाने
पर वीर्यभूत आप (जल) पुरुषशब्दवाच्य होता है । वह पुरुष इस क्रम में उत्पन्न हुआ जीवित रहता
है । किन्तु मरण तक जीता है ? इस पर श्रुति कहती है—'यावज्जीवति' अर्थात् जब तक जीवन
धारण निमित्तक कर्म इस शरीर में रहता है, तब तक जीवित रहता है । 'अथ' अर्थात् उनके क्षीण
हो जाने पर 'यदा' यानी जिस समय मर जाता है ॥ १३ ॥

१. वीर्यमपि तेज स्वभावम् । २. मंथुनजन्मा । ३. क्षणिकत्वसामान्यात् । ४. स्थूलतारतम्येत्यादि—
उत्तरोत्तर स्थौल्य प्राप्नुवत्य इति यावत् । ५. भूतसूक्ष्मलक्षणा । ६. एव क्रमेणेति—क्षुपजन्त्यायंलोक-
पुरुषयोवाग्निषु तत्र वेद्येत्यर्थः । ७. कथंशब्द. प्रश्नाधीनम् । ८. नियम्यते—नियतो ज्ञाप्य इति यावत् ।
९. पञ्चाग्नीति—अथ यदा पञ्चाग्निविदे गति विषयुरेक्ष्यमाणयत्युपयोगिदेहप्रदर्शनार्थमन्त्येष्टिविषय यावत्
प्रश्नोति तत्रैवतारणान्तर द्रष्टव्यम् ।

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति
समित्समिद्धमो धूमोऽचिरचिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा
विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्न'ग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति
तस्या आहुत्यं पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति ॥ १४ ॥

तब इस मृत पुरुष को अग्नि के लिए ऋत्विक्गण ले जाते हैं। उस पुरुष का प्रसिद्ध अग्नि ही होमाधिकरण अग्नि होता है, कोई कल्पित अग्नि नहीं। प्रसिद्ध समिधा ही समिधा होती है, धूम धूम होता है, ज्वाला ज्वाला होती है, अङ्गारे अङ्गारे होते हैं। प्रसिद्ध विस्फुलिङ्ग ही विस्फुलिङ्ग होते हैं। अर्थात् पूर्व के जैसे उक्त सभी कल्पित नहीं होते। उस इस अग्नि में देवगण पुरुषरूप अन्तिम आहुति का हवन करते हैं। आहुति से (गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के सभी संस्कार से सम्पन्न हो जाने के कारण) पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है ॥ १४ ॥

यदा यस्मिन्काले च्रियते ॥ १३ ॥

अथ तदेनं मृतमग्नयेऽग्नयेमेवान्त्याहुत्यं हरन्ति ऋत्विजस्तस्याऽऽहुतिभूतस्य प्रसिद्धोऽग्निरेव होमाधिकरणं न परिकल्प्योऽग्निः । प्रसिद्धं च समित्समिद्धमो धूमोऽचिरचिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गा यथाप्रसिद्धमेव सर्वमित्यर्थः । तस्मिन्पुरुषमन्त्याहुतिं जुह्वति तस्या आहुत्या आहुतेः पुरुषो भास्वरवर्णोऽतिशयदीप्तिमान्निषेकादिभिर'न्त्याहुतप्रणतैः कर्मभिः संस्कृतत्वात्संभवति निष्पद्यते ॥ १४ ॥

'वक्ष्यमाणक्रीटादिवेह्यवृत्तये भास्वरवर्णविशेषणम् । दीप्यतिशयवस्वे हेतुमाह—निषेकादिभिरिति ॥ १४ ॥

“अथैनम” अर्थात् तब इस मृत पुरुष को ‘अग्नये’ अर्थात् अन्तिम आहुति के प्रयोजन से अग्नि के लिए ही ऋत्विक् लोग ले जाते हैं। आहुतिभूत उस पुरुष का प्रसिद्ध अग्नि ही होमाधिकरण है; कोई कल्पित अग्नि नहीं। प्रसिद्ध समिध् ही समिध् है, धूम धूम है, अचि अचि है, अङ्गार अङ्गार होते हैं, विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्ग होते हैं अर्थात् वे जिस प्रकार प्रसिद्ध है, उसी प्रकार होते हैं। उममे पुरुष रूप अन्त्य संस्कार सिद्धि के लिए आहुति डालते हैं। उस आहुति से पुरुष गर्भाधान संस्कार से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार पर्यन्त कर्मों में संस्कारयुक्त होने के कारण “भास्वरवर्णः संभवति” अर्थात् अतिशय दीप्ति युक्त हो जाता है ॥ १४ ॥

१. प्रसिद्धे । २. ऋत्विजः । ३. भास्वरवर्ण इति—सात्त्विकरूपवानित्यर्थः । तदुक्त शक्तिके—“राजसतामस रूपमितो ह्यन्यत्र वक्ष्यते” ॥ ११६ ॥ इति । विद्वद्रूपात्सात्त्विकादिति इत्युक्तम् । अग्नय कर्मण्युपमग्रये वेत्यर्थः । ४. मन्त्याहुतिं जुह्वतीति—मन्त्यसंस्कारसिद्धयर्थं पितृमेधोक्तविधानतः प्रक्षिपन्तीत्यर्थः । ५. मन्त्याहुतिरन्त्येष्टिः । ६. वृ. उ. ६. २. १६ ।

'ते य एवमेतद्विदुष्यं चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते
तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह आर्प्यमाणपक्षमापूर्य-
माणपक्षाद्यान्पण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देव-

वे जो (गृहस्थ इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से) इस पञ्चाग्नि विद्या को जानते हैं और जो सत्यासी या वानप्रस्थो श्रद्धायुक्त हो वन में हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे सभी ज्योति के अभिमानी देव को प्राप्त होते हैं। ज्योति के अभिमानी देव से दिन के अभिमानी देव को, दिन के अभिमानी देव से शुक्ल पक्ष के अभिमानी देव को, शुक्ल पक्ष के अभिमानी देव से उन उत्तरायण के छ महीनों के

इदानीं प्रथमप्रश्न 'निराकरणार्थमाह—ते। के। 'य एवं 'यथोक्त' पञ्चाग्निदर्शन-
मेतद्विदुः। एयंशब्दादग्निमिद्वर्षाविरङ्गारविस्फुलिङ्गश्रद्धाविशिष्टाः पञ्चाग्नेयो निदिष्टा-
स्तानेवंतान्पञ्चाग्नीन्विदुरित्यर्थः। 'नन्वग्निहोत्राहुतदर्शनविषयमेवैतद्दर्शनम्। 'तत्र

पञ्चाग्निविदो गति विवक्षुस्तरण्यमवतारयति—इदानीमिति। ये विदुस्तेऽर्चिरभिसंभव-
न्नीति सध्वय। एवंशब्दस्य प्रकृतपञ्चाग्निपरामर्शित्वं स्फुटीकृतुं श्लोदयति—नन्विति। एवमेतद्विदु-
रिति श्रुतमेतद्दर्शनमित्युक्तम्। 'तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञापकं दर्शयति—तत्र हीति। आदिवदमादित्यं

श्रव प्रथम प्रश्न के समाधान के लिए कहा जाता है। 'ते' इत्यादि। वे कौन? जो वैवर्णिक गृहस्थ तत्तत्प्रमादिद्युक्त पञ्चाग्नि विद्या का अनुष्ठान करते हैं। 'एव' शब्द अग्नि, समिध्, घूम, ज्वाला, श्रद्धार, विस्फुलिङ्ग और श्रद्धादिविशिष्ट पाँचो अग्नियों का है, जो उनका इस प्रकार अनुष्ठान करते हैं। (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु यह दर्शन तो अग्निहोत्र आहुतियों की उपासना के विषय में ही है। है। वही अग्निहोत्र प्रकरण में उत्क्रान्ति आदि छ पदार्थों का निर्णय करते हुए—'द्युलोक को ही आहुवनीय करते हैं'—इत्यादि कहा गया है। पञ्चाग्नि प्रकरण में भी 'इस लोक का अग्नित्व और

१ एव पञ्चाग्निविदो मृतस्य गति वक्तु भाग विप्रतिपत्ति (निमित्तमागमति) तत्साधनयो. प्रथमपञ्चमप्रश्नयो-
निर्णयार्थमाह—ते य एवमेतद्विदुरिति। ये गृहिणस्त्रैवर्णिका एवमुक्तसमिदादिविशिष्टान् पञ्चाग्नीन् विदुष्यं
चामी वानप्रस्था धवणाद्यनधिहृता आश्रममर्भमाश्रनिरसा सत्यासिनश्चारण्ये स्त्रीजनासंकीर्णो देवो श्रद्धापूर्वक
सत्त्वं हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मोपासते ते पञ्चाग्निविदः सत्यब्रह्मविदश्च, ऋषिस्तदभिमानीनी देवतामातिवाहिकी
प्रतिपद्यन्त एवमपेक्षि योज्यम्। वैदुतम् विदुर्देवताम्। वैदुतान् विदुर्देवताप्राप्तान् उपासकान्। मानसो ब्रह्मणा
ननसा शृष्टो ब्रह्मलोकनिवासी काश्चित्पुरुष। ते ब्रह्मलोक प्राप्ता उपासका परा उरुष्टाः सन्त। परावत—
प्राप्तमानमितान् सवस्तरान् शतमन्यावान् वसन्ति। २ निराकरणमिह समाधान मागर्थात्। ३ ये
त्रैवर्णिका गृहस्थाः। ४ तत्तत्समिदादियुक्तम्। ५ अनुतिष्ठन्ति। ६ नन्वित्यादि—अग्निहोत्राहुत्युपासन-
क्षेपमेवैतदुपासनमिति शङ्कितुराशयः। ७ अग्निहोत्रप्रकरणे। ८ अर्चिषमिति प्रमादपाठ अर्चिरभि-
संभवन्तीत्यस्यैव न्यायत्वत्वात्। ९ तदेवेदमिति—अग्निहोत्राहुतदर्शनमेवैव पञ्चाग्निदर्शनमित्यर्थः।

लोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वृद्युतं तान्वैद्युता-
 न्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्म-
 लोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरा-
 वृत्तिः ॥ १५ ॥

अभिमानो देव को प्राप्त होते है, जिन छ महीनो मे सूर्य उत्तर की ओर होकर चलता है । पुन छ मास के अभिमानो देवो से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को और आदित्य से विद्युत् के अभिमानो देवो के पास (ब्रह्मा के द्वारा मन से रचा हुआ ब्रह्मलोकवासी) एक मानस पुरुष आकर इन्हे ब्रह्मलोको मे ले जाता है । वे लोग उन ब्रह्मलोको मे अनेक वर्षों तक रहते हैं, इनका पुनरागमन नहीं होता है ॥ १५ ॥

ह्युक्तमुत्क्रान्त्यादिपदार्थवट्कनिर्णये दिवमेवाऽऽहवनीयं कुर्वति इत्यादि । 'इहाप्यमुष्य लोक-
 स्वाग्निस्त्वमादित्यस्य च समित्वमित्यादि बहु साम्यम् । 'तस्मात्तच्छेषमेवैतद्दर्शनमिति ।
 न, यतिथ्यामितिप्रश्नप्रतिवचनपरिग्रहात् । यतिथ्यामित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनस्य च
 यावदेव परिग्रहस्तावदेवैवंशब्देन पराश्रयं पुक्तम् । अन्यथा प्रदानार्थक्यादिर्ज्ञातत्वाच्च

समिधमि'त्यादि सशहीतुम् । रश्मिनां घूमत्वमहोऽर्चिवट्कमित्यादि प्रहीतुं द्वितीयमादिपदम् । प्रथमिज्ञा-
 फलमाह—तस्मादिति । प्रश्नप्रतिवचनविषयस्यैव 'प्रकृतस्यै' चशब्देन परामर्शात् घट्प्रश्नीयं दर्शनमिह
 परामृष्टमिति परिहरति—नेस्वादिना । सगृहीत परिहारं विवृणोति—यतिथ्यामित्यस्येति । यधि-
 करणं षपुषो । यावदेव वस्तुपरिग्रहो विषय इत्यर्थः । घट्प्रश्नीयमेव व्यवहितं दर्शनमत्र' परामृष्ट
 चेत्तदा यतिथ्यामिति प्रश्नी व्ययं स्यात् । घट्प्रश्नीनिर्णयित्दर्शनशेषवस्तुदर्शनस्य प्रश्नाहते 'प्रवचन-

आदित्य लोक का समित्व' इत्यादि उससे बहुत कुछ समानता है, इसलिये यह विद्या अग्निहोत्र
 प्राहुति दर्शन का ही शेष है । (इसका समाधान देते है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इससे
 'यतिथ्याम्' इस प्रश्न के उत्तर का परिग्रह होता है । "यतिथ्याम्" इत्यादि प्रश्न और उसके उत्तर का
 जितना भी परिग्रह है, उतना ही 'एव' शब्द से विचार करना उचित है, अन्यथा प्रश्न की व्यर्थता
 सिद्ध हो जायगी । अग्निहोत्रसंबन्धी पदार्थों की सख्या सम्पक् ज्ञात रहने से अग्निहोत्र की सख्या ही
 प्रतिपादित करनी चाहिये । (इस पर शङ्का होती है—) अच्छी तरह से ज्ञात वस्तु का भी तो पुन
 कथन (अनुवाद) किया जाता है । (सिद्धान्ती इसका परिहार करता है—) अनुवाद तो यथाप्राप्त

१. उत्क्रान्त्यादीत्यादिना गतिप्रतिपत्तुमिपुनरावृत्तिलोक प्रत्युत्थायिनो ग्राह्या । २ पञ्चाग्निप्रकरणेऽपि ।
- ३ उक्तप्रत्यभिज्ञावशात् । ४. इत्यादीत्यादिना मरीचिरेव गुजामाहृतमित्यादि ग्रह । ५ पञ्चाग्निदर्शनस्य ।
- ६ विदु पदान्वितेनेति ध्येयम् । ७ प्रकृतवाक्ये । ८ प्रवचनसंबन्धादिति—अन्यदार्शेयिण एव पूर्व-
 योगादिति भाव । न हि दार्शेयिणामासप्रयाजादिप्रवचनमोरन्तरेति प्रश्न इति द्रष्टव्यम् ।

संख्याया अग्रमय एव वक्तव्याः । अग्र्य निर्जातमप्यनूद्यते । यथाप्राप्तम्येषामनुवदनं युक्तं न
 त्वसौ लोकोऽग्निरिति । अग्र्योपलक्षणार्थः । तथाऽप्याद्येनान्त्येन चोपलक्षणं युक्तम् ।
 श्रुत्यन्तराच्च । 'सामाने हि प्रकरणे द्वान्द्वोऽग्न्यश्रुतौ पश्चाग्नीन्वेदेति पञ्चसंख्याया
 एवोपादानादनग्निहोत्रशेषमेतत्पञ्चघानिनदर्शनम् । यत्त्वग्निस्समिदादिसामान्यं तदग्निहोत्र-
 स्तुरत्यर्थमित्यवोचाम । तस्मान्नोत्क्रान्त्यादिपदार्थपट्क'परिज्ञानादाधिरादिप्रतिपत्तिः ।

संभवादिवाह—अन्यथेति । किञ्च 'पूर्वस्मिन्प्रत्ये प्रथमनिष्ठतया पञ्चत्वसंख्याया निश्चितत्वात्तद्व-
 च्छिन्नाः सांपादिकानग्र्य एवाग्र्यशब्देन 'पराभ्रष्टमुचिता इत्याह—निर्जातत्वाच्चेति । अग्निहोत्रप्रकरणे
 निर्जातमेवाग्न्यादि' पूर्वप्रत्येऽप्यनूद्यते तथा चाग्निहोत्रदर्शनमग्र्यवहितमेवंशब्देन किं न परामृष्टमिति
 शङ्कते—अथेति । अग्निहोत्रदर्शनं पूर्वप्रत्येऽनूद्यते चेत्तत्प्रकरणे प्राप्त रूपमनतिक्रम्येवान्तरिक्षादेरप्य-
 त्रानुवदनं स्यान्न तु तद्वैपरीत्येनानुवदनं युक्तम् । अनुवादस्य पुरोवादानुपेक्षत्वात् । न चात्रान्तरिक्षा-
 दनूद्यते 'तस्मादेवंशब्दो नाग्निहोत्रपरामर्शांति परिहरति—यथाप्राप्तस्येति । द्युलोकादिव्यादस्यान्तरि-
 क्षाद्युपलक्षणार्थेवात्पूर्वस्यानुवादत्वसम्भवादेवंशब्दस्याग्निहोत्रवियत्यत्वमिद्विरिति घोदयति—अथेति ।
 'प्रापकाभावानुपलक्षणपक्ष'योगेऽप्यङ्गीकृत्य पश्चाग्निनिर्देशवैपर्य्येन दूषयति—तथाऽपीति । इतश्च 'स्व-
 त्प्रमेव पञ्चाग्निदर्शनमेवंशब्दपरामृष्टमित्याह—श्रुत्यन्तराच्चेति । समिदादिसाम्यदर्शनादग्निहोत्र-
 दर्शनशेषमूनमेवंतद्वर्णनमित्युक्तमनूद्य दूषयति—यत्त्वित्यादिना । 'अग्र्योचामाग्निहोत्रतुत्यर्थेवात्त्वग्निहोत्र-
 स्येव कार्यमित्युक्तमित्यत्रेति शेष । एवंशब्देनाग्निहोत्रपरामर्शासंभवे फलितमाह—तस्मादिति । तच्छ-

का करना उचित होता है, ऐसा अनुवदन सबव नहीं कि वह द्युलोक अग्नि है । (यहाँ दाह्य होती
 है—) यह द्युलोकादि का अनुवदन अन्तरिक्षादि के उपलक्षण के लिए हो सकता है । (सिद्धान्ती
 परिहार करता है—) तो भी उपलक्षण करना प्रारम्भ अथवा अन्त के पर्याय से सबव है । अन्य
 ध्रुति से यही सिद्ध होता है । तुल्यविषयक प्रकरण में द्वान्द्वोऽग्न्यश्रुति में 'इन पाँच अग्निर्गो की जो

- १ तुल्यविषयके । २ तत्र पञ्चिनसंख्यादिति भाव । ३ उपासनात् । ४ अत्रुत्तबाध्यादनन्तरे । ५
 पराभ्रष्टमुचिता इति—तेषामवाग्यवहितत्वादिति भाव । नन्वत्वव्यवहितत्वे न तेषां परामर्शतयापि
 तद्वर्णनस्याग्निहोत्रस्तुतिर्वेन तच्छेषार्थे किं बाधकमित्यतस्तद्वत्त्वं सांपादिकानीन् विशिनष्टि—तद्वचश्छिन्ना
 इति । पञ्चत्वसंख्याविशिष्टा इत्यर्थः । तथा च नेतेषां दर्शनमग्निहोत्रदर्शनशेषमग्र्यवहितं यस्य पञ्चभिरग्निभि-
 र्युग्यं च शब्धिं सत्त्वेन वैख्यादिति भाव । नन्वत्राप्यर्थेनमानय हन्तीति पट्टश्रवणात्क्य पञ्चत्वमत
 पाह—पञ्चत्वनसंख्याया निश्चितत्वादिति । अत्र हेतु—प्रचयनिष्ठत्वेति । प्रचयो नाम बहुत्वव्याप्यनस्याविशेष-
 परिचायकगन्धो यथा अग्र्यत्वारस्तुतीयश्रुत्यर्थ इत्यादि । तेनोपदिष्टत्वाद्युपास्यानामग्नीनामित्यर्थः । अत्रुते चोत्तरा-
 नुसारेण पञ्चमीत्याभिप्रायको यत्तिष्यमिति प्रथमतः प्रचय । पट्टम्वग्नि प्रभवहिर्भावात्सांपादिकत्वाच्च
 दर्शनानुचर इति व्येथम् । नन्ययुक्तपत्तुं पष्ठाऽग्निदर्शनानुचर इति तस्याप्यग्निर्गोऽहिति रश्मिपत्त्वेन
 अग्र्यत्वाद्युगमादिति नाग्निहोत्रदर्शनमेवास्य वैख्यामुग्र्यं च संख्यासामान्यादियत्रिप्रयत्नराशङ्क्यति—अग्नीत्या-
 दिना । सांपादिका सांपादनसिद्धा कल्पिता इति भावत् । ६ महत्या समिदाद्यादिप्राप्तम् । ७ यथाप्राप्त-
 स्याननुवदनात् । ८ प्रापकं हि प्रमाणम् भवति । ९ अग्र्योऽपीति—अग्र्यत्वात्प्रतिपत्तादिति भाव ।
 १० अग्र्यशेषमेव । ११. १४६६ पृष्ठमाध्याये ।

एवमिति प्रकृतोपादानेनारिवाविप्रतिपत्तिविधानात् ।

के पुनस्ते य एवं विदुः'गृहस्था एव । ननु 'तेषां यज्ञादिसाधनेन धूमादिप्रतिपत्ति-
विधित्संता । न, अनेवविदामपि' गृहस्थानां यज्ञादिसाधनोपपत्तेः । भिक्षुवानप्रस्थयोश्चा-
रण्यसंबन्धेन ग्रहणात् । 'गृहस्थकर्मसंबद्धत्वाच्च पश्चाग्निदर्शनस्य । अतो नापि ब्रह्मचारिण
एवं विदुरिति गृह्यन्ते । तेषां तूत्तरे पथि प्रवेशः स्मृतिप्रामाण्यात्—

व्दायंमेव स्फुटयति—एवमिति । प्रकृत पश्चाग्निदर्शनं तच्च स्वतन्त्रमित्युक्तं तद्वतामचिराद्विप्रति-
पत्तिर्न 'केवलकर्मिणामित्यर्थः ।

प्रश्नपूर्वकं वेदितृविशेषं निदिशति—के पुनरित्यादिना । गृहस्थानां यज्ञादिना पितृयाणप्रति-
पत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् देवयाने पथि प्रवेशोऽस्तीति शङ्कते— नन्विति । पञ्चाग्निविदा गृहस्थानां देवयाने
पथ्यधिकारस्तद्ग्रहितानां तु तेषामेव यज्ञादिना पितृयाणप्रतिपत्तिरिति विभाजोपपत्तेर्न वाक्यशेषविरोधो-
ऽस्तीति समाधत्ते—नेत्यादिना । एव विदुरिति 'सामान्यवचनात्पञ्चाग्निवादेरप्यत्र ग्रहणं स्यादिति
चेन्नेत्याह—भिक्षुवानप्रस्थयोश्चेति । 'विधान्तरेण तयोरन्तरमागं प्रवेशात् पञ्चाग्निचित्त्वेन ग्रहणं
पुनरुक्तंरित्यर्थः । गृहस्थानामेव पञ्चाग्निविदां 'तत्र ग्रहणमित्यत्र हेतवन्तरमाह—गृहस्थेति । ब्रह्म-
चारिणां 'तर्होहं ग्रहणं भविष्यति नेत्याह—अन इति । पश्चाग्निदर्शनस्य गृहस्थकर्मसंबन्धादेधेत्येतत् ।
कथं 'तर्हि नेष्टिकब्रह्मचारिणां देवयाने पथि प्रवेशस्तत्राऽऽह—तेषां त्विति । "अयं ग्णः सद्यन्धी य.

उपासना करता है"—इस प्रकार पांच सख्या का ही ग्रहण करने के कारण यह पश्चाग्निदर्शन
(पडनिसवन्ध से) अग्निहोत्र का शेषत्व नहीं हो सकता तथा इसका जो अग्नि और समिधादि रूप
साम्य है, वह तो अग्निहोत्र की स्तुति के लिये है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं । अत उक्तान्ति आदि
पदार्थों की उपासना से ही अर्चि आदि मार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ 'एवम्'
इस शब्द से प्रकृति के उपादान करने से अर्चि आदि मार्ग की प्राप्ति का विधान किया है ।

किन्तु जो इस प्रकार जानते हैं, वे कौन हैं, वैश्विक गृहस्थ ही । (यहाँ शङ्का होती है—)
किन्तु उन गृहस्थ वैश्विकों के लिए यज्ञादि साधन क द्वारा धूमादि मार्ग प्राप्ति का विधान करना
इष्ट है । ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि इस प्रकार न जानने वाले गृहस्थों के लिए यज्ञादि साधन
ही सकते हैं । सन्यासी और वानप्रस्थी का अरण्य वे संबन्ध वे ग्रहण किया गया है । पञ्चाग्नि दर्शन
गृहस्थ के नित्यादि रूप कर्म से संबद्ध है । इसलिये "एव विदुः मे (ब्रह्मचर्याश्रमस्थ) ब्रह्मचारियों
का भी ग्रहण नहीं किया जा सकता । उनका तो इस स्मृति के प्रमाण में उत्तर मार्ग में प्रवेश
होता है—

१ वैश्विकः । २ गृहस्थानाम् । ३ एवविदुरित्यादिनापिः । ४ गृहस्थकर्मोऽन नित्यादिरूप
तदित्याह पदन्तः करोमीत्यादिकं तु प्रकृतमित्ति । ५ सामान्यवचनात्पञ्चाग्निवादेरप्यत्र ग्रहणं स्यादिति
वृ उ ६ २ १६ । ७ सामान्यवचनादिति—संबन्धमाग्यवत्प्रश्नं कर्तुं निर्देशादिति यावत् । ८ विधान्तरेण
—पश्चाग्निविद्यापेक्षयाऽरण्यवासादिसाधनान्तरणेति यावत् । ९ य एव विदुरित्यत्र । १० भिक्षुवान
प्रस्थयोश्च । ११ ब्रह्मचारिणामपदे । १२ मूलस्थः ।

“अथाशीतिसहस्राणामृषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।

उत्तरेणार्यंम्याः पन्थास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे” इति ॥

‘तस्माद्ये गृहस्या एवमग्निजोऽहमग्न्यपत्यमित्येवं क्रमेणाग्निज्यो जातोऽग्निरूप इत्येवं ये विदुस्ते च ये चामी अरण्ये वानप्रस्थाः परिव्राजकाश्चरण्यानित्याः श्रद्धां श्रद्धापुक्ताः सन्तः सत्यं ग्रह्य हिरण्यगर्भत्मानमुपासते न पुनः श्रद्धां घोषासते ते सर्वेऽर्चि- रभिसंभवन्ति ।

यावद्गृहस्याः पञ्चाग्निविद्यां सत्यं वा ग्रह्य न विदुस्तावच्छ्रद्धाद्याहृतिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतो हुतायां ततो योषाम्नेर्जाताः पुनर्लोकं प्रत्युत्पायिनोऽग्निहोत्रादि-

पन्थास्तमासाद्य तेनोत्तरेण पथा ते यद्योक्तसंहया ऋषयः सापेक्षममृतत्व प्राप्तौ इति स्मृत्यर्थः । ‘आधमा- स्तराणां पञ्चाग्निवित्त्वेनाप्राग्रहणे फलितमाह—तस्मादिति । अग्निजत्वे फलितमाह—अग्न्यपत्य- मिति । अग्निजत्वं साधयति—एवमिति । अग्न्यपत्यत्वे किं स्यात्तदाह—अग्नीति । इत्येवं ये गृहस्या विदुस्ते चेति योजना । अरण्यं शत्रोजनासकीर्णो देशः । परिव्राजकाश्चेति त्रिदण्डिनो गृह्यन्ते ज्येष्ठा- मेयणाभ्यो व्युत्थितानां सम्पज्जाननिष्ठानां देवयाने ‘पथ्यप्रवेशावा’श्रममात्रनिष्ठा वा ‘तेऽपि गृह्ये’र- म्प्रिति द्रष्टव्यम् । श्रद्धाऽपि स्वयमुपास्या कर्मत्वभवणादित्याशङ्क्य ‘प्रत्ययमाश्रय सापेक्षत्वाद्युपास्य- त्वानुपपत्तेर्मैवमित्याह—न पुनरिति । सर्वे पञ्चाग्निविदः सत्यग्रह्यविदश्चेत्यर्थः ।

विनाऽपि विद्याबलमर्चिरभिसंपत्तिः स्यादिति चेन्नेत्याह—यावदिति । कर्म कृत्वा लोकं

“अट्ठासी हजार नैष्ठिक ब्रह्मचारी ऋषियो का मार्गं सूर्यं से उत्तर की ओर है, वे सापेक्ष ममृतत्व को प्राप्त किए हैं” ।

इसलिये जो गृहस्थ ‘मैं अग्नि से उत्पन्न, अग्नि की सन्तान हूँ’ इस तरह क्रमशः अग्नि से उत्पन्न अग्निरूप अपने को जानते हैं, वे श्रौत “अग्नी अरण्ये” अर्थात् निरन्तर वन में रहने वाले वानप्रस्थ श्रौत सन्यासी “अद्धा” यानी श्रद्धापुक्त होकर “सत्यमुपासते” अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्म की उपासना करते हैं । श्रद्धा की उपासना करते हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये । वे सब अर्चि अभिमानी अतिवाहिकी देवता को प्राप्त कर लेते हैं ।

जब तक गृहस्थ लोग पञ्चाग्नि अथवा सत्यात्मक ब्रह्म को नहीं जानते; तब तक वे श्रद्धादि (सोम, वृष्टि, अन्न, वीर्यरूप) आहुतियों के क्रम में पञ्चम आहुति के हवन किये जाने पर उससे योषाम्नि में उत्पन्न होकर, पुन लोक में उत्थान करने वाले होकर अग्निहोत्रादि कर्मों के अनुष्ठान

१. अन्तरणोक्तत्वात् । २. वानप्रस्था इति—यद्यपि श्रद्धापूर्वक सत्योपासनस्य गृहस्थेष्वपि सम्भवस्तथापि ये वेत्त्यादौ वानप्रस्थानाममुख्यतीता च ग्रहणमरण्यविशेषणस्य तेष्वेव सम्भवादित्यवधेयम् । ३. अर्चिरभि- संभवन्तीति—अर्चिरभिमानिनीमातिवाहिकी देवता प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः । ४. श्रद्धाद्योत्थादिना सोमवृष्ट्यन्न- रेतामि गृह्यन्ते । ५. लोकं प्रतीति—अन्तरलोकं प्रति गमनशीला सन्तः । ६. भिक्षुवानप्रस्थब्रह्मचारिणाम् । ७. अग्न्येयाम्—परमहंसपरिव्राजकानामित्यर्थः । ८. पथ्यप्रवेशादिति—‘न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीत्यादि’ श्रुतेरिति भावः । ९. कर्ममात्रनिष्ठा । १०. परमहंसपरिव्राजका अपि । ११. प्रत्ययसापेक्षमृतत्वमिति विषय- सापेक्षा न हि निर्वियया भवति वृत्तिरिति भावः ।

कर्मानुष्ठातारो भवन्ति । तेन कर्मणा 'धूमादिक्रमेण पुनः पितृलोकं' पुनः 'पर्जन्यादिक्रमेण-
'ममावर्तन्ते । ततः पुनर्योषाग्नेर्जाताः पुनः कर्म कृत्वेत्येवमेव घटीयन्त्रवद्द्रव्यागतभ्यां
पुनः पुनरावर्तन्ते । यदा त्वेवं विदुस्ततो घटीयन्त्रभ्रमणाद्विनिर्मुक्ताः सन्तोऽर्चिरभि-
संभवन्ति । अर्चिरिति नाग्निज्वालामात्रं किं तर्ह्यर्चिरभिमानिन्यर्चिःशब्दवाच्या
देवतोत्तरमार्गलक्षणा 'व्यवस्थितं च तामभिसंभवन्ति । न हि परिव्राजकानामग्न्यर्चिषं
साक्षात्संबधोऽस्ति । तेन देवतं च परिगृह्यतेऽर्चिःशब्दवाच्या । अतोऽहर्देवताम् । मरणकाल-
नियमानुपपत्तेरहःशब्दोऽपि देवतं च । आयुषः क्षये हि मरणम् ।' नह्येवं 'विद्वाऽह्न्येव
मर्तव्यमित्यहर्मरणकालो नियन्तुं शक्यते । न च रात्रौ प्रेताः सन्तोऽहः प्रतीक्षन्ते । "स'

प्रत्युत्पामिन इति पूर्वेण सबन्धः । केवलकर्मिणां देवयानमार्गप्राप्तिर्नास्तीत्युक्तं निगमयति—इत्येव-
मेवेति । विदुषामेव देवयानप्राप्तिमुपसंहरति—यदा त्विति । नग्न्यर्चियो ज्वालामानोऽग्न्यर्चात्तदभि-
संपत्तिर्न फलाय कल्पते तत्राऽह—अर्चिरिति । अर्चिःशब्देन यथोक्तदेवताग्रहे लिङ्गमाह—न हीति ।
अतोऽर्चिर्देवतायाः सकाशादिति यावत् । अहःशब्दस्य कालविययत्वमुक्तदोषाभावादिति चेन्नेत्याह—
मरणेति । नियमाभावमेव व्यनक्ति—आयुष इति । विद्वद्विषये नियममाशङ्क्याऽह—न हीति । ननु
रात्रौ मृतोऽपि विद्वानहरपेक्ष फलो संपत्त्यते नेत्याह—न चेति ।

करने वाले होते हैं । उस कर्म से वे दक्षिणायन और उत्तरायण क्रम से पुनः पितृलोक को प्राप्त
करते हैं । पुनः पर्जन्य, पृथिवी, अन्न, पुरुष और योषित् क्रम से इस लोक में लौट आते हैं । फिर
योषामिन में उत्पन्न होकर पुनः कर्म करते हुए, इस प्रकार घटीयन्त्र के समान उनका आवागमन
थरावर लगा रहता है । जब यथोक्त समिधादि विशिष्ट पञ्चाग्नि विद्या को जानते हैं; तब घटीयन्त्र के
के भ्रमण के छूट कर अर्चि को प्राप्त होते हैं । अग्नि की ज्वालामात्र ही अर्चि नहीं है । तो क्या है ?
अर्चि का अभिमानी अर्चिशब्दवाच्य देवता है, वह उत्तरमार्गरूपा और स्थिरा ही अर्चि है, उसे प्राप्त
होते हैं । सन्यासियों का अग्नि अर्चि से साक्षात् सबन्ध नहीं है । इसलिए अर्चिशब्दवाच्य देवता ही
न होने से 'अहर्' शब्द से "अहर्" देवता को प्राप्त होते हैं । मरने के समय में कोई नियम
ग्रहण किये जाते हैं । यहाँ से "अहर्" शब्दवाच्य देवता का ग्रहण होता है । आयु के क्षीण होने पर
मृत्यु होती है । यथोक्त पञ्चाग्नि उपासक को दिन में ही मरना चाहिये, इस पर दिन में ही
मरणकाल को नियन्त्रण कर पाना संभव नहीं है । रात्रि में मरे हुए उपासक (आगे जाने के लिए)

- १ धूमादीत्यादि—शब्दानि रात्रिकृष्णपदारक्षणायानि । २ प्राप्नुवन्ति । ३ पर्जन्यादीत्यादिशब्द-
प्राप्तत्वं पृथिव्यन्नपुरुषयोषिताम् । ४ लोकम् । ५ एवंविदुः—यथोक्तसमिधादिविशिष्टाद् पञ्चाग्नीन्
विदुः । ६ ततः यथोक्तवेदनात् । ७ स्थिरैव । ८ तेन—परिवाजकानामग्न्यर्चिषा साक्षात्संबन्धभावेन ।
- ९ शब्दः शब्दवाच्या । १० यथोक्तपञ्चाग्निविदः । ११ न ह्येवविभेदोऽह्न्येवेत्यादि । अत्रेदमर्थेयम्—
भीष्मकालप्रतीक्षास्मृतिस्तत्पितृस्तुतिपरं महानुभावोऽग्न्यन्तर्गुणैरास्त्वच्छन्दमरणोऽग्नून्नीम इति । अर्चिर्नि-
संब तु देहस्थितिरिति । १२ स यावदिति—स उत्कर्मिण्यन् विद्वान् यावत् कालेन मनसः दोषः स्यात्तावत्ता
कालेनादित्य प्राप्नोतीत्यर्थः । अतिशय गण्डनीति चिद्विदस न तु तावत्तव कालेनेति ध्येयम् । १३ धा. उ
८. ६. ५ । १४ उक्तदोषेति—न हि परिवाजकानामित्याद्युक्तदोषेत्यर्थः ।

यात्रक्षिप्येभ्यस्तथावदादित्यं गच्छति" इति श्रुत्यन्तरात् ।

अह्णं आपूर्यमाणपक्षमहर्षदेवतायाऽतिवाहिता' आपूर्यमाणपक्षदेवतां प्रतिपद्यन्ते शुक्लपक्षदेवतामित्येतत् । आपूर्यमाणपक्षाद्यान्यधमासानुबद्धुत्तरा विश्रमादित्यः सवितेति तान्मासान्प्रतिपद्यन्ते शुक्लपक्षदेवतायाऽतिवाहिताः सन्तः । मासानिति बहुवचनान्तसंध-
चारिण्यः षडुत्तरायणदेवतास्तेभ्यो मासेभ्यः षष्मासदेवताभिरतिवाहिता देवलोका-
भिमानिनो देवतां प्रतिपद्यन्ते । देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं विद्युदभिमानिनो देवतां प्रतिपद्यन्ते । विद्युदेवतां प्राप्तान्ब्रह्मलोकवासी पुरुषो ब्रह्मणा मनसा सृष्टो मानसः कश्चि-
देत्याऽऽगत्य ब्रह्मलोकान्गमयति । ब्रह्मलोकानित्यधरोत्तरभूमिभेदेन भिन्ना इति गम्यन्ते बहुवचनप्रयोगात् । 'उपासनतारतम्योपपत्तेश्च । ते तेन पुरयेण गमिताः सन्तस्तेषु ब्रह्म-
लोकेषु पराः प्रकृष्टाः सन्तः स्वयं परावतः प्रकृष्टाः समाः संदत्सराननेकान्वसन्ति ब्रह्मणो-
'ज्ञेकान्कल्पान्वमन्तोत्यर्थः । तेषां ब्रह्मलोक गताना नास्ति पुनरावृत्तिरस्मिन्संसारे न

एकास्मिन्नेव ब्रह्मलोके कस्य बहुवचनमित्याद्याऽऽह—ब्रह्मेति । ब्रह्मलोकानिति बहुवचन-
प्रयोगादिति संबन्धः । अत्र ब्रह्मलोका विशेष्यत्वेन गृह्यन्ते । बहुवचनोपपत्तो हेतुवन्तरमाह—उपासनेति ।
कल्पशब्दोऽत्रावांतरकल्पविषयः । तेषामिह न पुनरावृत्तिरिति 'वचिन्पाटादस्मिन्नित्यादिभ्याएव-

दिन की प्रतीक्षा करते हो—ऐसी बात नहीं है । उत्क्रमण करते हुए वह विद्वान् जितने समय में मन आदित्य के पास पहुँचता है, उतनी देर में आदित्य लोक पहुँच जाता है" ऐसा अन्य श्रुति में भी कहा है ।

"अह्णं आपूर्यमाणपक्षम्" अर्थात् अहर् देवता से ऊपर गये उपासक आपूर्यमाणपक्षदेवता से यानी शुक्लपक्षदेवता को प्राप्त होते हैं आपूर्यमाणपक्षदेवता से जिन छ महीनों में "आदित्य" अर्थात् सूर्य उदङ् अर्थात् उत्तर दिशा की ओर चलता है, उन मासों को शुक्लपक्षदेवता द्वारा ऊपर जाने पर प्राप्त करते हैं । मन्त्र में "मासान्" इस बहुवचन प्रयोग से छ उत्तरायण देवता मगठित होकर चलते हैं उन "मासेभ्यः" अर्थात् छ मास देवताओं से ऊपर ले जाये जाने पर देवलोकाभिमानि देवता को प्राप्त होते हैं । देवलोक से आदित्य, आदित्य से "वैद्युतम्" यानी विद्युत् के अभिमानि देवता को प्राप्त हो जाते हैं । विद्युत् देवता को प्राप्त हुए इन उपासकों के ब्रह्मण क द्वारा 'मानस' अर्थात् कोई मन से रचा हुआ पुरुष 'एव' आकर इन्हे ब्रह्मलोका का ले जाता है । मन्त्र में "ब्रह्मलोकात्" इस प्रकार बहुवचन प्रयोग में नीचे ऊँची भूमि भेद से भेद होना संभव है ।

१ उपासका । २ उपासनायादे—साधनतारतम्यात्कल्पान्तरतम्यं गृहीत्वा बर्हृत्किरिति भावः । ३ ते—
पञ्चानि विद्वं सत्यं ब्रह्मविद्वं तान् मानसान् पुरयेण गमिता ब्रह्मलोक प्रापिता । ४ भूतानां स्थिति
कल्पमन्तीति कल्पा । मन्त्रकाल्पानिति—ब्रह्मणोऽनकानि दिनानीत्यर्थः । 'कल्पे वास्ते विद्यो न्याय
सर्वतो ब्रह्मणो दिने' इति मदिनोक्तम् । सवत प्रसथ । ५ कल्पे । ६ भवेति—प्रवृत्तवाक्ये । भिन्ना
इत्यस्य विशेष्यत्वे वेत्यर्थः । ७ अवांतरकल्पविषय इति—अस्मदवान्तरप्रवचनविषयब्रह्मदिनपर इत्यर्थः ।
८ आप्यदिनप्राप्त्याम् ।

पुनरागमनमिहेति 'शाखान्तरपाठात् । इहेत्याकृतिमात्रग्रहणमिति चेच्छ्रुवोभूते पौर्णमासी-
मिति यद्वत् । न, इहेतिविशेषणानर्थक्यात् । यदि हि नाऽऽवर्तन्त एवेहग्रहणमनर्थकमेव

अयुक्तमिति शङ्कते—इहेति । यथा 'श्रुवोभूते पौर्णमासीं यजेतेत्यत्रा'ऽऽकृति पौर्णमासीशब्दाथः
श्रुवोभूतत्व च न 'व्यावर्तक' 'पौर्णमासी'पदलक्ष्येष्टे प्रतिपद्येव कर्तव्यता'नियमात्तथे'हाऽऽकृतेरिहशब्दा-
धत्वा'सिद्धिःकुशोवानावृत्तिरत्र सिध्यतीत्यर्थः । परिहरति—नेत्यादिना । परोक्षत दृष्टान्तं "विघटयति—

उपासना तारतम्य से फल का तारतम्य ग्रहण कर ऐसा प्रयोग सभव है । 'ते' अर्थात् उस पुरुष से लिवाये
जाते हुए वे उपासक उन ब्रह्मालोको मे 'परा' अर्थात् स्वयं प्रकृष्ट होकर "परावतो वसन्ति" अर्थात्
अनेक सवत्सरो तक वहाँ रहते है अर्थात् ब्रह्म के अनेक कल्पो तक रहते हैं । 'तेषाम्' अर्थात्
उन ब्रह्मालोक को प्राप्त करने वालो को 'नास्ति पुनरावृत्ति' अर्थात् इस कल्प मे पुन प्रागमन
नही होता । "यहाँ पुनरागमन नही होता" ऐसा माध्यन्दिन शाखा का भी प्रमाण है । (इस पर
पूर्ववादी कहता है -) परन्तु "इह" पद से तो आकृति मात्र का ग्रहण होता है । जैसे "प्रात काल
होने पर पौर्णमास याग करे" यहाँ भी सभी प्रात काल का ग्रहण होता है । (इस पर सिद्धान्ती
कहता है—) ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि ऐसे मे "इह" इस विशेषण का होना व्यर्थ हो
जायगा । यदि उनकी कभी पुनरावृत्ति होती ही नही तो "इह" ग्रहण व्यर्थ ही होगा । 'प्रात काल होते
ही पौर्णमास याग करे' इस वाक्य मे "प्रात काल" यह विशेषण अनुक्त मे लगाया जाय तो उसका

१ माध्यन्दिनशाखान्तरपाठात् । २ इहेत्याकृतिमात्रग्रहणमिति—आकृतिर्भातिस्तथा चैतत्ससारव्यक्तिनिष्
यत्ससारत्व जातिस्तदवच्छिन्नससारजातोपर्यायक इहशब्दोऽयमित्यर्थः । एव च ससारत्वावच्छिन्नाधिकरणता-
निरूपिताधेयतावदावृत्त्यभावधिकरण विद्वाद् आवृत्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववानिति यावदिति फलतीत्य
मिप्राय । एतेन इहशब्दोऽयमावृत्तिव्यावर्तक इह नावतत् इत्युक्त्यन्तत्सारावच्छिन्नावृत्त्यभावप्रतीतेरिति
निरस्तम् । जातिशब्दस्य विशेष्यमात्रसमर्पकत्वेन व्यावर्तकत्वासम्बाद् यथाह—जातिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तक-
शब्दाना जातिप्रवृत्तिनिमित्तक एव विशेष्यवाचक इति नियम इति । जातिशब्दस्य गुणत्रियाशब्दसमभिव्याहारे
विशेष्यसमर्पकत्वैवेति च । अन्यथा नीलोत्पलमितिवदुत्पलनीलमित्यपि स्यात् । पाचकब्राह्मण इत्येव न तु
ब्राह्मणपाचक इत्यपीति प्रयोगव्यवस्थाया अभावप्रसङ्गादिति च तत्र गमरुमाह । सखकुम्भ कुम्भसञ्ज
इत्येव गुणशब्दयो क्रियाशब्दयोर्गुणत्रियाशब्दयोश्च पौर्णपर्ये प्रयोगनियम एवेत्यन्यदेतत् । ३ श्रुवोभूते इति—
अनागतोहोरूपावमर इत्यर्थः । ४ प्राकृतिरिति जातिरित्यर्थं पौर्णमासीत्वावच्छिन्नप्रमिति यावत् । ननु तत्रा-
कृतिवचनोऽप्यस्त्येव व्यावर्तक श्रुवोभूतव्यवहारेऽहशब्दो व्यावर्तक एवेत्यादाहपाऽह—श्रुवोभूतत्व च न
व्यावर्तकमिति जातिशब्दाव्यवहारेऽप्यपिप्राय । ननु तत्राकृतिवचनोऽपीति परामिप्रायेणैवेतत् सिद्धान्ते
श्रुवोभूतत्वस्य जातिवचनश्रुवोभूतमादिति ध्ययम् । ५ विशेषणम् । ६ पौर्णमासीपद लक्षणया इष्टिविशेष-
परमित्यभिप्रायेणाह—पौर्णमासीपदलक्ष्येष्टेरिति । ७ व्यावृत्तेनिष्प्रयोजनत्व चेत्याह—पौर्णमासीपदेति ।
८ नियमादिति—अनुष्ठात्पूर्वपरम्पर्येव निश्चितत्वादिति यावत् । अनुष्ठात्पूर्वपरम्पर्येविति—याज्ञिकपरिपाटय-
वेति यावत् । ९ इह दार्ष्टान्तिकवाक्ये । १० प्राकृतेरिति जातेरित्यर्थः । ११ असङ्कुचितव । १२
विघटयति—अपवदनीत्यर्थः । पूर्वपद्युक्तायापटितमापादयतीति यावत् ।

'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूम-

पूर्वोक्त उपासको से भिन्न जो केवल कर्मों यज्ञ, दान और तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं,

स्यात् । श्वोभूते पौर्णमासीमित्यत्र पौर्णमास्याः श्वोभूतत्वमनुषतं न ज्ञायत इति युक्तं विशेषयितुम् । न हि 'तत्राऽऽकृतिःश्वःशब्दार्थो विद्यत इति श्वःशब्दो निरर्थक एव प्रयुज्यते । यत्र तु विशेषणशब्दे प्रयुक्तं ऽन्विष्यमाणे विशेषणफलं चेन्न गम्यते तत्र युक्तो निरर्थकत्वेनोत्सृष्टं विशेषणशब्दो न तु सत्यां विशेषणफलावगतौ । 'तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वमावृत्तिर्गम्यते ॥ १५ ॥

श्वोभूत इति । 'कृतसंभारदिवसापेक्ष इह श्वोभूतत्वं 'पौर्णमासीदिने चातुर्मास्येष्टो कृतायां कदा पौर्णमासीष्टिः कर्तव्येति विना वचनं न ज्ञायते 'तत्र श्वोभूतत्व विशेषण भवत्यन्यव्यावर्तकं तद्विहेति विशेषणमपि व्यावर्तकमेवेति नाऽऽस्त्यन्तिकानावृत्तिसिद्धिरित्यर्थः । यत् पौर्णमासीशब्दविरु शब्दस्याऽऽकृति-षाच्चित्वाद्यव्यावर्तकत्वमिति तत्राऽऽह—न हीति । यद्यपि प्रकृते वाक्ये पौर्णमासीशब्दो भवत्याकृतिवचनस्तथाऽपि श्व.शब्दार्थोऽपि काचिदाकृतिरस्तीत्यङ्गोक्त्याव्यावर्तकः श्वोभूतशब्दो नैव प्रयुज्यते । तथाऽत्रापि विशेषणशब्दस्य व्यावर्तकत्वमावश्यकमित्यर्थः । 'सुपिरमाकाशमित्यादौ व्यावर्त्याभावेऽपि विशेषणप्रयोगवदत्रापि विशेषण स्वरूपानुवादमाप्रमित्याशङ्क्याऽऽह—यत्र त्विति । विशेषणफलमुपसहरति—'तस्मादिति ॥ १५ ॥

ज्ञान नहीं होता, इसलिए विशेषण पद उचित ही है । वहाँ दृष्टान्त वाक्य में यदि भाकृति "श्व" का शब्दार्थ विद्यमान न हो तो "श्व" शब्द का प्रयोग करना निरर्थक ही हो जायगा । जहाँ विशेषण शब्द के प्रयोग करने पर अन्वेषण करने में उस विशेषण प्रयोग का कोई फल न दीखता हो, तो निरर्थक होने से उस विशेषण शब्द का प्रयोग हटा देना चाहिए । विशेषण के फलबोध हो जाने पर उस विशेषण पद को हटाना उचित नहीं है । इसलिए ('इह' शब्द का विशेषण होने से) इस कल्प के बाद उसकी पुनरावृत्ति हो सकती है—ऐसा जाना जाता है ॥ १५ ॥

१ ध्येत्यादि । अत्र वार्तिकम्—'देवयान समामेन पन्था यत्नात्प्रपञ्चितः । व्याख्याऽपि पितृयाणस्य सम्यक् पारम्प्येऽधुना" ॥ १४६ ॥ ममासीऽल्पप्रन्थ । यत्नोऽचिराद्विषवर्णां प्रत्येकमुपगम्यात् । अथशब्दो देवयानोक्तवन्तर पितृयाणोक्तेरवसरार्थं । २ दृष्टान्तवाक्ये । ३ अन्वेषणे क्रियमाणे । ४ तस्मादिति—इहशब्दस्य विशेषणत्वादित्यर्थः । ५ कृतसंभारेति—कृत अनुष्ठित संभार चातुर्मास्येष्ट्यादिरूप पौर्णमासीष्टे-षाचनकनायो यत्र तद्दिवसापेक्षमित्यर्थः । ६ तदेतच्छ्वोभूतत्व न विनोक्तिमवगम्यत् इत्याह—पौर्णमासीदिन इत्यादिना । ७ तन्नेत्यस्य दृष्टान्तवाक्य इत्यर्थमाहस्तत्रात् इत्यादि वस्तुलक्ष्णैः किं विना कालविशेषस्याज्ञायमानत्वे इति युक्तं पदपाम । ८ अत्रापि विशेषणशब्दस्येति—दार्ष्टान्तिकवाक्येऽपीदृशव्यवस्थेत्यर्थः । ९ अत्रिम् । १० इहशब्दस्य व्यावर्तकत्वादिति भावः ।

भिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्ष-
मपक्षीयमाणपक्षाद्यान्वणमासान्वक्षिणाऽऽदित्य एति
मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्र ते चन्द्रं प्राप्या-
न्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजान-
माप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति

वे मरने पर धूमाभिमानी देव को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि के अभिमानी देव को, रात्रि से कृष्ण पक्ष के अभिमानी देव को, कृष्ण पक्ष के अभिमानी देव से छः मास के अभिमानी देवों को प्राप्त होते हैं। जिन छः मास में सूर्य दक्षिण की ओर होकर चलता है। छः मास के अभिमानी देव से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। उस चन्द्रमा में पहुँच कर वे अन्न हो जाते हैं। वहाँ पर देवगण इन्हे ऐसे ही भक्षण कर जाते हैं, जैसे ऋत्विक् लोग 'आप्यायस्व अपक्षीयस्व'

अथ पुनर्ये नैवं विदुस्तृकान्त्याद्याग्निहोत्रसंबन्धपर्यायषट्कस्यैव वेदितारः 'केवल-
कमिणो यज्ञेनाग्निहोत्रादिना 'दानेन बहिर्वेदि' भिक्षमाणेषु 'द्रव्यसंविभागलक्षणो तपसा
बहिर्वेद्येव 'दीक्षादिव्यतिरिक्तेन 'कृच्छ्रचान्द्रायणादिना "लोकाङ्गयन्ति। लोकानिति बहु-

देवयानं पन्थानमुक्त्वा 'पृथन्तर बभूवुं वाक्यान्तरमादाय पदद्वयं व्याकरोति—अथेत्यादिना ।
कथं ते फलभागिनो भवन्तीत्याकाङ्क्षायामाह—यज्ञेनेति । ननु दानतपसो यज्ञग्रहणेनैव 'गृहीते न
पृथग्रहीतव्ये तत्राऽऽह—बहिर्वेदीति । दीक्षादीत्यादिपदेन पयोवतादियज्ञाङ्गसग्रह । तत्रेति पितृ-

एवं जो इस प्रकार नहीं जानते, उक्तान्ति आदि अग्निहोत्रसंबन्धी छः पदार्थों को जानने
ले केवल कर्मों हैं तथा अग्निहोत्रादि यज्ञ, "दानेन" अर्थात् वेदी से बाहर यज्ञ के अन्नङ्गभूत
चिको को द्रव्य का बाँटना रूप दान, "तपसा" अर्थात् वेदी से बाहर ही दीक्षादि व्यतिरिक्त कृच्छ्र-

१ अन्नं भवन्ति—भोग्यत्व प्रतिपद्यन्त इत्यर्थं । २ ऋत्विक् । ३ भक्षयन्ति—उपभुञ्जते तेवकमिव
राजेत्यर्थं । ४ यथोक्तसमिदादिविशिष्टान् पञ्चान्नीषद्विदु । ५ केवलकमिण इति—पञ्चानिसत्य-
ब्रह्मविद्याव्यवच्छेदीह केवलपदम् । ६ दानेनेति—'दासव्यमिति यदानमि'त्यादिस्मृतौविनिष्टदेशकालपात्र-
विसिष्टमेव दान लोकजयहेतुरिति द्रष्टव्यम् । ७ भिक्षमाणेषु—यज्ञानङ्गभूतप्रदेशे ये याचकास्तेष्वित्यर्थं ।
८ यज्ञानङ्गभूतेनेति यावत् । ९ दीक्षादीति—दीक्षाशब्दार्थमाहुस्तान्त्रिका । तथाहि—'दीयते विमल ज्ञानं
धीयते कर्मवासना । तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिमिस्तन्त्रवेदिमिरिति" । तथा चाभीष्टदेवमन्त्रग्रहण दीक्षा-
तदुपदेशोऽपि । उपनयनसत्कारोऽपि दीक्षाशब्द । प्रवृत्ते तु यज्ञाङ्गभूतनियमभेदो मन्त्रजपाद्यनुकूलो दीयते ज्ञेयम् ।
मन्त्रजपादीत्यादिना मन्त्रग्रहणादिग्रह । तदनुकूलो नियमग्रहणमयमन्त्रादिरूपो बोध्यः । दीक्षाशब्दार्थेषु
बृहच्छ्रदानभिधान वाचस्पत्य मानम् । तत्र हि नियमोपनयनमन्त्रग्रहणास्तदर्थो उक्ता । १० कृच्छ्रिति—'तपसा
कल्पय हन्तीति' स्मृतेर्निक्षेपपापध्वंसिना यज्ञानङ्गभूतेन तपसेति यावत् । ११ पितृलोकान् । १२
पितृयाणम् । १३ गृहीते इति—तयोर्वाङ्गस्त्वेन यज्ञे सत्त्वादिति भावः ।

'तेषां यदा तत्पर्यवत्ययेममेवाऽऽकाशमभिनिष्पद्यन्त
 आकाशाद्वायुं वायोवृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं
 प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नी हूयन्ते
 ततो योषाग्नी जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त
 एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एती पन्थानी न विदुस्ते
 कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥ १६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पष्ठाध्यायस्य
 द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

ऐसा कहकर सोम राजा को भक्षण करते हैं और जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं, तब वे इस प्रसिद्ध
 आकाश को ही प्राप्त हो जाते हैं। आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को और वृष्टि से पृथिवी को
 प्राप्त होते हैं। पृथिवी को प्राप्त कर वे कर्मों भन्न हो जाते हैं। पुनः वे पुरुष रूप अग्नि में हवन किये
 किये जाते हैं, उससे वे लोक के प्रति उत्थान योग्य होकर स्त्री रूप अग्नि में उत्पन्न होते हैं। इसी
 प्रकार वे बार-बार आते-जाते रहते हैं। पूर्वोक्त दोनों से भिन्न जो इन मार्गों को नहीं जानते; वे कीट,
 पतङ्ग और डंसे, मच्छर आदि योनियों को प्राप्त होते हैं (इस प्रकार पुनरावृत्ति रूप दूसरे प्रभ
 और उस लोक को न भरना रूप तीसरे प्रश्न का उत्तर हो गया) ॥ १६ ॥

॥ इति द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

वचनात्तत्रापि 'फलतारतम्यमभिप्रेतम् । ते धूममभिसंभवन्ति । उत्तरमार्गं इवेहापि
 देवता एव धूमादिशब्दवाच्या धूमदेवतां प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । 'आतिवाहिकत्वं च देव-

लोकोक्तिः । अपिशब्दो ब्रह्मलोकदृष्टान्तायं । धूमसपत्तेरपुरुषार्थंश्चमाशङ्क्योक्तम्—उत्तरमार्गं इवेति ।
 इहापीति पितृपाणमार्गोऽपीत्यर्थः । तद्देवेषुत्तरमार्गं गामिनीनां देवतानामिवेत्यर्थः ।

चान्द्रायण व्रत आदि तप के द्वारा पितृलोक को जीते हैं। मन्त्र में "लोकान्" पद में बहुवचन
 होने के कारण वहाँ भी फल का तारतम्य अभीष्ट है। वे धूमाभिमानि देवता को प्राप्त होते हैं।
 उत्तरमार्ग के समान यहाँ भी देवता ही धूमादिशब्द वाच्य है अर्थात् वे धूमाभिमानि देवता को

१ एव ते च एवमेतद्दिदुर्वे चामी, यजेनेत्यादिना बोधयमार्गप्रतिपत्तिसाधनोक्त्या पञ्चम प्रश्न तद्विचरि-
 भवन्ति ते धूममभिसंभवन्तीत्यादिना चोत्तरदिशमार्गप्रदर्शनं प्रथम प्रश्न च निर्गमिष्यामीत्येतल्लोकाप्रसि-
 प्रकारप्रदर्शनं द्वितीयवृत्तीयप्रार्थोर्निर्णयमाह—तेषामिति । २ कीटा इत्यादि—एव परलोक गतानामा-
 वाशादिद्वारा पुनरावृत्तिकल्पनेन द्वितीयवृत्तीयप्रश्नी निर्गमिताविति ध्येयम् । ३. पञ्चतारतम्यमिति—यत्रादि-
 सापनोक्तार्थपर्यप्रयुक्तभोगोक्तार्थपर्यवृत्तप्रदेशानात्त्वमित्यर्थः । ४ तदभिमानिनी देवता प्रतिपद्यन्ते ।
 ५ गममित्युक्तम् ।

तानां तद्वदेव । धूमाद्रात्रिं रात्रिदेवतां 'ततोऽपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षदेवतां ततो यान्धष्मासान्दक्षिणां दिशमादित्य एति तान्मासदेवताविशेषान्प्रतिपद्यन्ते ।

मासेभ्यः 'पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रम् । ते चन्द्रं प्राप्यान्' भवन्ति तांस्तत्राद्यभू-
तान्यथा सोमं 'राजानमिह यज्ञ ऋत्विज आप्यायस्वापक्षीयस्वेति भक्षण्यन्त्येवमेनांश्चन्द्रं
प्राप्तान्कर्मिणो भृत्यानिव स्वामिनो भक्षण्यन्त्युपभुञ्जते देवाः । आप्यायस्वापक्षीयस्वेति
न मन्त्रः किं तर्ह्याप्याय्याऽऽप्याय्य चमसस्थं भक्षणोनापक्षयं च कृत्वा 'पुनः पुनर्भक्षण्यन्ती-
त्यर्थः । एवं देवा अपि सोमलोके लब्धशरीरान्कर्मिण उपकरणभूतान्पुनः पुनर्विश्रामयन्तः
कर्मानुरूपं फलं प्रयच्छन्तः । तद्वि तेषामाप्यायनं सोमस्याऽऽप्यायनमिवोपभुञ्जत उपकरण-

तत्रेति 'प्रकृतलोकोक्तिः । कर्मिणां तर्हि देवर्भक्ष्यमाणानां चन्द्रलोकप्राप्तिरनर्थायैवेत्याशङ्क्याऽह
—उपभुञ्जत इति । "अन्यथाप्रतिभासं व्यावर्तयति—आप्यायस्वेति । एवं देवा अप्येति संक्षिप्तं दार्ष्ट्या-
न्तिकं विवृणोति—सोमलोक इति । कथं पौन-पुन्येन विश्रान्तिः "सपाद्यते तत्राऽऽह—कर्मानुरूपमिति ।
हृष्टान्तवद्दार्ष्ट्यान्तिके किमित्याप्यायनं नोक्तं तत्राऽऽह—तदीति । पुनः पुनर्विश्रामा"भ्यनुज्ञानमिति

प्राप्त होते हैं । इन देवताओं की आतिवाहिकता भी उन्हीं के समान है । धूम से "रात्रि" यानी रात्रि देवता को, रात्रि देवता से "अपक्षीयमाणपक्षम्" अर्थात् कृष्णपक्ष देवता को और वहाँ से जिन छ मासों में सूर्य दक्षिण दिशा में होकर चलता है, उन मासाभिमानी देवता विशेषों को प्राप्त होते हैं ।

उन मासाभिमानी देवताओं से पितृलोक को, और पितृलोक से चन्द्रमा को जाते हैं । वे कर्मों चन्द्रलोक में पहुँच कर (भोग्यता रूप) भ्रष्ट हो जाते हैं । "तास्तत्र" अर्थात् जिस प्रकार यहाँ चन्द्रलोक में पहुँच कर (भोग्यता रूप) भ्रष्ट हो जाते हैं । "तास्तत्र" अर्थात् जिस प्रकार यहाँ यज्ञ में ऋत्विज लोग "भरे जाओ, समाप्त कर दो" इस प्रकार कहते हुए चमसस्थ राजा सोम का भक्षण करते हैं, इसी प्रकार इस चन्द्रमा को प्राप्त हुए कर्मियों को, जिस प्रकार स्वामी भृत्यों से सेवा कराता है, उसी प्रकार देवता लोग "भक्षण्यन्ति" अर्थात् उपभोग करते हैं । "भरे जाओ, समाप्त कर दो" यह मन्त्र नहीं है, तो क्या है ? सोम को चमस में भर-भरकर उसे भक्षण के द्वारा समाप्त करके पुनः पुनः भक्षण करते हैं, यह इसका अर्थ है । इस प्रकार देवता भी चन्द्रलोकप्राप्त शरीर वाले अपने उपकरणभूत उन कर्मियों को पुनः पुनः विश्राम देते हुए, उन्हें अपने कर्मानुसार फल देते हुए उपभोग करते हैं । सोम को भरने के समान यही उनका भरना है, इस प्रकार आप्यायन करके उन

१. रात्रिदेवताया । २ कृष्णपक्षदेवताया । ३ पितृलोक पितरो यत्र शरते तं न तु पितृलोकदेवताम् ।
- ४ कर्मिणः । ५ भोग्यतामापद्यन्ते । ६ चमसस्थम् । ७ शैवकर्मिव राजेति भावः । ८ पुनः पुनरपद्यत च कृत्वेति संबन्ध । एतेन क्रियासमभिहारेभ्य लोडिति ध्वनयति । समुच्चयेऽन्यतरस्यामिति तु न्यायः प्रतिभाति लोड् । अन्यथा द्वित्वापत्तेः । सामान्यवचनानुप्रयोगाभावात्सामान्य इति ध्येयम् । ९ चन्द्रलोकेति यावद् । १०. अन्यथाप्रतिभासमिति—शिरस्कत्वेन मन्त्रत्वग्रहणम् । मन्त्रत्वे हि इति मन्त्रमुच्यते सोमं भक्षण्यन्तीत्यर्थः स्यात् । ११. देवैः । १२. विश्राम्यतामित्येवम् ।

मूतान्देवाः । तेषां कर्मिणां यदा यस्मिन्काले तद्यज्ञदानादिलक्षणं सोमलोकप्रापकं कर्म पर्यवेति परिगच्छति परिक्षीयत इत्यर्थः । 'अथ तदेममेव प्रसिद्धमाकाशम' भिनिष्पद्यन्ते यास्ताः श्रद्धाशब्दवाच्या धूलोकार्गो हुता आपः सोमाकारपरिणता 'यानिः सोमलोके कर्मिणामुपभोगाय शरीरमारब्धमममयं ताः कर्मक्षयाद्धिमपिण्ड इवाऽऽतपसंपर्कप्रविस्ती-
यन्ते । प्रविलीनाः सूक्ष्मा 'आकाशमूता इव भवन्ति 'तदिवमुच्यत इममेवाऽऽकाशमनिनि-
ष्पद्यन्त इति ।

ते पुनरपि कर्मिणस्तच्छरीराः सन्तः पुरोवातादिना इतश्चामुतश्च नीयन्तेऽन्तरिक्ष-

धवत् । 'लोकद्वयप्रापको पन्थानादित्यं व्याख्याय पुनरेतल्लोकप्राप्तिप्रकारमाह—तेषामित्यादिना । कर्म चन्द्ररथलस्खलितानां कर्मिणामाकाशतादात्म्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यास्ता इति । सोमाकारपरि-
णतत्वमेव स्फोरयति—यानिरिति । 'तस्य ऋटिति द्वीभयनयोग्यतां दर्शयति—अममयमिति । 'सामा-
ध्यापत्तिरूपत्तेरिति न्यायेनाऽऽह—आकाशमूता इवेति ।

आकाशाद्वायुप्राप्तिप्रकारमाह—ते पुनरिति । 'अन्यापठिते पूर्ववदभिसापादिति न्यायेनाऽऽह—

अपने उपकरणभूत कर्मियों का उपभोग करते हैं । 'तेषाम्' अर्थात् उन कर्मियों का 'यदा' अर्थात् जिस समय "तत्" अर्थात् यज्ञदानादि लक्षण सोमलोक प्रापक कर्म "पर्यवेति" अर्थात् सब ओर में चला जाता है यानी क्षीण हो जाता है, तब कर्मों इसी प्रसिद्ध आकाश को प्राप्त करत हैं । जो वह धूलोकार्गि में हवन किया हुआ श्रद्धाशब्दवाच्य आप सोम के आकार में परिणत हुआ रहता है, जिस आप (जल) के द्वारा सोमलोक में कर्मियों के उपभोग के लिए जलमय शरीर की रचना की जाती है, वह आप कर्मों के क्षय होने पर आपत से सयुक्त हिमखण्ड के समान विलीन हो जाता है । वह विलीन होकर सूक्ष्म आकाश रूप सा हो जाता है । इसी से कहा जाता है कि कर्मों इस प्रसिद्ध

१ अथ तदेति—'कृतात्ययेऽनुचयवान्' इष्टस्मृतिम्या यथेतमनेव वे' ति ३।१।८ न्यायादनुचयस्यागतिहेतुत्व-
शुचकत्रयापशब्दे निपातानापनेकापत्तेरिति इष्टव्यम् । २ प्राप्नुवन्ति कर्मिण । ३ अद्भिः । ४ आकाश-
मूता इव भवन्तीति—ता आप आकाशशब्दयो यदा भवन्ति तदा तदुपहिता जीवा अप्याकाशसमा भवन्तीति
भाव । ५ उक्तेऽर्थे वायव्यं योजयति—तदिवमिति । प्रद्विगतमर्षेऽवृद्धमभिप्रेत्य ध्रुत्वोच्यते । ६ तच्छरीरा
इति—आकाशशरीरा इत्यर्थं । आकाशतादात्म्ये न तत्तुल्यतामापन्ना इति यावत् । एवमेवैपि बोध्यम् । ७
ब्रह्मलोक (वितृ) चन्द्रलोकप्रापको । ८ शरीरस्य । ९ सामाध्येति—इ सू ३।१।२२ किं स्वर्गादिवरोहन्तो
जीवा आकाशादित्स्वरूपता प्रतिपद्यन्त उत तत्साम्यमिति सशये (भवति) अभिनिष्पत्तिश्रुतेर्मुच्यत्वानुरोध-
दाकाशादित्स्वरूपतापत्तिरेव जीवानामिति प्राप्ते ब्रूम—जीवानामाकाशादिभि सामाध्यापत्तिः । सामाध्यापत्तिरेव
कुत । उपपत्ते । लोके हि क्षीरस्य दधिभावो युक्त क्षीरकाले दध्यभावादिहेतु पूर्व विद्यमानाकाशादिभावो
जीवस्य इत्यपि किं च जीवस्वाकाशतापत्तेरिति वाग्वादिक्मेवाकारोहोभाव प्रसङ्ग इत्यादियुक्तिवशाद् (भवति)
अभिनिष्पत्तिश्रुतेर्गोचरत्वमङ्गीकृतं व्यमित्याकाशादित्स्वरूपमभयमेव जीवानाम् । सर्वत्र च सादरममेवेति सिद्धम् ।
१० अर्थयति—अर्थवेदीर्षयिष्ठिते व्रीह्यादौ सस्यमात्रं कर्मिणा भवति । कुत । पूर्ववदभिसापात् । आकाशादित्स्व
व्रीह्यादावपि कर्मपरामर्शमन्तरेण सस्यमात्रस्त्वेव ध्रुत्वोत्तरवाप्त ते तत्र मुच्युस्वभाव इत्यर्थं । इ सू
१ । २४ ।

गास्तवाह—आकाशाद्वायुमिति । वायोवृष्टिं प्रतिपद्यन्ते । तदुक्तम्—'पर्जन्याग्नी सोमं राजानं जुह्वतीति । ततो वृष्टिमूता इमां पृथिवीं पतन्ति । ते पृथिवीं प्राप्य व्रीहियवा- 'धन्नं भवन्ति । तदुक्तस्मिल्लोकेऽग्नी वृष्टिं 'जुह्वति तस्या ब्राहृत्या अन्नं संभवतीति । ते पुनः पुरुषाग्नी ह्यन्तेऽन्नमूता रेतस्सिचि । ततो रेतोमूता योषाग्नी ह्यन्ते ततो जायन्ते लोकं प्रत्युत्थापिनस्ते लोकं प्रत्युत्तिष्ठन्तोऽग्निहोत्रादिकर्मानुतिष्ठन्ति । ततो धूमादिनां पुनः पुनः सोमलोकं पुनरिमं लोकमिति । त एव कर्मिणोऽनुपरिवर्तन्ते घटी- यन्त्रवच्चक्रीमूता बंभ्रमतीत्यर्थः । उत्तरमार्गाय सद्योमुक्तये वा यावद्ब्रह्म न विदुः । इति नु कामयमानः संसरतीत्युक्तम् ।

ते पृथिवीमिति । 'रेतस्सियोगोऽथेति' न्यायमाश्रित्याऽऽह—ते पुनरिति । "योनेः शरीरमिति" न्यायमनुसृत्याऽऽह—तत इति । उत्पन्नाना केषाचिद्विष्टादिकारित्वमाह—लोकमिति । कर्मानुष्ठानानन्तर तत्फलभागित्वमाह—ततो धूमादिनेति । सोमलोके फलभोगानन्तर पुनरेतल्लोक- प्राप्तिमाह—पुनरिति । यो न पुन्येन विपरिवर्तनस्यावधि सूचयति—उत्तरमार्गयिति । प्राग्ज्ञानात्ससरणं षष्ठेऽपि व्याख्यातमित्याह—इति न्विति ।

आकाश को प्राप्त करते हैं ।

वे आकाशशरीर हुए अन्तरिक्ष में जाने वाले कर्मी फिर भी पूर्व वायु आदि से इधर-उधर ले जाये जाते हैं । इसी से श्रुति कहती है—आकाश से वायु को प्राप्त होते हैं । वायु से वृष्टि को प्राप्त होते हैं । इसी से पीछे (इसी ब्राह्मण के दशवें मन्त्र में) कहा गया है—'देवगण पर्जन्याग्नि में राजा सोम को होम करते हैं' । इसके बाद वृष्टि से पृथिवी को प्राप्त होते हैं । पृथिवी पर पहुँच कर व्रीहि-यवादि अन्न ससर्गा होते हैं । इसी से एकादश मन्त्र में कहा है—देवतालोक इस लोक रूप अग्नि में वृष्टि को होमते हैं, उस आहुति से भक्ष्य व्रीहि-यवादि अन्न होता है । अन्न होकर वे वीर्य अग्नि में वृष्टि को होमते हैं, उस आहुति से भक्ष्य व्रीहि-यवादि अन्न होता है । अन्न होकर वे वीर्य सिंचन करने वाले पुरुषाग्नि में होम किये जाते हैं । फिर वीर्यरूप होकर योषाग्नि में होम किये जाते हैं । इसके बाद वे परलोक जाने के लिए तैयार होकर जन्म लेते हैं । वे इस प्रकार परलोक जाने के लिए तैयार होकर अग्निहोत्रादि कर्म का अनुष्ठान करते हैं । तब धूमादिमार्ग, पुन सोमलोक को प्राप्त होते हैं और फिर इस लोक को प्राप्त होते रहते हैं । "ते एव" यानी वे कर्मी इस प्रकार 'अनुपरिवर्तन्ते' अर्थात् घटीयन्त्र के समान चक्राकार होकर घूमते हैं, जब तक वे ब्रह्म को नहीं जानते, तब तक उत्तरमार्ग अथवा सद्योमुक्ति के लिए इस प्रकार भटकते रहते हैं । "इस प्रकार शब्दादिविषयकस्थूल कामना युक्त हुआ पुन पुन इस लोक में ससरण करता है" ऐसा श्रुति कह

१ वृ उ ६ २ १० । २ धनससर्गिणो भवन्ति । ३ वृ उ ६ २ ११ । ४ मार्गम् । ५ यन्ति । ६ ब्रह्म—सगुण निर्गुण च । ७ विदुः—उपासके विदन्ति चेत्यर्थम् । ८ वृ उ ४. ५ ६ । ९ रेतसिगिति—अथ व्रीह्यादिमावाभानन्तर तेषां कर्मिणां रेतसियोग विदुःशरीरप्रवेश "यो रेतसि चिति तद्वृष एव भवतीति" सां उ ५ १ ६ श्रुतावान्नायते । १० व सू ३ १ २६ । ११ योनेरिति—योनी रेतसि प्रविष्टे सति ततः शरीरमनुसंधिनानमुद्यमास्यकर्मभोगाय नापत इत्याह शास्त्र तद्य इह रमणीयपरत्या इत्यादि । १२ व सू ३ १ २७ ।

अथ पुनर्यं उत्तरं दक्षिणं चैती पन्थानी न विदुस्त्तरस्य दक्षिणस्य वा पथः प्रतिपत्तये ज्ञानं कर्म वा नानुतिष्ठन्तीत्यर्थः । ते किं भवन्तीति । उच्यते—ते कीटाः पतङ्गा यदिदं यच्चेदं दन्दशूकं दंशमशकमित्येतद्भ्रुवन्ति । एवं हीयं 'संसारगतिः कष्टा-
ऽस्यां निमग्नस्य पुनरुद्धार एव दुर्लभः । तथा च श्रुत्यन्तरम्—“तानीमानि क्षुद्राप्यम-
क्षुद्रावतीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्व” इति । 'तस्मात्सर्वोत्साहेन यथाशक्ति
'स्यान्नाविकर्मज्ञानहानेन दक्षिणोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं शास्त्रीयं कर्म ज्ञानं वाऽनुति-
ष्ठेदिति वाक्यार्थः । तथा चोक्तम् “अतो वै खलु 'दुर्निष्प्रपतरं' तस्माज्जुगुप्सेत” इति
श्रुत्यन्तरान्मोक्षाय प्रयतेतेत्यर्थः । 'अत्राप्युत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधन एव महान्यत्नः कर्तव्य
इति गम्यते । एवमेवानुपरिवर्तन्त इत्युक्तत्वात् । एवं प्रश्नाः सर्वे निर्णीताः । अतो वै

‘स्थानद्वयमावसितसहितमुषवदा स्थानान्तरं दर्शयति—अथेत्यादिना । स्थानद्वयात्तृतीये स्थाने
विशेषं कथयति—एवमिति । तृतीये स्थाने छान्दोग्यश्रुति संवादयति—तथा चेति । अमुप्या गतेरति-
कष्टत्वे परिशिष्ट वाक्यार्थमाचष्टे—तस्मादिति । सर्वोत्साहो वाक्कायचेतसां प्रयत्नः । यत्तुक्तमस्यां
निमग्नस्य पुनरुद्धारो दुर्लभो भवतीति तत्र श्रुत्यन्तरमनुकूलयति—तथा चेति । अतो श्रीह्यादिभावा-
दित्यर्थः । तस्मादित्यतिकष्टात्संसारदित्यर्थः । दक्षिणोत्तरमार्गं ‘प्राप्तिसाधने यत्नसाम्यमाशङ्क्याऽऽह—
अत्रापीति । पञ्च प्रश्नान्प्रस्तुत्य किमिति प्रत्येकं तेषां निर्णयो न कृत इत्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति ।
निर्णयप्रकारमेव संगृह्णाति—असावित्यादिना । प्राथम्येन निर्णय इति संबन्धः । देवदानस्येत्यादिः

चुकी है ।

इस तरह जो इन उत्तर और दक्षिण मार्गों को नहीं जानते अर्थात् उत्तर या दक्षिण मार्ग
प्राप्ति के लिए ज्ञान अथवा कर्म का अनुष्ठान नहीं करते । वे क्या होते हैं ? इमे कहा जाता है—वे
कीट, पतङ्ग “यदिदं दन्दशूकं” यानी जो ये डाँस और मच्छर होते हैं, इस प्रकार होते हैं । इस
संसार की गति बड़ी कष्टमयी है, इसमें निमग्न हुए का पुनरुद्धार ही दुर्लभ है । इसी का अन्य
श्रुति प्रतिपादन करती है—“वे ये क्षणिक और निरन्तर आते-जाते रहने वाले जीव होते हैं,
जन्म लो और मर जाओ” । इसलिए पूर्ण प्रयत्न के साथ शास्त्रानाथेय कर्म और ज्ञान को छोड़कर
यथाशक्ति दक्षिण और उत्तर मार्ग प्राप्ति के हेतु शास्त्रीय कर्म या ज्ञान का अनुष्ठान करना चाहिये,
यह इस श्रुतिवाक्य का अर्थ है । “इन से छूटना बड़ा कठिन है”, “इसलिए उस विषय में कुत्सितत्व
बुद्धि करे, उनमें रमण न करे”, इन अन्य श्रुतियों से भी यह अर्थ निकलता है कि मोक्ष के लिए प्रयत्न
करे । प्रवृत्त वाक्य में भी उत्तरमार्ग की प्राप्ति के साधन में ही महान् प्रयास करना चाहिये—ऐसा
जाना जाता है क्योंकि दक्षिणमार्ग की प्राप्ति करने वाले निरन्तर आवागमन के चक्कर में पडे

१. वृत्तौ । २ वृ उ ५ १० ८ । ३ ध्वतरणोत्तत्वात् । ४ शास्त्रानाथेयकर्ममिति यावत् । ५.
वृ उ ५ १० ६ । ६ दुर्निष्प्रपतरम् । ७ वृ उ ५ १० ८ । ८ तस्माज्जुगुप्सेतेति—“जुगुप्सा-
विरामप्रमादावाधानामुपसंस्थानमि”त्यपादानत्वम् । तद्विषये कुत्सितत्वबुद्ध्या न रमेतेत्यर्थं । ९ प्रकृतवाक्येऽपि ।
१० ब्रह्मसोक चन्द्रसोक च । १२. कर्मोपासनात्मके ।

लोक इत्यारभ्य पुरुषः संभवतीति चतुर्थः प्रश्नो यतिध्यामाहुत्यामित्यादिः प्राथम्येन । पञ्चमस्तु द्वितीयत्वेन देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयानस्य वेति दक्षिणोत्तरमार्ग-
प्रतिपत्तिसाधनकथनेन । तेनैव च प्रथमोऽप्यग्नेरारभ्य केचिद्विचिः प्रतिपद्यन्ते केचिद्भूम-
मिति विप्रतिपत्तिः । पुनरावृत्तिश्च द्वितीयः प्रश्न आकाशादिक्रमेण लोकमागच्छ-
न्तीति । तेनैवासौ लोको न संपूर्यते कीटपतङ्गादिप्रतिपत्तेः केवांचिदिति तृतीयोऽपि
प्रश्नो निर्णोतः ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे षष्ठाध्यायस्य
द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

पञ्चमः प्रश्नः । स तु द्वितीयत्वेन दक्षिणादिमार्गावत्तिसाधनोक्त्या निर्णोत इत्यर्थः । तेनैव मार्गद्वयप्राप्ति-
साधनोपदेशेनैवेति यावत् । मृतानां प्रजानां 'विप्रतिपत्तिः प्रथमप्रश्नस्तस्य निर्यायप्रकारमाह—अग्ने-
रिति । द्वितीयप्रश्नस्वरूपमनुद्य तस्य निर्णोतत्वप्रकारं प्रकटयति—पुनरावृत्तिश्चेति । मागच्छन्तीति
निर्णोत इत्युत्तरत्र संबन्धः । तेनैव पुनरावृत्तेः सत्त्वेनेत्यर्थः । अमुष्य लोकस्यासंपूर्तिर्हि तृतीय प्रश्नः ।
स च 'द्वाभ्यां हेतुभ्यां प्राप्ताभ्यां निर्धारितो भवतीति भावः ॥ १६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां षष्ठाध्यायस्य
द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

रहते हैं । इस प्रकार सव प्रश्नो का निर्णय हो चुका । "हे गौतम । इस उस शुलोक अग्नि मे आहव-
नीय दृष्टि करनी चाहिये" यहाँ से आरम्भ कर "पुरुष होता है" इस स्थल तक 'कितनी सख्या
वाली आहुतियों के हवन किये जाने पर आप बोलने लगता है' इत्यादि चतुर्थ प्रश्न का पहले उत्तर
दिया है । देवयान मार्ग एव पितृयान मार्ग की प्राप्ति का साधन क्या है, इस पञ्चम प्रश्न को दक्षिण
और उत्तर मार्ग की प्राप्ति का साधन बतलाकर द्वितीय उत्तर द्वारा कहा गया है । उसी से प्रथम
प्रश्न का उत्तर हो जाता है । (फिर से अग्नि मे ले जाते हैं—इम श्रुति से) षष्ठाग्नि की प्राप्ति के
बाद फिर वहा से कोई अचिरादि मार्ग को प्राप्त होते हैं और कोई धूमादिमार्ग को प्राप्त होते हैं,
इस प्रकार पृथक्-पृथक् मार्गों की प्राप्ति होती है । पुनरागमन द्वितीय प्रश्न है, उसका समाधान
दिया है कि आकाशादि क्रम से इस लोक मे आते हैं । इससे वह लोक भरता नहीं है तथा कुछ कीट
पतङ्गादि की योनियों को प्राप्त करते हैं, इसलिए भी नहीं भरता । इस प्रकार तृतीय प्रश्न का भी
उत्तर हो गया ॥ १६ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे षष्ठाध्यायस्य द्वितीय ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य वा
हिन्दी-भाषानुवाद संपन्न हुआ ॥ २ ॥

(अथ पष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ।)

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन् 'आपूर्यमाण-
पक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे क०से
चमसे वा सर्वोषधं फलानीति संभृत्य परिसमुद्य परि-
लिप्याग्निमुपसमाधाय 'परिस्तीर्या'ऽऽवृता'ऽऽज्यं७
स०स्कृत्य 'पु०सा नक्षत्रेण 'मन्य०' संनीय 'जुहोति

घन और कर्म का अधिकारी जो ऐसा चाहता है कि मैं महत्त्व को प्राप्त होऊँ तो वह उत्तरायण में शुक्लपक्ष की पुण्यतिथि पर बारह दिन तक पर्यव्रती होकर गूलर की लकड़ी के कटोरे या चमस पात्र में सभी औषधियों को, फल तथा अन्य सामग्रियों को एकत्रित कर वेदी को कुशों से बुहार कर गोबर तथा जल से उसे लीपकर अग्नि का संस्थापन करे। पुनः अग्नि के चारों ओर कुशा बिछाकर गृहभूत्र में बतलायी गयी विधि से घृत का संस्कार करके पुंलिङ्ग नाम वाले (हस्तादिक)

स यः कामयेत । "ज्ञानकर्मणो" गतिरुक्ता । तत्र ज्ञानं स्वतन्त्रं "कर्म तु देवमानुष-
वित्तद्वयायत्तं तेन कर्मार्थं वित्तमुपाजंनोयम् । तच्चाप्रत्यवायकारिणोपायेनेति तदर्थं मन्वाह्यं

ब्राह्मणान्तरम्बतार्थं "संयतिमाह—स य इति । तत्रेति निर्धारणे सप्तमी । कथं "तर्हि वित्तो-
पाजंनं संभवति तत्राऽऽह—तच्चेति । तदर्थं वित्तसिद्धयर्थमिति यावत् । ननु महत्त्वसिद्धयर्थमिदं

"वह यदि ऐसा चाहता हो" यह मन्त्र का आरम्भ है। इससे पूर्व जपासना और कर्म का फल कहा गया। इनमें उपासना तो स्वतन्त्र है और (दृष्ट-अदृष्टार्थं) कर्म, देव और मानुष—इन दो

१. उदयधन इति—उदीच्यादित्यस्यापन गमन यस्मिन् काले तस्मिन्नित्यर्थः । २. अत्रापि घुननपक्षस्य पुण्याहे पुष्यदिवसे कर्मसिद्धिकरे धनुर्गूलचन्द्रतारके इति यावत् । यस्मिन् कर्मविकीर्णितं तत प्राक् पुष्याहमेवा-
रम्य द्वादशाह द्वादशदिवसपर्यन्तमुपसद्व्रती भूत्वेत्यादि स्पष्टं भाष्यार्थः । ३. परिस्तीर्या—प्राग्भानुदग्गान्वा दर्भानि-
स्तीर्याग्निं परित इत्यर्थः । ४. आवृता—स्वालीपाकोक्तेरित्युक्तम् । ५. भाज्य विलापनादिना सङ्घृत्य ।
६. पुसा पुनाम्वा हस्तादिना नक्षत्रेण युक्ते पुण्याहे । ७. मन्यं—बशयमाणसर्वोषध्यादीनां पिष्टम् । ८.
सनीय—ग्रामे. स्वस्य च मध्ये दक्षिणाश्रिते देशे सस्याप्य सस्कृतमान्यं गृहीत्वा । ९. जुहोति जुहुयात् ।
१०. जपास्तिकर्मणो । ११. फलम् । १२. दृष्टादृष्टार्थम् । १३. अथति शेषशेषित्वरूपाम् ज्ञत्पाप्यो-
त्पापकत्वरूपा वा । १४. कर्मणो वित्तायत्तत्वे ।

ः उदयधन इत्यादि वाक्य तत्तत्पर्यंमाहूर्वातिकाचार्यास्तथाहि—“कालो विधीयते चास्य मन्वाह्यस्येह कर्मणः ।
भूयोदयानामुक्त्या कर्मसिद्धर्थं प्रयत्नतः ।। प्रायंनीय. पुरा कालो विमुदिद्ब्राह्मणमनसतः । इत्याप्योपधपरचैव
देशश्च तदनन्तरम् ।। कासादीनां गुणानां च कर्मण्यवित्यन्वमुच्यते । न विकल्पः समृद्धिः स्यात्कर्मणोऽप्य

यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति
पुरुषस्य कामान् । तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा
तृप्ताः सर्वैः कामं स्तर्पयन्तु स्वाहा । या तिरश्ची
निपद्यतेऽहं विधरणी इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे
सऽराधनीमहऽस्वाहा ॥ १ ॥

मन्त्र मे मन्त्र को (अग्ने और अग्नि के) बीच में रखकर (निम्नाङ्कित मन्त्र से) हवन करता है । मन्त्रार्थ यह है—'हे अग्निदेव ! तेरे अधीन जितने देवता ब्रह्म-बुद्धि होकर पुरुष की कामनाओं का विधात करते हैं, उनके उद्देश्य से इस आज्य भाग का मैं होम करता हूँ । वे देव वृत्त होकर मुझे संपूर्ण भोगों द्वारा तृप्त करें, स्वाहा (स्वाहा शब्द से आहुति दे देवे) । मैं सबकी मृत्यु को धारण करने वाला हूँ, ऐसा समझकर जा ब्रह्म-बुद्धि देव तेरा आश्रय करने रहता है, सभी भोगों को देने वाले उस देव के लिये मैं घृत की धारा से यजन करता हूँ ('स्वाहा' ऐसा कहकर अग्नि में घृत की आहुति दे डाले) ॥ १ ॥

कर्माऽऽरभ्यते महत्त्वप्राप्तये । महत्त्वे च सत्पर्यभिद्धं हि वित्तम् । तदुच्यते—स यः
कामयेत स यो वित्तार्थी । कर्मण्यधिकृतो यः कामयेत । किम् । महत्त्वमहत्त्व प्राप्नुयां महा-

कर्माऽऽरभ्यते महत्प्राप्नुयामिति श्रुतेस्तत्कथमन्यथा प्रतिज्ञातमिति शङ्कते—महत्त्वेति । परिहरति—
महत्त्वे चेति । उक्तत्वेन श्रुत्यक्षराणि योजयति—तदुच्यत इत्यादिना । स यो वित्तार्थी कामयेत
'तस्येदं कर्मैति शेषः । यत्तु कस्यचिद्वित्ताद्यिनस्तर्हीदं कर्म स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मण्यधिकृत इति ।

वित्तो के अधीन है । इसलिए कर्म के लिए वित्त का उपार्जन करना चाहिये । वह भी प्रत्यक्षपुरुष
उपाय से करना चाहिये । इसलिए (इस ब्राह्मण द्वारा) महत्त्वप्राप्ति के लिए सम्पाद्य कर्म का
समारम्भ किया जाता है, महत्त्व के प्राप्त हो जाने पर वित्त तो स्वतः प्राप्त हो जाता है । इसी में
श्रुति कहती है—“स यः कामयेत” अर्थात् वह यदि वित्तार्थी और कर्म ना अधिकारी गृहस्थी जीव

१ अग्नेत ब्राह्मणेन । २ प्राणविवृष्टौ । ३ तदनुच्छेद्यम् ।

समुच्चिन्वती ॥ कर्मणश्चास्य निष्पत्ती विद्वत्प्राप्ति समाश्रिता । यतोऽहं मूर्ध्नि वेद मूत्रकृद्भिर्दयं पारितम् ॥ यो ह
वे ज्येष्ठमित्युक्तया विद्वत्ता या पुरोहिता । तस्या हत्यामिदं कर्म ज्येष्ठायत्यादिति नृत्तम् ॥ ६ १० ॥ इति ।
उदगयन इत्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—काल इति । इह पृथिवी वित्तायिनोति यावत् । काले कर्म विधीयते नाकाल
इति न्यायमाश्रित्य कर्मणं श्लोकम् । तदधिकृतमाह—कर्मैति । प्रयत्नत इत्यभ्यास दर्शयति ॥ यन्मिन्वर्षिमित्र-
रत्नावाधो कर्माऽऽरभ्यन्तत्तरं विशिष्टकामान्यनुसंधानेन निर्वर्तनमाशङ्क्याऽऽह—प्रायर्णोय इति । पयोघृतादीनि
द्रव्याणि । श्रौयधयो द्रीहिषवाद्या ॥ देशादीनामन्यतमसपत्न्याऽपि कर्मारम्भसमवायं सर्वं पूर्वं निरूप्यमित्या
शङ्क्याऽऽह—कामादीनामिति । बुद्धिश्चन्द्रादयो गुणाः । विकल्पोऽपि का हानिरित्याशङ्क्या समुच्चरन्वकीकार-
फलमाह—समुद्धिरिति ॥ मग्निहोत्रादिविदं कर्म वैदिक चेत्किमिति कल्पमूत्रकारेण मूर्ध्नि ताम्यानाऽऽह
—कर्मण्युच्यते । पूर्वोक्तकालवर्तित्येपर्यं ॥ कोऽपि विद्वत्ता तत्रोपयुक्तो तत्राऽऽह—यो हीति । प्रवृत्तकर्म-
समवेतमन्त्रपमर्ष्याध्याग्विदो यद्योक्त कर्माधिकृतमित्यर्थं ॥

स्यामितीत्यर्थः । तत्र मन्यकर्मणो विधित्सितस्य कालोऽभिधीयते—उदगयन आदित्यस्य तत्र सर्वत्र प्राप्तावापूर्यमाणपक्षस्य शुक्लपक्षस्य । तत्रापि सर्वत्र प्राप्नो पुण्याहेऽनुकूल आत्मनः 'कर्मसिद्धिकर' इत्यर्थः । द्वादशाहं यस्मिन्पुण्येऽनुकूलेऽहनि कर्म चिकीर्षति ततः प्राक्पुण्याहेमेवाऽऽरभ्य द्वादशाहमुपसद्व्रती । उपसत्सु तमुपसद्व्रतमुपसदः प्रसिद्धा ज्योतिष्टोमे । तत्र च स्तनोपचयापचयद्वारेण 'पयोभक्षणं तद्व्रतम् । अत्र च तत्कर्मानुप-संहारात्केवलमि'तिकर्तव्यताशून्यं पयोभक्षणमात्रमुपादीयते । ननुपसद एव व्रतमिति यदा विग्रहस्तदा सर्वमतिकर्तव्यतारूपं ग्राह्यं भवति तत्कस्मान्न परिगृह्यत इति । उच्यते—स्मार्तैर्त्वात्कर्मणः । स्मार्तं हीदं मन्यकर्म । ननु श्रुतिविहितं सत्कथं स्मार्तं नवितुमर्हति ।

तत्र वित्तादिनि 'पु'सीति यावत् । उपसदो नामेतिविशेषाः । ज्योतिष्टोमे 'प्रवग्यहिविति शेषः । किं पुनस्तासु व्रतमिति तदाह— तत्र चेति । यदुपसत्सु स्तनोपचयापचयान्यां पयोभक्षणं यजमानस्य प्रसिद्धं तदत्रोपसद्व्रतमित्यर्थः । 'प्रकृतेऽपि 'तर्हि स्तनोपचयापचयान्यां पयोभक्षणं स्यादिति चेन्नेत्याह—अत्र चेति । मग्याह्यं कर्म सप्तम्यर्थः । तत्कर्मैत्युपसद्रूपकर्मोक्तिः । केवलमित्यस्यैवार्थमाह—इति-कर्तव्यताशून्यमिति । समासान्तरमाधित्य शङ्कते—नन्विति । कर्मधारयरूपं समासवाक्यं तदित्युक्तम् । मग्याह्यस्य कर्मणः स्मार्तैर्त्वाद्यत्र' श्रुत्युक्तानामुपसदामुपसप्रहाभावाद् कर्मधारयः सिध्यतीत्युत्तर-माह—उच्यत इति । मग्यकर्मणः स्मार्तैर्त्वादिपति—नन्विति । परिसमूहपरिलेपनाग्न्युपसमा-धानादेः स्मार्तार्थस्यात्रोच्यमानत्वादियं श्रुतिः स्मृत्यनुवादिनी युक्ता तथा चैतत्कर्म भवत्येव स्मार्तमिति

इच्छा करे । क्या ? "महन्प्राप्तुयाम्" अर्थात् महत्त्व या महानता को प्राप्त करूँ । उस गृही के लिए विधित्सित मन्य कर्म का काल बतलाया जाता है—“उदगयने” अर्थात् आदित्य के उत्तरायण में जाने पर, क्योंकि उस समय सब कुछ प्राप्ति होने पर (उसमें भी) "आपूर्यमाणपक्षस्य" अर्थात् शुक्ल पक्ष में, उसमें सर्वत्र प्राप्ति होने पर "पुण्याहे" अर्थात् चन्द्र-नक्षत्र के अनुकूल अपने कर्म के सिद्धिकारक शुभ दिन में, "द्वादशाहम्" अर्थात् जिस शुभ अनुकूल दिन में कर्म करना चाहें, उससे पूर्व शुभ दिन से ही बारह दिन पर्यन्त "उपसद्व्रती" अर्थात् उपसदो मे व्रती होकर । उपसद की ज्योतिष्टोम में प्रसिद्धि है । वहाँ स्तनोपचय और अपचय के द्वारा (वाणी समय, भूमिशयन, ब्रह्मचर्य का उपलक्षण रूप) दुग्धभक्षण रूप व्रत है । यहाँ उस मन्य कर्म में कर्म का उपसहार न होने से केवल (अपचय-उपचय रूप) इतिवर्तव्यता से रहित दुग्धपान मात्र का उपपादन किया जाता है । (इस पर बाध्वा होती है—) किन्तु "उपसदो का ही व्रत" इस प्रकार यदि विग्रह किया जाय तब तो सारा इतिकर्तव्यता रूप ग्रहण करना चाहिये, उसे क्यों नहीं ग्रहण करते हो ? इसका समाधान कहा जाता है—क्योंकि कर्म स्मार्त है । यह मन्य कर्म स्मृतिप्रतिपादित है । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु श्रुतिप्रतिपादित

१. अनुकूलचन्द्रवारके । २. पयोभक्षणमिति—वाग्यमभुचयनब्रह्मचर्याणामुपलक्षणम् । ३. स्तनोपचया-पचयदिरितिकर्तव्यता । ४. प्राज्ञविदि शुद्धिजि । ५. प्रवर्गार्हत्विति—प्रवर्गार्ह्यकर्मानुष्ठानदिनेचित्यर्थः । ६. मग्यकर्मणि । ७. वृद्धि—पयोभक्षणस्योपसद्व्रतस्ये । ८. स्मार्तं कर्मणि ।

स्मृत्यनुवादिनी हि श्रुतिरियम् । श्रोतत्वे हि प्रकृतिविकारभावस्ततश्च प्राकृतधर्मग्राहित्वं विकारकर्मणो न त्विह श्रोतत्वम् । अत एव चाऽऽवसथ्याग्नावेतत्कर्म विधीयते । सर्वा चाऽऽवृत्स्मार्तं वेति । उपसद्ब्रती भूत्वा पयोव्रती सन्नित्यर्थः ।

श्रीदुम्बर उदुम्बरवृक्षमध्ये कसे चमसे वा तस्यैव विशेषणं कंसाकारे चमसाकारे बौदुम्बर एव । आकारे तु विकल्पो नोदुम्बरत्वे । अत्र सर्वोपधं सर्वासामोपधीनां समूहं यथासंभवं यथाशक्ति च सर्वा श्रोषधीः समाहृत्य तत्र ग्राम्यास्तु दश नियमेन ग्राह्या

परिहरति—स्मृतीति । ननु श्रुतेन स्मृत्यनुवादिनीत्व वेपरोत्यादतो भवतीदं श्रोतमित्याशङ्क्याऽऽह— श्रोतत्वे हीति । यदीदं कर्म श्रोतं तदा ज्योतिष्टोमेनास्य प्रकृतिविकृतिभावः स्यात् । समप्राङ्गस्युक्ता प्रकृतिविकलाङ्गस्युक्ता च विकृतिः । प्रकृतिविकृतिभावे च विकृतिकर्मणः प्राकृतधर्मग्राहित्यादुपसद एव व्रतमिति विग्रहा सर्वमितिकतंव्यतारूप शयं प्रहीनुं न चात्र श्रोतत्वमस्ति परित्सेपनादिसंबन्धात् । न च पूर्वभाविग्याः श्रुतेश्चरभाविस्मृत्यनुवादिवासाद्विस्तस्यात्रैकाल्यविषयत्वाभ्युपगमादिति भावः । मन्थकर्मणः स्मार्तत्वे लिङ्गमाह—अथ एवेति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—सर्वा चेति । मन्थगतेतिकतंव्यता-ऽत्राऽऽवृदित्युच्यते । उपसद एव व्रतमिति विग्रहासभवादुपसत्सु व्रतमित्यस्मदुक्तं सिद्धमित्युपसंहर्तु-मितिशब्दः । पयोव्रती सन्वक्ष्यमाणेन क्रमेण जुहोतीति सवन्धः ।

"ताम्रमौदुम्बरमिति शङ्कां वारयति—उदुम्बरवृक्षमय इति । तस्यैवेति प्रकृतपात्रपरामर्शः । श्रीदुम्बरत्वेऽपि विकल्पमाशङ्क्याऽऽह—आकार इति । अत्रेति पात्रनिर्देशः । असंभवादशयत्वाच्च सर्वोपधं समाहृत्येत्युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—यथासंभवमिति । श्रोषधिषु नियमं दशयति—तत्रेति ।

होकर भी यह स्मार्तं कर्म कैसे हो सकता है ? (इसका परिहार करते हैं—) क्योंकि यह श्रुति स्मृति द्वारा उक्त अर्थ का अनुवाद करती है । यदि इसे श्रोत स्वीकार करे तो प्रकृतिविकार-भाव हो जायगा, ऐसे में विकारभूतकर्म में प्राकृत धर्मों का ग्रहण करना अनिर्वायं हो जायगा, किन्तु यह श्रोत कर्म नहीं है । इसलिये इस कर्म का विधान आवश्यकता में है । तथा इसमें समस्त मन्थगत इतिकतंव्यतारूप आवृत्त स्मार्तं ही है । "उपसद्ब्रती भूत्वा" अर्थात् पयोव्रती होकर (अग्नि स्थापित करता है) ।

"श्रीदुम्बरे" अर्थात् उदुम्बरवृक्षमय पात्र में "कसे चमसे वा" अर्थात् यह उसी के विशेषण है अर्थात् कंसाकार अथवा चमसाकार उदुम्बरवृक्षमय पात्र में ही । यहाँ विकल्प केवल आकार में ही है, श्रीदुम्बर रूप में नहीं । उसमें "सर्वोपधं" यानी सब श्रोषधियों के समूह को अर्थात् यथासंभव सभी श्रोष-धियों को लाकर उनमें ग्राम्य श्रोषधियों में से वक्ष्यमाण त्रीहि-यवादि दश श्रोषधियाँ तो अवश्य लानी

- १ स्यादिति शेष । २ अत एव—मन्थकर्मणः स्मार्तत्वदेव । ३ प्रावसथ्येति—अग्निमुपसमाधायेति-पुत्रेकाग्निस्तबद्धमेतत्कर्म । उपसदस्तु ज्योतिष्टोमादी प्रवर्ग्यहि श्रूयमाणान्प्रेतान्गामिन्यस्तथा च स्मार्तकाव-सथ्याग्निस्तबद्धत्वात् स्मार्तमेवेद कर्मति स्फुटी भविष्यति चेतदग्निमुपसमाधायेति श्रुतिव्याख्यानादवने । ४ पात्रे । ५ इतीति शेष । ६ आकारे त्विति—आकारे विकल्प प्राकाराणि श्वोदुम्बरत्वे तु नियम । ७ श्रोषधीनाम्—वक्ष्यमाणत्रीहादिधान्यानाम् । ८ अत—श्रुतेः स्मृत्यनुवादकरवाभावात् । ९ मन्थकर्म । १० श्रुतेः । ११ "अथ ताम्रक पुत्रे स्तेज्जमुत् इपट्वरिष्ठोदुम्बरारणि" वेत्यमरः । १२ आकार-

घोहियवाद्या वक्ष्यमाणाः । अधिकग्रहणे तु न दोषः प्राम्याणां 'फलानि च यथासंभवं यथाशक्ति च । इतिशब्दः 'समस्तसंभारोपघ्नयप्रदर्शनार्थः । 'अन्यदपि यत्संभरणीयं तत्सर्वं संभृत्येत्यर्थः । क्रमस्तत्र गृह्योक्तो द्रष्टव्यः । परिसमूहनपरिलेपने भूमिसंस्कारः । 'अग्निमुपसमाधायेति वचनादावसथ्येऽग्नाविति गम्यते । एकवचनादुपसमाधानश्रवणाच्च । विद्यमानस्यैवोपसमाधानम् । 'परिस्तीर्य वर्भानावृता स्मार्तत्वात्कर्मणः 'स्थालीपाकावृत्परिगृह्यते तयाऽऽयं "संस्कृत्य पुंसा नक्षत्रेण पुंनाम्ना" नक्षत्रेण "पुष्याहंसुधुषतेन मन्थं" सर्वोपघफलपिष्टं "तत्रोदुम्बरे चमसे" दधनि मधूनि घृते घोपसिच्यं" कथोपमन्थन्योपसंमथ्य संनीय

"परिसंस्थां वारयति—अधिकेति । इति संभृत्येत्यत्रेशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वे फलितं वायवायं कथयति—अन्यदपीति । "घोषध्यासोनां संभरणानन्तरं परिसमूहनादिक्रमे किं प्रमाणमित्याशङ्क्याऽह—अम इति । तत्रेति "परिसमूहनाद्युक्तिः । होमाधारस्थेन "त्रेताग्निपरिग्रहं वारयति—अग्निमिति । श्रावसथ्येऽग्नी होम इति शेषः । कथमेतावता" त्रेताग्निपरित्यागस्तत्राऽह—एकवचनादिति । कथमुपसमाधानश्रवणं त्रेताग्निनिवारकं तत्राऽह—विद्यमानस्येति । आहवनीयादेश्चा"ऽऽधेयत्वात् प्रागेव सत्त्व-

चाहिर्णं, अधिक ग्रहण में कोई दोष नहीं । "फलानीति" अर्थात् यथासंभव यथाशक्ति प्राम्य फल लाने चाहिएँ । 'इति' शब्द और भी ग्रहण करने योग्य अनुक्त और उपयुक्त वस्तुओं के प्रदर्शन के लिये है अर्थात् और भी जो संग्रह करने योग्य हो, उसका संग्रह करके; इसका क्रम गृह्यमूर्धों में देखना चाहिये । बुहारना और लीपना भूमि की युद्धि के लिए है । इस प्रकार शुद्ध प्रदेश में अग्नि सस्थापित करके इस वाक्य से "प्राकृताग्नि मे होम करे" यह जाना जाता है क्योंकि यहाँ अग्नि एकवचन है और उपसमाधान श्रुत है । विद्यमान अग्नि ही स्थापित की जा सकती है । दमों को विद्याकर, इतिकर्तव्यता प्रकार से; यह स्मार्त कर्म है । इसलिये यहाँ स्थालीपाक ग्रन्थोक्त श्रावृत् का परिग्रहण होता है । इससे श्राज्य का (विलापनादि के द्वारा) संस्कार कर, "पुसा नक्षत्रेण" यानो पुंलिङ्ग नाम वाले (हस्त आदि) नक्षत्र से, ऐसे नक्षत्र से युक्त शुभ दिन में "मन्थम्" अर्थात् वक्ष्यमाण सर्वोपधि फल के पिष्ट को उस ओदुम्बर चमसाकार पात्र में दही, मधु और घृत में डाल कर (वक्ष्यमाण मघानी-द्वय

- १ नृ उ ६ ३ ७-१२ । २ फलानीति—मादकामेभ्यश्चर्वां ग्राह्याणीति ध्येयम् । ३. अनुक्तोपयुक्तसंभरणीय-
वातेति भावः । ४ अन्वदपीति—"तच्छुलान् फलपुष्पाणि पिष्ट्वा यत्रे त्रिधापयेत् । दध्ना च मधुना पिष्टं
सम्यगानोदघ पात्रगम् । स्थापयेत्कृतस्य सच्छुची देशे प्रयत्नत" ॥ इति भावः । ५ भूमिसंस्कार इति—
उल्लेखनोद्धारणामुत्तराग्न्यन्तरं द्रष्टव्यानि । ६ संस्कृतभूदेवे सस्थाप्य । ७ प्राहृताग्नी । ८. परि-
स्तीर्येति—स्थापितानि परितः प्रागग्रानुदगग्रान् वा वर्भानास्तीर्येत्यर्थः । ९ श्रावृदितिकर्तव्यता प्रकार इति
यावत् । १०. स्थालीपाकप्र-पोक्ता । ११. विलापनादिना । १२ हस्तादिना । १३. तादृशानक्षत्रवति
पुष्याहे इति यावत् । १४ वक्ष्यमाणेति यावत् । १५ पूर्वोक्ते । १६. तैस्तमासिधेति यावत् । १७
एक्येति—वक्ष्यमाणोपमन्थनोद्घममध्ये एक्येत्यर्थः । १८. चक्रेतरनिषेधः परिसंस्था । १९. घोषध्या-
सोनामिति—घोषध्यासोना संभरणानन्तरमेव परिसमूहनादिक्रमं व्यमिति क्रमे किं मानमित्यर्थः । २० परि-
समूहनम्—मार्त्त्या भूमार्जनम् । २१. त्रेतानीति—प्राहवनीयाद्यग्नित्रयेत्यर्थः । २२ वषनेन । २३.
धायेयत्वात्—प्राधानसंस्कारेण निष्पाद्यत्वादित्यर्थः ।

'ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे
स०स्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ
हुत्वा मन्थे स०स्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठाय
स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स०स्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा
संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स०स्रवमवनयति
श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे

“ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा” इस मन्त्र से गृह अग्नि में हवन करके स्रुवा में बचे घृत को पिष्टपिण्ड रूप मन्थ में डाल देता है। “प्राणाय स्वाहा, वसिष्ठाय स्वाहा” इस मन्त्र से अग्नि में होम करके स्रुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है। “वाचे स्वाहा, प्रतिष्ठाय स्वाहा” इस मन्त्र से अग्नि में होम करके स्रुवा के बचे हुए घृत को मन्थ में डाले। “चक्षुषे स्वाहा, संपदे स्वाहा” इस मन्त्र से अग्नि में होम करके शेष घृत को मन्थ में डाल देता है। “श्रोत्राय स्वाहा, आयतनाय स्वाहा” इस मन्त्र से होम करके स्रव को मन्थ में डाल देते हैं। “मनसे स्वाहा, प्रजात्य स्वाहा”

मध्ये संस्थाप्यौदुम्बरेण स्रुवेणाऽऽवापस्थानं ब्राज्यस्य जुहोत्येतंमन्त्रैर्यावन्तो देवाः
इत्याद्यैः ॥ १ ॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यारभ्य द्वे द्वे ब्राह्मती हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति ।

मिति भावः । मध्ये स्वस्याग्नेश्चेति शेषः । आवापस्थानमाहुतिविशेषप्रक्षेपप्रदेशः । 'भो जातवेदस्त्व-
दधीना यावन्तो देवा वक्रमत्तयः सन्तो ममार्यान्प्रतिवृणन्ति तेभ्योऽहमाज्यभाग त्वध्यर्पयामि ते च तेन
तृप्ता भूत्वा सर्वैरपि पुरुषार्थैर्भा तर्पयन्तु । 'अहं च त्वदधीनोऽपि इत्याद्यमन्त्रस्यार्थः । जातं जातं
वेत्तीति वा जाते जाते विद्यत इति वा जातवेदा । या देवता कुटिलमतिभूत्वा सर्वस्यैवाहमेव धार-
यितीति मत्वा त्वामाश्रित्य वर्तते तां सर्वसाधनीं देवतामहं घृतस्य धारया यजे स्वाहेति पूर्ववदेव
द्वितीयमन्त्रार्थः ॥ १ ॥

में से) एक मथानी से मथकर फिर “सनीय” अर्थात् अपने और अग्नि के मध्य स्थापित करे । फिर
प्रीदुम्बर स्रुवा से “यावन्तो देवा ” इत्यादि मन्त्रों से आवापस्थान (ब्राह्मति विशेष प्रक्षेप प्रदेश) में घृत
में हवन करे ॥ १ ॥

“ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा” इन मन्त्रों से प्रारम्भ कर दो-दो ब्राह्मतियाँ हवन करके

१ अथ षड्द्वन्द्वब्राह्मतीः प्रतिद्वन्द्वं सस्रवावनयनमुक्ता समन्त्रा ब्राह्—ज्येष्ठायैस्वादिना रेतस इत्यत प्राक्तनेन
ग्रन्थेन । २ ब्राज्य जुहुयादिति यावत् । ३ यावन्तो देवा इत्यादि मन्त्रो ब्याचष्टे—भो इति । ४
स्वमात्मानमाह यस्यामिति योगमभिप्रेत्य स्वाहापव ब्याचष्टे—अहं चेति । आत्मानमपि त्वदधीनत्वेन समर्प-
यामि त्वदधीन करोमीति यावत् । ५ प्राणिनि । ६ भाठरत्वेन । ७. मन्त्रार्थं इति—ब्राह्मतिद्वये
सस्रवावनयन न कर्तव्यमथत्वादिति शेषः ।

संस्त्रवमवनयति मनसं स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ
हुत्वा मन्ये स स्त्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा
मन्ये संस्त्रवमवनयति ॥ २ ॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्ये संस्त्रवमवनयति
सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्ये संस्त्रवमवनयति
भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्ये स स्त्रवमवनयति
भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्ये संस्त्रवमवनयति
स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्ये संस्त्रवमवनयति
भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्ये संस्त्रवमवनयति
ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्ये संस्त्रवमवनयति
क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्ये संस्त्रवमवनयति
भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्ये संस्त्रवमवनयति

इस मन्त्र से होम करके सुवा से बचे हुए घृत को मन्य पर डाल देता है। "रेतसे स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके सस्त्रव को मन्य में डाल देता है (धूपधियो के पीसे हुए पिण्ड को मन्य कहते हैं, उसी में अवशिष्ट घृत को डालने के लिए कहा गया है। अत उक्त मन्त्रों में आई हुई क्रिया का 'डाले' ऐसा अर्थ भी किया जाता है) ॥ २ ॥

"अग्नये स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके सस्त्रव को मन्य में डाल देता है। "सोमाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सस्त्रव को मन्य में डाल देता है। "भू स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके सस्त्रव को मन्य में डाल देता है। "भुव स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सस्त्रव को मन्य पर डाल देता है। "स्व स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सस्त्रव को मन्य पर डाल देता है। "भूर्भुव स्व स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके सस्त्रव को मन्य में डाल देता है। "ब्रह्मणे स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सस्त्रव को मन्य में डाल देता है। "क्षत्राय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सस्त्रव को मन्य में डाल देता है। "भूताय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सस्त्रव को मन्य में डाल देता है। "भविष्यते स्वाहा" इस मन्त्र से

सुवावलेपनभाज्यं मन्यं सस्त्रावयति । एतस्मादेव ज्येष्ठाय श्रेष्ठाघेत्वादिप्राञ्जलिङ्गा-

ज्येष्ठाघेत्वादिमन्त्रेषु ध्वनितमर्थमाह—एतस्मादेवेति । द्वे द्वे प्राहुती हुत्वेत्पुक्तं तत्र सर्वत्र

सस्त्रव को मन्य (द्रव्य) में डाल देता है। अर्धान् सुवा से लगे हुए घृत को मन्य में डाल देता है। इस "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय" इत्यादि प्राण के जापन से यह सिद्ध होता है कि इस कर्म में ज्येष्ठ-श्रेष्ठादिरूप

१. रेतस इत्यारम्याऽऽतृतीयकण्डिकासमाप्तेऽनुसंशाहुती प्रत्येकं घस्रवापयनय युष्ठा. समन्त्रा आह—रेतस रति । २ आहुतिमाने ।

भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स७स्रवमवनयति
 विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स७स्रवमवनयति
 सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स७स्रवमवनयति
 प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स७स्रवमवनयति ॥३॥

'अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्त-
 द्धमस्ये'कसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीय-

अग्नि में होम करके सस्रव को मन्थ में डाल देता है । "विश्वाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके सस्रव को मन्थ में डाल देता है । "सर्वाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सस्रव को मन्थ पर डाल देता है । "प्रजापतये स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सस्रव को मन्थ पर डाल देता है (उक्त सभी मन्त्रों से आहुतियाँ डालकर खुवा में लगे हुए घृत को मन्थ में डालता जाता है और दूसरी उपमथानी से उसका मन्थन करता है ॥ ३ ॥

इसके बाद इस मन्थ को "भ्रमदसि" इत्यादि मन्त्र के द्वारा स्पर्श करता है (अपने अधिष्ठानृ देव प्राण रूप से एक होने के कारण वह मन्थ द्रव्य सर्वात्मक है । मन्त्राद्यं इस प्रकार है—) तुम प्राणरूप से सभी देहों में घूमते हो । अग्नि रूप से सभी जगह प्रज्वलित होते हो । ब्रह्मरूप से परिपूर्ण हो, आकाश रूप से तिष्कम्प हो । किसी के भी विरोधी न होने के कारण तुम यह विश्वरूप एक सभा के

ज्येष्ठश्रेष्ठादिप्राणविद एवास्मिन्कर्मण्यधिकारः । रेतस इत्यारम्यैकैकामाहुति हुत्वा मन्थे सस्रवमवनयत्य'परयोपमन्थन्या पुनर्मथ्नासि ॥ २ ॥ ३ ॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसित्यनेन मन्त्रेण ॥४॥

द्वित्वप्रसङ्गं प्रत्याचष्टे—रेतस इत्यारम्येति । सस्रवः खुवावलिप्तमाज्यम् ॥ २ ॥ ३ ॥
 मन्थद्रव्यस्य प्राणदेवताकत्वात्प्राणैर्नैकीकृत्य सर्वात्मकत्वं तयाच सर्वदेहेषु प्राणहृषेण त्व

प्राणोपासक का ही अधिकार है । "रेतसे स्वाहा" इस मन्त्र से प्रारम्भ कर एक-एक आहुति से हवन कर खुवा में लगे घी को मन्थ में डालता है, फिर दूसरी उपमथानी से उसका मन्थन करे ॥ २-३ ॥

फिर मन्थ द्रव्य को आलीढन करने के बाद मन्थ को "भ्रमदसि" इत्यादि मन्त्र द्वारा हाथ से स्पर्श करे ॥ ४ ॥

१ मथ मन्थद्रव्यालीढनानन्तरमेव मन्थ हस्तेनाभिमृशति मन्त्र पठन् तदर्थं च स्पर्श पाणिनाऽभिमर्शं कुर्यादित्यर्थः । २ एकैकफमसीति पाठान्तरम् । ३. अतुर्वंसाहुतीहुत्वा द्वितीययोपमन्थन्या तन्मन्थद्रव्य पुनर्मथ-

ऽधिपतिः स मा७ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥५॥

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यम् । मधु वाता ऋता-

यते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीनः सन्त्वोषधीः ।

१भूः स्वाहा । भर्गो देवस्य धीमहि । मधु नक्तमुतोषसो

मधुमत्पार्थिव७ रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता । १भुवः

वह मुझे राजा ईशान और अधिपति बनावे, अर्थात् अपने समान गुणो से युक्त मुझ यजमान को भी बनावे ॥ ५ ॥

इसके बाद "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इत्यादि मन्त्र से इस मन्त्र का भक्षण करता है । सूर्य के उस वरण करने योग्य श्रेष्ठ पद का मैं ध्यान करता हूँ । हवा शीतल-मन्द सुगन्ध गति से वह रही है । नदियाँ शहद के समान मधुर रस से युक्त हो वह रही हैं । सभी औषधियाँ हमारे लिए मधुर रसप्रद हो । भूः स्वाहा (उक्त अर्थवाले मन्त्रों का उच्चारण कर मन्त्र का प्रथम प्रास भक्षण करे) हम सविता

१अथैनमाचामति भक्षयति गायत्र्या. प्रथमपादेन मधुमत्यैकया व्याहृत्या च

प्राणो राजाविगुणः स च मां तयामृतं करोत्वित्युद्यमनमन्त्रस्यार्थः ॥५॥

१तत्सवितुर्वरेण्यं वरणीयं श्रेष्ठं पदं धीमहीति सबन्ध । वाता वायुभेदा मधु सुखमृतायते वहन्ति ।

उठायें हुए हाथ से ग्रहण करे ॥ ५ ॥

इस प्रकार उद्यमन के अनन्तर हाथ में रखे इस मन्त्र को "आचामति" अर्थात् भक्षण करे ।

१. भू स्वाहेति—भूलोक स्वाहेति मन्त्रेण प्रथम प्रास भक्षयित्वेति श्लेषम् । एवमपेक्षि बोध्यम् । २ भुवलोकः स्वाहेति द्वितीय प्रास भक्षयित्वा । ३ भव—उद्यमनान्तरमेव हस्तघृत मन्त्र भागवो मधये-दित्यर्थः । ४ प्रथमया । ५ राजाविगुण इति—आदिना ईशानाधिपत्योग्रह । ६ सवितु सर्वप्रसव-हेतो, सर्वसाधकस्येति यावद् । तद्भ्रूजनीय पद स्वरूप धर्मं ध्यायेत्स्यर्थः । ७ प्रत्यस्मान् ।

पदार्थं वक्तुमादौ पवित्र्यतिप्रकारमाह—प्राप्तसीतीति । मन ज्ञान इत्यस्य घातोरारुप्यस्य लेटि धापो लुकि सत्येतद्रूप सिद्धं स्यादिति योजना । तत्र वैयाकरणप्रक्रिया प्रमाणयति—इत्यवघारणादिति ॥ इदानीं पदार्थमाह—प्राप्तमन्तादिति । यावत्किञ्चिदुक्तमादि ज्ञेयमस्मिन्नगति स्थित तत्सर्वं सर्वतो भव सदा ज्ञानास्यतो जगदाय-सीति व्यवहियस इत्यर्थः ॥ मन्त्रस्य प्राणात्मतया सर्वशक्त्युक्त्याऽऽमहि त इत्यस्यार्थमाह—यथेति । वरीयांसमित्यस्य व्याख्या । गुणवद्भ्य इति ॥ महीत्यस्यार्थमाह—महीति । प्राप्तही यत्सज्ज पदमादापार्थमुक्त्वा पदद्वय दृष्टीत्वाऽऽप्रनित्यस्यार्थमाह—प्राप्तोऽमीति । तथा महस्त्वज्ञानानुस्यूयति यावद् । प्राप्तत्वमुपपादयति—न स्वमिति ॥ हिंसन्दायंमाह—प्राप्त इति । रवयि व्यवस्थित महस्त्वमपि त्वामिवाऽऽममविनाशि विऽाप्रिभिन्नो सीत्यर्थः । महस्त्वस्याविनाशित्वमुपजीव्य स हीत्यादर्यंमाह—यस्मादिति ॥

स्वाहा । धियो यो नः प्रचोदयात् । मधुमान्नो वनस्पति-
मधुमाधु अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः । 'स्वः
स्वाहेति' । सर्वा च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमती-
रहमेवेदधु सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत

देव के तेज का ध्यान करते हैं । वे हमारे लिये दिन-रात सुखप्रद हों । पृथिवी के रजकण भी हमें उद्वेग-
प्रद न हों । भुवः स्वाहा (उक्त अर्थ वाले मन्त्र से मन्य का द्वितीय प्राप्त भक्षण करे) । जो सविता देव
हमारी बुद्धियों का प्रेरक है, वह हमारे लिये मधुर रसमय सोम होवे । सूर्य हमारे लिए मधु वाला
होवे । किरणों, दिशाएँ, गीएँ हमारे लिए सुखप्रद हों । स्वः स्वाहा (उक्त अर्थ वाले मन्त्रों में, तृतीय
प्राप्त खावे) । इसके बाद सम्पूर्ण गायत्री मन्त्र और उक्त समस्त ऋचा तथा "ग्रहमेवेदं सर्वं भूयासम्"

प्रथमया प्रथमप्राप्तमाचामति । तथा गायत्रीद्वितीयपादेन मधुमत्या द्वितीयया द्वितीयया
च व्याहृत्या द्वितीयं प्राप्तम् । तथा तृतीयेन गायत्रीपादेन तृतीयया मधुमत्या तृतीयया च
व्याहृत्या तृतीयं प्राप्तम् । सर्वा सावित्रीं सर्वाश्च मधुमतीरुक्त्वाऽहमेवेदं सर्वं भूयासमिति
चान्ते भूर्भुवः स्वः स्वाहेति समस्तं भक्षयति । यथा चतुर्भिर्प्रासैस्तद्द्रव्यं सर्वं परिसमा-

सिन्धवो नद्यो मयु क्षरन्ति मधुररसाङ्गवन्ति । ओषधीश्चास्मान्प्रति माध्वीमधुररसाः सन्तु ।
देवस्य सवितुर्भंगस्तेजोऽन्नं वा प्रस्तुत पदं चिन्तयामः । नवतं रात्रिर्होषतो दिवसाश्च मधु
प्रीतिकराः सन्तु । "पापिचं रजो मधुमदनुद्वेगकरमस्तु । छीश्च पिता नोऽस्माकं मधु सुखकरोऽस्तु ।
यः सविता नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयेत्तस्य तद्वरेण्यमिति संबन्धः । वनस्पतिः
'सोमोऽस्माकं मधुमानस्तु । गावो रश्मयो "दिशो वा माध्वीः सुखकराः सन्तु । अन्तश्चन्द्रादितिशब्दा-
ञ्चोपरिष्ठादुक्त्वात्प्रयुक्तम् । एवं प्राप्तचतुष्टये निवृत्ते सत्यवशिष्टे द्रव्ये किं कर्तव्यं तत्राऽऽह—यथेति ।

गायत्री के प्रथम पाद प्रथम मधुमती ऋचा द्वारा और प्रथम व्याहृति से प्रथम प्राप्त भक्षण करे । तथा
गायत्री के द्वितीय पाद द्वितीय मधुमती ऋचा और द्वितीय व्याहृति से दूसरा प्राप्त भक्षण करे और
गायत्री के तृतीय पाद, तृतीय मधुमती और तृतीय व्याहृति से अन्त में तीसरा प्राप्त भक्षण करे । फिर
समस्त गायत्री, सभी मधुमती ऋचा और 'मै ही यह सब कुछ हो जाऊँ' इस प्रकार कह कर और
फिर अन्त में "ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा" इस प्रकार मन्त्र उच्चारण करते हुए समस्त मन्य द्रव्य को

- १ लोका । २. तृतीयं प्राप्त भक्षयित्वा । ३ अन्तत इति—यद्योक्तमन्त्रस्य भक्षणान्ते इत्यर्थः । ४.
प्रवन्तीति—तृणामोदासहे वेनेति तत् क्षरणफल इष्टव्यम् । ५ मन्यद्रव्यात्मक स्वरूपम् । ६. सपि ।
७. अस्माकम् । ८. पापिच रज इति—"लोका रजानीत्युच्यन्ते" इति श्रुतेः । मातृरूपः पृथिवीलोका
प्राह्णायुक्तोऽस्तु सर्वदेवपर्यं । ९. प्रेरयेच्छुभे बर्भणीति शेषः । १० सोमपदेनात्र चन्द्रो विवक्षितो "वनस्पतीनां
चन्द्रो देवता सोम प्रोषधीनामिति" श्रुतेः । ११ अनुद्वेगकृत् । १२. रश्मीनां सूर्यादेव सिद्धेराह—दिसो
वेति ।

आचम्य पाणी प्रक्षाल्य 'जघनेनाग्निं प्राक्शिराः सवि-
शतिं प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं
मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघ-
नेनाग्निमासीनो 'वधंशं जपति ॥ ६ ॥

(यह सब मैं ही हो जाऊँ) "भूर्भुव स्वः स्वाहा" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर अन्त में अक्षरोंप सम्पूर्ण मन्त्र को खाकर दोनों हाथ धोकर अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर बैठे । फिर प्रातःकाल "दिशामेकपुण्डरीकमस्यहम्" (तू दिशाओं में एक पुण्डरीक है, मैं मनुष्यों में एक अक्षरोंप घेष्ट होऊँ) इत्यादि मन्त्र द्वारा आदित्य को नमस्कार करे, तत्पश्चात् जिस मार्ग से गया था, उसी मार्ग से लौटकर अग्नि के पश्चिम भाग में बैठे और आगे कहे जाने वाले वध का जप करे ॥ ६ ॥

प्यते तथा पूर्वमेव 'निरूपयेत्' । यत्प्रात्रावलिप्तं तत्प्रात्रं सर्वं निश्चिज्य तूष्णीं पिबेत् ।
'पाणी प्रक्षाल्याप आचम्य जघनेनाग्निं पश्चादग्नेः प्राक्शिराः संविशति । 'प्रातःसन्ध्यामुपा-
स्याऽऽदित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमित्यनेन मन्त्रेण । यथेतं यथागतमेत्याऽऽगत्य
जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥ ६ ॥

प्रात्रावलिप्तस्य परित्याग वारयति—यदिति । निश्चिज्य प्रक्षाल्येति यावत् । 'पाणिप्रक्षालनवचन-
सामर्थ्यात्प्राप्तं शुद्धपर्यं स्मार्तमाचमनमनुजानाति—अप आचम्येति । एकपुण्डरीकशब्दोऽलक्ष-
श्रेष्ठवाची ॥६॥

भक्षण करे । जिसप्रकार यह मन्त्र द्रव्य चार प्रासो में पूर्ण हो जाय, इसको पहले से ही विभाजन कर ले । जो पात्र में लगा रह जाय, उस पात्र को धोकर उस सबको मौन होकर पी ले । फिर दोनों हाथों को धोकर जल से आचमन कर 'जघनेनाग्निम्' अर्थात् अग्नि के पश्चिम देश में पूर्व की ओर शिर करके शयन करे । (शयन से उठकर शौचादि से निवृत्त होकर) प्रातःकालिक सन्ध्यापासना कर "दिशामेकपुण्डरीकमसि—" इत्यादि मन्त्र से आदित्य का उपस्थान करे । फिर 'यथेतम्' यानी जिस मार्ग से गया था, उसी से 'एत्य' अर्थात् लौटकर अग्नि के पश्चिम भाग में बैठकर प्राचार्य-परम्परा का जप करे ॥ ६ ॥

१ जघने नाग्निमिति—अग्ने पश्चिमदेशे इत्यर्थः । २ वधमिति—एतद्विद्योपदेशकाचार्यपरम्परां मनसि
गृणाति । जपेदिति यावत् । ३ विषजेत् । ४ प्रकृताचमनस्य स्मार्तत्वात् स्मार्तचमनस्य च पाणिप्रक्षा-
लनोत्तरत्वेन विहितत्वान्मूलकम मङ्गलत्वाऽऽह—पाणी प्रक्षाल्याप आचम्येति । ५ सविशति—देते धापीतेति
यावत् । ६ प्रातरिति—शयनादुत्थाय बहिर्गत्वा (शौचादि विचाय) सन्ध्यामुपास्य भतिश्रद्धाम्यामुदयसमये
नवितुषपासनं कुर्यादित्यर्थः । ७ पाणिप्रक्षालनति—स्पृशो हि भोजनोत्तरहस्तप्रक्षालनान्तरमाचमन
शुद्धपर्यं विधीयते । प्रकृते च भोजनोत्तरकालीनपाणिप्रक्षालनथवगात्तद्विनाभूतत्वेनोपस्थितं शुद्धपर्यं
स्मार्तमाचमनं पाणिप्रक्षालनोत्तरकालानुष्ठयत्वेनाचष्ट इति यावत् । ८ अक्षणेति—अद्वितीयश्रेष्ठवाची-र्थः ।
नास्य समोऽग्र्यः श्रेष्ठ इत्यर्थक इति यावत् । वस्तुतस्त्वसण्ड इति भिन्न पद तथा च षड एवायं षड
इत्यर्थः ।

‘त^७हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याया-
न्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एन^७ शुष्के स्थाणौ
निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखा. प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥७॥
‘एतमु हं व वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पंङ्गवा-
यान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एन^७ शुष्के स्थाणौ
निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥८॥
एतमु हं व मधुकः पंङ्गवश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन
उक्त्वोवाचापि य एन^७ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जा-
येरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥९॥

उस इस मन्य का उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य के प्रति उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्यद्रव्य को सूखे ठूँठ पर डाल देगा, तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ७ ॥

उस मन्य का वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पंङ्गव को उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्य को सूखे ठूँठ पर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उग आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ८ ॥

उस इस मन्य का मधुक पंङ्गव ने अपने शिष्य चूल भागवित्त को उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्य को सूखे ठूँठ पर डालेगा तो उसमें शाखाएँ फूट आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ९ ॥

‘तं हैतमुद्दालक इत्यादि सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिन्य उक्त्वोवाचापि य एनं
शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखा. प्ररोहेयुः पलाशानीत्येवमन्तमेन मन्य-
पुद्दालकात्प्रभृत्येकंकाषायंक्रमागत सत्यकाय प्राचार्यो बहुभ्योऽन्तेवासिन्य उक्त्वोवाच ।
किमन्यदुवाचेत्युच्यते—अपि य एन शुष्के स्थाणौ गतप्राणोऽप्येन मन्यं मक्षराय

‘उस (इस मन्य को) उद्दालक ने (याज्ञवल्क्य को उपदेश कर कहा था) इत्यादि श्रुतिवाक्य में प्रारम्भ होकर ‘उसे ही सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को उपदेश कर कहा था’ इस श्रुतिवाक्य पर्यन्त उद्दालक से लेकर (जप्य) वशपरम्परागत एक-एक प्राचार्य के क्रम से सत्यकाम जाबाल ने इस मन्य का अपने बहुत से शिष्यों को उपदेश करके कहा—“जो भी कोई इस मन्य को सूखे ठूँठ पर

१ जप्य वशमाह—तमित्वादिना तमेत यथोक्त मन्यमित्यर्थ । २ उक्तकर्तृभ्यताञ्ज मन्यम् । ३ तमित्वादिभ्या तमित्य त प्रतीकोद्धारण विज्ञेयम् । ४ घण्टदिधि—मन्त्रापेक्षायाअवहित्यर्थ । ५ प्राणो-पासक । ६ स्थाणौ—द्वित्रिबिडपर्य्य प्रकाले ।

एतमु ह्व चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्ते-
वांसिन उक्त्वोवाचापि य एन७ शुष्के स्थाणौ निषि-
ञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥१०॥

एतमु ह्व जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबाला-
यान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एन७ शुष्के स्थाणौ
निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥११॥

एतमु ह्व सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वो-
वाचापि य एन७ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जाये-
रञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतं नापुत्राय
वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥१२॥

उस इस मन्थ का चूल भागवित्ति ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण को उपदेश करके कहा था कि यदि कोई इस मन्थद्रव्य को सूखे ठूँठ पर डाल देगा तो उसमें भी शाखाएँ फूट निकलेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ १० ॥

उस इस मन्थ का जानकि आयस्थूण ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल के लिए उपदेश करके कहा था यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डाल देगा, तो उसमें शाखाएँ उग आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ११ ॥

उस इस मन्थ का सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डाल दे, तो उसमें भी शाखाएँ फूट आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे। उस इस मन्थ का उपदेश उसे न करे जो पुत्र या शिष्य न हो (शिष्य, वेद पढ़ने वाला श्रोत्रिय, मेधावी, धनदाता, प्रियपुत्र और एक विद्या सीखकर दूसरी विद्या सिद्धाने वाला ये छ विद्या के अधिकारी होते हैं। उनमें से इस प्राग दर्शन युक्त मन्थ विज्ञान को पुत्र और शिष्य दो ही को देने के लिये कहा गया है) ॥ १२ ॥

संस्कृतं निषिञ्चेत्प्रक्षिपेज्जायेरन्नुत्पद्येरन्नेवास्मिन्स्थाणौ शाखा अवयवा वृक्षस्य प्ररो-
हेषुश्च पलाशानि पलाशानि यथा जीवतः स्थाणोः किमुतानेन फर्मणा फामः सिधेदिति ।

डाल देगा तो उसमें शाखाएँ निकल आयेंगी और पत्ते उग आयेंगे। मन्थ में भिन्न क्या बंधा—इसे बननाया जाता है। जो भी प्राणोपासक भक्षण के लिए मन्थित किए हुए इस मन्थ को गुच्छ 'स्थाणौ' अर्थात् बड़े बूझ के तने पर भी "निषिञ्चेत्" अर्थात् डाल दे तो इस स्थाणु में यानी "शाखाः" वृक्ष के अवयव "जायेरन्" अर्थात् उत्पन्न हो जायेंगे और "पलाशानि" यानी पत्ते उग आयेंगे। जैसे हरे-भरे पत्ते जीवित स्थाणु में रहते हैं, फिर इस मन्थकर्म से यदि इष्टकामना की पूर्ति हो जाय

'चतुरौ'दुम्बरो भवत्यौ'दुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस
औदुम्बर इधम औदुम्बर्वा उपमन्यन्यौ 'दश ग्राम्याणि
धान्यानि भवन्ति त्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो
गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान्पि-

यह मन्थकर्म चार औदुम्बर काष्ठ के पदार्थ से युक्त होता है। इसमें गूलर की लकड़ी का स्रुवा, गूलर की लकड़ी का चमस, गूलर की लकड़ी का इधम और उसी काष्ठ की दो उपमन्यनी होती हैं (इसीलिये इस मन्थ कर्म को चतुरौदुम्बर कहते हैं)। इसमें धान्य, जौ, तिल, चूद, साँवा, काँगनी, मेहें, मसूर, वाल और कुलथी ऐसे दस ग्रामीण भन्न होते हैं (इसके अतिरिक्त यज्ञसंबन्धी मन्थ

ध्रुवफलमिदं कर्मेति कर्मस्तुत्यर्थमेतत् । विद्याधिगमे षट्तीर्थानि तेषामिह सप्राण-
दर्शनस्य मन्थविज्ञानस्याधिगमे द्वे एव तीर्थे अनुज्ञायते पुत्रश्रान्तेवासी च ॥७॥८॥९॥
॥१०॥११॥१२॥

चतुरौदुम्बरो भवतीति ध्याह्यातम् । दश ग्रान्याणि धान्यानि भवन्ति ग्राम्याणां
तु धान्यानां दश निधेन ग्राह्याणीत्यवोचाम । तान्येतानि निश्चिद्यन्ते—त्रीहियवास्तिल-

तमेत नापुत्रायेत्यादेरयंमाह— विद्येति । शिष्यः श्रोत्रियो मेधावी धनवाधो प्रियः 'पुत्रो विद्यया
विद्यादातेति षट्तीर्थानि 'संप्रदानानि ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

तो इसमें कौन सी बड़ी बात है। यह कर्म निश्चित फलदायक है, इससे यह कर्म की स्तुति के लिए है।
'विद्या प्रदान के छ अधिकारी हैं, उनमें से प्राणदर्शन युक्त मन्थविद्या का प्रदान पुत्र और शिष्य इन
दो ही अधिकारियों को करना चाहिये ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

जिस मन्थ के चार औदुम्बर हैं, इसे ("औदुम्बरः स्रुवः" इत्यादि वाक्यों से श्रुति ने स्वयं)
प्रतिपादन कर दिया है। (त्रीहि-यवादि) दश ग्राम्य धान्य होते हैं और दश ग्राम्य धान्यों को अवश्य
पहण करना चाहिये, ऐसा हम पहले कह चुके हैं। उन इन धान्यों को निरूपित किया जाता है—

१. चतवार औदुम्बरा यस्य मन्थयेति विग्रहः । २. सर्वोपधत्वेन सामान्यत उक्त सम्प्रति विशेषतः सोरस्कार प्रकटयति—चतुरौदुम्बर इत्यादिना । ३. दुम्बरस्य विकार औदुम्बरः स चतु सस्याको भवतीत्यर्थः । ४. के ते चतवार औदुम्बरा इत्याकाङ्क्षायामाह—औदुम्बर स्रुव इत्यादि । ५. मन्थोपादानद्रव्याणां दश ग्राम्याणीत्यादिना । अणु. मोक्षीपमिति विन्ध्याचलप्रदेशे प्रसिद्धम् । प्रियंगवः कङ्क, शब्दबाष्पाः । खल्वा निष्पावा. बल्लसच्छदवास्या । खलकुला कुलत्या । ६. षट्तीर्थानि—षट्प्राणाणि । अधिकारिण इति यावत् । पचाह—"ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रियः । विद्यया विद्या यः प्राह तानि तीर्थानि यस्मिन्" ॥ इति विद्याधिष्ठातृदेवतोक्तिरिति । अत्र ब्रह्मचारी शिष्यः श्रोत्रियो यपोत्तकारी । प्रिय. पुनः । ७. औदुम्बरः स्रुव इत्यादिना श्रुत्यैव स्वयमित्यर्थः । ८. स्मृतिपठकप्रियपदार्थमाह—पुत्र इति । ९. संप्रदानानीति—विद्याप्रदानप्राणीत्यर्थः । तदुक्त—"तीर्थं धारत्राश्वरदोत्रपानोपाध्यायमन्त्रिषु । भवतारविजुष्टाम्भ. स्त्रीरजःसु च विभूतमिति" ॥

षट्शब्दनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य

तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

(अथ षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ।)

'एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामो-
षधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां' फलानि फलानां

पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥ १ ॥

भ्रौपधियां भी यथाशक्ति मिलाई जाती है) इन्हे पीस करके दही, मधु और घृत में मिलाकर घृत से होम करता है ॥ १३ ॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

इन स्यावर जङ्गम सपूर्ण भूतो का सारतत्त्व पृथिवी है, पृथिवी का सार जल है, जल का सार भ्रौपधियां है, भ्रौपधियो का सार पुष्प है, पुष्प का सार फल है, फलो का सार पुरुष है तथा पुरुष का सार वीर्य है ॥ १ ॥

माया अणप्रियंगवोऽणवश्चाणुशब्दवाच्याः । ष्वचिद्देशे प्रियंगवः प्रसिद्धाः कङ्गुशब्देन ।
खत्वा निष्पावा वत्लशब्दवाच्या लोके खलकुलाः कुलत्याः । एतद्व्यतिरेकेण यथाशक्ति
सर्वोषधयो ग्राह्याः फलानि चेत्यवोचामां घातिकाणि वर्जयित्वा ॥ १३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

'यादृजन्मा यथोत्पादितो यंवा गुणविशिष्टः पुत्र आत्मनः पितुश्च लोबयो

॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकाया षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

प्राप्तोपासकस्य वित्ताधिक्ये मन्थाख्ये कर्मो'षत्वा ब्राह्मणान्तरमुत्थापयति—यादृगिति ।

श्रीहि, यव, तिल, माप, अणु, प्रियङ्गु, अणु (चावल भेद) अणुशब्दवाच्य है । प्रियङ्गु को कही-कही कङ्गु शब्द से भी कहा जाता है । खत्व अथवा निष्पाव लोक में "वल्" शब्द से भी कहे जाते हैं, खलकुल कुलत्य का नाम है । इसके अतिरिक्त लशुनादि अग्नेय को त्यागकर यथाशक्ति सभी भ्रौपधियो और फलो का ग्रहण करना चाहिए—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं ॥ १३ ॥
इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

१ तत्रादौ पुत्रोत्पत्तिहेतुरेतो बीज प्रथमकण्ठिकया स्तोति—एवामित्यादिना । २ अर्थात्तिकाणि—अग्नेयानि लशुनप्रभृतीनि । ३ शुभजन्मविशिष्ट इति यावत् । ४ स्वस्य । ५ सोकाय हित । ६ उत्सवेत्यनन्तर तस्यैव विशिष्टपुत्रादिव पुत्रमन्थाख्य कर्म वस्तुमिति शेष ।

भवतीति तत्संपादनाय ब्राह्मणमारभ्यते । प्राणदर्शनः श्रीमन्थ कर्म कृतवतः पुत्रमन्थे-
 अधिकारः । यदा पुत्रमन्थ चिकीर्षति तदा श्रीमन्थ कृत्वत्काल पत्न्याः प्रतीक्षत इत्येत-
 द्देतस औपध्याविरसतमत्वस्तुत्याऽवगम्यते । एषा वै चराचराणा नूताना पृथिवी रसः
 सारभूतः । सर्वभूताना मर्ध्वति ह्युत्सम् । पृथिव्या प्रापो रसः । अप्सु हि पृथिव्योता
 च प्रोना च । अप्रामोपधयो रसः । कायंत्वाद्रसत्वमोपध्यादीनाम् । औपधीना पुष्पाणि
 पुष्पाणा फलानि । फलाना पुरुषः । पुरुषस्य रेतः । "सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सभूतम्"
 इति श्रुत्यन्तरात् ॥ १ ॥

उक्तगुण 'स कय स्वादित्प्रपेक्षावामिति शेष । तच्छब्दो यथोक्तपुत्रविषय । यदस्मिन्ब्राह्मणे पुत्रमन्व्याह्यं
 कर्म वक्ष्यते तद्भवति 'सर्वाधिकारत्रियमित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणिति । पुत्रमन्थस्य कालनियमाभावमा-
 शङ्क्याऽऽह—यदेति । किमत्र गमकमित्याशङ्क्य रेत स्तुतिरित्याह—इत्येतदिति । पृथिव्याः सर्वभूत-
 सारत्वे मधुब्राह्मण प्रमाणयति—सर्वभूतानामिति । तत्र 'भोगिश्राह्मण प्रमाणमित्याह—अप्सु हीनि ।
 अत्र पृथिव्याश्च रसस्य कारणत्वाद्युक्तमोपध्यादीनां कथमित्याशङ्क्याऽऽह—कायंत्वादिति । 'रेतोऽसृज-
 तेति "प्रस्तुत्य रेतमस्तत्र तेज शब्दप्रयोगात्सस्य पुरुषे सारत्वमंतरैयके विवक्षितमित्याह—सर्वमन्थ
 इति ॥१॥

जिस प्रकार शुभजन्मविशिष्ट जिस शुभविधि से उत्पादित एव जिन शुभ गुणो से विशिष्ट
 पुत्र अपने तप्रा पितृलोक के हित के लिए रहता है, उसे- प्रतिपादित करने के लिए इस ब्राह्मण का
 आरम्भ किया जाता है । प्राण के उपासक श्रीमन्थ कर्म सम्पादन किये पुरुष का ही पुत्रमन्थ कर्म
 में-अधिकार है । जब उपासक पुत्रमन्थ करना चाहे तो वह श्रीमन्थकर्म का अनुष्ठान कर चुकने पर
 पत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करे इसे वीर्य को औपधि आदि का रसनम बतलाने वाली "एषा वै
 रेत —इस श्रुति से की गई स्तुति द्वारा जाना जाता है । इन चराचर भूतो वा सारभूत रस पृथिवी
 है । 'सर्व प्राणियो का कार्य है' ऐसे पहले श्रुति कह चुकी है । पृथिवी का रस जल है । जल में
 पृथिवी श्रोत श्रोत है, जल का रस औपधियाँ है । जलादि वा काय होने के कारण औपधियो को
 उसका रस बतलाया है । औपधियो का रस पुष्प है । पुष्पो को रस फल है और फलो वा रस पुरुष
 है । पुरुष का रस वीर्य है । अन्य श्रुति म भी कहा गया है—' यह वीर्य पुरुष के सपूर्ण अङ्गा से उत्पन्न
 हुआ तेज है ॥ १ ॥

१ प्राणोपासकस्य । २ स्तुत्या—एषामित्यादिना वृत्त्या । ३ कायम् । ४ अ उ २ ५ १ । ५
 उक्तमिति—तदपतनवाक्योक्त कारणत्व वाऽनानुसंधेयम् । ६ भवादिकाकारवात् । ७ पुत्र । ८ सर्वा
 धिकारविषयमिति—सर्वेषामधिकारस्य विषयम् । सर्वाण्युपेयमिति यावत् । ९ अ उ ३ ६ १ । १०
 गिरन निरभिद्यत चिन्नाद्रेत इत्येतदुपक्रमस्य रेत पद सुश्रिप्रस्तावानुगुणेनाह—रेतोऽसृजतेति । प्रस्तुत्येति—
 रेतस प्राप, इत्येतन्मध्ये परामगगत रेतस इति पदमादत्ते रेतस इति । यदेतद्रसत्वदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गे
 भ्यस्तेजसभूतमिति द्वितीयाध्यायस्य वाक्यमात्रपठे—तत्र तेज शब्दप्रयोगादिति । यद्—गिन्नाद्रेत इति
 प्रस्तुतम् । एतद्—रेतस प्राप इति मध्ये परामृष्टमित्यर्थः । ११ प्रस्तुत्य—रेतस्तत्रेत्येव साधीयान्
 षट् ।

'स ह प्रजापतिरोक्षाचक्रे हन्तास्मं प्रतिष्ठां कल्पया-
नीति स स्त्रियथ ससृजे ताथ स ऽथ उपास्त तस्मा-
त्स्त्रियमथ उपासीत स एतं प्राञ्च प्रावाणमात्मानं एव
समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजेत् ॥ २ ॥

उस प्रसिद्ध सृष्टिकर्ता प्रजापति ने विचार किया कि इस सारतत्त्व को स्थापना के लिए किसी योग्य आधार भूमि का निर्माण करना चाहिये । उन्होंने स्त्री की सृष्टि की, उसकी सृष्टि करके प्रधोभाग की उपासना की, अर्थात् मैथुन कर्म किया । अत उत्तम सन्तान उत्पत्ति मात्र के लिये स्त्री के प्रधोभाग का सेवन सदगृहस्थ करें । (इस मैथुन कर्म में वाजपेय यज्ञ की समानता दिखनायी गयी है) प्रजापति ने इस उल्लूक गतिशील (सोमरस निकालने के लिये) पत्थर के सदृश अपने जननेन्द्रिय की मैथुन काल में कठोर बना दिया और स्त्री की योनि की ओर प्रेरित किया, अर्थात् उससे उस स्त्री का ससर्ग किया (स्मरण रहे यह सतान उत्पत्ति विज्ञान प्रजा उत्पादन योग्य गृहस्थ आश्रम में तरुणों के लिये ही बतलाया गया है, अन्य के लिये नहीं । इस विज्ञान में अश्लील शब्दों का आना अनिवार्य है । अत पाठक विश्व कल्याण की भावना से इस प्रसङ्ग को पढें) ॥ २ ॥

यत एव सर्वभूताना सारतममेतद्रेतोऽतः का नु खल्वस्य योग्या प्रतिष्ठेति स ह
स्रष्टा प्रजापतिरोक्षाचक्रे । ईक्षा कृत्वा स स्त्रिय ससृजे । ता च सृष्ट्वाऽथ उपास्त मैथु-
नाख्यं कर्माघउपासन नाम कृतवान् । तस्मात्स्त्रियमथ उपासीत् । श्रेष्ठानुश्रयणा हि प्रजाः ।
अत्र वाजपेयसामान्यबलुप्तिमाह—'स एतं प्राञ्च प्रकृष्टगतियुक्तमात्मनो प्रावाण सोमा-

श्रेष्ठमनुश्रयन्तेऽनुसरतीति श्रेष्ठानुश्रयणा । पशुकर्मणि 'स्वारस्येन प्राणिमात्रस्य प्रवृत्तेर्व्या
विधिरित्याशङ्क्या'ऽऽह—अत्रेति । अवाच्य कर्म सप्तम्यय ॥२॥

यदि इस प्रकार यह वीर्य संपूर्ण भूतो का सारतम तत्त्व है, इसलिए (जिसमें प्रतिष्ठित होकर पुस्त्व प्राप्त करे, वैसी) इसकी योग्य प्रतिष्ठा क्या है ? इसे श्रुति कहती है—'स ह' अर्थात् उस स्रष्टा प्रजापति ने विचार किया । विचार करके उसने स्त्री की सृष्टि की । उसकी सृष्टि करके 'अथ उपास्त' अर्थात् मैथुनाख्य कर्म ही प्रधोभाग उपासना का नाम है उस कर्म को निष्पन्न किया । इसलिए (अथ भी) स्त्री के प्रधोभाग की उपासना करें । प्रजा श्रेष्ठ लोगों का ही अनुसरण किया करती है । इस व्यवहारकर्म में वाजपेय यज्ञ के सादृश्य की कल्पना करते हैं । स' यानी उस प्रजापति

१ स ह प्रजापतिविराडात्मा । अस्मै सबसारभूताय रेतसे । प्रतिष्ठामधिकरणम् । स्त्रियमिति—तत पतिश्च पत्नी चाश्रयतामित्यत्र पत्नीशब्देनोक्ता शतरूपामित्यर्थ । २ योयेति—यस्यां प्रतिष्ठित रेत पुस्त्वमापद्यते तादृशीत्यय । ३ उपासीतेति—अद्यतनोऽपि जन इति शेष । ४ वाजपेयेति—अवाच्यकर्मणि वाजपेय-सपतिश्च 'स यावान् हेत्यादिवक्ष्यमाणपुरुषार्थसप्तम्य' इति ध्येयम् । ५ स प्रजापति । ६ प्रकृष्टगति-युक्तमिति—अनुसृतया दीर्घाकरणमत्र विवक्षितम् । ७ सोमकण्डनसाधनोपतस्त्वानीयम् । ८ स्वभावत । ९ आहेति—पशुकर्मणि वाजपेयसृष्टिकरणार्थं तत्साधन्यं कल्पनामाहेत्यर्थम् ।

'तस्या वेदिरूपस्थो लोमानि ब्रह्मेश्वर्माधिपवणे
समिद्धो मध्यतस्तो मुष्कौ 'स यावान्ह वं वाजपेयेन
यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति

उस स्त्री की उपस्थ इन्द्रिय वेदी है, वहाँ के रोएँ युष्ठा हैं, योनि का मध्य भाग तान वणं के कारण प्रज्वलित अग्नि है, योनि के पार्श्व भाग में दो बठोर मांस खण्ड मुष्क हैं, वे दोनों मुष्क ही चर्माधिपवण नाम से प्रसिद्ध चमड़े के बने सोमफलक हैं। वाजपेय यज्ञ अनुष्ठान से यजमान को जितना पुण्यलोक प्राप्त होता है, उतना ही इस मंथुन विज्ञान के जानने वाले उपामक को इस कर्म से

भिषधोपलक्ष्यानीयं काठिन्यसामान्यात्प्रजननेन्द्रियमुदपारयदुत्पूरितवान्स्त्रीव्यञ्जन प्रति
तेनैनां त्रियमम्यसृजदभिसंसर्गं कृतवान् ॥ २ ॥

॥ तस्या वेदिरित्यादि सर्वं सामान्यं प्रसिद्धम् । 'समिद्धोऽग्निमंध्यतः स्त्रीव्यञ्जनस्य
तो मुष्कावधिपवणफलके इति व्यवहितेन संवध्यते । वाजपेययाजिनो यावात्लोकः प्रसिद्ध-

मुष्कौ घृवणी योनिपार्श्वयोः कठिनो मांसखण्डौ तत्राधिपवणशब्दितसोमफलकदृष्टिः ।
यच्चाऽऽनदुहं चर्मं सोमकण्डनायं तद्दृष्ट्यो रहस्यदेशस्य चर्मणि कृतं च्येत्याह—ताविति । उपारितप्रकार-

ने "एतं प्राञ्चम्" ऋगुरूप से दीर्घ किये हुए "प्रावाणम्" अर्थात् सोम निकालने के साधक प्रस्तरखण्ड
को, काठिन्य गुण की समानता वाले शिशुन को "उदपारयत्" अर्थात् स्त्री योनि के अग्निमुख किया ।
उस पापाण के समान कठिन शिशुन से इस स्त्री का "अभ्यमृजद्" अर्थात् चारों या सब ओर से वार-
वार व्यवय किया ॥ २ ॥

"स्त्री को योनि ही वेदी है—" इत्यादि मन्त्र में सब (दूर्वाधिकरणत्वादि रूप) साधर्म्य प्रसिद्ध
है । स्त्री योनि के मध्य देश में प्रदीप्त अग्नि की भावना करे, योनि के वे दोनों मुष्क अधिपवण
(सोम अधिपव के लिये आनदुह चर्म) हैं । इस प्रकार "चर्माधिपवणे" का "मुष्कौ" इस दूरस्थ पद से

१. तस्या इति—यस्यामुष्को प्राञ्चोदपूरितस्या उपस्थे वेदिरितिः कार्या । वेदिरिह दूर्वाधर्भरस्त्रीणां योनिश्च
लोमभिरिति साधर्म्यं दृश्यम् । २ चर्मिति—योनिस्थे चर्मणि आनदुहचर्मदृष्टि कार्यां सोमाधिपवणार्थं हि
कृतावानदुह चर्मं प्रसिद्धम् । ३. पशुकर्मणि वाजपेयदृष्टिक्रममाह—स यावानित्यादिना । ४. स्त्रीति—
स्त्रीयोनिमभिमुखी कृतवानिति यावत् । ५. तेनैनामिति—पापाणवत् कठिनेन शिशुनेन । अभ्यमृजद्—
पन्थित सम ततो मुहुर्मुहुं पथयं चोदना कृतवानित्यर्थं । ६. दूर्वाधिकरणत्वादिषु साधर्म्यम् । ७. समिद्ध
इति—योनिमध्यप्रदेशे दीप्ताग्निदृष्टिविधेयेत्यर्थं ।

॥ तस्या वेदिरित्यादि सर्वं सामान्यं प्रसिद्धमिति । यत्राहुर्वैतिकाचार्यास्तथाहि—"अप्राग्नि सन्धियन्ते हि दश
सप्त च भागाः । वाजपेये कृतावन्नकामस्य स विधीयते ॥ रेतसोऽन्नरसस्यैव यत्राप्राहुनिरीदयते । वाजपेया-
भिसपत्न्यान्मंथुनाकथकतोरत । सामान्यादिति विशेष्यं वाजपेयफलादिनाम्" ॥ १३ १४ ॥ पशुकर्मण्यं पु वाज-
पेयाङ्गं ध्यातेऽपि कथं तत्र तदव्यास साम्याभावादित्याशङ्क्य मत्स्यार्थं वाजपेयस्याभ्रत्व साधयति—अप्राग्नीनि ।
सप्तदश प्रात्रापत्याप्यधूनालभ्रत् इति श्रुतेरसार्कर्मणं तत्तद्देवतोद्देशेन वाजपेयेऽग्निं संपाद्यन्ते स च सर्वसकामस्य

य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासा^७ स्त्रीणा^७ सुकृत
वृद्धक्तेऽय य इदमविद्वानधोपहासं चरत्याऽस्य
स्त्रियः सुकृत वृद्धजते ॥ ३ ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिरा^१हैतद्ध स्म वै

भी प्राप्त होता है । जो इस प्रकार जानने वाला पुण्य मंथुन का आचरण करता है । वह विद्वान् इन स्त्रियों के पुण्य को अवच्छेद कर लेता है, इसके विपरीत जो इसे जानना नहीं और यदि वह मंथुन का भेवन करता है, तो उस अज्ञानी के पुण्य को स्त्रियाँ अवच्छेद कर लेती हैं ॥ ३ ॥

निश्चय ही मंथुन कर्म की वाजसनेय सप्त जाता, अरुणतन्दन उद्दालक पूर्वोक्त रीति से

स्तावान्विदुषो मंथुनकर्मणो लोकः फलमिति स्तूयते । तस्माद्दीभत्सा नो कार्येति । य एव
विद्वानधोपहासं चरत्यासां स्त्रीणा सुकृत वृद्धक्ते^१ आदजंयति । अथ पुनर्यो^२ वाजपेदसपत्ति
न जानात्यविद्वान्नेतसो रसतमत्वं चाधोपहासं चरति । आस्य स्त्रियः सुकृतमावृद्धक्ते-
ऽविदुषः ॥ ३ ॥

मुश्या फलोक्तेस्तात्पर्यमाह—वाजपेयेति । स्तूयते मंथुनाख्य कर्मोति शेष । स्तुतिफलमाह—तस्मा-
दिति । इतिशब्द 'स्तुतिफलदर्शनायं । उपास्तेरधिक' फलमाह—य एवमिति । अविदुषो 'दुर्मार्पा-
निरतस्य प्रत्यवाय दर्शयति—अथेति ॥ ३ ॥

सबका है । वाजपेय याग करने वाले को नितने फल की प्राप्ति होती है उतना ही 'लोक' अर्थात्
फल मंथुन कर्म करने का उपासक को होता है, इस प्रकार मंथुन कर्म की स्तुति की जाती है ।
इसलिए इससे धृष्टा नहीं बरनी चाहिये । इस प्रकार जानने वाला जो मंथुन कर्म का आचरण करता
है, वह इन स्त्रियों के पुण्य को वृद्धक्ते अर्थात् ग्रहण कर लेता है । एव जा इय मंथुन मे वाजपेय
सपत्ति को नहीं जानता है अर्थात् वीर्य का रसतमत्व न जानकर मंथुनकर्म में प्रवृत्त होता है, उस
अविद्वान् के पुण्य को स्त्रियाँ ही ग्रहण कर लेती हैं ॥ ३ ॥

१ प्राह स्मेत्यन्वय । एवमुक्तनापि । २ मंथुनम् । ३ आदत । ४ मंथुने । ५ स्तुतिकर्तेति—
मंथुने धृष्टाकृतव्य-त्वाभावप्रदर्शनायं इति यावत् । ६ अधिक वाजपेयापेक्षामधिकमित्यर्थ । ७ मंथुन-
निरतस्य ।

विधीयते स्वारान्यभोज्यस्वेनाग्नाभ्यतिरिक्तस्य तत्फलत्वात्तस्मादप्रत्येक स इत्यय ॥ पशुबमणोऽपि तदात्मत्व-
माह—रेतस इति । यत्र कृत्वावन्नरसस्य रेतसोऽग्रहर्षवाऽऽतुरिप्यते तस्य मंथुनाख्यस्य योग्यस्वेनात्तत्त्वात्तस्मादेव
सामान्यादस्मिन्कर्मणि वाजपेयसपत्ति स्थापित्यय । यद्वा तस्मिन्पुरुषेऽऽतुरिप्यते तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा
धन जुह्वन्तीति श्रुतेस्तस्य पुनो रेतो भुक्तान्नरसस्तस्यैव यस्मिन्-नमणि ह्यमानत्व तस्य पूर्ववदप्रत्वात्तस्मिन्वाज-
पेयसपत्तिरित्यर्थ । उपास्ते सर्वाधिभारित्वमाशाऽद्भ्याऽऽह—इति विज्ञेयमिति । उत्तरीत्योपासन वाजपेयानुप्राप्त
विना तत्फलार्थनामिति यावत् ॥

तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहंतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमार-
हारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रया
'विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वाधसोऽधोप-
हास चरन्तीति बहु वा इदध सुप्तस्य वा जाग्रतो वा
रतः स्कन्दति ॥ ४ ॥

कहते है। इसे उक्त रूप में जानने वाले मुद्गल ने पुत्र नाक कहते हैं तथा इसे उक्त रूप से जानने वाले कुमारहारित भी कहते है कि बहुत से ऐसे मरणशील मनुष्य नाममात्र के ब्राह्मण है जो असयत इन्द्रिय पुण्यकर्म रहित अर्थात् मैथुन कर्म में आसक्तिपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। वे इस लोक से प्रस्थान करने पर परलोक से भी भ्रष्ट हो जाते है। (जो ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक 'पत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करता है') उस प्राण उपासक का यदि राग की प्रबलता के कारण ऋतुकाल प्राप्त होने से पूर्व अधिक या कम मात्रा में सोते या जागते समय वीर्य गिर जाता है (तो वह निम्नाद्वित प्रायश्चित्त करे—) ॥ ४ ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आहणिराहाधोपहासाख्यं मैथुनकर्मं वाजपेयसंपन्न
विद्वानित्यर्थः । तथा नाको मौद्गल्यः कुमारहारितश्च । किं त आहुरित्युच्यते—बहवो
मर्या मरणधमिणो मनुष्या ब्राह्मणा अयनं येषां ते ब्राह्मणायना ब्रह्मबन्धवो 'जाति-
मात्रोपजीविन इत्येतत् । निरिन्द्रिया 'विश्लिष्टेन्द्रिया विसुकृतो विगतसुकृतकर्माणो-
ऽविद्वासो मैथुनकर्मासत्ता इत्यर्थः । ते किमस्माल्लोकात्प्रयन्ति परलोकात्परिभ्रष्टा इति ।
मैथुनकर्मणोऽत्यन्तपाषहेतुत्व दर्शयति—य इदमविद्वासोऽधोपहासं चरन्तीति । श्रीमन्मं

अविदुषामतिगह्रितमिदं 'कर्मैषशाऽऽचार्यं परम्परासममिमाह—एतद्धेति । पशुकर्मणो वाजपेय-
संपन्नत्वमिदंशब्दायं । अविदुषामवाच्ये कर्मणि प्रवृत्तानां दोषित्वमुपसहर्तुमिति शब्दः । विदुषो'

अरण के पुत्र उद्दालक "निश्चय ही अधोपहासाख्य मैथुनकर्म वाजपेय यज्ञ की सम्पत्ति से सम्पन्न है", ऐसा जान कर कहते हैं। उसी प्रकार मुद्गल ने पुत्र नाक और कुमारहारित भी इसे उसी प्रकार जानकर कहते हैं। वे क्या कहते है—इस पर श्रुति कहती है। "बहवो मर्या ब्राह्मणायना" अर्थात् ऐसे बहुत से मरणधर्मा लोग हैं जो नाममात्र के ब्राह्मण या ब्राह्मणाभास है, ब्राह्मण जाति का नाम लेकर जीने वाले हैं। 'निरिन्द्रिया' अर्थात् अतिविषय सेवन से कामान्ध है, 'विसुकृत' अर्थात् (केवल कामातिरेक से) मैथुन कर्म में आसक्त है, पुण्य कर्म को विनष्ट करने वाले वे अविद्वान् हैं। वे क्या फल प्राप्त करते है? 'अस्माल्लोकात्प्रयन्ति' अर्थात् परलोक से परिभ्रष्ट होकर नरकगमन

१ विसुकृत इति—परलोकभ्रष्टा सन्तो नरक गच्छन्तीत्यर्थं । २ ब्राह्मणाभासाः । ३ जातीति—
कामातिरेकात् स्त्रीभिरपहृतकर्मणस्तत्साधनब्रह्मवर्षादिमाना इति यावत् । ४ अतिविषयसेवातोऽन्वत्वात्पा-
पसा । ५ ते विमिति—ते किं कर्ममनुवन् इति बोधायनामाह—प्रस्मादिति । ६ परिभ्रष्टा सन्तो
नरक गच्छन्तीति शेष । ७ मैथुनकर्मणि यावत् । ८ मैथुनकर्मणि ।

'तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवी-
मस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः । इदमहं तद्रेत आददे
पुनर्मान्त्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः । पुनरग्निधिष्यथा
यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादाया-
न्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥ ५ ॥

उस वीर्यं को हाथ से स्पर्श करे और स्पर्श करते समय इस प्रकार अभिमन्त्रित करे—आज जो मेरा वीर्यं स्वलित होकर पृथिवी पर गिरा है, जो पहले कभी अन्न में भी गिरा और जल में पडा है, उस इस रेत को मैं ग्रहण करता हूँ; ऐसा बहकर अनामिका और अंगुष्ठ से उस वीर्यं को ग्रहण कर दोनों स्तनों और भौहों के बीच में लगावे, उस समय यह मन्त्र पड़े । वह इन्द्रिय पुनः मेरे पास लौट आवे, जो वीर्यं स्वलित रूप में बाहर निकल गयी थी, मुझे पुनः तेज और सीमाय की प्राप्ति हो । जिनका स्थान अग्नि है, वे देवगण फिर से मेरे शरीर में उस रेत को यथास्थान स्थापित कर दें ॥ ५ ॥

कृत्वा पत्न्या ऋतुकालं ब्रह्मचर्येण प्रतीक्षते यदीदं रेतः स्कन्दति बहु वाऽल्पं वा सुप्तस्य वा जाप्रतो वा रागप्राबल्यात् ॥४॥

'तदभिमृशेदनुमन्त्रयेत वाऽनुजपेदित्यर्थः । यदाऽभिमृशति तदाऽनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां तद्रेत आदत्त आदद इत्येवमन्तेन मन्त्रेण पुनर्मान्मित्येतेन निमृज्यादन्तरेण मध्ये भ्रुवौ

लाभमविदुश्च दोष दर्शयित्वा क्रियाकालात्प्रागेव रेतस्खलने प्रायश्चित्तं दर्शयति—श्रीमन्थमिति । यः प्रतीक्षते तस्य रेनो यदि स्कन्दतीति योजना ॥४॥

मे ममाद्याप्राप्तकाले यद्रेतः पृथिवीं प्रत्यस्कान्त्सीद्रागातिरेकेण स्वभ्रमासीद्यदोषधीः प्रत्यप्य-
सरदगमद्यच्चाप स्वद्योनि प्रति गतमभूत्तद्विद रेतः संप्रत्याददेऽहमित्यादानमन्त्रार्थः । केनाभिप्रायेण तदादानं तदाह—पुनरिति । तत्पुनरा रेतोरुपेण बहिर्निर्गतमिन्द्रियं मां प्रत्येतु समागच्छतु । तेजस्त्वगता

करते है । मैथुनकर्म अत्यन्तपाप का हेतु है, इसे श्रुति बताती है—जो इस रहस्य को न जानने वाला विद्वान् मैथुनकर्म में प्रवृत्त होता है । (वित्तलाभ के लिए) श्रीमन्थ करके जो ब्रह्मचर्यपालन पूर्वक पत्नी से समागमयोग्य काल की प्रतीक्षा करता है । सोते या जागते समय राग की प्रबलता से यदि थोडा या बहुत उसका वीर्यस्खलन हो जाय (तो अग्रिम मन्त्र से प्रार्थना करे—) ॥ ४ ॥

स्खलित हुए वीर्यं को हाथ से सस्पर्श करे और उसके पश्चात् इस मन्त्र का जाप करे । जब वीर्यं का स्पर्श करे तो "यन्मेऽद्य रेतः आददे—" इस श्रुति मन्त्र से अनामिका और अङ्गुष्ठ अङ्गुली

१. वदति—तत् स्कन्द रेनो हस्तेन सपृशेत्पश्चाच्च मन्त्रमुच्चारयेदित्यर्थः । २. अग्निधिष्यथा इत्यत्र रेफ-
श्चन्द्रसः । ३. निम्पेदिति यावत् । ४. प्राणोपासितु श्रीमन्थ कृतवतो न यदा कदाचिद्ब्राह्मणोपगतिरित्यभि-
प्रेत्याह—ब्रह्मचर्येणेत्येति । ५. निर्गच्छति । ६. स्कन्दं रेतः । ७. मैथुनक्रियाकालात् । ८. एहामि ।

अथ यद्युदक आत्मानं पश्ये'त्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज
इन्द्रियं यशो द्रविणं सुकृतमिति श्रीहं वा एषा
स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनी-
मभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥ ६ ॥

यदि भूल से जल में रेत स्वलित हो जाय तो वहाँ पर अपनी छाया को देख लेवे और
“मयि तेज ” इत्यादि मन्त्र में जल को अभिमन्त्रित करे । मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे देवगण ! आप
मुझमें तेज, वीर्य, यश, धन और सत्कर्म की प्रतिष्ठा करें । (उसके बाद जिसके गर्भ से पुत्र की उत्पत्ति
करनी हो, उस पत्नी की स्तुति इस प्रकार करे—) यह पत्नी समस्त स्त्रियो में लक्ष्मीस्वरूपा है, क्योंकि
रजस्वला होने के कारण इसके वस्त्र में रज के चिह्न स्पष्ट दीखते हैं । तत्पश्चात् रजस्वला तथा
यशस्विनी पत्नी के तीन रात्रि के बाद स्नान कर चुकने पर उसके पास जाकर वहे । आज हम दोनों
को वही करना है, जिससे पुत्र उत्पन्न होवे ॥ ६ ॥

श्रुवोर्वा स्तनी स्तनयोर्वा । ५ ॥

अथ यदि कदाचिदुदक आत्मानमात्मच्छायां पश्येत्त्राप्यभिमन्त्रयेतानेन मन्त्रेण
मयि तेज इति । श्रीहं वा एषा पत्नी स्त्रीणां मध्ये यद्यस्मान्मलोद्वासा उद्गतमलवद्वासा-

कान्तिः । भगः सोभाग्यं ज्ञानं वा । तदपि सर्वं रेतोनिर्गमात्तदात्मना बहिर्निर्गतं सन्मां प्रत्यागच्छतु ।
अग्निघट्टणं स्थानं येषां ते देवास्तद्रेतो यथास्थानं कल्पयन्त्विति मार्जनमन्त्रार्थः ॥५॥

अयोनी रेतस्खलने प्रायश्चित्तमुक्तं 'रेतोयोनायुदके रेतःसिद्धच्छायादर्शने प्रायश्चित्तं दर्शयति—
अथेत्यादिना । 'निमित्तान्तरे प्रायश्चित्तान्तरप्रदर्शनप्रक्रमार्थोऽयशब्दः । मयि तेजःप्रभृति देवाः
कल्पयन्त्विति मन्त्रयोजना । 'प्रकृतेन रेतःसिद्धा यस्यां पुत्रो जनयितरथस्तां स्त्रियं स्तोति—श्रीरित्या-
दिना । कथं सा यशस्विनी न हि तरयाः ह्यातिरस्ति तत्रऽऽह— यदिति । रजरक्षसाभिगमनादि प्रति-

द्वारा उमें हाथ में ले ले, फिर “पुनमभि... ..” इस मन्त्र से उस वीर्य को “श्रुवी” अर्थात् भोहो के
मध्य, “स्तनी” अर्थात् हृदय के बीच में लगावे ॥ ५ ॥

तथा यदि कभी (प्रमाद से) जल में वीर्य स्वलन हो जाय तो “आत्मानम्” अर्थात् अपनी
छाया को देखे, तब “मयि तेज ...” इत्यादि मन्त्र से वीर्यसिक्त जल को अभिमन्त्रित करे । यह मेरी
पत्नी सब स्त्रियो में श्रीमती है, “मलोद्वासा” अर्थात् जो रजोदर्शन मल से रहित शुद्ध है अथवा जो

- १ तद्—सिद्धशुभमुदकम् । २ उदक इति प्रमादाद्देत सिक्त्विति शेषः । ३ श्रीं—श्रीमती यशस्विनीति
यावत् । ४ उद्गतमलवद्वासा इति । अत्र वातिकम्—“उद्गत मलवद्वासाश्चतुर्थेऽहनि यद् स्त्रियाः । तां मलो-
द्वासस परमीमाहृत्स्वकर्मकारिण ” ॥२८॥ इति ॥ सत्कर्मति—संपुनकर्मकारिणी पृथरथा इति यावत् ।
५ समयन्तु । ६ लेपन मार्जनम् । ७. रेतोयोनी—रेतसः कारणीभूते उदक इत्यर्थः । ८ निमित्तान्तर
इति—अयोनी रेतस्खलनरूपनिमित्तादन्वयस्त्विदं निमित्तं सति । ९. प्रकृतेनेति—प्राणीपासकरवे सति
वीर्यमप्युत्पन्नमवकर्मकृत्स्व प्रकृतत्वम् ।

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात्सा चेदस्मै
नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहृत्याति-
क्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव
भवति ॥ ७ ॥

वह धर्म-पत्नी यदि इस पति को मंथुन न करने दे, तो पति उसे उसकी इच्छानुसार वस्त्रादि देकर उस पर अपना प्रेम प्रवट करे। इस पर भी यदि वह इसे मंथुन का श्रवसर न देवे, तो वह पति स्वेच्छानुसार डण्डे का भय दिखाता कर उसके साथ बलपूर्वक समागम करे। यदि वह भी संभव न हो, तो "मैं तुझे शाप देकर वन्ध्या बना दूंगा" ऐसा कह कर उसके पास जावे और "मैं अपनी यश स्वरूप इन्द्रिय द्वारा तेरे यश को छीन लेता हूँ। इस मन्त्र का पाठ करे। उस अभिशाप से वह निश्चित वन्ध्या या दुर्भंगा शब्द से कही जाने वाली श्रयशस्विनी हो ही जाती है ॥ ७ ॥

स्तस्मात्ता मलोद्वाससं यशस्विनीं श्रीमतीमभिक्रम्याभिगत्योपमन्त्रयेते'दमद्याऽऽवाभ्यां
कार्यं यत्पुत्रोत्पादनमिति त्रिरात्रान्तं श्राप्नुताम् ॥ ६ ॥

'सा' 'चेदस्मै न दद्यान्मंथुनं कर्तुं' 'काममेनामवक्रीणीयादाभरणादिना ज्ञापयेत् । तथा-
ऽपि सा नैव दद्यात्काममेनां 'यष्ट्या वा 'पाणिना 'वोपहृत्या'तिक्रामेन्मंथुनाय । शप्त्यामि

विद्वमित्याशङ्क्य विशिनष्टि—त्रिरात्रेति ॥६॥

ज्ञापयेदात्मीय प्रेमातिरेकमिति शेषः । "बलादेव यशोहृतां भार्यां पशुकर्मार्थं कथमुपगच्छे-
दित्याकाङ्क्षायामाह—'शप्त्यामीति ॥७॥

चतुर्थं दिनं स्नानं कर शुद्ध हो चुकी है, उस यशस्विनी और श्रीमती के पास "अभित्य" अर्थात् जाकर अपने को अभिमुख कर उसमें बोलने लगे—आज हम वो मंथुन कर्म करना है, जिससे पुत्र की उत्पत्ति हो ॥ ६ ॥

प्रेम से विश्वास दिलाया हुई भी यदि वह स्त्री मंथुन कर्म करने के लिए श्रवसर न दे तो इसे "श्रवक्रीणीयात्" अर्थात् आभरणादि प्रदान के द्वारा अपना प्रेमातिरेक प्रकट करे। तो भी यदि वह "अप्रयोग करना स्वीकार न करे तो इसे दण्ड या हस्त से प्रताडित कर मंथुन कर्म करवाए।

१ इन्द्रियेणेत्यादि—यदास यद्योद्देवुनेन्द्रियेणोपस्थेन ते श्रव यशो यशोहेतुपुत्रोत्पत्तिकर रेतोऽहमाददे शुक्लमीति मन्त्रेण शपेच्छापमात्त्रेतेति धावत् । २ उपमन्त्रयेतेति—प्रात्मनोऽभिमुखीनावे वाग्यतोऽनोपमन्त्रणम् । ३ उपमन्त्रणमेव व्यनक्ति—इदमिति । ४ चतुर्थेऽहनि स्नाताम् । ५ सा प्रेम्णोपमन्त्रितापि । ६ पत्न्ये । ७ श्रवसरम् । ८ दण्डेन । ९ हस्तेन । १० सताड्य । ११ अतिक्रामेन्मंथुनायाऽऽक्रामेदित्यर्थः । १२ बलादेवेति—अत्र बलादप्यवशीकृतमिति बलाच्चेदवशी- कृतमिति वा पाठो सेलकप्रमादादन्वयाभूत इति प्रतिभाति । यथाश्रुते तु बलादेव यशोहृता कथनावतोऽपि यशोहृत्योपगच्छेदिति व्याख्येयम् । १३ शप्त्यामीतीति—यद्योक्तशापभयाद्भावतोऽपि सा वदया भवत्येवेति भाव इति शेषः ।

सा चेदस्मं दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति
यशस्विनावेव भवतः ॥ ८ ॥

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन
मुखे संघायोपस्यमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्सं-
भवसि हृदयादधिजायसे । स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्ध-
विद्धामिव मादये 'माममू' मयोति ॥ ९ ॥

यदि वह पत्नी उस पति को समागम का प्रवसर दे, तो पति उसे आशीर्वाद देते हुए कहे—
मैं अपनी यश स्वरूप इन्द्रिय से तुझमें यश का आधान करता हूँ । इससे वे दोनों दम्पति यशस्वी यानी
सन्तान वाले होते ही हैं ॥ ८ ॥

वह पुरुष अपनी जिस पत्नी के सबन्ध में ऐसा चाहे कि यह मेरे प्रति कामनायुक्त हो, मुझे
मन से चाहने लगे, तो उसकी योनि में अपने जननेन्द्रिय को स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख
मिला कर उसके उपस्य भाग का स्पर्श करते हुए इम मन्त्र का जप करे । हे वीर्य ! तुम मेरे प्रत्येक
अङ्ग से उत्पन्न होते हो, विशेष रूप से हृदयस्थ नाडी द्वारा तुम प्रकट होते हो, तुम मेरे अङ्ग के सार
हो । अतः जैसे विपाक्त वाण से धायल हुई मृगी मूर्च्छित हो जाती है, ऐसे ही तुम मेरी इस पत्नी को
मेरे प्रति पागल बना दो, अर्थात् मेरे अधीन इसे कर डालो ॥ ९ ॥

त्वां दुर्भंगां करिष्यामीति 'प्रक्ष्याप्य तामनेन मन्त्रेणोपगच्छेदिन्द्रियेण ते यशसा
यश आदध इति । सा तस्मात्तदभिशोपाह्वय्या दुर्भंगेति श्याताऽयश एव भवति ॥ ७ ॥

सा चेदस्मं दद्यादनुगुणैव स्याद्भर्तुस्तदाऽनेन मन्त्रेणोपगच्छेदिन्द्रियेण ते यशसा
यश आदधामीति 'तदा यशस्विनावेवोभावपि भवतः ॥ ८ ॥

स या स्वभार्यामिच्छेदियं मां कामयेतेति 'तस्यामर्थं प्रजननेन्द्रियं निष्ठाय निक्षिप्य

भर्तुर्भार्यावशोकरणप्रकारमुक्त्वा पुरुषद्वेषिण्यास्तस्यास्तद्विषये प्रीतिसंवादे प्रक्रियां रक्षयति—

(यदि इतने पर भी असमर्थ रहे तो) "मैं तेरा अहित करूँगा तुझे अभागी बना दूँगा" इस प्रकार
कहकर "मैं अपनी यशो स्वरूप (पुत्रोत्पत्तिकर) उपस्य इन्द्रिय से तेरा यश से नेत्रा हूँ" इस
मन्त्र से उसका अभिगमन करे । उस अभिशप से वह वन्ध्या या दुर्भंगा शब्द से कही जाने वाली
अयशस्विनी ही होती है ॥ ७ ॥

वह भार्या यदि मंथुन के लिए आत्मसमर्पण कर दे यानी पति के अनुकूल ही रहे तो "मैं अपनी
यशोहेतुक उपस्य इन्द्रिय से तुझ में यश सस्यापित करता हूँ" इस मन्त्र से उसका अभिगमन करे

१ इमां—मद्विद्वेषिणीमिति यावत् । २. उक्त्वा । ३. घाप निवर्तयेत् । ४. घापविमोके । ५. तदीय-
योनी । ६. पुरुषत्विये ।

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाया
मुखेन मुखे संधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते
रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥१०॥

पुरुष अपनी जिस पत्नी के विषय में चाहे, यह गर्भवती न हो, तो उसकी योनि में अपने जननेन्द्रिय को स्थापित करके उसके मुख में मुख मिलाकर अभिप्राणन कर्म करके अपानन क्रिया इस मन्त्र के द्वारा करे—“इन्द्रिय स्वरूप वीर्य के द्वारा मैं तेरे रेत को ग्रहण करता हूँ” ऐसा करने पर वह गर्भिणी नहीं होती ॥ १० ॥

मुखेन मुखं संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदिमं मन्त्रमङ्गादङ्गादिति ॥६॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीत न धारयेद्गर्भिणी मा भूदिति तस्यामर्थमिति पूर्ववत् ।
अभिप्राण्याभिप्राणनं प्रथमं कृत्वा पश्चादपान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यनेन
मन्त्रेणारेता एव भवति न गर्भिणी भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

स यामित्यादिना । हे रेतस्त्वं मदीयात्सर्वंस्मादङ्गात्समुत्पद्यसे विशेषतश्च हृदयाद्भ्ररसद्वारेण जायसे स त्वमङ्गानां कषायो रसः सन्विषलितशरदिष्टां मुनीमिवाम् मदीया स्त्रिय मयि मावय महशां कुर्वित्यर्थः ॥६॥

‘तस्याः स्वविषये प्रीतिमापाद्यावाच्यकर्मानुष्ठानदशायाम’भिप्रायविशेषानुसारेणानुष्ठान-
विशेषं दर्शयति—अयेत्यादिना । तत्र तत्राप्यशब्दरतसद्वयक्रमार्थो नेतव्यः । पशुकर्मकाले प्रथमं स्वकीय-
‘पुंस्त्वद्वारा तदीय’स्त्रीत्वे वायुं ‘विसृज्य तेनैव द्वारेण’ ततस्तत्तद्वादानाभिमानं कुर्वदित्याह—अभि-
प्राण्येति ॥१०॥

(शाप की निवृत्ति कर दे), तब (शाप के छूट जाने से) वे दोनों यशस्वी होते हैं ॥ ८ ॥

यदि पुरुष चाहे कि मेरी भार्या मेरे विषय में (अतिशय) कामयुक्त हो तो उसकी योनि में “अर्थम्” अर्थात् लिङ्ग को “निष्ठाया” करके मुख से मुख सटाकर उसकी योनि का स्पर्श करते हुए “अङ्गादङ्गात् . . .” इत्यादि मन्त्र का जप करे ॥ ६ ॥

यदि पुरुष चाहे कि मेरी भार्या को “न गर्भं दधीत” अर्थात् गर्भं धारण न हो यानी वह गर्भिणी न हो तो उसकी योनि में लिङ्ग का संवेशन कर इत्यादि व्याख्या पूर्ववत् ही है । “अभिप्राण्य” अर्थात् पहले अभिप्राणन करने के बाद “इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे” इस मन्त्र से अपानन करे ।

१ न गर्भं दधीतेति—अत्र वातिकम्—“रूपमत्र शो हि भवति यतो गर्भस्य धारणे । तथा योवनहानिश्च तस्मा-
देव स कामयेदिति” ॥५१॥ २ प्रविजायसे इत्यभिधाव्याच्यं माह—विक्षेपतत्त्वेति । ३ भ्ररसद्वारेणेति—जगधाम-
परिणामो रस प्रथमं योगित द्वितीयस्तृतीयो मासमित्यादिक्रमेणेत्यर्थं । ४ स्वपत्या । ५ गर्भाधारणा-
दीष्ठाविशेषानुसारेणेत्यर्थं । ६ तिष्ठनद्वारा । ७ योनी । ८ विसृज्य—विसर्गाभिमानं कृत्वा । ९
तेनैव द्वारेण—विष्णुद्वारा । १० तत—तदीयस्त्रीत्वात् । ११ तद्वादानं वात्वादानमित्यर्थं ।

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन
मुखे संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत
आदधामीति गर्भिष्येव भवति ॥ ११ ॥

'अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद्द्विष्यादा'मपात्रे-

पुरुष अपनी जिस पत्नी के विषय में चाहे कि वह गर्भवती हो, वह उसकी योनि में अपनी जननेन्द्रिय को स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिला कर पहले अपानन क्रिया करे। तत्पश्चात् अभिप्राणन क्रिया करते समय इस मन्त्र का पाठ करे—“मै इन्द्रिय रूप वीर्य के द्वारा तेरे रेत का आधान करता हूँ” ऐसा करने से वह गर्भवती निश्चय ही हो जाती है ॥ ११ ॥

जिस गृहस्थ विद्वान् की पत्नी वा कोई जार पति हो, उस जार पति से द्वेष भाव रखकर वह उसे

अथ यामिच्छेद्दधीत गर्भमिति तस्यामर्थंमिषादि पूर्ववत् । पूर्वविषयंयेणापा-
न्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिष्येव भवति ॥ ११ ॥

अथ पुनर्यस्य 'जायायै जार उपपतिः स्यात्तं चेद्द्विष्यादमिचरिष्याम्येनमिति

भर्तृरेवाभिप्रायान्तरानुसारिणं विधिमाह—अथ यामित्यादिना । स्वकीयपञ्चमेन्द्रियेण तदीय-
पञ्चमेन्द्रियाद्रेतः स्वीकृत्य तत्पुत्रोत्पत्तिसमर्थं कृतमिति 'मत्वा स्वकीयरेतसा सह' तस्मिन्निषेत्तदिवम-
पाननं प्राणनं च तत्पूर्वकं 'रेतःसेचनम् ॥११॥

संप्रति 'प्रासङ्गिकमाभिचारिकं कर्म कथयति—अथ पुनरिति । द्वेषवतानुष्ठितमिदं कर्म-

इससे वह “भरेता एव भवति” अर्थात् गर्भिणी नहीं होती है ॥ १० ॥

यदि पुण्य चाहे कि मेरी भार्या गर्भ धारण करे तो “उसकी योनि में लिङ्ग प्रवेश कर”
इत्यादि व्याख्या पूर्ववत् है । पूर्व प्रक्रिया से विपरीत यहाँ पहले अपानन क्रिया करके फिर “इन्द्रियेण
ते रेतसा रेत आदधामि” इस मन्त्र से अभिप्राणन कर्म करे, इससे वह स्त्री गर्भ धारण कर लेती
है ॥ ११ ॥

तथा यदि प्राणवेत्ता पति की भार्या का “जारः” अर्थात् उपपति हो; यदि वह पति उससे द्वेष

१ अभिचारकर्मभाष्योऽथगद । न च न द्विष्यादिति श्रुतिविरोधाद्विषयां विधिरयुक्त इति शङ्क्यम्—
माध्यमाद्यनमदन्ध बोधनमाने वेदस्य तात्पर्याद्याह—“उपापत्ये न विज्ञाप्यै रनेनवन्न विधीयत” इति ।
उपापविज्ञापनमाने वेदेन क्रियते न तु हिमा विधीयत इति भावः । २ आध्यायाने—अपञ्चमृन्मयभाजने परि-
समूहगोपलेपनोत्प्लेखनोद्दरणाभ्युत्थानक्षणभूमस्वारपूर्वकमग्निमुपसमाधाय मत्स्याय । प्रतिलोम दक्षिणाय
पश्चिमाय वा यथा स्यात्तथा धारमय बर्हि कुवस्वीत्वाऽऽतीर्य तस्मिन्नग्नावेता । प्रमिद्धा गरभृष्टी शरेयिकाः प्रति-
मोमा विपरीताया सर्गिमाक्ता घृणाक्ता जुहुर्मादित्ययः । ३. प्राणविद । ४ जायायाः । ५. सचिल्य ।
६ तदीयपञ्चमेन्द्रिय । ७ तत्पूर्वकं रेतःसेचनमिति—अपाननप्राणनपूर्वकं रेतःसेचनं तावद्विदमेव । सच
इन्द्रियेण ते रेतवेत्यादि मन्त्रपुञ्जकार्यं मन्त्रोऽपि अपानाभिप्राण्यादित्यारभ्य स्वकीयपञ्चमेत्यादिना व्याख्यातो
वेदितव्यः । ८. प्रासङ्गिकेति—पशुकर्मप्रसङ्गादापत्तमुपपत्तिर्द्विष्यादिना साधनत्वेनाभिचारिकं कर्मनिन्तर-
वाशेनोच्यते ।

ऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमं शरव्हिस्तीर्त्वा तस्मि-
न्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सपिषाऽक्ता जुहुयान्मम
समिद्धेऽहोपीः प्राणापानी त आददेऽसाविति मम
समिद्धेऽहोपीः पुत्रपशुस्त आददेऽसाविति मम

दण्ड देना चाहे, तो वह मिट्टी के कच्चे बर्तन में (पंच भूमस्कार पूर्वक) अग्नि की स्थापना करके विपरीत क्रम से अर्थात् दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्र रूप में मरकण्डों का बहिष् विद्या कर उस पर वाणाकार उनकी सीकों को घी से गोला कर उनके अग्रभाग को विपरीत दिशा में रखते हुए उस स्थापित अग्नि में उनकी चार ब्राहृतियां निम्नाङ्कित मन्त्रों से दवे । मन्त्रार्थ यह है कि अग्ने दुष्ट । योवनादि से प्रज्वलित मेरी पत्नी रूप अग्नि में तूने वीर्य रूप ब्राहुति डाली है, अतः तुझ पापी के प्राण अपान को मैं समाप्त कर देता हूँ । "मम समिद्धेऽहोपीः प्राणापानी त आददे" इसका उच्चारण तथा फट् शब्द को बोलकर पहली ब्राहुति दे और 'असौ मम शत्रु' ऐसा कहकर शत्रु का नाम लेवे । इसी प्रकार चारों

मन्येत तस्येदं कर्म । आमपात्रेऽग्निमुपसमाधाय सर्वं प्रतिलोमं कुर्यात्तस्मिन्नाग्नेताः
शरभृष्टीः शरेपीकाः प्रतिलोमाः सपिषाऽक्ता घृताम्यक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहोपीरित्याद्या
ब्राहुतीरन्त सर्वासामसाविति नामग्रहण प्रत्येकम् । स एष एवंविद्य ब्राह्मणः शपति स

फलवदिति वक्तुं द्विष्यादिशयधिकारिविशेषणम् । आमविशेषणं पात्रस्य 'प्रकृतकर्म' योग्यत्वस्थापनायम् । अग्निमित्येकवचनाद् 'पसनाधानवचनाच्चा'ऽवस्यथाग्निरत्र विवक्षितः । सर्वं परिस्तरणादि 'तस्य प्रति-
लोमस्ये कर्मणः' प्रतिलोमस्य हेतुफलत्वम् । मम स्वभूते योवाग्नी योवनादिना समिद्धे रेतो हुतवानसि
ततोऽपराधिनस्तत्र प्राणापानावाददे कडिश्युक्त्वा होमो निर्वर्तयितश्चयः । "तदन्ते चासावित्यात्मनः
शश्रोवा नाम गृह्णीयात् । इष्टं श्रौतं कर्म सुकृत स्मातंम् । प्राशा "प्रार्थना वाचा "घटप्रतिज्ञातं कर्मणा
नोपवादितं प्रतीक्षा पराकाशः । यद्योक्तहोमद्वारा शापदानस्य फलं दर्शयति—स एष इति । एवंविस्वं

करे तथा 'इस जादू के अग्निष्ट के लिए प्रयोग कहेंगा' ऐसी धारणा करे तो उसके लिए यह कर्म है । कच्ची मिट्टी बर्तन में अग्नि सस्थापित करके सारी क्रिया विलोम क्रम से करे । उस पात्र में स्थापित अग्नि में 'शरभृष्टी' अर्थात् मरकण्डों की सीकों विपरीत ढंग से अग्ने करके रखते हुए "सपिषाऽक्ता" घी में भिगोकर ब्राहुति दे । "मम समिद्धेऽहोपी." अर्थात् मेरी अपनी योपानि में तुमने वीर्य का होम किया

१. आमपात्रस्थापिते । २. प्रसिद्धा । ३. विपरीताया । ४. हिंसाकर्म । ५. योग्यन्वेति—यन्नुहि
भिदुस्त्वमावापनीयो भिदुर चामपात्रमिति । ६. विद्यमानस्य ह्युपसमाधि । ७. भावमध्याग्निनीकिके-
ऽग्निविवक्षितो न तु त्रेताग्निरित्याशयः । ८. बहिःपरिस्तरणादे । ९. हिंसार्थत्वम् । १०. प्रयेकाहुति
प्रक्षेपावधाने । ११. प्रार्थनेति—अग्निज्ञातप्राच्येष्टार्थविषयिणीति बोध्यम् । १२. वाचा घटप्रतिज्ञातं सना-
विष्यन्तीति न च कर्मणा साधित तादृशराज्यादिनिज्ञातप्राच्येष्टार्थप्रतीक्षापरकाश इति यावत् ।

मशनीयातामीश्वरौ जनयितवँ ॥१४॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे 'कपिलः'पिङ्गलो जायेत द्वौ
वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा
सर्पिष्मन्तमशनीयातामीश्वरौ जनयितवँ ॥१५॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत
त्रीन्वेदानुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्यु^३दौदनं पाच-
यित्वा सर्पिष्मन्तमशनीयातामीश्वरौ जनयितवँ ॥१६॥

खावें । इससे वे दोनों बंसे पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं ॥ १४ ॥

जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र कपिल या पिङ्गल वर्ण का हो, दो वेदों का अध्ययन करे, पूर्णं आयु
सौ वर्ष तक जीवित रहे, तो वे दोनों पति-पत्नी दधि के साथ भात पकाकर घी डालकर खावें । इससे
वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १५ ॥

जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र श्याम वर्ण लाल नेत्र वाला हो, तीन वेदों का अध्ययन करे और
पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे तो वे दोनों पति पत्नी केवल जल में चावल पकाकर घी मिलाकर
खावें । इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १६ ॥

क्षीरोदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमशनीयातामीश्वरौ समर्थो जनयितवँ जनयितुम् ॥ १४ ॥

दध्योदनं दध्ना 'चरुं' पाचयित्वा द्विवेदं चेद्विच्छति पुत्रं तद्वैवमश्वनियमः ॥१५॥

'केवलमेव स्वामाधिकमोदनम् । उदग्रहरणमन्यप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थम् ॥ १६ ॥

शुक्लत्वम् ॥१४॥

॥१५॥

स्वामाधिकमोदनं पाचयति चेत्किमर्थमुदग्रहणं तद्व्यतिरेकेणोवनपाकसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह
—उदग्रहणमिति । 'क्षीरादेरिति शेषः ॥१६॥

करे, पूरे सौ वर्ष की आयु जीए तो वे दोनों पति-पत्नी दूध की खीर पकाकर (और हवन कर) घी
डाल कर खाएँ । इससे ईश्वरौ जनयितवँ' अर्थात् उपरोक्त गुणयुक्त पुत्र उत्पन्न करने में वे समर्थ
होते हैं ॥ १४ ॥

"दध्योदनम्" अर्थात् दही से चरु पकाकर (हवन कर) उसे ही भक्षण करने का विधान है,

१ वर्णतः । २ पिङ्गलाक्ष । ३ उदोदनम्—उदके मोदनं पाचयित्वत्यर्थं । ४ चरुमिति—होमार्थं पाच्यमन्नं
चरु । यथाह्वयान्तिका—'अनवसावितान-तत्तद्धमपाकं शान्तमन्नपरिति' इति वाचस्पत्याभिधाने । ५ केवल-
मेव स्वामाधिकमिति—क्षीरादिविशेषणवजितं लोकप्रसिद्धमेवोदनमित्यर्थं । ६ क्षीरदध्नोः काम्यभेदे विनियुक्त-
स्वनं प्रसक्त्यभावात्तद्व्यतिरेकप्रतिशोभिताश्रयं दर्शनमिति—क्षीरादेरिति । शेषेण क्षीरदधिम्यामन्यस्येशुरसादे प्राप्तिनिश्चा-
साधनमिति तदर्थं ।

अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायत सर्वमायुरिया-
दिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामी-
श्वरौ जनयितवै ॥१७॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिगमः
शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रूवीत
सर्वमायुरियादिति 'मा०'सौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्त-
मश्नीयातामीश्वरौ जनयित्वा औक्षेण वाऽऽर्षभेण
वा ॥१८॥

जो पुरुष चाहे कि मेरी पुत्री (गृह शास्त्र मे निपुण हो) विदुषी हो जावे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे, तो वे पति-पत्नी तिल और चावल की खिचड़ी बनाकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाली कन्या को उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १७ ॥

जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र लोकविख्यात, पण्डित, विद्वानो की सभा मे निर्भीक होकर जाने वाला तथा रमणीय संस्कृत सायंक वाणी बोलने वाला हो, संपूर्ण वेदो का अध्ययन करे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे, तो वे दोनो पति-पत्नी हलके फल के गूदे से मिश्रित चावल को पकाकर उसमे घी मिलाकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं। उक्षा या ऋषभ नामक औषधि के गूदे के साथ खाने का नियम किया गया है, न कि सांड या बल के मांस के साथ ॥ १८ ॥

दुहितुः पाण्डित्य गृहकृत्यविषयमेव वेदेऽनधिकारात् । तिलौदनं 'कृशरम्' ॥१७॥
विधिं गीतो विगीतः प्रख्यात इत्यर्थः । समितिगमः सभां गच्छतीति प्रगल्भ
इत्यर्थः । पाण्डित्यस्य पृथग्रहणात् । शुश्रूषितां श्रोतुमिष्टा रमणीयां वाचं भाषिता

वेदविषयमेव तत्पाण्डित्यं किं न स्वादत ग्राह—वेद इति ॥१७॥

समितिद्वित्सभा तां गच्छतीति विद्वानेवोच्यतानिति चेन्नेत्याह—पाण्डित्यस्येति । सर्वशब्दो

यदि दो वेदो को जानने वाले पुत्र प्राप्ति की इच्छा हो ॥ १५ ॥

दूध और दही से विद्युक्त केवल लोक प्रसिद्ध भात (पकाकर) भक्षण करे। "उदौदनम्" पद मे 'उद' ग्रहण अन्य प्रसङ्ग की निवृत्ति के लिए है ॥ १६ ॥

वेद मे अधिकार न होने से पुत्री का पाण्डित्य गृहकृत्य के विषय मे ही समझना चाहिये।

"तिलौदनम्" नाम तिल और चावल की बनी खिचड़ी का है ॥ १७ ॥

"विगीत" यानी विविध रूप जिसका गान हो अर्थात् प्रख्यात "समितिगम." नाम सभा मे जाने

१. मासौदनमिति—"तण्डुलान् माससमिधान् पक्त्वा मासौदनं विदु." । २. कृशरमिति—"श्रोदनस्तिल-
समिध. कृशर परिकीर्तित" इति स्मृते ।

अथाभिप्रातरैव स्थालीपाकावृताऽऽज्यं चेष्टित्वा
 स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये
 स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति
 हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राशयेतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य

सत्यश्नात् चौथे दिन नित्य क्रिया से निवृत्त हो प्रातः काल ही कूटने से तैयार हुए चावलों को लेकर स्थालीपाक की विधि से घृत का संस्कार करके स्थाली में से थोड़ा-थोड़ा अन्न लेकर "अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा" इत्यादि मन्त्रों से तीन प्रधान ब्राह्मणों को देवे। इस प्रकार ब्राह्मणों को देकर स्थाली पाक से बचे हुए चरु को एक पात्र में निकाल कर उसमें घी मिला

संस्कृताया अर्थवत्त्वा वाचो माषितेत्यर्थः । मांसमिश्रमोदनं मांसोदनम् । 'तन्मांसनिय-
 मार्यमाह—'श्रीक्षेण वा मांसेन । उक्षा 'सेचनसमर्थः पुंगवस्तदीयं मांसम् । ऋषभस्ततोऽ-
 प्यधिकव्यास्तदीयमार्यं मांसम् ॥ १८ ॥

'अथाभिप्रातरैव कालेऽवघातनिवृत्तांस्तण्डुलानादाय स्थालीपाकावृता स्थालीपाक-
 विधिनाऽऽज्यं चेष्टित्वाऽऽज्यसंस्कारं कृत्वा चरुं श्रपित्वा 'स्थालीपाकस्याऽहुतीर्जुहोत्यु

वेदचतुष्टयविषयः । श्रीक्षेणोत्पादितृतीया 'सहार्थे' । देशविशेषापेक्षया कालविशेषापेक्षया वा 'मांस-
 नियमः' । 'अथशब्दस्तु पूर्ववशयेपु यवारुचि विकल्पार्थः ॥ १८ ॥

कदा पुनरिदमोदनपाकादि कर्तव्यं तदाह—अथेति । कोऽसौ स्थालीपाकविधिः कथं वा 'तत्र

वाले प्रगल्भ पुरुष का है क्योंकि विद्वान् का पृथक् ग्रहण किया गया है । "अथृषिता वरच भाषिता" अर्थात् सुनते रहने योग्य रमणीय सुशोभना और अर्थवती बोली हुई वाणी । "मांसोदनम्" नाम मांस मिश्रित कर पकाये हुए मोदन का है । मोदन विशेषण मांस से नियम के लिए श्रुति कहती है —उक्षा के मांस के साथ । वीर्य का सेचन करने में समर्थ सड़ ही उक्षा है । उसके मांस के साथ मोदन मिश्रित कर । ऋषभ उमसे अधिक आयु वाले सड़ का नाम है, उसके मांस के साथ मिश्रित मोदन को (खाकर ऐसा पुत्र उत्पन्न करे) ॥ १८ ॥

चौथे दिन प्रातः काल ही कूटने से तैयार हुए चावलों को लेकर "स्थालीपाकावृता" अर्थात्

१. मोदनविशेषणमांसनियमार्यम् । २ 'श्रीक्षेणपर्ये' इति अणि टिप्पणी निपात्यते । ३ रेतसः सेचन-समर्थः । ४. चतुर्थेऽहुति । ५. भार्याकण्डितान् । ६. विलापनादिसंस्कारम् । ७ स्थालीपाकस्य—स्थाल्या पक्वस्य अरोरिति कर्मणि षष्ठी उपघातमित्यन्वयः । ८ सहार्थे इति—तथा सति श्रीक्षेणार्थभेग वा मांसेन सहोदन पाकविश्वेत्पर्यं । ९. मांसनियम इति—अह्मत्वे स्वायस्तिन्मास कृष्णपृमस्य च्छापास्य वाऽनु-मन्वत् इति स्पष्ट वातिके । १०. अथ य इच्छेदित्यादि बहुवारमवशब्दप्रयोगस्य तात्पर्यमाह—अथगन्धस्त्विति । ११ वत्र—मन्वकर्मणि ।

पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनेनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठतो
विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्वा सं जायां पत्या
सहेति ॥१६॥

'अर्थेनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वत्सा त्वमस्य-
मोऽहं सामाहमस्मि ऋषत्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि

कर पति पहले स्वयं भोजन करे, शेष उच्छिष्ट अपनी पत्नी को देवे। इसके अनन्तर हाथ-पैर धोकर शुद्ध आचमन करके जलपात्र को भरकर उसी जल से अपनी पत्नी का "उत्तिष्ठत" इत्यादि मन्त्र से तीन बार अभिषेक करे, पर मन्त्र एक ही बार पढ़े ॥ १६ ॥

'इसके बाद पति अपनी कामना के अनुसार पत्नी को खीर आदि भोजन कराने के पश्चात् उसके साथ शयन करे। उस समय "अमोऽहमस्मि" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर अपनी पत्नी का भालिङ्गन करे। मन्त्रार्थ यह है—हे देवि ! मैं प्राण हूँ, तुम वाक् हो, तुम वाक् हो, मैं प्राण हूँ। मैं साम

पघातमुपहृत्योपहृत्याग्नये स्वाहेत्याद्याः। गार्ह्यः सर्वो विधिद्रष्टव्योऽत्र हृत्वोद्धृत्य
चक्षुष्यं प्राशनाति स्वयं प्राश्येतरस्याः पत्यं प्रयच्छत्युच्छिष्टम् । प्रक्षाल्य पाणी आच-
म्पोदपात्र पूरयित्वा तेनोदकेनेनां त्रिरभ्युक्षत्यनेन मन्त्रेणोत्तिष्ठत इति सकृन्मन्त्रो-
च्चारणम् ॥ १६ ॥

'अर्थेनाम'भिमन्त्र्य क्षीरोदनादि 'यथापत्यकामं भुक्त्वेति क्रमो द्रष्टव्यः । संवेशन-

होमस्तत्राऽह—गार्ह्य इति । गृह्ये प्रतिद्वो गार्ह्यं । अत्रेति पुत्रमन्यकर्मोक्तिः । अतो मङ्गलार्थाः
सकाशाङ्गो विदधावसो गन्धर्वं त्वमुत्तिष्ठान्यां च जायां प्रपूर्वां तरुणो पत्या सह संक्रोडमानामिच्छाहं
पुनः स्वामिमां जायां समुपमीति मन्त्रार्थः ॥१६॥
अभिपत्तिरातिङ्गनम् । कदा क्षीरोदनादिभोजनं सदाह—क्षीरेति । भुक्त्वाऽभिपद्यत इति

स्थालीपाक विधि से "आज्य चेष्टित्वा" अर्थात् विलापनादि के द्वारा धो का सस्कार करके चरु को पकाकर स्थालीपाक की आहुति दे। उसमें से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करके "अग्नये स्वाहा" इत्यादि तीन मन्त्रों से हवन करे। यह सब विधि गृह्यसूत्रों में वर्णन की गई है। हवन करके अवशिष्ट चरु को एक पात्र में निकालकर पति "प्राश्नाति" अर्थात् स्वयं भोजन करे, "प्राश्येतरस्या" अर्थात् खाकर पत्नी को उच्छिष्ट भाग को दे दे। फिर हाथों को धोकर, शुद्ध जल से आचमन कर, जलपान को भरकर उसी जल से पत्नी का तीन बार "उत्तिष्ठत" इत्यादि मन्त्र के द्वारा अभिषेक करे। उक्त मन्त्र का एक बार ही पाठ करना चाहिये ॥ १६ ॥

इसके बाद हमे भालिङ्गन के लिए प्रार्थना करके अभीष्ट गर्भाधान के लिए क्षीरोदनादि

१. अयेति—एव गन्धर्वं प्रस्थाप्य यथाकामं क्षीरोदनादिभोजनान्तरम् । २ स्वल्प स्वल्प गृहीत्वेति यावत् ।
- ३ प्रक्षाल्य पाणी इति—शुद्धाचमनं विधायेति यावत् । ४ अयेति—गन्धर्वप्रस्थापनानन्तरमालिङ्गने प्रति-
बन्धाभावोऽप्यशब्दार्थः । ५ भालिङ्गनार्थं संश्राप्यं । ६ अभीष्टगर्भाधानार्थम् ।

सधरभावहं सह रेतो दधावहं पु०से पुत्राय वित्तय
इति ॥२०॥

'अथास्या ऊरु विहापयति विजिहीयां द्यावापृथिवी
इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखेऽसधाय त्रिरेना-
मनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि
पि०शतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गभं दधातु ते ।

तुम ऋक् हो, मैं आकाश हूँ, तुम पृथिवी हो । अत आग्नो, हम दोनों दम्पति परस्पर आलिङ्गन करें ।
एक साथ रेत धारण करें जिससे कि हम लोगों की पुरुषत्वविशिष्ट पुत्र की प्राप्ति हो ॥ २० ॥

उसके बाद पत्नी के दोनों जघो को एक दूसरे से पृथक् करे । उस समय "विजिहीया द्यावा-
पृथिवी" इत्यादि मन्त्र का पाठ करे । अर्थात् हे जघारूप आकाश और पृथिवी । तुम दोनों पृथक् हो
जाओ । इसके बाद पत्नी की योनि में जननेन्द्रिय स्थापित कर उसके मुख से प्रपना मुख मिलाकर
अनुलोम क्रम से (मस्तक से लेकर पैर तक के) पत्नी के अङ्गों का तीन बार मर्जन करे । उस समय
"विष्णुर्योनिं कल्पयतु" इत्यादि मन्त्र का पाठ करे । अर्थात् हे प्रिय । व्यापक परमात्मा पुत्र की
उत्पत्ति के लिये तेरी जननेन्द्रिय को सार्थक बनावे । भगवात् सूर्य तेरे तथा जनने वाले बालक के अङ्गों
को विभागपूर्वक पुष्ट एवं दर्शन के योग्य बनावे । विराट् प्रजापति तुझ में अभिन्न भाव से स्थित हो

कालेऽनोऽहमस्मिन्त्यादिमन्त्रेण' भिपद्यते ॥ २० ॥

अथास्या ऊरु विहापयति विजिहीयां द्यावापृथिवी इत्यनेन' । तस्यामर्थमित्यादि

सबन्ध । अहं पतिरम. प्राणोऽस्मि सा त्वं यापति कथं तव प्राणत्वं मम वाक्त्वमित्याशङ्क्य वाचः
प्राणाघोषनश्चक्षुष मदघोषनत्वादित्यभिप्रेत्य सा त्वमित्यादि पुनर्वचनम् । ऋगाधार हि साम गीयते ।
अस्ति च मदाधारत्व 'तव । तथा च मम सामत्वमृतत्व च तव । औरहं पितृत्वात्पृथिवी त्वं मातृ-
त्वात्सोमोर्वापितृत्वतिष्ठेरित्यर्थः । तावावा सरभावहै संरम्भमुद्यमं करवावहै । एहि त्वमागच्छ ।
कोऽसौ संरम्भस्तमाह —सहेति । पुंस्त्वपुक्तपुत्रलाभाय रेतोधारणं कर्तव्यमित्यर्थः ॥२०॥

ऊर्ध्वो संबोधनं द्यावापृथिवी इति । विजिहीया विदित्पटे भवेत् पुत्रादित्यर्थः । विष्णुर्ध्यापन-
शीलो भगवान्भवत्या योनिं कल्पयतु पुत्रोत्पत्तिसमर्थां करोतु । त्वष्टा सविता 'तव रूपाणि पिशतु
विभागेन दर्शनयोग्यानि करोतु । प्रजापतिर्विराडात्मा मदात्मना स्थित्वा त्वयि रेतः समासिञ्चतु

का भोजन करके, इत्यादि क्रम समझना चाहिये । संवेशन काल में "अनोऽहमस्मिन्..." इत्यादि मन्त्र से
आलिङ्गन करे ॥ २० ॥

इसके बाद "विजिहीया द्यावापृथिवी" इस मन्त्र से पत्नी की दोनों जघो को एक दूसरी से

१. आलिङ्गनान्तरम् । २. विश्लेषयेत् । ३. अभिपद्यते—आलिङ्गो दित्यर्थः । ४. मन्त्रेण । ५.
सवेति—अथाप्यकर्मणीति शेष । ६. तथा चेति—ऋक् पत्योगानावाच्यकर्मसमये साम पुरुषयोराधारत्व-
सामान्ये सति । ७. त्वद्यग्भाष्यवानिति यावत् ।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके । गर्भं ते
अश्विनो देवावाघत्तां पुष्करस्त्रजौ ॥२१॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनो । तं
ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये । यथाऽग्निगर्भा
पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी । वायुदिशां यथा गर्भं
एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥२२॥

तुझ से गर्भ का आदान करे एव घाता तेरे गर्भ का धारण पोषण करे । जिसकी अत्यन्त स्तुति की जाती है, वह सिनीवाली (अमावस्या) तुम हो । अतः इस गर्भ को धारण करो । सूर्य तथा चन्द्रदेव अपनी रश्मि रूप कमलों की माला पहिन कर अभिन्न भाव से तुझमें स्थित हो, तुझमें गर्भ का आधान करे ॥ २१ ॥

प्राचीन काल में धरणि तेजोमयी थी, जिनसे अश्विनीकुमारो ने मन्थन किया । उसी से प्रकट हुए उस अमृत रूप गर्भ को मैं तुझमें स्थापित करता हूँ । इसे तू दशवें मास में उत्पन्न कर । जैसे पृथिवी का गर्भ अग्नि है, जैसे स्वर्ग-भूमि इन्द्र से गर्भवती है, जैसे वायु दिशाओं का गर्भ है, वैसे ही मैं तुझमें पुत्र रूप गर्भ का आधान करता हूँ । हे अमुकदेवि ! (अन्त में पत्नी का नाम उच्चारण करे) ॥ २२ ॥

पूर्ववत् । त्रिरेतां शिरःप्रभृत्यनुलोमामनुमाष्टि विष्णुर्योनिमित्यादि प्रतिमन्त्रम् ॥ २१ ॥
अन्ते नाम गृह्णात्यसाविति तस्याः ॥ २२ ॥

प्रक्षिपतु । घाता पुनः सूत्रास्मा त्वदीयं गर्भं त्वदात्मना स्थित्वा दधातु धारयतु पुष्पातु च । सिनीवाली दशाहदक्षता त्वदात्मना धत्ते । पृथुष्टुका विस्तीर्णस्तुतिर्भोः सिनीवालि पृथुष्टुके गर्भमिमं धेहि धारय । अश्विनो देवो सूर्याचन्द्रमसौ स्वकीपरश्मिमालिनो तव गर्भं त्वदात्मना स्थित्वा समाघत्ताम् ॥ २१ ॥

ज्योतिर्मन्थावरणी प्रागासतुर्घान्यां 'गर्भमश्विनो निर्मथितवन्तो तं तयाभूतं गर्भं ते जठरे दधावहे दशमे मासि प्रसवाद्यम् । आधीयमानं गर्भं दृष्टान्तेन दर्शयति—यथेति । इन्द्रेण सूर्येणेति यावत् । असाविति पत्युर्वा निदेशः । तस्या नाम गृह्णातीति पूर्वेण सवन्धः ॥ २२ ॥

वियुक्त करे । उसकी यानि में अपना लिङ्ग प्रवेश करके—इत्यादि व्याख्या पूर्ववत् ही है । “विष्णुर्योनि कल्पयतु” इत्यादि मन्त्रो में से प्रत्येक को पढ़कर पत्नी के शिर प्रमृति सभी अङ्गों का स्पर्श करे ॥ २१ ॥

मन्त्र में “असौ” पद ‘पत्नी को गर्भाधान कर अन्त में उसके नाम का उच्चारण करे’ इसलिए ग्रहण किया गया है ॥ २२ ॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति । यथा वायुः पुष्करिणीं समि-
 ङ्गयति सर्वतः । एवा ते गर्भं एजतु सहावंतु जरायुणा ।
 इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः । तमिन्द्र निर्जहि
 गर्भेण सावरां सहति ॥२३॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कंसे पृषदाज्यं संनीय
 पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पृष्यासमेधमानः

प्रसव काल मे सुखपूर्वक प्रसव के लिए प्रसव करने वाली स्त्री के ऊपर "यथा वायुः" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर जल सींचे । मन्त्रार्थ यह है—जैसे वायु तालाब के जल को सभी ओर से चञ्चल कर देता है, वैसे ही तेरा गर्भ अपने स्थान मे चले एव जेर से सहित बाहर भा जावे । प्रसूति वायु रूप इन्द्र के लिये यह योनि मार्ग बना है, जो गर्भ वेष्टन से युक्त है । हे इन्द्र ! उस मार्ग पर पहुँच जा और गर्भ एव मांसपेशियों के साथ बाहर निकल आ ॥ २३ ॥

पुनर्जन्म होने पर पिता उसे अपनी गोद मे लेकर अग्नि की स्थापना कर काँसे के कटोरे में दधि मिला हुमा घी रखकर थोडा-थोडा अन्न ले करके "अस्मिन् सहस्रम्" इत्यादि मन्त्र द्वारा अग्नि

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति प्रसवकाले सुखप्रसवनार्पमनेन मन्त्रेण । यथा वायुः
 'पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः । एवा ते गर्भं एजत्विति ॥ २३ ॥

'अयं जातकर्म । जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय पुत्रं कंसे पृषदाज्यं संनीय

समिङ्गयति स्वरूपोपघातमकृत्स्वैव चालयतीत्येतत् । एवा त एवमेव तव स्वरूपोपघातम-
 कुर्वन्नेजतु गर्भंश्चनतु । जरायुणा गर्भवेष्टनमांसलण्डेन सहावंतु निर्गच्छतु । इन्द्रस्य 'प्राणस्यायं' व्रजो
 मार्गः मर्गकाले गर्भाधानकाले वा कृतः । सार्गल इत्यस्य द्याहया सपरिश्रय इति, परिषेष्टनेन जरा-
 युणा सहित इत्यर्थः । त मार्गं प्राप्य त्वमिन्द्र गर्भेण सह निर्जहि निर्गच्छ । गर्भेतिःसरणानन्तरं वा
 मांसपेशी निर्गच्छति 'सावरा तं घ निर्गमयेत्यर्थः ॥ २३ ॥

घृतमिश्र दधि पृषदाज्यमित्युच्यते । उपघातमित्याभीक्ष्ण्यं पीनःपुन्यं विवक्षितम् । पृषदाज्य-

प्रसवप्राप्त भार्या को प्रसवकाल मे सुखप्रसव के लिए "यथा वायु पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः । एवा ते गर्भं एजतु..." इत्यादि मन्त्र से जल छिड़के ॥ २३ ॥

अथ जातकर्म का निरूपण करते हैं । पुत्र के होने पर अग्नि को सस्थापित करके पुत्र को गोद मे लेकर काँसे पात्र मे घृतमिश्रित दधि रखकर दही को घी मे मिलाकर पृषदाज्य को थोडा-थोडा

१. सोष्यन्तीम्—प्रसवं प्राप्नुवती भार्याम् । २. पुष्करिणीम्—तडागम् । ३. अर्पेति—जातकर्मणो जन्मा-
 ष्यवधानार्थोऽपघातः । कुमारे जाते सति पिता तमुपसङ्गं धारोव्य । भावसध्याग्निं काँस्यपात्रे दधिमिश्र घृतमव-
 स्थाप्य । पृषदाज्यस्य उपघातं स्वल्पं स्वल्पं पृहीत्वा जुहोति । तन्मन्त्रानाह—अस्मिन्निति । ४. प्राणस्य—
 प्रसूतिवायो । ५. घयं प्रसिद्धो भोग्यास्य । ६. सावरास्या वा मांसपेशी मांसपिण्डी निर्गच्छति तामित्यन्वयः ।

स्वे गृहे । अस्योपसन्धां मा च्छैत्सीत्प्रजया च
पशुभिश्च स्वाहा । मयि प्राणाश्चस्त्वयि मनसा जुहोमि
स्वाहा । यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् ।
अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टश्च सुहुतं करोतु नः
स्वाहेति ॥२४॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ
दधि मधु घृतश्च संनीयान्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति ।

में ब्राह्मति डाले । मन्त्रार्थ यह है—मैं अपने इस घर में पुत्र रूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ सहस्रों मनुष्यों का भरण-पोषण करने वाला होऊँ । मेरी इस सतति में पूजा और पशुओं के सहित सपत्ति का कभी भी विच्छेद न हो, स्वाहा । मुझमें जो प्राण है, उन्हें मैं तुझ पुत्र में होमता हूँ—स्वाहा । मैंने अनुष्ठेय कर्म के साथ कुछ अधिक या न्यून कार्य किया होगा तो मेरे उस कर्म को जानने वाले अग्नि देव अभीष्ट साधक होकर न्यूनतिरिक्त दोष से रहित कर दे—स्वाहा ॥ २४ ॥

“स्विष्टकृत” होम के बाद पिता बालक के दाहिने कान को अपने मुख के पास ले जाकर वाक्-वाक् ऐसे तीन बार कहे (अर्थात् तेरी बुद्धि में वेदत्रयी रूप वाणी पुष्ट हो जावे) । इसके अनन्तर

संयोज्य दधि घृते पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रमित्याद्यां वापस्थाने ॥ २४ ॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय स्वं मुखं वाग्वागिति त्रिजपेत् । अथ दधि मधु

स्याल्पमल्पमावाय पुनः पुनर्जुहोतीत्यर्थः । अस्मिन्स्वे गृहे पुत्ररूपेण वर्धमानो मनुष्याणां सहस्रं पुष्यासमनेकमनुष्यपोषको भूयासमस्य मत्पुत्रस्योपसन्धां संततो प्रजया पशुभिश्च सह श्रीर्मा विच्छिन्ना भूयादित्याह—अस्मिन्निति । मयि पितरि ये प्राणाः सन्ति तान्पुत्रे त्वयि मनसा समर्पयामीत्याह—मयीति । अत्यरीरिचमित्यतिरिक्तं कृतवानस्मोह कर्मण्यकरमकरवं तत्स्वं विद्वानग्निः स्विष्टं करोतीति स्विष्टकृद्ब्रूमत्वा स्विष्टमनधिकं सुहुतमन्यूनं चास्माकं करोत्स्वित्यर्थः ॥ २५ ॥

अस्य जातस्य शिक्षीरित्यर्थः । त्रयीलक्षणा वाक्स्त्वयि प्रविशस्विति जपतोऽभिप्रायः । एतंमन्त्र-

लेकर “अस्मिन् सहस्रम्.....” इत्यादि मन्त्र से अग्नि के ब्राह्मति विशेष प्रक्षेपस्थान में ब्राह्मति दे ॥ २४ ॥

जातकर्म करने के अनन्तर इस उत्पन्न शिशु के दाहिने कान को अपने मुख के पास लेकर “वाग्वागिति” इस मन्त्र का तीन बार जाप करे । फिर दधि, मधु और घृत को इकट्ठे मिलाकर

१. वापापस्थाने—ब्राह्मतिविशेषप्रक्षेपप्रदेशे । २. अथेति—स्विष्टकृतोमानन्तर जातकर्मानन्तरमिति वाज्पेयः ।

भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भुम्बुवः

स्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥२५॥

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव

नाम भवति ॥२६॥

'अर्थनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः सशयो

कांसि के बटोरे मे दधि, मधु और घृत लेकर दूसरे धातु से न मिलने वाले विद्युद्ध सोने की चम्मच मे "भूस्ते" इत्यादि मन्त्र पढ़ कर बालक को चटावे। मन्त्रार्थ यह है—मैं तुझसे "भूर्लोक" की स्थापना करता हूँ, "भुवर्लोक" की स्थापना करता हूँ, "स्वर्लोक" की स्थापना करता हूँ, "भूर्भुव स्व." उन सभी लोकों की तुझमे स्थापना करता हूँ ॥ २५ ॥

इसके बाद शिशु का नामकरण करे। 'तुम वेद हो' अतः वेद यह उस बालक का गोपनीय नाम ही होना है ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् इस बालक को माता के गोद मे देकर "यस्ते स्तन" इत्यादि मन्त्र उच्चारण करते

घृतं सनीयानन्तर्हितेनाव्यवहितेन जातरूपेण हिरण्येन प्राशयत्येतैर्मन्त्रैः प्रत्येकम् ॥२५॥

'अथास्य नामधेयं करोति वेदोऽसीति । तदस्य तद्गुह्यं नाम भवति वेद इति ॥ २६ ॥

अर्थनं मात्रे प्रदाय स्वाङ्गस्य तनयं स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तन इत्यादिमन्त्रेण

भूस्ते दधामोत्यादिभिरिति शेष. ॥ २५ ॥

वेदनाम्ना व्यवहारो लोके नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह—तदस्येति । यत्तद्वेद इति नाम तदस्य गुह्यं भवति । वेदनं वेदोऽनुभव सर्वस्य निज स्वरूपमित्यर्थः ॥ २६ ॥

'हे सरस्वति यस्ते स्तनः सशयः शय 'फलं तेन सह वर्तमानो यश्च 'सर्वप्राणिनां स्थितिहेत्व-

"अनन्तहितेन" अर्थात् वस्त्रादि वस्त्वन्तर के व्यवधान रहित "जातरूपेण" अर्थात् सोने की चम्मच से 'भूस्ते दधामि...' इत्यादि मन्त्रों से प्रत्येक को जपकर चटावे ॥ २५ ॥

हिरण्यप्राशन के अनन्तर इस शिशु का नामकरण करे। तुम सब की प्रत्यगात्मा वेद हो। अतः वेद उस नवजात शिशु का गुह्य नाम है ॥ २६ ॥

नामकरण से वाद अपनी गोद मे स्थित पुत्र को माता की गोद मे देकर "यस्ते स्तन" इत्यादि

१ अथ—नामकरणानन्तरम् । एन स्वाङ्गस्य सुतम् । तन्मातुरङ्गं दत्त्वा मातु स्तन कुमारमुने प्रयच्छति पिता ।

स्तनप्रदानमन्त्रमाह—यस्त इति । २ सनीय एकीकृत्य । ३ अव्यवहितेन—वस्त्रादिवस्त्वन्तरव्यवधान रहितेन । ४ अथ हिरण्यप्राशनानन्तरम् । परस्य शिशोः । ५ वेदोऽसि—सर्वस्य प्रत्यगात्मा त्व भवशीतयम् ।

६ हे सरस्वतीति । अत्रेद बोध्यम्—यावत्तयः कृष्यादिविधास्ते सर्वे सरस्वत्या स्तनास्तेषां च सहायदित्वा प्रसिद्ध-मेवेति । ७ श्वेतोऽस्मिन् कर्षते शय कर्मफलम् । ८ मयोभूरित्यस्यार्थमाह—सर्वप्राणिनामिति । मया

अम् ।

यो मयोभूयं रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः । येन विश्वा
पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति ॥२७॥
अथास्य मातरमभिमन्त्रयते । इलाऽसि मंत्रावरुणी
वीरे वीरमजीजनत् । सा त्व वीरवती भव याऽस्मा-

हुए बालक के मुख में स्तन देवे । मन्त्रार्थ यह है—हे सरस्वति । तेरा जो स्तन दुग्ध का अक्षय भण्डार तथा जीवन का आधार है, जो रत्नो की खानि के जैसे है एवं सपूर्ण धन का जानने वाला उदार दाता है और जिससे तुम समस्त वरणीय वस्तुओं का पोषण करती हो । इस दियु के जीवनार्थ उस स्तन को मेरी पत्नी के शरीर में प्रविष्ट कर दो । बालक के मुख में स्तन दे देवे ॥ २७ ॥

इसके बाद "इलाऽसि" इत्यादि मन्त्रों से इस बालक की माता को अभिमन्त्रित करे । मन्त्रार्थ यह है—हे देवि ! तू स्तुति के योग्य अरुन्धति है । हे वीरे ! तूने वीर पुत्र का जन्म दिया है । अत

॥ २७ ॥

'प्रयास्य मातरमभिमन्त्रयत इलाऽसोत्पनेन' । तं वा 'एतमाहुःरित्यनेन विधिना जातः
पुत्रः पितरं पितामहं चातिशेत् इति श्रिया यशसा ब्रह्मवचंसेन परमां निष्ठा प्रापदित्येव

अभावेन जातो यश्च 'रत्नधा अक्षय पयसो वा धाता यश्च वसु कर्मफलं तद्विन्दतीति वसुवित् । यश्च
सुष्टु बवातीति 'सुदत्रो येन च स्तनेन विश्वा विद्वानि वार्याणि वरुणोयानि देवादीनि भूतानि त्व
पुष्यसि तं स्तनं संबोध्यपुत्रस्य धातवे पानाय संबोध्यभास्तने प्रविष्ट कुर्वित्यर्थः ॥ २७ ॥

इला स्तुत्या भोग्याऽपि । मित्रावरुणान्यां समूतो मंत्रावरुणो वसिष्ठस्तस्य भार्या मंत्रावरुणी
सा चारुन्धती तद्वत्त्वं तिष्ठतीति भार्या संबोध्यति—मंत्रावरुणीति । वीरे पुरुषे मयि निमित्तभूते भवती
वीरं पुत्रमजीजनत् । सा त्व वीरवती 'जीवद्बहुपुत्रा भव । या भवती वीरवतः पुत्रसपन्नानस्मानकर-

मन्त्र से उस माता का स्तन बालक के मुख में दे देवे ॥ २७ ॥

स्तन के अनन्तर "इलाऽसि..." इत्यादि मन्त्र से बालक की माता की प्रार्थना करे । "त वा एतमाहुः" इस मन्त्र द्वारा उक्त विधि से उत्पन्न पुत्र पिता और पितामह को अतिक्रमण कर प्रतिष्ठित होता है । इस प्रकार तू लक्ष्मी, कीर्ति तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा पराकाष्ठा को पहुँच गया, इस प्रकार

१ अर्थ—स्तनदानानन्तरम् । २ मन्त्रेण । ३ उक्तविधिनोत्पन्न पुत्रम् । ४ अतिक्रम्य वतत । ५ रत्नधेति—रत्नस्य रमणीयस्यति शेष । ६ कल्याणप्रद । ७ जीवद्बहुपुत्रेति पाठान्तरम् ।

वीरवतोऽकरदिति । तं वा एतमाहुरतिपिता वता-
भूरतिपितामहो वताम्ः परमां वत काष्ठां प्रापच्छ्रिया
यशसा ब्रह्मवर्चसेन । य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो
जायत इति ॥२८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य
चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

वीरवती हो, ऐसे पुत्र से तूने मुझे भी वीरवात् बना दिया । इस पुत्र को देखकर दूसरे लोग कहे, तू तो अपने पिता से भी बड़ गया नि सन्देह तू अपने पितामह से भी आगे निकल गया । तू लक्ष्मी, कीर्ति तथा ब्रह्मदेज के द्वारा उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया है । ऐसा विशिष्ट ज्ञान से सपन्न पुत्र जिस ब्राह्मण को होता है, तो वह पिता उस पुत्र की भाँति स्तुति का पात्र हो जाता है ॥ २८ ॥

स्तुत्यो भवतीत्यर्थः । यस्य 'चवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायते' स चवं स्तुत्यो भवतीत्यध्या-
हार्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणे षष्ठाध्यायस्य
चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

स्कृतवतीति मन्त्रार्थः । पितरमतीत्य यतंत इत्यतिपिता । ग्रहो महानेव विस्मयो यत्पितरं पितामहं
च सर्वमेव यंशमतीत्य सर्वस्मादधिकस्त्वं जातोऽसीत्यर्थः । न केवलं पुत्रस्यैवेयं स्तुतिरपि तु यद्योक्तपुत्र-
संपन्नस्य पितुरपीत्याह—यस्येति ॥ २८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्राह्मणटीकायां षष्ठाध्यायस्य
चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

लोग उसको स्तुति करते हैं । मन्यकर्मानुष्ठाता प्राण का उपासक जिस ब्राह्मण को ऐसा है वह पिता भी इस पुत्र की भाँति स्तुति करने योग्य हो जाता है; ऐसा मध्याह्न चाहिये ॥ २८ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मण के ॥ ४ ॥
हिन्दी भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

१ अस्त्वंविद इत्येव पाठो भाष्यादरगम्बले । २. एरविद.—मन्यकर्मानुष्ठातु-
—पिता । एव—पुत्रवत् ।

(भव पन्थाध्यायस्य पञ्चम ब्राह्मणम् ।)

अथ व०शः । पौतिमापीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात्कात्या-
यनीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्रा-

(भव समस्त प्रवचन वंश की आचार्य वंशपरम्परा का वर्णन किया जाता है—) पौतिमापी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी

‘अथेदानीं समस्तप्रवचनवंशः । स्त्रीप्राधान्यात् । गुणधान्युत्रो भवतीति प्रस्तुतम् ।

सांनिध्यात्सत्काण्डस्य वंशोऽयमिति शङ्कां नियतंयन्वंशब्राह्मणतात्पर्यमाह—अथेति । ‘विद्या-
भेदावतीतस्य काण्डद्वयस्य प्रत्येकं वंशभाक्त्वेऽपि नास्य पृथक्वन्द्भागित्वं खिलत्वेन तच्छेषत्वात् ।
‘तथा च समाप्तौ पठितो वंशः समस्तस्यैव प्रवचनस्य भविष्यतीत्यर्थः । पूर्वं वंशो पुरुषविशेषितो
तृतीयस्तु स्त्रीविशेषितस्तत्र किं कारणमित्याशङ्क्याऽह— स्त्रीप्राधान्यादिति । ‘तदेव स्फुटयति—गुण-

इसके बाद काण्डत्रयात्मक वेद की आचार्यपरम्परा का क्रम कहा जाता है । (पुत्रवैशिष्ट्य प्रयोजक) पूर्वोक्त स्त्रीवैशिष्ट्य प्रकाशनायक होने से इसका प्रतिपादन करना आवश्यक है । (पुत्रमन्य

१. श्रौतापशुनार्यमाह—इदानीमिति । कृत्स्नप्रवचनसमाप्त्यवसरे । समस्तप्रवचनेति—समस्तस्य प्रकृतस्य काण्ड-
त्रयात्मकस्य वेदस्य । वंश आचार्यपरम्पराक्रम उच्यते इति शेषः । २ स्त्रीप्राधान्यादिति—पूर्वंत्र गुणवत्पुत्रहेतु-
त्वेन । प्राधान्यत स्त्रीणामेव प्रस्तुतत्वादित्यर्थः । पुत्रवैशिष्ट्यप्रयोजकपूर्वोक्तस्त्रीवैशिष्ट्यप्रकाशनायत्वात्प्राधान्यतो
ऽस्य वंशस्येति यावत् । ३ विद्याभेदावतीतस्य काण्डद्वयस्येति । अत्रेदं बोध्यम्—पतीत काण्डद्वय मधुमुनिकाण्ड
यद्यपि एकब्रह्मविद्याविषयकमेव न तु तयोर्ब्रह्मविद्या भिद्यते तथापि विद्याप्रयोजकभेदद्वारकविद्याभेदादाय काण्ड-
भेदमन्युपेत्य प्रत्येक वंशभाक्त्वमिति । सत्र मधुकाण्डे ह्यागमो विद्याप्रयोजकस्तस्यागमप्रधानत्वात् । मुनिकाण्डे
चोपपत्तिविद्याप्रयोजिका तस्य तत्प्रधानत्वात् । यथाहर्षाव्यकृत—मधुकाण्डे ह्यागमप्रधान याज्ञवल्कीय चोप-
पत्तिप्रधानमिति । ४ तच्छेषत्वादिति—शेषस्य च शेषिवशेनेव वंशवत्त्वादिति भावः । ५ तथा च—
शेषस्य पृथक्वन्द्भागित्वेनैव अस्य वंशस्य सत्त्वं शेषत्वभावे चैत्यर्थः । ६ समाप्तौ—समस्तस्य प्रवचनस्येति
शेषः । ७ शेषः । ८ स्त्रीवैशिष्ट्यवितपुत्रवैशिष्ट्यपक । ९ स्त्रीप्राधान्यमेव ।

ॐ अथेदानीं समस्तप्रवचनवंश इति भाष्यमत्राहुर्वात्तिकाचार्यास्तथाहि—“समाभित न वत्पूर्वं कृत्स्नेऽस्मि-
न्ब्राह्मणोऽपि सत् । खिलकाण्डे तदखिल पुत्रमन्यान्तुमीरितम् ॥ पूर्वकाण्डेकदेशत्वात्खिलकाण्डे न वंशभाक् ।
पूर्वंत्र विद्याभेदाद्भ्रून्नी वंशाविहोवितो ॥ पूर्वोक्तुभिरुच्यार्यैस्त्वान् कथं च मन्मथु । व्याख्यात तदशेषेण
वंशस्तत्र तदर्थभाक् ॥ मधुकाण्डागमार्थस्य यथावत्प्रतिपत्तये । काण्डे स्याद्याज्ञवल्कीयं वंशस्तद्विषयस्तथा ॥
अथ तु वंशो विज्ञेय कृत्स्नप्रवचनार्थस्य । समाप्तौ ब्राह्मणस्योक्तेरप्यमर्थोऽवसीयते ॥ उक्तवेदार्थविज्ञानसाकल्य-
प्रतिपत्तये । जपो वंशस्य येनातः श्रुत्या वंश इहोदित ॥ सर्वज्ञाना यतो वंशास्त्रयोऽप्येते यथोदिताः । अतस्त-
स्फुटितः साम्यज्ञानभानूदयो भवेत् ॥ पुत्रमन्येन सत्कारः स्त्रीणामेवैह बर्णित । यतोऽहः स्त्रीप्रधानोऽय
पुत्राणां वंश उच्यते ॥ अन्वयतोऽन्यत एवाय सप्रदायो यथाऽभवत् । न तथा ब्रह्मणस्तस्मात्तत्स्वयम्बिति शक्यते ॥
अन्येर्था वेदतो ज्ञान भूरित्साधनसप्रयात् । स्वतो वेदात्मनस्तस्मात्सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ सर्वस्यैव वंशोऽप्यदि

द्वभारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र औप-
स्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रः
कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्कौशिकी-
पुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रः
पदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥१॥

पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने औपस्वस्ती पुत्र से, औपस्वस्ती पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने कौशिकी पुत्र से, कौशिकी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से और वैयाघ्रपदी पुत्र से, वैयाघ्रपदी पुत्र ने काण्वी पुत्र से तथा कापी पुत्र से, कापी पुत्र ने ॥१॥

'व्रतः' स्त्रीविशेषणैर्नैव 'पुत्रविशेषणाद्वाचायंपरम्परा कौतयन्ते । तानीमानि शुक्लानीत्य-

वानिति । कौतयन्ते ब्राह्मणेनेति संबन्धः । शुक्लानि यजूधीत्यस्य व्याह्वानमव्यामिथानीति दोषैर्-

विद्या मे स्त्रीप्राधान्य होने से ही) गुणवान् पुत्र होता है—ऐसा कहा जा चुका है । इसलिये स्त्रीवैशिष्ट्य-
प्रयुक्त वैशिष्ट्य के समान पुत्रों की विशेषता को ग्रहण कर इस वाचायंपरम्परा का पाठ किया जाता

१ व्रत इत्येतस्त्रीप्राधान्यादित्यनेन समानार्थकम् । २ स्त्रीविशेषणे नैवेत्यादि—स्त्रीवैशिष्ट्यप्रयुक्तवैशिष्ट्य-
वत्पदानेव विशेषणत्वेनादायेमवाचायंपरम्परा पठयत इत्यर्थ । ३. पुत्रविशेषणादित्येषाल्यन्तोपे पञ्चमी
मन्तव्या ।

तथाग्निं प्रागवादिपम् । परं देवता वेदो ऋषिर्किञ्चनराजम् ॥ प्रतिपाद्याऽऽज्जमनाऽऽज्जमन वामरूपादिसाधनः ।
एति पूर्णात्मता साक्षाद्विद्या वाचागमोचरम् ॥ त्रयैव ब्राह्मणो विद्वान्नात्मनैवाद्दय परम् । विदित्वा निवृत्ति
याति कार्यकारणयोः पराम् ॥ वेदोऽस्त्रीत्यत एवास्य नाम जातरम कुर्वते वेदात्मना कथ नाम परं ब्रह्म प्रपत्स्यते ॥
वाजिशास्त्रानु सर्वाणु ह्यापुरायणपूर्वका । समाना बंधर्षयोऽमी ह्या समानैरितीदयताम् ॥ घादित्येन हि प्रोक्तानि
यजूष्येनानि यानि सु । घादित्यानीःयतस्तानि मध्यगाचक्षते बुधा ॥ वेदात्मनो रत्नेरेव सप्रदायोऽप्रमागतः । पर-
मेष्ट्यादिवानसर्वाण्यारपयेण माणुषम् ॥ अष्टगुप्त पर ब्रह्म सर्वदोषविजितम् । एतदादित्यग भाति तद्वेदानां
पर वप ॥ उत्तममपि यदब्रह्म तदादित्ये न नश्यति । तदार्षर्षेव विन्दन्ति तपस्तप्यत्वा महर्षयः ॥ वेदब्रह्मण
भारम्प सर्वेषामपि शास्त्रिणाम् । साक्षीवीसूनुपर्वन्तो वशा एको न भिद्यते ॥ साक्षीवीपुत्रस्तत्स्ववर्षप्रतिशास
वृषकृषक । वाचायंपेदाङ्गित्वेन वशा वाजसनेरिनाम्" ॥ १२१ ॥ इति । वशाब्राह्मणार्थकयनार्थं वृत्त
मकौतयन्ति—ममावर्तमिति । यत्पूर्वं काण्डद्वये सर्वत्रापि ब्राह्मणे वस्तु न सभावोपनीत वक्तव्यत्वेन शिष्ट
तत्त्वार्थमस्मिन्काण्डे पुत्रमन्वावसानमुक्तमित्यर्थं । प्रत्येक मधुमुनिकाण्डयोर्वेदभावत्ववदस्यैवाप वशाः सतिघाना-
सथाच रूप समस्तप्रवचनसंश इति भाष्यमित्यागाङ्कपाऽऽह—पूर्वेति । तदेवदेशत्व तत्रानुक्तस्य वक्तव्यत्वेना-
वशिष्टस्यात्रोक्तेरिति दृष्टव्यम् । नच पूर्वोक्तोरपि त्रयेक वशाभाक्त्व तत्राऽऽह—पूर्वेति । इहेति वस्तुशान्त
वस्तुत्वं वाऽह ॥ वष काण्डद्वयस्य मिश्रविधाविषयत्व न हि ब्रह्मविद्योभयत्र भिद्यते भेदकाभावादित्याचङ्क्य
मधुकाण्डार्थं दशयन्वशस्य तत्रार्थवत्तामाह—पूर्वेति । द्वितीयस्तच्छब्दरत्तमादर्थं । अर्थभाववस्तुपान्ति वशी

आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्रो गौतमीपुत्रो
 भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरी-
 पुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरी-
 पुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वाकारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्रा-
 द्वाकारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गी-
 पुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात्सांकृतीपुत्र आलम्बा-
 यनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो
 जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डू-

आत्रेयीपुत्र से, आत्रेयी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वात्सी पुत्र से, वात्सी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से, वार्कारुणी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से आर्तभागी पुत्र से, आर्तभागी पुत्र ने शौङ्गी पुत्र से, शौङ्गी पुत्र ने सांकृति पुत्र से, सांकृति पुत्र ने आलम्बायनी पुत्र से, आलम्बायनी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से, आलम्बी पुत्र ने जायन्ती पुत्र से, जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से, माण्डूका-

श्वामिश्राणि ब्राह्मणानि । अथवाऽग्रानयामानीनानि यजूंषि तानि शुक्लानि शुद्धानीत्येतत् ।

सक्तीर्णानि 'वीक्ष्येयत्वदोषद्वाराभावादित्यर्थः । अयातयामान्यदुष्टान्य'गताथानी यथं । पाठक्रमेण मनुष्यादिः

है । वे ये वृहदारण्यक वाक्य और शुक्ल-यजु श्रुतियाँ ब्राह्मण याज्ञवल्क्य द्वारा प्राप्त की गई हैं—ये

१. वीक्ष्येयस्वेति—वीक्ष्येयस्वरूप यदोषाणा द्वार प्रयोजक तदभावादित्यर्थ । २ अगताथानीति—अन्वरे-
 श्नातानि आदित्याद्याजवल्क्येतरैरलम्बायीति यावत् ।

निदिश्यमानो मधुद्वयस्याऽऽगमसंप्रदायप्रतिपादनार्थत्वात्फलवानित्यर्थं ॥ मुनिकाण्डप्रवृत्तिप्रदर्शनपूर्वकं वशान्तर-
 स्फार्थवत्त्वमाह—मध्विति । यथावत्प्रतिपत्तिन्यायद्वयेन विप्रतिपत्तिनिरासेनावगतिस्तथा मति तद्विषयकस्य
 ज्ञानस्य तर्कसंप्रदायप्रतिपादको द्वितीयो वक्षो भवत्यर्थवानित्यर्थं ॥ तृतीयोऽपि वक्षस्तृतीयकाण्डमध्वेव किं न
 स्वादित्यासाङ्ग्या पूर्वकाण्डैकदेशत्वादित्यत्रोक्तमुपजीव्याऽऽह—अथ िविति । तत्र गमकमाह—समासाविति ।
 प्रवचनसमासावस्य वक्षब्राह्मणस्योक्तेरस्य वंश सर्वप्रवचनशेषो भातीत्यर्थं ॥ पूर्ववदस्य फलवन्वाभावादवक्त-
 व्यत्वमाप्तङ्ग्याऽह—उक्तेति । इहेति प्रवचनसमासावित्यर्थं ॥ इतश्च वक्षत्रयसकीर्तनं कर्तव्यनिराह—सर्व-
 ज्ञानामिति । 'यस्य देवे परा भक्ति'रित्यादियुते । पूर्वो वक्षो पुरुषविशेषितो तृतीय स्त्रीविशेषितस्तत्र किं
 कारणमित्याशङ्क्य स्त्रीप्राधान्यादित्यादिभाष्यतात्पर्यमाह—पुत्रेति । इहेत्यनन्तरब्राह्मणोक्तिं ॥ ब्रह्म स्वयन्विति
 ब्रह्मणि स्वयभुगब्धप्रयोगे निमित्तमाह—अन्यत् इति । ब्रह्मशब्दार्थं व्याकृशानस्तस्याऽऽचार्यानपेक्षत्वं साधयति—
 अन्येयामिति । श्रुतिस्मात्प्रभूतं स्वयन्वादि । परमात्मा वैशेषीयब्रह्म न च तस्याऽऽचार्यापेक्षा सर्वज्ञानमयत्वा-

कायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्रा-
च्छाण्डिलीपुत्रो रायीतरीपुत्राद्रायीतरीपुत्रो भालुकी-
पुत्राद्भालुकीपुत्रः क्रीञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रीञ्चिकी-
पुत्रौ वंदभृतीपुत्राद्वंदभृतीपुत्रः काशंकेयीपुत्रा-
त्काशंकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः
सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः प्राशनीपुत्रादासुरिवासिनः
प्राशनीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः॥२॥

यनी पुत्र ने माण्डूकी पुत्र मे, माण्डूकी पुत्र ने शाण्डिली पुत्र मे, शाण्डिली पुत्र ने रायीतरी पुत्र से, रायीतरी पुत्र ने भालुकी पुत्र मे, भालुकी पुत्र ने क्रीञ्चिकी के दो पुत्रों से, क्रीञ्चिकी के दोनों पुत्रों ने वंदभृती पुत्र से, वंदभृती पुत्र ने काशंकेयी पुत्र से, काशंकेयी पुत्र ने प्राचीनयोगी पुत्र से, प्राचीनयोगी पुत्र ने सांजीवी पुत्र से, सांजीवी पुत्र ने आसुरिवासी प्राशनी पुत्र से, प्राशनी पुत्र ने आसुरायण से, आसुरायण ने आसुरि से, आसुरि ने ॥ २ ॥

प्रजापतिमारभ्य यात्र्यपीतिमापीपुत्रस्तावदधोमुक्तो नियताचार्यपवंक्षमो वंशः समानमा

प्रजापतिपयंतो वंशो व्याख्यातः । सप्रत्ययंक्रममाश्रयाऽऽह—प्रजापतिमिति । 'अधोमुखत्व पाठक्रमा-
पेक्षोच्यते । 'तत्रापि प्रजापतिमारभ्य सांजीवीपुत्रपयंत वाजसनेयिशाखासु 'सर्वास्विको' वंश इत्याह—

दोषो से रहित हैं । अथवा ये आदित्य और याज्ञवल्क्य को छोड़कर दूसरों से अप्राप्त होने से ये बृहदारण्यक और यजु श्रुतियाँ शुक्लानि" अर्थात् शुद्ध हैं । प्रजापति से लेकर पीतिमापी पुत्र तक तो

१ मुखमात्रत्वं तथा बाधोमुख इत्येति ध्रुपत्या पीतिमापीपुत्रस्यावत्व लभ्यते तस्य तत्त्व च प्रजापति-
मारभ्य न सम्भवतीत्यत आह—अधोमुखत्व पाठक्रमेणेत्येति । पीतिमापीपुत्रस्य मुखत्व तदपेक्षयेति यावत् । २
अयंक्रमेणैव । ३ सर्वास्विकेति—(प्रकृत) पञ्चदशशक्याकास्वित्यर्थः । ४ वंशस्तृतीयोऽयम् ।

दित्यर्थः ॥ परस्य लभ्यत्वत्वं लिङ्गमाह—सर्वेयेति । न हि वक्षित्वादि सर्वज्ञानमयत्वं बिना सिध्यतीत्यर्थः । तस्य
सर्वंशरत्वं यं सर्वज्ञ सर्वविदित्यादिभूतमन्तरेऽपि प्रतिष्ठमित्येपर्यं । परस्य वेदोपाधेभ्यःप्राशस्त्यत्वं वेदुपाधि-
तद्भवेन भेदादद्वैतहानिरित्यापाङ्गुभाऽऽह—पर्येति ॥ कथं स हि प्रतिपाद्यप्रतिपाद्यकत्वमुपाधितत्वं च वेदब्रह्मणो-
रिष्ट तत्राऽऽह—प्रतिपाद्येति । कल्पितभेदेन तत्त्वमवाच्य वास्तवाद्द्वैतहानिरिति भावः । निष्प्रपञ्चत्व साक्षादिति
विवक्षितमत एव धियाग्नित्यादि विशेषणम् ॥ वेदस्य कल्पितभेदस्याऽऽस्यप्रतिपाद्यकत्वे प्रमाणान्तरेत्यापि तत्त्वमवा-
द्ययोगव्यवच्छेदासिद्धिरित्यापाङ्गुभाऽऽह—नप्येति । न हि प्रत्यक्षादिना तद्विस्तृतयोग्यत्वात्ततो मुमुक्षुर्वेदेनैवा-
ऽऽप्तमयोकतेन स्वस्वरूप विदित्वैव निवृत्तोति समेय विदित्वेत्यादि श्रुतेरित्यर्थः । अद्यत्वं विराट्मित्यु निवृत्ति
विदित्वादि—नार्येति । स्वरूपभूतवेदेन परस्य प्रतिपत्तिरित्यत्र युक्तमन्तरमाह—वेदोऽसीति । आत्मभूतवेदस्य
स्वरूपबोधकत्वमत शब्दार्थः । आतस्य जिगोर्बोऽसीति नाम कुर्वतामभिप्रायमाह—वेदात्मनेति । ब्रह्म स्वय-

याज्ञवल्क्या'द्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण
 उपवेशरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा
 जिह्वावतो वाऽयोगाज्जिह्वावान्वाधयोगोऽसिताद्वार्ष-
 गणावसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः
 शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नंध्रुवेः

याज्ञवल्क्य से, याज्ञवल्क्य ने उद्दालक मे, उद्दालक ने अरुण से, अरुण ने उपवेशि से, उपवेशि ने कुश्र मे, कुश्रि ने वाजश्रवा से, वाजश्रवा ने जिह्वावान् वा-योग से, जिह्वावान् वा-योग ने अस्मित वार्षगण मे, अस्मित वार्षगण ने हरित वदयप से, हरित वदयप ने शिल्प कश्यप से, शिल्प वदयप ने कश्यप नंध्रु वि से,

सांजीवीपुत्रात् । ब्रह्मणः प्रवचनाख्यस्य । तच्चैतद्ब्रह्म प्रजापतिप्रवन्धपरम्परयाऽऽगत्या-

समानमिति । प्रवचनाख्यस्य वंशात्मनो 'ब्रह्मण सयन्मात्प्रजापतिविद्यां कथयान्तिष्वाह—ब्रह्मण इति । 'तस्याधिकारिभेदावयान्तरभेद दर्शयति—तच्छेति । प्रजापतिप्रमुखप्रवन्धः प्रपञ्च संव परम्परा

यह अधीमुखवश नियत आचार्य परम्परा क्रम से है । साजीवीपुत्रपर्यन्त सब आचार्य (वाजमनेयिशाखा के होने से) एक ही वंश के हैं । प्रजापति ने प्रवचनाख्य ब्रह्म (वेद) के सबन्ध से विद्या प्राप्त की । वह

१ वाजसनेत्येवविशेषणात्। एवमध्यमापादाऽभ्योऽयं याज्ञवल्क्य । २ ब्रह्मण इति—वेदस्यैतर्थाः । प्रजापतेः स्वय प्रतिभातवेदत्वाविति भावः । ३ वेदब्रह्मण ।

न्वित्यत्र ब्रह्माशब्दार्थमुक्त्वा पूर्ववद्वयस्यमवान्तरविशेषमाह—वाजिनात्वास्त्विति । पञ्चदशसख्याकामु सर्वास्वेव तामु वशद्वयस्यपर्यं षाठत्रमेणाऽऽमु रायगापुरसरा वेदाश्चब्रह्मपयन्तास्तुत्या धामुरायणापूर्वो तु प्रतिशाखमुभयत्र मनुष्यास्ते भिद्यन्ते तद्भेदश्रुतेरित्यर्थं । वंशवर्षाणां तुल्यत्वमभ्यापकप्रसिद्धमित्याद्यो हिशब्द । तत्सापान्कस्य षाठा-
 नुसारेणानुभवयोग्यत्वमिति द्वितीयो हिशब्द ॥ प्रादिस्यानीमान्तिषत्र यजुषामास्त्वित्त्व श्रुत तत्साधयति—
 धादित्येनेति । तेन वाजिनात्वावच्छिन्न यजुषा प्रोक्तव याज्ञवल्क्येन प्राप्तव च पुराणेषु प्रसिद्धमिति हि
 शब्दार्थः ॥ इतश्च तेषामादित्यात्मत्वमित्याह—वेदेति । स हि वेदात्मा हिरण्यगर्भस्तत्तत् परमपित्तो विद्यासप्रदायो-
 ऽस्तत्तदादिकांस्वनिव प्रति पारपर्येणाऽऽगतोऽयं सत्रदापस्तस्मादेवाऽऽदित्यर यजुषामित्यर्थं । एवमिति वन
 ब्राह्मणाचीतक्रमकथनम् ॥ न केवलं तेषामेवाऽऽदित्याव किंतु सर्वैरेव वेदस्य तस्य 'श्रीमश्वत्प्रसिद्धेरित्याह—
 भसत्पृष्टमिति । 'स यत्राय पुरुषे यत्रासावादित्ये स एष' इत्यादि श्रुतेर्वेदरूपस्य परस्याऽऽदित्यं प्रतिष्ठितत्वात्सस्य
 सर्वैरेवाऽऽदित्यता युक्तैति भावः ॥ तत्रैव हेतवन्तरमाह—उत्सन्नमिति । 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहृत' इत्यादि श्रुते
 नि श्रवणपरस्मात्प्रवृत्तमपि वेदाख्य ब्रह्माऽऽदित्यात्मनि तस्मिन्प्रत्ययावस्थायाम्श्रीत्यत्र प्रमासुमाह - तदापेनेति ।
 'युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्तेतिहासात्महर्षयं । लेभिरे ऽपसा पूवमनुज्ञाता स्वयमुभव' ॥ इत्यादिवाक्यमत्र मान-
 मित्यर्थः ॥ वशद्वयस्य विशेषं यजुषामादित्यत्व चोक्तत्वा मभान्तिर्यादि व्याख्येयं वेदेति । सर्वेषां प्रकृत-
 पञ्चदशसख्याकराजिशाखाभेदतुणामिति यावत् ॥ वशस्तृतीयो भा साजीवीपुत्रादिति विशेषणमभ्यन्तर्भवर्धमाह
 —साजीवीति । वाजसनेयिना प्रतिपाद्य साजीवीपुत्रादुपक्रम्य मनुष्यपर्यन्तमिति वा वशा तृयविभक्तन्त
 प्राचार्थभेदोपलम्भादिति योजनम् ॥

कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादा-
'दित्यानी'मानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन
याज्ञवल्क्येनाऽऽख्यायन्ते ॥३॥

समानमा सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो माण्डूकायने-
माण्डूकायनिमाण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात्कौत्सो
माहित्येर्माहित्यिर्वामकक्षायणाद्दामकक्षायणः शाण्डि-
ल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्या इत्स्यः कृश्रेः कृश्रियंज्ञवचसो
राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्काव-
पेयात्तुरः कावपेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म

कश्यप नैध्रुवि ने वाक् से, वाक् ने अम्भिनी से, अम्भिनी ने आदित्य से । अतएव आदित्य से प्राप्त हुई
ये शुक्ल यजु धृतियाँ वाजसनेयी याज्ञवल्क्य द्वारा प्रसिद्ध की गयी हैं ॥ ३ ॥

साञ्जीवी पुत्र पर्यन्त यह एक ही वंश है । साञ्जीवी पुत्र ने माण्डूकायनी से, माण्डूकायनी ने
माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्यि से, माहित्यि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने
शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने वात्स्य से, वात्स्य ने कृश्रि से कृश्रि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से,
यज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुरकावपेय से, तुरकावपेय ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्मा से यह

स्मास्यनेकथा विप्रसूतमनाद्यनन्त स्वयंभु ब्रह्म नित्यं तस्मै ब्रह्मणे नमः । नमस्तदनुवर्तिभ्यो

तयेति यावत् । 'तस्य परमात्मरूपस्वयंभूत्वमभिधधाति—अनादीति । 'तस्यापोरपेयत्वेनासंभाधित-
बोधतया प्रामाण्यमभिप्रत्य विशिनष्टि—नित्यमिति । आदिमध्यान्तेषु कृतमङ्गला ग्रन्थाः प्रचारिणो

यह वेदब्रह्म प्रजापतिप्रधान प्रपञ्च वाला परम्परा से आकर हम सबमें अनेक रूप से फैला हुआ है । वह
अनादि, अनन्त, स्वयम्भु ब्रह्म नित्य है, उसको नमस्कार है, उसका अनुसरण करने वाले आचार्यों को

१. आदित्यानि—आदित्येन सूर्येण याज्ञवल्क्येण प्रोक्तानीत्यर्थः । २. इमानि—आर्हृशरण्यानि वाचयानि ।
३. यजूंषि—याजुषाणीत्यर्थः । ४. वाजसनेयिनाश्चाख्यत्रा याज्ञवल्क्येन मुनिना प्रकाशयत इत्यर्थः । ५.
नित्यमिति—परस्यैव वेदरूपेणावस्थानादित्यादाय । ६. वेदस्य । ७. वेदस्य ।

स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य

१ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥५॥

इति वाजसनेयके बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

इति वाजसनेयकबृहदारण्यकक्रमेणाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

विद्या ग्रहण की है । ब्रह्मा स्वयंभु है, उस स्वयंभु ब्रह्मा को अनेको बार नमस्कार है ॥ ४ ॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

धीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यं श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पदवाक्यप्रमाणपारावारीण श्रीकैलासपीठाधीश्वर
आचार्य महामण्डलेश्वर भ्रमन्त श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य
रचित "विद्यानन्दी मिताक्षरा" टीका पूर्ण हुई ॥

गुरुभ्यः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्रह्माख्ये षष्ठाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीशङ्करभगवतः कृती बृहदारण्यकोपनिषद्ब्रह्माख्ये

षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

भवन्तीति मन्वानः सप्ताह—तस्मै ब्रह्मणे नम इति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्ब्रह्माख्यटीकायां षष्ठाध्यायस्य पञ्चमं ब्रह्मणम् ॥ ५ ॥

नमो 'जन्मादिसंबन्धहेतुविध्वंसहेतवे ।

हरये परमानन्दपरिज्ञानवपुभूते ॥ १ ॥

नमस्त्रयन्तसंदोहसरसौरुहभानवे ।

गुरवे परपत्नोद्यध्यान्तध्वंसपटीयसे ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानकृतायां

बृहदारण्यकोपनिषद्ब्रह्माख्यटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

भी नमस्कार है ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे षष्ठाध्यायस्य शङ्करभाष्य की व्याकरणाचार्य विद्यावारिधि
डॉ० उमेशानन्द शास्त्री कृत "कुमुदतोपिणी" टीका संपन्न हुई ॥ ६ ॥

१. जन्मादिसंबन्धहेतुपरिज्ञानम् ।

"मधीत्या स्याद्गुरोरेतामनेष्वि गुरुटिप्पणी । धानन्दविष्णुदेवान्तगिरिकर्मन्दिनाऽऽद्यमे" ॥

एवमुपनिषदमाद्यमेऽस्मिन् कैलाशाभिधे । सवत् १९६५ वैश्वक्रष्णदशमीगुरुवर्षेऽस्याः समाप्त्याऽभ्ययनम् ।

समाप्तेयं सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्यसमेता बृहदारण्यकोपनिषत् ।

॥ ॐ तत्सत् ॥



अथ त्रुकाष्टकम् ।

व्याख्यासहितम् ।

मानन्दसिन्धुमजमक्षरमद्वितीयमात्मानमच्युतशिव स्वगुरुं प्रणम्य ।
कुर्वे समस्तजननिर्वृत्तिसौख्यसिद्धये धीमच्छुकाष्टकसरोजविबोधभानुम् ॥

इह खल्वनेकजन्ममश्चितानन्तमृत्परिपाकवणात्प्रक्षीणसर्वरागादिदोषविशुद्धान्तकरणोऽनेक-
जन्मानुष्ठितनित्यनेमित्तिकादिसत्कर्मोपासनन्नमाजितविवेकवैराग्यशमदमादिसाधनसम्पन्नो मुमुक्षुमोक्ष-
साधने 'तरति शाकमात्मविद्' इति श्रुतेर्वोधिते आत्मनस्त्वज्ञाने समुदिताभिलाष प्राग्जन्म-
न्यम्यस्तेष्वपि श्रवणमनननिदिध्यासनेषु बलवत्तरप्रतिबन्धादनुत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कार सपरेत
'प्राप्य पुण्यकृर्नाल्लोकान्' इत्यादि भगवद्दक्षितदिशा शुद्धाना श्रौमता गेहेऽभिजाताना पौवंदेहिवशुद्धि-
सयोगप्राप्ताना तत्त्वनिष्ठापरायणाना ब्रह्मजिज्ञासूना योगाच्चलितमानसाना सशुद्धचित्तवियानामात्मतत्त्व-
मुपदिशति—भेदाभेदावित्यादिना ।

भेदाभेदो सपदि गतिर्तो पुण्यपरापे विशोर्ण
मायामोहो क्षयमधिगतो नष्टसदेहवृत्तेः ।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
निस्त्रेगुण्ये पयि विचरतः को विधिः, को निषेधः ॥ १ ॥

अभि सत्त्वरजस्तमस्संज्ञेर्गुणे रहितम् । त्रिगुणात्मिकया सकार्याव्धिच्या शक्या रहितमिति
यावत् । अत एव शब्देभ्यो लोकिकेभ्यो वैदिकेभ्यश्चातीतमतिक्रान्त तदविषयमित्यर्थ । पञ्चविधा हि
शब्दा, जातिवचना गुणवचना क्रियावचना सजाभूता सबन्धिशब्दाश्चेति । यथा गौ शुक्ला
धावति, भद्रको भारवाह इति जात्यादयश्च त्रिगुण्यविषय एव प्रसिद्धा न निस्त्रेगुण्य इति शब्द-
प्रवृत्तिनिमित्ताभावाच्छब्दातीतम् । तथाविध तत्त्वावबोध तत्त्वमबाधितवस्तु तद्रूपम् । अयगतो बोध
ध्रुवबोध । साक्षात्कारवृत्तीद्वयप्रकाशपूर्णसच्चिदानन्दैवरसम्, भूमारय ब्रह्म प्राप्य विस्मृतकण्ठ-
चामीकग्न्यायेन बोधमात्रेण लब्ध्वा । नष्टसन्देहवृत्ते सर्वस देहधीजभूताज्ञाननाशादेव नष्टा इष्टा-
निष्टसाधनहेयोपादेयगोचरसन्देहवृत्तयो यस्य । अत एव निस्त्रेगुण्ये निर्गतास्त्रेगुण्यास्तामसा विदयिण
राजसा कर्मिण सात्त्विका उपासकाश्च यस्मात्तथाविधे निर्विकल्पपरमसमाधिरूपे सप्तमयोगभूमिका-
लक्षण पयि विचरत स्वच्छन्द विहरतो मन को विधि पुनरग्नित्वादिर्कर्मम् प्रवर्तयेत् को वा
निषेधो नैकभ्यंस्वरूपावस्थितेनित्येन न कश्चिदपि तत्समर्थ इत्यर्थ । ये हि त्रैगुण्यपयिका देहाद्य-
भावा पुण्यफलरागिण पापफलभोरव साध्यसाधनेनित्यतन्व्यताभेददक्षित कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभाव-
मात्मान मन्यमाना पूर्णसच्चिदानन्दाद्यब्रह्मात्मभावादिनस्तान् हीष्टानिष्टफलकीर्तनेन रागभयोऽीपन-
पुरस्सर तत्साधनेषु प्रवृत्तये निवृत्तये वा विधिनियेधो वशी कुर्याता ननु माम् । अतो मन तद्भेद-
भेदाभेदो भेदब्रह्मभेदश्च भेदाभेदो, प्रतिदेह मोक्षवत्त्पित भात्मभेद भिन्नस्य तस्य देहादौ तादात्म्या-

ध्यासलक्षणोऽभेदश्च । तौ हि रागद्वेषाभिमानादिद्वारा सर्वानर्थहेतुः । तौ सपदि तत्त्वसाक्षात्कारसमकाल-
मेव गलितौ । यावद्धि भेददर्शनं तावदेव भयातिरागद्वेषादयः । "द्वितीयाहं भयं भवति" "मृत्योस्तस्य
मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "यथोदकं दुग्ं वृष्टं पर्वतेषु विधावति । एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानि-
वानु विधावति" "स योऽन्या देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद । यथा पशुरेव स
देवानाम्", "स वं नव रेमे स द्वितीयमच्छन् । सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे
स्यादय कर्म कुर्वीयेत्येतावान्वं काम" इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवं देहाद्यभिन्नात्मदर्शनमप्यनर्थहेतुः । "अयं
लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वंशमापद्यते मे" इत्यादि मृत्युवचनात् । स्मृतिरपि—

"देहाभिमानाद्यत्पापं न तद्गोवधकोटिभिः" ।

"प्रायश्चित्ताद्भवेच्छुद्धिर्नृणां गोवधकारिणाम्" ।

देहाभिमानिनां पुसा प्रायश्चित्तं न विद्यते" ॥ इति ।

अत एव हि पुण्यपापे पुण्यं ————— । तेषुपि विशीर्णो

शिलाप्रहतलोष्ठपांशुरिव विध्वस्ते ।

श्र. सू. ४-१-१३

सूत्रवचनात् । "तद्यथेपीवातूलमग्नी प्रोतं प्रदूयेते"त्यादिश्रुतेश्च । तत्कृतः, यतो मायामोहो क्षयमधिगतो
मोहोऽद्वितीयात्मनः पूर्णसच्चिदानन्दब्रह्मात्मस्वरूपतिरोधायकावरणशक्तिप्रधानाऽविद्या । माया तु
आवृत्तस्य तस्यैवान्यथाप्रतिभासनिमित्तविक्षेपशक्तिप्रधाना । स एकस्या एवाविद्यायास्तमोगुणप्रधानांश
भावरकत्वान्मोह इत्युच्यते । रजोगुणप्रधानस्तु विक्षेपहेतुत्वान्मायेति । तौ मायामोहौ सत्त्वोत्कर्षप्रयुक्त-
शामदमादिसंपत्तिपूर्वनेखात्मतत्त्वसाक्षात्कारेण क्षयं सह कार्योपात्यन्तिकबाधमधिगतौ प्राप्नोः । तथा च
विधिनिषेधशास्त्रयोः सर्वप्रमाणप्रमेयव्यवहारस्याविद्यावद्विषयत्वात्; निरस्ताविद्यस्य पूर्णानन्दाद्वितीय-
ब्रह्मभूतस्य मम न विधिनिषेधशास्त्रविषयत्वमित्येतत्सिद्धमिति भावः ॥ १ ॥

आत्मतत्त्वज्ञाने विधिनिषेधगोचरप्रवृत्तिनिवृत्तिविषयसाध्यसाधने तिकतंब्यतादिसर्वद्वैतोप-
मदाद्धा स्वस्य विधिनिषेधानाक्रमणीयमित्याह— यद्वेति ।

यद्वात्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्बहिर्स्थं

दृष्ट्वा पूर्णं खमिव सततं सर्वभाण्डस्यमेकम् ।

नान्यत्कार्यं किमपि च ततः कारणाद्भिन्नरूपं

निस्त्रंगुण्ये पयि चिचरतः को विधिः को निषेधः ॥ २ ॥

यद्वेति । प्रकारान्तरेणोक्तार्थोपपत्तिद्योतनार्थम् । ननु भेदाभेदयोर्वैभवात्त्राक्थं निवृत्तिः, तत्त्व-
ज्ञानस्य सत्यार्थनिवर्तनासामर्थ्यात् । न हि बोधमात्राद्भस्तुतो भिन्नोऽप्यभिन्नत्वमापद्यते । भेदश्च प्रति-
शरीरमात्मना मुखदुःखव्यवहारव्यवस्थादर्शनाल्लोकतः शास्त्रतश्च सत्योऽवगम्यते । ऐकात्म्ये हि
एकस्य सुखे दुःखे वा सर्वे सुखिनो दुःखिनो वा स्युः । तथा च भगवता गीतमेनाप्युक्तं "मानात्मानो
व्यवस्यात्" इति लौकिकवैदिकव्यवहारव्यवस्था चैकात्म्ये नोपपद्यते । न हि मित्रार्थ्यदासीनमध्यस्थादि-
गोचरो रागद्वेषोपेक्षादिप्रयुक्तो लोकसम्मतो व्यवहारः । परदारपरद्रव्यपरद्रोहादिवर्जनविषय आचार्य-
पितृवृद्धाद्यनुगमनपूजादिविषयः श्रीतः स्मार्तश्च व्यवस्थित रूपपद्यते, तस्मान्नानात्मतंत्रेत्याशास्त्रमपा-
कुर्वन्नाह—सकलवपुषामेकमिति । सकलवपुषा जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाप्यतजसवायम्यानसप्रभेदा-

पट्टाभिन्नानां शरीराणामन्तर्वहिस्यमेकमभिन्नमित्यर्थः । अयं भावः—न तावद्भेदादेः सत्यता प्रमाणा-
वेद्यत्वे सति वेद्यत्वाच्छक्तिरूप्यादिवत् । यथा च भेदस्य प्रमाणावेद्यत्वं तयोपपादितमस्माभिः स्वाराज्य-
सिद्धौ । एवमात्मनो देहेन्द्रियादितादात्म्यलक्षणोऽभेदो न प्रमाणवेद्यः स्वात्मनि नप्नात्वाननुभवात् ।
देहादीनाञ्च नानात्वात् । बालाद्यवस्था भेदेनान्यवाधिर्यादिना च देहेन्द्रियादेर्व्यभिचारेऽप्यात्मन्यवाधित-
प्रत्यभिज्ञयैकत्वनिश्चयेन तं सर्वैस्तस्याभेदायोगात् । एकैकतादात्म्ये विनिगमनाविरह्यादतिरिक्तत्व-
सिद्धेरिति । ननु कथं सकलवपुषामेक आत्मा, स हि “बालाप्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो
जीवः स विज्ञेयः” “एषोऽगुरात्मा चेतसा वेदितव्य” इत्यादिश्रुतिभिरगुतरनाडीछिद्रोपसर्पणलिङ्गद्वचा-
गुपरिमाणो विज्ञायते । यदि च सर्वाङ्गीणशैत्याद्युपलम्भा “त्समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन”
त्यादिश्रुत्या च देहपरिमाणोऽप्युपगम्येत तथापि देहद्वयान्तरालविच्छिन्नवृत्तिर्न मकलवपुषामेकः स इत्या-
द्याह्वासाऽह — अन्तर्वहिस्यमिति । देहस्यान्तर्वहिश्च स्थितं विभुमित्यर्थः । “नित्यं विभु सर्वगतं मुसूदमम्”
“आत्मैवावस्तादात्मोपरिष्ठात्” “ब्रह्म वेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण”त्यादि
श्रुतेः । “सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च क्लृप्तस्यमचल ध्रुवमि”त्यादिस्मृतेरैकात्म्यश्रुतिलिङ्गाच्चात्मनोऽपरिच्छिन्नत्व-
सिद्धिरिति भावः । अगुपरिमाणत्वाभिप्राया नागुरात्मेतिश्रुतिः किन्तु आकाशवत्सीदम्याद्दुर्लक्ष्यत्वा-
भिप्राया । बालाद्येत्यादि श्रुतिरपि वाक्यशेषानुरोधाच्छ्रुत्यन्तरानुरोधाच्चोपाधिकपरिच्छेदानुवादिनीति
“तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेश प्राज्ञवदि”ति ब्र. सू. २-३-२६ सूत्रे बादरायणादिभिव्यं वस्थापिता ।
प्रोपाधिकविच्छेदादेव विच्छेदप्रत्ययोऽप्युपपन्न इति न वास्तवात्मैक्यस्य तेन वाधः । एतेन शास्त्रीयो-
प्यात्मभेदव्यवहारार्थं क्रियादिभेदेऽन्त करणाद्युपाधिभिरैवोपपादनीयः । यथैकस्यैवाकाशस्य सूचीपाश-
कुम्भकुसूलादि उपाधिभेदादेव सीवनवन्धनजलाहरणधान्यावपनाद्यर्थं क्रियाणामसङ्करः, तत्तत्कारणेषां कु-
ल्यवच्छेदाच्छ्रोत्रनानात्वादिव्यवस्था च तद्द्वयवस्थोपपत्तेरित्याशयेन दृष्टान्तमाह—समिवेति ।
एतेनैकस्य दुर्लभे सर्वेषां तत्प्रसङ्गोऽपि निरस्त इति “नानात्मानो व्यवस्थात्” इति हेतुरप्रयोजकः ।
नन्वेव सति प्रोपाधिकमव भेदमालम्ब्य ज्ञानिनामपि श्रौतस्मार्तविधिनियेधाधिकारः किं न स्यादिति
चेत् । भवेदेव यदि तेषामज्ञानिनामिवोपाधितादात्म्यससर्गाद्यारोपो न बाधितो स्याताम् । नन्वेवम्,
यतस्तेषां कारणाद्भ्रून्नरूप भेदकोपाध्याद्यात्मनोऽप्यत्रास्ति । “अथात आदेशो नेति नेति” “वाचारम्भणं
विकारो नामधेय”मित्यादिश्रुतिशक्तं कारणाद्भ्रून्नस्य कार्यस्य प्रतिपिद्धत्वेन मिथ्यात्वात् । तत्त्व-
साक्षात्कारेण समूलमुपमदितत्वादिति ॥ २ ॥

एव जीवस्य तत्त्वतो विमर्शोऽज्ञानाद्यतीतापेतब्रह्माक्षत्पादिभेदनिरतिशयानन्दंकरसब्रह्ममात्रं क-
रसत्त्वादिपि स्वस्य न कर्माधिकार इति दर्शयितुं तत्त्वमस्यादिवाक्यतात्पर्यं रहस्यमुद्घाटयति—हेम्न
इति ।

हेम्नः कार्यं हुतवहणतं हैमभेदेति यद्वत्
क्षीरे क्षीरं समरसतया तोयमेवाम्बुमध्ये ।

एवं सर्वं समरसतया त्वंपदं तत्पदार्थं

निहन्त्रेगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को नियेधः ॥ ३ ॥

यथा हेम्नः सुवर्णस्य कार्यं कटककुण्डलप्रवेयकाङ्गुलीयकादि, हुतवहे भग्नी गतं ध्यायमानं
वीभूतं समरसतया एकीभूतं कटककुण्डलादि नामरूपभेद जहत् न भूयः कटककुण्डलाद्यर्थं क्रिया-

समर्थं किन्तु हैमं सर्वहेमसंबन्धिसामान्यस्वभावमेव यद्वद्भवति । यथा वा क्षीरे निक्षिप्तं क्षीरमविभक्तं क्षीरसामान्यमेव भवति । यथा वा अम्बुमध्ये निषिक्तं तोयं जलं तोयसामान्यमेव समरसतया ऐकरस्येन भवति । एवं सर्ववियदादिभुवनान्तं सर्वं तत्पदं तत्पदवाच्यार्थभूतं जगत् "तदनन्यत्वमारम्भण-पाव्दादिभ्यः" इति सूत्रेणोपदिशितसत्परम्परावधिपरमार्थसन्मात्रैकरूपपरिच्छेपात्समरसतया तदेकरसतया अपरिच्छिन्नसच्चिन्मात्रात्मना प्रविलापनेन यदा सम्पन्नं तदा त्वंपदं त्वपदवाच्यमपि जीवरूपं तत्पदार्ये तत्पदलक्ष्ये प्रागुक्ते समरसतया पूर्णानन्दभूतात्मनेव सम्पन्नम् । तथाविधे प्रत्यक्चिन्मात्रात्मके निस्त्रैगुण्ये परमात्मस्वभावे पथि विचरतो मम विधिनियेधफलप्रदेश्वरादेः पृथगपरिच्छेपादपि न विधि-नियेधशास्त्राधिकार इत्यर्थः ॥ ३ ॥

उक्तमेवार्थं पुनरुपान्तान्तरैरपि विशदयन् तादृशभूमानन्दस्वरूपप्रतिष्ठस्य स्वस्य न कर्म-विहारप्रसक्तिरित्याह—यस्मिन्निति ।

यस्मिन्विश्वं सकलभुवनं सामरस्यैकभूत-

सुर्वोह्यापोऽनलमनिलख जीवमेवं क्रमेण ।

यत्क्षाराब्धौ समरसतया सन्धवैकत्वभूतं

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को नियेधः ॥ ४ ॥

यस्मिन्पूर्णात्मनि सकलं समस्तं कलाभिः स्वावयवप्रदेशभेदैः सहितं, भुवनं भूर्भुवःस्वरिति सप्तधा चतुर्दशधा वा भिन्नं ब्रह्माण्डोदरकोष्ठप्रभेदरूपं लोकजातम् । तथा उर्वी पृथिवी आप अन्नल-मग्निश्छान्दस क्लीवत्वम् । अग्निलो वायुः खमाकाशम्, तथा जीवयतीति जीवं स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयमित्येवं क्रमेणाधिलोकमधिभूतमध्यात्मञ्चेति त्रिधा भिन्नं विश्वं कृत्स्नं जगत्, यातीति यत् विलयं प्राप्नुवत्सत् क्षाराब्धौ क्षिप्तं सन्धवमिव समरसतया ऐकरस्येनैकत्वं भूतं प्राप्तम् । तस्मिन्निस्त्रैगुण्ये पथीत्यादि पूर्ववत् । क्षाराब्धौ सन्धवैकत्वभूतमिति सापेक्षत्वादसमर्थस्य सन्धवपदस्य समासश्छान्दस ॥ ४ ॥

उपाधीना प्रविलयेन सामरस्ये उपहितस्य न पृथगवशोऽस्तीति जीवस्याखण्डब्रह्मात्मता अर्थात्सिद्धं वेति न तत्र प्राग्दृष्टान्तो दशितः । इदानीं तु तत्रापि "यथा नद्यं स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्यान्नामरूपाद्भिमुक्तं परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यं" इति श्रुतिसिद्धं दृष्टान्तं दर्शयन्सर्वभेदप्रत्ययास्तमयेनाद्वितीयब्रह्मं करस्याद्विधिनियेधशास्त्राधिकारप्रसक्तिरेव स्थस्य नास्ति इत्याह—यद्वदिति ।

यद्वन्नद्योदधिसमरसौ सागरत्वं ह्यवाप्तौ

तद्वज्जीवा लयपरिगतौ सामरस्यैकभूतम् ।

भेदातीतं परिलयगतं रुद्धिदानन्दरूपम्

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को नियेधः ॥ ५ ॥

नद्या नदीद्वारा आ उदधि समुद्रेशपर्यन्तं कालभेदेन प्राप्नो समो रसो जलप्रवाहो परस्पर-मेलनेन सागरत्वमेवावाप्तौ । हीत्यवधारणे प्रसिद्धौ च । आदादि "प्रोमाडोश्चे"ति पररूपविषये वृद्धि-श्छान्दसी । अथवा उदधिना समरसस्याय द्योदधि समरसप्रवाहः, नदी च द्योदधिसमरसश्च नद्योदधि-समरसौ । यद्वा उदधिश्चासौ समश्च उदधिसमः उदधिसमस्यायमोदधिसमः नदी च द्योदधिसमश्च नद्यो-

एतद्वाभिन्नानां क्षरीराणामन्तर्वेहिस्यमेकमभिन्नमित्यर्थः । अयं भावः—न तावद्भेदादेः सत्यता प्रमाणा-
वेद्यत्वे सति वेद्यत्वाच्छक्तिरूप्यादिवत् । यथा च भेदस्य प्रमाणावेद्यत्वं तयोपपादितमस्माभिः स्वाराज्य-
सिद्धौ । एवमात्मनो देहेन्द्रियादितादात्म्यलक्षणोऽभेदो न प्रमणवेद्यः स्वात्मनि नानात्वाननुभवात् ।
देहादीनाञ्च नानात्वात् । बालाद्यवस्था भेदेनान्यवाधिर्यादिना च देहेन्द्रियादेर्व्यभिचारेऽप्यात्मन्यवाधित-
प्रत्यभिज्ञयैकत्वनिश्चयेन तैः सर्वैस्तस्याभेदायोगात् । एकं कतादात्म्ये विनिगमनाविरहादतिरिक्तव-
सिद्धेरिति । ननु कथं सकलवपुषामेक आत्मा, स हि “वानाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो
जीवः स विज्ञेयः” “एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य” इत्यादिश्रुतिभिरणुतरनाडीच्छिद्रोपसर्पणलिङ्गाद्वा-
णुपरिमाणो विज्ञायते । यदि च सर्वाङ्गीणस्येत्याद्युपलम्भा “स्वमः प्लुपिणा समो मशकेन समो नागेन”
त्यादिश्रुत्या च देहपरिमाणोऽप्युपगम्येत तथापि देहद्वयान्तरालविच्छिन्नवृत्तिर्न सकलवपुषामेकः स इत्या-
शङ्क्याऽऽह —अन्तर्वेहिस्यमिति । देहस्यान्तर्वेहिस्य स्थित विभुमित्यर्थः । “नित्यं विभु सर्वगतं सुसूक्ष्मम्”
“आत्मैवावस्तादात्मोपरिष्ठात्” “ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पदचाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण”त्यादि
श्रुतेः । “सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च क्लृप्तस्यमचल ध्रुवमि”त्यादिस्मृतेरैकात्म्यश्रुतिलिङ्गाच्चात्मनोऽपरिच्छिन्नत्व-
सिद्धिरिति भावः । अणुपरिमाणत्वाभिप्राया नाणुरात्मेति श्रुतिः किन्तु आकाशवत्सोऽप्यादुर्लक्ष्यत्वा-
भिप्राया । बालाग्रेत्यादि श्रुतिरपि वाक्यशेषानुरोधाच्छून्यन्तरानुरोधाच्चौपाधिकपरिच्छेदानुवादिनीति
“तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेश प्राज्ञवदि”ति ब्र. सू. २-३-२६ सूत्रे बादरायणादिभिर्व्यवस्थापिता ।
श्रीपाधिकविच्छेदादेव विच्छेदप्रत्ययोऽप्युपपन्न इति न वास्तवार्थमवयस्य तेन वाधः । एतेन शास्त्रीयो-
प्यात्मभेदव्यवहारार्थं क्रियादिभेदोऽन्त करणाद्युपाधिभिर्योपपादनीयः । यथैकस्यैवाकाशस्य सूचीपाश-
कुम्भकुसुलादि रूपाधिभेदादेव सीवनवन्धनजलाहुरणधान्यावपनाद्यर्थं क्रियाणामसङ्करः, तत्तत्कणशङ्कु-
व्यवच्छेदाच्छोभ्रनानात्वादिव्यवस्था च तद्बुद्ध्यवस्थोपपत्तेरित्याशयेन दृष्टान्तमाह—समिवेति ।
एतेनैकस्य दु खे सर्वेषां तत्प्रसङ्गोऽपि निरस्त इति “नानात्वानो व्यवस्थात्” इति हेतुरप्रयोजकः ।
नन्वेव सति श्रीपाधिकमव भेदमालम्ब्य ज्ञानिनामपि श्रौतस्मार्तं विधिनिषेधाधिकारः किं न स्यादिति
चेत् । भवेदेव यदि तेषामज्ञानिनामिवोपाधितादात्म्यसर्गाद्यारोपो न बाधितो स्याताम् । नत्वेवम्,
यतस्तेषां कारणाद्भिन्नरूप भेदकोपाध्याद्यात्मनोऽप्यन्नास्ति । “अयात् आदेशो नेति नेति” “वाचारम्भणं
विकारो नामधेय”मित्यादिश्रुतिशक्तं कारणाद्भिन्नस्य कार्यस्य प्रतिषिद्धत्वेन मिथ्यात्वात् । तत्त्व-
साक्षात्कारेण समूलमुपमदितत्वादिति ॥ २ ॥

एव जीवस्य तत्त्वतो विमर्शोऽज्ञानायाद्यतीतापेत्ब्रह्मक्षत्त्रादिभेदनिरतिशयानन्दैकरसब्रह्ममात्रं क-
रसत्त्वादिपि स्वस्य न कर्माधिकार इति दर्शयितुं तत्त्वमस्यादिवाक्यतात्पर्यं रहस्यमुद्घाटयति—हेम्न
इति ।

हेम्नः कार्यं हुतवहगतं हैममेवेति षट्
क्षीरे क्षीरं समरसतया तोयमेवाम्बुमप्ये ।

एषं सर्वं समरसतया त्वंपदं तत्पदार्थं

निरुन्नेगुण्ये पयि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ३ ॥

यथा हेम्नः सुवर्णस्य कार्यं कटकनुण्डलप्रवेयवाङ्गुलीयकादि, हुतवहे अन्नो गतं ध्यायमानं
तोमूत समरसतया एकीभूतं कटकनुण्डलादि नामरूपभेद जहत् न भूयः कटकनुण्डलाद्यर्थक्रिया-

समर्थं किन्तु हैम सर्वहेमसबन्धिसामान्यस्वभावमेव यद्वद्भवति । यथा वा क्षीरे निक्षिप्त क्षीरमविभवत् क्षीरसामान्यमेव भवति । यथा वा अम्र्युमध्ये निषिक्त तोय जल तोयसामान्यमेव समरसतया ऐकरस्येन भवति । एव सर्वविद्यदादिभुवनान्त सर्वं तत्पद तत्पदवाच्यार्थभूत जगत् "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यम्" इति सूत्रेणोपदिशतसत्परम्परावधिपरमार्थसन्मानैकरूपपरिशेषात्समरसतया तदेकरसतया अपरिच्छिन्नसच्चिन्मात्रात्मना प्रविलापनेन यदा सम्पन्नं तदा त्वपद त्वपदवाच्यमपि जीवरूप तत्पदार्थे तत्पदलक्ष्ये प्रागुक्ते समरसतया पूर्णानन्दभूतात्मनैव सम्पन्नम् । तथाविधे प्रत्यक्चिन्मात्रात्मके निस्त्रैगुण्ये परमात्मस्वभावे पथि विचरतो मम विधिनिषेधफलप्रदेद्वरादे पृथगपरिशेषादपि न विधिनिषेधशास्त्राधिकार इत्यथ ॥ ३ ॥

उक्तमेवार्थं पुनर्ह्यन्तान्तरैरपि विशदयन् तादृशभूमानन्दस्वरूपप्रतिष्ठस्य स्वस्य न कर्माधिकारप्रसक्तिरित्याह—यस्मिन्निति ।

यस्मिन्विश्वं सकलभुवन सामरस्यैकभूत-

सुर्वोह्यापोऽनलमनिलख जीवमेवं क्रमेण ।

यत्क्षाराब्धौ समरसतया सैन्धवैकत्वभूत

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ४ ॥

यस्मिन्पूर्णात्मनि सकल समस्त कलाभि स्वावयवप्रदेशभेदै सहित, भुवन भूर्भुवस्वरिति सप्तधा चतुर्दशधा वा भिन्न ब्रह्माण्डोदरकोष्ठप्रभेदरूप लोकजातम् । तथा उर्वी पृथिवी अप्र अनलमग्निश्छान्दस क्लीवत्वम् । अनिलो वायु खमाकाशम्, तथा जीवयतीति जीव स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयमित्येव क्रमेणाधिलोकमधिभूतमध्यात्मञ्चेति त्रिधा भिन्न विश्व कृत्स्न जगत्, यातीति यत् विलय प्राप्नुवत्सत् क्षाराब्धौ क्षिप्त सैन्धवमिव समरसतया ऐकरस्येनैकत्व भूत प्राप्तम् । तस्मिन्निस्त्रैगुण्ये पथीत्यादि पूर्ववत् । क्षाराब्धौ सैन्धवैकत्वभूतमिति सापेक्षत्वादसमर्थस्य सैन्धवपदस्य समासश्छान्दस ॥ ४ ॥

उपाधीना प्रविलयेन सामरस्ये उपहितस्य न पृथगवशेषोऽस्तीति जीवस्याखण्डब्रह्मात्मता अर्थात्सिद्धवेति न तत्र प्राग्घटान्तो दक्षित । इदानी तु तत्रापि "यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूपे घिहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्भिमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति दिव्य"मिति श्रुतिसिद्धघटान्त दर्शयन्सर्वभेदप्रत्ययास्तमयेनाद्वितीयब्रह्मैकरस्याद्विधिनिषेधशास्त्राधिकारप्रसक्तिरेव स्वस्य नास्ति इत्याह—यद्वदिति ।

यद्वन्नद्योदधिसमरसौ सागरत्वं ह्यवाप्तौ

तद्वज्जीवा लयपरिगतौ सामरस्यैकभूतम् ।

भेदातीत परिलयगतं सन्निदानन्दरूपम्

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ५ ॥

नद्या नदीद्वारा आ उदधि समुद्रदेशपर्यन्त कालभेदेन प्राप्नो समौ रसौ जलप्रवाहौ परस्पर-मेलनेन सागरत्वमेवावाप्तौ । हीत्यवधारणे प्रसिद्धौ च । आदाडि "प्रोमाडोश्चे"ति पररूपविषये बृद्धि-दृष्टान्दसी । अथवा उदधिना समरसस्याय नद्योदधि समरसप्रवाह, नदी च नद्योदधिसमरसश्च नद्योदधि-समरसौ । यद्वा उदधिश्चासौ समश्च उदधिसम उदधिसमस्यायमौदधिसम नदी च नद्योदधिसमश्च नद्यो-

दधिसमी नद्योदधिसमयो. रसो जले मेलनेन सागरत्वमैकरस्यं यद्वदवाप्तावित्ययं । यथायं शृणान्त-
स्तद्वज्जीवश्च आलीयते अस्मिन्नुपाधिमात्रमित्यालय ब्रह्म तयोः परिगतो उपाधिविलयादयस्ये स हि
सामरस्येन एकभूता झलण्डभावेन स्थिताः । भ्रवच्छेदभेदवद्विभ्वप्रतिविभ्वभेदस्याप्युपाधिकृतत्वात्-
त्परिलयेन गत स्वस्थान एव विस्मृतकण्ठचामीकरवदधिगत सत्सर्वभेदातीत सच्चिदानन्दैकरूप म्वात्मान
प्राप्तस्य निस्त्रैगुण्ये इत्यादि प्राग्वत् । नद्योऽम्बुधिसमरसा इति पाठस्तु स्पष्टः ॥ ५ ॥

किञ्च त्वपदार्थस्य तत्पदलक्ष्यसन्मात्रतावधारणात्तत्पदार्थस्य च त्वपदलक्ष्यस्वप्रकाशप्रत्यङ्-
मात्रत्वावधारणादुभयैक्येन पूर्णानन्दमात्रपरिक्षेपज्ञ पुनर्विधिनिषेधवदयताप्राप्तिरित्याह—दृष्टं ति ।

दृष्ट्वा वेद्यं परमथपदं स्वात्मबोधस्वरूपं
बुद्ध्वाऽऽत्मानं सकलवपुषामन्तर्वहिस्यम् ।
भूत्वा नित्यं सद्बुदिततया स्वप्रकाशस्वरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ६ ॥

वेद्य सन्यासेन सर्वस्वमपि विहाय महाप्रयत्नेनावश्यवेदनीयं परब्रह्मस्वात्मबोधमात्रस्वरूपम् ।
बुद्ध्वाऽऽत्मानं प्रत्यञ्चसकलवपुषामन्तर्वहिस्यमेकमद्वितीयसन्मात्र बुद्ध्वा सर्वैकरस्येन सद्बुदिततया
स्वप्रकाशपूर्णानन्दस्वरूप भूत्वा निस्त्रैगुण्ये इत्यादि प्राग्वत् ॥ ६ ॥

कार्याकार्ये किमपि सततं नैव कर्तृत्वमस्ति
जीवन्मुक्तस्थितिभवगतो दग्धवस्त्रावभासः ।
एवं देहे प्रविलयगते तिष्ठमानो विमुक्तो
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ७ ॥

किञ्च सति कार्ये तद्गातत्तदर्थप्रवृत्ती कर्ता स्यात् । स्वभावश्च विधिशास्त्रेऽधिक्रियेत । सत्य-
कार्ये पापे तत्कले द्वेषात्ततो निवर्तमानस्तत्कर्ता सन् निषेधशास्त्राधिकारी स्यात् । ननु कार्याकार्ये किमपि
तुच्छे एव च सति सततं सदैव प्रागिदानीमये च नैव कर्तृत्वमस्ति । यदि नास्ति तर्हि जीवनार्थे भिक्षा-
टनादौ तत्त्वोपदेशसमाध्यादौ च कथं व्यवहरतीति चेत्प्राह—जीवन्मुक्तेति । अतोऽहं दग्धवस्त्रं सस्कारा-
दस्त्राकारमिदं पूर्वसस्कारादव्यवहारनिवावभासे इति दग्धवस्त्रावभासः । वस्तुतस्तु जीवन्नेव
मुक्तस्थितिः । एवमुक्तरीत्या ज्ञानाग्निदग्धत्वाद्देहे भस्मीभूतपटवत्प्रविलयगते तिष्ठमानः प्रकाशमानो
ऽप्यहं “प्रकाशनस्थेयाख्यमोक्ष” इति आत्मनेपद विमुक्त एव अतो निस्त्रैगुण्ये इत्यादि प्राग्वत् ॥७॥

किञ्च यावन्न विमृश्यते तावदेव द्वैतं सदिव भासते, विमर्शं तु नाम्यन्तरस्य बाह्यस्य द्वैतस्य
स्वरूपं वदाचित्केनचिदपि निरूपयितुं शक्यमिति दर्शयति—कस्मादिति ।

कस्मात्कोऽहं किमपि च भवान्कोऽयमन्यः प्रपञ्चः
स्वं स्वं वेद्यं गगनसदृशं पूर्णतत्त्वप्रकाशम् ।
मानन्दाख्ये समरसघने बाह्यमन्तर्विहीने
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ८ ॥

अहमिति परिच्छिन्नमहङ्कारात्मक यदात्मस्वरूप भाति तत् कस्मात्कश्च कारणत स्वरूपतश्च दुर्निरूपमित्यर्थं । तथाहि—तच्चागन्तुक स्यान्नित्य वा आद्ये कस्मादुपादानात्तदागत न तावज्जडत चेतनात्मरूपत्वानुभव विरोधात्, जडस्य चेतनोपादानत्वायोगात् । नापि चित्, चित्तेरपरिणामि-स्वभावत्वात्परिणामायोगात् । यदि विवर्तता ब्रूये तर्हि तस्य मृदात्वमेव स्यान्नित्यत्वे कामादिपरिणाम-विरोध । तथा कोऽह कोऽयमहकारात्मेत्यर्थं । न तावज्जड, आत्मत्वानुभवविरोधात् । नापि चित् परिच्छेदविषयत्वानुभवविरोधात् जडदेहापक्षपातविरोधाच्च । तस्मादहकारात्मा दुर्वाच्य एवेत्यर्थं । किञ्च भवान् त्वमपि किमनात्मवस्त्वात्मवस्तु वा आद्ये चेतनत्वविरोधो द्वितीये ममपरत्वानुभव-विरोध । अत्रावयो प्रतीयमान प्रपञ्च क किं स्वत सिद्ध उत परत आद्ये जाडयानुभवविरोध, आत्मवच्चिद्रूपत्वापत्तौ भेदकरूपान्तरापरिशेषादखण्डपूर्णचिन्मात्रैकरस्यप्रसङ्गश्च । द्वितीयेऽपि स पर केन सिद्ध किं परत स्वतो वा । आद्येऽनवस्थापत्ति, द्वितीये स्वप्रकाशस्य तस्य परसाधकता तत्संबन्धाद्वाच्या । स संबन्ध किं तादात्म्यमुत सयोग । नाद्य चिज्जयोरेक्यघटिततादात्म्यायोगात् । नापि द्वितीया, अक्रियाया निरवयवायाश्च चित्ते सयोगायोगात् । समवायाम्युपगमे चानवस्थाद्यापत्तेर-युतसिद्धयदर्शनाच्च । एवञ्च स्वम् आत्मस्वरूप स्व स्वात्मैकनिष्ठ न स्वासंबद्ध पर साधयितुं शक्नोतीति ।

वेद्य जगद्रूप गगनसदृश शून्यमेव । यदि तु गगनमपि न शून्यमप्रामाण्यप्रसङ्गात्तर्हि पूर्णं यत्तत्त्वमवाधितसन्मान स एव स्वात्मप्रकाशो यस्य तथाविधमपरिच्छिन्नस्वप्रकाशचिन्मात्रमित्यर्थं । तत्कुत यत इदं वेद्यजातमत स्वातिरिक्तवस्तु विहीने घत एव समरसधने सैन्धवघनवज्जानैकरसधने भ्रूमानन्दारणे, अवाह्य बहिरनवस्थितमतस्तादृशनिस्त्रैगुण्ये नित्यमुक्तात्मैकस्वभावे ऽपि विचरतो ममान्यस्य वा सर्वथा विधिनिषेधघटितकर्माधिकारो न केनापि सपादयितुं शक्य इति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

इदानीं सर्वोपकाराय स्वोपदिष्टाष्टकाम्यासस्यापि महाफलताप्रदर्शनमुखेन तदर्थानुसन्धानस्य मोक्षफलता दर्शयति—सत्यमिति ।

सत्यं सत्यं परमममृतं सर्वकल्पारणरूप
मायारण्ये दहति मन्तिने शान्तिनिर्वाणदीपम् ।

तेजोरूपं निगमसदनं व्यासपुत्राष्टकं यः

प्रातःकाले पठति मनसा याति निर्वाणमार्गं ॥ ९ ॥

इति शुकाष्टकस्तोत्र सम्पूर्णम् ॥ ॐ ॥

इदं व्यासपुत्रस्य वाक्यामृतरूपनष्टकमेव परमामृतसाधनत्वात्परममृत सर्वेषां प्राणिना कल्याणरूपमाध्यात्मिकादितापभयदहनं सदा दह्यमानत्वेऽपि मोहध्वान्तपिहितत्वान्मन्तिने जगन्माया-लक्षणेऽरण्ये मायाध्वान्तस्य तापत्रयानलानाञ्च शान्त्या प्रशमनेन निर्वाणस्य मोक्षमुखस्य प्रकाशकत्वा-दीपभूत निगमा वेदान्ता सदनं प्रकाशगृह यस्य तथाविध यत्तेज प्रभास्थानीयोऽर्थप्रकाशस्त रूपधतीति रूपम् । ईदृशा व्यासपुत्राष्टकमिदं य पुरुषोऽर्थानुसन्धानपरेण मनसा प्रातःकाले पठति स तस्यानुग्रहा-त्क्रमाज्ज्ञान प्राप्य निस्त्रैगुण्ये प्रागुक्तनिर्वाणमार्गोऽवश्यं याति मुच्यत इत्यर्थं ॥ ९ ॥

श्रीमच्छुकाष्टकस्यैव व्याख्या बुद्धिसरोरुहम् ।

भानुप्रभेव भुवनं प्रवीचयति सन्मते ॥

इति श्रीमत्तरमहसपरिब्राजकाचार्यश्रीमद्रामचन्द्रसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
गङ्गाधरेन्द्रसरस्वत्याख्यभिक्षुणा कृतं शुकाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

अथ बृहदारण्यकोपनिषत्कण्डिकाद्यपदानां वर्णानुक्रमः ।

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	श्र०	क०	पृ०	कण्डिकाद्यपदानि	अ०	श्र०	क०	पृ०
अग्नये स्वाहेत्यग्नी हुत्वा	६	३	३	१५१६	अथास्य मानरमभिम०	६	४	२८	१५५०
अत्र पिताऽपिता भवति	४	३	२२	१११२	अथास्या जरू विहाय०	६	४	२१	१५४४
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे					अथैतद्गोमेऽज्ञानि	४	२	३	६६१
कपिल पिङ्गलो	६	४	१५	१५४०	अर्थनमग्नये	६	२	१४	१४६३
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे					अर्थनमभिमृशति	६	३	४	१५१७
पण्डितो... ..	६	४	१८	१५४१	अर्थनमाचामति	६	३	६	१५१८
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामी	६	४	१६	१५४०	अर्थनमुद्यच्छत्यामः	६	३	५	१५१८
अथ य इच्छेद्दुहिता मे					अर्थन मात्रे प्रदाय	६	४	२७	१५४६
पण्डितो... ..	६	४	१७	१५४१	अर्थन वसत्योपमन्त्रया०	६	२	३	१४७२
अथ यद्युदक आत्मान	६	४	६	१५३२	अर्थनामभिपद्यते	६	४	२०	१५४३
अथ यस्य जायामातं व	६	४	१३	१५३८	अनन्दा नाम त लोका	४	४	११	१२५०
अथ यस्य जायामयं	६	४	१२	१५३६	अन्ध तम प्रविशन्ति	४	४	१०	१२४६
अथ यामिच्छेद्दधीतेति	६	४	११	१५३६	अन्न ब्रह्म त्येक आहु०	५	१४	१	१४०८
अथ यामिच्छेद्ब्र गर्भं					अथमग्निर्वैश्वानरो	५	११	१	१४०३
दधीतेति... ..	६	४	१०	१५३५	अथ वै लोकोऽग्निगौतम	६	२	११	१४८८
अथ ये यज्ञेन दानेन	६	२	१६	१५०३	असौ वै लोकोऽग्निगौतम	६	२	६	१४७६
अथ वःश । पीतिमापी०	६	५	१	१५५१	अस्तमित आदित्ये याज्ञ-				
अथ वःश । पीतिमाप्यी	४	६	१	१३५१	वल्ग्व किज्योति०	४	३	३	६८३
अथ ह प्राण उत्क्रमि०	६	१	१३	१४५२	अस्तमित आदित्ये...चन्द्रम-				
अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे	४	५	१	१३२२	स्यस्तमिते किज्योतिरेवा०	४	३	४	६८४
अथ ह वाचवचनव्युवाच	३	८	१	८४८	अस्तमित आदित्ये शान्तेऽग्नी	४	३	५	६८४
अथ हैनमसुरा ऊचु०	५	२	३	१३८०	अस्तमित आदित्ये...				
अथ हैनमुद्दालक आ०	३	७	१	८३१	शान्ताया वाचि	४	३	६	६८६
अथ हैनमुपस्तश्वात्रा०	३	४	१	७७६	अहल्लिकेति होवाच	३	६	२५	६१२
अथ हैन कहोल कौ०	३	५	१	७६०	आकाश एव यस्याय०	३	६	१३	८६५
अथ हैन गार्गी वाच०	३	६	१	८२४	आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो	४	६	२	१३५२
अथ हैन जारत्कारव	३	२	१	७११	आत्मान चेद्विजानीयाद०	४	४	१२	१२५१
अथ हैन भुजुर्मुर्लाह्या०	३	३	१	७६४	आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो	६	५	२	१५५३
अथ हैन मनुष्या ऊचु०	५	२	२	१३७६	आप एव शस्यायतनः	३	६	१६	८६८
अथ हैन विदग्ध शा०	३	६	१	८८०	आप एवेदमथ आसु०	५	५	१	१३६०
अथ होवाच ब्राह्मणा	३	६	२७	६२१	आराममस्य पश्यन्ति	४	३	१४	१०६५
अथाभिप्रातरेव स्याली०	६	४	१६	१५४२	इन्धो ह वै नामध	४	२	२	६६०
अथास्य दक्षिण बर्गम०	६	४	२५	१५४७	इहैव सन्तोऽय विदम०	४	४	१४	१२५८
अथास्य नाम करोति	६	४	२६	१५४८	उवथ प्राणो वा उवथ	५	१५	१	१४१२

कण्डिकाद्यपदानि	श्र०	ब्रा०	क०	प०	कण्डिकाद्यपदानि	श्र०	ब्रा०	क०	प०
ऋचो यज्छिपि	५	१६	२	१४१८	जनको ह वैदेहो ब्रह्म०	३	१	१	६७७
एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्र०	४	४	२०	१२६३	जनकश्च ह वैदेह याज्ञ०	४	३	१	६७६
एकी भवति न पश्यती०	४	४	२	११८५	जात एव न जायते	३	८	२८	६२६
एतद्द वै तज्जनको	५	१६	८	१४३२	जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क	६	४	२४	१५४६
एतद्द स्म वै तद्विद्वानु०	६	४	४	१५२६	जिह्वा वै ग्रह	३	२	४	७१५
एतद्वै परम तपो	५	१३	१	१४०६	ज्येष्ठाय स्वाहा अष्टाय	६	३	२	१५१५
एतमु हैव चूलो	६	३	१०	१५२३	तदभिमृपेदनु वा	६	४	५	१५३१
एतमु हैव जानकिराय०	६	३	११	१५२३	तदाहुयदयमेक इवैव	३	८	८	८८८
एतमु हैव मधुक	६	३	८	१५२२	तदेतद्वचाम्युक्तम् । एष	४	४	२३	१३०४
एतमु हैव वाजसनेयो	६	३	८	१५२२	तदेते श्लोका भवन्ति । अणु				
एतमु हैव सत्यकामो	६	३	१२	१५२३	प-या वितत	४	४	८	१२४०
एतस्य वा अक्षरस्य	३	८	८	८६१	तदेते स्वप्नेन	४	३	११	१०६२
एष प्रजापतिर्यद्	५	३	१	१३८६	तदेप तदेव सक्त सह	४	४	६	१२११
एषा वै भूताना पृथिवी	६	४	१	१५२५	तदेप यदा सर्वे	४	४	७	१२३१
कतम आत्मेति योऽय	४	३	७	१००१	तद्यत्तसत्यमसौ	५	६	१	१३६४
कतम आदित्या इति	३	८	५	८८५	तद्यथा तृणजलायुका	४	४	३	११६६
कतम इन्द्र कतम	३	८	६	८८५	तद्यथान सुसमाहित०	४	३	३५	११६६
कतमे ते अयो देवा	३	८	८	८८७	तद्यथा पेशस्कारी पेश०	४	४	४	११६८
कतमे रुद्रा इति	३	८	४	८८४	तद्यथा महात्मस्य उभे	४	३	८	१०८६
कतमे वसव इत्यग्निश्च	३	८	३	८८३	तद्यथा राजानमाया-त०	४	३	३७	११७३
कतमे पडित्यग्निश्च	३	८	७	८८६	तद्यथा राजान प्रयि०	४	३	३८	११७५
कस्मिन्नु त्व चात्मा	३	८	२६	६१३	तद्यथास्मिन्नाकारो	४	३	१६	१०८८
काम एव यस्यायतन०	३	८	११	८६३	तद्वा अस्त्यैतदतिच्छन्दा	४	३	२१	११०३
किदेवतोऽस्यामुदीच्या	३	८	२३	६०६	तद्वा एतदक्षर गार्ग्येष्ट	३	८	११	८७३
किदेवतोऽस्या दक्षिणाया	३	८	२१	६०६	तद्वै तदेतदेव	५	४	१	१३८८
किदेवतोऽस्या ध्रुवाया	३	८	२४	६१०	तम एव यस्यायतन०	३	८	१४	८६६
किदेवतोऽस्या प्रतीच्या	३	८	२२	६०८	तमेव धीरो विज्ञाय	४	४	२१	१२६७
किदेवतोऽस्या प्राच्या	३	८	२०	६०३	तस्मिच्छुक्लमुन नीलमाहु	४	४	६	१२४३
क्षत्र प्राणो वै क्षत्र प्राणो	५	१५	४	१४१४	तस्य प्राची विक्प्राञ्च	४	२	४	६६७
ख ब्रह्म । ख पुराण	५	१	१	१३५५	तस्य वा एतस्य पुरुषस्य	४	३	६	१०४६
धृतकौशिकाद्घृतकौशिक	४	६	३	१३५२	तस्या उपस्थान गार्ग्य०	५	१६	७	१४३०
चक्षुर्वै ग्रह	३	२	५	७१५	तस्या वेदिहस्थो	६	४	३	१५२८
चक्षुर्होच्चक्राम	६	१	८	१४५०	तश्च हैतमुद्दानक	६	३	७	१५२२
चतुरोदुम्बरो भवत्योदु०	६	३	१३	१५२४	तान्होवाच ब्राह्मणा	३	१	२	६७६
जनको ह वैदेह आ०	४	१	१	६३६	ता वा अस्त्यैता हिता	४	३	२०	१०६३
जनको ह वैदेह कूर्वा०	४	२	१	६५५	ताश्च हैतामके	५	१६	५	१४२५

कण्डिकाद्यपदानि	श्र०	श्र०	श्र०	श्र०	कण्डिकाद्यपदानि	श्र०	श्र०	श्र०	श्र०
ते य एवमेतद्ब्रु०	६	२	१५	१४६४	यदा वै पुग्पो०	५	१२	१	१४०४
ते हेमे प्राण ब्रह्म० ध्रुपसे	६	१	७	१४५८	यदेव ते कश्चिद्ब्रवीत्तच्छृणु-	४	१	३	६४६
त्रयाः प्राजापत्याः	५	२	१	१३७८	यामेत्यश्वीन्म उदक्कः	४	१	५	६५०
त्वग्ने ग्रह.	३	२	६	७१६	यदेव ते गदंभीविपीतो	४	१	५	६५०
त्वच एवास्य रधिरं	३	६	२-२८	६२२	यदेव ते...चक्रुर्वाष्पं०	४	१	४	६४६
न तत्र रया न रथ०	४	३	१०	१०५७	यदेव ते विदग्धः	४	१	७	६५३
पजंघो वा अग्निगौतम	६	२	१०	१४८७	यदेव ते...सत्यकामो	४	१	६	६५२
पुरो वा अग्निगौतम	६	२	१२	१४६०	यदेतमनुपश्यत्यात्मानं	४	४	१५	१२५५
पूर्णमद. पूर्णमिद	५	१	१	१३५५	यद् वृथो वृग्गो रोहति	३	६	४-२८	६२४
पृथिव्यैव यस्यायतन०	३	६	१०	८६०	यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन् वै	४	३	२४	११३४
प्राणस्य प्राणमुत क्षुप०	४	४	१८	१२५८	यद्वै तन्न पश्यति पश्य०	४	३	२३	११२५
प्राणेन रक्षन्नुदरं कुलाय	४	३	१२	१०६३	यद्वै तन्न मनुते	४	३	२८	११३६
प्राणोऽपानो ध्यान	५	१६	३	१४१६	यद्वै तन्न रसयते	४	३	२५	११३४
प्राणो वै ग्रह	३	२	२	७१४	यद्वै तन्न वदति	४	३	२६	११३५
ग्रह्य त वेदास्त	४	५	७	१३२७	यद्वै तन्न विजानाति	४	३	३०	११३७
भूमिरन्तरिदा	५	१६	१	१४१५	यद्वै तन्न शृणोति	४	३	२७	११३५
मनसेवानुदृष्टव्य	४	४	१६	१२५६	यद्वै तन्न स्पृशति	४	३	२६	११३७
मनोमयोऽय पुरुषो	५	८	१	१३६६	यश्चक्षुषि तिष्ठति	३	७	१८	८४४
मनो वै ग्रह	३	२	४	७१६	यश्चन्द्रतारके	३	७	११	८४२
मनो होच्चक्राम	६	१	११	१४५१	यस्तमसि तिष्ठति	३	७	१३	८४२
मासान्यस्य शकराणि	३	६	३-२८	६२३	यस्तेजसि तिष्ठति	३	७	१४	८४३
मैत्रेयीनि होवाच					यस्त्वचि तिष्ठति	३	७	२१	८४५
याज्ञवल्क्य.	४	५	२	१३२३	यस्मादर्वायिसवत्सरो०	४	४	१६	१२५६
य. पृथिव्या तिष्ठन्	३	७	३	८३८	यस्मिन्त्व पञ्चजना	४	४	१७	१२५७
यः प्राणे तिष्ठन्	३	७	१६	८४४	यस्यानुचितः प्रतिबुद्ध	४	४	१३	१२५२
यः श्रोत्रे तिष्ठ०	३	७	१६	८४४	याज्ञवल्क्य किञ्ज्योतिरय	४	३	२	६७८
य. सर्वेषु भूतेषु	३	७	१५	८४३	याज्ञवल्क्यायाज्ञवल्क्य	६	५	३	१५५५
य आकासे तिष्ठन्	३	७	१२	८४२	याज्ञवल्क्येति होवाच				
य आदित्ये तिष्ठन्	३	७	६	८४१	कति भिरयमद्य ब्रह्मा	३	१	६	६६६
य एष एतस्मिन्मण्डले	५	७	१	१३६६	याज्ञवल्क्येति...द्यम्भि	३	१	७	६६५
यजुः प्राणो वै यजु. प्राणे	५	१५	२	१४१३	याज्ञवल्क्येति...कत्यय-				
यत्ते कश्चिद्ब्रवीत्तच्छृणु०	४	१	२	६४१	मद्याच्चर्युरस्मिन्	३	१	८	६६७
यत्र वा अन्यदि	४	३	३१	११४३	याज्ञवल्क्येति...द्योद्गता०	३	१	१०	७०१
यत्र हि द्वैतमिव...पश्यति	४	५	१५	१३३२	याज्ञवल्क्येति...यत्रायं				
यत्समूलमावृष्टेषु०	३	६	६-२८	६२५	पुरुषो म्रियत	३	२	११	७१६
यथा वृक्षो वनस्पति०	३	६	१-२८	६२१	याज्ञवल्क्येति...म्रियते	३	२	१२	७२२

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	प०	कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क०	प०
याज्ञवल्क्येति...यत्रास्य					रेतो ह्योच्चक्राम	६	१	१२	१४५६
पुरुषस्य	३	२	१३	७२३	वाग्धोच्चक्राम	६	१	८	१४४६
याज्ञवल्क्येति...यदिद-					वाग्धे ग्रहः	३	२	३	७१५
मन्तरिक्ष	३	१	६	६६१	वाच धेनुमुपासीत	५	१०	१	१४०१
याज्ञवल्क्येति...सर्वम-					विद्युद्ब्रह्मो त्याहु०	५	६	१	१४००
होरात्राम्या	३	१	४	६६६	वेत्य यथेमाः प्रजा.	६	२	२	१४६८
याज्ञवल्क्येति...मृत्युना०	३	१	३	६८१	शाकल्येति होवाच	३	६	१८	६००
याज्ञवल्क्येति...मृत्योरन्नं	३	२	१०	७१७	श्रोत्रं वै ग्रहः	३	२	६	७१५
याज्ञवल्क्येति पूर्वपक्षा०	३	१	५	६८६	श्रोत्रं ^{११} होच्चक्राम	६	१	१०	१४५०
याज्ञवल्क्येति होवाच					श्वेतकेतुर्ह वा आरुरोयः	६	२	१	१४६६
शाकल्यो	३	६	१६	६०२	समानामा साङ्गीवीपुत्रात्	६	५	४	१५५६
योऽन्नो तिष्ठन्	३	७	५	८४०	स य इच्छेत्पुत्रो मे	६	४	१४	१५३६
यो दिक्षु तिष्ठन्	३	७	१०	८४२	स य इमा ^{११} खी ^{११} लोकान्	५	१६	६	१४२७
यो दिवि तिष्ठन्	३	७	८	८४१	स यः कामयेत	६	३	१	१५१०
योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्	३	७	६	८४०	स यथायमणिमानं न्येति	४	३	३६	११६८
योऽम्बु तिष्ठन्	३	७	४	८४०	स यत्रायमात्भावत्यं	४	४	१	११७८
यो मनसि तिष्ठन्	३	७	२०	८४५	स यथा दुन्दुभेहंन्याम०	४	५	८	१३२७
योऽयं दक्षिणेऽश्विनुरूप०	५	७	२	१३६७	स यथाद्रैवान्नेरभ्याहितस्य	४	५	११	१३२८
यो रैतसि तिष्ठन्	३	७	२३	८४६	स यथा वीणायं वाद्य०	४	५	१०	१३२८
यो वा एतदक्षर	३	८	१०	८७१	स यथा शङ्खस्य इमाय०	४	५	६	१३२८
यो वाचि तिष्ठन्	३	७	१७	८४४	स यथा सर्वाणामपा ^{११}	४	५	१२	१३२६
यो वायी तिष्ठन्	३	७	७	८४१	स यथा मन्धवधनो	४	५	१३	१३३०
यो विज्ञाने तिष्ठन्	३	७	२२	८४५	म यामिच्छेत्कामयेत	६	४	६	१५३४
योपा वा अग्निगौतम	६	२	१३	१४६१	स यो मनुष्याणा ^{११}	४	३	३३	११५४
यो ह वा आद्यतनं वेद	६	१	५	१४४६	सलिल एको द्रष्टाऽर्द्धतो	४	३	३२	११४४
यो ह वै ज्येष्ठ च श्रेष्ठ च	६	१	१	१४४०	स वा अयमात्मा ब्रह्म	४	४	५	१२०१
यो ह वै प्रजाति वेद	६	१	६	१४४७	स वा अय पुरुषो जायमान.	४	३	८	१०४२
यो ह वै प्रतिष्ठा वेद	६	१	३	१४४५	स वा एष एतस्मिन्नु०	४	३	१७	१०८२
यो ह वै वसिष्ठा वेद	६	१	२	१४४४	स वा एष...सप्रसादे	४	३	१५	१०७२
यो ह वै संपदं वेद	६	१	४	१४४६	स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते ^४	३	३४	११६१	
रूपाण्येव यस्यायतनं...य					स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने	४	३	१६	१०८०
एवायमादर्श	३	६	१५	८६७	स वा एष महानज				
रूपाण्येव...एवासावादित्ये	३	६	१२	८६४	प्रात्माऽङ्गरो०	४	४	२५	१३१६
रैत एव यस्यायतनं ^{११}	३	६	१७	८६६	स वा...प्रात्मान्नादो	४	४	२४	१३१५
रैतस इति मा बोधत	३	६	५-२८	६२४	स वा...प्रात्मा योऽय	४	४	२२	१२६६

कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क्र०	पृ०	कण्डिकाद्यपदानि	अ०	ब्रा०	क्र०	पृ०
स ह प्रनापतिरीक्षाचक्रे	६	४	२	१५२७	साम प्राणो वै साम	५	१५	३	१४१४
स होवाच तथा नस्तर्षं	६	०	८	१४७८	सा ह वागुवाच	६	१	१४	१४५३
स होवाच...तात	६	२	४	१४७३	मा होवाच नमस्तेऽस्तु	३	८	५	८५४
स होवाच देवेषु वै	६	२	६	१४७५	सा होवाच ब्राह्मणा	३	८	१२	८७५
स होवाच...मृत्युः	४	५	६	१३२५	सा होवाच...वित्तेन पूर्णा				
स होवाच प्रतिज्ञातो	६	२	५	१४७५	स्यात्स्यां	४	५	३	१३२४
स होवाच महिमान	३	६	२	८८३	सा होवाच मंत्रेयी येनाहं	४	५	४	१३२४
स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि...					सा होवाच...भगवान्मो०	४	५	१४	१३३१
भाकाश एव	३	८	७	८५६	सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञ०	३	८	३	८५१
स होवाच...भावाद्ये	३	८	४	८५२	सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञ०	३	८	६	८५५
स होवाच...वै खलु	४	५	५	१३२४	सा होवाचाह वै त्वा	३	८	२	८४६
स होवाच वायुर्वै गौतम	३	७	२	८३६	सैपा गायथ्येतस्मिँ				
स होवाच विज्ञायते	६	२	७	१४७६	स्तुरीये	५	१६	४	१४२१
स होवाचैतद् तदक्षर	३	८	८	८५७	सोप्यन्तीमद्भिरन्मुक्षति	६	४	२३	१५४७
स होवाचोवाच वै सो०	३	३	२	७६८	स्वप्रान्त उच्चावचमीय०	४	३	१३	१०६४
स होवाचोपस्तश्चाक्रायणो	३	४	२	७७६	हस्तो वै ग्रहः	३	२	८	७१६
सा चेदस्मै न दद्यात्का०	६	४	७	१५३३	हिरण्मयी श्ररणी	६	४	२२	१५४५
सा चेदस्मै दद्यादि०	६	४	८	१५३४	हिरण्मयेन पात्रेण	५	१७	१	१४३४

समाप्तोऽयं बृहदारण्यकोपनिषत्कण्डिकाद्य-
पदानां वर्णानुक्रमः ।